

वीर सेवा मन्दिर  
दिल्ली

★

क्रम संख्या

५४६५

काल न०

०३०-८ स्त्री

वर्ण

प्रथम







सुन्दरकरकल्पवदिवृन्दकम्पितचरणकमल-सर्वतन्त्रवतन्त्र-कलिकल-  
सर्वककल्प-जन्ममयुगप्रधान-श्रीसोचमिदृशुवाचपत्नीव-जेनप्रवर-  
श्वेताम्बराऽऽचार्य-श्री श्री १००- श्रीप्रहारक-  
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-विरचितः

## अभिधानराजेन्द्रः ।

कोषः

तत्र ह्रस्वाकारादिशब्दसङ्ख्येने त्रयमो जागः ।

—:०\*४३\*४३\*०:—

स च-

श्रीसर्वकप्रकृपितगणधरनिर्वृतिताद्यऽश्रीनोपलज्यमानाऽशेषसूत्र-  
तद्वि-प्राप्य-निर्मुक्ति-वृष्यादिनिहितसकलदार्शनिक-  
सिद्धान्तेतिहास-शिष्ट-वेदान्त-न्याय-वैशेषिक-  
मीमांसादिप्रदशितपदार्थयुक्ताऽयुक्तवनिर्वाचकः ।

बृहद्भूमिको-पोद्गात-प्राकृतठयाकृति-प्राकृतशब्दरूपावस्थादिपरिशिष्टसहितः

मुनि-श्रीदीपविजय-श्रीयतीन्द्रविजयाचार्य संशोधितः,

छपाण्याय-श्री श्री १०० श्रीमन्मोहनविजयोपदेशतः-

श्रीजेनश्वेताम्बरसमस्त-सङ्केन महापरिभ्रमत्तः-प्राकाश्यं नीतः ।

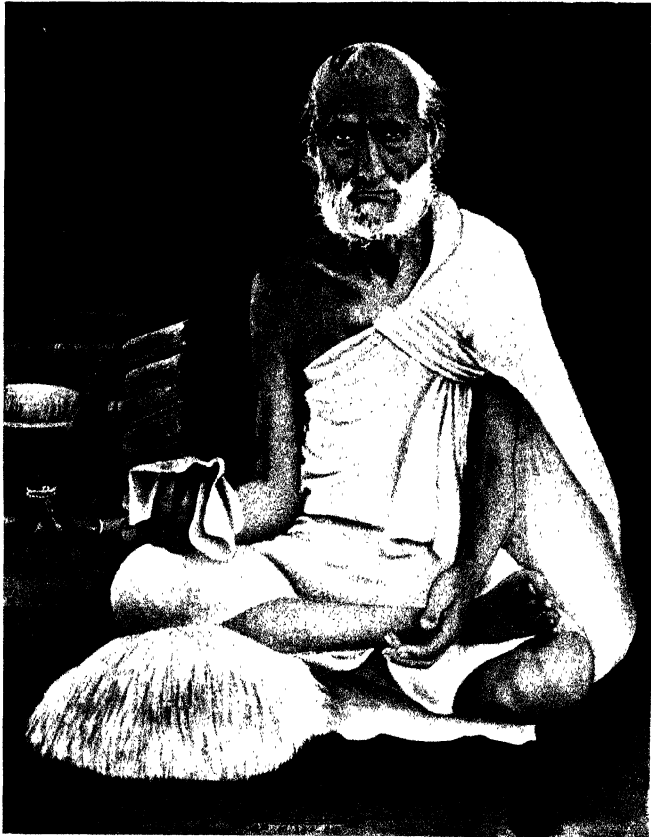
— \* श्रीजेनश्वेताम्बर प्रिंटिंग प्रेस, रत्नकाम - \*

{ श्रीवीर संवत् २४४० }  
{ श्रीराजेन्द्रवार संवत् ७ }

पम्बालये मुद्रितः  
मूल्य रु० ५५)

{ श्रीविक्रमाब्दः १९७० }  
{ क्रिस्ताब्दः १९९३ }

सुविहितसुगमिच्छकचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज-  
जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रमूर्तिश्वरजी महाराज ।



दम्पत्यान्विपशदन्तिदमने पञ्चाननग्रामिणी-राजेन्द्रामिषकोशमंप्रणयनात्मन्दीपजैनश्रुतः ।  
महन्धोपकृतिप्रयोगाकरणे निर्यथं कृती तारदाः, कोऽन्यः सुगिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ॥ १ ॥

जन्म म. १८५० मन्तपुर (म.प्र.) पत्न्यास्पद म. १९०० इदमपुर (म.प्र.) कियोडा (म.प्र.) ज्ञानराज म. १९००  
दीक्षा म. १८७० उदयपुर (म.प्र.) श्रीपूज्यपदवी म. १९०० आहोम-मन्तपुर निवास म. १९०० राजमहोदय मन्तपुर

## आजार-प्रदर्शनम् ।

—:—

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारहृष-आवासब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमधोगिराज-क्रियाशुद्धयुपकारक-श्रीसौभर्मबृहत्पोगच्छाय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-जहारक श्री १००८ प्रज्जु धीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का संकलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया । इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्ता के मुख्य पट्टपर शिष्य-श्रीमदधनचन्द्रसूरीजी महाराजने जी आपको बहुत सहायता दी । इस प्रकार करीब साठे चौदह वर्ष के अविभ्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्री सूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ ।

गवासियर रियासत के राजगढ (माखवा) में गुरुनिर्वाणोरसत्र के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनि श्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनि महाराजाओं की अध्यक्षता में माखवदेशीय-छोटे बड़े ग्राम-नगरे के प्रतिष्ठित-सदगृहस्थों की सामाजिक मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-महंम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन जैनेतर समानरूप से छाज प्राप्त कर सकें, इस लिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतन्नाम (माखवा) में सेठ जसुजी चतुर्जुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रत्नबदासजीत्-जागीरथजी, बीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंजीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सदगृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रजाकर'मिटिंग प्रेस स्वतन्त्र खोखाना चाहिये । कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त-जार मर्हुम-गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य मुनिश्रीदीपविजयजी ( श्रीम-  
द्विजयजूषेन्द्रसूरिजी ) और मुनिश्रीयतोंन्द्रविजयजी को सोंपा जाय । बस,  
प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदि ५ के दिन उक्त कोश को  
छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और  
उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः अपना गुरू हुआ,  
जो सं० १९७१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण उप जाने की सफलता  
को प्राप्त हुआ ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-  
कलिकास्तिसिद्धान्तशिरोमणि-प्रातःस्मरणीय—आचार्य-श्रीमद्भनचन्द्रसूरि-  
जी महाराज, उपाध्याय-श्रीमन्मेहनविजयजी महाराज, सखारित्र-  
मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवादेवाक-मुनिश्रीहुकुमविज-  
यजी महाराज, सत्कियावान्-महानपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज,  
साहित्यविशारद-विद्याजृषण-श्रीमद्विजयजूषेन्द्रसूरिजी महाराज, व्या-  
ख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतोंन्द्रविजयजी महाराज, हान्नी ध्यानी  
मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी,  
मुनिश्री-गुलाबविजयजी, मुनिश्री-हर्षविजयजी, मुनिश्री-हंसविजयजी,  
मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरोंने अपने अपने विहार के  
दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन मन  
और धन से पूर्ण सहायता पहुँचाई, और स्वयं भी अनेक ज्ञानि  
परिश्रम उगाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आज़ारी है ।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मवृद्धत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस  
महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-  
सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मवृद्धत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-माजवा—

श्रीसंघ-रतलाम ।

श्रीसंघ-वाँगरोद ।

श्रीसंघ-राजगढ़ ।

„ जाबरा ।

„ वारांदा-बड़ा ।

„ भाबुबा ।

श्रीसंघ-बदनगर ।	श्रीसंघ-सरसी ।	श्रीसंघ-भकपावदा ।
” खाबरोद ।	” खुंजाखेड़ी ।	” कूकसी ।
” मन्दसोर ।	” खरसोद-बड़ी ।	” आलीराजपुर ।
” सीतामऊ ।	” बीरोला-बड़ा ।	” रिंगनोद ।
” निम्पाहेड़ा ।	” मकरावन ।	” राणापुर ।
” इन्दौर ।	” बरडिया ।	” पारां ।
” उज्जैन ।	” (भाट)पचलाना ।	” टांडा ।
” महेन्दपुर ।	” पटलाबदिया ।	” बाग ।
” नयागाम ।	” पिपलीदा ।	” खवासा ।
” नीमष-सिटी ।	” दयाई ।	” रंभापुर ।
” संजीत ।	” बड़ी-कड़ोब ।	” भमला ।
” नारायणगढ़ ।	” धामणदा ।	” बोरी ।
” बरड़ाबदा ।	” राजोद ।	” नानपुर ।

### श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद ।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद) ।	श्रीसंघ-डीमा ।
” बीरमगाम ।	” बाब ।	” दूधवा ।
” सूतल ।	” भोरोल ।	” वातयम ।
” साणंद ।	” धानेरा ।	” वासण ।
” बम्बई ।	” थोराजी ।	” जामनगर ।
” पालनपुर ।	” डुवा ।	” खंभात ।

### श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर ।	श्रीसंघ-भीनमाल ।	श्रीसंघ-खिबगंज ।
” आह्लोर ।	” साधोर ।	” कोरदा ।
” जाह्लोर ।	” बागरा ।	” फतापुरा ।
” भेंसवाड़ा ।	” धानपुर ।	” जोगापुरा ।
” रमणिया ।	” आकोली ।	” भारुंदा ।
” मांकलेसर ।	” साधू ।	” पोमाबा ।
” देवाबस ।	” सियाणा ।	” बीजापुर ।
” विशानगढ़ ।	” काणोदर ।	” बाली ।
” मांडवला ।	” देलंदर ।	” खिमेल ।

अहम् ।

## ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त जीवन-परिचय ।



रागद्वेषप्रदाकुद्दयदलनकृते वैनतेयत्वमासः,

सूरीणामग्रगणयो गुणगणमहितो मोहनीयस्वरूपः ।

यः “श्रीराजेन्द्रसूरि”र्जगति गुरुवरः साधुवर्गे वरिष्ठः,

तस्य स्मर्तुं चरित्रं कियदपि यतते ‘श्रीघतीन्द्रो’ मुनीन्द्रः ॥ १ ॥



आज हम उन महापुरुषों का कर्णामूर्ति उपशम ( शान्त ) रसस्वरूप वर्तमान सकल जैना-गणपारदर्शी श्रीसौधर्मवृद्धचपागच्छीय प्रवर जैनाचार्य जटारक श्रीश्री १००८ श्रीमद्-विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का अत्यन्त प्रभावशाली संक्षिप्त जीवन-परिचय देंगे, जो कि इस चारत जूमि में अनेक विद्वानों के पूज्य परोपकारपरायण महाप्रभावक आ-चार्य हो गये हैं ।

पूर्वोक्त महात्मा का जन्म श्री विक्रम संवत् १८८३ पौषशुक्ल ७ गुरुवार सुताविक सन् १८९७ ईस्वी दि.सम्बर ३ तारीख के दिन ‘अठनेरा’ रेलवे स्टेशन से १७ मील दूर ‘आगरे’ के किले से ३५ मील पश्चिम राजपूताना में एक प्रसिद्ध देशी राज्य की राजधानी शहर ‘जरतपुर’ में पारखगोत्रावतंस ओश ( वास ) वंशीय श्रेष्ठवर्ष ‘श्रीऋषभदास जी’ की सुशोभा पत्नी ‘श्रीकेसरी बाई’ सौजाग्यवती की कुट्टि ( कूँख ) से हुआ था । आपका नाम रत्नों की तरह देदीप्यमान होने से जातीय जीमनवार पूर्वक ‘रत्नराज’ रक्खा गया था । आपके जन्मोत्सव में जगवद्भक्ति, पूजा, प्रभावना, दान आदि सत्कार्य विशेष रूप से कराये गये थे, यहाँ तक कि नगर की सजावट करने में जी कुछ कमी नहीं रक्खी गयी थी ।

आपकी बाढ्यावस्था जी इतनी प्रभावसंपन्न थी कि जिसने आपके माता पिता आदि परिवार के क्या ? अपरिचित सज्जनों के जी चित्तों में आनन्द-सागर का उद्भास कर दिया, अर्थात् सद्-लिये आनन्दोत्पादक और अतिमुखप्रद थी । आपने अपने बाढ्यावस्था ही में सुरभ्य वैनयिक श्रुणों से माता पिता और कलाचार्यों को रज्जित कर करीब दस बारह वर्ष की अवस्था में ही सांसारिक सब शिक्षाएँ संपन्न कर लीं थीं । आपके ज्येष्ठ ज्ञाता ‘मा-णिकचन्दजी’ और ठोटी बहन ‘प्रेमाबाई’ थी ।

पूज्य लोगों की आज्ञा पालन करना और माता पिता आदि पूज्यों को प्रणाम करना और प्रातःकाल उठकर उनके चरण कमलों को पूजकर उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त करना, यह तो आपका परमावश्यकिय नित्य कर्त्तव्य कर्म था ।

अहंम् ।

## ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त जीवन-परिचय ।



रागद्वेषप्रदाकुद्वयदलनकृते वैगतेयत्वमासः,  
सूरीणामग्रगण्यो गुणगगमहितो मोहनीयस्वरूपः ।

यः “श्रीराजेन्द्रसूरि”र्जगति गुरुवरः साधुवर्गे वरिष्ठः,

तस्य स्मर्तुं चरित्रं कियदपि यतते ‘श्रीयतीन्द्रो’ मुनीन्द्रः ॥ १ ॥



आज हम उन महानुजाब करुणामूर्ति उपशम ( शान्त ) रसस्वरूप वर्तमान सकलजेना-गमपारदर्शी श्रीसोभर्मबृहत्तपागच्छीय प्रवर जेनाचार्य जहारक श्रीश्री १००० श्रीमद्-विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का अत्यन्त प्रजावशाली संक्षिप्त जीवन-परिचय देंगे, जो कि इस जगत जूमि में अनेक विद्वज्जनों के पूज्य परोपकारपरायण महाप्रजाबक आ-चार्य हो गये हैं ।

पूर्वक महत्मा का जन्म श्री विक्रम संवत् १८८३ पौषशुक्ल ७ गुरुवार सुताविक सन् १८३७ ईस्वीं दिसम्बर ३ तारीख के दिन ‘अठनेरा’ रेलवे स्टेशन से १७ मील और ‘आगरे’ के किले से ३५ मील पश्चिम राजपूताना में एक प्रसिद्ध देशी राज्य की राजधानी शहर ‘जरतपुर’ में पारखगोत्रावतंस श्रोत्र ( वाख ) वंशीय श्रेष्ठिवर्य ‘श्रीऋषजदास जी’ की सुशोभा पत्नी ‘श्रीकेसरी बाई’ सौजाग्यवती की कुक्कि ( कुँख ) से हुआ था । आपका नाम रत्नों की तरह देदीप्यमान होने से जातीय जीमनवार पूर्वक ‘रत्नराज’ रक्खा गया था । आपके जन्मोत्सव में जगवद्जक्ति, पूजा, प्रजावना, दान आदि सत्कार्य विशेष रूप से कराये गये थे, यहाँ तक कि नगर की सजावट करने में जी कुछ कमी नहीं रक्खी गयी थी ।

आपकी बाह्यावस्था जी इतनी प्रच्छन्नसंपन्न थी कि जिसने आपके माता पिता आदि परिवार के क्या ? अपरिचित सब्बों के जी चित्तों में आनन्द-सागर का उल्लास करदिया, अर्थात् सद्गुरु शिष्ये आनन्दोत्पादक और अर्थात्सुखप्रद थी । आपने अपने बाह्यावस्था ही में सुरभ्य वैनयिक श्रुतियों से माता पिता और कलाचार्यों को रज्जित कर करीब दस बारह वर्ष की अवस्था में ही सांसारिक सब शिक्षाएँ संपन्न करली थीं । आपके ज्येष्ठ ज्ञाता ‘मा-णिकचन्दजी’ और ठोटी बहन ‘प्रेमाबाई’ थी ।

पूज्य लोगों की आज्ञा पालन करना और माता पिता आदि पूज्यों को प्रणाम करना और आत्मकाख उठकर उनके चरख कमलों को पूजकर उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त करना, यह तो आपका परमावश्यक नित्य कर्त्तव्य कर्म था ।

आपकी रमणीय चित्तवृत्ति निरन्तर स्वाभाविक त्रैराग्य की ओर ही आकर्षित रहा करती थी, इसीसे आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम शिक्षाओं को प्राप्त करने में उत्साही रहते थे।

सबके साथ मित्रजाव से वर्तना, पुज्यों पर पूज्य बुद्धि रखना, गुणवानों के गुणों को देख कर प्रसन्न होना, सत्समागम की अभिलाषा रखना, कलह से रुटना, हास्य कुतूहलों से उदासीन रहना, और दुर्व्यसनी लोगों की संगति से बचकर चलना, यह आपकी स्वाभाविक चित्तवृत्ति थी।

बारह वर्ष की अवस्था से कुछ ऊपर होने पर अपने पिता की आज्ञा लेकर बड़े भाई 'माणिकचंदजी' के साथ 'श्रीकेसरियाजी' महातीर्थ की यात्रा की, और रास्ते में 'अम्बर' शहर—निवासी सेठ 'सौभाग्यमलजी' की पुत्री के नाकिनी का दोष निवारण किया और जीलों के संकट से सारे कुटुम्ब को बचाया था। इसी सबब से इस उपकार के प्रत्युपकार में 'सौभाग्यमलजी' ने अपनी मुरूपा पुत्री 'रमादेवी' का सगपन (सगार्इ) आप (रत्नराज) के साथ संयोजन करने का मानसिक विचार किया था। परन्तु यहाँ संबन्धियों का संमेलन न होने के सबब से सेठजी अपने कुटुम्ब सहित घर की तरफ रवाना हो गये। इधर 'माणिकचंदजी' जी अपने छोटे चाई को यात्रा कराकर 'गोरुवाड' की पञ्चतीर्थी की यात्रा करते हुए अपने घर को चले आये।

कुठ दिन घर में रहकर फिर दोनों चाई व्यापारोन्नतिके निमित्त अपने पिता का शुजा-शीर्वाड ले बङ्गाल की ओर रवाना हुए। क्रमशः पन्थ प्रसार करते हुए दोनों चाई 'कलकत्ते' शहर में आए और सराफी बाजार में आहतिया के यहाँ उतरें। इस शहर में दस पन्द्रह दिन ठहर कर जहाजों में धान (गन्ना) जर, शुज मुहूर्त में 'सिंहलछोप' (सिलोन) की ओर रवाना हुए। मार्ग में अनेक उपद्रवों को सहन करते हुए 'सिंहलछोप' में पहुँचे। यहाँ से उद्योगपार्जन करके कुठ दिनों के बाद 'कलकत्ता' आदि शहरों को देखते हुए अपने घर को आये। तदनन्तर माता पिता की वृद्धावस्था समझ कर उनकी सेवा में तत्पर हो वहाँ ही रहना स्थिर किया।

काल की प्रबल गति अनिवार्य है, यह मनुष्यों को दुःखित किये बिना नहीं रहनी। अकस्मात् ऐसा समय आया कि—माता और पिता के अन्तिम दिन आ पहुँचे और दोनों चाइयों को अत्यन्त शोक होनेका अवसर आगया, परन्तु किञ्चिन् धैर्य पकर कर माता पिता की अन्तिम जक्ति करने में काटवद्ध हो, उनकी सुन्दर शिक्षाएँ सावधानी से ग्रहण कीं, और रातदिन उनके निकट ही रहना शुरू किया, यों करते काल समय आने पर जब माता पिता का देहान्त हो गया, तब दोनों चाई संसारी कृत्य कर विशेष शोक के बशीभूत न हो धर्मध्यान में निमग्न हुए।



तब से आपकी सुरम्य चित्तवृत्ति विशेषरूप से निरन्तर वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहने लगी, इसी से आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम मुनिराजों के दर्शन प्राप्त करने में प्रोत्साहित रहते थे ।

एक समय ' श्रीकल्याणसूरीजी ' महाराज के शिष्य-यतिवर्य ' श्री प्रमोदविजयजी ' महाराज विचरते विचरते शहर 'जरतपुर' में पधारे और आज्ञा लेकर उपाश्रय में उदरे । सब लोग आपके पास व्याख्यान सुनने आने लगे । इधर 'रत्नराज' जी देव दर्शन कर उपाश्रय में व्याख्यान सुनने के लिये आये । इस सुयोग्य सजा में 'श्रीप्रमोदविजयजी' महाराज ने संसार की कृष्णिक प्रीति के स्वरूप को बहुत विवेचन के साथ दिखाया कि— "अनित्यानि शरीराणि, विजयो नैव शाश्वतः" अर्थात् इस संसार में शरीरादि संयोग सब कृष्णिक हैं, याने देखने में तो सुन्दर लगते हैं परन्तु अन्त में अत्यन्त दुःखदायक होते हैं और धन दौलत जी विनाशवान् हैं इसके ऊपर मोह रखना केवल अज्ञान ही है, क्यों कि—

“ दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिद् भवे गर्जवासे नराणां,

बालस्थे चापि दुःखं मल्ललिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् ॥

तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभागेऽप्यमारः,

संसारे रे मनुष्याः ! वदत यदि मुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ? ” ॥ १ ॥

अर्थात् इस संसार में पहिले तो गर्जवासे ही में मनुष्यों को जनना के कुक्षि ( कूख ) में दुःख प्राप्त होता है, तदनन्तर बाल्यावस्था में जो मल्लपरिपूर्ण शरीर स्त्रीस्तनपयः पान से मिश्रित दुःख होता है, और जवानी में भी विरह आदि से दुःख उत्पन्न होता है, तथा वृद्धावस्था तो बिलकुल निःसार याने कफ वानादि के दोषों से परिपूर्ण है; इसलिये हे मनुष्यो ! जो संसार में थोड़ा नी सुख का लेश हो तो बनलाओ ? ॥ १ ॥

इसवास्ते अरे जवयो ! परमसुखदायक श्री जिनेन्द्रप्ररूपित अहिंसामय धर्म की आराधना करो जिससे आत्मकल्याण हो ।

इस प्रकार हृदयग्राहिणी और वैराग्योत्पादिका गुरुवर्य की धर्मदेशना सुनकर 'रत्नराज' के चित्त में अत्यन्त उदासीनता उत्पन्न हुई और विचार किया कि—वस्तुगत्या संयोग मोह ही प्राणीमात्र को दुःखित कर देता है, इससे मुझे उचित है कि—आत्मकल्याण करते के लिये इन्हीं गुरुवर्य का शरण ग्रहण करूँ, क्योंकि संसार के तापों से संतप्त प्राणियों की रक्षा करने वाले गुरु ही हैं ।

ऐसा विचार कर अपने संबन्धियों की अनुमति ( आज्ञा ) लेकर बड़े समागोह के साथ संवत् १९०३ वैशाख सुदी ५ शुक्रवार के दिन शुभयोग और शुभ नक्षत्र में महाराज 'श्री प्रमोदविजयजी' के कहने से उनके ज्येष्ठ गुरुप्राता 'श्रीहेमविजयजी' महाराज के पास यतिदीक्षा स्वीकार की, और संघ के समस्त आपका नाम 'श्रीरत्नविजयजी' रखवा गया ।

महानुभाव पाठकगण ! उस समय यतिप्रणाली की मर्यादा, प्रचलित प्रणाली से अ-

त्यन्त प्रशंसनीय थी अर्थात् रजोदण मुहपत्नी सर्वदा पास में रखना, दोनों काल ( समय ) प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन करना, श्वेत-मानोपेन वस्त्र धारण करना, स्त्रियों के परिचय से सर्वथा बहिर्ज्ञत रहना, पठन और पाठन क अतिरिक्त व्यर्थ समय न खोकर निद्रादेवी के वशीजत न होना, निन्तर अपनी उन्नति के उपाय खोजना, और धर्म-विचार या शास्त्रविचार में निमग्न रहना इत्यादि सदाचारसे अतीव प्रशंसनीय प्राचीन समय में यतिवर्ग था। जैसे आज कल यतियों की प्रथा विगड़ गयी है, वैसे वे लोग विगड़े हुए नहीं थे, किन्तु इनसे बहुत ज्यादा सुधरे हुए थे। हाँ इतना जरूर था कि उस समय (१९०३) में जी कोई श यति परिग्रह रखते थे, परन्तु महाराज 'श्रीप्रमोदविजयजी' की रहनी कदनी विलकुल निर्दोष थी, अर्थात् उस समय के और (दूसरे) यतियों की अपेक्षा प्रायः बहुत जागों में सुधरी हुई थी, इसी से पुरुषरत्न 'श्री रत्नराजजी' ने वैराग्यरागरजित हो यतिदीक्षा स्वीकार की थी।

फिर कुछ दिन के बाद 'श्रीप्रमोदविजयजी' गुरूकी आज्ञा से श्रीरत्नविजयजी ने 'मूंगी सरस्वती' विरुद्ध धारी यतिवर्ग श्रीमान् 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज के पास रहकर व्याकरण, न्याय, कोष, काव्य, और अलङ्कार आदि का विशेष रूप से अध्ययन किया। 'श्रीप्रमोदविजयजी' और 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज की परस्पर अत्यन्त मित्रता थी। जब दोनों का परस्पर मिलाप होता था, तब लोगों को अत्यन्त ही आनन्द होता था। यद्यपि दोनों का गच्छ जिन श था, तथापि गच्छों के ऊगको में न पढ़कर केवल धार्मिक विचार करने में तत्पर रहते थे, इसलिये 'श्रीसागरचन्द्रजी' ने आपको अपने अन्तःवासि ( शिष्य ) की तरह पढ़ाकर हुशियार किया था।

'सागरचन्द्रजी' मरुधर (मारवाड़) देश के यतियों में एक जारी विद्वान् थे, इनकी विद्वत्ता की प्रख्याति काशी ऐसे पुन्यक्षेत्र में भी थी, आप ही की गुप्त कृपा से श्रीरत्न-विजयजी स्वल्पकाल ही में व्याकरण आदि शास्त्रों में निपुण और जैनागमों के विज्ञाता हो गये, परन्तु विशेषरूप से गुरुगम्य शैली के अनुसार अध्ययन करने के लिये तपागच्छा-धिराज श्रीपूज्य 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज के पास रहकर जैनसिद्धान्तों का अवलोकन किया और गुरुदत्त अनेक चमत्कारी विद्याओं का साधन किया।

आपके विनयादि गुणों को और वृद्धिचक्रणता को देखकर 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज ने आपको शहर 'उदयपुर' में 'श्रीहेमविजयजी' के पास बकी दीक्षा और 'पन्यास' पदवी प्रदान करवाई थी और अपने अन्त समय में 'पं० श्रीरत्नविजयजी' से कहा कि- "अब मेरा तो यह समय आलगा है, और मैंने अपने पाट पर शिष्य 'श्रीधीरविजय' को धरणे-न्द्रसूरि' नामाङ्कित करके बैठाया तो है किन्तु अभी यह अङ्क है, याने व्यवहार से परिचित नहीं है। इसलिये तुमको मैं आदेश करता हूँ कि-इसको पढ़ाकर साक्षर बनाना

और गच्छ की मर्यादा सिखाना ”। इस गुज्र आज्ञा को सुनकर ‘पं० रत्नविजयजी’ ने सा-  
ञ्जलिवन्ध होकर ‘तद्दत्ति’ कहा। फिर श्रीपृज्यजी महाराज ने विजयधरणेन्द्रसूरिजी से कहा  
कि— ‘तुम रत्नविजय पन्यास के पास पढ़ना और यह जिस मर्यादा से चलने को कहें उसी  
तरह चलना’। धरणेन्द्रसूरिजी ने जी इस आज्ञा को शिरोधार्य माना।

महाराज श्रीदेवेन्द्रसूरिजी ने तो चारों आहार का त्याग कर शहर ‘राधनपुर’ में अनशन  
किया और समाधिपूर्वक कालमहीने में काल किया। पीछे से पट्टाधीश ‘श्री धरणेन्द्रसूरिजी’  
ने ‘श्रीरत्नविजयजी’ पन्यास को बुलाने के लिये एक रुक्ता लिखा कि पेस्तर ‘श्रीखन्तिविज-  
यजी’ ने खवटकर उदयपुर राणाजी के पास से ‘श्रीदेवेन्द्रसूरिजी’ महाराज को पालखी  
प्रमुख शिरोपाव बक्सया था। उन्नी प्रकार तुम को जी उचित है कि ‘सिद्धविजयजी’ से बन्द  
हुआ जोधपुर और बीकानेर नरेशों की तरफ से छड़ी दुशाळा प्रमुख शिरोपाव का ख-  
वटकर फिर गुरु कराओ, इस रुक्के को बाँचकर ‘श्री प्रमोदविजयजी’ महाराज ने कहा कि-  
“मृचिप्रवेशे मुशलप्रवेशः” यह लोकोक्ति बहुत सत्य है, क्यों कि ‘श्री हीरविजय सूरिजी’  
महाराज की उपदेशमय वचनों को सुनकर दिल्लीपति बादशाह अकबर अत्यन्त दर्पित  
हुआ और कहने लगा कि—“ हे प्रजो! आप पुत्र, कलत्र, धन, स्वजनानि में तो ममत्व  
रहित हैं इसलिये आपको सोना चाँदी देना तो ठीक नहीं?, परन्तु मेरे मकान में जैन  
मजहब की प्राचीन २ बहुत पुस्तकें हैं सो आप लीजिये और मुझे कृतार्थ करिये ”। इस  
प्रकार बादशाह का बहुत आग्रह देख ‘हीरविजय सूरिजी’ ने उन तमाम पुस्तकों को आगरा  
नगर के ज्ञानजएकार में स्थापन किया। फिर आरम्भर सहित उपाश्रय में आकर बादशाह  
के साथ अनेक धर्मगोष्ठी की; उसने प्रसन्न हो उत्र, चामर, पालखी वगैरह बहु मानार्थ  
‘श्री हीरविजय सूरिजी’ के अग्राहो नित्य चलाने की आज्ञा अपने नोकरों को दी। तब हीरवि-  
जय सूरिजी ने कहा कि हम लोग जंजाल में रहित हैं इससे हमारे आंग यह तृष्णा उचित  
नहीं है। बादशाह ने विनय पूर्वक कहा कि—‘हे प्रजो! आप तो निस्पृह हैं परन्तु मरी जक्ति है  
सो आपके निस्पृहपन में कुछ दोष लगने का संभव नहीं है’। उम समय बादशाह का अत्य-  
न्त आग्रह देख श्रीमंथ ने विनती की कि—स्वामी! यह तो जिनशासन की शोभा और  
बादशाह की जक्ति है इसलिये आपके आगे चलने में कुछ अटकाव नहीं है। गुरुजी ने  
जी इत्य, क्षेत्र-काल, जाव की अपेक्षा विचार मौन धारण कर लिया। वस उन्नी दिन से श्री-  
पृज्यों के आगे शोचातरीके पालखी छोड़ी प्रमुख चलना शुरू हुआ। “ श्री विजयरत्न  
सूरिजी ” महाराज तक तो कोई आचार्य पालखी में न बैठे, परन्तु ‘लघुदामसूरिजी’  
वृद्धावस्था होने से अपने शिथिलाचारी साधुओं की प्रेरणा होने पर बैठने लगे। इतनी रीति  
कायम रखी कि गौँम में आने समय पालखी से उतर जाने थे. तदनन्तर ‘दयासूरिजी’ तो  
गौँव नगर में जी बैठने लगे। इस तरह क्रमशः धीरे-धीरे शिथिलाचार की प्रवृत्ति चलने चलने  
अत्यन्त शिथिल होगये क्योंकि पेस्तर तो कोई रजा वगैरह प्रसन्न हो ग्राम नगर क्षेत्रादि

शिरोपाव देता तो उसको स्वीकार न कर उसके राज्य में जीववधादि हिंसा को लुफाकर आचार्य धर्म की प्रवृत्ति में वधारा करते थे, और अब तो 'श्रीपूज्य' नाम धराकर खुद खे-वट कराके शिरोपाव लेने की इच्छा करते हैं, यह सब दुःपम काल में शिथिलाचारादि-प्रवृत्ति का प्रजाव जानना चाहिये। अत एव हे शिष्य! "श्रीपूज्यजी ने जो कुछ लिखा है उस प्रमाणे उद्यम करना चाहिये, क्योंकि बहुत दिन से अपना इनके साथ संबन्ध चला आता है उसको एक दम तोड़ना ठीक नहीं है"। तब अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास रत्नविजयजी जी नवीन श्रीपूज्यजी को दत्तचित्त होकर पढ़ाना प्रारम्भ किया और गच्छाधीश की मर्यादानुसार बर्ताव कराना शुरू किया। श्री-पूज्यजी ने अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास श्री रत्नविजयजी को विद्यागुरु समझकर आदर, सत्कार, विनय आदि करना शुरू किया। पन्यासजी ने भी श्रीपूज्य आदि सोलह व्यक्तियों को निःस्वार्थ वृत्ति से पढ़ाकर विद्वान् कर दिया। श्रीपूज्यजी महाराज ने अपने विद्यागुरु का महत्त्व बढ़ाने के लिये दफतरीपन का थोड़ा [ अधिकार ] सौंपा अर्थात् जो पदवियाँ किसी को दी जायँ और यतियों को अलग चौमासा करने की आज्ञा दी जाय तो उनको पढ़ा पन्यास 'श्री रत्नविजयजी' के सिवाय दूसरा कोई जी नहीं कर सके ऐसा अधिकार अर्पण किया। तब ज्योतिष, वैद्यक और मंत्रादि से जोधपुर और बीकानेर नगेशों को रञ्जितकर छठी दुशाखा प्रमुख शिरोपाव और परवाना श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को जेट कराया।

एक समय संवत् १९२३ का चौमासा 'श्री धरणेन्द्रसूरिजी' ने शहर 'घाणेरव' में किया उस समय पं० श्रीरत्नविजयजी आदि ५० यति साथ में थे परन्तु ज्वितव्यता अत्यन्त प्रबल होती है करोड़ों उपाय करने पर जी बह [ हानहार ] किसी प्रकार टल नहीं सकती, जिस मनुष्य के लिये जितना कर्त्तव्य करना है वह होही जाता है, याने पर्युषणा में ऐसा मौका आ पड़ा कि श्रीपूज्यजी के साथ श्रीरत्नविजयजी का अंतर के बाबत चित्त उद्विग्न हो गया, यहाँ तक कि उस विषय में अत्यन्त वाद विवाद बढ़ गया, इससे रत्न-विजयजी जाड्रपद सुदी २ द्वितीया के दिन 'श्रीप्रमोदरुचि' और 'धनविजयजी' आदि कई सुयोग्य यतियों को साथ लेकर 'नाफोल' होते हुए शहर 'आहोर' में आये और अपने गुरु श्री प्रमोदविजयजी को सब हाल कह सुनाया। जब गुरुमहाराज ने श्रीपूज्य को हितशिक्षा देने के लिये श्रीसंघ की संमति से पूर्व परंपराऽऽगत सूरिमंत्र देकर रत्नविजयजी को अत्यन्त महोत्सव के साथ संवत् १९२३ वैशाख सुदी ५ बुधवार के दिन 'आचार्य' पदवी दी और उसी समय आहोर के ठाकुर साहब 'श्रीयशवन्तसिंह' जी ने श्रीपूज्य के योग्य ठकी, चामर, पालखी, सूरजमुखी आदि सामान जेट किया। और श्रीसंघ ने श्रीपूज्यजी को 'श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी' महाराज के नाम से प्रख्यात करना शुरू किया।

श्रीपूज्य श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी महाराज अपनी सुयोग्य यतिमण्डली सहित ग्राम

ग्राम विहार करते हुए भेवाड़देशस्थ 'श्रीशंजूगढ़' पधारे। यहाँ के चौमासी 'श्री फतेहसागरजी' ने फिर पाटोच्छव करा के राणाजी के 'कामेती' के पास जेट पूजा करायी। फिर गाँवो गाँव श्रावकों से 'खमासमणा' कराते हुए संवत् १९१४ का चौमासा 'श्रीसंघ' के अत्यन्त आग्रह से शहर 'जावरे' में किया और 'श्रीजगवतीजी' सूत्र को व्याख्यान में बाँचा। यहाँ पर जनाणी मीठाखालजी प्रमुख श्रावकों के मुख से श्रीपूज्यजी की प्रशंसा सुनकर 'नवाबसाहेब' ने एक प्रश्न पुछाया कि—“तुम्हारा धर्म हम अंगीकार करें तो हमारे साथ तुम खाना पीना करसकते हो, या नहीं”। इसका उत्तर श्रीपूज्यजी महाराज ने यह फरमाया कि—“दीन का और जैन का घर एक है इसलिये चाहे जैसी जानिवाला मनुष्य जैनधर्म पाखता हो उसके साथ हम बन्धु से जी अधिक प्रेम रख सकते हैं, किन्तु लोकव्यवहार अस्पृश्य जाति न हो तो हम जैन शास्त्र के मुताबिक खाने पीने में दोष नहीं समजते हैं” इत्यादि प्रश्न का उत्तर सुन और सन्तुष्ट हो अपने वजीर के जरिये मोहर परवाना सहित आपदागिरि, किरणीया, बगैरह खवाजमा जेट कराया। इस चौमासे में 'धरणेन्द्रसूरि' ने एक पत्र (रुक्का) लिखकर अपने नामी यति 'सिद्धकुशलजी' और 'मोतीविजयजी' को जावरे संघ के पास भेजा। उन दोनों ने आकर संघ से सब वृत्तान्त (हकीकत) कहा, तब संघ ने उत्तर दिया कि—‘हम ने तो इनको योग्य और उचित क्रियावान् देखकर श्रीपूज्य मान लिया है और जो तुम्हारे जी श्रीपूज्य गच्छमर्यादाऽनुसार चलेंगे तो हम उन्हें जी मानने को तैयार हैं।

इस प्रकार बात चीत करके दोनों यति आपके पास आये और वन्दन विधि साँचवकर बोले कि—आप तो बड़े हैं, थोड़ीसी बात पर इतना जारी कार्य कर खालना ठीक नहीं है, इस गादी की बिगड़ने और सुधरने की चिन्ता तो आपही को है। तब आपने मधुर वचनों से कहा कि—मैं तो अब क्रियाउद्धार करने वाला हूँ मुझे तो यह पदवी बिलकुल उपाधिरूप मालूम पकती है परन्तु तुम्हारे श्रीपूज्यजी गच्छमर्यादा का उल्लंघन करके अपनी मनमानी रीति में प्रवृत्त होने लग गये हैं, इस वास्ते उनको नव कलमें मंजूर कराये बिना अजी क्रियाउद्धार नहीं हो सकता। ऐसा कह नव कलमों की नकल दोनों यतियों को दी, तब उस नकल को लेकर दोनों यति श्रीपूज्यजी के पास गये और सब वृत्तान्त कह सुनाया तब श्रीपूज्यजी ने जी उन कलमों को बाँच कर और हितकारक समजकर मंजूर की और उस पर अपनी सही जी कर दी और साथ में सूरिपद की अनुमति जी दी।

इस प्रकार श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को गच्छसामाचारी की नव कलमों को मनाकर और अपना पाँच वर्ष का लिया हुआ 'अजिग्रह' पूर्ण होने पर जावरे के श्रीसंघ की पूर्ण विनती होने से वैराग्यरङ्गरञ्जित हो श्रीपूज्याचार्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरी—श्वरजी महाराज ने अपना श्रीपूज्यसंबन्धी ढनी, चामर, पाखली, पुस्तक आ-

दि सब सामान श्रीमुपार्थनाथजी के मंदिर में चढ़ाकर संवत् १९१५ आषाढ वदि १० बुधवार के दिन अपने सुयोग्य शिष्य मुनि श्री प्रमोदरुचिजी और श्री धनविजयजी के साथ बड़े समारोह से क्रिया-उद्धार किया, अर्थात् संसारवर्द्धक सब उपाधियों को ठोक कर सदाचारी, पञ्च महाव्रतधारी सर्वोत्कृष्ट पद को स्वीकार किया। उस समय प्रत्येक गामों के करीब चार हजार श्रावक हाजिर थे उन सबों ने आपकी जयध्वनि करते हुए सोर शहर को गुंजार कर दिया।

क्रियाउद्धार करने के अनन्तर खाचरोद संघ के अत्यन्त आग्रह से आपका प्रथम चौमासा (संवत् १९२५ का) खाचरोद में हुआ, इस चौमासे में श्रावक और श्राविकाओं को धार्मिक शिक्षण बहुत ही उत्तम प्रकार से मिला और सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हुई। चौमासे के उतार में श्रीसंघ की ओर से अटार्ई महोत्सव किया गया, जिसपर करीब तीन चार हजार श्रावक श्राविका एकत्रित हुए, जिसमें जैन धर्म की बड़ी तारी उन्नति हुई: इस चौमासे में पाँच सात हजार रुपये खर्च हुए थे और जीर्णोद्धारदि अनेक सत्कार्य हुए। फिर चतुर्मासे के उत्तरे बाद प्रामान्याम विहार करने हुए, 'नीवारु' देशान्तर्गत शहर 'कृकसी' की ओर आपका पधारना हुआ। 'कृकसी' में आम्बोजी देवीचन्दजी आदि अच्छे श्र विद्वान श्रावक रहते थे, जिनके व्याख्यान में पाँच पाँच सौ श्रावक लोग आते थे, इन दोनों श्रावकों ने आपके पास इत्याद्योगविषयक अनेक प्रश्न पूछे, जिनके उत्तर आपने बहुतही सन्तोषदायक दिये। उन्हें सुनकर और आपका साधुव्यवहार शुरु देखकर अतीव समारोह के साथ सब श्रावक और श्राविकाओं ने विधि पूर्वक सम्यक्त्व व्रत स्वीकार किया। यहाँ उन्तीस १९ दिन रहकर अनेक लोगों को जैनमार्गानुगामी बनाया। फिर क्रम से संवत् १९२६ गतलाम, १९२७ कृकसी, १९२८ राजगढ़ और फिर १९२९ का चौमासा गतलाम में हुआ। इस चौमासे में संवर्गी जवेग्मा-गर्जा और यती बालचन्दजी उपाध्याय के साथ चर्चा हुई, जिसमें आपको ही विजय प्राप्त हुआ और 'मिळान्तप्रकाश' नामक बहुतही सुन्दर ग्रन्थ बनाया गया। संवत् १९३० का चौमासा जावरा में और १९३१ तथा १९३२ का चौमासा शहर 'आहोर' में हुआ। ये दोनों चौमासे एकही गाँव में एक जगो जातीय जगद के मिटाने के लिये हुए थे, नहीं तो जैन साधुओं की यह रीति नहीं है कि जिस गाँव में एक चौमासा कर लिया, उसी गाँव में फिर तदनन्तर दूसरे साल का चौमासा करना, परन्तु कोई लातालाज का व्यवसाय हो तो कारण सर चौमासा पर ही चौमासा हो सकता है।

संवत् १९३३ का चौमासा शहर जालोर में हुआ, यहाँ पर दृष्टियों के साथ चर्चा कर सात सौ ७०० घर मन्दिरमार्गी बनाये और गढ़ के ऊपर राजा कुमारपाल के बनाये हुए प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कगया, और कुम्भ सेठ का बनाया हुआ जो चौमुखजी का मन्दिर था, उनमें से सरकारी सामान निकलवा कर बड़े समारोह से शास्त्रीय विधि पूर्वक

प्रतिष्ठा करागो। सम्बन् १९३४ राजगढ़, १९३५ रतलाम, १९३६ चीनमाल, १९३७ शिवगंज, १९३८ आलीराजपुर, १९३९ कूगसी, १९४० राजगढ़, और १९४१ का चौमासा शहर अहमदाबाद में हुआ। इस चौमासे में आत्मरामजी के साथ पत्रद्वारा चर्चा वार्ता हुई और बहुत धार्मिक उन्नति जी हुई।

सम्बन् १९४२ धोराजी, १९४३ धानेरा, और १९४४ का चौमासा 'धराद' में हुआ। यहाँ श्रीजगवती जी सूत्र व्याख्यान में बाँचा गया, जिसपर सङ्घ ने जारी उत्सव किया और प्रति प्रश्न तथा उत्तर की पूजा की। सं० १९४५ वीरमगँम, और १९४६ का चौमासा सियाणा में हुआ, इस चौमासे में 'अग्निधानराजेन्द्र कोष' बनाने का आरम्भ किया गया। सं० १९४७ में गुफा, १९४८ आहोर, और १९४९ का चौमासा 'निबादेरा' में हुआ। इसमें दूँढकपन्थियों के पुत्र नन्दरामजी के साथ चर्चा हुई, जिसमें दूँढियों को परास्त करके साठ ६० घर मन्दिरमार्गी बनाये। सं० १९५० खाचरोद, १९५१ और १९५२ का चौमासा 'अग्निधानराजेन्द्रकोष' के काम चलने से राजगढ़ही में हुए। सं० १९५३ में चौमासा शहर 'जावरे' में हुआ, यहाँ कालिक महीने में बड़े समारोह के साथ संघ की तरफ से अट्टाई महोत्सव किया गया, जिसमें बीस हजार रुपये खर्च हुए और विपक्षी लोगों को अच्छी रीति से शिक्षा दी गयी, जिससे जैन धर्म की बहुत जारी उन्नति हुई। सं० १९५४ का चौमासा शहर रतलाम में हुआ, यहाँ जी आछाई महोत्सव बड़े धूमधाम से हुआ, जिस पर करीब दश हजार श्रावक और श्राविकाएँ आपके दर्शन करने को आई, और संघ की ओर से उनकी जक्ति पूर्ण रूप से हुई, जिसमें सब खर्च करीब बीस हजार के हुआ, विशेष प्रशंसनीय बात यह हुई कि पाखण्डी लोगों को पूर्ण रूप से शिक्षा दी गयी, जिससे आपको बड़ा यश प्राप्त हुआ।

सम्बन् १९५५ का चौमासा मारवाड़ देश के शहर 'आहोर' में हुआ, इस चौमासे में श्री धार्मिक उन्नति विशेष प्रकार से हुई और इसी वर्ष में श्रीआहोरसंघ की तरफ से 'श्रीगोत्रीपार्श्वनाथजी' के बावन ५२ जिनालय (जिनमंदिर) की प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाका आपही के करकमलों से करायी गयी, जिसके उत्सव पर करीब पचास हजार श्रावक श्राविकाएँ आई और मन्दिर में एक लाख रुपयों की आमद हुई। इस अञ्जनशलाका में नौ सौ ९०० जिनेन्द्रबिम्बों की अञ्जनशलाका की गयी थी, इतना जारी उत्सव मारवाड़ में पहिले पहिले यही हुआ। इतने मनुष्यों के एकत्र होने पर जी कुछ जी किसीकी जो हानि नहीं हुई यह सब प्रजाव आपही का था। सं० १९५६ का चौमासा शहर शिवगञ्ज में हुआ। जिस में अपने गच्छ की मर्यादा विगढ़ने न पावे इस लिये इस चौमासे में अपने साधु और श्रावक संबन्धी पैंतीस सामाचारी (कलमें) जाहूर कीं, जिसके मुताबिक आजकल आपका साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ वर्ताव कर रहा है।

सम्बन् १९५७ का चौमासा शहर सियाणा में हुआ। यहाँ श्रीसंघ की तरफ से महाराज

कुमारपाल का बनवाया हुआ 'श्रीसुविधिनाथ जी' के जिनमन्दिर का उद्धार आपही के उपदेश से कराया गया था और आस पास चौबीस देवकुलिका बनायी गयी थी और उनकी प्रतिष्ठा आपके ही हाथ से करायी गयी, इस उत्सवपर मन्दिर में सत्तर ७० हजार रुपयों की आमद हुई और दिव्य एक पाठशाखा जी स्थापित हुई।

सं० १९५० का चौमासा आहौर, और १९५९ का शहर 'जाखोर' में हुआ। इस चौमासे में जैनधर्म की बहुत बड़ी उन्नति हुई और मोंदियों का कुसंप हटाकर सुसंप किया गया। फिर चौमासा उत्तरे बाद शहर आहौर में दिव्य ज्ञानजएकार की और एक घूमटदार जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा की। इस ज्ञानजएकार में बहुत प्राचीन ३ ग्रन्थ हैं। पैतालीस आगम और उनको पञ्चाङ्गी तिबरीती (तेहरी) मौजूद है और प्राचीन महर्षियों के बनाये ग्रन्थ जी अगणित मौजूद हैं, और छपी हुई पुस्तकें जी अपरिमित संग्रह की गयी हैं, इसकी सुरक्षा के लिये एक अत्यन्त सुन्दर मार्बुल (पाषाण) की आलमारी बनायी गयी है, जिसके चारों तरफ श्रीगौतमस्वामी जी, श्रीसरस्वती जी, श्रीचक्रेश्वरी जी, और श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर जी की मूर्तियां विराजमान हैं। यह जएकार आपही की कृपा से संग्रहीत हुआ है। फिर सूरीजी महाराज आहौर से विहार कर 'गुने' गाम में पधारे। यहाँ माघसुदी ५ के दिन 'अचला जी' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की। तदनन्तर शिवगञ्ज होकर 'वाली' शहर में पधारे। यहाँ तीन श्रावकों को दीक्षा देकर 'श्रीकेशरिया जी' और 'श्रीसिद्धाचल जी', तथा 'जोगणी जी' आदि सुतीर्थों की यात्रा करते हुए शहर 'सुरत' में पधारे। यहाँ पर सब श्रावकों ने बड़े ज़ारी समारोह से नगरप्रवेश कराया और संवत् १९६० का चौमासा इसी शहर में हुआ। इस चौमासे में बहुत से धर्मजोही लोगों ने आपको उपसर्ग किया, परन्तु सद्धर्म के प्रजाव से उन धर्मजोही धर्मनिन्दकों का कुछभी जोर नहीं चला किन्तु सूरीजी महाराज को ही विजय प्राप्त हुआ। इस चौमासे का विशेष दिग्दर्शन 'राजेन्द्रसूर्योदय' और 'कदाग्रह दुर्ग्रह नो शान्तिमन्त्र' आदि पुस्तकों में किया जा चुका है, इससे यहाँ फिर लिखना विष्टपेण होगा।

संवत् १९६१ का चौमासा शहर 'कूगसी' में हुआ। इसी चौमासे में सूरीजी महाराज ने हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण को उन्दोबद्ध संदर्भित किया, यह बात उसके प्रशस्तियों में लिखी है—

दीपविजयमुनिनाऽहं यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन । विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमिदाम् ॥

अत एव विक्रमाब्दे, जैरंगमैतवविधुमिते दशम्यां तु । विजयाख्यां चतुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥

हेमचन्द्रसंरचितप्राकृतमूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् । पद्यमयीं मन्वन्दोवन्दै ग्यामकार्षमिदाम् ॥

अर्थात् मुनिदीपविजय और यतीन्द्रविजय नामक दोनो शिष्यों से उन्दोबद्ध प्राकृतव्याकरण बनाने के लिये मैं प्रार्थित हुआ, इसीलिये विक्रम सं० १९६१ के चौमासे में आ-



श्विनशुक्ल विजय दशमी को कृकसीनगर में श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित प्रकृतसूत्रों की वृत्तिरूप इस प्राकृतव्याकरण को अन्धे छन्दों में मैनें रचा ।

चौमासे के उतार पर गाँव ' बाग ' में ' विमलनाथ स्वामी जी ' की अञ्जनशलाका ( प्रतिष्ठा ) करायी; फिर माह महीने में शहर ' राजगढ़ ' में ख-जानची ' चुझीलाल जी ' के बनवाये हुए ' अष्टापद जी ' के मन्दिर की अञ्जनशलाका ( प्रतिष्ठा ) करायी। और शहर ' राणापुर ' में ' श्री धर्मनाथस्वामी ' की अञ्जनशलाका ( प्रतिष्ठा ) करायी। तदनन्तर ' खाचरोद ' शहर में पधारे। यहाँ कुछ दिन ठहर कर शहर जावरे में ' लखवा जी ' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की, और सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर ' खाचरोद ' में किया। इस चौमासे में आवने चीरोलावालों को बरुं संकट ( दुःख ) से हड़ुया। ' चीरोला ' मालवे में एक ठोटासा गाँव है, यह गाँव दार्इसौ वर्षों से जातिबाहर था, कारण यह था कि शहर ' रतलाम ' और ' सीतामऊ ' की दो बारातें एकदम एकही लड़की पर आयीं, जिसमें सीतामऊ वाले व्याह ( परण ) गये और रतलाम वाले योहीं रहगये। इससे इन्होंने क्रोधित हो चीरोलावालों को जानिबाहर कर दिया। फिर वह ऊगड़ा चला तो बहुत वर्षों तक चलता ही रहा परन्तु जाति में वे लोग न आसके, यहाँ तक कि मालवे जर में सब जगह चीरोलावाले जातिबाहर हो गये। कई मरतवा चीरोलावालों ने रतलामवाले पंचों को एक २ लाख रुपया दफर देना चाहा लेकिन ऊगड़ा नहीं मिटसका, तब बासठ १९६३ के चौमासे में चीरोलावाले सब श्रावक लोग आकर विनती की और सब हास कह सुनाया, तब आपने दया कर खाचरोद आदि के श्रीसंघ को समजाया और सबके हस्ताक्षर कराकर बिना दफर लिये ही जाति में शामिल करादिया। यह कार्य असाधारण था, क्यों कि इसके लिये पहिले बरुं ३ साहूकार और साधुलोग परिश्रम कर चुके थे किन्तु कोई जी सफलता को नहीं प्राप्त हुआ था। आपके प्रजाव ने सहज ही में इस कार्य को पार लगा दिया। इसीसे आपकी उपदेश-प्रणाली किननी प्रबल थी यह निःसंशय मालूम परुसकती है; यह एकही काम आपने नहीं किया किन्तु ऐसे सैकड़ों काम किये हैं।

सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर ' बरुनगर ' में हुआ, यहाँ चारो महीना धर्मध्यान का बरुनजारी आनन्द रहा और अनेक प्रशंसनीय कार्य हुए। इस प्रकार कियाउद्धार करने के बाद आपके ३९ उनतालीस चौमासा हुए। इन सब चौमासाओं में अनेक कार्य प्रशंसनीय हुए और श्रावकों ने स्वामीजिकि अष्टाहिकामहोत्सव आदि सत्कार्यों में खूब ड्रव्य लगाया। कम से कम प्रत्येक चौमासे में ५००० हजार से लेकर २०००० हजार तक खरचा श्रावकों की तरफ से किया गया है, इससे अतिरिक्त शेष काल में जी आपने उलटे मार्ग में जाते हुए अनेक भव्यवर्गों को रोक कर शुरू सम्यक्त्वधारी बनाया। आपके उपदेश का प्रजाव इतना तीव्र था कि जिसको सुनकर कष्टर छेपी जी शान्त स्वजाव वाले होगये।

रात्रिभोजन नहीं करना, जीवों को जानकर नहीं मारना, चोरी नहीं करना इत्यादि अनेक नियम जिन्होंने आपसे लिखे हुए हैं और जैनधर्मविषयक दृढ नियमों को परिपालन कर रहे हैं ऐसे आपके उपदेशी केवल जैन ही नहीं हैं किन्तु अन्यमतवाले भी हैं ।

यति अवस्था में जी आपने सम्बत् १९०४ का चौमासा मेवाड़ देशस्थ शहर 'आकोला' में किया था । फिर क्रमशः इन्दौर, उज्जैन, मन्दसौर, उदयपुर, नागौर, जेसलमेर, पाली, जोधपुर, किसनगढ़, चित्तौर, सोजत, शंजुगढ़, बीकानेर, सादरी, जिलाफे, रतलाम, अजमेर, जालोर, घाणेराम, जावरा इत्यादि शहरों में चौमासा कर सैकड़ों जवजीरु महा-नुजावों को जैनधर्म के संमुख किया ।

आपकी विद्वत्ता सारे जारतवर्ष में प्रख्यात थी, कोई जी प्रायः ऐसा न होगा जो आपके नाम से परिचित न हो । ज्योतिषशास्त्र में जी आपका पूर्ष ज्ञान था, जहाँ जहाँ आपके दिये हुए मुहूर्त से प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाकाएँ हुई हैं वहाँ जहाँ हजारों जनसमूह के एकत्र होने पर जी किसी का शिर जी नहीं टुखा । आपके द्वाय से कम से कम बार्डस अञ्ज-नशलाकाएँ तो बड़ी बड़ी हुईं, जिनमें हजारों रुपये की आमद हुई और छोटी २ अञ्ज-नशलाका या प्रतिष्ठा तो करीब सौ १०० हुई होंगी । इसके अतिरिक्त ज्ञानजगहों की स्थापना, अष्टोत्तरी शान्तिस्नात्रपूजा, उद्यापन, जीर्णोद्धार, जिनालय, उपाश्रय, तीर्थसंघ आदि सत्कार्यों में सूरि जी महाराज के उपदेश से जव्यवर्गों ने हजारों रुपये खर्च किये हैं और अब जी आपके प्रताप से हजारों रुपये सत्कार्यों में खर्च किये जा रहे हैं ।

आपकी साधुक्रिया अत्यन्त कठिन थी इस बात को तो आबालवृद्ध सर्जी जानते हैं, यहाँ तक कि वयोवृद्ध होने पर जी आप अपना उपकरणदिजार सुशिष्य साधु को जी नहीं देते थे तो गृहस्थों को देने की तो आशाही कैसे संजावित हो सकती है । क्रियाउ-च्चार करने के पीछे तो आपने शिष्यलमार्गों का जी सहारा नहीं लिया और न वैसा उ-पदेशही किसी को दिया, किन्तु ज्ञानसहित सत्क्रियापरिपालन करने में आप बनेही उ-त्कण्ठित रहा करते थे । और वैसी ही क्रिया करने में उद्यत जी रहते थे, इसीसे आप-की उत्तमता देशान्तरों में जी सर्वत्र जाहिर थी । प्रमाद शत्रु को तो आप दूरदम दबाया ही करते थे, इसीलिये साधुक्रिया से बचे हुए काल में शिष्यों को पढ़ाना और शास्त्रवि-चार करना, या धार्मिक चर्चा करना यही आपका मुख्य कार्य था । दिन को सोना नहीं, और रात्रि को जी एक प्रहर निद्रा लेकर ध्यानमग्न रहना, इसीमें आपका समय निर्ग-मन होता था; इसीलिये समाधियोग और अनुभवविचार आपसे बढ़कर इस समय और किसी में नहीं पाया जाता है ।

शहर 'बरुनगर' के चौमासे में मरुधरदेशस्थ गाँव 'बलदूट' के भावक अपने गाँव में प्रति-ष्ठा कराने के लिये आपसे विनती करने आये थे, उनसे आपने यह कह दिया था कि 'अब

मेरे हाथ से प्रतिष्ठा अञ्जनशलाका आदि कार्य न होंगे । इसी तरह 'सूरत' में एक श्रावक के प्रश्न करने पर कहा था कि—'अग्नी में तीन वर्ष पर्यन्त फिर विहारादि कहेगा । इन दोनों वाक्यों से आपने अपने आयुष्य का समय गर्जित रीति से श्रावक और साधुओं को बतला दिया था और हुआभी ऐसाही ।

आपकी पैदलविहारशक्ति के अगामी युवा साधु जी परिश्रान्त हो जाते थे, इस प्रकार आपने अन्तिम अवस्था पर्यन्त विहार किया, चाहे जितना कठिन से कठिन शीत पड़े परन्तु आप ध्यान और प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ उघाके शरीर से ही करते थे और अपने जीवन में फुलाटीन की साढ़े चार हाथ एक काँवली और उतनीही बग्गी दो चादर के सिवाय अधिक बख्त जी नहीं आढते थे । आपने करीब ढाई सौ मनुष्यों को दीक्षा दी होगी लेकिन कितनेही आपकी उत्कृष्ट क्रिया को पालन नहीं कर सके, इसलिये शिथिलाचारी संवर्गी और ढुंढकों में चले गये, परन्तु इस समय जी आपके हस्त से दीक्षित चालीस साधु और साध्वियाँ हैं जो कि ग्राम ग्राम विहार कर अनेक उपकार कर रहे हैं ।

सत्पुरुषों का मुख्य धर्म यह है कि जव्यजीवों के हितार्थ उपकार बुद्धि से नाना ग्रन्थ बनाना, जिससे लोगों का शुद्ध धार्मिक पथ ( रास्ता ) सृज पड़े । इसी लिये हमारे पूर्वकालीन आचार्यवर्यों ने अनेक ग्रन्थ बनाकर अपरिमित उपकार किया है तजी हम अपने धर्म को समझकर दृढ श्रद्धावान् बने हुए हैं, और जो कोई धर्म पर आक्षेप करता है तो उसको उन ग्रन्थों के द्वारा परास्त कर लेते हैं, यदि महर्षियों के निर्मित ग्रन्थरत्न न होते तो आज हम कुठ जी अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकते, इसीलिये जो जो विद्वान् आचार्य आदि होते हैं वे समयानुकूल लोगों के हित के लिये ग्रन्थ बनाते हैं । इसी शैली के अनुसार सूरिजी महाराज ने जी लोकोपयोगी अनेक ग्रन्थ बनाये हैं ।

सूरिजी महाराज के निर्मित संस्कृत—प्राकृत—जापामयग्रन्थ—

१ 'अग्निधानराजेन्द्र' प्राकृतमहाकोश—इस कोश की रचना बहुत सुन्दरता से की गई है अर्थात् जो बात देखना हो वह उसी शब्द पर मिल सकती है । संदर्भ इसका इस प्रकार रक्खा गया है—पहिले तो अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृतशब्द, उसके बाद उनका अनुवाद संस्कृत में, फिर व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्देश, और उनका अर्थ जैसा जैनागमों में मिल सकता है वैसाही जिन २ रूप से दिखला दिया गया है । बड़े बड़े शब्दों पर अधिकार सूची नम्बरवार दी गयी है, जिससे हर एक बात सुगमता से मिल सकती है । जैनागमों का ऐसा कोई जी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश में न आया हो । केवल इस कोश के ही देखने से संपूर्ण जैनागमों का बोध हो सकता है । इसकी श्लोकसंख्या करीब साढ़े चार लाख है, और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है ।

२ 'शब्दाम्बुधि' कोश—इसमें केवल अकारादि अनुक्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया

गया है और साथ में संस्कृत अनुवाद और उसका अर्थ हिन्दी में दिया गया है किन्तु अभिधानराजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की हुई है ।

३ सकलेश्वर्यस्तोत्र सटीक, ४ खापरियातस्करप्रबन्ध, ५ शब्दकोमुदी श्लोकबद्ध, ६ कव्याणस्तोत्र प्रक्रियाटीका, ७ धातुपाठ श्लोकबद्ध, ८ उपदेशरत्नसार गद्य ए टीपावली ( दिवाली ) कल्पसार गद्य, १० सर्वसंग्रह प्रकरण ( प्राकृतगाथाबद्ध ) ११ प्राकृतव्याकरणवृत्ति ।

सूरीजी के संकलित संगीत ग्रन्थ—

१३ मुनिपति चौपाई, १३ अघटकुँवरचौपाई, १४ घट्टरचौपाई, १५ सिद्धचक्रपूजा, १६ पञ्चकव्याणकपूजा, १७ चौबीसीस्तवन, १८ चैत्यवन्दनचौबीसी, १९ चौबीसजिनस्तुति ।

सूरीजी महाराज के रचित बालावबोध जाषाग्रन्थ—

१०—उपासकदशाङ्ग सूत्र बालावबोध, ११ गण्ठाचारपयज्ञा सविस्तर जाषान्तर, १२ कल्पसूत्र बालावबोध सविस्तर, १३ अष्टाहिकाव्याख्यान जाषान्तर, १४ चार कर्मग्रन्थ अक्षरार्थ, १५ सिद्धान्तसारसागर ( बोलसंग्रह ), १६ तत्त्वविवेक, १७ सिद्धान्तप्रकाश, १८ स्तुतिप्रभाकर, १९ प्रश्नोत्तरमालिका, २० राजेन्द्रसूर्योदय, २१ सेनप्रश्नवीजक, २२ पद्मव्यचर्चा, २३ स्वरोदयज्ञानयन्त्रावली, २४ त्रैलोक्यदीपिकायन्त्रावली, २५ वासष्ठमार्गणाचिचार, २६ षष्ठावश्यक अक्षरार्थ, २७ एकसौ आठ बोल का थोकफा, २८ पञ्चमीदेववन्दनविधि, २९ नवपद श्योली देववन्दनविधि, ३० सिद्धाचल नवाणुं यात्रादेववन्दनविधि, ३१ चौमासी देववन्दनविधि, ३२ कमलप्रज्ञाशुद्धस्य, ३३ कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार ।

इस प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ बनाकर सूरीजी महाराज ने जैनधर्मानुरागियों पर तथा ह्तर जनों पर जी पूर्ण उपकार किया है ।

बननगर के चौमासा पूरे होनेपर अपनी साधुमएरुली सहित सूरीजी ने शहर 'राजगढ़' की ओर विहार किया था, इस समय आपके शरीर में साधारण श्वास रोग उठा था । यद्यपि यह प्रथम जोर शोर से नहीं था तथापि उसका प्रकोप धीरे २ बढ़ने लगा, यहाँ तक कि औषधोपचार होने पर जी वह रोग शान्त नहीं हुआ, किन्तु श्वास की बीमारी अधिक होने पर भी आप अपनी साधुक्रिया में शिथिल नहीं हुए, और सब साधुओं से कहा कि—“ हमारे इस विनाशी शरीर का भरोसा अब नहीं है, इसलिये तुमलोग साधुक्रियापरिपालन में टूट रहना, ऐसा न हो कि जो चारित्र रत्न तुम्हें मिला है वह निष्फल होजावे, सावधानी से इसकी सुरक्षा करना, हमने तो अपना कार्य यथाशक्ति सिद्ध कर लिया है अब तुम जी अपने आत्मा का सुधाग जिस प्रकार हो सके वैसा प्रयत्न करते रहना ”। इस प्रकार अपने शिष्यों को सुशिक्षा देकर सुसमाधिपूर्वक अनशन व्रत को धारण कर लिया और औषधोपचार को सर्वथा बन्द कर दिया । बस तदनन्तर थोड़े

## परमयोगिराज-जगद्गुरु-जैनाचार्य श्रीमधुश्यालिविनानि ग्रन्थरत्नानि-

ग्रन्थनामानि,	पत्रसंख्या	विडमाला	प्रतनामानि	पत्रसंख्या	विडमाला	प्रतनामानि	पत्रसंख्या	विडमाला
१ कल्याणसुखसंग्रह	१८	१००	१०	१००	१०	१०	१००	
२ मतिवृत्ताभरण	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३ विचारसंग्रह	२०	१००	२०	१००	२०	२०	१००	
४ भास्वरत्नसिद्धी	२	१०	२	१०	२	२	१०	
५ मित्रपत्रक	२	१०	२	१०	२	२	१०	
६ आभ्युदयसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
७ मारुतसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
८ प्रक्रियासंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
९ प्रक्रियासंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१० अष्टावक्र	२	१०	२	१०	२	२	१०	
११ अष्टावक्र	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१२ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१३ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१४ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१५ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१६ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१७ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१८ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
१९ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२० ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२१ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२२ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२३ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२४ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२५ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२६ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२७ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२८ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
२९ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३० ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३१ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३२ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३३ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३४ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३५ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३६ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३७ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३८ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
३९ ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	
४० ऐतिसंग्रह	२	१०	२	१०	२	२	१०	



ही दिन के बाद परमोपकारी धर्मप्रजावक आचार्यवर्य श्रीमान् श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वर महाराजजी ने अपने इस अनित्य शरीर का सम्बत् १९६३ पौष शुक्ल ७ शुक्रवार सुताविक २१ दिसम्बर सन् १९०६ ई० को समाधियुक्त परित्याग किया, अर्थात् इन नाशवान् संयोगों को छोड़ कर स्वर्ग में विराजमान हुए ।

#### उपसंहार

महानुजाव पाठकवर्ग ! इस समय जीवनचरित्र लिखने की प्रथा बहुतही बढ़ गयी है इसलिये प्रायः बहुत से सामान्य पुरुषों के जी जीवनचरित्र मिलते हैं किन्तु जीवनचरित्र के लिखने का क्या प्रयोजन है यह कोई जी नहीं विचार करता, वस्तुतः सत्पुरुषों की जीवनघटना देखने से सर्व साधारण को लाभ यह होता है कि जिस तरह सत्पुरुष क्रम क्रम से उच्चकोटीवाली अवस्था को प्राप्त हुआ है वैसी ही पाठक भी अपनी अवस्था को उच्चकोटीवाली बनावे और दुर्जन पुरुषों की जीवनघटना देखने से जी यह लाभ होता है कि जिसतरह अपने कुकर्मों से दुर्जन अन्त में दुरवस्था को प्राप्त होता है वैसा वाचक न हो, किन्तु दुर्जन की जीवनघटना की अपेक्षा से सत्पुरुष के ही जीवनचरित्र पढ़ने से शीघ्र लाभ हो सकता है, इसीलिये पाठकों को महानुजाव सूरीश्वरजी का यह जीवनपरिचय कराया गया है, जिससे आपजी ऐसी अवस्था को प्राप्त होकर सदा के सुखजागी बनें, क्योंकि सूरीजी का जीवन इस संसार में केवल परोपकार के वास्ते ही था, नकि किसी स्वार्थ के वास्ते । यदि रागद्वेषरहित बुद्धि से विचारा जाय तो हमारे उत्तमोत्तम जैन धर्म की उन्नति ऐसेही प्रजावशास्त्री क्रियापात्र सदगुरुओं के द्वारा हो सकती है । आपका जो जीवनपरिचय बहुत ही अद्भुत और आश्चर्यजनक है, उसका यह दिग्दर्शनमात्र कराया गया है, किन्तु बड़ा 'जीवनचरित्र' जो बना हुआ है उसमें प्रायः बहुत कुछ सूरीजी महाराज का जीवनपरिचय दिया गया है, इसलिये विशेष जिज्ञासुओं को बड़ा जीवनचरित्र देखना चाहिये, उसके द्वारा संपूर्ण आपका जीवनपरिचय हो जायगा और इन महानुजाव महापुरुष के जीवनचरित्र पढ़ने से क्या लाभ हुआ तो जी सहज में मालूम पड़ जायगा । इत्यलं विस्तरेण ।

नवरसनिधिविधुवर्षे, यतीन्द्रविजयेन वागरानगरे ।

आश्विनशुक्लदशम्यां, जीवनचरितं व्यद्वेक्षि गुरोः ॥ १ ॥



## ❧ श्री सौधर्म बृहत्तपागङ्गीय पट्टावली ❧

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मोस्वामी

२ श्रीजम्बूस्वामी

३ श्रीप्रजवस्वामी

४ श्रीसख्यंभवस्वामी

५ श्रीयशोभद्रसूरि

६ { श्रीसंभूतविजयजी  
श्रीजघन्नाहुस्वामी

७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी

८ { श्रीआर्यमुहूर्त्तसूरि  
श्रीआर्यमहागिरि

९ { श्रीसुरिथतसूरि  
श्रीसुप्रतिबद्धसूरि

१० श्रीइन्द्रदिक्षसूरि

११ श्रीदिक्षसूरि

१२ श्रीसिद्धगिरिसूरि

१३ श्रीवज्रस्वामीजी

१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी

१५ श्रीचन्द्रसूरिजी

१६ श्रीसामन्तजसूरि

१७ श्रीवृद्धदेवसूरि

१८ श्रीप्रद्योतनसूरि

१९ श्रीमानदेवसूरि

२० श्रीमानतुङ्गसूरि

२१ श्रीवीरसूरि

२२ श्रीजयदेवसूरि

२३ श्रीदेवानन्दसूरि

२४ श्रीविक्रमसूरि

२५ श्रीनरसिंहसूरि

२६ श्रीसमुद्रसूरि

२७ श्रीमानदेवसूरि

२८ श्रीविवुधप्रभसूरि

२९ श्रीजयानन्दसूरि

३० श्रीरविप्रजसूरि

३१ श्रीयशोदेवसूरि

३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि

३३ श्रीमानदेवसूरि

३४ श्रीत्रिमलचन्द्रसूरि

३५ श्रीलघोतनसूरि

३६ श्रीसर्वदेवसूरि

३७ श्रीदेवसूरि

३८ श्रीसर्वदेवसूरि

३९ { श्रीयशोभद्रसूरि  
श्रीनेमिचन्द्रसूरि

४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि

४१ श्रीअजितदेवसूरि

४२ श्रीविजयसिंहसूरि

४३ { श्रीसोमप्रजसूरि  
श्रीमणिरत्नसूरि

४४ श्रीजगन्नाथसूरि

४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि  
श्रीविद्यानन्दसूरि

४६ श्रीधर्मघोषसूरि

४७ श्रीसोमप्रभसूरि

४८ श्रीसोमतिष्ठकसूरि

४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि

५० श्रीसोमसुन्दरसूरि

५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि

५२ श्रीरत्नशेखरसूरि

५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि

५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि

५५ श्रीहेमविमलसूरि

५६ श्रीआनन्दविमलसूरि

५७ श्रीविजयदानसूरि

५८ श्रीहीरविजयसूरि

५९ श्रीविजयमेनसूरि

६० { श्रीविजयदेवसूरि  
श्रीविजयसिंहसूरि

६१ श्रीविजयप्रभसूरि

६२ श्रीविजयरत्नसूरि

६३ श्रीविजयक्षमासूरि

६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि

६५ श्रीविजयकल्याणसूरि

६६ श्रीविजयप्रभोदसूरि

६७ श्रीविजयगजेन्द्रसूरि

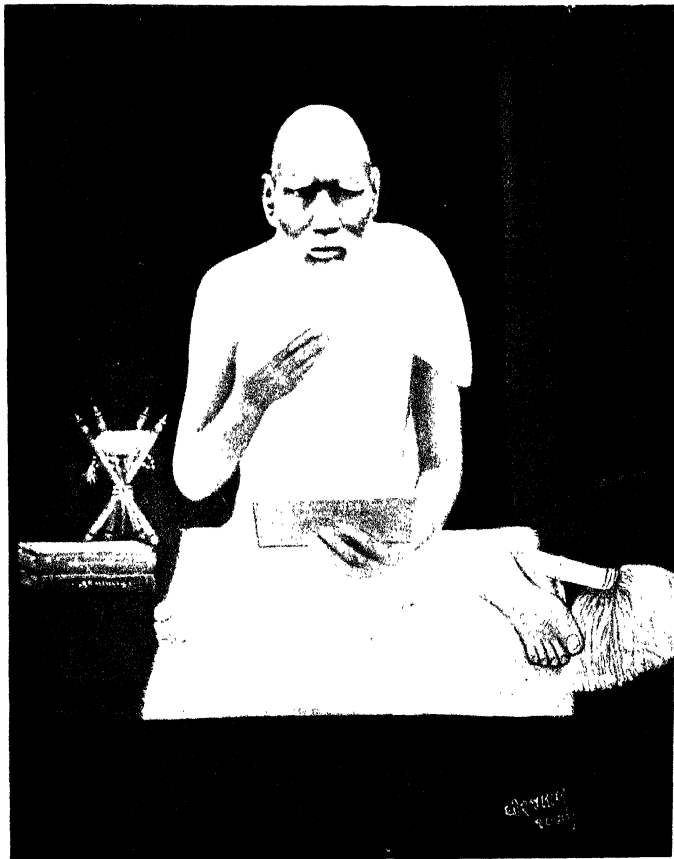
—:ॐ:—





श्रीमद्विजयचन्द्रसूर्यशरणपट्टभाकर-चर्चाचक्रवर्ति-श्रीमत्सहस्रपदेवी-श्रुतस्थविग्मान्य-

श्रीमौधर्मवृहत्तपोगच्छाय-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।



विद्वच्चकोरत्नमोदकरे प्रयत्ने शुभ्रवने मुकविक्रमचन्द्रिलाम् ।

हृदध्वान्नाशकण्ठे प्रसन्नप्रतापे, वन्दे कलानिधिममे धनचन्द्रसूरिम ॥ १ ॥

जन्म १९०० ई. क्रिस्तमद १९७० ई. शीक्षोपसंवेद १९२० ई. ज्ञानयोग १९२० ई. सूरिपद १९२० ई. ज्ञानयोग १९२० ई.  
 यनिदीक्षा १९२० ई. धारिणा १९२० ई. उपाध्यायपद १९२० ई. साचरीट १९२० ई. स्वतंत्रीट १९२० ई. यागया १९२० ई.

## ॥ प्रस्तावना ॥

इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो दुःख से मुक्त होने की अजिलाया नहीं करता, किन्तु जबतक उन दुःखों से मुक्त होने के सत्य उपाय उसको मालूम न हों तबतक वह कैसे कृतकार्य (सफल) हो सकता है; इसलिये सच्ची को दुःख से मुक्त होने के सत्य उपाय जानने की बड़ी अभिलाषा रहती है, कि इस अपार संसार समुच्च में निरन्तर ग्रमण करने वाले प्राणियों को प्राप्त होने हुए अस्त्युक्त [जन्म-मरण-मरण] दुःखों से बूटने का कौनसा उपाय है?। यद्यपि विचारशाली और तीक्ष्णबुद्धि वाले मनुष्य इसका उत्तर अवश्य देंगे, कि धर्म के सिवाय और कोई ऐसा बूसा उपाय इन दुःखों से मुक्त होने का नहीं है; किन्तु धर्मधर्म का विवेक करना ही सर्व साधारण को असिद्धकर है अर्थात् कौन धर्म है और कौनसा अधर्म है इसका समझना जी कुछ सहज काम नहीं है, क्यों कि इस दुनिया में अनेक धर्मनामधारी मत प्रचलित हो रहे हैं, जिनकी गिनती करना भी बहुत कठिन है तो फिर उनमें किसको धर्म और किसको धर्मोन्नास कहा जाय?। हों महात्माओं के आदेशानुसार इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस पञ्चमहाकाय में-अर्थात् दुःखम आरा में, धर्मोन्नासों का प्रायः प्रचार विशेष होना चाहिये और धर्म की अवनति दशा विशेष होनी चाहिये। इस पर फिर यह जिज्ञासा होगी कि बैसा धर्म कौन है?। इसका उत्तर यह है कि जिस धर्म के प्रवर्तक पुरुष किसी के द्वेषी अथवा रागी न हों और जो धर्म किसी जीव के [अत्यन्त प्रिय] प्राण का विधातक न हो-अर्थात् जिससे सच्ची जीवों को सुख ही प्राप्त हो उसे ही धर्म कहना चाहिये। यदि ऐसा धर्म वस्तुतया देखा जाय तो जैन धर्म ही दिखाई देता है क्योंकि उसके प्रवर्तक जिन भगवान् भी रागद्वेष-विनेता हैं और उस धर्म का 'अहिंसा परमो धर्मः' यह सिद्धान्त भी है। यद्यपि अन्य धर्मोन्नासों में भी अहिंसा की महिमा है किन्तु प्रधानरूप से उसकी कारणता [जन्मादि] दुःखों से मुक्त होने में नहीं बानी हुई है, और उनमें यदि एकाध अंश में दया है तो अन्याय में हिंसा भी है। जैसे किसी मत का मन्वण्य है कि यदि कोई पशु पक्षी प्राणी इस भव में दुःख सहता हो तो उसको इस जन्म से मुक्त कर देना ही दया है। अथवा-जब कभी अन्वसर प्राप्त हो तो यज्ञ में प्राणियों को मारकर उनके उत्तमगति वाला बना देना। अस्तु-विशेष विस्तार इमका इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'अहङ्कृमा' और 'अहिंसा' शब्द पर जिज्ञासुओं को देखना चाहिये। इसीलिये कहा हुआ है कि 'पद्मपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद् बचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः' ॥ १ ॥ और 'प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयाति शासनम्' इत्यादि ॥

यह जैनधर्म-द्वयाधर्म, आचारधर्म, क्रियाधर्म, और वस्तुधर्म से चार जागों में विभक्त है। और इस धर्म का मुख्य कारण शासन है, जो समवसरण में बैठे हुए देवाधिदेव सर्वज्ञ जगवान् श्रीतीर्थङ्कर के उपदेश से आविर्भूत होता है और पीछे उन्हीं उपदेशों को श्रीगौतमादि गणपर छादशास्त्री अथवा एकादशास्त्री-रूप में संदर्भित करते हैं, जिनका 'सूत्र' नाम से स्वन्याय किया जाता है। ये मत्स्यक तीर्थङ्करों के शासन काल में विद्यमान दशा का प्राप्त होत हैं। यद्यपि पूर्वकाल में चौदह पूर्वपर, तथा दश पूर्वपर, श्रुतकवली आदि महात्माओं को तो किसी पुस्तकवादि की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि उनके अतिशय से उन्हें मुझ से ही अर्थज्ञान हो जाता था परन्तु आगे वाले जीवों के ज्ञान में दुर्बलता होने से और जैन धर्म के विषय अति गहन होने से उनको स्पष्ट करने के लिये निर्धुकि-भाष्य-चूर्णित-टीका-आदि रचने पड़े। परन्तु इस समय में जैन ग्रन्थों का इतना विस्तार हो गया है कि योङ्कीती आरुप्य में अब कोई मनुष्य सामारिक कार्य करता हुआ सुहृथयया विरक्त नै इस जैनशासनसागर के पार को प्रायः नहीं जा सकता। कारण यह है कि पहिले तो सब ग्रन्थों की उपलब्धि सब कहीं नहीं होती और जो मिलते जी हैं उनमें कौन विषय कहीं पर है वह प्रायः टीका सू पता हर एक को नहीं समता और यदि किसी ग्रन्थ में पता भी लग जाय तो वह विषय दूसरी जगह या दूसरे ग्रन्थों में कहीं कहीं पर आया है यह पता नहीं लग सकता। यह कारण तो एक तरफ रहा, दूसरी बात यह भी है कि जिस जाया में जैनदर्शन बना है, वह जाया वही है कि जिसने प्राचीन समय में मातृभाषा से और राष्ट्र-जाया सं जारतृभि में स्थान पाया था, और जिसका सर्वज्ञों से और गणधरों से बन्दा आदर किया गया, उसी भाषा का प्रचार इस समय बिलकुल नहीं है और जो नाटकों में जहाँ कहीं दिखाई देता है उसको जी उसके नीचे दी हुई जाया से ही लोग समझ लेते हैं, और यदि किसीने उसका कुछ अभ्यास भी कर लिया तो उससे जैन धर्म के मूलसूत्रों का अथवा निर्धुकिनाथाओं का

अर्थ समझ में नहीं आसकता, क्योंकि भगवान तीर्थङ्कर ने, तथा गणधरों ने अर्थमागधी भाषा में उन सूत्रों का प्रस्ताव किया है, जो कि सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ विलक्षण है। पूर्व समय में तो झोंग परिश्रम करके आचार्यों के मुख से सूत्रपाठ और उसका अर्थ सुनकर कथस्थ करते थे तर्जी वे कृतकार्य जी होते थे (इसका संक्षिप्त विवरण पहिले भाग के 'अह्मदिय' शब्द पर देखो) किन्तु आजकल ऐसी परिपाटी के प्रायः नष्ट होजाने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का अत्यन्त हास होगया है। इस दशा को देखकर हमारे गुरुवर्य श्रीसार्धमवृहत्तपागच्छीय कश्मिकालसर्वकृष्ण जट्टारक ?००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रमूर्तिश्वरजी महाराज को बड़ा चिन्ता उपस्थित हुई कि दिनों दिन जैन धर्म के शास्त्रों का हास होता जाता है, इसीलिए बहुत से झोंग उत्सूत्र काम भी करने लग गये हैं और अपने धर्मग्रन्थों से बिन्दुकुल बेखबर से होगये हैं। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये ?। क्योंकि संसार में उसी मनुष्य का जीवन सफल है जिमने अपने धर्म की यथाशक्य उन्नति की, अन्यथा—'असंपादयतः कश्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः। यत्कञ्चिदशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम्' की तरह हो जाता है। ऐसी चिन्ता हृदय में बहुत दिन रही, किन्तु एक दिन रात्रि में ऐसा विचार हुआ कि—एक ऐसा ग्रन्थ नवीन रूढि से बनाना चाहिये जिसमें जैनगम की मागधी जाषा के शब्दों को अक्रागदि क्रम से रखकर संस्कृत में उनका अनुवाद, लिख्वा, व्युत्पत्ति, और अर्थ लिखकर फिर उस शब्द पर जो पाठ मूलसूत्र का आया है उसका लिखना और टीका यदि उसकी प्राचीन भिन्न तो उसको देकर स्पष्ट करना और यदि ग्रन्थान्तर में भी बड़ी विषय आया हो तो उसकी सूचना (भलावन) दे देना चाहिये। इससे प्रायः अपने मनोऽनुकूल संसल का उपकार होगा। तदनन्तर प्रातःकाल होते ही पूर्वोक्त सूत्री जी महाराज ने अपनी नित्य क्रिया का करके इस कार्य का भार उठाया, और द्वाचित्त होकर बार्दस वर्ष पर्यन्त धार परिश्रम करने पर इस कार्य में सफल हुए, अर्थात् 'अज्ञिधानरानेन्द्र' नाम का कोष मागधीभाषा में रचकर चार भागों में विभक्त कर दिया। इसके बाद कितने ही श्रावकों ने और शिष्यों ने प्रार्थना की कि यदि यह ग्रन्थ भी और ग्रन्थों की तरह भस्मर में ही पड़ा रह जायगा तो कितने मनुष्य इससे लाभ उठा सकेंगे ?। इसलिये अनेक देश देशान्तरों में जिस तरह इसका प्रचार हो वह काम होना चाहिये। इसपर सूत्रीजी महाराजने उत्तर दिया कि मेरा कर्तव्य तो पूर्ण होगया अब जिसमें समस्त संसार का उपकार हो वैसे तुम लोगों को करना चाहिये, मैं इस विषय में तटस्थ हूँ। तदनन्तर श्रीमद्व्यसने इस ग्रन्थ के विशेष प्रचार होने के लिये उपवाना ही निश्चय किया। तब इस ग्रन्थ के शोधन का भार सूत्रीजी महाराज के विनोत शिष्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने ग्रहण किया, जो इस कार्य के पूर्ण अभिज्ञ हैं।

जैनधर्म का ऐसा कोई भी साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-संबन्धी विषय नहीं है जो इस कोश में आया न हो, किन्तु साथही साथ विशेषता यह है कि मागधीजाषा के अनुक्रम से शब्दों पर सब विषय रक्खे गये हैं। जो मनुष्य जिस विषय को देखना चाहे वह उसी शब्दपर पुस्तक खोजकर देख ले। जो विषय जहाँ १ जिस १ जगह पर आया है उसकी जलावन (सूचना) भी उसी जगह पर दी है। और वरु १ शब्दों पर विषयसूची की दी हुई है जिसमें विषय जानने में सुगमता हो। तथा प्रमाण में मूल सूत्र १, और उनकी नियुक्ति १, भाष्य ३, चूर्ण ४, टीका ५ तथा और जी प्रामाणिक आचार्यों के बनाये हुए प्रकरण आदि अनेक ग्रन्थों का संग्रह है। जिसशब्द पर या उसके विषय पर किसी आचार्य या श्रावक की कथा मिली है उस भी उम शब्दपर संग्रह कर दी है। तथा प्रमिच्छ १ तीर्थों की और सजी तीर्थङ्करों की कई पूर्वभवों से लेकर निर्वाणपर्यन्त कथायें दी हुई हैं; इत्यादि विषय आगे दी हुई संक्षिप्त सूची से समझना चाहिये।

इस ग्रन्थ में जो संकेत ( नियम ) रक्खे गये हैं वे इस तरह हैं—

१-मागधीभाषा का मूलशब्द, और उसका संस्कृत अनुवाद, तथा मूल की गाथा, और मूलसूत्र, [जिसकी टीका है] मोटे ( प्रंट ) अक्षरों में रक्खा है।

२-यदि कोई गाथा टीका में भी आई है और उसकी जी टीका है तो उसे दो लाइन (पङ्क्ति) में रक्खा है। और मोटे अक्षरों में न रखकर गाथा के आदि अन्त में (" ") ये चिह्न दे दिये हैं। फिर उसके नीचे से उसकी टीका चलाई गयी है। अन्य स्थल में तो मूल मोटे अक्षरों में, और टीका मोटे ( पाइका ) अक्षरों में दी गई है।

३-जहाँ कहीं उदाहरण में प्राकृत वाक्य या संस्कृत श्लोक आया है उसके आग्रन्त में " यह चिह्न दिया गया है, किन्तु एक से ज्यादा गाथा या श्लोक जहाँ कहीं विना टीका के हैं वहाँ पर भी दो १ क्षेप करके उनको रक्खा है। और यदि एकही है तो उसी जैन में रक्खा है। और जहाँ टीका अनुपयुक्त है वहाँ पर मूलभाष ही मोटे अक्षरों में रक्खा है।

४-जिस शब्द का जो अर्थ है उसको सम्यन्त से दिया है और उसके नीचे [ , ] यह चिह्न दिया है और उसके बाद जिस ग्रन्थ से वह अर्थ लिया गया है उसका नाम नी दे दिया है। यदि उसके आगे उस ग्रन्थ का कुछ भी पाठ नहीं है तो उस ग्रन्थ के आगे अध्ययन उद्देशादि जो कुछ लिखा है वह भी दिया गया है और यदि उस ग्रन्थ का पाठ लिखा है तो पाठ की समाप्ति में अध्ययन उद्देश आदि रक्खे गये हैं, किन्तु अर्थ के पास केवल ग्रन्थ का ही नाम रक्खा है।।

५-मागधीशब्द और संस्कृत अनुवाद शब्द के मध्य में तथा सिद्ध और अनुवाद के मध्य में भी (—) यह चिह्न दिया है। इसी तरह तदेव दर्शयति— तथा चाह— या अवतराणिका के अन्त में भी आगे से संबन्ध दिखाने के लिये यही चिह्न दिया गया है।

६-जहाँ कहीं मागधी शब्द के अनुवाद संस्कृत में दो तीन चार हुए हैं तो दूसरे तीसरे अनुवाद को भी मोटे ही अक्षरों में रक्खा है किन्तु जैसे प्राकृत शब्द सामान्य पङ्क्ति (लाइन) से कुछ बाहर रहता है वैसे न रक्खकर सामान्य पङ्क्ति के बराबर ही रक्खा है और उसके आगे जी सिद्धप्रदर्शन कराया है; बाकी सभी बात पूर्ववत् मूलशब्द की तरह दी है।

७-किसी किसी मागधीशब्द का अनुवाद संस्कृत में नहीं है किन्तु उसके आगे 'देशी' लिखा है वहाँ पर देशीय शब्द समझना चाहिये, उसकी व्युत्पत्ति न होने से अनुवाद नहीं है।

८-किसी २ शब्द के बाद जो अनुवाद है उसके बाद लिङ्ग नहीं है किन्तु ( घा० ) लिखा है उससे धात्व्यदेश समझना चाहिये।

९-कहीं कहीं ( व० व० ) ( क० स० ) ( ब० स० ) ( त० स० ) ( न० त० ) ( ३ त० ) ( ४ त० ) ( ५ त० ) ( ६ त० ) ( ७ त० ) ( ८ त० ) ( अच्ययी० म० ) आदि दिया हुआ है उनको क्रम से बुद्धचन; कर्मधारय समार; बहुव्रीहि; तत्पुरुष; नञ्त्त्पुरुष; उतीयात्पुरुष; चतुर्थीत्पुरुष; पञ्चमीत्पुरुष; षष्ठीत्पुरुष; सप्तमीत्पुरुष; अच्ययीभाव समास सम्बन्धना चाहिये।  
१०-पुं० स्त्री०। न०। वि०। अच्य०-का संकेत क्रम से पुंलिङ्ग; स्त्रीलिङ्ग; नपुंसकलिङ्ग; त्रिलिङ्ग और अच्यय्य समझना।

### अध्ययनादि के संज्ञेय और वे किन किन ग्रन्थों में हैं—

- १?—? अ०- अध्ययन- आवश्यकचूर्णि, आवश्यकदृष्टि, आचाराङ्ग, उपासकदशाङ्ग, उचाराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, दशाश्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक, विपाकसूत्र और सूत्रकृताङ्ग में हैं।
- २ अधि०- अधिकार- अनेकान्तजयपताकाहृत्तविवरण, गन्धाचारपयम्मा, धर्मसंग्रह और जीवानुशासन में हैं।
- ३ अध्या०- अध्याय- छ्वानुयोगतर्कणा में हैं।
- ४ अष्ट०- अष्टक- हारिभञ्जाष्टक और यशाविजयाष्टक में हैं।
- ५ उ०- उद्देश- सूत्रकृताङ्ग, जगवती, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्प, व्यवहार, स्थानाङ्ग और आचाराङ्ग में हैं।
- ६ उद्घा०- उद्घाप- सेनप्रश्न में हैं।
- ७ कर्म०- कर्मग्रन्थ- कर्मग्रन्थ में हैं।
- ८ कल्प- कल्प- विविधतीर्थकल्प में हैं।
- ९ उ०- उाणा- स्थानाङ्गसूत्र में हैं।
- १० स्वए०- स्वए०- उत्तराध्ययननिर्णय में हैं।
- ११ कृण- कृण- कल्पसुबोधिका में हैं।
- १२ काय०- काय०- सम्मतितर्क में हैं।
- १३ छा०- द्वात्रिंशिका- द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में हैं।
- १४ द्वार- द्वार- पञ्चकस्तुक, पञ्चसंग्रह, प्रवचनसाराङ्गर और प्रश्न्याकरण में हैं।  
( प्रश्नव्याकरण में आश्रवद्वार और संवरद्वार के नाम से ही द्वार प्रसिद्ध हैं )
- १५ पद- पद- भङ्गापनासूत्र में हैं।
- १६ परि०- परिच्छेद- रत्नाकरावतारिका में हैं।
- १७ सू०- नूलिका- दशवैकालिक और आचाराङ्ग में हैं।

- १८ प्रति०- प्रतिपत्ति- जीवाजिगम सूत्र में हैं।  
 १९ पाद- पाद- प्राकृतव्याकरण और उसकी टीका वृण्दिता में हैं।  
 २० पादु०- पादुदा- चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करणक में हैं।  
 २१ वर्ग- वर्ग-निरयावलिता, अणुचरोवर्ग, अन्तकृत्तदशाङ्ग में हैं।  
 २२ बिब०-बिबरण- पांशुशमकरण और पञ्चाशक में हैं।  
 २३ मका०- प्रकाश- ह्रीमप्रश्न में हैं।  
 २४ प्र०- प्रश्न- सेनप्रश्न में हैं।  
 २५ श०- शतक- भगवती सूत्र में हैं।  
 २६ ध्रु०- ध्रुतस्कन्ध- सूत्रकृताङ्ग, आचाराङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा और विपाकसूत्र में हैं।  
 २७ वक्ष०- वक्षस्कार- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं।  
 २८ सम०- समवाय- समवायाङ्ग सूत्र में हैं।  
 २९ सु०- सूत्र- पञ्चसूत्र में हैं।

### १२—जिन जिन ग्रन्थों का प्रमाण दिया है उनके सङ्केत और नाम—

१ अङ्ग० - अङ्गचूर्णिका।	२७ जं० - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
२ अणु० - अणुचरोवर्ग सूत्र सटीक।	२८ ज्ञा० - ज्ञाताधर्मकथा सूत्र सटीक।
३ अनु० - अनुयोगद्वार सूत्र सटीक।	२९ जी० - जीवाभिगम सूत्र सटीक।
४ अनि० - अनकान्तजयताकावृत्तिविवरण।	३० जीत० - जीतकल्पवृत्ति।
५ अन्त० - अन्तगदशाङ्ग सूत्र।	३१ जीवा - जीवानुशासन सटीक।
६ अष्ट० - अष्टक यशोविजयकृत सटीक।	३२ जै०६० - जैनइतिहास।
७ आचा० - आचारङ्गसूत्र सटीक।	३३ ज्यो० - ज्योतिष्करणक सटीक।
८ आ०चू० - आवश्यकचूर्ण।	३४ हुं० - हुण्दी ( प्राकृतव्याकरण ) टीका।
९ आ०म०प्र०- आवश्यकमलयगिरि ( प्रथमखण्ड )	३५ तं० - तन्दुलवयात्री पयशा टीका।
१० आ०म०द्वि०- आवश्यकमलयगिरि ( द्वितीयखण्ड )	३६ तित्यु० - तिन्युगादो पयशामूल।
११ आनु० - आनुप्रत्याख्यान पयशा टीका।	३७ दशा० - दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रवृत्ति।
१२ आ०क० - आवश्यक कथा।	३८ दर्श० - दर्शनशुक्ति सटीक।
१३ आव० - आवश्यकवृद्धवृत्ति।	३९ दश० - दशवैकालिकसूत्र सटीक।
१४ उ०त्त० - उत्तराध्ययन सूत्र सटीक।	४० द० प० - दशपयशामूल।
१५ उपा० - उपामकदशाङ्ग सूत्र सटीक।	" १ उडसरण पयशा।
१६ उ०त्त०नि० - उत्तराध्ययननिर्युक्ति।	" २ आनुप्रत्याख्यान पयशा।
१७ एका० - एकाक्षरीकोश।	" ३ संधारगह पयशा।
१८ ओ०घ० - ओघनिर्युक्ति सटीक।	" ४ च्छर्वाज्जा पयशा।
१९ औ० - औपपातिकसूत्र वृत्ति।	" ५ गच्छाचार पयशा।
२० कर्म० - कर्मग्रन्थ सटीक।	" ६ तंजुलवयात्री पयशा।
२१ क०प्र० - कर्मप्रकृति सटीक।	" ७ देविदत्तयव पयशा।
२२ क०न्य० - कल्पसूत्रे धिका सटीक।	" ८ गणिज्जा पयशा।
२३ को० - पाइयलच्छीनाममाला कोश।	" ९ महापक्ष्मकाण पयशा।
२४ ग० - गच्छाचारपयशा टीका।	" १० मरणविधि पयशा।
२५ चं०प्र० - चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।	४१ छया० - छयानुयोगतर्कणा सटीक।
२६ जै० गा० - जैनगायत्रीच्याख्या।	४२ द्वा० - द्वाविंशद्दार्शिनिका(बर्षीसचर्षीसी) सटीक।
	४३ द्वी० - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति।
	४४ दे० ना० - देशीनाममाला सटीक।

- ४५ ष० - धर्मसंग्रह सटीक ।  
 ४६ ष० र० - धर्मरत्नमकरण सटीक ।  
 ४७ नयो० - नयोपदेश सटीक ।  
 ४८ नं० - नन्दीसूत्र सटीक ।  
 ४९ नि० - निरयावक्षी सूत्र सटीक ।  
 ५० नि० चू० - निशीथसूत्र सवृत्ति ।  
 ५१ पं० चू० - पञ्चकल्पवृत्ति ।  
 ५२ पं० भा० - पञ्चकल्प भाष्य ।  
 ५३ पञ्चा० - पञ्चाशक सटीक ।  
 ५४ पं० ब० - पञ्चवस्तुक सटीक ।  
 ५५ पं० सं० - पञ्चसंग्रह सटीक ।  
 ५६ पं० सू० - पञ्चसूत्र सटीक ।  
 ५७ मव० - मवचनमारोद्धारटीका ।  
 ५८ मव० मू० - मवचनसारोपचार मूल ।  
 ५९ मति० - प्रतिभाशतक सूत्र सटीक ।  
 ६० मश्र० - मश्रनव्याकरण सूत्र सटीक ।  
 ६१ मज्ञा० - मज्ञापना सूत्र सटीक ।  
 ६२ ममा० - ममागानयतस्वालोकासङ्गतर सूत्र ।  
 ६३ पि० - पिएरुनिर्घुक्तिवृत्ति ।  
 ६४ पिएरु० मू० - पिएरुनिर्घुक्ति मूल ।  
 ६५ पा० - पाक्षिक सूत्र सटीक ।  
 ६६ प्रा० - प्राकृतव्याकरण ।  
 ६७ ष० - भगवती सूत्र सटीक ।  
 ६८ मदा० - महानिशीथ मूल मूल ।  
 ६९ मार० - मारुतप्रकरण सवृत्ति ।  
 ७० यो० वि० - योगविन्दु सटीक ।  
 ७१ रत्ना० - रत्नाकरावतारिका वृत्ति ।

- ७२ रा० - राजप्ररनीय ( रायपसेणी ) सटीक ।  
 ७३ ल० - क्षत्रितविस्तारा वृत्ति ।  
 ७४ लघु० - लघुप्रवचनसार मूल ।  
 ७५ ल० क्र० - लघुसूत्रसमास प्रकरण ।  
 ७६ व्य० अ० - व्यवहार सूत्र अङ्गराय ।  
 ७७ वाच० - वाचस्पत्याभिधान ( कौश )  
 ७८ व्य० - व्यवहारसूत्रवृत्ति ।  
 ७९ ती० - विविधतीर्थकल्प ।  
 ८० वृ० - वृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य ।  
 ८१ विशेष० - विशेषावरयक सजाप्य सबृहवृत्ति ।  
 ८२ विपा० - विपाक मूल सटीक ।  
 ८३ भा० - भावकधर्मप्रकाशि सटीक ।  
 ८४ षो० - षोडशप्रकरण सटीक ।  
 ८५ स० - समवायाङ्ग सूत्र सटीक ।  
 ८६ संया० - संधारगपयज्ञा सटीक ।  
 ८७ संस० नि० - संसक्तनिर्घुक्ति मूल ।  
 ८८ संया० - सङ्घाचार जाप्य ।  
 ८९ सच० - सचरिसयवठाणा वृत्ति ।  
 ९० सम्म० - सम्मतिक सटीक ।  
 ९१ स्था० - स्थानाङ्ग मूल सटीक ।  
 ९२ स्था० - स्थापादात्मजरी सटीक ।  
 ९३ सूत्र० - सूर्यप्रकाशि सूत्र सटीक ।  
 ९४ सूत्र० - सूत्रकुनाङ्ग सूत्र सटीक ।  
 ९५ सन० - सनमश्र ।  
 ९६ हा० - हारिचन्द्राष्टक सटीक ।  
 ९७ ही० - हीरप्रश्न ।

१३-प्राकृतशब्दों में जो कहीं कहीं ( ) ऐसे कोष्ठक के मध्य में अक्षर दिये गये हैं, उन-  
के विषय में थोड़े से नियम—

१-कहीं कहीं एक शब्द के अनेक रूप होते हैं परन्तु सूत्रों में एकही रूप का पाठ विशेष आता है इसलिये उसीको मुख्य रखकर रूपान्तर को कोष्ठक में रक्खा है—जैसे 'अदत्तादाण' या 'आणुजाग' शब्द हैं और उसका रूपान्तर 'अदिष्ठादाण' या 'अणुजाव' होता है किन्तु सूत्र में पाठ पूर्व का ही प्रायः विशेष आता है तो उसीको मुख्य रखकर दूसरे को कोष्ठक में रक्खदिया है; अर्थात्—'अदत्ता (दिष्ठा) दाण, 'अणुजाग (व) ।'

२-कहीं कहीं वागवी शब्द के अन्त में ( ण ) इत्यादि व्यञ्जन बर्ण भी कोष्ठक में दिया गया है वह "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८ । १ । ११ ॥ इस प्राकृतसूत्र से लुप्त हुए की सूचना है ।

३-कहीं कहीं "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायां लुक्" ॥ ८ । १ । १७ ॥ इस सूत्र में एक पद में व्यञ्जन के लोप होने पर वचे हुए ( अ ) ( इ ) आदि स्वरमात्र को रूपान्तर में दिया है ।

४-इसी तरह "अवर्णो यञ्जतिः" ॥ ८ । १ । ८० ॥ का भी विषय कोष्ठक में ( य ) आदि रक्खा है ।

५-तथा "स्व-घ-थ-धा-जाप्" ॥ ८ । १ । ८७ ॥ इस प्राकृत सूत्र में स्व घ थ ध ज अक्षरों को प्रायः हकार हुआ करता

हे और कहीं १ हकार न होने का जी रूप आता है तो रूपान्तर की सूचना के लिये ( घ ) ( ष ) आदि अक्षर जी कोष्ठक में दिये हैं। यह नियम स्मरण रखने के योग्य है।

६-कहीं कहीं प्राकृतव्याकरण के प्रथमपादस्थ १२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३ सूत्रों के भी वैकल्पिक रूप, और दूसरे पाद के २-३-४-५-६-७-८-९ सूत्रों से भी किये हुए रूपान्तर को कोष्ठक में दिया है।

७-“को भौ” ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इस सूत्र के लगने से फ को ( ज ) या ( ह ) होने पर, दो रूपों में किसी एक को कोष्ठक में दिया गया है। इसी तरह इसी पाद के २४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४-४५-४६-४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३-६४-६५-६६-६७-६८-६९-७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३-८४-८५-८६-८७-८८-८९-९०-९१-९२-९३-९४-९५-९६-९७-९८-९९-१०० सूत्रों के विषय भी समझना चाहिये।

८-“स्वार्थकश्च” ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इस सूत्र से आये हुए क प्रत्यय को कहीं कहीं कोष्ठक में ( अ ) इस तरह रक्खा है। इसी तरह “नो णः” ॥ ८ । १ । २२८ ॥ सूत्र का जी आर्ष प्रयोगों में विकल्प होता है, इत्यादि विषय प्रथमजाग में दिये हुए प्राकृतव्याकरण-परिशिष्ट से समझ लेना चाहिये।

### १४-प्राकृत शब्दों में कहीं २ संस्कृत शब्दों के लिङ्गों से विलक्षण जी लिङ्ग आता है—

कहीं कहीं प्राकृत मान कर ही लिङ्ग का व्यत्यय हुआ करता है जैसे तृतीय भाग के ४३७ पृष्ठ में ‘पिडतो वराहं’ मूल में है, उसपर टीकाकार लिखते हैं कि ‘पृष्ठेशो वराहः, प्राकृतत्वात् नपुंसकलिङ्गता’। इसी तरह “मातृ-शरत्-तरण्यः पुंनि” ॥ ८ । १ । ३१ ॥ इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग को पुंलिङ्ग होता है; और दामन-शरम्-नभस् शब्दों को गोमकर सजी सान्त और नान्त शब्द पुंलिङ्ग होने हैं, तथा ‘वाऽङ्ग्यर्थवचनाथाः’ । १ । ३३ । ‘गुणाथाः क्लीबे वा’ । १ । ३४ । ‘विमान्त्याथाः स्त्रियाम्’ । १ । ३५ । सूत्रों के जी विषय हैं। अन्यत्र स्थल में जी लोक प्रामाणिक की अपेक्षा से ही प्राकृत में लिङ्गों की व्यवस्था मानी हुई है। जैसे-तृतीय जाग के २०४ पृष्ठ में ‘कडवाइ ( ण )—कृतवादिन’ इत्यादि को में पुंस्त्व ही होता है। यद्यपि सभा और कुल का विशेषण मानने में स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग भी हो सकता है किन्तु उन दोनों का ग्रहण नहीं किया है; इसी तरह द्वितीय भाग के २८ पृष्ठ में ‘आउक्त्वेभ-आयुःक्षेप’ इत्यादि को में यद्यपि ‘कुशलं क्रममस्त्रियाम्’ इस कोश के प्रामाण्य से नपुंसकत्व और पुंस्त्व भी प्राप्त है तथापि केवल पुंस्त्व का ही स्वीकार है; क्यों कि काव्यादिप्रयोगों में जी लोक-प्रामाण्य से ही लिङ्ग माना हुआ है, जैसे अर्धर्चादि गण में पद्य शब्द का पाठ होने से पुंस्त्व जी है, तदनुसारह—‘जाति पद्यः सरोवरं’ यह कथिने प्रयोग जी किया, किन्तु काव्यानुशासन-साहित्यदर्पण-काव्यप्रकाश-सरस्वतीकण्ठान्तरण-रसगङ्गाधरकारादिकों ने पुंलिङ्ग का आदर नहीं किया है।

इस ग्रन्थ के हर एक जागों में आये हुए शब्दों में से थोके शब्दों के उपयोगी विषय दिये जाते हैं—  
प्रथम जाग के कनिषय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘अन्तर’ शब्द पर अन्तर के जेद, द्वीप पर्वतों में परस्पर अन्तर, जम्बूद्वारों में परस्पर अन्तर, जिनेश्वरों में परस्पर अन्तर, ऋषनस्वामी से वंश भगवान का अन्तर, उपातिष्को का और चन्द्रमाहल का अन्तर, चन्द्र सूर्यों का परस्पर अन्तर, ताराओं का परस्पर अन्तर, सूर्यों का परस्पर अन्तर, घातकीखण्ड के द्वारों का अन्तर, विमानकक्षों का अन्तर, आहार के आश्रय से जीवों का अन्तर, और सयोग भवस्थ केवल्यनाहारक का अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

२-‘आचित’ शब्द पर आचित पदार्थ का, तथा ‘अच्छेय’ शब्द पर दश १० आश्रयों का निरूपण देखना चाहिये।  
३-‘अजीव’ शब्द पर उच्य-क्षेत्र-काश-जाव में अजीव की व्याख्या की हुई है।

४-‘अजा’ शब्द पर आर्या ( माध्वी ) को गृहस्थ के सामने दृष्टभाषण करने का निषेध, और विान्व ( नाना रंग वाले ) वस्त्र पहि-रने का निषेध, तथा गृहस्थ के कपड़े सीने का निषेध, और सविज्ञास गमन करने का निषेध, पर्यङ्क गार्दी तकिया आदि को काम में लाने का निषेध, स्नान अङ्गरागादि करने का निषेध, गृहस्थों के घर जाकर व्यावहारिक अथवा धार्मिक कथा करने का निषेध, तरुण पुरुषों के आने पर उनके स्वागत करने का, तथा पुनरागमन करने का निषेध, और उनके उचितचारादि विषय बखित हैं।

५-‘अणायार’ शब्द पर साधुओं के अनाचार; ‘अणारिय’ शब्द पर अनार्यों का निरूपण; ‘अणुभाग’ शब्द पर अनुयोग शब्द का अर्थ, अनुयोगविधि, अनुयोग का अधिकारी, तथा अनुयोगों की पार्थक्य आदिपरिचित से दुर्ग है, इत्यादि; और ‘अणुवय’ शब्द पर जन्मियों के विजाग देखने के सायक हैं।

६- 'अगेतवाय' शब्द पर स्यादवाद का स्वरूप, एकान्तवादियों को दोष, अनैकान्तवादियों के मत का प्रदर्शन, अनैकान्तवाद के प्रत्यक्षरूप में दिखाई देते हुए भी उसको तिरस्कार करने वालों की उन्मत्तता, एकान्तरूप से उत्पन्न अथवा नाश मानने में दोष, दूर एक वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में प्रमाण, वस्तु की एकान्तवत्ता माननेवाले सांख्यमत का स्वयम्न इत्यादि विषय उत्तमोत्तम दिखायें गये हैं ।

७ 'अस्यउत्थिष्य' शब्द पर एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है कि नहीं ? इसपर अन्वययिषकों के साथ विवाद, अदत्तादानादि किये के विषय में विवाद, एक समय में एक जीव के दो क्रिया करने में विवाद, कल्याणकारी शील है या अशुत है ? इसपर अन्वययुषिकों के साथ विवाद, और अन्वययुषिकों के साथ गौचरी का निषेध, तथा अन्वययुषिकों को भोजन देने का निषेध, एवं उनके साथ विचारजूमि या विहारजूमि में जाने का निषेध आदि विषय भावयुक्तियुक्त हैं ?

८ 'अदत्तादाण' शब्द पर अदत्तादान के नाम, अदत्तादान का स्वरूप, अदत्तादान का कर्ता, और अदत्तादान का फल इत्यादि विषय उपकारी हैं ।

९ 'अद्गजमार' शब्द पर अर्धकजुमार की कथा, रागद्वेषराहित के भाषण करने में दोषाजाव, शीमादि के उपनामों का भयण (साधु) नहीं कहे जाते, ममवसरणादि के उपभोग करने पर भी अद्वैत जगत्त्व के कर्मबन्ध न होने का प्रतिपादन, केवल नाशशुक्ति ही को माननेवाले बौद्धों का स्वयम्न, बिना हिंसा किये हुए जी पांस स्वाने का निषेध आदि विषय परदर्शित किये गये हैं ।

१० 'अधिगण' शब्द पर कलह करने का निषेध, उत्पन्न हुए कलह को शान्त करने की आज्ञा, कलह उत्पन्न किए कारण, कलह करके दूसरे गण में जाने का निषेध, शृङ्खल के साथ कलह उत्पन्न होजाने पर उसको बिना शान्त किये पिण्णादि प्रद्वय करने का निषेध इत्यादि विषय स्मरण रखने के योग्य हैं ।

११ 'अप्यबहुत्' शब्द पर अप्यबहुत् के चार जेद, पृथ्वीकापायिकों के जपनाशयजगहना से अप्यबहुत्त्व, आहारक और अनाहारक जीवों का अप्यबहुत्त्व, सेन्द्रियों का परस्पर अप्यबहुत्त्व, क्रोधादि कषायों का अप्यबहुत्त्व, किम क्षेत्र में जीव योग्य है और किसमें बहुत है इसका निरूपण, जीव और पुद्गलों का अप्यबहुत्त्व, तथा ज्ञानियों का अप्यबहुत्त्व आदि अनेक विषय हैं ।

१२ 'अमावसा' शब्द पर एक वर्ष में द्वादश अमावास्याओं का निरूपण, तथा उनके नक्षत्रों का योग और उनके कुल, एवं कितने गृहनों के जानपर अमावास्या के बाद पूर्णमासी और पूर्णमासी के बाद अमावास्या आती है इत्यादि विषय हैं; और 'अयण' शब्द पर अयन का परिमाण, करण का निरूपण, चन्द्रायण के परिज्ञान में करण आदि विषय रमणीय हैं ।

१३ 'अहिंसा' शब्द पर अहिंसा का स्वरूपनिरूपण, अहिंसा व्रत का लक्षण, जिनको यह मिली है और जिन्होंने इसको ग्रहण की है उनका वर्णन, अहिंसा पाप्मन में उद्यत पुरुषों का कर्तव्य, अहिंसा की पांच भावनाएँ, प्राणीमात्र की हिंसा करने का निषेध, वैदिक (याज्ञिक) हिंसा पर विचार, प्राणी के न मारने के कारण, जैनों के समान अन्वय मत में अहिंसा के अभाव का निरूपण, अन्वय मत में अहिंसा की माझ की कारणता मुख्य न (गौण) होना, एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य आत्मा के मानने वालों के मत में अहिंसा का व्यर्थ हो जाना, आत्मा के पराणामी होने पर जी हिंसामें अविरोध का प्रतिपादन, आत्मा के नित्यानित्यत्व और देह से जिन्नाभिन्तत्व होने में प्रमाण, तथा आत्मा के शरीरावच्छिन्न होने में गुण आदि विषय ध्यान देने के योग्य हैं ।

प्रथम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हैं उनकी नामावली—

'अइमुंतय' 'अउज्जा' 'अंगारमद्ग' 'अजू' 'अंर' 'अंबर' 'अकर' [कीर्तिचन्द्र नरचन्द्र की] 'अक्खय' 'अक्खु' 'अग्रदत्त' 'अगहिंसागराय' 'अर्षकारियभट्टा' 'अचल' 'अजिभदेव' 'अज्जगंग' 'अज्जवेदणा' 'अज्जमेग' 'अज्जयण' 'अज्जरत्त' 'अज्जरत्तिय' 'अज्जव' (अरुणिकथा) 'अज्जवइर' 'अज्जुमण' 'अट्टण' 'अट्ठावय' 'अट्ठिअगाम' 'अरुदो' 'अणस्सिअवद्दण' 'अणीयस' 'अणुवेदोपर' 'अणुन्नवेस' 'अणायया' 'अणियाठत्त' 'अचदोसोवंधार' 'अत्थकुसल' 'अद्गजकुमार' 'अप्यमाय' 'अप्पु' 'अजग्गसेण' 'अज्जकुमार' 'अभयदेव' 'अमरदत्त' 'अर' 'अरइस्य' 'अरिदुणेमि' 'असोभया' 'अवंतिसुक्काल' 'असट' 'अस्सावन्नोदित्थ' 'अरिच्छण' 'अदिण्देण' 'अदिच्छण' पर कथायें लख्य हैं ।



## द्वितीय भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१- 'आल' शब्द पर आयु के जेद, आयु प्राणीमान को अतिमिय है इसका निरूपण, आयु की पुष्टि के कारण, और उनके उदाहरणादि देखने चाहिये ।

२- 'आलकाय' शब्द पर अप्कायिकों के जेद, अप्कायिक के शरीरादि का वर्णन, और उसके सचित्त-अचित्त-मिथ भेदों का निरूपण, लण जल की अचित्तसिक्कि, अप्काय शब्द का निरूपण, अप्काय की हिंसा का निषेध, अप्काय के स्पर्श का निषेध, और शीतोदक के सेवन का निषेध आदि विषय हैं ।

३- 'आलदृष्टि' शब्द में चन्द्र और सूर्य की आवृत्तियों किस ऋतु में और किस नक्षत्र के साथ कितनी होती हैं इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

४- 'आगम' शब्द पर लौकिक और लोकोत्तर भेद से आगम के जेद, आगम का परतः प्रामाण्य, आगम के अप्रौ-ख्यत्व का खएहन, आगमों के रचे हुए ही आगम का प्रामाण्य, जहाँ जहाँ प्रामाण्य का संभव है वह सभ। प्रमाणी-ज्व है इसका निरूपण, मूलागम से अतिरिक्त के प्रामाण्य न होने पर विचार, शब्द के नित्यत्व का विचार, जो आगम-प्रमाण का विषय होता है वह अन्य प्रमाण का भी विषय हो सकता है इसका विचार, धर्ममार्ग और मोक्षमार्ग में आ-गम हैं। प्रमाण हैं, जिनागम का सत्यत्वप्रतिपादन, सब व्यवहारों में आगम कहां। नियामक होने का विचार, बौद्धों के अपोहवाद का संक्षिप्त निरूपण इत्यादि पचास विषय बड़े रमणीय हैं ।

५- 'आज्ञा' शब्द पर आज्ञा के सदा आराधक होने का निरूपण, पल्लोक में आज्ञा ही प्रमाण है, आज्ञा की विराधना करने में दोष, तथा आज्ञाभङ्ग होने पर प्रायश्चित्त, आहारहित पुरुष का चारित्र्य ठीक नहीं रह सकता, और आज्ञा के व्यवहार आदि का बहुतही अच्छा विचार है ।

६- 'आणुपुत्र' शब्द पर बहुत ही गम्भीर १२ विषय विद्वानों के देखने योग्य हैं ।

७- 'आत्मा' शब्द पर आत्मा के तीन जेद, आत्मा का लक्षण, आत्मा के कर्तृत्व पर विचार, आत्मा का विभुत्वखएहन, आत्मा का परिणाम, आत्मा के एकत्व मानने पर विचार, आत्मा का क्रियावत्त्व, और आत्मा के कृणिकत्व मानने पर विचार इत्यादि विषय हैं ।

८- 'आधाकम्म' शब्द पर आधाकर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, तीर्थकर के आधाकर्म-जोजित्व पर विचार, जोजनादिक में आधाकर्म के संज्ञक होने का विचार, आधाकर्म-भोजियों का दाखण परिणाम, और आधाकर्म-भोजियों का कर्मबन्ध हाना, इत्यादि अनेक विषय हैं ।

९- 'आजिण्णोद्दयणाण' शब्द पर १३ विषय विचारणीय हैं; और 'आयंविज्जण्णकलाण' शब्द पर आचामाम्भ-प्रत्याख्यान के स्वरूप का निरूपण है ।

१०- 'आचारिय' शब्द पर आचार्यपद का विवेक, आचार्य के भेद; आचार्य का ऐहलौकिक और पारलौकिक स्वरूप, प्रमानानाचार्य, और उपस्थापनाचार्य का स्वरूप, आचार्य का विनय करना; आचार्य के लक्षण, जिनके अभाव में आचार्य नहीं हो सकता वे गुण, आचार्य के प्रष्टाचारत्व होने में दुर्गुण, दूसरे का अद्वित्य कराना ही दुर्गुण है इसका कथन, प्रमादी। आ-चार्य के शिष्य को शिक्षा करने का अधिकार; गुरु के विनय में वैद्यच्छान्त, आचार्य के शिष्य नमस्कार करने का निरूपण, गुरु की वैयानुत्व, जिस कर्म से गच्छ का अधिपति होता है उसका निरूपण, आचार्य के अतिशय, निर्ग्रन्थियों के आचार्य, एक आचार्य के काल कर जाने पर दूसरे आचार्य के स्थापन में विधि, आचार्य की परीक्षा, आचार्य पद पर गुरु के स्थापन करने में विधि, विना परिषद के आचार्य होने का खएहन, स्थापन करने में वृद्ध साधुओं की सम्मति लेने की आव-श्यकता, इत्यादि उत्तमोत्तम विषय हैं ।

११- 'आलोचणा' शब्द पर आलोचना की व्युत्पत्ति, अर्थ और स्वरूप, मूलागम और लच्छरगुण से आज्ञाचिना के भेद, विद्वारादि भेद से आज्ञाचिना के तीन भेद, और उसके भी जेद, शय्य के उच्चारार्थ आज्ञाचिना करने में विधि, आज्ञाचिनीय विषयों में यथाक्रम आलोचना के प्रकार, आलोचना में शिष्याचार्य की परीक्षा पर आवश्यकता, आज्ञा-चिना लेने के स्थान, गोष्ठी में आये हुए की आलोचना, उच्य-क्षेत्र-काल-भाव जेद से आज्ञाचिना के चार प्रकार,

आलोचना का समय, तथा किसके निकट आलोचना लेनी चाहिये इस पर विचार, आत्मनपरण जीवक जी आलोचना लेने में ब्राह्मण का दृष्टान्त, अदत्तालोचन पर व्याघ्र का दृष्टान्त, आलोचना के आठ और दश स्थानक, कृत कर्मों की क्रम से आलोचना लेनी चाहिये, आलोचना न लेकर मृत होने पर दोष, और आलोचना का फल इत्यादि विषय आठउपकीय हैं ।

१२- 'आसायणा' शब्द पर आशातना करने में दोष, और आशातना का फल इत्यादि विवेचन देवने के योग्य है ।

१३- 'आहार' शब्द पर 'सयामी' केवली, अनाहारक होते हैं' इस दिग्भ्रर के मत का खगुन, केवलियों के आहार और नीहार प्रच्छन्न होते हैं' इस पर विचार, पृथिवीकायिकाटिकों के आहार का निरूपण, तथा वनस्पतियों का, वृक्षापरिस्थ वृक्षा का, मनुष्यों का, तिर्येगजस्रचरों का, स्थलचर सर्पादिकों का, ज्वरों का, विकलेन्द्रियों का, पञ्चेन्द्रियों के मूत्र पुरीषों से उत्पन्न जीवों का आहार; तजस्कायिक और वायुकायिक के आहार का निरूपण, और माचिन्ताहार का प्रतिपादन, यावज्जीव प्राणी कितना आहार करता है इसका परिमाण, आहार के कारण, आहारत्याग का कारण, और आहार करने का प्रमाण, भगवान् ऋषभ स्वामी के द्वारा कन्दाहारों युगलियों का अन्नाहारों होना इत्यादि विषय हैं ।

१४- 'इदिय' शब्द पर इन्द्रियों के पाँच जेद होने पर जी नामादि भेद में चार जेद, तथा उच्यदि भेद से दो जेद, और इन्द्रियों के संस्थान (रचना), इन्द्रियों के विषय, नेत्र और मन का अप्राप्यकारिन्, अत्रिशष्ट इन्द्रियों का प्राप्यकारि-त्वं, और इन्द्रियों के गुणगुण दोष का निरूपण आदि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१५- 'स्त्रियों' शब्द पर स्त्री के लक्षण, स्त्रियों के स्वभाव जानने की आवश्यकता, और उनके कृत्यों का वर्णन, स्त्रीसंबन्ध-में दोष, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करना, स्त्री के साथ संबन्ध होने से इमी लोक में फल, स्त्री के संसर्ग में दोष, भांगियों का विभ्रम्वना, विश्राम देकर स्त्रियों के अकार्य करने का निरूपण, स्त्रियों के स्वरूप और शरीर की निम्नता, वैराग्य उत्पन्न होने के लिये स्त्रीचरित्र का निरीक्षण, स्त्रियों की अपवित्रता, प्राणों का सर्वस्व हरण करने वाहों और बन्धन में विशेष कारण स्त्रियों हैं, उनके स्नह में फल हुए पुरुष का दुःखप्राप्त, स्त्री का संबन्ध सर्वथा त्याज्य है इसका निरूपण, और उनमें के त्याग के कारण, स्त्री के हस्तस्पर्श करने का निषेध, तथा स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार, उच्चार, प्रसन्न, परिष्ठापनिका, और धर्मकथादि करने का जी निषेध इत्यादि बहुत अर्चे २० विषय उच्यते हैं ।

१६- 'ईश्वर' शब्द पर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खगुन, तथा ईश्वर के एकत्व और (विजुत्व का खण्डन, अन्य तीर्थि-कों के माने हुए ईश्वर का खगुन आदि विषय विचारने के योग्य हैं ।

१७- 'उर्दरणा' शब्द भी उच्यते हैं, और 'उववाय' शब्द पर ३० विषय ध्यान रखने के योग्य हैं, जैसे-देवता देवलोक में क्यों उत्पन्न होते हैं, अविराधित श्रामण्य होने पर देवलोक में उपपत्त होता है, और नैराधिक कर्म उत्पन्न होते हैं इत्यादि विषयों पर विचार है ।

१८- 'उवमंपया' शब्द पर अचार्यादि के काल कर जाने पर साधु के अन्यत्र गमन करने पर विचार, हाति और जु-की की परीक्षा करके कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण, भिक्षु का एक गण से निकल कर दूसरे गण में प्राप्त हो के विहार, तथा इसीका दूसरा प्रकार, कुगुरु होने पर अन्यत्र गमन करना इत्यादि विचार है ।

१९- 'उवसग्ग' शब्द पर उपसर्ग की व्याख्या, उपसर्गकारी के भेद से उपसर्ग के जेद, और उपसर्ग का सहन, तथा संयमों का रूक्षत्व आदि विषय हैं ।

२०- 'उवहि' शब्द पर उपधि के भेद, जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के उपधि, जिन कालपक और गच्छ-चारामयों के उपधि में उत्कृष्ट विभाग प्रमाण, उपधि के न्युनाधिक्य में प्रायश्चित्त, प्रथम प्रव्रज्या के ग्रहण करने पर उपधि, प्रव्रज्या का ग्रहण करती हुई निश्चिन्ती के उपधि, गात्र में अथवा विकाल में उपधि का ग्रहण, भिक्षा के लिये गंध हुए साधु के उपकरण गिरजाने पर विधि, स्थाविरों के ग्रहण योग्य उपधि, माधवियों का जो उपधि देता हो उसे उनके आन के मार्ग में रख देना चाहिये इत्यादि विषय उपयोगी हैं ।

२१- 'उसज' शब्द पर ऋषभस्वामी के पूर्व जव का चरित्र, ऋषभस्वामी के तीर्थङ्कर होने में कारण, ऋषभस्वामी का जन्म और जन्ममहोत्सव, ऋषभस्वामी के नाम, और उनकी हृष्टि, और उनका विवाह, पुत्र, नीतिव्यवस्था, राज्यातिषेक, राज्यग्रह, लोकास्थिति के लिये शिल्पादि का शिक्षण, वाम, तदनन्तर ऋषभस्वामी के पुत्र का

अभिषेक, ऋषजस्वामी का दीक्षाकल्याणक, और उनके पीरधारी होने का कालमगण, जिज्ञाकाल का ममाण, ऋषभस्वामी के आठ भवों का त्रयांसकुमार के द्वारा कथन, ऋषजनाथ का श्रामभय के बाद प्रवर्तनप्रकार, श्रामस्थावस्थावर्षण, फवलोत्प-  
स्वन्नर-सर्भकथन, श्रृषजस्वामी के वन्दनार्थ मरुदेवी के साथ जरत का गमन, और जरत का द्विजय, ब्राह्मणों की उत्पत्ता का प्रकार, श्रृषजस्वामी की सङ्घमदन्वया, और उनके केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कितने काज्ञानन्तर जम्बों का सिद्धिगमन प्रवृत्त हुआ, और कब तक रहा, ऋषजस्वामी के जन्मकल्याणकादि के नकृत्र, और उनके शरीर की संपत्ति, शरीर का प्रमाण, कुमारवस्था में तथा राज्य करने के समय म और गृहस्थावस्था में जितना काल है उनका मान, श्रृषभस्वामी का निर्वाण इत्यादि विषय स्थित हैं ।

इस से आतिरिक्त भी विषय इन भाग में स्थित हैं जिन्का विस्तार के भय से निरूपण नहीं हो सकता ।

द्वितीय जग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी नामावली—

‘आउ’ ‘आणंद’, ‘आधाकम्प’, ‘आर्ष’, ‘आर्षीरवेचक’, ‘आयरिय’, ‘आराहणा’, ‘आरुग्गदिय’, ‘आलंबण’, ‘आज्ञोय-  
णा’, ‘आमाहच्छ’, ‘इंदवत्त’, ‘इंदेच्छ’, ‘इच्छकार’, ‘इत्थिपरिमह’, ‘इत्थी’, ‘इत्तापुत्त’, ‘इसिभट्टपुत्त’, ‘इसिभामिय’, ‘इस्सर’, ‘उत्तंवरदत्त’, ‘उत्तकम’, ‘उत्तपायमाण’, ‘उत्तज्यंत’, ‘उत्तुमातिववहार’, ‘उत्तुववहार’, ‘उत्तुक्कय्य’, ‘उत्तहपरि-  
मह’, ‘उत्तयण’, ‘उत्तयपत्तसुरि’, ‘उत्तमिय’, ‘उत्तपत्तिय’, ‘उत्तपत्तिया’, ‘उत्तन्न’, ‘उत्तवृह’, ‘उत्तमेपया’, ‘उत्तहि’, ‘उत्ताल-  
ज’, ‘उत्तसारकण्य’ इत्यादि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं ।

तृतीय जग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘एगद्धविहार’ शब्द पर एकाकी विहार करने में साधु को क्या दोष होता है इस पर विचार, एकाकीविहारियों के जेद, आशिर्वाद कारण से एकाकी होने में दोषाभाव, गण को टोका कर एकाकी विहार करने पर आश्विर्वाद वर्णित हैं ।

२-‘एगावाड’ शब्द पर आत्मा का एकत्र मानने वालों का खण्डन, तथा एक मानने में दोष, अद्वैतवाद ( पुरुषार्थ ) का खण्डन विस्तार से हैं ।

३-‘एसणा’ शब्द पर १५ विषय दिये हैं वे जो साधु और गृहस्थों के देवने योग्य हैं, जन्म-नाश को किस प्रकार भिन्ना लेना, और गृहस्थ को किस प्रकार देना चाहिये इत्यादि ।

४-‘आगाहणा’ शब्द पर अवगाहना के भेद, आदारीक शरीर की अवगाहना ( केज ) का मान, द्विजचतुर्गिण्डि-  
यों की आदारीकावगाहना, तिर्यकपञ्चेन्द्रियों की आदारीकावगाहना, मनुष्यपञ्चेन्द्रियों की आदारीकशरीरावगाहना, वैक्रिय शरीर की अवगाहना का मान, पृथिव्यादिकों की वैक्रियशरीरावगाहना, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्यों की वैक्रियशरीरावगाहना, असुरकुमार्गों की वैक्रियशरीरावगाहना, आहारकशरीरों की अवगाहना का मान, तेजस शरीर की अवगाहना का मान, निर्गोद जीवों की अवगाहना का मान, धर्मास्तिकाय के अवगाहानवगाद क) चिन्ना, एक जगह एकही धर्मास्तिकायादि प्रवेशवागद हैं इत्यादि विवेचन हैं ।

५-‘आमपिणी’ शब्द पर अवसर्पिणी शब्द की व्युत्पत्ति, और अवसर्पिणी किन्तने काल को कहते हैं, अवसर्पिणी काल में संपूर्ण शूभ भाव क्रम से अनन्त गुण से क्रांण होते हैं, और उसी तरह अशुभ जाव बढ़ते हैं, सुषमसुषमा से लेकर दुःषमदुःषमा पर्यन्त अवसर्पिणी, के जेद, सुषमादिकों का प्रमाण, भेरुनालादि वृक्ष का वर्णन, अष्टम कल्पवृक्ष का स्वरूप, उस काल में होने वाले मनुष्यादिकों के स्वरूप का वर्णन, और उनकी जवस्थिति, प्रथम में लेकर पद्य आगा तक का स्वरूपनिरूपण, जगत की व्यवस्था का वर्णन, भरतजृमिस्वरूप, अवसर्पिणी के तीन जेद इत्यादि विषय दिये हुए हैं ।

६-‘आहि’ शब्द पर अर्वाधि शब्द की व्युत्पत्ति और लक्षण, अर्वाधि के जेद, अर्वाधि के नामादि सात जेद, अर्वाधि-  
संज्ञ मान, अर्वाधिविषयक उच्य का मान, जेव और काल के विषय का मान इत्यादि अनेक विचार हैं ।

७-‘कज्जकारणभाव’ शब्द पर कापिन्नादि मतों का खण्डन आदि विषय विचारणीय हैं ।

८-‘कम्म’ शब्द पर कर्म के तीन जेद, और उनके स्वरूप का निरूपण, कर्म और शिल्प में जेद, नैयायिक और बौद्धाकर-  
णों के कर्म पदार्थ का निरूपण, कर्म के स्वरूप का निरूपण, पुण्य और पापरूप कर्म की सिद्धि, अकर्मवादी नास्तिक के मत

का स्वप्न, कर्म के मूर्तत्व पर आक्षेप और परिहार, जगत के वैचित्र्य से भी कर्म की सिद्धि, जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध, कर्म का अनादित्व, जगत की विचित्रता में कर्मही कारण है ईश्वरादि नहीं हैं इसका निरूपण, स्वजाववादी के मत का स्वप्न, पुण्य और पाप कर्म रूप ही हैं, पुण्य और पाप के जिन लक्षण, कर्म के चार जेद, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और मोहनीयों का विचार, नामकर्म गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म का निरूपण इत्यादि ३७ विषय विचारणीय हैं ।

ए—'कसाय' शब्द पर कथायों का निरूपण है ।

१०—'काउसम' शब्द पर कायोत्सर्ग का अर्थ, किन किन कार्यों में कितने उच्छ्वास मान व्युत्सर्ग है, किस रीति से कायोत्सर्ग में स्थित होना इत्यादि १५ विषय बने गंजौर हैं ।

११—'काम' शब्द पर काम की रूपित्वसिद्धि, अरूपित्व का स्वप्न; तथा 'कायद्विष्ट' शब्द पर जीवों की जायस्थिति, जीवों की नैरयिकादि पर्याय में स्थितिक्रिया, विर्यक तथा तिर्यकस्थियों की, और मनुष्य तथा मनुष्यस्थियों की, कार्यास्थिति, देव तथा देवियों की कार्यास्थिति, पर्यायपर्याय के विशेष से नैरयिकों की कार्यास्थिति, इन्द्रियों के द्वारा से जीवों की कार्यास्थिति, काण्ठद्वार से जीवों की कार्यास्थिति, इसी तरह योगद्वार, वेदद्वार, कथाद्वार, लयाद्वार, सम्पदद्वार, ज्ञानद्वार, दर्शनद्वार, संयमद्वार, उपयोगद्वार, आह्लादद्वार, जापकाजापकद्वार, संक्रिद्वार, जवस्थितिकद्वार के जेद से जीवों की कार्यास्थिति, और उदकगर्जादिकों की कार्यास्थिति इत्यादि २० विषय हैं ।

१२—'काल' शब्द पर कालशब्द की व्युत्पत्ति, काल की सिद्धि, काल का लक्षण, काल के भेद, दिगम्बर की प्रक्रिया से काल का निरूपण, और उसका स्वप्न, काल का ज्ञान मनुष्य क्षेत्र ही में होता है इसका निरूपण, काल के संख्येय, असंख्येय और अनन्त भेद से तीन जेद तीर्थकर और गणधरों से कहे हुए हैं, स्निग्ध और रूज जेद से काल के दो जेद, स्निग्ध और रूज के तीन जेद इत्यादि विषय निर्दिष्ट हैं ।

१३—'कितकर्म' शब्द पर कृतिकर्म में साधुओं की अपेक्षा से साधियों का विशेष, यथोचित वन्दना न करने में दोष, कृतिकर्म में द्रव्य और भाव के जनने के लिये दृष्टान्त, कृतिकर्म करने के योग्य साधुओं का निरूपण, तथा वन्दन करने के योग्य साधुओं का निरूपण, छत्र-क्षेत्र-काल-जाव से जेद, आचरण का लक्षण, और पर्याय ज्येष्ठों से आचार्य की वन्दना का विचार, दैविक और रात्रिक प्रतिक्रमण के मध्य में स्तुति मङ्गल अवरय करना चाहिये, कृतिकर्म किसको करना चाहिये और किसको नहीं इसका विवेचन, पार्श्वस्थादि कों की वन्दना पर विचार, मुसायु के वन्दना पर गुण का विचार, कृतिकर्म करने में उचितानुचित का निरूपण, कृतिकर्म को कब करना और कब नहीं करना, और कितनी बार कृतिकर्म करना इसका निरूपण, नियत वन्दनस्थान की संख्या का कथन, कृतिकर्म के स्वरूप का निरूपण इत्यादि २१ विषयों का विवेचन है ।

१४—'किरिया' शब्द पर क्रिया का स्वरूप, क्रिया का निक्षेप, क्रिया के जेद, स्पृष्टास्पृष्ट से प्राणोत्पाताक्रिया का निरूपण, क्रिया का सक्रियत्व और अक्रियत्व, कृषावादादि का आश्रयण करके क्रिया करने का प्रकार, अष्टादश स्थानों के अधिकार से पदत्व और पृथक्त्व के द्वारा कर्मबन्ध का निरूपण, ज्ञानावरणीयादि कर्म को बाँधता हुआ जीव कितनी क्रियाओं से सदात्त करता है, मृगयादि में उद्यत पुरुष की क्रिया का निरूपण, क्रिया से जन्य कर्म और उसकी वन्दना के अधिकार से क्रिया का निरूपण, श्रमणोपासक की क्रिया का कथन, अनायुक्त में जाते हुए अनगर की क्रिया का निरूपण इत्यादि २८ विषय आये हुए हैं ।

१५—'कुसल' शब्द पर कुशील किसको कहना, और उनके जेद, कुशील के चरित्र, कुशीलों के निरूपणानन्तर कुशीलों का निरूपण, पार्श्वस्थादिकों का संसर्ग नहीं करना, और उनके संसर्ग में दोष इत्यादि विषय हैं ।

१६—'केवलज्ञान' शब्द पर केवलज्ञान शब्द का अर्थ, केवलज्ञान की सिद्धि, इसका साध्यपर्यवसितत्व, केवलज्ञान के भेद, सिद्ध का स्वरूप, किस प्रकार का केवलज्ञान होता है इसका निरूपण, लोक्या अक्षरक्या देशक्या और राजक्या करनेवाले के लिये केवल ज्ञान और केवल दर्शन का प्रतिबन्ध इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१७—'केवलपण्य' शब्द पर केवली से कहे हुए धर्म का निरूपण, केवली के जेद, पहिले केवली हो कर ही सिद्धि को प्राप्त होता है, केवली के आहार पर दिगम्बर की विप्रतिपत्ति अग्नि विषय निरूपित हैं ।

१८—'खओवसमिय' शब्द पर कृत्वोपशमिक के जेद तथा औपशमिक से इसका भेद, और उसके अठारह जेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१७—‘खरपर’ शब्द पर खरतर गच्छ का संक्षिप्त विवरण; तथा ‘खाणियवाड़’ शब्द पर बौद्धों के मत का संक्षिप्त निरूपण, और स्वयम्भुव आदि देखने के लायक है ।

२०—‘खेच’ शब्द पर क्षेत्र का निरूपण, क्षेत्र के तीन भेद, क्षेत्र के गुण, क्षेत्र का आभवनव्यवहार आदि कई विषय निरूपित हैं ।

२१—‘गड़’ शब्द पर स्पृशदगति और अस्पृशदगति से गति के दो जेद, प्रकारान्तर से जी दो भेद, गति शब्द की व्युत्पत्ति, नारक तिर्यग् मनुष्य देव के जेद से गति के चार भेद, प्रकारान्तर से पाँच भेद, अथवा आठ जेद, नारकादिकों की शीमगति आदि विषय दिये हुए हैं ।

२२—‘गच्छ’ शब्द पर गच्छविधि, सदाचाररूपी गच्छ का लक्षण, गच्छ का अगच्छत्व, गच्छ में बसने से विशेष निर्जेरा होती है इसका निरूपण, शिष्य तथा गच्छ का स्वरूप, आर्थिकाओं के साथ संबन्ध का निषेध, क्रयविक्रयकारी गच्छ का निषेध, सुगच्छ में बसना चाहिये, बसति का रक्षण, अष्टछत्राण, गच्छमर्यादा, आचार्यादिकों के अभाव होने पर गच्छ में नहीं बसना, गच्छ और जिनकरूप दोनों की प्रशंसा इत्यादि विषय हैं ।

२३—‘गणह ( घ ) र’ शब्द पर गणधर का स्वरूप, किम तीर्थङ्कर के कितने गणधर हैं, गणधर शब्द का अर्थ, जिन-गुणों से गणधर होने की योग्यता होती है उनका निरूपण किया है ।

२४—‘गज्ज’ शब्द पर गर्ज में अहोरात्रियों का प्रमाण, सुहृत्तों का प्रमाण, गर्ज में निःश्वासोच्चास का प्रमाण, गर्ज का स्वरूप, ध्वस्तयोगिन के काल का मान, कितने वर्ष के बाद स्त्री गर्भ धारण नहीं करती और पुरुष निर्वर्षि हो जाता है इसका निरूपण, कितने जीव एक देहा से एक स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कुट्टि में पुरुषादि कहाँ बसते हैं, गर्भ में जीव उत्पन्न होकर क्या आहार करता है?, गर्भस्थ जीव के उच्चार और प्रसवण का विचार, गर्भ-से जी जीव नरक या देवलोक को जाता है या नहीं इस गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर, नवमास का अन्तर हो जाने पर पूर्व भव को जीव क्यों नहीं स्मरण करता?, और गर्जगत का शौचादि विचार, स्त्री के गर्भधारण करने के पाँच प्रकार, गर्ज-पतन का कारण, गर्भपाण्डु में विधि इत्यादि विषय हैं ।

२५—‘गिलाण’ शब्द पर ग्लान के प्रति जागरण, सच्चित्ताचित्त से चिकित्सा, ग्लान का अनुवर्तन, वैद्यानुवर्तना, वैद्य का उपदेश, ग्लान के लिये एषणा इत्यादि विषय हैं ।

२६—‘गुण’ शब्द पर मूत्रगुण, उत्तरगुण, एकतीस सिद्धादिगुण, सत्ताईस अनगार गुण, महर्द्धि प्राप्त्यादि, भौतान्यादि, मृदुत्वौदाय्यादि, ज्ञान्यादि, वैशेषिकसंमतगुण, ऊच्यगुणों का परस्पर अभेद, गुणपर्याय के जेद, गुणपर्याय का एक्य, और जैनसंमत गुण इत्यादि छष्टव्य विषय हैं ।

२७—‘गुणद्वान’ शब्द पर चौदह गुणस्थान, कायस्थिति, गुणस्थान में बन्ध इत्यादि विषय हैं ।

२८—‘गोयचरिया’ शब्द पर जिनकल्पिक स्थविरकल्पिक, निर्गन्धियों की जिज्ञा में विधि, जिज्ञातन में विधि, आचार्य की आज्ञा, जाने के समय धार्याधार्य और कायाकार्य, मार्ग में जिस तरह जाना, वृष्टिकाय के गिने पर विधि, गृह प्रवेश, गृह के अवयवों को पकड़ करके नहीं खड़े होना, अंगुली दिखाने का निषेध, अगार ( स्त्री ) के साथ स्वने होना का निषेध, ब्राह्मणादि को प्रतिष्ठ देख कर के जिज्ञा के द्विये प्रवेश नहीं करना, तीर्थकर और उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन वाद्रे जिज्ञा के द्विये अग्रम नहीं करते, आचार्य जिज्ञा के लिये नहीं जाता, ब्राह्मवस्तु, गोचरानिचार में प्रार्थान्वय, सार्धियों की जिज्ञा का प्रकार इत्यादि विषय बहुत उपयोगी हैं ।

२९—‘चक्रवर्दी’ शब्द पर चक्रवर्तियों की गति का प्रतिपादन, गोत्रप्रतिपादन, चक्रवर्त्तों के पुत्र का प्रतिपादन, चक्रवर्त्तों का ब्रह्म, मुक्ताहार, वर्णादि, स्त्रियाँ, स्त्रियों के सन्तान आदि का निरूपण, उत्सर्पिणी में १२ चक्रवर्त्तों होते हैं, कौल और कर्म चक्रवर्त्तों होता है इसका निरूपण इत्यादि विषय हैं ।

३०—‘चारित्र’ शब्द पर कुम्भन के दृष्टान्त से चारित्र के चार भेद, सामायिकादि रूप से चारित्र के पाँच जेद, किस तरह चारित्र की भाँति होती है इसका प्रतिपादन, चारित्र से हीन ज्ञान अथवा दर्शन मोक्ष का साधन नहीं होता है, किन कथाओं के उदय से चारित्र का ज्ञाप ही नहीं होता और किन से हानि होती है इसका निरूपण, शीतराग का चारित्र न बहता है और न पड़ता है, चारित्र की विराधना नहीं करना, आहारशुद्धि ही मायः चारित्र का कारण है इत्यादि विषय हैं ।

३१-‘वैश्य’ शब्द पर चैत्य का अर्थ, प्रतिमा की सिद्धि, चारख्युनिकृत बन्दनाधिकार, चैत्य शब्द का अर्थ जो ज्ञान मानते हैं उनका खण्डन, चमरकृतवन्दन, देवकृत चैत्यवन्दन, सावध पदार्थ पर भगवान् की अनुमति नहीं होती, और मीन रहने से भगवान् की अनुमति सम्झी जाती है क्योंकि निषेध न करने से अनुमति ही होती है इसपर दृष्टान्त, हिंसा का विचार, साधु को स्वातन्त्र्य से चैत्य में अनधिकार, द्रव्यस्त्व में गुण, जिनपूजन से वैषाङ्क्य, तीन स्तुति, जिन भवन के बनाने में विधि, प्रतिमा बनाने में विधि, प्रतिष्ठाविधि, जिनपूजाविधि, जिनसन्निविधि, आभरण के विषय में दिग्दर्शन के मत का प्रदर्शन और खण्डन, चैत्यविषयक प्रश्नों पर हीरविजय छरिक्त उत्तर इत्यादि अनेक विषय हैं ।

३२-‘वैश्यवंदय’ शब्द पर नैषिकीत्रय, पूजात्रिक, भावनात्रिक, त्रिदिकृतिरीक्षणप्रतिषेध, प्रस्थिधान, अभिमम, चैत्यवन्दनदिक, अवगाह, २ वन्दना, २ या ४ स्तुति, जघन्यवन्दना, अपुनर्वेन्धकाऽऽदिक अधिकारी हैं, नमस्कार, प्रस्थिपात-दण्डक, २४ स्तव, सिद्धस्तुति, मीरस्तुति, वैषाङ्क्य की चौथी स्तुति, १६ आकार, कायोत्सर्ग इत्यादि अनेक विषय आये हैं ।

तृतीय जग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्थे आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

‘एगत्तभावशा,’ ‘एलकस्त,’ ‘एससायसिह,’ ‘कषाणयसीय,’ ‘कमीरह,’ ‘कतिय,’ ‘कप्य,’ ‘कप्यअ,’ ‘कययत्त,’ ‘कवडि-जस्त,’ ‘कंडरिय,’ ‘कंचल,’ ‘करंड,’ ‘काकंदिय,’ ‘कायगुत्ति,’ ‘काल,’ ‘कालसोत्परिय,’ ‘कासीराज,’ ‘किडकम्म,’ ‘कुवेरदत्त,’ ‘कुवेरदत्ता,’ ‘कुवेरसखा,’ ‘कांडिसिला,’ ‘गंगदत्त,’ ‘गयसुकुमाल,’ ‘गुलचंद,’ ‘गुलसागर,’ ‘गुलछरि,’ ‘गुरुकुलवास,’ ‘गुरुधिग्गह,’ ‘गोहामाहिल,’ ‘चंडरुद,’ ‘चंदगुत्त,’ ‘चंदप्पभरि,’ ‘वेपा,’ ‘चकंदव,’ ‘वैश्यवंदय’ ।

चतुर्थजग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘जीव’ शब्द पर जीव की व्युत्पत्ति, जीव का लक्षण. जीव का कथञ्चित्त्व, और कथञ्चित् अनित्यत्व, हस्ति और कुच्यु का समान जीव है इसका प्रतिपादन. जीव और चैतन्य का भेदाभेद, संसारी और सिद्ध के भेद से जीव के दो भेद, संसारियों का सेन्द्रियत्व, त्रिदों का अनिन्द्रियत्व इत्यादि विषय बखित हैं ।

२-‘जाइसिय’ शब्द पर जम्बूद्वीपगत चन्द्र धर्य की संख्या, तथा लवण समुद्र के, पातकी खण्ड के, कालोद-समुद्र के, पुष्करव द्वीप के, और मनुष्येत्तगत समस्त चन्द्रादि की संख्या का मान, चन्द्र-धर्यों की कितनी पहलाकियाँ हैं और किम तरह स्थित हैं इसका निरूपण, चन्द्रादिकों के अग्रण का स्वरूप, और इनके मण्डल, तथा चन्द्र से चन्द्र का और धर्य से धर्य का परस्पर अन्तर इत्यादि अनेक विषय हैं जिनका पूरा २ निरूपण यहाँ नहीं किया जा सकता ।

३-‘जांग’ शब्द पर योग का स्वरूप, तथा योग के भेद, और योग का माहात्म्य आदि अनेक बृहत् विषय हैं ।

४-‘जोनि’ शब्द पर योनि का लक्षण, और उसकी संख्या, और भेद, तथा स्वरूप आदि अनेक विषय हैं ।

५-‘भाण’ शब्द पर ध्यान का अर्थ, ध्यान के चार भेद, शुद्धध्यान आदि का निरूपण, ध्यान का आसन, ध्या-तन्त्र और ध्यानकर्ताओं का निरूपण, ध्यान का मोक्षहेतुत्व इत्यादि विषय हैं ।

६-‘ठवणा’ शब्द पर स्थापनानिष्पेध, प्रतिक्रमण करते हुए गणधर स्थापना करते हैं, स्थापनाचार्य का चालन, स्था-पना कितने प्रदेश में होती है इसका निरूपण, स्थापना शब्द की व्युत्पत्ति, और स्थापना के भेद इत्यादि विषय हैं ।

७-‘ठाण’ शब्द पर साधु और साध्वी को एक स्थल पर कायोत्सर्ग करने का निषेध, स्थान के पंद्रह भेद, बादर पर्याप्त तेजस्कायिक स्थान, पर्याप्तपर्याप्त नैरयिक स्थान, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का स्थान, भवनपति का स्थान, और स्थान शब्द की व्युत्पत्ति इत्यादि विषय हैं ।

८-‘डिई’ शब्द पर नैरयिकों की स्थिति, पृथिवीविभाग से स्थितिचिन्ता, देवताओं की स्थिति, तथा देवियों की, भवनवासियों की, भवनवासिनियों की, असुरकुमारों की, असुरकुमारियों की, नागकुमारों की, नागकुमारियों की, सु-र्वखकुमारों की, सुवर्णकुमारियों की, पृथिवीकायिकों की, सूक्ष्म पृथिवीकायिकों की, आउकायिकों की, बादर आउ-कायिकों की, तेउकायिकों की, सूक्ष्म तेउकायिकों की, बादर तेउकायिकों की, वायुकायिक-सूक्ष्म वायुकायिक-बादर वायु-कायिकों की. वनस्पतिकायिक-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक बादर वनस्पतिकायिकों की, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक. संमूर्द्धिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यङ्क, जलचरपञ्चेन्द्रिय, संमूर्द्धिम जलचर पञ्चेन्द्रिय, चतुष्पद स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय, संमूर्द्धिम चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, गर्भापक्रान्तिक चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, उरःपरिसर्प स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, भ्रूजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, मंमूर्द्धिम भ्रूजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय-

तिर्यग्योनिक, गर्भापक्रान्तिकभ्रुज०, खचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, ममूर्च्छिम०, गर्भापक्रान्ति०, मनुष्यों की, स्त्रियों की, नपुंसकों की, निग्रेन्थों की, वाशव्यन्तरों की, वाशव्यन्तरियों की, ज्यातिष्कों की, ज्यातिष्कियों की स्थिति-चन्द्रविम न में, स्रष्ट विमान में, ब्रह्मविमान में, नक्षत्रविमान में ताराविमान में स्थिति, वैमानिकों की स्थिति औषध कल्प में, ईशान कल्प में, सनत्कु-माह कल्प में, मोहन्द्र कल्प में, ब्रह्मलोक-लान्तक कल्प में, महाशुक्र-सहस्रार कल्प में, आनत कल्प में प्राणत कल्प में, आरशुक्रअच्युत कल्प में स्थिति-अयोऽपत्र, श्रैवेयकों की, अधोमध्यमश्रैवेयकों की, अधउपरिश्रैवेयकों की, मध्यमाधोश्रैवेयकों की, मध्यममध्यमश्रैवेयकों की, मध्यमउपरिमध्यमश्रैवेयकों की, उपरिमाधोश्रैवेयकों की, उपरिमध्यमश्रैवेयकों की, उपरि-मउपरिम श्रैवेयकों की स्थिति-विजयवैजयन्मजयन्तापराजितमवोधमिद्धों में देवों की स्थिति, वेदनीय कर्मों की स्थिति, पुंनपुंसकों की स्थिति, अकामकायकृशतपस्वियों की, व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति-बाल मरण से मरे हुए व्यन्तरों की, विषवाश्रों की अन्पारम्भप्रवृत्त व्यन्तरों में उत्पन्नों की स्थिति इत्यादि विषय बहुत भेद प्रभेद से निरूपित हैं ।

६-‘खक्षत्त’ शब्द पर नक्षत्रों की संख्या, इन नक्षत्रों में कब क्या कार्य(गमन प्रस्थानादि) करना, स्वाध्यायादि नक्ष-त्र-श्रिपि, श्रुत और ज्ञानवृद्धिकर नक्षत्र, चन्द्रनक्षत्रयोग, कितने भाग नक्षत्र चन्द्र के साथ युक्त होते हैं, प्रमदयोगी नक्षत्र, कौन नक्षत्र कितने तारायुक्त है, नक्षत्रों के देवता, नक्षत्रों के गौत्र, भोजन, द्वार, नक्षत्रविजय, सार्यकाल और प्रातःकाल में नक्षत्रचन्द्रयोग, अमावास्याओं में चन्द्रनक्षत्रयोग, संवत्सरान्तो में नक्षत्रचन्द्रयोग, और संस्थान(रचना)आदि विषय हैं ।

१०-‘शम्भोकार’ शब्द पर नमस्कार के भेद, सिद्धनमस्कार, वीतराग के अनुग्रह से रहित होने पर भी नमस्कार का फलद होना, मिद्ध गुण अर्पुन ही होते हैं, नमस्कार का क्रम इत्यादि अनेक विषय द्रष्टव्य हैं ।

११-‘खय’ शब्द पर नय का लक्षण, अपेक्षानय, सप्तभङ्गी, वस्तु का अनन्तधर्मान्मिकत्व, एक जगह अनेकाकार नयप्रमाणशुद्धि, नयज्ञान प्रमात्मक है या भ्रमात्मक है इसपर विचार, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, और उन दोनों का मत, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के मध्य में नैगमादि नयों का अन्तर्भाव, नैगमादि ७ मूल नय हैं और उनके मत का संग्रह, ‘सिद्धयन दिवाकर’के मत में ६ नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, श्रुतुव्यव, शब्दनय, एवंभूत नय, ७०० नय, निच-पनयोजना, कौन दर्शन किस नय से उत्पन्न हुआ, शब्दब्रह्मवादियों का मत, अद्वैतवादियों का मत निश्चय और व्य-वहार में मभी नयों का अन्तर्भाव, व्यवहार नय से साङ्ख्यमत, वेदान्त और साङ्ख्य का शुद्धशुद्धत्व, नैगम और संग्रह का व्यवहार में अन्तर्भाव, कणाद और सौगत ( बौद्ध ) का मत, दिगम्बर मत में नय, शब्दनय, अर्थनय, नयों में सम्यक्त्व, नयफल, ज्ञानक्रियानय, नयपार्थक्य आदि विषय दिये हुए हैं ।

१२-‘शरमा’ शब्द पर नरकदुःखवर्णन, नरकवेदना, नरक के बहुत से स्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१३-‘शाग’ शब्द पर पाँच ज्ञान, मति श्रुत भेद से ज्ञान के भेद, ज्ञान का साकारानाकारत्व, ज्ञान का स्वप्रका-शकत्व, तत्त्वज्ञान इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं, और ‘शिग्मंथ’ शब्द पर निग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति आदि देखना चाहिये ।

१४-‘तपस’ शब्द पर तप क्या वस्तु है, अनशन व्रत तप कैम है, बाह और आभ्यन्तर तप का निरूपण, तप धैमा करना चाहिये बिम में शरीर की ग्लानि न हो, तप का फल, तप के चार भेद इत्यादि विषय हैं ।

१५-‘नित्यपर’ शब्द पर तीर्थकर शब्द की व्युत्पत्ति और यह किमका प्रतिपादक है इस का निरूपण, तीर्थकरों के अति-शय, तीर्थकरों के अन्तर, और तीर्थकरों में अष्टादश दोष का अभाव, तीर्थकरों के अभिग्रह और उनकी आदेशमहत्त्वका आव-श्यक, और उनके आहार, जन्मावसर में इन्द्रकृत्य, सभानिवेशन, शक्रक्रिया, देवलोक के उतरने के मार्ग मरुगमन, उपकरण-संख्या, उपमर्गे देहमान(उँचाई आदि)चतुर्विंशति जिनों के अवाधिज्ञानी मुनियों की संख्या, कल्पशोधि, कुमारवाम, केव-ल(ज्ञान)प्रचक्र, केवलनगरी, केवलतप, केवलमास तिथि, केवलराशि, केवलवृक्ष, केवलवृक्षमान, केवलवन, केवलवेला, क-लिकाल, केवलमेरुया, गणमेरुया, गणधर्मरुया, गर्मस्थिति, शुद्धिकाल, गृहस्थावस्था के तीन ज्ञान, गौत्र, चतुर्दशपूर्वी, च-क्रिन्वकाल, चरित्र, च्युतिनक्षत्र, च्युतिनाम, च्युतिराशि, च्युतिवेला, लक्षस्थव, लक्षस्थावस्था में वीरतपमान, यज्ञ, यज्ञिणी, जन्मनक्षत्र, जन्मनगरी, जन्मदश, जन्ममास, जन्मराशि, जन्मवेला, जन्मारक, जन्मारकराशकाल, तत्त्वसंख्या, तीर्थप्रवृत्ति-काल, तीर्थोच्छेदकाल, तीर्थकर्मनाम, ‘चक्रगति, बलदेव, वामुदेव, प्रतिवामुदेव, तीर्थोत्पत्ति, दीक्षाकाल, दर्शन, दीक्षानक्षत्र, दीक्षापर्याय, दीक्षातरु, दीक्षानय, दीक्षापरिवार, दीक्षापुर, दीक्षाज्ञान, दीक्षामास, दीक्षागण, दीक्षाशो, दीक्षाशोच्युष्टि, दीक्षावन, दीक्षावय, दीक्षाशिक्षिका, दिक्कुमारिकृत्य, अष्टकुमारियों के नाम, और इनके आसनों का चलन, गमनावसर

में क्या करती हैं, तीर्थकरमाताओं को नमस्कार, इनका कर्तव्य, दक्षिणरुचकवासियों का कृत्य, पश्चिमरुचकवासियों का कृत्य, उदीची में रुचकवासियों का कृत्य इत्यादि, देवदृष्यवस्त्र, देवदृष्यवस्त्रस्थिति, धर्मप्रभेद, धर्मप्रदेशक, नाम तीर्थकरों के, पञ्चकल्पशास्त्रक, पर्यायान्तकृतभूमि, प्रतिक्रमणसंख्या, प्रथममण्यधरनाम, प्रथमप्रवर्तिनी, प्रथमश्रावक, प्रथम-श्राविका, प्रत्येकबुद्धसंख्या, प्रभाद, परिषद, पारशाद्रव्य, पारशादायक, पारशादायकगति, पारशादायकदिव्य-पञ्च, पारशादायकवसुधाराष्ट्रि, पारशापुर, प्रियगति, प्रियनाम, पूर्वप्रवृत्तिकाल, पूर्वप्रवृत्तिच्छेद, जिनों के पूर्व भव, ( अष्ट-पभेद के पूर्वभव 'अष्टपभ, शब्द पर हैं ) चन्द्रप्रभ के सात् भव, शान्तिनाथ के द्वादश पूर्वभ, मुनिसुव्रत के नवभ, नेमिनाथ के नवभ, पार्श्वनाथ के पूर्वभ, वीर के अष्टाईमभ, शेष जिनों के भव, पूर्वभवगुरु, पूर्वभवायु, पूर्वभवचेत्र, पूर्वभवदीक्षा, पूर्वभवजिनहंतु, पूर्वभद्दीप, पूर्वभवनाम, पूर्वभवपुरी, पूर्वभवराज्य, पूर्वभवविजय, पूर्वभववर्ग, पूर्वभववस्त्र, मुख्यआयन, मुख्यस्थान, मुख्यतप, मुख्यनक्षत्र, मुख्यपरिवार, मुख्यपथ, मुख्यमाम, मुख्यराशि, मुख्यविनय, मुख्यवे-ला, मुख्यारक, मुख्यारकशेषकाल, मुख्यवागाहना, मुनिस्वरूप, मुनिसंख्या, राज्य, रुद्रनाम, लाञ्छन, शरीरलक्षण, जिनवेश, वस्त्रवर्ण, जिनों के वर्ण, विवाह, विहार, संयम, सांख्यमरिक दान, समवसरण, सवायु, सामान्यमुनि, सामायिक, सामायिकसंख्या, श्रावकसंख्या, स्वप्न, स्वप्नविचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१६— 'तेजकाश्य' शब्द पर तेज की जीवत्वमिद्धि, अग्नि की जीवत्वमिद्धि, तद्विषयसमारंभ कटुकफलपरिहारोप-न्यास, अग्निममारम्भ में नानाविधप्राणियों की हिंसा, तजस्कायपिण्डप्रतिपादन, तजस्कायहिंसानिषेध इत्यादि विषय हैं ।

१७— 'धोडल' शब्द पर स्थण्डिल का विवेचन देखना चाहिये । 'दंमण' शब्द पर दर्शन की व्युत्पत्ति, सम्यक् और मिथ्या भेद में दर्शन के दो भेद, सायिकादि भेद से तीन भेद, तथा दर्शन का पञ्चविधत्व और सप्तविधत्व. कारक शौचक दीपक भेद से तीन भेद, नवविधदर्शन इत्यादि विषय हैं ।

१८— 'दत्र' शब्द पर द्रव्य का निरूह, द्रव्य का लक्षण, पद्द्रव्यनिगमन, जीवाजीवद्रव्य असंख्य अनन्त, द्रव्य के दो भेद, वैशेषिकरीति में नव द्रव्य, और उनमें द्वाप इत्यादि विषय द्रव्य हैं ।

१९— 'दाग' शब्द पर दान का विशेष विचार देखना चाहिये ।

२०— 'देव' शब्द पर देवताओं के दो भेद, तीन भेद, चार भेद, पाँच भेद इत्यादि विषय हैं ।

२१— 'धम्म' शब्द पर धर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, धर्म के दो भेद, धर्म का लक्षण, धर्म के भेद और प्रभेद, धर्म के चिह्न, आर्दायलक्षण, दक्षिण्यलक्षण, निर्मलवांधलक्षण, भेदादिकों के लक्षण, धर्म के अधिकारी, धर्म के योग्य, अव-श्यही धर्म की रक्षाकरना चाहिये इसका निरूपण, अर्थ और काम का धर्म ही मूल है, धर्मोपदेश का विस्तार, धर्म का माहात्म्य, धर्म का मोक्षकारणत्वप्रतिपादन, धर्म का फल, और वह किमको दुर्लभ है और किमको सुलभ है इसका निरूपण, केवलिभाषित धर्म का अत्रण दुर्लभ है, धर्म की परीक्षा, धर्माधर्म का विचार सूत्रम बुद्धि से करना चाहिये इत्यादि विषय हैं ।

अनुर्थ ज्ञान में जिन जिन शब्दों पर कया या उपकथायें आई हई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'जत्तामिद्ध', 'गंदमिरी', 'गंदिमण', 'नरमुंदर', 'सागज्जुण', 'सागहत्थिण', 'ताराचंद', 'दमदंत', 'दसउर', 'दमसभद', 'धम्ममिच्च', 'धम्मवई', 'धम्मवाह', 'धम्मसिरी', 'धम्मघोम', 'धम्मजस' ।

पञ्चम भागमें आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१— 'पञ्चक्याण' शब्द पर अहिंसाप्रत्याख्यान, प्रतिषेधप्रत्याख्यान, भावप्रत्याख्यान, मूलगुणप्रत्याख्यान, सम्य-क्त्वप्रतिक्रमण, सर्वत्रेतरगुणप्रत्याख्यान अनागतादि दशविध प्रत्याख्यान, अद्धाप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानविधि, दान-विधि, प्रत्याख्यानशुद्धि, प्रत्याख्यान का पद्विधत्व, ज्ञानशुद्ध, अनुभाषणाशुद्ध, अनुपालनाशुद्ध, आकार, प्रत्या-ख्यान में सामायिक, प्रत्याख्याताकृत प्रत्याख्यान दान का निषेध, निविषयक प्रत्याख्यान नहीं होता, श्रावक का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का फल आदि कई विषय हैं ।

२— 'पच्चिन्न' शब्द पर प्रायश्चित्त का अर्थ, भाव में प्रायश्चित्त किमको होता है, आलोचनादि दशविध प्रतिसेवना प्रायश्चित्त, तथाऽहं प्रायश्चित्त में मामिक प्रायश्चित्त, संयोजनाप्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने के योग्य पर्वण ( सभा ), दण्डानुरूप प्रायश्चित्त, द्वैमामिक, त्रैमामिक, चातुर्मामिक, पाञ्चमामिक, और बहुमामिक प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तदानविधि, आला-चना का सुनकर प्रायश्चित्त देना, प्रायश्चित्त का काल, प्रायश्चित्त का उपदेश इत्यादि विषय हैं ।



३- 'पञ्जसखाकल्प' शब्द पर पर्युषणा कच करना, पर्युषणास्थापना, भाद्रपदपञ्चमीविचार, क्षेत्रस्थापना, भि-  
शाचेत्र, संखडि, एकनिर्घन्थी के साथ नहीं ठहरना, अगारी के साथ नहीं ठहरना, इच्छ से अधिक नहीं खाना,  
शब्दासंस्कार, उच्चारप्रलम्बणभूमि, पर्युषणा में केशलोच, उपाश्रय, दिगवकाश इत्यादि देखने के योग्य हैं ।

४- 'पडिकमण' शब्द पर प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ, प्रतिक्रमक, नामस्थापनाप्रतिक्रमक, प्रतिक्रान्तम्य के पाँच भेद,  
ईर्याप्रतिक्रमण, दैवशिकप्रतिक्रमणवेला, रात्रिकप्रतिक्रमण, पाक्षिकादिकों में प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी ही  
में होता है, मज्जल, त्रैकालिक प्राणातिषातविरति, श्रावक के प्रतिक्रमण में विधि इत्यादि बहुत विषय हैं ।

५- 'फडिमा' और 'पडिलेहणा' शब्द देखने चाहिये । 'पडिसेवणा' शब्द पर प्रतिसेवना शब्द का अर्थ,  
और भेद आदि का बहुत विस्तार है ।

६- 'बत्त' शब्द पर पात्र का लेपकरणादिक देखना चाहिये ।

७- 'पमाण' शब्द पर प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण का लक्षण, स्वतःप्राप्तविचार, प्रमाणरूप, प्रमाणफल,  
द्रव्यादिप्रमाण आदि विषय हैं ।

८- 'परिग्गह' शब्द पर परिग्रह के दो भेद, सूच्छापरिग्रह आदि अनेक भेद द्रष्टव्य हैं ।

९- 'परिह्वण' शब्द पर परिह्वानविधि, पृथ्वीकायपरिह्वान, अशुद्ध गृहीत आहार की परिह्वान, कालगत-  
त्तापु की परिह्वानिका इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१०- 'परिणाम' शब्द पर परिणाम की व्युत्पत्ति और अर्थ, जीवाजीव के परिणाम, नैरयिक्यादिकों का परिणाम  
विशेष, स्कन्ध और पुद्गलों का परिणामित्व, देवताओं का वासपुद्गलों को ले करके परिणामी होने में सामर्थ्य, पुद्गल-  
परिणाम, वर्ष गन्ध रस स्पर्श के संस्धान से पुद्गल परिष्कृत होते हैं, पुद्गलों का प्रयोग परिष्कृतहोना, दण्डक, जीव  
का परिणाम, मूलप्रकृति का महदादिपरिणाम, स्वभावपरिणाम, परिणाम के अनुसार से कर्मबन्ध, आकारबाध और  
क्रिया के भेद से परिणाम इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

११- 'पवज्जा' शब्द पर प्रव्रज्या का अर्थ और व्युत्पत्ति, प्रव्रज्या के पर्याय, दीक्षा का तत्त्व, किममे किमक्रे  
प्रव्रज्या देना, किम नचत्र और किम तिथि में दीक्षा लेनी, दीक्षा में अपेक्ष्य वस्तु, दीक्षा में अनुराग आदि, लोकविरुद्ध-  
त्याग, सुन्दरगुरुयोग, सववसरण में विधि, पुष्पपात में दीक्षा, वामक्षेपादिरूप दीक्षासामाचारी, दीक्षा किम प्रकार से  
देना, चैत्यवन्दन, प्रव्रज्याग्रहण में ध्वज, और उमके पालन में ध्वज, प्रव्रज्या में विधि, गुरु से अपना निवृत्त, दीक्षा  
की प्रशंसा, जिसतरह साधुओं की प्रीति हो वैसे चिह्न धारण करना, दीक्षाफल, प्रव्रजित का आर्थिकाओं के द्वारा  
वन्दन, प्रव्रजित को ऐसा उपदेश करना जिसमें अन्य भी दीक्षा लें, पगीक्षा करके प्रव्रजित, एकादशप्रतिपक्ष  
श्रावक को दीक्षा देना, पण्डक ( ऋषि ) आदि को दीक्षा नहीं देना इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१२- 'पुढवीकाइय' शब्द पर पृथिवीकायिक की वक्रव्यपत्ता स्थित है ।

१३- 'पोग्गल' शब्द पर पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, पुद्गल का लक्षण, पुद्गल भिदुर्धर्मवाले हैं, परमाणु  
का पुद्गल से अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

१४- 'बन्ध' शब्द पर बन्धमोक्षसिद्धि, बन्ध के भेद, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध, प्रेमद्वेषबन्ध, अनुमागबन्ध, बन्ध में  
मोक्षक का दृष्टान्त, ज्ञानावरणियादि कर्मों का बन्ध इत्यादि अनेक बातें हैं ।

१५- 'भरह' शब्द पर भरत वर्ष का स्वरूपनिरूपण, दक्षिणाई भरत का निरूपण, और वर्षों के मनुष्यों का स्वरूप,  
भरत के सीमाकारी वेताख्य गिरि का स्थाननिर्देश, और ह्यंके गुहाद्वय का निरूपण, तथा श्रंशि और कूटों  
का निरूपण, उत्तराई भरत का निरूपण, भरत इस नाम पढ़ने का कारण, तदनन्तर राजा भरत की कथा है ।

१६- 'भावणा' शब्द पर भावना का निर्वचन, प्रशस्ताप्रशस्त भावना का निरूपण, मैथ्यादि भावनाओं के चार  
भेद, सद्भावना से भावित पुरुष को जो होता है उसका निरूपण इत्यादि विषय आर्य हैं ।

पञ्चम जगाम में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'पामपरीसह,' 'पउममेह,' 'पउमावई,' 'पउममिरी,' 'पउमभह,' 'पउमहह,' 'पुढविचंद,' 'कांसिदिय,'  
'चंयुमई,' 'भद,' 'भदयंदिन्,' 'भरह,' 'भीमकुमार' ।

षष्ठभागमे आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१- 'मग्म' शब्द पर द्रव्यस्त्व और भावस्त्व रूप से मार्ग के दो भेद, मार्ग का निषेध, मार्ग के स्वरूप का निरूपण इत्यादि अनेक विचार हैं ।

२- 'मरण' शब्द पर सपराक्रम और अपराक्रम मरण, पादपोषणमनादिकों का संक्षिप्त स्वरूप, भ्रूणपरिष्ठा, बालमरण, कालद्वार, अकाम मरण और सकाम मरण, विमोक्षाध्ययनोक्त मरणविधि, मरण के भेद इत्यादि विषय दिये गये हैं ।

३- 'मग्नि' शब्द पर मग्निनाथ भगवान् की कथा द्रष्टव्य है ।

४- 'मिच्छन्त' शब्द पर मिध्यात्व के छ स्थान, मिध्यात्वप्रतिक्रमण, मिध्यात्व की निन्दा, मिध्यात्व का स्वरूप, द्रव्य और भाव से मिध्यात्व के भेद आदि निरूपित हैं ।

५- 'मेहुण' शब्द पर मैथुन के निषेध का गंभीर विचार है ।

६- 'मोक्ष' शब्द पर मोक्ष की मिद्धि, निर्वाण की मत्ता-है, या नहीं, इसका निरूपण, मोक्ष का कारण ज्ञान और क्रिया है, धर्म का फल मोक्ष है, मोक्ष पर सारूप्य और नैयायिकों का मत, मोक्ष पर विशेष विचार, मोक्ष पर वेदान्तियों के मत का निरूपण और खण्डन. स्त्री की मोक्षमिद्धि मोक्ष का उपाय इत्यादि विषय हैं ।

७- 'रजोहरण' शब्द पर रजोहरण शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, रजोहरण का प्रमाण, मांसपच्य वाले मनुष्यों को दुष्कर्म जीव दिखाने नहीं दे सकते इसलिये उनको जीवदयार्थ रजोहरण धारण करना चाहिये, रजोहरण की दशा ( किनारी या अग्रभाग ) सूत्रम नहीं करना चाहिये, रजोहरण के धारण करने का क्रम और नियम, अनिमृष्ट रजोहरण ग्रहण नहीं करना चाहिये इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

८- 'राष्ट्रभोजण' शब्द पर राष्ट्रभोजन का त्याग, राष्ट्रभोजन करने वाला अनुद्धातिक होता है, राष्ट्रभोजन के चार प्रकार, रास्ते में राष्ट्रको आहार लेने का विचार, कैसा आहार राष्ट्र में रखना जा सकता है इसका विवेक, राजा में द्रष्ट होने पर राष्ट्रको भी आहार लेने में दौषाभाव, राष्ट्र में उद्धार और पर उद्गिरण करने में दौष, राष्ट्रभोजन प्रतिगृहीत हो तो परिग्रहण करना, राष्ट्रभोजन के प्रायश्चित्त, औषधि के राष्ट्र में लेने का विचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

९- 'रुहज्ज्जाण' शब्द पर रौद्रध्याना का स्वरूप, और उमके चार भेद, रौद्रध्यानी के चिह्न आदि अनेक विषय हैं ।

१०- 'लेम्मा' शब्द पर लेण्या के भेद, लेण्याके अर्थ, आठ लेण्याओं का अल्पबहुत्व, देवविषयक अल्पबहुत्व, कौन लेण्या कितने ज्ञानों में मिलती है, कौन लेण्या किस वर्ण से साधित होती है, मनुष्यों की लेण्या, लेण्याओं में गुणस्थानक, धर्मध्यानियों की लेण्या आदि विषय हैं ।

११- 'लोग' शब्द पर लोक शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति. लोक का लक्षण, लोक का महत्त्व, लोक का संस्थान आदि विषय हैं ।

१२- 'वत्थ' शब्द पर लिखा है कि कितनी दूर तक वस्त्र के वास्ते जाना. कितनी प्रतिमा से वस्त्र का गवेषण करना, याच्ना वस्त्र और नियन्त्रण वस्त्र की याच्ना पर विचार. निर्धन्यियों के वस्त्र लेने का प्रकार, चातुर्मास्य में वस्त्र लेने पर विचार, आचार्य की अनुज्ञा म ही साधू अथवा साध्वी को वस्त्र लेना चाहिये, वस्त्र का प्रमाण, भिन्न ( फट ) वस्त्र लेने की अनुज्ञा, वस्त्रों के रंगने का निषेध, वस्त्र के सीने पर विचार, अन्ययुक्तिक और पाश्वस्थादि कों को वस्त्र देने का निषेध, वस्त्र को यन्त्र से रखना जिमसे विकलेन्द्रियों का घात न हो, वस्त्रों के धोने का निषेध आचार्य के मलिन वस्त्रों के धोने का अनुज्ञा इत्यादि विशेष विचार हैं ।

१३- 'वमहि' शब्द पर किय प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिये इसका निरूपण, उपाश्रय के उद्गमादि दोषों का निरूपण, भिन्न के वास्ते असंयत उपाश्रय बनावे, अविधि से उपाश्रय के प्रमाजने में दौष, जहाँ गृहपति कन्दादिकों का आहार करता है वहाँ नहीं रहना, सखीक उपाश्रय में नहीं रहना, रुग्ण साधु की प्रतिभ्या, जहाँ गृहिणी मैथुन की वाञ्छ करे उस गृहपति के गृह में नहीं बसना. गृहपति के घर में बसने के दौष, प्रतिबद्ध श्रमा में बसने के दौष जिममें घरवाला भोजन बनावे वहाँ नहीं रहना, और जहाँ पर घर का मालिक काष्ठ फोड़े या अग्नि जलावे वहाँ नहीं रहना, जहाँ पर साधमिक निरन्तर आते हों वहाँ नहीं रहना, कार्यवश से चरक और कर्पाटकों के साथ बसने में विधि, बसति के याचन का प्रकार, जहाँ पर गृहपति के मनुष्य कलह करते हों या अभ्यङ्ग ( मर्दन ) करत हों वहाँ नहीं रहना, कब कहाँ कितना वास करना इसका नियम, जहाँ राजा हो उस उपाश्रय में बसने का निषेध, साध्वियों की बसति में साधु के जाने का निषेध इत्यादि विषय हैं ।

१४- 'विजय' शब्द पर विजय की विशेषवक्रव्या देखना चाहिये ।

१५- 'विनय' शब्द पर विनय के पाँच भेद, और सात भेद, विनयमूलक धर्म की सिद्धि, गुरु के निकट विनय की आवश्यकता, आर्थिका के विनय इत्यादि विस्तृत विषय देखने के योग्य हैं ।

१६- 'विमान' शब्द पर विमानों की संख्या, और विमानों का मान, विमानों का संस्थान, विमानों के वर्ण, विमानों की प्रभा, गन्ध, स्पर्श, और महत्त्व आदि देखने के योग्य हैं ।

१७- 'विहार' शब्द पर आचार्य और उपाध्याय के एकाकी विहार करने का निषेध, किन्के साथ विहार करना और किन्के साथ नहीं करना इसका निरूपण, वर्षाकाल में या वर्षा में विहार करने का निषेध, अशिववादि कार्यों में वर्षा में भी विहार करना, वर्षा की समाप्ति में विहार करना, मार्ग में युगमात्र देखते हुए जाना चाहिये, नदी के पार जाने में विधि, आचार्य के साथ जाते हुए साधू को विधि, साधुओं का और साध्वियों का रात्रि में या विकाल में विहार करने का विचार इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१८- 'वीर' शब्द पर वीरशब्द की व्युत्पत्ति, और कथा देखना चाहिये ।

षष्ठ जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्ये आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'मन्त्रि' 'महापहरिकर्ता' 'सृष्टिसुव्यय' 'मूलदत्ता' 'मूलमिरी' 'मेहघोस' 'मेहपुर' 'मेहसुह' 'महरियुक्त' 'रहणेमि' 'रोहिणी' 'रोहिण्येयचोर' 'वद्धमाण्डरि' 'वररुद्र' 'वराहमिहिर' 'वरुण' 'ववहारकुमल' 'वाणा-रसी' 'विजयइंद्रधरि' 'विजयकुमार' 'विजयघासे' 'विजयचंद' 'विजयतिलकधरि' 'विजयमेदि' 'विजयसेण' 'विणयंधर' 'वित्तसेणु' 'वीर' ।

सप्तम जाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१- 'संसार' शब्द पर संस्तर का विचार है । 'सेवर' शब्द पर सम्बर का निरूपण है । 'संसार' शब्द पर संसार की असार दशा दिखाई गई है ।

२- 'सक' शब्द पर शक्र की ऋद्धि और स्थान, विकुर्वणा, और पूर्वभव, शक्र का विमान, और शक्र किम भाषा को बोलते हैं इसका निरूपण और शक्र की सामर्थ्य आदि वर्णित है ।

३- 'सज्ज्माय' शब्द पर स्वाध्याय का स्वरूप, स्वाध्यायकाल, स्वाध्यायविधि, स्वाध्याय के गुण, स्वाध्याय के फल इत्यादि विषय हैं, तथा 'सत्तभंगी' शब्द पर सप्तभङ्गी का विचार है ।

४- 'सह' शब्द पर शब्द का निर्वचन, नामस्थापनादि भेद से चार भेद, बौद्धों के अप्रापवाद का खण्डन, नित्यानित्य विचार, और शब्द का पौष्टमालिकत्व, शब्द के दश भेद, मनोज्ञ शब्दों के सुनने का निषेध, शब्द के आकाश गुणत्व का खण्डन इत्यादि विषय हैं ।

५- 'सावय' शब्द पर श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, श्रावक के लक्षण श्रावक का सामान्य कर्मव्यय, निवाम-विधि, श्रावक की दिनचर्या, श्रावक के २१ एकविंशति गुण इत्यादि विषय हैं ।

६- 'हिंसा' शब्द पर हिंसा का स्वरूप, वैदिक हिंसा का खण्डन, पशुजीवनिकायों की हिंसा का निषेध, जिन-मन्दिर बनवाने में आते हुए दान का परिहार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

७- 'हेउ' शब्द पर हेतु के प्रयोगप्रकार, कारक और ज्ञापक रूप से हेतु के दो भेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

सप्तम जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्ये आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'संखपुर' 'मंजय' 'संतिदाम' 'संतिविजय' 'सकह' 'सत्त' 'ससुहपाल' 'सयंभूदत्त' 'सावत्थी' 'साव-यंगुण' 'सिंहगिरि' 'सीलंगाचारिय' 'मीह' 'सुकण्ठा' 'सुक' 'सुगीव' 'सुजमिरी' 'सुजमिव' 'सुद्धिय' 'सुयंद' 'सुखकल्लव' 'सुदंसण' 'सुदक्खिण' 'सुपासा' 'सुपम' 'सुभद' 'सुभूम' 'सुमंगल' 'सुमंगला' 'सुव्वय' 'सर' 'संखिय' 'सोमचंद' 'सोमा' 'हरिएस' 'हरिभद' इत्यादि शब्दों पर कथार्ये द्रष्टव्य हैं ।

इस तरह से सानो भागों की यह अत्यन्त संक्षिप्त सूची समझना चाहिये, विस्तार तो ग्रन्थ से ही मालूम होगा क्योंकि भूमिका में विशेष विस्तार करके पाठकों का समय व्यर्थ नष्ट करना है ।

श्रकार से ककार तक शब्दों के अन्तर्गत ( ) कोष्ठक में श्राये हुए शब्दों की श्रकारादिक्रम से सूची-

अइइ-अदिइ-अइति-अदिति ।  
 अइतिअ-अदिति ।  
 अइकत-अतिकत ।  
 अइकत-अतिकत ।  
 अइकतजोषण-अतिकतजोषण ।  
 अइकतपचक्वण-अतिकतपचक्वण ।  
 अइगत-अइगय ।  
 अइत-अइत-अतीत-अइय-अईय-अतीय ।  
 अइतका-अइतका-अतीतका-अइयका-  
 अईयका-अतीयका ।  
 अइतपचक्वण-अइतपचक्वण-  
 अतीतपचक्वण-अइयपचक्वण-  
 अईयपचक्वण-अतीयपचक्वण ।  
 अइताण-अतिताण-अइयाण-अतियाण ।  
 अइताणकहा-अतिताणकहा-अइयाणक-  
 हा-अतियाणकहा ।  
 अइताणगिह-अतिताणगिह-अइयाणगिह-  
 अतियाणगिह ।  
 अइयाणिहि-अतियाणिहि-अइताणिहि-  
 अतिताणिहि ।  
 अइताणगयसाण-अइताणगयसाण-  
 अतीताणगयसाण-अइयाणगयसाण-  
 अइयाणगयसाण-अतियाणगयसाण ।  
 अइमुनय-अइमुचय ।  
 अइयात-अइयय ।  
 अइयार-अइयार-अतियार-अनीयार ।  
 अइरक्तकलम्बला-अतिरक्तकलम्बला ।  
 अइराजण-अइराजण ।  
 अइरत्त-अतिरत्त ।  
 अइरत्तसिद्धार्णय-अतिरत्तसिद्धार्ण-  
 स्यय ।  
 अइरंग-अतिरंग ।  
 अइरंगसंठय-अतिरंगसंठय ।  
 अइरण-अतिररण्य ।  
 अइरोवयणण-अतिरोवयणण ।  
 अइलोत्तुय-अतिलोत्तुय ।  
 अइवइसा-अतिवइसा ।  
 अइवाइन्-अतिवाइन्-अइवातिन्-अति-  
 वातिन् ।  
 अइवाएमण-अतिवाएमण ।  
 अइवाय-अतिवाय ।  
 अइवाहुड-अतिवाहुड ।  
 अइविउत्त-अतिविउत्त ।  
 अइविवय-अतिविवय ।  
 अइविसाया-अतिविसाया ।  
 अइविसाल-अतिविसाल ।  
 अइवुहि-अतिवुहि ।  
 अइसंकिलेस-अतिसंकिलेस ।

अइसंधाण-अतिसंधाण ।  
 अइसंधाणपर-अतिसंधाणपर ।  
 अइसंपभोग-अतिसंपभोग ।  
 अइसकण-अतिसकण ।  
 अइसय-अतिसय ।  
 अइसयणुणि-अतिसयणुणि ।  
 अइसयमईयकाल-अतिसयमईयकाल ।  
 अइसाइ-अतिसाइ ।  
 अइसंय-अतिसंय ।  
 अइसुहुम-अतिसुहुम ।  
 अइसस-अतिसस ।  
 अइहि-अतिहि ।  
 अइहिपुआ-अतिहिपुआ ।  
 अइहिवन-अतिहिवन ।  
 अइहिम-अतिहिम ।  
 अइहिवणिमग-अतिहिवणिमग ।  
 अइहिसिभाग-अतिहिसिभाग ।  
 अइव-अतिव ।  
 अइअ-अइय ।  
 अइल-अतल ।  
 अइउर-अहुइर ।  
 अइकअ-अकय ।  
 अइदसि-अगिरसि ।  
 अइकळेइ-अगळेइय ।  
 अइगण-अक्कण ।  
 अइगसुइफारिस-अगसुइफासिय ।  
 अइगार-अगार-अगाल-अंगाल ।  
 अइगारकट्टणी-अगारकट्टणी-अंगालकट्टि-  
 णी-अंगालकट्टणी ।  
 अइगारकम्म-अगारकम्म-अंगालकम्म-  
 अंगालकम्म ।  
 अइगारकारिया-अगारकारिया-अंगालकारि-  
 या-अंगालकारिया ।  
 अइगारगाल-अगारगाल-अंगालगाल-अंगालगाल ।  
 अइगारगाइ-अगारगाइ-अगालगाइ-अगा-  
 लगाइ-अंगालगाइ-अंगालगाइ-अंगालगाइ-  
 अंगालगाइ ।  
 अइगारपतावणा-अगारपतावणा-अंगालप-  
 तावणा-अंगालपतावणा ।  
 अइगारमहण-अगारमहण-अंगालमहण-अं-  
 गालमहण ।  
 अइगाररासि-अगाररासि-अंगालरासि-अं-  
 गालरासि ।  
 अइगाररई-अगाररई ।  
 अइगारसइस्स-अगारसइस्स-अंगालसइ-  
 स्स-अंगालसइस्स ।  
 अइगालसांछिय-अंगालसांछिय ।  
 अइगारायतण-अगारायतण-अंगालायतण ।

अंगारिय-अंगारिय-अंगालिय-अंगालिय ।  
 अंगुअ-अंगुअ ।  
 अंगुलि-अंगुलि ।  
 अंगुलिउज्जा-अंगुलेउज्जा ।  
 अंगुलिउज्जा-अंगुलिउज्जा ।  
 अंविअ-अंविअ ।  
 अंविअरिनिय-अंविअरिनिय ।  
 अंजणागिरि-अंजणागिरि ।  
 अंजलि-अंजलि ।  
 अंतक-अंतग ।  
 अंतकर-अंतगर ।  
 अंतकरपुमि-अंतगइभूमि ।  
 अंतगत-अंतगय ।  
 अंतद्दण-अंतकाणिया ।  
 अंतरकण-अंतराकण ।  
 अंतरणई-अंतरणई ।  
 अंतरदीवण-अंतरदीवय ।  
 अंतराउय-अंतराउय ।  
 अंतरिकण-अंतरिकण ।  
 अंतरिकणजाय-अंतरिकणजाय ।  
 अंतरिकणपम्बिण-अंतरिकणपम्बिस ।  
 अंतरिकणपासाणह-अंतरिकणपासाणह ।  
 अंतरिकणाद्य-अंतरिकणाद्य ।  
 अतावेइ-अतावेइ ।  
 अतिअ-अतिय ।  
 अतेउर-अतेपुइ ।  
 अंदाल्ल-अंदाल्लण ।  
 अंधकार-अंधयार ।  
 अंधकारपक्व-अंधयारपक्व ।  
 अंधिल्ल-अंधिल्लण ।  
 अअड-अअड ।  
 अअदाल्ल-अअदाल्लण ।  
 अअवरिस-अअवीसि ।  
 अंधिया-अंधिया ।  
 अंसगय-अंसागय ।  
 अअइ-अअति ।  
 अअत्तंविअ-अअत्तिसंविअ ।  
 अअमहा-अअम्मा ।  
 अअमहाकरिया-अअम्माकरिया ।  
 अअमहादंर-अअम्मादंर ।  
 अअमहादंरपत्तिय-अअम्मादंरपत्तिय ।  
 अअमहाजय-अअम्माजय ।  
 अअमहासज्जायकर-अअमहासज्जायका-  
 रिन् ।  
 अअकरिववाइ-अअकरियावाइ ।  
 अअभोअय-अअकुतोअय ।



अधम्मकक्षाद्-अदमकक्षाद् ।  
 अधम्मकुत्त-अहम्मकुत्त ।  
 अधम्मतिथकाय-अदमतिथकाय ।  
 अधम्मदाया-अहम्मदाया ।  
 अधम्मदार-अहम्मदार ।  
 अधम्मपक्ख-अदमपक्ख ।  
 अधम्मपज्जण-अहम्मपज्जण ।  
 अधम्मपदिमा-अहम्मपदिमा ।  
 अधम्मपज्ञेज्जण-अहम्मपज्ञेज्जण ।  
 अधम्मपलोह-अहम्मपलोह ।  
 अधम्मराह-अहम्मराह ।  
 अधम्मरुह-अहम्मरुह ।  
 अधम्मसमुदायार-अदमसमुदायार ।  
 अधम्मसलसमुदायार-अदमसलसमुदायार ।  
 अधम्माण्युय-अहम्माण्युय ।  
 अधम्मिज्जाय-अहम्मिज्जाय ।  
 अधम्मिदु-अहम्मिदु ।  
 अधम्मिय-अहम्मिय ।  
 अधर-अदर ।  
 अधरगमण-अहरगमण ।  
 अधरिम-अहरिम ।  
 अधरी-अदरी ।  
 अधरीलोह-अहरीलोह ।  
 अधरुह-अदरुह ।  
 अधर-अव-अध-अहवा ।  
 अधि-अदि ।  
 अधिद-अदिह ।  
 अधिग-अदिग ।  
 अधिगम-अदिगम ।  
 अधिगमरुह-अधिगमरुह-अहिगमरुह ।  
 अधिगमसम्मदसण-अधिगमसम्मदसण ।  
 अधिगय-अदिगय ।  
 अधिगरण-अधिगरण ।  
 अधिगरणकरिया-अधिगरणकरिया ।  
 अधिगरणिया-अदिगरणिया-अदिगरणि-  
 या-आदिगरणिया ।  
 अधिगरणी-अधिगरणी ।  
 अधिगार-अदिगार ।  
 अधिद्वुत्त-अदिद्वुत्त ।  
 अधिदावण-अदिदावण ।  
 अधिदरुत्ता-अदिदरुत्ता ।  
 अधिमासग-अदिमासग ।  
 अधिमुत्त-अदिमुत्त ।  
 अधिवद्-अदिहद्-अधिचित्-अदिचित् ।  
 अधेकम्म-अदिेकम्म ।  
 अधोदि-अदोदि ।  
 अधदण-अदिदण ।  
 अधदुत्तिय-अदिदुत्तिय ।  
 अधद्वयपसरियत्त-अपद्वयपसरियत्त ।

अपचक-अपचक ।  
 अपचककक्षाण-अपचककक्षाण ।  
 अपचककक्षाणकिरिया-अपचककक्षाणकि-  
 रिया ।  
 अपचककक्षाणि-अपचककक्षाणि ।  
 अपचककक्षया-अपचककक्षया ।  
 अपचव-अपचव ।  
 अपचिकम्म-अपचिकम्म ।  
 अपचिकेत्त-अपचिकेत्त ।  
 अपचिकक-अपचिकक ।  
 अपचिकण-अपचिकण ।  
 अपचिकउत्त-अपचिकउत्त ।  
 अपचिकवत्त-अपचिकवत्त ।  
 अपचिकवदया-अपचिकवदया ।  
 अपचिकविवहार-अपचिकविवहार ।  
 अपचिकुत्तमाण-अपचिकुत्तमाण ।  
 अपचियार-अपचियार ।  
 अपचिकव-अपचिकव ।  
 अपचिकक-अपचिकक ।  
 अपचिकसम्मत्तरयणपमित्त-अपचि-  
 कसम्मत्तरयणपमित्त ।  
 अपचिलेत्त-अपचिलेत्त ।  
 अपचिनोण-अपचिनोण ।  
 अपचिलेहणात्तल-अपचिलेहणात्तल ।  
 अपचिलेहिय-अपचिलेहिय ।  
 अपचिलेदियदुत्तिलेहियउत्तारपासवण-  
 भूमि-अपचिलेदियदुत्तिलेहियउत्तार-  
 रयानवणभूमि ।  
 अपचिलेहियदुत्तिलेहियसिद्धज्जासां-  
 थारय-अपचिलेहियदुत्तिलेहियसिद्धज्जासां-  
 थारय ।  
 अपचिलेहियपण-अपचिलेहियपण ।  
 अपचिलेमाया-अपचिलेमाया ।  
 अपचिदाह-अपचिदाह ।  
 अपचिलेलाण-अपचिलेलाण ।  
 अपचिसुणत्ता-अपचिसुणत्ता ।  
 अपचिद्विद-अपचिद्विद ।  
 अपचिद्विहणत्त-अपचिद्विहणत्त ।  
 अपचिद्विहय-अपचिद्विहय ।  
 अपचिद्विहयग-अपचिद्विहयग ।  
 अपचिद्विहयपचककक्षायपावकम्म-अपचि-  
 द्विहयपचककक्षायपावकम्म ।  
 अपचिद्विहयवत्त-अपचिद्विहयवत्त ।  
 अपचिद्विहयवत्तण-अपचिद्विहयवत्त-  
 रणाणद्वेसणधर ।  
 अपचिद्विहयसासण-अपचिद्विहयसासण ।  
 अपचिद्विहारय-अपचिद्विहारय ।  
 अपचिद्विहार-अपचिद्विहार ।  
 अपचिद्विहय-अपचिद्विहय ।  
 अपचिद्विहयभूमि-अपचिद्विहयभूमि ।

अपत्यण-अपत्यण ।  
 अपत्यिय-अपत्यिय ।  
 अपत्यियपत्यय-अपत्यियपत्यय-अपत्यि-  
 यपत्यिय-अपत्यियपत्यिय ।  
 अपद-अपय ।  
 अपदुत्तसमाण-अपदुत्तसमाण ।  
 अपभु-अपभु ।  
 अपभज्जणीत्त-अपभज्जणीत्त ।  
 अपभज्जात्ता-अपभज्जात्ता ।  
 अपभज्जिय-अपभज्जिय ।  
 अपभज्जियचारि-अपभज्जियचारि ।  
 अपभज्जियदुत्तपभज्जियउत्तवारपासवण  
 भूमि-अपभज्जियदुत्तपभज्जियउत्तवार  
 पासवणभूमि ।  
 अपभज्जियदुत्तपभज्जियसिद्धज्जासांथार-अ-  
 पभज्जियदुत्तपभज्जियसिद्धज्जासांथार ।  
 अपभत्त-अपभत्त ।  
 अपभत्तसंजय-अपभत्तसंजय ।  
 अपभत्तसंजयगुण-अपभत्तसंजय  
 गुणद्वान् ।  
 अपमाण-अपमाण ।  
 अपमाणभेद-अपमाणभेद ।  
 अपमाय-अपमाय ।  
 अपमायपडिद्वहा-अपमायपडिद्वहा ।  
 अपमायमायासा-अपमायमायासा ।  
 अपमायवुत्तिज्जणकसण-अपमायवुत्तिज्ज  
 णकसण ।  
 अपमायपडिद्वेवणा-अपमायपडिद्वेवणा ।  
 अपमेय-अपमेय ।  
 अपमरुत्त-अपमरुत्त ।  
 अपपरिसाद-अपरिसाद-अपरिसादिव-अप-  
 रिसादिव ।  
 अपलीण-अपलीण ।  
 अपयत्तण-अपयत्तण ।  
 अपयत्त-अपयत्त ।  
 अपयत्तित्ति-अपयत्तित्ति ।  
 अपससत्तिज्ज-अपससत्तिज्ज ।  
 अपसत्त-अपसत्त ।  
 अपसत्तपुत्तिसाण-अपसत्तपुत्तिसाण ।  
 अपसत्त-अपसत्त ।  
 अपि-अपि ।  
 अपिद्वयया-अपिद्वयया ।  
 अपुत्तुय-अपुत्तुय ।  
 अपउत्त-अपुत्त ।  
 अपपावहुय-अपावहुय ।  
 अप्फालिय-अप्फालिय ।  
 अप्फोआ-अप्फोआ ।  
 अप्फोआ-अप्फोआ ।  
 अप्फोव-अप्फोव ।  
 अप्फुत्तुय-अप्फुत्तुय ।



श्रातनिद्र-श्रायनिद्र ।  
 श्रातनिष्कन्दय-श्रायनिष्कन्दय ।  
 श्रातणीण-श्रायणीण ।  
 श्रातण्य-श्रायण्य ।  
 श्राततन-श्रायतन ।  
 श्राततंतकर-श्रायतंतकर ।  
 श्राततत्त-श्रायतत्त ।  
 श्राततत्तप्यगास-श्रायतत्तप्यगास ।  
 श्राततरग-श्रायतरग ।  
 श्राततुला-श्रायतुला ।  
 श्रातत्त-श्रायत्त ।  
 श्रातदंरु-श्रायदंरु ।  
 श्रातदंरुसमायार-श्रायदंरुसमायार ।  
 श्रातदृरिस-श्रायदृरिस ।  
 श्रातद्दार्दि-श्रायद्दार्दि ।  
 श्रातपपम-श्रायपपम ।  
 श्रातपरिणद्-श्रायपरिणद् ।  
 श्रातपमंसा-श्रायपमंसा ।  
 श्रातपभोग-श्रायपभोग ।  
 श्रातपभोगाण्डित्य-श्रायपभोगाण्डित्य ।  
 श्रातप्यन-श्रायप्यन ।  
 श्रातप्यमाण-श्रायप्यमाण ।  
 श्रातप्यवाय-श्रायप्यवाय ।  
 श्रातपियसञ्चनसंयोग-श्रायपियसञ्चनसंयोग ।  
 श्रातवनत्त-श्रायवनत्त ।  
 श्रातवृत्त-श्रायवृत्त ।  
 श्रातवृत्त-श्रायवृत्त ।  
 श्रातथाल-श्रायथाल ।  
 श्रातवाध-श्रायवाध ।  
 श्रातभाव-श्रायभाव ।  
 श्रातभावकणया-श्रायभावकणया ।  
 श्रातभाववत्त्वय-श्रायभाववत्त्वय ।  
 श्रातनु-श्रायनु ।  
 श्रातरक्ख-श्रायरक्ख ।  
 श्रातरक्खा-श्रायरक्खा ।  
 श्रातरक्ख-श्रायरक्ख ।  
 श्रातरक्ख-श्रायरक्ख ।  
 श्रातय-श्राययं ।  
 श्रातयस-श्राययस ।  
 श्रातयस्स-श्राययस्स ।  
 श्रातवायपत्त-श्रायवायपत्त ।  
 श्रातवि-श्रायवि ।  
 श्रातविज्जा-श्रायविज्जा ।  
 श्रातवीरिय-श्रायवीरिय ।  
 श्रातविमोहि-श्रायविमोहि ।  
 श्रातवेयायत्तकर-श्रायवेयायत्तकर ।  
 श्रातसंजम-श्रायसंजम ।  
 श्रातसंजमपर-श्रायसंजमपर ।

श्रातसंजमोवाय-श्रायसंजमोवाय ।  
 श्रातसंवेयण-श्रायसंवेयण ।  
 श्रातसंवेयणज्ज-श्रायसंवेयणज्ज ।  
 श्रातसक्खि-श्रायसक्खि ।  
 श्रातसप्यसत्तम-श्रायसप्यसत्तम ।  
 श्रातसमुदभव-श्रायसमुदभव ।  
 श्रातसमया-श्रायसमया ।  
 श्रातसमुदभव-श्रायसमुदभव ।  
 श्रातसमोयार-श्रायसमोयार ।  
 श्रातसरीरल्लोसागाढं-श्रायसरीरल्लोसागाढं ।  
 श्रातसाय-श्रायसाय ।  
 श्रातसायागुगामि-श्रायसायागुगामि ।  
 श्रातसिद्ध-श्रायसिद्ध ।  
 श्रातसुद्ध-श्रायसुद्ध ।  
 श्रातसोहि-श्रायसोहि ।  
 श्रातहित-श्रायहित ।  
 श्रात-श्रप्पा ।  
 श्रातणुकंपय-श्रायाणुकंपय ।  
 श्राताणुस्सरण-श्रायाणुस्सरण ।  
 श्राताणुसासन-श्रायाणुसासन ।  
 श्रातपीण-श्रायापीण ।  
 श्राताबघा-श्रायाबघा ।  
 श्रातबघण-श्रायाबघण ।  
 श्रातबघणया-श्रायाबघणया ।  
 श्रातवाणा-श्रायावाणा ।  
 श्रातबिसत्त-श्रायाबिसत्त ।  
 श्रातविया-श्रायाविया ।  
 श्रातवेमाण-श्रायावेमाण ।  
 श्रातानिणधेस-श्रायाभिणधेस ।  
 श्रातानिसिन्न-श्रायाभिसिन्न ।  
 श्रातार-श्रायार ।  
 श्राताराम-श्रायाराम ।  
 श्रातारामि-श्रायारामि ।  
 श्रातार-श्रायाव ।  
 श्रातारवाह-श्रायावाह ।  
 श्रातारसय-श्रायासय ।  
 श्रातारहम्म-श्रायाहम्म ।  
 श्रातारिगरणवसिय-श्रायाहिरणवसिय ।  
 श्रातारिगरणि-श्रायाहिरणवसिय ।  
 श्रातारिहिय-श्रायाहिय ।  
 श्रातारि-श्रातारिण ।  
 श्रातारिकय-श्रायाकिय ।  
 श्रातार-श्रातारय ।  
 श्रातारस-श्रायस-श्रादृरिस-श्रादृस्म ।  
 श्रातारसग-श्रायसग-श्रादृरिसग-श्रादृसग ।  
 श्रातारसघरण-श्रायसघरण-श्रादृरिसघरण-श्रादृसघरण ।  
 श्रातारसतल-श्रायसतल ।

श्रादंसतलोचम-श्रायंसतलोचम-श्रादृरिस-  
 सतलोचम-श्रादंसतलोचम ।  
 श्रादंसमंरुल-श्रायंसमंरुल-श्रादृरिसमं-  
 रुल-श्रादंसमंरुल ।  
 श्रादंसमुद्द-श्रायंसमुद्द-श्रादृरिसमुद्द-श्रा-  
 दंसमुद्द ।  
 श्रादंसल्लिबि-श्रायंसल्लिबि-श्रादृरिस-  
 ल्लिबि-श्रादंसल्लिबि ।  
 श्रादर-श्रायर ।  
 श्रादरय-श्रायरण ।  
 श्रादरणया-श्रायरणया ।  
 श्रादरणिज्जा-श्रायरणिज्जा ।  
 श्रादरतर-श्रायरतर ।  
 श्रादरदुल्ल-श्रायरदुल्ल ।  
 श्रादाण-श्रायाण ।  
 श्रादाणञ्चि-श्रायाणञ्चि ।  
 श्रादाणमुत्त-श्रायाणमुत्त ।  
 श्रादाणाणक्खेवदुग्गुय-श्रायाणुणक्खे-  
 वदुग्गुय ।  
 श्रादाणनिरुद्ध-श्रायाणुनिरुद्ध ।  
 श्रादाणपय-श्रायाणपय ।  
 श्रादाणुफलिद-श्रायाणुफलिद ।  
 श्रादाणमंरुलसनिक्खेवणासमिह-श्राया-  
 णमंरुलसनिक्खेवणासमिह ।  
 श्रादाणमंरुलसनिक्खेवणासमिह-श्राया-  
 णमंरुलसनिक्खेवणासमिह ।  
 श्रादाणनय-श्रायाणनय ।  
 श्रादाणजरिय-श्रायाणजरिय ।  
 श्रादाणया-श्रायाणया ।  
 श्रादाणवंत-श्रायाणवंत ।  
 श्रादाणसोयगहिय-श्रायाणसोयगहिय ।  
 श्रादाणुज्ज-श्रायाणुज्ज ।  
 श्रादाणुज्जउत्तयण-श्रायाणुज्जउत्तयण ।  
 श्रादाय-श्रायाय ।  
 श्रादाहियणपयादिण-श्रायाहियणपयादिण ।  
 श्रादाणुखयाहण-श्रायाहियणपयादिण ।  
 श्राधमण-श्राधमण ।  
 श्राधरिसिय-श्रादृरिसिय ।  
 श्राधा-श्राहा ।  
 श्राधाकम्म-श्राहाकम्म ।  
 श्राधाकम्मिय-श्राहाकम्मिय ।  
 श्राधाण-श्राहाण ।  
 श्राधाणिय-श्राहाणिय ।  
 श्राधाय-श्राहाय ।  
 श्राधायग-श्राहायग ।  
 श्राधार-श्राहार ।  
 श्राधारसत्त-श्राहारसत्त ।  
 श्राधि-श्राहि ।  
 श्राधिकक-श्राहिकक ।  
 श्राधिमरणिय-श्राहियरणिय ।









कसपसी-कसपार्ई ।  
 ककोर-कककात्र ।  
 कच्छमी-कच्छवी ।  
 कच्छु-कच्छू ।  
 कच्छुअ-कच्छुअ ।  
 कन्नजोग-कन्नजोग ।  
 कन्नि-कन्नी ।  
 कनुग-कनुग ।  
 कनुगनुबी-कनुयतुंबी ।  
 कनुगफलद्वंसग-कनुयफलद्वंसग ।  
 कनुगफलविवाग-कनुयफलविवाग ।  
 कणगावली-कणगावलि ।  
 कणार्-कणाय ।  
 कणिआर-कणिआर ।  
 कणिक-कणिय ।  
 कणधार-कणहार ।  
 कणपालि-कणपाली ।  
 कणवधहार-कणवधहार ।  
 कम्म-कम्मन ।  
 कम्मलगरखंदर-कम्मलगरखंदरबोहय ।  
 कम्मलापीड-कम्मलामिल ।  
 कम्मभीर-कम्महीर ।  
 कम्मकारि-कम्मकसा ।  
 कम्मपगदि-कम्मपयडि ।  
 कम्मयकायजोग-कम्मणकायजोग ।  
 कम्मयणाम-कम्मणणाम ।  
 कम्मयवग्गणा-कम्मणवग्गणा ।  
 कम्मयारिय-कम्मयारिय ।  
 कम्मोपाहिविण्णुमुक्क-कम्मोवाहिविण्णुमु-  
 क्क ।  
 कयण-कयण्णु ।  
 कयविक्रयज्झण-कयविक्रयज्जाण ।  
 करणभ्र-करणतो ।  
 करतल-करयल ।  
 करतलपग्गहिय-करयलपग्गहिय ।  
 करतलपग्गट्टविण्णुमुक्क-करयलपग्गट्टवि-  
 ण्णुमुक्क ।  
 करतलमाइय-करयलमाइय ।  
 करतलपरिमिय-करयलपरिमिय ।  
 करज-करई ।  
 कलसंगलिया-कलसिंघलिया ।  
 कलाद्-कलाय ।  
 कलिकल्लस-कलिकल्लस ।

कल्लसकम्मण-कल्लसकम्म ।  
 कल्लसाडलच्चय-कल्लसाविडलच्चय ।  
 कल्लग-कल्लय ।  
 कल्लिय-कल्लिय ।  
 कल्लियुवावाय-कल्लियुवावाय ।  
 कह-कहं ।  
 कहकहभूय-कहकहभूय ।  
 कारुण-कारुणं ।  
 काक-काग ।  
 काकंदिय-कागंदिय ।  
 काकंदिया-कागंदिया ।  
 काकजंघ-कागजंघ ।  
 काकजंघा-कागजंघा ।  
 काकणि-कागणि ।  
 काकणिसंसग-कागणिसंसग ।  
 काकणिरयण-कागणिरयण ।  
 काकणिलक्खण-कागणिलक्खण ।  
 काकतालिज्ज-कागतालिज्ज ।  
 काकतुड-कागतुड ।  
 काकथठ-कागथठ ।  
 काकपाल-कागपाल ।  
 काकपिड-कागपिड ।  
 काकल-कागल ।  
 काकलि-कागलि-काकली-कागली ।  
 काकस्सर-कागस्सर ।  
 काणक-काणग ।  
 कादंब-कायंब ।  
 कादंबग-कायंबग ।  
 कादंबरी-कायंबरी ।  
 कामभोगसंसापभोग-कामभोगसंसाप-  
 भोग ।  
 कामासंसापभोग-कामासंसापभोग-का-  
 मासंसापभोग ।  
 कायपरिखारय-कायपरियारय ।  
 कायरो-कायलो ।  
 कारवण-कारावण ।  
 कारवाहिय-कारावाहिय ।  
 कारविय-काराविय ।  
 कालागरु-कालागुरु ।  
 कालिग-कालिय ।  
 कालिगसुय-कालियसुय ।  
 कालिगा-कालिया ।  
 कालिगावाय-कालियावाय ।

कालोद-कालोय ।  
 किरियारय-किरियारय ।  
 किसल-किसलभ ।  
 कोयक-कोयगम ।  
 कुंजग-कुंजय ।  
 कुंजगर-कुंजयार ।  
 कुण्डि-कुण्डि ।  
 कुण्डिकाकिमि-कुण्डिकाकिमि  
 कुण्डिलपूर-कुण्डिलपूर ।  
 कुण्डिलवेयणा-कुण्डिलवेयणा ।  
 कुण्डिलसंयुय-कुण्डिलसंयुय ।  
 कुण्डिलसंयल-कुण्डिलसंयल ।  
 कुण्डिलसूत्र-कुण्डिलसूत्र ।  
 कुण्डिलहार-कुण्डिलहार ।  
 कुंवर-कुंवर ।  
 कुमुभ-कुमुय ।  
 कुमुभ्रवणविवाहग-कुमुयवणविवाहग ।  
 कुमुभ्रा-कुमुय ।  
 कुमुभ्रागर-कुमुयगर ।  
 कुलकर-कुलगर ।  
 कुलकरइत्थी-कुलगरइत्थी ।  
 कुलकरगंडिया-कुलगरगंडिया ।  
 कुलकरवंस-कुलगरवंस ।  
 कुलतिलग-कुलतिलग ।  
 कुललयप्यभ-कुललयप्यह ।  
 कुवेणि-कुवेणी ।  
 कुसल-कुसल ।  
 कुहग-कुहय ।  
 कुणिय-कोणिय ।  
 कुरय-कुरय ।  
 कुकाइय-कुगाइय ।  
 कुवलदंसण-कुवलदंसण ।  
 कुवलदंसणावरण-कुवलदंसणावरण ।  
 कुउहल-कोऊहल-कोउहल-कोऊहल ।  
 कोकस्सर-कोगस्सर ।  
 कोमिग-कोमिभ ।  
 कोमिगण-कोमियण ।  
 कोयुभ-कोयुइ ।  
 कोदंड-कोदंड ।  
 कोमुई-कोमुदी ।  
 कोमुईचार-कोमुदीचार ।  
 कोरंट-कोरंटग ।  
 कोलपाल-कोलपाल ।  
 कोलपागपट्टण-कोलपागपट्टण ।

ॐ भागे से कोष्ठक में शब्दान्तर देने की प्रथा उठा दी गयी है किन्तु उनको प्रत्येक में ही यथास्थान स्थान दिया जायगा ।  
 और 'अन्यथ्यज्जस्य लुक्' इस सूत्र से लुक् रूप वर्ण का शब्दान्तर में समावेश नहीं है ।



### श्राव्यद्यक कतिपय सङ्केत—

१—प्राकृतशैली से अनुस्वार और मकार (गाथाओं में) समस्त दो शब्दों के मध्य में जी आया करता है, इसीलिये इनके स्थल पर (टीका में) लिखा रहता है कि “अनुस्वारोऽत्राज्ञाहात्कणिकः” तथा “मकारोऽत्राज्ञाहात्कणिकः”, जैसे म० भा० ७१७ पृष्ठ में “असञ्जाय” शब्द पर चु० की गाथा है— “पंसुयमंमयहरि—केससिलावुद्धिं तद् रञ्जोपाय” ॥ यहाँ समस्त ‘रुद्रि’ शब्द में जी अनुस्वार है। और ३७५ पृष्ठ में “आणूणाल” शब्द पर “संलिह मंखफलप, इयंरं चोयंति तंतुपादीसु” ॥ यहाँ “तन्त्वादिषु” का “तंतुपादीसु” हुआ। और तू० भा० ६०३ पृष्ठ में भी “कुसमयोऽमोऽमोऽमोऽमोऽमोऽमो” “कुसमयोऽमोऽमोऽमोऽमोऽमोऽमोऽमोऽमोऽमो” इस शब्द पर लिखा है कि—“मकारस्तु प्रकृतत्वात्”। इस पाठ से भी यह बात सिद्ध होती है।

२—बहुत सी जगह गाथाओं में दीर्घ को इस्व, और इस्व को दीर्घ हुआ करता है, उसका कारण यह है कि ऐसा करने से गाथाओं के बनाने में बहुत सुगमता होती है, इसीलिये कहा हुआ है कि—“अपि माषं वषं कुर्यात् उन्दोभञ्जन कारयेत्”। और व्याकरणकार भी “दीर्घस्वौ मिथो वृत्तौ” ॥ ७ । १ । ४ ॥ इस सूत्र से इस बात का अनुमोदन करते हैं। जैसे ‘साहू’ को ‘सहू’, और ‘विरुञ्जद (नि)’ का ‘विरुञ्जद [ तं ]’ होता है।

३—कहीं कहीं प्राकृतशैली से अनुस्वार का लोप जी होता है, जैसे विशेषव्ययक जाण्य के २०/६६ गाथा में “समवाह असमवाह, उक्त्विह क्त्वा य कम्मं च ॥” (उक्त्विह क्त्वि) ‘अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शानात्’। प्रायः करके नियुक्तकार अपनी गाथाओं में इस नियम को विशेषरूप से काम में लाये हैं, इसलिये उनको गाथा बनाने में अत्यन्त सुगमता हुई है। जैसे तू० भा० ५१७ पृष्ठ में “किञ्कम्म” शब्द पर श्राव्यद्यकनियुक्ति है कि—“गुरुण बंदावन्ती, सुसपण जहुत्तकारि च” ॥ ३३३ ॥ इसकी वृत्ति में लिखा है कि ‘अनुस्वारलोपोऽत्र ङष्ट्यम्’ ।

४—प्राकृतशैली से कहीं कहीं बहुवचन के स्थान में जी एकवचन हुआ करता है, जैसे श्राव्यद्यकवृत्ति के पाँचवें अध्ययन में “जरतेरवतपिद्रेहेषु” के स्थान में “जरतेरवयविद्रेहे” ऐसा एकवचन किया है।

५—प्रायः सूत्रों में और नियुक्तिगाथाओं में जो निर्दिष्टकत्पद आया करते हैं उन्में “स्यम्—जस—शमां लुक” ॥ ७ । ४ । ३४४ ॥ तथा “षष्ठ्याः” ॥ ७ । ४ । ३४५ ॥ इन सूत्रों से अथवा सूत्र सुफ़् का लोप समझना चाहिये। जैसे तृतीय भाग के ४४६ पृष्ठ में उक्त २४ अ० का मूलपाठ है कि—“उल्लापण पल्लपण” इत्यादि। और इसपर टीकाकार लिखते हैं कि “उजयत्र सूत्रत्वात् मुपो लुक”। इसी तरह अन्य स्थल में जी समझना चाहिये।

६—सूत्रों में बाहुल्य से प्रथमा के एक वचन में “अतः भेर्नाः” । ७ । ३ । ११३ । इस सूत्र को न लगाकर “अत एत्तौ पुंनि मागध्याम्” । ७ । ४ । २७१ ॥ इस सूत्र से एकार ही किया गया है, जैसे तू० भा० ४६० पृष्ठ में है कि—“आहार ए दुविहे पण्णे”। इस पर टीकाकार की टीका है कि ‘आहारो द्विविधः प्रहसः’। इसी तरह नियुक्तिगाथाओं में जी समझना चाहिये—जैसे “बाहे” का अनुवाद ‘व्याधः’ है।

७—प्रायः करके सूत्रों में आया करता है कि—“तेणं कालेणं तेणं समण्णं” और इसपर टीकाकार लिखा करते हैं कि “तस्मिन् काले तस्मिन् समयं” इसको हमचन्द्राचार्य जी भिच्छुदेवव्याकरण के अष्टमाध्याय—तृतीयपाद में “मम्मया द्वि-तिया” ॥ ८ । ३ । १३७ ॥ इस सूत्रपर अनुमोदन करने हैं कि “आपे तृतीयार्जप दृश्यते। यथा—तेणं कालेणं तेणं समण्णं अस्सार्थि—तस्मिन् काले तस्मिन् समयं”। किन्तु रायपमेणी के टीकाकार मलयगिरि लिखते हैं कि ‘ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मान्निति ङष्ट्यम्’ ॥ भाषित वाक्यालङ्कारि। दृष्टान्तश्राव्यत्रापी—णं’ शब्दों वाक्यालङ्कारार्थः। यथा—‘इमाणं पुडवं’ इत्यादि। यह पट्टान्तर जी उनके मत से स्थित है।

८—व्यवहार, वृत्तरूप, श्राव्यद्यकवृत्ति और निरीय सूत्र, म० भा०, पं० चू० आदि में प्रायः करके विशेषरूप से सूत्र नियुक्ति और चूर्ण में “तदोस्सः” ॥ १० । ३०१ । इस से और अपेक्षात् भी वर्णान्तर के स्थान में तकार हो जाता है, जैसे तू० भा० “कि-इकम्म” शब्द के ४१४ और ४१५ पृष्ठ में वृत्तरूप की नियुक्ति है कि—“ओसंके भे दहं, मंक्केत्ते” उ वाताणु कुविओ”। यहाँ पर शास्त्राज्ञे। की दकार का तकार और वाचक की चकार को तकार किया है। इसी तरह “इय मंजमस विवोहा, तस्सेवडा ण दोमा य” ॥ इस गाथा में भी वय शब्द की यकार को भी तकार किया है। इसी तरह तू० भा० ४६० पृष्ठ के ‘काहिय’ शब्द पर निरीय सूत्र की नियुक्ति और चूर्ण की व्यवस्था है, जैसे ‘तकम्मो जा इयमं, कथंति सो काथितो हे’ ॥ ६३ ।

इस निर्युक्तिगाथा की चृष्टि है कि—‘एवंविधो काहितो जघति’। यहाँ पर जी कायिक के ककार का तकार किया हुआ है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये : थकार को थकार तो ‘ यो थः ’ ॥ ८। ४। ३६७ ॥ और ‘अनादी स्वरादसंयुक्तानां कगतवपकां गयदथचभाः’ ॥ ८। ४। ३७६ ॥ इत्यादि सूत्रों से होता है।

७—संस्कृत शब्दों की सिष्कि तो पचास अक्षरों से है, परन्तु प्राकृत शब्दों की सिष्कि चालीस ही अक्षरों से होती है, क्योंकि स्वरों में तो ष, लृ, ऐ, औ का अजाव है और व्यञ्जन में श, ष, तथा असंयुक्त ङ, ञ आदि कई व्यञ्जनों का अजाव है।

१०—व्यञ्जनान्त शब्दों के व्यञ्जन का ‘अन्यव्यञ्जनस्य लुक्’ ॥ ८। १। ११ ॥ इस सूत्र से लुक् होजाने पर किसी शब्द का वां व्यञ्जनान्तत्वही नष्ट हो जाता है और किसी किसी का अजन्त में विपरिणाम हो जाता है, इसीलिये हजन्त शब्दों की सिष्कि के लिये कोई विशेष नियम नहीं है, केवल ‘आत्मन्’ शब्द और ‘राजन्’ शब्द की सिष्कि के लिये जो थोड़े से नियम हैं उन्हें अन्य नकारान्त शब्दों की जी व्यवस्था की जाती है।

११—यदि किसी ग्रन्थ का पाठ कुछ बीच में ठोककर फिर श्रिया है तो जहाँ से पाठ बूटा है वहाँ पर उसी ग्रन्थ का नाम इस बात की सूचना के लिये चलते हुए पाठ के मध्य में जी दे दिया है कि पाठक ध्रम में न पड़े।

१२—प्राकृत जाया में हिन्दी जाया की तरह द्विवचन नहीं होता, किन्तु “द्विवचनस्य बहुवचनं नित्यम्” ॥ ८। ३। १३० ॥ इस सूत्र से द्विवचन के स्थान में बहुवचन हो जाता है, इसलिये द्विवचन की जहाँ कहीं विशेष आवश्यकता होती है वहाँ द्वि शब्द का प्रयोग किया जाता है; और चतुर्थी के स्थान में षष्ठी “चतुर्थ्याः षष्ठी” ॥ ८। ३। १३१ ॥ इस सूत्र से होती है।

१३—गाथाओं में पाद पूरे होने पर यदि सुबन्त अथवा निरुन्त रूप पद पूरा हो जाता है तो (,) यह चिह्न दिया जाता है और जहाँ पाद पूरा होने पर जी पद पूरा नहीं हुआ है वहाँ [ - ] ऐसा चिह्न दिया है।

१४—बहुतमी जगह गाथाओं में श्लुक् या व्यञ्जनमिश्रित एकार स्वर आता है किन्तु उसकी दीर्घाङ्क में परिगणना होने से जो किसी जगह मात्रा बढ़ जाती है, उसको कम करने के लिये [ ° ] पेसा चिह्न दिया गया है। यद्यपि ‘दीर्घ-इस्रौ मिथां तुर्वा’ ॥ ८। १। ४ ॥ इस सूत्र से इत्त्व करने पर एकार को इकार हो सकता है, किन्तु वैसा करने में सर्वसाधारण को उसकी मूल प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये इत्त्वबोधक संकेत किया गया है, इसी तरह व्याकरण-हाभाष्य में जी लिखा है कि—“अर्थ एकारः, अर्थ ओकारो वा इति राणावनीयाः पठन्ति”। और वाग्जटविरचित प्राकृत पिङ्गलसूत्र में भी लिखा है कि—

“दीर्घो मंजुत्तपरो, विन्दुजुओ पाकिओ अ चरगंते।

स गुरू वंक लुपत्तो, अषो लहु हाड सुष्क एककतो” ॥

इस तरह गुरू लघु की व्यवस्था करके शिखते हैं कि—

‘कथं वि मंजुत्तपरो, वषो लहु हाड ढंसणेण जहा।

परिहसड चिचपिञ्जं, तरुणिकडकखम्मि णिवुचं” ॥

दूसरा अपवाद—‘इहिकारा विन्दुजुआ, एओ मुष्का अवषमिलिआ वि लहु।

रहंजणसंजोए, पर अमेसं पि सविहासे” ॥ ॥

उदाहरण—‘माणिणि ! माणहिं काई फल, एंओ जे चरण पनु कन्त।

सहजे जुअंगम जड णपड, कि करिण माणिमन्त ?” ॥

दूसरा विकल्प—‘जड दीहो वि अ वाणो, लहु जीई पड सो वि लहु।

बषो वि तुरियपडिओ, दो तिषि वि एक जायेहु” ॥

उदाहरण—‘अरे रे वाहहि कान्ह ! णव जोटि डगमग कुगति ण देहि।

तड इवै णादिहँ सँतार देई, जो चाहसि सो बोहि” ॥

\* इकारहिकारो विन्दुजुओ एओ मुष्का अ यथैमिलितायां लघु। रेफहकारो, व्यञ्जनसंयोगे परेऽण्येवमपि स्वविभाषम् ॥

† बहि दीर्घमपि बर्गे लघु जिह्वा पठति म्नाऽपि लघुः। यथा अपि त्वरितपठितो ह्ये मथा वा एकं ज्ञान्ति ॥

बन्द की परम आवश्यकता— 'जैयं न सहइ कणअतुला, तिअतुलिअं अइअइएण ।

तेअण सहइ सवणनुआ, अबळ्ळंदं छंदभंगेण ॥'

१५—कहाँ कहीं गाथाओं में शब्दों के आद्यन्त स्वर को 'लुक्'।।।१।।०। सूत्र से श्लोप कर दाखते हैं, और कहीं अपर्यन्तान्त्वा भी लोप करते हैं—जैसे एक उदाहरण तृ० जा० ५५६ पृष्ठ में 'किरियावाइ (ण)' शब्द पर सूत्रकृताङ्ग की गाथा है कि—'गदं च जो जाणइऽगामं च'। इसी तरह अतीत के स्थान में 'तंत' लिखा करते हैं, और म० जा० ७०९ पृष्ठ में 'अवब' शब्द पर 'वितियरे अमं तु' और ७७२ पृष्ठ में 'अलाजपरामह' शब्द पर 'अलाजए होउदाहरणं' इत्यादि समजना चाहिये।

१६—प्रायः बहुत से स्थान पर 'तेणुणं' इत्यादि मूलपाठों में 'से' शब्द आया करता है, उस पर ज० १-१-३ (स्था० ६६२-२-५) में लिखा है कि—'से शब्दो मागर्थ.देशीमसिद्धोऽयशब्दार्थः, कचिदसावित्यर्थे, कचिचस्येत्यर्थे प्रयुज्यते।

### प्रकीर्णक विषय—

१—उद्योतिष्करयत्नक में लिखा है कि स्कन्दिशाचार्य की प्रवृत्ति समय में दुःख आरा के प्रभाव से दुर्निष्क पद जाने पर साधुओं का पढना गुणना सब नष्ट होगया, फिर दुर्निष्क शान्त होने पर जब दो संयोगों का मिश्रण हुआ (जो एक म-सुरा में और दूसरा बलभी में था) तब दोनों के पाठ में वाचना जेद हो गया, क्योंकि विस्मृत सूत्रार्थ के पुनः स्मरण करके संघटन में अवश्य वाचनाजेद हो जाते हैं।

२—विशेषावरयक ज्ञाप्य आदि कई श्रव्यों में लिखा हुआ है कि 'आर्यवैर' के समय तक अनुयोगों का पार्थक्य नहीं हुआ था, क्योंकि उस समय व्याख्याता और श्रोता दोनों तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे, किन्तु 'आर्यरक्षित' के समय से अनुयोगों का पार्थक्य हुआ है, यह बात प्रथम भाग में 'अज्जरविलय' शब्द पर और 'अणुभोग' शब्द पर विस्तार से लिखी हुई है।

३—तृतीय जग के ५०० पृष्ठ में 'कान्तियसुय' शब्द पर कान्तिकथुत (एकादशाक्षरी) के व्यवच्छेद की चर्चा है कि सुविधि जिन के तीर्थ का सुविधि और शीतल जिन के मध्य काल में व्यवच्छेद हो गया, और व्यवच्छेद का काल पन्धोपमचतुर्थजग माना गया है। इसी तरह और भी पद ( उः ) जिनों में समझना, किन्तु व्यवच्छेद काइ तां सानां जिनों के मध्य में इस तरह समझना—'चउजगो १, तिष्ठिय चउजग २, पलियभेगं च ४। तिष्ठे-ब य चउजग ५, चउन्थजगो य ६ चउजगो ७" ॥ १ ॥ इति। परन्तु दृष्टिवाद अङ्ग का व्यवच्छेद तो सर्वां जिानान्तर्गो में था, और उसकी अवधि भी नहीं की हुई है।

४—यद्यपि मीमांसदर्शन के तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इस प्राकृतज्ञापा (अर्थमागधी) पर बहुत कुछ अक्षेप किया है, किन्तु वह उनकी अदूरदर्शिता है और व्यर्थ का ही कटाक्ष है, क्योंकि इस कोश के 'पागट' शब्द पर विशेषावरयक ज्ञाप्य पर टीकाकार का लेख है कि—'ननु जैनं प्रवचनं सर्वं प्राकृतनिबन्धमितु दुःश्रुत्यम् । मैवं शब्दयम्—'बालस्त्रीमृदमूर्खाणां, नृणां चारित्रिकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहाय तत्रहैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः' ॥ १ ॥ और यह विचारसह जी है क्योंकि जो ज्ञापा 'राष्ट्रज्ञापा' या 'मातृभाषा' जिस समय होती है, उसीमें जो लोगों को उपदेश मिलता है उसीसे आबालवृक्ष पठितापठित स्त्रो रुरूप सर्वमाधारण जीवों का विशेष उपकार होता है।

५—'वागरण' शब्द पर आ० म० द्वि० कार लिखते हैं कि—जगवान् आप्तव देव ने शक्रेन्द्र से जो व्याकरण प्रथम कहा था वही ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्रत्यान हुआ। तथा कल्पसुबोधिका में लिखा है कि—२० व्याकरण हैं अर्थात्—१ ऐन्द्र, २ जनेन्द्र, ३ सिक्कहम, ४ चान्द्र, ५ पाणिनीय, ६ सारस्वत ७ शाकटायन, ८ वामन, ९ वि-भ्रान्त, १० बुद्धिसागर, ११ सरस्वतीकण्ठाचरण, १२ विद्याधर, १३ कलापक, १४ नीमसेन, १५ शैव, १६ गौड, १७ नन्दि, १८ ज्योत्स्न, १९ मृष्टि व्याकरण, और २० वीं जयदेव नाम से प्रसिद्ध है। इसीसिद्धे आवरय-कवृत्ति के दूसरे अध्ययन में लिखा है कि जब ऐन्द्रादि आठ व्याकरण हैं तबकेवल पाणिनीय व्याकरण पर ही आग्रह नहीं करना चाहिये। यद्यपि प्राकृतकल्पलतिका, प्राकृतप्रकाश, हेमचन्द्र, प्राकृत पद्मज्ञा-षाचन्द्रिका, प्राकृतमञ्जरी आदि कई प्राकृत के व्याकरण हैं परन्तु जैसा सिक्कहम का अष्टमाध्याय उच्य प्राकृत व्याकरण बना है वैसा प्रायः सबलविषयमग्राहक दूसरा प्राकृत का व्याकरण नहीं है। तथापि उसके गद्यमय होने से लोगों को कंठस्थ करने में कठिनता पढ़ती देखकर इस कोश के कर्ता ह्यार्य गुरुवर्य पूर्वोक्त सुरीजी महा-

राज ने अनुग्रह करके सिक्केम टुञ्जों पर श्लोकबद्ध विवरण रचकर सरला कर दिया, जो कि कोश के मध्य भाग के परिशिष्टों में संकलित कर दिया गया है। क्यों कि जिस भाषा का ज्ञान अपेक्षित होता है उसके व्याकरण की बड़ी आवश्यकता होती है, अर्थात् बिना व्याकरण के किसी भाषा का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इस विषये पंडित उसको एक बार खूब मनन करके पीछे कोश को देखने से विशेष आनन्द आयेगा।

६-यद्यपि महानिशीथ स्त्री में टीका या चूर्ण नहीं पायी जाती, तथापि हमारी पुस्तक में चतुर्थाध्ययन की समाप्ति में लिखा है कि—“अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैखान्तिकाः, केचिदालापकाश्च सम्बन्ध अश्रद्धत्येवं तैरश्रद्धानैरस्माकमपि न सम्यक् अश्रद्धानभित्वाह इरिजद्रसूरिः, न पुनः सभेभवेदं चतुर्थाध्ययनमन्यानि वाऽध्ययनानि। अस्यैव कतिपयैः परिभिवेरा-ज्ञापकैरश्रद्धानभित्त्यर्थः। यतः स्थानसमवायनीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु न कथञ्चिदिदमाचक्षे, यथा प्रतिसंतापस्थस्यैवस्ति-बद्गृहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाधार्मिकाणां पुनः ३ सप्ताष्टवारान यावदुपपत्तेस्तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिक्षापरद्वसंपुटै-र्मिलितानां परिपीठ्यमानानामपि संवत्सरे यावत् प्राणव्यापत्तिर्न जवतीति। दृष्ट्वाद्दस्तु पुनर्यथा-तावदिदमर्षसूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रचूताश्चात्र श्रुतस्कन्धे अर्थाः, श्लुक्कातिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चैव बचनानि, तदेवं स्थितं न किञ्चिदाशङ्कनीयम् ॥” इसके बाद फिर ‘ एवं कुशीलसंनर्गिण सर्वोपाएद्वि पयहियं’ इत्यादि पञ्चमाध्ययन का आ-रम्भ है। इसीतरङ्ग कहीं ३ चूर्ण जी भिन्नती है जैसे इसी कोश के प्र० भा० ‘ अरहतं’ शब्द पर ७५६ पृष्ठ में मूल और चूर्ण दोनों हैं। और ‘ एस समासत्त्वं ’ वित्यर्थं तु इमं’ ऐसा हमारे पुस्तक के ६ पत्र ३ पृष्ठ ३६ पंक्ति में लिखा है।

७-सूत्रकृताः की गाथाएँ कई अध्ययनों में ऐसी टूटीमी मालूम पड़ती हैं जैसे अन्दोभङ्गवाली हों, किन्तु प्रायः वे जी अन्दोलकराविहीन नहीं हैं, क्यों कि बहुत से ऐसे भी अन्द हैं जो पढ़ने में असज्जन मे मालूम होते हैं (किन्तु लक्षण से पूरा सज्जन हैं। क्यों कि प्राकृत पित्र नसुत्र में चन्द्रसंज्ञा-चित्र-नागाच-नील-चञ्चला-ऋषभगजविलसित-चकिता-मदन-सालिता-बाणिनी-भवग्गलजित-गरुक्लत-अचन्द्रधृति अन्द जं विलक्षण हैं। जैसे मदन सलित्ता का यह उदाहरण है—

“ विप्रलक्षणगणितचिकुरा यौताधुरता,  
म्लायत्पत्न्यावलिङ्गुचतटोऽक्लासोमितरला ।

राधाऽस्यै मदनललिताऽऽन्दोलालसवपुः,

कंसाराते रतिरसमहो चक्रेऽतिचटुलम् ॥ १ ॥

और यदि कहीं पर किसी भी अन्द का लक्षण सङ्गत न हो तो वहाँ आर्षे अन्द समजना चाहिये ।

पैतालीस आगमों के नाम, और उनकी मूलश्लोकसंख्या, और हर एक पर पृथक् पृथक् आचार्यों की निर्मित बृहद्वृत्ति, लघुवृत्ति, नियुक्ति और जाप्यादिक, और उनका श्लोकसंख्याप्रमाण इस रीति से है—

श्रीसुधर्मास्वामीकृत ग्यारह श्रवणो के नाम और व्याख्यासहित ग्रन्थप्रमाण—

१-आचार्यः सूत्र, अध्ययन २५, मूलश्लोकसंख्या ३५००, और उसपर शीलाज्ञाचार्यकृत टीका २२०००, चूर्ण ८३००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत नियुक्तिगाथा ३६८, श्लोक ४५०, ( जाप्य और लघुवृत्ति इस पर नहीं है ) । संपूर्णसंख्या ३३२५० है ।

२-सूत्रकृताः सूत्र, श्रुतस्कन्ध ३, अध्ययन २३, मूलश्लोकसंख्या ३१००, और उसपर शीलाज्ञाचार्यकृत टीका ३२५००, चूर्ण १००००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत नियुक्तिगाथा ३०८, श्लोक ३५०, ( जाप्य नहीं है ) संपूर्ण संख्या ३५३०० है । संवत् १५८३ में नवीन अंदिमविपलसूरि ने दीपिका टीका बनायी है, किन्तु वह पूर्वाचार्यों की गिनती में नहीं है ।

३-स्थानाः सूत्र, अध्ययन ( ठाणा ) १०, मूलश्लोकसंख्या ३७७०, और उसपर संवत् ११३० में अभयदेवसूरि ने टीका बनायी है, उसका मान १५२५० है, संपूर्ण संख्या १५०३० है ।

४-समवायाः सूत्र, ( १०० समवायक त समवाय विज्ञते हैं ) मूलश्लोकसंख्या १६६७, और उसपर अजयदेवसूरि-कृत टीका ३७७६, चूर्ण पूर्वाचार्ये कृत ४००, संपूर्ण संख्या ४८४३ है ।



५-जगवती सूत्र ( विवाहपञ्चि ), शतक ४१, मूलश्लोकसंख्या १५७५२, और उसपर श्रीअजयदेवसूत्रिकृत टीका ( षोणाचार्य से शोधो हुई ) १८६१६, चूणि पूर्वाचार्यकृत ४०००, संपूर्ण संख्या ३८३६८ है । संवत् १५६८ में दानशेखर उपाध्याय ने १२००० श्लोक संख्या की लघुवृत्ति बनायी है ।

६-ज्ञाताभर्मकथाङ्ग सूत्र, अध्ययन १६, मूलश्लोकसंख्या ५५००, और उसपर अभयदेवसूत्रिकृत टीका ४२५२ है । इस समय में १९ कथाएँ दिखायी देती हैं, किन्तु पूर्व समय में साढ़े तीन करोड़ कथाएँ थी ऐसी प्रसिद्धि है ।

७-उपायकदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन १०, मूलश्लोकसंख्या ८१२, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ९००, संपूर्ण संख्या १७१२ है ।

८-अन्तगन्धशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ९०, मूलश्लोकसंख्या ९००, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ३००, संपूर्ण संख्या १२०० है ।

९-आणुचरोत्रवाङ्मयदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ३३, मूलश्लोकसंख्या २६२, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका १००, संपूर्ण संख्या ३९२ है ।

१०-प्रश्रव्याकरण सूत्र, ५ आश्रवद्वार और ५ सम्बन्धारूप १० अध्ययन, मूलश्लोकसंख्या १२५०, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ४६००, संपूर्ण संख्या ५८५० है ।

११-विषाक सूत्र, अध्ययन २०, मूलश्लोकसंख्या १२१६, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ९००, संपूर्ण संख्या २११६ है ।

संपूर्ण ग्यारह अङ्गों की मूलश्लोकसंख्या ३५६५९ है, और टीका ७३५४४ है, और चूणि २२७०० है, तथा नियुक्ति ७०० है, और सब मिलकर १३२६०३ है ।

आचारारङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की टीका तो श्रीलाक्षाचार्यकृत है और बाकी नवअङ्गों की टीका अजयदेवसूत्रिकृत है, इसी लिये अजयदेवसूत्रि का नवाक्षीवृत्तिकार के नाम से उल्लेख किया जाता है; अजयदेवसूत्रि] का चरित्र म० भा० ७०६ पृष्ठ में और 'सौलगायरिय' शब्दपर श्रीज्ञानाचार्य की कथा देखना चाहिये ।

बारह उपाङ्गों के नाम, टीका, और संख्या इस तरह है—

१-उपवाङ्मय उपाङ्ग, ( आचारारङ्गप्रतिबन्ध ) मूलश्लोकसंख्या १२००, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ३१२५, संपूर्ण संख्या ४३२५ है ।

२-रायपसेणी उपाङ्ग, ( सूत्रकृताङ्गप्रतिबन्ध ) मूलश्लोकसंख्या २०७८, और उसपर मलयगिरिकृत टीका ३७००, संपूर्ण संख्या ५७७८ है ।

३-जोबाजिगम उपाङ्ग, ( स्थानारङ्गप्रतिबन्ध ) मूलश्लोकसंख्या ४७००, मलयगिरिकृत टीका १४०००, लघुवृत्ति ११००, और चूणि १५०० है, संपूर्ण संख्या २१३०० है ।

४-पञ्चवणा ( महापाना ) उपाङ्ग, ( समवागारङ्गप्रतिबन्ध ) मूलश्लोकसंख्या ७७८७, मलयगिरिकृत टीका १६०००, हरिजङ्गसूत्रिकृत लघुवृत्ति ३७२८ है, संपूर्ण संख्या २७५१५ है ।

५-जम्बूद्वीपञ्चलि उपाङ्ग, ( जगवतीप्रतिबन्ध ) मूलश्लोकसंख्या ४१४६, मलयगिरिकृत टीका १२०००, चूणि १८६० है, संपूर्ण संख्या १८००६ है ।

६-चन्द्रमङ्गलि सूत्र, ( ज्ञानाप्रतिबन्ध ) मूलश्लोकसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ९५११, लघुवृत्ति १००० है, संपूर्ण संख्या १२६११ है ।

७-सूरपञ्चलि सूत्र उपाङ्ग, ( ज्ञानाप्रतिबन्ध ) मूलसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ६०००, चूणि १०००, संपूर्ण संख्या १२२०० है । चन्द्रमङ्गलि और सूर्यमङ्गलि दोनों मिलकर ज्ञानाप्रतिबन्ध हैं ।

८-कल्पिका उपाङ्ग, [ उपायकदशाङ्गप्रतिबन्ध ] काङ्ग, मुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, बीरकृष्ण, रामकृष्ण, पितृसेनकृष्ण, महासेनकृष्ण के नाम से १० अध्ययन हैं ।

ए-कल्पावर्तसिका उपाङ्ग, [ अन्तगदशाङ्गप्रतिबन्ध ] पथ, महापथ, भूच, सुभच, पञ्चजच, पञ्चसेन, पञ्चगुल्म, न-  
हिनीगुल्म, आनन्द, नन्दन के नाम से १० अध्यायन हैं ।

१०-पुष्पिका उपाङ्ग, [ अणुचरोवर्षाप्रतिबन्ध ] चन्द्र, सूर, शुक्र, बहुपुष्पिका, पुष्पयभच, माणिक्यच, दत्त, शिव,  
बलि, अनाहत नाम से दश १० अध्यायन हैं ।

११-पुष्पचूडिका उपाङ्ग, [ प्रश्रव्याकरणप्रतिबन्ध ] श्री, ह्री, वृति, कीर्ति, बुद्धि, सद्ग्री, इलादेवी, सुरादेवी,  
रसदेवी, गन्धदेवी नाम से दश १० अध्यायन हैं ।

१२-बह्निदिशा उपाङ्ग, [ विपाकसूत्रप्रतिबन्ध ] निसह, अत्रि, दह, वह, पयती, जुति, दसरह, ददरह, महापनु,  
सप्तधनु, दसधनु, नामेसय के नाम से १२ अध्यायन हैं ।

इन पाँचों उपाङ्गों का एक नाम 'निरयावही' है, और कल्पिका आदि पाँचों उपाङ्गों के ५२ अध्यायन हैं । इनकी  
संपूर्ण मूलग्रन्थसंख्या ११०९ है, इनकी वृत्ति ७०० श्री चन्द्रसूरिकृत है । संपूर्ण ग्रन्थसंख्या १८०६ है ॥

इस तरह बारह उपाङ्गों की मूलसंख्या २५४२० है और टीका की संख्या ६७९३६, और संपुत्रुचि ६७२८, चूर्ण  
३३६०, संपूर्णसंख्या १०३५४४ है ।

### दश पद्मार्थों ( प्रकीर्णक ) की गाथा संख्या इस तरह है—

१-चउसरण पद्मा में ६३ गाथा हैं । २ आउरपचक्खण पद्मा में ८४ गाथा हैं । ३ भत्तपचक्खण पद्मा में  
१७२ गाथा हैं । ४ संघारण पद्मा में १२२ गाथा हैं । ५ तंछवेयाही पद्मा में ४०० गाथा हैं । ६ चन्दविज्जगप-  
इमा में ३१० गाथा हैं । ७ देविन्दयव पद्मा में २०० गाथा हैं । ८ गणिबिज्जा पद्मा में १०० गाथा हैं । ९  
महापञ्चक्खण पद्मा में १३४ गाथा हैं \* । १० समाधिपरण पद्मा में ७२० गाथा हैं ।

इन दश पद्मार्थों की संपूर्ण गाथासंख्या ३३०५ है और प्रत्येक में दश दश अध्यायन हैं, और ये दश पद्मा जो  
पैताहीस आगम की गिनती में हैं ।

१ वीरस्तव पद्मना गाथा ४३ ।

२ अणिजाधित सुत्र संख्या ७५० ।

३ सिक्किपाञ्चतसुत्र संख्या १५०, और इसकी टीका ७५० है ।

४ दौवसागरपन्नत्ति संग्रहणी संख्या २५०, और इसकी टीका २५०० है ।

५ अङ्कविज्जापद्मना संख्या ८८०० ( कहीं २ पाई जाती ) है ।

६ ज्योतिष्कारणक पद्मना संख्या ५००, इसकी टीका मलयगिरिकृत ५४०० है, और २१ पाठुका [ प्राचूतक ] हैं ।

७ गच्छाचारपद्मना, टीका विजयविमलगाणिविरचित, मूसटीका संख्या ५४०० है, और ४ अधिकार हैं ।

८ अङ्कूलिया ग्रन्थसंख्या ८००, इसमें लिखा हुआ है कि "आर्यसुधर्मा स्वामी से उन के शिष्य जम्बूस्वामी ने पूजा कि-  
ग्यारह अङ्गों की अङ्कूलिका किस वास्ते हैं ?" इस पर सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया कि-"जिस तरह आनूपणों से अङ्क शोजित  
होते हैं उसी तरह अङ्कूलिका से एकादशाङ्गी शोजित रहते हैं, इस लिये निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को ये जानने के  
लायक हैं और गुरुपरंपरागम से ग्रहण करने के योग्य हैं" । फिर जम्बू स्वामी ने पूजा कि-"गुरुपरंपरागम कैसा ?"  
उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा कि-"आगम तीन प्रकार के हैं-? अन्तागम, २ अन्तरागम, और ३ परंपरागम । अर्थ से तो  
अर्हन्त जगवान का अन्तागम है, और मूत्र से गणधरों का अन्तागम है । तदनन्तर गणधरशिष्यों का अन्तरागम है,  
उसके बाद सभी का परंपरागम है" । और अङ्कूलिका के अन्त में उपाङ्कूलिका की चर्चा है कि-सुधर्मा-  
स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि-"सेस उवंगूलिया तो गहेयव्वं" अर्थात् अवशिष्ट जाग उपाङ्कूलिका  
से देना चाहिये ।

\* कहीं दिखी प्रतियों में महापञ्चक्खण पद्मा के स्थान में ४३ गाथावाला वीरस्तव पद्मा लिखा है, किन्तु ऊपर कहे हुए  
पद्म पद्मार्थों से पृथक् गी है परन्तु इनकी यहाँ आवश्यकता न होने से केवल नामनिर्देश ही किया है ।

## छः उद्देशग्रन्थों के नाम और उनकी ग्रन्थसंख्या—

१-निर्णय सूत्र, उद्देश १०, मूलश्लोकसंख्या ८१५, और इस पर लघुभाष्य ७५००, और जिनदासगणिमहत्तरविरचित चूर्णित १८०००, बृहदभाष्य १२००० है. यह टीका के नाम से ही प्रसिद्ध है। जज्ञाहृत्स्वामी की बनायी हुई नियुक्ति गाथाएँ हैं। संपूर्ण ग्रन्थसंख्या ४८११५ है। शीघ्रभद्रसूत्रि के शािष्य चन्द्रसूत्रि ने वि० सं० ११७५ में व्याख्या की है। जिनदासगणिमहत्तर ने अनुयोगद्वारचूर्णित, निर्णयचूर्णित, बृहदकल्पजाप्य, आवश्यकचूर्णित आदि कई एक ग्रन्थ बनये हैं।

२-महानिर्णय सूत्र, अध्ययन ७, चूर्णित २, मूलश्लोकसंख्या ५५००, मतान्तर में इसकी तीन वाचनाएँ हैं—१. लघुवाचना; ४५००; २-मध्यवाचना ५५००; ३-बृहदवाचना ११८०० है। किन्तु हमारा पुस्तक के अन्त में लिखा है कि—

“ चत्वारि सयमहस्मा. पंचसयाओ तदेव पंचासं ॥

चत्वारि मिश्रोमा वी, महानिर्माहमि पापणं ” ॥ १ ॥ ४५५५ ॥

३-बृहदकल्पसूत्र, उद्देश ६, मूलसंख्या ४७३ है। इसपर सं० ३३२ में बृहदचार्याय श्रीक्रेमकादिंसूत्रिने ४५००० संख्यापरिमित टीका बनायी है। जाप्य जिनदासगणिमहत्तरकृत १२०००, लघुभाष्य ८००, चूर्णित १४३२५, संपूर्णग्रन्थसंख्या ७६७५८ हुई है। टीका में लिखा हुआ है कि— [ कः सूत्रमकार्षीत्, को वा नियुक्ति, को वा जाप्यपरिमित ?। उच्यते—पूर्वेषु यन्नवमं प्रत्याख्यानानामकं पूर्वं तस्य यत्ततोयमाचारारण्यं वस्तु तस्मिन् विशतिनामप्राज्ञेने मूलगुणेषुत्तगुणेषु वाऽपराधेषु दशाधिमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितं, कालक्रमेण च दण्यमानुभावतो भृतिवर्तवीयबुद्ध्यायुःप्रचूर्णितेषु परिधीयमानेषु पूर्वोणि दुरवगाहानि जानानि ततो मा भूत् प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साध्यामानुप्रज्ञाय चतुर्दशपूर्वरेण जगवता भक्षवाहस्वामिना कल्पमूत्रं, व्यवहारमूत्रं चाकारि; उजयोरापि च सूत्रम्पशिकानियुक्ता ]

४-व्यवहारदशाकल्पच्छेद सूत्र, उद्देश १०, दो खरद, मूलश्लोकसंख्या ६००, टीका मलयगिरिकृत ३३६७५, चूर्णित १०३६१, जाप्य ६००० है। नियुक्ति की संख्या अज्ञात है। संपूर्ण ग्रन्थ संख्या ५०५८६ है।

५-पञ्चकल्पच्छेद सूत्र, अध्ययन १६, मूलसंख्या ११३३, चूर्णित ७१३०. और दूसरी टीका की संख्या ३३००, जाप्य ३१२५, संपूर्ण संख्या ६३८८, और गाथासंख्या २०० है।

६-दशाधृतस्कन्धउद्देशसूत्र, मूलसंख्या १८२५, अध्ययन १०, चूर्णित २१५५, नियुक्तिसंख्या १६८, संपूर्णसंख्या ४७४८ है। टीका श्रीब्रह्मविरचित है, इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र १७१६ है जिसकी टीका कल्पमुबोधिका है \*।

७-जातकल्पच्छेदसूत्र, मूलसंख्या १०८, टीका १२०००, सेनकृत चूर्णित १०००, भाष्य ३१७४, संपूर्ण संख्या १६७३० है, और चूर्णित की व्याख्या ११२० है, और इसकी लघुवृत्ति श्रीसाधुस्तनकृत ५७००, और निलकाचार्यकृत वृत्ति १५०० है।

मायजितकल्पविस्मय ३७५, धर्मयोगसूत्रिकृत वृत्ति २६५० है, और उसपर पुष्पीचन्द्रकृत टिप्पण ६७०, और नियुक्तगाथा १६८ जज्ञाहृत्स्वामीकृत है, इसकी चूर्णित और टीकाएँ बहुत हैं, परन्तु प्रायः करके वि० सं० १७०० के पीछे की बनी हुई हैं।

## चार मूलसूत्रों की संख्या इस तरह है—

१-आवश्यक सूत्र, मूलगाथा १२५, टीका हरिजलसूत्रिकृत ७२०००, नियुक्ति भक्षवाहृत्स्वामिकृत ३१००, चूर्णित १८००० है। दूसरी आवश्यकदृष्टि [ चतुर्विंशति ] ७२००० है, उसकी लघुवृत्ति निलकाचार्य कृत १७३३१ है, और अञ्चलमञ्जाराचार्यकृत दीपिका १२००० है, इसका भाष्य ४००० है, आवश्यकटिप्पण मन्नाथारि हेमचन्द्रसूत्रिकृत ४६०० है। संपूर्णसंख्या ९८१५६ है, नियुक्ति की टीका हरिजलसूत्रिकृत ७२५०० है।

\* अर्धतो जगवता वर्धमानस्वामिना अममार्थिध्यानपरिज्ञानपरमार्थे उक्तः, सूत्रतो षडशस्वङ्केषु गणधरः, ततोऽपि च मन्त्रप्रथमासुप्रहाय अनिशायिनिः प्रत्याख्यातपूर्वाद्बृहदृष्य पृथक् दशाध्ययनस्येन व्यवस्थापितः। दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चासीत् भूतस्कन्धः। दशाकल्प इति पर्यायनाम। अयं च ग्रन्थोऽममार्थिस्थानादिषुदार्थशासनाज्ञाश्रमः। अस्याध्यायन कल्पसूत्रमुच्यते, टीका चास्य कल्प-सुबोधिकेति।

१-विशेषावश्यकसूत्र, [ आवश्यकसूत्र मूल (सामयिकाध्ययन) का विशेष परिकर है ] मूलसंख्या ५००० है। श्री-जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण कृत है, और इसके बृहद्वृत्ति १८००० मन्त्रधारिहमचन्द्रसूत्रिकृत है, लघुवृत्ति १४००० को-टाचार्यकृत, या ङोणाचार्यकृत है. बृहद्वृत्ति की टीका तर्कानुविद्या जैनस्थापनाचार्य कृत है।

१-पार्वी ( पादिक ) मूल, मूल ३६०, सं० ११८० में यशोदेवसूत्रिकृत टीका २७००, चूर्ण ४०० है।

१-यतिप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति ६०० है।

२-दशवैकालिक सूत्र, सत्यंभवसूत्रिकृत, मूल ७००, वृत्ति तिलकाचार्यकृत ७०००, दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूत्रिकृत ६८१०, और मलयगिरिकृत वृत्ति ७७००, चूर्ण ७५००, लघुवृत्ति ३७०० है। नियुक्तिगाथा ४५० है। आधुनिक सोमसुन्दरसूत्रिकृत लघुटीका ४२००, तथा समयसुन्दरउपाध्यायकृत लघुटीका २६०० है।

२-पिण्डनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलसंख्या ७००, इसपर टीका मलयगिरिकृत ७०००, दूसरी प्रति में ६६०० है, वि० सं० ११६० में वीरगणिकृत टीका ७५०० है और महासूत्रिकृत लघुवृत्ति ४००० है, संपूर्णसंख्या १९२०० है।

३-ओघनिर्युक्ति, जद्रबाहुस्वामिकृत, मूलगाथा ११७० है, ङोणाचार्यकृत टीका ७०००, और इसका भाष्य ३००० है, चूर्ण ७००० है, संपूर्णसंख्या १८४५० है।

४-उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६ है, मूलसंख्या २००० है, वादिवेताल ज्ञानिसूत्रिकृत बृहद्वृत्ति [पाईटीका] १८००० है, दूसरी प्रति में १७६४५ [ लक्ष्मीवल्लभजी टीका ] है, सं० ११७६ में नमिचन्द्रसूत्र से कृत लघुवृत्ति १३६०० है, भद्रबाहुस्वामिकृत गायानिर्युक्ति ६०७ है, और चूर्ण ६००० है, संपूर्णसंख्या ४०३०० है।

### अब दो चूलिकासूत्र की संख्या और नाम—

१-नन्दीसूत्र, देवार्किगणिसमाश्रमणकृत, मूलसंख्या ७०० है, इसपर मलयगिरिकृत वृत्ति ७७३५, चूर्ण सं० ७३३ में बनी हुई २००० है, हरिजद्रसूत्रिकृत लघुटीका २३१२ है, संपूर्णसंख्या १२७४७ है। चन्द्रसूत्रिकृत टिप्पण ३००० है।

२-अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १६०० है, उसपर मन्त्रधारिहमचन्द्रसूत्रिकृत वृत्ति ६००० है। जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्ण ३०००, और हरिभद्रसूत्रिकृत लघुवृत्ति ३५०० है, इसतरह संपूर्णसंख्या १४३०० है।

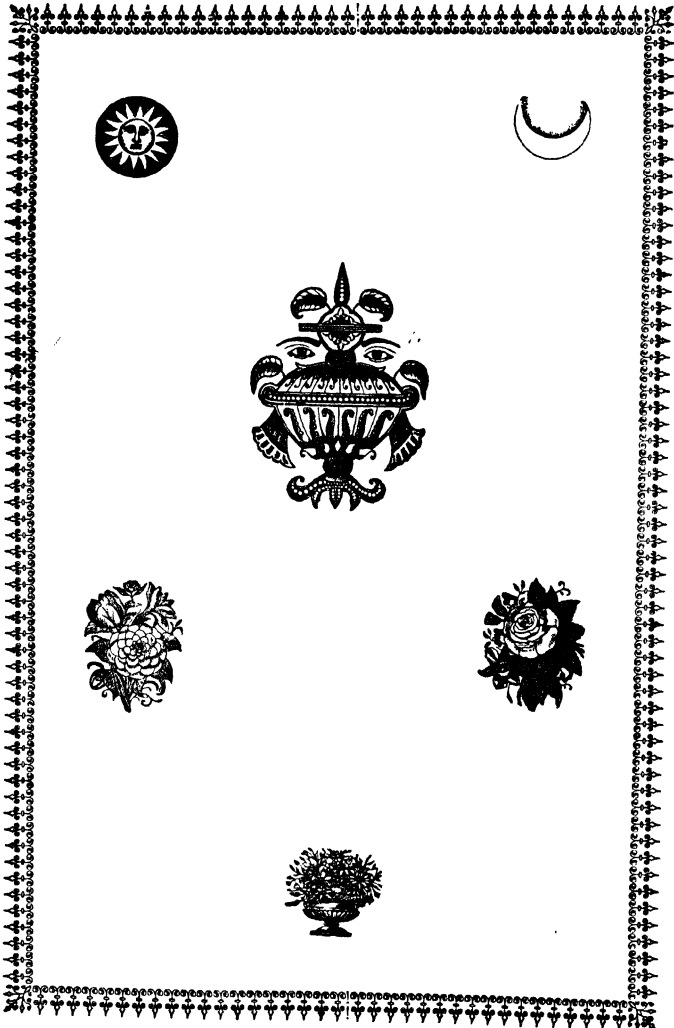
इस तरह ग्यारह अङ्क, बारह उपाङ्क, दस पङ्का, ङः उद्देशसूत्र, चारमूलसूत्र, और दो चूलिकासूत्र मिलकर इस समय पैतालीस आगमों की संख्या ही जाती है। इत्यन्तं विस्तरेण।

## विशेष विज्ञापन—

इस पुस्तक के संशोधन में हमारे सतीर्थ्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने पूर्ण परिश्रम किया है किन्तु लेखकों की लिखी हुई पुस्तकों के अत्यन्त जीर्ण होने से और प्रायः एकही एक प्रति के मिलने से भी कहीं कहीं त्रुटि गाथाएँ टीका का अशुद्धमूल लेकर प्रकरण और विषय के अवि-रोध से पूरी की गयी हैं उनमें याद कहीं पर पाठ भेद हो गया हो तो सज्जनों को उसे ठीककर लेना चाहिये।

## निवेदक

उपाध्याय मुनि श्री १०८ मोहनविजयजी



# → उपोद्घातः ←

अर्थम् ।

कः खतु स्वयेतनो जन्मो नाऽस्मात् संसृतिस्संस्पर्शकलेशादात्मानमपश्येदित्युं कामयते । तथा चास्मिन् भवेद्दम्भमयाशस्य कस्य वा प्रेक्षायतो दुःखमनागतमजिज्ञासिन्तं भवति ? । किन्तु इतोपायपरिज्ञानमन्तरा कथं कृतम् । कोऽपि समापद्यत ? । ततो विश्वस्याऽपि विश्वव्यपेनभवेत्तनुपुयाजिज्ञासायां साऽभिलाषश्च-यदन्तद्वारस्सावपारावामन्निन्तरानिमम्नकलेत्तरधारिणामनवरतोःकटजमज्रामरणऽऽदिविदनाऽभिजुनानां कोऽभ्युपयायां मौलां ह्यधमिद् समूलमुसृज्यति । ? यद्यपि अन्तरधिपखण्डासिमाभिन्नो विचारशालानो मरा वाद्यमुत्तरीयितुं प्रागन्त्यमालाभिष्यन्ते-यद् धर्ममन्त्रेण काऽभ्युपयायां न प्रेक्षापधमारोहति नस्मात् पराक्षुण्डीकर्णम् । परं तु क्वीरन्तरेधिधर्माधर्मयोर्यिया कर्वाहिसमापश्य मिश्रणमिततयान्यतरं दिव्यकुमलाधारणजनातिरिक्तस्याऽऽतुकरं यवेति, यतोऽस्मिन् समये परःशतानि मतानि धर्मस्यज्ञानं तन इतः प्रचरन्ति, यानि संकथानुक्तपदाकथानि संख्यायतां मद्राजानोर्पिणामपि, किं पुनः पाथक्येन धर्मोऽवमयं धर्माभास इति प्रदर्शयितुम् । यन्पि मद्राजानामस्मद्महात्मानानां धर्म्यतमानाभासिदशानुसारेणैव यद्यमानावितुं शक्यते-यदस्मिन् दुःखमारापरपयंये पञ्चमं कालं धर्मानासनामय विशयतः प्रायशः प्रकारो भवितुमर्हति धर्मस्य चाऽयनांतदशा ज्ञानं तु युज्यत इति ।

परस्परं पर्यंतुयोगेन स्मृतिस्मरणार्थाधरुह्यते-यत्तवामन्यतमस्तादृशं कां तु धर्मानिधियधुताऽपि नहि ? । तेषां प्रतापकयमुपदौकयस्याहंनमित्युक्तः-यस्मत्प्रयत्नंकरुणा रागद्वेषकद्वेषद्विज्ञाद्विभक्तिरा भव्युपभवेत्तु कर्तारो विपरीलकार्यन्तस्य कस्यापि प्राणानः परमंपरःप्रागुपर्यवसंनोपदेष्टानं स्यात्, प्रत्यनु शाश्वतमसाख्यं च श्व अयमस्य प्रापयितुं प्रनवेत्, स पर धर्मपदापादेयपदवीम अङ्कतुममम् । परमाधेतो यदीदृकः परमार्थः परासूयं तदा तदा तयतौ तीर्थकरावामथवा नगवतां वहेमानस्येवाऽऽसन्नोपकारित्येनानेकानजयवनाका प्राडुभूताव । यस्मत् एव विमद्रकधलालांकन का तत्रयथासामान्यायशेषामधेनोऽन्नपदाधेनोऽन्वेत्तारः, शकालामपि जन्मस्नाशदधर्यहदाऽनिहार्थादि-संपादनेनाचैनार्हाः, अविनयवस्तुनभ्यप्रकारः, शास्त्रससर्वस्वान्तरेन पराद्वेषवियज्यकत्तारः; राकान्तश्च तेषामिदंसा परमो धर्म इति ॥

यद्यपि पृथग्भूतेष्वितनो धर्माभासेषापि किंपाकाकोपसिन्तायसदेवया हिंसागमिता अहिंसा भगवती यत्र तत्र विशोक्यन्ते-तस्या जिज्ञुता मयुद्विषयधाराकराप्रकत्वाऽप्रलोलासनानामि, य जनानां न सुखाकरोतीति कप्रमत्रे संयुक्तवियमयुक्तपंय न युक्त । यतस्तेषु जन्माद्विदुःखमुसृज्यां प्राधान्येन कारुणता तस्या नोपलज्यते, अपि तु यदंशतस्तत्र दयाऽभितिविष्टा, हिंसाऽपि तदुपशान्तिता जागर्ति, यथा संसारमांशकानामिदंनैर्धर्म-यद्वि नरपशुशकृन्वियत्यतः काऽऽपि जनेऽस्मिन् संसारवेदनामनुभवति, तर्हि तस्येतां देवतः पृथक्कृपणो दयापरयशानां कर्तव्यमिति । सततनुप्रवणानां यजन्तां तु तादृकभवसरमासा-

य दयापाशासामन्यगतिकानां छाग तदकानां विश्रसनमेधोर्ध्वगतिप्रापणमित्यादि प्रभ्येऽस्मिन्नेव प्रथमभाते " भगवत्कृपा " " अहिंसा " शश्रयोऽकारं विशयवित्तरः प्रकृणीया जिज्ञासुनामिति । अत यथाभियुक्तानामाभावः-

" पलापतो न मे घोरैः, न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमुद् घचनं यस्त, तस्य कार्यं परिग्रहः ॥ १ ॥

रामद्वेषानिमुक्तोऽहंकृतं च कृपापरम् ॥

प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥२॥ इत्यादि ॥

इयाऽऽचारक्रियावस्तुभेदधर्मोऽयमार्हंतनुत्थां प्रथिमकः । निदानमस्या देयनिमित्तसमयसरणसमयसूतस्य देवाध्वद्वयस्य भगवतोऽखिलकस्य धीनाथेकरस्योपदेशावायिभूतं शासनमेव । यद्यपि श्रीमदुजिगीतमादियिनेऽर्थैः समनन्तरं क्रियत्यप्यनेहासि समतीते द्वाद्वाद्वाऽऽपेयेकादशाङ्गीक्रेण वा संद-र्जितं सत् सुत्रनाम्ना व्यपह्रियते, तथा चेतन प्रत्येकतोथेकरशासनमस्येऽस्तन्वशशासामास्यति । यद्यपि काले पुर्वविमन चतुर्वशपुर्व-दशपुर्व-अन केचालिप्रभृतयो महातुभावा महामानो ये कंचनाऽऽसन् तेषामनिशयंनययशाद् मूलदेवाध्वंजानं सुकरमतः स्पर्धकरणप्रवणताऽऽदिपुस्तकादीनामावयकनेव नासीत्, परन्तु तादृशकालविकलानां जीवनामर्थाचामवधारणधुरां वाद्युसमर्थानां विस्मृतपदाधिसार्धरुग्निमलममानानां दुर्भावस्य गहनातिहतनियेषस्य स्यादवादिक्-द्वयंसय विशदीकरणाय भगवदभिः श्रीभद्राहाकुम्भामप्रमुक्षे-येथि निर्युः-माथ-स्युपि-टीकाऽऽर्हानां रचना कृता, तथापि साम्प्रतं जैनप्रथस्य भूयाद् । अस्तरः समजनि, यद्यधुना स्व-लपीयाऽऽऽप्या न काऽपि क्रमो मनुष्यः सासात्किं कृत्यं स-माखन् गृह्णन्धिविरक्तान्यतरंऽमुष्मं जैनशासनसामारात् पार-सुक्षरितुम् । हेतुरयमत्र विमत्त्यते-यत् प्रथमतः सर्वेषां प्रथानां समुपलभ्यन्तव न सर्वेष समुपजायते, ये चालपीयांसः क्वांचिद क्विचदपि समुपलभ्यन्ते, के विषयाः कुत्र तत्र विन्दन्ता इति सर्वेसाधारणस्य तावतो ज्ञानसमुत्कर्षम् । यदि कस्यापि कसि-त्रापि प्रभ्ये जायेतापि विषयाणां यथाकथाऽऽनुपलभ्यन्तेथापि च्चेऽजिधेया अन्त्यस्थस्य प्रभ्ये च कुत्र कुत्र भविष्यन्तीति परामर्शोऽेदस्यविधुरपुरामिदंरहाल्लभ्यथानोऽपि ।

कारणाभ्यन्तरसंयन्तः यद्विद् जैनद्वयं न स्यात् (अर्चमागध्याम) भाषायामजिनियकव, एया सैव, यथा प्राकृतनसमेव भारतभूय्यां मातृभाषाभ्येन, राष्ट्रभाषाभ्येन च स्थानं प्रापि । यथाश्च नोप-करणधरप्रभृतिनिर्मैहामादरः कृतोऽमुष्या एव भाषायाः प्र-चाराः प्रचलितसमयं किंवापि क्वापि नोपलभ्यन्ते । यद्यपि दशकृपादिषु यत्र तत्र पापप्रमेदप्रमुक्ता कतिपयप्रभेदांजना प्राकृतभाषा हाद्वेषधर्मविरोधात्, तदापि तस्मिन्निहितच्छाया-त एव कार्यं निवेदन्ति यथाकथञ्चिद् सर्वेऽपि पाठकाः ।

यदि केनापि प्राकृतयकाशादित्याकथञ्चिदंशेन समस्यस्ताऽपि शुद्धा प्राकृतभाषा न तावत्या जैनागमसूत्रस्याणां निर्दुकिनाया-

शुक्तिमभूनां तापयमयचारयितुं वाक्यम,यतसंधंकरगणध-  
रादिभिर्दुःखमागाम्येभ्यो प्रस्तावः प्रस्तुतः, या व सामान्यप्रा-  
कृतभाषातो नदीयसी कश्चिद् विलक्षणतर ।

गतवन्ति समये तु गुरुशुभपरायणाः भ्रममविगच्छवान्ने-  
वालिजनाः स्वस्वाचार्यमुत्साम्भोजमकाशात् समुपलब्ध-  
मपुत्रिभूतिकरसहज्ञानुत्पत्तयतीतथाद् संविच्यन्ताः कष्ट-  
स्थं कुर्वन्त एव कृतकार्या बभूवुः, किन्त्वधश्चीनायास्ताह-  
स्याः परिपाल्याः प्रायशो वैकल्याद् ज्ञानदशोचचार्याणां भू-  
यान् ह्रासः समज्जनि । संक्रांतिविवरणं चास्याऽत्रैव प्रथमतया  
“ अहाहात्वं ” शब्दे तत्त्वबुत्सुभिर्ज्ञासुभिर्दृष्टव्यम् ।

निर्गन्ध वैताहरीं बुद्धशाम्भकां गुरुवर्याणां श्रीसौधर्महृत्स-  
पागकुटीरकलिकालसर्वहृत्कल्पभट्टारक १००० श्रीमद्विजय-  
राजेन्द्रसूरीभ्रमहाराजाणां चेतसि निम्नाऽतिमहती समुप-  
स्थिता-यत् प्रत्यहमाहंतयार्थमिहकाशाकाशाकार्यां हानि-  
रवोपजायते, कारणादस्माद्विहा बहवः सुक्तं मन्वानाः का-  
येमुत्सृज्यमानि कर्तुमाच्छवन्तः, तथा स्वधर्मप्रत्येयान् विस्मृति-  
सरणिमाश्रिता इव । ततः किमस्यावयवस्थायां कर्णायमस्मा-  
भिः । यतः संसारंऽस्मिन्नसारं तस्यैव मर्यादय जनिः साधिकां,  
येन यथाशाक्यमात्मधर्मस्योऽतिः कृता । अन्वधा-

“ अमेपादनिकः कश्चि-दर्थे जातिरक्यागुणेः ।  
यदच्छाशुभवत् पुंसः, संहाये जन्म केवलम् ॥ ”  
अथवा-“ स लोहकारमस्मिन्, श्वसन्नायि न जायति ।”

इति लौकिकानि साधकयति । एताहसो धिमसंभेत-  
सि प्रभूतकामसुखास, किन्तु कदाचिदकस्यां क्रणदायां  
सहसा विचारः प्राडुपन्थ-काऽप्यकस्ताहरीा क्रम्यः प्रजे-  
तत्प्रेत्या रबनोयो, यास्मद् अनामसत्कामागर्षोमावाश-  
द्वामाकाराद्यनुक्रमतो विद्यासं विद्याय वाञ्छोणमायायां त-  
दनुयासिहृत्सुप्रायां सेवाच्यार्थं निवाय समन्तरं यथामंभवं  
तदनुयति ह्यनुप्राणां पाठनिर्देशपुरःसरं समुपलब्धपुगतनटीका-  
च्युर्थादि विवरणं दत्त्वा स्पष्टयितव्यः । यद् स एव विषयो ब्र-  
ह्मण्डान्तरेष्वप्युलभ्येत तर्हि तदनुपदनेव साऽपि निर्देयः । प्रा-  
यशोऽस्माद् निजमतोऽनुकृता शोकस्योपकारो भावष्यतीति ।  
अधोवासं समुप्याय सूरीन्द्रः स्वनिर्णयैमित्तिकाः क्रियाः  
सामान्यास्य प्रकृतकार्यस्य भारमुदाह । समाहितमानसेन  
ह्याधिनिश्चयं यावद् महानमयि भ्रममविगच्छय नेन कार्यमेतद्  
विज्ञानपेक्षां संपूर्णनां लभिमन्तः । यद्-भविष्यत्ताराजेन्द्रः नामा  
काशः प्राकृतनायाप्रवेदभूतमागम्यां विरचय्य वतुषु भागेषु  
वित्तकः ।

अथैकदाऽनल्पकस्याः भ्रवकाः क्षिप्याश्च मुनयः श्रीमद्ग-  
पाश्यागमोहानयिजवर्धपविजययतीन्द्रविजयवाभ्युत्थतः साधयो  
त्रिभयाः स्याज्जिह्वन्धं प्राधनपुत्रसूरं विद्वज्जहान-भागधो ।  
यदयमपि प्रन्यो मथ्यान्तरत्तमः पुस्तकाभाङ्गगारेष्वेव नि-  
हितः स्याम्यति तदा किमनो जना अनर्थम्यास्य प्रवरज-  
स्येव कोपरन्तस्य लाम्यभाजो प्रविश्याति । तस्मादनेकेषु  
देशदृष्टान्तरेषु यथा रीत्या ज्ञान प्रचातः स्यात्, ननुपायः क-  
रणाय इति गुरुचरणान्ने विद्वत्पुत्रसूरं निवेदयामः ।

तदुत्तरं प्रशान्तमजीरया गिरा श्रीसूरीभ्रवाः मानिस्नोक-  
हुंमं भोषु-अदमार्त्तयं करणीयं पृतिमनयमतः परं येनोपायं

निविश्रमेकोपकारः स्यात् तु युष्मानिः कष्टमहैः किन्तु च-  
यमात्रं ताटस्थ्ययुगताः ।

ततः श्रीसङ्केनास्यानिधानस्य विषेयप्रचाराय शीशकात्तरेः  
पुष्टविकणपत्रेषु मुद्रापयितुमेव निश्चित्य प्रारब्धते स्म ।  
पुनरस्य शोचनार्थिभारः सूरान्द्रानां विनातिदिप्याभ्यां मुनि-  
भार्याविजय-मुनिभीवतीन्द्रविजयाभ्यां जगृधे, यावत्स्मद्  
कार्ये पूर्णोऽभिन्नो बनेति । अतः पर वचनान्तरं ज्ञाया (दिन्द्रं)  
जुमिकानांऽवसेयम् ।  
स्याद्वाङ्किरणेन समवाय-सत्ताऽपोह-वेदाऽपौषेयवच-  
जगत्सकृत्कत्व-शब्दाकाशगुणत्वा-ऽद्वैतवादाविश्वकमेन ए-  
कनिद्रयाणां भावेभ्युद्भवज्ञानस्वापनेन च जैनदशोचस्यातिगा-  
म्यादि व्यक्तोभयतीति दिक्कामात्रमिह तद् दृश्यते-

अथ वस्तुनः स्याद्वादात्मकत्वं सप्तमङ्कः प्रकरणेन सुज्ञोभेयं  
स्यादिति प्रथमं तस्या निरूपणम्-

एकत्र वस्तुनैकप्रभेपर्ययुगोवशादविरोधेन स्वस्त्याः  
समस्त्याश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः  
सप्तथा वाक्प्रयोगः सप्तजङ्गा ॥

एकत्र जीवादी वस्तुनि एकैकमन्वादिभेदविषयप्रभवशाद्-  
विरोधेन प्रत्यङ्गादिवाद्यापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितया-  
श्च विविनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छुभलाऽशुभो  
वदयमात्रोः सप्तानिः प्रकरैर्वचनविषयोः सप्तमङ्कः विहितः ।  
सप्तमङ्कः पुनरिमे-

स्यादस्येव सर्वमिति विधिविकल्पनया प्रथमो भङ्गः ?  
स्यान्नाऽस्येव सर्वमिति निषेयकल्पनया द्वितीयः २  
स्यादस्येव स्यात्सास्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्प-  
नया तृतीयः ३ स्यादवत्कल्पमेवेति युगपद् विधिनिषेध-  
कल्पनया चतुर्थः ४ स्यादस्येव स्यादवत्कल्पमेवेति विधि-  
कल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ५ स्या-  
न्नास्येव स्यादवत्कल्पमेवेति निषेधकल्पनया युगपद् विधि-  
निषेधकल्पनया च षष्ठः ६ स्यादस्येव स्यात्सास्येव स्या-  
दवत्कल्पमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधि-  
निषेधकल्पनया च सप्तमः ७

स्यादस्येवमनेकान्तघोतकत्व । स्वात्-कथञ्चित्, स्वद्वय-  
जिह्वकालमावकण्य अस्येव सर्वे कुम्भानि, न पुनः पर-  
द्वयकोत्रकालमावकण्येण । तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पाथिर्वत्वे-  
नास्ति, न जलादिकल्पनेन । स्रेत्रतः पाठमिषुवकल्पने, न का-  
म्यकुञ्जदित्येन । कास्तः शैशिरत्वेन, न वास्तित्कादित्येन ।  
भावतः इवामनेन, न रक्तमादिना । अन्वथा इतररूपापस्था-  
स्वकल्पानिः स्यादिति । अत्र भङ्गे एवकारस्तु अनभिमतार्थ-  
स्यादुपधेयुगास्य । अस्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादान्ते  
कुम्भस्य स्वभ्यासादित्येनापि सर्वप्रकारेणास्तिस्वप्रातः प्र-  
तिनियतस्वकृपापुनरुक्तः स्यात्, तथाप्रतिपक्षे स्यादिति प्र-  
युज्यते, स्यात् काऽप्य-कथञ्चित्, स्वद्वयवादिनिर्वायमस्ति, न  
परद्वयवादिभिरपरत्येः ॥ ( २ ) स्वद्वयवादिभिरव पाठस्या-  
दिभिरप वस्तुनोऽसत्त्वादिना हि प्रतिनियतस्वकृपाजनाबाद् व-  
स्तुप्रतिनियमविरोधः । न वास्तित्वाकाम्यवादिभिरत्र नास्त-

त्वमास्तिस्वामिभ्रान्तोऽयम् । कथञ्चित् तस्य वस्तुनि युक्ति-  
 सिद्धत्वात् साधनत्वात् । न हि क्विञ्चिदन्वयान्तरं साधये सत्या-  
 दिमाधनस्यादित्यस्य विषयकं नास्तिस्वामिनःशोषणकम्, तस्य  
 साधनाभास्तत्प्रसङ्गान् । अथ अत्रैव निवृत्तं साध्यस्यैवभावः-  
 स्तित्वं तद्वच साधनानां साधनत्वमिति प्रतिपाद्यते, त-  
 त्कथं प्रतिषेधयम् ? स्वकृपस्य प्रतिषेधस्यानुपपत्तेः, साध्य-  
 सद्भावे नास्तित्वं तु यत् तत् प्रतिषेधयम्, तेनाविनामायिके  
 साधकसद्भावास्तत्प्रसक्तं व्याघातात् तनेव स्वकृपणालि नास्ति-  
 चात् प्रतीत्यज्ञानादिभिरेव । तद्वत्सत् । एवं हेतुःकृपयावरो-  
 धात् । विपक्षासत्त्वस्य तांस्वकस्याभावत् । यदि चायं प्रा-  
 वानावयोरकृपयावरोधान्, तदा सर्वथा न कृपयात् प्रयत्नेः,  
 नापि कृतव्याजित्वेन । प्रवृत्तानिर्वाचाविवक्षय भावस्याभाव-  
 परिहरणसंभवात्, अभावस्य वा अपरिहरणमिति वस्तुनाऽ-  
 स्तित्वनास्तित्वयोः रूपानन्तरत्वेनैव । तथा चास्तित्वं नास्त-  
 त्वेन प्रतिषेधनातिव्यापि सिद्धम् । यथा च प्रतिषेधमस्ति-  
 त्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः क्रमापिनोपपत्त्यादियमि-  
 पञ्चकमपि वक्ष्यमाणं लक्षणीयम् ॥ ( ३ ) सर्वमिति द्विती-  
 यत्कृपादिहेतोरत्र चानुपपत्तेश्च । ततोऽयमर्थः—क्रमापि-  
 त्वपरिहरणस्यैव अनुपपत्त्यैव क्रमापिनोपपत्त्यादियमि-  
 मं विद्यापते सर्वं क्रमानादि यस्तु स्यात् । ( कथञ्चित् )  
 अस्त्येव, स्यात् । ( कथञ्चित् ) नास्त्वैवयुद्धेनैव वक्तव्यमि-  
 ति ॥ ( ४ ) इत्यादिस्तिव्यनास्तित्वव्याख्यधर्माधर्मा युगपत्  
 प्रधानतयाऽपिनाश्यामेकस्य वस्तुनाऽपिनाश्यात् तादृशस्य  
 शाब्दस्यासम्भवादवक्तव्यं जीवोद्दि यन्विति । तथादि—सद्-  
 सत्त्वयुगलस्य युगपदकथयतिस्वामिभ्रान्तं वक्तुमशक्यम्,  
 तत्तयास्तिव्यनाश्यादवक्तव्यत् । तथैवासदिति अविभाजनेन  
 न सद् वक्तुं शक्यम्, तस्य सत्त्वत्वायने सामर्थ्याभावात् ।  
 साहचर्यमेकं पदं तदविभाज्यं समर्थमित्यपि न सत्यम्,  
 तस्यापि क्रमिणाऽप्ययथावयने सादर्थ्योपपत्तेः । 'तौ सत्' ३ ।  
 ३ । ३ । २ । ७ । ( पाणिनः ) इति शतुशानकेः संकेतनसञ्च-  
 वत् । इति सत्त्वनाशकहितत्वाद्यवक्तव्यं वस्तु युगपत् स-  
 दसत्त्वार्थानां प्रधानतयापिनाश्यामाकाङ्क्षं स्व्यथतद्वत् । ( ५ ) स-  
 द्रव्यादिवस्तुप्रयापिनाश्याऽस्तित्वे सत्यस्तिव्यनास्तित्वार्थानां सह  
 वस्तुमादाकथं सर्वं वस्तु ; ततः स्यात्प्रस्येव स्यादवक्तव्यमे-  
 वेत्वेवं पञ्चमभङ्गनोपदर्श्यते इति ( ६ ) परद्रव्यादिवस्तु-  
 प्रयापिण्यो नास्तित्वं सत्यस्तिव्यनास्तित्वार्थानां शोषणपदेन प्रति-  
 त्वयत्तुमशक्यं समस्तं वस्तु; ततः स्यात्प्रस्येव स्यादवक्तव्यमे-  
 वेत्वेवं यद्रूपभङ्गनं प्रकटयते ( ७ ) स्वपरकृपादिवस्तुप्रयापिण्यो-  
 ऽस्तित्वनास्तित्वार्थानां सतोरस्तित्वनास्तित्वार्थानां समसमयमभि-  
 धानुमशक्यमाशङ्कं वस्तु, तत एवमनेन भङ्गनोपदर्श्यते इति ॥

उक्तं च-

" या प्रह्लादा विधिपूर्वास्तिव्यनाश्याद्यवक्तव्येन सतया,  
 धर्मं धर्ममपद्रव्यं साक्षरवचनाऽस्तिनात्मकं वस्तुनि ॥  
 निर्दोषा निरदोशा देव ! ज्वलता सा सप्तमङ्गा यथा,  
 जल्पन्जलरणाऽङ्गुणे विजयते चादी विपक्षं ज्ञानात् ॥ १ ॥ "

अथ सप्तमङ्गादिशतदिशा स्पादशादास्तित्वम्-

हीपादारभ्य ध्यामपर्यन्तं सर्वं वस्तु समलक्ष्यम्, यतो व-  
 स्तुनः अन्यपर्यायःप्रकृत्यमिति । वाचकस्युपाऽप्येवमेवाह—'उ-

त्पादव्ययप्रौढयुक्तं सत्' । समस्त्वनावयवे हेतुस्तु स्याद्वत्त्वाद्-  
 नित्यानित्यत्वानेकधर्मशब्दकपरस्वभूतपुण्यं इत्यर्थः । नन्दन्यु-  
 पगमे सर्ववस्तूनां स्वकृपदानिमग्नः, कल्पयित्वा श्रव्यामादिवस्तु  
 नियममेव, अथस्य प्रदीपादिवस्तु अग्निधर्मस्यैव प्रसिद्धप-  
 स्तु दिग्भ्राम्युपपत्तेः सर्वे प्राया इत्यादिप्रकृत्यापि कृता निराया,  
 पर्यायार्थिकनायादशात् पुनरनित्याः ; तत्रैकानानित्यत्वया परै-  
 र्दीकृतस्य प्रदीपास्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापरनिमित्तत्वात् । त-  
 थादि-प्रदीपपर्यायापन्मास्तेजसाः परमाणवः स्वरसतः तै-  
 र्जकयात् वानानिष्पानात् वा ज्योतिःपर्यायं परिवत्सव तसो-  
 रूपं पर्यायान्तरमासाद्यन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः ; पुद्गलर-  
 व्यकृततावदाचित्यतात् तेषाम् । न ह्यनानित्यानित्यत्वय वा-  
 वता पूर्वपर्यायस्य तादा उच्यतेपर्यायस्य चोत्पादः । न ह्यस्तु  
 सूक्ष्मत्वात् स्वासक-कोश-द्रुमूल-दिवय-चटाद्यवस्थानस्यानुप-  
 पत्तमानमप्येकान्तेन विभृष्ट, तेषु सूक्ष्मद्रव्याङ्गमस्याकारणोपा-  
 से प्रतीत्यत्वात् । न च तमः पौद्गलिकत्वमसिद्धं, चाकुपस्या-  
 मस्याऽनुपपत्तेः, प्रदीपास्य तावन्नित्याः । अथ वामाशुपुं तसर्वं स्व-  
 त्तिभासे अत्रालोकमपेक्षते, न चेत्तमःतत् कथं चाकुपमूर्तैवम् ।  
 उक्त्यादावामालोकमन्तराणि तत्रातमासनात्, यस्वयस्सदादि-  
 निरन्त्यवचाशुपुं प्रदादिकमाश्लोकं विना नाप्यलभते, तैरपि ति-  
 मिन्मालोकाप्यन्ते, विचित्रत्वाद् भावानाम् । कथमन्यथा पति-  
 श्चेनादयोऽपि स्वयमुक्त्याफलाया आश्लोकपिकृद्दर्शनाः, प्रदीप-  
 चन्द्राद्यवस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः, इति सन्तं तत्रकषुण्डम् ।  
 रूपवत्त्वात् स्पर्शस्यैव प्रतिपत्तेः, शीतशीतोष्णप्रत्यक्षत्वत्वात् ।  
 धानं त्वानविद्यावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्रुतस्पर्शाविशेषव-  
 मप्रतीयमानलक्षणावयवित्यल्पविभागावयवमित्यादिनि तमसः  
 पौद्गलिकत्वनिवेशय परैः साधनान्युपपत्तयस्तानि, तानि प्रदी-  
 पप्रभाहृत्पत्तिवैधे प्रतिषेधयति, तदुपपत्तयङ्गमन्याः । न च वा-  
 च्यम्-तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त ? इति ।  
 पुद्गलानां तत्रास्वामिप्रसहकृतासां विशदहाकृत्यापदावक-  
 स्यापि दर्शनात् । एतां शास्त्रोपनिषदयोगवशाद् भास्वरूपस्यापि  
 वहेरनास्वरूपकथमरूपकार्योत्पत्तेः, इति सास्त्रे नित्यानित्यः  
 प्रदीपः । यद्यपि निर्वानाद्यौक्यं देहोप्यमानो दीपवस्तदाऽपि  
 नयनवपथोपर्यायविनाशभाषकावत् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्या-  
 नित्य एव ॥ एवं व्योमापि उत्पादव्ययप्रौढ्यात्मकस्याचित्या-  
 नित्यमेव । तथादि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानो-  
 पग्रह एव तल्लक्षणम्, 'अवगाहमाकाशम्' इति वचनात् । अर्था  
 चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगेनो विच्छसतां वा एकस्मात्प्रः-  
 प्रदशात्प्रदेशान्तरमुपपत्तिं, तदा तस्य व्योम्नसोत्पत्त्याद्योः  
 सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागाः, उचरस्मिन् प्रदेशे च संयोगः, सं-  
 योगविभागां च परस्परं विच्छेदी धर्मैः, तदुद्देशे चावश्यं घ-  
 र्मिनो भेदः तथा चाहुः—'अयमेव हि जेदो भेदहेतुर्वापुं च्च वि-  
 र्चमार्थ्यासः कारणभेदश्च' इति । तत्रश्च तदाकार्यं पूर्वसं-  
 योगविनाशालक्षणपरिणामावस्था विनष्ट, उचरसंयोगोत्पादा-  
 क्यपरिणामानुसयाच्छोपास्य, उचरयाकाशाच्छस्यनुगतत्वा-  
 च्छोत्पादव्ययपरैक्याधिकारत्वात्म् । तथा च 'यदप्रच्युतानुप-  
 कास्तिरैकरूपं नित्यम्' इति नित्यलक्षणमाचकते, तदाप्यस्य ।  
 एवंविधस्य कल्पचित्तं वस्तुनाऽज्ञात्वात् । 'तदुमावाव्यं न-  
 त्यम्, इति तु सत्यं नियमलक्षणम् । उत्पादविनाशात् सद्भा-  
 वेऽपि तदुमावादावयविकापि कारत्वात् । तथा च 'यदप्रच्युतानुप-  
 कस्य घटमानत्वात् । यदि हि अमप्रच्युतादि सङ्गणे नित्यामप्यते,



तदोत्पादइत्ययोनिराधारसप्रसङ्गः, न च तयोयोगे नित्यस्य-  
 हासिः । " इत्यं पर्यायविभुतिं, पर्याया कल्पवर्जिताः । क कदा  
 कत किंरूपाः, इहा मानं कत वा ?" इति वचनात् । न चा-  
 काशं न कल्प्यम्, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशं पटाऽऽकाशमि-  
 ति व्यवहारप्रसिद्धाकारणस्य नित्यानिव्ययम् । घटाकाशमपि  
 हि यदा घटापगमं पटेनाकाशं, तदा पटाकाशमिति व्यवहारः । न  
 चायमप्यकारिकात्वाद् प्रमाणमेव, उपचारस्थिति किञ्चित्सा-  
 धर्म्यद्वारेण मुख्यपरिमाणं तत्सदाघेयघटादिसम्बन्धिनियम-  
 परिमाणवशात् कश्चित्तन्मेद् सत् प्रतिनियततदश्यापि तथा व्यव-  
 हृतयामं घटाकाशपटाकाशात् तत्सत् व्यवधुशिवध्वनं भवति  
 तत्सदात्वात्सम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य ध्वामोऽवस्थान-  
 राऽऽपत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थाचलनोऽपि भेदः, तासां ततोऽ-  
 विषयमावात् । इति सिद्धं नित्यानिव्ययं व्ययम् । इति  
 नैकान्तनित्यपङ्क्तौ युक्तिकारणम् ।

स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारारोहारीकारस्थितिलक्षणपरि-  
 शासनं आधातमयोःकपोपस्थितिरविकटा । न चैकत्र वस्तुनि प-  
 रस्परविकल्पयोःभ्रासोसायोगात्सत् स्याद्वाद् इति वाच्यम् ।  
 नित्यानिव्ययकृत्विसङ्गस्य पक्वान्तस्यपङ्क्तौःकथमादात्वात्, त-  
 धेयं च भव्येननुज्ञायत् । तथा च पठन्ति—

" भागं सिद्धो नरो जाग, योऽप्यो भागवत्यात्मकः ।  
 तत्रभागा विभागेन, नरसिद्धं प्रचलते" ॥१॥

एवं चापेक्षितभेदं नित्यानिव्ययमकं वस्तु,उत्पादइत्ययमौद्यत्यात्म-  
 कत्वात्साऽऽपकृतिरिति तथाहि-रूपं वस्तु द्रव्यात्मना भोग्यते,  
 विषयमे वा,परिष्कृतमन्वयदर्शनात् वस्तुनजाननकारादिपु अन्य-  
 यद्दर्शनेन श्विचार इति न वाच्यम्,प्रमाणेन वाध्यापनस्यावध-  
 व्यापयिष्कृटरात्वात् । न च वस्तुतोऽन्यः प्रमाणविकृतः सत्यप्र-  
 म्याविक्रान्ताःरुद्धत्वात्, ततोऽन्यात्मना स्थितरेषु न संशये वस्तुन-  
 पर्यायात्मना तु सर्वे वस्तुपत्ये, विषये च , अस्मिन्लक्षणप-  
 र्यायात्तुप्रसङ्गात्वात् । न चैव द्रुष्टे शङ्के यीतादिपर्यायात्तुभेदेन  
 व्याभ्रवात्, तस्य स्थलद्रुक्पर्यायात् । न कलु सोऽस्मिन्लक्षणे,  
 येन पर्यायविभागाजहदुत्तराकारारोहादिविभागाभी भवेत् ।  
 न च जीवादी वस्तुनि हर्षामर्षादीत्यादापर्यायपरस्परपराऽऽ-  
 भवः स्थलद्रुक्पः कस्यचिद्वाद्यकस्याभावान् । ननुत्यादादयः  
 परस्परं जिघांते, तथा हि याद् भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु ज्यात्मक-  
 म् । न भिद्यन्ते चेन्, तथापि कृद्भेदक ज्यात्मकम् ? । तथाच  
 " वद्योग्यत्वयोऽभिज्ञाः, कथमेकं प्रथामकम् ? ।  
 आद्योत्पत्त्याद्योऽभिज्ञाः, कथमेकं प्रथामकम् ? ॥ १ ॥ "

इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिद्विभक्तकृतत्वेन तेषां कथञ्चि-  
 द् नैदाऽयुक्तमात् । तथाहि-उत्पादवशात्तद्विद्यमाने स्पर्श-  
 क्षामि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिचत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसि-  
 द्धम् । अस्त आत्मज्ञानं, सतः सत्ताःपर्यायाः, इत्यकृत्वताऽऽ-  
 नुत्पत्तेन च अल्लुपादादीनां परस्परसमसकौशुानं लक्षणं स-  
 कललाकसात्क्रियावधेयं । न चामो भिन्नलक्षणं अपि परस्व-  
 रानपक्ताः, अणुपवद्सत्यपत्तः । तथाहि-उत्पादः केवलं  
 नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मेरोमवत् । तथा विनाशः  
 कृत्वा नास्ति, स्थिपुण्यपत्तपहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थिधातः  
 कवला नास्ति, विनाशात्तदशुभ्यत्वात्, तद्वद्वं । इत्यन्योऽन्या-  
 पक्ताणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्यं प्रतिपक्षस्यम् । तथा च क-  
 थं नैकं ज्यात्मकम् ? । उक्तं च पञ्चाशत्तित-

" प्रवृत्ते कश्चो शुशुं च तनया मौलो समुपायिते,  
 पुषः प्रतिमुखाह कामपि वृ-विशेषं मध्यस्थताम् ।  
 पूर्वोकारपरिकल्पनद्वाराकारोत्पत्त्येव स्तद्व्यवहार-  
 धारकैक इति स्थितं प्रथमं तस्यं तन्माप्रत्ययात् ॥ १ ॥ "

तथा च स्थितं नित्यानिव्ययानेकान्तः कान्त एवाति । एवं सद्सत्त्व-  
 नेकात्साऽऽपि । अन्वय विरोधः । कथमकमेव कुत्सादिषु सत्त्व-  
 च्च, अस्व च प्रवति । सत्यं क्षामसत्त्वविद्वारेण व्यवस्थितम्, अ-  
 सत्यमपि सत्यपरिद्वारेण, अन्वया तथापरिविधेयः स्यात् । तत-  
 श्च तदपि सत्, कथमसत् ? । अथास्त, कथं सतिनि । तद्वन्व-  
 दात्म । यतो याद् येनेव प्रकृतेरुप सत्त्वम्, तेषाऽसत्त्वम्, येनेव  
 चासत्त्वम्, तेनेव सत्त्वम्न्युपेयत, तदा अ्याद्विरोधः । यदा तु  
 स्वरूपेण घटाद्वयेन, स्वद्रूपेण द्विरव्यवहारिवेन, स्वकृतेण  
 नगराद्वयेन, स्वकालत्वेन चासत्त्वात्त्वेन सत्त्वम्, परकृत्वा-  
 दिना तु पटाऽऽन्युत्पत्तिसम्बन्धविभक्त्यादिनाऽऽन्यत्त्वम्, तदा क-  
 विरोधमप्योऽपि । ये तु सौगतः परासत्त्वं नाभ्युपगमन्ति, तेषां  
 घटाः सधौमिकत्वप्रसङ्गः । तथाहि-यथा घटस्य स्वकृत्वादिना  
 सत्त्वं तथा यदि परकृत्वादिनाऽपि स्यात्, तथा सति स्वकृत्वादिनयवत्  
 परकृत्वादिनप्रसक्तः कथं न सर्वोपक्रम्यं भवेत् ? । परासत्त्वेन तु  
 प्रतिनियतोऽस्य स्थित्यति । अथ न ताम नास्ति परासत्त्वम्, किन्तु  
 स्वनसत्यमेव तद्विनि चेत्, अहा ! नूनं कऽपि तत्कथमेककृ-  
 तः समुत्पातः । न खलु यदेव सत्त्वम्, तदेवास्तत्त्वं भवति चेत्, भवति ? ।  
 अथ युक्तं तत्राभ्युपगम्यते, न च नाभ्युपगम्यते एवाति कि-  
 म्तरामिच्छजालम् ? । नतश्चास्यानङ्गत्वसत्त्वमेवोक्तं भवति ? ।  
 एवं च यथा स्यात्सत्त्वसत्त्वसत्त्व-नच तस्य, तथा परासत्त्वाम-  
 परः परसत्त्वप्रसक्तिरिति, एतत्प्रमत्ताः विश्वाऽऽवाचते । अथ  
 नाभाविनिवृत्त्या पदार्थो जायकयः प्रतिनियतेषां च भवति,  
 अपि तु स्वसत्त्वमिदं स्वसत्त्वमिति, स्वसत्त्वमिति चेत्, अपि तु  
 परासत्त्वमिति चेत्, न किञ्चित् । केवलं स्वसत्त्वमिदं स्वसत्त्व-  
 यतिनित्यत्वात्परं परासत्त्वमिदं स्वसत्त्वमिति चेत्, अपि तु स्वसत्त्वमिदं  
 परासत्त्वमिति चेत्, न किञ्चित् । केवलं स्वसत्त्वमिदं स्वसत्त्व-  
 मिति चेत्, न किञ्चित् । केवलं स्वसत्त्वमिदं स्वसत्त्वमिति चेत्, न किञ्चित् ।

अनाऽतकान्तवाद् एव स्मर्षावोः । यदाह-  
 " इद्येवं गतिरिदं, निचं दृष्ट्यादौ नायस्यं ।  
 पञ्जापणं अणिकं, निचवाऽणिकं च निचवाद्यो ॥ १ ॥  
 जो निवयावं भास्ति, पमाणनपसलं गुणाद्यो ॥ २ ॥  
 प्रमेवं स गण स्य, सो हि पमाणं पसलं गुणसम् ॥ २ ॥  
 जो स्थियावं निदति, पमाणनपसलं गुणाधार ।  
 भावेण दुट्टानयो, न सो पमाणं पववगुणम् ॥ २ ॥ "

अथ समवायखण्डनम्

अनुत्पत्तिनामाध्यायोऽधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः  
 समवायः । न च समवयवनात् समवाय इति, इत्यनुगतकर्म-  
 नामाम्यविशेषु पञ्चसु पदार्थेषु वसन्तद् कृत्वांरिति चाक्याय-  
 नः । तथा कुर्या समवायसम्बन्धेन तथाधर्मोऽभिज्ञादितरेत-  
 यमितिलुग्नतरेऽपि धर्मधर्मव्यपदेश इत्येन ।  
 अत्र जैताचायो यद्विनि-  
 अयं धर्मो, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं

समवाय इत्येवम् वस्तुमयं ज्ञानविययतया न प्रतिभासते । यथा शिलाशाकल्यगुणलभ्य मिथोऽनुसन्धायकं रालादिद्वयं तस्मात् चिन्तियतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्यापि प्रतिभासतः; किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः इति ज्ञापयप्रत्यायनीयोऽयं समवायः । किञ्चाय वादिना एको नित्यः सर्वथापकाऽऽमूर्त्तश्च परिकल्प्यते, नतो यथा घटाश्रिताः पाकजकपाद्यो धर्मोः समवायसम्बन्धेन समभवाः, तथा किं न पठेऽपि, तस्यैकत्वमित्यवस्थापकत्वेः सर्वत्र तुल्यत्वात् । यथाऽऽकाशा एको नित्यो व्यापकोऽमूर्त्तश्च सर्वैः सम्बन्धितानुपगमदविशेषेषु संबध्यते, तथा किं नायमपीति ? विनश्यदेकवस्तुसमवायात्वादे च समस्तवस्तुसमवायाऽऽभावः प्रसज्यते । तत्तद्वच्छेदकभेदाध्यायं दोष इति चेदयमभिव्यक्त्यापत्तिः, प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति । अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिज्ञानम् ? यत्नस्त्वदेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम् । इत्यप्रत्ययश्चानुभवसिद्ध एव । इह तन्तुपु पटः, दहाममि ज्ञानमिह घटे कृपाद्य इति प्रतीकतल्लभ्यात् । अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्मभेदालम्बनत्वात्संन समवायाद्यं परार्थात्तं तद्वन्तुः इति परानुमानमिसन्धाय पुनरुक्तयते-त्यन्तमे यथा पृथग्वाविसम्बन्धात्पृथुधो, नत्र पृथगीय पृथिव्या एव स्वल्पमस्त्वत्सर्व्वं नत्र वस्त्वन्तरम् । तेन स्वकरोणीयं समं योऽसत्त्वामिसम्बन्धः पृथिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते; “ प्राज्ञानामेव प्राज्ञिसमवायः ” इति वचनात् । एवं समवायव्याभिसम्बन्धात्समवाय इहापि किं न कल्प्यते ? इति सन्धेयः प्रसमवायव्यं स्वस्वरूपं तेन सार्द्धं सम्बन्धोऽस्येव । अन्वथा निःस्वभावत्वात् शशवियाणवद्वस्तुत्वमेव भवेत् । ततश्च इह समवायिसमवायव्यमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायस्येव युक्त्या घटत एव । तथा यथा पृथिव्यां पृथगीयं समवायेन समन्ते, सत्त्वामिस्येव समवायत्वमेवं समवायात्मेनैव संबन्धनीयम्, तद्व्यपरीणेत्यं दुस्तरानुसन्धामहानरि । ननु पृथिव्यादीनां पृथगीव्यादिसम्बन्धनिश्चयं समवायो मुखं नरत्न स्वतन्त्रादिप्रत्ययान्त्रिव्येकवच्य संयुहीतसकत्वात्नरज्जान्त्रज्जणव्यक्तिकेन्द्रस्य सामायस्याज्ञवात् । इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिकेदनात्वात् ज्ञानेनुद्द्युतत्वात्प्राप्तोऽयं युग्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायव्याजसम्बन्धः, तत्साध्यश्च समवाय इति । तदेतन्न विपश्चिन्नेनश्चमकारकारणम् । यतोऽप्रापि जातिरुक्तयन्तो केन निरुद्धन् । व्यक्तेरन्तर्द्वन्द्वं च्छ । न तत्तद्व्येदककज्ञासत्तद्वेदोपकोः व्यक्तिकेदकज्ञानात् दुर्निवारत्वात् । अन्वयो हि घटसमवायोऽस्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिकेद इति; निसिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भव । तस्माद्व्यप्रापिसूच्य एव समवायः इहप्रत्ययस्योत्पत्त्यभिचारात् । यदाह-

“ अत्रनिचारां मुखोऽधिकलोऽसाधारणोऽनरुद्धश्च ।  
विपर्य्यतो गौणोऽर्थः, सति मुखे पाः कथं गीत् ? ” ॥

तस्माद्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धेन मुखयः समवायः, समवाये च समवायव्याभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नास्तित्यर्थः । किञ्च-योऽयमिह तन्तुपु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनमनारधः, स श्लवन्तुहरते नपुंसकत्वात्प्रसवचमनोरधम् । इह तन्तुपु पट इत्यादर्थेवहारस्याऽल्लैकिकत्वात्प्राप्तुलपादानामपि इह पटे तन्व इत्ययं प्रतीतिद्वन्द्वान्त इह भूतले घटाभाव इत्यप्रापिसमवायप्रसङ्गात् ।

अथ सत्तानिरसनम्—

अविशेषेण सत्त्वृत्तिवैध्याय संबन्धार्थेषु छव्यादिविषय विभु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादिप्रत्ये, इति महतीयं पश्यतांहरता । यतः परिज्ञान्यतां सत्तासादृश्यं शब्दायः । अस्तीति सत्, सतो भावः सत्ता, अस्तिव्यं तदस्त्वरूपं निर्विशेषमशेषव्यपि पदाद्येषु त्वयाऽनुक्तम् । ताकिमिदमज्ञेयजतीयम-यद्रूप्यादिप्रत्ये एव सत्तायोगो नेतरज इति । अतुञ्जसत्प्रत्ययाऽसाभान सामान्यादिप्रत्ये सत्तायोग इति चेत् । न । तच्चान्यनुसृष्टिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात् । पृथिवीयोगत्वघटत्यादिसामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति । विशिष्येध्यापि बहुत्व्याद्यमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति । समवाये च प्रत्युक्तयुक्त्या तत्तद्व्यच्छेदकेदेदिदिकाकारप्रतीतेरनुभवात् । स्वरूपसत्त्वसाधन्यं सत्ताऽप्यारोपायसाध्यादिव्यापि स्वसृष्टियुक्तम् इति चेत्तद्विभिध्याप्रत्ययोऽयमपद्यते । अयं निश्चयसाधन्यकानुगमो मिथ्येति चेत्साध्यादिव्यापि सत्ताप्यारोपकृतं पदास्तु प्रत्ययानुगमः । अस्तीति मुखेषुऽप्यारोपायसाधनत्वात्, छव्यादिषु मुख्याऽयमनुगमः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत् । न । पृथिवीयस्यापि शक्यकरनभवात् । सामान्यादिषु वाचकसमवायेण मुखेषुऽनुगमः प्रत्ययो, छव्यादिषु तु नृपदाभावान्मुख इति चेत्, ननु किमिदं बाधकम् ? अथ सामान्येऽपि सत्ताऽऽनुपगमोऽनवस्था, विशेषेषु पुनः सामान्यसङ्गापे सत्त्वपदानिःसमव, येऽपि सत्ताकल्पने तद्व्युत्पत्त्ये सत्त्व-पदानाभावे इति बाधकमिति चेत् । न । सामान्येऽपि सत्ताकरनेन यद्यनवस्था, तदि कथं न सा छव्यादिषु ? । तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः सत्ताऽऽनुपगमोऽपि न स्वरूपहाभिः । स्वरूपस्य प्रस्तुतोत्तज्ज्ञानात् । निःसामान्यस्य विशेषस्य कालेत्पुनरुत्पल्लनात् । समवायेऽपि समवायात्तल्लक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपन्नं पदाविषयगतानाकम्ः सन्ध-व्य, अन्वथा नस्य स्वकृपाऽनाधमसङ्गः इति बाधकानाकल्पेऽपि द्रव्यादिव्यमुखस्य एव सत्तासम्बन्धः; इति व्यर्थं द्रव्यगुणधर्मस्त्वेव सत्ताकल्पनम् । किञ्च-नेवादि-जिन्यां छव्यादिप्रत्ये मुखः सत्तासम्बन्धः कर्ताकृतः, साऽपि विचार्यमाणो विशीर्येत् । तर्थाह-यदं छव्यादिव्योऽप्यन्तविलक्षणा सत्ता, तदं छव्यादीन्सत्ताप्रायेव स्युः । सत्तायोगात्सत्त्वस्यस्येयति चेत् । अस्ततो सत्तायोऽपि कुनः सत्त्वम् ? , सतां तु निष्कलः सत्तायोगः । स्वरूपस्यैव ज्ञानानामस्येयति चेत्तद्वि किं शिखरिस्ता सत्तायोगेन । सत्तायोगात्प्राग् भावो न सत्, नःपसत्; सत्तायोगात् सतांनि चेत्सात्त्वामत्रेतत् । सदसत्त्विल्लक्षणस्य प्रकाशनरस्यासंवायः । तस्मात् सतामपि सत्ताकालेव ससेति तेषां वचनं विदुषां परिपादि कथमिव नोपहासाय जायते ।

अपीहस्य स्वरूपनिवेचनपुस्तकं निरसनम्—

अपीहस्यं च स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकत्वेनायस्येयम् । अपोहानं स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेयगोह इति व्युत्पत्तेः । तत्त्वन्तस्व न किञ्चिद्वाच्यं वाचक वा विचरक वा, अथाधेतया कथिते बुद्धिमान्निष्कामान्ययोदे कार्यकारणतावस्येयं वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वात् ।

ननु कांश्यम् अपोहो नाम ? , किमिदम् अयसादपोहानं, असाक्षा अन्यदपोहानं, अस्ति वा अन्यदपोहान इति व्युत्पत्त्या विज्ञातिव्यापुचं बाह्यमेव विवाङ्गितं, बु-

द्वाकारो वा, यदि वा अपोहमपोह इति श्रव्यव्याजुत्सामत्रय, इति त्रयः पक्षाः । न ताद्यद्विमी पक्षा, अपोहवाक्षा विधेयं विवक्षितं न्वात् । अन्तिमोऽयसङ्गत्, प्रतीतिव्याप्तिवात् । तथापि-पक्षतोद्देशे चिह्नरस्तीति शाब्दं । प्रतीतिविधिरूपमेवेति ह्युक्तन्ती लक्षणे, नान्नाङ्गमे प्रथतीति निवृत्तिसामान्यमुक्तन्ती । यच्च प्रत्यक्षवाचितं न तत्र साधनान्तरावकाश इत्यतिप्रसिद्धम् ।

अथ यद्यपि निवृत्तिर्हेतुः प्रत्यमीति न विकल्पः तथापि निवृत्तपदाप्योद्देश्य एव निवृत्त्युद्देश्यः । न ह्यनन्तरजावितविशेषणप्रतीतिविशिष्टप्रतीतिः । ततो यथा सामान्यमहं प्रत्यमीति विकल्पानामवेऽपि साधारणकारपरिष्कृतात् विकल्पवृद्धिः सामान्यवृद्धिः परेषाम्, तथा निवृत्तप्रत्ययादिना निवृत्तचिह्नवृद्धिपोहप्रतीतिव्यवहारमातनोतीति चेत् । ननु साधारणकारपरिष्कृतमे विधिरूपतया यदि सामान्यधोषरथाः तत् किमयात्मस्फूर्द्धभाषाकारे चेत् । तन्न निवृत्तप्रतीतिरन्यथा । ततो निवृत्तिसमं प्रत्यमीत्येवमाकारामात्रेऽपि निवृत्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात्, को नाम निवृत्तिप्रतीतिरित्येति मप्रपणत् । अन्यथा सति प्रतिज्ञासं तत्प्रतीतिव्यवहारवृद्धिरिति गवाकारेऽपि चेत् । स तुरगबोध इत्युत् ।

अथ विशेषणतया अनर्था निवृत्तिप्रतीतिरित्युक्तं, तथापि यद्यपवापाद इतीदृशकारो विकल्पस्फुटा विशेषणतया तदुत्प्रयसो भवतु, किंतु गौरिति प्रतीतिः । तथा च सतोऽपि निवृत्तिलक्षणस्य विशेषणस्य तत्रानुक्तलातः, कथं तत्प्रतीतिव्यवस्था । अथैवं मतिः-पक्षिचिरपुं स्फुरितं तस्य परापादोऽप्यस्तीति तत्प्रतीतिरुच्यते, तथापि सन्मन्त्रमात्रमपोहस्य विधिरेव साक्षात्प्रतीतिः । अथैवमप्येवमुक्त्यापोहविषयत्वमविवाच्यम् । विशेषतो विकल्पादिकृत्याप्योद्देश्यतां सिल्ला-य्यवावृत्तमी ह्यमाणस्य तस्माद्विधाकारावप्रदात्तुल्यवृद्धिकरत्स्यापि विधिविषयत्वमेव नित्यापोहविषयत्वमिति कथमपोहः दग्धाधो बुध्यते ? ।

**अत्रात्रिधीयते-**

नास्मान्निरपोहशब्दं विधिरेव केषलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यापृत्तात्रयम्, नित्यव्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः । तदप्यत्र न प्रत्यं रूपक्षोपनिधानोऽवकाशः । यत्तु गोः प्रतीतिं न तदात्मा परागतं साम्प्रदायोः पराकक्षोचोऽयं इति विधिव्यादिनां मतम् । अत्र्यापोहप्रतीतिं वा साम्प्रदायं अत्र्यापोहोऽवधार्यते इति प्रतिषेधव्यादिनां मतम् । तदनुत्तरम् । प्राथमिकस्यापि प्रतिपक्षिकमादर्शनात् । न हि विधिं प्रतिषेध कश्चिद्ध्या-पलितः पश्चाद्गोऽयमवगच्छेत्, अपोहं वा प्रतिपद्यान्यापो-ह्य, तस्माद् गोः प्रतिपक्षिरेति अत्र्यापोहप्रतिपक्षि र्ह्यते । यद्यपि चान्यापोहशब्दोऽयमुक्तः उक्तः । तथापि नाप्रतिपक्षिरेव विशेषणमूलस्यान्यापोहस्य; अत्र्यापोह एव गोशब्दस्य निबन्धो भवति । यथा नीलापलते निबन्धनादीन्द्रीवरशब्दान्नीलापलप्रतीति तस्कार एव नीलमस्फुरणमविवाच्यम्, तथा गोशब्दादपि अत्र्यापोहो विवेकिनान् गोप्रतीति तुल्यकारमेव विशेषणत्वात् अगोऽगोहस्फुरणमविवाच्यम् । यथा प्रत्यक्षस्य प्रसङ्गाकारमात्रमइदममावयिकिदोऽपादनाशक्तिरेव, तथा विधिविक्रानामपि तत्रतुल्यापुत्रानाशक्तिरेवानामवग्रहणमन्यधीयते । पर्युत्तलासकारावप्रदहं तु नियतस्वरूप-

संबेदनमुन्नयोरविशिष्टम्, अन्यथा यदि शब्दार्थप्रतिपक्षिकाशे कश्चितो न परापोहः कथमव्यपदेश्येण प्रवृत्तिः । ततो गोः क्-प्रतीतिं चोद्देश्याः शब्दादिनिप कर्त्तव्याः । यद्यथाचोद्देश्यव्यपदेश्य-जातिमत्त्वं व्यक्तव्यं, विकल्पानां शब्दानां च गोचरं, तासां च तद्वतीनां रूपमसञ्जातीयपरावृत्तित्वस्येत्यतस्तदव्यपदेशं गोः क्-प्रतीतिं चोद्देश्याः शब्दादीन् कर्त्तव्याः । तद्व्यपदेश्येव निरस्तव्ययतो जातेरधिकार्याः प्रवृत्तेऽपि व्यङ्ग्यानां रूपप्रतज्ञातव्यव्याप्यस्यैव चेत्, तदा तैरेव रूपेण शब्दावकरोऽपि विधोऽपि भवन्तीनां कथमतद्वावृत्तिपरिहारः । अथ न विज्ञातोऽप्यव्याप्य व्यतिकरप, तथाप्रतीतिं वा तदा जातिप्रसाद एव इति कथमर्थतोऽपि तदव्यपदेश्यत्व-प्राप्तम् । अथ जातिव्यवहारानामोऽप्यव्याप्यं भवतु जातिव्यवहारं स्वहेतुपरवरावलाङ्घ्यव्याप्यम् । उन्नयथाऽपि व्यावृत्तप्रतिपक्षोऽप्यवृत्तिप्रतिपक्षिरेव स्यात्, न चागोऽपोहो गोशब्दसंलक्षणाव्याप्यव्यवहारोः, सामान्ये तद्वृत्ति वा सङ्गतेऽपि तद्व्याप्यवकाशोः । न हि सामान्यं नाम सामान्यमाश्रयमिदं, तत्रोपोहो गोशब्दसङ्गतेऽपि प्रसङ्गात्; किंतु गोत्वम्; तावता च स एव हेतुः, गवापरिज्ञेति गोवत्सामान्यापारंष्टानात् । गोत्वसामान्यापरिज्ञेति गोशब्दावकाशापरिज्ञेति; तस्मात् एकपरिज्ञेदशेनपूर्वको यः सर्वव्याप्यसाधारण इव वहिरुच्यते विकल्पबुद्ध्याकारः, तत्रायं गौरितिः सङ्गतेऽपि नन्तरैतराश्रयदोषः । अत्रिमतं च गोशब्दप्रवृत्त्यावगोशब्दं नोपस्थाप्यजातमुचितम् । न चान्यापोहान्यापोहव्याप्यस्यो, विशेष्यविशेषणसति, परस्परव्यवच्छेदाभावात्, सामानाधिकरण्यासङ्गात्वात्, भूतलक्षणाभावत् । स्वाज्ञात्वं हि विशेष्ये, न पराभावेनेत्याक्षरप्रसिद्धम् । एष पन्थाः अल्पमुपतृणते इत्यत्र्यापोहो गम्यत एव । अद्यतनपदान्तरापोहत्वा एव एव । शुभप्रत्यगीकारनिश्चयानां प्रवृत्त्या अल्पमेव । अत्रयमात्रोद्देश्येऽवभावा-व्युपतिष्ठत एव, सांप्रदायैरेवव्यवच्छेदनं चया एवेति प्रतिषेधव्यवच्छेदस्य लोभात् । नस्माद्गोहधर्मस्यो विधिरूपस्य शब्दादवगतिः; पुनराकराध्दादिव श्रैलमप्रतिविशिष्टस्य एषाम् यद्यं विधिरेव शब्दाद्यो वक्तुमिच्छः कथमपोहो गीयत इति चेत् ? , उक्तमत्रापोहशब्दान्यापोहविशिष्टो विधिरुच्यते; तत्र विशेषं प्रतीयमाने विशेषणतया तुल्यकारमन्यापोहप्रतीतिरिति । न चैव प्रत्यक्षव्याप्योपरोहविषयत्वव्यवस्था कर्तुमुचिता, तस्य शब्दप्रत्ययस्यैव वस्तुविषयत्वे विज्ञात्वाभावात् । विधिबन्धेन च यथाऽव्यवसायमत्रोपपत्तरावृत्तौ बाह्योऽप्यभिमतः यथा प्रतिज्ञासं बुद्ध्याकारश्च तत्र बाह्योऽप्यव्यवसायार्थे शब्दावकाशव्यवस्थाप्यते, न स्वलक्षणपरिष्फूर्त्या, प्रत्यक्षवदृशकालावस्थानियतप्रत्यक्षरूपलक्षणस्फुरणात् । यथाऽत्रयम्-

“ शब्देनाभ्युत्पन्नकथय, बुद्ध्याप्रतिज्ञासनात् ।  
अथस्य दृष्टविधितं ।

हृत्प्यशब्दस्वभावापोहभेदात् एकस्यैव प्रतिज्ञासंभेद इति चेत् ? । अत्रायुक्तम्-

“ जातो नामाश्रयोऽन्यास्यः, चेत्साऽन्तस्य घन्तुनः ।  
एकस्यैव कुनो रूपं, भिन्नाकाराव्याप्तिं तत् ? ” ॥ १ ॥

न हि स्पर्शास्पदे हेतु परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः सन्, यत एकैरेन्द्रियवृद्धौ प्रतिमानात्नयं विकल्पे, तथामिति वस्तुन एव नदं प्राप्तेः । न हि स्वरूपभेदादपो वस्तुभेदः । न च प्रतिज्ञासं-

भेदाद्भवत्स्वरूपभेदः, प्रत्यया क्लेशैक्यमेकमेव वस्तु स्यात् । दुरा-  
 सन्नदेद्राघर्निनोः पुत्रपुत्रयोः एकत्र श्राद्धनि स्थादृश्वपुत्रप्रतिभासभे-  
 दऽपि न शास्त्रिभूत इति चेत्, न भूतः प्रतिभासभेदो निश्चयस्तुनि-  
 यतः, किन्तु एकविधव्यथाभावात् इति । ततो यथाद्योऽकार्य-  
 भेदाद्भवत्सत्त्वः प्रतिभासनेतः तत्र वस्तुभेदः घटवत् । अन्वय-  
 पुनर्विधमेवैकविधवतः परिहृतीत्येकप्रतिज्ञासः श्रान्तः ।

एतेन यथाह वाचस्पतिः-न च शब्दप्रत्यययोरेकान्तोकरत्वे  
 प्रत्ययाभेदः, कारणजनेन पारोक्ष्यापारोक्ष्यभेदापपत्तेरिति । तत्रो-  
 पयोगि । परोक्ष्यप्रत्यय वस्तुगोचरत्वात्समर्थनात् । परोक्षुतऽऽ-  
 भ्यवस्तु कारणभेद इन्द्रियगोचरव्यवहारविरहैवैव कृतार्थः । तत्र  
 शब्दे प्रत्यये स्वरूपं परिसंस्कृतिः । कञ्-स्वरूपकृपात्मनि घटस्ति  
 वाच्ये सर्वोत्तमा प्रतिपत्तः विधिनिषधार्थयोगः । तस्य हि  
 सञ्ज्ञादेऽस्तीति व्यर्थं, नास्ति इत्यसमर्थं, असञ्ज्ञाये नास्तीति  
 व्यर्थं, अस्ति इत्यसमर्थं । अस्ति चास्त्यधिप्रत्ययानि । तस्मात्  
 शब्दप्रतिज्ञास्य बाह्याभेदाभावात्साधारण्यं न तद्विधयत्  
 कृतेन । यथा वाचस्पतिना जातिमन्त्रान्तिकावयत्तात् स्थायैव  
 प्रस्तुत्याऽनन्तरमेव न च शब्दाभेदं ज्ञाननिर्वाणायवस्थापारण्यं  
 नोपपद्यते, स हि स्वकृतो नित्योऽपि देशकालविशेषाणिकव्य-  
 मन्वाध्यतया प्रायाभावसाधारण्यनिवृत्तिरिति-नारित-संभन्धयो-  
 गः । वर्तमानव्यक्तिसम्बन्धिता हि जातिसम्बन्धिता; अतीतानायाद-  
 र्थाकसम्बन्धिता च नास्तीति न सदिभ्यव्यतिरेकित्यादिकैकान्त-  
 क भावाभावसाधारण्यमन्वयार्थासत्त्वं चेति विलिपितम्, तावन्न  
 प्रकृतकृतिः, जानी भरं न्यस्तया स्वरूपकृपावाच्यत्वस्य स्वयं  
 स्वीकारात् । कञ्-सर्वत्र प्रत्ययस्य स्वरूपकृपाव्यतिरेकित्या-  
 दिकं चिन्त्यते । जातेस्तु वर्तमानादिव्यक्तिसम्बन्धित्वत्वादि-  
 कमिति तु बालप्रतारणम् । एवं जातिमन्त्रान्तिकावयत्तये दौषः  
 व्यनेच्छत् प्रतीतिसिद्धिः, जातिरेचिका प्रतीवताम्; मा वा, न तु  
 र्थाकप्रतीतिदोषान्मुक्तिः ।

एतेन यदुच्यते कौमारिदि-समागत्यादेव वस्तुनो न सा-  
 धारण्यदोषः । वृत्तुषं ह्यनिर्धारितनाजानां शब्दाद्व्यग-  
 म्पते । तयोऽन्यत्रेण शब्दान्वाच्यवचनेन संभध्यत इति ।  
 तदप्यसङ्गमम् । सामान्यस्य नित्यस्य प्रतिपत्ताविधिधारितजा-  
 चाभावत्वयोगात् । यथेदं न च प्रत्ययकृपाव्यव शब्दानाम् अर्थ-  
 प्रयायनप्रकारो येन तदुद्देव इवास्ययादिशब्दपेक्षान् न स्यात्, वि-  
 निश्चयशक्त्यात् प्रमाणानामिति । तदर्थमिन्द्रियकशास्त्रप्रतिज्ञा-  
 योरेकस्वरूपप्राप्तये निश्चयमासद्वयुचनेन द्रुपितम्, विनिश्चयशक्ति-  
 र्थं च प्रमाणानां साक्षात्कारोपपत्त्याऽप्यात्म्यं चरितार्थम् ।  
 ततो यदि प्रत्ययकृपाप्रतिपादनं शाब्देन तद्वद्वयावभासः स्यात्,  
 अत्रन्वयं न तद्विषयवर्णनं कृतेन । ननु वृत्तुषाद्येन वृत्तुषादेशे  
 बोधिने सत्त्वाद्यंशतिश्चयनार्थमस्यादिव्यवप्रयोग इति चेत् ?, नि-  
 रन्वयेन प्रत्ययसमन्वितगतस्य स्वरूपकृपा कःऽवकाशः पदान्त-  
 रेण; धर्मनिर्दिष्टिर्वात्तयोः प्रमाण-त्वेन च वा । प्रत्ययेऽपि प्रमा-  
 नान्तरापेक्षा ह्येति चेत् ?, भवतु तस्यानिश्चयतामन्वात् अनभ्य-  
 त्तस्वरूपविषयं, विकारस्तु स्वयं निश्चयात्मको यत्र प्राहो तत्र  
 किमपरेण ?, अस्ति च शब्दसिद्धान्तरापेक्षा, ततो न वस्तुस्वरु-  
 पभेदः ननु भिक्षा जात्यायोः प्रमाण-परस्परं धर्मिणश्चेति जाति-  
 लक्षणैकधर्मद्वारेण प्रतीतेऽपि शास्त्रिण धर्मान्तरव्यवधाने न प्र-  
 तीतिरिति किञ्च निष्प्रामाण्यत्वात् । धर्मान्तरस्य नीलजलो-  
 चैत्सत्त्वादेरवध्याद्यः तदंतदसङ्गतम् । अत्राद्यतामनः स्वरूपकृपा-  
 स्य प्रत्ययकृपा प्रतिभासतात् । इत्यस्यैव धर्मधर्मभेदस्य प्रायकृपा-

निर्दिष्टत्वात्, अन्यथा सर्वं सर्वत्र स्यादिति प्रतिप्रसङ्गः । काव्य-  
 निकेन्द्राभ्यवस्तु धर्मधर्मिण्यवहार इति प्रमाचितं शाब्दे; भव-  
 तु वा पारमार्थिको धर्मधर्मभेदः, तथाऽप्यनयोः समवायादे-  
 र्द्वैतित्वाद्गुणकारकत्वं गुणव प्रत्यासत्तिरिति तथा । एवं च यथे-  
 न्द्रियप्रत्यासत्त्या प्रत्ययै धर्मिण्यप्रतिपत्तौ सकलतद्गुर्धर्मप्रतिप-  
 त्तेः । तथा शब्दात्कृपाव्यवहारो वाच्यत्वात्कृपादिसंभवप्रति-  
 कृपायां धर्मिण्यप्रतिपत्तौ निरवयवत्वमर्थप्रतिपत्तयेव, प्रत्यास-  
 त्तिमात्रव्यापिशोचतात् । यच्च वाचस्पतिः-न चैकोपाधिना सत्त्वे  
 विशिष्टे तस्मिन् गृह्णते, उपपन्नतरविशिष्टतद्गुदः । स्वभावे  
 हि द्रव्यस्य उपाधिविशिष्टिभ्ये; न तुपाधयो वा, विभोभ्यश्च वा,  
 तस्य स्वभाव इति । तदपि पश्यत एव । न ह्यभेदादुपाधन्तर-  
 हणत्वमासंज्ञितम् । भदं पुरस्कृत्येवोपकारकग्रहणे उपपत्त्येव  
 प्रसङ्गनात् । न चातिधूमयोः कार्यकारणभाव एव, स्वभावात्  
 एव धर्मधर्मिणोः प्रतिनियमकल्पनप्रयोगिण्येव, प्रमाणसि-  
 द्धत्वात् । प्रमाणसिद्धे च स्वभावोपपत्तौ नित्यः । यथाच  
 स्यात्प्रत्ययणं सूर्यादिग्रहणं तद्गुणकार्यविशेषवस्तुतादृशग्रहणस्य  
 सञ्जनमुक्तम् । तर्वाभिप्रायानुगान्नफलम् । तथाहि-व्यवन्ते धर्म-  
 धर्मोर्भेदः, उपकारकत्वं च प्रत्ययस्यः । तदोपकारकप्र-  
 हणं समानदेशस्यैव धर्मरूपस्यैव चोपकारस्य ग्रहणमासंज्ञि-  
 तम्, तत् कथं सूर्योपकारस्य निकेन्द्रेशस्य ह्यव्यापनस्य वा ह्य-  
 व्यतिचारस्य ग्रहणप्रसङ्गः सङ्गः । तस्मादेकधर्मद्वारेणाऽपि व-  
 स्तुस्वरूपप्रतिपत्तौ सर्वोत्तमप्रतीतेः, क शब्दान्तेण विधिनिष-  
 धावकाशः श्रास्ते च, तस्मात् स्वरूपकृपास्य शब्दविकल्पसिद्धि-  
 निर्भासत्वमिति स्थितम् । नापि सामान्यं शाब्दप्रत्ययप्रतिभा-  
 सति । सतिः पारो गावधरन्तानि गोविधरन्तानि सास्त्र्युक्त-  
 ताङ्गतादयोऽन्तराकारपरिकरिताः सजातीयभेदापपत्तौनात्  
 संपिपेक्षान्तरायाः प्रतिज्ञासन्ता । न च तदेव सामान्यम् । घर्णाकृ-  
 त्त्याकारशुभं गारं हि करयते । तदेव च सामान्यगृह्णा-  
 दिमात्रसिद्धयैकव्यवस्थितविलक्षणमित्येव स्वरूपकृपाके । किमप्य-  
 णं सामान्यमित्युच्यते; नाहशस्य बाह्यत्वात्प्रतीतिरेवैवास्ती-  
 कशप्रतिज्ञासत्त्वम् । तस्मात्सावनाशब्दोद्देरेव तद्वामाना विषयो-  
 ऽयमस्तु, असदेव वा तद्वं क्यातु, इत्यथ एव वा सजातीयेन्द्र-  
 निरस्काराण्यथा भासन्ताम्, कतुपावयववधानात् । स्मृतिप्र-  
 मोषो वाऽनिर्धायताम्, सर्वथा निर्विषयः क्लृप्तं सामान्यप्रत्ययः,  
 कृतामन्यशरीरं ? । तद्वस्तुनः सामान्याभावे सामान्यस्वरूपस्याक-  
 स्तिकभावमुक्तम् ? । तद्वस्तुनः यतः पूर्वोपि इदं इदं शरीरस्मरण-  
 संहिकरिणाऽनिरिच्छयमानावशेषप्रत्ययजनिका सामर्थ्यं निर्विष-  
 यं सामान्यविकारमुपादयति; तदेवं न शाब्दप्रत्यये जातिः प्रति-  
 भाति, नापि प्रत्ययः, न वातुमाननेऽपि सिद्धिः; अद्वयत्येव प्रति-  
 बद्धसिद्धादेशनात् । नापिन्द्रियवद्व्यवस्थाः सिद्धिः, यतःकार्यतः कदा-  
 स्तिकस्यैव निमित्तान्तरस्य सिद्धेः यदाऽपि पिपेक्षान्तेऽन्तराज्ञे  
 वा गोबुद्धेरनायं दृश्यते; तदा शाब्देवादिस्वकसमोपिपेक्षाना-  
 मेवाभावाद्दोषावो गोबुद्धेरुपपत्तयानः कथमर्थान्तरमात्तपेत् ?;  
 गोभ्यादेव गोपिपेक्षः, अन्यथा तुरगोऽपि गोपिपेक्षः स्यात् । यद्य-  
 वं गोपिपेक्षादेव गोत्वमर्थथा तुरगत्वमपि गोत्वं स्यात्, तस्मात्  
 कारणपरम्परान एव गोपिपेक्षो, गोत्वं तु भवतु मा वा । ननु  
 मामान्याय एतन्नसामर्थ्यं यद्यकस्मात् पिपेक्षादिनिमित्तः; तदा  
 विजातीयतास्यैव पिपेक्षान्तरमसमर्थं । अर्थभिन्नं, नदां तद्वं  
 सामान्यं, नास्ति परं विवाद् इति चेत् ?, अस्मिन्नेव सा शक्तिः प्र-

नियस्तु; यथा त्येकः शकस्वभापो भावः तथा अन्त्याऽपि नस्य क्विंशो दोषमावदति । यथा जघनं जातिरेकाऽपि समानध्व- निरसस्वतुत्पत्त्याऽपि स्वकणेयव जात्यस्वरनिर्पेक्षा, तथाऽ- स्माकं व्यक्तित्वे जातिनिरेपेक्षा स्वकणेयव मित्रा हन्तुः ।

यत्तु विलास्यनः-अस्वस्वयोत्पादनां सामान्यविशेषाणां स्वाध- ये समवायः सामान्यम्; सामान्यमित्यभिधानप्रत्यययोर्निमित्त- मिति । यद्येवं व्यक्तित्वप्रत्ययं तथाचिधानप्रत्ययत्वरस्तु किं सामान्यस्वकारप्रमादेन ? न च समवायः सम्भवः ॥

“ इहेति बुद्धेः समवायसिद्धि-रिहेति धीश्च द्वयदशो न स्यात् । न च क्विंचत्तद्व्यये त्येकज्ञा, स्वकल्पनाभाप्रमत्तोऽप्युपायः ॥ १ ॥ एतेन येन प्रत्ययानुवृत्तवृत्तवस्तुनुरावर्तनां कथमभ्य- न्तमेदिनीषु व्यक्तित्वे व्यक्तित्वोच्यप्रत्ययमावायानुपगतेनषु भिन्नि- तुमर्पितानुवृत्तवृत्तवस्तुत्पत्त्यात्वात् जातिव्येव परस्परव्या- वृत्तत्वा व्यक्तीयमानास्वतुत्पत्त्याभ्यन्तेन व्यभिचारत् । यत् पु- नरनेन विषयेयं वाक्यमुक्तम्, अन्धिधानप्रत्ययानुवृत्तिः कुनाश्चि- त्प्रिवृत्त्यं क्वचिद्वेव जघनं निमित्तवर्तनं न चाप्यभिहितमभ्या- दि । तत्र सत्यम् । अनुवृत्तमन्तेरणादि अधिधानप्रत्ययानुवृत्त- रत्तुपर्याप्तस्वरूपनिर्देशेपात् अवश्यं स्वीकारस्य साधि- तत्वात् । तस्मात्

“ तुवनेदे यथा जातिः, प्रयासस्य प्रसर्पति । क्वचिन्नाम्यत्र संवास्त, शब्दज्ञाननिबन्धनम् ॥ १ ॥

यत् पुनरन्त्याभ्युपगमनोक्तम्-नहोयं भवति यथा प्रत्यासत्या द- र्शयुष्मदिकं मसर्पति क्वचित्प्रमाणं त्रैय प्रत्यासतिः पुरुषस्फ- टिकाःषु द्विदृष्टत्वादिप्रत्ययवर्तननिबन्धनमस्तु किं दृष्ट- स्त्रादिर्भेति । तदसङ्गम् । दृक्प्रत्ययार्थे पुरुषस्फटिकप्रत्या- सन्नार्थेदृष्टयोः द्विस्तिप्रत्ययवर्तनं नास्त्यन्ते । सामान्य- तु स्वस्तिं न दृष्टम् । नद्यदाहं परिकल्पनीयं नदा वरं प्रत्यास- त्तिरेव सामान्यप्रत्ययहेतुः परिकल्पयन्त, किं शुब्धे परिक- ल्पनेत्येवमिवापरिहानात् ।

अधेदं जातिप्रसाधकमनुमानमभिधीयते-यद्विशिष्टज्ञानं त- द्ज्ञिषेणप्रदृग्मानन्तरीयकम् । यथा दमिकज्ञानम् । विशिष्ट- ज्ञानं चेदं-गौरयमित्यर्थतः कायेदहेतुः; यिष्यमाणानुभवकार्यं हि दृष्टान्ते विशिष्टबुद्धिः सतिर्पति । अत्रानुयोगः विशिष्टबुद्धिनिर्भाव- शेषप्रदृग्मानान्तराधिक्यत्वं वा साधयम्; विशेषणमात्रानुभव- मानन्तराधिक्यत्वं वा ? प्रथमपक्षे पक्षेय प्रत्यक्षधाम्यापत्त- यधामननकारशयति वस्तुमाहिणुः प्रत्यक्षप्रतीभ्यप्रतिमा- सानायात् विशिष्टबुद्धिः च सामान्यम् । हेतुरनैकमित्येकः । जिशिशेषप्रदृग्प्रदृग्प्रमन्तेरणादि दर्शनात्, यथा स्वकल्पानु घटः । गोत्वं सामान्यमिति वा । द्वितीयपक्षे तु सिद्धत्वाधर्मः स्वरूपवा- यं च इत्यादिष्वहं गोवृत्तानिमाह् पिरहं दमि परिकल्पितं प्रे- वस्तुप्राहाय विशेषणविशेष्यत्राप्रत्ययैवाद्गोव्यावृत्तानुभवमा- विन्वाह गौरयमिति इत्यवहारस्य । तदेव न सामान्यबुद्धिः । वाचकं च सामान्यमुक्त्वाकर्मोपाधिचकस्य, केवलव्यक्तिप्राहकं- पदुत्पन्नकम् । इत्यायुत्पन्नत्वा वा प्रसिद्धः । तदेवं विशिष्य- शब्दायैः । च बाह्योऽर्थो बुद्ध्याकारश्च विवक्षितः तत्र, न बु- ध्याकारस्य तस्यतः संवृत्तया वा विधिनियेषोः, स्वयन्तद्वन- र्थकूपमन्यात्, अनन्यवसायात् । नापि तत्त्वतो बाह्य- स्यापि विधिनियेषोः, तस्य शब्दं प्रत्ययेऽप्रतिज्ञासत्तात् । अन- यव सर्वधर्माणां तत्त्वतोऽप्रतिज्ञाव्याप्यं प्रतिभासाध्यवसाया-

जानात् तस्मात् बाह्यस्यैव सावृत्तौ विधिनियेषो । अन्त्या संव्यवहारानिप्रसङ्गात् । तदेवं-

“ माकारस्य न बाह्यस्य, तत्त्वतो विधिसाधनम् । बद्विरे दि संख्या, संख्याऽपि तु नाहतेः ॥ १ ॥ ”

एतेन यद्धर्मोत्तर-आरोपितस्य बाह्यस्यैव विधिनियेषावि- ल्लोकिकमात्रमार्ताकीर्षो कथयति । तदुपस्थितम् । नन्यधवसाये यद्यध्वसंयं वस्तु न स्फुरति तदा तदध्वयःसि- मिति कोऽर्थेः, अप्रतिभासेऽपि प्रवृत्तिविषयोक्तमित्योऽर्थः । अप्रतिभासाविशेषं विषयात्परिचरारणं कथं नियतविषया प्र- वृत्तिरिति चेत्, उच्यते-यद्यपि विश्वमृगदीते तथापि विकल्प- स्य नियतमात्रप्रोप्रसूतयेन नियताकारत्वा नियतशक्तिव्याव- नियता एव जज्ञादो प्रवृत्तिः । धूमस्य परीक्षाग्निज्ञानजननवत् ।

नियतविषया हि ज्ञायाः प्रमाणवर्तिनस्त्वित्यभावा न शक्ति- साधुवर्धनुयागमाजः । तस्मात्तदध्वससाधित्यमाकारविशेष- योमात् तस्यैव ज्ञानकत्वम् । न च साहज्यादादाया प्रवृत्त- म्रमं, येनाकारं बाह्यस्य बाह्यं वा आकारस्यारोप्यारणं दू- षणावकाशः, किं तादं स्वभावनाधिपाक्यशापुत्रजायमानवेव- बुद्धिर्यथ-त्यपि बाह्यं बाह्ये वृत्तमाननोनानि स्थित्वा । तदे- वमन्यामायविशिष्टो विज्ञानित्यावृत्तोऽर्थो विधिः । स एव चा- पोहृशब्दाव्ययः शब्दानामर्थः प्रवृत्तिनिवृत्तौव्ययवेत्तं स्थितम् । अत्र प्रयोगः-आध्व यत्वं तन्मर्थमथवास्तिनातदुत्परायुत्तव- स्तुमात्रोचरम्; बाह्यं कथं जलमिति वचनम् । वाचकं चेदं यत्रदिशब्दरूपमिति स्वभावहेतुः । नायमसत्तः, एतेन- न न्यथेन परामार्थिकताव्यवहारकतास्थाभावेऽपि अन्त्य- वसायकृतस्य संव्यवहारान्तरवश्यं स्वीकसंख्यत्वात् । अन्त्य- भाव स्तव्यवदामोऽन्तेप्रसङ्गात् । भासिषिचकः, सपक्षे ज्ञा- वात् । न चानैकानिकः, तथाहि-शब्दानामर्थवस्तिनातयज्ञा- नित्यावृत्तवस्तुमात्रविषयमननित्येकज्ञेः परेः परामार्थः-

“ वाच्यं स्वलक्षणमुपाधिस्वार्थियोगः, संस्थाधिरन्तु यदं वा क्तांरन्तु बुद्धेः ।

मथन्तराभावात् । अधिव्ययं च वाचकत्वाद्योगात् । तत्र-

“ आद्यनधाने समयः फलशक्तितो- म्भयेऽनुपाधांविरेहाहं धिनयेन युक्तः ॥ ”

तदेवं वाच्यान्तरस्याभावात् । विषयवत्त्ववृत्तकस्य उपायकस्य- निवृत्तौ विषय इतो निवर्तमानं वाचकत्वमभ्यवहितेषुबाह्यावि- षयत्वेन व्याप्यते इति व्याप्तिमिच्छेः ।

“ शब्दैस्त्वानुवृत्त्यमाख्यायतेऽध्वेः, तत्रापादस्फुटान्वयेन गम्यः ।

अर्थेषुकोऽव्यासतो भासतोऽन्य, स्थान्यो बाह्यस्तत्त्वतो नैव कश्चित् ॥ ”

अथापोहसिद्धिर्नैवाचार्यैरिति पराक्रियते-

“ अथ अधिदनेकान्त-समुद्रोपविपासितः ।

अपोहमापिबाहिं डाक्, वीक्षणं मिलवः क्षणम् ॥ १ ॥

इह तावद्विकल्पानां तथाप्रतीतिपरिहृतविकल्पधाम्यासकय- जिशादात्म्यावप्रमामायाविशेषस्वरूपकृष्णरूपानुपदं।कादि- ।ज्ञानत्वं प्राक् शक्यत्वं । ततस्तस्यतः शब्दानामापि तस्यासङ्ग-

वा। यतोऽजलिप युष्मदर्थे।—“स एव शब्दानां विषयो वा विकल्पानाम्” इति कथमयोऽः शब्दार्थः स्यात् ? अन्तु वा, तथाऽप्यनुमानयत् किं न शब्दः प्रमाणमुच्यते । अपोद्घातस्त्वेऽपि, परस्परया पदाभे प्रतिबन्धात् प्रमाणानुमानमिति चेत्, तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु । अतीतानामभ्यस्सरोजादिवस्त्वत्त्वात् शब्दोपलम्भान्नात्प्राप्तिविषय इति चेत्, तद्यो ब्रूवुः श्रुतिः, गिरिनदीवगोपलम्भान्, भार्या भरययुद्धयः, रेखायुद्धयान्, नास्ति राक्षशशुद्धम्, समप्रमाणानुपलम्भान्, इत्यादिप्राधान्येऽपि प्रवृत्तेऽनुमानेऽपि नार्थप्रतिबन्धः स्यात् । यदि वचोवाक्यापोद्घाऽपि पारस्पर्येण पदाभिप्रतिष्ठः स्यात्, नदानामलान्ति न मञ्जन्तीत्यादिविषयवारकवाक्यापोद्घाऽपि तथा भवेदिति चेत्, अनुमेयापोद्घेऽपि तुल्यमेतत्, प्रमेयवादिहेत्वनुमेयापोद्घेऽपि पदाभिप्रतिष्ठताप्रसक्तम् । प्रमेयत्वं हेतुत्वं न ज्ञाति, विरक्तवस्तवप्रतिष्ठणामाभावादिति कल्पयात् तदपोहस्य तर्कप्रतिवेत्तु, तर्हि विप्रनाकवाचकमप्यत्र एव न अस्ति, आमीकत्वन्तल्लक्षणान्नादित्यादि समस्तं समानम् । यस्तु नामोक्तं वचनं विवेचयितुं प्रकल्पमिति शाक्यो वक्ति, स पर्यनुयाय्य-किमास्यैव कस्याप्यज्ञादेवमभिधीयते, भावेऽप्यस्य निष्ठायासावात्, निष्ठापि सौमन्यमितिवात्, यकन्तुऽप्यनामवचनात्, तत्र चनो विवेकावधारणामावाहा । सर्वमप्येतच्छार्वाकादिवाचां प्रपञ्चान्, मानानिनुपुब्रह्मन्तुमुक्तुगतादिवचसां विशेषमितिमानैरप्रकटनीयेभ्यः । न च नास्ति विशेषस्वीकारः, तत्प-ठिमानुपलघटनास्यैव प्रवृत्तेर्निर्बन्धनत्वापत्तेः । अथानुमानिक्यवाऽऽतशब्दादिप्रतीतिः; कथम् ?-

“पादयोर्विवेकावात्, पुरुषोऽयं प्रतीयेत ।  
ब्रह्मन्द्रप्रयोजकत्वात्, पूर्वोक्तस्त्वत्वं यथा ॥ १ ॥”

इति विवेकानुमानाय, सत्या विवेकयुक्तं, आतीविवेकत्वात्, महिषव्याधौ इति वस्तुनो निर्णयोदिति चेत् । तद्वन्तुपुत्रस्यम् । अमूहशब्दव्याख्या अनन्तरीकनक्षेत्रेषु कल्पसमितिवात् कृतिनिर्वचनत्वात् । किञ्च-शास्त्रादिमति पदाभे वृक्षशब्दसङ्केतं सत्येन द्विवक्त्राऽनुमानमातयेत, अन्यथा वा । न तावदप्यथा, कर्नाजत् कर्क वृक्षशब्दं संकल्पं न दुच्चारणात्, उभयतनुपुत्रशुकारिकादिना गोप्रसन्नलवना चाप्यथाऽपि तत्रानिपानाच्च हेतोर्व्यभिचारापत्तेः । संकेतपक्षे तु येषव तपस्वी शब्दस्त्वशास्त्रस्त्वेव वदेत्, तदा किं नाम वृक्ष स्यात् । न खल्वेतेऽप्योदिति । विशेषलाभ-धेः सति यदेवाविधाननुपुयमाप, म्यर्थपरिहारा इति । यत्कथि-परमार्थेनः सर्वतोऽप्यावृत्तस्वकणेपु स्वसङ्कोपेकारित्वेनेत्यादि । तद्वचयम् । यतोऽर्थस्य बाह्येहाहारेकत्वम्, अत्रिकल्पत्वं, समानत्व वा विवक्षितम् । न तावदाद्यः पक्षः, परममुपशब्दो कृष्णकण्ठमारुद्रादिबाह्येऽर्थस्य निष्-निष्प्रस्यैव संदर्शनात् । द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामास्पद-त्वम्, अन्यथावृत्तपिष्ठित्यं वा समानत्वं स्यात् ? न प्राचयः प्राचयः, सदृशपरिणामस्य सौमन्यैरस्वीकृतत्वात् । न द्वितीयः, अन्यथावृत्तेरतास्त्वकथेन वाग्यर्थस्यैव स्थलकृतेऽधिष्ठाना-संभवात् । किञ्च-अप्यतः सामान्येन, विज्ञातीयाद्या व्यावृ-त्तिसंवादावृत्तिभेदे ? । प्रथमपक्षे, न किञ्चिदसमानं स्यात्, सर्वेऽस्यापि सर्वतोऽप्यावृत्तत्वात् । द्वितीये तु विज्ञातीयत्वं वा-जिकुञ्जरादिकार्याणां बाह्यविज्ञातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्, तच्चान्यथावृत्तिसुप्रमन्येषां विज्ञातीयत्वे सिद्धे सति, इति स्पष्टं

परस्पराध्यव्यमिति । एवं च कारुण्येयं, प्रत्ययमर्थक्यं च विकल्पस्य दृषणीयम् । अपि च—यदि बुद्धिप्रतिव्यवहारा शब्दा-र्थः स्यात्, तदा कथमर्थो बाह्येऽर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? । स्वप्रतिज्ञा-स्तेऽनर्थेऽर्थव्यवसायवचनत् । ननु कोऽयमर्थव्यवसायो नाम ? । अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽयमर्थव्यवहारनिमाणवक-योर्वै तद्विकल्पव्यवभावे सत्येव समुत्पत्तमर्हति । न च सामारोपविकल्पस्य स्थलक्षणं कदाचन गचरतामञ्जति । यदि चानर्थेऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा बाह्येहाद्यर्थव्यवसायोः सुनरां प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि दाहापाकाद्यर्थो समारोपितयाव-कत्वं माणवकं कदाचित्प्रवचते । रजतरुपाऽवभासमानद्युकि-कायाभिव रजार्थिनोऽप्यक्रियार्थो विकल्पाच्च प्रवृत्तिर-िति चेत् । आतिप्रसङ्गार्थोऽसमारोपः, तथा च कथं ततः प्रवृत्तोऽप्यक्रियार्थो कृताथः स्यात् । यथा श्रुतिकार्यां प्रवृत्तो रजतार्थाऽक्रियार्थीति । यद्यपि प्रोक्तम्-कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वादि । तदप्ययुक्तम् । यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा भोत्रहाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कार-णमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम्, एवं परम्परया स्वलक्षणमपि, अनस्तद्वपि वाचकं भवे-दिति प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थानं प्रलयपक्षतिसमु-धावत् । ततः शब्दः सामान्यविशेषात्मकार्यावयोर्यानिबन्धनम-वेति स्थितम् ॥

अथापौरुषेयत्वव्यापारः-

आगमस्यापौरुषेयत्वं ह्याह्वदमञ्जयाम् । स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ? । पौरुषेयश्चेत्तद्वैकृतस्नदितरकृतो वा ? । आद्यपत्ते युष्मन्मतव्याहतिः । तथा च भवतिस्वकान्ता-  
“अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् च्छा न विद्यते ।  
नित्येभ्यो वेदशक्तेभ्यो, यथार्थव्यवहितभ्यः” ॥१॥  
द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवक्तृकवेनाऽनभावसप्रसङ्गः । अ-पौरुषेयश्चेन्न संनयस्य, स्वकृपनिराकरणात्, तुल्यशुश्रूष-त् । तथाहि-उत्तिर्बन्धनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रू-पमस्य एतत्क्रियानावे कथं भवितुमर्हति । न चैतत् कवले क्वचित् ध्वनदुपलभ्यते, उपलब्ध्यावप्यदृश्यकत्राशुकासम्भ-वात् । तस्माद्यद्वचनं तपोरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारस-म्भवादिवचनवत् । वचनात्मकं वेदः । तथा चाहुः-  
“ तावदादिजन्मा ननु वर्णवर्णां,  
वर्णात्मकां वेदं इति स्फुटं च ।  
दुःसुखं तावदादि ततः कथं स्या-  
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ॥ १ ॥” इति ।

अन्येऽपौरुषेयवस्तुरीकृत्यापि तावद्भवन्नपि तदर्थेऽप्याख्यानां पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यस्य स्वर्गाभं मनुष्येदिति किं नार्थो, नित्यात्मकान्नात्सतोऽन-सुत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगमत् । अस्तु वा अपौरुषेयस्तथापि तस्य न प्रायश्चित्तम्, आसुतपुरुषार्थानां हि धार्वां प्रमाणतिति । यत्तु कर्मस्मरणं साधनं तद्विशेषणं सविशेषणं वा भवयेत्, प्रा-क्तं तावद्युपगमकूपप्रासादात्प्राप्तमिहादिव्यभिचारि, तेषां क-र्मस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात् । द्वितीयं तु सप्रद्वयाव्यवच्छेदे सति कर्तृस्मरणादिति व्यधिकारालसः; कर्तृस्मरणस्य भूते-रन्यत्राभवे पुंसि वच्यमानात् । अथापौरुषेयो भूतिः, सम्प्र-

दायाव्यवच्छेदे सत्यस्मर्येमाणकृत्यत्वाद्वाकाशवहिस्यनुमान-  
रचनापामभवकाला व्यधिकरणासिद्धिः प्रेषम्, एवमपि विशेषण  
संविद्यासिद्धतापत्तेः तथा ह्यादिमतामपि प्रासादादीनां स-  
म्बन्धाद्यो व्यवच्छिद्यमानां श्लोकान्पते, अत्रादेयस्तु भूतेरव्यवच्छे-  
दी संसादायोऽपि विद्या इति सूत्रकमुत्प्रेक्ष्यभन्वकार्यात् ।  
तथा च कथं न संविद्यासिद्धं विशेषणं विशेष्यमप्यभ्या-  
सिद्धं वादिप्रतिवादिभ्यां तत्र कर्तुः स्मरणात् । न तु भ्रा-  
त्रियाः भ्रुती कर्तारं स्मरन्तीति सुशोभं भ्रात्रियापसदाः अ-  
व्यवधी इति चेन्नतु द्यूयामान्यामप्यासाध तवत्ततो' या वै  
वेदांश्च महिणोताति प्रजापतिः सोमं राजानमवस्यजत्तल-  
यो वेदाः अत्रत्यजन्तेति च' इत्यमेव स्वस्य कर्तारं स्मा-  
रन्ती क्षिति विभूतामिव गणयतीत्येव भ्रात्रियापसदाः  
किञ्च स्यात् । किं च—क कथामभ्यन्तुनिमित्तिरप्रज्जित्मुनिना-  
प्राङ्गिताः काश्चन शाखास्तकृतत्वादेव मन्वादिस्मृत्यादिवदु-  
त्सन्नानां तासां कल्पादी वैदेषत्वात्, प्रकाशितत्वाद्वा तथा-  
मन्वेदुःशब्दादेः कालेऽन्तमुनिनाप्राङ्गतत्वं तासां स्यात् ।  
जैनाश्च काशासुरमेतर्कर्तारं स्मरन्ति । कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेर-  
प्रमाणमेवैतस्मरणमिति चेत्, वैषम्यं । यतो यथैव विप्रतिपत्तयः  
तद्व्याप्रमाणमस्तु, न पुनः कर्तृमात्रस्मरणमपि ।

“ वेदस्याप्ययनं सर्वं, गुर्वययनपुर्वकम् ।  
वेदाध्ययनवाच्यत्वात्—पुनाऽप्ययनं यथा ॥ १ ॥  
अतीतानागतौ कालौ, वेदकारविजितौ ।  
कालत्वात्तथा कालौ, वसमानः समोक्तौ ॥ २ ॥  
इति कारिकेकेवेदाध्ययनवाच्यत्वकालत्वेऽपि हेतुः कुत्रङ्-  
गुणवत्तु कुरङ्गलोकां चेत इति वाक्याप्ययनं गुर्वध्ययन-  
पुर्वकमेतद्वाक्याप्ययनवाच्यत्वाद्पुनतनाध्ययनवदतीतानामा-  
ती कालौ प्रकालवाक्यकत्वजितौ कालत्वाद्वाच्यमानकालव-  
दिति वेदप्रयोजकत्वादान्ताकर्मणोऽपि सकर्णानाम् । अथाधी-  
पत्तयैर्वाक्यत्वनिर्णयो वेदस्य । तथाहि—संवादिस्मृत्यादौ  
नादशोनान्यां तावदेव निःशेषपूर्वैः प्रामाथेन निर्णायि, तत्रि-  
र्णयश्चास्य पौरुषेयवत् दुरापाः । यतः—

“ शब्दे दोषोद्भवस्तावद्-इक्ष्वधीन इति स्थितिः ।  
तदभावः क्वाचिन्तावद्, गुणवद्भवकृत्कव्यतः ॥ १ ॥  
तदगुणपरकृष्टान्, शब्दे सकान्यसंज्ञवात् ।  
चेदे तु गुणवान् भक्ता, निर्णेतो नैव शक्यते ॥ २ ॥  
ततश्च दोषान्नायोऽपि, निर्णेतो शक्यन्ते कथम् ।  
वक्त्रभाषे तु सुज्ञानो, दोषाभाषो विनाशयते ॥ ३ ॥  
यस्माद्भक्तुरज्ञानेन, न स्युदोषा निराश्रयाः ॥” ।

ततः प्रामाथ्यनिर्णयान्थाऽनुपपत्तेरौक्येयोऽयमिति ।  
अस्तु तावदत्र कृपणशुभ्ररम्भराप्रत्यव्यवधारेणप्रगुणप्रसुभ्रप्रसुरो-  
पदेशापवित्रवादप्रमाणमेवैव इत्यनुसारेणप्रकारः प्रमाथेण-  
निर्णयोऽस्त्वय न साध्यासिद्धिर्निर्वहत्वात्, गुणवत्त्वकृत्यामेव  
वाक्येषु प्रामाथ्यनिर्णयोपपत्तेः । पुत्रोषं हि यथा रागादिमात्र  
सूयावादी तथा सत्यशौचादिमात्रं । वितथवचनः समुपलब्धः,  
भ्रुती तु तदुभयानाम् नैरधक्यमेव ज्ञेयं । कथं वक्तुगुणित्वनि-  
श्चयश्छद्मसति चेत् कथं पिपुपिनामहर्मापतनामहदित्येसी  
तस्माद्यन तत्कस्त्वयस्नाङ्गतरभ्योः पारक्येयवदशस्य चानुसारेण  
प्राङ्गदयनिषादानी निःशङ्कः प्रवेदीनाः, क्वाचिद् संवादिशब्देत्  
एवान्यत्रापि प्रतीहि कारीयादीं संवाद्देशान् । कदाचित्

कचित् संवाद्स्तु सामर्थ्यविगुणयात् त्वयाऽपि प्रतीयत  
एवं प्रतीतानामभोपदिष्टमन्ववत् । प्रतिपादितश्च प्राक्  
रागदोषाज्ञानशून्यपुत्रपुत्रविशेषनिर्णयः किं चास्य व्याख्यानां  
तावत्पौरुषेयवैवापौरुषेयत्वे भावना निर्णयागदिविषयकस्या-  
स्थानं नेत्राभासप्रकृत्या, तथा च नाभास विध्यम्यो भवेत्;  
कथं चैतद् ध्वनीनामर्धनिर्णीतलीं कश्चन्यनुसारणेति चेत्  
किं न पौरुषेयवैवापौरुषेयत्वं तयोर्व्यवस्थापि विचार्यमानस्या  
स्वर्त्जरनीयम् । न च लौकिकाद्यानुसारो मदीयाऽप्यः स्था-  
पनीय इति श्रुतिरेव स्वयं वाचि । न च जैमिण्यादावपि तथा  
कथयति प्रत्यय इत्यपौरुषेयवचनसामर्थ्याऽप्यन्य एव कऽपि  
समाश्रयेत्, पौरुषेयार्थानाम् म्लेच्छार्थैवाचामकार्थं नास्ति किं  
पुनरपौरुषेयत्वान्, ततः परमकृपापुत्रपुत्राविनाशःकरण  
कऽपि पुत्राद् निर्दोषः प्रसिद्धार्थं ध्वनिभिः स्वाध्यायं विघ्राय  
व्याख्यातीदानीतप्रमन्यकारवदिति युक्तं परमात्म । अर्थावाम  
च—” नन्दः अशुकरेव प्रमाणमिव सेतुद्रागयानिश्चयकं ।  
कल्पादीर्धवेदं न ज्वाप्यति ततो ज्ञातोऽस्य मूल्यकार्यम्” इति  
भागमोऽपि नापौरुषेयत्वमकथयति । पौरुषेयवार्थाव्यक्तिरेण  
एवास्तोकवद् सद्गुणात् । अपि चेत्प्रामातुपूर्वीं पिपीपिकादीना-  
मिव देशकृताङ्कुरपत्रकदलकाफादीनामिव कालकृता चावसा-  
नीं वेदं न संभवति, नेषां नित्यव्यापकत्वात्, कर्मणाऽप्युक्तं ना  
संनवतीति चेत्तर्हि कथामयमपौरुषेयो ज्ञेवद्भिन्नव्यक्तिः, पौरुषे-  
यत्वादिति सिद्धा पौरुषेयो भूतिः ।

अयं जगत्कर्तृत्वनिर्दिष्टः—  
यथावदुच्यते परैः—नित्यादयो बुद्धिमकर्तुकाः कार्यव्याप्त  
घटवदिति । तद्युक्तम् । व्यतिरिक्तहणानि । साधनं हि सर्वत्र  
व्याप्ती प्रमाणं सिद्धार्थं सधर्भयमेतदिति सर्वेवाद्संवाद्ः ।  
स चायं जगति सुप्रज्ञः सशरीरोऽशरीराश्वा स्यात् ॥ मशरीरो-  
ऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरं विशद उत पिशाचादिवद् दृ-  
श्यशरीरं विशदितः ? प्रथमपक्षे प्रत्यङ्गवायः । तत्प्रमर्णाऽपि च  
जायमाने नृणतदुपन्द्भ्रन्श्रुद्धादौ कार्यस्वस्य दर्शान् प्रमेय-  
त्वादिक्त्वाचारणानेकान्तिका हेतुः । द्वितीयविकल्पे पुनर्दृश्य-  
शरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहोस्विदस्मदाद्यष्ट-  
वेगुमुक्तम् । प्रथमप्रकारः काशापानप्रत्यायनीयः । तस्मात् प्रमा-  
णाभावात् इतरेतराभ्यदोषापत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्याव-  
शेषे तस्याद्दृश्यशरीरत्वे प्रमेयत्वम्, तस्मिन्नेव च माहात्म्य-  
विशोषासिद्धिरिति । द्वैतीयोक्तस्तु प्रकारो न संभवत्येव विचार-  
गोचरैः संशयानिबुक्तः । किं तस्याऽस्त्वव्यष्टदृश्यशरीरत्वे, वा-  
न्येयवदिवत्, किं वास्मदाद्यष्टदृश्यगुणव्यापिशाचादिवदिति नि-  
श्चयाभावात् । अशरीरवत्त्वदा दृष्टान्ताद्यन्तिककार्यवैषम्यम् ।  
घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च  
सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्येमाकाशादिवत् । तस्मात्सह-  
रीराशरीरत्वकृपेणकृत्येऽपि कार्यव्यहोतादर्थ्यत्वात् । किञ्च-  
त्वमेतेन कालात्ययादिदाऽप्ययं हेतुः । धर्म्येकदेशस्य तर्गावशु-  
द्वद्वादिरेदानीमप्युद्युक्तमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन  
प्रायङ्गवाधितधर्म्यनन्तरे हेतुनृणान् । तदेवं न कश्चिज्जगतः  
कर्ता । किञ्च—स ईश्वरः खडु नित्यवैनेककृपाः सन् । अत्युच्चसमो-  
स्वभावोऽतस्त्वनायो वा ? प्रथमविधायार्थं जगत्सामांशोक्तद्विष्प-  
पिनोपमेयम् । तद्युपरमे तत्सत्तावात्त्वहि । एवं च सर्वविधायया  
अपरेवसाधार्येकस्यापि कार्यस्य न स्यात् । घटो हि स्वार्त्स्मक-  
काशात्प्य पतिसमात्तरुपान्त्तुषां त्वाद्यक्षयनवापिप्रार्थणं न

घटयत्प्रदेशमासात्प्रति । जलाहाराद्यर्थक्रियायामसाधकत्वम-  
 वात् । अतस्त्वनाशयत्के तु न जातु जगन्ति सूत्रेणत्त्वज्ञानाद्यो-  
 गात्प्रमनवत् । अथि च-नस्यैकान्तिनित्यस्वरूपत्वे सूत्रिवन्संहारो-  
 ऽपि न घटते । नानाकपकर्मकरणोपनिष्ठापणः । स हि यैवैव  
 स्वानयेन जगन्ति सूत्रेण्तेनैव तानि संहरते,त्वमावात्तरणे वा ? ।  
 तेनैव अस्तुष्टिसंशयोर्गोपनाद्यप्रसङ्गः, स्वानाभेदात् । एकस्य-  
 भावात्कण्ठादेनेकत्वमावकार्योत्पत्तिविरोधान् । स्वानावात्तरणे  
 चेतिश्रयःइहानि । स्वामभेद एव हि लक्षणमनित्यतया । यथा  
 पाथियशरीरस्याहारपनमाणुसदृकत्वस्य प्रत्येकमप्योपयोःपादे-  
 न स्वानभेदादनित्यत्वम् । इदञ्च भवनात् सूत्रेणसंहारयोः शोभो  
 स्वभावभेदः । रजोगुणामकतया सूष्टे, तमोगुणामकतया सं-  
 इरेण, साधिकतया च स्थितौ तस्य व्यापारस्वीकारात् । अथ  
 चावस्थातेव स्तञ्जेदे चावस्थातेऽपि चेन्नित्यत्वव्यक्तिः । अ-  
 धास्तु नित्यः सस्वधापि कथं सततमेव सूष्टे न चेष्टेन । इजा-  
 दशभ्रष्टतु ता अर्पच्छाः स्वसत्तामिन्नभिव्यक्त्यात्तामाः सदे-  
 व किञ्च प्रवर्त्तयतीति स एवपालम्भः । तथा शम्भोरष्टगुणा-  
 धिकरणत्वे कार्यभेदानुमेयानां तद्विच्छानामपि विषयरूपत्वान्ना-  
 त्यत्वहानिः केन वार्यते ? । किञ्च-येहावर्तात् प्रवृत्तिः स्वाधिकार-  
 ग्वाभ्यां व्याप्ता । तन्नक्षत्रं जगत्सर्वं व्याप्रियते स्वाध्यात्काव्यप्ता-  
 द्भे ? । नानास्वाध्यात्, तस्य कृतकत्वस्यात् । न च कारव्यात्, परदु-  
 खप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम् । ततः प्राक्सर्गाज्जीवानामिन्द्रि-  
 यशरीरवियथानुपपत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्य-  
 म् । सौम्यैरकाले तु दुःखनिःऽधलात्कस्य कारुण्यनुपगमं दु-  
 रतरामिनेरनाश्रयम् । कारुण्यं लोच्यः सूष्टया च कारुण्येव  
 इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्धयतीति संक्षेपः ।

अथ शब्दाकाशगुणत्वस्वरदनम्-

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ।

पुञ्जलैर्भावावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः । पौद्गलिकः  
 शब्द इन्द्रियाथंत्वाद्वादिवत् । यथास्य पौद्गलिकत्वनिर्णयार्थ  
 स्पशश्रव्याभ्रयत्वाद्दतिनिविष्टप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघाता-  
 त्त्वं । नानात्वावयवानुपलभ्येः सूक्ष्ममूतच्छ्रयान्ताप्रैरकत्वात्प्रान-  
 नगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यैर्निरूपयस्तास्ते हेत्वाभासाः । तथा  
 हि-शब्दप्रयोगस्याश्रयो ज्ञापयन्तः, न पुनरकाराः, तत्र च रूपयो  
 निर्वायतेन एव । यथा शब्दःश्रवणः रूश्रवणानुगतप्रतिघातोयवि-  
 प्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलज्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियाथंत्वात्साधा-  
 विषयान्वाधात्प्रत्युपरमाणुत्वं इत्योक्तः प्रथमः । द्विती-  
 यस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादेनैकान्तिकः । वर्तमानजात्यकस्तु-  
 र्गिकान्तिन्यद्रव्ये हि पितृहन्तारपुत्रकस्यान्तिविशिति बहिष्छ  
 निर्याति, न चापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरश्मिस्रभवात्प्रति-  
 निविष्टत्वमस्तत्र तत्प्रवेशनिकर्मणः, कथमन्यथाऽद्वादिद्वारव-  
 स्थावामिच न तदेकार्थवचमः, सर्वेषामनिरूपे तु प्रदेशे न तयोः  
 संज्ञय इति चेत्तर्हि शब्देऽप्येतन्मानमित्यसिद्धं । तुती-  
 यस्तु तद्विलुप्तोत्कृष्टादिभिर्नैकान्तिकः । अनुपपत्तिं तथैव, गन्धद्र-  
 व्यविशोवसुक्ष्मरज्जुभूमादिनिर्गम्यनिजानां । नाह गन्धद्रव्यादिक-  
 मपि नासायां निविष्टमानं तद्विचरन्तारदेशोऽङ्गिरश्मभ्रूपरकं दृश्य-  
 ते । पञ्चमः पुनरसिद्धः, तथा हि-न गगनगुणः शब्देऽसिद्धादिप्र-  
 त्ययत्वात्त्वाद्वादिवादिनिःसिद्धः पौद्गलिकः शब्द इति । अथ नाथं  
 शब्दः पौद्गलिकः संगच्छन् इति यौगाः सङ्गिरमाणाः सप्रणय-  
 यविनोनामेव गौरवाहाः । यतः कोऽत्र हेतुः, स्पशश्रव्याभ्रयव-

य, प्रतिनिविष्टप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः, पूर्वं पश्चात्साव-  
 यवानुपलभितः, सूक्ष्ममूतच्छ्रयान्ताप्रैरकत्व, गगनगुणत्वं वा ? ।  
 नाथः पक्षः यतः शब्दप्रयोगस्याश्रये भावावर्गणाकूप स्पशांभा-  
 यो न नाथदनुपपत्तिमभावात् । प्रसिद्धानि, तस्य स्वभावसत्त्वात्प्रान-  
 योयानुपपत्तिप्रत्ययसिद्धा तत्र स्पशस्यानुपलभ्येनोपलभिलक्ष-  
 णात्प्रानावात् । उपलभ्यमानानुपलभ्येत् । अथ यन्-  
 सारगन्धसाराशरीरगन्धस्य स्पशांशयनिजान्तिविद्यत्वापि तन्नि-  
 श्येऽप्यनुपलभ्यमानानुपलभ्येत् युक्तम्, नेतरत्र, तन्निर्णयकारणात्वा-  
 द् इति चेत्, मान्सावयवनिर्णयकं किञ्चित्, किन्तु पुञ्जला-  
 नमुद्रतानुद्रतानुद्रतानुपलभ्येः शब्देऽपि पौद्गलिकत्वेन परैः  
 प्रमाणद्यमाने, बाधकारभावे च स्तानि स्वेह एव स्यात्, न त्व-  
 ज्ञाननिश्चयः, तथा च सन्दिग्धासिद्धो हेतुः । न चान्ति तन्नि-  
 श्योपकर्मः । तथाहि-शब्दाभ्रयः स्पशांशय, अनुभावप्रतिघातयो-  
 र्विभ्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियाथंत्वात्-  
 व, तथापिभ्रन्वाधात्प्रत्युत्पन्न, इति । द्वितीयकत्वेऽपि गन्ध-  
 द्रव्येण व्यभिचारः, वर्तमानजात्यकस्तुर्गिकपुत्रकपुत्रजोवि-  
 गन्धकत्वं हि पितृहिनकारात्सुपुत्रावरकस्यातिविशिति, बहिष्छ  
 निस्सरति, नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरश्मिस्रभेवनाति-  
 निविष्टत्वाभावात् तत्प्रवेशनिकर्षोः, अत एव तद्वर्णयवस्था,  
 न त्वपुनरनुद्रतारदशायामिच तदेकार्थवत्त्वम्, सर्वथा नीरूपे तु  
 प्रदेशे नैतौ संज्ञय इति चेत्, एवं तर्हि शब्देऽपि सर्वस्य  
 तुल्ययोगत्वेमात्वादिस्वता हेतोस्तु । पूर्वं पश्चात्सावयवानुपल-  
 भ्यः, सांदाग्निनीशामोत्कृष्टादिनिर्गमकान्तिकः । सूक्ष्ममूतच्छ्रयान्ता-  
 रप्रैरकत्वमपि गन्धद्रव्यविशेषत्वमनजोभूमविन्द्रियनिजचारी ।  
 न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नसि निविष्टमानं तद्विचरन्तारदेशोऽङ्गि-  
 शरमभ्रूपरकं प्रेक्ष्यते । गगनगुणत्वं त्वसिद्धम् । तथाहि-न गग-  
 नगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्ययकत्वात् । क्वापदिवादिनिः । पौद्गलिक-  
 त्वासिद्धिः पुनरस्य-शब्दः पौद्गलिकः, इन्द्रियाथंत्वात्, क्वापदि-  
 देवेत्यतिरतो संक्षेपः ।

अष्टैतखदनम्-

वेदान्तिनस्त्वेवं प्रजल्पयन्ति-१ सर्वे कालिदं ब्रह्म नेह नानाऽ-  
 स्ति किञ्चन । अत्रामं तस्य प्रख्यातं न तस्यप्रति कश्चन ।  
 ॥ १ ॥ इति न्यायादयं प्रथमं मिथ्याकूपः, प्रतीयमान-  
 त्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा शुकदाकले कलपौमेष, तथा  
 चायं, तस्मात्तथा । तदेतद्ब्रह्मचं । तथाहि-मिथ्याकूपत्वं तैः  
 कीदृग् विवक्षितम् । किम्पन्थासत्त्वम् उदात्तस्यान्यकारत-  
 या प्रतीतत्वम्, आहोस्त्विदंनिर्वोक्तत्वम् । प्रथमपक्षेऽस्तत्त्वथा-  
 त्तिप्रसङ्गः । द्वितीयं विपरिन्तयतिस्वीकृतिः । तृतीयं तु किमि-  
 दम् अनिर्वाच्यत्वम् ? निःस्वभावत्वं चेत् निःस्वः प्रतिघाथंत्वे  
 स्वभावशब्दस्यापि भावाभावावर्गन्यतारथ्येऽस्तत्त्वानिस्वत्वात्-  
 त्वभ्युपगमप्रसङ्गः । भावप्रतिघथेऽस्तत्त्वानिर्जावप्रतिघे-  
 सत्त्व्यातिरिति । प्रतीयं गोचरत्वं निःस्वनाद्यत्वमिति चेत्,  
 अत्र विरोधः । न प्रपञ्चो, हि न प्रतीयते चेत्कथं चमित्तयोपा-  
 स्तः ? । कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुनयोपास्तम् ? । तथोपादाने  
 धा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते, न तथोति चेत्तर्हि विपरि-  
 त्त्यातिरियमनुपगमता स्यात् । किञ्चेवनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य  
 प्रत्यक्त्वापि, घटाऽप्यमित्यादाकारं हि प्रत्यक् प्रपञ्चस्य  
 न्यतामेव व्यवस्थिति, घटादिप्रतिघातपक्षापरिच्छेद्वान्त-  
 स्तस्योपादात् । हरेतरादिबिचकस्तन्नामेव प्रपञ्चशब्द-



वाक्यत्वात् । अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात्कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम् । प्रत्यक्षं हि-इदमिति वस्तुस्वरूपं शुद्धाति, नात्यन्तस्वरूपं प्रतिषेधति ।

“आहुर्विधात् प्रत्यक्षं, न निषेद्धुं विपश्चितः ।

नैकस्य आगमस्तेन, प्रत्यक्षेण प्रवाधते” ॥ १ ॥

इति वचनात्, इति वक्षः । अन्वयविषयमन्तरेण तस्वरूपपरिच्छेदस्याव्यसंपत्तेः । पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नलिं नीलमिति गृहीतं भवति, नात्यथा । केवलप्रस्तुत्वकूपमतिपक्षेरेवाव्यप्रतिषेधप्रतिपक्षरूपत्वात् । सुतदभूतलप्रदशेषघटाभावप्रदहनवत् । तस्माद्यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिषेधं तथा निषेधकमपि प्रतिपक्षव्यम् । अपि च-विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते यथा प्रत्यङ्गण विद्या विधीयते, तथा किं नाविद्याऽपि इति । तथा च द्वैतनापत्तिः । ततश्च सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । तस्मात् वादिनोऽपिवाच्यविकेन समाधत्त प्रत्यङ्गप्रतीत्यस्मोऽपि न निषेधकं तदिति श्रुत्याः कथं नोभ्रमः । इति सिद्धं प्रत्यङ्गवाधितः एक इति । अनुमानवाधितश्च-प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् । प्रतीयमानत्वं च हेतुब्रह्मार्थना व्यतिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या । अत्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मुक्तैव तेषां श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । शुक्तिशकलकलघोतेऽपि प्रपञ्चान्तरान्धेन आनिधेयनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किञ्चिदमनुमानं प्रपञ्चाभिन्नम्, आभिन्नं वा । यद् निश्चं तदिह सत्यमसत्यं वा । यद् सत्यं तदिह तद्वद्वत् प्रपञ्चस्यापि सत्यस्य स्यात् । अद्वैतवादप्राकारे खड्गवातात् । अध्यात्मव्यम्, तर्हि न किञ्चित्तेन साध्यतु शक्यम्, अत्यन्तव्याप्तम् । अनिश्चं तत् प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपवापत्ताः मिथ्यारूपं च तत्कथं स्वसाध्यसाधनायाश्च । एवं च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वात्किञ्चिः कथं परमप्रमाणमनात्मिकत्वं स्यात्, यतो बाह्यान्वितावा भवेदिति । अथ वा प्रकारान्तरेण सम्पन्नज्ञकृतस्य परमप्रमाणः साधने दृष्टं चोपपन्नम् । ननु परमप्रमाण एवैवश्यं परमाद्यसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्वम् । अपरम्य द्वितीयस्य कस्यांचिद्व्यभावात् । तथाहि-प्रत्यक्षं तदायेदकस्मिन् । प्रत्यक्षं विद्या जिघत्ते-निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात् । ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सान्नायविषयात्सर्वकथैव सिद्धिः । तथा चोक्तम्-

“ अस्ति ह्यज्ञानाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम् ।

बालमूर्कादिविज्ञान-सदसो बुद्धयश्चतुर्जम्” ॥ १ ॥

न च विधिवत्परपरव्याप्तित्वव्यभक्तं एव प्रतीयत इति ऐतत्सिद्धिः । तस्य निषेधाऽविषयत्वात्, “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं न निषेद्धुं” इत्यादिवचनात् । यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षघटपटादिभेदाश्रयं तदपि सत्ताकूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकार्यकत्वात् सत्ताहितस्यैव साधकम्, सत्तायाश्च परमप्रमाणरूपत्वात् । तदुक्तम्- “यद्वैतं तद्वल्लक्षणं रूपम्” इति । अनुमानादपि तु सद्भावो विज्ञायते एव । तथाहि-विधिरैव तत्वं प्रमेयत्वात् । यतः प्रमाणविषयभूतेऽद्यः प्रमेयः, प्रमाणात् च प्रत्यङ्गानुमानागमाप्रमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयव्यवैव प्रवृत्तेः ।

तथा चोक्तम्-

“ प्रत्यङ्गाद्यवतारः स्यात्—ज्ञायांशो शुद्धो यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्तेर-ज्ञायांशो जिष्णुर्कृतं” ॥ १ ॥

यच्चाभावात्वं प्रमाणं, तस्य प्रामाण्यवायावाञ्छे तत्प्रमाणम् । तद्विषयस्य कस्यचिद्व्यवज्ञावात् । यस्तु प्रमाणयज्ञकविषयः स विधिरः । तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तावात् । सिद्धं प्रमेयत्वमविधिरैव तत्त्वम्, यत् न विधिरूपं, तन्न प्रमेयम् । यथा स्वरविषयाणाम् । प्रमेयं चेदं निश्चितं यत्नत्त्वम् । तस्माद् विधिरूपविषयः अतो वा तत्सिद्धिः । प्रामारामाद्यः पदार्थाः प्रतिभामान्प्रतिषेधाः प्रतिज्ञासमानत्वात्, यस्यांभासते तस्यांभासनात्ः प्रविष्टम् । यथा प्रतिज्ञासस्वरूपम् । प्रतिज्ञासन्ने च प्रामाऽऽरामाद्यः पदार्थान्तस्मात्प्रतिभामान्प्रतिषेधाः आगमाऽपि परमप्रमाण एव प्रतिपादकः समुपलक्ष्यते—“पुत्र एवैवं सर्वे यद् ज्ञेत यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्थेशानो यद्भ्रमानिरोहति । यद् ज्ञाते यश्चेन्न जितं यद्दुःखं यद्विनिकं यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यान्” इत्यादि । “आतच्छा मन्तव्यो निदिध्यामितव्याऽनुमन्तव्यः” इत्यादिविधेयार्थैरपि तत्सिद्धेः । कथंमेवापि आगमोऽनन्तस्यैव प्रतिपादानात् । उक्तं च-

“ सर्वे वै स्तुतिश्चं प्रश्नः, नेह नानास्मि किञ्चन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्याति कश्चन” ॥ १ ॥

इति प्रमाणतत्स्यैव सिद्धेः परमुप्यत्र एक एव तत्त्वम्, सत्त्वसंभेदानां तद्विषयत्वात् । तथाहि-सर्वे ज्ञाया प्रज्ञाविर्गतां, सर्वैरूपेणाऽन्वितत्वात् । यद्यदुपणाऽन्वितं तत्तदात्मकमेव । यथा घटघटांशराजोवच्चन्द्रान्यां मृदुदण्डकेनाऽन्येना मृदुद्विषयोः । सर्वैरूपेणाऽन्वितं च सत्त्वं वस्तु । इति सिद्धं प्रज्ञाविर्गतेषु निश्चितभेदानामिति । तदेतत्सर्वे मादृशसामान्यत्वाद्गदगदगदं दितमिवावज्ञासन्तः, विचारासद्वत्वात् । सर्वे हि वस्तु प्रमाणसिद्धं ननु वाञ्छन्ते । अद्वैतस्य च प्रमाणस्य द्वितीयस्य सत्त्वात्वात् । अतस्तत्साध्यकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सत्त्वात्वात् । अथ तत् लोकप्रत्ययनाय तदुपज्ञया प्रमाणमप्यदुपपन्नम् । तदस्य । तन्मते लोकस्थैवासम्भवात् । एकस्थैव निरतिशरस्य परब्रह्मण एव सत्त्वात् । अधस्तु यथाकथञ्चिदप्रमाणमपि तां कप्रत्यक्षमनुमानमागमां वा तत्साध्यकं प्रमाणमुरवर्णित्वेन ? न तावत्प्रत्यक्षम् । तस्य समस्तवस्तुज्ञातगतभेदस्यैव प्रकाशकत्वात्, आवाज्ञायांसाधे तथैव प्रतिज्ञासनात् । ‘यच्च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम्’ इत्युक्तम् । तदपि न सम्भुक्तं । तस्य प्रामाण्यमदुपपन्नत्वात् सर्वस्यापि प्रमाऽन्यत्वेन व्यवसायात्मकस्थैवाविनेयादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः । सविकल्पकं तु प्रत्यङ्गण प्रमाणत्वेनैव कथैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वरूपेण श्रुतिप्रतिभासनात् । यद्युक्तम्-“आहुर्विधात् प्रत्यक्षम्” इत्यादि । तदपि न पश्यात् । अथतस्तु शब्दव्यवस्थाकारात्मकवस्तु न एव प्रकाशनात् । एतच्च प्रागव कुतश्च । न ह्यनुत्पत्तेर्भेदकत्वम् सत्ताभाव विशेषान्निरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते, येन यद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपमित्याद्युक्तं शोभते । विशेषान्निरपेक्षतास्यैव स्वरविषयाण्यद्वैतप्रतिज्ञासनात् । तदुक्तम्-

“निर्विशेषं हि सामान्यं, जनेतुं शरविषयाण्यत् ।

सामान्यरद्विद्वेत्तम, विशोऽशान्तद्वेव हि” ॥ १ ॥

ततः सिद्धं सामान्यविशेषात्मन्येव प्रमाणविषये कुत वैकिकस्य परमप्रमाणः प्रमाणविषयत्वम् । यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तं, तद्व्येतेनैवापातं संकल्पम् । पक्षस्य प्रत्यङ्गाधित्वेनैव दोः काशात्साध्यापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभामानान्वसाधनमुक्तम् । तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायाऽऽत् । प्रतिभामानत्व हि निश्चितज्ञावानां स्वभावः, परतो वा ?





॥ श्रीः ॥



दृप्तघ्नान्तविपद्दन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-  
राजेन्द्राजिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनश्रुतः ।  
संघस्थोपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः,  
कोऽन्यः सूरीपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ॥



# ॥ अजिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ॥

( सिन्धुप्रदेशानुशासनम् )

[ अ० ८ पा० १ ]

नत्वा धीरं यन्प्रवच्यं, रागेषुधिविभक्तिम् ।  
 प्राकृतव्याकुलितरियं, जन्मोत्पन्ना विरच्यते ॥ १ ॥

अथ प्राकृतम् ॥ ? ॥  
 अथशब्दोऽधिकाराथे-भ्रान्तयथायं इत्येत ।  
 प्रकृतिः संस्कृते, सत्र-अथं, वा तत आगतम् ॥  
 प्राकृते, संस्कृतयान्ते, तदर्थिकयते ततः ।  
 सिद्धं च साध्यमान च, द्विविधं संस्कृत मतम् ॥  
 तदर्थान्तरं तस्यैह, अङ्गं, देशाजस्य न ।  
 इति विज्ञापनार्थं हि, प्राकृतस्यानुशासनम् ॥  
 संस्कृतानन्तरं कुर्मस्वद् धीरैर्यथायत्नाम् ॥  
 विभक्तिः कारक लिङ्ग, प्रकृतिः वस्तुऽभिधा ॥  
 समानाध्यापि संबन्धः, संस्कृतस्यैव प्राकृते ।  
 अथ अ ल ल्, विसर्गश्च, ये धी ऊप्रशयाः स्तुतः ॥  
 पतङ्गस्यो वर्णगणो, लोकाद् बोधोऽनुबुद्धितः ।  
 ऊर्ध्वो स्वयम्येस्युक्तौ, वर्णो च अयतां दि लो ॥  
 पदोर्ध्वो चापि केषांचित्, केनचं केनच यथा ।  
 सौन्दर्यं च सौमरिञ्च, कौरवाः कौरवा इति ॥  
 अस्वरं व्यञ्जनं सर्वं, स्तब्धं द्विवचनं तथा ।  
 वतुर्ध्यास्तु बहुत्वं च, न अवत्यत्र कुत्रचित् ॥  
 बहुलम् ॥ ७ ॥

' बहुलम् ' इत्यधिकृत-माशास्त्रादिपूजात् ।  
 वैदित्यं, यथास्थानं, तत्कार्यं दर्शयत्येते ॥  
 आप्तम् ॥ ३ ॥

अप्रीणादिदर्माय च, प्राज्ञे तद्बुद्धं भवेत् ॥  
 तन्वापि दर्शयिष्यामी, यथास्थानं यथाविधि ॥  
 क्वचित् प्रकृतिः क्वचिदप्रकृतिः, क्वचिद् विनाया क्वचिद्व्यदेव ।  
 विधेविधानं बहुधा समाह्वय, चतुर्विधं बाहुलकं चरन्ति ॥

दीपि-इत्यो पिथो वृत्तौ ॥ ४ ॥  
 स्वराणां दीपिह्रस्वात्वं, समासे भवतां मिधा ॥  
 तत्र दीपेस्य ह्रस्वात्वं, पूर्णं तावत्प्रगच्छेत् ॥  
 ' अन्तर्बोधि '-पदस्थानं, ' अन्तर्बोधि ' प्रयुज्यते ।  
 सप्तयिशातिरिपथं, ' सप्तार्चिः ' अर्थाद्बुधम् ॥  
 क्वचित् ' जुवह-जगो, ' विकल्पस्तु क्वचिद् यथा-  
 बार्त्-मई वार्त्-मई, भुजयत्रयथास्यते ॥  
 भुञ्जा-यते लुञ्ज-यते, अधो पतिपुष्टं त्विदम् ॥  
 पदे-हर्त् पद-हर्त्, अथ वेणुयने पदम् ॥  
 ' वेणु-वर्णं वेणु-वर्णं, ' इत्येवमभिधीयते ।  
 अथ दीपेस्य ह्रस्वात्वं, निम्नकमिल इत्यपि ॥  
 क्वचिद् विकल्पो- जर्ज-यत्वं च जर्जणा यद् ॥  
 नह-सोत्तं नई-सोत्तं, घेर्त् गोति-हर्त् त्विदम् ॥  
 गोर्त्-हर्त्, बहु-मुष्टं, बहु-मुष्टमुद्राह्वयम् ॥  
 पदयोः सन्धिर्वा ॥ १ ॥

संस्कृतोक्तं सन्धिकार्यं, व्यवस्थितविभाषया ।  
 प्राकृते निमित्तं घेर्त्, तद्गृहाह्वये यथा- ॥  
 वासोसौ नास-दन्ती, विसमाऽऽयवो विसम-धायवो भवति ।  
 बाह-ईसरो चिकट्याद्, वहीसरो, साउ-अग्रयं तु ॥  
 क्वि-अयमिति घेर्त्, ' पदयोः सन्धि ' किं मह इह पदम् ।  
 पाश्चा, पद, अथाभो, मुद्राय चापि मुद्राय ॥

बहुसाधिकारजावात्, क्वचिदेकस्मिन् पदेऽपि यथा-  
 काहिर काही, बिभ्रयो, बीभो, हत्यादि बोद्धव्यम् ॥  
 न युवर्णस्यास्ते ॥ ६ ॥

इवर्णोवर्णयोस्ते, परे वर्णं न संहिता ।  
 वेदाभि अञ्ज-पदं, न वेरि-धमो वि अयवासां ॥  
 यगुर्दे-गहिर-त्रिभो, सहर्त् वईदो, सहर्त् एसो ।  
 संज्ञाबहु अवकटो, नव-वारिहरो एव विज्जुलाभिभो ॥  
 नद-एभावादि अश्रयो, घेर्त् चेत्याहुद्राह्वयम् ॥  
 ' युवर्णस्येति ' किं ?, गृहो-अर-नामरस्यपमम् ।  
 ' अस्वं ' इति च किं ?, सिधियेत्, पुह्योसो यथा पदम् ॥  
 पदोतोः स्वरे ॥ ७ ॥

एकारौकारयोः सन्ध-नै स्यात् अथि स्वरे परे ।  
 बहुभ्राह नहुहिरणे, भावेर्त्तयोर्त् केषुचं अंते ।  
 मयारक्यसरधोरणि-धारा-अत्रेअथ द्वास्ति ॥  
 उवमास्तु अपञ्जसे-न-कलम-द्वत्तावदासमूर्त्तुष्टम् ।  
 तं चैत्र मिभिभ-विस-वृ-विरसमालकिभमो एहिह ॥  
 अदो अञ्जलिं चापि, ' पदोर्त्तोरिति ' किं ?, यथा-  
 अथालोअण-तरसा, इयरकट्टेनं जमति बुद्धीभो ।  
 अथचैव निरा-अमेति दिमये कट्ट्याणं ॥  
 स्वरम्योदृते ॥ ८ ॥

व्यञ्जनसंपुक्तो यः, स्वरो व्यञ्जनोऽर्थास्यते लुप्ते ।  
 उच्चलः स इह स्यात्, न स्वरसन्धिस्तु तत्परः ॥  
 गयणं चिन्नं गंध-उर्मि, कुणानि, रयणी-अरो य मयुञ्जसं ।  
 निशा-अरो य निमि अरो, बाहुलकात् कृपि वैकल्प्यम्- ॥  
 कुंभारो कुंजअरो च, सूर्यो च सुमुञ्जितः ॥  
 सन्धिरेव कुञ्चित् चक्रा-आ च सालादगो यथा ॥  
 अत एव प्रतिपेयात्, समासेऽपि स्वरस्य तु ।  
 सन्धौ मिन्नपदत्वं च, वैदित्यं मनीषिभिः ॥  
 त्यादेः ॥ १० ॥

तिवादीनां स्वरस्य स्यात्, न तु सन्धिः स्वरं परे ।  
 यथा ' प्रवति इह ' स्यात्, तथा ' इह इह ' स्मृतम् ॥  
 लुक् ॥ १० ॥

स्वरस्य बहुसं लुक् स्यात्, संहितायां स्वरे परे ।  
 निःश्वासांमूर्त्तौ नी-सासुसासा च संभवत्यथ ।  
 चिदंशोः नववसोः, प्रयुज्यते कोविदेरेवम् ॥  
 अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ ११ ॥

शब्दानामन्तिमस्य स्याद्, व्यञ्जनस्यैह सुम् यथा ।  
 लमो जम्मो जम्मा जाय, ताव चेत्यादि गतेत् ॥  
 समासे तु विभक्तौ, शाक्यगामायेक्या ।  
 अन्त्यत्वं चत्यन्त्यत्वं, अन्तौत्यवगम्यताम् ॥  
 यथा-समिक्त्वं सद्भिष्टुः, सञ्जः सञ्जोऽपि च ॥  
 एतद्गुणा पञ्च-गुणा, तन्गुणा तद्गुणा इति ॥  
 न श्रुदोः ॥ १२ ॥

अनुदित्येतयोरन्त्यं, व्यञ्जनं नैव लुप्यते ।  
 यथा-सहर्त्तियं सहा, अग्रयं चोत्तयं पदम् ॥  
 निःश्रोवो ॥ १३ ॥

निःश्रोवोऽपि च, निःसहं नीसहं यथा ।  
 दुस्सहो दुसहो चापि, दुक्लिभमो दुहिभो तथा ॥

स्वरेऽन्तरथ ॥ १४ ॥

नाम्नरो निर्दुरोऽन्त्यं, व्यञ्जनं सुष्यते स्वरे ।  
निरन्तरं अतरऽप्या, निरस्सेवं दुरुत्तरम् ॥  
दुरवगाहमित्यादि, क्वचिद्भुक् चापि दृश्यते ।  
यथा ब्रन्तोवरीत्यत्र, रकारो ह्येवमाप्तयाद् ॥

स्त्रियामाद्विद्युतः ॥ १५ ॥

स्त्रियां प्रयतमानस्य, शब्दस्यान्त्यं यदस्वम् ।  
तस्य स्थाने भवत्यासवं, त्रिपुच्छन्दे तु नेष्यते ॥  
प्रतिपत् पाण्डिवन्ना स्यात्, सपत् सपत्रा च सरित् सरित्रा च ।  
बाहुलकात् 'सरिया'ऽऽद्यापि, 'अविद्युतः' किं?, यथा विज्ज् ॥

रो रा ॥ १६ ॥

स्त्रियां रेफान्तशब्दस्य, 'रा' इत्यादेश इष्यते ।  
अयमात्वापवादोऽस्ति, यथा रूपं धुरा-पुरा ॥

सुधो हा ॥ १७ ॥

सुधो षस्यास्तु हादेश-स्तेन रूपं 'लुहा' भवेत् ।  
शरदारित् ॥ १८ ॥

शरदादेशन्तिमस्य, व्यञ्जनस्याद् भवेद्विह ।  
शरद् विषयं यथा स्यात्, सग्रां भिसग्रां क्रमात् ॥

दिवप्राश्रपाः मः ॥ १९ ॥

दिवप्राश्रपाः सा भवति, तेन स्यात् पाउसां दिसा ।  
ककुभो भस्य 'हः' स्यात्, ककुहा तेन सिद्धात् ।  
धनुषो वा ॥ २१ ॥

धनुषः पश्य हो वा स्यात्, धनुश्च न धनु यथा ।  
मोऽनुस्वारः ॥ २३ ॥

अन्तिमस्य मकारस्या-नुस्वारोऽत्र विधीयते ।  
जले कलं गिरिं वच्छे, पच्छेल्यादि निदर्शनम् ॥  
काप्यनन्त्यस्यापि यथा, -वर्णमिमं च वर्णमि च ।

वा स्वरे मश्च ॥ २४ ॥

अन्तस्त्वस्य मकारस्या-नुस्वारो वा स्वरे परे ।  
प्लेगपवादी मो, मस्य स्थाने भवेद्विह ॥  
उसभं अजिअं वदं, उसभम् अजिअं च वा ।  
बाहुलत्यात् तथाऽन्यस्य, व्यञ्जनस्यापि मो भवेत् ॥  
साहाय सक्त्वं, यत् जतन्ते, विषयक च वीशुमथ सम्यक् ।  
सम्मं, पृथक् पिहम्, रह-मिहयं चाऽऽल्लटुषा वेषाम् ॥

रु-ण-नो व्यञ्जने ॥ २५ ॥

स्थाने इभ्रणनामां स्या-दनुस्वारोऽस्वरे यथा-।  
पङ्क्तिः पंती च, पराङ्-मुखः परमुहो, कन्चुकः कंचुओ ।  
अपि हाऽल्लन संकण, परमुस इति छुमहो, जयति ।  
उकण्णना नूकण, मन्थ्या सजा च, विषय इति विजो ।  
एवं ऋदिचतुष्टय-निदर्शनं चाप्यदपि वेषाम् ॥

वक्रादावन्तः ॥ २६ ॥

वक्रादीनां च शब्दानां, प्रथमादिषु यः स्वरेः ।

तस्यान्ते स्यादनुस्वारो-ऽऽगमो भवयानुस्वारतः ॥  
वक्रं नेवं अंयं, मंसु पुंजं च कृपणं पंसु ।  
मुंजं मुंदा सुंध, ककोडा विच्छिओ गिठो ॥  
मंजारां दंसगामि-स्यादिष्यावस्य काव्यंमिह वेषाम् ।  
परंनुओ च वयसो, मणंसिण्णो चापि माणंसो ॥  
मणांसिलाः चेप्यादि-ष्यागमकार्यं भवेद् द्वितीयस्य ।  
अर्णंतयमइमुतय-मवर्दि अमयोस्तुतीयस्य ॥  
कविच्छुन्दःपुरणऽपि, 'देव-नाग-सुवश्रमं' ॥  
कविष-सिठो मंजारां, मणंसिला मणांसिला ॥  
आपे 'मणांसिला' रूपं, 'अइमुतयम' इत्यपि ।  
वक इयसं इमंशु पुजं, मुजं मुंधं च कुरुमसः ॥  
अभूयारं वयस्यां मा-जारां गृष्टिमन्तिवमी ।  
पुंयुंयुंअ ककोटां, दशंजं शुधि-शुधिकी ॥  
भानमुक्तकः पान्तिभुत्, भनस्वी च भनशिला ॥  
इत्यादयो त्रिं शब्दाः, वक्रादौ परिकल्पिताः ॥

कत्वा-स्यादण-स्वोवा ॥ २७ ॥

कत्वाप्रत्ययस्य स्यादीनां, प्रत्ययानां च यौ ण-सु ।  
तयोऽन्तस्त्वनुस्वारो, वा स्यादित्ययथायानाम् ॥  
यथा-काऊण काऊण, काउभ्राण पद तु वा ।  
स्यात् काउभ्राणं, स्यादौ व-च्छेण वच्छुणामित्यपि ॥  
तथा वच्छेस्तु वच्छेस्तु, 'णस्वोऽपि' किम्? अमिणो ॥  
विशत्यादिभुक् ॥ २८ ॥

विशत्यादिपदानां योऽ-नुस्वारस्तस्य सुभवेत् ।  
तेन स्याद् विशादीनां, विदां तीमां च संस्कृतम् ॥  
सकृतं स्याच्च सस्कारः, सकारो विनियद्यते ।

मासं मसं, मासलं मसलं वा,  
कासं कसं, कसुअं कसुअं वा ।  
सोढां सिहो, किं किं, या दाणिं दाणिं,  
पासु पंसु वा, कद वा कद स्यात् ॥  
एव एव नूणं नूणं, समुहं समुहं तथा ।  
इशाणि वा इशाणि, स्यात् मांसदीनां निदर्शनम् ॥  
मांसं कांस्यं कथं पासु-मांसतः मिदं-किच्छुकीं ।  
एव तेनम् इशानांमिं कथं, दाणिंम समुक्त्वं इत्यपि ॥

वर्गेऽन्त्यो वा ॥ ३० ॥

अनुस्वारस्य वर्गान्त्यो, वा तद्वर्गे परं भवेत् ।  
पडो पंको, कडुओ कंचुओ वा,  
सज्जा मंजा, कण्डओ कंटओ वा ।  
कड कण्ड, अन्नरं अतरं वा,  
चन्दां चदो, कपरं कंपरं वा ॥  
इत्याद्यस्यद् वेदितव्यं च लक्ष्यं, वर्गे किं यत् संस्रो संहरेति ।  
कौचद् धोः शब्दविश्रावणीना, एतत्कार्यं तैत्थिकं वर्णयन्ति ।

प्रावृत्-शरत्-तरणयः पुंसि ॥ ३१ ॥

प्रावृत्शब्दः शरच्छब्द-लटिष्येति ते त्रयः ।  
पुंसि स्युल्लरीषौ चैव, पाउसो सपत्रा यथा ॥

अमऽशाम-शिरो-नजः ॥ ३२ ॥

दाम-शिरो-नमो वज्रं, यत् सान्ते नात्मनस्ति वा ।  
शब्दलक्षणे तत्त्वदं, वैभिश्रमवाम्यनाम् ॥

‘जसो पञ्चो तमो तेञ्चो, उरो’ साम्ने निर्देशनम् ।  
‘जम्भो मम्भो तथा मम्भो’ नान्ते लस्यमिदं मतम् ॥  
‘अदमित्यादि’ किं प्रोक्तम् ? यथा-‘नामं लिरे नहं ।  
संय चम्मं चयं चैता-दशं बाहुलकं परम् ॥

वाऽङ्क्यर्थ-वचनाद्याः ॥ ३३ ॥

ये चाग्निवाचकाः शब्दा-स्तथा ये वचनादयः ।  
ते पुंसि संप्रयोरुक्त्याः, सर्वेषोह विकल्पनात् ॥  
तत्रादयो यथा-‘अच्छो, अच्छीहं’ चापि गद्यते ।  
अच्छव्यादिगणे पाठान्, ‘एसा अच्छो’ क्वचिद् भवेत् ॥  
अक्लु अक्लुहं, नयणा, नयणार्हं च, लोअणा ।  
लोअणाह च, वचना-दियथा-वयणा तथा ।  
वयणार्ह, विरनुणा तु, विरनुपे च, कुलो कुलं ।  
छन्दं छन्दं च, माहण्यां, माहण्य, भायणार्हं तु ॥  
भायणा च, तथा दुक्सा, दुक्साहं चेत भयथेन ।  
नेसा नेसामित्यादिः, सिद्धिः संस्कृतवद् भवेत् ॥

गुणाद्याः ऋषिरे वा ॥ ३४ ॥

ऋषिरे गुणादयः शब्दाः, प्रयोक्तव्या विकल्पतः ।  
गुणा गुणार्हं, देवाणि, देवा, विन्दुहं विन्दुयो ॥  
कामा कामां, मण्डलमा, मण्डलमाऽपि भयथेन ।  
करुहं करुहो, रुक्सा रुक्साहं चेत्यपि ॥

बेमाङ्गलयाद्याः स्त्रियाम् ॥ ३५ ॥

ये तु शब्दा इमानाः स्तु-स्तयाऽङ्गलयादयश्च ये ।  
ते स्वं वा स्त्रियां वाच्ये-स्तदुदादिहे येथा- ॥  
गरिमा महिमा नित्त-किमा च युक्तिमाऽणिमा ।  
पने स्वापुनयाशेषायाः, अथाङ्गलयादिरुचयेन ।  
अङ्गलं चोरिआ पिपी, तथा पिपिं च चोरिआ ।  
अच्छो अच्छिं च वा पदा, पठो कुरुहो बलौ निही ॥  
गग्रा रुस्मी विही चैतो-दशोऽङ्गलयादिरिच्छते ।  
‘माडा गद्दो’ ऽनयोः सिद्धि-रत्र संस्कृतवन्मता ।  
इमानं तन्वमाश्रित्य, कार्यद्रव्यमिहेष्यते ॥  
त्यादेशस्य डिमेलस्य, पृथवादीञ्छ संप्रदः ।  
त्यादेशस्य सदा स्त्रीत्व-मिच्छत्येकं विपश्चितः ॥

बाहोरात् ॥ ३६ ॥

आकारो बाहुशब्दस्य, ऋषिरेऽनाशय इष्यते ।  
“बाहाप जेण चरिओ, पक्काय” इति ष्यते ॥

अतो ऋो विसर्गस्य ॥ ३७ ॥

अतः परः संस्कृतोत्पयो, यो विसर्गो भवेदिदं ।  
तस्य स्थाने तु ‘ऋो’ अना-दशादेशो विधीयते ॥  
सर्वतः संभव्यं तेन, पुरतः पुरओ तथा ।  
अप्रतस्वगमशो वाच्यो, मानेनो मगयोऽपि च ।  
सिद्धावस्थापेक्षयाऽपि, नवतो भवश्च तथा ।  
नव-तस्तु भवन्तो स्यात्, सन्तः संतो, कुतः कुरो ।

निष्पन्नी ओत्परी मार्य-स्थोर्वा ॥ ३८ ॥

निष्पत्ती झोतपरी वा स्तः, परे मास्ये च तिष्ठती ।  
अत्र योऽव्यभिर्देशः, स च सर्वोऽर्थ इष्यते ।  
ओमात्तं वाऽपि विम्वङ्गं, पञ्जा धरिटा गथा ॥

आदेः ॥ ३६ ॥

आदेरित्यधिकारोऽयं, ‘कगन्वा-’ ०।।।१७१। उपधिको मनः ।  
इतः परस्तु यः स्थानो, तस्यादेः कार्यमिष्यते ॥

त्यदाद्यन्वयात् तत्परस्य लुक् ॥ ४० ॥

त्यदाद्यन्वयशास्त्राद्यं, यो त्यदाद्यन्वयो परौ ।  
तयारादेः स्वरस्येह, बहुलं ह्युप विधीयते ॥  
अन्धे पद्य यथाऽभ्येत्थ, अह इमा जहमाऽपि वा ।  
अध्वद्वे अहद्वे, चैव-माद्यं वेद्यं निर्देशनम् ॥

पदादपेर्वा ॥ ४१ ॥

पदात्परं योऽपि शब्दस्तस्यादेशोऽत्र ह्यमेष्यत् ।  
यथा-केण वि केणावि, वा, तं पि तत्रवोष्यते ।

इतः स्वरान्तं तश्च द्विः ॥ ४२ ॥

इतिः पदान्तं परो यत्र, तस्यैकारो विकृत्येन ।  
स्वरात्परस्तरास्तु, तदीयो द्विव्यमाप्नुयात् ॥  
स्यात् किं ति जं ति द्विदुति, ‘न जुलुपि’ स्वराद् यथा- ।  
तह जं ति पिओत्ति, पुरिसो लि गिगद्यते ॥

लुप्त-य र-व-श-प-सां शपसां दीधः ॥ ४३ ॥

येवामुपर्येषस्ताद् ना, शपसां यान्ति शोपताप ।  
यथाः शपसा वाऽपि, तेषां स्यादादिदीशेता ॥  
शस्य यलोपि ‘पद्यथं, पासहं’ ति निगद्यते ।  
‘कश्यपः कासयो’ ‘आव-यकमावासायं’ तथा ।  
रस्य शोपे तु ‘विश्रामः, वीसामो’ संप्रयुज्यते ॥  
‘विश्राभ्यति वीसमह’, ‘मिभ्रं मौसं च जगथेन ॥  
वल्लोपं त्वश्व आसो स्यात्, शलोपे तु मनः शिला ।  
मणासिहा, च दु-शास-नोऽपि दुसासणो प्रवेत् ॥  
पकारस्य यलोपे तु, सिष्यः सीसोऽनिधीयते ।  
तथा रलोपे वर्णोक्तु, वासा चायं धलोपेन- ॥  
विष्वाणः स्याच्च वीसाणो, विष्वक् वीसु च ज्ञाप्यते ।  
परय शोपे तु निष्पको, नीसिचो, सस्य शोपमे ।  
सस्यं सासं कस्यचित्तु, कास-रंति रलोपेन ॥  
अस्र ऊलो च विश्रमः, वीसग्नोऽथ वलोपेन ।  
ति स्यः नीसो, सलोपे तु, निस्सहः नीसदो भवेत् ॥

अतः समुच्चादी वा ॥ ४४ ॥

समुच्चादिषु दीर्घ- स्या-दकारस्याऽऽडिमस्य वा ।  
सामिधी च समिधी, नवति पसिधी च पसिधी ॥  
पर्यं तु पायमं स्यात्, पाडिवश्चा पस्त्रिचआ वेद्या ॥  
पासुलो च पसुलो, पस्त्रिचिधी पस्त्रिचिधी स्यात् ।  
सारिष्ठोऽपि सारिष्ठो, तथा मणुसो च मणुसो ॥  
मार्णसिणी मर्णसिणी, अदिआह आहिस्राह वा ।  
पारोहो तु परोहो, नवति पवाह् च पवाह् ॥  
पाडिष्फकी पाडिष्फकी, समुच्चादिर्यं गण- ॥  
समुक्चिः प्रतिषिक्चिच्च, प्रतिस्पर्धी मनसिनी ।  
प्ररोहः प्रकटः प्रतिपत्, प्रसुतोऽप्याजिवाति च ।  
सदृक्कश्च मनस्वी च, प्रवासां चैवमादयः ।  
तेन प्रवचनं पाच-यणं, अरुपशो आर्षतो ।  
परकीयं पारकेरं, पारकं चापि पञ्चने ।  
अनुत्तं चाऽरुत्तं, इत्यारद्यि च सिध्यति ।

दक्षिणे हे ॥ ४५ ॥

दक्षिणे दक्ष्य दक्षीं हे , परे स्वाद् , दाहिणो यथा ।  
'ह' इति किं ? , स्वाद् दक्षिणो , यथा दक्षींऽपि न भवेत् ।

ः स्वमादौ ॥ ४६ ॥

स्वप्नादिषु भवेद्विन्व-मादेरस्येह तद्यथा-  
स्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणो यथा ।  
स्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणो यथा ।  
स्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणो यथा ।  
स्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणो यथा ।  
स्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणो यथा ।  
स्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणो यथा ।  
स्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणो यथा ।  
स्विणोऽस्विणोऽस्विणोऽस्विणो यथा ।

पकाङ्गार-लुङ्गादि वा ॥ ४७ ॥

पक्वाङ्गारलुङ्गादि-प्यादेर्वैत्वं , यथा-पिकं ।  
पकं , इङ्गातो अ-ङ्गारो , ङिङ्गात् ङङ्गात् च ।

मध्यम-कर्मो द्वितीयस्य ॥ ४८ ॥

मध्यमे चैव कतमे , द्वितीयस्य स्वरस्य तु ।  
इत्वं स्थानां यथा रूपे , ' मजिमां ' ' कर्मो ' इमे ।

सप्तमौ वा ॥ ४९ ॥

सप्तमौ द्वितीयस्या-कारस्येत्वं विकल्पनात् ।  
उत्सवधो उत्सवधो , स्यात् रूपे इमे यथा ॥

मयट्ठर्वा ॥ ५० ॥

अइमैयटि प्रत्यये स्या-दादेरस्य तु वा यथा-  
विषमय-विसमभो , स्याद् विसमभोऽपि च ॥  
इहेरे वा ॥ ५१ ॥

हरशब्दे हकारस्या-कार इत्ये विकल्पनः ।  
यत् स्वमापद्यते तेन , ' इरो हरो 'ऽङिधीयते ॥

ध्वनि-विष्वचोरुः ॥ ५२ ॥

ध्वनिवादे तथा विष्वक्-शब्देऽकारस्तु यः खलु ।  
तस्यात्वं क्रियते तेन , ' कुणो धीस्तु ' च सिध्यते ॥

चरु-स्रीरुते खा वा ॥ ५३ ॥

चण्डस्य-शिडतयोस्य , स्वप्नोत्वं विकल्पते ॥  
तेन चपमं सुट् रूपं , अङिप्रश्नो अङिमो नवेत् ॥

गवये वा ॥ ५४ ॥

गवये तु वकारस्या-कारस्योत्वं प्रमज्ज्यते ।  
' गअडा गअडा ' चेति , रूपं विक्रिमुपागतम् ॥

प्रथमे प-थीर्वा ॥ ५५ ॥

प्रथमस्य पथोरस्य , योत्वं स्यापुपागतं क्रमात् ।  
पुद्गमं पुद्गमं तेन , पुद्गमं पद्गमं तथा ॥

ज्ञो णत्वेऽजिङ्गादौ ॥ ५६ ॥

अभिधादिषु शब्देषु , ऋष्ये शब्दे कृते पुनः ।  
इस्यैव यस्वकारः स्यादुत्वं तस्य विधीयते ॥  
यथा-अहिण्यु तत्रस्युत्वं , आगमस्यु कयणस्युत्वं ।  
' गृध्रे ' च किम् ? , यथा-'सञ्ज-जो' 'अहिज्ञो' भवेद्विद्यम् ॥  
'अभिधादाविति' च किम् ? , प्राहः पथो भवेद् यथा ।  
मथोत्वं ऋष्ये शब्दे स्यात् , सांभिकाविण्यः स्मृतः ॥

एच्छयादौ ॥ ५७ ॥

शय्यादिषु भवेदेत्वं-मकारस्यादिमस्य तु ।  
सेज्जा पथ्य च सुन्दरं , गेन्दुञ्च चैवमादयः ॥  
आप्ये पुगकर्म पदं , पुरेकर्म प्रमुष्यते ॥  
वह्युत्कर-पर्यन्ताथये वा ॥ ५८ ॥  
वह्युत्करपथ्यन्ता-अयेऽकारस्य चैवमादिभुवः ।  
तेन हि चेञ्जी वञ्जी , उञ्जरो उञ्जरो , भ-ति ॥  
पेरन्तो पञ्जन्तो , अचञ्जरं अचञ्जरिञ्जं च ।  
अचञ्जरिञ्जं अचञ्जरं , तथाऽञ्जरीञ्जं विनिर्दिष्टम् ।  
मज्जचर्वे चः ॥ ५९ ॥

मज्जचर्वे चकारस्या-कार एवमभानुयात ।  
अतो बुधा मज्जचर्वे , बम्हचेरं प्रमुष्यते ॥

तोऽन्तरि ॥ ६० ॥

अन्तः शब्दे लकारस्या-कारस्येत्वं विधीयते ।  
तस्मादन्त-पुनं ' अन्ते-उरं ' विद्भिद्भिदृच्यते ॥  
अन्तश्चारी भवदन्त-आरो , ताये कविद् विधिः ।  
यथा-' अंतमयं ' ' अंतो , वीसम्भो ' विनिगद्यते ॥  
ओत्पञ्चे ॥ ६१ ॥

ओत्पञ्चेऽन्तः पञ्च-शब्दे , ' पोम्भ ' ततो भवेत् ।  
पञ्च-लुङ्गात् ( १०५ ) १११ ) सुञ्जेण , चिञ्जेण ' पडमं ' स्मृतम् ॥  
नमस्कारपरस्परं द्वितीयस्य ॥ ६२ ॥

द्वितीयस्याऽन्त आत्वं स्यात् , नमस्कारपरस्परं ।  
अतो रूपं सुनिष्पन्न- ' नमोऽकारो ' ' परोत्परं ' ॥

वापौ ॥ ६३ ॥

आवेरस्य तु वीत्वं स्याद् , धानावर्षयतो यथा-  
रुपं ' औत्पञ्च औत्पञ्च , आङिपञ्च औत्पञ्च भवेत् ॥  
स्वपानुवृ ॥ ६४ ॥

' स्वप ' धानो क्रमनः स्याता-मादेरस्योऽनुनी स्वरौ ।  
तेन ' सोवइ स्वपइ , ' इय रूपं विभाष्यते ॥

नात्पुनयादाऽ वा ॥ ६५ ॥

मज्ञः परे ' पुनः ' शब्दे , यस्वकारोऽङिति नस्य तु ।  
' अा अा ' इत्यादेशौ वा , स्यातामिष्यभिधीयते ॥  
' न उषा न उषाः ' स्याद् , न उषा न उषा ' उष्यम् ।  
केवलस्यापि यद् रूपं , ' पुषाः ' आङि इत्यते ॥  
वाऽङ्गाव्यरस्ये लुक् ॥ ६६ ॥

अलाभ्यरण्याथोऽऽङ्कारस्येह लुग्नयेत् ।  
ज्ञां अलां या लाक , अलाक च विकल्पनात् ॥  
एवं रण्यं अरण्यं स्यात् , ' अत इत्येव ' तास्यथा ।  
' आरण्य-कुञ्जरो ' नैव-स्यादावालेप इत्यते ॥  
वाऽव्ययोत्त्वातादावदाऽ ॥ ६७ ॥

अव्ययेषु तथोत्त्वाता-दिष्वाकारस्य बाह्यं भवेत् ।  
तत्राऽव्यये ' जह जहा , ' रूपं ' नह नहा ' तथा ॥  
' य वा ' ' इ हा ' ' इहाइइय ' प्रमुखा बहुवा मता ।  
उत्त्वातादौ तु-उक्त्वात्वं , उक्त्वात्वं , चमरो तथा ।  
चामरो , कलभो काल-आ परिच्छाविभो पुनः ।  
स्यात् परिच्छाविभो , संज्ञा-विभो संज्ञाविभो पद्मम् ॥

सहषण्डं तालवण्डं, त्रिषिभो त्रिषिभो भवेत् ।  
 तलशोषणं तालशोषणं, पायसं पयसं, स्मृतम् ॥  
 इतिभो ह्यसिभो, नारा-भो नराभो च, आरं ॥  
 अरं, कुमरो वाच्यः, कुमरो, बलधा पुनः ॥  
 बलाया, बाम्दणो बम्द-णा, पुत्रयाधो मतालरं ।  
 पुत्रवण्डो च, चक्रु जाडु, दावगी च दवग्यपि ॥  
 उन्नात चामरं ताल-वृणं प्राकृतहासिकी ।  
 स्यापितः कालको नारा-चो बलाका च आदिरः ॥  
 कुमरो, ब्राह्मणः पूर्वा-द्वधेमी कस्यविभ्यते ।  
 उन्नातादिरयं धीरे-राकृत्या परिगण्यते ॥  
 पञ्चवृक्षेषां ॥ ६७ ॥  
 प्ररुनिमित्तो हृदिक्रमे, य आकारोऽस्तु तस्य याऽव् ।  
 'पवाहो पवहो' वा स्यात्, 'पयोरा पयरो' तथा ॥  
 'पत्यायो पत्ययो' क्वापि, न 'राओ' शययाचकः ।  
 महागण्डे ॥ ६८ ॥  
 महागण्डे हकारस्या-ऽऽकारस्य स्वद्विधानतः ।  
 'मरददृ मरददो', 'पंतपुंसकनो भवेत् ॥  
 मांसादिपुनस्वारे ॥ ७० ॥  
 कृतानुस्वागमांसादा-वाकारो यात्यकारताम् ।  
 मंसं कंसं तथा पंसं, पंसणो कंसिभोऽपि च ॥  
 संसिभो पंसयो संसि-किभो संजंसिभो यथा ।  
 'अनुस्वारे' स्नि कथम् ?, 'मांसं पात्' न चाऽतिह ॥  
 मांसं पात्सं पंसं न कांसिकं वांशिकपात्सुवै ।  
 पांसुः सांसिककः सांया-त्रिको मांसादिरिष्यते ॥  
 उग्रामाके मः ॥ ७१ ॥  
 उग्रामाके तु मकारस्य, य आकारोऽस्ति नस्य तु ।  
 अदादेशेन उग्रामाकः, 'सामभ्रा' विनागधते ॥  
 ६ः सदादौ वा ॥ ७२ ॥  
 सदादिशब्देभ्यन्वं स्या-वाकारस्य विभाषया ।  
 'सया सह' च वा रूपं, कुण्पासो कुण्पिसोऽपि च ।  
 'निसामरो निसिभ्ररं', तथैवान्वं सदाद्यः ॥  
 आचार्ये चोऽच ॥ ७३ ॥  
 आचार्यशब्दे कस्याऽऽन-इत्यमरं च वा भवेत् ।  
 रूपं 'आयिभ्रो' तेन, सिद्धम 'आदिभ्रो' तथा ॥  
 ईः स्यान्-स्रव्योऽ ॥ ७४ ॥  
 स्यान्-स्रव्योऽयोऽ-रान् इत्वं विधीयते ।  
 वीणं धाणं तथा धिभं, खलीभो तेन सिद्धति ॥  
 उः साक्षा-स्तावके ॥ ७५ ॥  
 साक्षा-स्तावकयोरादे-रात उत्वं निगद्यते ।  
 तेन सास्ना भवेत् 'सुगहा', स्तावकः 'धुवभो' भवेत् ॥  
 ऊऽऽसमारे ॥ ७६ ॥  
 आसारशब्दे स्यादादे-रात क्तव विभाषया ।  
 तेन सिद्धति 'ऊसारो, आसारो' रूपयुग्मकम् ॥  
 आयायां येः इवश्राम् ॥ ७७ ॥  
 वस्यऽऽन ऊत्वं 'आयायाम्', 'अज्' श्रद्धां ततो भवेत् ।  
 'श्रद्धामितं' तु किम् ?, अजा, साधो श्रेष्ठऽपि मर्यते ॥  
 पद् श्राद्धे ॥ ७८ ॥

प्राहाराभ्ये भवेदेस्व-मातो गेज्जं ततो भवेत् ।  
 द्वारं वा ॥ ७९ ॥  
 द्वारशब्दे जवेदेस्व-माकारस्य विभाषया ।  
 द्वरं पक्के दुभ्रारं स्याद्, द्वारं वारं पदं तथा ॥  
 'नेरदभो नारदभो', स्यातां नेरयिकनारकिकयोस्तु ।  
 प्रायैऽन्यत्रापि यथा, 'पच्येकमंसं' तथाऽन्यदपि ॥  
 पारापते रो वा ॥ ८० ॥  
 जवेद पारापते रस्या-ऽऽकारस्यैत्वं विकल्पनात् ।  
 तेन 'पारवधो पारा-वभो' रूपद्वयं मतम् ॥  
 मात्रटि वा ॥ ८१ ॥  
 स्यान्मात्रदपत्ये वाऽऽन-एत्वं रूपद्वयं ततः ।  
 एकं 'एत्थिभ्रमेत् प-त्थिभ्रमेत्' तथाऽपरम् ॥  
 बहुलाद् मात्रशब्दे 'भो-अणमेत्' ततो जवेत् ।  
 उदात्ताऽऽर्द्धे ॥ ८२ ॥  
 आकारस्याऽऽर्द्धशब्दे स्या-दुत्सभंत्वं विभाषया ।  
 'उद्ध भ्राद्धं' तथा पक्के, 'अद्धं अर्द्धं' च वा जवेत् ॥  
 आदान्यां पङ्क्तौ ॥ ८३ ॥  
 'शाली' शब्दे जवेदान-श्रात्वं पङ्कथभोचने ।  
 'शाली' पङ्क्तौ विज्ञानीयात्, 'आली' नाम, सखी यदि ॥  
 इत्स्वः संयोगे ॥ ८४ ॥  
 दीर्घवर्णस्य इत्स्वः, संयोगे परतो जवेत् ।  
 तथादाशुन वधं, न सर्वत्र विधीयते ॥  
 तान्न 'तन्वं' आन्नं 'अम्वं', 'आस्यम्' 'अस्वं' प्रयुज्यते ।  
 मुनीन्द्रस्तु 'सुणिन्दो' स्यात्, तीर्थं 'तिथ्यं' तथा पुनः ॥  
 गुरुङ्गापाः 'गुरुङ्गावा', चूणः 'चूणो' प्रयुज्यते ॥  
 नरेन्द्रस्तु 'नरिन्दो' स्यात्, 'मिलिन्दो' मूच्छ उच्यते ॥  
 अथरोष्ठो 'ऽहर्कृ' सं-वेद्यं, नीलापत्रं तथा ।  
 'नीलुपत्रं' विज्ञानीया-देवमन्यद् निर्दशनम् ॥  
 इत् पद्दा ॥ ८५ ॥  
 संयोगे तु परे वाऽऽदे-रित् पत्वं विभाष्यते ।  
 पिणमं पणमं च धम्मिद्धं, धम्मिद्धं विबुधा विदुः ।  
 स्यात् सिन्दुर्गं तु सन्दुर्, विरदु वषट् निगद्यते ।  
 'पिट्ठं पेट्ठं' अगित्यवात्, 'चित्ता' इत्यत्र नो जवेत् ॥  
 किञ्चोके वा ॥ ८६ ॥  
 एत्वं वाऽऽदेरितो घेवं, किञ्चोके वाचके यथा ।  
 'कसुभं किमुभं' वित्दं, द्वयं रूपं वित्कृत्तुयाः ॥  
 मिरायाम् ॥ ८७ ॥  
 भवेदेस्वमिकारस्य मिरा मेरा ततो भवेत् ।  
 पथि-पृथिवी-मतिश्रुन्मृषिक-द्विरिच्छा-विचिंतिकेप्त्व ॥ ८८ ॥  
 पथि प्रतिश्रुत पृथिवी, द्विरिच्छा-मृषिकं तथा ।  
 विभीतकं जवेदादे-रितोऽप्यमिति अरथते ।  
 पदो च पुत्रवो पुत्रवो, पदसुभा मृसभो दलही तु ।  
 वा स्यादत्र हलहा, 'वहेरुभो' क्वापि वैकल्प्यम् ।  
 'पंधं किर देसित', 'न्यत्र तु पंधशब्दतुपयथाच्यस्य ।  
 पन्धशब्दस्य रूपं, हानज्यं शब्दविचित्रिह ।  
 शिथिलोद्भूदं वा ॥ ८९ ॥  
 शिथिलोद्भूदयोरादेरितोऽच् वा संप्रयुज्यते ।



सदिलं प्रवति पसदिलं, सदिलं पसदिलमिहा प्रवथेकस्यत्वात् ।  
इह्नुअमद्भूमिह्नुद-शब्दे रूपस्यै बोधयुम् ॥

तिसिरो रः ॥ ९० ॥  
रस्येतोऽस्य तिसिरो स्यात्, तेन रूपं हि 'तिसिरो' ।

इतो तो बाक्यादौ ॥ ९१ ॥  
वाक्यादेशरिति शब्द-स्याऽन्यस्येतोऽत्र संभवत्यस्यम् ॥  
'इअ' शब्दप्रवासात्, 'इअ' विभक्ति-कुसुमस्योऽपीह ॥  
ईमिहा-सिह-त्रिशद्विशतो त्या ॥ ९२ ॥

त्रिहाविषु इकारस्य, इकारः संप्रयुज्यते ।  
'जोहा' सीहा 'तथा' 'तीसा', यत् निरुत्तरं न्या सद ॥  
'बोसा' इति प्रवेद रूपं, किन्तु क्वापि न जायते ।  
'सिहदसो' 'सिहरासो' इति बाहुल्यकामतम् ॥  
लुकि निरः ॥ ९३ ॥

निरो रलोपे क्षीप्तेः स्या-द्विकारस्येति शब्धेन ।  
स्याद् 'नीसासं' 'नीसरह', एवमन्यजिदशंनम् ॥  
'लुकाति' किम् ? , यथा-निरस-दाइं अगाई, निरणभो ।  
द्वित्र्यारुत् ॥ ९४ ॥

त्रिशाब्दे न्युपसर्गे च, अवेदुत्वमितो यथा- ।  
दु-मत्ता च दु-आई च, दु-रेदो दु-विहो तथा ॥  
दुबयणं, वैकल्प्यं च, प्रवेदु बाहुल्यकादिह ।  
दु-बणो बि-उणो वैव, दु-अआ बिभसो यथा ॥  
'काबिच' द्विरः शब्दो, 'दिरभो' स्याद् द्विजो 'दिभो' ।  
भ्रात्यं क्वापि यथा रूपं, 'दो-बयणं' प्रपञ्चते ।  
स्याद् 'लुमभो' 'लुम-अर', न्युपसर्गे निर्वर्णनम् ।  
अनित्यत्वाद् 'निवद', प्रवर्तनीत्यादि चुरित्शः ॥  
प्रवासीकौ ॥ ९५ ॥

इकौ प्रवासिनि तथा, प्रवेदुत्वमितो, यथा- ।  
'उच्च' 'पाषासुयो' 'वैतद, इयं व्यादिप्यते पदम् ॥  
युधिष्ठिरे वा ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिरे भवेदावे-दित् अस्वं विकल्पनात् ।  
अहृदित्तो ततो रूपं, विकल्पेन जइदित्तो ॥

ओश् द्विधा कृगः ॥ ९७ ॥  
वचनोत्सवं द्विधाशाब्दे, वा कृगधातावितः परे ।

'दोहा-किअह' तेन स्यात्, 'तुदा-किअह' इत्यपि ।  
दोहा-इभं तुदा-इअ-मिति, 'कृग' इति किं ? , 'दिहाऽऽगभं' येन ।  
क्वचित् केवलस्य स्यात्, 'तुहा वि सो सुर-बहु-स्यधो' ।  
वा निजरे ना ॥ ९८ ॥

निजरे तु नकारेण, सहेतो वीस्वमित्यने ।  
'भ्राज्भ्ररा' 'भिरुदो' 'वेना-एअं' रूपं बुधा विदुः ॥  
हृरितक्यामीतोऽनु ॥ ९९ ॥

हृरितक्योपदे रीक्षा-रस्येतोऽस्यं विधीयते ।  
रूपं 'हरदई' तेन, 'बुधैरवं' प्रयुज्यते ।  
आतु करर्मी ॥ १०० ॥  
आस्वमीतोऽस्तु करमीरे, 'कम्हारा' तेन सिद्धति ।  
पानायाद्विष्वत् ॥ १०१ ॥

पानीयादिवु शब्देषु, स्यादतीतोऽनेत्वमभूयम् ।  
पाणिषं ब्राह्मिं श्रासि-भंतं जिअह शान्तिभं ॥  
विलिभं करितो वन्मि-भो तयाणि च जीअउ ।  
दुरभं तरभं गदिह, गदिभं तिरिसो च पलिविभं पलिस्र ॥

वयिणभमिति संघेधः, पानीयविर्गेषो विबुधा ।  
बाहुलकात् क्वाचिदेषु, स्याद् वैकल्प्यं ततः करीतोऽपि ॥  
पाणीभ्रं च अलीभं, उवलीभो अजीअ स्यात् ॥  
पानीयं क्वादित् वत्सी-कं नदानीं प्रदोपिनम् ।  
अवसाददलीकं चा-ऽऽनीतं जावति जीवतु ॥  
उपनीतं गृहीतं च, शिरीषं च प्रसीद च ।  
गभोरतुनीयकरी-बन्दिनीयादयः स्मृत्याः ॥  
उज्जाणौ ॥ १०२ ॥

जीर्णशब्दे भवेदीत-उत्सवं ज्युष-सुरा ततः ।  
जिषे भोअणमत्ते च, नात्र बाहुलकाद् भवेत् ॥  
ऊर्दानी-विहीने वा ॥ १०३ ॥  
ऊत्सवं हीने विहीने स्या-दीकारस्य विभाषया ।  
दृष्या हाणो विहीणो च, विदृषो सिद्धिमाययुः ॥  
तीर्थं हे ॥ १०४ ॥

ऊत्समीतो भवेत् तीर्थ-शब्दे हे तु कृते सति ।  
तूह, 'हे' इति किं प्रोक्तम् ? , 'तिर्थं' नात्र यथा-भवेत् ॥  
एत् पीयूषापीद-विभीतक-कीटशेष्टो ॥ १०५ ॥  
पीयूषापीद-विभीतक-कीटशेष्टो स्यादेत्वम् ।  
पेकस आमेलो, बहेदभो केरिसो परिसो ॥  
नीद-पीडे वा ॥ १०६ ॥

नीदपीडयोरीतो, वा स्यादस्यं तत्तश्च सिद्ध्यन्ति ।  
नेदं नीदं पेदं, पीदं क्वाप्यन्यथाऽपि स्यात् ॥  
ततो मुकुलादिष्वत् ॥ १०७ ॥  
मुकुलादीनामादे-कतो भवेदत्वम् तत्रेन स्युः ।  
मउलं मउलां मउरं, मउदं अगदं गल्लरं च ॥  
जइदित्तोऽय च गदरं, जइदित्तो सोअभ्रममिति शब्दाः ।  
कचिदाकारोऽपि स्याद्, यथा-विदुनस्यु 'विदाभा' ॥  
मुकुलां मुकुरो गुर्वी, सौकुमार्यं-युधिष्ठिरे ।  
अगुरुभं मुह्वी च, मुकुदं मुकुलादयः ॥

वांपरी ॥ १०८ ॥  
उपरी स्यादुतो वाऽस्त्वम्, अघरि उवर्गि यथा ।  
गुरी के वा ॥ १०९ ॥

गुरोः कृते स्वार्थिके के, वाऽस्त्वमादेकतो भवेत् ।  
गदभो गुरुभो रूपे, कं विना तु 'गुरु' स्मृतम् ॥  
इह्नुकुटौ ॥ ११० ॥  
मुकुटौ स्यादुतभादे-तिर्यं हि 'मिउडी' भवेत् ।

पुरुषे रोः ॥ १११ ॥  
पुरुषे रोकतः स्यादः, पुरिसो वा पउरिसं ।  
ईः कुते ॥ ११२ ॥  
क्षुतं प्रयुज्यते छीभं, भवेदीत्वमुतो यदा ।

ऊत् सुजग-मुमले वा ॥ ११३ ॥  
सुजगे मुसले च स्या-दुत ऊत्सवं विज्ञापया ।  
सुदया सुदयां तेन, मुसलं सुसलं भवेत् ॥  
अनुस्माहात्सभे त्स्ते ॥ ११४ ॥

अस्माहात्सभेति यौ, शब्दे त्स्तेऽपि निरीकृतौ ।  
तयोरादिकारस्य, नित्यमृष्यं विधीयते ॥

कसुभो ऊसयो ऊसि-सो ऊसरह, उरुकुः ।  
 ऊसुभो ऊससह च-स्यादि बेधं निदर्शनम् ॥  
 उत्साहोत्सन्नयोस्तुच्छा-हो उच्छन्नो निगद्यते ।  
 लुकि दुरो वा ॥ ११५ ॥  
 दुगो रफस्य लोपि स्या-दुग ऊरवं विकल्पनात् ।  
 दुमहो दुमहोऽपि स्यात्, दुहयो दुहयो तथा ।  
 स्ये लुकीति किं ? मोकं, दुस्महो विरहोऽत्र न ॥  
 भ्रातृ संयोगे ॥ ११६ ॥  
 भ्रातृवमादेकनो नित्यं, संयोगे परतो प्रवेत् ।  
 तालमं मोरमं पोखरं कोटिमं वा,  
 कोणदो कोणतो पोखरं कोणदो वा ।  
 पोखरं वा भांगरो पोखरं वा,  
 मोलया वैतान्मन्यस्य लयायामि सति ॥  
 कुण्डले वा इत्यर्थः ॥ ११७ ॥  
 कुण्डले भवेदोत्वमुतो इत्यर्थः वा ततः ।  
 कोऊदले कोऊदलं, कुऊदलमिति प्रथम् ॥  
 अद्तः सुद्धं वा ॥ ११८ ॥  
 सुद्धमशब्दे प्रवेदत्व-सूतो वा तेन सिद्धमिति ।  
 सपद सुदहं तथाऽप्ये तु, 'सुद्धं' संप्रयुज्यते ॥  
 दुकुले वा लक्ष द्विः ॥ ११९ ॥  
 दुकुलशब्दे वाशवं स्या-दुको लक्ष द्विरुच्यते ॥  
 दुमद्यं च दुऊतं च, 'दुगुडं' त्वापि उच्यते ॥  
 ईवो इत्येव ॥ १२० ॥  
 उद्गुण्डगाम्भे स्यादीन-भूकारस्य विभाषया ।  
 'उब्धादं' तेन 'उब्धुः', भवं विद्वद्भिरुच्यते ॥  
 उद्गुण्डनूतकारस्य-वागुले ॥ १२१ ॥  
 उद्गुण्डनूतकारस्य-वागुलेषु उभेवत् ।  
 ह्यमया इनुमंतो वा-उजं, कणुडमहं स्मृतम् ॥  
 मधूके वा ॥ १२२ ॥  
 ऊत इत्वं मधूके वा, मधूकं मधूकं यथा ।  
 इदं नूपुरे वा ॥ १२३ ॥  
 इदं नूपुरं स्याता-भूकारस्य विकल्पनात् ।  
 निउरं नउरं पके, नउरं संसर्काल्येन ॥  
 भ्रातृ कृष्णादो-त्तीर-कर्प-रथु-नाम्बूल-  
 गृह्णी-मृष्ये ॥ १२४ ॥  
 कृष्णादो-रथु-नाम्बूल-गृह्णी-मृष्य-कूपरे ।  
 त्तीरे च भवत्योत्वभूकारस्येति दर्शयते ।  
 काहदो काहदो धारं, तोणीरं कोल्परं तथा ।  
 मोलं गतोरे तंबोलं, म्पुकमेण प्रदीतम् ॥  
 स्यूणा-त्पूणं वा ॥ १२५ ॥  
 स्यूणा-त्पूणयोरेत्वभूकारस्य विभाषया ।  
 धाणा पूणा तथा ताणं, तूणं वैभवमुद्दानम् ॥  
 अतोऽनु ॥ १२६ ॥  
 अकारस्याऽऽदि नूतस्य, प्रभावस्यमित्येते ।  
 वृषभो वसहो वाच्यो, वृषो बहुऽऽनिधीयते ॥  
 पूनं धयं, पूणं तणं, कृतं कथं, सुगो अग्नो ॥  
 उदारं कृपादिवा-उतोऽप्येत्वमित्यपि ॥

भ्रातृ कृष्णा-मृदुक-मृदुते वा ॥ १२७ ॥

मृदुक-मृदुत्व-कृष्णाया-भारवमुतेः स्यात् यथा किंसा कासा ।  
 माउकं च मरुण-मय माउकं च मरुभं वा ॥

इत् कृपादी ॥ १२८ ॥

कृपेत्यादिषु शब्देषु, भवेदित्येवमगो यथा ।  
 किंसा मिठं रसे वाच्यं, मट्टमन्यत्र पठ्यते ॥  
 दिशयं दिट्टं सिठं, दिठो सिठो निवो कियो किंसा ॥  
 मिट्टो पिच्छी इषी, मिष्ठी तियं बिहं किच्छं ॥  
 सिंगारो सिंगारो, मिगो किमिच्छं निजु सिणा सुसिणं ।  
 किसरो किरे सिमालो, भिसो विहरो जिहा किमिषो ॥  
 विच-करे वाहिचं, किसो क्षमिष्ठी च सह किसाणुषा ॥  
 हिमं विबुभो विचं, रसो निस्सो च उकिचं ॥  
 विचरं तथा विहिभो, किमालयं वा कृपायक्षेते ।  
 बाहुलकादपि कार्य्यं, वेचं सिच्छेदु यथा रिखी ॥  
 कृपा सृष्टं सृष्टं इत्य-भ्यु-सृष्टं कृपुणो,  
 पूणा इष्टिः सृष्टिः कृति-पुसृण-सृष्टिः कृशाहती ॥  
 वृसी पृष्वी कृत्या कृषित-कृपणी बुध्भिकृषती ॥  
 नृशासो भृक्षारः कृशर-सकृतो व्यात-श्रुपी ॥  
 उकृष्ट-संहित-शृगाल-कृशात-सृष्टि-  
 शृक्षार-बृक्षकवि-वृष-कृपाण-नुसाः  
 अष्टि-सृष्टे अथ वितृण-समृष्टि-कृष्ण-  
 शृक्षारसु वृष्टिरपि तऽत्र कृपात्यः स्युः ॥

पृष्टे वा-ऽनुसरपदे ॥ १२९ ॥

स्यात् पृष्टे-ऽनुसरपदे, वेर-वस्यूत्वस्य, तद्यथा-  
 पिठो पठो पिठि, परि-दुविभं संप्रयुज्यते ॥  
 किमनुसरपदं इति ?, महिचवं यथा भवेत् ।

मसृणभृगाङ्ग-सृत्य-सृष्ट-पृष्टे वा ॥ १३० ॥

सृष्टे पृष्टे सृगाङ्गे च, सृष्टी च मसृणं तथा ।  
 अकारस्य भवेदित्येवं, विकल्पेनेति दर्शयताम् ॥  
 स्यात् मिश्रङ्गो मयङ्गो वा, मिच्छं मच्छं च पठ्यते ।  
 सिंगं संगं विजानीयाद्, पिठो बहुऽपि गद्यते ॥

उहत्वादी ॥ १३१ ॥

अत्वादीनामृकारस्य, भवेदादेककारता ।  
 उक पुठो परासुठो, पउठो पुहरे सुरे ।  
 पउषो पाउसा बुदा-वणो बुठो च नितुलुं ॥  
 पाउभो पाउहं बुठी, उज्जु बुलन्त संभुभो ।  
 निवृषं निउभं जामा-उभो माउभो भाउभो ।  
 मुणालं च परदुभो, बुवं पदुष्टि निवृष्टि ॥  
 विउभं उलहो पिउ-भो, पुहयो च माउभो ।  
 अतुः परासृष्टमुणालवृन्दा-वनमृष्टिप्रभुनिमृष्टः ।  
 वृन्धं भ्राम्रात्कामात्कामा-रुद्धं जामात्कृष्टिदुष्टः ॥  
 विवृष्टनिवृष्टवृत्ता-स्ताभृष्टिप्रभुतमा-  
 वृत्तपल्लुकृष्टिव्यः, संवृष्टप्रभुवृषी च ।  
 परभृष्टनिवृष्टस्यु-ष्टानि निवृष्टस्युष्टी,  
 परिपठति च अत्वा-दिं गणं निवृष्टिभः ॥

निवृष्ट-वृन्दारके वा ॥ १३२ ॥

अत उरवं वा वाच्यं, निवृष्टवृन्दारके परे तु यथा ।  
 वृन्दारया च वन्दार-रथा निवृष्टं निवृष्टं च ॥

वृषभे वा वा ॥ १३३ ॥

वृषभे वेन साकं स्या-दकारस्थोत्वमत्र वा ।

'उसहो वसहो' वैया-दशं रूपं प्रयुज्यते ॥

गौणान्त्यस्य ॥ १३४ ॥

शुशीभृतस्य शब्दस्य, योऽन्त्य श्च्युत् तस्य उद् भवेत् ।

स्याद् माउ-मपहलं, माउ-हरं पिउहरं तथा ।

माउ-सिआ पिउ-सिआ, तथा पिउ-वणं स्मृतम् ॥

मातुगिद्दा ॥ १३५ ॥

माउ-शब्दस्य गौणस्य, श्चुत् इत्वं विकल्पते ।

माउ-हरं माउ-हरं, कापि माउ-णमित्येते ॥

उद्दान्मुषि ॥ १३६ ॥

भौबुद्धच क्रमादेनद्, मृयाशब्दे भवेदनः ।

मोसा मूसा 'मूसा मोसा-वासा' चेट्क प्रयुज्यते ॥

इदुतो वृष्ट-वृष्टि-पृथक्-मृदङ्ग-नमके ॥ १३७ ॥

वृष्टौ वृष्ट् मृदङ्ग च, नल्पके पृथगव्ययं ।

श्चकारस्येदुतो स्यातां, तदुदाहिचने यथा-॥

स्याद् मिहङ्गो मुहङ्गो वा, नालभ्यो नलभ्यो तथा ।

विष्टो वुष्टो तथा विष्टो, वुष्टो रूपं सिहं पुहं ॥

वा वृहस्पतौ ॥ १३८ ॥

वृहस्पतो भवेद् श्चुतो, विकल्पनादिबुद्ध तथा ।

विहृफरैः वुहृफरैः बहृफरैः च पालिभ्यः ॥ [नगस्यकपिणीवं०]

इदेदोद्भूते ॥ १३९ ॥

श्चकारस्य भवेदित्त्वमेवभारच्च यथाक्रमम् ।

तेन दूफनं भवेद् 'विष्टं, चेटवं वा'० ट' विथाऽऽत्मकम् ॥

रिः कवलस्य ॥ १४० ॥

केवलस्य श्चुतो रिः स्याद्, 'रिच्छी रिच्छो' ततो भवेत् ।

क्रुणञ्चैषनत्त्वौ वा ॥ १४१ ॥

श्चणञ्चुत्कृष्णनञ्चतुक्पिषु, श्चुतोऽस्तु वा रिः रियों अणं रिञ्चु ।

उउत् 'रिसदो रसहो', रिक् उऊ स्याद् 'रिसो' इस्सो रूपम् ॥

दशः किप्-टनमक ॥ १४२ ॥

किप्-टनमकस्य दशो-धातोः रिः स्याद् श्चुतो यथा ।

'सहृषयोः स्त्रियस्यो', सहृषः स्रिसो मयः ॥

सहृषस्तु 'स्रिच्छो' स्याद्, यादशो आरिसो भवेत् ।

पयं पयारिसो अशा-रिसो अहृहारिसो तथा ॥

तारिसो करिसो तुम्हा-रिसो सन्नाह जुरिसाः ।

त्प्राधाण्यादि-( ५११, १५२ ) सूत्रोक्तं, प्रत्ययः किबिहृष्यते ॥

आहते हिः ॥ १४३ ॥

आहते तु श्चुतो हिः स्याद्, 'आदिभ्यो' तेन सिद्धयति ।

अग्रिदस्ते ॥ १४४ ॥

दशशब्देऽरिरादेश-भ्रकाणस्य विधीयते ॥

कससिहंन वरिभ्र-लीडेणनि निगद्यते ॥

सुन इस्सिः क्कस-क्कै ॥ १४५ ॥

क्कस-क्कस्योरमयो-सुन इस्सिरादेश इत्यते तेन ।

धागाकिल्लवच, किल्लिभ-क्कुम्भोवायंगु ॥

एत् इद् वा वेदना-चंपया-देवर-केमरे ॥ १४६ ॥

वेदनायां चंपयायां, देवरो केमरे तथा ।

एत इत्वं विकल्पेन, भवेदित्त्ववगम्यताम् ॥

विभ्रणा वेत्रणा वा स्यात्, चवेडा चविडा तथा ।

दिभ्ररो देवरो वेधो, किमरं कसरं मतम् ॥

ऊः स्तेने वा ॥ १४७ ॥

एत ऊरपं तु वा स्तेने, पूषां धेणां इयं जनेव ।

एत एत् ॥ १४८ ॥

येकारस्यादिभूतस्य, भवत्यस्यं ततो भवेत् ।

वेदय्यं केदवो वेङ्गो, सेला एरायणा तथा ॥

तेषुक्क वैच कलासां, कृपाणयेनानि सन्ति च ।

इत् सैन्धव-शानैश्वरं ॥ १४९ ॥

एत इत्वं अथेन्नियं, सैन्धवं च शानैश्वरं ।

साण्णचरं सिघवं च, इयं रूपं प्रसिष्यति ।

सैन्धे वा ॥ १५० ॥

एत इत्वं तु वा सैन्धे, 'निवं सैन्धं' ततो इयम् ।

अहद्वैयादौ च ॥ १५१ ॥

पेताऽहः सैन्धयशब्दे स्याद्, वैत्यादौ च तथा गणे ।

सैन्धं सद्रभं सम्राजं, वैत्यादिभेदकेनेऽणुना-॥

अहस्ररिभ्रं वडजवणां, वडआल्लिभ्रं च कडअवं सहरं ।

वडएसां च दद्वेषो, चइत्त वडत्तम्-वडमालो ।

वडगरो च वडम्मा-गरो वडवअ वडर-वडमदो ।

अभव च इति वैत्यादि-गणां कुपेय्यादुतः पूर्वेः ॥

'विनेठेये तु न जवति'—वेदश्रमिति चैय इत्यने रूपम् ।

आये-—चैयवन्दनं चि-वन्दणं-मुच्यते सत्तुः ।

वैत्यादौ वैयं भैरवो वैवंतं च, वनाल्लो वैकतं च्वर-चैयम् ॥

वैशालो वैशाक-वैशाखरो वै-द्वतो वैदेयाक्क वैदेश पयम् ॥

वैश्वर्यं च वैजवनं, वैत्यादिगणे इत्ययम् ।

आहुत्या गणयते यस्माद्, न स कर्यानिभ्यस्ततः ॥

वैगदौ वा ॥ १५२ ॥

वैगदिषु भवेदौतो-ऽप्रादेशो विकल्पनात् ।

तेन रूपद्वयं वैरं, 'वडरं वैरं' मीदशम् ॥

कडसालो कलामो, वडसयणो पत्तये च वेसयणो ।

वडआलिभ्यो च वैशा-लिभ्यो, चडसो तथा चसो ।

कडरचमिति करयमिदं, वडमिअमिति वेसिभ्रं वा स्यात् ।

वरसंवायण-वस-वायणकपडय च मतम् ॥

वैरं वैश्रवणां वैशा-व्यायनभ्र-केरवं ।

कैलासां वैशाकां वैशा-सिकां वैरादिच्युते ।

एव वैवे ॥ १५३ ॥

एत एत्त्वमशयं च, देवशब्दे पृथग्भवेत् ।

देवं दद्ववं दद्ववं, रूपयमुदाहृतम् ॥

उभेनीवैरिअः ॥ १५४ ॥

अत्र वनादशादेशो, भवेदौतोऽविकल्पतः ।

उभेनीवैरिति पदे, नीचअ उरुचयं तथा ॥

इद् धैये ॥ १५५ ॥

धैयं-शब्दे जेवनेत-ईयं 'धीरं' ततो भवेत् ।

ओतोऽहोऽप्याऽप्य-प्रकाशाऽऽनोय-शिरोवेदना-

मनोऽह-सरोऽहे क्तोश्च वः ॥ १५६ ॥

शिरोवेदनाऽऽनोऽप्य-प्रकाश-मनोऽह-सरोऽहोतोऽहो ।

अतोऽह्यं वा, क-तयो-यथासंज्ञे च शयं स्यात् ॥

अक्षरं भन्तुश्च, मयादरं मणदरं, सिरांविभ्रणा ।  
सिराविभ्रणा, भावञ्जं, भावञ्जं सरुहं सरुकरुहमिति ॥  
रूपं भवति पवट्टे, तथा पवट्टो प्रकोष्ठशब्दस्य ।  
बाहुलकाद्यपि काच्ये, कविदिदं वेद्यं यथास्थानम् ॥

उत्प्लोचवासि ॥ १५७ ॥

भ्रात ऊचं तु सोऽप्यासं, सुसासं सिद्धिमुच्यति ।

गण्यउ-आभः ॥ १५८ ॥

'अभ'-'आभ' इत्यादेशौ, स्या-तामोलस्तु गोपदे ।  
गठभ्रा गडभ्रा गाभ्रा, 'गार्धे एसा हरस्स' च ॥

भ्रात भ्रातु ॥ १५९ ॥

भौकारभ्यादिजुनस्य, भवेदेत्वमिति (सिधतम्) ।  
कौमुदी- 'कौमुदे' कौञ्ज- 'कौञ्जे' यौवनमेव च ।  
'जौवण' कौस्तुजः 'कान्तु-हो' कौशाम्बा च कौशिकः ।  
'कौसर्बा' 'कौसर्बा' रूपं, यथाक्रममुदीरयत् ।

उत् सौन्दर्यादा ॥ १६० ॥

उदादेशो जेवदौनः, सौन्दर्यादिषु, तथापि ।  
सन्दरं सन्दरिभं, सुगन्धवर्णं सुवारिभो संभे ।  
सुकोश्रणा पुलोमी, मुजायण सुवगिणश्रां प्रवति ।  
सौन्दर्य-शांका-पौञ्जामी-दीवारिक-सौवर्गिकाः ।  
सौञ्जायनः शौकोदरिनः, सौन्दर्यादिः प्रकीर्तितः ॥

कौञ्जिके वा ॥ १६१ ॥

कौञ्जिकशब्दे स्या-दीकास्त्वयमत्र वैकल्यम् ।  
कुच्छेभ्यं च कोच्छे-भ्यं द्विरुपं समुद्दिष्टम् ॥

अउः पौरादी च ॥ १६२ ॥

कौञ्जिकं च पौरादी, य श्रीकारः प्रपठ्यते ।  
तस्य स्याद् अउरादेशः, कउच्छेभ्यमित्यपि ॥  
पौरः-पउरा, मौमा-गउमा, सौंधो निघण्टे सवहं ।  
कौशसिंह कउसलमिति, पौरुषसिंह पउरिसं वेद्यम् ॥  
स्यात् कौरवः कउरवा, सौराः सउरा बुधेर्निगण्टे ।  
मौलिः-मउली, मौनं-मउवा, कौशालथा कउला ।  
पौरा गौरः कौशसं पौरुषं च, सौराः कौशाः कौरवा मौन-सौधौ ।  
मौलिः पौरादिगणो धीरवर्धे-राष्ट्राय संख्यायते नेह सख्या ॥

आच गौरवे ॥ १६३ ॥

श्रीन आचम्, अउश्च स्या-दादेशो गौरव पदे ।  
स्याद् गारव गउरवं, कविभिः संप्रकीर्तितम् ॥

नाव्यावः ॥ १६४ ॥

भावाऽदेशोस्तु नौ-शब्दे, औनो 'नावा' ततो भवेत् ।  
पत् त्रयोदाशादी स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन ॥ १६५ ॥

त्रयोदादिषु संख्या-शब्देषु सस्वरेण हि ।  
परंण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥  
यथा-तरद तेवीसा, तेगीसा परिपठ्यते ।

स्थविर-विचकिन्नायस्कार ॥ १६६ ॥

स्थाविरं च विचकिन्नायस्कारे सस्वरेण हि ।  
परंण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥  
थेगं वेह्लं पकारो, विभ्रह्लमपि कच्चिद् ।

वा कदले ॥ १६७ ॥

वित्रायथा तु कदल-शब्दे स्वरयुतेन हि ।  
परंण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥  
कयलं कयली कली, कलं रूपचतुष्टयम् ।

वेतः कणिकारे ॥ १६८ ॥

कणिकारे भवेदेत्वमिति वा सस्वरेण हि ।  
परंण व्यञ्जनेनेह कणिकारे कणिकारभ्रा ॥

अथौ वैतु ॥ १६९ ॥

प्राकृते तु विकल्पेना-ऽपिशाब्दे सस्वरेण हि ।  
परंण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥  
'अद् इम्मलिये' 'पे बा-हेमि' चैवं प्रयुज्यते ।  
पेकारस्य प्रयोगोऽपि, प्राकृते नेन हुष्यते ॥

भ्रात-पुनर-वदर-नवभाभिका-नवफजिका-पुगफजे ॥ १७० ॥

पुनर-नयमालिकयोः नवफलिकावदरयोश्च पुगफजे ।  
व्यञ्जनसहितेनाऽऽदेः, स्वरस्य यौत्वं परस्वरेणापि ।  
नोमालिभ्रा पांफजं, मोहलिभ्रा पांफजो तथा घोरौ ।  
पोगं घोरं रूपं, निदर्शितं काविदेवमम् ॥

नवा मधुख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थे-चतुर्दश-  
चतुर्वारं मुकुमार-कुतूहलादृक्कोदुत्सवे ॥ १७१ ॥

उत्सवे चतुर्वारं, सुकुमारं चतुर्दशे ।  
उत्सवं मयुखं च, लवणं च चतुर्गुणं ।

कुतूहलं चतुर्थं च, वैकल्यं सस्वरेण हि ।  
परंण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥

मोहो मऊहो लवणं, लोणं भवति चामुणो ।  
चउमृणो, चउरथो चा-थो, चउहइ चाहइ ।

चाउवारा च चउवारा, कोउहलं च कोइलं ।  
सुकुमालो च सोमालो, भ्राह्मणे स्यादुऊहलो ॥

उऊललं आंकलं स्या-देवं सर्वमुदाहृतम् ॥

अवापाते च ॥ १७२ ॥

उने ऽपेऽपेऽप्येयं शब्द-त्रये, वा सस्वरेण हि ।  
परंण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ।

'भ्रा सरदे' 'भव यरदे', तथाऽवयवाभा भवच्च 'भ्राभासो' ।  
'भ्रा सरदे' 'भव सरदे' भ्रा-सारिभ्रमवसारिभं चैव ॥

भ्रा घणं, भ्रा घणो, अश-वणमुभ्र घणोऽप्य च बाहुलकात् ।

'अवगय-भवसहो, उअ, रवी' न चैतवं प्रवत्यम् ॥

उच्चोपे ॥ १७३ ॥

अपसर्गे तुपशब्दे, सार्कं वा सस्वरेण हि ।  
परंण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं तथोद् भवेत् ॥  
अवदसिभं भ्राह्लसिभं, ऊह्लसिभं वा अह्लकाभ्रां ।  
भ्राह्लकाभ्रा ऊह्लकाभ्रा, त्रयं त्रयं चात्र रूपं स्यात् ॥

उमो निपण ॥ १७४ ॥

निपण-शब्दे वैकल्य आदेशः सस्वरेण हि ।  
परंण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥  
ह्रामपणो च गिलपणो च, बुधे रूपद्वयं स्मृतम् ।

प्रावरणे अह्लवाज ॥ १७५ ॥

'अह्लु' 'आभ' इत्यादेशो, शब्दे प्रावरणे स्मृतौ ।



पुत्राग-भागिन्योर्गो मः ॥१६०॥

स्यात् पुत्रागं च प्रागिन्यां, गकारस्य मकारता ।  
'पुत्रागमाहं वसन्ते च' भागिणी' संप्रयुज्यते ॥

छागं छः ॥१६१॥

गागं गस्य लकारः स्यात्, ग्राहो ग्राहो च सिध्यतः ।

ऊत्वे बुर्भग-मुचगे वः ॥१६२॥

बुर्भगे सुभगं चोत्वे, कृते गस्य तु वा भवेत् ।  
दृढयां सुहवासन्त्वे-ऽदृढश्रा सुहश्रा' मतः ॥

खचित-पिशाचयोश्चः स-द्वौ वा ॥१६३॥

खचिते तथा पिशाचे, वस्य तु स-द्वौ विकल्पतो भवतः ।  
खसिभ्रो खइभ्रो तस्माद्, भयति पिस्सङ्घो पिस्साभ्रो च ॥

जाटिले जो भो वा ॥१६४॥

जटिले जस्य भो वा स्याद्, कर्मिलो जटिलो तथा ।

टो मः ॥१६५॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य ङो भवेत् ।  
मडो मडो घडो रूपे, घडइ प्रणिगद्यते ॥  
अस्वरात् जंबूदं घटा, खट्टा-संयुक्तदेशानात् ।  
आदेरेवेत्यतः 'टक्को' क्वचित् स्याद् यथा-ऽटइ ॥

सटा-शकट-केटने ङः ॥१६६॥

सटायौ शकटे केट-ने शब्दे ङस्य ङो भवेत् ।  
केटवो सयटो तद्वत्, सटा रूपे पृथक् पृथक् ॥

स्फटिके ङः ॥१६७॥

स्फटिके ङस्य लादेशे, 'फटिङ्गो' सिक्किसृजति ।

चपटा-पाटौ वा ॥१६८॥

चपेटाय च, वा सयन्ते, पटिधानौ च ङस्य ङः ।  
चविला चविडा फाले-इ फाइइ प्रसिध्यति ।

ढो ङः ॥१६९॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य ङो ज्ञेत् ।  
मडो सडो च कमडो, कुडारो पडइत्यपि ॥  
स्वरादित्येव चकुडो-ऽसंयुक्तस्यैव चिदृइ ।  
अनादेरेव 'ह्रिअप-गह' खेवं प्रयुज्यते ॥

अङ्गुठे ङः ॥१७०॥

अङ्गुठे ङस्य लो द्वित्व-भूतो भवति तेज हि ।  
अकाङ्क्षतङ्ग-तुष्पं तु, परं लोकेः प्रयुज्यते ॥

पिउरे हो वा रश्च ङः ॥१७१॥

पिउरे ङस्य हो वा, हस्य योगे च रस्य ङः ।  
पिइडो पिडरो रूप-इयं सिक्किमुपागमत् ।

भो लः ॥१७२॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य लो भवेत् ।  
प्रायो, 'गहश्रो' शडवा-मुञ्चं च-चलवामुदं' ।  
असंयुक्तस्य कि-ल्लगो, स्वरात् किम-मोडमिष्यते ।  
अनादासिते किम् ? डिभो, प्रायः किम् ? कापि वा भवेत् ॥

वत्सि वत्सिं षाली, षालो वाऽन्ति लामं लामं ।  
दाहिमं दाहिमं आमं-लो आमं डो, गुलो गुडो ॥  
क्वचित्त्रिव, यथा-नीड निविडं गउडो तमी ।  
बड् पीडिअमित्यादि यथालक्ष्यं विनाश्वयताम् ॥

वेणी णो वा ॥ २०३ ॥

वेणी तु णस्य लो वा स्यात्, 'यत्त्वेणु' इय मतम् ।

तुच्छे तश्च-द्वौ वा ॥ २०४ ॥

तुच्छशब्दे तकारस्य, च-द्वौ वा स्तो यथाक्रमम् ।  
तुच्छं तुच्छं तथा तुच्छं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

तगर-चसर-तुवरं टः ॥ २०५ ॥

तगर-तगर-तुवर-पदे, तस्य टकारं विधीयते तस्मात् ।  
टसरो टगरो टुवरो, रूपत्रयमत्र जानीहि ॥

मत्यादौ ङः ॥ २०६ ॥

प्रत्यादिपु शब्देषु तु, नस्य मकारः प्रवर्तते तस्मात् ।  
पडिवचं पडिहासो, पडिदारो पडिनियसं च ॥  
पाडिष्कडो पडिमा, पडंसुभ्रा पडिवचा च पडिसारो ।  
पडुडि पाहुं मरुयं, बहडंश्रा हरमई पडाय वा च ॥  
डुष्कतं डुक्कडं श्वापि सुद्वेने सुकडं तथा ।  
अभवत् च्चाऽयइडं, श्राहते त्वा ऽऽहडं स्मृतम् ॥  
प्रायः किम् ? प्रतिसमयं परसमयं, प्रतीयमित्ति पर्यं च ।  
संप्रति संपइ बोध्यं, तथा प्रतिपद्य पडुडु वा ॥  
प्रति-प्रवृत्ति-सूतक-प्राज्ञताश्च हरीतकां ।  
विभीतक-पताका-स्या-पूता, प्रत्यादिस्थित्ये ॥

इत्वे वेतमे ॥ २०७ ॥

इत्वे सति तकारस्य, ङः स्यात् शब्दे तु वेतसे ।  
वेडिसो, इत्वं इति किम् ? 'वेडिसो' नेत्यमत्र तु ॥

गमितानिमुक्तके णः ॥ २०८ ॥

गमितानिमुक्तकयो-स्तस्य णकारः प्रवर्तते तस्मात् ।  
अणित्तयं गग्भिणाऽपि, क्वचित्त्र-अइमुक्तयं जवति ॥

रुदिते दिना एणः ॥ २०९ ॥

रुदिते तु दिना साकं, तस्य षे-रुणमुक्तयते । \*  
सप्तती रः ॥ २१० ॥

सप्ततिः सप्तरी जाता, तस्य रे विहिते सति ।

अतसी-सातवाहने लः ॥ २११ ॥

\* अत्र केचित् श्रुत्यादिषु इ इत्यारभ्ययन्तः, स तु शौ-  
रसेनीमागर्थाविषय एव इहयते इति नोच्यते । प्राकृते हि  
श्रुतः- 'रिक्त' 'उक्त' । रजतम्- 'रस्य' । एतद्- 'एअं' ।  
गतः- 'गओ' । आगतः- 'आगओ' । सांप्रतम्- 'संपयं' ।  
यतः- 'जओ' । ततः- 'तओ' । कृतम्- 'कयं' । इ ( इ )  
तम्- 'हयं' । इलाशः- 'इयासं' । भुनः- 'सुओ' । आकृतिः-  
'आकृई' । निवृत्तः- 'निवृओ' । तातः- 'ताओ' । कतरः- 'क-  
यरो' । द्वितीयाः- 'डुइ ( ई ) ओ' । इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति ।  
न पुनः 'उद्' 'रयदमित्यादि । क्विद् ज्ञावेऽपि 'व्यत्य-  
यश्च' ( ४१७७ ) इत्येव सिद्धम् । 'दिहा' इत्येतदर्थं तु  
'धृतेर्दिहिः' ( २१३१ ) इति धरयामः ।

अतस्त्री-सातवाहने, तस्य लकारो भवेद्, यथा-अस्त्री ।  
सालवाहणोः साला-हणो च सालाहणी भासा ॥

पलिते वा ॥ १११ ॥

पक्षिते तस्य लो वा स्यात्, पक्षिलं पक्षिर्ग्रं यथा ।

पक्षिं वो लो वा ॥ ११२ ॥

पाने तस्य तु वः स्यात्, स्वाधेयकारे परे विकल्पेन ।

भवति पांचल पाञ्जलमिति, लः किम् ? स्याद् यथा-‘पाञ्ज’ ॥

वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे ङुः ॥ ११४ ॥

वितस्नौ वसतौ मातु-लिङ्ग भरत-कातर ।

पञ्जस्त्वु लकारस्य, हकारादेश इष्यते ॥

विहरत्यां, वसही क्ति-नाय स्याद् ‘वसहे’ यथा ।

भरदो काहलो माडु-लिंग येतदुदाहृतम् ॥

मेथि-शायिर-शायिल-प्रथमे धस्य ङः ॥ ११५ ॥

मेथि-शायिर-शायिल-प्रथ-मेधु यकारस्य ङो भवत्यत्र ।

मेढी सिद्धलो सितिलो, पदमा कृपाण सिष्यति ॥

निशीथपृथिव्यां वा ॥ ११६ ॥

निशीथं च पृथिव्यां च, वा यकारस्य ङो भवेत् ।

निसीढो च निसीहो च, पुढवी पुढवी तथा ॥

दशन-दष्ट-दश-दोला-दर-दर-दर-दाह-दम्न-

दर्भ-कदन-दोदहे दो वा ङः ॥ ११७ ॥

दश-दष्ट-दोहदुपु, दोला-दर-दर-दाह-दम्नेषु ।

दशन-कदन-दम्नेषु च, दश्च डकारो विकल्पेन ॥

दसण दसण, डटो दटो, रुडो च दडो च ।

दोला दोला, दर्भो दर्भो, दाहो तथा दाहो ॥

दंभो दर्भो, दम्नो, दम्नो, कडण च कडणं च ।

अपि दोहलो दोहलो, डरो दर्भो चोति ट्पाणि ॥

दश-दहोः ॥ ११८ ॥

स्याद् धातोर्दश-दष्टयो-दकारस्य डकारता ।

तेनैव रूपं ‘दसच, रुहड’ प्रतिपठ्यते ॥

संख्या-गद्वे रः ॥ ११९ ॥

संख्यावाचिनि गरुड-शब्दे ऽपि च रे दकारस्य ।

वारह तैरह परा-रह रूप मग्नर च यथा ॥

अनादिरित्येव यथा-‘ते दस’ प्रतिपठ्यते ।

अस्त् युक्तस्येति यावत्, ‘रुडहड’ यथा ज्ञेयं ।

कदम्बगामधुम् ॥ १२० ॥

अट्टम कदलीशब्दे, दकारस्य रकारता ।

कदली, अट्टम इति, किम् ?-केलं कयली यथा ॥

प्रदीपि दोहदे लः ॥ १२१ ॥

प्रप्ये दीप्यतां धानी, तथा शब्दे च मालदे ।

दस्य लः स्यात् पत्नीवध, पालित दोहलो यथा ॥

कदम्बे वा ॥ १२२ ॥

स्यात् कदम्बो कयम्बो वा, कदम्बे इत्ये वे कृते ।

दीपौ धो वा ॥ १२३ ॥

दीप्यतां दम्भ धो वा स्यात्, यथा-धिष्यद् विष्यद् ।

कदधिते वः ॥ १२४ ॥

कदधिते इत्ये वः स्याद्, येन सिष्यते ‘कयद्विभो’ ।

ककुदे ङः ॥ १२५ ॥

ककुदे हो इत्ये तेन-‘कउहो’ सिद्धिसुद्धति ।

निषधे धो ङः ॥ १२६ ॥

निषधे धस्य डस्तेन-‘निषदो’ कृपामानुषात् ।

वौषधे ॥ १२७ ॥

वौषधे धस्य हो वा स्याद्, यथा-क्रोसडमोसहं ।

नो णः ॥ १२८ ॥

स्वरात्परम्यासंयुक्त-स्यानादेरेष्व णो भवेत् ।

कयणुं वयण नयणं, मयणो माणः, तथाऽऽरनालं तु ।

आयं-अनिलो अनिलो, नानारूपाणि सन्तीह ॥

वाऽऽदी ॥ १२९ ॥

असंयुक्तस्य नस्य स्या-द्वाविचूतस्य वा तु णः ।

णरो नरो, णड नेड, इष्यते च णुडं नडं ।

असंयुक्तस्य किम् ?-व्यायो-‘नाभो’ नैषात्र णो प्रवेत् ।

निम्ब-नापिते ल-हणं वा ॥ १३० ॥

निम्ब-नापिनयोनेस्य, ल-पडादेशौ यथाभमम् ।

क्षिम्बो निम्बो, एटाविभो तु, नाविभो, सिक्कामानुषः ।

पो वः ॥ १३१ ॥

स्वरात्परम्यासंयुक्त-स्यानादेः पस्य वो भवेत् ।

प्रायः, सवहो सवो उवसम्मो कासवो पर्ववो च ।

उवमा कथिल पाव, कुणव गोवड च मडि-वालौ [?] ।

पाटि-परुष-परिव-परिखा-पनम-पारिभेदुः फः ॥ १३२ ॥

पाटिवातुर्वदा गयनः, परुषादिभ्यो यो गणः ।

तयोरिव पकारस्य, फकारादेश इष्यते ॥

यथा-फालिह फालिह, फरुषो फालिहो तथा ।

फलिहा फणसो फालि-हहो कृपाण्यमूनि हि ॥

प्रतूते वः ॥ १३३ ॥

प्रतूते पस्य वो वा स्याद्, वडुत् तेन सिष्यति ।

नीपाऽऽपीने मो वा ॥ १३४ ॥

स्यात्नीपाऽऽपीडयोः पस्य, मकारः पाटिका यथा ।

नीमो नीवो, तथा-ऽऽमिलो, आमिलो सिद्धिसमानुषः ॥

पापदो रः ॥ १३५ ॥

पापदोवपादौ स्यात्, ‘पापदो’ पस्य रे कृते ।

फो भ-हो ॥ १३६ ॥

स्वरात्परम्यासंयुक्त-स्यानादेः फस्य वा भहो ।

कथिदु जकारः स्याद्भ्र-रेफो नेनो, शिफा सिमा ।

कथिदु हकारः स्याद् मुत्ता-हलं, कथिदुजावापि ।

सभल सवहल, सजा-लिधो सरालिधो तथा ।

वो वः ॥ १३७ ॥

स्वरात् परम्यासंयुक्त-स्यानादेरेष्व धो भवेत् ।

यथाऽलावू अलावू चाऽऽलावू वस्येड लोपनात् ॥

विमिन्यां भः ॥ १३८ ॥

विमिनी विमिनी जाता, वस्य भे विमिति सति [?] ।

[?] स्वरादित्येव-‘कपड’ । असंयुक्तस्येव-‘अप्यमत्ता’ । अनादांरित्येव-‘मुडण पडड’ । प्राय इत्येव-‘कडे रिङ्ग’ । एतेन पकाररय प्राप्तयोलोपकारयोः यस्मिन् कृते अतिमुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः [?] स्वांलङ्घनिर्देशादि च न जयति-‘विसततुपेलावां’ ।

कवन्धे म-यौ ॥ २३७ ॥  
 क्यात् कमन्धो कवन्धो च, कवन्धे बन्धे वा म-यौ ।  
 कैटजे जो वः ॥ ११४० ॥  
 कैटजे मस्य वस्नेन, 'कैटवो' सिद्धिमाप्नुयात् ।  
 विषमे मो दौ वा ॥ २४१ ॥  
 विषमे मस्य दौ वा स्यात्, 'विसदो विसमो' यथा ।  
 मन्धे वः ॥ २४२ ॥  
 मन्धे मस्य वस्नेन, वस्महो सिद्धिसृजति ।  
 वाडभिपन्थौ ॥ ११४३ ॥  
 अमिम्यौ मकारस्य, वकारो वा विधीयते ।  
 'अदिधन्तु अदिधन्तु', 'द्वयसिद्धिः-पागमन् ॥  
 झमरे भो वा ॥ ११४४ ॥  
 झमरे मस्य सो वा स्यात्, भल्लो भमरो यथा ।  
 आर्द्रयो जः ॥ ११४५ ॥  
 पार्द्रियस्य जादेश, जसो जाइ जसो यथा ।  
 बहुलान्त्सोपन्मस्या-नादेशेपि भवेत् क्वचित् ॥  
 सजोमो संजमो वयापि न-पयोश्चो' ऽतिधीयते ।  
 क्षोपोऽप्यापि-यथास्थानिच-अक्षकष्याय प्रयुज्यते ॥  
 गुप्तमर्थपरे तः ॥ ११४६ ॥  
 गुप्तमर्थपरे यस्य, तकारदेश्च 'रभ्यते ।  
 तुम्हारिसो तुम्हकरो, किमर्थपर इत्यर्थः ? ।  
 'तुम्हदम्हपरणो' नात्र, शब्दपरो यतः ।  
 यष्टया लः ॥ ११४७ ॥  
 यष्ट्या यस्य लो 'लर्छो', वेणुलर्छो च भाग्येन ।  
 वात्तरीयानीय-नीय-कृष्टु प्रत्ययत्वं च ।  
 द्विक्रमो यस्य वा उजः स्यात्, तदुदाहृत्येऽधुना ॥  
 उत्तरिञ्चो उत्तरीञ्च, करणिञ्चो विभाषया ।  
 करणीञ्च, विद्वजो तु वीञ्चो नीयस्य रह्यताम् ।  
 कृत्स्य पञ्जा पञ्चा च, इच्छं सर्वमुदाहृतम् ।  
 वायायां होऽकान्तौ वा ॥ ११४८ ॥  
 अकान्तिवाचक लाया-शब्दे हो यस्य वा भवेत् ।  
 वच्छुस्त ल्हाहो ज्ञाया वा, अन्तयाभागे ऽच्यते ॥  
 माह-वौ कतिपये ॥ २५० ॥  
 यस्य स्यातां कतिपये, माहो वक्ष्येयुर्मो क्रमात् ।  
 कश्चाह कश्चञ्च, द्वयं निवेतंत पदम् ॥  
 (कारि-भेर रो रुः ॥ ११५ ॥  
 कारि-भेरयोः रस्य डः, किमो भेडो च सिद्धयतः ।  
 पर्याणो मा वा ॥ ११५२ ॥  
 पड्याणं च पड्याण, पर्याणो रस्य ङाऽस्तु वा ।  
 कर्त्वीरे णः ॥ ११५३ ॥  
 'कणवीरो' कर्त्वीरे, रस्याऽऽस्यत्वं तु णो ज्ञेयम् ।  
 हरिद्यादौ ज्ञः ॥ ११५४ ॥  
 अस्येयुक्तस्य रस्य स्यात्, हरिद्यादिगणो तु लः ।

हरिदो सिद्धिलो लुको दलिद्वार जदुदिलो ॥  
 हरिदो मुहुरो दालि-दं इक्षिदो च काहलो ।  
 चलणो वलुणो ङ्गा-लो लक्कालो च निद्रुलो ॥  
 सोमालो कलुणो फालि-हदोऽवदाल फालिहा ।  
 चिल्लाओ फालिहा चैव, मसलो बडलो तथा ॥  
 जडलो चान् कपाणि, विह्येयानि मनोर्गिजः ।  
 हरिदा दारिचं शिथिर-मुखगङ्गा-परिभा, ॥  
 हरिदः सक्कारो जडर-वरगी रुण-कृष्णो ।  
 किरातापटार-झमर-लुकुमाराश्च वरुणो, ॥  
 हरिद्यादिधांतुः परिघ-वठरो निरुममि ॥  
 युधिष्ठिरः पारभरुओ, द्रिदः कालरस्तया ।  
 हरिद्यादिगण्णाय-माहृत्या परिगपयते [ ? ] ॥  
 स्युले दो रः ॥ २५१ ॥  
 स्युले लस्य रकारः स्यात्, धोरं व्युत्पद्यते तदा ।  
 धूम्रमहो हारिद्रादित्वे च्युरस्य सिध्यति ॥  
 लाटल-लाङ्गल-लाङ्गुले वाऽऽर्दयोः ॥ ११५६ ॥  
 लाटले शङ्गले लाङ्गु-ले वाऽऽर्दस्य णो ज्ञेयम् ।  
 पाटलो लाङ्गो, णङ्ग-ले लङ्गले च णङ्गले ।  
 लङ्गले चानि कपाणि, ङङ्गु-मनानि चक्रेन ॥  
 ललाटे च ॥ ११५७ ॥  
 ललाटे चादित्तन्मय, लस्य णः संयधनेन ।  
 णिगुलं च णमालं च, चरुवादिरेति बोधकः ।  
 श्वरे यो मः ॥ ११५८ ॥  
 श्वरे यस्य मत्वेन, समरो सिद्धिसृजति ।  
 स्वप्नन्धियो वा ॥ २५१ ॥  
 स्वप्न-नीव्येकारस्य, मकारो वा विधीयते ।  
 सिमिणो सिमिणो, नीमो नीयो व्युत्पत्तिमिति च ।  
 शपो सः ॥ ११६० ॥  
 शेषयोस्तु सकारः स्यात् स्वयंप्राय, निदर्यते ।  
 संसो विससो निहसो, कसाओ दस सोहाइ ॥  
 स्तुपायां गहो वा ॥ ११६१ ॥  
 स्तुपायां बस्य गहो वा स्यात्, ततः 'सुगहा सुसा' द्वयम् ।  
 दश-पापाणो ः ॥ २६२ ॥  
 दश-पापाणयोर्हो वा, शपयोलेचयदशनाम् ।  
 दहसुदो दस-सुरो, दहयलो दस-बलो ।  
 दह-रहो दस-रहो वारु-भारह ।  
 पापाणस्य तु पादाणां, पासाणांऽपि च दहयते ॥  
 दिवसे सः ॥ ११६३ ॥  
 दिवसे सस्य हो वा स्यात्, दिवसो दिवहो तथा ।  
 हो योऽनुम्वारात् ॥ ११६४ ॥  
 अनुम्वाराद् दकारस्य, धकारो वा विधीयते ।  
 [ १ ] बहुलाधिकाराकरणशब्दस्य पदाद्युत्तरस्य । अथवा  
 'चरणकरण' । अमरं ससिनियोगे एव । अथवा 'भमरो' ।  
 तथा 'जडर' 'वठरो' 'निद्रु' 'इत्यादिपि ।



सिधो सीधो च संधारो, संहारो, क्विद्वन्वया [१] ॥

षट्-शमी-शाव-मुधा-सप्तपर्णेष्वादेरञ्जः ॥ २६५ ॥

सप्तपर्ण-सुधा-शाव-शमी-षट्स्वादिसम्बुजः ।

जित्तवसो ब्रह्म जवां, कुर्मो ज्वां यथाक्रमम् ॥

शिरार्यां वा ॥ २६६ ॥

शिराराष्ट्रे भवेदाद-श्चकारो वा, छिरा सिरा ।

शुभभाजन-दनुज-रानकुलं जः सस्वरस्य नवा ॥ २६७ ॥

भाजने दनुजे राज-कुले सस्वरजस्य वा ।

लुगिध्वेत, यथा ज्ञानं भायणं, दशुषो दशु ॥

स्याद् रा-तलं, राय-उल, यथाक्रममुदाहृतम् ।

व्याकरण-प्राकाराऽऽगने कर्माः ॥ २६८ ॥

व्याकरणप्राकाराऽऽगनेषु कर्मयोस्तु सस्वरयोः ।

लुगु वा वायरणं वा-र्यणं च पारो च पायारो ॥

आभोः तथाऽऽगच्छो रूपे, आगतस्थितिं बुधताम् ।

किसलय-काज्ञायस-हृदये यः ॥ २६९ ॥

काज्ञायसे किसलये, हृदये यस्तु-सस्वरः ।

यकारस्तस्य लुम्बाः स्याद्, यथा-कालायसं त्विदम् ॥

काज्ञायस स्यात् किसलय, किसल, हिअयं हिअं ।

दुर्गाद्व्युद्गम्बर-पादपतन-पादपउत्तरेदः ॥ २७० ॥

दुर्गाद्व्यां तथा पाद्-पतने चाप्युद्गम्बरे ।

पादपांशे सस्वरो यो, मभ्ये दो, वा स लुप्यते ॥

दुर्गाएषो तु दुर्गावां, उम्बरो स्याद् उम्बरोः ।

पा-वमणं च वा पाय-वमणं सप्रकीर्तितम् ॥

पाय-वाडि तु पा-वाडि, 'अन्तर'-दुर्गा-दरक्षकम् । [१]

यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट-प्रावारक-देवकुत्रै-

वमेव वः ॥ २७१ ॥

प्रावारके देवकुल एवमेव च जीविते ।

आवर्त्तमानावटयास्तथा षाञ्चति ताद्यति ।

योऽन्वर्त्तनी सस्वरो व-स्तस्य सुभ्या विधीयते ।

जा जाव, ताव ता, जीर्त्तं जीविञ्च, श्रवमं श्रडो ।

अक्षमाणा तथाऽऽवक्षमाणा, देवउलं पुनः ।

देवलं, पारभां पावारश्चो एमेव नृच्यते ।

एवमेव तथाऽन्तस्तु मेव वस्यास्ति रत्नकम् [३] ॥

या चापा जगद्वद्वचोन्निरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परं,

यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमृणं निविलान्पेकादशङ्खानि च ।

तस्याः संपति दुःष्पारवशतो जातोऽपचारः पुनः,

संचाराय मया कृते विवरणे पादोऽप्यमाद्यो गतः ॥ ? ॥

इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपगच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ

श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रमूर्तिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ प्रथमः पादः ।

[१] क्विद्वन्नुस्वारादपि-दाहः- 'दायो' । [२] अन्तरादि-  
किम् ? । दुर्गाद्व्यामादौ मा भूत् । [३] अन्तरस्थेव । एवमेव-  
त्यस्य न भवति ।

॥ \* अहंम् ॥

## ॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

संयुक्तस्य ॥१॥

ज्यायामीत् [२।१५] इत्यतो याषद्, अधिकारोऽयमीरितः ।  
यदितोऽनुकमिष्यामस्तत् संयुक्तस्य बुध्यताम् ॥

शक्त-मुक्त-दृष्ट-रूप-धृदुत्वे को वा ॥२॥

शक्ते मुक्ते मृदुत्वे च, दृष्टे रूपे विभाषया ।

संयुक्तस्य ककारः स्याद्, यथाऽङ्गाङ्गियतेऽधुना ॥

सङ्का सस्रो, मुक्तो मुक्तो, रक्तो तथा दृष्टो ।

लुक्कां मुग्गां, माउत्तण च माउत्कमिति वेश्यम् ।

क्षः खः कचित्तु छ-ऊँ ॥३॥

कस्य खः स्याद्, उ-भौ क्वापि, 'खसो' लक्षणेनमुच्यते ।

उ-क्वापि, यथा-खीणं खीणं, भीरुं च जिह्वारं ।

ष्क-स्कयोर्नाञ्चि ॥४॥

संज्ञायां षकस्कयोः खः स्याद्, निष्कलं पोषकमिणी यथा ।

अवकस्मन्दा तथा ख-धा-वोरा ख-धो प्रकीर्त्यते ।

शुष्क-स्कन्दे वा ॥५॥

शुष्के स्कन्दे षक-स्कयोः खो, विकल्पेन प्रवर्त्तते ।

सुखलं सुखं तथा खन्दो, 'कन्दो' चैवमुदाहृतम् ॥

द्वेटकारौ ॥६॥

द्वेटकारिषु शब्देषु, संयुक्तस्यात्र खो भवेत् ।

द्वेटकः खडिञ्चो, द्वेटाटकः खोडिञ्चो ।

स्फोटकः खोरुञ्चो, स्फोटकः खडिञ्चो ।

स्फोटकः खोडिञ्चो चायं, द्वेटकारिद्वयदाहृतः ॥

द्वेटकः द्वेटाटकश्चैव, स्फोटकः स्फोटकस्तथा ।

स्फोटकश्चेति सख्यातः, द्वेटकारिद्वयं गणः ।

स्थाण्णावहरे ॥७॥

अहरार्थे स्थाण्णवहरे, खः स्यात् 'ख.ण्' ततो भवेत् ।

स्तम्भे स्तो वा ॥८॥

स्तम्भे स्तस्य खकारो वा, खम्भो धम्भो प्रमाप्यते ।

ध-डावस्पन्दे ॥९॥

अस्पन्दायं स्तम्भे, स्तस्य ड-धौ स्तो यथा पद्-धम्भो ।

उन्तो, स्तम्भ्यत इति ध-मिञ्चर उन्मिञ्चर स्याताम् ॥

रक्ते गो वा ॥१०॥

रक्ते कस्य गकारो वा, रग्गो रत्तो विभाष्यते ।

शुल्के ज्ञो वा ॥११॥

शुल्के षकस्य ज्ञो विभाषा, सुखं सुखं प्रकीर्तितम् ।

कृत्ति-चत्वरे च ॥१२॥

कृत्ति-चत्वरयोः संयु-कस्य च संप्रकृते ।

किष्ठां च चत्वरं रूप-रथं किञ्चि मुगगतम् ।

त्पोऽचैत्ये ॥१३॥

चैत्ययज्ञे त्यस्य च स्यात्, पञ्चशो सच्च-मुच्यते ।

प्रत्युषे पश्च हो वा ॥१४॥

प्रत्युषे त्यस्य चः स्यात् तसंनिधौ पस्य ह्यच् वा ।  
विधीयते च पच्यूहो, पच्यूहो तेन सिध्यतः ॥

त्व-ध्व-द्र-ध्वां च-उ-ज जाः क्वचित् ॥१५॥

त्व-ध्व-द्र-ध्वां च-उ-ज जाः क्वचित्ते भवन्ति हि ।  
पृक्त्वा भोष्ठा, हात्वा णच्चा,  
धृत्वा सोष्ठा पृथ्वी पिच्छी ।  
विट्टान् विजङ्ग, बुद्धा बुजङ्गा,  
पच चाप्यद् रूपं वधाम् ।

‘भोच्चा’ सयलं पिच्छं, विजङ्गं बुजङ्गा अणणयम्यामि ।  
चङ्कण तवं काठं, सन्तो पत्नी सिधं परमं ॥”

रुथिके श्वेच्युवा ॥१६॥

बुधिके श्वेः सस्वरस्य, च्युवादेशो विभाष्यते ।  
विच्युभ्रां विच्युभ्रां, पङ्क-विच्छुभ्रां, जेऽत्र बाध्यते ।

जेऽङ्घ्यादी ॥१७॥

अङ्घ्यादिषु ङकारः स्यात् संयुक्तस्य, प्रवाच्य स्रम् ।  
आर्चं उच्छ्रं हच्छी कच्छा, जीश्रं जीरं कुच्छी दच्छी ।  
जेसं वच्छं सच्छा कच्छा, लुण्णो लुण्णां सारिच्छ च ।  
सारिच्छा मच्छिन्ना कुच्छा, ‘अयं वच्छो’ जयं लुण्णां ।  
लुणा, आयें तु-सारिक्खं, इक्खु खारं च हरयने ।  
अर्वा-कू-अर्वा-शुन-कदा-कौ-क-यका-ल-न-क-बुक्का-॥  
कका-धुर-कार-नदक-कुकि-लीर-मुधः क्रमयन्ते ॥ शुण्णः  
सारिच्छयं मच्छिन्ना कुच्छा, काथयोऽङ्घ्यादिगण्यम् ॥  
आहृतिप्रहणाः शब्दाः, न सस्यानिप्रहननः ।

समार्या कौ ॥ १८ ॥

पृथिव्यर्थे तमार्यादे, तस्य द्वादेश इष्यते ।  
क्रमा द्माऽपि जमा भूमिः, ज्ञान्यर्थे तु क्रमा म्प्रा ॥

श्रुते वा ॥ १९ ॥

श्रुते क्रस्य ङकारो वा, रिच्छो रिक्खोऽस्त्रियां मते ।  
वृक्-क्रिते ( १ । १२७ ) तिमुचण, ‘कस्व-वृद्धौ’ च संस्यतः ॥

क्रुण उरस्ये ॥ २० ॥

सस्यार्थे क्रणे क्रस्य छः, ‘लुणां’ स्यात् लणोऽन्यतः ।  
हस्त्रात् थय-श्च-स्स-प्पामनिश्चये ॥ २१ ॥

हस्त्रात् थय-श्च-स्स-प्पामनिश्चये, स्थानं लो भवति, निश्चले न स्यात्, ।  
मिच्छा, पच्छा, संव-च्छलो, लुगच्छ- च हिच्छल्ल च ॥  
हस्यात् किम् ? ‘ऊसारिभो’-ऽनिश्चल इति किम् ? च ‘निश्चलो’ येन,  
आयें-तथ्ये चोऽपि तु जयति ततः ‘तश्चामिति रूपम् ॥

सामर्थ्योत्सुकौत्सवे वा ॥ २२ ॥

उत्सुकौत्सव-सामर्थ्ये, वा संयुक्तस्य लो भवेत् ।  
सामच्छं वा च सामर्थ्यं, उच्छुभ्रां ऊसुभ्रां तथा ।  
उच्छयो ऊसयो वा स्यात्, पुष्पकं ह्ये ह्यम् ।

स्पृहायाम् ॥ २३ ॥

संयुक्तस्य ङकारः स्यात्, स्पृहायां फस्य वाचकः ।  
निहा, बाहुलकात् कापि निस्पृहो ‘निष्पृहो’ मतः ॥

घ-र्य-यी जः ॥ २४ ॥

घ-र्य-यीनां तु युक्तानां, स्थाने जः संप्रवर्तते ।

(घ) मञ्जे अवज्जं, (घ्य) जज्जो च, सज्जा, (ये) अज्जा च भारिम्या ॥

अभिमानौ ज-ज्जो वा ॥ २५ ॥

अभिमान्युपदे न्याजो, अज्जाऽऽदेशो विकल्पनात् ।  
अहिमञ्जू अहिमञ्जू, अहिमञ्जू तु पाङ्कजः ॥ [१]

माधस-धय-ष्ठां जः ॥ २६ ॥

साधसे धय-ष्टायोश्च स्याद्, युक्तयोर्लो (ह, सज्जसं ।  
सज्जायां वज्जप जाणं, मज्जे गुम्भं च उपज्जह ।

ध्वजे वा ॥ २७ ॥

ध्वजे ध्वस्य ऊकारो वा, ततः स्यातां ‘ऊजो’ ‘ध्वजो’ ।  
इन्यौ भ्वा ॥ २८ ॥

इन्यौ धातौ तु युक्तस्य, ‘ज’ इत्यादिश्च इष्यते ।  
समिज्जाश्च च विज्जाश्च, वेष्टश्च संप्रयुज्यते ॥

वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदाथितं टः ॥ २९ ॥

वृत्ते प्रवृत्तं पत्तनं, मृत्तिकायां कदाथितं ।  
संयुक्तस्य टकारः स्याद्, यथा रूपं कदाथितो ॥

पयष्टो मष्टिन्ना वष्टो, पष्टणं समुदाहृतम् ।

संस्याधुर्त्वादी ॥ ३० ॥

धूर्त्वादीव वर्जयिष्या टो, ‘सं’स्य स्थाने प्रवर्त्तते ।  
कवष्टो नष्टश्च संव-ष्टिंश्च जष्टो पयष्टश्च ।

धूर्त्वादी तु विधिनोय, ततो धूर्त्वादीरुच्यते ।  
धुतो कर्त्सा वजा, निवत्तभ्रां वत्तिभ्रां मुहत्तो च ॥

आवत्तणं च संव-त्तणं च आवत्तभ्रां मुत्तं ।  
निवत्तणं च पवत्तणं-मुक्त्तिभ्रां वत्तभ्रां कर्त्तभ्रां च ॥

ऽवत्तभ्रां पवत्तभ्रां, संवत्तभ्रां कत्तरं मुत्तं ।  
तावने क्वावनेन कीर्त्तिमुत्तिवार्त्तानि प्रवर्त्तते निवने क्वाश्च ।

संवने क्वाकर्त्तित्तेन धूर्त्तप्रवर्त्तने वार्त्तिककर्त्तिकां च ॥  
वार्त्तिका कर्त्तेदी चापि, संवने निवने च ॥

निवर्त्तकमसौ धूर्त्वादीर्गस्यः परिकर्त्तितः ॥

कृते एटः ॥ ३१ ॥

संयुक्तस्य भवेद् वृत्तं, एटाऽऽदेशो निर्विकल्पकः ।  
तालवयेतं च वेपेतं च यथा सिद्धि समञ्जते ॥

गोऽस्थि-विंसंस्थुले ॥ ३२ ॥

विसंस्थुलेऽधिगद्ये च, संयुक्तस्य टकारना ।  
अधौ विसंस्थुले तेन, पृथक् सिद्धिमुपागमत् ॥

स्थान-चतुर्थायां वा ॥ ३३ ॥

अर्थ-स्थान-चतुर्थेषु, वा संयुक्तस्य टो ज्ञेयत् ।  
टाणं थीणं चरथोऽटो-ऽथन ज्ञयो भनवाचकः ॥

ह्रस्याऽनुष्टुप्प्रसदष्टे ॥ ३४ ॥

संघप्रमिष्टामुष्टे च पृक्त्वा ह्रस्य तु टो भवेत् ।  
हृष्टी मुष्टी सुरष्टा च, कष्ट हृष्टो अणष्ट च ॥

उष्टो हृष्टा च संवष्टो रूपमुष्टादिसंज्ञवत् ।

गते ङः ॥ ३५ ॥

स्याद् गते ‘ने’स्य लो, ‘गङ्गा गङ्गा’-ऽस्य टस्य वाचकः ।  
सम्पदे-वितर्दि-विच्छदे-च्छर्दि-कपदे-मर्दिने दीस्य ॥ ३६ ॥

सम्पदे विच्छुद्धे उर्दि-वितर्दि-कपदे-मर्दिने च ।  
दीस्य ङकारो भवति, सम्पद्धो मर्दिभ्रो लुद्धी ।

[ १ ] अनिप्रहणात् इह न भवति-‘ मन्त् ’ ।

सम्मच्छिद्यो कथश्चो, विच्छद्दो लुब्ध इ विच्छद् ।  
 गर्दभे वा ॥ ३७ ॥  
 गर्दभे दंस्य ढो वा स्याद्, गड्डो गहरो तथा ।  
 कन्दारिका-जिन्दिपालो ममः ॥ ३८ ॥  
 एमः संयुक्तस्य वै निन्दित-पाले कन्दारिकापदे ।  
 निन्दितपालो कर्त्तव्यता, इयं संसिद्धिमुच्छ्रित ।  
 स्तब्धे ठ-ढौ ॥ ३९ ॥  
 स्तब्धे संयुक्तयोः स्यातां, उढौ, ' उड्डो ' यथाक्रमम् ।  
 दग्ध-विदग्ध-शुक्ल-वृक्षे ढः ॥ ४० ॥  
 दग्धे विदग्धे वृद्धौ च, वृद्धे युक्तस्य ढो भवेत् ।  
 दग्धो विशङ्को वृद्धो च वृद्धो, विद्धो कर्त्तव्यतः [ १ ] ।  
 श्रुद्धि-सूर्योऽन्ते वा ॥ ४१ ॥  
 ङः स्याच्छ्रुद्धि-सूर्योऽन्ते संयुक्तस्य वा, यथा ।  
 सद्गो सद्गो, दृष्टो रिद्धो, मग्दो मुद्धो अर्द्ध अर्द्ध ॥  
 ञ्ज्ञोऽणः ॥ ४२ ॥  
 शासं निष्णं च विभाण, पञ्जुषो मन्त्रायणतः ।  
 पञ्चशास्त्रपञ्चदश-दन्ते ॥ ४३ ॥  
 स्यात् पञ्चशास्त्र-पञ्चदश-दन्ते युक्तस्य णो, यथा ।  
 पशासा पशरह च, दिष्ण त्रयमुदाहरतम् ॥  
 मन्थौ न्त्वा वा ॥ ४४ ॥  
 मन्थौ युक्तस्य वा न्तः स्याद्, मन्थं मन्थं न्त्वा च पठ्यते ।  
 स्तस्य थोऽममस्त-स्तस्ये ॥ ४५ ॥  
 स्तस्ये ममस्त च न्यक्त्वा, 'स्त' स्य शब्देन इष्यते ।  
 थोत्तं थोत्तं थुर्द इत्यां, पमस्यो पमस्योऽपि च ।  
 तस्यो स्तस्ये, ममस्यो तु-ममस्येऽपि प्रकीर्तितः ॥  
 स्तवे वा ॥ ४६ ॥  
 स्तवशब्दे स्तस्य थो वा, ततो रूप थवो तवो ।  
 पर्यस्ते थ-ढौ ॥ ४७ ॥  
 पर्यस्ते स्तस्य तु स्यातां, थ-ढौ पर्यायनायिनो ।  
 पल्लथो वा तु पल्लहो, रूप व्युत्पद्यते इत्यम् ।  
 वान्माह थो इक्ष रः ॥ ४८ ॥  
 वान्माह-शब्दे शब्दशः संयुक्तस्य विरुदधान्तु ।  
 हस्य रश्चापि, 'अन्धारे', 'उच्छ्रुहो' सिद्धिमाप्नुत ।  
 आश्रुष्टे ल-थौ ॥ ४९ ॥  
 संयुक्तयोर्विधासम्बन्धमाश्रुष्टे तु ल-थौ स्मृतौ ।  
 आलिको' ईदृश रूप लदाऽऽश्रुष्टस्य जायते ।  
 चिद्धं स्यो वा ॥ ५० ॥  
 चिद्धं हस्य तु या स्यः स्याद् गृह वापिथ्येव, तथाथा- ।  
 चिन्धं दंस्य च, चिगहं तु पक्षे गृहस्यापि संभवान्तु ।  
 जस्मात्सतोः पो वा ॥ ५१ ॥  
 भस्मात्सतो' प्रकारः संयुक्तस्य, विभाषया भवति ।  
 भव्या जस्तो, अथवा अथवाणो, पात्तको 'उत्ता' ऽपि ।  
 म-वमोः ॥ ५२ ॥  
 ङस्य वमस्य च पादङ्गः, कुञ्जलं कुम्पल तथा ।

[ १ ] कश्चित् भवति ' विद्ध-दन्-निकविद्धं ' ।

किकमणौ-हपिणो, रुक्मी, रुप्यो चमः क्वापि दृश्यते ।  
 ष्व-स्पर्शोः फः ॥ ५३ ॥  
 फः ष्व-स्पर्शोर्भवेत्, पुष्पं पुष्पं स्यात्, स्पन्दने पुनः ।  
 फलदणं च प्रतिस्पर्शो' पारिप्लवकी प्रयुज्यते ।  
 बहूनां क्वापि वैकल्प्यं, यथा-रूपं दृष्टव्यं ।  
 दृष्टव्यं च, न क्वापि-निष्पद्यते च स्पंण्यर ।  
 जाम्पे पमः ॥ ५४ ॥  
 जीवमे पमस्य प्रकारः स्यात्, रूपं 'निष्पद्यो' यथा भवेत् ।  
 श्रुष्पणो वा ॥ ५५ ॥  
 श्रेष्पणो पमस्य फः, सफो निलिप्सो च विकल्पनात् ।  
 ताम्राज्ये म्यः ॥ ५६ ॥  
 मस्य इव स्यात् ताम्र शब्द, 'ताम्र' 'अम्य' च सिध्यतः ।  
 ढो जो वा ॥ ५७ ॥  
 हस्य भो वा, यथा-जिन्मा जोढा सिद्धिमवाप्नुतः ।  
 वा विहले वौ वक्ष ॥ ५८ ॥  
 विहले हस्य भा वा स्याद्, विशद्वे वा च वस्य भः ।  
 जिम्भलो विम्भलो वा च विद्वे वा च त्रय मतम् ।  
 बोधे ॥ ५९ ॥  
 कथं युक्तस्य जो वा स्याद्, उढे उढं च सिध्यतः ।  
 कर्म्मरि म्भो वा ॥ ६० ॥  
 कर्म्मरि-शब्दे म्भो वा स्यात् संयुक्तस्य, ततो इत्यम् ।  
 सिद्धिमुच्छ्रित, ' कर्म्मारा ' ' कर्म्मारा ' वेति पारिप्लवकी ॥  
 न्मो मः ॥ ६१ ॥  
 न्मस्य मो वा, यथा-जन्मो वन्महो मममल तथा ।  
 म्भो वा ॥ ६२ ॥  
 मस्य मो वा, यथा-युग्म लुम् लुम् च दृश्यते ।  
 द्वाचर्य-तूर्य-मौन्द्ये शोषकीयं थो रः ॥ ६३ ॥  
 तूर्य-मौन्द्ये-शाभुद्धीय-द्वाचर्यं थो' स्य रः ।  
 यम्भेने च सु-द्वं, मोगर्म्मरि तुर्गमित्थोप ॥  
 पठ्यते यम्भेचरित्र, क्वापि यो'पिसम्यत् ।  
 धैर्ये वा ॥ ६४ ॥  
 धैर्ये यंस्य रकारो वा, थो'र पिप्लव च सिद्धतः ।  
 'स्यो तुजो' इति कथे ? रूपं स्त, सू-तूर्ययोः [ १ ] ॥  
 पतः पर्यते ॥ ६५ ॥  
 पर्यन्तशब्दे पतः स्याद् यंस्य रस्तेन सिध्यति ।  
 'पर्यन्तो, पत इति किम् ? 'पउजन्तो' पारिपठ्यते ॥  
 आश्र्ये ॥ ६६ ॥  
 पतः परस्य रो 'यंस्योऽऽद्ये, अच्छरगमित्यते ।  
 अतो रिश्चार-रिज्ज रीश् ॥ ६७ ॥  
 अतः परस्याश्र्ये, यंस्य 'रिश्चार-रिज्ज-रीश्'-मादेशाः  
 अच्छरिज्ज-मच्छरिश्, तथाऽच्छरिश् च अच्छरं ॥  
 पर्यन्त-पर्याण-मौकुमार्ये ङ्गः ॥ ६८ ॥  
 मौकुमार्ये च पर्याण पर्यन्ते यंस्य इत्ययम् [ २ ] ।  
 पल्लट पल्लथ पल्लणं स्यात्प्रमल्लसि भवति ।  
 पालश्रुद्गो पल्लङ्गो पल्लङ्गस्यैव रूपं हे ।

[ १ ] सगं सुजो इति तु स-स्यप्रकृतिभेदान् । [ २ ] 'ल्ल' इति ।

बृहस्पति-वनस्पत्योः सा वा ॥ ६६ ॥

बृहस्पतिवनस्पत्योः, सा युक्तस्य विकल्पनात् ।  
वहस्सई बहपफई भयस्सई भयफई ।  
वणस्सई वणफई च सिद्धिभ्युत्तं पृथक् ॥

बाष्पं होऽश्रुणि ॥ ७० ॥

स्याद्बुधवाचके बाष्पे, संयुक्तस्य दकारता ।  
बाहो नैत्रजलं, 'बण्फो'- ऊष्मार्येऽयं प्रयुज्यते ॥

कापीपणे ॥ ७१ ॥

कार्पापणे हकारः स्यात्, संयुक्तस्येति कथ्यते ।  
काहावणो, क्वचिद् ह्रस्वे कृतं रूपं कदावणो [१] ॥

दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा ॥ ७७ ॥

दुःखे च दक्षिणे तीर्थे वा संयुक्तस्य हो जनेव ।  
दाहिणो दक्षिणो, तिथ्यं तुह, दुष्कं दुहं तथा ॥

कृष्णारब्ध्यां प्यो लसु रधो वा ॥ ७३ ॥

'प्या' ह्येतस्य कृष्णारब्ध्यां इः स्याद्, गडस्य तु वा च लः ।  
काहाग्री कोहली चैतद् 'प्यं' ल्युपघनं ततः ॥

पश्च-इम-प्म-स्म-ष्मां म्दः ॥ ७४ ॥

म्दः पश्च-इम-प्म-स्म-ष्मानां संयुक्तानामादेशः स्यात् ।  
पश्चामिणं स्यात् पश्चाद्, कुश्मानः कम्हाणो पठ्यन्ते ।  
प्रोष्मा गिम्हा भवेद् 'अम्हा-रिंसो' अस्मादृशः स्मृतः ।  
पश्चा वम्हा, तथा सुष्माः 'सुम्हा' जातास्त्वथा पुनः ।  
बम्हाणो बम्भेचरं च, इत्येतं स्त्रोऽपि कुश्चिन् ।  
यम्भणो यम्भेचरं च, सिम्भो रूपं यथा भवेत् ।  
काचिन्न इत्येते चाय रसोम-रसतां, स्मर-सरो ॥

सुत्प-रन-ष्ण-स्न-ह-ह-च्छां एहः ॥ ७५ ॥

सुत्प-रन-ष्ण-स्न-ह-ह-च्छां  
संयुक्तानामादेशो एहः ।  
सुत्पम सणहं ( अ ) परहो सिरहो  
( ण ) विरहू जिगहू उणहोसं स्यात् ।  
( ञ ) जराहा यहाश्चो पगुहो च, ( ह ) वराहो जराहू तथैव च ।  
( ह्र ) पुवगहो अवरराहो च, ( ण ) सणहं तिरह प्रयुज्यते ।  
विप्रकपे तु कसणो कसिणो कृष्ण-कृस्वयोः ॥

हो ण्दः ॥ ७६ ॥

वहः स्याद् हस्य तु कल्हारं, परहाश्रो रूपमीदृशम् ।

क-ग-ट-ढ-त-द-प-श-प-स-क-पांमूर्ध्वं लुक् ॥ ७७ ॥

क-ग-ट-ड-त-द-प-श-वानां, स-क-प-पानांतथोऽभ्यूतानाम् ।  
सयुक्तवर्णसम्बन्धिनां लुगैरिति शास्ति मुनिः ।  
( क ) लुसं ( ग ) बुकं ( ट ) वदपदः 'अप्यो' च ।  
( ऋ ) खद्गः खमो ( त ) उपलं उपलं च ।  
( द ) मद्गुः-मग्गु, सुद्गु-मोगरो च, ( प ) सुतो गुतो ( श ) निश्चो निश्चो च ।  
( व ) गोदो गदो निद्गो च, ( स ) नेहो च खन्निहो तथा ।

[ १ ] कथं 'कदावणो' । "ह्रस्वः संयोजनं" [ १. ८४ ] इति पूर्वमेव  
ह्रस्वत्वं पाश्चादादेशं कार्पापणशब्दस्य वा भविष्यति ।

( \* क ) दु \* कं दुष्कं ( \* प ) अन्त \* पातः, अन्तप्याभो निगद्यते ।

अथो प-न-याम् ॥ ७८ ॥

युक्तापो वसैमानानां, मनयानां तु लुगं भवेत् ।  
( म ) लुगं रस्सी सरो ( न ) नभो, ( य ) सामा कुहं यथा पद्म ।

सर्वत्र हा-व-गयऽवन्दे ॥ ७९ ॥

युक्तस्योर्ध्वमथो वा य, संस्थिता ल-व-राः इतिवत् ।  
वन्कशब्दं विना तेषां लुक् स्यादित्युपदिश्यते ॥  
( ऊर्ध्वम् ) ( ल ) उल्का उक्का, वल्कलं वल्कल च,  
( व ) शब्दः सहा, लुग्धकां लोक्मो च ।  
( र ) अक्को वगो अकं-वगौ भवेताम,  
( अथः ) ( ल ) लुग्धस्य सपहं, विकलवो विकलवो च ॥  
( व ) पकं पकं च पिकं च, ( र ) चक्रं चक्रं प्रहो गहो ।  
यानिः रत्तां, यथालक्ष्य, लोपः स्यात् कापि, तद्यथा ।  
( ऊर्ध्वम् ) उद्भिन्नः स्याद् उर्विगो, द्विगुणो विवृणो तथा ।  
कदमपं कदमपं, सर्व-सर्वं, चरितं सहजशः ।  
( अथः ) काप्ये कव्यं प्रवक्तव्यं, माख्यं महं, द्विपो द्विपो ।  
पर्यायेण क्वचित् चारं-वारं दारं प्रचक्रते ।  
पचमुद्भिन्न उर्विगो, उर्विगो विनिगद्यते ।  
अन्त पदं तु संवेद्यं, संस्कृते प्राकृते स्मम ।

डे रो न वा ॥ ८० ॥

ड-राधे तु विकल्पेन, लुक् स्याद् रेफस्य तद्यथा ।  
चन्दो चन्द्रो च, रहो रुद्रो, भहं भद्रमित्यपि ।  
परिच्युत्या स्थिते रूपत्रयं वेद्यं हृद् यथा ।  
इहो दहो, रलोपे तु केऽपि नेच्छन्ति सुरयः ।  
ये योऽहतादयः शब्दान्तगणाराधवाचकाः ।  
ते नित्यं रेफसंयुक्ता देश्या पर्येति लुप्यताम् ॥

धात्र्याम् ॥ ८१ ॥

धात्र्यां वा लुग रस्य, अर्त्तां धारी धारो रलोपनात् ।

तीव्रणे णः ॥ ८२ ॥

तीव्र-शब्दे रास्य लुप्या, तिक्कं तिपदं ततो द्वयम् ।

ज्ञो जः ॥ ८३ ॥

ह्रस्व सम्बन्धिनेो अस्य, लुक् स्याद्द्र विभाषया ।  
जास्यं शाणं, क्वचिन्न स्याद्, विधाणं संप्रयुज्यते ॥

मथ्याहो हुः ॥ ८४ ॥

स्याद् 'मज्जोचो च मज्जराहो' मथ्याहो लुकि हस्य वा ।

दशाहो ॥ ८५ ॥

दशाहो इत्य लुक् वेद्यो, दसरो ( सिक्सिमुच्छ्रिति ।

आदेः श्मश्रु-श्मशाने ॥ ८६ ॥

श्मश्रु-श्मशानयोगादे-क्षुगादेशो विधीयते ।  
मासु मंसु च मस्सु च, मसाणं चेह सिध्यति ।  
आपे सुसाणं सांघाणं, श्मशानस्य द्विक्रपता ।

श्रो हरिश्चन्दे ॥ ८७ ॥

अस्य लुक् स्याद् हरिश्चन्दे, 'हरिश्चन्द' ततो जनेव ।

रात्रौ वा ॥ ८८ ॥

रात्रौ युक्तस्य वा शुक्ल स्याद्, रात्रे रत्नी च सिध्यतः ।

अनादाँ शेषाऽऽदेशयोर्द्विव्यम् ॥ ८९ ॥

अनादिभूतयोः शेषाऽऽदेशयोर्द्विव्यमिष्यते ।  
तत्र शेषे यथा-कल्पतः क्लृप्तं प्रयुज्यते ।  
आदेशे तु यथा-कक्षां जकक्षां रग्मां निगद्यते ।  
कचिन्न-कसिन्धो-ऽनादाविति किम् ? खलिनं यथा ।  
द्विव्यं द्वयोरिव न स्याद्, भिन्नरूपालौ च विञ्चुष्यौ ।

द्वितीय-तुर्ययोर्भार्यः पूर्वः ॥ ९० ॥

द्वितीय-तुर्ययोर्द्विव्य-प्रसङ्गं पूर्ववर्तिनौ ।  
वर्गस्थौ भवतोः वर्णानुपरिष्कारद्वितीयैः ॥  
शेषे यथा तु वक्त्राणो, वर्धो मुच्छा च निञ्जरो ।  
कठं तिथं च गुफक च, निञ्जरो तिथनरो तथा ।  
आदेशे तु यथा-जकक्षां, घस्य नास्ति अचलौ मज्जं च निभस्यो ।  
पट्टी बुद्धो च हृथा च ऽऽनिर्द्धो पुफक प्रप्रस्थेन ।  
तैनादाँ ( २, १०८ ) ओकखलं, नक्खा नदा सेवादिपु ( २, १६८ ) स्मृतम् ।  
कइकश्चो कइधश्च, समासे वा ( २, ६९ ) प्रयुज्यते ।

दार्पि वा ॥ ९१ ॥

दौर्घशब्दे तु शेषस्य, घकास्स्य विभाषया ।  
उपरि स्यात् पूर्ववर्णो, दिधो दार्हो द्वयं यथा ।

न दार्पिनुस्वारात् ॥ ९२ ॥

दार्पिनुस्वाराभ्यां, लाङ्गणिकाताङ्गणिकरुपाज्याम् ।  
शेषस्यादेशस्य च, परस्य द्विव्यं विज्ञानीयात् ॥  
कृदा फासो नोसासो-ऽलाङ्गणिके यथा-ऽऽस्य-माऽऽसत् स्यात् ।  
पार्थे वामं, शीर्षे सीमं द्वेष्यां भवेत् वेसे ।  
सारथे सासं, प्रथयः पैसां, आङ्गमिराणसौ ।  
अयमालयम्- 'ओमालं,' आशा-भाणा, हानुस्वारात्- ।  
अस्य-तेसं, चालात्तणिके सस्रा तु संघायाः ।  
विज्ञो कसालो चत्यादि तु नानाविध लवयम् ।

र-होः ॥ ९३ ॥

रेफस्यापि हकारस्य न द्विव्यं स्यात् कदाचन ।  
रेफो न शिष्यते क्वापि, तस्मादादेशे ऽद्वयताम् ॥  
सुन्दरं बह्वचरं परस्ते शेषस्य इष्ये तु ।  
विदसो स्यात्, तथाऽऽदेशस्य रूपं च कदावगो ।

भृष्टद्युम्ने णः ॥ ९४ ॥

भृष्टद्युम्ने तु न द्विव्यं णस्याऽऽदेशस्य कर्हिचित् ।  
धट्टुत्तुणो ततो रूप, प्राकृते भिन्निसुच्छरि ।

कर्णिकारे वा ॥ ९५ ॥

कर्णिकारे न वा द्विव्यं णस्य शेषस्य, तद्यथा- ।  
कर्णिकारो कर्णिकारो, त्रयं सिद्धिसुपागमम् ।

ह्मे ॥ ९६ ॥

हमे शेषस्य न द्विव्यं, द्रविशो ह्रम उच्यते ।

ममामे वा ॥ ९७ ॥

स्यात् शेषादेशयोर्द्विव्यं, समासे तु विभाषया ।

नह्यमो नह्यमामो, अशेषादेशयोः क्वचित् ।  
स-पिवास्तो स-पिवास्तो, अहसण-म-ऽऽसणं ।

तैनादाँ ॥ ९८ ॥

तैलादिषु यथालवयमनादेर्व्यञ्जनस्य तु ।  
अन्यानन्यस्य वर्णस्य, द्विव्यं स्यादिति संमतम् ।  
तेजं बहुलं मगकुको, विशुा घेङ्गामप्यपि ।  
सोसं पैमम् जुवण्य स्यादनन्यस्य निदेशनम् ।  
आपि तु विस्सात्रासिआ, पाहिसिआ च भूरिशः ।  
तैल-प्रभृत-मगकुका ऋतु श्रोत्रा च यौवनम् ।  
शानो विचाकत्र प्रेम, तैलादिः समुदाहृतः ॥

सेवारी वा ॥ ९९ ॥

सेवादिषु यथात्रयमनादेर्व्यञ्जनस्य वा ।  
अन्याऽनन्यस्य वर्णस्य द्विव्यं स्यादिति कथ्यते ।  
सेवा सेवा, भेङ्गु नीर, नक्खा नदा, निहिसो तु ।  
निदिश्रो, वाहिसो वाहिश्रो, दइव्य च दइव्यं स्यात् ॥  
ममउक माउअमे-को एषो कोउदह्ल कोउहलं ।  
धुश्रो धोरो हुलं हुअं मुको च मुश्रो च ॥  
वाउह्लो च वाउह्लो, तुंगहरो तुंगहरो चो विकल्पयशात् ।  
मुको मुश्रो, खगणु खगणु, पिणय च शीण च ॥  
द्विव्यमनन्यस्य यथा-अभ्दकरो तथाऽऽहकरो च ।  
भोचिचत्र सोचिच या स्यात्, रूप तच्छेप तत्रच ।  
सेवा नोदो निहित-मृदक-व्याकुल क्शुभ-मुका  
एकस्नुष्णिक-चित्र-नख-चेत्राऽऽमर्दायाश्च ईयम् ।  
अन्यतो दूतो निगदति मुनिः क्शाणु-कौतुहलं च  
सेवादि तत्र प्रहशाशमित्त २६ स्याद्वनत्रापि शब्दः ।

शाङ्गे कानु पूर्वोऽनु ॥ १०० ॥

शाङ्गे कानु प्रागकारः स्यात्, 'साङ्गं' सिद्धिमनुते ।

ह्रमा-भ्रुाया-रन्नेऽन्त्यव्यञ्जनात् ॥ १०१ ॥

अभिममाद् व्यञ्जनात् प्रागत् वमा-श्रयाया-रन्ने ष्यते ।

ह्रमा सज्ञाहा रयणं, मृदम् सुदममाऽऽपेतः ॥

संनहान्मर्वा ॥ १०२ ॥

संनहऽनौ यन्न मयोरगस्तस्य मध्ये तु वाऽनु भवेत् ।

नेहो म्णेहो, अगमो अगमां रूपं विदुर्बुधाः ।

पुङ्गे लात् ॥ १०३ ॥

अः स्यात् पुङ्गे लकारात् प्राक् 'पलक्सां' सिद्धिमश्नुते ।

ह्र-श्रीं ह्रीं-कृन्म-क्रिया-दिष्टयासिन् ॥ १०४ ॥

श्री-ह्री-कृन्म-क्रिया-दिष्टया-ऽहोषु युकाऽन्यवर्णतः ।

प्रागिकारो भवेदेषु पदेषु, तल्लवयनेऽऽनुत् ।

सिरी हरी, च कर्मणो किरिआ दिष्टिआऽरिहा,

' ह्य नाणं क्रिया-होणं ' इत्यादि क्वचित्किथ्येन ।

शी-प-तप्त-वज्रे वा ॥ १०५ ॥

तप्त-यज्ञ-शे-पेशदे संयुक्तान्यवर्णतः ।

प्रागिकारो विकल्पेन, संयुक्त्यापिऽद्वयत् ॥

(शे) आर्यासो आर्यास, सुदीसमा वा सुदसमां, (पे) वासा ।

वरिसा, वामं वरिसं, वरिस-सयं वासस्यमित्तं च ॥  
नित्यं क्वचित् व्यर्थमित्त-विनापया दइयने-ऽप्रागिसं ।

हरिसो च परामरिसो, तविभ्रो नत्तो, वहर वञ्ज ॥

लात् ॥ १०६ ॥

संयुक्तस्य तु लादन्त्य-ध्यऽजनात् प्रागिकारना ।  
किलिञ्च च किलिटां च, कचिञ्च स्थान-कमा पवो ॥

स्याद्-जन्व-चैत्य-चैरियसमेषु यात् ॥ १०७ ॥

स्यादादिषु चौर्यशब्द-तुष्टेषु निन्देषु च ।  
संयुक्तस्य यकारान् प्रागिकदिशां विधीयते ॥  
सिञ्चा यथा-सिञ्चावाञ्चो, अविञ्चो वेहञ्च तथा ।  
(चौर्यसमाः) चोरिञ्चं घोरिञ्चं गम्भीरिञ्चं सोरिञ्चं वोरिञ्चं ॥

स्वमे नात् ॥ १०८ ॥

स्वप्रशब्दे लकारात् प्रागिकारः, सिञ्चिणो यथा ।

सिञ्चिषे वाऽद्विती ॥ १०९ ॥

स्विञ्चशब्दे लकारान् प्राग, अद्विती स्तो विकल्पनात् ।  
सिञ्चिञ्च च सिञ्चिञ्चं च, पञ्च निञ्चं निगद्यते ॥

कृणे वणौ वा ॥ ११० ॥

वर्णो कृणेण लकारात् प्राग, अद्विती स्तो विकल्पनात् ।  
कसणो कानिणो कणहो, विणौ कणहो प्रयुज्यते ॥

उच्चाद्विती ॥ १११ ॥

अर्हन्-शब्दे हकारान् प्राग, अद्विती स्तो भवन्ति च ।  
अर्हो अर्हो रूप-प्रकटो चेति सिञ्चिणि ॥  
अरदन्तो अरिहन्तो, अरदन्तो च पश्यन्ते ।

पञ्च-द्वय-मूर्त्ते-द्वारे वा ॥ ११२ ॥

पञ्चो द्वयो च मूर्त्ते च द्वारे युक्तस्यवर्णौ च ।  
प्रागुद् वा, पञ्चमे पञ्चम्, द्वयमे च उच्यते तथा ॥  
मूर्त्तौ मुक्तयो मुक्तयो वा, दुवारं द्वारमुच्यते ।  
पञ्च वार च द्वारं च द्वारं चेति त्रयं स्मृतम् ॥

तन्वोत्तुल्येषु ॥ ११३ ॥

उदन्ता ङीप्रययान्ताः, शब्दास्तन्वीसमाः स्मृताः ।  
संयुक्तस्यान्वयणान् प्राग, उकारस्तेषु पश्यन्ते ॥  
तत्तुल्यो लहर्वा गम्भी, कचिदन्त्यत्रापि हृद्यन्ते च यथा ।  
स्त्रुप जवति सुगम्भे, आर्षे-सुद्वम् न तु सुहृम् स्यात् ।

एकस्वरे इवः स्वे ॥ ११४ ॥

एकस्वरे पदे यौ भवन्-स्य इत्येतौ तयोर्दिह ।  
यकारान् प्राग, उकारः स्यात्, अः क्वं तु-सुवे कयं ।  
'सुवे जला स्वे जनास्तु, कुत 'एकस्वरे' इति ? ।  
स्वजनः-स्यघणो 'नात्र, यतोऽप्येकस्वरे सितः ॥

ज्यायामौ तु ॥ ११५ ॥

ज्या-शब्दे तु यकारान् प्राग, ईत् स्यात् 'जीञ्चा' ततो भवेत् ।

करेणू-बाराणस्याः र-णोर्व्यत्ययः ॥ ११६ ॥

बाराणस्यां करेणूवां च, र-णोर्व्यत्ययो प्रवेत् ।  
बाणारसी, कणिक, स्त्री-निर्देशात् पुंसि न्येयत् ।

आलाने लनोः ॥ ११७ ॥

अ-नयोर्व्यत्ययादाला-नमाऽऽज्ञाणो प्रयुज्यते ।

अचलपुरे चक्षोः ॥ ११८ ॥

अचलपुरे तु शब्दे, च-लयोः स्थानभेदतः ।  
प्रयुज्यतेऽसचपुरं बुधेः प्राकृतपदिनिः ।

महाराष्ट्रे हरौः ॥ ११९ ॥

'मरहट्टं' महाराष्ट्रे हरयोर्व्यत्ययाद् भवेत् ।

हृदे हदोः ॥ १२० ॥

हृद्-शब्दे ह-दयोर्व्यत्ययेन रूपं बहो भवत्यत्र ।  
'हरप मह पुणमारप' इत्यादि हृद्यन्ते तत्तु ।

हरिताले र-लोर्नवा ॥ १२१ ॥

र-लयोर्व्यत्ययः कारयो, हरिताले विकल्पनात् ।  
सिक्क ततो 'हरिआलो, हारिआरो' इति द्वयम् ।

लघुकं स्रहोः ॥ १२२ ॥

लघुकं घस्य इत्ये वा लहयोर्व्यत्ययः स्मृतः ।  
हलुं लहलुं, घस्य व्यत्यये न तु हो भवेत् [ १ ] ॥

ललाटे ल-कोः ॥ १२३ ॥

ललाट-शब्दे लडयोर्व्यत्ययो वा विधीयते ।  
णमाल च णलामं च, ललाटे चेति [ १.२५७ ] लस्य णः [ २ ] ।

से षोः ॥ १२४ ॥

षा-शब्दे ह-ययोर्वा स्थानव्यत्ययः सहा-गुणयोः ।  
सर्हो सज्जो, तथा गुण्डं गुण्डं, रूपे इमे मते ।

स्तोकस्य धोक्-धोत्-धेवाः ॥ १२५ ॥

धाङ्-धोक्-धेवा वा स्युः, स्तोकाशब्दे त्रयः क्रमात् ।  
धाक् धोक् च धेवे च, पञ्च धोक् विधीयते ।

दुहितु-चिग्न्यां धूञ्जा-वहिराण्यौ ॥ १२६ ॥

धा भवेद् दुहितुधूञ्जा, प्राग्न्या वा षिणौ तथा ।  
वहिराण्यौ भूञ्जा, धूञ्जा दुहिरा च विभाष्यते ॥

वृक्ष-क्षिप्तयोः रक्त्वं-वृद्धौ ॥ १२७ ॥

वृक्ष-क्षिप्तशब्दयोर्-येधाक्त्वं 'रक्त्वं' वृद्धं इति वा स्तः ।  
रक्त्वं वा वञ्जो, वृद्ध सित्तं, उच्छ्रद्धमुक्त्वं च ।

वनिताया विलया ॥ १२८ ॥

वनिताया विलया वा, विलया वलिञ्चा ततः ।

गौणस्येपतः कूरः ॥ १२९ ॥

ईपरुल्लभ्यस्य गौणस्य, कूरदेशो विज्ञापया ।  
विचव्व कूर-पिकेति, पत्त स्याद् 'ईसि' निर्वृतम् ॥

स्त्रिया इत्थी ॥ १३० ॥

स्त्री-शब्दस्य भवेद्विधीया वा, 'इत्थी' धी' प्रयुज्यते ।  
धृतदिदिङ् ॥ १३१ ॥

धूनेर्वा द्विहिरादेश-स्तनः स्यार्तां दिहो धिर्दे ।

माजोरस्य मञ्जर-वञ्जरी ॥ १३२ ॥

माजोरस्य विकल्पेन स्यार्तां मञ्जर-वञ्जरी ।  
मञ्जरो घञ्जरो, पञ्च मञ्जरो वाऽभिधीयते ॥

वेङ्कटस्य वेकलिञ्चो ॥ १३३ ॥

वेकलिञ्च इत्यादेशो, वा वेङ्कटस्य स्यात् ततः ।  
वेकलिञ्चं वेङ्कटं च, त्रयं सित्ति समश्नुते ।

[ १ ] घस्य व्यत्यये कृते पदादित्याद् हो न प्राप्नोतीति ह-क-रणम् । [ २ ] "ललाटे च" [ १.२५७ ] इति आदेवेस्य ण-विधानादिह द्वितीयां ल-स्थानां ।

पारिह एसाहे इदानीमः ॥ १३४ ॥

इवामीमो भवेत् पण्हि, एसाहे च विकल्पनात् ।

इच्चाणि पारिहम एसाहे, त्रयं चेतत् इकपितम् ।

पूर्वस्य पुरिमः ॥ १३५ ॥

पूर्वस्य पुरिमो वा स्यात्, पुर्वं च पुरिमं तथा ।

व्रतस्य इत्ये-तद्वौ ॥ १३६ ॥

व्रत-शब्दस्य वा स्यात्, हिट्-तद्वौ विकल्पनात् ।

दित्यं तच् च तथ्यं च, त्रयं सिद्धिं समश्रुतं ॥

बृहस्पतौ बहो जयः ॥ १३७ ॥

बृहस्पतौ बहस्य वा भयो निगद्यते पदे ।

भयस्सर्ह जयस्सर्ह भयस्सर्ह ततो भवेत् ।

बहस्सर्ह बहस्सर्ह बहस्सर्ह च पाकिक्म् ।

इत्थं यत्र 'वा बृहस्पतौ' ( १. १३८ ) इति प्रदर्शितौ ।

बिहस्सर्ह बिहस्सर्ह बिहस्सर्ह बृहस्सर्ह ।

बृहस्सर्ह बृहस्सर्ह च तत्र यान्ति सिद्धिनाम् ।

मस्त्रिनो जय-शुक्लि-नुमाऽऽरब्ध-पदात्तमैद्भावाद्-

सिप्-शिका-इ च पाइक् ॥ १३८ ॥

मस्त्रिनादेमैलान्दिदेशो वा विधीयते ।

मस्त्रिन-मस्त्रिनं मस्त्रं, धमय-अवहं च उच्यते इति केचित् ।

शुक्लि-सिप्पो सुक्लि, नुम-शिकां च नुमो च ॥

आरब्धवादादसौ आरब्धो वा, पदात्तमैद्भावात् तु पदम् ।

पाइक् च पायाई, 'अभयोक्तान्' जवेदायं ।

दंश्या दादा ॥ १३९ ॥

दंश्या-शब्दस्य दादा स्यात्, संस्कृतेऽप्ययमित्थते ।

बहिमो बाहि-बाहिर् ॥ १४० ॥

'बाहि बाहिर्'मित्येतौ 'स्थाने द्वौ बहिसे मती ।

अधसो हेहं ॥ १४१ ॥

हेह इत्यमार्देशोऽधसो, हेहमतो भवेत् ।

मानु-पितुः स्वसुः सिन्धा-तौ ॥ १४२ ॥

मानुः पितुः परः स्वसु-शब्दः, तस्य सिन्धा च ह्य ।

स्वाद् माउच्चा माउसिन्धा, पितृच्छा च पि (ब) ऊसिया ।

तिरिचस्तिरिचिः ॥ १४३ ॥

तिरिचिच्छस्तिरिचः स्थान आदेशो विनगद्यते ।

'तिरिचिच्छ पेच्छ' आर्थे-तिरिचिः अपि प्रयुज्यते ॥

गृहस्य घरोऽपतौ ॥ १४४ ॥

गृहस्य घर आदेशः, पतिगृहः परो न चेत् ।

घर-स्वामी, राय-घरं पत्यो-गृहघरं पुनः ॥

शौलायथेस्येरः ॥ १४५ ॥

शौल-धमे-स्वाधमे यो, विहितः प्रत्ययो भवेत् ।

इर इत्यमार्देशः, तस्य स्थाने विधीयते ॥

हासशौलस्तु-इस्तिरो, राधिरो लक्षितो तथा ।

जम्पिरो वेविरो ऊल-सिरो च जम्पिरोऽपि च ॥

तुन एव इरं केचिद्विच्छाते, नमिराऽऽप्यः ।

तेषां मने न सिध्यन्ति, तुनो बाधाऽत्र रादिना ॥

वत्सस्तुमच्छ-तुआणाः ॥ १४६ ॥

'तुम-अव-तु-तुआणा' स्युः, स्थाने क्त्वाप्रत्ययस्य तु ।

( तुम ) मोत् ( अत् ) प्रमिष ( तुण ) काऊण,

कट्टा-ऽऽपं ( तुआण ) जेतुआण च ॥

इदमर्थस्य केरः ॥ १४७ ॥

प्रत्ययस्येदमर्थस्य, 'केर' आदेश इच्छते ।

तुम्हकेरं अम्हकेरं, युष्मदीयाऽस्मदीयायोः ।

न स्यात् 'मर्हम-पक्के' तु 'पाणिनीया' इहापि च ।

पर-राजन्पा क-दिकौ च ॥ १४८ ॥

प्रत्ययः पर-राजभ्या-मिदमर्थः परोऽस्तु यः ।

तस्य स्थाने भवेतां तु, क-दिकौ केर इत्यपि ॥

परकीय तु पारकं, परकं पारकेरञ्च ।

राजकीयं तु राहकं रायकेरं च पठ्यते ।

युष्मदस्मदोऽत्र एव्यः ॥ १४९ ॥

यः परो युष्मदस्मदोऽत्र प्रत्ययोऽभिदमर्थकः ।

एवचयनस्य, युष्माकमित्ये यौष्माकमित्यदः ।

तुम्हदचयं स्याद्, आस्माकं जेवदम्हदचयं तथा ।

वतेर्वः ॥ १५० ॥

प्रत्ययस्य वतेर्वः स्याद्, 'सुहृद्व' निवृहयते ।

सर्वाङ्गादीनस्येकः ॥ १५१ ॥

सर्वाङ्गाद् 'सर्वादेः पप्यक्' हेम० ७ ॥ त्यादिना य ईनऽस्ति ।

तस्येकः स्यात्, सर्वा-ङ्गिण-सर्वयङ्गिणो गदितः ।

पयो णस्येकद् ॥ १५२ ॥

'नित्यं णः पप्यक्' [ह० ६ ७] सुवेधेनेन यः पयो णः स्यात् ।

तस्येकद् करण्यः, पत्यः पदिभो ततो भवति ।

इयस्यत्सिनो पायः ॥ १५३ ॥

आत्मनः पर ईयो यो, श्यावांशोऽस्तु तस्य तु ।

आत्मीय पठ्यते तेन, सुषरऽप्यस्यं पथम् ।

त्वस्य शिपा-त्तौ वा ॥ १५४ ॥

त्व-प्रत्यस्य वा स्यातां 'सिमा' 'सण' इमौ क्रमात् ।

पाणिमा पुष्काम्, पीणत्तणं पुष्कत्तणं तथा ।

पक् पीणत्तं पुष्कत्तं, पयम-याश्रदानीम् ।

इहः पृच्छ्यादि-शब्देषु नियन्तव्यान्त्य विधिः ।

तदन्त्यप्रत्ययानेषु साधनेन तु विधीयते ।

पीनता 'पीणया' चेहाऽ-न्त्यमायायां तु-पीणद्वा ।

तेनेह 'दा' तल्लः स्थाने, मादेशो न विधीयते ।

अनङ्गातो तैलस्य रेणुः ॥ १५५ ॥

अङ्गोऽनयजितान् शब्दात्, 'रेणुः' तैलस्य कथ्यते ।

कतुपुहं, न चऽङ्गोऽनेणमत्र प्रवर्तते ।

यत्तदनेतोतिरिचिञ्च एतल्लुक् च ॥ १५६ ॥

इतिञ्चो यत्तदनेतद्व्यः स्याद् माश्रदानीदि ।

परिमाणार्थकस्याऽङ्गो, लुक् स्यादनेतोऽपि च ।

पतावत् ईत्तं, तावद् यावत् तित्तिञ्च जित्तं च ।

इदंकिमर्थं केसिञ्च-केसिल-केह्वाः ॥ १५७ ॥

शब्दं ज्यो यत्तदनेतद्व्यः किमिदंभ्यां च यः परः ।

अनुतो रुवतुवां स्यात् तस्य स्थाने मित्तल्यः ।

केह्वाः केसिञ्च केसिलो, भवेदनेतद्व्यं ह्यक् ।

एत्तञ्च एत्तल्लं एह्वां स्याद्व्यत्त

कसिञ्चं कसिलं केह्वां स्यात् कियत् ।

जेत्तञ्च जेत्तल्लं जेह्वां स्यात्

तेषामं तेषामं तेहहं तावतः ।  
पक्षिभं पक्षिणं पक्षमतावतः ।  
पद्दहं, वेदशं सुरिजिग्योद्गतम् ॥  
कुत्वसां हृत्तं ॥ १५८ ॥  
“वाते कुत्वसं” [हम०७।२] हि सुत्रेण यः कुत्वस्यस्ययः क्तः ।  
तस्य स्थाने भवेत् ‘हृत्तं’ ‘स्यहृत्तं’ निदर्शयम् ।  
कथं प्रिवाजिमुक्तं तु ‘पियहृत्तं’ प्रयुज्यते ।  
हृत्तनाभिमुक्तायेन रूपसिद्धिर्भविष्यति ।  
आदिवद्वाङ्माल-वन्त-मन्तेचेर-मणा मवोः ॥ १५९ ॥  
आलुङ्, इहो, मणो, वन्त-आल-उल-इरः, तथा ।  
इसा, मन्तो, यथालक्ष्यं, नवाऽऽदेशा मतोः स्मृताः ।  
(आलु) नेहालु च द्यालु (इहो) सादिहो भवानि जामहो वा  
(उल) मसुहो दपुहो (आल) तथा जमालो च सहालो ॥  
(वन्त) भणवन्त-भक्तिवन्तो (मन्ते) मणुमन्तो भवति पुण्यमन्तो ।  
(इर) कञ्जइरसां भावइरसां (इर) गन्विरो रोहिरो भवेत् ।  
(मण) स्याद् ‘भणमणो’, कर्वाविद्, मादेशाद् हलुमा मतः ॥[१]

चो दो तसो ना ॥ १६० ॥  
प्रत्ययस्य तसः स्थाने ‘सो’ ‘दो’ वा भवतो, यथा ।  
सञ्चतो सञ्चदो, पक् भवेद् रूपं तु सञ्चञ्चो ।  
मपो द्वि-द्व-त्याः ॥ १६१ ॥  
प्रत्ययस्य त्रपः स्थाने द्वि-द-त्याः स्युरिमे त्रयः ।  
निदर्शनं यत्र-तत्र-कुत्राणामिह दृश्यताम् ।  
जोड वा जह वा जथ, तथा वा तदि वा तह ।  
कहि वा कड वा कत्या-ऽञ्चय वाऽञ्चहि वाऽञ्चह ।  
वैकादः सि सिञ्चं इथा ॥ १६२ ॥  
एक-शब्दान् परो यो वा-प्रत्ययस्तरय वा त्रयः ।  
‘इथा सिञ्चं सि’ इत्येते, आदेशाः स्युधिपाकम् ॥  
स्यादेकदा ‘एकसिञ्चं’, तथा ‘एकसिञ्चा’ऽपरम् ।  
‘एकसि’ त्रिनयं चैतन्, पते स्याद् ‘एगया’ पदम् । [ २ ]  
मिद्ध-दुद्धौ जवे ॥ १६३ ॥  
नामः परी डिद्ध-दुद्धौ, भवेऽथे प्रत्ययी कितौ ।  
गामलिञ्चा, उशान्यन्त्य, आत्वाभौ [२१५६] प्रत्ययावपि । [३]

स्वार्ये कश्च वा ॥ १६४ ॥  
स्वार्ये को डिद्ध-दुद्धौ च, कितौ वा प्रत्ययात्मयः ।  
चन्दभो इहयं, क्वापि द्वि-व- बहुभयं यथा ।  
ककारोच्चारणे पेशाच्चिकमापार्थेभ्यस्त ।  
यथा वतनकं, इद्ध इतोऽमे लयते स्फुटयम् ।  
पुरा पुरां वा ‘पुरिञ्चा’ ‘पद्धविद्धेण’ इत्यपि ।  
उद्ध-पिउद्धभो इत्युक्ता मुहुद्धं त्रयं मतम् ।  
पले-चन्ना इद बहु बहुञ्च मुहमित्यपि ।  
स्यात् कुंसादिशिधिं तु ‘कप्’ सस्कृतधेद्व च ।  
यायादिब्रह्मणः कस्तु, नियतस्थान इष्यते ।  
द्वौ नवैकादश ॥ १६५ ॥  
नवादेकाच्च वा स्वार्ये संयुक्तो ‘द्वः’ प्रवर्तते ।  
ततो नवको एकको, एको एको नवोऽपि वा ।  
सेवादिस्वात् ( ३।६६ ) कस्य द्विचं ‘पद्धो’ सिद्धिसृष्टति

[ १ ] मतारिति किम् ?, धर्णो, आथिञ्चो । [ २ ] एकइथा ।  
[ ३ ] पुरिद्धं, हेट्टिद्धं, उवदिद्धं, अयुद्धं ।

उपरेः संव्याने ॥ १६६ ॥  
संव्यानेऽथे स्थितात् स्वार्ये द्वो भवेद् उपरिरेह ।  
‘अवदिद्धो’ ‘ऽवरि’ रूपमसंव्याने प्रतिष्ठितम् ।  
द्वयो मया कयया ॥ १६७ ॥  
स्वार्यिकौ प्रत्ययौ स्थानां, भ्रुशब्दाद् डमया मया ।  
भुमया ममया चेमी, शब्दाः सिद्धिमवाप्तुतः ।  
शानैमां मिञ्चम् ॥ १६८ ॥  
शनैस्शब्दाद् भवेत् स्वार्ये, डिञ्चम् तु ‘सिञ्चं’ यथा ।  
मनाको नवा दर्यं च ॥ १६९ ॥  
डयम् मिञ्चं च वा स्वार्ये, मनाकशब्दादिमौ यथा ।  
मण्यं मणभं पक् मणा इत्यपि सिध्यति ।  
मिथाङ्गादिञ्चः ॥ १७० ॥  
मिञ्च-शब्दात् तु वा स्वार्ये, ‘काङ्गिभः’ प्रत्ययो भवेत् ।  
मीसाङ्गिञ्चं तथा पक्, ‘मांभं’ इत्यपि दृश्यते ।  
रो दीपौतु ॥ १७१ ॥  
स्वार्ये दीपौत् परो वा रः, दीहरे हीहमित्यपि ।  
त्वादेः सः ॥ १७२ ॥

‘मावे त्वतल’ (हम०७।१) हि सूत्रेण, यः स्वाऽऽदिर्वहितस्ततः  
स्वार्ये स एव त्वादिर्वा, भवेदित्युपदिश्यते ।  
सुपुक्त्वंन ‘मउञ्चस्यार्’ अनुवाच्यते ।  
स्यात् कणित्ठयरो जित्ठयरो रूपं वृथान्वयम् ।  
विपुत्पत्र-पीतान्पाञ्चः ॥ १७३ ॥  
वा विपुत्पत्रपीतान्पाञ्चशब्दभ्यः स्वार्यिकोऽस्तु लः ।  
विज्जुला पत्तलं अन्ध्रयो च पीवल पीञ्चलं ।  
पत्ते विज्जु च पत्तं च पीञ्चं ‘अन्ध्रो’ चतुष्टयम् ।  
यमलस्य संस्कृतस्य ‘जमलं’ कर्पावित्यपि ।  
गोणादयः ॥ १७४ ॥

गोणादयो निपात्यन्ते, बहुलं इत्यदर्शनात् ।  
गोणो गावी च गौवाच्या, गावीञ्चो गाव उच्यते ।  
बहल्लो तु बलौवदेः, आक आप इतारिनः ।  
‘पञ्चावका पणपञ्चा’ पञ्चपञ्चाशदित्येते ।  
तेवभा तु त्रिपञ्चाशत्, नेषालीसा त्रिवेदमित् ॥  
विउसमां तु म्युंसमां, घोसिरणं म्युंसजैनम् ।  
‘बहिक्ता’ इत्यं शब्दो, बाहिवं म्युनार्थकः । [ १ ]  
‘गुणामुसिञ्चम्’-इत्येतत् कार्यं, कथयतु त् कञ्चित् ।  
मुक्त्वह उद्धति, अपस्मारस्तु वरहो ।  
कन्दुहं उत्पभं, थिक्थिक् तिद्धि किं च पठ्यते ।  
‘धिगम्तु’ वाक्यमित्येतद् धिरस्तु प्रतिभयते ।  
पमिसिद्धी पाडिसिद्धी, प्रतिस्पयोऽभिधीयते ।  
थिक्कं स्वासकः, स्वाही सकिथणो, जम उमणं ।  
निहेभणं तु निलयः, मघोणो मघवानिति ।  
महान् महन्तो, आसीसा आथीरिति, भवान् पुनः ।  
मयन्तो कुञ्चित् स्वार्तां इकाङ्ग्य बुभौ, यथा ।  
सूहत्तरं वडुयर्, स्याद् हिमारां मिमारां ।  
द्वस्य द्वो इश्यते क्वापि, सुद्धकः सुहुडो यथा ।  
‘घायणो’ गायणो, ङकाराद्-‘कस्यपकं’ च, वनो ‘घदो’ ।  
सञ्जावती च सञ्जासुइणी कङ्कदमित्यपि ।

\* त्रिचन्वाराशित्ययेः । [१] बाहिसत्पथवा मैथुनम् ।



ककुपे, ककुमिष्येत कुन्तलपदस्य तु ।  
 चूतो भयति मायन्दे, आगमया-सुराः तथा ।  
 माकन्दः संस्कृतेऽपि स्यात्, भृष्टोऽपि गुरुव्यते ।  
 इमशाने करसी, खले खेदु, अशुं दिन तथा ।  
 पौष्पं रजस्तु 'विष्कृच्छि', समर्थः पक्कशो, बली ।  
 उज्जङ्घो, पक्कका गेलच्छो, शाखा साकुली मता ।  
 कपांसः पहली, ताम्बूलं मते जसुर इह ।  
 पुञ्जली शिबई, चैवं सति इक्षयाणि भूरियाः ।  
 याऽधिकारात् पक्कउष यथादर्शनमिष्यते ।  
 तेन गौः-गउओ' इहप्रपे चापि प्रयुज्यते ।  
 गोला गोआवरी चमी, गोला-गोदावरी-भवौ ।  
 भापाशब्दाश्च सन्नीह बहवस्तान् प्रवीर्यहम् ।  
 आदित्यो लङ्कका, विङ्गुर-पञ्चदुशो च उज्जङ्घा ।  
 लपेहन्-विहम्कफन्-मम्कफरा अहम्कट्टो च ।  
 पण्डित्ठर-इल्लफ्कन इत्याद्या भूरिशाभिप्राशाब्दाः [१] ।  
 अथवासइ कुम्फुङ्कइ, उफ्काइइ क्रियाशब्दाः ।  
 अत एव कृष्ट-पृष्ट-बाक्य-विष्टमित्येतसाम् ।  
 वाचस्पति-प्रोक्त-प्रान-विष्टरश्रवसां तथा ।  
 अग्निचिद-सोमसुन्-सुगल-सुम्भादानां च युज्याम् ।  
 किञ्चादिप्रत्ययान्तानामनुक्तानां तु मूर्तिभिः ।  
 प्रतीतिवैषम्यपरः, प्रयोगां न विधीयते ।  
 किन्तु शब्दान्तरैरेव, तदर्थेऽस्माऽभिधीयते ।  
 वाचस्पतिमुक्तः, कृष्टः कुशशो, विष्टरश्रवाः ।  
 हरिरित्यादिवद् शेषोः भवेत् पर्यायसम्भवः ।  
 सोपसंगस्य घृष्टस्य, प्रयोगः क्रियते बुर्ये ।  
 परिघट्टे निहट्ट चेत्येवमादि निश्चयम् ।  
 धार्ये यथादर्शनं तु, न विरुद्धं किमप्यतः ।  
 'यथा मया विडसा, 'तथैव 'सुश्र-लक्षणागुसारेण ' ।  
 'वक्कन्तरंस्तु अ पुणां, 'इत्याद्यापि विज्ञानायान् ।  
 अवययम् ॥ ११५ ॥  
 अवययमित्यधिकार आपादपिपुरगात् ।  
 इतः परं ये बह्व्यन्ते, ते सर्वेऽप्यवयवाभिध्नाः ।  
 तं वाक्योपपन्नासे ॥ ११६ ॥  
 तमिति वाक्योपपन्नासं, प्रयोक्तव्यं यथाविधि ।  
 'त तिम्रस-वर्द्धिमोक्त्वं' एव सर्वत्र लुप्यताम् ।  
 आम अन्पुपगमे ॥ ११७ ॥  
 आम-शब्दोऽन्पुपगमे, वाच्यं सात्तु प्रयुज्यताम् ।  
 तद्यथा- आम बहला वगोलां 'इहगुच्यते ।  
 पात्रि वैपरित्ये ॥ ११८ ॥  
 णवीनि वैपरीत्ये स्यात्, तथाहि- णवि हा वणे ' ।  
 पुणरुक्तं कृतकरणे ॥ ११९ ॥  
 'पुणरुक्तं' इतिशब्दः, कृतकरणेऽर्थे प्रयुज्यते हि, यथा- ।  
 'अइ सुपइ पंतुलि' एासहेहि अइहि पुणरुक्तं ॥ [१]  
 इन्द्रि विपाद्-विकल्प-पञ्चोत्पाप-निश्चय-मत्स्ये ॥ १२० ॥  
 विपाद् निश्चये सत्ये, पञ्चासापे विकल्पने ।

[ १ ] इत्याद्या महाराष्ट्रविद्वांसोदशापारसका लोकांतेऽव-  
 गन्तव्याः । [ २ ] हे पांतुले ! त्वं निःसहैरङ्कैः पुनरुक्तं [ वारं  
 वारं ] स्वपिपि ।

'हृदि' शब्दः प्रयुज्यते, अवयवमेतद् निराश्रयताम् ।  
 "हृदि च्लणेण णञो सं, ण माणिओ हृदि हुञ्ज एसाइ  
 हृदि ण होहो भणिरु", सा खिज्जइ हृदि तुइ कजे" । [१]  
 हुन्द च गुट्टाणार्थे ॥ १२१ ॥

'हुन्द' 'इन्द्रि' 'सो' शब्धौ गुट्टाणार्थस्य वाचकौ ।  
 यथा- 'इन्द' पलोपसु इमं 'इन्द्रि' गृहाण च ।  
 मिव पिब विव व्व व विअ इवाथे वा ॥ १२२ ॥  
 'मिव-पिब-विअ-विच-व-व्या' अमी इवाथे च वा प्रयुज्यन्ते।  
 कुम्सु मिव, हंसो विच, कमलं विअ, चन्दणं पिब च ।  
 ससस्स व निम्माओ, खोरोओ सायरो व्व, पके तु ।  
 नोत्तुपलमाज्ञा इव, दिशाऽनया त्यन्दपि बोध्यम् ।

जेण तेषां लक्षणं ॥ १२३ ॥  
 जेण तेषां इत्येती, सदा लक्षणं नुपुः प्रयोक्तव्यौ ।  
 जेण नमरुत्तं कज्जल, 'अमरुत्तं तेषां कसलक्षणं' ।  
 एाद्रे चेअ चिअ च अवधारणे ॥ १२४ ॥  
 'एाद्रे चेअ च चिअ' इम-ऽवधारणेऽर्थे यथा- 'गर्दं एाद्रे' ।  
 जं चेअ मउलण ठो-अणण, तं च्च सणुरिसा ॥  
 अणुवउ तं चिअ का-मिणाण, सेवादिदर्शनाद् द्विथे ।  
 'तं च्चिअ भञ्जा' इत्यापि, स च्च व रुवेण, स च्च साङ्गेन ।

बडे निशरण-निश्चययोः ॥ १२५ ॥  
 निशरणं निश्चय, 'बले' इतीद, यथा- 'बले सोहो' । [१]  
 अथिये बडे सणुरिसो, धणंजओ खलिसाणं तु । [३]  
 किरं हिरं किलार्थे वा ॥ १२६ ॥

'किरं हिरं' इत्येते, त्रयः किंशोऽपि हि वा प्रयुज्यन्ते ।  
 एते सोदाहरणाः, कथ्यन्ते तेऽवयवस्यम् ।  
 'कल्लं किरं बर-इअओ' एव किल तेषां सविणप त्रिणिश्रा' ।  
 'तरुसं इरं', 'पिअ-वयसो हिरं' किल-वाऽऽपि वा वाच्यः ।  
 एावरं केवले ॥ १२७ ॥

णवरं तु केवधार्ये, 'णवरां' 'नवरां' च कुत्रचिद् एहम् ।  
 'णवरं पिश्राइ विअ णि-वइडनि' चैवं प्रयोक्तव्यम् ।  
 आनन्तये एावरि ॥ १२८ ॥  
 आनन्तये 'णवरि' प्रयुज्यते, तत्रिदर्शने चैतत् ।  
 'णवरि अ से रडु-वइणा', 'णवरणवारी' सुत्रमेकेषाम् । [४]  
 अज्ञाहि निवारणं ॥ १२९ ॥

अर्थे निवारणे 'आहि', 'सुधीनिः ससुधीरित्तथ ।  
 अज्ञाहि किं वाइरण, अहेखेति निदर्शयते ।  
 अण पादं नअर्थे ॥ १३० ॥  
 'अण, पादं' इत्येती, बुधेनेओऽर्थे परं प्रयुज्यते ॥  
 अणचिन्तिअममुणन्ती, 'गाई रोसं करेमि' यथा ।

माई माऽर्थे ॥ १३१ ॥  
 'माई रोसं तु कादाव', अत्र माई तु माऽर्थकः ।

[ १ ] इन्द्रि [ विपादि ] चरणे नतः सः, न मानिता इन्द्रि [ वि-  
 कल्पे ] भविष्यति इदानीम् ( नवा ) । इन्द्रि [ पञ्चासापे ] न ज-  
 विष्यति भाणेरि [ जगन्महाश्रा ] सा खिद्यते इन्द्रि [ सत्यम् ] तव  
 कार्ये । [ २ ] निश्चय-विह पयायम् । [ ३ ] निधारणे । [ ४ ]  
 केचित्तु केवलानन्तरार्थार्थः 'णवर-णवारी' इत्येकमेव सूत्रं कुव्य-  
 ते, तन्मते उभावायुज्यार्थी ।

दुःखी त्स्त्रिदे ॥ ११७ ॥

'दुःखी' इति निवेदे, दाधिक-शब्दस्य भवति वाऽऽदेशः ।  
तस्माद् 'दुःखी दुःखी' तथा च 'हा धाह धाह' इति ।

वेव्ये भय-वारण-विपादे ॥ ११८ ॥

भय-वारण-विपादेषु, 'वेव्ये' इतिनिधीयते ।  
'वेव्ये' इति भयं वेव्ये, इति वारणं जूरणे च वेव्ये इति ।  
उल्लाघिरीष तु हृत्, वेव्ये इति गय(प) । किं शयं ? ॥  
किं उल्लाघिनीप उत्र जूर-तोरे किं तु नीश्राप ।  
उव्वादिरीरे वेव्ये इति तांरे भणितं न सिद्धरिभो" [ १ ] ॥

वेव्ये च आमन्त्रणे ॥ ११९ ॥

वेव्ये वेव्ये च आमन्त्रणे, यथा-भवति 'वेव्येसोले' वा ।  
'वेव्ये मुरग्ये चह-रिभ पाणिश्र' चदशे वाक्येप ।

मामि हला हल्ले सरुया वा ॥ ११९ ॥

'हला मामि, हल्ले' श्वेतं सरुया आमन्त्रणे तु वा ।  
पथग्रह भागस्त्र हला, 'मामि हु स्वर्गसकलराणु'षि चकधितम् ।  
'हल्ले हयासस्त्र' तथा, पक्-सहि एरिसि चिभ्र गरी तु ।

दे मंगुलीकरणे च ॥ ११९ ॥

'दे' तु मंगुलीकरणे, सरुया आमन्त्रणे च वक्तव्यम् ।  
'दे' पतिश्र ताव सुन्दरि' । 'दे आ खु पतिश्र निअससु च ॥

हुं दान-पृच्छा-निवारणे ॥ ११९ ॥

स्याद् 'हुं' निवारणे दाने, पृच्छायां चापि, तद्यथा-  
'अप्यथा चिभ्र हु मेगह' । 'हुं निर्लेज' इति सोमस ।  
'हुं च स्याद्यु सञ्जाते, एवमादि निश्रोणम् ।

हुं खु निश्रय-वितर्क-संभावने-विस्मये ॥ ११९ ॥

'हुं' खु' निश्रय-संभावने-वितर्क-विस्मय-पक्षेषु वक्तव्यौ ।  
(निश्रये) 'त पि हु अचिभ्रसिरी', 'त खु सिरीय रदस्सं च' ।  
ऊहसशयो द्वावपि, वितर्क-वाच्यौ (ऊह) हसह खु एत्र सा ।  
'न हु ग्वरं संगहश्र' (सशयो) खु जलहरो भूमवत्सो खु ॥  
(संभावने) 'एअं खु हसह' इत्यपि; णवर रमंण हु तरिं' च ।  
(विस्मये) कां खु सहससिरी, हुनांऽनुस्वारात् परो वाच्यः ।

ऊ गृहीऽऽ-क्षेप-विस्मय-सूचने ॥ ११९ ॥

'ऊ' गृही-विस्मयाऽऽक्षेप-सूचनेषु प्रयुज्यते ।  
(गृही) ऊ एिल्लजं (सूचने) ऊ कण, नविष्णयां गुणं तुह ।  
(आक्षेप) ऊ मर भाणअं किं खु' (विस्मये) ऊ मृगिआऽहयं कद' ।  
आक्षेपः संऽन, वाक्यस्य यद् विपर्यासवारणम् ।

धु कुत्सायाम् ॥ १२० ॥

कुत्सायां धु, यथा-लोआं विभ्रज्जो धु' प्रयुज्यते ।

रे श्ररे संभाषणे-रतिकल्लहे ॥ १२० ॥

संभाषणे तु 'रे' स्यात्, रतिकल्लहे संप्रयुज्यते च 'श्ररे' ।  
रे हिअय । मडह-सरिआ, 'अरे मर मा कंसे उवहासं' ।

हरे क्षेपे च ॥ १२० ॥

[ १ ] वेव्ये इति भयं वेव्ये इति वारणं जूरणे [ खेदे ] च वेव्ये इति । उल्लाघयन्त्या अपि ( मया ) तव वेव्ये इति मृगाक्षि । किं क्षेपम् । किं उल्लाघयन्त्या उत जूर-न्या किं तु भीतया । उद्व-दन्त्या (निपथं कुर्वत्या) वेव्ये इति तथा ज्ञातं न विस्मयः ।

क्षेपे रतिकल्लहे संभाषणविषये च कथ्यते तु 'हरे' ।  
(क्षेपे) हरे गिरज्ज ! (रतिकल्लहे) हरे बहु-  
बल्लह ! दुज्जण ! (संभाषणे) हरे पुरिसा ! ।

ओ सूचना पश्चात्तापे ॥ १२० ॥

सूचनायां तथा पश्चात्तापे 'ओ' इति पठ्यते ।  
'ओ अविणय तत्तुं' (पश्चात्तापे) 'ओ छाया इतिश्राप न' ।  
उतस्य तु विकल्पार्थवाचकस्यापि 'ओ' भवेत् ।  
यथा 'तहयल्ले ओ विरपमीन' निगद्यते ।

अध्वो सूचना-तुःख-संभाषणपराप चिस्मयानन्दादरभय-  
खेद-विपाद-पश्चात्तापे ॥ १२० ॥

अध्वो तुःखं सूचनयामपरापे च विस्मये ।

संज्ञापणे भये खेदे, पश्चात्तापविषयाद्योः ।

आनन्दादर्याध्याप प्रयोक्तव्यं हि, तद्यथा !

[ १ ] अध्वो दुःखधार्याः । (२) अध्वो हिययं द्वाभित्त वयणाणि ।

[ ३ ] अध्वो किमिणं किमिणं, अपराध विस्मये तु यथा- ।

[ ४ ] \* अध्वो हरन्ति हिअयं, तह वि न वेसा हवन्ति सुवर्णं ।

[ ५ ] अध्वो किं प रदस्यं, मुण्णिनं पुत्ता जणभदिआ ॥

[ ६ ] अध्वो तुपहायिणे (७) अध्वो अज्जमह सफल जीअं ।

[ ८ ] अध्वो अइअग्नि तुमे, नवरं अइ सा न जूरिहइ ॥

[ ९ ] अध्वो न जाअं वेसे, पश्चात्तापेऽपिधीयते तु यथा ॥

[ १० ] "अध्वो तह तेण कया, अदधं जह कस्स साहेमि" ? ।

[ ११ ] \* अध्वो नासेन्ति विहि, पुलयं वेव्हुन्नि देति रणरण्यं ।

यदिह तस्सेअ गुणा, ते चिअ अध्वो कहरुण पअं ? ।

अइ संभाषने ॥ २०० ॥

अइ संभाषने, अइ दिअर ! किं न पच्छसि ? ।

वाणे निश्रय-विकल्पानुकल्पे च ॥ १२० ॥

संभाषनेऽनुकल्पे च विकल्पे निश्रये वणे ।

[ निश्रये ] वणे देमि 'वणे ढोइ, न ढोइ' स्याद् विकल्पने ।

दासां न मुष्यह वणे, अनुकल्पो न मुच्यते ।

[ संभावने ] 'नाथ वणे जं न देइ' विहि विणामो' यथा ।

मणे विमर्शे ॥ १२० ॥

मणे विमर्शे, 'मन्ये' इत्यर्थेऽपि च्छन्ति केचन ।

किस्वित् सुयो-मणे सुरो' रूपमीहण विदुदुद्याः ।

अस्मो आश्रये ॥ १२० ॥

आश्रयेऽर्थे भवेद् अस्मो, 'अस्मो कइ तरिअइ' ।

स्वयमोऽर्थे अप्पणो नवा ॥ १२० ॥

[ १ ] सूचनयाम् ( २ ) दुःखे [ ३ ] संभाषणे [ ४ ]

अपराधे [ ५ ] विस्मये [ ६ ] आनन्दे ( ७ ) आदरे

[ ८ ] जये [ ९ ] खेदे [ १० ] विपादे [ ११ ] पश्चात्तापे ।

\* अध्वो इरन्ति हृदय तथाऽपि न ज्ञेया भवन्ति सुवर्तीनाम् ।

अध्वो किमापि रदस्यं जानन्ति धूर्ताः जनाभ्यकाः ॥

× अध्वो नाशयन्ति धूर्तिं पुत्रकं वेदयन्ति हृदयं रणरण्यकम् ।

इदानीं तस्यैव गुणा त एव अध्वो कथं नु पतत ॥

' स्वयम् ' इत्यस्य वाक्ये वा, ' अल्पणो ' संयुज्यते ।

' अल्पणो विसर्ग्य कम-लसरा विश्रसति च ' ॥

' करलिङ्गं सत्यं वेध, मुणाल ' स्वाधिकं पाकिरुचम् ।

मत्येकमः पारिकं पारिकुण्डं ॥ २१० ॥

प्रत्येकमः पारिकुण्डं, पारिकं च पदं भवेत् ।

पाठिकं पाठिकुण्डं, च पक्षे- ' पक्षेभ- 'मिष्यते ॥

उभ परम् ॥ १११ ॥

' उभ ' इत्यव्ययं पक्षेभ्यस्त्वाथे वाऽजिधीयते ।

' उभ निष्कलिण्येहा जिसिणी-पलस्मि रेहृद बलासा ।

निम्मल-मरण्य-मायण-परिट्टिआ सङ्ग-सुचित व्य ' ॥ [ १ ]

इहरा इतरथा ॥ ११२ ॥

' इहरा ' इतरथाऽथे, प्रयोक्तव्यं विभाष्यया ।

' नीसामवेहि इहरा ' पक्षे- ' इकरहा ' इति ॥

एकसरिभं भगिति संघति ॥ ११३ ॥

सम्प्रत्यथे भगित्यथे स्वाध- ' एकसरिभं ' पदम् ।

मोरउद्धा मुधा ॥ ११४ ॥

' मोरउद्धा ' इति पदं, मुधाऽथे प्रतिपाद्यते ।

दराधोरये ॥ ११५ ॥

' द्र ' इत्यव्ययम् ईवधेऽथोऽथे च पठ्यते ।

' द्र-विआसिभं ' ईवधर्थे विकसितं तथा ॥

किणो मभे ॥ ११६ ॥

' किणो ' इत्यव्ययं प्रथे, ' किणो धुवसि ' ईदृशम् ।

६-जे-राः पादपूरेण ॥ ११७ ॥

६-जे-रा इत्यमी शब्दा उच्यन्ते पादपूरणे ।

' न उगा ६ च अर्चोर्दे ' ' अणुकूलं च योर्लुं जे ' ॥

स्वात् ' गेपदृ ६ र कअम-गोवी ' वाक्ये र-पूरणम् ।

' अहा हंदा च डा हंदा, नाम हांसि अहाह च ॥

अहहाऽयि अरिरीर ' इत्याद्याः संस्कृतोपमाः ।

प्यादयः ॥ ११८ ॥

प्राकृते प्यादयः सर्वे, नियताथेऽप्रकृतयः ।

प्रयोक्तव्याः, यथा- ' वि ' ' वि ' अप्यथे परिकीर्तितौ ॥

या भाषा भगवदबोधभिरगमद-रुपाति प्रतिष्ठां परा,

यस्यां सन्त्यधुनाऽन्यमूनि निखिलान्यकादशाङ्कानि च ।

तस्याः संप्रति दुःपयारवदातो जातोऽभचारः पुनः

संचाराय मया कृते विवरणे पादो हित्तोयो गतः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सौधर्मभूहृत्पापागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-

श्रीमन्ट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसुरिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ द्वितीयः पादः ।

[ १ ] उभ इति पद्य इत्यर्थे, बलाका, विमिनीपत्र कमलि-  
भीषणे राजति । किमुना बलाका?, निष्कलिण्येहा, निरच-  
बाहिरिप्रोदिना, निष्पदाऽनकृन्नास्मादिना, कच १, निर्मलमरक-  
तभाजनप्रतिष्ठिता शक्यशुंकारिव ।

॥ अ० म० ३ ॥

## ॥ अथ तृतीयः पादः ॥

धीः पात् स्वादेर्विस्से स्वरे भो वा ॥ १ ॥

' धीःपात् स्वादेर्विस्से स्वरे भो वा ॥ १ ॥

' धीःपात् स्वादेर्विस्से स्वरे भो वा ॥ १ ॥

पदे इचरादो धीःस्वाभे पदे, इत्युपादिभ्यते ।

एकक स्वादेकमेकं पक्षे एककामिष्यते ।

अङ्ग अङ्ग तथा ' अङ्गमङ्गमि ' प्रतिपाद्यते ।

अतः सेतोः ॥ १ ॥

नाम्नोऽद्वन्द्वत् प्रवेत् स्वादेः सेतोः ' वच्छे ' यथा भवेत् ।

वैतदतः ॥ ३ ॥

पलसन्नेरतः स्वादेः सेः स्थिति ' से ' विकल्पनात् ।

' सेो परे ' ' स गणे ' ' पसेरे पस ' वैभं तिद्देशनम् ।

जरशामोर्लुकं ॥ ४ ॥

नम्नोऽद्वन्ताङ्गशासौ यो स्वादिस्सम्बन्धिनी, तयोः ।

लुग प्रवेत् तथा- ' वच्छा एव ' ' वच्छे वि पच्छे ' च ।

अमोऽस्य ॥ ५ ॥

अतोऽमोऽस्य मुमाक्येयो ' वच्छे पच्छे ' उदाहृतम् ।

ठा-आमोर्गाः ॥ ६ ॥

अतः परस्य ' ठा ' इत्येतस्याऽऽमआपिणो प्रवेत् ।

यथा- ' वच्छेण वच्छान् ' इत्यं सिद्धिसुपागमत् ।

जिसो हि हिं हिं हिं ॥ ७ ॥

मिसो ' हि हिं हिं ' इत्येन आदेशः स्पृक्षयः क्रमात् ।

कपं ' वच्छेति वच्छोर्हि वच्छोर्हि ' च बुधा जयुः ।

हमेस् सो-दो-दु-हि-दिन्तो-लुकः ॥ ८ ॥

अतोऽसोऽमी स्युः सो-दो-दु-धि-दिन्तो-सुकोऽप्ये पद ।

' वच्छाहिने च वच्छतो वच्छा वच्छा च काचिवत् ।

तथा वच्छोर्हि वच्छाभो ' दोऽन्यनायाथे उच्यते ।

ज्यसस् सो-दो-दु-हि-दिन्तो-सुन्तो ॥ ९ ॥

अतोऽसो भवेत् ' सो-दो-हिन्तो-सुन्तो-दु-र्हि ' क्रमात् ।

यथा-वच्छा उ वच्छोर्हि वच्छोर्हि ' त्रयमोदशम् ।

वच्छाहिने च वच्छोर्हिने, वच्छासुन्तो च वच्छोसुन्तो ।

वच्छन्तं वच्छाभो वैभं, कपं विच्छर्कैककम् ।

इसः ससः ॥ १० ॥

अतः परस्य तु कुसः संयुक्तः ' ससो ' भवेदिद ।

यथा-पिआस्स पेम्मस्स, शैत्यमुपकुस्सं इत्येव ।

उवकुम्भस्स सोअनत्तणमित्यत्रिधीयते ।

रे मिं डेः ॥ ११ ॥

अतः परस्य कोहिनू के, मिंआऽदेरी यथाकाम्यम् ।

वच्छे वच्छमि, दृवमि देधे, तं तमि इत्येव ।

द्वितीयेत्यादि [ ३ ] १३७ ] सुत्रेणाऽऽः स्वानि कर्षिधाभ्यते ।

जम्-शम्-कमि-सो-दो-दु-हि-दिन्तो-लुकः ॥ १२ ॥

जम्-शम्-कमि-सो-दो-दु-हि-दिन्तो-लुकः ॥ १२ ॥

[ १-२ ] वच्छा [ ३ ] वच्छाच वच्छाभो, वच्छा, वच्छादि वा पुनः

[ १-२ ] जसि शासि च [ ३ ] कुसि ।

वच्छाहितो च, वृक्रेण्यः वच्छसो हस्व [१४] सुव्रतः ।  
वच्छाभो वच्छाड [४३।६], अग्रिम-रूपे 'वच्छाण' सिध्यति ।  
ऊसिग्रहणैव सिद्धे, 'सा दो ड' - प्रहणन किम् ? ।  
पवस्व्य काधनाधाय ज्यसि, तस्य प्रहो मतः ।

ज्यसि वा ॥ १२ ॥

ज्यसादेशे परे दीर्घो, वाऽकारस्य विधीयते ।  
यथा- 'वच्छादि वच्छेदि', 'तथाऽभ्यर्था बुधताम् ।

टाण-शस्पेतु ॥ १४ ॥

टाऽऽदेशे-णै च, शसि च, भवत्येवमतो, यथा ।  
[ शस् ] वच्छे पच्छ, [ टा-ण ] च वच्छेण, णेति किम् ? अ-  
प्यणा यतः ।

भिसज्यसमुपि ॥ १५ ॥

भिस-ज्यस-सुपसु भयाथेस्वमतः, तद्दर्शयाम्यहम् ।  
वच्छेहितो च वच्छेदि वच्छेसु व्रतमार्गितम् । [७]

इदुनो दीर्घः ॥ १६ ॥

इकारोकारयोर्दीर्घो भिस्-भ्यस-सुपसु परेषु च ।  
गिराहि च गिराहिन्तो, गिरासु च तदसु च ।  
तर्हि च तर्हिन्तो बुर्हिहि, तर्पि कुत्रचित् ।  
'दिश्रभूमिसु द्वाणजबोह्निभारं' तु यादृशम् । [८]

चतुरो वा ॥ १७ ॥

उकारान्तस्य चतुरगे भिस्-ज्यस-सुपसु परेषु वा ।  
दीर्घो भवति, चतस्रो चतस्रो, चउर्ह च वा ।  
चउर्हि, चउसु स्याद् वा चउसु, इति बुधनाम् ।

सुमि शमि ॥ १८ ॥

इदुनोः शसि सुमे तु दीर्घो भवति, तद्यथा ।  
गिरी बुर्हि तदु येणु पच्छ, 'वेयं निरशेसम् ।  
'सुमि' इति किस ? 'गिरिणा, तदशो पच्छ' यद् जवेत् ।  
इदुनः किम् ? यथा- 'वच्छे पच्छ' नास्त्वत्र दीर्घता ।  
जस-शस्- [३।१८] इत्यादिना योगः शसि दीर्घस्य वा कृतः ।  
सांस्कृत लक्ष्यानुग्राह्यो न सर्वत्र प्रवर्तते ।  
णवि [ ३।२१ ] प्रतिप्रसवार्थे [३।२२] शङ्गाया विनिवृत्तये ।  
'सुमि' इति हि योगोऽस्ति, स ज्ञेयः सूत्रमदर्शिनः ।  
अङ्गीवे सो ॥ १९ ॥

इदुनोः सौ भवेद् दीर्घः, स चाङ्गीवे विधीयते ।  
गिरी बुर्हि तदु येणु, अङ्गीवे तु स्याद् दहि महुं ।  
यिकल्प्य केऽपि दीर्घत्वे तदभावे वदन्ति च ।  
समादेश, यथा सिध्यन्-अग्रिमं वाचं निर्दि विदुं ।

पुंसि जसो रुच रुचो वा ॥२०॥

इदुनः परस्य जसोऽत्र अशो पुंसि वा भिन्नी ।  
अग्रमाश्र अग्रमत स्थानाम्, 'अग्रिमाश्र' इति पात्रिकम् ।  
'वायश्रो वायच' प्राङ्गेः 'घातणो'-ऽप्यनिवन्मतम् ।  
शेषे स्वदन्तवद्भावाद् अग्रो वाच च सिध्यतः ।

वोतो रुचो ॥२१॥

उदन्तात् परस्य जसः, पुंसि वा 'श्रो' द्विदिध्यते ।  
साहयो, साहशो पक्षे साहउ साहउ साहउण ।

[ ४ ] सो [ ४ ] दो [ ६ ] ड [ ७ ] भिम्-वच्छेदि, वच्छेदि,  
वच्छेदि । पवस्व-वच्छेदि, वच्छेदिन्तो, वच्छेदुनो । सुप-वच्छे-  
सु । [ ८ ] द्विजभूमिसु द्वाणजबोह्निना ।

जस्-शसोणो वा ॥२२॥

इदुनः परयोः पुंसि जस्-शसोषोऽस्तु 'णो' इति ।  
गिरिणा तरुणो, पक्षे स्वानो रूपे 'गिरी कृत्' [१] ।  
ऊसि-ऊतोः पुं-ङ्गीवे वा ॥२३॥

इदुनो वा ऊसिऊसोः, पुंसि ङ्गीवे च वाऽस्तु 'णो' ।  
गिरिणो तरुणो रूपे दृहिणो महुणो तथा ।

पक्षे 'गिरीशो गिरीउ गिरीहिन्तो', 'ऽनया दिशा ।  
अन्येवामपि कृपाणि, हि-लुकौ न प्रविष्यतः ।

ऊसो 'गिरिस्स' इत्येकं पक्षे रूपं प्रयुज्यते ।

टो णा ॥२४॥

इदुद्वयोः पुंसि ङ्गीवे च, 'टा' इत्यस्य तु 'ण' जवेत् ।  
गिरिणा च गामणिणा, तरुणा दहिणा यथा ।

ङ्गीवे स्वरान्म मेः ॥२५॥

ङ्गीवे स्वरानाद् नाम्नः सः, स्थाने मां स्वञ्जने भवेत् ।  
दहिं महुं यं येमं, केऽपीरुद्वयनुनासिकम् ॥ [२]

जस्-शस् ई-ई-णयः समादीर्घाः ॥ २६ ॥

नाम्नः परयोर्जस-शसोः ङ्गीवे ई-ई-णयस त्रयः ।  
पशुं सन्तु भवेत् पूर्वस्वराणां दीर्घता, यथा ॥  
वयणोः पक्षे, शर्दे दहोर्दे पङ्क्याणि च ।

स्त्रियामुदीनो वा ॥ २७ ॥

नाम्नः परयोर्जसशसोर् उदीनो वा स्त्रियां मत्तौ ।  
तणोस्तु परयोः पूर्वस्वरास्येष्टा च दीर्घता ।  
यथा बुकीञ् बुकीञो, सहीञो च सहीउ च ।  
पक्षे बुकीं सहीं चैवमन्येऽप्युष्वा विचारणात् ।

इतः सेशोऽऽवा ॥ २८ ॥

सैजेश-शसोश्च वाऽऽकारः, स्त्रियामितः परस्य तु ।  
यथा एसा हसन्मोशो, गोरीशो सन्ति पच्छेडु वा ।  
पक्षे हसन्मो गोरीशो, एवमन्यत्र बुधनाम् ।

टा-ऊम्-डेरदादिदेद् वा तु ऊसो ॥ २९ ॥

नाञ्जः परेषां स्त्रीभिर्दे, टा-ऊम्-ङ्गीनां क्रमात् वृषेः ।  
अद् भाद् इद् पतञ्ज्यारः, समाप्त्दीर्घोः प्रकृतिताः ।  
कवलस्य ऊसः स्थाने, समाप्त्दीर्घो अग्रो तु वा ।

यथा मुद्भाद् मुसाद् मुसाप च कथं त्रिञ् ।

कप्रत्यय मुद्दिशाश्च, मुक्त्वाश्च च कथ्यते ।

एवं सहीश्च धेरुश्च बहुशाऽऽदि प्रयुज्यताम् ।

मुक्ताहिन्तो च मुक्ताउ मुक्ताशो चेति पात्रिकम् ।

शेषेऽदन्ता- [३।२४] तिदृशाश्च, वा दीर्घत्वं जसादिना [३।२९]

नात आत् ॥ ३० ॥

स्त्रियामातः परेषां तु, ऊसिटाङ्-ऊसो न चाऽऽत् ।

भवद् 'मालाश्च मालाश्च मालाश्च' चेति वै प्रथम् ।

मत्पये ङीर्नवा ॥ ३१ ॥

अणदि [ हेम०२४ ] सुव्रतो यो ङीरुको, वा स स्त्रियामिह ।

आत् [ हेम०२४ ] इत्याप च जवेत् पक्षे, साहणी साहणा यथा ।

अज्ञातः पुंमः ॥ ३२ ॥

अज्ञातिवाचिपुंसिहात् स्त्रियां ङीर्वा विधीयते ।

[ १ ] जम्शमोरिति द्विवाभिदुत इत्यनेन यथासंख्यामा-  
वाधेम् । [ २ ] दहिं, महुं । स्वरादिन्त इदुनो निवृत्त्यर्थम् ।



ऊर्मी रक्षो राक्षो च, पक्षे तावन्निरास्यताम् ।  
रायाहिनो च रायाहिं, राया रायाड इत्यपि ॥  
रायाभ्रा (ऊसि) रायां रक्षो, पक्षे रायस्त्व पठ्यते ।

दो णा ॥ ५१ ॥

राजदशम्यात् विकल्पेन, टा-स्थाने 'णा' विधीयते ।

रक्षा च राक्षणा, पक्षे, रायेणत्यपि सिद्धयति ॥

इजेस्य णो-णा-ऊँ ॥ ५२ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्ये वा णो-णा-ङिषु कथ्यते ।

राक्षोः पञ्च विद्वन्नि आराभ्रा वा धर्षं यथा ॥

राक्षणा चैव, रायस्मि, पक्षे रूपं निशम्यताम् ।

रक्षो रायस्मि रायाणां, रायश्च रायणा तथा ॥

इणममाया ॥ ५३ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येणम्, अमाङ्ग्यां सह वेधयते ।

राह्यं वा धर्षं पञ्च, रायं राह्यं पात्तिकम् ॥

ईङ्गिस्त्रयसाम्भुपि ॥ ५४ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्वं भिस्-भ्यसाम-सुप्त्वे वेधयते ।

राहिनो च राहिं राहिसुनो भवेद् इयसि ॥

निसि राहिं, राह्यं आभि, राहिसु सुयद् ।

पक्षे 'रायःणाहि' इत्या-दीनि रूपानि चकृते ॥

आजस्य टा-हसि-ऊसु सणाणोप्यण् ॥ ५५ ॥

राजन्-शब्दस्य योऽस्यासोऽवयवस्तस्य भवेदण् ॥

णा-णो-आदेशरूपेण, टा-हसि-ऊसु वा मतः ॥

टायं राया राह्या, ऊसु-ऊस्यो रयो च राह्यो ।

सणाणोप्यनि किम् ? रायांभो रायस्त्व च रायण ॥

पुरुषेण आणो राजवञ्च ॥ ५६ ॥

अन्नस्य भवेद् 'आण' इति पुंसि विकल्पनात् ।

पक्षे तु राजवन् कार्यं, यथादेशनिमित्थं ॥

आणादेशो अतः सङ्कोः [ ३ । २ ] एवमादि प्रवर्तते ।

पक्षे तु राहः 'जस्' [ ३ । ७० ] 'टोणा', [ ३ । २४ ]

'इणम्' [ ३ । ५३ ] एतद् विधिप्रथम् ॥

अप्याणो अप्याणा, अप्याणो अप्याणे;

अप्याणो अप्याणानुनो पञ्चम्याम् ॥

अप्याणेषु अप्याणेहि, टायं निसि यथाक्रमम् ।

अप्याणस्साऽप्याणाण, कसि वाऽऽभि क्रमेण हि ॥

अप्याणस्मि तथा अप्या-णेषु ऊँ सुपि चोच्यते ।

अप्याण-कथं, पक्षे तु, राजवन् कार्यमीदृशताम् ।

अप्या अप्यां च, हे अप्या ! हे अप्या ! इयमीदृशम् ।

अप्याणो जसि, अप्याणो शासि, अप्यां तु अप्याणा ।

अप्याहि निसि, अप्याणो अप्याभ्राऽप्याव वै पुनः ।

अप्याहि अप्याहितो अप्या अप्याणुनो स्याद् इयसि ।

अप्याणां धनम्, अप्याणं, अप्यं अप्यसु कीर्यते ।

रायाणां चैव रायाणा 'एवं सर्वे विभाव्यताम् ।

पक्षे तु राया इत्यादि, जुवाणो च जुवा तथा ।

बह्वाणो पात्तिको बह्वा, अक्राणोऽक्राऽपि वेधयते ।

उच्चाणो वा भवेत्-उच्चा, माथा माथाणो वा भवेत् ।

तथैव पूसा पुसाणां, तक्का तक्काणां इत्यपि ।

मुक्काणो वा च मुक्का स्यात्, 'साणां सा' इवा प्रकीर्तितः ।

सुकम्माणो पञ्च, शर्म शर्मं, ह्रीबेऽप मेधयते ।

आत्यनष्टो णिआ एडआ ॥ ५७ ॥

आत्मशब्दाद् हि टा-स्थाने वा 'सिञ्जा' 'णश्चा' मतौ ।

अप्याणिआऽप्याणश्चा, पक्षेऽप्याणो' कथ्यते ।

अतः सर्वादिर्नेजसः ॥ ५८ ॥

भवेद्वन्तात् सर्वादिर्नेजसः स्थाने द्विदिदि ।

सव्ये अन्ने च जे ते के कथेर इयेर तथा ।

ऊः सिंस-स्मि-त्याः ॥ ५९ ॥

सर्वादीनामतो ऊः स्युः सिंस-स्मि-त्यास्तु यथाक्रमम् ।

सव्यस्य सव्यस्सि सव्यस्मि, अतः किम् ? अनुमि तु ।

न वाऽनिदमेतदो हि ॥ ६० ॥

इदमेतदौ विना सर्वादेरद्वन्तात् परस्य ऊः ।

द्विमादेशो विकल्पेन, भवादित्युपाद्श्यते ।

सव्यहि अभाहि, कियत्तदुप्यः स्याद् हि स्त्रियामपि ।

काहि जाहि च ताहि च, कियत्तदुप्यो न ऊँ [३।३३]रिह ।

एतद् ब्रयं बाहुल्यकं कार्यं, पक्षे निशम्यताम् ।

सव्यस्य सव्यस्सि सव्यस्मि चैवं बुध्यतां परम् ।

स्त्रियां तु पक्षे काय च, कीए चैव विचार्यताम् ।

इदमेतदोऽस्मिस्सि, एस्मिस्सि रूपमित्येते ।

आमो देमि ॥ ६१ ॥

अद्वन्तात् सर्वनाम्नः स्याद्, आमो 'डेसि' विभाषया ।

सर्वसि अवरसि च, जेसि तेसिमिमसि च ।

पक्षेऽवराणु सव्याणु जाणु ताणु इमाणु च ।

स्त्रियां बाहुल्यकात्-सर्वासो सर्वसि प्रयुज्यते ।

कितदुप्यो कासः ॥ ६२ ॥

कितदुप्यो तु परस्यामः, स्थाने डासो विकल्प्यते ।

तास कास जवेत्, पक्षे-नेसि कसि प्रयुज्यते ।

कियत्तदुप्यो ङसः ॥ ६३ ॥

कियत्तदुप्यो ङसः स्थाने, डासाऽऽदेशो विकल्प्यते ।

ङसः स्स (३।१०) स्यापवादोऽप्य, पक्षे सोऽपि प्रवर्तते ।

कास कस्स जास जस्स, तास तस्स प्रयुज्यते ।

आद्वन्ताच्यां च कितदुप्या-मपि डासा विभाषया ।

कस्याः तस्याः कास तास, काय ताए च पात्तिकम् ।

इङ्ग्यः स्मां मे ॥ ६४ ॥

इद्वन्त्यः किमादिभ्यो, ङसः 'स्वा' 'से' विकल्पितौ ।

टाङ्कम्-[३।३६] इत्यादिसुबस्यापवातोऽयं निरूपितः ।

तेन पक्षेऽहाद्योऽपि प्रवर्तते, निदर्श्यते ।

'किस्सा कीसे कीभ कीभा, कीए कीह' भवन्ति पद ।

जिस्सा जीसे जीभ जीभा, जीए जीह यदो मताः ।

'तिस्सा तीसे तीभ तीभा, तीए तीह' इमे ततः ।

उहाहि काला इभा काले ॥ ६५ ॥

कियत्तदुप्युत्त ऊः स्थाने, 'राहे डाला इभा' प्रयः ।

द्विस्सिस्मन्त्यात् अप्याण्य, कासं वाच्यं भवन्ति वा ।

काहे काला कइभा, जाहे जाला जइभा ।

ताहे ताला तइभा, पक्षे ते चापि मताः \* ।

'कहि कसिस्स कम्मि कथ्य' रूपानीमानि तत्र च ।

ङसेट्ठी ॥ ६६ ॥

\* ताला जाअन्ति गुणा, जाला ते सहिअपीह घणन्ति ।

कियत्तद्भ्यो ऊसेः स्थाने, म्हाऽऽदेशो वा विधीयते ।  
कम्हा जम्हा च तम्हा च, काभो जाभो तु पाङ्किकम् ।

तदो होः ॥ ६७ ॥

तद्ः परस्य तु ऊसेसो' वा, 'तम्हा' च 'तो' यथा ।

किपो किणो-किसौ ॥ ६८ ॥

किमः परस्य तु ऊसे-ङ्किणो डीसो च वा स्मृतौ ।  
किणो कीस, तथा कम्हा, खीसि सिङ्खमुपागमम् ।

इदमतत्-कि-यत्तद्भ्यश्चो णिण ॥ ६९ ॥

इद्-यव-तत्-किमेतद्भ्योऽन्तेन्यस्य टो-णिणोऽस्तु वा ।

इमेण इमिणा, जेण जिणा, एवेण एव्हिणा ।

किणा केण, तिणा तेण, एवें टाया डिणाविधिः ।

नदो णः स्यादौ कचित् ॥ ७० ॥

तद्ः स्थाने ण आदेशः, स्यादौ लक्ष्मणुसारतः ।

'णं तिअद्दा' तां त्रिजटा, 'पेच्छणं' पश्य नं यथा ।

तेन पेण, तथा णाप, नैः तामिन् णाईं णाईं च ।

किमः कख-तमोश्च ॥ ७१ ॥

किमः को भवति स्यादौ, तलसोः परयोस्तथा ।

का क क कण, [त्र] कथ्य, [तस्य] कत्रां कत्तो कदो यथा ।

इदम डमः ॥ ७२ ॥

पुत्तियोरिदमः स्यादौ, स्यादिमो, हि 'इमो' 'इमा' ।

पुं-स्त्रियोरनैवाऽप्यपिभासौ ॥ ७३ ॥

इदमः सौ परं पुंसि 'अर्थ' वा 'इमिअ' स्त्रियाम् ।

इमो इमा भवेत् पक्के, एवें रूपचतुष्टयम् ।

सिंम-स्सयोरत् ॥ ७४ ॥

इदमोऽस्य विकल्पेन, सिंसि-स्सयोः परयोरिदं ।

असिंसि अस्स, इमादेश इमसिंसि च इमस्स च ।

बहुलप्रहणादप्यशप्येयं संप्रवर्तते ।

पहि पमिं, आहि आमिन्, एस्तु एपु प्रयुज्येते ।

ऊमेन हः ॥ ७५ ॥

इदमः कृतेमादेशाद्, वा मेन सह होऽस्तु ऊः ।

इह, पक्के-इमसिंसि च, इमसिंसि प्रतिपठ्यते ।

न त्यः ॥ ७६ ॥

न 'त्यः' [३।१६] स्यादिदमो ऊस्तु, ष्हेमसिंसि इमसि च ।

णोऽपु-शास्-टा-जिभि ॥ ७७ ॥

इदमो णोऽस्तु वाऽम-शास्-टा-भिस्तु, ण जेण रोहि खे ।

पत्ते इमे इमेणंगहि इमे सिङ्खिमाय्युः ।

अमोगम् ॥ ७८ ॥

अमा स्वेदमः स्थाने, 'इणम' वा स्याद्, इणं, इम ।

क्रीवे स्वपदमिणामो च ॥ ७९ ॥

'इदम' 'इणम' च 'इणमो', क्लीबे नियममौ त्रयः ।

स्वस्वर्यां सहदमः स्थाने, भवन्तीति विभाव्यताम् ।

इदं इण वा इणमो, धणं चिच्छद् पेच्छु वा ।

किमः किं ॥ ८० ॥

क्लीबे प्रवर्तमानस्य, स्वस्वर्यां सह किमोऽस्तु किं ।

किं कुलं तुह, 'किं किं ते पडिहाइ' यथा भवेत् ।

वेदं-वेदतदो ऊसाम्भ्यां से-सिमाँ ॥ ८१ ॥

इदम् तद् एतद् इत्येषां, चाऽमऊस्त्यां सह से-सिमाँ ।

इस्य तस्य च वैतस्य शीलं-से सीलं मुच्यते ।

एयां तेषां तथैतेषां शीलं-सिं सीलं-मिच्यते ।

पत्ते 'इमस्स चेमसि इमाण, तस्स ताण च ।

तेसिं, एअस्स एपसि एअण' इति बुध्यताम् ।

कश्चिदामाऽपि से आदेशं यद्योददेशोरिदं ।

से-सिमाँ त्रियु लिङ्गेषु, तुल्यं रूपमवाप्नुतः ।

वेदतो ऊमेस्स चो चाहि ॥ ८२ ॥

एतद्ः परस्य ऊमेस्स' 'सो, चाहि' स्तो विकल्पनात् ।

एसो एसाहे, पक्के तु, पञ्च रूपानि, तद्यथा —

एअाहिन्तो च एअाहि, एअा एअाअ एअाअो ॥

त्ये च तस्य लुक् ॥ ८३ ॥

एतद्ः त्ये परे 'सो चाहि'- उनयोः परयोर्णि ।

तकारस्य लुक्, 'एसाहे, पण्ण एसो' इति त्रयम् ॥

एरुदोतो म्मा वा ॥ ८४ ॥

एतद् आदिवर्णस्य, उपादेशो म्मो अरुदोष वा ।

यथा-अयमिं इयमिं, पत्ते एअमिं भगयते ॥

वैमेणमिणमो मिना ॥ ८५ ॥

सिना स्वेतदो वा स्युः, एमेणम इणमो तवः ।

इणं एमेणमो, एवें एसा एसां च पाङ्किकम् ॥

तदश्च तः सोऽङ्गीवे ॥ ८६ ॥

तदेतरोस्तस्य सेः स्या-दङ्गीवे सौ परं यथा —

सो पुरिसो, सा मंहला, एसां एसा पिमा पिअा ॥

वाऽऽसो दस्य होनोदाम् ॥ ८७ ॥

अदसां दस्य सौ हो वा. सो [ ३ । ३ ] आत् [ ४ । ४४८ ]

आप [ २ । ४ ] मअ [ ३ । २३ ] नो नतः ।

अह पुरिसो, अह मंहला, अह मोहो अह वण च हस्स मअा ॥

पत्ते तु मुरादेशो, [ ३ । ८८ ] अम् अम् त्रियु अम् रूपम् ।

मुः स्यादौ ॥ ८८ ॥

अदसां दस्य तु स्यादौ, मुरादेशोऽभिधीयते ।

अम् पुरिसो, अमुणो पुरिसा, च अमुं वणं ।

ततो अम्पु वणाद्, तथाऽमुणं वणात् च ।

अम् माला, अमुत्रोऽम्पु मालाभो, उम्माऽनथा ।

ऊसा अमुत्रोऽमुदितोऽम्पुत्र, ज्यमिं निशय्यताम् ।

अमुदिमो अमुसुत्तो, अमुस्स अमुणो ऊसिं ।

आमिं ऊं सुपि चाऽमुण स्याद् अमुमिं अमुत्तु च ।

म्मावेषो वा ॥ ८९ ॥

इकारान्तस्यादासो वा, उपादेशो म्मो अयाऽय च ।

ततोऽयमिं इयमिं डौ, स्यात् पक्के 'अमुमि' इत्यपि ॥

युप्पदः नं तुं तुवं तुह तुमं सिना ॥ ९० ॥

युप्पदस्तु सिना साकं, ततु तुह तुवं तुमं ।

पञ्च रूपानि सौ विद्या-द्वन्द्वस्येयं विचिन्त्येत ॥

जे तुम्भे तुम्भं तुम्भं तुम्भं तुम्भं जसा ॥ ९१ ॥

तुम्भे तुम्भं तुम्भं तुम्भं, भे तुम्भे च जसा सह ।

म्मां र्हङ्गी वति [ ३।१०४ ] वचनानु तुम्भे तुम्भे ततोऽष्टकम् ।

तं तुं तुमं तुव तुम तुप अमा ॥ ९२ ॥

तुप तुम तुम सं तुं, तुवं तुह अमा सह ।

वो तुज्जं तुज्जे तुय्हे उय्हे जे शमा ॥ ९३ ॥

वो तुज्जं तुय्हे जे, उय्हे पदं शमा सह ।

'धमो म्हाज्जो वेत्ति' [३१०४] वचनात्, तुय्हे तुज्जे ततोऽप्येकम् ।

भे दि दे ते तऽ तप तुमं तुमऽ तुमप तुमे तुमाइ टा ॥ ९४ ॥

भे दि दे ते तऽ तप, तुमाइ तुमप तुम ।

तुमं तुमाइ सार्धे तु, टया क्कामिते [११] पद्यम् ।

भे तुज्जेहि उज्जाहि उम्हाहि तुय्हेहि उय्हेहि जिसा ॥ ९५ ॥

तुय्हेहि उय्हेहि, तुय्माहि उज्जाहि उम्हाहि ।

जे-'धमो म्हा-उम्हा' [३१०४] सूत्रात्, तुय्हे तुज्जे ततोऽप्यैः स्युः ।

तऽ-तुव-तुम-तुह-तुम्हा ऊसो ॥ ९६ ॥

तऽ-तुव-तुम-तुह-तुम्हा ऊसो युष्मदो भवन्त्यमी नित्यम् ।

सो दो दुहि हिन्तो लुक् ऊसंयथाप्राप्तमेव स्यात् ।

स्यात् तद्वत्ता तुयसो, तुमसो च तुहसो च ।

तुयसो, ऽत्र तु तुमसो तुज्जसो, पूर्ववत् [३१०४] पुनः ।

एवं दो-दु-हि-हिन्तो-लुक्वप्युदाहिगतो पुनः ।

त्वसः इत्यस्य तसोऽदो रूपमस्ति यतोऽपानात् ।

तुय्हे तुज्जे तदिहो ऊसिना ॥ ९७ ॥

तुय्हे तुय्म तदिहो च, त्रयः स्युज्जसिना सह ।

तुय्हे तुय्म च वैकल्प्याद्, रूपपञ्चमिष्यते ।

तुज्जे-तुय्हे-तुय्हे-तुय्हे ज्यसि ॥ ९८ ॥

तुय्म, तुय्हे, उय्हे, उम्हा इत्यमी युष्मदो ज्यसि ।

अयमः स्थाने यथाप्राप्तमादेशाः [ ३१६ ] पूर्वदक्षिताः ।

तुय्मसो तुय्हेसो उय्हेसो उम्हासो ।

तुय्हेसो तुय्मसो वैकल्प्यात् पररूपो ।

सो आदेशो यथा तेषं पररूपो दक्षिता मया ।

एवं दो-दु-हि-हिन्तो-सुतोऽप्युदाहिगतो ष्यात् ।

तऽ-तु-ने-तुय्हे-तुह-तुहं-तुव-तुम-तुम-तुमो-तुमाइ-दि-

द-इ-ए-तुज्जे-तुज्जे-ऊसा ऊसा ॥ ९९ ॥

तऽ ते तु तुहं तुय्हे, तुमो तुम तुम तुह ।

तुमाइ तुव दे प इ तुय्मोऽप्युम्हाइ, वा ऊसा ।

विकल्पनात् [३१०४] तुय्हे तुज्जे उय्हे उज्जे चतुष्टयम् ।

एवं भाषिणो रूपार्णह जस्यन्ति कथिदाः ।

तु वो भे तुज्जे तुज्जे तुज्जाण तुवाण तुमाण तुदाण

उम्हाण आमा ॥ १०० ॥

तुय्मं, तुवाण, उम्हाण, तुमाण, तु, तुदाण भे ।

तुज्जे, तुय्माण, वो, आमा सह स्युयुष्मदो द्य ।

क्त्वा स्यादे- [१२७] रिच्युस्वारि, सातुस्वारि णपञ्चकम् ।

यथा-तुवाणं तुय्माणं तुमाणं च तुदाणं च ।

उम्हाणं चेति वर्धते पञ्च रूपाणि णस्य च ।

'धमो म्हा-ऊसो वेत्ति' [३१०४] वचनात्, तुय्हेहि भवन्ति च ।

तुज्जे तुय्माण तुय्माण, तुय्माणं तुय्हे तुय्मं च ।

तुय्माणं तुय्हे-मित्येवं, त्रयोविधित्वात्ति तु ।

तुमे तुमप तुमाइ तऽ तप हिना ॥ १०१ ॥

तुमे, तुमाइ, तुमप, तप, तऽ, हिना सह ।

७

तु-तुव-तुप-तुह-तुम्हा औ ॥ १०२ ॥

औ युष्मदस्य ' तु तुव तुम, तुह तुम्हाः ' पञ्च तु स्युदादेशाः ।

ऊसु यथाप्राप्तं स्यादादेशो दक्षितः पूर्वम् ।

तुय्मि तुय्मि तुय्मि च, तुय्मास्मि तुय्मास्मि चात्र वैकल्प्यात् [३१०४]

तुय्मास्मि च तुय्मास्मि च, रूपाण्यन्यानि बोध्यानि ।

सुपि ॥ १०३ ॥

सुपि युष्मदस्य तु-तुव-तुम-तुह-तुम्हाः पञ्च तु स्युदादेशाः ।

तुसु च तुवसु तुमसु च, तुहसु तुय्मसु रूपाणि ।

अस्य [३१०४] विकल्पाद् रूपद्वयं च तुय्मसु भवति तुय्मसु ।

सुयन्त्यस्य विकल्पं, कर्त्वात् कथयन्ति, तदपि यथा ।

तुय्मसु तुय्मसु तुय्मसु, तुवसु तुमसु तुहसु पदसंख्यम् ।

अस्यऽऽस्वर्माप परः तु-य्मासु च तुय्मासु तुय्मासु ॥

धमो म्हा-ऊसो वा ॥ १०४ ॥

युष्मदादेशकपे, यो द्विकर्त्वात् भवत्येते ।

तस्याऽऽदेशो तु वा ' म्हा-ऊसो, ' स्याताम्, सर्वमुदाहृतम् ।

अस्मदो स्मि अस्मि अस्मि इ अहं अहं अहं मिन ॥ १०५ ॥

अस्मि अस्मि स्मि अहं, अहं इ च सिना सह ।

अस्मदः पद तु रूपाणि, सो जस्यन्ति बुध्दताम् ।

अम्हा अम्हा अम्हा मो जे वयं जे जमा ॥ १०६ ॥

अम्हा अम्हा अम्हा मो जे वयं, पद स्युज्जसो सह ।

ए ए ण मि अस्मि अम्हा मम्ह मं मयं मिमं अम्हा अमा ॥ १०७ ॥

अस्मि अम्हा मिमं ए णं मि मं मम्ह मं मं अम्हा ।

अमा सह दशाऽऽदेशाः संभवन्त्यस्मदोऽत्र तु ।

अम्हे अम्हा अम्हा ए शसा ॥ १०८ ॥

अम्हे अम्हा अम्हा ए च, चत्वारि स्युः शसा सह ।

मि मे मयं मयप मयाइ मइ मप मयाइ णे टा ॥ १०९ ॥

मि मे मयं मं मयाइ, ममाइ मयप मप ।

मइ, चेति नवादेशाः, सार्धे टा-प्रत्ययेन हि ।

अम्हेहि अम्हाहि अम्हा अम्हे हे जिसा ॥ ११० ॥

अम्हाहि अम्हा अम्हे णे, अम्हेहि स्युमिसो सह ।

मइ-मप-मह-मज्जा ऊसो ॥ १११ ॥

ऊसो परे 'मइ-मम-मह-मज्जा' स्युरस्मदः ।

ऊसंयथाप्राप्तमादेशाः स्युः पूर्वदक्षिताः ।

यथा मइसो मज्जसो, ममसो च महसो च ।

एवं दो-दुहि-हिन्तो-लुक्वप्युदाहिगतो पुनः ।

मयाम्हा ज्यसि ॥ ११२ ॥

ज्यसि स्थानो मयाम्हा द्वौ, यथाप्राप्तं ज्यसोऽपि च ।

अम्हाहिन्तो ममाहिन्तो, अम्हासुन्तो ममसो च ।

ममसुन्तो ममासुन्तो अम्हेसुन्तो च अम्हेसो ।

मे मइ मप मइ मं मज्जा मज्जे अम्हा अम्हा ऊसा ॥ ११३ ॥

अम्हाम्हा मे मइ मम, मज्जा मज्जे मं मइ ।

ऊसा सह नवादेशाः, संभवन्त्यस्मदोऽत्र तु ।

ए एो मज्जे अम्हा अम्हा अम्हा अम्हा मयाण-



महाण मज्जाण आमा ॥ ११४ ॥

अग्ग्हे महाण मज्जाण अग्ग्हेअग्ग्हेण मग्ग्णं णे ।

‘णो अग्ग्हे अग्ग्हे मज्जां स्सुदु आमा सार्थं च पञ्च पदं [११] ।

‘कस्वा स्यादेरिति’ [१:२७] वा णस्य सानुस्वारं चतुष्टयम् ।

यथा महाणं मज्जाणं अग्ग्हाणं च ममाणं च ।

पि मद्द ममाद्द मप पे ङिना ॥ ११५ ॥

मप ममाद्द मद्द मे, मि, स्युः पञ्च ङिना स्रह ।

अग्ग्हे-मप-मद्द-मज्जां ङी ॥ ११६ ॥

अग्ग्हे-मज्जां मम-मद्दा, ङी स्वरैरेतेऽस्सुदुः परे ।

ङः स्थाने तु यथाप्राप्तमादेशः पूर्वैर्दक्षितः ।

यथा मममि मज्जामि, तथाअग्ग्हमि मद्दमि च ।

सुपि ॥ ११७ ॥

अन्वागोअग्ग्हाद्योऽत्रापि, ज्ञप्रति सुपि तथाया ।

यथा ममसु मग्ग्हेसु, अग्ग्हेसु च मद्दसु च ।

सुप्येत्वं कऽपि चेच्छुक्ति, तन्मतेऽहसु मग्ग्हेसु ।

ममसु स्यात् महसु च, ततो रूपचतुष्टयी ।

केचिद् अग्ग्हेस्यात्वमपि, वाअग्ग्हेमहासु तन्मते ।

त्रेस्ती तुतीयादी ॥ ११८ ॥

त्रेः स्थाने ती तुतीयादी, प्रत्ययं परतो भवेत् ।

तीहन्तो तीसु तिपदं च, तीहिं चोत् प्रकथितम् ।

द्वौ वे ॥ ११९ ॥

द्विशब्दस्य तुतीयादी ‘दो’ ‘वे’ स्तः, वेहिं वेहिं च ।

दोपदं वेपदं च दोहिनो, वेहिनो दोसु वेसु च ॥

दुबे दोषि वेषि च जम्-शामा ॥ १२० ॥

जम्-शसुभ्यां महितस्य द्वेः, स्थाने स्युः, दोषि, वेषि, च ।

दुबे, दो, वे, ‘दुषि विषि’ संयोगे [१:२७] ह्रस्वदर्शनात् ॥

वस्तिमिः ॥ १२१ ॥

जम्-शसुभ्यां साहितस्य त्रैः, स्थाने तिषि प्रयुज्यते ।

चतुरश्रचतारो चतरो चचारि ॥ १२२ ॥

चतुर इत्यस्य जम्-शसुभ्यां, सहाऽऽदेशकयोः मतः ।

यथा चचारि चचारो, चतरो आसि पच्छु वा ॥

मंस्पाया आमा एह एहं ॥ १२३ ॥

संख्याज्ञान्दाव परस्याऽऽमो, ‘एह एहं’ एतद् द्वयं ज्ञवेत् ।

दोपदं पञ्चएह सचएह, तिपदं छुएह चउपदं च ॥

दोपदं तिपदं चउपदं पञ्चएहं छुएहं च ससगहं ।

प्रजावाद् बहुलस्यमो, विद्यावादेनं चाऽनुतः ॥

शेषेऽन्तवत् ॥ १२४ ॥

इहोपयुक्ताद्यो यः, स शेष इति कथ्यते ।

तत्र स्याद्विधिः स्वोऽन्तवत्त्व सोऽप्रतिदृश्यते ॥

येष्वान्तादिशब्धेषु, पूर्वे कार्यं न दक्षितम् ।

तेष्वन्ताधिकारोको, लुगादि [ ३:४ ] विधिरिष्यते ॥

तत्र तावत् ‘जम्-शसोऽसुक्’ [ ३:४ ] विधिर्योऽप्रतिदृश्यते ।

‘मात्रा गिरी गुरु रेहमिं वा पच्छु’ यथोच्यते ॥

‘अमोऽस्य’ [ ३:५ ] इति कार्यस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

गिरिं गुरुं माहिं पच्छु, गाममिं खल्लुं बहु ॥

‘टा-ऽमोः’ [ ३:६ ] इति कार्यस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

कयं हाहाण, मालाण गिरीण धणमीहसम् ॥

टायात्तु टो णा[३:५]टाङ्गसे- [३:६] इत्ययं दक्षितो विधिः ।

‘मिसो हि हिं हिं’ [ ३:७ ] इत्येतद् कार्यं चाप्यतिदृश्यते ॥

यथा गिरीहा मालाहि गुरुहिं च सहोहिं च ।

विधादेवं चांतिदेशमनुस्वारंऽधुनासिंके ॥

‘ऊनेत्त्व सो-दो-डु’ [ ३:८ ] सूत्रस्य विधिर्योऽप्रतिदृश्यते ।

मालाहिनो च मालाओ बुसीको, हिडुकी नहि [३:२७] [२:६] ॥

‘भ्यसस सो दो दु’ [ ३:९ ] सूत्रस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

मालाहिनो तथा मालासुन्तो, हिन्सु निपेस्यते [ ३:२७ ] ॥

‘ऊसः ससः’ [३:१०] इति सूत्रस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

गिरिस्सेति गुरुस्सेति दृहिस्सेति मद्दुस्स च ॥

‘टा-ऊस ऊः’ [३:१०] इति सूत्रं तु खियां सम्प्रमुदाहृतम् ।

‘केमि ऊः’ [ ३:११ ] इति सूत्रस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

यथा ‘गिरमि’ इत्यादि, ङोवाधितुं निपास्यते [ ३:१२ ] ॥

‘जसु-शसु-ऊसि सो’ [३:१२] सूत्रस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

गिरिं गुरु गिरीओ च, गुरुओ च गुरुण च ।

‘अयसि वा’ [ ३:१३ ] इति सूत्रस्यान्तिदेशो नोपदिश्यते ।

‘इडुनेो दीयी’ [ ३:१६ ] सूत्रण नित्यं दीपस्य शासनात् ॥

टाण-शसुत्त्व [ ३:१४ ] च ‘मिसु-उसत्त्व’ [ ३:१५ ]

इत्यन्तिदेशो निपेस्यते [ ३:१२६ ] ॥

न दीयीं णो ॥ १२५ ॥

इदन्तोऽन्तयोर्जसु-शसु-ऊस्योऽदेशो परे ऋषि [ ३:१२७ ]

न दीपेः पूर्ववर्णस्य, आगमो वाऽणो यथा ।

ऊसत्त्वुक्, ॥ १२६ ॥

आकारान्तादिशब्धेषु, लुक् नैवाऽन्तवत्त्व ऊसः ।

मालाहिनो च अग्ग्मीओ, वाऽओ-ऽसिन्ति निदर्शनात् ॥

ज्यसश्च हिः ॥ १२७ ॥

हिनाऽऽदन्तादिशब्धेषुऽदन्तवत्त्व स्याद् ज्यमा ऊसः ।

मालाहिनो च मालाओ, अग्ग्मीहिनो निदर्शनात् ॥

ऊसैः ॥ १२८ ॥

‘के’ नाऽऽदन्तादिशब्धेषुऽदन्तवत्त्व ऊसैर्नैवादि ।

यथा-अग्ग्मिमि वाऽग्ग्मि, दृहिमि च मद्दुग्ग्मि च ॥

एत् ॥ १२९ ॥

टा-शसु-मिसु-भ्यसु-सुत्त्वु नैवत्त्व, आदन्तादेरदन्तवत्त्व ।

कयं हाहाण, मालाओ पच्छु, मालाहि वा कय ।

मालाहिनो तथा मालासुन्तो मालासु अग्ग्मिणो ।

वाऽणो चउरओ लदयं, विविधं प्रतिवृथ्यनात् ॥

द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ १३० ॥

सर्वोसां हि विनकीनां, स्यादित्थ्यादिप्रवर्तिनाम् ।

स्थाने द्विवचनस्येह, बहुवचं संप्रयुज्यते ॥

चतुर्थ्याः पष्ठी ॥ १३१ ॥

स्थाने चतुर्थ्याः पष्ठी स्यात्, ‘नमो देवस्स’ ईदृशम् ।

तादर्थ्येऽस्यैवा ॥ १३२ ॥

तादर्थ्येऽस्य चतुर्थ्येकवचनस्य विभाषया ।

पष्ठी, देवस्स देवाय, ‘देवायै’ तस्य बुथ्यनात् ॥

बधाद् ऋथश्च वा ॥ १३३ ॥

बधवाद्यात् न तादर्थ्येऽस्यैः पष्ठी ऋथश्च आऽस्तु वा ।

बहाद् बहस्स वहायै बधायै त्रयं प्रतम् ॥

कचिद् द्वितीयादेः ॥ १३४ ॥

द्वितीयादिवचनीनां स्थाने पष्ठी कचिद् भवेत् ॥

स।माधरस्स वन्दे,तिस्सा भरिमांमुहस्स,अग्गो अ (द्विती०षष्ठी)  
सको धणस्स,मुक्का चिरस्स (तृती०षष्ठी) चोरस्स षोडशस।  
इअराद् जाण बहुअअकखराद् पायन्तिभिल्लसिहआण।(पञ्च०षष्ठी)  
'विट्ठीर्दे केस-जारा' (स० ७० षष्ठी) विचिन्तनीयं बुधेयवस।

द्वितीया-तृतीययोः सम्प्रदा ॥ १३५ ॥

द्वितीयायास्तृतीयायाः स्थाने स्यात् सप्तमी क्वचित् ।  
यामं वसामि,नयमे न जामि (द्वि० ७०) मइ वेविरीयै मल्लिआर् ।  
लोए तिसु तेसु अत्रंकिआ अ पुहदी जहा आरा (तृती०सप्त०)  
पञ्चम्यास्तृतीया च ॥ १३६ ॥

स्थानां तृतीया-सप्तम्यौ पञ्चम्याः क्वचित् यथा ।  
खाराद् विभेति ' चारंण बीइइ ' प्रतिपाद्यते ।

'अन्तेउरं महाराओ आगओ रमिते' यथा ।

सप्तम्या द्वितीयां ॥ १३७ ॥

क्वचिद् द्वितीया सप्तम्याः स्थाने सन्निः प्रयुज्यते ।  
जंबदापे तुर्नयाऽपि, द्वितीया प्रथमास्थल ।  
'विज्जुआयं रासि भरइ', तृतीया तु-तेण कालेणं ।  
तेणं समएणं वा, अउवीस जिणवरा पि' यथा ।  
कयहोयंलुक ॥ १३८ ॥

कयङ्कन्त्य कयङ्कन्त्यस्य, यस्य वा लुक भवेदिह ।  
गउआइ च गरुआअइ, अगुगुंउभंगनि, गुउरियाचरति ।  
दमइआइ दमइआअइ, लोहिआइ लोहिआअइ च ।  
त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येवचौ ॥ १३९ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।  
इवेचौ स्तः, तदाद्यस्य पदयोःकभयोरपि ।  
यथा-इसइ हसए, तथा वेवइ वेवए ।  
'इवेचः' [ ५३१८ ] इति सुबस्य अकाराणुपकारकौ ।

द्वितीयस्य सि से ॥ १४० ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां यद् द्वितीयं त्रिकं भवेत् ।  
सि, से, च स्तः, तदाद्यस्य पदयोःकभयोरपि ।  
यथा-इससि हससे, तथा वेवसि वेवसे ॥

तृतीयस्य मि ॥ १४१ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।  
मिरादेइसत्तदाद्यस्य पदयोःकभयोरपि ।  
यथा-हसामि वेवामि, अवेइ बाहुलकादिइ ।  
मिबेमेरिकाणलोपो, न मरे न म्रिये तथा ।  
' बहुज्जाणय कसिसे' सके' शकनामि गद्यते ।

बहुपवाद्यस्य नित्ते इरे ॥ १४२ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।  
तदन्त्यस्य त्रयो 'नित्ते इरे' स्युः पदयोःत्रियोः ।  
हसिअन्ति रमिअन्ति वेवन्ति च हसन्ति च ।  
अप्यअन्ते विच्छुहिरे बीहन्ते च पडुत्तिरे ।  
एकवऽपि क्वचिद्विरे स्याच्च त्सदरे इति । [ १ ]

मध्यमस्येत्या-हचौ ॥ १४३ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां, यदस्ति मध्यमं त्रिकम् ।  
'इत्या-हचौ' तदन्त्यस्य, भवेतां पदयोःत्रियोः ।  
यथा-इसिस्था हसइ, वेविरया अपि वेवइ ।

[ १ ] शुष्यतीत्यर्थः ।

'इत्या'भ्यत्रापि बहुलम्-यद्यस्य रावते' इदम् ।  
वाक्यं 'अं अं ते राहःथा', इदंयं संप्रयुज्यते ।  
स्यात् चः 'इह-हचोहस्य' [ ५२१८ ] सूत्रस्यास्य विशेषकः ।

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ १४४ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां, यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।  
'मो-मु-माः' स्युस्तदन्त्यस्य, पदयोःकभयोरपि ।  
यथा हसामो इलामु हसाम, तुवराम च ।  
तुवरामो तुवरामु, तथाभ्यत्रापि बुध्वताम् ।

अत एवैच् से ॥ १४५ ॥

त्यादेः स्थाने तु यौ 'एच्, से' इत्येते परिकीर्तितौ ।  
अदन्तादेव तौ स्यातां, नाऽप्यस्यादिनि हि स्थितिः ।  
हसए हससे-ऽनः किम् ? ताइ जासि न चेह ती ।  
अदन्ताद् 'एच् से' एवेत्यवधारणधारयः ।  
एषकारस्ततोऽदन्तात् सि-इचावापि स्थित्यतः ।  
अतो 'हसइ हससि' तथा वेवइ वेवसि ?

सिनाऽस्तेः सिः ॥ १४६ ॥

सिना मध्यत्रिकस्थेऽपि, सहाऽस्तेः सिर्नवेदिह ।  
सिनिति किम् ? 'अथि तुमं' से आदेशे कृते सति ।

यि-म्ये-मैरिह-म्यो-म्य्हा वा ॥ १४७ ॥

अस्तेः स्थाने यथासंख्यं, 'मि-मो-मै' सह वा त्रयः ।  
'मिह-म्यो-म्य' इत्याद्यास्तु भवन्ति, तत्रिदर्यते ।  
'एस मिह' एषोऽस्मिन्त्यर्थः, गयम्यो च गयम्य च ।  
तुकराप्रहणात् तस्याऽप्रयोग इति भ्यन्ताम् ।  
पङ्के-अथि अहं, अथि अम्ये, अम्यो हि अथि च ।  
ननु सिक्वावस्थायां, 'म्यो' इति सिक्वि पङ्कत्वम् [ २७५ ] बलात् ? ।  
प्रायस्तु साध्यमानाऽस्याः प्रात्या विभक्त्यविवर्जा ।  
नो चेत् 'सव्ये, जे, के', इत्याद्यर्थे बहुनि स्थाणि ।  
न विधेयानि स्युरतोऽङ्गीकारार्थं साध्यमानाऽत्र ॥

अथिस्थादिना ॥ १४८ ॥

अस्तेः स्थाने जवेद् अथि-रादेशस्यादिभिः सह ।  
अथि सो, अथि ते, अथि तुमं, अथि अहं तथा ।  
अथि तुम्ये, अथि अम्ये, रूपद्वन्द्वमुदाहृतम् ।

णेरदेदावापि ॥ १४९ ॥

णेः 'अत् एत् आव आवे' सन्त्वमी च यथाकमम् ।  
दिसइ कारइ करा-वइ च करावेइ, वा हसावेइ ।  
हासेइ दसावेइ वा, नैसं कापीह बाहुलकात् ।  
जावावेइ, न आवे इत्यादेशः प्रवर्तते कापि ।  
तेन भवेदिह रूपं सिद्धं 'पाएइ' आवेइ' ।  
गुर्वादिरेविवौ ॥ १५० ॥

गुर्वादेणैर् अथिवो स्यात्, आथित्व-सांसिभं तथा ।  
सांसिभं, सोथित्व-तोसिभं तोसिभं यथा ॥

भ्रमेराको वा ॥ १५१ ॥

भ्रमेः परस्य णेराइ आदेशो वा विधीयते ।  
भमाइइ भमाइइ, पङ्के रूपं निश्चय्यताम् ।  
जमावेइ भमावेइ, भामेइ त्रयभिव्यते ।

लुगावी क्त-जाव-कर्मसु ॥ १५२ ॥

णेल्गु आथि जवेतां के, प्रत्यये भावकर्मणोः ।  
कराविसं कारिसं हासिभं चैव हसविभं ।

[ भावकर्मो ] कारीअइ च कराबो-अइ कारिअइ तथा कराविअइ ।  
हासीअइ च हासावी-अइ हासिअइ हासाविअइ ।

अइइइलुक्कादेरत्त आः ॥ १५३ ॥

अइ-पइ-लोपोपु जातेपु, णेरादेस्स ' आ ' भवेत् ।

एति-कारिअ खांमिअ, अति-पाइअ मारइ ।

लुकि-कारिअं खांमिअं, कारीअइ भवति वा च कारिअइइ ।

काराविअं च करावी-अइ, आइः किम ? यथा संगामेइ ।

व्यवाहितान्त्ययोने स्यात्-कारिअं, किअ ? अतअ-इइइ ॥

आये आवादेशेऽप्यादेरत्त आत्थमाइ कोऽपि वुषः ।

कारावइ अ, ' हासाविअो जणां सामहोए अ ' ।

मौ वा ॥ १५४ ॥

अत आत्थं वाऽन्ताद् धातोर्भवतीह मौ परे हि यथा ।

हसमि हसामि, च जाणामि, जाणामि सिहामि, सिहामि यथा ।

इच्छ मो-मु-मे वा ॥ १५५ ॥

अत इत्थं वाऽऽत्थं वाऽऽन्ताद् धातोः परेषु सु-मे-मोषु ।

जणमु जणामु, भणामो, भणामे, च भणाम जणिम यथा ।

पक्के तु स्यात् भणमो, जणमु भणम, ' धसंमान ' [ ३११८ ] लुप्तेण ।

एत्थं हते, भणमो जणमु सिद्धं भणम तथा ।

के ॥ १५६ ॥

अत इत्थं के परे स्याद्, हसिअं हासिअं यथा ।

सिक्कावस्थापेकणात् तु गवमित्यादि सिध्यति ॥

एअ क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ॥ १५७ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु परतो, भविष्यत्प्रत्यये तथा ।

पथम इत्थम अतः स्यातां, तन् क्रमेणह दृश्यताम् ।

( क्त्वा ) हसिअण हसंअण ( तुम् ) हसंउ हसिअं तथा ।

( तव्य ) हसिअव्यं हसंअव्यं ( भविष्यत् ) हसिअइ हसंअइ ।

वर्तमाना-पञ्चमी-शतषु वा ॥ १५८ ॥

पञ्चम्यां वर्तमानायां शतत्रि प्रत्यये तथा ।

परतोऽतो विकल्पेन स्थाने स्यादेस्त्वमत्र तु ।

हसइ हसइ, हसिम हसिम, हसिमु हसंमु इह च भवति । [ १ ]

' हसउ हसंउ. मुणउ उ मुणउ, इति विवुषा हि परिणिगमदन्ति । [ २ ]

वा हसन्तो हसन्तो अ, क्त्वापि-अयइत्थतः । [ ३ ]

आत्थं च दृश्यते क्त्वापि-सुणाव ' इतिरूपतः ।

जा-उज्ज ॥ १५९ ॥

जा-उज्जयोः परयोःस्य भवेदस्वं ततो जयेत् ।

इसंज्ज च हंसंज्जा अ, ' होज्जा होज्ज ' अतं विना ।

ईअ-इज्जा क्यस्य ॥ १६० ॥

चिज्यादीनां आषकर्मविधिषु प्रयस्यते ।

येयां न वचयेत नेयां क्यस्य ईअ च इज्ज च ।

एतौ भवेतामादेशौ, हासीअइ इसिज्जइ ।

इसीअमाणां इसिज्जन्तो, पडिज्जउ पडोअइ ।

हलीअमाणां च हसिज्जमाणां, क्त्वाऽपि वा क्वचित् ।

मए, नवेज्ज तु मए नविज्जउज्ज भवेदिह ।

हशि-वचमीस-इव्वं ॥ १६१ ॥

हशोवचैः परां यः क्यस्यस्तो ' इसि कुअ ' च ।

[ १ ] वर्तमाना । [ २ ] क्वत्वा । [ ३ ] शब्द ।

ईअ-इज्जापवादाऽयम, यथा ' होसइ ' वुअइ ।

सी हो हीअ जूतार्थस्य ॥ १६२ ॥

प्रत्ययो योऽद्यतन्यादिर्भूतयो विहितो भवेत् ।

तस्य तूनार्थस्यैव ' सी हो हीअ ' नवन्त्यमी ।

व्यञ्जनादीअ [ ३ ] [ १६३ ] करणात् स्वरान्तादर्थमिष्यते ।

' कार्वा कारो च कारीअ ' अकारात् अकारात् तथा ।

चकारेत्यर्थका, आर्थ- ' देविन्दो इणमस्यवी ।

इत्थत्र सिद्धावस्थातः, मयुक्ता हास्तनी क्रिया ।

व्यञ्जनादीअः ॥ १६३ ॥

व्यञ्जनान्ताद् जनेद् धातोर्भूतार्थस्य तु ' ईअ ' हि ।

भूवाभूद् भवार्थस्यैव वाच्ये ' हवीअ ' तु ।

एवं ' अन्वोअ ' आसिअ आसाञ्ज्जं तथाऽऽस्त वा ।

अण्टाद् अण्णहोत्त जग्राअ वा ' नेणहोअ ' कथ्यते ।

तेनास्तेरास्यट्टेमी ॥ १६४ ॥

जुतार्थः प्रत्ययो योऽत्र कथितः सह तेन हि ।

अस्तेषांनोः पदे स्थानाम् ' आस्यहेत्सी ' इमां यथा ।

' तुम अहं वा नो आसि ' ये आसिञ्जिनि ' आसि य '

एवम ' अहसि ' इत्यस्य, सर्वे वाक्य विभाष्यताम् ॥

जानु समम्या इवी ॥ १६५ ॥

समम्यादेर्भूताद् हि, उजात् परा वा इरिष्यते ।

' होज्ज होज्जइ ' इत्यन्त- ' भवेत् ' इत्यर्थबोधकम् ।

जविष्यति हिरादिः ॥ १६६ ॥

जविष्यदर्थे विहिते प्रत्यये पर उच्यते ।

तस्यैवादिर्होदेशो, यथा ' होहिइ ' इत्ययम् ।

वा जविष्यति भविता, एवं होहिनि होहिनि ।

होहिस्था वा हसिअइ, तथा काहिइ वृथ्यताम् ।

मि-मो-मु-मे स्मा हा नवा ॥ १६७ ॥

अर्थे जविष्यति परेषु मु-मो-मि-मेषु

' स्मा हा ' इमौ हि विक्थोत तदार्थभूते ।

वाऽयं विधिहिमपवाध भवत्यतो हिः

पक्षे जवेदिनि वुधेः परिजायनीयम् ।

होस्सामो होहामो, तथैव होस्सामि भवति होहामि ।

होस्सामु च होहामु अ, भवति च होस्साम होहाम ।

पक्षे होहिमि होहिम, होहिमु होहिमु च भवति रूपमिति ।

' हा ' न कापि जवेदिह, तथा-हसिअमो हसिस्सामो ।

मो-मु-मानां हिस्सा हित्था ॥ १६८ ॥

जविष्यति प्रवृत्तानां, मो-मु-मानां पुनर्मना ।

' हिस्सा ' हित्था, इमौ धातोः परौ वेत्सुपदिश्यते ।

हिसिहिस्सा हसिहित्था, होहिहिस्सा पञ्चत च होहिहित्था ।

पक्षे होस्सामो होहामो होहिमो च रूपानि ॥

मः स्सं ॥ १६९ ॥

धातोः परां जविष्यति काले, मः स्सं चिकल्पतो जवति ।

हारसं हसिस्सं, पक्षे होहिमि होस्सामि होहामि ।

कु-दोहं ॥ १७० ॥

कारोनेअ ददानेअ, परः काले भविष्यति ।

विहितस्य हि ' मः ' स्थाने ' हम् ' आदेशो विकल्पते ।

कादं दाहं करिष्यामि दास्यामीत्यर्थबोधकौ ।

पत्ते रूपद्वयं वेद्यं, यथा-कादिमि दादिमि ।

शु-गामि-रुदि-विदि-दशि-मुचि-यचि-गिदि-भिदि-भुजां  
सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं उच्छं जेच्छं  
भोच्छं ॥ १७१ ॥

इवादीनां दशधातूनां, म्यन्तानां हि प्रविच्यति ।  
सोच्छंभित्याद्यस्तेषां निपात्यन्ते पदे, यथा ।  
सोच्छं भोष्यामि तथा, वृच्छं प्रक्ष्यामि, मोच्छं मोष्यामि ।  
शोच्छं वक्ष्यामि पुनः, उच्छं क्षुस्यामि जानाहि ।  
भेच्छं भेत्स्यामि तथा, भोच्छं ज्ञेक्ष्ये च धीवरैरुक्तम् ।  
संगच्छं संगम्ये, रोदिष्यामीति रोच्छंमिति भवति ।  
वेदिष्यामि च वेच्छं, तथैव गच्छं गमिष्यामि ।

सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा ॥ १७२ ॥

इवादीनां धातूनां स्थानं सोच्छादयो यथासंख्यम् ।  
भविष्यन्तोजादिष्वो-दोषोयु स्तुर, दिव्युक् वा च ।  
सोच्छिह्र वा तु सोच्छिह्रइ, एवं सोच्छिन्ति सोच्छिह्रन्ति तथा ।  
सोच्छिन्ति सोच्छिदि सिद्ध्यत, सोच्छिन्था सोच्छिद्धिस्था च ॥  
सोच्छिह्र सोच्छिह्रइ स्यात्, सोच्छिन्ति सोच्छिदिमि भवति रूपम् ।  
सोच्छिह्रस्सामि सोच्छिह्रामि सोच्छिह्रस्सं सोच्छिह्रो सोच्छं ॥  
सोच्छिह्रो सोच्छिह्रस्सामो सोच्छिह्रामो सोच्छिह्रस्सा च ।  
रूपं च सोच्छिदिस्था, एवं मु-मयोरपि ज्ञेयम् ॥  
गच्छिह्र वा तु गच्छिह्रइ, एवं गच्छिन्ति गच्छिह्रन्ति तथा ।  
गच्छिह्रि गच्छिह्रि सिद्ध्यत, गच्छिन्था गच्छिह्रिस्था च ॥  
गच्छिह्र गच्छिह्रइ स्यात्, गच्छिन्ति गच्छिह्रिमि भवति रूपम् ।  
गच्छिह्रस्सामि गच्छिह्रामि गच्छिह्रस्सं गच्छिह्रो गच्छं ॥  
गच्छिह्रो गच्छिह्रस्सामो गच्छिह्रामो गच्छिह्रस्सा च ।  
रूपं च गच्छिह्रिस्था एवं मु-मयोरपि ज्ञेयम् ॥  
रुदादीनां च धातूनामप्युदाहार्यमीदृशम् ।

दु सु मु विध्यादिष्वकस्मिन्नुपाणाम् ॥ १७३ ॥

विध्यादिष्वपञ्चानाम्, एकन्तेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।  
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थानं स्युः ' दु सु मु ' कमात् ॥  
हसउ सा, हससु तु, हसामु अहित्यः प ।  
एवं भवति पञ्चामु तथा पेच्छुउ पंचरुसु ॥  
दकारोच्चारणं भाषान्तरार्थे प्रतिपद्यताम् ।

सोर्दिर्वा ॥ १७४ ॥

कृतस्य पूर्वसूत्रेण सोः स्थाने द्विर्बिकल्प्यते ।  
' देहि देसु ' ततो रूपद्वयं सिद्धिं समनुते ।  
अतः एज्जस्विउमहो ज्ञे-सुको वा ॥ १७५ ॥  
अतः परस्य सोः स्थाने ' इज्ज इज्जसु इज्जहि ' इत्येते लुक् च अन्वार आदेशाः परिधीयन्ते ।  
हसेज्जसु हसेज्जं च हसेज्जहि च वा हस ।  
पलं-हससु, किमतः ? यथा स्याद् होसु ग्राहि च ।

बहुषु नु इ मो ॥ १७६ ॥

विध्यादिष्वपञ्चानां बहुषुऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।  
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्तुर ' नु इ मो ' कमात् ।  
यथा-[नु] हसनु इमनु हसेयुषा, [इ] हसइ हसेत वा हसत ।  
अन्ति-मो] हसामो इमामि च हसेमि हसेमि स्वरिति बोध्यम् ।  
वर्षयाना--भविष्यन्त्योश्च उज्ज उजा वा ॥ १७७ ॥  
वर्षयानाभविष्यन्त्योर्विध्याविषु च यः कृतः ।

ए

प्रत्ययस्तस्य तु स्थाने, ' उज्ज उजा ' -ऽऽऽऽशौ विकल्पितौ ।  
[ वर्षयाना ] हसेज्जं च हसेज्जं वा, पक्षे ' हसइ ' सिद्ध्यति ।  
पदेज्जं च पदेज्जं वा, पक्षे--'पडइ' इत्यपि ।

[ प्रविष्यन्ती ] पदेज्जं च पदेज्जा च, पक्षे पदिह्रि स्मृतम् ।  
[ विष्यादिविषु ] हसेव पक्षे, हसतु हसिज्जं च हसेज्जं च ।  
एवं सर्वत्र बोध्यम्, तृतीयं तु निवेद्यथा ।  
अइचापउजा अइचायावेउजा चेह पठ्यते ।  
स्याद् न समगुजाणामि, समगुजाणउजा न वा ।  
अन्ये तु सुर्याऽन्यासामपि धास्त्वन्ति, तद्यथा ।  
अकारदशके ' इज्ज ' भवतीत्यादिवाचकम् ।

मध्ये च स्वरान्ताद् वा ॥ १७८ ॥

धातोः स्वरान्ताद् प्रकृति-प्रत्ययान्तरगौ तथा ।  
वात्प्रत्ययानां च स्थाने, ' उज्ज उजा ' -ऽऽऽशौ विकल्पितौ ।  
वर्षयाना--भविष्यन्त्योर्विध्याविषु च दृश्यते ।  
[ वर्षयाना ] होज्जा होज्जइ होज्जाइ होज्जं, होइ तु पाठिकम् ।  
होज्जा होज्जसि होज्जासि होज्जं, होसि तु पाठिकम् ।  
[ प्रविष्यन्ती ] होज्जाह्रि होज्जहिह्र, होज्जा होज्जं च पठ्यते ।  
पक्षे 'होइहिह्र' इत्येतद् रूपं सिद्धिं प्रयाति च ।  
होज्जाह्रिह्र होज्जहिह्रस, होज्ज होज्जा च होइहिह्रि ।  
होज्जाह्रिह्रि होइहिह्रि, होज्जह्रिह्रि ततः परम् ।  
होज्जाह्रिह्रि होज्जस्सं, होज्ज होज्जा-ऽऽऽइ रूप्यताम् ॥  
[ विष्यादिविषु ] होज्ज होज्जइ होज्जाइ होज्जं, जयतु वा जयेत् ।  
एवं होइ, स्वरान्ताद् किम् -हसेज्जा च हसेज्जं च ॥

क्रियाऽतिपत्तेः ॥ १७९ ॥

क्रियाऽतिपत्तेः स्थानं तु, ' उज्ज उजा ' -ऽऽऽशौ प्रकृतिर्नौ ।  
अतो-ऽभविष्यद् ' इत्यर्थे ' होज्ज होज्जा ' प्रयुज्यते ॥

न्त-माणौ ॥ १८० ॥

क्रियाप्रतिपत्तेः स्थानं तु, ' न्त-माणौ ' इति भाषितौ ।  
अतो 'हांतो' च 'हांमाणो' -ऽभविष्यद् ' इति बोधकौ ।  
' हरिण-घ्राण इरिणकः ' जइ सि इरिणाहिवं निवेसन्तो ।  
न सहन्तो अथ तो राहुपरिदवं से जिअन्तस्स \* ॥  
शुत्रानशाः ॥ १८१ ॥

' शतु-आनम् ' इत्यनयोर् ' न्त-माणौ ' स्तः पृथक् पृथक् ।  
[ शतु ] हसन्तो हसमाणो च, [आनम्] वेचन्तो वेचमाणो च ॥  
ई च स्त्रियाम् ॥ १८२ ॥

स्त्रियां शशाभनशोः स्थाने, ' ई, न्त-माणौ ' भवन्ति च ।  
हसन्तो हसमाणो च, हसई च शतुस्त्रयम् ।  
वेचन्तो वेचमाणो च बचई चदमात्रम् ॥

या जाषा जगवद्बोच्चिरगमत् रुयाति प्रतिष्ठां परां,  
यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यभूनि निस्त्वान्येकदाशङ्कानि च ।  
तस्याः संप्रति दुःप्रभारवशतो जातोऽभचारः पुनः  
संचाराय मया कृते विवरणे पादस्तृतीयो मतः ॥  
इति श्रीमत्सौधमेवृहत्पागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-  
श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरीविराचि-  
तायां प्राकृतव्याकृतौ तृतीयः पादः ॥

\* हरिणस्थाने हरिणाङ्कः । यदि त्वं हरिणाधिपं न्यवेद्यः ।  
नासद्विषया एव ततो राहुपरिदवं तस्य जौषतः ॥

॥ \* महर्षे \* ॥

## ॥ अथ चतुर्थः पादः ॥

—०००—

इदितो वा ॥ १ ॥

इदितो धातवः सूत्रे ये बन्धयेत्स पुरिचाः ।

तेषां विकल्पेनाऽऽदेशा भवन्तीत्यवगम्यताम् ॥

कथेर्षेज्ज-पञ्जरोप्पाल-पिसुण-सङ्घ-बोद्ध-चव-जम्प-  
सीस-साहाः ॥ २ ॥

'सङ्घ-बोद्ध-चवाः जम्प-पञ्जरोप्पाल-यज्जराः ।

साहाः सीसो च पिसुण' आदेशा वा कथेर्षवा ।

पिसुणस्य सङ्घस्य बोद्धस्य, वप्पालस्य यज्जरस्य च पञ्जरस्य ।

साहास्य जम्पस्य सीसस्य, चवस्य कथयेतीति संबन्धम् ॥

'युक्त प्रपण' इति धातोः कृत्यर्थस्यैव तस्य उच्चारणम् ।

पले 'कहह' इतीदं रूपं येषां हि कथयध्यातोः ॥

अत्येरेते तु देशीषु पठिता अपि सुमिरिः ।

'विधिषु प्रत्येषु प्रमुक्ताः' इत्येतां मया ॥

धात्वादेशीकृता ह्येते, तत्सर्वं धृतयामिह ।

यज्जरीसो कथितो, यज्जरीस्यन्वं कथयितव्यमिति भवति ॥

यज्जरम्यं कथनं, यज्जरीकरणं चापि कथयित्वा ।

कथयन् हि यज्जरन्तो, सङ्घस्यः सन्ति चास्य रूपाणि ॥

संस्कृतधानुवदन्न प्रत्ययसोपानामादिविधिः ।

दुःखे गिव्वरो ॥ ३ ॥

दुःखविषयस्य कथेः, 'गिव्वरो' वा विधीयते ।

दुःखं कथयतीत्यर्थे, क्रिया 'गिव्वर' स्मृता ।

जुगुप्सेकुण-दुग्घ-दुग्घमाः ॥ ४ ॥

'दुण-दुग्घ-दुग्घमाः' जुगुप्सेर्षो प्रथो मताः ।

कुणस्य जुगुप्सेर्यस्य च दुग्घस्य, पके भवति वै जुग्घस्य च ।

लापे गस्य जुग्घस्य तथा दुग्घस्य जुग्घस्य च ।

बुद्धसि-बोड्ढाएरिव-बोज्जो ॥ ५ ॥

बोद्ध-णीरवौ स्वातां, किन्वन्त-बोज्जेस् तथा बुद्धकेर्षो ।

बोद्धस्य बीजस्य तस्माद्, भवति बुद्धकस्य च षीरस्य ।

ध्वा-गोर्भा-गौ ॥ ६ ॥

'ध्वा गा' अनयोर् 'जा गा' स्वधादेशो हि, जास्य जास्य च ।

गिज्जास्य गिज्जास्य च, जाणं गाणं, च गाह गास्य च ।

हो जाण-मुणो ॥ ७ ॥

जागते स्तो 'जाण-मुणो' स्वातां 'मुणस्य जाणस्य' ।

कविर् विकल्पो बहुधात्, यथा-गायं च जाणिणं ।

वा जाणिऊण षाऊण, रूपं 'मणह' मन्यते ।

उदो ध्मो धुमा ॥ ८ ॥

उद्-परस्य ध्मा-धातोर् 'धुमा' स्वाद्, 'उधुमास्य' हि ।

अदो धो दहः ॥ ९ ॥

अत्परस्य दधातेर्द्ध इति वै 'सहह' ।

पिषेः पिञ्ज-रुद्ध-पद्-पोद्दाः ॥ १० ॥

वा 'पिञ्ज-रुद्ध-पद्-पोद्दाः', पते स्पुरज् वा पिषतेः ।

पिञ्जस्य रुद्धस्य पद्स्य, पोद्दस्य, पके 'पिम्भ' रूपम् ।

उत्तातेरोस्मा बहुष्वा ॥ ११ ॥

'ओस्मा बहुष्वा' च स्वातामुत्पूर्वं-धातिधातोर्षो ।

'ओस्मास्य' च 'बहुष्वास्य' च पके भवति 'उष्वाह' ॥

निचातेरोहीरोस्स्यौ ॥ १२ ॥

'घोहीर उ [ओ] ह' इत्येते, वा नि-जातेः पदे मत्तौ ।

यथा-उ [ओ] हस्य निचात् अहाहस्य 'भवेत् प्रथम' ।

आभ्राराङ्ग्यः ॥ १३ ॥

वाऽऽभिप्रतेः स्वाद् आरन्धः, आरन्धस्य अरन्धस्य च ।

स्नातेरञ्जुतः ॥ १४ ॥

स्नातेर् 'अञ्जुत्' इति वा स्वाद् अञ्जुत्स्य एहाह च ।

समः स्तयः स्ताः ॥ १५ ॥

संपूर्वस्य स्थायतेः 'साः' स्वात् 'संसाह' यथा भवेत् ।

स्थष्टा-थक्-विद्ध-निरप्याः ॥ १६ ॥

'थक्ता किञो निरप्या, ग' स्था-धातोः स्तुक्तिं यथा ।

गस्य थक्कस्य विद्धस्य विद्धिऊण निरप्यास्य ।

पठिओ उच्छिओ पठ्याविओ उट्टाविओ तथा ।

कविष्य बहुलात्-धाणं धिञ् धाऊण उच्छिओ ।

उदग्ध-कुक्कुरौ ॥ १७ ॥

उद्-परस्य स्था-धातोः, स्वातामत्र उ-कुक्कुरौ ।

'उच्छ' स्वात् तथा 'उक्कुक्कुक्कुर' इत्यमत्र तु ।

म्नेर्वा-पव्वायौ ॥ १८ ॥

'पव्वाय वा' इत्यादेशौ, स्थायतेर्वोऽप्य मन्तौ ।

'वाह पव्वायस्य' तथा, पले रूपं 'मिताह' च ।

निर्मो निम्माण-निम्मवौ ॥ १९ ॥

'निम्माण-निम्मवौ' स्वातां, निर्मिस्त्रीनिरमौ यथा ।

'निम्माणस्य निम्मवस्य' यथैते सिद्धिमान्पुत्रः ।

क्तेण्णिऊरौ वा ॥ २० ॥

क्थयेर् णिऊरौ वा णिऊरस्य, पले भिज्जस्य ।

उदेषेणुम-नुम-सन्नुम-दक्कोम्भाल-पव्वाजाः ॥ २१ ॥

'स्युर दक्कोम्भाल-पव्वाजा सुमो नुमश्च सन्नुमः ।

स्युरेयन्तस्य वाऽऽदेशः पडन्ते, तत्रिगम्यताम् ।

णुमस्य च नुमस्य, गाव्येणुमस्य दक्कस्य च सन्नुमस्य भवति ।

ओम्भालस्य पव्वालस्य, तथा च गायस्य निगद्यन्ते ।

नित्रिपत्त्योधिहोमः ॥ २२ ॥

निवृणः पत्तेक्ष धातोः, एयन्तस्य तु वा 'शिहोड' इति भवन् ।

यथा 'विहोडस्य' पके तथा निवारस्य, पाडस्य ।

दूको दूमः ॥ २३ ॥

दूको एयन्तस्य दूमः स्वात्, हित्रयं मज्ज दूमस्य ।

धवल्लेदुमः ॥ २४ ॥

धवल्लयतेत्यन्तस्य दुमादेशो वा, दुमस्य च धवल्लस्य च ।

स्वर-[अरभं] सूत्रण तु दीर्घे द्विधमिति धवल्लितं भवति ।

तुलेरोडामः ॥ २५ ॥

तुलेत्यन्तस्य 'ओडामो' धा, तुलस्य ओडामस्य ।

विरिचैरोद्धाएदोन्नुएह-पहहत्याः ॥ १६ ॥  
विरिचैतएयैतस्य तु वा, स्युरोत्तुएडोल्सुएन-पहहत्याः ।  
ओलुएडह उद्धाएडह पहहत्याश्च वा विरिभह च ।  
तनेराहोन्-विहोमौ ॥ १७ ॥  
तडेवयैतस्य वाऽऽहोन्-विहोमौ भवतः कमाद्य ।  
आहोन्ह विहोडह, पक्के 'तानेह' सिध्यति ।  
मिभेवीसाल-मेलवौ ॥ १८ ॥  
मिभयतेएयैतस्य तु, वा स्तो बीसाल-मेलवौ ।  
बीसालह मेलवह, पक्के 'मिस्सह' जायते ।  
उच्छेगुणुः ॥ २६ ॥  
एयन्तस्योच्छलि-धातोः स्याद्, गुणऽऽदेशो विभाषया ।  
ततो गुणठह पक्के स्याद्, 'उच्छेह' क्रियापवम् ।  
अयेस्ताडिअएट-तमाडौ ॥ ३० ॥  
तालिअएट-तमाडौ द्वौ, अयेएयैतस्य वा मत्तौ ।  
स्यात् तालिअएटह तमाडह चेति द्वयं, तथा ।  
प्रमाडह भमावह, भमिह अयमीरितम् ।  
नरोर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः ॥ ३१ ॥  
पलावा विउमो विप्पगालो नासव-हारवौ ।  
एते पञ्च विकल्पेन स्युएयैतस्य नरोर्विह ।  
विप्पगालह च पला-वह हारवह स्मृतम् ।  
विउडह नासवह, पक्के 'नासह' सिध्यति ।  
दरोदीव-दंस-दकखवाः ॥ ३२ ॥  
दावो दंसो दकखवह, दरोएयैतस्य वा अयः ।  
दावह दंसह दकखवह द्रिसह स्मृतम् ।  
उव्पेट्ठगः ॥ ३३ ॥  
एयन्तस्य बोधघटेर उग्गः, उग्गाडह च उग्गह ।  
स्यूहः सिहः ॥ ३४ ॥  
स्यूहो एयन्तस्य 'सिह' इत्यादेशः, सिहह स्मृतम् ।  
संजावेरासङ्गः ॥ ३५ ॥  
संभावयतेघातोरासङ्गो वा विधीयते ।  
भवेद् अलहह तथा, संभावह च पात्रिकम् ।  
उभमेरुत्यङ्गोपला-गुसुगुणोपेलाः ॥ ३६ ॥  
उभमेरुत्याङ्गोपला-गुसुगुणोपेला वा स्युः उभमः ।  
उत्थहह उल्लाहह, उप्पेसह तथा पुनः ।  
गुसुगुणह, पक्के तु पदम् उल्लाहह स्मृतम् ।  
प्रस्थापेः पट्टव-पेयवौ ॥ ३७ ॥  
प्रस्थापयतेरादेशो वा पट्टव-पेयवौ ।  
पट्टवह पेयवह, पक्के पट्टवह स्मृतम् ।  
विडुपेवौकावुकौ ॥ ३८ ॥  
लुकावुकौ विजानातेः, स्थाने स्यातां विनाषया ।  
स्याद् अडुकर बोक्कर, पक्के विएयवह स्मृतम् ।  
अपेरासिन्-वच्छुप्प-पणामाः ॥ ३९ ॥  
अयो वाऽपेयतेः स्थाने, पणामवच्छुप्पोऽसिन्वः ।  
असिन्वह वच्छुप्पह पणामह, अपेय वा ।

यापेजवः ॥ ४० ॥  
अयो यापयतेषां अयह, जावेह वेयते ।  
प्सावेरोम्बाल-पव्वाडौ ॥ ४१ ॥  
स्याताम् 'ओम्बाल-पव्वाडौ' स्थाने प्सावयतेसु वा ।  
ओम्बालह पव्वाडह, पक्के 'पावेह' सिध्यति ।  
विकोशेः पक्कोडः ॥ ४२ ॥  
वा विकोशयतेनामयातोः 'पक्कोड' इष्यते ।  
'पक्कोडह' ततः सिद्धं, पदे रूपं 'विकोसह' ।  
रोमन्धेरोग्गाल-वग्गोलौ ॥ ४३ ॥  
स्याताम् 'ओग्गाल-वग्गोलौ' रोमन्धेसु विनाषया ।  
ओग्गालह वग्गोलह, रोमन्धह तु पाठिकम् ।  
कम्पेण्डुवः ॥ ४४ ॥  
स्यात् कमेः स्वायंपयन्तस्य, गिह्वोऽत्र विकल्पनात् ।  
प्रयुज्यते गिह्वुवह, तथा कामेऽत्र पात्रिकम् ।  
प्रकाशेणुव्वः ॥ ४५ ॥  
णुव्वः प्रकाशेयैतस्य, वा पयासेह गुणह ।  
कम्पेविच्छोलः ॥ ४६ ॥  
कम्पेएयैतस्य विच्छोला वा, विच्छोलाह कम्पेह ।  
आरोपेवेसः ॥ ४७ ॥  
एयन्तस्य वाऽऽदेशः स्थाने वलाऽऽदेशोऽपिधीयते ।  
रूपं 'वसह' संसिद्धम्, आरोपेह च पात्रिकम् ।  
दोस्से रक्खोलः ॥ ४८ ॥  
स्वायं एयन्तस्य तु दुस्सः, रक्खोलो वा विधीयते ।  
सिद्धं रूपं ततो रक्खोलाह 'दोसह' पात्रिकम् ।  
रज्जेः रावः ॥ ४९ ॥  
रज्जेएयैतस्य वा रावो, यथा-रावेह रज्जेह ।  
घटेः परिवारः ॥ ५० ॥  
परिवारो विकल्पेन घटेएयैतस्य जायते ।  
संसिद्ध परिवारह, पक्ष रूपं घटेह च ।  
वेष्ठेः परिआलः ॥ ५१ ॥  
वेष्ठेएयैतस्य तु स्थाने 'परिआलो' विकल्पनात् ।  
'परिआलेह' घटेह, द्वयं संसिद्धिमुच्छ्रितम् ।  
क्रियः कियो वेस्तु के च ॥ ५२ ॥  
गेरित्यत्र निवृत्तं च, क्रीणातः किण इष्यते ।  
वेः परस्य द्विरुक्ः के चात् किणक्रेति बुध्यताम् ।  
रूपं किणह विक्रेह, तथा निकिणह स्मृतम् ।  
जियो भा-बीडौ ॥ ५३ ॥  
भा-बीडौ च बिज्जेतः स्तः, जाह बीडह भाहभं ।  
बीहभं, बहुलाद् 'जीओ', इति रूपं च सिध्यति ।  
आलीखेऽड्डी ॥ ५४ ॥  
आलीयतेर भवेद् अड्डी, आड्डीणं च आलिअह ।  
निदीकेणिदीभ-णिलुक्-गिरिम्-लुक्-सिक्-दिह-  
काः ॥ ५५ ॥  
'लुक्-णिलीभ-णिलुका, लिको दिहको गिरिभ' इत्येते ।

[ सिद्धहेम ]

आदेशास्तु निलीको धानोः बहू वा प्रवर्तन्ते ।  
सुकरं लिङ्कारं निङ्कारं भवति गिर्लीङ्कारं तथा शिल्लुङ्कारं च ।  
तथा खिरिगघर्णं, पक्षे वेदां निलिङ्गजह तु ।

विह्वीकैर्विरा ॥ ५६ ॥

विरा विलीकैरादेशा वा, विराह विशिङ्गजह ।

रते रुज्ज-रुएटी ॥ ५७ ॥

रौतेः स्थाने विकल्पेन रुज्ज-रुएटी प्रकीर्तितौ ।

रुज्जह रुएटह ततः, पक्षे रवह सिध्यति ।

श्रुदेर्हणः ॥ ५८ ॥

गृणोतेर्वा इणो, हण-इ सुणह सिक्कित्तम् ।

धुगधुवः ॥ ५९ ॥

धुनातेर्वा धुवो धुवह इयाह धुणह पाक्किकम् ।

तुवेर्हो-हुव-हवाः ॥ ६० ॥

'हो हुव इव' इत्येते नुवः स्थाने विकल्पिताः ।

'होह हुवह इवह' स्युर, 'होनि हुवनि च हवनि' बहुवचने ।

पक्षे भवह भवन्ति च, प्रविष्टं पभवह च परिभवह ।

कविन्द्यदपि यथा-जत्तं, उण्णुभह स्मृतम् ।

अत्रिति हुः ॥ ६१ ॥

विह्वजं प्रत्यये 'हु' स्याद, धुवः स्थाने विज्ञापया ।

यथा हुन्ति, भवह हुन्ता, किम ? अत्रिति, 'होह' च ।

पृथक् स्पष्टे णिव्वरुः ॥ ६२ ॥

पृथग्भूते तथा स्पष्टे, कत्तरि 'णिव्वरु' धुवः ।

पृथक् स्पष्टो वा प्रवती-त्यर्थे 'णिव्वरु' स्मृतम् ।

मनौ हुणो वा ॥ ६३ ॥

प्रनुकर्तृकस्य नुवः, स्थाने हुणो पिकल्पयते ।

प्रभुत्वं च प्रपूर्वस्यै-वाणो उत्रिति विभाव्यताम् ।

अङ्गं बिअ पवुणह, न, पक्षे पमवेह च ।

कं हुः ॥ ६४ ॥

के नुवो इह' अण्णुभं, पण्णुं हुअमीउणम् ।

कृगः कुणः ॥ ६५ ॥

कृगः कुणो वा, कुणह, करह स्यात्, पाक्किकम् ।

काणेकित्ते णिअरः ॥ ६६ ॥

काणेकित्तविवयस्य तु, कृगः पदे वा णिअर आदेशः ।

काणेकित्तं करोतीत्यर्थे वाच्य 'णिअरह' हि ।

निष्टम्भावष्टम्भे शिट्टुह-संदाणं ॥ ६७ ॥

अवष्टम्भे च निष्टम्भे, कृगः संदाण-निष्ठहौ ।

इत्यादौ यथासंख्यं, विकल्पनेह बुध्यताम् ।

निष्ठह तु निष्टम्भं करोतीत्यर्थेवाधकम् ।

'संदाणह' अवष्टम्भं करोतीत्यर्थेवाचकम् ।

अपे वावक्फः ॥ ६८ ॥

अमविषयस्य तु कृगो, वावक्फो वा विधीयते ।

अमं करोति इत्यर्थं, 'वावक्फ' निगद्यते ।

मनुनौष्ठमालिन्ये णिव्वोलः ॥ ६९ ॥

मनुनौष्ठानिमालिन्ये, 'णिव्वोलह' कृगोऽस्तु वा ।

मन्निनीकुस्ते स्वौष्ठं कुधा, 'णिव्वोलह' स्मृतह ।

शैथियत्पत्तम्भेन पयल्लः ॥ ७० ॥

शैथिन्ये लम्भेनऽर्थे च, 'पयल्लो' वा कृगो यथा ।

लम्भते वा च शिथिलीभवति स्यात् 'पयल्लह' ।

निष्पाताच्चोटे शीलुङ्गः ॥ ७१ ॥

आच्चोटेऽर्थे च निष्पाते, 'शीलुङ्गो' वा कृगो भवत् ।

'शीलुङ्गह' निष्पातति, वाऽऽच्चोटेऽपि कथ्यते ।

कुरे कम्मः ॥ ७२ ॥

कुरायेस्य कृगः 'कम्म', इत्यादेशो विभाषया ।

'कुरं करोति' इत्यर्थं, पदं 'कम्मह' नपद्यते ।

चाटो गुललः ॥ ७३ ॥

चाटुविषयस्य कृगो, 'गुललो' वा विधीयते ।

प्रयुज्यते 'गुललह', चाटुकारं करोत्यतः ।

स्मरंजैर-भूर-जर-भल-लल-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ॥ ७४ ॥

पम्हुहो विम्हरो भूरः पयरः, सुमरो भरः ।

भलो भडो उरो वैते, नवादेशाः स्मरंजैः ।

भूरह भरह विम्हरह, सुमरह पयरह च पम्हुहह सरह ।

प्ररह भलह ढलह ततः, स्मरंजैरवनीह कृपाणि ।

विष्णुः पम्हुस-विम्हर-वीरमा ॥ ७५ ॥

'पम्हुस विम्हर वीरस' इत्यादेशा भवन्ति विस्मरतेः ।

'पम्हुसह विम्हरह वीसरह' च सिद्ध्यति कृपाणि ।

व्याहोः कोक्क-पोक्को ॥ ७६ ॥

व्याहरेणो स्याता-मादशी द्वौ हि 'कोक्क-पोक्को' च ।

कोक्कह, हस्वन्वे कुक्कह पोक्कह, 'वाडरह' पक्षे ।

मसरः पयल्लोविष्टौ ॥ ७७ ॥

संवल्लश्च पयल्लो वा, स्यातां प्रसरंजैर्मो ।

उवल्लह पयल्लह, पक्षे पसरह स्मृतम् ।

महमहो गन्धे ॥ ७८ ॥

गन्धार्थस्य प्रसरतेः, स्थाने महमहोऽस्तु वा ।

'मालह महमहह', गन्धे किं ? पसरह च ।

निस्सरंणीहर-नील-थारु-वरहाहो ॥ ७९ ॥

निस्सरतेर्' वरहाडो, नीलो धाडो च हाहो' वा स्युः ।

वरहाडह नीलह जीहरह च धाडह च, नीसरह ।

जात्रेमेगः ॥ ८० ॥

जागतैर' जग्य' इति तु, स्यादादेशो विभाषया ।

रूपं 'जग्यह' तेन स्यात्, पक्षे 'जागरह' स्मृतम् ।

व्यापिराअः ॥ ८१ ॥

धातोर्व्यापियतेः स्थाने, 'आअङ्को' वा विधीयते ।

आअङ्गह तथा 'वायंरह' रूपं तु पाक्किकम् ।

संठगेः साहर-साहट्टो ॥ ८२ ॥

संठुणोत्तस्तु साहर-साहट्टौ वा पदे मती ।

साहट्टह साहवरह, पक्षे 'संवचह' स्मृतम् ।

आडकः सभापः ॥ ८३ ॥

वाऽऽडकः स्यात् 'सभापे', आवरह सभापह ।

प्रहृगेः सारः ॥ ८४ ॥

सारः प्रहरोतेः स्थानं, वा पहरह सारह ।

अवतरेरौह-प्रारसौ ॥ ८५ ॥

'ओह ओरस' इत्येतौ, वाऽप्रावतरतेमेतौ ।

ओहह वा श्रीरमह, पक्के 'ओशरह' स्मृतम् ।

शकेश्रय-तर-नीर-पाराः ॥ ८६ ॥

अयस्तरस्तीरपारौ, अयारो वा शकरिमि ।

तीरह पारह सकह, अयह तरह, अयह च न्यजतेः । [१]

तरनेरपि तु तरह वा, तीरयनेरपि भवेत् तीरह ।

पारयनेरपि भवेत्, रूपं 'पारह' गच्छते । [२]

फकस्यकः ॥ ८७ ॥

थकस्तु फकतेः स्थानं भवेत्, 'थकह' सिध्यति ।

श्रायः सन्नहः ॥ ८८ ॥

श्रायतेः सलहादेशो भवेत्, 'सन्नहह' स्मृतम् ।

खचेरैः श्रटः ॥ ८९ ॥

खचेनर 'यश्रडो' वा, 'वेअडह' 'खखह' स्मृतम् ।

पचेः संश्रि-पुनद्रो ॥ ९० ॥

वा 'सोश्र-पउज्जो' इत्यादेशो सन्ः पचनेः स्थाने ।

'सोश्रह' वा 'पउज्जह', पक्के 'पयह' सिध्यति ।

मुचेउगुहावेदम-मंश्री।मिक्के-रेअव-शिल्लुउज्ज-थंसामाः। ९१ ॥

मंश्रीऽवेदेदो थंसामो, शिल्लुउज्जोस्मिक्के-अववाः ।

उहुअंते मुचेः स्थानं, सप्तदेशा विकल्पिताः ।

शिल्लुउज्ज उस्मिक्के, अवेदेदह रेअवह च थंसारह ।

उहुह मेलह, पक्के 'मुअह' च रूप तु भवतीति ।

दुःखे गिन्वन्नः ॥ ९२ ॥

दुःखविपयस्य मुचेगिन्वन्नो वा विधीयते ।

'दुःखं मुअंति' इत्यर्थे 'गिन्वन्नह' क्रियापदम् ।

वउचेरैहव-वेन्नव-जूरवोमच्छाः ॥ ९३ ॥

वा वेहव-वेन्नव-जूरवा उमच्छोऽपि वउचेतेः स्थाने ।

वेहवह वेन्नवह जूरवह उमच्छह च, वउह च ।

रचेरुगहावह-विक्कविड्डाः ॥ ९४ ॥

घातोः रचेर उगहावह-विड्डविक्कस्यो भवस्येते ।

विक्कविड्डह उगहाह च अवहह, पक्के रयह भवति ।

समारचेरुवट्टत्य-सारव-समार-केलायाः ॥ ९५ ॥

समारचेर उवहत्याः, केलायः सारवः समारो वा ।

उवहत्याह केलायह, समारयह सारवह समारह च ।

सिचंः सिञ्च-मिम्पौ ॥ ९६ ॥

सिञ्च-सिम्पौ विकल्पेन, सिञ्चतोपां पदे स्मृतौ ।

सिचं सिञ्चह सिम्पह, पक्के सञ्चह ज्ञायते ।

प्रच्छः पुच्छः ॥ ९७ ॥

प्रच्छेः स्थाने प्रवेत् पुच्छादेशः, पुच्छति सिद्धति ।

गर्जेवुकः ॥ ९८ ॥

गर्जेतेवुक इत्यादेशो वा, वुकह, गजह ।

[ १ ] हाणि कपोति । [ २ ] कर्म सनाप्नोति ।

वृषे दिक्कः ॥ ९९ ॥

वृषे कर्तारि गर्जेर वा, दिक्काऽऽदेशो विधीयते ।

'दिक्कह' 'गर्जेति वृषे' इत्यर्थे परिपठ्यते ।

रानेरम्य-उज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ १०० ॥

अम्यो रीरो रेहः, उज्जह सहो भवतु वा राजेः ।

अम्यह उज्जह रीरह, रेहह रायह च सहह तथा ।

मस्नेराउहु-गिणहु-वुहु-मुप्याः ॥ १०१ ॥

आउहुअ गिणहु, मुहुः खूपवह मज्जतेयो स्युः ।

आउहुह च गिणहुह, मुहुह खूपवह च मज्जह च ॥

पुञ्जरोराल-चमात्तौ ॥ १०२ ॥

आरोलह चमालह, पुञ्जरोरते विकल्पितौ ।

आरोलह चमालह, पक्के-पुञ्जह सिध्यति ।

लस्नेरीटः ॥ १०३ ॥

जीहो वा लज्जतेः स्थानं, यथा-जीहह, लज्जह ।

तिजरोमुक्कः ॥ १०४ ॥

आमुक्को वा तिजेः स्थानं, आमुक्कह न तेअग्रं ।

मुजेरुमुस-वुउउ-पुउह-पुंम-कुम-पुस-वुह-दुल-

रांसाणाः ॥ १०५ ॥

उरुमुसो रोसणो मुक्कः, पुउहः पुंमः कुमः पुसः ।

मुहो दुलो, नवादेशा विकल्पेन मुजेरुमताः ।

मुउह पुउह पुसह, रांसाणह कुमह पुमह तथा मुहह ।

दुलह उरुमुसह, पक्के-मज्जह इति सिक्कितानि पदसः ।

जउजेवमय-मुमुमूर-मूर-मूर-मूर-विर-पविरउ-

करउ-नरेउजाः ॥ १०६ ॥

मुमुमूरो विरो मूरः, मूरः मुउअ वेमयः ।

पविरउः करउजा नोउजा वा अज्जेतेनेव ।

मूरह मूरह मूरह, मुमुमूरह वेमयह च पविरउज्जह ।

नोउज्जह च करउज्जह, विरह च पक्के भवेद्-अज्जह ।

अनुम्रजेः पदिअग्रमः ॥ १०७ ॥

अनुम्रजेः 'पदिअग्रम' इत्यादेशो विकल्प्यते ।

'पदिअग्रम' पक्के तु-अपुवववव' सिध्यति ।

अजेर विहवः ॥ १०८ ॥

अजेथानोविकल्पेन, विहवाऽऽदेशो ऽप्यते ।

प्रयुज्यते विहवह, तथा 'अज्जह' पालिकम् ।

युजां जुज्ज-जुज्ज-जुप्याः ॥ १०९ ॥

युजः स्थानं 'जुज्ज-जुज्ज-जुप्या' एते त्रयो मताः ।

जुज्जह जुज्जह तथा, जुप्यह' सिक्कितामह ।

युजां जुज्ज जिम-जेम-कम्माह-समाण-चपह-चड्डाः । ११० ॥

समाणअमहअहुः, कम्मो अहुजां जिमस्तथा ।

अएहां जेमां, युजः स्थानेऽप्यादेशः परिधीयताः ।

'जुज्जह जिमह च जेमह, चमहह कम्मह चड्डह समाणह ।

'अएहह' इति युजधातोः, रूपं वेतो सुधीभिरतः ।

वापेन कम्मवः ॥ १११ ॥

उपेन युक्तस्य युजः, 'कम्मवा' वा विधीयते ।

तेन सिक्क 'कम्मवह,' उवहुज्जह' इत्यपि ।



घटेर्गदः ॥ ११२ ॥

घटेर्गदो वा, गदह, घडह स्यात्तु पात्रिकम् ।

समो गदः ॥ ११३ ॥

संपूर्वस्य घटेः स्थाने, गमादेशो विकल्पनात् ।

ततः सिद्धं 'संगदह', पक्के 'संघदह' स्मृतम् ।

हामिने स्फुटैर्घुरैः ॥ ११४ ॥

हासेन स्फुटतेऽप्ये तु, स्फुटः स्थाने सुरोऽस्तु वा ।

हासेन स्फुटतैस्त्यर्थे, रूपं 'मुरह' कथ्यते ।

पाएने विश्व-विश्व-विश्व-रौद्र-टिबिकिकाः ॥ ११५ ॥

विश्वविश्वविश्वविश्वो, रौद्रविश्विककल्पा ।

एने मरुहर् विकल्पेन, पञ्चादेशाः प्रकीर्तिताः ।

विश्वविश्व विश्वविश्व, टिबिकिकह विश्वह ।

रौद्रह तथा, 'मरुह', इति रूपं तु पात्रिकम् ।

तुभेरोड-तुह-तुह-खुभोकमुडोलुक-शिशुक्त-लुकोल्लाराः ॥ ११६

लुकोल्लारी तुह-खुहो, शिशुक्तश्च खुडोकमुहो ।

तोडोल्लुको, तुहः स्थान, विनाया स्वरुमी नय ।

तोडह तुहह खुहह, उल्लुक्तह उक्खुहह शिशुक्तह च ।

खुहह तुहह उल्लुहह, लुहह रूपं तुभेरनत् ।

घूर्णो घुस-घोस-घुस-पह्लोसः ॥ ११७ ॥

घुलो घालः पहल्लश्च, घुसो घूर्णेमी मताः ।

'घुलह घोसह पहल्लह घुसह सिद्धयति ।

विद्युतेर्दैनः ॥ ११८ ॥

दंसो वा विद्युतेः स्थानं, दंसह स्याद् विषहह ।

क्वयण्टः ॥ ११९ ॥

क्वयेरहो वा, अहह, पक्के-कहह सिध्यति ।

प्रयो गासः ॥ १२० ॥

प्रयोर्गदोऽस्तु, गगउह, गगरी सारिः प्रयुज्यते ।

मन्थेघुमस-विरोसो ॥ १२१ ॥

घुससश्च विरोलश्च, मन्थेनेो विकल्पितौ ।

रूपं घुसलह विरोसह, मन्थह इत्यपि ।

ह्वादेवअच्छः ॥ १२२ ॥

ह्वादेऽप्येनस्यावअच्छोऽप्रायनस्यापि स्थले भवेत् ।

ह्वाते ह्वायेति वा, 'अवअच्छह' उच्यते ।

अंत्रकारस्तु एयन्स्यापि ब्रह्मथेः प्रयुज्यते ।

नः मद्रो भजः ॥ १२३ ॥

निर्पुर्वस्य सद्रो मजः, 'अत्ता एयन् निमज्जह' ।

क्रिदेरुहाव-णिच्छल-णिजभोर-णिवर-णिल्लूर-

खराः ॥ १२४ ॥

वा स्युर णिच्छल-णिजभोरौ, गिच्छुरो लूर-णिवरौ ।

दुहावश्च पदादेशाः, द्विद्-धातोः पदे यथा ।

णिच्छल्लह णिजभोडह, गिच्छुरह णिवरह दुहावह च ।

लूरह इति द्विद्धातोः, पते 'द्विन्दह' मते रूपम् ।

आकु ओअन्द्रोशासो ॥ १२५ ॥

'ओअन्द्रोहालो' वा, स्याताम् आकु सहाव द्विद्-धातोः ।

'ओअन्द्रह, उदासह' 'अवल्लुन्दह' इति विकल्पयथात् ।

मूदो मल-मद-परिहट्ट-खडू-चडू-मडू-पषाकाः ॥ १२६ ॥

खडू-चडू च पषाकाः, परिहट्टो मदो मलः ।

मडूश्चापि मूदः स्थाने, समादेशाः प्रकीर्तिताः ।

पषाकाश्च मडूश्च च, परिहट्टश्च खडूह ।

मडह चडूह तथा, मलह प्रतिपठ्यते ।

स्पन्देरचुल्लुचुसः ॥ १२७ ॥

स्पन्देरचुल्लुचुलादेशो, विकल्पेन प्रयुज्यते ।

सिद्धं 'चुल्लुचुलह' तु, पक्के 'फन्दह' इत्यपि ।

निरः पदेर्वेलः ॥ १२८ ॥

निःपूर्वस्य पदेः स्थाने, वलादेशो विकल्पनेन ।

'निव्वल्लह' लिप्यज्जह, 'उयं मिच्छिमगादिदम् ।

विमंवेदेविअट्ट-विलोह-फंसाः ॥ १२९ ॥

विअट्टश्च विलोहश्च, फंसाश्चेति त्रयोऽपि वा ।

विसंपूर्वस्य तु वदः, स्थाने सन्तु यथाक्रमम् ।

विअट्टह ततः सिद्धं, विलोहह च फंसाह ।

विसंवयश्च चेतम्, पात्रिकं रूपमिष्यते ।

शदो ऊढ-पक्खोको ॥ १३० ॥

शद्ः स्तो ऊढ-पक्खोको, ऊढह, वा पक्खोडह ।

आकन्देर्पाहिरः ॥ १३१ ॥

आकन्देर्पाहरो वा स्याद्, गीहहश्च अकन्दह ।

सिदेर जूर-विमूर्गो ॥ १३२ ॥

सिदेर जूर-विमूर्गो, स्यातामश्च विकल्पनात् ।

'विसूरह' ततः सिद्धं, पक्के जूरह, लिखज्जह ।

रुपेन्त्यह्लुः ॥ १३३ ॥

रुपेकल्पह्लु इति वा, उन्त्यह्लुश्च च रूपश्च ।

निपेपेर्दकः ॥ १३४ ॥

हक्को निपेपतेर, हक्कह वा पक्के निसहह ।

कुपुमैरः ॥ १३५ ॥

कुपेजुरो विकल्पेन, 'जूरह' कुज्जह इत्यपि ।

जानो जा-जम्मो ॥ १३६ ॥

जा-जम्मो जायतेः स्थाने, सिद्धं 'जासह जम्मह' ।

तनस्तक-तहू-तहुव-विगड्डो ॥ १३७ ॥

तक-तहू-तहुव-विगड्डोऽप्यारत्तानेः स्थले वा स्युः ।

तहूह तकह तहुवह, तथा विगड्डह, 'तणह' पक्के ।

तृपसिपः ॥ १३८ ॥

तृप्यतेस्तु पदे णिप्यः, 'धिप्यह' प्रणिगायते ।

उपसेपेरद्विअः ॥ १३९ ॥

उत्तमुणस्योपस्युः, स्थाने वा 'अद्विअ' मतः ।

ततः सिद्धम् 'अद्विअश्च', 'उवस्यपह' पात्रिकम् ।

मंतपभंजुः ॥ १४० ॥

संतपेर्भज्ज इति वा, संतप्यह च ऊहह ।

वयापेरोअग्गाः ॥ १४१ ॥

व्याप्यतेस्तु विकल्पेनाऽऽदेश 'ओअग्गा' इष्यते ।

‘आश्रमः’ ततः पक्षः, रूपं ‘वावद्’ सिध्यति ।

समापः समाणः ॥ १४३ ॥

समानोतः समाणो वा, समावद् समाणः ।

क्रिपेर्गलत्याङ्गव-सोङ्ग-पेङ्ग-याङ्ग-ह्रस्व-ह्रस्व-परी-  
घात्ताः ॥ १४३ ॥

सोङ्गपङ्गो परी-घत्तो, गलत्याङ्ग ह्रस्वाः ।

आङ्गवत्तां योङ्ग इत्येते, नवादेशाः क्रिपेस्तु वा ।

आङ्गवत्त्वं च गलत्याङ्ग, सोङ्गश्च पल्लवः कृद्दह इत्यत्र घञ्च ।

योङ्गश्च ह्रस्वत्वे योङ्गश्च परीद्, पाङ्गिकं लिङ्गम् ।

उत्तिष्ठपुंलुगुञ्जीत्यङ्गवत्ताः स्मिक्-ट्कलुवाः ॥ १४४ ॥

युगयुञ्जीत्यङ्गवत्ताः योङ्गोत्तिष्ठक-हृक्लुवा वा स्युः ।

उत्त्यस्य तु क्रिपेः, धातोः स्थाने परादेशाः ।

युल्लुगुञ्जद् इत्यङ्ग, अल्लुगुञ्जद् हृक्लुवश्च च उस्तिष्ठश्च ।

उल्लुगुञ्जद् इति पङ्के, रूपं वेद्यं तु ‘उत्तिष्ठवद्’ ।

आक्रिपेर्धीरिवः ॥ १४५ ॥

आहृपूर्वस्य लिपिधातोर्गोविन्वा वा विधीयते ।

ततः सिद्धं ‘णारवद्’, पङ्के ‘अक्षिलवद्’ स्मृतम् ।

स्वपेः कमवस-झिम-झोटाः ॥ १४६ ॥

‘कमवस-लिस-लोहाः’ वा, स्वर्युग्धो धातोः स्वपेः स्थले कमशाः ।

लोहाद् लिसश्च कमवसश्च, भवति तु पक्षे ‘सुश्रद्’ रूपम् ।

वेपारायम्यायञ्जी ॥ १४७ ॥

वेपेर् ‘आयम्य आयम्य’ इत्यादेशौ विकल्पनात् ।

आयम्यश्च तथा आययञ्च, पङ्के तु ‘वेवद्’ ।

विलपेर्ङ्ग-वदवर्त्ताः ॥ १४८ ॥

विलपेस्तु विकल्पेन, ङ्गाद् वडवदश्च वा ।

ङ्गाद् वडवदश्च, पङ्के विलवद् स्मृतम् ।

झिपो झिम्यः ॥ १४९ ॥

लिम्पस्तु लिम्पतेः स्थाने, ततो झिम्पश्च सिध्यति ।

गुप्येर्वैर-रामौ ॥ १५० ॥

स्थाने धातोर्गुप्यतेनां, भवेतां ह्यै ‘विरा, णडः’ ।

विरश्च णडश्च पङ्के, गुपञ्च सिद्धिमनुते ।

कृपोऽवहो णिः ॥ १५१ ॥

अवहस्तु कृपोः स्थाने, तथेतां भवति, तन्पश्चात् ।

‘कृपो करोति’ इत्यर्थे, ‘अवहायेव’ पठ्यते ।

भरीपेस्तंभव-सन्नुम-सन्नुकाण्नुत्ताः ॥ १५२ ॥

‘तेभव-सन्नुम-सन्नुकाण्नुत्ता’ वा भर्वाः व्येतेरते ।

सन्नुकश्च अणुलश्च, सन्नुमश्च पलायश्च तेभवश्च ।

सुजः संजावः ॥ १५३ ॥

संजावो लुज्यतेर्था स्थाव, संजावश्च च सुम्भश्च ।

सुजेः सञ्ज-पङ्कटौ ॥ १५४ ॥

सञ्जः पङ्कटौ वा सञ्जः, सुजेर्धातोः पङ्के यथा ।

सञ्जश्च पङ्कटश्च, पङ्के ‘सुम्भश्च’ सिध्यति ।

आको रजः रम्भ-ढवौ ॥ १५५ ॥

आको परस्य तु रजेः, स्थाने रजोऽन्वयश्च वा ।

आरम्भश्च आश्वद्, पङ्के ‘आरम्भश्च’ स्मृतम् ।

उपालम्भेर्ङ्गव-पचार-पेङ्गवाः ॥ १५६ ॥

उपालम्भस्ये वा स्युर्ङ्ग-पञ्चार-पेङ्गवाः ।

पञ्चारश्च पेलवद्, उपालम्भश्च ङ्गाद् ।

अवेर्जुम्भो जम्भा ॥ १५७ ॥

जुम्भेर्जम्भा, न तु यः परस्य, जम्भाश्च भवति जम्भाम्भश्च ।

किम् ? अपरिणि हि निषेधः, ‘सुकोलपसरो विश्रम्भश्च’ ।

भाराकान्ते नमेर्गिसुदः ॥ १५८ ॥

भाराकान्ते तु कतेर्, गिसुदो या नमेः स्मृतः ।

गिसुदश्च, वा ‘णवद्’, आकान्तो नमनीत्यतः ।

विश्रमेर्गिन्वा ॥ १५९ ॥

‘गिन्वा’ विश्राम्यतेनां ‘गिन्वाश्च, वांसम्भश्च’ द्वयम् ।

आकामेरोहोवोत्पारचन्दुः ॥ १६० ॥

आकामेः ‘वृद् चत्पार ओहावो’ वा तयो मताः ।

ओहावश्च उपाहारश्च, वा अक्षकम्भश्च सुन्दश्च ।

भ्रमेर्गिरिटिङ्ग-हुगदुङ्ग-टागदुङ्ग-चकम्म-भम्म-भम-  
द-भमाद-तन्नाअट-ऊअट-ऊम्प-लुम-गुम-कुम-कु-  
स-दुम-दुस-परी-पराः ॥ १६१ ॥

चकम्मो भम्मो ऊम्पघिरिटिङ्गो लुमो गुमः ।

दुगदुल्लो जमलो दगदल्लो भमादः कुमः कुसः ।

तलअटदस्मथा ऊअटो, दुमो दुस-परी-पराः ।

इत्यमी भ्रमेतेच्छादेशाश्च विकल्पनात् ।

टिरिटिलश्च दुगदुल्लश्च, दगदल्लश्च तलअटश्च च ऊअटश्च ।

भमदश्च चकम्मश्च भम्मश्च भमादश्च दुमश्च ऊम्पश्च ।

गुमश्च कुमश्च कुसश्च दुमश्च, दुसश्च परीश्च च परश्च जमश्च पङ्के ।

भ्रमधातोर्गिद् रूपं, विधिर्धं वेद्यं सुधीयन्ति ।

गमेर्दं-अदच्छाणुवजावजसोक्कुमाक्कुस-पसङ्ग-पञ्ज-  
न्द-णिम्भ-णौ-णौ-णौ-लुवक-पदअ-रञ्ज-परिअङ्ग-  
बोल-परिअङ्ग-गिरिणास-णिवहावसहावहाराः ॥ १६२ ॥

अर्दं णी पदओऽच्छोऽणुवज्जोऽवज्जसोऽक्कुसः ।

पसङ्गो णिवदः पञ्जदोऽवसेहश्च णिम्भः ।

परिअल्लः परिअल्लो, गिरिणासस्तथोक्कुसः ।

रञ्जो योणञ्च णीलुक्कोऽवहरो बोल इत्यमी ।

पदविशतिरादेशा गमधातोस्तु वा मताः ।

अणुवज्जश्च पञ्चदुद्, अवज्जश्च अक्कुसश्च च पञ्जन्दश्च ।

योणश्च अर्दं रम्भश्च, गिरिणासश्च णीद् णीलुक्कश्च ।

पदअश्च णिम्भश्च अदच्छश्च परिअल्लश्च च उक्कुसं बोद्धश्च ।

अवसेहश्च अश्वदरश्च च, णिवदश्च परिअल्लश्च वा गच्छश्च ।

[ णोहम्भश्च आहम्भश्च, पहम्भश्च गिहम्भश्च तु तथा हम्भश्च ।

‘हम्भ गतौ’ इति धातोर्मूर्तिरुपाणि वेषाणि । ]

आका आहिपचुअः ॥ १६३ ॥

आका सहितस्य गमेः, स्थाने वाऽन्वयिपञ्चअः ।

‘अहिपचुअश्च’ स्याद् वा, तथा-ऽनाच्छश्च’ पाङ्गिकम् ॥

समा आग्निदः ॥ १६४ ॥

समा युक्तस्य तु गमेः, ‘अग्निदो’ वा विधीयते ।

सिद्धं ततोः ‘अग्निदश्च’, पङ्के-संगच्छश्च स्मृतम् ।

अचयाङ्गेऽस्मत्पत्यः ॥ १६५ ॥

वस्मत्पत्यस्तु गमेः स्थानेऽभ्याङ्ग्यां युक्तस्य वा प्रवेत्त ।  
' वस्मत्पत्ये ' तथा-ऽभ्याङ्गच्छेद ' रूपद्वयं ततः ।

प्रत्याङ्ग पलोद्गः ॥ १६६ ॥

पल्लोद्गस्तु गमेः प्रत्यङ्गभ्यां युक्तस्य पदेऽस्तु वा ।  
' पलोद्ग ' तथा- ' पभाङ्गच्छेद ' स्थान्त्वात् प्राक्कर्म ।

शमेः पडिसा-परिसामौ ॥ १६७ ॥

शमेः पदे तु पडिसा-परिसामौ विकल्पितौ ।  
' परिसामे ' समश्च, पडिसाश्च ' अथ शमेः ।

रमेः संसुद्ध-लङ्काभ्याव-किङ्किञ्च-कोट्टुम-  
मोहाय-णोत्तर-वेद्वाः ॥ १६८ ॥

मोहायो षीसरो बेलः, किलिकिञ्चको कौटुमः ।  
बेलुम्भावौ च संसुद्धो, रमेवो स्युरमी पदे ।  
संसुद्धश्च उष्णावश्च, किलिकिञ्चको कौटुमश्च च मोहायश्च ।  
बेलुश्च तथा षीसरश्च, बेलश्च पके ' रमे ' रूपम् ।

पूरम्या फाग्यवोऽभ्याङ्ग्यां कौटुमाङ्गुपादिरमेः ॥ १६९ ॥

' अहिरमोऽभ्याङ्ग्यांऽभ्याङ्ग्यं वनूमाऽङ्गुम ' इत्यमी ।  
पञ्चादशा विकल्पेन, पूरः स्थाने प्रकीर्तितः ।  
' अग्यारुश्च अग्यश्च, अहिरेश्च पूरश्च ।  
उडुमारश्च अङ्गुमश्च, ' स्तौषकल्पमुदाहृतम् ।

त्वरस्तुवर-जश्रमौ ॥ १७० ॥

तुवरो जश्रकञ्चमौ, भवतो त्वरतेः पदे ।  
सिद्धं रूपं तुवश्च, तथा जश्रश्च स्मृतम् ।

त्यादिशत्रोऽन्तः ॥ १७१ ॥

त्वरः शतरि त्यादौ च, तूः- 'तूरन्तो तूरश्च' ।  
तुरोऽन्यादौ ॥ १७२ ॥

त्वरोऽन्यादौ तुरादेशः, तुरतो तुरिश्चो यथा ।

क्षरः खिर-ज-पञ्ज-पञ्च-णिबल-णिट्टुञ्जाः ॥ १७३ ॥

णिबलौ णिट्टुञ्जा पञ्चोऽः उरः पञ्जः खिरः ।  
क्षरेणे पञ्चादेशाः, भवन्तीति विभाव्यताम् ॥  
पञ्जश्च पञ्चश्च, खिरश्च उरश्च तथा ।  
णिबलश्च णिट्टुञ्जश्च, एवं रूपाणि चतने ॥

उचल्ल लत्थल्लः ॥ १७४ ॥

स्याद् ' उचल्ल ' उचल्लन्तेः, रूपम् ' उचल्लश्च ' स्मृतम् ।  
विगलेः थिय-थिदुद्धौ ॥ १७५ ॥

धानोर् विगलन्तेः स्थाने, वा स्थानोर् ' थिय-थिदुद्धौ ' ।  
वा थियश्च थिदुद्धश्च, पले ' विगलश्च ' स्मृतम् ॥

दलि-वल्लपोविमट्ट-वम्फौ ॥ १७६ ॥

स्थानां विमट्ट-वम्फौ, वा दलि-वल्लयोः पदे यथासंख्यम् ।  
ततो ' विसट्टश्च वम्फश्च, ' पके ' रूपं दलश्च वल्लश्च ॥

ज्रसोः फिद-फिट्ट-फुद-फुद-चुक-जुञ्जाः ॥ १७७ ॥

वा स्युर ज्रसोः खुक्क-जुल्लो, फिट्ट-फुट्टो, फिदः फुदः ।  
फिट्टश्च फुट्टश्च, फिदश्च फुदश्च जुल्लश्च च भवति रूपम् ॥  
पले ' भवश्च ' रूपं, अथ ज्रसोः सुधांनिरिदश्च ।

नसिगिरियास-एणवहावसेह-पाडिसा-सेहावहराः ॥ १७८ ॥

गिरियासश्च एणवहोऽवसेहः पाडिसा तथा ।  
सेहश्चावहरश्चैते, वकादेशा नशस्तु वा ॥

गिरियासश्च एणवहश्च अवसेहश्च पडिसा अवहरश्च सेहश्च ।  
पके ' नससश्च ' इत्यव्यसृजि कृपाणि नशघातोः ॥

अवात् काशा वासः ॥ १७९ ॥

अवान् परस्य काशास्तु, ' वासः, ' ' शोवासश्च ' स्मृतम् ।  
सन्दिशेरप्पाटः ॥ १८० ॥

अप्पाटः सन्दिशेर वा स्यात्, अप्पाटश्च सन्दिशेर ।  
हसो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्ज-वज्ज-सम्भव-

देकसो अवस्वावकसावअवक्ख-पुलोए-पुलए-  
निआवअस-पासाः ॥ १८१ ॥

वज्जो निअच्छ ओअक्खोऽवयच्छ सव्यो निअः ।  
अवयच्छोऽवयज्जः पेच्छो देक्ख पुत्तअसया ॥  
अवअक्खः पुलोए पासाऽवक्खः, हसो अमी ।  
अवयच्छश्च अवयज्जश्च, वज्जश्च पेच्छश्च च सव्यश्च पासश्च ॥  
आअक्खश्च च निअच्छश्च, देक्खश्च अवअक्खश्च पुलोएश्च ।  
अवअसश्च अवक्खश्च, निअश्च च पुलए चेटो रूपम् ॥  
' निअक्खश्च ' स्वरादथन्ते तिथ्यायनेः सिद्धम् ।

स्यूशः फान-फंन फानिस-जिय-जिहाजुक्खालिहाः ॥ १८२ ॥

आल्लुक्कः फानिसः फंनः, जियः फानः जिहाजिदो ।  
इयमी स्यूशोः स्थाने, सप्तदेशाः प्रकीर्तिताः ।  
फानश्च फलश्च फानिश्च, जिह्वश्च जिह्वश्च आलिहश्च तथाऽऽजुक्कश्च ।  
इति धातोः स्यूशोनेरिह, रूपाणां सप्तकं भवति ।

प्रविशोरिअः ॥ १८३ ॥

धातोः प्रविशोनेः स्थाने, रिअऽऽदेशो विकल्प्येन ।  
सिद्धं ' रिअश्च ' पले तु, रूपं ' प्रविशश्च ' स्मृतम् ।

प्रान्मूश-मुषोऽम्हसः ॥ १८४ ॥

प्रात् परस्य तु मुष्णान्ते-स्यूशोनेश्च इहसो भवेत् ।  
' पम्हसश्च ' प्रमूशानि, वा प्रमुष्णानि कथ्येते ।

पिपिणिवह-गिरिणाम-गिरिणउज्ज-रोअ-चट्टाः ॥ १८५ ॥

गिरिणासां गिरिणञ्जा, रोअञ्चचट्टश्च वा पिपेह गिवहः ।  
रोअश्च चट्टश्च गिरिणामश्च गिरिणउज्जश्च च पीसश्च गिवहश्च ।  
अपेत्तुक्कः ॥ १८६ ॥

जयभुक्को विकल्पेन, सिद्धं असद् जुह्वश्च ।  
कूपेः कद्द-साअन्नाञ्चामन्नायज्जोअञ्जाः ॥ १८७ ॥

कद्दः साअद्द आहञ्जोऽयञ्जोऽणञ्जोऽञ्ज इयमी ।  
धातोः कूपेः पञ्चादेशाः, विकल्पेन प्रकीर्तितः ।

आहञ्जश्च नाअद्दश्च, कद्दश्च अञ्जश्च अणञ्जश्च अयञ्जश्च ।  
पके ' करिसश्च ' रूपं, कूपधातोर्ग संवन्धम् ।

असावकलोदः ॥ १८८ ॥

अक्खोहस्तु कूपेः स्थाने-ऽयं कोशात् सक्खकल्पेन ।  
' अक्खोहश्च ' अस्मि कोशात्, कर्पणोति प्रतीतिकृत् ।

गवेपहुएदुह-ददोऽन्न-गमेस-धवाः ॥ १८९ ॥

धत्तां गवेसो दग्दोलो, दुएदुहो वा गवेसोः ।  
दुएदुहश्च ददोऽन्नश्च, गमेसश्च च घसश्च [१]

[ १ ] गवेसम् ।

श्लिषः सामग्यावयास-परिभ्रान्ताः ॥ १६० ॥

अवयासः सामग्यः, परिभ्रान्तश्च त्रयः त्रिषुर्वा स्तुः ।  
अवयासश्च सामग्यं, परिभ्रान्तश्च, अयः सिलसलश्च ।

असंश्लेषपरः ॥ १६१ ॥

अज्ञेस्तु चोप्यने वा स्याद्, वा मकलश्च चोप्यरश्च ।

काङ्क्षाराहाहिलङ्गाहिलङ्ग-वच-वम्फ-मह-सिह-  
विश्रुम्पाः ॥ १६२ ॥

अहिलङ्कोऽहिलङ्को वम्फो विलुम्पो महः सिहः ।

आहो वचः काङ्क्षितयोऽशाचादिशा अमो मनाः ।

अहिलङ्गश्च अहिलङ्गश्च, आहश्च वचश्च महश्च विलुम्परश्च च ।  
वम्फश्च सिहश्च च, पक्के-कङ्कश्च इति सिद्धिमेतत् पदम् ।

प्रतीक्षेः मापय-विहारी-विरमालाः ॥ १६३ ॥

पदे प्रतीक्षेर्वा स्तुः, विरमालः सामग्यो विहारीश्च ।  
विरमालश्च च विहारीश्च, सामग्यश्च तथा पतिक्कश्च वा ।

तक्षस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ॥ १६४ ॥

तच्छश्च चच्छश्च रम्पो, रम्फश्चैते तु तक्षितवाः स्तुः ।

तच्छश्च चच्छश्च रम्पश्च, रम्फश्च, तक्कश्च तु वैकल्यात् ।

विक्रमः कोआम-वोसहो ॥ १६५ ॥

कोआसां वोसहो, विक्रसेरेनो पदे तु वा भवतः ।

कोआसाश्च वोसहो, तथा विकल्पेन विभ्रसश्च च ।

हमेर्गुञ्जः ॥ १६६ ॥

हसेर्गुञ्जो विभावा स्याद्, यथा हसश्च गुञ्जश्च ।

संमेदहस-दिम्भर्जा ॥ १६७ ॥

दहसां दिम्भश्च वा स्यातां, संमेदं धानोः पदे यथा ।

दहसश्च दिम्भश्च तथा, पक्के-संसह' सिध्यति ।

त्रमेर्देर-वोज्ज-वज्जाः ॥ १६८ ॥

वोज्जो वज्जो वरश्चैते, वा त्रवन्तु त्रसेः पदे ।

सिकं वोज्जश्च वरश्च, तथा तसश्च वज्जश्च ।

न्यमो णिम-णुमो ॥ १६९ ॥

न्यस्वतेः स्तो णिम-णुमो, 'णिमश्च णुमश्च' यथा ।

पर्यमः पलोह-पल्लह-पल्लह्याः ॥ १७० ॥

पर्यस्यतेः 'पलोहः, पल्लहः पल्लह' इति सन्तु हि ।

पल्लहश्च पल्लह्याश्च, तथा पलोहश्च भवति रूपम् ।

निश्वसेर्कङ्क्षः ॥ १७१ ॥

कङ्क्षो वा निश्वसेर्, सोसलश्च कङ्क्षश्च च द्वयम् ।

उत्तुम्भेरुत्तुम्भेः णिद्वस-णिल्लस-पुल्लस-आ-गुञ्जोद्वारोआः ॥ १७२ ॥

उत्तुम्भे कसलो गुञ्जोद्वारः पुल्लस-णिल्लसो ।

आरोआ, वा पलोह्याः, उल्लसेस्तु पदे मलाः ।

पुल्लस-आश्च गुञ्जोद्वारः, 'गुञ्जोद्वारश्च हस्वतस्तु, उत्सलश्च ।

उत्तुम्भश्च आरोआश्च, तथा णिल्लसश्च च उल्लसश्च ।

जासिर्निमः ॥ १७३ ॥

भासेर् घिसो वा, 'भिसश्च, पक्के-जासश्च' इत्यपि ।

अमोर्षिमः ॥ १७४ ॥

प्रसेर् घिसो वा, भिसश्च, पक्के 'गसश्च' इत्यपि ।

११

अवाद् गादेर्वाहः ॥ १७५ ॥

अवाद् गाहेस्तु वाहो वा, आवाहश्च आगाहश्च ।

आरुहेश्च-वल्लगो ॥ १७६ ॥

वने वल्लगाम्नाम् ह्ये, भवेताम आरुहः पदे ।

वा वल्लगश्च चडश्च, तथाऽऽरुहश्च पाकिक्मः ।

मुहेर्गुम्भ-गुम्भकौ ॥ १७७ ॥

वा गुम्भ-गुम्भकौ स्यातां, मुहेर्घातोः पदे, यथा ।

वा गुम्भश्च गुम्भकश्च, पक्के 'मुञ्जश्च' सिध्यति ।

दहेर्हिञ्जोद्वारो ॥ १७८ ॥

आलुङ्गो वाऽहिकल्लश्च, दहः स्थाने सिध्यति ।

आहिकल्लश्च आलुङ्गश्च, पक्के-दहश्च स्मृतम् ।

ग्रहो वल्ल-गोह-द्वार-पङ्क-निक्वारादिपच्युआः ॥ १७९ ॥

वल्ल-गोह-द्वार-पङ्क-निक्वारादिपच्युआ प्रदः स्युर्गमी ।

अहिपच्युआश्च वल्लश्च निक्वाराश्च गोहश्च द्वारश्च पङ्कश्च ।

क्या-तुम्-तव्येषु येत् ॥ १८० ॥

क्या-तुम्-तव्येषु परतो, 'घट्' आदेशो प्रद्वेमतः ।

[ क्या ] स्याद् घेल्लभाण घेल्ल्यु, क्विञ्चो-गेहिअ' स्मृतम् ।

[ तुस ] घेल्लु [ तव्य ] घेल्लव्यम्' इत्यन्तत्, त्रिविधं लक्ष्यमारितम् ।

वचो वोत् ॥ १८१ ॥

क्या-तुम्-तव्येषु घेलेर् 'घान्', इत्यादेशो विधीयते ।

'वो'स्यण वोत्तु 'वोसव्ये', त्रयं चेतद्गदाहृतम् ।

रुद-भुज-मुचां तोऽन्यस्य ॥ १८२ ॥

तः स्याद् रुद-भुज-मुचां, क्या-तुम्-तव्येषु, तद्यथा ।

भो'स्यण भोत्तु भोसव्य, क्वात्तव्यमनया दिशा ।

दृशस्तेन दृः ॥ १८३ ॥

दृशोऽन्यस्य नकारेण, सह षः प्रभवेद्, यथा ।

दृष्ण दृष्ण दृष्ण, संप्रत्युक्ते लुपेर्दिम् ।

आः कृगो जूत-भविष्यतोश्च ॥ १८४ ॥

क्या-तुम्-तव्येषु च तथा, काले भूते त्रिविध्यम् ।

कृगोऽन्यस्य तु 'आ' इत्यादेशः स्यादिति कथ्यते ।

'चकाराकार्यदिक्करोत्, 'पयु' काहोश्च' भाष्यते ।

'कर्ता करिष्यतात्यर्थे, पदे' काहिश्च' पठ्यते ।

क्या-तुम्-तव्येषु काऊण, काठं कायव्यमित्ये ।

गमिष्यमाऽऽसां लः ॥ १८५ ॥

गमिष्यमाऽऽसामन्यस्य, ङकारादेश इत्थत् ।

गञ्जश्च इञ्जश्च तथा, सिद्धं जञ्जश्च अञ्जश्च ।

क्षिदि-भिदो न्दः ॥ १८६ ॥

न्दः स्यात् त्रिवि-भिवेर् अन्ते, यथा-गिन्दश्च भिन्दश्च ।

युध-वुध-युध-कुध-सिध-मुहां जः ॥ १८७ ॥

स्यात् युध-युध-युध-सिध-मुहां द्विको 'जम्' ईदृशादेशः ।

कुञ्जश्च जुञ्जश्च उञ्जश्च, गिञ्जश्च सिञ्जश्च च मुञ्जश्च च ।

रुधो न्य-ज्जो च ॥ १८८ ॥

रुधो न्य-ज्जो तु वात् 'ज्जो', रुन्धश्च रुन्धश्च रुञ्जश्च ।

सद्-पतोहोः ॥ १८९ ॥

अन्ते सद्-पतोहोः स्यात्, सडश्च पडश्च स्मृतम् ।

क्वथ-वर्षा ङः ॥ ११० ॥

क्वथेर वर्षेर अन्तिमस्य, ङः स्वात् कटह वहुव ।  
क्वथेः कृतगुणस्येह, वर्षेभ्यः प्रहणं समम् ।

वेष्टः ॥ १११ ॥

' वेष्ट वेष्टने ' इत्यस्य, धातोः ' कटट'— [ १. ७५ ] वृत्ततः ।  
बलोपेऽन्त्यस्य ङो, ' वेष्टिज्जह, वेष्टह ' इत्यपि ।

सपो झः ॥ ११२ ॥

संवेष्टेतेऽन्तिमस्य, ' ङ्लः ' स्वात्, ' संवेष्टह ' स्मृतम् ।

वांढः ॥ ११३ ॥

वा ' ङ्ल ' उद्देष्टेते ' उन्वेष्टह, उन्वेष्टह ' स्मृतम् ।

स्विदां ज्ञः ॥ ११४ ॥

स्विदिप्रकाराणां ' ज्ञः ' स्वात्, अन्तिमस्य द्विक्रपकः ।  
सव्यङ्गि-सिञ्जिरीप संपज्जह ( सिञ्जह स्मृतम् ।  
बहुत्वं तु प्रयागानुसरथाधिभेदेष्यते ।

झज-नृत-मदां ङः ॥ ११५ ॥

अन्तिमस्य झज-नृत-मदानां ' ङो ' भवेदिह ।  
बच्चह नच्चह तथा, मच्चह सिञ्जिमायपुः ।

कद-नमांवेः ॥ ११६ ॥

कद-नमांवेः ङो, कवह, रोचह नवह स्मृतम् ।

उद्विजः ॥ ११७ ॥

उद्विजतेऽन्त्यस्य वा, उद्वेयो वा उद्विवह ।

त्वाद-धावांलुक् ॥ ११८ ॥

आह-धावांलुक् अन्ते स्वात्, आह आअह आदिह ।  
स्वाह धाह धाअदिह, क्विञ्चो- धावह ' स्मृतम् ।  
वर्षेमाना-मविष्यन्-विष्यायेकवचनेषु हि ।  
तेनेह भव ' आदन्ति, धावन्ति ' बहुलप्रहात् ।

सृजो रः ॥ ११९ ॥

सृजो धातोऽन्तिमस्य, रकारोऽत्र विधीयते ।  
सोसिरामि सोसिरह, तथा निसिरह स्मृतम् ।

शकादीनां द्वित्वम् ॥ १२० ॥

अन्तिमस्य शकादीनां, द्वित्वं भवति, तथाच ।  
[ शक् ] सक्कह [ जिम ] जिम्मह [ रण ] रग्गह,  
[ मण ] मग्गह [ कुप ] कुप्पह [ सुट ] पलोहह [ तुट ] तुट्टह ।  
[ नर ] नरस्सह [ अट ] परिअट्टह [ नट ] न-  
ट्टह [ सिक् ] सिक्कह, अन्यदपि वैषम्य ।

स्फुटि-चञ्जेः ॥ १२१ ॥

स्फुटि-चञ्जेभ्य वैकल्प्यं, द्वित्वमन्त्यस्य भाष्यते ।  
कुम्ह कुम्हह तथा, रूपं चलह चञ्जलह ।

मादेमील्लः ॥ १२२ ॥

प्रादेः परस्य मीलेवो, द्वित्वमन्त्यस्य बुध्यताम् ।  
संमिस्सह तथा संमीसह, मील्ल नं विना ।

उवर्णस्यावः ॥ १२३ ॥

अवादेशस्तु धातूनामन्त्यवर्णस्य बुध्यताम् ।  
[ हुक् ] निपहवह [ हु ] निहवह, [ क् ] कवह प्रभृति स्मृतम् ।

श्रुवर्णस्यारः ॥ १२४ ॥

अवादेश श्रुवर्णस्य, प्रवेह धात्वन्त्यवर्तिनः ।  
यथा करह चरह, हरह प्रमुञ्चं मतम् ।

रुषादीनामापरः ॥ १२५ ॥

अरिर्शुवादिधातूनाम्, श्रुवर्णस्य परे प्रवेह ।  
श्रुवो ' वरिसह ' रुषो, तथा ' करिसह ' स्मृतम् ।  
एवं श्रुवो ' मरिसह ' इषो ' हरिसह ' स्मृतम् ।  
अरिः सहइत्यते येषां, वेद्यास्ते हि श्रुवाद्यः ।  
रुषादीनां दीर्घः ॥ २३६ ॥

रुषप्रभृतिधातूनां, स्वरस्य दीर्घो भवेह, यथा रुषह ।  
तुम्ह सुसह दुसह, पुसह स्तिसह, तथाऽन्यदपि ।

गुवर्णस्य गुणः ॥ १२६ ॥

इषणोवर्णयोधातो-शुणः कित्वापि कित्वापि ।  
यथा जेऊण नेऊण, नेह उडुह नेति च ।  
कच्चिआय चिचिअ नीआ, उडुआ चिचिअयो यतः ।

स्वरगाणां स्वराः ॥ १२७ ॥

धातुषु स्वराणां स्थाने, प्रचलितं बहुलं स्वराः ।  
सहहणं सहहाण, तथा धुवह धावह [ १ ] ।  
कच्चिआयं देह देह, आये ' बेमि ' प्रयुज्यते ।

व्यञ्जनाद्दन्ते ॥ १२८ ॥

व्यञ्जनवर्णान्ताद् धातोर्भेऽकार आगमां भवति ।  
भमह हसह खुम्बह उवसमह कुणह सिञ्जह च रुणह ।  
शवादीनां प्रयागश्च, प्रायो नास्तीति बुध्यताम् ।

स्वरान्तो वा ॥ १२९ ॥

अनदन्त-स्वरवर्णान्ताद् धातोर्भेऽन्त्यवर्णमस्म्यन्ते ।  
पाअह पाअ च, धाअह धाअ, मिलाअह मिलाह तथा ।  
उववाअह उववा च, हाऊण च हाऊण इति भवति ।  
' अनत ' इति च किमुक्तम् ? यथा चिहच्छह तुमुच्छह च ।

चि-जि-शु-हु-स्तु-ल्-पू-पूर्णा णा इत्यश्च ॥ १३० ॥

चिज्यादीनामन्ते भवति णाम्, स्वरस्य ह्रस्वश्च ।  
[ चि ] चिणह [ जि ] जिणह [ शु ] शुणह [ हु ] हुणह,  
[ स्तु ] स्तुणह [ ल् ] लुणह [ पू ] पुणह [ पू ] पुणह तथा ।  
बहुलात् क्वापि विकल्पेऽप्यह जिणह जिणह उचिच्छह च उचिह ।  
जेऊण च जिणिऊण च, तथैव सोऊण सुणिऊण ।

नवा कर्पे-नावे च्चः कपस्य च लुक् ॥ १३१ ॥

भाष-कर्मप्रवृत्तानां, चिज्यादीनां विभाषया ।  
अंाऽन्ते, तन्मन्त्रयोगे च, क्यस्य लुक् स्वादितिभेदे ।

चिञ्च चिणिञ्जह, जिञ्च जिणिञ्जह,

सुव्वह सुणिञ्जह, हुव्वह हुणिञ्जह ।

शुव्वह शुणिञ्जह, सुव्वह सुणिञ्जह ।

पुव्वह पुणिञ्जह, कुव्वह-सुणिञ्जह ।

एवं चिञ्चिहिरिहत्याद्, रूपं काले भविष्यति ।

म्भश्चः ॥ १३२ ॥

प्राव-कर्मप्रवृत्तस्य, चिञ्चो धातोर् विभाषया ।

अंाऽन्ते, तन्मन्त्रयोगे च क्यस्य लुक् स्वादितिभेदे ।

वर्तमाने ' चिणिञ्जह, तथा चिम्मह चिञ्चह ' ।

' चिञ्चिहिरिह चिणिहिरिह, चिम्मिहिरिह जचिष्यति ।

[ १ ] हवह दिहव । चिणह चुणह । रुवह रोचह ।

हन-सोनोऽन्त्यस्य ॥ २४४ ॥

धात्वोर हन-सोनोच्, भाव-कर्मप्रवृत्तयोः ।  
प्रत्यस्य वा स्याद् अन्, तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।  
[ घनमाने ] यथा हम्मह काम्मह, हण्णह काम्णह ।  
[ भविष्यति ] हम्मिहह हण्णिहह, काम्मिहह काम्णिहह ।  
कर्मरूपेण हनोऽयं स्यात्, हनोत्यर्थे तु 'हम्मह' ।  
कञिच् दृश्यते- 'इत्यब्ध' 'हनूय' 'इमो' यथा ।

बभौ हुङ्-लिङ्-बद्ध-कषाणुवातः ॥ २४५ ॥

बुह-लिङ्-बद्ध-कषधातानां बभौ वाऽन्त्यस्य भावकर्मरूपाम् ।  
हुक् च तत्सन्धियोगे क्यस्य, भवेद् उक् बहेरस्य ।  
स्याद् इदिङ्गह इम्भह, वा लिङ्गह सिङ्गह ।  
बुम्भह वदिङ्गह इम्भह संधिङ्गह स्मृतम् ।  
बुम्भिहह इदिङ्गहैत्यादि काले भविष्यति ।

दृढो ङः ॥ २४६ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, दृढो धातोर् विनाप्रया ।  
ङः स्याद्, अन्त्यस्य तत्सन्धियोगे क्यस्यापि भ्रुग् भवेत् ।  
स्याद् घनमाने इङ्गह, तथा रूपं इदिङ्गह ।  
' इदिङ्गह इदिङ्गह ' इति काले भविष्यति ।

बभौ न्यः ॥ २४७ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, बभधातोर्विभाषया ।  
न्यः स्याद् अन्त्ययोस्तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।  
स्याद् घनमाने वङ्गह, तथा बधिङ्गह स्मृतम् ।  
' बधिङ्गह बधिङ्गह ' इति काले भविष्यति ।

समन्पाद्भेः ॥ २४८ ॥

प्रायकर्मप्रवृत्तस्य, समन्पाद् भवेस्तु वा ।  
अन्त्यस्य वा ङः, तत्सन्धियोगे क्यस्यापि भ्रुग् भवेत् ।  
संरुम्भह अण्णुम्भह, तवरुम्भह नवति, पाकिक् तु यथा ।  
संरुम्भहह अण्णुम्भहह उवरुम्भहह प्रवति ।  
संरुम्भहह संरुम्भहहैत्यादि भविष्यति ।

गमादीनां द्वित्वम् ॥ २४९ ॥

भावकर्मप्रवृत्तानां, गमादीनां विनाप्रया ।  
स्याद् द्वित्वमन्त्यस्य तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।  
[ गम् ] गम्मह गम्भिङ्गह [ ह्ल ] हल्लह इसिङ्गह ।  
[ अण् ] नणणह नण्णिङ्गह [ लृप् ] लृप्पह नृन्निङ्गह ।  
[ क् ] कम्भह कम्भिङ्गह [ लृप् ] लृप्पह लम्भिङ्गह ।  
[ क्य ] कम्भह कम्भिङ्गह [ भृक् ] भृक्कह क्ङ्णिङ्गह ।  
गम्भिहह गम्भिहहैत्यादि रूपं भविष्यति ।  
रुद्-[ ४ ] २२६ ] स्त्रेण कृतवाऽऽदेशोऽत्र क्विरिष्यते ।

हृ-कृ-वृ-जामीरः ॥ २५० ॥

धातूनां हृ-कृ-वृ-जामै स्याद्, ईरादेशो विनाप्रया ।  
क्यलुक् तत्सन्धियोगे च, भवेद्वित्युपदिश्यते ।  
हृरह इरिङ्गह, कृरह करिङ्गह ।  
हृरह तरिङ्गह, जृरह जरिङ्गह ।

अर्थेविदध्यः ॥ २५१ ॥

अर्थेविदध्यो वा तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।  
विदध्यह, विदधिङ्गह, आङ्गहह पाकिक्म् ।

क्रो एव-एज्जी ॥ २५२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, जानातेऽर्थतः परे ।  
णव्यो खञ्जन् वा, तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।  
एव्यह णञ्जह, पके-आण्णञ्जह मुखिञ्जह ।  
'अन-क्रोयो' [ २ ] ४२ ] इति धातोर्, खारञ्जह च सिध्यति ।  
मध्युषकस्य जानातिर् 'अणारञ्जह' पठ्यते ।

व्याहृगेर्वादिष्यः ॥ २५३ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, प्रवेद् व्याहृतेः परे ।  
वादिष्यो वाऽत्र तत्सन्धियोगे क्यस्यापि भ्रुग् भवेत् ।  
वादिष्यह तथा वादरिञ्जह व्वादिददेशम् ।

आरजेरादप्यः ॥ २५४ ॥

आरजेः कर्मभावे स्याद्, वाऽऽद्यप्यः क्यस्य वास्तु लुक् ।  
आद्यप्यह भवेत्, पक्- आद्यधीषह- सिध्यति ।  
(स्नह-सिचोः सिप्यः ॥ २५५ ॥

स्निह-सिचोः कर्मभावे, सिप्यः स्यात् क्यस्य वास्तु लुक् ।  
'सिच्छते, सिचयते' इत्यन्तयोर्दोऽत्र 'सिप्यह' ।

श्रदेर्प्यः ॥ २५६ ॥

कर्मभावे श्रदेर् वेप्यो, वा भवेत्, क्यस्य वास्तु लुक् ।  
यथा 'वेप्यह' इत्यन्त, पक् सिधिरिञ्जह स्मृतम् ।

स्योश्रिष्यः ॥ २५७ ॥

स्युद्यतेः कर्मभावे स्याद्, वा ङिप्यः, क्यस्य वास्तु लुक् ।  
तत्र 'ङिप्यह' संसिद्धं, तथा रूपं 'त्रिविङ्गह' ।

केनाप्युषादयः ॥ २५८ ॥

आकर्मप्रवृत्तानां तु, धातूनाम् अण्णुषादयः ।  
अण्णुषो आक्रान्तः, अककोसं अकधे, लुगो कणः ।  
बोहीणोऽतिक्रान्तः, परदहं पण्णो वा पर्यस्तम् ।  
कुडं रूपधे, विकसितो बोसहो, निमिषं विदधम् ।  
स्थापितं, चक्रिञ्च आस्थापितं, क्तिनं तु ज्ञोसिञ्चं ।  
निपातितो निमुहो स्याद्, हीसमार्णं तु ह्यपितम् ।  
वा प्रमुहः प्रमुषितः, परमुहो परिपठ्यते ।

विहृक्को नष्टः, जडं त्यक्, विदधं अर्जितं तथा ।  
क्लिञ् स्तुष्टं, लुमं लूतं, भवेद् निष्कूटम् बद्धृष्म् ।  
इत्यादयो वैरितभ्याः, शब्दा ब्रह्मवासात्तः ।

धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥ २५९ ॥

उकादयोर् प्रबन्धोऽर्थान्तरेऽपीह धातवः ।  
उक्तो बधिः प्राणनेऽर्थे, आदनेऽपि स वर्तते ।  
यथा 'बलह' आदति, प्राणने च करोति वा ।  
एवं कश्चिन्न संख्याने, सङ्ख्यानेऽपि स दृश्यते ।  
यथा 'कलह' जानाति, संख्याने च करोति वा ।  
रिगनेतौ प्रवेद्येऽपि, 'रिगह' विशय्यति च ।  
काङ्कतेः प्राकृते बष्को, 'बष्कह' आदतीच्छति ।  
पक्कतेः स्थक्क आवेद्यस्ततः सिध्यति 'थक्कह' ।  
नीचां गतिं करोतीति वा, विलम्बयतीति वा ।  
धातवोर्विदध्युपासम्प्योर उक्तादेशो तु 'क्कह' ।  
तस्यार्थं उपासभे, वा विलपति भाषते ।  
एवं हि 'पडिवालेह', वा रक्षति प्रतीकृते ।  
कश्चित् कैश्चिदुपसर्तैर्नित्यमन्यार्थका मताः ।

'सहरह' संवृणोति, स्यात् 'पहरह' युज्यते ।  
 'अणुहरह' तु सहरहोभयतीति 'नीहरह' पुरीषमुत्सृजति ।  
 क्रीरति 'विहरह', 'आहरह' च खादति, 'उरुषुपह' चटति ।  
 पुनः पुरयति 'पमिहरह', स्यात् त्वजनीति 'परिहरह' रूपम् ।  
 'अवहरह' पूजयति, 'वाहरह' तथा-ऽऽह्वयति इत्यर्थः ।  
 याति विदेशं 'पवसह', निःसरतीत्यर्थे 'उल्लुहरह' भवति ।  
 एवं बहुपसगात्, बहुधा धान्तां विधाः ।  
 इति प्राकृतभाषा समाप्ता ।

## ॥ अथ शौरसेनी जाषाऽऽरच्यते ॥

तो दोऽनादौ शौरसेन्याप्रयुक्तस्य ॥ १६० ॥  
 शौरसेन्यां तु भाषायामपवादौ प्रयोक्तव्यः ।  
 तकारस्य दकारः स्याद्, न स युक्तो भवेद् यदि ।  
 तदां माकदिता पुरिद-पदिञ्जेन मणित्वा ।  
 अनाहाविति किम् ? तस्स, तथा, नेह प्रवर्तताम् \* ।  
 अयुक्तस्येति किम् ? मसो, अज्जसो, सवन्तले । ।  
 अथः क्वचित् ॥ १६१ ॥  
 शौरसेन्यां तु वर्णोपधानेमानस्य तस्य दः ।  
 यथात्तदर्थं, महन्दां निभन्दां अन्देउरे यथा ।  
 वाऽऽस्तावति ॥ १६२ ॥  
 तावच्छब्दे तकारस्य हो वा, दाव च ताव च ।  
 आ आमन्थे मौ वेनो नः ॥ १६३ ॥  
 इनो नकारस्याऽऽमन्थे, वाऽऽकारः सौ परं यथा ।  
 ओ सुदिआः कञ्चुवमा । नो तवस्सि । मणस्सि । वा । [१]  
 मां वा ॥ १६४ ॥  
 आमन्थे सौ परं नस्य, मकारो वा विधीयते ।  
 ओ राय । ओ सुकम्मं । नो भयवं कुसुमाउहः । ।  
 पक्कं तु भयव । अन्नेआरि । वैधं प्रयुज्यते ।  
 भवङ्गवतोः ॥ १६५ ॥  
 भयद्-भगवतोः संस्य, मकारः सौ परं भवेत् ।  
 भवं । विन्नेदि किं पन्थ, भगव । च हुदास्सणे । [२]  
 क्विदन्थप्रापि यथा-मघवं पागतास्सण ।  
 कथव, संपादअर्थं सीसा, काहं करामि च ।  
 नवा यो ययः ॥ १६६ ॥  
 वा यो यैस्य भवेत् स्थाने, 'अय्यां नुय्या' प्रपठ्यते ।  
 पक्कं कज्जपरवसां, अज्जा पज्जाउलो यथा ।  
 यो थः ॥ १६७ ॥  
 थस्य थो वा, यथा-गाथो गाहो वा स्यात् थं कथं ।  
 अपदादांथव, 'थाम, थेअं' नेह थकारता ।  
 इह-हवोहैस्य ॥ १६८ ॥  
 इहशब्दे, हचादेशे [३, १४३] च हकारस्य थोऽस्तु वा ।  
 इथ, हाथ, हयं पक्कं-इह, हाह निगन्ताते ।  
 जुवो जः ॥ १६९ ॥  
 भवतेहस्य सो वा स्याद्, भोदि हादि यथा ह्यस्य ।  
 \* तथा करेण यथा तस्स राहसिणा अणुपकपोया हासि ।  
 [१] पक्कं । [२] समणं भगवं महावीरं ।

तथा भुवदि हुवदि, भवदि इयदि स्मृतम् ।  
 पूर्वस्य पुरवः ॥ १७० ॥  
 पूर्वशब्दस्य 'पुरव' इत्यादेशो विकल्प्यते ।  
 यथा-ऽपुरवं नामर्थं, पक्केऽपुववं पदं मतम् ।  
 क्व इय-दूणी ॥ १७१ ॥  
 क्वाप्रत्ययस्य वा स्याताम्, 'इय-दूणी' यथाक्रमम् ।  
 यथा 'भविय' 'भादुण', पक्के 'भात्ता' प्रयुज्यते ।  
 कृ-गमो कुरुअः ॥ १७२ ॥  
 कृ-गमिन्थो परस्य क्वाः, स्थाने वा 'अकुअ'स्तु खिद् ।  
 सिद्धं ककुअ गकुअ, पक्के रूपं निगम्यताम् ।  
 कारदूण गच्छदूण, तथा करिष गच्छिद्वा ।  
 दिरिचेवोः ॥ १७३ ॥  
 दिर इवेवोः [३, १३६] भवेद्, नेदि हादि भोदि च होदि च ।  
 अतो देश ॥ १७४ ॥  
 अतः परयोर् इवेवोः, स्थाने 'दि दि' इमौ क्रमात् ।  
 अचच्चे अचच्दि तथा, सिद्धं गचच्दि गचच्दे ।  
 अतः किम् ? स्याद् 'वसुआदि' 'नेदि, भोदि' यथाऽप न ।  
 जतिप्यति स्मिः ॥ १७५ ॥  
 भविष्यदर्थे विहितं, प्रत्यये स्मिः परं भवेत् ।  
 हिस्साहामपवादोऽप्ये, तथा रूप भविस्मिदि ।  
 अतो इमेमादि-दाद् ॥ १७६ ॥  
 अतः परस्य तु उक्तेः, 'दादो डादु' इमौ क्रिमां ।  
 'दुगादो येव' 'दुगाडु' इयं सम्भिच्छुञ्चति ।  
 इदानीमो दाणिं ॥ १७७ ॥  
 इदानीमः पदे 'दाणि' इत्यादेशो अभिधीयते ।  
 'अय्यां दाणि आणयेद्' इत्ययान् प्राकृतोऽपि च ।  
 अतस्तेषां 'अत्र च दाणि योहि' प्रयुज्यते ।  
 तस्मात् ताः ॥ १७८ ॥  
 तस्माच्छब्दस्य 'ता' इत्यादेशो भवति, तथापि ।  
 'माणेण एदिणाऽत्रे ता, 'ता जाव पयिसिदि च' ।  
 माऽऽन्याएणो वेदोः ॥ १७९ ॥  
 इदोः परयोर् अन्त्याद्, मानं परं गातामाऽस्तु वा ।  
 [६कारं] जुलं णिम जुलंमाण [६कारं] किं गुदं वा किमिदं च ।  
 एवार्थं येव ॥ १८० ॥  
 एवार्थं 'येव' इति तु, निपातोऽर्थोभयोपधेने ।  
 मम येव वरुणस्स, 'एसां सो येव' पठ्यते ।  
 हज्जे चेत्तथाहाने ॥ १८१ ॥  
 चेत्थाहानं भवेद् 'हज्जे, 'हज्जे चङ्गिकं' । यथा ।  
 हांमाणेह विस्मय-निवेदे ॥ १८२ ॥  
 'हांमाणेह' निपातोऽर्थ, निवेदे विस्मय तथा ।  
 [ विस्मये ] जीवन्-वञ्जा जणणी, मे च हांमाणेह, यथा ।  
 [ निवेदे ] हांमाणेह पत्तिस्सन्ता, किं दुववसिदि व वा ।  
 एं नन्वर्थे ॥ १८३ ॥  
 नन्वर्थे एमिति वृथैनिपातः संप्रयुज्यते ।  
 'अय्यमिस्सोह' आणत्तं, पुदमं येव वं' यथा ।  
 इदम् आये पदं वाक्यात्तरिऽपि च दृश्यते ।

नमोऽथु श, जया श च, तथा श, 'वैयमादयः ।

अम्महो द्वपे ॥ १२५ ॥

'अम्महो' इति निपातो, इहोऽर्थे संप्रयुज्यते ।

'अव सुपरिगादिर्वा, सुभिन्नाप च अम्महो' ।

हीहीं विदूषकस्य ॥ १२६ ॥

इहो विदूषकाणां तु, सोऽर्थे 'हीही' निपात्यते ।

'हीही। विषयस्वरस्य, भो संपक्षा मणोरथा' ।

शेषं प्राकृतवत् ॥ १२६ ॥

दीघे-[१।४]तो द्वे-[४।२६०]जनयोर्भ्यः, सुत्रयोर यद्वयदीरितम् ।

तत्र सर्वे कार्यमन्त्रापि बोधय, अद्वस्तु दक्षितः [१] ।

इति शैरसेनी भाषा समाप्ता ।

## ॥ अथ मागधी जाषाऽऽरच्यते ॥

अत एतौ पुंसि मागध्याम् ॥ १२७ ॥

मागध्यां सौ परऽकारस्थेकारे पुंसि जायते ।

एते मेशे पप मेषः, एते च पुलिने तथा ।

'भो अदत्त ! करोमीति भवेद् 'जने ! करोमि भो' ।

अतः किं तु ? 'कली' रूपं, किं पुलिनि ? 'जने' यथा । [१]

र-साले-शां ॥ १२८ ॥

ल-नालव्यङ्गकारौ स्तो, रेफ-नन्यसकारयोः ।

[२] नले कले [स] शुद्धं हेशे (उभयोः) शालसे पुलिने तथा ।

'ग्रहण-वश-नामि-शुभ-शिर-विभक्ति-मन्दास-नायिर्दह-युगं ।

वीर-यिणे पम्बालङ्घ. मम शयलमवश्य-यम्बाल" \* ।

स-पांः संयोगो सोऽप्राप्ये ॥ १२९ ॥

संयोगे स-पयोः सः स्याद्, न तु प्रीप्ते कदाचन ।

ऊर्ध्वलोपादिस्त्राणापवादाऽऽयसीरानः ।

[ स ] इस्ती बुहस्पदी मस्कलो पम्बलदि विस्मये ।

[ र ] कष्टं, विस्तुं, शुष्क-शालं, धनुस्त्वणम् च निस्फलं ।

'अप्राप्ये' इति किम् ? 'गिह-वाशसे' नेह सो भवेत् ।

ट-प्रयोः मृदः ॥ १३० ॥

टिक्त-टम्य, पाऽऽकान्त-उम्य 'मृदो' भवति ङयोः ।

[ ट ] पसं, जस्यटालिका, [ ट ] कोस्यटालागल, शुसुटु कदंयया ।

स्थधयोस्तः ॥ १३१ ॥

'स्थ-र्थे' इत्येतयोः स्थाने, साकान्त-रः विधीयते ।

[ १ ] शौरसेन्यामिह प्रकरणे यस्मात्पुंसुं ततोऽन्यच्छौर-  
सेन्यां प्राकृतशब्देव भवति । 'दीघे-हस्वौ मिथो वृत्तौ' [१।४]  
इत्यारभ्य । 'तो दोऽनादी शौरसेन्यामप्युक्तस्य' [४।२६०] ए-  
तस्मान् सुत्रात् प्राग् यानि सुत्राणि येषु यान्युदाहरणानि तेषु  
मध्ये अस्मिन् तदवस्थान्धेव शौरसेन्यां भवन्ति, अस्मिन् पुनरेव  
विधानेन जवन्तीति विज्ञायाः प्रतिसूत्रं स्वयमन्यूक्तं दर्शनीयः ।  
यथा अन्दावदी । सुवादि-जणोः । मणसिला इत्यादि ।

[ २ ] यद्यपि " पांरायमद्-मागह-भासा-निययं इवह  
सुसुं " इत्यादिमाऽऽप्येव अर्द्धमागधजाणानियतवमस्माप्यि वृ-  
द्धैस्तदपि प्रायोऽप्येव विधानात्तत्र बह्व्यमाणस्यस्य । कयरे  
आगच्छद् । से तारिसे दुष्कलसह जिह्मिद् इत्यादि ।

\* इमलवशनसुुरशिरोविगलितमन्तारारजितोहिंयुगः ।

शीरजिनः प्रक्षालयतु, मम सकलमवधजस्यसलम् ॥

१२

[ स्थ ] उच्यस्तिदे शुस्तिदे [ थं ] शस्तवादेऽस्तवदी यथा ।

ज-द्य-यां यः ॥ १३२ ॥

पदाऽवयवभूतात्, ज-द्य-याणां परेऽस्तु यः ।

[ ज ] अत्युणं दुत्युणं [द्य] मयं, अथ्यं वयस्याहो [य] यदि ।

आदयो ज- [१।२४५] स्व बाधार्थं, यस्य यत्वं विधीयते ।

न्य-एय-ङ्-ज्जो ज्ञः ॥ १३३ ॥

'न्य-एय-ङ्-ज्जो' अमीषां तु, टिक्तोऽं ज्ञो विधीयते ।

[ न्य ] कच्चा [ एय ] पुष्प च [ ङ् ] शव्वज्जं,

[ ज्जो ] अज्जलं च धणज्जप ।

म्रजो जः ॥ १३४ ॥

म्रजे जस्य टिक्तोऽं ज्ञो, यापवादाऽस्तु, 'वज्जदि' ।

ऊय श्रोऽनादी ॥ १३५ ॥

अनादी वनेमानस्य, ऊय अः संविधीयते ।

'गिञ्जले, उञ्जलादं, पुञ्जादं, गञ्जं निदर्शनम् ।

अयं लार्त्तानकस्यापि, यथा आपन्नवस्तलः ।

'आवन्नवञ्जले' चैतद्, भवेद् 'आवन्नवञ्जले' ।

अनादाविति किम् ? 'जात्रे' नेह अत्यं भवेद् यथा ।

क्षस्य ऽ कः ॥ १३६ ॥

अनादी क्षस्य ऽकः जिह्मसूत्रियो, 'ल-ऽकरो' यथा ।

स्कः प्रेक्षा-चच्चां ॥ १३७ ॥

प्रेक्षे धातोस्तथाऽऽञ्जकः, क्षस्य स्कः ऽकस्य बाधकः ।

आचस्कदि पस्कदि च, द्वयं भिक्ति- सम्भुजते ।

तिप्रश्चिप्रः ॥ १३८ ॥

स्थायातोस्त 'तिप्र' इत्यस्य, 'चिप्रो' भवति, चिप्रिदि ।

अवएणां ऊसो डाहः ॥ १३९ ॥

अवणान् परस्य तु ऊसः, स्थाने डाहो विकल्प्यते ।

'पलिशाह इगे कालो न कम्माह' प्रयुज्यते ।

'भोमशेणस्त पञ्जादो दिगङ्गीअदि' तु पाकिकम् ।

आमो नाहं वा ॥ ३०० ॥

अवगाद् उक्तस्याऽऽसो, विभागे 'नाहं' इष्यते ।

शयणादं सुहं, पले 'नात्रन्दण' इति स्मृतम् ।

व्यत्ययात् प्राकृतेऽपि स्यात्, ननुदाहरणं यथा ।

तर्हि तुम्हादं अम्हादं, कम्माहं सन्निहादं च ।

अहं-व्यमोहगे ॥ ३०१ ॥

'हने' इत्यमोदेशः, पदेऽहं-पयमार भवेत् ।

'शक्तावदालिनिय-णिवाशां च धोषदे इगे ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३०२ ॥

मागध्यां यदुक्तं तच्छौरसेनीवदिष्यते [१] ।

[१] 'शेषं प्राकृतवत्' [४-२८६] मागध्यामपि 'दीघेहस्वौ मि-  
थो वृत्तौ' [१-४] इत्यारभ्य 'तो दोऽनादी शौरसेन्यामप्यु-  
क्तस्य' [४-२६०] इत्यस्मात् प्राग् यानि सुत्राणि तेषु यान्यु-  
दाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अस्मिन् तदवस्थान्धेव मागध्यामप्यु-  
क्ति पुनरेवविधाने भवन्तीति विभागः स्वयमन्यूक्तं दर्शनीयः ।



यथा 'हृद्ये' [ ४१८१ ] चतुरिके, दृजे चतुलिके, इह ।  
इति भाषाणी जाया समाप्ता ।

## ॥ अथ पेशाची जायाऽऽरच्यते ॥

ज्ञो ऽयः पेशाचयाम् ॥ ३०३ ॥

पेशाच्यां भाषायां, इत्ययं पदे ऽत्रो विधीयते, स यथा ।  
पश्चात् सञ्ज्ञा सञ्चञ्ज्ञो विज्ञानं तथा ऽज्ञानं ।

राज्ञो वा चिञ् ॥ ३०४ ॥

'राज्ञो' इत्ययं शब्दे यो, हकारस्तस्य वाऽऽस्तु चिञ् ।  
राचिञ्चा लपिते, षञ्चा ज्ञापिते, राचिञ्चो धन ।  
दञ्चो धने, हृ ऽन्येय, 'राज्ञो' नेह प्रवर्तते ।

न्य-स्योऽञ्च ॥ ३०५ ॥

न्ययोः स्थाने 'ञ्च' 'आदेशः', 'पुञ्जाहं, कञ्चक' यथा ।

सो नः ॥ ३०६ ॥

सस्य नः स्यात्, 'गुनगनयुषो' यद्दृ 'गुनेन' च ।

तदोस्तः ॥ ३०७ ॥

त-दयोस्तो, [नस्य] भगवती पञ्चतो च सने यथा ।

[दस्य] पतेसां सनन तामांतरं रमन्त हांतु च ।

तकारस्यापि तादेश आदेशात्तराधाधकः ।

'पताका, घेतिसो' इत्याद्यापि सिद्धं ततः पदम् ।

लो ङः ॥ ३०८ ॥

लस्य ङः स्यात्, कुळ स्यांळं कमळ स्यांळं जळं ।

शपोः सः ॥ ३०९ ॥

श-पयोः सः [शस्य] सस्यो सको, [यस्य] कसलो विससो यथा ।  
'न कगच्छति' [ ४३२४ ] सूत्रस्य, बाधकाऽयं विधिः स्मृतः ।

हृदये यस्य पः ॥ ३१० ॥

हृदये यस्य पलेन, सिकं 'हितपकं' पदम् ।

दोस्तुर्वा ॥ ३११ ॥

दोः स्थाने तु तुपादेशः, विभाषा संप्रवर्तते ।

कुतुम्बकं ततः सिद्धं, तथा रूपं कुतुम्बकम् ।

क्त्वस्तुनः ॥ ३१२ ॥

तूनः क्त्याप्रत्ययस्यास्तु, गन्तुन हासितुन च ।

फून-स्थूनी ष्यः ॥ ३१३ ॥

'फू' इत्यस्य पदे 'फून-स्थूनी' तूनस्य बाधकौ ।  
तदून नस्थुन तदून तस्थुन इति स्मृतम् ।

य-स्त-ष्टौ रिय-सिन-सटाः क्वचित् ॥ ३१४ ॥

स्त-य-शानां सिन-रिय-सटाः स्युः क्रमनः क्वचित् ।

आर्या तु भारिया वेष्टा, सिनानं स्नातमुच्यते ।

कथं तु कसदं बोध्यं, प्रथमेन दुदाहृतम् ।

क्वचित् इति किं ? सुतुसा, तुज्यां तिष्ठो यथा भवेत् ॥

कयस्येय्यः ॥ ३१५ ॥

कयप्रत्ययस्य तु स्थाने, इत्यादेशोऽभिधीयते ।

रचिच्यते गिच्यते दिच्यते चैव पाठ्यन्ते ।

कुगो कोरः ॥ ३१६ ॥

कुगः परस्य 'कोरः' तु, कयस्य स्थाने, विधीयते ।

'सम्मानं कीरते सञ्चस्य स्थेय' तु निवर्तमानम् ॥

यादशादिदेः स्तः ॥ ३१७ ॥

यादशादिपदे यो 'दः', तस्य तिः कियत पदे ।

यानिसां तानिसां युष्मदतिसां अम्हदतिसां तथा ॥

कातिसां एतिसां अत्रातिसां चैव प्रजातिसां ।

इचै चः ॥ ३१८ ॥

'इचै चोः' [ ३१३६ ] तिः, नेति नेति, वस्तुभाति च मोति च ।

आतेश्च ॥ ३१९ ॥

अतः परस्योर् इचैचोः, पदे 'ते ति' इमौ मते ।

गच्छते गच्छति यथा-ऽऽदिनि किञ्च ? नेति हाति च ॥

भविष्यत्येय्यं पृ ॥ ३२० ॥

एय्यं एव न तु निसः [ ४१०७४ ] स्याद्, इचैचोस्तु, भविष्यति ।

तद् न चिन्तितं षञ्चा, का एसां तं हुव्येय्यं च ॥

अनो ङमेर्मानो-डात् ॥ ३२१ ॥

अतः परस्य तु ङमेः, 'ज्ञानो दानु' इमौ मते ।

यथा-नृशतु नृशानो, तुमानो च तुमानु च ॥

तदिदमोघा नेन स्थियां तु नाप ॥ ३२२ ॥

सार्धं टा-प्रत्ययेन स्याद्, 'नेनो' तदिदमोः पदे ।

स्त्रीलिङ्गे तु तयोर्व, 'नाप' इत्यादिधीयते ॥

'नेन कत-स्मिन्नेन तथ्य' पुंसि, स्थियां पुनः ।

पातग-कुतुम्ब-प्वलानेन नाप च पुजिते ॥

देति किं ? चिन्तयन्तो नाप समीपं गतो च सो ।

शोपं शौरनेनीवन् ॥ ३२३ ॥

पेशाच्यां यदनुक्तं तच्छोरसेनोविध्यते ॥

विदेशो दाशितः मधेः, तथापि यच्छाश्वत्याम् ॥ [ १ ]

न क-ग-च-जादि-पृ-शस्यन्त-सत्रोक्तम् ॥ ३२४ ॥

क-ग-च [ ११७७ ] पृ-शसो- [ ११२६४ ] इत्ये-

तयोर् मधेऽपि सूत्रयोः ।

यत् कार्यं दाशितं मधे, न तदत्र प्रवर्तते ।

मकरकत्, सगरपुत्र-वचन, ज्ञापिते ।

विजयमेनेन, पाप, आशुच चैव तयोरे ।

अन्येषामपि सूत्राणामेवमूत्रां मनीषया ।

इति पेशाची भाषा समाप्ता ।

## ॥ अथ चूलिकापेशाचिकजाया प्रारच्यते ॥

चूलिका-पेशाचिके तृतीय-तृपयोर्गोश-द्वितीयौ ॥ ३२५ ॥

जायायां चूलिका-पेशाचिकजायायां यथाक्रमम् ।

तृतीय-तृपयोर् प्राश-द्वितीयौ यथावस्योः ।

[ १ ] अथ ससगरां जगव मकरधजां । एय्यं पाररमस्तो ह-

वेय्ये । एवंधिषाए भगवतीए कथं तापस-धेस-गहनं कते ।

एतिस अतिपुत्रय महाधन तदून । जगव यदि मं वरं पयच्छि

राज च दाव लोक । ताव च तीए दृगानो थ्येव तिष्ठो सो आग-

च्छमानो राजा ।

नगर नकरं तेन, मधो मेखः प्रयुज्यते ।

एव पञ्जसु धर्मेषु, लक्ष्यं बोधयं मनोपनिजः ।

कविज्ञाकृषिकस्यापि, पदे कार्यमिदं ज्ञेयम् ।

दादा तादा ततो बोधया, पदिमा पदिमा तथा ।

रस्य ज्ञो वा ॥ ३१६ ॥

रस्य स्थाने लकारः स्यात्, गौरी 'गौरी' हरो 'हलो' ।

"पममथ पनय-पकुपित-गौली-चलनगा-रमा-पतिविष्यं ।

तससु नख-तपमसु, एकतस-ननु-धलं लुहं ।

नखन्तस्स य लीला-पातुकक्षेत्रं कपिपता वसुधा ।

वञ्जहलन्ति समुद्रा, सहला निपतन्ति तं इदं नमथ" [१] ।

नादि-युज्यान्वेपाप्म ॥ ३१७ ॥

अन्येषां तु मने, चाली युजि वाऽऽदिमवर्णयोः ।

द्वितीय-तुष्योराद्याद्वितीयो व्रजतो न नौ ।

यथा 'नियोजितं' इत्येतद् अत्रापि 'नियोजितं' ।

गतिर 'गता' तथा यमो, 'यमो' विद्वङ्गिरूप्यते ।

शेषं प्राक्त् ॥ ३१८ ॥

अपानुकं नु यत् कार्यं, नत् पेशाचोच्यदिष्यते ।

यथेदं नम्य गम्य न, गम्य नत्वं तु सर्वतः ।

इति चूलिका-पेशाच्चक्रभाषा समाप्ता ।

अयापभ्रंशभाषाऽऽरभ्यते ।

स्वराणां स्वराः प्रायोऽपञ्चशो ॥ ३१९ ॥

अपभ्रंशो स्वराणां तु, स्थाने प्रायः स्वरा मताः ।

यथा-बाहा बाह बाहु, किलश्रां च किलश्रयो ।

'अत्रापञ्चश-भाषायां, विशया यस्य वचनेन ।

नस्यापि शीरसेनावत्, कार्यं प्राक्तनवत् क्वचित् ।

इत्यर्थबोधकः 'प्राय शब्दः' सूत्रं नियोजितः ।

स्यादौ द्वीपि-ह्रस्वौ ॥ ३२० ॥

प्रायः स्यादौ द्वीपि-ह्रस्वौ, स्तो नाम्नोऽन्यस्वरस्य तु ।

[ सौ ] "दालला सामग्न घण चम्पा-चष्पी ।

पाठ मुवध-रेह कन-वट्टर दिष्पी ॥

[ घामन्वः ] दोष्ता 'महं नुहुं वारिया, मा कुह दीहा माणु ।

निहरें गमिहो रत्समी, दडवक रोह विहाणु ॥

[ त्वियाम् ] विहोए । मह भाणय तुहुं, मा कुह वट्टी दिधि ।

पुलि । सकष्पी जाणु [जिधं, मारह दिश्रह परट्टि ॥

[ जसि ] एद नि वाड्यः एह थाल ए ति निस्सिवा सन्वा ।

पथु मुणु।सिम जाणिसर, जो नाव वाणह चम्पा" [२] ॥

[१] प्रगमन प्रत्ययप्रकृतिगौराचरणप्रलम्पततिविषमम् ।

दशसु नखदपेणषु एकादशानुधरं रुद्रम् ।

न्युत्तत्र लालोपादोःकृपण कपिपता वसुधा ।

उञ्जलानि समुद्राः शोशा निपतन्ति न इरं नमत ।

[३] नायकः श्यामलः प्रिया वस्यापरां ।

ज्ञायते सुवपरेखा कृपष्टकं दत्ता ॥

नायकः मया स्वं वारितो मा कुह दीर्घमानम् ।

निड्या गमिष्यति रतिः शीघ्रं भवति विमानम् ॥

पुत्रकं ! मया स्वं भागिता मा कुह वकां शोम्पु ।

पुत्रि ! सकर्णी भलिषंध्या, मारयति हृदय प्रविष्टा ॥

एते ने घोटका एवा स्थली एते ने निशियाः खड्गाः ।

अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते यो नापि बालयति बलगा ॥

अन्यसां च विभक्तीनामेवमुक्तं निदर्शनम् ।

स्यमारस्योत् ॥ ३२१ ॥

अत उच्ये स्यमाः, 'अरमुहु छेमुहु' निषयतः ।

"ददमुह नुवण-अयंकठ नोनिय-सकठ णिग्गउ रहरवि वदिअउ

अरमुहु उमुहु जाधवि एकाहि सावि पावह दृषे धांडअउ" [१] ॥

सौ पुंस्योद्गा ॥ ३२२ ॥

नाम्नोऽकारस्य सौ पुंस्योद् वा, 'जो' 'सो' यथा भवेत् ।

"अगलिअ-नेह-निवट्टां ओअगुअकखुवि जाठ ।

वरिस-सएण वि ओ मिलह सवि सोक्खहं सो ठाठ" [२] ॥

पुसीति किम्—

"अट्टाहि अट्टु न मिलाठ हलि ! अहरे अटठ न पक्कु ।

पिय ओअन्तिह सुह-कमलु एम्पह सुउउ सममु" [३] ॥

एट्टि ॥ ३२३ ॥

टायाम् एत्थमकारस्य, वलन्तेन नरेण च ।

"जे महु दिशा दिअहडा, दएव पवसन्तेण ।

ताण गणतिंए अट्टुल्लज जअरिआउ नरेण" [४] ॥

दिनेव ॥ ३२४ ॥

इदैनौ स्तोः किना साकम्, अकारस्य एदे यथा ।

"तलं घरहह' इत्थम, 'तलिं घरलहह' वेष्यते ।

"सायक उपायं तणु धरउ तारिं घरहह रयणाहं ।

मामि सुभिच्छु वि परिहरउ, समारोहं कलाउ" [५] ॥

निस्स्यद्गा ॥ ३२५ ॥

अन एत्वे वा भिसि स्याद, 'गुणेहि गुणाहि' यथा ।

"गुणहि न संपह किंति पर फल विहिआ नुञ्जन्ति ।

केसरि न लहह बोद्धुअवि गय लक्खेहिं घेणन्ति" [६] ॥

कमरु हे-हू ॥ ३२६ ॥

अतः परस्य 'हे हु' इत्यादेशो स्तोः ऊसः एदे ।

वच्छहे वच्छहु यथा, रूपं वैनापिकं मतम् ।

"वच्छहे गिरहह फलं जणु कटुपल्लव पजेर ।

तो वि महहमु सुअणु जिंयं, ते वच्छङ्गि धरेह" [७] ॥

ज्यमो हुं ॥ ३२७ ॥

अतः परस्य तु पञ्चमी-बहुवचनस्य हम् एति ।

[१] दशमुखा भुवननयङ्करस्तेनियतशङ्करो निर्गतो रयवरे चटिनः

चतुर्मुख परमुखं च ध्यायैकस्मिन्निगन्वा ज्ञायते देवेन घोटनः ॥

[२] अगलितस्नेदनिवृत्तानां योजनलक्ष्मिप यानु ।

यथेहनेनापि यो मिलति सखि ! सांस्थानो स स्थाने ॥

[३] अक्खेण न मिलति सखि ! अघरेऽघरो न प्रातः ।

प्रियस्य पश्यन्त्या मुखकमलमेवमव सुत्तं समाप्तम् ॥

[४] ये मम दक्षा दिवसा द्यनेन प्रवसता ।

ताद् गायन्त्या अट्टुद्वयो जअरिता नन्ते ॥

[५] सागर उपायं तूण धरति तले ज्ञियति रत्ताणि ।

स्वामी सुभूत्यमपि परिहरति संमानयति क्खलाद् ॥

[६] गुणेने संपहः कीर्तिः परं, फलानि ज्ञैखितानि नुञ्जन्ति ।

केसरी न लनेन कपार्कैकामपि गजा लक्ष्मैष्टान्ते ॥

[७] बुक्काद् पृथ्वानि फलानि जना कटुपल्लवान् वजेयति ।

ततोऽपि महद्दमः सुजना यथा, तान् उरवङ्ग धरति ॥

“दृक्शालै पतिव अस्तु, अल्पणु जणु मारंइ ।  
जिइ गिरि-सिङ्गहुं पतिअ सिख अन्तु वि चूरु करेइ” [१] ।

कतः सु-हो-स्सवः ॥ २३७ ॥

अतः परस्य कसः पदे 'स्तु सु हो' इमे भवन्ति ।  
“तसु लुअणस्तु परस्तु वा, युअइइदं' निगइति ।  
“ जा गुण गोवइ अण्णा, पयडा करइ परस्तु ।  
तसु इउं कलिनुगि जुइइइदां वलि किअउं सुअणस्तु ” [२] ॥

आमो हं ॥ २३८ ॥

अतः परस्य 'हं' आमः, पदे स्यात्, 'तणहं' यथा ।  
“ तणहं तइउती भङ्गि नवि ते अणव-यस्मि वसन्ति ।  
अह जणु लमिगि उअरइ अह सह सइ मउजन्ति ” [३] ॥

हुं चेदुइज्याम् ॥ ३४० ॥

इउदुभ्यां तु परस्याऽऽना, भवेतां ' हुं इम ' इत्यम् ।  
सिक् ' सउणिहं ' तेन, 'तरहुं ' च पदत्रयम् ।  
प्रायोऽधिकाराद् 'हुं' काऽपि, सुपोऽपि ' हुदुम् ' इत्यपि ।  
“ दइव घडावइ वणि तरहुं सउणिह पक्क फडाइ ।  
सा वरि सुक्खु पइउ णवि, कणहि खल-वयणाइं ” [४] ॥

हमि-न्यस्-कीनां हे-हुं-द्वयः ॥ ३४१ ॥

इदुदुभ्यां तु परेषां भ्यस-कस्मि-कीनां ' दि-हुं-हयः ' ।  
[कसेहं] तरहुं [ भ्यसां हुं ] तरहुं रूपं,  
तथा [ ऊहिं ] कलिहि सस्यति ॥  
“ गिरिह सिलायसु तरहुं फसु छेपइ नीसावन्तु ।  
घरु मेइण्णपणु माणुसइं तां वि न रुअइ रन्तु ॥  
तरहुं वि वक्खु फसु सुणु वि पारइणु असुणु अइति ।  
सांमिहुं पतिउ अमालउं आर्यइ भिच्छु गृहन्ति” [५] ॥

आदो णानुस्वारौ ॥ ३४२ ॥

अतः परस्वाद्यास्तु, णानुस्वारौ मतेः, पदे ।  
' इइपं पवसन्तेण, ' द्वायिमे' सिक्किमुच्यतः ।

एं चेदुतः ॥ ३४३ ॥

इदुदुभ्यां टा-येदे ' ए ' वात् णानुस्वारौ, मताख्यः ।  
अतः सिधन्ति कपाणि, ' अमि अमिण अमिण' ।  
“ अमिपे उणइउ होइ जणु, वापं सांयल तेव्वं ।  
ओ पुण अमि सीअला, तसु उरइअणु केव्वं ” [६] ॥

[१] दृक्शालेन पतिवः खल आमाने जने मारयति ।

यथा गिरिशिखरे पतिता शिला (स्वम) अन्यमपि स्पर्शाकराति ॥

[२] ओ गणानु गोपयति आममनः, प्रकटीकराति परस्य ।

तस्याहं कलियुगे दुर्लभत्रय वलि क्रिये सुजनस्य ॥

[३] गुणानां सुतीया अङ्गी नापि, तनां अणवटले वसन्ति ।

अथ जना लमिग्याऽपि उअरति अथ सह स्वय मउजन्ति ॥

[४] त्रैवा घटयति वने तदणा शुकुतानां पक्कफलाणि ।

तद् वरं सुखं प्रविष्टानि नापि कर्णयोः खलवचनानि ॥

[५] गिरिः शिलालतलं नदीः फलं गृह्णाति निःसामान्यः ।

गृहं मुक्कषा मनुष्येभ्यः ततोऽपि म रणेन उरणथम् ॥

तस्मिन्नाऽपि बटकलं फलं भुज्येऽपि परिधानमशनं लभन्ते ।

स्वामिजन्य इयद्वर्गमत्रायं शुकुतानि ॥

[६] आमिनोष्णं भवति जगतु वानेनं कीतलं तथा ।

यः पुनरङ्केनाऽपि शीतस्तस्वस्थाण्णत्वे कथम् ? ॥

“विपिअ-अरउ जइवि पिउ, तावि ते अणानि अउतु ।  
अमिण दइा जइवि घरु ता ते अमि कउतु ” [१] ॥

स्यम् जस्-शसां लुक् ॥ ३४४ ॥

स्यम्-जस्-शसां लुगत्रान्तु, स्यम्-जसां स्यम्-शसां यथा-  
“पइ नि घोडा पइ धलि पइ ति निनिअअग्गां ।  
परउ सुणीसिम जाणिअउ ओ नवि वाअइ वण्ण” ।

[ अत्र स्यमजसां लुक् ]

“जिवं जिवं वकिम लोअणह णिक सामालि सिक्खइ ।  
तिव्वं तिव्वं थम्मदु निअय-सउ खर-परथरि निक्खइ” [२] ।

[ अत्र स्यमशसां लुक् ]

पठ्याः ॥ ३४५ ॥

पठ्याः प्रायो लुगत्रास्तु, तज्जहारणं यथा ।  
“संगर-सअर्याइं तु वणिअइ देक्खु अग्घरा कणु ।  
अइमअहं वअकुसइं गय-कुम्मइं दारतु” [३] ।  
पृथभ्यांगः कृता इत्यानुराधायांऽत्र सूत्रयाः ।

आमन्त्ये जसां टोः ॥ ३४६ ॥

आमन्त्येऽथ जसः स्थाने ' हो ' स्थाल्लोपस्य बाधकः ।  
स्याद् अप्पदां तरुणदो, तथा तरुणदो यथा ।

जिस्सुपोहिं ॥ ३४७ ॥

भिस्सुपोरिं 'दि' भवेत् [सुप] ममोहिं [जिस्] गुणेहिं प्रयुज्यते ।

स्त्रियां जस्-शसांस्टोत ॥ ३४८ ॥

स्त्रियां लोपापवादीं ङावुदानां जस्-शसां पृथक् ।  
यथा-जज्जरयात्रा अगुलउ स्याद् ङय जस- ।  
“विलसिणांओ सुन्दर-सण्णङ्गउ” भासः स्मृतम् ।  
यथासत्यनिकृष्यर्थो, भेदाऽत्र वचनस्य तु ।

ट ए ॥ ३४९ ॥

स्त्रियां टायाः पदे स्याद् ' ए ' वान्दिमप च कन्विण ।

“ नियमुटकरंदि विमुटकर अणारउ पडिपक्खइ ॥

सांसिमणउअ चांसिमण पुणु काइ न दुर देक्खइ ? ” [४] ॥

इस्-कम्पयोर् ॥ ३५० ॥

स्त्रियां 'हे' कम्-इस्थोः स्याद्, धरादे बालदे यथा ।

ज्यसाभोर्हुः ॥ ३५१ ॥

स्त्रियां ज्यसामांः स्थाने हुः, 'वयसिअङ्गु' गणते ।

कीहिं ॥ ३५२ ॥

स्त्रियां कीहिं, यथा 'महाम्' इत्येतत् 'महिहि' स्मृतम् ।

कीये जस्-शसांरिं ॥ ३५३ ॥

कीबि ' इ ' जस्-शसा स्थाने, 'गणसाइ' कुलइं यथा ।

[१] विप्रियकरका यथापि प्रियस्तथाऽपि तसामनायक ।

अङ्गना इयं यथापि गृहं ततोऽपि ततोऽपि ततोऽपि मइत्कार्यम् ॥

[२] यथा यथा वक्त्व लोचनानां इयामला शिङ्गते ।

तथा तथा मममथो निजशरानु खरपराने नोङ्गयानि ॥

[३] सगणोत्पु यो वथ्येते पश्य मद्दं य कान्तेम् ।

अनिमत्तानां म्यत्काङ्गानां गजानां कुम्भानु मारयन्तम् ॥

[४] निजमुत्करेरापि मुग्धा कम्प्यकारे प्रययन्तते ।

शयिमएतलं चान्दिकया पुनः कथं न दुरं परयाति ? ॥

कान्तस्यात उं स्यामोः ॥ ३५४ ॥

ऋषि ककारान्तात् ॥ ३५४ ॥  
पसरिअउं तुच्छुवं, अगमउं चाऽभिधीयते ।

सर्वादेकसंज्ञी ॥ ३५५ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, ऊंसोर्हो स्याद्, जहो तहां ।

किमां किं वा ॥ ३५६ ॥

किमांऽदन्ताद् ऊंसेर वा स्याद्, 'किहे, रूपं 'किह' यथा ।  
ऊंहि ॥ ३५७ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, ऊंसः स्थाने 'हि' यथा 'जहि' ।  
यत्किंजन्यो ऊंसो मायुर्नवा ॥ ३५८ ॥

यत्तत्किभ्यो ऊंसो हासुर, अदन्तेभ्यो विकल्प्यते ।  
जासु तासु तथा कासु, सऽन्तेरेव निगद्यते ।

स्त्रियां दहे ॥ ३५९ ॥

यत्किंभ्यो 'उहे' वाऽस्तु, ऊंसः स्थाने स्त्रियां यथा ।  
जहं तहं कहे चैतत्, त्रयं सिद्धिं समभ्युते ।

यत्तद् स्त्रियां भुं ॥ ३६० ॥

यत्तदास्तु पदे 'भुं' 'भं' वा स्थानां परयोः स्यमोः ।  
नाहु प्रदण्णि चिच्छाद्, भुं भं रणि करदि न ।

इदम इमुः क्लीबे ॥ ३६१ ॥

इमुः स्यादिदमः क्लीबे, स्यमोर्, 'इमु कुलु' स्मृतम् ।  
एतद् स्त्री-पुं-क्रीबे एह एहो एहु ॥ ३६२ ॥

स्त्री-पुं क्रीबे 'एह एहो, एहु' स्यादेतद् स्यमोः ।  
'कुमारी एह' वा, 'एहु नायु' 'एहो नरु' स्मृतम् ।

एउंनेम-शामोः ॥ ३६३ ॥

एतदो जस-शामोर् 'एउः', 'एह' चिच्छन्ति पेषुक् वा ।  
अदस ओऽ ॥ ३६४ ॥

अदसो जस-शामोर् 'ओह', 'ओह' चिच्छन्ति पेषुक् वा ।  
इदम आयः ॥ ३६५ ॥

आयः ष्याद्, इदमः स्यादी, आयहो आयहं यथा ।  
सर्वस्य माहो वा ॥ ३६६ ॥

सर्वशब्दस्य साहो वा, सिद्धं 'साहु वि सव्वु वि' ।  
किमः काऽ-कवणो वा ॥ ३६७ ॥

या किमः 'कवयो काऽ, काऽ दूरं न देषज्जह' ।  
'नण कउंजे कवणेण', 'पउं गउंजह कि खत्त' ।

युष्मद् सौ तुहुं ॥ ३६८ ॥

युष्मद् सौ 'तुहुं' इत्यादेशः स्यात्, त्वं 'तुहुं' ततः ।  
जस्-शामोस्तुम्हे तुम्हं ॥ ३६९ ॥

युष्मदो जस-शामोर् 'तुम्हे, तुम्हं' च पृथक् पृथक् ।  
जाणह तुम्हं तुम्हे, तुम्हे पेषुक् तुम्हं ।

यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो, जेदांअ वचनस्य तु ॥  
दा-उथ्यमा पई तं ॥ ३७० ॥

'अम टा कि' इत्येतेः साधे, युष्मदस्तु 'तं' 'पई' ।  
'त्वां त्वया त्वयि' इत्येतां, स्थाने वाच्यं 'तं' 'पई' ।

भिसा तुम्हेहि ॥ ३७१ ॥

युष्मदस्तु भिसा साकं, 'तुम्हेहि' इति पठ्यते ।  
१३

कमिहन्त्यां तउ तुज्ज तुभ्र ॥ ३७२ ॥

कसि-कसन्त्यां सहु' तउ, तुज्ज, तुभ्र' च युष्मद् ।  
'तव त्वत्' 'अनयोः स्थाने, 'तुम्हं' 'तुभ्रं' 'तउ' त्रयम् ।

ज्यसाभ्यां तुम्हं ॥ ३७३ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं ज्यसामभ्यां, तुम्हं मतम् ।  
युष्मभ्यं तुम्हं वाच्यं, तथा युष्माकमित्यपि ।

तुम्हासु सुपा ॥ ३७४ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं सुपा 'तुम्हासु' पठ्यते ।  
मावस्सदा हं ॥ ३७५ ॥

अस्मद् सौ परं रूप, 'हउ' इत्यभिधीयते ।  
'तुहुह अहो कउजुण दउं तसु' निदर्शयम् ।

जस्-शामोर्हं अम्हं ॥ ३७६ ॥

अस्मदो जस्-शामोर् 'अम्हे अम्हं' च पृथक् पृथक् ।  
दा-उथ्यमा पई ॥ ३७७ ॥

'अम टा कि' इत्येतेः साधे, अस्मदस्तु भवेद् 'महं' ।  
'मां मया मयि' इत्येषां, स्थाने वाच्यं 'महं' सदा ।

अम्हेहि जिमा ॥ ३७८ ॥

अस्मदस्तु भिसा नाकम्, 'अम्हेहि' इति पठ्यते ।  
महु मउकु कसि-हन्त्याम् ॥ ३७९ ॥

कमिहन्त्यां मह' महु मउकु' स्तोऽत्रास्मद् पदे ।  
'मत् ममेत्यनयोः स्थाने, 'महु मउकु' यथाक्रमम् ।

अम्हं ज्यसामभ्याम् ॥ ३८० ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं ज्यसामभ्याम्, 'अम्हं' मतम् ।  
असभ्यम् 'अम्हं' वाच्यं, तथा चासाकमित्यपि ।

सुपा अम्हासु ॥ ३८१ ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं सुपा 'अम्हासु' पठ्यते ।  
त्यादोराद्यत्रयस्य बहुत्वे हि नवा ॥ ३८२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तानां, यथाद्यं विकमुच्यते ।  
तद्बहुत्वस्य 'हि' वा स्याद्, परन्ति-परहि' स्मृतम् ।

मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥ ३८३ ॥

त्यादीनां तु विभक्तानां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।  
तदाद्यवचनस्येदं, हिादेशो विकल्प्यते ।

'बणीहा ! पिउ पिउ भणयि, किन्तिउ 'हअहि' हयास ! ।  
'तुहु जलहं महु वुणु वल्लदं, विणुं वि न पुरिअ आस ।

[आत्मनपदे] बणीहा ! कइं बोहिण्णय, निगिणण वारह वार ।  
सायदि भरिअह विमलि-जलि, लहहि' न पकइ धार' \* ।

एवं 'दिज्जहि' रूपं स्यात्, कससीत्यादि पात्तिकम् ।  
बहुत्वे दुः ॥ ३८४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तानां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।  
तद्बहुत्वस्य तुवां स्याद्, यथा-'इण्णु इण्णुह' ।

अन्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥ ३८५ ॥

त्यादीनां तु विभक्तानां, यद्मध्यत्रिकमुच्यते ।  
'उ' तदाद्यस्य वाऽऽदेशो, यथा-'कण्णमि कण्णुं' ।

\* बणीह ! मिय मिय भणिन्वाऽपि कियत्तु रोदिधि हताश ! ।  
तव जलधरेण मम पुनर्बल्लमेन ह्योरपि न पुरिता भाशा ।

बणीहक ! किं कथनन निष्पन्नं वारं वारम् ।  
सागरे मृते विमलजलन लभसे वैकमपि धाराम् ॥

बहुत्वे हुं ॥ ३०६ ॥

त्यादीनां तु विज्ञकीनां, यदस्यं त्रिकमुच्यते ।  
तदहवस्य ' हुं ' वा स्याद्, ' लहुहुं लहिम् ' स्मृतम् ॥

हि-स्वयोरिच्छुदेत् ॥ ३०७ ॥

पञ्चम्या हि-स्वयोर् वा स्युर, ' इद्रेते ' ध्मे प्रयः ।  
[एत] "कुञ्जर ! सुमरि म सङ्गह सरला सास म मेङ्गि ॥  
कवल जि पाविय विहि-वनिण ते चरि माणु म मेङ्गि  
[उत्] अमरा ! एणु वि लिम्पदइ कवि दियदडा विलम्बु ॥  
घण-पत्तलु ज्ञाया-पहुहु कुञ्जर आवै कयम्ब ।  
[एत्] प्रिय ! एम्बहि करि सङ्गु करि उरुहि तुदं करवालु ॥  
जं कावासिय बणुमा वेरि अभग्गु कवालु" ॥ [१]  
पक्के सुमरहीत्यादि, रूप बोधयं मनीषिभिः ॥

वत्स्यति स्वस्य सः ॥ ३०८ ॥

अभिव्यद्यथे त्यादीनां, स्वस्य सो वा विधीयते ।  
यथा ' हासह ' इत्यन्त, पक्के हांहिच्छ पठ्यते ॥

क्रियेः कीमु ॥ ३०९ ॥

' क्रिये ' क्रियापदं त्येतत्, वाऽत्र ' कीसु ' निराद्यते ।  
पक्के तु ' किञ्जत्तं बरि सुअणस्सु ' प्रयुज्यते ॥

भुवः पर्याप्तौ हुबः ॥ ३१० ॥

पर्याप्तयथे नुवा धातोः, परं ' हुबः ' ' पणुबुध ' ।  
श्रुगो हुवो वा ॥ ३११ ॥

श्रुगो धातोर् हुवो वा स्याद्, ' बुवह ब्राण्णियु ' स्मृतम् ।

द्रजेवुवः ॥ ३१२ ॥

व्रजतेस्तु बुव्रादेशो, बुव्राण्णियु बुव्राण्य च ।

दृशोः प्रस्सः ॥ ३१३ ॥

दृशेर्धातोः परे प्रस्साऽऽदेशः, ' प्रस्सादि ' पठ्यति ।

ग्रहेर्गृहः ॥ ३१४ ॥

गृहादेशो ग्रहः स्थानं, ' पठ गृहेण्णियु व्रत् ' ।

तद्व्यादीनां त्रोग्गादयः ॥ ३१५ ॥

तद्व्यादीनां तु धातूनां, परं त्रोग्गादयो मनाः ।  
ये क्रियावाचका इश्या आदिशब्दग्रहा हि ते ॥  
"जिवे तिवे तिकवा लेवि वर जइ ससि त्रोग्गज्जत्त ।  
तां जइ गोर्गइ मुठ-कमसि मरिसिम कावि लहत्तु ॥  
बुटुलुत्त बुष्णीहोह सइ मुण्णि कवावि विहिच्छत्त ।  
सासानल-जाल-अलक्किअत्त वाह-मणिल-मसिसत्त" ॥ [२]

[१] कुञ्जर ! स्मर मा सङ्गकाद् सरलात्त इवास्सज्ज मा सुञ्ज ।

कवसा ये प्रासा विधिपशेण तान् चर मान मा सुञ्ज ॥  
सुमर ! अत्रापि तिप्पे किंयत्ति दिग्गमानि विद्वम्बस्व ।  
घनपत्रवाद् ज्ञायावदुत्तरः फुल्लति यावत् करम्बः ॥  
प्रिय ! इदानीं करं सङ्ग कुरु मुञ्च त्वं करवालम् ।  
यत् कापालिका वरका हामि अभज कपालम् ॥

[२] यथा तथा तीक्ष्णान् कान्वा शराद् यदि दाश। अतः क्लिप्यत ।  
ततो जगति सौथे मुखकमलेन मरुशतो कामाप अन्नप्येत ॥  
बुटकचूर्णां विधिप्यत मुग्धे । कपोलं लिहितः ।  
शवासानलजालादाभ्यः वायुसशिसंसांसि क ॥

"अभ्रमरुवंचित् व पयइ पेम्मु निप्रसह जाँय ।  
सव्वास्सण-रिउ-सजवहो कर पन्निअसा नाँय ॥  
हिअइ खुम्भइ गोरमं गयणि घुत्तइ मेहु ।  
वासा-राण-पयासुअइ विंमसा सकत्तु पणु ॥  
अग्गि ! पअओर वअ मा निच्छु जे समुह यन्ति ।  
मह कन्वहो समरङ्गएइ गय-घम मञ्जत्त जन्ति ॥  
पुत्ते जापं कवणु गणु अवगणु कवणु मुएण ।  
जा पणुकी भुंहेमो अग्गिअ अवरेण ॥  
ते तेलित्त जलु सायरहो म्हा तेवडु विअ्था ।  
तिसह निवारणु पलुवि नाव पर भुट्टुअइ असात्त" ॥ [१]

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ग-न-थ-प-फां ग-य-

द-थ-ब-जाः ॥ ३१६ ॥

खगत परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।  
' क-ग-न-थ-प-फ- ' वर्णानां स्थानं ' ग-व-ध-ध-भा- ' प्रायः ॥  
[कस्य गः] "जं दिउत्तं सोम-माहणु अमइहि हांसत्त निसङ्कु ।  
पिय-माणस-विच्छंअ-ह-गत्त गिअ गिअ राट्ट मय्ठु ॥  
[कस्य घः] अग्गोप सन्धावत्थोइ स्थिं चिअत्तज्जइ माणु ।  
पिय दिउत्तं हल्लोहारेण को अञ्जइ अण्णएणु ? ॥

तथपदानां दधवताः यथा-

सवयु करेणिएणु कथिदु मह तसु पर समलत्तं जम्मु ।  
जासु न चाउ न चारहन्ति न ये पम्हत्त धम्म" ॥ [२]

भाऽनुनासिकां वा वा ॥ ३१७ ॥

अनादौ वनेमानस्यासंयुक्तस्य तु मस्य वा ।  
स्याद् वाऽनुनासिकस्य, तेन कर्तुलु कमलु इयम् ।  
अयं लासणिकस्यापि, जयं तेर्यं इति स्मृतम् ।

वाऽयो रो लुक् ॥ ३१८ ॥

संयोगाऽधःस्थितस्येदं, वा रकस्य लुगिष्यते ।  
' जइ केयद पावासु णिउत्तं पक्के ' प्रियण ' च ॥

अन्तोऽपि क्वचित् ॥ ३१९ ॥

रेफोऽन्नाविद्यमानोऽपि क्वचिद् जवति, दृश्यते ।

[१] अनुज्जय (मुक्ताशय्य) द्वौ पार्श्वे प्रेम (प्रिया) नियन्ते यावत् ।

संयोगानुरूपं जवत्ये करः परिभ्रुत्तान्नावात् ।

इदं शब्दयाने सौरी सगने गर्जात्त मेघः ।

वपारिअप्रियासिकानां विषम सकटं प्रतत्त ।

अम्भ ! पर्याधरी वज्रय मा नित्यं यो संमुखी तिष्ठत्त ।

मम कान्तरुय ममराङ्गेण गजघटा जइ-कव्या यान्ति ॥

पुत्रेण जानेन को गुण-अपगुणः को सुतेन ।

या पणुकी अग्गिअत्तइयत्ते अण्येण ॥

तन्नावत्त जले सागरस्य स तावात्त विस्तारः ।

तुपाया निवारणं पलमाप नापि, परं अन्धकार्येऽस्तारः ॥

[२] यद् इदं सोमग्रहणमनन्तीर्षिभान्तं निशङ्कम् ॥

प्रियमानसविज्ञोभकर गिल गिल राहो ! मुग्धाइम् ॥

अम्भ ! स्वस्थावस्थेः सुखेन चिन्त्येते मानः ।

प्रिये श्रेष्ठे आत्मकथनेन कः आत्मानं चेत्यते ॥

शरणं कृत्या क्वचित् मया तस्य परं स्वफलं जन्म ।

यस्य न त्यागो न चारजन्त्ये न च प्रशुद्धे धर्मेः ॥

“यानु महारिणि एव भणइ जइ सुइ-स्युइ परमाणु ।  
मायह चल्ण नयन्नाह दिचिदिचि गङ्गा-गहाणु” ॥ [१]  
ह्विचिदिचि किम् ? ‘बह् वासोख वि जारह-खन्नि’ ख ॥

आपदिपरमंपदां द इः ॥ ४०० ॥

विपत्रापसंपदां स्याद्, वृत्त्यकार-कविद्, यथा- ।  
रूपम् ‘आवह’ ‘संपद्’ तथा ‘विषह’ इत्यपि ॥  
प्रायोऽपि काराद् ‘गुणहिं न किल्पि पर संपह’ ॥

कथं-यथा-तथां यादरेमेहेया कितः ॥ ४०१ ॥

‘कथं यथा तथा’ एषां यादरेवयवस्य तु ।  
‘इह इव एव इमं’ इत्यादेशा जितः एषक ।  
अतः ‘कथं’ किं किंच किं कर्म’ निगद्यते ।  
‘यथा’ जिह जिधत्यादि, ‘तथा’ तिल तिथादि च ।

यादक्-तादक-कीदमादिशां दादिकेहः ॥ ४०२ ॥

‘यादक्तादक-कीदमादि’ इत्येतेषां तु योऽस्ति दः ।  
तदाभावयथोच्यते, देहादिशा विधीयते ।  
‘महं मणिभ्रत बलिषाय’ तुहं केहव मग्गण एह ।  
जेहु तेहु नांवि होइ चट् । सइ नरायण एह ॥ [२]

अनां नडसः ॥ ४०३ ॥

ईदश-कीदश-यादश-तादशशब्देषु दादिवर्णस्य ।  
उहस्ताऽऽदेशो, उहसो तदसो कःसाऽहसो च यथा ।

यत्र-तत्रयोस्त्वस्य किदन्धत्रचु ॥ ४०४ ॥

‘एत्थु अत्थु’ जितो अस्य, शब्दयोष्यत्र-तत्रयोः ।  
‘जत्तु तत्तु जत्थु तेषु’ सिक्क रूपचतुष्टयम् ।

एत्थु कुत्रात्रि ॥ ४०५ ॥

कुत्राऽत्रयोस त्रयशब्दस्य, पदे वा ‘किदन्ध’ निरिष्यते ।  
कत्थु वि हेण्णियु सिक्कणु, एत्थु जेत्थु वि तेषु वि ।

यावत्तावतोत्रोऽऽर्मे उं महिं ॥ ४०६ ॥

यावत्तावत्किन्मनयोः, वाऽऽदरेवयवस्य तु ।  
म, उं, महिं चान्येन स्युः । शब्दादेशो त्रयो यथा ।  
जाउ ताउ, जाम ताम, जामहिं तामाहिं तथा ।

वा यत्तदोऽतोर्मेवहः ॥ ४०७ ॥

अन्वन्तयत्तदोर् यावत्तावतौ यौ, तयोः पुनः ।  
वाऽऽदरेवयवस्येह, पदे वा ‘नेवसो’ ऽन्तु कित् ।  
‘जेवसु अन्तरु गवण-रामहे नेवसु अन्तरु पट्टण-गामहं’ ।  
पक्षे रूपं भवति जन्तुलो, तावच्छब्दस्यह तेजन्तो ।

वेदं किमयोदिः ॥ ४०८ ॥

अव्यन्नेह-किमोर् ‘इयत्-किवतो’ यौ तयोः पुनः ।  
याऽऽदरेवयवस्येह, पदे वा ‘नेवसो’ ऽन्तु कित् ।  
एन्तुलो कन्तुलो रूपं, तथा एवसु केवसु ।

परस्परस्यादिरः ॥ ४०९ ॥

परस्परस्य शब्दस्य, भेदद् आदावद् आगतम् ।

‘अवरोप्यह’ इत्येतत्, ततः सिक्कं परस्येः ।

कादि-स्थेदातोःस्वार-झापवम् ॥ ४१० ॥

एतोतेर् लघुनाऽनु, प्रायः स्थितयोः कावितु हि ।  
सुषे चिन्तित्तरह माणु, तसु इत्तं कलि-जुगि दुल्लहो ।

पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ॥ ४११ ॥

‘उं-हुं-हिं-हं’ इत्यमीनां, पदान्तानां तु भाष्ये ।  
कतस्य शब्धव प्रायो, यथा लहहुं किज्जलं ।

म्हो म्जो वा ॥ ४१२ ॥

प्राग्ने पञ्ज- [ २।७५ ] सुषेण, यो म्हाऽऽदेशो विधीयते ।  
तस्य ‘म्जो’ वाऽत्र जायेत, ‘गिम्भो सिम्भो’ यथा पदम् ।

अन्यादृशोऽनाइसावरादौ ॥ ४१३ ॥

स्थाने त्वऽन्यादृशस्याभावाऽस्यः स्तोऽपराइसः ।

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्ब-पग्गिम्भाः ॥ ४१४ ॥

‘पग्गिम्ब-प्राइव-प्राउ-प्राइम्बाः’ प्रायसः पदे ।

वाऽन्ययोऽनुः ॥ ४१५ ॥

‘अनुः’ स्याद् वाऽन्यथेत्यस्य, पक्षे स्याद् रूपम् ‘अग्रह’ ।

कुतसः कउ कट्ठन्तिहु ॥ ४१६ ॥

‘कट्ठन्तिहु कउ’ स्यातामादेशौ कुतसः पदे ।

तत्तदोऽस्तोः ॥ ४१७ ॥

‘तत्तम् तथा’ इत्यनयोस्, ‘तो’ इत्यादेश इत्येते ।

‘अइ भग्गा पारकडा, नो सहि ! मत्तु पिषेण ।  
अइ भग्गा अम्हहं तथा, तो ते मादिअडेण’ ॥ [१]

एवं-परं-समं-ध्रुवं-मा-मनाक् एवम् पर एत्थाणु ध्रुवु मं

मणात्तं ॥ ४१८ ॥

एवं ‘एवम्’ तथा मा’ मं, ‘ध्रुवं ध्रुवु, परं पर ।  
मनाक्’ मणात्तं’ वक्तव्य, समम् अत्र’ समाणु’ ख ।

किन्नाथवा-दिवा-सह-नेहः किगाहव दिवे सहुं नाहिं ॥ ४१९ ॥

किल किर, अथवा अहवह, दिवा दिवे, नहि नाहिं ।  
सइ सहुम्, इत्यभिधीयते. प्रायो, नेव सदा हि ।  
[सहस्य सहुं] ‘अउ पवसन्ते सहुं न गयअ न मुअ विओए तस्सु ।  
जाजिअ संदसमा, विन्तेहिं सुहय-जणस्सु’ ॥ [२]

पश्चाद्वेभवेदिनां-प्रत्युनेतसः पच्छइ एम्बह जि एम्बहिं

पच्चासिउ एत्तहे ॥ ४२० ॥

पश्चान् पच्छइ, एव जि, इत एत्तहे. एयमेव एम्बह च ।  
भवतोदान्ते एम्बहिं, तथा प्रत्युनेत पच्चासिउ ।

विषयोक्त-वर्तमानो बुष्ण-वुत्त-विष्णं ॥ ४२१ ॥

उक्तं बुष्णं, वर्तमानं विष्णं, विष्णवं बुष्णम् उच्यते ।

श्रीप्रादीनां बहिष्णादयः ॥ ४२२ ॥

श्रीप्रादेस्तु बहिष्णादिदेशोऽत्र निगद्यते ।

शब्दं ‘बहिष्ण’ इत्युक्तं, अकटां बहलः स्मृतः ।

[१] इयासो महारिरेनङ्गणति यद् भृतिशास्त्रं प्रमाणम् ।

मातृणां चरणी नमनां दिवसं दिवसं गङ्गास्नानम् ॥

[२] मया जगितो बलिगजः । त्वं कीदृशं मार्गणं पयः ।

यादक् तादक् वाऽपि भवति भूखं । स्वर्गं नारायण ईदक् ॥

[१] यदि भग्गाः परकीयास्ततः साक्षि ! मम प्रियेण ।

अथ भग्गा आस्माकीनास्नतस्तेन मारितेन ॥

[२] यत् प्रवसता सह न गता न सुना वियोगेन तस्य ।

सज्ज्यते सदेशान् वृत्तोऽपि सुमगजनस्य ॥

[ सिद्धहेम० ]

[ बहलः ] 'जिवं सुपुरित तिवं बहलं जिवं नह तिवं बलणां ।  
जिवं डोङ्कर तिवं कोङ्करं द्विआ विस्तरि कारं' । [१]  
'बिहासो'ऽस्त्युपससंगो, 'ब्रवको' जयवाचकः ।  
आत्मीयो'ऽप्यस, इत्युक्तो ' निबद्धो' गार्ह ईरितः ।  
द्रेहिर दृष्टौ, रवणरस्तु रम्ये, अङ्गस्तु कानने ।  
स्यात् कोङ्कः कौतुकं सङ्कलस्वसाधारण्ये तथा ।  
अङ्गते इकारः, दह्लिः हेलाङ्ग, नवको नवे ।  
अवस्कन्दे दृढबन्धः, पृथगर्थे तुभ्रजुभ्रजः ।  
सम्बन्धर्थे केर-तलौ, मूढेऽर्थे बह-नालिवी ।  
मा भिषीरिति सम्भोसा, यथर्थे हुङ्कर इत्यते ।  
'यथ्वृ हृष्टं तत्तद्वृ' इत्यर्थे जाइतिआ स्मृता ।  
हुङ्कर-पुग्मादयः शब्द-वेष्टानुकरणयोः ॥ ४१३ ॥  
स्त्रुर हुङ्कर-प्रभृतयः, शब्दानुकरणे तथा ।  
वेष्टाऽनुकरणे पुग्मादयः शब्दा व्यवस्थिताः ।  
'मई जाणउं बुद्धीस हउ पम्म-कहि हुङ्क सित ।  
नवरि अन्नितिय संपन्निआ विणिय नाव ऋडडसि ।  
अज्जवि नादु महुंजि धरि सिद्धथा वन्देइ ।  
तावंजि विरहु गवक्काहि मक्कउ-पुग्मिच देइ' । [२]

घमादयोऽनर्थकाः ॥ ४१४ ॥

'घरम्' इत्यादयः शब्दाः, निपाताः परिकीर्तिताः ।  
वेधा अनर्थकान्तेऽत्र, 'घई काई' निदर्शनम् ।  
तादर्थ्ये केहि-तेहि-रेसि-रेसि-तणेणाः ॥ ४१५ ॥  
'केहि-तेहि-रसि-रेसि-तणेणा' इति पञ्च तु ।  
निपाताः संप्रयोगवास्तादर्थ्ये यत्र गम्यन्ते ।  
'दोला पइ परिहासडी आइभ न कवणहि देसि ।  
हउं छिज्जं तउ केहि पिअ' तुदं पुण्ण अआइ रोसि' । [३]

पुनर्विनः स्वार्थे हुः ॥ ४१६ ॥

'पुनर् विना' इत्यादाभ्यां, स्वार्थे हुः प्रत्ययो भवेत् ।  
पुनरर्थे पुण्ण तना, विनास्ये 'विण्ण' सिध्यति ।

अवश्यमो नै-दौ ॥ ४१७ ॥

अवश्यमः परी 'नै-दौ', स्वार्थिकी प्रत्ययो स्मृतौ ।  
तस्माद् अवश्यम् 'अवसे अवस' स्मर्यते बुधे ।

एकशानो निः ॥ ४१८ ॥

स्वार्थे द्विर् एकशान् शब्दात्, रूपम् 'एकलि' संस्मृतम् ।

अ-नद-कुञ्जाः स्वार्थिक-क-लुक् च ॥ ४१९ ॥

नाम्नः परे-ऽनर इङ्ग ' इत्यमी स्वार्थिकारण्यः ।  
तस्वस्त्रियोगे स्वार्थे क-प्रत्ययश्लेह लुप्यते ।

- [ १ ] यथा सुपुरुषस्तथा ऋगटका यथा नघस्तथा वसनाति ।  
यथा गिरयस्तथा कोटराणि हृदयं । किंचस्य कथम् ? ।  
[ २ ] मया ज्ञातं भुङ्क्ष्यामि अहं मेमहद् हुङ्करिति ।  
कवलमविनित्वा संपनिता (संभासा) विप्रियनैः भूदिति ॥  
अप्याप नाथो ममैव शृद् विज्जाधोव वन्दते ।  
नाचन्द्व विरहो गवाक्षम् मर्कटवेष्टाः द्याति ॥  
[ ३ ] नायक ! एवा रीतिः अस्यद्विता न कुप्रापि दृष्टा ।  
अदं कीय तय हते प्रिय ! त्वं पुनरन्वस्थाये ॥

"विरहानल-जाल-करालिभ्रत पाँह च पन्थि जं दिट्टु ।  
तं मेलवि सव्वाहि पंधिआहिं सोजि किञ्चउ अम्मिट्टु" [१] ॥  
रुनस्य ' दोसाडा ' इङ्गस्य कुञ्जो निदर्शयते ।

योगजश्रीषाम् ॥ ४२० ॥

एषाम् अ-इङ-कुञ्जां, योगजदेन निर्मिताः ।  
जायन्ते प्रत्यया येऽत्र, तेऽपि स्वार्थे कश्चित्मतः ।  
[रुनअ] 'फोमन्ति जे हिअरुनउं' किंसमेति [१२९६] यल्लुकमतः ।  
[ कुञ्ज ] ' बुद्धीहाइसद सुकुञ्जु ' कुलरुने वृणु-  
[ कुलरुन ] "सामिपसाउ मलज्जुपिच सीमा-सांघाई वासु ।  
पाँकस्ववि बाहु-बलुञ्जमा धण मण्णइ नांसासु" [२] ॥  
आमि 'स्यादी दोधे-दुस्वा' [४३३०] इति दीर्घोऽत्र बुध्यताम् ।  
' बाहु बलुञ्ज इउ ' तु, प्रत्ययत्रयसमयम् ।

स्त्रियां तदन्ताङ्गीः ॥ ४२१ ॥

पुंस्त्वय्योक्तप्रत्ययान्ताद् मीः स्त्रियां जवत् ।  
'पहिआ दिट्ठो गोरोमी' इत्थं निश्रान्तम् ।  
अंस्वासासेहि कञ्जुआ तितुव्वाण करन्ते" [३] ॥

आन्नान्ताङ्गाः ॥ ४२२ ॥

स्त्रियासु अप्रत्ययान्त-प्रत्ययान्ताद् 'मा'ऽस्तु नैव डीः ।  
'पिउ आइउ सुअ वत्तडी' ज्जुण कइअइ पइठ ।  
तदो विरहहो नासंतअदो धूलोत्ता' वि न दिट्टु" [४] ॥

अस्येदं ॥ ४२३ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽन इव स्याद् आकार प्रत्यये परे ।  
'धूलिडिआ वि दिट्टु न ' इति वाक्यं विभाष्यताम् ।  
युष्मादादिर्णिस्य दारः ॥ ४२४ ॥  
युष्मादिदिप इय प्रत्ययस्य ' इर ' इत्यते ।  
'संदेसं कांति तुहारण जे सङ्गाहं' इत्यते न मिच्छजः ।  
सुइणन्तिर पिप पाणपण षिअ ।पिआस कि डिउज्ज' [५] ॥  
अदारा च महारा च, वेद्यं चैवं निदर्शनम् ।

अतोर्नैतुलः ॥ ४२५ ॥

इदं कियलदेतदुषोऽनोः स्थाने 'डेज्जलो' भवेत् ।  
एत्तुलो केत्तुलो जेत्तुलो च तेत्तुलो एत्तुलो ।  
अस्य केचोइ ॥ ४२६ ॥

सवार्देसु त्र-प्रत्ययस्य, पदे स्यात् 'डेज्जलो' यथा- ।  
'एलदे तेत्तेह वीरयोरे लच्छिळ विस्सणुल टाड ।  
पिअ-एभट्टय गोरोडी निचल काहिंवि न ज्ञाड' [६] ॥

[ १ ] विरहानलज्वालाकरालितः पाँहकः पाँथि यद् दृष्टः ।  
तत् मिलितया सर्वैः पणिकैः स एव हुतोऽभिष्टः ॥

[ २ ] स्वामिप्रसादः सलज्जमियः सीमासंधौ वासः ।  
प्रहृय पाहवय नायिका मुञ्जानि निश्वासम् ॥

[ ३ ] पाँहकः दृष्टा गौरौ दृष्टया प्राग् पश्यन्ती ।  
अधुञ्जुसाभ्यां कञ्जुक तौमनोद्धानं कुप्यते ।

[ ४ ] प्रिय आगमः भूना वार्ता 'डेज्जलो' कणप्रावेष्टः ।  
तस्य विरहस्य महयनो' धूलारण्ये न दृष्टा ॥

[ ५ ] संदर्शनं कियत् युष्माद्येन यत् सङ्गाय न मिच्छते ।  
स्थानान्ते पानेन पानोविन प्रिय ! पिपासा किं निघानं ।

[ ६ ] अत्र तत्र वीरशृंह लक्ष्मीं विशसंभुला तिष्ठान् ।  
प्रियप्रज्जरा गौरौ निश्चला क्वापि न तिष्ठति ॥

स्व-तलोः प्यणः ॥ ४३७ ॥  
 प्रत्यययोस्व स्व-तलोः स्यात्, 'प्यणः', बहुषण्यु' स्तुत्तम् ।  
 प्रायाऽपिकाराद् 'बहुषण्यणो' इत्यपि सिध्यति ॥  
 त्वयस्य इण्व्यञ्जं एण्वञ्जं एवा ॥ ४३८ ॥  
 इण्व्यञ्जं एण्वञ्जं एवा' तत्त्वस्य पदं त्रयः ।  
 "एउ गृहोप्यणु भ्रं मर्ह, जइ मिउ उर्यारिज्जइ ।  
 मइ करिण्व्यञ्जं कि पि एवि, मरिण्व्यञ्जं पर देज्जइ ।  
 सेसुक्काडणु सिहिकडणु, घणुकुहणु जं लोह ।  
 मंजिट्टए सररंसए, सवुत्त मइव्वउ हाइ ।  
 सोंएवा पर वारिआ, पुण्णवर्हंइ समाणु ।  
 जग्गेवा पुणु को धरह, जइ सों वेउ पमाणु ? " ॥ [१]  
 क्त्व ८-६उ-इवि-अवयः ॥ ४३९ ॥  
 "अवि इवि इउ उ' इतीम, क्त्वायः क्त्वः पदं भवति, यथा ।  
 [ १ ] जइ [ संय ] सुविचि च [ मयि ] विच्छोडवि,  
 [ इउ ] अजिउ रूपाणि सिध्यन्ति ।  
 [ २ ] अवि "बाह विच्छोडवि जाहि तुहु, हउं नेवैह को दोसु ? ।  
 हिअय-इउ उउ नासरह, जाणउ मुञ्ज ! सरासु ॥ " [२]  
 एण्व्यञ्जिपावेण्येविण्वः ॥ ४४० ॥  
 क्त्वायः क्त्वः पदं 'एण्व, एवि एण्विण्वए विण्वु' ।  
 सूत्रयोयः पृथग्यग उल्लसार्थः स इत्येते ।  
 "जोए अस्सु क्त्वाय-वणु, कोपाविणु अमउ अयस्सु ।  
 लोवि मइव्वय सिउ लइहि, आपाविणु तत्तस्सु ॥ " [३]  
 तुम एवमणाणुदहमाणि ॥ ४४१ ॥  
 "अणहि अणह एव, अण एविण्वु एविण्वु ।  
 'एवि एवि' अमी अमी, प्रत्ययस्य तुमः पदं ।  
 "द्वेथं उकुम्भ निअय-धणु, क्त्वाय न तउ परिहाइ ।  
 एवइ सुहु भुञ्जणहं मणु, पर उउजणहि न जाइ ।  
 जोए चयण्वणु सयव चर, लोविणु लुधु लोविणु ।  
 विणु सन्ते निअसरण, को सक्कइ भुचणं वि ? " [४]  
 गमरेऽप्यावेण्योरलुगं वा ॥ ४४२ ॥  
 गम-धातोः परौ यौ स्तः, 'एण्व एण्वणु' इत्यम् ।  
 तयोर एतां लुण् अत्रास्तु, विभाषेति विधीयते ।  
 "गमिण्वणु वाणारसिंहं नर, मइ उज्जाणहिं गमिण्वु ।  
 मुआ परावहिं परम-एउ, दिव्वन्तर्हं म जमिण्वु" । [५]

[ १ ] एतद् वृहीत्या यमया यदि प्रिय! उद्धार्यते ।  
 मम कर्तव्यं किमपि नापि, मत्तव्यं परं दीयते ॥  
 देशोच्चाटनं शिशिकथनं घनकट्टनं यत्सलाक ।  
 मंसिञ्जया अतिरक्त्या सर्वं सोढव्यं प्रयति ॥  
 स्वपितव्यं परवारिता पुष्पवर्तिनिः समम् ।  
 जागतव्यं पुनः को विजति यदि स वेदः प्रमाणम् ॥  
 [ २ ] बाहू विच्छोड्य यस्मिन् त्वं भवतु तथा को दोषः ? ।  
 इदमस्मिन्तो यदि निसरसि ज्ञाने मुञ्ज ! सरावः ॥  
 [ ३ ] जिह्वाऽशेष कथावबल इत्थाऽभय जगत ।  
 लात्था महात्मानि शिषं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम् ॥  
 [ ४ ] दातुं उक्करं निञ्जकथनं कर्तुं न तपः प्रतिप्राति ।  
 पंचमं सुखं भोगुं मनः परं ज्ञाकुं न याति ॥  
 जंतुं त्यक्तुं सक्तं धरं लातुं तपः पालयितुम् ।  
 विना शान्तिना तीर्थेऽवरेण कः शक्नोति मुचनेऽपि ? ॥  
 [ ५ ] गन्धा वाराणस्यां तदा मधोउज्जयिष्यां गत्वा ।  
 मृताः (अश्विनो) प्राण्डुवन्ति परमपदं दिव्यान्तराणि मा जल्प ॥

[ एके ] "गङ्गा गोमप्यणु ओ सुभद्र, को सिव-तिथ्य गोमपि ।  
 क्रीडति तिस्रस्वास्त-गङ्, सा जम-लोह जिण्यपि ॥ " [१]  
 तृनाऽण्वः ॥ ४४३ ॥  
 प्रत्ययस्य तुनः स्थानेऽणवाऽऽदेशो विधीयते ।  
 बोल्लणउ वञ्जणउ, तथा जसणउ स्मृतम् ।  
 इवाथे नं-नउ-नाइ-नावइ-जण-जणवः ॥ ४४४ ॥  
 अण्वप्रशे 'जाण जणु नाइ नावइ ने मउ' ।  
 इत्यमी पद प्रयुज्यन्ते, इवाथे कोविधेः सदा ।  
 [ नाइ ] "वलयवास्मि-नियडणु-मण्व, घण उउक्कणु जाइ ।  
 वइहइ-विरह-महादइहा, धाह गवेसइ नाइ ॥ " [२]  
 लिरुगमतन्त्रम् ॥ ४४५ ॥  
 अत्र सिद्धं व्यभिचारि, प्रायां भवति तेन हि ।  
 स्त्रीपुनपुंसकं लिङ्गं, यद्येधं संप्रत्ययेन ॥  
 "अधमा लग्गा उक्करिहिं, पंडिउ रक्कन्त जाइ ।  
 जो एहा गिनि-गलण-मणु, सा कि घणह धणाइ ॥ " [३]  
 अत्र अन्तेति पुंसके हि, स्त्रीष्व्य प्रतिपातितम् ।  
 एवमन्यासु गाथासु, स्वयं बुद्ध्या विचार्यताम् ।  
 शारसनीवत् ॥ ४४६ ॥  
 अण्वप्रशे शौरसेनीवत् कार्यः प्रायशः स्तुतम् ।  
 व्यत्ययश्च ॥ ४४७ ॥  
 भाषाणां प्राकृतादीनां, लक्षणानि तु यानि हि ।  
 तेषां च व्यत्ययः प्रायेः, भवेदित्युपदिश्यते ।  
 तिष्ठिअंति [ ४४८ए ] मागध्यां, यथा कार्यं प्रदर्शितम् ।  
 तत् पैशाची-शौरसेनी-प्राकृतेऽपि प्रायते ॥  
 अण्वप्रशे तु रेफस्याधा वा लुक् स्यादित्थान्तरितम् ।  
 मागध्यामपि तत् कार्यं, जवनीति निदर्शनम् ।  
 न केवलं हि भाषासङ्गणानां व्यत्ययः कृतः ।  
 न्याधादिशानामपि तु, व्यत्ययो दृश्यते यतः ।  
 वन्तेमानं प्रसिद्धा ये, त ज्ञेयेऽपि भवन्ति तु ।  
 भूतकाले प्रासिद्धास्तु, वन्तेमानेऽपि वीक्षिताः ।  
 यथा 'पेच्छइ' इत्येतत्, 'मैत्राञ्जके' क्वाच्यन्तम् ।  
 'आजासइ' आषभापे, 'इत्यथ क्वापि इत्येते ॥  
 एवं 'सोहीअ' इति तु, शृणोतीत्यर्थकं क्वचित् ।  
 शिष्टप्रयोगतः सर्वे, शोचन्त्यं सूत्रमदर्शितम् ॥  
 शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४४८ ॥  
 प्राकृतादिषु भाषासु, यत् कार्यं नेह दर्शितम् ।  
 सप्तधायांनिष्कन्ते, संस्कृतेन समं हि तत् ।  
 "हेह-द्विय-सूर-निवारणाय, जन्तं आदौ इय वहन्ती ।  
 अयइ समेना वराह-सास-दुरुक्कणुया 'दुहवी' ॥ [४]  
 यद्यप्य चतुर्थ्यास्तु, नादशो दर्शितः क्वचित् ।  
 तथाऽपि सोऽतिदेशेन, सिद्धः संस्कृतवत् कालु ॥  
 [१] गङ्गां गत्वा यो मृता यः शिवतीर्थं गत्वा ।  
 क्रीडति त्रिदशस्वास्तगतः स यमलोकां जिह्वा ॥  
 [ २ ] वलयवास्मिनिपनभयेन नापिका ऊर्ध्वेऽनुजा याति ।  
 वल्लजविरहमहाहृदइ स्व स्ताघं गयेषयति यति ॥  
 [ ३ ] अत्रापि लग्गाणि पर्वतसु पथिको रटन् याति ।  
 य इच्छति गिरिगलनमनाः स कि नायिकाया धनानि ? ॥  
 [ ४ ] अत्र-स्थितसुरनिवारणाय कुम्भमथ इव वहन्ती ।  
 अयति सशोभा वराहश्वाससुरोक्कणुया पृथिवी ॥



उक्तं चापि भवत्यत्र, कार्यं संस्कृतवत् क्वचित् ।  
 'उरं उरामि' इत्येतौ, प्रयोगौ प्राकृतं मते ।  
 उरसोत्यापि तस्यार्थे, कापि संस्कृतवन्मतम् ।  
 सिरं सिरामि सिरसि, सरामि सरसि सरं ।  
 इत्याद्यपि बुधैरेवं, वेषं लक्षयानुसारतः ।  
 लिखस्य प्रद्वेष सुत्रे, मङ्गलार्थं प्रकीर्तितम् ।  
 येन बाचकवृन्दस्य, नित्यमभ्युदयोऽस्तिवान् ।  
 या भाषा भगवद्वचञ्जिरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां  
 यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ॥  
 तस्याः संप्रति दुःषमारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः  
 संचाराय मया कृते विवरणो पादश्चतुर्थो गतः ॥१॥  
 इति श्रीबृहत्सौधर्मतपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञ-  
 श्रीमङ्गट्टारक—श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-  
 तायां प्राकृतव्याकृतौ चतुर्थः पादः ।  
 तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं प्राकृतव्याकृतिः ।

### अथ प्रशस्तिश्लोकाः—

श्रीसौधर्मबृहत्तपेतिविदिते गच्छे पुरा धर्मराट्  
 संजातः खलु रत्नसूरिरपरः सूरिः क्षमाऽऽख्यस्ततः ।  
 देवेन्द्रश्च ततो बभूव विबुधः, कट्याणसूरिर्महान्  
 अचार्यः सकलोपकारनिरतः सूरिः प्रमोदस्ततः ॥१॥  
 तच्छिष्यो निजगच्छकृत्यविशदीकर्ता स जट्टारको  
 राजेन्द्रान्निधकोशसंप्रणयने संजातजूरिश्रमः ।  
 ग्रन्थानां सुविचारचारुचतुरो धर्मप्रचारोद्यतो  
 जैनाचार्यपदाङ्कितोऽहमधुना राजेन्द्रसूरिर्बुधः ॥२॥  
 दीपविजयमुनिना वा यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन ।  
 विहसतः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमहम् ॥३॥  
 मोहनविजयेन पुनः प्रधानशिष्येण जूरि विहसतः ।  
 सकलजनोपकृतिश्चैदेवं करणे महान् लाभः ॥४॥  
 अत एव विक्रमान्दे, भूमेरसेनविधुमिते दशम्यां तु ।  
 विजयाख्यायां चातुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥५॥  
 हेमचन्द्रसंगृहितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् ।  
 पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षिमिमाम् ॥६॥  
 श्रीवीरजिनप्रीत्यै, प्रायो विवृतिः कृताऽवधानेन ।  
 स्वलनं कापि यदि स्यान्मिथ्या मे दुष्कृतं भूयान् ॥७॥

### अथ सूत्रनिर्दिष्टानां गणानां नामानि ।

पादे सूत्रे	पादे सूत्रे	मांसादिः
२ । १७ अद्र्यादिः	१ । ७०	मांसादिः
१ । ३५ अद्रिष्वादिः	१ । १०७ मुकुलादिः	
४ । २५८ अफुसादिः	४ । ३१७ यादशादिः	
१ । ५६ अभिज्ञादिः	४ । ४३४ गुष्मदादिः	
३ । १७५ इजादिः	४ । ५३६ रुषादिः	
१ । ६७ उत्त्वादिः	१ । २६ वक्रादिः	
१ । १३१ श्रुत्वादिः	१ । ३३ वचनादिः	
१ । १५८ कृपादिः	४ । ४२५ वहिष्णादिः	
२ । ६ द्वेषटकादिः	४ । ५३५ वृषादिः	
४ । २४९ गमादिः	१ । १५५ वैरादिः	
१ । १४ गुणादिः	१ । २८ विशत्यादिः	
२ । १७४ गोणादिः	४ । ५३० शकादिः	
४ । ४२४ घट्टादिः	१ । ५७ शक्यादिः	
४ । ४२९ घुग्गादिः	१ । १८ शरदादिः	
४ । ३९९ क्वाद्यादिः	४ । ४२५ शीपादिः	
४ । ३९९ तत्त्वादिः	२ । १४५ शीलादिः	
२ । ९८ तैलादिः	१ । ७२ सदादिः	
१ । ४० त्यदादिः	१ । ४४ सम्ख्यादिः	
२ । १७५ त्वादिः	३ । ५८ सर्वादिः	
१ । १५१ दैन्यादिः	२ । ९९ सेवादिः	
२ । ३० धृत्तादिः	३ । १७५ सोच्छादिः	
१ । १०१ पानीयादिः	१ । १६० सौन्दर्यादिः	
१ । १६५ पौरादिः	१ । ४६ स्वप्नादिः	
२ । २१८ प्यादिः	३ । ३५ स्वस्नादिः	
१ । २०६ प्रत्यादिः	१ । २५४ हरिद्रादिः	
१ । २९ मांसादिः	४ । ४२३ दुहुर्वादिः	

### अथ प्राकृतसूत्राणां सूत्रसङ्ख्या ।

पादे	सूत्रसङ्ख्या
१	२७१
२	२१८
३	१८५
४	४४८
४	१११६

# ॥ अजिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् २ ॥

॥ अथ प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ॥



पृष्ठ.	अ	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र		
८	अर्द्धैत्यादौ च	॥ १११ १५१ ॥	२८	अमेणम्	॥ १०३ ७८ ॥	६	आन्व गौरये	॥ १०१ १६३ ॥
२३	अङ् संभावने	॥ १०२ १०५ ॥	२९	अमोऽस्य	॥ १०३ १५ ॥	१७	आजस्य टाङ्	॥ १०३ १५५ ॥
३	अङः पौरादौ च	॥ १०१ १६२ ॥	५५	अम्यह ह्ये	॥ १०४ १८८ ॥	५८	आद्यो णानुस्यारौ	॥ १०४ ३५१ ॥
२५	अङ्गोब सं	॥ १०३ ११६ ॥	३३	अम्यो आक्षये	॥ १०२ १०८ ॥	६	आत्कर्मर	॥ १०१ १०० ॥
११	अङ्गोत्तुः	॥ १०१ १०० ॥	३०	अम्यह अम्यो	॥ १०३ १०६ ॥	७	आकुरा-मृदुक	॥ १०१ १२७ ॥
१६	अङ्गचतुर्चलोः	॥ १०२ ११८ ॥	३०	अम्यम मह म०	॥ १०३ ११६ ॥	४६	आत्स्य	॥ १०४ ३११ ॥
२५	अजानः पुनः	॥ १०३ १३१ ॥	५६	अम्यहं न्यसां०	॥ १०४ ३०० ॥	१७	आत्ममहो गि०	॥ १०३ १५७ ॥
५२	अ-नङ्-दुल्लोः	॥ १०४ ४२६ ॥	२६	अम्यह अम्यो	॥ १०३ १०८ ॥	३६	आहङ्कः सन्नामः	॥ १०४ ८३ ॥
२२	अण गाहं नअर्थे	॥ १०२ ११६ ॥	२६	अम्योहि अम्योहि०	॥ १०३ ११० ॥	८	आहतं हिः	॥ १०१ १५३ ॥
३३	अण कञ्जस्वञ्च०	॥ १०३ १७७ ॥	५६	अम्योहि नित्सा	॥ १०४ ३०८ ॥	३	आदेः	॥ १०१ १०८ ॥
५५	अण पत्नी पुंसि०	॥ १०४ १२७ ॥	११	अयो वैत	॥ १०१ ११६ ॥	१७	आदेः इमधुम०	॥ १०३ १८६ ॥
३१	अण एवंच सं	॥ १०३ १५५ ॥	७	अरिहंस	॥ १०१ १४४ ॥	१३	आदेर्यो जः	॥ १०१ २४५ ॥
११	अणमीसानवाह०	॥ १०१ २२१ ॥	३७	अरिर्विद्वपः	॥ १०४ २५१ ॥	२२	आनतये णवरि	॥ १०४ ३८२ ॥
५१	अणो न्दसः	॥ १०४ ५०३ ॥	३७	अरिर्विद्ववः	॥ १०४ १०८ ॥	५२	आन्मान्नाद्यः	॥ १०४ ४३२ ॥
५६	अणो ऋसेङ्गानो०	॥ १०४ ३३१ ॥	३५	अपेगल्लिय-वच्युः	॥ १०४ ३११ ॥	२१	आपात्रपत्सपदां०	॥ १०४ ४०० ॥
३५	अणो ऋसङ्गोदो०	॥ १०४ २७६ ॥	२२	अप्राहि निवारण	॥ १०२ १८६ ॥	२२	आम अशुपगम०	॥ १०२ १७७ ॥
३	अणो ङा विसर्ग०	॥ १०१ ३७७ ॥	३२	अपत्तराह-ओर०	॥ १०४ ८५ ॥	५८	आमन्त्र्य जसो०	॥ १०४ ३४६ ॥
४४	अणो ङ्क्ष	॥ १०४ ३७४ ॥	५५	अपत्तान्ता ङसां०	॥ १०४ १८६ ॥	५५	आमो ङाह वा	॥ १०४ ३०० ॥
१६	अणो रिआगरिञ्च०	॥ १०२ १६७ ॥	१०	अपत्तानो मंडौ	॥ १०४ ४२७ ॥	२७	आमो ङेसि	॥ १०३ १६१ ॥
३२	अणो र्मेनुजः	॥ १०४ ४३५ ॥	४०	अपत्तानो वा०	॥ १०४ १७६ ॥	४७	आमो हं	॥ १०४ ३३६ ॥
५२	अणोः ससृष्ट्यादौ०	॥ १०१ ४४५ ॥	४१	अपाद् गाहोर्वाहः	॥ १०४ १७१ ॥	१	आयुत्परसरोर्वा	॥ १०१ २० ॥
२७	अणोः स्यार्द्धेर्जे०	॥ १०३ २५७ ॥	३६	अपापोतं च	॥ १०१ १७२ ॥	४३	आयुत्परादुर्णः	॥ १०४ ३४५ ॥
२५	अणोः सङ्गोः	॥ १०३ १२ ॥	३६	अपार्ति हुः	॥ १०४ ६१ ॥	४१	आकहृद्यम-व०	॥ १०४ २०६ ॥
३१	अणिय स्त्यादिना	॥ १०३ १५८ ॥	३६	अपत्तुम्भो जन्मा	॥ १०४ १४७ ॥	३५	आरोपेवेलः	॥ १०४ ४७ ॥
१	अण्य प्राकृतम्	॥ १०१ ११ ॥	२२	अप्ययम्	॥ १०२ १७५ ॥	२६	आरोः स्वादौ	॥ १०३ ४७ ॥
४६	अण्यस आह	॥ १०४ ३६४ ॥	२३	अप्यो सूचनादुः०	॥ १०२ १०४ ॥	५	आर्याया योः	॥ १०१ १७७ ॥
७	अण्युतः सूचने वा	॥ १०१ ११८ ॥	४०	असावकसांडः	॥ १०४ १८७ ॥	१	आपयम्	॥ १०१ ३ ॥
३२	अण्युल्लुक्पादवर्त०	॥ १०३ १३३ ॥	३६	असदाद् भिम् अण०	॥ १०३ १०५ ॥	१६	आपाने सनोः	॥ १०३ ११७ ॥
१०	अण्योमा हङ्	॥ १०३ १४१ ॥	५२	अस्यदे	॥ १०४ ४३३ ॥	३५	आपानोऽङ्गी	॥ १०४ ५४ ॥
१७	अण्यो मनयाम	॥ १०२ ७८ ॥	४५	अहवयमार्हेण	॥ १०४ ३०१ ॥	२१	आपान्नाह्लास०	॥ १०३ ११७ ॥
५४	अण्योः कचित्	॥ १०४ २६१ ॥				१६	आपयं	॥ १०३ ६६ ॥
१०	अण्योऽङ्गोसैलस्य०	॥ १०२ १५५ ॥				१६	आपिठे लयी	॥ १०३ ४६ ॥
१८	अण्योऽङ्गोशवादे०	॥ १०२ १८६ ॥				२६	आसौ नवा	॥ १०३ ४८ ॥
५०	अण्योऽङ्गोस्वराद्	॥ १०४ ३६६ ॥						
६	अण्युत्साहोत्सञ्च०	॥ १०१ ११४ ॥						
३७	अण्युत्सोः पदि अगमाः	॥ १०४ १०७ ॥						
४५	अण्युत्सवस्या०	॥ १०४ ३७५ ॥						
१	अण्युत्सव्यञ्जनस्य	॥ १०१ १११ ॥						
५१	अण्युत्सव्योऽङ्गाह०	॥ १०४ ४२३ ॥						
१५	अण्युत्सव्योऽङ्गो वा	॥ १०३ २५ ॥						
५०	अण्युत्सोऽपि काञ्च०	॥ १०४ ३६६ ॥						
५०	अण्युत्सोऽपि काञ्च०	॥ १०४ ३६६ ॥						

## आ

२६	आ अरा मातुः	॥ १०३ ४६ ॥
५४	आ आमन्त्र्य सौ०	॥ १०४ २६३ ॥
४१	आः कृगां भूत-भ०	॥ १०४ २१४ ॥
३८	आकन्दोर्वाहः	॥ १०४ १३१ ॥
३६	आकमेरोहाच०	॥ १०४ १६० ॥
३६	आक्षिपेपरिचः	॥ १०४ १४५ ॥
३४	आक्षिपेराक्षः	॥ १०४ १३ ॥
३६	आङ्गा आदिप०	॥ १०४ १६३ ॥
३८	आङ्गा आभ्यो०	॥ १०४ ११५ ॥
३६	आङ्गे रमेः र०	॥ १०४ १४५ ॥
५	आचार्ये चोऽच	॥ १०१ ७३ ॥

## इ

५	इः सदादौ वा	॥ १०१ ७२ ॥
४	इः स्वप्रादौ	॥ १०१ ४६ ॥
४६	इचचः	॥ १०४ ३१७ ॥
३५	इक्ष मां-मुमे वा	॥ १०३ १४५ ॥
२५	इजरोः पादपूरणे	॥ १०३ २१७ ॥
२७	इज्यमामा	॥ १०३ ४३ ॥
५	इत पदा	॥ १०१ ७५ ॥
३	इतेः स्वरात्सञ्च०	॥ १०१ ४५ ॥
६	इती तो चाक्या०	॥ १०१ ११ ॥

पृष्ठ.	सूत्र
७	वृक्तपादौ ।। १। १२८।
११	ह्येव वेतसे ।। १। १२०७।
११	हंसेनधश्शनेभ्यरे ।। १। १४६।
४९	इदम भ्रायः ।। १। ४। ३६४।
२०	इदम इमः ।। १। ३। ७२।
४६	इदम इमूः क्रीते ।। ४। ३६९।
२०	इदमर्थस्य करः ।। २। १। १४७।
२८	इदमेतर्किकयत्त० ।। १। ३। ६६।
४४	इदानीमो द्वाणि ।। ४। २७७।
३४	इदितो वा ।। ४। ११।
२५	इदुतो दीषेः ।। १। ३। १६।
८	इदुतौ वृष्टुग्युष्टु० ।। १। १। ३३७।
७	इदुतौ नू सुर वा ।। १। १। १२३।
८	इदुद्रादुन्त ।। १। १। १३६।
३०	इदु किमभ्यदिति० ।। २। १। १७।
१५	इन्धी भा ।। २। २८।
४७	इजस्य पाणाञ्जी ।। ३। १२।
६	इङ्कुट्टी ।। १। १। ११०।
४३	इयायं न-नर० ।। ४। ४४४।
४४	इहरा इतरथा ।। २। १। ३११।
४४	इह इहोदस्य ।। ४। ४। १६८।

इ

३२	इच्च-इजौ क्य० ।। ३। १६०।
६	ईः जुत ।। १। १। ११२।
४	ईः स्थाननश्वावा० ।। १। ७४।
३३	ई च स्त्रियायम् ।। ३। १२२।
३५	ईतः सखाऽऽवा ।। ३। ३८।
२६	ईदुतोईस्यः ।। ३। ४२।
८	ईदु धिये ।। १। १। १४४।
२७	ईदिसभ्यसां सु० ।। ३। १४४।
२७	ईदयाः स्सा से ।। ३। ६४।
२०	ईयस्यामनो सयवः ।। २। १५३।
६	ईजिङ्गासिद्दिशिशि० ।। १। ६२।
७	ईवाद् व्युट् ।। १। १। १३०।
४	ईरेरे वा ।। १। १। १११।

उ

२४	उम पशय ।। २। २। २११।
४	उः साक्षास्तावक० ।। १। ७। ७४।
१९	उवाहेति ।। १। १। १५१।
८	उवैर्नीवेस्ययः ।। १। १। १५४।
४०	उच्छल उच्यञ्च ।। ४। १। १७४।
६	उज्ज्वी ।। १। १। १००।
६	उजो मुकुत्रादिष्वदा ।। १। १०७।
३६	उजिपगुलशुभ्र० ।। ४। १। १५४।
९	उज्जौ लोन्वयादौ ।। १। १। १६०।
३४	उदुङ्कुट्टी ।। ४। १। १७।
८	उदुर्दान्मूषि ।। १। १। ३३६।

पृष्ठ.	सूत्र
७	उद्ववादी ।। २। १। १३१।
३	उद्वोडाऽऽर्जे ।। १। १। ६२।
३४	उद्वो ध्मा धुमा ।। १। ४। ८।
३४	उद्वघट्टकयः ।। १। ४। ३३।
३५	उद्वघुंशुण्टः ।। १। ४। ३७।
३४	उद्ववातेरकम्मा० ।। १। ४। ११।
४२	उद्विजः ।। १। ४। २२७।
३५	उद्वमकत्यङ्कोलासा० ।। ४। ३६।
२१	उद्वपरः संवयान ।। १। २। ११६।
३८	उद्वपरंग्वाणि ।। १। ४। १३६।
३६	उद्वपलभ्यभेङ्ग० ।। १। ४। १४६।
९	उद्वमो निषथ ।। १। १। १७४।
७	उद्वैरनुमकगकूय० ।। १। १। १७१।
४१	उद्वसकसशेसुम्न० ।। ४। २०२।
४२	उद्वयस्यावः ।। १। ४। २३३।

ऊ

२	ऊः स्तेने वा ।। १। १। १७७।
२३	ऊगर्हाऽऽक्केपवि० ।। १। २। १६६।
९	ऊक्योप ।। १। १। १७३।
११	ऊक्व दुनेगसुभ्र० ।। १। १। १९२।
६	ऊत्तुभगासुसल वा ।। १। १। ११३।
९	ऊत्तास्त्वान ।। १। १। १५७।
४	ऊद् वाऽऽसरि ।। १। १। ७६।
६	ऊर्हानिबिहीने वा ।। १। १। १०३।

ऋ

३४	ऋक्रे वा ।। १। १। १९०।
८	ऋणञ्चपमन्वृषी० ।। १। १। १४१।
२६	ऋतासुदस्यमो० ।। ३। ४४।
७	ऋत्ताऽऽत् ।। १। १। १२६।
२६	ऋत्ताऽऽद् वा ।। ३। ३९।
४१	ऋवर्गस्यारः ।। ४। ४। २३४।

ऌ

८	ऌत शिशिः कल्म० ।। १। १। १४५।
---	------------------------------

ए

४६	एजंजशतोः ।। १। ४। ३६३।
४२	एचलुत्त ।। १। ४। ३४३।
४२	एकशसः किः ।। ४। ४। ४५८।
१६	एकस्वर भ्यः स्व ।। २। १। ११४।
२४	एकसारिंभ्रं कगि० ।। २। १। ३१३।
३२	एकक्वा तुपत्त० ।। ३। १। १५७।
६	एव दिव ।। १। १। १५३।
४७	एवद्यवादी ।। २। १। १७७।
४७	एट्टि ।। १। ४। ३३३।
२०	एगिद् एसादे इ० ।। २। १। १३४।
६	एत इचा वैदना० ।। १। १। १४६।
१६	एतः पर्यन्ते ।। २। १। ६५।
४६	एतदः स्त्रीपुंशु० ।। ४। ४। ३६२।

पृष्ठ.	सूत्र
३०	ए ।। १। ३। ११६।
९	एव त्रयोदाशौ० ।। १। १। १६५।
४१	एय्य कुभा० ।। ४। ४। ४०४।
६	एय्य पीयूषापीड० ।। १। १। १०४।
१	एय्येतोः स्वर ।। १। १। ७८।
५	एय्य प्राभा ।। २। १। ७९।
४३	एय्य्यापिषये० ।। ४। ४। ४४०।
२८	एय्योतौ स्त्री वा ।। २। ३। ८४।
४१	एय्यं-परं-समं० ।। ४। ४। ४१८।
४४	एय्यारं र्येव ।। ४। ४। २८०।

ऐ

८	ऐत एव ।। १। १। १४८।
---	---------------------

ओ

६	ओच्च त्रिया कुः ।। १। १। ९७।
८	ओतोऽऽऽन्या० ।। १। १। १४६।
७	ओक्कुम्पाएदीणु० ।। १। १। १३४।
४	ओलपश ।। १। १। ६१।
४	ओम्युत्तवद्वर० ।। १। १। १७०।
७	ओमसंयोगे ।। १। १। ११६।
५	ओमहायो पञ्चौ ।। १। १। ८३।
३३	ओम सूचनापञ्च० ।। १। २। २०३।

औ

६	औत औत् ।। १। १। १५९।
---	----------------------

क

१०	कगच जनद० ।। १। १। १७७।
१७	कगट दत्तद्व० ।। २। १। ७७।
१२	ककुद् इः ।। १। १। ३२५।
२	ककुमा इः ।। १। १। २१।
३४	कधयेकापञ्च० ।। ४। ४। २१।
४१	कधयघातथां० ।। ४। ४। ४०१।
१३	कदम्बे वा ।। १। १। २२४।
१३	कदधिते वाः ।। १। १। ३२४।
१३	कदव्यामद्भु० ।। १। १। २६०।
१६	कन्दर्गिकाभि० ।। १। १। ३८।
१३	कन्धन्ध मया ।। १। १। २३६।
३४	कन्धिङ्घ्रुवाः ।। ४। ४। ४४।
३३	कन्धिच्योलाः ।। ४। ४। ४६।
३३	कन्धिच्योलाः ।। २। १। २४३।
१६	करेण्याराण० ।। २। १। ११६।
८	करिकार वा ।। १। २। ६४।
१६	कर्यौर्वात्तौ वा ।। २। २। ६०।
४१	कालूरादाहित० ।। १। ४। १२२।
३६	काणकिते लि० ।। ४। ४। ६६।
४६	काविस्येदीनाप० ।। ४। ४। ४००।
४६	कान्तस्यात उ० ।। ४। ४। ३५४।
१७	कायापण ।। १। २। ७१।



पृष्ठ.	सूत्र
३७	ज्जो जा ज्जमो । ७ । ४ । १३६ ।
२४	ज्जशस्स ईहं । ८ । ३ । १६ ।
४९	ज्जशस्सोरहं । ८ । ४ । ३७६ ।
२४	ज्जशस्सोर्णो वा । ८ । ३ । २२ ।
२४	ज्जशस्सालुंक् । ८ । ३ । ४ ।
४६	ज्जशस्सालुंक् । ७ । ४ । ३६६ ।
२४	ज्जशस्सल्लसिं । ७ । ३ । १४ ।
२६	ज्जशस्सल्लसिं । ७ । ३ । १० ।
३६	जाअज्जमा । ७ । ४ । ८० ।
३४	ज्जुण्णसंमुण्णं । ८ । ४ । ४ ।
२२	जेण नेणुं णं । ७ । १ । १०३ ।
३२	जाअज्ज । ८ । ३ । १७९ ।
३२	जाअत्त सत्तस्यो । ८ । ३ । १६५ ।
३४	जां जाणुण्णो । ८ । ४ । ७ ।
१७	जां ज्ज । ८ । २ । ७३ ।
४६	जां ज्जः वैशां । ८ । ४ । ३०३ ।
४३	जां जाणवेअज्जां । ८ । १ । ४६ ।
४३	जां णवयसुज्जां । ७ । ४ । २४२ ।
१६	ज्यायामीसु । ८ । २ । ११५ ।

ट

४८	टए । ७ । ४ । ३४९ ।
२४	टाअमार्णेणं । ८ । ३ । ६ ।
२५	टाअसुंकरदादिं । ८ । ३ । २९ ।
४९	टाअयमा पअत्तं । ८ । ४ । ३७० ।
४९	टाअयमा मरं । ७ । ४ । ३७७ ।
२९	टाणदास्येणु । ८ । ३ । १४ ।
११	टां टः । ८ । १ । १६५ ।
२९	टां ण । ७ । ३ । २४ ।
२७	टां णा । ७ । ३ । ७१ ।
४६	टोरुनुवां । ८ । ४ । ३११ ।
४५	ट्टय्याः स्तः । ८ । ४ । २६० ।

ठ

११	ठो ङः । ८ । १ । १६६ ।
१५	ठोअस्विंसस्युञ्जे । ८ । २ । ३२ ।

ड

१३	डाहवो कतिपये । ८ । १ । २५० ।
२१	डिअणुअणो भवे । ८ । २ । १६३ ।
२४	डम्मिं ऊः । ८ । ३ । ११ ।
२६	डो हीयो वा । ७ । ३ । ३८ ।
११	डो लः । ८ । १ । १०२ ।
१६	डण्णमाः । ७ । १ । ५२ ।

ण

२२	णअण्वअभिअण्वं । ८ । २ । १०४ ।
२२	णवरं केवलं । ८ । २ । १०७ ।
२२	णवि वेपरसिं । ८ । २ । १७८ ।

पृष्ठ.	सूत्र
२६	णे गुं मि अम्मिं । ८ । ३ । १०७ ।
२६	णे णां मअणु अम्मं । ८ । ३ । ११४ ।
३१	णेअरंदावावे । ८ । ३ । १४६ ।
४६	णो नः । ८ । ४ । ३०६ ।
२८	णोअमशस्सट्ठानिं । ८ । ३ । ७७ ।
४४	णं नण्वथं । ८ । ४ । २०३ ।

त

२६	तइ तु ते तुम्हं तुहं । ८ । ३ । ६६ ।
२६	तइ तुव तुम तुहं । ८ । ३ । ७६ ।
४१	तकैल्लअण्वअण्वरस्यं । ८ । ४ । १६४ ।
५०	तदयादीनां अण्णां । ८ । ४ । ३६५ ।
११	तगरअस्सत्तुवटः । ८ । १ । २७१ ।
३१	तगराहोअविहायो । ८ । ४ । २७१ ।
४१	तनस्सदोस्सोः । ८ । ४ । ४१७ ।
२८	तदअत्तः सोअण्णो वा । ७ । ३ । ७६ ।
४६	तदिदमांसा नेन खिअं । ८ । ४ । ३२२ ।
२८	तदो गोः । ८ । ३ । १७७ ।
२८	तदो णः स्यादो क्को । ८ । ३ । ७० ।
४६	तदोस्सः । ७ । ४ । ३०७ ।
३७	तनेस्सत्तनइत्तइत्तं । ८ । ४ । १३७ ।
१९	तन्वीतुण्येणु । ७ । २ । ११७ ।
४३	तवस्य इपव्वं । ८ । ४ । ४३८ ।
४४	तस्समाः । ८ । ४ । २०८ ।
३०	तत्तयंअण्वो । ७ । ३ । १३५ ।
४२	तादथ्यं केहिनेहिं । ८ । ४ । २७४ ।
३६	ताअण्णो स्यः । ८ । २ । ४६६ ।
३७	तिअण्णोसुअः । ८ । ४ । १०४ ।
६	तिअण्णो रः । ८ । १ । १०० ।
२०	तिअण्णोस्सिअदिअण्विः । ७ । २ । १४३ ।
४५	तिअण्विअण्वः । ८ । ४ । २६७ ।
१७	तीकण्णेणु । ७ । २ । १०१ ।
६	तीथं हे । ८ । १ । १०४ ।
११	तुअं तअण्णो वा । ८ । १ । २०४ ।
३७	तुअंस्सत्तनइत्तइत्तं । ८ । ४ । १३६ ।
२६	तु तुव तुम तुहं । ८ । ३ । १०७ ।
२६	तुअं तुअंदाहो । ८ । ३ । ६७ ।
४३	तुम अयमणां । ७ । ४ । ४४१ ।
२६	तुम तुमप तुं । ८ । ३ । १०६ ।
४६	तुम्हासु सुया । ८ । ४ । ३७४ ।
२६	तुअ तुअं तहिं । ८ । ३ । १०७ ।
४०	तुराअयादी । ८ । ४ । १७२ ।
३४	तुलगाहामः । ८ । ४ । १७९ ।
२६	तु यो अं तुअं । ८ । ३ । १०० ।
३१	तुनीयस्य मिः । ७ । ३ । १४१ ।
३१	तुनीयस्य सोसुं । ८ । ३ । १४४ ।
४३	तुनोअण्वअण्वः । ८ । ४ । ४४३ ।
३२	तुपअदिअण्वः । ८ । ४ । १३७ ।
३२	तेनास्सेरास्येहं । ७ । ४ । १६४ ।
१७	तेलादी । ८ । २ । ९८ ।

४४	तो दोअनादो शौं । ७ । ४ । २६० ।
४	तोअस्सति । ८ । १ । ६० ।
२६	ते तु तुम तुवं तुं । ८ । ३ । ७२ ।
२२	ते वाअण्णोस्समास । ८ । २ । १७६ ।
२१	तो दो तसो वा । ८ । २ । १६० ।
२८	ते च तस्य सुक्का । ८ । ३ । ८३ ।
२८	त्यदाअण्वय्यात्तं । ८ । १ । ४० ।
४०	त्यादिशाओस्सत्तुः । ७ । ४ । १७१ ।
३१	त्यादीनामाअण्वं । ८ । ३ । १३९ ।
१	त्यादिः । ८ । १ । ९५ ।
४६	त्यादिशाअण्वं । ८ । ४ । ३८२ ।
१४	त्याअण्वय्यं । ८ । २ । १३ ।
२१	त्थयां हिअत्थाः । ८ । २ । १६७ ।
४१	त्थसेअण्वोअण्वं । ७ । ४ । १६७ ।
४०	त्थस्सस्य हिअत्थतो । ८ । २ । १३६ ।
४२	त्थस्य केअहे । ८ । ४ । ४३६ ।
३०	त्थेअस्सिः । ८ । ३ । १११ ।
३०	त्थेअस्सिं तुनीयादी । ८ । ३ । ११८ ।
४३	त्थेअण्वोः अण्वः । ७ । ४ । ४३७ ।
१५	त्थेअण्वोर्णो वल्लो । ८ । २ । १५ ।
४०	त्थेअण्वोर्णो अण्वो । ८ । ४ । १७० ।
२०	त्थेअण्वोर्णो अण्वो । ८ । २ । १४४ ।
२२	त्थादिः सः । ८ । २ । १७७ ।

थ

१४	थयाअण्वे । ७ । २ । ६ ।
२३	थु कुन्त्यायाम् । ८ । ७ । २०० ।
४४	थो थः । ८ । ४ । २६७ ।

द

४	दकिणे हे । ८ । १ । ४४ ।
१६	दअण्विअण्विअण्विः । ८ । २ । ४० ।
२४	दयाओअण्वः । ७ । ४ । २१४ ।
४०	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ७ । ४ । १७६ ।
२२	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ७ । १ । १७७ ।
१७	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । १ । २६२ ।
१७	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ७ । १ । २४४ ।
४१	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ७ । ४ । १०७ ।
४३	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । ४ । ७४६ ।
२	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ७ । १ । १९९ ।
४४	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । ४ । २७३ ।
१३	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ७ । १ । २६३ ।
१२	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ७ । १ । २७३ ।
१	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ७ । १ । २७३ ।
१७	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । १ । २११ ।
१७	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । २ । ७२ ।
४४	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । ४ । ३३ ।
३७	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । ४ । ६२ ।
७	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । १ । ११६ ।
१४	दअण्विअण्विअण्विअण्विः । ८ । १ । १७० ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३०	बुधे दोषि बोधि० । ॥ ३ । १२० ।	४०	नशोरिणिसा० । ॥ ४ । १०८ ।	१६	पद्यप्रमूखद्वारे० । ॥ १ । ११२ ।
३३	डुसु सु-विध्यादि० । ॥ १ । ११३ ।	३५	नशांविडरुनास० । ॥ ४ । १११ ।	२०	परराजन्वां क् । ॥ १ । ११८ ।
१६	डुहितुनगिन्यांशु० । ॥ ३ । १२६ ।	१	न अङ्गदाः । ॥ १ । १११ ।	५१	परस्परस्यादिरः । ॥ ४ । ४०९ ।
३४	दूङ्गाः दूमः । ॥ १ । १२१ ।	२५	नात आत् । ॥ १ । ११० ।	४१	पयसः पत्रोइ-पठ० । ॥ ४ । २०० ।
१८	दत्त । ॥ १ । २ । १६६ ।	४	नात्पुनर्यादाइ वा । ॥ १ । १ । ६५ ।	१६	पयस्तपयौष० । ॥ २ । १६८ ।
४१	दद्यात्तेन द्रुः । ॥ १ । ४ । २३३ ।	४७	नादिपुत्रोरन्ये० । ॥ १ । १ । १०० ।	१६	पयस्त घटी । ॥ १ । २ । ४७ ।
३२	दशि वचनेर्निसकुम्भ० । ॥ ३ । १६१ ।	२६	नामन्यात्सां मः । ॥ १ । १ । १०१ ।	१३	पयांणे वा बा । ॥ १ । १ । २५२ ।
३६	दशोर्दावदवाद् । ॥ १ । ४ । ३२२ ।	२६	नाम्यरं वा । ॥ १ । ३ । ४० ।	१२	पभिते वा । ॥ १ । १ । ११३ ।
४०	दशो निअच्छुप० । ॥ १ । ४ । १२२ ।	१०	नावर्णात्पः । ॥ १ । १ । १७६ ।	५१	पश्चाद्विभवेव० । ॥ ४ । ४२० ।
५०	दशः क्विपत्कस० । ॥ १ । २ । १४४ ।	१०	नाव्याषः । ॥ १ । १ । १७५ ।	११	पाटिपठपपरि० । ॥ १ । १ । २३२ ।
५०	दशोः प्रससः । ॥ १ । ४ । ३२३ ।	१०	निकपस्फटिक० । ॥ १ । १ । १७६ ।	६	पार्नीयात्विध्व० । ॥ १ । १ । १०१ ।
२३	दं समुखांकरयो च । ॥ १ । २ । १६६ ।	३४	निकपस्फटिक० । ॥ १ । १ । १७६ ।	११	पाषाणै रः । ॥ १ । १ । २३५ ।
३५	दालरङ्गावः । ॥ १ । ४ । ४८८ ।	३४	निद्रातराहोरो० । ॥ १ । ४ । १२१ ।	५	पारपत्ते रो वा । ॥ १ । १ । ७० ।
१२	दंगवहोः । ॥ १ । १ । २१७ ।	१२	निम्ननापिते ल० । ॥ १ । १ । १३० ।	११	पिठेरं हो वा ल्ठ० । ॥ १ । २०१ ।
१०	दं प्रोप्या दाढा । ॥ १ । २ । १३६ ।	३८	निरः पदेर्लतः । ॥ १ । ४ । १२७ ।	३४	पिबेः पिअमङ्ग० । ॥ ४ । १० ।
४६	द्वनपुनां प्रुः । ॥ १ । ४ । ३३३ ।	१	निर्दुरोर्वा । ॥ १ । १ । १३३ ।	४०	पिपेणिवहृणि० । ॥ १ । ४ । १२५ ।
१५	द्वययो जः । ॥ १ । १ । २४४ ।	३४	निर्मा निम्माणु० । ॥ १ । ४ । १२५ ।	१२	पिते बां ल वा । ॥ १ । १ । २३३ ।
१४	द्वरो न वा । ॥ १ । २ । १०० ।	३५	निलीकेणिली० । ॥ १ । ४ । १५५ ।	२५	पुलिजसां डड० । ॥ ३ । ३० ।
५	द्वारं वा । ॥ १ । १ । ७६ ।	७	निवृत्तवृन्दारके० । ॥ १ । १ । १३२ ।	२५	पुल्लियांन वाऽय० । ॥ ३ । ७३ ।
३१	द्विनीयुयोरुप० । ॥ १ । २ । ६० ।	३४	निवृत्तपत्याग्निहो० । ॥ १ । ४ । १२५ ।	२७	पुन्येन आणो रां० । ॥ ३ । ४६ ।
३१	द्विनीयस्य सि से । ॥ १ । ३ । १४० ।	१२	निशांशुपृथिव्यांवा । ॥ १ । २ । १६ ।	३७	पुत्रारोख्यमाशौ । ॥ ४ । १०२ ।
३१	द्विनीयात्तुनीया० । ॥ १ । ३ । १३५ ।	५१	निश्वसेर्भक्तः । ॥ ५ । १ । २०१ ।	६२	पुत्रकं कृतकरणे० । ॥ ५ । १५६ ।
६	द्विन्यांरुन् । ॥ १ । १ । १९४ ।	१४	निषेधे धो ङः । ॥ १ । १ । १२६ ।	५२	पुनर्विनः स्वार्थे० । ॥ १ । ४ । ५२६ ।
३०	द्विवचनस्य बहुवच० । ॥ १ । ३ । १३० ।	३७	निषेधेर्हकः । ॥ १ । ४ । १३५ ।	११	पुत्राज्जाणिम्यांवा । ॥ १ । १ । १६० ।
३०	द्वौ वे । ॥ १ । ३ । ११९ ।	३६	निष्टम्भावष्टमे० । ॥ ४ । ४ । ६५ ।	६	पुत्र्ये रोः । ॥ १ । १ । १११ ।
<b>ध</b>					
२	धनुषो वा । ॥ १ । १ । १२४ ।	३६	निष्पानाच्छांटे० । ॥ १ । ४ । ५१ ।	४४	पुत्र्ये पुरः । ॥ १ । ४ । १०० ।
३४	धनलङ्घिम् । ॥ १ । ४ । १२४ ।	३	निष्प्रती आरण्य० । ॥ १ । २ । ३७ ।	२०	पुत्र्यस्य पुरिमः । ॥ १ । १ । ११५ ।
४३	धानयोऽध्यांनतेरऽ० । ॥ ४ । १४५९ ।	३६	निस्सर्णोहर० । ॥ १ । ४ । ५७ ।	४०	पुत्ररथाङ्गात्सवः । ॥ १ । ४ । १२६ ।
१७	धाव्याष । ॥ १ । २ । ८१ ।	६	नीरुपीठे वा । ॥ १ । १ । २०६ ।	१०	पुत्रार्क घो वा । ॥ १ । १ । १८८ ।
३६	धृगधुवः । ॥ १ । ४ । ४९९ ।	३८	नीपापिडे मां वा । ॥ १ । १ । २३४ ।	३६	पुत्रकृ स्पष्टे णिव्वा० । ॥ ४ । ६९ ।
१६	धृतेर्दिहिः । ॥ १ । २ । १३१ ।	३८	नेः सदां मज्जः । ॥ १ । ४ । १२३ ।	७	पुष्ट वाऽनुत्तरपदे । ॥ १ । १ । १२९ ।
१८	धृष्टधुमेण णः । ॥ १ । २ । ६४ ।	१२	नेा णः । ॥ १ । १ । १२१ ।	१४	पो वः । ॥ १ । १ । २११ ।
१६	धैर्यं वा । ॥ १ । २ । ६४ ।	३३	नेमाणी । ॥ १ । ३ । १८० ।	२४	प्याद्यः । ॥ १ । १ । ११७ ।
३४	ध्यामांजीवी । ॥ १ । ४ । ६ ।	१६	न्मां मः । ॥ १ । २ । ६१ ।	३५	प्रकांशोष्णः । ॥ १ । ४ । ५५ ।
१५	ध्वजं वा । ॥ १ । २ । २७ ।	४५	न्ययकृजां ङ्जः । ॥ १ । ४ । १०३ ।	३०	प्रच्छुः पुच्छुः । ॥ १ । ४ । ६७ ।
४	ध्वनिाध्वच्चोरुः । ॥ १ । १ । ४२ ।	४६	न्यपयोऽमीः । ॥ १ । ४ । ३०५ ।	४१	प्रक्तीः सामय० । ॥ १ । ४ । १६१ ।
<b>न</b>					
४६	न कगचजादि० । ॥ १ । ४ । ३१४ ।	४१	न्यसां णम० । ॥ १ । ४ । १०९ ।	४०	प्रत्याङ्गाप्राष्टः । ॥ १ । ४ । १६६ ।
२८	न लयः । ॥ १ । ३ । ७६ ।	४	पकाङ्कारसंज्ञा० । ॥ १ । १ । ४७ ।	११	प्रत्यादी रः । ॥ १ । १ । २०६ ।
१८	न दीर्घानुस्वारान् । ॥ १ । १ । ६२ ।	१७	पकप्रमपस० । ॥ १ । १ । ७७ ।	२४	प्रत्येकमः पाणि० । ॥ १ । २ । २१० ।
३०	न दीर्घो पा । ॥ १ । ३ । १२५ ।	३७	पचः सोल्लपसंज्ञा । ॥ १ । ४ । ७० ।	४	प्रथमे पद्योर्वा । ॥ १ । १ । ५५ ।
४	नमस्कारपरस्पर० । ॥ १ । १ । ६१ ।	३१	पञ्चम्यास्तुनीया० । ॥ १ । ३ । १३६ ।	१२	प्रदीपि दोहदं लः । ॥ १ । १ । २२१ ।
१	न युवर्णस्यास्वे । ॥ १ । १ । ६ ।	१६	पञ्चाशत्पञ्चद० । ॥ १ । २ । ४३ ।	१६	प्रदीपस्तैश्चवसं० । ॥ १ । ४ । १५२ ।
४२	न वाक्येभांश्चः । ॥ १ । ४ । २४२ ।	५	पार्थपृथिवीप्रति० । ॥ १ । १ । ७७ ।	११	प्रभूते वेः । ॥ १ । १ । २३३ ।
२७	न वाऽनिमित्तमेन० । ॥ १ । ३ । ६० ।	२०	पथो णस्येकद् । ॥ १ । २ । १५२ ।	३६	प्रभो हुपो वा । ॥ १ । ४ । ६३ ।
६	न वा मयुष्यलव० । ॥ १ । १ । १०१ ।	१	पथ्याः स्वधियां । ॥ १ । १ । ५ ।	६	प्रधासीकी । ॥ १ । १ । ६५ ।
४४	न वा यो र्यः । ॥ १ । ४ । १६६ ।	३	पदादपवां । ॥ १ । १ । ४१ ।	४०	प्रविशेरिक्काः । ॥ १ । ४ । १२३ ।
<b>प</b>					
४	पकाङ्कारसंज्ञा० । ॥ १ । १ । ४७ ।	५१	पदान्ते उर्हुदि० । ॥ १ । ४ । ४११ ।	३६	प्रसरेः पयल्लो० । ॥ ४ । ७७ ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३५	प्रस्थापेः पटुबषेण० ।। ४ । ३७ ।	४८	मिस्सुपोर्हि ।। ४ । ३४७ ।	५	मात्रटि वा ।। १ । ८१ ।
३७	प्रहणेः सारः ।। ४ । ३८ ।	१६	मीमेष् सः ।। २ । ५४ ।	२३	मार्गि हलात् ।। २ । १६५ ।
४२	प्रार्थमिः ।। ४ । २३२ ।	३७	ह्रजोः नुञ्जामिण० ।। ४ । ११० ।	१५	मार्जारस्य मञ्ज० ।। २ । ३२२ ।
४०	प्रार्थ्यमुपाङ्गु० ।। ४ । १८४ ।	३६	शुबहोऽवहवाः ।। ४ । ६० ।	१५	मार्सादिभ्यनुस्व० ।। १ । ७० ।
५१	प्रायसः प्राड प्रा० ।। ४ । ४१५ ।	४४	ह्रवां नः ।। ४ । २६६ ।	२	मार्सादेवा० ।। १ । ३५५ ।
६	प्रावरणे ऋक्त्वा० ।। १ । १७४ ।	५०	नुषः पर्यासी हु० ।। ४ । ३६० ।	३०	मि मयि ममाङ्ग० ।। ३ । ११५ ।
२	प्राकृष्टरत्तर० ।। १ । १११ ।	२८	मे तुभं नुञ्ज० ।। ३ । ११ ।	२६	मि मे मम मम० ।। ३ । १०९ ।
१७	प्लके लाव ।। २ । १०३ ।	२८	ने तुभं हि उञ्ज० ।। ३ । ६५ ।	३२	मि मो मु मे स्ता० ।। ३ । १६७ ।
३३	प्लाबेराम्बाल० ।। ४ । ४१ ।	२६	मे हि हे त तद्द० ।। ३ । ६४ ।	३१	मिमामिदिद्दो ।। ३ । १७७ ।
	<b>फ</b>	३०	भ्यसञ्च द्विः ।। ३ । १२७ ।	३१	मिरायाम् ।। १ । ४७ ।
३७	फक्त्वात्पठः ।। ४ । १८७ ।	२४	भ्यसस्तो दो० ।। ३ । १६ ।	२२	मिव पिव विव० ।। २ । १८२ ।
१२	फो मर्हो ।। १ । २३६ ।	४८	भ्यसामोर्दुः ।। ४ । ३५१ ।	२१	मिभ्रादु र्गिभ्रः ।। ३ । १७० ।
	<b>ब</b>	४६	भ्यसामभ्यां० ।। ४ । ३७३ ।	२४	मिभ्र्यांसात्म० ।। ४ । २८ ।
४३	बन्धो न्यः ।। ४ । २४७ ।	२४	भ्यसि वा ।। ३ । १३३ ।	२८	मुः स्यादौ ।। ३ । ८८ ।
२२	बन्धे निधारेण० ।। १ । २१५ ।	४७	भ्यसां हुं ।। ४ । ३३७ ।	३७	मुचदकडुबहो० ।। ४ । ७१ ।
२०	बादिवा बाहि० ।। ३ । १४० ।	४०	भ्रगोः फिःफिह् ।। ४ । १७७ ।	४१	मुहुर्मुमुमुम्री ।। ४ । २७७ ।
४०	बहुत्वे हुं ।। ४ । १७१ ।	१३	भ्रमरे सा वा ।। १ । २४४ ।	४१	मुजेनमुसलुञ्ज० ।। ४ । १७५ ।
४६	बहुत्वे हुः ।। ४ । ३८५ ।	१३	भ्रमराडे वा ।। ३ । १४१ ।	३८	मुनां मलमड० ।। ४ । १२६ ।
१	बहुलम् ।। १ । ११ ।	३९	भ्रमिर्धिरिह् ।। ४ । १६१ ।	३२	मः स्सं ।। ३ । १६६ ।
३३	बहुतुः तु ह मो ।। १ । १७६ ।	३५	भ्रमेस्तालि० ।। ४ । ३० ।	२२	मेधिर्शिधिरसि० ।। १ । २१५ ।
३१	बहुत्वात्पठ्य० ।। ३ । १४२ ।	३१	भ्रुवां भया डमया० ।। २ । १६७ ।	१६	मे मद् मम मह० ।। ३ । ११३ ।
१७	बापे होड्य० ।। १ । १७० ।		<b>म</b>	४०	मांऽनुनासिकां० ।। ४ । ३६७ ।
३	बाहोराव ।। १ । १३६ ।	२६	मद् मम मह० म० ।। ३ । १११ ।	२	मांऽनुस्वारः ।। १ । १२३ ।
३१	बिसिन्यां मः ।। १ । २३७ ।	२३	मणे विमशे० ।। १ । २०७ ।	४४	मांऽप्याद् पो वे० ।। ४ । २७५ ।
३५	बुभुक्षिवीज्याणी० ।। ४ । ५ ।	३७	मणमिभ्रञ्चि० ।। ४ । ११५ ।	३२	मांमुमानो हि० ।। ३ । १६८ ।
१७	बृहस्पतिवच० ।। २ । ६६ ।	७	मभुक् वा ।। १ । १२२ ।	२४	मारचञ्जा मुधा ।। २ । २१४ ।
२०	बृहस्पती बहो० ।। ३ । १३० ।	४६	मभ्यत्रयस्याध० ।। ४ । ३७३ ।	४४	मा वा ।। ४ । २६४ ।
१२	बो वः ।। १ । २३७ ।	४	मभ्यमकतमे० ।। १ । ४८ ।	३२	मा वा ।। ३ । १५४ ।
४३	भो बृहलिह् ।। ४ । २४५ ।	३१	मभ्यमस्येस्था० ।। १ । १४३ ।	४२	महाणैः ।। २ । ४२ ।
३६	भो बृहज्जी वा ।। ३ । १०४ ।	१७	मभ्याङ् इः ।। ३ । ८७ ।	२८	ममावेषौ वा ।। ३ । ८५ ।
१६	भ्रक्षयर्थात्पठ्य० ।। २ । ६३ ।	३३	मभ्ये च स्वरा० ।। ३ । १७७ ।	४१	मन्त्रेशोऽपडः ।। ४ । १९१ ।
३६	भ्रक्षयर्थे चः ।। १ । ५७ ।	२१	मनाको न वा ड० ।। २ । १६६ ।	३४	म्लयां पञ्चयो ।। ४ । १८ ।
४०	भ्रगो भ्रुवा वा ।। ४ । १३१ ।	३७	मन्धर्षुसर्वावि० ।। ४ । १२१ ।	५१	म्लो भो वा ।। ४ । ४२ ।
	<b>भ</b>	३३	मन्मथे वः ।। १ । १२४ ।		<b>य</b>
३७	भञ्जयेमय-सु० ।। ४ । १०६ ।	३६	मन्मुनोष्टुमा० ।। ४ । ६६ ।	४६	यत्किंक्रयो० ।। ४ । ३४७ ।
४४	भ्रज्जगत्रतोः ।। ४ । २६५ ।	१६	मन्यो नो वा ।। १ । ४४ ।	२०	यत्तदेतो० ।। २ । १५६ ।
४४	भ्रविष्यति स्तिः ।। ४ । १७४ ।	२६	ममाभौ ज्यसि ।। ३ । ११२ ।	४६	यत्तद्ः स्वमांभ्रुं अ ।। ४ । ३६० ।
३२	भ्रविष्यति हिरा० ।। ३ । १६६ ।	४	ममयत्वां ।। १ । ५० ।	४१	यत्तत्रयोत्त्रय० ।। ४ । ४०४ ।
४६	भ्रविष्यत्येष एव ।। ४ । ३२० ।	२०	ममत्तमदकले० ।। १ । १८२ ।	१०	यमुनाचातुपडा० ।। १ । १७८ ।
४०	भ्रवोत्पन्नः ।। ४ । १७६ ।	७	ममिनामयद्यु० ।। १ । ३८ ।	३०	यद्यथां चः ।। १ । २४७ ।
१६	भ्रस्मात्पठ्य० ।। २ । ४१ ।	३७	ममजराडुण्डिण० ।। ४ । १०१ ।	४१	यादकृतादकृ० ।। ४ । ४०२ ।
३९	भ्रस्मात्पठ्ये मम० ।। ४ । १५७ ।	३६	ममहो मन्धे ।। ४ । ७८ ।	४६	यादद्याद्विद्विः ।। ४ । ३३७ ।
४१	भ्रस्मात्पठ्ये मम० ।। ४ । २०३ ।	५	महागृह् ।। १ । ६७ ।	३४	यापञ्जवः ।। ४ । ४० ।
३६	भ्रियो भाबीहो ।। ४ । ४४३ ।	१६	महागृह् हरोः ।। २ । ११६ ।	३४	यायत्तावञ्चि० ।। १ । २७१ ।
४६	भ्रिसा तुभेहिं ।। ४ । ३७९ ।	४६	महु मज्जु डसि० ।। ४ । ३७६ ।	४१	यायत्तावतोर्वा० ।। ४ । ४०६ ।
३४	भ्रिसो हि हिं हिं ।। ३ । ७७ ।	२४	माह माथे ।। १ । १६१ ।	३७	युजां नुञ्जुञ्ज० ।। ४ । १०९ ।
२५	भ्रिस्त्रयस्तुपि ।। ३ । ११० ।	७	मानुविद्वा ।। १ । १३४ ।	४१	युधयुधयुध० ।। ४ । २७७ ।
४७	भ्रिस्त्रयः ।। ४ । ३३५ ।	२०	मानुपितृ-स्व० ।। १ । १४४ ।	४१	युधिष्ठिर वा ।। १ । ७६ ।

पृष्ठ.	सूत्र
४७	युषणैस्व गुणः । १ । ४ । २३७ ।
४८	युष्मद् संज्ञा तुङ् । १ । ४ । ३६० ।
२०	युष्मद्स्तं तु तुषां । १ । ३ । ६० ।
२०	युष्मद्स्तदाऽप्रा । १ । ४ । १४९ ।
४२	युष्मदादिरे० । १ । ४ । ४३४ ।
१३	युष्मद्यपरं तः । १ । २ । ४४६ ।
५२	यागजाश्चैषाम् । १ । ४ । ४३० ।

र

१४	रक्ते गो वा । १ । ४ । १० ।
३७	रक्तेरुग्माहावह० । १ । ४ । ९४ ।
३७	रज्जः गवः । १ । ४ । ४९ ।
४०	रमः संयुक्तुल्ल० । १ । ४ । १६८ ।
४४	रसालंशो । १ । ४ । २०८ ।
४७	रस्य लो वा । १ । ४ । ३२६ ।
१०	रदोः । १ । ४ । ९३ ।
३७	राज रभ्य लुञ्ज० । १ । ४ । १०० ।
४६	राज्ञो वा चिञ् । १ । ४ । ३०४ ।
४६	राज्ञः । १ । ३ । ४९ ।
१८	रात्रौ वा । १ । २ । १०७ ।
८	रिः क्वबलस्य । १ । २ । १४० ।
३६	रुते रुञ्जकपटौ । १ । ४ । ५७ ।
४१	रुदन्मर्मावः । १ । ४ । २२६ ।
४१	रुदयुक्तुमुचो० । १ । ४ । २११ ।
११	रुदित दिना षः । १ । २ । २०९ ।
३८	रुधेयधक्कः । १ । ४ । १३३ ।
४१	रुधो न्यम्भो च । १ । ४ । ११८ ।
४२	रुधादीनां दीधेः । १ । ४ । २३६ ।
४३	रुधरे संभाषण० । १ । २ । २०२ ।
२१	रो दीयात् । १ । २ । १७१ ।
३४	रोमन्धे रोम्मा० । १ । ४ । ४३ ।
३	रो रा । १ । २ । १६ ।
४६	रोस्याधुसादी । १ । २ । ३० ।
४६	रोस्नष्टं रिय० । १ । ४ । ३१४ ।
७	लुङ्क कुरा वा । १ । २ । ११५ ।
६	लुङ्क निरः । १ । २ । ६३ ।
१८	शुभ्रनमवज्ज वा । १ । २ । १०५ ।
१७	हृञ्चिन्हाकृत्स्न० । १ । २ । १०४ ।

ल

१६	लघुक् लहोः । १ । २ । १२२ ।
१३	ललाट च । १ । २ । १४७ ।
१६	ललाट लमोः । १ । २ । १२३ ।
३७	लरुजर्जिहः । १ । ४ । १०३ ।
१३	लाय । १ । २ । १०२ ।
१३	लाहलसाङ्गल० । १ । २ । २४६ ।
४३	लिङ्गमतन्त्रम् । १ । ४ । ४४४ ।
३६	लिपो लिम्पः । १ । ४ । १४६ ।
३	लुक । १ । ४ । १० ।
३१	लुपावी कमावः । १ । ३ । १५२ ।
४४	लुभाजानन्दुज । १ । २ । २६७ ।
३	लुभययवधाय० । १ । २ । ४३ ।
२५	लुप्त शसि । १ । ३ । १७ ।

पृष्ठ.	सूत्र
३६	लुभेः संभावः । १ । ४ । १४३ ।
४६	लाळः । १ । ४ । २०८ ।
२१	ल्लो नवैकाद्वा । १ । २ । १६५ ।

व

२	वक्रादावन्तः । १ । १ । २६ ।
४१	वचो वाद् । १ । ४ । २११ ।
३७	वञ्जवहववसव० । १ । ४ । ६३ ।
२३	वणे निञ्जयिच० । १ । २ । २०६ ।
२०	वतव्यः । १ । २ । १४० ।
३०	वधाम् डाहञ्ज वा । १ । ३ । १३३ ।
१६	वनिताया विल० । १ । २ । १२० ।
२	वर्गेऽन्यो वा । १ । १ । २० ।
३२	वर्तमानापञ्च० । १ । ३ । १५८ ।
३३	वर्तमानाभिच० । १ । ३ । १७७ ।
५०	वर्त्येति स्वस्य० । १ । ४ । ३१० ।
४	वस्तुयुक्तरप्य० । १ । १ । १७७ ।
९	वा कदले । १ । १ । १६७ ।
३	वाङ्मर्थेयचन० । १ । १ । ३३ ।
२८	वाऽदसो दस्य० । १ । ३ । १७७ ।
४४	वाऽदस्तावति । १ । ४ । २६१ ।
१२	वाऽऽदी । १ । १ । १२६ ।
४०	वाऽधो रो लुक । १ । ४ । ३१८ ।
६	वा निर्भरे ना । १ । १ । १६७ ।
४१	वाऽमथोऽनुः । १ । ४ । ४१५ ।
२६	वाऽऽप ए । १ । ३ । ४३ ।
८	वा बृहस्पतौ । १ । २ । ३३८ ।
१३	वाऽमिमन्दौ । १ । १ । २४३ ।
४१	वा यस्तदोऽतामै० । १ । ४ । ७७७ ।
४	वाऽपौ । १ । १ । ६३ ।
४	वाऽलावरपथे० । १ । १ । १६६ ।
१६	वा विह्वले वौ । १ । २ । १७ ।
४	वाऽव्ययात्स्नाता० । १ । १ । ६७७ ।
२	वा स्वरे मञ्च । १ । १ । १४४ ।
२	विश्यादलुक । १ । १ । २८ ।
४१	विकसः काश्रा० । १ । ४ । १६४ ।
३५	विकसिः पक्खो० । १ । ४ । १७१ ।
४०	विजलः धिप्य० । १ । ४ । १७५ ।
३५	विक्रपवोक्ता० । १ । ४ । ३८ ।
१२	विनास्तिवस० । १ । १ । ११४ ।
२१	विपुत्रयुष्मता० । १ । २ । १७३ ।
३५	विचिरेरुगुणो० । १ । ४ । २६ ।
३७	विलोपमञ्जवद० । १ । ४ । ४५८ ।
३६	विलीङ्गविवा । १ । ४ । ५६ ।
३७	विबुद्धस्य । १ । ४ । ११८ ।
३६	विभ्रमोर्णिव्वा । १ । ४ । २४६ ।
४१	विषण्णोक्तवर्मे० । १ । ४ । ४४१ ।
१३	विषमे मो दो वा । १ । १ । २४१ ।
३८	विषवदेर्षिञ्ज० । १ । ४ । १२६ ।
३६	विस्सुः पम्भुस० । १ । ४ । ७५ ।
२४	विऽन्तास्यादर्षी० । १ । ३ । १ ।
१६	वृक्कितयाः स० । १ । २ । १२७ ।

पृष्ठ.	सूत्र
१५	वृत्तप्रवृत्तमुत्ति० । १ । २ । २९ ।
१५	वृत्ते एः । १ । २ । ३१ ।
१५	वृञ्जकञ्जनुवा । १ । २ । १६ ।
७	वृषमे वा वा । १ । १ । १३३ ।
४२	वृषार्थानामरिः । १ । ४ । २३५ ।
३७	वृषे दिङ् । १ । ४ । ६६ ।
११	वृषो णो वा । १ । १ । २०१ ।
९	वृषः कर्णिकारे । १ । १ । १६८ ।
४१	वृद्धिकमाऽयादिः । १ । ४ । ४०८ ।
२८	वृद्धनदंता ऊ० । १ । ३ । ८१ ।
३६	वृषरायम्बाय० । १ । ४ । १४७ ।
३	वृषामञ्जलाप्या० । १ । ४ । १५ ।
२३	वृषव्ये च ग्रामन्त्रणे । १ । २ । १६४ ।
२३	वृषव्ये त्रयथासु० । १ । २ । १६३ ।
५१	वृषः वयः । १ । ४ । २२१ ।
३५	वृषेः परिश्रालः । १ । ४ । ४१ ।
२१	वृषकाः सि सि० । १ । २ । १६१ ।
१६	वृषैर्यस्य वेवसिय० । १ । १ । १३३ ।
२०	वृषैतत्तदः । १ । ३ । ३ ।
२८	वृषैतदा ऊसस् शो० । १ । ३ । २९ ।
८	वृषैरादौ वा । १ । १ । १५२ ।
२७	वृषैरुणमिणो० । १ । ३ । ८५ ।
२६	वृषोत्तुक्तुमुने० । १ । ३ । ६३ ।
२५	वृषोता डवो । १ । ३ । २२ ।
१३	वृषोत्सारीनीय० । १ । १ । २४८ ।
१६	वृषोत्सादे थो डवो० । १ । २ । ४८ ।
५१	वृषोः । १ । ४ । २२३ ।
६	वृषोपतौ । १ । १ । १०७ ।
३७	वृषोपि कम्मवः । १ । ४ । १११ ।
१६	वृषोषे । १ । २ । ५६ ।
१२	वृषोषे । १ । १ । २२७ ।
५२	वृषोऽज्जनाद्वृत्ते । १ । ४ । २३६ ।
३२	वृषोऽज्जनादीशः । १ । ३ । १६३ ।
५३	वृषोऽययञ्च । १ । ४ । ४४७ ।
१४	वृषोऽकरणभाक्ता० । १ । १ । २७७ ।
३८	वृषोऽप्रापक्रमः । १ । ४ । १४१ ।
३६	वृषोऽप्रापक्रमः । १ । ४ । ७१ ।
३६	वृषोऽप्रापक्रमः । १ । ४ । ७६ ।
४३	वृषोऽप्रापक्रमः । १ । ४ । २५३ ।
४२	वृषोऽप्रापक्रमः । १ । ४ । २२४ ।
४०	वृषोऽप्रापक्रमः । १ । ४ । २३२ ।
४५	वृषोऽप्रापक्रमः । १ । ४ । २४४ ।

श

४२	शकादीनां । १ । ४ । २३० ।
३७	शकैश्चयतरती० । १ । ४ । ७६ ।
१४	शकमुक्तुदृष्टस्य० । १ । २ । ११ ।
३३	शकानशः । १ । ३ । १११ ।
३८	शकौ ऊपक्खो० । १ । ४ । १३० ।
२१	शकिसोऽदिश्रय० । १ । २ । १६८ ।
१३	शकुरे बो मः । १ । १ । २४८ ।
४०	शमेः पारिसय० । १ । ४ । १६७ ।
३	शम्भोऽवैरत् । १ । १ । १८ ।



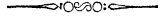
पृष्ठ.	सूत्र
१३	शुभोः सः । १ । १ । २९० ।
१६	शुभोः सः । १ । ४ । ३०६ ।
१७	शुभोः कालपूर्वोऽन्त । १ । २ । ३०० ।
१४	शुभित्यङ्गुदे वा । १ । १ । १८६ ।
१४	शुभियायां वा । १ । १ । २६६ ।
२०	शुभिकरे भरी वा । १ । १ । १०४ ।
४१	शुभिमादीनां कर्त्तव्यं । १ । ४ । ४२२ ।
३०	शुभिमाद्यप्ये स्वेर । १ । ४ । ४२२ ।
१४	शुभिके ज्ञा वा । १ । २ । १११ ।
१४	शुभिककन्दे वा । १ । २ । १४ ।
१०	शुभिले स्वः कः । १ । १ । १८६ ।
४५	शुभे प्राकृतवत् । १ । ४ । २०६ ।
४७	शुभे प्राग्वत् । १ । ४ । ३५८ ।
४४	शुभे शीरसेनीवत् । १ । ४ । ३०२ ।
४६	शुभे शीरसेनीवत् । १ । ४ । ३३३ ।
४३	शुभे संस्कृतवत् । १ । ४ । ४५८ ।
३०	शुभेऽन्तवत् । १ । ३ । १२४ ।
३६	शुभित्यलत् । १ । ४ । ७० ।
४१	शुभित्सेनीवत् । १ । ४ । ४४६ ।
१७	शुभो हरिकम्पे । १ । २ । ८७ ।
४	शुभामाक मः । १ । १ । ७१ ।
४४	शुभो जा द्वाः । १ । ४ । ७१ ।
१६	शुभधियुर्धाऽर्थे । १ । २ । ४१ ।
३६	शुभं वाकम्पः । १ । ४ । ६८ ।
३३	शुभमिथयदिविदि । १ । ३ । १७१ ।
३६	शुभद्वैषः । १ । ४ । ५८ ।
४०	शुभः सलहः । १ । ४ । ८८ ।
४१	शुभः सामभावने । १ । ४ । १७० ।
१६	शुभेष्याय वा । १ । २ । ४४ ।
<b>ष</b>	
१४	षट्शमीयावसु । १ । १ । २६५ ।
४८	षट्शपाः । १ । ४ । ३४४ ।
१४	षट्शक्योनीनि । १ । २ । ४ ।
१५	षट्शानुष्टुपासन्देष्टे । १ । २ । ३४ ।
१६	षट्शस्याः फः । १ । २ । ४३ ।
<b>स</b>	
१३	संख्यागङ्गे रः । १ । १ । ३१६ ।
३०	संख्याया आमोः । १ । ३ । १२३ ।
५०	संयोगभङ्गः । १ । ४ । १४० ।
४०	संदिशेष्यादः । १ । ४ । १०० ।
३४	संभावेरासङ्गः । १ । ४ । ३४ ।
४६	संयुक्तस्य । १ । २ । १ ।
३५	संयुगेः साह्वरः । १ । ४ । २२ ।
११	सदाशकटकैटः । १ । १ । १७६ ।
४१	सदपताडः । १ । ४ । ३१६ ।
४१	सप्तनी रः । १ । १ । १०० ।
४	सप्तपथी वा । १ । १ । ४७६ ।
३५	सप्तम्या द्वितीया । १ । ३ । १३७ ।
३४	सप्तः स्याः क्षाः । १ । ४ । ११ ।
३३	सप्तम्यावृत्तयेः । १ । ४ । २४८ ।
३३	सप्तः श्रान्जडः । १ । ४ । ११४ ।
३६	सप्तार्थः सप्तान् । १ । ४ । १४२ ।
३७	सप्तारचरवहः । १ । ४ । ७५ ।

पृष्ठ.	सूत्र
१८	समासे वा । १ । २ । ९७ ।
३८	समां गलः । १ । ४ । ११३ ।
४३	समां स्रुः । १ । ४ । ३२२ ।
१५	सम्प्रद्विनर्दि । १ । २ । ३६ ।
१७	सम्बन्धे लवरागो । १ । २ । ७७ ।
४६	सर्गस्य सादो वा । १ । ४ । ३६६ ।
२०	सर्वाङ्गान्तस्येकः । १ । २ । १४१ ।
४६	सर्वादि कसेदा । १ । ४ । ३४५ ।
४५	सर्वाः संयोगे सोः । १ । ४ । ३२६ ।
१५	सार्धसम्भाषां कः । १ । २ । २६ ।
१६	सामर्थ्यासुको । १ । २ । २२ ।
४६	सावस्मदां हउ । १ । ४ । ३७७ ।
३७	सिन्धेः सिञ्जसि । १ । ४ । ६६ ।
३१	सिनासनेः सिः । १ । ३ । १४८ ।
३२	सी ही दीस भूः । १ । ३ । १६८ ।
४६	सुपा अम्हासु । १ । ४ । ३२१ ।
३६	सुपि । १ । ३ । १०३ ।
३०	सुपि । १ । ३ । ११७ ।
१७	सुहृमश्रमण्णः । १ । २ । ७५ ।
४२	सुजो रः । १ । ४ । २४६ ।
४२	सेवादी वा । १ । २ । ६६ ।
८	सैन्ये वा । १ । १ । १५० ।
३३	सोऽन्यद्वा इजाः । १ । ३ । ३७७ ।
३३	सोर्हिवा । १ । ३ । १७४ ।
३७	सो पुन्योद्वा । १ । ४ । ३३२ ।
४४	सोः प्रकाञ्चकोः । १ । ४ । ३६७ ।
१६	सन्धे ठदी । १ । २ । ३६ ।
५४	सन्धे स्तो वा । १ । २ । ११ ।
१६	सन्धे वा । १ । २ । ४६ ।
१६	सन्धे धाऽसम्पः । १ । २ । ४४ ।
१६	सन्धे कस्य धाकः । १ । २ । १२५ ।
१५	स्यानचतुः । १ । २ । ३३ ।
१६	स्यिया र्थ्या । १ । २ । १३० ।
४८	स्यियां जस्युः । १ । ४ । ३६४ ।
४६	स्यियां र्थेः । १ । ४ । ३५६ ।
४२	स्यियां तदन्तादीः । १ । ४ । ४३१ ।
२२	स्यियामाद्विः । १ । १ । ११ ।
२५	स्यियामुदीती वा । १ । ३ । २० ।
४५	स्यधेयस्यः । १ । ४ । २६६ ।
६	स्यधिरावकाकः । १ । १ । १६६ ।
३४	स्यध्याथकः । १ । ४ । १६ ।
१४	स्यधाणवहरः । १ । २ । ७ ।
१७	स्यधुणान् वा । १ । १ । १२४ ।
११	स्यधुले लो रः । १ । १ । २७४ ।
३	स्यनमदांशिराः । १ । १ । ३२ ।
३४	स्यानरकृष्णः । १ । ४ । १४ ।
१६	स्यिन्ये वाऽदिती । १ । ३ । १०६ ।
४३	स्यिनदसिन्धोः सिः । १ । ४ । २४५ ।
१३	स्युषार्थो ष्ठा वाः । १ । १ । २६१ ।
१८	स्येहाभ्यांयोः । १ । २ । १०३ ।
३८	स्येदन्धुनुचतः । १ । ४ । १२७ ।
४३	स्येदुशिरुष्णः । १ । ४ । २७७ ।
४०	स्युषाः फासफः । १ । ४ । १२२ ।
३४	स्युष्टः सिहः । १ । ४ । ३४ ।
१५	स्युहायाम् । १ । २ । २३ ।

पृष्ठ.	सूत्र
११	स्फटिके लः । १ । १ । १७० ।
४३	स्फुटिचिः । १ । ४ । २३१ ।
३६	स्फोरभोरकरजः । १ । ४ । ७५ ।
४७	स्फोरभोरयोः । १ । ४ । ३३१ ।
४७	स्फयजस्युष्णाः । १ । ४ । ३४४ ।
४७	स्फयादीं हीः । १ । ४ । ३३० ।
१९	स्फयानुवैत्यः । १ । २ । ३०७ ।
४१	स्फेसङ्गमास्योः । १ । ४ । १७७ ।
४	स्फ्यावृष । १ । १ । ६४ ।
३७	स्फयः कमवसः । १ । ४ । १४६ ।
१३	स्फप्रतीव्यायां । १ । २ । २५६ ।
१७	स्फप्र नात् । १ । २ । १०८ ।
२३	स्फप्रमाऽर्थे ष्यणोः । १ । ३ । २०२ ।
१	स्फस्व्यादुत्ते । १ । १ । १८ ।
४३	स्फस्वार्णो स्वराः । १ । ४ । ३३८ ।
४७	स्फस्वार्णो स्वराः । १ । ४ । ३३७ ।
४२	स्फस्वार्दनातो वा । १ । ४ । ३४० ।
१०	स्फस्वार्दस्युकः । १ । १ । ५७६ ।
२	स्फस्वऽनरथा । १ । १ । १४ ।
२६	स्फस्वादीनां । १ । ३ । ३५ ।
३१	स्वार्थे कश्च वा । १ । २ । १६४ ।
४२	स्वार्थाऽजः । १ । ४ । ३४४ ।
४२	स्वित्स्वयार्त्तुः । १ । ३ । ७४ ।
<b>ह</b>	
४४	हज्जे चेत्याह्वान । १ । ४ । २८१ ।
४३	हज्जोऽन्यस्य । १ । ४ । २४४ ।
२२	हज्ज् अ शृण्णाये । १ । २ । १८१ ।
२२	हज्जिचिवादिभिः । १ । २ । १८० ।
२३	हज्जो निवेदः । १ । २ । १२२ ।
१७	हज्जिनाले र्थोः । १ । २ । १३१ ।
३३	हज्जिनादीं ज्ञः । १ । ३ । २४४ ।
६	हरीनक्यामीः । १ । १ । ६४ ।
२३	हर कृप च । १ । २ । २०१ ।
२	हरेस्युञ्जः । १ । ४ । ११६ ।
३७	हासने स्फुटिमुः । १ । ४ । ११६ ।
५०	हास्ययोरित् । १ । ५ । ३८० ।
४४	हामाणद्विसः । १ । ४ । २२३ ।
४४	हादी विष्णुस्येक्यः । १ । ४ । २०५ ।
४३	हां चतुर्न्यायः । १ । ५ । ३७० ।
२३	हां दानपुच्छमिः । १ । १ । १७७ ।
२३	हां तु निश्चयमिः । १ । ३ । १६८ ।
४२	हां तु स्युष्मादयोः । १ । ४ । ५२३ ।
४३	हां तु लुज्जामोः । १ । ४ । २४० ।
४३	हां तु यस्य पः । १ । ४ । ३१० ।
१६	हां योऽनुस्वारत् । १ । ३ । २६५ ।
१६	हां योः । १ । २ । १२४ ।
१६	हां दतोः । १ । २ । १३० ।
१६	हास्वात् ह्यञ्चः । १ । २ । १३० ।
२६	हास्वोऽभिः । १ । ३ । ३६ ।
५	हास्वः संयोगेः । १ । १ । ८४ ।
३८	हास्विरस्यञ्चः । १ । ४ । १२२ ।
१७	हा लः । १ । २ । ७७ ।
१६	हां लो वा । १ । २ । ७६ ।

## ॥ श्रीअजिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ३ ॥

॥ संक्षिप्तप्राकृतशब्दरूपावलिः ॥



अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'वृक्ष' शब्दः ।

विज्ञप्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वृक्षो ।	वृक्षा ।
द्वितीया	वृक्षं ।	वृक्षे, वृक्षा ।
तृतीया	वृक्षेण, वृक्षेण ।	वृक्षेहि, वृक्षेहिँ, वृक्षेहिँ ।
चतुर्थी	वृक्षाय, * वृक्षस्स ।	वृक्षाणं, वृक्षाण ।
पञ्चमी	वृक्षतो, वृक्षाभ्यां, वृक्षाड ।	वृक्षतो, वृक्षाभ्यो, वृक्ष्वाड, वृक्षाहि, वृक्षेहि, ( वृक्षाहिन्तो, वृक्षेहिन्तो, वृक्ष्वासुन्तो, वृक्षेसुन्तो ।
”	वृक्षाहि, वृक्षाहिन्तो, वृक्षा ।	
षष्ठी	वृक्षस्स ।	वृक्षाणं, वृक्षाण ।
सप्तमी	वृक्षस्मि, वृक्षे ।	वृक्षेभ्यं, वृक्षेभ्यु ।
संबोधनम्	हे वृक्ष, हे वृक्षो, हे वृक्षा ।	हे वृक्षा ।

आकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गोवा' शब्दः ।

विज्ञप्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गोवां ।	गोवा ।
द्वितीया	गोवां ।	गोवा ।
तृतीया	गोवाणं, गोवाण ।	गोवाहिँ गोवाहिँ, गोवाहि ।
चतुर्थी	गोव, गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
पञ्चमी	गोवतो, गोवाभ्यां, गोवाड ।	गोवतो, गोवाभ्यां, गोवाड, गोवाहिन्तो, ( गोवासुन्तो ।
”	गोवाहिन्तो ।	
षष्ठी	गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
सप्तमी	गोवस्मि ।	गोवाभ्यं, गोवाभ्यु ।
संबोधनम्	हे गोवां, हे गोवा ।	हे गोवा ।

इकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गिरि' शब्दः ।

विज्ञप्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गिरी ।	गिरिणां, गिरी, गिरड, गिरभ्यो ।
द्वितीया	गिरिं ।	गिरिणां, गिरी ।
तृतीया	गिरिणा ।	गिरीहिँ, गिरीहिँ, गिरीहि ।
चतुर्थी	गिरिणां, गिरिस्स, गिरये ।	गिरीणां, गिरीण ।
पञ्चमी	गिरिणां, गिरित्तो, गिरिभ्यां, गिरीड ।	गिरित्तो, गिरीभ्यां, गिरीड, गिरीहिन्तो, ( गिरीसुन्तो ।
”	गिरीहिन्तो ।	
षष्ठी	गिरिणां, गिरिस्स ।	गिरीणां, गिरीण ।
सप्तमी	गिरिस्मि ।	गिरीभ्यं, गिरीभ्यु ।
संबोधनम्	हे गिरि, हे गिरी ।	हे गिरिणां, हे गिरी, हे गिरड, हे गिरभ्यो ।

## ईकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गामणी ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गामणी ।	गामणिणो, गामणी, गामणउ, गामणओ ।
द्वितीया	गामणि ।	गामणिणो, गामणी ।
तृतीया	गामणिणा ।	गामणीहि, गामणीहिँ, गामणीहि ।
चतुर्थी	गामणये, गामणिणो, गामणिस्म ।	गामणीणं, गामणीण ।
पञ्चमी	गामणिणो, गामणिचो, गामणीओ )	गामणिचो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो,
”	गामणीउ, गामणीहिन्तो ।	( गामणीमुन्तो ।
षष्ठी	गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
सप्तमी	गामणिम्मि ।	गामणीसुं, गामणीसु ।
संबोधनम्	हे गामणि, हे गामणी ।	हे गामणिणो, हे गामणी, हे गामणउ, हे गामणओ ।

## ऊकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गुरु ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गुरु ।	गुरुणो, गुरु, गुरओ, गुरउ, गुरओ * ।
द्वितीया	गुरुं ।	गुरुणो, गुरु ।
तृतीया	गुरुणा ।	गुरुहि, गुरुहिँ, गुरुहि ।
चतुर्थी	गुरुवे, गुरुणो, गुरुस्स ।	गुरुणां, गुरुणा ।
पञ्चमी	गुरुणो, गुरुचो गुरुओ, गुरुउ )	गुरुचो, गुरुओ, गुरुउ, गुरुहिन्तो,
”	गुरुहिन्तो ।	( गुरुमुन्तो ।
षष्ठी	गुरुणो, गुरुस्म ।	गुरुणां, गुरुण ।
सप्तमी	गुरुम्मि ।	गुरुसुं, गुरुसु ।
संबोधनम्	हे गुरु, हे गुरु ।	हे गुरुणां, हे गुरु, हे गुरुउ, हे गुरओ, हे गुरुवो ।

## ऊकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' खलपू ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	खलपू ।	खलपुणो, खलपू, खलपउ, खलपओ, खलपवो ।
द्वितीया	खलपुं ।	खलपुणो, खलपू ।
तृतीया	खलपुणा ।	खलपूहिँ, खलपूहिँ, खलपूहि ।
चतुर्थी	खलपवे, खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणां, खलपूणा ।
पञ्चमी	खलपुणो, खलपुचो, खलपुओ )	खलपुचो, खलपुओ, खलपुउ,
”	खलपुउ, खलपुहिन्तो ।	( खलपुहिन्तो, खलपुमुन्तो ।
षष्ठी	खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणां, खलपूणा ।
सप्तमी	खलपुम्मि ।	खलपुसुं, खलपुसु ।
संबोधनम्	हे खलपु, हे खलपू ।	हे खलपुणो, हे खलपू, हे खलपउ, हे खलपओ, हे खलपवो ।

## ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' पितु ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	पिअ, पिअरो ।	पिअरा, पिउणो, पिअउ, पिअओ, पिऊ ।
द्वितीया	पिअरं ।	पिअरा, पिअरो, पिउणो, पिऊ ।
तृतीया	पिउणा, पिअरेणं, पिअरेण ।	पिअरहिँ, पिअरहिँ, पिअरहिँ, पिअरहिँ, पिअरहिँ ।

\* ' वातो मवो ' ॥ ७ । ३ । २१ ॥ उदन्तात् परस्य जसः पुंसि मित् अयो इत्यादेशो वा भवति । सादृशं ।

विजक्ति एकवचन ।

चतुर्थी पिअरस्त, पिउणो, पिउस्त ।

पञ्चमी पिउणो, पिउचो, पिऊओ, पिऊठ, पिऊहि—)

” न्तो, पिअरचो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि,)

” पिअराहित्तो, पिअरा ।

षष्ठी पिअरस्त, पिउणो, पिउस्त ।

सप्तमी पिअरम्मि, पिअरे, पिउम्मि ।

सम्बोधनम् हे पिअ, हे पिअरं ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'जर्त्' शब्दः ।

विजक्ति एकवचन ।

प्रथमा भचा, जचारो ।

द्वितीया जचारं ।

तृतीया जचुणा, भचारंणं, जचारेण ।

चतुर्थी भचुणो, जचुस्त, जचारस्त ।

पञ्चमी जचुणो, जचुचो, जचुओ, भचउ, भचुहित्तो, )

” भचारचो, भचाराओ, जचाराउ, जचाराहि, भ- )

” चाराहित्तो, जचारा ।

षष्ठी भचुणो, भचुस्त, भचारस्त ।

सप्तमी भचुम्मि, भचारम्मि, भचारं ।

सम्बोधनम् हे जच, हे जचार ।

नकारान्तस्यापि 'राजन्' शब्दस्य प्राकृतेऽकारान्तवद् रूपं ज्ञेयम् ।

विजक्ति एकवचन ।

प्रथमा राया, रायाणं ।

द्वितीया रायाणं, रायं, राइणं ।

तृतीया रायाणंणं, रायाणंण, राइणा, रखा, राचणं,

” राएण, रायणा ।

चतुर्थी रायाणस्त, रायाणो, रखो, राइणो, रायस्त ।

” ”

पञ्चमी रायाणचो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि, )

” रायाणाहित्तो, रायाणच, राइणा, रायाणो, रखो, )

” रायचो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहित्तो, )

” राया ।

” ”

षष्ठी रायाणस्त, राइणो, रखो, रायाणो, रायस्त ।

” ”

सप्तमी रायाणम्मि, रायाणो, राइम्मि, रायम्मि, राए ।

सम्बोधनम् हे रायाण, हे रायाणा, हे रायाणो, हे राअ, हे राआ ।

नकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'आत्मन्' शब्दः ।

विजक्ति एकवचन ।

प्रथमा अप्पाणो, अप्पो, अप्पा ।

बहुवचन ।

पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।

पिअरचो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि, पिअरेहि,

(पिअराहित्तो, पिअरेहित्तो, पिअरासुन्तो, पिअरेसु-

न्तो, पिउचो, पिऊओ, पिऊठ, पिऊहित्तो, पिऊसुन्तो ।

पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।

पिअरेसुं, पिअरेसु, पिऊसुं, पिऊसु ।

हे पिअरा, हे पिऊ, हे पिउणो ।

बहुवचन ।

भचुणो, भचु, भचउ, जचओ, जचारा ।

जचुणो, भचु, जचारं ।

भचारंणं, भचारोणं, जचारोहि, भचुहिं, भचुहिं, जचुहिं ।

भचूणं, जचूण, भचाराणं, जचाराण ।

भचुचो, भचुओ, जचउ, जचुहित्तो, जचुसुन्तो, भ-

(चारचो, भचाराओ, जचाराउ, भचाराहि, भचारोहि, भ-

(चाराहित्तो, जचारोहित्तो, जचारासुन्तो, भचारोसुन्तो ।

भचूणं, जचूण, भचाराणं, जचाराण ।

जचुसुं, जचुसु, भचारोसुं, भचारोसु ।

हे भचु, हे जचुणो, हे जचउ, हे भचओ, हे जचारा ।

बहुवचन ।

रायाणो, राइणो, राया, रायाणा ।

रायाणो, राइणो, रायाणं, राए ।

रायाणोहिं, रायाणोहिं, रायाणोहिं, राइहिं, राइहिं, रा-

(इहिं, राएहिं, राएहिं, राएहिं ।

रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राइणं, राइणं,

रायाणं, रायाण ।

राइचो, राइओ, राइउ, राइहित्तो, राइसुन्तो, राबा-

(णचो, रायाणओ, रायाणाउ, रायाणाहि, रायाणोहिं,

(रायाणाहित्तो, रायाणोहित्तो, रायाणासुन्तो, रायाणोसु-

न्तो, रायचो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, राएहिं, राया-

(हित्तो, राएहित्तो, रायासुन्तो, राएसुन्तो ।

रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राइणं, राइण,

(रायाणं, रायाण ।

रायाणोसुं, रायाणोसु, राइसुं, राइसु, राएसुं, राएसु ।

हे रायाणा, हे राइणो, हे रायाणो ।

विजक्ति एकवचन ।

प्रथमा अप्पाणो, अप्पो, अप्पा ।

बहुवचन ।

अप्पाणा, अप्पाणो, अप्पा ।

विभक्ति एकवचन ।

द्वितीया अप्याद्यं, अप्ये ।

तृतीया अप्याद्येऽर्थं, अप्याद्येण, अप्याद्ये, अप्याद्य, अप्य-

" द्या, अप्याद्यस्त्रया, अप्याद्यिष्वा ।

चतुर्थी अप्याद्यस्त, अप्याद्यस्त, अप्याद्यो ।

पञ्चमी अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्त, अप्याद्यात्तहिः)

" अप्याद्याहितो, अप्याद्यात्त, अप्याद्यो, अप्याद्यो, अप्या-

" द्यो, अप्याद्य, अप्याद्यि, अप्याद्यिन्तो, अप्या ।

" षष्ठी अप्याद्यस्त, अप्याद्यस्त, अप्याद्यो ।

सप्तमी अप्याद्याम्भि, अप्याद्याम्भि, अप्याद्ये ।

सम्बोधनम् हे अप्याद्यो, हे अप्यो, हे अप्य ।

बहुवचन ।

अप्याद्ये, अप्याद्यातो, अप्याद्ये ।

अप्याद्याहे, अप्याद्याहेऽर्थं, अप्याद्याहे, अप्याद्येऽर्थं, अप्याद्येऽर्थे, अप्याद्येऽर्थे, अप्याद्येऽर्थे, अप्याद्येऽर्थे ।

अप्याद्याद्यं, अप्याद्याद्य, अप्याद्याद्यं, अप्याद्याद्यः ।

अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्त, अप्याद्यात्तहि, अप्या-

(द्याहे, अप्याद्याहेऽर्थो, अप्याद्याहितो, अप्याद्याद्युन्तो,

(अप्याद्यासुन्तो, अप्याद्यो, अप्याद्यो, अप्याद्य, अप्याद्यि,

(अप्याद्यि, अप्याद्यिन्तो, अप्याद्यिन्तो, अप्याद्युन्तो, अप्याद्युन्तो ।

अप्याद्याणं, अप्याद्याण, अप्याद्यां, अप्याद्याण ।

अप्याद्यासुं, अप्याद्यासु, अप्याद्यासुं, अप्याद्यासु ।

हे अप्याद्या, हे अप्याद्या, हे अप्याद्या ।

॥ अथ सर्वादीनां पुंलिङ्गे रूपाणि तत्र सर्वशब्दः ॥

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा सव्वो ।

द्वितीया सव्वं ।

तृतीया सव्वेणं, सव्वेण ।

चतुर्थी सव्वस्त ।

पञ्चमी सव्वत्तो, सव्वत्तो, सव्वत्त, सव्वत्तहिन्तो, स-

" व्वत्तहि, सव्वत्तहि ।

षष्ठी सव्वस्त ।

सप्तमी सव्वत्तिसं, सव्वत्तिसं, सव्वत्तय, सव्वत्तहि ।

सम्बोधनम् हे सव्व, हे सव्वो, हे सव्व ।

बहुवचन ।

सव्वे ।

सव्वे, सव्व्वा ।

सव्वेहिं, सव्वेहिं, सव्वेहिं ।

सव्वेसिं, सव्व्वाणं, सव्व्वाण ।

सव्वत्तो, सव्वत्तो, सव्वत्त, सव्वत्तहि, सव्वेहिं, सव्व्वा-

(हितो, सव्वेहितो, सव्व्वासुन्तो, सव्वेसुन्तो ।

सव्वेसिं, सव्व्वाणं, सव्व्वाण ।

सव्वेसुं, सव्वेसु ।

हे सव्वे ।

तथाऽकारान्तः पुंलिङ्गे 'विश्व' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा विस्सो ।

द्वितीया विस्सं ।

तृतीया विस्सेणं, विस्सेण ।

चतुर्थी विस्सस्त ।

पञ्चमी विस्सत्तो, विस्सत्तो, विस्सत्त, विस्सत्तहि, वि-

" स्सत्तहिन्तो, विस्सत्तहि ।

षष्ठी विस्सस्त ।

सप्तमी विस्सत्तिसं, विस्सत्तिसं, विस्सत्तय, विस्सत्तहि ।

सम्बोधनम् हे विस्स, हे विस्सो, हे विस्स ।

बहुवचन ।

विस्से ।

विस्से, विस्सा ।

विस्सेहिं, विस्सेहिं, विस्सेहिं ।

विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।

विस्सत्तो, विस्सत्तो, विस्सत्त, विस्सत्तहि, विस्सेहि, वि-

स्सत्तहिन्तो, विस्सेहितो, विस्सासुन्तो, विस्सेसुन्तो ।

विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।

विस्सेसुं, विस्सेसु ।

हे विस्से ।

अकारान्तः पुंलिङ्गे 'उज्जय' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा उज्जयो ।

द्वितीया उज्जयं ।

बहुवचन ।

उज्जये ।

उज्जये, उज्जया ।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
तृतीया	उभयेषं, उभयेण ।	उभयेहिं, उजयेहिं, उजयेहि ।
चतुर्थी	उजयस्स ।	उभयेसिं, उभयाणं, उजयाण ।
पञ्चमी	उजयत्तो, उजयाओ, उभयाउ, उजयाहि, उ-	उभयत्तो, उजयाओ, उजयाउ, उजयाहि, उजयेहि, उ-
”	भयाहिन्तो, उभया ।	( भयाहिन्तो, उजयेहिन्तो, उभयासुन्तो, उभयेसुन्तो ।
षष्ठी	उभयस्स ।	उभयेसिं, उजयाणं, उजयाण ।
सप्तमी	उभयस्सिं, उजयस्सिं, उजयत्थ, उजयहिं ।	उभयेसुं, उभयेसु ।
सम्बोधनम्	हे उजय, हे उभयो, हे उभया ।	हे उजय ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'अन्य' शब्दः।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अनो ।	अस्ये ।
द्वितीया	असं ।	अस्ये, अस्या ।
तृतीया	अस्येणं, अस्येण ।	अस्येहिं, अस्येहिं, अस्येहि ।
चतुर्थी	अस्यस्स ।	अस्येसिं, अस्येणं, अस्येण ।
पञ्चमी	अस्यत्तो, अस्याओ, अस्याउ, अस्याहि, अस्या-	अस्यत्तो, अस्याओ, अस्याउ, अस्याहि, अस्येहि, अ-
”	हिन्तो, अस्या ।	(स्याहिन्तो, अस्येहिन्तो, अस्यासुन्तो, अस्येसुन्तो ।
षष्ठी	अस्यस्स ।	अस्येसिं, अस्येणं, अस्येण ।
सप्तमी	अस्यस्सिं, अस्यस्सिं, अस्यत्थ, अस्यहिं ।	अस्येसुं, अस्येसु ।
सम्बोधनम्	हे अस्य, हे अस्यो, हे अस्या ।	हे अस्ये ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'कतर' शब्दः।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	कयो ।	क्यरे ।
द्वितीया	कयं ।	क्यरे, कयरा ।
तृतीया	कयरेणं, कयरेण ।	क्यरेहिं, क्यरेहिं, क्यरेहि ।
चतुर्थी	कयरस्स ।	क्यरेसिं, क्यराणं, क्यराण ।
पञ्चमी	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि, )	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि, क्यरेहि, क्य-
”	कयराहिन्तो, कयरा ।	राहिन्तो, क्यरेहिन्तो, क्यरासुन्तो, क्यरेसुन्तो ।
षष्ठी	कयरस्स ।	क्यरेसिं, क्यराणं, क्यराण ।
सप्तमी	कयरस्सिं, कयरस्सिं, कयरत्थ, कयरहिं ।	क्यरेसुं, क्यरेसु ।
सम्बोधनम्	हे कयर, हे कयो, हे कयरा ।	हे क्यरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'अवर' शब्दः ।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अवरो ।	अवरे ।
द्वितीया	अवरं ।	अवरे, अवरा ।
तृतीया	अवरेणं, अवरेण ।	अवरेहिं, अवरेहिं, अवरेहि ।
चतुर्थी	अवरस्स ।	अवरेसिं, अवराणं, अवराण ।
पञ्चमी	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अ-	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अवरेहि, अ-
”	वराहिन्तो, अवरा ।	वराहिन्तो, अवरेहिन्तो, अवरासुन्तो, अवरेसुन्तो ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
षष्ठी	अवरस्स ।	अवरोसिं, अवराणं, अवरारण ।
सप्तमी	अवरस्सिं, अवरस्मि, अवरत्थ, अवरसिं ।	अवरोसुं, अवरोसु ।
सम्बोधनम्	हे अवर, हे अवरा, हे अवरो ।	हे अवरो ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गे 'इतर' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इयो ।	इयोरे ।
द्वितीया	इयं ।	इयोरे, इयरा ।
तृतीया	इयरेणं, इयरेण ।	इयरोहिं, इयरोहिं, इयरोहिं ।
चतुर्थी	इयस्स ।	इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।
पञ्चमी	इयरो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरा- )	इयरोचो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरोहि, इयराहि-
"	इन्तो, इयरा ।	(न्तो, इयरोहिन्तो, इयरासुन्तो, इयरोसुन्तो ।
षष्ठी	इयस्स ।	इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।
सप्तमी	इयरोसिं, इयरोस्मि, इयरोत्थ, इयरोहिं ।	इयरोसुं, इयरोसु ।
सम्बोधनम्	हे इयरो, हे इयरा, हे इयोरो ।	हे इयरो ।

पुँल्लिङ्गे यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जो ।	जे ।
द्वितीया	जं ।	जे, जा ।
तृतीया	जेषं, जेष, जिणा ।	जेहिं, जेहिं, जेहि ।
चतुर्थी	जस्स ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जचो, जाओ, जाउ, जाहि, जाहिन्तो, जा, )	जचो, जाओ, जाउ, जाहि, जेहि, जाहिन्तो, जेहिन्तो,
"	जम्हा ।	(जासुन्तो, जेसुन्तो ।
षष्ठी	जस्स ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
सप्तमी	जासिं, जस्मि, जत्थ, जहिं, जाहे, जाला, )	जेसुं, जेषु ।
"	जइया ।	"

पुँल्लिङ्गे तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सो, खो ।	ते, खे ।
द्वितीया	तं, णं ।	तं, पे, ता, खा ।
तृतीया	तेणं, तेण, तिणा, पेणं, पेणः ।	तेहिं, तेहिं, तेहि, पेहिं, पेहिं, पेहि ।
चतुर्थी	तास, तस्स, से, एस्स ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, पेसिं, पाणं, पाण ।
पञ्चमी	तइटा, तचो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, ता, एम्हा, )	तचो, ताओ, ताउ, ताहि, तेहि, ताहिन्तो, तेहिन्तो, त-
"	एचो, एाओ, एाउ, एाहि, एाहिन्तो, एा ।	(सुन्तो, तेसुन्तो, एचो, एाओ, एाउ, एाहि, पेहि, एा-
"	"	(हिन्तो, पेहिन्तो, एासुन्तो, पेसुन्तो ।
षष्ठी	ताम, तस्स, से, एस्स ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, पेसिं, खाणं, खाण ।
सप्तमी	तासिं, तत्थ, तस्मि, ताहिं, एासिं, एास्मि, एात्थ, )	तेसुं, तेसु, पेसुं, पेसु ।
"	एाहिं, ताहे, ताला, तइआ, एादे, एाला, एाआ ।	"

## एकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एका ।	एके ।
द्वितीया एकं ।	एके, एका ।
तृतीया एकेण, एकेण ।	एकेहि, एकेहिँ, एकेहि ।
चतुर्थी एकस्स ।	एकमि, एकाणं, एकाण ।
पञ्चमी एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकाहिन्तो, )	एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकेहि, एकाहिन्तो, (एकेहिन्तो, एकामुन्तो, एकेमुन्तो ।
एका ।	
षष्ठी एकस्स ।	एकंसि, एकाणं, एकाण ।
सप्तमी एकसिंस, एकम्मि, एकत्थ, एकाहि ।	एकेसुं, एकेसु ।

## प्रकृत्यन्तरेण एकशब्दस्यैवान्यानि रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एगो ।	एगे ।
द्वितीया एमं ।	एगे, एगा ।
तृतीया एगणं, एगण ।	एगेहि, एगेहिँ, एगेहि,
चतुर्थी एगस्स ।	एगेमि, एगाणं, एगाण ।
पञ्चमी एगतो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगाहितो, )	एगतो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगेहि, एगाहिन्तो, (एगेहिन्तो, एगामुन्तो, एगेमुन्तो ।
एगा ।	
षष्ठी एगस्स ।	एगसि, एगाणं, एगाण ।
सप्तमी एगसिंस, एगम्मि, एगत्थ, एगाहि ।	एगेसुं, एगेसु ।

## प्रकृत्यन्तरेणैव पुनरेकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एको ।	एके ।
द्वितीया एकं ।	एके, एका ।
तृतीया एकेणं, एकेण ।	एकेहि, एकेहिँ, एकेहि ।
चतुर्थी एकस्स ।	एकेमि, एकाणं, एकाण ।
पञ्चमी एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकाहिन्तो, )	एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकेहि, एकाहिन्तो, (एकेहिन्तो, एकामुन्तो, एकेमुन्तो ।
एका ।	
षष्ठी एकस्स ।	एकेसि, एकाणं, एकाण ।
सप्तमी एकसिंस, एकम्मि, एकत्थ, एकाहि ।	एकेसुं, एकेसु ।

## किंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा को ।	के ।
द्वितीया कं ।	के, का ।
तृतीया केणं, केण, किणा ।	केहि, केहिँ, केहि ।
चतुर्थी कस्स, कास ।	केमि, काणं, काण, कास ।
पञ्चमी कतो, काओ, काउ, काहि, काहिन्तो, कम्हा, )	कतो, काओ, काउ, काहि, केहि, काहिन्तो, केहिन्तो, कामुन्तो, केमुन्तो ।
का ।	
षष्ठी कस्स ।	
सप्तमी कसिंस, कम्मि, कत्थ, काहि ।	



विकृति	एकवचन ।	बहुवचन ।
पृथी	कस्स, कास ।	केमि, काणं, काणं, कास ।
सप्तमी	कस्सि, कस्मि, कत्थ, कहिं, काहे, काला, कदभा ।	केसुं, केसु ।

## इत्तञ्जब्दस्य रूपाणि ।

विकृति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	एसो, एस, इयं, इयमो ।	एए ।
द्वितीया	एअं ।	एए, एआ ।
तृतीया	एएणं, एएण, एएणा ।	एएहिं, एएहिं, एएहि ।
चतुर्थी	एअस्म, से ।	एएसि, एआणं, एआण, सि ।
पञ्चमी	एअतो, एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो, )	एअतो, एआओ, एआउ, एआहि, एएहि, एआहिन्तो,
”	एआ, एओ, एआहे ।	(एएहिन्तो, एआसुन्तो, एएसुन्तो ।
षष्ठी	एअस्स, से ।	एएसि, एआणं, एआण, सि ।
सप्तमी	एअस्सि, एअस्मि, अयस्मि, ईयस्मि, एत्थ ।	एएसुं, एएसु ।

## इदंशब्दस्य रूपाणि ।

विकृति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अयं, इमो ।	इमे ।
द्वितीया	इमं, इयं, यं ।	इमे, इमा, यो, णा ।
तृतीया	इयेणं, इयेण, येणं, येण, इमिणा ।	इयेहिं, इयेहिं, इयेहि, येहिं, येहिं, येहिं, येहि, येहि, येहिं, येहि ।
चतुर्थी	इयस्स, अस्स, से ।	इयस्मि, इयाणं, इयाण, मि ।
पञ्चमी	इयतो, इयाओ, इयाउ, इयाहि, इयाहिन्तो, इमा ।	इयतो, इयाओ, इयाउ, इयाहि, इयेहि, इयाहिन्तो, इमे-
”	”	हिन्तो, इयासुन्तो, इमेसुन्तो ।
षष्ठी	इयस्स, अस्स, से ।	इयेसि, इयाणं, इयाण, सि ।
सप्तमी	अस्सि, इयस्सि, इयस्मि, इह ।	इयेसुं, इयेसु ।

## अदःशब्दस्य रूपाणि ।

विकृति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अद, अम् ।	अमुणो, अयओ, अयनो, अयउ, अयम् ।
द्वितीया	अदं ।	अमुणो, अम् ।
तृतीया	अदुणा ।	अदुहिं, अदुहिं, अदुहि ।
चतुर्थी	अमुणो, अमुस्स ।	अमुणं, अमूण ।
पञ्चमी	अमुणो, अमुओ, अमुओ, अमुउ, अमुहिन्तो ।	अमुणो, अमुओ, अमुउ, अमुहिन्तो, अमुसुन्तो ।
षष्ठी	अमुणो, अमुस्स ।	अमुणं, अमूण ।
सप्तमी	अमुस्मि, अयस्मि, इअस्मि ।	अमुसुं, अमुसु ।

## अथ स्त्रीलिङ्गशब्दाः ।

## अथस्त्रीलिङ्गशब्दाः स्त्रीलिङ्गो रमाशब्दः ।

विकृति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	रम ।	रम्यओ, रयाउ, रया ।
द्वितीया	रमं ।	रयाओ, रयाउ, रया ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
तृतीया रमाए, रमाअ, रमाइ * ।	रमाहिं, रमाहिँ, रमाहि ।
चतुर्थी रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमाणं, रमाण ।
पञ्चमी रमाए, रमाअ, रमाइ, रमचो, रमाओ, रमाउ, )	रमचो, रमाओ, रमाउ, रमाहिन्तो, रमाहुन्तो ।
” रमाहिन्तो ।	”
षष्ठी रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमाणं, रमाण ।
सप्तमी रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमासुं, रमासु ।
सम्बोधनम् हे रमे, हे रमा ।	हे रमाओ, हे रमाउ, हे रमा ।

## इकान्तः स्त्रीसिद्धो रुचिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा रुई + ।	रुईओ, रुईउ, रुई ।
द्वितीया रुई ।	रुईओ, रुईउ, रुई ।
तृतीया रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईहिं, रुईहिँ, रुईहि ।
चतुर्थी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईणं, रुईण ।
पञ्चमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए, रुईचो, रुईओ, रुईउ, )	रुईचो, रुईओ, रुईउ, रुईहिन्तो, रुईहुन्तो ।
” रुईहिन्तो ।	”
षष्ठी रुईआ, रुईअ, रुईइ, रुईए ।	रुईणं, रुईण ।
सप्तमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईसुं, रुईसु ।
सम्बोधनम् हे रुई, हे रुइ ।	हे रुईओ, हे रुईउ, हे रुई ।

## ईकारान्तः स्त्रीसिद्धो नदीशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा नई, नईआ x ।	नई, नईआ, नईउ, नईओ ।
द्वितीया नई ।	नई, नईआ, नईउ, नईओ ।
तृतीया नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईहिं, नईहिँ, नईहि ।
चतुर्थी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईणं, नईण ।
पञ्चमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए, नईचो, नईओ, नईउ, )	नईचो, नईओ, नईउ, नईहिन्तो, नईहुन्तो ।
” नईहिन्तो ।	”
षष्ठी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईणं, नईण ।
सप्तमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईसुं, नईसु ।
सम्बोधनम् हे नई, हे नई ।	हे नईओ, हे नईउ, हे नई, हे नईआ ।

## स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इत्थी, इत्थीआ ।	इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।
द्वितीया इत्थि ।	इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।
तृतीया इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीहिं, इत्थीहिँ, इत्थीहि ।

\* “ टाकस्केरदादिदेह् वा तु कसेः ” ॥ ७ । ३ । २९ ॥ स्त्रियां वतमानात्प्रथमाः परेषां टाकस्कीनां प्रत्येकम् आत्, आत्, इत्, एत् एते क्त्वात् आदेशाः स्वप्नार्थार्थाः प्रथमि, कसेस्तु पुनरेते वा भवन्ति । गत् आत् ॥ ८ । ३ । ३० ॥ स्त्रियां वतमानादा-  
दत्तात्प्रथमाः परेषां टाकस्किन्सीनाम्मादादेशो न भवति । + ‘ अङ्गिणे सौ ’ ॥ ७ । ३ । १९ ॥ इत्तुतोऽङ्गिणे नपुंसकादप्यत्र सौ  
शेषो न भवति । कुसी । × “ ईतः सेत्रावा ” ॥ ८ । ३ । २७ ॥ स्त्रियां वतमानादात्कात्प्रात् सञ्ज्ञेत्स्यसोश्च स्वप्न आकारो वा न भवति ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
चतुर्थी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीण ।
पञ्चमी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए, इत्थित्तो,)	इत्थित्तो, इत्थीआं, इत्थीठ, इत्थीहिन्तो इत्थीसुन्तो ।
” इत्थीओ, इत्थीठ, इत्थीहिन्तो ।	”
षष्ठी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीण ।
सप्तमी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीसु ।
सम्बोधनम् हे इत्थी, हे इत्थि,	हे इत्थीआं, हे इत्थीठ, हे इत्थी, हे इत्थीआ ।

## प्रकृत्यन्तरेण स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा थी, * थीआ ।	थी, थीओ, थीउ, थीआ ।
द्वितीया थि ।	थी, थीओ, थीउ, थीआ ।
तृतीया थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीहिं, थीहिं, थीहि ।
चतुर्थी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीणं, थीण ।
पञ्चमी थीआ, थीअ, थीइ, थीए, थित्तो, थीओ, थीठ,)	थित्तो, थीओ, थीठ, थीहिन्तो, थीसुन्तो ।
” थीहिन्तो ।	”
षष्ठी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीणं, थीण ।
सप्तमी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीसुं, थीसु ।
सम्बोधनम् हे थी, हे थि ।	हे थीओ, हे थीउ, हे थी, हे थीआ ।

## उकारान्तः स्त्रीलिङ्गे धेणुशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा धेणु ।	धेणुठ, धेणुओ, धेणु ।
द्वितीया धेणुं ।	धेणुउ, धेणुओ, धेणु ।
तृतीया धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।	धेणुहिं, धेणुहिं, धेणुहि ।
चतुर्थी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।	धेणुणं, धेणुण ।
पञ्चमी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए, धेणुत्तो, धेणुओ,)	धेणुत्तो, धेणुओ, धेणुउ, धेणुहिन्तो, धेणुसुन्तो ।
” धेणुउ, धेणुहिन्तो ।	”
षष्ठी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।	धेणुणं, धेणुण ।
सप्तमी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।	धेणुसुं, धेणुसु ।
सम्बोधनम् हे धेणु, हे धेणु ।	हे धेणुओ, हे धेणुउ, हे धेणु ।

## उकारान्तः स्त्रीलिङ्गे वधूशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा वधू ।	वधूउ, वधूओ, वधू ।
द्वितीया वधूं ।	वधूउ, वधूओ, वधू ।
तृतीया वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए ।	वधूहिं, वधूहिं, वधूहि ।
चतुर्थी वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए ।	वधूणं, वधूण ।
पञ्चमी वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए, वधूत्तो, वधूओ, वधूठ,)	वधूत्तो, वधूओ, वधूउ, वधूहिन्तो, वधूसुन्तो ।
” वधूहिन्तो ।	”

\* “स्त्रियां इत्थी” ॥ ७।२।१३० ॥ स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा भवति । पक्षे ‘सर्वत्र लवरामकन्ते’ ॥ ८।२।७९ ॥ इति रत्तोषे ‘स्तस्य धोऽस्रमस्तस्तम्बे’ ॥ ८।२।७९ ॥ ‘स्तम्बं क्षमस्तं च त्यक्त्या, स्तस्य धादेश इत्यते’ इति ‘थी’-कर्म निष्पन्नम् ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

षष्ठी बहूआ, बहुअ, बहुइ, बहुए ।

बहुणं, बहुण ।

सप्तमी बहुआ, बहुअ, बहुइ, बहुए ।

बहुसुं, बहुसु ।

सम्बोधनम् हे बहु, हे बहु ।

हे बहुज, हे बहुओ, हे बहु ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो मातृशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा माआ, माअरा अ ।

माअरा, माअराउ, माअराओ, माआ, माआउ, माआ-  
(ओ, माऊ, माऊउ, माऊओ ।

द्वितीया माअं, माअरं ।

माअरा, माअराउ, माअराओ, माआ, माआउ, माआ-  
(ओ, माऊ, माऊउ, माऊओ ।

तृतीया माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

माअराहिं, माअराहिँ, माअराहि, माआहिं, माआहिँ,  
(माआहि, माऊहिं, माऊहिँ, माऊहि ।

, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।

माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, मा-  
(ऊण, माईणं, माईण + ।

चतुर्थी माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ,)

माअरचो, माअराओ, माअराउ, माअराहिंतो, माअरा-  
(सुन्तो, माअचो, माआओ, माआउ, माआहिंतो, माआ-  
(सुन्तो, माउचो, माऊओ, माऊउ, माऊहिंतो, माऊ-  
(सुन्तो ।

, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।

माअरचो, माअराओ, माअराउ, माअराहिंतो, माअरा-  
(सुन्तो, माउचो, माऊओ, माऊउ, माऊहिंतो, माऊ-  
(सुन्तो ।

, माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

, माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, मा-  
(ऊण, माईणं, माईण ।

, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ,)

माअरासुं, माअरासु, माआसुं, माआसु, माऊसुं,  
(माऊसु ।

, माअरचो, माआओ, माआउ, माआहिंतो, माउ-)

हे माआ, हे माआउ, हे माआओ, हे माअरा, हे माअ-  
(राउ, हे माअराआं, हे माऊ, हे माऊउ, हे माऊओ ।

, चो, माऊओ, माऊउ, माऊहिंतो ।

षष्ठी माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

, माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, मा-  
(ऊण, माईणं, माईण ।

, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।

माअरासुं, माअरासु, माआसुं, माआसु, माऊसुं,  
(माऊसु ।

सप्तमी माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

हे माआ, हे माआउ, हे माआओ, हे माअरा, हे माअ-  
(राउ, हे माअराआं, हे माऊ, हे माऊउ, हे माऊओ ।

, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।

द्वितीया माअं, माअरं, माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

द्वितीया माअं, माअरं, माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

सम्बोधनम् हे माअ, हे माअरं ।

, ,

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो दुहितृशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा दुहिआ ।

दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआ ।

द्वितीया दुहिअं ।

दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआ ।

तृतीया दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

दुहिआहिं, दुहिआहिँ, दुहिआहि ।

चतुर्थी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

दुहिआणं, दुहिआण ।

पञ्चमी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ, दुहिआओ, दुहि-)

दुहिअचो, दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआहिंतो, दुहि-  
(आसुन्तो ।

, आओ, दुहिआउ, दुहिआहिंतो ।

दुहिआणं, दुहिआण ।

षष्ठी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

दुहिआसुं, दुहिआसु ।

सप्तमी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

हे दुहिआओ, हे दुहिआउ, हे दुहिआ ।

सम्बोधनम् हे दुहिअ, हे दुहिआ ।

\* बाहुल्यकात् अन्त्येषां आ, वेवताऽप्येव च भ्रा इत्यादेशः । माआए कुच्छोप, नमो माअराण। + 'मातुरिदु वा' । ८ । १ । १३६ ।  
मातृशब्दस्य गौणस्य अत इदं भवति वा । कश्चिद्गौणस्यापि । माईणं ।

## यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा जा ।	जाओ, जाउ, जा ।
द्वितीया जं ।	जाओ, जाउ, जा ।
तृतीया जाए, जाअ, जाइ ।	जाहिं, जाहिँ, जाहि ।
चतुर्थी जाए, जाअ, जाइ ।	जाणं, जाण ।
पञ्चमी जाए, जाअ, जाइ, जचो, जाओ, जाउ, जा-	जचो, जाओ, जाउ, जाहिँन्तो, जायुन्तो ।
” हिन्तो, जम्हा ।	”
षष्ठी जाए, जाअ, जाइ ।	जाणं, जाण ।
सप्तमी जाए, जाअ, जाइ ।	जासुं, जासु ।

## प्रकृत्यन्तरेण यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा जा * ।	जीओ, जीउ, जीआ, जी ।
द्वितीया जं ।	जीओ, जीउ, जीआ, जी ।
तृतीया जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।	जीहिं, जीहिँ, जीहि ।
चतुर्थी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।	जाणं, जाण ।
पञ्चमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिचो, जीओ, जीउ,)	जिचो, जीओ, जीउ, जाहिँन्तो, जीयुन्तो ।
” जीहिन्तो ।	”
षष्ठी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।	जाणं, जाण ।
सप्तमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।	जीसुं, जीसु ।

## तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा सा, ता, एा × ।	ताओ, ताउ, ता ।
द्वितीया तं, णं ।	ताओ, ताउ, ता ।
तृतीया णाए, ताए, ताअ, ताइ ।	ताहिं, ताहिँ, ताहि, णाहिं, णाहिँ, णाहि ।
चतुर्थी ताए, ताअ, ताइ, तास + ।	ताणं, ताण, ताम ।
पञ्चमी ताए, ताअ, ताइ, तचो, ताओ, ताउ, ताहिँन्तो, तो, तम्हा ।	तचो, ताओ, ताउ, ताहिँन्तो, तायुन्तो ।
षष्ठी ताए, ताअ, ताइ, तास ।	ताणं, ताण, ताम ।
सप्तमी ताए, ताअ, ताइ ।	तासुं, तामु ।

## प्रकृत्यन्तरेण तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा सा, ता, एा ।	तीओ, तीउ, तीआ, ती ।
द्वितीया तं, णं ।	तीओ, तीउ, तीआ, ती ।
तृतीया तीअ, तीआ, तीइ, तीए ।	तीहिं, तीहिँ, तीहि ।
चतुर्थी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।	ताणं, ताण ।

\* 'कियसदोऽस्वमामि' ॥ ८ । ३ । ३३ ॥ 'ति अयं अयं वजिंते स्यादो परे एभ्यः स्त्रियां ऊवो । जाओ । अस्यमामिनि किम् । जा, ज, जाण । × 'तदो षाः स्यादो कश्चिन्' ॥ ८ । ३ । ७० । तदः स्थाने स्यादो परे ण आदेशो जघति ऋचिद् लङ्गानुसारेण । स्त्रियामपि । इत्युभयामिभ्योर्दो णं नियता । तां भिज्जट्ठेन्वर्थः । जणिअ च णाए, तथेत्थंथः । णाहिँ कथं, ताभिः कृतमित्यर्थः । + बहुलाधिकारात् किन्द्भ्यामाकारान्ताभ्यामपि ड्आदेशो वा । तास णं । पत्ते नाए ।

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिचो, तीओ, तीउ, ती-)

” हिन्तो ।

षष्ठी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।

सप्तमी तीअ तीआ, तीइ, तीए ।

बहुवचन ।

तिओ, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीमुन्तो ।

”

ताणं, ताण ।

तीसुं, तीसु ।

## किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया काए, काअ, काइ ।

चतुर्थी काए, काअ, काइ, कास ।

पञ्चमी काए, काअ, काइ, कचो, काओ, काउ, काहिन्तो,

” कम्हा, कोस, किपो \* ।

षष्ठी काए, काअ, काइ, कास ।

सप्तमी काए, काअ, काइ ।

बहुवचन ।

काओ, काउ, का ।

काओ, काउ, का ।

काहिं, काहिं, काहि ।

काणं, काण, कास, कोसि + ।

कचो, काओ, काउ, काहिन्तो, कासुन्तो ।

”

काणं, काण, कास, कोसि ।

कामुं, कामु ।

## प्रकृत्यन्तरेण किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

चतुर्थी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

पञ्चमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किचो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो ।

षष्ठी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

सप्तमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

बहुवचन ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीहिं, कीहिं, कीहि ।

काणं, काण, कास, कोसि ।

किचो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो, कीसुन्तो ।

काणं, काण, कास, कोसि ।

कीसुं, कीसु ।

## एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एसा, एस, इणं, इणमो × ।

द्वितीया एअं ।

तृतीया एआअ, एआउ, एआए ।

चतुर्थी एआअ, एआइ, एआए, से ।

पञ्चमी एआअ, एआइ, एआए, एचोः, एआओ, )

” एआउ, एताहिन्तो ।

षष्ठी एआअ, एआइ, एआए, से ।

सप्तमी एआअ, एआइ, एआए ।

बहुवचन ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआहिं, एआहिं, एआहि ।

एआणं, एआण, एएसि, सिं ।

एचो, एआओ, एआउ, एआहिन्तो, एआसुन्तो ।

”

एआणं, एआण, एएसि, सिं ।

एआसुं, एआसु ।

## प्रकृत्यन्तरेण एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एई, एस, इणं, इणमो ।

बहुवचन ।

एईओ, एईउ, एईआ, एई ।

+ “आमो केसि” । ॥ ३ । ६१ । बहुशब्धिकारात् श्रियामाप । स्वर्धोसि, केसि । \* “किमो किपोकीसो” ॥ ७ । ३ । ६८ ॥ × “केलेणमिणमो सिना” ॥ ७ । ३ । ८५ ॥ एतद्: सिना सह एस इणमो इत्यादेशा वा जयन्ति । एस गर्ह । ÷ “एथे च तस्यसुक्” ॥ ८ । ३ । ८३ ॥ एतद्: एथे चो साहे परे तस्य सुक् । एथ, एचो, एचोहे ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
द्वितीया एइं ।	एइंओ, एइंउ, एइंआ, एइं ।
तृतीया एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए ।	एइंहिं, एइंहिं, एइंदि ।
चतुर्थी एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए ।	एइंणं, एइंण ।
पञ्चमी एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए एइंओ, एइंओ, एइंउ, )	एइंओ, एइंओ, एइंउ, एइंदिन्तो, एइंमुन्तो ।
एइंदिन्तो ।	”
षष्ठी एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए ।	एइंणं, एइंण ।
सप्तमी एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए ।	एइंणं, एइंण ।

## इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इमिआ, इमा अ ।	इमाओ, इमाउ, इमा ।
द्वितीया इमं, इणं, यं × ।	इमाओ, इमाउ, इमा, णाओ, णाउ, णा ।
तृतीया इमाए, इमाइ, इमाअ, एाए, एाइ, एाअ ।	इमाहिं, इमाहिं, इमादि, एाहिं, एाहिं, एाहिं, आहिं,
”	आहिं, आहिं = ।
चतुर्थी इमाए, इमाइ, इमाअ, से + ।	इमाणं, इमाण, मिं ।
पञ्चमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इमओ, इमाउ, इमादिन्तो ।	इमओ, इमाओ, इमाउ, इमादिन्तो, इमामुन्तो ।
षष्ठी इमाए, इमाइ, इमाअ, से ।	इमाणं, इमाण, सिं ।
सप्तमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इह ÷ ।	इमासुं, इमासु ।

## प्रकृत्यन्तरेण इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इमिआ, इमी ।	इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।
द्वितीया इमिं ।	इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।
तृतीया इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीहिं, इमीहिं, इमीहिं ।
चतुर्थी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीणं, इमीण ।
पञ्चमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए, इमिओ, इमीओ, )	इमिओ, इमीओ, इमीउ, इमीदिन्तो, इमीमुन्तो ।
इमीउ, इमीदिन्तो ।	”
षष्ठी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीणं, इमीण ।
सप्तमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीसुं, इमीसु ।

## अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा अइ, अमू ।	अमूउ, अमूओ अमू ।
द्वितीया अमुं ।	अमूउ, अमूओ, अमू ।
तृतीया अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूहिं, अमूहिं, अमूहिं ।
चतुर्थी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूणं, अमूण ।
पञ्चमी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए, अमुओ, अमुओ, )	अमूओ, अमूओ, अमूउ, अमूदिन्तो, अमूमुन्तो ।
अमूउ, अमूदिन्तो ।	”
षष्ठी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूणं, अमूण ।
सप्तमी अयमि, इअमि, अमूअ, अमुआ, अमूइ, अमूए ।	अमूसुं, अमूसु ।

\* “ पुंस्त्वयाने वाऽयमिनिमा ली ” ॥ ८२ । ७३ ॥ एके इदम इमः ॥ ८३ । ७२ ॥ × अनेणव ॥ ८४ । ७३ ॥ ‘ णोऽमूशब्दादि-  
सिं ’ ॥ ८३ । ७७ ॥ = ‘ स्ति-स्त्वयोरत् ’ ॥ ८३ । ७४ ॥ बहुलाधिकारात् छन्द्यापि जयति । आदि । + ‘ धेदंतदेतदो ऋसाः म्न्वां  
के-स्तिनी ’ ॥ ८३ । ७१ ॥ ÷ ‘ केमेन हः ’ ॥ ८३ । ७५ ॥ इदमः कृतेमादेतात् परस्व केः स्थाने मेन स्वह ह आदेशो वा जयति । इह ।

## ॥ अथ नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मङ्गलशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा मंगलं ० ।

द्वितीया मंगलं ।

बहुवचन ।

मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाईं × ।

मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाईं ।

शेषं ' वञ्च ' शब्दवत् + ।

इकारान्तो नपुंसकलिङ्गो वारिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा दहिं, दहि, दहिं \* ।

द्वितीया दहिं ।

बहुवचन ।

दहीइं, दहीइं, दहीणि ।

दहीइं, दहीइं दहीणि ।

शेषं पुम्बत् ।

उकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मधुशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा महुं, महु, महुं ।

द्वितीया महुं ।

बहुवचन ।

महुइं, महुइं, महुणि ।

महुइं, महुइं, महुणि ।

शेषं ' गुरु ' शब्दवत् ।

यच्चब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा जं ।

द्वितीया जं ।

बहुवचन ।

जाणि, जाइं, जाईं ।

जाणि, जाइं, जाईं ।

शेषे पुम्बत् ।

एवं तच्चब्दरूपाणि हेयानि ।

एतच्चब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एस, इणं, इणमो, एअं ।

द्वितीया एअं ।

बहुवचन ।

एआणि, एआइं, एआईं ।

एआणि, एआइं, एआईं ।

शेषं पुम्बत् ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इदं, इणं, इणमो = ।

द्वितीया इदं, इणं, इणमो ।

बहुवचन ।

इमाणि, इमाइं, इमाईं ।

इमाणि, इमाइं, इमाईं ।

शेषं पुम्बत् ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा आह, अमुं ÷ ।

बहुवचन ।

आमुणि, आमुइं, आमुईं ।

० " ङीबे स्वरान्म स्वेः " । ८ । ३ । ३५ ॥ × " जस्शस् इ-इ-ण्यः सप्रगाहीश्रीः " । ८ । ३ । ३६ ॥ + " नामन्यागस्ती मः " ॥ ८ । ३ । ३७ ॥ \* इहि इति सिद्धोपेक्षया । केचिदनुशासकमयोपेक्षिते इहि । = " ङीबे स्वमेवमिणमो च " ॥ ८ । ३ । ३६ ॥ इति स्वमेवमिणमो संहितस्य इव इणमो इणम आदेशाः । ÷ " बाऽवलो वस्य हो नोषाम् " ॥ ८ । ३ । ३७ ॥ " मुः स्वादी " ॥ ८ । ३ । ३८ ॥



विभक्ति एकवचन ।  
द्वितीया अमुं ।

बहुवचन ।  
अमुणि, अमुहं, अमुहैं ।

शेषं पुम्बत् ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।  
प्रथमा किं + ।  
द्वितीया किं ।

बहुवचन ।  
काणि, काई, काईं ।  
काणि, काईं, काईं ।

शेषं पुम्बत् ।

॥ इति नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

॥ अथ संख्यावाचकशब्दाः ॥

पञ्चशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।  
प्रथमा ०  
द्वितीया ०  
तृतीया ०  
चतुर्थी ०  
पञ्चमी ०  
” ”  
षष्ठी ०  
सप्तमी ०

बहुवचन ।  
पंच ।  
पंच ।  
पंचदिं, पंचाहैं, पंचदि \* ।  
पंचाहं, पंचाहं × ।  
पंचा, पंचाओ, पंचाउ, पंचाहि, पंचेहि, पंचाहिन्तो,  
(पंचेहिन्तो, पंचामुन्तो, पंचेमुन्तो) ।  
पंचाहं, पंचाहं ।  
पंचेमुं, पंचेमु ।

एषं उ, सच, अच, नच, दहशब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

द्विशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।  
प्रथमा ०  
द्वितीया ०  
तृतीया ०  
चतुर्थी ०  
पञ्चमी ०  
षष्ठी ०  
सप्तमी ०

बहुवचन ।  
दुवे, दोष्णि, दुष्णि, वेभि, विष्णि, दो, वे ।  
दुवे, दोष्णि, दुष्णि, वेष्णि, विष्णि, दो, वे ।  
दोहैं, दोहैं, दोहि, वेहि, वेहैं, वेहि ।  
दोहं, दुहं, वेहं, विहं ।  
दोहिन्तो, वेहिन्तो ।  
दोहं, दुहं, वेहं, विहं ।  
दोसुं, दोसु, वेसुं, वेसु ।

त्रिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।  
प्रथमा ०  
द्वितीया ०  
तृतीया ०  
चतुर्थी ०

बहुवचन ।  
तिष्णि ।  
तिष्णि ।  
तीहैं, तीहैं, तीहि ।  
तिहं, तिहं ।

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

तिचो, तीओ, तीठ, तीहिन्तो, तीसुन्तो ।
तिएइं, तिएह ।
तीसुं, तीसु * ।

कतिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	०
द्वितीया	०
तृतीया	०
चतुर्थी	०
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

कइ ।
कइ ।
कईहिं, कइहिं, कइहि ।
कइएहं, कइएह ।
कइचो, कइओ, कइउ, कइहिन्तो, कइसुन्तो ।
कइएइं, कइएह ।
कइसुं, कइसु ।

चतुरशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	०
द्वितीया	०
तृतीया	०
चतुर्थी	०
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।
चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।
चत्तारिं, चत्तारिं, चत्तारि ।
चउएइं, चउएह ।
चउचो, चउओ, चउउ, चउहिन्तो, चउसुन्तो ।
चउएइं, चउएह ।
चउसुं, चउसु ।

युष्मन्शब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	ते, तुं, तुवं, तुइ, तुमं ।
द्वितीया	ते, तुं, तुमं, तुवं, तुह, तुमे, तुए ।
तृतीया	जे, दि, दे, ते, तइ, तए, तुमं, तुमइ, तुमए, तुमे,)
"	तुमाइ ।
चतुर्थी	तइ, तु, ते, तुमं, तुह, तुइं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,)
"	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुमन, तुउऊ, तुमइ, उमन,)
"	उउऊ, उमइ, उउइ ।
"	"
पञ्चमी	तइचो, तइओ, तइउ, तइहिन्तो, तुवचो, तुवा-)
"	ओ, तुवाउ, तुवाहि, तुवाहिन्तो, तुवा, तुमचो,)
"	तुमाओ, तुमाउ, तुमाहि, तुमाहिन्तो, तुमा, )
"	तुहचो, तुहाओ, तुहाउ, तुहाहि, तुहाहिन्तो,)
"	तुहा, तुमचो, तुनाओ, तुनाउ, तुनाहि, तु-)
"	महिन्तो, तुनओ, तुमहचो, तुमहाओ, तुमहाउ,)

बहुवचन ।

भे, तुमने, तुमडे, तुउऊ. तुउऊ, तुमइ, तुयडे, उयडे ।
ओ, तुउऊ. तुमने, तुमडे, तुउऊ, तुयडे, उयडे, जे ।
भे, तुमनेहिं, तुउऊहिं, तुमडेहिं, उउऊहिं, उमडेहिं, तुयडे-)
(हिं. उयडेहिं ।
तु, चो, जे, तुमं, तुउऊ, तुमइ, तुमं, तुउऊं, तुमइं,
(तुमनाएणं, तुमभाण, तुमजाएणं, तुमजाए, तुमहाणं, तुमहा-
(ण, तुवाएणं, तुवाण, तुमाणं, तुहाएणं, तुहाएण,
(उमहाएणं, उमहाण ।
तुमचो, तुनाओ, तुमाउ, तुनाहि, तुमभेदि, तुमना-
(हिन्तो, तुमनेहिन्तो, तुमभासुन्तो, तुमभेसुन्तो, तुमहचो, तु-
(महाओ, तुमहाउ, तुमहाहि, तुमहाहि, तुमहाहिन्तो, तुमहाहि-
(न्तो, तुमहासुन्तो, तुमभेसुन्तो, तुमजचो, तुमजाओ, तुमजाउ,
(तुमभाहि, तुमजहि, तुमभाहिन्तो, तुमभेहिन्तो, तुमभासु-
(न्तो, तुमजसुन्तो, तुमहचो, तुमहाओ, तुमहाउ, तुमहाहि-

\* "कुरास्यदेणुसोचो" ( १२७ ) क-वायाः स्यादीनां च यो षसु तयोद्वयस्यारोऽन्तो वा भवति । वचनेण वचन्य, वचनेसुं वचोसु ।



# अभिधानराजेन्द्रः ।

जयति सिरिखीरवाष्ठी, वुहविवुह्नमंसिया या सा ।  
वत्तव्य से बंमि, समासञ्चो अक्खरक्कमसो ॥ १ ॥



अ-अ-पुं० स्वरसंज्ञके कण्ठस्थानीये स्वनामक्याते वर्णे, यका० ।  
अहंति, आद्याकरेण तस्य प्रहणात् सिक्ते च । अशरीरंति सि-  
क्त्वाचकस्याद्याकरेण तद्गोष्ठात् । गा० । अयति रक्तनि अतति  
सातयेन तिष्ठतीति वा अय-अत-वा-र-विष्णोः, अकारो विष्णु-  
रुद्दिष्टः वाच० । शिषे, अहसि, वायी, अन्दे, अश्री, ज्ञानी, कम-  
ठे, अन्तःपुरे, जूषणे, वरपे, कारणे, रणे, अजिते, गौरवे, यका० ।  
अ-अव्य० अय प्रीणनादौ, इ स्वरदिवाच्यवयवस्य अभावे,  
वाच० । प्रतिषेधे, "अमानेताः प्रतिषेधे" भा० म० खि० । सू-  
त्र० । अत्रोदाहरणम्, "नियारिस्सणं अधरो" अकारस्य तज्जाव-  
प्रतिषेधे निवृत्तौ न यथा अघटोऽयमिति न घटो घटव्यतिरिक्तः पटा-  
दिकः पठार्ये इत्यर्थः । वृ० १. उ० । "अत्रावे न ह्यनोनः" इत्यम-  
रटीकार्यां नञादेशोऽयमित्युक्तम् । स च अविदाः नजनमुच्या-  
दिनिश्राब्दघटके उत्तरपदस्थे हलादौ शब्दे परे भवति । स  
तु नञयै पक्ष स्थानितुव्याधेत्वादेशस्य । वाच० । स्वन्पेऽर्थे,  
अनुकम्पयायं, सम्बोधने, अ अनन्त । अथिक्तेषु, अ पचासि त्वं जा-  
न्म । "अपसर्गस्वरविज्ञकिप्रतिक्रमकाश्रिते" स्वरादिगणस्थेषु अ  
इति सिक्त्वात् कौमुद्यामुदाहृतं अनंतरमायां च अ संबोधने, अथि-  
क्तेषु, तिषेधे चैति व्याख्यातम् । वाच० । "अपच्यममारणति-  
यसंलहणाजोसजाति" अत्र अपश्चिमाः पञ्चात्कात्प्रभाविन्यः ।  
अकारस्वमङ्गुत्तरादरायं इति । स० ।

च-अव्य० कगचजतद्वपवां प्रयो लुक्, ङ । १ । ७७ । इति  
सूत्रेण चक्षोपः । न चाऽनादेरेव सः कविदादेरपि विधानात् ।  
सा अ-स च० प्रा० । अर्थस्तु चक्षोपः ।

अञ्ज-अञ्ज-पुं० न जायते जन-र-न० त० ईश्वरे, जीवे, अहनि,  
विष्णौ, इने, कृगो, मेघरूपे प्रथमे राज्ञी, माञ्जिकधाती च । जन-  
नशायो गगनादौ, त्रि० । आत् विष्णोः जायते इति । अन्दे, कामे,  
बशाद्यपि तिरि रज्जुनूपुत्रे रामचन्द्रस्य पितामहे सूर्ये बंधवे नृप-  
भेदे, वाच० । प्राकृते 'अज्ञानेः पुंसः ङा । ३ । ३२ इति आत्पिप्यु-  
दासात् ङीङिक्कः प्रा० । मेघशृङ्गपथ, गा० ।

अअगर-अजगर-पुं० अञ्जं जगं गिरति गिरति वृ-अच् । वृह-  
स्सयै, । अजगरमगस्त्यथापात् वृहत्सपेजावापञ्च नदुषमधिकृत्य  
कृती प्रथः अय-आजगरम् । अजगरकथायाय, न० । वाच० ।  
अअवालग-अजापालक-पुं० ६ त० । अजरकके, अजारकण-  
प्रवृत्ते प्रथमे, वाचकभेदे च । वृ० ३ उ० । ( तदृचं विच-  
कम्म शब्दे ) ॥  
अइ-अयि-अव्य० सञ्ज्ञावने, अइ संभावने = । १ । ४ । संज्ञा-  
वने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । "अइ दिअरः किं न पेच्छसि," अयि  
वेवर ! किञ्च प्रकृञ्च प्रा० ॥  
गम्-घा० सक० पर० च्चा० गती, गमेरर लि ङ । ४ । ६१ ।  
इति सूत्रेण गमेः अइ आदेशः । अइ-गच्छति प्रा० ।  
अति-अव्य० अत्-इ-पूजायाय, इत्यर्थे, अतिक्रमणे, वि-  
क्रमे, अयुक्तौ, भूये, "विक्रमातिक्रमायुक्तिचुशायातिशयेभ्यती-  
ति" गणरत्नम् । तत्र विक्रमे अतिरथः । अतिक्रमे अति-  
मतिः । अयुक्तौ अतिगदन्म् । बुद्धेरथिपयः । वृथो अतिसप्तम् ।  
अतिशये अतिवैगः वाच० । "अति सर्वेषु वर्जयेत्" यतः "अइ-  
रोसो अइ तोसो, अइदासो दुअणेहि संवासो । अइअअरो य  
वेसो, पंच वि शुभं पि अहुभं पि" घ० १ अथि० ॥  
अ [दि] इ-[ति] इ-अदिति-ली० न दीयते अण्यत्ते वृह-  
त्वाद्-शे-किच न० त० दातुं ज्ञेयुमयोर्ग्यायौ पृथिव्याय, दिति-  
र्वनुजमाता । विरोधार्थे, न० त० । देवमातरि, सा च दक्षस्य  
सुता वाच० । पुनर्वेसुनकृत्वस्याधिपतिदेवता ज्यो० ६ पाठु० ।  
"पुणव्यस्य अइ देवयार पणसे" सू० प्र० १० पाठु० ॥ जं० ।  
"दो अइइ" पुनर्वेस्वेन्द्रित्वादिप्रतिश्रित्यम् । स्या० २ जा० ॥  
अइउकस-अस्त्युत्कर्ष-त्रि० उत्कर्षमतिमान्तः । उत्कर्षरहिते,  
"तवस्वी अइउकसो" तपस्वी सायुः अस्त्युत्कर्षः अइ तपस्वी-  
त्युत्कर्षरहितः । दश० ५ अ० ॥  
अइउउभदो-अस्त्युत्कर्ष-त्रि० अतिशयितचतस्रमत्कृतिकृति, "अ-  
इउउभदो अ वेसो" घ० २ अथि० ॥  
अइंत-अतिपत्-त्रि० अतिशयति, त्रि० चू० १६ उ० । "पदं  
उसजं सुदं अइंत पासइ" कत्य० ॥  
अइदि [ य ] अ-अतीन्द्रिय-त्रि० अतिक्रान्तिमिन्द्रियं तदधि-  
वयत्वात् अत्या० स० वाच० । इन्द्रियहान्नाश्रम्ये, अइ० ॥  
अतीन्द्रिया अथी आगमेन उपपत्त्या च हान्यने न केवलया यु-  
क्त्या तदुक्तम् । "आगमभ्रोपपत्तिश्च, संसृषे हृदिकारथम् । अ-  
तीन्द्रियाणामर्थानां, सञ्ज्ञावप्रतिपत्तये" ॥ १ । विशेषे० दर्श० ॥  
कर्म० । अनु० । कथ न युक्तयेति चेत् ॥

ज्ञापेरन् हेतुवादेन, पदार्था यथातीन्द्रियाः ।  
 कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥  
 यदि भावता कालेनार्तीन्द्रिया इन्द्रियागोचराः पदार्था धर्मा-  
 स्तिकायावद्यः हेतुवादेन युक्तिप्रमाणसमूहेन ज्ञापेरत् यतावता  
 कालेन परमात्मभावप्रयोजनविज्ञाननिद्रियास्तनादिना स्वात्म-  
 स्वकृते उपयोगोऽनुभवः कृतः स्यात् तथा तेषु धर्मास्तिकायावि-  
 षु बुद्ध्यात्मनि च निश्चयः कृतः स्यात् प्राज्ञैः इत्यनेन परद्रव्यवि-  
 त्तनकात्मब्रह्मेणात्मस्वरूपवित्तने स्वपरावर्थायां भवति तेन सद्भिः  
 स्वस्वज्ञावभावेन मतिः कार्या येन निष्पत्स्यतः स्वपरा "जे  
 एवं अणं सत् सर्वं जायति" इति वचनात् तेषु परिपत्त्यागपरि-  
 गतिर्नयति ॥ ४ ॥ अष्ट० ॥ (ननु अतीन्द्रिया अर्थानं न सन्त्येवति  
 केन । अत्रुक्तप्रमाणेषु लक्षणेनाऽप्युपस्थितानि प्रातिपत्तिसाध्याणसहगत-  
 उक्तकावेदतीन्द्रियावर्थास्व स्वात्मस्वभावत्वात् । मङ्गल मंडग  
 शब्दे तद्गुणव्यप्यम् ) अतीन्द्रियावर्थात्तं स्वैवाव्येन्य ए-  
 येति कैमिनीयाः । साक्षाद्तीन्द्रियावर्थात्तं प्रोक्तस्तत्प्रमाणभावात् य-  
 क्षुक्तम् "अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते । मि-  
 त्येत्येयो वेदवाक्येभ्यो, यथाथैवविनिश्चयः ॥ १ ॥ वा० (सम्भ-  
 वावर्थात्तं त्रिकार्यकानं सर्वकस्येति स्वस्वभू शब्दे उपपादधिष्यते )  
 अइकंडुद्रय-अतिक्रमसूचित-न० अत्या० स० अतिशयिते नक्षे-  
 विंलक्षणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।  
 अ [ ति ] इकृत-अतिक्रान्त-वि० अत्ये० स० अतिक्रमनीये,  
 प्रक्रान्त १ अ० ७ उ० ४ अ० । सद्गुणद्रष्टाऽप्येतां च पुं० द्रु० ।  
 अक्रान्त-अतिक्राय-पुं० अतिक्रान्तः कायात् अत्या० स०  
 महारगाधिरोपे, प्रक्रान्त १ एव ॥ महारगेन्द्रे च स्या० ३ ज्ञा० ।  
 ( अमरप्रतिष्ठायाः स्वस्वरूपाने ) बुद्ध्यादेर, वि० "उमाविंश-  
 त्तरघोरविसे षड्धाविसे अइकाये बुद्ध्यादेः" (सर्ववर्णकः) का-  
 यात् शरीराणि शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिक्रायः अत एव महाका-  
 यः । ज्ञा० ६ अ० । अथवाप्रतिक्रावानां मध्ये महाकायोऽतिक्राय-  
 मदाकायः ज्ञ० १५ श० १ उ० । अत्युक्तः कायोऽत्ये० विक-  
 टदेवे, वि० रायणपुरे राजसभेदे, पुं० । वाच० ० ।  
 अ [ ति ] इकृत-अतिक्रान्त-वि० अति-क्रम-क-। अतीते,  
 आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० "जेय बुद्धा अतिक्रान्त" सूत्र० १  
 श्रु० ११ अ० । तीर्णं, विघ्नो० । आ० म० प्र० । पर्यन्तवर्तिनि,  
 जी० ३ प्रति० । औ० । त्यकवति, "सर्ववर्णनहाइकान्तं" औ० ।  
 अ [ ति ] इकृतजोवनए-अतिक्रान्तोऽप्यैतन्-वि० अत्ये० स०  
 अतीतराद्यर्थे, "अपसजोवणा अइकंतजोवणा" स्या० ७ ज्ञा० ।  
 अ [ ति ] इकृतपक्षखाण-अतिक्रान्तप्रत्याख्यान-न० अति-  
 क्रान्ते पर्यगे यत् क्रियते तदतिक्रान्तं तच्च तत्रप्रत्याख्यानम् ।  
 प्रत्याख्याननेदे, घ० ३ अ० ५ अ० । परमेधातीने पर्यु-  
 णादीं करणदतिक्रान्तम् । अइह च 'पञ्जोस्यणाए तव, जो खलु न  
 करेइ कारणज्जाए । गुरुवेयावधेणं, तवस्तेगोएणयाए च  
 ॥ १ ॥ सो दाई तवोकरम्मं, पमियज्जइ तं अइच्छिए काते । एवं  
 पच्छक्कणाणं, अइकंतं होइ नाययति" ॥ २ ॥ स्या० १० ज्ञा० ।  
 "अतिक्रान्तं नाम पञ्जोस्यणाए तवं तेहिं कारवेहिं षु कारित  
 शुक्लवस्त्रिसाशकानेहिं सो अतिक्रान्तं करोति तदेव विभा-  
 सा । आ० चू० । आच० ॥  
 अइक्रम-अतिक्रम-पुं० अति०क्रम-घञ् अतिचारे, "पाणाद्याय-  
 स्स वेरमणे एव वृत्ते अइक्रमे" घ० ३ अ० ५ । सूत्र० अतिलक्षणे,

आचा० १ श्रु० ७ अ० । उपा० । विनाशे, आचा० १ श्रु० २ अ० । साधुकि-  
 योद्धुक्ते, आच० ७ अ० ।  
 अतिक्रम्यतिक्रमाद्यः साधुक्रियोद्धुक्कनरुपास्तप्रातिक्रम-  
 स्वाधाकर्मश्रित्य स्वरूपमित्यम् ।  
 आहाकर्म निमित्तण, पहिदुणमाथो अतिक्रमो होई ।  
 पनेनेयाइइइक्रम-गहिपे तइअं तरो गिखिए ॥  
 कांउपि आरंते नाइप्रतिषक्ते ज्ञानिप्रतिषक्तां गुण्युरक्तो वा  
 आधाकर्म निष्पाद्य निम्नयति । यथा जगदव्युत्थमित्यसि म-  
 स्मङ्गे सिद्धमन्त्रमास्ते इति सत्मानस्य प्रतिवृत्तामित्यादि ।  
 तत्रप्रतिशुण्यति अन्युपपन्नति अतिक्रमो नाम दोषो भवति । स  
 च तावदाववपुयोगपरिसमाप्तिः । किमुक्तं जवति । यत्रप्रतिशु-  
 णेति प्रतिश्रवणानन्तरं बोधिसिद्धिं प्राप्तायुक्ताति उड्डा च  
 गुरोः समीपमागव्योपयोगं करोति । एव समस्तांउपि व्यापारोऽति-  
 क्रमः । उपयोगपरिसमाप्यनन्तरं च यदाधकर्मप्रदधाना एव-  
 भेदं करोति अदिशाव्युत्थाने गच्छति यदं प्रवियति आधाक-  
 र्मप्रदधानाय पात्रं प्रसारयति न चाद्यापि प्रतिवृत्तति एव सर्वो-  
 ऽपि व्यापारो व्यतिक्रमः ( गहिपे तइअरेसि ) आधाकर्मणि गु-  
 हीने उक्तलक्षणमेतत् । यावद्दसतीस्वामीते गुरुसमक्षमातोऽवि-  
 ते भोजनार्थमुपस्थापिते मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि च यावत्प्राद्यापि  
 विद्यते तावत्सूतांयोऽनिचारात्सङ्घातो दोषः । (अग्निं स्वाधाकर्म-  
 व्यागन्धारः । एवं श्रेयस्पर्यवेदिशिकादिषु जावोयम । पि० ।  
 धर्म० । व्य० । स्या० । घ० २० । आतु० । एवं भावना सूत्रगुणेषु  
 उत्तरगुणेषु च कार्या । अत्रायं चिद्येकः । सूत्रगुणेषु अतिक्रमा-  
 दिभिरिन्द्रियाविरुद्धं कालिंयं तस्य वासां चमत्प्रातिक्रमणादिभिः  
 बुद्धिभूतैर्युं तं जगु एव तथा च मति पुनरुपस्थाकैव युज्यते ।  
 उक्तगुणेषु चतुर्भिरेपि चरित्रस्य मालिंयं न पुनर्भुङ्क्ते इत्युक्ता  
 मूलोत्तरगुणानिचाराः । घ० ३ अ० ५ ( ज्ञानद्रष्टानचारिग्ननेदा-  
 दतिक्रमादां नो वैद्यध्यामानि सांक्रान्तं शादे )  
 अइक्रमण-अतिक्रमण-न० अति-क्रम त्पुन-सङ्घने, विचारणे,  
 घ० २ अ० ५ । आ० ७ ।  
 अइक्रमणिज्जा-अतिक्रमणिए-वि० अनिलहृत्नीये, सूत्र० ७ उ० ७ अ०  
 अइक्रमित्-अतिक्रम्य-अत्ये० अति क्रम-त्या-व्यपे-उद्धृष्ट-  
 त्यर्थे, "ते अइक्रमित् न पविसे" दश० ५ अ० ।  
 अइगंनोर-अतिगमनोर-वि० अतीवतुच्छशय, पंचा० २ वि० ।  
 अइगंमण-अतिगच्छन्त्-वि० अति-गम+शतु प्रवियति,  
 नि० चू० ए उ० । ज्ञा० ।  
 अइगं ( य ) तं अतिगत-वि० अति-गम्-क-प्रविष्टे, "जे भि-  
 क्खु गहाइयइकुलं धानिगने" नि० चू० ३ उ० । प्रात व । तं० ।  
 अइगम-अतिगम-पुं० प्रवेशे, आ० म० प्र० ।  
 अइगमण-अतिगमन-न० प्रवेशमाणे, ज्ञा० १ अ० ।  
 अइगुरु-अतिगुरु-पुं० अतिशयितो गुरुः पुन्यनमत्वात् प्रा० म०  
 "त्रयः पुन्यस्थातिगुरुवो भवति पिता मानाऽऽचार्यश्चेति" वाच० ।  
 अइचंद-अतिचन्द-पुं० एष्टं सांकाचार्यमुदं, कल्प० ।  
 अइचरा-अतिचरा-स्त्री० अतिक्रम्य-स्वच्छदानं सरोऽत्तरं चर-  
 ति गच्छति चर+अच् पश्चिन्नाम, तल्लुत्प्याकरचरत्वात् स्वच्छय-  
 षिण्यां परचरिष्यां सता+अच् । अतिक्रमणकारिणि, पि० वाच० ।

अइचित्त-अतिचिन्त-वि० अतीव चिन्ता यस्मिन्स्त्वतिचिन्तम् । अतिचिन्तासहिते, हा० २ ४० ॥

अइच्च-अतीत्य- अण्य० अति-इ-त्वा-अण्य-स्य-क्येत्स्ये, "स्व-त्वां संज्ञां अइच्च पीरे" सूत्र० १ भु० ७ अ० ॥

अइच्छ-गम्-धा० ङ्वा० ष० सङ्ग० । गमेरच् अइच्छे । ऽ। ष। ६१ । इति सूत्रेण गम्धातोरेच्छादेशः । गमी, अइच्छइ, गच्छति, प्रा० अइच्छेत्-गच्छतु-वि० विचारति, अतिक्रामति, उच्य० १५ अ० ।

अइच्छत्-अतिच्छत्-पुं० अतिक्रान्तञ्चत्प्रथम । तुट्वाकारेण अन्त्यां 'स्र० । ( अतिया ) इति प्रसिद्धे स्वतन्त्रविशेषे, (ताज-जन्माना ) इति प्रसिद्धे जलतुणभेदे च । ह्रीरस्वामिभेदे जना इत्येव नाम । उच्चातिक्रमकारिणि, वि० अतिक्रमेऽप्ययी० उच्चा-तिक्रमे, अण्य० वाच्य० ॥

अइच्छपञ्चवर्षाण-अद्विस्ता ( अतिगच्छ ) प्रत्याख्यान-न०-प्रत्याख्यानभेदे, " भिषास्वर्षणस्यथा अइच्छं " भिक्षुं जिज्ञा प्राभृतिका आदिशब्दाद्वाह्यदिपरिग्रहस्येवामदाने अतिगच्छेति अद्विस्तंति वा पञ्चममतिगच्छप्रत्याख्यानमद्विस्ताप्रत्याख्या नं वा । मा० म० प्र० "अइ (च्छ) ङ्वा पञ्चकालां बंधनसमपाणं । अइच्छंति " अद्विस्ताप्रत्याख्यां देवग्राहण ! देवमण ! अद्वि-स्तंति नाम दानुमन्दिच्छ ननु नास्ति यद्भवती याचितं ततश्चादि-त्स्येव यस्तुनः प्रतिपथात्मिकति इत्या प्रत्याख्यातमिति गाथायैः । आ० ६ द्र० ॥

अइज्जाय-अतिजा ( या ) त-पुं० पितुः संपन्नमतिज्ञाप्य जा-तः संवृत्तौ वाऽतिक्रम्य वा तां यातः प्राप्ते विशिष्टतरसंपन्नं स-मृच्छतर संपन्नैः इत्यतिजातोऽतिजातो वा अण्यनभेद । सुतभेदे, स्या० ६ ग० ॥

अइष्टिय-अतिष्टित-वि० अतिक्रान्ते, उल्लङ्घितवति, उच्य० ७ अ० ।

अतिगुण-अण्य० अतिक्रम्योद्गुणधेत्यर्थे, उच्य० ७ अ० ॥

अइण्यत्-अतिनिश्चय-वि० अतीव निश्चयकमे, पंचा० १५ विव०

अइण्यत्-अतिस्निग्धधुरत्-न० घृतगुणदिवत् सु-स्वकारित्वरूपे एकोनविंशो वचनातिशये, स० ॥

अ ( ई ) ( ती ) इ ( य ) त-अतीत-वि० अति-इ-तं० अतिक्रान्ते, सूत्र० १ भु० १ अ० । आचा० हा० म० प्र० दृश० । विवाङ्कितसमयमर्थोद्गुण्य सूतयति समयमर्थो, ज्यो० १ पा० १० । प्राकृतं, अतिक्रान्तसमयप्रतिनि, विशेष० । आनु० ( अतीतयस्तु-नः सत्वविचारः सत्वमुद्यमदे ) दूरभूते च उच्य० १५ अ० ।

अ ( ई ) ( ती ) इ ( य ) तद्वा-अतीताद्वा- स्त्री० अती-तकाले, आचा० १ भु० १ अ० १ उ० । अतीतेषु अनन्तेषु पुद्गल-परावर्तेषु, अनु० ।

अ ( ई ) ( ती ) इ ( य ) तपञ्चकलाण-अती-तपत्याख्यान-न० पञ्चकालकरणीयं प्रत्याख्यानभेदे, प्रथ० ४ हा० । स० । प्र० ॥

अ ( ति ) इ ( या ) त, हा-अतिपान-न० नगरादौ राजादेः प्रवेशे, स्या० ४ ग० ।

अ ( ति ) इ ( या ) ताणकहा-अतिपानकथा- स्त्री० रा-जादेः नगरादौ प्रवेशकथायाश्च, यथा " सिय सिबुत्तंभगभा, सियभारो संयपत्तञ्जनहो । जणनयणाकरजसेमा, एसेतो संय-सह पुरे शया " इति स्या० ४ ग० । राजकथाभेदे, ( श्याख्या-रायकहा शब्दे ) ॥

अ ( ति ) इ ( या ) ताणगिह-अतिपानगृह-न० नगरादि-प्रवेशे यानि गृहाणि तिष्ठ, स्या० २ ग० ॥

अ ( ति ) इ ( ता ) याणहि-अतिपानकिं- स्त्री० राजा-देः नगरप्रवेशे सम्मनयन्त्यां ताणगिहशाभाजनसम्मर्दाविलक-णायास्तु, स्या० ३ ग० ॥

अ ( ई ) इ ( ती ) [ य ] ताणगपस्यण-अतीतानागतज्ञान-न० अतिक्रान्तानुत्पत्त्यर्थपरिच्छेदेने, हा० २६ हा० ॥

अइतास-अतितास-न० उचाले गयेदोषे, अनु० ।

अइतिस्वरोस-अतितीक्ष्णरोष-वि० ६ अ० । पुनः पुनो रोषण-शीले, दीर्घरोषिणि, सू० २ उ० ।

अइतिव्व-अतितीक्ष्ण-वि० अत्युत्कटे, पंचा० १ विव० ।

अइतिव्वकम्मविगम-अतितीक्ष्णविगम-पुं० ६ त० अत्युत्कट-स्य कर्मणे क्षान्नावर्षीयमिध्यात्वादेः विनाशे, पंचा० १ विव० ।

अइतुट्ठण-अतिबुद्धण-न० अतिशयेनापनयने, सूत्र० १ भु० १ अ०

अइतेआ-अतिज्ञा-स्त्री० चतुर्दश्यां राज्ञे, ज० ७ वक्र० कल्प० । अइतेअ-पेट्ठेप्ये-न० अइं परं प्रधानमस्मिन् वाक्ये इतीदं परं तद्वाच्ये पेट्ठेप्ये । वाक्यस्य तात्पर्यशास्त्री, शो० १ विव० । पृष्ठांक-तात्पर्यं, शो० १६ विव० । जाचांयर्गमे ( प्रति० ) तत्वे, पञ्चा० १४ विव० ॥

अइत्तरुण-अतिदारुण-वि० महामयाजके, अण्य० ।

अइत्तुक्ख-अतिदुःख-न० अतिदुःखे, आचा० १ भु० ६ अ० ।

अइत्तुक्खपम्म-अतिदुःखधर्म-वि० अतीव दुःखमसातयेदनी-यं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । अत्यन्तासातस्वभावे, " मा-दोवणीयं अइत्तुक्खधम्मं " सूत्र० १ भु० ५ अ० । अतिदुःखरूपं धर्मः स्वभावो यस्मिन्निति इत्थमुक्तं प्रवृत्ति । अक्रान्तिमयमा-न्धि कर्म न दुःखस्य विनाश इति । सूत्र० १ भु० ५ अ० ।

अइत्तुदिण-अतिदुर्दिन-न० अतिशयेन भयतिमिरे, पि० ।

अइत्तुस्सह-अतिदुर्द्वेष-वि० अतिशयेन दुष्प्राप्ते, म० १ अधि० ।

अइत्तुस्सह-अतिदुस्सह-वि० अत्यन्तदुःखप्राप्ते, उच्य० १५ अ०

अइत्तुस्सह-अतिदुर्-वि० अतिविग्रहे, रा० १ श्रौ० ।

अइत्तुसमा-अतिदुष्पमा-स्त्री० दुष्पमदुष्पमाऽऽख्ये अशस्यै-प-शयाः वृत्तु संस्थापयाम्य प्रथमे ऋके, एतद्व्यंनञ्च तत्रैव ति० । न० । ज्यो० ।

अइत्तेस-अतिदेश-पुं० अतिक्रम्य स्वविषयमुद्गृह्य अन्यत्र वि-षये देशे अतिदेशः अतिदिश्यते वा करणे कर्मणि वा चञ् " प्रा-न्यैव प्रखीतायाः, कृत्वाया धर्मसंहतः । अन्यत्र कार्यतः अ-ति-रतिदेशः स उच्यते ॥ प्राकृतात् कर्मणेन यस्मात्तस्मान्निषु कर्मसु । धर्मप्रवेशो वेन स्या-दतिदेशः स उच्यते" इत्यधिक-रणमाहाङ्गानिज्युक्तवाक्ययोः अन्यत्र प्राप्तेऽप्यधर्मं, तत्प्रापके पाठ्यभेदे च । वाच० ।

अइत्तपर्वत-अतिधर्म-वि० अतिशयेन शब्दकारके, नि० ५ उ० ।

अइत्तपर्वत-अतिप्राडित-वि० प्राप्तिने, अतिवर्तिते च प्रथ० १ अण्य० हा० ३ अ० ।

अ-धुत्त-अतिधृत्-वि० अतीव प्रयुतं धूर्तमष्टप्रकारं कर्म यस्य

सोऽतिवृत्तेः । बहुवकर्मणि, सूत्र० ३ भू० ३ अ० १ उ० ।  
अङ्परिधि-अतिपरिधकत्-त्रि० अतीव सुविधये, वृ० १ उ० ।

अङ्परिहृक्प्रज्ञासिला-अतिपाएकुम्भलसिला-क्री० मन्दरप-  
वैतस्य दक्षिणदिशतायामभिषेकाशिलाय, तथा०२४० "दो भ-  
रपुंहुक्प्रज्ञासिलाओ" स्या० ४ ग्रा० । पाएकुम्भलसिलेव्यस्या  
नामात्परमिति तत्रैव वर्णको वचनत्वे । अ० ३, वृ० १ ।

अङ्परिपादा-अतिपताका-क्री० एकां पताकामतिक्रम्य वा प-  
ताका साऽतिपताका । ज्ञा० १ अ० पताकोपरिपालिन्यां पताका-  
याय, । दशा० । औ० ।

अङ्परिणाम-अतिपरिणाम-पुं० अतिव्याप्या परिणामो यदु-  
क्ताथपरिणामं यस्य स तथा ध्य०२०१ । नि० चू० । अपवादैकम-  
तो, वृ० २ उ० । तल्लक्षणम् ॥

अतिपरिणामकमाट ॥

जो दक्खखेत्तकाल-जावकयं जे जहिं जया काले ।

तल्लेमुस्सजुमदं, अङ्परिणामं विद्याणाहि ॥

छल्पक्षेत्रकालभावकृतं यद्वस्तु यस्मिन् भिद्व्याप्यादौ यद्वा  
कात्रे आत्यन्तिकदुर्मिहादौ प्रणितम् [मल्लेसुत्त] तस्मिन् इत्या-  
दिकृते अपवादािकवस्तुनि श्रेया यस्य स तल्लेयः पर्यायि ।  
तावदत्र किमपि निश्चापदे ततस्नदेवावलम्ब्यपिप्यामीत्यपवादे-  
कमनिरित्यर्थः । तथा सुत्रापवाद्भुतादुत्पाद्यव्ययेन मतिरस्येत्यु-  
च्यतेमतिः । भूतोकापवादाद्भुतपिकापवाद्भुतदिरिति भावस्त-  
मेवविधेः साप्यमतिपरिणामकं विज्ञानीरिति वृ० १ उ० ।

अथ प्रसङ्गादथैव परिणामकपरिणामातिपरिणामानां  
सदृशानां स्वकुराप दृश्यते ।

परिणामद्वयजडत्वेऽप्यं, मई उ परिणामगसस कजेसु ।

विद्वे न तु परिणामद्वय, अद्विगमद्व परिणामे सद्भ्रौ ॥

परिणामकस्य मतिः कार्येषु याथार्थ्येन यथाधेप्राहकतया परि-  
णमति । अत एवातो परिणामक उच्यते । द्वितीयं द्वितीयस्याप-  
रिणामकस्य मतिषु तु नैव परिणमत् । अत एवासावपरिणामकस्य  
तीयः पुनरधिकं मतिमभिनगच्छतीति परिणामकोऽनिधीयते यत-  
देव स्पष्टयति ॥

दोसु विपरिणामद्वय-मुसुसगववायओ उ पढमस ।

विद्वेत्स न उस्सगं, अङ्अववोए अ तदयसः । ॥

प्रथमस्य परिणामकस्य मतिरुसंगपर्यायद्वयोरपि परिणमति ।  
किमुक्तं ज्ञवति । यः परिणामको अर्थात् तस्योत्सर्गो प्राप्ते उ-  
त्सर्गो एव मतिः परिणमते । अपवादे प्राप्तेऽपवादे एव मतिः प-  
रिणमते । यथात्सर्गो बहोयान् तत्रोत्सर्गो समास्वरति । यत्रा-  
पवादे बहयान् तत्रापवादे शुक्लति । द्वितीयस्यापरिणामकस्य पु-  
नरकस्यो एव मतिः परिणमते । यः पुनरपवादे । तृतीयस्य तु  
ज्ञति अन्यथैव । अपवादे मतिः परिणमते । स च उपायदिकार-  
णे प्रतिसेवनामनुष्ठातां हात्या न किंचिपरिहरति । कारणमत-  
रेणापि प्रतिसेवते । अथ यदुक्तमासीत् ( अंवादे निद्वेनोति )  
नदिदानीं जाव्यते । एतेषां परिणामकादीनां अथानामपि जिहासत्या  
केचिद्वाच्योः स्वशिष्यामिथमजिद्व्युः अयो । आक्षिपेरस्माकं  
प्रयोजनमस्तीत्युक्तं यः परिणामकः सिध्यः स भ्रूयात् ।

चयणमचेअणो वि य, केदहल्लिख ओकिन्ति या वा वि ।

हाप्पा पुणो ष वोत्तं, वीणामत्थं च वुवोसि ॥

जगवत् । वैराक्षेः प्रयोजनं तमि कि चेननानि कि जतिगतानि

लक्षणादिनिर्वाहोसितानि क्ताप्रायतिथि ( केदहति ) कि प्रमा-  
णानि कि मरुति कि वा ह्युपनि ( छिन्निके ) कि पुण्येतिथिनिथि  
कि वा इतानीं जिन्या आनीतानि । अथवा ( जिभन्ति ) कि  
जिभानि अपदीकृतानि कि वा सकृतानि ( किंवात् ) कि-  
यन्ति वा गणनायां द्विवादिंसंख्याकान्यानेकानि वा अविशब्दा-  
त् कि बदास्थिकानि अथकास्थिकानि वा तदणानि जटाणि  
वेत्यत्रापि प्रप्रथम । इत्थं शिष्येणानिहिते आचार्येण वक्तव्यं  
सौम्य । अथानि सन्त्येप्रसिपम पुनः पुरा विस्मृतान्यासाक्षिदानीं  
स्मृतिपथमवतर्णोनीति । यद्वा पर्याप्तं तावद्विद्वानीं भयोजेन समा-  
पत्तिने पुननेचनं वक्ष्यामि भगिण्यामि । अथवा वसः । कि अना-  
ष्टैः कार्ये विमर्शोपै किमयं विनीतो न वा परिणामको वा न वेति  
यिहानायमुक्तंऽस्तीति । यः पुनरपरिणामकः स भ्रूयात् ।

किं ते पित्तपञ्चावो, मा यं एरिसादं जेपाहि ।

मा एं परं वि सोह, कट्टं पि नेच्छाम एयस्य ॥

मो आचार्ये ! किं ते पित्तपञ्चावः समञ्जो यदेवमुत्पन्नवदसं-  
वद प्रलपसि यद्येकवारं ममोपर जल्पितं बहिर्जल्पितं नाम मा  
पुनार्दिनीयं वारमोदशानि सावद्यानि वचनानि जल्पेति । यतो-  
"मा गमि" त्येतस्वदीयं वचनं परंऽप्यन्योऽपि श्रोयति । वयं पुनः  
कथमपि नेच्छाम एतस्याधेस्याज्ञानयत्नसङ्गणस्य कि पुनः कर्तव्यं  
तामित्यपिशब्दाथेः । यः पुनरतिपरिणामकः स एवमभिदध्यात् ।

कालोस्ति अङ्गवत्तदं, अस्स वि इच्छा न भाएणं उं नरिपो ।

किं पश्चिरसस वृत्तं, अन्नाणि वि किं च आणोमि ॥

कामाधमणा ! यदि युष्माकमात्रैः प्रयोजनं तत इदानीमप्यान-  
यामि यतः ( सि हति ) एवमात्राणां कालोऽतिवर्तते अनि-  
कामति । अथ तावत्पत्तिने तरुणानि यतंते अत्र कृत्वा जरतीन-  
विष्यन्तीत्यर्थः । यदा अस्माकमप्याश्रानां ग्रहणे मरुती इच्छा-  
परं कि कुमो न वयं यौष्माकीणभयनीतो अणितुं किमपि (तिर-  
योति) शक्नुमः । अथवा यथाश्रायपि मदीतु कल्पते ततः  
किमित्यतश्चिरात्काशानुक्तं वञ्जिताः स्मो वयमियत्तं काशमिति-  
भाषः । कि वा अन्यन्वयपि मातुङ्गिन्द्रादीन्यान्वयार्मान । अन-  
यैरपर्यायकामतिपरिणामकयोरपि उदपतेराकाशेणदुत्तरं दा-  
तव्यम् ।

नाधिपप्यां गिहहमि, असमचे चैव भासमी बयणे ।

मुत्तंविद्वल्लोणकए, भिषे अट्टया वि देःशेगे ॥

मो मुग्ध ! त्वं न मदीयमजिप्रापं शुक्लसि किन्तुसुकनया म-  
दीयं वचनं असमाप्त एवेहदं समप्रवर्तकं निदुरं वचनं भाससे ।  
मया पुनरेतेनाभिप्रायेणजिहितम् ( मुत्तंभिल इत्यादि ) मुक्तं  
काङ्क्षिकं नदीवात्यम् उच्यते तत्र लक्षणं वा कृतानि भाषि-  
तानि मुक्तामल्लक्षणकृतानि जिभानि च । किमुक्तं जवति । न म-  
या जवतः पाशोदपरिणताःप्रायणायानायातानि कि तु अतुथ-  
रसिकभावितानि वा अयणनावितानि वा उच्यते जावतश्च जि-  
भानि परिणतानीति भावः । अथ वा (दोधांमो) साम्यिकी-  
संज्ञा आदनादिमुक्तापह्नया जोजनस्य चिन्तियाङ्गानि राक्ष्णा-  
करुपानि तानि मया आनायितानीति प्रकमः । "इवादे" इत्य-  
न्रिदशब्दस्त्वितौ वृक्षबीजदृष्टान्तायामौ । आचार्यो भणति ।  
आयो ! "कक्षेहि वा पक्षोअन्तंति" अन्नापि परिणामकादीज-  
त्यस्तथैवावसानव्यः । नवरम् । अपरिणामकमतिपरिणामको  
प्रति स्मरणा प्रतिवक्तव्यम् ।

निष्पावकोषवार्ध—एषि वैमि रक्खाणि न हरिषु रक्खे ।

अभिज्ञविष्कट्याणि अ, अभाभि न विरोहद्वयसमस्ये ॥

निष्पावका बह्नाः कोऽव्याः प्रतीतास्तदार्थानि ( षष्क्याच्चिपि ) कृष्णाणि प्रव्याणि तान्येवाहं अभाभि न इतिराधु तु स्विच्छाब्दवृत्तान् । तथा बीजाभ्यापि यानि अस्मद्भाविना निष्कृष्टानि वा व्यस्यञ्चिन्नाणि यानि काभि तान्यहं अभाभि न विरोहणसमर्थानि पुनरुक्तुं ननुव्यस्यञ्चिकानितीत्येव आभाभिदद्यात् । कथनाभ्याप्यामीरः स्थानैः "मुञ्चंश्चिन्" इत्यादिभिः प्रकारैः कृत्वा प्वं परीह्य यः परिणामकस्तस्य दातव्यम् । पुनस्तेन श्रोतव्यमित्याह ।

निदाविगहापरिव—जिण्ण गुर्खिदिण्ण पंजलिण्ण ।

जन्ती बहुमाणेष्ण य, तुञ्चत्तयेष्ण मुणेयव्वं ॥

अनिकंत्तयेष्ण सुभा—सिया—वयणाई अत्ययदुवुराई ॥

विन्नुयमुद्देष्ण हरिसा—गण्ण हरिसं ज्जातेष्ण ॥

तिहायमायः सन् न किञ्चिद्व्यवधारयति । विक्रपायां क्रियमाणायां न्याघातो प्रयतीत्यंतो निष्क्रियकार्यपरिचयितेन भोतव्यम् । गुप्तानि स्वस्वविययप्रवृत्तानिरोधेन संवृत्तानीन्द्रियाण्येनास्तौ गुप्तैरिच्छयस्तेन । तथा प्राञ्जलिना योजितकरपुगलेन प्रक्या बहुमानेन च भोतव्यम् । जक्रिनेमि शुक्रणामिति कतेव्यतायां निष्प्रारब्धनादिकायां बाह्या प्रवृत्तिः । बहुमानस्तु शुक्रणामुपरि आत्यरः प्रतिबन्धः । अत्र चतुर्नेह्ये । जक्रिनेमिकस्य न बहुमानः, बहुमानो नामैकस्य न जक्रिः, एकस्य अक्रिरपि बहुमानोऽपि, एकस्य न जक्रिने वा बहुमान इति । अत्र च मत्किञ्चुदुमानोर्वायोशक्तापकं शिवाययवामन्तरनययोर्मैरुपशुद्धिन्वयोदहार्यं तत्र सुप्रसिद्धमिति कृत्वा न शिष्यते । यदि च अक्रिं बहुमानं वा न करीति तथा चतुर्नेह्ये । तयोपयुक्तेनालन्यमन्ना भोतव्यम् । "अनिकंत्तयेष्ण" इत्यादि वचनानि भुक्तव्याख्याकृत्वा सुभ्रामितानि शोभनभ्रामितानि अत्रमभ्युत्थाने प्राधायंस्तुत्वादि अभिकाङ्क्षता अभिमुञ्चनेन बाधता । तथा विस्मित्तुञ्चोत्पूर्वापूर्वैर्भ्रामयसमुद्भूतस्विकस्यस्मरवदनेन इर्ष्यतेन अदो अदी प्रगल्भनः स्वमालताशुतोषमवगाण्ण्यस्मभिमिच्छमेवैषिं सुत्रार्थव्याख्यानं कुर्वन्ति नानुणी भवेयममीषां परमोपकारिणामहमित्येवैषिं इर्ष्यागतः प्रातो इर्षागतस्तेन । तथा शुक्रणामपि स्ववदनप्रसन्नतया उत्फुल्लोत्थमनया च इर्षयं क्रमो कथमपि स्वमेव इत्तपरिष्वाशः परमागमव्याख्यानं शृणोतीतिशुद्धं प्रमेयं जनयता भोतव्यमिति ।

अथ परिणामकद्वारमुपसंहरच्चाह ।

आधारिपमुत्तयो, सविसेसो दिज्जए परिणयसस ।

मुपरिच्छिता य मुनिच्छि—यसम इच्छागए पच्चा य ॥

कदमव्यवहरारोः सूत्रार्थः साधयेष्णः सायपादः स्वगुस्तकाशावधारित आरुदीतः स सर्वोऽपि दीयते परिणतस्य परिणामकस्य शिष्यस्य सुपरीह्य पूर्वोक्ताप्रविष्टद्वयतेः सुच्छु अविच्छेदनेन परीक्षा कृत्वा मुनिश्चितस्य प्रारम्भसूत्रार्थे प्रदीतस्य कृतनिश्चयस्य । यथा ज्ञानदेशनचारित्राणां यावज्जीवमपि विराधना न कर्तव्यत्येवं सन्तु निश्चितो निश्चयघात यस्तुनिश्चितस्तस्य दीयते ( इच्छागए पच्चासि ) अपरिणामकतिपरिणामकयोः पुन्यर्थांश आत्मीया यथाकर्म केशलोत्सर्गापवादकौल्लङ्घना इच्छा गता गत्वा प्रवृत्ति तदा प्रवृत्तयतेः क्षेत्रदुस्मानि दातव्यानीति । उक्तं परिणामकद्वारम् । वृ० १ उ० । ( अत्रैव मकद्वयान्तः स च पश्चरथेन कारिकाकृतज्ञावसरे वक्ष्यते )

अइपास—अतिपार्थ—पुं० भरतेहेप्रजारजिनसमकाशजाते परवतजे लीयंकरे, " अरजिणवरो व मरीते, अइपासजिणे च परवप" ति० ।

अइपासंन—अतिपरयत्—त्रि० अतीव असाधारणं पश्यति, । सूत्र० १ श्रु० १ श्रु० ३ अ० ।

अइप्पमान—अतिप्रमाद्य—न० चारत्रयाऽतीते मोक्षेन, पि० ।

( अइवहुदुग्धेऽस्य स्वकम् ) अतिक्रान्तः प्रमाणम् । अत्रा० स० प्रमाणातिक्रान्तं, यस्य यत् प्रमाणमुचितं ततोऽधिकप्रमाणवति, प्रा०स० । अत्यन्तप्रमाणे, वृहत्प्रमाणे, न० वाच० । अइप्पसंग—अतिमसङ्ग—पुं० अतिपरिचये, पञ्चा० १० विष० । अतिव्याप्तिसङ्क्राणायामनिहायत्तौ, पञ्चा० ६ विष० ॥

अइवल—अतिवध—( १ ) पुरुषान्तरवस्त्रान्यतिवधताऽतिवधः । प्रश्न० अत्र० ६ अ० । अतिक्रान्ताशेषेषुपुत्रवामरतिव्यभेदे, । उपा० २ अ० । अतिशयवन्ने, औ० । राय० । स० । अविष्यति पक्वमे चासुदेवे च पुं० ती० । स० । ति० । कृपत्रैवैवधेयं चतुर्थेभवे महाबलनाज्ञो राक्षः पितामहे शतबलस्य पितरि, "मंधसमिधे बिज्जाहरनगरे अइवलरको णत्ता सयवलरायणो पुत्ते महाबल्लो नाम राया जातो" । आ० म० प्र० । चूएयो तु "गंधसमिधे णारं राया रायां च विबुद्धणयथो जसुवधियांतां सतबल्लस्स रको ष्यारं ननुतो अतिबल्लसुतो महाबल्लो नाम । आ० म० गी० । अ० म० । भरतकृष्णिणः प्रवीरे च । स्था० ८ उा० । आ० वृ० । अतिशयितं बलं यस्याः ५ व० । अत्यन्तव्याधयिकार्यां पीतवर्णयां ( बेनियाला ) इति क्यातार्यां शतायाम्, विश्वामित्रेण रामाय द्यौं अत्रविद्याजिने च क्री० । अतिशयितं बलम् आ० स० अत्यन्ते बले, सामर्थ्ये, सैन्ये च न० । अतिरिक्तं बलमस्य अत्यन्तबलमुच्यते, ति० "अन्यत्तिबल्लो रामो जलमण्डलं मदाव्याणं" इति रामा० । अतिरये च । वाच० ।

अइवहुय—अतिबहुक—न० अतिशयेन बहु—निजप्रमाणोऽत्यधिके प्रोक्षे, पि० ।

तत्स्वरूपम् ।

बहुयातीयमद्वहुं, अइवहुसो तिभि तिभि य परेषां । तं वि य अइप्पपार्थं, ज्ञेज्ज नं भा अतिप्पेतो ॥

बहुकृतीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणान्यधिकमित्यर्थः । तथा द्विसमस्ये यस्मिन् वारान् अुक्ते त्रिन्यो वा चारोः परतस्त्रोऽनमतिबहुहाः तदेव च चारत्रयातीतमतिप्रमाणमुच्यते " अइप्पमाणे " त्यवयोर्वा व्याख्यातः । अइवैव प्रकारान्तरणं न्याख्यानमाह । अुक्ते यथा अत्युत्थं यप " अइप्पमाणं " इत्यस्य शब्दस्यार्थः । " अइप्पमाणं " इत्यत्र च शानन्त्यव्यस्ताच्छीव्यविषयायां यथा प्राकृतसङ्क्रान्तवशादिति पि० ।

अइवहुसो—अतिबहुसुस—अव्य० द्विसमस्ये व्रीन् वारान् त्रिन्यो वा परतो प्रोक्षेन, पि० । ( स्वरूपमन्तरमुच्यते )

अइचैल—अतिचैल—अ० बेलामतिक्रम्याऽतिबलम् । यो यस्य कर्तव्यस्य कालोऽत्यन्तं वा तां बेलामतिक्रम्यत्यर्थे, सुत्र० १ श्रु० १३ अ० । " नातिबेलेन उवाचरे " न मर्यादात्तुल्यमित्यर्थः कुर्यादिति आचा० १ श्रु० ८ अ० ।

अइचैला अतिवेत्ता—अ० अत्यसमयादिशावियायां मर्यादायाम्, सायुपर्यादायाम् उक्तं ३ अ० ।



अइजह-अतिजह-पुं० कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पुत्रं, येन स्त्रीकन्ये  
स्वित् अइनामप्रातः। पुण्यचय युदापदैर्युक्तं कृतम् ॥ ० ।

अइभदग-अतिभदक-प्र० जहद्वैरिणे, प्रति० ।

अइभदा-अतिभदा-स्त्री० प्रजासत्तामगणधरस्य मातरि, आ०  
म० द्वि० । आ० चू० ।

अइजय-अतिजय-चि० वैदिकीकदादिषु ज्ञायत्यतिशान्ते, प्र-  
अ० मध० १ द्वा० ।

अइजार-अतिभार-पुं० काल्यन्ते भारः । शुक्रं, पि० । बोधुम-  
शक्ये भारे, प्रय० ७ द्वा० । अतीव जरणमतिभारः । प्रकृतस्य पुण-  
कसादेः स्कन्धपुष्टादिध्वारोपणक्ये, आ० ६ अ० । धर्म० । ध० ।  
१० । प्र० ० । तथाविधशक्तिकानाम् महानारायणस्यक्ये, उ-  
पा० ० १ अ० । प्रथममुद्यतस्य चतुर्थेऽतिभारे, चि० ० १ वि० ०  
" अतिभारो न अरोविषयं पुण्यि चैव जा चरुणाय जीविना  
सा मोक्षवा न होज अथा जीविना ताहे दुपलो जं सयं  
उत्कल्लव इ भोयारेह वा भारं पवे वहाविज्जह वरुण्णाणं उहा सा-  
भाविथाओ वि भारायां उणां उ कीरइ इल्लसयनेसु वि बहाप  
मुयइ अइसहय्यो वि पसेक विहो" आ० ६ अ० चू० ।

अइभारम-अतिभारम-पुं० अतिभारेण वेगेन गच्छति, गम-रु-  
दं ता अं, अन्वयते, गर्दनाद् वरुणायां जाते अन्वये, वाच० ।

अइजारारोवण-अतिभारारोपण-न० अतिशयिते जारोऽति-  
नारो बोधुमशक्य इति शक्यत् तस्यारोपणं गोकर्नरासभमनु-  
ष्यादेः स्कन्धे पृष्टे शिरसि वा स्थापनम् । प्रथमाप्युद्यतस्य चतु-  
र्थेऽतिभारे, ध० १ वाचि० । प्र० ० ।

अइजूमि-अतिजूमि-स्त्री० पलुकापरजामे, अननुकृता गृह-  
स्थेयैर्जानिहोचरा नायात्नीत्यैः दशा० ३ अ० । ( तत्र गमनं  
निषिध्यमिति गोप्यरुचिरया शक्ये ) अनिशयित्त भूमिमर्यादा  
प्रा० । स० । अतिक्रमऽप्यर्थी० मर्यादातिक्रमे, अ० ० । जूमि  
मर्यादां वाऽतिशान्ते, त्रि० वाच० ।

अइमंच-अतिमञ्च-पुं० मञ्चोपरितने विशिष्टमञ्चे, 'मञ्चाऽमञ्च-  
कसिये' श्लो० । दशा० । द्वा० ॥

अइमाट्टिया-अतिमुचिका- स्त्री० कर्मरूपायां युक्तिकायाश्च,  
जी० ३ प्रति० ।

अइमहस-इतिमहत्- पुं० वयसाऽतिगारिष्टे, व्य० ३ उ० ॥

अइमाण-अतिमान- पुं० अतीव मानोऽतिमानः । सुभूमादी-  
नार्णस्य महामाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । चारित्र्यमतिक्रम्य वर्तमाने  
कषायनेत्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अइमाय-अतिमाय- चि० माशयतिशान्तेः । मात्राऽधिके,  
उत्त० १६ अ० । आ० चू० ।

अइमाया-अतिमाया- स्त्री० उचितमात्रया अधिकमात्रयाश्च,  
"अप्रमायाप पाणभोयणं आहारिस्ता नञ्च" उत्त० १६ अ० । प्रथम०  
अतिमाया-स्त्री० अतीव माया अतिमाया । चारित्र्यमतिक्रम्य  
वर्तमाने कषायनेत्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ॥

अइमुत्त ( मुत्त ) य-अतिमुक्त-न० मुचो जाये कः । अनिश-  
येन मुक्तं कथ्यतीतिता यस्य कए वाच० । वक्रादाधन्तः ०। १६ ।  
इति तृतीयेस्य अनुस्वाराऽऽगमः आणं तु न प्रा० । लिनुककृ-  
ते, वासवृके, वाच० । पुष्टयथायं वनपत्नी, जं० १ ब० ० । बहो-  
नेत्रे, महा० १ पद । अतिमुक्तमरुपकाः जी० ३ प्रति० । विशे० ।

प्रज्ञाः सतातेरे, आचा० १ श्रु० १ अ० । स्त्री० कंसञ्जातरि, पुं० येन  
वात्ये देवकी स्वस्यसा मोका 'स्वमष्ट पुत्रान् सहसाह जन-  
पिथसि' आ० म० द्वि० । आ० चू० । पोलासपुरवास्तवे  
विजयराजस्य श्रीनाम्न्यां देव्यां जाते पुत्रे, स्था० १० जा० ।  
तदकथ्यता अतकृदसाहं यथा ।

तेषां काश्रेणं तेषां समर्पणं पोलासपुरे णशरे मिरिबिणो  
उज्जाणे तस्य एं पोलासपुरे रायरे विजये नामं सखा  
होत्या । तस्य णं विजयस्य रत्नो सिरि नाम देवी हलेष्वा  
वपुआं तस्य णं विजयस्य ररणो पुचि सिरिए देवीए  
अत्तत्त अइमुत्त नामं कुमारे होत्या सुमात्र० तेषां कालेणं  
तेषां समर्पणं समर्पणं ३ जाव सिरिबिणो उज्जाणे विहर-  
ति । तेषां कालेणं समारस्य भग्नत्रो म्हावरंस जेहे  
इतेवामि इंद्रजती महा पाणुचोए जाव पोलासपुरेणय-  
रे उच्च जाव अमृति इयं च रां अतिमुत्त कुमारे एहाए जाव  
विजुसिते बहूदि दारएहि य दिभएहि य कुमारेहि य  
कुमारयाहे य सकिं संपरिबुदे माआं गिहातो पदिनिकम्-  
मइ पदिनिकमवइचा जेणेव इंद्राणे तेषेव उवागते तेहि  
बहूदि दारएहि य संपरिबुदे अग्निममाणे अभिरममाणे  
विहरति । तेषां एं जगवं गोयमे पोलासपुरे णशरे उच्चनी-  
य जाव अरुमाणे इंद्राणास्य अरुसामंतेण वीतिवयति !  
तते एं से अइमुत्त कुमारे जगवं गोयमे अरुसामंतेण वीति  
वयमाणं पासति पासतिता जेणेव भगवं गोयमे तेषेव उवा-  
गते भगवं गोयमे एवं वयासि । के रां भंते ! तुज्जे किं  
वा अरुह तने एं भगवं गोयमे अतिमुत्त कुमारे एवं वया-  
सि अइहे णं देवाणुपिया समणा निर्गथा इरियापमिया  
जाव वम्नचारी उच्चनीय जाव अरुमाणे । तते रां अति-  
मुत्त कुमारे जगवं गोयमे एवं वयासि । अइ णं भंते !  
तुज्जे जेणेव अइ तुज्जे भिक्खं दलावेपि पि कहु भ-  
गवं गोयमे अमुत्तं ति गेहाति गेहट्टित्ता जेणेव सेते गि-  
हे तेषेव उवागए तते णं सा मिरि देवी जगवं गोयमे एज्जा-  
णं पामति पासतिता इहट्टुहा आसयाओ अञ्जुहेति अञ्जु-  
हिट्ठित्ता जेणेव जगवं गोयमे तेषेव उवागच्छति उवागच्छति-  
ता जगवं गोयमे तिरुत्तुओ आयाहिणं पयाहिणं बंदति  
नममति विउल्लेणं अइरां पाणं स्वाइमं साइमं पतिलाज्जति  
पटिसापतिता पदिबिसजेति । तते णं से अइमुत्त कुमारे  
एवं वयासि । कइ रां भंते ! तुज्जे परिउसह । जगवं गो-  
यमे अतिमुत्त कुमारे एवं वयासि । एवं खलु देवाणुपि-  
या ! मम धम्मापरियते धम्मोवएसए धम्मे नेत्तारि ए सम-  
णं ३ महावीरे आदिंके जाव संपाविउकामे इहेव पोला-  
सपुरस्य नगरस्य बहिया मिरिबुणे उज्जाणे य उग्गहं उ-  
गाएहता समणं जाव जावमाणे विहरति । तस्य णं अ-  
इहे परिउसामो । तते णं से अतिमुत्त कुमारे जगवं गोयमे

एवं वयासी गच्छामि णं भंते ! अहं तुज्जेहिं सच्चिं सम-  
 र्णं ३ पायं वंदति अद्भुतुं तते एं से अद्भुते कुमारे भ-  
 गवं गोयमं सच्चिं शैषेव समणे ३ तेणेव उवागच्छ-  
 तं उवागच्छतित्ता समणं ३ तिकखुत्तो ज्ञायाद्विणं  
 पयाहिणं करंति जाव पञ्जुचामति । तते एं जगवं गोयमं  
 जणेव समणे भगवं महावीरं तेणेव उवागतं जाव पदिदंसेति  
 पदिदंसेत्तिचा संजमे तवसा आयाद्विणं पयाहिणं विहरति ।  
 सेणं समणं ३ अतिमुत्तस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकटा क-  
 र्हेऽ सं अतिमुत्तं समयास्स जगवञ्चो अंतिए धम्मं मोत्था नि-  
 सम्मं दइतुहं ० नं नवरं देवाणुप्पिया अम्मापितरो आ-  
 पु-  
 च्छामि वने एं अहं देवानुप्पिया अतिते जाव पव्यामि अ-  
 हासुहं देवाणुप्पिया ! मा पदिबंधं करेह । तते एं से अति-  
 मुत्ते कुमारे जेषेव अम्मापियरो तेणेव उवागतं जाव पव्यतिप  
 तते एं अतिमुत्तं कुमारे अम्मापियरो एवं वयासी । बालेसि  
 ताव तुमं पुत्ता ! अमंबन्धे किएह तुमं जाणसि धम्मं ।  
 तते एं से अद्भुते कुमारे अम्मापितरो एवं खनु अहं  
 अम्मायाञ्चो जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव ण  
 जाणामि तं चेव जाणामि । तते एं अद्भुत्तं कुमारे अम्मा-  
 पियरो एवं वयासी । कइ एं तुमं पुत्ता ! जं चेव जाणामि  
 जाव तं चेव न जाणामि तेसि अतिमुत्ते कुमारे अम्मापियरो  
 एवं वयासी । जाणामि अहं अम्म जाञ्चो जहा जातेण  
 तहा अवस्सं पियव्वं न जाणामि अहं अम्म जाञ्चो कइ वा  
 कइ वा कइ वा केव चिरेणैव वा कालेण न जाणामि एं  
 अम्म यो म यातो केहिं कम्मायाणेहिं वा जीवा नेरइयति-  
 रिकव ज्ञाणियमणुस्सदंसेमु उववज्जति । जाणामि एं अ-  
 म्म यातो जहा सच्चो कम्मायाणेहिं जीवा नेरइय जाव  
 उववज्जात । एवं खनु अहं अम्मं यातो जं चेव जाणामि  
 तं चेव न जाणामि जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि  
 तं इच्छामि एं अम्म यातो तुज्जेहिं अन्नणुएणाते समाणे  
 जाव पव्वं तप । तते एं से अद्भुत्तं कुमारे अम्मापियरो जा-  
 हं नो संचाएति बहुहिं आघवति ४ तं इच्छामो ते जाया  
 पगदिवसमवि रायसिंरं पाभेति पासेतित्ता । तते एं से  
 आतमुत्ते कुमारे अम्मापिउवपयणमणुयचमणे तुसिणीए  
 संचिदति । अजिसेओ जहा महाबलस्स निकलमणं जाव  
 सामाऽयाति एकारस अंगाई अहिज्जति अहिज्जतित्ता बहुहिं  
 बासति सामण्यपरियां पावणेति पावणत्ता गुणरपणेणं  
 तवांकमणेणं जाव विपुले पव्वए सिन्धे अन्तो ५ वगो ।

अस्य सिद्धिविषयः स्थाविराणां प्रव्रजे यथा-

तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्स भगवञ्चो महावीर-  
 स्स अंतेवासी अद्भुत्ते णामं कुमारसमणे पगइएह जाव  
 विणीए । तए एं से अद्भुते कुमारेसमणे अएणया कयाई

मया वृद्धिकायांसि निवयमाणसि कसत्पदिग्गहरयहरणभा-  
 याए बहिया संपट्टिए विहाराए । तए णं से अद्भुत्तं कु-  
 मारसमणे वाहयं वाहयमाणं पासइ पासइत्ता मट्टिययासिं  
 बंधं बंधइत्ता णावियामं नाविञ्चो विव णावयय पदि-  
 म्माइयं उदगंसि पवाहमाणे अजिरमइ । तं व भेरा अइकखु  
 जेणव मणए जगवं महावीरं तेणेव उवागच्छति उवागच्छं-  
 तित्ता एवं वयासी । एवं खनु देवाणुप्पिया एं अंतेवासी  
 अद्भुते णामं कुमारसमणे । स णं जंतं ! अद्भुत्ते कुमारेसमणे  
 कइहिं भवगहणेहिं सिज्जिहिति जाव अंतं करेहिति ?  
 अज्जाति समणे जयवं महावीरं ते थेरे एवं वयासी । एवं  
 खनु अज्जा ! मयं अंतेवासी अद्भुत्तं एणामं कुमारसमणे  
 पगइएह जाव विणीए से णं अद्भुत्ते कुमारेसमणे एणेणं  
 चेव भवग्गइणेणं सिज्जिहइ जाव अंते करेहिइ । तं मा णं  
 अज्जा ! तुज्जे अद्भुत्तं कुमारेसमणे हीलह निदह सिंसह  
 गरिदह अवमणइ तुज्जेणं देवाणुप्पिया अद्भुत्तं कुमारे-  
 समणं अगिलेए सांगेएहइ अगिलेए उवागिएहइ अगि-  
 लाएणं जत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावदिनं करेह । अद्-  
 भुत्तेणं कुमारेसमणे अंतकरे चेव अंतिमसीरिए चेव ।  
 तु एं ते थेरा जगवंतो समणेणं भावया महावीरेणं एवं  
 वृत्ता समाणा मयणं भगवं महावीरं वंदति वंदतित्ता अद्भुत्ते  
 कुमारेसमणं अगिलेए सांगेएहिं जाव वेयावदिनं करंति

कुमारसमणेति । परुषैरेजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वाद्वाह क  
 उव्वरिन्तो पवइओ गिगंथं रोहरुण पावयंति । एतदेव वाअ-  
 र्थमिहाऽप्यथा वषोष्टकादारान् प्रव्रज्या स्यादिति ( कसत्पदि-  
 ग्गहरयहरणमायाएति ) कक्षायां प्रतिग्रहक रजोहरणं चादाय-  
 न्यर्थः । ( नावियामेति ) नौका क्षौणिका मे ममेयमिति वि-  
 कल्पयन्निति गम्यते "नाविओ दिव नायंति " नाविक इव नौवाहक  
 इव नावं क्षौणं ( अवति ) असायतिमुत्कमुनिः प्रतिग्रहकं  
 प्रवादयन्नजिरमते एवं च तस्य रमणकिया शास्त्रस्याव्यवहा-  
 रिति ( अइकखुत्ति ) अद्यात्तः एवमन्तस्ते वेतदीपमयम्पना-  
 नुचित्तोत्थेयां दइत्ता तमुपदसन्त इव जगवन्तं पप्रच्छुः । एतदेवाह  
 " एवं खनु " इत्यादि ( हीलहसि ) जाणुयुद्धइतन् ( तदइति )  
 मनसा ( सिंसहसि ) जनसमकम ( गरिदइति ) तत्समकम  
 ( अवमणइति ) तदुचित्तमंत्रपस्यकरणेण ( परिजवइति )  
 कच्चिपाउस्तत्र परिभवः समस्तपुष्पानपदकरणेण ( प्रागिहा-  
 यति ) अग्नान्या अग्नेयेन ( सांगेएहइति ) संपुह्णीत स्वयंकुद-  
 रं ( उवागिएहइति ) उपुह्णीत उपपद्यंते कुदन्तं एतदेवाह  
 ( वेयावदिनंति ) वैयावुस्यं कुकतास्येति शेषः ( अंतकरे चेवसि )  
 भववन्देकरः स्व क दूरतभवेऽपि स्यादत आह ( अंतिमसीर-  
 यि चेवसि ) चरमशरीर इत्यर्थः अ० ५ हा० ५ व० ।  
 अनुत्तरोपपातिकेपु इशामाधयनतयोक्तं क इथा० १० ग्रा० ।  
 ( तदपर पयावं जयिप्यतीति संभाव्यते )

अद्भुत्तुच्छिय-अतिमुत्तित्त-वि० विषययोपदर्शनं प्रत्यभिसू-  
 तामुपगते, प्र० अ० आ० ५ इ० ।

अभ्यसोह-अतिमोह-वि० अतीव मोहो यस्मिंस्तत्तिमोहम् ।  
 अतिकामाशक्तौ, अतिशयितमोहयुते, हा० १ अ० ॥  
 अयं चिय-अत्युच्यते-अयं अतिक्रम्यत्यर्थे, स्या० ५ डा० ।  
 अभ्यस-अतिगत्य-अयं अतिक्रम्यत्यर्थे, आवा० १ शु० ६ अ० ।  
 अभ्यस-अत्यदन्-न० अतिमत्स्ये, "अयुकेषा साणाहयण-  
 युयुक्ता" व्य० २ उ० ।  
 अभ्या-अजिज्ञा-खी० ज्ञानलियायाय, वृ० १ उ० ।  
 अभ्या ( य ) त-अतियात-त्रि० गते, "अरयाप्रो णरादिषो" ।  
 उच० २० अ०

अद्यापरकत्व-अत्यापरस- त्रि० अतीवाऽऽत्मनः परैः पापक-  
 मन्त्रिः रक्षा यस्यास्तावत्यात्मरक्षः । अतीवाऽऽत्मानं पापे रक्षति,  
 अस्यापरकत्वे शक्तिगणमिप नेरह्ये" सूत्र० २ शु० २ अ० ।  
 अ ( ई ) ( ति ) ( ता ) इत्यार-अति ( ती ) चार-पुं०  
 अतिचरणमतिचारः । अङ्गुलं, सूत्र० २ शु० ७ अ० । तृतीयं अपराधे,  
 वी० ११ वि० ० आ० चू० । अतिक्रमे, अतिक्रम्य गमने, आव० ४  
 अ० । प्रदणतो व्रतस्यातिक्रमेण, व्य० १ उ० । चारित्र्यज्ञानविशेषे,  
 प्रा० म० ङि० । आ० चू० । देशाङ्गुलैर्नो आत्मानोऽयुजे परं-  
 णामविशेषे, धर्म० २ अ० । देशभङ्गेऽतिचारात् यथा ननु  
 हिंसैव आचरणे प्रत्याख्याता ततो वधाधिकरणेऽपि न दोषो  
 हिंसाविरतेरन्वयितृत्वात् । अथ वधाद्योऽपि प्रत्याख्याता-  
 स्त्वात् अकरोत् व्रतभङ्ग एव विरतिव्यवहारात् । किञ्च यथादीनां  
 प्रत्याख्येयत्वे व्रतेयत्वा विशीर्यते प्रतिव्रतमतिचाराणामाधिक्या-  
 दिति एवं च न वधादीनामतिचारतेति । उच्यते-सत्यं हि संव  
 प्रत्याख्याता न वधाद्यैः केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽप्येतेऽपि,  
 प्रत्याख्याता दृष्टया हिंसोपायत्वात् । तेनैव चेतुर्हि वधा-  
 दिकरणे व्रतभङ्ग एव मतिचारे नियमस्यापासनाभ्येयं यने ।  
 द्विधेयं व्रतभङ्गवृत्त्या बहिर्वृत्त्या च तत्र मारयातीति विकल्पा-  
 प्राप्तेन यदा कौपाद्यावेशाशिरपेक्षनया वधादीं प्रवर्ते न च  
 हिंसा भवति तदा निर्दयतया विरत्यनपेक्षप्रवृत्त्येनान्वृत्त्या  
 तस्य अङ्कः हिंसाया अनावाच्य बहिर्वृत्त्या पातनमिति देशस्यैव  
 भङ्गनादेशस्यैव पातनादिति चारव्यपदेशः प्रवर्तेत ननुक्तम्  
 " न मारयातीति कृतव्रतस्य, विनैव सूर्यं क इहानिचारः ।  
 निगद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः ।  
 शूयराजवाश्रियेभोऽस्ति तस्य, कौपाद्यादीनामनया तु ज्ञनः ।  
 सूर्यस्य भङ्गानुपासनाच्च, पुर्या अतः चारमुदाहरन्मि" ।  
 यथाकं व्रतयत्वा विशीर्यते इति तस्यैव युक्तं विशुद्धाहिंसास्यद्वावे  
 दि वधादीनामभाव एव तद विधत्तेनैव नचाद्योऽतिचारा एवे-  
 ति । यदा अनामेगसहसाकारदिनातिक्रमादिना वा स्वैभानि-  
 चाराणां हेत्वा ध० २ अ० । ( आचारमूर्त्तिभिर्यतिचाराता  
 अरुक्रमे शब्दे दर्शिता ) अयं चातिवारः संज्ञेय एकविधः  
 सः ह्राविरस्तरस्तु द्विविधाद्विधौ यावत्संक्षेपयधियः संज्ञेय-  
 विस्तरतः पुनर्द्विविधः त्रिविधे प्रति विस्तर इत्येवमत्रापि  
 योग्यं विस्तरतस्त्वनन्यविधः आव० ४ अ० । आ० । ध० ।  
 आतु० । एतेषु अतिक्रमादिषु उत्तरोत्तरं दोषाधिक्यं प्राय-  
 श्चित्ताधिक्यात् आचारमूर्त्ता निमग्नैः सन् यः प्रतिश्रुणांति  
 सोऽतिक्रमे वृत्तेन तद्गुणनिमित्तं पदत्रये कुर्वन् अतिक्रमे  
 शुद्धानोऽतीचारे शुद्धानोऽतीचारे । एवमप्यदि परिहारस्थान-  
 मधिकृत्यातिक्रमाद्यो हानयोः एतेषु च प्रायश्चित्तमिदम् ।

अतिक्रमे मासगुरु व्यतिक्रमेऽपि मासगुरु काशगुण अतीचारे  
 मासगुरु द्वान्यां विशेषितं तद्यथा नयागुरु काशगुरु च ।  
 अनाचारं चतुर्गुणं यस्मात् गुरुकातीचाराः चत्वारोऽनुक्तसमु-  
 ध्यायाः स चेत्तत् समुच्चिनोति अतिक्रमात् व्यतिक्रमो गुरुक-  
 र्त्तस्यापि गुरुकोऽतीचार इति । ततोऽप्यतीचारात् गुरुतर-  
 कोऽनाचारः ।  
 तत इत्थं प्रायश्चित्तविशेषः  
 तस्य त्रये न तु सुते, अतिक्रमादीं उ वसिया कर्हे ।  
 चोग्य ! सुते सुते, अतिक्रमादीं उ जोएजा ॥  
 तत्र एवमुक्तेन त्रयेभ्योऽतिक्रमस्य यथा न तु त्रये सुते निशी-  
 धाभ्ययनरक्षणं केचन्यतिक्रमाद्य उपवाणिताः सन्ति ततः कथं  
 चत्वारोऽतिक्रमाद्यस्तत्रैवाभ्ययने सिकः इति । स्मृतिरह चोदकः ।  
 सर्वोप्येयं प्रायश्चित्तगणोऽतिक्रमादिषु भवति ततः साक्षाद्गु-  
 णानपि सूत्रं सूचितं अतिक्रमादीन् योजयेत् अर्थतः सूचि-  
 तत्वात् व्य० १ उ० ।  
 अत्रियं प्रायश्चित्तविधिमाम् ।  
 तिस्रिये य गुरुगा मासा,  
 त्रिसोसा त्रियिण चतुर्गु अत्रे ।  
 एए चेव य लहुया,  
 त्रिसोऽतिक्रमोऽपि पञ्चत्वा ॥  
 प्रयाणामतिक्रमव्यतिक्रमातीचाराणां त्रयो गुरुका मासाः । क-  
 थं चतुता इत्याह त्रियोऽपि तस्य काशविशेषिताः । किमुक्तं भव-  
 ति । अतिक्रमे मासगुरुव्यतिक्रमेऽपि मासगुरुकातीचारेऽपि मा-  
 सगुरुतेन च त्रयोऽपि यथोत्तरं तपःकाशविशेषिताः । तथा अ-  
 न्ते अनाचाररक्षणं दोषं चतुर्गुणं चतुर्मासगुरु प्रायश्चित्तम् ।  
 एते च मासगुरुव्येयः प्रायश्चित्ता अतिक्रमादिव्यवधाधिकोऽप्यां  
 दृष्टयाः विशेषोऽप्योक्त्यां त्वेव यमासाद्योऽनुक्तः प्रायश्चित्तानि-  
 ति । तद्यथा अतिक्रमे माससमु व्यतिक्रमस्य माससु अतीचारे  
 ऽपि माससु तु नवरमेते यथोत्तरं तपःकाशविशेषिताः व्य० १ उ० ।  
 हानातिचाराद्यस्तेषु प्रायश्चित्तम् ।  
 उहेसञ्भयगुसुय-संधंगसु कमसो एमाइस्स ।  
 कालाईकमाणसु, नाणावरणाइसरेसु ॥ ११ ॥  
 निन्वीए पुरियहे, गजचमपर्यसिं च णागादे ।  
 पुरिमाई खमणं तं, आगादे एममये वि ॥ २३ ॥  
 गुणमिह तपोऽईप्रायश्चित्ते हानवृत्तौ चारित्रतपोर्थाचार-  
 पञ्चकानातीचाराचक्रमाहोच्यम् । तत्राथा हानाचारस्याति-  
 चारे हानाचारातिचाराः सोऽष्टविधः तद्यथा अकालं स्वाभ्यास-  
 करणं काश्यातिचारः ॥ १ ॥ शुभमधिष्ठिमांसोऽतिमद्यव्येपेन  
 गुरुष्विबनयो वन्दनादिकृपाचारस्तस्य प्रयोजनं दीनं वा विनयानि-  
 चारः ॥ २ ॥ भुने गुणै वा बहुमानो हाद्रेः प्रतिबन्धविशेषस्त-  
 स्याकरणं बहुमानातिचारः ॥ ३ ॥ उपधानम आचामभ्यासि-  
 तपसा योगविधानं तस्याऽकरणमुपधानाऽतिचारः ॥ ४ ॥ यथा-  
 श्रुं भुनमतीते तं निहन्तेऽप्यप्रति अर्थं वा युगप्रधानमासतोऽ  
 ध्यापक निर्दिशति स्वयं वाऽऽधीनमित्याद्ये एवं निह्वनानिघा-  
 नातिचारः ॥ ५ ॥ व्यज्यते अर्थोऽनेनेति ध्यञ्जनमागमस्यं तस्या-  
 ङ्कारविन्दुभिः कर्मनतिरिक्तं वा करोति संस्कृतं वा विषये  
 पर्यायैर्वा विदधानि यथा " धर्मो मंगलमुक्तिं " मित्यादिनां  
 "पुषे कङ्कणमुक्तसदायं संवर निज्जरोति" व्यञ्जनातिचारः ६ ॥

भागमपदाद्यर्थस्यान्यथा प्रकल्पनमर्थोतिचारः । यथा आचार-  
स्थेऽस्म्यन्यव्ययममर्थे "आर्वेली होरोसि विष्णुसुरास्-  
त्सिति" यावत् केचित् होरोकेस्मिद् पापरिक्लोके विष्वामुश-  
न्तिति ष्वन्तुत्सये अयोऽयोः परिकल्प्यते " आर्वेली होइ देसा,  
तस्यो उ अरदइहकुवजा केबा । घड्डी मासा धरिदिहयाई, हेउचं  
लस्यो विपरासुखइ ॥ ७ ॥ यत्र च स्वार्था योऽपि विपरयते स  
तद्गुमयातिचारो यथा " धम्मो भंगइमुक्कत्ते, अहिंसा गिरि-  
मत्थए । देवा वि ते नमंसंति, यस्म धम्मं सया मई" "अहागडे-  
सु रंधंति, केत्सु रहकारओ । रत्तो जंत्तंसि णो ज्ञय्य, गहजो  
ज्ञय्य होसिइ" ॥ ८ ॥ अयं च मन्थानिचारा यतः सूत्रा-  
र्थभयनाशो भाक्ताभावस्तदज्ञाव हीक्राविपर्ययमिति । एष बाध-  
विधोऽपि । ज्ञानाच्चागतित्वात् द्विधा श्रोयते विभागतश्च ।  
तत्र विभागतः उद्देशाकथ्ययनमर्थान्यथाऽपि विषये प्रमादिनः  
प्रमादपरस्य काज्ञातक्रमणाद्विषयस्य ज्ञानाच्चागतित्वानेषु जात-  
पु क्रमताः क्रमणु तपोनिर्दिष्टात्कं पुरिमादिकं नके आचारसं-  
च । आनागादे दशयत्काक्रादिके श्रुते उद्देशाकानिचार अका-  
ज्ञायादिकं निर्वृत्तिक्रमम् । अथयनानिचारे पुरिमादं श्रुतस्क-  
न्धानिचारे एकत्रकमङ्गानिचारे आचारसंज्ञमित्यर्थः । आगादे  
तून्गकथ्ययनजगवत्यादिके श्रुते एतेष्वेवानिचारास्थानेषु पुरिमा-  
दिक्रमणानामेव तपो जवति । एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुक्तम्  
ज्ञानं ० ॥ ९ ॥ ० ।

प्रससमारम्भप्रत्याख्याता पुंघवीसमारम्भे  
वर्तमाना प्रनं नानिचरति ॥

समणोवासगममं णं जंते । पुब्बामेव तसपाणसमारंभे  
पञ्चकवाए जवइ पुद्विंसिमारंभे अपञ्चकवाए जवइ, से  
य पुद्विंखलमाणे अणयरं तमपाणं विहिंसेजा से ण भंते !  
तं वय अइचरइ ॥ णो इण्णइ समं नो खवु से तस्म अ-  
इवायाए आउट्टइ । समणोवासयस्स णं जंते ! पुब्बामेव  
वाणफइसमारंभे पञ्चकवाए स य पुद्विंखलमाणं अणय-  
रस्म रुक्खस्म मूलं विदेज्जा से णं जंते ! वयं अविचरति ?  
णो इण्णो ममं चो खवु से तः न अ ियाए आउट्टइ ॥

प्रसवधः । ( नो खवु से तस्स अइवायाए आउट्टइत्त ) न  
कव्वत्ती तस्य प्रसवप्रणस्यातिनाशय प्रधायावतेतं प्रवतेतं इति  
न सङ्कल्पयधोऽसौ, सङ्कल्पयधोऽव च निवृत्तोऽसौ । न चवं  
तस्य संपन्न इति नासायनित्वात् प्रत्यय मं ० षा ० १ उ ० ।  
( दैवसिका अतिचाराः काउत्समसाधे ) ( मृशगुणातिचारा  
उत्तरगुणातिचाराश्च सूत्रातिचारं प्रायश्चित्तमित्यवतरणमाश्रित्य  
पश्चिद्धतशास्त्रे बह्व्यन्ते )

सर्वेऽप्यतीचाराः संज्ञनकथायोदये भवन्तीत्याह ।

सर्वे वि य अइयारा, संज्ञलमाणं तु उदयञ्चो ह्येति ।

मूलच्छेजं पुणं होइ, वारमएहं कसायाए ॥ १५ ० ॥

सर्वेऽप्येतोचनप्रतिक्रमणोज्ञयादिकच्छेपयन्तं प्रायश्चित्तो-  
पयाः । अपिश्श्रुतिक्यन्तोऽपि च अतिचरणान्यतिचाराश्चारित्र-  
विराधनाविशेषाः संज्ञनानामयोऽद्वयतो जवति । इदशानां  
पुनः कायाखामुदयतो मूलच्छेजं भवति । सूत्रेनाष्टमखानवर्तिना  
प्रायश्चित्तेन छिद्यतेऽन्यथेन यद्वैषज्जातं तत्पुलच्छेजम् । अश्रे-  
यचारित्रोच्छेदकारीत्यर्थस्तद्वचनं दोषजातं इदशानामन-  
न्तानुष्मयप्रत्यास्थानप्रत्याख्यानपरणक्षकणायां कथायाणामु-

दये संजायते । अथथा इदं मूलच्छेजं दोषजातं यथासंज्ञनतो यो-  
ज्यते तद्यथा प्रत्याख्यानपरणकथायाणुच्छेजं सर्वविरतिक-  
पस्य चारित्रस्य मूलच्छेजं सर्वनाशरूपं भवति । अप्रत्याख्यानक-  
थायचतुष्कोऽदये तु दशविरतिचारित्रस्य अनन्तानुष्मिकथा-  
यचतुष्कोऽदये पुनः सम्यक्त्वस्येति निर्मुक्तिगाथायाः ॥ १५ ० ॥  
प्रायश्च ।

अइयारा छेदता, सर्वे संज्ञलणइयेयो ह्येति ।

संसकसाभोदयञ्चो मूलच्छेजं वयारुहणं ॥ १५ १ ॥

सप्तमस्थानवर्ती प्रायश्चित्तविशेषश्चेदस्तत्तन्नाशोचनादिना ह्ये-  
दान्तेन सप्तविधप्रायश्चित्तनान्तो येषान्ति एकस्थानशुद्धस्य  
लोपाच्छेदान्ताः सर्वेऽप्यतिचाराः संज्ञनकथायां उदयञ्चया प्र-  
यन्ति । दोषकथायाणां च दशानामुदये मूलच्छेजं समस्तचारि-  
त्रोच्छेदकारकं दोषज्जातं जवति । तादृशमुक्तं च प्रायश्चित्तं न पु-  
नरापे वरांतराणमिति ।

अथवा यथासंज्ञं मूलच्छेजं योज्यते इत्येतद्वाह ।

अहवा मंजमूल-च्छेजं तदयकेलुमादये नियये ।

समस्ताः मूल-च्छेजं पुणं वारमएहं पि ॥ १५ २ ॥

तृतीयानां प्रत्याख्यानपरणकथायाणामुदये सप्तमस्य सर्ववि-  
रतिकरूपस्य मूलच्छेजं नियते निश्चितं जवति सम्यक्त्वादिमूल-  
च्छेजं तु इदशानाममुदये संपद्यते इति ।

अथ प्रथमाशक्नुप परिहराह ।

मूलच्छेजे सिच्छे, पुब्बं मूलगुणघाटगहणेणं ।

इह कीसु पुणो गहणं, अइयारविमसणत्थं ति ॥ १५ ३ ॥

पगयमहकखायं नि य, अइयारे तम्मि च व मा जोए ।

तो मूलाच्छेजमिणं, सेमचिंत्तं निओएइ ॥ १५ ४ ॥

आह नन्यन्तरनिर्दिष्टनिर्मुक्तिगाथायां " मूलगुणाणं संज्ञं, न  
सहइ मूलगुणघाटिणो उदयं " इत्येत्तरिक्मपूर्वादेन मूलगुणघा-  
तिप्रदणेन इददाकथायाणामुदये मूलच्छेजं सिच्छेमेवेति किमिदं  
पुनस्तद्ग्रहणमत्रोत्तरमाह । अतिचारविशेषणार्थमिति । अति-  
चाराणां विशेषणव्यवस्थाणार्थमित्यर्थः । इदमेव व्यक्तं कुर्वन्नाह ।  
( पगयमित्थादि ) इदमुक्तं जवति "संज्ञलमाणं उदयं न सहइ  
चरणं अहकखायमि" त्यन्तरनिर्मुक्तिगाथायोरुत्तरादिह यथा-  
ख्यातचारित्रं अज्ञतमुदयत्तं तत्तच्च "सर्वे वि य अइयारा संज्ञ-  
णाणं उदयञ्चो ह्येति" इत्येतानितिचराननन्तरानुष्मंज्ञानं यथा-  
ख्यातचारित्र एव शिष्या योज्यतेऽन्यथाना उक्तस्तद्वेदमिदं पुन-  
पि मूलच्छेजमनद्यथाख्यातवर्जितं शेषचारित्रं साम्याकारिकं  
नियोजयति । अस्यां हि सुलगाधार्थं मूलच्छेजप्रदणात्पुनः-

शब्दविशेषणाद्यायमर्थः संपद्यते संज्ञनानामामुदये शेषचारित्र-  
स्य सर्वेऽप्यतिचारा जवन्ति इदशकथायाणामुदये पुनर्मूलच्छेजं  
जवति । यद्यैवास्यां गाथायां मूलच्छेजमुक्तं तस्यैवातिचारा अपि  
न तु यथास्थानचारित्रस्य कथायोदयरहितनखेन तस्य निरतिचा-  
रत्वादिनि गाथाचतुष्टयायाः १५ ४ । विशो ३०० पल्लो ३।०  
मं ० । ३।० ॥ ३।० ॥

सातिचारस्य चरणस्य विपाककटुकताविचारः ॥

ममं वि आरियेवं, अत्थपदजोवराणपट्टणेणं ।

विसए अ उाविअवं, वहु मुअुगुरुसयासाओ ॥ १६ ० ॥

रूपश्च सूत्रमेण न्यायेन विचारयितव्यमर्थेपदज्ञानाप्रधा-

अष्टयार

मेन सता तस्या पयेश प्रधानत्वाद् । तथा विषये च स्थापयित्वं तदर्थपरं कुत इत्याह बहुश्रुतगुरुकशाशास्त्र स्वयन्निविक्रमेति गाथायैः ।

एतदेवाह ।

जह सुहृदभ्यश्चाराणं, वंशीपमुदासफलविद्याणाणं ।

ये गुरुभ्यः फलमुत्तं, एष कथं धनदं जुतीषु ॥६६ ॥  
जया सूत्रमानिचाराणां ह्युच्चारित्वापराधानां किञ्चतानामित्याह । ऋषयमुष्णदिव्यविद्यानां प्रमुखशब्दास्तुन्दरीपरिचयः श्राद्धशब्दात्तपःस्तेनमभूतानां यद्गुरुफलमुक्तं सूत्रे स्वीयं किञ्चिद्विषयकारित्वेति एतत्कथं घटते युक्त्या काऽस्य विषय इति गाथायैः । तथा ।

सद एवमिदं च एवं, कर्हं पमत्ताण धम्मचरणं तु ।  
अष्टभ्यासायचूआ-ण हंदि मोक्खस्स हेउ चि ॥६७॥  
सत्येर्निधिमञ्चैवं यथायं एव कथं प्रमत्तानामयतनसाधुनां धर्मचरणमेवं इन्द्रि मोक्षस्य हेतुरिति यागः नैवेत्यभिप्रायः । किञ्चतानामित्याह । अतिचारअधनुत्तानां प्रचूतातिचारवतामितति गाथायैः ॥

मार्गानुसारिणां विकल्पमाह ।

एवं च घडइ एवं, पवज्जिउं जो तिगिच्छुद्धअरारं ।  
सुहृमपि कुणइ सो खलु,त्सम विवागम्मिअइरोधे ॥६८॥  
एवं च घटते एतदन्वयान्तरितं प्रपद्य यथाकिञ्चित्सं कुण्ठारेदिचारं तद्विरोधिं किमित्याह सुद्धममपि करंति स अथु तस्यातिचारं विषयकोऽतिरैको भवति इष्टमेतदेवं दाष्टान्तिकेऽपि त्रिविध्यन्तिति गाथायैः ।

अतिचारकूपणहेतुमाह ।

एद्वक्खउक्खवसाणं, पाएणं त म खवणहेऊ वि ।  
पाणोअण्णाइमित्तं, तेसि ओहेण तज्जावा ॥६९॥  
प्रतिपक्षाधवसानं किण्ठाच्छुद्धं तुल्यशुणमाधिकगुणक वा प्रायेण नस्यातिचारस्य रूपणहेतुरपि यद्व्यभिचित्वात्तान्तिप्रयोऽग्रहणं नाल्लोचनमात्रम् । तथाविधभावशून्यं कुत इत्याह । तथापि ब्रह्मादीनां प्राणिनामोघेन सामान्येन तज्ज्ञादादोषोचनान्तिमात्रनादादिति गाथायैः ।

एवमपचाणं पि हु, पइअअरारं विवक्खहेऊणं ।  
आमेवणेण दोसं, चि धम्मचरणं जहापिअहिअं ॥७०॥  
एवं प्रमत्तानामपि साधुनां प्रव्यतिचारमतिचारं प्रति विपक्खहेतुनां यथाकाधवसायानामासंवेन सति न दोषोऽतिचारक्यात् इत्येवं धर्मचरण यवाऽजिदितं बुद्धयान्मांक्षस्य हेतुमिति गाथायैः ।

अश्वेदं तावयमाह ।

सम्मकपपिअरारं, बहुअं पि विसं न मारए जह उ ।  
घावं पिअ विवरंअं, मारइ एसोवमा एत्य ॥७१॥  
सम्यक्प्रतीकारमगदमन्नादिना बह्वर्ण विषं न मारयति । यथा भक्षितं सस्तोक्तमपि च विपरीतमहत्प्रतीकारं मारयति एवंपोपमाऽत्रातिचारविचार इति गाथायैः ।

विपक्कमाह ।

जे पक्खारिवरिअहिया, पमाइणो तेमि पुण तयं विति ।  
दुगहिअमरोहरणा, अण्णिकफत्तयं पिमं जणिअं ॥७२॥

ये प्रतीकारविरहिता प्रतिचारेषु प्रमादिनो ह्ययस्यधर्मस्तेषु पुनस्तत्कर्मचरणं यथोदितं किमर्थं न भवतीत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति कुण्ठरीतशरोदाहरणान्तरे यथा कुण्ठरीते हस्तमेवावहन्तति आशययुक्तरामुष्टरनाकुपकपैतीत्यस्मात्प्रतिपक्कमव्येतद्वर्त्मचरणं ह्यवरुणं ज्ञेयितं प्रतीतिरिति गाथायैः ।

एतदेव सामान्येन उच्यतेवाह ।

सुहृदश्चाराणं वि अ, माणुअरारिअ सुहृद मा फदं नेअं ।  
इअरेअु अनिरयासु, गुरुअं तं अजहा कचो ॥७३॥  
कृडातिचाराणामेवोचो धर्मसंबन्धिनां समुच्चारिष्युञ्जकं हेयं स्तोत्रद्वारिद्रवाद्यै आदिशब्दात्तथाविधतिर्यपरिग्रहः इतरेषां पुनर्मेहातिचाराणां नरकविषु गुरुक तद्बुद्धयफलात्ताशय-शुभापेक्षया आदिशब्दात् क्रियतिर्यपरिग्रहः । इत्यं चैतत्कृत्वाकतव्यं तदन्वया कुतकस्तस्य हेतुर्मेहातिचाराणमुक्त्वेति गाथायैः

उपसंहरसाह ।

एवं विचारणारए, सइ भवेगाउ चरणपरिवुड्डी ।  
इहरा मम्मूचिअमप-ण्णुत्तया ददं होइ दोसा य ॥७४॥  
एवमुक्तेन प्रकारेण विचारणार्थां सत्यां सदा संवेगाकेनोः किञ्चित्त्वाह ( चरणपरिवुड्डी ) कर्णतया इतरथा ज्ञेयानामन्तरेण सम्मुखेनजप्राणतुल्यता दृढतया करणेन असावयव्यं दोषाय प्रवति ह्यन्वया प्रमत्तयथाप्रीति गाथायैः प०य०३-८०० ( अथकम्पनामन्तिचरः सम्यक्क्यातिचाराश्च स्वस्वस्थाने ) यस्याष्टावर्गीचाराया सायानि तेनाष्टौ नमस्कारा गायन्ते परं गाथाया उच्यन्ता इतिशब्दयति नमस्कारानुत्पत्त्यपि तत्रैव नमस्काराएकस्य त चतुःष्टकच्यन्ता भवन्ति तत्कल्पमिति प्रश्ने ? उत्तरं यस्याष्टौ गाथा नाप्यति नस्याष्टनमस्कारायां-त्समंः कार्येने न तुच्यन्तासमानानि श्ये० अष्टौ ६ प्र० । अति-कृत्य स्वस्वभोगकाशमुल्लङ्घ्य चार राइयन्तरगमनश्च अतिचारः । उपातियोः भौमादिपञ्चकस्य स्वस्यान्तराशाषु जोगकाल-मुल्लङ्घय राइयन्तरगमने, अतिचारस्य- " शर्वीर्मां निदानाथः सपादिविषमङ्गयम् " इत्यादिनोक्तोत्तराकाभेदोऽल्लङ्घनेन प्रदण-मतिव्रीमनया अत्यकाहेनेव आक्रान्तगाराशुपुञ्जय राइयन्तर-गमनम् । वाच० ॥

अष्टरत्न-अतिरक्त-त्रि० अत्यन्तो रक्तः रक्तवर्णः अनुरागयुक्तो वा अतिशोहितवर्णो, अत्यन्तानुरक्तं च अत्यन्तरक्तवर्णं पुं० वाच० अतिरात्र-पु० अतिशयिता रात्रिस्ततोऽरुः रथे रुचं अथिकदिने दिनवृद्धौ, ते च घट तद्यथा ॥

३ अष्टरत्नापसत्ता तं जहा चरत्ये पव्वे अट्टमं पव्वे लुवा-लसं पव्वे सोलसं पव्वे वीसमं पव्वे चउवीसइमं पव्वे ।  
( अष्टरत्नसि ) अतिरात्रोऽधिकदिने दिनवृद्धिगतिं यावत् चतुर्थं पवे श्रायादबुद्धकृप एवमिहैकान्तरिमासात्मां बुद्धपक्काः सव्वे पव्व्याणंति, स्था०६०० । संप्रत्यतिरात्रप्रतिपदात्तार्थमाह " तथय्यादि " तत्र एकस्मिन् संवत्सरे स्वयमेव द्वे अतिरात्रा प्रहामस्तद्यथा "चउथे पव्वे" इत्यादि इह कम्मसासमपेक्ष सुयं-मासविन्नायामेकैकसूर्येणुपरिसमाप्तावेकैकोऽधिकोऽश्वेभः प्राथये तथाहि त्रिशता अहारात्रैरेकः कम्मसासः साकं विंशता अहारात्रै-रेकः सुयंमासां मासइयामकश्च अतः ततः एकसूर्येणुपरिसमाप्ता कम्मसासइयमपेक्षय एकोऽधिकोऽहारात्रः प्राथये सूर्येणु-अ आयादादिकस्तत आयादात्परश्च चतुर्थं पव्वेण एकोऽधिको

उद्देशो प्रवृत्त्यर्थे पदेण गते द्वितीयाः तृतीया द्वारदो पदेण चतुर्थः पञ्चमो, षष्ठो विंशतितमः, सप्तमस्तुविंशतितमः इति । अवमरात्रा कर्ममासासत्रयमेव चन्द्रमासचिन्तायां चन्द्रमासा आश्रवणाष्टास्रतो वरांकालस्य आश्रवणादिरित्युक्तं प्राक् । संप्रति वमपदेणानिरात्रा वं चापश्य अवमरात्रा प्रवर्तित तदेतत् प्रतिपादयति ॥

उच्ये व य अङ्गत्ता, अङ्गत्ता ह्येति माणाहि ।

उच्येव श्रीमरात्रा, चंदाह ह्येति माणाहि ॥ १ ॥

अनिरात्रा भवति आदित्यमेवैव किमुक्तं भवति आदित्यमासात्प्रवृत्त्य कर्ममासाचिन्तायां प्रतिवर्षे वद अनिरात्रा प्रवर्ततीति (माणाहि) जानीहि । तथा वद अवमरात्रा प्रवर्तित चक्रात् चन्द्रमासत्रय चन्द्रमासमधिकृत्य कर्ममासाचिन्तायां प्रति संवत्सरं वद अवमरात्रा भवन्तीत्यर्थे इति (माणाहि) जानीहि तदेवमुक्त्वा अवमरात्रा अनिरात्रा चं० प्र० ११ पाहु० ७० । उच्य० सू० प्र० ॥

अङ् ( ति ) रचकं वृत्तसिद्धा-अतिरक्तकम्बल (शिला-खी-मन्द-पयर्तैर्योत्तरस्यां) दिशि वतेमानायामधिपेकशिलायायाम्, " दो अङ्गत्तकं वलसिलाभ्रा " स्थानं २ टा० ।

अङ्गा-अङ्गि-खी- विभ्रसेनमाय्यायां शान्तिजिनेन्द्रस्य मा-तरि, नी० ए० क० । अच० । स० । प्रव० ।

अङ् ( ए ) रावाण-पेरावाण-पुं० इन्द्रगजे, को० ।

अङ् ( ति ) रिच-अतिरिक्त-त्रि० अति-रिच-क-अतिशय-नि, श्रेष्ठ, भिन्न, शून्ये च । तत्र भेदे " अतिरिक्तमथापि यद् भवेदिति " भाषा० । यस्य वाच्यप्रमाणं युक्तं ततोऽधिकत्वे, वाच० । अच० । अधिकं, स्थानं २ टा० १ इ० । अतिप्रमाणे, स० । सूत्र० । अतिरेके, प्रश्न० सं० ५ टा० । भाष०-क-अतिशये, अ० । अधिकं च न० वाच० । नि० चू० ।

अङ् ( ति ) रिचमिज्जामणिय-अतिरिक्तशय्याशानिक-पुं० अतिरिक्ता अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासानि च पीठका-दीनि यस्य सान्नि सोऽतिरिक्तशय्याशानिकः । चतुर्थेऽसमाधिस्थाने, स चाऽतिरिक्तार्या शय्यायां चक्रशालाविक्रपायाम-न्येऽपि कीटिकादयः ( कार्पटिकादयः ) आखामन्यतीति तैः सहाधिकरणत्वाद्समाधिस्थानमेव सहाधिकरणसम्भवाद्वा-गमपरावसमाधौ योजयतीति स० । दशा० । अ० चू० प्रश्न० ।

अङ्गुगम-अङ्गिर्ज्ञात-त्रि० चण्डमामयुक्ते, रा० । प्रथमादिते, " अङ्गुगम वि स्तरे " उक्तं ३ अ० । " अङ्गुगमसममा-सुण्डिचंबद्वन्द्वसंठियाण्डाला " न० ।

अङ्क-अतिरूप-पुं० अतिक्रान्तो रूपम् । रूपवर्जिते परमेष्ठ्ये, वाच० ( एतन्निराकरणमन्यथ ) भूतेभ्ये च प्रज्ञा० १ पव ।

अङ् ( ति ) रेग-अतिरेक-पुं० अति-रिच-घञ्-भेदे, प्रा-धाये, वाच० । अतिशये, जी० ३ प्रति० ३ उ० । आधिक्ये, ज्ञा० १ अ० । " अङ्गरेरहेतसस्त्रिते " " अतिरेकेण राजमान-स्सत् सदशः " कल्प० । कर्मणि-घञ् । अधिकतरे, कल्प० ।

अङ् ( ति ) रेगसंठिय-अतिरेकसंस्थत-त्रि० अतिरेकेण सं-स्थिते यस्य सः । अतिशयित्वा संस्थानवति, " कयलीखंभा-रेगसंठिय " जी० ३ प्रति० ।

अङ् [ चि ] रेण-अचिरेण-अच्य० चिरेणेत्यव्ययस्य न० त० स्तोत्रे काष्ठे, " अचिरेण सिद्धपासाव " अच० ३ उ० । चि० ० ।

अङ्गोस-अतिरोष-पुं० अतिशयितकोषे, " अङ्गोसो अङ्गोसो, अङ्गोसो तु अङ्गेषु संवासे । अङ्गुम्भो य वेसो, पंच वि गुरुयं पि लङ्गुयं पि " अ० २० ।

अङ् [ चि ] रोषवप्राग-अचिरोपपञ्चक-त्रि० न० त० अचि-रजाते, आच० ५ अ० ।

अङ्गोहय-अतिरोहित-त्रि० न० त० । प्रकाशिते, स्फुट० ५ अ०, अव्ययहिते च वाच० ।

अङ् [ ति ] लोद्युय-अतिलोद्युय-त्रि० अतीव रसलम्पटे, उक्तं ११ अ० ।

अङ् [ ति ] वदचा-अति(प्रय)पत्य-अच्य० अति-पव-वञ्-वा-क्या ल्यप् । अतिप्रत्येत्यर्थे, ज्ञा० ५ अ० । प्रियेत्येत्यर्थे च प्रश्न० भाष० ३ टा० ।

अङ्गवृण-अतिवर्तन-न० उल्लङ्घने, आच० १ सु० ५ अ० ६ उ० ।

अङ् [ ति ] वाङ् [ ति ] न-अतिपातिन्-त्रि० अतीव पा-तयित्वा गीलमस्य । हिंसके, सूत्र० १ सु० ५ अ० ।

अङ्गाङ्गा-अतिपातयित्-त्रि० अति-पव-रिच-शीलाऽर्थे त्व् । प्राणिनां विनाशनशीले, " खो पाण्य अङ्गाङ्गा भवद् " स्थानं ३ टा० २ उ० ।

अतिपात्य-अच्य० अति-पव-क्या-ल्यप्-प्राणिनो विनाशये-त्यर्थे, स्थानं ३ टा० १ उ० ।

अङ्गाङ्गा-अतिपातिक-त्रि० अतिपवनमतिपातस्स विघने यस्य सोऽतिपातिकः । प्राणयुग्मदर्शके, सूत्र० २ सु० १ अ० ।

अङ्गाङ्गा-अतिपातिका-खी० अतिक्रान्ता पातकमतिपातिका निर्दोषायाम्, पापाद् दूरीभूतायाम्, आच० १ सु० ए अ० ।

अङ् [ ति ] वापमास-अतिपातयत्-त्रि० प्राणिन उपमर्दय-ति, सूत्र० १ सु० ८ अ० ।

अङ् [ ति ] वाय-अतिपात-पुं० अतिपवनमतिपातः । प्रा-णयुग्मदर्शने, सूत्र० २ सु० १ अ० । विघ्नोरे, स्थानं ५ टा० । वि-नाशे, सूत्र० १ सु० १० अ० पा० ।

अतिवाद्-पुं० अत्यन्तकथने, वाच० ।

अङ्गास-अतिवेष-पुं० अतिशयवेषं, वेगवर्षणेषु, ज्ञ० ३ श० ६ उ०

अङ् [ ति ] वाह-अतिव्याप्रात-त्रि० अतीव प्राते, दुर्गन्धा-दिविशिष्टे, सु० ४ उ० ।

अङ् [ ति ] विज्ञ-अतिविद्-त्रि० विदितगतमज्ञापे, " त-म्हा इ ( ति ) विज्ञो णो पस्त्रिज्जिज्ञा " आच० १ सु० ४ अ० ।

अङ् [ ति ] विसय-अतिविषय-पुं० प्रवलयम्बन्धिरुद्योग-न्ये, तं० ।

अङ् [ ति ] विमाया-अति [ विस्वादा ] [ विषयग ] [ वृषाका ] [ विषाचा ] विषादा-खी० अतिविषादाः दारुणविषादहेतु-त्वात् १ यथा अतीत्यतिक्रान्तो गतोऽकार्येकरण विषादः क्रो-धो यासां तास्तथा २ यथा अतीति भूयो विषमतिविषम आ-समन्ताद् ददति पुरुषाणां चिरकाः सत्यः सूक्ष्मास्तादिति अतिविषादाः ३ यथाऽतीति भूयो धीति नानविधः स्वादो सा-म्पत्ये यासां ता अतिविषादास्तथा ४ अतिविषयगा अति-विषयात् प्रवलयम्बन्धिरुद्योग-तयो नरकपूर्विकी यद्गति चक्रव

अइविसाय

तिरिञ्जरनवत्सुलदमानुयद्वा प्राकृतवत्सत्र यज्ञोपसम्भिः प यद्वा  
अतिविषाद्य इष्टपुरुषाप्रती स्पेन्द्रियविषयाप्रती वाप्रतिवि-  
षादोयासां ताः ६ अतिकोपादत्युष्ट विषमदन्ति प्रकृत्यान्ति इति  
अतिविषादाः ७ अतिवृष महारवृषये येषां तस्यविषुषास्माध्वयः तेषां  
कायन्ते यम इवाचरन्ति चारित्रप्रसादरणेनेति ८ यद्वा अतिवृ-  
षाणां कायान्ति अन्नीयन्ति संयममष्टअलनेनेति अतिवृषाकाः ९  
यद्वा अतिवृषे लोकानां पुण्यरूपमदहनं आनृशं चायन्ते चौर  
इवाचरन्ति यास्मास्तथोक्ताः १० पता दश व्युत्पत्तयः । छुष्ट-  
स्वभावासु स्त्रीषु, तं० ।

अइ [ ति ] विसाह-अतिविशाह-त्रि० अत्यन्तविशाहे, यम-  
अनशेषस्य दक्षिणपार्श्वे वर्षमानायास राज्यान्त्याम, स्त्रो० द्वी० ।  
अइ [ ति ] वृष्टि-अतिवृष्टि-स्त्री० अति-वृष्ट-क्तिन्-अधिकचयं,  
स० । शर्यापत्रातकोपादविशेषे, दश० ।

अइस-ईदृश-त्रि० अयमिष पश्यति इदम दृश-कर्मकर्त्तरि-  
क्तिन् इशादिसो दीर्घः । अतान्दस्य = ४ । ३ इति सूत्रेणाप-  
भ्रंशे ईदृशदशस्य अइसाऽइशेः । पतन्तुये, प्रा० ।  
अइसइय-अतिशयित-त्रि० विशोभते, कं० ।

अइ ( ति ) संकिंश-अतिमंकिंश-पुं० आत्यन्तिके चित्तमा-  
लिन्ये, पत्ना० १५ विव० ।

अइ [ ति ] मंधास-अतिसंधान-त० प्रस्थापने, अत्र० ४अ० ।

अइ [ ति ] संधाणपर-अतिसंधानपर-त्रि० असद्वृत्तगुणं शु-  
श्वन्तमात्मानं वयापयति, अत्र० ४ अ० ।

अइ [ ति ] मंपराग-अतिमंप्रयोग-पुं० गार्थे, “ अतिशयन  
रूपेण कस्त्रिकादिना परस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः । अतिशयरू-  
पेण द्रव्यान्तरस्य संप्रयोगः, सूत्र० २ श्र० २ अ० ।

अइ [ ति ] सकणा-अतिष्णकणा-स्त्री० अमिज्वरिण्यति  
इष्णनानां समरिणयासः । नि० चू० २ उ० ।

अइ [ ति ] शय-अतिशय-पुं० अति-शीरू अच-आधिक्ये,  
अतिरेके, वाच० । प्रकंपभावे, न० । अतिशयनः शयं ह-  
स्तम् अया० स० हस्तानिष्क्रमकारके, त्रि० अतिशय-अस्य-  
यैऽच । अतिशययति, वाच० ( आचार्योपाध्यायादीनां तीर्थेकृतां  
आतिशयाः अरसंसशब्दं )

अइ [ ति ] मयाणा- [ न् ] अतिशयज्ञानिन-पुं० अय-  
पिज्ञानादिकलिते, व्य० १ उ० ।

अइ [ ति ] मयमईयकाल-अतिशयातीतकाल-पुं० अतिश-  
यन योऽतीतः कालः समयः स तथा ( मकरोऽल्लाक्षणिकः )  
अतिव्यवहिते काले, स० ।

अःसयसंदोह-अतिशयसंदोह-त्रि० अतिशयान संदुधे प्रपू-  
रयति यच्चदतिशयसंरोहय । अतिशयसंदोहबद्धे, अतिशयस-  
सूहसंपरे, यो० ६५ विव० ।

अइसारीअ-ऐश्वर्ये-न० ईश्वरस्य भावः । अइईश्यादौ च = १६  
इति सूत्रेणैतः अइ इत्यादेशः । अगिमाचष्टाविषयनिभे, प्रा० ।

अइ [ ति ] साइ [ न् ] -अतिशयिनि-त्रि० अइकिमन्तु, क-  
वसमनःपरथायाऽवधिमाचष्टदुशपुषेवित्तु, अमर्षोपधादिप्रास-  
अइषिपु, आचा० २ श्र० २ चू० ।

अइ ( सिरिभर-अतिश्रीभर-पुं० अतिशयिते श्रीभरे, (शोभामसूहे)  
“ अरिस्तिभरपिल्लणविसस्यंतकेतसो हंतचारुककुडुं ” कस्य० ।

अइ [ ति ] सीय-अतिशीत-त्रि० अतिशयिते शीते, स्त्रो०  
५ टा० १ उ० । निशयितं शीतम प्रा० स० । अत्यन्तशीतल-  
स्पर्शे, तद्विशिष्टे, त्रि० वाच० ।

अइ [ ति ] मुहुम्-अतिमुहुम्-त्रि० अतिशयसूक्ष्मशुद्धिरस्ये,  
यो० ११ वि० ।

अइ [ ति ] सम-अतिशेष-पुं० अतिशये, आचार्योपाध्या-  
यगले पञ्च अतिशयाः ।

( सूत्रम् ) आचारिय उवज्जाए सस्य एं गणसि पंच अविसेसा  
पषत्ता तं जहा आचारिय उवज्जाए अंतो उवस्सयस्म  
पाये निर्गिज्जय निर्गिज्जय पफ्फोमेमाणे वा पमज्जेमाणे  
वा एाइकमइ । आचारिय उवज्जाए अंतो उवस्सयस्म  
उच्चारपासवणं विंत्तिमाणे वा विमोहेमाणे वा एाऽकमइ ।  
आचारिय उवज्जाए पनूउच्चारियावाभियं करंजा इच्छा  
एां वज्जा । आचारिय उवज्जाए अंतो उवस्सयस्म एगराई  
वा दुराई वा एगर्गां वममाणे एाइकमइ । आचारिय उव-  
ज्जाए वाट्ठि उवस्सगम्म एगराई वा उर्राई वा वममाणे  
पाइकमइ स्या० ए ता० २ उ० । व्य० ६ उ० ॥

आचार्यश्चात्पुत्राध्यायश्चाचार्योपाध्यायः स हि केषांविदा-  
चार्यैः केषांचिदुपाध्यायस्तन एवमुक्तं यावता पुत्रः स नियमा-  
दाचार्ये एव नश्य गणे गणमध्ये एव अविशेषा अतिशयाः प्र-  
ह्लासकपथा आचार्योपाध्यायानामुपाध्यायस्तान्देष्ये पात्रतः  
निशुद्ध निशुद्ध तथा पादा यथा यथा प्रस्फोटयिष्यां यथा धूम्रः  
कस्यापि रूपकादंते पत्राणि एवं शिक्कयिष्या शिक्कयिष्या प्रस्फो-  
टयन् प्रस्फोटकां नातिक्रामति एव प्रकोटितयाः । यथा आचा-  
र्योपाध्यायान् उपाश्रयस्थानशुद्धार प्रस्थानं वा विधास्यतेतां  
व्युत्सृजते विशोषक उद्योगादिपरिष्ठापको नातिक्रामति एव  
द्वितीयस्तथा आचार्योपाध्यायः प्रचुरतो वैद्यावृथमिच्छया  
कारयेत न यत्राभियोगतः “ अणा वत्राभियोगो निग्मद्यानं न  
कणप काठमिति ” वचनात् एवमुक्तं । तथा आचार्योपाध्या-  
य उपाश्रयस्थानमध्ये एकत्र वा द्वित्रां वा वसेत् नातिक्रा-  
मति नातीचारजानयति एव चतर्थः । आचार्योपाध्याय उपाश्र-  
याद्धिरेकरात्र वा द्वित्रां वा वसन् नातिक्रामति इत्येव सूत्रसं-  
क्षेपार्थे ( व्य० ६ उ० ) आचार्योपाध्यायस्य वसनेरनतः पादप्र-  
स्फोटनप्रमाणे इत्यर्थं प्रथमोऽतिशयस्तत्र भाष्यविस्तरः ।

वहिर्जतो विवज्जातां, परागं सागारिचण्डइ मुहुत्तं ।  
विदयपये विद्विण्णे, निरुच्छमहणं यजगाए ॥

वहिर्जनश्च यद् विषयासो वहिरनस्फोटागतः प्रस्फोटनरूपस्त-  
दा पञ्चक पञ्चरात्रिभिवे प्रायश्चित्तप्रथम वहिः सागारिको व-  
तेने ततस्मिन्निति मुहुत्तं व्याख्यानतो विदोपप्रतिपत्ति-नमुहुत्तं-  
मित्यर्थः । अर्धतानता कालेन सागारिको नापयानि तर्हि ( तन् )  
यपदमपवाचपदमाधीयते । वहि पादा अस्फोटनोऽप्यन्तं सने,  
प्रविश्यते तत्र विस्तीर्णं उपाश्रये अपारोग्ये प्रद्रेशे आचार्य-  
पादाः प्रस्फोटयित्वाः निरुच्छायां संकटायां वसन्तः यथाचार्य-  
सम्कटवटकायकाल्यस्तत यतनया यथा न कस्यापि धूम्रिभ्रगती-  
त्येवरूपया प्रस्फोटयित्वाः । एष आचार्यासंक्षेपार्थः ।

सांयनमेनामेव विवर्त्तपुरिदसाह ॥  
वाटि अपमज्जे, पाणिं गणिणो उ ममप मामो ।

अप्यभितेह दुपेहा, पुवुत्तुत्ता सत्त जंगा अ ॥

आचार्यः कुलादि कार्येण निगतः प्रत्यागत उत्सवेण तावद्भवत्  
वसतेर्बहिरव पादान् प्रस्फोटयति प्रत्युपेकृते प्रमाजयति चेत्स्यः ।  
यदि पुनर्निष्कारणं बहिः पादान् स्फोटयति तदा बहिरप्रमाजने  
गणित आचार्यस्य प्रायश्चित्तं पञ्चकं दोषकं सायौ बहिः पादान्  
अप्रमाजयति ह्युक्तो मासः प्रायश्चित्तम् । तस्मात् बहिः पादान्  
अस्फोटयान्तः प्रवेष्टव्यं तच्च प्रस्फोटनं विधिना कर्तव्यम् । स चा-  
यं विधिः प्रत्युपेकृते ततः प्रमाजयति । अविधिः पुनरयं न प्रत्युपे-  
कृते न प्रमाजयति ॥ १ ॥ न प्रत्युपेकृते प्रमाजयति ॥ २ ॥  
अत्युपेकृते न प्रमाजयति ॥ ३ ॥ प्रत्युपेकृते प्रमाजयति च ॥ ४ ॥  
अत्राप्यु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासिकं चतुर्थे नङ्ग  
भङ्गश्चाव्यवस्तथा दुष्प्रत्युपेकृते दुष्प्रमाजयति ॥ १ ॥ दुष्प्र-  
त्युपेकृते सुप्रमाजयति ॥ २ ॥ सुप्रत्युपेकृते दुष्प्रमाजयति ॥ ३ ॥  
सुप्रत्युपेकृते सुप्रमाजयति ॥ ४ ॥ अत्र चतुर्थो भङ्गः ह्यः  
शंपेषु तु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं पञ्चरात्रिन्विधम् एत-  
देवाह ॥ अत्युपेकृते अपञ्चकंमतव अप्रमाजने च । तथा  
दुष्प्रत्यायाम्बाल्युपेकृत्तं हेयमिति दुष्प्रमाजनेतयां व पूर्वो-  
क्तः कल्याण्यनोक्तः सप्त भङ्गाः । तत्र चोक्तः प्रायश्चित्तविधिः ।  
बहिः अंतां विदज्जामो, पणमं सागारिय असंतमि ।  
मागारियमि उ च्चे, अत्यंति मुहुत्तं धरा ।

यदि सागारिकं अस्मति अविद्यमानं बहिरन्विषयां सो जवति  
बहिरन्स्फोटयन्तः प्रस्फोटयतीत्यर्थः तदा गणितः प्रायश्चित्तं  
पञ्चकम् । अथ सागारिकं बहिस्तिष्ठति सांप्रि च चक्रव्यसं  
नाम मुहुत्तमात्रेण गन्ता तस्मिन्सागारिकं चङ्गे तिष्ठति मुहुत्तं क-  
मन्पार्थं कप्रत्ययोऽल्पं मुहुत्तं किमुक्तं जवति सप्तनाशातिमात्रं  
सप्तपदातिनक्रमणमात्रं वा कासं स्वविरातिष्ठति ।

थिरविकिस्वत्तं सागा-रिय अणुवउत्तं पमउजउं पविसे ।  
निविरिस्वत्तुवउत्तं, अंतां अ पमजना तोह ॥

स्थिरो नाम यत्रावस्थायो भ्रूवकर्मिको व्याक्रिप्तः कर्मणि  
कर्मण्ये व्याकुलस्तद्विपरितोऽभ्याक्रिप्तः । तत्रपुक्तं आचार्यान्  
दृष्ट्वा निराङ्गमाग्ननाद्विपरितोऽनुपयुक्तः । नच स्थिरं व्याक्रिप्तः  
अनुपुक्तः सागारिकं विद्यमाने बहिः पादान् प्रमृज्य प्रवेशान्  
स्थिरं निर्व्याक्रिप्ते उपयुक्तः बहिः सागारिकं सति वसतेऽन्तः  
प्रमाजने पादानाम् । अथाचार्यस्य पादाः किं स्वयमेवाचार्ये-  
ण प्रस्फोटयितव्याः उताग्येन साधुना तत आह ।

आनिमग्निहियसम् अमति, तत्संव रओहरेण अमपरे ।  
पाउंउपुषिपणव, पुसमंति व अणमपुत्तं ॥

केनापि साधुना अग्निग्रहो गृहीतो वर्तते यथा मया आचार्यस्य  
बहिर्निगतस्य प्रत्यागतस्य पादाः प्रस्फोटयितव्या इति स यद्य-  
स्ति तर्हि तेन प्रमाजनेनायोपस्थातव्यं तत्र आचार्यस्यान्तर्भवन्-  
दीर्घिकं पादोपेकृतकमन्वेन साधुना पादप्रमाजनेनापरिच्छेदं ते-  
नाचार्यस्य पादान् प्रस्फोटयति । अयाभिप्रदिक्तो न विद्यते तत  
आभिप्रदिक्तस्यास्त्यज्यायं अन्त्यतरणं तस्यैवाचार्यस्य रजोहरणे-  
न और्ध्विकेन वा पादोपेकृतकेनानन्यच्छेकेन पादान् प्रोच्छ्रयति ।  
यदि पुनरप्यनुतोऽपि निष्कारणमाचार्यस्य पादान् प्रमाजयति  
तदा माससद्यु । अथात्मिणेन रजोहरणेन पादोपेकृतकेन वाअ-  
प्यप्रमाजनेन परिच्छेकेन प्रमाजयति तदपि माससद्यु । यदि  
बहिर्बसन्तः सागारिकस्तिष्ठतीत्याचार्यस्य पादान् न प्रस्फोटिता-  
स्तर्हि बसतेऽन्तः प्रविष्टस्य प्रस्फोटनीयास्तत्रायं विधिः ।

विपुलाए अपरिभोगे, अप्रपणओ वासए बवित्सस ।  
एमेव त्रिकुलपयस्स वि, नवरिं बाहिं चिररयं तु ॥

यदि विपुला वसतिस्तर्हि तस्यां विपुलायां वसतावपरिभोगे  
अवकाशे आचार्येण स्थित्वा पादाः प्रस्फोटयितव्याः । अथ संक-  
टा वसतिस्तर्हि य आचार्यस्य आत्मीयो वाएकपाद्यकाशास्तत्र  
पर्योपधिर्का प्रतिनक्रम्योपविष्टस्य पादाः प्रमाजनेनीयास्तं व कुश-  
लेन साधुना तथा प्रमाजनीया यथा अन्त्ये साधुना न  
श्रियन्ते । यथा आचार्यस्योक्तमेवं जिज्ञासुरपि ह्युच्यं नवरं यदि  
बहिर्बसन्तः सागारिकस्तिष्ठति तदश्चिरतरन्मपि कासं प्रतीकृत  
यावच्चत्सागारिकः व्यतिक्रामति । यदि पुनर्निष्ठुर्बसतेर्बहिः सा-  
गारिकामावेऽपि पादावप्रस्फोटव्य वसतेऽन्तः प्रविशति तदा तस्य  
प्रायश्चित्तं माससद्यु ॥

निगिज्जिय पमज्जाहि, अमगतस्सेव मासियं गुरुणो ।

पायरयखमगादी, चोयग कज्जागे दोसा ॥

यदि बहिः सागारिक इति ह्यन्त्या वसतेऽन्तः पादाः प्रस्फोटयि-  
तव्यास्ततः संकटायां वसतौ पादान् प्रमाजयितुमुपस्थितं सा-  
धुमाचार्यो ब्रूते आर्ये ! निगृह्य पादाप्रमाजय । किमुक्तं भवति  
तथा यतनया पादान् प्रमाजय यथा पादपुष्ट्या न कोऽपि साधु-  
श्रियते ; अथेवं न ब्रूते तत एवमभणतो गुरोः प्रायश्चित्तं मास  
सद्यु । तथा पादरजसा कृपकाद्यः खरएदन्ते तथा सति बह्य-  
माणाः दोगाः । अत्र चोदक आह आचार्यः कस्माद्बहिर्गच्छति ।  
सुरिराह कार्यगते कार्येषु समापितेष्वगते दोगास्तस्मात्कच्छति ।  
अधुना " पायरयखमगादी " इत्येतत् व्याख्यानयति ।

तवसांसितो व खमगो, दडिमवुओ व कोवितो वा वि ।

भांमरणखमगादी, इति सुच निगिज्जिए जयणा ॥

तपसा शोषितस्तपःशोषितः कृपकस्तस्य त्वल्पेऽन्यपर्यो  
कोपा जायते ततः स आचार्यपादप्रमाजनेषुष्ट्या विकीर्णः कृपि-  
ता जनेव कृपितश्च सन् जरमं कृत्वा अन्यत्र गच्छेत् प्रविशेत्  
प्रतिपद्येत वा । अथवा कोऽपि ऋद्धिमान् वृद्धो राजादिः प्रम-  
जितः स पादपुष्ट्याऽवकीर्णो रुष्टः सन् प्रथमनादि कुर्वान् ।  
कोऽपितो नाम शैकुकः कोऽपि रुष्टः प्रतिपद्येत तस्मात्कृपकादि-  
मो भिररमं कार्षीदिति सूत्रं निगिज्जिय निगिज्जियुक्तमव्याख्य-  
यमर्थं यतनयेति ।

संप्रति " चोयग कज्जागे दोसा " इति व्याख्यानयति ॥

थाए कुपति खमगो, किं चेव गुरुस्स निगमो भणितो ।

भमाइ कुलगणऊजे, वेइयनमणं व पन्वमु ॥

स्थाने कुपति कृपकस्तथा हि स पादपुष्ट्या अवकीर्यते ततो  
मा कोऽपि कार्षीत् । किं चैवं गुरोराचार्यस्य निगमः केन कारणेन  
अभितस्तत्कारणमेव नास्ति येन कारणेन बहिराचार्यस्य निग-  
मनामाचार्यां आह भययते अशोहरणेन । कुलकायं उपलक्ष-  
णमेव सङ्घकार्ये व बहुविधे समापतिते तथा पर्वसु पाकि-  
कादिषु सैव्यानां सर्वेषामपि नमनमवश्यं कर्तव्यमिति हेतो-  
श्चाचार्यस्य वसतेर्बहिर्निगमनम् ॥

पुनश्चोदक आह ॥

जति एवं निगमणे, जणति तो बाहिं चिट्टिए पुंके ।

वुच्चति बहि अन्थेत्त, चोयग गुरुणो एमे दोसा ॥

चोदको जणति यदि एषं कुलादि कार्ये निमित्तमाचार्यस्य निग-  
मं ततो निगमेन सति प्रत्यागतो यदि वसतेर्बहिः सागारिक-



स्तनस्तावद्वाहित्तिष्ठतु यावच्चक्षसागारिको व्युत्क्रान्तो जयति ततो  
बहिरेव पादान् प्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशतु एवं च सति कृप-  
कविदोषाः परित्यक्ता भवन्ति । आचार्यं ब्राह्म चयन्ते उचरं  
जगयते हेचोदक ! गुरोराचार्यस्य वसतर्बहिः तिष्ठत इमे  
वक्ष्यमाणा बहवो द्रोषास्तानेवाह ॥

तद्गुणहाविअजाविय, बुद्धा वा अत्यमाणपुच्छादी ।

विणए गिलाणमादी, साहू सखी पच्चिन्तो ॥

कुशादिकायेण निगेत आचार्य उण्णेन भाविते तुष्णा जायते तत-  
स्तुष्णानिभूतो वसतिमागतो यदि बहिर्बसतेः प्रतीकृते यावत्सा-  
गारिकोऽपगच्छति ततस्तुष्णया उण्णेनादिशब्दाद्गान्गादागच्छप-  
रितापनापरिग्रहः पीनिते मूर्च्छा जायते । आदिशब्दात् वसतिप्र-  
विष्टस्त्वत् प्रचुरं पानीयमापियेत् । ततो जन्काजीर्णतया ग्लानत्वं न-  
वित्तिविपरिग्रहस्तथा बुद्धा उपपन्नत्वाच्चार्थं प्रतीकृतासाहाय-  
व्यवसायार्थं तिष्ठति प्रतीकृते ते च प्रतीकृताणाः प्रथमद्वितीयप-  
रिग्रहार्थं पीनिता मूर्च्छाद्याप्युच्यन्ति तथा ग्लान आदिशब्दात् कृ-  
पकादिपरिग्रहस्ते विनयेन प्रतीकृताणां भोजनमकुर्वन्त औपधा-  
दिकं च गुरुणा विना अन्नजनमाना गादन्तरं ग्लानत्वाद्याप्युच्यन्ति ।  
तथा साधवः केचित्प्रायुषंका गन्तुमनस्तथा संहिनः  
आयका अष्टम्यादिषु कृतजकाः पारणकं भिक्षायामदत्तायाम-  
प्राच्यन्त आचार्यं प्रतीकृताणांस्तिष्ठन्ति तत्र साधूनां दिवसो  
गरीयान् चदार्तं तत्र चोष्ण्यादिपरितापना दोगाः । संहिनां  
आनन्दायमित्येव साध्यासंक्षयाः ॥

सांप्रतनेनामेव विवरीषुः प्रथमतः " तद्गुणहाविअजाविय "

इत्येतद् व्याख्यानयति

तद्गुणहाविअयस्स, पच्चिच्छभाणयस्स पुच्छमादी य ।

खच्छादिए गिलाणे, सुत्तर्याविराहणा चेव ॥

आचार्यः स्वरूपत उण्णेन भायितः क्वचित्कदाचित्प्रयोगजन-  
शतो बहिर्गमनात् ततः कुशादिकायेषु निगेतस्तुष्णानिभूतो  
वसतिमागतोऽपि यदि सागारिकः प्रपगच्छन्तं यावत्प्रतीकृते  
ततः प्रतीकृताणस्य तुष्णया उण्णेन च तापितस्य मूर्च्छादियो  
भवन्ति आदिशब्दाद्गान्गादाविपरितापनापरिग्रहस्तथा वसति-  
प्रविष्टोऽनीव तुष्णानिभूतः कुरुष्व प्रचुरस्य पानीयस्या-  
दानं प्रदणं कुर्यात् प्रचुरं पानीयं विवेदित्यर्थः । ततो जन्का-  
जीर्णतया ग्लानं जेधेत् तस्मिन्नेव ग्लाने सूत्रायपरिग्रहाणि-  
र्विराधना च तस्याचार्यस्य स्वात् ग्लानत्वेनाचार्यो विवेजे-  
ति प्रावः । अथवा सूत्रायपरिग्रहाय अजावतां साधूनां हाना-  
दिविराधना स्यात् । सूत्रार्थानावतोऽजानन्तः साधवो हाना-  
दिविराधनां कुर्मुरिति प्रावः ।

अधुना " बुद्धावेत्तं " व्याख्यानार्थमाह ।

बुद्धासहसहार्ददी, खममो वा पारणे विजुमसुचो ।

विद्ध पच्चिच्छमाणां, न भूतेण लोहपदिट्ठे ॥

बुद्धा वयोवृद्धा असदाः प्रथमद्वितीयपरिग्रहात् सोढुमसम-  
थाः श्रेयका आदिशब्दात् ग्लानावसायार्थं प्रतीकृताणांस्तिष्ठन्ति  
ते च तथा निष्ठनस्तुष्णावितिः पीनिता मूर्च्छाद्याप्युच्यन्ति ग्लानस्य  
च गादन्तरं ग्लानत्यमुपजायते । यदि पुनरागमोऽह एव वसतो  
प्रविशति ततो यथायामं बुद्धाज्ञानमकृद्गहनं संपद्यते इति  
न काश्चिदर्थः अधुना " विद्वेत्तंअज्ञानादि " इत्येतद् व्याख्यानय-  
ति ( जममं वा इत्यादि ) कृपको वा कोऽपि विक्रियेन तपसा

क्षान्तो विनयेन पारणके बुद्धकामैः प्रतीकृताणांस्तिष्ठति न  
तु भुङ्क्ते अद्यापि नालोचितमाचार्येण च न दृष्टयति कृत्वा ।

परितावन्नंतराया, दोसा होति अभुंजणे ।

जुंजये अविणादीया, दोसा तस्य भवेति य ।।

एवं कृपकस्य विक्रियतपसा ग्लानस्य प्रतीकृताणां भोजने महा-  
न् परितापो भवति अन्तरायं चोपजायते । अथ बुद्धे तर्हि भो-  
जने तत्राविनाद्ययो विनयः प्रतीत आदिशब्दाद्दृष्टाद्यना-  
लोचितभोजने अदत्तादानदोषपरिग्रहो दोषा भवन्ति ।

ग्लानमाचिह्वत्याह ।

गिलाणस्सोसहादी उ, न देति गुरुणो विणा ।

ऊणाहिंय व देज्जाहि, तम्म वेज्जा तिगच्छति ॥

ग्लानस्यौपधादिकं साधवो गुरुणा विना न ददति । आदिश-  
ब्दात् भोजनपरिग्रहः । यदि वा ऊनमधिकं वा दशुस्तस्य  
च ग्लानस्यौपधादिकं प्रतीकृताणस्य वेज्जातिगच्छति ।

संप्रति " मादूसखी " इति व्याख्यानयति ।

पाहुणगा गुंतुणगा, वेदिय जा तेसि उहहस्तापो ।

पारणएपच्चिन्ते, सक्के वा अनंतरायं तु ॥

प्रायुषंकाः केचित्साधय आगतास्ते गन्तुमनस्तस्ते यथाचार्य-  
मवदित्वा अनापुच्छ गच्छन्ति ततोऽविनयादयो दोषास्ततः  
प्रतीकृताणांस्तिष्ठन्ति आचार्यभिरण वमन्ति प्रविष्टस्तावदिवस  
आ स्मन्तास्ततोऽभवत् ततो गुरुं वेदित्वा प्रजतां व लणस-  
तापस्तेषां स आचार्यनिमित्तकस्तथा आके अष्टम्यादिषु एव-  
सु कृताभके पारणके आचार्यं प्रतीकृताणे अन्तरायं कृतं भवति ।

उपसंहारमाह ।

जम्हा एत्तं दोसा, तम्हा बाहिं चिरं तु वसदीए ।

गुरुणा न चिट्टियव्वं, तस्स न किं दोस होति य ।

यस्मादेते दोषास्तस्मात् गुरुणा न वसतेर्बहिर्बिरं ग्लानः  
निष्णुणा पुनर्बिरापरिग्रहं स्थातव्यं यावच्चक्षसागारिको न प्रयाति  
ततो बहिः पातनप्रमृश्यान्नेवसतेः प्रवेष्टव्यम् । अत्र चोदक  
आह तस्य निष्कोः किमेते अन्तरादिता दोगा न जयन्ति ।

आचार्यं ब्राह्म ।

अणेगवहुणिगमणे, अन्नुहणजाविया य हिंदंता ।

दसविट् वेयावच्चे, मग्गामे बाहिं च वायामो ॥

सीउाहमद्वा निक्कवा, न य हाएणं वायणादिया तेसि ।

गुरुणो पुण्ण ते नत्थी, ताएपकिंजतो य खेयसे ॥

अनेकेः कारणैर्यदुनां निर्गमनमेव बुद्धनिर्गमनं नस्मिन् तथा गु-  
र्वीदनामरुज्यामे आमनप्रदानाद्वा च तथा विज्ञाये हिणकमा-  
ना प्रायिता व्यायामितशरीराः । यदुक्तमनेकेः कारणैर्बुद्धाच  
निर्गमनं तत्र कारणान्याद् वशाविधेयावृत्त्यामीति स्वप्नमे बहिः  
परप्राप्ते अनेककारमेकधा व्यायामोऽभवत् तथा शीतोष्णसहा  
भिक्षयो न च तेषां निष्णुणां वाचनादिका वाचनादिविषया हा-  
निर्गुरोः पुनरनेके बहुनिर्गमनादयो न सन्ति ततस्तुष्णाद्यथास्ति-  
तुमसादिण्य आचार्यो यमनेर्बहिः सागारिके निष्ठितं कृषु वस-  
तेरन्तः प्रविशन्ति ततः श्वेदकेन कुशलेन पादान् प्रमाजयन्ति ।

इदानीं निष्कारिणि द्वितीयपदापवादात्माह ।

धुवकम्मिंपं व नाउं, कजोषोषो वा अज्ञातिपाति ।

अव्वक्खिवाउच्चं, न उ दिक्खति बाहिं भिक्खुं वि ॥

वसतेवेहिः सागारिकं ध्रुवकर्मिकं वा लोहकारादिकम-  
न्येन वा कार्येषामपि सागारिकमनितपानिनमिच्छन्तं तथा  
अप्यल्पितसामुद्रकं च हात्वा मियुरापरि बहिर्नोदीनेन न प्रतो-  
क्तेन किन्तु वसति प्रविश्यामोयावकाशे यतनयाऽऽमनः पादौ  
भ्रमाजैवेत् ॥ प्रथमोऽतिशयोक्तः ॥

आचार्योपाधयस्य अन्तर्गमयस्य उचारप्रज्ञबल्यजन-  
नामा द्वितीयोऽतिशयः । संप्रति द्वितीयं विभावयिषुरिदमहाह ।  
बहिगमये च उगुरुगा, आणादी वाणिए य मिच्छच ।  
पांवरणयणाजोगे, खरंगमहप्रभ तिरिक्खादी ॥

आचार्यो यदि विचारभूमिं बहिर्गच्छति ततः प्रायश्चित्तं च-  
त्वारो मुद्रकाः आह्लादयन्तु दोषाः । तथा "वाणिए य मिच्छ-  
चमिति" वणिए अभ्युत्थानं पूर्वं कृतं भवति पश्चात्कुर्वति  
केवाङ्गिमिष्यान्वमुपजायते । इयमं भावति । आचार्यं सं-  
ह्लाभूमिं व्रजन्तं ततः प्रत्यागच्छन्तं च इह्वा वणिएजो निजनिजा-  
णेषु स्थिता अभ्युत्थानं कृतवन्तस्तं च तथा वणिएजो बहुमाने-  
नाभ्युत्थानं इह्वा केचिद्वन्ये मन्यन्ते गुणवानेष आचार्यो येन  
वणिएज एवमभ्युत्थानं कृतं तस्मात्स्वाम्यस्य पुत्र्य इति  
तेऽपि पुत्रयन्ति । यदा त्वाचार्यः कदाचित् द्वौ वारौ संह्लाभू-  
मिं व्रजति तदा चतुरो वारान् गमने प्रत्यागमने चोत्थातव्यं  
ते चालस्यं मन्यमाना अभ्युत्थानव्यं अभिष्यन्तीति कृत्वा आ-  
चार्यो इह्वाऽन्येनो मुखं कुर्वन्तीति तं तथा कुर्वतो इह्वा  
अन्ये चिन्त्यन्ति नूनमेव प्रमादी जातो ज्ञानोऽपि गुणवानपि  
यदीष्टाः पतन्ति तर्हि न किञ्चिदिति ते सिध्यात्वं गच्छन्ति ।  
तथा आचार्यं लोकेन पुत्र्यमाने इह्वा मरुके ब्राह्मणस्य मार-  
णस्युक्ता प्रतिचरन्तं भवति । ततः संह्लाभूमिं गतं विजने प्रदेशे  
मारणस्य तथा मरुमुखीं नपुंसकीं दासीं वा प्रापयित्वाह्लादं  
कुर्यात् अनाभोगेन वा वनगहने प्रविष्टे तिर्यगादी च गर्दभ्या-  
दी कुलटादौ च प्रविष्टायामात्मपरभवसमुत्था दोषाः एष  
गाथासंज्ञेयार्थः ।

संप्रति "वाणिए य मिच्छचमि" त्येतद्विभावयिषुराह ।

मुयवंतं पि परिवा-रवं च वाणियंतरन्नग्राह्याए ।

दुद्धाण निगममिमि य, हार्णी य परमुहावाच ॥

संह्लाभूमिं व्रजति ततः प्रत्यागच्छति वा तस्मिन्प्राचार्यं भुत-  
वानेष परिचारवाञ्छेति मन्यमाना अन्तरा निजनिजाणेषु  
स्थिता वणिएजोऽभ्युत्थानं कृतवन्तः तेषां चोत्थानेः लोकस्य च  
भूयान् बहुमान आसीत् । कदाचिदाचार्यो द्वौ वारौ संह्लाभूमिं  
व्रजेत् ततो द्विस्थाने निर्गमने चतुरो वारान् गच्छन्ति प्रत्या-  
गच्छति चोत्थातव्यं ततस्ते आलस्यं मन्यमाना अभ्युत्थानस्य  
हार्नि कुर्वन्ति ते च हानिमभ्युत्थानस्य विकीर्षवोऽभ्युत्थान-  
न्यं अभिष्यन्तीति कृत्वा त्वाचार्यं इह्वा परमुहा भवन्ति अ-  
न्यतो मुखं कुर्वन्तीति भावः । अथवा अर्थः स्यात्तथाहि द्वौ  
वारौ संह्लाभूमिं व्रजन्तमाचार्यं इह्वा ते वदन्ति नूनमेव आ-  
चार्यो द्वौ शीन्वात्सामुद्रिदशति तेन द्वौ वारौ संह्लाभूमिं याति ।

गुदवं तु जम्रो वाणिया, पूर्यन्तं वि सम्भुहा तमिम् ।  
पुदवं ति अणह्याणे, सुविह निषचत् आजिमुहारणं ॥

वणिएजो बहुमानेनाभ्युत्थानं इह्वा केचिद्वन्ये चिन्त्यन्ति । गु-  
णवानाचार्यो यतो वणिएजः पुत्रयन्ति एवं चिन्त्यन्त्या वेऽन्य-  
न्वे तस्मिन्प्राचार्यं सम्भुहा भवन्ति चारुयसंह्लाभूमिगमने व-  
शिज्जामनुत्थाने ते चिन्त्यन्ति नूनमेव आचार्यः पतितः कथ-

मन्यया वणिएजः पूर्वमभ्युत्थानं कृतवन्तो नेदानीम् । तथा च  
सति तेषामभियुक्तानां द्विविधा विभुचित्तस्या वे आचकत्वं  
प्रहीतुकामा ये च तस्य समीपे प्रव्रजितुकामास्ते चिन्त्यन्ति  
यद्येषोऽपि प्रधानो ज्ञाना कुशीलवं प्रतिपद्यते तर्हि नूनं स-  
ञ्जिनचनमसागरमिति मन्यमानाः आचकत्वात्प्रग्रहशास्त्रा प्र-  
तिनिवर्तन्ते सिध्यात्वं गच्छन्ति ।

संप्रति "पडियरखमशाभोगे" इत्यादि व्याख्यानयन्नाह ।

आउठो ति व लोगे, पडियरिओ उरुमारए मरुगो ।

खरियमुहसंगहं वा, लोनेउ तिरिक्खमंगहणं ॥

गुणवानाचार्य इति कृत्वा सर्वो लोक आचार्यस्यानुदोऽभ-  
वत् प्रत्यतोऽभ्युत्थियजानीयानां केवाचित्त्वापर्ययसां तथा पू-  
जामाचार्यस्य इह्वा महामत्सरो भवेत् मात्स्येण संह्लाभूमिग-  
नमाचार्यं तिरियरं लुके प्रदेशे मरुको ब्राह्मणः कोऽपि जायिता-  
ह्लापरपत्यं गन्तादिषु प्रच्छेडे प्रदेशे स्थगयेत् । तथा मरिका-  
मुखीं दासीं नपुंसकं वा प्रलोभ्य तत्र प्रेष्य संप्रहं कुर्यात् यथा  
भेधुनमेव सेवमानो गृहीतस्तत् उद्वाहः स्यात्तथा अनाभोगेना-  
चार्यो वनादिगुणिलमवकाशं संहाभ्युत्सर्जनाय प्रविष्टः स्या-  
त्तत्र च ( तिरिक्खसि ) तिर्यग्योनिका गर्दभ्यादिका पूर्वेगता  
पश्चाद्वा प्रविष्टा भयेत् तं च केचिद्वन्यन्तीका इह्वा उद्वाहं  
कुर्यात् । मूलगाथायां यदुक्तं ( तिरिक्खसादीति ) तद्वादिदश्वन्या-  
ख्यानार्थमाह ।

आदिगमहृणा उग्गा, -मिगा व तड अञ्जतिथिगावावि ।

अहवा वि आसादोमा, इवंनिमे वादिमादी य ॥

आदिग्रहणादुद्वाहिका कुलटा तथा अन्त्यतीर्थिका वा प-  
रिगृह्यते सा तस्मिन् गहने पूर्वं संह्लाद्वा प्रविष्टाऽभवत् ।  
तत्र चान्मपरभवसमुत्था दोषाः गतावकाश्चनः प्रागुक्ताः ।  
अथवा इमे वक्ष्यमाना अन्ये वायादयो दोषा भवन्ति ।

तानेव संजिघृक्षुर्द्वारगायामाह ।

वादीर्दीक्षयमादी, मुत्तत्याणं च गच्छपरिहृणी ।

आवस्सगदिहंता, कुमार अकरंतकरंते य ॥

वादिदण्डिकादयो वादिदण्डिकादिविषया बहवो दोषास्त-  
या सूत्रार्थानां गच्छन्त्य परिहाण्यः अथवा सूत्रार्थानां परिहा-  
णिर्यच्छे च ज्ञानादीनां परिहाण्यस्तथा आचर्यकमुच्चारव-  
श्यं कुर्वेजकुर्वं कुमारो दहान्तः । एष दारानाथासंज्ञेयार्थः

संप्रतमेतानेव विषयेषुः प्रथमतो वादिद्वारमाह ।  
सन्नागतो चिपिठे, जयातिभारो ति चंत परवादी ।

मा होही गिसिबज्जा, वषामि अदं विवाएण ॥

कोऽपि परप्रवादी बहुभूतमाचार्यं लोकपुजितं भुत्वा तेन  
समं वार्दं कल्प्यामीत्यागतो भवेत् आचार्यश्च संह्लाभूमिं यदा  
गतस्तेन चागतेन वसती पृष्ठं क आचार्यः साधुभिः कथित-  
माचार्योः संह्लाभूमिं गता एवं भूत्वा स परप्रवादी भूयात् स  
मम भयेन पलायितो यदिवा मम भयेनातीसारो जातः अथ,  
वा मा भवत्येवं हत्येति प्रवृत्तिः अत्रलं पर्याप्तं विवादिन ।  
अधुना "दण्डियमादीति" व्याख्यानयति ।

चंदगदेऽज्ञासरिपं, आगमणं पृष इह्मिंताणं ।

पवजजसावचदण-इश्वादिगुणिएण परिहाणी ॥

यथा इन्द्रपुरे इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुतेन; कथमपि पुत्तलिका-  
क्षिचन्द्रकस्य वेधः कृतस्तत्सद्यः "काकताडीयवत्" राज्ञः

अङ्घ्रिमतां चान्येषामाचार्यैस्समीपे आगमनं आचार्यं च संज्ञाभूमिं गते दृष्टिदकदिदरागते भवेत् ततः संज्ञाभूमिं गन्ध्याभयं इति श्रुत्वा प्रतिगिबतेत्येव यदि पुनः संज्ञाभूमिं न गता प्राचार्या भवेयुस्ततो धर्मं श्रुत्वा कदाचिच्च प्रव्रज्यां गृहीयुः श्रजितेषु च राजादिषु महतीं प्रवचनमभावेना । तथा श्रावकत्वं कैवल्यकदाचित्प्रतिपद्येत् यथा अत्रका वा भवेयुस्तथा च हैत्यस्वापूर्वा महाउपग्रहः । संज्ञाभूमिगमने चैतेषां गुणानां हानिः । संप्रति " सुतन्त्याणं च गच्छ परिहाणी " इत्येदद्वयाचनानार्थमाह ॥

सुतन्त्ये परिहाणी, वीर्यां गंतु जा पुणो एति ।

तयैव व वामरणे, सुतन्त्येमुं न सोत्यं ॥

विचारं विचारभूमिं गत्वा यावत् पुनरेति तावत्सुत्रार्थपरिहाणः इयमत्र भावना संज्ञाभूमिद्वारे भवेत्सुत्रार्थक्यामर्थरीरुष्यां चार्द्धकृतायामाचार्यैः संज्ञाचान् हानस्ततो गतः संज्ञाभूमिं तत उदाहृत्यां रीरुष्यामर्थरीरुष्यां कालवेलायां समागतस्ततः सुत्रार्थपरिहाणः तद्वायावच शिष्याः प्रातीच्छिकाद्याभ्यां गर्णे व्रजन्ति ततो गच्छन्त्येवपि परिहाणित्तत्रैव पुनरुपाश्रये संज्ञाया व्युत्सजने सुत्रार्थेषु साधयो न सीदन्ति । अत्र चावरयकं कुर्वन्नकुर्वन् कुमारो वृत्तान्नः ॥

एवमेव भावयति ।

तीरगए ववदार्, खीरगते हांति तादेह उदाणे ।

कोसस्स हाणि परचम्पु-पेणए रज्जसए अपसत्ये ॥

कुमारस्याऽऽस्थाने समुपविष्टस्याधिनेः प्रत्यधिन्न व्यवहारैरेषोपस्थितान्तेषां चोत्तरोत्तरं व्यवहरतां व्यवहारस्तीरगतः परं नाद्यापि समाप्तिमुत्पायति तस्मात्समाप्ते व्यवहारैरिति राजकुमारः संज्ञाचान् जानन्तत उपायं संज्ञाभूमिं गतः न च यावत्सायति तावदधिनेः प्रत्यधिन्नक्ष क्षीरोदकसंयोगाद्विषदेकीभूतास्ततो राजकुमारस्य प्रत्यागतस्य तं व्रजते वयं परस्परं स्वस्थीभूताः एवं सदा सवैत्र समस्तादपि लक्षादिप्रमाणाद् दृग्दृशयपदान् परिभ्रष्टस्ततः कौशस्य हानिजातानां च हान्त्वा परचम्पुः परवलमागच्छेत् तथा च गज्यस्य प्रेरणमेषोऽप्रशस्ते दृष्टान्तः । प्रशस्ते पुनर्दृष्टान्तः स्वयं भावनीयः । स चर्यं प्रथमत एवावरयकमुच्यते इत्याः आश्रमेषु समुपविशति उपविशो यदि संज्ञाचान् भवति ततः प्रच्छुन्नं प्रदेशं व्युत्सजति एवं तस्य कुर्वन् प्रभूतं प्रभूतन्तं दृग्दृशयपदं जानं तथा च सति कौशस्य महती दृष्टिस्ततः परचलस्य प्रेरणं गज्यान्तरमंत्रहः । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः । य आचार्यो बहिस्संज्ञाभूमिं व्रजति तस्य प्रागुक्तमकारणं सुत्रार्थपरिहाणित्तपरिहाणया गच्छन्त्येव परिहाणित्तः शिष्याणां प्रातीच्छिकानां चान्यत्र गशान्तेर गमनान् । यस्तु तत्रैवोपाश्रये व्युत्सृजति तस्य न किञ्चिदपि परिहीयते इति सर्वं सुस्थम् ।

एतदेवाह ।

वेत्रं सुतन्त्याणं, न जेएए दंकिपाटिकहरणं वा ।

पट्टणअभयकोमे, पुच्छा पुण सोहरा विणए ॥

यथा बहिनंभूतयमेवं प्रामादीनामन्तरपि सुत्रार्थानामपरिहाणित्तनिमित्तं दृष्टिकार्यानामागतानां धर्ममकथाया अभिप्रतिनिमित्तं च संज्ञाभूम्युत्सजनाय गमन्त्यं किन्तुप्राश्रयस्यान्वयमुत्सर्जनीयं वेत्तु यथेष्टा न ननाकि, नापि दृष्टिकार्यानामागतानां धर्मकथनं विवचयति । पुर्वमेव चोपयोगः कस्यचः किं मम संज्ञा त्रय-

ञ वा । तत्र यदि शङ्का तदा कृतावश्यमेव सूत्ररीरुष्यामर्थोपाश्रयं च सुत्रार्थप्रदानायोपवेष्टव्यं तथापि न तावदासित्तत्वं यावत्प्रवचयमुच्येयं भवति किञ्चम । अत्रार्थे निदर्शनेनक आचार्यं प्राचक्ष्यकं शोधयित्वा तिष्ठति दृष्टिकथं धर्मभ्रवणाययोगात् आचार्येण धर्मकथा प्रारब्धा स च धर्ममकथाक्रिमो राजकुमारो धर्मं गृह्येत्तमीक्षणमर्थादेषं कायिकीव्युत्सृजनयोस्तिष्ठति आचार्येण प्रच्छुन्नो सूत्रकाशः समर्थते प्रच्छुन्नं कायिकीमात्रकं साधवः समर्पयन्ति तत्र कायिकी व्युत्सृजति । ततो विनये लोकोत्तरिके बलवति गणः पृच्छा आचार्यस्य कथनमेतदेव विभावयिषुदिरमाह ॥

निद्धाहारां वि अट्टं, अमई उट्टेमि नेस कइयं ।

पासगतं तं ( सप्त ) मत्तं, नयन्तरियं परामेइ ॥

राजा चिन्तयति मम स्तिथ्य आहारस्तथाऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय पुनःपुनरुत्सृजामि । आचार्येणतु कथयन् कृताहारोऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय नोत्सृजति नृपं मूष्ये य एष आचार्यस्य पाश्वं स्थितः उल्लूकः स तत्कायिकीमात्रं प्रच्छुन्नं वस्त्वान्नरिनं प्रथमयति समर्पयति तत्र कायिकीमात्रायां व्युत्सृजति एतच्च यदि पृच्छयते तर्हाविनयः कृतो भवति तस्मादुपायेन पृच्छायानि विविनयेतं पृच्छति ॥

विणओ लोऽणलोउ-त्तरिओ । च य वट्ठं । ततो गंगा । कतोमुट्ठं । अचलंतो, जणिति निवं आगिति जतो ॥

राजा सुत्तिमापृच्छति भगवन् । किं लौकिको विनयो वल्लोयान् अथवा लोकोत्तरिकः । आचार्यैरेणोक्तमयमर्थः परिल्लानां परमेवं ज्ञायते लोकोत्तरिको विनयो वल्लोयान् तत्र परीक्षकं तुमागच्छ आचार्यैरेणोक्तं यस्तव दृष्टिप्रत्ययो य वा कृत्वा त्वं जानासि न एष विनयसंज्ञी तं प्रेषय । यथा कुनोमुत्ती गङ्गा वहतीति ज्ञात्वा निवेदय । ततो राजा य आकृतिमानय दृष्टप्रत्ययसं प्रेषयति व्रज कुनोमुत्ती गङ्गा वहति सोऽवल्लन तत्रैव स्थितो नृपं भयति यथा पूर्वमुत्ती गङ्गा वहति लोकोऽप्यस्य एतन् जानाति । तत आचार्यो ब्रूते मम शिष्याणां मध्ये यं त्वं विषयमकरणशाश्रदिभिर्विषयं जानासि । उक्तञ्च " विषयमसर्वविषयमस्मात् । विषयं विषयमाः समैः समाचाराः । करचरणवदननासा करणैरुतिरीक्ष-शैः पुण्याः " विषयमन्वाह विनयसंज्ञं करिष्यतीति तं प्रेषय । रामा पर्यं उत्तो एस, वयओ अविणए । यदं सण्णो समणो । पट्टणमो एससो, काउं आलोएयं गुरुणो ॥

एवमाचार्यैरेणोक्तं राजा यं विषयमकरचरणानिना अविनीतदर्शनेन अश्रमः प्रदर्शित एष व्रजतु कया दिशा गङ्गा वहतीति आचार्येण संप्रयतः स आचार्योनापृच्छय तत्र गत्वा ततः प्रत्यागत्यैर्यापथिकयाः कायोत्सवं कृत्वा गुरोः पुरत आलोचयति कथमिष्याह ।

आदिबेदिमा लोषण-तरंगतणमाइया य पुच्चमुट्ठी ।

माहो य दिसाए मा होउ, पुट्टो त्ति जणो तंहेव अणो वि ॥

हेमगवन् । युष्मत्प्रादानापृच्छाहं गङ्गान्तं गतस्मत्र च गत्वा सूयं निष्पत्तयान् चान्दित्यादिगिबभागः सम्यक् ज्ञायते एषमादित्यदिगालोचनं कृतं तथा नरैस्तुष्टादीनि पूर्वोक्तिमुखा-न्युत्सर्जनाति दृष्टानि तत्र कदाचिद्विगमोहोऽपि प्रत्यासतो माभूद्विगमोह इत्यन्योऽपि जननिष्कसंभ्याकः पृष्टः सोऽपि तथैवाह यथा पूर्वोक्तिमुत्ती गङ्गा वहतीति । एतच्च राजा प्रत्यवि-

कम्पञ्चपुत्रैः परि (भावित) भावापितं तैरपि तथैव कथितम् तस्मै राजा प्राह ।

बह्वर्षं यथापराण—निन्विसयपणबहारलोगभिम् ।

भवदंडो उचरितो, उच्छद्दभाणस्म तो बसितो ॥

लोकं योऽस्माकमाह्वानं भनक्ति तस्य वधं लकुटादिप्रहारेस्ता-  
नभं वधं निगडादिभिश्चुद्धं कण्ठच्छेदादिकं केषाञ्चित्वा मा-  
रणं विनाशनमपरेषां निर्बिषयकरकर्मण्येषां घनापहारं कुर्म-  
स्तथाऽपि केषिदस्माकमाह्वानं भजन्ति । लोकोत्तरेषु पुनरेषां  
भज्जतामेतानि न भवति स्मन्ति तथाऽपि परेण प्रयत्नेन लो-  
कोत्तरिका आह्वानं कुर्वन्ति तत्र किं कारणमाचार्य आह “अ-  
वदंडो” इत्यादि पञ्चादौ यस्मिन्नेकगणधरादीनामाह्वानं भनक्ति  
तस्य परमं ब्रह्म हस्तच्छेदनादीनि भवन्ति एष लोकोत्तरे भव-  
द्दण्डः अस्माद्गैरित्यस्य साधोक्तसहमानस्य स्वराक्षयानिगुह-  
नेनोद्यमं कुर्वतो विनयो बलीयान् । एवं लोकोत्तरिको वि-  
नयो बलिकः ।

अथैवापवादमाह ।

वितियपर्यं असतीए, क्रुसाए उवस्सय व सागारो ।

न पवचति सप्पे वि, जे य समत्था समं तर्हि ॥

कुपद्दादंनिगमणे, नातिगमंरं अप्रपक्ववार्यमि ।

धोसरियम्मि य गुरुणा, निंसिंरंति एतंत्तदंधरा ॥

द्वितीयपदमपवादपदमधिकृत्य संज्ञाभूमिमाचार्यो प्रजेत् ।  
तद्वच द्वितीयपदमाह । उपाधये च पञ्चान्ते संज्ञाभूमिनिरित्त  
नतन्तस्या असति बहिरंजेत् । ( अभाष्यति ) यत्र न ज्ञायते  
एव आचार्यस्तत्रापि बहिरंजेत् । अथवा उपाधये सागारिको  
विद्यते ततो बहिर्याति कस्यापि पुनरुपाधयस्य पञ्चान्ते वि-  
धमानेऽपि संज्ञा न प्रचरते सोऽपि बहिर्याति एतैः का-शैवे-  
हिंगमनम् तत्र ये समर्थान्तरुणाः साधवस्तेः समं याति । तत्र  
याति कुपधादिति कुपधादीनि तैर्गन्तानि तैर्गच्छन्तोऽपि प्रायः  
पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति । तत्रापि यत्रानिगमनीं नानिविषय-  
मप्रत्यवायं प्रत्यवायविरहितं तत्राचार्यैः संज्ञां व्युत्सृजति ।  
येषां च महायानां हस्ते महान्तो दण्डकस्ते महादण्डधरा-  
श्चतसृष्वपि दिक्षु संरक्षणपर्यायान्तरित्तं श्युत्सृष्टे च गु-  
रुणा पुरीषे ते महादण्डधरास्तन्तरन्ति कस्मादेवं रक्षा  
कियते इति चेत् कुलस्य तदायत्तत्वात् उक्तञ्च “जन्मि कुले  
जायन्ते, तं पुरिसे आर्यैरेण रक्खाहि” इत्यादि कथं पुनः स  
रक्षितव्य इत्यत आह ।

जह राया तोसल्लिओ, मणिपदिमा रक्खए पयेत्तेण ।

तह हाइ रक्खियन्वां, सिरिपरसरिमो य आपरितो ॥

यथा राजा तोसल्लिको मणिप्रतिमे च प्रयत्नेन रक्षति तथा  
भवत्याचार्यो रक्षितव्यो यतः श्रीगृहसत्त्व एष आचार्यः ।  
अथ के ते प्रतिमे इत्यत आह ।

पदिमुप्पसी वाणिय, उदडिप्पानो उवायणं भीतो ।

रणणुत्तं जिणपदिहे, करेमि जइ उत्तरे विग्घं ॥

उत्पाउवममउत्तर—मनिग्यए एकपदिमं वा ।

देवयद्धेण ततो, जाया वितिए वि पदिमा तो ॥

प्रतिमयोक्त्यधिकृत्या सा वैश्वमेकस्य बलिजः समुद्रं प्र-  
हृषेनागादस्त्वोत्पात उपस्थितः । ततः स औपवाचितिकं क-

रोति यथा यदेतदौपवातिकमुपश्राम्यति अविज्ञेनोत्तरामि च  
ततोऽनयोद्धेयोर्मणिरत्नयोद्धे मणिमय्यौ जिनप्रतिमे कारयि-  
ष्यामि एवमीपवाचितिकं कृते देवतानुभावेनैत्पातिकमुप-  
श्रान्तमविज्ञं समुद्रोत्तरणमभूत् स चोत्तीर्थः सन् लोभेन एक-  
स्मिन्मणिरजे एकां जिनप्रतिमां कारयति ततो देवतया हि-  
तोये मणिरजे द्वितीया जिनप्रतिमा कारिता तथा चाह । देव-  
ताच्छेदने ततो जाता द्वितीयोऽपि मणिल्ले प्रतिमा ।

तो भत्तीए बणियो, सुस्समइ ता परेण जत्तेणं ।

ता दीवएण पदिमा, दीसंतिहरा उ रयाणइ ॥

ततः कारापणानन्तरं ते प्रतिमे बलिका भक्ष्या परेण यत्ने-  
न शूष्यते ततः तयोक्त प्रतिमयोरिदं प्रतिहार्यं ते प्रतिमे या-  
वदीपकः पार्श्वे धियते तावदीपकेन हेतुना प्रतिमे दृश्यते इ-  
तरया दीपकामये सप्रक्राये अपि प्रकाशमणिरत्ने दृश्यते ॥  
सोऽत्र पादिहरे, राया येत्तुए सिंरिहरे तुहति ।

मंगलभत्तीए तो, वृति परेण जत्तेण ॥

इवमन्तरोदितं प्रतिहार्यं राजा नौमलिकः श्रुत्वा ते प्रति-  
मे स्वयमेवात्मीयश्रीगृहे क्राएडारे सिपति मुञ्चति ततो  
मङ्गलबुद्ध्या भक्ष्या च परेण यत्नेन ते पूजयति । यस्मिन्  
दिवसे ते प्रतिमे श्रीगृहमानीने ततः प्रवृत्ति राज्ञः कोशादि-  
षु वृत्तिरुपजाता । ततः श्रीगृहसदृश आचार्य इत्युक्तं तत  
एवं दृष्टान्तभावना कर्त्तव्या यथा राजा श्रीगृहं प्रयत्नेन रक्ष-  
यति एवमाचार्योऽपि रक्षणीयतनः कथमत्र मणिमयप्रतिमा-  
भ्यां दृष्टान्तभावना कृता उच्यते ॥

मंगलभत्ती आहिया, उपज्जइ तारिसम्मि दव्वम्मि ।

रयंमगहणं तेषेण, रयणज्जतो तहापरितो ॥

श्रीगृहे द्रविते रक्षणीयं मणिमयप्रतिमयोः पुनर्द्रविलस्य-  
तिप्रभूनमस्ति मङ्गलबुद्धिश्च तत्रापि परमतीर्थकर्मक्षेत्रेति ।  
प्रयत्नेन रक्षणे श्रेणि कारणानि तथा चाह । मङ्गलं मङ्गल-  
बुद्धिर्मेक्षिआपिका टाहरो द्रव्यं समुत्पद्यते ततो रत्नग्रहणं  
यथा ते रत्नप्रतिमे कारणत्रयशक्तिशियेन प्रयत्नेन रक्षते  
शूष्यते च तथा शिष्यराचार्यैः प्रयत्नेन रक्षणीयः गुरुष्वर्थाय-  
श्च । अथैवमाचार्यं रक्षितं शूष्यते च को गुण इत्यत आह ।

पुयंति य रक्खयंति य. मीसा मत्थे गणि सया पयया ।

इइ परलोए य गुणा, हवंति तपुपणे जम्हा ।

गणिनमाचार्यं शिष्याः सयं सदा प्रयत्नतः प्रयत्नतः पूजय-  
न्ति शूष्यन्ते च यस्मात्पुजने आचार्यपुजने इह लोकं परलोकं  
च गुणा भवन्ति इह लोकं सत्त्वार्थं तदुभयमुपयाति परलोकं  
सत्त्वार्थाऽन्वामधीताऽन्यं ज्ञानादिमेकमाग्रेससाधनम् । अथवा  
पारलोकिका गुणाः “आयत्तिप भेयावधं करंमाणं महानिज्जं म-  
हापज्जबसाणे भवति” इत्येवमाद्यः । गतो द्वितीयोऽतिशयः ।  
संप्रति तृतीयमाह “इच्छाप पट्टु वेयावधिं करंजा” इत्येव-  
कमतिशयमभिन्धितुराह ।

जेणाहारो उ गणो, सवाल्लुहुस्स होइ गच्छस्स ।

तो आतिसेसपुत्तुं, इमेहिं दारोहिं तस्स भवे ॥

येन कारणेन गणो आचार्यैः सवाल्लुहुस्स गच्छत्याधारस्त-  
तस्य भवत्यतिशयप्रभुत्वमतिशयिप्रभुत्वं तथैवियेहयमा-  
शैर्द्वैरियमन्वयम् । तान्येवाह ॥

तित्यथरपवयणे नि—जरा य सावेकलचित्तोऽप्येतो ।

एरुहिं कारणेहिं, अतिसेसा होति आयरिए ।।

आचार्यस्तीयेकरस्तीयेकरानुकारो तथा सूत्रनोऽपिस्वाधी-  
ती प्रवचने तथा तस्य वैयवृच्यकरणे महती निर्जरा भवति ।  
तथा शिष्याः प्रातीक्षिका आत्मानुभवदुःखा सर्वैयवृच्यं कुर्वे-  
भ्यः सापेक्षा भवति सापेक्षाणां च पूज्यं हानादिद्वाराजो मह-  
ती निर्जरा इतरं त्वकुर्वन्तो निरपेक्षास्तेषां महासंसारस्तथा  
प्रकाशाचार्यस्य क्रियमाणायां सकलस्यपि गच्छस्थानुप्रहरक-  
णात्तीर्थस्वायव्यच्छेदः कृतो जवति । यतः कार्पौराचार्यस्य सू-  
त्रांका अतिशेषा भवन्त्ययं च घट्यमाणा इति द्वारगाथासंज्ञे-  
पार्थः । स्तंप्रतमेया व्याख्या । तत्र प्रथमं तार्थ्यकरकल्पद्वारं व्या-  
ख्याभवति ॥

हेविंद चकवटी, मंडलिया ईसरा तखरा य ।

अभिगच्छति जिणिंदे, ते गोयरिये न हिंदंति ॥

जिनेन्द्रा जगचल हत्यंते ज्ञाने देवेन्द्राः शक्रप्रभृतयश्चक्रवास्ति-  
न उपलक्षणमेतत् यथायोगं च वरदेषाञ्च तथा गणदक्षिणाः  
कतिपयमएकसमजं ईश्वरस्तक्षरप्राधान्यगच्छति । ततोऽपि  
ते गोचरचर्या न दिशन्ते ॥

संस्वादीया कोर्नी, सुराणो निबं जिणे उवासंति ।

संसयनागरणाणि य, एणसा बयसा व पुच्छंते ॥

संख्यातीताः सुराणां कोटयो अन्ये सर्वकाञ्च जिनाम् तीर्थरुत  
उपासन्ते तथा सततं मनसा वचसा च पूज्यन्ति सुरादिकं  
मनसा वचसा च संशयव्याकरणानि करोति । ततो भिक्षां न  
दिशन्ते ॥

उपपराणाणा जह नो अर्धति,

चोर्नीमबुच्छातिसया जिणिंदा ।

एवं गर्णी अचगुणोपेवतो,

सत्या व तो हिंदि इहिंमं तु ॥

यथा उपपन्नं ज्ञाने जिनेन्द्रावचतुस्त्रिंशत् बुद्धातिशयाः सर्वज्ञा-  
तिशया देहसौमन्थाद्यो येषां ते तथा भिक्षां न दिशन्ते । एवं  
तीर्थकरदण्डनेन गर्णी आचार्योऽप्युणोपेतोऽपि विघ्नगणिसं-  
पञ्चपतः शास्ता इव तीर्थकर इव अज्झिमाज् न दिशन्ते ॥

गुरुहिंदणभ्य गुरुगा, वसभे लहुया न निवारयंतस्स ।

गोतागंति गुरुलहु, आणादाया बहु दोसा ॥

आचार्य भिक्षामष्टांगीति व्यवसितं यदि वृषभो न निवारयति  
तदा तस्यानिवारयनः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । अथ  
वृषभेण निवारितोऽपि न तिष्ठति तर्हि वृषजः शुक्रः आचार्यस्य  
प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः तथा गीतायां भिक्षुञ्च निवारय-  
ति तदा तस्य मासशुक्र अगीताथस्य भिक्षोरनिवारयतो  
मासशुक्रु । आचार्यस्य गीताथगीताथार्थ्यां वारितस्यापि  
गमने प्रत्येकं चतुर्गुरु । आज्ञादय इमे वदयमाणा बहवो  
दोषास्तानेवाह ।

बाते पिचे गणालोए, कायकिलेसे अचितया ।

मेदी अकारणे बाले, गणसिंता वादिइहिंधो ॥

भिक्षामततो वानां वा प्रकृपितो भवति तथा अत्युष्णपरितापेन  
पिचमुञ्जितो भवति । तथा गणस्य गच्छस्य भिक्षाटनपरि-  
भ्रमत आलांकः कसंध्यो न भवति । तथा भिक्षाटने काय-  
कलेसो जवति तस्माच्च सूत्रार्थपरिहाणस्तथा सूत्रार्थयोरनि-

न्ता भवति । तथा मेदीभूत आचार्यस्तस्मिन् भिक्षामतति  
शिष्याणामाम्भाराभावात् प्रापूर्णाकादीनां चासद्व्यकरणाभा-  
वः । तथा अकारकं चेदं ह्यत्र तस्य नो जने भ्रान्त्यय-  
नो जने परिद्वष्टपत्निकाद्योः । तथा भिक्षामततो व्यासः आदिश्य-  
तिष्ठेत् तत्र चात्मविराधनादोषस्ततो गणचिन्ता । तथा वादी  
कोऽपि समागतः स च भिक्षागतमाचार्यं बुध्वा हीलयेद  
उद्वाहं वा कुयात् । तथा अक्रिमान् समुद्धः आचार्यो नब्रवीति  
न स हि एकाप्यितव्यं ह्येत्यं द्वारागाथासंज्ञेपार्थः ॥

स्तंप्रतमेनामेव चिचरीषुः प्रथमतो वातद्वारमाह ॥

भारण येयाण, हिंदंते उच्चनीयसासो वा ।

वाहुकादिवायगृहणं, विसमाकारेण सूलं वा ॥

भारणं भक्तभूतनाजजनरेखे वेदना प्रवति । कोऽपि  
प्राप्तो निर्गो निषिधो अवेदं तत्र च कानिचित् तीक्ष्णस्थानानि  
तानि भारेण वेदनायां सत्यां हि प्रमानस्य हवासो भवति तथा  
कटुञ्च वातप्रदं प्रवति । तथा प्राप्ते विषयकारेण व्यवस्थिते  
यत्र तत्र वा तिर्यकशरीरं कृत्वा गच्छतः शूलं वा जयेत् ।

अच्युएहताविषो उ, खच्छुवादीय उडुणार्ह य ।

अपिययो असपाही, गेलसो मुत्तजंगादी ।

तथा अत्युष्णं परितापितः सन् अर्धं प्रचुरं ह्यं पानीयम-  
तिर्युचित् आददीति । तथा परितापनाशनः पुनः पुनः पानीयमा-  
पिबन् तथा चाहापानीयेन प्लावितः सन् न जीयेत् अजगर-  
णारुच उदंनं वमनं जयेत् आदिशब्दात् आहाररुचिर्नोपजायते ।  
अथवा पानीयं प्रभूतं न पिबानि ततोऽप्रमाथिः । आहाररुचौ  
च पुनर्भोजने भ्रान्त्यं भ्रान्त्यं च सूत्रनङ्कः सूत्रपौरुषीभङ्कः  
आदिशब्दादप्यपौरुषीभङ्कश्च । गते वातद्वारम् ।

अधुना पित्तद्वारमाह ॥

बहिया य पित्तमुच्छा, पदणं उरुहण्ण वा वि वसहीए ।

आदिययो लहुण्णारी, मो चैव य पोरसीजो गो ॥

उष्णेन परिनापितस्य चित्तप्रहतेर्बेदिः पित्तमुच्छ्रावशतः तप-  
नं भवेत् । तथा च स्नि भक्तभूतभाजनसाहितस्य उडुहः । च-  
सनी वा पित्तमुच्छ्रावशतः पतने तत्र प्रभूतजलपानानन्तरमापि  
प्रचुरजलादानं तथा च स्नि त एव उदनादयः प्रागुका दोषाः  
स एव सूत्रपौरुष्या अर्धपौरुष्याश्च भङ्कः । गते पित्तद्वारम् ॥

अधुना गणालांकद्वारमाह ॥

आलांगो तिपि वारे, गोणीण जहा तथेव गच्छे ॥

नइं न नाहिंति नियद-दीहसांही निमिजं च ॥

यथा गोपालस्तन्यपुत्र वेदासु गवामाशोकं करोति । तद्यथा  
प्राक् प्रसरन्तीनां मध्याह्ने गयासु स्थितानां बिकालवेद्यायां-  
रुहं प्रत्यागच्छन्तीनां यदि न करोति तदा न जानाति काष्ठी-  
कषा का वा गणस्य पच माचार्येणापि तिष्ठपु वेदासु गच्छे-  
ऽप्याशोकः कसंध्यः । तद्यथा प्रातमेप्यहो विकालवेद्यायां च तत्र  
यदि प्रातरावश्यके कृते गणालोकं न करोति तदा मासशुक्रु नि-  
क्षापलायां द्वितीयं वारं गणालोकमुक्तेतो मासशुक्रु नृतीयं वारं  
विकालवेद्यायामत्यकुर्वेतो मासशुक्रु । तत्राचार्यो यदि भिक्षां  
नादयति तदा तत्पुत्र वेदासु गणालोकं कर्तुं न शक्नोति भिक्षा-  
मदद कथं कुर्यात् गणालोकं चाक्रियमाणे इमे दोषाः । कोऽपि  
सन्धुनेतो भवेत् स च नष्ट इति ज्ञात्वा प्रत्यानीयेत गणालोके  
पुनरुक्ते नष्ट इत्येव न ज्ञायते । तथा भिक्षाचर्यायामेते कः स-

मिथुचः को वा नेति न ज्ञायते । तथा गणालोकः अक्रियमाणे को द्वाँषे काले भिक्कावर्थे करोति को वा नेति केन ज्ञायते । तथा भिक्कामट्याचार्यं भिक्काचर्यात् भागतानामालोकचर्यायां कः शोषि करोति । तथा भिक्कां हिरण्मणे सूरौ कोऽपि गृहनिषघां वाहरत्यतन्न ज्ञायते ॥

सो आचरस्यदाहार्णि, करेज्ज भिक्कावत्तसा व अत्येज्जा । तेण तिसंजाहोमं, सिस्साण करेइ अत्यंतो ॥ भिक्कामट्याचार्यं व आचरस्यककसंख्या योगास्तेथांयः प्रमाइ-सो हानि करोति स न ज्ञायते तथा आचार्यं एवास्माकं भिक्का-भामिष्यतीति केचिन् भिक्कामत्सा वसतावेष तिष्ठेयुं भिक्काम-ट्येयुंयं एवं गणालोकऽक्रियमाणे ष्मे दोषास्तस्माच्चिसृष्यपि सन्धात्तु शिष्याणामालोकं तिष्ठइ भिक्कामदिमएरमानः करो-ति । गतं गणालोकद्वारमाह ॥

अधुना कायङ्केराद्वारमाह ।

हिंदंतो उब्वातो, मुचत्तयाणं व गच्छपरिहाणी ।

नासिंहितं हिंदंतो, मुचं अत्यं च आणोणं ॥

दिएरमानः पुनर्भिक्कां महाइ कायङ्केरा इति ( उब्वातापि ) परिश्रान्तो भवति परिश्रान्तत्वात्सुचमर्थे इति शिष्येषु प्रतीच्छि-क्रेणु च सूत्रार्थानां परिदाणित्ततो गच्छस्यापि परिदाणिः शि-ष्याणां प्रतीच्छिकानां चान्यवान्यत्र गणात्तरे संगमात् ॥ तथा दिष्टममानः सूत्रमर्थे चारकेणाङ्केषणाम्भो नाशयिष्यति । गतं कायङ्केराद्वारमाह ।

इदानीं चिन्ताद्वारमाह ।

जा आससिउं भुंजइ, भुजो खेयं च जाव परिणोइ ।

ताव गतो सो दिवसो, नद्धसती दाहिति किं वा ॥

यायजिक्कामथियत्वा कणमात्रमाश्रय्य जुद्धं लुकोऽपि च अदं भिक्कान्तरभ्रमं यावःप्रतिनयति स्फोटयति ताव्हियसःसक-सोऽपि गतस्ततो नास्ति सा वेला यत्र स्वस्वार्थस्य वा चिन्तां करोति अचिन्तनं च विस्मृतिमुपयाति ततो नष्टस्मृतिः किंदा-र्यानि न क्रियंतीति भावः । वाशब्दो वृषणसमुच्चये । यतवेच सुश्र्पकं प्रावधति ॥

एगा नत्थि दिवसतो, रंथि पि न जगते समुग्घातो ।

न य अगुणेउं दिज्जइ, जइ दिज्जइ संकितो कुहतो ॥

नास्ति एकां धियिकोऽवसरो दिवसमर्थे यत्र सुश्र्पथं वा चि-न्तयति रात्रावपि समुद्भातः सत्यक्क परिश्रान्तो न जागर्षि । न च सुश्र्पमथा वा अगुणयित्वा द्वाँयते यदि पुनर्दीयते तर्हि द्विषा-तः सूत्रतोऽथेतद्वह शक्तिं भवति । गतं चिन्ताद्वारमाह ।

अधुना मेदिद्वारमाह ।

येदीजुते बाहिं, भुंजण अदादेसमाइ अगामणं ।

विणए गिन्नाणमादि, अत्थंते मेदिदेसंसे ।

आचार्यः सर्वस्यापि गच्छस्य मेदीजुतः मेदिरिति वा आचार इति वा चसुरिति वा यकार्यं स चेजिक्कां गच्छति ततः साधुनां वसतंवेदियेवच्छया जोरुमं स्यादेतदन्तरमेव प्रावधिष्यते । तत एवं ज्ञायते केचिदादेशः प्रापूर्णाका आनाञ्जेयुरादिशब्दा-स्केचिद्विद्विषिका अग्निपरिहांस्तस्तस्तेषामादेशादांभामागमनं ज्ञात्वा कः प्रापूर्णेकानां विभाजनं संशयं वा कुर्वन् ॥ को वा अग्निपरिहीनानं वशास्ति तस्य दानं प्रापूर्णेकानामि-त्तरेण च वात्सल्यकारणे विनयो न कृतः स्वाध्याया भ्यान्त-

स्यादिशायात् वासपुदासाहाय्यां च कः संशयप्रदानेन चिन्तां कुर्यात् तिष्ठतं भिक्कामनट्याचार्यं भेदः संदेशादादेशात् सर्व-मादेशादि सुश्र्पं भवति ।

संप्रति यज्जुक्कं " बाहिं भुंजणसि " तन्नयवयति ॥

आलोपदाणं वा, कसस करेहामुं कं च इंदंमो ।

आयपरिए य अदंते, को अत्थि व मुच्छे अणो ॥

शिष्याः प्रतीच्छिकारव भिक्कां प्रविष्टाक्षित्ययन्ति सूररपि भिक्कायं निर्गतो भविष्यति ततो वयं संप्रति प्रतिश्रयं गत्वा कस्य पुरतः आलोचयिष्यामः कस्य वा भक्तं पानं वा दशोयि-ष्यामः के चान्यं साधुं तत्र गताश्रय्यायो निमन्त्रयामो वतो भिक्कामट्याचार्यं कोऽन्यः साधुः स्थानुमुत्सहेते सद्योऽपि भि-क्कां यातीति भावस्तथाहि सर्वे साधवो भिक्कामट्याचार्यं चिन्त-यन्ति यदि स्वयमाचार्यो भिक्कां हिरण्मते काऽस्माकं शक्तिः प-श्चात् स्थानुं वयमपि यास्यामः । एवं सर्वस्यापि गमने निम-न्त्रणाऽपि कस्य स्यादिति विविक्तव बहिरव समुद्दिश्य वस-तायागच्छेयुरिति । गतं मेदिद्वारमाह ॥

इदानीमकारकद्वारमाह ॥

एणिकासिते अकारगम्मि, दव्चे पफिसेह्णया इवति दुक्खं ।

रायनिमंतणगुणो, खिसणवाकारया दुक्खं ॥

भिक्कामट्यन् आचार्यस्य यदकारकं तस्य तत् भिक्कायै निष्का-शितं तस्मिन् अकारके छ्ये भिक्कायै निष्काशिते प्रतिवेधनं ममेतदकारकमयंहोति वक्तुं लुकिंतो भवति दुःखं यदि पुन-रंजंजं मुक्खा जगति तदाऽनन्तरं वदयमाणा गाथाश्रयोका ही-पास्तथा भिक्कामट्याचार्यं राहा भक्तवारणकाम्भेन दृष्टस्तत आकारयित्वा प्रणिनो मम गृहे जिक्कां गृहीतः स प्राद न कल्पते राजपरम इति एवं निमन्त्रणानन्तरमवहणे राहा जल्पते साधोः किं तव पतङ्गे समस्ति ततो दृशीतेप्रप्रान्नायिके वासिका-दी व राजा तत् दृष्ट्वा खिस्तं कुर्यात् । तथा आचार्योऽग्निषिको जनेव स खेव श्रानादिनिमित्तं शिष्यान् प्रतीच्छिकारव व्यापार-येत् तथा श्रानादीनां योग्यमानेयति ते चार्थविकं ताव्वा एवि-भयमुत्पादयन्तीति तेषां व्यापारणं दुःखमेवेति दास्याथासमा-साधः । सांभयनमेव विधरौपुवेज्जां मुक्खा अकारकद्वयप्र-तिवेधनं शोषास्तानेवाह ॥

जेणेज कारणेणं, सीसमिणं मुंडियं जदंतेण ।

वयणपरवाधिसो वि हु, न मुंडिया ते काहिं जीहा ॥

येनैव कारणेन हेतुना भदन्तं शुकणा तव शरीरंमिदं मुणिरुतं तनैव कारणेन तव जिह्वाऽपि यदनगृह्णियासिनी प्रमेतकार-कदम्येदेहोति कुवाणा कथं न मुणिरुता येनैवं भवते यथा ।

गयभागमम्मि खोए, सीसा वि तथेव तस्स गच्छंति ।

सययेव दुद्धाजिब्भा, सीसं विणुइसत्ती केण ॥

गतागतोऽयं स्वजावतो लोकः पितृस्वभावं पुत्रोऽनुकरोतीति प्रायः ततो गतागमेऽस्मिन् लोके यथाऽऽचार्यं गच्छति वेहंतं शिष्या अपि तस्य तथैव गच्छन्ति यस्मैतं त्वं च स्वयमेवेणं बुद्ध-जिह्वस्ततः केन प्रकारेण शिष्याभिनयेत्सि शिष्याधिष्यसि नैव कथञ्चनति । ततस्तेऽपि त्वत्सदृशा जविष्यन्तीति ।

पमिसेहंतंमजोगं, अयासम वि बुद्धइं हवइ जिक्कं ।

सद्धाभंगविधयं, जिन्भादीसां अत्रघां य ॥

अयोप्यमकारकं प्रतिधिष्यमानं महात्मपमणुं करोति कं

मन्त्रिणाश्च कोऽस्तावपुण्य इत्याह अन्यस्यापि साधोर्दुर्लभं भवति त्रैके त्रैते यथा तथा शुद्धनीत्यवदानात् । तथा अकारक-  
स्य प्रतिषेधने कस्या अपि मदस्या अक्षाया अङ्कः अपरस्या  
( अक्षियसं ) अग्नीनिस्ततस्तद्वादाववर्णयो जिह्वादाश्च उत्पद्यते ।  
संप्रति यद्युक्तं राजनिमन्त्रणाप्रहणसिखनमिति तत्र तद्वच-  
सिखनमाह ।

पुर्विच अदत्तदाणा, अर्काविषा इह उ संकलिसंसिन्नि ।

काऊए अंतरायं, नेचंविट्टं वि दिङ्जते ॥

आन्तप्रान्तादी च दक्षिणे राजा प्राह पूर्वमदत्तदाना य्यं तत्र  
इहाकाविदा आदत्तहाः सन्तः क्लिश्यन्ते । तथाच राजापिण्ड  
इत्यन्तरायं कृत्वा इष्टमपि दीयमानं जयन्ते नेच्छन्ति ।

गृहणपनिमहदुजण, अनुजणे च व मासियं लहुयं ।

सपणुएण अङ्गंजे वा, सिमेज्ज व सट्ठमादी ॥

अकारकस्य ग्रहणे सति यद्यस्यैः साधुभिः प्रतिरिष्यमानोऽपि  
शुक्ले तदा म्भानन्वमय न भुङ्क्ते तदा भ्रमोजने पारिष्ठापनिका-  
दीपस्तत्र च प्रायश्चित्तं मासिकं कथ्ये । तथा यथाचार्योऽल-  
म्बिकस्तदा भ्रमनोहलाभे वा शैलकादयः क्षिसेयुने किमपि  
क्यापि गतो जनते रिक्तमेतस्याचार्यत्वम् ।

वावारिया गिलाणा-दियाए (गेएहड) जोगंति ते तत्रो वैति  
तुजेने कीम न गेएहह, हिंकेतात्रो स्ये चैव ॥

आचार्यो अग्निर्होतः सन् शिष्यान्प्राग्वैदिककाले व्यापारयते  
यथा म्भानादीनां म्भानप्राच्युक्तप्रतुनानां जेत्ये शुद्धते न एवं व्या-  
पारितः सन्तो भ्रुवत यूपं स्वयमेव इहैकमान्ना भ्रामादिप्रायो-  
स्यं कस्मान्न शुद्धते ।

एवाणए परिभवो, वैति य दीसति य पानिस्ववं जे ।

आणह जाणमाणा, सिमंती एवमादीहि ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण आहात्याः परिजव उत्पाद्यते यथा य-  
दि यूपं प्रायेणं न लभ्येथे वयं कथं उपध्यामहे एवमुक्ते याद्या-  
त्वायां भ्रते आर्या उद्यमेन किं न भव्येन तत्र एवमुक्ते रुष्टा भ्रुवत  
इदयते खमु जे भवतां प्रातिहाथै स्तानिधायमाचार्यैः स्वयमेव-  
जाततः कस्मान्नानयत एवमादिनिरुद्धावचैवैवैवैः खिस्यन्ति  
दिलयति । गतमकारककारम् ।

व्याज्जहारमाह ।

बाहो य माणमादी, दिट्ठेते तथ होति उज्जेण ।

भोजे य आजिआंगो, विसे य इत्थीकए वा वि ॥

जिह्वागतितो व्याहः अमृष्टयुक्तः कर्माजिलुगति तदा मदस्य-  
पञ्चाजना तत्र दद्यान्इहउज्जेण यथा उत्रमुपरि प्रियमाणं शोच-  
नः अथः पतितं तु न किमपि एवमाचार्योऽपि बह्वभिः परिवारि-  
नो गच्छन् शोभते तथा जिह्वातप्रवृत्तस्तु व्यादिपरिदृष्टीनो न  
किमपि । तथा प्रतिक्रपवामाचार्यो भ्रमनीति लोनेन माध्यायां स्त-  
मी वृत्तीयार्थेऽनियोगो वशीकरणं स्वीकृतं स्यात् । विषं वा केन-  
चिप्रविष्टेन दीयेत । पत्तेशोचरायै व्याचिष्यासुराह ।

मोएउं अस्ममस्या, वदं रुद्धं च नबाणं कुसिया ।

नुवाविक्रम(भिज्जम्हो, सो पुण सव्वे षि ते सत्तां ॥

युर्वनिकमभयिकवतयात्राकीर्दापसंभानयया अन्यथा ब-  
द्धं नचैकं नटार्ना नयकः कुसिता मोचयितुं न समर्थास्तेयां ता-

एकस्यजावात्स पुनयुयुतिकम नीयरूपस्ताव कुसिताम्सोवोपि के  
नापि दौषेण बद्धा कृतात्वा मोचयितुं शक्यस्ततो यथा स प्र-  
यत्नेन रक्ष्यते एवमाचार्योऽपि रक्षणीयोऽन्यथा दौषस्तथा चाह ।  
एवमापरिपयस वि, दोसा पनिरुववं च सो हो ।

दिज्जवि स भिच्छुवासो, अग्निजोगवसीकरणमादी ॥

एवमेव नसं कस्येवाचार्यस्यापरिक्रितस्य होषा जयन्ति ।  
तथाहि सोऽपि प्रतिक्रपात्तु भवति ततः कोऽपि जिच्छुपासको  
जिनप्रवचनप्रज्ञाननामसिद्धिपुर्विषं द्यात्स्वी वा काचिदुपसुध्या  
अभियोगं कुर्यात् वशीकरणेति वा प्रयुञ्जीत एवमादेते दोषास्त-  
स्मात्प्रयत्नेन रक्षणीयोऽन्यथा तदभावे गणस्याप्यन्नाभाप-  
त्तिसत्ता चाह ।

नबणहणीया वनदा, नायगहीणा च रूपिणी वा वि ।

वक्कं व तुंरुहीणं, न हवति एवं गणां गणिणा ॥

यथा नसं नदीना नदा यथा नायकहोना रूपवती स्त्री यथा च  
यक्कं तुएरुहानं न भवति एवं गणिनाऽऽचार्येण विना गणोऽपि  
न भवति तद्वचं व्याज्जहारं गतम् । इदानीं गणविन्नाग्रमाह ।  
लाभालान्नाणि, अकारके वास्तुवृहमादेसे ।

मेह्वमए न नाहिंति, चिट्ठो नाहिंति न सव्वो ॥

केन पर्याप्तं स्वयं केन वा न लभ्यमिति न ज्ञास्यति स्वयं भि-  
क्काटने परिश्रान्त्यात्तथा अग्निमि मांये परिश्रान्ताः समागन्त-  
प्राच्युक्तः तेषामिदं वाकारकं तथा बालान् कृत्वा न पुत्रां गमां-  
श्चादेशान् प्राच्युक्तान् तथा शैकान् कृपकांश्च कर्णान् विसाराकर-  
णतया न ज्ञास्यति । स्वयं भिक्षापरिश्रमणपरिश्रान्तत्वात् ति-  
ष्ठन् पुनः सर्वान् यथीचिन्धेन ज्ञास्यति परिश्रमानायाम् । गतं  
गणविन्नाचारम् ।

अधुना वादिह्यग्रमाह ।

मोऊए गतं खिसति, पनिच्छिज्जथा य इदिपेठ्ठेइ ।

अत्यंति सन्धचित्ते, न होति दोसा तवादी य ॥

भिक्षामटितुं प्रवृत्ते आचार्ये वादी कोऽपि समागन्तनेन साध-  
व उच्यते क आचार्यः माधुनिकं भिक्षाटनया गतस्ततः स  
जिह्वायै गते शुभ्या खिसति इत्यति एतावन्तस्य पाणिग्रह्यं स  
स्वयं जिह्वागतितः । ततः इणमात्रं प्रतीकृतः स आचार्य उद्घा-  
न्तः समागन्त समागतं दृष्ट्वा वादी प्रेरयति । स च परिश्रान्त-  
त्वात्पुत्रं दातुमसमर्थोतिष्ठति । पुनः स्वच्छचित्ते दोषास्तथाप्य  
प्रादिशजन्तुपेनादिपरिग्रहो जयति तथा च सति न वादि-  
ना तस्य प्रेरणं किं तु जयति । वादी समागतो जिह्वायै गत  
इति मृश्या यदि गच्छेत्पुपद्दीयति ॥

पागदिपं माहए, विसाणं चैव सुठु ते गुरुणां ।

जइ सों विजाणमाणे, न वि तुम्भमपाहितो हुँवो ॥

जिह्वायै गत इति भ्रुवाणैर्नेवद्विः सुष्ठु अतिशयेन साहाय्यं ग-  
न्मिन्नकृणं विक्रानं च प्रकटितम् । यदि सोऽपि ज्ञाना भवति  
न चैव युष्माकमनाहते नयेत् । अधुना " पनिकिञ्जळा च वा-  
दि पिण्डम् " इति व्याख्यानयति ।

न वि उत्तराणि पासइ, पासणियायां च होति परिजृतो ।

मेहादिभत्ता वि य, दहं अमुहं परिणमंति ॥

स जिह्वाटनपरिश्रान्तः सन् न वि वैध उत्तराणि पश्यति  
परिश्रमेण बुद्धेः सत्यापादान्नात्तथा च सति स प्राक्षिकानामपि

सभ्यानामपि परिभूतो भवति ततो ये दैङ्काद्योये च अरुका-  
दयस्ते तन्मुञ्चं निरुचरं दह्णुः परिणमन्ति विपरिणामं जज्ञन्ते ।  
जिज्ञार्थमनन्दे पुनरिमे गुणाः ।

सुत्तथाण गुणाणं, विज्ञामंता निमित्तजोगाणं ।  
वांसत्ये पद्विरक्षे, परिणपद्व रहुस्तसुत्ते य ॥  
सुत्थार्थानां तथा विद्यानां मन्त्राणां निमित्तशास्त्राणां योगशा-  
स्त्राणां च गुणानं परावर्षानं भवति । तथा विभ्वस्तः सद् प्रतिरि-  
के विधिके प्रदेरो रद्वयसुत्राणि परिजयति अत्यन्तं स्वच्यस्तामि  
करोति तस्मात् भिज्ञार्थमदित्ययमाचार्येण गते वादिचारय ।  
इदानीमुक्तिमद्ब्रह्मराम ॥

रमा वि दुवकखरको, उवतो सव्वस्स उत्तमो होति ।  
गच्छमि वि आयरितो, सव्वस्स वि उत्तमो होइ ॥  
राज्ञो द्वयक्करको दासो यद्यपि जाल्या डीनस्तथाऽपि संस्था-  
पितः सद् स्वदेव्याप्युत्तमो जवति । उत्तमत्वाच्च यथा न कश्च-  
न प्रयत्नं हिण्ड्यात्येत् सोऽप्येवं यथा तन्ना मन्त्रेऽप्याचार्यः स्व-  
र्धस्याप्युत्तमो जवतीति स सुनरां भिज्ञां न हिण्ड्यापुतिवत्यः ।  
रायामबपुरोहिय, सेट्ठी मण्णावतो तलवरा य ।

अभिगच्छेतायणि, बहियं च डमं उदाहरणं ॥  
यथा तीर्थकरश्चस्यकाले हिण्ड्यमानोऽप्युत्तमं ज्ञाने देवेंद्रा-  
द्यभिगमात्र हिण्ड्यते । एवमाचार्यानापि आचार्यपदस्थापितान-  
राजा अमात्यः पुरोहितः अष्टौ मन्त्रापतिः तलवराश्चानिगच्छ-  
न्ति तनस्तेऽपि भिज्ञां न हिण्ड्यन्ते । अन्यथा दोषस्तत्रेदमुदाहर-  
णं तदेवाह ।

सांज्ञण य उवसंतो, मच्चो रमो तं गं निवेदेइ ।  
राया वितिए दिवसे, तइएऽपव्णी य देवी य ॥  
राज्ञोऽमात्य आचार्यसमीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः स च राज्ञः  
स्वकामाचार्यं निवेदयति । यथा गुणवानतीवाचार्योऽमुकप्रदेरो  
निष्ठति ततो द्वितीयदिग्बसे राजा अमात्येन सह गतः धर्मं  
श्रुत्वा पारंतुष्ट आगतो निज्ञाप्रमदित्थाः परिकथयति अमायेना-  
प्याग्नीयजायायाः कथिनं ततोऽमात्यो देवो च नृनीयदिग्बसे ध-  
र्मप्रवणाय समागते आचार्यो जिज्ञार्थं गनस्ततः ।

सांज्ञं पमिच्छिञ्जण, वणया अहवा पमिच्छणे र्विसा ।  
हिंमति होति दोसा, कारण पमिच्चित्तकुसलोहिं ॥  
जिज्ञार्थं गत इति श्रुत्वा ते हीलयित्वा गते । अथवा क्षणमात्रं  
प्रतीत्य हीलयस्यी गते । यद्ये वा यावदाचार्यं आगच्छति  
तावत्प्रतीक्षमाणे हीलयतः अथवा प्रसिद्धशरारं परिगलत्प्र-  
स्वेदमागतं दह्णु क्षिप्ततो यदि वा क्रुद्धं सुदुष्टं कृतं बन्धनं वा  
सोमं कथयतो वा परिभ्रमणे न सुदुषु बचनविनिगमस्तत उ-  
त्थिते हीलयतो, यथा पिण्डोलक इषैश्च भिज्ञामदति किमाचा-  
र्यैव्यतस्य । एते जिज्ञां हिण्ड्यमाने दोषाः । यदि पुनः कारणे  
बधयमाणे भिज्ञार्थं गतो अर्धत् राजाद्वयश्च तत्र गतस्ते च पू-  
च्छेयुः क गत आचार्यैस्तत्र ये प्रतिपत्ति कुशलास्तेनैवं प्रतिवक-  
न्त्यं भिज्ञार्थं गत इति किमु कैव्यबन्धननिमित्तं गत इति । यदि  
राजाद्वय आचार्येमागच्छन्तं प्रतीक्षेरत् तदा येऽतीव दक्षा गी-  
तार्थोस्ते सुन्दरं पानकं प्रथमालिकां च सुन्दरं कर्पयं चोलपदं  
च मुहीनाऽऽचार्यस्य कथयति । तदा आचार्यो मुखहस्ताप-  
दादि प्रज्ञात्य प्रथमालिकां पानकं च कृत्वा अल्पं प्राबुध्य पात्रा-  
शबन्धस्य समर्थं तादृशयेवो वसिताजानीयते यथाऽजावथा-

तोऽपि राजादिभिर्भाव्यते एव आचार्य इति । ततो वसति प्राप्तस्य  
पादप्रोच्छनं पादप्रमाज्जेनार्थमादाय साधक उतिष्ठति । पादप्र-  
माज्जेनान्तरं बसनेरतः प्रविश्य पूर्वरेचितार्थां निषद्यायमु-  
विशति उपविष्टस्य चरणकल्पकरणाय कोऽपि साधुरूपदीकं तं  
चरणप्रक्षालनानन्तरं च सयं साधवः पुरतः पाश्वेतः पृष्ठतो वा  
किंकरभूतास्तिष्ठन्ति यथा राजा चकितस्तिष्ठति । पतदेवाह ।

कारणजिकसस्स गंतं, वि कज्जमं निवसस साहिंथा ।  
निजोगनयनपदमा, कमादिधुवणं मणुष्ठाइ ॥  
कारणे वक्ष्यमाणलक्षणं समापतिते शैलस्य गतेऽप्याचार्यं नृ-  
पस्यान्यकार्यं कथयित्वा प्रथमालिकादेर्नियोगस्य नयनं ततः  
कमादिप्रक्षालनं ततो मनोब्रह्मप्रथमालिकावितरणम् ।  
कयकुक्कुप आसत्थो, पविसई पुव्वरइयनिसेजाए ।  
पयया य होंति सीसा, जह चकितो होइ राया वि ॥  
कृतकुक्कुचः कृतकूलकुल आसत्स्थः प्रविशति प्रविश्य पूर्व-  
रेचितार्थां निषद्यायमुपविशति ततः पादप्रक्षालनसमं पोषवे-  
शनप्रयतास्तथा भवन्ति यथा राजा चकितो जायते ।  
अत्र परप्रब्रमाह ।

मीसा य परिष्ता, चोगयवणं कुट्टिसामणिया ।  
दिहंतो दंभिएण, सावेकलं वेव निरवेकलं ॥  
बोद्धकश्चनमाचार्यं रक्षायित्वा शिष्या भिक्षायां प्रेषितास्तेहिं  
ते त्यक्ताः । आचार्य आह । अत्र कुट्टु(भृशुद्र)प्रहंपानदृष्टान्त-  
स्ताथा दूरिकेन दृष्टान्तः सांपन्नो निरपेक्षमाचार्यं एव डार-  
गाथाशरार्थः ।  
संभ्रयेनामिच्च विवरीपुः प्रथमतः " सीसा य परिष्ता " इति माधयति ।

बायादीया दोसा, गुरुस्स इतरंसि किं नते होति ।  
रक्खयसिस्सचाए, हिंमणुत्तु अस्समता य ॥  
वातादयो दोषा सुरोर्भेवन्ति इतरंषां साधूनां किं ते न जवन्ति  
जवनयेवेति प्रायः । ततो हिण्ड्यते हिण्ड्यनदोषे तुल्ये आत्मने  
दृक्ता क्रियते शिष्याणां च त्याग इत्यसमता नेवं समजसमित्य-  
र्थः । अन्यथा ॥

दसविह्वयेपाव्भे, निच्चं अणुद्विया असदभावा ।  
ते दाणिं परिभुत्था-अणुज्जमंताण देवो य ॥  
दशदिग्बे आचार्यदिग्ब्रतो दशप्रकारं वैद्यावृत्ये नित्यं स्वका-  
समागतायाः सन्तोऽभ्युद्यितास्ते संगति वातविदोषाण्यव-  
ञ्जिरपि जिज्ञाटने प्रथमाणाः परित्यक्तास्तथा दशदिग्बे वैद्यावृ-  
त्ये नोद्यच्छन्ति ततस्तेषामनुद्यच्छतामाचार्यद्विद्यावृत्याकरणे  
यथाऽहं प्रायश्चित्तं दृष्टो देयते तदेवं " सीसा य परिष्ता " इति भावितम् ॥

इदानीं कुट्टुम्बिसामणियेति दृष्टान्तं भावयति ॥  
बुद्धीधमसुनरियं, कोट्टागारं रज्जति कुट्टुविस्स ।  
किं अण्ड मुद्दा देइ, केइं तहियं न अस्सिणा ॥  
एकः कौटुम्बिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने बुद्ध्या काशान्तरक-  
पया धान्यं ददाति तथा च बुद्ध्या कौटुम्बिकस्य कोट्टागाराणि  
धान्यसुसृताणि जानानि । अण्डाश्च तस्मिन् कोट्टागारं बुद्धि-  
धान्यसुसृतं वह्निना प्रदीपेन दह्यते तत्र केचित्कर्षका शिष्यापननि-  
मित्तं तत्र प्रदहमाने कोट्टागारे समागतास्तत्र केचित्कर्षकानि



अइसेस

किमेष कौटुम्बिकोऽस्माकं मुधा ददाति येन वयं विप्रानपार्थ-  
मन्नुद्यता भवामः ॥

एयस्स पजावेणं, जीवा अग्नेहि एव नाऊण ।  
अपे उ समद्वीणा, विजाविप तेसि सो तुट्ठे ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभवेण वयं जीवन्तः स्म  
जीवन्तु प्रत्ययः जीविता इत्यर्थः । एवं ज्ञात्वा समाजानास्तस्य  
समागतो विप्रानपनाय च प्रवृत्तास्ततो विजापिते कोट्टामारे स  
कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे उ हायागर्चं, करेसु तेसि अवहियं दिंघं ।  
दट्ठति न दिखिण्णरे, अकाममा दुक्खजीवीं य ॥

ये विजापिते सहायकावसकावुंस्तेषामनुदिकं कालान्तरवृद्धि-  
रहितं धान्यं दत्तमितरेषां तु सहायत्वमकृतवतां इवर्षामन्युत्तरं  
स कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥  
एव दृष्टान्तः ॥

सार्प्रभमुपनयमग्निधिसुरा ॥

आयरिय कुटुवी वा, सामाणियथाणिया जंवे साहू ।

वावाहअगणितुत्ता, सुत्तन्वा जाण धण्णे तु ॥

माचार्यः कुटुम्बी इव कुटुम्बितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्म-  
स्थानीयाः साधव आचार्यस्य जिज्ञासने वातादिश्रवणाया अग्नि-  
तुल्या सुत्रार्थं जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयायं, किरंते मुत्तप्यसंदिं पेरा ।

हविति उदासीण, वल्लोत्तियसंदिं समारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकरणे ये विनीतास्तेषां स्थविरा  
आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वन्ति सूत्रार्थप्रयच्छन्ति यस्मद्दार्ढ्या-  
नस्तत्र हापयन्तीति न प्रयच्छन्तीति ज्ञायः स चोदासीना वल्ल-  
मानः केवलं सूत्रार्थेभ्यो भवति वल्लभासमी च संसारे जायते  
गतं भ्रान्तद्वारम् ।

संप्रति दिपरुक्कट्टणत्वं विभावियिपुरिदमाह ॥

उत्पत्सकारणे पुण, जइ सयमेव सहसा गुरू हिंसे ।

अप्याण गच्छमुज्जं, परिचयती तार्यमं नार्यं ।

अप्यत्र कारणं वक्ष्यमाणलक्षणं यद्वि सहसा स्वयमेव गुरुरा-  
त्मानं गच्छमुज्जं च परिचयति तत्र चेदं वक्ष्यमाणं ज्ञातमुदा-  
हरणम् । तदेवाह ।

सोअं परवलमार्यं, सहसा एक्कागिओ उ जो राया ।

निग्गच्छति सो चयती, अण्णाणं रज्जमुभयं च ॥

यो निरेपेको रावेष परवलमार्यत्वं श्रुत्वा वरधदात्तायमेवयिन्या  
सहसा एकाकी परवलस्य संसुता निग्गच्छति स आत्मानं  
राज्यमुभयं च त्यजति वरधदादनत्यतिकेरेण युक्कारणे मरण-  
भावारं । एयमाचार्योऽपि निरेपेकः समुपपन्नोऽपि कारणे सहसा  
भिक्षामट्टआत्मानं गच्छमुज्जं च परिचयति । उक्ता निरेपेक-  
दिरुक्कट्टणत्वात् ।

संप्रति सापेकदण्डिकदृष्टान्तभावनामाह ।

सावेक्खी पुण गया, कुमारमाटीहि परशले खविणं ।

अणिए मयं पि जुउम्हइ, उवमा एमेव गच्छे वि ॥

सापेकः पुना राजा प्रथमं कुमारमादिह युक्त्य प्रेषयति ततः  
कुमारदिहिः परशलं कर्षयित्वा यदा कुमारं परशलं क्षिपति तदा  
तस्मिन्क्षिति स्वयमपि राजा युष्मते एषंयोरामा गच्छेऽपि उद्यथा ।

आचार्याऽपि पूर्वं यतनां करोति तथाऽपि असंस्तरणे स्वयमपि  
दिपदन्ते एवं आत्मानं गच्छमुज्जं निस्तरन्तीति प्रायः ।  
संप्रति ये कारणे आचार्येण जिज्ञार्थमदित्यं तानि कारणाण्यदाह ।

अच्छाणकक्खवदामति, गेल्लोदासिमाहिएसुं तु ।  
संधारमाणे भइतो, हिंसेज्ज असंयंतरामि ॥

अध्याने प्रपन्नः सार्धेन सममाचार्यो गच्छुंस्तत्र आसंस्तरणे  
यदि साधारण आचार्यस्य गोचरेण प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेवा-  
चार्यो दिपदन्ते एवं कर्करोऽपि क्लेशे आद्यनयं तथा असति  
सहायानामभावे को भिक्षामानीय ददातीति स्वयं दिपदन्ते ।  
तथा श्रान्ता बहवस्तन्स्तेषां स्वेषामपि गच्छसाधवः प्रयो-  
ग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा श्रानप्रयोग्यमन्यः कोऽपि न ज्ञाते  
तत आचार्यो दिपदन्ते एवमादिशाः प्राचुर्यका आदिशब्दान्

वाक्येषु साहपरिप्रदस्तेष्वपि ज्ञानवीर्यम् । एतेषु विषयेषु असंस्तर-  
रति गच्छुं नियमाद्वार्यां हिगइते अथका प्रायश्चित्तसंभवा-  
संस्तरति पुनर्भक्तो विकल्पितः दिपदन्ते कदाचिन्न अइसुद्यत-  
विहारपरिक्रमं कुर्वेन दिपदन्ते शेषकाले नैवेद्यः । एव द्वारगा-  
थासंक्षेपार्थः । अत्र यदुक्तं संस्तरणे न हिगइते इति तत्र सं-  
स्तरणं त्रिविधं जघन्यं मध्यमकण्ठं च तत्र जघन्यमधिकृत्याह ।  
पंच वि आयरियादीं, अत्यन्ते जह्णए वि संघारणे ।  
एमेव संयंरते, सयमेव गण्णं अइति गाणे ॥

जघन्येऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपं संस्तरणे पञ्चाप्याचार्योपाध्यप्र-  
वर्षिस्त्विपरगणावच्छेदिनस्त्रिणीति जघन्येऽपि स्वर्णशब्दः संभाव-  
ने स चैतन्संज्ञायति । यदि तावत् जघन्येऽपि संस्तरणे प-  
ञ्चाप्याचार्योपाध्यसंस्तरति ततो मध्यमे उच्छुट्टे संस्तरणे नियमा-  
त्यज्जभरपि स्यात्तथ्यम् । एवमपि जघन्येनापि संस्तरणनास-  
स्तरति गच्छे स्वयमेव गण्णं आचार्यो भ्रामे भिक्षामदति स च  
प्रतिलोमपरिपाठ्या एतेन तथाहि जघन्येनापि असंस्तरति प्रथमं  
गणावच्छेदको दिपदन्ते तथाऽप्यसंस्तरणे स्त्विपरोऽपि दिपदन्ते  
एवमप्यसंस्तरणे प्रत्यप्यं तथाप्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि त-  
थापि चेन्न संस्तरति गच्छन्तत आचार्योऽपि ।

तत्र प्रथमत उच्छुट्टे संस्तरणमाह ॥

मंडलगयामि सूरं, उचिंषा जाव पट्टराधेला ।

ता एति जुत्तमिसे-मया च उकोसंमथरणे ॥

ननोमग्नस्य भयगते मूर्धे मयात्रे इत्यर्थः जिज्ञार्थमवतीक्षे-  
स्ततः पर्याप्तं हिगइत्या यावत् तृतीयपर्यन्ता आदौ स्वाध्याय-  
प्रभापनेवदा तास्य निवर्त्तने पत्तुच्छुट्टे संस्तरणम् । अथवा तृ-  
तीयपर्यन्ता आदौ स्वाध्यायप्रभापनेवदायां स निवर्त्तते पत्तु-  
च्छुट्टे संस्तरणम् ।

मध्यमं जघन्यं चाह ।

सध्यातो आगयाणे, चउपरिमि मइच्छमं हवति एयं ।

विसुयाविय मत्तदिणे, समतिउत्थंते जह्मं तु ॥

मध्याह्नारारभ्य भिक्षार्थमवतीक्षणां पर्याप्तं दिपिक्त्वा वसना-  
वागतानं तुक्षानां सञ्ज्ञातः सच्छात्रुमिन्न आगतानां यदि क्षु-  
र्थां वारुणं अयगादन्ते एतत् मध्यमं संस्तरणं भवति । मध्या-  
ह्नारभ्य भिक्षामदित्या शुकन्या सञ्ज्ञात्रुमिन्ः प्रत्यागतमात्रेषु  
सुयावियेषु, विशेषतस्त्वन्वन्वयं पुनर्दिने समाने जघन्यं संस्तर-  
णमवसात्ये तदेवमुक्तं जघन्यादिजिह्वदिशं संस्तरणम् ।  
इदानीं मध्याह्नारारभ्याख्यानांशमाह ॥

अच्छाणेऽमथरणे, उकोवियाणं विकराम पल्ले ।

एवैव ककत्वमि वि, असति चि सहायाग नत्थि ॥  
अन्यानि साधेन समं वज्रतामसंस्तरणे भिक्षार्थमाचार्यो हि-  
एरुते । अथवा ते सहायाः अक्रोधिदाः साध्यां च प्रब्रह्मव्यक्ति-  
रणीकृतान्यस्मान्कीकृतानि हृद्यन्ते तत आचार्यः स्वयमेव हि-  
रुमानस्तानि विकरणानि कृत्या सन्निवर्तते अथवा द्दनामु-  
पदेशं द्दानि विकरणानि कृत्या द्रव्यमिति । एवमक्रोधिदानां  
सहायाणां जावे प्रलम्बिकरणात्मिकमाचार्यो गच्छति । एव-  
मेव कर्कशोऽपि क्षेत्रे भिक्षार्थं गमनमाचार्यस्य भवति तत्रान्यसं-  
स्तरणे अक्रोधिदाः सहायजावे प्रब्रह्मविकरणय वा गच्छन्तीति  
तथा असतीति नाम सहायका न सन्ति ततः स्वयमेव जि-  
ह्वायति ।

बहुया तस्य तरंता, अह गिष्ठाणस सो परं लहति ।

एमेव य आद्रेनं, सेमसु विज्ञासुवुद्धीए ॥

बहवस्तत्र गच्छे अतरन्तां ग्मानस्तनः सर्वेषां गच्छसाधयः प्रा-  
योग्यमुत्पाद्यितुमशक्ता अथवा ग्मानस्य परं प्रायोग्यमन्या न  
लभते किन्तु स एवाचार्यस्तनः स हिण्डते । एवमेवादेशु प्र-  
ग्नानकेषु शोषणं च बालबुद्धासहणं विभाषा विज्ञापणं तत्र बु-  
द्ध्या कर्तव्यं तथैव यथादेशाद्वाद्यः बहयः सर्वेषां साधयः कर्तुं  
न शक्नुवन्ति यदि वा स एवादेशाद्दिश्यायोग्यं हमेते मान्यः को-  
ऽपि ततः स दिग्गन्त ।

संप्रति " संथरमाणे प्रश्नो इति " व्याख्यानयति ।

अभ्युज्जयपरिकम्मं, कुणमाणो जा गणं न वोंसिरिति ।

ताव मयं सो हिंरुड, इति भयणे संथरत्तम्मि ॥

अन्यत्रानिहारपरिकम्मं कुर्वन् यावन् गणं न व्यस्तुजति ता-  
वस्य स आचार्यो हिण्डते इत्यथैव अत्रना असंस्तरणं गच्छे ।

अच्छाणादिस्वेहं, मुहसीलत्तेभा जो केरेज्जाहि ।

गुरुगा य जं च जत्य न, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥

अथादिषु अध्वककर्गादिष्वसंस्तरणं गच्छेत् सुखशीलत्वेन  
सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यात्मनमाधाय य उपेक्षा-  
माचार्यः कर्तति जिज्ञां न हिण्डते इत्यथैव असंस्तरणं गच्छेत् न-  
खारां गुरुकाः । यथा नत्र या अनागादपरितापनादि साधयः  
प्राप्तुवन्ति तद्विषयप्रति तस्य प्रायश्चित्तं तस्मात्सर्वप्रयत्नेना-  
भर्वाद्व्यसंस्तरणे निष्काटनं कर्त्तव्यम् ।

सांप्रतमसंस्तरणव्यवतनामाह ।

असती पत्तिलोमं तु, सग्गामे गमयादाणसहेसु ।

पसति विंत्तए दिवसे, आवज्जइ मामियं गुरुयं ॥

असति अत्रमौर्यादिना गच्छसंस्तरणाभावे प्रतिलोमं गणा-  
वच्छेदकादारभ्य प्रतिकूलगमनमवसातव्यं तथापि प्रतिबुधमादि-  
नाऽसंस्तरणे गणावच्छेदकः प्रतिकूलमादिभिः सह हिण्डते तथा  
व्यसंस्तरणे स्वविरोऽपि तथा व्यसंस्तरणे प्रवसंकोऽपि तथा-  
व्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि तथाचेन्न व्यसंस्तरति तर्हि स्वप्राप्तं  
दानआद्येषु कुलेष्वाचार्यगमनं भवति तथापि चेदसंस्तरणं  
तत आच्छायेऽन्यत्रापि गृहाणि । तथापि साधुना कस्मिंश्चि-  
त्कुले ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं याचितं परं न लब्धम् । अथया  
तद्द्रव्यं तस्मिन्गृहे प्रभूतमस्ति अन्यत्र च न विद्यते तत्र यदि हि-  
ंशये दिवसे तस्मिन्कुले येन न लब्धं तमेवाचार्यः प्रेषयति ततो  
गुरुकं सामिकं प्रायश्चित्तम् । तस्मिन् कुले प्रतिलोमं प्रेषयति ।  
तद्यथा प्रथमं गणावच्छेदकः प्रेष्यस्तेनालक्षणे स्थविरस्तेनाप्य-

लक्षणे प्रथमकस्तेनाप्यलक्षणे उपाध्यायस्तेनाप्यलक्षणे स्वधमा-  
चार्यो प्रजति । यदि वा स गृहप्रभुयोरैव गौरवं करोति स  
प्रेषयितव्यः ।

सांप्रतमस्या एव गाधायाः पूर्वार्द्धं भावयति ।

गणावउेद्वो पुव्वं, उवणकुसेत्तुं व हिंरुड सग्गामे ।

एवं धेरपवित्तं, अभिसयं गुरुयपत्तिलोमं ॥

पूर्वं गणावच्छेदकः स्वप्राप्तं स्वपानाकुलपु हिण्डते एवं गणा-  
वच्छेदकादारभ्य प्रतिलोमं लक्ष्यं तथापि असंस्तरणे स्थविरो-  
ऽपि हिण्डते तथाऽव्यसंस्तरणे अभिषेक उपाध्यायस्तेनापि सं-  
स्तरणाभावे गुरुपि । अथुना "पसति वित्तप दिवसे" इत्यादि  
भावयति ।

ओभासिय पट्टिमिदं, तं चेव न तत्थ पट्टेज्जा उ ।

पत्तिलोमं गाणामादीं, गारवं जत्थ वा क्खणि ॥

केनापि साधुना ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं कस्मिंश्चित्तुले  
अवभाषितं याचितमित्यर्थः । तत्र गृहप्रभुणा प्रतिषिद्धमन्यत्र  
तत्र द्रव्यं नास्ति किं तु तस्मिन्नेव गृहे ततो चित्तीयदिवसे तत्र  
कुले न तमेव प्रेषयति तु प्रतिलोमं गणावच्छेदकप्रभृतिकं  
यथोक्तं प्राक् यत्र वा गृहप्रभुगौरवं करोति तं वा प्रेषयन् ।

तित्यकर चि समत्तं, अहुणा पावणएनिज्जरा चेव ।

वत्तंति दो व समणं, दुवादासंमं पवणए तु ॥

तीर्थंकर इति द्वारं समाप्तम् । अथुना प्रवचनं निज्जरा चिति द्वे  
अपि द्वारं समकर्मकालात् व्रजतस्तत्र प्रवचनं नाम चाद्दशाङ्ग-  
गणपिटकम् ।

तं तु अहिज्जताणं, वेयावत्ते ठ निज्जरा तेसं ।

कम्म भवे केरिसिया, सुत्तये जहात्तरं वलिया ॥

ननु द्वादशाहं गणपिटकमधीयानानां वैयवृत्त्यै क्रियमाणे  
तेषां वैयवृत्त्यकराणां महती निज्जरा तदावरणीयस्य कर्मणः स-  
यकरणात् महापर्यवसानः पुनरन्यनयकर्मबन्धाभावात् । अत्र  
दिश्यः प्राह । कस्य कीदृशं निज्जरा भवति । आचार्यैः प्राह  
सूत्र अर्थं च यथात्तरं बलिकाः पतदेहि विनायपियुराह ।

सुत्तावसमगरीदा, चौदणपुव्वाण तह जिणएणं च ।

जावे मुद्धमसुत्तं, सुत्तये मंरुतीं चेव ॥

स्वभावशयकादि यावत्कुर्वत्तदपूर्वाण पतद्वारा यथो-  
त्तरं महतीं महत्तरा निज्जरा एवमर्थेऽपि प्रावर्त्तनीयम् । तथा  
जिनानामप्येवविधाजिनप्रवृत्तीनां यथोक्तं बलिका निज्जरा ।  
इयमत्र प्रावना । एक आश्रयकसूत्रधरस्य वैयवृत्त्यै करोति  
अपते द्वात्रिंशत्कुरुत्र यद्वैयवृत्त्यकरस्तस्य आश्रयककरा-  
महती । निज्जरा एवमर्थेऽपि प्रावर्त्तनीयम् । अत्र  
शुपरितरभुत्रयैवावृत्त्यकरा यथोत्तरं महानिज्जरास्तावद्वसयो  
यावत्त्रयोद्दशपूर्वपर्ययैवावृत्त्यकराश्चतुर्दशपूर्वपर्ययैवावृत्त्यकरा-  
महानिज्जराः । एवमर्थेऽपि भावनीयं तदुभयजिनानां ग्लान-  
वैयवृत्त्यकरादर्थेयैवावृत्त्यकरा महतिको नवरं निशयजिनानां यथो-  
व्यवहागर्थेयवराणां वैयवृत्त्यकरा महानिज्जराः । तथा अनुज्ञा-  
निधैवावृत्त्यकराः । तथा प्रायः परिणामस्तस्मिन् शुके अशुके च  
तदनुत्तरणे निज्जरा प्रवर्त्तते । तथा सूत्रार्थं युगपचित्यमानं यथो-  
त्तरं बलिका । तथा मरुद्वीपसाध्यावृत्त्यै विचारणीयाः । इहा-  
चार्यः प्रस्तुतस्तमाधिकृत्य वैयवृत्त्यकरणे महती निज्जरा तामाह ।

पावयणी खलु जम्हा, आयायितो तेण तस्स कुणयाणो महतीए निज्जराए, वदति साहू दसविहम्मि ॥

पावयणी पावचलिकः खलु यस्मादाचार्येनेन तस्य वैद्यावृत्यं कु-  
षेह साधुमहत्यां निजैराया वसते पथं दशविधेऽपि वैद्यावृत्यं  
महाः निजैराकथं भावनीयम् ॥ संप्रति यद्युक्तं जावे शुद्धं अशुक्तं  
च तदनुसारतो निजैरा जवतीति तत्र भाष्ये व्यवहारतः गृह-  
वस्तुप्रनायाद्भवतीति प्रतिपिपादयिपुराह ।

आरिसंमं जं वत्तु, सुयं च तिहएहं च ओहिमादीणं ।

तारिसतो च्चिय भावो, उप्पज्जति वत्ततो जम्हा ॥

याहं यद्भवस्तु प्रतिमादिकं यस्य यावच्च भूतं त्रयाणां चावृ-  
द्धादीनां स्वस्थाने ये विशेषास्तस्माद्भवन्तुः भुनाद्धिषोपात्तादशा-  
न जावः परिणामो व्यवहारस्तादृशा उपपद्यते तदनुसारणं च  
निजैरा ततः पूर्वं भुनक्तिन्त्यायार्थेचिन्त्यायां तथा जिनानां च य-  
थोत्तरं वलिका निजैराका । तथा चैवमेव व्यवहारनयं प्रति-  
पिपादयिपुराह ।

गुणजुद्धे दव्व-म्मि जेण मत्ताहियत्ताणं जावे ।

इति कृत्यतो इच्छति, ववहारा निज्जरं विवत्ते ॥

यत् यतो गुणजुष्टिष्ठं ह्ययं ततस्तस्मिन् येन कारणेन माना-  
धिक्यं परिणाम इति अस्मात्कारणात् वस्तुतः प्रतिमाश्रुतादे-  
र्यथोत्तरं गुणद्वयिष्ठत्वं विपुलां निजैरामिच्छति व्यवहारो व्यव-  
हारनयः । परदेव स्थपत्तरं जावयती ॥

इत्यखणुत्ता पत्तिमा, पासादीया समत्तंकारा ।

पट्टहायति जह व मणं, तव निज्जरं मो वियाणाद्धि ॥

या प्रतिमा लक्षणयुक्ता प्रमादी मन्ःप्रसादकारणं समस्तालं-  
कारा तां परहयतो यथैव मनः प्रहादते तथा निजैरां विजार्नाद्धि  
यथाचित्तं मनःप्रहृष्टित्ततो महती निजैरा मन्दमनःप्रहृष्टी तु  
मन्देति भावः ॥

सुयवं अतिमयत्तुतो, सुहोचितो तह वि तवगुणजुत्तो ।

जां सो मणप्पसातो, जायइ मो निज्जरं क्कानि ॥

भुवनानेषु अत्राप्येतेकं प्रेदास्तथा अतिशययुक्तं उवध्याचनि-  
श्रायपितोऽत्राप्यवध्यादिविषये बहवस्तरनमविशेषाः सुखोचि-  
तोऽपि तपसि स बाह्याऽन्येते गुणे ज्ञानादी । उच्युक्तनपोगु-  
णाद्यन इत्येवं योऽती यादृशो मनःप्रमादो मनःप्रसात्परिणामो  
जायते स तादृशी निजैरां करोति । तस्माद्भवन्तुं निजैरं  
व्यवहारनयः । तदेवमुक्तं, व्यवहारनयमनम ॥

अधुना निरक्षयनयमतमाह ।

निच्छयतो पुण अप्पे, जसम वत्तुम्मि जायते भावो ।

तत्तो सो निज्जराओ, जिणगोयमं सीहआदरराओ ॥

निरक्षयतः पुनरुत्प्रेष्येपि महारुणाः शुभान्तरादीनिगुणेऽपि व-  
स्तुनि यस्य जायते तीक्ष्णः शुभो जावस्तस्मात्सहगुणनरवियय-  
भावयुक्ताव स हीनगुणविययनेऽप्युत्तमभावो निजैरका महादि-  
ज्जरनरः सद्भावयुक्ताव शुभमत्वात् । अत्र जिनगोयम-  
सिद्धिं सदाहरणम् । तक्षेवम " तिबिद्वृत्तणे भयवया बद्धमाण-  
सामिणा सीहो निदतो, अयिनि करेइत्तुग्गेणे निदतो हमि-  
नि परिजवतो मांयेणं सारहित्तणं मणुसांसितो मा अधि-  
नि करेइ तुमं पसुसीहो । नरसीधेण मारियस्स तुज्ज को परि-  
धा एथं सो अणुसांसिज्जंतो मतो । ततो संसारं भमिक्कण भय-

वतो बद्धमाणसामिस्स चरमत्थिगरभावे रागगिदे नयेरे क-  
विहस्स धंभणस्स य वहुमां जातो सो अथया समोसरणे प्रा-  
गतो प्रयवंतं दृढण धमधम्मइ । ततो जयवया गोयमसामो प-  
सितो जहा उवसामेह ततो गतो अणुसांसितो य जहा एस  
महएवा तिरथेकरे पयम्मि जो परमिनिवसति सो इग्गइं जाति ।  
एवं सो उवसामितो तस्स दिक्खा गोयमसामीणा विखा ।

एतदेवाह ।

सीहो ति विह्निदतो, भांयवं रायगिहं कविलवत्तुग ति ।

जिणवरकट्टणमणुवमप, गोयमांयम पे दिक्खा य ॥

मिहत्थिपुच्छेन निहतः संसारं प्रमित्या राजगृहे कपिलस्य ब्रा-  
ह्मणस्य वट्टुंऽऽणुत्तं जिनस्य वीरस्य कथने तथाऽपि तस्यावृ-  
त्तामां गौतमेन चातुशास्त्रेण ह्येऽहं उवशमो दीक्षा च । अत्र  
भयवद्देक्षया हीनगुणऽपि गौतमे तस्य मुक्त्परिणामो जायते  
इति महती निजैराऽभवदिति ।

संप्रति 'सुत्तच्छे' इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

सुते अत्ये तदुजए, पुब्बिं जणिया जहोत्तरं वत्तिया ।

मंमत्तिए पुण भयणा, जइ जाणइ तत्थ ज्ञयत्थं ॥

सुते अर्थं तदुजयस्मिन् स्वस्थाननिजैरा पूर्वं यथोत्तरं यत्त्रिका  
वत्तवती जगिति । संप्रति पुनः सुत्रार्थतदुजयेषु युगपच्छिन्त्य-  
मानेषु यथोत्तरं निजैरा वलवती । संप्रति 'मंमत्ती' चर्चिते' व्या-  
ख्यानार्थमाह (मंमत्तिए पुण इत्यादि) मणुद्वयं पुनर्भजना वि-  
कल्पना यदि जानाति तत्र मणुद्वयं चतुर्थी सद्भूतमर्थं तदा  
स महानिजैरकः । इयमत्र भावना मणुद्वयं पठन्ति पाठय-  
न्ति च तत्रावश्यकादि पठनां यथोत्तरं पठन्तो वत्त्रिकाः । अथ  
जानाति वैद्यावृत्यको यथाऽप्यस्तनभूतपाठको ज्ञानादिभिरि-  
णैरधिकतरस्ततोऽप्यस्तनभूतपाठकस्य वैद्यावृत्यको महती  
निजैरा वदनां मर्थे य उपरितनभूतवाचकः स ज्ञानादिभिरि-  
धिक-  
तर इति तद्वैद्यावृत्यको महती निजैरा । अथ जानाति वैद्या-  
वृत्यको यथाऽप्यस्तनभूतवाचको ज्ञानादिभिरि-  
धिकतरस्ततोऽ-  
प्यस्तनभूतवाचकस्य वैद्यावृत्यको वत्तवती निजैरा । वाचकप्र-  
तीक्षितकानां मर्थे यो वाचकस्तद्वैद्यावृत्यको महती निजैरा  
अथ वैद्यावृत्यको जानत्येव प्रतीक्षितक आचार्या वाचयते  
तत्रानुगुणानमात्र यावतां मर्थेमस्मिन्स्थासति सुव्रतोऽर्थतः  
अधिकतर इति तदा तस्य प्रतीक्षितकस्य वैद्यावृत्यको महती  
निजैरा । इह सुव्रतेऽपि तदुत्तरे च यथोत्तरं वत्तवती निजैरैर्युक्तम्  
तत्र यथोत्तरं निजैराया वलवत्यं जावयति ।

अर्था उ परद्विचो, करणेणं पररम देवित्ती ।

अच्छुद्धाणे गुरुमा, रत्तो थारो य देवी य ॥

इष्टान्तः सुत्राव केवशाव अर्थांश स सुत्रार्थो महाद्विकः किं  
कारणमिति चेत् उच्यते । अत्र कृतकरणेन सुहृदस्य निष्पत्तिः  
इत्येव सुत्रार्थः स सुत्रो महाद्विकः स्वमणुद्वयमाचार्याद्यैः  
प्राशुर्षिकप्रभृतीनामप्युत्थाने कुर्वति अर्थमाहृद्वयं पुनरर्थस्य  
समापि अत्रयुगं भुतवान् तमेकं मुक्त्वा अर्थस्य हीनागुरो-  
रप्युत्थाने चत्वारो मुक्त्वाः प्रायश्चित्तं ततः सुत्रार्थो बर्शायाद्  
अर्थाः राहः ज्ञानवाहनस्य याने निर्गमने देवा इष्टान्तः । एष  
गाथाऽर्थाः ॥

सांप्रतमेनामय विवरीयुः कृतकरणेन सुहृदस्य

निष्पत्तिरिति इष्टान्तं भावयति ।

आराहितो नरवती, तिदि उ पुरिसोहं नसि संदिसति ।  
 अग्रुषपुरे सयसहस्र, परं व एणसि दायव्वं ॥  
 पट्टग पेत्तूण गतो, उंभियं वितिया उ नःओ उभयं ।  
 निष्कन्नगा दोगि तर्हि, सुहापट्टे उ सफसो उ ॥

एकं नरपतिभिः पुण्यैराराधितस्ततः परितुष्टः स्व नरपति-  
 क्ताने प्रवेष्टुं संदिशति । यथा अमुकदुः सुन्दरं मुं कानं सव-  
 कं च दीनारारणामियेषां प्रत्येकं दातव्यमिति तत्रेकोऽमुं संदेहं  
 पट्टके गृहीत्वा लेखयित्वा गतो द्वितीयः ( उषिककां ) मुद्रां  
 गृहीत्वा गलस्त्वनीय उभयं पट्टके लेखयित्वा गतस्तत्र येन  
 पट्टके नद्यातिरेकेण मुद्राप्रतिबिम्बमात्रं गृहीतं तौ ज्ञापयि निष्कस्ये  
 जातौ । तथादि ने त्रयोऽपि तत्रगरं गतास्तत्र य आयुक्तस्तस्य  
 समीपमुपागतः । पट्टकं मुद्रामुनयं च दृष्टीयन्ति तत्रायुक्तं प्र-  
 थमो जणितो मुक्तं न पश्यामि कथं द्यामि द्वितीयो जणितो  
 जानामि राक्षो मुक्तं न पुनजानामि राक्षः संदेहं किं द्याय-  
 मिति । एवं तौ निष्कस्ये जातौ यस्य त्तोयस्य मुद्रा पट्टकञ्च  
 स सप्तलक्षस्त्यायुक्तं यथाहस्तयाकृतं पथ दद्यात्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं पट्टगसरिसं, सुचं अत्तो य उंभियद्वापे ।  
 उस्सग्गवावात्थो, उभयसरिच्छेपे तेण वत्तो ॥

पयममुना प्रकारेण पट्टकसदृशं पट्टकस्थानीयं तुल्यं उषिकका  
 मुद्रा तस्थानीयोऽयं उस्सग्गवावात्थ उभयसदृशस्तेन उंभिये  
 तस्थानयस्य ज्ञावात् ।

संप्रति 'अनुष्ठानेण गुरुगा' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

मुत्तस्स मंकीए, नियमा उट्ठति आर्यरियमादी ।  
 मुत्तए पवापंतं, न उ अत्ते दिक्खाए गुरुं पि ॥  
 नु अमरुत्तयां वाचयन् आचार्यादय आचार्याण्यप्याप्रभृतय-  
 प्र-पुणकादीनामागच्छन्तं सर्वेषामपि नियमावुत्तमिति अज्युष्या  
 नं कुर्वन्ति अथममरुत्तयां पुनरुपविष्टः सन् यस्य समीपेऽनुयो-  
 गं श्रुत्वनन्तरं प्रयाजयन्ते मुक्त्वा अन्यं दक्षिणगुह्यमपि नान्यु-  
 त्तमिति यद्यज्यान्तमिति तदा तस्य प्रायश्चित्तं आचार्ये गुरुकाः ।  
 आचार्याऽपि यथाचार्यं अनज्युत्तमिष्यन्त्यसिद्धन्ति तदा तेषाम-  
 पि प्रायश्चित्तं अनुगुरुकं यदि पुनर्यस्य समीपेऽनुयोगं श्रुत्वात्  
 तस्य नान्युत्तमिति तर्हि तदाऽपि तस्य चतुगुरुकम् । न ह-  
 र्णानो राक्षो देवा तं ज्ञाययति ।

पतिर्लालं करमाणी, नोह्णया सातवाहरणं ॥

पुडवी नाम सा देवी, सो य रुद्धो साहं निरो ॥  
 राक्षः शा (भि) तवाहनस्य पृथिवी नाम अथमादिषो अग्रहा सा  
 क्रापि निरोते राक्षि शेषाभिरन्तःपुरिकाऽनिर्देवीभिः संपरिच्यता  
 शातवाहनवेषमाधाय राक्ष आस्थानिकायामुपपतिर्लालं विरम्ब-  
 मानाऽवनिष्ठते । राजा प्रथमागतः प्रथिष्टस्तस्मिन्प्रदेशे सा च पति-  
 लीलां कुर्वती पृथिवी नाम देवी शातवाहनं राजानमायात्तमपि  
 दृष्ट्वा तं नित्यं नस्था अनुष्ठाने शेषा अभिदेवीनाः-पृथिवीत्व-  
 न्यस्ततः स चुरो राजा तत्र रुधो मृते त्वं तावन्महादेवी ततो म-  
 हादेवीत्वेन नान्युत्थिता एताः किं त्वया वारिता यथाऽनुष्ठानम-  
 कार्षुस्त्वानो न सुन्दरमेतदिति ।

ततो एं आह सा देवी, अत्याणीए तवाएहा ।  
 दासा वि साभियं एतं, नोह्णति आवि पत्थियं ॥

ततो राजोत्पन्नन्तरं सा पृथिवी नाम देवी राजानमाह ।  
 तवास्थानिकायामुपविष्टा दासा अपि नाथाः संपूर्णगुणाः पा-  
 थिवमपि स्वामिनमागच्छन्तं नान्युत्तिष्ठन्ति तवास्थानिकायाः  
 प्रजः व एषैवः । तथादि ।

तुंवावि गुरुणो मोरुं, न वि उट्टेमि कस्सइ ।  
 न ते लीला कया हंतो, उट्टती इ म नोसितो ॥

त्वमप्यस्यामास्थानिकायामुपविष्टो गुरुज मुक्त्वा नान्यस्य क-  
 स्यापि महीयसोऽनुत्तमि अहमपि तवास्थानिकायां स्वर्धीयां  
 लीलां धरतीं समुपविष्टा ततो न स्वपरिचाराऽप्यपि यथा यदि  
 पुनस्ते तव हन्ता न हन्ता स्यात्ततोऽहमज्यु त्तप्रेयसियेषे च राज-  
 देव्या तापितः । एवमपि तीर्थकस्थानीय आचार्योऽथममरु-  
 द्यामुपविष्टः सन् न कस्याप्यनुत्तमि ॥

अमुमवार्थं गौतमदृष्टान्तेन उच्यते ।

कहं ते गायमा अत्थ, मोसुं तित्थगरं सयं ।  
 न वि उट्टं अन्नस्स, तुगयं चैव गम्मति ॥

न क्लृ भगवत्तु गौतमोऽपि कथयत् स्वकाम्योर्ध्वं तीर्थकरं  
 मुक्त्वा अन्यस्य कस्यापि उत्तिष्ठति अग्र्यग्यानं कृतयान् नरते  
 चरानां सर्वैरपि गम्यते तदनुष्ठितं सर्वेभिरानामनुष्ठितं ततोऽ  
 यं कथयन् न कस्याप्युत्तिष्ठन् ।

संप्रति श्रवणविधिमाह ।

सोयन्वे उ विही पुण, अन्नक्खेवादि होइ नायक्को ।

विक्खेवाम्मि य दासा, आणादीया मुण्येयन्वा ॥  
 आनन्त्ये पुन्यं विधिद्वयं क्रांतिप्रदानेयति ज्ञातव्य आदिशब्दा-  
 चिक्रधादिपरिग्रहस्तद्व्याजेषु पुनराज्ञायः । आहानास्थानिका-  
 स्थान्यावरात्राकारपठना ज्ञातव्यः । अत्र एवाज्युत्थानमपि न  
 क्रियते तस्मिन्सति व्याजेषु प्रादिसभापक्षथा वैतदर्थमेव आणा-  
 धाह्येनाह ।

काउस्सग्गे विक्खे-वया य चिकहा वि सोतिया पयते ।  
 उवणय वाउल्लया य वि, अक्खेवो चैव आहरणं ॥

आरोवणा परवण, उगइ निज्जरा य वाउल्लया ।

एणाहं कारयोहिं, अज्जुट्टायं तु पभित्तुंइं ॥

अनुयोगारम्भनिमित्तं कायोत्तमं कृते पदैः कारणैरज्युत्थानं  
 प्रति कुष्ट निरुद्धतम् । कैः कारणैस्त आह । "विषकेवया च  
 इति" व्याजेषु स्व व्याजेषु शब्दस्य ज्ञावः प्रवृत्तितस्य चिन्तये  
 व्या-  
 जेषु इत्यर्थः । अज्युत्थाने किपमाणे व्याजेषो भवति व्याजेषाच्च  
 विकथा चतुर्विधा प्रथमं तत्रचतुर्षु वैदिकधर्मसमा विभोत-  
 लिका संयमस्थानप्रवृत्तमिति भावः । तस्माज्ज्युत्थानमकुर्वन्  
 प्रयत्नः शुपुष्यात् प्रयो नाम कृताज्जलिप्रदो दृष्टया खुरिमुखा-  
 विन्दुमेवेकमाणं बुज्युपयुक्तथाऽज्युत्थाने प्रियमाणं उपन-  
 यस्य विषयं व्याकुलना उपनयः कस्याप्यर्थं न क्रियते । उप-  
 नयप्रदणमुपकृणन् तेन यद्गृहणं जातं तत् व्याकुलनात् भ्रश्यति  
 पुच्छा वा कटुमारुता विस्मृतिमुपायति काक्षा वा व्याख्यानस्य  
 ऋत्थवर्ति । तथा निरन्तरमविच्छेदेन ज्ञापमाणेऽस्य गृहयतो  
 महान्याजेषुस्तीप्रवृत्तपरिणामरूपे जायते अज्युत्थाने च तद्ब्र-  
 घातस्तथा च सति ह्युपरिणामभावतो योऽवस्थादिशब्दाः स-  
 न्नाव्यन्ते तस्य विनाशोऽप्यायं चाहरणं शतं दत्तम् । तथा  
 आरोपणायाः प्रायश्चित्तप्रकरणं क्रियमाणं अज्युत्थाने व्याजा-  
 तो भवति, व्याजाताच्च सम्पगवप्रदो प्रहणं न भवति न क्लृ

व्याक्रियोऽवग्रहीतुं शक्नोति किं त्वव्याक्रिय इति प्रतीतमेतत् । तथाऽप्युत्थाने क्रियमाणे व्याकुलना ततः सम्पृक्त भूतोपयोगो न भवति तद्वजावाच्यं ज्ञानावस्थीत्यस्य कर्मणो न निजैरा । एतैः कारणैरभ्युत्थानं प्रतिबुध्यते ।

साप्रतमेतदेव शाधद्वयं विचरीषुः प्रथमतः “ कावस्तमेव विकल्पेव वा य ” इति प्राचयति ॥

उत्थारियार्ये नंदीए, विकल्पेव गुरुनो च्छे ।

अपसस्य पसस्यं य, दिद्धंतो इरियज्ञावका ॥

अनुयोगारम्भायै कार्यात्मनो कृते नर्थां इ नपञ्चकरुपाया-मुच्चारितायामभ्युत्थानान्वयेन वा प्रकारेण यो व्याकृतेपं करोति तस्य प्रायश्चित्तं गुरुको सास्तस्माद् व्याक्षेपान् कर्त्तव्यः । अत्राप्रवास्तं व्याकृतेपकरणे प्रशस्ते च व्याकृतेपकरणे दृष्टान्ता हस्तिसाधकाः इस्ती च शाश्वतोनां हावकाश्च । तथाप्रवास्तं प्रातःपाचयति ॥

जद्दं सालिं लुणांतैतो, कोइ अत्यारिपहि उ ।

सेयं हस्तिं तु दावेइ, धाविया ते य भगओ ॥

न लूना अह सालिं अत्रा, वरखेवेखेव तए उ ।

वरखेवावरयासं तु, पोरिमीर व जजड ॥

यथा कौऽपि कुटुम्बी निजे संघं “अत्यारिपदि तु” ये मूल्य-प्रदानेन शाश्वतवनाय कर्मकराः कृत्रे सिन्धुतं ते आस्तारिकाम्भैलावयककथमपि ससाङ्गकप्रतिष्ठितं श्वेतमारणयहस्तनमागतं व्याकु द्वायेति तद्विहितं च ते इस्तिनोः मर्गनः प्रुष्टो धावियाः । अग्रान्तरदिप इस्तिनो रूपेण सिद्धैरिस्तिरूपं वर्षायद्भूतनेन व्याकृतेपेणा ते शाश्वतो न लूना पर्यामहापि अभ्युत्थानेन व्याक्षेपरतानां पीठवीभक्तो जन्वति । व्याख्यानं पुनर्न किमपि याति तस्मात् व्याक्षेपे न विधेयं । प्रशस्तेव्याक्षेपाकरणे दृष्टान्तः स्वयं ज्ञानवन्तः । स चैवं एकः कौटुम्बिकः शाश्वतैश्च ज्ञातयति तस्य सत्कथा दास्या शाश्वि लूनन्या ससाङ्गकप्रतिष्ठितः श्वेतो वनहस्ती वरन् दृष्टो दास्या ज्ञातं यद्दि शाश्विशावकानां कथाविव्यामि ततो इस्तिनं दृष्ट्वा इस्तिनो रूपेणाक्षिमा इस्तिनो रूपं वर्षायन्त आसिन्ध्यन्ते एव च इस्ती दिनेऽस्मिन्नथकारो इत्यन्ते ततः शाश्विनं विधायने वदा तु शाश्विः परिपृक्तो लूनोऽनवत तदा सा दास्ती हामिनः शाश्विशावकानां चावकधत् तस्तेस्तेरुक्तं किं तदा न वशतं तदा दास्ती प्राइ शाश्विषिवितव्यव्याधानो जविष्यतीति हेतोस्तत् पश्मुके कौटुम्बिकः परिपृष्टनेन च परिपृष्टेन मस्त-कमहालनतोऽदास्ती कृताः । पर्यामहापि व्याक्षेपान् न करणीय-हृत्था च सति जगपदाक्षापरिपावनतः कर्मकरणेण शिशुभार-सकथरथो प्रवति ।

संप्रति विकथादिपव्याख्यानायार्थमाह ।

विकथा चउज्वहा बुत्ता, इंदियुहि विमोनिया ।

अंत्रंअंपगमहो चव, दिद्धं तुपुक्तवुत्तव ।

विकथा स्त्रीकथादिनेश्चत्तुर्विधोऽपि विभोनासिका इन्दि-रूपरङ्गमेतत् मनसा वाचा प्रयत्ना अत्रलिप्रमहो गुरोर्मुंख इतिरूपपुपुन्ता च ।

उपनयव्याकुलनेति इत्यन्तवाचयति ।

नस्तते वाउशाना मां, अग्रहा वींनएण्जइ ।

नार्थं वा करणे वा वि, पुच्छाअग्रहा जस्मइ ॥

अभ्युत्थानेनाय्नेन वा व्याकुलनायां स इक्षित उपनयो न-

श्यति विस्मृतिं याति यदि वा व्याकुलनया अभ्युद्योपनीत्येते ज्ञानं वा व्याकरणं वा पुच्छा वा कर्तुमर्था अत्रा वा पीरपी-लज्ञाणा अग्रयति आक्षेपव्यावधानार्थमाह ।

भासतो भावतो वावि, तिव्वं से जायमाणसां ।

लान्तो आहिंजंजादीं, जहा मुद्विंवगो मुणी ॥

निरन्तरमविच्छेदेन भाषकः श्रावको एः एत्तरविशिष्टस्वरागद-नस्तीव्रसंज्ञातमानसो ज्ञानपरमाक्षेपो यद्यभ्युत्थाने व्या-क्षेपो नाभविष्यत् ततोऽवधिलाभाद्विकमलस्येन यथा मुद्धि-म्बको मुनिस्तथा मुद्धिम्बक आचार्यः परमकाहीभूते शुभ-ध्याने प्रवृत्तोऽवध्यादिलब्धिमलस्येत यदि तस्य पुष्पमित्रेण ध्यानविघ्नो नाकरिष्यत् परं सर्वसाधुसाध्वीप्रभृत्याकुलमभ-वदिति तेन ध्यानव्याधातः कृतः ।

अनुना “ अरोवणा परक्वणेति ” व्याख्यानार्थमाह ।

आरोत्रणमकल्पेवं, दाउं कामो तर्हि तु आयरितो ।

बाउलणाए पिट्ट, उत्थेजुजणे न ओगेयइ ।

आरोपणां प्रायश्चित्तं तत्रार्थमपरकल्याणार्थो वातुकामः प्रक-गयतुकाम इति तात्पर्यार्थः । यद्यभ्युत्थानं करोति ततो व्याकुल-नया शिफटाने व्याकुलनेन प्रायश्चित्तप्रकृपणा न तिरुत्तीति भाव-स्तथा अत्रप्रदंतुमना अभ्युत्थानेन व्याकुलनानो नावगृह्णाति । एकमो अंगिणइइ, (किविलंपंत्तम विस्मृतिं जाइ ।

इंदुरे इंदत्तो, अच्युणातेणो य दिट्ठेनो ॥

एकप्रायः सन् अवगृह्णाति अभ्युत्थानेन पुनर्वाप्यित्युपगमस्वा-वगृहीनमपि विस्मृतिं याति कुनोऽनवगृहीताधीनप्रदणधाक्षे-पाश्च विस्मृतिगमने इन्त्युपपत्तेन इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुता-इ-ष्टान्तस्था च तेषां कला अच्युत्थानं प्रमादाविकथाविव्याक्षेपाश्च किमप्यवगृहीतमभूत् यद्यपि किञ्चिदवगृह्णानं तदपि विस्मृति-मुपगतमत एव ते राधावेधो न कर्त्तं शक्तिः । तथा अत्रु-स्तनञ्च इष्टान्तस्थाहो सोऽष्टेनकस्तेनोऽप्राइदत्तेन सह युष्म-मानो न कथमप्यइदत्तेन पराजंतुं शक्यते ततो निजजायांऽ-तीव रूपवती सतीलकार्यावभूयिना रथस्य तुगडे निवेष्टिता ततः स्त्रीरुपदर्शनव्याक्षेपात् युद्धकरणे विस्मृतिमुपगतमिति सोऽप्राइदत्तेन विनाशितः । पर्यामहापि व्याक्षेपात् भूतोपयोगः प्राणविनाशमाप्नोति ।

एए चव य दोमा, अच्युटाणे वि इति नायन्वा ।

नरं अच्युटाणं, इमंदि विधिं कारणेणं तु ॥

यस्मात् अयमेव कर्त्तव्ये व्याक्षेपादिषु क्रियमाणेष्वेतेऽनन्तरोका दौषान्तस्माद्व्याक्षेपादिपरिहरितैः धोतव्यः । एते एव च व्याक्षे-पादयो रोषा अभ्युत्थानेऽपि क्रियमाणे भवन्ति तस्मादभ्यु-त्थानमपि न कर्त्तव्यं तत्रमभ्युत्थानमभिविधयमावैक्रियिभिः कार-णेः कर्त्तव्यं ताम्येवाह ।

पगयमपते काले, अरुक्कपुगुइसे अंगमुयसंछे ।

एएहिं कारणेहि, अरुक्कहाणे तु अणुयाणो ॥

प्रह्नेन सदाते तथा काले समाप्ते अभ्ययनोदेशाङ्गुलनस्कन्धेषु वा समाप्तेषु यदि प्राच्युषंकाद्यागमनं भवति तदैतैः कारैरभ्यु-त्थानमनुयोगो भवति तत्र कालोऽभ्ययनादिकं च प्रतीते न प्रकृतमिति । कल्पे व्ययहारे च प्रह्नेनमतिपादानार्थमाह ।

कपमि दांशि पगया, पलंभवुत्तं च मासकृपे य ।

दो चैव य ववहारे, पदमे दक्षमे य जे जणिया ॥

कल्पे कल्पाप्ययने द्वे प्रकृते तद्यथा प्रलम्बवृधं मासकल्पसुधं च ववहारे द्वे प्रकृते ये जणिते प्रथमे आरोग्यसासुधं दशमे पञ्चविष्ववहारसुधम् । न कल्पमेतदेव प्रकृतं कित्यम्यदपि तथा चाह ।

पाँदियातो य सन्वातो, चूलियातो तहैव य ।

निपत्तनी कल्पनामस, ववहारसम तहैव य ॥

सर्वाः प्रकल्पकल्पादिगताः पीठिकास्तथा सर्वाश्चलिकास्तथा कल्पनाम्नो व्यवहारस्य च तथा वैधेति चर्वाभाम्येषां च दश-  
वैकालिकप्रभृतीनां च निरुक्तयः प्रकृताः ।

अधैवादेशान्तरमाह ।

आप्तो वि य आप्तो, जो रायणितो य तस्य सोयञ्चे ।

अणुओगधम्मपया, किंकरम्मं तस्स कायञ्चं ॥

अन्वोऽपि चादेशो प्रान्तरं तत्र भोत्वयं यो रत्तिको रत्ता-  
धिकोऽनुजायक इत्यर्थः तस्य नचामुम्भारितायामनुयोगधम्मं-  
तथा कृतिकम्मं घन्दं कतेव्यम् । तथा ।

केवलिपादो चोदस, दसनवपुक्की य उड्डण्णज्जो उ ।

जे तीहि उणत्तरगा, समाणे अणुक्कं न उड्डंति ॥

अथेमपि कथयता समागच्छन् केवलं अभ्युत्थातव्यः । आ-  
दिशब्दात् मनःपर्यवहानी अवांघ्रहानी च परिशुष्टे तथा ते-  
नेप्यां नवपुर्वधगादिभ्य ऊननरास्तेनवपुर्वधगादिभ्युत्थानी-  
कहनथादि कथकां यदि कालिकुशुधारी तर्हि तेनाथमपि क-  
थयता नवपुर्वी दशपुर्वी चतुर्दशपुर्वी वाऽभ्युत्थातव्यो नवपुर्विया  
दशपुर्वी दशपुर्विणा चतुर्दशपुर्वीति । तथा यदि समागच्छन्  
समानः समानश्रुतोऽनुक्थ तदा नेतेरभ्युत्थिष्ठति । तद्वं प्र-  
वचने निजैरा चैति ह्यवद्यं गनम् ।

इदानीं सापेक्षज्ञानमाह ।

सावेकवे निरेवेक्ये, गच्छे दिट्ठंतागमगणेण ।

राउल्लकज्जनिउत्तं, जह गामेणं कथं समदं ॥

अस्सामिबुच्छियाए, पारिपं सदिहयं व न वि य रक्खंति ।

रक्षाणचे दंको, मयं न दांसंति कज्जेसु ॥

आचार्यस्य शिष्येः प्रातीच्छिकश्च सर्वे कस्त्वयं ते च तथा कु-  
र्वन्तः सापेक्षा इत्यन्ते ये तु न कुर्वन्ति ते निरवकास्तत्र सापे-  
क्षे निरपेक्षे च गच्छे दृष्टान्तो प्रामशकटेन तद्यथा एकस्मिन्  
ग्रामे आमयिकैः पुरियैः राजकुलकार्यानि युक्तं शकटमेकं कृतं ततो  
वचनेन राजकुलेनाज्ञाप्यते धान्यं घृतघटादि वा नेतव्यमानेतत्थं  
वाऽस्मिन् शकटे आरोग्य आनयति नयति वा । तथा मास्य क-  
धिस्वामीत्यस्वामिबुद्ध्याऽऽत्मनोऽपि कार्याणि तेन कुर्वन्ति अ-  
स्वामिबुद्धये परिते शार्दटं वा तस्य शकटस्य नापि रक्षन्ति  
तताः काशेन गच्छता जग्राम । अन्यथा राजकुलेन ते आज्ञप्ता धा-  
म्यमायय तैः शकटानावाग्मानीते तत आहामङ्कोऽकारोति तेषां  
द्वयः कृतः कार्येषु वा समापतितेषु स्वयं ते न हृद्यन्ते । एव  
दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः ।

एवं न करेति सीसा, काहिंति पक्खिच्छयत्ति काण्ण ।

ते वि य सीसत्ति ततो, हिंरुणपेहादिधुं मिंगो ॥

ववं प्रामियकदृष्टान्तप्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाः करित्यन्ती-

ति मत्वा न कुर्वन्तीति तेषां च प्रातीच्छिकाः शिष्याः करित्य-  
न्तीति बुद्ध्या न कुर्वन्ते ततः सीदन्नाचार्यैः स्वयं निजामर्दाने  
स्वयं व्योपकरणपेक्षादिकं विषयं इति दिष्टन्ते प्रेक्षादीं च निर-  
पेक्षाः शिष्याः प्रातीच्छिकाश्च शकटानियुक्तभ्यश्च ह्य दशदनी-  
याः प्रवन्ति विनाशं चोपयान्ति ।

अथ सापेक्षे दृष्टान्तमाह ।

सारावियं जेहिं समदं रक्षा ते उकरा य कया ।

इय जे करेति गुरुणो, निज्जाराभो य किच्चं य ॥

अपरस्मिन् ग्रामे द्वितीयके ग्रामे प्रामेयकैः राजकुलकार्यानि युक्तं  
शकटं कृतं तेन राजकीयं धान्यघृतघटाद्यनयन्ति नयन्ति च तत्र  
शकटं तैः सम्यक् सारापितं ततो न कदाचिदाज्ञातः कृत इति  
परिच्छेदं राज्ञो ते उकराः कवचिदीनाः कृताः । एव दृष्टान्तोऽयम-  
र्थोपनय इति एयमुक्तेन प्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाश्चात्मानु-  
प्रहबुद्ध्या ये गुरोः कृत्यं कुर्वन्ति तेषां महान् भुवात् ज्ञानादि-  
ज्ञानः काविविश्वगतं सापेक्षज्ञानम् ।

संमतिं प्रकिययच्छेद्द्वारमाह ।

द्वये जावे जत्ती, द्वये गणियाउ दूति जाराणं ।

जानम्मि सीसवगो, करेति जत्तिं मुयपरसस ।

आचार्यस्य भक्तौ क्रियमाणार्थं तीर्थस्थावच्छेदो जन्तवाकि-  
यमाणार्थं तु तीर्थस्थवच्छेदः सा च प्रकीर्तिषा द्रव्ये भावे च ।  
तत्र यन्नाम गणिका भुजङ्गानां प्रकीं कुर्वन्ति कृतयो वा  
जाराणां सा इत्ये द्रव्यभक्तिभावे प्रावविषया भक्तिः पुनरिति  
यन् शिष्यवयः श्रुतधरस्य भक्तिः करोति । यद्यपि चान्योऽपि  
गुरोर्भक्तिं करोति तथापि ममापि निजंरा स्वादिव्यात्मानुप्रहबु-  
द्ध्याऽप्येनापि जतैः कर्तव्येति बोधार्थे गौतमप्रदृष्टान्तेन प्रावयति ।  
जइवि य होइसमाणो, गेहइ सीवांतराइणो उठं ।  
तह वि य गोयमसामी, पारणए गेहए गुरुणो ॥

यद्यपि च बोधसमानो बोधार्थः कृपात्तरायस्य जगत्तो वर्धमा-  
नस्वामिनः स्वैद्योऽत्रमेपणीयजन्तादिकं शुद्धाति । तस्य भग-  
वद्वैद्यावृत्त्यकरत्वात् उक्तं च । " धर्मो सौ लोह्नुज्जो क्कतिक्कमो  
पवरतोहसरिवचो सुस्स जिणो पत्ता तो इच्छे वारणिहिं खुभुं  
जे " तथापि गौतमः स्वामी स्वपारणकं गुरोर्वैर्कमानस्वामिनो  
योम्यं शुद्धानि एवमन्येनापि वैद्यावृत्त्यकरभावे यद्योम्यं गुरोः  
कर्तव्यम् । तदेवं भक्तियोग्यानामप्युना तस्यां क्रियमाणार्थां यथा  
तीर्थस्थावच्छेदो भवति तथाह ।

गुरुअणुक्पाए पुण, गच्छो अणुक्पितो महाजागो ।

गच्छाणुक्पाएए, अण्वोच्छिच्छिं कया तित्थे ॥

गुरोरनुकल्पया अनुभूद्रेण गच्छो महत्स्यव्यक्तिकिरनुकल्पितो  
पृथीतो भवति गच्छानुकल्पया चाव्यवच्छिस्तस्तीर्थस्थः कृता ।

कह तेण नु होइ कयं, वेयावचवं दसविहं जेण ।

तस्स पत्ता अणुक्पितो उ वेरो थिरसहावो ॥

कथं तेन दशविधं वैद्यावृत्त्यं कृतं तेन स्वविर आचार्यैः स्वविर-  
स्वनाषोऽनुसुक्तस्य दशविधस्य वैद्यावृत्त्यस्य प्रयोक्तव्योऽयुक्-  
ल्पितोऽनुसुक्तीऽस्तत्कारणं कृतं तेन दशविधमपि वैद्यावृत्त्यं  
तत्प्रकृपणायास्तदधीनत्वादिति भावः । तदेवमव्यवच्छेदोऽपि  
प्रावितः अभुना ' भित्तिसेसा पंच आयरिय' इति व्याख्यायति ॥

अथे वि अतिथि जयिया, अतिसेमा पंच होति आयरिप ।  
षो अइसस न कीरइ, नयातिचारो असतिसे ॥

अतिशेषाः पञ्च भवन्त्याचार्ये इत्यनेन वचनेनान्येऽप्यतिशयाः  
पञ्चार्थतो प्रणिताः सन्ति यः पञ्चानामन्यतराऽप्यन्यस्यानाचार्य-  
स्य न क्रियते न च शेषेऽनाचार्ये पञ्चानामिदं कतरस्मिन्नप्यक्रियमा-  
णोऽतीचारः । तानिव पञ्चातिशयानाम् ॥

जते पाण्ये धुव्वण, पंचसहा इत्थपायसोए प ।

आयरिप आतिसेसा, अण्णातिसेसा अण्णायरिप ॥

इत्थं प्रकमुकुटं पानं मलिनोपरिधावनं प्रोसनेन हस्तपा-  
दशौचं च । एते पञ्चातिशेषा अतिशया आचार्ये अनाचार्ये त्व-  
नतिशया अनाचार्ये एते न कर्तव्या इति ज्ञायः ।

संप्रति रकादिश्याख्यानाद्यमाह ।

कालसहावाणुम्ये, जत्तं पाणं च अच्चिनं खेत्ते ।

मलिनमलिण्णा य जाया, चोलादी तस्म धोवति ॥

यत् कालानुमतं स्वभावाणुकुलं चैतथ्यैः भक्तमाचार्यस्य आदेय-  
मिति प्रथमोऽतिशयः । तथा यत् यत्र कुत्रे अचित् पानीयं त-  
त्संपाद्यमाचार्यस्येति द्वितीयोऽतिशयस्तथा चोलादीनि मलिनम-  
लिनानि ज्ञातानि तस्याचार्यस्य प्रकृत्यन्तरे किं कारणमिति चे-  
दन आह ।

परवादीण्ण अगग्गे, नेव अइवां करिंति सुमेहा ।

जह् अकहितो वि नज्जइ, एस गणीं गुण्णपरिहोणो ॥

यथा परवादिनामगग्गे जयति यथा च गुर्विशैकज्ञाञ्चोकाशो-  
प्याः अइवानं न कुर्वते यथा चाकथितोऽपि ज्ञानेन एव गणीं  
आचार्यस्तथाऽनुद्यमसौम्यैतत्परिहीनो मलिनमलिनवस्त्रप्रका-  
शनं कर्तव्यं न च एवं विभूषणोपरमसंकर्यत आह ।

जह उवगरणं सुज्जइ, परिहरमाणो अमु च्चनो माह् ।

तह खमु विमुद्धभावो, विमुक्खासाग प रजोगो ॥

यथा सानुकरणं कर्मोपकरणममुच्छेत् सन् परिहरन् परि-  
भोगयन् अज्जने न परिग्रहदोषेण शिष्यते अमुच्छिन्त्वात्तथाऽऽ  
क्षावोऽपि विमुक्खावाससां परिभोगेन विमुक्खावासः सन् अमुक्ख-  
सोति गतस्त्वतीयाऽतिशयः ।

संप्रति प्रशंसनमाह ।

गेषीरो महवितां, अरुनुवगयवच्छो सोवो सोमो ।

विन्धियाकाहुनुपणो, दाथा य कयानुतो सुयव ॥

स्वतादिगुणोवेओ, पहाण्णाणोतवसंनभावसतो ।

एमाइसत्तगुरुगुण, विकल्पणं संसण्णानिस्ये ॥

गेषीरोऽपि श्रावो मार्दवितो मार्दवोपेतस्तथा अन्नुपगतस्य  
शिष्यस्य प्रतीच्छिष्यस्य वत्सलो यथोपनिषत्वास्तस्यकारो तथा  
शिषोऽनुपद्वत्तथा सोमः शान्ताकृतिः तथा विस्तीर्णमुकुलोपशो  
दाता कृतकः भुवन्त तथा कान्यादिगुणोपेतः प्रथमज्ञानतपः  
संयमानामवसथी शुह एवमार्दीनो सनां गुरुणां नाविकथनं  
श्लाघनमेवं चतुर्थैः प्रशंसनतिशयः अथवा प्रशंसनस्य फलनात् ।

सगुणुकित्तण्णए, अइवमादीण्ण चैव पकियातो ।

अवि होज्ज ंसईणं, पुच्छानिगमो द्दिहइवाजो ॥

सद्गुणोक्तौतनायां मदती निज्जरा जयति तथा सद्गुणो-  
क्तव्य अत्रवादिनां प्रतिपातः कृतो भवति । अवि भवद्वं

मदान गुणो गुणवन्तमाचार्ये भुत्वा बहुनां राजेश्वरत्तव्यवत्प्र-  
तीनां पुच्छार्थमतिगमां प्रथति । पुच्छानिगममाचार्यसमीप-  
मगच्छन्त आगतान्च धर्मं भुत्वा अगारधर्ममनगरधर्मं वा  
प्रतिपद्यन्त इति द्विविधतामाह ।

पञ्चमातिशयप्रतिपादनार्थमाह ।

कररणनयणदसणा, ईधावयपंचमो ठ अतिसेसो ।

आयरियस्स उ सययं, कायधो होति निययेण ॥

करवरणनयनदशनादिप्रकालने पञ्चमोऽतिशयः सततमा-  
चार्यस्य नियमेन ज्ञातं कर्तव्यः । अत्र पर आह ।

मुहनयणदंतपाया-दिधोवणो का गुणो चि ते बुक्को ।

अग्गिमतवाविणपहुया, हाइ अगोतेप्पया चैव ॥

मुक्कनयनपदादिधावनं का गुण इति एता ते बुक्तिः स्यात् अ-  
न्यथेते मुखदःतादिप्रकाशनेनान्नेपटुना जाउरान्निप्रत्यक्षं मति-  
पटुना वाकरपटुना च नयनवादादिप्रकाशने “ अणोत्तपया ”  
अशब्दानुशरिगता भवति । एष गुणो मुख्यादिप्रकाशने एते वा-  
दिशयाः पञ्च । उपलक्षणमन्यथापि यथायोगमाचार्यस्य कर्त-  
व्यं तथा चाह ।

अमदस्स जेण जोगाण्ण मंधाणं जह् उ होइ येरस्स ।

ते तं करीति तस्म ठ, जह् संयोगा न हायति ॥

यथा स्थविरव्यशाशस्य सनां येन येन क्रियमाणेन योगानां  
सन्धानं भवति तत्तस्याचार्यस्य साधवः कुर्वन्ति तथा ( सं )  
तस्याचार्यस्य योगं न हायन्ते न हानिसुगणव्यञ्जित् ।

ए ए गुण अतिसेने, उवजीवे न यावि को वि दददेहो ।

निदमिणं एत्थ जवे, अज्जसमुहा य मंगु अ ॥

एतां पुनरतिशयानां कोऽप्याचार्यां दददेहः सन् नोपजीवित्य  
यस्वदददेहः संऽज्ञातो ज्ञत्वा उपजर्ज्वति न तु नैरतिशयैर्नै-  
कगेति इयं वा मनसि मन्यते । अत्र निदर्शनं प्रत्यक्षैःसमुद्रां  
महन्वाचार्यश्च ।

पनदेष निदर्शनद्वयं भावयति ।

अज्जसमुहा पुव्वल्ल, कतिक्कमा तिपि तस्स कीरंति ।

सुत्तयपारिमिसमु-द्वियाण तदेष तु चरमाए ॥

आर्यसमुद्राः सूर्या दुर्बला दुर्बलशरारास्ततस्तेऽतिशयाजु-  
पजीवितवन्तोऽनुपजीवने योगसंपादकरमाशांस्तथा च त-  
स्य प्रतिदिवसं त्रीणि कृतकर्मणि विभ्रामणारूपानि क्रियन्ते  
तथा च सुभ्राथपौरुषीसमुपस्थितानां तृतीयं कृतकर्म चरमा-  
यां पौरुष्यामियमत्र भायना सूत्रपौरुषीसमाप्यनन्तरं यावत्क-  
थया क्रियते तावत्प्रथमा विभ्रामणा द्वितीयाऽप्यपौरुषीसमाप्य-  
नन्तरं तृतीया चरमपौरुषीं पर्यन्ते कालप्रतिक्रमणानन्तरम् ।

सद्गुणसमु य तेषिं, दो वेगदी ठ वीसु धोवति ।

मंसुस्स न किट्ठम्मं, न य र्हीमुं पेप्प किं वि ॥

आडकुत्सेपु जनेसु नेवामार्येसमुद्राणामाचार्याणां योग्यानि  
कुरादीनि द्वितीयाश्चादी माजकार्ही विष्णुक गृह्यन्ते आर्यमङ्गलः  
पुनराचार्यस्य न हानिकर्मं क्रियते मापि तद्योग्यं पौंड्रिककादि  
किञ्चिद विष्णुक मात्र गृह्यते किन्तु यदापि आडकुत्सेप्यपि  
प्रकटुकुष्टं लभ्यते तदापि गृहीत्वा ज्ञानोत्थयतद्व्युदे क्रियन्ते  
विष्णवानामपि न त्रुक्कं वा च दाम्पत्याचार्यां विहरन्तावत्यहा  
सौपारिकं गतीं च ह्यौ आधकावेकः शाकटिकाऽपरां वैकटिकां

वैकटिको नाम सुरासम्भानकारी तौ द्वावपि श्रावकाचार्यसमु-  
दाण्यां योग्यमनिशायिषैःश्रद्धिक्रमजृत्तिकं विष्वक् मात्रकं गृह्यमाण-  
नार्यसङ्घात् पुनर्योग्येकस्मिन्नेव पतङ्गेदं गृह्यमाणं परदयो दृष्ट्वा-  
ऽऽचार्यमङ्गुसमीपमागच्छताम् ।

वैति ततो णं सङ्घा, तुञ्ज वि बामुं न चेप्पए कीस ।

तो वैति अज्जमंगु, तुञ्जं विये इत्थं दिट्ठेनां ।।

ततः समीपागमनानन्तरं तौ श्रावकौ ब्रूवाते किञ्चायं समुदा-  
याभिन्वुष्पामकमपि विष्वक् प्रायस्यं गृह्यते ततो भ्रुवन्प्राथम्यं-  
ङ्कवः आचार्या अत्रायं ययमेव दृष्टान्तः कथमित्याह ।।

जा ङ्कीं दुव्वेज्जा उ, तं तुञ्जे बंधइ प्पयेत्तेण ।

न वि बंधव बलिपाउ, दुव्वेज्जवलिप व कुंकी वि ।।

यदा शाकटिकः या तव भगदी गन्त्री दुर्वेहा तां युयं प्रयत्नेन  
बन्धीथ । ततः सा पदंति यां दुं पुनरुच्छाद्यामाने तदा विनश्य-  
ति या पुनर्वेलिका तां लेव बन्धीथ । बन्धनस्थानं केणापि तस्या  
बहनात् । वैकटिकं प्रति ब्रुवते भो वैकटिक ! या तव कुगर्मी  
दुर्वेहा तां वेवद्दुर्वेहत्वा तत्र मयं संशयथा तु वज्रिका कुगर्मी  
तस्या बन्धमहत्त्वाऽपि तत्र संघानं कुरुथ "दुव्वेज्जवलिप व कुंकी  
वि " एवं कुरूपपि दुव्वेला वज्रिका च नपदीवत् वकथ्या ।  
उक्तो दृष्टान्तः ।

मां प्रतमुपनयमाह ।

एवं अज्जसमुदा, दुव्वेज्जं ङ्कीं व संठवयणाए ।

धारेति सररीं तु, दालिभंकीं सरिसगवयं तु ।।

एवमुक्तेन प्रकारेण दुर्वेज्जभगर्मी दुर्वेजा गन्त्री आसीत्यं शरीरं  
संशोधयन्त्या धारयति । नेनस्या तत्तत्तत्तं योग्यं विष्वक् मा-  
त्रकं गृह्यते ययं तु वज्रिकाज्जासिदहास्तनो न शरीरस्य सं-  
स्थापनमाहोक्तमहै ।

निष्पट्टिकम्मां वि अइ, जोगाए तगमि संघणं काउं ।

नेच्छामि य वित्तिपेगं, वीसुं इति वैति ते मंगु ।।

निष्पट्टिकम्माऽपि योगानां संघानं कर्तुं शक्नोति ततो नेच्छामि  
द्वितीयं अङ्गं गात्रकं विष्वक् गृह्यमाणमिति ते मरुग्याचार्या ब्रुवते ।  
न तरंति य तेण विणा, अज्जसमुदा उ तेष वीसं तु ।

इय अतंससा यारण, सेना प्तेण द्वाइंति ।।

आर्यसमुदाः पुनराचार्यास्तेन विष्वक् प्रायोष्यग्रहणेन विना  
योगानां सम्भानं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तेन तत्रप्रायोष्यं विष्वक्  
गृह्यते एवं शेषानामपि स्वस्मान्तं कारणं प्रतिशेषा प्रतिशया  
आचार्ये भयान्न शेषाः पुनः साधयः प्राप्तेन द्वाइंते अस्मानं  
यापयन्त गन्सुनीयाऽप्रतिशयः । आचार्याःप्रायोष्यव्य वसनेरःत-  
र्बदिवो एकाकिंत्वेन वास इति चतुर्थपञ्चमवारानिशयां ।  
संप्रति चतुर्थपञ्चमवारानिशयावाह " अंतो उवस्सयस्स एगरायं  
या दुव्वयं वा " इत्यदिशङ्कणं (पूर्वोक्तं) विज्ञाथिपुरिद्वि ।।

अंतो बडिं व वीसुं, वसणाप मसियं तु निजसुस्स ।

संजमआयविराहण, सुसे अमुनोदतो होइ ।।

यदि (सिद्धरुपाश्रयस्यान्तरपथकं विष्वक् वसन्ति यदि वा बहि-  
रुपाश्रयात् शून्यमुहादिषु तदा तस्य प्रायश्चित्तं मत्सिकं न केव-  
न्मत्सिकं प्रायश्चित्तं किन्तु शोभात्तमिवाह । अन्तर्बद्धो ह्यन्य-  
स्थाने वसतोऽप्युभयोऽप्युक्तकर्म्मद्वयो जवति तद्गवाध्यात्म-  
विराधना संभवविराधना च । एतन्मेव ज्ञापयति ।।

तत्राप्रायुधोर्णेण, रडिण कम्मादि मज्जेमे केदो ।

मेरावलिंशिया मे, वेहाणसमादिंनिवेदो ।।

तस्य ज्ञावस्तज्ञायः युवंद इत्यर्थः । तस्मिन्पुण्यागस्तेन तज्ञा-  
वयुषोऽपि विजित स्थाने च वसंमानः सहायरहितो इत्येकम्मा-  
दि कुर्यात् एवं संयमे संयमस्य भेदा विराधना । तथा कोऽप्य-  
निप्रथमपुंवेदोदयपीडित एवं चिन्त्येत यथा मया मयादा सक-  
जजनसमङ्गे गुरुपादसमीपेऽवश्लिभ्यन्त संप्रति चाहमपिपिकि  
आसितुं न शक्नोमि तथा निर्बंधात् वैधानसमुत्कलत्रयनमादि-  
शुश्रावदन्त्यद्वा आत्मघानादिकमाचरेत् एषा आत्मविराधना ।  
तथा विहरना वा एकाकिना न भ्यातव्यमाह यदि संयमाश्रितेन-  
ज्ञावस्तनस्तस्य सहाया अपि किं कारिष्यन्ति तत्र ब्राह्म ।।

जइ वि य निगयत्तावो, तह वि य रक्खिज्जए य होतिं दि ।।

वंसकदिष्टेो जिन्ने, वि वेणुतो पावए न मडिं ।।

यथापि च म संयमात् निर्गतभावस्थापि सांश्र्येऽस्तकम्मादि  
विधानसादि वा सनाचरद् रक्ष्यते अत्रयथं प्रतिवस्तुपामाहा ।  
( वंसक,रिद्धेसि ) वेणुको यंशो महीं न प्राप्नोति अत्रैरन्ध्रैवे-  
शेरपात्तरगले स्थासितव्यात् एवं संयमभावानिगतोऽपि शेषमा-  
धुनिः सर्वथा पतद् रक्षयते तत्रेति श्लोकात्कम् ।

इदानीं गणवच्छेदकाचार्ययोराह ।।

वीसु वसंतं दत्था, गगिआयरि ए होतिं पेवेव ।

सुचं पुग कारिणायं, निजसुस्स वि कारणे सुखा ।।

विष्वक् ज्ञानात् कारणमन्तरेण गगिनि गणवच्छेदकं आचा-  
र्यं च एवमेव निजोक्तिं प्रायश्चित्तं संवत्सराविराधने च भव-  
तः । यद्येव तर्हि सुप्रमनवकाशमन आह । सुचं पुनः कारण-  
कं कारणमधिकृत्य प्रवृत्तं ततो नानवकाशं न केवलं अत्रैरन्ध्रैवे-  
दकाचार्ययोः कारणे वसनेरन्ध्रैश्चो वसनेमनुहात किं तु नि-  
जोक्तिं कारणं बहिरन्तयो वसन्त्याहुता ।।

अथ किं तत्कारणं यदधिकृत्य सुचं प्रवृत्तमन आह ।

विजाणं परिबार्मी, पव्वं एए य दंति आयरिया ।।

मासकूपसियाणं, पव्वं पुण होइ मज्जे तु ।।

आचार्याः पर्येण विद्यानां परिपाटीर्दंति विद्याः परावसंने  
इति भावः । अथ एवं किमुच्यते तत आह मासाः मासयोःम-  
ध्यं पुनः पव्वं भवति । तदेवाह ।

पक्खस्स अचमीं खसु, मासस्स य पक्खियं मुणेएणवं ।

अमा पि होइ पव्वं, उव्वरागो वेदसूराणं ।।

अर्द्धमासस्य पक्षात्मकस्य मध्यमाऽचमी सा खतु पर्यं । मास-  
स्य मध्यं पार्थिकं पक्षेण निवृत्तं हातव्यं तच्च कृष्णचतुर्दशीह-  
पमवसातव्यं तत्र प्रायोष्य विद्यामाश्रयोपचारजायान् बहला-  
विका मासा इति यचनाच्च न केवलमेतदेष पव्वं कित्तव्यदपि  
पव्वं भवति यत्रोपगमो प्रदणं च-कृतव्ययोः रनेतु पव्वेसु विद्या-  
साधनप्रवृत्तियेधेवं तत एकाराग्रहणं तत ब्राह्म ।।

चउहसंगोदो होइ, कोइ अइधा वि सोलनिग्गहणं ।

वत्ता तु अणुज्जातो, होइ दुरायं तिरायं वा ।।

कोऽपि विद्याया प्रहृत्युत्तरेण भवति अथवा योऽव्ययं  
शुभ्रपक्षमपिदि विद्याया प्रदणमा । किमुत्तं ज्ञानं कोऽपि  
विद्याग्रहश्रुत्तरेण कृतः कोऽपि प्रतिपदि क्रियत इत्येव  
विज्ञाप्रवसन्मथ च केन दिवसेन व्यकमनुवायामायां वि-



घाया प्रहृतं भवति । छिन्नान् विग्रात्रं वा विष्णुक वसनमिति ।  
यदुक्तं सूत्रेतिरायं वेति तत्र वाशब्दव्याख्यानायैव ।

वासङ्गे चिरं वि, महपाण्डासु भो उ अत्येजा ।

श्रोत्रविण भरहम्मि, जह राया चक्रवद्वादी ॥

वाशब्देनेदं सूच्यते किमपि कालं महा ( पाना ) प्राणा-  
दिवु ध्यानेषु स तिष्ठेत् स हि यावत्त्रायपि विशिष्टलाभो भ-  
वेति तावच्च निवर्त्तते ध्यानादेषु दृष्टान्तमाह । यथा राजा  
चक्रवर्त्यदिरादिशब्दाद्वासुदेवपरिग्रहः (श्रोत्रविण) प्रसाधि-  
ते अर्द्धभरते वा न निवर्त्तते यावद्वध्यादिलाभो न भवतीति ।  
अथ महाप्राणध्याने कः कियन्ते कालमुत्कर्षतस्तिष्ठतीति  
प्रतिपादनायैमाह ।

वारसवामा भरहा—द्विसप्त इत्येव वासुदेवाणां ।

निशि य मर्कलियस्म, उम्पामा प्रागयज्ञस्म ॥

महाप्राणध्यानमुत्कर्षते वरुताधिपस्य चक्रवर्त्तिनो ह्यदश  
वर्षाणि यावत्पद वर्षाणि वासुदेवानां चलदेवानामित्यर्थः ।  
शीलि वर्षाणि प्राण्डलिकस्य वरमासान् यावत्प्राकृतजनस्य ।  
जे जत्य अदिगया खदु, अस्तादृक्कवमाइया रम्भा ।  
तेसि जरणम्मि ऊणे, भूजति भांए अर्द्धादी ॥  
ये “अस्तादृक्कवमाइया” महाभूपत्याद्या यत्राभ्रभर-  
णौदी राक्षा अचिहृता व्यापारितान्ते नेपास्रभादीनां भरणे  
ऊने सति भोगान् अदशदादीन् दशदादिरहितान् युञ्जे न तस्य  
तथा भोगान् भुञ्जानस्य दशदोऽपरार्धो वा अघ्राप्यभ्यादिभ-  
रणभावात् एव दृष्टान्त उक्तः ।

संप्रति दाष्टेऽस्मिन्कपोऽननामाह ।

इय पुत्रवगापीते, बाहुदनायेत्र तम्मि शे पञ्जा ।

पियइ [ च व अत्येप, मिणइ [ च न दो वि अविहृक्ता ॥  
इत्येवममुना दृष्टान्तप्रकारेण पूर्वगतं ऋषीते “बाहुदनायेव ”  
भद्रबाहुति च तत् पूर्वगतं पश्चात् महापानध्यानबलेन भिनोति  
निःशेषतामेच्छया तावच्च निवर्त्तते ततश्चिरकालमपि वसति  
तस्य न कोऽप्यपरार्धः प्रायश्चित्तं दशदो वा । संप्रति महापान-  
शब्दस्य व्युत्पत्तिमाह पिबतीति वा भिनोतीति वेति ह्यपि  
शब्दापेतावचिहृदौ तन्वत् एकार्पोवित्यर्थः । नत एव व्य-  
त्यभिः पिबति अर्थपदानि यत्र स्थितस्तत् पानं महच्च तत्पानं  
च महापानमिति ।

अंतो गयी वा गणो, विकसेवो माहु होज अग्रमहणं ।

वमनेहं परिकिवत्तो, उ अत्येते कारणे तेहं ॥

अन्तर्गयी गणो वा वाशब्दादेवं बहिरिति । इयमत्र भावना ।  
यथाचार्यां वसतेरन्तस्तनो गणो बहिरवसति अथ गणोऽन्त-  
स्तत आचार्यां बहिः किं कारणमाचार्यां गणञ्च विष्णुक व-  
सति तत आह (विष्णवेऽपि) इत्यादि आचार्यस्य विधादिगुणा-  
दिवु व्यासोपो मा भून् (अग्रमहणमिति) अग्रयोगानां कर्मपर-  
नतो विधादीनामग्रहणं भूयत् पतनाभ्यां कारणार्थ्यां वृषभैः  
परिक्षितोऽन्तर्बहिर्बो विष्णवाचार्यां वसति । व्य० १ उ० ।

आचार्यायाध्यायस्य गणे तस्य अतिशयाः ।

आचार्येऽनवजायस्य एं गर्गमि सत् अइसेसा पम्पसा  
तं जडा आचार्येऽनवजायस्य अंतो उवस्मगस्य पाए निग-  
ञ्जिभू २ पफ्फोडेमाणे वा पमजेमाणेवा नाइकमइ एवं

जहा पंचजाणे जाव बादि उवस्मगस्य एगरायं वा दुरायं वा  
वसमाणे नाइकमइ उवगरणाइसेसे जणपाणइसेसे ॥

एत द्वाभ्यान्तमेति इदमधिकमुपकरणतिशेषाः शेषसाधुभ्यः  
सकारान् प्रधानोज्ज्वलवस्त्राद्युपकरणतः उक्तञ्च । “आयरि-  
यगिलाकारणं, अस्ता इत्था पुणो वि धोचंति । मा इ गुरुक्ष  
अवधो, लोमम्मि अजिरणं इयरेति” ॥ १ ॥ ग्लाने इत्यर्थः  
भ्रूपापानतिशेषः पूज्यतरभ्रूपापानतेति उक्तञ्च “कशबोयसा  
उ पयसा, परिहाणी जाव कोद्वरञ्जजी । तन्थ उ मिउप्यनदं,  
जत्य य जं अशियं दोसु” ॥ १ ॥ (कोद्वरञ्जजिस्ति कोद्व-  
जाउलये दोसुलि) शेषकालयोस्ति गुणाभ्येते “सुत्तप्यथि-  
रीकरणं, विणुओ गुरुपूय से य बहुमाणे । दाणवइसदुबुजो,  
बुजोबलबद्धं जेव ति” ॥ १ ॥ १ ॥ १ ॥ १ ॥

गणावच्छेदकस्य गणे द्वौ अतिशयौ ।

( सूत्रम् ) गणावच्छेदस्य गर्गसि एं दो अइसेसा प-  
म्पसा तं जहा गणावच्छेदए अंतो उवस्मगस्य एगरायं वा  
दुरायं वा वसमाणे णो अइकमइ ? गणावच्छेदए बादि उ-  
वस्मयस्य एगरायं वा दुरायं वा वसमाणं णो अतिकमइ ॥

“ गणावच्छेदस्य गलेऽस्मि शं ” इत्यादि गणावच्छेदकस्य  
गणे गणमध्ये ह्यतिशयो भवतस्तद्यथा गणावच्छेदक उपा-  
श्रयस्यान्तः एकरात्रं वा छिन्नं वा वसन नातिक्रामति ना-  
नीचारमागभवति तथा गणावच्छेदको धृष्टिरुपाध्यादेकरा-  
त्रं वा छिन्नं वा वसन नातिक्रामति । एतौ च द्वावप्यतिश-  
यां सूत्रोक्तौ गणावच्छेदकस्य द्रष्टव्यौ यां नियमादन्वयां भ-  
वित्येति यः पुनर्गणावच्छेदकस्य वसनेना अन्वयैवपदस्यानर्ह-  
स्येतीति ह्यतिशयतिशयं न करणेते । भाष्यम् ।

पंचेते अतिसेसा, आयरिष ह्येति दांमि उ गणिसस ।

भिक्षुसुस कारणास्मि उ, अतिसेसा पंच वा जणिया ॥  
एत अनन्तरसूत्रेदित्ताः पञ्जातिशया आचार्यां भवन्ति । ह्यं ग-  
णितो गणावच्छेदकस्य त्रिकोः पुनः कारणेऽप्यतिशया भवि-  
ताः । एतदेवाह ।

जे सत्ते अतिसेसा, आयरिष अत्यतो ब जे जणिया ।

ते कजे जयमेवं, भिक्षु वि न वाउर्मा जवति ॥

येऽतिशया आचार्यसूत्रे साक्षाद्विहितता ये चाप्ये पश्चाद्येते  
भक्षितास्तान् दशप्यतिशयात्र कार्ये कारणे समागते । “कञ्जाति  
ता कारणंति वा एगइमिनि” वचनात् (अत्यन्तंतीति) यतनया  
सेवमानो भिक्षुरपि न वक्षुशत्यदेषेण गृह्यते इति भावः किं त-  
न्कार्यमत आह ।

बालासहस्रभरतं, सुव्वादि पप इहिउहं वा ।

दस वि भइयाविमसा, निक्सुस जहकमं कजे ॥

बालसहस्रभरतं त्वात्तं शुचिवादिनं क्रमद्विचूदं वा प्राप्य  
दशप्यतिशया त्रिकोः कार्ये समापतिते यथाक्रमे प्रजिता चिक-  
ल्पिता भयन्तीति भावः तथा हि धातुस्य हस्तपादाद्वाः प्रकृत्य-  
न्ते अन्त्ये वानिशाया यथासंज्ञवं क्रियन्ते तथा असदो नामास-  
म्यंस्तस्यापि यथाप्रयोगमतिशयाः क्रियन्ते । तथाऽन्तेन त्वात्तं  
शुचिवादी शौचप्रधानः शिष्यः क्रमद्विचूदं राजादिः प्रजित इ-  
त्येवमपि दशप्यतिशया यथायोगं विधेयाः । व्य० ६ उ० ।  
(जिनकदिपकस्य दौ अतिशयौ) “जुविहो तेसि” (जिनक-

विपकामाभे) "अससो भोगाससो सररीराससो य । जणा-  
इससो भोहि , मणुपजवसुत्तय तज्जयं च । तिषही भवि-  
कससो, सारोरा इति अससेसु " पं ५० ॥ ( तीयंकृतः च-  
त्वारः मुलातिशयोः ) "अपायवगमातिशयोः कानातिशयोः पूजा-  
तिशयोः वा गतिशयश्च " पं ५० । २०। १५०। १० ।

बुद्धस्य ( तीर्थकृतः ) चतुष्क्रियतिशयोः ।

धोर्चां वि बुद्धासेसा पश्यात् तं जहा अबद्विषयकसमं-  
सुरोमनहे ? निरामया निरुबलेषा गायलही १ गोकस्तीर  
पंदुरे मंससोषि १ ३ पुष्युल्लगंधिरे अस्तामनिस्सासे ४  
पञ्चमे आहारनीहारे अदिस्से मंसचकलुणा ६ आगा-  
सगयं चकं ६ आगासगयं उचं ७ आगासगयात्रां सेय-  
वरचामराभो ८ आगासफालियामयं सपायपीढं मीढा-  
सणं ९ आगासगयो कुर्भीसद्वस्सपरिमंभियाजिरामो  
इंदक्कभो पुरओ गच्छ १० जत्य जत्य वि य एं अर-  
हंता जगन्ता चिद्धंति वा निसीयंति वा तत्य तत्य वि  
य एं तवसणादेव सच्छभपपुष्पपल्लवसमाउलो सच्छत्तो  
सच्छओ सघंठो सपदागो अमोगवरपायवं आभिसंजाय ५  
?? ईसिं पिठओ मउरुड्डाणम्मि तेयपदलं आभिसंजाय ५  
अंधकारे वि य एं दस दिसाओ पजासे १ २ बहुसमर-  
णिजे भूमिजागे ? ३ अहोसिरा कंठया जायंति १४ उज्ज  
विबरीया सुहफासा भवति १४ सयिल्लेणं सुहफासेणं सु-  
रजिणा मारुएणं जोयणपरिमंरुलं सव्वओ सयता संपम-  
ज्जिज्ज १६ जुल्लुकुमिणं भेडेण य निहययररेणु पकि-  
ज्ज १७ जलथलयमाधुरपजतेणं विट्टावियदसकवभेणं  
कुमुभेणं जाणुसेहपणामित्ते पुष्पावयारे किज्ज १ ८  
अमणुआणं सदफरिसरसख्वंगंधाणं अबकरिसो भवइ  
मणुआणं सदफरिसरसख्वंगंधाणं पाउआओ जवइ १ ९  
उज्जओ पासिं च एं अरहंताए जगन्ताए दुवे जक्खा  
कमगनुदियर्थंभियज्जया चापरुक्केवणं करंति २० पञ्चा-  
हउओ वि य एं द्विययमर्णाओ जोयणनीहारी सरो २ ?  
भगवं च एं अदभागहीए जासाए धम्ममाइवसइ २१ सा  
वि य एं अदभागही जासा जासिज्जमाणी तेषिं सव्वेसिं  
आरियमणारियाणं दुपयचउपयमियमपुपक्खिसरीसि-  
बाणं अण्ययो हियंसिचसुहदाए जासत्ताए परिणम २ ३  
पुव्ववहदावो वि य एं देवासुरनागमुव्वमजक्खरक्खससकिं-  
नरकिंपुरिसरुग्गंधंभमहोरागा अरहओ पायमूले पसंत-  
चिचमाणसा धम्मं निसामंति २४ अचत्तिथियपावयणिया  
वि य समागया मंदंति २५ आगया समाणा अरहओ  
पायमूले निपण्ढिवषणा हवंति २६ जन्मो जन्मो वि य एं  
अरहंता भगवंतो विरहंति तओ तओ वि य एं जोयण-  
पणवीसाएणं ईती न जवइ २७ मारी न जवइ २८ सच-  
कं न जवइ २९ परचकं न जवइ ३० अइनुड्डी न भवइ ३ ?

आणानुड्डी न भवइ ३ २ दुग्भिक्केवं न भवइ ३ ३ पुष्युपया  
वि य एं उपायाया वाही सिप्यामेव उवसमंति ३४ । त. ३ १ ९  
अथ चतुस्त्रिंशत्समस्यानकं किमपि शिष्यतः ( बुद्धासेससि )  
बुधानां तीर्थकृतमत्यतिशयोः अतिशयोः बुद्धातिशयोः अब-  
स्थितमवृत्तिस्वभावं केशाश्च शिरोरात्राः स्मभूमि च कूर्चरोमाणि  
च शेषशरीरसोमनि मन्वाश्च प्रतीता इति द्वैत्रैकत्वमित्येकः १  
निरामया नांरगा निरुपसेया निर्महा नाग्रयष्टिस्तजुसतेति द्विती-  
यः २ गोहोरीपापदुरं मांसशोणितमिति तृतीयः ३ तथा पचं च  
कमई गन्धद्रव्यविशेषो वा वायुचक्रमिति कदमुपयं च नीलो-  
यप्रमुत्पलकुट्टे वा गन्धद्रव्यविशेषस्तयोर्गन्धः स यत्रास्ति  
तत्तयोच्चासनिःश्वासमिति चतुर्थः ४ प्रच्छन्नमाहारनिर्हारेण  
अन्यहरणमूर्धपुरीतोस्त्वर्गौ प्रच्छन्नत्वमेव स्फुटतरभाह अहरयं  
मांसचक्षुषा न पुनरवस्थापितोत्सनेन इति पञ्चमः ५ पचनशक्ति-  
यादिक्रमतिशयचतुष्कं जन्मप्रत्ययम् । आकाशकं चकं चष्ट तथा  
आकाशगतं ध्यामवातं आकाशकं वा प्रकाशमित्येकं चकं धर्म-  
चक्रमिति षष्ठः ६ आकाशकं उच्यतेति सप्तमः पचमाकाशयं उचं  
उचप्रवमित्येकः ७ आकाशकं प्रकाशे श्वेतयत्तामारे प्रकाशकं  
इत्यष्टमः ८ ( अजासफालियामयलि ) आकाशमिथ यदन्वन्-  
मत्वं स्फटिकं तन्मयं सिंहासनं सहपादपीठमिति नवमः ९  
( आगासगभोसि ) आकासगतोऽभ्यर्थं तुङ्गमित्यर्थः कुड्दि-  
सिस्तपुपताकाः संभाव्यन्ते नस्तहस्रैः परिमण्डितश्चासावभि-  
रामश्चानिराण्णोप इति विग्रहः ( इंदक्कभोसि ) दोषव्यथापि-  
क्याप्रतिमहत्वादिन्द्रश्चासी ध्वजश्च इन्द्रश्च इति ( पुरभोसि )  
जिनस्याप्रतो गच्छन्तीति दशमः १० " विद्यति वा निसीयांति  
वेत्ति " तिष्ठन्ति मतिनिवृत्त्या निर्वीद्वानुपविशति ( तक्खणा-  
द्वोसि ) तत्कण्ठमाकाशादीनिमित्तयोः धर्मः सतिश्च इति कथं-  
व्यं प्राकृतत्वात् संकल्पन इत्युक्तं स चासी पुष्पपल्लवसमाकुल-  
भोति विग्रहः पञ्चाया बहुताः सच्छत्रः सच्छत्रः सघटतः सघटा-  
ऽशोकवरपादप इत्येकादशः ११ ( ईसिंति ) ईषद्वयं ( पिठुभोसि )  
पुष्ठलः पञ्चाङ्गागे ( मउरुड्डाणमिति ) मस्तकप्रदेशे तेजांभयरुहं  
प्रमापटमिति द्वादशः १२ बहुसमरमणो यो नृभिर्भाग इति त्रयो-  
दशः १३ ( अहोसिरसि ) अओमुखाः करटका भवन्तीति चतु-  
र्दशः १४ अतया विपरीताः कयमित्वाहा । सुखस्पर्शा यवन्तीति  
पञ्चदशः १५ योजनं यावत् श्लेशशुद्धिः संबतकवातेनेति षोडशः  
१६ ( जुल्लुकुमिणसि ) उचितविदुप्राप्तेति ( निहययररे-  
णुयंति ) वातोत्क्रातमाकाशवर्ति उचं भूवर्ती तु रेणुयति ग-  
न्धोदकवर्णमिधानः सप्तदशः १७ जलव्यालं यद्वास्वरं प्र-  
भूतं च कुसुमं तेन वृत्तस्थापिता ऊर्ध्वसुक्तेन दशाङ्गेषुणं प-  
ञ्चवर्णेन जातुनोस्तेष्वस्य उच्चत्वस्य यत्तमाएवं यस्य स  
जानुस्तेष्वमण्यमागः पुष्पोपचाराः पुष्पप्रकर इत्यष्टादशः १८  
तथा ( कालाणुक्कवक्कुत्तुकुत्तुक्कधूममघतंगं पुञ्जयामि-  
रभि भवहसि ) कालाणुक्क गन्धद्रव्यविशेषः प्रवरकुञ्जुक-  
कश्चिदामिधानं गन्धद्रव्यं तुलकं च शिष्टकामिधानं गन्ध-  
द्रव्यमिति द्वैत्रैक्येन एतन्नक्षत्रो यो धूपस्तस्य प्रथमधायमा-  
नो बहुलसौरभ्यो यो गन्ध उदत् उद्भूतस्तेनामिराममभि-  
रमण्यो यत्तत्तथा स्थानं निषीदन्स्थानमिति । प्रथमं ह्येको  
नविशति तसः १९ तथा उच्यते " पासिं च " कइरहंतायं भग-  
वंतायं पुष्ये जक्का कइयनुड्डीयंभियमुया चामरककेषणं क-  
रंति " कटकानि प्रकोष्ठामरकविशेषास्तुटितानि बाहामर-  
कविशेषास्तैरित्युत्वेन स्वमिताथिव स्वमिभौ मुञ्जी यथो-

स्त्री तथा यक्षी देवाविति विश्रितितमः २० बृहद्वाचनायामन-  
न्परोहमतिशयद्वयं नाधोयते अतस्तस्यै पूर्वंऽप्यदशैव अम-  
नोहानां शब्दादीनामपकर्मोऽभाव इत्येकोविश्रितितमः १६ म-  
नोहानां प्रादुर्भाव इति विश्रितितमः २० (पव्याहरभोक्ति) प्रप्या-  
हरतो व्याकुर्वतो भगवतः (हिययगमणीउक्ति) हृदयङ्गमः (जो-  
यणनीहारीस्ति) शोचनान्तर्गतौ स्वर् इत्येकविश्रः २१ (अद्यमा-  
गदीयति) प्रादुर्भावानां यथा भाषाविशेषाणां भये या मागयी ना-  
म भाषा 'रसोलसौ' भाषाध्यामिवादिच्छलजती सा असमा-  
भितस्वकीयसमप्रलक्षणेऽर्थाधीत्युच्यते तथा धर्ममाख्याति  
तस्या पयातिकोमलत्यादिति द्वाविश्रः २२ (भासिज्जमाणीस्ति)  
भगवताऽभिधीयमाना (आरियमणारियाणंति) आर्योनायेंद-  
शोत्पन्नानां द्विपदा मनुष्याभ्यनुपदा गवाद्यः सुगा आदय्याः  
पशवो प्राण्याः पक्षिणः प्रमीताः सर्पसुपा उरःपरिसर्पा भुजप-  
रिसर्पाश्चेति तेषां किमानम आरामत्या शास्त्रीयव्यर्थैः भाषा  
तथा भाषाभावेन परिणमतीति संबन्धः । कि भूताऽसौ भा-  
वेण हितमभ्युद्यः शिवं मोक्षः सुखं श्रयणकालोऽयमवा-  
नन्दं वदानतीति हिनशिवसुखेदिति त्रयोविश्रः २३ पूर्वं अया-  
न्तरेऽनादिकाले वा जातिप्रत्ययबद्धं निकाचितं धैरममित्रभा-  
को येषां ते तथा तऽपि च क्षानतां मध्ये देवा वैमानिका अ-  
सुरा नागाश्च भयनपतिविशेषाः सुधर्माः शोभनवर्गा एते  
च ज्योतिष्का यस्त्राक्षसकिन्नराः किपुरगाः व्यन्तरभेदाः ग-  
रुडागण्डलाच्छन्त्यात् सुपर्णकुमारा भयनपतिविशेषाः ग-  
न्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषा एव एतेषां ङ्ङः ( पसंत-  
चित्तमाणसति) प्रशान्तानि समङ्गानि चिन्ताणि रागद्वेषा-  
धनकाविषाधिकारयुक्ततया विविधानि मानसान्यन्तःकरण-  
नि येषां ते प्रशान्तचित्तमानसा धर्मं निशामयन्ति इति चतु-  
विश्रः २४ बृहद्वाचतया इदमन्यदातिशयप्रथमधोयते यदुत अ-  
न्यनीधिकप्रावचनिका अपि च शं वन्दन्तो भवन्त्वमिति ग-  
म्यन्ते इति पञ्चविश्रः २५ आगताः सन्तोऽदितः पादमूले नि-  
ष्पतिवचना भयन्ति इति षड्विश्रः २६ ( जञ्जो जञ्जो वि य-  
णंति) यत्र यथापि च देशे ( तत्रो तत्रो स्ति) तत्र तथाऽ-  
पि च पञ्चविश्रितियो जनेषु इतिव्योच्यायुष्टपकारि प्रचुरमे-  
षकादिप्राणिण एति सप्तविश्रः २७ मारिजनेमकार इत्यष्टा-  
विश्रः २८ स्वचक्रं स्वकीपराजसैयं तदुपद्रवकारि न भव-  
तीति एकोनविश्रः २९ एवं परचक्रं परराजसैयमिति विश्रः  
३० अतिबृष्टिप्राधिकरणं इत्येकविश्रः ३१ अनाबुष्टिवर्षणामाव  
इति द्वाविश्रः ३२ दुर्भिक्षं दुष्काल इति त्रयोविश्रः ३३ (उपा-  
श्यावाहिति) उपपाता अतिप्रदुष्कला कथिरदृष्टयाद्यस्वस्त-  
नुका येऽनयोस्ते श्रीगणितकालस्या व्यापयो ज्वगद्यास्तु-  
पशयोऽभाव इति चतुर्विंशतमः ३४ अन्वष्ट " पव्याहरभो " इ-  
त आरभ्य येऽभिहितस्तस्ते प्रथममण्डलं च कर्मस्युहताः  
शेषा भवप्रत्ययेभ्योऽप्ये देवकृता इति एते च यदन्यथाऽपि  
हृदयन्ते तन्मानान्तरमेव मन्तव्यमिति सप्त० ३४ स० (हृदमच नि-  
गमनं चत्वारो जन्मप्रवृत्तित एकोनविश्रितः देवकृताः एका-  
दश घातिकर्मणां क्रयाङ्गवन्तीति चतुर्विंशदतिशयाः उक्ताः  
दशो० ) । सत्यवचनस्य पञ्चसिद्धतिशयाः ।

पद्यातीसं सचचवयगाइसेसापण्णवा ।

पञ्चविंशत् क्षानकं सुगमं नवरं सत्यवचनतिशया आगमेन  
दृष्टा एते तु प्रथान्तरे दृष्टाः संनाशितवचनं हि गुणयद्बद्धं  
तद्यथा संस्कारवत् १ उदात्तं २ उपचारोपेतं ३ गम्भीरशब्दं ४  
अनुनादि ५ दक्षिणम् ६ उपनीतरागं ७ महायं ८ अत्र्यादतप-

र्षोपर्यम् ९ शिष्टम् १० असंदिग्धम् ११ अपहृतान्योत्तरम् १२  
हृदयप्राप्ति १३ देशकाशाव्यतीतम् १४ तत्पानुपकम् १५ क्षम-  
कांक्षं प्रसूनम् १६ अन्योऽप्यप्रवृत्तीतम् १७ अभिजातम् १८  
अतिस्निग्धमधुरम् १९ अपरमविद्यम् २० अर्थमार्गस्यासा-  
नपेतम् २१ उदारम् २२ परनिन्दामोत्कर्षप्रयुक्तम् २३ उपग-  
तशायम् २४ अनपनीतम् २५ उपादिताच्छिकीतहसम् २६  
अद्भुतम् २७ अनतिविश्रिम्भितम् २८ उद्यमविश्रैकिकिञ्चि-  
त्विमुक्तम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रम् ३० आदिद्विशे-  
षम् ३१ साकारम् ३२ सत्यपरिग्रहम् ३३ अपरिखेदितम् ३४  
अनुव्येष्टम् ३५ चेतिवचनम् महानुजाविषैकव्यमिति । तत्र  
संस्कारवत्त्वं संस्कृतादिद्वक्कणयुक्तत्वं । उदात्तत्वमुपवृत्तिना २  
उपचारोपेतत्वमप्राम्यता ३ गम्भीरशब्दं मेघस्येव ४ अनुनादित्वं  
प्रतिव्योपेतना ५ दक्षिणत्वं सरलत्वं ६ उपनीतरागत्वं मार-  
कांशादिप्राभरगयुक्तता ७ पने सते शब्दोपेक्षा क्रतिशयाः ।  
अर्थे स्वयोश्चर्यास्त्रम महायत्नम् बृहदभियोगः ८ अत्र्याद-  
र्षोपर्येत्वम् पुनर्विपर्याष्याविशेषः ९ शिष्टत्वम् अभिमत-  
सिचात्ताकार्यता वक्तुः शिष्टतासुवक्तव्यं वा १० असंदिग्धत्वम्  
असंशयकारिता ११ अपहृतान्योत्तरत्वम् परदूषणाविययता १२  
हृदयप्राप्तित्वम् श्रोतुमनोहरता १३ देशकालाध्यतीतत्वम् प्रस्ता-  
वाचिन्ता १४ तत्पानुपकत्वम् विवर्तितवस्तुस्वकपाणुसारिता  
१५ अप्रकीर्णप्रसूनत्वम् सुमेधमध्यस्य सतः प्रसरणम् अधथाऽ  
संबद्धाधिकारित्यातिविस्तरगतताः १६ अन्वष्टप्रत्यप्रवृत्तीतत्वम्  
परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षता १७ अभिजातत्वं  
चक्षुःप्रतिपाद्यस्यैव दृष्टिकानुसारिता १८ अतिस्निग्धमधुरत्वम्  
शून्यगुणादिवत् सुखकारित्वम् १९ अपरममेवोद्यम् परममा-  
नुद्वन्द्वस्यकत्वम् २० अर्थमार्गस्यासानपेतत्वम् अर्थधर्मनि-  
बद्धत्वम् २१ उदारत्वम् अभिधियायैस्यातुच्छत्वमुक्तं गुणवि-  
शेषं वा २२ परनिन्दामोत्कर्षप्रयुक्तत्वाति प्रतीकमेव २३  
उपगतशयस्यैव उक्तगुणयोगात् प्राप्तिशयना २४ अनपनीत-  
त्वम् कारककालवचनविद्वारिद्व्यप्यरूपवचनदोषापेतना २५  
वत्यादिनाच्छिकीतहृदयत्वम् स्वविषये भोक्तृणां जनितावच्छिन्नं  
कांतुकेन तत्पदा तद्भावस्तत्त्वम् २६ अद्भुतत्वमनांशिविभ-  
तन्त्वं च प्रतीतम् २७—२८ विभ्रमाविक्रमकालिकाद्विचित्र-  
मुक्तत्वम् विभ्रमं वक्तुमनसो ज्ञानता विक्रपस्तस्याभिधयाद्यै  
प्रत्यासक्तता किञ्चिच्छ्रितं रायमर्यादिव्यापदिज्ञानानां युग-  
पदा सह करणमार्द्वशब्दमनोदोषान्तरपरिग्रहस्तीव्रमुक्तं यत्त  
सथा तद्भावस्तत्त्वम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम् इह  
जातयो वर्जनीयवस्तरुपवर्णनानि ३० आदिद्विशेषोपत्वम् च-  
नान्तराविक्रया दौकितविशेषता ३१ साकारत्वम् विच्छिन्नव्य-  
पदाव्याप्येनकाराव्यवहृत्त्वम् ३२ सत्यपरिग्रहीतया ३३ सोपेतता  
३३ अपरिखेदितत्वम् अनायाससंनयः ३४ अनुव्येष्टित्वं विच-  
क्रितायैसम्बद्धाः । यावदवच्छिन्नवचनप्रमेयतेत ३५ सप्त० ।

सुत्रार्थावतिशयाः ।

सुत्तये अइसेसा, सामाथारी य विज्जजोगाइ ।

विज्जजोगाइ सुप्, विमत्तं बुविह्वा अथो हौंति ॥

इहातिशयास्त्रियस्तद्यथा सुत्रार्थातिशयाः सामाचार्यति-  
शयाः विद्या योगा आदिशब्दात्काम्येति प्रयोऽतिशयास्त्रि-  
विद्या खोद्वनपठिता पुत्रैस्सेवादिप्रकीर्णतया च योगाः  
पादत्रेपप्रवृत्तयो गगनगमनादिकक्षाः । मन्त्राः पुरुषदेवताः,

पंजितसिद्धा वा । यथा विद्या यागाद्यश्चान्नाश्रय इते एवं विश्रान्ति अन्तर्भवन्ति अत्रो द्विविधा अतिशयाः भवन्ति तत्र स्वार्थातिशयाः सामान्यार्थानिश्चयाश्वेत्येतेषामतिशयानामुपलब्धिः प्रवाचनार्थपर्युपासनया भवति वृ० १ इ० । अश्व-  
 प्यादी, औ० । कर्मयोग प्रत्ययः अतिक्रान्ते, आ० ४ द्रा० १ उ० अतिशोष्यते कर्मणि चञ् । स्वल्पाऽश्विशोऽ, वाच० ।  
 अइसेसइङ्गि-अतिशोषिञ्-पुं० अतिशोषा अश्वधिमनःपर्याय-  
 ज्ञानामर्षीषध्यादयोऽतिशयास्ते तैर्वा अश्विचिंस्याऽसौ अतिशो-  
 षिञ् । प्रथमे प्रभवन्नप्रायकं, प्रथ० १४ द्रा० । नि० च० । दशा०  
 अइसेमपत्त-अतिशेषमाप्त-त्रि० आमर्षीषध्यादिलोऽः प्राप्ते,  
 कल्प० ॥

अइसेसपट्टुत्त-अतिशेषमजुत्त्व-न० अतिशयप्रभुत्वे, व्य० ६ उ० ।  
 अइसंसि ( न् )-अतिशोषिन्-त्रि० स्फातं, ओष० ।  
 अइसंसिध-अतिशोषित-त्रि० अतिशयिते, व्य० ६ उ० ।

अइ ( ति ) द्वि-अतिशो-पुं० न विद्यन्ते सततप्रवृत्त्या विश्रा-  
 द्वाकाकाराऽनुष्ठानतया तिथयो दिनविभागा यस्य सोऽतिथिः  
 " तिथिपयोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना । अतिथिं तं  
 विज्ञानोयाच्छेषमभ्यागतं विदुर्दुरित्युक्लक्षणे ( घ० २ अचि० )  
 तिथिपर्वविलीकिकव्यवहारपरिचयके भोजनकालोपस्था-  
 यिति मित्तुविशेषे, घ० २ अचि० । आच० । आ० । आनु० ।  
 प्रति० । आवा० । आगन्तुके, अ० ११ शु० ६ उ० ।

अइ ( ति ) हिपुत्रा-अतिथिपुत्रा-स्त्री० ६ त० आहारादि-  
 दानेनातिथेः सत्कारलक्षणेषु सोकोपचारविनयभेदे, दृ० ५  
 अ० " बलिचरस्सदेवं करेदशा अतिहिपुत्रं करेद करेदशा  
 तन्नो पश्चाद्वा अल्पया आहाराभारदः" अ० १ शु० ६ उ० । नि० ।  
 अइ ( ति ) द्विचन्न-अतिथिचन्न-न० अतिथेः शक्यपुत्रपत्न्ये,  
 आचा० १ शु० २ अ० २ उ० । प्रति० ।

अइ ( ति ) द्विम-अतिद्विम-न० अतिशयितहिमे, पिं० ।  
 अइ ( ति ) द्विवर्णीया-अतिथिवर्नीपक-पुं० अतिथिमा-  
 भित्य वनीपकः । अतिथिदानप्रशंसनेन तद्रक्षात् लिप्प्यमाने  
 वाचकभेदे, स्या० ४ उ० ।

सांप्रतमतिथिमहानां पुरतोऽतिथिप्रशंसापक वनीपकत्वं  
 यथा साधुर्विदधाति तथा इत्येव कृतिः ।  
 पाएण देइ लोमो, उवगारिसु परिनिपट्टु सिय व ।  
 जो पुण्य अच्चासिबं, अतिथिं पूइइ तं दायं ॥

इह प्रायेण लोक उपकारिषु यद्वा परिचितेषु यदि वा अशु-  
 चिते आहिते ददाति भद्रादि यः पुनरश्विभ्रममतिथिं पूज-  
 यति तदेषं जगति दानं प्रधानमिति शेषः । पिं० । नि० चू० ।

अइ ( ति ) द्विसंविनाग-अतिथिसंविनाग-पुं० तिथिपर्व-  
 विलीकिकव्यवहारत्यागाद् भोजनकालोपस्थायां श्रावक-  
 स्वातिथिः साधुकल्पते तस्य संगते निर्दोषो न्यायागतानां  
 कल्पनीयाश्रयानादीनां देशकालश्रद्धासत्कारकमयुक्तः पश्चा-  
 र्त्कर्माविशेषपरिहारेण विशिष्टो भाग आत्मानुग्रहवृक्षा दान-  
 मतिथिसंविनागः । यथा संविनागपरत्नमकेः चतुर्थे शिशु-  
 भ्रते, च० ३ अचि० ( तस्य च )  
 अतिद्विसंविनागो नाम नायागपार्ष्णं कृष्णगिउजाणं अन्नं

पाण्डुराणं दन्वाणं देसकास्रसद्भासकारकमनुत्तं पराए  
 भर्त्सि ए आयागुग्मइवृष्टि ए संजयाणं दाणं ॥

नामशब्दः पूर्ववत् न्यायागतानामिति न्यायो द्विजसृष्टियवि-  
 द्युद्राणां स्वल्पाऽनुष्ठानं स्ववृत्तिश्च प्रसिद्धे च प्रायो लोकव्यव-  
 हारी तेन तादृशा न्यायेनागतानां प्रासानामनेनान्यायेनाग-  
 तानां प्रतिषेधमाह । कल्पनीयानामित्युद्गमादिदोषवर्जिताना-  
 मनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह अन्नपानादीनां द्रव्याणांमादि-  
 प्रहणाद्व्यवहारोपस्थापयित्वादिपरिग्रहः अनेनापि हिरण्यादिव्य-  
 वच्छेदमाह । देशकालश्रद्धासत्कारकमयुक्तं तत्र नामाग्निहि-  
 काद्रथकङ्कगोपूमादिनिष्पत्तिमादेशः, सुभिन्नदुर्मिषादिः का-  
 लः, विशुद्धचित्तपरिणामः अद्वा, अशुश्रुत्यानासनदानवन्द-  
 नानुव्रजनदिः सत्कारः, पाकस्य पेषादिपरिपाक्या प्रदानं  
 क्रमः, एभिर्देशादिभिः युक्तं समन्वितमनेनापि विपक्षव्यव-  
 च्छेदमाह । परया प्रचानया अन्त्योत्पन्नेन कर्मप्राप्तौ भक्ति-  
 तमतिशयमाह । आत्मानुग्रहवृक्षेति न पुनर्यस्यनुग्रहवृक्षेति  
 तथा ह्यात्मपरोनुग्रहपरा एव यतयः संघताः मूलशुशोत्तरगु-  
 णसंपन्नाः सायवः तेभ्यो दानमिति सूत्रात्तराण्यः आच० ६  
 अ० । अत्र वृक्षोक्ता सामाचारी श्रावकेण पोषधं पारयता  
 नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा पारयितव्यमन्यदा पुनरनियमो दत्त्वा  
 वा पारयति पारयित्वा वा ददाति तस्मात्पूर्वं साधुभ्यो दत्त्वा  
 पश्चात्पारयितव्यम् । कथं यदा देशकालो भवति तदात्मनो  
 विभूषां कृत्वा साधुस्तत्रैव गत्वा निमग्नयते भिक्षां वृद्धी-  
 तेति । साधूनां वा प्रतिपत्तिश्च्यते । तदा एकः एतलकमन्यो  
 मुक्कान्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेतो वा अन्तरायदोषाः स्वाप-  
 नदोषा वा मयसु स च यदि प्रथमतो पीठन्या निमग्नयते  
 अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याक्यानीयस्ततस्तद्भ्रान्ते । अथवा  
 नास्त्यसौ तदा न वृष्टते यतस्तद्ब्रह्मद्वयं भवति । यदि पुनर्ध-  
 नं लगेत्तदा वृष्टते संस्थाप्यते च यो बोद्धादपौरुष्यां पारयति  
 पारण्यकवान्त्यो वा तस्यै तदोयते पश्चात्तेन श्रावकेण समं  
 संघाटको व्रजत्येको न व्रजेत् प्रेषयितुं साधुपुरतः श्रावकस्तु  
 मार्गतो गच्छति ततोऽसौ शुद्धं नीत्वा तावासनेनोपनिमग्नयते  
 यदि निविशेते तदा त्रुद्यमथ न निविशेते तथाऽपि विनयः प्रयु-  
 को भवति ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति अथवा  
 भाजनं धारयत्यथवा स्थितं पशान्ते यावदन्नं साधू अपि  
 सावशेषं वृष्टीतः पश्चात्कर्मपरिहारेण्यथै ततो दत्त्वा वन्तित्या  
 च विसर्जयत्यनुगच्छति च कतिचित्पुत्रानि ततः स्वयं भुङ्क्ते  
 यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं तत् श्रावकेण न भोक्तव्यम् ।  
 यदि पुनस्तत्र प्रामादी साधवो न सन्ति तदा भोजनवैभवायां  
 दिगवलोकनं करोति विशुद्धभावेन च चिन्तयति यदि सा-  
 धवोऽभविष्यत्सदा निस्तारितोऽद्रमप्रविश्यामिति विभार्थं  
 गाथायैः ३१ पंचा० १ विष० । घ०० । घ० । आ० । " एसा  
 विदो खाणोसु बंधयारीसु भर्त्सिय गिदो उमगह कुजा पाणि-  
 उकामो व बरं इह परलोको व दाण कलं" आ० चू० ४ अ० ॥  
 अत्रय एष्वतिचाराः ।

तथाएतंरं व एण अइसंविनागस पंच अइआराजः-  
 णियव्वा न सभाःरियव्वा । तं नइहा सच्चिननसंसेवणथा  
 १ सच्चिचपेहुणया २ कालाऽइकमदाए ३ परवेदेसे ४  
 मच्छरया ५

यथा सिद्धस्य स्याथि निर्दिष्टमथेत् ॥ १७ ॥ इति सप्तमिः  
 इत्येतत्त्वेन पञ्चाशत्कर्मोद्दिष्टोपपत्तिहास्य विभजनं साधये दान-  
 इत्येव विभागकरणं यथा सविभागस्तस्य (सच्चित्तनिकक्षेवणे-  
 त्यादि) साचक्षुषु श्रीशार्दिषु निक्षेपणमथादेदानुबद्ध्या मा-  
 तुत्त्वान्तः सच्चित्तनिकक्षेपणमथं सच्चित्तन फलादिना रथगनम-  
 सच्चित्तनियानम् २ कालातिक्रमः कालस्य सायुर्मोजनकाल-  
 स्वातिक्रम उल्लङ्घनं कालातिक्रमः । अयमभिप्रायः कालमून-  
 मधिकं च ज्ञात्वा साधवो न प्रहीप्यन्ति शास्त्र्यन्ति च यथा-  
 १७ द्वादशैवं विकल्पतो दानार्थमभ्युत्थानमतीतचर इति ३ ।  
 तथा परव्यपदेशः परकीयमेतत्तेन सायुष्यो न दीयते इति  
 नानुसमन्तं भूयते जानन्तु साधवो यद्यस्यतद्गन्नादेकं ज्ञे-  
 यन्तु तदा कथमस्मत्प्रयं न दद्यादिति सायुष्यप्रयार्थम् अथवा  
 १७साहाय्यममानादेः पुण्यमस्त्विति भणयामि १७ मन्तरिना  
 अपरेशेदं दत्तं किमह तस्मादपि कृपाणां हीनो वाऽनोऽहमपि  
 दद्यामीत्येकरूपादानप्रवर्तकविकल्पो मस्त्विति पते चानि-  
 च्चार पय न भङ्गा दानार्थमभ्युत्थानं दानपरितोषश्च दृषितव्यात् ।  
 भङ्गस्वरूपस्य वैदेवमभिधानानु यथा " दानंतराय दाम्ना, ण  
 देहं दिङ्गतयं च वारंश्च । दिन्ने वा परितप्यद्, इति किवणत्ता  
 भवे भंगो " १ ७पा० १ ७ ॥ १७ ॥

अई ( ति ) १-अती, १-अ० अनि-श्च-स्वामसः । अनिशयार्थं,  
 पंचा० १९ विष्णु ० । "अईव निष्कंधपाराकश्चिन्मू " पञ्च० शाश्र०  
 २ शा० । "अईव सोमन्वाकरुवा" अतीश्च अनिशयन सोमं दृष्टिसु-  
 भगं चारु रूपं येयां तैः उतीया सोमन्वाकरुवाः जोः ३ प्रति० ३७ ।  
 अउअ [ य ]-अयुत-त० चतुरशीत्या इत्येगुणिते, अनु० । अ-  
 युतज्ञे, स्या० २ रा० । अनु० । जो । जं । दशमहक्षेपु, क-  
 न० । अश्वत्थं, अश्वयुक्तं च वाच० ।

अउअंग-अयुताङ्ग-त० चतुरशीत्या कश्चैगुणिते अर्धनिपूरे, जोः  
 ३ प्रति० । जं । कल्प० । स्या० । अनु० ।

अउअ स्र-अयुतासिक्त-त्रि० कारणकपालादेरपृथग्गन्ततया  
 सिद्धे कायचर्ये घटादेः, तथाभूते वैशेषिकेन चर्याधिते गुण,  
 कर्मणि च वाच० । आ० मं । मम० । स्या० ।

अउअङ्ग-अयोध्य-वि० परैयोध्यमशब्दे, जोः ३ प्रति० ।  
 उतीतःशारपरवलेः संप्रामथितुप्रमथके, स्या० ४ शा० ।

अउअङ्ग-अयोध्या-स्त्री० विनीताऽपरमात्मके पुरीजेदे,  
 तामाहात्म्यम् ।

अउअप्य पराधियादे जहा अउअ अयज्जा कोमहा विणीया  
 सा केये इक्ष्वागुनुमी रायपुरी कोमस्तत्रित पसा सिरिउसन्  
 अत्रिअश्विनोर्देणसुप्रअणंताजणं तदा नयमसस सिरिगी-  
 रणणदरस्स अवज्जनाउणा जसमदुमी गहुंसमज्जवाणं दसरदगम-  
 भरहादिणं च उज्जज्जाणं विमस्रवाइणा अस्स कुलगरा ण्य उण्य-  
 ण्ण सससमाणिणां उज्जज्जाणिणं मिठ्ठणमादिं निमीणांपत्तयं उ-  
 टयं विन्नुं वायुसुन्नुदं तसोसा हू विणीया पुरिसत्ति जणिअं स-  
 ङ्गण तसो विणीयात्ति न्ना नयरी रुढा । जय्यं य महासंघेप सी-  
 याए अण्णाणं माहंतीए निमरीअवलेण अग्गी जलपुगा कसो मो-  
 अउअपुरां नयरीं दातेतीं निअमाहोपेणं तीए, येय गविअश्रो जाय  
 सल्लुनगहवसुं दामोअस्स मज्जनुआ सया नवजोअणयिअिया  
 बासजोअणदीहा य जय्यं चकेसरी रण्यमयायतत्तादिअप-  
 दिमा संवविअं हरे । गोपुअज्जस्सो अ जय्यं थम्परदो उ-

सरऊ नईए समं मिलत्ता सग्गदुवारंति पसिअमावओ जीए  
 उत्तरदिआए बारसिदिं जोएयदिं अइयुअनमावरो जय्यं भ-  
 गयं आरगरो सिद्धो जय्यं य भरदेसरेण सीहांनिस्सिज्जायययं  
 ति कोसुअं कार्थं निवणियवणपमाएसठाएजुत्ताणि अ च-  
 उवीसिंजलाए विबाहं ठाविबाहं तथ पुव्ववारं उत्समजियायं  
 दाहियावारं संभवारं अउयं, पठिमइयुवारं सुपासाएणं अ-  
 इयुहं उत्तरदुवारे धम्माराणं दसएहं धूमसयं च भाउआणं  
 तेषु च कारिअं । जीए नयगरे वत्थथा जय्यं अइयुअयउअव्य-  
 यासु किल्लिउ जय्यो असेरीसययुरे नवंगवत्तिकारसाहास-  
 मुअवोहिं सिरिदेविदसुरीहिं चत्तारं महाविबाहं विव्वसत्तीए  
 गयलमगेल आणीआहं जय्यं अइव्वि नाभिरायस्स मंविरे  
 जय्यं पासनाहवामिअसीयाकुंउं सहस्सपचारं च पायारद्विओ  
 मसगयंउज्जस्स अलाविज्जस्स अग्गं करिओ न संचारी  
 संचरंति वा ना मरंति गोपयगंणिण य अगेगाणि य लोअअनि-  
 दाणि वदंति "पसा पुं" अउज्जा, सरउज्जाअभिसिक्कमाएण-  
 गदभित्ति । जिलसययसंत्तिन्धी, जत्तपयिअत्तअज्जाण जय्यं ॥  
 कंउं पुण देविदसुरीहिं चत्तारि विवाअ अउउअपुरओ आणि-  
 याणित्ति जअऊ संरीभयभयरे विहरेता आराहिअपठमायइध-  
 रसिद्धा उत्तायल्लीयसिरे देविदसुरीणो उ कुकि कल्पे उण्णे-  
 काउसमि कसि सु पव यहुवारं कारिते दट्टेण सावपादिं पुचियं  
 भययं को विमसो ण्य कउसमगकरणे सुरिदिं जणिअं ण्य ण्य  
 पदाणफज्जहा । चउअ जोसे पासनाहपदिमा कीरइ सा य सत्तिदि  
 अयादिहंरा हवइ तसो साययवण्येणं पठमावहं अराहण्यो  
 उववासत्तिग कयं दुण्णा आगया जगवइ तीपं आइइ उहा सो  
 पारए अओ सुत्तहारं चिट्ठे सा जइ ण्य आगच्छइ अउमज्जं  
 च करइं सुए अयथिए फलदिअं अंआइममाइवइ अयुए  
 पठिपुअं संपादेइ तसो निण्यज्जइ । तसो सावपादिं तदाहयण्यं  
 सो पारए पुरिता पठिअसा ओ आगओ तंइय धदि तमाइता  
 धरणिदधारिआ निण्यआ पदिमा धरित्तस्स सुत्तहारस्स पदि-  
 माएहिं अयमात्ता पाउअओ । तसुविअिअणणा उत्तरकाउं ध-  
 रिओ पुणो समारिणेण मसो दिट्ठा हांकि वाहिआ कहरं निस्स-  
 रिअमारकं तसो सुरीहिं ज्ञाणअं किमयं तुमए कयं पयिम  
 मसे अय्यं तं पादिमा अईव अउजुअ अह उस्समपपभा हुंता ।  
 तसो अउअङ्गं चंपितं थंमिंउं सवदिरे एयं तीसे पदिमाए नि-  
 पपशाए चउअसं अआणि विवाणि आणीहिता आणित्ता उधि-  
 आणित्ताओ विव्वसत्तीए अउउअपुरओ तिअ महाविवाणं चत्तीए  
 गयणमगेण आणियाणि । चउयं वि आणिअमाणे विहाया  
 रयणी चउवारासंणयग्गामे शिअमज्जे विअं ठावइ रामावि-  
 णिअमारपारेण वातुकुअववणा चउअयं विअं कारिता ठावियं  
 यं संरीसे महप्यज्जायां पासनाहो अअयं वि संणेण पुइअइ मि-  
 क्कयावि उववहं कारितं न पारंति कुसुअधरिणेण न तथा सत्ता-  
 वच्चा अययवा हीसेति नमिअ गामे नं विअं अइव वि चरेहरे पु-  
 इअइत्ति । इतिअं अयोध्याःकल्याः स्वमातः ती० १३ कल्प० । गवि-  
 ष्यायतीविजये वतंतामे पुरीयुगलं च "हो अउउअओ" स्या० २० रा  
 अउ ( तु ) त्त-अनुत्त-त्रि० अनन्यसदशो, षाव० ६ अ० ।  
 इ० । निरुपमे, सत्त० २० अ० प्रघाणे, धा० । नास्ति तुहा अ-  
 उताया यस्यामिति निरुक्त्वुक्ते, पुं० । याच० ।  
 अश्रो-अतस्-अ० इत्ये तस्मिन्-यत्तेतुकार्यं, वाच० "अश्रो सञ्जे  
 अहिंसिया " मूत्र० १ पु० १ अ० १ उ० ।

अभोधण

अभोधण-अभोधण-पुं० होहधने, अभोमये चने, " सीसंवि  
निदति अभोधणेहि " सूत्र० ४ अ० २ उ० ।

अभोमय-अभोमय-त्रि० भोःअभय विकारे, "अभोमयणं संनत-  
एण गहाय" सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अभोमुह-अभोमुह-त्रि० अय इव मुकं यस्य होहमुजे  
पह्यादी, "पचकीर्दि क्जति अभोमुहदि" सूत्र० १ अ० ४ अ० २  
उ० । अभोमुहद्वीपनिवासिने मनुष्ये, "०" स्था० ४ उ० ॥

अभोमुहदीप-अभोमुहदीप-पुं० गोकर्णनाम्नोऽनरखीपस्य  
परतो दक्षिणपश्चिमायां विदिशि पञ्चयोजनशतव्यतिक्रमेण  
क्षिने पञ्चयोजनशतशामयिषकम्मे एकशाल्यधिकपञ्चदशयोज-  
नशतपरिःक्षेपे पन्नपर्यदिक्वावन्क्षारमपिनवाद्यप्रदशऽत-  
त्रोपविशोपे, न० । अङ्क० । स्था० ।

अं०क-अङ्क-पुं० अङ्क-प्रज्ञा । शुल्कमणि विशेषे, सत्त० ३४ अ०  
रत्नविशेषे, ज्ञा० १ अ० जं० । ज्ञा० । रा० । सूत्र० । सत्त० ।  
जी० । अ० । आ०म०३० । प्रज्ञा० । नि०चू० । " पदमानसोप-  
विष्टभ्योऽस्त्ररूपे आसनबन्धे, चन्द्र० ४ पाठु० । चन्द्रबिम्बा-  
न्तर्बन्धिसूत्रावयवे च । यज्ञोक्तं सूत्रादिव्यपदेशं लभते जं० ३ वक्र० ।  
सू० । चिह्ने, चन्द्र २० पाठु० । लाघुने, औ० । उन्मत्ते, व्य०  
न उ० । जं० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । इत्यकाव्यभेदे च पुं०  
न वाच० । इत्यकाव्यरूपकभेदे, एकत्वाद्दिसंख्याधोषकरासा-  
न्वयेशे नवसंख्यायाश्च पुं० वाच० ।

अंककंड-अङ्ककाण्ड-न० अङ्करत्नमये योजनशतयाहल्ये रत्न-  
प्रभावाः खरकाण्डस्य चतुर्विंश भाने, स्था० १० उ० ।

अंककण्ड-अङ्ककण्ड-न० वनस्पतिविशेषे, आचा० १  
सू० । अ० ५ उ० ।

अंककण्ड-अङ्कस्थिति-स्त्री० संस्थारेखाविचित्रस्थापनरूपायां  
त्रयध्वत्वारिंशत्कलायाम्, कल्प० ।

अंककण-अङ्कान्त-न० अङ्क-न्युद् । तमायःशशाकदिना गवाभानां  
चिह्नकरणे, प्रअ० अअ० १ ज्ञा० । ५० । श्वशासत्तरणादिनि-  
सोऽनुकल्पे च श्राय० ४ अ० । अङ्क-करणे ल्युद् । अङ्कसा-  
पनद्रव्यं " गदागामीति " प्रसिद्धे, वाच० ।

अंकध ( ह ) र-अङ्कधर-पुं० ६ त० चन्द्रमसि, जी० ३  
प्रति० । तं० । जं० ।

अंकधाह-अङ्कधात्री-स्त्री० उन्मत्तस्थापिकायां धात्र्या, ज्ञा०  
१ अ० । नि० चू० । आवा० ।

अंकधगिय-अङ्कधागि ( ज )-पुं० अङ्करत्नगणिजि, रा० ।

अंकमुह-अंकमुख-न० ६ त० पद्यासोपविष्टस्य उत्सङ्कर-  
पासनबन्धाप्रज्ञागे, सू० ५ पाठु० चं० ।

अंकमुहसंतिप-अङ्कमुखसंस्थित-त्रि० पद्यासोपविष्टस्योत्स-  
ङ्करूप आसनबन्धनस्य मुखमप्रज्ञागोऽर्द्धत्रयकारत्तस्येव सं-  
स्थितं यस्य । अर्द्धत्रयकारत्तसंस्थानसंस्थिते, सू० ५ पाठु० ।  
चन्द्र० ।

अंकसिधि-अङ्कसिधि-स्त्री० ब्राह्मण्या सिपेर्द्धादेशे लेख्यविधाने,  
प्रज्ञा० १ पद० । स० ।

अंकपय-अङ्कमय-त्रि० अङ्करत्नमये, अङ्करत्नविकारे, अङ्क-  
रत्नप्रचुरं वा "अंकमया एकजापकसवाहा" ओ० रा० । प्रति० ।  
अंकावई-अङ्कवत्-स्त्री० मदीविदहरस्यविजये वर्तमानायां

राजधात्यायाः । " रस्मे विजये अंकावई रायहाशी अंजने  
वष्कारपवम्" ज० ४ वक्र० " दो अंकावईओ" स्था० २ उ० ।  
मन्दरस्य पूर्वे शीतोदाया महादाना दक्षिणे चत्सैतैभनत्कार-  
पर्यते च स्था० ४ उ० ।

अंकिअ ( य )-अङ्कित-त्रि० लाभिकृते, आच० ४ अ० । औ० ।  
अंकिअ-देशी० नदे, ज्ञा० १ अ० ।

अंकुदग-अङ्कटक-पुं० नागदन्तकः जं० १ वक्र० ।

अंकुत्तरपास-अङ्कौत्तरपास-त्रि० अङ्का अङ्कत्तमया उत्तर-  
पास्यां यस्य तत् अङ्कौत्तरपासवत् । अङ्करत्नमयोत्तरपासव्यु-  
क्ते द्वारे । रा० । जी० ।

अंकुर-अङ्कुर-पुं० न० अङ्क-उरच् । प्ररोहे, वृ० १ स० ।  
शाल्यादिविजसव्धि, ज० ७ उ० ७ श० । कास्रकृतावस्थावि-  
शेषनाजि प्रवृत्त, जी० ३ प्रति० । स्था० । " अग्ने बीजे यथा-  
ऽत्यन्तं प्राडुभवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा अग्ने न रोहति  
भवाङ्कुरः" ध० २ अधि० । जले, शिवात्पाससाधम्यात् । रधिरे,  
भोः । न्, मुकुत्ते च वाच० ।

अंकुस-अङ्कुरा-पुं० न० अङ्क उशश्च शूर्णौ, प्रअ० अअ० ४ ज्ञा० ।

" अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपदिवाओ" सत्त० २२ उ० ।  
अङ्कुराकारं मुक्ताहामावर्द्धमानाभयभूते चन्द्रोपके, जी० ३  
प्रति० । स्था० । आ० म० चि० । विमानविशेषे, स० । देवावर्णार्थं  
वृत्तपल्लवाकर्णार्थं परिभाजकोपकरणविशेषे, औ० । पठे चन्द-  
नकरोपे, तत्त्वरूपे च ।  
उवागरोपे हृत्त्वमि व, धितं णिपेसेति अंकुसंस्विति ।

यथाङ्कुरेण गजमिषि शिष्यः सूरिं त्वर्थास्वितं शयितं प्रयोजना-  
न्त्यव्यभोपकरणे चोद्गष्टकटप्याहो हस्ते वाऽवहत्या समाकृ-  
ष्य चन्द्रकदानार्थमासने उपवेशयति तद्दङ्कुरावन्दनकमुच्यते  
महि धीपूर्याः कदाचनान्युपकरणेषां कर्णमहंन्यविनयत्वात्  
किं तु प्रणामं कृत्वा कृताञ्जितुद्वैधिनयपुत्रेकामिदमभिधीयते  
उपविशतु भगवन्तो येन चन्द्रकं परेष्यामीत्यतो दोषदुष्टमि-  
दमिति । आवश्यकवृत्तौ १ रजोदरणमङ्कुरावत् करण्येन  
गृहीत्या यत्र वन्दते तद्दङ्कुरमिति व्याख्यातम् । अन्ये तु  
अङ्कुराकान्तस्य हस्तिन इव शिरोवनमनोन्मने कुर्वाणस्य  
यद्बन्दनं तद्दङ्कुरमित्याहुः एतच्च इयमपि सूत्रानुयायि न भव-  
ति । तत्त्वं पुनर्बहुभुना जानन्ति प्रव० २ ज्ञा० । भाव० । ध० ।  
" अंकुसं दृविहा मूत्रे गंक्षुस्स रयहणं गहाय भणति निवेश  
जा ते वेदाभि भवथा वीहि वि ह्येहि अंकुसं अधा आ०  
चू० ३ उ० । प्रतिबन्धे च वाच० ।

अंकुरा-अङ्कुरा-स्त्री० अमन्तजिनस्य शासनदेवतायाम्, सा  
च देवी गौरवर्णा पद्यासना चतुर्भुजा अङ्कुराशयुक्तदक्षिणपा-  
णिद्वया फलकाङ्कुराशयुक्तामकटप्या च प्रव० ५ उ० ॥ ४

अंकुरापरहार-अंकेरुणपरहार-पुं० अहवादीनां तर्जकविशे-  
षाघाते, अंकेरुणपरहारपरिचक्षिण्ये अंकेरुणपरहारपरिचक्षिणाः  
अहवधारमनोऽनुकृत्वावद्वेक्षणपरहाररहितशरीरे अम्बादी, वि०  
जं० ४ वक्र० ।

अंकोष्ठ-अंकोट [ उ ] [ ल ] पुं० अङ्कयते लक्ष्यते कीला-  
कारकपटेः अङ्क-ओट-ओट-ओला-आ । अंकोटेल्ल । १ । १०० ।  
इति सूत्रात् उच्ये द्विक्रमो लः प्रा० पीतवर्णसारे गन्धयुक्तयुत्पे  
दीर्घकपटकयुक्ते रत्नवर्णकते वृक्षविशेषे, वाच० एकस्थिकवृ-  
क्षभेदे, गुणजनेदे च प्रज्ञा० १ १६० । कल्प० ।

अंकोष्ठोत्तर-अंकोट [ उ ] तस्य- न० अङ्कोट-तैत्तच् अङ्को-  
टाशेषस्य षेष्ठः ८ । ३ । ५५ । इत्यङ्कोटपयुंदासात् न तैत्तप्रत्य-  
स्य षेष्ठः । अङ्कोटस्येत् । प्रा० ॥

अंग-अङ्ग-अ० प्राग्व्येण, ज० ए श ३३ उ० दशा० । हा० ।  
शौ० । अङ्गकारे च । "विभ्रमा पुण अहं अङ्कोवगमिषो" स्या०  
४ उ० अङ्गुल्यकिञ्च जगतिस्थितिप्रसङ्गं धातोरज्यन्ते गर्भोत्पत्ते  
रारणं च्व कीजप्रति जन्मप्रसूतेर्हन्ते चेत्यङ्गानि । शिर-  
स्रराशिषु न० कर्म० । देहावयवेषु, प्रव० ८ हा० । आ० चू०  
प्रहा० निष्ठा० विद्यो० वक्त० अङ्गान्यथै शिरः प्रजुतीनि तदुक्तं  
" स्वीसुपुरोवरपिच्छ, दो वाह ऊरुया य अट्टंगा " कर्म०रा० ।  
" आहृदुदिसिस्वरउचरंगा " बाहू लज्जहयम ऊह ऊहयं  
पृष्टिः प्रतीता शिरो मस्तकमुरो वक्त्रः उदरं पोष्टमिष्यवहङ्गु-  
च्यन्ते इह विभ्रमः(कोषः) प्राग्वन्वात्, कर्म० १ क० । आ०म० ।  
गाथे, शौ० । स्या० । उ० । अङ्गमये, स्या० ७ डा० । " अट्टं-  
गाथं " शौ० १ अ० । स० । स्या० शौकिकानि वेदस्य यद-  
ज्ञानि तद्यथा सिद्धा १ कल्पे ३ व्याकरणं ३ उन्नी ४ नि-  
क० ५ ज्यौतिषं ६ केति आ०चू० २ अ० । अतु० । अ० म० ।  
आ० । लोकोत्तराणि प्रयत्नस्य श्रावश अङ्गान्याचा-  
राङ्गादीनि ( तानि अंगपविदुशब्दे व्याख्यास्यन्ते ) कारणे,  
प्रति० । स्या० ।

अस्य निष्पत्त्यामाह ।

रामंगं ठवर्णंगं, दत्तवंगं चैव होइ भावंगं ।

एसो खलु अंगस्य, गिक्खेवो चउत्विहो होइ उ० नि०  
नामाङ्कं स्थापनाङ्कं द्रव्याङ्कं चैव प्रवति भाषाङ्गमेव खलु  
( अंगस्य रति ) प्राकृतव्यादङ्कस्य निष्पत्त्यानुविधिं भवतीति या-  
थासमासायः । अत्र च नामस्थाने प्रसिद्धत्वाद्नाहस्य द्रव्या-  
ङ्कमभिधिसुराह ।

गंधंगोत्तरंगं, मज्जाउज्जं मरीरजुत्तंगं ।

एसां एकैकं पि य, ऐगविहं होइ एणव्वं ॥

गन्धाङ्गमोधाङ्कं (मज्जाउज्जं सर)रजुत्तंगं विन्दोरलाङ्गणिकाया  
दङ्कशब्दस्य च प्रत्येकमभिसंबन्धात् मघाङ्कमानोधाङ्कं शरीराङ्कं  
युक्ताङ्गमिति पङ्क्तिप्रथमं ( एषोति ) सुख्यव्यवादेषु मध्ये एकै-  
कमपि चानेकविधं भवति ज्ञातव्यमिति याथाङ्कराषः । माघार्थे  
तु विवक्षुराचावो "यद्योद्देशं निर्देशमिति" न्यायमाश्रित्य गन्धाङ्कं  
प्रतिपादयन्नाह ।

जमदग्निजडा हरेणु-या मवरगिबसणयं सपिसियं ।

रुक्खसस बाहिरा तथा, मद्धियवासियकोडिअभयती ॥

उसारीहिरिवेराणं, पडं भद्दाकुणो करिसो ।

सत्तपुप्फाण भागां य, भागां य तमालपत्तसस ॥

एयं पण्णाणमयं, विदेवणं एस चैव पडवामो ।

वासवदत्ताकतो, उदयणमज्जिधारयती ॥

तत्र जमदग्निजटा बालको हरेणुका मियङ्कः सबरविनसकं  
तमालपत्रं (सपिसियं) गिष्णिका श्यामकाक्यं गन्धद्रव्यं तथा सह  
सपिसिकं वृक्षस्य च बाष्पा त्वङ्कं चातुयोत्तकाङ्कं प्रतीतमेव  
"मद्धियवासियसि" मल्लिका जातिस्तद्वागिनिसमन्तोरुद्रव्य-  
जातं चूर्णीकृतमिति भवत्ये कोटिं ( अश्व रति ) अहंति कोटि-  
मूल्याहं प्रवति । महावैतोपसकमं चैतत् तथा उशीरं प्रसिद्धं  
होचैरो बालकः पल्लं पल्लममोस्तथा मज्जादावैचक्षण्योः कर्षः

" सवपुष्पाणि " वचनव्यत्यायात् शतपुष्पाया ज्ञानो प्रागङ्क  
तमाङ्गपत्रस्य भाग इह पल्लिका भाषा । अस्य माहात्म्यमाह । एत  
त्क्षानमेतत्तिलेपनमेव चैव पडवासः बासवदत्तया चण्डमघात-  
दुहिना कृतो विहित उच्यते चोपावत्तत्तज्जमजिधारयत्या च-  
तसि वहन्या अनेन परिष्कारोपकृत्यमस्य महात्म्यमुक्-  
मिति सूत्रार्थः । श्रीब्रह्माङ्गमाह ।

दोषि य रयणी महिदं-फलं च तिषि य समुत्सर्गायारं ।  
सरमंभ कणयमूलं, एसा उदगद्व्यागुडिषिया ॥  
एसा उ हण्यं कंठुं, तिमिरं अत्रदेहकं मिरोरोगं ।  
तेज्जगचाउत्तव्यम-सूमसत्पावरकं च ॥

हे रजन्वो पिएदताहदरिद्रे माहेन्द्रकं चैन्द्रयथा श्रीषि च  
समूयणं निकटुकं तस्मात्तुषिणि सुपेर्डापिप्लीसीरित्रद्रव्याणि स-  
रसं चार्द्रककमूलं विदग्मूलमेपोदकाधमेपुद्रकमधुमं यस्यां  
सा च तथा गुटिका वटिका । अस्यैः फलमाह । एषा तु हनि  
करतुं निमिरं ( अत्रदेहयति ) अहंशिरोगं समस्तशिरा-  
व्यथां ( तेरज्जगचाउत्तव्यसि ) सुषेणं सोपे तानीयिकाचतुर्थीका  
कथा उपर्यै सूयकसत्पापराजमुन्दराहदिदं वः समुच्चय इति  
गाथाङ्गार्थः । मघाङ्कमाह ।

सोत्स दक्खाजागा, चउरो जागा य धावतीपुप्फे ।

आहगमो उच्चकुरसे, यागद्वयाणेषु यज्जंगं ॥ दारं ॥

( सोत्ससगहा ) योदरा द्वाकाजागाश्चवारो भागाश्च धात-  
कीपुणे धानकीपुष्पवियथाः ( आहगमोत्त ) आर्णवाहादक-  
इसुरसवियथाः आदक इह कथं मानेनेत्याह । भागधामने "त्रो-  
असह" इत्यादिकेपेण मघाङ्कं मदिराकारणं जवतीति याथायर्थः ।  
आतोधाङ्कमाह ।

एगं मयुंदात्तर-मेगं अहिमारुदारुक्कं अग्गी ।

एगं साङ्गियपोरं, बच्चो आमोत्ततो हाइ ॥

( एगंगाहा ) एकं मकुन्दान्यमिति । एकैव मकुन्दा धादिक्-  
विशेषः गम्भीरस्वरत्वादिना तृथकार्यकारित्वात् तूर्यमनेनास्या  
विशिष्टमातोधाङ्कत्वमेवाह । किमेकैव मकुन्दान्यं सोपस्कार-  
त्वाप्येकमभिमारस्य बुद्धिविशेषस्य दारुकं काष्ठमभिमारद्वार-  
कमन्निर्विशेषतोऽग्निजनकत्वात्पचा वा एकं शास्त्रलीपांशु-  
शरत्तमलीपुष्पं बद्धमामोदको जवति । आमोदकं पुष्पेन्मिधो  
वालव-धविशेषः स्फारत्वाद्देवतयं दृष्टान्ताजिघासितयेदं व्या-  
ख्यायते प्रसङ्गतो वाग्ध्यामोदकाङ्कयोरप्यभिधानमिति सू-  
त्रार्थः । शरीराङ्कमाह ।

सीसं उरो य उदरं, पिड्ढो वाहु य दोषि ऊरु य ।

एए हौति अट्टंगा खलु, अंगोवंगाई ससाई ॥

हौति उवंगा कसा, एामच्छंहन्यपादजंया य ।

एहकेसमंसंगुडि, ओट्टा खलु अंगुवंगाई [ दारम् ]

शिरश्च उरश्च प्राग्मुदरं "पिडिडि" प्राकृतत्वात्पुड्ढं वाहु इौ  
ऊक च एतान्यथाङ्गानि । प्रावद लिङ्गमन्वयः कलुध्वधारथे  
एतान्येवाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि शेवाणि नखादीनि उपलक्षणत्वा-  
द्दुपाङ्गानि च कर्णादीनि यत् उक्तम् । हौति उवंगा कथा नासच्छी  
जंभहृत्पयाया य । नहकेसमंसंगुलि ओट्टा खलु अंगुवंगाई  
इति याथायर्थः ।

अंग

साम्रं युक्ताङ्गमाह ।

जाणावरणपहरणे, शुक्र, कुसलसूत्रं च एतीती य ।

दस्वचं ववसातो, मरीरं आरोरागए चैव ॥

( शारम् ) ( जाणावरणपहरणेण ) यानं च इत्यादि तत्र सत्यापि न शास्त्रोपनिमित्तं शत्रुभुत आवरणं च कश्चादि सत्याप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति प्रहरणं च अङ्गादि याणावरणप्रहरणानि यदि युद्धे कुशलस्य नास्ति किं यानादिनेति युद्धे संभ्रामं कुशलस्य च प्राचीनयुद्धे सत्यप्यस्मिन्निति विना न शत्रुजन्यनमता नीतिभ्यापकमादिलक्षणा सत्यामाप चास्यां दक्ष्याधीना जयस्तनो दक्ष्यामाङ्गाकारित्यं सत्यस्मिन्नियंयसायस्य कुतो जय इति व्यवसायो व्यापारस्तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्गं ततो न जय इति शरीरमयोत्पिरिपूणाङ्गं तत्राप्यारोभ्येय जयायेति ( आरोरागयासि ) आरोरागता चः समुच्चये पचापधारणे ततः समुद्रिनामनेषु युद्धाङ्ग्यमिति सुबाधः भावाङ्गमाह ।

जावेगं पि य लुविहं, सुतमंगं चैव एोसुतं अंगं ।

सुतमंगं वारसहा, चउत्विहं एोसुयजंगं ॥

भावाङ्गमिति च द्विविधम् ( सुयमंगं चैवापि ) कुनाङ्गं चैव नो-अनाङ्गं च । कुनाङ्गं द्वादशधा आचारादि भावाङ्गना चास्य क्षायापशमिकत्रायाननतन्त्यात् । उक्तं च " भाये स्वश्रावसमिप दुवालसंगं पि होति सुयणागुति " अतुर्विधं चतुष्पकारं नोभुनाङ्गं तु नोशुभ्रस्य स्वर्थनिर्वाधार्थंन्यादभुनाङ्गं पुनः मकारश्च सर्वे-अत्राज्ञानिक इति गाथायै । एतदेवाह ।

यागुस्यं धर्ममुत्ती, सच्छा तवमंजभीम्य विरयं च ।

एए जावेगा सल्लु, दुल्लभगा होति संसारं ॥

मानुष्यं मनुजन्मस्य चाहातुपत्यस्य एतद्वन्नः शेषाङ्गमाधा-तु धर्मस्युत्तर हेतुप्रणीतधर्ममंकार्शेन अक्षा भर्मकरणाभिहायः । तयोऽनशास्त्रिस्तत्राधानः संयमः पञ्चाश्वविरमगादित्यतः संयमो मध्यमपदशेषः समासः । तपश्च संयमश्च तपःसंयममिति समाहारो वा तस्मिन्चार्थे च शीर्थोत्तरायङ्गयोऽपशमसमुत्था शक्तिः । अस्य च द्विष्टस्याप्येककथेन विवक्षितत्वाभोक्तसंख्या-विरोधः । एतानि जावाङ्गानि सल्लु निश्चिनं दुल्लभकानि भवन्ति संसारं सिङ्गन्त्ययश्च प्राकृतत्वादेतच्चानुक्तमपि सर्वत्र जावनीयमिति गाथायैः । इह उच्यतेऽप्यु शरीराङ्गं भावाङ्गेषु च संयमः प्रधानमिति । तद्वैकार्थिकान्याह ।

अंगं दूतजागभेप, अवयव अमगल्लुसिष्यावेमे ।

देसं पदेसपक्वे, साहापदरुपज्जवसिहं च ॥

दया य संजमे लज्जा, दुगुंठा अचछलणादि य ।

तितित्क्वा य अहंसा य, हिरीं पि एणदि पदा ।

अङ्गदेशभागो मेहाऽवयवोऽलकलक्षणयोः अणो देशः प्रदेशः पर्व शाला पाटसं पर्ययः क्लिष्टं चेति शरीराङ्गपूर्वया इति वृत्ताः व्याख्यानिकस्त्वविशेषतोऽस्मी अङ्गपूर्वयावस्तथा ( दसभाग-लि ) द्वादशाग इति च भिन्नावेष पर्यायावित्याह । चः समुच्चय-सुप्रत्याख्य सुपुः क्वचिद्व्यञ्जयमिति । संयमप्रयायानाह द्या च संयमो सञ्जा लुगुत्ता अचछलना । इतिशब्दः स्वकपो-परामर्शकः पर्यसे योद्धयते तितिहा आहिसि च न्हीभ्योकार्थ-कल्पनाक्षिभियेयानि इत्येति सुव-नशास्त्ररूपानि पर्यायानि धान च नानदिश अभियेयानुपहाधेयमिति गाथाद्वयायैः । चसं ३ अङ्ग-स्यां । अत्रयते श्वत्कृतियते ऽस्मिन्निति अतुर्विधं नामस्थाप-

नाख्यमायभेदात् । तत्र नामस्थापने ध्रुये द्रव्याङ्गं इशरीरज-व्यशरीरव्यनिरिकं शिरो याङ्गादि । जावनेऽयमेवाचारः आवा-राङ्गम् आवां १ कुं १ अं १ उं । चित्तं, अङ्गजे कामे उपायं, प्रधानोपयोगिनि उपकरणे, फलवस्तुनिपाद्यफलं तदङ्गमिति मीमांसा जन्मादिलभने, यस्मान्प्रत्ययविधिस्तद्वदि प्रत्ययङ्गमिति पाणिनिनाप्येते प्रत्ययार्थोपचरुते शब्दभूते च वाचः । अय-भरेवस्य द्वादश पुत्र, कल्प० । नौ० । जनपदविशेषे, यत्र अम्पा-नगरी इां ८ अं० । प्रयः । स्या० । वृ० । कल्प० । सुत्र० । अङ्गा-पुं० अङ्गानां राजा आङ्गः अङ्गदेशाधिपे, बहुदेशाणां लुक् अङ्गा अङ्गदेशस्तत्राजानो वा भक्तिरस्य अण आङ्गः अङ्गदेशभक्तं, अङ्गराजभक्तं वा ङि० । अङ्गनागमम् आङ्गः अङ्गनिमित्ते कार्थ्ये, याणोवाङ्गं वलीः इति परिज्ञाया वाच० अङ्गं शरीरा-वयवस्तद्विकारः आङ्गम् । देहावयवकारे, स्या० ८ जा० । अङ्गं प्रथमाङ्गम् । शरीरान्तरे, लृट् १० अं० कु० अङ्गवयवयमा-ङ्गम् । अत्र० ४ अं० । शिरःस्फुरणादौ, स्या० ८ जा० । शरीराऽवयवप्रमाणस्पदिनाद्विकारकज्ञानावकं महानिमित्त-प्रेदे, स० । अङ्गस्फुरणादिजिः शरीरावयववयव्यनप्रमाणादि-भिरिदिह वर्तमानमतीतमनागत वा शुभं प्रशस्तमशुभं वाऽऽश-स्तमस्यमे कथ्यते तज्जग्यते अङ्गं निमित्तं यथा 'सूनि स्फुर-त्याद्यु पृथिव्ययामिः, स्थानपूर्विकश्च ललाटदेशः । शुभाणमध्य प्रियसंगमः स्याःशशासिमध्यं च महार्थज्ञानं' इत्यादि प्रथ० ३५७ इा० "दक्षिणपार्श्वे स्पन्दनमग्निजास्ये तत्फलं (स्त्रिया वासे) पृथि-वीलासं शिग्लि, स्वान्विद्युकिंशते स्यात्" इत्यादि स्या० ८ जा० ( आङ्गान्मनो महानिमित्तस्य सूत्रादिमानम् ) "अंगस्य सय-सहस्रं, सुसचित्तो य काङ्क्षिष्यमा । वक्ष्माणं अप्रपिदये, श्व-मेव य वक्षिष्यसी" श्रा० ४ अं० । श्रा० चू० । स० । अंगअ-अङ्गज-पुं० अङ्गाजान्ये जन-र-पुत्रे, कौ० इा० । आ० वृ० । दुहितरि, स्त्रा० देहजातमात्रे, ङि० उधिरं, न० रेवे, पुं० लामि, न० अङ्गं मनस्तस्याजान्ये कामे, पुं० वाच० । अङ्गद-न० अङ्गं दायति शोचयति दै-क-बाहुशीर्षाभरणे, प्रहा० ८ पद० । उी० । ज० । हा० । स्या० । र० । औ० वाहि-वानरराजपुत्रे, वाच० ॥ अंगद-अङ्गजित्-पुं० अत्रस्तीवास्तस्ये पृष्टपतिभेदे, नि० स्या० । ( स च पार्श्वजिनान्तिके प्रह्वयं गृहीत्वाऽनशनेन मृत्या अन्-विमाने च-न्वयेनोपपन्न इति चंदशब्दे वक्ष्यते ) अंगद ( रि ) सि-अङ्गर्षि-अङ्गर्षि-पुं० अंगपावास्तस्ये कौ-शिकार्थशिष्ये, तस्य प्रद्वत्वाद्ङर्षिरिति कौशिकार्येण नाम कृतम् । आ० म० इि० । आच० । आ० वृ० । आ० क० । तीये० । ( तेनापशमे सति सामाधिकमवाय केषलमधिगतमिति अङ्ग-वशब्दे वक्ष्यते ) अंगचुलिया-अङ्गचुलिका-खी० अङ्गस्याऽऽवारादेशचुलिका यथावाचारव्यनिकविषया इहातुत्तायं संप्रतिहा चुलिका । का-निकशुननेदे, पा० । मं० स्थानाङ्गसुत्रे तु संकेपिकादेशायास्तु-तीयाध्ययनत्वेनेयसुक्ता स्या० १० । २० । सम्प्रत्युपलभ्यमानाङ्गचुलिकायाप्यस्येधमातरमादिः । नमो सुभ्रदेवयापु अंगवर्षे नमो अरिहंतापानं नमो सिक् । एां नमो आयरियाणं नमो उवज्जायाणं नमो कोए सवसा-ह्रां । तेषां कालेणं तेषां समएणं चंपाणामं एषरी होत्या



वसओ पुसभदे चेत्तए । तेणं काज्ञेणं तेणं समएणं  
 समएस्स जगवओ महावीरस्स अनेवासि । अज्जमोहम्मं  
 एणं अणगारं । जाइयपणे जहा उववाए जाव चउणा-  
 णमंपणे । पंचादिं अणगारसणदिं मंपारवुमे पुव्वाएएण्विं  
 चरमाणे जाव जेणव पुसभदे चेए अट्ठार्याइस्सुवं विहरइ  
 परिमा णिग्गया । धम्मं सोबा एिस्सम्म जावेव दिस्सि पा-  
 उव्वुआ तावेव दिस्सि पणिग्गया । तेणं काज्ञेणं तणं मम-  
 एण अज्जसुट्टम्मसस अनेवारी अज्जजंजुणाण अणगारे ।  
 जायपहे जाव जेणव अज्जसोहम्मं सामी तेशेव उवागच्छइ  
 उवागच्छत्ता तिष्ठुओ आयाहिणं पयाहिणं करइ करिंसा  
 वंदति एमंसति वंदित्ता एमंसित्ता जाव पज्जवास-  
 ति एवं वयासी । जइ एं भंते समएणं भगवया महावी-  
 रेणं जाव संपत्तेणं इकारस अंगाणं अयमहे पन्नत्ते इका-  
 रसं अंगाणं अंगचूलियाए केअट्ट पन्नत्ते तनेणं अज्जसुह-  
 म्मे अणगारे जंजअणगारे एवं वयासी । एवं खलु जंज-  
 मणेणं जाव संपत्तेणं अंगचूलियाए अयमहे पन्नत्ते ।  
 जंजुअंगचूलिया अंगचूलियायाण्यया । जहा कण-  
 यगिरिचूलिया मिआ । चत्तालीसं जेअणुआ कण्यगि-  
 रम्मि मणिसिज्जे दीसंति । जहा वुरिमिच्छीणमच्छी ।  
 जहा य चूलियाए सिंरं सोज्जति मणिएरयणांरियमउकेणं  
 मउत्तियं दिप्पति निलयरयणेणं जालं दिप्पति । विवि-  
 हनाणाणामिणुचयकुंरुलुजुअलेणं क्कमे दिप्पति । तेहिं  
 विलिट्टिजमाणं गंढे दिप्पति । उअयनासाए विमजस-  
 मुत्ताहलं दिप्पति । कज्जलेणं विसाउत्तोअणे दिप्पति ।  
 पंचसुमं धएणं तंवेत्ते वयणकमलं दिप्पति । मंवावर-  
 णेणं गीवा दिप्पति । वरमुत्ताहलहारएणं वच्छत्तं दि-  
 प्पति । वरकुणगरयणखंचयकमिनुत्तएणं कइं दिप्पति ।  
 नेउरेणं पाए दिप्पति । तथा अंगचूलियाए इकारसं अं-  
 गाणि दिप्पि । सा अंगचूलिया निग्गयाणं निग्गंथीणं  
 सम्मं जाणव्वा फासियव्वा तीरियव्वा किरियव्वा भुज्जा  
 जुज्जा अट्ठा महे उअा सवागरणा गुरुपरंगमणेण गहि-  
 यव्वा । तत एं अज्जसुट्टम्ममणिणा एवं वुत्ते ममाणेहट्ट-  
 तुट्ट चित्तमाणंदिए जंज एवं वयासी । कह एं जंते ! गुरु-  
 परंगमणे जणइ । जंजसमएणं भगवया महावीरेणं तओ  
 आगमा पणत्ता । तं जहा अत्तागंमे अणेतारागंमे परं-  
 गमं अत्तओ अरहेताणं भगवंताणं अत्तागम । सुत्तओ  
 गणहराणं अत्तागमे । गणहरसंसाणं अणंतरागमे । तओ  
 परं मव्वेसि परं परागमे ॥

( अय्य ग्रन्थस्य श्लोकमानमद्यौ शब्दानि तत्रैव ग्रन्थसमाप्तौ  
 प्रतिपादिनम् ।

अंगचूलिय - अङ्गचूलि-दि- अङ्गपु विजः । कृत्वाङ्ग, " इमं

नङ्गभट्टसीसमुहविश्लेष्यं करेह वेयगच्छदियं अंगचूलियं इमं  
 पुष्पाफादियं करेह " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।  
 अंगचूलि [ य ] द-अङ्गचू-दि-पुं० इतिनाययकसंज्ञे, " अं-  
 गचूल्यो सञ्चयित्वा सेसरकषट्ठा " पंचा० १६ विष० ।  
 अंग [ अङ्ग ] रा-अङ्गण ( न )-न० अणि-गती अङ्गघते शु-  
 दा(सिःस्युय गम्कते सुट्ट । पूषोदरादित्वाडा एण्वम । वगोऽस्यो  
 वा २।३० इत्यनुस्वारस्य वा परस्वरोणः । प्रा० अजिरे, प्रअ०  
 सं० २ छा० ४ अ० । शूदाअभागे, कल्प० । "अणणं मंजवट्टाणं"  
 नि०चू० ३ उ० ।

अंगगा-अङ्गना-श्री० अङ्गे स्वशरीरे पयोधरानितम्बज्जन्मस्म-  
 रकूपिकादिरुपं अनुरागो येयां ते अङ्गानुरागस्ताइ अङ्गानुरा-  
 गान्द कुञ्जतीति अङ्गनाः स्त्रीपु, । तं० आचा० । नि० चू० ।  
 अङ्गादिया-अङ्गदिका-अ०० तीर्थविशेषे, यत्र श्रीमद्विजितस्या-  
 मिशान्तिदेवताद्वयं श्रीशङ्करदेवतावसरः ती० ४४ कल्प० ।  
 अंगपजव-अङ्गप्रभव-वि० अङ्गादिः इतिवादिः प्रभवउपत्ति-  
 रस्थिति अङ्गप्रभवः इतिवादिः यद्येवादिः प्रभवउपत्ति-  
 रथयन्म " कम्मपवायपुब्बे सत्तरेसे पाहुमस्मि जं सुत्तं । स-  
 णय सादाहरणं, ते चेव इहं पि णायव्यं " उत्त० १ अ० ।

अंगप्यविट्ट-अङ्गप्रविट्ट-न० इह पुरुषस्य श्वाश्रु अङ्गानि भव-  
 न्ति तद्यथा द्वौ पादौ च जङ्घं च कूर्णौ च गात्रौ च द्वौ बाहु  
 प्रावा शिरश्च एते अङ्गस्यस्यापि परमपुरुषस्याचार्यादीनां श्वा-  
 दशाङ्गानि क्रमेण चिद्विद्यमानि तथा चोक्तम् । " पायुज्जं जे-  
 थोक गायदुग्घं तु हो य बाहु य । गीवा सिंरं च पुरिसो, वाग्-  
 रस अंगसु य पविट्ठो " अङ्गपुरुषस्याङ्गेषु अविष्टमङ्गप्रविष्टश्च ॥  
 अङ्गभावेन व्यवस्थिते सुतभेदे, नं० । स्थान० । अउ० । पा० ।  
 अङ्गप्रविष्ट्याणामङ्गविष्टं जेद इह प्रदश्यते ॥ " अइ जगव तु-  
 ह्ते चेव मव्वुत्तम को विसेसो । जहा इमं अङ्गपयिठं इमं अ-  
 गवाहिरं ति । आयरओ श्वाह जे अरहंतेदिं अगयंतेहिं अत्तांता-  
 णागतवट्टमाणदव्वसिग्गसेत्तकालाजजहायथित्तंसीदिं अथ-  
 पकवित्त तं गणहरंदिं परमशुक्तिमंशिवानुशुब्बसंपाठं सयं च-  
 व नित्यगरमकासातो उववभित्तुं मव्वसत्ताणं हिद्यत्ताय सु-  
 त्तं तण उवविट्टं अयायादिं दुवाससविदं । जं पुण अथेदिं विमुत्तागमवुत्तुत्तेदिं धेरेहि अयात्ताणं मणु-  
 थाण अणुत्तिसत्ताणं बहुमाहकंति नाकण तं चेव वायायादिं  
 सुयणाणं परंपरागयं अत्यतो गंथेते य अतिबहुं नि काकण अ-  
 णुत्तानिदिचं दसव्वयालियमादियदिचं अणगंभेदं अणंग्याव  
 हं " आ० चू० १ अ० ॥ तथा च ॥

गणधरधेरकयं वा, आएसा मुक्कानगराणओ वा ।

धुरचलविमेसओ वा, अंगाणेमुत्तु याणात्तं ॥

अङ्गानङ्गावदभुनयारिदं नामावमेतद् भेदकारणं किमि-  
 त्याह गणधरा गौतमस्याख्यादयस्मन्कृतं सुतं श्वाश्रुक्कपमङ्क-  
 प्रविष्टमुच्यते विज्ञे० ॥ गणधरदेवा हि भुनक्तुमामागादिकं  
 भुनक्तुमपरन्वयति तेषामेव सर्वोत्पद्युतलक्षिपसंप्रत्यया तद्रक्षवि-  
 तुमीक्षस्वान् शोषाणं तनस्तकृतं स्युं सूत्रयुत्तमित्यङ्गप्रविष्टमु-  
 च्यते ( नं ) यपुनः शेषः भुनक्तुवियरेः तदेकदेशमुपजोष्य विर-  
 चितं तद्वनङ्गप्रविष्टम ( नं ) स्थानविराजो अङ्गानुशुब्बस्यामाव-  
 स्तद्वद्रे भुनक्तुमव्ययकमित्युत्तयादि कम्मनङ्गप्रविष्टमङ्गानुच्यते  
 अथवा धारत्रयं गणधरपुष्टस्य तीर्थकारस्य संस्कार्नीयं श्वाश्रुः

प्रतिबन्धनमुत्पादयत्यभौष्यवाचकं पद्मप्रथमित्यर्थः तस्मात्प्रिष्य-  
 धे तं द्रुममिव द्वाहशाङ्गमेष विपा० २ शृ० १० अ० । आदेशा यथा  
 "आर्यमङ्कुराचार्यस्त्रिविधं शङ्खमिच्छति एकमधिकं बह्नायुष्क-  
 मभिमनुष्यानामगोत्रं च । आर्यसमुद्रो द्विविधं बह्नायुष्कमभिमनु-  
 ष्यानामगोत्रं च । आर्यसुहृदानी एकमभियुक्तानामगोत्रमिति । वृ०  
 १ उ० । मुक्तं मुक्तशतमशपूर्वकं यत् अन्वयः कणमप्रतिपादनम्  
 ( वि० २ शृ० १० अ० ) यथा वर्षेयकुणात्तायामित्यादि ।  
 तथा मरुदेवी जगवती अनादिपनस्पतिकारिका तद्वयन लिखा  
 इति ( वृ० १ उ० ) तस्मात्प्रिष्यवमङ्कुराहात्मनिधीयते तन्वाव-  
 श्यकमित्येकं वाशब्दोऽङ्कुरमेषधत्वेन पूर्वाकमेव कारणादन्वय-  
 सूचकः । नृनीयभेदकारणमाह ( धुवेति ) भ्रवं सर्वेषु तीर्थकर-  
 तोषेण निश्चयमात्रि ( विपा० २ शृ० १० अ० ) सर्वेषु केवेषु  
 सर्वेषु चार्थकम् चाधिष्ठय्य एवमथ व्यवस्थितं तनत्तदङ्कुर-  
 प्रविष्णुयते अङ्कुरप्रिष्यमङ्कुरते मूलयुतामित्यर्थः । न० ३ द्वा-  
 दशाङ्गमिति यस्तुनभलमनियनमनिश्चयमात्रि तत्पण्डुसंभका-  
 त्रिकप्रकीर्णकदिशुनमङ्कुराहं वाशब्दोऽत्रापि भेदकारणान्तर-  
 त्यसूचकः । इदमुक्तं भवति गणधरकृतं पद्मयज्ञकणतीर्थकरा-  
 देशनिषर्षणं भ्रवं च यत् कृतं नद्रुमप्रविष्टमुच्यते । तच्च द्वाद्वाङ्गा-  
 रूपमथ यस्तुनः स्थिरकृतमुक्तमार्थाभिधानं चतुं च तदाव-  
 श्यकप्रकीर्णादि भुनमङ्कुराहात्मिति विशे० ।

अङ्कुरप्रविष्टतज्जदा यथा ।

ने किं तं अंगपविट्टं अंगपविट्टं तुवालसविट्टं पञ्चतं ते  
 जदा । आयारो १ सुयगमो २ उणं ३ समनाम्नो ४  
 विवाहपञ्चतं ५ नायाधम्मकथां ६ उवासगदसां ७  
 अंतागदसां ८ अनुत्तरांवावापदसां ९ परहावा-  
 गरगाः १० विवागसुयं ११ दिट्टिवाओ य १२ ॥

अथ किं नद्रुमप्रविष्टं सूत्रिराह अङ्कुरप्रविष्टं द्वायविधं प्रकृतं त-  
 दाया आचारं सुवहृतमित्यादि न० अग० प्र० ४० । (आचारा-  
 र्थानामर्थः स्वस्वस्थाने) एतेषां मानं तथा हि "अस्तसर्पयसहस्ता  
 आचारो १ उगुणदुगुणसेसेसु । सुयगड २ उण ३ समवाय ४  
 भगवदे ५ नायाधम्मकथा ६ । ११ अंग उवासगदसा, ७ अंतगमं ८  
 अणुत्तराववापदसा ९ । परहावागरं तथा, १० विवागसुय ११  
 दिट्टिवाओ" इत्यादे सर्वेषुसङ्गाविधिषु शेषमुत्तरचने हेतु-  
 विदोः । आह ननु प्रथमं पुराणेष्वेवापिभ्रन्नाति गणधर इत्याग-  
 मे भ्रयणं पूर्वकारणादेव चेन्नानि पुराणेषुऽभिधीयन्ते तेषु च नि-  
 देशोपस्थेयि वाङ्मयमवतरति अतःअनुत्तरासकं द्वादशमेवाङ्कुरस्य  
 किं तथाप्यामङ्कुरिचनेन अतःआवाशुनरचनेन वा अस्तसङ्गाथाइ ॥

जइ वि य जूतावाप, सव्वस्स वि उगयस्स ओयारो ।

निव्वृद्धणा तदा वि हु, दुम्महे वप इत्थीया ॥

अशांभिशेषान्वयतस्य सप्रभवस्तुस्तीमस्य जूतस्य सङ्कृतस्य  
 वादा भणनं यथाऽस्ती जूतवादः । अथवाऽनुगनयावृत्तापरिरो-  
 पधमेकत्रापान्वयतानां सभेप्रजनेशानां सभेप्रजानां प्राणिनां वादो य-  
 थाऽस्ती भूतयादो इष्टियादः । दीर्घत्वं च तकारस्यार्थत्वात्तत्र  
 यद्यपि द्वावदे सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति तथापि तु-  
 मधेसां तदयथाभाषणोपपत्त्यानां भ्रमत्तानां तत्र स्त्रीणां चानु-  
 प्रदायै मिथ्यैतदा विरचना शेषभूतस्येति । विशे० १२० पत्र० ।  
 अंगवाहिर-अंगवाहा-न० द्वाद्वाशाङ्गात्मकस्य भुनगुरुस्य बहि-  
 र्व्यतिरेकं स्थितमङ्कुराहात् । अङ्कुराहात्वेन व्यवस्थिते भुवि-

शेषे, न० । एतद्भेदा यथा " अंगवाहिरं कुबिडे पञ्चतं तं उदा  
 भावस्सय वेध भावस्सयवहरित्तं वेध" स्था० १ उा० न० । अनु०  
 आ० च० । रा० । कर्म० । ( अङ्कुरप्रविष्टादस्य नन्दाऽनन्तरमेव  
 अङ्कुराविट्टं वाच्ये उक्तः )

अंगवाहिरा-अङ्कुराहा-स्त्री० अङ्कुरान्वाचारादीनि नेत्यां वा-  
 हा अङ्कुराहाः । अन्वयविष्टायां, लघुत्वरजन्मूढीपदोपसागर-  
 प्रकृतयः ॥ अङ्कुराहाः । स्था० ७ उा० ॥

अंगभंजरा-अङ्कभंजन-न० शरीराऽवयवप्रमोदने, प्रश्न०  
 संव० ७ उा० ।

अंगभूय-अङ्कभूय-त्रि० कारणजने, प्रश्न० १ उा० ।

अंगभंग-अङ्कभङ्ग-न० ( प्राकृतेऽशाङ्गणिको मकारः ) अङ्कप्रत्य-  
 ङ्गु, " रायज्ञकणविराहयंगमगा " रा० । स० । शरीराऽवयव-  
 धेषु, ज्ञा० ७ उा० ।

अंगभंगिभावाचार-अङ्कभंगिभावाचार-पुं० परिणामपरिणामि-  
 प्रावगमनं, ज्ञा० ।

अंगमंदिर-अङ्कमन्दिर-न० चम्पानगर्यां बहिर्विद्यमाने चैत्ये,  
 " अंगमंदिरं बहिर्वसि सङ्करामस्य सरीरं विप्यजहामि " ।  
 ज० १ श० १ उ० ।

अंगमदिया-अङ्कमदिका-स्त्री० शरीरमर्दनकारिण्यां दास्यायु-  
 " अत्र अंगमदियायां अत्र उम्मदियायां " इहाङ्कमदिकानामु-  
 न्मदिकानां चार्यबहुमर्दनकृतो विशेषः । अ० ११ श० ११ उ० ।  
 अंगरक्व-अङ्करक्व-न० अङ्कं रक्षयति । अङ्कं रक्-अच्य चर्मण,  
 ज्ञा० ३ अ० ।

अंगवृहण-अङ्कवृहण-न० अंशुकनाङ्कस्य स्नानजङ्कितताप-  
 नयनं, ध० २ अ० ।

अंगविजजा-३-त्रिविधा-स्त्री० अङ्कुराणा व्याकरणविशाखरूपा  
 विद्या ज्ञानसाधनम् । ज्ञानसंपादके व्याकरणादिशास्त्रे, वाच० ।  
 शिर-प्रभृत्यङ्कुरणतःशुभाशुजसूचककार्यां विद्यायाम्, अङ्क-  
 स्फुरणफलशास्त्रं, यथा " शिरसः स्फुरणे राज्यं, हृदयस्फुरणं  
 सुखम् । बाहोश्च मित्रसंलापो जह्युयोज्ञांगसंगमः ॥१॥ उक्त० ७  
 अ० । स्वनामभ्यानेऽङ्गादिनिमित्तफलदेशके प्रमथविशेषे च ।  
 स च प्रमथः कुतो निर्वृट्ः कति तत्राध्यायाः कियन्तो वा तत्र  
 विद्या इति तत्रैवादी प्रदासितं । यथा कृष्णनि च विद्याश्च अ-  
 ङ्कविद्या । अङ्कविद्याध्यावणितेषु भौमात्तरिकादिषु हिंसि हिंसि  
 मातङ्किते इत्यादि विद्याषु विद्यानुवाद्यप्रसिक्तानु विद्याषु च ।  
 " अंगविजजे च जे पञ्जंजित म हुते समणा " उक्त० ८ अ० ।  
 अंगविचार-अङ्कविचार-पुं० ६ त० (शारःस्फुरणार्थं, शरीर-  
 स्फुरणादितः शुभाशुभसूचके शास्त्रे, उक्त० १५ अ० ।  
 अङ्कविचार-पुं० ६ त० शरीरस्पर्शनस्य नेत्रादीनां स्फुरणस्य  
 वा विचारः । तद्विचारणं फलादेशके शास्त्रे च उक्त० १५ अ० ।  
 "अंगविचारं सरस्स विजयं जो विज्जाइं न जीवई स निफ्फु"  
 उक्त० १५ अ० ।

अंगसंचाल-अङ्कसंचार-पुं० रोमोच्चादिषु गात्रविचलनप्रकार-  
 ण, "सुहृमेदिं अंगसंचारिडिं" भाव० ७ अ० । ध० । व० ।

अंगसुहृफरिस ( फासिय )-अङ्कस्पर्शक-त्रि० अङ्कस्य सुखः  
 सुखकारी स्वशो यस्य तत्तथा । क० । देहसुखेदेहसुखशील्यं,  
 अ० ११ ज्ञा० १ उ० ।

अंगगादाय-आज्ञादान-न० अङ्गं शरीरं शिर आदीनि वा अङ्गा-  
नि तेषामादानं प्रथमः प्रसूतिः कृदादानम् । मेद्रे, अङ्गादानस्य सं-  
वाहनादिनिषेधस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।

[ सूत्रम् ] जे निक्खू अंगगादाणं कट्टेण वा कस्सिचेण वा अंगु-  
लियाए वा सिन्नागाए वा संघासेइ संघासेतं वा साऽज्जइ । १२ ।  
अङ्गं शरीरं शिरमादीनि वा अगाणि तेषि आदानं अंगगादा-  
नं प्रथमो प्रसूतिरित्यर्थः । तं पुण अंगगादाणं मेद्रे अरणति तं  
जो अरणतरेण कट्टेण वा कस्सिचो वंसकपट्टी अंगुली प्रसिद्धा  
वेत्तमादि सन्नागाए तेदि जो संघालति साऽज्जति वा तस्स मास-  
गुरुं पच्छिंत्तं ॥

इदाणीं णिज्जुत्तौप भवति ।

अंगगाय उवंगायां, अंगोवंगायण एयमादीणि ।

एतेणंग्गा ताणं, अणंतरेण वा जने वितियं ॥ ११ ॥

अंगणि अत्र सिन्नादीणि उवंगा कथादीणि अंगोवंगायणकषपव्या-  
दी पतंसि सयं आदानं कारणाग्निं तेण पुण अंगगादाणं भवति ।  
अइया अणायत्तणं वा जने वितियं णाम अंगगादाय ति ॥  
अस्य व्याख्या ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्टं बाहू य दांमि ऊरुत्तमो ।

एते अट्टंगा खलु, अंगोवंगायि सेसाणि ॥ १६ ॥

शिरः प्रसिद्धं उरः स्तनप्रदेशः उदरं पांटे पिट्टं पसिद्धा  
दोमि बाहू दोमि कूक आणि एताणि अट्टंगाणि खलु अश्वघारणे  
प्रणिंतं अस्वसा जे ते उवंगा अंगोवंगायं ते इमे य ।

होति उवंगा कएणा, एासच्छीं जंघहत्थपासा य ।

णह केयुं मेयु अंगुणि, तसोवतत्तअंगुवेगाउ ॥ १७ ॥

कथा नासिगा अञ्जी जेधा हत्था पादा य एवमादी सव्वे  
उवंगा अर्वांतं वडा बासा स्मग्ग् अङ्गुलि हस्ततलं हत्थतलाभा  
समंता पासंसु अझाया उचत्तलं भवति । एते नखादि अंगोव-  
गादीन्यर्थः तस्स संवालयणसंभवो इमो ।

संचालणं तु तस्स, माणमिच्छं अणिमिच्छं वा वि ।

आतपरत्तुअए वा, अणंतरे परंपगा चेव ॥ १८ ॥

तस्येति मेद्रेस्य संवालाया सणिमिच्छं उद्याहारे सरिरे य  
इदमपि प्रथमसूत्र एव व्याख्यातम् ( एतएवार्वाचं ) सणिमि-  
च्छाणिसत्त्वज्जा मामायेण सव्वा विचालणा त्रिविधा अप्य-  
सेण परेण वा उभएण वा । एकेका दुविया अणंतग परंपरा  
वा अणंतरेण हत्थेण परंपरेण कटादिणा एत एवाविति ।  
अस्य व्याख्या ।

उट्टाणिवसुत्तंघण, उच्चत्तणमणमादिएसि तप ।

ए य घट्टणवोभिरिउं, चिदति ताणं पज्जलं जाव । १९ ।

चट्टेत्तस्स णिसीपंतस्स वा लंघणीयं वा उल्लेघतस्स सुत्तस्स  
वा उच्चत्तणादि करंतस्स स गच्छंतस्स वा आदिस्सदानो पकि-  
भेहसादिंकरिया एवमादि इतरा संवालयणा सयं कारयं वा  
वांसिस्सिक्कण संघासेति काशयपरिसारणणिमिच्छं ताव चिट्टइ  
जाव सयं चेव णिप्पगलं अणंतरे परंपरं संवालयणेमाणास्स  
मासगुरुं अणगादीणां य दांसा अर्वांतं ॥

[ सूत्रम् ] जे भिक्खू अंगगादाणं संवाहज्ज वा पत्तिमद-  
ज्ज वा संवाहंतं वा पत्तिमदंतं वा सात्तज्जति ॥ ३ ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् संवाहति एकस्मिं परिमहति पुणो पुणो सा  
संवाहणा सणिमिच्छा वा अणिमिच्छा वा पूर्ववत् । अणादिवि-  
राहणा पूर्ववत् ॥

( सूत्रम् ) जे निक्खू अंगगादाणं त्तेहेण वा घएण वा  
णवणीएण वा वसाए वा अचमणेज्ज वा मंसंजेज्ज वा अ-  
चमंतं वा मंसंतं वा साऽज्जइ ॥ ४ ॥

जे निक्खू पूर्ववत् तेद्वघता पसिक्का । वसा अयगरमच्छम्-  
कराणं अचमंति एकस्मिं मंसंति एणो पुणो अइया योयेण  
अचमंते बहुणं मंसणं उच्चट्टणासुं सणिमिच्छाअणिमिच्छा-  
या पूर्ववत् साऽज्जणा तद्व अणातिविराहणा पूर्ववत् ।

[ सूत्रम् ] जे निक्खू अंगगादाणं ककेण वा होदयेण वा  
पठमसुरायेण वा एहायेण वा सुएहेडि वा वसेडि वा  
उच्चट्टेडि वा परिचट्टेडि वा उच्चट्टेडि वा परिचट्टेडि वा साऽज्जइ ५  
ककं उच्चलयणं उच्चसंयोगनं वा कक्कं कियंतं किंविद्धो  
इट्टेउयं तेण वा उच्चट्टेडि पचसुणंन वा पहणं एहाणमेव ।  
अइया उचएणणयं जएणति तं पुण मासक्खणादिसिणाणं संघि-  
याबणे अंगायसखं हुवति वएणथो जे सुगंधो चंदनादिसू-  
णाति जहा घट्टमाणसुणो पदवासादिवासनिमिच्छानिनिमित्तं  
तदेव उच्चट्टेडि एकस्मिं परिचट्टेडि पुणो एयो ।

[ सूत्रम् ] जे निक्खू अंगगादाणं संघादवाविपदयेण वा  
उसिणादवाविपदयेण उच्चोत्तेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्चो-  
त्तं वा पधोपंतं वा सात्तज्जइ ॥ ६ ॥

शान्तमुदकं शतादकं विवदं ववगयज्जियं उस्सिणमुदकं  
उस्सिणादकं उच्चोत्तेज्जि सकृत् पधोवणा पुणा पुणो ।

[ सूत्रम् ] जे निक्खू अंगगादाणं णिच्छोद्धं इत्तोलंतं  
वा साऽज्जति ॥ ७ ॥

णिच्छोत्तेति स्वचं अचणेति महामणिं प्रकाशयतीत्यर्थः ।

[ सूत्रम् ] जे भिक्खू अंगगादाणं जिघाति जिघंतं वा साऽज्जइ ८ ।

जे भिक्खू पूर्ववत् जिघति नासिकया आघ्रातीत्यर्थः । इत्ये-  
ण वा मल्लकाणं जययं जिघति । पतंसि संवालाणादीनां  
जिघातावसाणो सत्तएव वि सुत्ताणं इमा सुत्तफासनिमासा-  
सुत्तणि वक्तव्यानि ।

संवाइएणमन्गण, उच्चट्टएणधोवणे य एस कपो ।

एायवो णियमो उ, णिच्छोद्धंजिघाणाय य ॥ १०० ॥

संवाइएणसुं अचमंणणासुं उच्चट्टणासुं धोवणासुं एमं ममां  
सि संवाइएणसुं जणिओ सो चेव य पगारा णायवो णियमो  
अचसं ( णिच्छल्लणासुं जिघाणासुं च । एतेसु चेव सत्तसुं वि  
सुत्तसुं इमो दिठ्ठो जइकमेण ।

सीहासीविसअग्गी, भिद्धी वग्गे य त्थायगरणरिदो ।

सत्तसुं वि पदसुं तु, अट्टारणा होति एायववा ॥ १०१ ॥

संवालाणासुचे दिठ्ठो । सीहो सुतो संघासितो जहा जीवन्-  
गरो अचानि एव अंगगादाणं संघासिये मोहुअयं जणयति । त-  
तो चारित्रियराधना इमा आयाविगहणा सुक्कफएण मारज्ज-  
एण वा कटाइणा संघासेति तं सविंसं उच्चसिखयज्जं वा अयं  
वा कट्टेण इवज्जा । संवाइएणासुं इमो दिठ्ठो । ओ आसीविसं  
सुत्तसुं संवादेति सो विद्युत्तो तस्स जीवियंतकरो भवति ।

एवं अंगदाष्टं पि परिमहमाणस्स मोहुज्जयो ततो चारिचञ्जी-  
वियविण्णसो ज्वयति । अङ्गेनगाणसु एमे विट्ठोतो इहरहं वि  
त्तव अग्गी उज्जानि किं पुण घटादिणा सिञ्चमाणो एवं अंग-  
दाष्टं वि अरिउज्जमाणो सुदुक्खं मोहुज्जयो भवति । उब्बह्णणासुं  
इमो विट्ठोतो नद्धु । शास्त्रविशेषः सा सत्रावेण तिहाहा किमंग !  
पुण पिणिया एवं अंगदाष्टसमुद्यो सत्रावेण मोहो विपत्ति कि-  
मंग ! पुण उब्बह्णिते । उब्बह्णणा सुंण इमो विट्ठोतो एगो वण्यो  
सो अचिउरोगेण गह्णिसो संबद्धा य इच्छती तस्स य एगेण वेजे-  
ण वदिवाए अक्खीणि अङ्कण पव्वणीकतायि तेण सो वेच य  
वद्धो एवं अंगदाष्टे पि सो इतरं चारिचान्नाशाय भवती-  
त्यर्थः । पिच्चोलणासुंण इमो विट्ठोतो जहा अथरास्स सुहृ-  
सुचस्स मुहं विद्यतेति तं तस्स अप्पवहाय भवति एवं अंग-  
दाष्टं पि पिच्चसिंयं चारिचान्नाशाय भवति । जिणणासुंण इ-  
मो विट्ठोतो अरिदेति एगो राया तस्स वेजपमिसिद्धे अंयए जि-  
वणाणस्स वदिदेत्तु भादो उच्छाह सो गंधप्रियेण वा कुमारेण गंध-  
मन्थायमाणेण अप्पा जीविया उरिसिधो एवं अंगदाष्टं जिण-  
णाणां संजमजीवियाभो सुअं अणाइयं व संसारं जमिस्सति  
ति सत्तसु वि पदेसु एते आहाराण भवतीत्यर्थः ॥ अणिओ  
उस्सम्भो । इदानीं अवयानो नञ्जाति ।

तिवियपदमणपभे, अपदंसे मुत्तसकरपभेडे ।

मत्तसु वि पदेसु वे, तिवियपदा हौति पायन्ना ॥१०२॥

तिवियपदं अथवायपदं मणप्यो अनात्मवशः प्राहुरहात  
इत्यर्थः । सो संचलणादी एके सव्ये करेज्जा । अपदंसेो पि-  
पाठकं मुत्तसुहृए पाषाणकः पमेहो रोगो संसलं काइयं अ-  
रं अचक्यति एतेसु पदेसु सत्तसु वि जहासंभवं भासियव्वा  
मणियं संजयासं ।

इदानीं संजतीणं ।

एसंव गप्पो थियमा, संचासणवजिजो उ वज्जाणं ।

सवाइणमार्दीसुं, उवदिहेसुं उसु पदेसु ॥१०३॥

एसंव पगारो सव्वो थियमा संचासणत्तुत्तुविचञ्जिओ सं-  
वाइणादिसु उवदिहेसु उसु वि सुसेसु इत्यर्थः ।

[ सूत्राणि ] जे जन्कू अंगदाष्टं अथरांसि अचिचांसि  
सांयगासं अणुपव्वेसिवा मुक्कोपंगले पिग्घाएाण एिग्घायंतं  
वा साइज्जति ॥ ए ॥

जे जिक्कू पुवंयत अघातरं णाम बहूणं पकविषयां अघातरं  
अचिचं णाम जीवविचारियं भवतीति भागं तत्र अंगदाष्टं प-  
विसेकण मुक्कोपंगले पिग्घायति शास्त्रयतीत्यर्थः साइज्ज वा ।

इदानीं पिच्चुत्ती ।

अचिचं सोचं पुण, देहे पढिमा जुतेतरं चेव ।

नुविणं तिवियमणं, एक्केके तं पुणं क्कमसो ॥१०४॥

अचिचं जीवरादिनं सोचं छिदं पुणसदां मेदप्यदरिस्सणे तं  
अचिचसोचं तिविदं देहज्जुयं पडिमज्जुयं वेयरं व । एक्केकस्स  
पुणो इमो अग्गे क्कमसो वट्ठो । देहज्जुयं कुविदं पडिमाज्जुयं  
निविदं एगतरं अणेगहा । तत्थ वेदे जुअं देहज्जुयं कुविदं इमं ।

तिरियमणुस्सिवाथो, जे खलु देहा भवती जीवज्जा ।

अपरिमाहेतरा वि य, तं देहज्जुतं तु एातत्वं ॥१०५॥

तिरियमणुस्सिवाथीयं जे तहा जीवज्जा नचंनि मत्तु अथचारेण

तेपुण सरीया अपरिमाहा इतण सपरिमाहा । सधेतत्तं सप-  
रिमाहं उपरिवक्कमात्तं मविस्सति । एवं देहज्जुयं जवतीत्यर्थः ।  
इदानीं परिमाज्जुत्तं तिविदं पक्विज्जति ।

तिरियमणुपदेवं, जा य पढिमा असिद्धिहितिओ ।

अपरिमाहेतरा वि य, तं पक्विमज्जुत्तं ति एाय वं ॥१०६॥

तिरियपढिमा मणुपपढिमा देवपढिमा वा असिद्धियाओ  
संनिहियाओ अ । असिद्धिदिआओ कुविहा अपरिमाहा इतण  
सपरिमाहा य । जे एयविहाण तियं तं पढिमाज्जुत्तं ति एायवं ।

इदानीं एतरं अणेगविदं पक्विज्जति ।

जुगविहणालियाकर-मंविमाति सोततं जं तु ।

देहवा विचरीत, तु एतरं तं मुणियव्वं ॥१०७॥

जुगं वदिहाण अंधे अरोविज्जति लोणपसिद्धं तस्स छिदं  
अघतरं व । णालिआ संणमल्लगदीयं जिदं कर्णायाणीयभंरं-  
तस्स गीवा जिदं वा एवमावि सोततं वेहं सरीरं अघयंति ना-  
मित्ति, अक्का प्रतिमा नेसि विचरितं अणेतत्तुत्तं जवति । इद  
पुण असिद्धियअपरिमाहेसु अचिकारो जं परिसं तं एतरं मु-  
णयव्वमित्यर्थः । एतस्सि सोआणं अघतरं जो सुक्कोपंगले एि-  
ग्घातेति तस्स पच्चंत्तं भवति ।

मासगुरुणादि लद्धु, जहसुए मज्जिमे य उक्कोसे ।

अपरिमाहिचचितं, आदिट्टादिट्टे य देहज्जुते ॥१०८॥

देहज्जुए अपरिमाहिते अचिचं जहसुए अदिटे मासगुरुं विदे  
चउल्लु अट्टोक्कंतीए वारिअत्तं मज्जिमे अदिटं चउल्लु विट्ठे  
चउगुत्तं उक्कोसते अदिटे चउगुत्तं विट्ठे उज्जु । तिरियमणुसा-  
मणेण देहज्जुत्तं अपरिमाहितं जणियं ।

इदानीं तिविदं परिमाहितं भवति ।

चउल्लुगुणादीं मूलं, जहसुगादिभिहाति अचिचं ।

तिविदेहिं परिजुत्ते, आदिट्टादिट्टे य देहज्जुते ॥१०९॥

इमा वि अट्टोक्कंती वारणीया देहज्जुते अचिचं यावक्क परि-  
माहे जहसुए अदिटे चउल्लुत्तं विट्ठे चउगुरुत्तं काहोविपपरि-  
माहे जहसुए अदिट्टे चउगुरु विटे लहुं देविपपरिमाहे जहसुए  
अदिट्टे लहुत्तं विट्ठे उग्गुरुत्तं एतेण चव कम्मेण तिरिमाहे म-  
ज्जिमेण चउगुरुणादं । छेदे णाति एतेण चव कम्मेण तिरिमाहे  
उक्कोसए उल्लुत्तुआदीं मूलं णाति जणियं देहज्जुत्तं ।

इदानीं परिमाज्जुत्तं नञ्जाति ।

पढिमाज्जुत्तं वि एव, अपरिमागहेतरं असंणिहित्ते ।

अचिचसोयसुत्ते, एसा भणित्ता एवे सोरपी ॥११०॥

परिमाज्जुत्तं वि एवं चेव ज्ञानियव्वं जहा देहज्जुत्तं अचिचं  
अपरिमाहं तहा परिमाज्जुत्तं असंणिणहिअं अपरिमाहितं ॥  
जहा देहज्जुत्तं अचिचं सपरिमाहं तहा परिमाज्जुत्तं असंणिणहिअं  
सपरिमाहं भाणियव्वं । एतेसु पुण जुगविहणालियादिसु मास-  
गुरुं एय सुत्तपिवातो एसा अचिचसोयसुत्तसोही जणिया ।  
एते सामएएतरं, तु सोत्तए जे उरिदएणोमेहोओ ।

साणिपित्तमाशिमिचं वा, कुज्जा पिग्घचणणादीणि ॥

एतस्सि अचिचसोआणादिवराहणं पारेवइअसा संजमवगहा  
रागमिंसंजमिषण, नाहो अहं संसंसे विगहावगहा

सुक्कवए य मरत्तं, अक्किच्चकानि त्ति उब्बंभे ॥१११॥

राग एय प्रान्तिः रागानि. संयम एय इत्थं संयमं धमम

अतस्तेन रागाग्निना संयम्यन्तस्य दापो जयति विनाश इत्यर्थः  
 अह इति एवा संयमविराधना इमा अयमविराधनापुणो पुणो  
 विभागमागमस्य सुक्ककम्प मररं भवति न वा सुक्कपोमाले  
 शिष्वाग्नात्ता अकिञ्चकारिति काउं अप्पाणं उव्वेथीन उक्ककं-  
 वानांति वुत्तं जयति (अपवाहमागस्यु प्रमथत एवावसंयः) नि०  
 चू० १ उ० । जीयकदये नयमपत्रे स्नेहादिना प्रज्ञाणादिकं पञ्च-  
 कल्याणकाणहिसुत्तमुत्तम । (मैथुनप्रतिज्ञया अङ्गादानसंचालन  
 म भेदुण शब्दे प्रदर्शयिष्यते) (अङ्गादानाकारां कर्कटिकां  
 वृद्धा जानकानुकायाः देव्या उवाहरणं पलेभ शब्दे दर्शयिष्यते)  
 अं ( ईं ) गार ( ल ) -अङ्गार-पु० न० अङ्ग-आरत् । पका-  
 ङ्कारप्रहादि वा । ५ । १ । ४७ । इति सूत्रणादेरत इत्यं वा प्रा० ।  
 विगतभूमत्तद्वाह्मलेधनादिकं वादरतेजस्कायनेदे । उत्त०  
 ३६ उ० । आचा० । पि० । जीवा० । जी० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । औ० ।  
 २५० । ज्ञा० ॥ चारिरेणनस्य रागाग्निनाङ्कारस्येव करणे, ग०  
 ७ अ० । स्वाहृषं तदात्तारं वा प्रदासयतो भोजने आपतति  
 आहारदोषविशेषे, घ० ३ अ० । पं० घ० । प्रव० । उत्त० ॥  
 आचा० । तत्त्वं च ।

जेणं गिगंरस्ये वा गिगंरं वा फामुये एमण्डजे अ-  
 मरं पाणं खादं मादं पकिगहेत्ता समुच्छिपु गिच्छे  
 गिच्छे अन्भोववणए आहारपाहारैरे एमणं गोयमा ।  
 संमाले पागभोवये भ० ७ श० १ उ० ।

"रोगो नरांगे" मडा० ३ ब्रा० एनेवेर संयत्तयानमाह ।  
 तं होइ सङ्गाले, जे आहारैरे मुच्छिआ संतो ।  
 तं पुण होइ भूमं, जे आहारैरे निर्दो० ।

नद्ववति नेजने साङ्कारं यत्तज्जाविशिष्टमन्त्रसंस्वावृदगतो  
 जाततिस्यसूच्यः सन् अहो मिष्टमहो सुसंभृतमहो सक्लियं  
 सुक्कयं मरसांमत्येवं प्रसांमसाहारयति । तपुन भवति भोजने स-  
 भ्रमं यत्तज्जाविकपरसंगराशवाद्गो जाततद्विषयत्तलीकचित्तः  
 स्रष्टो रूपम क्वथितमपक्वमसंस्कृतमन्नवर्णं चेति निदृशा-  
 हारयति । अयं तत्र भावार्थः । इह द्विविधा अङ्गाराः तद्यथा  
 हृष्यतो भावतश्च । तत्र हृष्यतः दृशागुदृश्याः खदिरादिवनस्प-  
 तिविशेषाः भावतो रागाग्निना निर्दयं चरणेभ्यनम् । धूमेऽपि  
 द्विधा तद्यथा हृष्यतो जायतश्च । तत्र दृश्यतो योऽहृष्यतोनां  
 काष्ठानां संवर्धं भावतो देवाग्निना दृष्टमानस्य मानस्य सब-  
 न्दी कलुषताया निदात्मकः ततः सहाङ्कारेण यद्वर्धते तत्सा-  
 ङ्कार धूमन सह वर्तते यत्तत्सम्भूमम् ।

संस्थङ्कारधूमयोरङ्गनामाह ।

अंगारस्यमपत्तं, जलमार्णं इण्यथं सभूमं तु ।  
 अंगारं चित्तं पतुव्वइ, तं वि य द्दुंगए भूमं ॥  
 अङ्गारस्यमपत्तं उच्यतेऽन्धेन सभूममुच्यते तदेवेऽन्धं दग्धे  
 धूमं गते सति अङ्गार इति । एवमिदं चि चरणेभ्यनं रागाग्निना  
 निर्दयं सत् अङ्गार वस्तुच्यते । देवाग्निना तु दृष्टमानं चरणेभ्य-  
 नं सभूमं निदात्मककलुषभाववृषूपममन्त्रित्वात् ।  
 एतदेव ज्ञावयति ।

रागमिमसंपलितो, कुंजतो फामुये वि आहारं ।  
 निदृच्छं गालनिभं, करेइ चरं गिधये सिप्यं ॥  
 प्राद्युक्कमप्याहारं लुञ्जातो रागाग्निना संवर्धित् चरणेभ्यनं नि-  
 दृग्शाङ्कारनिभं क्षिप्रं करंति ।

दोसगी वि जलतो, अप्पात्तयधूमधूवयं चरणं ।  
 अंगारमित्तं सरं, जो न दवइ निदही ताव ॥  
 देवाग्निरेपि उच्यते अग्निरेव कलुषभाव एव धूमोऽग्नि-  
 धूमस्तन धूमितं चरणेभ्यनं यावदङ्गारमावस्येदशं न भवति  
 तावत् निर्दहति

तत इदमगतम् ।

रागेण सर्दाहं, दोमेण सभूमं युगियव्वं ।  
 छायादीसं दासा, वाधव्वा जोमणनिदीए ॥  
 रागेण ध्मानस्य यद्भोजनं तत्साङ्कारं चरणेभ्यनस्य साङ्कारभूतत्वा-  
 त् । हेपेण ध्मानस्य तु यद्भोजनं तत्सभूमं निदात्मककलुषभा-  
 वरूपममन्त्रित्वात् पि० १० ए० प० । पं० चू० । मीमप्रह, पुं०  
 रक्तवर्णं, न० तद्वति, त्रि० वाच० ।  
 आङ्कार-त्रि० अङ्गारागमयमाङ्गारः अङ्कारसन्धिभि, "हं-  
 वालं ङारियरासि" दश० ५ अ० ॥

अं ( ईं ) गार ( ल ) कटिरी-अङ्गारकर्षिणी-म्बि० अङ्करे-  
 न्धापिकायामीयद्वक्त्राप्रायं होहमयययी, अ० १६ श० १ उ० ।  
 अं [ इ ] गार [ ल ] क्कमा-अङ्गारकर्मन्-न० अङ्गारगिषयं  
 कर्माङ्कारकम् । अङ्गाराणां करणविक्रयस्यमेव कर्मादानव्या-  
 कनेभ्ये कर्मणि, एवमग्निद्वाराकरुपं यद्व्यवर्तयेत्कापाकादिक  
 कर्म तद्ङ्कारकर्मोच्यते अङ्गारशब्दस्य तद्व्यापकत्वान्वात्  
 ज० ८ श० ५ उ० । समानस्यभावत्वात् उपा० १ अ० । यतो  
 योगशास्त्रे "अङ्गारप्रादृकरं, कुन्नायःस्वयंकरिता । उता-  
 रयेत्कापाका-वति साङ्कार जीविका ॥ घ० २ अ० । प्रव० ।  
 आचा० "अङ्गारं ददिकण विकिणंति तस्य दृक्कायपागु बधो तत्र  
 कल्पति अदवा होहकगदि" आ० सू० ६ अ० । आ० । घ० । पंचा० ।

अं [ ईं ] गार [ ल ] कारिया-अङ्गारकारिका-म्बि० अ-  
 ङ्गारत् करंतीति अङ्गारकारिकाः अग्निशक्तिराका-स्यं ।  
 इंगालकारिणं जंते । अगणिकाए केवदं कालं सं-  
 चिह्दं गोयमा । जह्मणं अंतोमहुत्तं उक्कोमेणं तिसि रा-  
 ईदियाई अणवेत्य वाउकाए वक्कमइ ए विणा वाउकाः एणं  
 अगणिकाए उज्जलइ ॥

अङ्गारत् करंतीति अङ्गारकारिका अग्निशक्तिरा । न के-  
 वलं तस्यामग्निःकथो जयति ( अणवेत्यस्य ) अयोऽप्यत्र  
 गायुकायोः द्युत्कामति यन्नाग्निस्तत्र वायुरिति ह्युत्था कस्मादिव-  
 मित्याह " न विद्युत्सादि " । ज० १६ श० १ उ० ।  
 अं ( ईं ) गार ( ल ) ग-अङ्गारक-पुं० अङ्गार-स्वाधे-कन-अ-  
 ङ्गारे, वाच० । महलनामके तारप्रहोभे, स्था० ६ टा० । औ० ।  
 प्रय० । आयं महाप्रदे व कल्प० । सू० प्र० । पं० प्र० । अ० ।  
 " दो इंगालया " स्था० २ टा० । अङ्गारमिव इवायं कर् वर-  
 कणत्वात् । कुण्ठकवृत्तं, भृङ्गराजसूत्रे च पुं० अदशायं कर् व-  
 कणत्वात् विष्णुलिङ्ग इति विख्यात अङ्गारलुकांशे, न० वाच० ।

अं ( ईं ) गार ( ल ) दा ( दा ) ह-अङ्गारदाह-पुं० अ-  
 ङ्गारा दहन्ते यत्र । यत्रःकारणां दाहो भवति तादृशे स्थाने, नि०  
 चू० ३ उ० । आचा० । अङ्गारान् दहतीति अङ्गारदाहः । अङ्गार-  
 णां दाहके, त्रि० ( अङ्गारदाहकेन नङ्गुणमजानता चन्द्वबसादी  
 दग्धेति चन्दनस्रोटीहृष्टान्तः सच आधिरिय शब्दे ) ( मुचिसु-  
 अमसदागमित्यङ्गारदाहृष्टान्तः सिद्ध शब्दे )

अं ( ईं ) गार ( झ ) पताषणा-अक्षारप्रतापना-खीं अ-  
 ङ्गोपु प्रनापनाऽङ्कारप्रनापना । शरीरस्य शीतकालादौ अङ्गा-  
 षेपु प्रनापनायाम्, प्रथमं सं ५ द्वा० ॥

अं ( ईं ) गार ( ल ) मद्ग-अक्षारमर्दक-पुं० जीवाश्रयान-  
 नांऽङ्काराणां मर्देनाङ्कारमर्दकति प्रसादौ गते रुद्धदेवाभिधे  
 अमव्याचार्ये, तत्संविधानकं चैवं धृतम् ।  
 'सूरिधेजयसेनाय्यो, मासकल्पविहारतः ।  
 समायातो महानागः, सुरे गर्जनकाभिधे ॥ १ ॥  
 अयाऽत्र तिष्ठनस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुङ्गवैः ।  
 गर्वा विसर्गवेद्यायां, स्वप्नोऽयं किल वीक्षितः ॥ २ ॥  
 कत्रनामो श्मैः शूरैः, शुकुरः परिवारितः ।  
 पञ्चनिर्जज्ञानोना-मस्मदाश्रयमागतः ॥ ३ ॥  
 तनस्ने कथयामासुः, सुरैः स्वयं तमद्रुतम् ।  
 सुरिस्तुवाच तस्यार्थं, साधूनां पृच्छामामुमु ॥ ४ ॥  
 सुमासुपरिवारोऽद्य, सुरिस्त्वयि कोऽपि वः ।  
 प्रापूर्णकः परं ज्ञयो, नासाविनि विनिहयवः ॥ ५ ॥  
 यायज्जगत्प्रत्यसौ नेयां, साधूनां सुरिप्रतः ।  
 रुद्धदेवानिधे, सुरि-स्नावसत्र समागतः ॥ ६ ॥  
 दानेहचर एव स्फार-सैन्यप्रदगणाश्वितः ।  
 परएतनरुचकान्त-कल्पवृक्षगणाश्वितः ॥ ७ ॥  
 कृता च तस्य तेऽन्वेष-अनुसन्धानादिका क्रिया ।  
 आश्रित्यथी यथायोगे, स गच्छत्य यथागमय ॥ ८ ॥  
 ननां यिकातवेयायां, कोलाकारस्य नस्य नैः ।  
 पराङ्गणाय विनिताः, अङ्कारः कायिकीसुवि ॥ ९ ॥  
 स्वकीयाचार्यानिर्देशा-प्रच्छेदव च तैः स्मितैः ।  
 वास्तव्यसाधुनिर्देशा-सते प्रापूर्णकसाधवः ॥ १० ॥  
 गार्दसंचूर्णिताङ्कार-कृशाङ्कारयस्तुनौ ।  
 मिथ्याद्वृष्टनिमित्येन-दुःखायः प्राणिशङ्कया ॥ ११ ॥  
 कृशाङ्कारश्चम्याने, कृतचिह्न इतीकृतया ।  
 दिने निमात्रविष्यामः, कृशाङ्कारः किमुद्रवः ॥ १२ ॥  
 अ-चायौ कद्रदेवस्तु, प्रस्थितः कायिकीं वृषम ।  
 कृशाङ्कारव कुर्व-अक्षारपरिमर्दनात् ॥ १३ ॥  
 जीवाश्रयानानो सद्वा, वदेधैताङ्गैः किल ।  
 अन्तवोऽमां विनिर्दिष्टां, प्रमाण्यङ्कना अपि ॥ १४ ॥  
 वास्तव्यसाधुभिर्देशा, यथादृष्टे च साधितम् ।  
 सुरिधेजयसेनस्य, तेनापि गदितं ततः ॥ १५ ॥  
 स एव शुकरो भद्रा-स्त्र एते वरहस्तिनः ।  
 स्वमेन सूचिता ये वा, न विषयोऽत्र संशयः ॥ १६ ॥  
 नैः प्रसातऽद्य तच्छ्रुत्या, भाषितास्तूपसिभिः ।  
 यथैवं वेदिने नाय-प्रभय इति बुध्यताम् ॥ १७ ॥  
 न्याय्यां वीऽयं, यतो धार-संसाररुकारणम् ।  
 ननस्तेरप्युपायेन, क्रमेणसौ विवर्जितः ॥ १८ ॥  
 त चाकङ्क्षसाधुव्यं, विद्यायाथ विवं पताः ।  
 नतोऽपि प्रकृत्याः सन्तः, ज्ञेयेऽसुवेव मारते ॥ १९ ॥  
 श्रीवस्त्वपुर जला, जितहाश्रोमहीपतेः ।  
 पुत्राः सर्वेऽपि कालेन, ते प्राप्ता यौवनश्रियम् ॥ २० ॥  
 अन्वदः ताव सुकृत्यात्, कलाकौशलयोगतः ।  
 सर्वत्र स्यात्कान्तित्या-सर्वनाशु व्यसन्नवदम् ॥ २१ ॥  
 दितिनानपुरे राज्ञः, कनकध्वजसंज्ञितः ।  
 हृदकन्याया वरायांश्च, तान् स्वयंवरमगदपे ॥ २२ ॥

तथायतिः स्व तैर्दृष्टो, गुणकारमर्दकः ।  
 उद्धृत्येन समुत्पन्नः, पृष्ठाकदमहाभरः ॥ २३ ॥  
 गभावस्मितस्वृक्ष-कुतुपोऽपिस्वर्गं रद्व ।  
 पामनः सर्वजोर्णाङ्गो, गतत्राणोऽतिदुःखितः ॥ २४ ॥  
 तमुद्रमीकृमाणायां, तेषां काशयतो भृशम् ।  
 आतिस्मरणमुत्पन्नं, सर्वेषां ह्यभभायतः ॥ २५ ॥  
 देवजन्मोद्भवज्ञान-हातस्वात्सैरसौ रकुटम् ।  
 करमः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं बह्नो नो गुरुः ॥ २६ ॥  
 ततस्ते चित्तयामासु-धिक् संसारविच्छेदितम् ।  
 येनैव तादृशज्ञान-मवाप्यापि कुजावतः ॥ २७ ॥  
 अयस्यामोहर्षी प्रातः, संसारं च त्रमिष्यति ।  
 ततोऽसौ मोचितस्तेन्य-स्तस्वामिन्धयः कृपापरैः ॥ २८ ॥  
 ततस्तदैव ते प्राप्य, भवनिबेदकारणम् ।  
 कामनोपरिस्थाना-सं प्रमथ्यां प्रादिरिदं ॥ २९ ॥  
 ततः सुगतिर्लताना-शिवांस्यन्यचिरादमी ।  
 अन्वः पुनरभयवाद्, त्रवारण्ये त्रमिष्यतीति ॥ ३० ॥  
 ( गाथायां १२ ) पंचा० १ विव० ॥

अं [ ईं ] गार [ झ ] राति-अक्षाररासि-पुं० क्विराङ्कारपुञ्जे,  
 सूच० १ सु० ५ अ० १ उ० । आ० क० । आ० ३० । आ० ३० ।

अं [ ईं ] गारवर्द्ध-अक्षारवने-खीं० धुषुमारुपसुनायाम्,  
 ( तद्वृत्तव्यता संवेगशब्दे वृत्त्येन )

अं [ ईं ] गार [ ल ] सहस्र-अक्षारसहस्र-न० ६ त० अणु-  
 तराणामभिकणानां सहस्रे, स्या० ८ त० ॥

अं ( ईं ) गालसंश्रिय-अक्षारशु [ झ ] जिय-वि० अङ्कतिरि-  
 ष पके, न० १ १ श० ६ उ० ॥

अं ( ईं ) गारा [ झ ] यतण-अक्षारायतन-न० यथाङ्कार-  
 परिकर्मं कियते तस्मिन् शूरा, आच० १ सु० २ अ० २ उ० ।

अं [ ईं ] गारि [ लि ] य-अक्षारित-वि० विवर्णाचूते, आ-  
 चा० २ सु० १ अ० ८ उ० ॥

अंगिरस-अङ्गिरस-पुं० गीतमगोत्रविशेषचूताङ्गिःपुरुषापत्ये,  
 स्या० ७ त० ॥

अंगीकद-अङ्गीकृत-वि० अङ्गीनित्यन्वये तत्पुर्व्वकार ह्रस्वः कः  
 स्वीकृतं, स्या० ४ उ० । अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिवाहयतीति' बौ-  
 रपञ्चाशिका चाच० ॥

अं [ ईं ] गुञ्ज-इक्षुद-पुं० गि-उः इक्षुः रोगः तं घति अहद-  
 यति शो क "शिथिलेऽहदं ना" ८ । १ । ८६ । इति सूत्रेण  
 प्राकृते आदेशो ह्रस्वः । तापसतरी, प्रा० ।

अंगुष्ठ-अङ्गुष्ठ-पुं० अङ्गी पाणौ प्राथम्येन तिष्ठति स्या-क-प-  
 त्वम् । हस्ताऽयवयव, स्या० १० त० ॥

अंगुष्ठप्राप्तिण-अङ्गुष्ठप्रभ-न० विद्याविशेषे, यथाऽङ्गुष्ठे देवता-  
 वतारः कियते तस्मिन्प्रादकं प्रश्रव्याकरणानां नवमेऽय्यने च  
 परमिदानीतने प्रश्रव्याकरणपुस्तके ननुमुपसृत्यते स्या० १० त० ॥

अंगुष्ठ-पूरि-धा० पूर० निज्जु पूरेवाडोमघबोद्धमाङ्गुमादिरेमाः  
 ८ । ४ । ६८ । इति सूत्रेण पूरैरङ्गुम इत्यादेशः । पूर्ति, अङ्गुमेद  
 पूरयति प्रा० ॥

अंगुल-अङ्गुल-पुं० अङ्गु उल० । हस्तप्रादवासायाम्, पाच०  
 अद्यथमभ्यासके परिमाणेदे, न० "अद्यथमभ्यासां से पते

अंगुले" म० ३ हा० ७ उ० । ५०० । ५०० । अतिरंगित्यादि-  
धरके पठितः अतिरंगित्यर्थो धातुर्नग्यर्थो हानार्थो अथि भवत्य-  
तोऽङ्गुले प्रमाणतोः हायने परदार्यां अनेनेत्यङ्गुलेन । मानवि-  
शेषे, प्रथ० ३२५ ब्रा० । तत्रेदा यथा ।

से किं तं अंगुले ? अंगुले तिनित्ते पद्यते तंजहा ।

आयंगुले उस्सेदंगुले पयायंगुले ॥

अङ्गुलं शिबिधे प्रकृतं तद्यथा आत्माङ्गुलमुत्पत्त्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गु-  
लम् । तत्र ये यस्मिन् काले भरतसगरादयो मनुष्याः प्रमाणाङ्गुला  
भवन्ति तेषां च संबन्धो अत्रात्मा यद्यत्ते आत्मनामङ्गुलमात्मा-  
ङ्गुलत एवाद् आत्माङ्गुलम् ।

से किं तं आयंगुले आयंगुले जेषं जे ए यया मणुस्सा  
जवद तेसि एं तथा अप्पणो अंगुलेणं उवाअस अंगुलाइं  
मुहं नवमुहा पुरिसे पमाएजुजे भवइ । दोसिए पुरिसे माण-  
जुजे भवइ । अद्दभारं तुहमाणे पुरिसे उम्माएजुजे भवइ  
माणुम्माणपमाएजुजा लस्सत्तवेअएगुणेंहि उववेअ  
उचमकुलप्पम्मा उचमपुरिसा मुणेअया ? हुंति पुए  
अहियपुरिसा, अद्दसयं अंगुलाए उकिद्धा । अएउइ  
अद्दम्पुरिसा, चउत्तरं मज्झिमिद्धाओ । २ । हीणा वा  
अहिया वा जे खलु सरसत्तसारपरिहीणा । ते उचमपु-  
रिसाणं, अयसा पसचणमुपैति । ३ । एएणं अंगुलपया-  
एणं उ अंगुलाइं पादो, दो पाया विट्ठयी, दो विट्ठयी-  
ओ रपणी, दो रपणीओ कुट्टयी, दो कुट्टयीओ देरं, पण-  
जुगेनाअिआ अक्खमुसले, दो धनुत्तसाइं गाउअं ।  
चत्तारि गाउआइं जोअणं । एएणं आयंगुलपमाएणं किं  
पयोयणं ? एएणं आयंगुलेणं जे अं जया मनुस्सा हवंति  
वसि एं तथा एं आयंगुलेणं आरुत्तज्ञाणदहनदी वा वि  
बुक्खरिणो दोदि ए गुंजालिआओ सरासरपंतिआओ  
मरामरपंतिआओ विलपंतिआओ आरागुज्जाएणाएण-  
एवणणंरुवणाराओ देउअसभापवायुभखाइअपरिहाओ  
पागारआहायचरिआदरुणोपरपासायधरसरणुअया आवाए-  
मिधादमतिगणउक्केउम्मुहमहापहंहासतमरुदज्ञाणजुम-  
गिअिअिअिअिअेअंनंदापाणिआओ लोहीसांठकदाहकठि-  
अयजदमनोवगरमार्शणि अजजकठिआइं च जोअणं  
भविअंजित्ते से समासओ तिनित्ते पद्यते तंजहा सूइअंगुले  
परंगुले से वणंगुले अंगुलायया एगपंसिया सी सूइअंगु-  
ले सूइसुइगुणिया पपरंगुले परं सूइए गुणितं घणंगुले  
एएसि एं सूइअंगुलपपरंगुलघणंगुलाणं कपरं कपरंदिनो  
अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा सव्वयोवे  
सुइअंगुले पपरंगुले अस्सेत्तंजगुणं घणंगुले अस्सेत्तंजगु-  
णं सेचं आयंगुले ॥

जे नरतादयः प्रमाणयुक्ता यदा जयन्ति तेषां तदा स्वकीयम-  
ङ्गुलप्रमाणाङ्गुलमुच्यत इति शेषः । इदं च पुरुषाणां काश्चादिभे-  
दात्मावस्थेयमानत्वात् क्वचित्प्रमाणं कथ्यते । अनेनैवात्माङ्गुलेन

पुरुषाणां प्रमाणयुक्तत्वादिनिर्णयं कुर्यात्तत्र ( अल्पो अंगुले अं  
उवाअसेत्त्यादि ) यद्यस्यात्मीयमङ्गुलं तनात्सोऽङ्गुलेन हा-  
याङ्गुलानि सुखं प्रमाणयुक्तं भवत्यनेन च सुखप्रमाणेन नव मुखा-  
नि सर्वाऽपि पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवति प्रत्येकं ह्यदहाङ्गुलेनै-  
वनिर्मुक्षीरद्योत्तरं शतमङ्गुलानां संपद्यते । ततश्चैतानुबन्धुः पुरुषः  
प्रमाणयुक्तो भवतीति परमार्थः । अथ तस्यैव मानयुक्तताप्रति-  
पादनाथमाह । दौषिकः पुरुषो मानयुक्तो भवति कोणो अज्ञ-  
परिपूर्णो महती कुपिरुक्ता तस्यां प्रवेशितो यः पुरुषो अज्ञस्य  
कोणं पुष्पौत्तस्वर्षकं निष्काशयति कोणजलोनां वा तां पुरयति  
स द्रोणिकः पुरुषो मानयुक्तो निगद्यते इति भावः । इदानीमेत-  
स्यैवोमानयुक्ततामाह । सारपुङ्गुराचित्तत्वात्सुसारापितः सच-  
केनारं तुल्यमनुरूप इमानयुक्तो भवति । तत्रोत्तमपुरुषाः यद्योक्तैः  
प्रमाणमानोऽन्यैः अन्यैश्च सर्वैरव गणैः संपद्वा एव नवतीत्ये-  
तदर्थेयथाइ ( माणुम्माणगाहा ) अनेतरुक्कस्यवैरमानोमान-  
प्रमायैयुक्ता उत्तमपुरुषाश्चकवत्यादयो ज्ञातव्या इति सचकवस्त-  
था सङ्ख्याइ शङ्खस्विककादीनि व्यञ्जनानि प्रणीतिसहाय्यानि  
गुणाः ज्ञान्यादयस्तेरुपेतास्वोपेतासकङ्कान्याप्यादिनि तत्रसूत्रा  
इति गार्थायः । अथात्माङ्गुलेनैवोत्तममध्यमाधमपुरुषाणां प्रमा-  
णमाह ( हुंति पुए गाहा ) भवति पुनरधिकपुरुषा उत्तमपुरुषा-  
श्चकवत्यादयोऽप्यशतमङ्गुला ( उकिट्टाउ ) उअमिता उअस्सेयं  
वा पुनःशब्दस्त्वेषामेवाधिकपुरुषादीनामेकमेतदादर्शकं ।  
आत्माङ्गुलेनैव पद्यत्वङ्गुलायधमपुरुषा भवन्ति (चउत्तरमज्ज-  
मिद्धाउत्ति ) तेनैवाङ्गुलेन चतुरस्रसङ्खलशतं मध्यमानः तुरश्यां  
यथानुक्रमेणसङ्ख्यादिमात्रप्रतिपादकपर इति गार्थायः । अद्यो-  
त्तरशताङ्गुलमानादीना अधिकाः वा ते किं प्रवर्तीत्याइ (दीणा  
वा गाहा ) अद्योत्तरशताङ्गुलादीना वा अधिका वा ये खलु स्वयः  
सकञ्जनादयस्प्रकृतिमन्वीनासतिदुष्पादकृतो भवतिःसत्यं दैव्य-  
विनिर्मुक्तो मानसोऽप्यश्वःसारः बुजपुङ्गोपचयजशारीरशक्ति-  
विशेषैः परिहीना समन्तरे उत्तमपुरुषाणां उपचित्तपुण्यपान्ना-  
राणां अथवा अतिच्छन्तोऽप्युज्जकमंयशतः प्रभवत्समुपयान्ति  
स्वरादिशेषसङ्ख्यैककपसाहाय्यात् यद्योक्तप्रमाणोऽनिधिष्य-  
मनिष्पन्नप्रवृत्ति प्रतिपत्तयं तन्केवसिद्मद् सङ्घ्यतं । नरतच्चक-  
वत्यादीनां स्वाङ्गुलतो विशयाधिककृताशतप्रमाणात्म्यं निर्णी-  
तत्वात् । महावीर्यादीनां च केवाधिभ्येतेन चतुरश्रियाङ्गुल-  
प्रमाणत्याङ्गवन्ति विशिष्टाः स्वराद्यः प्रधानसङ्ख्यायितो यत  
उक्तम् " अरिधृष्ययो सुखं मांसं स्वच्छि जोगाः स्त्रियाऽङ्गुलि ।  
मती यानं स्वरे चाक्षा, सर्वे सत्वे प्रविशुम्भित्ति" गार्थायः ।  
पतेनाङ्गुलप्रमाणेन पङ्कजानि वादः पादस्य मध्यतः प्रदेशः परः कू-  
शयित्तीर्थः पादिकदेशात्पायादाः द्वौ च युष्मत्कृतौः पादौ वित-  
स्तिः इह च वितस्ती रत्निहैस्त इत्यर्थः । रत्निहयं बुक्तिः प्रत्येकं  
ङ्किक्रयनिष्पन्नास्तु पद्यमानाविशेषा इत्युक्तंयुगैयमानाङ्किकाऽसुस्त  
सङ्कणा भवन्ति । अत्राज्ञा पुरी शेषो गतायः । इह घनु सुद-  
के गम्यते चत्वारि गर्भ्यतामि योजनम् । " पतेणं आयंगुल्यप्रमा-  
णेणं किं पत्रोअसिमि " गतार्थं नवरं ये यदा मनुष्या भवन्ति  
तेषां तदा आत्मनामङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकाशमंजवांयव-  
दहदादिनि मीयन्त इति संटङ्कः । ( अयटादीनां व्याख्या स्वक-  
व्याने ) अत्रु० । तरेवमात्माङ्गुलेनात्मीयात्मीयकारुसम्भवीनि य-  
स्वदुष्यकाशीमानि च योजनानि मीयन्ते । ये यत्र काले पुरुषा  
भवन्ति तत्रपुरुषाऽथ शब्दो कथ्यते । इदं चात्माङ्गुलं सुखङ्गुला-  
दित्रेद्वारिषिधे तत्र दीर्घेणात्मात्मा वादल्पस्यैकदेशेऽधिकी नभः

प्रदेशोभिः सूच्यङ्गमुच्यते । एतच्च सञ्जायतेऽसंख्येयप्रदेश-  
मयसंस्कृष्टपनया सूच्याकारण्यप्रदायिताप्रदेशयन्निष्पन्नं रूप-  
म्यम् । तदथा सूची सूच्यैव गुणित्वा प्रनराङ्गम् । इदमपि पर-  
मार्थेनाऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असञ्जायतस्त्वैवानन्तरदाहि-  
ता त्रिप्रदेशात्मिका सुखिसंख्येयः अतः प्रत्येकं प्रदेशनिष्पन्नं सूची-  
त्रयात्मकं नवप्रदेशसंख्यं संपद्यते । स्यापना प्रनराङ्गं सूच्या गु-  
णितान् द्वैर्ष्यविष्कम्भतः पितृतन्त्रस्य समसंनराङ्गम् । इदमपि द्वै-  
र्ष्यमपि त्रिष्वपि स्थानेषु समतासङ्गस्यैव समयस्येयया  
घनस्येह रुद्रयात् प्रनराङ्गं तु द्वैर्ष्यविष्कम्भमभ्यामेव समं न  
पिएऽनस्तस्येकप्रदेशमात्रत्वादिति जायः । इदमपि वस्तुवृत्त्या  
ऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असञ्जायतगुणितु सप्तविंशतिप्रदेशात्मकं  
पूर्वाकसूच्या अनन्तरोक्तनवप्रदेशात्मकं प्रतेर गुणिते यत्तावता-  
मेव प्रदेशानां भावात् । एषा च स्यापना अनन्तरनिर्दिष्टा नवप्र-  
देशात्मकप्रनरस्याथ उपरि च न्य नव प्रदेशान् इत्या भावनीया  
। तथा द्वैर्ष्यविष्कम्भविषैरनुत्पत्तिमिवप्रपद्यते " एरसिणं  
जितं " इत्यादिना सूच्यङ्गज्ञानिप्रदेशानामव्यपहतुव्यचित्वा यथा-  
निर्दिष्टयायासुसारतः सुखावयंयति तदेतद्वामाङ्गमिति ॥  
उत्सेषाङ्गुलिनियेयार्थमाह ।

से किं तं उत्सेहंगुले ? उत्सेहंगुले अगेभगविहे एणचे  
तंजहा "परमाणु तसरेणूरुहरेणु अग्रयं च वाञ्छरस । शिकखा  
वृथा य जवो अद्रुगुणविवद्विआ कमासो " ॥

उत्सेषः "अर्णानां सुदुमपरमाणुपोमलणामित्यादि" कमेयो-  
च्छुं वा वृक्षितनय तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेषाङ्गुलमथ वा उत्सेषो  
नारकादिशरीराणामुत्सेषः तस्यरूपनिर्णयेार्थं ङ्गुलमुत्सेषाङ्गु-  
लम् । तच्च कारणस्य परमाणुसरोरुवाद्येभ्योऽन्यथावदानेक-  
विधे प्रहमम् ॥ ( परमाणुवाद्यानां स्वर्कस्य स्वस्वस्थाने )

एणं उत्सेहंगुलेणं किं पञ्चोर्णा ? एणं उत्सेहंगु-  
लेणं शेरुद्वानिरिक्खजेणंअमणुस्सदेवार्थं सरिरागाहणा  
मविज्जति ॥

( तदेयमेव अंगाहणा शब्दे वक्ष्यमाणा अत्रगाहना सर्वाऽप्य-  
उत्सेषाङ्गुलेन मीयते )

से समासो भो त्रिविहे पमात्ते तंजहा सुअंगुले परयंगुले  
पणंगुले एअंगुल्लयया एणपसिया सेदा सुअंगुले सु  
स्रएण गुणिया परयंगुले पररं सुएण गुणितं घणंगुले । एए-  
सिणं सुअंगुल्लपयंगुल्लयणंगुल्लानं कयरे कदरेहिंते अप्पे  
ना बहुए वा तुल्ले वा विनेसाहिणं वा सव्यायां वे सूअंगुले  
परयंगुले असंखेज्जणुणं घणंगुले असंखेज्जणुणं सेच  
उत्सेहंगुले ॥

एतच्च सूचीप्रनरघनभेदास्त्रिविधमामाङ्गुल्लयज्ञानवीयम् । उक्त-  
मुत्सेषाङ्गुलम् ।

अथ प्रमाणाङ्गुलम् ।

से किं तं पमाणंगुले ? पमाणंगुले एगमेगस्स रन्ना चाउरंते-  
क्कवद्विस्सि अद्रु सोवाणिणं कामणुरियणं इत्तसे दुवालस-  
सिए अद्रुकाणिणं अहिगरखंनंठाससिणं पषत्तं तस्स णं  
परमेगा कोदी उत्सेहंगुले विक्खंवा तं समणस्स जगवत्तो

महावीरस्स अरुत्तं त सहस्सगुणं पमाणंगुलं भवइ । एए-  
णं अंगुल्लपमाणेणं ङ्गु अंगुलाइ पादो दुवालसंगुलाइ विह-  
त्थी दो विट्थीत्तो रयणीं दो रयणीत्तो कुक्की दा  
कुक्कीत्तो षण्णं दो धणुस्सहसात्तं गाउअं चचारि गाउआइ  
जोअणं । एएणं पमाणंगुलेणं किं पञ्चोर्णाएणं एणं पमा-  
णंगुलेणं पुइशीणं केणंणं पतालाएणं जवमाणं जवणपत्य-  
काणं निरयाएणं निरयावत्तीणं निरयपत्थकाणं कपाणं  
विमाणाए विमाणपत्थकाणं टंकाणं कुंदाएणं सेआणं विह-  
रीणं पञ्जाराएणं विजयाएणं वक्खाएणं वासहराणं पव्वयाएणं  
वेज्जाणं वेइस्सएणं वेइयाएणं दाराएणं तोःखाणं दीवाणं समु-  
हाए आयामविकखंनोच्चतोत्वेह परिक्खेवो भविज्जति ॥

सहस्रगुणितान्त्सेषाङ्गुलप्रमाणः ज्ञातं प्रमाणाङ्गुलम् । अथवा  
परमप्रकरूपं प्रमाणं प्राप्तमङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलं नातः परं सुदुत्तर-  
मङ्गुलमस्तीति भावः । य इह सामस्तोःकव्यवहारविराज्या-  
दिस्थितिप्रथमप्रमाणनाथेन प्रमाणज्ञोऽस्मिन्नवसिष्ठीकाशे  
तावपुगादिदेवो जेतो वा तस्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलमन्तच्च काक-  
णीरन्तस्वरूपपरिज्ञानेन तावपुत्र्युत्पत्तिज्ञानेन गुणाधिक्यमपश्यं  
रुद्रहारेण निकपयितुमाह । " परमगसस णं रय्मो इत्यादि " ।  
एकेकस्य राङ्गुलान्तचक्रवर्तिनाऽष्टसौवर्षिकं काकणीरन्तं  
षट्पलादिधर्मापेन प्रहस्तं तस्यैकेका काटिरसत्सङ्गुलं  
तत्रप्रमाणस्य जगवतो महावीरस्याङ्गुलं तन्सहस्रगुणं प्रमाणा-  
ङ्गुलं जवतीति समुदायार्थः तत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि चक्रि-  
णां काकणीरन्तनुद्यताप्रतिपादानार्थमेकैकप्रहणं नित्यचक्रितरा-  
जःशब्दवियवज्ञापनार्थं राजप्रहणं दिक्कथयेद्देहिन्नसमुज्जहि-  
मकपयंयन्तसोऽन्तःमाचतुष्टयं वृक्षणाश्चत्वारोऽन्तःसर्वाश्चतुरासि-  
चक्रेण वसथेति पाठयतीति चतुरन्तचक्रवर्ती तस्य परिपूर्ण-  
षट्पलाकजरन्तभोक्तुरियार्थः । चत्वारि मधुरगुणपलान्येकसर्पेणः,  
षोडश सर्पेण एकं धान्यमापकतं, द्वे धान्यमापकतः एका रुद्राः,  
पञ्च गुह्यकः एकः कर्ममापकतः, शोडश कर्ममापकतः सुदुर्गाः,  
पैतरथिः काकणीरन्तं निष्पद्यते । पतानि च मधुरगुणपला-  
द्भिर्न जरतचक्रवर्तिकाङ्गसंजघनस्येव गृह्णन्त अन्यथा काशभेदे-  
न तद्धैम्यसंज्ञेय काकणीरन्तं सवचक्रिणां तुष्टयं न स्यात्  
तुष्टयं खेच्यते तदिति चत्वारि चतुष्टयपि दिक्षु द्वे ऊर्धा-  
ध इत्येवं षट्पलानि यत् तत् षट्पलम् । अथ उपरि पा-  
श्वन्तस्य प्रत्येकं चतुष्टयमभ्रंशोः क्वाचात् । हादश अथयः  
कोटयो यत्र तद् हादशाधिकं क्वाचिकाः कोणास्तेषां च अथ  
उपरि च प्रत्येकं चतुर्णां सञ्जावादृष्टकणिकम् । अथः क-  
रणिः सुचर्णकारोपरकरं तत्संस्थानेन संस्थितं तत्सदृशाकारं  
समचतुरङ्गमिति यावत्प्रहस्तं प्रकृतं तस्य काकणीरन्तस्यैकेका  
काटिरसत्सङ्गुलप्रमाणविष्कम्भा हादशाथय एकैकस्य उत्से-  
षाङ्गुलप्रमाणा भवन्तीत्यर्थः । अस्य समचतुरङ्गवादायामो  
विष्कम्भस्य प्रत्येकमुत्सेषाङ्गुलप्रमाण इत्युक्तं जवतीति । यैव च  
काटिरुक्तीकृता आयामं प्रतिपद्यते साऽप्यस्तिन्ययस्यथापिता  
विष्कम्भजगवन्तीत्यायामदिक्कःअथोक्तकनरनिधेयेऽप्युत्पत्तिश्च-  
यः स्यादेवेति सूत्रे विष्कम्भस्यैव प्रहस्तं तद्ग्रहणं चायामाऽप  
गृहीतं यथ समचतुरङ्गवाचस्येति तदेवं सर्वत्र कसेयाङ्गुलं



अंगुल

प्रमाणमिदं सिद्धं तदाऽप्यत्र चतुरङ्गुलप्रमाणसुषुष्यां वरकागणौ  
 नेयेति ब्रूयन् तन्मतात्परं संभाष्यते निश्चयं तु सर्ववदिनां विद-  
 न्तीति । अथैकैकोटिगणमुसंधाङ्गुलं भ्रमणस्य भगवतो महा-  
 धीरस्यार्कोङ्गुलं कथमिदमुच्यते श्रीमहाधीरस्य सप्तहस्तरुप्रमा-  
 नत्वादेकैकस्य हस्तस्य चतुरङ्गुलसंख्यं चतुरङ्गुलमानत्वाद्दृष्टव्य-  
 धिकशताङ्गुलमानो भगवानुत्सेधाङ्गुलन सिद्धो भवति स एव  
 आत्माङ्गुलनं मतात्तरमाश्रित्य स्वहस्तेन सार्द्धहस्तत्रयमानत्या-  
 च्चतुरशाण्यङ्गुलमानो गीयतेऽतः सामर्थ्योद्देशकमुत्सेधाङ्गुलं श्रीम-  
 न्द्वार्वीरामाङ्गुलापेक्षया अर्द्धङ्गुलमेव भवति । येषां च मतेन  
 प्रगवानात्माङ्गुलनाद्ये शतराजाङ्गुलमानः स्वहस्तेन सार्द्धहस्तचतु-  
 र्यमानत्वात्सन्तेन भगवत् एकस्मिन्नात्माङ्गुले एकमुत्सेधाङ्गुलं  
 तस्य च पञ्च नव ज्ञाया भवति अष्टपद्यधिकशतस्य अष्टात्त-  
 रशतेन भागपहारे पतावत् एव भावात् यन्मतेन तु प्रगवादि-  
 शास्त्राधिकमङ्गुलशतेन स्वहस्तेन पञ्चहस्तरामानत्वात्सन्तेन प्रगवत्  
 एकस्मिन्नात्माङ्गुले एकमुत्सेधाङ्गुल तस्य च द्वौ पञ्चभागी भ-  
 वति । अष्टपद्यधिकशतस्य विशाश्रित्यधिकशतेन भागे ह्येते इत्य-  
 एव शाभासदेवमिहाद्यमतमपैदेकमुत्सेधाङ्गुलं भगवदात्माङ्गु-  
 लस्यार्द्धरुपया प्रोक्तमित्यनेयमेति । तदुत्सेधाङ्गुलं सहस्रगु-  
 णितं प्रमाणाङ्गुलं भवति । कथमिदमवसायते ? उच्यते जरत-  
 कृत्तरी प्रमाणाङ्गुलेनात्माङ्गुलेन च किल विशाश्रित्यमङ्गुलं नां  
 जयति अत्तात्माङ्गुलस्य प्रमाणाङ्गुलस्य वैकुरुत्वात् उत्सेधाङ्गु-  
 लेन तु पञ्चचतुराशमानत्वात्प्रतिचतुष्टय एतद्युग्मयङ्गुलसंज्ञायां  
 दृष्टव्याः शतसंख्यायुक्तानां संप्रगुणेऽनः सामर्थ्योद्देशकस्मिन्  
 प्रमाणस्यैव चत्वारि शतान्युत्सेधाङ्गुलानि भवन्ति । विशालधि-  
 कशतेन अष्टचत्वारिंशत्सहस्राणां भागपहारे एतावतो ला-  
 प्रात् । यद्येवमुत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं चतुराशतगुणमेव स्यात्ततः  
 कथं सहस्रगुणमुक्तं सत्यं किं तु प्रमाणाङ्गुलस्याऽऽनुनीयोत्से-  
 धाङ्गुलकूपे दृष्टव्यमस्ति ततो यदा स्वकीयव्यवहारेण युक्तं य-  
 दाव्यभिचमेवेदं चिन्त्यते तदात्सेधाङ्गुलाच्चतुराशतगुणमेव भवति  
 यदा स्वहस्तेनोत्सेधाङ्गुललक्षणं बाह्येन सतचतुष्टयल-  
 क्षणं दृश्यं गम्यते तदा अङ्गुलविष्कम्भना सहस्राङ्गुलदं धी प्र-  
 माणाङ्गुलविषया सूचित्तयेति । इदमुक्तं जयति अऽऽनुनीयाङ्गुल-  
 विष्कम्भं प्रमाणाङ्गुले तिष्ठः श्रेणयः कल्पयते एकऽङ्गुलविष्कम्भ-  
 शतचतुष्टयदीर्घा द्वितीयाऽपि तावन्मात्रेण तृतीयाऽपि दृश्येण  
 चतुराशतमात्रेण विष्कम्भतम्यदाङ्गुलं ततोऽस्यापि वैष्वेद्यं गृ-  
 हीत्वा विष्कम्भोऽङ्गुलप्रमाणः संप्रपद्ये तथा च सत्यङ्गुलशतस-  
 यदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भना इत्यपि सिद्धा । तत्सत्यङ्गुलप्रपद्येता-  
 सापुनर्पुनरि व्यवस्थापने उत्सेधाङ्गुलतोऽङ्गुलसहस्रदीर्घा अङ्गु-  
 लविष्कम्भना प्रमाणाङ्गुलस्य सूचिः सिद्धा भवति । ततस्तमधि-  
 क्षयोत्सेधाङ्गुलात्सप्तहस्रगुणमुक्तं चतुराशतं चतुराशतगुणमेव ।  
 अत एव पुष्टीपर्वतविमानाद्यानां अत्रैव चतुराशतगुणन अ-  
 र्द्धतृतीयाङ्गुललक्षणस्यविष्कम्भान्विनेन मीयन्ते न तु सहस्रगु-  
 णया अङ्गुलविष्कम्भया सृच्यति शेषं भाविनाये यावत् ( पुढ-  
 भाष्येति ) रत्नप्रमादीनां ( कंठापान्ति ) रत्नकायदादीनां ( पा-  
 तासाख्येति ) पातासकलशार्थं ( भ्रमणपान्ति ) भवनपत्थाया-  
 सादीनां ( जयणपथदापान्ति ) भवनप्रस्तम्भकप्रस्तटान्तरं तेषां  
 ( निरयाख्येति ) नरकावासार्थं ( निरयावालियापान्ति ) नरका-  
 वासपृष्ठीनां ( निरवपथङ्गापान्ति ) नैरेकप्रस्तम्भकप्रस्तम्भयान्तिभियन्त-  
 ह्वेव एकादयादिना प्रतिपदितानां नरकप्रस्तटानां शेषं प्रतीतं

नधरम् ( टंकापान्ति ) शिखरद्वानां ( कूडापान्ति ) रत्नकूटादीनां  
 ( सेलाख्येति ) मुण्डपर्वतानां ( सिहरीपान्ति ) पर्वतानामिष  
 शिखरवतानां ( पम्भाराख्येति ) तेषामेवेष्वतानां ( बलाख्येति ) ज-  
 लधिबिलाविषयभूमिनासूदाधिभूमिमध्यऽपवाहाः तद्वधश्च “अं-  
 गुलविदधिधरयणी” त्यादिगाथापन्यस्ताङ्गुलादीनि योजनाव-  
 सानानि पदानि व्याख्यातानि ।  
 साम्प्रतं शेषानि श्रेयवादीनि व्याचिख्यासुहुराह ।  
 से समासश्चो तिदिने पृषत्ते तं जट्टा सेदीअंगुले पर्यरं-  
 गुले पर्यंगुले असंखेजाओ जोअणकोडाकोकोओ सेदी  
 सेदीए गुणियाण पर्य पर्यं सेदीगुणियं लोगो संखेजाए-  
 यं लोगो गुणिओ संखेज्जा लोगा ऋसंखेजाएयं गुणिओ  
 लोगो संखेजा लोगा अयंतेणं लोगो गुणिओ अ (गंता)  
 ल गा एएणिणं सेदिअंगुलपर्यंगुलपर्यंगुलाणं कपरं  
 क रंदितां अएयं वा बहुए वा तुह्य वा विंससादिह वा  
 सव्वयापं सेदिअंगुले पर्यंगुले असंखेजाणुए पाणंगुले  
 असंखेज्जणु सत्त पमाणंगुले ।  
 अनन्तरनिर्णीतप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनानासंख्येया यो-  
 जनकोटीकोट्यः स्यात्तिसप्तचतुरर्षीकृतश्लोकस्यैकाः श्रेणिप्र-  
 यति ( सप्तचतुरप्रमाणस्य श्लोकस्य श्लोकशब्दे ) अनुत्तरदिदं  
 सप्तचतुरप्रमाणस्य प्रमाणाङ्गुलेन संख्येययोजना कोटिकाट्या-  
 यना एकप्रदेशिकी श्रेणि सा च तथैव गुणिता प्रतरः सोऽपि  
 यथात्तश्रेण्या गुणितां श्लोकः श्रयमपि संख्येययोजना गुणि-  
 तः संख्येया लोकाः असंख्येयेन तु राशिनो समाहृतोऽनख्ये-  
 या लोकाः अनन्तेश्च लोकैर्लोकः ॥ अनुत् ॥ प्रयत् ॥ आत्  
 मं प्र ॥ धिदो ॥ यास्यैवयनमुनी, पुं अङ्गो पाणी ज्ञियते वा  
 न-अङ्गुलं, न वाच ॥  
 अंगुलपेटाचित्तय-अङ्गुलपृथिवित्क-त्रिं अङ्गुलमुच्ययाङ्गुलं पृथ-  
 क्वचिद्विप्रभृतिरानवचय शंति परित्रया ऋद्धुद्धकथं शरीरा-  
 वगाइनामानंमयाम्भस्तीति अङ्गुलपृथक्विषयाः अतोऽनेकस्यवा-  
 दिनीक प्रत्ययः जी १ प्रति ० अङ्गुलद्विकविशरीरावगाहन-  
 मानं, प्रज्ञो १ पद ।  
 अंगुलि ( ली ) अङ्गुलि- ( ली ) स्त्री ० अङ्गुलि या कोए वा-  
 च ० करपादशाखायाम्, तं ० औ ० प्रच ० गजकीर्णकासुले,  
 गजगुणाम्रे च पुंस्यमपि संघृताधरीरत्नङ्गुलनेति शकुं ० वाच,  
 अंगुलिकोश-अङ्गुलिकोश-पुं ० अङ्गुलीनां रक्षाये प्रियमाने  
 तदवर्णये चर्मादी, रां ० तत्कारणे “अंगुलिकोसे पणमं” । नि ०  
 सू ० १ उ ० ।  
 अंगुलि [ ले ] जग-अङ्गुलीयक-न ० अङ्गुलौ भवमङ्गुलशोयं  
 ततः कः । अङ्गुल्यजरणविशेषे, श्री ० उपा ० प्रच ० श्राच ० ।  
 कल्प ० आ ० आ ० म ० प्र ० ।  
 अंगुलिफोडण-अङ्गुलिफोडन-न ० अङ्गुलीनां परपर्यं तार-  
 नं, कडिकाकरणे च तं ० ।  
 अंगुलिनमुद्गा-अङ्गुलिज-की ० अङ्गुलीसुवी वा चावयतः  
 कायोरसगंधिस्थित्युपे उसगंधोपे, । तथं च “ अंगुलिजमुद्गा-  
 भां वि य, चात्रेनो तदय कुण्डल उरुसम्भं । अज्ञावगणगण-  
 द्वा, संजवणं च जोगणं ” श्राय ० १ अं ० प्रच ० आत्ताप-

कगणनार्थमङ्गुलीभ्यासयन् तथा यागो नाम स्थापनार्थं व्यापा-  
रान्तरानिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् भ्रूसंज्ञां कुपेन् चकारादेवमेव  
वा भ्रुवस्य कुर्वन्तुस्यं तिष्ठतीति अङ्गुलीभ्रुदोषः प्रथमं ५ श्लो० ।

अंगुलि [ ली ] विज्ञा-अङ्गुलि [ ली ] विद्या-आ० आ-  
वस्थानं नगर्थे युक्तप्रकाशिते महाप्रजाये विद्यादेहे, " अंगुली-  
विज्ञा य इत्येव बुद्धेय संपर्थास्ति महत्प्रजाया " ती० ३३५प्र० ।

अंगोर्वंग-अङ्गोपाङ्ग-अङ्गानि शिरःप्रभृतीन्पथो उपाङ्गानि अङ्गा-  
वयवभूतान्यङ्गुल्यादीनि शेषाणि तत्प्रत्ययवयवभूतान्यङ्गुलीपर्व-  
रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि  
अङ्गोपाङ्गस्यादावसंख्येय इत्येकशेषः । इतरन्तरयोगः शिरःप्रभृ-  
तिषु, अङ्गुल्यादिषु, तत्पर्वरेखादिषु च प्रह्ला० ३३३ पृ० । कम्म० ।  
नङ्कैसमसु अंगुलिआदा क्लु अंगुयुगाणि " उल० ३ अ० ।

अंगोर्वंगशाप-अङ्गोपाङ्गनाम-न० अङ्गोपाङ्गविषयधनं नाम अ-  
ङ्गोपाङ्गनाम । नामकभेदे, यदुद्यत्चञ्चरीरतयोपात्ता अपि पु-  
ङ्गला अङ्गोपाङ्ग विभागेन परिणमन्ति तन्प्रह्ला० अङ्गोपाङ्गनाम । कम०  
१ क० । अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधं मन्त्रव्यं तथाहि आदित्यिकाङ्गोपा-  
ङ्गनाम वाङ्मयाङ्गोपाङ्गनाम, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम तैजसकामेण-  
योस्तु ज्ञानप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वास्ति अङ्गोपाङ्गसंभव  
इत्युक्तं त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम । कम० ६ क० । प्रह्ला० । पंस० ३ ।  
प्रथ० । श्लो० । आ०चू० ।

अंघ्रि-अंघ्रि-पु० गमने, भ० १५ श० १ उ० ।  
आंघ्रि-पुं० आगमने, १५ श० १ उ० ।

अंघ्र ( त )-आंघ्रित्त-वि० पूष्ये राजमान्ये पितृव्यादौ,  
व्य० ४ उ० । सङ्कमने, भ० १५ श० १ उ० । पञ्चविंशतिनमे-  
नात्प्यभेदे, रा० । आ०म०प्र० । जं० । दाबल०धो, नि०चू० २ उ० ।  
अंघ्रि अंघ्रि-अंघ्रिनांघ्रिक-पु० अंघ्रिते सङ्कमने अंघ्रितेन  
सङ्कमनेन वा देशेनांघ्रि पुनर्गमनमंघ्रितांघ्रि । गतपूर्वदेशे तेन  
वा पुनर्गमने अंघ्रियांघ्रि अंघ्रिया गमनेन सह आंघ्रिरागमन-  
मंघ्रियांघ्रि । गमामगे, " नां कमह नां पङ्कमह अंघ्रिचिचय करेह  
भ० १५ श० १ उ० । श्लो० ।

अंघ्रि अ [ य ] रिनिथ-अंघ्रित्तरिजित्त-न०नात्प्यभेदे, रा०  
श्लो० म० प्र० ।

अंघ्रिचा-अंघ्रिचिन्ता-अव्य० उत्पायित्येत्यर्थे, आ०म० । श्लो० ।  
अंघ्रि-देशात् । धा० उ० ५० आकारणे, अंघ्रिते वासुदेवं अगदतम-  
सिंभ आ० म० प्र० । विशेष० । भ० । कल्प० ।  
अंघ्रिण-दशी० आकारणे, आ० । नि० चू० ।

अंघ्रिण-अञ्जन-न० अञ्ज ल्युट् । नयनयोः कञ्जसापदाने,  
सूत्र० १ श्लो ९ अ० । तं० । तस्यःशशाक्या नैत्रयोः कु-  
कोत्सापदाने, ह्यारतैलादिना देहस्य अञ्जये च स० । अञ्जयेते  
नेन अञ्ज-करणे ल्युट् बाच० । कञ्जते, श्लो० ६ अ० । सौवीरा-  
दौ, सूत्र० २ श्लो १ अ० । अं० । आ० म० प्र० । अं० । जी० ।  
प्रह्ला० । आवा० । रसाञ्जने, दश० ३ अ० । रनविशेषे, आ०  
म० प्र० । रत्नप्रजायाः शरकाएदस्य दशमं भागे च । तदवा-  
योजनशक्तिं बाह्येन प्रकृतम्, श्लो० १० उ० । वनस्थातविशेष-  
ः, आ० । श्लो० म० प्र० । चन्द्रसूर्याणां लेहशुक्रोत्पञ्चवारिणां पुत्र-  
ज्ञानां पञ्चमे पुत्रले, वे० २० २० पार्श्वे । सू० प्र० । मन्त्रस्य पूषेण  
शीतोत्पत्त्या महानद्या दक्षिणेन स्थितं यक्षस्कारपर्वतभेदे, श्लो०  
५ उ० । जं० । " शो अत्रया " श्लो० २ उ० । श्रीपुत्रमार्कण्डेय

वेद्यन्वस्य तृतीये लोकापले, भ० ३ श्लो ६ उ० । उदधिकुमारै-  
न्द्रस्य प्रभञ्जनस्य चतुर्थे श्लोकापले, श्लो० ४ उ० मन्त्रस्य  
पुरतो रुचकवरपर्वते, नसमे कृते च पुं० । श्लो० ७ उ० ।

अंजण-अञ्जनिका-खी० बह्वीभवे, प्रह्ला० १ पृ० ।  
अंजणकेशिया-अञ्जनकेशिका-खी० वनस्थितिशेषे, भा० ।  
म०प्र० । जं० । रा० । प्रह्ला० ।

अंजणग-अञ्जनक-पुं० अञ्जनरत्नमयत्वाद्अञ्जनास्ततः स्यार्थ-  
कप्रत्ययः । कृष्णवर्णत्वेन अञ्जनतुल्या अञ्जनकाः उपमाने क-  
प्रत्ययः । जं० २ यङ्ग० । नन्दिश्वरदीपस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थितेषु  
पर्वतभेदेषु, श्लो० ४ उ० । प्रथ० ।  
अथ नन्दिश्वरस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थिता अञ्जनकपर्वताः उच्यन्ते

एतदीश्वरवत्स एतदीश्वरस्य चक्रादाविवरत्नमभस बहुमङ्ग-  
देसभाए चञ्चरिनि चतारि अंजणगपञ्चया पणुत्ता तेज-  
हा पुरच्छिद्रे अंजणगपञ्चए पञ्च चञ्चरिद्रे अंजणगप-  
ञ्चए उचरिद्रे अंजणगपञ्चए दां दृगिद्रे अंजणगपञ्चए  
तणु अंजणगपञ्चयगा चतुरतीति जायणमहस्साइं उह  
उचत्तेणं, ए. पंगे जायणनहस्सं उव्वेहेणं मूले दसगोयण-  
महस्साइं धरणिण्यले दसगोयणनहस्साइं अयापमविकरवंजेणं  
ततो णतर् चणं माताए पदेसपरिहाये माणाभाणा उव्वरिं  
एगमं जायणमहस्सं अयापमविकरवंभेणं मूले एकतीसं  
जायणमहस्साइं उच त्वीतजोयणसते किंचि विनेसादिए  
परिकखेवेणं सिहरितले तिसि जायणमहस्साइं एगं च  
ह्मावड्जायणसतं किंचिविनेसादिहं परिकखेवेणं पधसा  
मूले विदियसा मज्जे संखित्ता उणं तणुया गोपुउसंजा-  
णसंजिया अचछा जाव पत्तेयं पत्तेयं पञ्चमवरत्तेयिया परि-  
कखेवेणं पत्तेयं पत्तेयं णणुदपरिकखेत्ता वसअो गोयया ।  
तसि ए अंजणगपञ्चयाणं उव्वरिं पत्तेयं पत्तेयं बहुसमरमणि-  
जा ज्मिजागा पधत्ता स जहानामए आंघ्रिणपुक्खरं चि  
चा जाव सपत्ति ।

ते अञ्जनकपर्वताश्चतुरशीतियोञ्जनसदृश्याणि ऊर्ध्वमुखैस्त्वेव  
एकं योजनसदृशमूत्रेण मध्ये स्वातिरेकाणि दशयोजनसदृशा-  
णि विष्कम्भेन धरणीतले दश योजनसदृश्याणि । नन्दनन्दं च  
मात्रया परिहीयमानाः परिहीयमाना उपरिपैकं योजनसदृशं  
विष्कम्भेन मूत्रं एकांशदात्तं योजनसदृश्याणि बद्दशानि त्रयो-  
विंशतियोजनानि किंचिद्विशेषाधिकानि ( ३१६२३ ) परिक्रमे-  
ण धरणीतले एकत्रिंशत् योजनसदृश्याणि बद्दशानि त्रयोविं-  
शतियोजनानि देशानि [ ३१६२३ ] परिक्रमेण उपरि ऋषि  
योजनसदृश्याणि एकं च द्वापष्टियोजनशतं किंचिद्विशेषाधिकं  
[ ३१६२२ ] परिक्रमेण ततो मूले विस्तीर्णां मध्ये संक्षिप्तानि उप-  
रि तनुकाः अत एव गोपुत्रसंस्थानसंस्थिताः सर्वोत्तमा अञ्ज-  
नयया अञ्जनरत्नामकाः 'अच्छा जाव परिक्रवा' इति प्राप्यत् प्र-  
त्येकं पञ्चवरेणिकाः परिक्रिताः प्रत्येकं वनखपरिक्रिताः पञ्च-  
वरेणिका वनखरकचयेन प्राप्यत् "तसिणमित्वादि" तेषामञ्ज-  
नपर्वतानां प्रत्येकं प्रत्येकमुपरि बहुसमरमणीयां ज्मिजागा प्र-  
कृतः तस्य 'से जहानामए आंघ्रिणपुक्खरं च द्वापष्ट्यादि' वषे-

नं जम्बूद्वीपजगत्या उपरितनजागस्येव तावद्भक्त्यं यावत् 'तस्य  
 षं बहवे बाणमेतन्ना देवा देवाःओ य आस्यंति तं जाव विदरंति'  
 तसिं षं बृहस्पतिर्जिज्ञासुं नृमिजागाणं बृहस्पतिर्दे-  
 सजाए पत्तयं पत्तयं चचारि सिद्धायतणा एगमेकं ज्ञेय-  
 षस्यं आयामेणं पन्नासं ज्ञेयणाईं विकल्पेणं छावत्तरी  
 ज्ञेयणाईं उद्धं उच्चत्तेणं अणैगखजस्यपान्निविद्धा वष-  
 ओ गीयमा ! तसिं षं सिद्धायतणां पत्तयं पत्तयं चउ-  
 हिसिं चचारि दारा पन्नात्ता तंजहा देवहारे असुरहारे नाग-  
 हारे भुवष्पहारे तस्य षं चचारि देवा महिष्ठिया जाव प-  
 लिङ्गावमहिष्ठिया पविबसंति तं देवे असासुं नाग सुवष्प  
 तेणं दारा सोलसज्येयणाईं उद्धं उच्चत्तेणं अद्ध ज्ञेयणाईं  
 विकल्पेणं तावत्तियं पवेसेणं सेताव कणगवष्पओ जाव  
 वणमासाओ । तसिं षं दाराणं चउहिसिं चचारिमुद्धंमंरुवा  
 पन्नात्ता ते षं मुद्धंमंरुवा एगमेगं ज्ञेयणस्यं आया—  
 मेणं पन्नासं ज्ञेयणाईं विकल्पेणं सातिरंगाईं सोलसज्ये-  
 यणाईं उद्धं उच्चत्तेणं वषओ तसिं षं मुद्धंमंरुवाणं चउ-  
 हिसिं चचारि दारा पन्नात्ता ते षं दारा सोलस ज्ञेयणाईं  
 उद्धं उच्चत्तेणं अद्धज्ञेयणाईं विकल्पेणं तावत्तियं चैव पवे-  
 सेणं सेसं तं चैव जाव वणमासाओ । एवं पिच्छापरमह-  
 वा वि तं चैव पमाणे जे मुद्धंमंरुवाण दारा वि तद्देव  
 णवरं बहस्पभ्भदेसभाए पेच्छापरमंरुवाणं अरुवांरुगा म-  
 षिपेदियाओ अद्धज्ञेयणपन्नात्तातो मीहामणा सपरि-  
 बारा जाव दामा धूमा वि चउदेमिं तद्देव णवरं सोलस  
 ज्ञेयणपन्नात्ता माडरेगाईं मोलम उवा सेसं तद्देव । जिण-  
 पदमाओ चेइयरुक्खा तद्देव चउदेमिं तं चैव पमाणं  
 जहा विजयाए रायदाणीए णवरं माणपेदियाओ सोलस  
 ज्ञेयणपन्नात्ताओ तसिं षं चैतियरुक्खाणं चउहिसिं च-  
 चारि माणपेदियाओ अद्ध ज्ञेयणविकल्पेणं चउज्ञेयण-  
 बाहद्वाओ महिदज्जभ्याणं चउसटिं ज्ञेयणुष्वा ज्ञेयणउ-  
 ष्वंदा ज्ञेयणविकल्पेना सेसं तद्देव एवं चउहिसिं चचारि  
 न्दापुक्खरिणीओ नवरं स्यायमपदिउष्वाओ ज्ञेयणस्यं  
 आयामेणं पन्नासं ज्ञेयणाईं विकल्पेणं दम ज्ञेयणाईं उ-  
 च्छेदं मेसं तद्देव । मणागुलिया गोमाणसिया अरुया-  
 लीमं अरुयालीसं महस्साओ पुरच्छिद्रेण वि सोलसपव-  
 च्छिद्रेण वि सोलस सहस्सा दाहिणेण वि अद्ध सहस्सा उ-  
 च्छरेण वि अद्ध सहस्साओ तद्देव सेसं उष्वाया नृमिनागा  
 जाव बहुस्पभ्भदेसज्ञेयणमेगं मणिपेदिया सोलस ज्ञेयणाईं  
 आयावाविकल्पेण अद्ध ज्ञेयणाईं बाहद्वाणं तसिं षं मणि-  
 पेदियाणं उप्पिं देवच्छंरुगा मोलस ज्ञेयणाईं आयावाविकल्पे-  
 षेण सातिरंगाईं सोलस ज्ञेयणाईं उद्धं उच्चत्तेणं सव्वरय-  
 ण्यणयोओ अद्ध मयं जिणपदिमाणं सव्वो सो चैव गोमो

ज्ञा वेमाणिया मिच्छाययस्स ॥  
 तेषां बहुसमरमणोःपानां नृमिभागानां बहुमध्येदेशभागे प्रत्येकं  
 प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रकृतं तानि च सिद्धायतनानि प्रत्येकं प्रत्येकं  
 योजनशतमायामेव पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन द्विसप्ततियो-  
 जनानि ऊर्ध्वेयुष्मैस्त्वेन अनेकस्तस्मिन्नाशतसिद्धिद्योनीत्यादि तद्ग-  
 णंनं विजयं देवयुष्मैस्सभायद्भवत्तम् ( तसिणमित्यादि ) तेषां  
 सिद्धायतनानां प्रत्येकं चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दि-  
 शि एकैकजावेन चत्वारि द्वाराणि प्रकृतानि तद्यथा पूर्वेण पूर्वे-  
 स्यामंवे दक्षिणस्यां पश्चिमायामुत्तरस्याम् । तत्र पूर्वस्यां दिशि  
 द्वारं देवद्वारं देवनामकस्य तदधिपतस्तत्र भावादेव दक्षिणस्या-  
 मसुरद्वारं पश्चिमायां नागद्वारम् उत्तरस्यां सुवर्णद्वारम् ( तथे-  
 त्यादि ) तत्र तेषु चतुर्षु द्वारेषु यथाक्रमं चत्वारो देवा महर्हि-  
 का यावत्पान्नात्तामस्मिन्नाशतसिद्धिद्योनीत्यादि ( देवत्यादि )  
 पूर्वद्वारं देवा देवनामा दक्षिणद्वारं असुरनामा पश्चिमद्वारं नाग-  
 नाम्ना उत्तरद्वारं सुवर्णनामा ( तेषु दारा इत्यादि ) तानि द्वा-  
 राणि योऽज्ञायोजनानि प्रत्येकसूक्ष्मैस्त्वेन षष्टौ योजनानि वि-  
 ष्कम्भतः ( तावद्यं चैवति ) तावत्स्येव षष्टयमेव योजनानि-  
 ति प्रायः । प्रवेशेन (सियावरकणगमृजिया इत्यादिषणकः चिज-  
 यत्तारस्येवेति विजययाराशब्दे भावयिष्येन )  
 तस्य षं जेसिं पुरच्छिद्रेणं अंजणपव्वते तस्सां चउ-  
 हिसिं चचारि न्दापुक्खरिणीओ पन्नात्ताओ तंजहा णांटा-  
 च्चरा य णांटा आणंटा णदिवड्ढया । ताओ णंदापुक्खरि-  
 णीओ एगमेगं ज्ञेयणस्यसदस्सं आयावविसंत्तेणं दम  
 ज्ञेयणाईं उच्चेहेणं अच्चाओ सगद्वाओ पत्तयं पत्तयं पउ-  
 मवरचेत्तिया पत्तयं पत्तयं वगसंरुपरिविखत्ता तस्य तस्य  
 जाव तिसोपाणपरिखुवा तारणा तामि णं पुक्खरिणीं  
 बहुस्पभ्भदेसभाए पत्तयं पत्तयं दहिमुद्धपव्वए पन्नात्ते तेणं  
 दहिमुद्धपव्वया चउसटिं ज्ञेयणसदस्समाईं उद्धं उच्चत्तेणं एगं  
 ज्ञेयणसदस्सं उच्चेहेणं सव्वरय ममा पल्लगमंटाएसंउत्ता  
 दसज्ञेयणसदस्समाईं विकल्पेणं एकतीसं ज्ञेयणसदस्साईं  
 ऊष्वा तेवीसज्ञेयणसए परिकल्पेणं पन्नात्ता सव्वरयया-  
 मता अच्चा जाव परिखुवा पत्तयं पत्तयं पउमवरचेत्तिया  
 वगसंरुवएण उ बहुस्पभ्भदेसभाएयं जाव आस्यंति सिद्धाय-  
 यणं तं चैव पमाणं तं अंजणपव्वतेषु तत्त्वया निरव्वसो ज्ञेय-  
 णियव्वा जाव उप्पिं अद्धदुमंगलया ॥  
 तत्र तेषु चतुर्षु अञ्जनपव्वेषु मध्ये योऽसौ पूर्वदिग्जाथी अ-  
 ष्जन्पर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि ए-  
 कैकन्यापुष्करिणीभावेन कतका नद्यापुष्करिण्यः प्रहस्तास्त-  
 यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दिपेणा दक्षिणस्यामभाषा अपरस्यां  
 गोस्त्या उत्तरस्यां सुवर्शना ताञ्च पुष्करिण्य एकं योजनशत-  
 सहस्रमायामविष्कम्भान्नां शीणि योजनशतसहस्राणि योऽहा  
 सहस्राणि द्वे शतं सप्तशिष्टाधिकश्रीणि गच्छन्तानि अष्टादिशं  
 षट्शतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्धङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं  
 परिकल्पेण प्रकृताः । दश योजनानि उद्देशेन " अच्छाओ स-  
 एहाओ न्ययमयकूलाओ इत्यादि " जगत्पुरिं पुष्करिणीव-  
 ष्चिरवशेषं वक्तव्यं नवरं " वद्वाओ समतीराओ सोऽदोऽशपदि-

पुत्राग्र्यो " इति विशेषः । तत्र प्रत्येकं प्रत्येकं पञ्चरवेदि-  
कया परिक्रिस्ताः प्रत्येकं प्रत्येकं वनक्षेत्रेण परिक्रिस्ताः । अत्रा-  
पीदम्यदधिकं पुस्तकान्तरं दृश्यते " तासि च पुष्करिणीयं  
पक्षेयं पक्षेयं चउद्दिशि चचारि वनसंज्ञा पक्षता तं जहा पुर-  
च्छिद्येणैव द्वादिनेषु च अक्षरेषु उच्यते पुच्छेयं असोमयुगं जाय  
पुत्रयुगं उच्यते पाते " एवं शेषाञ्जनपर्वतसंज्ञाध्वनिनामपि  
नन्दापुष्करिणीनां वाच्यम् ( तासिचामित्यादि ) तासां पुष्करि-  
णीं बहुमध्यदेशानां प्रत्येकं प्रत्येकं दक्षिणोत्तरीदक्षिणुक्तानामा  
पर्वतः प्रकृतः ( तेणमित्यादि ) ते दक्षिणुक्तपर्वताभ्यामुत्तरीद-  
क्षिणुक्तसहस्राणि ऊर्ध्वसुक्षेत्रेण एकं योजनसहस्रमुद्ग्रेण स-  
र्वत्र समाः पश्यसंस्थानसंस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्क-  
म्भेन एकदिशयोजनसहस्राणि पश्चिमोविशानि त्रयोविशत्य-  
धिकानि योजनशतानि परिक्रमेण प्रकृताः । सर्वात्मना स्फटिक-  
कमया अथवा यावत्तिलकयाः प्रत्येकं प्रत्येकं पञ्चरवेदिकया  
परिक्रिस्ताः प्रत्येकं श्रवणक्षेत्रेण परिक्रिस्ताः ( तेषामित्यादि )  
तेषां दक्षिणुक्तपर्वतानामुपरि प्रत्येकं बहुसमरमण्डलं भूमिभागः  
प्रकृतः तस्य च वर्णनं तावद्ब्रह्मचर्यं यावद्दृष्टव्यं " वाणमन्तरा  
देवा देवीश्रो य आसयन्ति स्यन्ति जाय विहरन्ति " ( तेषि-  
मिति्यादि ) तेषां बहुसमरमण्डलं प्राग्भिभागानां बहुमध्य-  
देशानां प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रकृतं सिद्धायतनयककथ्यता  
प्रमाणद्विक्रमा अञ्जनकपर्वतोपरि सिद्धायतनवद्ब्रह्मकथ्या यावद-  
ष्टयनं प्रत्येकं प्रत्येकं धूपकदन्तुकानामिति ।

तद्यत्तं जे मं दक्षिणोत्तरीयं अंजयगपव्ण ए तस्य ए  
चउद्दिशि चचारि एंदापुष्करिणीश्रो पक्षताओ तंजहा  
नहा य विनाहा य कुमुया पुंरुगीगणी तं च तद्देव ददि-  
मुद्रपव्णया तं च पमाणं जाव सिद्धायतने ।

[ तद्यत्तं जे स द्वादिनेषु अंजयगपव्ण इत्यादि ] दक्षि-  
णुक्तपर्वतकस्यापि पूर्वदिशामध्यञ्जनकपर्वतस्येव निरचयं  
वक्तव्यं नवरं नन्दापुष्करिणीनामिमानि नामानि तद्यथा पूर्वस्यां  
नन्दापुष्करा दक्षिणस्यां नन्दा अपरस्यामानन्दा उत्तरस्यां नन्दि-  
वर्द्धना शेषं तथैव ॥

तद्यत्तं जे से पञ्चचिह्नमणं अंजयगपव्ण ए तस्य ए चउ-  
दिशि चचारिपुष्करिणीओ पक्षताओ तं जहा तं देसागा  
य अग्रोहा य गोत्पुन्या य सुसुंदाया य तं चैव सन्वं भाणिय-  
व्वं जाव सिद्धाययणं तद्यत्तं जे से उत्तरदिशे अंजयगपव्ण-  
ते तस्य ए चउद्दिशि चचारि नन्दापुष्करिणीओ पक्षता-  
ओ तंजहा विजया वंजयंत। जयंत। अत्रप्राजिता ससं तद्देव  
जाव सिद्धाययणा सन्वो चैति य वक्षणा णयव्ण। तद्यत्तं  
वद्देव भषणवर्णाखमंतरओवितसेवोमणिया देवा चाउ-  
न्मासियपकिनवत्तु संबन्धरेसु य अखेसु बहुजियज्मण-  
निकस्यमणयाणुपपातपरिखिण्णयाभादिपुय देवकजेसु य  
देवसमुद्रपुय देवसमतीपुय देवमभापुय य देवपञ्चोपयणु  
व एगंतओ सदिया ससुवगाया सभाया पसुदिपका।सिया  
अद्विधियाओ महापदिमाओ कारेभाणा पालेभाणा संह  
छुद्रेण विहरन्ति । कयस्सासहरिवाहणा य तद्यत्तं दुबे देवा  
वद्विधिया जाव पक्षिओमद्विधिया परिचसंति से वेण-

द्रेणं गोयमा ! जाव निषे षोतिंसं संसेजं ॥

पूर्वदिशामध्यञ्जनकपर्वतस्येव पश्चिमदिशामध्यञ्जनकपर्वतस्या-  
पि वक्तव्यं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टयतं धूपकदन्तुकानां नवरं  
नन्दापुष्करिणीनां नामनामत्वं तद्यथा पूर्वस्यां भद्रा दक्षिणस्य  
विशाला अपरस्यां कुमुदा उत्तरस्यां धूपकदन्तुकानां शेषं तथैव ।  
एवमुत्तरदिशामध्यञ्जनकपर्वतेऽपि वक्तव्यं नवरमत्रापि नन्दा-  
पुष्करिणीनां नामनामत्वं तद्यथा पूर्वस्यां दिशि विजया  
दक्षिणस्यां वेजयन्ती अपरस्यां जयन्ती उत्तरस्यामपराजिता  
शेषं तथैव यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टयतं धूपकदन्तुकानामिति पौर-  
शानामपि आभूयं धापीनामपराजिता प्रत्येकं प्रत्येकं रतिकर-  
पर्वतो जिनभवनमपिदन्तिश्वरी शास्त्रांतरं अग्निहोताविति ।  
सर्वसंस्थया नन्दीश्वरद्वीपे चापुञ्जारासिद्धायतनानि ( तद्यत्तं  
मित्यादि ) तत्र तेषु सिद्धायतनेषु भूमिति पूर्ववत् सदृशे त्रय-  
नपनिषाणुमन्तराज्योतिष्कवैमानिका देवाभ्यामुत्तरीयकेषु पशु-  
षायायामग्रेषु च बहुषु जिनजन्मनिष्कमहानांत्वाद्य परिनिर्वा-  
णायुषु देवकायेषु देवसमितेषु पतवश्च पर्यायव्ययन व्याञ्छे  
देवसमवायेषु देवसमुद्रायुष्यागतः प्रमुद्रितप्रकीर्णित अष्टा-  
द्विक्रमा महामहिमाः कुर्वन्तः सुखं सुखेन विहरन्ति प्रासते ।  
( अदुत्तरं च एं गोयमा ! इत्यादि ) अथाप्यत्तं गौतम ! नन्दीश्व-  
रद्वीपे अक्रथान्निष्कम्भेन बहुमध्यदेशानां चतसृषु दिक्षु  
एकैकस्यां विदिशि एकैकजनेन चत्वारो रतिकरपर्वताः प्रकृ-  
ताः तद्यथा एक उत्तरपूर्वस्यां द्वितीया दक्षिणपूर्वस्यां तृतीया  
दक्षिणपारस्यां चतुर्थे उत्तरपारस्याम् । ( तेणमित्यादि ) ते र-  
तिकरपर्वता दशयोजनसहस्राणि ऊर्ध्वसुक्षेत्रेण एकयोजनसह-  
स्रसमुद्ग्रेण सर्वत्र समा कर्णुरासंस्थानसंस्थिता दशयोजन-  
सहस्राणि विष्कम्भेन एकात्रेदायोजनसहस्राणि पश्चिमोविशानि  
योजनशतानि परिद्वेषेण सर्वोत्तमना रत्नमाया कथ्या यावत्प्र-  
तिक्रमाः । तत्र योऽसावुत्तरपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि  
वत्सृषु दिक्षु एकैकराजधानीभावेन ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवरा-  
जस्य चतसृष्वामप्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाः चतस्रो राजधान्यः  
प्रकृतास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दापुष्करा दक्षिणस्यां नन्दा  
पश्चिमामामुत्तरकुरा उत्तरस्यां देवकुरा । तत्र कृष्णायाः कृष्ण-  
नामिकाया अग्रमहिष्या नन्दापुष्करा कृष्णराज्या नन्दा रामाया  
वचरकुरा रामरक्षिताया देवकुरा । तत्र योऽस्ती दक्षिणपूर्वो र-  
तिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्यस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य च-  
तसृष्वामप्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाभ्यक्तो राजधान्यः प्रकृ-  
तास्तद्यथा पूर्वस्यां सुमनाः दक्षिणस्यां सौमनसा अपरस्याम-  
भ्रिंमात्री उत्तरस्यां मनोरमा । तत्र पद्मायाः पद्मनामिकाया अग्र-  
महिष्याः सुमनाः शिवायाः सौमनसा सोमाया अर्चिंमात्री अ-  
शुकुकाया मनोरमा । तत्र योऽस्ती दक्षिणपश्चिमो रतिकरपर्वत-  
स्तस्य चतुर्दिशि शक्यस्य देवराजस्य चतसृष्वामप्रमहिषीणां  
जम्बूद्वीपप्रमाणाभ्यक्तको राजधान्यः प्रकृतास्तद्यथा पूर्व-  
स्यां दिशि जूता दक्षिणस्यां जूतावतंसा अपरस्यां गोस्तुपा अ-  
क्षरस्यां सुदर्शना । तत्र अमलाया अमलनामिकाया अग्रमहिषी-  
भ्या जूता राजधान्या अपरसंताम्बमूतावतंसा नवभिक्षयोर्गो-  
स्तुपा रोहिण्याः सुदर्शना । तत्र योऽसावुत्तरपश्चिमो रतिकरप-  
र्वतस्तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृष्वाम-  
प्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाभ्यक्तो राजधान्यः प्रकृतास्तद्यथा  
पूर्वस्यां दिशि रत्ना दक्षिणस्यां रत्नोक्त्या अपरस्यां सधर्याना  
उत्तरस्यां रत्नसञ्ज्ञया । तत्र रत्नवसुणामिकाया अग्रमहिष्या

रत्ना वसुप्राप्तया रत्नोत्थया वसुमित्रायाः सर्वरत्ना वसुधरायाः सर्वसम्पत्तया । इयं रतिकर्षणतत्तुष्टयवत्कव्यता । केषुचित् पु-  
 स्तकेषु सर्वथा न दृश्यते कैशासहरिवाहननामनी च द्वौ द्वौ तेषां  
 तत्र यथाक्रमं पूर्वार्कपराङ्घ्रिपत्नी महर्षिकी यावत् पद्मोपम-  
 स्थितिकी परिवसतस्तत एव नम्या सद्गुह्या दुर्गदिसम्पत्कविति  
 बचन्नाट ईश्वरः स्फातिमादत्त तु नाम्नि तन्मन्त्रः । तथाचाह ।  
 से परणट्टेणमित्यादि उपसंहागवाक्यं प्रतीतं चण्डादिसंख्यासुप्तं  
 प्राप्यत् ० ३ प्रति० । स० । धनस्पतिविशये, रा० । द्वाअञ्जना  
 स्या० २रा० । वायुकुमारेन्द्राणां नृतीये लोकपाले, म० ३श० ० ७ ।  
 अंजण [ एा ] गिरि-अञ्जनगिरि-पुं० कृष्णवर्णपर्वतविशो-  
 र्भे, हा० ० ७ अ० । मन्दरपर्वते मरुत्तान्तये व्यषस्थिते चतुर्थे  
 दिग्वास्तिकृते, स्या० ० ८ । तदाधिपे देव च जं० ४ वक्र० ।  
 ( धर्षणं दिशाहनिधये )

अंजणजोग-अञ्जनयोग-पुं० सप्तविंशकभाभेदे, कल्प० ।

अंजणपुलग-अञ्जनपुलक-पुं० रत्नभेदे, रा० । आ० म० प्र० ।

रत्नप्रनायाः पृथिव्याः शरकाण्डस्य एकादशे जगणे, स्या०  
 १० जा० । मन्दरस्य पूर्वे रुचकवर्ते पर्वते व्यवस्थितेऽष्टमे कृते  
 स्या० ० ८ जा० ४

अंजणमूल-अञ्जनमूल-पुं० रुचकपर्वतस्याष्टमे कृते, द्वी० ।

अंजणरिच-अञ्जनरिष्ट-पुं० वायुकुमारगणां चतुर्थे इन्द्रे, न०  
 ३ श० ० ३० ।

अंजणसमृग्ग-अञ्जनसमुद्रक-पुं० सुगन्धयुक्तनाधारं, जी०  
 ३ प्रति० । रा० ।

अंजणसन्नगा-अञ्जनशलाका-स्त्री० अद्गणोरञ्जनार्थं शला-  
 कायाम्, सूत्र० १ शृ० ५ अ० ।

अंजणसिन्द-अञ्जनसिन्द-पुं० अद्गणोरञ्जनविशेषप्रज्ञेनाह-  
 इयतं गते, पि० । नि० सू० । ( यथा सुस्थितामिधसुरिसुखाद्यो-  
 निभयुतौत्समदृशः । कणमञ्जनं सुया कृष्णकल्पयेनाहस्यं नृन्या  
 बन्धुस्यऽऽहारी लुकः इत्यादि चण्डशब्दं )

अंजण-अञ्जना-स्त्री० नृतीयनरकपुत्रियाम्, जी० ३ प्रति० ।  
 स्या० । प्रब० । जम्ब्याः सुदर्शनाया अपरदक्षिणस्यां व्यवस्थि-  
 त्तार्यां पुष्करियाम्, जं० ४ वक्र० । जी० ।

अंजणिया अञ्जनिका-स्त्री० कञ्जलाधारनृतायां नलिक्वाम्यम्,  
 सूत्र० १ शृ० ४ अ० ।

अंजलि ( ली ) - स्त्री० पुं० अञ्जलि-पुं०- अञ्ज-प्रलि-  
 चकाराणाः स्त्रियाम् । १ । ३२ । इति प्राकृतसूत्रेण वा स्त्री-  
 त्वम् । प्रा० । मुकुलितमहाकारकरद्वयकरे ( जं० ३ वक्र० ) इ-  
 स्तन्यासाविशेषे, रा० । म० । सं० प्र० । दो वि हत्या महाकम-  
 लसंनिधा अंजनी जगति नि० सू० १ ३० । मुकुलितहस्तयो-  
 र्हंसादसंभये, " योगे वा द्यौर्हि वा महर्षिर्वाहं हत्योर्हि गिनान्न-  
 सर्वसिर्वाहं अंजनी जगति " नि० सू० ५ अ० । द्यौरहंस्ते-  
 योरप्योन्यामन्तरिताङ्गलिकयोः संपुटकपतया एकत्र मिलने च.  
 जी० ३ प्रति० । आ० म० म० । प्रवनादे । क्रियमाणे कायिक-  
 विनयभेदे, अञ्जलिप्रणामादी यदि पुनः कथमन्यको दस्तः कृषि-  
 को जवति तदैकनरं इस्तमुत्पाप्य नमः कृमाधमयोग्य इति च-  
 कव्यम् इयं १ उ० । हा० । दृष्ट० ।

अंजलिपरगद्-अञ्जलिपरगद्-पुं० इस्तजोदनं, हा० १ अ० ।

अञ्जलिकरणे विनयविशेषे, म० १४ श० ३ उ० । प्रब० ।  
 सम्भोगभेदे च । स० ( संज्ञोगे शब्दे निरूपणम् )  
 अंजलिवंध-अञ्जलिबन्ध-पुं० करकुण्डलस्य शिरसि विधाये,  
 दश० ।

अंज [ म् ] - अञ्जम्-न० अन्तिक गच्छति मिश्रयति वाऽनेन  
 अञ्जु गतौ । मिश्रणे च असुद्दे येने, ब०, श्रीचिन्त्ये च ' अञ्जस्त  
 उपसंभयानमिति ' धातिकात् नृतीयायाः अञ्जुत् । अञ्जस्ताकृतश्च  
 बाच० । प्रयुणे, न्याये, विशो० ।

अंजिप-अञ्जित-त्रि० अञ्जि-क० कञ्जलेन ऋजिते, तेज्जि-  
 यक्त्वा निलए च ते कए' नि० सू० १ उ० ।

अंजु-अञ्जु-त्रि० प्रयुणे, अञ्जुटिते, " अञ्जपो य विवक्त्वादि भ-  
 वसंजुर्हि छम्भं " आचा० १ शृ० ५ अ० । मायाप्रपञ्चरहितत्वा-  
 द्बचक, " अञ्जुधम्मं जहा तत्रं विणाणं तं सुण्हइ मे " सूत्र० १  
 शृ० ६ अ० । संक्ये प्रयुणे अञ्जविचारिणि सूत्र० १ शृ० १ म० ।  
 आचा० । व्यक्ते, सूत्र० १ शृ० १ अ० । निर्दोषत्वात्पकट, सूत्र०  
 २ शृ० ७ अ० ।

अंजुञ्जा-अञ्जुका-स्त्री० अरनापस्य प्रथमशिक्षायाम्, । स०

अंजु-अञ्जु-स्त्री० धनदेवसायैवाहङ्घ्रितारि, तद्वत्कव्यता वि-  
 पाकभुते दुःखतिपाकानां द्वाभेऽप्यन्ये भूयते स्या० १० जा० ।

जद एं भेते । समणेणं जगवथा मद्वाधैरिणं दममस  
 उक्त्वेवक्रो एवं खलु जंवं ! तेषं कालेणं तेषं समपर्णं  
 बृक्त्वाणपुरे एामे एपरं होतया । विजयवक्त्वामे उञ्जा-  
 णे मणिजहे जकले विजयमिते गया । तस्य एं घणदेव-  
 णामं नृत्यवाते होतया । अहे पिपेणंभरिया अंजुदारिया  
 जाव मरीरा समीसरणं परिसा िणिया जाव बहिया  
 तेषं कालेणं तेषं समपर्णं जेट्टे० जाव अक्रयामे जाव विज-  
 यमितसस रसो गिहसस अमंगबणियाए अद्दरसामेते णं  
 वीईवयामे पासद पामइता एणं इतियं सुक्क सुक्कं णिम्मं-  
 सं किन्किन्दिज्जूयं अचिचमवावणक्कं णीलसालगणि-  
 यत्थं कछाई कलुणाई बिस्सराई क्वमाणं पासइ पासइत्ता  
 चिंता तहेव जाव एवं वयासी एस एं भेते । इत्थिया पु-  
 ञ्चजेवे का आसी वागरणं एवं खलु गोयया ! ।

अञ्ज्याः पूर्वजवः ।

तेषं कालेणं तेषं समपर्णं इहच जन्तुर्विदेवो भारो वासे  
 इंदपुरे णामं गयरे तस्य एं इंददत्ते राया पुढविसिरिणामं  
 गणिया बधुओ तएणं मा पुढविसिरिणगिया इंदपुरे खारे  
 बहवे राईभर० जाव प्पिज्जुओ बहूहिं खुष्पपयोमेहिं य जाव  
 अभिञ्जो गिता उराहाई माणुस्समाई जोगभोगाई नुंजयाहे  
 विहरइ । तए एं सा पुढविसिरिणगिया एए कम्माए व  
 सकम्मा ४ सुवहु पावं समज्जिणिया पणत्तीसं वाससपाई  
 परमाउसं पालिचा कालमासे काअं किंवा उट्टीए एव्वंए  
 उकांसि णेरइयत्ताए उववथा । सा एं तओ उव्वट्टिता

अञ्ज्या वक्ष्यमानम्बः ।

इहेव वक्ष्यामो ण्यरे षण्देवस्स सत्यवाहस्स पियंगु-  
 जारियाए कुञ्चिसि दारियंत्ताए उप्पत्था तएणं सा पियं-  
 गुजारिया एवएहं मात्तणं दारियंत्ताएणं एामं अंजु सेसं  
 जहा देवदत्ताए । तएणं मे विजये राया आसवाहणियाए  
 णिज्जायमाणे जहा वेसमणदत्ते तद्दा अंजू पासइ एवरं अ-  
 प्पणो अद्दावए बरंइ अहा तेतद्वी जाव अंजूए दारियाए  
 सद्धिं उप्पि जाव विहरइ । तएणं तंमि अंजुदेवीए अस्सया  
 ओणं।सूले पाउरुए या वि होत्था । तएणं से विजये राया  
 कोइविद्युरित्ते सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासीगच्छइ णं  
 देवा वक्ष्यामाणुरे ण्यरे भिञ्जाकग जाव एवं वयह एवं  
 खलु देवा विजए अंजूए देवीए जोणीसूले पाउरुएणं जो  
 एवं इच्छसि वा ६ जाव उप्पोसइ तएणं से बहवे वेज्जा वा  
 ६ इम एयारूवं सोभा णिस्सम्म जेषेव विजए राया तेषेव  
 उवागच्छइ उवागच्छत्ता अंजूए देवीए बहवे उप्पत्ति-  
 याहं ४ बुद्धिं परिणामेयाणा इच्छंति । अंजूए देवीए  
 जोणीसूले उवसामित्ते णो संचाएइ उवसामित्ते तएणं  
 ते बहवे विज्जा य जाहे णो संचाएइ अंजूए देवीए जोणी-  
 सूले उवसामित्ते ताहे इता तंता जामेव दिंसं पाउरुए  
 तामेव दिंसं पदिग्गया तएणं सा अंजू देवी ताए वेयणाए  
 अजिज्या समाणी सुक्का मुक्खा णिम्मंसा कट्टाईं कलुणाईं  
 वीसराईं विलवइ । एवं खलु गोयमा । अंजू देवी पुरा  
 जाव विहरइ अंजुं जंते । देवी कलमासे कालं किञ्चा  
 काहं गच्छिइति काहं उववज्जिइति । गोयमा । जहा  
 तेयस्सि त्ति ॥

ज्ञानाधर्मकथायां यथा नेतलिसुत्तनामा आमात्यः पोहिला-  
 मिधार्थं कलादस्तपिकादारभेष्टिसुत्तामाग्मायै याचयित्वाऽऽत्त-  
 नैव परिणेतुञ्चानेधमयमपति इक्षामाप्स्ययनविचरणम् ।

अञ्ज्या भविष्यद्भवः ।

अंजु णं देवी णट्ठवासाईं परमावयं पात्ताइत्ता कालमासे  
 काहं किञ्चा इमीसे रयखप्पजाए णेरुदत्ताए उववसेः  
 एवं संसारां जहा पदमा तद्दा एयेव्वं जाव वणस्समईसाणं ।  
 तत्रो अणेतरे उव्वट्ठिचा सव्वओ जहे ण्यरे मयूरत्ताए  
 पच्चायाहंति से णं तस्य साउणिएहंति बहिए समाणे  
 तस्येव सव्वओ भरे ण्यरे सेट्ठिकुञ्चिसि पुत्तत्ताए पच्चा-  
 याहंति से णं तस्य उम्मुत्तहारूवाणं थराणं अंतिए  
 केवस्सि बोहिं बुज्जिइति बुज्जिइतिचा पवज्ज सोहम्मं  
 सेणं ताओ देवस्सोगाओ आउक्खएणं ९ काहं गच्छिइ-  
 ति काहं उववज्जिइति गोयमा । महाविदेहे वासे जहा  
 पदमे जाव सिज्जिइति जाव अंतं काहंति । एवं खलु  
 अंजुसमणेणं जाव संपचेणं दुइविवागाणं दसमस्स

अञ्जयणस्स अयमहं पस्सते सेवं जंते विपा० १० अ० ।  
 तच्छक्यताप्रतिषेधे कर्मविपाकानां दृग्मेऽप्ययने च स्था०  
 १० ज० । शक्यस्य चतुर्थ्यामप्रमदित्थं च स्था० ८ ज० । सा च  
 पूर्वमेव इत्थिनापुरं पहाइ विजयायामुत्पन्ना पाश्चात्ततोऽन्तिकं  
 प्रव्रजिता शक्यस्याप्रमदित्थी जाता । स्थितिः सत्यपदयोपमा  
 महाविदेहेऽन्ते कांस्वति तत्प्रतिपादकं ज्ञानाधर्मकथायाः  
 द्वितीयसुत्तस्य मध्यमार्गस्य चतुर्थोऽप्ययने च. ज्ञा० १ श्रु० ॥

अंजु-आएद-न० अमन्ति सम्भयोगं याति अनेनेति अय-र  
 टवर्गादित्येऽपि तस्य नेत्वम् । पुंसेऽप्ययमेव सुक्के, वाच० ।  
 पिपीलिकाद्वानां दिग्भे, वृ०४ व० आचा० चतुरिन्धियकोटिवि-  
 शेपनिर्वर्तिनकोशाकारे, विदे० । ज्ञानाधर्मकथायाः प्रथमसुत्तस्क-  
 थस्य मयूरारकवक्ष्यताप्रतिषेधे तृतीयोऽप्ययने, ज्ञा० १ अ० ।  
 भाव० । प्रश्न० । सं० । आ० चू० ।

तत्कथामकं शैश्वम् ।

जइ णं जंते । समणेणं जगयथा महावीरेणं जाव एवं खलु  
 जंबू तेणं कासेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था  
 वामओ तंसे णं चंपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरेच्छमे  
 दीसीजाए सुज्जुभिजागे एामं उज्जागे सव्वओ य सुरम्मे  
 णंदणवणं इव भ्रुहसुरजिसीयलच्छायाए समणुबन्धे तस्स  
 णं सुज्जुभिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरे एगदेसमिं माख्वा  
 कच्छए इत्था वणओ तस्य णं एगा वणमयूरी दो पुडे  
 पारियागते पिट्ठउमी पट्टरे णिण्वणे निरुवट्टए भिञ्जुट्ठि-  
 प्पमाणं मयूरी अरुए पसवइ मएणं पक्खवाएणं संकलमा-  
 णी संगोवेमाणी संचिट्ठेमाणी विहरइ । तस्य णं चंपाए  
 ण्यरीए उवे मत्यवाहदारगा परिवसंति तंज्जा जिणदत्त-  
 पुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य सह जायया सहवट्ठियया सह  
 पंथुकीलिया सह दारदत्तिं अन्नमकमण्णरत्तया उष्णस-  
 माणुव्वयया अस्समइच्छंदाणुवचया उष्णमहाहिययइ-  
 च्छियकारया अणुमसेसु गिहेसु किञ्चाईं करणिज्जाईं  
 पक्खउत्तवमाणा विहरंति । तए णं तेसिं सत्यवाहदारगाणं  
 अस्सया कयाईं एगओ सदियाणं समुज्जयाणं सखिसंस्थाणं  
 सखिचिद्धाणं एमेयारूवं भिडोक्कहासमुद्धावं समुपज्जित्था  
 जेणं देवाणुप्पया अस्सं सुइं वा दुइं वा पव्वज्जां वा नि-  
 देसमणं वा समुपज्जति तेणं अस्सं एगओ समेक्खे णि-  
 च्छरियव्वं तिकट्टु अएणमं एयारूवं संकेयं सुणंति सक-  
 म्मसंपज्जा जाया वि होत्था । तस्य णं चंपाए नयरीए  
 देवदत्ता नामं गणिया परिवसति अद्दा जाव भत्तपाणा  
 चउसट्ठिकलापमिया चउमट्ठिगणियागुणोवेवैया अउणती-  
 सं विसेसममाणो एक्कनीसरगुणुपट्ठाणा वचीसपुरिसोव-  
 यारकुसला एवंगसुत्तपट्ठिबोहिया अद्दारस देस।भासा-  
 विसारया सिंगारगारचारुमेसा संगयगयइसियजणियविहि-  
 यविज्ञासल्लियसंझावनिचखलुचोवयारकुसला ऊसिय-  
 ऊज्या सहस्ससंज्ञा विदिएणउत्तचामरवाहावीयाणिया क-

एषोऽरहृष्ययायी वि होत्या । बद्धं गणियासहस्मां आ-  
 ह्वेबच्चं जाव विहरति । तएणं तेसिं सत्यवाहदारयाणं  
 आणया कयाइं पुन्वावरहकासमयंसि जिमियधुचु-  
 रागयाणं समःणाणं आयचाणं चोक्वाणं परमसुहृन्त्याणं  
 मुहासणवरगयाणं इमेयारुवे मिहो कहाममुद्रावे समुप-  
 जित्या से णं खलु देवाणुपिया कद्धं जाव जलेते विपुलं  
 असणं पाणं खाइं साइं उक्खवावेचा ते विपुलं अस-  
 णं पाणं खाइं साइं धूवपुक्कंभवत्थं गहाय देवदत्ताए  
 गणियाए सक्किं मन्नीभगस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिंरिं  
 पच्च पुब्बवमाणा णं विहरत्तए तिकइ अठमएणमस एय-  
 म्हें पक्किसुणेइं पक्किसुणेइं कद्धं पाउंनुए कोहुंविपुसुरिंसे  
 सदावेति सदावेइं चा एवं वयासी गच्छं णं तुम्भे देवाणुपिया  
 विपुलं असणं पाणं खाइं साइं उक्खवावे च उक्खवावेचा  
 नं विपुलं असणं पाणं खाइं साइं धूवपुक्कं गहाय जेणेव  
 सुज्जमभागे जेणेव णं देवाणुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइं उ-  
 वागच्छः चा एणंए पुक्खरिणीए अदूरसांते धूणा मंरुवं  
 आहणइं आनिपसमजिओवलिचं सुगंधं जाव कलियं क-  
 रेइ अग्ने पंरुवहेमाणा चिइइ । तए णं से सत्यवाहदा-  
 रागा दोषं पि कोहुंविपुसुरिंसे सदावेति सदावेइं चा एवं व-  
 यासीं निष्पमेव इहुकरणुत्तजांयं समरसुरस्वादिहाइ-  
 णं समज्जितियित्तखपसंगदिपाइं रययामयधंयुचु-  
 रनुययवरकंखलच्चियखत्थवग्गेवगगहिंरिं नीलाप्य-  
 लकयभेजएहिं पवरगोणजुवाणएहिं णाणामाणिरयणकंच-  
 णंधेठियाजाइपरिकित्तवं पवरलक्खणोवचिंयं जुत्तामेव  
 पहाणं उवणंहे तं वि तहव उवणंति तएणं से सत्यवाह-  
 दारगा पट्टाया जाव सच्चररीरपवहणं दुरुहंति जेणेव दे-  
 वदत्ताए गणियाए गिहं तेणेव उवागच्छंति । पवहणाओ  
 पक्कोरुहंति देवदत्ताए गणियाए गेहं अणुपविंसंति तएणं सा  
 देवदत्ता गणिया ते सत्यवाहदारगा एज्जयाणं पासइ पा-  
 सइचा इहुतुइ आमिणाओ अग्नेट्टेति अग्नेट्टिचा सच-  
 इयाइं अणुगच्छंति अणुगच्छंत्ता ते सत्यवाहदारए एवं  
 वयासी संदिसइं तुं देवाणुपिया किमागमणुप्यआय-  
 णं तएणं ते सत्यवाहदारगा देवदत्तं गणियं एवं वयासी  
 इच्छायां देवाणुपिया तुंनेहिं सक्किं सुज्जमभागस्स उज्जा-  
 णस्स उज्जाणसिंरिं पक्खणुज्जवमाणा विहरत्तए । तएणं  
 सा देवदत्ता गणिया तेसिं सत्यवाहदारगाणं एयमहं पदि-  
 सुणेति पक्किसुणेतिचा एहाया कयवलकम्म्या किं ते पवरं  
 जाव सेरिसमाणवेसा जेणेव सत्यवाहदारए तेणेव उवा-  
 गच्छंति । तए णं से सत्यवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए  
 मदिं जाणं दुरुहंति चंपाए नयरीए मंरुवं मंरुवं जेणेव  
 सुज्जमिजागे उज्जाए जेणेव नंदापोक्खरिणी तेणेव उवाग-

च्छंति उवागच्छंतिचा पवहणतो पक्कोरुहंति णंदापोक्ख-  
 रिणी ओग्गहंति जलमज्जयं करंति जहाक्कीं करंति एहाया  
 देवदत्ताए सक्किं पक्कोरुहंति जेणेव धूणांमंरुवं तेणेव उवाग-  
 च्छंति उवागच्छंतिचा अणुपविंसंति सुवालंकारविजसिया  
 आसत्या वीसत्या मुहासणवरगया देवदत्ताए गणियाए  
 सक्किं तं विपुलं असणं पाणं खाइं साइं साइं धूवपुक्कंभव-  
 त्थं आसांमाणा विसाएमाणा परिज्जइ एवं च णं विहरं-  
 ति जिमियधुचोत्तरागया देवदत्ताए गणियाए सदिं विपु-  
 लाइं माणुस्सगाइं कामजोगाइं जुंजमाणा विहरंति तएणं मे  
 मत्थवाहदारया पुन्वावरहकालसमयंसि देवदत्ताए गणि-  
 याए सक्किं दृशांमंरुवाओ पदिनिकस्समंति इत्थंसंगलिए  
 सुज्जमिजागे बहइसु अलियपरेसु य कयसीं धरेसु य ज्ञयाधरे-  
 सु य अच्छणधरेसु य पेच्छणधरेसु य पासणधरेसु य मोहन-  
 धरेसु य साजधरेसु य जाजधरेसु य कुसुमधरेसु उज्जाणसिंरिं  
 पक्खणुज्जवमाणा विहरंति तए णं ते सत्यवाहदारया जेणेव  
 से माहुवया कच्छे तेणेव पहारेत्यगमणाए तए णं सा वयम-  
 युरी ते सत्यवाहदारए एज्जमाणं पामति पामंतिचा णंया  
 तत्थ महया महया सदहं केकारवं विणिम्ययमाणा मालुया  
 कच्छाओ पदिनिकस्समः । एणंमि रुक्कमालियं ठिच्चा ते  
 सत्यवाहदारए मालुया कच्छे च पविममाणा आणमिसदि-  
 ङ्गीए पेटमाणी चिइइ । तए णं ते मत्थवाहदारए अएणं ममं  
 सदावेइं सदावेइं चा एवं वयासी जहा णं देवाणुपिया एसा  
 वणमयूरी अग्ने एज्जमाणे पासिचा णंया तत्थ तंसिया उ-  
 ज्जिग्गा पट्टाया महुया महुया सदहं जाव अग्ने मालुया  
 कच्छं च पेटमाणी पेटमाणी चिइइ तं भवियव्वमेत्थका-  
 रणं । तिकइ मालुया कत्थं अंतो अणुपविंसंति । तत्थ  
 णं दो पुइं परिवागए जाव पासंता असमयं सदावेइं  
 सदावेइं चा एवं वयासी तं से यं खलु देवाणुपिया अग्ने  
 इमे वणमयूरी अंरुए सा णं जाइंमेताणं तुक्कडियाणं अंरुए  
 सुपक्खिस्सवचेतए तए णं ताओ जाइंमेताओ कुक्कडियाओ  
 एए अंरुए य सएणं पक्खवाएणं सा रक्खमाणीओ संतां-  
 वेमाणीओ विहरिंस्संति । तए णं अग्ने पत्थ दो कीडावण-  
 गा मयूरिंपाया जविंस्संति तिकइ अएणमव्वस्स एयमहं  
 पक्किसुणइं पक्किसुणे चा सए सए दासचेटए सदावेइं सदा-  
 वेइं चा एवं वयासी गच्छं णं तुम्भे देवाणुपिया । इमं अंरुए  
 गहाय सयाणं जाइंमेताणं कुक्कडिं अंरुए सुपक्खिस्सव  
 जाव ते वि पक्खिस्संति तए णं ते सत्यवाहदारगा देवदत्ताए  
 गणियाए सक्किं सुज्जमभागस्स उज्जाणस्स उज्जाण-  
 सिंरिं पक्खणुज्जवमाणा विहरंता तमेव जाणं दुरुइ समा-  
 णा जेणेव चंपानयरी जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहं तेणेव  
 उवागच्छइं उवागच्छइं चा । देवदत्ताए गिहं अणुपविंसंति

देवदत्ताय गणियाय विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दत्तायति सकारेति सम्माणेति देवदत्ताय गिदाउ पादनिस्सवमतिपामि णिकसमंतिचा जेयव सयाइं गिदाइं तेषेव उवागच्छंति सकम्भसंपदिचा जाया वि होत्था । तत्थ एं जे से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाइं से णं कट्ठं जाव जइते जेणेव से भवमयरीअंदए तेषेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसे मयरीअंदयसि संकिए कंत्थिचं त्रितिगिच्छे समावएणे भेयसमावसे कसुसमावाएणे किंमं समं मयं एत्थ कीडावणमयरीपोयए ज्विस्संति उदाहु नो ज्विस्संति चिकट्टं तं मयरी अंदयं अजिकखणं अभिकखणं उव्वत्तइ परिपत्तेति असारेति संसारेति चाइति घट्टे खोभेति अजिस्सणं अजिकखणं कयापुत्तंमि टिट्ठियावेति तएणं से मयरीअंदए अभिकखणं अजिकखणं उव्वत्तज्जमाणे जाव टिट्ठियावेज्जमाणे पोबन्न जाएया वि होत्था । तए णं से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाइदए अएणया कयाइं जेणेव से मयरीअंदए तेषेव उवागच्छति उवागच्छइत्ता तं मयरीअंदयं पोबन्नमेव पासति पासइत्ता अट्टा णं ममेसकडीडावणमयरीपोयए जाए चिकट्ट अंदयएणं जाव कियायति एवायेव समणोउसो जो अमहं निग्गंथे वा निग्गंथी वा आयरियं उवज्जायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वएणु जाव उक्कीवानिकाएसु निग्गंथे पावयणे संकिए जाव कसुसमावाएणे से णं इह भवे चेव बहूणं समणानं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हंल्लिएजे निंदणिज्जे विससिजे जे गरइसिजे परिभवणिजे परलोए वि य एं आगच्छइ बहूणि दंरुखाणि य जाव मणुपरियट्ठंति । तए णं से जिणदत्तउत्ते जेणेव से मयरीअंदए तेषेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसे मयरीअंदयसि निस्संकिए सुवत्तणं मपत्थ कीडावणमयरीपोयए ज्विस्सति चि कट्टं तं मयरीअंदयं अजिकखणं नो उव्वट्टेइ जाव नो टिट्ठियावेइ तए णं से मयरीअंदए अणुवत्तज्जमाणे जाव अटिट्ठियावेज्जमाणे । तएणं काडेणं तएणं समणेणं उज्जिणे मयरीपोयए एत्थ जाए तए णं से जिणदत्तउत्ते तं मयरीपोयं पासइ पावइत्ता इडुत्तइयहियए मयरीपोसए सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासी तुब्जे णं देवाणुप्पया इमं मयरीपोयं बहूहि मयरीपोसमापाउग्गेहि दव्वेहि आणुपुव्वेणं संरक्सेमाणे संगंवेमाणे संवेट्टेइ एट्टणं च सिक्खावेइ । तए णं से पर्ययोसमा जिणदत्तस्स एयमट्टं पकेसुणंति पकिसुणंइत्ता तं मयरीपोयं गिहरेति जेणेव स गिहं तेषेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तं मयरीपोयं जाव एट्टणं मिक्खावेति । तएणं से मयरीपोयं उम्मुक्कावाजजावे विजाय जाव्वणल्लसल्लखंज्जमाणुग्गमाणेवामएपकिपुरएणकनपवणुएकलावे विचिन्तापिच्छोसत्तचंदए नीलकंउए एणससंलए एगाए

चपुदियाए कयाए समाणीए अएणोइं णट्टण्णसयाइं केगाइं सयाणिये य कंवेमाणे बिहरति । तएणं तं मयरीपोसमा तं मयरीपोयं उम्मुक्कावालो जाव केरोमाणे पामिन्ता तं मयरीपोयं गिहरेति गिहरेत्तिचा जिणदत्तउत्ते उव्वंति । तएणं स जिणदत्तउत्ते मयरीवाइदए मयरीपोयं उम्मुक्कां जाव केरोमाणं पासिचा इहत्तुइ तंमि चिउल्लं जीवियारिहपीयदानं दइइ पडिवितज्जेइ । तए णं से मयरीपोयं जिणदत्तपुत्तं एगाए चपुदियाए कयाए समाणीएणं गोत्ता भंगसिरोधरे संयावगे उत्तरायपइसपकले उक्खित्तचंदगाइयकलावे ककाइयमइ य विमुत्तचमाणे नचवइ तएणं से जिणदत्तपुत्ते तं मयरीपोयं चंपाए णयरीए पिधाधम, जाव पहेसु सएहि य माहस्सिएइ य सयसःहस्सिमएहि य पणियएहि जयं केरोमाणं बिहरति एवामेव समणोउसो अमहं पि णग्गंथो वा णिग्गंथी वा पव्वइए समाणे पंचसु मट्टव्वएसु उसु जीवनिक्काएणु निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंविए निवित्तिगिच्छे भेणं इह जंवे बहूणं समणेणं बहूणं समणीणं जाव वित्तिव्वइस्संति एवं खसु जंबसमणेणं जगवया मट्टावरीरेणं जाव संपत्तेणं तच्छस्स णायउक्कयएस्स अयमट्टे पउसो चि वेमि तच्चं णायउक्कयणं सम्भत्तं ॥

टीका सुगमस्वाङ्ग गृहीता मवयं एवमंभयादि उपनयनचनमिति । प्रवृत्ति चात्र माथाः "जिणवरजासियमावे, सुभासस्वस्तु भावभो मयम । नो कुत्ता संदहं, संदहो णत्थ हंभो (सि १ निस्संदेहसं पुण, गुणहेज्ज उतभो नया) कट्ठं । एत्थं दो सेट्टिसुया, अरुयगाही उदाहरणं २ तथा) काथउ मरइव्वेण, तन्निहायरियविरइओ वाधि । नेयमाहएणत्तणेणं, नाणावरयोइएणं च ३ हेरुदाइरणणं, भवे य सवसुउज्जत वुट्टिक्का । सव्वएणुमयमित्तहं, तह वि इति वित्तए मयमं ४ अणुवकयएराणुमाह-परायणा अंजिणा जुगण्ययरा । जियरागम्भोसमाहा, य नमहा वाइयो तेणं ५ तूनीयमथयनं विवरणतः समाप्तमिति ६ ॥ ३ ॥ ७ ॥ पुरिमत्तलनगरवास्तवयस्य कुकुटाद्यनेकविधाभद्रजायाइयव्यवहारिणी वाणिजकस्य निम्नकथिमाधमस्य पापविपाकप्रतिपादके कर्मविपाकानां (श्रुतीय ५)नेन च स च निम्नकाने नरक-कृतस्तत उक्तव्यामभसंसेनामा पट्टीपांतजोतः । स च पुरिमत्तलनगरवास्तव्येन निरन्तरं देशलुपणानिकोपितेन दिग्भ्रष्ट्यानीय प्रत्येकं नगरवास्तवेषु तद्व्रतनः पितृव्यपितृव्यामिभूतितिकस्वजनवर्गं विनाशय तिस्रशां मांसच्छेदनकथिरमांसंजानादिभिः कर्तव्यंयित्वा निपातित इति (विपाकशुत वा भाम्नसेनमितीदमथयनमुच्यते स्थानं १० ज्ञां ।

अइउत्त-आरकपुट-न० कंमथा-स- स्वकीये अइउत्त अगडकस्य पुटम । अरदकस्य संबज्जइअइयं, दशा० ए अ० स० । अरक-अरदक-न० जणुयोनिधिशेषे, प्रअ० आअ० २ इ० । अरक-आरक-न-वि० अगाज्जाते, सूच० १ सु० १ अ० ३ उ० । अरकप्रभूत्तु उनवादिनां मनमिथ्यमाचक्रते ते " संतुभो



अर्धकाय लोको " संभूतो जातोऽण्डकाजन्तुन्यानिविशेषाहोकाः  
क्रिान्तज्ञानमज्ञानिज्ञाननरकारित्यप्रथः प्रश्नो आश्नो २ हा०

० पुत्रं आसि जगत्पिपं, पंचमहत्त्वय चक्षियगर्जर ।

एगक्षयजलेण, महत्प्यमाणं तौहि अंके ॥ १ ॥

बीहं परंपरेण, घोशंतं प्राच्यउ सुरकराजं ।

पुत्रं दुःसागजायं, अग्नेरुमी य संकुलं ॥ २ ॥

तथ्य सुरासुरनारण-समसुहृत्त्वय चक्षयं जगं सख्यं ।

उप्यक्षं जगिषमिषं, यंभंपुराणलथयमि ॥ ४ ॥

माहृणा सपया एगे, आहृद अंरुकेडे जगे ।

असौ तत्तमकारीय, अयाणंता मुसंवेदे ॥ ? ॥

ब्राह्मणा द्विजातयः अमणःश्विदगिदप्रभृतयः एके केचन पौ-

राजिका न सखे एरमा हुरुलवन्तो वदन्ति च । यथा जम्भेदतश्च-

राचस्मरुनं कुनमगदकुनम् । अण्डकाजानमित्यर्थः । तथाहि

ने वदन्ति यथा न किंचिदपि वस्त्वास्तीनु पदार्थशून्येऽयं संसार-

स्तदाऽण्डकमप्येवमन्वत्त्व क्रेमण हुतात्मभाद् द्विधा-

भाषयुपगतदृष्ट्याधोविनागोऽनुत् तन्मध्ये च सर्वोः प्रकृतयोऽभू-

वद् । एवं गुंथयन्ते तोवत्याकाशासमुत्सारित्ययंतमकारकरनि-

वेशाहि संस्थितिरज्जदिति । तथा चोक्तं " आसौदिदं नमोऽनू-

नमज्ञानमलक्षणम् ॥ अप्रत्यक्षमिच्छेत्, प्रसूतमिव सयंतः" ॥१॥

एवंभूते चास्मिद् जगत्यसौ ब्रह्मा तस्य ज्ञावस्तन्यं पदार्थज्ञानं

तद्व्युत्पत्तिं प्रकमेणाकार्थीतं कृतवानिति । ते च ब्राह्मणादयः प-

रमाथेमजानानाः सन्तो मृषा वदन्ति अन्यथा च शिखं तन्मन्-

न्यथा प्रतिपाद्यन्तीत्यर्थः (सूत्रो) एतदसमीक्षितम् यतो वास्व-

प्सु तदग्रं निस्पृष्टं ता यथाऽणकमन्तेनाभूवन् तक्ष लोकोऽपि

भूत इत्यभ्युपगमे न काचिद्ब्रह्मा हृदयते तथाऽसौ ब्रह्मा यावद्ग-

त्तं सूत्रांतं तावद्ब्रह्मेव कस्माद्योपाद्यति किमनया कष्टया

युक्त्वंसंगतया व्याकरणपरिकल्पनया सूत्रो १ ३ अ० । नि०

चू० । अतस्तस्य तिमिस्रगुहायवेशे सत्तारं यं वर्यति नागकुमार-

े, जराहो वि वमरबशे खंधावारं उवेणउ उवत्तरयणं उ-

वेह मीणरथं उचरयणं यन्थिनाप उवेह ततो पविह श्रेणेण

अदसंनयं जगं पणीयं ति ॥ आ० म० प्र० ।

अण्डपञ्चव-अण्डमजव-त्रि० अणः प्रजव तपत्तिसैव्य स

नया । अण्डादुत्पन्नं, "जहाय अण्डमप्यभा वजामो" उक्तं०३अ०

अण्डय-अण्डज-पुं० अण्डकाजयतेऽण्डजः । हंसादी, खचर-

पक्षिण्योमिसंभ्रजेदे, ज० ७ हा० ७ उ० । आचा० ।

विशे० । " अंधया तिविहा परणसा तंजहा ह्यो पुरिसा गणुं-

सका" अण्डकाश्लिविधा प्रहसास्तयथा श्लियः पुरुषा नपुंस-

काश्च जावा ३ प्रति० । शुक्रुनिपुद्गकोकिलसरीमृपादि-

पु, सूत्र० १ हु० ३ अ० असंवेदेषु, सूत्र० १ हु० ७

अ० ७ । आ० । दृश० । मस्त्यभेदेषु च । स्था० ३ हा० ।

न. यथा कश्चित्पृष्टसूत्रम् उक्तं०२३ अ० । "अंधं हंसगर्भादि"

अण्डाजानमण्डजं हंसपनञ्चतुरिन्द्रियो जीवविशेषो गमै-

स्तु तक्षिधर्तितः कोशकारो हंसस्य गर्भो हंसगर्भः तदुत्पन्नं

सूत्रमण्डजमुच्यते । तर्हि सूत्रे अण्डजं हंसगर्भादीति सामा-

नाधिकारत्वं विरुध्यते हंसगर्भस्य प्रस्तुतसूत्रकारणव्यादिति

शुष्कादिवशे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रतिबन्धभेदे च । अण्डजो

हंसदिग्भेमायमित्युल्लेखेन वा प्रतिबन्धो भवति अथवा अ-

ण्डकं मयूरीनामिदं रमणकमयूपादि कारणमिति प्रति-

बन्धः स्यादित्यथवा अण्डजं पृष्टसूत्रजमिति वा स्था० ३

हा० । सूत्र० ।  
अण्डपुटुम-अण्डमसूत्रम्-न० अण्डमेव सूत्रम् । मक्षिकाकीटि-

काण्डकेकिलाप्राक्षणीककलायाचण्डकरूपे सूत्रमभेदे, सूत्र०

१ हु० ६ अ० । दृश० ।  
मे किं तं अण्डपुटुमे ? अण्डपुटुमे पंचविडे पस्यते तंजहा

उदंसवे ? लकस्त्रिअंडे २ पिपिद्विअंडे ३ हासिअंडे ४

हृद्वाहस्त्रिअंडे ५ जे निगये णं वा भाव परिलोहियन्वे

जवः सेतं अण्डपुटुमे ६ ।  
" अण्डपुटुम उदंसवे इत्यादि " उदंश मधुमक्षिका महु-

यास्थावेगामण्डं उदंशारण्डम् १ उक्तलिकाराडं लुगापुटाण्डम् २

पैपिलिकाराडं कीटिकाराडम् ३ हलिका गृहकोत्सिका आ-

क्षयी वा तस्या अण्डम् ४ हहोहलित्वा अहिलोडीसरडीक-

क्षिण्डी इत्येकधास्तस्या अण्डम् एतानि सूत्रमाणि स्युः ।

कल्प० । स्था० ।  
अण्ड-अण्डु ( ङ )-न० काण्डमयेषु लोहमयेषु वा हस्तयोः

पादयोर्वा बन्धनविशेषेषु, श्रौ० ।  
अंत-अन्त-पुं० अम् गच्छाहस्यु तस्सेह अमणंतो वसाणमे-

गन्थं अम् धातुगत्यान्निबन्धेषु पञ्चमे तस्येहान्त इति रूपं भ-

वति । अमनमन्तः । अवसानं, विशे० । स्था० । यस्मात्पुं०

मस्ति न परं सोऽन्तः अनु० । पर्यन्ते, आ० म० प्र० । सूत्र० ।

निष्पेयोऽस्य चक्षुषः तद्यथा नामान्तः स्यापयन्तो द्र-

व्यान्तः क्षेत्रान्तः कालान्तो भाषान्तश्च । नत्र नामस्थापने प्र-

तीते द्रव्यान्तो घटाद्यन्तः क्षेत्रान्त ऊर्ध्वलोकादि कालान्तः

समयाद्यन्तो भावान्त आदादिकान्तः । आ० म० प्र० । सूत्र०

चू० । परमकाष्ठायाम्, सूत्र० १ हु० १६ अ० । परिसमाप्तो,

विशे० । पादं, हा० १ अ० । समीपे, व्य० १ उ० । न० ।

स्था० । अमनमधिगमनमन्तः । परिच्छेदे, निर्णये, स्था० ३

हा० । ब्रह्म० । च त्रिविधः ।

तिविडे अंते पामुच तंजहा लोमंते येयेते समयते स्था० ३ हा० ।

अमह च अंनेपो अमतीति वा यस्मात्सेनात् इति कर्त्तरि

साधयते । अचसानं गते, विशे० । देशे, " एतंसमंतं अचक्षमंति "

एकान्तं बिजजमन्तं देहामत्रकामन्ति ज० ३ श० २ उ० । " अम

रोगे वा अंतो रोगो अंगो विणासपञ्जआभं" अम रोगं क्रमं ज्ञे

अम-नन् रोगे, भेङ्, विनाशे । अन्तो रोगो ज्ञेहो विनाश इति

पर्यायशब्दा एते विशे० । स्था० । धर्म० । अन्तो । स० । न० ।

अन्तेदनुत्वादेते रागद्वेषयोश्च आचा० १ हु० ३ अ० " दोहि

अंतोहि अदिवसमाणो " आचा० १ हु० ३ अ० । जीणं, अश्वय-

हरणीयं, सि० नि० चू० १ उ० । ज्ञये, भेदे, व्ययच्छेदे, कल्प० ।

अन्य-न० दशमिगुणिते जहापिसंस्थामेदे, कल्प० ।

अन्न-न० अन्यते देहो वच्यतेऽनेनाने । अति-बन्धने कारणे पुंन्

देहबन्धने, " उक्तः सादात्स्थयो ध्यामाः पुंसामन्त्राणि सृजतिः ।

अद्वय्यामेन हानानि श्लोभाणाम्नाणि निर्विदोति यथाका-

परिमाणाश्चिन नार्दीभेदं, वाच० । सूत्र० । उदरमथाऽवयववि-

शेषे च तं० ।

दो अंता पंच वामापक्षत्वा तंजहा धूमंते य तलुवंते य  
 २ तस्य षं जे से धूमंते तेणं उच्चारि परिणमइ तस्य षं जे  
 से तधुयंते तेणं वामपक्षे परिणमइ ॥

हे अन्धे प्रत्येक पञ्च पञ्च व्य.यामप्रमाणे प्रकृते जिनेः तद्यथा  
 वृषुलान्त १ । तन्वन्त्रम् २ तत्र पन्वृषुलान्तं ततोकारः परिणमति ।  
 मत्र च वचन्वन्त्रं तेन प्रथमं सूत्रं परिणमति तं । प्रतिबोधा-  
 र्थं भगवता धीरेण इष्टे चतुर्थे स्वप्ने च. आ० म० ३३० ।

आन्त-न० अन्ते प्रथमान्तरम् । लुकाद्यशेषे, पंथा० १९९ विष्० ।  
 आन्तथा स्वधंधान्तातवर्तिनि बहुलशब्दात्, प्र० ९ श० ३३३  
 उ० । स्या० " शिष्वावमाह अंतं " निष्पावा बह्वाहचणकाः  
 प्रतीताः आदिशब्दाकुसमाधादिकं च आन्तमित्युच्यते वृ०  
 १ उ० ३३० ।

अंत [ र ] अन्तर-अभ्य० अन्-अन्त् रुदागमश्च । वाच० ।  
 स्वरप्रवरश्च ८ । १ । १४ इति अन्तःशब्दस्यान्त्यव्यञ्जन-  
 न्य स्यं परे न लुक् अन्त्र लुक् प्रा० । मध्ने, । आ० म० ३३० ।  
 रा० । आवा० । विश० । "अन्तरण्या" अत्र स्वरपरवरान्त लुक् ।  
 कश्चिद्भवत्यपि " अंतोवर्ति " प्रा० ।

अंतक ( ग )-अन्तक-पुं० अन्तयति अन्तं करोति अन्त-शिच्-  
 वगुर्बु वाच० । मृत्योः, " समागमं कंखति अंतकस्स " सूत्र० १  
 श्रु० ७ अ० । पर्यन्ते, " जे एषं परिमांसति, अंतए ते  
 ममाहारि " सूत्र० १ श्रु० २ अ० । अन्तवर्तिनि च. सूत्र० १  
 श्रु० १४ अ० ।

अंतकम्प-अन्तकर्मन्-न० अचलकर्मणि, श्रौ० ।

अंतक( ग )-अन्तकर-त्रि० अन्तस्य करः । संसारस्य तत्कार-  
 णस्य वा ज्ञयकारिणि, " अन्ताणि धीरा सेवंति तेणं अंतकरा  
 इह " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आ० म० ३३० । स्या० ।

अंतकर ( गद ) जृमि-अन्तकर- ( कुट् ) जृमि-स्त्री० अन्तं  
 भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकराः ( अन्तकृतो वा ) तेषां भूमिः  
 कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणात्वाद् भूमित्वेन व्यपदेशः ।  
 मुक्तिगामिनां काले, सा त्रिधा युगान्तकरभूमिः पर्यायान्तक-  
 रभूमिश्च जं० २ वच० ( यस्य तीर्थकृतो यावती अन्तकरभूमिः  
 सा तच्छब्दे वषयते )

अंतकाल-अन्तकाल-पुं० मरणकाले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंतकिरिया-अन्तक्रिया-स्त्री० अन्तोऽवसानं तच्च प्रस्तावा-  
 दिह कर्मणामवसातव्यमन्यत्रागमे अन्तक्रियाशब्दस्य कृद-  
 न्तात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया । कर्मन्तकरणे, मोक्षे, कृ-  
 त्त्नकर्मण्यवामोक्ष इति वचनात् प्रश्ना० १४ पद ।

अन्त्य(न्त)-क्रिया-स्त्री० अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनी क्रिया आ-  
 न्यस्य वा कर्मोन्तस्य क्रियाऽन्यक्रिया । कृत्स्नकर्मण्यलक्ष-  
 णात् मोक्षप्राप्ते, म० १ श्रु० २ उ० । आ० म० ३३० ।

चत्वारि अंतकिरियाओ पञ्चया तंजहा तस्य सलु इमा  
 पदया अंतकिरिया अप्पकम्पपचाएया वि भवइ से णं  
 भुंइ जविचा अगाराओ अणुगारियं पन्वइ संजमबहुले  
 संवरबहुमे समादिबहुमे सुहे तीरइ उवहाणवं दुक्ख-  
 कलवे तवस्सं । तस्स णं णो तहण्पगारे तवे भवइ णो  
 तहण्पगारा वेषणा भवइ तहण्पगारे पुरिमजाए दीहेणं प-

रियाएणं सिज्जाइ बुड्भइ मुच्चइ परिणिज्जाइ सच्चुड्क्खा-  
 णमंतं करइ जहा से भारे राया चाउरंतचकइइ । पदया  
 अंतकिरिया ।

यस्य न तथाविधं तपो नापि परीषदादिजनिता तथाविधा  
 वेदना दीर्घेषु प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिर्मायते तस्यैका यस्य तु  
 तथाविधे तपोवेदने अल्पेनेव च प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिः स्या-  
 तस्य द्वितीया यस्य च प्रकृष्टे तपोवेदने दीर्घेषु च पर्यायेण  
 सिद्धिस्तस्य तृतीया यस्य पुनरविद्यमानतथाविधतपोवेद-  
 नस्य इत्थपर्यायेण सिद्धिस्तस्य चतुर्थीति । अन्तक्रियाया  
 एकस्यरूपत्वेऽपि सामग्रीभेदाच्चातुर्विधमिति समुदायायः ।  
 अथवाचार्यस्वर्गं चतस्रोऽन्तक्रियाः प्रश्नाः भागवतेति गम्यते  
 तत्रेति सप्तमी निदर्शने तासु चतसृषु मध्य इत्यर्थः । अलुर्वा-  
 फ्यालङ्कारे इयमन्तरचक्षुमाणत्वेन प्रत्यक्षासत्ता प्रथमा इ-  
 तरापक्षया आधा अन्तक्रिया । इह कश्चित् पुत्रवः देवलोकादी  
 गत्वा ततोऽप्यैः स्तोत्रैः कर्मभिः करणभूतैः प्रत्यायातः प्रत्या-  
 गतो मानुषत्वमिति अल्पकर्मप्रत्यायातो य इति गम्यते । अ-  
 धया एकत्र जन्तिया ततोऽल्पकर्मो सन् यः प्रत्यायातः स  
 तथा लघुकर्मतोत्पन्न इत्यर्थः । चकारो बध्ममाणमहाक-  
 र्मापक्षया समुच्चारायः । अपिः सम्भावने सम्भाव्यतेऽय-  
 मपि पक्ष इत्यर्थः भवति स्यात् स इति । अस्ती कश्चित् वा-  
 फ्यालङ्कारे मुण्डो भूत्वा द्रव्यतः शिरोलोचेन भावतो रागा-  
 दपनयनेनागारात् द्रव्यतो गेहात् भावतः संसाराभिनन्दिनां  
 देहिनामाघासभूतादिविषेकगेहाभिष्क्रम्येति गम्यतेऽनगारि-  
 ताम् अगारी शूरी असंयतस्तत्र्यतिषाधानगारी संयतस्तद्गा-  
 वस्तसा तां साधुतामित्यर्थः । प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्त इत्यर्थः ।  
 अथवा विभक्तिपरिणामानगारितया निरन्वयतया प्रव्रजितः  
 प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः किंभूत इत्याह ( संजमबहुलेति ) संयमेन  
 पृथिव्यादिसंज्ञाणलक्षणं बहुलः प्रचुरो यः स तथा । सं-  
 यमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा । एवं संवरबहुलोऽपि  
 नधरमाअचरिरोधः संवरः अथवा इन्द्रियकषायनिग्रहादि-  
 भेदः । एवं च संयमबहुलग्रहणं प्राणतिपातविरतेः प्राधान्य-  
 स्थापनार्थम् । यतः "एकं चिय पत्थ धयं, निहिद्धं जिण्णवेहि  
 सव्वेहिं । पाणाइवायविरमण-मवसेसा तस्स रक्खइइति " ॥ १ ॥ एतच्च द्विनयमपि रागादुपशमयुक्तचित्तुत्सेवेयति । यत  
 आह सामाधिषडुलः समाधिस्तु प्रशमयाहिता ज्ञानाधिषो  
 समाधिः पुनरिःस्नेहस्यैव भवतीत्याह ( लुहेति ) क्लृप्ते शरीरे  
 मनसि च द्रव्यभावनेहवर्जितत्वेन क्वः लुपयति वा कर्मम-  
 लमपनयतीति लुपः कथमसावेषं संबृत्त इत्याह यतः ( ती-  
 रइ ) तीरं पारं भवार्णवस्वार्थयत इत्येवं शीलस्तीरार्थी  
 तीरस्वार्थो वा तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् तीरद्वीपति अत  
 एवाह ( उवहाणवंति ) उपधीयते उपह्वयते भुतमनेनेति उपधानं  
 भुतविषयस्य उपचार इत्यर्थस्तद्वाद् अत एव च ( बुक्कफण-  
 वेत्ति ) दुःखमशुभं तत्कारणत्वाद्वा कर्मं तत् क्षयतीति दुःख-  
 क्षयः । कर्मक्षयणं च तपोहेतुकमित्यत आह । ( तवस्सतीति ) त-  
 पोऽभ्यन्तरकर्मधनवहनज्वलनकल्पमनधरतद्युभयानलक्षण-  
 मस्ति यस्य स तपस्वी ( तस्स षं ति ) यच्चैवंविधस्तस्य ए  
 क्षाफ्यालङ्कारे नो तथाप्रकारमन्यत्तधोरं वदंमार्जिनस्येव त-  
 पोऽनगारादिर्भवति । तथा नो तथाप्रकारा ब्रतिचौर्येयसंभ्या-  
 दिसम्प्राया वेदना दुःखास्तिका जन्वति अल्पकर्मप्रत्यायातात्वात् ।

इति । तत्र तत्र धामकारमध्यकर्मप्रत्यायातादिविशेषणकलापोंपेतं पुरुषजातं पुरुषप्रकारं द्वेषेण बहुकालेन पर्यायेण प्रप्रज्यालक्षणैः कर्मवृत्तेन सिध्यति । अणमादियोगेन निष्ठितायां वा विशेषतः सिद्धिगमनपर्यायां भवति सकलकर्मनायकमोहनीयघातात् ततो घातिचतुष्टयघातेन बुधेन केवलज्ञानप्रावाद् समस्तयस्नुनि नतो मुखने भवोपमाहिकर्मभिः परिनिर्घाति सकलकर्मकृत्कारव्यभिचारनकारणन शीतीभवतीति । किमुक्तं जयतस्त्वाह सर्वदुःखानामन्तं करोति शारीरमानसानामित्यर्थः । अतथाविधतपोबंधो द्वेषेणापि पर्यायेण किं कोऽपि सिद्ध इति शङ्कामोदाद्येमाह । " जहास्येत्यादि " यथाऽस्ती प्रथमजिनप्रथमनन्दो नन्दतदानाप्रजन्मा जरातो राजा चत्वारोऽन्ताः परान्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रदिग्भ्यश्चक्राम यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता नस्या अथ स्यान्तिनेति चतुरन्तः स चास्ती चक्रवर्ती चेति स तथा । स हि प्रागन्तवेष लघुभक्तर्मा सर्वोपसिद्धिभिमानात् स्थुत्या चक्रवातितयाद्यराज्यावधय एव केवलमुत्पाद्य कृतपूर्वसत्प्रमज्यः अतथाविधतपोबंधन एव सिद्धिमुपगत इति प्रथमाऽन्तःकिरियेति ॥

अहावेरं दोषा अंतःकिरिया महाकर्मपञ्चाया वि जवद् से एं मुंद् भविता अगाराओ अणगारियं पव्वडए संजमवहुसे संवरहुसे जाव उवहाणवं दुक्कमवत्थवे तवस्सी तस्स एं तहपगारं तवे भवद् तहपगारा वैयाणा जवद् तहपगारं पुरिमजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जड जाव अंतं करेड जहा से सणकुमारो अणगारे दोषा अंतःकिरिया ॥

अथानन्तरमपरा पूर्वापेक्षया अन्या द्वितियस्थानेऽभिधानात् द्वितीया महाकर्मजिन्तुःकर्मजिः महाकर्मो वा सन् प्रत्यागतः प्रत्याजानो वा यः स तथा " तस्स धम्मियादि " तस्य महाकर्मप्रत्याजानन्तव तत्कृपणाय तथाप्रकारं घोरं तपो भवति । एवं यदनाप्रेष कर्माद्यसम्पाद्यत्वात्पुससर्गादीनामिति निरुद्धेनेति अल्पेन यथाऽस्ती गजसुद्धुमारो विष्णोर्लघुप्राणा स हि भगवतोऽपि चर्नमिजिननाथस्यान्तिके प्रज्ज्यां प्रतिपद्य स्मशानं कृतकायोः सम्यग्ज्ञानमहात्पातः शिरोनिहितजज्वल्यमानाङ्गारजनितात्यन्तवन्दनेऽऽनेव पर्यायेण सिद्धिर्चानिति शेषं काश्रयम् ॥

अहावेरं तथा अंतःकिरिया महाकर्मपञ्चाया वि जवद् से एं मुंद् जविता अगाराओ जाव पव्वडए जहा दोषा एवरेरं दोहेणं परियाएणं सिज्जड जाव संवरहुक्कलाणमंतं करेड जहा मे सणकुमारं राया चाउरंतवक्कवट्ठीं । तथा अंतःकिरिया ३ ॥

" अहावेरं यथादि " कण्ठं यथाऽसौ मनकुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती स हि महातपोः महावेदनश्च स्वरोत्थागतः द्वेषेनपर्यायेण च सिद्धस्तज्ज्वे किञ्चिन्मायेन भवान्तेरे सत्त्यमानयादिति ॥

अहावेरा चउन्था अंतःकिरिया अण्यकर्मपञ्चायाया वि जवद् से एं मुंद् भविता जाव पव्वडए संजमवहुसे जाव तस्स एं पो तहपगारं तवे भवद् नो तहपगारा वैयाणा भवद् तहपगारं पुरिमजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जड जाव संवरहुक्कलाणमंतं करेड जहा सा मग्गेशी जगवर्दी चउन्था अंतःकिरिया ॥

" अहावेरं यथादि " कण्ठं यथाऽसौ मग्गेशी प्रथमजिनजन्मो सा हिस्वावरत्वेऽपि कृीणप्रायकर्मन्वेमत्पयकोऽभविद्यमानतपोवेदना च सिद्धा गजवरकड्याया पवायुसमाप्ती सिद्धत्वादिति । एयाञ्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकानामर्थानां न सर्वथा साधर्म्यमन्वेषणीयं देशदृष्टान्तत्वादेवं यतो मग्गेश्याः " मुएरे भविसेत्यादि " विशिष्टपणाभि कानिश्चित न घटते । अथवा कसितः सर्वसत्पण्येमापि मुगुरनादिकार्यस्य सिद्धत्वस्य सिद्धत्वादिति स्था० ध उा० १३० ।

मन्तक्रियायाः सकला वक्तव्यता प्रदर्श्यते तत्रेयमादावधिकारगाथा ।

नेरइय अंतःकिरिया, अणंतंर एगसमय उव्वट्टा ।

तित्थगर चकिवडदेव वासुदेवमंथलियरयाणा य ॥ १ ॥

प्रथमतो नैरयिकोपलक्षितेषु चतुर्विंशतिस्वाधेयवन्तक्रिया । चिन्तनीया ततोऽन्तरागताः किमन्तक्रियां कुर्वन्ति परम्परामाता वेल्लेवमन्तरं चिन्तनीयम् । ततो नैरयिकादिऽन्तःतरागताः कियन्त एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्ति (ति चिन्सन् ततं " उव्वट्टा इति " उद्गुत्ताः सन्तः कस्यां योनातुपपद्यन्ते इति वक्तव्यं तथा यत् तद्गुत्तास्तीथेराश्रयक्रियांतेनो यद्वेदेवा वासुदेवा मएरुत्तिकाश्रयवर्तिनो रत्नानि च सेनापतिप्रमुखाणि भवन्ति ततस्नानि क्रमेण वक्तव्यानीति द्वारगाथासंक्षेपायाः । विस्तारं तु सूत्रकृदेव वदथति तत्र प्रथमतोऽन्तक्रियामत्रिधिसुराह ।

जंविणं भंते ! अंतःकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! अत्ये गतिए करेज्जा कत्यगऽए नो करेज्जा एवं नेरइय जाव वेयाणिए जीये णमिनि वाक्याहकृती भवन्तं । अन्तक्रियांमिति अन्तोऽवसाने तत्र प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यम् । अत्यश्रामेऽन्तक्रियाश्रयश्च कदाचित् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया कर्मन्तरणं भोक्ष इति भावार्थः । कृतकर्मोक्त्यायाम्नाह इतियचनात् तां कुर्याद्गुगनाह । गौतमः अत्येकाः यः कुर्यात् अत्येकां यो न कुर्यात् । इयमत्र भावना यतस्तथाविधमध्यव्यपरिपाकवशतो मनुष्यत्वादिकार्माविक्रानां सामग्रीमाप्य तन्माध्यंतेसमुद्गानिप्रयत्नवीर्योद्दामवदातः कृपकश्लेणिसमारोहणेन केवलज्ञानमासाद्य घातोन्त्यपि कर्मणि लपयेत् स कुर्यात् अत्यन्तं न कुर्यात्पर्यायादिति । एवं नैरयिकादिचतुर्विंशतिवद्गकर्मस्य तावद्गवनीया यावद्दमनिकाः सुन्नतस्त्वेषथ " नेरइयाणं जंते । अंतक्रां किरियं करेज्जा गोयमा ! अत्येगइए करेजा अत्येगइए नो करेजा इत्यादि " ॥

इदानीं नैरयिकेषु मध्ये वर्त्तमानेऽन्तक्रियां करोति किं वा न करोतीति पिपुच्छिचुरिदमाह ॥

नेरइएणं भंते ! असुरकुमारुसु अंतःकिरियं करेजा गोयमा ! नो एण्हे समट्टे एवं जाव वेयाणिएसु णवरं णाणुस्सेसु अंतःकिरियं करेज्जड पुच्छा ! गोयमा ! अत्येगतिए करेजा अत्येगतिए नो करेजा एवं असुरकुमारं जाव वेयाणिए । एवंमे चउवं मे चउवंसा देरुगा भवंति ॥

नेरइएणमित्यादि भगवानाह गौतमः । नाथमर्थः समर्थो युलपुपप इत्यर्थः कथामिति चतुश्चपते इह कृतकर्मकृत्यः प्रकर्षप्राप्तौ सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रसमुदायाङ्गचरि न च नैरयिकादयस्यायां चरित्रपरिणामस्तथा स्वाभाव्यादिति । एवमसुरकुमारादिषु

वैभानिकपर्यवसानेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः । अत्र मनुष्य मध्ये समागतः सद्यः कश्चिदन्तक्रियां कुर्वीत यस्य परिपूर्णा चारित्रादिसामग्री कश्चिन्न कुर्वीत यस्तद्विकृत इति एवमसुरकुमारद्वयोऽपि वैभानिकपर्यवसानाः प्रत्येकं नैरयिकादिचतुर्विंशतिव्ययकक्रमेण वक्तव्यास्तत एवमेतं चतुर्विंशतिव्ययकक्रमात्तुविश्रुतयोः प्रचलित । अथ तं नैरयिकादयः स्वहृद्यैरयिकादित्रयेभ्योऽनन्तरं मनुष्य-प्रभे समागताः सन्त्योऽन्तक्रियां कुर्वन्ति किं वा तिर्यग्वासिदं-भ्यवधानेन परम्परागता इति निरूपयितुमात्मन् इति ।

नेरुप्याणं भंते । किं अणंतरागया अंतकिरियं करंति परंपरागया अंतकिरियं करंति । गोयया । अणंतरागया वि अंतकिरियं करंति परंपरागया वि अंतकिरियं करंति एवं रयणप्यजापुढविणेरुप्या वि जाव पंकप्यभापुढविणेरुप्या धूपप्यभापुढविणेरुप्याणं पुच्छा । गोयया । नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति जाव अहससचमा पुढविणेरुप्या असुरकुमारा जाव धणियकुमारा । पुढविआउवणस्सइकाइया य अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति । तेउवाउवेइंदियतेइंदियचउरिदिद्या नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति सेसा अनंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति ॥

प्रससुंथं भुगमं भगवानाह गौतम । अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि तत्र रत्नशंकरावास्तुकापद्मप्रभाभ्योऽनन्तरागता अपि धूममभापुढिष्वादिभ्यः पुनः परंपरागता एव तथा स्वाभाव्यादेनेभ्य विशेषे प्रतिपाद्येषुः सूत्रसक्तमाह । “ एवं रयणप्यजापुढविणेरुप्या वि इत्यादि ” सुगमय असुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसानाः पृथिव्यव्यनरूपतय-आनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति उभयथा आगता अपि । उभयथाऽप्यागतानां तेषामन्तक्रियाकरणविरोधात् तथा केवलच्छुल्लप्रसंगेः । तेजोवा-युग्मिन्नचतुर्विंशत्याः परंपरागता एव नत्वनन्तरागतास्तत्र तेजो-वायुनामानन्तर्येण मनुष्यवचस्यैवाप्राप्तेः ह्यिन्द्रियादीनां तु तथा-प्रवचसाज्याविति । शेवास्तु तिर्यक्पुच्छेन्द्रियाद्यो वैभानिकपर्यवसाना अनन्तरागता अपि परंपरागता अपि । नैरयिकादिभ्योऽनन्तरागताः कियन्त पकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीत्येवंकं तृतीयं चारमजिष्ठिसुराह ।

अणंतरागया णं भंते । णेरुप्या एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरंति । गोयया । जहणेणं एको वा दो वा तिषि वा उकोसेणं दस रयणप्यभा पुढविणेरुप्या वि एवं चेव जाव बासुपप्यजापुढविणेरुप्या । अणंतरागयाणं भंते । पंकप्यभापुढविणेरुप्या एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं गोयया । जहन्नेणं एको वा दो वा तिषि वा उकोसेणं चचारि । अणंतरागयाणं भंते । असुरकुमारा एगसमएणं केवत्या अंतकिरियं पकरंति जहणेणं एको वा दो वा तिषि वा उकोसेणं दस । अणंतरागयाओ णं भंते ।

असुरकुमारीओ एगसमएणं केवतियाओ अंतकिरियं पकरंति । गोयया । जहणेणं एको वा दो वा तिषि वा उकोसेणं पंच एव जहा असुरकुमारा सदेवीया तथा धणियकुमारा वि । अणंतरागया णं भंते । पुढविकाइया एगसमएणं केवत्या अंतकिरियं पकरंति । गोयया । जहणेणं एगो वा दो वा तिषि वा उकोसेणं चचारि एवं आउकाइया वि चचारि बणस्सइकाइया उ पंचिदियतिरिक्खजेणुप्या दस तिरिक्खजेणुप्याओ दस माणुस्सा दस माणुस्सीओ बीसं वाणयंतरा दस वाणयंतराओ पंच श्रोइसिया दस जोइसियाओ बीसं वेमाणिया अहसतं वेमाणिणुओ बीसं ।

“ अणंतरागया णं भंते इत्यादि ” नैरयिकमवादनन्तरमव्यवधानेन मनुष्यजवमागता अनन्तरागता नैरयिका इति आश्रयपर्यायेण व्यपदेशः सुतादिप्रामाण्यपर्यायसमप्रतिपत्तिव्युत्पादार्थः एवमुत्तरात्पि तस्यप्रामाण्यपर्यायेण व्यपदेशः प्रयोजनं चिन्तनीयं शेषं कथयाम ।

सम्प्रति तत उक्ताः कस्यां योनाकुप्यधत्ते इति चतुर्थचारमजिष्ठिसुराह ।

णेरुप्या णं भंते । णेरुप्येहिंती अणंतरं उव्वइत्ता नेरुप्यसु उववज्जेजा । गोयया । एो इण्हे समडे । णेरुप्येणं भंते । णेरुप्येहिंती अणंतरं उव्वइत्ता असुरकुमारेणु उववज्जेजा । गोयया । नो इण्हे समडे एवं निरंतरं जाव चउरिदिप्यसु पुच्छा गोयया । नो इण्हे समडे । नेरुप्येणं जंतं । नेरुप्येहिंती अणंतरं उव्वइत्ता पंचिदियतिरिक्खजेणुप्यसु उववज्जेजा । गोयया । अत्येगइए उववज्जेजा अत्येगइए नो उववज्जेजा जेणं जंतं । नेरुप्येहिंती अणंतरपंचिदियतिरिक्खजेणुप्यसु उववज्जेजा से णं केवलपक्कं धम्मं ल्खेज्जा सबणयाए गोयया । अत्येगइए ल्खेज्जा अत्येगतिए नो ल्खेज्जा । जेणं जंतं । केवलपक्कं धम्मं ल्खेज्जा सबणयाए जे णं केवलवेहिं बुज्जेज्जा । गोयया । अत्येगइए बुज्जेज्जा अत्येगइए नो बुज्जेज्जा । जेणं जंतं । बुज्जेज्जा से णं सद्देज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा । गोयया । सद्देज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा । जे णं भंते । सद्देज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा से णं आभिणोहोदियनाणसुयनाराइं उप्पादेज्जा गोयया । उप्पादेज्जा । जे णं जंतं । आभिणोहोदियनाणसुयनाराइं उप्पादेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा चयं वा गुणं वा वेरमणं वा पच्चवत्ताणं वा पोसहोववांसं वा पदिवज्जित्तए । गोयया । अत्येगतिए संचाएज्जा अत्येगइए नो संचाएज्जा । जे णं जंतं । संचाएज्जा सीलं वा जाव पोसहोववांसं वा पदिवज्जित्तए एते ओदिनाणं उप्पादेज्जा गोयया । अत्येगतिव उप्पादेज्जा अत्येगतिए एो उप्पादेज्जा । जे णं जंतं । ओदिनाणं उप्पादेज्जा से णं संचाएज्जा मुंके जचित्ता आगाराओ

आणमारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! गो इण्णट्टे समट्ठे । खेरइए  
 एं जंते ! भेरइएहिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता मणुस्सेसु  
 उव्वज्जेज्जा गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अ-  
 त्येगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा  
 से एं केवल्लिपन्नं धम्मं झभेज्जा सवणयाए गोयमा !  
 जहा पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु जाव जे एं भंते ! आहि-  
 नाणं उप्पादेज्जा से एं संचाएज्जा मुंढे भवित्ता अगाराओ  
 अणमारियं पव्वइत्तए ? गोयम ! अत्येगतिए संचाएज्जा  
 अत्येगतिए नो संचाएज्जा से एं भंते ! मुंढे जवित्ता अगारा-  
 ओ अणमारियं पव्वइत्तए से एं माणएज्जवनाणं उप्पादे-  
 ज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उप्पादेज्जा अत्येगतिए नो  
 उप्पादेज्जा । जे एं जंते ! मणएज्जवनाणं उप्पादेज्जा से एं  
 केवल्लिपन्नं उप्पादेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उप्पादेज्जा  
 अत्येगतिए नो उप्पादेज्जा । जे एं भंते ! केवल्लिपन्नं  
 उप्पादेज्जा से एं सिज्भेज्जा बुज्जेज्जा मुनेज्जा सव्वट्ठ-  
 क्खणाए अंतं करेज्जा ? गोयमा ! सिज्भेज्जा जाव सव्वट्ठ-  
 क्खणाए अंतं करेज्जा । नेरइए एं जंते ! नेरइएहिंता अण-  
 तं उव्वट्ठित्ता बाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु उव्वज्जेज्जा ?  
 गोयमा ! एो इण्णट्टे समट्ठे । असुरकुमारा एं भंते ! असुरकु-  
 मारेहिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा !  
 सोइण्णट्टे समट्ठे । असुरकुमारे एं जंते ! अणंतं उव्वट्ठित्ता  
 असुरकुमारेसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! एो इण्णट्टे समट्ठे एवं  
 जाव थणियकुमारेसु । असुरकुमारे एं भंते ! असुरकुमा-  
 रेहिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा हेता  
 गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जे-  
 ज्जा । जे एं जंते ! उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नं  
 धम्मं झभेज्जा सवणयाए गोयमा । गो इण्णट्टे समट्ठे एवं  
 आउव्वणस्सइएसु वि ! असुरकुमारे एं जंते ! असुरकुमारेहिंता  
 अणंतं उव्वट्ठित्ता तेउवाउव्वइदियतेइंदिद्यच्चउरिंदिएसु उव-  
 वज्जेज्जा गोयमा ! एो इण्णट्टे समट्ठे अवसेसेसु पंचमु  
 पंचिदियतिरिक्खजोणिएयादिसु असुरकुमारेसु जहा नेरइ-  
 ओ एवं जाव थणियकुमारे । पुढविकाइए एं भंते ! पुढ-  
 विकाइएहिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ?  
 गोयमा ! एो इण्णट्टे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव  
 थणियकुमारेसु । पुढविकाइएहिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता  
 पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जे-  
 ज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा  
 से एं केवल्लिपन्नं धम्मं झभेज्जा सवणयाए ? गोयमा !  
 नो इण्णट्टे समट्ठे । एवं आउकाइयादिसु निरंतरं जाणिय-  
 व्वं जाव चउरिंदिएसु पंचिदियतिरिक्खजोणियमाणुस्सेसु  
 जहा खेरइयाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पक्खित्तेइो एवं

जहा पुढविकाइओ जणिओ तहा आउकाइओ वि वाण-  
 स्मइकाइओ जाणियव्वो । तेउकाइएणं जंते ! तेउकाइए-  
 हिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता खेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! नो  
 इण्णट्टे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु  
 वि । पुढविकाइए अउव्वज्जेज्जा उव्वणस्सइंदिद्यच्चउरिंदि-  
 एसु अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नं धम्मं झभेज्जा  
 सवणयाए गोयमा ! एो इण्णट्टे समट्ठे । तेउकाइए एं भंते !  
 तेउकाइएहिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता पंचिदियतिरिक्खजोणि-  
 एसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्ये-  
 गतिए णो उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नं धम्मं लो-  
 जि-  
 ज्जा सवणयाए ? गोयमा ! अत्येगतिए लभेज्जा अत्येगतिए नो  
 लभेज्जा जे एं जंते ! केवल्लिपन्नं धम्मं झभेज्जा सवणयाए  
 से एं केवल्लिपन्नं बुज्जेज्जा गोयमा ! गो इण्णट्टे समट्ठे माणुस्स-  
 वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पुच्छा गोयमा ! एो इण्णट्टे समट्ठे  
 एवं जइएव तेउकाइए निरंतरं एवं वाउकाइए वि । बेइदिएणं  
 भंते ! बेइदिएहिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जे-  
 ज्जा गोयमा ! जहा पुढविकाइए एववं मणुस्सेसु जाव मणए-  
 ज्जवनाणं उप्पादेज्जा एवं तेइंदियच्चउरिंदिया वि जाव म-  
 णएज्जवनाणं उप्पादेज्जा जे एं माणएज्जवनाणं उप्पादेज्जा  
 से एं केवल्लिपन्नं उप्पादेज्जा ? गोयमा ! एो इण्णट्टे समट्ठे  
 पंचिदियतिरिक्खजोणिए एं भंते ! पंचिदियतिरिक्खजो-  
 णिएहिंता अणंतं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गो-  
 यमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जे-  
 ज्जा जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नं धम्मं  
 लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्येगतिए लभेज्जा अत्ये-  
 गतिए नो लभेज्जा जेणं केवल्लिपन्नं धम्मं लभेज्जा सव-  
 णयाए मे एं केवल्लिपन्नं बुज्जेज्जा गोयमा ! अत्येगति-  
 ए बुज्भेज्जा अत्येगतिए नो बुज्जेज्जा । जे एं केवल्लि-  
 पन्नं बुज्भेज्जा से एं सइहेज्जा पंचिएज्जा रोएज्जा हेता गो-  
 यमा ! जाव रोएज्जा । जे एं जंते ! सइहेज्जा जाव रोए-  
 ज्जा से एं आजिणिकोइयनाणणुइनाणआहिंताणाणं उ-  
 प्पादेज्जा ? गोयमा ! जाव उप्पादेज्जा जे एं भंते ! जाव उ-  
 प्पादेज्जा से एं मंचाएज्जा सीलं वा जाव पक्खित्तिचए  
 गोयमा ! एो इण्णट्टे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थ-  
 णियकुमारेसु एमिदियविगल्लिदिएसु जहा पुढविकाइए पं-  
 चिदियतिरिक्खजोणिएसु माणुस्सेसु य जहा खेरइयाणमंतर-  
 जोइसियवेमाणिएसु जहा खेरइएसु उव्वज्जेज्जा पुच्छा ज-  
 णिया एवं मणुस्सेसु वि वाणमंतरजोइसियवेमाणियं ओ जहा  
 असुरकुमारेसु ॥

( इतः पूर्वं टीका सुगमं न सुदीता ) नवरं जे एं भंते ! इत्या-  
 दि सुगमं नृत्या अनगारतां प्रव्रजितं वाच्युयान्ध्वेति प्रभे जग-

वाताह नायमथैः समर्थैः तिरिद्धी प्रवस्वभावतः लघारूपपरिणामसंज्ञात् अनगारताया अभावे मनः पर्यवहनस्यैव आभावः सिद्ध एव यथा च तिर्यकपञ्चिन्दियवित्तं सूत्रकदम्बकमुक्तं तथा मनुष्याविययमपि वक्तव्यं नवरं मनुष्येषु सर्वज्ञावसम्भवात् मनःपर्यवहानकेवलज्ञानसुखे अधिकं प्रतिपादयति " जेणं अंते । संभावज्जा मुंने अबिधा इत्यादि " सुगमं तवचं सिक्केज्जा इत्यादि सिक्खेत्त सस्समाग्निष्वादिहिस्सिज्जाकं भवेत्त मुष्येत्त लोकांलोकस्वकपमरोपभवगच्छेत्त मुष्येत्त भवोपधाहककर्माभिरापि । किमुक्तं प्रवति सर्वैःस्नानामन्तं कुर्यात् वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रतिवेधो वक्तव्यो वैरयिकस्य भवस्वजाज्याशैरयिकदेवभवयोग्यायुर्बन्धाऽसंभवात् तदेवं वैरयिकादिचतुर्विधातिदृक्कमेण चिन्तितं साप्रत्यमसुरकुमारान् वैरयिकादिचतुर्विधातिदृक्कमेण चिन्तयति " असुरकुमारानं नंतं " इत्यादि प्राग्वत्त सवरंमेते पृथिव्यध्वनस्पतिव्यपुत्ररुमेते ईशानात्तदेवानां तेषुपादाभिरायात् तेषु चोपपन्ना न कल्पिप्रक्रमं धर्मं लभन्ते । अथगतया अथगेन्द्रियस्याजावात् शेषं सर्वं वैरयिकवत् । " एवं जाव धरियकुमारा इति " एवमसुरकुमारानेन प्रकारेण नायज्ञकस्यं यावन्तनितकुमाराः पृथिवीकायिका वैरयिकेषु च प्रतिपिच्छन्ते तेनां विशिष्टनाड्यस्वस्ववतस्तीमसंकेतशयिषुदाभ्यवसायाजावात् । शेषेषु तु सर्वेष्वपि इशानेषु उच्यते तेषामप्यध्ववसायस्थानसम्भवात् । तत्रापि च तिर्यकपञ्चिन्दियेषु च वैरयिकवद्वक्तव्यमेवमप्याधिकवन्तस्पतिकायिकाश्च वक्तव्यः तेजसकायिका वायुकायिकाश्च मनुष्येष्वपि प्रतिपथनीयास्त्रयामानतन्त्रेषु मनुष्येषूपपादसंज्ञात् असंभववच्च विशिष्टपरिणामतया मनुष्यगतिमनुष्यायुर्वर्षमनुष्यायुर्द्वैधासंभवात् । तिर्यकपञ्चिन्दियेषुपन्नाः कवसिप्रक्रमं धर्मं अथगतया लभ्येरन् अथगेन्द्रियस्य भावात् । पुनरन्तं केवलिकैः बोधिं नाथकृत्तव्यः स्वकिण्डपरिणामत्वात् शिञ्चतुरिन्दियाः पृथिवीकायिकवत् देववैरयिकवजैषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषूपघन्ते नवरं पृथिवीकायिका मनुष्येष्वानामा अन्तिक्रियामपि क्युन्ते पुनरन्तिक्रियां न कुर्वन्ति तथास्वजावात्त मनःपर्यवहानं पुनरुपादयेत्युस्तित्येकपञ्चिन्दियमनुष्याश्च सर्वेष्वपि स्थानेषूपघन्ते तद्वक्तव्यता पाठसिद्धा । वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिका असुरकुमारवज्जावनोयां च तेषु क्युन्ते । ( लेश्याविशेषोनात्किवाचित्कारो भाक्तविक्र शब्दे ) ।

इदानीं पञ्चमं तीर्थकरवचकव्यतासङ्गणद्वयमभिधित्यसुराह ।  
 रयणपपापुदविनेरइए णं जंतै । रयणपपापुदविनेरइए-  
 हित्तो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगररं लभेज्जा । गोयमा ।  
 अत्येगतिए ङ्गमेजा अत्येगतिए नो ङ्गमेज्जा से केणइणं  
 जंतै । एवं वुच्चइ अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो  
 लजेज्जा । गोयमा । असन्मं रयणपपापुदविनेरइयस्स तित्थगररनामगोयाई कम्माई बच्चाई पुट्टाई कणाई पट्टावियाई  
 णिपिट्टाई अभिनिपिट्टाई अभिसमन्नागयाई उदिन्नाई नो उवसंताई हवन्ति से णं रयणपपापुदविनेरइएहित्तो अणंत-  
 रं उव्वट्टित्ता से तित्थगररं ङ्गमेजा असन्मं रयणपपापुदविनेरइयस्स तित्थगररनामगोयाई णो बच्चाई भाव नो उदिन्नाई उवसंताई जवन्ति से णं रयणपपापुदविनेरइएहित्तो अणंत-  
 रं उव्वट्टित्ता तित्थगररं नो लजेज्जा से तेणइणं

गोयमा । एवं वुच्चइ अत्येगतिए ङ्गमेजा अत्येगतिए नो ङ्गमेजा एवं जाव वायुपपापुदविनेरइएहित्तो तित्थगररं ङ्गमेजा । पंकपपापुदविनेरइए णं भंते । पंकपपापानेरइएहित्तो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगररं लभेज्जा । गोयमा । णो इएणइ समइ अंतकिरियं पुण करेज्जा धूमपपापुदविनेरइए णं पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ विररति पुण लजेज्जा तथाए पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ विरयाविररति पुण लजेज्जा अइससत्तमाए पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ सम्यं पुण लजेज्जा असुरकुमारे णं पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ अंतकिरियं पुण करेज्जा एवं निरंतरं जाव आउकाइए । तेउकाइए णं भंते । तउकाइएहित्तो अणंतरं उव्वट्टित्ता उववज्जंजा । गोयमा । णो इणइ समइ केवलिपण्णं धम्मं लजेज्जा वचययाए एवं वाउकाइए वि । वणस्सइकाइए णं पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समं अंतकिरियं पुण करेज्जा वेइदियंतइदियचउरिदिय पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ मणपज्जवनाणं उप्पाकेज्जा पंचिदियवितिरिक्खणं शियमसुस्सवाणमंतरजोइसिएणं पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ अंतकिरियाण करेज्जा । सो-  
 हम्मदेवेणं जंतै । अणंतरं वच्चा तित्थगररं लजेज्जा । गोयमा । अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो ङ्गमेज्जा एवं जहा रयणपपापुदविनेरइए एवं जाव स्ववड्डिसिक्खदेवे रयणपपापुदविनेरइए णं भंते । अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टिचं लजेज्जा । गोयमा । अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा से केणइणं भंते । एवं वुच्चइ गोयमा । जहा रयणपपापुदविनेरइयतित्थगररं । सकरं पपापुदविनेरइए णं भंते । अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टिचं लभेज्जा । गोयमा । णो इणइ समइ एवं जाव अइससत्तमाए पुदविनेरइए तिरियमाएएहित्तो पुच्छा । गोयमा । नो इणइ समइ । जवणवज्जाणमंतरजोइसियेवमापिएहित्तो पुच्छा । गोयमा । अत्येगइए लजेज्जा अत्येगइए नो ङ्गमेज्जा । एवं च वलदेवचं णापरं सकरापुदविनेरइए वि ङ्गमेज्जा एवं वायुदेवचं दोहित्तो पुदविहित्तो वेमालिएहित्तो य अपुत्तरोववारियज्जेहित्तो सेसेसु णो इणइ समइ । धेरुलियचं अइससत्तमाए तेउवाउवज्जेहित्तो सेणावइरयणं सं गाहावइरयणं वइइरयणं पुरां हियरयाणं इत्यिरयाणं च एवं चेव नवरं अपुत्तरोववाइयज्जेहित्तो आसरेणं हंत्थिरयणं च रयणपपापुदविनेरइए नो लजेज्जा । चक्करयणं च म्मरयणं च दंभरयणं च इतरयणं च मणिरयणं च असिरयणं च कागिणरयणं च पणंसि असुरकुमारहित्तो आरइं निरंतरं जाव ईसाणाओ सेसेहित्तो नो इणइ समइ ।

एवं शक्यप्रजावाहकप्रजाविषयेऽपि सुत्रे षकव्ये पञ्चममापु-  
 विर्वाभैरथिकस्ततोऽनन्तरमुद्रकः संस्तीर्थकरत्वं न लभते अ-  
 न्तक्रियायां पुनः कुर्यात्, धूमप्रजापुत्रिर्वाभैरथिकोऽन्तक्रियायामपि न  
 करोति सर्वविरतिं पुनर्भजेते, तमःप्रजापुत्रिर्वाभैरथिकः सर्व-  
 विरतिमपि न लभते विरत्यविरतिं देशविरतिं पुनर्लभेते । अथः  
 सप्तमपुत्रिर्वाभैरथिकस्तामपि देशविरतिं न लभते परं सप्तम-  
 कव्यमात्रं लभते । अमुद्राद्यो यादृशस्यविरतिः काव्योऽनन्तरमु-  
 द्वास्तास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियायां पुनः कुर्यात् । षष्ठ्यदेवच-  
 रिते पुनः मागकुमारेऽन्योऽप्युद्घृष्टा अनन्तरभैरवकेषप्रथाविवा-  
 षसर्पित्वां चतुर्विंशतितमस्तीर्थकर उपदर्शितः तदर्थतत्त्वं के-  
 षद्विज्ञो विदन्ति । तेजोवाच्योऽनन्तरमुद्घृष्टा अन्तक्रियायामपि न  
 कुर्वन्ति मनुष्येषु तेषामागन्तव्येषोत्पादाभावाद्यपि च ते तिर्यकूप-  
 नः केवलिन्यस्तं धर्मं अथनतया अमेरत मनुष्योऽपि मित्युक्तं प्राग्  
 वनस्पतिः काव्यिकायानन्तरमुद्घृष्टास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्त-  
 क्रियायां पुनः कुर्यात् । द्विजिबुत्तुकिः काव्य अनन्तरमुद्घृष्टास्तामपि न  
 कुर्वन्ति ममःपर्यवहानं पुनरुपाद्येयुः तिर्यकपद्व्येत्किः यमनुष्यव-  
 न्तरज्योतिष्का अनन्तरमुद्घृष्टास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्त-  
 क्रियायां पुनः कुर्यात् । सौधमाद्यैः सर्वाथैः (सिद्धपयवसाना भैरवि-  
 कषककव्याः । गते तीर्थकरद्वारम् । संप्रति चमत्तैः तैः तैः विद्वा-  
 र्णपुत्र्यन्ते तत्र षकव्यैस्त्वं रत्नप्रजाभैरथिकभयनपतिव्यन्तर-  
 ज्योतिष्कैः मानिकेभ्यो न शोभेभ्यः बलदेववासुदेवत्ये शकरा-  
 नोऽपि नवाग्रं वासुदेवत्ये वैसा (निकेत्योऽनुचरोपपातवर्जैः) मा-  
 ग्नाहलकायमधःसप्तमतेजोवाच्यवर्जैः शोभेभ्यः सर्वैः न्योऽपि  
 स्वयंकेयः सेनापतिरत्नत्वं वार्तिकिरत्नत्वं पुत्रादितरत्नत्वं स्त्री-  
 रत्नत्वं मधःसप्तमपुत्रिर्वाभैरथिकोऽनुचरोपपातवर्जैः शोभे-  
 भ्यः स्युः नेत्र्यः अथवत्नत्वं हस्तिरत्नत्वं रत्नप्रजायाः आरभ्य नि-  
 र्भरं यावदासहकारात्काकलत्वं उच्यतेऽपि । वृषकरत्नत्वमसि  
 रत्नत्वं मणिरत्नत्वं काकिणिरत्नत्वं चासुतकुमारान्द्रव्य नि-  
 रत्नत्वं यावदाशानात् । सर्वत्र विधिषाक्यम् । " अथिगहए लभे-  
 ज्ञा अथेयइए नो लभेज्जा " इति षकव्यं प्रतिषेधे " ना इण्टं  
 समष्टे " इति तद्वेषमुकानि द्वापणि प्रह्ण ० १५ पद । ( तीर्थ-  
 कृतायन्तक्रिया तित्थय र शब्दे )

उप्राद्योऽस्मिन् धर्मोऽग्राहमाना अन्तक्रियायां कुर्वन्ति ।  
 जे इमे भंतं । उग्गा जोग्रा इस्वाग हाया कोर-  
 व्या एए पं अस्ति धर्मो अग्रागहइ अग्रागहइत्ता अट्टविहं  
 कम्मरयत्तलं पवादिंति पवादिंतिता त्तो पच्छा सिज्झ-  
 ति जाव अंतं करंति इत्ता गोयया । जे इजे उग्गा भोगा तं  
 वेर जाव अंतं करंति अट्टयेगइया अय्यरेऽपु देवलांपसु दे-  
 वचाए उचचत्तारो जवंति ।

( ब्रह्मिस् धम्मै प्ति ) अस्मिन्-नैर्धर्म्ये धर्मं इति २०२ शब्द ०३० ।  
 [ जीधः सःसद्-मित्तमेज्जादिवात् परिणामान्ताक्रियायां  
 करोतीति मंत्रगणसु शब्दे ]

केवलिन एव अन्तक्रियायां कुर्वन्ति विष्णुराह ।  
 उग्रपर्येणं जंते । मणसे तीतमणंत्वं सासयं समयं केवले-  
 षं संभेणं केवलेणं संभेणं केवलेणं बंभचेरवासुए केव-  
 लीदिं पंचयणमायादिं सिज्जिउपु बुड्ढिस्सु जाव सव्वदुक्खा-  
 खमंत्वं करिस्सु । गोयया । सो इण्टं समष्टे सं कण्ट्ठेण जंते ।  
 एवं बुद्धं तं वेर जाव अंतं करिस्सु । गोयया । जे केइ अं-

तकरा वा अंतिसरि।रिया वा सव्वदुक्खायमंतं करिस्सु वा  
 करिंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाएदंसयपर  
 अरहा जिणं केवली जजिप्ता त्तमो पच्छा सिज्जंति सुवंति  
 परिनिब्बायंति जाव सव्वदुक्खायमंतं करिंति करिस्संति  
 वा से तेणुट्ठेणं गोयया । जाव सव्वदुक्खायमंतं करिस्सु पदु-  
 प्पण्णं वि एवं वेर नवरं सिज्जंति जाणियव्वा अणाएण ए वि  
 एवं वेर नवरं सिज्जिंत्संति जाणियव्वा जहा छउमपयो  
 तथा आहोदिंओ वि तथा परमादिंओ वि तिन्नि तिन्नि आ-  
 लावगा भाणियव्वा H

इह छपस्थोऽवधिवागरहितोऽवसेयो न पुनरकेवसिमात्रमुत्त-  
 रत्रावधिज्ञानिनो बहुयनाशुवादि ( केवलेशंति ) असहाये-  
 न शुद्धेन वा परिपुणेन वा असाधारणेन वा यदाह " केवलमेवं  
 सुक्तं सनात्मसाधारणमनंत्वं च " ( संज्ञावर्णितं ) पृथिव्यादिरक-  
 शकूपेण ( संवेरणेति ) इन्द्रियकलायनिरोधेन " सिज्जंत्सु " इ-  
 त्यादी च बहुवचनं प्राकृतत्वादि पतञ्ज गीतमेतानेति प्रायेण  
 पुंययुक्त उपशागतमोहाद्यवस्थायां सर्वथैश्चकाः संयमा भयतोऽ  
 पि भवन्ति विष्णुकृत्यमादिस्ताभ्या च सिद्धिरिति सा छ-  
 स्थस्यापि स्यादिति ( अंतकरेति ) भवागतकारिणस्तं च की-  
 षेतरकाज्ञापक्याऽपि भवन्तीत्यत आह ( अंतिसरि।रियावत् )  
 अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरिकाश्चरमदेहा इत्यर्थः ।  
 बागम्यो समुच्चये " सव्वदुक्खायमंतं करिस्सु " इत्यादीः " सि-  
 ज्जंत्सु सिज्जंती " त्याद्यपि द्रष्टव्यम् । सिद्ध्याद्यधिनाभूतत्वात्स-  
 र्वैः शान्तिकरणस्येति ( उपपन्नत्वात् ) संसृज्यतेति । उपपत्ते इत्य-  
 न्तरेण धारयति ये ते तथा स्वनादिंसं सिद्धज्ञाना भव एव ( अ-  
 र्हा ) पुत्राहोः ( जिज्ञासि ) रागादिज्येत्तरेऽन्ते उच्यथा अपि  
 प्रवन्तीत्यत आह ( केवलीति सर्वत्राः " सिज्जंती " त्यादिषु चतुर्षु  
 पदेषु षसंमाननिर्देशस्य शोयोपलक्षणत्वात् " सिज्जंत्सु सिज्जंति  
 सिज्जिस्संति " इत्येवमतीतादिनिर्देशो इत्यर्थः । अत एव " सव्व-  
 दुक्खाय " मित्यादी पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । " जहा उचम-  
 त्यो " इत्यादिरेति भावना " आहोदिपणं जंते । मणसे तीतमणंत्वं  
 सासयमित्यादि " इहकवचनं तत्र अथः परमावधेरुपस्थाद्योऽव-  
 धिः सोऽयोऽवधिस्तेनो यो व्यवहरत्यसाचाधोऽधिकः परिमित-  
 केवधिययावधिकः ( परमाहो विभोक्ति ) परम भाषोवधिकः  
 स परमाधोवधिकः प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः ( परमोविभो-  
 क्ति ) कविप्रायोः व्यकल्प स च सप्तसत्कपिद्वयान्यसंख्यातज्ञो-  
 कमात्रालोककरणासंख्यातावसर्पिणः विषयावधिज्ञानः ( तिष्ठि-  
 भाषावगति ) कालत्रयवर्तिनः केवलिनोऽप्येत एव त्रयोदश-  
 काः विशेषस्तु सुत्रेक एवेति ।

केवली षं जंते । मणुने तीतमणंत्वं सासयं समयं जाव  
 अंतं करिस्सु । इत्ता गोयया । सिज्जंत्सु जाव अंतं करिस्सु  
 एते तांनि आलावगा जाणियव्वा । छउमत्यस्त जहा  
 नवरं सिज्जंत्सु सिज्जंती सिज्जिस्संति । से एणंत्वं जंते ।  
 तीतमणंत्वं सासयं समयं पदुपणं वा सासयं समयं अणा-  
 गयमणंत्वं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिसरि-  
 ।रिया वा सव्वदुक्खायमंतं करिस्सु वा करिंति वा करि-  
 स्संति वा सव्वे ते उप्पणनाएदंसयपर अरहा जिणं

केवलं जविता तत्रो पक्ष्वा सिद्धंति जाव अंतं करि-  
स्मंति वा इता गोयमा । तीतमणं सासपं जाव अंतं  
करिस्संति वा से नूनं जंते । उष्यन्नाणुदंसणधरे अरह्वा  
जिणे केवली अलमत्पु ति वत्तन्सिया इता गोयमा ।  
उष्यन्नाणुदंसणधरे अरह्वा जिणे केवली अलमत्पु ति व-  
त्तन्सिया सेवं जंते भंतेति ॥

“से नूनं” मित्यादिषु काष्ठत्रयनिर्देशो वाच्य पचेति ( अलम-  
त्पुति ) अलमस्तु पर्याप्तं भवतु नातः परं किञ्चिज्ज्ञानान्तरं प्रा-  
ग्बल्यमस्तीति एतद्वक्तव्यं स्यात् अथेत्सव्यत्वात्पचेति ज ०  
१ श ० भ ० । विनाशो, “उष्णत्वात्तं करिय काही अचिरेण  
काशेण ” घ ० २ अचि ० । अन्तो प्रवास्तस्त्वस्य क्रियाऽन्तक्रिया  
अन्वय इत्यर्थस्तकेतुयोऽन्तत्वात् शैलेद्वाराणां सा अन्तक्रिये-  
त्युपचारात् केवल्याराधनाभेदं, एषा च क्वायिकहानिकेयनिना-  
म्बवचति स्था ० १ टा ० ।

रागद्वेषस्य एषामाक्रिया प्रविशुं शक्नोति ।

से नूनं जंते ! केवापदोसे खाणे समणे णिमंये अंत-  
करे भवेइ अतिमसरि। रिण् वा बहुमोहे वि यं णं पुण्वि विह-  
रिन्ता अह पच्छा, संवुमे काशं करेइ तत्रो पच्छा सिज्जा-  
इ वुज्जइ थुषइ जाव अंतं करेइ ? इता गोयमा ! केवापदो-  
से खाणे जाव अंतं करेइ भ ० ? श ० ६ उ ० ।

( जीवो यावदजंते तावज्जो अन्तक्रियां कर्तुं शक्नोति । तिहरियाव-  
हिया शब्दे ) ( आचार्य उपाध्यायों वाअज्ञानाया गणसंप्रदं कुचन  
कनिनिभयेः सिद्धाति इति गणसंगहकर शब्दे )

अंतकुल-अन्यकुल-न ० शुद्धकुलं, कल्प ० । आ ० म ० जि ० ।

अंतकलरिया-अन्त्याङ्किका-स्त्री ० प्रादम्या लिपनयमं लेख्य-

विशयो, प्रज्ञा ० १ पद । विपष्टिमकलायाश्च. कल्प ० ।

अंतग-अन्तक-त्रि ० विनाशकारिणं, सूत्र ० १ शु ० ए अ ० ।

अन्तग-त्रि ० अन्तं गच्छत्यन्तगः दुष्परित्यजं, “विष्णो अंतगं  
स्यो यं गिरवेकसो परित्यज्य” सूत्र ० १ शु ० ए अ ० । अन्तयति  
अन्तं करोति अन्तं गिष्य एवमु सूत्र्यो, वाच ० ।

अंतगह-अन्तकृत् ( त )-पुं ० अन्तो विनाशः स च कर्मणस्तत्क-  
र्त्तव्य वा नसासस्य कृतो धैस्तेऽन्तकृताः । तीर्थकारिषु, स ० ।  
स्था ० पा ० । अन्त ० । नं ० । सूत्र ० । अनु ० । कल्प ० ।

अंतगदसा-अन्तकृत् ( त ) दशा-स्त्री ० बहु ० अन्तो जवान्तः  
कृतो विहितो धैस्तेऽन्तकृतास्तत्कर्मणा प्रतिबद्धा दशा दशा-  
ध्वनयकवा प्रथमपदतय इति अन्तकृत् ( त ) दशा इह चाष्टं  
वर्गं भवति तत्र प्रथमवर्गे दशाध्वनयनात् इति तानि शम्भुत्प-  
त्तनिमित्तीकृत्यान्तकृत् ( त ) दशाः । अष्टमंजं, अन्त ० स्था ० ।  
स ० । पा ० । नं ० । अनु ० ।

आसां वर्गोऽध्वयनानि ।

तेणं कालेणं तेणं समणं चंपा नामं नयरी । हांत्था पुष्-  
भे वेतिप वनसंके वसो तोणं कालेणं तेणं समणं अज-  
सुहम्मे समोसरिते परिसा णिमया जाव पडिग्गता । तेणं का-  
लेणं तेणं समणं अज्जसुधुक्कम्मे अंतेवारी अज्जजंजू जाव  
पज्जुवासति एवं वयासी जाति एणं जंते । समणेणं ३ जाव

संपचेणं सत्तमस्स अंगस्स उवात्तमासाणं अयमइ पच्च ।  
अट्टमस्स एणं जंते । अंगस्स अंतगदसाणं समणेणं के  
अट्टे पच्चते एवं खलु जंजू । समणेणं जाव संपत्तेणं अट्टमस्स  
अंगस्स अंतगदसाणं अट्ट वग्गा पच्चता जति एणं जंते ।  
समणेणं ३ जाव संपत्तेणं अट्टमस्स अंगस्स अंतगदसाणं  
अट्ट वग्गा पच्चता पदमस्स एणं भंते । अंगस्स अंतगदसाणं  
समणेणं ३ जाव संपत्तेणं कति अज्जयणा पच्चता एवं  
खलु जंजू । समणेणं जाव संपत्तेणं अट्टमस्स अंगस्स अंत-  
गदसाणं पदमस्स वग्गस्स दस अज्जयणा पच्चता नं  
जहा [ अन्त ० ? वर्ग ० ] नमी य मंग सोमिष्ठे, रामपुत्ते  
सुदंसणे । जमाली य जगाली य, किं कपे पण्णुएय ॥ १ ॥

फाले अ अट्टपुत्ते य, एमेते दस आट्टिया । स्था ० ० टा ० ।  
अन्तगदेत्यादि इह चाष्टौ वर्गोस्तत्र प्रथमवर्गे दशाध्व-  
नयानि तानि चामुनि ( नमीत्यादि ) साढे ऋकमंतानि  
च नमीत्यादिकान्यन्तकृत्यापुनामानि अन्तकृताश्चप्रथमवर्गे  
अध्वयनसंप्रदे मोपलभ्यन्ते यतस्तत्राजिधीयते “ गायम ! स-  
मुहसागर, गंधेरि चैव होह धिमिप य । अयले कपिष्ठे खलु अ-  
क्खोज्ज पसेणइ विण्णु ति ॥ १ ॥ ” ततो वाचमान्तरापेक्षाणीमा-  
नंति सप्रमाधयामो न च जन्मान्तरनामापेक्ष्येतानि भविष्यन्ती-  
ति वाच्यं जन्मान्तराणां तत्रानभिधायमानत्वादिति ॥

द्वितीयं वर्गं इमानि ।

अक्खोमि ? सागरे खलु, २ समुद ? द्विपवंत ३ अच-  
लनामं य ए । धरणे य ए । पुरणे य ए, ५ अज्जिचंदे चैव  
अट्टमए ॥

तृतीयं वर्गं ।

जाति णं भंते । तच्चस्स उक्खेवओ एवं खलु जंजू अह-  
मस्स अगस्स तच्चस्स वग्गस्स तेरस अज्जयणा पच्चता  
तंजहा अणियसेसे ? अणंतमणेअ अजियतेणे ? अणिह-  
यरोमिओ ४ देवमेणं ५ मत्तुसेणे ६ सारणे ७ गए उ समुह  
ए हुम्ममुह ? ० कुसए ? ? दारुए ? ? अण्णाट्टिया ? ॥

चतुर्थं वर्गं ।

जाति णं जंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स  
अंतगदसाणं जाव संपत्तेणं के अट्टे पच्चते ? एवं खलु  
जंजू । समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स दस अज्ज-  
यणा पच्चता तंजहा जाही ? मयाही २ उवयाही, ३ पुरि-  
ससेणे य ४ वारिसेणे य ए । पज्जुएण ६ संवे ७ अनिरुप्पे,  
८ सच्चोमी य ए ददनेमी य ० ॥

पञ्चमं वर्गं ।

जाति एणं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स  
अंतगदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्टे एएणत्ते एवं  
खलु जंजू समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स दस अज्ज-  
यणा पच्चता पडमावतीए गोरी गंधारी लक्खणा सुदीया  
य । जंजुवती मत्तजामा य रुप्पिणी म्हासिरी म्हादवा वि ।



पञ्च वगे ।

जति एं जंतः उट्टस्स उक्खेवतो एणं सोल्लस अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा " मकारी ? किंमहं च व २ मांगरपा-णी य ३ कासव ४ खेमती ५ द्वित्तवेरं च व ६ केलापे ७ हत्तिवंदेण उ वारत ए सुदंसे १० पुण्णनं ११ ? तह सुणणज्जे १२ सु सुपंडे १३ मोहति ? १४ मुचे १५ अन्नकं १६ अज्जयणेण तु मोल्लसयं ॥ १ ॥

सप्तमे वगे ।

जति णं जंते ! समणेणं मत्तमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव तेरुअ अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा "नेदा ? तह नेद्वती ? नेवुत्तर ३ नेदिसेणिया ४ चेवाभरुता ५ मुक्कता ६ महाभरुता ७ मरुदेवा ८ य ? अट्ठमी भदा ९ सुज्जाया ? १० सुजया ? ११ सुमण्णया ? १२ जूयदिस्सा ? ३ य वोच्छवा सेण्यज्जाण नामानि १ अएमे वगे ।

समणेणं जगवया महावीरेणं जाव अट्टमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव नवरं दस अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा "काली ? सुकाली २ महाकादी ३ कण्हा ४ सुक्कहा ६ य वीरकण्हा य ७ वोच्छवा रामकण्हा ८ त्तेव य । पउमसेणकण्हा नवमी दसमी महामेणकण्हा य ॥

सर्वसंप्रदेशे ।

अंतगददसाणं अट्टमस्स अंगस्स एगो मुयक्खेधो अट्ट वग्गा अट्टसु च व दिवसेसु उरुहिसिंति तस्य पट्टमविद्वेषवगे दस दम उदेसगा तद्वचगे तेरुअ उदेसगा चउत्पंभवमगे दस दम उदेसगा उच्चवगे मोल्लम उदेसगा सत्तभवगे तेरुअ उदेसगा अट्टभवगे दस उदेसगा सेसं जहा नायाधम्मकण्हा ॥

विषयोऽनकूदशानाम् ।

से किं तं अंतगददसाओ अंतगददसामु एं अंतगददसां पगरां उज्जाणचेद्वयवणराया अम्मा । पयरो ममांवरणधम्मा धम्मकण्हा इह होउअपरलोउअ उरुहिवेसा भोगपरिवाया पव्वज्जाओ मुयपरिगाहा तवांवाहाणां पंदिमाओ बहुविहाओ स्वभा अज्जेवं मदेवं च सांभं च सवमहिंयं सत्तरसंविदां य संजमो उत्तमं च वंभं आकिंविणया तवोकिरियाओ समिउत्तुलीओ चेव । तह अप्पमायसोमी मज्जायज्जाणेण य उत्तमायं दोरुं पि उक्खत्त पां पत्ता, ए य संजमुत्तमं जियपरोसहाणं चउत्तव्वहकम्मकवयामं जहा केवहास्स होभो पिया उ जत्तिओ य जह पासिओ सुणींदिं पावोवगओ य जहिं अणियाणं जताणं उअइसा अंतगदने सुणिवगे तपरयोपिमुक्को मोक्खमुहमणंतं च पत्ता एए अमे य एवमाइयवित्तेरणं परुवेइ । समं । अंतगददसाणं परिता वायसा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा भिसोगा, संखिज्जाओ निउत्तुली-

ओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पक्खिचीओ, से एं अंगअट्टयाए अट्टमे अगे एते सुयक्खेधो अट्ट उदेसाणकाला अट्ट समुदेसणकाला, संखिज्जा पयसहस्सा, पयगेण संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परिता तमा, अणंता यावरा, सासयकइनिवक्खिकाइया जिणपत्ता । भावा आयाविज्जंति पक्खिज्जंति पक्खिज्जंति दिंसिज्जंति निर्देसिज्जंति उवदांसिज्जंति । से एवं आया एवं नाया एवं विखाया एवं चरणकरणपरुवणा आघविज्जइ सेत्तं अंतगददसाओ ॥ ८ ॥

तथा प्रासानाञ्च सयमेत्तमं सर्वविरतिजिनपरीषहाणाञ्चतुर्षिधकम्मसुये सति यथा केवलस्य ह्यायदेलाभः पथयः प्रमदशयाः लक्षणो यावच्च श्रायद्वर्गादिप्रमाणो यथा येन तयोपविशयध्वजपादिना प्रकाशेण पात्रितो मुनिभिः पादपपगमश्च पादयोपगमानिधानमनदानं प्रतिपन्नो यो मुनियत्र शकृज्जयपर्वतादौ यावन्ति च भक्तानि भोजनानि वेद्विथिना अनदानिनां हि प्रतिदिनं भक्तद्वयच्छेदां भवन्ति अन्तकृतो मुनिवरो जात इति शेषः । समोरञ्जोऽथविप्रमुक्त एव च सर्वेऽपि क्षेत्रकाशादिविशेषिता मुनयो मोक्षमुखमनुत्तरञ्च प्राप्ता आख्यायन् इति क्रियायोगः । एते अन्त्ये "विद्यादि" प्राप्यत् नवरं ( दस अज्जयणसि ) अथमवर्गापेक्षयैव घटन्ते नन्द्यां तथैव व्यक्तान्त्वात् यच्छेह पठन्ते "सप्त वमासि" तत्रधमवर्गादन्त्यवर्गापेक्षया एतेऽत्र सप्तोऽप्यष्टवर्माः नन्दापि तथा पठित्वात्सत्त्वित्थेयम् ( अट्टयग्गात् ) अत्र वर्गः समूहः स चान्तकृतानामध्ययनानां वा स्वर्गाणं वैक्यवर्गानानि युगपदुद्दिश्यते ततो भगिनं " अट्ट उदेसणकाला " इत्यादि इह च दश उदेसानकाला अर्थीयन्ते अट्ट उदेसणकाला इति नास्माज्जिप्रायसवगच्छामः । तथा संख्यानां पददानसहस्राणि पदाश्रेणेति तानि च किञ्च त्रयोविंशतिश्लोकाणि चत्वारि च सहस्राणि । ( अट्टवग्गात् ) वर्गः समूहः स चान्तकृतानामध्ययनानां वेदित्तव्यः स्वर्गाणि चार्थयनानि वर्मवर्गान्तरानि युगपदुद्दिश्यन्ते अत आह अथो उदेसानकालाः अथो समुद्दानकालाः संख्यानां पदसहस्राणि पदाश्रेणं च तानि च किञ्च त्रयोविंशतिश्लोकाः चत्वारः सहस्राः शेषं पात्रिभिर्द्वैत्यविधानमन्तं । " दस उदेसणकाला दस समुदेसणकाला " सं ।

अंतगत ( य ) -अन्तगत-नं अन्तदाब्दः यर्थ्यत्थाचो यथा यतान्ते इत्यत्र नतश्चान्ते पर्यन्ते गतं व्यवस्थितमन्तगतम् । अनुगामिकाऽवधिजंते, इहाध्वयव्याख्या अन्ते गतमात्मप्रदेशानां पर्यन्ते स्थितमन्तगतम् इत्यत्र भावना इहाध्वयिचरुपचलनाः कोऽपि स्पष्टकरूपयोरप्यन्ते स्पष्टैकं नासाविधानप्रमाया गवाहजालादिदार्ढ्यनिमित्तप्रदीपप्रज्ञाया इव प्रतियत्येते विच्छेद्विदोषः । तथा चाह जिमनदपणिक्रमअमयः स्वंपकलापयटीकायां स्पष्टकोऽयमवधिच्छेद्विशेष इति तानि वैकजीवस्य संख्येयान्यसंख्येयानि वा ज्ञवन्ति । यत् उक्तं सूत्रावदयकप्रथमपीठिकायाम् " फट्टा वि अस्संवेज्जं, संखेज्जायि पगजीवस्सेति " तानि च विच्छेद्विधानं तथाह कानिचित्पत्तनवत्सिध्वात्मप्रदेशपृथयेते तथापि कानिचित् पुरतः कानिचित्पृथुतः कानिचिदधाज्ञो कानिचिदुपरितनमागे कानिचिन्मध्ययतिव्यावर्तप्रदेशव्यधिज्ञानमुपज्ञायेते तदात्मनेऽन्ते

पयन्ते स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते तैरेव पर्यन्तवर्ति-  
निरात्मप्रदेशैः साक्षाद्वचिरूपेण ज्ञानिन ज्ञानाभाशेषैरिति । अथ-  
वा श्रौतारिकशरीरस्य अन्ते गते स्थितमन्तगतं कथाचिद्वचि-  
रूपमन्तगतत् इदमपि स्पष्टं करुणप्रवचिज्ञानम् । अथवा सर्वेषाम-  
मप्यन्तप्रदेशानां क्षयापशामनायेऽपि श्रौतारिकशरीरान्ते क-  
थाऽपि दिशा यद्गङ्गातुल्यमन्तं तद्व्यन्तगतम् । ब्राह्म यदि स्वर्गा-  
त्मप्रदेशानां क्षयापशामस्तनः सर्वतः किं न पश्यति ? उच्यते एक-  
दिशिऽव क्षयापशामस्य संभवात् त्रिविधो हि क्रयापशामस्तनः-  
सर्वे शमप्यात्मप्रदेशानामित्यं नृप एव स्वसात्मशरीरशास्त्रं क्षया-  
पशामः संवृत्तां यदौदारिकशरीरमपेक्ष्य कथाचिद्वचिज्ञानतया एक-  
दिशिऽव पश्यति उक्तं च चूर्णैः । "शरारिज्ञयस्सरीरंते हियं ग-  
न्ते पण्डुं न चाप्यपसकटुगावाहिएपिदिसोवलेभन्ना य अंत-  
गडं अंगिदानं जसह । अहवा सव्यायप्यरासविसुकेसु वि श्रो-  
तारिज्ञयस्सरीरंते पण्डितिसि पाससागवति अंतगयं अथह " नृ-  
तायाऽप्यैः एकदिग्भाविनाऽवचिज्ञानेन यद्बुद्ध्यान्तितं केच तस्यं  
वन्ते तद्वचिज्ञानमवचिज्ञानचतस्रन्तरे ३ वर्षमन्वासात्तोऽन्ते  
एकदिग्भाविनाऽवचिज्ञानविषयस्य पश्चन्ते व्यवस्थितमन्तगतम् ।  
तद्भेदा यथा ।

से किं तं अंतगयं अंतगयं त्रिविधं पाठ्यं तं जडा पुरा अंतगयं  
मगम्यो अंतगयं पासओ अंतगयं । से किं तं पुरम्यो अं-  
तगयं ? पुरम्यो अंतगयं से जहानापपे केड पुरिसे ठके वा  
चरुद्विये वा अदातं वा माणं वा पर्वं वा जोई वा पुरम्यो  
काठं पणोक्षेमाणो पणोक्षेमाणो गच्छिज्जना सेचं पुरम्यो अ-  
तगयं । से किं तं मगम्यो अंतगयं मगम्यो अंतगय से जहा-  
नामप केड पुरिसे ठके वा चरुद्विये वा अलातां वा माणं वा  
पर्वं वा जोई वा मगम्यो काठं अणुकडेमाणे अणुकडेमाणे  
गच्छिज्जना सेचं मगम्यो अंतगयं । से किं तं पासओ अं-  
तगयं पासओ अंतगयं से जहानापपे केड पुरिसे उक्तं वा चर-  
द्विये वा अलाये वा माणं वा पर्वं वा जोई वा पासओ काठं  
परिकडेमाणे परिकडेमाणे गच्छिज्जना सेच पासओ अंतगयं  
सेचं अंतगयं ॥

अथ किं तन् अन्तगतम् अन्तगतं त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रकृते तथ-  
था पुरतोऽन्तगतमित्यादि । तत्र पुरतोऽवचिज्ञानिनः स्वयमेव-  
वा अप्रमाणं अन्तगतं पुरतोऽन्तगतम् । तथा गर्गोः पुष्टतोऽन्त-  
गतं मागतोऽन्तगतम् । तथा पार्श्वतोऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतम् । तथा  
बाऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतम् । अथ किं तत्पुरतोऽन्तगतं (से ज  
हेवादि ) स विचक्षितो यथा नाम कश्चिद्विदुः अथ नरैष्वपि  
पदेषु एकद्विप्रत्ययतनः सौ पुंसि इमानि मागधिकजापहलक्षण-  
स्त्वन्मधीद्वि प्रयचनमर्कमागधिकजापहलक्षणम् । अर्थमागधिकजा-  
पथा तीर्थकुलां देशनामपुत्रेषु । ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिक-  
जापहलक्षणमनुसरणीयम् । ( उक्तं वेत्ति ) उक्ता द्वीपिका वा  
शब्दः सर्वोऽपि विकल्पयति । चटुर्धा वा बहुधा पर्यन्तव्यवहित-  
तुणुपुत्रिका अज्ञातं वा अज्ञातमुद्युक्तं च अप्रजानो ज्वलकाष्टमि-  
त्यर्थः । मणि वा मणिः प्रतीतः ज्योतिर्वा ज्योतिः स एवाद्याधा-  
रो ज्वलकमिः । आह च चूर्णैरुक्तं " जोहं ति मल्लगाइतिओ  
अवगो जज्ञंते इति " प्रदीपं वा प्रदीपः प्रतीतः पुरतोऽन्ततो  
वा इत्ते द्रव्यशरीरं वा कृत्वा ( पणोक्षेमाणे पणोक्षेमाणे ) प्र-

पुत्रं प्रमुत्रं हस्तस्थितं दक्षाम्राद्यवस्थितं वा क्रमेण स्व-  
गत्यनुसारतः प्रेरयन् प्रेरयन् गच्छेत् यायात् एव दृष्टान्तः ।  
उपनयस्तु स्वयमेव ज्ञाननीयः । तत उपसंहरति ( केचं पुरम्यो  
अंतगयं ) से शब्दः प्रतिबन्धनोपसंहरदृश्ये तदन्तः पुरतोऽन्त-  
गतम् । इयमपि भावना । यथा स पुत्रव्यः उल्लकादिभिः पुरत  
एव पश्यति नामस्य एव येनावधिज्ञानिन तथाविधकृत्यापशमप्रा-  
प्तः पुरतः एव पश्यति नामस्य तद्वचिज्ञानं पुरतोऽन्तगतम-  
निधीयते । एवं मार्गतोऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतस्य ज्ञाननीयं न-  
यस्य ( अणुकडेमाणे अणुकडेमाणे ) इस्तगतं दक्षाम्रादिस्थितं  
वा अतु पश्चात् कर्षेत् अतु कर्षेत् पुष्टतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षेत्  
समाकर्षेत् इत्यर्थः । तथा ( पासओ काठं परिकडेमाणे परिकडेमाणे )  
पार्श्वतोऽन्तगतं दक्षिणपार्श्वतोऽप्यथ वा मगम्यो यथा द्वयो-  
रपि पार्श्वतोऽन्तगतं उल्लकादिं हस्तस्थितं वा दक्षाम्रादिस्थितं वा प-  
रिकर्षेत् परिकर्षेत् पार्श्वतोऽन्तगतं समाकर्षेत् समाकर्षेत् इत्यर्थः  
नं ० १९ पत्रो । ( अथगतवत्स्य विशेषः आणुमापि शब्दः )  
अन्तगत-३० अन्तगतं त्रिविधं, २ ५० १ ३० ।

अंतगम्य-अन्तर्गत-त्रि० तोऽन्तरे २१, ६० इति सूत्रस्य कवा-  
चिकत्वाप्रान्तः शब्दं तस्यात् एवम् । मध्यगतं, प्रा० । अन्त-  
न्ते, अण० ।

अंतचरय-अन्तचरक-पुं० पार्श्वचारिणि, अनिप्रदविशेषोपधार-  
के भिक्वाके, स्था० ५ गा० । यो हि अनिप्रदविशेषोपधारके चरति  
स्था० ५ गा० ।

अंतचारि ( नृ ) अन्तचारिन्-पुं० अन्तेन लुकावरोधेण बहुविप्र-  
कृतेन चरन्तीति । अनिप्रदविशेषोपधारके भिक्वाके, स्था० १०  
गा० । सूत्र० ।

अंतनीवि ( नृ )-अन्तनीविन्-पुं० अन्तेन जीविन् शीलमाज-  
न्माऽपि यस्य स तथा । अनिप्रदविशेषोपधारके भिक्वाके, स्था० ५  
गा० । सूत्र० ।

अंतद्व-अन्तःस्थ-पुं० अन्तः स्वर्गात्पणोर्वर्णयोर्मध्ये तिष्ठतीति  
स्था-विषय । यत्र तत्राव्येषु वर्णेषु, ते हि कादिमावसानस्थानां  
शयसहकरोपग्रणं च मध्यस्थाः । वा विसर्गलोपऽन्तस्था अपि  
मध्यस्थितमात्रं, त्रि० वाच० ।

अंतद्वारा-अन्तर्धान-न० अन्तर-घा०-स्तुद । तिरोधाने,

शक्तिस्तम्भे तिरोधानं, कायरूपस्य संयमात् ।

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्मात्रो गुणस्तस्य नास्त्वस्मिद् का-  
ये रूपमिति संयमात्तस्य चक्षुर्मात्रत्वकथायाः शक्तेः स्तम्भे,  
ज्ञानावशात् प्रतिबन्धे सति तिरोधानं जयति चक्षुषः प्रकाश-  
रूपस्य सात्विकस्य धर्मस्य तद्गहनव्यापाराजापथा संयम-  
वान् योगी न केचिद् दृश्यत इत्यर्थः । एवं शब्दादितिरोधानम-  
पि कृत्यम् । तदुक्तं कायरूपसंयमात् प्राशशक्तिस्तम्भे चक्षुषः  
प्रकाशसंयोगेऽन्तर्धानम् । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तमिति ज्ञा०  
२६ ज्ञा० । अज्ञानविधादिनाऽदृश्यमित्यन्, ति० चूर्ण० । व्यवस्थितं  
च-स्थ० २ उ० ।

अंतःक्षारपिंड-अन्तर्धानपिण्ड-पुं० अन्तर्धानमन्तर्हितं कृत्वा  
युष्माणो पिण्डे, " अण्वान् अन्तर्हितं करेणा जो पिंडं गेएह  
सो अंतःक्षारपिंडो जस्यति जो अंतःक्षारपिंडं हुंजह हुंजंते वा  
साऽज्जह " आकाशोऽत्र दोषाश्चतुर्षु प्रायश्चित्तम् । ति० चूर्ण०  
२ उ० । अशिश्यादिकारणेऽन्तर्धानोपारम्भस्याप्येव ( अन्तर्दहा-  
रणं बुध शब्दं )

अंतःहाणी

- अंतःका (पिया) णी-अन्तर्धानिका-अं० अन्तर्धानकारिणि  
विद्याविशेषे, सूत्र० २ सू० २ अ० ।  
अन्तर्दि-अन्तर्दि-पु० व्यवधाने, ईम० ।  
अन्तर्ज्ञान-अन्तर्धीनूत-त्रि० मष्टे, " नष्टोत्ति वा विगणयति वा  
अन्तर्कभूतेति वा एगडा " आ० चू० १ अ० ॥  
अन्तर्पात्र-अन्तर्पात-पु० कणउत्तदपशषसःकःपासुधै लु-  
क २ । २ । ७७ इति ककारादुप्येधस्य जीह्वामूल्यस्य हुक् ।  
मध्ये यत्ने, प्रा० ।  
अन्तर्भाव-अन्तर्भाव-पु० प्रवेशे, विने० ।  
अन्तर-अन्तर-न० मध्ये, आवा० १ भु० ६ क० विशेषे, घ० । अधि०  
अधौ, परिधानाद्युक्ते, अन्तर्धाने, जेदे, परस्परवैलक्षण्यरूपे  
विशेषे, तादृश्ये, तिष्ठे, आन्तर्वि, विनाये, अन्तर्ये, सट्टे, वाच० ।  
सूरविशेषे, पानीयान्तरमितं सूत्रधारैर्येदं व्यपदिश्यते  
ज्ञा० १ अ० व्यवधाने, जं १ वक्त्र० । ख० । अन्तं रातिं द-  
दाति रा-क- । वि० । नं० । अथकाश, म० उ श० ८  
उ० । प्रब० । सूत्र० । ति० ।  
[ १ ] अन्तरस्य भेदाः ।  
[ २ ] द्वीपपर्वतानां परस्परं व्यवधाने वलन्त्ये ईष्यप्रामात्रायाः  
अशोकस्यान्तरमुक्तम् ।  
[ ३ ] कृष्णहिमवत्कटस्थोपरितनाच्छरमान्ताद्द्वेषधरपर्वतस्य स  
मधरगितलस्यान्तरम् ।  
[ ४ ] गोस्तम्भस्य पौरस्त्याश्चरमान्ताद्भवामुक्तस्य पाश्चात्यचर-  
मान्तस्यान्तरम् ।  
[ ५ ] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।  
[ ६ ] अम्बुद्वीपस्य पौरस्त्यचरमान्ताद्गोस्तम्भस्य पाश्चात्यचर-  
मान्तस्यान्तरम् ।  
[ ७ ] अम्बुद्वीपस्य पौरस्त्याद्द्विदिक्कालाद् घातकीःसचरस्य पा-  
श्चात्यचरमान्तस्यान्तरम् ।  
[ ८ ] जिान्तराणि ।  
[ ९ ] ऋषभाद्वीरस्यान्तरम् ।  
[ १० ] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरम् ।  
[ ११ ] अम्बुस्योणां परस्परमन्तरम् ।  
[ १२ ] ताराणां परस्परमन्तरम् ।  
[ १३ ] स्योणां परस्परमन्तरम् ।  
[ १४ ] घातकीःसचरस्य द्वाराणामन्तरम् ।  
[ १५ ] नन्दनवनस्याश्चरमान्तात्सौगन्धिकस्य काप-  
स्याश्चरमान्तस्यान्तरम् ।  
[ १६ ] नरकपृथ्वीनां रत्नप्रजाकाराणामन्तरम् ।  
[ १७ ] रत्नप्रमाद्विभ्योः सन्धानाद्विन्तरम् ।  
[ १८ ] रत्नप्रजादीनां परस्परमन्तरम् ।  
[ १९ ] निषधकटस्थोपरितनाच्छरतशासन्मधरगितलस्या-  
न्तं निकृष्य निषधपर्वतस्य रत्नप्रभायाः बहुमध्यदेश-  
भागे निकृष्यः ।  
[ २० ] पुष्करचन्द्राराणामन्तरम् ।  
[ २१ ] मन्दराजम्बुद्वीपाच्छ गोस्तम्भस्यान्तरम् ।  
[ २२ ] मन्दराजोत्तमस्यान्तरम् ।  
[ २३ ] मन्दराजकामस्यान्तरं निकृष्य महाहिमवनोऽन्तरं  
प्रतिपादितम् महाहिमवदुक्मिकस्यापीति रईष महा-  
हिमवत्स्ये प्रतिपादितम् ।

- [ २४ ] लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरम् ।  
[ २५ ] लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरम् ।  
[ २६ ] बडवामुखादीनामश्चरमान्ताद्द्वारप्रभाया अथ-  
स्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।  
[ २७ ] विमानकल्याणमन्तरम् ।  
[ २८ ] आहारमाभित्य जीधानामन्तरं प्रतिपाद्य तस्मिन्नेव सू-  
त्रे सयोगिव्यस्यकेवल्यनाहारकस्य चान्तरम् ।  
[ २९ ] एकैन्द्रियाद्याभित्य कालतोऽन्तरम् ।  
[ ३० ] कषायमाभित्यान्तरं प्रतिपाद्य काषयमाभित्यान्तरं नि-  
रूपितम् ।  
[ ३१ ] गतिमाभित्यान्तरं प्रतिपाद्य ज्ञानमाभित्य जीधानाम-  
न्तरमभिहितम् ।  
[ ३२ ] ब्रह्मस्थावन्नाश्रयस्थावाराणामन्तरम् ।  
[ ३३ ] सत्समष्टिकमाभित्यान्तरम् ।  
[ ३४ ] पर्यागिमाभित्यान्तरमभिधाय काषादिपरितानामन्त-  
रमभिहितम् ।  
[ ३५ ] पुद्गलमाभित्यान्तरमुक्त्वा प्रथमसमयाऽप्रथमसमय-  
विशेषणैकेन्द्रियाणां तैरयिकीदीनां चान्तरम् ।  
[ ३६ ] बादरसूचमनोसूचमनोबादराणामन्तरम् ।  
[ ३७ ] सूचमस्यान्तरं प्रतिपाद्य भाषामाभित्य जीधानामन्त-  
रं निरूपितम् ।  
[ ३८ ] योगमाभित्यान्तरमुक्त्वा लेश्यामाभित्य जीधानाम-  
न्तरं निरूपितम् ।  
[ ३९ ] वेदविशिष्टज्ञोयानामन्तरं प्रतिपाद्य मनुष्यादिभेदेन  
वेदविशेषविशिष्टानां स्तोत्रपुस्तकानामन्तरं प्रति-  
पादितम् ।  
[ ४० ] औदारिकदिशिदशविशिष्टानामन्तरमुक्त्वा संज्ञावि-  
शेषणेन अन्तरं निरूपितम् ।  
[ ४१ ] संयमविशेषणेनान्तरमभिधाय सिद्धस्यासिद्धस्य चान-  
न्तरं निरूपितम् ।  
[ १ ] अन्तरस्य भेदाः ।

वृत्तवित्ते अन्तरं पश्यते तं जहा कर्तुं तं परं तुं लोहं-  
तेरं पत्यन्ते पवाभेन इति ए वा पुरिमस वा वृत्तवित्ते अ-  
न्तरं पश्यते तं जहा कर्तुं तसमापे परं तुं तसमापे लोहं तस-  
पाणे पत्यन्तरमापे ॥  
काष्ठस्य च काष्ठस्य चैति काष्ठयोरन्तरं विशेषो रूपनिर्माणा-  
दिभिः पत्यमेव काष्ठयोरन्तरमिव पद्मकण्यासकृन्नादि पद्ममणोर-  
न्तरं विशदयन्कुमार्यादिप्रसोदात्म्यस्यन्ताद्वेदकाःवादि-  
भिः प्रस्तरान्तरं पायासान्तरं चिन्तितार्थप्रणोदनादिनिर्वेमेव का-  
ष्ठयोरन्तरवत् स्त्रिया वा ऊच्यन्तरापक्षया पुरुषस्य वा पुरुषान्तरा-  
पक्षया वाग्यदौ स्त्रीपुंसयोश्चातुर्विधे प्रति निर्दिशेव-  
ताख्यापार्षणी काष्ठान्तरं समासे तुल्यमन्तरं विशेषो विधि-  
एवदियोग्यादादिना पद्ममन्तरसमानं यच्चनसुकृमारतवैव  
लोहान्तरसमानं स्नेहच्छेदेन परंपदादौ निर्भेक्त्यादिभिश्च  
प्रस्तरान्तरसमानं चिन्तितकालमनोऽथपूरकत्येन विशिष्टगु-  
णवत् यन्पदव्हीयोग्यादादिना चैति स्था० ४ । ज० ।  
( २ ) द्वीपपर्वतादीनां परस्परं व्यवधाने इदमेतं तथ ईष्यप्रामा-  
त्राया जज्ञोकस्य यथा  
ईसिप्यजगाराण एं भेने । पुर्वीए अज्ञोमसस य केवए

अवाहाए पुच्छा, गोयमा ! देसुणं जोअणए अवाहाए अंतरे पणुत्ते ।

( देसुणं जोयणंति ) इह सिक्खल्लोकयोद्देशोर्नं योजनमन्तरमुक्त्वा, आशयस्येकं तु योजनमेव । तत्र च किञ्चिन्पुनराया अवि-  
यक्त्वाण विरोधो मन्तव्य इति भ० ध० अ० उ० ।

[ ३ ] बुद्धिहिमवत्कूटस्योपरितनाम्बामान्ताह्रपथ-  
पर्येतस्य समभरणितलेऽन्तरम् ।

बुद्धिहमवंतकूटस्स णं उवतिद्वाओ चरयंताओ बुद्धिहमव-  
तस्स वासहृत्परवपस्य समभरणितले एम णं उ जोयणसयाई  
अवाहाए अंतरे पणुत्ते एवं सिद्धिरिक्कुत्तमि वि ।

इह प्राचाथीं हिमवान् योजनशतोऽपि तस्तकूटं पञ्चशतोऽपि-  
तमिति सूत्रोक्तमन्तरप्रवृत्तीति. स० ।

( ४ ) गोस्तूपस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् वरुवामुक्षस्य पाष्वा-  
त्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

गोपूजस्स णं आवासपवन्वयस्स पुरच्छिमिद्वाओ चरयं-  
ताओ वलयामुहुस्स महापायासस्स पश्चिमिद्वाओ चरयंते  
एम णं वावसुं जोयणसइस्साई अवाहाए अंतरे पणुत्ते ।  
[ गोपुंथेत्वादि ] गोस्तूपस्य प्राचाथीं लवणसमुद्रमध्यवर्तिनो  
वेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वतस्य पौरस्त्याच्चरमान्तादपसु-  
त्य वरुवामुक्षस्य महापातालकलशस्य पश्चात्यच्चरमान्तो येन  
भवतीति गम्यते [ एसणंति ] एतदन्तरमधेऽभाधया व्यवधा-  
नलक्षणमित्यर्थः द्विपञ्चाशदयोजनसहस्राणि भयन्तीत्यस्यस्य-  
टनम् । भावावस्थस्यैव इह हवणसमुद्रं पञ्चनवतियोजनसहस्रा-  
ण्ययवगाह पुरादिषु दिक्षु चत्वारः क्रमेण वरुवामुक्षकेतुमुत्प-  
केऽभ्यराभिप्राता महापातालकलशा भवन्ति । तथा जम्बुपथेन्ताद्  
द्विचत्वारिंशदयोजनसहस्राण्ययवगाह सहस्राधिकम्पश्चात्पश्चात्  
एव वेलन्धरनागराजपर्वतः गोस्तुभादयो भवन्ति । ततश्च  
पञ्चनवत्याह्रपथत्वारिंशत्पथपर्यन्तयां द्विपञ्चाशत्सहस्राण्य-  
न्तरं भवति स० ४१ सम० ।

[ ४ ] जम्बुचाराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं भेते । दीवस्स दास्स य दास्स य केवइए  
अवाहाए अंतरे पणुत्ते । गोयमा ! अण्णासीई जोअणस-  
हस्साई वावसुं च जोअण्णाई देसुणं च अइजंअणं दास्स  
य दास्स य अवाहाए अंतरे पणुत्ते जी० ।

जम्बूदीपस्य गमिति प्राग्बतु जन्त ! दीपस्य संबन्धिनो  
द्वारस्य २ च कियत् किंप्रमाणम् ( अवाहाए अंतरेत्ति ) बाधा  
परस्परं संश्लेषनः पीठनं च बाधा अवाधातया कियदन्तरं व्य-  
वधानमित्यर्थः प्रहसम् । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्वर्थेषु  
वर्तमानो इष्टस्ततस्तद्वाचकत्वेन व्यवधानार्थेपरिग्रहार्थमवाधा-  
ग्रहणम् अत्र निषेधनं भगवान्नाह गौतम ! एकोनाशीतियोजन-  
सहस्राणि द्विपञ्चाशदयोजनानि देशोर्नं चाह्ययोजनं द्वारस्य  
द्वारस्य चाभाधया अन्तरं प्रहसम् । तथाहि जम्बूदीपपरिधिः प्राग्-  
निर्दिष्टयोजनानि तिको लक्षाः योऽयं सहस्राणि द्वे शते सप्त-  
विंशत्यधिकं ( ३१६२२७ ) कोशवचनम् ( ३ ) अष्टविंशत्शतं  
( १२८ ) त्रयोदशाङ्गुलानि ( १३ ) एकमर्काङ्गुलमिति । अस्माद्-  
द्वारचतुष्कविस्तारोऽष्टादशयोजनकोटोपर्यन्तं यत एकैकस्य  
द्वारस्य विस्तारो योजनानि चत्वारि चत्वारि ( ४ ) प्रतिद्वारम् ।  
द्वारस्याह्रपथिस्तारक कोशत्रयं कोशत्रयम् । अस्मिन् द्वारस्य

शास्त्रयोश्च परिमाणे चतुर्गुणे जातान्यष्टादश योजनानि ( १८ )  
ततस्तदपनयने शेषपरिधिसहस्रास्य योजनरूपस्य ( ३१६२०९ )  
चतुर्गोणस्यानि योजनानि एकोनाशीतिः सहस्राणि द्वि-  
पञ्चाशदधिकानि ( ७७०५२ ) कोशश्लोकः । तथा परिधि-  
सहस्रं कोशत्रयस्य धनुस्करणं जातानि धनुषां पद सहस्राणि  
( ६००० ) एव च परिधिसहस्रः अष्टाविंशत्यधिकधनुःशतस्य  
कोपे जातानि धनुषामेकपरिशातान्यष्टाविंशत्यधिकानि ( ६१२८ )  
ततोऽस्य चतुर्भिर्गो ह्यध्वानि पञ्चदश शतानि द्वाविंशदधि-  
कानि ( १५३३ ) यानि च परिधिसहस्रयोद्देश अङ्गुलानि ( १३ )  
तेषामपि चतुर्भिर्गो ह्यध्वानि त्रीण्यङ्गुलानि ( ३ ) शेषे चैक-  
स्त्रिंशत्कोपे यथाः अष्टौ ( ८ ) एषु परिधिसहस्रयवपञ्चक ( ५ ) कोपे  
जातास्त्रयोदश यथाः ( १२३ ) एषां च चतुर्भिर्गो ह्यध्वान्ययो-  
यवाः ( ३ ) शेषे चैकस्त्रिंशत् यो युक्ताः अष्टौ ( ८ ) भागु परिधि-  
सहस्रैकयुक्ताकोपे जाता नव ( ७ ) आसां चतुर्भिर्गो ह्यध्वे द्वे युके  
( २ ) शेषस्यान्यत्रास्त्र विवक्षा । एतच्च सर्वं देशोर्नमेकं गम्यत-  
मिति जातं पूर्वं अथगम्यनेन सह देशोर्नमेकं योजनमिति ( जं०  
१५३० ) “इममेवाथ द्विभेदं सुबद्धमिति” अथकस्त्रतो बहसुश्च  
साधवश्चिसत्वाग्राहकमिति वा गायथाऽऽह । “कट्टुडुवार पमा-  
णं, अचारस जोयणार्थं परिहाए । सोहियचउद्दिं विजत्ते, इणमो  
दारंत्तं होइ । अण्णासीइसइस्सा, वाववणा अउ जोयणं तुणं ।  
दास्स य दास्स य, अंतरमयं विणिहिट्ठं” जी० ३ प्रति० स० ।

[ ६ ] जम्बूदीपस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् गोस्तुमस्य  
पाष्वात्यचरमान्तेऽन्तरमाह ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्वाओ चरयंताओ, गोपू-  
भस्स णं आवासपवन्वयस्स पश्चिमिद्वाओ चरयंते एमणं बाया-  
हीसं जोयणसइस्साई अवाहाए अंतरे पणुत्ते । एवं चउद्दिंसिं  
पि द्वाजासं संलोदपसंमि य ।

( पुरत्थिमिद्वाओ चरयंताओ यो ) जगतीबाहापरिधेरपमस्य  
गोस्तुमस्यावासपर्वतस्य वेलन्धरनागराजसंबन्धिनः पाष्वात्य-  
सीमान्तभरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति [ एसणंति ]  
एतदन्तरं द्विचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि प्रहसमन्तरशब्देन  
विशेषोऽप्यभिधीयते इत्यत आह [ अवाहाएत्ति ] व्यवधानार्थक्या  
यदन्तरं तदित्यर्थः ।

( ७ ) जम्बूदीपस्य पौरस्त्याद् वेदिकान्ताद् घातकी-  
श्वरस्य पाष्वात्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्वाओ चरयंताओ धाय-  
इस्संरुचकवात्सम पश्चिमिद्वाओ चरयंते सप्तजोयणसयसह-  
स्साई अवाहाए अंतरे पणुत्ते ।  
तत्र लक्षं जम्बूदीपस्य द्वे सवणस्य चत्वारि घातकीश्वरस्येति  
सप्त लक्षाएत्यन्तरं सूत्रोक्तमवर्तति [ ७००००० ] ।

( ८ ) जिनान्तरानि ।

जम्मा जम्मो जम्मा, सिवं सिवा जम्ममुक्त्वाओ मुक्खा ५ ।  
इय चउजिणंतराई, इत्य चउत्तं तु नायव्वं ३६ । सस०  
१६५ द्वा० ।

साम्रतं यश्चकवतीं बासुदेवो वा यस्मिन् जिने जिनान्तरे वाऽऽ-  
सीत् तत् प्रतिपाद्यत इत्यनेन संबन्धेन जिनान्तरागमनं तत्रा-  
पि तावत् प्रसंगत एव कालतो जिनान्तगणि निर्दिश्यते “ उ-

समाधौ कोटिलक्षकं, ५० अजियाभो कोटिलक्षकं ३०। संभव-  
 कोटिलक्षकं १० अभिनन्दनभो कोटिलक्षकं ९ सुमतिकोटी-  
 ए उ णडसहस्तेहि ६० पउमपयभो भोदीणंलय सदस्तेहि  
 ए सुपासो कोटी नवसएहि ६०० बंदपयो कोटीभो नउती  
 ६० पुण्दतो कोटीव णवदिओ ६ सियलो कोटीरुणाऊणा १००  
 सा [ ६६२६००० ] बरिसाहं तेज्जोः सागरोपमाइ ४ वासुपु-  
 ओ तीससागराइ ३० विमभो सागरोपमाइ ४ धम्मो सागरो-  
 पमाइ ३ ऊणाइ १ पलियबउध्मायोहि ३ संतिपलिबउ कंउप-  
 लियबउध्माभो ४ ऊणाभो वासकोटीसदस्तेण १ इरो वास-  
 कोटीसदस्ते २ म्हाी वरिसहस्रकखउउपपन्ना ५४ मुणिसुव्वभो  
 वरिसहस्रकं ६ नमो वरिसहस्रक ५ अरिइनेमि वरिसहस्रकं  
 २३७५० पासो वाससयाइ २५० वड्ढमाणो जिणंतराइ ” इह  
 वासम्मोहायं सयेवामेव जिनकववतिवासुद्वयं नो यो यस्मिन्  
 कासेअन्ते वा अकवती वासुद्वयो वा त्रियप्यति वचूष वा त-  
 स्थानउत्थयावर्णितप्रमाणापुःसमन्वितस्य सुखपरिहानाधर्मयं  
 प्रतिपादनेवापयः ।

“ बसौसं घरयाहं, काठं तिरियाय ताहि रेहादिं ।  
 उह्णययाहिं काठं, पंच घराइं तथो पदमो ॥  
 पनरस जिणनिरंतर-सुन्नडुमं तिजिण सुन्नतिगं च ।  
 हो जिणसुन्निजिणियो, सुन्नजिणो सुन्न वीणि जिणो ॥

[ वित्तीयपंतिद्वयणा ]

हो वकि सुन्ननेरस, पण वक्की सुन्नचकि हो सुन्ना ।  
 वक्की सुन्नउक्की, सुन्नं वक्की उसुन्नं च ।

( ततीयपंतिद्वयणा )

इस सुन्न पंच केसय, पण सुन्नं केसि सुन्नकेसी य ।  
 हो सुन्नकेसयो वि य, सुन्नडुमं केसय तिमुन्नं ॥

स्थापना जेधम् ।

३७ ( सा चेहेव सत पट्टितमे पत्रे विविथे )  
 प्रसङ्गादपुः शरीरप्रमाणं च ।

( ए ) अणुमद वीरस्य ।

उमभस्स भगवओ महावीरसस य एगा सागरोवमकोटा-  
 कोटी अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

प्राकृतयेन श्रीअप्यत्र इति वाच्ये व्यन्ययेन निर्देशः कृतः एक-  
 सागरोपमकोटाकोटी द्विचत्वारिंशता उपसहस्रैः किञ्चित्साधि-  
 कैरुणाऽप्यव्यन्याद्विशेषव्याविशेषितोकेति सः। कए०। वीर-  
 महापद्मयोः “ बुलसोहसहस्साइ, वासा सणव पंच मासाइ ।  
 वीरमहापदमपं, अंतरेयेयं विणिदिहिं ” ति० ।

[ १० ] ज्योतिष्कानां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरं यथा ।

चंद्रमण्डलस्य एं भंते । चंद्रमण्डलस्य चंद्रमण्डलस्य केवइआए  
 अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा । पण्णत्तीसं पण्णत्तीसं  
 जोअण्णत्तीसं च एगसट्टिजाए जोअण्णत्तीस एगस-  
 ट्टिजागं च एगं सतहा ठेसा चत्वारि जुषिअण्णत्तीस  
 चंद्रमण्डलस्य २ अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

चन्द्रमण्डलस्य मदन्तं । चन्द्रमण्डलस्य किचत्था अवाधया  
 अन्तरं प्रहसं गौतम । पञ्चविंशशोअजाननि त्रिंशद्वैकवट्टिभागान्  
 बोअण्णत्तीस पकं च एकवट्टिभागं सतथा इह्वा चतुरस्रचूर्णिका-  
 अभावात् पतकव चन्द्रमण्डलस्य मवाधया अन्तरं प्रहसत्त एअत्र  
 अन्तरावाधचूर्णिका यथा समायासितथाअन्तरं व्याख्यातम्  
 अं० ७ वक्० ।

[ ११ ] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरमाह ।  
 चंद्रतो मूरसस य, मूरा चंद्रसस अंतरं होइ ।

पश्चात्सहस्साइ, तु जोयण्णत्तीस अण्णत्तीसं ॥ २७ ॥  
 मूरसस य मूरसस य, ससिणो ससिणो य अंतरं होइ ।

बही तु माणुसनगसस, जोयण्णत्तीस सतसहस्सं ॥ २८ ॥  
 मातुपनगसस मातुपोअरपयंतस्य बहिः सूर्यस्य सूर्यस्य परस्परं

चन्द्रस्य चन्द्रस्य परस्परमन्तरं भवति योजनानां शतसहस्रं  
 लक्षम् । तथाहि चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चान्द्रा व्यवहृ-  
 ताश्चन्द्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राहं  
 ( ५०००० ) ततश्चन्द्रस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरं योजनानां  
 लक्षं भवतीति सु० प्र० १ए पाठु० । ( ६० प० )

वे जोयण्णत्तीस मूरसस, मंडलाणं तु इवइ अंतरिया ।  
 चंद्रसस वि एण्णत्तीसं, सारांथा होइ नायन्ना ॥

सूर्यस्य सवितुः सक्तानां मण्डलानां परस्परमन्तरिका अन्त-  
 रमेवांतरे अष्टादशतिर्यात् स्वयो यएप्रत्ययः ततस्मिन्निविद्यन्त्यां  
 ङीपत्यस्ये अन्तरं अन्तरमेव अन्तरेव अन्तरिका जयति  
 हे योजने पुनश्चन्द्रस्य आन्तरिका भवति इतथा पञ्चविंशशो-  
 अजाननि साधकानि पञ्चविंशत् योजनानि पञ्चविंशतिरकवट्टि-  
 भागा योजनस्य एकस्य च एकवट्टिभागस्य सतथा त्रिंशस्य  
 सक्ताश्चत्वारो प्रागा इत्यर्थः ज्यो० १० पाठु० ।

[ १२ ] ताराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबुद्वीपे णं जंते । द्वीवे ताराए अ ताराए अ केवइ अवाहाए  
 अंतरे पण्णत्ते गोःमा । द्विदं अंतरे पण्णत्ते तंजहा वायाए अ  
 निन्वाभ्याए अ । निन्वायाए जहसेणं पंचपण्णत्तीसयाइ उक्को-  
 सेणं दो गाअइ । वायाए जहसेणं दोसि जहसेणं जोअण्णत्तीस  
 उक्कोसेणं वारस जोअण्णत्तीसहस्साइ । दोसि अ वायाले  
 जोअण्णत्तीस ताराकवसं ताराकवस अवाहाए अंतरे पण्णत्ते

अमृद्वीपे भदन्त । द्वीपे तारायास्तारायाश्च किचद्वाधया अ-  
 न्तरं प्रहसं जयवानात् । गौतम । द्विचिदं व्याघातिकं निर्व्याघा-  
 तिकं च । तत्र व्याघातः पयंतादिसहस्रानं तत्र भवं व्याघातिकं  
 निर्व्याघातिकं व्याघातिकारिगतं स्वानाधिकमित्येतंस्तत्र यक्षि-  
 र्व्याघातिकं तल्लघन्यतः पञ्चधनुःशतानि उरुहृता हे गम्यंते  
 एतच्च जगत्समावाहैवायानुत्पन्नं यच्च व्याघातिकं तजजघन्यतो  
 हे योजनशते पट्टपद्यधिके एतच्च निषण्णकट्टदिकमपेय वदि-  
 तव्यं तथाहि निषण्णवैतः स्वामयतोऽप्युच्चैश्चत्वारि योजनशाना-  
 नि तस्य चोपरि पञ्चयोजनशतोऽहानि कूटानि तानि च मूलं  
 पञ्चयोजनशतान्यायामविकल्पान्यां मध्ये त्रीणि योजनशतानि  
 पञ्चसप्तत्यधिकानि उपरि अहंरुतीये हे योजनशते तेषां चोप-  
 रितनभागसमन्वितप्रदेशे तथा जगत्समावाहैवाद्यहंरुतीये योजना-  
 न्यवाधया कृत्वा ताराविमानानि परिभ्रमन्ति ततो जघन्ततो व्या-  
 घातिकमन्तरं हे योजनशते पट्टपद्यधिके जयतः उक्कपैतो ह्यद्-  
 शयोजनसहस्राणि हे योजनशते द्विचत्वारिंशदधिके । एतच्च  
 मेकमपेय कृष्टस्य च । तथाहि मेरी इशुयोजनसहस्राणि मेरो-  
 ओमयतोऽवाधया एकदशयोजनशतान्येकदशत्यधिकानि ततः  
 सर्वसंख्यामीशेन भवन्ति इदं योजनसहस्राणि हे च योजने  
 शते द्विचत्वारिंशदधिके पतसाराकपस्य अन्तरं प्रहसन्ति अं०  
 ७ वक्० । जी० अं० ७ वक्० ।

असली	आदिवासी	संयथी	आदिवासी	सुपारी	पठनपत्तनी	सुपारी	बंदरपारी	पुष्करती	दीवारती	शेजवंती	वाणसुपारी	विमली	आयंती	अयो	*
भरती	सागरी	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	मयवं
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	विचिद्र	सुचिद्र	सचचू	पुरिसो- यमी	पुरिस सीरी	०
५००	५५०	५००	३५०	३००	२५०	२००	१५०	१००	६०	८०	७०	६०	५०	५५	५२॥
अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत
८४०००००	७२०००००	६००००००	५००००००	४००००००	३००००००	२००००००	१००००००	१००००००	१००००००	८५०००००	७३०००००	६००००००	३००००००	१००००००	५००००००
पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	पुष्कलकर्म	वरिस लकर्म	वरिस लकर्म	वरिस लकर्म	वरिस लकर्म	वरिस लकर्म	वरिस लकर्म

( ६७ )

अग्निपालादीपः

( ६७ )

*	संती	कुंर	आरी	*	*	*	मणी	सुविद्रु- यमी	*	यमी	*	शेमी	*	पारी	अनुसंत
साथं कुमारी	संती	कुंर	आरी	०	सुपारी	०	०	पत्तनी	०	दरिद्रयो	अयत्तमा	०	अंमदकी	०	०
०	०	०	०	सुचिद्रो	०	दो	०	०	आपारयो	०	०	आरी	०	०	०
५१॥	५०	३५	३०	२६	२८	२६	२५	२०	१६	१५	१२	१०	७	६	७
अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनुसंत	अनु	दरवा	दरवा
३०००००	१०००००	६५०००	८५०००	६५०००	६००००	५६०००	५५०००	३००००	१२०००	१००००	३०००	१०००	७००	१००	७२
वरिस लकर्म	वरिस लकर्म	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	वरिस सदरस	अगिससंत	अगिससंत	अगिस

[१३] सूत्रयोगां परस्परमन्तरम् ।

ता केवलयं तं छुवे सूरिया अक्षयमस्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेजा । तत्थ खलु इमातो उ पन्विचि-  
ओ पयत्ताओ तत्थ एगे एवमाहुंसु ता एगं जोयणसह-  
स्सं एगं च तेतंसि च जोयणसत्तं अक्षयमस्य अंतरं कद्दु  
सूरिया चारं चरति आहितेति वदेजा एगे एवमाहुंसु । ? ।  
एगे पुण एवमाहुंसु ता एगं चउतीसं जोयणसयं अक्षय-  
मस्य अंतरं कद्दु सूरिया चारं चरति आहितेति वदेजा  
एगे एवमाहुंसु । एगे पुण एवमाहुंसु । ता एगे जोयणसहसं  
एगं च पणतीसं जोयणसयं अक्षयमस्य अंतरं कद्दु सु-  
रिया चारं चरति आहितेति वदेजा एगे एवमाहुंसु । ? । एगं  
दीवं एगं समुहं अक्षयमस्य अंतरं कद्दु । १४ । दो दीवे दो  
समुहे अक्षयमस्य अंतरं कद्दु सूरिया चारं चरति । १५ । ति  
भि दीवे तिभि समुहे अक्षयमस्य अंतरं कद्दु सूरिया चारं  
चरति आहितेति वदेजा एगे एवमाहुंसु । १६ । वयं पुण एवं  
बयासी ता पंच पंच जोयणसं पणतीसं च एगड्डिभागे  
जोयणस्य एगमेगे मंडले अक्षयमस्य अंतरं अजिवट्टेमा-  
णे वा निवट्टेमाणे वा सूरिया चारं चरति आहितेति वदे-  
जा । तत्थ एं को हेओ चि वदेजा ता अयणं जंबूद्वीपे  
दीवे जाव परिकेवेषेणं पयत्ते ता जदा एं एगे दुवे सूरि-  
या सव्वज्जंतरं मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चरति तदा एं  
एवणउतिजोयणसहस्साइं उच्चचासे जोयणसते अक्षयम-  
स्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेजा । तता एं  
उत्तमकडपत्ते उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते दिवसे जवति ज-  
हणिया उवात्तसमुहुत्ता राई भवति ते णिक्खममाणा  
सूरिया एववं संवच्चरं अयमिणे पदमंसि अहोरत्तंसि अ-  
रिजतराणंतं मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चरति । ता ज-  
ता एं एते छुवे सूरिया अभितराणंतं मंडलं उवसंकमि-  
च्चा चारं चरति तदा एं जवनउति जोयणसहस्साइं उच्च  
पणताले जोयणसते पणतीसं च एगड्डिभागे जोयणस्य  
अक्षयमस्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेजा ।  
तता एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति दाहिं एगड्डिभागमु-  
हुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ता रातीं जवति । दाहिं एग-  
ड्डिभागमुहुत्तेहिं अधिया ते णिक्खममाणे सूरिया दांक्षंसि  
अहोरत्तंसि अरिभतरं तच्च मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चर-  
ति ता जता एं दुवे सूरिया अरिभतरं तच्च मंडलं उवसंक-  
मिच्चा चारं चरति तया एं जवनउत्तं जोयणसहस्साइं उच्च  
इकावरिणजोयणसप पंच य एगड्डिभागे जोयणस्य अण-  
मयणस्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेजा । तदा  
एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउहिं एगड्डिभागमुहुत्तेहिं  
ऊणा दुवालसमुहुत्ता राई जवइ चउहिं एगड्डिभागमुहुत्ते-

हिं अधिया । एवं खलु एते एवाएणं णिक्खममाणा एगे  
दुवे सूरिया तता अंतरतो तदाएणंतं मंडलानां मंडलं संक-  
ममाणा संकममाणा पंच पंच जोयणाइं पणतीसं च एग-  
ड्डिभागे जोयणस्य एगमेगे मंडले अक्षयमस्य अंतरं अधि-  
वट्टेमाणा अधिवट्टेमाणा सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमिच्चा  
चारं चरति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्वबाहिरं मंडलं  
उवसंकमिच्चा चारं चरति तदा एं एगं जोयणसतसहस्सं  
उच्च सट्टिजोयणसते अणमएणस्य अंतरं कद्दु चारं चर-  
ति । तता एं उत्तमकडपत्ता उक्कोसिया अट्टारसमुहुत्ता राई  
जवइ जहणएण दुवात्तसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस एं पद-  
मे उम्मामे एस एं पदमस्य उम्मामस्य पज्जवसाणे ते य चि  
समाणे दुवे सूरिया दोषे उम्मामे अयमीणे पदमंसि अहो-  
रत्तंसि बाहिराणंतं मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चरति । ता  
जया एं एते दुवे सूरिया बाहिराणंतं मंडलं उवसंकमिच्चा  
चारं चरति तदा एं एगं जोयणसयमहस्सं उच्च चउत्तम्ये  
जोयणसते हत्तंसि च एगड्डिभागे जोयणस्य अक्षयमस्य-  
स्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेजा । तदा एं  
अट्टारसमुहुत्ता राई भवइ दाहिं एगड्डिभागमुहुत्तेहिं ऊणा  
दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । दाहिं एगड्डिभागमुहुत्तेहिं  
आहिणं ते पांविस्माणा सूरिया दांक्षंसि अहोरत्तंसि बाहिरं  
तच्च मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चरति ता जता एं एते  
दुवे सूरिया बाहिरं तच्च मणदलं उवसंकमिच्चा चारं चरति ।  
तता एं एगं जोयणसयमहस्सं उच्च अरुयाले जोयणसते  
वावणं च एगड्डिभागे जोयणस्य अक्षयमस्य अंतरं कद्दु  
चारं चरति । तता एं अट्टारसमुहुत्ता राई भवइ । चउहिं  
एगड्डिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे जवति  
चउहिं एगड्डिभागमुहुत्तेहिं अहिणं । एवं खलु एते एवा-  
एणं पन्विममाणा एते दुवे सूरिया तताअंतरतो तदाएणंतं  
मंडलानां मंडलं संकममाणा पंच पंच जोयणाइं पणतीसं  
च एगड्डिभागे जोयणस्य एगमेगे मंडले अक्षयमस्य अंतरं  
णिवट्टेमाणे णिवट्टेमाणे सव्वज्जंतरं मंडलं उवसंकमिच्चा  
चारं चरति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्वज्जंतरं मंडलं  
उवसंकमिच्चा चारं चरति । तता एं एवणउतिजोयणसहस्सा-  
इं उच्च चत्ताले जोयणसते अक्षयमस्य अंतरं कद्दु चारं  
चरति । तता एं उत्तमं कडं पत्ते उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते  
दिवसे भवति जहणिया उवात्तसमुहुत्ता राई जवति । एस-  
एं दोषे उम्मामे एस एं दांक्षंस्य उम्मामस्य पज्जवसाणे ।  
एस एं आइच्चे संवच्चरे एस एं आइच्चेसंवच्चरस्य  
पज्जवसाणे चउत्तं पाहुदपाहुदं समचं ।

( ता केवलयं एते दुवे सूरिया इत्यादि ) ता इति प्राक्ख

पत्नी ह्रावपि सूर्यी जम्बूद्वीपगतीः कियत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्त्यावाक्याताविति भगवाद् वदेद् एवं नगवता मौदमन प्रकं कृते सति शेषकुमन्विषयतवबुद्धिस्त्यासास्यै परमतकथाः प्रतिपत्सिद्धीयति । "तद्य खलु भ्रात्रो धृत्यादि" तत्र परस्परमन्तरचित्वायां खलु निमित्तमिमां बहुमाणस्वरूपाः बद् प्रनिपसयो यथास्वकविशस्यत्र्युपानमनङ्गणान्तैस्तेस्तीर्थान्तराथैराश्रयमाणाः प्रकृतास्ता एव दर्शयति "तथेभ्यो धृत्यादि" तेषां षष्ठां तत्रयतिपरिरूपकाणां तीर्थकानां मध्ये एकं तीर्थान्तरायाः प्रथमं स्वशिश्वं प्रत्येवकथः "ता एगमित्यादि" ता इति पूर्ववद्भावनीयम् एकं योजनसदस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परस्थातारं कृत्वा जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ चारं चरतश्चरन्त्यावाक्याताविति स्वशिश्वेभ्यो वदेत् । अत्रैवोपसंहरमाह । "एके एवमाहुः इति" । एवं सर्वेषां चरतयोजनकार्त्तव्या । एके पुनरितीयास्ततीर्थान्तराया एवमाहुरेकं योजनसदस्रमेकं च त्रुत्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके तृतीयाः पुनरेवमाहुः एकं योजनसदस्रमेकं च पञ्चविंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनश्चतुर्था एवमाहुः एकं द्वीपमेकं च समुद्रं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनः पञ्चमा एवमाहुः द्वौ द्वीपौ द्वौ समुद्रौ परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके षष्ठ्याः एकं षष्ठ्यः पुनरेवमाहुः त्रीन् द्वीपान् त्रीन् समुद्रान् परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरत इति । एते च सर्वे तीर्थान्तराया (मिथशरादिनांयथायथैस्तुद्वयव्यवधानात् । तथा चाह (वयं पुन इत्यादि) वयं पुनसादित् केवलज्ञानलाभाः परतीर्थैः कस्यापि नवस्तुत्यन्तयथायथासं पते च वेद्यमानप्रकारेण केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तुतन्वमुपलभ्य वदामः । कथं वदथ यूयं ज्ञानवत् इत्याह (ता पंचेत्यादि) 'ना इति' ज्ञानात्मन्यहङ्कव्यमिदं तावत्कथ्यते ह्रावपि सूर्यी सर्वाभ्यन्तरामरात्वाजिष्कामन्ती प्रतिमगदसं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतं श्लेकपट्टिभागान् योजनस्य पूर्वपूर्वमगदलगतान्तरपरिमाणे अनिवर्क्यन्ती वाशब्द उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये ( निरुद्धमाणा वा इति ) सर्वब्रह्मामगदस्रदभ्यन्तरं प्रविशन्ती प्रतिमगदसं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतं च एकपट्टिभागान् योजनस्य निर्येद्यन्ती पूर्वपूर्वमगदलगतान्तरपरिमाणत्वात् हापयन्ती वाशब्दः पूर्वविकल्पापेक्षया समुच्चये पूर्वौ चारं चरतः चरन्त्यावाक्याताविति स्वशिश्वेभ्यो वदेत् । एकेकं भगवान् मौदमनः निजशिश्वान्ःशङ्कित्वयवस्थापनार्थं नृयः प्रश्नयति । (तयमित्यादि) तत्र पंचविंशत्या वस्तुतवव्यवस्थाया अद्यमेकं कं हेतुः का उपपत्तिरिति प्रसादं कृत्वा वदेद् भगवात्माह (ता अयन्नमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वाक्यं पूर्ववत्परिपूर्णे स्वयं परिभावनोयम् । (ता जयाश्रमित्यादि) वच यदा णमिति वाक्याङ्कारे पत्नी जम्बूद्वीपप्रसिद्धौ प्रातैरावती ह्रावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं माडलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनसदस्राणि पद् योजनशतानि चत्वारिंशदधिकानि परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्त्यावाक्याताविति वदेत् । कथं सर्वाभ्यन्तरं मगदसे द्वयोः सूर्ययोः परस्परमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इह जम्बूद्वीपे योजनसङ्क्रमाणवृष्कणस्तस्रैकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य मध्ये अश्राप्त्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरं मगदसे चारं चरति । द्वितीयोऽप्यश्राप्त्यधिकं योजनशतमवगाह्य अश्राप्त्यधिकं च शतं ह्राभ्यां गुणितं त्रीणि शतानि षडधिकानि ( ३६० ) नवति

एतानि जम्बूद्वीपवृष्कणपरिमाणान्नुहृत्कपाद्पत्नीन्ते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरं ह्योरपि सूर्ययोश्चरकाले उचसमाष्टां प्राप्तः परमप्रकर्षं प्राप्तः उत्कर्षक उच्छ्वासाद्भ्रादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति जघन्या सर्वजघन्या श्रादशमुहूर्त्तौ रात्रिः (ता निष्कलममाणा इत्यादि) ततस्तस्मात्सर्वाभ्यन्तरामगदस्रत्वात् । ह्रावपि सूर्यौ निष्कामन्ती नवं सूर्यसंवासरमाह्वादात् नवस्य सूर्यसंवासरस्य प्रथमे अहोरात्रे (अभिपतराणंतर्ममिति) सर्वाभ्यन्तरामगदस्रत्वादनन्तरं द्वितीयं मगदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा पत्नी ह्रावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमगदस्रमुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा नवनवतियोजनसदस्राणिपद् शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि योजनानां पञ्चविंशतं श्लेकपट्टिभागान् योजनस्येत्येतावत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतश्चरन्त्यावाक्याताविति वदेत्तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इहैकोऽपि सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमगदस्रगतान्तराचत्वारिंशदेकपट्टिभागान् योजनस्य अक्षरे च द्वे योजने विक्रम्य सर्वाभ्यन्तरामन्तरं द्वितीये मगदसे चरति । एवं द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदश्लेकपट्टिभागान् योजनस्येति ह्राभ्यां गुरण्यते गुरिति च सति पञ्च योजनानि पञ्चविंशदश्लेकपट्टिभागान् योजनस्येति भवति एतावत्तदधिकपूर्वमगदस्रगतान्तरपरिमाणान्नुहृत्कपात्प्रान्यते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमगदस्रत्वात् चरत्काले अष्टादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति ह्राभ्यां (एगद्विभागमुहूर्त्ते इति) मुहूर्त्तैकपट्टिभागान्नुहृत्कपात्प्रान्यन्ती रात्रिः ह्राभ्यां मुहूर्त्तैकपट्टिभागान्नुहृत्कपात्प्रान्यन्ती रात्रिः (ता निष्कलममाणा इत्यादि) ततस्तस्मात्सूर्य द्वितीयो अहोरात्रे अग्र्यन्तरस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मगदस्रस्य तृतीयमगदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा णमिति पूर्ववत् पत्नी द्वौ सूर्यौ अग्र्यन्तरतृतीयं सर्वाभ्यन्तरस्य मगदलस्य मगदलस्य मगदलस्य मगदलस्य मगदलस्य चारं चरतः तदा तस्मिन्तृतीयमगदस्रत्वात् चरत्काले नवनवतियोजनसदस्राणि पद् च शतानि एकपञ्चशदधिकानि योजनानां नव श्लेकपट्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्त्यावाक्याताविति वदेत्, तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरकरुणमिति चेदुच्यते इहाप्येकः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरद्वितीयमगदस्रगतान्तराचत्वारिंशदेकपट्टिभागान् योजनस्येति ह्राभ्यां गुरण्यते द्विगुणमेव पञ्च योजनानि पञ्चविंशदश्लेकपट्टिभागान् योजनस्येति भवति । एतावत्पूर्वमगदस्रगतान्तरपरिमाणान्नुहृत्कपात्प्रान्यते इति भवति यथोक्तमन्तरपरिमाणम् (तया णमित्यादि) यदा सर्वाभ्यन्तरामगदस्रत्वात् मगदसे चरतस्तदा अष्टादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति चतुर्भिः [ एगद्विभागमुहूर्त्ते इति ] प्राकृतव्यात्तद्व्यवस्थासन्ततोऽयमर्थः मुहूर्त्तैकपट्टिभागैकानः, श्रादशमुहूर्त्तौ रात्रिश्चतुर्भिः मुहूर्त्तैकपट्टिभागीरथिका (एवमित्यादि) एवमुच्येन प्रकारेण खलु निश्चिन्तेनेतोरान्येन प्रतिमगदस्रमेकतोऽप्येकः सूर्यो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं श्लेकपट्टिभागान् विक्रम्य चारं चरत्युपगतोऽप्यपरः सूर्योऽपीत्येवंकथेण निष्कामन्ती पत्नी जम्बूदी-



पगती ङी सूर्यौ पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्तदन्तरान्ध्यायदहात्तदन्तरं  
मएदल्लं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मएदले पूर्वपूर्वमएदलगतान्तर-  
परिमाणेषु कृत्वा पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतः कैकषष्टिनागा-  
न् योजनस्य परस्परमनियवर्द्धयती नवयुग्मसंयुक्तसत्के अशी-  
त्यधिकशतमे अहोरात्रे प्रथमपश्चमासपर्यवसानभूते सर्व-  
बाह्यमएदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः । ( ता जया णमित्यादि )  
ततो यदा एतौ ङी सूर्यौ सर्वबाह्यां मएदलमुपसंक्रम्य चारं  
चरतस्तदा तावेकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि षष्टयधिकानि  
( १००६६० ) परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । कथमेतदव-  
शेषमिति चेत् इत्येत इदं प्रति मएदलं पञ्च योजनानि पञ्चविं-  
शकैकषष्टिनागा योजनस्येत्यन्तरपरिमाणचिन्तायामभिवर्द्धमा-  
नं प्राप्यते सर्वान्यन्तराच्च मएदलात्सर्वबाह्यां मएदलं अशी-  
त्यधिकशततमं ततः पञ्च योजनानि अशीत्यधिकेन शतेन गु-  
प्यन्ते जातानि नव शतानि पञ्चदशशतानि योजनानामेक-  
षष्टिनागाश्च पञ्चविंशतसंख्याकयशोत्यधिकेन शतेन गण्यन्ते  
जातानि तेषां चतुःषष्टिशतानि पञ्चोत्तराणि ( ६४०५ ) तेषामे-  
कषष्टया भागो ह्येतै लब्धं पञ्चोत्तरं योजनशतम् ( १०५ )  
एतन्माकन्ते योजनराशौ प्रकृत्यन्ते जातानि दश शतानि विश-  
त्यधिकानि योजनानि ( १०२० ) एतस्योत्पत्त्यन्तरमएदलगता-  
त्परिमाणे नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि चत्वारिंश-  
त्यधिकानि ( ६६६४० ) इत्येवंप्रै प्रकृत्यन्ते ततो यथोक्तं सर्व-  
बाह्ये मएदले अन्तरपरिमाणं भवति ( तथा णमित्यादि ) तदा  
सर्वबाह्यमएदलचारचरणकाले उच्यतेकाष्ठां प्राशा परमप्रकर्षप्रा-  
सा उत्कृष्टा अष्टादशमुहूर्त्तां रात्रिभवेति जघन्यश्च द्वादशमुहूर्त्तो  
दिवसः "पस्यं पदमे उन्मासे" इत्यादि प्राबन्ध (ते पवित्रसमाणा  
इत्यादि ) तौ ततः सर्वबाह्यान्मएदलादच्यन्तरं प्रविशन्ता ङी  
सूर्यौ द्वितीयपश्चमासमास्माद्वाती द्वितीयस्य पश्चमासस्य प्रथमं  
अहोरात्रे बाह्यान्मन्तरं सर्वबाह्यान्मएदलाद्व्योमानन्तरं द्वितीयं  
मएदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः ( ता जया णमित्यादि ) तत्र यदा  
एतौ ङी सूर्यौ सर्वबाह्यान्मन्तरमवोकनं द्वितीयं मएदलमुपसं-  
क्रम्य चारं चरतस्तदा एकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि चतुः-  
षष्ट्यादशधिकानि षट्विंशति कैकषष्टिनागान् योजनस्य परस्पर-  
मन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरतावाक्याताविति वदेत् कथमंता-  
वर्तसिपसर्वबाह्यान्मएदलाद्व्योमानं द्वितीयं मएदले परस्परमन्तर-  
करणमिति चेत् उच्यते इदंकोऽपि सत्यैः सर्वबाह्यान्मएदलगताना-  
ष्टाचत्वारिंशदधिकषष्टिनागा योजनस्यपरं च ये योजने  
अष्टमन्तरं प्रविशामसर्वबाह्यान्मएदलाद्व्योमानं द्वितीयं मएदले  
चारं चरति अत्रतेऽपि ततः सर्वबाह्यानादन्तरपरिमाणाद्वा-  
न्मन्तरपरिमाणं पञ्चविंशतैः पञ्चविंशतः कैकषष्टिनागीयोजन-  
स्थेनं प्राप्यते इति प्रवृत्ति यथोक्तमन्तरपरिमाणम् [ तथा ण-  
मित्यादि ] तदा सर्वबाह्यान्मन्तराद्व्योमानं द्वितीयमएदलचारचरण-  
काले अष्टादशमुहूर्त्तां रात्रिभवेति श्राभ्यां तु मुहूर्त्तकषष्टिनागा-  
न्यासना, द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो चाभ्यां मुहूर्त्तकषष्टिनागान्यास-  
नधिकः [ ते पवित्रसमाणा इत्यादि ] ततस्तस्माद्वि वि सर्वबाह्यान्मएदला-  
द्व्योमानं द्वितीयमएदलादच्यन्तरं प्रविशन्तौ तौ ङी सूर्यौ द्वितीय-  
स्य पश्चमासस्य द्वितीये अहोरात्रे ( बाहिरतश्चति ) सर्वबाह्यान्म-  
एदलाद्व्योमानं नृतीयं मएदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः ( ता ज-  
या णमित्यादि ) तत्र यदा एतौ ङी सूर्यौ सर्वबाह्यान्मएदलाद्व्यो-  
मानं नृतीयं मएदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा एकं योजनश-  
तसहस्रं षट् च योजनशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि द्विपञ्चा-

शतं कैकषष्टिनागाद् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः  
प्रागुक्तमुक्तया पूर्वमएदलगतान्तरपरिमाणाद्वाह्यन्तरपरिमाण-  
मस्य पञ्चविंशतैः पञ्चविंशतः कैकषष्टिनागीयोजनस्य हीन-  
त्वात् [ तथा णमित्यादि ] तदा सर्वबाह्यान्मएदलाद्व्योमानं नृती-  
यमएदलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्तां रात्रिभवेति चतुर्विंश-  
ति कषष्टिनागीकाले । द्वादशमुहूर्त्तं दिवसश्चात्रिंशत्कषष्टिनागी-  
मुहूर्त्तैरधिकः [ एवं बहु इत्यादि ] एवमुक्तप्रकारेण बहु नि-  
श्चितमेतेनोपायेन एकतोऽप्येकः सूर्याऽप्यन्तरं प्रविशद् पूर्वपूर्व-  
मएदलगतानादन्तरपरिमाणादन्तरं विचक्षिते मएदले अन्तरपरि-  
माणस्याष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिनागाद् ये च योजने द्वापय-  
त्यपरतोऽप्यपरः सूर्य इत्येवंप्रै पतौ जम्बूद्वीपगतौ सूर्यौ तत्र-  
न्तरान्मएदलगतान्तरमएदलं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मएदले  
पूर्वपूर्वमएदलगतान्तरपरिमाणाद्वाह्यन्तरं अन्तरं अन्तरं विच-  
क्षिते मएदले पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतं कैकषष्टिनागा-  
द् योजनस्य परस्परमन्तरपरिमाणं निर्वह्यन्तौ द्वापयतावित्य-  
र्थः । द्वितीयस्य पश्चमासस्य अशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे सूर्य-  
संयुक्तस्य पर्यवसानतने सर्वान्यन्तरं मएदलमुपसंक्रम्य चारं  
चरतः [ ता जया णमित्यादि ] तत्र यदा एतौ ङी सूर्यौ सर्वान्य-  
न्तरं मएदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनस-  
हस्राणि षट् योजनशतानि चत्वारिंशानि चत्वारिंशदधिकानि  
परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । अत्र वैयंकरान्तरपरिमाणं  
भावना प्रागेव कृता शेषं सुगमम् । सू० प्र० १ पाठो ॥ चं० प्र० ।  
ज्यो० । मं० । जं० । [ मन्द्राद् कियत्वाऽवाधया ज्योति-  
ष्का इत्यादि अवाद्वा शब्दे ]  
( १४ ) धातकील्लएदस्य चारानामन्तरं यथा ।  
धायसंक्रमस्य ङं जंते ! दीवस्म दारस्य य दारस्य य एम  
णं केवतिय अवाद्दए अंतरं पषुते । गोयमा । द्म जोषण-  
सतसहस्ताई सचावीमं च जोयणसहस्ताई सच य पण-  
तसै जोयणसते तिषु य कोसे दारस्य य दारस्य य आ-  
वाद्दए अंतरं पषुते ।  
धातकील्लएदस्य भदन्तु । द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्पर-  
मेतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमाधया अन्तरितत्वाद् ( व्या-  
घातेन ) व्यवधानेन प्रकृतं भगवानाह गौतम । द्म जोयणसतसह-  
स्राणि सचविंशतिसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चविंशतानि द्वार-  
स्य परस्परमन्तरमथाधया प्रकृतम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य  
द्वारशास्त्राकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव प्रुथुत्वं सादानि चत्वारि  
योजनानि । ततश्चतुर्षु द्वारशास्त्रेक प्रुथुत्वपरिमाणमीलने  
जातान्यष्टादश योजनानि तान्यन्तरीक्षात्परिष्कारपरिमाणात्  
( ४११०६६ ) शोथन्ते शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदमेक-  
चत्वारिंशत्सहा दश सहस्राणि नव शतानि हितचत्वारिंशदधि-  
कानि ( ४११०६४३ ) एतेषां चतुर्विंशानि द्वे लब्धं यथोक्तं  
द्वाराणां परस्परमन्तरम् । उक्तञ्च "पणीसा सच सया, स-  
पावीसा सहस्र दस लक्ष्वा । धायइसंसे दारं-तरं तु अघरं  
च कोसतियं" जी ३ प्रति० ।  
( १५ ) नन्दनवस्याघरनात्तरमात्सौगण्डिकस्य कार-  
व्याघरनचरमान्तस्यान्तरम् ।  
नंदावषणस्य ङं हेद्विद्वाओ चरमताओ सोमंघियस्य कं-  
रस्य हेद्विद्धं चरिमेते एस शं पंचासं । द्वी जोयणसयाई अ-  
वाद्दए अंतरं पषुते ॥

मन्दनवनस्य मेतौः पञ्चयोजनशतोल्लङ्घितायां प्रथमेभक्त्यायां  
व्यवहितस्याधस्तात्स्वर्गान्तात् सौगन्धिककाण्डस्य रत्न-  
प्रमाणपुष्ट्याः अरकाण्डाभिधानाद्यमकारणस्यावान्तरका-  
ण्डभूतस्याष्टमस्य सौगन्धिकामिधानरत्नप्रमस्य सौग-  
न्धिककाण्डस्याधस्त्यधरमान्तः पञ्चाशीतियोजनशतान्य-  
न्तर्गताभित्य भवति । कथं पञ्च शतानि मेतौः सम्बन्धीनि  
प्रत्येकं सहस्रप्रमाणत्वाद्यावान्तरकाण्डानामष्टमकारणमशीति-  
शतानीति । स० ।

( १६ ) नरकपृष्ठीनां रत्नप्रमाणाङ्कानामन्तरम् ।

इमी से एं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए उवरिद्धातो च-  
रिमंतातो हेड्डिसे चरिमंते एस एं केवतियं अवाधाए अंतरे  
पण्णे ? गोयमा ! असि उत्तरं जोयणसतसहस्रं अवा-  
धाए अंतरे पण्णे । इमी से एं भंते ! रयणपञ्जाए पुद-  
वीए उवरिद्धातो चरिमंतातो खरकंसस हेड्डिसे चरिमंते  
एस एं केवतियं अवाधाए अंतरे पण्णे ? गोयमा ! सो-  
लस जोयणसहस्राई अवाधाए अंतरे पण्णे । इमी-  
से एं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए उवरिद्धातो चरिमंतातो  
रयणस कंसस हेड्डिसे चरिमंते एस एं केवतियं अवा-  
धाए अंतरे पण्णे ? गोयमा ! एकं जोयणसहस्रं अवाधाए  
अंतरे पण्णे ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्य प्रथ-  
मस्य अरकाण्डविभागस्य ( उवरिद्धातो इति ) उपरितना-  
च्चरमान्तात् परतो योऽधस्तनअरमान्तअरमपर्यन्तः ( एस  
गमित्यादि ) एतन्मूने पुंस्यनिर्देशः प्राकृतत्वात् अन्तरं किय-  
धोजनप्रमाणम् अवाधाए अन्तर्गतावातकथाए प्रकृतं भग-  
वानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमेकयोजनसहस्रप्रमाणा-  
मन्तरं प्रकृतम् ।

इमी से एं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए रयणकंसस  
उवरिद्धातो चरिमंतातो वडरसस कंसस उवरिद्धि चरिमंते  
एस एं भंते ! केवतियं अवाधाए अंतरे पण्णे ? गोयमा !  
एकं जोयणसहस्रं अवाधाए अंतरे पण्णे ।

( इमी से गमित्यादि ) अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्याः  
रत्नकाण्डस्य उपरितनाच्चरमान्तात्परतो यो अरकाण्डस्योप-  
रितनअरमान्त एतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमवाधया प्रकृतं  
प्रगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमवाधया अन्तरं प्रकृतं रत्न-  
काण्डाधस्तनअरमान्तस्य अरकाण्डोपरितनअरमान्तस्य च  
परस्परसंज्ञमन्तया अजयथापि तुल्यप्रमाणजावात् ।

इमी से एं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए उवरिद्धातो च-  
रिमंतातो वडरसस कंसस हेड्डिसे चरिमंते एस एं भंते !  
केवतियं अवाधाए अंतरे पण्णे गोयमा ! दो जोयणसह-  
स्राई अवाधाए अंतरे पण्णे एवं जाव रिहसस उवरिद्धि  
पकरस जोयणसहस्राई हेड्डिसे चरिमंते सोलस जोयणस-  
हस्राई ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-  
च्चरमान्तात् अरकाण्डस्य योऽधस्तनअरमान्त एतत् अन्तरं

कियत् अवाधया प्रकृतं प्रगवानाह गौतम ! द्वे योजनसहस्रे  
अवाधया अन्तरं प्रकृतम् । एवं काएने काएने द्वौ द्वौ आहाप-  
को वकथी काएकस्य वाधनस्तने अरमान्ते चिन्त्यमाने योज-  
नसहस्रपरिवृत्तिः कर्त्तव्या यावत् रिहस्य काण्डस्याधस्तने  
अरमान्ते चिन्त्यमाने वोडश योजनसहस्राणि अवाधया प्रकृत-  
मिति वकथ्यम् जी० ३ अति ।

इमी से एं रयणपञ्जाए पुदवीए वडरकंसस उवरि-  
द्धातो चरिमंतातो होडियकवलकंसस हेड्डिसे चरिमंते एस  
एं तिन्नि जोयणसहस्राई अवाधाए अंतरे पण्णे ।

( इमी से गमित्यादि ) अयमिह जाधार्थः रत्नप्रमाणपुष्ट्याः  
प्रथमस्य बोधशिविजागस्य अरकाण्डाभिधानकाण्डस्य अरका-  
ण्डं नाम रत्नकाण्डं द्वितीयं वैश्वर्यकाण्डं मृतीयं होडिताकका-  
ण्डं ततुर्थं तानि च प्रत्येकं साहस्रिकाणीति धयाणं यथाकमन्तरं  
प्रवतीति स० ।

इमी से एं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए उवरिद्धातो च-  
रिमंतातो पंकवहुलसस कंसस उवरिद्धि चरिमंते एस एं  
अवाधाए केवतियं अंतरे पण्णे ? गोयमा ! सोलस जो-  
यणसहस्राई अवाधाए अंतरे पाएणे हेड्डिसे चरिमंते एकं  
जोयणसयसहस्रं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्योपरितना-  
च्चरमान्तात् परतो यः पङ्कवहुलसस्य काण्डस्योपरितनअरमान्तस्तत्  
कियत् किंप्रमाणमवाधया अन्तरं प्रकृतं भगवानाह गौतम !  
बोधश योजनसहस्राणि अवाधया अन्तरं प्रकृतम् । [ इमी से  
गमित्यादि ] अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्ड-  
स्योपरितनात् अरमान्तात् परतो यः पङ्कवहुलस्योपरितनअ-  
रमान्त एतदन्तरं कियत् अवाधया प्रकृतं प्रगवानाह गौतम !  
एकं योजनशतसहस्रमवाधया अन्तरं प्रकृतम् ।

पंकवहुलसस णं कंसस उवरिद्धातो चरिमंतातो हेड्डिसे  
चरिमंते एस एं चोरासीजोयणसयसहस्राई अवाधाए  
अंतरे पण्णे ॥

अेषांसजिनं पङ्कवहुलं कण्ठं द्वितीयं तस्य च बाहस्यं अतुरयी-  
तिः सदस्त्राणीति यथाकस्यार्थ इति स० ।

आयबहुलसस उवरि एकं जोयणसयसहस्रं हेड्डिसे चरि-  
मंते असि उत्तरं जोयणसयसहस्रं । पाणोदपिसस उवरिद्धि  
असि उत्तरं जोयणसयसहस्रं हेड्डिसे चरिमंते दो जोय-  
णसयसहस्राई ।

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-  
च्चरमान्तात् परतोऽयबहुलसस योऽधस्तनअरमान्त एतदन्त-  
रं कियत् अवाधया प्रकृतं प्रगवानाह गौतम ! अशीत्युत्तरं यो-  
जनशतसहस्रं अतोदधेरपरितने अरमान्ते पृष्ठे एतदधे निर्वच-  
नमशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रम् । अधस्तने पृष्ठे इदं निर्वचनं द्वे  
योजनशतसहस्रे अवाधया अन्तरं प्रकृतम् ।

( १७ ) रत्नप्रमादिव्योः अन्तर्गताः ॥

इमी से एं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए घणवातसस उव-  
रिद्धि चरिमंते दो जोयणसयसहस्राई हेड्डिसे चरिमंते अस-  
सैजाई जोयणसयसहस्राई इमी से एं भंते ! रयणपञ्जाए

पुढवीए तणुवातस्स उवरिद्धे चरिमेते असंखेज्जाइं जायण-  
सतसहस्साइं अवाधाए अंतरं हेडिद्धे वि संखेज्जाइं जायण-  
सतसहस्साइं एवं उवांसंतरे वि ।

घनवातस्थोपरितने चरमाने पुष्टे इदमेव निर्बच्चनं घनोदध्य-  
धस्तनचरमान्तस्य घनवातोपरितनचरमान्तस्य च परस्परं सं-  
लग्नत्वात् घनवातस्याधस्तने चरमाने पतत्रिवचनम् । असं-  
ख्येयानि योजनशतसहस्राएयथाधया अन्तरं प्रकृतम् । एवं  
तनुवातस्थोपरितने चरमान्ते अथकाशाग्नरस्यापुपरितने चरमा-  
न्ते इत्यथैव निर्बच्चनं वक्तव्यम् । असंख्येयानि योजनशतसह-  
स्राएयथाधया अन्तरं प्रकृतमिति । सुत्रपाठस्तु प्रत्येकं सर्वत्रा-  
पि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिज्ञावर्धयः सुगमत्वात् ।

सकरपप्पाए णं भंते । पुढवीए उवरिद्धातो चरिमंतातो हेडिद्धे  
चरिमंते एस णं केवतियं अवाधाए अंतरं पप्पत्ते गोयमा ।  
बर्वासुत्तरं जायणसतसहस्रं अवाधाए अन्तरे पप्पत्ते । सकर-  
पप्पाए णं भंते । पुढवीए उवरि घणोदधिस्स हेडिद्धे चरिमंते  
केवतियं अवाहाए अन्तरे पप्पत्ते गोयमा । शत्रुणुत्तरं जायणसत-  
सहस्रं अवाधाए पणवानस्स अमंखेज्जाइं जायणसहस्साइ प-  
प्पत्ताइं एवं जाव उवांसंतरेस वि जाव अहेमत्तमाए । एवरं  
जंमिं ने बाहृद्धं तेष घणोददीं संवंपेयो । बुच्छीए सकरप-  
प्पाए अणुसारेण घणोदधिमहिताणं इमं पमाणं । वाजुयप-  
प्पाए अद्यत्वात्सुत्तरं जायणमतनहस्सं पंकपप्पाए पुढवीए  
चत्तलीसुत्तरं जायणसतसहस्रं धूमपप्पाए पुढवीए अह-  
तीसुत्तरं जायणसतसहस्रं तमाए पुढवए छत्तीसुत्तरं  
जायणसतसहस्रं अथसत्तमाए पुढवीए अद्राविसुत्तरं जाय-  
णसतसहस्रं जाव अहसत्तमाए । एम णं भंते । पुढवीए  
उवरिद्धातो चरिमंतातो उवांसंतरेस हेडिद्धे चरिमंते कव-  
नित्यं अवाधाए अंतरं पणत्ते गोयमा । असंखेज्जाइं जाय-  
णसतसहस्साइ अवाधाए अंते पणत्ते ॥

द्वितीयस्या जदन्त । अस्याः पृथिव्या उपरितनाचरमान्तात्  
परतो योऽप्यस्तनचरमान्त पतत् किंप्रमाणमवाधया अन्तरं  
प्रकृतं भगवानाह गौतम । द्वाविंशत्तुत्तरं द्वाविंशत्सहस्राधिकं  
योजनशतसहस्रम् अवाधया अन्तरं प्रकृतं घनोदधेपरितने  
चरमाने पुष्टे पतद्वेव निर्बच्चनं द्वाविंशत्तुत्तरं योजनशतसहस्रम्  
अधस्तने चरमान्ते पुष्टे इदं निर्बच्चनं द्विपञ्चाशत्तुत्तरं योजन-  
शतसहस्रम् । पतद्वेव घनवातस्थोपरितनचरमान्तपृच्छायामपि  
घनवातस्थाधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवातायकाशाग्नरयोः  
परितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा शम्भुप्रार्थयां तथा वक्त-  
व्यमसंख्येयानि योजनशतसहस्राएयथाधया अन्तरं प्रकृतमिति  
वक्तव्यमिति जावः । ( तच्चाएण जंम इत्यादि ) लुनीयस्या जदन्त !  
पृथिव्या उपरितनाचरमान्तात् अधस्तनचरमान्त पतदन्तरे  
कियत् अवाधया प्रकृतं त्रयवानाह । अष्टाविंशत्तुत्तरं अष्टा-  
विंशत्सहस्राधिकं योजनशतसहस्रमवाधया अन्तरं प्रकृतम् ।  
एतदेव घनोदधेपरितनचरमान्तपृच्छायामपि निर्बच्चनम् अथ-  
स्तनचरमान्तपृच्छायामष्टाविंशत्तुत्तरं योजनशतसहस्रम्-  
अवाधया अन्तरं प्रकृतमिति वक्तव्यम् । एतदेव घनवातस्थोपरित-

ने चरमान्तपृच्छायामपि अधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवाताय-  
काशाग्नरयोःपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्र-  
ज्ञायां तथा वक्तव्यम् । एवं पृथ्वीपञ्चमपृष्ठसमपृथिवीविष-  
यसुत्राण्यपि आयनीयानि जी० ३ प्रति०

छड ए पुढव ए बहुम .जेदेसभायाओ छडइस्स पणोदधि-  
स्स हेडिद्धे चरयं . एस णं एणयासि ॥ ततोयणसहस्साइं  
अवाहाए अंतरं पणत्ते ॥

अथ प्रावाधः षट्पृथिवी हि बाह्व्यतो योजनानां षड् षो-  
ढा सहस्राण भवति । घनोदधयस्तु षट्पि सप्तपि प्रत्येकं  
विंशतिसहस्राणि पृथुस्तथाप्येतस्य प्रम्यस्य मतेन षट्प्राथमसावे-  
कविंशतिः संभाव्यते तदेवं षट्पृथिवीबाह्व्यतोऽस्य षट्प्राथम्यं  
घनोदधिप्रमाणं कैकविंशतिरित्येवमकोनाकीर्तिर्नैवति । प्रथा-  
न्तमतेन तु सर्वघनोदधीनां विंशतियोजनसहस्रबाह्व्यत्वा-  
त्पञ्चमीमाश्रित्येदं सूत्रमचल्येवं यतस्तद्बाह्व्यमष्टादशोरत्नं षड्-  
सुक यत आह । "पदमा स्त्रीसहस्सा, १ वर्वासा २ अर्वासा  
३ वीसा य ४ । अहार ५ सोत्र ६ अहु य, ७ सहस्सहस्रकोवि-  
कुजति" ॥ १ ॥ अथवा षट्प्राथः सहस्राधिकोऽपि मच्चभागो  
विवर्कित एवमथसुत्रकत्याद्बहुशब्दस्येति ॥ १८ ॥

[ १८ ] रत्नप्रमादीनां परस्परमन्तरम् ।

इमी मे णं जंते । रयणपप्पाए पुढवीए सकरपप्पाए य  
पुढवीए केवइयं अवाहाए अंतरं पप्पत्ते । गोयमा । असंखे-  
ज्जाइं जाअणसहस्साइं अवाहाए अन्तरे पप्पत्ते । सकर-  
पप्पाए णं भंते । पुढवीए बाअपपप्पाए य पुढवीए केव-  
इय एवं चव एवं जाव तमाए अहेसत्तमाए य । अहेसत्त-  
माए णं भंते । पुढवीए अलोगस्स य केवइयं अवाहाए  
अन्तरे पप्पत्ते । गोयमा । असंखेज्जाइं जाअणसहस्साइं  
अवाहाः । अंतरं पप्पत्त । इमी मे णं जंते । रयणपप्पाए  
पुढवीए जाइंनियस्य केवइयं पुच्छा, गोयमा । सत्तणउजो-  
अणसए अवाहाए अन्तरे पप्पत्ते ॥

" इमी से णमित्यादि " ( अवाहे अन्तरेति ) बाधा परस्परं  
संक्षेपनः पीडनं न बाधा अवाधा तथा अवाधया, अवाधया  
यदन्तरे व्ययधानमित्यर्थः । इहान्तरशब्दो मध्यविंशतिबाधिव्-  
धेयु वचमानो हस्तनसहस्रव्ययच्छेदेन व्ययधानार्थपरिग्रहार्थ-  
मवाधाप्रहणम् ( असंखेज्जाइं जायणसहस्साइं ति ) इह योजनं  
प्रायः प्रमाणानुलनित्यर्थं प्राहं ॥ नगपुढवीयमाणां मियासु-  
यमाणुश्लेणं तु ॥ इत्यत्र नगादिप्रहस्योपलक्षणत्वाद्-  
न्यथा आदित्यप्रकाशादेरपि प्रमाणयोजनाप्रमेयता स्यात्तथा  
बाधा लोकप्रामिषु तत्रकाशाप्रतिः प्रामोत्यामानुलनित्यादित्य-  
तत्त्वेनाप्येवहारोक्तया रविप्रकाशाद्योऽप्युपलक्षणत्वाद्-  
स्तस्य चातिलग्नत्वेन प्रमाणयोजनाप्रमितलेखाणामप्राप्तिरिति ।  
यत्क्षेपव्याभारायाः पृथिव्या लोकात्तस्य चान्तरं तदुच्छ्रया-  
दुलनित्यप्यत्रयोजनाप्रमेयमित्यनुमीयते यतस्तस्य योजनस्थोप-  
रितनकोशस्य चत्वारं सिद्धावाहादना धनुस्त्रिभागायुक्तमथयत्कि-  
शदधिकधनुस्तत्रयमानाऽभिहिता भायोच्छ्रययोजनाअथयत्-  
त एवं युज्यत इति उक्तं च " इतिपप्पमाए, उवरं अलु जो-  
अणस्स जोकोसो । कोसस्स य कुम्भाए, सिद्धायोनाहाया  
अभियंस्स " म० १४ श० ७ उ० ।

[ १६ ] निषचक्रुदस्य उपरितलापिच्छुबरतलास्वम-  
चरस्थितस्यस्वाम्तरम् ।

निसदकूदस्य णं उवरीद्धाओ सिहरतलाओ णिसदसस  
वासहरपव्ययसस समभरणिगसस एस णं नवजोयणसयाई  
अवाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं नीलवंतकूदसस वि ॥

( निसदकूदसस स्वामित्यादि ) इहायमभावः निषचक्रुदं पञ्च-  
शतं पिच्छुत्तं निषचक्रुदं चतुःशतं पिच्छुत्तं इति यथोक्तमन्तरम्भव-  
तीति । स० ।

निषचपर्वतस्य रत्नमभाया बहुमप्यदेशभागो यथा ।

निमदस्य णं वासहरपव्ययसस उवरीद्धाओ सिहरतलाओ  
इमी से णं रषणप्यजाए पुहवीए पदमसस कंदसस बहुम-  
जदसभाए एस णं नवजोयणसयाई अवाहाए अंतरे प-  
ष्ठाचे एवं नीलवंतसस वि ।

( टीका नास्तीति न गृहीता ) स० १६२ पत्र.

[ २० ] पुष्करचरद्वाराणामन्तरम् ।

पुष्करचरस्य णं जंतैः दीवस्य दारस्य य दारस्य य एस  
ए णं केजतिथं अवाहाए अंतरे पष्ठाचे ? गोयमा । “अमया-  
लसयसदससा, दार्वीसं सखु अवे सदससाई । अगुणुचाराई  
चउरा, दारतरं पुष्करचरसस ” ॥

प्रभ्रमूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम । अष्टव्यारिंशत् योजन-  
शतसहस्राणि द्वाविंशतिसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि  
एकोनसमतिद्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरपरिमाणम् ।  
तथाहि चतुर्कोमपि द्वागणामिच्छुत्तं पुष्पवमीलने अष्टादश यो-  
जनानि तानि पुष्करवग्नीपरिरयपरिमाणान्त् ( १६२६६६६६ )  
इत्येवंपात् शोष्यन्ते शोषितेषु च तेषु जातमिवमेका योजन-  
कोटी द्विनवतिशतसहस्राणि एकोनवतिसहस्राणि अष्टौ  
शतानि पदसमयधिकानि ( १६२६६६६६६ ) तेषां चतुर्मिमांशे  
हृते लघुं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं ( ४८२६४६६ )  
मिति जौ० ३ प्रति ।

[ २१ ] मन्दरस्य गोस्तुमारीनामन्तरम् ।

मंदरस्य णं पव्ययसस पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-  
पृजसस अवासपव्ययसस पुरत्थिमिद्धे चरमंते एस णं  
अद्दासाई जोयणसदससाई अवाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं  
चउमु वि दिसामु नेयम्बं स० १४६ पत्र ।

मेरोः पूर्वात्तात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चव्यारिंशद्योजनसहस्रमा-  
नन्वात् जम्बूद्वीपान्ताच्च द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रेषु गोस्तु-  
मस्य व्यवस्थितत्वात्तस्य च सहस्रविष्कम्भत्वाद्यथोक्तः सूत्रा-  
र्थो भवतीति । अनेनैव क्रमेण दक्षिणादिदिव्यवर्षितान् दक्षा-  
वभासशब्दकसीमाख्यात् बेक्ष्मन्धराणागजनिवासपर्वताना-  
चित्य भाव्यतत एवाह ‘पर्वं चउमु षि दिसामु नेयम्बमिति’ स० ।  
जंबूद्वीपस्य णं दीवस्य पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-  
पृजसस णं अवासपव्ययसस पश्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं  
बायालीसं जोयणसदससाई अवाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं  
चउदिसि षि दग्भाने संखोदयसीमे य ।

( पुरत्थिमिद्धाओत्ति ) जगतीबाह्यपरिधेरपश्चत्थ गोस्तुम-  
स्यावासपर्वतस्य बेक्ष्मन्धराणागजसंस्थितिः पश्चत्थसीमा-

स्तम्भरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति ( एवमेति ) एत-  
दन्तरं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि मेक्षममन्तरपश्चत्थे विशे-  
षोऽप्यभिधीयते इत्यत आह ( अवाहाएत्ति ) व्यञ्जनापेक्षया  
यदन्तरं तदित्यर्थः स० १०६ पत्र ।

मंदरस्य णं पव्ययसस पश्चत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-  
पृजसस णं अवासपव्ययसस पश्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं  
सचाणउई जोयणसदससाई अवाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं  
चउदिसि षि ।

भावाथोऽयं मेरोः पश्चिमान्तात् जम्बूद्वीपस्यान्तः पञ्चपञ्चा-  
शत् सहस्राणि ततो द्विचत्वारिंशतो गोस्तुम इति यथोक्तम-  
वान्तरमिति स० १५२ पत्र ।

मंदरस्य णं पव्ययसस बहुमप्यदेशभागो गोपृजसस  
आवासपव्ययसस पश्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं बाह्यउई जो-  
यणसदससाई अवाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं चउगह वि आ-  
वासपव्ययणं ॥

भावाथो मेक्षमप्यभागान् जम्बूद्वीपस्य पञ्चारात् सहस्राणि  
ततो द्विचत्वारिंशत् सहस्राण्यनिकम्य गोस्तुमपर्वत इति  
सूचोक्तमन्तरम्भवतीति । एवं शेषाणामपि स० १४५ पत्र ।

[ २२ ] मन्दराज्ञैतमस्यान्तरं यथा ।

मंदरस्य णं पव्ययसस पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-  
यमद्वीवसस पुरत्थिमिद्धे चरमंते एस णं सचसद्विंजोयणस-  
दससाई अवाहाए अंतरे पष्ठाचे ।

मेरोः पूर्वात्ताजम्बूद्वीपोऽपरस्यां दिशि जगतीबाह्यान्तपर्व-  
तानः पञ्चपञ्चाशद्योजनसहस्राणि तावद्विंशतः सतः परं चाद्दश-  
योजनसहस्राण्यतिक्रम्य लवणसमूहस्य गौतमद्वीपानिघा-  
नो टीपोऽस्ति तमपिच्छुत्तं सूत्रार्थः सत्यवति । पञ्चपञ्चाशतां  
द्वादशानां च सतपश्चिन्मवात् । यद्यपि सूत्रमुत्तकेषु गौतम-  
शब्दो न दृश्यते तथाप्यसौ दृश्यः जीविनिगमादिषु लघुणस-  
मुक्ते गौतमचन्द्ररिद्वीपान् विना द्विपान्तरस्यास्यमाणत्वादि-  
ति । स० १२४ पत्र ।

मंदरस्य पव्ययसस पश्चत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गोयमदी-  
वसस पश्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं एगुणसचरिं जोय-  
णसदससाई अवाहाए अंतरे पष्ठाचे ॥

लवणसमुद्रपश्चिमार्थं दिशि द्वारशयोजनसहस्राण्यथगण-  
द्वादशसहस्रमानः सुस्थिताभियानस्य लवणसमुद्रापिपतेर्भवने-  
नालंकृतो गौतमद्वीपः नाम द्वीपोऽस्ति तस्य च पश्चिमान्तो मेरोः  
पश्चिमान्तादेकोनसतिसहस्राणि भवन्ति पञ्चव्यारिंशतो  
जम्बूद्वीपसम्बन्धिनां द्वारशानामन्तरसम्बन्धिनां द्वारशानामेवं  
द्वीपविष्कम्भसम्बन्धिनां च मीलनादिति ।

( ३३ ) मन्दरस्य दक्षिणस्यस्यान्तरम् ।

मंदरस्य णं पव्ययसस दक्षिणदिग्दिग्भाओ चरमंताओ दग्भा-  
ससस अवासपव्ययसस उचरिद्धे चरमंते एस णं सत्तासाई  
जोयणसदससाई अवाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं मंदरस्य पश्च-  
त्थिमिद्धाओ चरमंताओ संखसस वा पुरत्थिमिद्धे चरमंते एवं  
चेव मंदरस्य उचरिद्धाओ चरमंताओ दग्भाससस अवा-

सपन्वयस्य दाहिणिक्षेत्रे चरंते एष णं सत्तासीई ज्ञोयण-  
सहस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते म० १६० पत्र. ।

महाहिमवतोऽन्तरं यथा ॥

महाहिमवंतस्स वासहरपन्वयस्य समपरिणिते एष णं  
सचजोयणसयाई अवाहाए अंतरे पाणत्ते एवं रूपि-  
कुरुस्स वि ॥

प्राचायोऽयं हिमवान् योजनशतद्वयोच्चित्रस्तकटं च पन्व-  
वानोच्चित्रमिति सुत्रोक्तमन्तरम्भवतीति स० १५४ पत्र. ।

महाहिमवंतकदस्स णं उव्वरिंमंताओ सोमंणियस्स कंढ-  
स्स हेट्टिक्खे चरंते एष णं सत्तासीईजोयणसयाई अवा-  
हाए अंतरे पणत्ते एवं रूपिकुरुस्स वि ।

महाहिमवति द्वितीयवर्षधरपर्वते अष्टौ सिक्कायतनकट्टमहा-  
हिमवत्कटादीनि कूटानि अर्थात् तानि पञ्चशततोच्चितानि तत्र  
महाहिमवत्कट्टस्य पञ्च शतानि षे शते महाहिमवत्तृथरोच्चि-  
रस्य षष्ठांशितिस्रशतानि प्रत्येकं सदभ्रमानानामष्टानां सौमन्धिक-  
ककारणवासानानां रत्नप्रभाकरकारणान्तरकारणानामित्येवं  
श्रीलिते सप्तशोतिस्रशतानि स्रशतानि । ( एवं रूपिकुरुस्सवित्ति )  
रुक्मिणि पञ्चमवर्षधरे यद् द्वितीयं रुक्मिकूटमिधानं कूटं तस्या-  
प्यन्तरं महाहिमवत्कट्टस्यैव वाच्यं समानप्रमाणत्वाद् अयो-  
रपीति स० १३७ पत्र. ।

महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्यान्तरं यथा ।

महाहिमवंतस्स णं वाहरमपन्वयस्य ष्वरिंशत्ताओ चरंमं-  
ताओ सोमंणियस्स कंढस्स हेट्टिक्खे चरंते एष णं वासीई  
जोयणसयाई अवाहाए अंतरे पाणत्ते ।

महाहिमवतो द्वितीयवर्षधरपर्वतस्य योजनशतद्वयोच्चित्रस्य  
( ष्वरिंशत्ताओषि ) उपरितनाम्बरमानात् सौमन्धिककारणस्या-  
वतनम्बरमानो अर्थात् योजनशतानि कथं रत्नप्रज्ञापुष्टिव्यां  
हि त्रीणि कारणानि खरकारणम्पङ्ककारणम्बहुलकारणानि खर-  
कारणं पङ्ककारणम्बहुलकारणं चेति । तत्र प्रथमं कारणं  
पौनःशविषं तद्यथा रत्नकारणं १ यज्ञकारणम् २ एवं विद्यं ३  
शोहिताक्ष ४ मसारगुह्य ५ हंसगर्भ ६ पुसक ७ सौमन्धिक ८  
ज्योतिरस्ता ९ ध्वजा १० उज्जयपुर ११ रजत १२ जातरूप १३  
पद्म १४ रुक्मिणी १५ रिष्टकारणं चेति १६ एतानि च प्रत्येकं सहस्र  
प्रमाणानि ततश्च सौमन्धिककारणस्याष्टमवशात्श्रीतिशतानि द्वे  
च शते महाहिमवदुच्यते इत्येवं अर्थात्तिशतानीति एवं रुक्मि-  
णोऽपि पञ्चमवर्षधरस्य वाच्यं महाहिमवत्समानोच्चयत्वा-  
त्सर्वेति स० १६९ पत्र. ।

( ७४ ) लवणसमुद्रकारणान्तरं यथा ।

अवणत्स्य णं समुद्रस्स पुरात्विमिन्नाओ चरंमंताओ पव-  
त्तियमिक्खे चरंते एष णं पंचजोयणसयसहस्साई अवा-  
हाए अंतरे पणत्ते ॥

तत्र जम्बूद्वीपस्य लङ्का चत्वारि च लवणस्येति पञ्च । स०  
१६४ पत्र. ।

( ७५ ) लवणसमुद्रकारणान्तरं यथा ।

अवणत्स्य णं समुद्रस्स दारस्य य दारस्य य केवड्यं अवा-  
हाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! तिसि ज्ञोयणसयसहस्साई

पंचाणउडसहस्साई दुसि य असीए जोयणसए कोत्तं च  
दारंतरे अवेणे जाव अवाहाए अंतरे पणत्ते ॥

अवणस्य भद्रत् । समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य [ एषणमिति ] एत-  
त् अन्तरं कियस्या अवाधया अन्तरासत्त्वाद् व्याघातरूपया प्रकृतं  
प्रजावाहाह गोमत् । अाणि योजनशतसहस्राणि पञ्चमवति-  
सहस्राणि अशीतो द्वे योजनशते कोशाब्धौ द्वारस्य द्वारस्यावा-  
धया अन्तरं प्रकृतम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य पृथुत्वं अवा-  
रि योजनानि एकैकस्मिन् द्वारे एकैव द्वारशाखा कोशावाहल्याद्  
द्वारे च द्वे द्वे शाखे ततः एकैस्मिन् द्वारे सामस्येन विन्त्य-  
माने सार्द्धे योजनचतुष्टयप्रमाणं प्राप्यते चतुर्णामपि च द्वारणा-  
मेकत्र पृथुत्वमीक्षते जानान्यद्यद्दश योजनानि तानि लवणसमु-  
द्रपरिरयपरिमाणत् पञ्चदशशतसहस्राणि पक्काशीतिः  
सहस्राणि एकाचत्वारिंशद्योजनशतमित्येवं परिमाणत्पत्नीय  
च यच्छेपं तस्य चतुर्भिर्भोगे हते यदागच्छति सत् द्वारणां पर-  
स्परमन्तरपरिमाणं तच्च यद्योक्तमेव । उक्तं च "अस्यां वाणि-  
कसया, पणनउडसहस्सतिनिष्कत्वा य । कांस्यं य अन्तरं सा-  
गरस्स दाराण विन्नेयं" जी० ३ प्रति ।

[ १६ ] वरुचामुद्धान्दीनामश्चरन्तनाम्बरमानाद्गुल्-  
प्रज्ञाया अश्चरन्तनाम्बरमानः ।

वत्यामुद्दस्स णं पायालस्स हिट्टिक्खाओ चरंमंताओ  
इमीसे रयणत्पजाए पुदवीए हेट्टिक्खे चरंते एष णं  
प्राणासि जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं  
केउस्स वि ज्यस्स ति ईपरस्स वि ।

तत्र [ बल्लयामुद्दस्सति ] वरुचामुद्धान्दीनामश्चरन्तना-  
स्थितस्य [ पायालस्सति ] महापातालकक्षस्थयाश्चरन्तनाम्बरमा-  
न्ताद्गुल्प्रज्ञापुष्पौचरन्तनाम्बरमानं एकांशशुभ्यां सहस्रेषु जवति । कथं  
रत्नप्रज्ञा हि अशीतिसहस्राधिकं योजनानां लङ्का बादल्येना ज-  
वति तस्याब्धेकं समुद्रवगाहसहस्रं परिहृत्याधो बल्लप्रमाणा-  
वगाहो बल्लयामुष्पातासकलशो भवति ततस्तरुमान्तात्  
पृथिवीचरमानो यथोक्तातरमेव जवति । एवमन्येऽपि प्रया  
वाच्या इति स० १३६ पत्र. ।

[ १७ ] विमानकट्टपातामन्तरम् ।

जोईमियस्स णं जंते ! सोऽम्पीमाणाण य कप्पाणं  
केवड्यं पुच्छा ! गोयमा ! असंखेज्जाई जोअणसहस्साई  
जाव अंतरे पाणत्ते मोहम्मानीणाणं भंते ! सणकुमार-  
माहिंदाण य केवड्यं एवं चेव सणकुमारमाहिंदाणं भंते !  
बंधोणस्स कप्पस्स केवड्यं एवं चेव बंधोणस्स णं जंते !  
लंतगस्स य कप्पस्स केवड्यं एवं चेव लंतगस्स णं जंते !  
महासुकस्स य कप्पस्स केवड्यं एवं चेव महासुकस्स य  
कप्पस्स सहस्सारस्स य एवं सहस्सारस्स आणयपाणयक-  
प्पाणं एवं आणयपाणयाणं आरणच्चुयाणं कप्पाणं एवं  
आरणच्चुयाणं गेविज्जगविमाणाय य एवं गेविज्जगविमा-  
णाणं अणुत्तरविमाणाय य एवं अणुत्तरविमाणाय जंते !  
ईसिण्णमारए पुदवीए केवड्यं पुच्छा ! गोयमा ! दुवालस  
जोयणं अवाहाए अंतरे पणत्ते ज० १४ श० ८ व० ।

[ टीका सुगमत्वात् शूरीता ]

[विश्ववित्तव्यवहारपरित्यागे स्तिति पुनस्तत्रायाप्राप्तित्विरहे ब्राह्मण-पूर्वद्विष्याणामन्तरम् आयुषुषी शब्दे ]

[ २८ ] आहारमाभित्य जीवानामन्तरम् ।

इत्तरमाह आहारगसस एव जैते । केवतियं कालं अंतरं होइ गोयमा । जहएणें एकं समयं उकोसेणं दो समयया । केव-  
त्तिआहारगसस णं अंतरं अजहएणमल्लुकांमेणं तिरिणं स-  
मया उउमत्यअणाहारगसस अंतरं जहएणें सुहुगभव-  
गदृणें दुममठणें उकोसेणं अमंसेवजं काळं जाव अंगुल-  
सन अमंसेवज्जतिभागं । भिच्छकेवलिअणाहारगसस सावि-  
यसस अपपजजवतियसस एण्ठिय अंतरं सजोगिजवचकेव-  
लिअणाहारगसस जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं वि अंगो-  
मुहुचं अ नोगिजवचकेवलिअणाहारगसस नरिय अंतरं ।।  
प्रअमसुं सुगमं भगवानाह गौतम । जअभ्येनाप्यनत्तुहुचं मुकपेणोप्यन-  
त्तुहुचं सयुक्ताप्रतिपत्तेरनन्तरमेवान्तमुहुचं न शैलेशं प्रतिपत्ति-  
भावात् नवरं जअन्यपदात्तुहुचपदं विशेषाधिकमवसातन्म्य-  
न्यधोयपदोपयासायांगत्तु अयगिजवचकेवल्यनाहारकसु-  
त्रे नास्त्यन्तरमगोम्यवस्थायां सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् । एवं  
सिच्छक्यापि साधपयसितस्थानाहारकस्यान्तराज्ञायां भाव-  
नीयं जी० ३ प्रति० ॥

[ २६ ] इण्डियमाभित्यान्तरम् ।

एगिदियसस एं भंते । एगिदियसस अंतरं कालतो केव चिरं  
होति गोयमा । जहएणें अंतोमुहुचं एकोसेणं दो सागरो-  
वमसहसाइं संसेज्जावसमभहियाइं । वेइदियसस एं भंते ।  
अंतरं कालतो केव चिरं होइ गोयमा । जहएणें अंतो-  
मुहुचं उकोसेणं वणफतिकाळो एवं तंइदियसस वि चउ-  
रिदियसस वि योरइसस वि पंविदियतितिरिक्त्तजोणियसस  
वि मणुसस वि देवसस वि सच्चेसिं अंतरं भाणियच्चं ॥

अन्तरचित्तायामेकेन्द्रियस्य अजन्ममन्तुहुचं मुकपेणोप्यनत्तुहुचं  
सागरोवमसहसे संख्येयवर्षां ज्यधिके द्वित्रिचतुरिन्द्रियनैर्यकित-  
रिष्यपञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां अजन्म्यतः प्रत्येकमन्तुहुचं मुकपेणोप्यन-  
तो वनस्पतिकालः [सर्वं ० जी० ८ प्रति०] । एगिदियसस एं जंते । अंतरं  
कालतो केव चिरं होइ । इति प्रअमसुं सुगमं भगवानाह । गौतम ।  
जअभ्येनाप्यनत्तुहुचं नरकात्तुहुचं नरकात्तुहुचं नरकात्तुहुचं नरकात्तुहुचं  
रिष्याधोय पकेन्द्रियसंवेगोपमानस्य वेदित्तम्यत्तुहुचं । उक्त्तपेणो इ

सागरोपमसहसे संख्येयवर्षाभ्यधिके यावन्ति हि त्रसकायस्य  
कायस्थितिकालस्तावदेवैकेन्द्रियस्यान्तरं त्रसकायस्थितिका-  
लञ्च यथोक्तप्रमाण एव तथा बह्वयति । " तसकाए एं भंते ।  
तसकायसि कालतो केव चिरं होइ गोयमा । जहसेणं अंतोमुहु-  
चं उकोसेणं दो सागरोवमसहसाइं संसेज्जावसा इण्डियाइयाइं  
द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियस्येव अजन्म्यतोऽन्तमुहुचं तच्च पूर्वप्रकारेण  
भावनीयमुक्तपेतः सवेप्रति वनस्पतिकालः इन्द्रियविरिष्यः  
उक्तस्य वनस्पत्यस्य यथोक्तप्रमाणमन्तरमपि काळमवस्थानात्  
यथैवामृति पञ्चवृत्त्यायन्तरविवयापर्यायचक्रानुक्तानि तथैव  
पर्यायविवयापि अपर्यायविवयाप्यपि भावनीयानि तानि विचम ।  
" एगिदियसस एं " इति एवं पञ्च पर्यायविवयाप्यपि वक्तव्या-  
नि । जी० ५ प्रति० । [ इत्यादिमधिकृत्यान्तरम् उचयया शब्दे ]

[ ३० ] कयायमाभित्यान्तरम् ।

कोहकसाइं-माएकसाइं-भायाकसाइं एं भंते । अंतरं ।  
गोयमा । जहसेणें एकं समयं उकोसेणं अंतोमुहुचं लोप-  
कसायियसस अंतरं जहएणें अंतोमुहुचं उकोसेणं वि  
अंतोमुहुचं कसाइं तरेव जहां हेइडा ।  
कोपकसायिणेऽन्तरं जअभ्येनेकं समयं तज्जुपमसमयानन्तरं  
मरणे दूयः कस्यापि तज्जुव्यात् उक्त्तपेणोप्यनत्तुहुचं समयं मानक-  
बायिमायाकसायिसुत्रं अपि वक्तव्ये " लोपकसायियसस अंतरं  
जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं वि अंतोमुहुचं अकसाइं तरेव  
जहां हेइडा । । सचं जी० ६ प्रति० ।

कायमाभित्यान्तरम् ।

पुडविकाइवसस एं जंते । केवतियं कालं अंतरं होति  
गोयमा । जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं वणस्सतिकालो  
एवं ब्राह्मतेउवाउकाइयतसकाइयाणं वि वणस्सत्तिकापियसस  
पुडविकालो एवं पजजराणं वि वणस्सतिकालो । वणस्सत्तिका-  
काइयाणं पुडविकालो पजजराणं वि एवं चेव वणस्सति-  
काळो पजजराणं वणस्सतीणं पुडविकालो ।

प्रअमसुं सुगमं भगवानाह गौतम । जअभ्येनाप्यनत्तुहुचं पृथिवी-  
कायात्तुहुचं प्रायान्तमुहुचं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायिकालेन  
कस्याप्युपदात्त उक्त्तपेणोऽन्तं कालं स खान्तकालः प्रागु-  
क्तवचको वनस्पतिकालः प्रतिपत्तयः पृथिवीकायात्तुहुचं ता-  
वन्तं काळं वनस्पतिव्यवस्थानसमज्जात् पथमनेजावोपुत्रस-  
स्यापयपि प्रावर्णयानि वनस्पतिवृत्ते उक्त्तपेणोऽन्तं वचं काळं  
"असंखेज्जाओ उस्तपिणीओ काळतो केसतो असंखेज्जा लोगा"  
इति वक्तव्यं वनस्पतिकालात्तुहुचं पृथिव्यादिष्ववस्थानात् ते  
च संख्येयमुक्तपेणोऽप्येतावत्कालमावात् जी० ६ प्रति० ।

[ ३१ ] गतिमाभित्यान्तरं यथा ।

नेरइपसस अंतरं जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं वणस्स-  
तिकालो एवं सव्वाणं तिरिक्त्तजोणियवज्जाणं तिरिक्त्त-  
जोणियाणं जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं सागरोवमसत-  
पुहुचं सातिरेणं ॥  
नेरियकस्य अजन्ममन्तुहुचं तच्च नरकात्तुहुचस्य तिये-  
मनुष्यमनं एवाह्मभाष्यवसायन मरणतः परिभावनीयं साह-  
स्यकर्मफलमेतदिति तात्पर्याधीः । उक्त्तपेणोऽन्तं कालं स

मानस्यः कालो बलरूपतिकालो नरकाद्भुतुष्टय परम्पयेणा-  
न्त्यं काशं बलरूपतिव्यवस्थानात् तिर्यग्यानिक्त्वे जघन्यतोऽ-  
न्तमुहुत्वं तच्च तिर्यग्यानिक्त्वाद्भुतुष्ट्यान्तमुहुत्वं स्थित्वा  
युयः तिर्यग्यानिक्त्वेनोत्पद्यमानस्य वेदित्यभ्युत्कर्षणः सागरो-  
पमग्नपृथक्त्वं सातिरेकं तिर्यग्यानिक्त्वं मनुष्यस्य मातृपु-  
त्र्ये देवस्यैव जघन्यतोऽन्तमुहुत्वं मुक्तयेतो बलरूपतिकालः  
जी० ७ प्रति० ।

त्रैयिकस्य ।

नेरदयमपुष्टदेवाणं य अंतरं जहाएणेणं अंतोमुहुत्वं उ-  
क्तेमिणं सागरोवमसयपुहुत्वं सादरेणं ॥

त्रैयिकस्य अन्तः । अन्तरं त्रैयिकत्वात्परिच्छेदस्य भूय आ-  
नैयिकत्वप्राप्तेरपान्तराशं काशतः कश्चिद्वरं भवति कियन्तं काशं  
यावत्प्रवृत्तौत्थयेत् । भगवानाह जघन्यनान्तमुहुत्वं कथामिति केव  
उच्यते नरकाद्भुतुष्टय मनुष्यभवे तिर्यगेत्येव वा अन्तमुहुत्वं स्थि-  
त्वा भूयो नरकेषुपरात्वात् । तच्च मनुष्यभवे भावना इयं कश्चि-  
न्नरकाद्भुतुष्टय गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभिः पर्याभिः पर्याप्तो  
विशिष्टसंज्ञानोपेतो वैकृत्यप्रधिघान्मन् राज्याद्याकाङ्क्षः । परचक्रा-  
पृथक्त्वमाकर्षणं स्वशाक्तिप्राप्त्यन्तमुहुत्वं सर्वं विकृत्या सं-  
प्राप्तवित्वा महारोऽन्त्यानोपगतो गर्भस्थ एव काशं करन्ति  
कृत्वा च कालं ज्योषो नरकेषुपरात् तत एवमन्तमुहुत्वं तिर्यग्भवे  
नरकाद्भुतुष्टयो गर्भजमुक्तातिक्त्वात्तुल्यत्वान्त्वनात्पन्महा-  
रोऽन्त्यानोपगतोऽन्तमुहुत्वं जीवित्वा भूयो नरके जायते इति  
उक्तवतोऽन्तं काशः परम्परायाः च बलरूपतिवृत्त्यादाव्यसत-  
व्यवस्थाचाह बलरूपतिकालः स च प्रायोक्तः तिर्यग्यानिक्त्वि-  
यं प्रश्नस्यं पृथेयत् निवेचनं जघन्यनान्तमुहुत्वं तच्च कस्यापि  
तिर्यक्त्वेन मुक्त्या मनुष्यभवेऽन्तमुहुत्वं स्थित्वा युयः तिर्यक्त्वे-  
नात्पद्यमानस्य प्रुष्टव्यम् उक्तयेतः सातिरेकं सागरोपमग्नपृथ-  
क्त्वं तच्च त्रैत्येन देवनारकःमनुष्यजघनमणेनावसातव्यं मनु-  
ष्यविपर्ययपि प्रश्नस्यं तथैव निवेचनं जघन्यनान्तमुहुत्वं तच्च  
मनुष्यभवाद्भुतुष्टय तिर्यग्भवेऽन्तमुहुत्वं स्थित्वा युयो मनुष्यत्वेनो  
त्पद्यमानस्यावसानव्यम् उक्तयेतः अन्तं काशं स चान्तकालः  
प्रायुक्तो बलरूपतिकालः । देवविषयमपि प्रश्नस्यं सुगमं निवेचनं  
जघन्यनान्तमुहुत्वं कश्चित् देवजगदाद्भुतुष्ट्या गर्भजमनुष्यत्वे-  
नोत्पद्य सर्वाभिः पर्याभिः पर्याप्तो विशिष्टसंज्ञानोपेतस्तथा-  
विशेष्य अमनोपासकस्य वा धर्मव्यानोपगतो गर्भस्थ एव  
काशं करन्ति कालं च इत्या देवेषुपरात् ततः एवमन्तमुहुत्वं  
मुक्तयेतोऽन्तं कालं च चान्तः काशो ययान्कस्वकयो बलरूप-  
तिकालः प्रतिपत्स्यते ॥ ७ ४ प्रति० । ( गुणव्यानकायाभि-  
त्याम्तरं गुणज्ञाप्य अन्ते )

चरिमाणं भेते । चरिमप्लि कालतो केव चिरं होति  
गोयमा ! चरिमं अणादिप सवज्जवसिए अचरिये दुविहे  
अणादिप वा अपज्जवसिए सातीप वा अपज्जवसिए  
दोएहं पि नत्थि अंतरं ॥

प्रश्नस्यं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनादिकस्य सपर्यवसितस्य  
नास्यन्तरं चरन्त्यापगमे सति पुनश्चरन्त्यायोगान् अचरन्-  
स्यापि अनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा नास्यन्तरम्  
विद्यमानचरन्त्यात् ज्ञो ४ प्रति० ।

ज्ञानमक्षिय जीवानामन्तरम् ।

आणिसिस्स अंतरं जहमेणं अंतोमुहुत्वं उक्तेमिणं पणं कांशं

अवहुं पोमग्नपरियदं देसूणं अआणिसिस्स दोएहं वि आहि-  
द्विणं एणिय अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहसेणं  
अंतोमुहुत्वं उक्तेमिणं ग्राव्हिं सागरोवमां सातिरेकां ।

ज्ञानिनो अन्तः । अन्तरं कालतः कश्चिद्वरं भवति भगवानाह  
गौतम ! सादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्यन्तरमपर्यवसितस्येव  
सरा नरकापारित्यागत सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्य-  
नान्तमुहुत्वंमेतावता मिथ्यादशमकाशेन व्यचचानेन ज्योषोऽपि  
ज्ञाननावात् उत्कर्षेण अन्तं कालमनन्ता अस्सत्प्यव्यवसर्पि-  
ष्यः कालतः क्लेशतोऽपार्थं पुञ्जलपरावर्षं देसेनं सम्यग्भेः स-  
म्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य एतायन्तं कालं मिथ्यात्वमनुज्य तद्-  
न्तरमवश्यं सम्यक्त्वासादान्तात् "अआणिसिस्स पं जने ! " इत्या-  
दि प्रश्नस्यं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनाद्यपर्यवसितस्य  
नास्यन्तरमपर्यवसितस्येव भवनादिपर्यवसितस्येव नास्यन्तरम्  
अथासकेवलज्ञानस्य प्रतिपात्वाभावात् सादिपर्यवसितस्य जघ-  
न्यनान्तमुहुत्वं जघन्यस्य सम्यक्त्वात्कालस्य एतावताप्रत्यात्  
उत्कर्षतः पश्यद्विसागरोपर्याण्य सातिरेकाणि यथावतोऽपि का-  
लाद्भुत्वं सम्यग्भवेनमानिपातं सत्याननावात् जी.सर्वं जी. १ प्रति.

आनिनिमोधिकान्तरम् ।

आणिणोऽदियणाणिसिस्स एं भंते ! अंतरं कालतो केव  
चिरं होइ गोयमा ! जहाएणेणं अंतोमुहुत्वं उक्तेमिणं अ-  
एणं कालं आव अवहुं पोमग्नपरियदं देसूणं एवं भुयणा-  
णिसिस्स वि अहिणाणिसिस्स वि मएज्जवणाणिसिस्स वि के-  
वलणाणिसिस्स एं भंते ! अंतरं मादियस्स सपज्जवसिय-  
स्स एणिय अंतरं । अंतं अएणाणिसिस्स एं भंते ! अंतरं  
अएणादियस्स अपज्जवसियस्स एणिय अंतरं । अएण-  
यस्स सपज्जवसियस्स एणिय अंतरं । सादियस्स सपज्ज-  
वसियस्स जहाएणेणं अंतोमुहुत्वं उक्तेमिणं क्खाव्हिं साग-  
रोवमां सातिरेगां एवं सुयणाणिसिस्स वि विजंमणाणिसि-  
स्स एं भंते ! अंतरं जहाएणेणं अंतोमुहुत्वं उक्तेमिणं वण-  
स्सइकाशं ।

अन्तरकिन्त्यायामानिभोधिकानिनोऽन्तरं जघन्यनान्तमुहु-  
त्वेमुक्तयेतोऽन्तं कालं यावद्वर्षात्पुञ्जलपरावर्षं देशोन्मं । एवं  
भुगहानिना मनःपर्यवज्ञानिनश्चान्तं चकथ्यम् । कवल्लङ्गानिनाः  
साद्यपर्यवसितस्य नास्यन्तरं मत्सहानिनः सुतहानिनश्चाद्य-  
पर्यवसितस्यानादिसपर्यवसितस्य च नास्यन्तरं सादिपर्यव-  
सितस्य जघन्यनान्तमुहुत्वेमुक्तयेतः पश्यतः सागरोपर्याण्य  
विभङ्गहानिनः जघन्यतोऽन्तमुहुत्वेमुक्तयेतोऽन्तं कालं बलरूप-  
तिकालः जी. सर्वं जी० ७ प्रति० । आ० ७० । ज० ।

( ३२ ) अस्यत्परावर्षोवस्यत्परावर्षान्तरम् ।

तस्स एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! ज-  
हाएणेणं अंतोमुहुत्वं उक्तेमिणं वणस्सइकालो धावरस्स एं  
भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहाएणं अं-  
गो-  
मुहुत्वं उक्तेमिणं अस्सत्सेज्जाओ अमोणियिण्णिसमपिण्णो ।  
सुगमं नवरसंकेयया उस्सत्पियवसत्पियेवः कालतः क्लेश-  
तोऽसंकेयया लोका इत्येतावतायमानन्तरं तेजस्कायिकायु-

कायिकमये गमनेनावसातव्यमन्यत्र गतावेतावप्रमाणस्यान्तर-  
द्वयार्थसम्भवात् " तस्स ण अंतं अंतरमित्यादि " सुगमं नवरं  
" उकोसेण बणस्सत्तकालो " इति उत्कर्षतो वनस्पतिकालो  
बकस्यः स वैषम्यम् । " उकोसेणं अणंतं कात्तमयुतासो उस्सपि-  
वीसो कालतो केत्ततो प्रणता भोगा अस्संखेज्जा पोंगलपरिय-  
ट्टु तेणं पोंगलपरियट्टु भावलिथा अस्संखेज्जभगो " इति  
वताघटप्रमाणं चांतरं वनस्पतिकायमध्यगमनेन प्रतिपत्तव्यम-  
न्यत्र गतावेतावतोऽन्तरस्याज्ञपमानत्वात् जी० १ प्रति० ।

तस्स एणं अंतरं बणस्सतिकालो थावरस्स तसकालो नो  
तस्स नो थावरस्स एत्थि अंतरं । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।  
दृशेणमाश्रित्य जीवानाम् ।

वनसुदंसणस्स अंतरं जट्टएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं  
बणस्सतिकालो अचरसुदंसणस्स दुविट्टस्स एत्थि अंतरं  
आदिदंसणस्स जट्टएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं बणस्सत्त-  
कालो केवलदंसणस्स एत्थि अंतरं ।

आधुरंशेनिनोऽन्तरं जघम्येनान्तमुहुत्तं प्रमाणेन अचसुदंशेनन-  
बेन व्ययधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रागुक्तस्वरूपः  
अचसुदंशेनिनोऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वा-  
त् अनादिपर्यवसिनस्यापि नास्त्यन्तरम् अचसुदंशेनत्वापगमे  
दृयोऽचसुदंशेनत्यायोगात् क्रीणकार्तिकमेणः प्रतिपातासंभवात्  
अवधिदंशेनिनो जघ-येनैकं समयमन्तरं प्रतिपातसमयानन्तर-  
समय एव कस्यापि पुनस्तज्ज्ञानभावात् कश्चिदन्तमुहुत्तंमिति  
पाठः स च सुगमः तावता व्ययधानेन पुनस्तज्ज्ञानभावात् । न  
चायं निर्मूलः पाठो मूलटीकाकारंणापि मत्मान्तेषु समर्थितः।  
त उत्कर्षतो वनस्पतिकालः तावतः काशादूर्द्धमवधयमवधिदं-  
शेनसंभवाद्नादिमिथ्यादृष्टेरन्यथिरोधात् क्लृप्तं हि सम्यक्च स  
वैच न दृशेणमपीति ज्ञानवाक्येवदंशेनिनः साद्यपर्यवसितस्य  
नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् जी० सर्वजी० ३ प्रति० ।

( ३३ ) दृष्टिमाश्रित्यान्तरम् ।

सम्मदिट्टिस अंतरं सातियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि  
अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जट्टएणेणं अंतोमुहुत्तं  
उकोसेणं अणंतं कालं जाव अबुद्धं पोंगलपरियट्टं देसुणं  
मिच्छादिट्टिस अण्णादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अं-  
तरं अण्णादियस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । साद्य-  
स्स सपज्जवसियस्स जट्टएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं हाव-  
ट्टिं सागरोवभादं सातिरेगादं । सम्माभिच्छादिट्टिस जट्ट-  
एणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अणंतं कालं जाव अबुद्धं पो-  
गलपरियट्टं देसुणं ।

" सम्मदिट्टिसणं जंते हस्यादि " प्रश्नसूत्रं सुगमं जगधाना-  
द् गौतमः । साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् सा-  
द्विसपर्यवसितस्य जघ-येनान्तमुहुत्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपस्यान्त-  
मुहुत्तं नूयः कस्यापि सम्यक्प्रतिपत्तेः । उत्कर्षतोऽन्तं कालं  
यावददर्शयत् पुनरुपराधचं मिथ्यादृष्टिमुनेनाद्यपर्यवसितस्य  
नास्त्यन्तरप्रप्रतिपात्तात् अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्त-  
रनादिद्विवात् अन्यथाऽनादितायोगात् । साद्विसपर्यवसितस्य  
जघ-येनान्तमुहुत्तमुकर्षतः षड्विधिः सागरोपमाणि सातिरेका-  
णि सम्यग्दंशेनकाल एव हि मिथ्यादंशेनस्य प्रायोऽन्तरं सत्य-

दृशेणकालज्ञ जघ-यत् उत्कर्षतमेतावागिति । सम्यग्मिथ्यादृ-  
ष्टिमुने जघन्यतोऽन्तमुहुत्तं सम्यग्मिथ्यादृशंभात् प्रतिपस्यान्त-  
मुहुत्तं नूयः कस्यापि सम्यग्दंशेनभावात् । उत्कर्षतोऽन्तं कालं  
यावददर्शयत् पुनरुपराधचं देशोऽन्तं यदि सम्यग्मिथ्यादृशंभात् प्र-  
तिपतितस्य नूयः सम्यग्मिथ्यादृशंभात्प्रसत एतावता कालेन  
नियमेनान्यथा तु मुक्तिः जी० २ प्रति० ( निर्घण्यनामन्तरं  
निर्माद्यं शब्धे )

( ३४ ) पथ्योसिमाश्रित्यान्तरम् ।

पज्जचगस्स अंतरं जट्टएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं वि अं-  
तोमुहुत्तं अपज्जचगस्स जट्टएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं  
सागरोवमसपपुट्टुत्तं सातिरेणं तद्व्यस एत्थि अंतरं  
अन्तरकिन्तार्या पर्यासकस्य जघ-यत् उत्कर्षतज्ज्ञान्तमुहुत्तंमन्त-  
रम् अपर्यासकस्य एव हि पर्यासकस्यान्तरम् । अपर्यासककाल-  
स्य जघ-यत् उत्कर्षतज्ज्ञान्तमुहुत्तंमन्तं अपर्यासकस्य जघ-यत्तोऽन्त-  
मुहुत्तंमुकर्षतः सागरोपम्यत्तपुष्पकचं सातिरेकं पर्यासककाल-  
स्य जघ-यत् उत्कर्षतश्चैतावतागमात्वात् शोपयोसोऽपर्यास-  
स्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

परीतानामन्तरम् ।

कायपरितस्स अंतरं जट्टएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं वन-  
स्सतिकालो संसारपरितस्स एत्थि अंतरं कायअपरितस्स  
जट्टएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अस्संखेजं कालं । पुट्टवि-  
कालो संसारअपरितस्स अण्णातियस्स अपज्जवसियस्स  
एत्थि अंतरं । अण्णादियस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं  
नोपरित्तोऽपरित्तस्स वि एत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतमः । जघ-येनान्तमुहुत्तं साधार-  
णेष्वन्तमुहुत्तं स्थित्वा नूयः प्रत्येकशरीरस्यागमनात् उत्कर्षतो-  
ऽन्तं कालं स चानन्तः कालः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकाल-  
स्तावन्तं कालं साधारणेष्ववस्थानात् । संसारपरीतविषयं प्रश्न-  
सूत्रं सुगमं जगधानाह गौतमः । नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे  
पुनः संसारपरीतत्वाज्जावात् मुक्तस्य प्रतिपातासंभवात् ।  
कायापरीतसुने जघ-यत्तोऽन्तमुहुत्तं प्रत्येकशरीरेष्वन्तमुहुत्तं  
स्थित्वा नूयः कायापरीतेषु कस्याप्यागमनसंभवात् उत्कर्ष-  
तोऽसंबन्धेयं कालं यावत् अस्संबन्धेया उत्सर्पियवस्यसोपिषयः  
कालतः क्षेत्रतोऽसंबन्धेया लोकाः पुषिव्यादिप्रत्येकशरीरजघ-  
न्नमणकालमुकर्षतोऽप्येतासम्भवात् । तथा चाह । पुषि-  
वीकालः पुषिव्यादिप्रत्येकशरीरकाल इत्यर्थः । संसारपरी-  
तसुने अनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वाद्नादिप-  
र्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसार-  
परीतत्वस्यासंभवात् । नोपरीतनाअपरीतस्यापि साद्यपर्यव-  
सितस्य नास्त्यन्तरं अपर्यवसितत्वात् जी० २ प्रति० ।

[ ३५ ] पुनरुक्तमाश्रित्यान्तरम् ।

परमाणुपगलस्स एणं जंते । मन्वेयस्स कालाअो केव  
चिरं अंतरं होइ । गोयमा । सट्टाएणतं पट्टुच्च जट्टएणेणं  
एकं समयं उकोसेणं अस्संखेजं कालं । परट्टाएणतं पट्टुच्च  
जट्टएणेणं एकं समयं उकोसेणं एवं चैव । थिरेयस्स के-  
वड० सट्टाएणतं पट्टुच्च जट्टएणेणं एकं समयं उकोसेणं अत्र-



श्रियाए असंखेज्जनागं, परद्वाणंतरं पदुच्च जहणेषणं  
एकं समयं उक्कोतेणं असंखेज्जं कालं पुपदेसियस्स एं भंते !  
खंभस्स देसेयस्स केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा !  
सद्वाणंतरं पदुच्च जहणेषणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं  
कासं परद्वाणंतरं पदुच्च जहणेषणं एकं समयं उक्कोसेणं  
अणंतं कासं । सव्वेयस्स केवइयं कालं एवं वेव जहा  
देसेयस्स । गिरेयस्स केवइयं कालं सद्वाणंतरं पदुच्च जहण-  
ेषणं एकं समयं उक्कोसेणं आबलियाए असंखेज्जनागं,  
परद्वाणंतरं पदुच्च जहणेषणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं  
कालं एवं जाव अणंतपदेसियस्स । परमाणुपोग्गहाण भते !  
सव्वेयाणं केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! नत्थिय  
अंतरं गिरेयाण केवइयं नत्थिय अंतरं पुपदेसियाणं जंते !  
संधाणं देसेयाण केवतिकालं एत्थि अंतरं सव्वेयाणं केवइ  
नत्थिय अंतरं गिरेयाणं केवइ एत्थिय अंतरं एवं जाव  
अणंतपदेसियाणं जं ० २५ शं ४ उ ० ।

[ टीका नास्त्येति न ध्याव्याता ]

परमाणुपोग्गलस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं  
होइ ? गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं  
कालं पुपदेसियस्स एं जंते ! खंभस्स अंतरं कालओ केव  
चिरं होइ गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं  
जंते एवं जाव अणंतपपत्तिओ । एगपत्तोगाहस्स एं  
जंते ! पोग्गलस्स संयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ  
गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं  
एवं जाव असंखेज्जपत्तोगाहस्स । एगपत्तोगाहस्स एं  
जंते ! निरेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा !  
जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं आबलियाए असंखेज्ज-  
भागं एवं जाव असंखेज्जपत्तोगाहस्स वाएणंभेरसफासमुह-  
मपरिणयाणं एत्थि जं वेव अंतरं पि भाणियव्वं । सहप-  
रिणयस्स एं भंते ! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केव चिरं  
होइ ? गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं  
कालं असहपरिणयस्स एं जंते ! पोग्गलस्स अंतरं काल-  
ओ केव चिरं होइ गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं  
आबलियाए असंखेज्जनागं जं ० ५ शं ७ उ ० ।

( टीका सुगमत्वाच्च चृद्धिता )

प्रथमसमयाप्रथमसमयपरिचयरोपणैकेन्द्रियाणां  
त्रैरधिकार्थानां आन्तरं यथा ।

पदमसमयपरिचयदियाणं जंते ! केवतियं कालं अंतरं हांति ?  
गोयमा ! जहणेषेण दो खुहुइं भवग्गहाइं समयोखाइं  
उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिचयस्स अंतरं  
जहणेषेणं खुहुइं भवग्गहाइं समयोखाइं उक्कोसेणं दो-  
सागरोचमसहस्साइं संखेजा वा समग्गहाइयाइं सेसाणं सव्वे-

सिं पदमसमयदिकाणं जहणेषेणं दो खुहुइं जवग्गहाइं सम-  
योखाइं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिचय-  
सेसाणं जहणेषेणं खुहुइं भवग्गहाइं समयोखाइं उक्कोसेणं  
वणस्सतिकालो ॥

प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य ज्वलन् । अन्तरं कालतः कियच्चिरं भव-  
ति जगयाणाह गौतम ! ज्ञाप्यते चेच्छुद्धकजवप्रहणे समयो-  
ते च शुद्धकज्जिन्द्रियादिभवप्रहणव्यवधानतः पुनरैकेन्द्रिय-  
संवेद्योत्परामानस्यावसातव्यं तथा शोकं प्रथमसमयान्तके-  
न्द्रियकूलकभवप्रहणमेव त्रितीयं सम्पूर्णमेव द्वीन्द्रियाद्यन्व-  
तमकुलकजवप्रहणमिति उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स आनन्ता  
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः केवतोऽनन्ता लोका असंखेयाः पुत्रतपरावर्तो  
आबलिकाया असंखेयो भाग इत्ये-  
वं स्वकुरं तथाहि एतावन्तं हि कालं सौऽप्रथमसमयः न तु प्र-  
थमसमयस्तन्तः द्वीन्द्रियादिषु शुद्धकजवप्रहणमेवाऽवस्था-  
य पुनरैकेन्द्रियत्वेनोत्परामानः प्रथमं प्रथमसमय इति  
भवत्युत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य  
जघन्यमन्तरं शुद्धकभवप्रहणं समयाधिकं तथैकेन्द्रियजगत-  
चरमसमयस्याप्यधिकप्रथमसमयत्वात् तत्र मूलस्य द्वीन्द्रिया-  
दिविशुद्धकजवप्रहणेन व्यवधाने सति भूय एकैकेन्द्रियत्वेनोत्परा-  
स्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यम् । एतावन्तं कालमप्यथमस-  
मयान्तरजावात् उत्कर्षते चे सागरोपसहस्रं संखेयवधा-  
न्यधिकं द्वीन्द्रियादिभवप्रहणस्योत्कर्षतोऽपि सान्त्वयैताव-  
न्तं कालं संभवात् । प्रथमसमयार्थेन्द्रियस्य जघन्यमन्तरं छे  
शुद्धकजवप्रहणं समयोन्तं तथा एकं चोन्द्रियकूलकजवप्र-  
हणमेव प्रथमसमयोन्तं त्रितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियत्रोन्द्रिया-  
द्यन्तमं कुलकजवप्रहणम् एषं प्रथमसमयं श्रीन्द्रियकूलकज-  
वप्रहणमेव प्रथमसमयोन्तं त्रितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियस्य जघन्यम-  
न्तरं शुद्धकभवप्रहणं समयाधिकं तथैकेन्द्रियजवात्पुत्र्यायत्र  
शुद्धकजव संस्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्परास्य प्रथमसमयाति-  
क्रमं वेदितव्यम् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालमन्तता उत्सर्पिण्यवस-  
र्पिण्यः कालतः केवतोऽनन्ता लोका असंखेयाः पुत्रतपरावर्तो  
आबलिकाया असंखेयो भागः एतावन्तं द्वीन्द्रियजवात्पुत्र्यै-  
तावन्तं कालं वनस्पतिषु स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्परास्य  
प्रथमसमयातिक्रमे भावनोयः एवं प्रथमसमयान्तरुत्प्रेक्षि-  
याणामपि जघन्यमुत्कर्षे आन्तरं वक्तव्यं भावनाऽप्येतदनुवर्ततेषु  
स्वयं जावनीया जं ० १० प्रति ० ।

पदमसमयरोपणस्यस्य सं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं  
होइ ? गोयमा ! जहणेषेण दसवाससहस्साइं अंतोमुटुत्तम-  
ञ्जहियाइं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिच-  
यस्स एं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ ? गोयमा !  
जहणेषेण अंतोमुटुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । पदमसमय-  
तरिखजोणिएणं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं हो-  
ति ? गोयमा ! जहणेषेण दो खुहुइं जवग्गहाइं समयोखा-  
इं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयतरिखजोणि-  
यस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ?  
गोयमा ! जहणेषेण दो खुहुइं जवग्गहाइं समयो-  
खाइं उक्कोसेणं सागरोचमसपपुटुत्तं सातिरेणं । पदमसमय-

मह्यस्तस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा । जहणेणं दो सुद्धायं जवगहणं समयुपाणं उणकोसेणं बणफ्फतिकालो अप्रदमसमयमाणस्सस्स एं जंते ! अंतरं जहणेणं सुद्धायं भगवानाहं सयपाहिंयं उकोसेणं बणफ्फतिकालो देवस्स एं अंतरं अहा भेरिनिपस्स । एत्ससमयसिक्खस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? नत्थि अंतरं । अप्रदमसमयसिक्खस्स एं जंते । अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा । सादिपस्स अपज्जवसिपस्स खत्थि अंतरं ।

प्रथमसमयसिक्खस्य नास्व्यन्तरं न्युयः प्रथमसमयसिक्खत्वात्प्रावाह अप्रथमसमयसिक्खस्यापि नास्व्यन्तरपर्यवसितत्वात् । जी० १० प्रति० ।

[ ३६ ] बादरसूत्रमनोसूत्रमनोवादरणामन्तरं यथा—

अंतरं वायरस्म वायरवन्सत्तिकातिस्स णिओयस्स वायरखिओयस्स एतेसिं चउहइ वि पुदविकालो जाव असंखेज्जा बोया सेमाणं वणस्सतिकामो एवं पज्जचगाएणं अपज्जचगाए वि अंतरं अहा हे य वायरतरु उत्सपिण्णो—ओसपिण्णोओ एवं वायरनिओए कादमसंखेज्जतरं सेसाएणं वणस्सतिकालो ॥

प्रअभूतं सुगमं जगवानाह गौतम ! जघयेमान्तमुहूर्त्तमुकपन्तोऽसंख्येयं कासं समभेयं कासं केज्जराण्णां निरुपयति असंख्येया उन्सपिण्यवसपिण्येयः कासतः केज्जतोऽसंख्येया सोका यदेव हि सुहमस्य सतः कायस्वित्तिपरिमाणं तदेव बादरस्यान्तरपरिमाणं सुहमस्य च कायस्वित्तिपरिमाणमेतावति बादरपृथिवीकायिकसूत्रं जघयन्तोऽन्तमुहूर्त्तमुकपन्तोऽन्तं ततः कासं स जानन्तः कालो बनस्पतिकालः प्रागुक्तस्यकपों वेदितव्यः एवं बादरपृथिवीकायिकसूत्रेनेज्जकायिकबादरसमुकयिकसूत्राएयपि यकव्यनि । सामान्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघयन्तोऽन्तमुहूर्त्तमुकपन्तोऽसंख्येयं कासं स चासंख्येयः कालः पृथिवीकालो वेदितव्यः स वैयम असंख्येया उन्सपिण्यवसपिण्येयः कासतः केज्जतोऽसंख्येया सोकाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकसूत्रं बादरपृथिवीकायिकसूत्रवत्सामान्यतो निगोदसुखं सामान्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रवत् बादरवन्सकायिकसूत्रं बादरपृथिवीकायिकसूत्रवत् एवमपर्याप्तविषया दशासुधीं पर्याप्तविषया च दशासुधीं यथोक्तकमेण वक्तव्या नानात्वाजावात् । जी० ६ प्रति० ।

[ ३७ ] सूहमस्यान्तरम् ।

सुहुयस्स एं जंते ! केवतियं कासं अंतरं होति ? गोयमा । जहणेणं अंतोसुहुयं उकोसेणं असंखेज्जं कासं कालओ असंखेज्जतो उन्सपिण्णोओसपिण्णोओ लेचओ अंगुस्सस्स असंखेज्जतिजागो एवं सुहुवाणस्पतिकाइयस्स वि सुहुवाणिओयस्स वि जाव असंखेज्जतिजागो बुवविकाइया—वं वणस्सतिकामो एवं अपज्जचगाएणं पज्जचगाएणं वि ।

प्रमसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघयेमान्तमुहूर्त्तं सुहमात्पुच्छस्य बादरपृथिव्यादायन्तमुहूर्त्तं स्थित्या नृबः सूहमपृथिव्यादो कस्याप्युत्पादात् उक्थयतोऽसंख्येयं कासं कासंकेज्जराण्णां निरुपयति असंख्येया उन्सपिण्यवसपिण्येयः कासत एवा माग्गो—ओसपिण्णोओसपिण्णोओप्रागः किमुक्त्तं भवति अद्भुत्समाकसे-

वस्थासंख्येयतमे प्रागे व आकाशाप्रदेशास्ते प्रतिसमयेयैकैकप्रदेशाप्रहारे वावर्तान्निरुत्सर्विण्यवसपिण्णोओसपिण्णोओ भवन्ति तावन्त्य इति "सुहुयमपुदविकाइयस्स एं भंते" इत्यादि प्रथमसूत्रं सुगमं जगवानाह गौतम ! जघयेमान्तमुहूर्त्तं तज्जावामा प्रथमत् उक्थयतोऽन्तं कासं "जाव आभयवियाए असंखेज्जराण्णां इति" यावत्करणादेव परिपूर्णः पाठः "अयंताओ उन्सपिण्णोओसपिण्णोओ कासतो केवतोता अयंता लोगा असंखेज्जराण्णां पोग्गलपरिपट्टा तेषं पोग्गलपरियट्टा आवत्तिपया असंखेज्जराण्णां" इत्यस्य व्याख्या पूर्ववत् जावामा त्वेवं सूहमपृथिवीकायिको हि स्वप्नपृथिवीकायिकमवाहुत्त्वान्तत्वेण पारंपर्येण वा वनस्पतिष्वपि भन्ने गच्छति तत्र चोत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कासं सिद्धयति प्रवर्ति यथोक्तप्रमाणमन्तरमेवं सूहमपृथिवीकायिकसूत्राद्युक्तप्रमाणमन्तरमेवं सूहमपृथिवीकायिकसूत्रं जघयन्तोऽन्तमुहूर्त्तमुकपन्तोऽसंख्येयकालः पृथिवीकासो वक्तव्यः स वैयम "असंखेज्जराओ उन्सपिण्णोओसपिण्णोओ कासतो केवतोता असंखेज्जरा लोगा" इति । सुहमपृथिवीकायिकसूत्रं वाहुत्त्वो हि बादरवनस्पतितु सुहमपृथिवीकायिकसूत्रं चोत्पद्यते तत्र च सर्वत्रात्पुत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कासमवस्थाभिमिति यथोक्तप्रमाणमेवास्तमेवं सूहमनिगोदस्याप्यन्तरं वक्तव्यं यथा वैयमौचिकी सप्तसूत्री उक्ता तथा अप्यन्तविषयया च सप्तसूत्री वक्तव्या नानात्वाजावात् जी० ६ प्रति० ।

सुहुयस्स अंतरं वायरकासो वायरस्स अंतरं सुहुयकासो ततियस्स णत्थि अंतरं ।

सुहमस्यान्तरं जघयन्तोऽन्तमुहूर्त्तमुकपन्तोऽसंख्येयं कालमसंख्येया उन्सपिण्यवसपिण्येयः कासतः केज्जतोऽसंख्येया असंख्येयमागो बादरसूत्रो जघयत् उक्थयत् उक्थयत् एतावत्प्रमाणत्वात् । बादरस्यान्तरं जघयन्मान्तमुहूर्त्तमुकपन्तोऽसंख्येयं कासमन्ता उन्सपिण्यवसपिण्येयः कालतः केज्जतोऽसंख्येया सोका सूहमस्य जघयन्त उक्थयन्तमेतावत्कासप्रमाणत्वात् गोसूहमनोवाधरस्य साधपर्यवसितस्य हेतौ यद्धी निमित्तकारणहेतुतु सधोसां विनकीनां प्रागे वशीनामिति न्यायात् ततोऽयमप्येः साधपर्यवसितत्वाच्चास्यन्तरमन्यथा अपर्यवसितत्वायोगात् जी० ३ प्रति० ।

प्रवन्तिद्वयमवसिक्तिसिन्धोअवोसद्वयमवसिक्तिकानामन्तरम् भवसिक्तियस्म एत्थि अंतरं एवं अभवसिक्तियस्स विततियस्स खत्थि अंतरं ।

अभवसिक्तिकान्तादिसिन्धोअवोसद्वयमवसिक्तियस्स नास्व्यन्तरं प्रवन्तिद्विकत्वापगमे पुनत्रैवसिक्तिकत्वायोगात् जी० ३ प्रति ।

जायामाभिय जीवानामन्तरम् ।  
प्रासगस्स एं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा । जहणेणं अंतोसुहुयं उकोसेणं अन्नतं कासं वणस्सतिकालो अभासगस्स सातिगस्स अपज्जचवसिपस्स णत्थि अंतरं सातिपस्स मपज्जवसिपस्स जहणेणं एक्कं सपयं उकोसेणं अंतोसुहुयं ।

प्रमसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघयेमान्तमुहूर्त्तमुकपन्तो बनस्पतिकालः अजायककालस्य मायकान्तत्वात् अभाषकसूत्रे साधपर्यवसितस्य नास्व्यन्तरत्वात् अपर्यवसितत्वात् सा-

विसर्पयवसितस्य जघ-यैनेकं समयमुकर्वतोऽन्तर्मुहुर्षं ज्ञाप-  
ककालस्याभायकान्तररनात् उच्यते जघन्यत उत्कर्षतश्चैता-  
वन्मात्रत्वात् । जी० २ प्र ति० ।

[ ३८ ] योगमाधित्यान्तरम् ।

मणजोगिस्स अंतरं जहएणं अंतोमुहुत्तं ठकोसेणं वण-  
स्ततिकालो तदेव वणजोगिस्स वि कायजोगिस्स जहएणं  
एकं समय उक्कोसेण अंतोमुहुत्तं अजोगिस्स एत्थि अंतरं ।  
अन्तरमन्तर्मुहुत्तं विप्रदसमयादारब्धं भौदारिकशरीरपर्याप्त-  
कञ्च यावदेवमन्तर्मुहुत्तं रुद्धयमिति ( अत्रत्या टीका उत्सु-  
चपकवणा रुद्धे ) ।

लेखयामाधित्य जीवानाम् ।

कइलेसस एणं भंते । अंतरं कालआकेव चिरं होति ।  
गोयमा । जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेचीससागरोव-  
माइं अंतोमुहुत्तमभहियाइं । एव नीलसस वि काजलेस-  
सस वि । तेउलेसस एणं भंते । अंतरं कालआकेव चिरं होइं ।  
गोयमा । जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फातकालो  
एवं पइलेससम वि सकलेससस वि दोह्व वि एवपंतरं ।  
अज्ञेससस एणं जते । अंतरं कालतो केव चिरं होइं । गोयमा ।  
सादियस्स अपजजवात्पसस णत्थि अंतरं ।

कृष्णश्रेययाकस्यान्तरं जघन्यनोऽन्तर्मुहुर्षं तिर्यगनुप्याणामन्त-  
र्मुहुर्षेण लेखयापराचरनात् उत्कर्षतश्चयकिंश्रुतासागरोपर्याप्त-  
नोऽन्तर्मुहुर्षं जघन्यतश्चैतावन्मात्रत्वात् । एवं नीलश्रेययाकपोतलेखयोरपि जघन्यत  
उत्कर्षतश्चैतावन्तरं चकत्यथ । तेजःपञ्चमुक्कलानामन्तरं जघतोऽन्त-  
र्मुहुर्षं मुकर्वतो घनस्पतिकालः स च प्रतीत प्वेति । अश्लेषस्य  
साधपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरपर्यवसितत्वात् ।

( ३९ ) वेदविशिष्टजीवानामन्तरम् ।

सवेदं एव एणं भंते । केवतियं कालं अंतरं होति । गोयमा ।  
अण्णदियस्स अपजजवसिपसस णत्थि अंतरं । अण्णदियस्स  
सपजजवसिपसस वि एत्थि अंतरं । सादियस्स सपजजव-  
सिपसस जहएणं एकं समय उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।  
अवेदगसस एणं भंते । केवतियं कालं अंतरं होति । गोयमा ।  
सादियस्स अपजजवसिपसस एत्थि अंतरं सादियस्स सपजजव-  
सिपसस जहएणं अंतोमुहुत्तं अंतोसेणं । अण्णतं-  
कालं जाव अइं पोग्लपरियइं देसुणं ।

प्रअइं सुगमं भगवानाह गीतम् । अनादिकस्यापर्यवसितस्य स-  
वेदकस्य नास्त्यन्तरपर्यवसितस्य सदा तद्भावापरित्यागात् ।  
अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं अनादिसपर्यव-  
सितो ष्वापन्तरात् उपसमभोगेण प्रप्रियथा प्राचीं क्षीणवेदो नच  
क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वं प्रतिपातनात्वात् । सादिकस्य सपर्य-  
वसितस्य सवेदकस्य जघन्येनैकं समयमन्तरं द्वितीयं चारमुपशा-  
मभोगेण प्रतिपन्नस्य वेदोऽपशमसमयानन्तरं कस्यापि भरणसंजवा-  
त् उक्कर्षेणान्तर्मुहुत्तं द्वितीयं चारमुपशमभोगेण प्रतिपन्नस्य  
वेदकस्य भोगिसमाप्तिकेन्द्रं पुनः सवेदकत्वाभावात् । अवेदकत्वे  
अनादिकस्यापर्यवसितस्यवेदकस्य नास्त्यन्तरं क्षीणवेदस्य पुनः

सवेदकत्वाभावात् वेदानां निमूलकावकवितत्वात् । सादिकस्य  
सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहुत्तमुपशमभोगिसमाप्तीं सवे-  
दकत्वं सति पुनरन्तर्मुहुत्तं नोपशमभोगेणान्तोऽवेदकत्वापपत्तेः  
उत्कर्षतोऽन्तं कालम् अनन्ता उत्सर्पितस्यवसर्पितस्यः कालतः  
क्षेत्रतोऽपार्कोऽप्युपप्राचरत्वं वेदानमेकं चारमुपशमभोगेण प्रतिपद्य  
तत्रावेदको नृत्वा भोगिसमाप्तीं सवेदकत्वं सति पुनरंतावना का-  
लतः भोगिप्रतिपत्तावेदकत्वापपत्तेः । जी० सवेदी ० २ प्र ति० ।

वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीणां पुंसां नपुंसकानां चान्तरम् ।

इत्थिए एणं भंते । केवतियं कालं अंतरं होति । गोयमा ।  
जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण अन्तं कालं वणस्ततिकालो  
एवं सव्वासि तिरिकसत्थीणं मण्णसत्थीणं मण्णसत्थी-  
ए खेच पइइ जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्तति-  
कालो । धम्मचरण पइइ जहएणं समयो उक्कोसेणं  
अण्णतं कालं जाव अइं पोग्लपरियइं देसुणं एवं जाव  
पुन्वविदइं अवराविदेहियाओ । अकम्मजुगमणुप्पत्तीणं  
भंते । केवातयं कालं अंतरं होति । गोयमा । जम्म एणं पइइ  
जहएणं दसवाससहरसाइं अंतोमुहुत्तं पइइ देसुणं उक्कोसे-  
णं वणससइकाओ मंहरणं पइइ जहएणं अंतोमुहुत्तं  
उक्कोसेणं वणससइकाओ एवं जाव अंतदीवियाओ । देवि-  
त्थियाणं सव्वासि जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-  
स्ततिकालो ।

स्त्रिया भदन्त । अन्तरं कालतः कियच्चिरं जवति स्त्री भूत्वा स्त्रीवा-  
त् भ्रष्टा सती पुनः कियता कालेन स्त्री भवतीत्यर्थः । एवं गीत-  
मेन प्रश्ने कृतं सति जगयानाह गीतम् । जघ-येनान्तर्मुहुत्तं  
कथमिते चेत उच्यते इह काचित् स्त्रीः स्त्रीः धारमरणेन च्युत्वा  
भवान्तरं नपुंसकत्वं पुरुषवेदं वाऽन्तर्मुहुत्तं चेतुमुहुत्तं स्त्रीः  
पटयते तत एवं जघन्यतोऽन्तर्मुहुत्तं जवति उत्कर्षतो घनस्पति-  
कालोऽसंख्येयपुंजलपरावर्षाभ्यां चकल्प्यसावता कालेनामुकी  
मन्यां नियोगतः स्त्रीः वियोगतः । स च घनस्पतिकाल एव चक-  
ल्प्यः “ इणताओ ओसत्पिणिरसत्पियओ, कालयो केचअओ  
अणंता भोगा अस्सखेजा पोम्मलपरियट्टा तेणो पोम्मलपरियट्टा  
आवहियाए अस्सखेज्जमाओ इति ” एवमाधिकतियं कुक्षीणां  
जघचरत्सखरत्सखरत्सखीणामैधिकमनुप्यत्स्त्रीणां च जघन्यतो  
उत्कर्षतश्चान्तरं चकल्प्यमिश्राणोऽपि सुममरत्वात् स्वयं परिभा-  
षनीयः । कम्मं भूमिकमनुप्यत्स्त्रियाः क्षेत्रं कम्मं भूमिक्षेत्रं प्रतति  
जघन्यतोऽन्तर्मुहुत्तं मुकर्वतोऽन्तं कालं घनस्पतिकालप्रमाणं  
यावत् धम्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनैकं समयं कर्त्तव्यमस्य सम-  
यत्वात् उत्कर्षेणान्तं कालं वेदानमपार्कोऽप्युपप्राचरत्वं यावत्  
मातो ष्वाधिकतश्चान्तराभिपातकालासंपुण्यत्वात्पुंजलपरा-  
वर्षाभ्यां वेदानमिधिपातकालस्य तत्र प्रतिषेधात् । एवं भरते-  
रं पवनमनुप्यत्स्त्रियाः पुंष्वेदं ह्यपरं विदेहियात्सखेज्जतो धम्म-  
चरणं वा आश्रित्य चकल्प्यम् । अकम्मं भूमिकमनुप्यत्स्त्रिया जन्म  
प्रतीत्यान्तरं जघन्येन दृशवत्सहकाराणि अन्तर्मुहुत्तं चाप्यधिकानि  
कथमिते वेदुच्यते इह काचित् कम्मं भूमिका स्त्री भूत्वा जघन्य-  
त्स्त्रियानु पुंष्वेदं ह्यपरं विदेहियात्सखेज्जतो धम्मचरणं परिपान्त्य  
तद्भावे च्युत्वा कम्मं भूमिषु मनुष्यपुरुषवनेन मनुष्यस्त्रीवैभवं  
वोत्थेति तदेवच्योऽन्तरमकम्मं नूमी न जयंति कम्मं भूमिपूया-

द्विता ततोऽन्तमुद्दृष्टेन सूत्र्या ज्ञोऽप्यकर्मज्मिज्झीत्वेन जायते  
 एति भवन्ति जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि अन्तमुद्दृष्टां ज्यधिकानि  
 उक्तवर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं सहस्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्-  
 तमुद्दृष्टम् । अकर्मज्मिज्झियाः (कर्मज्मिज्झियाः) कर्मज्मिज्झि-  
 संहृत्य तावता कालेन तथाविधबुद्धिपरास्तया ज्ञयस्तेष्वभ-  
 वनात् उक्तवर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं तावता कालेन कर्मज्मिज्झि-  
 स्पत्सिवात् सहस्रवर्षमपि निर्योगतो ज्ञयते । तथाहि काश्चिदकर्म-  
 ज्मिज्झि कर्मज्ञो संहृता सा च स्वाधुःक्यानात्तरमनन्तं कालं  
 वनस्पत्यादिषु संसृज्य ज्ञोऽप्यकर्मज्ञो समुपस्था । ततः केनापि  
 संहृतेति यद्योक्तं सहस्रवर्षतोऽन्तरकालमानम् । एवं हैमवत-  
 हेरपयवनहरिवर्षेभ्य उक्तवर्षेभ्यः कृत्स्नरूपेण संवृत्तकामपि ज-  
 नतः सहस्रवर्षतश्च प्रत्येकं जघन्यमुद्दृष्टं चान्तरं वक्तव्यं सूत्र्या-  
 जोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिज्ञानीयः । संप्रति देवकीणामन्त-  
 रप्रतिपादनार्थमाह (देवकीयथायं जिते इत्यादि) देवकीया प्रदन्त !  
 अन्तरं काशतः कियच्चिरं जयति भगवानाह गौतम ! जघन्ये-  
 नान्तमुद्दृष्टं कस्याश्चित् देवकीयात् देवकीयात् च्युत्या गन्त्ये-  
 नान्तमुद्दृष्टं कर्मज्मिज्झि पयोनिपरिसमाप्तिमनन्तरं तथाप्य-  
 वसायमन्तरेण पुनर्देवीत्येवोपासितसंज्ञया उक्तवर्षतो वनस्पति-  
 काशः स च सुप्रतीत एवमसुरकुमारदेव्या श्रावय्य तावर्षाणाम-  
 देवकीया उक्तवृत्तमन्तरं वक्तव्यं पात्रोऽपि सुगमत्वात् स्वयं  
 परिज्ञानीयः जी० १२ प्र० ० ।

पुरिसस्स णं भंते ! केवातिंयं काशं अंतरं होति ? गोयमा !  
 जहस्येणं एणं समयं उक्कोसेणं वासस्सद्काशो तिरिक्खजो-  
 णियपुरिसाणं जहएणेणं अंतोमुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्सई-  
 कालो एणं जाव खहरपरतिरिक्खजोहियपुरिसाणं ॥

पुराणामिति पुष्वेव भदन्त ! अन्तरं काशतः कियच्चिरं  
 भवति पुरुषः पुरुषत्वात् परिभ्रष्टः सन् पुनः कियता काशेन  
 तद्वाय्वनातीत्यर्थः । तत्र भगवानाह गौतम ! जघन्येनैकं समयं  
 समयान्तरन्तरं ज्ञोऽपि पुरुषव्यवधानोतीति ज्ञायः । इयमत्र  
 ज्ञायता यद्वा कश्चित् पुरुष उपशमभ्रंति गतः उपशान्ते पुरुष-  
 वेदे समयमेकं जीवित्वा तदनन्तरं ज्ञियते तदाऽस्वीं निय-  
 माहिवपुरुषवृत्तयन्ते इति समयमेकमन्तरं पुरुषत्वस्य ।  
 ननु स्त्रीलपुंसकयोरपि भ्रंणिलामां भवति तत्कस्माद्—  
 न्यवारप्यवमेकः समयोऽन्तरं न भवति उच्यते क्षिया नपुंसक-  
 स्य च श्रेष्ठ्याकटाववेदकजावान्तरं अरण्यं तथाधिबद्धमाभ्यव-  
 सायतो नियमेन देवपुरुषत्वेनोत्पादात् । उक्तवर्षतो वनस्पति-  
 कालः स वैश्वमनिज्ञपनीयः “अणुता उस्सप्यिण्णोसप्यिण्णो-  
 णो कालतो वेत्ततो अणुता णोणा अस्सेवेखा पुणसपरियद्दा  
 त्थं पुणसपरियद्दा भावश्रियाय असंखेज्जइभयो इति ” तद्व-  
 सं सामान्यतः पुरुषत्वस्यान्तरमिनाथस्य संप्रति तियेकपुरुषविषय-  
 मतिदेवसमाह ” ( जं तिरिक्खजोणियणं अन्तरं मित्यादि )  
 यत्तिथ्येभ्योनिष्ठाणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव तिथ्येभ्योनिष्ठाणु-  
 त्कामन्त्र्यविशेषितं वक्तव्यं तस्यैव सामान्यतस्तिथैकपुरुषत्वस्य जघ-  
 न्यतोऽन्तमुद्दृष्टं तावत्कालाक्षितिना मनुष्यादिभवेन व्यवधाना-  
 त् उक्तवर्षतो वनस्पतिकालोऽसंख्येयपुद्गलपराधर्मात्तः तावता  
 काशेनामुक्तौ सत्यां नियोगः पुरुषत्वयोगात् । एवं विशेषि-  
 तायां जहस्यपुरुषस्य क्लम्वपुरुषस्य क्लम्वपुरुषस्यापि प्रत्ये-  
 कं जघन्यतः उक्तवृत्तान्तरं वक्तव्यम् ।

सम्यति मनुष्यपुरुषत्वविषयान्तरप्रतिपादनार्थमाह ।  
 मणुस्सपुरिसाणं भंते ! केवातिंयं कालं अंतरं होति ? गो-  
 यमा ! खंते पणुब जहएणेणं अंतोमुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-  
 तिकालो धम्मवरणं पणुब जहस्येणं एकं समयं उक्कोसेणं  
 अणुत्तं कालं अणुत्ता उस्सप्यिण्णो जाव अणुवत्तं पांगुल-  
 परिण्यत्तं देसुणं कम्मज्मिज्झियाणं जाव विदेहो जाव धम्मवरणे  
 एको समयो सेसं जहत्थिणं जाव अंतरं देवकीयाणं ॥

यन्मनुष्यत्वाणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव मनुष्यपुरुषत्वाणामपि  
 वक्तव्यं तस्यैव सामान्यतो मनुष्यपुरुषत्वस्य जघन्यतः केवमधि-  
 कृत्यान्तरमन्तमुद्दृष्टं तच्च प्रागिव भावनीयम् । उक्तवर्षतो वन-  
 स्पतिकालो धम्मवरणमधिकृत्य जघन्यत एकं समयं चरणपरिणा-  
 मात्परिभ्रष्टस्य समयानन्तरं भूयोऽपि कस्याश्चित् चरणप्रतिप-  
 तिसंभवात् उक्तवर्षतो देशानोऽपार्कपुद्गलपराधर्मात् एव भरते-  
 रावतकर्मज्ञमनुष्यपुरुषत्वस्य पूर्वविदेहात्परिविदेहाकर्मज्ञमनु-  
 मनुष्यपुरुषत्वस्य जग्म प्रतीत्य चरणमधिकृत्य च प्रत्येकं जघ-  
 न्यत उक्तवृत्तान्तरं वक्तव्यं सामान्यतोऽकर्मज्ञमनुष्यपुरु-  
 षत्वस्य जग्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तरं दश वर्षसहस्राणि अन्तमुद्दृ-  
 ष्टो ज्यधिकानि । अकर्मज्मिज्झिमनुष्यपुरुषत्वेन सूत्रस्य जघन-  
 क्तितेषु देवेष्वप्यथ ततोऽपि च्युत्या कर्मज्मिज्झि स्त्रीत्वेन पु-  
 रुषत्वेन धोष्य कस्याप्यकर्मज्ञमनुष्यपुरुषत्वस्य ज्ञोऽप्युत्पादात् दे-  
 वभवान् च्युत्या अनन्तरकर्मज्मिज्झि मनुष्यत्वेन तिथेकसं-  
 क्षिपन्मिज्झित्वेन उत्पादनात्तदावन्तराह कर्मज्मिज्झियादा-  
 निधानमनुष्यवर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं सहस्रं प्रतीत्य  
 जघन्यतोऽन्तमुद्दृष्टैककर्मज्मिज्झि कर्मज्मिज्झि संहृत्यान्तमुद्दृष्टां-  
 नन्तरं तथाविधबुद्धिपराधर्मादिज्ञातौ ज्ञयस्तेष्वभ-  
 वनात् उक्तवर्षतो वनस्पतिकाल एतावन्तः काशार्द्धकर्मकर्मज्मि-  
 ज्झिस्पत्सिवात् सहस्रवर्षस्यापि निर्योगतो भावते । एवं हैमवतहे-  
 रप्यतादिष्वप्यकर्मज्मिज्झि जन्मतः सहस्रवर्षतश्च जघन्यतः उक्त-  
 वर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं यादवन्तरद्वीपकाकर्मज्मिज्झिमनुष्यपुरुषत्व-  
 वक्तव्यम् ।

संप्रति देवपुराणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह ।  
 देवपुरिसाणं जहस्येणं अंतोमुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्सति-  
 काशो भवणवासिदेवपुरिसाणं ताव जाव सहस्सारां जह-  
 स्येणं अंतोमुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । अणानदेव-  
 पुरिसाणं जंते ! केवातिंयं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहस्येणं  
 वासपुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं जाव गेवेजजदवपु-  
 रिसाणं वि अनुत्तराववातिपदेवपुरिसाणं जहस्येणं वासपुद्दुत्तं  
 उक्कोसेणं संखेज्जइभयो आसारावमाहं अनुत्तराणं अंतरं एको  
 आणुवत्तमाह ।

देवपुरुषत्वस्य जघनन्त ! काशतः कियच्चिरमन्तरं जयति भगवा-  
 नाह । गौतम ! जघन्येनान्तमुद्दृष्टं देवजवात् च्युत्या गन्त्ये-  
 नान्तमुद्दृष्टं कर्मज्मिज्झि पयोनिपरिसमाप्तिमनन्तरं तथाविधवसायमन्-  
 तरेण पुनर्देवीत्येवोपासितसंज्ञया उक्तवर्षतो वन-  
 स्पतिकालः एवमसुरकुमारदाहान्य निन्तरं तावत्कालं याव-  
 त्सहस्रावकवर्षेभ्यः कृत्स्नरूपेण संवृत्तकामपि जघन्यतः जघ-  
 न्येनैकं समयं समयान्तरन्तरं ज्ञोऽपि पुरुषव्यवधानोतीति ज्ञायः । इयमत्र  
 ज्ञायता यद्वा कश्चित् पुरुष उपशमभ्रंति गतः उपशान्ते पुरुष-  
 वेदे समयमेकं जीवित्वा तदनन्तरं ज्ञियते तदाऽस्वीं निय-  
 माहिवपुरुषवृत्तयन्ते इति समयमेकमन्तरं पुरुषत्वस्य ।  
 ननु स्त्रीलपुंसकयोरपि भ्रंणिलामां भवति तत्कस्माद्—  
 न्यवारप्यवमेकः समयोऽन्तरं न भवति उच्यते क्षिया नपुंसक-  
 स्य च श्रेष्ठ्याकटाववेदकजावान्तरं अरण्यं तथाधिबद्धमाभ्यव-  
 सायतो नियमेन देवपुरुषत्वेनोत्पादात् । उक्तवर्षतो वनस्पति-  
 कालः स वैश्वमनिज्ञपनीयः “अणुता उस्सप्यिण्णोसप्यिण्णो-  
 णो कालतो वेत्ततो अणुता णोणा अस्सेवेखा पुणसपरियद्दा  
 त्थं पुणसपरियद्दा भावश्रियाय असंखेज्जइभयो इति ” तद्व-  
 सं सामान्यतः पुरुषत्वस्यान्तरमिनाथस्य संप्रति तियेकपुरुषविषय-  
 मतिदेवसमाह ” ( जं तिरिक्खजोणियणं अन्तरं मित्यादि )  
 यत्तिथ्येभ्योनिष्ठाणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव तिथ्येभ्योनिष्ठाणु-  
 त्कामन्त्र्यविशेषितं वक्तव्यं तस्यैव सामान्यतस्तिथैकपुरुषत्वस्य जघ-  
 न्यतोऽन्तमुद्दृष्टं तावत्कालाक्षितिना मनुष्यादिभवेन व्यवधाना-  
 त् उक्तवर्षतो वनस्पतिकालोऽसंख्येयपुद्गलपराधर्मात्तः तावता  
 काशेनामुक्तौ सत्यां नियोगः पुरुषत्वयोगात् । एवं विशेषि-  
 तायां जहस्यपुरुषस्य क्लम्वपुरुषस्य क्लम्वपुरुषस्यापि प्रत्ये-  
 कं जघन्यतः उक्तवृत्तान्तरं वक्तव्यम् ।

सूतः सन् आनतकल्पादारतो ये देवास्तेषूपघाते माऽऽन-  
 ताविषु तस्य तावन्मात्रकालस्य तत्रोपाध्ययसायिषुद्वयभावा-  
 त्ततो व आनतादिप्रश्नरूपतः सन् द्रव्याऽप्यानादिपुत्रघाते  
 स निगमाचारिभ्रमघात्प चारित्र्ये चाप्रमे वर्षे तत उक्तं जघन्यतो  
 वर्षेषूपघन्यमुक्तयंतो वनस्पतिकालः । एवं प्राणनारणाप्युत्प-  
 न्ममैवैयकदेवपुत्रघातामपि प्रत्येकमन्तरं जघन्यतः अक्षयतश्च  
 ब्रह्मण्यम् । अत्रुत्तरोपपातिककल्पयातीतेषुपुत्रघन्ये जघन्यतोऽन्तरं  
 वर्षेषूपघन्यम् उक्तयंतः संख्ययानि सागरोपमाणि सातिरे-  
 काणि तत्र संख्येयानि सागरोपमाणि तद्व्यव्ययमिनिकेषु संख्ये-  
 यवारोत्यस्या सातिरेकाणि मनुष्यमेव तत्र सामान्याभिधानेऽ-  
 प्येतद् अपराजितात्मवयन्तस्य सर्वार्थसिद्धे सद्बुद्धेवोपादत्त-  
 स्तत्रान्तरसंभवात् । अथे त्वमिदं प्रति प्रबनवासिन आरभ्य  
 आ ईशानादमरस्व जघन्यतोऽन्तरमन्तुहृत् सनकुमाराद्वार-  
 ज्यसहकाशद् नव दिनानि आनतकल्पादात्प्र्यासत्तकल्पं  
 बावन्नव मासा नयसु प्रेययकेषु सर्वार्थसिद्धिम् महाविमानवज्रैश्च-  
 नुत्तारविमानेषु च नव वर्षाणि प्रेययकात् यावत् सर्वत्रापि  
 उत्कर्षतो वनस्पतिकालः सिञ्जयादिवु चतुर्षु महाविमानेषु द्वे  
 सागरोपमे उक्तं च " आ ईसाखादमरस्व अंतरं हीण्यं मुहुत्सं-  
 तो मा सहस्वारे अच्युयस्युत्तरदिगमासवासनवधावरकाहुको-  
 लो सव्यद्वयोयस्रो नव उवयासो द्वौ अपरा विजयादिसु इति "

नैरधिकनपुंसकानामन्तरम् ।

अक्रमभूमकमणुसणपुंसणं जंते । गोयमा । जम्मं पं  
 पद्भु जहृष्येणं अंतोमुहुत् उक्तोसिणं अंतोमुहुत् ( अंतोमु-  
 हुत्पहुत् ) । संहरणं पद्भु जहृष्येणं अंतोमुहुत् उक्तोसिणं  
 दसुणा पुव्वकादि । सव्वेतिं जाव अंतरदीवगाणं । एणुमंग-  
 रस्स एं भंते । केवतियं कालं अंतरं होति । गोयमा । जह-  
 र्ण्येणं अंतोमुहुत् उक्तोसिणं सागरोपमसतपुत्तं सातिरेगं  
 नरइयणपुंसगसस एं जंते । केवतियं कालं अंतरं होति  
 जहृष्येणं अंतोमुहुत् उक्तोसिणं तरुकासो । तरणप्यनापुद-  
 विनरइयणपुंसगसस जहृष्येणं अंतोमुहुत् उक्तोसिणं तरु-  
 कासो एवं सव्वेतिं जाव अहंसत्तमा तिरिकलनोणियणपुं-  
 सकस्स जहृष्येणं अंतोमुहुत् उक्तोसिणं सागरोपमसतपुहु-  
 र्चं सातिरेगं ।

गमिति वाक्यालङ्कारे अदन्त । अन्तरकालतः कियच्चिरं भवति  
 नपुंसको चूय्या नपुंसकत्वाद् स्रष्टः पुनः कियता कालेन नपुंस-  
 को भवतीत्यर्थः भगवानाह । गौतम । जघन्यतोऽन्तमुहुत्तेमेता-  
 वता पुत्रघादिकालेन व्यवधानात् उत्कर्षतः सागरोपमशतपुत्र-  
 कल्पे सातिरेकं पुत्रघादिकालस्य पतावद्ये संभवात् तथा चात्र  
 संमहर्षणाया " इत्यनपुंसा संचि-देषुषे पुरिसंतरे य सम-  
 षो । पुरिसनपुंसा संचि-देषंतरे स्यात्पुहुत् ॥ १ ॥ " इत्या-  
 क्तरामनिका " संचिदणना नाम " सात्थेनावस्थां तत्र स्त्रिया  
 नपुंसकस्य च सात्थेनावस्थाने पुत्रघातरे च जघन्यत एकः स-  
 मवस्तथा च प्रागभिहितम् " इत्थीणं भंते । इत्थीति कालतो  
 केव चिरं होइ गोयमा । एणेणं आदिसिणं जहृष्येणं परं समयं  
 इत्यादि " तथा " नपुंसगणेन नपुंसगेति कालतो केव चिरं होइ  
 गोयमा । जहृष्येणं एकं समययिमादि " तथा " पुरिसस्स एं  
 जंते । अंतरं कासतो केव चिरं होइ गोयमा । जहृष्येणं एकं सम-  
 यमिमादि " तथा पुत्रघन्य च नपुंसकस्य यथाकर्म (सचिदणं )

सातयेनावस्थानमन्तरं चोक्तयंतः सागरोपयुक्तस्यै पदैकदेशे  
 पदसमुदायोपचारात् सागरोपमशतपुत्रकल्पं तथा च प्रागभिहि-  
 तं " पुरिसेणं जंते । पुरिसास कालतो कियच्चिरं ( केव चिरं )  
 होइ गोयमा । जहृष्येणं ( जहृष्येणं ) अंतोमुहुत् उक्तोसिणं सा-  
 गरोपमसवपुहुत् सातिरेगं " नपुंसकान्तोत्कर्षमपिपादकं वे-  
 दमेवाधिकृतं सूत्रमिति । तथा सामान्यतो नैरधिकनपुंसकस्यान्तरं  
 जघन्यतोऽन्तमुहुत् ससमन्तरकपुषिष्या उच्युत् तन्पुंसकस्या-  
 दिप्रवेध्वन्तमुहुत्संख्येया पूयः ससमन्तरकपुषिषीवोगमनस्य च अ-  
 वधानात् प्रतिपुषिष्यपि वक्तव्यम् श्री ० २ प्रति ० ।

तिरिक्कामन्तरम् ।

एगिदियतिरिक्कनोणियणपुंसकस्स जहृष्येणं अंतोमु-  
 हुत् उक्तोसिणं दा सागरोपमसहसाई संख्येज्जवासम्यग्गिहाई  
 पुदविआउतेउवाकणं जहृष्येणं अंतोमुहुत् उक्तोसिणं व-  
 णस्सतिकालो वणस्सतिकाइयाणं जहृष्येणं अंतोमुहुत्  
 उक्तोसिणं असरेवज्जं कादं जाव असरेवजा लोय्या सेसणं  
 वेदियादीणं जाव सवहराणं जहृष्येणं अंतोमुहुत् उक्तो-  
 सेणं वणस्सतिकालो ।

तथा सामान्यचिन्तायां तिर्येयोनिकनपुंसकस्यान्तरं जघन्यतो-  
 ऽन्तमुहुत्समुत्कर्षतः सागरोपमशतपुत्रकल्पं सातिरेकम् । अत्र प्रा-  
 वन्न प्रागिव विद्योचिन्तायां सामान्यत एकेन्द्रियतिर्येयोनिक-  
 नपुंसकस्यान्तमुहुत् तावता इन्द्रियादिकालेन व्यवधानात्  
 उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके प्रसक्तयासि-  
 किकालस्य एकैन्द्रियस्यव्यवधानकस्यां कर्षतोऽप्येतावत्  
 संभवान् । पृथिवीकायैकेन्द्रियतिर्येयोनिकनपुंसकस्य जघ-  
 न्यतोऽन्तमुहुत्समुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवमप्याधिकोत्सका-  
 यिकवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्येयोनिकनपुंसकानामपि वक्तव्यं व-  
 नस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्येयोनिकनपुंसकस्या जघन्यतोऽन्त-  
 मुहुत्समुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावत् स चासंख्येयः काशोऽसं-  
 ख्येया उत्सर्पिष्यसर्पिष्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः ।  
 किमुक्तं भवत्यसंख्येयज्ञोकाश्चाप्रदेशानां प्रतिस्मयमेकैकाप-  
 हारे यावत्प उत्सर्पिष्यसर्पिष्यो ज्वान्ति तावत्प इत्यर्थः । वन-  
 स्पतिभवात् प्रच्युतस्यान्यत्रोत्कर्षतः पतावन्तं कालमवस्थानं  
 भवात् तदनन्तरं संसारिणो नियमन भूयःऽपि वनस्पतिकार्य-  
 कवेनोपाद्भावात् । इन्द्रियार्थिन्त्यचतुरिन्द्रियव्यव्येन्द्रिय-  
 नित्येयोनिकनपुंसकानां जलचरवल्गुचरलक्ष्मणैकेन्द्रियतिर्येयो-  
 निकनपुंसकानां सामान्यतो नपुंसकस्य च जघन्यतोऽन्तमुहुत्सं-  
 मुत्कर्षतोऽन्तं कालं स चानन्तः काशो वनस्पतिकालो व्यो-  
 क्तस्वरूपः प्रतिपत्तव्यः ।

मनुष्यनपुंसकस्य ।

मणुसणपुंसकस्स सेवंचं पद्भु जहृष्येणं अंतोमुहुत् उ-  
 क्तोसिणं वणस्सतिकालो धम्मकरणं पद्भु जहृष्येणं एणं स-  
 कोसिणं अण्णं कादं जाव अण्णं पांगलपरियई दे-  
 व्णं । एवं कम्मनपगसस वि भरट्टेरवपस्स पुव्वचिदेहअ-  
 वरविदेहकस्स वि अक्रमनपकमाणुसणपुंसकस्स पं भंते ।  
 केवतियं कादं ० जम्मणं पद्भु जहृष्येणं अंतोमुहुत् उक्तो-  
 सेणं वणस्सतिकालो संहरणं पद्भु जहृष्येणं अंतोमुहुत्  
 उक्तोसिणं वणस्सतिकालो एवं जाव अंतरदीवधि ।

कर्म नृमकमनुष्यनपुंसकस्यान्तरं केचन प्रतीत्य जघम्यतोऽन्तमु-  
 हुत्संमुक्तयोर्वेत्तवन्व्यतिकारः । धर्मवर्णेषु प्रतीत्य जघम्यत एकं  
 समयं यावत् चरणद्वयविधास्य सर्वजघम्यस्य एकसामयिक-  
 कस्यात् उरुर्कर्मतोऽन्ततः कांश्च तमेवात्मन्तं कालं निर्धारयति  
 " मन्ताप्रो हस्तप्येषु प्रोत्सिप्यपीभो काशतो केचतो अश्वाना  
 संगमा अश्वं पुंग्लपरिययद् देष्णमिति" एवं जरतेत्यनुपूर्वसि-  
 द्धापरिवेदिकर्म नृमकमनुष्यनपुंसकानामपि केचन धर्मवर्णेषु  
 च प्रतीत्य जघम्यत उरुर्कर्म चान्तरं प्रत्येकं बह्वभ्यम् । अकर्मभू-  
 मकमनुष्यनपुंसकस्य जघम्य प्रतीत्य जघम्यतोऽन्तमुहुत्समेवावता  
 ग्यन्मनादिकाशेन स्व्यवाननाशान्त् उरुर्कर्मतो वनस्पतिकारः  
 सहरणं प्रतीत्य जघम्यतोऽन्तमुहुत्सम् । तच्चैवं कोऽपि कर्म-  
 भूमकमनुष्यनपुंसकेनात्यकर्मभूमौ संहृतः स च मागधपुरो-  
 दद्यात्तबलात्कर्म नृमक इति व्यपदिश्यते ततः कियत्काशानन्तरं  
 तथाविधबुद्धिपरवाचननायतो भूतोऽपि कर्मभूमौ संहृतस्त-  
 च आन्तमुहुत्सं धृत्या पुनरप्यकर्मनृमानानोतः उरुर्कर्मतो वनस्प-  
 तिकाशः । एवं विशेषकितोपायं देववतहेरपयवतहरिवर्षम्यक-  
 वर्षदेयुकुत्तरकुर्वकर्म नृमकमनुष्यनपुंसकानामन्तरादीपकमनु-  
 ष्यनपुंसकस्य च जघम्य सहरणं च प्रतीत्य जघम्यत उरुर्कर्म-  
 श्चान्तरं वक्तव्यं तदेवमुक्तमन्तरम् जी० २ प्रति० । ५० सं० ।

( ५० ) औदारिकारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरम् ।

ओरोलियसरीरस्य अन्तरं जहृष्येणं एकं समयं उको-  
 सेणं तेषां सागरोवसाई अंतोमुहुत्समजज्ञद्वियाई वेञ्जि-  
 यसरीरस्य जहृष्येणं अंतोमुहुत्सं उकोसेणं अण्यंतं कांश्च  
 वणस्ततिकालो आहारगसरीरस्य जहृष्येणं अंतोमुहुत्सं  
 उकोसेणं अण्यंतं कांश्च जावु ब्रह्मद् पुंग्लपरिययद् देस्युं  
 तेयगकम्मगसरीरस्य स तुविद्धा एतिय अन्तरं ॥

औदारिकशरीरिणोऽन्तरं जघम्यतः एकः समयः स च द्विसा-  
 माधिक्याभ्यान्तराजगतौ भावनीयः । प्रथमे समये कामंशुश-  
 रीरोपेतत्वाद् उरुर्कर्मत्वव्यभिक्तसागरोपमायि अन्तमुहुत्सोऽभ्य-  
 थिकानि सङ्कष्टौ वैकियकारः इति भावः । वैकियशरीरिणोऽन्त-  
 रं जघम्यतोऽन्तमुहुत्सं सङ्कष्टैकियकरणे यावता कालेन पुनर्वैकि-  
 यकरणात् शानवद्वेषेषु भावात् । उरुर्कर्मतो वनस्पतिकारः प्रक-  
 द एव आहारकशरीरिणो जघम्येनान्तमुहुत्सं सङ्कष्टकरो यता-  
 वता कालेन पुनः करणाद् उरुर्कर्मतोऽन्ततः कालं यावत्परि-  
 पुञ्जपरायणम् । जी० सर्वजी० ५ प्रति० । ( संघातपरिधा-  
 दकरणयोरन्तरं कश्च शब्दे )

संघातविशेषयोगान्तरम् ।

संघिस्त अन्तरं जहृष्येणं अंतोमुहुत्सं उकोसेणं वणस्त-  
 इकालो असंघिस्त अन्तरं जहृष्येणं अंतोमुहुत्सं उकोसेणं  
 मागरोवसमयपुद्गलं सातिरेगं ततियस्य एतिय अन्तरं ।  
 अन्तरविच्छेदाय संघिनिःश्रुतं जघम्येनान्तमुहुत्समुक्कर्मतोऽन्त-  
 तं काशम् । स चान्तरः कालो वनस्पतिकारः । असंघिस्तक-  
 लस्य जघम्यत उरुर्कर्मतोऽन्तवत्प्रमाशुत्वात् । असंघिनिःश्रुतं जघ-  
 म्यतोऽन्तमुहुत्समुक्कर्मतः सागरोवसमयपुद्गलं संघिकारस्य ज-  
 घम्यत उरुर्कर्मतोऽन्तवत्प्रमाशुत्वात् नासंघिनिःश्रुतं संघिनः साद्यस-  
 पर्यवसितस्य नास्त्यन्तरपर्यवसितत्वात् । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

( ५१ ) संयमविशेषयोगान्तरम् ।

संजघम्यस संजघयांसंजयस दोषद् इति अन्तरं जहृष्येणं अं-

तोमुहुत्सं उकोसेणं अण्यंतं कालं जावु अवद् पुंग्लपरि-  
 यद् देष्णुं । असंजयस आदिद्विभे एतिय अन्तरं साद्यसस  
 सपजघसियस्य जहृष्येणं एकं समयं उकोसेणं देष्णा  
 पुव्यकोमौ चउत्पत्स्यस एतिय अन्तरं ।

संयतस्य जघम्येनान्तरमन्तमुहुत्सं तावता कालेन पुनः क-  
 स्यापि संयतस्यमावात् उरुर्कर्मतोऽन्ततः कालेनानन्ता उत्स-  
 प्तियेष्यवसर्पियस्यः कालतः केचन्तोऽपि पुञ्जलपरावर्त्तं देशो-  
 नय पतावतः कालाद्दूर्ध्वं पूर्वमाद्यसंतयस्यस्य नियमतः संयम-  
 लाभात् । संयतस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । अनाविसप-  
 र्यवसितस्यपि नास्त्यन्तरं तस्य प्रतिपातानसंभात् । सादिस-  
 पर्यवसितस्य जघम्यत एकं समयं स वैकसमयः प्राग्व्या-  
 धितः संयतसमय एवमुक्कर्मतो देशोना पूर्वकोटी असंबतत्व-  
 व्यबधायकस्य संयतकालस्य संयतासंयतकालस्य वा उरु-  
 र्कर्मतोऽप्येतावत्प्रमाशुत्वात् संयतासंयतस्य जघम्यतोऽन्तमुहुत्सं  
 तद्भाष्यपाते पतावता कालेन तद्भाष्यसिद्धेः । उरुर्कर्मतः संय-  
 वत् त्रितयप्रतिषेधवर्तिनः सिद्धस्य साद्यपर्यवसितस्य नास्त्य-  
 न्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भाष्यपरित्यागात् । जी० स-  
 र्वजी० ३ प्रति० । ( सामाधिकारिसंयतानामन्तरं संजय शब्दे )  
 सिद्धासिद्धयोः ।

सिद्धस्य णं भंते ! केवतियं कालं अन्तरं होति ? गोयमा !  
 सातोयस्य अपजघवसियस्य एतिय अन्तरं । असिद्धस्य णं  
 भंते ! केवतियं कालं अन्तरं होति ? गोयमा ! अथातीयस्य  
 अपजघवसियस्य अथातीयस्य सपजघवसियस्य खात्स  
 अन्तरं ।

प्रससुषं सुगमं भगवानाह वीतम ! सिद्धस्य साम्प्रिकस्याप-  
 र्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । अत्र " निमित्तकारणहेतुषु स-  
 र्वासां विभक्तानं प्रायो वशमिति" म्यावात्त हेतौ वृद्धौ ततोऽ-  
 धमयो यःसात्सिद्धः सादिरपर्यवसितस्तत्कारणस्वन्तरमन्य-  
 थाऽपर्यवसितत्वायोगात् । असिद्धस्यैव असिद्धस्यानादिक-  
 स्यापर्यवसितस्य नास्ति अन्तरमपर्यवसितत्वाद्वासिद्धत्वा-  
 प्रच्युतेः अनादिकस्य सपर्यवसितस्यपि नास्त्यन्तरं भूयोऽ-  
 सिद्धत्वायोगात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

अन्तरां-अन्तरङ्ग-पुं० अन्तरं सद्यशमहं यव्य । अस्यन्तप्रिये,  
 बहिरङ्गशक्योऽपिनिमित्तसमुदायप्रभे अन्तर्भूतायि अङ्गानि नि-  
 मित्तानि यव्य । व्याकरणोऽपि परित्यागबहिरङ्गवाचके कान्ये-  
 भेदे, तद्दोषके शक्ये च वाच० । अन्तरङ्गबहिरङ्गभोरन्तरङ्ग  
 एव विधिर्बलवान् आ०म० द्वि० । अस्यन्तरे, वि० तं० । विद्ये०  
 ( काल शब्दे एवदुदहरणम् )

अन्तरंविद्य-अन्तरांजिका-क्री० नगरीभेदे, वच भूतगृहं चैवं  
 बलभी राजा वैराशिकानामुत्पत्तिश्चाभूत्, उच० ३ इ० । वि०  
 आ०म० द्वि० । कल्प० । सा० । आ० भू० ।  
 अन्तरंनगरोऽसिपा-अन्तराएदकगोत्रिका-क्री० अरवकोशा-  
 न्यन्तरस्य गोत्रिकायाम्, महा० ५ अ० ।

अन्तरकंद-अन्तरकन्द- पुं० अन्तर्ज्ज्वलितकर्मव्यवस्थितभेदे,  
 प्रभा० १ पद० ।  
 अन्तरं ( रा ) कल्प-अन्तरं ( रा ) कल्प-पुं० चारित्र्याम-  
 न्तरस्वकरो कल्पभेदे, । तद्भाष्येनाभिधाय ।

पिन्विसकप्यो एसो, एतो बोच्छामि अंतराकप्यं ।  
 संखेवपिभियत्थं, गुरुवत्सं जहाकम्मो ॥ दारं ॥  
 पंचद्वाणमसंखा, बारसगं चेव तिण्हि वितियायां ।  
 अञ्जल्यकरणणाख-द्वया ए एसोतराकप्यो ॥  
 सामादिसंजतादी, पंचद्वचरणं तु तेसि एकेके ।  
 संजमजाणमसंखा, एकेके तत्थ णाखम्मि ॥  
 होति अणंता चारि-त्तपज्जवा ताख संखगुणियायाणि ।  
 एके संजमककग-कंदसंखा ए छद्धानं ॥  
 उद्धाना संखेज्जा, संजमसेही तु होति बोधन्वा ।  
 सामाइयेडेदंजम-ठाणागं तुं अस्संखेजा ॥  
 परिहारसंजमद्वाण, ताहे लभ्यंति ते अस्संखागा ।  
 गंतुं ण होति जिष्सा, ताहे तत्तो पुणो परतो ॥  
 वटंति जे अस्संखा, सामाइयेडेदंजमद्वाणा ।  
 सामाइयेडेदंजाणा, ताहे जिष्सा भवंती तु ॥  
 तो सुदुमपगजाणा, ते वि अस्संखेजंगं तु बोच्छिज्जा ।  
 तत्स अणत्तिमजाणा, अणंतगुणवद्धिंतं णियमा ॥  
 एके परमविमुक्के, होति अहक्खवा संजमद्वाणं ।  
 पंचमसंखानिंतं, बारस गयारपकिमाओ ॥ दारं ॥  
 सुद्धपरिहारचउरो, अणुपरिहारी वि णवमकप्यउतो ।  
 एते तिण्हि तिया खलु, एतेसि एकमेकस्स ॥  
 अंतरसंजमजाणा, होति अस्संखाजु तेसि सन्नेसि ।  
 होति सुविहा तु सोही, करणे अन्नत्थतो चेव ॥  
 तो दो बी कायन्वा, णापचाए वडत्थेयां ।  
 एसो अंतरकप्यो पंचमां ॥

इयाणि अंतरकप्यो गाहा-(पंचद्वाण) अंतरकप्यो नाम पंच-  
 विहं चारिणं सामाइयमाइ एकेकस्स अस्संखेजाइ संजमद्वा-  
 णाइ अंतरं बारसपि बारस भिक्खुपडिमिओ तासि पि तहए  
 अंतरं तिषि तिगमित्तु च परिहारिया णव चचारि परिहारिया  
 अणुपरिहारिया वि चचारि एसो कप्यद्विओ । एएसि अस्सं-  
 खेजाइ अंतरा संजमद्वाणां तेषु पुण सव्वेसु वि दुविहा  
 लोही अन्नमथसोही ए करणसोही ए ॥ दो वि कायन्वाओ  
 नाणद्वया एवं नाणमित्तं वा नाणोवउत्तो वा जं करेइ तत्थ वि  
 अन्नमथकप्यो पडव्व निज्जाविसेसो करणविसोहीए वि बाहि-  
 रए अन्नमथओ चेव निज्जाविसेसो एस अंतरकप्यो । पंच्चु ॥

अंतरकरण-अन्तरकरण-नं यथाप्रवृत्तकरणपूर्वकरणानि-  
 वृत्तिकरणभेदाभिन्नं सम्प्रकत्वौपधिकरणे, पंच सं १ द्वा० ।  
 [ तदुचं यथा प्रवृत्तादिशब्देषु करणशब्दे च ]  
 अंतराय-अन्तरीत-त्रि० मध्यगते, प्रश्न० सं० ३ द्वा० ।

अंतरगिह-अन्तरगृह-गृहान्तर-नं गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरं  
 राजदन्तादिवत्त्वं अन्तरगृहस्य पूर्वनिपातः । गृहस्य गृह-  
 ओर्वा अन्तराले, वृ० ३ उ० । गृहयोर्न्तराले खानादि न  
 कर्तव्यम् " गिहंतरणिसज्जा य सि " दानाचारत्येन तस्य  
 \* कथनात् ।

( सूत्रम् ) नो कप्यति निर्गंधायां वा निर्गंधीयां वा अंतरा-  
 गिहम्मि चिद्धिचए वा निसीयत्तए वा तुअद्वत्तए वा निपाइ-  
 चए वा पयसाइत्तए वा असणं वा पाणं वा स्वाइमं वा साइमं  
 वा आहारं आहारित्तए उबारं वा पासवणं वा खेलं वा  
 सिंयाणं वा परिद्वित्तए सज्जायं वा करित्तए भ्राणं वा  
 भाइत्तए काउत्सम्मं वा ठाणं वा ठाइत्तए अह्द पुण एवं  
 जाणिज्जा बाद्धि ए जराउओ तवस्सि । दुब्बले किंत्ते सु-  
 च्छिज्ज वा पवभिज्ज वा एवं से कप्यइ अंतरगिहंसि चिद्धि-  
 चए वा जाव ठाणं ठाइत्तए ।

नो कल्पते निर्गंधायां वा निर्गंधीयां वा अन्तरं गृहे गृहस्य  
 गृहयोर्वा अन्तरं मध्ये राजदन्तादिवादापर्यव्याहारा अन्तरगृह-  
 स्य पूर्वनिपातः स्यातुं वा निपणुं वा यावत्करणाल्पत्वव्यतिरेकितुं  
 वा निष्ठापयितुं वा प्रवक्ष्यायितुं वा असनं वा पानं वा आदिमं  
 वा स्वादिमं वा आहृतंमुखात् वा प्रक्षयणं वा खेळं वा सिंघारं वा  
 परिष्ठापयितुं स्वाभाव्यं वा कर्तुं ध्यानं वा भ्यातुं ( कारवस्स-  
 मंति ) कार्यासंगक्षकणं वा स्यातुं स्थानं कर्तुं स्वपैणयायादं  
 दर्शयति । अथ पुनरंवं जानीयात् ( बादि इत्यादि ) ध्यायि-  
 तो म्लानो जराजीणः खविरस्मपस्वी क्षपको दुब्बलो म्लानत्वा-  
 इयुनैबोत्थिनोऽखमर्थचारीः एतेषां मध्यादन्त्यतमस्तपसा नि-  
 क्षापयत्यनेन वा क्लान्तः परिभातः सन्न मुच्छेद्वा प्रपतेद्वा एवं  
 कारणमुद्दिश्य कल्पते अन्तरगृहे स्यातुं वा यावत् कार्यासंगं  
 वा कर्तुंमिति सूचार्थः ।

अथ भाष्यविरतः ।

संज्ञानमसम्भावे, लुहद गिहानंतरं तु सम्भावे ।

पासपुरोहदभ्रगण, मज्झंति ए होतसंज्जावं ॥

गृहान्तरं द्विधा सङ्गानोऽसङ्गानवत्तम् । शृद्धयोर्गृहयोर्वन्द-  
 नं मध्यं तत्सद्भावो गृहान्तरम् । यत्तु गृहस्य पावर्तनः पुरोहते-  
 न्मङ्गणे गृहमध्ये वा तत्सङ्गवगृहान्तरं भवति एतस्मिन् द्विवि-  
 धेऽपि भिन्नाद्यथे निर्गेतस्य स्थानादि कर्तुं न कल्पते ।

कुङ्कुतरजिज्ञेए, शिंससणो गिहे तहेव रन्थाए ।

वार्यतगणो लुद्दगा, तत्थ वि आणइणो दोसा ॥

द्वयोः कुक्षयोर्न्तरं ( जिष्णपिण् ) सद्धितप्राप्तस्याभिनय-  
 क्रियमाणस्य वा गृहस्य जिष्णो विवेशितभारिभ्रमभूनीनां गृहा-  
 णामाजोणं ( गिहदिण् ) गृहपावर्तने रथ्यायां प्रसंताप्यामेतेषु ख-  
 नेषु तिष्ठतश्चतुर्भुङ्क्षुकाः तत्राप्याहादयो दानो मन्तव्यास्ताकमिसं  
 प्रायश्चित्तं पृथग्भवतीति ज्ञावः । तथा-

स्वरिपे स्वरिया मुएहा, णडे वडे खरे व संकिज्जा ।

स्त्रिण्णं य अगणिकाए, दारे विचिं व केण तिरियक्खं ॥

स्वरको दासः स्वरिता वासी स्तुपा वधुः वृषस्वरन्तरङ्गमः एतेषु  
 नष्टेषु स्थायुः शङ्कते यः भ्रमणकः कस्ये अथ गृहान्तरं उपविष्टः  
 आसीत् तत्र हतं भविष्यति । द्वारे वा भ्रमणन चद्वाटिते स्तनः  
 प्रविश्य हतवानिति ( वेणिसि ) वेणं केनचित् आतं हसमि-  
 त्यर्थः अतिनकायो वा केनापि दृष्टो भवेत् द्वारेण वा प्रविश्य  
 वृषिं वा द्विधा केनापि सुवर्णादिकमपि हतं स्यात् तिर्य्यो-  
 नीयो वा गोमर्दिनीभ्रतृत्तिकां स्तुतो भवेत् तत्रापि शङ्कायां प्र-  
 णाकर्षणवद्दीपो दास वत पयमतो गृहान्तरे स्थातव्यम् ।

अथ सुत्रांके द्वितीयपदं भावयति ।

उच्छुक्कमरीरे वा, उच्छुक्कतपसोमिते व जे होजे ।

येरे सुधुमदिष्टे, वीसंपणवेसहत्संके ॥

उच्छुक्कं रोगाज्जतं शरीरं यस्य स उच्छुक्कशरीरो वाशब्दः उच्छुक्कस्या विकल्पार्थं कुञ्चोत्प्रेम्भतिथस्तथाः तपःशोषितो वा विद्वहृतपोनिष्ठतद्दो जनेव यो वा स्थवितो ज्ञीः शङ्खिर्वा-  
तिकान्तजन्मपयोः सोऽपि यदि महान् सयैव्योऽपि हृदयत-  
पते विश्रामप्रहणार्थं गृहान्तरे तिष्ठेयुः । इह व व्याधितोद्वे-  
जसर्गतो जिज्ञाटनं न कार्यते परमात्मविश्रकारणेषुस्यया भिज्ञा-  
मदतां प्राकृतस्तत्राद्यतारो मन्तव्यः स व व्याधितोद्विभ्रमण-  
शेषः संविमयेवधारी इतश्चकृह हास्याद्विकारविकसतया अ-  
संज्ञानवीयच्छोकाशुः सन् तत्र स्थानार्थानि पदानि कुर्वाद्य ।

अहवा ओसहद्वेउं, संख्विसंघादए व वासासु ।

वाषाए वा तत्थ उ, जयणाए कप्यती ठाठं ॥

सुत्रांकेस्त्यायदपवादो वृत्तिः । अयार्थतः प्रकारान्तरेणान्यु-  
च्यते इत्यत्र वाशब्दार्थः शौचधहेतोर्दोतातरं गृहे अस्वाधीनं प्र-  
तीकृते संकाशेषां वा यापद्वेला भवति संघाटकसाधुर्वा याव-  
ज्जकसाधुभूतं भाजनं वसतो विमोच्य समागच्छति वर्षासु वा  
गृहं प्रविष्टानां वर्षे निपेतव बधुवराद्यागमनेन वा रथ्यायां व्या-  
धानां जनेन नायत्रशैव गृहान्तरे यतनया बह्यमासुधा स्थानु  
कल्पने एष द्वारगाथासमासाधः ।

अथमामेव विद्यरीशुरीर्थसंकिङ्कारे व्याख्यानयति ।

पामंभि ओसहदां, ओसहदाता व तस्य असहं।यो ।

संख्वि अमती काडो, उहंते वा पविच्छंति ॥

म्लानस्वीषधानि पेष्टयानि तत्र पेणशशिला प्रतिश्रेये नेनुं न  
कल्पते अतस्तेषां आगारिणां गृहान्तरे स्थित्वा तानि पेणन्ति ।  
श्रापधर्मागंश्यां वा कस्यापि गृहं गताः स चौरपधता त-  
दानीं तत्रास्वाधीनोऽतस्तं प्रतीक्षामौः भ्वातव्यम् । संखडी  
वा कापि वनेन तत्र वसेकालोऽद्यापि देशकालो न भवति  
गृहस्वामिना चोक्तं प्रतीक्षार्थं क्षणमेकं यावद्वेला भवति तत-  
स्तस्मिन्नभ्यसिन्नु वा गृहे प्रतीक्षणीयम् । अगारिणो वा तदानीं  
गृहाङ्गमापुत्र्यं भोक्तुमपविष्टाः सन्ति ततस्तानुपविष्टतः  
प्रतीक्षते ।

संघाटकद्वारमाह ।

एगवर उभयओ वा, अओजे अहद्व वा उभयलंभे ।

वसहं जाणे एगो, ता इओरो चिट्ठं दूरे ॥

एकतरस्य भक्षस्य वा पानस्य वा उभयोर्वा अलाभे दुर्ल-  
भनायामित्यर्थः । [ आहवा ] कदाचिदुभयमपि प्रचुरतरं  
लभ्यं तेन व आजनमापुरितं ततः संघाटकस्य मध्याधावदे-  
कस्तत्राजनं वसति भवति तावदितरः साधुरागारिणां दूरं  
भूत्वा तिष्ठति एष च्युत्येभिप्रायः । पुनर्ये भक्षस्य पानकस्य  
उभयस्य दुर्लभस्य लाभः समुपस्थितो मात्रकं व तस्मिन् दिने  
अनाभोगेन न गृहीतं ततो यावदेको मात्रकं वसतेरणयति  
तावदितरस्तत्र गृहिणां दूरे तिष्ठतीति ।

वर्षांद्धारमाह ।

वामासु व वासंते, अणुषचिचाण तस्य णावाहे ।

अंतरगिहे गिहे वा, जयणाए दो वि चिट्ठं ति ॥

वर्षासु वा कापि गृहे गतानां वर्षे वर्षति गृहस्वामिनमु-

हाय्य तत्रानावाधे अथकारे अन्तरगृहे वा गृहे वा द्वापि  
संघाटकसाधु यतनया विधायतिपरिहारेण तिष्ठतः ।

प्रत्यनीकद्वारमाह ।

पदिणीपनिवेपंते, तस्स अंतरे गतो फिदिए ।

बुगहनिव्वहजावे, वाधातो एवमादीसु ॥

प्रत्यनीकं समागच्छन्तं दृष्ट्वा यावद्वती इतिमज्जति तावदेकान्ते  
निर्वाण तिष्ठति सुपो वा सम्मुज्जेति तस्य वा सुपस्थानतः-  
पुरं गओ वा हस्ती निर्गच्छति ततो यावद्वती सिफटितो प्रथ-  
ति तावच्चत्रैवास्तते ( बुगहसि ) दृष्टिकौ द्विजो वा द्वी परस्य-  
वं विप्रदं कुर्वन्ती समागच्छतो निवेदं शशुवरं ततो महता पि-  
च्छेन समायाति आदिशब्देन गौष्टिका गीतं गायन्तः समा-  
यन्ति एवमादिषु कारणेषु व्याधावस्तत्रैवं प्रतीक्षस्यसणो  
भवति । तत्र च तिष्ठतामियं यतना ॥

अयाणगुत्ता विकहाविहीणा,

अच्छणएखाणे व त्रिया पविष्ठा ।

अर्यंति त संतमुद्दा णिविंउं,

भंति वा सेसपदे ज्जुषुं च ॥

आदानैरिच्छियेगुत्तासुधा विकथया भककथादिरूपया वि-  
शेषेण हस्तसंज्ञादरपि परिहारेण हीनास्त्यकास्तत्र गृहान्तरे  
अच्छणे छुषे वा प्रदेशे ऊर्ध्वस्थिता उपविष्टा वा त साधवः  
शान्तमुखा आसते । निवेश्य चोपविश्य शेषारण्यपि स्व्याधाय-  
विधानार्थानि यथोक्तानि पदानि यथायोगं भजन्ते नच द्वाप-  
मापद्यन्ते । कथमिति वेदुच्यते ।

याणं च कालं च तदेव वत्थुं,

आसज्ज ओ दोसकरे तु ठाणं ।

तेव व अमसक अदोसवेते,

जवेति रोगिस्स व ओसहदां ।

स्थानं च स्त्रीपशुपरमकसंसक्तं भूभागदि कांसे च ऋतुबद्धा-  
दिकं तथैव वस्तु तरुणनीरोगादिकं पुरुषद्वयमासाद्य यान्ये-  
कस्य गृहान्तरे स्थानानिपदानि स्थानानि दोषकारिणि  
भवन्ति तान्येवाभ्यस्य पुर्वोक्तविपरीतस्थानकासपुरुषवस्तुसा-  
खिव्याप्तदोषवन्ति रोगिण इवौषधानि । यथा किञ्च यान्येपधा-  
न्येकस्य पिस्तरीणिषो दोषाय भवन्ति तान्येवापरस्य वातरोगि-  
णो न कमपि दोषमुपजनयन्ति एवमत्रापि भावनीयम् ।

अन्तरगृहे मकेधया न कथनीया ।

[ सूत्रम् ] नो कपति निर्गम्याण वा निर्गम्येण वा अंतर-  
गिहम्मि जाव चउगाहं वा पंगगाहं वा आइत्तिचए वा वि-  
जाचितए वा किट्टइत्तए वा पंवेयइत्तए वा नभस्य एगना-  
एण वा एगवागरेणेन वा एगगाहाए वा एगसिक्कोएण वा  
सेविय ठिक्का नो चेव एं अत्तिच्चा ।

नो कल्पते निर्गम्याणां वा निर्गम्येणां वा अन्तरगृहे यावच्चतुर्गंधं  
वा पञ्चगंधं वा विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेद्ययितुं वा । एत-  
देवापयवद्भाह । "नक्तव्य" इत्यादि नो कल्पते इति योऽयं निषेधः  
स एकद्वाराद्वा एकगाथाया वा एकद्वेष्टेकाद्वा मन्थत्र मन्तव्यः ।  
सूत्रे च पञ्चगंधास्थाने तुतीयानिदोषाः प्राकृतवत्त्वात् । अपि च  
एकगाथादिव्याख्यानं स्थित्वा कर्तव्यं नैवास्थित्वा निज्ञां पधे-  
ता उपविष्टेन वा इति सूत्रार्थः ।



अत्र विषयप्रदानि भाष्यरुद्र विवृणोति ।  
 संहियकट्टणमादि-अपणं तु पदछद्मं यो विनांगो ज ।  
 मुत्तन्त्योकिट्टणया, पवेतणं तपफ्ठं जाण ॥  
 इदं संकिताया अर्थलितपदेषु च्छायापकाया यदाकर्षणं तदा-  
 कृतानुसूच्यते तत्त्ववेदे अतसमितिकथायानां धारणरूपकणविनि-  
 प्रदाः सन्मध्यपदेन्यश्चोपरयो धर्मोः पञ्चोच्चिदमश्च एवं भिक्त्वा-  
 गते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं संहिताकरणं करोति । यस्तु पद-  
 छेदः ' मा ' इति पादपुरणे स विभागे विनावना प्रस्यते यथा  
 प्रतानां धारणं समितोनां रक्षणं कथायाणां निप्रद इत्यादि ।  
 यस्तु सूत्रार्थं कथनं सा अन्वोतेना सा कथं ब्रह्मणि प्राणातिपा-  
 ताविविदमणरूपाणि तेषां सत्यग्रप्रमत्तेन धारणं कर्त्तव्यम् ।  
 समितय ईशोसमित्यादयस्तासामेकाग्रचेतसा रक्षणं विधेय-  
 मित्यादिकस्य धर्मस्य यत्कर्ममैहिकाणुमितिक्रममङ्गलं तत्र-  
 रूपेण प्रवेदनं जानीयात् यथा ब्रह्मवर्णनीतमसंभ्रममुत्तिष्ठन्  
 इदं च भुवनवन्दनीयतायशःप्रसादाद्व्यां गुणा लपटोक्तं परञ्च  
 अ स्वर्गापवर्गमेवात्युप्राप्तिर्भवति इति एवं श्लोकोदाहरणानादिषु  
 भिक्त्वां गतेन विधीयमानेषु शोचानाह ।  
 एका वि ता महद्भा, किमंग पुण हौति पंच गाहाओ ।  
 साहृण लहुगा आणा-दिदोसा ते चेविमे अस्से ॥  
 एवं संहिताविविस्तारेण व्याख्यायमाना तावदेकाग्रिण ग-  
 था महती महाप्रमाणा भवति निमङ्ग पुनः पञ्च गाथाः ॥ अतो  
 योकाग्रिण गाथां कथयति तत्र चतुर्लुषुका आश्वादेशश्च  
 दोषाः । तथा चतुर्लुषुमादिहृत्तनष्टाहृदयस्त एवान्तरवृष्टोक्ता  
 दोषा भवन्ति । इमे च वचनमाणा अन्ये दोषास्तानेवाह ।  
 अर्द्धीकारगपोर्यग-सररुणामकररा चव ।  
 साहारापरिफुण्चे, गिहाणह्रद्गहा जा चरिमं ॥  
 भिक्त्वां पर्यटनं कर्मण्यगारिणमशुद्धां गाथां पठन्तं श्रुत्वा ब्र-  
 वीति विनाशित्येवं त्वया गाथा । तथा ( अर्द्धीकारगणितं ) गा-  
 थाया अर्द्धमहं करोमि अर्द्धं पुनस्त्वया कर्त्तव्यम् । ( पुर्यगणितं )  
 पुस्तकादेव शास्त्रमधीतं भवता न पुनर्मुषुका । ( सररु-  
 णितं ) किमेवं कर इवारटनं करोमि ( अक्खरा चेवन्ति ) अ-  
 क्खरायेव तायङ्गवाच जानीते अतः पट्टिकामानयाहं भवन्तं  
 तानि शिल्पयामि इत्यादिमुवाक्यो यावत्तत्र व्याघेयं करोति ता-  
 वत् इमे दोषाः ( साहाराणितं ) साधारणं सर्वेषु मिलितेषु  
 बन्मण्डलानां भोजनं तस्मिन्समयितरे साधयः तं प्रतीक्षमाणा-  
 स्तिष्ठन्ति ( पड्धिणिसिंसि ) तेन साधुना कश्चित् ग्लानः प्र-  
 क्षान्तः अथाहं भवतः प्रायोप्यमानेष्यामीति ततस्तत्र वेलाविल-  
 लम्बेन यत्सौ ग्लानः परितापादि प्राप्नोति तत्र चतुर्लुषु-  
 कादि चरमं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तमिति ह्यारगाया-  
 समासार्थः ।  
 सांप्रतमेनामेव व्याख्यानयति ।  
 जगविभग्मा गाहा, भणइं हीणा व जा तुमे जणित्ता ।  
 अइं से कोरि अइं, तुम से अइं पसाहेहिं ॥  
 साधुभिक्त्वां गतः सुपाण्डित्यव्यापनार्थं गृहस्थं पठन्तं श्रुत्वा  
 ब्रवीति येषं त्वया गाथा भसित्ता सा भद्रविद्या इति भणति  
 हीना वा कृता । यथा अर्द्धं ( से ) तस्या गाथाया अहं क-  
 रोमि अर्द्धं पुनस्त्वं प्रसाधय इत्येवमभिनवा गाथा कियते ।  
 मोत्यगपबगपरिणं, किं रडसि रासुठ व्व अत्रिलापं ।

अकयमुहु ! फल्यमाणय, जा ते लिवस्सं तु पंचमं ॥  
 पुस्तकप्रत्ययादेव भयता पठितं न गुरुमुखात् अतः किमेतेन  
 प्रयासेन किं वा त्वमेवं रासज इव अभिलापं विस्तारमागृह्यसि ।  
 यथा अकृतमङ्करस्कारेणासकृत्सं मुष्णं यस्यासायकृतमुक्त्वा-  
 स्यामन्त्येवं हे अकृतमुक्त्वा अपठिताशिक्षितः । एवं भयात्र किमपि  
 ह्यस्विति अतः फलं पट्टिकामानय येन तव योऽयमि एषा-  
 प्राणयङ्कराणि शिष्यन्तामस्मानिः । एवं भिक्त्वां पर्यटनं यदि वि-  
 कल्पते तत इदं प्रायश्चित्तम् ।  
 बहुगादीं छुगुरुगा, तवकालामिमेसिया चठगुरुगा ।  
 अधिकरणमुत्तरुचर-एसाएसंकाइ किन्दियम्मि ॥  
 गाथायामर्द्धीकारके च चतुर्लुषु, पुस्तके चतुर्लुषु, अक्षरशि-  
 क्षणे चतुर्लुषु, सररटने चतुर्लुषु, । अथवा तपकाशविशेषिता-  
 चतुर्लुषुकाः तद्यथा गाथायामर्द्धीकारकयोस्तपःकालान्वां लघुकाः  
 पुस्तके कालेन शुक्या अक्षरेषु तपसा गुरुकाः सररटने तपसा  
 कालेन च गुरुकाः । अधिकरणं च कलदस्तेन समं जयति उ-  
 च्यते गुरुकाः अतिक्रम्युक्तीः कुर्वन्त्येव तस्य भिक्त्वायां देशकालः  
 स्फिटति तस्मिन् स्फिटिते पर्यटनेष्वप्यथोः प्रेरणं कुर्व्यात् अकाल-  
 चारिणश्च शठकादयो दोषा जयन्ति ॥  
 वागिहृदिति इयसो जाव, तेण ता गहिय भायणा इपरे ।  
 अत्यन्ते अंतराय, एमेव य जो परिमुष्णो ॥  
 यावत्सौ तेन समुत्तरप्रत्युत्तरिकां कुर्वन् व्याघ्रहति व्याक्रे-  
 षेण वेलां गमयति तावदितरे साधवो गृहोत्तराजनाः सन्तः  
 आसन्ते ततोऽन्तरायदोषः । एवमेव यो ग्लानः प्रतिहस्तपदो-  
 म्यं प्रायोप्यमथ मया आनेनव्यमित्यर्थः ततस्त्विसंक्षयं तावन्ते  
 कालं बुद्धिकेने तिष्ठति तस्य साधोऽन्तरायं जयति ।  
 कान्नाइकमदाणे, होइ गिहाणजसं रोगपरिउहुं ।  
 परितावणमासति, चउइहृगा एव चरिमपदं ॥  
 कान्नातिक्रमेण च श्वानस्य जकपानदाने रोगपरिउद्धिर्भवति  
 तत्रच यदसाथनागादपरितापादिकं प्राप्नोति तत्र चतुर्लुषुका-  
 दिप्रायश्चित्तं यावत् कालगते चरमपदं पाराञ्चिकम् । इति-  
 यपदे गोचरप्रविशोऽपि परेण स्पृष्टः सन् कथयेत् । किं कारयमि-  
 ति चेदुच्यते ।  
 किं जाणोति य चरगा, हद्दं जहिचाण जे उ पण्डइया ।  
 एवंविधो अणणो, मा होइइं तेण कथयति H  
 यदा परेण प्रश्रितना अपि न कथयन्ति तदा स्वच्छिनयति किमे-  
 ते चरका जानन्ति ये हलं परित्यज्य प्रमंजिताः एवंविधोऽथवोः  
 प्रवचनस्य मा जूत् तेन कारजेन कथयन्ति । अथ "यगताण-  
 वा" इत्यादिसुष्यद्व्यविश्यासयाऽऽइ ।  
 एगं नायं उदगं, वागरेणपरिससकखणो भम्मो ।  
 गाहाइं सिलोमेहि व, समासतो तं पि उच्छा णं ॥  
 परप्रश्रितेन विवक्षितार्थसमर्थनार्थमेकं ज्ञानमभिधातव्यं तत्र  
 चोदकदृष्टान्तो भवति व्याकरणं निर्वचनं यथा केनचित् धर्मस-  
 क्तं पृष्टस्ततः प्रतिश्रयात् अहिंसासङ्गणो धर्मः । अथवा गाथाभिः  
 श्लोकोर्वा समासतो धर्मकथनं कर्तव्यं तदपि च स्थित्वा गोपवि-  
 षेन न वा भिक्त्वा हिण्डकमानेनेति निर्मुक्तिमाथासमासार्थः ।  
 अर्थेनामेव विवृणोति ।  
 नजइ अणण अत्यं, णायं दिहंते इति व एगहं ।

वागर्णं पुण जा ज-सस धम्मता होति अत्थसस ॥  
 हायते अनेन दाहोमितिकोऽथे इति हायं कथं एतन्त इति शेषार्थं व्याक-  
 र्णं पुनर्वयं यस्य मोक्षादेरर्थस्य धर्मता स्वभावस्तस्य निर्बन्धनम् ।  
 अथाकथं दहन्तो भाव्यते "एगो साह् उभयान्नाभिक्खारायिवाप  
 भवं गामं वव्वह तत्थ अंतरा गिहत्थां मिशितो ते दो व वंत्ता कं-  
 तरापदे उद्वं उषिण्णा सो अगारो गामं पविट्ठो तस्स य भगिणी  
 अत्थी तीप धरं पाहुणगो गतो । साह् वि भिक्खं हिंरंत्तो तं  
 धरं गतो प्रगिणीय पुरेकम्मं कथं साहुणा पडिसिद्धं । भगिणी-  
 य कदिंयं कीस न गिएहसि । साह् भणह उद्वगसमारजो न धह-  
 ह । अगारा जणति जे मय ससं पंथे उद्वं उषिणो सि नं किह  
 कपह अहो मायाविणो बुद्धिधम्मणां सि । साह् जणह न वयं  
 मायाविणो न वा बुद्धिधम्मणां किं तु " पयं सु परिहरामो,  
 कल्पेणं विवज्जणं न विज्जति हु पयं खहु सारज्जं, अज्जतो होह  
 अणवज्जो" प्राप्यमेव परिरद्धं शुकमेवयं दयं परिहरामः  
 स्य परिहर्तुं भ्रातृकस्य मार्गकमात्तात्तदकथाहकार्दवियंजकः  
 परिहर्ता न विद्यते अत एव प्राप्यं साराधं पुरःकर्मादिकं वर्ज-  
 यन् अनवधो निर्दोषो भवति । अपि च नायभ्रकान्तो यदेकत्रान-  
 वधनया हर्तं तदन्यत्र प्राप्यमेवधयेव ज्ञवति । तथाहि ।  
 चिरपाहुण्यतो भगिणिं, अत्रयारिंतो अदोसवं होति ।  
 तुं चेव मज्ज सक्खी, गरहज्जइ अस्सहिं काळे ॥  
 चिरकालादायातः प्रापूर्विको जगिनीभवकालामानः सस्नेहमा-  
 शिङ्गन् अद्योववान् भवति । तथा चात्र त्वमेव मम सत्सो प्रमाणं  
 सांप्रमत्तं भवता चिरप्रापूर्विकतया जगिनीपरिचक्षस्य कृत-  
 त्वादिति ज्ञावः । तामेव च जगिनीमन्यस्मिन् काले परिष्वजन्  
 गहोम निन्दते अत्रापि त्वमेव प्रमाणमिति । तथा ।  
 पादेहि अथादेहि वि, अगामिय तस्मि करीती अष्वा ।  
 संमिणं वि संकिज्जति, मव्वेव चित्तिक्का उविओ ॥  
 अत्रां प्रतिमा सा यावज्जायापि प्रतिष्ठिता तावदप्यैतैरपि पा-  
 देराकर्मोपदि च्छिन्वाऽपि क्रियते । सैव प्रतिमा चित्तिक्का चै-  
 त्स्वयेन स्वयस्थापिता शीर्षेणापि स्मर्ये शङ्कयते शिरसा स्पृश-  
 ङ्गिरपि शङ्का विधायित इति ज्ञावः ।  
 केऽ सररीरावयवा, देहत्था पूर्या न पुण विउता ।  
 सोहिज्जंति वणमुहा, मसोमि वूहे ए सव्वे उ ॥  
 केचित् शरीरावयवा वस्त्रकेशनकाद्यो देहस्थाः सन्तः पू-  
 जिताः प्रशस्ता भवन्ति न पुनर्विमुताः शरीरानुपधमरूनाः ।  
 तथा मणुष्याभ्यापि भ्रातृकस्यः पापुपद्वृत्तौ नि म्ले अये सति न  
 सर्वाधयपि शोभन्ते किं तु कानिचिरेवति ।  
 जइ एगत्थुवल्लंत्तं, सव्वन्थ वि एवमससी मोहा ।  
 जूमीतो होति कण्णं, किस्स सुवव्हा पुणो जूमी ॥  
 यदि नाम एकत्र यत्पुपल्लवं सर्वत्रापि तेन भवितव्यमि-  
 त्येवं मोहाद्वहानान् मन्यसे ततः कथय यूमीतः कनकमुप-  
 घमानं दृश्यते ततः सुवर्णोत्पुनरपि किं न भूमिः सम्पद्यते ।  
 तन्हा उ अण्येगंतो, वा दिड्ढेमेगत्था सव्वाहिं होति ।  
 लोपं भक्खमभक्खं, पिज्जपिज्जं च दिड्ढां ॥  
 तस्सावनेकान्तोऽनियमो यः कीदृश इत्याह । नैकत्र हर्तं स-  
 र्वत्रापि भवतीति । तथाच लोके प्राप्यत्कृते समानेऽप्योदनप-  
 कात्पादिकं भयं मांसवसादिकमभयं तफजलादिकं पेयं

मद्यपरिपादिकमपेयमित्सादीनि पृथक् व्यवस्थांस्तत्रापि ह-  
 र्णानि तथात्रापि उदकसमाग्म्यादी मत्तव्यानि गतमेकवातम् ।  
 अथैकव्याकरणेन यथा धर्मोऽभिधीयते तथा दृशयति ।  
 जं इच्छसि अण्यणतो, जं व एा इच्छसि अण्यणतो ।  
 तं इच्छ परस्स वि वं, इत्थियं ज्ञाणसासाण्यं ॥  
 यदात्मनः स्वजीवस्य सुखादिकमिच्छसि यच्च दुःखादिक-  
 मात्मनो नेच्छसि तत्परस्याप्यात्मव्यतिरिक्तस्य जन्तोर्निच्छ  
 आत्मवत् परमपि परयेति भावः । एतावत् जिनशासनमिय-  
 म्मात्रो जिनेपदेश इति । गाथया पुनरित्यं धर्म उपदिश्यते ।  
 सव्वारंज परिगह्—[शिक्षितो सव्वजुत्तसमया य ।  
 एकगमणसमाहा—एया अह एत्तिओ मोक्खतो ॥  
 सर्वस्य सुखमादादापेयजीवविषयस्यारम्भस्य सर्वस्य च  
 सच्चित्ताचित्तमित्येदमित्थस्य परिप्रत्ययगो निषेधः स न्यातो  
 यावत्सर्वभूतेषु समता, या च एकाग्रमनःसमाधानता, अ-  
 धैय एतावान् मोक उच्यते । कारणे कार्योपचारादपेो मो-  
 क्षोपाय इत्यर्थः । त्स्त्रोकेन यथा ।  
 सव्वजुत्तपणुत्तसं, समं जूताइ पासउ ।  
 पिड्ढिया सम्मसस दंढसस, पावं कम्मं न बंधइ ॥  
 पाठिसिद्धः । येतु संस्कृतकथयस्तेषामिदं गाथया त्स्त्रोकेन वा  
 धर्मकथा क्रियते । "व्रतसमित्तिकवापार्यां, धारणस्यएयविनि-  
 प्रहाः सम्यक् । दृष्टेऽप्येवमोपगमो, धर्मः पञ्चेन्द्रियवन्मभ्य ॥ यत्र  
 प्राशियवधो नास्ति, यत्र सत्यमनिन्दितम् । तत्रात्मनिप्रहो हृष्टः  
 स धर्ममपि रोचयेत्" ।  
 अथ किं कारणं स्थित्या धर्मः कथनीय इत्याशङ्क्याह ।  
 इरियावहियावधो, सिक्कं ए गिाएह अतो उिष्वा ।  
 नदिह्णो पिण्णोप, अत्रिभ्योगे बहउहा [ वि परेण ॥  
 इर्यापथिको चक्रमण्यक्रिया तां कुर्वन् यदि कथयति तदा  
 लोके अर्थो भवति दुर्दृष्टधर्मोऽपी यदेवं गच्छन्तो धर्म  
 कथयन्ति अपि च शिष्टमपि कथितमपि धर्ममेवं भोता न शु-  
 द्धानि । अतः स्थित्वा एकस्त्रोकादि कथनीयव । अथापवाद  
 उच्यते कश्चिद्भक्तो धर्मभञ्जालुः अस्मिन् धर्मं पृच्छ-  
 ति ततः सत्त्वानुकम्पया प्रवचनोपग्रहकरत्वं भविष्यतीति  
 कृत्वा तिरस्त्रतः पञ्च वा बहुरत्रा वा गथा उपविश्रव  
 कथयितव्याः । प्रत्यन्तो का कश्चिद् व्यतिव्रजति तं  
 प्रतीक्षमाणस्तावकर्म कथयेत् यावदसौ व्यतीतो ज्ञवति ।  
 यद्वा स प्रत्यन्तोः सत्सदा हृष्टो भवेत् ततो यः सत्प्रियः स  
 उपासमानानिमित्तं बहुविधमुपदेशं दद्यात् । दृष्टिकथस्य वा अ-  
 भियोगो बलाकारो भवेत् । किमुक्तं ज्ञवति । एकस्त्रोकेन धर्मं उ-  
 पदिष्टे दृष्टिकर्तुं ह्यात् कथय कथय मे संप्रति मइती भक्ता व-  
 र्तेत ततश्चतुर्णां स्त्रोकानां परतोऽपि कथयेत् । ग्राह कीदृशी  
 पुनः कथा कथयिनस्या कीदृशी वा नेति ।  
 सिंगाररसुत्तिया, मोहमई कुकुका इसहसेति ।  
 जं पुण माणुस्सकहं, समणोणं तु सा कहेपव्वा ॥  
 यां कथां शृण्वतः भोतुः स्त्रीसुवर्णकादि अयणजितो रससस ग् ।  
 ज्ञारो नाम रसस्तेनोपेजिता सती मोहमयी कुकुका ( इसह-  
 ससि ) ज्ञाज्वल्यते सा कथं अवनेन कथयितव्या ।  
 समणोणं कहेपव्वा, तवनिपयमकहा विरामणुत्थचा ।

अंतरगिह

जं सोऽङ्ग मणूसो, वचस्व भवेगमिण्ये ॥  
 तपोऽनानादि नियमा इच्छियनिग्राहस्तपधाना कथा तपो-  
 नियमकथा विरगसंयुक्ता न निदानादिना रगादिंसंगता ध-  
 मनेन कथयितव्या यां श्रुत्वा मत्पुत्रः श्रोता संवेगनिर्वेदं ब्रजति ।  
 संबंभो भोक्षामिभलायो निर्वेदः संसारचैराभ्यम् ।  
 महाभ्रतानि न गृह्णातं कथनीयानि ।

(श्रुत्वम्) नो कप्यं निगंधाणं वा निगंधीणं वा अंतरगिहमि  
 इमां पंचमद्वन्द्यायां सजावणां आदिसिचत्प वा विजावि-  
 चत्प वा किट्टिचत्प वा पंचयत्प वा नक्षत्र्य एगनाएण वा  
 जाव सिखाएण वा सेविप त्रिचत्पा नो चेष णं अद्विचत्पा ।

अस्य व्याख्या प्राक्सुत्रवदं द्रष्टव्या । नक्षत्रम्-इमानि स्वयमनु-  
 न्युयमानानि पंच महाभ्रतानि समाधानानि प्रितरतं प्राधान्या-  
 युक्तानि शक्यान्तं वा विजाचयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा  
 न कल्पते । आश्रयानं नाम साधुनां पञ्च महाभ्रतानि प्राधान्यायुक्ता-  
 नि यद्कारयत्कृणसाराणि भवन्ति । विभाजनं तु प्राणातिपातादि-  
 रमणं यावत्परिग्राहद्विरमणमिति । प्राधान्यास्तु "इरियासमिप स-  
 या जप इत्यादि" गाथोक्तस्वरूपाः वदुःपास्तु पृथिव्याद्यः को-  
 र्त्तनं नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा सा जगवती सर्ववमनु-  
 जासुरस्य लोकास्य पूज्या श्रायं गतिः प्रतिष्ठेत्यादि एवं स-  
 र्वेषामपि प्रसन्न्याकरणशुक्लान्कान् गुणान्कीर्त्तयति प्रवेदने तु मा-  
 हाभ्रतानुपालनात् स्वर्गोऽप्यर्था वा प्राप्यत इति सूत्रार्थः । परः  
 प्राह । ननु पूर्वसूत्रेण गताधर्मिदमतः किमर्थमभ्यर्त्थेन उच्यते ।  
 गृहियागाहियविसिमा, गाथायुक्ता तु होति वयमुत्ते ।  
 पिदेसकतो व नरे, परिगन्तव्यो व विमयी ॥

गाथासुवाङ्गतसुत्रे पठितो मन्थितः कथितो विज्ञानेन भव-  
 ति अनन्तरसुत्रे चउगाहं वा पंचगाहं वा इत्येकं तत्रैव गोप्यं भवि-  
 ता भवति इमानि तु महाभ्रतानि प्रथितानि अग्रयितानि या भव-  
 न्प्रथितानि नाम पद्पाठबन्धने वा श्लोकबन्धने वा यद्वानि क-  
 थयति अग्रप्रथितानि तु मुक्तैरेव वचनेर्याभिधीयन्ते यदा  
 निर्देशः कृतोऽत्र विशेषो भवति अनन्तरसुत्रे वतुगंधं पञ्चगाथं  
 वा कथयितुं न कल्पते इत्युद्देशमात्रमेव कृतम् अत्र तु महाभ-  
 रतानि स्वभावात्कानीत्यनेन तस्यैव विशेषनिर्देशः क्रियते । परि-  
 गानकृतो वा विशेषो विदेशः । यदधस्तनयने धर्मस्वरूपमुक्तं  
 तद्वाच्यं महाभ्रतमञ्जकमिति संख्याया विशेषो निरूप्यते ।

प्रायात्रैव दोषानाह ।

पंचमद्वन्द्यायतुर्गं, जिगावयणं जाणापाणिणद्वंम् ।  
 मादृशुद्धगुणा आणाद-दोसं जं वा णिसिजाए ॥

इह जिनवचनं मेरुसदृशं पञ्चनिर्मदात्मैरुतुङ्गमुत्कृतं पञ्च-  
 महाभ्रतमयोक्त्वातन्त्ययसत्यैव महाभ्रतोऽङ्गितस्य रक्षणार्थं  
 भावनाभिः पञ्चविंशतिसंख्याकैभिः पिनकं गादतरं नियन्त्रि-  
 त्वाद्दृशं जिगवचनमन्तरगृहे उपविश्य कथयन्तमुत्तंशुकाः जि-  
 ग्राहव्या दोषाः । यदा गृहनिपद्यायां वाहितयां प्रायश्चित्तं यच्च  
 दोषजालं तद्वाप्यथे । तथा महाभ्रतपञ्चकविषया दोषा भवन्ति ।  
 प्राशुबधमापद्यते प्राणधधे वा शुकुधधे । एवं यावत्परिग्रहमापद्यते  
 परिग्रहं वा शुकुधधे । तथाहि ।  
 पाणवड्मिमु गुजनेण, कण्ठहादाणए य मंकाभ्रो ।  
 जण्डिऊए दाइ कोइ, मोसविपं संकया साए ॥

गृहे उपविश्य साधुधर्मं कथयति शुद्धिं च तस्यान्तिके उ-  
 पविश्य शुणोति वायुव्यासी तत्र तिष्ठति तावत्सदृशं यमोऽस्वाहा-  
 रव्यचन्द्रेन विपुलिभवेति । एवं प्राणवधो लगति । तथा ध-  
 र्मं कथयतः काश्चिद्विरतिका श्लेषस्येवापान्तराले कायिक-  
 चूर्णं गच्छेत् स च पुनस्तथैवास्ते ततः सपत्नीं क्षिप्रं लभन्वा-  
 तत्पत्नयं मिषेण साधोरप्रतो निपात्य ङ्कवति एवं प्राणातिपात-  
 विषया शङ्का जनेत् । तथा यथार्थं कुरैः प्रतियिक्तं तस्यया न क-  
 सेव्यमिति प्रतिहातेः प्रतियिक्तां निपद्यां वाहयतो श्रुवावादां भव-  
 ति । यद्वा स्वमुक्तं गृहनिपद्यां निपत्य पञ्चाङ्गात्मनैव तां परि-  
 शुञ्जानो श्रुवावादापद्यते । अथवा सा दिने दिने तस्या अविर-  
 तिकाया भये धर्मं कथयति ततो गृहस्वमिना भगिनो मे मम  
 गृहं नायासीरिति । साधुना प्रश्रितम् । आगमिष्यन्ति ते गृहं पा-  
 णगुणका पञ्चमुक्त्वाऽपि जिह्वाभोस्तदिदोषेषु तदेव गृहं म-  
 जन् भगिनोऽपि तेन गृहस्थेन धारितोऽपि कश्चिद्विति एवं श्रुवा-  
 वादाऽपि । स च गृहस्थो भूयति किं पाणजुक्तः संयुक्तोऽ  
 स्तीति । यद्वा गृहस्थो जोजनं कुर्वेत् धर्मं श्लेषतोमगरीं किम-  
 प्युक्तं द्वितीयाङ्गं याचेत् सा इयाव गुना भक्तिम् । अगारो  
 स्यात् जानाम्यहं तं श्वानं येन ज्ञकितमिति । एवं श्रुवावादि-  
 वषया शङ्का भवेत् । अथाप्य एव पुरोऽहं व्याचष्टे ।

शुद्धिं वा पिपासिया वा, मंदक्रेणं न तस्स उड्डे ।  
 गन्तस्स अंतरायं, वाधिज्जे मंनिरोपेणं ॥

शुद्धिंशी धर्मकथां श्लेषतो शुधिता वा पिपासिता वा भ-  
 वेत् सा च तस्या साधोः संबन्धिनो मन्दाक्षेण लज्जमाना ति-  
 ष्ठति ततो गर्भस्यान्तरायं भवति । तेन साधारणवचस्वद्वेषल-  
 णेन संनिरोधेन स गर्भो वाप्यथे । ततो व्यापत्तिसंयुक्तो  
 प्रपुञ्जवर्ति प्राणवधमापद्यते ।

अथ प्राणवधविषयशङ्कां दर्शयति ।  
 उक्त्वावितो सो हत्या, बुत्तां तस्सग्गतां णिवारिच्चा ।  
 सुण्णे व विवारगते, हाहं चि स चित्तिणो डुएति ।  
 अविग्निकाया अग्ने स धर्मं कथयति सा चापान्तराले का-  
 यिकायधं निर्गता ततस्तस्यां श्लेषतो आधिकायां विचार-  
 भूमौ गतायां सपत्नी तदीयं पुत्रं तस्य साधोरप्रतः उक्त्वाप्य  
 भूमौ महस्यैव निपातयति निपात्य च अहो अनेन अमशेन  
 अयं पुत्र उक्तिः सधेनवीर्यहस्ताच्छुतो शिष्य इति महता  
 शयनेन हातिपुकारं करोति । ततो भूयान् लोको मिलितस्त्वं  
 साधुं तव स्थितं हङ्गा शङ्कां कुयात् किमेतत्सत्यमेवेदमिति ।  
 श्रुवावादापप्रकाराः सप्रपञ्जमुक्त इति न भूयो भाष्यते ।

अथादत्तदानमैथुनयोर्दोषानाह ।

मयमेव कोइ बुद्धो, अपहरती तं पुदुक्क कम्मकरी ।  
 वाणिगिणो मेहुप्प, बहुसो य चिरें व संका य ॥

काश्चिन्नो लुब्धः सन् विजनेन मत्वा स्वयमेव सुवर्णकलिकां  
 मुद्रिकामपहरति एवमदत्तदानमापद्यते । तं वा संयतं प्र-  
 नीत्य "मायुत्रत्रायं शङ्क्यते नाहमिति" कृत्वा कर्मकारी का-  
 च्चिदपहरत् । वाणिजिका वा कश्चिप्रोपितभर्तृका तथा सत्तं  
 मैथुनविषया आत्मपरोभयसमुत्था दोषा भवन्ति । अथवा  
 यत्र प्राणपतिकस्तित्तमिति तत्रास्ती बहुयो वारं ब्रजति  
 चिरं च ताभिः सह कन्दर्पं कुयास्तिष्ठति ततश्चतुर्धवि-  
 षये शङ्कयेत् ।

अथ परिग्रहद्रोषमाह ।

धर्मं कहेइ जस्स उ, तस्मि उ वीधारए गए संते ।

मारक्खणपरिमाहो, परेण दिट्ठम्म उड्ढाहो ॥

यस्य श्रावकवैरेभे धर्मं कथयति स इत्यादौ यावत्पूर्वं कायिकीं म्युत्सृज्य श्रम समागच्छामि तावज्जता गृहं रक्षणीयमेव-मुक्त्वा तत्र विचारभूमौ गते स संयतो यावत्तूहं संरक्षति तावत्परिग्रहद्रोषमापद्यते तदेवं गृहं रक्षन् परेण उच्यते स शङ्कां कुर्यात् नूनमेतस्यापि हिरण्यं सुवर्णं वा विद्यते उड्ढाहं च स कुर्यात् श्रमो श्रयं श्रमयुक्तः सपरिग्रह इति । यत एते द्रोषा श्रमो नान्तरगृहे धर्मकथा कसव्यां ।

द्वितीयपदमाह ।

एगं छायां उदकं, वागरणमहिंसकखणो धम्मो ।

गाहाहं मिलोमेहि उ, सपासतो तं पि त्तिवा एं ॥

गतार्थं च । वृ० ३ उ० ।

अंतरजाय-अन्तरजात-म० भाषाच्छब्दात्तमेदे, यामि दन्या-यि अन्तराहं समभ्रेणयामेव निस्सृष्टामि तानि प्रायपरिणामं जजन्ते तावन्तरजातमुच्यते आचा० २ कु० ४ अ० ।

अंतरणइ- ( श्री )-अन्तरनदी-श्री० चुद्रनदीपु,

यत्र यावत्यांऽन्तरनद्यस्तत्प्रतिपादयति ।

जंबूद्वारस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणइए उचरेणं तत्रां अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा गाहावई दहवई पंकवई । जंबूद्वारपुरच्छिमेणं सीयाए महाणइए दाहिणेणं तत्रो अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा तत्तजला मत्तजला उम्मत्तजला । जंबूद्वारपञ्चच्छिमेणं सीओदाए महाणइए दाहिणेणं तत्रो अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा खीरोदा सोहसोया अंतोवाहिणं । जंबूद्वारपञ्चच्छिमेणं सीओदाए महाणइए उचरेणं तत्रो अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा उम्मियालिणी फेणयालिणी गंजोरयालिणी । एवं धायइरखंदीवपुरच्छि-मद्वे वि । अकम्मजुमीओ आदवेत्ता जाव अंतरणदीओ चि गिरवसेसं जाणियव्वं जाव पुक्खवरदीवहूपञ्चच्छिम-द्वे तदेव गिरवसेसं जाणियव्वं ।

अन्तरनदीनां विष्कम्भः पञ्चविंशत्यधिकं । योजनशतमित्ति स्या० ३ उ० ॥

जंबूद्वारपुराच्छिमेणं सीयाए महाणइए उजयकूले उ अंतरणइंओ पसत्ताओ तेजहा गाहावई दहवई पंकवई तत्तजला मत्तजला उम्मत्तजला । जंबूद्वारपञ्चच्छिमेणं सीओयाए महाणइए उजयकूले उ अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा खीरोदा सोहसोया अंतोवाहिणी उम्मियालिणी फेणयालिणी गंजोरयालिणी स्या० ६ उ० ॥

संमहेण

दो गाहावईओ दो दहवईओ दो पंकवईओ दो तत्तजला-ओ दो मत्तजलाओ दो उम्मत्तजलाओ दो खीरोयाओ दो सीहसोयाओ दो अंतोवाहिणीओ दो उम्मियालिणीओ दो फेणयालिणीओ दो गंभीरयालिणीओ ॥

विषकूटपक्षकूटयज्ञस्कारपर्वंतयोस्तरे नीलवर्षधरपर्वेतानि-म्बव्यवस्थितत्वाद् प्रादवतीकुण्डाह्निष्णोरणयानिगंता अष्टा-विंशतिनदीसहस्रपरिचारा सीताधिगामिनी सुकच्छमहाकच्छ-विजययोर्विभागकारिणी प्रादवती नदी । एवं यथायोगं द्योहो-योर्वैकृष्कारपर्वंतयोर्विजययोस्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया इन्द्रशा-प्यन्तरनद्यो योऽप्यास्तद्विन्द्वं च पूर्ववदिति स्या० २ उ० ( पूर्व-पश्चिमार्कोपकथा द्विगुणव्यदिति )

अंतरदीव-अन्तरद्वीप-पुं० अन्तरराष्ट्रदो मध्यवाची अन्तरे लघ-णसमुद्रस्य मय्यं द्वीपा अन्तरद्वीपाः प्रहा० १ पद । अथवा अन्तरे परस्परं विभागस्तत्रप्रधाना द्वीपा अन्तरद्वीपाः । एकोर-कादिषु अष्टाविंशतिविधद्वीपवेषु, स्या० ४ उ० ।

मं किं तं अंतरदीवया ? अंतरदीवया अजावीसविहा प-सुक्का एमोक्का अहामिया वसंणिया णंगोली ३ इयकख गयकभा गोकभा सकंझिन्ना २ आयंसमुहा मंडमुहा अय-मुहा गोमुहा ३ आसमुहा हत्थियमुहा सीहमुहा वग्गमुहा ४ आसकन्ना सीहकन्ना अकन्नः कषपाउरण ५ उक्का-मुहा मेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदेता ६ घणदेता लहदंता गृदंता सुददंता उ सत्तं अंतरदीवया ।

एवं किं तिमिन्यादि सुगामं नवचन्द्राविंशतित्रिधा इति यादृशा सर्वं यावत्प्रमाणं यावद्वपान्तराहा यक्षामानो हिसम्पदपर्वंतपुर्वा-परदिक्क्यवस्थिता अष्टाविंशतिविधा अन्तरद्वीपास्तदृशा एव तावत्प्रमाणास्तावद्वपान्तराहास्तत्प्रमाणं एवं शिखरिपर्वंतपुर्वा-परदिक्क्यवस्थिता अष्टप ततोऽप्यन्तसुवृक्षतया व्यक्तियेभ्रमनपेक्षे अन्तरद्वीपा अष्टाविंशतिविधा एव विवक्षिता इति तज्जज्ञात्त म-नुष्या अपि अष्टाविंशतिविधा उक्तास्तानेव नामप्राहमुपदर्श-यति " तेजहा एतोरथा इत्यादि " एवं सप्त चतुष्का अष्टाविं-शतिसंख्यत्वात् एते च प्रत्येकं हिमवति शिखरिण तत्र हिम-चक्रतया तावज्जव्यन्ते ( प्रहा० १ पद ) इह एकोरकादिनामा-नो द्वीपाः परं तात्स्थ्यात्तद्वपदेश इति न्यायान्मनुष्या अय्येकां-रुकाद्य उक्ताः यथा पञ्चालेदंशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति । जीवा० ३ प्रति० । एतेषु सप्तसु चतुष्केषु प्रथमअनु-ष्कः । तथा च एकोरकमनुष्याणामेकोरकद्वीपं पिपुच्छिपुराह ।

कहिं एं भंते ! दाहिणिष्णाणं एगुरुक्यमणुस्साणं एगुरुक्यदीवं णामं दीवं पन्नते ? गोयमा । जंबूदीवं मंदरस्स पण्ययस्स दाहिणेणं चुद्धिहमवत्तस्स वाइरपण्ययस्स उचरपुरच्छिभि-द्वाओ चरिंमंताओ सवणनमुष्टं तिस्मि जांयणसयाइं उग्गा-हिता एत्य एव दाहिणिष्णाणं एगुरुक्यमणुस्साणं एगुरुक्यदीवं नामं दीवं पसत्ते तिस्मि जांयणसयाइं आयामविकसंजेणं एव एकूपणएणे जांयणसए किंचि विसेसुणे पारंकेवणं । सेणं एणाए पडमवरवेइयाए एणेणं वणसकेणं सव्वओ सपता संपरिकखेत्ता सेणं पडमवरवेऽया अद्दजायणं उक्कं उच्च-चेणं पंच धेणुंसेयाइं विकसंभेणं एगुरुक्यदीवसमंता परि-कस्सेवेणं पन्नत्ता । तीनेणं पडमवरवेऽया अयमेयाकूवे व-न्नावासे पन्नत्ते तेजहा वयरामया निम्मा एव वेतिया व-न्नओ जहा रायपसेणीए तद्दा भासियव्वा । सेणं पडम-

वरवेद्या एतेषां वणसंभेणं सव्वओ समंता संपरिकित्ता  
 णं णं वणसंभेणं देमूणां दो जोयणां चकवालाविकसं-  
 भेणं वेद्या समए परिकित्तेवेणं पन्नचे से णं वणसंभे कएद्वे  
 किएहोवभासे एवं जहा रायपसेणजे वणसंभवन्नओ त-  
 हेव निरवसेसं भाणियच्चं । तएण य वननगंधफासो सरो  
 तएणं वा वीओप्यायपव्वयगा पुदविसिळा पट्टगा य जा-  
 णियव्वा जाव तत्थ एं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ  
 य आमयंति जाव विहरंति । एगुर्यदीवस्स णं दीवस्स  
 ओंओ बहुसमरमणिजे ज्जुमिजांग पन्नचे से जहानामए  
 आलिंगपुक्खरेइ वा एवं सयणीए भाणियच्चे जाव पुदवि-  
 सिळापट्टगं ति । तत्थ णं बहवे एगोर्यदीवया मणुस्सा य  
 मणुस्तीओ य आमयंति जाव विहरंति । एगुर्यदीवे णं दीवे  
 तत्थ तत्थ देसे तद्धि तद्धि बहवे उदाइका मोंदालका  
 कोइालका कतमाला नत्तमाला खट्टमाला मिंगमाला सं-  
 खमाला दंतमाला सेलमाला गाम दुमगणा पन्नचा मम-  
 णाउसो । कुमविकुसविमुद्धकखमला मूलमंतो कंदमंतो जाव  
 वीयमंतो पत्तेहि य पुप्फेहि य अच्चन्नपरिच्छन्ना मिरिए  
 अइव २ सोभेमाणा ओयसो जेमाणा चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं  
 दीवे तत्थ तत्थ बहवे हेरुयालवणा जेरुयालवणा मेरुया-  
 लवणा मेरुयालवणा मालवणा मरलवणा मन्नपएणवणा  
 प्पफडिवणा खज्जुरीवणा नालिपरवणा कुसविकुस जाव  
 चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे तिलयाइउत्ता  
 नगोहा जाव गयकखा एंदिक्खा कुसविकुस जाव चि-  
 ट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ उपमलयाओ नागज-  
 याओ जाव मोमलयाओ निच्चं कुममियाओ एवं जयावन्नओ  
 जहा उववाइए जाव पकिरुवाओ । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ  
 बहवे सिग्गियुम्मा जाव महाजाइगुम्मा तणुगुम्मा दसक्क-  
 वन्नं कुमुपं कुमुपेंति जेणं वायविहुल्लगसाळा । एगुर्यदी-  
 वस्स बहुसमरमणिजं ज्जुमिजांग मुक्कपुक्कपुंओवयारकलिंयं  
 करेंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ वणराइओ पन्नचा-  
 ओ ताओ णं वनराइओ किएहाओ किएहोवभामाओ जाव  
 रम्माओ महामेहणिएगुसंवेज्याओ जाव महता गंधश्रीं सुयं-  
 ताओ पामाइयाओ । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे मत्तंगा  
 नाम दुमगणा पन्नचा समणाउसो । जहा से चंत्थपमणिसि-  
 लागवरसीधुपवत्तारुणिसुजायफलपुक्कचोणित्ता संसार-  
 बहदुक्खनुत्तिसंमारकाइसंधियआमवमदुमैरगरिइधदुइजा-  
 इपन्ननेत्तगा स ताओ खज्जुरमुदियासारका विमायाण-  
 सुपक्खोऽयरमवरमुगवणसरसंगंधफरिसुत्तबलवरीरियप -  
 रिणामा मज्जविधिं य वहुप्पगागा तदेव ते मत्तंगया वि दुम-  
 गणा अणेगवहुविहवीसमा परिणयाए मज्जविट्ठीए उव-

वेया फलेहिं पुष्पा विव विमट्ठंति कुमविकुमविसुद्धकखमला  
 जाव चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे भिंग्गण एणम  
 दुमगणा पन्नचा समणाउसो ! जहा से चारंगधककरक-  
 इसककरिपायकंचाएउत्तलकवद्धिणमुपइहकविट्ठा पारावस-  
 गा भिंगारा करोमिसरंगपरंगपत्तीयाहाणिक्कगचबलियअ-  
 यपलगवालविचिचत्तदकमणित्ठकसिप्पिसारपिणइकंचाए-  
 मणिरयणभाचिचिचिचिचिभायणविह्वहुप्पगागा तदेव तेत्थि  
 जिंमंगेया वि दुमगणा अणेगवहुविह्वहीसमा परिणया-  
 चाए भायणविहीए उववेया फलेहिं पुएणा विव विसट्ठंति  
 कुसविकुस जाव चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे  
 तुर्यंगा नाम दुमगणा पन्नचा समणाउसो ! जहा  
 से आलिंगपयखददपरकह्मंकिमाभंभातहोवंकिणियख-  
 र्मुहिसुयंगसंखियपरिइए पव्वगा परिवायणच्चंसवेणुवी-  
 गोमुथोसगविपंचमहकिक्कत्तिरिक्खसतफलाकंमालता -  
 इकसंपत्ताओ आतोयविधिंए एणउणगंधव्वसमयकुस-  
 लेहिं फांदिया तिहाएकरणसुक्का सहेव ते तुभियंगा  
 वि दुमगणा अणेगवहुविहवीसमा परिणयाए ततवितत-  
 वंधणसिराए चत्तव्विहाए आतोउज्जविहीए उववेया फलेहिं  
 पुएणा विव विमट्ठंति कुसविकुमविसुद्धकखमलाओ जाव  
 चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे दीवमिहा  
 एणम दुमगणा पन्नचा समणाउसो ? जहा से संभवि-  
 रागममए नवनिसीहपित्तो विदंविद्या चकधाइचं देप्य-  
 वट्ठिपल्लत्तज्जणोहिं विउज्जदिय तिमिरमएए कणगानिकर-  
 कुमुमियपारिजायघणप्पगसे कंचाएमणिरयणविमलमहरि-  
 हत्तवाएज्जुजलविचिचत्तदंरुहिं दीवियाहिं सहसा पज्जा-  
 द्दिओ सविगणिक्कतेयदोप्यंताविमल्लगहागसमयपट्टाहिं वि  
 तिमिरकरकमूरपरसिउज्जोवविद्वीयाहिं जालाउज्जलपह-  
 मियाभिंगायाहिं सोजनायाहिं सोजमाणा तदेव ते दीविसि-  
 हा वि दुमगणा अणेगवहुविहवीसमा परिणयाए उज्जो-  
 यविहीए उववेया फलेहिं कुसविकुस जाव चिट्ठांति ।  
 एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे जोइसिया नाम दुमगणा  
 पन्नचा समणाउसो ! जहा से अचिरुग्गयसरयसूरमंरु-  
 पंरुत्तककामहसदोप्यंताविउज्जलइदुयबहुनिज्जुमजालि-  
 निच्छंतोयत्तत्तवणित्ठज्जिसुया सोभाजामुयणकुमुमविमउ-  
 दियपुंजमणिरयणकिरणजच्चिंहुत्तयतिरयक्खाइरंरुवा त-  
 हेव ते जोतिंसिहा वि दुमगणा अणेगवहुविह्वहीसमा  
 परिणयाए उज्जोयविहीए उववेया धुल्लेसा मंदलेसा मंदा-  
 तवलेसा कुरांगणट्टिया इन्नेोन्नमंमंगाराहिं हेसाहिं माए  
 पमाए तेयसा सव्वओ समंताओ जासंति उज्जोवंति  
 पनासंति कुसविकुम वि जाव चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं

दीवे तस्य बहवे चित्तंगा नाम दुमगणा पञ्चत्ता समणाउसो !  
 अहा से पेच्छायरे व्व चित्ते पमेव कुमुदाममाला कुमु-  
 ज्जलेमा जासंतमुक्कुपुंजोवयारकसिण्णं विरक्षियविचि-  
 चमल्लामिरिसमुदप्पगारंभे गंमियभेदियपूमिसंधयमेणं मल्लं  
 छेयसिरिषविजागरइएणं सव्वओ समंता चेव समयुवच्छे प-  
 विरललंबंतविप्पइहेट्ठिं पंचवकोहिं कुमुदामेहिं सोजपाणा  
 बनमालकतगए चेव दिप्पमाणे तद्देव ते चित्तंगया वि दुम-  
 गणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए मल्लविट्ठीए उव-  
 वेया कुसविकुस वि जाव चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं दीवे  
 तस्य बहवे चित्तरसा नाम दुमगणा पञ्चत्ता समणाउसो !  
 जहा से मुगंधरकलममाक्षित्तंउल्लविस्सिण्णिरुवथहुद्धर-  
 च्छे सारयवयमंरस्संरमभुमेलिए अइरसे परमभे देज्जउत्त-  
 येगवभगंधमत्ते रखो जहा वावि चक्कवट्टिस्स होज्ज निउणे-  
 हिं सूपुरिसिंहिं सज्जिए चाउरकपमेयसिचे व आदोये  
 कसमसाक्षिण्णव्वातिए विवक्केसेवक्फमिउविसयसगल्लसित्थे  
 अणेमालणएगसंजुचे अहवा पान्नुवदब्बुवक्खवेदे सुसकए  
 वषणंधरसफरिसजुत्तवन्नवोरियपरिणामे इंधियवद्वबक्खणे  
 खुप्पिवासासहणे पहाएगल्लकटियव्वंइमच्छंति उवणीय व्व  
 मांयगे मखइसमित्तिगन्ने ह्वेजेजा । परमइहगसंजुचे जहेव  
 ते चित्तरसा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिण-  
 याए भायणविट्ठीए उववेया कुसविकुस जाव चिद्धंति ।  
 एगुर्यदीवे णं दीवे तस्य बहवे मणियंगा नाम दुमगणा पण-  
 चा समणाउसो ! जहा से हारद्धहारवैटणएमउरकुंडलवा-  
 नुज्जमहंमजासमणिएजासकएगजासगमुत्तगउचित्तियकदग-  
 खइयएगावलिकेठमुत्तमगराउरत्थमेवेज्जसोणिएसुत्तमच्चूड-  
 मणिकएगतिलगफुल्लगसिद्धरिययकसवालिस्सिसमूरउसज-  
 चक्कगतसभंयेयतुहियहृत्थमास्रगवसंखसदीनारमाक्षिया चंद-  
 मूरमाक्षिया हरिसयकेयूरवन्नियपासंबंअंगुल्लिज्जगंभीमेह-  
 लाकलावपरकपायजान्त्वयित्थिवरिखिययएरुजास्रउदि-  
 वरनेउरवन्नएमाक्षिया कणगणिममालिया कंचणमणि-  
 रयणभत्तिचिच्चन्नसुसणविट्ठी बहुप्पगारा त्तेव ते मणियंगा  
 वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए नूसणवि-  
 ट्ठीए उववेया कुमविकुस वि जाव चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं दीवे  
 तस्य बहवे गेहागारा नाम दुमगणा पञ्चत्ता समणाउसो !  
 जहा से पगारट्टासगचरियागोपुरपासायागामसतलगमंदवए-  
 गसास्रगचाउसाल्लगवन्नयरोभेएयरवन्नियरचित्तसास्र-  
 गमालियजत्तियरवहत्तंसंदिपायचमंठियावत्तपंफुरतल्लुपुत्ता  
 सहाम्मियअणंभवलहरअदुससावहंविक्कमतसेसइसंसेसंदि-  
 थक्कहारगमुविहिकोह्मगअणेगयरसरण्णेएअविणविदंगजास्र-  
 चंदनिव्वुइअपवरककरोत्तासिचंदसाक्षिविभत्तिकसिता जव-

णविही बहुविगप्पा त्तेव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगबहु-  
 विविहविस्ससा परिणयाए मुट्टारुइयसुहोत्ताराए मुहनिक्क-  
 मणपवेसाए दइसोपाएपंतिकसियाए पइरिचाए सुहविहाराए  
 मणाण्णुक्कलाए भवणविट्ठीए उववेया कुमविकुस वि जाव चि-  
 द्दंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तस्य बहवे अणिएगा नाम दुमगणा  
 पञ्चत्ता समणाउसो ! जहा से अणेग आइगरवोमत्तएयवन्व-  
 लदुगल्लकोसेज्जकास्रमित्तपट्टचीणअसुत्तवन्नावरणातवारवा-  
 णगपच्छआभरखचित्तमहिणकल्लआणगजिगमेहल्लकजल-  
 बहुवन्नरत्तपीयमुक्किल्लभरकयमिगल्लोमहंमक्कल्लग अवरतगसि-  
 न्नुउसभदामिस्सविगकसिंमनसिण्णेतुमयुभत्तिचिच्चा वत्थविही  
 बहुप्पगारा ह्वेज्ज वरपट्टएगुत्ता वएखारागकाक्षिया त्तेव ते  
 अणियाए वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए  
 वत्थविट्ठीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिद्धंति ९० । एगु-  
 र्यदीवे णं जंते ! दीवे माणुयां कौरिसए आगरभावपडां-  
 यारं पम्भते ? गोयमा ! ते णं माणुया अणनिवरसोमवाक्खवा  
 भोगुत्तमा भोगलक्खणपरा जोगमास्सीरिया सुजायसव्वं-  
 गमुंदरंगा सुपट्टिक्कम्भचारुक्खला रत्तुप्पलपत्तमत्तयसुकु-  
 मास्रकोमस्रतेला नगणगरपगरसागरचक्कहंरकंजक्ख-  
 णंक्रियचन्नणा अणगुत्तवसुसाइयंगुलिया उषयतणुणवंत-  
 णिक्खएखा संठियसुसाल्लइगुदुग्गुक्का एण कुर्विदावत्तपट्टा-  
 पुपुत्तजंयथा साङ्गुगनिग्गुगग्गुजाणुत्तससणुत्तजातससिभो-  
 रुवरवारणमत्तुक्कविक्रमविज्ञासितगतती सुजातवरत्तुरगगम्भ-  
 देमा आइम्भहत्तो व्व णिरुवत्तेवा पमुइयवरत्तुरगमीहअइ-  
 रंगवट्टियककी साहयतोपिंदमुसलदप्पणिएगारित्तरकणग-  
 उरस रिसवरचइरवत्तित्तमज्जा उज्जुअसमसंदिहत्तमुजायचच्च-  
 तणुकसिण्णिएक्कआदेज्जलउहसुकुमालमत्तयमणिएज्जरोम-  
 राई गंगावत्तयपादिणवत्तत्तरगंजुगुराविकिरिखत्तरुणवो-  
 धियअकोसा तंतपउममंजौरविगकणाया जसविदुगमुजायपी-  
 णकुच्छं ऊसोदरा सुइकरणी पम्हभिगकणा नामन्नत्तपासा  
 संगतपासा सुंदरपासा सुजातपासा मितभाट्ठपीणरत्तपासा  
 अकरंडुयकणगरुयगनिम्भसमुजायनिरुक्कइयदेहधारी पसत्थ-  
 उरसीसदक्खएषरा कणगसिज्ञातल्लुज्जपसत्थसमत्तव-  
 चियविच्छिन्नपिडुवन्नच्चा सिरिवच्छंक्रियवच्चा पुरवफसि-  
 हवट्टियत्तया नुयगीसरविपुज्जोगआयाणफल्लहउच्छुद्-  
 दीहवाहुजुगमन्निभपीखरइयवीवरपउत्तंसंठियउवचिययणा-  
 थिरसुबक्कसुससिद्धपव्वसंधी रत्तत्तेवोवइत्तययमंसदपसत्थल-  
 कएणसुजायअच्छिउजालयाणी पीवरवट्टियसुजायकोमद्ववरं-  
 गुलीआ तंबत्तसिणुसुवित्तिस्स (स्वर्कर) निदुल्लुक्का (नखा )  
 चंदपाणिलेहा मूरपाणिलेहा संवपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा  
 दिसासोवत्थियपाणिलेहा चंदमूरस्संभक्कदिमासोवत्थियप-

णिजेहा अणोववरलक्षत्रशुचमपसत्यशुचिविरइयाणिलेहा वरम  
 हिसवराहसीहसदृशस्रसभणागवरां ठलठसमदं र्खंधा च-  
 चंरंगुलसुणप्याणकुंबुरसरिसगीवा अवहितसुविजससु-  
 जाताचितमंमसलसंठियपसत्यसद्वलविउलहणुया उतवित-  
 सिलप्यावालविषकलसन्निजापरोहा पंडुरससिमगलविम-  
 लानिन्मलसंखदधिषण्णोसीरकणदगदगपयुणालियाधवन्न-  
 दंतसेदी अखंवेदता अकुपियदंता अविखंवेदता मुसिणि-  
 ऋदंता मुजातदंता एगदंतामिदिव्व अणोवेदता हुतवहनि-  
 ऋंतपोतत्तवणिज्जरत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-  
 तासा अवदासियपोंदरीयणया क्कोसहितयवन्नपत्त-  
 णंटा आणामियचावडुइलकिाहउजरायसंठियदंतगतत्रा-  
 नसुजातताणुकिाणिक्कत्तुमया अद्वीणपयाणुत्तसव-  
 खा सुस्सवणा पीणमंसलकवाइदेसभागा अइरुग्गयबाह्नचं-  
 दंसंठियपसत्यविच्छन्नसमणियडाला उनुवदंपदिपुष्पसाभ-  
 वयणा उत्तगुरुत्तिसंमगदेसा पणनिचियसुवक्कलक्कलशुष्प-  
 यक्कढागराणजिपिंदियसिरा हुतवहनिच्छंतपोतत्तववणिज्जर-  
 च्चकंमंतकेसज्जमिसामिह्नपोंदरयाणिचियडोडियमिउविमय-  
 पसत्यसुहुमन्नकवणसुंगंधसुंदरज्जुयपोयगजिण्णंइलकज्जलप-  
 ददमगयंणियक्कडुंरुंबांणं चियकुंचियपयाडिणात्तसुदं-  
 सिरिया लक्खणवंचणगुणोववेया मुजायसुविभत्तमरूवा  
 पावइया दरिसणियजा अजिरूवा पडिरूवा । तेणं मणुया  
 ओहस्सरा हंसस्सरा कौचस्सरा एंदिदोसा सीहम्मरा सीह-  
 योमा मंजुस्सरा मंजुयोमा सुस्सरा निग्गोसा ढायठउजो-  
 द्यंगमंमा वज्जरिसदहारायमंधयणा समचउरंसंसंठाणमं-  
 ठिया सिण्णिच्छवी निरायंका उत्तमपसत्यअइसेमनिरुवम-  
 तणु जल्लमन्नककसेययपदोसिचिविज्जियसरीरा निरुवमले-  
 वा अणुलोमवाउवगा कंकगहणं । कपोतपरिणामा सउनि-  
 पोमपिउतोरपरिणया विग्गहियठअपकुच्छं । पउमप्यहा-  
 सरिसगंधनिस्सासुुरहियवयणा अहृत्तणुसयऊतिया तेभिं  
 मणुयाणं चउसट्टिपिदिकरंमगा पन्नता समणाउमो ! ते णं  
 मणुया पगइभदया पगइविणीया पगइउवमंता पगइपयणु-  
 कांढमाणमायालांजा भिउमवसंभंभा अहंणिया भदगा वि-  
 णिया अपिच्छा असिधिसिंभया अचंदा विंदिमंतरवि-  
 रुखा जिहित्थियकामगामियो य ते मणुयगणा पन्नता समणा-  
 उमो ! तेसि णं भंते ! मणुयाणं केवतिकालस्स अहाराहे सधु-  
 प्यज्जइ ? गोयमा ! चत्थभत्तस्स आहाराहे समुप्यज्जइ एगुरु-  
 यमणुइं णं भंते ! केरिसए आगारभाउपकांथार पक्खत्ते ? गोयमा !  
 ताओं णं मणुइओ मुजायसत्त्वंगसुंदरीओ पधणमडिलागु-  
 षोडिं शुत्ता अचंतविसप्पयाणपणमसूमासकुम्मसंठियविसि-  
 ङ्कन्नया उज्जुमउयपीवरनिरंतमुसातचन्नगंमुदीओ अ-  
 ञ्जुष्यरतियवत्तिलणंतसमुदिणिक्कणत्वा रोमरहियवट्टल-

इसंठियअजहन्मपसत्यलक्खणअकोप्यंधयुयन्ना सुणिमि-  
 यमुगूदजाणु मंसलसुष्पक्कसा कयसिखंजातिरेगंसंठिया णिव्व  
 णसुमाह्नमउयकोमन्नअविरन्नसमसंहंतसुजातवट्टपीवरनिरंतरो-  
 रुअअह्णवदीवधिपट्टसंठिया पसत्यविच्छिषापिदुलसोणिवद-  
 णायामप्पयाणुसुणियविसाह्नमंसलसुष्पक्कजहक्षवधरिणि-  
 उवज्जविराडयपसत्यलक्खणणोरोदरा तिवालयतणुणामियम-  
 ङ्गियाओ उज्जुयसममहियज्जचत्तुक्कसिणाणियक्कअदिज्जल  
 हनुसुविभत्तंतमुजायसंजंतकरुलरमणिज्जरोमरां गंगावत्त-  
 कप्पयाट्टियावत्तरंगंजगुरविकिणत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-  
 तपउमगंजीरियगच्छाजा अणुन्मरुपमत्तपपीणकुच्छं । सन्न-  
 यपासा मंगयपासा मुजायपासा भियमाइयपणिइयपासा अ-  
 करंरुयकणरुयगनिम्मसमुजायणिव्वहयगयसदी कंचण-  
 कन्नसपपाणमसोहियमुजायालहृच्चुयअमन्नजमन्नजुगन्न-  
 बट्टियअच्छुष्यरतियसंठियपयोधराओ ज्जुगंअणुपुव्वत-  
 णुयगोपुच्छवट्टसममहिययणियअपज्जालियववाहाओ तं-  
 बणहा मंसलगदहत्या पीवरकोमलवरंगुलीओ णिक्कपा-  
 णिलेहा रविमसंसंखकसोत्थियविज्जसुविरतियपाणि-  
 लेहा पीणुष्ययकक्खक्खवत्थियपदेमा पदिपुष्पलककोला  
 चउरंगुलसुणप्याणकुंबुरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्यह-  
 णुगा दालिमपुष्पमासापीवरपलंतकुंचियवरागा सुदुरोत्त-  
 रोहा दधिददरायचंदकुंदवांमिंतउलअच्छिहविमलदसगा  
 रसुप्लरत्तमउयसुमाह्णतासुजीहा कणयरमउअकुमिलअ-  
 ञ्जुगयउज्जुतुंगणासा सारयनवकमलकुसुदकुवलयविमु-  
 क्कमउलदत्तानिगरसरिसलक्खणअंक्रियकंतनयणा पत्तल-  
 भवलायतंतब्रह्मोययाओ आणमित्तावक्कडकिाहभराइमं-  
 ठियसंगयअययसुजायतणुकिाणिक्कत्तुमया अद्वीणप-  
 याणुत्तमवणा पीणमहंरमणिज्जगंढलेहा चउरं-  
 सपसत्यसमणियाला कौमुदीरयणीकरविमलपदिपुष्पोम-  
 वयणा उत्तस्यउत्तिमंगा कनिह्नसुसिण्णिच्छदीहसिरिया  
 उत्तउभयजुवपूजदामिणिकर्मन्नुकत्तसवविंसोत्थियदहा-  
 गजवमच्छुम्भरहवरमगरउभयसुक्कयासअंकुमअह्णवयवी-  
 ईसुपइरुकम्मऊरसिरियाजिसेतोरमेइए । उदधिवरजव-  
 णगिरिवर आरंसंझिललययउत्तजसीहचमरउत्तमपसत्यह्-  
 त्तोमलक्खणपरीओ हंससिरसगईओ कांइन्नमदुरगिरसुस्म-  
 राओ कभाओ सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवत्तियविसिया-  
 वंगहुवन्नवादी दोभग्गसोणसुक्काओ वचेणयनराण धां च्चण-  
 मूसियाओ सज्जावसिंमारचारुवेसा संगतगतहसियपधिय-  
 चिंइयविसाससंझावनिणणुत्तावयारकुसन्ना सुंदरघणजह-  
 णवयणकरचरणणयाहा वन्नवन्नक्कवोन्नवणविभासकलिया  
 नंदणवणविवचचारिणीओ वन्न अच्छराओ अच्छरामपिच्छ-  
 णिजा शानाहतानो दरिसणिज्जानो अजिरूवाओ पंदिरूवाओ

तासि णं जंते ! मणुईणं केवतिकाइस्स आहाराइहे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्तवज्जत्तस आहाराइहे समुप्पज्जइ । ते एं भंते ! मणुया किमाहारंति ? गोयमा ! पुडवीपुक्फलाहारा ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! तीमं एं जंते ! पुडवीए केरिसए अस्साए पक्कत्ते ? गोयमा ! स जहानामए गुद्धइ वा खंवेइ वा सक्कराइ वा मण्डेडियाइ वा भिसकंदेइ वा पप्पमोततेति वा पुप्पकराइ वा पउमुत्तराइ वा अकौसियाति वा विज्जाति वा महाविज्जयाति वा पायसांवमाइ वा उवमाइ वा अणपोवमाइ वा चउत्तं गोखीरं चउत्तयाणे परिणए गुद्धखंरुमच्छंभिवणीए मंदग्गिकडिए वल्लेणं उववेए जाव फामेणं जवे एताखवेसि ता नो इण्ठे सम्भे । तीसि एं पुडवीए एत्तो इट्टपराए चव जाव मणामतराए चव । आमाएणं भंते ! पुक्फलाणं केरिसए आसाए पक्कत्ते ? गोयमा ! स जहानामए रन्तो चाउत्तं चक्कवट्टिस्स कद्धाणपवरजोयाणे सयसहस्सनिफण्णे वन्नेणं उववेए गंधेणं उववेए रसेणं उववेए फामेणं उववेए आसायाणिज्जे वीसायाणिज्जे दीवणिज्जे दप्पणिज्जे वीहिट्ठिज्जे मयाणिज्जे सत्तिवदियगायपलहायणिज्जे भवे ता रुवे मिया नो इण्ठे सम्भे । तेमिं एं पुक्फलाणं इचो इट्टतराणं चव जाव अस्साएणं पन्नत्ते । ते णं भंते ! मणुया तमाहारेत्ता कट्ठि वसट्ठि इवेति ? गोयमा ! रुक्खगेहालयाणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! ते एं भंते ! रुक्खा किं भंजिया पक्कत्ता ? गोयमा ! कद्दागारसंठिया पच्चायरसंठिया उत्तागारसंठिया जयसंठिया धूभसंठिया तोरणसंठिया गोपुरसंठिया पाद्दगसंठिया अट्टाद्दगसंठिया पासायसंठिया इम्मिमतद्दसंठिया गक्कवसंठिया वाद्दगपातियसंठिया वल्लभोसंठिया अएणे तत्त बहवे वरजवणसयणासणविंसिद्धभंटाणसंठिया सुभसीतलक्कथा णं ते दुमगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे गेहाणि वा गेहावयणाणि वा एो इण्ठे सम्भे रुक्खगेहालया एं मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे गामाइ वा नगराइ वा जाव सन्निवेशाइ वा एो इण्ठे सम्भे । जइत्थियकामगाणिणो एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे अमीइ वा मसीइ वा किंसीति वा विवर्णोइ वा पर्णोइ वा वाणिज्जाइ वा नो इण्ठे सम्भे । ववगयअसिमासि किमं विवणियपिणियवाणिज्जवज्जा एं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे हिराणेइ वा सुवणेइ वा कसेइ वा हूसेइ वा मणुोइ वा मुत्तिएइ वा विपुत्तपणकणुगरयमणिमोत्तियसेखसिद्दपववसंत-

सारसावयज्जे वा हंता ! अत्थि णो चव एं तेसिं मणुयाणं तिच्चे ममसिजावे समुप्पज्जइ । अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवेणं दीवे रायाइ वा जुकरायाइ वा ईमरेइ वा तद्धवरेइ वा माहंविएइ वा कोकुंविएइ वा इन्धेइ वा सेट्टिएइ वा सेणावई वा सत्थवाइइ वा नो इण्ठे सम्भे ववगयइइस्सकाराएणं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे दासाइ वा पेसाइ वा सिस्साइ वा भयगति वा जाइक्कगाइ वा कम्मगराइ वा भोरापुरिसाइ वा नो इण्ठे सम्भे ववगयआभोगिया एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे माताति वा पियाइ वा जायाइ वा जयणीइ वा भज्जा वा पुत्ताइ वा भूयाइ वा सुएहाइ वा हंता ! अत्थि नो चव एं तेसिं एं मणुयाणं तिच्चे पेम्मबंधणं समुप्पज्जइ पयणुपेम्मबंधणा एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे अरोइ वा वेरिइ वा घायगाइ वा वद्दगाइ वा पट्टणीइ वा पच्चाभिसाइ वा एो इण्ठे सम्भे ववगयवेराणुबंध णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे मिचाइ वा वयसाइ वा यत्थियाति वा सुहंति वा सुदीयाइ वा महाभागाति वा संगतियाति वा नो इण्ठे सम्भे ववगयपेमापुराणां ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे आवाहाइ वा विवाहाइ वा जन्हाइ वा सक्काइ वा थालिपागाइ वा चोलीवणत्तणाइ वा सीमंतोवणत्तणाइ वा पतिपिंदनिवेयणाइ वा नो इण्ठे सम्भे ववगयआवाहविवाहजन्सच्छालिपागकोत्तोवणसीमंतोवणत्तणपतिपिंदनिवेदणा एं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे इंदमहाइ वा रुदमहाइ वा खंदमहाइ वा सिवमहाति वा वेसमणमहाति वा मुग्गंमहाति वा नागमहाइ वा जक्कवमहाइ वा भूतमहाइ वा कूवमहाइ वा तद्दगमहाइ वा नंदिमहाइ वा इंदमहाइ वा पववमहाति वा रुक्खमहाइ वा चेतियमहाइ वा पूजमहाइ वा एो इण्ठे सम्भे ववगयमहातिया एं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे नरुपिच्छाइ वा णट्टपेच्छाति वा मक्खपेच्छाति वा मुट्ठिपेच्छाति वा विरुम्बगपेच्छाति वा रुद्धकपेच्छाति वा पवगपेच्छाति वा अक्कववाइगपेच्छाति वा द्दासगपेच्छाति वा हंसपेच्छाति वा मंखपेच्छाति वा तणइहसपेच्छाति वा तुंबवीणपेच्छाति वा कीवपेच्छाति वा मागहपेच्छाति वा जल्लपेच्छाइ वा कट्टयापेच्छाइ वा एो इण्ठे सम्भे ववगयकील्लद्दणा एं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि



एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवेसगदाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा गिझीति वा पझीति वा थिझाइ वा पवहण्णाइ वा सीयाइ वा संदपाणियाइ वा नो इण्णहे समधे पाच्चारविहारिणो एषं ते मणुयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे आसाइ वा हत्थीइ वा उट्ठाति वा गोणाइ वा महिसाइ वा खराइ वा अयाइ वा एलगाइ वा इंता अत्थि नो चेव एषं तिसि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वयागच्छंति । अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे गाबीइ वा महिसीइ वा उट्ठीति वा अयाइ वा एलगाइ वा इंता ! अत्थि नो चेव एषं तिसि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वयागच्छंति । अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे सीहाइ वा बग्घाइ वा दीविगाइ वा अत्थाइ वा परस्सराइ वा सियासाइ वा विडालाइ वा मुण्णाइ वा कोसमुण्णागति वा कौकैतियाइ वा ससगाइ वा दिच्चित्तलानि वा चित्तुलगाइ वा इंता ! अत्थि नो चेव एषं अन्नमक्ष्म तिसि वा मणुयाणं किंचि आवाइ वा पवाइ वा उपायंति उच्चियेयं वा करंति । पगइमद्दगा एषं ते सावयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे साझीइ वा वीहीइ वा गोमूयाइ वा इक्खुइ वा तिज्ञाय वा इंता ! अत्थि नो चेव एषं तिसि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वयागच्छंति । अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे गत्ताइ वा दरीइ वा पाइ वा वंसीइ वा जिम्बुइ वा उवापइ वा विसमंइ वा विजलेइ वा धूसीइ वा रेणुति वा पंकेइ वा बलणीइ वा एणो इण्णहे समधे । एगुरुयदीवे एषं दीवे बहुसमरमणिज्जे जूभिनागे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे खाणुइ वा कंटापइ वा करीमहाइ वा सक्कराइ वा तणकयवराइ वा सत्तकयवराइ वा अमुईइ वा पूई वा उच्चिगंधाइ वा अचोक्खाइ वा एषो इण्णहे समधे वगयत्ताएकंठकरीसहसकरतणकयवरअमुइपूईयत्तुच्चिगंधमचोक्खवज्जिएणं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे दंसाइ वा ममगाति वा पिमुगाइ वा जूयाइ वा लिक्खाइ वा दिक्खणाइ वा नो इण्णहे समधे वगयदंममगपिपुगजूयाडिक्खवाडिक्खुणपरिचज्जिए एषं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे अहीइ वा अयगराइ वा महोरगाति वा इंता अत्थि नो चेव एषं ते अन्नमन्नस तिसि वा मणुयाणं किंचि आवाइ वा पवाइ वा उच्चियेयं वा पकरंति पगइमद्दगा एषं ते वाडगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे गहदंदाति वा गहमुससाइ वा गहमाज्जियाइ वा गहजुच्चाइ वा गहसंथाइ वा गहअवसत्ता अच्चाइ वा अच्चस्सत्ताइ वा संभाइ वा गंधव्वणगराइ वा गज्जियाइ वा विज्जुयाइ वा उक्कापयाइ वा दि-

सादाहाइ वा गिग्घाइ वा पंसुविठीइ वा जूयाइ वा जक्खाल्लिचाइ वा भूमियाइ वा माहियाति वा रत्तग्घायाइ वा चंदोवरागाइ वा सुरोवरागाइ वा चंदपरिवेसाइ वा सुरपरिवेसाइ वा पच्चिंददाइ वा पच्चिंनराइ वा इंदपणुआइ वा उगमच्छाइ वा अयोहाइ वा कविहसीयाइ वा पाईणवायाइ वा पटीणवायाइ वा जाव सुद्धवायाइ वा गामदाहाइ वा नगरदाहाइ वा जाव सन्निवेसदाहाइ वा वाणक्खयजणक्खयकुलक्खयपणक्खयवसणजुतमणारयाइ वा नो इण्णहे समधे । अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे डिंवाइ वा नमराइ वा कलहाइ वा बोसाइ वा खाराइ वा वेराति वा विरुद्धरज्जाइ वा नो इण्णहे समधे वगयद्विचरुमरकलहबोलखारवेरीविरुद्धरज्जविचरियाणं ते मणुयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे महाजुच्चाइ वा वा महासंगामाइ वा महासत्थपटणाइ वा महापुत्तिसपट्ठायाइ वा महात्थिरपट्ठायाइ वा नागवाणाति वा खेलवाणाति वा तामसवाणाति वा हुरुइयाइ वा कुल्लोगाइ वा गामरोगाइ वा नगररोगाइ वा पंचल्लोरोगाइ वा सीसवेयणाइ वा अच्चिक्खेयणाइ वा कन्नेवेयणाइ वा नक्खेयणाइ वा दंतवेयणाइ कासाइ वा सासाइ वा जराइ वा दाहाइ वा कच्छुइ वा खमराइ वा कोट्टाइ वा कुत्ताइ वा दगोवराइ वा अरिसाइ वा अजिरगाइ वा जगंदलाइ वा ईदग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा नागग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा ज्यूग्गहाइ वा उच्चेयग्गहाइ वा धणुग्गहाइ वा एगाहिंयाइ वा वेयाहिंयाइ वा तेयाहिंयाइ वा चाउत्थयाहिंयाइ वा हिययत्ताइ वा मत्थयत्ताइ वा पासत्ताइ वा कुच्चिन्नाइ वा मोत्तिसत्ताइ वा गाममारं । वा जाव सन्निवेसमारी वा पाणक्खय जाव वसणजुतमणारियाणं वा नो इण्णहे समधे वगयणंमारिका एषं ते मणुयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे अच्चात्ताइ वा मंदवासाइ वा सुवुट्टीइ वा मंदवुट्टीइ वा उदवाहीइ वा पवाडाइ वा दगुच्चेयाइ वा दगुच्चीलाइ वा गामवहाइ वा जाव सन्निवेसवहाइ वा पाणक्खय जाव वसणभूतमणारियाइ वा नो इण्णहे समधे वगयक्खोवद्दगा एषं ते मणुयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे आवागराइ वा तंवागराइ वा सीमागराइ वा सुक्खनागराइ वा रयणागराइ वा वहरागराइ वा वसुहाराइ वा हिरण्यवासाइ वा सुवन्नावासाइ वा रयणवासाइ वा वरवासाइ वा आजरणवासाइ वा पत्तं वा पुप्फं वा फलं वा वीर्यं वा समंघं वा मज्झं वा सन्नं वा सत्तुन्नं वा सत्तीरवुट्टीइ वा रयणवुट्टीइ वा

हिरण्यबुद्धी वा सुयन्तं तदेव जाय बुद्धबुद्धी वा सुकालाऽ वा बुकालाऽ वा सुभिक्षवाऽ वा दुभिक्षवाऽ वा अकालपुत्रा वा महग्याऽ वा कयाऽ वा विकयाऽ वा सं-  
 णिहीऽ वा संचयाऽ वा निधीऽ वा निहाण्यऽ वा चिर-  
 पोराण्यऽ वा पहीण्यनामियाऽ वा पहीण्यसत्रयाऽ वा पही-  
 ण्योसागाऽ जाऽ इमाऽ गामागरनगस्वेकव्यहमदत्रदोहस्य-  
 हपइ ग्राममसंवाहसन्निवेशेसु सिधामगतितगचक्रचबरचउ-  
 म्मुद्रमहापदमयेसु नगरनिष्क्रमेसु मुसाणमिरिकंदरसंतिस-  
 लोवत्साणभरणगिहेसु सन्निविचा चिह्नंति नो इण्टे समहे  
 एगुरुयदीवे एं भंते ! दीवे मणुयाणं केवइयं कालं  
 उंइं पस्यतां ? गोयमा ! जहएणेणं पत्तिओयमस्स असंखेज्जा-  
 भागं अमंखेज्जति भागेणं ऊणणं उक्कोमेणं पत्तिओयमस्स  
 असंखेज्जइजगंतं । ते एं जंते । मणुया कासमासे काजं किचा  
 काहं गच्छंति काहं उववज्जति गोयमा ! ते एं मणुया उ-  
 म्मासावमंसाउम्मा मिहुणाऽं पसवंति अउणासीऽं राहंदिद्याऽं  
 मिहुण्यऽं मारकवंति संगोवंति सारखिचा उस्ससिचा णि-  
 स्ससिचा कासिचा ज्जित्तिचा अकिह्वा अउवाहिया अपरि-  
 याविया सुहं सुहेणं कालमामे कालं किचा अमपरिसु देव-  
 होएपु देवत्ताए उववचारी जवंति देवलोपरिग्गहिया एं  
 ते मणुयगणया एएणत्ता समपाठमो ॥

एकोरकमनुष्याणामेकोरकह्रीं पियुक्विपुराह । कहिणं भंते !  
 इत्यादि क जदन्त ! दाक्षिणात्यामामिह एकोरकवयो मनुष्याः  
 शिखरिण्यपि पथेने विद्यन्ते ते च मेरोरकत्तरदिग्भतिन इति तद्वयव-  
 च्छेदार्थे दाक्षिणात्यानामित्युक्तम् एकोरकमनुष्याणामेकोरक-  
 ह्रीपः प्रकृतः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्यान्व-  
 त्वासेंभवत्स्मिन् जम्बूद्वीपह्रीपे इति प्रतिपत्तव्यं मन्दरपर्वतस्य  
 भंगदक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिमवर्षधरपर्वतस्य कुल्लग्रहणं म-  
 हाहिमवर्षधरपर्वतव्यवच्छेदार्थं पूर्बस्मात् पूर्बकाष्कारमान्तात्  
 उत्तरपूर्वणं उत्तरपूर्वस्यां दिशि सवणसमुद्रं त्रीणि योजनशा-  
 तान्यवगाह्यान्तरे कुल्लहिमवर्षध्या उपरि दाक्षिणात्यानामे-  
 कोरकमनुष्याणामेकोरकह्रीं पा नाम ह्रीपः प्रकृतः स च त्रीणि  
 योजनशतान्यायामिक्कमेन समाहारे ब्रह्मः आयामेन वि-  
 ष्कमेन अथपथे : । नवेकोनपञ्चाशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि  
 नवयोजनशतानि ( १५४५ ) परिक्लेपेण प्रकृतः परिक्लेपेण परिमा-  
 णगणितमावना विष्कमेन : । सग्वद्वदहस्य गुण-करणेषुसहस्र  
 परिभो दोहं इति कदरावशात् स्वयं कतेष्वया सुगममत्वात्  
 “ से णमित्यादि ” स एकोरकनामा ह्रीप एकया पद्मवरवेदि-  
 कया एकेन धनकपरेन सवैतः सवोयो दिणु समेततः सामस्येन  
 परिलिप्तः । तत्र पद्मवरवेदिकावर्षेको धनस्यपरवणकश्च  
 कश्चपथमजम्बूद्वीपजगत्पुरेति पद्मवरवेदिकावर्षात्तदुपगवत्  
 भावनीयः । स च तावत् यावच्चरममासयतीति पद्यम् ।  
 “ एणोत्पदीवस्स एं भंते ! इत्यादि ” एकोरकह्रीपस्य णमिति  
 पूर्बवत् भदन्त ! कीदृशः क इव इदयः आकारभयप्रत्ययनारः  
 पूष्यादिस्यकपसम्भवः प्रकृतः जगवानाह गौतम ! एकोरकह्रीपे  
 बहुसमरमणीयः प्रभूतसमः सन् रम्यो नृमिसिन्धुः प्रकृतः “ से

जहा णामए आसिगपुक्कत्तेरेह वा इत्यादि ” उत्तरकुट्टमस्ताव-  
 द्नुत्ससैव्यो यावदनुत्सज्जासासुं नवरमत्र नानात्वमिदं मनुष्याः  
 एषी भयुःशतामुच्छ्रिता यकत्थास्युःपच्छिष्टकरकदाः पुष्ट-  
 वंश्या बृहत्प्रभाषानाहिते बहवो भवन्ति पकोनादीति च  
 रात्रिन्दिवानि स्वापरत्यागुपपालयन्ति (स्मितेस्तेषां अज्जेन  
 देशेनः पदयोपमासंख्येयमाताः एतदेव व्याचष्टे पदयोपमासं-  
 ख्येयमागम्युत्त उरुक्पेतः परिपुष्येः पदयोपमासंख्येयजागः  
 जी० ३ प्रति० ।

कहिं जंते ! दाहिण्येण्णाणं आभासियमणुयाणं आज्ञा-  
 सियदीवे नाम दीवे पष्यते ? गोयमा ! जंबुद्वीवे दीवे तरेह  
 सुल्लहिमवन्तस्स बासहरपव्वयस्स दाहिणेणं सुल्लहिमवन्त-  
 तो चरिंमंताओ सवणसमुदं तिन्नि जोयणं सेसं जहा ए-  
 गुस्याणं निरवसेसं सव्वं ॥

क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां प्राभाषिकह्रीपानामन्तरह्रीपः प्रकृतो  
 भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि  
 कुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वेषु  
 दक्षिणपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं कुल्लहिमवर्षध्या उपरि त्रीणि  
 योजनशतान्यवगाह्यान्तरे वंश्या उपरि दाक्षिणात्यानामा-  
 प्राषिकमनुष्याणामेकोरकह्रीं पा नाम ह्रीपः प्रकृतः शेषयकव्यता  
 एकोरकवर्षकव्या यावत् स्थितिसुप्रम् ।

कहिं जंते ! दाहिण्येणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा ? गो-  
 यमा ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं सुल्लहिमव-  
 तस्स बासहरपव्वयस्स दाहिणेणं पव्वच्चिमिप्राओ चरिंमंता-  
 ओ लवणसमुदं तिन्नि जोयणं सेसं जहा एगुस्याणं ।  
 “ कहिणं जंते इत्यादि ” क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां वैशाखि-  
 कमनुष्याणां वैशालिकह्रीपा नाम ह्रीपः प्रकृतः जगवानाह गौ-  
 तम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिम-  
 वतो वर्षधरपर्वतस्य पाश्चात्याच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमायां दि-  
 शि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्या अत्रान्तरे दाक्षि-  
 णात्यानां वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकह्रीपा नाम ह्रीपः प्रकृतः  
 शेषं यथा एकोरकाणां तथा वक्तव्यं यावत् स्थितिसुप्रम् ।

कहिं जंते ! दाहिण्येण्णाणं नंगोसियमणुस्साणं पुच्छा  
 गोयमा ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं सुल्ल-  
 हिमवन्तस्स बासहरपव्वयस्स उत्तरपव्वच्चिमिप्राओ चरि-  
 मंताओ सवणसमुदं तिन्नि जोयणसयाऽं सेसं जहा एगु-  
 रुयमणुस्साणं ।

क जदन्त ! दाक्षिणिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकह्रीपा नाम ह्रीपः  
 प्रकृतः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षि-  
 णस्यां दिशि कुल्लहिमवतो वर्षधरस्य पाश्चात्याच्चरमान्तात्  
 उत्तरपश्चिमेन उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि यो-  
 जनशतानि अत्रवगाह्यान्तरे वंश्या उपरि नाङ्गोलिकमनुष्याणां  
 नाङ्गोलिकह्रीपा नाम ह्रीपः प्रकृतः शेषमेकोरकवत् यकव्यं या-  
 वत् स्थितिसुप्रम् । जी० ३ प्रति० । स्या० । नं० । कमे० ।  
 द्वितीयबहुपुक्तः ।

कहिं जंते ! दाहिण्येण्णाणं ह्यकसमणुस्साणं इयक-  
 न्ददीवे नाम दीवे पष्यते ? गोयमा ! एगुरुयदीवस्स उत्तर-

पुरच्छिभिन्नाओ चरिंमताओ हवणसमुद्दं चचारि जोयण-  
 सयाई उग्गाहिचा एत्थ णं दाहिणिण्णाणं हयकन्नमणुस्साणं  
 हयकन्नदीवे नाम दीवे पन्नत्तं चचारि जोयणसयाई आ-  
 यामाविकस्वंधेण बारसमया पन्नउट्ठा किंचि त्रिमेषुणाई परि-  
 कलेवेणं एगाए पडववरवेद्याए अन्नसेसं जहा एगुरुयाणं ॥  
 क अदत्तः हयकष्येमनुष्याणां हयकष्येद्वीपो नाम द्वीपः प्रहसः  
 जगवानाह । गौतम ! एकोरुकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् उत्तर-  
 पूर्वस्थां दिशि हवणसमुद्दं चत्वारि योजनशतान्यवगाह्यान्तरे  
 क्षुद्रहिमवद्द्वीपाः उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तादपि चतुर्यां-  
 जनशतान्तरे दार्द्रिणत्यानां हयकर्णमनुष्याणां हयकर्णं नाम  
 द्वीपः प्रहसः स च चत्वारि योजनशतान्यायामविष्कम्भेन द्वा-  
 दश पञ्चपष्ठानि योजनशतानि किंचिच्छिषोधाधिकानि परिक्रमेण  
 श्येवं यथा एकोरुकमनुष्याणाम् ।

कहिं णं जंते ! दाहिणिण्णाणं गयकन्नमणुस्साणं पुच्छा ?  
 गोयमा ! आजासियदीवस्स दाह्णिणपुरच्छिभिन्नाओ चरिंमं-  
 ताओ लवणसमुद्दं चचारि जोयणसयाई ससं जहा हयकक्षाणं  
 एवमाजधिकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वस्थां दिशि  
 चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्दमवगाह्यान्तरे क्षुद्रहिमव-  
 द्द्वीपा उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् चतुर्यांजनशतान्तरे गजक-  
 ष्येमनुष्याणां गजकर्णं नाम द्वीपः प्रहसः आयामविष्कम्भपरि-  
 चिपरिमाणं हयकष्येद्वीपवत् ।

एवं गौकन्नमणुस्साणं पुच्छा ? वेमालियदीवस्स दाह्णिण-  
 पुर्वच्छिभिन्नाओ चरिंमताओ लवणसमुद्दं चचारि जोय-  
 णसयाई ससं जहा हयकन्नाणं ।

नाह्णंभिकद्वीपस्य पश्चिमन्ताच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमेन  
 चत्वारि योजनशतानि हवणसमुद्दमवगाह्यान्तरे क्षुद्रहिम-  
 वद्द्वीपा उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् चतुर्यांजनशतान्तरे गौक-  
 ष्येमनुष्याणां गौकष्येद्वीपो नाम द्वीपः प्रहसः आयामविष्कम्भ-  
 परिचिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत् ॥

सत्कलिकण्णणं पुच्छा ? गोयमा ! नंगेलियदीवस्स  
 उत्तरपुर्वच्छिभिन्नाओ चरिंमताओ लवणसमुद्दं चचारि  
 जायणसयाई ससं जहा हयकन्नाणं ।

नाह्णंभिकद्वीपस्य पश्चिमन्ताच्चरमान्तात् उत्तरपश्चिमायां दिशि  
 लवणसमुद्दमवगाहा चत्वारि योजनशतानि अन्नन्तरे क्षुद्रहि-  
 मवद्द्वीपा उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तात्चतुर्यांजनशतान्तरे दार्-  
 द्रिणत्यानां शङ्कुलीकर्णमनुष्याणां शङ्कुलीकर्णद्वीपो नाम  
 द्वीपः प्रहसः । आयामविष्कम्भपरिचिपरिमाणं हयकर्णद्वीप-  
 वत् । पद्यवरवेदिकावमलपद्मनुष्याधिकारुवं च समस्तेको-  
 रुकद्वीपवत् जी० ३ प्रति० । स्था० । प्रहा० । कर्म० ।

तृतीयश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउमु वि दिसामु हवणसमुद्दं पंच पंच  
 जायणसयाई आगोहिचा एत्थ णं चचारि अंतरदीवा पम्पु-  
 चा तंजहा आयमसमुद्ददीवे मंडगमुद्ददीवे अओउददीवे  
 गोमुद्ददीवे । तेषु णं दीवेसु चउविह्वामणुस्सा भाणियव्वा ।  
 एतेयामपि हयकर्णदीनां परतः पुनरपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरदि-  
 विदि कु प्रत्येकं पञ्च पञ्च योजनशतानि व्यतिक्रम्य पञ्चयोजन-

शतयायामविष्कम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्रं-  
 पाः पूर्वोत्तरदिशिदिक् प्रत्येकं लवणसमुद्दं (मिन्तवहाप्रदेशः ज-  
 म्बूद्वीपवेदिकाः पञ्चयोजनशतयामान्तरा आदर्शमुख ३ मे-  
 पदमुख २ अयामुख ३ गोमुख ४ कामान्तराः) द्वीपास्तद्यथा  
 हयकर्णस्य परतः आदर्शमुखो गजकर्णस्य परतो मेगदमुखः  
 गौकर्णस्य परतोऽयामुखः शङ्कुलीकर्णस्य परतो गोमुख इति  
 एवमप्रेऽपि ज्ञायमा कार्यो प्रहा० । पद० । जी० कर्म० ।  
 चतुर्थश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउमु वि दिसामु लवणसमुद्दं ङ ङ जो-  
 यणसयाई आगोहिचा एत्थ णं चचारि अंतरदीवा पद्यचा  
 तंजहा आसमुद्ददीवे हत्थियमुद्ददीवे सीहमुद्ददीवे बग्गमुद्ददीवे  
 तेषु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा ॥

एतेषां मध्यवर्द्धमुखद्वीपानां चतुर्णां द्वीपानां परतो चतुर्थोऽपि  
 यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिदिक् प्रत्येकं लवणसमुद्दं षट् योजनश-  
 तान्यवगाहा षट् योजनशतयायामविष्कम्भाः सप्ततन्वयविका-  
 श्चदशयोजनपरिक्रमाः पद्यवरवेदिकावमलपद्ममिन्तवहापरिसरा  
 जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् षट् योजनशतप्रमाणान्तरे अभ्युमुखद-  
 र्दिक्षुः पूर्वोत्तरदिक्षुः पश्चिमदिक्षुः दक्षिणदिक्षुः द्वीपा वक्तव्यस्तैर्य-  
 था आदर्शमुखस्य परतोऽयामुखः मेगदमुखस्य परतो हस्तिमुखः  
 आयाममुखस्य परतः सिंहमुखः गोमुखस्य परतोऽयामुखः ।

पञ्चमश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउमु वि दिसामु लवणसमुद्दं सच सच  
 जोयणमयाई आगोहिचा एत्थ णं चचारि अंतरदीवा प-  
 एणचा तंजहा आसकष्यदीवे हत्थियदीवे अन्नकष्यदीवे  
 कष्याउरणदीवे । तेषु णं दीवेसु मणुया भाणिय-  
 व्वा । स्था० ४ टा० ।

एतेषामाश्वमुखद्वीपानां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वो-  
 त्तरादिदिक् प्रत्येकं सप्त सप्त योजनशतानि हवणसमुद्दम-  
 वगाहा सप्तयोजनशतयायामविष्कम्भान्तराधिकविंशति-  
 योजनशतपरिसराः पद्यवरवेदिकावमलपद्मसमवगाहा जम्बूद्वी-  
 पवेदिकान्तात् सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरे अश्वकर्षहस्तिकर्णा-  
 कार्णकर्णप्रारवर्णनामानश्चत्वारो द्वीपा वाक्यस्तैर्यथा ध-  
 श्वमुखस्य परतोऽश्वकर्णः हस्तिमुखस्य परतो हस्तिकर्णः  
 सिंहमुखस्य परतोऽकर्णः व्याममुखस्य परतः कर्णप्रारवर्णः  
 जी० ३ प्रति० । प्रहा० । कर्म० ।

षष्ठश्चतुष्कः ।

तेसु णं दीवाणं चउमु वि दिसामु हवणसमुद्दं अद्द अ-  
 द्द जोयणसयाई आगोहिचा एत्थ णं चचारि अंतरदीवा  
 पमाचा तंजहा उकासुद्ददीवे मेहसुद्ददीवे विज्जुमुद्ददीवे विज्जु-  
 दंतदीवे तेषु णं दीवेसु मणुस्सा जाणियव्वा स्था० ४ टा० ।

तत्र एतेषामश्वकर्णदीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं  
 पूर्वोत्तरादिदिक् प्रत्येकमष्टाष्टौ योजनशतानि लवणसमु-  
 द्दमवगाहाष्टौयोजनशतयायामविष्कम्भा एकोनत्रिंशदधिकविंशति-  
 योजनशतपरिक्रमाः पद्यवरवेदिकावमलपद्ममिन्तवहापरिसरा  
 जम्बूद्वीपवेदिकान्तात्षट् योजनशतप्रमाणान्तरे उल्का-  
 मुक्कंशमुखविज्जुमुखविह्वामणिसिंहाश्वत्वारो द्वीपा वक्त-

व्यासतथा आह्वयकार्यस्य परत उल्कासुखः हरिकर्षस्य परतो मेघसुखः अकण्ठस्य परतो विद्युत्सुखः कायोप्रावरणस्य परतो विद्युद्दन्तः ॥ जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कम्म० ।

तेषु षं दीवानं चउमु वि दित्तासु लवणममुदं एव एव जोयणसयादं ओगाह्तिचा एया षं चत्तारि अंतरदीवा पएणत्ता तंनहा षणदंतदीवे लडदंतदीवे गुददंतदीवे सुच्छदंतदीवे । तेषु षं दीवेसु चउचिक्विडा मणुस्सा परिचमंति तंनहा षणदंता लडदंता गुददंता सुच्छदंता ।

पतेचामणुत्कामुखादीनां चतुएणां द्वीपानां परतो यथाक्रम पुबौत्तरादिदिग्दिक्षु प्रत्येकं नव योजनशतानि लवणसमुद्रमघाह नवयोजनशतयामाविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदाधिकाष्टाविंशतियोजनशतपञ्चदशयंदि काचनखंगमसमयगुहा जम्बुद्वीप-वेदिकान्तात् नवयोजनशतप्रमाणान्तरा चनदन्तषुददन्तगुददन्त-शुद्धदन्तानामानवत्त्वारां द्वीपास्तथाया उल्कासुखस्य परतो घनदन्तः मेघसुखस्य परतो अष्टदन्तः विद्युत्सुखस्य परतो गुददन्तः विद्युद्दन्तस्य परतः शुद्धदन्तः जी० ३ प्रति० ।

अन्तरद्वीपप्रकरणार्थं संग्रहधायाः ।

“ बुद्धिमवंतपुत्रा-वरण वित्रिसानु सागरं तिसप ।  
गंतुंनरद्वीवा, तिथि सप होति विरिधया ॥ १ ॥  
अगणायधनवसप, किञ्चणे परिहिसिमे नाम ।  
प्रारुय आसित्य, वेसणां चित् संगृही ॥ २ ॥  
एदसि दीवानं, परां चत्तारि जोयणसयादं ।  
ओगाहिरुण लवणं, स पविदिसि चउसयपमाणा ॥ ३ ॥  
चत्तारंतरदीवा, हयगयगोकणसंकुलीकषा ।  
एवं पंच सयादं, उ सत् अष्टे व नव चैव ॥ ४ ॥  
ओगाहिरुण लवणं, विष्कंभोगाहसरिसया भणिया ।  
अउरो अउरो दीवा, इमोदं नामेदिं नामया ॥ ५ ॥  
आयंसमेदगमुहा, अओमुहा गोमुहा य अउरते ।  
अस्समुहा इत्थिमुहा, सीधमुहा चव चग्घमुहा ॥ ६ ॥  
तचो य अस्सकषा, इत्थिअकषा अकषापाउरणा ।  
उकामुह मेहमुहा, यिज्जुमुहा विज्जुदंता य ॥ ७ ॥  
षणदंत लडदंता, निगुददंता य सुद्धदंता य ।  
वासहरे सिहरमि वि, एवं थिय अठवीसावि ॥ ८ ॥  
अंतरदीविसु नरा, षणुसयअद्धसिया सया सुदया ।  
पालिति मिहुणधम्मं, पद्धस अलंजनागओ ॥ ९ ॥  
अउसदि विट्टिकरं-रगाण मणुयएण वण्णवात्तयाणा ।  
अउणालीदं तु दिणा, अउन्धमसेण आहारो सि ॥ १० ॥  
स्था० ४ उ० । पतेचामि व द्वीपानामवगाहनायामविष्कम्भ-परिरयपरिमाणसंग्रहाधापुद्धकमाह ।

पदमभि तिथि उ मया, सेसाण सतोचरा नञ्जजा च ।  
ओगाहण विक्खंजं, दीवानं परिरयं वोच्चं ॥  
पदमचउकपरिरया, बीयचउकस्स परिरओ अहिओ ।  
सोभेदि तिदि उ जोयण-सराहे एमेव सेसाणं ।  
एणोरुयपत्तिकेवो, नव चैव सयादं अउएणपएणां ॥  
वारसपएणांदां, हपकषाणं परिकेवो ।  
पयगरस एकसीया, आयंसमुहाण परिरओ होइ ।  
अद्वारसनउयाओ, आसमुहाणं परिकेवो ।

वाचीसं तेरादं, परिकेवो होइ आसकएणाण ॥  
पणवास अउएणीसा, उकाहपरिरओ होइ ।  
दो चैव सहस्रादं, अद्वेव सया इवंति पणयात्ता ॥  
षणदंता दीवाणं, विसेसमहिओ परिकेवो ।

प्रथमद्वीपचतुष्के विनयमाने त्रीणि योजनशतानि अयगाभ्रता अयणसमुद्रावगादं विष्कम्भं च विष्कम्भप्रहणशतयामोऽपि गृह्यते तुल्यपरिमाणत्वात् जानीदिति किञ्चिदशेषः शेषाणां द्वीपचतुष्काणां शतोत्तराणि त्रीणि शतानि अयगाहनाविष्कम्भं तावज्जानीयात् यावन्नव शतानि तद्यथा द्वितीयचतुष्के अस्वारि शतानि तृतीये पञ्च शतानि चतुर्थे षट् शतानि पञ्चमे सप्त शतानि षष्ठे अष्टौ शतानि सप्तमे नव शतानि अत ऊर्ध्वं त्रीणानामेकोरुकभ्रतुलीनां परिरयप्रमाणां षड्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्बाहयति “ पदमचउकसयादि ” प्रथमचतुष्कपरिचयात् प्रथमद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणत्वात् द्वितीयचतुष्कस्य द्वितीयचतुष्कचतुष्कपरिरयपरिमाणत्वात् तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु पोरुशोत्तरेषु प्रकृतेषु “इयकषाणमिति” बहवचनत्वात् हयकणप्रमुखाणौ द्वितीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिकेवो भवति स च द्विदशयोजनशतानि पञ्चदशधिकानि तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु पोरुशोत्तरेषु प्रकृतेषु ( आयंसमुहाणति ) आशुशोसुखसुखाणां मृतीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिरयपरिमाणं भवति तच्च पञ्चदशयोजनशतान्यधिकारोऽपि योजनशतानि ततोऽपि त्रिषु योजनशतेषु पोरुशोत्तरेषु प्रकृतेषु ( आयंसमुहाणति ) अम्भसुखप्रद्वीपानां चतुर्णां चतुर्णां द्वीपानां परिकेवो भवति तद्यथा द्विदशयोजनशतानि सप्तनवव्यधिकानि तेष्वपि त्रिषु योजनशतेषु पोरुशोत्तरेषु प्रकृतेषु ( आसकएणाणति ) अम्भकरणप्रमुखाणां पञ्चमानां चतुर्णां द्वीपानां परिकेवो भवति तद्यथा द्विदशयोजनशतानि त्रयोदशधिकानि ततोऽपि त्रिषु योजनशतेषु पोरुशोत्तरेषु प्रकृतेषु उल्कासुखपरिरयः उल्कासुखप्रमुखपष्ठद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणं ज्ञाति तद्यथा पञ्चविंशतियोजनशतानि एकान्विंशदधिकानि ततः पुनरपि त्रिषु योजनशतेषु पोरुशोत्तरेषु प्रकृतेषु घनदन्तद्वीपस्य घनदन्तप्रमुखसहद्वीपचतुष्कस्य परिकेवो भवति तद्यथा द्वे सहस्रे अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि ( विसेसमहिओइति ) किञ्चिदशेषमधिकोऽधिकृतः परिकेवः पञ्चचत्वारिंशानि किञ्चिदशेषाधिकानीति प्रागर्थः । इदं पदमन्ते ऽभिहितत्वात्सर्वेन्द्राभिसंबन्धनीयं तेन सर्वत्रापि किञ्चिदशेषाधिकमुक्तरूपं परिरयपरिमाणप्रवसतात्पद्य तदेवमेते हिमवति पर्वते चतसृषु विदिक्षु ज्यवस्थिताः सर्वसंख्याया अष्टाविंशतिः एवं हिमसुदृष्यवर्णप्रमाणे पञ्चदशप्रमाणायामविष्कम्भावगाहपुण्डरीकहृदयेऽप्योभितशिशिरैर्यथा पर्वते लवणेऽप्यादृणोवजलसंस्पर्शोद्भूतस्य यथोक्तप्रमाणावगाहस्यु विदिक्षु पर्याप्तकादिनामानांऽभ्रुष्यापात्तराताप्रायविष्कम्भा अष्टाविंशतिसंख्या द्वीपा वेदितव्यः ।

कहि षं भंते ! उचरिद्विणां पणुक्यमणुसयासं पणुक्यदी-

वे नामं दीवे पण्णात्ता ? गोयमा । जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स  
 पन्थयस्स उचरेणो तिहरिस्स वासहृरपन्थयस्स उचरपुर-  
 च्छिभिग्गाओ चरिपंथाओ भवणसमुद्धं तिन्नि जोयणस-  
 थाइं भोगाहिवा एवं जहा दाहणिष्णाणं तहा उचरिष्णाणं  
 भाणियन्वं णवरं सिहास्सि वासहृरपन्थयस्स विदिसासु  
 एवं जाव सुक्कंददीवेति जाव सेचं अंतरदीवगा ॥

“कहि णं तंते । परुकुययादि” सर्वे तत्रेव नवरमुत्तरेण विभा-  
 वा कर्त्तव्या सर्वसंख्यया वदुपञ्चाशदन्तरहीपाः । उपसंहारमा-  
 ह । सेषानन्तरहीवगा ते पते अन्तरहीपका इति ॥ जी० ३  
 प्रति० ॥ प्रहा० । स्या० । ज० । कर्म० । एतद्भन्ता मनुष्या अण्ये-  
 तन्नामान उपचारान्नुवन्ति । तास्त्व्यासत्प्रादेशां यथा पञ्चा-  
 सशेकनिर्वातिसिः पुरुषाः पञ्चाश इति प्रहा० ? पद० जी० स्या० ।

अंतरदीवग [ य ] अन्तरदीवग [ ज ] -पुं० अन्तरहीपेषु श्लाघा  
 अन्तरहीपगाः प्रहा० १ पद० । तेषु जाता वा अन्तरहीपजाः ।  
 सं० । एकोत्तका अन्तरहीपवासिगर्भस्थुक्तातिकमनुष्यभेदेषु, ते  
 च एकोत्तकादिनामानोऽष्टाध्विपरिध्विक्लिणयोत्तराहभेदेव मि-  
 धयमानाः पदुपञ्चाश कर्म० १ क० १ स्या० । आ० प्र० द्वि० ।  
 ( तद्वर्णकोऽन्तरमेवअंतरहीवशब्दे दृशितः )

अंतरदीववेदिया-अन्तरद्वीपवेदिका-श्री० द्वीपान्तरवेदिका-  
 याय, तथा अन्तरद्वीपवेदिकायां चाराणि सन्ति न वेति प्रभे  
 अग्न्या चाराणि कथितानि सन्ति अन्तरद्वीपे तु वेदिका जगत्याः  
 स्थानेऽस्ति श्रौतो वेदिकायामपि द्वारणि संभाव्यन्ते इत्येव ० ४  
 उल्ला० ३८ प्र० ।

अंतरदीविया-आन्तरद्वीपिका-श्री० अन्तरे मध्ये समुद्रस्य  
 दीपे ये ते तथा तेषु जाता आन्तरदीपास्त पदान्तरद्वीपिकाः ।  
 अन्तरद्वीपवास्तवमनुष्यश्रीपु, स्या० ३ जा० । जी० । ( व-  
 कस्यता चासामंतरहीवशब्दे दृशिता ) ।

अंतरक्षा-अन्तरक्षा-श्री० अन्तरकाले, आचा० १ सु० ८ अ० ।  
 अन्तर्था-श्री० अन्तर्धाने, “सह अन्तरक्षा” स्मृतिसंश्लेषात्तर्धानं  
 किं मया परिशुद्धीतं कथा मर्यादया व्रतामित्येवमनुस्मरणमि-  
 त्यर्थः आचा० ६ अ० ।

अंतरपश्वी-अन्तरपश्वी-श्री० मूलश्लेषात्सार्किकगम्यतस्य प्रा-  
 मविशेषे, प्र० ७ डा० । वृ० ।

अन्तरणा-अन्तरात्मन-पुं० अन्तर्मध्यकूप आत्मा शरीररूप इ-  
 त्यन्तरात्मनि अ० २० हा० ३ उ० । स्वरेऽन्तरश्च ८ । ? । १४  
 इति स्वर्णाम्बयम्बज्जलस्य स्वरे परं शुक् निषिद्धः प्रा० । जीव, प्र-  
 श्न० संश० १ डा० । प्र० ० । आत्मेभेद, यो हि सकर्मावस्था-  
 यामपि आत्मनि हानापुष्योगलक्षणे युक्तवैतण्यलक्षणे महान-  
 न्दस्वरूपे निषिद्धकाराभूतावस्थाम्बयकूपे समतपरभावमुक्ते आ-  
 त्मभुक्तः ( सः ) अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकतः क्षणिको-  
 द्दं यावत् अन्तरात्मा उच्यते प्र० १ ? अष्ट० ।

अन्तरभाव-अन्तरजाव-पुं० परमायें, पञ्चा० १८ वि० ० ।

अन्तरभावाविहण-अन्तरजावविहो-न-वि० परमायेंविमुक्त,  
 पञ्चा० १८ वि० ० ।

अन्तरभावा-अन्तरभावा-श्री० गुरोर्भाषमाणस्य विवाहप्रभाषणे,  
 ७० ३ अधि० । आचा० । विहरेत् स्यात् चैरिः वृष्टः “ आयरि  
 उवञ्जय वा संभासेञ्ज वा विषामरेञ्ज वा आयरि उवञ्ज-

यस्स त्रासमाणस्स वा विषामरेणायस्स वा यो अंतराजासं  
 करेज्जा ” आचा० २ सु० ३ अ० ।

अंतराहिय-अन्तर्हित-वि० व्यथिते, “ मणुतरहियाप पुढ-  
 बीप ” आचा० २ सु० १ अ० । नि० वृ० ।

अन्तरा-अन्तरा-अध्य० अन्तरंति इण्-मानिकेत्, वर्जने, भेदि-  
 नी-वाच० । अन्तराले, सुष० १ सु० ८ अ० । श्लो० । आचा० ।  
 मध्ये, “ इच्छार्यामागंतु अंतराव विसीवह ” सुष० सु० ३ अ० ।  
 अत्रायें च. कल्प० “ अंतरा वि च से कल्प इतं से कल्प ”  
 अत्रायंति कल्पते परं न कल्पते कर्म० ३ क० ।

अन्तरा ( य ) इय-अन्तराय-ज० पुं० अन्तरा दातृप्रतिप्रा-  
 ह्कथोरन्तर्भाषणान्तरिकवद् विष्णोहेतुता अयते गच्छती-  
 अन्तरायम् उक्तं ३३ अ० । अन्तरा अय-अच्छ-प्रति ० ? डा० ।  
 जीवं दानादिकं वा अन्तरा व्यथयानायावरायव गच्छ-  
 तीति अन्तरायम् । अन्तरा-इ-अच्छ-पुं सं० ३ डा० । कर्म० ।  
 अन्तर्मध्ये दातृप्रतिप्राहकयोश्चित्वाले आयातीत्यन्तरायः । जी-  
 वस्य दानादिविष्णुकारकऽप्ये कर्मभेदे, यथा राजा कसैस्त्रि-  
 हातुमुपदिशति तत्र भाग्यायारिकोऽन्तराले विष्णुहृदं भवति  
 तदन्तरम्यकर्माऽप्यमम् भवति उक्तं ३३ अ० । “ जह राया  
 दाणारं, न कुणह भंडारिप विक्कलम्भि । एवं जेणं जीवो,  
 कम्मं तं अंतरायति ” स्या० ।

तद्वेदा यथा-

अन्तराए कम्भे लुविहे पम्भे तंजहा पदुप्पमिणा-  
 निए चेव पिहति य आगामिपहं स्या० १ जा० ।

( पदुगभविणासिपुवेवति ) प्रत्युपपन्नं तैतानं शब्धं वस्तु इत्यर्थो  
 विनाशितमुपहृतं येन तत्पथा । पाठान्तरेण प्रत्युपपन्नं विनाशय-  
 तीत्यर्थं शीलं प्रत्युपपन्नविनाशि शब्धं समुच्चये इत्येकस्यैव वि-  
 धत्ते च निकषञ्चि च आगमिनो लक्ष्यवस्थे वस्तुनः पन्थाः  
 आगमिपथः तमिति क्वचद्गामिपथानिति इत्येतं क्वचिच्च  
 ( आगमपहति ) तत्र च लान्तर्ममित्यर्थः । स्या० २ जा० ।

अन्तराए णं भंते ! कम्मं कतिविह पद्यते ? गोयमा !  
 पंचविहे पद्यते तंजहा दाणंतराए जाव वीरियंतराए  
 प्रहा० १५ पद० ।

तथ यद्दुद्वयशान्त सति विभवे समागते च गुणवति पात्र-  
 दनमस्यै महाफलासिद्धिं ज्ञानक्षीप दातुं नोस्वहंत तदानान्तरायं  
 यथा यदुद्वयशदानमुद्योत प्रसिद्धादिप दातुंशुद्धे विद्यमानम-  
 पि दीयमानमर्थदानं चाप्युक्तशोषितं गुणवतिप वाचको न  
 श्रमते तज्जामान्तरायं तथा यद्दुद्वयशान्त सत्पि विशिष्टादा-  
 रादिसंभवे अस्ति च प्रत्याख्यातपरिणामे वैराभ्ये वा प्रवस-  
 कापेयाश्रोतसहते नानुं नद्रोगान्तरायंमेवमुपमोगान्तरायमपि  
 भावनाथम् । तत्रैवं जोगोपजोगाथोरयं विशेषः सक्कल उच्यते इति  
 जोगः “आहारपुष्कराभे उ, उवमोगो उ पुणो पुणुः । उवमुक्कं व-  
 स्थयिहत्थाइं ” तथा यदुद्वयसत्पि निकजि शरीरे वैतणिक्या-  
 मपि वर्तमानोऽप्यप्राशो जवति यद्भवत्ववपि शरीरे स्वायेऽपि  
 प्रयोऽनेऽपि ईतिसत्पतया प्रवर्तते तद्वीर्यन्तरायम् प्रहा० २३ पद० ।

दायें श्लभे य भोगे य, उवजोगे वीरि एत्हा ।  
 पंचविहमंतरायं, समासेण विषाहिय उचत्त ३३ अ० ।

एतच्च भाएडागारिकसममिति दशयथाह ।  
मिरिहुरियसमं एयं, जह पदिभूकेण तेण रायाई ।  
न कुण्ड दाणाई, एवं विणेण जीवं वि ॥  
श्रियो गृहं श्रीगृहं भाएडागारं तद्विदये वयस स श्रीगृहको  
भाएडागारिकस्तेन समं तुल्यमेतन्नरायकर्म यथा तेन श्री-  
गृहकेण प्रतिकृतेन राजादिः राजा नृपतिः आदिशुभार्त् भे-  
द्धीश्वरत्तलवराविपरिग्रहः न करन्ति कर्तुं न पारयति दानादि  
आदिशुभार्त्त्वात् लाभमोगोपयोगादिग्रहणम् । एवममुना श्रीगृ-  
हकृद्दत्तानेन विज्ञेनान्नरायकर्मणा जीवोऽपि जन्तुरपि दाना-  
दि कर्तुं न पारयतीति व्याख्यातं पञ्चविधमन्नरायं कर्म ।  
कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । आ० । ( अनुभागाद्योऽस्य अणु-  
भागादिशुभेषु । ) ( कर्मोद्यसत्त्वात्पान्यस्य कर्म शब्दे )  
विघ्ने, सूत्र० १ सु० १ १ १ ० ।

योगस्यान्नरायाः ।

प्रत्युहा बाधयःस्थानं, प्रमादालस्य विघ्नमाः ।  
संदेहाविरतीन्मय-लान्श्राप्यनरियति ॥ ११ ॥  
( प्रत्युहा इति ) व्याधिसंस्थानसंशयप्रमादालस्याविरतिघ्ना-  
न्तिदशानलसंधर्मिकनानवस्थितस्तानि विषयविशेषान्तेऽ-  
न्नराया इति सूत्रम् । आ० १६ आ० । विघ्नकरणे, स्वा० धटा० ।  
व्यसच्छेदे, "जे अंतराअं जेयह" स० । शक्यभावे च ।  
"नअन्थ अंतरायणं परगेहे गिसीयप" सूत्र० १ सु० ६ अ० ।  
अन्तरायिक-न० विघ्ने, प्रअ० संव० ३ आ० । बहुप्रत्ययाय,  
आच्वा० १ सु० ६ अ० ।

अंतरापह-अन्तरापह-पुं० विष्णुकिंतव्यानवरत्नरालमागं,  
न० २ सु० १ उ० ।

अंतरायबहुल-अन्तरायबहुल-त्रि० विघ्नप्रभुदे, नं० ।  
अंतरायवग-अन्तरायवगं-पुं० अन्तरायप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० ।

अंतराज्ञ-अंतराल-न० अन्तरं सीमामभारति शुद्धमिति-आ-रा-  
क-रस्य इत्यम वाच० । इधये, विशेषे० । संकीर्णवर्णं च पुं०  
तद्वर्तिनि त्रि० वाच० ।

अंतरावण-अन्तरापण-पुं० अन्तरे भ्रामादीनामर्द्धेषु आपणाः  
अन्तरापणाः प्रअ० आअ० ३ आ० । राजमांग्रभूतिमध्यमाग-  
वर्तिषु हृष्टु, विपा० १ सु० ३ अ० । बीथीषु हृष्टमांगेषु, सु० १  
उ० । " अंतरावणाओ धमपडय गिरहंति" परिकोदकमागंन-  
रासवर्तिनो हृष्टाः कुम्भकारसम्बन्धिष्व इत्यर्थः आ० १२ अ० ।  
अन्तरावणमिह-अन्तरापणयुद्ध-न० यद्विशेषेऽयं, तद्यथा ।

अह अंतरावणो पुण, वीहीसा एगओ व लुहओ वा ।  
तथ गिहं अंतरावण-गिहं तु समयावणो चैव ॥

अधेयानन्तये अन्तरापणो नाम वीधी हृष्टमागं इत्यर्थः सा  
पकतो वा एकपाश्वेन ( उडओ विनि ) आश्वयं वा पाश्वीश्वं  
भवेत् तत्र यद्वहं तदन्तरापणयुद्धमुच्यते वृ० १ उ० ।

अन्तरावास-अन्तरावषे-पुं० अन्तरेभवसरावषेष्वेय वृष्टयेऽसा-  
कन्तरवषेः । वर्षाकाशे, न० १५ श० १ उ० ।

अन्तरावास-पुं० अन्तरेऽपि जिगमितः शेषमप्राप्याऽपि यत्र  
स्ति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासः । वर्षा-  
काशे, न० १५ श० १ उ० । "अच्छिये नामं नीसाप पढमं अंतरा-  
वासं उचामय" कल्प० ।

अंतरि ( लि ) कत्व-अन्तरि ( री ) ज्ञ-न० अन्तः स्वर्गपु-  
थिव्यामेव्ये हेव्यते इह-कर्मणि चस-अन्तः अन्तःकृषि भस्य वा  
पुषाद्रादित्यापके इव्यः श्रुकारस्य रिच्यं वा वाच० । अन्तमेव्ये  
इंका दशानं वस्य तदन्तरिकम भ० १७ श० १० न० । आकाशे,  
विशे० 'अन्तरेकल्पितं बुधा, गुज्जाणुचरियत्पि यदशु०७ अ०  
आन्तरिक-न० अन्तरिकमाकाशं तत्र जयमान्तरिकम् । गण-  
धनगरादी, स्या० ८ ज० । उक्त० । मेघादिके, सूत्र० २ सु० २  
अ० । प्रहाणसुदयास्ताद्विपरिहानात्सके, कल्प० । चक्रपात-  
भूमकेतुयमुखाणामुद्यविचारविद्यासङ्गणे, ( उक्त० २५ अ० )  
आकाशप्रमथप्रदुयुदेभाविभावकलमिवेदिके वा चतुर्थे  
महानिमित्तशास्त्रे, स० । "गदबहभूअग्रहहासपुद्ध अन्तरि-  
कसंतं" प्रव० २५७ आ० । प्रद्वेषयुताहृष्टान्प्रमुकमान्त-  
रिक्तं निमित्तम् । तत्र प्रद्वेषो प्रद्वस्य प्रद्वभयेन निर्गमः ।  
युताहृष्टासोऽप्रतिमहानाकाशे आकिसिकिणारायाः यथा "जिनसि  
सामभ्येन, प्रद्वेष्यतमो यदा" । तथा राजजयं विधात्प्रजाको-  
भं च दाकण" मित्यादि प्रमुकप्रहणाकःपर्वनगरादिपरिग्रहः ।  
यथा "कपिले शस्यपाताय, माडिजुद्धे हरणं गवाम् । अय्यकवर्णे  
कुरुते बललोभं न संशयः । गन्धर्वनगरं हेयं, समकारं संतेर-  
णम् । सोम्यां दिशं समाश्रित्य, राक्षस्तजिज्यंकरमित्यादि" प्र-  
व० २५७ आ० । अस्य सूचं सद्वृत्तप्रमाणं वृत्तिलैकप्रमाणा  
वार्तिकं काटिप्रमाणम् स० ७९ पत्र-० आ० ।

अन्तरि ( लि ) कलजाय-अन्तरिज्ञजात-वि० स्कन्धमञ्ज-  
पासादादी, भुच उपरिचरित्पदार्थजाते, आच्वा० २ सु० ५ अ० ।

अन्तरि ( लि ) कल्पपदिस-अन्तरिखलप्रतिपक्ष-वि० आ-  
काशगने, उपा० २ अ० । जं० ।

अन्तरि ( लि ) कलपासाह-अन्तरिकुपार्थनाथ-पुं० श्री-  
पुरेऽन्तरिकलपाश्वीनाथप्रतिप्रामायाय,

तत्कल्प इत्यम ।

'पयद्वहाविनामं, पासं पणमिषु सिरिपुरं नगरं । किंचेपि  
अन्तरिखल-द्विअन्तपदिमाई कपलवं' पुर्वि लंकापुरीए द-  
सगीवेण अरुचकिणा माली सुमालिनामानो निअगाओ  
लग्गा केयावि पेमिया वेसि उविमाणरुदाई तद पहे व-  
वंताणं समागया भोअणवेत्ता । फण्ववणुए चिनिंयं मए  
ताव अजज जिणपदिमाकरंरिया ओसग्गणेण येरे विसा-  
रिआ एपमिं च दुरह वि पुव्वंताणं देवपुण्य अकयाए  
न कन्थ वि भोगं तओ देवयावसरकरंदिअपद्वदु मपोवरि  
पकुविसंसंति च । तेण विज्जावलेण पविचवाटुआप अहि-  
एवा भाविजिणपासनाहपदिमा निम्माअिआ । मासिसुमा-  
लिहिं तं पुट्टा ना जोअणं कणं तओ तेसु तद्व मग्गे पडिपसु  
सा पदिमा आसन्नसरोवरपज्जे अस्संदिअरुवा चैव तस्य  
त्रिया । कासकपेण तसस सरोवरसस जद्वे अणियच्चं जस-  
रिअं खरुगं व दीसह । तओ कादंतरेण विगउद्धीदेमे विग-  
अणनयं तस्य सिरपालो नाप नरवई हुत्था । सो अगाहको-  
दविट्टुरिअसव्वंमो अणवरोहिं हऊई वाहिं गओ तं तस्य पि-

बासाए अग्गाए तन्मि खुबुक्रमेणं पचो तत्थ पाणिअं पीअं मुहं इत्था य पक्खाअिमा । तत्रो ते अंगावपवा जाया नीरोगा कण्णयकमल्लुज्जलच्छाया । तत्रो वरं गयस्स रत्तो मडादेवी तपच्छेरं दहं पुच्छिन्ना सामि । कत्थ वि तुम्होहिं अज्ज एहाण्णा कयं राएण जहद्वियं पधत्तं देवीए । चितिया अहो सामि । सा दिव्वं ति बीयदिणे राया तत्थ नीअो तीए सव्वंमं पक्खालियं अअो पुण्ण खवसरं रावयवो राया, तअो देवीए बलिपुआअं काल्ण भणिअं जो इत्थ देवया बिसि सो विट्ठ सो पयमेअ अण्णाए । तत्रो परं पनाए देवीए सुमिणंतेरं देवयाए जणिअं इत्थ भावित्थियरपासनाह-पदिमा चिट्ठे तस्स पभावेणं रन्तो आरुगं संजायं एअं पदिमं समगे आरोविअण सचदिअजाए वि णिज्जुत्तिचा आममुत्तं तुमिचरस्सीए रन्ना सयं सारहिदुएणं सट्ठाएणं पदवाले अयाइमा । जत्थेव निवो पच्छा इत्थं पलोइस्सइ तत्थेव पदिमा ठाहिइ । तत्रो नरनाहेण तं खुबुगजलमा-खोइकण मा पदिमा अक्का । तेण वहेव कायं पदिमा चा-अिआ कितिअं पि न्निमि गएण रन्ना किं पदिमा एइ न वि चि सिहावदोइअं कयं पदिमा तत्थेव अंतरिकत्थे ठि-आ । सगमो अगमो हुत्तं नीसिरिअो रन्ना पदिमा अ-द्विणि अधिए गया । तथेव य सिरिपुरं नामं नयरं नि-अनामोबलित्थयं निवेसिअं वेदअं च तहिं कारियं । तत्थ पदिमा अणेगमहसवपुत्तं ठाविआ प्यइत्तं पुव्वहिं पइति-कासं अज्जवि सा पदिमा तहेव अंतरिकत्थे चिट्ठइ । पुत्ति-किं अए ठाविअो तत्रो सिचवास्स अण्णती दिन्ना जहा एसदारअो ताए आण्णेअव्वो तेणावि अइउत्तासं वलं तेण नाणीअो तअो देवीए सुंवरण सत्थेइ अह सो अं-तवालसीसे दीमइ एवं अंवाए वि सिचवालोहिं सेवि-ज्जमाणे भरणिदपडभाअंहिं च कपपदिहेरो सा पदिमा सव्वत्तोपहिं पुइअइ अंतरिकत्थअपासनाहकत्थे जहामु-अं किं पि मिरिअण्णहसुरिहिं सिहिअो सपरोवयारकए अन्तरिअुपाअं नाअकत्थः ती० ५२ क० ।

अंतरि ( सि ) वत्तोदय-अन्तरिदोइक-न० अन्तरिके उदक-मन्तरीकोदक । वरोदक, लि० ७० १ उ० यज्जलमाकाशा-त्पत्थेव शुद्धते " उपा० १ अ० ।

अंतरिज-अन्तरीय-न० अन्तरे मयं गहादित्वाच्छः " नामी धृतं च यद्वह्य-माच्छाद्यति जलुनी । अन्तरीयं प्रशस्तं त-द-च्छिन्नमुभयान्तयो" रित्वेयं सकृण्ये परिधानवस्त्रं, वाच० । अथ्या-या अथस्तने वस्त्रे च । " अंतरिअं शाम शियंत्तणं अहत्था अं-तरिअं शाम जं सेज्जाए हेइहिं पोसं " लि० ७० १५ उ० । आच० । प्रवाचये-खुअ अन्तरीयकः तद्वन्न, लि० वाच० । अंतरिअिया-अन्तरीया-की० स्थविरात्कामाअं निर्गतं स्वेषप-तित (वेसवादिण) गणस्य नृनीयशाकायाम्, कल्प० १८१ पत्र । अंतरिय-अन्तरित-त्रि० अन्तर-इ-कसंरि कः । अन्तरंते, अन्तरं व्यवधानं करोतीति णिचि-कर्मणि-कः । व्यवधापिते, निरस्कृते, अक्षदादिने, वाच० । व्यवहितं, विशेषेण आ० अ० द्वि० । अन्तरिया-अन्तरिका-की० अन्तस्य विच्छेदस्य कारणमन्तरि-का खीलिङ्गशब्दः निवक्तिनवस्तुनः समासो, "अण्णतरियाए वट्टमाणस्स " आरुवध्यानस्य समासिरपुवंस्थानाभ्युपगमिथ्य-यं अ० १ वक्क० ।

अन्तरिका-की० अन्तरमेवात्तस्यं नेपञ्चादित्वात्स्वायेंपु अए ततः खीत्वावचकायां ऊपे प्रत्यये आन्तरी आन्तस्येव आन्तरि-का । अन्तरे, व्यवधाने, सू० प्र० २० पादु० । लक्ष्यन्तरे च. रा० । अंतरुच्छुय-अन्तरिच्छु-पुं० इच्छुपर्वमध्ये, आच० १ सू० १ अ० "उभयोपेकरइयं अंतरुच्छुअं होमि" लि० ७० १६ उ० । अंतरण-अन्तरेण-अव्य० अन्तरेति इण्-ण-उवर्गादित्वेऽपि शस्य नेसंस्कृत्वम् । मन्थार्ये, वाच० । विनायं च. उक्त० १ अ० । अहाराभ्यन्तरेण नाम अहाराभ्यन्तरेण लि० ७० १ उ० । अंतव ( त् )-अन्तवत्-त्रि० अन्तोऽस्थानी अन्तवाद् । परि-मिते, "अंतयणिदए लोए इति धीनोति पास" अन्तवानलोकः समद्वीपाः वसुंधरेति परिमाणेस्तादृक्परिमाणेनेत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतवाल-अन्तपास-पुं० अन्तं तच्छिन्नं प्रादेइयं देशसम्बन्धिनें पालयति उपरुवादित्रय इत्यन्तपासः । पूर्वदिगादिदेशलोकानां देवादि कृतसमस्तोपवचनिवारके, अं० ३ वक्ता० आ० म० । अंतविकाट्टिपंतपाल-अन्तविकर्षितान्त्रयास-त्रि० गृणालादि-जिरुपाटितोद्वरमथावयवै, तं० ।

अंतमुह-अन्तसुव-न० परिणामसुखे, "मासैरछिन्नता च पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कलन्तं अनुभ्येण, वस्थान्ते सुखमेध-ने" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

अंतमो-अन्तशस्-अव्य० अन्त-शस्य निरवशोपत इत्यर्थे, "सह्यं कतंति अन्तसो" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । विपाककाले इत्य-र्थः सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । यावज्जीवमित्यर्थे, "अणसा वयसा वेअ कायसा चैव अंतसो" सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । कथञ्चिन्नाकार्य-निस्तारे, "अचपाणे अ अन्तसो" जनेः पाणे जातशः सम्बन्धु-पयोगवना जाव्यमिति सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतावेइ ( ई )-अन्तवेदि ( दी )-की० अन्तर्गता वेदिवेइ देते । हीवेइस्वी मिथो वृत्ती ऽ । १४ । इति ह्रस्वस्य ईर्षिः । आशावसंसेदो, प्रा० । वाच० ।

अंताहार-अन्त्याहार-पुं० अन्त्ये भयमन्त्यं जघनध्यानं बह्ना-दि आहारो यस्य । कृतसपरित्यागे, की० । सूत्र० । स्था० ।

श्रुति ( नृ )—अन्तिन-वि० अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽ-  
स्यास्तीत्यन्तो । जात्यादिभिर्दसमतया पर्यन्तवर्षिनि,  
स्था० १० डा० ।

श्रुतिश्र [ य ]—अन्तिक-न० अन्त्यते संबध्यते सामीप्येन  
अन्त-वश्च । वाच० । समीपे, नं० । सूत्र० । उच० । श्रा० ।  
विशे० । उच० । " बुद्ध्यां श्रुतिय सया " उच० १ श्र० ।  
श्रा० म० द्वि० । नि० । म० । रा० । पर्यवसाने, "अह भिक्षु  
गिलाएजा, आहारस्सेव श्रुतिया " श्रावा० १ श्रु० ८ श्र० ।  
पाठ्ये च " देवाखंवाए माहणीए श्रुतिय एयमहुं सोबा "।  
कल्प० । अन्तोऽस्यास्तीति अन्तिकोऽन्ते वा चरतात्यन्तिकः ।  
पर्यन्तवासिनि, सूत्र० २ श्रु० २ श्र० ।

श्रुतिम-अन्तिम-वि० अन्ते भवमन्तिमः । चरमे, स्था० १  
डा० । यतः परं न किञ्चित्स्ति विशे० ।

श्रुतिमराड्या-अन्तिमरात्रिका-श्री० अन्तिमाऽन्तिमभागरू-  
पाश्र्वथये समुदायोपचारत्वात् सा चास्ती रात्रिका वान्तिमरा-  
त्रिका । रात्रेवसाने, श्रा० १० डा० । म० ।

श्रुतिमसंप्रयणतिग-अन्तिमसंहननत्रिक-न० अर्थनाराचसं-  
हननकीलिकासंहननसेवातसंहननरूपे संहननत्रिके, कल्प० ।  
श्रुतिमसारांरिय-अन्तिमश ( शा ) रीरिक-वि० अन्ते भव-  
मन्तिमं चरमं तच्च तच्छरीरं ज्येष्ठान्तिमशरीरं तत्र भवा अ-  
न्तिमशरीरकी दीर्घत्वं च प्राकृतौत्येव । चरमदेहभवेऽपु क्ति-  
वादिषु, स्था० १ डा० ।

श्रुतंश्रारि ( नृ ) अन्तश्रारिन्-वि० अन्तश्रारिन् अन्तर चर-  
यिनि । तोऽन्तरि वा११६० । इति अत एवमय । मय्यागामिनि, प्रा० ।  
श्रुतंउ [ पु ] र-अन्तःपुर-न० अन्तरभ्यन्तरं पुरं गृहकर्म  
वाच० । तोऽन्तरि वा११६० । इत्यन्तःशब्दस्यान्त एवमय प्रा० ।  
अधरोधे, राजक्रीष्णां निवासगृहे, ग० श्रा० । " चिय अंतेउर  
धरदारपवेसी " श्री० । तत्र गमनं निषिद्धम् ।

[ सूत्रम् ] जे भिन्नत्वं रायंतेपुरं पविमइ पविसंतं वा  
साइज्जइ ॥३॥

इममेव सूत्रं गायया व्याख्यानयति ।

अन्तेउरं च तिविधं, सुधं एव च वसगाणं च ।  
एकेकं पि य दुविधं, सत्याणस्यं च परत्थाणे ॥१८॥  
रथो अंतेपुरं तिविधं रहसियं जेव्वणाओ अपरिउज्जमा-  
णाओ अत्यति पयं सुधंतेपुरं । जेव्वणं पणाओ परिउज्जमा-  
णाओ जत्य अत्यति तं राधंतेपुरं । अपत्तजेव्वणाणं रायदु-  
हियाणं संगओ कथंतेपुरं । ते अत्तओ एकेकं दुविधं सट्ठाणं  
परट्ठाणं य । सट्ठाणत्थं रायधरे जेव परट्ठाणत्थं वसंतादिउ  
उज्जाणियाणं ।

एते साम्प्रतं, रथो अंतेउरं तु नो पविसे ।  
सो आणाअणवत्थं, भिच्छुत्तविराणं पावे ॥ १९॥  
इमे दोषाः ।

दंकारविलगदोषा-रिपिइ बरिसवज्जं सुज्जेहिं ।  
णिंतेहि अन्तिंतेहि य, वायातो होइ निजसुस्स ॥३०॥  
इमं यच्छाणं ।

दंबधरो दंकरविलओ, दोवारिजा तु दारिडा ।

वरिसवरद्विपिपिति, कंजुगिपुरिसा महचरगा ॥ ३१ ॥  
दंकरादि यदुत्थो सत्वतो अंतेपुरं रक्खइ रथा वरक्षेण इत्थि पुरि-  
सं वा अंतेपुरं णीयति पवेसीति वा एस दंबङ्गिक्खतो । दोवारि-  
या दारं जेव अं संभेसति हिक्खेति ता तपिया रथो आयाचं । ए  
अंतेपुरियसमीवं गच्छति । अंतेपुरिया जंतीए वा रथो समी-  
वं गच्छति उ रथो समीवं अंतेपुरिया णयति चापिनि चादिउ-  
रथायं वा कइकहिते कुविधं वा पसावैति कहैति य रथो विवि-  
ते कारणे अणुणत्तां वि जे अभातो काउं वयंति ते महचरगा ।  
अथ य इमे दोसा ॥

अओ व होति दोसा, आइषो गुम्भरगणइत्थीओ ।  
तथीसाए पवेसो, तिरिक्खमया जवे दुडा ॥ ३३ ॥  
पूर्ववत् ।

सपादिइंदियत्थो, पयोगदोसाण एस णं मीवे ।  
सिंमारकहाकइणे, एगतरुज ए य बहु दोसा ॥ ३३ ॥  
तथ गीवादिसदोवओणेण इरिवं एसणं वा ण सोहेति  
तहि वा पुच्छित्तो सिंमारकहं कइएज्ज । तथ य चायपरोजय-  
समुथा दोसा एते सट्ठाणत्थं दोसा । इमे परट्ठाणं ।  
कहिंता वदोति दोसा, केरिसगा कथणगिएट्ठणादीया ।  
गन्वो पायासिणं, सिंमारणं व संजरणं ॥ ३४ ॥

उज्जाणाविट्ठियात्तु कांए साए कोउयोग गच्छेज्ज ते जेव पु-  
व्ववधिथेया दोसा सिंमारकहाकइणे वा गणदगादिया दोसा  
अंतेपुरं भम्मकहा णागमं गच्छेज्ज भोरालसरीगे वा गम्वं क-  
रेज्ज अंतेउरपवेसे ओज्जाणितो मिहइ अत्थे पदादिकणं करेते  
पाउसदोसा भवंति सिंगारे य सोवं पुव्ववकांलिते सुमरेज्ज  
अइवा पाउ इहु अणुणो पुव्ववसिंमारं संभरेज्ज पच्छा परिगम-  
णादी दोसा इहज्ज ।

वितियपदमयाओगे, विसंघिपरिक्खेवसेज्जसंधारे ।

दुयपादी उट्ठाणे, संघकुलगणाण कजे व ॥ ३५ ॥  
अखाओगेण पविट्ठो अइवा अंतेपुरं परट्ठाणत्थं साधुणा जातं  
एयाओ अंतेपुरिआत्थे पुव्ववभासेण पविट्ठो अयाणतो अइवा  
साए उज्जाणांसिउ जिता राधंतेपुरं च सव्वओ समता आग-  
ओ परिवेडियं तियं अथवसहिमभावे य तं वसहिं अंतेपुरं न-  
उज्जेण अतिं णिति वा । अइवा संयागस्स पच्छपणाणइओ  
पविट्ठो अइवा सोइवग्गमहासादियाण उट्ठाण परणयिस्स वा  
जया राधंतेपुरं पविसेज्जा अथतो णत्थि सीसणो वा तो क-  
ज्जेति कुलगणसंघकजेसु वा पविसेज्जा तथ देवी दव्वसा-  
रायणं कपयेति अंतेपुरपविट्ठो रायदट्ठो नि० सू० ९८० ।

अंतेउरपरिवारसंपरिउड-अन्तःपुरपरिवारसंपरिवृत्त-त्रि० अन्तः  
पुरं च परिवारअ अन्तःपुरलक्षणो वा परिवारो यः सः ।  
ताभ्यां नेन वा संपरिवृत्तः । अन्तःपुरलक्षणेन परिवारेण अ-  
न्तःपुरेण परिवारेण वा संपरिवृत्ते, ज्ञा० ८ अ० ।

अंतेउरिया-आन्ताःपुरिकी-श्री० अन्तःपुरे विद्या आन्तपु-  
रिकी । रोगिग्राह्यकारके विद्याजने, यथा आनुरस्य नाम शु-  
दीत्या आत्मनोऽङ्गमपमाज्येति आनुरस्य प्रमुखां जायते सा आ-  
न्तःपुरिकी व्य० ५ अ० ।

अंतेवासि ( नृ ) अन्तेवासिन्-पुं अन्ते समीपे वस्तुं चातिच-  
क्रियायां वस्तुं शीलं स्वभाषो वस्येत्येवासी । दशा० ४ अ० ।



अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमनस्येव्यन्तेवासी । शिष्यं, स्था०  
 अ० प्र० । जं० । सू०० । रा० । अ० ।

अन्तेवासिनां जेदप्रतिपादनार्थमाह ।

च नारि अंतेवासी पञ्चत्वा तंजहा उद्देमणंतेवासी नाम ए-  
 गे नोवायणंतेवासी, वायणंतेवासी नाम एगे नो उद्देसणं-  
 तेवासी, एगं उद्देमणंतेवासी वि वायणंतेवासी, वि, एगे नो  
 उद्देसणंतेवासी वि नो वायणंतेवासी वि ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

पद्भ्यापरिर्यं होइ, अंतेवासी उ मेवखा ।

अंतितामञ्जसमासार्थं, समीपं चैव आह्वयं ॥

अधस्तानान्तरसूत्रे आचार्याः प्रोक्ताः आचार्यं च प्रतीत्यान्ते-  
 वासी भवति तस्मात्सन्नेवासिसूत्रमित्येषां भेदतः संबन्धः । अ-  
 चान्तेवासी तत्र योऽन्तमण्यस्तथास्यान्तेयमेकाधिकान्यमाह ।  
 अन्ते नाम अन्तिकप्रम्यास आसन्नं समीपं चाख्यातं तत्र वस-  
 तीत्येवंशीलान्तेवासी ।

संप्रति भङ्गनावनार्थमाह ।

बहू चैव उ आपरिया, अंतेवासीति हाति एपेव ।

अंते व वसति जहद्वा, अंतेवासी ततो होइ ॥

यथा चैव आचार्यो उद्देशनादिजेदतन्मनुजो जयन्ति एयमेव  
 अन्तेवासिनोऽपि यस्मादाचार्यस्थाने वसति तस्मात्प्रवृत्त्याचा-  
 र्यमन्तुर्वाअंतेवासी । इयमत्र नायना यो वस्थान्ते उद्देशमन्तेवा-  
 धिष्ठ्य वसति वसते स तं प्रत्युद्देशमान्तेवासी । वस्य स्वन्ते वा-  
 चनामन्तेवाधिष्ठ्य वसति तस्य वाचनान्तेवासी । यद्योद्देशं न वा-  
 चं धिष्ठ्य वस्थान्ते वसति स तं प्रत्युज्यान्तेवासी । य-  
 स्य स्वन्ते नोद्देशं नापि वाचनमधिष्ठ्यान्ते वसति किं तु ध-  
 र्मअवयवमधिष्ठ्य स तं प्रत्युभयार्थकत्वा धर्मान्तेवासी । उद्दे-  
 शान्तेवासी वाचनान्तेवासी वा । तत्र काञ्चित्प्रिभरिपर प्रकारः  
 समन्वितो भवति कश्चिद् द्वाभ्यां कश्चिदेकैकेन । व्य० १० उ० ।

चत्वारि अंतेवासी पञ्चत्वा तंजहा पन्वावणंतेवासी एां  
 उवद्वावणंतेवासी, उवद्वावणंतेवासी, एाममेगे णो पन्वावणंते-  
 वासी, पन्वावणंतेवासी वि उवद्वावणंतेवासी वि, एगं णो  
 पन्वावणंतेवासी णो उवद्वावणंतेवासी ॥

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमनस्येव्यन्तेवासी शिष्यः । प्रजा-  
 जनया दीक्षया अन्तेवासी प्रजाजनान्तेवासी दीक्षित इत्यर्थः ।  
 उपस्थापनान्तेवासी महाव्रतारोपणतः शिष्य इति चतुर्थमङ्ग-  
 कथः क इत्याह धर्मान्तेवासीति धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो  
 धर्माधिकृत्योपसम्पन्नो वेत्यर्थः । स्था० ४ डा० ।

धीगान्तेवासिनां धीकृ ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समयसस जगवओ महावीरस  
 अंतेवासो बहवे समएा भगवंतो अप्पेगइया उगपव्वइआ  
 भोगपव्वइया राइसएातकोव्वसत्तिएपव्वइआ भन्ना  
 ओडा सेएावइपव्वइआरो सेह्ठी इन्भे अएे बहवे एवमाइएा  
 उचमजातिकुलरूवचिणयावसाएावप्रावसावकमपहाएा -  
 सोजगकंतिधुत्ता बहुधएावसावचिणयपरियात्ताकिन्निआ गर-  
 वइगुणाइइचिअभोगो मुहसंपत्तिआ किंपागकलोवमं च

मुणिअ विसयसोवखं जलवुवुअसमाणं कुसगजल्लिइदुच्चं-  
 चलं जीवियं च एाएण अक्खमिणं रययमिव पढगइअं  
 संविधुएात्ताएां चइत्ता हिरखं जाव पव्वइआ । अप्पेगइआ  
 अक्खमासपरिआया अप्पेगइया मासपरिआया एवं हुमासा  
 तिमसा जाव एक्कारस । अप्पेगइया वासपरिआया दुव्वा-  
 वस तिवासा अप्पेगइया अणेगवासपरिआया संजमेणं तवसा  
 अप्पणं भावेमाएा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं  
 समएणस भगवओ महावीरसस अंतेवासी बहवे एिगंग्या  
 भगवंतो अप्पेगइया आभिणिवोहियएाणी जाव केवल-  
 एाणं । अप्पेगइआ मणवल्लिआ वयवलिइआ कायवल्लिआ  
 अप्पेगइआ मणेणं सावाएाणुमइसमत्था ३ अप्पेगइआ खे-  
 लोसहिपत्ता एवं जइओसहि विपोसहि आमेमाहि सन्वोसाइ  
 अप्पेगइआ कोइवुद्धी एवं बीअवुद्धी पद्भुक्की अप्पेगइया  
 पयाएामारी अप्पेगइआ संजिक्खसीआ अप्पेगइया खीर-  
 सवा अप्पेगइआ महुवासवा अप्पेगइआ मएिआमवा अप्पे-  
 गइआ अक्खंणमहाणिमिआ एवं उज्जुमसी अप्पेगइआ  
 विउलमइ विउव्विणिह्मिआ चारणा विज्जाहारा आगसा-  
 तिवाइणो । अप्पेगइआ कणागवल्लि तवोकम्मं पडिवसा एवं  
 एकावलि खुट्टाकसीहनिक्कीदियं तवोकम्मं पडिवसा अप्पे-  
 गइया महालयं मीहानिकंलियं तवोकम्मं पडिवसा जरप-  
 टिमं महाभदपडिमं सव्वतो जइपडिमं आर्यविल्लवक्खमाणं  
 तवोकम्मं पडिवसा मामिअं जिकखुपडिमं एवं दोमामिअं  
 पडिमं तिपामिअं पडिमं जाव सत्तपामिअं भिक्खुपडिमं  
 पडिवसा पहमं राइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवसा जाव तच्चं  
 सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवसा । अहाराइंदियं जिकखु-  
 पडिमं पडिवसा इकराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवसा सत्त-  
 मत्तमिअं जिकखुपडिमं अइइमिअं भिक्खुपडिमं एणव-  
 वमिअं जिकखुपडिमं दसदसमिअं जिकखुपडिमं खुइइय-  
 मोअपडिमं पडिवसा महद्वियं मोअपडिमं पडिवसा जव-  
 मज्जकं चंदपडिमं पडिवसा वज्जमज्जकं चंदपडिमं पडिवसा  
 संजमेणं तवसा अप्पणं भावेमाएा विहरंति आ० ७७पव्व ।

( मनोयलिकादीनामर्थः स्वस्वशाब्दे )

तेणं काटोणं तेलं समएणं समयसस भगवओ महावीरसस  
 अंतेवासो बहवे थेरा जगवंतो जातिमंपमा कुलसंपमा  
 बलसंपएाया रूवसंपएाया विणयसंपएाया एाणसंपएाया  
 दंसणसंपएाया चरित्तसंपएाया लज्जासंपमा लायवमंपमा  
 उ अमीतिअंसो वरचंसो जसंसो जिअकोहा जिममाएा  
 जिअमाया जिअओभा जिअइदिआ जिअएिआ जिअप-  
 रीसहा जीविआसमरणभयविपमुक्का वयप्पहाया गुस-  
 प्पहाया करएव्पहाया चरएव्पहाया पिगइप्पहाया

निष्कृष्यपद्माणा अज्वष्यपद्माणा मष्वष्यपद्माणा लायवष्य-  
 हाणा खंतिष्पद्माणा मुलिष्पद्माणा विजापद्माणा मंतष्प-  
 द्माणा वष्यपद्माणा बंधपद्माणा नयपद्माणा नियमपद्मा-  
 णा सच्यपद्माणा सोअपद्माणा चारुवेषा लज्जातवस्सी  
 जइदिआ साही अशियाणा अप्पसुआ अवहिहेस्सेसा  
 अप्पन्निस्सेसा सुसामण्यया दंता इणमेव णिग्गंये पाचयणं  
 पुरओ काउं बिहरंति तेसि णं जगवंताणं आर्यावदी विदि-  
 ता भवंति परवादी विदिता जवंति आयावाइं जमइत्ता  
 लवणमिव मत्तमातंगा आच्छिदपसिएणवागरणं रयणकरं-  
 रुगसमाणा कुलिआवणजूआ परवादिपरमइणा दुवा-  
 लसंगिणो सम्भत्तगणिण्णिदग्धरा सव्वक्खरससिखाइणो  
 सव्वभासाणुगामिणो अजिणा जिणसंकासा जिणा  
 इव अविसेहं वा करेमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं जाये-  
 माणा विहरंति । तेषां काक्षेणं तेषां समएणं सम-  
 णस्स भगवओ महावीरस्स अंतैवासी बहवे अणगारा  
 भगवंतो इरिआसमिआ भामासमिआ एसणासमिआ  
 आदाएजेरुमत्तनिक्खेवणासमिआ उच्चरापासवणखेलसिं-  
 पाणज्जुपारिट्ठावणियासमिआ मणुगुत्ता वयुगुत्ता कायगु-  
 त्ता गुत्तिदिया गुत्तबंधारा अममा अकिंचणा णिएणग्गन्या  
 णिएणमोआ निरुवडेवा कंमपातीव मुक्कतोआ संख इव  
 निरंगणा जीवो विव अप्पदिहियगती जक्कणगं पिव जा-  
 तरूवा आदरिमफल्मा विव पगइभावा कुम्भो इव गुत्ति-  
 दिआ पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा गग्गण्णिव निराल्लवणा  
 अण्हिओ इव निगलया चेद इव सोमलेसा सूर इव तेअ-  
 हेसा सागरो इव गंधेरा विहग इव सव्वओ विप्पयुक्का मंदर  
 इव अप्पकंपा सायरससिल्लं व मुच्छिदिआ खग्गविसाणं  
 व एगजाया जारंरुक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोई-  
 रा वमजो इव जायत्थामा सीहो इव उक्कुरिसा वधुंधरा  
 इव सव्वफामविसहा सुअहुअुआसणो इव तेअसा अंसेता  
 नत्थि णं तसि णं भगवंताणं कथय पडिबंधे । से अप्पदि-  
 बंधे चउत्विहं पण्णसे तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ  
 भावओ । दव्वओ णं सच्चिचाच्चिमीसएषु दव्वेषु, खेत्तओ  
 गांमे वा एणरो वा रणे वा खेत्ते वा खेत्ते वा धगे वा अणरो-  
 वा, कालओ समए वा आवल्लिआए वा जाव आयाणे वा  
 आण्णरे वा दीहकालसंजोगे, भावओ कोहे वा माणे वा  
 मायाए वा होहे वा भए वा हासे वा एवं तेषि णं जवइ तेणं  
 जगवंतो वामावासवज्जं अइ गिम्हट्ठेमंतिआणि मासाणि  
 गांमे एराइआ एणरो पंचराइआ वासी चंदएणसमाणकप्पा  
 समसेहुक्कंचणा समसुइत्तुक्का इहभोगपरसोगअप्पक्कक्का  
 संनारपारगामं। कम्मण्णियाणउट्टाप अम्भुद्धिआ वि-  
 हरंति ॥ औ० १०१ पव. ।

( पदार्थमात्रविन्यसिनी टीकेति न विन्यस्ता ) ( तेषि णं ज-  
 गवंताणं एते णं विहारेणं विहारमाणा सुं इमेयारूपे आध्वंतर-  
 ए बाहिरए तयोवहाणं होरथा तंजहा अस्मिंंतरए उजिहवे बाहिर-  
 ए उजिहवे इत्यादितव आदिशब्धेषु प्रदर्शयिष्यते । तेषां काशेषुं  
 तेषां समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा  
 जगवंतो अप्पेगइया आचारखरा इत्याएणगारउज्जे ) ।  
 धीरास्तेवासिनः कति सेत्स्यन्तीति पृच्छा ।

तेषां काशेषुं तेषां समएणं महासुक्काओ कप्पाओ महास-  
 म्माओ विमाणाओ दो देवा महाहिया जाव महाणुभागा  
 समणस्स जगवओ महावीरस्स अतियं पाठन्तूया । तए  
 खं ते देवा समएणं भगवं महावीरं मणसा चेव वंदंति न-  
 मंसंति वंदंतिचा नमंसंतिचा मणसा चेव इमं एयारूवं बागरणं  
 पुच्छंति । कइ णं देवाणुप्पियाणं अंतैवासिसयाइं सिज्झिहिं-  
 ति जाव अंतं करेहिंति ? तए णं समणे जगवं महावीरं  
 तेहि देवेहिं मणसा पुच्छे तेषिं देवाणं मणसा चेव इमं ए-  
 यारूवं बागरणं बागरेइ एवं खलु देवाणुप्पिया ममं सत्त  
 अंतैवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति तए णं  
 ते देवा समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्टेणं मण-  
 सा चेव इमं एयारूवं बागरणं बागरिया समाणा हउत्तु  
 जाव इयिया समएणं जगवं महावीरं वंदंति एमंसंति मण-  
 सा चेव सुम्भसमाणा एमंसमाणा अजिमुहा जाव पज्जु-  
 वामंति भ० ५ श० ५ उ० ।

इहापि टीका प्रल्लिखशब्दार्थमात्रविन्यसिनीति न गृहीता ।  
 अन्तो-अन्तर-अन्थ० मध्ये, इशा० २ ब्र०। "अंतो पत्रिवाइरं-  
 सि" आचा० २ श० ६ अ० । इशा० २ ब्र०। प्रअ० । आव० ।  
 सू० । "एवामेव मार्या मार्यं ककु अंतो अंतैकिज्याइ" अन्तर-  
 न्तःक्रियया ध्यायन्ति इत्यनैदीव्यन्ते इशा० उ टा० ।  
 अंतो अंत-अन्तोपान्त-पुं० सान्तमध्ये, "तुमं खेच णं संति-  
 थं यत्थं अंतोअंतण पकिलेहिस्सामि" त्वदीयमेवाहं वक्कमन्तो-  
 पान्तेन प्रत्युपहितं सूचीयाम । अन्तःस्थहितमन्तोपान्तकरपकि-  
 लेहादिप्रदृणकरं, आचा० २ श० १ इ० ।

अंतोकरण-अन्तःकरण-न० क-करणे-ल्युट् । अन्तरज्यन्त-  
 रस्यं करणं कर्मभा० । तदुत्तिपदाध्यांनं सुखादीनां करणं  
 ज्ञानसाधनम । ज्ञानसुखादिसाधने, अन्त्यन्तरे मनोबुद्धि-  
 खादिपद्व्यभिन्नव्यमाने इन्द्रिये, बाच० । तच्चान्तःकरणं स्मृति-  
 प्रमाणात्संसंकरपथिकत्वाद्बुद्ध्याकारणं चित्तबुद्धिमनोऽह-  
 हारशब्दैर्व्यवहृत्यते न० ।

अंतोस्वरियसा-अन्तःस्वरिका-स्त्री० नगराभ्यन्तरवेश्यात्वे,  
 विशिष्टवेश्यात्वे च । "द्वेषं पि रायगोहे सुयंरं अंतोस्वरियसा-  
 ए उवबज्झिहिंति" ज० १५ श० १ उ० ।

अंतोगिरिपरिरथ-अन्तगिरिपरिरथ-पुं० गिरेरन्तः परिक्रमे,  
 जी० ३ प्रति० ।

अन्तोजल-अन्तजल-न० जलाज्यन्तरे, "अन्तो जले वि एवं  
 गुणभंगं फासश्चक्षुण्णित्वंते" वृ० ६ व० ।

भंतोषाय-अन्तनीद-त्रि० हृदये सतुःक्षमादाति, "ह्रोपउं मुदं हृदयेणं भंतोषायं गये रवं" आब० ४ अ० ।  
भंतोषायपसणी-अन्तनिवसनी-अ०० आर्याणामौघिकापीधने-  
दे, तत्स्वरूपम् ॥ "भंतोषायं सजी पुण, शीततरा जाच अज-  
अंजाता" । अन्तनिवसनी पुनरुपरि कटिनागादारण्याधेऽधेज-  
हा वायव्यं भवति सा च परिधानकांठे हीनतरा परिधीयते मा  
पुदनाद्वृता जनेपहास्येति" वृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० चू० ।

भंतोदहणसील-अन्तदेहणसील-त्रि० हृदयस्य उःखाभिना  
दाहके, "कुंडुया विव भंतोदहणसीलाभो" ( माव्यः )  
भुक्तिः करीषामिस्सह्य अन्तदेहणसीलाः पुरुषाणामन्तदुःखा-  
भिना ज्यालनत्वात् । उक्तं च "पुत्रश्च मुक्तो विधवा च कन्या,  
शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विद्यासकालेऽपि दरिद्रता च,  
विनाशभिना पञ्च दृहन्ति कायम्" तं० ४६ पत्र ।

भंतोदुष्ट-अन्तवेष्ट-पुं०० सुतादिशेषतो नवहाराघनावेन सौ-  
म्यत्वाद् अभ्यन्तरद्वेषयुते म्रणभेदे, शठत्वात् संवृताकारत्वाद्  
हृदययुधे पुरुषभेदे च पुं० २था० ४ ग्रा० ।

भंतोद्युम-अन्तर्द्युम-पुं०० अभ्यन्तरधूमे, गृहादिनिकरुधूमे, प्राव० ४प्र० ।  
अंतोमज्झोवसाणिय-अन्तर्मध्यावसाणिक-पुं० लोकात्मध्याव-  
सानिकाण्ये अभिनयभेदे, नाट्यकुशलैर्युग्मं ३यं विशेषतो वंदि-  
तव्यः रा० ।

भंतोमुह-अन्तभुस्-न०० अभ्यन्तरद्वारे, "भंतोमुहस्स अस-  
वी उभयमुहे तस्स बाहिर पिहए" वृ० १ उ० ।

भंतोमुहुत्त-अन्तभुहूर्त्त-३० मुहूर्त्तस्य घटिकाद्वयसङ्गणस्य का-  
लविशेषस्यान्तर्भ्येऽन्तभुहूर्त्तस्य । निपातनादेवाच अन्तः-  
शब्दस्य पूर्वनिपातः नं० । अभिभ्रमुहूर्त्त, आब० ४ अ० ।

भंतोसित-अन्तसिम्-त्रि०० अन्तर्भ्ये शिसमन्तसिम् । मध्ये ले-  
पेनोपदिभ्ये, "अग्निमंतोसितं" वृ० १ उ० ।

अंतोवृत्-अन्तवृत्-ि०० मध्ये वृत्तसंस्थानसंस्थिते, तेणं णरगा  
अंतोवृत्तं बहिं उदरंसा" बाह्यमङ्गीकृत्यान्तर्भ्ये वृत्ता सूत्र०  
२ सू० २ अ० ।

भंतोवसि-अन्तव्यासि-अ०० पक्वीकृत एव विषये साधनस्य  
साधनेन वसती, यथाग्नेकान्तात्मकं वस्तु सत्स्य तथैवापपत्तेः  
१० ६ पत्र ।

भंतोवाहणी-अन्तवोहिनी-अ०० अन्तरस्य पश्चिमे शतोदाया  
महानया दक्षिणे प्रबहन्त्यामन्तरनद्याय, स्या० ३ ग्रा० । "कुमुप  
विजय अरजा रायहाणी अंतवाहिणी इह" जं० ४ वस्त० ।

भंतोवीसंज-अन्ताविश्रज्ज-पुं०० अन्तविश्रज्जः त० स० । तोऽ-  
न्तरीत्यस्य काचित्कत्वाच्चातस्यैत्वम् । चित्तविभ्रासे, "अंतो-  
वीसंजनिवेशिजाणं" प्रा० ।

भंतोसल्ल-अन्तःश्लथ-त्रि०० अन्तर्भ्ये शल्यं वक्ष्य अरहस्यमा-  
भिस्यर्थः तत्तथा । बहिरनुपलक्ष्यमाणं म्रणभेदे, स्या० ४ ग्रा० ।  
अनुकुततोमरादौ, अ० ३ हा० ५ उ० । अन्तर्भ्ये मनसोत्यर्थः ।  
शल्यमिव शल्यमपराधपदं यस्य सोऽन्तःशल्यः । अग्निमानादि-  
शिरसाङ्गांघ्रितातिचारं, स० ४१ पत्र ।

भंतोसल्लमयण-अन्तःशल्यमयुक्त-त्रि०० अनुकुतमायशब्देषु  
अभ्यवर्तिभङ्गादिशब्देषु वा सारु सुतेषु, अ०० २५६ पत्र ।

भंतोसल्लमरण-अन्तःशल्यमरण-न०० अन्तःशल्यस्य रूप-  
तोऽनुकुततोमरादेर्जावतः सातिचारस्य वयमरणं तदन्तःशल्य-  
मरणम् । चालमरणभेदे, ज० ३ हा० १ उ० । स० ।  
तत्स्वरूपम्

लज्जाए गारवेण च, बहुस्तुयुमयेण वापि दुष्करियं ।  
जण कहेति गुरुणं, ए कु ते आराहगा होति ।  
गारवकणिकवृद्धा, अद्यारं जे परस्स प करेति ।  
दंसरणणाएचरिचे, समझमरणं हवति तेसिं उच्च० नि० ।

तत्र लज्जाया अनुचितानुष्ठानसंवरणात्मिकया गौरवेण च  
सातर्किसंगौरवात्मकेन मा दृग्ममालोचनाहैमाचार्यसुपसर्पत-  
स्तद्वन्दनादिना तदुक्ततपोष्ठानासेवेनेन च अकिरससता-  
नावसंजय इति बहुभुतभेदेन वा बहुभुतोऽदं तत्कथमप्यभूतोऽयं-  
मम शल्यमुष्करिष्यति कथं चाहमस्मै वन्दनादिकं दास्याम्यपन्ना-  
जना इयं ममेत्यभिमानेन आद्यः पूर्णेने ये गुरुकर्मणां न कथय-  
न्ति नाश्लोचयन्ति केषां गुरुणामाश्लोचनाहोषामाचार्यादीनां किं  
तत्पुत्रुकरितं उरनुष्ठितमिति संबन्धः । न तु नैव तेऽन्तःशल्यमुष्क-  
रुपाः आराध्यत्यविकलतया निष्पादयन्ति सम्प्रत्यशोनाद्-  
नीत्याराधकता भवति । ततः किमिवाह । गौरवस्य इव  
काष्ठमुष्टेयुता तस्मिन्निष्ठुदा इति प्राकृतत्वान्निमान्म इव निम-  
न्नास्तकोर्निकृततया लज्जामद्योरपि प्राणुपादान्ने यदिह गौर-  
वस्यैवापादानं तदस्यैवातिदुष्टताव्यापानार्थम् । अतिचारमरण-  
धं परस्याचार्योदेने कथयन्ति किं विषयमिवाह । दर्शनहान-  
कारिणे दर्शनज्ञानचारित्रिविषयं दर्शनविषयं शब्दादिज्ञानविषयं  
कासात्मिकमादि चारित्रिविषयम् । समित्यनुपासनादिशदयमिष  
शल्यं कालान्तरेऽप्यनिरपेक्षविधानं प्रत्यनवरतया नह तेनेति  
सशल्यं तत्र तन्मरणं च सशल्यमरणं तच्छान्तःशल्यमरणं  
भवति । तेषां गौरवपदुममनामिति गाथाश्रवार्थः ॥  
अस्यैवास्त्यपरिहायतां स्यापयत् फलमाह ।

एतं समझमरणं, मरिज्जण महाभय दुरंतमिम् ।  
सुचिरं भयांतं जांवा, देहीं संसारकर्तारं ॥ उच्च० नि०

एतदुष्करुत्तरूपं सशल्यमरणं यथा भवति तथेत्युपस्कारः ।  
सुभ्यस्यवाता पंतन सशल्यमरणेन मृत्वा त्यक्त्वा प्राशान्  
जीवा इति संबन्धः । किं सुचिरं भ्रमन्ति बहुकालं पर्यटन्ति  
क संसारः कान्तरमिवातिगहनतया संसारकान्तरस्त्वस्मि-  
ञ्चिति संतःहः कीदृशि महज्जयं यस्मिन्लम्पहायं तस्मिन्तथा  
नुःभेनान्तःपर्यन्तो तस्य तरन्तं तस्मिन् । तथा हीयं अ-  
नादी केणचिद्विषयवसिते वेति तत्संबन्धेया परिहस्येभ्येवेति  
भाव इति गाथायैः । प्रव० १५४ ग्रा० ।

अंत्रमी-अ००-अन्त-न०० अपसंशे स्वाधिकप्रत्यये ह्ने । लिङ्ग-  
मन्तत्रम दाश० । इति नपुंसकस्याऽपि श्लोत्वम् । उदरम-  
ध्याऽवयवभेदे, "पारविलगमी अंत्रमी" प्रा० ।

अंत्र-अन्द्र-अ०० अन्तदे वध्यतेऽनेनेति अदि-कू-वाच० ।  
निगडे, "अंत्र सुपक्विकृष्णविहन देह" सूत्र० १ कु० ५ अ० ।  
अंदेउर-अन्ताःपुर-न०० अघःकचिद् दाश० २६० इति शौरसेन्यां  
नकारस्य दकारः । राजस्थानां गृहे, प्रा० ।

अंदोलग-अन्दोलक-पुं०० यत्रागस्य मनुष्या आत्मानमान्दो-  
लयन्ति ते आन्दोलकाः । हिण्डोल इति लोकप्रसिद्धेषु, जी०  
३ प्रति० । रा० । जं० । दोलनकरीरि, त्रि० वाच० ।

अंशदोषणं । ए-अ ( अ ) न्दोऽन-न० ६ चशशाखादी षे-  
लने, ष० २ अ० १ । कर्णे-ष-इएडोल इति प्रसिद्धे आन्दो-  
नयन्, सूत्र० १ बु० ११ अ० । यत्रान्दोलनेन युवमतिरुक्तयते  
तस्मिन् मार्गविशेषे, सूत्र० १ बु० ११ अ० ।

अंध-अन्य-भि० अन्ध-अन्ध-नवरहित, डा० १२ डा० । षो० ।  
पञ्च० । सूत्र० । स चान्यो द्विधा ज्ञानस्थः पश्चाद्वा हीनने-  
प्रोऽपगतत्वसुः सूत्र० १ बु० १२ अ० । स चान्यो द्रव्यतो  
भावतश्च । तत्रैकान्द्रयद्रोन्द्रियधीन्द्रियाः द्रव्यभावाध्याः । अ-  
तुरिन्द्रियादयस्तु सिध्यादृष्टयो ज्ञानाध्याः उक्तञ्च “ एकं हि  
चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्विरेव सह संबसति द्वितीयम् ।  
एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्य-स्तस्यापमार्गचलने ऋतु  
कुर्यात्प्रायः ” सम्यग्मृद्यस्तुपहतनयना द्रव्यान्वास्त एव स-  
चक्षुरेण न द्रव्यतो भावि भावतस्तदेवमन्वन्त्वं द्रव्यभावभेदि-  
भेककल्पनेन दुःखजननमभ्यसोतीत्युक्तञ्च “ जीवशेषे मृतोऽन्यो,  
यस्मात्सर्वकियास्तु परतन्त्रः । नित्यास्तमितदिनकर-स्तमो-  
न्धकाराण्यभिमनः ” “ लोकद्रव्ययसनवद्विचिरीपिताम्न-मन्धे  
समीक्ष्य रूपं परपदिनेयम् । को नोद्विजेत भयकञ्जननादि-  
योप्रातः, कृष्णादिदैनिकनिचितादिव चान्धगर्वात् ” आचा० १  
बु० २ अ० ३ उ० । अन्ध इत्याद्यः । अज्ञाने, ज्ञानरहिते, “ ए-  
पर्यं अंधा मूढा तमप्यविद्वा ” अ० ७ श्रु० ७ उ० । “ तिष्ठतो  
यजतो वापि, यस्य चक्षुने दूरगम । चतुष्पदां भुवं मुक्त्वा,  
परिडाडन्ध उच्यते ” इत्युक्तवर्णो परिडाडन्धे, वाच० ।  
पुं० । अन्धयतीत्यन्धम् अन्ध-खु० प्रेरण-शिख्य अन्ध । अन्ध-  
करणे, अन्ध वा अन्धकारे, तमसि, अज्ञाने च । जले, न.  
मेदि० । वाच० ।

अन्ध-पुं० अन्ध-रत्न० । देशभेदे, स च देशः जगन्नाथार्द्धजा-  
गाद्वर्वाक् श्रीसरमात्माव तावदन्ध्राभिधो देश इत्युक्तः वाच० ।  
नहोरात्रेण जनं च. ७५०१ उ० । स च म्लेच्छजनोक्तः प्रज्ञा० १  
पर० । प्रञ्च० । प्रच० । सूत्र० । वैदेहेन कारावरस्य शिष्यास्तु-  
त्याविते अन्यजनभेदे, व्याजनेदे इति काश्यपः वाच० ।

अंधकण्टक-अन्धकण्टकी-य-न० अन्धस्याविकृतकण्टको-  
पगमनरूपेऽतिक्रितोपगमने, आचा० १ बु० १ अ० ।

अंधकण्ड-अन्धयकृत-भि० स्वकपाचलोक्तनशकियकले, अष्ट०  
२ अष्ट० । अहं मेमति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदाव्यकृत् ” अष्ट० ।

अंधका ( या ) र-अन्धकार-पुं० न० अन्धं करोति कृ-अण्  
उप० । वाच० । कृष्णार्त्तव्यादिजये, अरुणभवसमुद्रोक्तवत-  
मस्काये च. तं ७६ पत्र. । बहुव्रतमेनिःशब्दे, अनु० ।  
स्था० । ज्ञा० । तच्च तेजोद्रव्यमात्मायाजावरूपमिति त्रैयायिकाः  
वाच० । “ कांक्षं मद्गलं तं पिय विद्याणं तं अंधयारं ति ” इत्युक्त-  
मरुणः पुत्रलपरिणाम इति समयधिदः सूत्र० १ बु० १ अ० ।  
अन्धप्रापि “ सध्वयारउज्जोम्भो, परहाम्गतवधरथा । वनगधर-  
वप्रासा पोमहाणं तु ह्यक्षणं ” उक्त० २ अ० । नच तमसः  
पौद्गलिकत्वमसिद्धं चाकुरव्यावधानुपपत्तेः प्रदीपारोकेत्यतः ।  
अथ यथाकृत्यं तत् सर्वं प्रतिज्ञासि प्राज्ञोक्तमपेक्षते नैवैवं  
तमस्तक्तयं चाधुप्यं मैत्रयं उलूकादीनामालोकनन्तरेणापि तन्प्र-  
तिज्ञासात् । यैस्त्वस्मद्विदिनित्यवस्थात्तुं षडादिकमाज्ञोक्तं  
विना नापलभ्यते तैरपि तिमिरत्राज्ञोक्तव्यप्यते विवित्राज्ञा-  
दानां प्रकल्पना पीतभ्रंशान्दोषोपि स्वयंमुक्तपश्चात्तथा आज्ञो-  
केन्द्रदानाः प्रदीपचन्द्रावयवस्तु प्रकाशान्तरिरेपेक्ष इति सिद्धं

तमश्चाधुपय । रूपवशात्तच्च स्वशोचस्यमपि प्रतीयते । इत्यस्व-  
शमस्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिविदायवत्यमप्रतिघातिन्यम-  
नुज्ञस्वशोविशेषव्यमप्रतीयमानस्यप्राथम्यविद्यमविभागस्य-  
मित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिवेद्येधाय परैः साधनाःयुपस्य-  
स्तानि तानि प्रदीपमसाष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि स्या० ६ पत्र. ।

सर्वाण्यन्तरं मरुणममिहकृत्यान्धकारसंस्थितिं प्रति-  
पिपादयितुस्तद्विषयं प्रभूत्समाह ।

तता एं किसंतिता अंधकारसंतिती आहिताति वदेजा ।  
ता उद्धीमुहकलंबुतापुष्पगठिता आहितेति वदेजा । अं-  
तोसंकुम्भा बां । वित्यथा तं चैव जावतः से एं दुने बाहातो  
अणवद्वितातो भवंति तं सव्वकंभंतरिता चैव बाहा सव्व-  
बाहिरिता चैव बाहा । तीसे एं सव्वकंभंतरिता बाहा मंदरं  
पव्वयं तेणं हू जोयणसहस्सां तिषि य चउब्बंसे जो-  
यणसते उ विदसज्जागे जोयणसस परिकखेवेणं । ता से एं  
परिकखेवबिसेसो कतो आहितेति वदेजा । ता जे एं मं-  
रसस पव्वसस परिकखेवेणं तं परिकखेवं दोहिं गुणित्ता द-  
सहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एम एवं परि-  
कखेवबिसेसं आहिताति वदेजा । ता से एं सव्वबाहिरिता  
बाहा लवगमसमुदं तेणं तेवहिं जोयणसहस्सां दोहिं य  
पणयाले जोयणसते उच्च दसज्जागे जोयणसस परिकखेवेणं  
ता से णं परिकखेवबिसेसो कतो आहितेति वदेजा । ता  
जे एं जेवुदीवसस दीवसम परिकखेवेण परिकखेवं दोहिं गु-  
णित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एम  
ए परिकखेवबिसेसं आहिताति उ ता से एं अंधकारे कंभंति  
आयमणं आहिताति उ ता अट्टुत्तारिं जोयणसहस्सां तिषि  
य तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिज्जाग चआयामेणं आहितेति  
वदेजा तता ए उचमकट्टे उकांसे अचरसस मुहुत्ते दिवसे जवति  
जहसिष्या सुवालम मुहुत्ता राती भवति । ता जता एं सुरिए  
सव्वबाहिरं मंरुलं उवसंकमिक्ता चारं चरति ता उद्धीमुह-  
कलेयुता पुष्पसंतिता तावसंखेचसंतिती अंती संकुम्भा बाहिं  
वित्यथा जाव सव्वकंभंतरिता चैव बाहा सव्वबाहिरिता  
चैव बाहा । ता से णं सव्वकंभंतरिता बाहा मंदरपव्वतेणं  
उ जोयणसहस्सां तिषि य चउब्बंसे जोयणसते हूच्च  
दसज्जागे जोयणसस एवं जेपमाणं अन्धकंभंतरिते अंधकार-  
संतिते तं इमाए वि तावसंखेचं संतिती ऐतव्वजा । बाहि-  
मंरुले आयामो सव्ववत्य वि एको तया एं किसंतिता  
अंधकरसंतिती आहिताति वदेजा । ता उद्धीमुहकलंबुता  
पुष्पसंतिता अंधकारसंतिती आहिताति वदेजा । अंती  
संकुम्भा बाहिं वित्यथा तं चैव जाव सव्वकंभंतरिता बाहा  
सव्वबाहिरिता आहिता चैव बाहा । ता से एं सव्वकंभं-  
रिता बाहा मंदरपव्वयं तेणं एव जोयणसहस्सां चत्तारि  
य उल्लसंति जोयणसते एव दसभागे एवं जेपमाणे अन्ध-

तर्पणकृत्रिणं सूरिणं तावत्सेचनं त्रितं, ए नं चैव गेयञ्च  
भाव आतामो ता जता एणं उचपउक्कोसा अट्टारसमुकुचा  
राती जवति जहृष्णं दुवाइसमुकुचु दिदसे भवति ।

तदा सर्वोभ्यन्तरमण्डलचारकाले ( किं संदिग्धसि ) किं  
संस्थितं संस्थानं यस्याः । यद्वा कस्येव संस्थानं संस्थिति-  
र्यस्याः सा किं संस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् ।  
भगवानाह " ता इत्यादि " ता इति पूर्ववत् ऊर्ध्वकृतकल-  
म्बुका पुष्पसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् ।  
सा चान्तर्मण्डलिणि विष्कम्भमधिकृत्य ( संकुडा ) संकुचिता  
बहिरेवणदिति विस्तृता । तथा अन्तर्मण्डलिणि वृत्ता ऊर्ध्व  
वर्धयाकारा सर्वतो वृत्ता मेरुनामो द्वी देशभागी व्याप्य तस्या-  
वस्थितत्वात् । बहिरेवणदिति प्रयुक्ता विस्तीर्णा एतदेव  
संस्थानकथनेन स्पष्टयति " अतो अकमुहसंतिआ बाहं स-  
तिममुहसंतिआ " अन्वयोः पदयोर्व्याख्यानेन प्राप्तवत् वेदितव्यम् ।  
" उभोप्रासेणमित्यादि " तस्या अन्धकारसंस्थितेस्तापक्षेत्र-  
संस्थितेर्द्विव्यवशाद् द्विधा व्यवस्थिताया मेरुवर्धनस्योभय-  
धाम्नेन उभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमेकैकभावेन ये जम्बूद्वीपगणे  
बाहे ते आर्याभेन आर्यामप्रमाणमधिकृत्यावस्थिते भवतस्त-  
दध्या पञ्चचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि ( ४५००० ) द्वे च बाहे  
विष्कम्भमधिकृत्य एकैकस्या अन्धकारसंस्थितेर्भवेतस्तदध्या  
सर्वोभ्यन्तरा सर्वबाह्या च एतयोश्च व्याख्यानेन प्राग्विह द्रष्ट-  
व्यम् । प्रतः सर्वोभ्यन्तराया बाह्याया विष्कम्भमधिकृत्य प्रमा-  
णमभिधित्सुराह ( तासेणमित्यादि ) तस्या अन्धकारसंस्थितेः  
सर्वोभ्यन्तरबाहा मन्वर्यर्षतान्ते मन्वर्यर्षतसमीपे सा च  
वदयोर्जनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्दशत्यधिकानि  
( ६३२४ ) वद् दश भागा योजनस्य ( ६ ) यावत् परिक्षेपे-  
णाख्याता इति वदेत् । अमुमेवायं स्पष्टावबोधनार्थं पुच्छति  
( ता से णं इत्यादि ) ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थि-  
तेर्योक्तः परिमाणपरिक्षेपविशेषां मन्वर्यर्षतपरिक्षेपेण  
विशेषः कृतः । कस्मात्कारणादाख्यातो नोनाधिको वेति भग-  
वान् वदेत् एवं प्रश्ने हते भगवानाह । ता इति प्राप्तवत् । यो  
क्षमिति वाक्यालङ्कारे मन्वर्यर्षतस्य परिक्षेपेः प्रागुक्तप्रमाणः  
नं परिक्षेपे द्वान्यां गुणयित्वा कस्माद् द्वान्यां गुणनमिति  
चेदुच्यते इह सर्वोभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतोः सूर्य-  
योरैकस्यापि सूर्यस्य जम्बूद्वीपगणस्य क्कवालस्य यत्र  
तत्र प्रदेष्टे तत्तत्कथयत्युच्येतानुसारेण दश भागाह्वयः प्र-  
काश्या भवन्ति । अपरस्यापि सूर्यस्य त्रयः प्रकाश्या  
दश भागास्तत्र उभयभागेभ्यो वद्दश भागा भवन्ति तेषां  
त्रयाणां दशानां भागानामान्तराले द्वौ द्वौ दशजानौ रज्जो  
ततो द्वान्यां गुणनं तौ च दशजानाविति दशभिर्भागहरणं द-  
शभिर्भागहरणे यथोक्तं मन्वर्यस्य समीपे अन्धकारसंस्थिति-  
परिमाणमागच्छति । तथाहि मेरुवर्धनपरिचयपरिमाणमेकत्रिंश-  
त्तोजनसहस्राणि वद् शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि ( ३१६३३ )  
एतानि द्वान्यां गुणयन्ते जातानि त्रिषष्टिसहस्राणि ( ३१६३३ )  
वदत्कारणसार्धधिके ( ६३२४६ ) तेषां च दशभिर्भागो हते ल-  
ब्धाणि वद् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्दशत्यधिक्का-  
नि । वद्दश भागा योजनस्य ( ६३२४ ) ( ६ ) तत्र एव एतावान-  
नन्तरोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपो मन्वर्यर्षतपरि-  
क्षेपेण विशेषेण भाष्यत इति वदेत् । तदेवमुक्तमन्धकार-

संस्थितेः सर्वोभ्यन्तराया बाह्याया विष्कम्भपरिमाणम् । अमुना  
सर्वबाह्याया बाह्याया आह । " तासे णं इत्यादि " तस्या अन्ध-  
कारसंस्थितेः सर्वबाह्या बाहा लक्षणसमुकुचान्ते ह्ययसमुकु-  
चसमीपे जम्बूद्वीपपर्यन्ते सा च परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिचयप-  
रिक्षेपेण गायता विष्कम्भयोजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंश-  
त्तोजनशते वद् दशभागा योजनस्य यावत् ( ६३२४५ ) ( ६ ) एत-  
देव स्पष्टं स्वशिष्यानावबोधयितुं भगवान् गीतमः पुच्छति " ता-  
से णं इत्यादि " ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेः स-  
एतावान् परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिचयपरिक्षेपेण ( १० )  
विशेषः कृतः कस्मात्कारणादाख्यातो नोनाधिको वेति वदेत् भग-  
वान् वदमानस्यामी आह " ता जे णं इत्यादि " ता इति पूर्व-  
वत् यो क्षमिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपेः प्रागुक्त-  
प्रमाणस्य परिक्षेपे द्वान्यां गुणयित्वा दशभिर्भाग्या दशभिर्वि-  
भज्य अत्र च करः प्रागेवोक्तं दशभिर्भागो हियमाणे यथोक्त-  
मन्धकारसंस्थितेर्जम्बूद्वीपपरिचयपरिक्षेपेण मागच्छति । तथाहि  
जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिमाणं त्रीणि शतानि चतुर्दशत्यधिक्का-  
णि द्वे शते अष्टाविंशत्यधिके ( ३१६३२४ ) तद् द्वान्यां गुणयन्ते  
जातानि वद् लक्षणं द्वविंशत्यसहस्राणि चत्वारि शतानि वद्-  
पञ्चाशत्यधिकानि ( ६३२४५६ ) तेषां दशभिर्भागो हते लब्धा-  
नि त्रिषष्टिसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंशत्तधिके वद्  
च दशभागा योजनस्य ( ६३२४५ ) ( ६ ) एत एव एतावाननन्त-  
रोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपप-  
रिचयपरिक्षेपेण विशेषेण आख्यात इति वदेत् । तदेवमुक्तं स-  
र्वबाह्याया ऋपि वाद्याया विष्कम्भपरिमाणम् । " सम्प्र-  
ति सामस्येनान्धकारसंस्थितेरान्धकारप्रमाणमाह । " तासे णं  
इत्यादि " । इह चायामपरिमाणं तापक्षेत्रसंस्थितिनान्धकार-  
परिमाणवद्भावनायै समानजावनिकत्वात् । अत्रैव सर्वोभ्यन्त-  
रे मण्डले बसैमानयोः सूर्ययोर्दिवसरात्रिसमुच्चैः प्रमाणमाह ।  
" तथा णं इत्यादि " सुगमं सर्वोभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थि-  
तिमन्धकारसंस्थितं चाभिधाय समप्रति सर्वैकबाह्यमण्डले ताम-  
भिधित्सुराह " ता जया णमित्यादि " ता इति पुर्ववदेव यद्वा  
सूर्येः सर्वैकबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किं संस्थिता  
तापक्षेत्रसंस्थितिराख्यातेति प्रगवाच्येदत् । भगवानाह । " ता  
अतो मुहेत्यादि " पूर्ववद्भावस्येया । " ता से णं इत्यादि " तस्याश्च  
तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वोभ्यन्तरबाह्याऽभ्यन्तरमेरुसमीपे सा च  
परिक्षेपेण मन्वर्यर्षतपरिक्षेपेण वद् योजनसहस्राणि त्रीणि  
शतानि चतुर्दशत्यधिकानि ( ६३२४ ) वद् च दशभागा  
योजनस्य ( ६ ) आख्यातानि भवेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः ।  
" एवं इत्यादि " एवमुक्तं सति कारणे यद्दन्त्यन्तरमण्डलगतसूर्ये-  
ऽन्धकारसंस्थितेः प्रमाणमुक्तं तद्वाह्ये बाह्यमण्डलगतसूर्येऽन्ध-  
कारसंस्थितेः परिमाणं त्रिषष्टिसहस्राणि ( ३१६३३ ) " ता से  
णं परिक्षेपविसेसकतो आहिति । जे णं मंदरस्य पठवयस्स  
परिक्षेपे तं द्वांहां भागं हि रमाणं एत यं परिक्षेपविसेसे  
आदिभास्त्रे वषजा ता जे णं जम्बूद्वीपस्य हीवस्स परिक्षेपे  
वर्गां गुणित्वा एतस्मां हिक्ष्ता इसां भागं हि रमाणं एत यं  
परिक्षेपविसेसे आदिभास्त्रे वषजा ता से यं तावत्किन्ते  
केवहं प्रायामेण आदिभास्त्रे वषजा । तीतेसीं जे णसहस्र-  
सं त्रिष ष तीरीवर्धजे णसहिते भागं चायमेव आदिभास्त्रे  
वषजा " इदं सकलमपि सुगमं नवरं मन्वर्यर्षतपरिचयवद्द्वान्यां  
गुणनं तदेव कारणम् इह सर्वैकबाह्ये मण्डले चारं चरतोः सूर्येयो-

अज्ञेयत्वमनस्य चकत्कालस्य यत्र तत्र वा प्रदेयो तत्कक्यालके-  
 चानुसारेण ही ही दृशमागौ तापकेचम । एतच्च प्रागेव प्राविनं  
 ततो मन्दरपरिरयादि हात्र्यां सुधयेत गुणधिया च दशजिमी-  
 गहरणं तथा सर्वबाहो मरणले सूर्यस्य सारं चरतो हयणस-  
 सुद्रमये पञ्चोजजनसहस्राणि तापक्रेत्रं बद्धं तत्कथशीलिया-  
 जनसहस्राणि इत्याद्युक्तम् । शोभाह्वयोजन तु प्राग्ब्रह्मवनीया  
 तदेवं सर्वबाहो मरणले चरन्तोऽसौ तापक्रेत्रसंस्थितं परि-  
 भागमभिधाय सम्प्रति तत्रैवाधकारसास्थितिपरिभाणमाह ।  
 ( नया ण किं संतिआ इत्यादि ) तदा सर्वबाहोमरणले चारचरण-  
 काले णमिनि थाक्यालहाइर किंसंस्थिताऽन्धकारसंस्थितिरा-  
 क्थानंति बदेव । जगधानाह “ ताठकीमुहेत्यादि ” सुगमं  
 “ता से खं इत्यादि ” तस्या अन्धकारसंस्थितेः स्यादन्धरत्नबाहो  
 मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे । “ ताव जाव परिक्लेषवि-  
 सेसं आदिभक्ति थपञ्जा । ता से ण अंधकार केवअन्नं प्राय-  
 मेषु अहादिभक्ति थपञ्जा ता सतींरं जोअणसहस्रहस्रांरं तिथि अ  
 तेथीसिए जोअणस्स जोअणतिभागं च आदिभक्ति थपञ्जा ”  
 इह यन्मन्दरपरिरयादिभक्तिभ्रमणं हरणं च शोभाह्वयोजन तु  
 प्राग्ब्रह्मकंठ्या । तदेवं सर्वबाहोऽपि मरणले तापक्रेत्रसंस्थितिः प-  
 रिभाणं चाकमभुना सर्वबाहो मरणले चरन्तमानयोः सूर्ययोः रा-  
 त्रिदिसतसुहृन्मैररिमाणमाह । ( ता जया ण इत्यादि ) तदा सा  
 सर्वबाहोपद्वयचारकाले उत्तमकाष्ठं प्राप्ता उत्कृष्टाऽऽदृशमु-  
 द्भृतां रात्रिरेवति जघन्यां द्वादसमुदृत्तां दिवसः तदेवमुक्तं ताप-  
 क्रेत्रसंस्थितिपरिभाणमन्धकारसंस्थितिपरिभाणं च । चं० प्र०  
 ४ पाठु० ॥ सू० प्र० ॥

वर्धनान्धकारौ दग्दककमेणाह ।

से रणुणं भंते । दिवा उज्जोए रादअंधधारे ? इता गो-  
 यमा । जाव अंधधारे से केणट्टेणं ? गोयमा । दिवा सुभा  
 पोगग्ला सुते पोगग्लपरिणामे गतिं अमुज्जा पोगग्ला  
 असुते पोगग्लपरिणामे । से तेणट्टेणं नेरइया णं जंते !  
 किं उज्जोए अंधधारे ? गोयमा ! नेरइयाणं नो उज्जोए  
 अंधधारे से केणट्टेणं ? गोयमा ! नेरइयाणं असुभा पों-  
 गग्ला असुभे पोगग्लपरिणामे से तेणट्टेणं असुरकुमाराणं  
 भंते ! किं उज्जोए अंधधारे ? गोयमा ! असुरकुमाराणं  
 उज्जोए नो अंधधारे । से केणट्टेणं ? गोयमा ! असुरकु-  
 माराणं सुभा पोगग्ला सुभे पोगग्लपरिणामे से तेणट्टेणं  
 जाव एवं बुबइ जाव थाणियाणं पुढरीकाट्या जाव तेदिवा  
 जहा नेरइया । च उररिदियाणं भंते ! किं उज्जोए अंधधारे ?  
 गोयमा ! उज्जोए वि अंधधारे वि से केणट्टेणं ? गोयमा !  
 च उररिदियाणं सुभासुभा पोगग्ला सुभासुजे पोगग्लपरि-  
 णामे से तेणट्टेणं एवं जाव यणुसताणं बाणमंतरजोइसवे-  
 माणिया जहा असुरकुमारा ॥

“ से रणुणमित्यादि । ( दिवा सुहा पोगग्लति ) दिवा दिवसे  
 सुभाः पुत्रता जवन्ति । किमुक्तं भवति सुभपुत्रलपरिणामः स  
 चार्ककरंसेपकात् ( रति ) राभौ ( नेरइयाणं असुभा पोग-  
 ग्ला ) तत्केस्य पुत्रसुज्जता( निमित्तसुखविकारादिप्रकाश-  
 कवस्तुभक्तित्वात् । ( असुरकुमाराणं सुहा पोगग्लाति ) तदा-  
 अभादीनां भास्वरवात् ( पुढरीकाट्या इत्यादि ) बुधिवीकायि-

काद्यस्त्रीदियान्ता यथा नैरयिका उक्तस्तथा वाच्यः । एषां  
 हि मास्युद्घोनाऽन्धकारं चास्ति पुत्रलामाद्युभयाद् इह केच  
 भावना एतन्नेत्रे सत्यपि रविकरादिसंपर्के एषां चक्षुःसिद्धिधा-  
 भावेन दृश्यवस्तुनो दृशनाज्ञात् । सुभपुत्रलकायोरुभयोर्गु-  
 णाः पुत्रला उच्यते तत्तन्नेत्रमन्धकारं पक्षि । ( च उररिदियाणं  
 सुजासुजोमालसि ) एषां हि चक्षुःसद्भावेन रविकरादिसद्भा-  
 वे इदयाथावधोहेतुत्वात् सुजाः पुत्रला रविकराद्यभावे स्वर्धा-  
 वधोपाजनकत्वाद्दुष्मा इति न० पृ० १०० ए ४० ।

अधोलोकेऽन्धकारः ।

अहोलोमे णं चचारि अंधकारं करंति तंजहा खग्गा  
 गोरइया पावाइं कम्पाइं असुजा पोगग्ला ॥

“ अहेत्यादि ” सुगमं किन्तु अधोलोके उक्तसङ्घे चत्वारि  
 वस्तुनीति गम्यते नरका नरकाबासा नैरयिका नरकात् तेषु कृ-  
 णरूपत्वाद्दन्धकारं कुर्याति पापाणि कर्माणि शिवायणादीनि  
 मिथ्यात्वाज्ञानसङ्घेनासाधकारिवाद्दन्धकारं कुर्वन्तीत्युच्यते ।  
 अधवाऽन्धकारस्वरूपेऽधोलोके प्राणिनामुत्पादकत्वेन पापानां  
 कर्मणामन्धकारकृत्यमिति तथा अगुभाः पुत्रलान्तेमिधभावे-  
 न परिणता इति । स्था० ४३० । तथा यथाऽन्धे चतुर्भिः कार्णैर्भौके  
 उद्घोतो भवति तथा अन्धकारमपि अहेनिर्भाषेण इहकुतव-  
 मांताये जाततेजस्य सच्छुद्धेऽपि तत्र यथाहेनो निर्वाणं लोक-  
 अन्धकारं जयति । तथा त्रयाणां गते समानमुत् कश्चिद्दिशो वेति  
 मते शोकानुत्पादिवाहैदीनां चतुर्णांमप्यच्छेदं द्रव्यान्धकार  
 समानम् अग्निविनाशे त्रयोच्छेदे भावाऽन्धकारमधिकं स्यादिति  
 विशेषः स्याताङ्गुत्पुनुराणं ज्ञायत इति १०० इयन० उच्छु० ।  
 ( अहेति निर्वाणं गच्छति धर्मं शुक्लियमने पर्वगते वा म्युच्छि-  
 यमाने लोकान्धकार इत्यहेच्छेदं ) तमसि, स्था० ३३० । मरु-  
 णभवसमुद्राद्भवतस्कायं च० तं० । तमोरुपत्वात्सत्यं न० ।  
 स्था० । अशोचत् अन्धकारवति, त्रि० ज्ञा० १ अ० । औ० ।  
 अंधका ( या ) रपक्व-अन्धकारपद-पुं० रूपणपके, सू०।  
 १३ पाठु० ॥

अंधग-अंदिहप-पुं० वृत्ते, म० १८ श० ४ उ ० ॥

अंधगवहिह-अंदिहपद्विह-पुं० अदिपा वृत्ता(स्तेषां बहवस्तदा-  
 भयवन्तेत्यदिपवहयः । वाहृतेजकायिषु, न० १८ श० ४ उ० ।  
 अन्धकवह-अन्धका अप्रकाशकाः सुदमनामकामंवाद्ये  
 बहवस्ते अन्धकवहयः । सूहमतेजस्कायिषु, १ ।

जीइया खं भंते । का अंधगवहिहणो जीवा तावइया  
 परा अंधगवहिहणो जीवा ? हुंता । गोयमा । जावइया चरा  
 अंधगवहिहणो जीवा तावइया परा अंधगवहिहणो जीवा  
 सेवं जते । भंतेचि ।

तत्परिमाणाः ( परसि ) पराः प्रकृताः स्थितितो दीर्घोयुष  
 इत्यर्थः इति प्रश्नः हन्तेत्याद्युत्तरमिति । म० १८ श० ४ उ० ।  
 यदुवंशजनुपभेदे, “ धारवतीपु लयवीपु अंधगवहिह गामं  
 राधा परिचयसि मइया हिमवंत वधोत्तरे तस्स वं अंधगव-  
 हिहस्स रथो धारणी गामं वेथी होत्या ” इत्यं० । अन्धक-  
 वहोर्दश पुत्राः “ समुद्रे १ सागरे २ गंगीरे ३ यमिप ४ अ-  
 यत्ने ५ कपिषे ६ अमन्धोरे ७ पसेरुद्रे ८ विरुद्रे ९ एते नव  
 पतेष्वं प्रथमो भौतम इति दश-अन्त० १ वर्ग० । “ अहं व

अंधगवपिह

भोगरायस्स तं च सि अंधगवपिहयो" त्वं च भवसि अन्ध-  
 कृच्छ्रेः समुद्रविजयस्य सुत इति गम्यते " दश०२४० । १० ।  
 अंधतम-अन्धतमस-न० अन्धकारे, तत्रान्धतमसस्तेजोरुपा-  
 स्तरस्य संक्षेपे, "असुरियं नाम महाभितावं अंधं तमं दुष्पतरं  
 महंतं" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । अथ प्राकृतत्वात्प्यतम इति ।  
 अंधतमस-अन्धतमस-न० अन्धं करोतीत्यन्धयति अन्धयती-  
 त्यर्थं तच्च तमस्मेति अन्धतमसम् । समवाण्याचमस इत्यप्र-  
 त्ययः । निविडान्धकारे, स्या० ६८ पत्र० ।

अंधतामिस-अन्धतामिस-न० तमिन्ना तमस्सन्ततिः । तमि-  
 श्वेष तमिन्नाम् । अन्धयतीत्यन्ध कर्म-स० । निविडान्ध-  
 कारे, साङ्गपशास्त्रप्रसिद्धेः भयविशेषविषयकेऽभिविशेषे, पुं०  
 स्या० ३६ पत्र० । देहे नष्टे अहमेव नष्ट इत्यहाने च. बाच० ।  
 अंधपुर-अन्धपुर-न० नगरभेदे, यत्र अनन्धो राजाऽन्धम-  
 काः श्रु० ४ उ० ।

अंधपुरिस-अन्धपुरव-पुं जात्यन्धे, यथा मृगापुत्रः वि०१अ० ।  
 अंधप-अन्ध-पुं प्राकृते "विपुत्रवपीताप्याहः ८२।७३इति  
 स्वायं लः प्रा० । चतुर्दशहोने, श्रु० ४ उ० । नि० चू० (अन्ध-  
 दान्तो व्युद्ग्राहितशब्दे-निष्कलाशब्देऽप्यन्धदृष्टान्तः)  
 अंधारू-अन्धरूप-नि० अंधारूकृतौ, "तए णं सामिया देवी  
 त्वा रूपं हुं अंधारूवं पासइ" विपा० १ अ० ।

अंधिया-अन्धिका-स्त्री० चतुतिन्दिपजीवविशेषे, उच० ३६  
 अ० । प्रहा० । जी० ।

अंधि ( धे ) झग-अन्ध-पुं अन्ध एवातिष्ठकः । जात्यन्धे,  
 प्रथ० आश्र० १ द्वा० । चतुर्विकले, पि० । प्रथ० ।

अंधी-अन्धी-स्त्री० अन्धदेशजसियाम्, "अन्धीणां च ध्रुवं  
 सीला-बलितं भूतले मुखे । आसज्य राज्यमारं सं, सुखं स-  
 यिति मन्मथः " भाव० ४ अ० ।

अंध-अन्ध-पुं पञ्चदशशतुरनिकायान्तर्वर्तिपरमाथामिकनि-  
 कायानां प्रथमे परमाथामिके, यो देवो नापतन्मरतले नीत्या  
 विमुञ्चत्यसाधम् इत्युच्यते ज० ३ वा० ६ उ० ।

ते चाभ्याभिधाः परमाथामिका यादृकां वेदनां परस्परोद्दि-  
 ण्णुः सं चोत्पादयन्ति तं दर्शयति तदा ।

धार्मेति पदार्मेति य, इणानि विधिति नष्ट एणुमंति ।  
 धुंवेति अंधरतले, अंधा खलु तस्य षोडश्या ॥ ७ ॥

" धार्मेतात्यादि " तत्राभ्याभिधानाः परमाथामिकाः स्वभव-  
 नाशरकावासं गत्या क्रीडया नागकाव् अजागान् सारमेयानिव  
 शूलादिप्रहारस्तुदन्तो [ धार्मेति ] प्रययति । स्थानात् स्थाना-  
 न्मन्त्रं प्राययन्तीत्यर्थः । तथा ( धार्मेतिनि ) स्वच्छयत-  
 भेतत्वाऽनाथं भ्रमयन्ति । तथाऽन्धरतले प्रक्षिप्य पुनर्मिपतन्ने  
 मुञ्चरादिना प्राप्ति । तथा शूलादिना विधयति तथा ( निस्-  
 मंतिनि ) कृकादिकायां गृहीत्या नृभ्यो पातयति । अंधोमुखमयो-  
 क्रियाम्बरतले मुखान्तात्पंचमार्दिकया विदधन्तया तत्र नरक-  
 पृथिवीषु नागकाव् कदंभयन्ति सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । आय० भा०  
 १०० । ( अंधरीसशब्दऽपि )

अन्ध-न० अन्ध-ल-तकं, रसभेदे, पुं० तद्वति, नि० बाच० ।  
 अन्ध-नि० तकादिसंस्कृते, ज० ३ वल् ० प्र० ॥

अंध-पुं० अन्ध गत्यादिषु रज दीर्घवच । षड्यः संयोगे ही-

र्षस्य ऽ । १ = ८ इति सूत्रेण आदेहेस्वत्यम् । प्रा० । चूत-  
 वृक्षे, स्या० । दर्श० ( पाश्चैत्यादिनिः संसं लेखनरो आन्नकदृष्टा-  
 स्तः केतशाब्दे ) तस्य फलम् अष्ट तस्य लुक् आन्नफले नष्टु, अह० ।  
 अयासुकासुप्रहणनिधो यथा ।

अहं निक्वृ इच्छेजा अवं जोत्तए वा सेजं पुण अंभं  
 जाणेजा असं जाव ससंताणं तहप्पगारं अंभं अफासुयं  
 जाव णो पदिगाहेजा । से निक्वृ वा भिक्खुणी वा से-  
 जं पुण अंभं जाणेजा अप्पं जाव संताणं अतिरिच्छ-  
 च्छिणं अबोच्छिणं अफासुयं जाव णो पदिगाहेजा । से भि-  
 क्वृ वा भिक्खुणी वा सेजं पुण अंभं जाणेजा अप्पं  
 जाव संताणं तिरिच्छिणं बोच्छिणं फासुयं जाव प-  
 दिगाहेजा । से निक्वृ वा निक्खुणी वा अयिक्खेजा  
 अंबभित्तं वा अंबोपसयं वा अंबचोयं वा अंबमाहं  
 वा अंबदाहं वा जोत्तए वा पायए वा सेजं पुण जा-  
 णेजा अंबनित्तं जाव अंबदाहं वा सअंभं जाव सं-  
 ताणं अफासुयं जाव णो पदिगाहेजा । से भिक्वृ वा  
 निक्खुणी वा सेजं पुण जाणेजा अंबनित्तं वा अप्पं  
 जाव संताणं अतिरिच्छिणं वा अफासुयं जाव णो प-  
 दिगाहेजा । से भिक्वृ वा निक्खुणी वा सेजं पुण जाणे-  
 जा अंबभित्तं वा अप्पं जाव संताणं तिरिच्छिणं  
 वा बोच्छिणं फासुयं जाव पदिगाहेजा ॥

से इत्यादि स भिक्षुः कदादिजास्रवनऽप्यप्रहमीहवरवादिकं  
 याचेत् तत्रस्थश्च सति कारणे आम्ने नोक्तुमिच्छेत्तस्मात् सागरं  
 ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिशुद्धीयादिति । किंच  
 'से त्यादि' स निशुद्धयुनरात्मरूपगमनव्यस्तानक वा जानी-  
 यतिक्रान्तरक्षीनिच्छेन्न निरक्षीनमपाटितं तथा व्यवच्छिन्नं न  
 खगिरतं यावदप्रासुकं न प्रतिशुद्धीयादिति । तथा 'सेइत्यादि'  
 स निशुद्धयुनरात्मरूपस्तानकं निरक्षीनच्छिन्नं तथा व्यवच्छिन्नं  
 यावदप्रासुकं कारणे सति शुद्धीयादिति । एवमात्रावयवसंबन्धि-  
 सूत्रत्रयमपि नेयमिति । तत्रम् । "अंबनित्तं" आन्नकम् "अंभ-  
 पेसी" आन्नफला ( अंबचोयंगति ) आन्नच्छिणीसागर ( रसं-  
 दाहगतौ ) आन्नदाहमखणार्जाति । आचा० २५७० अ० २३० ।  
 ( सूत्रम् ) जे भिक्वृ सचित्तं अंभं नुजइ अंभं भुंजंते वा  
 साइजइ । ५ । जे निक्वृ सचित्तं अंभं विदसइ विदमंते वा  
 साइजइ । ६ ।

एवं सचित्तपरमिते वि दो सुत्ता । एते चउरो सुत्ता एतेसि  
 इमो अर्थो । सचित्तं नाम सजीव चतुर्धरसाखायं गुणनिष्प-  
 र्णं नाम अंभं वृज पालनायवहरायाः इह जोगेण दृढसं-  
 आणादी चउडरुं च पच्छिन्नं । एवं विनियसुत्तं पिणवर्षं विदस-  
 स्यं निष्कणं विधिहेहि पगारेहि इसति विदसइ एवं पइट्टिप  
 वि णवर्षं चउडमंगो । सचित्तं पइट्टिपते पइट्टितं सचित्तं, अचि-  
 त्तं अचित्तं सचित्तसु अदिद्वेषु हासु भंगसु चउडरुं । चरिमसु  
 हासु मासदुं । इमं सुत्तफासं ।

सचित्तं वा अंभं, सचित्तपदिद्वियं च दुविहं तु ।  
 ओ उंजे विगणे सो, दयाअगाहं भोदि तो भ.ति । ३ ।

आगाढफरुसमासग. दमसुद्वेसम्मि वसियं पुव्वं ।  
 तं चेव वज्जवत्तो, सो पावति आणपार्दा।सि ॥ ४ ॥  
 सच्चित्तं सच्चित्तं पइदियं वा एयं चेव डुविहं सेसं कंठं ।  
 अमिलाताजिण्ये वा, अपर्कं सच्चित्तं होति उच्चं वा ।  
 तं चिय सयं भिज्जातं, रुक्खवगयं सवयणपतिहं ॥ ५ ॥  
 जं अग्निण्वं गिष्मं अग्निहाणं तं सच्चित्तं नवति । जं च रुक्खं  
 चेव हित्तं अक्खिष्मं वरुद्धियं अयद्वट्टियं वा अपर्कं या तं पि  
 सच्चित्तं तं चिय तदेव अयादियं पल्लवरुक्खं चेव छियं दुव्या-  
 यमादिशा अप्पया वा अप्पजाति भायं मित्तसु तं सवयणपति-  
 छियं भवति ।

अत्राहा जे वद्धट्टियं, वाहिर पर्कं तं विय एपतिहं ।  
 विविद्ध दमणेय जं वा, अक्खुंदति विदसणे होति ॥ ६ ॥  
 जं वा पल्लवं वाहिरं कमाहपक्कं अतो सन्धेयणं वीयं तं वा स-  
 चित्तपतिछियं भवति । अप्पतीतव्वं अनपतीतव्वं च सुदेत वा  
 सह कप्परेण वा सह तथाय्येन वा लवणच्चातुजातकथासा-  
 दिता सह पस्सा विविहदसणा अक्खुंद इति च्चिक्खवं मुंचति  
 अग्गोच्यं गंहेदि वा अक्खुंदमि नल्लपदा वि द्दानतीत्यर्थः पसा या  
 विरसणा भवति । एवं परिते भणियं अणुंते वि एवं च नवरे  
 नउडुगुपक्खुंत्तं । सच्चित्तं सच्चित्तं पतिछिये य दंसु वि सुनेसु  
 एमां अवधानो गाहा ।

वित्तियपदमणुपप्पवे, जुंजे अत्रिकोविए य अप्पक्का ।  
 जाणिते वावि पुणो गिलाण अक्खाणओमेव ॥ ७ ॥  
 खेलादिगो अणपप्पवो वा जुंजेते सेहो वा अत्रिकवियत-  
 राअं अजाणोतो रोगोवसमणिमत्तजेज्जया दसतो गिलाणो या  
 जुंजे अक्काणिसु वा असाथरंता जुंजेता विसुक्का एमां होसुवि  
 विडवमाणसुत्ते अवधातो गाहा ।

वित्तियपदमणुपप्पवे, विडसे अत्रितेव अप्पक्के ।  
 जाणंतयात्रि पुणो, गिलाण अक्खाणओमेव ॥ ८ ॥  
 कंठं गवरं चोद्ग आह-विरसणा झंझा तं अवधाते माकरेउ ।  
 आचार्यो आह । जरटवर्गाहरकमादं तं अणवणं खायंतस्स अ-  
 वधां ण दांसो । जं वा पल्लवस्स जं उवकारी लवणादिके  
 तेण सह तं जुंजेतस्स ण दांसो । कोमलं जरटं वा इमेति परि-  
 षाढंठं गढमादाहि वि अल्लुदेजा ।

( मूलम् ) जे भिक्खुं सच्चित्तं अंत्रं वा अंत्रवपेसियं वा  
 अंत्रभित्तिं वा अंत्रसालगं वा अंत्रचोपयं वा जुंजेइ जुंजेतं  
 वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे जिक्खुं सच्चित्तं अंत्रं वा अंत्रवपे-  
 सियं वा अंत्रभित्तिं वा अंत्रसालगं वा अंत्रचोपयं वा अं-  
 वचोपयं वा विरसइ विदसंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खुं  
 सच्चित्तपइदियं अंत्रं जुंजेइ जुंजेतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे  
 भिक्खुं सच्चित्तपइदियं अंत्रं विरसइ विदसंतं वा साइज्जइ  
 ॥ १० ॥ जे जिक्खुं सच्चित्तपइदियं अंत्रं वा अंत्रवपेसियं वा  
 अंत्रसालगं वा अंत्रभित्तिं वा अंत्रचोपयं वा जुंजेइ जुंजेतं  
 वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खुं सच्चित्तपइदियं अंत्रं वा अंत्र-  
 वपेसियं वा अंत्रभित्तिं वा अंत्रसालगं वा अंत्रचोपयं वा  
 अंत्रवचोपयं वा विरसइ विदसंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

एते उ सुत्तपदा विरसणापि वि ऋषेव एतेसि इमो आधो अंत्रं  
 संकलं ए केणइ ऊणं चोद्ग आह आत्रिह्लेसु चउसु सुत्तेसु ए प-  
 ल्लवणुसंकल्पं चेव भणियं आचार्यो आह सत्त्वं किंतु तने पल्लव-  
 लणण पज्जत्तं वंछियं गहियं इमे तु पल्लवत्तणं अपज्जत्तं अयक-  
 छियं अत्रिपक्करं लव्हादसकलमेवपर्यथेः । पेसी द्वाहागारा अत्र-  
 भितं वाहिरा छुट्ठी सात्रं नसइ । अहांइ वि समच्चकलियागा-  
 रंणं जं खंढंतं गहं भवति यहरुणियागारा जं केसरा तं चोयं  
 भवति । इमां सुत्तफालो । गाहा ।

एमेव गमओनिदा-रगलंतोअय्यमिपं चोए ।  
 चउसु वि सुत्तेसु भवे, पुव्वं अत्रारम्मि य पेदे ॥ ९ ॥  
 अंत्रं गलियज्जा चउसु सुत्तेसुत्ति सेसं कंठं । अत्राहा आ-  
 दिह्लेसु चउसु सुत्तेसु जो गमो मणिनो सो चेव गमो अंत्रगा-  
 दिपसु छुसु पदेसु साविरसणेसु भाणियव्वो । चोद्गगाह णणु-  
 पदमसुत्तेसु त्रिणतो चेव अत्रयो कि पुणो अत्रवादिद्याणं गह-  
 णं । आचार्यो आह । गाहा ॥

एवं ताव आपिष्णं, अत्रसेव पुणो इमां पेदो ।  
 रगलंतु होइ खंढं, सालं पुण वाहिरा उच्चं ॥ १० ॥  
 एवं ताव आत्रिह्लेसु चउसु सुत्तेसु अत्रिणएणमगहणं । अत्राहा  
 आत्रिसुत्तेसु अत्रिसिंठं गहणं इह विसिंठं गहणं कर्यं । अत्र-  
 वा मा काइ वि तिदिति अत्रिसुत्तमक्खणिसुं भिष्मं अत्रक्ख-  
 णिसुं भिष्मं पुण जक्खणेण अंत्रवपेसियादिगाद्यासि सिज्जं-  
 ति । रगलंतु पक्कं कंठं । गाहा ।

जित्तं तु ह्वाइ अक्कं, चोयं जे तस्स केसरा ह्वाति ।  
 सुहपएहकरं हारि, तेण तु अंत्रेकर्यं मुत्तं ॥  
 पुव्वकं कंठं चोद्गगाहा कि अत्रमाअं अंत्रादिया फला ज-  
 क्का जेण अंत्रं चेव गितिसिंठं । आचार्यो आह । एगहाहएणमगहं  
 तउजालीयाणंतं सत्त्वं संगहिया । अंत्रं पुण सुहपएइ पक्कं  
 अंत्रेण सुइं पइहाति परसंढने इत्यर्थः । किंच हारितं जिह्मिक्ख-  
 प्रीतिकारकमित्यर्थः । अनेन कारणेन अंत्रं सूत्रप्रतिबन्धः कृ-  
 तः । अन्याचार्योऽभिप्रायेण गाथा ।

अंत्रे केणित्ता उज, रगलत्तं भित्तगं चउमगो ।  
 चोयणतया उज जसति, सगइ पुण अत्रकस्यं जाण ॥ १२ ॥  
 घोषेण ऊणं अंत्रं भवति रगलं अत्रं भवति भिष्मं चउ-  
 भागादितया चोपयं भवति नरकादिभिकखणुण सात्रं त्रजसति ।  
 अक्खुं अंत्रसालमिपर्यथेः पेसी एवेवत ।  
 सच्चित्तं च फलेहिं, अत्रगपइं वा तु सुचित्ता सत्त्वे ।  
 अत्रगपइंवेहि पुणो, मूढं चेव कया मुया य ॥ १३ ॥

नि० चू० १५ उ० ।  
 अंत्रक-अत्रक-न० अत्रमति शीघ्रं नक्कत्रस्थानपर्यन्तं गच्छ-  
 ति अत्रव एवुर १ मेव, अत्रम्यते स्तंहेनोपशगद्यते घञ् स्वार्थे  
 क-२ पितरि, वाच० ।  
 अत्रलक० पु० अत्रयोऽमलः अत्रयो क्व सकुचवृक्षे वाच० ।  
 अत्रक-न० चूतफले, पि० ।

अंत्रगहिया-अत्रप्रकास्थि-न० अत्रकस्य फलविशेषस्यास्थीनि  
 अत्रलेप दत्तेषु शुष्कात्रकप्रकास्थेषु, अत्रु० ।  
 अंत्रवपेसिया-अत्रकपोशका-खो० अत्रकलवपने, अत्रु० ।



अंबचोयम-न० आब्रत्वच-स्त्री० आब्रत्वचाम्, आब्रा० २-  
श्रु० ७ अ० २ उ० ।

अंबवट्ट-अम्बवट्ट-पुं० अम्बाय चिकित्सकत्वाय तन्प्रकृत्यापनार्थं  
तिष्ठते अभिहिते स्था. क. वचम् । चिकित्सके, वाच० ।  
ब्राह्मणेन वैश्यायां जातध्वान्तरजातीये, मू० १ श्रु० ११ अ० ।  
आब्रा०। अयं आब्राऽऽप्येत्वेनच्यजातिव्येन चोपदेशितः स्था०  
६ उ० । प्रहा० । देशभेदे. इतिपके, च । स्थित्यायाम् स्त्री०  
स्वार्थे अन्त इत्ये अम्बष्ठिकाऽप्यत्र " वामनहारी " इति स्था-  
तायां लतायाम्, वाच० ।

अंब ( म् ) द--अम्ब ( म् ) ड-पुं० ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे  
अं० । तद्वक्तव्यना चक्ष्व ।

अम्बदशिव्याणामनशनेन मृत्या देवलोक उपपानः ।

तेषु कात्रेण तेषां समेषां अम्बदस्स परिव्यायगस्स सत्त  
अंतवासिसयाई गिम्बहासमयसिं जेद्दामूलं मांसिं गंगाए  
दानईएओ उजउकुंसे कंथिपुपुरातां एगराओ पुरिमतालं  
एगरे संरुञ्जिआ विहारए । तएणं तेमिं परिव्यायगाणं  
तांसे अगमियाए ठिस्सेवायाए दीहमचाए अरुवीए किं-  
चिदेसंतरमणुपत्ताणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परि-  
जुंजमाणे ऋणे तएणं ते परिव्याया जीणोदका समाणा  
तएहाए परिजवमाणा परिउदगदतारमयस्समाणा अण-  
ममं सदांवेचि अणममं सदांविचा एवं वयासी एवं खलु  
देवाणुपिया अम्ह इमीसे अगामिआए जाव अहवी ए-  
गंवि देमंतरमणुपत्ताणं से उदए जावउज्जणे तं सेयं खलु  
देवाणुपिया अम्ह इमीसे अगामियाए जाव अहवीए-  
उदगदतारस्स सव्वओ समंता मण्णं गवेसणं करिचा  
कट्टु अणममस्स अंतिए एअमदं पदिमुणंति पदिमुणंति-  
त्ता तीसे अगामियाए जाव अरुवीए उदगदतारस्स सव्व-  
ओ समंता मण्णमवेसणं केइ करिचा उदगदतारमलभ-  
माणा दोचंचं पि अणममं महावेइ सदावेइला एवं वयासी  
उहसं देवाणुपिया उदगदतारो णत्थि । तं णो खलु कपपइ  
अम्ह अदिमं गिहएत्तए अदिमं सति जिउत्तं मे माणं अम्ह  
इदाणि आबः काडं पि अदिमं गिहएहो अदिमं सादि-  
ज्जापो माणं अम्हं तवल्लोवे जविस्सइ । तं सेयं खलु  
अम्हं देवाणुपिया तिदंरुयं कुंडियाओ य कंचणि  
याओ य करोनियाओ य जिजियाओ य ठणालए  
य अकुंमए य केमरीयाओ य पविउत्तए य गणेत्थिया  
ओ य उत्तएय वीहणाओ अ पाउआओ अ भाउरचाओ  
य एगेते पदिन्ता मंगामहाणं अंगामहिता बालुअसंया-  
रए संयरिचा संसेहणाओआओगिणं भत्तपाणयाइप-  
क्खित्ताणं पाइओवगयाणं कालं अणवकंस्समाणाणं  
विहरिउत्तए तिकट्टु अणममस्स अंतिए एअमदं पदिमुणंति  
अणममस्स अंतिए पदिमुणित्ता तिदंरुए य जाव एमंते

पमेइ पमेइत्ता गंगामहाणई ओगोहेइ ओगोहेइत्ता वेलुआ-  
संथारए संथरंति बालुया संथारयं दुर्हंति वा दुर्हंति त्ता  
पुरत्थानिमुट्टा संथायंकिनसत्ता करयय जाव कट्टु एवं  
वयासी णयोत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोत्थुणं समा-  
णस्स भगवत्ता महावीरस्स जाव संपाविउकापस्स नमोत्थुणं  
अंबदस्स परिव्यायगस्स अम्हं पम्मायारियस्स पम्मावदस्स-  
गस्स पुव्वेणं अम्हं अम्बदस्स परिव्यायगस्स अंति-  
ए धुलगपाणाइवाए पक्कत्वाए जावज्जीवाए सुमावा-  
ए अदिस्सादाणं पक्कत्वाए जावज्जीवाए सव्वे मेहुणं  
पक्कत्वाए जावज्जीवाए धूलए परिग्गहे पक्कत्वाए जा-  
वज्जीवाए । इदाणि अम्हं समणस्स भगवत्ता महावीरस्स  
अंनियं सव्वं पाणाइवायं पक्कत्वाओ जावज्जीवाए एवं  
जाव सव्वं परिग्गहहं पक्कत्वाओ जावज्जीवाए सव्वं  
कोहं माणं मायं लोहं पेज्जं दोसं कल्लहं अणवत्ताणं पेसु-  
णं परपरिवायं अरुइरुमायाओसं मिच्छदंमएणसद्धं अकर-  
णित्तं जंगपक्कत्वाओ जावज्जीवाए सव्वं असणं पाणं  
खाटमं साइमं चउत्तवहं पि आहारं पक्कत्वाओ जावज्जीवाए  
जं.पिय इमं सररीं इहं कंतं पियं मणुणं मण्णं वेज्जं वेमांसि-  
यं समंतं बहुमंतं अणुमंतं भंरुकरंइकसमाणं माणं सियं माणं  
उरहं माणं खुट्टा माणं पिवासा माणं बाला माणं चांग  
माणं देसा माणं मसगा माणं वारियं पित्तियं संनिवाइयं  
विविहा रोगावकापरीसहोवमणा कुस तु तिक्कए प्तं पि णं  
चरमेहिं उमासणंसाभेहिं वोसिगामि तिक्कइ संसेहणा अ-  
सणा श्रुसिया जत्तपाणा पंयाइइक्खिया ए अंबवया  
कालं अणवकंस्समाणा विहरंति तए णं तं परिव्याया बहु-  
भत्तां अणसणाए उतिन्ति उतिन्ति आलांइयपदिक्कतो  
समाहिपत्ता कालामे कात्रंकिचा बंधलोए कप्पं देवत्ताए  
उववत्ता वेहिं तेमिं गं दससागरोवमां हिइ पक्कत्ता प-  
रुओगस्स आराहगा सेमं तं चव १३ ॥ अं० ॥  
एतं च यत्थापि देहाविरगंमत्तस्सथापि परिव्राजकद्विषया ब्र-  
ह्मलोकं गता इत्यवसंयमम्येत्तद्वचनं वृथैव स्यादेहाविरगित्कल-  
न्ययं परलोकागम्यकथंमेवति न च ब्रह्मलोकं गमनं परिव्राजक-  
क्रियाफलमेवाभेद्येच्यते अन्वेषामपि मिथ्यादृशां कपिप्रभृ-  
तीनां तस्योक्तमादिति । श्रौ० । ज० । अम्बदः स्य मलप्रहणश्च ।  
बहुजगणं भंते । अणममस्स एवमाइक्खंति एवं जासइ  
एवं परुवेइ एवं खलु अंबवे परिव्यायाए कंथिपुपुरे णयेरे  
घरासते आहारमाहारांति घरसतवसहिउ ते तीसे कटयेयं भंते ।  
एवं गोयमा । जसं से बहु जणो अणममस्स एवमाइक्खइ  
जाव एवं परुवेइ एवं खलु अंबवे परिव्याए कंथिपुपुरे जाव  
घरासते वसहि उवइ सव्वेणं समइ अहं पि णं गोयमा ।  
एवमाइक्खामि जाव एवं परुवेमि एवं खलु अंबवे परि-  
व्यायाए जाव वसहि उववेसे केण्णं भंते । एवं बुच्चइ

अंबडे परिव्यायए जाव बसहिं उवेई गोयमा । अम्मरुसस  
 एं परिव्यायगसस पाइजहयाए जाव विणीयाए उठ्ठं उठ्ठुणं  
 अतिबिस्वत्तेणं तवोकम्मणेणं उठ्ठं बाह्माभ्मा पणिञ्जय २  
 सूराजिमुहुसस आतावणजूदीए आतावमाणसस मुभेणं परि  
 णामेणं पमत्थंदिं लेसाहिं विमुज्जमाणींदिं अन्नया कयाइ  
 तदावराणित्ताणं कम्म्याणं जाणं कम्म्याणं खओवसमेणं  
 ईहायमगणगवेसएकरेमाएसस वारियलच्छीए वेउव्वियल-  
 छीए ओहिणाणसद्धी समुपपसा । तएणं मे अम्ममे परि-  
 व्वायए ताए वारियलच्छीए वेउव्वियलच्छीए ओहिणाणल-  
 छीए समुपपसाए । जएविम्हावणहंउं कंफिक्खपुरे घरसते जाव  
 बसहिं उवेई स तएणइणं गोयमा । एवं वुत्तं अंबडे परि-  
 व्वायए कंफिक्खपुरे नगरे घरसए जाव बसहिं उवेते । पभूणं  
 जंतं ! अंबडे परिव्वायए देवाणुपिययाए अंतिए मुंमे ज-  
 वित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वत्तए णोतिणइ समेट्ठे  
 गोयमा । अम्मरुणं परिव्वायए समणेवासए अजिणयजी-  
 वाज्जेवं जाव अण्णाए जावेमाणे बिहरति एखरं उमिय-  
 फळिइ अंबेगुदुवारे चियत्ते पुरयरदारपवेत्तोणं ण वुत्तं  
 अम्मरुसस णं परिव्वायगसस धूल्ले पाणातिवाते पबक्खाते  
 जावज्जावाए जाव परिग्गहे एखरं सभे महेणं पच्च-  
 वत्ताते जावज्जावाए अम्मइसस णं णो कपपइ अक्खसो-  
 त्तपमाणमेत्तं पि जलं सयगहं उत्तएहं उच्चरित्तए ।  
 गल्लय अक्खाणगमणेणं अम्मरुससणं णो कपपइ मगं  
 एवं चेव जाणियव्वं । जाव एणत्थय पगा एणं गामट्टियाए  
 अंबरुससणं परिव्वायगसस णो कपपइ आहाकम्मिए वा  
 उदेसिए वा सीसजाएति वा अज्जेअरए वा पूकम्मे वा  
 कायगमेति वा पामिञ्जे वा णिअणिसिक्खे वा अग्गिंहेइ  
 वा इत्तए वा रत्तए वा कंतारज्जेइ वा दुक्खिक्खज्जेइ  
 वा पाहुणकज्जेइ वा गिन्हाएभत्तेइ वा वदालयाभत्तेइ वा  
 जोत्तए वा पाउत्तए वा अंबरुसस णं परिव्वायगसस णो  
 कपपइ मलजोयणे वा जाव बीयभोयणे वा भोत्तए वा  
 पाउत्तए वा अंबरुसस णं परिव्वायगसस चउव्विहे अ-  
 पत्थादंउं पबक्खाए जावज्जावाए तंहा अंबउक्खाणाय-  
 रिए पमादायारिए हिंसण्याणे पावकम्मोवदंसे अंबरुसस  
 कपपइ मागहए अ आठए जल्लस पटिगाइत्तए सेविय-  
 वहामाणे नो चेव णं अंबट्टयाएण जाव से वि पूए नो  
 चेव णं अपरिपूए से वि य सावज्जेत्ति काठं णो चेव णं अ-  
 एवज्जे से वि य जीवाइ कइ णो चेव णं अजीवा से वि य  
 दिस्से णो चेव णं अदिस्से से वि य दंतहत्थयायचात्तवस-  
 नत्थाप्राणइहाए पविचए वा णो चेव णं सिण्णत्तए अंबरु-  
 सस णं परिव्वायगसस कपपइ मागहएण आठए जलसपाद-  
 गहिचए से वि य वपमाथे दिसे नो चेव णं आदंस्स स तव

य मिणात्तए णो चेव णं हत्थपादचारुवसपक्खालयणइ-  
 याए पविचए वा अंबरुसस परिव्वायगसस णो कपपइ अन्नउ-  
 त्तिया वा अन्नउत्थितदेवयाणि वा अन्नउत्थितपरिग्गहा-  
 याणि वा चेइयाइं वंदित्तए वा एमंसित्तए वा जाव पज्जुवा-  
 सित्तए वा अरिंत्ते वा अरिंहंतचेइयाणि वा ।

[ सुणथय अरंइहेदिहत्थि ] न कलणे इह बोयं नेति प्रतिषेधः  
 सोऽप्यथाइदृश्यः अहेतो यज्जयित्थेयधः । स हि किल परित्राज-  
 कथेणधारकोऽतोऽप्ययुधिक्के वतावन्वगादिनिषेधे अहेतामाप  
 वन्वगादिनिषेधो भाद्रुदिति कृत्वा णकथेत्वाद्यद्योत्तं, औ० । अ०  
 अम्मरुसस मृत्योपपातः ।

कालमासे कालं किंवा कहिं गच्छति किं उववाजि-  
 हिति ? गोयमा ! अंबडेणं परिव्वायए उच्चावर्हिं सीलव्व-  
 यगुणवेरमणपक्खवाणपोपट्टोववाभेहिं अप्पाए जावेमाणे  
 बहूँ वानाई समणेवासयपरियायं पाउणिचए पाउणि-  
 च्चा मासियाए संझेहाए अप्पाएणं कुसित्ता सद्धिं जत्ताई  
 अणसत्ताई उदेत्ता आन्नाइयपरिक्कंते समाहिपत्ते काल-  
 मासे कालं किंवा वंभज्जेए कपे देवत्ताए उववज्जेहिंति  
 तत्थ णं अप्पगयाणं देवाणं दससागारोवमाई त्रिती  
 पत्ता तत्थ णं अम्मरुसस वि देवसस दससागारोवमाई  
 त्रिती । से णं भंते ! अंबडे देवत्ताओ देवदोगाओ आउ-  
 क्खएणं जवक्खएणं ट्टिक्खएणं अणंतरं चइ चइत्ता क-  
 हिं गच्छति किं उववज्जएत्ति ? गोयमा ! महा-  
 विदेहे वासे जाइकुलाई जवंति अह्हाई दित्ताइं वि-  
 च्चाइं विच्छिस्सविउज्जवणमयाणसाणजाणवाहणाई बहुथ-  
 णजायरुक्खरयत्ताई आओगपओगसंपत्ताई विच्छे-  
 यपउरभत्तपाणां बहुदासोदामगोभट्टिसनेलगप्पज्जाई व-  
 हुजणसस अपारजयाइ तहप्पगारुस कुलेसु पुमत्ता प-  
 व्वायाहिंति । तए णं तसुन दारगसस गम्भत्थसस चेव समाणसस  
 अम्मपिती णं धम्मे दृढयतिमां भविंससइ मे णं तत्थ गा-  
 वएहं मासाणं बहुपदिगुष्माणं अक्खट्टमाणाराईदियाणं  
 वीतिकंतानं सुकुमालपाणिपाए जाव ससिसोत्ताकारे कंते  
 पियदंसणे सुखे दाए पयाहिंति । तए णं तसुन दारगसस  
 अम्मपियरो पदमे दिवसे पिट्ठि पदियं काहिंति तइयदिव-  
 से चंदसरदसाणयं काहिंति उठ्ठे दिवसे जागरियं काहिंति  
 एकारसमे दिवसे वीतिकंतं सिण्वते अमुइ जावइ कम्मं  
 करणे संपत्ते बारसमे दिवसे अम्मपियरो इमं पयाहवं  
 गुणं गुणसिण्णत्तं णामपेज्जं काहिंति तम्हाणं अम्हं इमं-  
 सि दारगंसि गम्भत्थसि चेव समाणंसि धम्मे ददपत्तमा तं  
 होठाणं अम्हं दाए ददपत्तयाणमेणं तत्तेणं तसुन दारगसस  
 अम्मपियरो णामपेज्जं करोहिंति "ददपत्तं" तं ददपत्तं  
 दारगं अम्मपियरो सातिरेक्खवासज्जतं जाणित्ता मोभ-

र्णसि तिहिकरणदिवसणकत्वमुदुत्तमि कलाययिरस्स उव-  
 षेहिंति । तए एं से कझायरिए तं ददपइसं दारगं षेहा-  
 तियाओ गणियपट्टाणाओ सउणकय्यउजवसाणाओ  
 बावत्तरिकझाओ सुत्ततो य अन्थतो य करणतो य सेहा-  
 विद्धि । औं ( कलानामानि कझाशब्दं ) सिक्खावेत्ता  
 अम्मापियरो तं उवोद्धिंति तए एं तस्स ददपइसस्स दारगस्स  
 अम्मापियरो तं कझायरियं विपुलेणं असणपाणावाइमेणं  
 माइमेणं वत्थगंधमद्धान्कारेण य सकारेहिंति सम्मारोहिंति  
 सकारेत्ता मग्गाएत्ता विपुत्तं जीवियारिहं पीइदाएं दण्ड-  
 स्सति विपुलं विपुलेत्ता पक्खिमज्जेहिंति तए एं से ददपइसं  
 दारए बावत्तरिकझायां नरेणं नरेणमुत्तपक्खिंहेयिं अट्टारस-  
 द्दीनासाविसारए गीतरती गंधपाणउकुसले ह्यजोही  
 भयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमदी विपासचारी  
 साहसिए अइं भोगनमत्ते आविज्जविस्सति तेतं ददपइ-  
 सं दारगं अम्मापियरो बावत्तरिकलापेहिअं जाव अलं  
 जांगसमत्थं वियाणित्ता विपुलेहिं अइमजोगेहिं षेएजोगेहिं  
 वत्थजोगेहिं सयणभोगेहिं कामभोगेहिं उवजिणंतेहिंति ।  
 तए एं से ददपइसं दारए तहिं विउल्लेहिं अइमो-  
 गेहिं जाव सयणजोगेहिं एा सउजोद्धिंति एा रज्जिहिं-  
 ति एा गिन्निहिंति एा अक्खज्जिहिंति से जहाणापए  
 उप्पइइं वा पउमइं वा कुमुपेइं वा नभिएइं वा सुभ-  
 गेत्ति वा सुभेत्ति वा पौंडरीएत्ति वा महापौंडरीएत्ति  
 वा सत्तपत्तेइं वा सइस्सपत्तेइं वा सत्तसइस्सपत्तेइं वा  
 पंके जांते जत्ते संवुद्धं एावत्तिप्पइं पकरएणं एावत्तिप्पइं  
 जलरएणं एवमेव ददपइसं वि दारए कामेहिं जाते भोगे-  
 हिं संवुद्धे एा वत्तिप्पहिंति कामरएणं एावत्तिप्पहिंति मो-  
 गरएणं एावत्तिप्पहिंति । मित्तणाइणियगयएससंविपरि-  
 जणेणं सणं तहाक्खाएं थराएणं आंतेए कवत्तं वेहिं वुडिअ-  
 हिंति । केवलवोहिं वुडिअत्ता अगाराओ अणगारियं पव्व  
 हिंति । से एं जविससइं अणगारं भगवने इरियासमिति  
 जाव गुत्तवभयारी तस्स एं जगवंतस्स एते णं विहारेणं  
 विहरमाएस्स अणंते अणुत्तरे एिणवायाए निगवरणे क-  
 सिणं पडिपुष्पं केत्तत्तरणाएदंमणे समुपज्जेहिंति । नतेणं  
 से ददपइसं केवलं । बइइं वामां केवलीं परिपारं पाउण्हित्तीं  
 पाउण्हित्ता मानियाए संलेहयाए अप्पाणं कुसित्ता सइं  
 जत्ताइं अणसणणं उएत्ता जसट्टाए कीरए एणगभावे मुं-  
 दजावे अण्हाणए अदंतवणए केसलोए वंभंचरवासे अ-  
 नुत्तकं अणोवाहणकं जूमिसेज्जा फइसेपेज्जा कइसेज्जा  
 पग्घरपवेमो इक्खावलकं वित्ताए परेहिं हीसयाओ  
 सिंनयाओ सिंइणाओ मरइणाओ तासणाओ तज्ज-

णाओ परिजवणाओ पव्वहणाओ उवाचया गामकंटाका  
 बावीसं परीसहोवसग्गा अट्टियासज्जति । तमट्टारा-  
 टित्ता चरिमेहिं उस्सामणिस्सासेहिं सिज्जिहिंति वुडिअ-  
 हिंति मुवाहिंति परिणिव्वाहिंति मव्वउक्खाएणंते करेहिं-  
 ति औं । जं ।  
 परित्राजके विद्याधरअमशोपासके च श्रय्य वक्तव्यता ।  
 अर्थाय नगर्यामस्मदो विद्याधरश्रावको महावीरसर्मापि ध-  
 मेमपुत्रस्य राजगृहं प्रस्थितः स च गजद्वय भगवता बहुसत्यां-  
 पकाराय मणितो यथा सुलसाध्याविकायाः कुशलवार्त्ता कथ-  
 य स च चिन्तयामास पुण्यवतीयं यस्यांश्लोकनायः स्व-  
 कीयकुशलवार्त्ता प्रेषयति, क. पुनस्तस्या गुरु इति तावत्सम्य-  
 कस्य परीक्षे, ततः परित्राजकवेषधारिणा गत्या तन्व भणित्ता  
 सा, आणुष्माते । धर्मो भवत्या मयिष्यनीत्यस्मभ्यं प्रकथा भो-  
 जनं वेदि तथा जणितं येज्या दत्तं भवत्यसौ ते विद्वता एव, त-  
 तः।सावकाशावरीचतनामरसामानानां जो जनें विस्मापयति  
 स्म, तनस्तं जनां प्रोजनेन निमन्त्रयामास स तु गेज्जत् ।  
 शोकस्ते पयज्ज कस्य भगवत् । भोजनेन आभयेयवर्ता  
 मासकृपणकपयितं संबद्धेयिष्यात् । स प्रतिभर्णाति स्म सुल-  
 सायाः । ततो लोकस्तस्या यदेनकं न्येयवत् । यथा तव  
 गेहे भिक्षुर्ये बुभुक्तुः तयाऽऽन्यधाय किं पाश्चात्तिभिरस्माकमि-  
 ति शोकस्तेस्मै स्यवद्भयत् । तेनापि व्यवहाये परमसम्यक्दर्शि-  
 रेया या महाविशयदर्शनेनापि न इष्टियमात्रमममार्गति तनें  
 शोकेन सहसौ तदके नैर्पार्थकी कृष्णपञ्चनमस्कारमुच्चारयन  
 प्रविष्टा । साऽन्यन्युत्थानादिकां प्रतिपात्तमकरात् तेनाप्यसा-  
 नुपयुंहेति । ॥१०६॥ । अयमागमिष्यन्त्यामुस्तिपिष्णां देवां  
 नाम इाविशस्तीयेषुद् नृत्या धर्मं प्रकृत्य संस्यति यावत्संबु-  
 खानामन्त्रं करिष्यति । ॥१०६॥ । ॥१०॥ । ॥१०॥ ।  
 निं ॥१०॥ । ॥१०॥ । अयं पूर्वोक्तद्वयदपरित्राजकादय एव ।  
 तदुक्तम् । यथोपपातितांकोपांके महाविदेहे संस्यन्तीत्यभिधांयनं  
 साऽन्य इति समासयत्ते । इति ॥१०६॥ । निं ॥१०॥ ।  
 अंबभा(दा)सगा-आम्राडालक-नं आम्रसूत्रमकरांदेपु, आचां  
 अं २ ५ ७ ।  
 अंबत्त-अ ( आ ) म्लत्त्व-नं ( अम्लरसवत्त्व ) "अंबत्तणेण  
 जीहाप, कृषिया होइ करिमुदगंमि " विदेहो ।  
 अंबदेव-आम्रदेव-पुं नैमिकान्दुसूरित्ताऽऽस्थानकमलिकोहा-  
 स्यापरि टीकाकारके स्वनामक्याते आचार्ये, जे १० ।  
 अंबपलंबकोरव-आम्रमलम्बकोरक-नं अ.अम्रपल्लवस्य प्रल-  
 म्बः फलं तस्य कोरकं तक्षिण्यादं मुकुटमाम्रफलकोरकम् कोरक-  
 विशेषे, पवं यः पुरुषः सेष्यमान उचितकाले उचितमुपकारक-  
 फलं जनयत्यसावाप्रलम्बकोरकसमान उच्यते, ॥१०७॥ ।  
 अंबपल्लवपविजति-आम्रपल्लवपविजक्ति-न. नाट्यविधिदे, वा.  
 अंबपमिया-आम्रपेशी-स्त्री।आम्रस्य पेशीय शुष्काप्रकोशो, वाचं  
 आम्रपेशी-स्त्रीं आम्रफल्याय । आचां २ ५ ७ ३ ७ ।  
 अंबफल-आम्रफल-नं रसालफले, ५००, ३।। (सागारिकस्या-  
 न्नफलानि आम्रपृक्कृष्णांरपित इत्येतत्कथ्यते न येनि सागारीय-  
 पिकशाब्धे ) ।  
 अंबजित्तय-आम्रजित्त-नं आम्राजं आचां२५७, ५०७, ३।।

अंबर-अम्बर-न० भम्बेव मातेष जननसाधर्म्याद्भवा जलं तस्य राणाहनाशिकितोऽम्बरस्य आकाशे । म० २ श० २ उ० ४० ।  
वले, नि० सू० १ उ० । आ० म० प्र० । सूत्र० । आवा० प्रश्न० ।  
स्वनामस्यतां गन्धकल्पये, अत्रकधाती व, वाच० ।

अंबरतल्ल-अम्बरतल्ल-न० आकाशतले, रा० । ज्ञा० ।

अंबरतिज्ञ-अम्बरतिज्ञक-पुं० धानकोषएडरुषे पर्वतजेदे, यत्र मङ्गलावलीविजयचर्चिन्दिप्रामसञ्चिषेशस्थदर्शिकुलजा-  
तनिर्नायिका नाम कन्या मातुः साद्यमानवायु तद्व्यजेन गत्वा  
पकफलानि गृहीतयती । आ० म० प्र० । आ० सू० ।

अंबरतिलया-अम्बरतिज्ञक-स्त्री० नगरीभेदे यत्र हस्तारिद्वि-  
चिमिद्वेनो महाराजः । दश० ।

अंबरवल्गु-अम्बरवल्गु-न० स्पच्छतया अम्बरतुल्यानि वल्गाणि  
अम्बरवल्गाणि स्पच्छयत्सेषु । कल्प० ।

अंबरस-अम्बरस-न० अम्बा पुर्यांक्युकया जले तद्गो रसो  
यस्माञ्जिकितोऽम्बरसम् आकाशे, न० २ श० २ उ० ।

अंबरि (री) स-अम्बरि (री) व-पुं० न० अम्बरते पयतेऽत्र  
अम्ब-अरिष नि०वा द्वांभिःभजेनात्र, अम्बरीसमापि वाच० । आ०  
प्र० ३ श० ६ उ० । प्रया० कोष्ठके, लोहकाराम्बरीपे व, जी० ३ प्रति ।  
अंबरि (री) स ( सि )-अम्बरिष ( रीष ) ऋषि ( षि )-

पुं० यस्तु नारकन् निहितान् कल्पनिर्नाभिः खण्डराः हृत्या  
प्रापृषाकर्यान्वाद् करोतीत्यसावम्बरीपेथ प्रापृष्य संबन्धाद्-  
म्बरीप इति द्वितीयापरमाधार्मिकः, प्रव० १२० ज्ञा० । ज० स० ।  
आहुयहयेय तद्विषं, गिरस्मने कृष्णोर्हि कर्णति ।  
विदुल्लगच्छदुल्लगञ्जिने, अंबरिसीं तस्य गेहर्ष ॥११॥

( आंघ्र्ययादि ) उप सामीप्येन मुद्रादिना इता उपहताः  
पुनरुत्पुपहता एव खड्गदिना इता उपहदहतास्माभ्यकारान्  
तस्य नरकपृथिव्यां निःसहकारं नष्टसंहराद् मूर्च्छितान्स्ततः  
कर्णणीभिः कल्पयन्ति त्रिन्द्वीतमेतत्तत्र पायन्ति । तथा द्वि-  
द्वकदुल्लकञ्चिन्नानि मय्यादितान् खंडराद्विज्यांश्च नारकां-  
स्त्रं नरकपृथिव्यांमर्षिनामानेऽस्तुराः कुर्वन्तीति सूत्र० ५  
श्रु० ५ अ० । आवा० प्रव० । आ० सू० । प्रश्न० ।

अंबरिसि-अम्बरकृषि ( षि )-पुं० उज्जयिनीवास्तये ब्राह्मण-  
जेदे, यथेय मालुक्या प्रिया निम्बः सुतः इति विणभ्रावणय शब्दे  
वचयते । आ० क० । आवा० । आ० सू० ।

अंबरवाण-आम्बरवाण-न० आम्ब्रस्य वासु । नित्यं णत्वम् । आम्बृ-  
कसुदायान्त्सके वने, वाच० । आवा० ।

अंबसमाण-अम्बसमान-पुं० "अंबफरिसेहि अंबो नतेर्हि सिर्कि  
नु बवहारो" येषु बचनपुकेषु परस्य शरीरं विद्विष्यायते तानि  
अम्बानि अम्बैः पर्वथैश्च वचनेर्थवहारं न सिर्कि नयति सोम्ब-  
वचनयोगाद्बल इति इत्युक्तकृणे तुभ्येवहारिणि । स्य० १ उ० ।

अंबसालवण-आम्बसालवण-न० आम्ब्रफले आम्बैः शोभेन्नानि-  
प्रचुरतयोपलभिते वने तपोगाढामलकल्पया ईशानकोणस्थे  
सैत्ये च " आमसकल्प्या णयदीप बहिया उत्तरपुरकिम्बे दि-  
स्तीमाय अंबसालवणे णामं चेषय द्रोत्या पोरारेणे आय पकिङ्क-  
ने" मूलप्रदसैत्यवस्थेय षण्कः । रा० । वच० । ग० । आ० म०  
हि० । आवा० । ज्ञा० । आ० सू० ।

अंबवृद्धि-अम्बवृद्धिद- स्त्री० देवीभेदे । महा० १ उ० ।

अंबा-अम्बा-स्त्री० अम्ब्यते केनेतोपगम्यते अम्बा । कर्मणि धृच् ।  
वाच० । मातरि । वच० ३ अ० । स्था० । श्रीनेमिनाथस्य तीर्थाधिष्ठा-  
तृवचतायां च सा च, अम्बादेवीकनककान्तश्चिः सिंहवाहना च-  
तुर्भुजा आम्बलुम्बियाशुतद्विज्ञेकरडयासिपुष्पाकुशाधिष्ठितवा-  
मकरद्वया च । प्रव० २१ ज्ञा० । तस्याः प्रतिमा यथा-आहंछन्नाया अ-  
विदुरे । सच्छेत्रे पाथेस्वामिनिभैर्यप्रकारसमीपे श्रीनेमिसूतिसं-  
हिता सिन्धुक्षेत्राणि आम्बलुम्बिहस्ता सिंहवाहना अम्बादेवी  
तिष्ठति, ती० ७ कल्प० । प्रतिष्ठानपुरपत्तने देरवतमेखलायां कुम्भेन  
अम्बादेवीप्रतिमा कृता " तथय अंबाय सण उववासतिगण्य "   
ती० २ कल्प । अम्बग्राहतायां, काशीराजकन्यायां च । खण्ड० ।

अंबाजवरल-अम्बाजवरल-पुं० यक्षभेदे, " गोधार्मिणि णिक्त्वा,  
समणा रोसेण मिसिमिसाणं ता । अंबाजक्खो य जण्णति, पयम-  
वाहिदि संपेति " ति० ।

अंबादग-आम्बानक-पुं० आम्ब इवानति आम्बात् किञ्चिदी-  
नरसफलकत्वात्, अत्-एवञ्च (आमडा) । वृक्षे २ तत्फले, न०  
आम्बेण तत्फलरसेन तक्ते प्रकाशत । आम्बतक हासे अच । शु-  
ष्काभ्ररसनिर्मिते ( आमट् ) कल्पभेदे, तत्करणप्रकारः भाव-  
प्र० उक्तः । यथा "अम्बस्य सहकारस्य, कटिर्वेस्तरितो रसः ।  
घम्मेयुष्को मुहुर्द्वत्, आम्बानक इति स्मृतः " वाच० । प्रज्ञा० ।  
अनु० । आवा० ।

अंबादिय-आम्बिन्नत-त्रि० आम्ब इव कृतः खराण्डते, आ० म०  
द्वि० 'चन्द्रतेति खरंटेति अंबादोसिणि वृत्तं नवति' निच० ७ उ० ।

अंबातव-अम्बातपस्-न० अम्बोदेशेन कृतं तपः अम्बातपः सौ-  
किकफलप्रदे तपोभेदे, तच्च अम्बातपः पञ्चसु पञ्चमीयेकाशना-  
दि विधेयं नेमिनाथाध्यात्मिकापुत्रा वेति, पञ्चा० १ ध्व विद्यु० ।

अंबावर्द्धा-अम्बवर्द्धा-स्त्री० अम्बलरसवती वल्ली त्रि० पाणिका-  
नामकम्भेदे, वाच० यल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अंबिआ (या) अम्बिवा-स्त्री० अम्बैव । कन, मातरि, दुग्गायां,  
वाच० । नेमितीर्थधिपदेवतायां, तस्याः प्रतिमा मयुरायाम् "हरयं  
कुपेरो नरवाहणं अंबिआ लीहवाहणम्" ती० १० कल्प० । उज्ज-  
यन्तशैलशिखरेऽज्यलोकाशिक्षरताम्बक "अंबियाए भयलं दीस-  
द्" ती० ५ कल्प० । त्रिपुर्यामम्बिकापुत्रिः "अम्बिकाद्वारसमीप-  
वर्ती, भीक्षेप्राज्ञो लुञ्जपट्टभास्वरः । सर्वज्ञपादाभुजसवनाशि-  
नौ, संघस्य विष्णोमप्राहतः क्षणात्" ती० ४ ध कल्प० । पञ्च-  
मवासुदेवमातरि च । स० । आवा० ।

अंबियासमय-अम्बिकासमय-पुं० उज्जयन्तशैले गिरिप्रमुम्ना-  
वतारे स्वनामस्यतां तीर्थजेदे । " गिरिप्रज्जुषययारे, अंबिआ-  
समय व नामेणं । तस्य वि पीआपुडयि, हिमवाए होइ वरहेमं "   
ती० ४ कल्प ।

अंबिणी-अम्बिनी-स्त्री० कोटीनारनगरवास्तव्यसोमब्राह्मण-  
प्राचार्याम् । ती० ५ ध कल्प । ( कोहकिदेवकल्पशब्दे )

अंबिल-अम्बिल-अ ( आ ) म्ल-पुं० अम्-कः प्राणते "सात्"   
एः २६ । इति सूत्रेण संयुक्तकारात्पूर्वभेदिगमः, प्रा० । अशि-  
रीपनादिहृति अम्बिककाद्याभिर रसेभेदे, " अम्बोअशिरीसिहत्त  
किम्बः, शोकप्लकफावहः क्लेशः । पाचनो रुच्यो, मृदवाता-  
नुलोमकः " ॥ १ कर्म० १ कर्म० । अनु० । ज० ।

एग अंबिले-आअणक्रेदनेकद्वयः । स्था० १ उ० । अम्बलरस-

वनि, वि० आदादिसंस्कृते, झा० १७ अ० नकारानालकादौ, ल० काञ्जिके, स्थान० १० डा० सांवीरे, स्थान० १० डा० वाचा० कङ्काल-  
 चरुसु अंभिलं साउअं " कल्पयात्रयुद्देषु किलाभ्रशशब्दं यमुष्कारि-  
 ते सुरा विनश्यति अग्निद्वपरिहाराद्येभ्यं स्वावुच्यते, अत्रु० ।  
 अंभिलणाम्-अभिल्लनामन्-न० रसनामकमंभेदं, यदुद्याजी-  
 वशरीरमस्त्रीकादिष्वभ्रम्लं भयति तदभ्रमाम्, कर्म० १ कर्म० ।  
 अंभिलरस-अभ्ररस-पुं० क० स० अभ्रमे रसे, तद्वति, त्रि०  
 वाच० अभ्ररसश्च तद्वत् । प्रश्न० संब० ५ डा० ।  
 अंभिलरसपरिणाय-अभ्ररसपरिणत-पुं० अभ्रवेतसादिव-  
 दभ्ररसपरिणामं गते पुष्कले, प्रहा० १ पद ।  
 अंभिल्लिआ-अभ्रिल्लिका-स्त्री० अभ्रवेद स्वार्थे कन् । तिन्तिव्याम,  
 अश्रास्त्रीकेत्यपि सा च १ पलाशीश्रितायां ३ श्रिताम्लिकायां  
 ४ सुष्वाभ्रिल्लिकायाञ्च, रात्रिनि० । जं० ३ वृत्त० ।  
 अंभिल्लोद्गा-अभ्र्लोद्ग-क० काञ्जिकवस्त्वनावत पवाम्लपरि-  
 णामे, जज्ञे, जी० १ प्रति० । प्रहा० ।  
 अंभुणोद्-अभ्रुनाथ-पुं० सप्तुडे, व्य० ६ उ० ।  
 अंभुत्थंभ-अभ्रुस्तम्भ-पुं० जलनिरोधकपे त्रयोदशे कला-  
 भेदं, कल्प० ।  
 अंभुपवित् ( ण )-अभ्रुत्तद्भिन्-पुं० जलमात्रभ्रुकके वानप्र-  
 स्थभेदे, औ० । नि० ।  
 अंभुनाभि ( न् )-अभ्रमुनाभि-पुं० अभ्रमुप्रधाने देशे यस्यति,  
 वस-णिनि-ङीप् । पाठशुक्ले, जलवासिमात्रे, त्रि० वाच० ।  
 वानप्रस्थभेदेषु, पुं० ये जलनिमनना पवासते । औ० ।  
 अंभ-अभ्रभस्-न० आच्यते । भाष्-असुद । उदके तुम्भो चेति  
 उणा० अमः शब्दे अस्नु वा । वाच० । जज्ञे, प्रति० । अष्ट० ।  
 अंस-अंश- ( स )-पुं० अंश ( श ) नाव अञ् । विनागे, स्थान० ३  
 डा० । कर्मणि अञ् । जागे, विशेष० । आ० चू० । प्रति० । आवा० कर्णे  
 अञ् । अययवे, पञ्चा० ७ विद्य० । नेदे, विशेष० । जेदाः विकल्पा अंशा  
 इत्यनयान्तरम् । आ० म० प्र० । आवा० । पर्याये, विशेष० । स्कन्ध  
 च, हा० १८ अ० ।  
 अंस ( सा ) गय-अंश ( श ) गत-त्रि० स्कन्धदेशमागतं, विपा०  
 १ अ० ३ अ० । स्कन्धावस्थिते, हा० १८ अ० ।  
 अंसलगा-अंश-पुं० स्फुर्ये, तं० ।  
 अंसि-असि-स्त्री० । अम-किः । कांटी, स्थान० ८ ज० ।  
 अंसिया-अंशिका-स्त्री० । अंश एवांशिका । स्वार्थे कप्रत्ययः ।  
 भागे, " सागारियस्स अंसिया अविमत्ता " वृ० ३ उ० ।  
 " अंसियाओ गामद्वमार्थो " अंशिका तु यत्र ग्रामस्यार्यम् ।  
 आदिशब्दात् त्रिभानं वा चतुर्भानं वा गत्वा स्थितः स ग्राम-  
 स्वार्था एवांशिका, नि० चू० ३ उ० ।  
 अंशीसु-न० बहिकाकारं रोगभेदं, " अंसिया अरिसा ता य अ-  
 दिद्वान्ने शास्ये वणेषु वा जयति " नि० चू० ३ उ० । तस्म ( आ-  
 तापरयतः ) " अंसिया ओलेभदं तं च व विज्जां अदकसु हसिं  
 पारेद्द पारेदथा अंसियाओ जिदञ्जा " ( अंसियाओत्त ) अ-  
 र्थासिं ताभि च नासिकासकनाति च्युंनकारः, ज० १६ श० ३  
 उ० । प्रति० ( शेषे अणगराशब्दे ) ।  
 अंसु-अंसु-पुं० अंश मृग-कु करणे, सूत्रे, सूत्रमांशे, प्रकारो,  
 अमायां, वेगे च, वाच० ।

अस्नु-न० अस्नुते ध्यामिति नवमदर्शनाय । अश-कुन् । प्राहते ।  
 अश्रादावन्तः आ० १२६ इति सूत्रेण अस्नुस्वारागमः, प्रा० नेवजने,  
 वाच० । " शुक्रदुष्कभरकतस्स अंसुणि धायण जं जसं गालियं  
 तं अग्रतलायणैस्समुद्मार्हेतु ए वि होञ्जा " मन्त्र० ६ अ० ।  
 " अंसुपुण्णयणे तिर्ययसररीरयं तिकसुत्तो " जं २ वृत्त० ।  
 " अंसुपुण्णोद्दि गण्योर्हि इरं ने परिचिचिर्ह " उच्य० ३० अ० ।  
 अंसुय-अंसुक-न० आनिविषये बहिस्तापुण्ये सूत्रे, अत्रु० ।  
 आ० म० प्र० । " अमेतरहीरे जं उण्यञ्जितं तं अंसुयं " नि०  
 चू० ७ उ० । आवा० । अंसुकं कृद्गणपट्टस्तशिष्यमशुभक, वृ०  
 २ उ० । बह्वाविशेषे, हा० १ अ० । जं० जी० । परे च, अंसु स्वार्थे  
 कन् । अंसुशब्दांश्च, पुं० । वाच० ।  
 अंसोवसत्त-अंसोपसक्त-वि० । ७ तं० । अंश ( स ) योः स्क-  
 न्धयोःपसक्तं ज्ञानं यत् स्कन्धगलने, कल्प० ।  
 अकङ् ( ति )-अकञ्ति-त्रि० न कति न संख्याता इत्यकति  
 अस्क्यतितु अन्वेषु, स्थान० ३ ज० । म० ।  
 अकङ् ( ति ) संचिय-अकतिस्त्रिजित-पुं० न कति न संख्याता  
 इत्यकति असंख्याता प्रनन्ता वा तत्र ये अकत्यकतिअसंख्याता  
 असंख्याता एकैकसमये उत्पन्नाः सन्त्यथैव संचिन्तास्ते अकति  
 सञ्चिन्ताः । स्थान० ३ ज० । एकसमयेऽसंख्यातोपादेवानान्तो-  
 त्पादेन च परिग्रहतेषु नैर्यिकदिषु ( अत्र दृग्गकक्रमेण नर-  
 यिकादीनामकतिंसंचिन्त्यमुपपातशब्दे ) ज० २ श० १० उ० ।  
 अकङ्गा-अकाटक-त्रि० न० ब० । कएटकरहितेषु न तेषु  
 मध्ये बन्धुशब्दिवृत्ताः सन्ति, जा० ३ प्रति । पाषाणादिङ्-  
 व्यकएटकविकङ्गेषु, आवा० ५ अ० । प्रतिस्पर्दिगोत्रजं ( राज्यं )  
 " आहयकटयं मन्त्रियकटयं अकटयं " हा० १ अ० ।  
 स्थान० सूत्र० ।  
 अकङ्-अकाएट-न० । न० त० अग्रस्ताये, अग्रवसने, आतु० ।  
 " एष मया अकङ् विणाशिया तं कारणं सुणह " आ० म० प्र० ।  
 अकाशे, वृ० १ उ० ।  
 अकङ्क्यग-अकाएट्यक-पुं० न कएट्यते इत्यकएट्यकः  
 स्थान० ५ डा० । अकएट्यनकारके अभिप्रहविशेषवति, प्रश्न०  
 संब० १ डा० ।  
 अकंत-अकान्त-त्रि० कान्तः कान्तियोगात्, स्थान० ८ ज० । न का-  
 न्तोऽकान्तः । जी० १ प्रति० । स्वरूपेणाकमनाये, उपा० ८ अ० ।  
 म० । प्रश्न० ।  
 अकंततर-अकान्ततर-त्रि० स्वरूपतोप्यकमनीयतरे, जी० ३  
 प्रति० । वि० ।  
 अकंतता-अकान्तता-स्त्री० अस्नुन्दरनायाम्, म० ६ श० २ उ० ।  
 अकंततुक्त्व-अकान्ततुःत्व-त्रि० अकान्तमनमिमत्तं दुःखं वेधा-  
 न्तोऽकान्तदुःखः अन्नजितमाशानेषु सूत्र० १ वृ० १ अ०  
 " अकनदुष्कं तसथावरा दुःशो अस्नुस्ये " आवा० २ वृ० २ अ० ।  
 दुःखविदुःसु, सूत्र० १ शृ० ११ अ० ।  
 अकंतस्वर-अकान्तस्वर-त्रि० ६ ब० अकान्तितुक्त्वरे,  
 स्थान० ८ डा० ।  
 अकंद्विपि ( त )-अकन्द्विन्-त्रि० कन्दपोद्दीपननाचितादि-  
 विकसे, व्य० १ उ० ।  
 अकंप-अकम्प-त्रि० स्वरूपनिष्ठे, अष्ट० । अज्ञोच्ये, " नाथंभि

हंसगमि य, तथे चरिते व चउडु वि अक्षयं " अक्षय्योऽङ्गो-  
न्यो वैश्वर्यवाच्य इत्यर्थे, आनु० ।

अक्षयिष्य-अक्षयित-पुं० । न० त० । श्रीमहावीररुद्राष्टमे गणधारे,  
सं० ( अस्वागारपर्व्याद्याद्यो गणधरशब्दे ) आ० सू० । आ०  
न० त्रि० । कण्ठप० । ( अक्षयपत्तननामा किञ्चोपाध्यायो  
ब्रह्मादिभक्तं गतो भगवता नामसोभाश्यामाभाष्य ) वि० । "आ-  
हृष्टो य जिशेषणं, जाहजराभरणविष्णुकेणं । नोमन य गुप्तं य,  
सम्बन्धस्यध्वदरिणां ॥ किं मन्त्रे नेरुद्रया, अन्वि नत्विति  
संसक्तो नुज्ज, वेदपयाहं अर्थ्यं, न यासुसी तिसिमे अर्थ्यो " ( इत्याद्युक्त इति नारदशरभे प्रदर्शयिष्यते )

अक्षयकसनासा-अक्षयकनाजाषा-अं० अतिशयोक्त्या हामन्स-  
रपुंथायां भाषायाम्, दृश० ७ अ० ।

अक्षयकसवेयिणज-अक्षयकशवेदनीय-न० अक्षयकसोम सुक्ते  
नयेने यानि तानि अक्षयकशवेदनीयानि प्रस्ताहीनामिव सुख-  
येदनीयंयु कर्मसु ॥ अत्र दूरकः "अश्रियं मेत जीवाणं अक्ष-  
यवेयिणजा कम्मा कज्जति ॥ हंता अश्रिय कहरणं जंते । जीवाणं  
अक्षयकसवेयिणजा कम्मा कज्जति । गोयमा ! पाणाहवाचस-  
वरमणं जाव परिगहवरमणं कोहयिषेणं जाव मिच्चादस-  
णसल्लवियेणं एवं अहू गोयमा ! जीवाणं अक्षयकस-  
वेयिणजा कम्मा कज्जति अश्रियं भंते । नेरुद्रयाहं अक्षय-  
कसवेयिणजा कम्मा कज्जति कोहयिषेणं ॥ म० ७ श० ६ व० ।

अक्षयक-अक्षय्य-न० अक्षयसं कार्य्यम् अक्षयस्येन त० कुत्सि-  
तकार्य्यं, निषिद्धकार्य्यं च । कश्चिन्मन्त्रे, त्रि० वाच० । आचा० ।  
अक्षयमाए-अक्षिमाए-त्रि० न० त० वर्षमानकाले अ-  
निवर्त्तमाने म० १ श० १० उ० ।

अक्षयनमाएक-अक्षयमानकुत-त्रि० कियमाणं वर्तमान-  
काले कृतं चातीतकाले तत्रियधार्मिकियमाणकृतं ( वर्तमाना-  
तीतकालयोरनिवर्त्यमानानां निवृत्ते ) "अक्षिचं दुष्कलं अकु-  
सं दुष्कलं अक्षयमाणकृतं दुष्कलं " म० १ श० १० उ० ।

अक्षय-अक्षय-त्रि० न० ब० काष्ठरहिते अनिधने, "असीज-  
लंतो अगणी अक्षयः" सूत्र० १ सु० ५ अ० ।

अक्षय-अक्षय-त्रि० न० त० अविहिते । " कञं कडिचि भा-  
सिज्जा, अक्षयं नो कडिचि य " उच० १ अ० " अक्षयं करि-  
स्सामिणि मयमये " यदपरेण न हृतम् । आचा० १ सु० २ अ० ।

अक्षयजोगि ( न् )-अक्षययोगिन्-पुं० यतनया योगमकृत-  
वति, व्य० ३ उ० । अक्षययोगी अगतितायैः श्रीन वारुण कल्पमेघ-  
णीयं वा परिभाष्य प्रथमधेलायामपि यतस्ततोऽकल्पमनेषणी-  
यमपि प्राही । व्य० १० व० । " अक्षयजोगिणि दारं तियुणं प-  
द्वृद्धंति विसंजा तिथि गृहीभो तिथुणो असंधरालीसु  
तिथि वार पसणीयं सखिसिभो ज्ञाना ततियवारप वि षु  
लज्जति तदा अउपरिवाहीए अणेसणीयं घेतस्यं एवं ति-  
शुणं जोगं काऊण जोगो व्यापारः वितियवारपेषेव अणेस-  
णीयं मेरुहसि जो सो । अक्षयजोगी भजति अक्षयजोगिणि  
ययं " नि० सू० १ उ० ।

अक्षयपायिच्छिन्न-अक्षयपायश्चिन्न-त्रि० न कृतं प्रायश्चित्तं येन  
अननुष्ठितविशेषः " जे निक्खु साधिरयं अविउसखिय-  
पाहुडं अक्षयपायिच्छिन्नं " नि० सू० १० उ० ।

अक्षयसामायारि-अक्षयसामायारि-पुं० ३ व० अविधेया मरुह-  
स्त्युपसंस्तमायाचीमुकुर्वति, वृ० ३ उ० । एवंविधां ( सामायारी-  
शब्दे धर्यमाणां उपसन्नप्रमरुहसतिभयां द्विषधामपि सा-  
मायारी यो न करोति सोऽक्षयसामायारिक उच्यते, वृ० ३ उ० ।  
अक्षयिण-अक्षयिण-त्रि० कोमले, अं० ३ प्रति ।

अक्षय-अक्षय-पुं० सिद्धसुक्रीडिपथ्ये वैश्वर्यकाले ( अन्तर-  
पशब्दोक्त ) प्रमाणे अन्तरहीये, महासख्ये मनुष्यं च, व्या० ४  
उ० । प्रका० नं० । कर्णरहिते, वाच० ।

अक्षयिण-अक्षयिण-त्रि० न अक्षिन्नकणं त्रि० न त्रिन्वी  
कर्णौ बस्य स तथा । अक्षयभयने, नि० सू० १४ व० ।  
अक्षयिण-अक्षयिण-त्रि० उच्येत्थं फलं कर्तितुं शक्तिमत्स्य । कृत-  
युष्मं न० त० । उच्यविरागोपिहस्तस्यवति अर्थे, कृत-भाषे द्युष्ट-  
न० ब० त्रेदन्तरिते त्रि० वाच० ।

अक्षयिण-अक्षयिण-त्रि० न कुत्रिमः । न० त० कुत्रिमजिने, स्वजा-  
वसिक्ते, वाच० "अक्षयिमेहिं खेव कसिमेहिं खेव " ज० २ वृ० ।

अक्षय-अक्षय-पुं० कल्या-न्यायो विधिराधारः अक्षय-  
व्यापार इति यावत् । न कल्याऽकल्याः अक्षय इत्यर्थः । व्य० २  
अधि० अविधौ चरकादिदीक्षायां, अत्राद्ये, पंचा० १२ वि० ।  
आव० । आ० सू० । अक्षय्ये, अर्थोच्ये, "अक्षयं परियाणामि  
कल्पं उनसपज्जामि " आ० ४ अ० । वृणी०, इवा० १ उ० ।  
अर्थोच्ये, "अक्षयं अक्षयं तथिच" पि० । "अक्षयं पडिगा-  
हेज्ज, अउथाप ज्ञाओगम कल्पं वा । पडिसेव्ह उचवा-चणं  
गोयं परिवट्ठो व " । महा० ७ अ० । दृषणीये । नि० सू० १५  
उ० । अनायासं, कल्प० । अक्षयः अक्षय्योहा अनीतिः अनुपवश  
इत्यनघोत्तरम्, पं० सू० । पिहक्षयव्याचक्ष्णप्राक्प्रकृतयेऽक-  
ल्पनीये, व्य० २ उ० । "अक्षयं कल्याणं, अक्षयं गिहिन्याणं"  
अकल्पः शिक्ककल्याणकल्यादिः । दृश० ६ अ० । तत्राकल्पो  
द्विविधः शिक्ककल्याणकल्याः अक्षयकल्याणकल्याश्च तत्र  
शिक्ककल्यापनाकल्पः अक्षयतीपियज्जिक्क्यादिमानोत्तमाहा-  
रादि न कल्पते इत्युक्तं च " अणहीया अणु जेणं, पिरेस-  
णसेउज्जवथयासस । तेणाणियाणि अतिणो, कल्पंति न पिरे-  
माहेसि ॥ उचचंयमि ण अणधा, वासावासं व हो वि णो सेदा ।  
दिक्कित्तज्जी पाणं, उवणाकप्पो इमां होह " अक्षयकल्याण-  
माकल्पं त्वाह ॥

जाई चचारिज्जुजाह, इसिणा हारमाहिण ।  
ताई विहिणा वज्जंतो, संजयं अणुपाल्ल ॥ १४७ ॥  
सुत्रं व्याख्या-यानि अक्षयभोज्यानि संयमापकारित्येनाकल्पनी-  
यानि अक्षणीणां साधुनामाहापदीत्याहाशुव्याचक्ष्णप्राप्ति  
तानि तु विधिना वज्जंतं संयमं ससदक्षमकारमनुपाल्लयेत् ।  
तद्व्यागे संयमाभावादिनि सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति ।

पिंदसेजं च वत्थं च, अउत्थं पायमेव य ।  
अक्षयिप्यं न इच्छिज्जा, पदिगाह्जिज्ज कपियं ॥ ४८ ॥  
पिहक्षय्यां च वत्थं चतुर्थं पात्रमेव च । एतत्त्वकल्पं प्रमा-  
द्यमकल्पिकं मेच्छेत्तु प्रतिगृहीयात् कल्पिकं यद्योचितमिति  
सूत्रार्थः । अक्षयिकं दोषमाह ।

जे नियामं मयायंति, कियमुदेसियाहंम् ।  
वहं ते अणुजागंति, ईहं वुं महेसिणा ॥ ४९ ॥

ये केचन द्रव्यसाध्याद्यो द्रव्यलिङ्गधारिणः ( नियोगिनि )  
नित्यसामान्यतः पितृण्डं (समायन्तीति) परिपृच्छन्ति । तथा क्रीत-  
वृष्टिकाहृतम् । एतानि यथा सुखकाकारकध्यायां बधं त्रस  
स्वावरादिनां तैः द्रव्यसाध्याद्योऽनुजानन्ति । दानुमभुव्यनुयो-  
वनेनेत्युक्तं च महर्षिणा बधमानेनेति सूत्रार्थः । यस्मादेवम् ।

तद्भा अससापाणाई, किययुर्षिसियाहर्न ।

बजयति त्रियप्पाणो, निर्गंया भम्नांविणो ॥९०॥

तस्माद्दानपानादि चतुर्विधमपि यद्योदितं क्रीतमौद्देशिक-  
माह्वनं वर्जयति स्थितात्मानो महासत्या निग्रन्थाः साधवो  
धर्मजीविनः संवमेकजीविनः इति सूत्रार्थः । उक्तोऽकल्पः । पृ०  
६ अ० जीत० पं० सू० ॥ पं० भा० "अप्रतिमाहृणा अकल्पमि  
हारे पलेषादीस्त्वामम मजिणादि हौति उवर्हापे सेज्जापे द्ग-  
मसाला अकल्पसेहा य से अये " पं० क० सू० ॥ पं० भा० ।

एषो अकल्पं वाञ्छामि शिक्विष गिरणुक्कपो पुष्फ-  
लाणं च सारणं कुणति जं च एह एवमादीं सन्वं तं जाणसु  
अकल्पं जो तु किंन् ए करेतीं दुक्खभेम्पुं तु सन्वसत्तेम्पुं  
गिरिवेक्खो रीयादिमु पवत्तइ शिक्विषो सेत्तं महसा वय-  
साए ए व परितावणमादिविदिद्यादांणं काऊए नाणु-  
तपइ गिरणुक्कपो हवति एसो सत्तडुममाणेसु सट्ठाणासे-  
वाएए सट्ठाणं गच्छामादमि तु काराणंमि वितियं भवे ट्ठाणं  
सत्तडुमट्ठाणइ उ कप्पो चेव तह अकूपो य ते निक्कार-  
रणसेवी यावति सट्ठाणं पच्चत्तं पत्तमि कारणे पुण रा-  
यलुट्ठादिद्यमि आगाढे जयणा य करेमाणो होत्रियकप्पो  
वि तिहाए दारं । पं० चू० ।

"इतिहास अकूपो गाहा नामगणो नामणी धेयमीधो विज्जा-  
ओ पउजइ अइवेयाली नाम जो उउउं नेऊण पदिपात्रेइ वेयाली  
उउवेइ गम्माहाणं परिस्माइ संमुक्खिय पाइइ जोणियाहुइं  
वा करेइ अणंणसु य पवमाइसु पावायणंणसु वहुइ गाहा तसए-  
दिइयतसपाणइ मसगाइविट्ठिए वा सेसंसेम वा संमुक्खाविइ  
सुज्जाणमअमिआंगाइहि माहंसेरि वा आहंएवणं वा पउजइ  
रुद्धा दिइवणं बंभउंइ वा अणणिकायं धंमइ गाहा निक्कौवो  
नाम निग्घिणो निरुक्कपो पुष्फकल्याणि य विरुंसेइ विज्जा-  
ओ परसुमादि पउजइ एवमाइ कम्मकारे सो अकूपो ययाणि  
एण ओकल्पअकप्पाणि निक्कारणे करेती अट्ठाएपच्चित्तमयाइ  
इ । एतदर्थं गाहा सत्तडुमट्ठाणेषु गच्छमासु पुण कारणेणु य  
रायडुडामसु असिवाइसु य कारणेणु जयणाए करेत्तस  
ओकप्पा कप्पा विदयं ट्ठाणं भवति किं पुण तं वितियं ट्ठाणं पक-  
प्पो वेध सो भवइ एस अकूपो" पं० सू० [अपरिणतादेरकल्प-  
स्याद्वाहात्ताऽपरिणत्यादिशब्देषु वक्ष्यते] आदिधतकल्पे च, पृ. ४३ ।  
अकपण्ड्यारणकप्य—अकल्पस्यानुपानाकल्प—पुं० अनेषणीयपि-  
गुरुशय्यावस्त्रपात्रत्रकण्डेऽकल्पनेदे, जीत० ।

अकल्पपट्टिय—अकल्पस्थित—पुं० कल्पे दशधिषे आंचेसु कयादीं  
संपूर्णं न स्थिताः अकल्पस्थिताः चतुर्णांमधमप्रतिपन्नसु, पृ. ४  
उ० अक्षयमहाविशतिजिनसायुषु महविद्येदहेजुषु च, जी० [कल्प-  
स्थितानामधीय कृतं कल्पतं कल्पस्थितानां तदर्थं कृतं कल्पते  
कल्पस्थितानां नेतरथा ]

जे कमे कपट्टियाणं कपड् से अकल्पपट्टियाणं, नो  
कपड् कपट्टियाणं । जे कडे अकल्पपट्टियाणं नो से कपड्  
कपट्टियाणं, कपड् से अकल्पपट्टियाणं । कपे ट्टिया कप-  
ट्टिया णां कपे ट्टिया अकल्पट्टिया ।

यदशनादिकं कृतं विहितं कल्पस्थितानामर्थाय कल्पते  
तदकल्पस्थितानां, न कल्पते कल्पस्थितानां । इहांचेतु कया-  
दौ दशविधे कल्पेऽस्थितास्ते कल्पस्थिता उच्यन्ते पञ्चयाम-  
धमप्रतिपक्षा इति भावः । ये पुनरेतस्मिन् कल्पे संपूर्णं न स्थिता-  
स्ते अकल्पस्थिताश्चतुर्धामधमप्रतिपत्तार इत्यर्थः । ततः पाञ्चया-  
मिकानुद्दिश्य कृतं चातुर्यमिकानां कल्पते इत्युक्तं भवति  
तथा यदकल्पस्थितानां चातुर्यमिकानामर्थाय कृतं नो स क-  
ल्पते कल्पस्थितानां, पाञ्चयामिकानां किन्तु कल्पते तदक-  
ल्पस्थितानां चातुर्यमिकानामर्थैव व्युत्पत्सिमाह कल्पे आचेलु-  
क्यादौ इवादिषु स्थिताः कल्पस्थिता न कल्पे स्थिता अकल्प-  
स्थिताः । एष सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

कपट्टिपरुवणाता, पंचेव महव्यया चउजामा ।  
कपट्टियाणं पणमं, अकल्पचउजाम सेहे वि ॥  
कल्पस्थितः प्रथमतः प्रकृपणा कसेव्या । तथया । पूर्वपञ्चम-  
साधुनां कल्पस्थितिः पञ्चमहाव्रतकृपा मयमसाधुनां महाविदेह-  
साधुनां च कल्पस्थितिश्चतुर्धाममहात्मा ततो ये कल्पस्थितास्ते  
यां ( पणगंनि ) पञ्चैव महाव्रतानि जवन्ति अकल्पस्थितानां तु  
स्वतारां यामाश्चत्वारि महाव्रतानि प्रवर्तिता नापर्युद्धेता स्त्री  
सुज्यत इति कृत्वा चतुर्धमव्रतपरिव्रततामेव तेषां अन्नज्वनी-  
ति भावः । यच्च पूर्वपञ्चमार्थेकरसाधुनामपि सम्भवः । सेकृत्सा-  
पि सामायिकस्येव इति कृत्वा चातुर्यमिकोऽकल्पस्थितश्च  
मन्तव्यः यदा पुनरुपस्थापितो भविष्यति तदा कल्पस्थित इति  
प्रकृपिता कल्पस्थितिः । इह " जे कमे कपट्टियाणं " इत्यादिना  
आध्यात्मसुचितमनस्तस्य उपात्तमाह ।

सालंययुगुगोर—सावसु बद्धं फलेसु जातेसु ।  
पण्डुकराणसु, आहाकम्मे ( एपमतपुता ॥  
कस्यापि दानश्चेरिभानामआइस्य धानः शलिः भूया न शुद्धे  
समायातस्ततः स चित्तयति पृथे यत्तानामदत्त्वा ममात्मना परि-  
प्रेक्तुं न युक्त इति परिभाष्याध्याकमं कुर्यात् एषं सूत्रे मुने गोरसे-  
नधे यश्चतुर्धामविद्वहं फलेसु जातेषु पुण्यार्थं दानकृत्वाः आइः  
( करणति ) आध्याकमं कृत्वा साधुनां निमन्त्रणं कुर्यात् । तस्य  
आध्याकमेषुऽभूयेकार्यकपदाणि ।

आहा आहयकम्मे, अत्ताहंमेय अत्तकम्मे य ।  
ते पुण आहाकम्मे, एायव्वं कप्पते कस्स ॥  
आध्याकमं, अध्याकमं, आत्ममन्न, आत्मकमं, चेति स्वत्वारि  
नामानि तत्र साधुनामधेयप्रणिपातेन यत्कमं परकृपायविनाशना-  
शानादिनिष्पादनं तदाध्याकमं । तथाविद्युक्तस्य मस्थानेभ्यः  
प्रतिपत्यास्मानमथिद्युक्तस्य मस्थानेषु यदायः करोति तदाध्याकमः  
आत्मानं ज्ञानदर्शनचारिभूतप विनाशयतीत्यात्मनः । यथायथा-  
दिसम्बन्धि कर्म पाकदिसकृपां क्षानावर्णीयादिस्लकृपां वा तदा-  
त्मनः सम्बन्धि क्रियन्ते, अनेनेत्यात्मकमं । तत्पुनराध्याकमं  
कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा यथा कस्य तीर्थं कथं कल्पते न कल्प-  
ते वेत्यमीतिज्ञातेऽहोतमं, ताम्येव दर्शयति ।

संघस्य पुरिमपडिभूम-समण्णाणं चैव समण्णाणं ।  
चउएहं उवससयाण, कायव्वा मग्गणा होति ॥

आधाकर्मकारि सामान्येन विशेषेण वा संघस्योद्देशं कुर्यात् तत्र सामान्येनाधिकारिणोऽपि संघमुद्दिशति विशेषेण तु पूर्वं वा मध्यमे वा पश्चिमे वा संघं वेत्तव्यं प्रमाणस्य भ्रमणानामप्येतेषां विजागतक भिद्वेषं करोति, तत्रैवधत्तां विशेषितभ्रमणानां विजागतः पाञ्चयामिकभ्रमणानां चातुर्यामिकभ्रमणानामेवं भ्रमणीनामपि वक्तव्यं तथा चातुर्याणामुपाश्रयाणामप्येवमेव सामान्येन विशेषेण च मार्गणा कर्तव्या भवति, तत्र व्यवहार उपाश्रया इमे पाञ्चयामिकानां भ्रमणानामुपाश्रयमुद्दिशनीत्येकः पाञ्चयामिकानामेव भ्रमणानां द्वितीयः एवं चातुर्यामिकभ्रमणभ्रमणानामप्येवं भावयति ।  
संघं समुद्दिशिचा, पदमो वितिआो य समणसमणीओ ।  
ततिआो उवसस ए खमु, चउएओ एगपुरिसस ॥

आधाकर्मकाराः प्रथमे दानआकाङ्क्षिः संघं सामान्येन विशेषेण वा समुद्दिश्याकर्म करोति । द्वितीयः भ्रमणसमण्णाः प्रशिक्षणं करोति । तृतीयं उपाश्रयानुद्दिश्य करोति । चातुर्ये एकपुरुषस्योद्देशं कृत्वा करोति ।

अत्र यथाक्रमं कटाकपट्टिधिधमाह ।

जदि सव्वं उद्दिसिउं, संघं करेति दोएह वि ण कप्ये ।  
अदवा सव्वे समणा, समण्णां वा तत्थ वि त्थेव ॥

यदीयं पशुपगमे यदि नाम श्रुतमस्वामिनोऽजितस्वामिनस्य तीर्थेकत्र मिलितं जवति पाश्चैश्यामिषवर्द्धमानस्वामिनोर्वा तीर्थं मिलितं यदा प्राप्यते तदा तस्काश्रमङ्गीकृत्यायं विधिर्निर्धार्यते, सर्वेमापि संघं सामान्येनोद्दिश्य यदाधाकर्म करोति । यदा द्वयोरपि पाञ्चयामिकचातुर्यामिकसंघयोर्न कल्पते अथ सर्वान् भ्रमणान् सामान्येनोद्दिशति तत्रापि भ्रमणानामपि सामान्येनोद्देशेन तथैव सर्वेमापि पाञ्चयामिकानां चातुर्यामिकानां न कल्पते एवं भ्रमणानामपि सामान्येनोद्देशे सर्वसामकल्पयत् ।

अथ विभागेद्देशे विधिमाह ।

जं पुण पुरिसं संघं, उद्दिशती मज्जिमसस तो कप्पी ।  
मज्जिमउद्दिहे पुण, दोएहं पि अकपितं होति ॥

यदि पुनः पूर्वश्रुतस्वामिसकं संघमुद्दिशति ततो मध्यमस्याजितस्वामिसंघस्य कल्पते अथ मध्यमं संघमुद्दिशति तदा द्वयोरपि एवंमध्यमसंघयोरकल्पं जवति, एवं पश्चिमतीर्थेकरसकसंघमुद्दिश्य कृतं मध्यमस्य कल्पते मध्यमस्य कृतं द्वयोरपि न कल्पते ।

एभेव समणवग्गे, समण्णीवग्गे य पुव्वमुद्दिहे ।

मज्जिमगाणं कप्ये, तसि कइं दोएहं वि ण कप्यं ॥

एवमेव भ्रमणवर्गे भ्रमणीवर्गे पूर्वेषामुपमस्वामिसंघनिधनां भ्रमणानां भ्रमणीनां वा यदुद्दिष्टमुद्दिश्य कृतं तन्मध्यमिकानां भ्रमणभ्रमणीनां कल्पते तेषां मध्यमानामधीय कृतमुपवेधामपि पूर्वमध्यमानां साधुसाध्वीनां न कल्पते । एवं पश्चिममध्यमानामपि धरुण्यम् ।

अथैकपुरुषोद्देशे विधिमाह ।

पुरिमाणं एगसस वि, कयं तु सव्वंसि पुरिमचरिमाणं ।  
चरिमाणं ण वि कप्ये, उवणामत्तगइयं तइं नतिथ ॥

पूर्वेषामुपमस्वामिसकानामेकस्यापि पुरुषस्यार्थाय कृतं सर्वेषामपि पूर्वपश्चिमानामकल्पं पश्चिमानामप्येकस्यार्थाय कृतं सर्वेषां पूर्वपश्चिमानामकल्पस्य । एतच्च स्थापनामात्रं प्ररूपणामात्रं संकायिहानार्थं क्रियते बहुकालान्तरत्वेन पूर्वपश्चिमसाधुनामेकतांसंभवात् तत्र परस्परं ग्रहणं नास्ति न घटने मध्यमानां तु यदि सामान्येनैकं साधुमुद्दिश्य कृतं तत एकैकं शूरीते शेषाणां कल्पते अथ किमप्येकं विशेष्य कृतं ततस्तस्यैवाकल्पं शेषाणां सर्वेषामपि कल्पं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेषामपि तत्र कल्पते ।

अथोपाश्रयोद्देशे विधिमाह ।

एवमुपसस्य पुरिसि, उद्दिहणं तं तु पच्छिमा ङुज्जी ।

मज्जिमं तु वज्जजाणं, कप्ये उद्दिहसम पुज्जे ॥

एवं यदि सामान्येनोपाश्रयानुद्देशं करोति तदा सर्वेषामकल्पयत् । अथ पूर्वेषामाधीयंकरसाधुनामुपाश्रयानुद्दिशति ततस्तदर्थमुद्दिष्टं पश्चिमानामुपलक्षणात्पूर्वं वा साधवः सर्वेऽपि न मुञ्जते मध्यमानां पुनः कल्पनीयम् । अथ मध्यमसाधुनामुपाश्रयानुः सर्वानुद्दिश्य करोति ततो मध्यमानां पूर्वपश्चिमानां सर्वेषामकल्पयत् । अथ क्रियते एव मध्यमोपाश्रयानुद्दिशति ततस्तद्वर्जानामुपाश्रयेषु ये भ्रमणास्तान् वर्जयित्वा शेषाणां मध्यमभ्रमणभ्रमणीनां कल्पते (उद्दिष्टसमपुज्जेति) सर्वे साधवः श्रुतमस्वामिसक्ता भवन्ते ते उद्दिष्टसमये साधुमुद्दिश्य कृतं तणुल्याः । एकमुद्दिश्य कृतं सर्वेषामकल्पनीयमिति भावः । एवं तावत्पूर्वेषां मध्यमानां च भवितव्यम् ।

अथ मध्यमानां पश्चिमानां वा अभिधीयते ।

मन्वे समणा समण्णां, मज्जिमगा चैव पच्छिमा चैव ।

मज्जिमगसमणसमण्णां, पच्छिमगा समणसमण्णां ॥

सर्वे भ्रमणाः भ्रमणयो वा यदुद्दिश्यते तदा सर्वेषामकल्पयत् (मज्जिमगा चैवति) अथ मध्यमाः भ्रमणाः भ्रमणयो वा उद्दिष्टास्ततो मध्यमानां पश्चिमानां च सर्वेषामकल्पयत् (पच्छिमाचैवति) पश्चिमानां भ्रमणभ्रमणीनामुद्दिष्टे तेषां सर्वेषामकल्पयत् मध्यमानां कल्पयत् मध्यमभ्रमणानामुद्दिष्टं मध्यमसाध्वीनां कल्पते मध्यमभ्रमणीनामुद्दिष्टं पश्चिमसाधुसाध्वीनां न कल्पते पश्चिममानामुपवेधामपि कल्पते । एवं पश्चिमभ्रमणीनामुद्दिष्टे वक्तव्यम् ।

उवससगणिय विभाएअ, उज्जुमज्जुया वं कनज्जुया ।

मज्जिमगउज्जुपप्पसा, पेच्छासप्पयागागमणं ॥

अथोपाश्रयेषु साधून् गणितविभाजितान् करोति गणितानामित्यादि पञ्चाहिसंख्याकानां द्वाकल्पं विभाजितां अमुकस्यामुकस्येति नामोक्तींसेनेन निर्द्धारिताः अत्र चातुर्येणैकं यथा गणितानि द्वयं विभाजिता अपि १ गणिता न विभाजिता २ विभाजिता न गणिता ३ न गणिता न विभाजिता ४ अत्र प्रथमजङ्गं मध्यमानां गणितविभाजितानामेवाकल्पं शेषाणां कल्पते । द्वितीयजङ्गं यावत् प्रमाणैर्न शूरीते तावत् सर्वेषामकल्पयत् गणितप्रमाणैर्न शूरीते मध्यमानां शेषाणां कल्पयत् । तृतीयजङ्गं यावत् सदृशमादानस्तेषां सर्वेषां सममकल्पं शेषाणां कल्पयत् । चातुर्येभ्यो सर्वेषां कल्पं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेषामपि त्रङ्गेषु न कल्पते (साधुनां कल्पस्थितत्वात् कल्पस्थितत्वकारणं कल्पद्वये ) सू० एतेन कारणेन चातुर्यामिकपाञ्चयामिकानामाधाकर्मग्रहणे विशेषः कृत इति प्रथमः ।



अथ द्वितीयवद्महा ।

आयपरि ए अजिसगे, जिक्खुम्मि भिग्गाएण य भयणाओ ।

भित्तुस्सइविपवेसे, चउपरिवेट्ठे तत्रो गहणं ॥

आचार्यानिवेकमिक्खणामेततमः सचं वा भ्रान्ता भवेयुः तत्र सर्वथापि योग्यमुक्त्वादिदोषाद्युक्तं प्रदीतव्यम् असंशयानि पञ्चकपरिहाया यतित्या चतुर्गुरुकं यदा प्राप्तं जयति तदा आधाकर्मणे भजना स्वयना भवति अथवा भजना नाम आचार्यस्याभिषेकस्य गीतार्थमिहोक्तं यत्र शोकेणाशुक्मान्नीतं तप-रिस्तुद्रमेव कथ्यते । यः पुनरगीतापोऽपरिणामको वा तस्य न निवेद्यते । अशिशुवादिभिर्गो कारणैरुत्तरीमध्वानि प्रवेष्टुमनिलप-ति तत्र प्रथममेव ह्युक्तोऽप्यकल्पसिद्धयस्त्वनि वाराय गंधप्यने यदा न ज्ञयते तदा चतुर्यो परिवर्ते पञ्चपरिहायाधाकर्मिकस्य प्रदणं करोति ।

अप्वनिर्गतानां चार्यं विधिः ।

चउरो चउत्थभंसे, आयंविस्सएगजाण पुरिमहं ।

एिण्वीयगदायव्वं, सयं व पुव्वेग्गाहं कुञ्जा ॥

आचार्यः स्वयमेव चतुष्कल्याणकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति तत्र चत्वारि चतुर्धेमकानि चत्वारि आचार्यमात्रानि चत्वार्येकस्यामानि एकासनकानीत्यर्थः चत्वारि पूर्वोक्तानि चत्वारि निर्दुष्टि-कानि च प्रवर्तन् । ततः श्रेया अप्यपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं च-तुष्कल्याणकं प्रतिपद्यन्ते । योऽप्यरिस्तामिकस्मस्य पञ्चकल्याण-कं दातव्यं तत्र चतुर्धेजकादीनि प्रत्येकं पञ्च पञ्च भवति स्युषं चानार्यैः पूर्वमेव प्रायश्चित्तस्यास्यप्रदणं कुर्यात् येन श्रेयाः सुखमेव प्रतिपद्यन्ते यत्पूर्वं प्रतिसिद्धं भवति एवं भूयोऽ-नुज्ञायते अनुज्ञातं वेति ।

अनः किमर्थं प्रायश्चित्तं दीयत इत्याह ।

काणशरंरारावेक्खं, जगस्म भावं जिणा वियागिता ।

तह तह दिसंति धम्मं, जिज्जाति कम्मं जहा असिलं ॥

कालशरीरपिच्छं कालस्य शरीरस्य च याशः परिणामां ब-से वा तदनुकूपं जगना मनुष्यलोकास्य स्वभावं विश्वाय जिना-स्नीधेकराः तथा तथा विधिप्रतिषेधरूपेण प्रकारेण धर्ममुपदिश-न्ति यथा अजिस्समपिय कम्मं कुर्याते यच्चानुज्ञातं प्रायश्चित्त-दानं तदनयस्थाप्रसंगवारणाय । सु० ४ उ० ।

अकप्पिय-अकल्पक-३० अर्गाताथे, “ किं वा अकप्पियणं, गार्हवे प्राप्तुयं नतं होह ” अर्० ३० अनेवर्णाय, जि० अकप्पियं अ हत्थिञ्जा पणिग्गाहउज कप्पियं ” दश० ४ अ० ॥

जे जम्मि देसजाए, अकप्पियं जेस जेण कालेण ।

बुच्छामि अचपाणे, वि कारणं सुचनिदिहं ॥५॥

महाहाइ महासाही-णं ओयणमुहह यं इवइ भुज्जं ।

सायलगं तु अमुज्जं, कुंयुममाद्यं रसज्जेणं ॥६॥

तेसिं तु तंहुत्तैदं, एगंनेणं जवे अत्थिज्जं तु ।

पिंरालु य पत्तंके, परिवुच्छा मा वि य अमुज्जजा ॥७॥

बालगकोडिसरिसा, उरुपरिमपा तहिं सुभूमदेहा ।

संमुच्छिंति अयोगा, कुंयिक्खा मंसचक्खुणा ॥८॥

तामि य वेव पणंस, उएहं सालुअं इवइ जक्खं ।

संयलर्गमि य जहाजा, रसया ममुच्छंति य अणेगा ॥९॥

सरिसवमागं मुग्गेण, मासायां ऊंबझेण जं रच्छं ।

एगंतेण अजक्खं, तहिं मंहुक्का चवे सुहुमा ॥१०॥

मासा मूलपसिच्छा, परिवुच्छा संजयाणपसिच्छं ।

मच्छा य संमुच्छंति, न सरएणुवंत्रिआ वहे ॥११॥

सो पव्वलजाया ? अय-तको उगणियाहिं मिच्छाओ ।

परिमुच्छंति य विविहा, मव्हे पंचिदिया हुंति ॥१२॥

आमे तके सिच्छे, कुंयुंजसुमां अकप्पियं निच्चं ।

बाणसरिसा अणेगा, सप्पा संमुच्छिमा तत्थ ॥१३॥

जवसागरभनाज्जं ? परिवुच्छं नेव कप्पियं होइ ।

संमुच्छंति अणेगा, मच्छा जलुआ सहस्साइ ॥१४॥

एगंतेण अपयं, खारं दुरजाइयं तहिं देसे ।

संसदमं तत्थ जिया, गंडुलया सप्पमंहुक्का ॥१५॥

दहियं तिरत्तिपुक्खं, अकप्पयंति जल्लुयसंघाया ।

गुलवाणिअं अपयं, परहमि गए तहिं देमे ॥१६॥

गुलवाणिं अपयं, अंदाओगजीवसंजवा तत्थ ।

जवपाणिं अपयं, सेमाण य उएहतायाणि ॥१७॥

एगंतेण अभक्खवा, परिवुच्छा भासपांशिआ तत्थ ।

सम्मुच्छंति निगाया, तेहिं य जीवा बहुविहा य ॥१८॥

अग्गपिंडगज्जा, मंडुक्काया परअपरिवुच्छा ।

पुव्वएहं सा कप्पइ, अवरएहे तंनुआ जीवा ॥१९॥

जक्खा य पंचरत्तं, तु मायगा देसमंडले तम्मि ।

एगंतेण न कप्पइ, मीयलकूरो अतुसिणो अ ॥२०॥

आयागे पट्ठिसच्छो, जामतासा ? अल्लंजइ अत्तं ।

आयारियपरिभट्टा, पाणिवहकरा अ माहुआ ॥२१॥

मूत्तगज्जा चेंचु अ, तत्थ य संसजए मुहुत्ताणं ।

न हु मूत्तगमंसत्ता, कंदकलाइ उ मंसत्ते ॥२२॥

सव्वं तिलगयअमं, गोरममासं तु रत्तिपज्जसियं ।

इहासाईचूया, संसजए मुहुत्तेणं ॥२३॥

उवरक्खलगतियेयं, पत्तेयं तभिरत्तकालियं ।

विज्जलयणट्ठभाइ ? सुहुमुहुइसु संसत्ते ॥२४॥

एवं जुज्जं मगहे, त्रिसए तठेव ममासओ भणियं ।

मगहा इव नापव्वं, जाव कश्शिमाउ नेपालं ॥ २५ ॥

दविक्कं वा विक्कामो ? एयंमि य देसमंरुले पत्ता ।

पाणाणि य भक्खाणि य, नायव्वाइं पपत्तेणं ॥ २६ ॥

मिरियकुंडंगकुसंजी, करमियअगे सत्थिक्कामायाइ ।

एसा निगोयजाणी, परिवुच्छा होइ अजक्खवा ॥ २७ ॥

कुदवतंतुज्जजाओ, दगकून् पंचरत्तिपरिवुच्छं ।

एगंतेण अपयं, जल्लयपरिनाए जायंति ॥ २८ ॥

पूरियमंहुक्काअ, मासा वथुला य देसला जाया ।

हुंति अबक्खवा तुंथुअ-मविलअमसगाए सा जार्ण ॥२९॥

कुक्षं न तद्वल्लदग्गं, कूरो जो होइ रत्तिपरिवुच्छो ।  
 एगंतेण अपयं, बहुविहसत्ताण सा जोणी ॥ ३६ ॥  
 गुलपाणियं तु पेयं, मज्जाएहे विच्छुपाणियं च व ।  
 सेमं कालं न पर्यं, तेसु वि जीवा अणगविहा ॥ ३० ॥  
 आजारसरट्टीए, करंवंगं झगन्नतकसिद्धो अ ।  
 एगंतेण अभक्खो, सो ऊ उएहो अ सन्निझेणं ॥ ३१ ॥  
 समुच्छंति निगोया, तस्सा पंचिदिया अणगविहा ।  
 सुहुया जइहं दिट्ठा, तज्जोणीया बहु जीवा ॥ ३२ ॥  
 सूरणकंदो भीसे-हिं मीत्तिओ ? एगरत्तिपरिवुच्छो ।  
 एगंतेण अभक्खो, तेसि निगोया य मंहुका ॥ ३५ ॥  
 झगल्लतके सिच्छो, उगणेहिं किरइकंगुओ जीओ ।  
 धूलं करिहिं मासो, परिवुच्छो तत्थ बहुवरया ॥ ३५ ॥  
 पंचसवमुद्धत्तकंदा, अकप्पिया सिद्धयारिन्निच्चं पी ।  
 पत्ता कसाणवचयं, सोरट्ठा जारदेसंमि ॥ ३६ ॥  
 चउहिं पयारेहिं सया, न कप्पए कंगुओ तहिं देवे ।  
 जो अंबलेमि सिच्छो, तत्थयमावन्निया जीवा ॥ ३७ ॥  
 उएहे संयुच्छंमि य, अणोणजीवा निगोयमंटाणा ।  
 सीयलपयिं य मच्छा, रहणेण संटिया बहुवे ॥ ३९ ॥  
 झगन्नतके सिच्छो, कंगुओ स्वायरे हिं कडेहिं ।  
 उएहे निगोयजीवा, सीयलए तंतुया हुंति ॥ ३९ ॥  
 तकं बिलंमि सिच्छो, मामो लणएयरएल्लामाम्मि ।  
 उएहेमि तसा जीवा, सीयलए हुंति य निगोया ॥ ४० ॥  
 माहिंसत्तके झगलेहिं, सिच्छो जइति कंगुओ होइ ।  
 समुच्छंति अणोया, सीयलए तंतुया जीवा ॥ ४१ ॥  
 चट्ठापत्तंतिअ-मि सिच्छयं उएहयं च अगिणीए ।  
 उप्पज्जंति अणगा, सीयलए किरहया जीवा ॥ ४२ ॥  
 अंबिन्नमिच्छविराड्डी, एगंतेणं च सा वि पफिसिच्छा ।  
 उगहंमि तसा जीवा, निगोयजीवा य सीयलए ॥ ४३ ॥  
 सासासरसकंगुओ, एए तिप्पि च उएहया कूरा ।  
 परंहरियन्वा निबं सीयलए तंतुया जीवा ॥ ४४ ॥  
 झगन्नतके सिच्छो, कंगुओ स्वायरेहिं कडेहिं ।  
 तिन्नयल्लगुमिस्सो, निगोयपंचिदिया हुंति ॥ ४५ ॥  
 निगंथाण अभक्खं, मल्लगसागं विरत्ति परिवुच्छं ।  
 कुंठुनमायनिगोया, उप्पज्जंति य बहुय जीवा ॥ ४६ ॥  
 मासावट्टुपरिवुच्छा, एगंतेण वि हुंति अभक्खला ।  
 हुंति य निगोयजीवा, तंतुअ पंचिदिया तत्थ ॥ ४७ ॥  
 सतु अजक्खवा भक्खवा, भक्खवा परिवुच्छेज्जसुरहत्तेसंमि ।  
 पेसासुहुकुक्कुटिया, पंचिदियजीवजाणं सा ॥ ४८ ॥  
 एगं जापं जक्खवा, पुव्वरिया कुंठुआ भवे पच्छा ।  
 एगंतेण अजक्खवा, परिवुच्छा मासपोत्तीया ॥ ४९ ॥  
 उप्पज्जंति निगोया, जीवा पंचिदिया बहुविहा य ।

बुद्धिसे सु मायेगसुं, परिवुच्छासु तहिं देसं ॥ ५० ॥  
 गोसत्तत्त्वायाएयं, गोणीए गोरसेण जं मिसं ।  
 संसप्पए रसएहिं, खणेण वाग्गससरिसेहिं ॥ ५१ ॥  
 सव्वेसु वि देमेसुं, परिवुत्तियाहं अकप्पणज्जाइं ।  
 असणं पाणमज्जक्खं, नाणा जीवाण सा जोणी ॥ ५२ ॥  
 जा परिवुच्छं जुंजए, एगरमं चउविहं पि आहारं ।  
 सा बहुविहजीवाण, करेइ अंतं अयाणतो ॥ ५३ ॥  
 जो नाह्मी पडिवात्तिं, खाणादेसेसु सत्तभसिएणं ।  
 सो संजमं अविक्कं, करेइ साहु य परिहरंतां ॥ ५४ ॥  
 अंकुल्लयाणियाए, बायाल्लट्टीइ जो य इक्खुरमो ।  
 मच्छासमुच्छंति अ, तक्कासं सव्वदेमेसु ॥ ५५ ॥  
 संसत्तयणज्जुत्ती, एसा साहुहिं च व पडिअन्वा ।  
 अत्थो पुण सव्वेहिं वि, सोयन्वो साहु पासाओ ॥ ५६ ॥  
 सं० नि० । आचा० ।

अकट्टिपत्त-वि० अयन्त्ये, ग० १ अवि० ।

अकम्बर-पुं० पारसीकांश्च शब्दः दिङ्हीनगराधिपतौ, अंश-  
 क्लुराजै, स हीरविजयप्रतिबोधितः “ यो जीवानयदानमिन्दि-  
 मारियात् स्त्रीयं यशोर्गिडिम, वरमासास्मन्निवर्षसुधमखिले  
 चृमगाकलेऽपीयदम् । जेजे धार्मिकतामधम्मरसिको अंश-  
 क्लुराजिमोऽकम्बरः, श्रुत्वा यद्वदनादनाविलसितमिधर्मोपदेशं  
 क्षुण्णम् ॥ १ ॥ कण० ॥

अकम्म-अकर्मन-न० न० त० कर्मकरणाज्ये, ह० १ उ० आ-  
 श्रयनिगेधे, मू० १ कु० १२ अ० १ न विद्यते कर्मोक्त्ये ( क्ली-  
 णकर्मणि ) पुं० आचा० १ अ० ५ अ० ६ उ० ।

अकर्मणा गतिः ।

अत्थि एणं भंते ! अकम्मस्स गर्हं पएणायइ हंता अत्थि  
 कएहं भंते ! अकम्मस्स गर्हं पएणायइ गोयमा ! निस्संगयाए  
 निरंगणयाए गइपरिणामेणं बंधणउयणयाए निरिधलयाए  
 पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गर्हं पएणायइ कएहं भंते ! नि-  
 स्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं अकम्मस्स गर्हं प-  
 छायाइ गोयमा ! से तुंवे तेमि अट्टएहं मट्टियासेवाणं गुरुयत्ताए-  
 भारियत्ताए गुरुयसंजारियत्ताए सत्थिलतलपइवइत्ता अहं  
 धरणिंतलपइइएणं भवइ हंता हवइ अहे एणं से तुंवे तेमि  
 अट्टएहं मट्टियासेवाणं परिकखएणं धरणिंतलपइवइत्ता  
 उप्पि मल्लिलपइइएणं भवइ हंता भवइ एवं खसु गोयमा !  
 निस्संगयाए निरंगणयाए गतिपरिणामेणं अकम्मस्स  
 गइपसायइ कएहं भंते ! बंधनउयणयाए अकम्मस्स  
 गर्हं पएत्ता गोयमा ! से जहा नामए कल्लमिचं लयाइ वा

मुगसिंवलियाइ वा मामसिंवलियाइ वा सिंवलिसिंवलियाइ वा परंमिजियाइ वा उगडे (दिणा सुक्का ममाणी) कुञ्चित्ताणं एगंतमेतं गच्छइ एवं खलु गोयया । कहुइहं जंते ! निरिण्णयाए अकम्मस्स गई गोयया ! से जहा नामए धूमस्स इण्णविपुक्कस्स उहं वीससाए निब्बाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयया ! कहुइहं भंते ! पुञ्जपत्रोणेणं अकम्मस्स गई पप्पमा गोयया ! से जहानामए कंइस्स कोदंइविपुक्कस्स लक्खानिमुहुं निब्बाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयया ! पुञ्जपत्रोणेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ एवं खलु गोयया ! नीमंगयाए निरिण्णयाए जाव पुञ्जपत्रोणेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ ।

( गह पघायहसि ) गांतेः प्रहायेतेऽनुपगम्यन इति यावत् ( निस्संगयाएत्ति ) निःसङ्गतया कर्ममहापगमेन ( निरंगणयाएत्ति ) नीरागतया मोहापगमेन ( गगपरिणामेणंति ) गतिस्वभावतया अज्ञातुच्छवस्थेय ( संशयनेययाएत्ति ) कर्मवधनच्छेदनेन परयस्फलस्यैव ( निरंगणयाएत्ति ) कर्मवधनविमोचनेन धूमस्यैव ( पुञ्जपत्रोणेणंति ) सकर्मतायां गतिपरिणामवस्थेन बाणस्यैवांत एतद्देव विषयषष्ठाह ( कहुइहामित्यादि ) ( निरुवहयंति ) वाताद्यनुवहंतं ( दग्धेयित्ति ) दिग्भेः समुत्सेः ( कुल्लोहयत्ति ) कुशोदरैरेव छिन्नसूत्रैः ( दृष्टंमूर्च्छं ) ज्ञया ज्ञयः ( अस्याहेत्यादि ) इह मकारो प्राकृतप्रजनवाद्यतोऽस्तायेऽत एवातारोऽत एवागोचर्येऽपुनरप्रमाणे ( कल्लसिंवलियाइ वा ) कल्लयाग्निचान्द्राधम्यफलिका ( सिंवलियाइ ) वृक्षविशेषः ( परंमिजियाइ वा ) पररुद्रफलं ( एगंतमेतं गच्छइति ) एक इत्येवमनोनिष्ठया यत्रास्तावेकान् एक इत्यर्थोऽतस्समन्ते ज्ञानां गच्छति इह क बाजस्य गमनप्रपेयत् कल्लया सिंवलिकादि । तज्जकं "सत्तयारभेदोपचारादिति" ( उहं वीससाएत्ति ) उहं विकल्पया स्वयानेन ( निब्बाघाएणंति ) कटाघाच्छादनाजावात्, म० ७श० १, ३० ( अकम्मस्स वयहरो वा विज्जति ) आवा० १ शू० २ अ० १३० । न विद्यते कर्मास्येति अकमां कर्मादिते, धीयान्तरयाक्यजनिते जायस सहजं धीर्ये, "किन्तु वीरस्स धीरंते, कहें जेये पवुच्चइ । कम्ममेगे पवेदेति, अकम्मं वा वि सुज्जया" सुज० १ शू० ३ अ० अकम्मओ-अकम्मैतस्-अव्व० कर्माणं विनेत्यर्थे, "सां अकम्मओ धिंमत्तिजानं परिणमइ" ज० १२ श० ५ ड० ।

अकम्मस-अकर्मोडा-पुं० न विद्यते कर्मांशो यत्सोऽकर्मोडाः । कर्महवधिप्रभुते । "अपत्तिंयं अकम्मसे, पयमट्टिमिगे सुए" सुज० १ शू० १ अ० २ श० ३० । विगतयातिकर्मणि स्नातकभेदे, म० २५ श० ६ उ० ।

अकम्मकारि [ न ]-अकर्मकारिन्-वि० स्वर्ज्यमानुचितकर्मकारिणि, प्रक० प्राअ० २ श० १ ।

अकम्मग-अकर्मक-वि० नास्ति कम्मं यत्स क० क० । व्याकरणेके कम्मशब्दे धातौ । "लः कम्मणि च भावे आकर्मकेज्यः" ३ ५ । ६९ इति [ पाणिनिः ] " फलव्यापारयोरिकनिष्ठताया-अकर्मकः " इति हरिः । क्षिणां टापि कापि अत इत्यथ अकर्मिका "प्रसिद्धेरेविषयकौतः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया" इति हरिः । आवा० आविषयकैतकर्मका अकर्मका जवन्ति । यथा, पश्य सूत्रो आचरति, आवा० १ शू० १ अ० ६ उ० ।

अकम्मनुपग-अकर्मनुपक-पुं० कर्म कृषियाणिज्यादि मोक्षा-नुष्ठानं वा तद्विकला प्रमियैवास्ते अकर्मनुमास्ते एवाकर्मनुमका आपेवात्समासात्तोऽप्रत्ययः । जीवा० १ प्रति । अकर्मनुमिज्जु वमंय्युक्तात्तिकमनुच्येय, प्रहा० १ पद । ते च त्रिशद्विधाः ।

से किं तं अकम्मभूमिगा ? अकम्मभूमिगा तीसतिविहा पप्पमा तंजहा पंचाहिं हेमवपहिं पंचाहिं हेएएणवपहिं पंचाहिं हरिवासेहिं पंचाहिं रम्यगवासेहिं पंचाहिं देवकुरुएहिं पंचाहिं उत्तरकुरुएहिं सेसं अकम्मभूमिगा ।

अय के ते अकर्मभूमिकाः ? सुरिराह अकर्मभूमिकात्रिशद्विधाः प्रहताः । तच्च त्रिशद्विधत्वं हेमजेदाव । तथा आह । "तं जहा पंचाहिं हेमवपहिं" इत्यादि । पञ्चभिर्हेमवपः पञ्चभिर्हेमवपः तैः पञ्चभिर्हरिवपैः पञ्चभिः रम्यकवपैः पञ्चभिर्देवकुरुभिः पञ्चभिस्तरकुरुभिर्मिथममानात्रिशद्विधा जवन्ति । यथां पञ्चानां त्रिशदांस्व्यातकत्वात् तत्र पञ्चसु हेमवपेषु मनुष्या गच्छतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया स्वयंयमायुषो वज्रपेभनाराचसंदर्शनिनः समचतुरस्रसंस्थानाः अतुष्यष्टिपुष्टकररुद्रातिरुमभोजिनः एकोनाश्रितिदिनान्यपत्यपालकाः । उक्तं च " गावयसुष्णापाल-छां-वमावणो वज्रजित्सहस्रसंघयणा । हेमवप रम्ववप, अर्हामि-दन्तरा मिद्रुणवासी ॥ १ ॥ अतुष्यष्टिपुष्टकर-रयाणमपुष्याय-तेसिमाहारा । जसस्स स्वत्थस्से-गुणसिहदिणवधपाल-णया ॥ २ ॥ पञ्चसु हरिवपेषु पञ्चसु रम्यकवपु द्विपव्योपमा-युषो दिगुणसिप्रमाणशरीरोच्छ्रया वज्रपेभनाराचसंदर्शनिनः समचतुरस्रसंस्थानाः षष्ठ्यनकातिकमाहाराणि ॥ १ ॥ १ ॥ अत्रिभ्यो-धिकशतसंख्यपुष्टकराणकाश्चतुष्यष्टिदिनान्यपत्यपालकाः ( आ-इ च " हरिवासरम्यसु, आठयमाणं सरीरमुसुंदो । पत्तिशो-वमाणि दोक्षि य, शोषि य कोसुसिसया भजिया ॥ १ ॥ अटस्स य आहारां, अउसट्टिदिणाणि पालणा तेषि । पिट्टकरंरालुसयं, अ-टावां सं मयेयव्वं ॥ २ ॥ पञ्चसु देवकुरुषु पंचस्वरकुरुषु त्रिपल्या-पमायुषो गच्छतिप्रमाणशरीरोच्छ्रयाः समचतुरस्रसंस्थाना वज्रपेभनाराचसंदर्शनिनः पदपञ्चादधिकशतसंख्यपुष्टकररुद्राका अष्टमनकातिकमाहाराणि एकोनपञ्चाशदान्यपत्य-पालकाः । तथोक्तं च " दोसु वि कुकुरु मणुष्या, तिपट्टपरमरासे- तिकोसुच्चा । पिट्टकरंरसयादि, दोउपयाइ मणुष्याय ॥ १ ॥ सुसमसुसालुणंजाव, अगुभयमणाणवकवणोवया । अठया- पञ्चदिणां, अट्टमजसस्स आहारां ॥ २ ॥ एतेषु स्वधेष्यपि हेमवपन्तराणीष्विव मनुष्याणामुपयोगाः कल्पद्रुमसम्पादिताः नवरमन्तरादीपापवधया पञ्चसु हेमवपेषु मनुष्याणामुत्थानब-हर्षादीयादिकं कल्पपादफलानामास्वादीं जूमामोषुधोमयेयमा-दिका भावाः पश्यानिचिकृत्यान्तगुणा रुद्रव्याहः त्रयोपि पञ्चसु हरिवपेषु पञ्चसु रम्यकवपेषु अमन्तरास्तेऽप्योऽपि पञ्चसु देव-कुरुषु पञ्चस्तरकुरुष्वन्तगुणाः । प्रहा० १ पद । जी० । आ० म० ६ उ० । एषां कल्पवृक्षाः-

अकम्मभूमिगाणं मणुआणं दसविहा रुक्खा उवजोगत्ताए उवत्थिया य पणुत्ता । तंजहा-मर्तगया य अंगा, तुनि-अंगा दीव-नोइ-विचंगा । विचरसा मणिअंगा, गेहामारा अणगिया य ॥

तथा अकर्मभूमिकानां मोगजुमिज्जमनां मनुष्याणां द्वाविधा ( रुक्वति ) कल्पवृक्षाः ( उषभोगत्ताएत्ति ) उषभोग्मत्तयाय

( उच्यथियत्ति ) उपस्थिता उपनीता इत्यर्थः । तत्र मत्साङ्गकाः मद्यकारणच्युताः ( निगिति ) भाजनकारिणः ( तुभियंमत्ति ) तुयाङ्गसम्पादाकाः ( दीवत्ति ) दीपशिखाः प्रदीपकार्यकारिणः ( जोरति ) ज्योतिरभितस्तकार्यकारिण इति ( चिंमंगत्ति ) चिन्नाङ्गः पुष्पदायिनः चित्ररत्नाः भोजनदायिनः मगयङ्गा आजर-पदायिनः मेधाकाराः अन्ननयनोपकारिणः अनन्तत्वं सत्वत्त्वं तदन्तुत्वादनन्ता इति, स० १० सम० ।

अकम्मज्जमि-अकर्मज्जमि-खी० न० ७० एवापि कर्मरहितताः । क-  
ल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयो हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चक-  
देवकुपञ्चकोत्तरकुपञ्चकस्यकस्यकस्यकस्यकस्यकस्यकस्यकस्यकस्यकस्य-  
शदकर्मज्जमयः । न० १ । इत्येतासु जोगज्जमिषु, प्रथम० अथ० ५  
ह्यो । स्या० । प्रथ० ।

जंबुद्वीपे दीवो मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तत्रो अकम्म-  
भूमिओ पम्पत्ताओ तंजहा-हेमवप हरिवासो देवकुरा । जंबुदी-  
वे दीवो मंदरस्स उत्तरंणं तत्रो अकम्मभूमिओ पम्पत्ताओ  
तंजहा-उत्तरकुरा रम्मगवासे परभवप (स्था० ३ उ० ४ उ०)  
जम्बुद्वीपे दीवो देवकुरा उत्तरकुपञ्चकाओ चत्तारि अकम्मज्ज-  
मिओ पम्पत्ताओ तंजहा-हेमवप हेमवप हरिवासो रम्म-  
गवासे, स्था० ४ उ० ।

सर्वसङ्घे ।

जंबुद्वीपे दीवो अकम्मभूमिओ पम्पत्ताओ । तंजहा-हेमवप  
हेरमवप हरिवासो रम्मगवासे देवकुरा उत्तरकुरा । धापत्त्वं द-  
दीवपुरच्छिमकेणं अकम्मभूमिओ पम्पत्ताओ । तंजहा-हेम-  
वप जहा जंबुदीवे तहा जाव अंतरण्णंओ जाव पुक्खरवरदीव-  
हे पत्थियमके भाणियव्वं (स्था० ६ उ०) कइविहेणं जंते ।  
अकम्मभूमिओ पम्पत्ताओ । गोयमा । तीमं अकम्मज्ज-  
मीओ पम्पत्ताओ, तंजहा पंच हेमवयाइं पंच हेरमवयाइं ।  
पंच हरिवासाइं पंच रम्मगवासाइं पंच देवकुराइं पंच उत्तर-  
कुराइं एयामु णं भंते ! तीसासु अकम्मज्जमिषु अत्यि  
उस्सपिण्णंति वा ओसपिण्णंति वा ? णो इण्णं समत्ते ।  
भ० १० श० ८ उ० ।

अकम्मज्जमिय-अकर्मभूमिज-पुं० अकर्ममिषु जाता अकर्म-  
भूमिजा गभंजमनुपभेदपु, नं० ।

अकम्मज्जमिआ-अकर्मज्जमिजा-खी० अकर्मज्जमिओगमि-  
स्तत्र जाता अकर्ममिजा जोगज्जमिजगभ्यन्त्यात्तिकमनुष्य-  
स्त्रीषु, स्था० ३ उ० १ उ० ।

से किं तं अकम्मज्जमियाओ अकम्मज्जमियाओ तीसति-वि-  
धाओ पम्पत्ताओ । तंजहा-पंचसु हेमवपसु पंचसु हेरमवपसु  
पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरुसु पंचसु  
उत्तरकुरुसु सेचं अकम्मज्जमिगमपुस्सीओ । जी० १ प्रति० ।  
अकम्मया-अकर्मता-खी० कर्मणामभावे, अस्याः फलं यथा-

अहाठयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तावसेसाउए जोगनिरोइं  
करेमाणे सुट्टमकिरियं अप्पदिवाइयं मुक्कजाणं भायमाणे  
तपट्टमयाए मणजोगं निरंभइ मणजोगं निरंजइत्ता बइजोगं

निरंभइ बइजोगं निरंजइत्ता कायजोगं निरंभइ कायजोगं  
निरंभइत्ता आणपाणनिरोइं करइ आणपाणनिरोइं  
करइत्ता इस्सि पंच रहस्सवल्लरक्काएयणं आणारं समु-  
च्छिन्नकिरियं अणियट्टइ मुक्कजाणं जियायमाणे वेय-  
ण्णंजं आउयं नाम गोंयं च एए चत्तारि विकम्मसे सुग-  
वं खवेइ ॥११॥ तत्रो आराद्धियकम्माइं च सव्वाइं विप-  
जट्टसाहिं विपजट्टित्ता उज्जसेदी पत्ते अफुसमापागई उठ्ठं  
एगसमएणं अविगग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवठत्ते सिज्जइ  
बुज्जइ मुबुइ परिनिव्वाएइ सव्वज्जलाए अंतं करइ ॥१२॥

शैलेत्यकर्मताहारमयतो ध्याविष्यत्सुराह ( अदिति ) केच-  
ला उवाच्यनन्तरमायुक्तं जीवितमन्तमुहूर्त्तविपरिमाणं पाल-  
यित्वा अन्तमुहूर्त्तपरिमाणः अथका कालोऽन्तमुहूर्त्तकालो वशेषे  
मुहरितं यस्मिंस्तदन्तमुहूर्त्तकालावशेषेण । तथाविधमायुस्तेति  
अन्तमुहूर्त्तकालावशेषेणायुक्तः सन् पाठान्तरतस्मान्मुहूर्त्तकालो-  
वायुक्तः । पठन्ति च “ अंतोयुहुत्तअद्वाधसेसा ” इति प्राकृ-  
तत्वाद् अन्तमुहूर्त्तकालोवाद्वायु ( जोगनिरोइं करेमाणिष् )  
योगनिरोइं करिष्यमात्रः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपत्तनशीलमप्रति-  
पात्यधःपतनाभावात् शुक्लव्याप्तं “समुदायेषुहि प्रवृत्ताः श-  
ब्दा श्रव्यवेच्छिप्य वर्तन्ते” इति युक्तो ध्यानतृतीयदेवः ध्याय-  
स्तत्प्रथमतया तदाद्यथा मनसो मनसोः मनोयोगः मनोद्रव्य-  
साधिव्यज्जनितो व्यापारस्तं निरुण्जि । तत्र च पर्याप्तमात्रस्य  
संज्ञिनो जघन्ययोगिनो धावन्ति मनोद्रव्याणि तज्जनितस्य या-  
वान् व्यापारस्तदसंबन्धगुणविहीनानि मनोद्रव्याणि तच्चापारं  
प्रतिशमयं निरुण्जन् तदसंबन्धेयसमर्थैस्तत्सर्वनिरोइं करोति ।  
यत् उक्तम् “पज्जत्तमिससधि-स्तजसियाइं जइधजोगिस्स ।  
हीति मणोइव्वाइ, तव्वावाणं य जम्मसो” ॥ तयसंबन्धगु-  
णविहीणे, समए २ निरंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोइं, कु-  
णइ असंबन्धजसमएहि ” तदनन्तरं च धावो वाचि वा योगो  
वायोगो भायाद्रव्यसाधिव्यज्जनितो जीवव्यापारस्तं निरु-  
ण्जि तत्र च पर्याप्तमात्राद्गिन्द्रियजघन्यवागयोगोपर्यायेभ्योऽसं-  
क्यगुणविहीनास्तत्पर्यायान्समये २ निरुण्धन्नसंबन्धेयसमयेः  
सर्ववायोगं निरुण्जि । यत् उक्तम् “ पज्जत्तमैश्वरिये, जइ-  
धवइजोगपज्जवा जे उ । तवसंबन्धगुणविहीणा, समए २ निरं-  
भंतो । सव्ववज्जजोगइं, संखाएइहिं कुणइ समएहिं ।  
आणपाणनिरोइं, पट्टमसमओयसुहुमपणमणि ” आणपा-  
णाहुत्तुसासिः भ्वासो तन्निरोइं करोति सकलकाययोगनि-  
रोधोपलक्षयं चैतत्तं च कुर्वन् प्रथमसमरोपसमुद्गमपनक-  
जघन्यकाययोगतोऽसंबन्धेयगुणहीनं काययोगमैकैकसमये  
निरुण्धन् देहाभिमाणं च शुद्धन्नसंबन्धेयसमयेरेव सर्वं निरुण्-  
जि । उक्तं च । “ जो किर जइधजोगो, संबंज्जगुणहीणमि  
इकिंके । समए निरंभमाणो, देहाभिमाणं च मुञ्चंतो । कंभइ  
सकायजोगं, संखाएइहिं चैव समएहिं । तो काययोगनिरोइो,  
सेलेसीभावणमिति ” इत्थं योगत्रयनिरोइं विषया ( इति-  
प्ति ) इंपदिति स्वल्पप्रयत्नोपलया पञ्चानां ह्रस्वाक्षराणां  
अइउरुत्तदर्थेयं कपाणामुच्चारो भणन् तस्माद्वाक्ताडो वावता  
वच्चायन्ते इत्यपञ्च, ह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्वा तस्यां च (गमिति) प्रा-  
वत्त अनगारः समच्छिन्नोपरत्ता क्रिया मनोव्यापारादिकया य-  
स्मिंस्तत् समुच्छिन्नक्रियं न निवर्तते कर्मकृत्यान् प्राणित्येवंशी-

समनिवर्तिं ह्युक्तध्यानं चतुर्भेदरूपं ध्यायन् वैशैल्यवस्थामनुभवद् इति भावः । ह्रस्वाङ्काराभारणं च न बिलम्बितं इतं वा किं तु मयमेवैव गृह्यते, यत आह । " ह्रस्वसम्भाराई मज्जे-ण जेण कालेण पंच भवति । अच्यति सेत्थेसिगतो, तत्तियमित्तं ततो कालं " एवंविधोऽयः कुरुते तदाह वेदनीयं शातादि आरुष्यं मनुष्यायुर्नाम मनुजगत्यादि गोत्रं चोष्णोत्तमं (एषत्) एतानि चत्वार्यपि (कम्मं सेत्ति) सत्कम्माणि युगपद् कृपयति एतत्तुल्यएण्यायश्च भाव्यगाथाभ्योऽवयवस्ताराचैताः "ते संखे-ज्जगुणाए, सेढीए यरइयं पुरा कम्मं । समए २ खय्यं, कम्मं सेवे-सिकात्तणे ॥ सव्वं खवेइ इं तुणए, निह्वियं किंचित्चुचरिमसमए । कि-च्चिखं होइ चरिमे, सेत्थेसोएत्तयं वोच्चं ॥ मणुएणइजायतत्तवा-परं प जत्तण्णत्तजगमाएच्चं ॥ अणयरेवेयणिच्चं, नराउत्तमुच्चं जसं पांमं ॥ संखभभो जिणुणांमं, नराणुपुब्बोयचरिअसमयंमिं । सेसा जिण-संताऊ, चुचरिमसमयमिं दिट्ठंति " तत इति वेदनीयादिङ्गायानन्तर (श्रौतस्मृत्यकम्माहं च त्ति) श्रौतिककार्मण्ये शरीरं उपलक्षणोक्तं जसं च (संख्यादि विषयजहासाहंति) सखोभिर-शेषाभिर्विशेषेण विविधं वा प्रकृतो देहजन्मस्थानो विप्रहाण-यो व्यक्तव्येकं बहुवचनं ताभिः किमुक्तं भवति संबंधा परिशा-देन न तु यथापूर्वं संघातपरिशादाज्यां देशान्त्यागः ( विष्य-जडिक्का ) विशेषेण प्रहाय परिशादाः उक्तं हि "अंतरालियाहं सत्त्वा, चयइ विष्यजहसाहं अं भणियं । नीसेसतयाण जहा, देसत्तयाण सो पुत्तिव " चशब्दोऽत्र श्रौतिकान्तिनामिदं कृत्स्न-स्थामनुक्तमपि सम्बन्धिनाति यत उक्तम् " तत्सेत्तयिया-भासा, प्रवृत्तं च विणियत्तए जुगयं । सम्भसणएत्तंसेण, सुइत्ति-जहाणामोत्तणं " अत्रुत्तरका अणिराकाशप्रदेशपङ्क्तिं प्राप अत्रुत्तणित इति यावत् (आकुसुममाणवत्सि) असृष्टप्रतिनि-तनायम यं यथा सर्वानाकाशप्रदेशात् स्पृशत्यपि तु यावत्सु जीवो-ऽवगाहस्तावत् एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमसमपि प्रदेश-मूर्ध्वमुपयंकसमयेन द्वितीयादिसमयान्तराऽस्पृशनेनविधेयं वकगतिरुपयिप्रहाभाविनं अन्वयव्यतिरेकाच्चायुक्तोऽधः स्पृ-तरां जघतीत्यनुत्तणप्राप्त इत्यनेन गतार्थवेऽपि पुनरभिधानं तत्राति विवाङ्कितं मुक्तिपदं इति यावत् ( गंतैत्ति ) गत्या साका-रोपयुक्तो हानोपयेयगवान् सिष्यनीत्यादि यावदन्तं करोतीत्या-दि प्राग्भूत् । उक्तं च " अत्रुत्तएत्तं पडियन्तो, समयएत्तंरतं अकुसुमाणां । एगममएण सिउअइ, अहसागारावत्ततो सो " इति अणमर्तिसूत्रार्थः । इह सूत्रेणूनः "सेत्थेसो अं भंते ! जीवे किं जणयइ अकम्मं जणयइ अकम्मायांओ जीवा सिज्जेति" इति पाठः पूर्वत्र च क्वचित् किंचित्पाठं नदेनात्वा एव प्रश्ना आश्रिताः अस्माभिस्तु भूयसीयु प्रतिपु यथाव्याख्यातपाठदर्थ-नादिदृश्यतीतिमिति । उक्तं २१ अ० ।

**अकम्हा ( म्हा ) - अकम्मात् - अत्र ० न कस्मात् किञ्चित्कार-**  
णाधीनत्वं यत्र । अत्रुत्तसमासः वाच० । 'एदमइमप्पसमहां इहः' ट । २ । ७३ । इति सूत्रेण स्मेति भागस्य मकागक्रान्तो हकारः प्रा० । अथवा मगधदेशे गोपात्रसालावलादिप्रसिद्धोऽकम्मा-दिनि शब्दः । स इह प्राक्तेऽपि तथैव प्रयुक्तः । इथा० २ टा० । कारणाधर्षितं, अनर्कितोपनेन वा, बाहानिभिसानपेक्के, इथा० १ टा० । अनभिसन्धे, प्रश्न० संब० ५ टा० । प्राचा० ।

**अकम्हा ( म्हा ) किरिया - अकम्मात्किरा - क्री० अन्वस्मै नि-**  
ष्टेन शरादिनाऽन्यथागतज्ञेये चतुर्थं किरास्थानं, ध० ३ अधि० ।

**अकम्हा ( म्हा ) दंड - अकम्माहएउ - १० अकम्मावन्नि-**  
सन्धिनाऽन्यथाधर्मयुक्त्या इष्टतोऽन्यस्य विनाशोऽकम्माहृद-  
एकः । स० १३ सम० । अन्ववधाद्यप्रहारो मुक्तेऽन्यस्य बधलकणे  
चतुर्थं दण्डे, इथा० ५ टा० २ व० । प्रश्न० । प्रश्न० । भाव० ।

**अकम्हा ( म्हा ) दंभवत्तिय - अकम्माहएउप्रत्ययिक - न० अ-**  
कम्माहएउः प्रत्ययः कारणं यस्य । चतुर्थं दण्डसमादाने,

आहावेरं चत्तये दंभवत्तयादाणे अकम्मादंभवत्तियएत्ति आ-  
हिज्जइ से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंति वा जाव वण-  
दुग्गंसि वा मियवत्तिए मियसंकपे मियएणह्राणे मियवहा-  
ए गंता एए मियात्ति काउं अन्नययस्स मियस्स वहाए इमुं-  
आयामेत्ता एणं पिनेरिजाा स मियं बडिस्सामित्तकट्टं तिचि  
रं वा वट्ठं वा चरुगं वा ज्ञायगं वा क्वयोयं वा कविं वा  
कविजलं वा विपिता जवइ इह खलु से अन्नस्स अचाए  
अम्मं फुसति अकम्मादं ॥ १० ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे  
सालोणि वा बीहीणि वा कोइवाणि वा कंगुणि वा पर-  
गाणि वा रालाणि वा पिलिज्जाणे अन्नययस्स तणस्स  
वहाए सत्तयं णिसिरेज्जा मे सामगं तणगं कुमुट्टं वीहीऊ  
सियं कलेसुयं तणं टिदिस्सामित्तकट्टं सात्ति वा बीहिं वा  
कोइवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिदिता भवइ इति  
खलु मे अन्नस्स अचाए अन्नं फुसति अकम्मादं एवं खलु  
तत्पत्तियं सावजं आहिज्जइ चत्तये दंभवत्तयादाणे  
अकम्मादंभवत्तिय आहिए ॥ ११ ॥

अकम्मादं चतुर्थं दण्डसमादानमकम्माहएउप्रत्ययिककम्मास्था-  
यते । इह चाकम्मादित्यर्थं शब्दो मगधदेशे सर्वसाध्यागोपा-  
लाङ्कादिना संस्कृत एवाचार्यत इति । तदिहापि तथाभूत-  
एवोच्चारित इति । तद्यथानाम कश्चित्पुरुषो लुब्धकादिकः  
कच्छे वा यावद् वन्दुर्न वा गत्या मूर्ध्वैरिरोत्तादव्यपशुनिर्भूत्सि-  
र्वर्षेन यद्य स मृगवृत्तकः स चैवंभूतः मृगंयु संकलपो यस्या-  
सौ मृगसंकल्पः । एतदेव दर्शयति । मृगंयु प्रथियामानन्तःकर-  
णवृत्तियस्यासौ मृगप्रथियानः क मृगान्दृश्यामीत्येतदन्वय-  
सार्थी सन् मृगवधाय कच्छादिपु गन्ता भवति । तत्र च गतः  
स दृष्ट्वा मृगान्ते मृगा इत्येवं कृत्वा तेषां मध्येऽन्यतरस्य मृगस्य-  
वधायैमित्तं शरम् (आयामेत्तत्ति) आयामेन समाकृष्य मृगमु-  
द्दिश्य निरुजति स चैवंसंकलो भवति । तथाऽहं मृगं मृगं  
ध्यामीति इपु क्षिप्तम् । स च तेनपुरुणा तित्तिरादिकं पालवि-  
शेषेण व्यापदयिता भवति, तदेवं खल्वसावन्वस्यार्थाय नित्तो  
दण्डो यदाप्यं स्पृशति घातयति तदा 'अकम्माहएउ' इत्यु-  
च्यते ॥ १० ॥ अत्रुता वनस्पतिमुद्दिश्याकम्माहएउ उच्यत  
( सं जहत्यादि ) तद्यथानाम कश्चिदुत्तुवः कृषीवलादिः शा-  
ल्यादेषोऽन्यजानस्य श्यामादिकं तृणजातमपनयन् धान्य-  
शुद्धिं कुवाणः सन् अन्यतरस्य तृणजातस्यापनयनार्थं शक्यं  
दात्रादिकं निरुज्जेत् स च श्यामादिकं तृणं श्लेन्स्यामीति कृ-  
त्वाऽकम्माहृत्ति वा रालकं वा छिदाद्गृहणीयं यथासावक-  
म्माहृत्तेना भवति । इत्येवमन्यथाधोऽन्यकृतेऽन्यं वा स्पृश-  
ति क्षिन्ति । यदि वा स्पृशतीत्यनेनापि परितापं करोतीति द-

शैथिली । तदेवं अलु तस्य तत्कर्तुंस्तत्प्रत्ययिकमकम्पाहृदइनि-  
मित्तं सावधमिति पापमापीयते संबद्धते । तदेतच्चतुर्थेदृष्ट-  
समादानमकम्पाहृदप्रत्ययिकमाख्यातमिति ॥ ११ ॥ सूत्रं  
२ क २ अ ० ।

अकम्पा ( म्पा ) भय-अकस्यान्नय-न० अकस्मात्वे च बाह्य-  
निमित्तानयकं युहादिभ्ये च स्थितयस् रात्र्याौ भयमकस्माद्-  
यम्, आच० ४ अ० । स्था० । बाह्यनिमित्तनिरपेक्षे स्वविकल्पा-  
ज्ञाते भयमेद्रे, स० उ सम० । आ० चू० नि० चू० । अकस्मात्सह-  
सैव विश्रब्धस्थातेष्वनिश्रवणाद्भयमकस्माद्भयश्च । यथा हस्त्या-  
गणत्तीत्यादिश्रयणात् । उच्चसनम्, वर्यो ।

अकृत्-अकृत-त्रि० कृ कर्मणि कः । न० त० । कृतजिने, अग्न्यधा-  
कृने, बलपूर्वकृते, अणलेष्यपत्रादौ, साधर्थं दायकमे पाकतोऽ-  
विहिते, प्रअ० सच० १ द्रा० । अकयमकारियमसंकीर्णयमणा-  
हुव " न० उ द्रा० १ उ० । एकदेशग्रहणेन ग्रहणात् । अकृ-  
तकरये, अयुहीतमायश्चित्, व्य० १ उ० । जावे क० । अमावाये,  
न० त० करणाभावे, निवृत्तौ, वाच० ।

अकयकरण-अकृतकरण-पुं० यष्टाष्टमादिजिस्तपोविशेषैरप-  
रिक्तिं तशरीरे, प्रायश्चित्तस्योप्येव्युपनेद्रे, व्य० १ उ० । "अ-  
कयकरणाप्यं वृद्धिवा, अदिगथा अणदिगथा य बोधव्य" अ० १  
उ० । अकृतकरणा द्विविधाः । अदिगता अनधिगताश्च । तत्र ये  
अयुहीतयुवाधोस्ते अनधिगताः । युहीतयुवाधोस्ते अधिगताः,  
व्य० १ उ० ।

अकयमुष्-अकृतकृ-त्रि० कृतमुष्कारं परसंबन्धिनं न आनाती-  
त्यकृत्कः, स्था० ४ टा० ४ उ० । क्रा० । क० । असमर्थे स० ।  
कृतापकारास्मारके कृतव्र, वाच० ।

अकयमुष्पा-अकृतकृता-स्त्री० अकृतकृत्स्य प्राचस्तत्पा । कृतप्र-  
तायाम्, "चउहिं उरोहिं संते गुणे णासेज्जा तज्जा-कोहेणं प-  
निःणियसंण अकययणुयाप मिच्छुत्तादिहिणसंवेत्तं" स्था० ४  
जा० ४ उ० ।

अकयपुष्-अकृतपुष्प-त्रि० अविहितपुष्पे, विपा० १ पु० ७  
अ० "अकयपुष्पं जगमणोरहा विवंचित्तिस्त्रमाणी" क्रा० ५ अ० ।

अकयप ( ण् )-अकृतात्पन-त्रि० अयतन्त्विच, "सुखमात्प-  
निकं यत्तद्, बुद्धिप्राप्तमतीन्द्रियम् । तं हि मोक्षं विजानीयाद् बु-  
ध्प्राप्तमकृतात्मनिः, स्या० ।

अकयमुष्-अकृतमुष्-त्रि० अकृतमङ्गरसंस्कारेणसंसृष्टं मुष्ं  
यस्यासावकृतमुष्ः अपठितशिक्षिते, "पोत्यगवचयपठियं, किं  
रुसे पसं बुध्च अदिशायं । अकयमुष्पसगमाणय-जाते सि-  
क्षन्तं पंचमाः" वृ० ३ उ० ।

अकयसमाचारीय-अकृतसमाचारीक-पुं० उपसंपदविषयाया  
मण्डलविषयायाश्च द्विविधया अपि समाचार्या प्रकारके,  
वृ० १ उ० ।

अकपमुष्-अकृतभुत्-पुं० अनीतार्थे-व्य० ६ उ० । अयुहीतो-  
चित्तस्यार्थे, तदुभये, व्य० ४ उ० ।

अकरंरग-अकरारक-त्रि० अकरारको बंधप्रधितः समतलक-  
स्तवेषवाकारो यस्य तत्करारकम् न करारकमकरारकम्, अ-  
शौ० करारककारारहिते शौभे, समचतुरस्रे, वा "अकरारयंभि  
भागे, इत्थो षकं अहा न पठेत्ति" वृ० ३ उ० ।

अकरंरुय-अकरारुक-त्रि० अविद्यमानं मांसलतया अनुपस-

ह्ययमाणं करारकं पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्यासौऽकरारकः ।  
शौ० ३ प्रति० । मांसलतयाऽनुपसहयमाणपृष्ठवंशास्थिक,  
शौ० । मांसोपचितत्वादिद्यमानपृष्ठपाशोस्थिके, तं० । प्रअ० ।  
" अकरंरुयकणगमरुयगणिमससज्जायिनिवहयदेहधारी "   
शौ० ३ प्रति० ।

अकरण-अकरण-न० । क० प्रावे व्युद्, अर्थाजावे, न० त०  
अन्वापारे, आचा० १ पु० ५ अ० । १ उ० । अनासेवने, आच० ।  
६ अ० । पञ्चा० । परिहरणे, आ० चू० १ अ० । अकणान्यन्कृ-  
रणं भेयः । अकरणं च न्यायादिभेदे करणाभावः, भीमांसकवेदा-  
न्तिभेदे निवृत्तिः, अकरणीये मैत्रुने, "अह संवेतअकरणं, पंचणहं  
विबाहिरा हुति" व्य० ३ उ० । संस्कारहीनताक्ये, साधन ( हेतु )  
दोषे, यथाऽमित्यः शब्दः कृतकत्वस्मादिति । अत्र कृतकत्वादिति  
वक्तव्ये कृतकत्वस्मादिति संस्काररहितोऽप्युच्य उक्तः ।  
रत्ना० ८ परि० ।

अकरणया-अकरणात्-स्त्री० करणनिषेधकपतायाव, अ० १ उ०  
१ उ० " अकरणयाप्य अकृतदिस्य " न पुनः करिष्यामीत्यनु-  
पस्थानुमज्युपगनुमिति, स्था० २ जा० १ उ० । अनासेवनायाव,  
अ० ३ अधि० । "सज्जायस्स अकरणयाप उमभो कातं"   
आच० ४ अ० ।

अकरणयो-अकरणतम्-अव्य० अकरणमाभियेत्यर्थः । अकृवन्त  
इति यावत्, " अकरणयो नो सातुक्त्वा " म० १ श० १ उ० ।  
अकरणणियम्-अकरणनियम्-पुं० अनासेवननियमे, "अ-  
संमज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंज्ञयः सवैतोऽस्मादकरणो, नि-  
यमः पापगोचरः" । द्रा० २० द्रा० ॥

अकरणि-अकरणि-स्त्री० नञ् । कृ. आकोशे अतिः । करणं मानू-  
दित्याकोशात्मके शोणे, "तस्याकरणिरवास्तु" इति, वाच० । प्रअ० ।  
अकरणिजि-अकरणि-ए-स्त्री० न० त० सामान्येनाकसंभवे, आच०  
४ अ० । आ० चू० "इच्छामि पतिक्लमिं, अकण्यो अविरादिभो  
अकरणिजो" आच० ४ अ० । अकसंभवे, इहसोकरलोकिवि-  
रुद्धाश्चकार्ये, आचा० १ पु० १ अ० उ० । "अप्याणं  
अकरणिजं पापकम्मं तं णो अण्वेत्ती" आचा० १ पु० ५ अ०  
३ उ० । असत्ये, "मिच्छति वा वितहसि वा असंभंति वा  
असंभयंति वा अकरणीयंति वा एगद्वा," आ० चू० १ अ० ।  
अकरणोदय-अकरणोदय-त्रि० भाविकालमाभियाकरणावैवो-  
दयो यस्मिंश्चित् तस्या ( अनाते ) कालोऽकरणविवेदोदयं प्रा-  
प्यति । "उत्थाने विवेदात्, करणमकरणोदयं सदैवास्याः "   
यो० १ उ० वि० ।

अकरलं-अकरल-पुं० विद्वद्भेदे, अकरलंन्याह-द्विविधं प्रत्यक्ष-  
ज्ञानम् । सांख्यवहारिकं मुख्यं च, इत्यादि न० त० कर्मरूढरहिते च, त्रि०  
अकरलुण-अकरल-त्रि० नास्ति करुणा यस्य यत्र वा, दैत्यशून्ये  
च, वाच० । निदोषे, प्रअ० आअ० ३ चो० ।

अकरलुष्-अकरलुष्-त्रि० न० ब० क्रोधादिकालुष्यरहिते, अणु०  
श्रेयर्जिते, अन्त० ७ धर्माः ।

अकसाइ ( नू )-अकसायिन्-पुं० कषाया विघ्नते यस्यासौ  
कषायी न कषायी अकषायी, सूत्रं १ पु० ६ अ० । आचा० । कषा-  
योदयरहिते, प्रहा० ३ पव ।

अकताप-अकषायि-त्रि० कषायरहिते, "अकषायं अहकषायं,

कुवमयस्स जिणस्स वा" । उचं ० १८ अ०। अकसायाः अशान्त-  
मेहाह्वयश्चरारः सिखात्त, स्थां ० ४ डां ।

अकसिए—अकृत्स्न—वि० अपरिपूर्णं, प्रति० । पञ्जां ।

अकसिएपवस्य—अकृत्स्नपरवतेक—पुं० अकृत्स्नपरिपूर्णं संयमं  
प्रवस्यति विवधति येतया । देशविरते, "अकसिएपवस्यया-  
य, शिरयाविरपाण एव अरु जुत्तो" । संसारपयलुकरणे,  
दव्यथयपकूबहिरंते० ॥ पञ्जां ० ६ विष० ।

अकसिएसंजम—अकृत्स्नसंयम—पुं० देशविरते, प्रति० ।

अकसिएसंजमवत—अकृत्स्नसंयमवत—पुं० देशविरतमिति आके ।  
"किं योग्यत्वमकृत्स्नसंयमवतां, पूजासु पूज्या जगुः, प्रति० ।

अकसिपा—अकृत्स्ना—स्त्री० चतुर्थे आरोपणाभेदे, स्थां० ५ डां०  
२ उ० । यस्यां चामासाधिकं ओष्यते तस्यां हि तद्वतिरिक्त-  
तादेनानापरिपूर्णत्वादिति, स्थां० ५ डां० ३ उ०। व्यं० वि० चू०।

अकृत्स्ना—अकृत्स्ना—स्त्री० मिथ्यादिना अज्ञानिना शिङ्गस्थेन वा  
गृहिया कथ्यमानायां कथायाम् । तद्धुक्कणम् ।

मिच्छं वयेतो, अं अत्राणीं कर्हं परिकेहेइ ।

सिंगत्यो व गिही वा, सा अकृत्सा देसिया समए ॥१२१॥

मिथ्यात्वमिति । मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म वेदव्य विपाकेन यां कां-  
चित् अज्ञानी कथां कथयति । अज्ञानित्वं चाऽप्य मिथ्यादिप्रत्यय-  
यद्येवं नाथोऽज्ञानिप्रवृत्तेन मिथ्यावेदकस्याज्ञानित्वाव्यभिचारवि-  
दिति चक्षुः प्रदेशानुभववेदकेन सम्यक्दिना व्यभिचारमिति । किं-  
विशिष्टोऽसावित्याह—शिङ्गस्थो वा च्यपमज्जितोऽज्ञानमर्मादिः  
गृही वा यः कश्चिदितर एव । सा एवं प्रकफप्रयुक्तकथा श्रोत-  
र्यैषि प्रहाणकृत्यपरिणामनिवन्धना कथा देहिता समये । ततः  
प्रतिविशोऽकृत्स्नाकृत्स्नाज्जायते गिथार्यः ॥१२१॥ दश० अ०।  
अकाइय—अकायिक—पुं० नास्ति कायः ( औदारिकादिः पृथि-  
व्यादिपरकायस्तदन्वो वा ) यथां ते अकायास्त एवाकायिकाः ।  
सिंक्षु, ज० ८ श० २ उ० ।

अकाम—अकाम—पुं० कमनं काम इच्छा, न कामोऽकामः॥ अवि-  
च्छायायाम्, सूत्रं २ श्रु० ६ उ०। उपरोपशोभितायाम् " तं च हुञ्ज

अकामेणं, विमणेणं पत्तिच्छियं" दश० ५ अ० ६ ख० । इच्छाम-  
दनकामरहिते, आचा०। निजराचनभिलाषिणि, निरभिप्रायं, अ०

१ श० १ उ० । मोक्षे च, तत्र सकृत्सामिलापनिवृत्तेः । उचं० १५ अ०

अकामअइहाणुग—अकामाभिनानक—पुं० अकामज्ञानरहिते,  
"अकामअइहाणुगसीयायवेस्समसगसेयज्जमल्लुपंपकपितायां"

अकामानामञ्जानादिभिर्भेः परितापः परिदाहः स तथा । अका-  
मां येऽस्नानकाद्यस्तंभेभ्यो यः परिदाहः स तथा निजराचनभिला-  
षिणापमस्नानादिभिः परितापं, औ० । अस्नानादिभिः परिदाहः,  
निरजिप्राये वा, अ० १ श० १ उ० ।

अकामकाम—अकामकाम—वि० कामानिच्छामदनकामभेदान् काम-  
मयते प्राप्यते यः स कामकामो न तथा अकामकामः॥ न विद्यते

कामस्य कामोऽभिलाषो यस्य स अकामकामः कामानिहाय-  
रहिते, अकामो मोक्षाभिलाषयत्र सकृत्सामिलापनिवृत्तेः, तं

कामयते यः स तथा (मोक्षाधिनि) " संपद्यं जहेज्ज अकाम-  
कामे" उचं० १५ अ० ।

अकामकिञ्च—अकाममकृत्युत्त—वि० कमनं काम इच्छा न कामो-  
ऽकामस्तेन इत्यर्कस्यैव यस्यास्याचकामकृत्यः । अविच्छाकारि-

णि, सूत्रं २ श्रु० ६ अ०

अकामग—अकामक—वि० कर्मणि प्रत्ययः अनभिलषणीयं, प्रत्य०  
आअ० १ श्रु० । कर्तरी एवुक् । अविच्छति, "अकामगं परि-

कम्मं, कोउ ते बारु मरिइति" सूत्रं ० १ श्रु० २ ख० २ उ० ।  
अविच्छन्तं गृहव्यापारेष्वाहितं पराकमन्तं स्वाभिप्रेतानुष्ठानं

कुर्वीतं कस्मात् अवनं चारयितुं विषेधयितुमर्हति योष्यो अवाति  
यदि वा (अकामगंति) चार्कस्यावस्थायां मदनच्छाकाभरहितं  
पराकमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्वामवसरप्राप्तः कर्मणि प्रवृत्तं  
चारयितुमर्हतीति । सूत्रं ० १ श्रु० २ ख० २ उ०। ज्ञां । विषयादि  
वाष्वादिहेते, तं० प्रथन० ।

अकामलुहा—अकामकुधा—स्त्री० निजराचननिहाषिणां प्रथम-  
परिषदसदने, अ० १ श० १ उ० ।

अकामाधिगरय—अकामनिकरण—वि० अविच्छाप्रत्यये, तद्यथा ।

ए एं अंधा मुदा तमपविट्ठा तमपरुलमोइ जालपडिच्छसा  
अकामनिगरणं वेयणं वेदंतीति वचनं सिया इता गोयमा!

जे इम अससिणो पाणा पुदविकाइया जाव वणस्सइकाइया  
उट्ठा जाव वेयणं वेदंतीति वचनं सिया । अत्थि एं भंत !

पचू वि अकामनिकरणं वेदणं वेदेइ इता अत्थि कइएणं भंत !

पचू वि अकामनिकरणं वेयणं वेदेइ गोयमा ! जे एं नो

पचू विना पदीवेणं अंधकारंसि रूवाइं जेणं यो पचू पुर-

ओ रूवाइं अणिज्जाइत्ताणं पासिचए जे एं नो पचू

मागाओ रूवाइं अणवयक्खित्ताणं पासिचए जेणं नो पचू

पासओ रूवाइं अणुलोएत्तां पासिचए पमए अकामनि-

करणं वेदणं वेदेइ अत्थि एं जेने । पचूवि पकामनिकरणं

वेयणं वेदेइ इता कइएणं समुहस्स जाव वेदणं वेदेइ जे एं

नो पचू समुहस्स पारंगमेत्तए जे एं नो पचू पारगयाइं रूवाइं

पासिचए जे एं नो पचू देवलोगं गमिचए जे एं नो पचू दे-

वलोगयाइं रूवाइं पासिचए पस एं गोयमा ! पचू वि पका-

निकरणं वेदणं वेदेइ ।

( अंधयति ) अन्धा इत्यान्धा अज्ञानाः ( मूढति ) मूढास्तत्व-

अज्ञानमिति एत एवोपमयोज्यन्ते ( तमपविच्छति ) तमःप्रवि-  
ष्ट इव तमःप्रविष्टः ( तमपरुलमोइहातमपरुलमोइच्छात्त ) तमः-

पदलमिव तमःपदलं ज्ञानावरणं मोहो मोहनीयं तदेव आजं

मोहजातं तान्त्र्यां प्रतिच्छेत्वा ज्ञानाच्छादिता ये ते तथा ( अकाम-

निगरणं ) अकामो वेदानुभवोऽनिच्छा अमनस्कत्वात्मक एव  
निकरणं कारणं यत्र तदकामनिकरणमज्ञानप्रत्ययमिति भावः ।  
तद्यथा । अवतीत्येवं वेदानं सुखदुःखरूपां वेदनं वा संबेदनं  
वेदन्ययुभवन्तीति अथासंक्षिपिकृमाभिर्याद ( अर्थोऽप्यादि )  
अस्वयं पक्षो यद्युत । ( पचूविचि ) प्रवृत्तौ संक्षिप्त्येन यथाचक्षु-  
रुपादिज्ञान समर्थोऽप्यास्तासंक्षिप्त्येनाप्रमुरित्यपिशुश्रायोः ।  
अकामनिकरणमनिच्छाप्रत्ययमनाभोगात् । अन्ये स्यादुः अका-  
मेनाऽनिच्छया निकरणं क्रियाया इहापेमातिलकृपाया अभावो  
यत्र वेदेन तद्यथा । यद्यथा । अवतीत्येवं वेदानं वेदन्यतीति प्रथमः,  
उचरन्तु ( जेणंति ) यः प्राणी संक्षिप्तोऽप्यास्तदज्ञानं च ह्या-  
दीनां हानादीं समर्थोऽपि ( नोपबुद्धि ) न समर्थः चित्ता प्रदो-  
पेनान्धकारे रूपाण ( पासिचएत्ति ) द्युमेवोऽकामप्रत्ययं

वेद्यतीति संबन्धः ( पुरञ्जोति ) अमतः ( अणिज्ज्ञापसाणंति )  
 अग्निर्ध्यायं चक्षुरध्यायार्थं । ( मगाउत्ति ) । पुष्टः ( अण्वय-  
 किञ्चसाणंति ) अग्नेर्धेय पञ्चान्नाग्नेमनश्नोषयेति अकामनिकर-  
 णवेदनां वेद्यवन्तीत्युक्तमथ तद्विषयंयमाह ( अग्नीध्यामित्यादि )  
 प्रकृतिप संक्षिप्तं च रूपदर्शनसमर्थोऽपि ( एकामनिकरणंति )  
 अकाम ईत्सनायांऽप्रातिः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽजिलाषः । स  
 एव निकरणमिष्टायेसाधकविद्यायामाद्यो यत्र, तत्र एकामनिक-  
 रणम् । तद्यथा भवति एवं वेदानां वेद्यतीति प्रश्नः । अत्रान्तु  
 ( अण्वमित्यादि ) यो न प्रश्नः समुद्रस्य पारं गन्तुं तत्रतद्व्याप्राप्त्य-  
 र्थित्ये स्वल्पे तयाधिषसत्यैकत्वात् तत्र एव च, यो न प्रश्नः  
 समुद्रस्य पारगतानि रुपाणि कुरुं स तत्रतामिलाषातिरेकात्  
 एकामनिकरणवेदानां वेद्यतीति । न० ७ श० ७ उ० ।

अकामिनिर्जरा-अकामिनिर्जरा-स्त्री० अकामेन निर्जरां प्रत्य-  
 नमिलाषेण निर्जरा कर्मनिर्जरेणहेतुर्नुसुखादिसहजं यस्ता अ-  
 कामनिर्जरा । निर्जरा नमिलाषेणैव बुधादिसहजे, स्था० ४  
 डा० ४ उ० । स्त्री० । कर्म० । ( अकामिनिर्जरा असंयता व्यन्त-  
 रेपुपयन्ते इति ' बन्तर' शब्दे व्याख्यास्यामि )

अकामयतद्ग्रा-अकामयतद्ग्रा-स्त्री०निर्जराघनमिलाषिणां सतां  
 लुपि, भ० १ श० १ उ० । स्त्री० ।

अकामयंभवेरवाम-अकामयंभवेरवाम-पुं० अकामानां नि-  
 र्जराघनमिलाषिणां सतामकामो वा निरमिमायो ब्रह्मचर्य्येण  
 कुर्यादपरिभोगाभावमत्रलक्षणेन वासो रात्रौ शयनमकाम-  
 ब्रह्मचर्य्यंशतः । ( फलानमिसन्धिनां ब्रह्मचर्य्यसेवने ) न० १ श०  
 १ उ० । स्त्री० ।

अकाममरण-अकाममरण-न० अकामेन अनीप्सितत्वेन त्रि-  
 यन्तप्रस्मिन् इति अकाममरणम् । बालमरणे, ' बालाणं च अ-  
 कं नतु, मरणं असहं अवे' उत्त० २ अ० । ( ' बालमरण' शब्दे  
 एतद्विपरिच्यते )

अकामिय-अकामिक-त्रि० न० ७ निरमिलाषे, " तथेव सता  
 तंतापरितंता अकामिया " विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अकामिया-अकामिका-स्त्री० अविच्छाद्याम् । " अकामियाय  
 चिषंति दुक्त्वं " प्रश्न० आश० ३ श्रु० ।

अकाय-अकाय-पुं० न० ७ पृथिव्यादिवृष्विधकायविरहिते,  
 स्था० २ डा० ३ उ० । स्त्री० । ( अकारिकादि कायपञ्चकविप्रमुक्ते ( वा )  
 सिद्धे, प्रश्न० १६६ श्रु० । आश० । राहौ, तस्य शिरोमात्रत्वेन  
 कायशून्यत्वात् देहशून्ये, त्रि० वाच० ।

अकारा-अकारक-पुं० ( न करोति भोजने रुचिम् ) मन्त्रेणरूपे,  
 रोगविशेषे, स्था० १ श्रु० १३ अ० । उपा० अण्व्ये, स्त्री० ।  
 [ अकरोति ] त्रि० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अकारगवा- ( ष ) -अकारकवादिन्-पुं० अकारकं वदन्ति  
 तच्छीलाः, आरमनोऽत्यूतव्यनित्यत्वसंबन्ध्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यः  
 निष्कारत्वेमेवाभ्युपगमेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ( ' शि-  
 क्षियवाह' शब्दे चैतनां मत्तं तत्तुल्यत्वं च कारिष्यते )

अकारण-अकारण-त्रि० नास्ति करणं हेतुवदेर्यं वा यस्य हेतु-  
 हिते, उदेर्यरहिते च । श्रु० १६। कारकमित्ते, न० वाच० । यदा तप-  
 सादेवैश्याकृत्यादिकारणशून्यं निना तस्योर्ध्वार्थं सरसा-  
 हारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणशब्दो इत्येबलक्षणे पञ्चमे  
 परिमतीपण्याया दोषे, उत्त० २४ अ० ।

अकारवित-अकारयत्-त्रि० आरम्भकप्रकारणे परमव्यापार-  
 यति । " आरम्भनियसाणं, अकिणुंताणं अकारवितार्णं । ध-  
 म्मन्दा वायव्यं " वृ० १ उ० ।

अकारिय-अकारित-त्रि० अन्वैरकारिते, प्रश्न० संब० १ श्रु० ।

अकाल-अकाल-पुं० अमाहास्त्वे, न० त० अमहास्त्वेकाले, विदि-  
 तकर्मसु पर्युद्धस्तथाऽस्मिन्निवे, शुद्ध्याकायस्तकालादी, अमस्ता-  
 वे, उत्त० १ अ० । कर्तव्याऽमवसरे, प्राचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । वृ० ।  
 अशर्षात्, " अकाले वरिस्त्रे " स्था० ७ डा० । अम्रातः कालो यस्य  
 " प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदशोपः " इति वा० अ-  
 न्यस्योपश्च । अमासकाले, अतुचितकाले, पदायं । इति कालः  
 कृष्णः, न० त० । कृष्णविकृष्णभ्रमणं, न० ७ । कृष्णत्व विरोधि-  
 षुभ्रव्यति, त्रि० । वाच० ।

अकालपदिवोहि- ( ष ) -अकालयतिवोधिन्-त्रि० ( असमेये व्याभि-  
 यमाने ) " मिश्रकृष्णि अणारियाणि दुस्सम्यप्याधि दुपण्य-  
 णिज्जाणि अकालपदिवोहिणं " अकालप्रतिबोधिनि । न तेषां  
 कश्चिद पर्यटनकालोऽस्ति अर्धरात्रावधि मृगयादौ गमनस-  
 म्भवात् । आशा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । नि० वृ० ।

अकालपटन-अकालपटन-न० असमयवाचनायाम्, पष्ठा० ।  
 १५ विच० ।

अकालपरिही- ( ष ) -अकालपरिही-न० परिहाणः परिहीणं का-  
 ष्विलम्बः न विद्यते परिहीणं यत्र प्रातुर्वेने तत्र कालप-  
 रिहीणम् ( शीघ्रप्रकटीभवेन ) " अकालपरिहीणं चैव सूरि-  
 यानस्स अतियं पाठम्भवह " रा० ।

अकालपरिभोगि- ( ष ) अकालपरिभोगिन्-त्रि०, रात्रौ सर्वा-  
 दरेण लुञ्जने, " अकालपरिभोगिणि अकालपरिमोर्शेधि "।  
 नि० वृ० १६ उ० । प्राचा० ।

अकालपशु-अकालपशु-पुं० अकाल एव जीवितसंज्ञे, " प-  
 दमो अकालमच्यु, तर्हि तासकलेण दारको उहते " आश० १ अ० ।

अकालवासि- ( ष ) अकालवसिन्-पुं० अनवसरवर्षिणि मेषे,  
 तद्बदनवसरे दानव्याथानादिपरोपकारार्थप्रसूते पुरुषे च ।  
 स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अकालमक्तायकर- ( कारिन ) -अकालस्वाध्यायकर- ( कारिन ) -  
 पुं० असमाधिस्थानविशेषे, " अकाले सज्ज्हायकारी य कालियसुयं  
 उग्यादपोरुहाय पदार्थत् ? ] देवता असमाधिपे योजयति "।  
 इत्यसमाधिस्थानत्वं तस्य । आश० ४ अ० । स० ।

अकालि-देशी-पर्याये, दे० ना० ।

अकालुप्त-अकालुप्त-त्रि० असन्नाहारे, प्रश्न० संब० २ श्रु० ।

अर्किचय-अर्किञ्चन-त्रि० नाऽस्य किञ्चन प्रतिबन्धात्स्वर्धनक-  
 नकादि अस्तीति अर्किञ्चनः । निष्परिग्रहे, उत्त० ३ अ० । प्राचा० ।  
 आ० वृ० । स्था० । औ० । प्रश्न० । प्राचा० । स्था० । हिरण्यादि-  
 मिथ्यात्वादिदुष्प्रजावकिञ्चनधिमिमुक्ते, दश० ६ अ० । " समगा-  
 भविस्सामो न, अथारा अर्किचया मज्जुत्ता च " सूत्र० २ श्रु० १  
 अ० । इति के, वाच० ।

अर्किचयकर-अर्किञ्चनकर-त्रि० अर्किञ्चिस्तापके, अर्किञ्चना-  
 नां साधूनां प्रयोजनकरे, " बहवारविष्णय वापय अर्किचयकरे-  
 य " योऽपि कश्चित्सधूनां प्रत्यनीकः सोऽपि तेषां राजादि-



कुमारमज्जितानां भयतो न किञ्चित् करोति । अथवाऽक्रिञ्जानां साधूनां यदि कथमपि केनाप्यप्यज्जने प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत् सर्वं शोकं प्रायोऽप्रार्थित एव करोति, इयं २ उ० ।

अक्रिचणया-अक्रिचणना-खी० न विद्यते क्रिञ्जन्त्यजात-मस्येत्यक्रिञ्जन्तश्चावोऽक्रिञ्जताः । निष्परिप्रदितायाम्, "चउ-व्विहा अक्रिचणया पञ्चत्ता तंजहा मणअक्रिचणया वइअक्रिचणया कायअक्रिचणया उवकरणअक्रिचणया" अक्रिञ्जना च मनःप्रभृतिभिरुपकरणापेक्षया च भवतीति चातुर्विध्यम् । स्यात् ४ डा० ३ उ० । चतुर्थेऽप्य द्वितीयोद्देशकः भोगसाधनानामस्वीकारलक्षणं यमभेदे, द्वा० द्वा० २१ ।

अक्रिचिकर-अक्रिञ्जित्कर-पु० हेत्वात्रासनेदे, स च यथा प्रतीतं प्रत्याहतिनिराकृते च, साध्वे हेतुराक्रिञ्जित्करः प्रतीयते । यथा-शब्दः श्रावणः शब्दत्वात्-खी० न विद्यते क्रिञ्जन्तारुणे । यथानुष्णः कृष्णवर्मा इत्यन्त्वात् । पत्या वनिता, सेवनीया पुरुषत्वादित्यादि २० ६ परि० ( अथ हेत्वाभासत्वमयुक्तमितिं हेउअत्रासं शब्द ) अक्रिच-अकृत्य-न० त० । कृ-क्यप् । अत्राशस्ये । अकरणीये, साधूनामाभिधेये, पञ्चा० ११ विव० । स्या० । प्रश्न० । "अक्रिच्वचमपणा काउं कयमेपण भासइ अक्रिच्वं पाणा इवायादि अणणा काउं कयमेतेण भासइ अथस्स उच्छेहेइ" (समहामाहं प्रकरोति) श्राव० ४ अ० । न कृत्यमस्य । न० व० । कर्मरहिते, त्रि० वाच० ।

अक्रिचणाय-अकृत्यस्थान-न० कृत्यस्य करणस्य स्थानमाश्रयः कृत्यस्थानं तत्किञ्चोऽकृत्यस्थानम् । मूलगुणादिप्रति-सैवारूपेऽकार्यविशेषे, अ० ८ शृ० ६ उ० ।

अक्षयं तु अक्रिच्वं, मूलगुणे चैव उत्तरगुणे य ।  
मूलं न सर्वदेसं, एवैव य उत्तरगुणेसु ॥  
अत्यन्तदृक्त्यं पुनः मूत्रोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तर-गुणे वा उत्तरगुणविषयं वा तत्र मूलं मूलगुणविषयं सर्वदंशं वा सर्वथा मूलगुणस्योच्छेदे देशतो वेत्यर्थः । एवमेवाने-नैव प्रकारेणोत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्यं भावनीयम् । तद्यथा । उत्तर-गुणस्यापि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्या-नान्तरमाह ।

अहवा पणगार्दीयं, मासादीयं वि जाव उम्मासा ।  
एवं तवोऽरिहं खलु, उेदादिचउअहमगयं ॥  
( अहयेति ) अकृत्यस्थानस्य प्रकारान्तरतोऽदर्शनं पञ्च-कारादिकं रात्रिदिवपञ्चकप्रभृति, प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानं यदि वा मासादिकं तच्च तावद्यावत्परमासाः एतत् खलु अ-कृत्यस्थानं तपोऽहं तपोरूपप्रायश्चित्साहं यदि वा छेदादीनां चतुर्था प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानम् । इयं १ उ० ।

अक्रिञ्ज-अक्रैय-क्रि० क्रैयानहं "सुक्रियं वा सुविक्कीयं, अक्रिञ्जं क्रिञ्जमेव वा" दृश० ७ अ० ।

अक्रिड-अकृष्ट-त्रि० अविलिखिते, अ० ३ श० २ उ० ।

अक्रिण्त-अक्रिणत्-खी० वक्रादिक्रियमकुशाणे, वृ० १ उ० ।

अक्रिचि-अक्रिचि-खी० सर्वदिग्भ्याव्याऽसाधुवादे, ग० २ अचि० दानपुरयफलप्रभादे, दश० १ च्छि० । दानकृताया एकदिगामि-न्या वा प्रसिद्धेरात्रे, श्रौ० "अक्रिचो मे वा सिया" ख्या० ७ डा० ।  
अक्रिचि-अक्रिय-पु० । न० व० । कायिक्याधिकरणिक्यादि-

क्रियावर्जिते, स्यात् ७ डा० । कायिक्यादिक्रियाभिष्वङ्गवर्जिते, प्रशास्तमनाविनयभेदे, अ० २५ श० ७ उ० । न विद्यतेऽन-भ्युपगमात्परलोकविषयाः क्रिया येनात्तेऽक्रियाः । नास्तिकेषु, "अक्रिरियादुद्गुहदुकरित" न० । नास्य क्रिया साधवा विद्य-ते इत्यक्रियः । संवृत्तात्मकतया सांप्रदायिककर्मोपबन्धकं, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अक्रिरिया-अक्रिया-खी० नञिह दुःशब्दाद्यौ यथा अशीला दुःशीलित्यर्थः । तत्राक्रिया दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युदत्तस्योमा-कसाधके अनुष्ठाने, यथा मिथ्यादृष्टोऽनम्यज्ञानमिति । एषा मि-थ्यात्वभेदत्वेन दृशिता, स्यात् ३ डा० ३ उ० । "अक्रिरिया तिविहा पञ्चसा तंजहा पञ्चामक्रिरिया समुदाणक्रिरिया अणणक्रिरिया" अक्रिया हि अशोभना क्रियेवातोऽक्रिया । श्रविष्येभ्यमिषायाऽपि प्रयोग इत्यादिना क्रियेवोक्तम् । स्यात् ३ डा० ३ उ० । सूत्र० क्रिया ऽस्तीति कृपा सक्तपदार्थेसाध्यापिनां सैव यथा अस्तुविप-यतया कृतिसता अक्रिया नञः कृत्साधेत्वात् नास्तिक्ये, स्यात् ० परि० । नास्तिकवादे, "अक्रिरिये परिणाममि क्रिये उव-संपञ्जामि" ध० ३ अचि० । योगनिरोधे, स्यात् ८ डा० । "एका अक्रिरिया" एका अक्रिया योगनिरोधकृणा, नास्तिकत्वं वा । स० १ सम० । अभावे, न० त० । अपरिस्पन्दे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सर्वक्रियाविगमे च । ध० २ अचि० । क्रियाया अभावे, अ० २ ए श० २ उ० ।

अक्रिरियात्राय-अक्रियात्मन-पु० आक्रिय आत्मा येनामज्युप-गमं ते अक्रियात्मानः । सांश्लेषु, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जे केइ लोमंमि अक्रिरियाया, अन्नोण पुट्ठा धुयमात्ति विमुक्खहेइं ।  
अरंभसत्ता गदित्ता य लोए, धम्मं ए जाणेत्ति विमुक्खहेइं ॥  
ये केचन आस्मिन् लोके आरूप्य आत्मा येनामज्युपगमे ते-ऽक्रियात्मानः स्वांश्लेषेण हि सर्वव्यापित्वादात्मा नि-क्रियः पश्यते । तथा बोक्तम् । "अकर्नां निगुणां भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शनं" इति तुभ्यो विशेषणं, स चैन-द्विशिनाष्टि । अमूर्तेवव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वेमेव बुध्य-ते, ते चाक्रियात्मवादिनोऽन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमौलौ न घ-दन्ते इत्यभिप्रायधत्ता भोक्तृसङ्घातं पृष्टाः सन्तोऽक्रियात्वाद्दर्श-नेऽपि धूमं मोक्षं नदभावमादिशन्ति प्रतिपादयन्ति । ते तु पञ्च-नपाचनानदिकं सत्ताष्टि जलावभासनेरुपेयाऽऽरम्भे साधरो सक्ता अध्युपपन्ना शोकं भोक्तृकेहेतुमूलं धर्मं श्रुतचारित्र्यं न जान-न्ति कुमार्प्रार्थिणो न स्वयमवगच्छन्तीति, सूत्र० १ श्रु० १० अ०

अक्रिरिय ( या ) वाइ ( न )-अक्रियावादिन्-पु० क्रि-या अस्तीतिक्रिया सक्तपदार्थेसाध्यव्यापिनां, सैवाऽयथावस्तु-विषयतया कृतिसता अक्रिया, नञ कृत्साधेत्वात्, नामाकर्त्यां व-दन्तीत्यर्थेऽशौद्रा अक्रियावादिनिः । यथाऽवस्थितं हि वस्तुनैकान्तात्मकं, नशास्तेयकान्तात्मकेषु यस्मान्ति प्रतिपत्सिन्मसु नास्तिक्ये, स्यात् ८ डा० । ते चाऽए "अष्ट अक्रिरियावादी पञ्चसा इं जहा एकावादी ऋणिकवादिं मित्तवादीं निमित्तवादीं स्यायादीं समुच्छेदवादीं णियावादीं य संति परलोगवादीं " स्यात् ४ डा० ४ उ० । ( एष्यवाद्यादिपदानामर्थो निजानजस्थानित् ) अक्रि-या क्रियाया अत्रायं वदन्ति तच्छास्त्रा अक्रियावादिनः न कव्य-चित्प्रतिक्रमनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवात् उपपत्त्य-नन्तरमेव विनाशादित्येवं वदन्तु, न० । न० । तथा बाह्योक्ते । क-शिकाः सर्वसंस्कारा अस्तिरारणां कुनः क्रिया " भूतित्येवं क्रिया

सैव कारकं सैव बोधयन्ते"मं०। अक्रियाया जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकानि यदित्तु शीघ्रं येषान्तेऽक्रियावादिनाः । म० २६ श० २ र० । नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं यादृषि, सूत्र० १, मू० ११ अ० । नास्ति माता नास्ति पितृत्येवमादिवादिनि, नास्तिके, उक्त० ३ अ० । ब्राह्म० । ते चाशान्तिः "अक्रियेयार्थे च होह बुलसीई" सूत्र० १, मू० १० श० ।

इह जीवाइ पर्याइ, पुषं पारं विणा ठविञ्जति ।  
तेसिपदोनापमि, ठविञ्जए सपरसहदुगं ॥ १०८ ॥  
तस्स वि अदो लिहिञ्जइ, कास गदिच्छाइपयदुगसपेयं ।  
नियइस्सदावईसर, अपपसि इमं पयचउळं ॥ १०९ ॥

इहाक्रियावादिभेदानां प्रक्रमे जीयादीनि पूर्वोक्तानि पुरययाप-  
पवर्जितानि नवस्तस पदानि परिपाठ्यावादिपदादौ स्थाप्यन्ते  
तेषां च जीवादिपदानामधोभागे प्रत्येकं स्वपरशब्दद्विकं स्था-  
प्यत स्वनः परत इति द्वे प्रे न्यस्येने इत्यर्थः । अस्तत्वादा-  
त्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तस्तकर्मिसिद्धापत्तेः । तस्यापि  
च स्वपरशब्दद्विकस्यापस्तत् कालयद्वाङ्मपपदद्वयसमेत-  
मेतन्नित्यस्वभावेभ्रवात्मलक्षणं पदचतुष्कं त्रिस्यते, काञ्चयद-  
च्चायनित्यस्वभावेभ्रवात्मरूपाणि पद पदानि स्थाप्यन्ते इत्यर्थः ।  
इह यदच्चावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिन एव न केचिदपि क्रिया-  
वादिनस्ततः प्राग्यदच्चा नोप-यन्तः । अथ विकल्पानिज्ञापस्ततः ।

पदमं भंगे जीवो, नत्थि सओ कालओ तयणु बोए ।  
परओ वि नत्थि जीवो, कालाइ य भंगमादोन्नि ॥११०॥  
एव नइच्छाईदि वि, पदई भंगउत्तं दुत्तं पत्तं ।

मिद्वियावि ते दुवाइसस-संपपा जीवतत्तेण ॥ १११ ॥

नास्ति जीवः स्वतः कालत इति प्रथमो नङ्गः । तदनु नास्ति  
जीवः परतः कालत इति द्वितीयो नङ्गः । एतौ द्वौ च भङ्गो  
कालेन लक्ष्यौ, एवं यदच्छादिभिरपि पञ्चभिः पदैः प्रत्येकं द्वौ  
द्वैः विकल्पौ जायते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश । अर्थावां च  
विकल्पानामर्थः प्राग्ब्रह्मवनीयः । नवरं यदच्छात इति यदच्छा-  
वादिनां मेत । अथ गाथा । के ते यदच्छावादिनः उच्यन्ते । इह  
ये भावानां सत्तापकृत्या न प्रतिनियतं कार्यकारणनाथमिच्छन्ति  
किन्तु यदच्छाया ते यदच्छावादिनस्तथा त एवमाहुने ससु  
प्रतिनियतां वस्तूनां कार्यकारणजातवस्तया प्रमाणेनग्रहणात्  
तथाहि-यालुकादपि शालुके जायते गामयादपि, अग्नेरप्यु-  
द्भिर्जायते अरणिक्काद्यादपि, धूमदापि जायते धूमः ब्रह्मन्निवसंप-  
कृद्दपि, कन्ददापि जायते कदलीबीजादपि, अद्यदयोऽपि बी-  
जादुपजायन्ते शासैकेदेशादपि, ततो न प्रतिनियतः क्वचिदपि  
कार्यकारणताव इति । यदच्छातः कश्चित् किञ्चिद्व्यतीति प्रति-  
पत्त्यं, न सख्यन्यथा वस्तुसङ्गावपश्यन्तोऽप्यथाऽऽमानं प्रकृ-  
पन्नः परिच्छाशयन्ति । एते च द्वादशा विकल्पा जीवतत्त्वेन  
जीवपदेन संप्राप्ता इच्छाः । एवमजीवादिभिरपि पदभिः पदैः प्र-  
त्येकं द्वादश विकल्पः प्रासतः । ततो द्वादशभिः सस गुणता  
जाता चतुरशीतिः । सर्वसंख्यया चाक्रियावादिनामेते जेदा जव-  
नीति । प्रथ० २०६ द्वा० । मू० । स्था० । अ० । ब्रा० ।

साम्प्रतमक्रियावादिदृशं नैराचिकीयुः गाथापकार्कमाह ।

लवावसकीय अणुएहि, गो विरियमार्थं अक्रिययावाद् ।  
सवं कर्म तस्मादपशक्तिमुपपसन्तु शीघ्रं येषान्ते लवावसो-

क्तिनो शोकायतिकाः शाक्यादयश्च,तेषामात्मैव नास्ति कुतस्त्व-

क्रिया तज्जानतो वा कर्मबन्ध इति । उपचारमार्गेण त्वस्ति न्यः ।  
तद्यथा "बन्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिप्रथिकपातकाः । न चान्यं  
द्रव्यतः स्निग्ध, मुष्टिप्रथिकपातकाः" तथा बौदानामयमच्युप-  
गमो यथा कृत्तिकाः सन्धेसंस्कारा इत्यस्थितानां च कुतः क्रिय-  
त्यक्रियावादित्वम् । योऽपि स्वल्पपञ्चकाभ्युपगमस्तथा योऽपि  
संबुधमार्गेण न परमार्थेन यत्स्वभावायमच्युपगमः । तद्यथा विचा-  
र्यमाणः पदार्थो न कथं विद्वयत्मानं विज्ञानेन समर्पयितुमलम् ।  
तथाहावयथी तस्यातस्याज्यो विचार्यमाणो न घटो प्राञ्जति ना-  
प्यवयथाः परमाप्पुर्णवसानतवाऽतिस्त्वस्याज्जानगोचरतं प्र-  
तिपद्यन्ते । विज्ञानमपि हेयाभावेनामूर्त्तस्य निराकारतया न  
स्वरूपं विभर्ति । तथा बोक्तं " यथा यथार्थोऽस्तिव्यन्ते, विविच्य-  
न्ते तथा तथा । यद्येतत् स्वयमर्थेऽस्तौ, सोऽन्ते तत्र के वयम् " ।  
इति प्रच्छन्नोक्त्यापि हि बौद्धास्तथाऽनागतैः कृपिः चशब्दा-  
दतीतैश्च वर्तमानरूपस्यासङ्गतेन क्रिया नापि च तज्जनितः कर्म-  
बन्ध इति । तद्वदमक्रियावादिनां नास्तिवादिनः सत्तापज्ञापितया  
लवावशङ्कितः सन्तो न क्रियामाहुस्तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्व-  
व्यापिनया तेष्यक्रियावादिनः सांख्यास्तद्वं शोकायतिकाबौद्धाः  
सांख्या अनुपसंख्यया अप्रद्विज्ञानेनत्ये तत्पूर्वोक्तुमुवा हृतवन्तस्तथै-  
व तत्साहानेनैवाद्वाहृतवन्तः । तद्यथा । अस्माकमवमच्युपगमोऽ-  
थोऽवजासते युग्यमानको भवतीति । तद्वं श्लोकपूर्वादेह काका-  
क्षिगोलक्यादिनाक्रियावादिमतेऽप्ययोऽप्यमिते ।

साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविद्युभिर्भतं दशोचितुमाह ।

सम्पिस्सभावं व गिरा गट्ठोए, स मुम्मई होइ अण्णाण्णवाइ ।  
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, अहंउत्तु उद्धान्तयत्तं च कम्मं । १॥

स्वकीयाया गिरा गाथा स्वाच्युपगमैव गृहीते तस्मिन्मन्थ-  
नान्तर्रीयकतया वा समागते स्तिति नस्याऽप्यातस्यार्थस्य गिरा  
प्रतिषेधं कुर्वीताः संसिद्धीभावस्तद्वं नास्तिस्वापगमं ते शो-  
कायतिकादयः कुर्वन्ति, चशब्दात् प्रतिषेधं प्रतिपाद्युक्ति-  
न्त्येव प्रतिपाद्यन्ती । तथाहि । शोकायतिकास्तावस्तवस्तिष्येभ्यो  
जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपाद्यन्तो नान्तर्रीयकतया-  
त्मानं कर्त्तारं करणं च शास्त्रं कर्मतापक्षांश्च शिष्यान्ववश्यमच्यु-  
पाच्यन्तुः सर्वशून्यत्वे त्वस्य तुनयस्याभावाविमिश्रीभावा उच्य-  
यो वा । बौद्धा अपि मिश्रीनाथमेवमुपगताः । तद्यथा, "गन्ना  
च नास्ति कश्चि-कृतयः पद बौद्धशास्त्रेन प्रोक्ताः । गम्यत इति  
च गतिः स्या-च्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धः ॥ १ ॥ तथा कर्म च  
नास्ति फलं चास्तीत्यस्ति चान्नि कारके कथं पद गतया ज्ञा-  
नस्तान्तान्तस्थापि सन्नातव्यतिरेकेण संगृह्यितस्स्यात् कृष्णस्य च  
स्थितत्वेन क्रियाशास्त्रं नागनास्तिस्मभवः सर्वोऽर्थाप कर्मा-  
पश्च-धनानि प्रकृपयन्ति स्वामेन तथा पश्चजातकदाशानि च  
बुद्धस्योपदिशन्ति, तद्यथा "मातपितरो त्वा, बुद्धराजोरे च रुधि-  
रनुत्पाय । अहं ह्येवं च कृत्वा, सन्पुं मित्वा च पञ्चते ॥१॥ निर-  
न्तर्मावोचिनरक यान्ति पवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणय-  
नममुक्तिसङ्गतं स्यात् तथा जातिजगरणरोगशोकोसममध्य-  
माश्रमन्त्यानि च न स्युः एव एव च नानाविधकर्मविपाको जीवा-  
स्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवस्त्वं चावेद्यति तथा "गन्धर्वेनगरतुल्या, मा-  
या स्वभावात्पातयनसदृशी । सुगनुत्पान्नीहारा-बुधेन्द्रिकाज्ञातव-  
क्रसमा" इति भावणार्थ स्पष्टमव मिश्रीभावापगमनां बौदानामि-  
ति । यदि वा नानाविधकर्मविपाकाच्युपगमसत्त्वात् व्यस्यय पयति ।  
तथा बोक्तं "यदि शून्यस्त्ववपक्को, मय्यदानिवारकः कथं भवति ।  
अथ मय्यसे न शून्य-स्तथापि मयपक्का पक्काः" इत्यादि, तद्वं

अभिकिरियावाद्

बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिथीभावमुपगतं नास्तित्यं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्यमेव प्रतिपादयन्ति । तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमनुपगमयन् प्रकृतियोगात्मोक्तसंज्ञां प्रतिपादयन्तोऽप्यात्मनो नर्थं मोक्षं च स्वभावा प्रतिपादयन्ति । ततश्च बन्धमोक्षसंज्ञाये सति स्वकीयया निरा सक्तियन्त्रे शुद्धीते स्वाभावानः संमिथीप्रायं ब्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटते, वाक्याभ्यादक्रियन्त्रे प्रतिपाद्ये एव सक्तियन्त्रे तेषां स्वभावा प्रतिपादयते, तदर्थं होकायतिकाः सर्वे प्रायाभ्युपगमेन क्रियामात्रं प्रतिपादयन्ति । बौध्दाश्च कृशिकत्वास्वैश्वर्यत्वाश्चाक्रियामेवाऽनुपगमयन्तः स्वकीयागमप्रयत्नेन खोदितः सन्तः संमिथीभावं स्वभावैव प्रतिपादयन्ते । तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमनुपगम्यन्तो बन्धमोक्षसंज्ञां च स्वाभ्युपगमेव संमिथीभावं ब्रजन्ति । अप्यर्थं वैतन्त्रियादिपठितम् । यदि वा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्द्विधा सत्त्वप्रत्युत्पद्यत्सैव्योक्तुल्यक्रियमाणः सः सत्यमुत्तरं हातुप्रसमर्थो यत्किञ्चान्नायतिथा (समुमुदं दो-दत्ति) गम्दत्राचित्वेनाऽप्यक्तभाषी जयति । यदि वा प्राकृतश्रीत्या श्लाघ्यस्त्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः । तद्यथा । भूकादिपि भूको भूकभूको जयति । एतदेव ह्यर्थयति । स्याद्विदितं साधनमनुवर्तिषु शीलसमस्त्येनुवादी तत्रप्रतिपादयन्नुवादी । सक्तुनिभ्योऽनुकृतितमना मौनमेव प्रतिपादयति इति भावः । अनुपगम्य च प्रतिपत्तासाधनं तथाऽदुष्यथित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति । तद्यथा । इहमसक्त्यनुपगमं दर्शनं मयः एकःऽस्त्येति एकपक्षमप्रतिपत्तयैकान्तिकमधिकार्याभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापरविरोधकमित्यर्थः । इदं वैयंभुतमपि सदित्याह । द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं समप्रतिपक्षमैकान्तिकं पूर्वापरविरोधकार्याभिधायितया द्विपक्षवन्नमित्यर्थः । यथा च विद्याविषयमर्थं तेषां तथा प्रायश्चित्तमेव । यदि त्यंतदस्मायं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं कर्मबन्धनिर्जेयं प्रतिपत्तावसतमाश्रयन्त । तस्मात्प्रयत्नं चेद्दामुत्र वेदना चौरपारदारिकादीनामित्येव । ते हि करचरणनासिकादीनामिहेव पुण्यफलदायककर्मणो विदं वनामनुभवन्त्यमुत्र च मरकादी वेदनां समनुभवन्तीति । एवमन्यदपि कर्मोपवेचनमनुपगम्यते । तच्छेदम् । प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि पूर्ववद । तथैवमकः पक्षोऽस्त्येत्येकपक्षम्, इहेव जन्मनि तस्य वेद्यार्थात् । तच्छेदमविज्ञापितं चरहोपचितमर्थोपरयं स्वमप्रादिकं चेति । तदर्थं स्याद्द्विदिनाभियुक्ताः स्वदर्शनमेवमन्ननरोकया नीत्या प्रतिपादयन्ति तथा स्याद्द्विदिनाभियुक्तो ज्ञापयतेन ज्ञेयं 'नवपक्षयो देवदल' इत्यादिकमाहुककवन्तः । चशब्दादप्यथ द्वूपणाभासादिकं तथा कर्म च एकपक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादयन्ति इति । यदि वा यदायतनानि उपादानकारणानि आश्रयद्वााराणि शोभेन्निद्रायादीनि यस्य कर्मणस्तत्कदापयतेन कर्मोपवेचनादुविरिति । ५ ।

साप्रतमेव तद्वृत्तगताह ।

ते एवमकवन्ति तं अनुभूजमाणा, विरुक्त्यापि अभिकिरियावाद् । जे मायइचा बहवे मणसा, भयंति संसारमणोवदमगं ॥ ६ ॥  
 ( ते एवमकवन्ति ) ते आचार्यबौद्धादयोऽक्रियावादिन एव-  
 मकवन्ते । संज्ञावमनुपगमना मिथ्यामलपटलनृतात्मनः पर-  
 मात्मानं च न्युत्प्रादयन्तो विरुक्तपारिणी नानाप्राकाराणि शास्त्रा-  
 णि प्रकृषयन्ति । तद्यथा । दानेन महाजिन्गो, देहानां सुररातिश्च  
 शीलेन । भावनया च विमुक्ति-स्तपसा सत्त्वोणि सिध्यन्ति ॥  
 तथा पृथिव्यापसतेजोवायुरत्येताम्येव चत्वारि नृतानि विद्यन्ते

नापरः कश्चित्सुखदुःखमापामा विद्यते । यदि चैतान्यन्वेषिच-  
 रितरभणीयानि न परमाद्यतः सन्तीति स्वधर्मकृत्वात्तमन्मरी-  
 चिकानि च यद्विष्णुद्विप्रतिप्रासकृपयासर्ववर्धेयति । तथा सर्वे  
 कृष्णिकं निरात्मकं मुक्तिस्तु शून्यता इहेस्तदयोः शेषभाव-  
 ना इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि न्युत्प्रादयन्त्यक्रिया-  
 त्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमात्मन्युपगमना यद्दर्शन-  
 मादय शुद्धीका बहवो मनुष्याः संसारमनवदप्रमर्षवसान-  
 मरहृष्टघटीत्यांन ज्ञमन्ति पयेदन्ति । तथाहि लोकायतिकांतां  
 सर्वव्युत्पत्त्यं प्रतिपाद्ये न प्रमाणमस्ति । तथा चोक्तम् ॥ "तस्याप्यु-  
 द्घातीति, युक्तयत्नेन सिध्यति । नास्ति स्वैतद्व्यवस्थं तस्ति-  
 दौ सर्वमस्तु सत्" न च तत्रत्यक्तमेवैकं प्रमाणम् । अतीतानागत-  
 प्रायतया पिगुणिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेस्ततः सर्वसं-  
 व्यवहारोऽच्छेदः स्यादिति । बौध्दानामप्यत्यन्तकृष्णिकमेव वस्तु-  
 त्वाभावः प्रसज्यते । तथाहि । यद्यथायंकिञ्चाकारि तदेव परमा-  
 र्थतः सत् । न कृष्णः क्रमणार्थक्रियां करोति । कृष्णिकत्वज्ञानार्थिपि  
 यौगपद्येन तत्कार्याणामकस्मिन्नैव कृष्ण सर्वकार्योपपत्तेन चैतद्-  
 दृष्टमिहेव । न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिनमन्तरेण गुणभूतस्य  
 सक्तना प्रत्यक्षेण संज्ञाव इत्येतच्च प्रागुक्तमायम् । यथाऽं  
 'दानेन महाभोगं' इत्यादि तदाहैतैरपि कथंविद्व्यत एवेति न  
 चाभ्युपगमा एव भावार्थे प्रकल्प्यत इति ॥ ६ ॥ सूत्र० १. सू० १२  
 अ० । अक्रियैव परलोकसाधनायाऽप्रमित्येवं वदितुं शीलं यथा-  
 त्मोऽक्रियावादिनः ज्ञानवादिनो च प्रायश्चित्तकारिणो एवमेव तैः क्रि-  
 यया चित्तशुद्धिरिव कार्यां ते च बौद्धा इति, ज० ३० श० १ उ० ।  
 तेषां हि यथाऽऽस्त्यितवस्तुपरिहारादेव मोक्षः । तथा चोक्तम् ।  
 "पञ्चविंशतितत्त्वोः, यत्र तत्राभेदः रतः । शिखी मुपदी जटी-  
 बापि, सिन्धेते नमः संशयः" ॥ ॥ सूत्र० १. सू० ६ अ० । धर्म  
 धर्मिणोरेजेधोपचारात् समवसरणविशेषे च । म० २६ श० २ उ० ।  
 (अक्रियावादिनः कीदृशाः किं च प्रकुर्यन्तीति 'वादिनसमवसर-  
 एण' शब्दे उच्यं मिथ्यादृष्टिबन्धने ) "अभिकिरियावादी वि जयति  
 नो हियवादी नो हियपणे नाहिय दियनेत्समावादी णो ति-  
 तियावादी ए संति परलोगवादी" द्या० ६ अ० ।

अकील-अकील-त्रि० न० ब० शकुरहिते, घ० २ अत्रि० । पञ्चा० ।  
 अनुभो (तो) भय-अनुभूतोऽय-त्रि० न० विद्यते कुतः कस्माद् भ-  
 यं यस्य तत् कुतश्चदपिभयशून्यं, "चित्ते परिरातेन यस्य चरित्र-  
 मकुतोमयम् । अज्ञादज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो जयम्" ।  
 अष्ट० ११ । न विद्यते कुतश्चित्तेनोः कनापि प्रकारेण अन्यत्वं भयं  
 यस्मात् सोऽकुतोमयः । संयमं, "अप्राय अनिसमेवा अनुभो-  
 भयं" आचा० १ सू० १ अ० ३ उ० ।

अनुकृषियाग-अनुकृषिवाक-त्रि० कुञ्जिकाविरहिते । १० ।

अनुकृषि-अनुकृषिवादि-पुं० सम्पूर्णपापयादी, प्रब० ६६ अ० ।

अनुकृत्य-अनुकृत्य-त्रि० न० ब० हस्तपादसुखादिविरुक्तपंचादृ-  
 हिते । व्य० ३ उ० । ऐषमनुकृषिकाररहिते, आचा० १ सू० १ अ० ३ उ० ।

सुसाणे सुसाणे वा, रुक्त्वभूते व एगो ।

अनुकृत्यो शिरीएजा, ए व विचासए परं ॥

अनुकृत्योऽशिष्टेचोदरहिते निषीदेत् तिष्ठेत्, यद्वा, अनुकृत्यः

कुत्वाविविवाधनाजनात् कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितं हस्तपा-

दादिनिरस्त्वन्मानो निषीदेत् । उक्त० ३ अ० ।

अकुकुज-त्रि० आर्षत्याग्राहते तथात्वम्, कुस्तिरं कूजति पी-  
दितः सबाकन्दति कुकुजो न तथैत्यकुकुजः, कुस्तिरकूजना  
कर्त्तरि, उच्यते ३१ अ० ।

अकुकुच्य-त्रि० नास्ति कौक्यं प्राणवित्केष्टा यस्य सोऽकौ-  
क्यः । सम्पत्कसाधुसप्रायुके, उच्यते १६ अ० ।

अकुटिल-अकुटिल-त्रि० न० त० अमाविनि, व्य० ३ उ० ।  
अवके, जं० ३ वक्त्र० । अजौ, आचा० १ अ० ३ उ० ।

अकुतुहल-अकुतुहल-त्रि० न० विद्यते कुहलं यस्य स अकुतु-  
हलः, कुहकेन्द्रजालभग्नविधानाटकदादीनामविलोकके । "नी-  
याविन्ति अचवन्ते, अतर्हि अकुहले" उच्यते १० अ० ।

अकुमारच्य-अकुमारच्य-त्रि० अकुमारप्रक्षारिणि, "अकुमा-  
रभ्य जे केइ कुमारच्ये तिरहव" । स० ३० सम० ।

अकुय-अकुच-त्रि० कुचस्वप्नने, न कुचतीत्यकुचः । इत्यात्य-  
रूपः कल्प्यः । व्य० ८ उ० । निश्चये, नि० च्चु० १ उ० ।

अकुसल-अकुशल-त्रि० अमानिष्ठ, प० व० ४१ ॥ अ० अचक्रायकल्प-  
विज्ञानिपुण । प्रथम० आध० २ चा० । स्थूलमती, "तस्य धारव-  
हिसाय, जना अकुसला उलयन्ति" दश० १ अ० । अशोभने च ।  
औ० । न कुशले मङ्गलमस्य, मङ्गलशिवोप्यमङ्गलस्युक्ते, न० त० ।

कुशलविरोधिनि अजन्तं, न० वाच० ।  
अकुमलकर्मोदय-अकुशलकर्मोदय-पुं० अज्जकर्मोद-  
य, प्रकर्मानुभावे च । घ० २ अघि० ।

अकुसलविचक्षणिरौह-अकुशलविचनिरोध-पुं० आर्षध्याना-  
द्विप्रतिषेधनाऽकुशलमनोनिरोधे, दश० ६ अ० ।

अकुसलजोगणिरौह-अकुशलश्रयानिरोध-पुं० अकुशलानां  
मनोवाक्ययोगानां अघापाराणां निरोधः अकुशलश्रयानिरोधः ।  
मनआदित्रिविचकणैरायुक्ततायाम्, आघ० ३ ।

अकुसलणिवितिरुव-अकुशलानिद्रितिरुव-त्रि० सपापारम्भो  
परमणस्वभावे, पञ्च० ७ विव० ।

अकुसल-अकुशल-पुं० न कुशीलोऽकुशीलः । कुशीलमिष्टे,  
सूत्र० १ अ० ६ अ० ।

अकुहय-अकुहक-त्रि० न० त० । इन्द्रजालादिकुहकरहिते,  
" अलोत्तुप अकुहय अमार्ह, अपीतुष्ये आवि अह्राणवित्ति" ।  
दश० ६ अ० ५ उ० ।

अकू ( कू ) र-अकूर-पुं० न० त० । अरीद्राकारे । दश० ।

अकिष्णध्वजस्योः कुरो हि पच्छिद्रान्वेषणलम्पटः कलुष-  
मनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्निप फलभाग् न भवतीति ( अकूत्वं  
पञ्चमः आचक्रणः ) प्रथ० २३६ द्रा० । घ० ।

कुरो किलिङ्गभायो, सम्मं धम्मं न साहिं तरइ ।

इय सो न इत्य जोगो, जोगो पुण होइ अकुरो ॥ १५ ॥

कूः किलिङ्गभायो अस्तरादिवृत्तितपारिणामः सम्पत्क निष्क-  
लहं धर्मं न वैव साधयितुमारारयितुं ( तपस्ति ) शक्नोति  
समरविजयकुमारवत् । इत्यस्मात्केतोरत्नी नैवात्र शब्धधर्मं  
योग्य उच्यते । पुनरेवकारयोः । ततो योग्योऽकूर एव की-  
र्तिचन्द्ररूपवदिति । तयोः कथा वैषम्य-

बहुसाहारा पुत्रा-गसाहिवा उच्चसालहेरिङ्गा ।  
आरामभूमिसरिसा, चंपा नामेण आधि वुरी ॥ १ ॥

तथ्यथि किलिचन्दो, नरनाहो सुयणकुमयषणचन्दो ।  
तस्स कण्ठो भाया, जुवराया समरविजउ त्ति ॥ २ ॥  
अह हाणियरापपसरो, समियरओ मलियणचरो सबओ ।

अनीकयमइवओ, पओ सुमुणिय व घणसमओ ॥ ३ ॥  
तंमिय समए नीर-अनीरपूरेण अरबहु वट्टी ।

अवयोपरिदियणं, विद्वा सरिया नरिदेष ॥ ४ ॥  
तो कोऊहलआउल-दियओ वंषवजुओ तहि गंतुं ।

अइर नियो इकाए, तरीए सिसासु सेसजओ ॥ ५ ॥  
जा ते कीलंति नहि, ता उवरी जलहरम्मि वुट्टम्मि ।

सो कोवि नइवओ, पओ अरतिववेणेण ॥ ६ ॥  
निउंजंति कट्टियाओ, अरअदिसासु जेष वेडीओ ।

धोवो वि तथ्य न कुरर, वावारी कणधारां ॥ ७ ॥  
तो सरियामउक्कणओ, तइड्ढिओ पुकेर पुएलोओ ।

अह पडुवणएया निव-दोणी उ अरसणं पत्ता ॥ ८ ॥  
लम्भा दीहतमाला-भिहाणअइवीए सा कहि रुक्खे ।

तसो उतरइ निओ, कइयपरिवारचुडुत्तम्मि ॥ ९ ॥  
जा वीसमइ संतो, तसोरे ताव पिउइर नरिदो ।

नइपूरकणियकुन्डि-इरण्यं सुमणियणनिहिं ॥ १० ॥  
गणं तथ्य सम्मं, पणिय दंसइ समरविजयस्स ।

अन्नियं च तस्स चित्तं, ज्ञासुररयणुच्छयं दट्टं ॥ ११ ॥  
चित्तइ सहाचकूरं, मारिणु निवं इमं पणिङ्गामिं ।

तं रज्जं सुहइउज्जं, अणियिदं रयणनिहिंयं ॥ १२ ॥  
रन्तो मुक्खं आओ, पुदीइ शोयम्मि पुकुत्तम्मि ।

हाहा किमिदं ति विचिं-तिऊण वंचाविओ तेण ॥ १३ ॥  
अणइ य अकूरमयो, निवइ बाहाइ तं अरेऊण ।

जियकुलअणुअियमसमं, किं ज्ञायतए इमं विहियं ॥ १४ ॥  
नइ कउजं रज्जिणं, समर धरेओ वयं तु वयं ॥ १५ ॥

गिङ्गाहि अहिसुको, निमर धरेओ वयं तु वयं ॥ १६ ॥  
तं सो निरुणिय अमुणिय, कोविशानाओ विवोपारिसुको ।

विज्जोकिऊण वाहं, आसरिआ निवसगासाओ ॥ १७ ॥  
जस्स निमिदं अणिमि-त्तवहरिणो वंधुणो वि वइ हंति ।

अन्नमिया निहिणामे, तं मुणु निवो गअओ सपुंरं ॥ १८ ॥  
समरो अमरासिसमा, पुव्ववमाओ पूरुदियं पि तयं ।

रयणनिहाणमदहुं, चित्तइ रत्ता पुवं नीयं ॥ १९ ॥  
तो जाओ चारइओ, चरओ लुंटेइ वंधुणो वंसं ।

समतेहि चरिउं, कयावि आओ निवसनीयं ॥ २० ॥  
मुक्खा अणण उज्जं, निमित्तआ चित्तं गअओ पवं ।

गहियव्वं रज्जमिणं, हउणे नहु विज्ज मेणं ॥ २१ ॥  
एवं कयाइ वहे, अंभरं जणवप य सो लुक्को ।

पओ निषेण मुक्को, रज्जेण भत्थिओ य दइ ॥ २२ ॥  
तो जाओ जणवाओ, निपइ अओ सोयराण सविसेसं ।

पगस्स वुज्जणुत्तं, अरसिस्समस्स सुयणुत्तं ॥ २३ ॥  
गुवरेम्या राया, अरविरसे वासरे शिवइ जाव ।

ता तथ्य समोसरिओ, पओहनामा पव्वनाणं ॥ २४ ॥  
अल्लिओ पयोयकण्ठिओ, तन्नमणयं निवो सपरिचरो ।

निसुणिय धम्मं पुउइइ, समए नियबंधवचरिं ॥ २५ ॥  
अए गृह विपेदं-सुं मंगले मंगलावइं विजए ।  
सोमंथिपुरं सागर-कुरंगया मयणविड्डिसुया ॥ २५ ॥  
पढमथयसमुच्चियाहिं, कासाहिं ते कयाधि कांसंता ।  
विज्जंति बालगडुवं, तइ एगं बालियं रम्मं ॥ २६ ॥

पुद्गा य तेहि एव, के तुम्भे ना भणाह ताणंगो ।  
 भाण्यथ मोहनामा, निवहे जगतीलपसिको ॥ २७ ॥  
 तस्सतिथ यहरिकरिकर-इकसरी रायकसरी तणभो ।  
 तपुत्तोऽहं सागर, महासभो सागरऽजिहाणो ॥ २८ ॥  
 मम तणभो कुडविणभो, एसो उ परिग्गहाडभिस्सासुत्ति ।  
 बहसानरस्स धूया, एसा किर कुरयानाम ॥ २९ ॥  
 इय सुणिय हरिसिया ते, कीर्त्ति पक्करं तन्नो भित्ति ।  
 निम्मह सागरो सवह, सित्थिह न उ कुरबायि वि ॥ ३० ॥  
 कुणह कुरंगो भित्ति, तेहि समं करयाह खणिसेसं ।  
 जयाभिन्नयत्तकमा, पत्ता ते तारताकणं ॥ ३१ ॥  
 अह भित्तिपरियमणा, द्धिणोयज्जणकए गहिच्चनडा ।  
 गियरहि वारिया वि डु, चलिथा देसंतरम्मि हमे ॥ ३२ ॥  
 भित्तिहि अंतरा अ-तरायवसभो य गहिच्चरुरिषणा ।  
 उररिधोषाद्वन्वा, पवन्नपुणं पट्ठयं पत्ता ॥ ३३ ॥  
 द्धिपण तेण तदियं, गहिउं हहं कुम्पंति धवसायं ।  
 दीणारसहस्सजुगं, दुक्खसहस्सोहि अज्जति ॥ ३४ ॥  
 तो यद्धियवहुतएहा, कण्णालिग्गह भंरुमालाभो ।  
 पकुणंति करिसयं पि डु, उच्चविस्सत्ताई कारंति ॥ ३५ ॥  
 तस्सलसत्तनिग्गणं, निपिअणं सुणियमाह बवहारं ।  
 कारंति एव जाया, ताणं दीणारपणसहसा ॥ ३६ ॥  
 तो तहसंण इच्चा, कामेण हक्खे वि जाय ते मियियं ।  
 अह कोरि पुरणिच्चा, जाया सिक्खापुण्येण ॥ ३७ ॥  
 तो तुम्भेमीनिवहा, पदिया देसंतरेसु विवियेसु ।  
 जइदिम्मि पोयसंघा-यवसिथा करहमल्लिया ॥ ३८ ॥  
 गहियाइ निवकुलाभो, पट्टेण बहूणि सुकउत्ताणं ।  
 विहिया धणगणियाभो, बहा उ हयाह हेडाभं ॥ ३९ ॥  
 इच्चाइ पायकोभिदि, जा कोरि वि तस्से संमियिया ।  
 तो पावभित्तवसभो, उववसिथा रयणकोऽहिच्चा ॥ ४० ॥  
 अह खियठिण सवयं, पोए ते पाथिया रयणभूमिं ।  
 ताकुरया विलग्गा, गाढं कके कुरंगस्स ॥ ४१ ॥  
 जंपए हंत हंतुं, असदरम्मिं करेसु अप्पवसं ।  
 सयलं द्धिणिमिणं जे, धाणिणां सव्वयिं इह सुयणा ॥ ४२ ॥  
 इय सा जंपह निब्बं, तदेय ते परिणयं इमस्स तन्नं ।  
 पाक्खवह सागरो सा-गरम्मि लाहकण सो इदिं ॥ ४३ ॥  
 असुहउत्ताणोवगभो, जलहिजलुत्तोऽखीसियसरीरो ।  
 मारिकण तन्नरग-म्मिनारोऽसागरो जाभो ॥ ४४ ॥  
 काठं सयकिच्चं ता-उगस्स दिट्ठो कुरंगो हियए ।  
 जा जाइ कियि दूरं, ता कुट्टं पयवहं उणि ॥ ४५ ॥  
 बुद्धो बोमी गलिय, कथाणं कसइयं लाहए पत्तां ।  
 कह कहवि तुरियदिवस, पत्तां नीरानदितांरम्मि ॥ ४६ ॥  
 अजिणिय धणुणोए, भुंजिस्सं इय विविचिरो धणियं ।  
 भिम्मरो वणम्मि हरिणा, हलिभां धूमण्णं पत्तां ॥ ४७ ॥  
 तो भमिय जयं ते दो, वि कथवि अज्जणयं हरी जाया ।  
 इकगुहयं सुज्जिय, चउत्थनरए गया मारंठं ॥ ४८ ॥  
 ता अहिणो इरामिदिणा, कए कुमंता महत्तयं सुज्जं ।  
 विज्जायसुकउत्तणा, पत्ता धूमण्णं पुदवि ॥ ४९ ॥  
 अह बहुभवपज्जेतं, पणम्म वणिसस्स जयिय जज्जाभो ।  
 तम्मि मय विहवकए, सुज्जिय मारंउ गया इदिं ॥ ५० ॥  
 भमिय जयं पुण जाया, तणया निवयस्स उवएए तम्मि ।  
 कइहंता रज्जकए, मरिउं पत्ता तमतमाए ॥ ५१ ॥

एवं दृव्यनिमित्तं, सहियाभो तेहि वेयया विविहा ।  
 न य तं कस्सह विअं, परिउत्तं तं सयं जयं ॥ ५२ ॥  
 अह पुव्वभवे काठं, अग्गणतयं तहायिइं कियि ।  
 जाभो सागरजीवो, तं निव इयरो तु हूअं ॥ ५३ ॥  
 तुग्हाएवि पव्वकभो, इभो परं समरविजयजुत्तो ।  
 सा काही उवसम्मं, इक्कसि तुह गहियवरणस्स ॥ ५४ ॥  
 तो कुरयाइ सदिभो, अदिभो तस्स थावणज जीवणं ।  
 उस्सहउहदहियदेहा, भमिहीहा उववसंनिम्मो ॥ ५५ ॥  
 इअ सुणिअ गक्खयंवर-गपरिगभो गिणए धयं राया ।  
 नियभाइणउअहरिकुम-रवसहसंकमियरज्जजुत्तो ॥ ५६ ॥  
 कमसो अरतव सोसिय, देहो बहुपुदिय सुक्क सिक्कतो ।  
 अम्मजुजयं विहार, उउजयचित्तां पुव्वजेह ॥ ५७ ॥  
 कस्सवि नगरस्स बाहं, पल्लववाइ चिन्नो य सो जययं ।  
 दिट्ठो पायिठेण, सवयणं कहिदि वि गमिरेणं ॥ ५८ ॥  
 वदरं सुमरंतेयं, इणिभो अग्गणे कंधराइ सुणी ।  
 गुक्खेणामियिभुअ, पिअो धरणीयडे सहसा ॥ ५९ ॥  
 चित्तए र जीव ! तए, अग्गणवसा जिवेगरदिणए ।  
 विणयाभो अयणभो, नरएसु अणंतसां पत्ता ॥ ६० ॥  
 गुरुअरयहणकणदो-इयाहमीउअणुहपिवासाइ ।  
 उस्सहदुहदंतीलो, तिउरिउत्तु वि सवयिजयम्मि ॥ ६१ ॥  
 ना पीर मा विसीयसु, इमासु अइअप्येयणएसु तुम्भं ।  
 का उअरिउं जलहि, निउत्तए गुण्णं नीरं ॥ ६२ ॥  
 वउज्जेसु कूरनायं, विसुअंवात्तो जिउएसु सव्वेसु ।  
 बहुकम्मअवसहाइो विससभो सवयिजयम्मि ॥ ६३ ॥  
 तं लको इह धम्मो, जे न कया कुरया पुरावि तए ।  
 इय चिंतो चत्तो, पायण समं स पाणोइं ॥ ६४ ॥  
 सुहसारे सहसारे, सो उववसो सुगे सुकयपुणे ।  
 तत्तो चविय विदह, सदिहं सुंनि सुक्कसावि ॥ ६५ ॥  
 अशुवेत्यशुकरुणिणामविवामहेनोः ।  
 धीकांतिच-उनरच-उचरिअमचुचैः ।  
 जय्या नरा जननमृत्युजगदिजिता, ।  
 अक्रतागुणमरीणांधया इधचत्तम् ॥ ६६ ॥ ५० २० ।

अक्रवृत्त-अक्रवृत्त-त्रि० न विद्यते केवलमस्मिन्सत्यकवक्ष्यम् ।  
 अशुके, सूत्र० २ अ० २ अ० ।  
 अक्रोउहदुह-अक्रोतुहदुह-त्रि० न० ७० स० नटननकादिपु. अ-  
 क्रोतुक, “ नो भावए नो वि य माविअप्या, अक्रोउहदुहं य सया  
 सपुज्जे ” इश० ए अ० ३ उ० ।  
 अक्रोप्य-अक्रोप्य-त्रि० अक्रापनीये, अदृपर्णीय, सू० १ उ०  
 “ अक्रोप्यजयजुयज्ञा ” अक्रोप्यमोच्यं रम्यं उह्णुगुलं यासां  
 तास्तथा । प्रश्न० आश्र० ३ श्र० ।  
 अक्रोविद-अक्रोपित-त्रि० अदृपर्णीय, “ आरियं उयसंपज्जे, स-  
 ध्वधम्ममकोविद्यं ” । सूत्र० १ श्र० ८ अ० ।  
 अक्रोविद-पुं० अतन वयसा चाऽप्राप्तसोय्यताके, इय० १ उ० ।  
 अर्पावनेतं, सक्कात्सावंधांपरहितं, सूत्र० १ श्र० २ अ० २ उ० “ आ-  
 रंजाइ न सकेतं, अविपसा अक्रोविथा ” सूत्र० १ श्र० ३ अ० ३  
 उ० । सम्यग्दानानिपुणे, “ वणे मूढे जहा अंतु, मूढे वेणापुमा-  
 मिए । दो वि एए अक्रोविथा, तिअं सोयं तियचउह ” सूत्र० १  
 श्र० १ अ० ३ उ० । इश० । पि० ।

अक्रोवियप्प ( ण )-अक्रोविदात्मन्-पुं० सम्यक्परिज्ञानवि-  
कस्ते, पु० १ उ० ।

अक्रोहण-अक्रोधन-बि० कोभरहिते, "एसत्पमोक्षोऽभ्यसे  
धरे वि, अक्रोहणे सब्रते तयस्सी" सूत्र० १ भ्रु० १० ब्र० ।  
अक्रन्तं-देशी-प्रबुद्धे, दे० ना० ।

अक्रन्त-आक्रान्त-बि० आक्रम-कः। अद्यधे, आचा० १ भ्रु० ६  
ब्र० ५ व० । अभियुते, स्वापरिव्याप्त्यै ध्याते, सूत्र० १ भ्रु० १  
ब्र० ४ उ०। भावेकः। आक्रमणे, नं० । भ० १ श० ३ व० । आ-  
क्रमन्ते, पादादिना चूतकार्दौ प्रवृत्ति । अचित्तवायुकायिकभेदे,  
पुं० ब्या० ५ डा० ३ व० ।

अक्रन्तदुस्त्र-दुःखक्रान्त-बि० आक्रान्ता अभिभूता दुःकेन  
शारीरमासेभाऽसतोद्वेयेन दुःखाक्रान्ताः ( दुःखाजिज्ञृतेषु )  
सूत्र० १ भ्रु० १ अ० ४ उ० । "सर्वे अक्रन्तकुम्भय, अक्रान्तस्ये  
अहिसिया" सूत्र० १ भ्रु० १ अ० ४ उ० ।

अक्रन्द-आक्रन्द-पुं० आक्रन्द-घञ् । सारवे रोदन्ते, वाच० । तदा-  
त्मक एकवच्यारिणे उक्त्वाऽऽशातनाभेदे, आक्रन्दं हृदितविशेषं  
पुत्रकलशादिययोगं तं विधत्ते । प्रवा० ३८ डा० । आह्वाने, शब्दे च,  
कर्मणि घञ् । मित्रे, धानत्रि च, आचारं घञ् । दारुणं युक्तं, युःसि  
नौ रोदन्स्थाने च । आक्रन्दयति-अञ् पार्ष्णिप्राहायाच्चावर्त्सिनि  
नृपभेदे, "पार्ष्णिप्राहं च समर्हय तथाऽऽक्रन्दञ्च मारुते" मनु० ।  
अक्रन्द-आक्रन्दन्-न० । आक्रन्द-ल्युट् । महता शब्देन वि-  
रचणे, आ० ५ अ० । आह्वाने च, वाच० ।

अक्रन्दुर-अक्रन्तु ( त् ) वरं-स्त्री० गुच्छेनेदं, प्रभा० १ पृ ।

अक्रन्थल-अक्रन्थल-न० मधुरावस्थलभेदे, ती० ६ कटप ।

अक्रम-आक्रम-पुं० आक्रम-घञ् । अक्रुः । बहूनाऽऽतिक्रमणे,  
अभियन्ते, ध्याति, आग्रे च । वाच० । प्राहते "आक्रामे रोहावा-  
च्यारुच्यु" धा० १५६ । इति सूत्रेणाक्रमेण्य आग्नेशाः वा आहायश्च  
उक्त्वाश्च ह्युदह । अक्रमश्च आक्रमते, प्रा० । आक्रमणकर्मणः परा-  
जयं, वच्छेदं, आ० म० प्र० । बलाकारं, आ० ५ अ० । आक्रम्यते  
परलाकाऽनेन । करणं घञ् । परलाकमासिंसाधने विद्याकर्मदो,  
रुताक्रमणे, अभिभूते, ध्याते, आग्रे च । वाच० ॥

अक्रमण-आक्रमण-न० अभिभवने, विशेष० । पादेनाक्रीडने,  
आ० ५ अ० ।

अक्रमिन्ता-आक्रम्य-अ० आक्रमणं कृत्वेत्यर्थे "भिमकृषेहि अ-  
कर्मिन्ता दृढदादा गाढं" प्रहस० आ० १ डा० ।

अक्रशास्त्रा-देशी० बलाकारं, ईपमसत्पार्थी स्त्रियाम्, दे० ना० ।

अक्रा-देशी-भगिन्याम्, दे० ना० ।

अक्रासिदेवी-स्त्री० व्यन्तरदेवीविशेषे, ती० ६ कटप ।

अक्रिद्ध-आक्रिष्ट-बि० न० त० अबाधिभते, निर्वन्दने, भ० ३ श०  
२ उ० । स्वशरीरोत्पक्षेकरहिते, जी० ३ प्रति ।

अक्रकुट्टं-देशी० अक्र्यासिते, दे० ना० ।

अक्रुत्-गम-भा० गति, "गमेद अक्रुत्प्राणवजावसज्जो-  
कृत्साऽकृत्स०" धा० १६१ । इति सूत्रेण गमेरुकृत्साऽऽदेशः । अक्रु-  
सह, गच्छति, प्रा० व्या० ।

अक्रेज ( य )-अक्रय-बि० अक्रयणीये, स्था० ६ डा० ।

अक्रो-देशी-भूते, दे० ना० ।

अक्रोहण-आक्रोहन-न० संग्रहे, विशेष० भुः। अ० ।

अक्रोहो-देशी-द्वारे, दे० ना० ।

अक्रोस-अक्रोश-न० वर्षायोग्येष्वेत्रविशेषे, यस्य मूलनिबन्धा-  
त्परतः पक्षां दिशाभ्यन्तरस्यामेकदयां द्वयोस्तिस्त्रु वा दिक्षु  
अटवीजलप्रवापदः सन्ति, तेन पर्येतनदीव्याघातेन च ग्रामं  
मिवाचर्यां च न सत्प्रभवति, तन्मूलनिबन्धमात्रमक्रोशम् ।  
व्य० १० उ० ।

आक्रोश-पुं० आक्रुश-घञ् । तुर्वचने, भ० ८ श० ८ उ० ।  
निद्रुवचने, आ० ५ अ० । अस्त्वभावात्प्रायः, उक्तं २  
अ० । विरुद्धचिन्तने, शापे, निन्दार्थां च । वाच० ।

अक्रोसग-आक्रोशक-बि० तुर्वचनवादिनि, उक्तं २ अ० ।

अक्रोसणा-आक्रोशना-स्त्री० सूत्रोऽसि त्वमिवापिद्यचनेषु,  
ब्रा० १६ अ० ।

आक्रोसपरि ( री ) सह-आक्रोशपरि ( री ) पद-पुं० आ-  
क्रोशनमाक्रोशोऽसभ्यसापात्मकः स एव परीपदः आक्रोशप-  
रीपदः द्वादशे परीपदे, उक्तं २ अ० । आक्रोशोऽनिष्टवचनं,  
तच्छब्दा सत्येतरात्त्रोचनया न कृत्यन्ते किन्तु सहैत आ० ५ अ० ।

"आक्रुशोऽपि हि नाक्रोशते, क्रमाभ्रमणतो विदन् । प्रत्युनाक्रोश-  
रि युतिभित्तयेऽप्यकारिताम्" ध० ३ अ० । "नाक्रुशो मु-  
निराक्रोश-सम्यक्ज्ञानाद्यजकः । अपेक्षेतोपकारित्वं न तु ज्ञेयं  
कदाचन" आ० १ अ० । आ० म० शिः । तथाहि सर्वं, कः  
कोपः । शिष्याभि हि मामयमुपकारी, न पुनरेवं करिष्यामीति ।  
अनुते चेत्सुसुतरां कोपो न कर्त्तव्यः । उक्तं च "आक्रुष्टेन मति-  
मता, तन्वार्थविचारणे मतिः कार्यी । यदि सत्यं कः कोपः,  
स्यादनुते किमिह कोपेन" इत्यादि परिभाष्ये न कोपं कुर्वीत् ।  
प्रव० ८६ डा० । "चाक्रुशः क्रमयं द्विजातिरन्धवा शुद्धोऽथवा  
तापसः, किं वा तस्यनिष्ठेषुशशक्तितयोरीश्वरः कोपि वा । इ-  
त्यस्वल्पविकल्पजलपमुक्षुरैः संभाष्यमाणो जने-नो कृष्टो न हि  
शैव हृष्टहृदयो यामीश्वरं गच्छति" पुनर्गाली, श्रुतेति वि-  
चिन्तयेत् । "ददतु ददतु गाली गालिमन्तो प्रवन्तः, घयमपि त-  
द्भावात् गालिदानोऽप्यशकाः । जगति विदितमेतद्वापि विद्य-  
मानं, ददतु शशविषाणं ये महास्यागिनोऽपि ॥१॥" इति वि-  
चाये समस्तं निष्ठुत् । उक्तं २ अ० । "अक्रोस गणपमारणं,  
धम्ममंसणालुसल्लज्जणं । लामं मज्ज धीगे, जहुत्तरायं  
अभावमिम्" सूत्र० १ भ्रु० ८ अ० । एतद्वच्चुत्तदाह ।

अक्रोभेज परां जिक्वुं,  
न तेसि पकिंसजले ।  
सरिमां होइ बालाणं,  
तद्दा भिक्वुं न संजले ॥ २५ ॥

आक्रोशोस्तिरुच्युयात् । पराऽऽर्थं धर्मापेक्षया धर्मव्याह आत्म-  
व्यतिरिक्तो वा जिक्वुं यति यथा भिक्कुमुपकुः किमिह त्वमागतोऽस्ती  
ति ( न तेसिति ) सूक्तवचनस्य च व्यययाश्च नस्मै प्रतिसंज्वलेत्  
निर्यातनं प्रति । तत आक्रोशादानतां न संज्वलेदतिभिर्यातनार्थम्,  
देहदाहोहितपानप्रत्याक्रोशाभिघातादिभिरक्रोशं वीच्येत्, सं-  
ज्वलनकोपमपि न कुर्वीदिति । संज्वलेदित्युपादानं किमयमुपदि-  
ह्यत इत्याह सत्सः समानो भवति संज्वलति प्रकमः । केयां ?  
बालानामहानां, तथाविधकृपकथत् । यथा कमित् कृपको देवत-

आक्रोसपरिसह

यायुर्भारवजितया सततमजिनयते, उच्यते च मम कार्यमावेद्वी-  
र्याम् । अन्वयेकेन धिग्जातिना सह योऽनुमारब्धस्तेन च बलवता क्षु-  
द्रामशरैर्ना मुवि पातितस्तापिततश्च, रात्री देवता बन्दिनुमा-  
याता कृपकस्तृष्णीमास्ते । ततश्चासी देवतायाऽभिहितो, भगवन् !  
किं मयाऽपराधम् । स प्राह न तस्य त्वया तुरात्मनो ममापका-  
रिणः किञ्चित्कृतम् । सोऽपवादीन् न मया विदोषः कोऽप्युपलब्धः,  
यथाऽभ्रमात्रोऽयं पित्राजितिरिति । यतः काप्योऽपि ह्य्राष्यपि सन्मात्रो  
संपन्नचिति । ततः सतीप्रेरणेनेति प्रतिपन्नं ह्यपकेणेति । उक्ते-  
बाध्यं निगमयितुमाह । ( तम्हृषि ) यस्मात्सहशो भवति वा-  
नानां तस्माद् भिद्युन् संज्वलेदिति सूत्रार्थः ।

हृत्पोषदेशमाह ।

सोषा एं फरसा चासा, दारुणा गामकेटया ।

तुसिण्णीभ्रो उवेहिजा, या ताम्रो मरुसं करे ॥३५॥

शुवाऽऽकरथं षामिति वाष्यालंकारे पठयाः कर्कशा प्राया गिरः ।  
दारवन्ति मन्दस्तथानां संयमविषयां धृतिमिति दारुणास्ताः प्राग-  
ऽनिक्रमप्रागस्तस्य कपटका इव ममकपटकाः प्रतिकूलशत्रुत्व-  
कपटकत्वं शेषां दुःश्लोपादकत्वेन मुक्तिमार्गप्रवृत्तिविग्रहेतुतया च  
तदेकदेशत्वेन च परुषप्राया अपि तयोकाः । भाषाविशेषणत्वे-  
ऽपि चात्राविष्टसिक्कित्वापुसिक्कित्वा, तृष्णाश्लेन कापाःप्रतिपुरु-  
षभाषी एवंविधश्च । " आ सहइ उ गामकेटय, उक्रोसपरिहा-  
तज्जणायास " इत्यागमं परित्रायवन्नुपेक्रेतावधीर्येव । प्रक-  
माप्यश्वनाया एव कर्थाभिपत्याइ न ता मनासि कुर्याद, प्रापिणि  
हेषाकरणेनेति सूत्रार्थः । उच० २ अ० ।

कर्मणा दुःभगा चैव, इवाऽऽदुष्टं दुष्टो जणा ॥ ६ ॥

पुष्यकृजनाः प्राकृतपुरुषा अनायकतया इत्येवमाहुःरित्येवमुक्तव-  
न्तः । तद्यथा । य एते यतयः जलाविवद्रेहा लुञ्जितशिरसः कुधा-  
दिवेदनाप्रस्तास्ते एतेः पूर्वाचारितः कर्मजिराताः एवैवकृतकर्मणः  
फलमनुभवन्ति । यदि वा कर्मजिः कृष्यागिरिभारतोस्तकृतुमसम-  
र्था वञ्चिता सन्तो यतयः संवृथा इति, तथैते दुःभगाः सर्वेणैव पुत्र-  
दारदिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामच्युपगता इति ।  
एते सहे अचापंता, गामेसु षामेसु वा ।

तथ्यं ताद विसेयंति, संगमंमिव जीरुषा ॥७॥

एतदं पुत्रोक्तानाकारुण्यत् तथा चौरचारकादिकृपाद् श-  
ब्दाद् सांढुमशक्यनुवृत्तो प्रागमगारात् तन्मरणात् वा व्यत्यस्य-  
ताः, तत्र तस्मिन् आक्रोशे सति भन्दा अज्ञानप्रयुक्ततया विदी-  
दिति धिगमत्सका जवन्ति संयथा अश्रयन्ति नता, भीरवः संप्रापे  
रणशिरसि चक्रकुन्तासिश्चिकनाराचाकुले रटयटहशक्रुण्डीरी-  
नाकरभरि समाकुलाः सन्तः पौरथं पारत्यज्याऽथवाऽपटहमङ्क-  
रुत्य जग्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादसत्वाः सत्यमे वि-  
दीदति । सूच० १ श्लो ३ अ० १ उ० ।

अनार्जुनामज्ञाकारणिकया ।

रायगिहे मालारो, अज्युष्यभ्रो तसस जज्ज संदशिरि ।

मोगरपाणी गोर्ह, सुदंशना वंदंभ्रोणीति ॥ उच० नि० ।  
राजशुहे मासाकाराऽज्जुनकस्तस्य प्रायो स्कंदश्रीः मुक्त्रपाणि-  
यंको गोर्हो सुदंशने ( वंदंशति ) वंदनार्थं निगच्छतीति गा-  
थाकारार्थः, प्राषायंस्तु संप्रदायगम्यः । उच० ३ अ० । ( स  
च 'अज्युषण' शब्धे )

जो सहइ हु गामकेटय, आक्रोसपरिहातज्जणाओ अ ।

जयजेरवसहसपट्टासै, समसुहदुक्खसहदे य जे सजिक्खु ॥

किच (जो सहइति) यः लहु महात्मा सहते सत्यप्रागमकपट-  
काद् प्रामा इन्द्रियाणि, तद्ःकहतयः कएटकास्तान्, खरुपत एवाह,  
आक्रोशान् प्रहारान् तज्जनाश्रैति । तत्राक्रोशो अकारादिभिः, प्र-  
हाः कशादिभिः, तज्जना श्रुत्यादिभिः, तथा प्रेरकमया अत्यन्त-  
रीक्रभयजनकाः शत्रुः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते  
तस्यथा तस्मिन्, वेताह्यदिकृतातेमाहाहृहास इत्यर्थः अत्रोपस-  
र्गेण सत्यु समसुहदुःखसहस्योऽवचलितभावः स निश्चुरिति  
सुत्रार्थः । इ० १० अ० ।

आक्रोसपरि ( री ) सहविजय-आक्रोशपरि ( री ) षह-  
विजय-पुं० मिथ्यादशोनादूहसोदीरितुदुवैवांसि हनितावदाही-  
नि क्रोभहृत्वदाहीपनपरिह्वानि श्रुयवन्मोऽपि सत्यतोकारं कर्तु-  
मपि शक्यवन्तो 'दुरन्तः क्रोधादिकृपायोऽप्यनिमित्तपायकर्मवि-  
पाक' इति चिन्तयतः कृपायानवमात्रस्यापि स्वहृदयजनव-  
काशदाने, पंचा १३ विव० ।

आक्रोह-आक्रोह-भि० न० ब० क्रोधोद्ययिरीहते । विफली-  
कृतक्रोधे, श्री० । नम्रः स्वल्पार्थायान् स्वधक्क्रोधे, ज० २ वल्ल० ।  
क्रोधमकुशोणे, उच० २ अ० । " स एण भेते ! अक्रोहंत्तं अ-  
माणत्तं अमायत्तं अलोमत्तं समणान्नि निमांथायत्तं पसत्तं ? इता  
गोयमा । अक्रोहंत्तं जाव पसत्तं " अ० १ श्ल० ९ उ० ।

अवदमिन्द्र-देही-तथेत्यर्थे, दे० ना०

अवर्ख-अक्रु-पुं० जीवे, आ० म० प्र० स्था० तत्रयत्रापि "मा-  
वाविचिमिकमिहानिकष्यणी" इत्यादिना औपानादिः सप्रत्ययः ।  
आ० म० प्र० ।

जीवो अक्वो अत्य-व्वावए भोयसगुणशिश्रोएण ।  
अक्रुस्तावज्जिव उच्यते, केन हेतुनेत्याह ( अत्यवावणेत्यादि )  
अथेव्यापनजेत्रगुणान्वितो येन तेनाक्रो जीवः । इदमुक्तं भव-  
ति "अहाक् व्यासी" अत्रयते हानात्मना सर्वार्थान् व्याप्तोतीस्ती-  
णादिकनिपातनाह्को जीवः । प्रथवा "अहा भोजनं" अत्रनाति  
समस्तत्रिहृद्यनन्तर्षित्तो देवलोकाससृष्ट्यादीर्भावाद् पाहयति  
पुङ्खे वेति निपातनाद्को जीवः । अत्रातेनोज्जानार्थेवाद्, कुजे-  
श्च पाहनाज्यवहारार्थेत्यादिति भावः । इत्येवमर्थं व्यापयनात्त्र-  
गुणगुणकत्वेन अहिकस्याक्तवं सिद्धं भवति । विदो० । इन्द्रिये,  
न० " जमकृमिन्द्रियं प्रोक्तं, हृषीकं करणं स्मृतम् " इति षच-  
नात् । " अक्रुत्सस पोगम्यया, जे दम्भेदियमणपर होति "।  
आ० म० प्र० । प्रहा० । आ० विदो० नि० चू० । दश० । अज्ञा-  
ति नवनीतादिकमित्यक्तः । धुरि, (चक्रनामो) उच० १ अ० । " अ-  
क्ख भेगमि स्याइ " उच० ३ अ० अ० । श्री० । जं० । ज० ।  
चतुर्भिहेस्तीरिप्येऽवमानविशेषे, अ० । अ० । व्यावहारिका-  
ऽङ्कः पशुवत्यङ्कभूमिनि भवति । स० ६ स० । अह् इत्यङ्कापङ्क-  
दानयञ्चेति इमपुष्पिकाऽप्ययमे, द्वा, १ अ० । चन्दनके, अस्मिद् हि  
अनाकारवती साध्यादेः स्थापनां कृताऽऽवश्यकक्रियाः कुशेत्तः  
स्थापनाऽऽवश्यकं भवति । अ० । प्राव० । तदपे उक्त्तौपम-  
हिकोपधिधियोत्तं, "अक्खलासंथारो वा, परामयेगीगोहो अउक्का-  
सो । पोऽधगपणं फल्लं, उक्कोसोऽगमहो सव्वा" अ० ३  
अधि० ना० पि० । पं० ४० । कटाकफलविशेषे, अ० ३ अ० ।  
पाराशे, कपदेके, "कजय अपराजिय जहो, अक्खेहि कुसलेहि  
दीवयं" द्वा, १ अ० २ अ० २० । विनीतेके, रावणसुतमेव, सपं,

जाताम्बु, गहमे च, तुर्थे, सौष्वले, कर्षपरिमाणे च, न० वाच० ।

अप्रसङ्ग-अक्रुतिक-वि० अक्रय, "अप्रसङ्गधीयणं अप्रापणं कर्मबधेणं मुहुरि" अकृतिकबीजेन अक्रयेण उःखहेतुनेत्यर्थः । प्रश्न० आश्र० १ श्रु० ।

अप्रसङ्गाद्य-अक्रुयोदक-वि० अक्रयं शाश्वतमविनाशयुक्तं जलं यत्स्य सोऽक्रुयोदकः । नित्यसाक्षिलभूते, "जहा से सयं-अप्रसङ्गं उदहं। अप्रसङ्गाद्य" उक्त० ११ अ० ।

अप्रसङ्गसम्-अक्रुचर्चन-न० जहापकचणकारो, "अप्रसङ्गसम् उचगडदेसं" ज्ञा० ६ अ० ।

अप्रसङ्गवैश्व-देशी-सुरते, प्रदोषे च । दे० ना० ।

अप्रसङ्गवैश्व-अक्रुनिवृत्त-खी० गन्ध्याम्, पि० ।

अप्रसङ्गाय-अक्रुपाद-पुं० अक्रं नेत्रं द्रोणसाधनतया जातं पादोऽस्य म्यायसुत्रकारके गौतममुनौ, स हि स्वमतद्वयकस्य व्यासस्य मुखदशोर्न चक्रुपा न करणीयमिति प्रतिक्रिया पश्चाद् व्यासेन प्रसादितः पादो नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टवानिति पौराणिकी कथा । वाच०। अक्रुपादमते किल योऽश्रु पदार्थाः। "प्रमाणप्रमेय-संशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताद्यवयवकर्तृनिर्णयवाद् जल्पवित-गडहृत्वाभासच्छ्रजानिप्रहृत्पानानां तत्त्वज्ञानाभिःभ्यसाऽ-धिगमः" इति घञनात् । इत्याद्यन्त्र प्रकृपयिष्यते । स्या० । "अक्रुपादेर्नोः प्रन्थ च" विश० । श्रा० म० प्र० ।

अप्रसङ्ग-अक्रुम-वि० कृमते कृमः । अच । न० त०। असमर्थे, कृम-भावे अक्रुः अभावाच्च, न० त०। कृमाभावे, ईर्ष्यायां, खी०। वाच० । अयुक्तत्वे, स्या० ३ ग० ३ उ० । अनुचितत्वे असमर्थत्वे, स्या० ५ ग० १ उ० ।

अप्रसङ्ग-अक्रुन-न० अक्राद् इन्द्रियसन्निकर्षाज्जातः । जन-नः। इन्द्रियविन्यसन्निकर्षोत्पन्न प्रत्यक्षज्ञाने, वाच० । "अक्रुव्यापा-रमाश्रित्य, भवद्कृजमिष्यते । तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्रु-भवं जनेव" श्रा० म० छि० ।

अक्रुत-पुं० बहु० न क्षताः । अक्षान्ततदुक्ते, देशी० । प्रव० । पञ्चा० । स्वस्यमात्रे, । न० कृत्युक्तानिभे, उत्कर्षान्विते, अविदारिते, यंच च, त्रि० कृणभाये, वाच० । परिपूर्णे, स० १ स० । प्रश्न० । क० न० त० क्षयाजावे, न० वाच० ।

अक्रुय-वि० नाऽस्य कृत्याऽस्तीत्यक्रयः न० । अक्रय्यंयसाने, ज्ञा० ४ अ० । अप्रमाणेति, पञ्चा० ४ विष० । स० । "सिद्ध-मयलसमसंश्लेषतमकव्यमवभाहमपुत्ररावस्यै सिद्धिगदना-मयं तारां संपादिउकामि" अक्रयं कृत्यरहितं साधनतत्त्वसात् । कल्प० । अनांसासाधपयैवस्वितकवात् । दे० १ शो १ उ० । विनाशकृपाज्ञावात् । जी० ३ प्रति० । रा०। ध० । "स पञ्चया अक्रव्यसागरे वा, महोदही वा विअश्लेषपारे" स भगवान् प्रकृत्याऽक्रुयोऽज्ञीणज्ञान इत्यर्थः । लू० १ श्रु० ६ अ० ।

अक्रुयपिहित-अक्रुयनिधि-पुं० देवजाणकारो, अक्रुययणि-हिं च अणुवद्वेहसामि "विपा० १ श्रु० ७ अ० । अत्रयं भा-एरागारं । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ४ ।

अक्रुयपिहितन-अक्रुयनिधितपस-न० सौकिकफलप्रदे त-पोत्रेदे, यत्र जिनिबिम्बस्य पुरतः स्थापितकडशः प्रतियिदं प्र-क्रुयमाणेणलुसुम्प्या यापद्विदिनेः युद्धते तावन्तं दिना-न्यकाशनाम्नाऽकारितयोऽक्रुयनिधितयः । पञ्चा० ७ विष० ।

अक्रुयपनिधि-असपनीवि-खी० अक्रया चासौ तीविष्य अ-

क्रुयनीविः। यो० ६ विष० । अत्रयं मूलधने, येन जीर्णोत्तस्य देवकुलस्योत्तारः करिष्यते । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

अक्रुयतइया-अश्रयतृतीया-खी० कर्म-स० । वैशाखशुक्र-तृतीयायाम्, "वैशाखमासि राजन्त्रे, शुक्रपक्षे तृतीयाका । अक्रया सा तिथिः प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता । सन्तं दानादिकं सर्वं-मङ्गलं समुदाहृतमिति, वाच० । तस्मादाश्रयकथा वैश्वम्-प्रश्लिष्य प्रभुं पार्श्वं श्रीचिन्तामणिसंज्ञकम् । अथाश्रयतृतीयाया व्याख्यां लिख्यते मया ॥ १ ॥ एतदेवाह श्रुतकेवली भगवान् भद्रबाहुः । " उतमस्स इ पारुण्य, इक्षुरसो आसि लोण नाहस्स । स्यात्ते परमं, अश्रियरससोषं आसी ॥ १ ॥

पुष्टं च अशो द्राणं, दिव्याणि आहियाणि दूराणि । देवा विस-भिषडिआ, वसुहारा चैव दुष्टीय ॥ २ ॥ भयवं धणेण युषणं, जसेण भयवं रसेण पडिहयो । अण्णा निरुवमसुचकं, सुपत्त-द्राणं महधुवणं ॥ ३ ॥ रिसहेण समं पत्तं, निरज्जं वसु-रससमं द्राणं । सेयंससमो भाषो, हविज्जं जरमेगियं हुज्जा ॥४॥" इति । एतान्तं गाथानां आभाषः कथयाऽवगन्तव्यः । तथाहिः-

श्रीश्रुपभदेवस्वामिनो जीवः सवार्धेसिद्धविमानान् च्युत्वाऽऽ-वाढकृष्णचतुर्थ्यां तिथौ नमिनाम्नः कुलकरस्य भार्याया मरु-देव्याः कुलावधनीयाः । मय मासान् चत्वारि दिनानि च तत्रो-पवित्रा चैत्रकृष्णाष्टम्यां निश्रीधरसमये जन्म जगृहे । तदानीं विपुत्रयं विदित्नुत् । तत्रं नारकैरपि अभ्यैः शमययामि । तदनु यदपञ्चादहिकुमारिकाणांमासनानि चकम्पिरे । ताभा-वधिज्ञानेन भगवतो जनिप्रभवम् जन्मस्थानमासाद्य च स्वस्व-कार्यं संपाद्य निजनिजननानि प्रत्यगमन् । ततश्चानुत्पन्नैव-क्यकनामिन्द्राणामपि विहराञ्जेलुः । तेऽप्यश्नान्निषेव भग-वतो अनुग्रहणं विदित्वा सौधर्मैन्द्रव्यतिरिक्ता अन्ये त्रिष-

धिरिन्द्रा हेमाद्रिं प्रतिजमुः । ततः सौधर्मैन्द्रोऽपि जन्मस्थानं समागत्य तत्रैवभ्यो मातृमुखेभ्यो जनेभ्योऽवस्थापिनीं त्रिां दत्त्वा मातृसन्निधौ स्वशक्या रचितं भगवत्पनिबिम्बं तिषाय भगवन्तमुजाभ्यां पशियभ्यां गृहीत्वा कनकाद्रिं समापयौ । तत्र च चतुर्धिसंख्यकैरिन्द्रे संयुय स्नात्रहोत्सवं कृत्वा ततः सौधर्मैविरहितैरन्यैरिन्द्रेष्टमो नन्दीश्वरश्चोप जग्मे । सौध-र्मैन्द्रस्तु भगवज्जनयः सन्निकृष्टे बालकं पूर्ववत् संस्थाप्य अश्रवस्थापिनीं त्रिां पूर्वनिहितं भगवत्पनिबिम्बं चापहृत्य "न-मो रत्नकुतिधारितये" इत्युक्त्वा मातरं प्रश्लिष्य ततो भग-वन्तं च नमस्कृत्य नन्दीश्वरश्चोपमज्जात् । तत्र सर्वे इन्द्रा अष्टाद्विकमहोत्सवं विधाय निजनिजसुरालयं समासदन् । अथ स भगवान् सौधर्मैन्द्रसंचारितास्तुतवन्तं निजाकृष्टमेध-सुच्यै । मातृस्तन्यापानं न चकार आऽआशानात् तीर्थहराणां तादृशाचरितत्वात् । ततः क्रमेण पिता "श्रुयम्" इति भग-वतो नाम विद्ध्ये । इन्द्रस्तु तदानीमिच्छाकुर्वंशमातिष्ठत् । विशतिलक्षपूर्वधर्मं भगवान् कुमारावस्थापयमातिष्ठत् । वाससो विर्नानाख्यां नगरं कारयित्वा भगवन्तं प्रायच्छत् रा-ज्याभियेकं चाकरोत् । आश्रियदिलक्षपूर्वधर्मं महाराजपदवी-मनुषभूय । सुगन्धा बुमक्षला चेति द्वे पत्न्यौ भगवतो बभू-वतुः । तयोर्भरतबाहुवलीप्रमुखं सुतारात्मजनिद । तथा आ-दित्यशशःसोमशशःअभुतयो बहवः पौत्रा आबभूवुः । ततो भग-वान् अश्रोपथारायं ज्येष्ठपुत्राय अतया वदौ, बाहुवलीने च तत्तशिला राज्यमदान् । अन्येभ्योऽपि तत्रैज्ययो यथाहं देश-नगरादिरारायं प्रदाय स्वयं चैवकृत्याष्टम्यां हीतं जगृहे, आ-



हारार्थे प्रतिग्रामं विजहार च, भद्रपुरवास्तु साधूनामाहार-  
दानं न विदुरतो भित्तौ याचकमानाय भगवते मयिमाणिक्या-  
दीयसुसमवस्तुयवोपाजहः । भगवता त्यक्त्वाप्रहत्वात्  
दीयमानमपि तत्सर्वं न जशेह, अतः सर्वतः पर्यटन् चतुर्विं-  
शत्वारहति एव किञ्चिदधिकमेकं वर्षमतिष्ठत् । अस्मिन्नेवा-  
वसरे गजपुरनगरे बाहुयलिनः प्रवीरः सोमयशःपुत्रः श्रेयांस-  
कुमारोऽभूत्, तत्र भगवान् श्रुतमन्वेव आहाराय विहरन्ना-  
जगाम । तदा नरकं श्रेयांसकुमारः “ मेरुपर्वतः कृष्णिवभूव,  
मया चासृजकलशैशङ्खालयित्वा स शृङ्गीकृतः ” इतीदं स्वप्न-  
मपश्यत् । तस्यामेव निशि तस्मिन्नेव पत्तने सुबुद्धिनामा श्रे-  
ष्ठपति “ सूर्यस्य किरणसहस्रं भूमौ निपजत श्रेयांसकुमा-  
रस्तु तदुत्थाय पुनः सूर्याग्निं संयोजयुः ” इति स्वप्नद्रा-  
रौतु । पुनः सोमयशा भूपतिरपि “ बभुररिपुसमवकदौ  
व्याकुलः कश्चन सुभटो यदा तान् स्वरिपुं जेतुं नाशकम्, तदा  
श्रेयांसकुमारं तस्य साहाय्यमकारि, येन स तत्तणमिव स-  
र्वान् विजिग्ये ” इति स्वप्नं निरीक्षाञ्चके । एवं स्वप्नत्रयं त्रयः  
पुरया श्रद्धानुः कतः प्रजाते सर्वे राजसन्धायुसंगम्य य-  
थास्वं स्वप्नं प्रव्यूह्युः । नद्वयधारी “ अथ श्रेयांसकुमारस्यापूर्व-  
स्वप्नाभिव्यक्तिः ” इति सर्वे सभ्या व्याजहः । एतस्मि-  
न्नगरे सदाऽऽप्रतिष्ठविद्यायप्रसक्तं भगवान् भित्तार्थं प्र-  
तिशुद्धं परिश्रमन् तत्र श्रेयांसकुमारनिकेतनमुपस्थेयुः । तस्मा-  
च्छतं जगवन्तं समवसोक्य कुमारोऽनीव जहपि । अग्न्ये च जना  
श्रष्टवन्साधुमुदाः पादाभ्यामव पथेऽन्तं तमवसोक्य हस्यश्व-  
प्रभृतीनि विविधवस्तूनि समुपाहरन् । भगवांस्तु किमपि नो-  
पादतु । तन तं लोकाः कांशावन् कृत्वा (विषयान्नामा चिन्तय-  
न्ति स्म, यतो जगवान् अस्मकस्तद्वत् किमपि नोपादत्, जातु  
अस्मासु कृत्वा योपलभ्यत इति । ते तु युगन्तवावस्थायांचरणी-  
वाहासिपुरतः साधुनिज्ञादानविधिं न विदन्ति । अथ श्रेयांस-  
कुमारो जगवतः साधुमुदां समवसोक्य “ इदंशो मुद्रा मया पूर्वं  
कुत्रापि निरीकृता ” इत्ययमुद्गृह्यादां कुर्वन् तदानीं तस्य मतिज्ञा-  
नमद्भूतं जानिस्मण्डानं समजनि । तेन ज्ञानेन भगवता साकं  
नव त्रया मे व्यतीताः इत्यादि सर्वे शोऽनुच्यन्त । तत्र “ धन १  
मिहृण १ सुर ३ महव्यव ४, लोबिग ४ वयरज ६ मिहृणां य  
७ । साहम्म ६ विज ६ अच्युय १०, चक्रौ ११ सव्य १२  
वन्मो य १३ ” ॥ इति साध्यात्मनां श्रयद्वैतप्रज्ञानं मध्ये प्रथ-  
मे भवे जगवान् साध्यादाऽभूत्, द्वितीयं युगञ्चिकः, तृतीयं  
देवता, चतुर्थं महावलनामा राजा, पञ्चमं लजितानुक्रमको  
द्वयोऽभवत् । श्रेयांसकुमारस्तु प्रथमे भवे स्त्रीव्यजानौ धर्मि-  
णीनामिका स्त्री समजनि । एवं क्रमेण बलिनाङ्कदेवायतारस्य  
नवमे भगवान् जीवानन्ताभिर्भवं वैद्यः, श्रेयांसजीवस्तु केशचा-  
र्यः श्रेष्ठिपुत्रः संजातः । तत्रापि द्वयोरगर्भविभजना बभूव । ततो  
दशमे जयऽयुतदेवतां क उर्भो मित्रदेवो संजातो एकादशे ज-  
गवान् चक्रयतीं श्रेयांसश्च सारथिः । द्वादशे चोर्भो सर्वाधिस्त्र-  
विभजे देवौ । तत आशुधि कृष्णे सति त्रयोदशे भवे भगवतो  
जीवाऽसुसमवदोऽहश्च श्रेयांसकुमारोऽस्मि । एवं स श्रेयांसो जा-  
तिस्मरणज्ञानेन प्राक्तनानां मथभवायं स्वरूपमन्वेदत्, तेषु अ-

वेपु पूर्वं साधुकियामाकांक्षित्, अत एव श्रेयांसकुमारो व्यञ्जित-  
यत् यत् संसारिजिवानां कीदृशमहान्निष् जयति येन त्रिलोका-  
प्रभृत् राज्यपदवीं तुण्यत् विदुष्य विषयभोगकषं सांसारिकसुखं  
किपाकफलमिव विदित्वा साधुर्वं गृहीत्वा च कर्मवचनविमो-  
चनाय प्रयतमानं रागद्वेषादसकान्धकारिभूत् परिग्रहं परमा-  
ण्डमात्रमवस्थीकुवाणं जगवन्तं नावेदिषुः । यः सर्वथा निरं-  
न्यो निपतिग्रहः स कथं पुनर्दस्यश्वक्याऽस्वर्णमणिर्माणिक्य-  
मुक्ताफलादीन् परिग्रहान् प्रहीयति ? । एवं बुद्धो स श्रेयांस-  
कुमारो निजप्रसादादगयाज्ञात्, तूर्णमथः समवतीयं जगवत्क्षर-  
णोपकण्ठं समाययौ जगवन्तं त्रिः परिक्रम्य परमानन्दसिन्धु-  
निम्नो वयन्ते च । पुनरज्ञावे बद्धो भगवन्तं तुष्टाय व्यञ्जिहपथ  
। हे स्वामिन् ! मयि कृपा विधीयताम् हे संसारतापतोऽस्मि ।  
अतो मे संसारभित्तानः क्रियान्त । अष्टादशकांटाकांटासाग-  
रोपपरम्यन्तविच्छिन्नो मुनिजनानां प्रासुकाहारदानविधिः प्रका-  
श्यताम् । मम शृहे उपहाररूपेण समाताद् इहुरस्युपाणं  
शुकाहारभूताद् अष्टोत्तरशतघटान् भवान् समाददातु । इति  
वचो निशाम्य ज्ञानचतुष्टयसम्पन्नो भगवान् तमिकुरस्व कल्पत्र-  
कालजायातुकुलं निरयघाहारं समवगम्य श्रेयांसनिकेतनमुप्य  
निजहस्ताञ्जज्ञौ सर्वे युगपजग्राह । यतो भगवता पाणिपात्र-  
द्विधमता नृपते, तैवेव स निखिलेऽष्टोत्तरशतघटसेऽञ्जलि-  
प्रियेशे । रसग्रहणसमये चैकविशुदरिपु त्मौ न निपयान ।  
यद्यव्यमष्टोत्तरशतघटपरिच्छिन्न एव रसेऽभूत् यदि च शत-  
सहस्रलक्षकूपरिमितः समुद्रपरिमितो वा स्यात् तथापि प्रविशेत् ।  
एवं भगवते विशुकाहारदानस्य महानानन्दः श्रेयांसस्य तनौ न  
मयो । पुनर्विद्यमाने त्रिलोकोपप्रायोऽनन्तमुनिधिमयेवाद्  
श्रुतजज्ञेद्यो यन्मे हस्तेनाहारमाद्दे तन्मयि परमप्रसादे व्यध-  
त् । भगवन्तं निर्दोषाहारं ददतो मे सवः पापसन्तापः क्लोपाः  
यावत् स एवं विचिन्तयति तावकर्मनिर्हरा देवाः पञ्च दिव्यानि  
प्रकटांचक्रुः, “ अहादान्दोऽहंदायः ” एवं प्रकल्पन्तो देवदुःखभी-  
न् च वादयांचक्रिरे । तिर्यगजुग्भकात्प्यांस्त्रिंशः साधद्वादश-  
कांटिलुययैदोनाराणां रत्नानां च शुद्धिमापुः । तदा श्रेयांस-  
गृहे सुवर्णदीनरि रक्षेः समुद्रादिभिश्च परिपूर्णं समजनि ।  
विष्टपत्रयं धनधायासिद्धिः परिपूर्णम् । श्रेयांसस्वाम्या निरप-  
मसुखनाजने संजातम् । तदारज्य लोके सर्वे साधूनां भिक्का-  
दानांवाधि विदाञ्चकुः । भगवान् यस्मिन् यस्मिन् देशे विहरति  
तस्मिन् तस्मिन् देशे कदापीतयो न भवन्ति स्म, सकलसुहाण्य-  
पि परमांसक्तदाहारशुद्धिनि बभूवुः, येन अस्मिन्नाम द्विप जगवन्  
परमांश्च प्रयच्छन्त स्म नस्यातिशयविशेषात्वात् । अस्मिन्  
वेशास्य शुक्लतृतीयदिने जगवतः श्रीऋषयदेवस्य पाषाणा श्रेयांस-  
सगृहे इकुरसने निवृत्तः । इदं च दानं श्रेयांसस्याङ्कयसुसका-  
रणी नृणं संजातमन्दाऽस्यास्तृतीययाः “ अङ्कयतृतीया ” इत्यु-  
त्तृतीया ” वा संज्ञा लोके प्रावर्तिष्ट । अत्र कश्चिन् प्रहने करोति,  
श्रेयांस्यनाथस्य भगवता वर्षमेकं जोनानरायः कथम् ? । अत्रो-  
च्यते कल्पविवरणे प्रद्वर्धमानमन्तरायनिदानं कर्म । तथाहि-  
पुनर्भव जगवाद् मार्गे गच्छन् खड्ग धान्यानि खादतो वृषजान्  
हृषीवश्नेस्तत्प्रमानानवसोक्य सजातकरुणस्तान् प्राबोचत्,  
अरे रे सुखाः कृपाणाः ! पतान् बभूवुश्च नृप्यं न तारयति किन्तु  
मुखधर्मी निर्मायेतपं मुखानि धरति । तदा नैने किमपि  
मांशुं शक्यति । तदा तं प्रव्यूह्य, यत् न तां निर्मातुं जानामि ।  
ततो जगवाद् तत्रैवापिदस्य स्वहस्तेन तां निर्माय तथा च वृषजनु-

शं बद्धा तान् प्रादर्शयत् । तथा केषुचो बृषभो महता कष्टेन  
पृथुपुत्रशतत्रयद्रव्यः श्वासानुमञ्ज्वल, अतस्तत्रोपाजितमन्तराय-  
कर्म दीक्षाग्रहणसमये प्रादुर्भूयैकषधानन्तरमद्योपशामतामवापे-  
त् । अथाप्य दानस्य प्रजापेण श्रेयासां भोक्तृपदवीमवाप्स्यति ।  
भगवत्श्लोकसहस्रं वर्षाणि अष्टशयावस्थायाभनित्तु । एकसहस्र-  
वर्षानुत्पन्नपुत्रैर्वर्षावधिकवाशिलात्वावस्थायां स्थिधानिकान् प्र-  
स्यजांथान् प्रतिबोधयन् विचकार । ततोऽष्टावपद्वर्षतोपरि नश्व-  
रमिमं लोकमपास्य भोक्तृमथाप । अतोऽङ्कयतृतीयादिने अम्य-  
जीवानां सुपाशेदानं, शीशपालनं, तपस्याऽधरणं, प्राचनानात्रय-  
नं, देवपूजनं, आश्रमहोस्त्याचारिकं च कर्म विधीयत इति ॥  
राधपद्यमयं क्षेत्रम् पुष्याचार्यैर्विनिर्मितम् ।

माहात्म्यं क्षिणिते सारं तथा राजन्कस्त्रिणा ॥ १ ॥

युगे प्रथमायामकृत्वचक्रुर्भवा केषुचो पृथम् । के ऋतवः पूर्व-  
मतिक्रान्ताः का वा सम्प्रति वसन्ते ? । तत्र प्रथमाया अकृत्यतृती-  
यायाः प्राक् युगस्यादित आरभ्य पर्वण्यतिक्रान्ता नि पको-  
निविशति । तत पकोनिविशतिप्रियते धृत्वा च पञ्चदशार्भुण्यते  
जाते ज्ञे शते पञ्चाशीत्यधिकं ( २८५ ) अकृत्यतृतीयायां किल-  
पृथमिनि पर्वण्यामुपरि तिस्रस्तिलयः प्रकृत्यन्ते जाते ज्ञे शते  
अष्टाशीत्यधिकं ( २८८ ) तावति च कालेऽधमरात्राः पञ्च प्र-  
वन्ति, ततः पञ्च पात्यन्ते जाते ज्ञे शते श्यशीत्यधिकं ( २९२ ) ते  
द्वान्यां युगमन्ते जातानि पञ्च शतानि पृथपृथपिकानि ( ५६६ )  
ताभ्यधिकष्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि पृथ शतानि सप्तविंशत्य-  
धिकानि ( ६१७ ) तेषां द्वाविंशतिमेतेन प्रागहरणं श्रव्याः  
पञ्च ते च वदन्निर्माणं न सहन श्मि न तेषां परुभिर्नागद्वारः,  
शेषास्वेवाऽ उचरन्ति सप्तदश, तेषामकृताः साक्षांशी, अगते,  
पञ्च ऋतवांश्रितक्रान्ताः पृथस्य च ऋतोः प्रवत्सन्मनस्याद्यौ  
दिवसा गता नभसां वसन्ते इति । सु० म० १२ पाहु०  
अनस्ययपूर्णा—अद्भुतपूजा—स्त्री० जिनप्रतिमानां पुरतोऽखण्डत-  
गुञ्जसमर्पणं, तन्माहात्म्यविषयं शुककथानकं विजयचन्द्र-  
चरित्राल्लिख्यते । तद्यथा—

अश्वरुद्रानियुक्तम्-कल्पपहिं पुञ्जस्यं जिणित्सस् ।  
पुरभ्रां नरा कुणतो, पावेति अश्वरुद्रियसुहार्हः ॥ १ ॥  
जडं जिणपुरभ्रो बुक्त्तम्-कल्पपहिं पुञ्जस्यं कुणेतो ॥  
कीरमिहृण्ये पत्तं, अश्वरुद्रियं सासयं सुक्त्तम् ॥ २ ॥  
अथित्य जरहवासं, सिरिपुत्रनयस्स बाहिरुज्जाणे ।  
रिन्दजिणसरनुवणं, देवविमाणं व रमणीयं ॥ ३ ॥  
अणुसत् नस्स पुरभ्रो, सवयारमहापुण्यं सञ्ज्जाओ ।  
अनुब्रंनदरत्तं, सुभ्रामिहृण्यं तम्मि परिवसद् ॥ ४ ॥  
अह अश्रया कयाई, भाणेश्रो सो तीह अत्तणो जत्ता ।  
भाणद मोहलो भे, सीसे इह साङ्गिकत्ताओ ॥ ५ ॥  
प्रणिया सो तेणु पिप, ययं (सरी)कंतराणो क्षिप्तं ।  
जो पयमिं वि सीसं, गिह्द सीसं निवो तस्स ॥ ६ ॥  
भाणो सो तीप सामियं ! तुं सारिसे नथि इत्थिपुणुरिसे ।  
जो भल्लं पि य मरत्तं, इच्छसि निवज्जीवल्लोदेणु ॥ ७ ॥  
इय भाणो सो तीप, जञ्जाप जीविस्स निरुविकत्तो ।  
गंतूण साङ्गिक्त्ते, भाणइ सो सालिसेसाण ॥ ८ ॥  
ययं सो पहादिहं, रक्त्तंताणं पि रायपुरिसो ।  
भाणइ भंजरीओ, अञ्जापसेण सो निष् ॥ ९ ॥  
अह अश्रया नरिदो, समागओ तम्मि सालिक्त्तम्मि ।  
पिच्छइ सत्तविलत्तं, तं क्षिप्तं पयात्सम्मि ॥ १० ॥

पुत्रो य आरयन्ते, पुत्रवीपालेण सात्विया ह्युति ।  
किं इत्य इमं दीदर, सउभेहि विणालियं क्षिप्तं ॥ ११ ॥  
सामिय ! इको कीरो, मच्छइ सो सालिमंजरी धिक्तं ।  
रक्त्तञ्जतो वि ददं, चोरुक्त्त ऊटुलि नासेइ ॥ १२ ॥  
प्रणिश्रो सो नरवइशा, भंजियपासेहिं तं गदेऊणं ।  
भाणइ मज्जपासे, इणद चोरुक्त्त तं ऊटुं ॥ १३ ॥  
( आणयेज्जां पासं, सहसो चोरुक्त्त अइडुटो । इतिपाजान्तरम् )  
अह अन्नदिणे कीरो, रायापसेण तेण पुरिसेणं ।  
पासनिबको निञ्जर, सुईप पिच्छमणीण ॥ १४ ॥  
पुत्रविलम्भा धावइ, अंतुज्जा पुत्रलोपाया सुई ॥  
पत्ता दइण सयं, सुउक्त्तिया रायभवणम्मि ॥ १५ ॥  
अघाणउत्त राया, विक्त्तो तेण सालिपुरिसेणं ।  
देवसो सो सुभो, बडो चोरुक्त्त आणीओ ॥ १६ ॥  
तं दट्टुणं राया, खमं गहिकुण जाण पण्णेइ ।  
ता सहसत्थिय सुई, नियपणेणो वंतेरे पत्तिया ॥ १७ ॥  
पमणइ सुई परेणसु, निस्सेको अज मज्ज देहम्मि ।  
मुं वसु सामिय ! एयं, महजीवियदायणं जीयं ॥ १८ ॥  
तुह सालीण उवर्ति, संजाओ देव मोहलो मज्ज ।  
सो तणसरिस्सं काठं, नियजीये महवि भोयम्मि ॥ १९ ॥  
हसिकुण जणइ राया, कीर ! तुमं पमिओसि विक्त्ताओ ।  
महिलाकळे जीयं, इणद चोरुक्त्त को कइणु ॥ २० ॥  
पनणइ सुई सामिय, ! अचउत्त ता जणजिणयविसत्तां ।  
नियजीयिं पि उट्टइ, पुरिसं माहिलाणुरायण ॥ २१ ॥  
तं नथि जं न कांइइ, वसणासत्तेहिं कामलुकेहिं ।  
ता अचउत्त इयारुण, इणद देहइयं तिष्ठा ॥ २२ ॥  
जह सिरिदेवीह कप, देवतुमं जीयिं पि उट्टइ ।  
तह अओ वि उट्टइ, कां हांसो इत्थ कीरस्स ॥ २३ ॥  
तीह वयणेण राया, चित्तइ इयपण विक्षियं इंतो ।  
कइ एत्ता पक्खिणिया, विणायण मज्ज वुत्तं ॥ २४ ॥  
पनणइ राया भेइ, विट्टंतो कइ कओ अहं तुमप ।  
साहसु सत्वं एयं, अइगयं काउयं मज्ज ॥ २५ ॥  
पनणइ कीरी नितुणसु, दिट्तंतो इरिया जह तुम जाओ ।  
आसि पुरा तुह रज्जे, सामिय ! पत्तियाया एण ॥ २६ ॥  
बहुकूडकबनभरिया, भत्ता जा खइसंदेवाणं ।  
सा तुह जञ्जाइ चिरं, सिरिया देविप उवयरिया ॥ २७ ॥  
नरवइणोहं जञ्जा, बहुभज्जा एस मज्जभत्तारो ।  
कमवसेण जाया, सत्थेसिं पुहवा अहयं ॥ २८ ॥  
ता तह कुणसु पसायं, जयवइ जडं होमि वल्लहा पणो ।  
महजीविणए जीवइ, मरइ मरंतीह किं बहुणा ॥ २९ ॥  
जणिया पसा वच्चे, गिह्दइ तुमं ओसहीवसणो ।  
तं वेसु तस्स पाणे, जेण वसे होइ तुह जत्ता ॥ ३० ॥  
अयवइ भवणपसेओ, वि नथि कइ देसणं सयं तेषं ।  
कइ ओसहीवसणं, देमि अइ तस्स पाणम्मि ॥ ३१ ॥  
जइ एवं ता भेइ, गहिकुणं अज महसयासणो ।  
साहुसु एगमगमा, मंतं सोहमं संजणं ॥ ३२ ॥  
भणिकुण सुइमुहुत्ते, दिओ पयायाइ सो मंतो ।  
पुओ काठण पुणु, तीप वि पमिओसि विरिणा ॥ ३३ ॥  
जा जयइ सा देवी, तं मंतं पददिणं पयसेण ।  
ता सहसा नरवइणा, पमिहारी पत्तिया भणइ ॥ ३४ ॥  
आणवइ देवि देवो, जह तुमप अज्ज वज्जभवणम्मि ।

आगतत्वमवसरसं, कुविषयो नेव कायस्यो ॥ ३५ ॥  
 रयणी-कृपसिगारा, समंतभो रस्योत्पत्तिरियराया ।  
 करिणीकांशकदा, समागया रायभवणमि ॥ ३६ ॥  
 नरवरकयसमाणा, दोहमं देवि सेसमहिज्ञान ।  
 सोहमं गहिकणं, संज्ञाया सा महादेवी ॥ ३७ ॥  
 पूंजह इच्छियसुक्कं, संतुद्रा देह इच्छियं द्वाणं ।  
 वृद्धा पुण सा जेसि, ताणं व विणिग्गाहं कुणह ॥ ३८ ॥  
 अह अन्नदियो पुद्धा, तीप परिवाइया इमा देवी ।  
 बच्चे तुह संपन्ना, मणोरहा इच्छिया जेवं ॥ ३९ ॥  
 भयवह तं नतिथ जप, तुह पयभसाण जं न संजवई ।  
 तह विहु प्रयवह अज्ज वि, हिययं दोलायप मज्ज ॥ ४० ॥  
 अह जीवह महजीवं, तियाह अह मरह महमरंतीय ।  
 आ जासिज्जह नेहो, महउपरि नरचरिंदस्स ॥ ४१ ॥  
 जह पयं ता गिद्धसु, नासं महमूलियाय पयाय ।  
 जेण तुमं मयजीया, लक्खणीयसि जीवमाणा वि ॥ ४२ ॥  
 बीयाह सुलियाय, नासं शकण तुह करिस्सामि ।  
 देहं पुणभवं चिय, मा भीयसु मज्जा पासत्या ॥ ४३ ॥  
 पवंति पमणिऊणं, गहिहं देवीयं सुसियावलयं ।  
 सा वि ह्र समपिऊणं, संपत्ता निययताणमि ॥ ४४ ॥  
 अह सा नरवह पासे, सुत्ता गहिकण अंसही नासं ।  
 ता दिट्ठा निच्छिदा, नरवहया विवयजीवव ॥ ४५ ॥  
 एत्तो आकंदरभो, वच्छलिभो ज्जसि राखो नवणे ।  
 देवीं मया मयसि य, पाहावह नरवहं लोभो ॥ ४६ ॥  
 नरवहआएसेण, मिलिया बहुमंतिवज्जकुसलाय ।  
 तहव वि सा परिवत्ता, मरसिं वट्टण निच्छिदा ॥ ४७ ॥  
 भणिओ मंतीहं निवा, किज्जउ पयाह अग्गिसक्कारो ।  
 भणिया ते नरवहणा, मज्जथि किज्जउ सह इमाय ॥ ४८ ॥  
 वल्लणविल्लो लोओ, पमणह न हु देव परिंसं जुत्तं ।  
 भणह सुउडक्कं राओ, नेहस्स न उच्चि मग्गाओ ॥ ४९ ॥  
 ता मा कुणह विसंभं, कद्धह सह उच्चंदिणधणं पउरं ।  
 इय जसिऊणं राया, संवसिओ पिअयमासहिओ ॥ ५० ॥  
 घजिजर नूरवेणं, रोचिज नरमांरिपउरनिवहेण ।  
 पुरितो गयणयं, संपत्तो पयताणमि ॥ ५१ ॥  
 जा विरदकण चिअयं, राया आरुहइ पिअयमासहिओ ।  
 ता दूराउ रुयंति, पत्ता परिवाइया तथ ॥ ५२ ॥  
 भणिओ तीप तुमयं, मा देव पेवसादसं कुणसु ।  
 भणयं तुमप जयवह, महजीवं पिअयमासहिंयं ॥ ५३ ॥  
 आह एवं तो विसहसु, खणमेगं मा हु कायो होसु ।  
 जीवावंमि अश्चसं, तुह दूइओ शोअपचवक्कं ॥ ५४ ॥  
 तं वयणं सोऊणं, ऊसयिं तस्स राखो चित्तं ।  
 न हु जीवियस्स लाह जह सोहं तीह जज्जाय ॥ ५५ ॥  
 जयवह कुणसु पसायं, जीवावसु मज्ज बहहं दूइं ।  
 तीप वि हु देवांय, दिओ संजीवणी नासो ॥ ५६ ॥  
 तस्स पत्रायणं चिय, सा देवी सयसल्लायपचवक्कं ।  
 वज्जिअिया य समयं, नरवहणा जीवियासाय ॥ ५७ ॥  
 तं जीवियंति नावं, आणं वज्जसुल्लोयणो लोओ ।  
 नच्छह उच्चिमयाहो, वजिज्जवट्टमूलनिवहेण ॥ ५८ ॥  
 सव्भंगानरंणेहं, पाय परिवाइअह पुणयं ।  
 पमणह अज्जे अज्जे, जं मग्गासि तं पणामि ॥ ५९ ॥  
 भाणो तीप राया, सुपुरिसमह नतिथ कि पि करसिऊजं ।

निष्काणइणेण अहं, संतुद्रा नयत्तज्जमि ॥ ६० ॥  
 गयवखंधाकदं, काऊणं निययपिययमारया ।  
 संपत्तो नियमवणे, आणंदमहुसवं कुणह ॥ ६१ ॥  
 फसिहमयभिन्नचक्रिआ, कंचणसांवाणयंभनिम्मविया ।  
 काराविया विषेणं, मडिया अज्जह तुट्ठणं ॥ ६२ ॥  
 पव्वइया सा नरवर-मरिऊणं अहुज्जए होसेणं ।  
 संज्ञाया सुहसूहं, साहं पत्ता तुह सयासे ॥ ६३ ॥  
 वट्टणं देव । तुमं, तुह पासपरिचियं महादेवि ।  
 जायं जाइसरणं, संभरिअं तुह मय खरिअं ॥ ६४ ॥  
 सोऊणं तीह वयणं, रोवंती भणह सा महादेवी ।  
 भयवह कह मरिऊणं, संज्ञाया पक्खिणी तुमयं ॥ ६५ ॥  
 मा भूयसि कियोवारी, दुक्खिल्ला अज्जमज्जज्जम्भेण ।  
 कामवसेणो जीयो, तं नतिथइं अं न पावइ ॥ ६६ ॥  
 तेण तुमं दिट्ठंते, दिओ नरनाहमहिहिया विसय ।  
 सोऊण इमं राया, संतुद्रो सुखं भणय ॥ ६७ ॥  
 सत्तो विट्ठंताहं, दिओ तुम पत्थ महिलिया विस्सप ।  
 ता तुट्ठो पनणसु, अं इट्ठं तं पणामि ॥ ६८ ॥  
 पनणह सुईं निमुणसु, महइट्ठो नाह अत्तणो जत्ता ।  
 ता तस्स देसु जीयं, न हु कज्जे कि पि अणण ॥ ६९ ॥  
 इसिऊण भणह देवी, देव तुमं कुणसु मज्जवयणेण ।  
 पयाय पीइंदाणं, ज्ञोयणदाणं व निच्छेणं ॥ ७० ॥  
 भणिया सा नरवहणा, वक्कवसु जइ जहिअिय उणो ।  
 मुक्काय पस जत्ता, तुट्ठण तुज्ज वयणेण ॥ ७१ ॥  
 मणिओ य सासियाओ, पयाणं तंज्जलाणदाणं च ।  
 पण्दियइं दाणव्यं, रासि काऊण विसंभं ॥ ७२ ॥  
 अं आणवेइ देवा, इय भणिय भणह कीरिमिहुण पि ।  
 पस्स पत्ताओ सामिय, ! इय भणिय उच्चि उट्ठोणं ॥ ७३ ॥  
 पुण्यत्तं च्चुअट्टमे, गतूणं पुअनोहसा सुईं ।  
 नियनियरुम्मि पव्या, निपयं अंयवज्जुगंति ॥ ७४ ॥  
 मह तम्मि वव समयं, तीप सवकी वि निययनीरुम्मि ।  
 तम्मि दुममि पव्या, संपुञ्ज अंधं पणं ॥ ७५ ॥  
 आ सा च्चूण निमित्तं, विणिग्गाया तं दुमं पमुत्तणं ।  
 ता मच्छुरंणं पदमा, आणह तं अंधं तीप ॥ ७६ ॥  
 जा पच्छिमा न पिउअह, समागया तथ अत्तणं अंधं ।  
 ता सफरिव्व विलोडह, धरणिपयं उच्चसंतंताण ॥ ७७ ॥  
 तं विलयंति य द्दुं, पट्टावायेण तवियहिययाय ।  
 पट्टमाय नेऊणं, पुमां वि तथेयं तं मुक्कं ॥ ७८ ॥  
 धराणयत्ते लुलिऊणं, अंधं आरुहइ जाव नीरुम्मि ।  
 ता पिउअह तं इंधं, सा कीरिय अयसिसत्तव ॥ ७९ ॥  
 बंधं च तं निमित्तं, कम्मं पट्टमाय दाहणवियागं ।  
 पट्टायावियेण इयं, धरियं चिय पयाभट्टक्कं ॥ ८० ॥  
 तम्मिय अंधयज्जुयत्ते, संज्ञाया सुहगा य सुअणो अ ।  
 कीरिति वणणिगुंत्तं, समयंअश्च जमणिज्जणगेहिं ॥ ८१ ॥  
 रहए तंज्जलक्को, नरवहवयणाउ सानिच्छिसम्मि ।  
 चंजुपुइं गहिकणं, वक्कह तं कीरिमिहुणं ॥ ८२ ॥  
 अह अन्नया कयाइ, चारणसमणो समागओ नाथो ।  
 रिसहजिणसरभवणो, वंधणहइ चिण्णिरुस्स ॥ ८३ ॥  
 पुनरनारिनिरिद्धं, देवं पुणक्कणयहिं पुणउं ।  
 पुण्दह नमिऊण मुणो, अक्खयपूयाकणं राया ॥ ८४ ॥  
 अंधंमकुदिययोक्क-क्कयहिं पुंजसयं जिणियदस्स ।

पुरभो तरा कुणतो, पावति अश्विडियसुहादे ॥ ८५ ॥  
 इय गुरुचयणं सोऽं, अक्सयपुत्रा समुद्राले लोभो ।  
 दृष्टुं सा सूरि, पमनाह निभअत्तणो कंते ॥ ८६ ॥  
 अहे वि नाह ! एवं, अक्सयपुत्रसपण जणनाह ।  
 पुपभो अक्षिरेण, सिद्धिदुद्धे जण पापभो ॥ ८७ ॥  
 एवं तीए प्रणिऊण-नं बहुपुदे शिविय चोक्सकखएहि ।  
 राखं जिणित्पुरभो, पुजातिअं कोरियिहुणं ॥ ८८ ॥  
 भक्षिअं अक्खजुअलं, जणणीजणएहि जिणवरिदस्स ।  
 पुरभो मूचह अक्खे, पावह जेणकलयं सुफलं ॥ ८९ ॥  
 इय परविद्यहं काठं, अक्सयपुत्रं जिणित्पभलीए ।  
 आउकखए गयाह, चत्तारि वि देवब्रगामि ॥ ९० ॥  
 ज्ञानुण देवसुक्कं, सो सुअजोवो पुणो वि चवियऊण ।  
 संजाओ हेमपूर, राया हेमप्योहो नाम ॥ ९१ ॥  
 सो वि य सूरिजीवो, नत्तो चवियऊण देवल्लोगाभो ।  
 हेमप्यहस्स अज्जा, जाया जयसंदरो नाम ॥ ९२ ॥  
 सा पच्चिमा वि सुहं, संसारं हिंकिऊण सा जाया ।  
 हेमप्यदस्स खो, रचनामा त्रारिया दुइया ॥ ९३ ॥  
 अन्नाओ वि कमेणं, पंचसया जाव त्रारिया तस्स ।  
 जायाओ पुण द्ढा, पढमा ते भारिया दो वि ॥ ९४ ॥  
 (सजाया पुण द्ढा, पढमाओ भारिया दुहि) इति पाठान्तरम् ।  
 अह अन्नया नरिंदे, दूसहजरातवनावियसरीरा ।  
 चंदणजलुद्धिओ वि हु, सोवह रुमीह अण्णं ॥ ९५ ॥  
 एवं असणविट्ठो, चिहं जा तिणि सत्तए राया ।  
 ना मंतेत्तकुसला, विज्जा वि परं मुहा जाया ॥ ९६ ॥  
 उद्योसयहं सत्ती, दिज्जति य बहुविदाहं द्याणां ।  
 जिणजवणेसु य पुआ, देवयआराहणओ य ॥ ९७ ॥  
 रण्यो य पच्चिमकं, पयसीं होऊण रक्खसो मणह ।  
 कि सुत्तो सि नरेस्स, मणह नियो कए हु मढ तिहा ॥ ९८ ॥  
 ओआरणं करेउं, अण्णायं जइ नरिंद ! तुह अज्जा ।  
 पक्खवह अगिकंटे, तो जीअं अअहा नग्धि ॥ ९९ ॥  
 इअ भणियऊण नरिंद, विण्णाम्भो रक्खसो नियट्ठणं ।  
 राया विमिहाहियओ, चित्तं कि इदंजालु सि ॥ १०० ॥  
 कि वा दुक्खसेणं, अज्ज मए एस्स सुवियगं दिट्ठो ।  
 अहया न होइ सुवियो, पचकखो रक्खसो एसां ॥ १०१ ॥  
 इत्तो विनयपसहिया, बोलीणा जाभिणं नरिंदस्स ।  
 सद्याअन्नमि च्छिओ, सुरो वि हु कमलिणीनाहो ॥ १०२ ॥  
 रण्योए वसंते, नरवध्णा साहिओ सुमत्तिस्स ।  
 तेण वि ओणंठं किज्जउ, देय ! इमं जीयकज्जमि ॥ १०३ ॥  
 परजोपयं नियजी-यरक्खणं न हु कुणंति सप्पुरिसा ।  
 ता होउ मज्ज बिहियं, इय भणियो राहणा मंती ॥ १०४ ॥  
 सदाविऊण सव्वाह, मीणाणा नरपक्खस्स जज्जाओ ।  
 कहिओ रक्खसमणिओ, वुत्तंते ताण नीसेसो ॥ १०५ ॥  
 साऊण मीनवयणं, सव्वाओ नियजियस्स लोहण ।  
 उाउं अहोमुहीओ, न भित्ति मंतिस्स पडिययणं ॥ १०६ ॥  
 पण्डुव्वचयणकमला, उट्टेउं जण्णं रई महाद्वी ।  
 मढ जीवियए देवो, जइ जीवह किं न पज्जअं ॥ १०७ ॥  
 इय भणिए सो मंती, जवणगवक्खस्स हिट्ठुमीए ।  
 काराविऊण कुंडे, आरोइह भगवक्कहं ॥ १०८ ॥  
 सा वि य कयांसिगारा, नमिऊणं जणह अससो कंते ।  
 सांमिय ! मढ जीवणं, जीवसु नियडामि कुंडमि ॥ १०९ ॥

जणह सत्तुक्खं राया, मग्गक कए देवि ! अयसु ॥ १०९ ॥  
 अणुहविययं च मए, सयमेव पुआयकं कम्मं ॥ ११० ॥  
 पनह चअणवित्तमा, सांमिय ! भा भणसु परित्तं वयणं ।  
 जं जाह तुग्गकज्जं, तं सुलहं जीवियं मग्गकं ॥ १११ ॥  
 ओआरणं करेउं, अण्णायं साजला वि नरवध्णा ।  
 भवणगवक्खे उाउं, जणिए कुंडमि पक्खिवरं ॥ ११२ ॥  
 अह सो रक्खसनाहो, तीसे सत्तेण तोसिमा सहसा ।  
 अण्णसं वि य कुंडे, इयासदूरं समुक्खिवरं ॥ ११३ ॥  
 भणिया रक्खसवदणा, तुट्ठो ह अज्ज तुग्गक सत्तेण ।  
 मग्गसु जं हियइदं, देमि वरं तुग्गक कि बहुणा ॥ ११४ ॥  
 जणियिजणएहि दिओ, हेमपहो महवरो किमण्णे ।  
 मग्गसु तह वि हु भूदे, देवाण न दंसणं विहलं ॥ ११५ ॥  
 जइ एवं ता एसां, मह भत्ता देव तुह पलाएण ।  
 जीवउं याहिणिवीणो, विरकालं होउ एसा वरो ॥ ११६ ॥  
 एवं ति पमणिकुणं, दिव्वालंकारभूसिअं काउं ।  
 कवणपउभे मुत्तं, देवो हु अदंसणीहुओ ॥ ११७ ॥  
 जीव तुमं मणह जणो, सीमे पुण्णकखए खिवेऊण ।  
 नियजीवियदासेण, जीए जीवाविओ भत्ता ॥ ११८ ॥  
 तुट्ठो तुह सत्तेणं, वरसु वरं जणिए पियं तुग्गकं ।  
 भणिया परणा पमणह, देव वरो मह तुमं वेव ॥ ११९ ॥  
 जीवियमुण्णेण, वसीकओ हं सया वि कमलच्छि ।  
 ना अन्नं करण्यो, भणसु तुमं मणह सा हसितं ॥ १२० ॥  
 जइ एवं ना चिट्ठउ, एम वरो सामि ! तुह सयासोमि ।  
 अक्सरखियं पयं, पच्चिउस्सं तुह सयासोओ ॥ १२१ ॥  
 अह अन्नया उएण, भणिया पुत्तथियोहं कुलदेवी ।  
 जयसुंदरिपुसेणं, देमि वलिं होउ मह पुत्तो ॥ १२२ ॥  
 भवियव्वयावसेणं, जाया दुग्गं पि ताण वरपुत्ता ।  
 बहुलफण्यसंपुआ, सुहजणया जणणियजणयाणं ॥ १२३ ॥  
 तुट्ठो रई वि चिनइ, दिओ कुलदेवयाहं मह पुत्तो ।  
 जयसुंदरिपुसेणं, कह कायवया मए पुत्ता ॥ १२४ ॥  
 एवं चिंतंतोए, लज्जो पुयाइ साहणो वारो ।  
 नरवध्वरेण रज्जं, काऊण वसे करिस्सामि ॥ १२५ ॥  
 इय चित्तिऊण तीए, अक्खसरपत्ताइ पमणियो राया ।  
 जो पुट्ठिव पडिवओ, सो दिज्जउ मह वरो सामि ॥ १२६ ॥  
 मग्गसु जं हियइदं, देमि वरं जीवियं पि कि बहुणा ।  
 जइ एवं ता दिज्जउ, मह रज्जं पंचदियहाइं ॥ १२७ ॥  
 एव्व ति पमणिकुणं, दिअं तुह पियं सए रज्जं ।  
 पडिवओ तं तीए, महापसाउं ति काऊणं ॥ १२८ ॥  
 पाल सा तं रज्जं, पसो रण्योए पच्चिमं जांम ।  
 जयसुंदरीइ पुत्तं, आणावह रोयमणीए ॥ १२९ ॥  
 तं महाविऊण बालं, चउपुण्णकखएहि वएउं ।  
 पडलयउवरिं काउं, ठावह दासीइ सीसामि ॥ १३० ॥  
 वध्वाइ परिणयसाहिया, उज्जाणे देवयाइ भवणमि ।  
 चज्जिनदूररेणं, नखिर नरनारिलोएण ॥ १३१ ॥  
 अह थिऊजाहवरवदणा, कंचणपुरसामियए सूरए ।  
 वचन्तेण नहणं, विट्ठो सो वारणो तेण ॥ १३२ ॥  
 उज्जोयंते गयणं, दिण्णयरेतेउं व्व नियतेएण ।  
 गहिऊण तेण अलक्कं, अन्नं मयबालं मुत्तं ॥ १३३ ॥  
 उहह सहुं कि तोयदि, थिऊणु नियदरमं जायं ॥ १३४ ॥

किं हससि तुमं सामिभ्य !, हसिहा हं निमिषेण देवेण ।  
 किं कथय वि सुवद्वह, बंजापुत्रं च पसेवह ॥ १३५ ॥  
 पभणह पहासियवहणो, जह मह वयणेण नथिह सहहण ।  
 ता पिच्छेहि सयं चिय, नियपुत्रं रयणारसि च ॥ १३६ ॥  
 इय संसयहियथाय, परमत्थं साहिकुण सा भगिया ।  
 नियपुत्रविरहियाणं, अमहाणं पस पुत्तो सि ॥ १३७ ॥  
 पन्निचञ्जिकण एयं, नीश्रो नयरम्मि नो व पदरियहं ।  
 परिवहेह कलाहिं, सियपक्कगसो मियंकु व्व ॥ १३८ ॥  
 सा वि य रत्तमव्वालं, सीसंयारि नामिकुण देवीय ।  
 आफालं ह तं पुरभो, वरथं वसियायले तुहा ॥ १३९ ॥  
 गंतुण तन्नो भवणे, संपुत्रमणारंहा सुहं वसह ।  
 जयसुंदरी वि द्वियहा, पुत्रविरहे दुक्खिणा गमह ॥ १४० ॥  
 कयविजाहरनामो, मयणकुमारंत्ति गहियवरविज्जो ।  
 वच्चतो गयणयत्तं, पिच्छह तं अत्तणो जणायि ॥ १४१ ॥  
 भवणयवक्कल्लादा, सुयसोयज्जननयणसहसिहेहि ।  
 अत्तेहनिभ्रंरणं, उक्किन्हा मयणकुमरण ॥ १४२ ॥  
 तं वट्टण कुमारं, हरिसवसक्कं च नयणसञ्जिलेन ।  
 सिचंती भयलोयह, पुणो पुणो निक्कदिहा ॥ १४३ ॥  
 उक्किण्यवाहो लोभो, धावाहव पुरवधप मज्जम्मि ।  
 एसा हरिज्जह धरिणीं, नरवट्टणो उक्ककंजण ॥ १४४ ॥  
 अहसूरो वि हु राया, पयचारी किं करेह गयणय्ये ।  
 सुवज्जउ किं कुणह फंत्तं, नरसिंहरययट्टिप दिट्ठुं ॥ १४५ ॥  
 चित्तह मणम्मि राया, दुक्कं खयखारस्सिहं जायं ।  
 एणं सुअस्स मरणं, बीभं पुण जारियाहरणं ॥ १४६ ॥  
 पयं दुक्किलयहियन्नो, चिह्णह राया नियम्मि नयरम्मि ।  
 अहया धरिणीहरणे, भणु कस्स न जायप दुक्क ॥ १४७ ॥  
 अवदिहिसयण नाउं, पुत्तं तं मग्गहा देवाय ।  
 मह जाया नियजणणो, धरिणीसुद्धिह अवहरण ॥ १४८ ॥  
 नियपुत्रपच्छाल्लं, सरवरपावीहि च्युयग्गयाय ।  
 जणणीसाहिओ कुमरो, जा चिह्णह ताय सा देवी ॥ १४९ ॥  
 वानररुवं तह वा-नरीह काठुण च्युयसाहाय ।  
 पभणह वानररुवी, कामुयतित्थं हंमं अज्जे ॥ १५० ॥  
 निरिओ वि एत्थ पक्खो, तिथ्यपपावणेण लहह मणुअत्तं ।  
 मणुअत्तं वि हु देवत्तं, पावह नत्थियय संदेहो ॥ १५१ ॥  
 ता पुं पच्छसुं दासि वि मणुसिंहे पक्कंभं देवभूआउं ।  
 पदाहं मणे काउं, निवडामो इत्थ तिथ्यत्थिम्मि ॥ १५२ ॥  
 जणं तुमं माणुसिआ, अत्तं पुण पारिसं मणुसुत्ति ।  
 होहाम्मि पभणम्मि, को नामं गिरिहह इमस्स ॥ १५३ ॥  
 जां निअजणणियि पइं, धरिणीसुद्धिह नेह हरिकुण ।  
 तस्स वि पावस्स तुमं, सामियकवम्मि अदिहासां ॥ १५४ ॥  
 सोठुण वानरीय, तं ययणं देवि वि अिअमण्णाहं ।  
 चित्तंनि कइं एसा, मह जणणी सा वि कइ पुत्तो ॥ १५५ ॥  
 नेहेणं हनिय वि ह, एसा मह जणह जणनिवुत्तं सि ।  
 सा वि य चित्तह एसां, मह पुत्तं अवरज्जाओ सि ॥ १५६ ॥  
 पुच्छह संसयहियन्नो, कुमरो तं वानरिं पयसेणं ।  
 भइं किं सच्चमिण, जं तुमप भासियं वयणं ॥ १५७ ॥  
 तीए जणियं सच्चं, जह अज्ज वि तुज्जक अत्थि संदेहो ।  
 ता पयम्मि निशुंजे, पुच्छसु वरुणाणं सार्हुं ॥ १५८ ॥  
 इय नत्थिक्कणं सहसा, वानरज्जुत्तं अद्वन्त्सणीदुवं ।  
 सा वि य विरहियहियन्नो, पुच्छह तं मुणियवं गंतुं ॥ १५९ ॥

भयवं ! किं तं सच्चं, जं भणियं वानरीह मह पुरभो ।  
 मुणिवहणा वि हु भणिओ, सच्चं तं होइ नहु अत्थिअं ॥ १६० ॥  
 निचवं चिट्ठामि तउभो, कम्मक्कयकारणम्मि जायतो ।  
 हेमपुरं सारिससं, साहिस्सह केवडी तुज्ज ॥ १६१ ॥  
 इय भणिओ तं नमिउं, सहिओ जणणीह से गोमो मेहं ।  
 जणणियज्जणपहिं दिट्ठो, हरिसियहिययदिं सो विमणं ॥ १६२ ॥  
 एतंनं ठविकुणं, वलणयलण्णेण पुत्तिकया जणणी ।  
 अम्मो साहेसु कुतं, कइ जणणं मज्जं को जणिओ ॥ १६३ ॥  
 चित्तह सा सविशक्का, किं एसा अज्ज पुच्छप एयं ।  
 पभणह पुत्तय ! अह व, तुह जणणो पस जणभो सि ॥ १६४ ॥  
 सच्चं अम्मो एयं, तह वि हु पच्छामि जम्मदायारे ।  
 तं परमत्थं पुत्तय !, तुइ जणह पस जणउ सा ॥ १६५ ॥  
 तेण वि परिटुट्ठेणं, कहिउं पदलाइवधरो तस्स ।  
 तह पुण जणओ पुत्तय, विआओ किंचि नहु सत्तमं ॥ १६६ ॥  
 भणिओ कुमरेण पुणो, एसा जा ताय आणिया नारी ।  
 सा वानरीह सिहा, पत्ता तुह जम्मजणायि सि ॥ १६७ ॥  
 मुणिया वि हु पुट्ठेणं, एयं चिय साहिकुण भणिओ हं ।  
 हेमपुरं गंतुणं, पुच्छसु तं केवलि एयं ॥ १६८ ॥  
 तो या तत्थ गंतुं, पुच्छामो केवलि निरवसेसं ।  
 जेणेसो संदेहो, तुह मह जुअतंतु तु ॥ १६९ ॥  
 इय भणिकुणं कुमरो, चलिओ सह निययजणणियज्जणणहं ।  
 ( इय भणिकुणं चलिओ सहिओ सह जणणिय जणयलोपहि  
 इति पाठान्तरम् )

संपत्तो हेमपुरे, केवलियो पायमूलम्मि ॥ १७० ॥  
 भत्तिभरंनभ्रंरणो, केवलियो पायपंकयं नमिउं ।  
 उवविओ धरिणायले, सपरियणो सुवकुमार व्व ॥ १७१ ॥  
 जयसुंदरी वि देवी, बहूदारिसहस्समज्जयारम्मि ।  
 नियपुत्तेण संसेया, निगुणह गुरुभासियं वयणं ॥ १७२ ॥  
 हेमपमो वि य राया, नियपुत्रनारिलोयपरियणिओ ।  
 उवविओ गुरुम्मले, निगुणह गुरुभासियं वयणं ॥ १७३ ॥  
 पत्थावं सहिकुणं, नरनाहो भणुह केवलि नमिउं ।  
 भयवं ! मा मह भज्जा, जयसुंदरि केअ वहरिया ॥ १७४ ॥  
 भणिओ सो केवलियो, हरिया नरनाह ! नियपुत्तेण ।  
 विन्धिहियन्नो पभणह, भयवं ! कइ तीह पुत्तु सि ॥ १७५ ॥  
 जा आसि तीह पुत्तो, सो वालो वेव हयकवतेण ।  
 कवलीकओ महायस, बीश्रो पुत्तो वि स नत्थि ॥ १७६ ॥  
 अलियं न तुणह वयणं, बीश्रो पुत्तो वि तिय से नत्थि ।  
 इय विहडियकज्जं पिब, संतावं संसन्नो कुणुह ॥ १७७ ॥  
 भणुह मुण्णिदो नरवर ! सच्चं मा कुणुसु संसयं एत्थ ।  
 भयवं ! कइसु कहं चिय, अरगरुअं कोउअं मज्ज ॥ १७८ ॥  
 कुलदेवयपूयाय, वृत्तंतो ताव तस्स परिहकिओ ।  
 जा वेयहपुराओ, समागओ तग्गि उज्जाणे ॥ १७९ ॥  
 विण्णारियनयणसुओ, जोयह नरवह तमुज्जाणं ।  
 तो विहडियसंदेहो, कुमरो वि हु नमह तं जणयं ॥ १८० ॥  
 आलिगिक्कण पुत्तं, अंसुजलभरियलोयणो राया ।  
 रोयंतो बहूदुक्कं, दुक्कंणय य बोहिओ गुरुणा ॥ १८१ ॥  
 ( रोयंतो वि हु दुक्कं दुक्कंणय विबोहिओ गुरुणा  
 इति पाठान्तरम् )  
 जयसुंदरी वि पइणो, चसणे गहिकुण तीह तह रत्तं ।

जइ देवाण वि परित्सा, बहुदुक्खसमाउड्ढा जाया ॥ १२५ ॥  
 ( जइ देवाण वि दुक्खं, परित्सा मज्जे समावचं इत्यपि )  
 पुणे य रुयंतीय, भयवं । मह केण । कम्मला एत्ते ।  
 जाभो पुत्ताविभोगा, सोल्लसवत्तिणाण अइदुदुर्दा ॥ १२३ ॥  
 सोल्लसमुत्तगारं, सुइभवे जं सुइउहे उविथा ।  
 अंमं इरिऊण तप, सुआधिरो । तेण तुह जाभो ॥ १२४ ॥  
 जो दुक्खं व सुइं था, तिरुत्तसमिचं पि देइ भनस्स ।  
 सोः बीअ व सुखिते, परडोए बहुफलं लहए ॥ १२५ ॥  
 सोउं गुरुणा वयणं, गुरुपज्जायावतावियमणा ।  
 जम्मंतरदुक्खरियं, अमाविथा सा रई तीए ॥ १२६ ॥  
 नीए वि उड्डिऊणं, प्रणिथा जयसुंदरी वि निमिऊणं ।  
 खमसु तुमं पि मइसाइ, जं काणियं तुज्ज सुयडुक्खं ॥ १२७ ॥  
 जणिया गुरुणा जुन्न वि, जं बचं मउत्तरण गुरु कम्मं ।  
 न अज्ज खामणाए, सावयं तुमंहेइ नीसेत्ता ॥ १२८ ॥  
 जणइ नरिंशो भयवं, । अअभवे किं चए पावं ।  
 जेण सह सुंदरीए, कुमनेण य पाविचं रज्जं ॥ १२९ ॥  
 जइ सुयजम्ममिं तप, जिणपुरओ इक्खणएइं विविऊण ।  
 संपचं देवत्तं, रज्जं तइ साहिचं गुरुणा ॥ १३० ॥  
 जं जम्मंतरविइयं, अक्खयपुज्जत्तं जिणिदस्स ।  
 तस्स फले तुह अज्ज वि, तइयनेव सासयं ठाणं ॥ १३१ ॥  
 इय भणिए सो राया, रउजं दाऊण इयपुत्तस्स ।  
 जयसुंदरिक्कुरजुओ, पवइवं गुरुसर्मावमिं ॥ १३२ ॥  
 पवइजं पाइउं, साइओ इइआइ तइ य पचेण ।  
 मरिऊण समुपपनो, सत्तमकप्पमिं सुरनाहो ॥ १३३ ॥  
 ततो चुओ समाणो, लुक्कण स माणुसत्तणं परमं ।  
 पावाहिस्सि कम्ममुक्को, अक्खयसुक्खं गधो सुक्खं ॥ १३४ ॥  
 जइ राया तइ जाया, कुमरो देयत्तणमिं का देवी ।  
 चत्तारि वि पत्तारं, अक्खयसुक्खमिं सुक्खमिं ॥ १३५ ॥

अकखयायार-अकूनाचार-पुं० ६ ब० । स्थापितादिपरिहाररिखि  
 आचारवनि साधो, "आहाकमुदेसिय, उवियरयकोयकारियं  
 उेज्ज । अंभवाहादरुमालं, वण।मगाजीवणणाकाए।परिहरति-  
 सर्ण पाणं, सज्जावदिहृत्तिसंक्रियंमीसं । अक्खयमभिधममप,  
 संक्रिण्ठं वासए जुत्तो" एतानि (आघाकमादीनि) बोडानपा-  
 नादिश्रुत्यापधीअ परिहरति । तथा पुंतिं ससंक्रितं मिश्रम, उप-  
 लक्षणमतत् अक्खयपुक्कादिकं च यथावदयके सुक्तः संसृ-  
 त्तान्धारः । व्यं० ३ उ० ।

अकखयायारया-अक्षनाचारता-की० परिपूर्णाचारतायाम् व्यं०  
 ३ उ० ।

अकखयायारसंपन्न-अकूनाचारसंपन्न-वि० अकूतेनाचारेण सं-  
 पन्नः । अकूनाचारसंपन्न, व्यं० ३ उ० ।

अकखर-अक्षर-न० कर्तरीत्यक्षरं स्वभावात्कदाचिन्न प्रचय-  
 त इति कृत्वाऽक्षरम् परं तत्त्वे, "ज्योतिः परं परस्ताव, तमसो यद्-  
 गीयते महासुनिनिः। आदित्यवर्णममलं, प्रह्लादीयरं परं अक्षरं"  
 वा० ३ वि० । न कर्तरीत न विनयतीत्यक्षरम् । केवलज्ञानं,  
 "संश्रद्धीवाणं पिय यं अक्खरस्स अणुंतभाउणिच्छुग्घाडिओ"  
 विदो। क्खर संखसने, न कर्तरीति अक्षरम् । ज्ञानं, चेतनायाप, ।  
 न खल्विदमनुपयोगेऽपि प्रचयते ततोऽक्षरमिति, प्रा० म० प्र०।

न कखरइ अणुवओमे, वि अकखरं सो य चेयणाजावो ।

अविमुक्कनयाणमयं, सुप्कनयाणकखरं चैव ।

'क्षर संखसने' न कर्तरीत न खल्वनुपयोगेऽपि न प्रचयते इ-  
 त्यक्षरः स च चेतनाभावो जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः । (तथा  
 च तन्मतानुसारिणो मीमांसका नित्यं शब्दमातिष्ठमानाः प्र-  
 तीता एव । वृ० १ उ० ) एतच्च नैगमादीनामविमुक्कनयानां मतं  
 बुद्धानां तु श्रुत्युत्पत्तादीनां ज्ञानं कर्ममेव न त्यक्करमिति ।

कृत इत्याह—

उवओमे चिय नाणं, सुक्का इच्छंति जअ तन्विरहे ।

उपायजंगुरा वा, जं तंस्सि सव्वपज्जया ॥

यस्माच्छुक्कनया उपयोग एव सति ज्ञानमिच्छन्ति नानुपयोगे,  
 घटादरेपि ज्ञानवस्वप्रज्ञात् । अथवा यस्मात्सोवां शुक्कनयानां  
 सर्वेऽपि श्रुदादिपर्याया घटादयां भावा अत्यादभङ्गुरा अत्यन्ति-  
 मन्तो विनश्वराश्चेत्यर्थः । न पुनः केचिन्नियत्वाद्दक्षरा इति  
 भावः । प्रतो ज्ञानमन्युत्पादभङ्गुरस्ते कूरमेवपि प्रकृतम् । अ-  
 शुक्कनयानां तु सर्वमेवावनामत्यस्थितत्वाज्ज्ञानमन्युत्पत्ति-  
 ति । एवं तावदभिलाषहेतोर्विज्ञानस्याक्षरत्तानक्षरता चोक्ता ॥  
 इदानीं साभिलाषविज्ञानविषयभूतानामभिलाषार्था-  
 नामन्यत्पत्ताऽक्षरत्ते नवविभागोनाह ।

अभिलप्पा वि य अत्त्या, मव्वे दव्वट्टयाए जं निष्ठा ।

पजाएणानिष्ठा, तेण खरा अकखरा चैव ॥

अभिलप्या अप्यथां घटव्योमादयः सर्वेऽपि द्रव्यास्तिकन-  
 याभिप्रायेण नित्यत्वाद्दक्षराः, पर्यायास्तिकनयाभिप्रायेण त्व-  
 नित्यत्वान् क्षरा एवेति (क्षरा घटादयोऽक्षरा धर्मोस्तिकाया-  
 दयः । वृ० १ उ० )

अथ परोऽतिव्यमितमुद्गावयप्राह ।

एवं सर्वं चिय ना-एणमकखरं जमविंससियं मुणे ।

अविमुक्कनयमएणं, को सुयानणे मइविसेसो ॥

यदि न कर्तरीत्यक्षरमुच्यते एवं सति सर्वं पञ्चप्रकारमपि  
 ज्ञानमविशुद्धनयमनेनाक्षरमेव । सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपा-  
 यिचलनाद्यतत्त्वाविशेषितं सूत्रेऽप्यभिहितमित्युपस्कारः । त-  
 दाथा "सव्वजिजावणं पिय यं अक्खरस्स अणुंतभागे निच्छु-  
 ग्घाडियओसि" तत्र ह्यक्षरमध्येनाविशेषितमेव ज्ञानमभिहितं  
 न पुनः श्रुतज्ञानमेव अपरं च सर्वेऽपि भावा अविशुद्धनया-  
 भिप्रायेणाक्षरा एव ततोऽत्र कृतज्ञाने कां प्रतिविशेणो येनो-  
 च्यते 'अक्षरभूतमनक्षरभूतम्' इति ।

अत्रोत्तरमाह ।

जइ वि हु सव्वं चिय ना-एणमकखरं तइ वि रुडिओ वओ ।

जइइ अकखरमिहुरा, न खरइ सव्वं सजावाओ ॥

यद्यप्यविशुद्धनयाभिप्रायेण सर्वमपि ज्ञानमक्षरं तथा सर्वेऽपि  
 भावा अक्षरास्तथापि रुदिवशाद्गणो एवेहाक्षरं अस्यते इतर-  
 धा तु यथा त्वं भणसि तथैवाशुद्धनयमनेन सर्वमपि वस्तुस्व-  
 भावात्क्षरत्वेवेति । इदमुक्तं भवति । यथा गच्छतीति गौः,  
 पङ्के जातं पङ्कजम्, इत्याद्याविशिष्टार्थप्रतिपादाका अपि शब्दा  
 कदिवशाद्दिशेया एव वक्षन्ते, तथाऽत्रात्रक्षरशब्दो वक्षो एव  
 वक्षते । वक्षो एव वृत्तमेवेत्यादस्तदेवाक्षरानक्षररूपमुच्यते इति ।  
 विशेष० न० ।

अस्ये य स्वरः न य जेणक्खरं तेणं ।

अर्थानभिधेयान् ऋरति संश्रय्यतीति निराक्षिबिधिनाथेकार-  
लोपादान्तरम् । अथवा क्षीयत इति क्षरम् । अस्यैव्यर्थसं-  
योगे अन्नतानर्थान् प्रतिपादयति न च स्वयं क्षीयते तेनाक्ष-  
रमिति भावः । वर्थे, स च स्वल्पव्यञ्जनभेदेन द्विधा भवति ।  
विशेषः ० तत्र ऋविश्रादक्षरं वर्थे इत्युक्तम् ॥

तच्च त्रिविधं भवतीति दर्शयति ।

मे किं तं अक्षरसमुयं १ तिविधं पञ्चत् । तं जहा सञ्-  
क्खरं वंजणक्खरं लुक्खरं । मे किं तं सञ्क्खरं २ अ-  
क्खरस्स संग्राणादिं । सेत्तं सञ्क्खरं । मे किं तं वंजणक्खरं  
वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाजिलावो सेत्तं वंजणक्खरं ।  
मे किं तं लुक्खरं अक्खरं अक्खरस्स अक्खरलुक्खियस्स  
हादिअक्खरं समुपज्जइ । तं जहा सोईदियल्लुक्खरं  
चत्थिदियल्लुक्खरं धाण्णियल्लुक्खरं रसण्णिय-  
ल्लुक्खरं फासिंदियल्लुक्खरं नोईदियल्लुक्खरं सेत्तं  
हादिअक्खरं सेत्तं अक्खरसुयं ।

( से किं तमित्यादि ) अथ किं तदक्षरभूतं ? सूरिराह—अक्ष-  
रभूतं त्रिविधं प्रकृतं तद्यथा संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं लक्ष्यक्षरम् ।  
तत्र ' क्षर संचलने ' न ऋरति न चलनीत्यक्षरं ज्ञानम् । तद्वि-  
सर्वस्वाभाव्यादुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रच्यवते । यद्यपि च  
जीवनामेवविशेषोपलक्ष्यं तत्र प्रामेति तथापि श्रुतज्ञानस्य प्र-  
स्तावादाक्षरं श्रुतज्ञानमेव द्रष्टव्यं न शेषमित्यभूतभावात्क्षरकार-  
णं चाकारादिवर्णजातम्, तत्त्वतदुपचारात्क्षरमुच्यते, तत-  
श्चाक्षरं तत्त्वतः च श्रुतज्ञानं चाक्षरभूतं भावश्रुतमित्यर्थः ।  
तत्र लक्ष्यक्षरभूतं वेदितव्यम् । तथा अक्षरात्मककारादि-  
वर्णोत्पन्नं श्रुतमक्षरभूतं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । तत्र संज्ञाक्षरं व्य-  
ञ्जनाक्षरं च द्रष्टव्यम् । अथ किं तन् संज्ञाक्षरम् । अक्षर-  
स्याकारादेः संस्थानाकृतिः संस्थानाकारः । तथाहि—सं-  
ज्ञायतेऽन्येति संज्ञा नाम तत्रिबन्धनं तत्कारणमक्षरं संज्ञा-  
क्षरम् । संज्ञा च निबन्धनाकृतिविशेषः । आकृतिवि-  
शेष एव नाम्नः कर्त्तव्यं व्यवहरणोच्यते । ततोऽङ्कारस्य  
पट्टिकादौ संस्थापितस्य संस्थानाकृतिः संज्ञाक्षरमुच्यते ।  
तत्र आद्यप्राद्विभेदतोऽनेककारस्य । तत्र नागरीलिपिम-  
धिकृत्य प्रवृत्तं, मध्यस्थापितचुद्धिसिद्धिवशसदृशो रखा-  
स्तत्रिबन्धविशेषोकारः । यकीनुत्तश्च सारमपचुद्धसि-  
द्देशसदृशो ढकार इत्यादि तदेतत्संज्ञाक्षरम् । अथ किं तद्  
व्यञ्जनाक्षरम् । आचार्ये आह—व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभि-  
ज्ञापः । तथाहि—व्यञ्ज्यतेऽन्येनार्थः प्रदीपेन घट इव व्यञ्जना-  
व्यकारमकारादिकवर्णजातं तस्य विवर्त्तनार्थोऽप्यञ्जकत्वात् ।  
व्यञ्जं च तदङ्कं च व्यञ्जनाङ्कं ततो युक्तम् व्यञ्जनाङ्क-  
मक्षरस्य व्यञ्जनाभिज्ञापः । अक्षरस्याङ्कमङ्कवर्णजातस्य व्य-  
ञ्जनेन अत्र जायते अन्तः । व्यञ्जकत्वेनाभिज्ञाप उच्यतेणार्थव्यञ्जक-  
त्वेनोच्चार्यमाणमकारादिवर्णजातमित्यर्थः ( से किं तमित्यादि )  
अथ किं तत् लक्ष्यक्षरम् । त्रिबन्धपर्यायः, स चेद् प्रस्तावात्  
शब्दार्थपर्यलोचनानुसारं गृह्यते, त्रिबन्धरूपमङ्कं लक्ष्यङ्कं  
भावश्रुतमित्यर्थः । ( अक्षरलक्ष्यस्तेत्यादि ) अङ्करेऽङ्करस्यो-  
च्चारणेऽवगमं वा त्रिबन्धस्य सोऽङ्करलक्ष्यकस्तस्याकाराद्यङ्करा-  
नुविद्धश्रुतलक्ष्यसमन्वितस्येत्यर्थः । त्रिबन्धं जायतेतुं समुप-

द्यते, शब्दादिब्रह्मसमन्तरामिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्या-  
लोचनानुसारं ' शङ्खोऽयम् ' इत्याद्यङ्करानुबन्धिं चिह्नानमुप-  
जायत इत्यर्थः ।

नन्विदं लक्ष्यङ्कं संज्ञिनामेव पुरुषादीनामुपपद्यते नासंज्ञि-  
नामेकेन्द्रियादीनां तेषामकारादिवर्णानामवगमं उच्यवर्णणे वा ल-  
क्ष्यसंभवात् । न हि तेषां परोपदेशो भवत्येवं संभवति येनाकारादि-  
वर्णानामवगमादि भवेत् । अथ वैकेन्द्रियादीनामपि भावश्रुत-  
मित्येते । तथाहि—पार्थिव्यादीनामपि भावश्रुतमुपपद्यते "द्वय-  
सुयात्रावश्मि चि, भावसुयं पत्थिवाइणं " इति वचनप्रामाण्या-  
त् । जावश्रुतं च शब्दार्थपर्यलोचनानुसारिगृह्यज्ञानं शब्दार्थपर्या-  
लोचनं चाङ्करमन्तरं न भवतीति स्वयमेतत् । किं यद्यपि  
तेषामेकेन्द्रियादीनां परोपदेशावगणानसंभवस्तथापि तेषां तथा-  
विधत्तयोपसामावातः कश्चिदव्यक्तोऽङ्कस्ततो जगति यदशा-  
दङ्करानुबन्धिं श्रुतज्ञानमुपजायते इत्यं चेतदङ्किकेतव्यम् । तथा-  
हि—तेषामव्याकराद्यभिज्ञाप उपजायते, अत्रिबन्धप्रधानं, ना  
च यदीदमं प्रामेति ततो भव्यं भवनीत्याद्यङ्करानुबन्धिं च,  
तत्त्वस्यापि कावचद्वयसाङ्करलक्ष्यव्यर्थं प्रतिपत्तव्या तत्-  
त्त्वेनामपि लक्ष्यङ्कं भवतीति न कश्चिदोपः । तच्च लक्ष्य-  
ङ्कं शोभा । तद्यथा श्रेयैन्द्रियलक्ष्यङ्करमित्यादिः । इदं  
यत् श्रेयैन्द्रियेण शब्दभ्रवणे सति शङ्खोऽयमित्याद्यङ्करानु-  
बन्धिं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारं विज्ञानं तत् श्रेयैन्द्रियलक्ष्यङ्क-  
रं तस्य श्रेयैन्द्रियनिमित्तत्वात् । यत्पुनश्चक्षुषा आम्नङ्कानुबन्धि-  
व्याम्नङ्कमित्याद्यङ्करानुबन्धिं शब्दार्थपर्यालोचनानामेकं विज्ञानं  
तत्रश्रुतिन्द्रियलक्ष्यङ्करमेव । श्रेयैन्द्रियलक्ष्यङ्करमपि जावनीय-  
म् ( संज्ञमित्यादि ) तदेतन् लक्ष्यङ्कं तदेतदङ्कश्रुतम् । न० ।  
५० । कृप० । आ० चू० विशेषे ०

अथानभिज्ञं च—अज्ञाक्षरं इच्छितेतरं वदतो ।

रुवं च पणसैणं, विज्जति अत्थो जत्तो ताणं ॥

इह पञ्चविक्रितं तदेव यदि वदति यथा अश्वं भणित्वातीति  
तदेवं ह्येन तदा तदीतिस्मनमन्यद्विद्विज्ञानोऽन्यत्वेच्छुचरति तदा  
तदितरादनीत्यतमीतिस्मितरं वा वदतो यद्यथाजिन्व्यञ्जक-  
जिधानं तद् व्यञ्जनाङ्करम् । अथ कस्याद्भ्यञ्जनाङ्करमुच्यते  
नाभिधानाङ्करमत आह—रूपमिव घटादिकमिव प्रकाशेन  
दीपादिना तस्मिन् लक्ष्यमानम् अर्थां घटादियतो यस्माद्भ्यज्यते  
प्रकटीक्रियते तेन कारणेन व्यञ्जनाक्षरमित्युच्यते ॥

ते पुण जहत्थनियतं, अजहत्थं वा वि वंजणं दुविहं ।

पगमणोपगारियं, एमंय व अक्षरसुं पियं ।

तत् पुनर्व्यञ्जनं द्विविधम् यथार्थनियतमर्थार्थं च । यथार्थ-  
नियतं नामार्थयुक्तं, यथा ऋषयनीति रूपेण, तत्पतीति तमम  
इत्यादि । अथार्थं यथा—नेन्दं गोपयति तथापीन्द्रगोपकः ।  
न पक्षमत्राति तथापि पञ्चाश इत्यादि । अथवा तद् व्यञ्जने  
द्विधा एकःपर्यायनिकपर्यायं च । एकः पर्यायोऽभिधेयो यस्य  
तदेकपर्यायम् । यथा अलोकः स्वपिण्डलमिमांसादि । अलोकशब्देन  
हालोकस्यलक्षणं एक एव पर्यायोऽभिधीयते । स्वपिण्डलशब्देन  
स्वपिण्डलस्यमकमिति । अनेके पर्यायाभिधेया यस्य नद्वन्द्व-  
पर्यायम् । यथा जीव इति जीवशब्देन द्वि जीवोऽप्युच्यते  
सत्योऽपि प्राणयपि भूतोऽपि च । जीवशब्दश्च प्रतिनिधायोऽभि-  
धाः । तथा चोक्तम् । "प्राणा द्विविधेः प्राणा, भूनाश्च तरवः  
स्मृताः जीवाः पञ्चेन्द्रिया हेवाः, शेषाः सत्त्वा उर्ध्वरिताः" ततो

भवति सामान्येन जीवशब्दस्यानेकपर्यायाभिधायकत्वमिति । एवमेव एकानेकभेदेनाक्षरेणैव च्छब्दव्ययम् । तथाया—द्विविधं व्यञ्जनभेदाक्षरभेदाक्षरं च । एकाक्षरं ध्वंः श्रीरित्यादि । अनेकाक्षरं वीणा लता माहा इत्यादि ।

सक्यपाययज्ञासा—विणियुक्तं देसतो अयोगविहं ।

अजिहाणं अजिधेया—तो होइ भिन्नं अभिन्नं च ॥

अथवा द्विप्रकारं संस्कृतं प्राकृतभाषाविनियुक्तं च, यथा—वृक्षः कृष्णा इति । देशतो नामादेशानामिदं अनेकविधम्, यथा—मागधानामोदनो लाटानां कूरो द्रमिलानां बीरोऽप्राणामिमा-  
कुरिति, तथा तदभिधानं व्यञ्जनाक्षरमभिधेयात् अभिन्नमिन्नं च । तत्र भिन्नं प्रतीतं, तादात्म्याभावात् ।

तमेव तादात्म्याभावात्—

सुरअग्निगोपयुच्चा—रयामि जम्हाउ वयणसवणाणं ।

न वि डेओ न वि दाहो, न वि पूरणं तेषु जिज्ञे तु ॥

यस्मात् सुरशब्दोच्चारणे अभिशब्दोच्चारणे मोदकशब्दोच्चारणे च यथाक्रमं वदतो वदन्त्येव श्रवणतः श्रवणस्य न वेदो नापि दाहो नापि पूरणमतो ज्ञायतेऽभिधेयाद्भिधानं भिन्नम्, अन्यथा तादात्म्यबन्धनात् सुरादयोऽपि तत्र सम्मतिं वदन्त्येव श्रवणस्य च वेदादिप्रसङ्गः । अजिज्ञावं नाम संबद्धत्वम् । तथा च श्लोकऽप्यभिशाब्दः संबद्धत्वाच्च व्यबह्रियते यथाऽयमस्माकं खादनपानेनाभिः संबद्ध इत्यर्थः ।

ततस्तदेव संबद्धत्वं भावयति—

जम्हाउ मायोगे अजि—द्वियमि तत्थेव पत्तओ होई ।

न य होइ सो अग्रते, तेषु अजिज्ञं तद्व्यातो ॥

यस्मान्मोदकं अजिहितं तसैव मोदकं ज्ञययो जयति नात्यत्र, न च न नियमन तत्र प्रत्ययोऽप्यन्वयेऽसंबद्धत्वे सति भवति संबन्धानावतो नियामकान्वयेनाप्यप्यपि तत्रान्यप्रसक्तोः, तेन कारणेन ज्ञायते तदभिधानमर्थाद्भिन्नमर्थेन सह चारुयवाचक-  
भावसंबद्धम् ।

एकेकमक्षररस उ, सपञ्जाया इवंति इयरे य ।

संबद्धमसंबद्धा, एकेका ते भवे बुविहा ॥

व्यञ्जनस्य यान्यक्षराणि तस्याक्षरस्यैकैकस्य द्विविधाः पर्यायाः स्वपर्याया इतरे च परपर्यायाश्च । तत्र वर्णश्लिषा—इत्यां दीर्घः प्लुतश्च । पुनरैकैकश्लिषा—उदासोऽनुदासः स्वरितश्च । पुनरैकैका द्विधा—सानुनासिको निरनुनासिकश्च । एवमष्टादशप्रकारोऽर्थवर्णः उक्तं च— इत्थदीर्घोऽनुतवाञ्च, शैत्थयोऽपययेन च । अनुनासिकभेदाच्च, संख्यातोऽष्टादशात्मकः ॥ एते भवन्त्येव त्रयः पर्यायाः, तथा ये एकैकाक्षरसंयोगतोऽक्षरसंयोगत एव यद्यन्तो घटन्ते संयोगस्तावत्संयोगशततो येऽवस्थाविशेषा ये च तत्सदृशीभिधायकत्वस्वभावात्संज्ञपित स्वपर्याया इतरे तत्रा-  
स्तन्तः परपर्यायाः । एवमिषाणोदीनामपि स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च बक्तव्याः । येषु परपर्यायास्तोऽपि तस्यैति ध्यादिद्वयन्ते । व्यवहृत्यतया तेषां तद्विशेषकत्वात्, यथाऽयं मे पर इति । ते च स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च एकैकं द्विविधा भवति । तद्यथा-  
संबद्धा असंबद्धाश्च ।

एतदेव भावयति—

अस्तियचे संबद्धा, हुंति अकाररसम पञ्जाया जे उ ।

ते चेव असंबद्धा, नस्तियचे एं तु सव्वे वि ॥

ये अकारस्य पर्यायाः स्वपर्यायास्ते तत्रान्तिस्त्वेन संबद्धा भवन्ति, नास्तिस्त्वेन पुनस्त एव सर्वेऽप्यसंबद्धाः; तत्र तेषां नास्तिस्थानात्वात् ।

एमेव असंता वि उ, नस्तियचे एं तु होंति संबद्धा ।

ते चेव असंबद्धा, अस्तियचे एणं अजात्रावा ।

एवमेव अनेनैव प्रकारेणास्तनः परपर्याया, अपि नास्तिस्त्वेन जयन्ति संबद्धाः । ते वैधं परपर्याया अस्तिस्त्वेनासंबद्धाः, तथा-  
स्तिस्त्वस्य तत्रानावत्वात् ।

अथैव निदर्शनमाह—

यमसहे यमकारा, इवंति संबद्धपञ्जाया एते ।

ते चेव असंबद्धा, इवंति रहमरमांसु ॥

घटशब्दे ये घकारटकारकारस्तेषां ये पर्यायास्ते एते भवन्ति । तत्रान्तिस्त्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, त एव घकारटकारकारपर्यायाः रथशब्दादिषु भवन्ति अस्तित्वेनासंबद्धाः; तथा तत्राभावात् । तद्वचमस्तिस्त्वेन स्वपर्यायास्तत्र संबद्धा अन्यत्र चासंबद्धा उपदर्शिताः । एतदुप-  
देशेनैतदधीवापन्नम् । ते स्वपर्यायास्तत्र नास्तिस्त्वेनासंबद्धा अन्यत्र तु संबद्धाः । तथा ये रथशब्दस्य स्वपर्यायास्ते तत्रान्तिस्त्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, घटशब्दे न संबद्धास्तेषां तत्रासत्त्वात् त एव च रथशब्दे नास्तिस्त्वेनासंबद्धा घटशब्दे तु संबद्धा इति । तद्वचं स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च प्रत्येकं संबद्धा असंबद्धाश्च निदर्शिताः ।

अधुना स्वपर्यायात् दर्शयति—

मंजुत्तामंजुत्तं, इय लजने जेसु जेसु अस्त्येसु ।

विधिभागमक्षरं ते—सि होंति सभावपञ्जाया ॥

इत्येवं घटशब्दरथशब्दादिगतेन प्रकारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽक्षरमकारादिकं येषु येषुषु विनियोगं लभते ते तेषां स्वभावपर्यायाः स्वपर्याया भवन्ति । अर्थादिदमायातम् अयं परपर्याया इति । तद्वचमस्तिस्त्वेन व्यञ्जनाक्षरम् । तदभिधाना-  
च्चाभिहितं त्रिविधमप्यक्षरम् । वृ० १ उ० ।

लक्ष्यक्षरमाह—

जो अक्षररोवलंभो, सा झळ्ळी तं च होइ विष्णाणं ।

इंदियमाणोनिमित्तं, जो आचरणत्त्वञ्चोचसमो ॥

यऽक्षरस्थोऽक्षरमो लाभः सा लम्पनं लक्षिणं, तन्नप्यक्षर-  
मित्यर्थः । तच्च किमित्याह—इतिद्वयमनेनिमित्तं भुतग्रन्थानु-  
सारे विद्वानं भुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः । यच्च तज्ज्ञानोपयोगो यच्च तदाचरणकर्मयोगेश्च एतौ द्वौपि लक्ष्यक्षरमिति भावार्थः । उक्तं त्रिविधमप्यक्षरम् ।

अथात्र किं द्रव्यभुतं किं वा भावभुतमित्याह—

द्रव्यसुयं सखावं—जणकवरं जावमुत्तमियं तु ।

मंजुसुवाविसंज्ञां वि, मोत्तुणं दव्वसुयं ति ॥४॥

संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं कैरे द्वे अपि भावभुतकारणत्वात् द्रव्य-  
भुतम्, इतरत्तु लक्ष्यक्षरं भावभुतम् । अत्र विनयेः प्राह—तनु  
पूर्वं मतिभुतभेदविचारे येयं गाथा प्रोक्ता ॥ सोऽदिशोयलळी,  
होइ सुयं सेमयं तु महनाणं । मोत्तुणं दव्वसुयं, अक्षरसंज्ञो  
य सेससु ति ॥ अस्यां किमस्य त्रिविधस्याक्षरस्य संग्रहोऽस्ति,  
भुतविचारस्य तत्रापि प्रस्तुतत्वात्, यथास्ति तदिदं दर्शनात् कथ-



मसौ ? अथ नास्ति तद्विधाप्रति किमनेनाप्रस्तुतेन इति । सूरिः पूर्वापरग्रन्थसंबन्धं दिदर्शयितुस्तत्राप्यस्यात्तरज्यस्य संग्रह-पुस्तकश्लेषेति (महसुययेत्यादि) मतिभूतविशेषणोऽपि मतिभूतभेदविचारोऽपि "सांदिश्रोवलक्ष्मी" इत्यादिगाथायां "मोक्षं दृष्टुमुयं" इत्यनेन गाथावयवेन किमिव्याह—

दृष्टुमुयं सप्तक्षरं—मक्षरद्वंद्वोऽपि भावसुयुमुत्तं ।

सोऽत्रावलक्ष्मिषणं, एषं वंजयं भावसुयुं च ॥

संज्ञालक्षणमुक्तम्, कथंभूतमित्याह—द्रव्यभूतं भावकारणत्वात् द्रव्यभूतरूपम् "अक्षरलक्ष्मी य सिसुयुति" अनेन त्वययवेन लक्ष्यलक्षणमुक्तामिति शेषः । कथंभूतमित्याह—भावभूतं विज्ञानात्मकत्वात् भावभूतरूपं "सांदिश्रोवलक्ष्मी होह सुयं" इत्यनेन त्वययवेन श्रोत्रेन्द्रियेषोपलक्षणस्य शब्दस्येति बहुव्रीहि-समानाभिप्रायत्वात्, व्यञ्जनं व्यञ्जनाकारमुक्तम् । श्रोत्रेन्द्रिय-स्वोपलक्ष्यविज्ञानमिति षष्ठीसमासाङ्गीकरणेन तु पुनरपि लक्ष्यक्षरं भावभूतरूपमहितामिदं न पूर्वापरविसंबन्धः ।

ननु लक्ष्यक्षरं कथं प्रमाणात् लभ्यं इत्याह—

पक्षसर्वमिदियमणो—हिं ह्रस्वः श्लिगेण वक्करं कोड ।

श्लिगेणप्राणमणं, सारिकवाइं पभासंति ॥

तन्त्राक्षरं लक्ष्यक्षरं कश्चित्प्रत्यक्षं लभते प्रत्यक्षरूपतैयं कथंचिदुपपन्नं इत्यर्थः । कात्यायं कृत्वा इत्याह—इन्द्रियमनो-भ्याम्, इन्द्रियमनोनिमित्तं यद् व्यवहारप्रत्यक्षं तत्र कस्याचि-द्व्यञ्जितं भूतज्ञानरूपमुपपन्नं इत्यर्थः । अन्यत् लिङ्गेन धूमा-दिना तदुत्पत्ते, धूमादिलिङ्गं दृष्ट्वा अग्न्यादिज्ञानरूपं तत्क-स्यंचिदुपपन्नं इत्यर्थः । "होह" किमुच्यते इत्याह—अनुमान-मिति । ननु लिङ्गप्रत्यक्षं संबन्धस्य लक्ष्यभ्यामनुपपन्नमानमु-मानं लिङ्गं ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमवाप्तुमानमिति चेत्-सत्यम्, किं तु कारणं कार्योपकारादप्यनुमानम्, यथा प्रत्यक्ष-ज्ञानमनो घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । तदिह तात्पर्यम्—लक्ष्यक्षरं भूतज्ञानमुच्यते । तच्चेन्द्रियमनोनिमित्तं प्रत्यक्षं वा स्यादनु-मानं वा स्यादन्यत्, शेषस्यात्मप्रत्यक्षस्यावधारिकरूपत्वादि-भावः । सादृश्यादिभ्यो जायमानत्वात्तरनुमानं पञ्चवधमिति केचित्प्रमाणत्वं । विशेषे ०

सामन्त्रविसेषेण य, वृद्धिा इच्छी पदमा अज्ञेया य ।

तिविदा य आणुनलक्ष्मी, उवलक्ष्मी पंचहा विः पा ॥

लक्ष्यलक्ष्यक्षरं द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा—सामान्येन विशेषेण च । सामान्यलक्ष्यक्षरं विशेषलक्ष्यक्षरं चेति भावः । तत्र प्राथमिकं सामान्योपलक्ष्यः । सामान्योपलक्ष्यक्षरमजदृश्याभ्यो भेदाज्ञात्वात् । इहोपलक्ष्येनुरनुपलक्ष्येपज्ञातस्त्वया अपि प्र-रूपा कसंशययत्न आह—त्रिविधा द्विप्रकारा अनुपलक्ष्ययो पु-नर्दिनानां विशेषोपलक्ष्यविशेषोपलक्ष्यक्षरं सा पञ्चधा पञ्च-प्रकाराः । वृ ? उ ० ।

संयतमक्षरभ्रान्तकारादेव यदुक्तं मूवे "अक्षरत्तद्विअस्स ह्किअक्षरं समुपज्जह" इति तत्र प्रयंमत्यापयन्नाह—

अक्षरद्वंद्वो मणी—एण ह्लिङ्गं पुग्माइवसुवित्तिगाणां ।

कत्तो उ असमणं, जणियं च युग्मिमे तेषि पि ॥

पुरुषक्षीनपुंसकघटपटादियमविज्ञानरूपोऽङ्गरत्नानः संज्ञिनां समनस्कजीवानां भयंरूपद्वयामरे एतदसंज्ञिनां चामनस्कानां कुत पतद्वर्णविज्ञानं भवति ? न कुतश्चिदित्यर्थः । अक्षरत्नानस्य परोपदेशजत्वान्मोक्षिकत्वानां तु तदसंततया, वा नृत् न्यां नदिं

तदित्याह—भणितं च षष्ठीविज्ञानं भूतं तेषामप्येकैन्द्रियाद्यसंज्ञि-नाम् "पर्यविद्यात् महप्रवृत्ताणी सुयभन्नाणी य" इत्यादि वच-नान्, न हि भूतज्ञानमक्षरमन्तरं संभवति तदेतत्कथं अज्ञात-व्यमिति ? अत्रोच्यते—

जह चेषामणिकल्पिभ—मसणीय तह होह्ति नाणं पि ।

धोवत्ति नोवलक्ष्मद, जीवत्तमिव इंदियाइणं ॥

यथा चैतन्यं जीवत्वमकृत्रिमस्वभावमाहारादिसंज्ञाद्वारेणा-संज्ञिनामधगम्यते तथा इच्छात्कामकसमज्ञानमपि तेषाम-धगन्तव्यम्, स्तोकात्वात् स्पृहलक्ष्मिस्तन्मोपलक्ष्यते जीवत्व-मिव गुणव्यापेकैन्द्रियाणां । एकशब्दस्य वेदं श्लेषः, अस्मा सत्यनामत्यादिदर्शनादिति । यदपि परोपदेशजत्वमक्षर-स्याच्यते तदपि संज्ञाव्यञ्जनाङ्कारयोरेवावस्यम् । लक्ष्यक्षरं तु क्षयोपशमैन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुध्यते, तदेव च मुख्यतवेह प्रस्तुतम् । तस्य संज्ञाव्यञ्जनाकरं भूतज्ञानाधि-कारादिति । दृष्टान्ताभ्रमदरा—

जह वा सण्णीणमण—नखराणं असइ नरवसुविषाणे ।

लक्ष्मिखरं ति भसइ, किमपि चि तदा असासुणं ॥

यथा संज्ञिनामपि परोपदेशाभावे नवाङ्काराणां केषांचिद्विध-मु-धप्रकृतानां पुत्रिन्दुबालगोपालगवादीनामसत्यपि नकारादि-वर्णविशेषविज्ञानं इच्छ्यक्षरं किमपीदयेते नरादिवर्णोच्चारण-त-च्छ्रवणादिनिमित्तनिरीक्षणदर्शनात् । गौरपि हि स्वरात्तदृश्यादि-शब्धेनाकारिना सती स्थनाम जातोते प्रवृत्तानिवृत्त्यादि च कृ-वेनी इत्यनेन, न चैषां गवादीनां तथाविधपरोपदेशः समस्ति । अथवास्ति लक्ष्यक्षरं नरादिविज्ञानमज्ञात्वात् । एवमसंज्ञिनामपि किमपि तदुच्यमानं । तदेवं साधनमैन्द्रियादीनामपि यत्र यावच्च लक्ष्यक्षरम् ॥

अधैकैकस्याकाराङ्कारस्य यावन्तः पर्याया

अभक्तिं तदेतद्विशेषतो दर्शयति—

एकैकमक्षरं पुण, सपरपज्ञां विभेयथो जिणं ।

तं सन्देवपज्ञा—यरासिमाणं सुण्येयवं ॥

इह भिन्नं पृथगेकैकमपि तदकाराङ्कारं पुनः स्वपर्यायभेदतः सर्वाणि यानि द्रव्याणि नपर्यायराशिमानं ज्ञातव्यम् । इ-द-मुक्तं जयति—इह समस्तत्रिष्टुवनवर्षीनि यानि परमाणुद्रव्याणु-कादीन्येकाकाशप्रदेशादीनि च यानि द्रव्याणि ये च सर्वेऽप-वर्णोत्सद्विभेदाध्यायस्तेषां संघेभाषां विप्राकतो यः पर्याय-राशिर्भवति स एकैकस्याप्यकाराङ्कारस्य जयति, तन्मध्यं ह्य-कारस्य कश्चित्कोऽकारः स्वपर्यायास्ते चानन्ताः, शेषास्त्वन्मनुष्याः पर्याया इत्येवं सर्वेसंग्रहः । अयं च सर्वोऽपि सर्वेद्रव्यपर्याय-राशिः सद्भावतोऽनन्तानन्तस्वकारोऽन्यसकल्पनायै किल सर्वे पदार्थोच्चारणकारादयो धर्मास्ति कायादयः सर्वाकाशप्रदेशस-हिताः सर्वेऽपि किल सर्वहं तत्रैकस्याकारपदार्थस्य सर्वेद्रव्याग-तलक्ष्यपर्यायराशिमप्यादस्तित्वेन संबन्धाः किल शतप्रमाणाः स्वपर्यायाः, शेषान्तु नास्तिन्तत्वेन संबन्धाः सर्वेऽपि वरपर्यायाः । ए-वमिकारादेः परमाणुद्रव्याङ्काराङ्कारैकैकस्य द्रव्यस्य वाच्यमिति । आह—कः पुनः स्वपर्यायाः कः च परपर्याया इत्याह—

जे लज्जं केतोलीय—वमसहिओ व पजजवायारो ।

ते तस्स सपजजाया, मेसा परपजजाया सज्जे ॥

यानुदात्तानुदात्तसानुनासिकनिरनुनासिकादीनामसङ्गतान्

पर्यायाद् केवलोऽप्यवर्णनं संयुक्तोऽप्यवर्णनं संयुक्तो वाऽकारो लभते ऽनुजवति तस्य स्वपर्यायाः प्रोक्तवन्ते ऽस्तिवन्ते संबन्धत्वात् । तेनाऽन्तारास्तद्भवस्य विष्णुपरमाश्रयाद्विद्वन्व्यनन्तत्वात्तद्वद्व्यप्यप्रतिपादशकत्वात् न जिज्ञासाद्, भयथा तस्मिन्निपाद्यस्य स्वपर्यायकत्वमस्यैकैकपर्यायात्प्रत्ययात् । शेषास्त्विकारादिसंबन्धिनेष्वदादिगताभ्यास्य परपर्यायास्तेऽन्ये व्यावृत्तित्वेन नास्तिवन्ते संबन्धात्, एषमिकारादीनामपि प्रागजनीयत्वात् । अक्षरविचारस्य चेह प्रकान्तत्वादेकैककर्मकं सर्वद्वयपर्यायराशिमानमुच्यते, अन्यथाऽन्येषामपि परमाद्युद्वाहकघटादिविद्वन्व्याणामिदमेव पर्यायमानं द्रष्टव्यमिति । एवमुक्तं स्तिति परः प्राइ—

जइ ते परपञ्जाया, न तस्य अद्र तस्य न परपञ्जाया ।  
जं तस्मि अस्मंबन्धा, तो परपञ्जायववपसो ॥

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता । ये त्वमी परपर्यायास्ते यदि घटादीनां तर्हि नाक्षरस्य, अक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनाम्, ततश्च यदि पर्यायास्तर्हि तस्य स्वध, तस्य स्वपर्ययस्य कथमिति विरोधः । तद्वक्तुमस्मिन्प्रायापरिज्ञानात् । यस्मात्कारणत्वात्स्मिन्नकारके कारणाक्षरे घटादिपर्याया अस्तिवन्तेनासंबन्धात्, ततस्तेषां परपर्यायव्यपदेशोऽन्यथा व्यावृत्तेन रूपेण तेषुऽपि संबन्धा एवेत्यतस्तेषामपि व्यावृत्तरूपनया पारमाश्रित्यैकं स्वपर्यायत्वं न विरुध्यते । अस्तिवन्ते न तु घटादिपर्याया घटादिव्ये संबन्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्याया व्यपदेशयन्त इति भावाः द्विविधे इ वस्तुनः स्वकल्पमस्तिवन्तं नास्तिवन्तं च । ततो ये यस्मात्स्तिवन्तेन प्रतिबन्धान्ते तस्य स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तिवन्ते संबन्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते इति निमित्तभेदक्यापनपराधिव स्वपरशाश्रयै, न श्चक्यं तत्र सर्वथा संबन्धनिराकरणपर्यै, अतोऽक्षरघटादिपर्यायाः अस्तिवन्तेनासंबन्धा इति परपञ्जाया उच्यन्ते न पुनः सर्वथा, न तत्र संबन्धा नास्तिवन्ते तत्रापि संबन्धाः । नैकस्याभयत्र संबन्धो न युक्त एकस्यापि द्विभेदद्वारेणश्रय्येन पूर्वापरसमुद्घादिसंबन्धात् । यदि होकेनैव रूपेणैकस्याभयत्र संबन्ध इष्येत तदा स्याद्द्वारोः, एतच्च नास्ति, रूपद्वयेन घटादिपर्यायाणां तत्रान्यत्र च संबन्धात् । सत्वेन तत्र संबन्धात्सत्वेन त्वङ्कारादिषु । असत्त्वमाभावात्त्वाद्द्वस्तुनो रूपमेव न भवति खरविषयाणवदिति चेदयुक्तञ्च खरविषयाणकटवपस्य वसवभावेऽसिद्धत्वात् न इह प्रागभाष्यप्रथं साभावघटाभावपदाभावादिवस्वभावविशेषणवत्खरविषयाणां द्विष्वपि विशेषणं संभवति, तेषां सर्वोऽप्याक्याविरहलक्षणं निरभिलष्ये पष्ठभूतवर्धोरूपेऽप्यन्ताराभावमात्र एव व्यवहारिभिः संकेतितत्वात् । न च वष्टुतत्त्वस्वजात्रोऽप्यस्मान्निर्कोपभ्युपधीयते, नैकपरस्य निरभिलष्यत्वेन प्रागभाषाविशेषणानुपपत्तेः, किं तु यथैव शृण्विपकादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारादिव्यावृत्तिसाम्राज्यं प्रागभाष इति व्यपदिश्यते, यथाव कपादादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारः परमात्रात्, प्रथंसाभावोऽजिधीयते, तद्व्यपर्यायान्तराश्रयात्कृत्वादिभाव एव घटादिवस्वजात्रः प्रतिपाद्यते, न तु सर्वथैवाभावस्तथा, सर्वथा न किञ्चद्व्यपरस्यानभिलष्यन्त्वात् । न च वक्तव्यं खरविषयाणादिशब्देन साऽप्यभिलष्यन् एवोति निरभिलष्यत्वात्पनाप्रथंभे संकेतमात्राश्रयिनां खरविषयाणादिशब्दानां व्यषहरिजिस्तत्र निषेधात् । किं च यदि घटादिपर्यायाणामाक्षरे नास्तिवन्ते संबन्धो नैष्यते तर्होस्तिवन्तास्तिवन्तयोऽप्यव्यपदेशकत्वपरादिसत्त्वेन तेषां तत्र संबन्धः स्वाभाव्यो च सत्यक्षरस्यापि घटादिवस्वजात्रेऽपि तेषां च स्तिति सर्वविश्वमेकरूपतामेवासादयेत्, ततश्च सहेऽपस्यादिसप्रज्ञः ।

न च वक्तव्यं घटादिपर्यायाणां घटादीं व्यवस्थानानां नास्तिवत्त्वकृष्णं रूपं कथमकृतं प्राप्ते, कृपिणात्मन्तरेण रूपोयोगात् । अथ तेषपि तत्र सति तर्हि विषयैकत्वात् घटादिपर्यायाणां घटादीन् विद्यायाऽन्यत्र नास्तिवन्ते न्यन्तरेऽस्तिवत्त्वकृष्णं स्वपरभाषायां गदत एव कथं विद्विष्यैकताऽप्यभाषिकैव । द्रव्यादिकृतत्वा तदेकत्वस्याव्यभुगमाद्गतं गम्भीरमिदं स्थिरवृद्धिभिः परिभाषणीयम्, तस्मात् घटादिपर्याया नास्तिवन्तेनारेऽपि संबन्धा इति तत्पर्याया अप्यन्ते अस्तिवन्ते घटादावेव संबन्धा न त्वङ्कारे इति परपर्यायताव्यपदेश इति स्थितमिति ।

यदि घटादिपर्यायास्तत्राक्षरं असंबन्धत्वेन परपर्याया व्यपदिश्यन्ते तर्हि ते तस्य कल्पमन्तरे इत्याह—  
चायसपञ्जाया वि—सेसाइणा तस्य अमुवउज्जति ।

सप्रणमिवांसंबन्धं, जर्वति तो पञ्जाया तस्य ॥

ततस्तस्मात् घटादिपर्याया अपि तस्याक्षरस्य पर्याया भवन्ति यतोऽक्षरस्यापि ते उर्युज्यन्ते उपर्योगं यान्ति । केनैत्याह—त्यागस्वपर्यायविशेषणादिना त्यागेन स्वपर्यायविशेषणोपेययोगादित्यथेः । इदमुक्तं भवति—घटादिपर्यायाः सत्त्वेनाक्षरे असंबन्धा अपि ते स्वपर्याया भवन्ति, त्यागेनाज्ञानेनोपयुज्यमानत्वात् । यदि हि तत्र तेषामाज्ञाने न जनेषर्हि तदक्षरं घटादिपर्याये व्यावृत्तं न सित्येत्तत्रापि घटादिपर्यायाणां ज्ञावादिः । ततोऽक्षरस्य त्यागेनाज्ञानेनोपयोगात् घटादिपर्यायास्तस्य भवन्ति तथा स्वपर्यायाणां विशेषणं विशेषव्यवस्थापकत्वेन परपर्याया अपि तस्य जवन्ति, न हि परपर्यायव्यवस्तु स्वपर्यायाः केचिन्नेदं सिध्यन्ति, स्वपरशब्दयोरपारोक्षिकत्वात्वात्तथाः । इत्थं यथाऽप्युच्यते तद्वदवत्यपि तस्येति व्यपदिश्यते, यथा—देवदत्तादेः स्वधनम् । उपयुज्यते च त्यागस्वपर्यायविशेषणादिज्ञानेन घटादिपर्याया अप्युच्यन्ते तस्यपि जवन्तीति । एवमङ्कारपर्याया अपि घटादीर्वाच्यता इति । एतद्वच भाषयति ।

सप्रणमसंबन्धं पि हु, सेयपं पि व नरे जहा तस्य ।

उवउज्जइ चि सप्रणं, भयइ तह तस्य पञ्जाया ॥

इह देवदत्तादिके नरे चैतन्यं यथाऽऽस्ति संबन्धं तथा स्वधनम्, असंबन्धमपि स्वधनं तस्य लोके भग्यते । कुत उपयुज्यत इति कृत्वा तथाऽक्षरे असंबन्धा अपि घटादिपर्यायास्तस्याऽक्षरस्य पर्याया भवन्ति । अनुमेवाथै दृष्टान्तान्तरेण साधयति—

जहू दंसणानाणचरि—त्तोगोयरा सब्दद्वपञ्जाया ।

सत्थंयनेवकिरिया—फलोवभ्रोगे पि भिन्ना वि ॥

जइ गो सपञ्जया इव, सकञ्जानिफाडग चि सपणं च ।

आणायश्चायफला, तह सव्ने सब्ववन्नाणं ॥

इह यथा सर्वद्वयपर्याया जिज्ञा अपि संयतरेव भवन्ति यतोः सवन्धिनेन व्यपदिश्यते । कुत इत्याह—स्वकार्यक्रियाफलोपर्यायिणो यन्तिरिति कृत्वा अक्षरव्यवनेनोपयोगात्, ज्ञेयान्वेनोपयोगात्, त्यागादादादिक्रियारूपे यच्चरुचानज्ञानफलं तनुपयोगित्वाच्चरिः । कथंनूत्सिते सर्वद्वयपर्याया इत्याह—दशेनानज्ञानवार्तित्वगोचरः सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रविययुताः, ते हि सम्यग्दर्शनेन अक्षीयन्ते ज्ञानं तु ज्ञानेन चारिरेस्याप्यादायस्वरूपाप्रायुपरकणोऽवजिष्पयादिश्रांणोपग्रहमेतेषां बहवो जवन्ति । अथैवद्वारं । उ नरेरचा' इति वचनात् । अथचा 'पदमस्मि स्ववजीवा, वीए चरिसे

य सन्वद्व्यम् । सेसा मइव्वया क्लुत्तु, तदिह्कदेसेण व्वाणं ” इति वचनान्नेते सर्वेऽपि ज्ञानदर्शनवाचिप्रयोगात् । प्रतागं चारिद्रात्मकत्वाच्चारिद्रस्य च ज्ञानदर्शनाद्यर्थं विनाभावाभावात् । अतएव अद्वैतव्युत्पत्तियोगमन्तरेण धर्यानाद्ययोगाद्विषयमन्तेरण विषयिणोऽनुपपत्तेः । के यथा स्वकार्याभिप्रादाकाः सन्तो यतेजैवन्तीत्याह—यथा ज्ञानदर्शीनादिकाः स्वपर्यायाः स्वधनं स्याद्यथा मिश्रमपि देवदत्तदेभ्येति तथा सर्वेऽपि त्र्युपपर्यायास्वाग्राहानकलात्मन्येकं ज्ञानाति सर्ववस्तुपरिहानेनामुपसङ्गणत्याव घटादीनां मिश्रा अपि भवन्तीति ।

न चैतदुत्पत्तिमिति दृश्यति—

एगं जाणं सव्वं, जाणं सव्वं च जाणमगं ति ।

इय सव्वमजाणोत्तु, नागारं सव्वद्वा सुणइं ॥

इह सूत्रेऽप्युक्तं “ज एगं जाणइ से सव्वं जाणइ से सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ति” । किमुक्तं भवति, एकं किमपि वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानन्नवस्तुत्वमानं । सर्वशोकाशोकगतं वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानाति सर्ववस्तुपरिहानेनाम्तरौ यत्नाद्वं वस्तुज्ञानस्य । सर्वं स्वपरपर्यायेतं वस्तु जानाति स एकमपि स्वपरपर्यायेतं जानात्येकपरिहानस्य नान्तरियकत्वात् पतकं प्रागपि प्राधितमेवेत्यतः सर्वं स्वपरपर्यायेतं वस्तुजानानो जानन्नवस्तुत्वमानं । सर्वे स्वपरपर्यायेतं जानाति वस्तु, तस्मात्प्रेषसमस्तवस्तुपर्यायैः परिहारेरेव एकमङ्गरं ह्रं ह्रायते नात्ययेति भावः । यद्वि नामैवं तथापि प्रस्तुते घटादिपर्यायाणामङ्गरपर्यायैरे किमात्यन्तित्याह—

जेमु अनाएत्तु त्त्रो, न जजए, न जएय य नाएत्तु ।

किह तस्स ते न धम्मा, घटस्स रुवाइधम्मं व्व ॥

तत्तस्माद्येपु घटादिपर्यायैश्चक्रातेषु यदेकं प्रस्तुतमङ्गरं न ज्ञायते, ज्ञातेषु च ज्ञायते ते घटादिपर्यायाः कथं न तस्य धर्मा अपि तु धर्मा एव, यथा घटस्य रूपादयः, प्रयोग—येषामनुपपत्तेषां धर्मोपलभ्यते उपलब्धौ चोपलभ्यते तस्य ते धर्मो एव यथा घटस्य रूपादयः नोपलभ्यते च प्रस्तुतमेकमङ्गरं समस्तघटादिपर्यायाणामुपलब्धौ, उपलभ्यते च तदुपलब्धाविति ते तस्य धर्मो इति । इह चाङ्गरं विचारयित्वा प्रस्तुतमित्येतान्धर्माद्येव तत्सर्वपर्यायराशिप्रमाणं साधितं, न चैतदेव केवलमित्यभूतं दृष्टव्यं किं त्वत्किं यत्किमपि वस्तु तत्सर्वमित्यनुत्तमेव, सर्वेऽपि व्यावृत्तिरूपतया परपर्यायासद्भावादिति ।

नहि नवरमन्वतरं पि, सव्वपज्जायममममं पि ।

जं वत्थुमत्थि होए, तं सव्वं सव्वपज्जायं ॥

गताथैव । यद्येवं किमङ्करमेवाह्दित्येवं पर्यायमानमुकमिति भाष्यकार पवोत्तत्त्याह—

इह अक्वराट्टिगारो, पक्खणिज्जा य जेण तव्विसम्मो ।

ते चित्तिज्जेते वं, कइ भागो सव्वजाबाणं ॥

इहाकाराधिकारो यस्मात्प्रस्तुतोऽतस्त्वेवैवं पर्यायमानमुकं दृष्टव्यम् । उपलभ्यते च सर्वं वासिद्यमेव, भवत्येवं किं तु प्रस्तुतस्याङ्गरस्य के स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्यादि निवेद्यतेमित्याह ( पन्नवणोउज्जेत्यादि ) तस्य सामान्येनाकाराद्यङ्गरस्य स्वपर्यायां विषयस्तद्विषयां येन यतः । के इत्याह—प्रज्ञापनीया अग्निज्ञात्याः पर्याया न पुनरनिलात्याः अतस्ते एवं

चिन्तयन्ते विचारयन्ते । कथमित्याह—कतिथो भागस्तेषां भवति, केषां सर्वेज्ञावानां सर्वेषामभिज्ञाप्यानाभिज्ञाप्यापयाणां समुद्दितानामित्यर्थः । इदमुक्तं त्रयति—मार्भस्त्वाप्यं वस्तु सर्वमङ्करेणोच्यतेऽतस्तद्विधानशक्तिरूपाः सर्वेऽपि तस्याभिज्ञात्याः प्रज्ञापनीयाः स्वपर्याया उच्यन्ते, शेषास्त्वभिज्ञात्याः परपर्यायाः । अतस्तेऽभिज्ञात्याः स्वपरपर्यायाः स्वपरपर्यायाणां कतिथो भागो त्रयतीत्येवं विचिन्त्यत इति । कथमित्याह—

पक्खणिज्जा ज्ञावा, वक्खाण सपज्जया तथा थोवा ।

सेसा परपज्जाया, तो णेतुगुणा निरभित्तापा ॥

यतः प्रज्ञापनीया अग्निज्ञात्या ज्ञावाः सामान्येन वृणोनामकारादीनां स्वपर्यायास्ततः स्तोका अन्नन्तमजगामयसैनः शेषास्तु निरभिज्ञात्याः प्रज्ञापयित्तुमहाशयाः सर्वेऽपि परपर्याया इत्यतः स्वपर्यायेऽप्युक्तं ननुगुणाः सर्वेऽपि हि वस्तुनो लोकाशोकाकाशं विहाय स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्तन्नन्तगुणाः, लोकाशोकाकाशस्य तु केवलस्यत्वनन्तगुणात्वात् । शेषपर्यायानां तु सन्मुदितानामपि तदन्नन्तगुणासिद्धिपरितं दृष्टव्यम् । स्तोकाः परपर्यायाः स्वपर्यायास्तन्नन्तगुणाः । अन्न विनेयातुप्रदार्थं स्थापना काचिन्निरूपयते—तद्यथा—सर्वाकाशप्रदेशाशोरत्ये सर्वेऽपि धर्मास्तिकाद्यप्रदेशपरमाणुच्छाणकादयः पदार्थाः सङ्घावोऽनन्ता अपि कल्पनीयाः किल, देशसर्वाकाशप्रदेशपर्यायास्तु केवला अपि किल शतं प्रतिपदाद्यं च पञ्च स्वपर्यायाः । एवं च सति धर्मास्तिकाद्यप्रदेशादीनां सर्वेषामपि पदार्थानां पञ्चाशद्वै स्वपर्यायाः, ते च ननसः परपर्यायाः स्तोकाश्च स्वपर्यायाणां तु पञ्चशतानि, बहव्यधर्मा । परपर्यायैभ्यस्तस्माच्छेषपदार्थानां सर्वेषामपि ननसोऽनन्तजगामवतिव्यावृत्तसस्तु केवलस्यत्वात् तेऽप्युक्तं ननुगुणात्वात् स्वपरपर्यायास्तन्नन्तगुणात्परीत्यं दृष्टव्यमिति । ननसोऽप्युक्तपदार्थानां च तत्रैव निदर्शनेन स्वपर्यायाणां स्तोकाश्च परपर्यायाणां तु बहुत्वं परिभाषनीयम् । तथाहि—किंल्लोकासिन्धु धर्मास्तिकाद्यप्रदेशे पञ्च स्वपर्यायाः, परपर्यायाणां तु पञ्चत्वारिंशद्वै कतिमि पञ्च शतानि । एवमङ्करपरमायादावपि वाच्यमित्येवं चिन्तयेत् ।

अथ परो ज्ञाप्यव्यागमेन सह विरोधमुज्जाययति—

नाणु सव्वगासपए—सपज्जाया वक्खमाणमाइट्ठं ।

इह सव्वद्ववपज्जा—यमाणागहणं किमत्थं ति ॥

नित्यस्यसूयायाम्, सर्वस्य शोकाशोकाकाशानि आकाशस्य प्रदेशास्तेषां मिश्रिना ये सर्वेऽपि पर्यायास्ते षण्येव पर्यायाणां सूत्रे मानं परिमाणमादिष्टम् । सर्वाकाशप्रदेशाणां यावन्तः सर्वेऽपि पर्यायास्तावन्त एकस्याङ्करस्य पर्याया भवन्ति इत्येतावदेवागमे प्रोक्तमित्यर्थः । इह तु “ तं सव्वद्ववपज्जाया(सिमाणं मुणयव्वं” इत्यत्र किमिति सव्वद्ववपयमानप्रदणं कृतम् । इदमुक्तं भवति—“ सव्वगासपसपसं सव्वगागसपस्येहि षण्येणगुणं पज्जवक्खरं निपज्जावति” न चिद्वै प्रोक्तम् । यत्तु वृत्तौ तत्र व्याख्यातम् । तद्यथा—सर्वे च तदाकाशां च सर्वाकाशां शोकाशोकाकाशामित्यर्थः । तस्य च प्रदेशा निर्विभागास्तेषामङ्ग परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम्, सर्वाकाशप्रदेशैः किमनन्तमुणितम् । एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तानामुपलब्धुपपर्यायाणां सद्भावात्पर्यायाङ्करं पर्यायपरिमाणान्करं निष्पद्यत इति । तदेवमागमे केवलसर्वाकाशप्रदेशपर्यायराशिप्रमाणमङ्करपर्यायमानमुकम् । अत्र तु धर्माधर्माकाशापुञ्जजीवास्तिकाकाशकालक-

णसर्वेऽप्यपर्यायराशिप्रमाणं तदुच्यत इति कथं न विरोधः ? इति । अत्रोत्तरमाह—  
 शेषं चि न निर्विद्धा, इहारा धम्मत्थियाइपज्जाया ।  
 के सपरपञ्चयाणं, इवंतु किं होतु वाऽऽजावो ? ॥

स्तोका आकाशपर्यायेभ्योऽनन्तप्रमाणवर्तिन इति कृत्वा नन्दि-  
 सूत्रे धर्मास्ति कायादीनां पञ्चदश्यानां पर्याय न (निर्दिष्टा नास्ति-  
 हितः साक्षात् किन्तु य एवं तेन्योऽस्तिवद्यथाऽनन्तगुणास्त एव  
 सर्वाकाशपर्यायाः साक्षात्तु काः । अथैतस्तु धर्मास्ति कायादिपर्या-  
 या अपि नन्दि सूत्रे प्रोक्ता द्रष्टव्याः । इतरथा यद्येतावन्नुपमास्य-  
 ते नदां धर्मास्ति कायादिपर्याया अक्षरस्वपरपर्यायाणां मध्य-  
 र्के भवन्तु ? , कि स्वपर्याया भवन्तु परपर्याया वा ? , कि वाऽभावः  
 अरविबाणरूपो भवतु ? इति त्रयी गतिः । विज्ञाने दि ये पर्या-  
 यास्तेः सर्वैरूपकारादेष्वस्तुनः स्वपर्यायेर्वा प्रविष्टव्यं, परपर्या-  
 येर्वा, अन्यथाऽज्ञाप्यप्रसङ्गात् । तथा हि 'जे एणं जाणइ' इत्यादि-  
 सूत्रप्रामाण्यार्थार्थोऽङ्करस्य परपर्यायेत्वेनोक्ता दृष्टव्या इति ।  
 अथाप्यम् प्रेरयति—

किमणंतगुणा जणिया, जमगुरुद्वूपज्जाया पपसम्मि ।  
 एकैकम्मि आणंता, पणसा चं पर्यामाणि ॥

ननु "सव्यागासपपसोर्हि अणंतगुणियं" इत्यत्र किमित्या-  
 काशप्रदेशः सूत्रे अनन्तगुणा भगिताः । अत्रोत्तरमाह ( जमि-  
 त्यादि ) यस्मात्कारणात् एकैकसिद्धाकाशप्रदेशः अगुरुद्वयुप-  
 याया बीरान्तैर्स्वीकारणपर्यन्तः प्रज्ञाः प्रकृतिताः । तत-  
 आद्यमभिप्रायः—इह निश्चयमतेन बादरं वस्तु सर्वमपि गुरु लघु  
 सूक्ष्मं च । अगुरुलघु, तत्राऽगुरुलघुवस्तुसंबन्धिनः पर्याया अप्य-  
 गुरुलघवः समसंभिधीयन्ते । आकाशप्रदेशाश्चागुरुलघवोऽस्त-  
 स्त च, तत्पर्याया अगुरुलघवो भवयन्ते । तेषु प्रत्येकमनन्ताः  
 मन्यतः सर्वाकाशप्रदेशां सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणसुकमिति  
 भाव इति । न केवलमप्यङ्करं संज्ञाकारुच्यते किन्तु ज्ञानम-  
 पि । तत्र शिष्यः प्रश्नयति— कियरप्रमाणं तदङ्करमुच्यते, सर्-  
 वाकाशप्रदेशेषुऽनन्तगुणं कथमेतावत्प्रमाणमुच्यते ? । इहै-  
 कैक आकाशप्रदेशः स्वल्पनैरगुरुलघुपर्यायेः संयुक्तः । ते च  
 सर्वैरप्यगुरुलघुपर्याया ज्ञानं हायन्ते । न च येन स्वजायितैको  
 ज्ञायते तनापरोऽपि, तयोरेकत्वप्रसङ्गात्, किन्मन्थेन स्वजाये-  
 न । ततो यावन्तो गुरुलघुपर्यायास्तावन्तो ज्ञानस्थनाः ।  
 उक्तं च— 'जावइय पज्जाया ते, तावइया तेसु नाणभेया वि ।'  
 इति भवति सर्वाकाशप्रदेशेषुऽनन्तगुणः । आह च—  
 बुद्धत्वाभ्ये— 'अक्षरमुच्यइ नाणं, पुण होऽआहि कि पमाणं  
 तु । मणइ अणंतगुणियं, सव्यागासपपसोर्हि ॥' किं होइ अणं-  
 तगुणं, सव्यागासपपसरासीतो । मणइ जं पळेळो, आगास-  
 रस प्पंदेऽत्तं । संसुणो जं तेदि, अगुरुलघुपुञ्जोर्हि नियमेण ।  
 तेण उ अणंतगुणियं, सव्यागासपपसोर्हि ॥' पुनरपि शिष्यः  
 प्राह—कथमेतदवसीयत एकैक आकाशप्रदेशो' अणंतगुरुलघु-  
 पर्यायेरुच्यते ? । उच्यते—इह द्विविधं वस्तु—रूपिप्रव्यमरुपिद्वयं  
 च । तत्र रूपिद्वयं वस्तुद्वौ । तथा—गुरुलघु अगुरुलघु च ।  
 एतद्व्युच्यते—व्यवहारात् । निश्चयतः पुनर्द्विविधमेव-गुरुलघु अगु-  
 रलघु च । इ० ।

संप्रति यथा ज्ञानं सर्वाकाशप्रदेशेषुऽनन्तगुणं  
 भवति तथा दर्शयति—

उवन्नष्ठी अगुरुलघुसंयोगसरादियो य पज्जाया ।  
 एतेण हुंतएतां, सव्यागा सपपसोर्हि ॥  
 वतुणोमप्यस्ति काशयोनां पुज्जास्ति काशस्य च ये अगुरुलघवः  
 पर्यायाः, उपलक्षणमेतत् बादरस्कन्धानाम् । अगुरुलघुपर्यायाश्च  
 याधन्तश्चाङ्करेषु स्वरूपतोऽभिलाषमेवतो वा संयोगा यैश्चोदा-  
 सादिनिः स्वैरनिलप्यन्ते भावाः, आदिशब्दाद् ये चान्ये शुकुन-  
 रुतादिगताः स्वविशेषा ये च जीवपुङ्गवताश्चोदाशिशोपास्तं  
 सर्वेऽपि गृह्यन्ते । एतेषां संयोगामनुपलक्षितमेवति । न च येन  
 स्वभावेनैकस्य तैर्नैवान्यस्य, किन्तु भिन्नं । तद्वन्ते प्रकराण  
 ज्ञानस्य स्वभावाः सर्वाकाशप्रदेशेषुऽनन्तगुणः । इ० पृ० ७० ।  
 प्रकरांतरं तेषु प्रेरयति—

तथाविसंसेयं ना—एभक्खरं इह सुखस्वरं परयं ।  
 तं किइ केनलपज्जा—यमाएतुत्तुं इविज्जाहि ॥

( तथैतं ) "सव्यागासपपसग्मा सव्यागासपपसोर्हि अणंतगु-  
 णिय पञ्चवक्खरं निपपज्जइ" इत्यत्र सूत्रे नन्धच्ययने अविशो-  
 पितं सामान्येनैव ( नाशमक्षरं ति ) ज्ञानमक्षरं प्रतिपादितम्,  
 अविशेषाऽभिप्रेयत च केवलज्ञानस्य महत्वात्तद्वे तत्राक्षरं ग-  
 म्यते । इह तु श्रुतान्वयिचकाराधिकाराच्छुनाकारमकाराकारोदा-  
 रशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतं प्रस्तुतम् । ततः को दोष इत्याह—तष्ठा-  
 कारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेत् कथंचिदि-  
 त्थं : । अयमभिप्रायः—केनलस्य सर्वदृश्यपर्यायैतदुदाहरणं  
 तु सर्वेऽप्यपर्यायमानतुल्यं, धुनस्य तु तद्वन्तत्प्रागवियतत्वाकथं  
 नपर्यायमानतुल्यंतेति । अत्रोच्यते—ननु तत्रापि "अक्षररस-  
 धीसम्मं सादयं खलु" इत्यादिप्रक्रमेऽप्यव्यसितश्रुते विचा-  
 र्थमाणे "सव्यागासपपसग्मा" इत्यादिसुत्रं पठ्यते, अतो यथेह  
 तथा तत्रापि श्रुताधिकारादङ्करमकाराद्ये गम्यते, न तु केवल-  
 क्षरम् । अथ श्रुते-तत्र द्वितीयमनन्तरं सूत्रं यत् पठ्यते "सव्य-  
 जीवाणं अक्षररसस अणंतज्ञाणो निच्छुणादिधोमि" एतस्मा-  
 त्केवलक्षरं तत्र गम्यते न तु श्रुताक्षरं सफळदृशद्वाराद्विर्वा सं-  
 पुणस्यापि श्रुताक्षरस्य सद्भावात्सर्वे जीवानामङ्करस्याऽनन्तभागे  
 नित्योद्घाट इत्यस्याधोऽस्तानुपपत्तेः । अहो ! असमीक्षितानभिधानं,  
 यत् एवं सति केवलानां सपुणस्यापि केवलक्षरसद्भावात्स-  
 र्वजीवानामङ्करस्याऽनन्तभागे नित्योद्घाट इत्यस्याऽप्यस्याऽऽपु-  
 पत्तिरं । अथ मनुष्यं तत्रादिशेषेण सर्वे जीवग्रहणे सत्यपि  
 प्रकरणादिप्रशब्दात् केवलज्ञानो विद्यायाऽन्यथासंज्ञाङ्करस्याऽ-  
 नन्तभागे नित्योद्घाट इति केवलक्षरग्रहणेऽविरोधः । इतः ।  
 तदेतच्छ्रुताङ्करग्रहणात् समानम्, यत्तत्रादिशेषेण सर्वे जीवि-  
 ग्रहणे सत्यपि प्रकरणादिप्रशब्दात् समस्तदृशद्वाराद्विर्वा विद्या-  
 याऽन्यथासंज्ञास्वभावानामङ्करस्यानन्तभागे नित्योद्घाट इती-  
 हापि शक्यते पक्ष वक्तुम् । तस्मात्तद्वे च श्रुताङ्करमकाराद्येव  
 गम्यते । यदि वाऽत्र श्रुताङ्करं, तत्र केवलक्षरमपि नवतु, न च  
 श्रुताङ्करस्य केवलपर्यायतुल्यमानता विरुद्धते । कथमित्याह—  
 सपपज्जोर्हि ते के-वज्जेण तुत्तुं न होज न परोहि ।

सपपरपज्जाएहि, तुत्तुं ते केवसेणेण ॥  
 स्रकाः स्रकोथा अकारंकाराकारादयोऽनुगतः पर्यायाः श्रुतज्ञान-

स्य स्वपर्याया इत्यर्थः । तैरनुगतैः स्वपर्यायैः, तच्छब्दाकारं केवलंन केवलशक्तिं तुल्यं न भवेत्, सर्वपर्यायान्नजागर्तवित्वात् । तच्छब्दज्ञानं स्वपर्यायाणां, केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायाणामि-  
प्रमाणं, सर्वेष्वपि तेषु व्यापारात् । तथाहि—लोकसमस्तद्रव्याणां पितृशतः पर्यायाशिरन्तान्तान्तस्वरूपोऽस्य स्वकल्पनया किञ्च लक्ष्यं, एतन्मध्याच्छूनज्ञानस्य स्वपर्यायाणां किञ्च शतं, तदून-  
लक्षं तु परपर्यायाः, केवलज्ञानत्वे तद्वृत्तमपि पर्यायाणामुपस-  
रज्यते, सर्वोपलब्धिव्यवभावत्वात्तस्य । ते चोपलब्धिविशेषाः सर्वेऽपि केवलस्य पर्यायाः स्वभावाः; क्रोधापह्नवश्चिस्वजातत्वात्  
ज्ञानस्य । एवं च सति लक्ष्यपर्यायं केवलं, श्रुतस्य तु शतं स्व-  
पर्यायाणां, अतस्त्वेतत्केवलपर्यायाणामुत्पत्त्यं न प्रबन्धितं  
स्थितम् । तर्हि परपर्यायेस्तत्स्य तुल्यं भविष्यतीत्याह—न परै-  
नोपि परपर्यायेस्तन् केवलंन भवेत् । तथाहि—घटादि-  
व्यावृत्तिरूपाः परपर्यायास्तस्य विद्यन्तेऽनन्तानन्ताः, कल्पन-  
या तु शतानलक्षमानस्तथापि सर्वद्रव्यपर्यायाणामुत्पत्त्या न  
भवति, सर्वपर्यायान्तभागेन कल्पनया शतरूपेण सद्भाव-  
स्वचनतामकेन स्वपर्यायाणामुत्पत्त्या नूननकात् केवलस्य तु संपुण-  
सर्वपर्यायाणामुत्पत्त्यादिति । स्वपर्यायेऽस्तु तत्केवलपर्यायानु-  
त्पत्त्येव । केवलवत्सर्वेषु सर्वद्रव्यपर्यायमाणात्वादि । आह-  
यद्येवं केवलंन सदाऽस्य का विशेषः उच्यते, अस्ति विशेषः यतः—

अविसेसकेवलं गुण, सयपज्जाएहि चैव तत्तुल्यं ।  
जुष्ये पदं तं स—अवभावावराव (वि)जुषुं ॥

अथय सर्वद्रव्यपर्यायाणामुत्पत्त्यात्वे तुल्यं पितृशतं श्रुतकेवल-  
पर्यायस्त विशेष इत्येवं पुनः शब्दोऽत्र विशेषोऽतानाधः । कः  
पुनरसौ विशेष इत्याह— अविशेषेण पर्यायसामान्येन युक्तं  
केवलमविशेषकेवलं स्वपर्यायाणामुत्पत्त्यादिति सामान्यत एवाऽनन्त-  
पर्यायेर्युक्तं केवलज्ञानमविशेषमित्यर्थः । तदर्थं नूतं केवलं  
स्वपर्यायेर्येव तत्तुल्यं, तेन प्रकामानुचरैरनसर्वद्रव्यपर्यायाणामु-  
त्पत्त्यात्वे तुल्यं, अतज्ञानं तु समुदितैरेव स्वपर्यायेस्तत्तुल्य-  
मिति विशेष इति भावः । कथं पुनः केवलज्ञानस्य तावन्तः  
स्वपर्याया इत्याह— ( जपण्यमित्यादि ) यदस्मात्तत्केवलज्ञान  
सर्वद्रव्यपर्यायसङ्गणं कथं प्रति सर्वेजानेषु निःशेषज्ञातव्यपदार्थेषु  
योऽसौ परिच्छेदलक्ष्यो व्यापारस्तत्र विनियुक्तं प्रतिसमर्थं  
प्रवृत्तमदित्यर्थः । इदमुक्तं प्रवृत्ति । केवलज्ञानं सर्वानपि  
सर्वद्रव्यपर्यायां जगतीति । तं च तेन ज्ञायमाना ज्ञानवादिन-  
व्यामतेन तदुपतया परिणताः, ततो ज्ञानमयत्वात् केवलस्य स्व-  
पर्याया एव जगतीति, अतः केवलज्ञानं तैरेव सर्वद्रव्यपर्यायाणामु-  
त्पत्त्यं जगतीति । अत्रादिज्ञानानि तु सर्वद्रव्यपर्यायाणामुत्पत्त्य-  
मेव जगतीति ज्ञानान्यतस्तेषां स्वपर्याया एतावन्त एव भवन्त्यतो न  
श्रुतज्ञानं स्वपर्यायेस्तत्तुल्यं, तदन्तर्भावगर्भात्सर्वपर्यायमान्यावा-  
दिति श्रुतकेवलपर्यायेऽपि । अत्र पक्षे केवलस्य परपर्यायविषय-  
कं कृता । ये हि केवलस्य निःशेष्येकगतानि विषयभूताः पर्यायास्ते  
ज्ञानान्तेनवादिनव्यामतेन ज्ञानरूपत्वादर्थापत्तैव स्वपर्यायाः प्रोक्ता  
न तु पर्यायानावाः प्रोक्तः । वस्तुस्थित्या पुनरिदमपि स्वपर्याया-  
व्याप्तिमेव दर्शयति—

वस्तुसद्भावं पदं तं, पि मपपज्जापनेयञ्चो जिषं ।

तं जेष जीवभाषो, भिष्ठा य तत्रो पदाईयं ॥

वस्तुस्वभावं प्रति यथावस्थितं वस्तुस्वरूपमभिधेयं तदपि

केवलं ज्ञानमकाराद्यङ्कारवत्स्वपरपर्यायभेदतो भिन्नमेव न तु  
यथाकर्त्तव्या स्वपर्यायान्वितमेवेति भावः । कुत इत्याह— येन  
कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवभाषः प्रतिनियतो जीवपर्यायान् च-  
टादिस्वरूपं तथापि घटाद्व्यस्तस्वजायाः किन्तु ततो जिष्ठा  
इति, तेन ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया जन्मेषु; सर्व-  
संकरैकत्वादिप्रसङ्गात् । तस्माद्भूतत्वात्तन्त्वे सर्ववैकृत्याप्रति-  
पातित्यनिराकरणत्वाद्यः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः । घटादिप-  
र्यायास्तु व्यावृत्तिमाभिधेय परपर्यायाः । अन्ये तु व्याचक्षते—स-  
र्वद्रव्यगतान्सर्वानपि पर्यायान् केवलज्ञानं जगतीति, येन च स्व-  
भाववैकं पर्याये जानाति न तैरेवापरमपि, किन्तु स्वभावभेदेन, अ-  
न्यथा सर्वद्रव्यपर्यायेकत्वप्रसङ्गात्, तस्मात्सर्वद्रव्यपर्यायाणामु-  
त्पत्त्याः स्वभावभेदलक्षणाः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः; सर्वद्रव्य-  
पर्यायास्तु परपर्याया इत्येवं स्वपर्यायपरपर्यायाङ्गोपपत्तिं पर-  
स्परं तुल्याः केवलस्येति । एवं च सति किं स्थितमित्याह—

अविसेसयं पि सुते, अस्वरपरज्जायमाणाहटं ।

सुयकलक्षस्वराणं, एवं दोगाहं पि न विरुक्तं ॥

एवं सत्यविशिष्टमपि नद्विषुषे यत्सर्वोकाद्यप्रदेशप्रसन्नत-  
शुणितमक्षरपर्यायप्रमाणमद्विष्टं ततः श्रुतस्य केवलस्य वा न  
विरुक्तं, श्रुताक्षरस्य केवलस्य चोक्तव्यायनाथो ह्योरपरि स-  
मानपर्यायत्वान्, तथापि श्रुतस्य केवलस्य च स्वपरपर्यायास्ता-  
वन्निर्वाहं तुल्या एव । स्वपर्यायास्तु ' यद्यप्यन्ते तु व्याचक्षते'  
इत्यादिनाऽऽप्येवमानानन्तमेव केवलस्य भूयान्तः प्रोक्तान्तथापि  
नेभ्यो व्यावृत्तवन्तः केवलस्य चोक्तव्यायनाथो ह्योरपरि तदेवं  
ह्योरपरि सामान्यतः पर्यायसमानत्वमित्युभयोरपि ग्रहणे  
सूत्रे न किमपि श्रुतं इति । नन्वेतत्स्वपर्यायपरिमाणमक्षरं  
किं सर्वमपि ज्ञानावरणकर्मणाऽऽप्यविति न वेत्याह—

तस्त्वं उ अणं तज्जागो, निच्युत्पाद्यो य सवज्जोवाएणं ।

जणिञ्चो सुयम्मि केवाहि—वज्जाणं ति विहृभेञ्चो ।

तस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाणङ्कारस्यानन्तभागे  
नित्योद्घाटितः सर्वेद्वानावृत्तः केवलविजानां सर्वजीवानां ज-  
घन्यमध्यमोक्तप्रविशेन्द्रोऽपि श्रुते भणितः प्रतिपादित इति ।

तत्र सर्वेजघन्यस्याऽङ्कारान्तभागस्य स्वरूपमाह—

सो पुण सवज्जहृञ्चो, चेयसं नाथरिज्जडक्याह ।

लक्षोसावरणमि वि, जलयच्छुञ्चक्षभासेव ॥

स पुनः सर्वेजघन्योऽङ्कारान्तभाग आसन्नो जीवव्यतिवृत्त्यं  
वैतन्यमात्रं, तत्र तावन्मात्रमोक्तप्रविशेन्द्रोऽपि सति जीवस्य कदा  
चिदपि नाभिव्यते न निरिच्छिद्यते, अजीवव्यप्रसङ्गात् । यथा—सु-  
ष्टुपि जलच्छप्रत्याकस्याऽऽदित्यस्य भासः प्रकाशो दिनानु-  
दिनानानिबन्धनं किञ्चित्प्रमाणमेव कदापि नाऽऽदिव्यते, एवं जी-  
वस्यापि चैनः यमात्रं कदाचिच्छाऽऽदिव्यते इति भाव इति । केपां  
पुनरसौ सर्वेजघन्योऽङ्कारान्तभागः प्राप्यत इत्याह—

धीण्डिससिहयणाए—वरणोदयस्य स पत्थिव्यार्शणं ।

वेऽदियाइयाणं, परिवट्टए कमविमोहीए ॥

स्यानकिमिहानिदोदयसिहोत्तोकृष्णानवरणोदयश्चसौ सर्व-  
जघन्योऽङ्कारान्तभागः पृथिव्याद्येकैकियाणां प्राप्यते, ततः  
कामविशुद्ध्या श्रीग्लियादीनामसौ क्रमेण वर्यते इति । तद्युक्तो  
मध्यमश्चैव केपां मन्त्रव्य इत्याह—

लक्षोसो उकोसय—सुयणाएविचो तत्रो वसेमाएणं ।

होइ विमज्जो मज्जे छट्ठाणयाए पाएण ॥ ४१ ॥

स एवाङ्कराऽनन्तजाग उरुहोऽभवत्पुच्छेत्पुनःशानविद्ः संपूर्ण-  
भुतज्ञानस्यैवयः । अत्राह-ननस्य कथमङ्कराऽनन्तभागो या-  
वता भुतज्ञानाऽङ्करं संपूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव ? । सत्यम् । किन्तु  
संज्ञितसामान्यभुतकेवलज्ञाकराऽपेक्षेयास्याऽङ्करानन्तभागो वि-  
षयिनः, “ केवलित्वञ्चापे तिविहमेभोवि ” इत्यनन्तरवचनात् ।  
अन्यादि यथा केवलिनः संपूर्णकेवलाऽङ्करयुक्तेनाङ्कराऽनन्त-  
भागस्त्रिविधोऽपि न संभवतीति तद्वर्जनं कृतम् । एवं संपूर्णभु-  
तज्ञानिनोऽपि समस्तभुताऽङ्करयुक्तधेनाङ्कराऽनन्तभागस्त्रिवि-  
धोऽपि न संभवतीति, तद्वर्जनमपि कृतं स्यात्, तस्मान्न संमिलि-  
तसामान्याङ्करापेक्षेयाङ्करानन्तभागः प्राक्, सामान्ये वाऽ-  
ङ्करं विषयज्ञितं केवलज्ञाङ्करापेक्षया भुतज्ञानाङ्करस्य संपूर्णस्याप्य-  
नन्तरागवर्षित्वं युक्तमेव, केवलज्ञानस्यैवयःस्य भुतज्ञान-  
स्वपर्यायागवर्षित्वं तत्त्वत् तस्य परोक्तविषयत्वेनाप्यष्ट-  
त्वात्वेति । यच्च सप्तविधस्वपर्यायोऽपेक्षया भुतकेवलाङ्करयो-  
स्तुद्वयत्वं तदिह न विवक्षितमेवेति । अन्वे तु “ सो उण स-  
वज्ञहोत्थे वेवथं ” इत्यादिनाथार्यां स पुनरङ्करात् इति व्याक-  
रुते, इदं वाऽनेकद्रोयाऽन्वितव्याखिनभरुणजङ्गमाभ्रमणपुञ्य-  
टीकायां वाऽदर्शनाद्सङ्गतमेव सङ्गमात् । तथा हि— “ तस्य  
च अर्थतमागो निच्छुद्धानो ” इत्याद्यनन्तरगाथायामङ्कराऽनन्त-  
जाग एव प्रकृतः, अङ्करालानस्यच अन्तरपरामार्थानां तच्छब्देन कृ-  
तो द्वयः ? किमाकाशगतितः ? । किं च, यद्यङ्करालान इतीह  
व्याख्यायते तर्हि “ केवलित्वञ्चापे तिविहमेभोवि ” इत्यत्र कि-  
न्तु केवलिनो वर्जनं कृतं ? यथा हि भुताङ्करमाभिव्यक्त्येऽङ्कर-  
ज्ञानः संपूर्णभुतज्ञानवत्तां सत्यत तथा केवलाङ्करमङ्क-  
रुहोऽसौ केवलिनोऽपि सत्यत एव, किं तच्चर्जनस्य फलम् ? । स-  
माभ्रमणपुञ्येच्च “ धीमादि ” इत्यादिगाथायामित्यं व्याख्यातस-  
स च किल अर्थयोऽनन्तजाग इत्यादि । अथ सामान्यमङ्करं नह  
प्रकृतं गृह्यते किन्तु भुताङ्करमेवेति । तद्वक्तव्यं, चिरन्तनटीकाह-  
येऽप्यङ्करस्य सामान्यस्यैव व्याख्यानात् । किं च-विशेषतोऽत्र  
भुताङ्करे गृह्यमाणे तस्य भुताङ्करस्यानन्तभागः सर्वज्ञी-  
वानां नित्योद्घाट इति व्याख्यानमापद्यते । एतच्चाऽयुक्तम्,  
संपूर्णभुतज्ञानिनो ततोऽनन्तजागादिहीनभुतज्ञानवत्तां च भुताङ्क-  
रानन्तभागवत्त्वानुपपत्तेः । किं च, “ सो उण केवलित्वञ्चापे तिवि-  
हमेभोवि ” इत्यतस्तस्यैव स्यात्, केवलिनः सर्वथैव भुता-  
ङ्करस्याऽनन्तवे तद्वर्जनस्याऽऽन्यथस्यैवङ्गत्वेति, परमार्थं चेह  
केवलिनो बहुभुताया चिद्वर्तनीयत्वं प्रसङ्गम् । धिप्रथममङ्करान-  
न्तभागमाह—ततस्तस्मात्पुच्छेत्पुनःशानविदोऽथशेषायामिकेन्द्रि-  
यासंपूर्णभुतज्ञानिनो मध्ये वर्तमानानां षट्स्थानपतितानामनन्त-  
भागदिशानां श्रेयण विमथ्यो मध्यमाङ्करानन्तभागो भवति,  
एकस्मात्पुच्छेत्पुनःशानविदोऽथशेषाः केचित् भुतमाभिव्य तुल्या  
अपि मध्यस्थत उक्तप्रार्थेणशेषानां विमथ्यम् इति । अथार्थ-  
विषयज्ञितोऽकस्मात्पुच्छेत्पुनःशानविदोऽविशेषाणामपि केषांचिदु-  
च्छेत्पुनःशानवत्तां तत्पुत्र एवाऽङ्करानन्तभागो भवति न तु  
विमथ्यम् उत्कृष्ट इत्यर्थः । इति सप्तचत्वारिंशद्धार्यः ।  
इत्यक्षरभुतं समाप्तम् । विशेषः ॥

पचैयमक्षरार्हाई, अक्षरसंज्ञोय जचिया होए ।

एवइया मुयनापे, पयनीओ हौंति नायव्वा ॥

एकमेकं प्रति प्रत्येकमङ्करायकारादीभ्यनकेभेद्वानि । यथा-

अकारः सानुनासिको निरनुनासिकश्च । पुनरैकैकस्त्रिधा-ह्रस्वो  
दीधोः व्युत्पद्यते । पुनरैकैकस्त्रिधा-उदात्तोऽनुदात्तः स्वरद्वितश्च ।  
इत्यथमकारोऽष्टादशभेदः । एवमिकारादिष्वपि यथासंभवं भेद-  
जालमभिधानीयमिति । तथाऽङ्काराणां संयोगा अङ्करसंयोगा  
ह्रस्वयो यावत्संकेतो, यथा-घटः पट इत्यादि, व्याजः स्त्रीत्यादि ।  
एवमेतदन्ताः संयोगाः, तत्राप्यैकैकैः स्वपरपर्यायापेक्षयाऽनन्त-  
पर्यायः, अत एवावयवः भुतज्ञाने प्रकृतयो भेदा ज्ञातव्या इति  
निर्गुणिकाध्यायोः ।

अथ भाष्यम्—

संज्ञासंज्ञुता—ए ताएमिकस्वरार्हाईसंज्ञोगा ।

हौंति अर्णता तत्य वि, एकेको एतपज्जाओ ।

एकमङ्करमादियैषां ह्रस्वादीनां तान्येकाङ्करादीनि । एवं संयोगा  
एकमङ्करसंयोगाः, तन्मन्ता भवति । केषां च एकाङ्करादिसं-  
योगा इत्याह—तेषामकारककारायङ्कराणाम् । कथंभूतानामि-  
त्याह—संयुक्तासंयुक्तानाम् । तच्च संयुक्तैकाङ्करसंयोगो यथा-  
अग्निः प्राप्त इत्यादिः । असंयुक्तैकाङ्करसंयोगो यथा-घटः पट  
इत्यादिः । एते चाङ्करसंयोगा अनन्ताः । एकैकश्च संयोगः स्व-  
परपर्यायैः पूर्वानिहितन्यायेनाऽनन्तपर्याय इति ॥

अथ परमतमाशङ्क्योत्तरमाह—

संविजजनस्वरजोगा, हौंति अर्णता कण्ठं जमजिधेयं ।

पंचन्यकायनोपर-मभोज्ञविल्लक्षणाणुत्तं ॥

संवेयानि च तावकारायङ्कराणि, तेषां योगाः संयोगाः कथ-  
मनन्ता भवन्ति न घटन्त एवेति भावः । अत्रोत्तरमाह-यद्य-  
स्मात्संवेयानामप्यङ्कराणामभिधेयमनन्तम् । कथं ज्ञतमित्याह-  
अन्योऽप्यङ्कराणां परस्परविसंज्ञताम् । किं विषयमित्याह-पञ्चा-  
स्तिकायगोचरं पञ्चास्तिकायगतकस्यैवदेशप्रदेशपरमाणुका-  
दिकम्, अभिधेयान्येवाच्चाजिनाभ्यन्याप्यानन्यमवसेयमिति ।

एतद्वच्च भाषयति—

अणुओ पपसनुह्वी-ए जिस्वरुवाइ धुवमरांताइ ।

जं कममो द्ववार्हाई, हवंति भिस्त्राजिद्धाणाई ॥

इहास्माद्गुणः परमाणुतः प्रारण्य क्रमशः प्रदेशरुक्छा पुञ्ज-  
लास्तिकायोऽपि भूवं सर्वदेवानन्तानि भिन्नरूपाणि द्वैशुकस्य-  
प्राप्यन्ते भिन्नाभिन्नानि चैतानि, यथा—परमाणुं द्रव्यरूपस्य-  
णुकभ्रानुणुको यावदन्तप्रदेशिक इति, अतोऽप्येकैकानिधानान-  
न्येतानि, तद्यथा—अणुः परमाणुंरंशो निरवयवो निःप्रदेश  
अप्रदेश इति, तथा ङ्कराणो द्विप्रदेशिको द्विदेशो द्वयवयवः इ-  
त्यादि सर्वद्रव्यसर्वपर्यायेष्ववयवज्ञतीयम् । यस्मात्कश्चैवमभिधेयम-  
नन्तं विसदृशकं जिनाभिधानं च तस्मात्किमित्याह—

तेणभिधानाणामां, अभिधेयांरांतपज्जवसमाणं ।

जं च सुयम्म वि भणियं, अर्णतामपज्जयं सुत्तं ॥

यतोऽभिधेयमनन्तं जिन्नरूपं जिनाभिधानं तेन कारणेना-  
ङ्करसंयोगरूपाणामभिधानानां यत्संख्यात्वं मां पारिणं त-  
द्वि प्रवर्तते । कियदित्याह—अभिधेयनदेनाऽभिधानस्यापि जे-  
दात् न हि यैव रूपेषु घटादिशब्दैः अकारादिषुः संयुक्तास्त-  
नैव स्वरूपेण पदादिशब्देऽपि, अभिधेयेकस्यप्रसङ्गात्, ककष्यात्वा-  
भिधेयत्वात् घटतस्वरूपवर्धति, अतोऽभिधेयनन्याभिधान-  
मानन्यमिति यस्ततः सूत्रेऽप्यनिहितम् । “ अर्णतागमा अर्णता  
पज्जाव ” इत्यतः स्थितमेतत् “ संज्ञुतासंज्ञुत्ताणं ” इत्यादीति  
गायचनुष्टयार्थः । विशेषः ॥

उजयं भाक्खरओ, अणक्खरं होज्ज वंणएक्खरओ ।  
मइणाणं सुणं पुण, उजयं पि अणक्खरं करउ ॥

इडाकरं तावद्विधिय-उत्थाकरं भावाकरं च । तत्र उज्या-  
करं पुस्तकानिद्यस्ताकारादिकं, तावदादिकारण्यः शब्दा-  
या । एतच्च व्यवस्थेऽर्थोऽनेति व्यञ्जनाक्रमण्युच्यते, भावाकरं  
तत्र स्फुरदकारादिवर्णाभाकरपदम् । एवं च सति ( प्राक्चक्षर-  
ओ सि ) प्रावाक्षरमाश्रित्य मतिहानं जयत् । कथंभूतमित्याह-  
( उभयं ति ) उभयकर्मकरवदनकरं चेत्यर्थः । मतिहाननेदे-  
हावप्रहे भावाकरं नास्तीति तदनक्रमुच्यते । ईहादिषु तु तन्नेदे-  
षु तदेतेषु तदस्तीति मतिहानमक्रवत्प्रतिपादितमिति भावः ।  
( अनक्षरं होज्ज सि ) व्यञ्जनाकारं विद्यते, तस्य उज्यभूतत्वेन-  
कदाचित् प्रत्ययमित्येनाप्रसिद्धत्वादिति ( सुणं पुणां सि ) सूयं  
भुतहानं पुनकभयमपि उज्यभुनं भावभुनं चेत्यर्थः । विश० ।  
अकारादि लभ्यकराणामन्यतरांसम्यः कर्म० १ कर्म० । करणशू-  
न्ये, त्रि० उज्वले, मोक्षे च । न० वाच० ।

अक्षरगुण-अक्षरगुण-पुं० ६ त० स० । अकारादीनामकारा-  
णां गुणेऽनन्तागमपर्यायवचमुच्चारणं च, अन्यथाऽप्यस्य प्रति-  
पादयितुमशक्यत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १ श्रु० १ उ० ।

अक्षरगुणमदसंघटना-अक्षरगुणमतिसंघटना-स्त्री० अक्षरगु-  
णेन मनेः ( मतिहानस्य ) संघटना, भावभुनस्य उज्यभुनतन  
प्रकाशनेऽक्षरगुणस्य मत्या संघटनायां बुद्ध्या रचनायां च । सूत्र०  
१ श्रु० १ श्रु० १ उ० ।

अक्षरवृद्ध्या-अक्षरपृष्ठिका-स्त्री० ब्राह्मया शिपेनेवमे हेखवि-  
धाने । प्रहा० १ पद ।

अक्षरलंन-अक्षरलाज-पुं० पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्ष-  
विक्राने, “ अक्षरलंनं सखी-ण होज्ज पुरिसाश्वमविषाणं ।  
कसां असखीणं, जणियं च सुवांसि नसि पि ” विश० । सूत्र० ।

अक्षरविष्णु-अक्षरविष्णु-त्रि० पदैरकैरेयांसोऽभूते, पं० च० ।  
अक्षरसंबन्ध-अक्षरसंबन्ध-पुं० वर्णव्यतिक्रमति, स्थान० शजा० ३  
उ० । ( अस्य व्याख्या ‘भासा’ शब्दे )

अक्षरसंक्षिपाय-अक्षरसंक्षिपात-पुं० अक्षराणां भक्षिपाताः  
संयोगाः । राय० । अकारादि ( वर्ण ) संयोगेषु, “ अजिणाणं  
जिणसंका-साणं संबक्खरसंक्षिपायाणं ” स्थान० ३ टा० ४ उ० ।

अक्षरसम-अक्षरसम-न० ( अक्षरैः समो यत्र ) गेयस्वरभेदे,  
यत्र अक्षरे द्वौर्षे द्वौर्षेऽक्षरः क्रियते, ह्रस्व ह्रस्वः, प्लुते प्लुतः,  
सानुनासिके सानुनासिकस्वदक्षरसममिति, स्थान० ७ ग० ।

अक्षरममास-अक्षरममास-पुं० अकारादि लभ्यकराणां द्वा-  
दिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अक्षरवाया-देशी-विगोच्ये, दे० ना० १ वर्ग ।  
अक्षरल-देशी-पुं० ( अक्षरोट ) इति प्रसिद्धे, षुके, तत्फले  
च, न० । प्रहा० १६ पद ।

अक्षरलिखं-देशी-प्रतिफक्षिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्षरक्षिप-अक्षरक्षित-त्रि० न० त० । अक्षरच्युते, स्वकर्तव्ये,  
अक्षरमत्ते, वाच० । उभयशकशात्कृत्युज्जगो, लाङ्गलमिव स्व-  
क्षति यत्स्वक्षितिनं, न तथाऽस्वक्षिततम् । सूत्रगुणनेदे, अणु० ।  
ग० । आ० म० प्र० ।

अक्षरक्षिपयचित्त-अक्षरक्षितचारित्र-पुं० अक्षरक्षितमत्तचार-  
रहितं चारित्रं मूलगुणरूपं यस्यासीत् अक्षरक्षितचारित्रः । नि-  
रतिचारचारित्रे, ईदृशेन सार्कं केवलमपि विद्वेत् । “ मीथये  
जे सुसंविमो, अणसस्सी दृढव्यप । अक्षरक्षितयचारित्रे य,  
रागदोसविषयप ” ग० १ अक्षि० ।

अक्षरक्षिपयिगुणयुत-अक्षरक्षितादिगुणयुत-त्रि० अक्षरक्षि-  
तममिनमवयवोद्भूतमित्यादिगुणयुक्ते, “ अक्षरक्षितादिगुणयु-  
तैः स्तोत्रैश्च महामतिप्रथितैः ” शो० ए विव० ।

अक्षरवाढग-अक्षरपाटक-पुं० अक्षे व्यवहारे पाटयति दीप्यते ।  
पटर्दासी-एवम् । व्यवहारनिर्णेतरे घर्माप्येत्, वाच० । चतुरक्षा-  
कारे ( आसने, ) “ तसि ष बहुमज्जदेसजाप पत्तेयं २ वहरा-  
मया अक्षरवाढग पवत्ता ” जी० ३ प्रति० ।

अक्षरसुत्तपाला-अक्षरसुत्तमाहा-स्त्री० षका कटाकाः फलवि-  
होपास्त्यां सम्बन्धिनीं सुत्तप्रतिष्ठा माहा भावशं या सा तथा  
सैव गणयमानैर्निर्मोस्तयाऽतिव्यक्तत्वात् । कटाकामालायाम,  
“ अक्षरसुत्तमाला विव गणिसमाणेहि ” अणु० ३ वर्ग ।

अक्षरसोय-अक्षरसोत-न० अक्षरः प्रवेशरन्त्रं, ज० ७ श० ६ उ० ।

अक्षरसोयपमाण-अक्षरसोतःप्रमाण-त्रि० अक्षरसोतप्रकृ-  
प्रवेशरन्त्रं, तदेव प्रमाणमज्ञोतःप्रमाणम् । ज० ७ श० ६ उ० ।  
चक्रनाभिष्ठितप्रमाणं, शो० ।

अक्षरसोयपमाणेपेत्-अक्षरसोतःप्रमाणमात्र-त्रि० अक्षरसोतः  
प्रमाणेन मात्र परिमाणमवगाढतं यस्त स तथा । ( चक्रनाज-  
च्छिद्रप्रमिताऽवगाढे ) “ तेण काशेण तेणं समपणं गंगासिधुआं  
महाणसो रहपदित्थराओ अक्षरसोयपमाणेपेत् जज्ञे  
धांज्जिदि सि ” म० ७ श० ६ उ० ।

अक्षर-आख्या-स्त्री० आ-ख्यायनेऽनया । आ-ख्या-अह ।  
वाच० । अत्रिधाने, “ काशे उ लक्षकम्, ” इत्याख्या इत्य-  
त्रिधानम् । स काशः प्रतिपत्तव्यः । श्रु० ३ उ० ।

अक्षरार्थ-आख्यातिक-न० पठति लुङ् इत्यादि ( आख्यात-  
निष्पत्ते ) यजेदे, आ० म० छि० । विशेष० । धावतीत्याख्यानि-  
कम्, क्रियाप्रधानत्वात् । अणु० साध्यक्रियापदे, ‘ यथाऽकरोत्  
करोति करिष्यति ’ प्रश्न० संब० २ श्रु० ।

अक्षरार्थपट्टाण-आख्यायिकास्थान-न० कथानकस्थाने, आ-  
वा० २ श्रु० १ श्रु० ।

अक्षरार्थाणिस्सिय-आख्यायिकानिश्चिन-न० आख्यायिका  
प्रतिबन्धेऽस्यज्ञापे, एष नयमो मृणज्जदे । स्थान० १० टा० ।

अक्षरार्था-आख्यायिका-स्त्री० आ-ख्या-तुल्य । कल्पितक-  
थायाम्, संधा० यथा तरङ्गवतीमत्रयवतीप्रच्युतयः, श्रु० १ उ० ।

अक्षरार्तं-आख्यायिक-अन्व० आख्यानं कर्तुमित्यर्थे, “ न य  
दिदं सुयं सव्वं जिक्खु अक्खाउमरिदइ ” वृश० ८ अ० ।

अक्षरार्ता-आख्याक-पुं० स्तंभविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

अक्षरार्ताग-आख्याक-पुं० प्रज्ञाकारिजनासनच्युते, स्थान० ४  
ग० २ उ० । चतुरङ्गे शोकप्रतीत्ये, स्थान० ३ ग० ३ उ० । “ नि-  
सि ष बहुसमरमिच्छाणे भूमिभागां बहुमज्जदेसमाए पत्तेयं  
२ वहराम अक्खाडप ” राय० ।

अक्खेणा-आरुणान-न० । आ-ख्या, चक्षिह वा, ल्युट् । आ-भिसुत्थेनादरेण वा स्थापनं प्रकथनमभिधानं वा । “ अ-क्खणं खावणासिहाणं वा ” आभिसुत्थेनाऽऽदरेण वा प्रकथनेऽभिधाने च, विशे० । निवेदने, घ० १ अधि० । अभिधाने, पञ्च० २ विव० । आरुणानस्मानि धूर्ताऽऽरुणानकादी-नि । घृ० २ उ० । नि० चू० ॥

अक्खयाय-आरुणत-नि० आ-ख्या-क्तः । पूर्वतीर्थकरणग-आरादिभिः प्रतिपादिते, सुज्ज० १ घृ० ३ अ० । आच० । “ सं-तिमेयं दुवे ताणा, अक्खयाय मारणंति य ” ॥ उच० ९ अ० । समन्तात्कथिते, वस० २ अ० । “ सुयं मे आउसं तेणं भग-वया एवमक्खयायं ” आ मय्याद्या जीवाऽजीवलक्षणालंकी-र्णनाकपयानाऽजिधिधिना वा समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलक्षणे-न स्वातं कथितमाख्यातामात्यादिपस्तुजाभिनिमित्तं गम्यते । स्या० १ ता० । लृज्ज० । द्वा० भणितं, खंदा० । तिङ्कृत्य प्रत्यये, भाव एव साधयत्या लिङ्गादिरभिधीयते न कर्ता “ पूर्वोपरिभूतं ना-वमाख्यातमाचष्टे ” इतिवचनात् । सम्म० ।

अक्खयायपव्वज्जा-आरुणतपत्रज्या-स्त्री० आख्यातेन धर्मद-शेनेन आख्यातस्य वा प्रव्रज्येत्यदिहितस्य शुक्रभिर्या साऽव्या-तप्रज्या । प्रव्रज्याभेदे, स्या० ३ ता० २ उ० । “ अक्खा-याए जंभु धम्मं अक्खादिपभवस्स ” पं० भा० । “ अक्खाया-ए सुदंसणे सेट्ठी सामिणा संबोधिओ ” पं० चू० ।

अक्खि-आक्षि-न० अदनुते विपयान्, अ-क्षि-नेष, वाच० । “ अक्खिदि य णामाहि य जिष्भादि य आट्टेदि य ” विपा० १ थु० २ अ० । “ ते अंजिअक्खितिसिप ” नि० चू० १ उ० ।

अक्खितर-अदुयन्तर-न० ६ त० । नेत्ररन्ध्रे, ( विपा० ) “ अक्खितरंरु दुवे ” ( नाक्ष्ये ) विपा० १ अ० १ अ० ।

अक्खित्त-आक्षि-त्रि० आ-क्षि-क्तः । कृतोक्तेषु, यस्याक्तेषुः कृतस्त्वस्मिन् । वाच० । आकृष्टे, हा० १ थु० १६ अ० । उपलोकिते, हा० १ थु० २ अ० । आवाञ्जिते, दहा० ३ अ० । उपन्यस्तं च, पंचा० १२ विव० ।

अक्खि ( कस्से ) च-अक्खे-न० । न० त० । क्लेशभावे, “ मगणा खेत अक्खेत्तं ” एकक्लेशविधायानां मार्गाणां कर्तव्या, कस्य क्लेश भवति कस्य वा न भवति क्लेशमित्यर्थः । थ्य० ४ उ० । क्लेशभिन्ने बहिरर्थे, “ अक्खेत्तुवस्सए पुच्चमाणे द्वावलिय-यासां ” अक्खेत्तं स्थितानामुपाश्रये उपश्रायविषया मार्गाणां कर्तव्या । अक्खेत्तं उपाश्रयस्य मार्गाणां कर्तव्येत्युक्तं तत्र तावदेकक्लेशहा- “ एहाणापुजाण अदा-णसीसए कुअणणे खरके य । गामाहाणेत-र-महे य उजाणमादीसु । इंदकील-अयोत्तादो जल्ल राया ओदि वपंच इमे । अमचच्चपुराहिया सेट्ठी, सेणावति सत्थवाहो य ” थ्य० ४ उ० । जं दिस्सं वाधातो तं दिस्सं अक्खुत्ताणं जाय खेत्तं भवति परखो अक्खेत्तं ” नि० चू० १ उ० ।

अक्खित्तविपर्ययण-आक्षिप्पिनिसन-त्रि० ३ अ० । आकृष्टप-रिधानवस्त्रं, “ अक्खित्तणियंसणा मणिणइंदिखंरुवसणा ” प्रश्न० आश्र० ३ हा० ।

अक्खित्तराग-अक्षिराग-पुं० अक्षणां रागो रज्ज्वना । सौषोरादि-कऽऽजने, “ आक्षिणमिक्षिरागं च, गिण्णुवघायकऽममं । उच्चोन्नपं

च कळं च, तं विज्जं परिवाणिया ” ॥ १५ ॥ लृज्ज० १ थु० ९ अ० । अक्खित्तवण-आक्षेपण-न० चित्तव्यवृत्तापादने, प्रश्न० आश्र० ३ अ० । अक्खित्तविज्जं-आक्षेपण-प्रत्य० आ-क्षि-प-तुसुत् । स्वीकृतिमि-त्यर्थे, नि० ।

अक्खित्तविकाम-आक्षेपुत्तुव-त्रि० स्वीकृतकामे, नि० चू० १ उ० । अक्खित्तवेषणा-आक्षेपेदना-स्त्री० नेत्रपीताम्बके रोगभेदे, विपा० १ थु० ४ अ० ।

अक्खीण-आक्षीण-त्रि०, न० त० । अनुदिते, धौ० । क्रयमनुपगते, प्रहा० २६ पद । “ अक्खीणा विरतज्वरा इति शुद्धिः ” प्रति० । “ ना मगोयस्स वा कम्मस्स अक्खीणस्स इवेइयस्स ” अक्खीणस्य स्थितेरुक्तेषु । कल्प० । “ अक्खीणदव्वसारा ” प्रश्न० आश्र० ३ हा० ।

अक्खीणपदिभोइ ( ए ) अक्खीणपरिजोगिन्-पुं० अक्खीण-मक्षीणायुक्कमप्रासुक् परिभुजते इत्येवं हीहा अक्खीणपरिभोगि-नः । अप्रासुक्परिभोगिणु, इत्यन्यथस्य स्वाधिकत्वाद्, अनपग-ताहारशक्तिषु, “ आक्षीणियसमयस्स णं अयमडे पयच्छं अ-क्खीणपदिजोइणो सव्वसत्ता ” न० उ श ० ५ उ० ।

अक्खीणमहाणसिय-अक्खीणमहानसिक-पुं० महानसमन्-पाकस्थानं तदाभितत्वाऽऽऽन्नमपि महानसमुच्यते, ततश्चाक्षीणं पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं स्वयमनुक्तं सत् तथाविधल-िधि विशेषेषामुपेत्युदितं, तच्च तन्महात्सं च भिक्षालोकमहात्सं-महानत्सं तद्वृत्तं येषां तं तथा । औ० । अक्खीणमहानसी नाम हविधमुपपन्नं, येषामसाधारणान्तरापद्यक्योपसाध्यात्ममात्र-मपि प्राप्तरहितमक्षं गौतमार्दीनामिच पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं स्वयमेवानुक्तं न क्षीयते त अक्खीणमहानसी । उक्तं च- “ अक्खीणमहाणसिओ, निष्कं जेणाणीयं पुणां तेण । परिदुत्तं चिय अज्जह, बहुपहिं वि न पुण अक्खिं ” ॥ १ ॥ ग० २ अधि० । अक्खीणमहाणसियस्य निष्कंण अक्षेण सिद्ध-विज्जह, तस्मिं जित्तिमे तिहाति । अण० चू० १ अ० । प्राप० प्र० ।

अक्खीणमहाणसी-अक्खीणमहानसी-स्त्री० हविधभेदे, येना-नीनां त्रैकं बहुभिरपि लक्ष्मंस्थिरप्यवैरुत्तितोऽपि लुक्तं न क्षीयते यावदात्मना न लुक्कं किन्तु तन्नैव मुक्तं निरागं याति, त-स्याक्खीणमहानसी हविधः । प्रव० २७० हा० । विश० ।

अक्खीणमहालय-अक्खीणमहालय-पुं० ताभिधविशेषमवा-सेषु, तं च यत्र परिमितभूयस्तेऽवतिष्ठते तथासंख्याता अपि देवास्तियंश्चो मनुष्याश्च सपरिवाराः परस्परधाधारहितास्तीर्थ-करणपेदीव सुखमासते संत । ग० २ अधि० ।

अक्खीरमयु ( हू ) सपिण्य-अक्खीरमयुसर्पिण्य-पुं० न० व० । उग्रशकौचधृतवज्रके भजिप्रहविशेषधारके, प्रश्न० संव० १ हा० ।

अक्खुअ-अक्षुत्त-त्रि० आरपेयाऽनुकारः । अमज्जिते, घ० ३ अधि० ।

अक्खुआआरचरित्त-असत्ताकारचरित्त-पुं० अकृत आकारः स्वरूपं यस्य अकृताकारमतीवारेतरहितस्वरूपं चरित्तं येषां ते तथा । निरतिचारचरित्रेषु, “ अद्वारस्स सीसंगघरा अक्खुआआ-आरचरित्ता ते सव्वे सिरस्ता मणसा मत्थयण वंहासि ” घ० ३ अधि० ।



अनखसुह—अक्रुष्य—नि० । न० त० । अमर्हिते, नि० ७० १० उ० ।  
 "अक्रुष्यसुह पहेसु पुदयी उदगीमि होइ पुहभो वि" ७०१ उ० ।  
 अनखसुह—अक्रुष्य—पु० । न० । अक्रुष्यनमो, ४० १ अघि० ।  
 ४० १० । अक्रुषणे, कृपणां ह्रीवित्थेन उच्यव्ययकरणशाकत्याश्च  
 तत्साम्यनाय शासनप्रभावनाय चाक्षमिते तद्विषयस्य प्रथमभा-  
 कसुणवचनम् । पंचा० ७ विव० । अश्वरे, अश्वेण हि परोपता-  
 पितृत्याज्जनश्रेयेण कृत तदायत्नं तन्मत्सरेण जगद्विष्यं स्या-  
 दिति ( तद्विषयस्य प्रथमभायकगुणवचनम् ) पंचा० २ विव० ।  
 तेन निपादितं सर्वानखदायिताया इति जयति । दर्श० ।  
 अस्य विस्तरं प्रतिपादनम्—

खुदां चि अगंनरी, उचाणमं न साहए धम्मं ।  
 सरोवयासत्तो, असखुदां तेष इह जुगो ॥ ८ ॥  
 यद्यपि भूद्रशब्दस्तुष्कद्वारेण तत्र सुप्रसूतपश्वेषु वसते तथा-  
 पीह कृद् इत्यगंजीर उच्यते. तुच्छ इति कृत्या स पुनरुत्थानम्.  
 तिरमिपुणधियण इति हेतोर्ने साधयति नाराधयति धर्मं, भोमवत्,  
 तस्य सुहृदमतिसाधयत्वात् । उक्तं च— "सुहृदमच्छा स विहेयो,  
 धर्मो धर्माधिभिर्नरेः । अयथा धर्मयुद्धयैव, तद्विधातः प्रसज्यते  
 ॥ १ ॥ सुहृदोऽपि श्लानमैयधन् । प्रदानाभिर्महं यथा । तदप्राप्ती त-  
 दन्तेऽप्य, शोकं सम्पुण्यज्जः ॥ २ ॥ सुहृदोऽपि त्रिभ्रश्रेयो, श्ला-  
 नां ज्ञातो न च वचिद । अहो ! मे धन्यता कष्टं, न सिद्धमभि-  
 याच्छित्तम् ॥ ३ ॥ एवमेतत्समादानं, श्लानभावाजिसन्धिमत ।  
 साधुर्मां तत्रतो यत्तद् दुष्टं ज्ञयं महासर्माजिः ॥ ४ ॥ इति, एतद्विप-  
 रीतः पुनः स्वपरोपकारकरणे शक्तः समर्थो भवतीति शेषः ।  
 असुहृदः सुहृदशी सुपयोऽज्ञानिकारो तेन कारणेनेह धर्मप्रणये  
 योग्याधिकारी स्यात्, भोमवत् । तयोः कथा वैचर्म—  
 नराणकालियं सुजह-च्छन्दं पि व कणककुरपुरमरिध ।  
 तथासि धासयो वा-सउ इ विबुद्धपियो राया ॥ १ ॥  
 कमहा य कमजसेणा, सुलयाणा नाम तिनि तरणीभा ।  
 भूमिवाडुदिभाभा, दुस्समदपियविरहदुदिभाभा ॥ २ ॥  
 अभायसकवाभा, अन्नुषं पि तु तिहं कयतीभा ।  
 समदुडुदुहिय चि त्रिया, पारथ गर्मात् दिवसाह ॥ ३ ॥  
 तथेगा सुगुणेदि, अयामगो वामगो च रुवेण ।  
 सम्मं निययकशादि, रजह निवपनिद्रसयत्तपुरं ॥ ४ ॥  
 कइया वि निवेणुत्तां, सो जह इह विरहदुहियतरणीभा ।  
 जह रंजिदिही नूणं, तो तुह नज्ज ककुसरिसो ॥ ५ ॥  
 धोमिणं ति स भणियो, रक्षोऽणुभाह बहुवयसेतुभाः ।  
 पत्तो ताणं जवणे, कइह विचिहं कइशाव ॥ ६ ॥  
 मणेण वयंसेणं, वुत्तं किमियादि मिन ! वसाहि ।  
 किं पि सुइसुइयचरियं, कइसु तभां कइह इयरो वि ॥ ७ ॥  
 महिमहिनाज्जासधह-निस्सं य पुंइ इहपिय तिलयपुरं ।  
 तम्य य पुरियमगा-मणोणहो मणिरहो राया ॥ ८ ॥  
 सुइसुइस्तीलाजियविम-लमालहं मालहं चि मे दइया ।  
 पुत्ता य लुयणप्रक्रम-णविक्रमो विक्रमो नाम ॥ ९ ॥  
 नियमंदिशसंनिहिए, मिहमिमि कम्मि वि कया वि संजाए ।  
 सो सुणह सवणसुइयं, केण एयं पडिज्जंनं ॥ १० ॥  
 नियुक्कप्रमाणं गुण-विपद्विमा सुजगदुज्जणविसेसो ।  
 नज्जह नेगथयिण-दिं नेण निउत्ता निर्यति मदि ॥ ११ ॥  
 तं वुणिय सुणिय मवगणि-य पारियं देमदं सलसत्तपहो ।  
 कुमरो रथणीह पुत्ता-उ निमात्रो श्रमयमाकरो ॥ १२ ॥  
 सो वच्चतो संतो, अगो मग्गे निएदं कं पि नरे ।

निहदुरपहारविहुरो, पिवासियं मयियसे पडियं ॥ १३ ॥  
 तो सरवाउ ससिभं, गदित्तु उण्युण्युपकाहनो ।  
 तं पाहसा पणण-पययणो क्काह पणणतणुं ॥ १४ ॥  
 पुच्छर य भो महायास !, कोसि तुमं किं इमा अवाथा ते ? ।  
 सो जणह सुयणसिररय-ण ! सुणसु चि सि इं जोदि ॥ १५ ॥  
 विउजावियण विप-कलजोइया जलवदोइया अइयं ।  
 एयमवथं नीभो, तप पुणे पुणुणिभो सगुणो ॥ १६ ॥  
 तो सो तोसेणं गहन-मंतमण्युत्तु नरवरसुयस्स ।  
 सचाणं संपत्तो, कुमरो पुण इत्थ नयरमि ॥ १७ ॥  
 निसि मयणमिहं वुत्तो, चिदुइ हा सुदु जमिरो कुमरो ।  
 ता तथेगा तरुणी, समागया पूइसे मयणं ॥ १८ ॥  
 यदि नीहरितं जण्य, अम्मो वणदेवया सुणह सम्मं ।  
 इह वासवनरवदणो, सुदिद्या कमस जइं दुइहिया ॥ १९ ॥  
 मणिरहसुयस्स विक्रम-कुमरस्तुज्जगुणासुराएण ।  
 दिव्वा पिउणा सो पुण, इयिह न जज्जह कहिं पि गभो ॥ २० ॥  
 अइ मइ इह नउ जाओ, सो भत्ता तो परत्थ वि हइउजाः ।  
 इय पमाणिअ उच्चवेह, वरुविदविणि जाय सा अण्यं ॥ २१ ॥  
 मा कुणसु साहसं इय, जणियो लुरियाइ म्दिदिउं पसं ।  
 कमलं कमलसुकोमल-वयणोइहि संउवइ कुमरो ॥ २२ ॥  
 इत्तो तस्सुइकए, प्रउच्चइगरपरिवुदो तहि पत्तो ।  
 वासवमिवा वि कुमरं, वुंइ दिट्ठो अणइ एयं ॥ २३ ॥  
 निलयपुरं अमंमिहं, गयहि मणिरहसिमत्तमिलणयं ।  
 तं याससे दिट्ठो, दक्खिअसुपुववर ! कुमर ! ॥ २४ ॥  
 निष्णणरत्ता पत्ता, पउ कमला कम्मणिणं व्वं दिणुसाहं ।  
 तुह दाहिकणरमेलण-वसा सुहं लइउ मइ उहिया ॥ २५ ॥  
 इय महुत्ताइमंमिहं, पथिभो वासवण नरवणा ।  
 विक्रमकुमरो कमलं, परिणइ तिविक्रमु व्वं तत्रो ॥ २६ ॥  
 गोसं तोसेणं पुं, पवेसिभो विउत्ता समज्जो संतं ।  
 तीइ सम्मं कींसेतो, चिउइ निवदिउत्तासाए ॥ २७ ॥  
 तो किं अगो कमहा-इ जंपिय मणिय रायसेवाए ।  
 समभो चि गभो सुज्जो, वीयदिणे कइह पुण एयं ॥ २८ ॥  
 कइया वि सुणिय रयलोइ, कलुणसहं इयंनरमणी ।  
 तस्सइणुसारेण य, स गभो कुमरो मसाणमि ॥ २९ ॥  
 दिट्ठो भाइज्जणविल-विशालतोणजुया तहि जुवेरं ।  
 तीए पुरभो जोइ, नह कुंमं जलिरजलणजुयं ३० ॥  
 हांउं लयंतेरे पउ-रपउरिसा जाव चिउप कुमरो ।  
 विसमसरपसरविहुरो, तो जोइ अणइ तं बालं ॥ ३१ ॥  
 पत्तिय चिउय सियसयवत्त-पचनणणे ममं करिय दइयं ।  
 च्चुलामणि अ तं हो-सु सयलरमणीयरमणी ॥ ३२ ॥  
 सा कयमाणी पमणह, किं अणपमणथयं कयत्तयं ।  
 जइसि हरी मयणो था, तदा वि तुमए न मे कज्जं ॥ ३३ ॥  
 अह रुत्तो सो जोइ, वत्ता वि ता मिविदही करेण तयं ।  
 ता पुकरियं तीए, हइ ! अणादा म्हा पुइयो ॥ ३४ ॥  
 अं सिगिपुरपडुअयसे-णनिवडिअिया अहं कमलसेणा ।  
 दिव्वा पिउणा मणिरह-नियसुयविक्रमकुमारस्स ॥ ३५ ॥  
 सपइ विउजावसिभो, अइह ! अचचं कइइ कोवि इमो ।  
 इय निसुणिय पयत्तियको-वधियम्मो देवम कुमरो तं ॥ ३६ ॥  
 पुदिमो हवसु सयं, कंसु सुमदसु देवयं इट्ठं ।  
 परमहिलमहिलसेतो, रे रे पाविट्ठ ! नटोसि ॥ ३७ ॥

तो अक्षमक्षिभो जोह, भणह परिर्थापसंगवारणभो ।  
 निवहंतो इं मरुप, साडु तप रक्षिभो कुमर ! ॥ ३७ ॥  
 उषयारभो सि द्वाहं, इषयराविषिकारिणि विज्जं ।  
 पुनणह जोगी मभे, गुरुविक्कमसाहसगुणहिं ॥ ३९ ॥  
 ७८ पइ इमीह दिट्ठी, वसण्णेणं तंति विक्कमकुमारो ।  
 इयरो वि स्वाहइ भदो, तुहिंणियागारकुसलसं ॥ ४० ॥  
 तो जोणि पत्थिभो तं, बासं परिथिनु तं विसज्जेवं ।  
 तीय जुभो कुमारो, नियमवेषुज्जाणमणुपत्तो ॥ ४१ ॥  
 ता कि जायं तस्समा-भो पि उट्ठिमि कमलसेणाप ।  
 भोसग्गाप वेत्त सि, अंपिउं निग्गमो खुज्जो ॥ ४२ ॥  
 अय तइयवासरम्मि, ध्यागंतुं कइइ तथ पुण यवं ।  
 कुमरो जाडुग्जाणो, कीलइ सह कमलसेणाप ॥ ४३ ॥  
 परकज्जसज्ज ! मह कज्ज-मज्ज कणुसु सि ताव तं कोइ ।  
 आह कुमारो वि ब्रणह, करेमि जीवियकसं एमं ॥ ४४ ॥  
 तयथु विमाणाकटो, कुमरो बयंत्तिकणयपुरयडुवो ।  
 विजयनिवस्स समीहं, नीभो खो तेण इय भण्णो ॥ ४५ ॥  
 कुमर ! मह अरिथ सन्नु, अदिअपुरसाभिपूमकेठनिथो ।  
 तं अकमिउं आरा-हियाइ कुसुवेवयाइ मय ॥ ४६ ॥  
 तविजयकसमो तं, कुमर ! पमणिभो गिपहता इमा विज्जा ।  
 आगासगामिणीमा-इयाउं तइ वेव सो कुणइ ॥ ४७ ॥  
 अह साहिंयथहुविज्जं, इयगयथडुसुहइकानिसयधिंयं ।  
 कुमर इतं निसुणिय, संसुहो धूमकेठनिथो ॥ ४८ ॥  
 अत्तुच्छलभिविच्छडु-मंदिंयं वेरिउं गभो रज्जं ।  
 तं गहिंय मदिंयसत्तु, पत्तो कुमरो वि सछाणं ॥ ४९ ॥  
 हरिसुकरिसपरंणं, रन्मा वि सुल्लोयणं निययधुयं ।  
 परिणोविभो कुमारो, विट्ठइ तथेय कइ वि दिणे ॥ ५० ॥  
 इट्ठु पुवपियाभो, कया वि कुमरो सुल्लोयणासहिभो ।  
 इयथेय पुणो नयरो, नियभवेषुज्जाणमोइहो ॥ ५१ ॥  
 सो काथ गभो सि सुल्लो-यणइ पुछिमि धामणो हिसरो ।  
 तां तुण्हे विव अग्गेह, अणिया इय वत्तु नीइरिभो ॥ ५२ ॥  
 नियनियअरियसवणभो, नियनियतणुनिउणुइरणभो ताहिं ।  
 कयकवपरावत्तो, नियमत्ता तक्किभो खुज्जो ॥ ५३ ॥  
 अह रायपहे खुज्जो, गच्छंतो सुणिय कम्मि वि गिइम्मि ।  
 करुणसरं तो कं पि डु, पुच्छइ रोइउज्जप किमिइ ॥ ५४ ॥  
 सो जणइ तिलयमंति-स्स पुत्थिया सत्सह सि मामेण ।  
 भवथोवावरि कीलंतं, नक्का कसिणेण उररोय ॥ ५५ ॥  
 वत्ता नरिंइविदा-रयइ तो तीह मायपियसयणा ।  
 उम्मुक्ककेठमुक्कं-उवज्जिया इय रुयंति बहुं ॥ ५६ ॥  
 तं सोउ भणइ खुज्जो, गच्छामो भइ मंतिगइम्मि ।  
 पिच्छमि तयं बासं, अइमवि उज्जेमि तइ कि पि ॥ ५७ ॥  
 इह वुत्तु मंतिजवण-म्मि धामणो तयणु तेण सह पत्तो ।  
 पठणइ पोडमंत-व्यभावभो ऊपि तं बाहं ॥ ५८ ॥  
 नियविन्नाणं थ तुमं, सकवमार्थदंसुत्तु सि सविषेण ।  
 सो पत्थिभो कण्णेणं, नडुव्य अज्जो सहाअरयो ॥ ५९ ॥  
 तस्स पहानं रुवं, इट्ठं अइसिंदिभो विल्लयमंती ।  
 आ विट्ठइ ता पडिंयं, मागहविंणिय पयमिमिं ॥ ६० ॥  
 मणिरहनिवकुसससहर !, हरहारकरोपुअवन्नजसव्यसर ! ।  
 पत्थिरयतिहुयणविक्कम !, विक्कमवत्तु ! कुमर ! जय सुच्चिरं ॥ ६१ ॥  
 तो मंती वरकुलक-वयिक्कमं विक्कमं निपत्तण ।

कुमरीह पाणिगहयं, कारावइ इहनुट्टुमणो ॥ ६२ ॥  
 तं सुणिय जाणितं निय-सुयाइ कमलाइ पिययमं हिट्ठो ।  
 वासवराया कारइ, महुसवं सव्वनयवरम्मि ॥ ६३ ॥  
 तसो मंतिगिहाभो, नीभो नियमंदिरे विट्ठइयं ।  
 सो सव्वपियादि जुभो, सुहेण विच्छ सुउ वय त्थिं ॥ ६४ ॥  
 कइया वि जणयत्तेहेण पेत्थिभो पुत्थिउं ससुररायं ।  
 अरहि वि ज्ञाहिहि सभं, कुमरो पत्तो तिअयनयरो ॥ ६५ ॥  
 पणभो य जणणिजणय, इत्तो उज्जायापसणय निथो ।  
 विअत्तो सिरिअकसं-कट्टुरिआगमकइणेण ॥ ६६ ॥  
 तो नासुरभूरुभो, स कुमारो मारसासणु व्य निथो ।  
 अस्सिभो गुरुमणत्थं, रायपहे नियइ नरमेणं ॥ ६७ ॥  
 अइसल्लवलंतकिमिअहु-अज्ञासमच्छिमिअप्याअच्छं ।  
 निक्किउकुसुसद्धिर-सिरइरमइदीणइणसो ॥ ६८ ॥  
 तं इट्ठमणिअमरिअ-अंलम्मि व विअसासमसिणुत्तो ।  
 पत्तो गुरुवपारसे, नमिउं निसुणेइ धम्मकइं ॥ ६९ ॥  
 जीवो अणाइतणुक-अम्मवंथजोगभो सया डुट्ठिमो ।  
 भमइ मणाइवणस्सइ-अज्जकगभो णेतपरिउइ ॥ ७० ॥  
 तो वायरेसु तत्तो, तस्सत्तं कइ वि पावइ जीवो ।  
 अहुक्कमो य तत्तो अइ, पावइ पंथिवियत्तं व ॥ ७१ ॥  
 पुवविट्ठणो य तत्तो, न अज्जलिते अइइ मणुयत्तं ।  
 लक्के वि अज्जम्भित्ते, न कुलं जाइ वलं रुवं ॥ ७२ ॥  
 यं पि कइ वि पावइ, अण्णाक वा इविज्ज वाटिहो ।  
 इदीअत्तभो निरोगो हविज्ज अइ पुअजोपण ॥ ७३ ॥  
 पत्तो मीरागत्ते, वंसयानाणस्स वावएणभो य ।  
 न य पावइ जिणधम्मं, विवेषपरिवज्जिअभो जीवो ॥ ७४ ॥  
 लदुत्तु वि जिणधम्मं, इत्तणमोहणियअभ्भउइएणं ।  
 संकाइकलुसियमणो, गुरुवयणं नेव सहइइ ॥ ७५ ॥  
 अह निम्मलसंमत्तो, जहइयिं सहइइ गुरुवएणं ।  
 नाणावरणस्सुवए, संसिज्जं तं न कुज्जेइ ॥ ७६ ॥  
 कइ संसियं पि कुज्जेइ, सयं पि सहइइ वोअइ अणं ।  
 आरिअत्तमोहवोसेण, संज्जमं न य सयं कुणइ ॥ ७७ ॥  
 अणिय अरिअत्तमोहं, विमलत्तवं संज्जमं व जो कुणइ ।  
 सो पावइ मुत्थिसुइं इय मणियं अवीलगरां ॥ ७८ ॥  
 सुल्लगपासगयत्ते, सुए तथेयं य सुभियअक्के य ।  
 अम्मत्तुणे परमाणु, दस विट्ठंता सुयपसिक्का ॥ ७९ ॥  
 पयाहिं इमं सव्वं, मणुयपयां कमेण डुअज्जं ।  
 लहुं करइ सहलं, काठण जिणिवद्वरधम्मं ॥ ८० ॥  
 अह समए भणइ निभो, अयवं ! कि तुअयं कयं तेण ! ।  
 उक्किउकुट्टिपयां, तो इह अंपेइ सुनिनाहो ॥ ८१ ॥  
 मणिसुदरमंदिरे-दिरिअम्मि मणिमंदिरिम्मि नयरम्मि ।  
 इतो सोमभ्रीमनामा, कुलपुत्ता निवअमविअरं ॥ ८२ ॥  
 पडमो खुत्ताणमरं, अक्खुत्तो अइभो विणोत्तो य ।  
 तविअरंभो कीभो, परपेसणजीवियो दो वि ॥ ८३ ॥  
 अ-नदिणे दिनमणिअकण्णमासुं सुरगिरिं व उणुंगं ।  
 काथ वि यउवं तंदिहं, तेहिं जिगमंदिरे विट्ठं ॥ ८४ ॥  
 इहभमइ सोमो जणइ, भीम ! सुकयं कयं न कि पि पुरा ।  
 अइहइहि तेण नूणं, परपेसणजिमिणं पत्तं ॥ ८५ ॥  
 अं तुल्ले वि नरं, पगे पडुवो पयाइणो अग्गे ।  
 तं सुकयपडुयफत्तं, अकारणं इवइ कि कज्जं ॥ ८६ ॥

तो पणमामो देवं, देमो व जलजोसिं दुहसयाणं ।  
 उणाणमई बाया-स्रमावओ भराइ अह मीमो ॥ ८७ ॥  
 न व अणिय नृपपंचगणवं-वअहिहोमो जिउ च्चिय जयम्मि ।  
 हे सोम ! सोमकुसुमं, व तयणु देवावणो किहणु ॥ ८८ ॥  
 पासंकिनुइअरचंड-तंतवामंवरहि किं मुक्क ! ।  
 देवो देवु पि सुहा-कअथसे अण्णमयमई ॥ ८९ ॥  
 इय वरिओ वि तेणं, सोमो सोम व्व सुक्कमइणुणो ।  
 गंतुं जिणअवणे भुध-यं धंधवं नमइ समियतमो ॥ ९० ॥  
 गटिउं रुवगकुसुम, पुणइ जिणं पराइ नसीय ।  
 तपुणणवसा अउअइ, स बोहिवीयं नराउजुयं ॥ ९१ ॥  
 मरिउं स एस सोमो, जाओ मणिरहनरिइ ! तुह पुत्तो ।  
 पंनिपुक्कपुजसारो, भारो इव विक्रमकुमारो ॥ ९२ ॥  
 जीमो उख सुहमई, जिणाहंनिअणपरायणो मरिउं ॥ ९३ ॥  
 जाओ एसो कुट्टो, पुओओ नमिंइ जमणवं च ॥ ९४ ॥  
 अइ जायजाइसरणो, कुमारो हरिसुजुसंतरोमोचो ।  
 नमिंउं गुरुयकमलं, गिणइ गिदिअममइरमं ॥ ९५ ॥  
 मणिरहनियो वि विक्रम-कुमरो संकमिअरउजपभारो ।  
 गहिअवओ उणाणिय, केवलनाणो गओ सिंकि ॥ ९६ ॥  
 जिणमंदिअणपदिमा-जिणरइअसककारावणुउजुत्तो ।  
 गुणजिणसंवेणसत्तो, इइसंमत्तो विमलञ्चिओ ॥ ९७ ॥  
 संपुअकओ पंनिपु-अमंमओ हयियदुरियतमपसरो ।  
 विक्रमराया राज-व्व कुवलयं कुणइ सुहकलियं ॥ ९८ ॥  
 अणकिम दिणो निवई, नियपुत्तमिहिअतगवरउजजुथुरो ।  
 अकलंकसूरिपासे, पव्वअउ संपयउअइ ॥ ९९ ॥  
 अक्कवुहो गंत्रो, सुअमई हयियदुरियतमपसरं बहुयं ।  
 विहिणा मरिउं पत्तो, दिअम्मि अरिहिं कमेण सिवं ॥ १०० ॥  
 भुवेति गंभीरुणस्य वैभवं,  
 महात्तमुत्तानमतेक्ष वै भवं ।  
 अकधानाः आक्रजनाः समाहिता-  
 अकुद्रतां धत्त सदा समाहिताः ॥ १०० ॥ ध० २० ।  
 अक्रवुपुर्-अस्रपुर्-अं- नगरीभेदे, यत्र सूर्यस्य प्रभां प्रहतिः,  
 सूरभीसस्य न्याय्यां, तस्याः सूरप्रभाया दारिकाः सूर्यस्य अ-  
 प्रभाहर्षीत्वेन जाताः ॥ श्रा० ३ ध्रु० ।  
 अक्रसेव-आसेप-पुं आक्षेपणमाक्षेपः, आशङ्कामा, आं ० म०  
 ङि० । पूर्वपक्षे, विशे० । आ-क्षेप, क्षिप भेरेण मर्यादोपदि-  
 धर्ममाक्षिपति न सत्यमेतदिति । किमाक्षिपति ? आह-क्षि-  
 पित्वमै सत्रम् । यत्संक्षेपकं, यथा विस्तारकं, संक्षेपकं सामा-  
 यिकम्, विस्तारकं चतुर्दशपूर्वाणि । एवमेव नमस्कारः । नापि  
 संक्षेपेणोपदिष्टः, नापि विस्तृतः । एतावती च परिकल्पना नृत्वी-  
 या नास्ति । “नमो सिंहाय ति ( णिवृत्ता गहिया एमो साइयं ति  
 संसारया गहिया एवं संखेयो विद्यरो, यमो अरहंताणं णमो  
 सिंहाय एमो आयरियाणं एमो चोइअसुव्वीणं २ जाव एमो  
 आयततराणं णमो आमोसहिपत्ताणं एवमादि एयंतेरे णं काय-  
 व्वो जेण ए कीरति तेणं डुट्टु सि अक्खेवदरं” ॥ आ० सू० १, अ० ।  
 “अक्खेवो सुत्तदासा पुच्चा वा” आक्षेपो नाम यत्सुत्तदाया उच्य-  
 ते, पुच्चा वा कियते, इ० १ उ० । परउट्ठयात्तेस्वरूपे एकान-  
 विश्रित्तमै गौणचौयै, प्रअ० आअ० ३ द्वा० । भस्तेने, अपवाद्,  
 आकषेण, धनादिभ्यासरूपे निक्षेपे, अर्थात्तङ्कारजेदे, निवेशने,  
 उपस्थाने, अनुमाने, यथा जातिशकवादिनामाक्षेपात् व्यक्ते-  
 र्बोधः । सतिरस्कारवचने च, वाच० ।

अक्रसेवणी-आक्षेपणी-अं- आक्षिप्यते मोहात्तत्त्वं प्रत्याकल्प-  
 ते श्रुताऽनयेत्याक्षेपणी, कथामेदे, सा चतुर्विधा- “अक्खेवणी  
 कथा चउत्विहा पत्तया, तं जहा-आयारक्खेवणी बवहाकक्खेव-  
 णी पत्तयिक्खेवणी विट्ठिवायक्खेवणी” इत्या० ४ ब० ।  
 आयारं बवहारं, पत्तयां चैव दिट्ठिहाय ए ।  
 एसा चउत्विहा सत्तु, कदाउ अक्रसेवणी हौइ ॥ १०० ॥  
 आचारो लोचानानादिः, व्यवहारः कथविद्यापक्षदोषव्यपेयोहा-  
 य प्रायश्चित्तलक्षणः, प्रहातिश्चैव संशयापक्षस्य मधुरवचनैः  
 प्रहापना, दृष्टिवाद्ब्रह्म श्रोत्रापेक्षया सूत्रमजीवादिजाचकथनम् ।  
 कथ्ये त्वन्निदधति-आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचारा-  
 यभिधानादिति । एवाभन्वरोविता चतुर्विधा । अस्तुशब्दो विशे-  
 षणार्थः श्रोत्रापेक्षयाऽऽचारादिदानाश्रित्यात्प्रकारं प्रति कथा  
 त्याक्षेपणी भवति । तुरेधकारार्थः । कथैव प्रहापकनोच्यमाना  
 नाभ्येन । आक्षिप्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्राणीत्याक्षेप-  
 णी भवतीति गार्थार्थः । इदानीमस्वा रसमाह-

विज्जा चरणं च तवो, य पुरिसकारो य समिइगुत्तीओ ।

उवइससइ सखु जाहियं, कदाइ अक्रसेवणीइ रसो ॥ १०१ ॥

विधा ज्ञानमत्यन्तोपकारि भावतमोभेदकं, चरणं चारित्रं स-  
 मप्रविरतिकरूपम्, तपोऽनशानादि, पुरुषकारश्च कर्मशत्रुन् प्रति  
 स्वर्ध्यात्कर्णलक्षणः, समितिगुणयोः पूर्वोक्ता एव । एतदुपदि-  
 श्यते अलु श्रोत्रभावापेक्षया सामीप्येन कथ्यते । एवं यत्र क-  
 च्चिदसाधुदेशः कथाया आक्षेपण्या रसो निष्पन्नः साग  
 इति गार्थार्थः । दश० नि० ३ अ० ध० । ग० श्री० । द्वा० ( इयं  
 कस्मै कथयितव्यंति ‘ धम्मकहा ’ शब्दे )

अक्रसेवि ( ण् )-आक्षेपिन्-प्रि० आक्षिपन्ति वशीकरणा-  
 दिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः ( वशीकरणादिना-  
 परद्रव्यमुद्रुषं ) प्रअ० आअ० ३ द्वा० ।

अक्रलोड-कृष्-धा० असंः कोशात्कर्षणे, “असावकलोडः”  
 ङ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण असिषिषयस्य कृषेरक्खोडादेशः । अ-  
 क्खोडाइ । असि कोशात्कर्षतीत्यर्थः । प्रा० ।

आक्षोड ( ङ )-पुं आ-अस-ओट-ओड-शैलपिलवृत्ते,  
 ‘अक्खरोड’ इतिलोक प्रसिद्धः । वाच० । तत्फले, न० ।  
 प्रहा० १७ पद ।

अक्रलोडभंग-आक्षोडजङ्ग-पुं ओटभङ्गशब्दार्थे, “खोटभंगो  
 सि वा उक्कोभंगो सि वा अक्खोडभंगो सि वा एगुट्टु”  
 व्य० १ उ० । नि० सू० ।

अक्रलोज-अक्रोज-प्रि० न० ब० । लोभवर्जितं, “अक्रलोभे सा-  
 गरो व्व थियिपि” प्रअ० सअ० ५ द्वा० । अचलितस्वरूपे,  
 “एत्युस्तगो अक्रलोभो होइ जिणविधो” पंचा० ४ विध० ।  
 “अक्रलोहस्स भगवओ संघसमुहस्स” अत्रोभयस्य परी  
 यदोपसर्गसंभवेऽपि निष्पकम्पस्य, न० । अन्धकबुद्धोर्धरे-  
 रथां जाते पुत्रे, स च आरावर्थां नगर्यामन्धकबुद्धोर्धरेतरथां  
 देव्यामुत्पन्नोऽरिउत्तेनेरन्तिके प्रज्जितः शशुज्जये संलेखनां  
 कृत्वा सिअ इत्थनइइशरास्तु सुचितम् । तद्वक्थ्यताप्रति-  
 यदोऽन्धकइशानां प्रथमवर्गस्य सप्तमंऽव्ययने ष ।  
 अन्त० १ वग० । इत्या० ।

अक्रलोर्वंजण-आक्षोपाञ्जन-न० शकटपूर्वस्यै, “अक्रलोर्वं-

जणवणाएव लेखणभूयं ” अत्रोपाब्जनमणानुलेपनभूतम् ( आहारम् ) अत्रोपाब्जनं च शकटभूषणं च, मणानुलेपनं च क्षत-स्वयंप्रथेन विलेपनम्, अत्रोपाब्जनमणानुलेपनं, ते इव विचि-तार्थसिद्धिरस्वादिनिरभिषङ्कतासाधर्म्याद्यः सोऽत्रोपाब्जन-मणानुलेपनभूतमूलम्, क्रियाविशेषत्वं वा । अ० ७ श० १ उ० ।  
 अखंड-अखण्ड-त्रि० । न० ४० । पौर्णमासीचन्द्रबिम्बवत् ( आ० ७ श० ३० ) संपूर्णवियव्ये, आ० म० द्वि० । तं० । आ० । स-र्वधर्मास्तिकायादिकं संपूर्णं देशदेशिककल्पनारहितमखण्डं बभूवुः । विशेषेण 'सुहृद्गुरुजो गो तव्यव-एसेवशा आभयमखंडा' आभयमखण्डा आजन्माऽऽसंसारं वा । ल० । पञ्चा० । “सं-घनगरवर्द्धं ते अखंडं चारिषयागारा ” अखण्डमथिवाधितं चारित्र्यमेव प्राकारो यस्य तत्पथा । न० ।  
 अखंडगाणारजन-अखण्डज्ञानराज्य-त्रि० अचूर्णितज्ञान-राज्ये, “ चित्ते परिकल्पने यस्य, चारित्र्यमकुतोभयम् । अखण्ड-ज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् । अष्ट० १७ अष्ट० ।  
 अखंडवर्द्ध-अखण्डवर्द्ध-त्रि० अखण्डाः सकला दन्ता येषां ते अखण्डदन्ताः ( जी० ३ प्रति० ) परिपूर्णादर्शनेषु, जं० २ वच० । श्री० ।

अखंडविद्य-अखण्डविद्य-त्रि० परिपूर्णं, पंचा० १८ विद्य० ।  
 अखंडनियसंज्ञा-अखण्डनियसंज्ञा-त्रि० अज्ञप्रचारित्र्ये, पंच० चू० ।  
 अखण्डविज्ञ-अखण्डविज्ञ-त्रि० न विलस्यते न कणाश्च आदीयते, खिल-कं । न० तं० । वाच० । समस्तं, अष्ट० ८ अष्ट० । “ अखिले अग्निके अणिय य चारं । ” अखिलो ज्ञानदर्शनचारित्र्यैः संपूर्णः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । “ अखिलगुणाधिकसंघो-गसारसद्ब्रह्म-यागपरः ” । पंच० ६ विद्य० ।

अखण्डमंपया-अखण्डसंपद-खी० सर्वसंपत्तां, “आधीनां पर-मौपध-मन्याहतमखिलसंपदां बीजम् ” वा० १४ विद्य० ।  
 अखण्ड-अखण्ड-पुं० अख्याकुलतायाम्, “ अखण्डो देवकार्योदा-वन्यमार्द्रप एव च ” डा० २० डा० ।

अखण्ड-अखण्ड-त्रि० सांपद्वेव मांगं, नद्वत् क्रोधाद्युपश्रवसहिते पुरुषजाते च । स्था० ४ ग० २ च० ।

अखण्डरूप-अखण्डरूप-पुं० आकारिण्य सांपद्वेव मांगं, तच्चतु-र्यवलिङ्गवर्जिते, ख्या० ४ ग० २ च० ।

अखण्डयाण-अखण्डयाण-त्रि० अनिपुणं, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।  
 अकुशलं, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अग-अग-पुं० न गच्छतीत्यगः । सुक्ते, आ० म० द्वि० । नि० चू० । विशेषेण । पर्यन्ते, कल्प० गमनाकर्तारि शूद्रादौ, त्रि० न गच्छति वक्रगत्या पश्चिममित्याः । सुयं, तस्य दिं वक्रगत्याभावः ज्यो-तिषप्रसिद्धः । वाच० ।

अगत्र-असुर-पुं० “मौणाद्वयः” । ङ० १ । ७४ । इति सूत्रेण अ-सुराद्वयस्य ‘अगत्र’ इति निपातः । द्वैत्ये, प्रा० ।

अगडसमावण-अगतिसमापन्न-पुं० अगतिं सरकादिं गच्छ-ति । नैरयिकादौ,

सुविद्या णेरइया एणणत्ता तं जहा-गडसमावणञ्जा चेव अगडसमावणञ्जा चेव जाव वेमाणिया ।

गतिव्ययकं गतिसमापन्नका मरकं गच्छन्तः, इतरे तु तत्र ये ग-ताः अथवा गतिसमापन्न नारकत्वं प्राप्ताः, इतरे तु क्यन्तनारकाः,

अथवा सलस्थिरत्वापेक्षया ते ह्येवा इति । ख्या० २ ग० २ उ० ।

अगंतिम-अग्रन्यिम-न० कदलीफलेषु, खण्डाखण्डोद्भेदेषु वा फलेषु, वृ० १ उ० । अत्रकल्पे, “ सक्त्रघययगुहमीसा खज्ज-रअगंतिमा वसंत्सि ” अगंतिमा नाम कथयथा अथ अघंति मर-डठविसप फलाए कयत्कल्पमाणाओ पि मीओ एकस्मिं रात्रे बह्विकिअं अघंताणि फलाणि खंदाखराणि कथाणि वेत्तति । नि० चू० १६ उ० ।

अगंदिगेहो-देशी-यौवनमले, वे० ना० १ वर्ग ।

अगंद्दुयग-अकसद्दुयक-पुं० काड्डयनाकारकेऽभिप्रहीवशेष-धारकं, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अगंथ-अग्रन्य-पुं० न विद्यते ग्रन्थः सबाह्यान्पन्थोऽप्ये-त्यग्रन्थः । निर्रन्थे, “ पाव कम्मं अकुल्वमाणं एस मइं अगंथे विद्यादिपं ” आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

अगंथ-अग्रन्य-त्रि० नम्रः कुन्तार्यन्वाद्-अतीव दुर्गन्धे, वृ० १ उ० ।

अगंधण-अग्रन्यन-पुं० नागजातिनेत्रे, नागानां भेदद्वयम्-गन्ध-नोऽगन्धतः । तत्र अगन्धना नाया मन्त्रैराकृष्टाः “ अवि मरणम-ज्जवस्संति ण य वंतमाविषंति ” । “ नेच्छति वंतयं ज्ञेपुं कुड्डे जाया अगंधेण ” इश० २ अ० ।

अगच्छमान-अगच्छत्-त्रि० न गच्छत् न० तं० पैशाच्यां न णत्वम् । अचञ्चति, प्रा० ।

अगड-अकृत-पुं० अकृते, “ सगामे मा वीसुं, वसेज्ज अगरे असुसे से ” इय० ६ उ० । गच्छं, वृ० ३ उ० ।

अगदतद-अवदतद-पुं० शूतपदं, विद्योः ।

अगददत्त-अगददत्त-पुं० शङ्खपुं सुन्दररूपस्य सुलसायां जातिऽगडदत्तं पुत्रे, अथ तत्कथां लिख्यते-शङ्खपुं सुन्दररूपः । तस्य सुलसा प्रिया । तन्सुतोऽगददत्तः । स च सप्त व्यसनानि सेवते स्म । शोकानां शूद्रेष्वप्यन्यायं करोति स्म । शोकैस्तदु-पहम्मा राहो दत्ताः । राहा स निर्वातितो गतो वागणस्यो पवनचण्डोपाध्यायशूद्रे स्थितः । द्विसततिकलावान् जातः । शूरोधाने कलाभ्यासं कुर्वन् प्रत्यासन्नशूद्रेगवाङ्कथया प्रया-नंअधिसुतया मदनमज्जय्यो तदपुमंहितया च तथा प्रकृतिः पुपस्तवकः । सञ्जाताप्रतीतस्तम्पण एष जातः । अयन्दा तुरगा-रुद्धः स नगरमध्ये गच्छस्ति स्म । तावता ईशो लोके कोलाइहलः हुतः, यथा-“ किं चञ्चिडं व्व सुमुदो, किं वा जित्तोओ हुआसणो धारो । किं पत्ता रिउसेणा, तदिदंओ निवमिओ किं वा ? ११॥ मं-नेण वि परिचच्छो, मारंतेओ सुमिगेयंरं पत्तो । सबडं मुहं चडंते कालु व्व अकारणे कुक्को ” ॥ २ ॥ तावता तेन कुमारंण अथं सुक्त्वा स इस्ती गजमरुतधिषया दान्तः पञ्चासमारुह राजकु-लासन्नमायाते राहो दत्त आकारितो मानपूर्वम् । कुमारंण तं गजमानस्तम्भे बध्धवा राहोः प्रणामः हुनः । राहो चिन्तितम्-कश्चिन्महापुरुषोऽयम्, यतोऽप्यन्तर्निर्गतो ह्यप्यते । यतः-“ वा-सली भरेण तोयं-ण जलहरा फलजरेण तबसिहरा । विणएणु स सम्पूरिसा, नमंति नहु कस्सं भएण ” ॥ ततो विनयंरिज्जेतेन राहो तस्य कुमादिकं पृष्टम्, कियान् कलाज्ज्यासः कृतः ? इत्यपि पृष्टम् । कुमारस्तु ह्यज्जात्थ्वेन न किञ्चिज्जगौ । उपाध्यायेन तस्य

कुलादिकं सर्वविद्याभिरुपयं च कथितम् । कुमारचूत्तानं भुव्या  
 अमरकृतो नृपतिः । अथ तस्मिन्नेवावसरे राक्षः पुरं अमरलोकः  
 प्राभूतं मुकुन्दा एवमूचिवाच-हे देव ! त्वन्नारं कुर्वन्सदृशं किय-  
 द्दिनाभियद्यदासीत्, अत्यन्तं घोरं पुरुतुल्यमस्ति । केनापि तत्करेण  
 निरन्तरं मुप्यते, सत्यस्यं रक्तं कुटुम्बं । राक्षो तन्नाराज्ञा आकारिता  
 भृशं वचोनिस्तंजिताः तैरुक्तम-महाराज ! किं कियते, कोऽपि त-  
 त्करेणस्त्वेतरोऽस्ति, बहुपुत्रोऽपि न दृश्यते । ततः कुमारैर्णोक्त-  
 राजन् ! अहं सप्तदिनमप्ये तत्करकर्मणं चेष्ये करोमि ततोऽग्निप्रवेशं  
 करिष्यामि ति प्रतिज्ञा कृता । राक्षो त्पुरेऽङ्कमाश्रुत् कुमाराय दत्त-  
 म् । कुमारस्तत उवाच यौरस्थानानि विचारयति स्म । "यंसाणं  
 निर्विबाणु, पाणुगारेषु ज्युगामेषु । कुञ्जिरवठाणेषु अ, उज्जाना-  
 निवाराणुसालासु ॥ १ ॥ अतुभ्रद्वबलेषु य, बचकरहहहसुप्र-  
 सालासु ॥ एषसु ठाणेषु जयं पाणं नत्करो होह ॥ २ ॥ एवं चौर-  
 स्थानानि पश्यतः कुमारस्य पदं दिवानि भवानि । पञ्चासप्तमदिने  
 नमाराहृदिगन्त्याश्च स्थितः चिन्त्यति स्म- "गिज्जत् सतिं अह  
 हो-उ बंधणं चयत्तसवहा अञ्चि । पडिअवत्तपुलागेषु पुरिसाणं  
 जं होह तं होह " ॥ १ ॥ एवं चिन्त्यन्सो कुमार इतस्स्तनो  
 दिगमग्नोकनं करोति स्म । तस्मिन्नेवसरे एकः परिहितधातुवक्रो  
 सुगिरितशिरःकुर्वेत्स्वद्वारधारी चामरहस्तः किमपि ब्रुवन्  
 इति शब्दं मुनेन कुर्यात्ः परित्रजकस्तथागतः । कुमारं दृष्ट-  
 धिन्स्ति तञ्च-अयमवश्यं चौरः, यतोऽस्य लङ्गणानि दृशानि  
 सति- " करिसुपकात्तुवदपको, विसावचत्तयथोऽं पुरस-  
 चेतो । नवकुञ्जवणा रव्हो, रत्तचोऽं होहज्जो य " ॥ १ ॥ एवं चि-  
 न्त्यतः कुमारस्य तेन कथितम्-अहो अज्ञानोऽहं । कस्यमाश्रय-  
 तः ? केन कारणेन पृथिव्यां भ्रमसि ? कुमारं भणितम्-उज्ज-  
 यन्तीताऽहस्यभायातः द्वारिचपभनो भ्रमामि । परित्राजक उवाच-  
 पुनः त्वं मा खेदं कुत, अथ तव द्वारिच्यं द्विगन्धि, समीहितमप्य-  
 वृत्तमि । ततो दिव्यं याचता तत्र स्थितः । किं कुमारसहितभो-  
 रः कस्यचिद्विज्यस्य गृहे गतः । तत्र क्षात्रं दत्तवाद् । तत्र स्वयं  
 प्रविष्टः । कुमारस्तु बहिः स्थितः । परित्राजकं उवाच नृपतः पति-  
 कास्ततो बहिष्कल्पिताः । ताः क्षात्रमुञ्च कुमारसमीपे मुकुन्दा स्व-  
 यमप्यत्र ऋचिन्त्या द्वारिच्यजन्मः पुरुषा अनेके आनीताः । तेषां  
 शिरसि ताः पेटिका दत्त्वा कुमारंण समं स्वयं बहिर्गतः । स ता-  
 पः कुमारं प्रत्येवमुवाच-कुमार ! ऋणमात्रं बहिस्तिष्ठामः, निद्रा-  
 सुखसुप्तनृपमः । परित्राजकंनेत्युक्ते सर्वंप्रपुत्रुयास्तत्र सुप्तः, कप-  
 टदिक्त्वा परित्राजकोऽपि सुप्तः । कुमारोऽपि नो तादृशानां विषया-  
 सः कार्ये इति कपटनिद्रयैव सुप्तः । तावता स परित्राजक उवाचय  
 ताद् सर्वान्द कङ्ककपय्या मारयाताम् । यावत् कुमारसमीपे स मा-  
 यति स्म तावत् कुमार उवाचय तं खड्गं न जङ्गुयाव्ये जघान । गिभे  
 जङ्गुयाव्ये स तत्रैव पतितः कुमारं प्रत्येवमुवाच-वत्स ! अहं तु ज-  
 ङ्गुनामा चौरः । ममैह इमंज्ञानं पालातुगृहमस्ति । तत्र वीरपत्नीना-  
 ङ्गी मम भगिन्यसि । अत्र वटपादपस्य मूले गत्या तस्याः समीपे  
 शब्दं कृत् । यथा मा त्मिन्गृहद्वारमृदुपाटयति त्वाञ्च स्वस्यामि-  
 नं करोति । सद्भूतदानार्थं मत्खड्गं गृहणन्त्युक्ते कुमारस्तत्खड्गं  
 गृहीत्या तत्र गतः । स तु तत्रैव स्तः । कुमारंण सा शब्दिताऽऽ-  
 गता द्वारमृदुपाटयामास । कुमारंण भ्रातुः खड्गं दृशयित्वा स्व-  
 रूपमुक्तम् । तस्या अन्तः खेदो जातः परं नमूले खेदं द्रव्यामा-  
 स । मध्ये आकारितः खेदः । परित्राजकः उक्तञ्च-तव वि-  
 लेपनाद्यर्थं खन्नादिकंमहामनयामाति । ततो निर्गता । कुमारंण  
 चिन्तितम्-प्रायः स्त्रीणां वधवासं न कार्यः । यतः-शास्त्रे इमे

दोषाः प्रायो निरूपिताः- " माया अज्ञियं सोमो, सुदृचं साहसं  
 असेनयत् । निसेभिया तह भिय, महिल्लाण सहाय्या होसा " ।  
 एतस्यास्तु तथाविधचौरभगिन्या विहरासो नैव कार्ये इति  
 विचिन्त्य कुमारः शय्यां मुकुन्दाभ्यत्र गृहकोणे स्थितः । सा  
 बाहिरंत्वा यन्प्रशयोऽपि हाय्योपरि तिष्ठति । तदा शय्या चू-  
 णिता । ततः कुमारैर्ण सा सद्यः साकोशं कैशेषु कृता राक्षः स-  
 मीपमानिता प्रोक्तः सर्वोऽपि वृत्तान्तः । राक्षो तद्दृशित्वा  
 समस्तं विस्मयान्त्य लोकेभ्यां दत्तम् । कुमारंण सा जीवन्ती  
 भोजिता । पञ्चानृपाग्रहात् कुमारंण नृपस्यता कमसंसेमानानी  
 परिणीता । नृपेण कुमाराय सहस्रं प्रामा दत्ताः, शतं गजा  
 दत्ताः, दश सहस्राण्यथा दत्ताः, सङ्के पदावतो दत्ताः । ततः सु-  
 खेन कुमारस्तत्र तिष्ठति स्म । अल्पदा कलाज्याससमये यथा श्रे-  
 ष्ठितुल्या सह प्रतिजिताऽऽसीत्सा मदनमज्जया कुमारसमीपे  
 दृती प्रियिता । तया उक्तम्-तव गुणानुरक्ता तथैवयं पत्नी ज्वितुं  
 वाञ्छति । कुमारंणानुक्तम्-यदाऽहं शङ्खबधुं यास्यामि तदा  
 त्वां गृहीत्वा यास्यामि तस्यै त्वया वक्तव्यम् । अथान्यदा  
 तत्र पित्रा प्रेषिता नराः कुमाराकारणाय समेताः । कुमारस्तु तेषां  
 वचनमाकार्यं पितृमिस्रया नृपामुकरिणतः इक्ष्वरं पृष्ट्वा कम-  
 ससेनया समं चक्षितः । चलनसमये च मदनमज्जरी आकारिता ।  
 साऽपि कुमारैर्ण समं चक्षिता । ताभ्यां प्रियाभ्यां सह सैन्यवृत्तः  
 कुमारः पथि चलद् बहून् अभिज्ञ संसुखमापन्नो दृशो ।  
 तदा कुमारसैन्येन तैः समं युक्तं कृतम् । जन्मं कुमारसैन्यं भिक्षु-  
 गित्तमिनस्तनो गतम् । निष्ठुपतिस्तु कुमारस्य समायातः । उप-  
 श्रव्दिना कुमारंण स्वपत्नी रथाप्रभामो निवेष्टिता । तस्या रूपेण  
 माहङ्कृतो भिक्षुपतिः कुमारंण हतः पतितं च तस्मिन् सुऽपि  
 जिह्वा नष्टाः । कुमारस्तु तैश्च एकं रथेन गच्छन्नम्र मद-  
 तः सार्धस्य मिश्रितः । सार्धोऽपि समाध इव मार्गं चरति स्म ।  
 कियन्मार्गं गत्वा सार्धिकैः कुमाराय विद्युत्कम-कुमारः । इतः प्र-  
 ध्वरमार्गं भयं वर्तते, ततः प्रध्वरमार्गं पशुव्या अरण्ये मार्गेण गम्य-  
 ते । कुमारोक्तम्-किं गम्ये ? ते कथयति स्म-अस्मिन् प्रध्वर-  
 मार्गे महत्यटवी संस्पृथति, तस्या मध्ये महानेकक्षीरं दुर्गोधन-  
 नामा वर्तते, चिन्तियन्तु गजानं कुर्वन् विषमं गजो यत्ते । नृ-  
 तीयो दृष्टियिषसर्पो वर्तते । अतृशो दारणेन ध्याञ्चो वर्तते । एवं च-  
 त्वादि भयानि तत्र वर्तन्ते । कुमारः प्राह-पत्न्यां मध्ये नैकस्यापि  
 भयं कुरुत । अज्ञत सत्वरं मार्गं । कुशलंनैव शङ्कते यास्यामि ।  
 ततः सर्वंप्रप नस्मिन्नेवाच्यनि चक्षिता । अग्रे गच्छन्तां तेषां दुर्गो-  
 धनक्षीरस्यदुग्धभाग मिलितः । साऽपि पाथोऽहं शङ्कते सम-  
 प्यामाति वदन् सार्धेन सार्धं चलति स्म । मार्गे वैकः सनिवेशः  
 समायातः । तदा चिद्विदना उक्तम्-मम उपलक्षितोऽयं सक्षि-  
 शो वसते । तेनात्र गत्वा मया दृष्यादि आनीयते, यदि भयद्वयो  
 रुचिः स्यात् । सार्धिकैरुक्तम्-आनीयताम् । ततस्तेन तद्दृष्टमथा  
 आनीतं दृष्यादि विपरिभक्तं कृत्वा सखं पाथिताः । ततो स्तुताः  
 सखं सार्धिकः । अगद्वेत्तेन जाय्याद्युत्तेन न पीतामिति न स्तुतः  
 न । शिद्दाम्नी पुनः सक्षिवेशामये गत्वा कियत्परिचारयुतो  
 गृहीतशय्याः कुमारमरुत्पायाऽऽयातः । कुमारंण खड्गं गृहीत्वा  
 संमुखं गत्वा चौरसंप्रामकरणेन स हतः । परिचारस्तु नष्टः ।  
 दुर्मो पत्नता तेन चौरैर्भयमुक्तम्-अहं दुर्गोधनक्षीरः प्रसि-  
 दः, त्वयाऽहं हतो न जायिष्यामि, परं मम बहु उज्यं वर्तते,  
 मम भगिनी वधधर्त्री(वाग्नी) चैतदवशमप्येऽस्ति, तत् त्वया गृही-  
 तव्यं सा चपत्नी कार्ये । कुमारस्तत्र गतः । साऽऽगता गत्या-

ताः । दृष्टः कुमारः । ज्ञातस्तथा प्रातुवृत्तान्तः । तदा कुमारोऽपि युगलभ्ये आकारितः । तत्र गच्छन्मदनमञ्जरीं वारितस्ततो तत्रैव मुक्त्वा कुमारोऽपि चलिताः । कियमागौ यावद्गतेन कुमारोऽपि प्रचरन्नुत्सव्यादपमप्रमत्ततस्कोऽदिनिघृष्टगिरितः सवेगं संमुख-  
 माचक्रन्द यम इव रौद्ररूपो गजो दृष्टः । ततः कुमारो रथा-  
 युचौर्यं गजाभिमुखं प्रवर्तितः । अस्त्रीययस्त्रयेणिकां कृत्वा गजाभ्रे  
 सुभीच । गजस्तव्यहाराथे शुक्रादापकमनः क्लिपन् यावद्दृषत्  
 तस्तावत् कुमारस्तद्वदन्त्ये पादौ कृत्वा तस्य स्कन्धेऽधिकद्वयः यज्ञ-  
 कठिनाज्यां स्वमुद्दिष्ट्यां तत्कृमभक्षलद्वयं जघान । कुमारोऽपि प्रका-  
 ममितस्ततो प्रामादित्वा स गजो बशीकृतः । पश्चात् स गजो  
 गिरि रथान्तोक्तो मुक्त्वा । तत्रैव पुनः कुमारो रथे निविष्टोऽपि  
 चलिताः । कियमागौ यावच्छ्रुतिं कुमारस्तावत् कुण्डलीकृतब्रा-  
 ह्मणः स्वस्वेषेण गिरिप्रतिपन्नाद् विस्तारयन् विद्युच्छब्दलोचनः  
 सपौपां रसनां स्वमुक्त्वा रथिकासयन् सिंहः सामायातः ।  
 तेनापि सप्तं कुमारो युक्तं कृत्वात् । कुमारोऽपि कथं प्रहारीर्जैरितः  
 सिंहस्तत्रैव पतितः । कुमारस्ततोऽपि चलिताः । सर्वोऽप्युपलब्धो  
 मागे विद्यथैव निवारितः । कुमालेन कुमारः स्त्रियसयुतः शङ्क-  
 पुरे प्राप्तः । प्रवेशमहात्सवः प्रकामं पितृभ्यां कृतः । संघेषां पीरा-  
 णां परमानन्दः सप्रभ्राः । तत्र सुखेन कुमारस्तिष्ठति स्म । अन्यथा  
 वसन्ते मदनमञ्जरीं सह कुमार एकाकथैव कीर्त्तयन्ने गतः ।  
 तत्र रात्रौ मदनमञ्जरी संपन्नं दृष्ट्वा मुनेव सज्जता । कुमारस्तु  
 तस्माद्दृष्ट्वा प्रविशन् गानमार्गेण गच्छन् विद्याधरेण वारितः ।  
 विद्याधरेण सा जीवता । विद्याधरस्तु स्वस्वर्गं गतः । कुमार-  
 स्तथा सप्तं राज्यासाथैः कस्मिंश्चिद्वयकुत्रे गतः । तत्र तां मुक्त्वा  
 दृष्ट्वा तत्करणाय अग्निमानेत्तुं कुमारो बहिर्गतः । तस्मात् तत्र  
 पश्य पुरुषाः पूर्वे कुमारदन्तुयावन्तौ चैव प्रातरः कुमारवधाय  
 पुत्र आगताः । इतस्ततो ब्रूताः कुमारस्य जन्मसमभानास्समाग-  
 ताः सति स्म । तैस्तु तत्र दीपको विदितः । मदनमञ्जरीं तेषां मध्ये  
 लघुभ्रातृ रूपं विज्ञोक्तितम् । ब्रह्माक्षिततया तस्यैव प्रार्थना विदि-  
 ता । त्वं मम भर्ता भव, ऊषा तव पत्नी भवामि । तेनोक्तम-  
 तव जन्मैरि जीवति सति कथमेवं प्रथति । सा प्राह-तमहं भार-  
 विष्णामि । तदानीमग्निं गृहीत्वा कुमारस्तत्र प्राप्तः । आगच्छ-  
 न्तं कुमारं दृष्ट्वा तया तत्रकथो दीपो विष्णोपिनः । तत्रायतेन  
 कुमारं लुप्य-अश्राद्धोतः कथमनुत्तं । तया उक्तम्-तव-  
 इदस्तस्यध्यामेरवोद्घोतः । सप्रदने तेन तथैवाङ्गीकृतम् ।  
 मदनमञ्जरीं दृष्ट्वा तत्र गृहीतम् । कुमारोऽग्निप्रज्वालनाथे  
 प्रीतामधश्चकार । तावता तदा कुमारवधार्थं अङ्गः प्रति-  
 काशाग्निकासितः । तस्याश्चरितं दृष्ट्वा चौरलघुभ्रातृवै-  
 राव्यमुत्पन्नम् । पश्चाद्दस्या हस्तासेन सङ्गोऽप्यत्र पा-  
 तितः । पश्चापि भ्रातरस्ततः कुमाराऽप्लजिताः शुभैः शुभैर्नि-  
 र्गताः कस्मिंश्चिद्वने गताः । तत्र कैत्यमेकमुत्सृज्य दृष्टम् । तत्र  
 सातिशयज्ञानी सायुर्दृष्टः । तत्समीपे तैः पश्चरिपि वीरता  
 गृहीता । तदायां पालयन्तः संघमे रतास्तत्रैव तिष्ठन्ति स्म ।  
 कुमारेण नैतत्किमपि ज्ञातम् । अथ कुमारस्तत्र मदनमञ्जरीं  
 रात्रिमेकमुपित्वा प्रभाते स्वपृष्ठे समायातः कियदिनानन्तर-  
 मशवापहत् एव एकागडस्य कुमारस्तसिन्धेव बने तत्रैव कैत्ये  
 गतः । तत्र देवाभ्रमस्कृत्य सायवो बभूवताः । शुष्णा देशना  
 कृता । कुमारेण लुप्य-अभवत् । क एते पश्चापि भ्रातर इव  
 साधवः । कथमेवां वैराव्युत्पन्नम् । कथमेभिर्वीर्यवन्तः । अपि  
 मत्तं गृहीतम् ? एवं कुमारेण पृष्ठे गुरुः प्राह सर्वं तदीयं क-

स्तान्तर । कुमारस्तच्चरितं बुत्वा युवतीस्वरूपमेवं विचिन्त-  
 यति स्म "अपुत्रोऽस्मिन् वनेषु, युवराज्ञो वनेषु युवो विज्जति ।  
 अन्नुत्तरागनिरया, हलिहरायुह्यं च लपेमा" ॥ ४ ॥ इति वि-  
 चिन्त्य कुमारोऽपि वैराव्यात्मजितः । यथासौ अगडदत्तः  
 प्रतिबुद्धजीवी पूर्वं द्रव्यासुप्तः पश्चाद्भ्रातृसुतोऽपि इह लोके  
 परलोके च सुखी जातः । उक्तं ४ अ० । एवं कुमारेणार्थ-  
 यन्त्य इह दृष्ट्वापि दृश्यते । प्रथमं विशेषः ( जितशतनुनामा  
 राजा । तस्य सारथिमोघरथनामा । अमोघरथस्य स्त्री यशो-  
 मतिः, पुत्रश्चागडदत्तः । तस्य पितरि सुते माता भृशं क्रोदत् ।  
 तदाऽगडदत्तो मातरं नितान्तरोद्वेगनेतुं प्रमच्छ । तदा माता  
 प्रत्युवाच—पुत्र ! अथममोघप्रहारी सारथिस्वदीयपितृपद-  
 मनुभवति, यदि त्वं कलावित् स्वस्तदा कथमेवं भवेत् ? ।  
 पुत्रोऽप्युक्त्वा—को मां कलामयापयिष्यतीति ? । माता प्रत्यावा-  
 दीत्—कौशाम्बीनगर्यां दृष्टप्रहारीत्याख्यः कलाचार्यो विद्यते,  
 तं त्वमुपदिष्टुं शक्यते । सा मातृवचनमभ्युपगम्य तत्र जग्राह ।  
 कलामध्यगच्छ । ततो राजसभां प्रविशेत् ॥ तं दृष्ट्वा सर्वे प्रसेदुः ।  
 राजा तु प्रसन्नताविरहित एव केवलमुचितावारं परिपाल-  
 यन् तस्मै किमपि शतुमिधेय । स तु राजस्तदनादरदानमव-  
 गत्य नाहमीदं दानं जिघृक्षामि इत्यभिधाय तत्र जग्राह ।  
 तदानीमेनेके नागरिकाः "चौरोऽस्मान् बाधते" इति रात्रः पुरो  
 व्यजिज्ञप्तुः । राजा तलारत्नम् [ कोटपालम् ] आग्रह्य न्य-  
 गादीत्—मोस्तलारत्न ! भवता सप्तभिरहोरात्रैश्चौरो निमही-  
 तव्यः । इत्याकर्यागडदत्तो राजानं प्रार्थयाञ्छेक-महाराज ! अहं  
 सप्तभिरिदं नैस्तं चौरं निप्रह्नुतुं प्रभवामीति ) अन्यत्सर्वं समा-  
 नम् । उक्तं ० ।

अगदददुर-अवददुर्-पुं-कूपमगृह्णे, शा० ८ अ० ।

अगदमह-अवदमह-पुं-कूपप्रतिष्ठोत्सवे, आचा० २ भु० १ अ० २ उ० ।

अगदिय-अग्रयित-त्रि० अप्रतिबद्धे, आहारे वाऽपृष्टे, "अ-  
 क्षाप्य अगद्वीप अदुष्टे अदीये अविमये" प्रश्न० १ संव० द्वा० ।  
 मुक्तलैरेव घञ्चनैरभिधीयमाने, वृ० ३ उ० ।

अगणि-अग्नि-पुं-अहति ऊर्ध्वं गच्छति । अग्नि-नि, नलोपः ।  
 वाच० । बन्धी, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । उक्तं । "क्षत्तारि  
 अगणिश्चा समारभिसा जेहि कूरकस्मान्नि तर्षेति बालं" सूत्र०  
 १ भृ० १ अ० १ उ० । "अंगारं अगणिं अग्निं, अलायं वा सजो-  
 हयं । ए उजिञ्जा ए घट्टिञ्जा, नो एणं निवावप सुणी" । दृश०  
 ८ अ० । प्रदीपनेके, व्य० १ उ० । ( अग्नेः सर्वो विषयः 'ते-  
 उकारय' शब्दे )

अगणि आहिय-अग्न्याहित-पुं-अग्निरहितो वै । "वाऽऽ-  
 हितान्ग्याविबु" २।२।३७ इति वाऽऽहितशब्दस्य पूर्वनिपा-  
 तः । अग्न्याहिता आहितानयः । कृतवन्त्वाधानेव, श्रीऋषभजि-  
 नेशचिन्तायामग्निं स्थापितवन्तस्तेन कारयेनाहिताग्नेः इति  
 तत्र एव च प्रसिद्धः । आ० अ० प्र० ।

अगणिकदयदृष्टान-अग्निकारकस्त्यान-न० अग्निप्रवेशस्थाने,  
 "अगणिकदयदृष्टोऽसु अमथरंसि वा तहप्यगारंसि णो उ-  
 च्चारं पासवणं व्वांसिरेज्जा" आचा० २ भु० १० अ० ।

अगणिकाय-अग्निकाय-पुं-तेजस्कायै, भ० ७ श० १० उ० ।

अनु०। (अस्य विषयः सर्व एव 'तेजःशक्तिश्च' शब्दे) नवरस-  
अगणिकाए णं भंते । अहृणोऽज्जालिए समाये महाकम्मतराए  
चेव महाकिरियतराए चेव महस्सवतराए चेव महाविषय-  
णतराए चेव नवइ, अह णं समए २ वोक्खिसिज्जमाणे वोच्छि-  
ज्जमाणे चरिमकाइसमयसि इंगालत्रूप मुमुमुरत्रूप ढारिय-  
त्रूप तत्रो पच्छा अप्पकम्मतराए चेव किरिया आसव अप्प-  
पवणतराए चेव भवइ ? । हेता, गोयमा । अगणिकाए णं  
अहृणोऽज्जालिए समाये तं चेव ।

( अगणिकायदि अहृणोऽज्जालिए ष्टि ) अणुनोऽज्जलितः सद्यः प्र-  
दीप्तः ( महाकम्मतराए ष्टि ) विध्याप्यमानानलापेक्षयाऽतिशयेन  
महास्ति ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकममतरः ।  
एवमन्याप्यपि । नवरं, किरिया दाहव्या । आश्रयो नवकर्मोपादान-  
हेतुः । वेदना पीडा । जाचना तत्कर्मज्या परस्परशरीरसम्बन्ध-  
जन्तुः वा ( बोक्खसिज्जमाणे ष्टि ) व्यपकृत्यमाणेऽप्यर्षं गच्छन्  
( अप्पकम्मतराए ष्टि ) अङ्गाराद्यवस्थामाश्रित्याल्यशब्दः  
स्तोकायैः । क्लारावस्थार्यां त्वज्जावार्थैः । म० ५ श० ६ ७० ।  
काशोऽद्यिप्रभेन अणुयुज्ज्वाहकविश्रयकयोः कतरो महाकर्मति-  
विचारितम् । म० ७ श० १० उ० ।

अगणिजीव-अग्निजि-व-० अणयश्च ते जीवाश्च अग्निजी-  
वाः तेजस्कारिकेषु, विशे० ( अग्निजीवानां परिमाणमवधिः  
'अग्नि' शब्दे उक्तम् ) ।

अगणिजीवशरीर-अग्निजीवशरीर-न० तेजस्कायजीवबद्ध-  
शरीरं, जीवात्तरशरीराणामग्निजीवशरीरत्वम् ।

अह भंतेः उदसो कुम्मासे सुराए णं किसरीराइ वत्तव्वं सि-  
या ? । गोयमा । उदसो कुम्मासे सुराए जे यणे दव्वे एए णं पुव्व-  
जावपणवणं पणुच्च वणस्सइजीवसरीरा तत्रो पच्छा स-  
स्थातीया सत्थपरिणामिया अगणिकायामिया अगणिकुसि-  
या अगणिसेविया अगणिपरिणामिया अगणिजीवसरीराइवा  
वत्तव्वंसिया सुराए य जे दव्वे एए णं पुव्वजावपणवणं पणुच्च  
आउज्जिवसरीरा तत्रो पच्छा सस्थातीया जाव अगणिसरीरा  
इ वत्तव्वंसिया । अह णं भंते ! अये तंवे तएण सीसए उदसो कस-  
पट्टियाए णं किसरीराइ वत्तव्वंसिया । गोयमा ! अये तंवे तए  
सीसए उदसो कसपट्टियाए णं पुव्वभावपणवणं पणुच्च  
पुदवंजीवसरीरा तत्रो पच्छा सस्थाइया जाव अगणिसरी-  
राइ वत्तव्वंसिया । अह भंते ! अही अट्टिज्जामे चम्मे चम्म-  
ज्जामे रोमे २ सिगे २ खुरे २ नहे २ किए णं किसरीराइ  
वत्तव्वंसिया ?, गोयमा ! अही चम्मे रोमे सिगे खुरे नहे  
एए णं तसपाणजीवसरीरा अट्टिज्जामे चम्मज्जामे रोम-  
ज्जामे सिंगखुरणहज्जामे एए णं पुव्वभावपणवणं पणुच्च  
तसपाणजीवसरीरा तत्रो पच्छा सस्थाइया जाव अगणि-  
त्ति वत्तव्वंसिया । अह भंते ! इंगले ढारिए बुसे गो-  
मए एए णं किं सरीराइ वत्तव्वंसिया ? । गोयमा ! इंगले  
ढारिए बुसे गोमए एए णं पुव्वभावपणवणं एए णं-

दियजीवसरीरए अगणपरिणामिया वि जाव पणिविय-  
जीवसरीरए अगणपरिणामिया वि तत्रो पच्छा सस्थाइया  
जाव अगणिजीव वत्तव्वंसिया ।

[ अद्वैत्यादि पर्यणति ] यत्नानि कमित्यलङ्कारं ( किसरीर-  
त्ति ) केवां शरीराणि किसरीराणि ( सुराए य जे घणे ष्टि )  
सुरायां द्वे द्वेषे स्थाताय-वनदव्वं प्रवृत्तव्वं वा । तत्र यद् घनदव्व-  
म्, ( पुव्वभावपणवणं पणुच्च ष्टि ) अतीतपर्यायप्रकृपणामङ्गी-  
कृत्य वनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि ओदनादयो वनस्पतयः ( तत्रो  
पच्छ ष्टि ) वनस्पतिजीवशरीरवा स्यन्त्यानन्तरमङ्गीवशरीराणि-  
ति, वक्तव्यं स्यादिति सम्बन्धः । किंभूतानि सन्तीत्याइ  
( सस्थातीव ष्टि ) शस्त्रेणोद्बलमुद्राशयप्रकृपादिना, कारणचूतेन  
अतीतानि अतिभ्रान्तानि पुव्वपर्यायमिति शास्त्रातीतानि ( सत्थ-  
परिणामिय ष्टि ) शस्त्रेण परिणामितानि कृताभिनववर्षाणि  
शस्त्रपरिणामितानि । ततश्च ( अगणिकायामिय ष्टि )  
वन्दिना स्यामितानि ध्यामीकृतानि स्वकीयवर्णत्याजनात्, तथा  
( अगणिकुसिय ष्टि ) अग्निना जोषितानि पुव्वस्वभाववृक्षपाणात्  
अग्निसेवितानि वा लुपी प्रीतिलेखनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयो-  
गात् ( अगणिपरिणामियाइ ष्टि ) संजातानि परिणामानि, औत्थय-  
योगादिनि । अथवा 'सस्थातीता' इत्यादौ शस्त्रमग्निर्वे, 'अग-  
णिकायामिया' इत्यादि तु तद्भाष्येनभवेति । ( उवलं ष्टि ) इह  
दन्धपापाणः ( कसपट्टिय ष्टि ) कपपट्टः ( अट्टिज्जामे ष्टि ) अ-  
स्तिध्यामं चानिना इयामां कृतमापादितपर्यायान्तरमि-  
त्यर्थः । ( इंगोत्थेयादि ) अङ्गारो निर्वलंतेऽनधनम् ( छारिए ष्टि )  
छारिकं भस्म ( बुसे ष्टि ) बुसम् ( गोमय ष्टि ) अणमम् ।  
इह बुसगोमयो भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धावस्थौ प्राहो, अथवा  
अग्निध्यामितोद्बलमुद्रावशेषपाणामानुपपरिः स्यादिति ।  
एते पूर्वाभावप्रकृपणानां प्रतीत्य एकन्द्रियजीवैः शरीरतया प्रयो-  
गेण स्वव्यापारेण परिणामिता ये ते तथा । एकन्द्रियशरीराणि-  
त्यर्थः अपिः समुच्चये । यावत्करणाद् द्वीन्द्रियजीवशरीरप्रयोग-  
परिणामिना अप्रित्यादि हृदयस्य । द्वीन्द्रियाद्विजीवशरीरपरिणत-  
त्वं च यथा सम्भवमेव न तु सर्वपदेष्विति । तत्र पुव्वमङ्गारो  
भस्म वैकन्द्रियादिशरीररूपं भवति, एकन्द्रियादिशरीराणा-  
मिधनन्वात् । बुसं तु यवगोमपुट्टरित्वावस्थायामेकन्द्रियशरी-  
रम् । गोमयस्तु तृणाद्यवस्थायामेकन्द्रियशरीरम् । द्वीन्द्रियादी-  
नां तु गवादिनिर्भक्षणे द्वीन्द्रियादिशरीरमपि । म० ५ श० २०० ।

अगणिकायामिय-अग्निध्यात-त्रि० ३ त० अग्निना दग्धं, ( ज० )

अग्निध्यामित-वि० अग्निनेपहृदये, अग्निना स्वकीयवर्णत्या-  
जनाद् ध्यामीकृते, ज० ५ श० २ उ० ।

अगणिकुसिय-अग्निजोषित-त्रि० अग्निसेविते, लुपी प्री-  
तिलेखनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् । ज० ५ श० २ उ० ।

अग्निजोषित-त्रि० पुव्वस्वभाववृक्षपाणात् । म० ५ श० ३ ७० )  
अग्निना कृषिते, म० १५ श० १ उ० ।

अगणिकायामिय-अग्निनिर्दिष्ट-त्रि० अन्माद्युपरि निर्दिष्टे,  
"अगणिकायामिय-अगणिसुयं अणसज्जिंज्जाने संते सो पडिगा-  
हेज्जा" आचा० १ श्रु० १ श्रु० ५ उ० ।

अगणिपरिणामिय-अग्निपरिणमित-त्रि० ३ त० औत्थययो-

गादृ सन्जाताभिवरिणामि, म० ५ श० ३ अ० । पूर्वस्वभाषत्या-  
जनेनाऽऽमनाथं नीति, म० १५ श० १ उ० ।

अग्रगण्यमुह—अग्रिनमुख—पुं० अग्निमुकुंभमिष यस्य । देवे, हुतकर्म्यं  
हि देवेरेनिमरुपमसह्यारोपीवाइयेते “ दृष्यं बहति देवानाम् ”  
इति श्रुतेस्तत्रैव तात्पर्यात् । “ अग्निमुखा वै देवाः ” इति च  
श्रुतिः, इति वेदविदः । वाच० । श्रुतभेदेष्वभितायाम्निमकमिषा  
वदन्तेः स्वधर्मनि प्रकृतियन्तः, तत एव निबन्धनाश्लोके “ अग्निमु-  
खा वै देवाः ” इति प्रसिद्धम्, इति स्वभावविदः । आ० म०  
प्र० । आ० सू० । अग्निमुकुंभं प्रधानमुपास्यो यस्य । अग्निरो-  
त्रिणि द्विजे, वाच० ।

अग्रत ( दृ ) अग्रद—पुं० नास्ति गदो रोमो यस्मात् ५ ब०, औ-  
षधे, नि० सू० ११ उ० । परमौषधे, पं० ब० ३ द्वा० । नकुशापी-  
षधे, नि० सू० १ उ० । ६ ब० रोमशान्ये, त्रि० । “ गद भाष्ये ”  
अच, न० त० अकथके, त्रि० । वाच० ।

अग्रस्थि—अग्रस्ति—पुं० अग्रं विन्यास्यहमस्यति । अस्—किञ्च ।  
शुकन्वादिः । अग्रस्यनामके मुने, “ अग्रस्यस्यापत्यानि, ब-  
हुषु यथा लुक्, तद्गोत्रापत्येषु ब० ब० । तत्सम्बन्धित्यात्  
दक्षिणस्यां दिशि, बृहत्संहितायामस्य गगनमरुत्संज्ञे दक्षिणस्यां  
ताराकरणे स्थितिरुक्ता । वक्रशुक्ले, वाच० । अष्टाशीतिमहाप्रहा-  
णं पञ्चत्वारिंशो महाप्रहरे, “ द्वा अग्रशी ” स्थानं २ ता० ३  
उ० । चं० प्र० । आ० प्र० । अ० कदम्ब० ।

अगम—अगम—पुं० न गच्छतीति । अग—अच् । न० त० । वृषे, अ-  
गमन्ति, त्रि० । वाच० । आकाशे, न०, तन्मिदं गमनाक्रियारहितत्वेना-  
गमम् । म० २० श० २ अ० ।

अगमिन्—अगमिक—न० ग गमिकमगमिकम् । प्रायो गाथाश्लो-  
कवेष्टकादसदृशपाठात्मके भुजनेदे, । तस्यैवैतरेषु प्रायः [ विशे० ]  
आचार्यादिकालिकश्रुतम्, असदृशपाठान्तरकथादि । तथाचाह-  
“ अगमिन् काशियसुयं ” ने० । आ० म० प्र० । कर्म० । वृ० ।  
अगमन—अगम्य—त्रि० न गन्तुमहेति । गम—यच् । न० त० । ग-  
मनानदीसु स्तुवादिषु, चागन्ताद्व्याहिकायां च । “ फाल्गुणे  
अगमन्, अन्वाह स्तुमिणे गमो अगमन्ति नि ” स्पृष्ट्वा कायेर्भात ग-  
म्यन्ते । अगम्यां स्तुयां चागन्ताद्व्याहिकां वा श्रियमिति शेषः ।  
म्य० १ उ० ।

अगम्यगमि ( ष ) अगम्यगामिन्—त्रि० अगम्याद्यभिगमन्तिर,  
प्रश्न० २ द्वा० प्र० ।

अग्ररत्ना—अग्रर्षी—श्री० न ब०, सुविज्रकाङ्करतया अरहस्यायां  
वाय्याम्, औ० । “ अग्ररत्नाय अमन्मणाय सन्वक्करसंक्षिपा-  
व्यापि ” ( जिनवाय्या ) तत्र, अग्रमैया व्यक्त्वर्णेषोचयेत्स्वरेः ।  
द्वया० २ अ० ।

अग्ररहिय—अग्रहृत्—त्रि० ( आहारविषये ) अहृतगर्भे, अमन०  
१ सम्ब० द्वा० ।

अग्रर्षी—त्रि० अत्रित्ये, “ से अग्ररहिय अचैसे जे समाहिय ”  
आच्चा० १ श्रु० उ अ० उ उ० ।

अग्रह—अग्रह—न० अग्रहचन्दनाम्ये गन्धिकरुच्ये “ कुटं त-  
वर् अग्रहं संपिठं सम्मुत्तारिणेण ” स्व० १ श्रु० ४ अ०  
२ अ० । प्रश्न० । नि—सू० । उपा० । आ० वा० । “ संक्षतिगिस्तागु-  
चंर्याहं ” नि० सू० २ अ० ।

अग्रहर्षिधि—अग्रहर्षिधित्त—त्रि० अग्रहर्षयो धृपनादिप्रकारेण  
जातोऽस्त्विति अग्रहर्षिधित्तम् । अग्रहर्षकत्वेन धृपिते, तं० ।

अग्रहर्षुद—अग्रहर्षुद—पुं० ६ त० अग्रहनामकगणधरुच्यस्य पुत्रे,  
“ अग्रहर्षुद्वान् वा हर्षगणुद्वान् वा वस्तुगुद्वान् वा ” । अ० १ श्रु० ३० ।

अग्रहस्तद्वय—अग्रहस्तद्वय—न० न विधेते गुरुस्तद्वयं । अस्मिन्-  
द्वयस्तद्वयम्, परिधायोऽनुसूतेऽस्त्वैक्यत्वात् । अग्रहस्तद्वयम् । परतस्ते,  
“ नित्यं प्रकृतिविद्युत्के, श्लोकश्लोककायश्लोकानामग्रम् । स्तिमित-  
तरङ्गोद्घिसाम-अन्धधमस्वरोऽभ्युक्तश्चुम् ” । वा० १५ विष्णो न मुक्त्वा-  
धोमनस्वभावं न ह्युक्तमर्थमग्रमनस्वभावं यद्दृश्यं तद्गुरुस्त-  
द्वयम् । अस्तत्स्वयमे भाषामनःकर्मरुच्यद्वौ, रथा ० ता० १३ ।

अयं किं गुरुस्तद्वयं किं वा अग्रहस्तद्वयं इति शब्दाभ्यां  
तत्स्वरूपप्रतिपादनायार्थमाह—

अग्राक्षिपयेदुज्ज्वय—आहारगतेयं गुरुस्तद्वयं ।  
कम्प्याणमणुभासादौ, पर्यादौ अग्रहस्तद्वयात् ॥

इह शी नयी—व्यवहाररम्यो निश्चयनश्च । तत्र व्यवहारर-  
म्यः प्राह—चतुर्दो ह्यं, तद्यथा—किंचिद् गुरु, किंचिद्गुरु,  
किंचिद् गुरुश्च, किंचिद्गुरुश्च । तत्र यद्दृश्यं तित्यम् प्रकृतम-  
पि पुनर्मिसर्गावधो निरपतित् प्रकृतं तद् गुरु । तद्यथा—किंचिद् ।  
वस्तु प्रकृतं निसर्गतं यत्वेऽध्वेगतिस्वभावं लक्ष्यु । यथा—दीपकलि-  
कादि । वस्तुनोर्ध्वेनित्स्वभावं नाप्यध्वेनित्स्वभावं किन्तु स्व-  
भावेनैव तित्यम्गतिधर्मकं तद् गुरुस्तद्वयं, यथा—वायुः । यच्चध्वो-  
धस्त्वैवमित्स्वभावानामेकतरस्वभावमपि न भवति सर्वत्र वा  
गच्छति तद्गुरुस्तद्वयं । यथा—ध्योम परमावायुः । उक्तं च—  
गुरुस्तद्वयं उभयं वि, नोभयमिति वाच्यहाररम्यसत् ।  
द्वयं हेतुं दीवो, वाजु वोमं जहासंस्व ॥

निश्चयनः पुनरेवमाह—न सर्वेषुर्गैकान्तेन किमपि वस्तुस्ति,  
गुरोरपि हेतुद्विः प्रयोगार्थोर्ध्वेनित्यमन्येनात् । नाप्येकान्तेन  
सर्वेषुव्यप्यासत्, अतिलयोरपि वाक्वादेः करतारनादिनाऽधो-  
गमनादिदर्शनात् । तस्माद् द्विविधेभ्यो वस्तु । तद्यथा—गुरु-  
स्तद्वयं, अग्रहस्तद्वयं च । तत्र यद् बादरं भूजघरादिकं तत्स्वयं गुरुस्तद्वयं,  
शेयं तु भाषाप्रधानपानमनावर्गेषुद्विः परमाणुद्वयलक्ष्युकाभ्यां-  
दिकं च सर्वेषुगुरुस्तद्वयं । उक्तं च—

निष्पद्यतो सत्त्वगुरुं, सबलदुं स न बिज्जए द्वयं ।  
बायरमिद् गुरुस्तद्वयं, अगुरुस्तद्वयं सेसयं द्वयं ॥

तत्रेयं गाथा निश्चयनमेतेन । परमाणुद्वयं वैद्यम्—श्रीवा-  
रिःकैकियाहारकतेजसद्वयमिषि अयराययानि तेजसद्वयमन्या-  
सद्धानि तद्वाभ्यासाणि बादरकपवाद् गुरुस्तद्वयं गुरुस्तद्वयमन्या-  
वानि । कामेणमनोनाशाद्व्यापि तु आदिशुद्ध्यापानपान-  
द्व्यापि प्राणकवावैवर्त्तानि भाषावैवर्त्तानि । अयराययानि च  
परमाणुद्वयलक्ष्युकादीनि, श्यामादीनि चैतानि अग्रहस्तद्वयमन्यावा-  
नि । वक्ष्यमाणयाथाह्वयसंक्षयः । एवं पूर्व किल केवकाहसं-  
निधयोः केवस्योरद्वयलक्ष्युकासंक्षयः । अदिशुद्ध्यापानपान-  
द्वयलक्ष्युकाद्वयः । आ० म० प्र० ।

इदमेव व्यतीकुषेमाह—  
जा तेयगं सरिरी, गुरुस्तद्वयं काययोगी य ।

मणसा अग्रहस्तद्वयं अ—रुचिद्वयस्य सन्ने वि ॥

श्रीदारिकररीरादारर्य तेजससरादीं यवद्वयं यानि रुच्याणि  
वक्ष्यं तेवामेव संक्षयः काययोगः शरीरस्वभावारः, यतस्त्वैव गुरु-  
स्तद्वयमिति निर्देशः । यानि तु मनोनाशप्रयोगाव्युत्सङ्गान्वा-  
दान्नामकामेणप्रयोगाणि तदपान्तराज्यवर्त्तानि च रुच्याणि या-



नि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशाजीवास्तिकायज्ञकणान्यरूपे-  
द्रव्याणि, तदेतत्सर्वमगुरुलहुयकम् ।  
अट्टवा बापरबोर्दे-कसेवरा गुरुद्वद् जवे सन्वो ।  
सुहृदायंतपदेशो, अगुरुद्वद् जाव परमाण् ॥

अथवेतिप्रकारान्तरघोतने । बादरा बोक्तिः शरीरं येषांते बादर-  
बोन्द्यो बादरनामकमौदयवासिनो जीवा इत्यर्थः, तेषां सवन्धी-  
यानि कसेवराणि यानि वाऽऽपरास्यत्वात् बादरपरजानि त-  
त्सदधरादीनि शकचापगन्धर्वपुत्रपुत्रीनि वा वस्तुनि तानि  
सर्वाण्यपि गुरुलहुयकमन्ते । यानि तु सूक्ष्मनामकमौदयवासि-  
नां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि ध-  
नन्तप्रत्यक्षशिकादीनि परमाण्पुत्रात् बायत् कल्याणि तानि सर्वा-  
ण्यगुरुलहुयि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह—

ववहारनयं पप्य उ, गुरुया लहुया य मीसमा चेव ।  
लेट्टुपदीवगमास्य, एवं जीवाणु कम्मां ॥

व्यवहारनये प्राप्याङ्गीकृत्य त्रिविधानि कृत्याणि भवन्ति । त-  
द्याया-गुरुकानि लघुकानि मिश्रकाणि च, गुरुलघुमिश्राणीत्य-  
र्थः । तत्र यानि तिर्यग्भुजं वा प्रक्षिप्तार्थेषु स्वनावादेवाधो  
निपतन्ते तानि गुरुकाणि, यथा-श्लेष्टपुत्रीनि । यानि तूक्ष्म-  
तिस्वभावानि तानि लघुकानि, यथा-प्रदीपकादीनि । यानि  
तु नाधोर्गतिस्वनावानि नवा ऊर्ध्वगतिस्वभावानि किं तर्हि  
तिर्यग्गतिधर्मकाणि तानि गुरुलघुनि, यथा-मारुतो वायुस-  
प्रवृत्तीनि । एवं जीवानां कर्मयोगाणि त्रिविधानि भवन्ति-गुरु-  
णि लघुनि गुरुलघुनि वा । तत्र येरमी जीवा अधोर्गतिं नीयन्ते  
तानि गुरुकाणि, येस्तु त पयोर्द्वैगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकानि,  
येः पुनर्मन्थन्योनिषु वा मध्येषु वा गर्गतिं कार्यन्ते तानि गुरु-  
लघुकानि । तदेवं व्यवहारनयमात्रिप्रायेण समयतिः कर्मणां  
गुरुलघुसुखपरिणामः । वृ० १ उ० ।

एतदेव सर्वमभिप्रेत्य सुहृदाह-

सत्तमे णं भंते । उवासंतरे किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए  
अगुरुयलहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए नो गुरुयलहुए  
अगुरुयलहुए । सत्तमे णं भंते ! तण्णुवाए य लहुए ? गोय-  
मा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए । एवं नो अगुरुयल-  
हुए । सत्तमे षण्णुवाए सत्तमे षण्णुवादेहं । सत्तमा पुद्वं उवा-  
संतराहं सन्वाहं जहा सत्तमे उवासंतरे जहा तण्णुवाए एवं गुरु-  
यलहुए षण्णुवाएणउदहिपुद्वं देवा य सागरावासा । ने-  
रइयाणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुद्वहुया ? गोयमा ! नो  
गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुद्वहुया वि । से केण-  
ट्टेण ? गोयमा ! वेज्जविपयेयाहं पडुच्च नो गुरुया नो लहुया  
गुरुयलहुया नो अगुरुयलहुया । जीवं च कम्मं च पडुच्च नो  
गुरुया नो लहुया नो गुरुयलहुया अगुरुयलहुया, से तणेह-  
एणं एवं जाव वेमाणिया, नवरं णाणं च जाणियन्वं सररीहिं  
धम्मत्थिकाए जाव जीवत्थिकाए चउत्थपपएणं । पोमगल-  
त्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुय-  
लहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए वि अ-  
गुरुयलहुए वि । से केणट्टेणं ? गोयमा ! गुरुयलहुयद-

व्वाहं पडुच्च णो गुरुए णो लहुए गुरुयलहुए नो अगुरुयलहु-  
ए, अगुरुयलहुयदव्वाहं पडुच्च नो गुरुए नो लहुए नो गुरुय-  
लहुए अगुरुयलहुए, सयमा कमाणिया चउत्थपपएणं । क-  
यहसंस्साणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुयलहुया ? गोयमा !  
नो गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुयलहुया वि । से  
केणट्टेणं ? गोयमा ! दव्बसेस्सं पडुच्च तइयपपएणं भावसेस्सं  
पडुच्च चउत्थपपएणं, एवं जाव सुक्खेस्सा । दिट्ठीदंसणना-  
णअण्णाणसम्माओ चउत्थपपएणं पेयव्वाहं हेडिड्ढा चत्तारि  
सररीरा नायव्वा, तइएणं कम्मयं चउत्थपपएणं पपएणं मएजोणं  
वइजोणं चउत्थपपएणं पदेयं कायजोणं तइयपपएणं पपएणं सगा-  
रोवओगो अण्णागारोवओगो चउत्थपपएणं सव्वदव्वाओ  
सव्वपदेसा सव्वपज्जावा जहा पोमगलत्थिकाओ । अत्तीतइहा  
अजागयइहा सव्वक्का चउत्थपपएणं पपएणं ।

( सत्तमणमित्यादि ) इह चेषं गुरुलघुसुखवस्था—  
निच्छयघ्नो सव्वगुरु, सव्वलहुं वा न विउत्तप दव्वं ।  
ववहारओ उ ऊत्तह, बायरसंघेसु णाणेसु ॥ १ ॥  
अगुरुलहुं चउ फासा, अरुविदव्वा य होति नायव्वा ।  
सेसा उ अउ फासा, गुरुलहुया निच्छयसुखस्स ॥ २ ॥  
( अउ फास ति ) स्वमपरिणामानि ( अउ फास ति ) बादराणि  
गुरुलघुसुखं रूपि अगुरुलघुसुखं त्वरूपि रूपि वेति । व्यवहा-  
रतस्तु गुरुबोर्देनि चत्वार्यपि सन्ति । तत्र निदर्शनीना-गुरुबोर्दे-  
शोभगमनाद, लघुसुखं ऊर्ध्वगमनात्, गुरुलघुसुखं तिर्यग्गमनात्,  
अगुरुलघुसुखं तत्स्वभावत्वादिति । एतानि चायकाशान्तरा-  
दिसूत्रासंघेदात्तसूत्राणामुपगतव्यानि । यद्यथा—“ववासयाय-  
घनउदहि-पुद्वशीदीवा य सागरावासा । नेरइयाह अण्णयय, स-  
मयाकम्माहं सेसाओ ॥ १ ॥ दिट्ठी दंसणत्थणं, सन्नसिणं य  
जोगत्तवओगो । दव्वपपसा पडुच्च, तीया अण्णामिसंबद ति ॥ २ ॥  
( वेउड्वियतेयाहं पडुच्च ति ) नारका वैकियतैजसवारीरे  
प्रतीत्य गुरुलघुसुका एष । यनो वैकियतैजसवर्गणाम्भेते त, ए-  
तासक गुरुलघुसुका एष । यदाह—“ओरा(त्रियेषुवेउड्विय-आहार-  
गतेय गुरुलहुं दव्व ति” । ( जीवं च कम्मं च पडुच्च ति ) जीवा-  
पेक्षया काम्मणशरीरापेक्षया च नारका अगुरुलघुसुका एष,  
जीवस्याकपितेन गुरुलघुसुकात् । काम्मणशरीरस्य च काम्म-  
णात्सकत्वात्काम्मणजन्तुणात् चागुरुलघुसुकात् । आह च—  
“कम्मणजन्तासाहं, पयाहं अगुरुलहुयाहं ति” ( नाशुत्तं जाणि-  
यव्वं सररीहेहिं ति ) यत्थ यानि शरीराणि भवन्ति तस्य तानि  
हात्वा अगुरादिसूत्रास्येयानीति इदयमि । तत्रागुरादिहेवा  
नारकवद्वाच्याः । पूषिध्वाद्यस्तु औदारिकतैजसं प्रतीत्य गुरु-  
लघुसुखः, जीवं कम्मं च प्रतीत्यागुरुलघुसुखः । बायवस्तु औदा-  
रिकवैकियतैजसानि प्रतीत्य गुरुलघुसुखः । एवं पण्डित्यतिथे-  
ओऽपि मनुष्यास्वौदारिकवैकियतैजसाहारकाणि प्रतीत्येति  
( धम्मत्थिकाए ति ) इह यावत्करणात्, “अहम्मत्थिकाए अण्णा-  
सत्थिकाए” इति इहयम ( अउत्थपपएणं ति ) एते अगुरुलघु  
इत्यनेन पदेन वाच्याः । शेषाणां तु निषेधाः कार्यः, धर्मास्तिकाया-  
दीनामकपितया अगुरुलघुत्वादिति । पुत्रास्तिकायसुखे उत्तरं नि-  
च्छयनयाश्रितम्, एकान्तगुरुलघुसुखोत्तमनेनाज्जावात्, गुरुलघुसुखं  
दव्वाहं ति । औदारिकादीनि ४ ( अगुरुलघुसुखदव्वाहं ति ) कामे-

णादीनि (समया कस्मापि य चतुर्थपपयंति) समया अमृ-  
तोः कर्मणि च कामेणवर्णोपात्मकानीयगुरुलघुत्वमेवाम् ।  
( इवमेतसं पदुक्त्वा तद्वचनपपयंति ) इत्यतः कृष्णलक्ष्या भीदारि-  
कादिशरीरवर्णः, औदारिकादिकञ्च गुरुलक्षित्वि कृत्वा गुरुल-  
क्षित्येन तृतीयविकल्पेन व्यपदेश्यः । प्राक्लक्ष्या तु जीवपरि-  
भातिः, तस्याः श्वायुर्लक्ष्या गुरुलक्षित्येन व्यपदेश्य इत्यत आह  
( ताभ्यस्तसं पदुक्त्वा चतुर्थपपयंति ) ( दिशिर्वास्त्येति )  
दृष्टयादीनि जीवपर्यायत्वेनागुरुलघुत्वाद्गुरुलघुलक्षणेन चतु-  
र्थपदेन षाड्यानि । अज्ञानपदं त्विह ज्ञानविपकृत्वाद्बन्धनम,  
अन्यथा ज्ञारेषु ज्ञानपदमेव इत्यतः ( हेष्ठिले लि ) औदारि-  
कादीनि । ( तद्वचनपपयंति ) गुरुलघुपदेन गुरुलघुवर्ण-  
णामकत्वात् । ( कस्मणा चतुर्थपपयंति ) अगुरुलघुद्रव्याम-  
कत्वात् कामेणशरीराणां मनोयोगवाच्योर्गी कर्मण्यपदेन षाड्यो,  
तद्रव्याणामगुरुलघुत्वात् , काययोगः कामेणवर्णस्तृतीयेन गुरु-  
लघुत्वात्कृष्णानामिति । ( लक्ष्यत्वेत्यादि ) सर्वकृष्णानि ध-  
र्मोस्तिकायादीनि सर्वप्रदेशास्त्यामेव निर्विभागा भ्रंशाः सर्वपर्य-  
वा षणोपयोगाद्यो कृष्णधर्मोः, एते पुनस्तिकायावद् व्यपदे-  
श्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन धैर्यधैः । यतः सूक्ष्माण्यमूर्तानि  
च कृष्णान्यगुरुलघुनि, इतराणि तु गुरुलघुनि । प्रदेशपर्यव्यानु  
तसद्द्रव्यसम्बन्धत्वेन तत्तत्स्वभावा इति । अ० १ श्लो ९ उ० ।  
संप्रति गुरुलघुद्रव्याणामगुरुलघुद्रव्याणां चाल्लक्ष्यत्वेन वर्णो-  
पाक्षिप्त्येन-तत्र बाह्वरस्कन्धेषु अधन्यमव्यमोक्तभेदनिमित्त-  
कोत्तरवृक्षा प्रवर्धमाना वर्णेषु अनन्ता भवन्ति । ताश्च ताव-  
द्दृष्ट्या यावत्सर्वोक्तयो बाह्वरस्कन्धः ।

ततो य वर्णणाओ, सुदमाण जवंत एतंगुणियाओ ।

परमागुण य एका, संवेरपदेससंस्वाता ।

नाम्यः समस्तबाह्वरस्कन्धगतान्यो वर्णणाः स्युःसूक्ष्माणां सूक्ष्मा-  
नन्तप्रदेशकस्फंधानामनन्तगुणितः वर्णणास्त्वा परमाणुनां स-  
मन्तानामिका वर्णणाः । ( संखे लि ) संख्येयप्रदेशेषु इषादिप्रभृ-  
त्युक्तं संख्यातं यावत् संख्याताः संख्यातस्य संख्यातभेदभा-  
वात् । इतस्मिन्संख्येयप्रदेशे असंख्येया वर्णणाः, असंख्यात-  
स्य संख्यातभेदमिञ्ज्यात् ।

इय पोग्लकायमि य, सव्वत्थोवा उ गुरुलहु दव्वा ।

उजयपडिसेहिया पुण, अणंतकप्पा बहुविकप्पा ॥

इति एवमुपदिशितेन प्रकारेण पुन्र्णकार्ये पुन्र्णस्तिकायो  
गुरुलघुद्रव्याणि सर्वस्तोकानि उभयप्रतिपत्तिनाति संज्ञात-  
गुरुलघुप्रतिपत्तिनाति अगुरुलघुनीत्यर्थः । पुन्र्णद्रव्याणि अनन्त-  
कल्पानि अनन्तभेदानि । तत्रानन्तभेदत्वं गुरुलघुद्रव्येष्व-  
प्यस्ति, तत्र आह-बहुविकल्पानि विकल्पातिशयेन बहुभेदानि ।  
संप्रति पर्योपरिमाणमलक्ष्यत्वेन विन्यसे-इह पञ्चाराशयः  
क्रमेण स्थाप्यन्ते । तद्यथा-परमाण्वाराशिः, संख्यातप्रदेशकस्क-  
न्धाराशिः, असंख्यातप्रदेशकस्कन्धाराशिः, सूक्ष्मानन्तप्रदेशक-  
स्कन्धाराशिः, बाह्वरानन्तप्रदेशकस्कन्धाराशिश्च । तत्र बाह्वरान-  
न्तप्रदेशकस्कन्धाराशी योऽस्तिवहः सर्वोक्तयो बाह्वरस्कन्ध-  
स्तत्र बहवो गुरुलघुपर्यायाः, सर्वस्तोका अगुरुलघुपर्यायाः,  
इह बाह्वरस्कन्धेष्वन्यगुरुलघुवः पर्यायाः सन्ति परमुकलितौ  
गुरुलघुपर्याया इति । त एव तत्र शेषकालं गण्यन्ते, संप्रति  
तु वस्तुनिश्चितिभ्रमन्ते । इत्येवमलक्ष्यत्वेनान्तिनाति ते निवृत्ताः ।  
तस्योक्तयो बाह्वरस्कन्धार्थेऽथस्तना बाह्वरस्कन्धास्तेषु

गुरुलघुपर्यायाः क्रमेणानन्तगुणहात्वा द्रव्याः । अगुरुलघु-  
पर्यायाः पुनरनन्तगुणद्रव्याः । एवं च तावद् ज्ञातव्यं यावत्सर्व-  
जन्मो बाह्वरस्कन्धः । उक्तं च- “ परमाणुसंलक्षणा, सुद-  
माण ताए बापरणं च । एतसि रासीतो, क्रमेण सव्वे ठवे-  
कणं ॥ तेसि जो भ्रतिससो, सव्वुकोसो य बायरो कंधो ।  
तस्स बहू गुरुलहुया, अगुरुलहु पज्जवा थोवा ॥ तसो  
दिट्ठामुना, अणंतहाणिए गुरुलहुवुड्डी । एवं ता ज्ञाव  
अहंओ ति ” ॥

एतदेवाह-

ते गुस्सहुपजाया, पण्णच्छेदो गोसिचाणं ।

जा बायरो जह्सा, अणंतहाणिए हायंता ॥

ते गुरुलघुपर्यायाः प्रज्ञाच्छेदनेनागुरुलघुपर्यायेभ्यो व्युत्कल्प  
पृथक्कत्वा सर्वोक्तयो बाह्वरस्कन्धात्प्रवृत्तेषु बाह्वरस्कन्ध-  
ध्वनन्तगुणहात्वा हीयमानास्तावद् द्रव्या यावद् जन्मो बा-  
ह्वरस्कन्धः । अगुरुलघुपर्यायास्तु क्रमेणानन्तगुणधृक्त्वा प्रव-  
र्धमानाः, ततः सूक्ष्मानन्तप्रदेशादिषु कृष्णेषु केवला  
अगुरुलघुपर्याया एव क्रमेणानन्तगुणधृक्त्वा प्रवर्धमाना द्र-  
ष्टव्याः । ते च तावत् यावत्परमाणवः । उक्तं च- “ तेण परं  
तुड्ढमाओ. अणंतवुड्ढिए नवर वट्ठेना । अगुरुलहु षिय केवल,  
जा परमाणु य तो नेवा ” तदेवं पर्यायपरिमाणमल्पत्वबहुत्वेन  
चिन्तितम् । सांप्रतमरुपि द्रव्यं विन्यते- तन्नतुयो, तद्यथा-  
धर्मोस्तिकायाः, अधर्मोस्तिकायाः, आकाशास्तिकायाः, जीवा-  
स्तिकायाश्च ।

तेयां किमगुरुलघुपर्यायपरिमाणमत आह-

केण हविज विरोहो, अगुरुलहुपज्जावाण उ अमुत्ते ।

अबंतममंजोगी, जहियं पुण तिव्वक्खस्स ॥

यद्भासुं धर्मोस्तिकायादौ तद्विपलस्य गुरुलघुपर्यायजात-  
स्यात्यन्तमेकानान्तान्योऽथस्तना तत्रागुरुलघुपर्यायाणां केन  
विरोधो विनाशनं भवेत्?, नैव केनचित् । ततः केनापि विना-  
शाभावात्सदैव प्रतिप्रदेशमनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

तथाचाह-

एवं तु अणंतोहं, अगुरुलघुपज्जावोहं संजुचं ।

होइ अमुत्तं दव्वं, अरुक्किवाणा चाउहं ॥

एवं तु सति चतुर्णामन्यरुपिकायानामरुपिणामस्तिकायानां  
धर्मोस्तिकायप्रभृतीनामेकैकस्ये वदसूचं द्रव्यं तद् भवति  
प्रत्येकमनन्तैरगुरुलघुपर्यायैः संजुक्तम् । तदेवंभावित एकैक  
अगुरुलघुप्रदेशोऽनन्तैरगुरुलघुपर्यायैरूपैः । इ० १ उ० ।  
अगुरुलघुचुक्क-अगुरुलघुचुक्क- न० अगुरुलघुपघातप-  
राघातोच्छ्वासलक्षणामकर्मकृतिचतुष्टये, कर्म० १ कर्म ।  
अगुरुलघुगाम-अगुरुलघुगाम- न० नामकर्मभेदः, यदु-  
दयाद्गुरुलघु स्वयं शरीरं जीवानां भवति । स० ।

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।

अगुरुलघुत्वाद्गुरुलघुनामोदयेन जीवस्स अंगं शरीरं न गुरु  
न लघु जायते भवति, किन्तु अगुरुलघु, यत एकान्ते गुरुत्वे  
हि बाहुमशयं स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु बाहुनाऽपहियमाणं  
धारयितुं न पायत, यदुदयाज्जन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि  
गुरुलघु किन्तु अगुरुलघुपरिमाणपरिणतं भवति, तदगुरु-  
लघुनामेत्यर्थः । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । आ० पं० सं० ।

अगरुलपुपरिणाम-अगरुलपुपरिणाम-पुं अगुरुलपुकेने-  
ष परिणामः, परिणामपरिणामयत्नोत्तरेन्द्रादगुरुलपुपरिणामः ।  
अजीवपरिणामनेदे, स्था० १० ठा० । अगरुलपुपरिणामस्तु पर-  
माणोरारुच्य यावदन्तानन्तप्रदेशिकाः स्फुटाः सूत्रमाः सूत्र०  
१ सु० १ अ० १ उ० ।

अगरुलपुपरिणामि णं भेते । कतिविहे पण्येते ? गोयमा ।

एगागारे पण्ये ।

अगुरुलपुपरिणामो आवादिपुल्लानां "कम्मणमणभासाईपया-  
ई अगरुलपुह्याइ" इतिवचनात् । तथा अमृतैरुष्याणां चाकाशा-  
दीनाम् । अगुरुलपुपरिणामप्रदणमुपलक्षणम्, तेन गुरुलपुप-  
रिणामोऽपि द्रष्टव्यः । स चौत्तरिकादिदृश्याणां तैजसद्रव्यपर्य-  
न्तानामवसयः । " मोरान्तियवैरुच्य-प्राहारगतय गुरु-  
ल्लह दन्ना । " इति वचनात् । प्रहा० १० १ उ० ।

अगरुवर-अगुरुवर-पुं रुणागार, ज्ञा० ११३ अ० ।

अगलौट-अगलत्-त्रि० अश्राविणि, " अस्तो मोयमहीए कय-  
कय अगलंत सत्तए गिसिरे " व्य० ७ उ० ।

अगलिय-अगलित-त्रि० अगतिते, " अगलियेणइणियह्वा-ई  
जोअण णक्खु विज्जाठ । वरिससएण वि जो मिल-इ स हिं सो-  
क्कई सो छाउ य " । प्रा० १ पाद ।

अगविट-अगवित-त्रि० अगवयथा अपरिभायिते, "अगविट-  
स्म उ गहणं, न होइ न य अगहियस्म परिभोगे । " पिं० "अ-  
गविट्टाय गविट्टा, णिणया धारणदिसासु" व्य० ४ उ० ।

अगद्वयवभाणा-अग्रहणवर्णाणा-स्त्री० अल्पपरमाणुरूपत्वेन  
स्मृत्परिणामतया च स्वभावाज्जीवानां भ्रष्टेऽसमागच्छन्तीषु  
वर्णमगृह्ण, कर्म० ५ कर्म० १ पं० १ । ( आसां स्पष्टं स्वरूपं  
'वर्णाणां' शब्दे दर्शयिष्यते )

अगद्विय-अग्रद्वित-त्रि० न० त० अस्वीकृते, पञ्चा० ११३ विष० ।

अगद्वियगद्वए-अग्रद्वीतप्रदण-न० साधुभिरस्वीकृतभक्त्यादि-  
दातव्यद्रव्ये, "पांडकेअणरारगणं, केइ असे अगद्वियगद्वणस्स"  
पञ्चा० १७ विष० ।

अगद्विद्वगाराय-अग्रद्विलकराज-पुं० राजनेदे, ( ती० ) तत्क-  
था वैवम-केइ पुण अगद्विद्वगारायअप्रक्षणागविदीए काला-  
दोसा वि अण्णण निव्वाइइस्संति, तं च अक्खणायथेयं पक्ख-  
वंति पुब्बायरिया-पुत्थिं किर पुइवीपुंगं पुष्पो नाम याया । तस्-  
स मंनी सुबुद्धो नाम । अत्रया लोणदये नाम मेमंसिअमे अण-  
अो । सो य सुबुद्धिमंतिणु आगमेसिं कालं पुटो । तेण भणियम-  
भासासंतेने इत्थं जलदरो वरिसस्सइ । तस्स जलं ओ पाहिइ  
सो सव्वं वि गहल्लोअणो भविसस्स । किंत्तए वि कालं गय  
सुबुद्धी जवस्सइ । तज्जअपाणेण पुणो जग्गा सुत्थीभविसंति ।  
तमे मंतिणा ते राइणो विअत्ते । रथा वि परुइअणोसेण वारिसं-  
गहत्थं अणो आइओ । जणेण वि तस्संगहो कअो । मासेण बुद्धो  
भहो । तं च संगहियं तीरं कात्रेण निट्ठियं सोएहि नवोदयं  
खेव पाउमाइत्तं । तमे गहल्लोअण सव्वेसोअो सामंताइ गा-  
यंति नत्थीति सिज्जाए वि विठंती । केवलं राया अमक्खो अ  
संगहियं जलं न निट्ठियं । तं खेव दो वि सुत्था विठंति ।  
तमे सामंताईहिं विसरिंत्ते विट्ठे रायअमक्खोई निरिक्किणए  
परवत्तं मंतिअं । जहा गद्विद्धो राया मंती य । एए अस्साहितो वि  
विसारसीयारा । तमे एए अस्सारिठण अवरं अण्णपुज्जायारे

रायाणं उवाचिस्सामो ! मंती कण तेसिं मंने नाकण रायाणो विअ-  
वेइ । रथा सुत्तं-कइ मे पटुंतेो अण्ण रक्खियव्वो विदइनरि-  
दत्तुत्तं हवइ । मंतिणा अणियं-महायणं ! अगद्विहिं पि अन्धेहिं  
गद्विद्धो होऊण गयव्वं । न अण्णदा सुक्खो । तमेो अणिसमगद्विद्धो-  
होउं ते रायमक्खो तस्सि मज्जे निअसंयं रक्खंता विट्ठंति ।  
तमेो ते सामंताइ नुत्ता, भहो ! रायमक्ख वि अण्णस्सरासा सजे-  
य ति । उवाएण तेण तेहि अण्णया रक्खिअं । तमेो कालंतेण सुद-  
बुद्धी जाया । नयोदगे पीए सव्वे सोगा पगइमावसा सुत्था संवु-  
त्ता । एवं इस्सकाले गीयत्थकुल्लिगीहिं सह सरिसो होऊण  
वइंता अण्णो समयं भाविणं परिवासितो अण्णानं निव्वाइइ-  
स्संति । ती० ३१ कट्ठ० ।

अगद-अगद-त्रि० अगदगद, सूत्र० १ धु० १३ अ० ।

अगदपस-अगदप्रह-त्रि० अगदा तवविता प्रहा बुद्धियस्य  
सोऽगदप्रहः । परमाण्येवसितवुद्धौ, " अगदपस्येसु वि भा-  
वियया, अन्नं जणं सपथ परिहव्वंजा । " सूत्र० १ धु० १३ अ० ।

अ ( आ ) गार-अगार-न० गृहे, दश० १ अ० । अगैरुमह-

षदादिभिर्निर्भूतमगारम् । दश० १० अ० । विशेष० स्था० ॥  
अनु० । सूत्र० । आचा० । प्रव० । पञ्चा० । नि० चू० । आ० अ०,  
द्वि० । (अगारनिर्कृपे) अगारं द्विविधं उच्येमावभेदात् । तत्र द्र-

व्यागारमभैरुमहषदादिभिर्निर्भूतम् । भावागारं पुनरंगविपाक-  
कालेऽपि जीवविपाकिनया शरीरपुद्गादिषु बहिःप्रवृत्तिरि-  
तैरन्तानुक्त्वादिभिर्निर्भूतं कषायमेतन्नोच्यते ॥ समरं सु य  
अगारेसु, सर्षासु य महपहे ॥ अगारेषु शुन्नुगृहेषु । उच्यं  
१ अ० । " अगारमावमंनस्स, सव्वो संविज्जाए तहा " सूत्र० १  
धु० ३ अ० ३ उ० विशेष० । अगारं द्विविधम्-स्वातन्त्रिकृतं च ।

तत्र कालं जूमिभूतं, उच्छिन्नमुच्छिन्नं हुनम्, उभयं भूमि-  
गृहस्योपरि प्रासादाः पञ्चा० १ विव० स्थानं च । " मिंगारा-  
गारचारुवेसा " अ० । अगारं गृहं तपोगाद । विशेष० । अगारं  
गृहं तदेषां ( वा ) विद्यंते इत्यर्थादिगणन्याद्यप्रत्ययः । गृहस्ये,  
पुं० । दश० १ अ० ।

अगारत्य-अगारस्थ-पुं० अगारं गृहं, तत्र तिष्ठन्तीति अगार-  
स्थाः । गृहस्येषु, अचा० १ धु० ए अ० १, उ० ॥

अ ( आ ) गारधम्म-अगारधम्म-पुं० न गच्छन्तीत्यां वृक्षा-  
स्तेः कृतमा समन्ताद्दातुं इत्यगारं गृहम् । तत्र स्थितानां ध-  
र्मोऽगारधम्मः । शाकपायिवादिस्वात्मयधम्मपदसोपां स्यासः ।  
दशविरती, प्रा० म० टि० ।

पंच य अणुण्वयाईं, गुणुण्वयाईं च दौति तिष्ठेव ।  
सिक्खवावयाइ चउरी, गिण्डियम्मो वारसविटो य । १ ३ ।  
पञ्चाणुम्रानि स्फुल्लप्रानिपानविरय्यादीनि गुणुण्वयानि च  
भवन्ति, श्रीवेव दिग्गमनादीनि शिक्षापदानि चत्वारि सामाधि-  
कादीनि, गृहियंमे हाइशविअनु पए पयाणुम्रानादिः अणुम्राना-  
दिवस्वरूपं चावश्यं चत्विन्त्वाशक्तमिति गाथायः ॥ दश० १०६  
अ० । ४० । तत्र सामान्यतो नाम सवैविशिष्टजनसाधारणानि  
नरुपाः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुम्रानादिप्रतिपत्तिरूपं, चकार  
उक्तसमुच्चय इति । तथाच भेदं दशाभिः स्फुंकेदशैथिति—

" तत्र सामान्यतो गृह-अम्मो न्यायजितं धम्मम् ।  
वैवाद्यमन्योऽप्रीयैः, कुञ्जरीधम्मः समम् ॥ ५ ॥  
शिष्टाचारप्रशंसाऽऽरि-पद्वगंस्सज्जं तथा ।  
इन्द्रियाणां जयं उपप्युत्तस्थानविवाजितम् ॥ ६ ॥

सुप्रातिषेधिकं स्थाने, नातिप्रकटगुणम् ।  
 अनेकानिगमचार-गृहस्थ विभिवेशमम् ॥ ७ ॥  
 पापनीरुक्तास्थोता, देशावाप्रपात्रनम् ।  
 सर्वेष्वनपवादित्स्व, सुपादिसु विशेषतः ॥ ८ ॥  
 भायोचितव्ययो देवा, विश्रवाद्यनुसारतः ।  
 मासुपिप्रचयेन सङ्गः, सदाचारैः कृतकृता ॥ ९ ॥  
 मञ्जीपुःसंजाजनं काले, वृत्तिकः सम्पद्नाश्रता ।  
 कृत्स्नस्थज्ञानकृकाहा, गहितव्यवधसैनम् ॥ १० ॥  
 भस्वेष्वनरणे दीये-शुद्धिभेमेभ्रुतिदेया ।  
 अष्टबुद्धिपुण्यैः, पक्वातां गुणेषु च ॥ ११ ॥  
 सदाऽनजनिवप्राञ्च, विशावज्ञानमन्वहम् ।  
 यथाईमतिथौ स्वाधौ, दीने च प्रतिपन्नता ॥ १२ ॥  
 अन्योऽन्यानुपधातेन, त्रिचरंस्व्यापि साधनम् ।  
 अदेशकान्नाचरणं, यलावस्रविचारणम् ॥ १३ ॥  
 यथायंशोकचक्राया च, परंपरकृतिपाटवम् ।  
 ॥१४॥ लीम्यता चेति जिनेः, प्रज्ञतो हितकारिजिः ॥ १४ ॥

( दशनिः कुशकम् )

तत्र तयोः सामान्यविशेषरूपयोर्गृहस्थधर्मयोर्वैकुमुपकृतयोर्मध्ये  
 समान्यतो शुद्धिधर्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिभिः परोपकर-  
 णशीलजिनैर्हंजिः प्रज्ञतः प्रकृतिप इत्यनेन संवन्धः ॥ ७० ॥ अधि० ।

( न्यायार्जिनधनादिपदानामर्थः 'हायजिय' शब्दे )

अंगारबंधुए-अंगारकन्यु-न० क० स्त० पुत्रकस्रप्रधानध्याप्य-  
 दिरूपे गृहपते, आचा० १ श्रु० ५ ब्र० ४ उ० ॥ "एवं समुद्रिप  
 निकम् . वोमिजा गारबधणं " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।  
 अंगारव-अंगारव-त्रि० न० व० । अरुद्रादिगौरवर्जिते, प्रअ०  
 ५ स्रम्ब० द्वा० ।

अंगारवाम-अंगारवाम-पुं० गृहवासते, "अंगारवास्त्वज्जे व-  
 सिता " न० १ ए श्रु० १ उ० ।

इहलोग दुहावई विऊ, परसोगे य छुई दुहावई ।  
 विरुंसणधम्मपव तं, इति विजं कोऽंगारवासते ॥ १० ॥

( इहलोग इत्यादि ) इहाऽस्मिन्नेव शोकं हिरण्यस्वजनादिकं  
 दुःखमावर्दति । ( विऊ ति ) विद्याः जानोहि । तथाहि- "अयो-  
 नामजने दुःख-मजितानां च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखे,  
 धिगर्थ दुःखान्नाजनम् ॥ ११ ॥ तथाहि- " रेवापयः किल्लयानि च  
 सल्लकाः भिन्धायपकणोपिभिमं स्वकुलं च हित्वा । किं ताभ्यस्ति  
 प्पि ! गतेऽऽस्ति वशं करिण्णा स्नेहा निबध्दणमममधेपरम्परा-  
 या ॥ ११ ॥ परशोकं च हिरण्यस्वजनादिभित्त्वापादितकर्मजं  
 दुःखं नयति, तद्वयपरं दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादाना-  
 दिति भावः । तथैतदुपाज्जेमपि विभ्येसन्नपमं विशररुक्स्वभावं  
 गव्वरमियेधं, इत्येवं विद्वाद्वा ज्ञानेन कः सकपांङ्गारवासं  
 गृहवास्मावसेत्, गृहवासं वाऽनुबध्दयतिदिती । उक्तं च "दाराः  
 परिजवकाराः भन्पुजतो कथंनं विषं विषयाः कोऽयं जनस्य मोहोः,  
 ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा " ॥ ११ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुवं पाण्हि संजए ।  
 समता सम्बन्ध सुवन्ते, देवाणं गच्छे स ह्योगे ॥ १३ ॥  
 अण्णत्सपि गृहमप्यावसेत् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः  
 ( अणुपुवं ति ) अणुपुवं भवणमप्येतिव्यादिश्लेषणया  
 प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यग्यतः संयतनतुष्टमदर्शनेषुक्तः, कि-  
 मिति?, यतः समता समभावः आत्मपरनुवन्ता, सर्वत्र यतौ शु-

हस्थे च यदि चैकेन्द्रियार्थौ भ्रयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने  
 तां च कुर्वन् स गृहस्थाऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुन्द्रारक्षीनां  
 लोकं स्थानं गच्छन्, किं पुनर्वां महाशक्ततया पञ्चमहात्मना-  
 र्थो यतिरिति । " सेभो अंगारवासो ( स, इह भिक्षु न चित्त-  
 प " उक्त० २ अ० ।

अंगारि ( ण् ) अंगारिन्-पुं० गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।  
 आचा० क० । "अंगारिणो वि समया भवन्तु, सेवंति उ तेति तह  
 पंगारं " सूत्र० ३ श्रु० ६ अ० ।

अंगारिकम्म-अंगारिकम्मन्-न० अंगारिणां कर्मोऽनुष्ठानम् । गृ-  
 हस्थानां सावधे आरम्भे, जातिमद्वादिके च । "निष्कम्मसे से-  
 वइ गारिकम्मं, ए पारंप इवो मयोयणाए " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।  
 अंगारियंम-अंगार्येत्त-न० अंगारिणां गृहस्थानामङ्ग कारण-  
 म् । ज्ञात्यादिकेः भद्रस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अंगारी-अंगारी-स्त्री० गृहस्थास्त्रियाव, व्य० १ उ० ।

अंगारीपविषंभ-अंगारीपविषंभ-पुं० अंगाराः प्रतिबन्धोऽगारि-  
 ब्रतिबन्धः । यथागारव्यो विषंभे आरम्भेरोजयसमुत्था दोषा इत्ये-  
 वरूपे गृहियंभ्रिप्रतिबन्धं, व्य० ४ उ० ।  
 अगाट्ट-अगाट्ट-त्रि० गम्भोरे, स्था० ४ उ० ४ उ० ।

अगिउत्त-अगाट्ट-त्रि० इस्तादिना प्रहीनुमशक्ये " तमो अ-  
 गिउत्ता पञ्चता, तं जहा- समप पयसे परमायु " स्था० ३  
 उ० ३ उ० । अनाश्लेष्यं, " अणेगणरुत्तयाऽगिउत्ते " स्त्री० ।  
 अग्रमेये, रा० ।

अगिहृद्यव-अग्रहीतव्य-त्रि० । न प्रहीतव्योऽप्रहीतव्यः हेये,  
 उपेक्षणीये च । उभयोरपि कार्यासाधकत्वात् । " गच्छो जो क-  
 ज्ञसाहगो होइ " इति कार्यसाधकस्यैव प्राणात्कोशः " नायमि  
 गोपिहृद्यव्यमि, अगोपिहृद्यव्यमि सेव अत्यमि " उक्त० १ अ० ।  
 आय० ।

अगिच्छ-अगुच्छ-त्रि० न० त० अनश्रुयपक्षे अश्रुजिते, "अगि-  
 के सहफालेसु, अरनेसु अगिस्तिए " सूत्र० १ श्रु० ६ अ०  
 " सर्वहिम्मि अमुद्रियए अगिदे अग्रावउत्तं पुण्णिण्णुत्ताए "।  
 अश्रुद्धः प्रतिबन्धमावेन । दश० १० अ० ।

अगिलाह-अग्लान्नि-स्त्री० अक्षदे, स्था० ८ उ० ५० । " अगि-  
 लाह अणःजीयो, नायव्वो वीरियायारो " पंचा० १५ अ० ५० । अ-  
 गिलाणाम णो मनोवाण्णापई अज्जउरमाणत्थप्यं " नि० खू० ३ उ० ।

अगिला-अग्लान्नि-स्त्री० निर्जाराधेमासोत्सादे, व्य० ४ उ० । गिला-  
 व्याख्यातार्थमाह- "निववेण्डुं व कुणतो, जो कुणई एरिसा गिला  
 होइ । पनिलेहुच्छणइ, येवावन्थियं तु पुव्वुत्तं " यो नाम नुपवर्दि  
 राजकोटिमिष कुर्वन् वैद्यावृत्त्यं करोति एतादृशी भवति गिला-  
 ग्लान्तिस्तस्याः प्रतिषेधोऽगिला । तथा करणीयं वैद्यावृत्त्यं, किं  
 तदित्यत आह-प्रतिल्लोत्थापनाविकं भाएडस्व प्रत्युपेक्षणमु-  
 पविष्टस्योत्थापनमादिशब्दात् । मित्तायनादिपरिहारे, एतन्प-  
 र्शोकं वैद्यावृत्त्यं । व्य० १ उ० । " अगिलाएणं भसेयां पाणेणं  
 विणएणं येवावडियं करंइ " म० ५ श्रु० ४ उ० ।

अगिलाय-अग्रज्ञान-पुं० अग्लाने, " कुज्जा भिक्षु गिला-  
 एस्स, अगिलाए समाहिए " भिक्षुः साधुलोत्तस्य वैद्यावृ-  
 त्त्यमग्लानोऽपरिभ्रान्तः कुर्वत्ये, सम्यक् समाधिना ग्लानस्य

वा समाप्तिमुत्पादयेदिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।  
अग्नीय-अग्नीत-पुं० अग्नीतार्थे, व्य० १ उ० ।

अग्नीयत्थ-अग्नीतार्थ-पुं० न० ३० । अनधिगताचारप्रकल्पया-  
दिनिमीयतात्प्रभत्तार्थे, जी० १ प्र० ( अग्नीतार्थो येन द्वेदु-  
स्तार्थो न गृहीतो गृहीतो, वा परं विस्सारितः । श्रु० १ उ० ।

अध्यागीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि दुःखाबहो भवतीत्याह-

अग्नीअत्यस्स वयणेषु, अग्निमं पि न पुंयुए ।

जेण नो तं भवे अत्यं, जं अग्नीयत्थदेसिञ्जं ॥४६॥

परमत्यभो न तं अमपं, विसं ह्याहाहलं लु तं ।

न तेण अजराभरो हुत्था, तक्वणा निहणं वए ॥४७॥

अनयोर्थाभ्या-अग्नीतार्थस्य ( संविम्पए नाम एगे नो गीय-  
त्था १, नो संविम्मा नाम एगे गीयत्था २, संविम्मा नाम एगे  
गीयत्था वि ३, नो संविम्मा नाम एगे नो गीयत्था वि ४ )  
पूर्वोक्तप्रथमचतुर्थभङ्गुत्पत्त्ये वचनेन अग्निमपि ( न पुंयु-  
ए सि) न पिबेत् । अग्नीतार्थोपदेशेनामृतवद् इत्यमाने सुन्दरम-  
व्यनुष्ठानं न कुर्वीदिति परमार्थः । येन कारणेन न तदमृतं भ-  
वेत् यद्गतीतार्थेऽशितमग्नीतार्थोपदिष्टम् । एतदेव विशेषेणाह-  
परमार्थतः तत्त्वतस्तदमृतं न गुणकारीत्यर्थः । तवु विपं ह्याहा-  
हलं ( लु सि) निश्चितं, न तेन अजराभरो भोक्तृसुखभाग् भ-  
वेत् । तदुत्सृष्टव्ये निश्चयं विनाशयन्तमजन्मप्रणलक्षणं ब्र-  
ह्मेण प्राप्नुयात्, अग्नीतार्थोपदेशेनामृतपानस्यापि अनन्तसं-  
सारहेतुत्वात् । उक्तं च-“ जं जयए अग्नीयत्थो, जं च अग्नी-  
यत्थनिस्सिञ्जो होए । वहावेइ य गच्छं, अणतंसंसारिञ्जो  
होए ॥ १ ॥ कह उ जयतो साह, वहावेइ य जो उ गच्छं तु ।  
संजमजुस्तो होइ, अणतंसंसारिञ्जो भणिञ्जो ॥ २ ॥ वृवं बिस्सं  
काळं, भावं पुरिसपयइत्तमाञ्जो य । न वि जायं अग्नीञ्जो,  
उस्सगाववावारायं वेव ॥ ३ ॥ जहटियदंखं व जाणइ, सविस्सा-  
चित्तमीसिञ्जं वेव । कप्पाकपं च तहा, जांग वा जस्स जं  
होए ॥ ४ ॥ इत्यादि उपदेशमालायामिति विषयमाक्षरेति माथा-

चङ्गइत्थात् । ग०२अधि० महा० । “अवहुत्सुए अग्नीय-रथेण-  
सिरए वा धारए व गणं । तदेवसिय तस्स, मासा चत्तारि  
भारिया होति” श्रु० १ उ० । (इत्यगीतार्थस्य गच्छुधारणनिषे-  
धं “गणहर” शब्दे) “अग्नीयत्थो दायवस्स धारंयवस्स वा  
अकपिञ्जो” उच्यते नरैर्कौटिल्येन माहा-“जह नहे जह न-  
टिया, अयाणतिया विवज्जासं । करेइ गिज्जमारं, नहे राटिया  
य गरटिया य ?” (१) भवेइ एवमग्नीयत्थो अग्नीयत्थो य न सकरे  
समायारिउं पडिलेहणए उवदिस्सिउं वा परेत्तुं” पं० चू० १ उ०-  
नि० चू० । ( अग्नीतार्थो गच्छुसारणं कर्तुं न शक्नोतीति “ग-  
च्छुसारण” शब्दे) अग्नीतार्थो दुस्व्याज्यत्वस्सङ्गेन दुःकप्रतिः  
“ अग्नीयत्थसदोसेणं, गोयमा । ईसरेण उ । अणतं तं निस्सा-  
मेला, नहु गीयत्थो मुणी भवे ” महा० ६ अ० । ( “ईसरे” शब्दे  
अग्निं राजन्-ङि० जा० पु० ६४५ तत्कथानकम् ) “सा-  
सारमयाणिसा, अग्नीयत्थदासञ्जो । चित्तिवमेणेणाविरज्जाए,  
पावणं जं समाजिज्जं । तेषं तीए अहं ताए, जा जा होति नि-  
यं-तए । नारयणितियकुमालु-सत्तं सोञ्जा को पिइं लमे ?” (र-  
ज्जद्विजा) शब्दे कथानकम् । “अग्नीयत्थसदोसेणं, भावस्सु  
ए पावए । विणा भावस्सुजीए, सकलुसमाणसो मुणी भवे । अ-  
सुथोवकलुसदिय-ए अग्नीयत्थसदोसञ्जो । काऊणं लक्खण-

जाए, पत्ता दुक्कएपरंपरा । तम्हा तं णाउ बुद्धीहि, सव्वभाषेण  
सव्वहा । गीयत्थेहि अभिस्साणं, कायवन् निकलुसं मणं”  
(महा० ६ अ०) “शास्त्रादिबीजयुतोपाश्रये न श्लेषयति निषेध  
द्वितीयपदे “विद्येयपयकारुष्मि पुर्वि वसमा पमज्ज जत-  
याए” इत्यायुक्त्वा, “अग्नीयत्थस्स न कप्प-इ तिषिह ज-  
यत्तं तु सो न जायाइ । अयुक्कवणाए जयणाए, जयत्तं सप-  
क्कएपरंपक्कजयत्तं च ” (श्रु० २ उ०) इत्यगीतार्थस्य निषेध-  
यतनाह्वानमदर्शनं “वसइ” शब्दे । अग्नीतार्थेन साकं  
न विहरेत् । “ गीयत्थो य विहारो, बीभो गीयत्थयि-  
स्सिञ्जो होइ ” इत्यनेन “विहार” शब्दे दर्शयिष्यमाणे-  
न निषेच्यमानावात् )

अगुणहीयपरमत्या वि, गोयमा । संजए भवे ।  
तम्हा ते वि विवज्जिजा, दुगार्इएपदायो ॥ ४८ ॥

हे गौतम ! ये संयता अपि संयमवतोऽपि ( अगुणहीयपरम-  
त्ये सि) अनर्थाता अनच्यस्ताः परमार्थो अगमरहस्यानि वेस्ते  
अनर्थातपरमार्थो, अग्नीतार्थो इत्यर्थः । ते यस्मात् अज्ञातकव्य-  
क्तेप्रकालजावौचित्या जवन्तीति शेषः । तस्मात्तानर्थातार्थं वि-  
वर्जयेत् । विहारो एकत्र निवासो वा वृत्तस्थयज्जट । अगिशब्दोऽ  
त्र भिन्नक्रमः, स च यथास्थानं योजित एव । किंभूतं दुर्गतिप-  
थदायकात् तिर्यक्प्रकृतामुपकुद्वक्पदुर्गतिमात्रेणैवापकामिस्त्-  
र्थः । ग० २ अधि० । अग्नीतार्थस्य सह सङ्गो न करणीयः । “अग्नी-  
यत्थस्स कुसीयेहिं, स्संगं तिंविंय वज्जाइ । भोक्खमणं(सिमे  
विन्धे, पइम्मी तेणमे जहा ॥ १३जसियं हुयवइं वटं, एसिंको  
तत्य पविस्सिञ्जो । अस्साणं पि रुडिज्जासि, नो कुसींजं समज्जि-  
ए ॥ वासलक्खं पि सुणीए, संसिञ्जो अग्गियासुइ । अगिय-  
एणु समे पं, वणकं पि न से वस्सं । विणा वि तंतमोहिं,  
घोरादिट्ठिविसि आं । दसंते पि सम्मज्जिया, पागीयत्थं कुसील-  
गं ॥ विसं खाएज्ज ह्याहाइसं तं, किर मारेइ भक्खणं ।  
ए करे गीयत्थसंसंतिमि, विदवे लक्खं जह तहिं ॥ वरिं वणं  
पिसायं व, घोररुपं भयंकरं । अगिण्णमांशं पि सोएज्जा, व कुसी-  
लमणं गीयत्थं । सत्तज्जमंतंरं सत्तु, अवमज्जिज्जा सहावारां ।  
वयनियमं जो विराहेज्जा, जलयं पि क्वंवेतं तिञ्जो । महा० ।  
६ अ० । अग्नीतार्थस्य स्वातन्त्र्येण विहारोऽनन्तसंसारितैकान्ति-  
क्यनाथायेति महनः १४ । अत्रोत्तरम्-अग्नीतार्थस्य स्वातन्त्र्यवि-  
हारोऽनन्तसंसारितायां कान्तियैति ज्ञातये, कर्मपरिणतैर्नैवियादि-  
ति । सेन० १ उच्छा० ।

अगुण-अगुण-पुं० दोषे, न० । गुणधरोधिनि दोषे, गुणरहिते,  
त्रि० । वाच० ।

अगुणगुण-अगुणगुण-पुं० अगुणे एव कस्यचिद् गुणत्वेन वि-  
परिणममाणं, स चकृत्वियः यथा गौगणिरसज्जातकिणस्कन्धो  
गौगणस्य मध्ये सुखेनैवास्ति । तथा च “ गुणानामेव दीर्जन्या-  
दुर्नि चुर्व्यो निगुण्यते । असंजातकिणस्कन्धः सुखं जीवति गौर्ग-  
निः” ॥१॥ अचात्ता० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अगुणत्त-अगुणत्त-न० अविद्यामत्तगुणोऽगुणस्तद्भावस्तत्त्वम् ।  
गुणानां च, “अजगुणगुणी भिक्खु, न सस्स इह गो पइख को  
इउ । अगुणत्ता इह देह, को दिट्ठेत्तु सुवमिषि व” श्रु० २ अ० ।  
अगुणपेष्टि ( ए )-अगुणमैद्भिन्-नि० अगुणान् प्रेक्षते तच्छी-  
लश्च यः । अगुणदर्शनेनास्ते, श्रु० ४ अ० ।

अभ्युपवज्ज - अभ्युपवज्ज-वि० अभ्यान्व दोग्धवर्जयति सतोऽ-  
पि न शुद्धति इत्युपवज्जकः । सतामप्युपनातामप्रादेक, सं० ।  
अगुत्त-अगुत्त-वि० गुमिरदिते, "केचन्नैव अभ्युत्तो, सहसा  
याजोपव्ययप्येहि" इव० १ उ० । "असमितो मिच्छी कति  
सहसा अभ्युत्तो वा" अग्रतो गुप्तप्रमत्तः । पञ्च० १६ विच० ।  
अगुत्ति-अगुत्ति-स्त्री० । मनःप्रभृतीनां कुराशानां निवर्त्तनःकुरा-  
शानां प्रवर्त्तने, स्था० ३ गा० १ उ० ।

तन्नो अभ्युत्तो अप्रसत्ताओ, तं जहा-मणअगुत्ती नयअगुत्ती  
कायअगुत्ती । एवं एयरइयाणं जाव धणियकुमाराराणं पंचि-  
दियतिरिक्खजोणियाणं असंजयमागुत्ताणं बाणधंतराणं  
जोडसियाणं वेमाणियाणं ।

तन्नो इत्यादि कण्ठ्यम् । विशेषतश्चातुषिषादिद्रुकके एता अति-  
द्विश्राह-प्रवमित्यादि ( एषमिति ) सामान्यसुखबन्धनकार-  
दीनां लिङ्गो गुप्तयो वाच्याः, शेषं कण्ठ्यम्, नवरम्, इहैकेन्द्रिय-  
विकलेन्द्रिया नोकाः, वाक्मनसयोस्तेषां यथायोगमसम्प्रयात ।  
संयतमनुष्या अपि नोकास्तेषां गुप्तप्रतिपादनादिति । स्था०  
३ गा० १ उ० । इच्छाया अर्थापनरूपे अर्थाविशो मीणपरिग्रहे,  
प्रश्न० ५ आध० इा० । ति० च्चू ।

अगुरुत्तुत्तु उक्क-अगुरुत्तुपुत्तुत्तु-न० । नामकम्प्रकृतिचतुष्टये,  
कर्म० १ क० (व्याख्या चार्य 'कम्म' शब्दे )  
अगुरुत्तुत्तुपाम-अगुरुत्तुत्तुनामत्तु-न० । नामकमेवे, कर्म० १ क०  
( निरूपणमस्य 'अगरत्तुत्तुपाम' शब्दे ) ।

अगुरुत्तुत्तुय-अगुरुत्तुपुक्क-न० अत्यन्तसूक्ष्मे ज्ञापामन-कर्मक-  
व्यादी, स्था० १० गा० (स्पष्टमेतद् 'अगरत्तुत्तुय' शब्दे) ।  
अगुरुत्तुत्तुपरिणाम-अगुरुत्तुत्तुपरिणाम-पु० अजीवपरिणा-  
ममेदे, स्था० १० गा० (प्ररूपणा चार्य 'अगरत्तुत्तुवपरिणाम' शब्दे)  
अगुरुत्तुत्तु-अगुरुत्तुत्तु-पु० कृष्णागरी, इा० १ छु० १ अ० ।

अगोविय-अगोपित-वि० प्रकटे, सूत्र० १ छु० ८ अ० ।

अगोरसव्वय-अगोरसव्वत्तु-पु० गोरसमात्राऽभङ्गक, 'पयाग्नतो  
न द्यपत्ति, न पयोऽति द्यपत्ति' । अगोरसव्वतो भोमे, तस्मात्स-  
र्वं प्रयात्मकम् ॥१॥ आश्व० ४ अ० ।

अग्र-अग्र-न० अग्र-रूक्, नलोपः । उपरिमाणे, शेषभागे,  
आलम्बने, पूर्वभागे, प्राञ्च० ।

इदाणि अग्रं ति दारं दसनेदं भवति

द्वेषो ? गाहण २ आए-  
स ३ काल ४ कप ५ गाणण ६ कं वव ७ जावे ८ ।  
अग्रं भावो ए तु पहा-  
णवदुय उपचारतो तिविहं ?० ॥ ४ए ॥

णामद्वेषाभ्यो गताभ्यो । द्वेषम् बुविहं-अग्रमभ्यो णो अग्र-  
मभो य । आग्रमभ्यो जाणए आणवत्ते, षो आग्रमभ्यो जाणवत्स-  
रीरं भवत्सरीरं जाणमभवत्सरीरवद्विचरिं तिविहं तं विसिंति ।

तिविहं पुए दव्वग्गं, सच्चिंत्तं पीसग्गं च अच्चिंत्तं ।

स्वकामं दस उवचित्त-प्रवचित्त तस्सेप कुंलगं ॥ ५० ॥  
(स्वविहं ति )तिनेयो, पुणवत्तो दव्वग्गवावपारथां । सच्चिंत्तं  
मीसग्गं च अच्चिंत्तं । पण्डकेणं जहासंखं उदाहरणा-सच्चिंत्त-व-

क्षात्रं । सेमीसे देवो । उवचियं णाम देवो सच्चिंत्तो, अवचियं  
णाम देवो सच्चिंत्तो, जहा स्थीयमी, ईसि ददुमिस्सं रुक्कम्मं च ।  
अच्चिंत्तं कृतम्मं गतं ॥ १ ॥

इदाणि अग्राहणम्—

अग्राहणम् साम-सहाणाण उस्तुअचउत्तजाणो एं ।  
मंदरिबवज्जनाणं, जं चोगादं तु जावतिथं ॥ ५१ ॥  
अंजसागददिहिसुखं, कुंतलरुक्कवगरमंदराणं च ।  
अग्राहो उ सहस्से, संसा पादं समो गादा ॥ ५२ ॥  
अवगाहनमवगाहः, अचस्ताव्येश इत्यर्थः । तस्सग्गं अवगा-  
हणम् : शब्दकृत्तन्तीति शब्दताः, स्वगा पव्वता । ते य जं जंभुदी-  
येयव्हाएणो ते वेणेणि ण सेसवीहेसु, तेसि उस्तुअचउत्तमा-  
गो अवगाहो जवति । जहा वेयद्वे पुण्वीसं जौयणाणुस्तुअो ते-  
सि चउत्तजाणो उस्तौयणाणि सणताणि । तस्से जवावगाहो  
जवति, सो अवगाहो वेयद्वस्स भवति । एवं सेसाण विषेणं । मे-  
दो मेक तं वडेऊण एवं वडजजावगापरलक्खणं अणितं तस्से  
उ सहस्सेमेवावगाहो । जं वा अणदिउस्से वत्तुणो जावतिथं  
अंजसागदं तस्से अग्गं अंग्राहणम् ॥ गयं अंग्राहणम् ॥ २ ॥

इदानीं आएलम्गं—

अदेसग्गं पंच-गुलादे जं पच्चिमं तु आदिसिं ।  
तं पुरिसाण व जाजय, भोयणकम्मादिकज्जेसु ॥ ५३ ॥  
( आदेसग्गं ति ) आदेशो निर्देश इत्यर्थः । तेषु आदेशेण अग्गं  
आदेशम् ॥ तत्पुद्गलपरण-पंचगुलादि पंचहं अग्गुसिद्धवाणं  
कम्मद्विंताणं जदि पच्चिमं आदिसिंत्तं तं आदेशम् जवति ।  
आदेशकारणं इमं-भोयणकाले जहा ससद्वाणे बुदाएण कम्म-  
द्विंताण इमं बुदुयं भोजयतु ति आदिसिंत्तं । एवं कम्मादिकज्जेसु  
वि नेये । गयं आदेशग्गं ॥ ३ ॥

कालम्-कर्ममे पाग गाहा । ने सधत्ति—

कादग्गं सव्वदा, कम्मगचत्तुा तु दव्वमादीयं ।  
खंषोगाहठित्तीसु य, जावेसु य अंतिमा जे ते ॥ ५४ ॥  
कल्लं कालः तस्से अग्गं कादग्गं, सव्वदा, कदं ? समयो  
आवसिया लवो सुदुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्तं पक्खो मासो  
उऊ अयणं संवत्तरो जुगपच्चिंत्तं सागरोवमं भोसपिणी  
उस्सपिणी पुणलपरिवचदो तीतकम्मणागतत्ता सव्वदा एवं सव्वे-  
सि अग्गं भवति । बुहवत्तु कालम् गयं ॥ ५ ॥ इदाणि कम्म-  
कम्मो परिवाडी, परिवाडीए अग्गं कम्मम्, तं चउविहं देयक-  
मग्गं आदिसिंत्ततो सैक्कमग्गं कादग्गकम्मं प्रायकम्मम् चेति ।  
पच्छुद्धेण जहासंखेण उदाहरणा-खंध इति दव्वग्गं । अंग्राह  
इति चिन्तम् । तिनीसु य ति कालम् । भावेसु य ति जावम् ।  
एनेसि चउवद इति अंतिमा जे ते अग्गं भवति । उदाहरणं  
जहा-दुपपत्तिभ्यो चउपचउत्तसद्गणवत्सपपत्तिभ्यो असंखं,  
एवं जाव णंताणंतपपत्तिभ्यो खंयो । ततो परं अग्गो  
बुहत्तरो न जवति सो खंयो दव्वग्गं । एवं एगपपत्तीगा-  
डादि जाव असंखेयपंदसावगादो सुहुमखंयो सव्वलोगो ततो प-  
रं अग्गो उक्कोसावगाहणंतरो न जवति । स एव सैसग्गं ।  
एवं एगसमयचित्तिथं दव्वं दुसमयचित्तिथं जाव असंखेज्ज-  
समयचित्तिथं जं तो परं अग्गं उक्कोसतरुत्तिजुत्तं वा जवति  
तं कादग्गं । सव्हा ज्जनिभेयमवनेख उदाहरणं, जहा-पुदावि-  
काहएस्से अतो सुत्तुत्तवारण जाव वासीरकम्महस्सत्ति-  
तिभो कालजुत्तो भवति, एवं सेसेसु वि ख्येयं । चिंत्तु परमा-

एतुः परमात्मयादात्पम जाव अस्सकलाकट्टिती जाता । परमाणु-  
 ट्टितीतो परं अश्वे परमाणु उकोसतरट्टितीभो ण भवति, तं  
 परमाणुं जानीत कासम्मं । एवं जीवाजीवसु उवउजं शेयं, एवं च  
 सहो अयककेति, आश्वमं परमाणुकालम्बं चि जाव अश्वं तगणका-  
 लम्बं चि भावजुतं तं आश्वमं जवति । ततो परं अस्यां उकोस-  
 सतरो ण जवति, एते आश्वमं । गतं अश्वमं ॥ ५ ॥ इदाणि गण-  
 णामं-परादादो जाव सीसपहेलिया ततो परं गणणा ण पयट्टति  
 तेण गणणा ते सीसपहेलिया अश्वमं । गतं गणणमं ॥ ६ ॥

संचय-जावग्मा, हो वि प्रथमं—

तणसंचयमादीणं, जं उवरि पट्ठाण स्वाग्गो जावो ।

जीवादिउक्कए पुण, बहुयमं पज्जवा हौंति ॥ ५५ ॥

तथाणि दग्गादीणि तेसि चउपिन्दनेत्यर्थः । नस्स वयस्स उ-  
 चरिं जा पुलो तं तसम्मं भवति, अविस्सदातो कट्टपसालाती  
 दट्टुय्यं । तथं संबणमं ॥ ७ ॥ इदाणि ज्ञावमं सुसदागाहाए  
 भयिंयं ॥ ८ ॥ (अग्नं भावो तु सित्) तं एवं वसत्वं भावो अ-  
 म्मं । किमुक्कं भवति-भाव एव अग्नं ज्ञावमं कथापुलोभ्याय ॥  
 (अग्नं ज्ञावो व) तं भावमं दुविहं-आगमभो णो आगमभो य ।  
 आगमभो ज्ञाणुप उवउत्त, णो आगमभो । इमं तिचिहं-पढाणया-  
 वमं बहुयज्ञावग्म उवचारजावमं, एवं तिचिहं । तुशाम्भोऽश्वेऽप-  
 नाश्वे । ज्ञापयति-जहा एतसु तिचिहंभावग्गोण सहितो दश-  
 विहम्भ्याणकशेवो जवति, तथ पढाणभावमं उदइयादीण ज्ञा-  
 वण समीवभो पढाण ज्ञातिगो भावो पढाणोत्ति गयं । इदा-  
 णि बहुयमं भवति—

जीवा पोगलसमया, दव्वपदेसा य पज्जवा चेव ।

थोवा यंताणोता, विमसमट्टिया दुवं यंता ॥ ५६ ॥

जीवा आदी जस्स उक्कगस्स तं जीवाइल्लुक्कं, तं चिमं  
 पोग्गसा जीवा समयादव्वा पदेसा पज्जया चति । एयमि उक्को  
 स्ववधो वा जीवा जीवहिंते पोग्गला अश्वं तगुणा पोग्गसंहितां स-  
 मया अश्वंतगुणा समपदिने दोव्वा विमसहािता दव्वेहिंते पदेसा  
 अश्वंतगुणा । जहासंचेण तेण भवति-बहुयमं पज्जवा हौंति बहु-  
 सेण अग्नं बहुयमं बहुत्वनाश्वं परया भावन्तानि वाक्पशोयः । पुण-  
 सहोः बहुत्तावधारणतो दट्टुय्यं । गतं बहुयमं । इयाणि उवचा-  
 रमं-उवचरं उवचारं नामग्रहणम्, अभिगममित्यर्थः । स च  
 जीवाजीवभावेषु संभवति । जीवाजीवेषु औद्दयिकादिषु अजी-  
 वभावेषु वर्णादिषु । तथ जीवाजीवजावणं पिट्ठिमं जो घेण्प-  
 चो सं उवचारमं भावमं जवति । इह तु जीवसुत्तभावोवचार-  
 मं दुविहं-सगलसुत्तजावोवचारमं देससुत्तजावोवचारम  
 च । तथ सगलसुत्तजावोवचारमं दिट्ठिवातो दिट्ठियान्नुवा  
 वा देससुत्तजावोवचारमं पठुक्क भवति । तं चिमं चेव पक-  
 पज्जयणं । कहं ? उज्जो भवति—

पंचह वि अग्गा ए, उवयारेणिदं पंचमं अग्नं ।

जं उवचरित्तु तादं, तस्सुवयारो ण इहरा तु ॥ ५७ ॥

( पंचह वि इति ) पंच संज्ञा ( अग्गाणं ति ) आयरगणा न  
 च पंच चूडाओ । अविस्सदो पंचग्गावहारणत्थं भवति । ग-  
 गारो देसिवयणेण पायपूरणं । जहा-समणेण रक्कसां व सुब्बा णं  
 ति । उपचरणं उपचारः, तेण उवचारेण कणभूयण (इदमित्ति )  
 अयमाचारप्रकल्पः । (पंचमं अग्नं ति) पंचमं अग्नं उपचारेण  
 अग्नं न भवति । एवं धितियतियचउरग्मा वि भवन्ति । पं-

चमचुलग्मं उवयारमं अग्नं जवति, तेण जवति पंचमं अग्नं ।  
 शिथ्य आह-कयमं ? आचायं आह—(अमित्ति) जं यस्मात् कार-  
 णात् ( उवचरित्तु सित्) उवचरित्तु गृहीता ( तादं ति ) चउरो  
 अग्नं ( तस्से ति ) आचारप्रकल्पस्य उपचारो ग्रहणं । ण इति  
 प्रतिषेधे ( इहरा तु ) तेण्वगृहीतेषु सीसो पुच्छति-एथ दस-  
 विहवक्खणं कयमेण अग्गादिहकारो भवति ? ।

उपचारं तु पगतं, उवचरिताधीतगीतमेगट्ठा ।

उवचारमेत्तमये, केसिचि ए तं कमा जम्हा ॥ ५८ ॥

उवचारो वक्खताते । पगतं इहियारः, प्रयोजनेत्यर्थः । तुहा-  
 धो अयधारणे पादपूरणे वा, उवयारसहसंपचय्यं एगट्ठिया  
 भवति । उवचारो सित् वा अहितंति वा आगमयं ति वा गृहीते  
 ति वा एगटं ( उवचारमेत्तमये ति ) जमेयं पंचमं अग्नं अग्गात्ते-  
 णोवचरित्तुज्जति, एतं उपचारमात्रं । उवचारमेत्तं नाम कल्पनामा-  
 त्रं । कहं?, जेण पदमचूडाए वि अग्नसहो वयत्तर, एवं धितियच-  
 उवसु वि अग्नसहो वयत्तर सित् । तम्हा कथायि अग्गायां । सव्वगा-  
 पसेमं च परगा कप्पणा जा सा उपचारमात्रं जवति । केपाचि-  
 दाकाथोणामियथायगुरुप्रणीतोत्तुसारी गुरुह—( ण तं क-  
 मा जम्हा इति ) ण सित् परिस्संहे ( तं ति ) केह मयक-  
 प्पणा ण धरुतीरोति वक्कसंत्तं । कमां सित् नाम परिचारी । अतुक-  
 म इत्यर्थः ( जम्हे सित् ) चउसु वि चूडासहितामु पगीउय पंचमी  
 चूडा दिउजति, तम्हा कमावचारा पंचमी चूडा अग्नं भवति । उप-  
 चारं अग्गाण वि अग्नं वक्कसंत्तं दट्टुज्जमिति । गतं मूलम्गदां  
 ॥ ६१ ॥ १० ॥ नि० चू० १ उ० ।

अग्नं च मूलं च विमिं च धीरे ।

अयं भवोपमाहकमेत्तुएयम । मूलं धानिकमेत्तुएयं, यदि वा  
 मोहनीयं मूलम् । योगाणि त्वंशे, यदि वा मिथ्याव मूलं, रोपं त्व-  
 प्रम । तदं सर्वमेतं मूलं च (विमिं च इति) त्यजापनय पृथकरु ।  
 तदनेनेदमुक्कं जवति-न कमेणः पौरुषिकस्यायानिककृत्योऽपि-  
 त्यामनः पृथक्करणम्, कथ मोहनीयस्य मिथ्यात्वस्य च मूलत्व-  
 मिति चेत्तद्वशाच्छेषप्रकृतिकम् । यत् उक्तम्- “ न मोहयानि  
 वृत्त्यवयव उदितस्त्वया कर्मानां, न चैकाविधव्यन्यं प्रकृतिकव्य-  
 तो यो महानि । अनादिजसवतुरेय न च कथने नासकृत, त्वयाऽ-  
 तिकुट्टिहा गति, कुडालकर्मणां दशोना ॥” । तथा चागमः “कहं  
 जंते । जीवा अट्टकम्पगदोओ बंधंति ति” गोयमा । णाणारव-  
 णिजस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावराणिजं कम्म नियच्छइ ।  
 दरिसणावराणिजकम्मस्स उदएणं रंसणमोहणिजं कम्म निय-  
 च्छइ । रंसणमोहणिजस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ ।  
 मिच्छत्तेणं उदिणंणं एवं खलु जीव अट्टकम्पगदोओ बंधइ”  
 कृत्योऽपि मोहनीयकृत्याविनाभावी । उक्तञ्च—“णायगमि इए  
 सत्ते, अहा सेणा विणस्सति । एवं कम्मा विणस्सति, मोह-  
 णिजं खयं गए” ॥ ६१ ॥ इत्यादि । अथवा, सुप्रमयंयमः कमे वा,  
 अश्रं संयमतपसी मोजो वा, ते सुप्रम धीरोऽङ्गोऽयो धीविवा-  
 जितो वा विवेकेन दुष्कृतसुकारणतयाऽवधारय । आचा० १  
 श्ल० ३ अ० २ उ० । परिमाणं, नं । विदो० । सु० प्र० । स्था० ।  
 अत्तं ति वा परिमाणं ति वा एगटा । आ० चू० १ अ० ।  
 सत्तं ० “अन्ते उणव देसमं तेणेण उवचारो । देसमं देशात्तरम् ।  
 हा० ११ अ० । उक्तयं, समूहे, प्रधाने, अधिके, प्रथमे च । नि०  
 ऋषिर्भद्रे, पुं० । वाच० ।

अग्र्य-वि० अग्ने जयमध्यम् । प्रधाने, अन्त० ७ वर्ग० । यो० ।  
नि० चू० । म० । इ० । सूत्र० । अत्यन्तंरुद्रे च । सूत्र० १ श्रु० २  
अ० ३ व० । जं० । अग्ने जातो यः । जेष्ठं भ्रातरि, वि० वाच० ।

अग्नाभो-अग्र्यतसु-अव्य० अग्ने अग्नाद् वा । अग्र-तसिच् । प्राहुते  
“अतो वो विस्तस्ये ” । ॥ १ । ३७ । इति सूत्रेण प्रतः स्थाने  
नो इत्यदेशः, उ इन् । प्रा० । पूर्ववृत्तौ, पूर्वभागावधिषके  
च । वाच० ।

अग्नाथ-अग्र्यथ-पुं० निर्गन्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ व० ।

अग्नाकंस-अग्रकेश-पुं० अग्रमृतेषु केशेषु, म० ७ श० ३३ उ० ।

अग्नाकसंधो-देशी-रणसुधे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्नाजाय-अग्रजात-न० । वनस्पतीनामग्रभागे जाते, “ अ-  
ग्नाजायाणि मूलाजायाणि वा खंजजायाणि वा ” आचा० १  
श्रु० १ अ० ८ व० ।

अग्नाजिष्वा-अग्रजिष्वा-स्त्री० अग्रज्जा जिष्वा अग्रजिष्वा । जिष्वाग्ने,  
“सञ्जं च अग्नाजिष्वाए, वरेण रिशहं सरं” (सज्जमित्यादि) च-  
कारोऽभावधारणे । परुजमेव प्रथमस्वरसङ्गणे श्रूयान् । कथंयथा-  
ह-अग्रभृता जिष्वा अग्नाजिष्वा, जिष्वाग्रमिथ्यर्थस्तथा । इह यद्यपि  
परुजमणेन स्थानान्तरारण्यपि कण्ठादांनि व्याप्रियन्ते, अग्नाजिष्वा  
च स्वरान्तरेषु व्याप्रियन्ते, तथापि सा तत्र बहुव्यापारवतीति  
कृत्वा तथा तमेव श्रूयादित्युक्तम् । इत्यत्र हृदयम-परुजस्वरतोऽग्रे  
जिष्वा प्राप्य विशिष्टां व्यक्तिसासादयति तदपेक्षया सा स्वर-  
स्थानमुच्यते । एवमथ्यत्रापि माधना कार्या । श्रुत० ।

अग्नातावसग-अग्रतापनक-पुं० । ऋषिभेदे, यद्वाग्ने धनिष्ठान-  
कत्रम् । “ धीण्छाणकलश्च किं गोत्ते पश्यते ? । अनातावसगोत्ते  
पश्यन्त ” । सू० प्र० १० वाहु० च० । जं० ।

अग्नादारि-गिज्जामग-अग्रदारिन्तर्यामक-पुं० अग्रद्वारसलाय-  
स्थापकं, भ्रानप्रतिचारिणि च । प्रथ० ७२ इ० ।

अग्नाद्-अग्रार्थे-न० । एवाँके, नि० चू० १ उ० ।

अग्नापदंब-अग्रपदम्ब-पुं० न० । प्रब्रह्मनामग्रभागे, इमे अ-  
गमपलेभा-“तलगाणित्परिलक्षणे, कविद्वे अंबाड अंबए चेव ।  
एयं अगमपलंबं, ऐयस्वं आणुपुव्वीय ” । १४० । जस्यपदसिद्धा  
एते । (आणुपुव्वं सि) एते च तद्भादिगा । नि० चू० १४ उ० ।

अग्नावीय-अग्रवीज-पुं० अग्ने बीजं येषामुत्पद्यते तं तथा । तल-  
ताधीसहकारादिषु शास्त्रादिषु च अग्रधाएयोत्यसौ कारकतां  
प्रतिपद्यन्ते येषां कोरएटकादीनां तं अग्रवीजाः । कोरएटकादिषु  
बीजजमरेषु वनस्पतिषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । स्थाने विज्ञे० ।  
आ० म० द्वि० । अग्नावीया १ मूलावीया २ पौरबीया ३ खंजबीया  
४ इत्याद्यो वनस्पतिभेदाः । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ व० ।

अग्नापिंड-अग्र ( इय ) पिण्ड-पुं० तरुल्लोच्छीर्षोदनादिस्था-  
ह्या अग्न्यापरितायाः शिक्षायाम्, ( उपरितने भागे ) प्रथ० २  
इ० । शाब्दोदनादेः प्रथममुज्ज्वल्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यमाने  
पिण्डे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ व० ।

से भिक्व् वा १ जाव पविडे समापे से जं पुण जा-

एजा, अग्नापिंडे उक्तिव्यप्याणां पेहाए, अग्नापिंडे पि-  
क्तिव्यप्याणां पेहाए, अग्नापिंडे इंदरमाए पेहाए, अग्नापिंडे  
परिजाइज्जाणां पेहाए, अग्नापिंडे परिनुज्जाणां पेहाए, अ-  
ग्नापिंडे परिद्वेज्जाणां पेहाए, पुरा अग्निपाइ वा अग्रहा-  
राति वा पुरा जत्यधे समणमाएण अग्निदिक्किवपवणिएमा  
खंके १ उवसंक्कमांते, से हेता अहुमवि खंके उवसंक्क-  
मामि, माइट्ठाणं मंफाते णो एवं करेजा ।

(स भिक्खु वेत्यादि) स भिक्खुं हृदयति कुलं प्रथिद्यः सन् यत्पुन-  
रेवं जानीयात् । तद्यथा-अग्नापिण्डो निष्पद्यस्य शाब्दोदनादेरा-  
हारस्य देवतापथ्यं स्तोत्रकस्तोकादारस्तमुक्तिव्यप्याणां हृद्यु तथाऽ  
न्यत्र निष्पद्यमानां तथा शिद्यमानां नीयमानां देवतायतनादीं तथा  
परिजन्मयमानां विभज्यमानां स्तोत्रकस्तोकमन्त्रेभ्यो दीयमानां तथा  
परिनुज्जयमानां तथा त्यज्यमानां देवतायतनात्पुनर्दिक्षु क्लियमानां  
तथा (पुरा अग्निपाइ वंति) पुरा पूर्वमन्त्रे अग्नापिण्डो येषु अ-  
ग्रपिण्डमभिसावतस्तथा पुनर्मपहनवतो व्यवस्थाप्यस्यवस्थाया  
वा शुडीतवन्तः । तदभिप्रायेण पुनरापि पुनर्भिव वयमत्र लप्स्या-  
मह इति । यत्राग्रपिण्डादौ अग्नापिण्डः (अहंके खंके नि) स्वरित-  
मुपकामति स भिक्खुरेत्तदपेक्षया कश्चिद्वेवं कुर्यादालोचयेद्यथा-  
हेतौ तं धाक्योपम्यासाधे । अहमापि स्वरितमुपसंक्रामां । एवं  
च कुर्वन् भिक्षुर्भोत्स्थानं संस्पृशेदित्येतां नैवं कुर्वीदिति ।  
आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । काकपिण्डकाम् “ अग्नापिण्डमि  
वा वायसा मंधया समिधवथा ” अग्नापिण्डे काकपिण्डक्यां वा  
वर्हिःकिसायां वायसाः सन्नपिता नवेयुः । आचा० २ श्रु० १  
अ० ५ उ० ।

जे भिक्खु गितियं अग्नापिंडं भुंइह, नुंजंतं वा साइज्जाइ ३ ? ।  
गितियं भुवं सासतमिथ्येः । अग्रं वरं प्रधानं अहवा जं प-  
दमं दिउज्जति से पुण जत्थो भिक्खाम्भेत्तं वा होइजा । एस सु-  
त्तयो । अपुना नित्युक्किवस्तरः-

एणित्ते तु अग्नापिंडे, एणित्तपो वीलना य परिमाणे ।  
साजाविए गिही दां, तिप्पि य कप्पंति तु कमण १२ ३ ३ ।

गितियमा सुत्ते वक्खाया। गिहट्यो गिमतंत्ति, साइ उ वीइ-  
णं करेति, साइ चेव परिमाणं करेति, साभाविंयं गिहट्यो  
दां तिप्पि आइट्ठाण कप्पंति, साजाविंयं कप्पंति । गिमतपो  
वीलणपरिमाणानं । इमाओ तिप्पि वक्खाणागाहातो-

जगवं ? अणुगणं तां, करेहि मज्जत्ति जणति आमांति ।  
किं दाहिंसि जेण्णो, गयस्स तं दाहिंसि ण वत्ति । ११ ४ ।  
दाहामि च्चि य जणित्ते, तं केवतियं व केविरें वा वि ? ।  
दाहिंसि तुंणं ण दाहिंसि, दिप्पेऽद्वेषे व किं तेण् ? । १२ ४ ।  
जावतिएण्णो तां, जत्थिरकालं च रोएय तुत्थमा ।  
तं तावतियं तत्थिरं, दाहामि अहं अपरिहाणं ॥ १२ ६ ॥

गिही गिमतंति-भगवं ? अणुगणं करेह मज्ज, घरे जत्थं गेगह-  
इ । साइ मयत्ति-करेम अणुगणं, किं दाहिंसि ? । गिही जणति-  
जेण जेइतो । साइ उ वीलणं करेति, माहणे जणति-घरं गयस्स  
तं दाहिंसि वा य वा ? । गिहियो दाहामि च्चि य जणित्ते, साइ प-  
रिमाणं कारवैतो गणितंत्तं परिमाणमां केवतियं केव चिरें वा  
कावं दाहिंसि ? । प्रथमप्रादोत्तरं साइ आह-दाहिंसि तुंमं



ण दादिति । दत्तमापि नन् अदत्तवद् व्युत्पद्यम् । स्वदत्तत्वा-  
द् । गृहस्थो द्वितीयपादोऽस्यैव जावतिरण भक्त्य इद्वे  
जे जावतिर्यं वा काले तुभिमन् । गिरी पुणो जगति-कि बहुणा  
भणिण्ण, जं तुपन्ने गेयते दृश्यं जावतिर्यं जतिर्यं वा काले . नमई  
अपरिहीणे अपरिभंनो दादामि ति । गिमंतणो पालणपरि-  
माणेषु वि मासल्लहुं पंकिउत्तं । चोदग आह—

साभावितं च उचियं, चोदगपुच्छाणं पच्छिमो को वि ।

दोसो चतुर्विधमि,णितियमिप य अग्रगणितंम्मा।३११।

माभावि णितिय कप्पति, अणित्यंतणा वीज्ज अपरिमाणे य ।

जं वा वि य सयुदाणे, संजिक्खं दिज्ज साधुणं ॥३१२॥

साभावितं जं ऋण्यो इच्छादं उचियं दिणे दिणे जतियं  
रज्जं तं चोक्खो भवति । परिसेसा भावि णिमंतणायीज्जणा-  
दिदि निष्कामेति एमवि अक्याअपण्णहा साहण कयंसाभा-  
वियञ्चिप वि णिमंतणादिदिदि इमे दोसा-

निष्णेषु वि सअट्ठा, उगमदोमा उ उचितगदीया ।

उपं जंवे जम्हा, तम्हा सा य वज्जिज्जा उ ॥२१६॥

अपण्णट्ठा वि निष्णेषु उगमादिदोसा जयन्ति । निक्काचित्ता-  
दमिति अद्यथं दातव्यम् । कुट्टगाहिंसु स्थापयति तस्माभिमं-  
तणादियिक्खो वयंयः ।

उक्कामण अहिसकण, अज्जभोयरए तहेव ऐक्कंती ।

असत्य भोयणमि य, कीने पाभिक्ख कम्मये य ॥ २२० ॥

अवस्सदायव्वे अतिप्पए साहुणो आगच्छति उविधुत्तवस्स  
उसकण करेजा, उस्सरे अगच्छति अनिदिसकण करेज्ज. अज्जा-  
यरयं वा करेज्ज । गिकातिअं स काउं जतिने अणायथ णि-  
मंतिया तहा वि तद्दुट्ठाए कियेज्जा वा पाभिक्खेज्जा वा आहाकम्मं  
वा करेज्ज । कारणे पुण णिकायणा पिदं गणहेज्जा इमे कारणा—

अभिने आभोयरिए, रायदुडे भए व गेलएणे ।

अक्काणरोहए वा, जयणा गहणंतु गीतत्ये ॥ २२१ ॥

असिधमाहितो ण लभन्ति णिमंतणाएणसु वि गेहेज्ज । अथवा अ-  
सिधे काणोद्धितो अभियगहियकुलाणि य परिहरंतो भगहियकु-  
लेसु अपावंतो णिमंतणो वीज्जणादिसु वि गेहेज्ज. आंमि वि अण-  
यंतो । एवं रायदुडं जप्पसु वि अद्यथो गच्छंतो वा गिज्ञाणपाउज्जं  
या णिमंतणाणिणसु गणहेज्जा । अज्जाणं रोहए वा अणुयंतो वा नी-  
तस्था पणमपरिहाणीए जयणाए जोह मासल्लहुं पत्तं ताहे णा-  
यगा पिदं गेहति । नि० नू० १ उ० ।

अग्रगणया—अग्रपूजा—ली० “ गंधर्वगृह्याज्य-ज्ञपनज्ञसाम्नि-  
याह दीवाह । जं किञ्चनं सव्यं, वि आंश्रद्ध अग्रगणयाए ” इत्ये-  
वं लक्षणं जिनप्रतिमापुरनः पूजाभेदे, अ० १ अर्थ० ।

अग्रगण्यहारिं ( ण )—अग्रपट्टारिन्—पुं० । पुः प्रहरणशीले,  
“ चोरपट्टे गतो तस्य अग्रगण्यहारिं णिमंतसो य चोरसेखावत-  
मनो ” अश्व० १ अ० । आ० म० टि० ।

अग्रमहादिनी—अग्रमहादिपं—ली० अग्रपूजा प्रधाना महिषी, रा-  
जजातयंश्याम्, स्था० ४ उ००. उ० प्रधानजातयंश्याम्, उपा० ३  
अ० । पट्टाश्याम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । अथ देवेन्द्राणा-  
मग्रमहिष्यः प्रदर्थन्ते—

तथ लुचनपतीन्द्राणामग्रमहिष्यः—

चमरस्स एं भंते ! अमुरिंदस्स अमुरकुमाररण्यो कइ  
अग्रमहितीओ पएणत्ताओ ? । अज्जा ! पंच अग्रगण-  
हितीओ पएणत्ताओ, तं जहा—काली रापी रयणी विज्जु  
भेहा । तथ एं एणंमगाए देवीए अइद्वेदवीसहस्सपरिचारो  
पएणत्तो, पभू णं ताओ एणंमगाए देवीए अएणां अइ-  
द्वेदवीमहस्साइं परिचारं विज्जावित्तए, एवांमव सपुष्वा-  
वरंणं चत्तालीसं देवीसहस्सा सेत्तं तुमिए । पजू णं भंते !  
चमरे अमुरिंदे अमुरकुमाराया चमरचंचाए रायहाणीए  
सजाए सुहम्माए चमरंसि सीहासखंसि तुमिएणं सक्किं दि-  
व्वाइं जोगजोगाइं जुंजणाए विहरित्तए ? । एो इण्ठे  
समहे, से केण्ठणं भंते ! एवं वुच्चइ, णो पजू ! चमरे अमु-  
रिंदे अमुरराया चमरचंचाए रायहाणीए जाव विहरि-  
त्तए । अज्जा ! चमरस्स एं अमुरिंदस्स अमुरकुमाररण्यो च-  
मरचंचाए रायहाणीए सजाए सुहम्माए माणवप चेइए  
खंने वइरामपसु गोत्ववट्टमगपसु बहुओ जिणमक-  
हाओ सण्णित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं चमरस्स अ-  
मुरिंदस्स अमुरकुमाररण्यो अणंसि च बहुणं अमुरकुमा-  
राणं देवाण य देवीण य अचण्णिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमं-  
णिज्जाओ पुणएण्जाओ सकारणिज्जाओ संमार्णणिज्जाओ  
कट्ठाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवामाणिज्जाओ जवति ।  
तेसिं पाणहाणे णो पजू ! मंतेण्ठेणं अज्जा ! एवं वुच्चइ—  
णो पजू चमरे अमुरिंदे अमुरराया चमरचंचाए रायहाणीए  
जाव विहरित्तए पजू णं ! अज्जा ! चमरे अमुरिंदे अमुरराया  
चमरचंचाए रायहाणीए सजाए सुहम्माए चमरंसि मोहा-  
सणंसि चउसट्ठी सामाणियसाहस्सीहिं तायत्तीसाए जाव अ-  
र्याइं च बहुहिं अमुरकुमारिंहिं देवेदि य देवीदि य मदिं संपरि-  
वुंने महयाइय जाव जुंजणाए विहरित्तए केवलं परिचारि-  
हीए एां चेव णं मेहुणवचियं ॥ अ० १० श० ५ उ० ॥

आसां पुत्रेवः—

तेणं काले एं तेषं समएणं रायागिहे णामं नयरी होत्था ।  
वषओ तस्म-णं रायगिहस्स नगरस्स बहुआ उत्तरपुर-  
च्छिमे दिमिजागे तत्य एो गुणसिले चेइए नामं चेइए  
होत्था । वषओ—तेणं काज्ञेणं तेषं समएणं समएस्स भग-  
वओ महावीरस्स अंतैवानी अज्जसुहम्मं नामं येरा भग-  
वंतो जाइसंपत्ता कुळसंपत्ता जाव चउइमपुंवी चउआणो-  
वगया पंचहिं अणुगारमपहिं सक्किं संपरिवुक्का पुच्चाणु-  
पुच्चि चरमाणे गामाणुणामं दूइज्जणाया सुहं सुहेणं जेणे-  
व रायगिहे नयेरे गुणमिलए चेइए जाव मंजमेणं तवसा  
अप्राणं जावेमाणे विहरति । परिसा निग्गया । वम्मो क-  
हिओ, परिसा जामेव दिंसं पाउञ्ज्या तांमं दिंसि पारु-

गया । तेषां काले एषं तेषां समए एषं अजमुहम्मस्स अणुगारस्स अतेवासी अज्जजंबू नामं अणुगारे जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-जइ एषं जंते ! समएणं जाव संपत्ते एषं उट्ठस्स अंगस्स पढमस्स सुयक्खन्धस्स नायक्कयणस्स अयमंठे पठात्ते, दोषस्स एषं जंते ! सुयक्खन्धस्स धम्म-कहाणं समएणं जाव संपत्ते एषं के अट्ठे पत्थत्ते, एवं खलु जंबू ! धम्मकहा एषं दसवग्गापण्णात्ता । तं जहा-चरमस्स अग्रगमहिंसीणं पढमवग्गे ॥ १ ॥ बद्धियस्स वहरो-यण्णिदस्स वहरोरग्ग्न्तो अग्रगमहिंसीणं बीए वग्गे ॥ २ ॥ असुरिंदवज्जियाणं दाहिणिद्व्याणं ईदाणं तइए वग्गे ॥ ३ ॥ उत्तरिद्व्याणं असुरिंदवज्जियाणं जवणवासिंददाएणं अग्रगम-हिंसीणं चउत्ते वग्गे ॥ ४ ॥ दाहिणिद्व्याणं बाणमंतराणं ईदाणं अग्रगमहिंसीणं पंचमे वग्गे ॥ ५ ॥ उत्तरिद्व्याणं बाणमंतराणं ईदाणं अग्रगमहिंसीणं उट्ठे वग्गे ॥ ६ ॥ चंद-स्स अग्रगमहिंसीणं सत्तमे वग्गे ॥ ७ ॥ सूत्तस्स अग्रगमहिं-सीणं अट्ठमे वग्गे ॥ ८ ॥ सक्कस्स अग्रगमहिंसीणं नवमे वग्गे ॥ ९ ॥ ईमाणस्स अग्रगमहिंसीणं दसमे वग्गे ॥ १० ॥ जइ एषं भंते ! ममएणं जाव संपत्ते णं धम्मकहा एषं दसवग्गा पत्तत्ता । पढमस्स णं जंते ! वग्गस्स ममएणं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! ममए णं जाव संपत्ते णं प-ढमस्स वग्गस्स पंच अज्जभयाणा पन्नत्ता । तं जहा-काही १ राई २ रयण्णी ३ विज्जा ४ महा विज्जा ५ । जइ णं भंते ! ममएणं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्जभयाणा पन्नत्ता । पढमस्स णं जंते ! अज्जयणं समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेषां काझे णं तणं समए णं रायगिडे नगरे गुणमिन्नए चइए, सेणिए राया, चिन्नणाए दे-बीए, मायी समोरिए, परिसा निग्गया । जाव परिसा पज्जु-वासति तेषां काझे णं तेषां समए णं काझी देवीं चपरचंचाए रायहाणीए काझवर्त्तिसयजवणे कालांसि सी-हासणंसि चउट्ठिं सामाणियसाहसीं चउट्ठिं मयहरिया-हिं मपारिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सचाहिं अणिएहिं सच-हिं अणियाहिं वतीं हिं सोलसाहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अर्धेहिं व बहुएहिं कालवर्त्तिसयभवणवासां हिं अमुरकुमार-हिं देवोहिं देवीं हिं य सद्धिं संपरिवुत्ता महायाहय जाव बि-हरइ, इमं च णं केवलकणं जंबूहिं देवीं णं विठले णं ओ-हिंणा आओपमाणी पासइ । जत्थ समं जगवं महावीरं जंबूहिं देवीं चारहे वासे रायगिडे नगरे गुणसिले चेए अहापबिरूवं ओगाहइ, ओगाहइत्ता संजेमणं तवसा अण्णाणं भावेनाणं पासइ, पासइत्ता इहउट्ठच्चिन्माखंडिया पीडमण जाव हियया सीहासणाओ उन्नुट्ठेइ, उन्नुट्ठेइत्ता पायपीहा-

ओ पंचोरुहइ, पंचोरुहइत्ता करयत्त जाव कहु एवं वयासी-नमोऽत्थु एं अरिहंताणं जाव संपत्ताए नमोऽत्थु एं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स । वंदामि णं जगवं ! ते तत्थ गयं इह गया तिकहु बंदइ णमंसइ सीहास-णवरगंसि पुरत्थाजिमुहे सुहनसिभे तए णं तीसे कालीए देवीए इमेया रूवे जाव समुपज्जित्त्वा । सेयं खलु समणं भ-गवं महावीरं वेदिंत्ता जाव पज्जुवासिचए तिकहु एवं मं-पेइइ, संपहइत्ता आभिओगिअदेवं सहावेइ, सहावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुपिया समणे जगवं महावीरे एवं जहा सूरियाभे तहव अणुवियं देइ जाव दिव्वं सुरचराजि-रामगमणं जागं करेइ, करेइत्ता जाव पच्छुपियाइ ते वि तहे-व करेत्ता जाव पच्छुपियाणंति, नवरं, जायणसहस्सावेत्थिअ जाणं, ससं तहव नाम गोयं साहइ, तहव न्हविहिं उवदंसइ, उवदंसइत्ता जाव पदिग्गया (जंतेति) भगवं गोयमे ! समणे जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-कालीए णं जंते ! देवी सा दिव्वा देवह्वीओ कट्ठिं गया कूहागरसालादिहंतो ! । अहो णं जंते ! काहीदेवीं महइिया कालीए णं भंते ! देवीए सा दिव्वा देवह्वीए किष्वा लच्छा किष्वा पत्तत्ता अजिसमग्गा गया-एवं जहा सूरियाभस्स जाव एवं खलु गोयमा ! तेषां काले णं तेषां समए णं इहेव जंबूहिं भारहे वासे आमलकप्पा नामं न-यरी होत्था । वसुओ-अंबसाहवणे चेहए जियसत्तुराया । तत्थ णं आमलकप्पाए नयरीए काले नामं गाहावती होत्था । अहुं जाव अपरिचूए तस्स णं कालस्स गाहावइत्तस्स काळसिरीए नामं भारिया होत्था मुक्कुमाइ जाव सुक्का । तस्स णं काळ-स्स गाहावतिस्स धूया कालसिरीए चारियाए अत्तया काली णामं दारिया होत्था । बह्ना बहुकुमारी लुक्का लुक्कुमारी पट्टियपुत्थएणं निव्विअवरा वरगपरिवज्जिया वि होत्था । तेषां काले णं तेषां समए णं पावे अरहा पुरिसा दाणिए आइगरे जहा वच्छामाणसामो, णं णं, एवुस्सेहे सोहस-हिं समणसाहस्सिहिं अट्ठत्तासाए अज्जिअसाहस्सिहिं सक्किं संपतिवुडे जाव अंबसाहवणे समोसहे, परिसा णि-ग्गया जाव पज्जुवासति । तते णं सा काही दारिया इमी-से कहाए लच्छा समाणं इह उट्ठ जाव हियया जेणव अम्मापियरो तेणव उवागउत्ति, उवागउत्तित्ता कयल जाव-एवं वयासी-एवं खलु अम्मायाओ पासे अरहा पुरिसा-दाणीए आइगरे जाव बिहरइ । तं इच्छामि णं अमयाओ तुब्भेहिं अन्नणुआया समाणं । पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणो तेणस्स पायवंदणमिचए । अहासुइं देवाणु-पिया मा पदिचंचं करेइ । तस्स णं सा काली दारि-आ अम्मापिइहिं अम्भाणुआया समाणं । इहउट्ठ जाव हियया एहाया कयवत्तिकम्मा ! कयकोट्टयमंगलपायच्छिन्ता

सुख्यावेसाति मंगलाति बत्याति पवरपरिहिया अण-  
महृग्याभरणाक्षिक्रियसरीरा चेन्निआ चक्रवालपरिक्रिआ  
साओ गिहातो पकिनिकलम, पदिणिकलमपचा जेणेव  
बाहिरिया उवडाणसाला जेणेव धम्मियजाणपवरं तेणेव  
उवागच्छति, उवागच्छिचा धम्मियजाणपवरं दुख्खा ।  
तए णं सा काली दारिया धम्मियं जाणपवरं एवं जहा  
देवाणंदाए जहापञ्जुवासइ । तए णं पासे अरहा पुरीमा-  
दाणीए काळीए दारियाए तीमे महइ, महइचा महाक्षियाए  
परिसाए धम्मकहाए तए णं सा काली दारिया पासस्स  
ए अरहओ पुरिसादाणियस्स अंतिए धम्मं सोच्चा खि-  
सम्म हचुत्तु जाव हियया पासस्स ए अरहओ पुरिसा-  
दाणीयस्स तिक्लुत्तो वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-सहहामि  
ए जंते ! निगंथं पावयणं जाव से जहयं तुम्हे वयह जं  
नवरं देवाणुप्पिया अम्मापियरो आणुप्पामि तएणं अहं  
देवाणुप्पियाणं अंतिए जाव पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पि-  
या मा पडिबंधं करेह । तए णं सा काळिदारिया पासणं अ-  
रहा पुरिसादाणीए ए एवं वुत्ता समणी हइत्तु जाव हि-  
यया पासं अरहं वंदइ नमंसइ, नमंसइचा तमेव धम्मियं जा-  
णपवरं दुख्खइ, दुख्खइचा पासस्स ए अरहो पुरिसादाणीए  
अंतियाओ अंबसालवणचेऽयाओ पकिनिकलम, पदिनि-  
कलमपचा जेणेव आमलकपा नयरी तेणेव उवागच्छइ,  
उवागच्छइचा आमलकपं नयरीमउं मउत्तणं जेणं व-  
हिरिया उवडाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छि-  
चा धम्मियं जाणपवरं उवइ, उवइचा धम्मियाओ जाण-  
पवगओ पबोरुइ, पबोरुइचा जेणेव अम्मापियरो तेणे-  
व उवागच्छति, उवागच्छइचा करयत्तपरिग्माहं एवं  
वयासी-एवं खलु अम्मायो मए पासस्स ए अरहाओ  
अंतिए धम्मं निसंते सेविय धम्मं इच्छिए पडिच्छिए अ-  
भिरुइ । तए णं अहं अम्मायो संसारभउज्विग्गा जी-  
या जम्मपरणाणं इच्छामि एं तुम्हेंहि अम्भण्णया समाणी  
पासस्स ए अरहओ अंतिए मुंजा जविचा आगाराओ अ-  
णगरियं पवइत्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह ।  
तए एं कासे गाहावई विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं  
उवक्खहावेति, उवक्खहावेतिचा मिचनानिनियगसयणसंबं-  
धीपरियणं आमंतेइ । आमंतेइचा ततो पच्छा एहाए जाव विपु-  
लेणं पुण्णवत्तयंगमपद्दाक्षिकारेणं सक्कारिचा संमाणित्ता तस्सेव  
मिचणानिणियगसयणसंबंधिपरियणस्स पुरओ कालीदा-  
रियं सेयापीएहिं कइमेहिं एहवेइ, एहवेइचा सव्वालंकार-  
विभूसियं करेइ, करेइचा पुरिससहस्सवाहिणीयं सियं दुख्ख-  
इ, दुख्खइचा मिचनानि जाव परियणसकिं संपरिवुडे स-  
व्वहीए जाव रवेणं आमलकपावयरी मउंमं मउंमं नि-

गच्छइ, निगच्छइचा जेणेव अंबसालवणे वेइए तेणेव उवा-  
गच्छति, उवागच्छइचा उताइए तिच्छयराइं पासइ २ सीयं उ-  
वेइ, उवेइचा काक्षिया दारिया सीयातो पबोरुइति, पबो-  
रुइइचा तते एं तं कालीयं दारियं अम्मापियरो पुरओ का-  
उं जेणेव पासं अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छति, उ-  
वागच्छिचा वंदंति, एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया का-  
क्षियदारिया अहं वूया इहा कंता जाव किमंग! पुण पाण-  
णयाए एस एं देवाणुप्पिया संसारजिउज्विग्गा इच्छइ देवा-  
णुप्पियाणं अंतिए मुंजे जविचा, जाव पवइत्तए तं एयमं  
देवाणुप्पियाणं सिसिणिं भिक्खं दल्लयामो पकिच्छंतु णं  
देवाणुप्पिया सिसिणिं भिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया मा-  
पडिबंधं करेह । तए एं सा काली देवी कुमारी पासं अ-  
रिहं वंदइ, वंदइचा उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अक्कमतति,  
अक्कमतचा सयमेव आजरणमपद्दाक्षिकारा मुयति, मुयति-  
चा सयमेव लोयं करेति, जेणेव पासं अरहा पुरिसादाणी-  
ए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिचा पासं अरहं तिक्लुत्तो  
वंदंति नमंमंति, एवं वयासी-आक्षि ! तेणं भंते ! होए एं  
जहा देवाणंदा जाव सयमेव पव्वाविओ तए णं पासं अरहा  
पुरिसादाणीए काळीए सयमेव पुण्णुत्ताए अज्जाए सि-  
सिणियचाए दल्लयइ । तए णं सा पुण्णुत्ता अज्जा काळि  
कुमारि सयमेव पव्वावेइ, जाव उवसंपजित्ताणं विहरति,  
तते एं सा काळी अज्जया इरिया समिता जाव  
गुत्तबंधचारिणी । तए णं मा काली अज्जा पुण्णुत्ताए  
अज्जाए अंतिए सामाइयमाइयाइं एगारस अंगाइं अहिज्जइ,  
अहिज्जइचा वहुहिं चउत्थं जाव विहरति । तए णं मा  
काली अज्जा अन्नया कयाइं सरीरपासिओमिआ जाया  
वि होत्था । अज्जिकत्तणं अज्जिकत्तणं हत्थं धोवइ, पाए धो-  
वेइ, सीसं धोवेइ, मुंघोवेइ, यणंतरा य धोवेइ, कक्खंतरा य  
धोवेइ, गुज्जंतरा य धोवेइ, जत्थ जत्थ विपुट्ठाणं वासेज्जं  
वा निसिंहियं वा चेएइ, तं पुव्वामेव अज्जुक्खित्वा तओ  
पच्छा आसइ वा, सपइ वा तएणं मा पुण्णुत्ता अज्जा का-  
ळि अज्जि एवं वयासी-नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया समणी-  
णं निगंथीणं सरीरपाउसीपाणं होतए तुमं व णं देवाणु-  
प्पिया सरीरपाउसिया जाया वि होत्था । अज्जिकत्तणं  
अज्जिकत्तणं हत्था धोवइ, जाव आसयाहि वा सयाहि वा, तं  
तुमं देवाणुप्पिया एयस्स इहाणस्स आलांएहिं जाव पाय-  
च्छिचं पडिबज्जहि । तए णं सा काली अज्जा पुण्णुत्ता-  
अज्जाए एयस्सं नो अहाइ जाव तुमिणीया संचिइ, त  
एणं ताओ पुण्णुत्ताओ अज्जाओ काळि अज्जं अज्जिकत्तणं  
इ हींतेति, निंदंति, सिंसंति, गरहंति, अज्जमाणाति, अज्जिसत्तणं  
२ एयमं निवारंति, तए णं तीसे कालीए अज्जाए समणीहिं

निगंभीहिं अभिकल्पं २ ह्रील्लिज्जाणीए जाव वि-  
हरिज्जाणीए इमेयारूवे अन्मत्थिए जाव समुपज्जित्या,  
जया एवं अहं अगारवासमग्जे वसित्ता तथा एवं अहं सयं-  
वसा, जणजित्ति च एवं अहं हुंका भवित्ता अगाराओ  
अणगारियं पब्बइया तपजित्ति च एवं अहं परवसा  
जाया । ते सेयं खलु मम कळं पाठ पत्तायाए  
रयणीए जाव जज्ञेते पाठिकयं उवसंपज्जिता णं वि-  
हरित्ताए तिकहु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कळं जाव  
जज्ञेते पाठिकयं उवस्मयं गेहइ, गेहइत्ता तत्थ णं अणा-  
वारिआ अणाहुइआ सच्छंदमती अभिकल्पं २ हृत्ये  
धोवेइ, जाव आसयइ वा सयइ वा तए एवं सा काळी  
अजा पामत्ता पामत्थविहारी कुसीआ कुसीआविहारी अ-  
हाउंदा अहाउंदविहारी संसत्ता संसत्ताविहारी बहूणि वा-  
साणि सामन्नपरियाणं पाउणिता अरूमासीयाए हेहणाए  
अत्ताणं कसेइ, ऊमेइत्ता तीमं जत्ताइं अणमणाइं उेदित्ता  
तस्स उाणस्स अणाउोइय अपाठिकंता काळे मासे कालं कि-  
त्ता चपरचंचाए रायहाणीए काळि वरिसिए भवणे उववाय-  
मजाए देवमयाणज्जिमि देवदंसंनरिआ अंगुलस्स अंसखेउजइ  
जागमेत्ताए आंगाहणाए काळी देवं देविताए उववन्नाए ।  
तए णं सा काळी देवं अवहुणोववका समाणी पंचविहा-  
ए पज्जत्ताए जहा सुरियाभे जाव भासायणपज्जत्तीए ।  
तए एवं सा काली देवी चण्हं माभाणियसहस्सीणं जाव  
अन्मंभं च बहूणं काळी वरिसगजवण्णासीणं अमुरकु-  
मारणां देवाणं य देवीण य आहेवच्छं जाव विहरइ, एवं  
खलु गोयमा ! काळीए देवीए सा दिव्वा देवद्वी लच्छा पन्न-  
त्ता अजिममएणा गया । काळीए एवं भंते ! देवीए केवति-  
यं कालं उिची एणत्ता ? । गोयमा ! अहइज्जा तिपत्तिओ-  
वपाइं उित्तं पन्नत्ता, काळीए एवं भंते ! देवी ! ताओ देवदो-  
गाओ अणंतरं उव्वट्ठित्ता कहिं गच्छंहिति कहिं उववज्जि-  
हिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिञ्जइइ, एवं  
खलु जंबू ! समणे एवं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पढमञ्ज-  
यणस्स अयमठ्ठे पणत्ते ति वेमि [पढं अज्जयनं समत्तं] ।  
जत्ति एवं भंते ! समणे एवं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं पढमस्स  
वग्गस्स पढमज्जयणस्स अयमठ्ठे पणत्ते, वित्थियस्स एवं भंते !  
अज्जयणस्स समणे एवं जाव संपत्ते एवं केअठ्ठे पणत्ते ? ।  
एवं खलु जंबू ! तेषं काळे एवं तेषं समए णं रायगिहे नगरे  
गुणसिद्धए चंद्रए सामी समासे वेरिआ निग्गया जाव पज्जु-  
वासइ । तेषं काळे एवं तेषं समए एवं राई देवी चपरचंचाए रा-  
यहाणीए, एवं जहा काली तदेव अगया नहुविहि उवदंसेत्ता  
जाव पद्मिया [भंते त्ति] जगवं गोयमे ! पुब्बजवपुत्ता । एवं

खलु गोयमा ! तेषं काले एवं तेषं समए णं आमन्नकप्पा नयरी  
अंबसालवणे चंद्रए जियसक् राया, राई गाहावई रायसिरी  
भारिया राई दारिया पासस्स समोमरए राई दारिया जहेव  
काळी तदेव थिक्खित्ता तदेव सरंरियाउसिया, तं चेव सव्वं  
जाव अंतं काहित्ति, एवं खलु जंबू ! वीयज्जयणस्स निक्खेवओ  
॥१॥ जतिणं भंते ! तएयस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ, एवं  
खलु जंबू ! रायगिहे नयरे गुणसिद्धे चंद्रए एवं जहेव राई तदेव  
रयणी वि, नवरं, आमन्नकप्पा नयरी. रयणी गाहावती रयण-  
सिरी भारिया, रयणी दारिया, सेसं तदेव, जाव अंतं काहित्ति  
॥३॥ एवं विज्जू वि. आमन्नकप्पा नयरी, विज्जू गाहावतं ।  
विज्जुसिरी जारिआ विज्जू दारिया, सेसं तदेव ॥४॥ एवं मे-  
हाव. आमन्नकप्पा नयरी मेहा गाहावती मेहसिरी भारिआ  
मेहा दारिआ, सेसं तदेव । एवं खलु जंबू ! समणे एवं जाव संपत्ते णं  
धम्मकहा णं पढमस्स वग्गस्स अयमठ्ठे पणत्ते । इअं २ शुअं १ वगे ।

चमस्स णं जंते ! अमुरिंदस्स अमुरकुमाररओ सोमस्स  
महारओ कइ अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अज्जो !  
चत्तारि अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा- कणया  
कणयत्तया चित्तगुत्ता वसुंयरा । तत्थ एवं एगमेगाए देव । ए  
एगमेगं देवीमहस्सं परिवारो पणत्तो । पत्तुं एवं ताओ एगमे-  
गा देवी अस्स एगमेगं देवीमहस्सपरिवारं विउत्तित्ताए ?  
एवमेव सपुत्तारं एवं चत्तारि देवीसहस्सा सेसं तुट्ठिए ।  
पत्तुं एवं जंते ! चमस्स अमुरिंदस्स अमुरकुमाररओ सोमे  
महाराया सोमाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए सोमसि  
सीहामणंसि तुट्ठिए एवं अवसेसं जहा चमस्स, णवरं, परि-  
यारो जहा सुरियाभस्स, मेसं तं चेव, जाव एणं चेवं एवं मेहु-  
णवत्तियं । चमस्स णं जंते ! जाव रओ जमस्स महारओ  
कइ अग्रगमहिंसीओ ? । एवं चेव, णवरं, जमाए रायहाणीए, एवं  
सेसं जहा सोमस्स । एवं वरुणस्स वि, णवरं, वरुणाए रायहा-  
णीए, एवं वेमणस्स वि, णवरं, वेमणस्स रायहाणीए, एवं  
सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । वस्सिस्स णं भंते ! वररोयाणि-  
दस्स पुत्तजा । अज्जो ! पंच अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं  
जहा-सुंभा थिमुंजा रंभा निरंजा मएणा । तत्थ एवं एग-  
मेगाए देवीए अट्टट्टं, मेसं जहा चमस्स, णवरं, वस्सिस्स  
रायहाणीए परिवारो जहा ओओदेनए, सेसं तं चेव जाव  
मेहुणवत्तियं । वस्सिस्स णं भंते ! वररोयाणिदस्स वररोयण-  
रओ सोमस्स महारओ कइ अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अ-  
ज्जो ! चत्तारि अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-भीणगा  
सुभहा विज्जुआ अमणी । तत्थ एवं एगमेगाए देवीए, एवं  
सेसं जहा चमस्स । एवं जाव वेसमणस्स । अं ० १ ० शं ० ७ ०  
आत्तां पुंकेवः—

जइ णं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं दोच्चस्म वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबु ! समणे एं जाव संपत्ते णं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्जयाणा पक्कत्ता । तं जहा—सुंभा ? तिदुज्जा २ नरं ३ निरंभा ४ पदयाणा ५ । जइ खं जंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकट्ठा एं दोच्चस्म वग्गस्स पंच अज्जयाणा पक्कत्ता । दोच्चस्म एं भंते ! वग्गस्स पदमज्जयाणास्स केअट्ठे पक्कत्ते ! एवं खलु जंबु ! तेषं काझे एं तेषं समणं एं रायगिहे गुणसिल्ले चेट्ठेए, सामी सपोसंढे, परिसां जाव पज्जुवासति, तेषं काझे णं तेषं समणं एं सुंभा देवी बल्लिवेचाए रायहाणीए सुंजवडिसए जवणे सुंभंमि मिह्हासंखंसि कास्सिमणए णं जाव एट्ठविहि उवदंसेत्ता जाव पाडिगया पुब्बनवपुच्छा । माचत्थी नवरी, कोट्टए चेट्ठेए, जियसत्त राया, सुंभं गाहावडि, सुंजसिरी भारिआ, सुंजा दारिया, सेसं जहा काडोए, नवरं, अणुत्ताति पल्लिआवमाइं उतिंती, एवं खलु जंबु ! उक्खेवओ पदमस्स अज्जयाणास्स, एवं सेसा वि चत्तारि अज्जयाणा सावत्थीए, नवरं, माया पिया धूपसिरिनिनामया । एवं खलु जंबु ! निक्खेवओ वीयस्स वग्गस्स । इ०२५०१ अ०

धरणस्य—

धरणस्स एं भंते ! पागकुमारिंदस्स पागकुमाररणो कइ अग्गमहिमीओ पक्कत्ताओ ? अज्जे ! उ पक्कत्ताओ । तं जहा—अला सक्का मतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया । तत्थं णं एगमेगाए देवीए उ उ देवीसहस्रपरिवारो पक्कत्ताओ । पत्तं णं ता अओ एगमेगा देवी अयाए उ उ देवीसहस्रमाइं परिवारं वि उल्लिखत्तए, एवामेव सपुंवावरं णं उत्तीं मं देविमहस्साइं, सेत्तं तुट्ठिए । पत्तं ! णं भंते ! धरणं, सेसं तं चेव, एवरं, धरणए रायहाणीए धरणंसि सीहामणंमि सओ परिवारो, सेसं तं चेव । धरणस्म एं जंते ! पागकुमारिंदस्स कालवाडस्स जोगवाडस्स महाराणो कइ अग्गमहिमीओ पाणत्ताओ ? । अज्जे ! चत्तारि अग्गमहिमीओ पाणत्ताओ । तं जहा—असोगा विमला सुपुजा सुदंसणा । तत्थं एं एगमेगाए देवीए०, अरवंसेसं जहा चमरदोगपालाणं, सेसायं तिण्हि वि ।

भूतानन्दस्य—

जूयाणंदस्स णं भंते ! पुच्छा । अज्जे ! उ अग्गमहिमीओ पक्कत्ताओ । तं जहा—रूया रूपंसा सुरूया रूपंसा इव रूपंसा रूपंसा । तत्थं णं एगमेगाए देवीए०, अरवंसेसं जहा धरणस्स । जूयाणंदस्स णं भंते ! पागकुमारस्स चित्तस्स पुच्छा । अज्जे ! चत्तारि अग्गमहिमीओ पक्कत्ताओ । तं जहा—सुंनंदा सुभहा सुजाया सुमणा । तत्थं णं एगमेगाए देवीए०, अरवंसेसं जहा चमरदोगपालाणं । एवं सेमाण वि तिण्हि वि लोणपालाणं तहा, दाहिणिह्हा इंदा, तेमिं जहा धरणस्स । लोणपालाणं वि, तेसिं जहा धरणलोणपालाणं । उत्तरिंदाणं जहा जूयाणं-

दस्स । लोणपालाणं वि, तेसिं जहा जूयाणंदस्स लोणपालाणं, एवरं, इंदाणं मव्वंसि रायहाणीओ सीहामणणि य सरिसणामागणि, परिवारो जहा मोअोरेसए, लोणवालाणं सव्वंसि रायहाणीओ सीहामणणि य सरिसणामागणि परिवारो जहा चमरदोगपालाणं । ज० १० श० ५ उ ० ॥  
जूतानन्दस्य—(एवमिति) यथा कालवासस्य तथाऽथेयाम्नि, नवरं, तृतीयस्थाने चतुर्थो वाच्यः । धरणस्य दक्षिणभागकुमारनिर्वाणस्य लोकापालानामप्रसिद्धिं यथा २ यन्नामिकास्तथा २ तन्नामिका एव स्वयं वाक्त्रिणात्यानां देवाणामग्र्यानां वेणुदेवहरिकर्ताश्रास्यपूणजलकान्तमितगतियेवस्यघोषाख्यानामिन्द्राणां यं लोकापालाः सुत्रे दक्षिणास्तेषां स्वयंमिति । यथा च भूतानन्दस्यदीक्ष्यनागरजस्य तथा देवाणामग्र्यानामीदीक्ष्येन्द्राणां वेणुप्रासिद्धिस्तदाक्षिमाणवसिष्ठजलप्रभामितयाहनप्रभञ्जनमहाघोषाख्यानां यं लोकापालास्तेयामपाति । पत्तं देवाह—जहा धरणस्सेत्यादि ।

आसां पुर्वभवः—

उक्खेवओ नइयवग्गस्स । एवं खलु जंबु ! समणे णं जाव संपत्ते एं तइयस्स वग्गस्स चउप्पक्का अज्जयाणा पक्कत्ता । तं जहा—पदमे अज्जयाणं जाव चउप्पक्कत्तमे अज्जयाणं । जइ एं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं धम्मकट्ठा एं तइयस्स वग्गस्स चउप्पक्का अज्जयाणा पक्कत्ता । पदमस्स एं भंते ! अज्जयाणास्स समणे णं जाव संपत्ते एं केअट्ठे पक्कत्ते ! एवं खलु जंबु ! तेषं काझे एं तेषं समणं एं रायगिहे नगरं गुणसिल्ले चेट्ठेए सामी सपोसंढे, परिसा निग्गया जाव पज्जुवासति । तेषं काले णं तेषं समणं एं अला देवी भारा रायहाणीए अलावडिसए जवणे अत्तेसि सिंहासणंसि, एवं काडो गमए णं जाव नट्ठविहे उवदंसेत्ता पकिगया पुब्बजवपुच्छा । वाणारसीए काममहावणे चेट्ठे अत्ते गाहावती अल्लनसिरी भारिआ अला दारिया, सेसं जहा काहिए, नवरं, धरणस्स अग्गमहिमित्ताए उववाओ साइरं अणुपालिपोवमं उतिंती, सेसं तहवा एवं खलु निक्खेवओ पदमज्जयाणास्स । एवं कपा सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया वि, सव्वाओ एयाओ धरणस्स अग्गमहिमीओ । एते छ अज्जयाणा वेणुदेवस्स अरवंसेसा जाणियव्वा, एवं जाव घोसस्स वि एते चेव अज्जयाणा । एए चेव दाहिणिह्हाणं इंदाणं चउप्पक्कं अज्जयाणा भवंति, सव्वाओ वि वाणारसीए काममहावणे चेट्ठे तइयवग्गस्स निक्खेवओ । चउत्थस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबु ! समणे एं जाव संपत्ते णं धम्मकट्ठा एं चउत्थस्स वग्गस्स चउप्पक्का अज्जयाणा पक्कत्ता । तं जहा—पदमे अज्जयाणास्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबु ! तेषं काले णं तेषं समणं एं रायगिहे सपोसणं जाव परिसा पज्जुवासत्ते । तेषं काले णं तेषं समणं एं रूया देवी रूयाणंदारायहाणीए रुयगवडिसए जवणे रुयंसि

सीहामणंसि जहा कास्त्रिए तद्वा, नवरं, पुव्वजवे चंपाए पुण्ज-  
जरे चेट्टए रूप गाहावती रुयगसिरी जारिआ रूया दारिया।  
सेसं तद्देव, नवरं, नूयाणंदा अग्गमहिंसिचाए उववाओ देह-  
एणं पल्लिओवपड्ढिती निक्खेवओ एवं खलु जंबू ! सुरूवा  
वि रुयंसा वि रुअगवार्दे वि रुअकंता वि रूपपजा  
वि, एयाए चैव उत्तरिह्णाणं इंदाणं भाणियन्वाओ जाव महा-  
घोसस्स । निक्खेवओ चउत्थस्स वग्गस्स । हा०२.७०१ वगे ।

व्यत्तरेन्द्राणां कालस्य—

कास्त्रस्स णं भंते ! पिसायइंदस्स पिसायरओ कइ अग्ग-  
महिंसीओ पल्लचाओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ  
पल्लचाओ । तं जहा-कमला कमलपञ्जा लप्पला मुदंसा । त-  
त्तं णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं, सेसं जहा चम-  
रल्लोणपलाणं, परिवारो तद्देव, णवरं, कास्त्राए रायहाणीए  
कालंसि सीहामणंसि, सेसं तं चैव, एवं महाकालस्स वि ।

सुरूपस्य—

सुरूवस्स णं जंते ! जूईदस्स जूपरओ पुच्छा । अज्जो !  
चत्तारि अग्गमहिंसीओ पल्लचाओ । तं जहा-रूपवई  
बहुरूवा सुरूवा मुभगा । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा  
कालस्स, एवं पक्खिवस्स वि ।

पुण्यमदस्य—

पुण्जइस्स णं भंते ! जिक्खिदस्स पुच्छा । अज्जो ! च-  
त्तारि अग्गमहिंसीओ पल्लचाओ । तं जहा-पुष्पा बहुपु-  
त्तिया उत्तमा तारया । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा  
कास्त्रस्स, एवं माणिजइस्स वि ।

जीममहाजीमयोः—

जीमस्स णं जंते । रक्खसिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि  
अग्गमहिंसीओ पल्लचाओ । तं जहा-पल्लमा पल्लमावई  
कण्णा रायणप्पभा । तत्थ णं एगमेगा देवी०, सेसं जहा  
कालस्स, एवं महाजीमस्स वि ।

किन्नरस्य—

किण्णरस्स णं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गम-  
हिंसीओ पल्लचाओ । तं जहा-बईसा कंतुमई रइसेणा  
रइप्पिया । तत्थ णं०, सेसं तं चैव । एवं किणुरितस्स वि ।

सुपुरुषस्य—

सुपुरिसस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ  
पल्लचाओ । तं जहा-रोहिणी नवमिया हिरी पुक्खवई । तत्थ  
णं एगमेगा देवी०, सेसं तं चैव । एवं महापुरिसस्स वि ।

अतिक्रयस्य—

अइकापस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ  
पल्लचाओ । तं जहा-जुयगा भूयगवई महाक्क्या कुसा ।  
तत्थ णं०, सेसं तं चैव । एवं महाकास्त्रस्स वि ।

गौतमतेः—

गौयइस्स णं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिं-

सीओ पल्लचाओ । तं जहा-सुघोसा विमला सुस्सरा स-  
रस्सई । तत्थ णं०, सेसं तं चैव । एवं गीयजसस्स वि । सज्जे-  
सि एएसिं जहा कालस्स, णवरं, सारिसनामगाओ रायहा-  
णीओ सीहासणाणि य, सेसं तं चैव । ज०१.०७०५ व० ।

आसं पूर्वमवः—

पंचमवग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव वत्तीसं  
अज्जयणा पक्खा । तं जहा-

कमला कमलाप्पभा, उप्पहा य मुदंसणा ।

रूववई बहुरूवा, सुरूवा मुभगा वि य ॥ ? ॥

पुन्ना बहुपुत्तिया च, उत्तमा तारया वि य ॥

पल्लमावती सुप्पई, कण्णा कणणप्पजा ॥ २ ॥

वदंसा केउमई च, रइसेणा रइप्पिया ।

रोहिणी नवमिया वि, हिरी पुक्खवई इय ॥ ३ ॥

जुयगा जुयगावती, महाक्क्या कुडाइया ।

सुघोसा विमला चैव, सुस्सराइ सरस्सई ॥ ४ ॥

उक्खेवओ पदमज्जयणस्स । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं

तेणं ममए णं रायगिडे णयरे समोसरणं जाव पच्छुवासइ ।

तेणं काले णं तणं समए णं कमला देवी कमलाए रायहाणीए

कमलवार्दिसए जवणे कमलंसि सीहासणंसि०, सेसं जहा

कास्त्राए तद्देव, नवरं, पुव्वजवे नागपुरे णगरे सहसंबवणे

उज्जाणे कमलस्स गाहावइस्स कमलसिरी भारिया कमला

दारिया पासस्स णं अंतिए निक्खंता, कास्त्रस्स पिसायकुमा-

रिंदस्स अग्गमहिंसीओ अक्खण्णिओवपड्ढिती, एवं सेसावि

अज्जयणा । दाहिणिह्णाणं बाणमंतरीदाणं भाणियन्वाओ स-

व्वाओ, नागपुरे सहसंबवणे उज्जाणे मायापियरो पूयासिरि-

सनामया ठिवी अक्खपलितोवमं । पंचमो वग्गो सम्मत्ता ॥५॥

उद्धो वि वग्गो पंचमसारिओ, नवरं, महाकास्त्रिदाणं उत्तरि-

ह्णाणं इंदाणं अग्गमहिंसीओ पुव्वजवे साएए एयरे उत्तरकु-

रुउज्जाणे मायापियरो धूयमिरिणामया सेसं तं चैव ।

उद्धो वग्गो सम्मत्ता । हा० २ ख० ६ व० ।

ज्योतिष्कन्दाणाम्—

चंदस्स णं जंते ! जोतिसिंदस्स जांतिसरओ कति अग्ग-

महिंसीओ पल्लचाओ ? । चत्तारि अग्गमहिंसीओ पल्लचाओ ।

तं जहा-चंदप्पभा जोसिणाजा अच्चिमाही एभंकरा । तत्थ णं

एगमेगाए देवीए चत्तारि चत्तारि देवीसाहस्ससीओ परिवारो

पल्लचाओ । पज्ज ! णं ततो एगमेगा देवी अक्खाई चत्तारि चत्तारि

देवसाहस्साई परिवारं विउण्वित्तए, एवामेव सएण्वाव-

रेखं सोससेदेवीसाहस्ससीओ पल्लचाओ, सेसं तुप्पिणं ।

( चंदस्स णं भंते ! इत्यादि ) चन्द्रस्य अदन्तः । ज्योतिषेन्द्रस्य

ज्योतिषराजस्य कति कियस्संकाशा अग्रमदित्यः प्रकृताः ? ।

जगवान्नाह—गौतम ! अतस्त्रोऽग्रमदित्यः प्रकृताः । तद्यथा-च-

न्द्रमजा ( जोसिणामेति ) ज्योःस्तानाम्, अच्चिमाली, प्रभङ्गा ।

( तस्य णमित्यादि ) तत्र तासु चतसृष्वप्रमहिषीषु मध्ये एकैक-  
स्या देव्याश्चत्वारि ३ देवीसहस्राणि परिवारः प्रहसः । किमु-  
क्तं भवति । एकैका अग्रमहिषी चतुर्णां चतुर्णां देवीसहस्रा-  
णां पट्टाङ्गीनामेकैका च सा इत्यभूताऽग्रमहिषी, परिवारणाव-  
सरे तथापि च । ज्योतिष्काराजस्य चन्द्रदेवच्छासुपलण्य प्रहृ-  
रम्यानि आत्मसमानरूपाणि चत्वारि देवीसहस्राणि विकुर्वितुं  
स्वाभाविकानि, पुनरन्वयेय उक्तप्रकारैव पूर्वपरमीलनेन वारु-  
शदेवीसहस्राणि चन्द्रदेवस्य प्रवर्ति । "सप्तं तुभिय" तत्रैव  
तावत् शुटिकमन्तःपुरं व्यपदिश्यते ।

सनायामभोगः-

पञ्च । णं जंते ! चंदे जोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्दिसए  
विमाणे सजाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुदिणए स-  
किं दिव्वाइं भोगभोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए ? गोयमा !  
नो इण्णहे समइ । से केण्णहे णं भंते ! एवं बुबइ ? नो पञ्च !  
चंदे जोइसराया चंदवर्दिसए विमाणे सभाए सुधम्माए चं-  
दंसि सीहासणंसि तुभिय णं सकिं विपुलं भोगभोगाईं जुं-  
जमाणे विहरित्तए ? गोयमा ! चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जो-  
इसरखो चंदवर्दिसए विमाणे सभाए सुधम्माए माणवगंसि  
चेतियखंजंसि वइरामयेयु गोववचसमुगएपु बहुयाओ जि-  
एसकहाओ चिट्ठिंति, जाओ णं चंदस्स जोतिसिंदस्स जो-  
तिसरखो आणोसिं च बहुयां जोतिसयाणं देवाण य  
देवीण य अब्धिणज्जाओ जाव पञ्जुवासिणज्जाओ तामि  
एं पण्णिहाए नो पञ्च ! चंदे जोइसराया चंदवर्दिसए जाव  
चंदंसि सीहासणंसि जुंजमाणे विहरित्तए, मे तेण्णहे गौ-  
यमा ! नो पञ्च ! चंदजोतिसराया चंदवर्दिसए विमाणे सभा-  
ए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुदिणए सकिं दिव्वाइं  
जोगजोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए अदुत्तरं च णं गोयमा !  
नो पञ्च ! चंदजोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्दिसए विमाणे  
सजाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि चइहिं सामाणियस-  
हस्सीहिं जाव सोइससहिं आयरकस्वदेवसाहस्सीहिं अत्रे-  
हि य बहुहिं जोतिसिण्णिं देवेहि य देवीहि य सकिं सपरि-  
बुडे महयाहयएण्णगीयवाइयतंतीतत्तत्तान्नुविद्ययणमुंगपकु-  
प्पवाइयरेणं दिव्वाइं भोगभोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए  
केवलपरियारतुदिणए सकिं जोगभोगाईं चोसहिंए बुक्कि-  
ए नो च व णं भइणवत्तियं ।

( पञ्च णं जंते । इत्यादि ) प्रभुभेदन्त ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्यो-  
तिषराजस्य चन्द्रावन्तसक विमाने सनायां सुधमायां चन्द्रे सिहा-  
सने शुटिकेनाम्नःपुरेण सार्द्धे दिव्यात् भोगभोगान् भुञ्जमानो  
बिहंतुमासितुं भगवानाह- गौतम ! नायमर्थः समर्थः । अत्रैव  
कारणं पृच्छन्ति- ( स केण्णमित्यादि ) तत्रैव भगवानाह-  
गौतम ! चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य चन्द्रावन्तसक  
विमाने सनायां सुधमायां माणवकचैत्यस्तन्नेन ब्रह्ममेधु गो-  
लवृत्तसमुद्रकेतु तेषु यथा तिष्ठन्ति तथा विजयराजधामगत-  
सुधमासभायामिव द्रष्टव्यम् । ब्रह्मि जिनसकथां नि सञ्चिह्नितानि

तिष्ठन्ति यानि । सूत्रे श्रीव्यतिदेशः प्राकृतत्वात् । चन्द्रस्य ज्योति-  
षेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य भवेनीयानि पुष्पादिभिवःवनीयानि  
विशिष्टेः स्तोत्रैः स्तोतव्यानि पुजनीयानि वस्त्रादिभिः सकार-  
णीयानि आर्चयितव्या सन्माननीयानि जिनांश्चितप्रतिपत्त्या क-  
स्यायं मंगलं चैत्यमिति पुराणसामान्यानि ( तांसि पण्णिहाए ण )  
तेषां प्रतिजिया तानि आश्रित्य नो प्रभुचन्द्रो ज्योतिषराजस्य चन्द्र-  
वन्तसक विमाने यावच्छिद सैव्यमिति । ( पञ्च णं गोयमा । इत्यादि )  
प्रभुगतम् । चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराजस्य चन्द्रावन्तसक विमाने  
सनायां सुधमायां चन्द्रे सिहासने चतुर्भिः सामानिकसहस्रै-  
श्चतसृभिरप्रमहिषीभिः सपरिवारानिस्तित्स्वजिः पर्यङ्गः सप्त-  
भिरनीकाधिपतिभिः वारुशानिरात्मरक्षकदेवसहस्रैरन्यैश्च बहु-  
भिर्ज्योतिषेन्द्रैश्चैवैकीभिश्च सार्द्धे संपरिवृतो महयाहवेत्यादि पृ-  
ष्वक्त् दिव्यात् भोगभोगान् वृञ्जमानो बिहंतुमिति न पुनर्मिथु-  
नप्रत्ययं मैतुननिमित्तं दिव्यात् स्पर्शादीन् भोगान् भुञ्जानो  
बिहंतुं प्रयुरिति ।

सूर्यस्याप्रमहिष्यः-

सूरस्स एं भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो कति अग्रगमहि-  
सीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि अग्रगमहिंसीओ पण-  
त्ताओ । तं जहा-सूरिप्पजा आतपाभा अग्निपाली पजंकरा ।  
एवं अबसेमं जहा चंदस्स, णवरिं, सूरिवर्दिसके विमाणे  
सूरमि सीहासणंसि तट्ठेव ।

( सूरस्स एं भंते ! इत्यादि ) सूरस्य भद्रन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य  
ज्योतिषराजस्य कति अग्रमहिष्यः प्रहसताः ? । जगवानाह-गौत-  
म ! चन्द्रोऽग्रमहिष्यः प्रहसताः । तथा-सूरस्य आतपाभा  
अग्निपाली प्रजंकरा । तस्य णं परमगाए देवीए । इत्यादि चन्द्रवत्  
तावद् वक्तव्यं, यान्त् नो चेष णं मैतुणवत्तियं, नवरं, सूर्यवत-  
सक विमाने सूर्यसिंहासने इति वक्तव्यम्, शेष तथय । जी०  
४ प्रति० । स्वा० ।

अङ्गारकादीनाम्-

इंगालस्स एं भंते ! महागहस्स कति अग्रगमहिंसीओ ?  
पुञ्जा । अज्जो ! चत्तारि अग्रमहिंसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-  
विजया वेजयंती जयंती अपराजिता । तस्य णं एगमेगाए  
देवीए०, सेसं तं चेव, जहा चंदस्स, णवरं, इंगालवर्दिसए वि-  
माणे इंगालगंसि सीहामणंसि, मेसं तं चेव, एवं विद्यात्तस्स  
वि । एवं अट्टासीए वि महागहाणं वचन्त्या णिरवत्सेसा  
भाणियव्वा जाव जावकेउस्स, णवरं, वदिमगा सीहासणा-  
णिय य सरिसखामाणिय, मेसं तं चेव । भ० १० श० ५  
ठ० । जीवा० । स्या० ।

आसां पूर्वप्रवचः-

सप्तमवगस्स उक्खेवो । एवं खलु जंबू । जाव चत्तारि अ-  
ज्जयणा पण्णत्ता । तं जहा-सूरप्पभा आयंवा अग्निपाली  
पजंकरा । पढमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू !  
तेणं काळेणं तेणं समए णं रायगिडे समोसरणं जाव परि-  
सा पञ्जुवासति । तेणं काळेणं तेणं समए णं सूरप्पजा देवं ।  
सूरंसि विमाणंसि सूरप्पजंसि सीहासणंसि सेसं जहा का-  
लिय तद्दा, नवरं, पुववभओ अक्खपुरीए नयेरे सूरप्पभस्स

गाहावद्दस्स सुरसिरिए भारियाए मूरप्पजा दारिया मूर-  
स्स अग्गमहिंसी तिती अक्खपत्तिआवयं पंचहिं वाससएहिं  
अभ्भइयं, सेसं जहा कासिए । एवं सेसाओ वि सच्चाओ  
अक्खपुुरीए नयरीए [सत्तमवगो सम्मत्तो] ॥७॥ अद्धमस्स  
वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । जाव चचारि अक्खयया  
पत्तत्ता । तं जहा—चंदप्पभा दी।तिप्पजा अग्निमाली पट्टंकरा ।  
पट्टमस्स अक्खयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । तेणं काले  
णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पञ्जुवा-  
सइ । तेणं काले णं तेणं समए णं चंदप्पजा देवी चदप्पजंसि  
सीद्दासणंसि, सेसं जहा कालिए,नवरं, पुव्वभवे महुराप न-  
यरीए भंभीवंसिए, उज्जाए चंदप्पजे गाहावद्दं चंदसि-  
री भारिया चंदप्पभा दारिया चंदस्स अग्गमहिंसी तिती  
अद्धपत्तिआवयं पच्चासं वाससहस्तेहिं अच्चाइयं, सेसं जहा  
कालीए, एवं सेसाओ वि महुराप नयरीए भायापियरो  
धुयसिरीनामया [ अट्टमो वग्गो सम्मत्तो ] ॥७॥ ५ श्रु० ।

वैमानिकानां शाक्य—

सक्कस्स णं भंते । देविंदस्स देवरणो पुच्छा । अज्जो ! अद्ध  
अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ । तं जहा—पठमा सिवा सेवा  
अंजुं अमला अच्छरा नवमिया रोहिणी । तत्थ णं एगमे-  
गाए देशेए सोत्तस ५ देवीसहस्सपरिचारे पएणत्ताओ । पभू !  
ए तं आओ एगमेगा देवी अच्चाई सोत्तस ५ देविसहस्सा-  
ई परिवारं विउत्तवत्तए । एवामेव सपुव्वावरणं अट्टावी-  
सुत्तरं देवीसपयसहस्सं परिवारे विउत्तवत्तए, सेत्तं तुप्पिए ।  
ज० १० श्रु० ५ उ० ।

उपासकदशाङ्कटीकायां काम्यदेशवकल्पतायामभयदेशवसुरिणा  
अग्रमहिर्षीपरिवारः प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि, सर्वमीक्षने चत्वारि-  
हासहस्राणांति लिखितम्, तस्मिन्त्यम् । जं० स्था० ।

जोगः—

पभू ! णं भंते । सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोह-  
म्मवदंसिए विभागे सजाए सुहम्माए सक्कंसि सीद्दासएंसि  
तुप्पिए णं सक्किं, सेसं जहा चपरस्स, खरं, परिवारे जहा  
माओइसए ।

शकलोक्पालानाम्—

सक्कस्स णं भंते । देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारएणो  
काति अग्गमहिंसीओ । पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसी-  
ओ पएणत्ताओ । तं जहा—रोहिणी मट्टया चित्ता सोभा । तत्थ  
ए णं ०, सेसं जहा चपरलोगपालाणं, णवरं, सयंपजे विभागे  
सभाए सुहम्माए सोमंसि सीद्दासणंसि, सेसं तं चेव, एवं जाव  
वेसमणस्स, णवरं, विभागाई जहा तइयमए । ज० १० श्रु०  
५ उ० । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरओ वरुणस्स महारओ  
सत्त अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ । स्था० ७ उ० ।

ईशानस्य—

ईसायस्स णं भंते । पुच्छा । अज्जो ! अद्ध अग्गमहिंसीओ  
पय्थत्ताओ । तं जहा—काएटा काएहराती राभा रामरक्खिया  
वतु वसुवुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा । तत्थ णं एगमेगाए०, सेसं  
जहा सक्कस्स । ज० १० श्रु० ५ उ० स्था० ।

ईशानलोक्पालानाम्—

ईसाएस्स णं भंते । देविंदस्स देवरणो सोमस्स महार-  
णो काति अग्गमहिंसीओ । पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गम-  
हिंसीओ पएणत्ताओ । तं जहा—पुठ्ठी राई रपणी विज्जू ।  
तत्थ णं ०, सेसं जहा सक्कस्स होमयासायां । एवं जाव वर-  
णस्स, एवरं, विभाया जहा वत्तवत्तए, सेसं तं चेव जाव णो  
चेव णं बेहुएवत्तियं । ज० १० श्रु० ५ उ० । सक्कस्स णं  
देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारएणो उ अग्गमहिंसीओ  
पएणत्ताओ । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरणो जम्मस्स महार-  
णो उ अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ । स्था० ६ उ० । ईसा-  
एस्स णं देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारएणो सत्त अग्गम-  
सीओ पय्थत्ताओ । ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरणो जम्मस्स  
महारएणो सत्त अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ । स्था० ७ उ० ।  
ईसायस्स णं देविंदस्स देवरणो वरुणस्स महारणो जव  
अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । स्था० ८ उ० ।

भासां पूर्वजवः—

नवमस्स० उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । जाव अद्ध अक्खयया  
पत्तत्ता । तं जहा—पठमा सिवा सुई अंजुं रोहिणी नवमिया इय  
अचला अच्छरा । पट्टमअक्खयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु  
जंबू । तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा  
जाव पञ्जुवासइ । तेणं काले णं तेणं समए णं पठमावई देवी  
सोहम्मे कप्पे पठमवदंसिए विभागे सभाए सुहम्माए पठ-  
मंसि सीद्दासणंसि, जहा कालीए, एवं अद्ध वि अक्खययो  
कालीगमए णं नेयच्चा, नवरं, सावात्थिए दो जणीओ हत्थि-  
णाउरे दो जणीओ कोंपट्टपुरे दो जणीओ सासए दो जणी-  
ओ पठमे पियरो विजया भायरो सच्चाओवि भासस्स अं-  
तिपे पव्वइया सक्कस्स अग्गमहिंसीओ तिई सत्तपलिओव-  
याई महाविदेहे अंतं काहिति [नवमो वग्गो सम्मत्तो] ॥ ८ ॥  
दमस्स० उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । जाव अद्ध अक्खयया-  
पत्तत्ता । तं जहा—काएटा य काएहराई राभा तट्टा रामर-  
क्खिया वसुया वसुवुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा चेव । ईसाणे  
पट्टमअक्खयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । तेणं काले णं  
तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा पञ्जुवासइ । तेणं  
काले णं तेणं समए णं काएटा देवी ईसाणे कप्पे काइवदंसि-  
ए विभागे सजाए सुहम्माए काइंसि सीद्दासणंसि०,  
सेसं जहा कालीए । एवं अद्ध वि अक्खयया काली-



मप एणं नेयव्वा, नवरं, पुव्वज्जे वे वाणारसीए नयरीए दो जणीओ रायगिहं नमरे दो जणीओ सवत्थीए दो जणीओ कोमवीए दो जणीओ रामोपिया धम्मा माया सव्वावि पासस्स अरहत्तो अंतिए पव्वइयाओ पुफ्फुल्लाए जज्जाए सिमिणीयत्ता एसोणस्स अभाग्गहिंसीओ त्रिती नवपलिओवमाहं महाविहेहे वामे सिग्गिहिं जाव सव्वउरखाएणं अंतं काहिइ । एवं खतु जंजू । निक्खेवगो [ दसमो वग्गो सम्मत्तो ] ज्ञा० २ शु० ।

कृष्णस्याग्रमहिष्यः—

कयहस्स णं वासुदेवस्स अह अग्गमहिंसीओ०, अरहओ णं अरिहन्तेमिस्स अंतियं मुंका भवित्ता अगाराओ अणगाारियं पव्वइत्ता सिक्काओ जाव सव्वउरखवप्पहीणाओ । तं जहा-पडभावेइ ये गोरी, गंधारी लक्खणा सुमीया । जंजूवइ सक्कपा रुप्पिणी अग्गमहिंसीओ ॥ १ ॥ स्या० ७ उ० । अन्यत्तासं कथाकमम् ( आसां राजधान्यो ' रश्करपव्वय ' शब्दे वर्णिताः )

अग्गरस-अग्रवरस-पुं० अग्र्यः प्रधानो रसो येच्यस्ते अग्र्यरसाः । गृह्णारसोत्पादकेषु रसादिषु, गृह्णारस्ते च । उक्तं १४ अ० । रसाग्र-न० रसानां सुखानामग्रम् । प्राकृतत्वाद्प्रदाद्येषु पृथे-नियातः । सुखप्रधाने, उक्तं १४ अ० ।

सुसंभिया कामगुणा इये ते, संपिन्दिया अग्गरसपव्वज्जा काइराः कामगुणः ? । अग्रधरसप्रज्जुताः-अग्रधः प्रधानो रसो येच्यस्ते अग्रधरसाः, गृह्णारसोत्पादका इत्यर्थः । यदुक्तम्-“र-तिमात्वात्तुह्रितः, मियजनगम्यत्वेकामसेनाग्निः । उपवनगमनवि-हारेः गृह्णारसः समुद्भवति ” ॥ १ ॥ अग्रधरसाश्च ते प्रज्जु-ताश्च अन्व्यरसप्रज्जुताः, प्रचुरा इत्यर्थः । अथवाऽन्व्यरसेन गृ-ह्णारसेन प्रचुरास्ताम् कामगुणां ( अमारस सि ) चशब्दस्य गम्यमानत्वात् अग्रधा रसाश्च प्रधाना मधुरादयश्च प्रभूताः प्र-चुराः कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसानां पृथगुपादानमतिशुद्धितु-वा-च्छब्दादिष्वपि वैशामेव प्रसक्तत्वात् । कामगुणविशेषणं वा, अग्रधा रसास्त एव गृह्णारादयो वा येषु ते तथा । वृक्षास्वाहु-रसानां सुखानामग्र रसाणं ये कामगुणाः । सूचे च प्राकृतत्वा-दग्रधशब्दस्य पूर्वनिपातः । उक्तं १४ अ० ।

अग्गद-अर्गल-न० वरुशितितरे महाहरि, सू० प्र० २० पाहु० । अजे-कलञ्च-म्यक्कादित्वात् कुत्यम् । कपाटमध्यस्थे रोधके, क-ह्लोते, कपाटे च । वाच० । “ अभासं फलिहं दारं, कवारं वा वि-संअए । अयदंविद्या ण विट्ठिसा, गोअरमभाओ मुणं । ” ॥ १ ॥ अर्ग-सं गोपादिसंबन्धिन्म । द्वा० ५ अ० २ उ० । अग्गदपामस-अग्गदपामशु-क-पुं० यथावत्ता निक्कियन्ते तेपु, आवा० २ शु० १ अ० ५ उ० ।

अग्गलपामाय-अग्गदपामसाद-पुं० स्त्री० यथावत्ता निक्कियन्ते ते-पु-पुं० यथावत्तस्य । आह च जीवाभिगममूहटीकाकार-सन्तार्यां सुधर्म्यां माणवक्षेयम्यन्ते । ग० ।

समुक्कपे ते च यथा तिष्ठति कलञ् । म्यक्कादित्वात् कुत्यम् । अ-पुण्यम् । बहुनि जिन-वायं कन्, अर्गलिकाप्यत्राधं,

विष्कम्भमात्रे, रोधकमात्रे, स्त्री० न० । वाच० । “अग्गदा अग्ग-लपामसाया य वहरामहेतो ” रा० ।

अग्गवीथि-अग्रवीथि-न० । अग्रे बीजं येषां ते तथा, को-रएटकादयः । अग्रे वा बीजं येषां ते अग्रवर्जिताः । ब्रीह्यादियु, स्था० ४ उ० १ उ० ।

अग्गवेओ-दंशी-नदीपरे, दे० ना० २ अ० ।

अग्गमिहर-अग्रशिरस-न० शिराअं, “ घणनिषियसुवकलकल-सुखयकूनागाराणिजाणिक्कमपिग्गियग्गसिरा ” तं० ।

अग्गमिहर-अग्रशिरस-न० वनस्पत्यादीनां शिखरात्रे, “सो-हियवरं कुरएगसिहरा ” औ० १ रा० ।

अग्गमुयकवन्थ-अग्रश्रुतस्कन्थ-पुं० आचाराङ्कस्य द्वितीयं श्रुत-स्कन्थं, आचा० २ शु० १ अ० १ उ० ।

अग्गसोएका-अग्रशुक्का-स्त्री० शुक्राअं, उपा० २ अ० ।

अग्गह-अग्रह-पुं० आ-प्रद-अञ्च् । ममताऽभिनिवेशे, प्रति० । मिथ्याभिनिवेशे, वा० २ र्विव० । आवेशे, प्रासकौ, प्राकम्, अग्रहं, प्रहणं च । वाच० ।

अग्गहच्छेयकारि ( ष )-अग्रहच्छेदकारिन्-वि० सुर्वावि-च्छेदके, “समाधिराज पतञ्च, ददे तत्तस्वदशंनम् । आग्रहच्छेद-कार्यतयत्, तदेतदसुते परम् ” ॥ १ ॥ ह्रा० २५ ह्रा० ।

अग्गहए-अग्रहए-न० अनादरे, “अहा पुण अगहणं, जाणं-तो वा विपरिणमेज्जासं ” बु० ३ उ० । अग्रुपादानं, उक्तं २ अ० । “यसणमणुसिणज्जं, तिएहं अग्गहणंयणयाणं ” उक्तं ० नि० १ अ० ।

अग्गहएवग्गला-अग्रहएवग्गला-स्त्री० वर्णगानेदे, कर्म० ६ कर्म । अग्गहए-अग्रहए-पुं० अग्रभासी हस्तश्चेति गुणगुणिनोर-भेदात् । क० स० । इत्यस्याप्रमाणं, वाच० । हस्तात्, अनु० ।

अग्गहि ( ष )-अग्रहिन्-त्रि० अग्निनिषेगिनि, “ आग्रहं ) यत ! निनीपति युक्ति, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्कपाट-रहितस्य तु युक्तिवत्र तत्र मतिरिति निवेशम् ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अग्गालीअ-अग्गाली ( नी ) क-न० अग्रज तदनी कंति गुण-गुणिनोरेभदात् । क० स० । जन्मम् । वाच० । सैन्याप्रभागे, “जेणव अरहस्स एरणो अग्गालीअं तेणव उवाचकट्ठिति उ० ३ वक्क० ।

अग्गा ( गो ) एीअ-अग्गायणीय-न० अग्रे परिमाणं, तस्या-यनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितमप्रायणीयम् । सर्वेद्व्या-दिपरिमाणपरिच्छेदकारिणं द्वितीयायुषं, तत्र हि-द्वितीयम-प्रायणीयम् । अग्रे परिमाणं तस्य अग्रयनं गमनं, परिच्छेद इत्य-र्थः, तस्मै हितमप्रायणीयम् । सर्वेद्व्यादिपरिमाणपरिच्छेदका-रिति भावार्थः । तथाहि-तत्र सर्वेद्व्यापानं सर्वेषुयापानं सर्वजीवावशेषाणां च परिमाणमुपवर्धयति । यत उक्तं कृष्णिह-ता-“वीइयं अग्गणीयां तथा सव्वधव्वाण एज्जावाए य सव्वजी-वाण य अग्गं परिमाणं वक्खिअरसि” । अग्गणीयां तस्य पक्कपरि-माणं यपणुवतिपद्दशातसहस्राणि । न० संथा० । “अग्गणीयाणु-व्वस्स से वोइसवत्तुज्जवालसच्चुलिवा वत्थ पक्कथा ” । न० । अग्गि-अग्नि-पुं० अक्षत्यर्थं गच्छति, अग्नि-नि, नलोपः । “ खे-हत्तयोवो ” स० । २ । १०२ । इति प्राकृतसूत्रेण वाऽन्यत्राग्नि-

अग्गाली-अग्गि  
अग्गाली-अग्गि  
अग्गाली-अग्गि

ध्येऽकारः । अग्नि, अग्नी । प्रा० । वैश्वानरे, पि० । निम्नप्रान्तां निम्नधीनां चोन्नयेषामपि परस्परदर्शनेन बहवो दोषा अबन्तौ-  
ति दर्शनायाग्निष्टधानप्रकृषये अग्निनिष्कृष उक्तः । यथा-

दुर्विहो य होइ अग्नी, द्वाग्नी चैव तह य भावग्नी ।

द्व्यग्निमि अगरी, पुरिमो व घरं पलीवैतो ॥

द्विविधश्च प्रवयस्त्रिः, तथा—द्व्यग्निश्चैव भावाग्निश्च । द्व-  
व्याग्नी विव्यमाने अगरी अविरेतिकापुत्रयो वा शुद्धं प्रदीपयद्  
यथा सर्वस्वं दहति, एवं सार्धां वा सापुत्रो सर्जीवयुद्दं सद्-  
नं सत्वाग्निना प्रद्वीपयन् चारित्रसर्वस्वं दहतीति नियुक्तिगा-  
यासंज्ञेयः । अथ विस्तरार्थमभिहितसुद्ध्याग्नि विवृणोति-  
तस्य पुण होइ द्वां, दहणादिगलकत्वणा अग्नी ।

नामोदयपञ्चदशं, दिप्ये देहं समापञ्ज ॥

तत्र तयोर्द्व्यग्निभावाभ्याम्बोधे द्व्यग्निः पुनरयं भवति—यः  
कतु दहनान्दनेकसङ्कोपाग्निः, दहनं भस्मीकरणं तद्वृष्णः ।  
आदिशब्दात् पञ्चनप्रकाशनलक्षणश्च । देहिमिध्ननकाष्टादिकं स-  
मासाद्य प्राप्य नामोदयप्रत्ययमुत्पन्नसर्पादिनामकर्मोद्घाद्  
दीप्यते, स द्व्यग्निरुच्यते ।

किमर्थे पुनरयं द्व्यग्निरिति चेत् आह—

दन्वाइसन्निकरिसा, उपपन्नो ताणि चैव रुद्रभाषो ।

द्ववग्नि स्ति उ वृचद्, आदिमभावाइजुक्तो वि ॥

द्व्यग्नाभ्यांश्चो व्यवधिदत्तमरणिकाष्टं, तस्य, आदिशब्दात् पुष्य-  
प्रयत्नादेश यः सत्रिकर्यः समायोगकस्तमाड्यस्त्रः, ताम्येष का-  
ष्टादिनि द्व्यग्निं दहद् यद्यथादिमोदयिकलक्षणन भावेन  
युक्तोऽग्निनामकर्मोद्घनेत्यर्थः, आदिशब्दात्पारिभाषिकादि—  
भावेन च युक्तो वक्षते तथापि द्व्यग्नाग्निः प्रोच्यते, द्व्यग्नाद्व्यग्ने  
द्व्यग्नाणां वादाहकोऽग्निरिति व्युत्पत्तिसमाधत्तनात् ।

स पुनः कथं दीप्यते इत्याह—

मो पुणित्रणमासज्ज, दिपति संदीर्त्तं य तद्भावा ।

नाणत्तं पि य लभप, इंधणपरिमाणतो चैव ॥

स पुनर्द्व्यग्निरिन्धनतुणकाष्टादिकमासाद्य दीप्यते, सीदती  
च विनश्यति, तद्भावादिधनाभावात् । नानात्वं विशेषस्तदपि  
च ब्रह्मते, इन्धनतेः परिमाणतश्च । तत्रेन्धनतो यथा—तुणानिः  
काष्टानिर्वित्यादि । परिमाणतो यथा—महति तुणदाविन्धने  
महाद् भवति, अल्पे वेधने स्वल्प इत्युक्तो द्व्यग्नाग्निः ।

अथ भाषाग्निं नियुक्तिगायापर्यन्तं व्याच्छेत्—

भावमि होइ वेदो, इचो तिविहो नपुंसगादां छ ।

जइ तासि तद् अत्यि, किं पुण तामि तयं नत्यि ? ॥

प्राग् प्रायाम्निवेश्य इत् ऊर्ध्वं वक्तव्यो भवति । स च वेद्वि-  
विधो नपुंसकादिको ज्ञातव्यः । अथ परः प्राड—यदि तासां संय-  
तीनां तर्क मोहनीयं स्यात् तर्हि युष्मज्जुक्तोऽग्निष्टधानतोऽपि स-  
क्यः स्यात्, किं पुनः परं तासां तर्क मोहनीयं नास्ति, अतः  
कुतस्तासां भाषाग्नेः संभवो ज्ञेय इति भाष्यः । एतन्नृत्त्र  
भाषयिष्यते । अधानन्तरोक्तभाषाग्निस्वरूपं स्पष्टयति—

उदयं पत्तो वेदो, भावग्नी होइ तदुवभोग्योणं ।

जावां चरिसमादी, तं रुद्रइ तेण जावग्नी ॥

वेदः स्वीचेदादिकरूपं प्रातः सज्, तस्य स्वीचेद्विषयसम्बन्धो य उप-  
योगः पुष्यभिषायादिज्ञानरस्तेन हेतुभूतेन भाषाग्निर्ज्ञेयति ।

कुन इत्याह—भाषाकारिकादिकपरिणामस्तं प्राप्य येन कारयन्  
वहति तेन जावामिच्छत्यते । जावस्य दाहकोऽग्निर्भावाग्निरि-  
तिव्युत्पत्तः । कथं पुनर्देहतीति चेदुच्यते—

जह व सार्हाणरयोण, जवणं कस्मद् पमायदप्येणं ।

रुज्जोति समादिचं, अग्निच्छमाणस्म वि वसूणि ॥

इय संदीपणसंभा—सणोहि संदीपिअो मयणवहदी ।

वर्जादो गुणरयोण, रुद्रइ अग्निच्छस्म वि पमाया ॥

यथा वा स्वाधीनरत्ने पञ्चरागादिबहुतरलकलिते ज्वने प्रमा-  
देन द्रव्येण वा समादांति प्रज्वालिते सति कस्यचिद्विज्यावेर-  
निच्छतोऽपि वसुनि रत्नानि वृक्षान्ते ( इय सि ) एवं संदेशमव-  
लोकनं, संभाषणं मिथःकथा, ताज्यां संदीपितः प्रज्वालितो  
मदनवहिरिच्छतोऽपि सापुत्रास्वीजनस्य ब्रह्मादिगुणरत्ना-  
नि ब्रह्मचर्यतपःसंयमप्रतुत्यो यं शृणुसत एव दीर्गयज्ञःक्षाप-  
हारितवा रत्नानि प्रमादादहति भस्मसात्करोति ।

अमुमेवार्थं उच्यते—

सुखिखणवाउवझा—भिदीवितो दिपते इहियं वन्दी ।

दिष्टिपणरागानिल—समीरितो वि इय जावग्नी ॥

सुष्कन्धनेन वायुबलन वाऽग्निदीपितो यथा वह्निरिषिकं दीप्यते  
( इय सि ) एवं दष्टिरूपे यद्विन्धनं यच्च रागरूपोऽग्निर्लो वायुस्ता-  
ज्यां समीरित ईदीपितो भृशं भावाग्निरपि दीप्यते । वृ० १  
उ० । कल्प० । ‘अग्नेयेणको’ ‘घोर’ शब्दे’ ( अग्नेः प्र-  
धमोऽपादाद्यः ‘उसह’ शब्दे’ ) वह्निकान्तं श्लाकात्कि-  
द्वेव, आ० म० प्र० । कृत्स्नकान्तत्रय देवतायाम्, स्या०  
४ डा० २ उ० । ‘कतिवा अग्निदेवताय’ ज्यो० ३ पाठु० । सू०  
प्र० । ‘दो अग्नीश्रो’ स्या० २ उ० ३ उ० । ‘अस्तिर अग्नी जाव  
जमा’ । अग्निरिति कृत्स्नकान्तत्रयस्य देवता यावद्यम इति ।  
स्या० ४ डा० २ उ० ।

अग्नि ( अ ) य—अग्निक्—पुं० यमशिष्ये यमद्विनात्मके  
तापसे, “यमाख्यस्तापस्तत्र, स तापार्थेऽग्निक्०ऽगमत् । प्र-  
पञ्चस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः” । यमशिष्योऽग्निक् इति  
यमद्विनिरिति कुतः” आ० क० । आ० ३ । आ० म० ह्रि० । आ०  
चू० । ( अस्य कथानकं ‘कोह’ शब्दे )

अग्निश्रो—देशी—इन्द्रगोपकीदशियेये, मन्द् च । दे० ना० १ घर्मा ।

अग्निक्जज—अग्निर्कार्ये—न० यागादिविधौ, स्या० ।

अग्निकारिया—अग्निर्कारिका—ज्ञो० अग्निर्कमेण, साधूनां  
द्रव्याग्निकारिकायुदासन भावाग्निकारिकैवाजुहाता । प्रति० ।  
( ‘अग्निहोस्त’ शब्दे चैतद् दृश्यम् )

अग्निकुमार—अग्निकुमार—पुं० अग्निश्चासौ कुमारश्च कुमारश्चे-  
मान इति लुचनपतिदेवजेदो, प्रज्ञो० १ पद । ( अन्नराप्रमहि-  
प्याद्बस्तलच्छब्द एव इत्याः ) ( ‘लुचवणश्च’ शब्दे चाऽस्य  
वर्णादिकम् )

अग्निकुमाराहुवण—अग्निकुमाराहान—न० तैजस्वदेवसंकीर्तने,  
“अग्निकुमाराहवणे भूवं एगे इहं वेति” पञ्जा० २ विव० ।

अग्निक्च—अग्नेयो—पुं० उखरयोः कृष्णराज्ययोर्मैथे अग्नेया-  
भक्तिमानवास्तोऽष्टमे लोकादितिकद्वे, स्या० ५ डा० ३ उ० ।  
प्रव० । ज० । ह्र० । ( ‘लोगंगित’ शब्देऽस्य सर्वं वृत्तम् )



अग्निजूट

सौषधेन वातुग्रहो हृद्य एष । किं च । कर्म विना एकः सुखी, मन्यो बुःखी, एकः प्रभुः, अन्यः किञ्च इत्यादि प्रत्यक्तं जगद्विषयं कथं नाम संबलतीति भ्रूयात् नतसंशयः प्रमजितः । इति द्वितीयो गणधरः । कल्प० ॥ आ० म० ॥ ( अन्वद् 'गणधर' शब्दे ऊर्ध्व्यम् ) पायकविभूत्यां, बीर्ये च । स्त्री० ६ बा० ६ बहिसम्मन्त्रे, जि० वाच० ॥

**अग्निमाणाव-अग्निमानव-पुं०** दाक्षिणात्यानामग्निकुमाराणा-भिन्दे, स्था० २ जा० ३ उ० । प्र० । ( अग्रमहिषीलोकपालादयश्चास्य 'अग्रमहिसेलोगपाशादि' शब्धेषु निकृपताः )

**अग्निमात्री-अग्निमाली-स्त्री०** । रतिकर्पवन्तस्योत्तरेण दिश-तायां शकाममहिष्याम्, स्त्री० ।

**अग्निमिष्ठा-अग्निमित्रा-स्त्री०** । पोहासनगरवास्तवस्याजीविक-मतोपासकस्यैव्यकुम्भकारस्य सहास्रपुत्रस्य भार्यायाम्, उ-पा० ७ अ० । ( 'सहास्रपुत्र' शब्दे उभ्या बलक्यता )

**अग्निमैतृ-अग्निमेष-पुं०** । अग्निवहाहकारजलं मेषे, प्र० ७ श० ६ उ० ।

**अग्निग-अग्निक्-पुं०** । प्रसक्तमिधाने वायुविकारे, विपा० १ सु० १ अ० । इन्द्रत्सेन राज्ञा स्वमन्त्रितुतायास्त्यादितस्य सुरेन्द्रत्स-स्य दास्यं जाते पुत्रे, ( 'मण्डसू' शब्दे चैतद्विभक्तिः ) आ० चू० १ अ० । आ० क० । वत्सगोत्रायान्तगोत्राभ्यं, स्था० ७ जा० ।

**अग्निग्लिय-अग्निम्-पुं०** । अग्ने भवः । अग्र-डिमच् । ज्येष्ठज्जातरि, श्रेष्ठ, वाच० । "अग्निग्लिया पङ्क्तिग्लिया सेसं साधूण पाउमः" । पं० च० २ द्वा० ।

**अग्निग्लय-अग्नि-पुं०** । पञ्चपञ्चाशत्सेन महामहे, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । " वेो अग्निग्ल्या " स्था० २ जा० । उ० ।

**अग्निग्वेस-अग्निवेश-पुं०** । सोमकसिद्ध आचिनेद, नं० ।

**अग्निवेदय-पुं०** । पक्षस्य चतुर्वेदो दिने, जं० १ वक्ष० कल्प० । जं० । दिवसस्य द्वाविंशतितमे मुहूर्त्ते, चं० प्र० । १० पाहु० ।

**अग्निवेशायण-अग्निवेदयायन-पुं०** । अग्निवेश्याप्यमग्निवेश-इयः । गर्गोर्द्वयजिति यत्रप्रत्ययः । तस्याऽपत्यमग्निवेशयायनः । अग्निवेशायणो, नं० । तन्नोत्रजति च । यथा-सुधमो गणधरः । आ० म० ङि० । कल्प० । गोशास्त्रस्य मङ्गलितुत्रस्य पञ्चमे दि-कृत्तरे, म० १५ श० १ उ० । द्वाविंशो दिवसमुहूर्त्ते, स० ३० सम० ।

**अग्निगसकार-अग्निगसकार-पुं०** । अग्निना संस्कारां मन्वपुर्वेक-वाहः । विधानेन अग्निहृतवाहे, वाच० । " जावणया अग्निगस-कारः " ध्यापना नामाग्निगसकारः, स च प्रगथत श्रुपज्ञस्य निर्वोत्प्राप्तस्याऽन्येषां च साधूनामिद्विद्वाक्त्वात्नमितरेषां च प्रथमं त्रिदशैः कृतः पञ्चाङ्गोकेऽपि संजातः । आ० म० ङि० ।

**अग्निगन्पत्ता-अग्निगन्पत्ता-स्त्री०** । अन्नसर्पिण्यां ह्यारशनीपे-करस्य वासुपुत्रस्य दौशास्त्रस्य उपपुत्रकशिबिकायाम्, स० ।

**अग्निगसम्- ( ङ् ) अग्निगार्मन्-पुं०** । तीप्रकापान्विते श्रुवि-भेदे, वाच० । यमुपहसता शुषत्सेनेन नवमवातुपुत्रि द्वैरे वदि-तम् । लनामक्याते प्राङ्गणजंवे, आन्वा० १ सु० ३ अ० २ उ० । ( अन्व कथायत्तं ' लीशोसपिञ्ज ' शब्दे ऊर्ध्व्यम् )

**अग्निसाहिष्य-अग्निसापिक-त्र०** । अग्नेर्द्वयमाकत्सेन साधा-रन्ते, यथा- " हिरेके य सुषवे य जाव सावसेञ्ज अग्निसाहिष्य चोरसाहिष्य रायसाहिष्य मञ्जुसाहिष्य " इत्यादि । अ० ए ॥ श० ३३ उ० । ङा० ।

**अग्निमिह-अग्निशिल-पुं०** । अग्नेरिष्य अग्निरिष्य वा शिला यस्य । कुकुम्भवृक्षे, कुसुम्भवृक्षे च । वाच० । अन्नसर्पिण्याः सितम-दन्तनामकवासुदेवस्य-दन्तनामकस्यदेवयोः पितरि, तस० । स० । आच० । श्रौतराजामग्निकुमाराणाभिन्दे, स्था० २ जा० । ज्यलनशिबकाम्नो राज्ञो मित्रे च । उक्त० १३ अ० । अग्निपुत्र्यज्जाटयति, जि० । अग्निशिक्षेच शिक्षाममस्य झाङ्गि-कावृक्षे, स्त्री० । अग्निपुत्र्याप्रभागे, जि० । स्वर्णे, कुसुम्भपुत्रे च । न० । ६ त० । अग्निज्वाहायाम्, स्त्री० । वाच० । स्था० ।

**अग्निमिहाचारण-अग्निशिक्षाचारण-पुं०** । अग्निशिक्षाभुषा-दाय तेऽस्त्वायिकानविराधयत्सु स्वयमवहामानेषु पाद्विहा-रनिपुणेषु चारणयेदु, प्रच० ६१ द्वा० ।

**अग्निमेष-अग्निमेष-पुं०** । वतेनायामन्नसर्पिण्यां भरतस्यैव-जसम्भजितसम्भकाक्षिकैरवतने तीर्थकरे, " भरहृ य संन-भजिष्यो, देवय ए अभिलेख्यजिनचन्दो " ति० । प्रारतज्जादिहे-मिसमकाक्षिकैरवतजे तीर्थकरे च, " प्रदेवे अग्निदण्णेभि, एर-ष्य अग्निसेणजिणचन्दो " ति० । प्रच० ।

**अग्निहोत्र-अग्निहोत्र-न०** । अन्वये इत्यनेन । दु-भ्र० ४ त० । म-न्त्रकरणवह्निस्योपाननन्तरं तदुद्देह्यकहोमे, वाच० । तत्स्येव्यं च समये धीपिताद् लौकिकप्रतिदिवसदृष्ट्याद्वयगतस्य्यम् । यथा 'सिष्य' शब्दे शिष्यरत्नविकारिभ्यां पाल्याने बर्हितम् । तत्र नित्ये काम्ये च यावज्जीवमनिहोत्रं जुहोति । वाच० । 'जराभर्य्यं वापत्सत्ये यदनिहोत्रं, तज्जराभर्य्यमेव, यावज्जीवि च कस्यमिति' । आ० म० ङि० । विद्ये० । भ्रूत्या, 'नित्यस्य उपसद्भिर्भक्तिव्या मास्यमेकम-निहोत्रं जुहोतीति' भ्रूत्या च, काम्यस्य विधानमुक्तम् । वाच० । एतच्चाकशिञ्जकरमिति सिकान्ते दृष्टितम्—

हुण्ण एते पवयंति भोक्त्वां ॥ १३ ॥

एके तापसप्राणनादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति । ये किल स्वगोविफलमनास्य समिधा घृतादिनिहोत्रस्यैवैतुताशनं तदपयन्ति ते भोक्तायानिहोत्रं जुहोति, शेषास्त्वयुदाययति । युक्तिं चात्र त आहु-यथा इमिः सुपर्णादीनामसं दृह्येव्यं द-हनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यामन्तरं पापमिति । इति पूर्वपक्षमुदाहर्य--

हुतेण जे सिक्थिगुदाहरंति  
सायं च पायं आगां कुमंता ।  
एवं भिया सिद्धिं हवेज्ज तदा  
अग्निं पुंसताणु कुकुमिणां पि । १४ ॥

"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वयमेकाम्" । इत्यस्माद्वाक्याद् ये केचन सूत्रा हुतेनाग्नी इत्यमकोपेण सिद्धिं सुगतिगमनादिकां स्व-गोपासिलसत्तानामुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति । कथंभूताः, सायम-परायणे विकाले वा, प्रातः प्रत्यरे वाऽग्निं सृष्टान्तो यथेहे-इत्येवैरिति तपेयन्तस्तत एव यथेष्टमिति मन्त्रव्यति । आहुभ्ये-ते-यथा अग्निकार्योऽस्यावेच सिद्धिरिति । तत्र च यथैवमन्त्र-स्वरोन सिद्धिरिवेच, ततस्तस्माद्भिन्नि सृष्टान्तो कुकुमिणांवा-रदाहककुम्भकारायवकारादीनां सिद्धिः स्यात् । यदपि च मन्वपुत्रादिकं तैवदाहियेते नदपि च निरन्तराः सुहृदाः प्रपेय्य-न्ति, यतः कुकुमिणां पयसिन्कार्यं प्रसम्पादयन्मनिहोत्रिका-दीनामापि प्रसम्पादकरणमिति मातिरिच्यते कुकुमिन्योऽग्नि-होत्रादिकं कर्मति । यदुच्यते-अग्निमुखा वै देवाः, यदपि

युक्तिफलत्वाद् वाङ्मात्रमेव । विष्टादिभङ्गणेन चान्मेस्तेषां  
 बहुनन्दोपात्तस्यैरिति । सूत्र०? सु० ३ अ० । यदप्यनिहितम्-वे-  
 धना प्रतिपादितुमितीति संपादकत्वात् वेदविहिता हिंसा न दोषा  
 इति । तदपि वित्तयम् । यतो देवानां संकल्पमात्रेणपनाभिमतता-  
 हारयुक्तस्यसास्वादुहितानां वैक्रियशरीर्याद् सुषुप्तावक्रि-  
 तनुपुंसिनपयुग्मासाद्याहुनिप्रतिवृद्धौनाविच्छेदं दुःसंभवा, औ-  
 वारिकशरीरिणामेव तदुपादानंय-स्वयत्वात् । प्रकृपाहारस्वी-  
 कारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाच्च्युपगमायाः । न च तेषां मन्त्र-  
 मयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम् । "चतुर्थ्येनैव पदमेव देवता" इ-  
 ति अग्निनिवचनप्रामाण्यात् । तथा च श्रुतिः- "शब्देतरन्वे  
 युगप-जिह्वन्देशोप यद्रुप । न सा प्रयाति साक्षिणं, मूर्च्छत्वादस-  
 दावत्" ॥३॥ इति । संति देवता । द्रव्यमानस्य च वस्तुनां भस्मी-  
 प्रावमात्रेणपलजनात् तनुपनेगाम्निता देवतायां प्रीतिः प्रला-  
 पमत्तव । अयि च । योऽपि जनाऽग्निः स ब्रह्मविश्याकांस्टिरेवता-  
 नां सुब्रह्म, "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः । तन्मध्येतम-  
 मध्यामधमेदेवानामेकैनेव मुखेन तनुपगमानामन्योन्योच्छि-  
 द्धमुक्तिप्रसङ्गः । तथा च ते तुरुष्केष्याऽप्यतिरिच्यन्ते । नऽपि  
 तादृशकेश्यामेव लुङ्गते, न पुनरकैनेव वदनेन । किंच ।  
 पक्षस्मिन् यद्युपि वदन्वाहुष्यं क्वचन भ्रूयते, यत् पुनरनेकशरी-  
 रेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम् । सर्वेषां च देवानांमकस्मिन्नेव  
 मुखेऽङ्गुलिते यदा केनचिदेकं इवः पुत्रादिनाऽऽत्ताऽऽन्यथ नि-  
 दादिना विराहस्ततश्चैकैनेव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहायकयो-  
 धारणसंकरः प्रसज्यते । अन्यथ । मुखं देहस्य स्वमेव मागस्त-  
 दपि येषां दाहात्मकं तेषामेकैकशः सवस्वदेहस्य दाहात्मक-  
 त्वं त्रिभुवनजननजन्मोत्तराण्युपैष्यसिमेव सभाष्यते, ह्ययत्र-  
 ति चक्षया । यच्च कारीर्यत्वाद्दौ वृष्ट्यादिकलाव्यभिचारस्व-  
 त्प्रीतिर्यदेवताऽनुग्रहेतुक्तं चकः । सोऽप्येकात्मिकः । अवि-  
 द्यनिचानस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न  
 नदादिनाऽप्रीतिर्मात्रजन्मा तत्रनुग्रहः, किं तु स देवताविशेषोऽ  
 तिशयज्ञानी स्वादेहात्मिर्बन्धितं पुत्रापचारं यदा स्वस्थानावस्थि-  
 तः सन् जानीते तदा तत्कार्यं प्रति प्रसन्नचेतोऽप्रीतिस्तत्काल-  
 यांशोऽवश्यात्साधयति । अनुपयोगादिना पुनरजानानो जाना-  
 नोऽपि वा पुत्राकर्तुरभायसहकृतः सन्न साधयति, उच्यतेऽत्रकाल-  
 लज्जापदसदकारिसाक्षिव्यापकस्यैव कार्योपादेवस्थोपलभ्यते ।  
 स च पुत्रोऽपचारः पशुविशसन्वयतिरैकैः प्रकाशान्तरैरपि सुकरः,  
 तनिकमनया पापैकफलया शौनिकहृत्पुत्राः । यच्च जगत्तज्जलहो-  
 मत्परराप्रवर्षाकृतिस्तस्या देव्याः परितोपातुमानम् । तत्रकः  
 किमाहः । कर्सांस्त्रिंशुद्धदेवतानां तथैव अथेतेऽप्येकाकारात् । किं बलं  
 तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादितैव परितोपां न पुनस्तदुक्त्या । नि-  
 श्चपत्रकदुर्कितेऽऽरनात्तधुमादीनां तुष्टमानद्वय्याणामपि तद-  
 धोऽप्यत्रप्रसङ्गात् । परमाथेतन्तु तत्सहकारिसमवधानसखि-  
 धारापकर्णां भक्तिरेव तत्सफलं जनयति, अथेतेऽप्येकाकारात् ।  
 तथा दर्शनात् । स्या०? रे०० ॥ ननु "न वि जाणांसि वेद्यमहं न  
 वि जन्मानं सुदं ति" जयधोपेण पृष्टं विजयधोऽऽशुक्त उ-  
 च्यते । "वेद्याणं च मुहं श्रि, ब्रूहि जज्ञाण जं सुदं ति" जयधोप-  
 मेव जिज्ञासमानः । "अग्निर्होत्समुदा देवा जग्धो वेद्यसं मुहं" ।  
 इति तथ्यमुक्तमवसातो । विजयधोः प्रजाज । उ० २५ अ० ।  
 इत्यग्निर्होत्सव सखिर्नयेति कर्तव्यत्वमच्युपगतं कथं दप्यते ।  
 सत्यम् । न तत्र प्राणियधप्रधानं उच्यतेऽग्निर्होत्सं सुष्ठते, किं तद्वै  
 ध्यानिर्बिहोत्रम् । तथाच तद्दीका-अग्निर्होत्सवसंकारिका, सा

वेद "कर्मन्धनं समाश्रित्य, हृदा सद्भावनाऽऽहुतिः । धर्मध्याना-  
 श्रिता कार्या, दीक्षितानामिकारिका" ॥१॥ इत्यादिकषा परिगृह्यते ।  
 तदेव मुख्यप्रधानं येषां तेऽग्निर्होत्सुक्त्वात् वेदाः । वेदानां हि देव्या-  
 देरिव तवनीनात् आरण्यकमेव प्रधानम् । उक्तं हि-"नवनेतं  
 यथा दग्ध-भन्धनं मलयादिषु । औषधेषुच्योऽऽहुतं यद्-द्वेदेव्यार-  
 ण्यकं तथा" ॥३॥ तत्र च अशुभकार एव धर्मं कृतः तथा च तद्व-  
 चः-"सत्यं तपः संतोषः संयमश्चारित्र्यमात्रं कृमा भूतिः अष्टा  
 अहिंसत्येनह्राविषमिह धामोति" ॥१॥ तत्र च धामशब्देन धर्मं  
 एव विवक्षितः । एतदनुसारि श्लोकः कर्मध्यानाभिर्होत्रमिति । उ-  
 च्च ० २५ अ० ।

एतदेव प्रपञ्चितं हारिभद्राएकं—

कर्मन्धनं समाश्रित्य, हृदा सद्भावनाऽऽहुतिः ।  
 धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितानामिकारिका ॥ १ ॥  
 कर्म ज्ञानावरणादिकं मूलप्रधानेनऽऽपकारं, तदेव दाहा-  
 त्वाद्दपनेत्यादिदेवध्यानेष्वन्धनं कर्मन्धनं तस्मान्मिथ्याङ्गीकृत्या-  
 निकारिका कार्येति योगः । किंविधा? हृदा कर्मन्धनदाहं प्रति  
 प्रत्यक्षा । तथा सद्भावना श्रुतकषा या जीधस्य वासना सैवा-  
 हुतिश्रुतादिप्रकृतेष्वपलक्षणं यस्यां सा तथा । केन कारणभूतेनेत्या-  
 ह-धर्मध्यानाग्निना धर्मध्यानमुपलक्षणत्वात्कुरुष्यान् तन्वाग्निरि-  
 वानिधर्मध्यानं च तदग्निश्च धर्मध्यानाग्निमनं कार्या विधेया ।  
 केनयाह-दीक्षितेन प्रपञ्जितेन । काऽर्सा? अग्निकारिका अग्नि-  
 र्मेति । इत्थं चैनदङ्गीकर्तव्यम्—दीक्षितस्य उच्यमिनिकारिका  
 अनुचिता, तस्या नूतनापमदंरूपत्वात्, तस्य च तन्निवृत्तत्वेन  
 तत्रानधिकारित्वात् । अधिकारिवशाच्च धर्मसाधनसंस्थितिरिति  
 प्रागुक्तम् । गृहस्थस्य तु स्वयंया नूतोपमदंनिवृत्त्येवमिधा-  
 रित्वास्तां करोत्यपि । अत एव धूषदंनदीपप्रवाधादिना प्रका-  
 रेण उच्यमिनिकारिकापि कुर्वन्त्याहंनगृहस्था इति । अनन  
 श्चोकेनेदमुक्तं भवति—यदि हे कुतोर्थिका! यद्यं दीक्षितास्तदा  
 कमलक्षणः समिधः कृत्या धर्मध्यानालक्षणमग्निं प्रवाच्य  
 सद्भावनाश्रुतिप्रकृतेष्वपेऽग्निकारिका कार्या, नन्यया, तस्या दी-  
 क्षितानामनुचितत्वात् । यदि तु हतं । गृहस्थास्तत्कृत्या पा,  
 ततः कुरुषं इत्यमिनिकारिका इति ॥ १ ॥

अथ ध्यानाग्निकारिकैव कार्या दीक्षितेनेतं परसि-  
 द्धानेनैव प्रसाधयथाह—

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता, ज्ञानध्यानफलं स च ।  
 शास्त्रं उक्तो यतः सूत्रं, श्रियधर्मोत्तरं हृदः ॥ २ ॥  
 दीक्षा प्रत्यक्षा, मोक्षायां सफलकर्मनिर्मुक्तिनिश्चयसाधना त-  
 त्त्वकपर्वनिर्गमिता । यत एषं ततस्तां प्रतिपन्नं मोक्षसाधक-  
 मेयानुष्ठानमाश्रयणीयं न पुनद्व्याग्निकारिके इत्ययम् । उ-  
 च्याग्निकारिकैव साधनं मोक्षस्ययाशुद्ध निराकरण्यायाह-  
 (ज्ञानध्यानफलं स चेति) स पुनर्मोक्षां विज्ञानमुद्गैकप्रारयोः  
 साधयो धर्तते न पुनद्व्याग्निकारिकाया इति भावना । कथमि-  
 द्भवसिन् प्रत्यक्षाद्योचरत्यास्येति चेदन् अह-शास्त्रे उक्तः  
 आगमं ज्ञानध्यानफलतयाभिहितं इत्यर्थः । यथापि हि प्रत्यक्षा-  
 नुमानयोसारवतीन्द्रियेभ्यानाचरन्त्याऽप्यागमाजिहितत्वात्  
 ज्ञानफलतयाऽसौ प्रतिपत्तव्यः । आगमश्च प्रमाणातया सर्वमोक्ष-  
 यादिनिर्जन्तुपगत एव । यथापि च बौद्धैः स तथा नेष्यते, त-  
 ध्यापि संशयादिदोषनिवन्धनतया प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वात् । स-  
 ध्यानिद्वन्द्वपगत पदेति । अथ कथमयसिन्धं यदुत्त शोक्तेः क-

तत्फलतयाऽभिहित इत्याशङ्क्याह—यतो यस्मान्कारणात् सूत्र-  
मर्थसूक्तं वाक्यं शिवधर्मोत्तरं शिवधर्मोभिधाने पराजिन्मते  
शैवात्मविशेषं, हिरिति वाक्यालंकारे । अत्र पदद्वयमाणा-  
मिति । अतो भवद्वयपुनराशये भोक्तृस्य ज्ञानाद्विकल्पतयोक्त-  
त्वाच्च भोक्तृार्थिना दीक्षितनानाधिकृता द्वयप्राज्ञकारिका का-  
र्येति ज्ञावाप्ये इति ॥ २ ॥

तदेतं सूत्रं दृश्यंकाह—

पूजया विपुलं राज्य—मप्रिकार्येण संपदः ।

तपः पापविशुद्धयर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥३॥

पूजया देवतायाः पुष्पाद्यर्चनसङ्गणया न तु तदन्याया, तदन्य-  
स्यास्तपाहानरूपस्येन पापविशुद्धिमोक्षयोरैव संपादकत्वाद् । वि-  
पुलं विस्तीर्णं राज्यं राजभाषो भवति, तन्कारकस्येति गम्यते ।  
तथा अप्रिकार्येण कर्मानाश्रित्या वा कार्यं कृत्यमप्रिकार्यम्, तेन  
द्वयप्राज्ञकारिकेत्यर्थः, न ज्ञायप्रिकारिकाया, तस्या ध्यानरूप-  
त्वेन मुक्तिसाधकत्वात् । संपदः सम्भक्तिं ज्ञानवृत्तिं गम्यम् ।  
तथा तपोऽनशनादि, पापविशुद्धयर्थमशुभकर्मकृत्याय भवति ।  
तथा ज्ञानमवबोधोऽप्यविशेषः, ध्यानं च शुभचित्तकप्रतापसङ्गमं, च  
शब्दः समुच्चयं, मुक्तिं भोक्तृमदं नवतीति शिवधर्मोत्तरत्रय-  
सूत्रार्थ इति ॥ ३ ॥

एवं तावत् पराश्रयपगमेवैव द्वयप्राज्ञकारिकाकरणं दीक्षितस्य  
द्विजन्तम्, अथ तस्यैव पूर्वां पुनरप्रिकारिकां च प्रकारांतरेण  
द्वयप्राज्ञह—

पापं च राज्यमपंप्तुं, संभवत्यन्यतः नतः ।

न तद्वैत्तोरुपादानं—मितं मय्यं विचिन्त्यताम् ॥४॥

न केवलं मुमुक्षोरप्रिकारिकाकरणमपार्थक्यं, पापं वाशुभं कर्म  
च, राज्यसंपत्तुं नरपतिव्यससृष्टिपुं पूजाप्रिकारिकारणान-  
न्तर फलभूतानु सत्तौपु, संभवति संजयने । यत् एवं तत्स-  
स्मादनपु निरवयथं ते नैव भवति, तद्वैत्तः राज्यसंपत्कारणयोः  
प्राज्ञकारिकाकायोरुपादानमाश्रयणमिति । एतदनन्तरं पु-  
जाप्रिकारिकयोरुपादानस्य सत्पापवत् ससृष्ट्युत्पत्तिरानानि-  
रंभेन विचिन्त्यतां पर्यालोच्यतामिति । संपुर्णलौचित्तकारिणो  
हि भवति मुमुक्षव इति ॥ ४ ॥

राज्यसंपत्तुं पापं भवतीत्युक्तं तद्व्याश्रित्याक्षेपः क्रियते,

नतु राज्यसंपत्तावै भवतु नाम पापम्, दानादिना तु

तस्य शुक्तिर्नविष्यतीत्याशङ्क्याह—

विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् ।

तदियं नान्यथा युक्ता, तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥

विशोधनं विशुद्धिः, सा पुनरस्य राज्यादियज्यपापस्य तपसा,  
अध्यारणस्यैव संबन्धात्सपत्सेव अनशनादिनैव, तपः पापवि-  
शुद्धयर्थमिति घञनात्, न तु दानादिना न पुनर्दानहोमादिना,  
दानेन जोगानमोनीति चञ्चनात् । तत् कथं दीक्षितस्य पूजाप्रि-  
कारिका युक्त इति । इह च द्वयप्राज्ञकारिकाया एव मुख्यं कृत्वा,  
पूजायास्तु प्राज्ञिकमित्यभिप्रायकारिकाया एव निगमनमाह—(त-  
द्विधं मान्यथा युक्तेति) यस्मात् मुमुक्षोःपर्येयं पापसाधनसंप-  
त्तेरुत्तमा च, तस्माद्वियमप्रिकारिका, नैव, अन्वया धर्मध्याना-  
प्रिकारिकायाः प्रकारान्तरापात्, अल्पप्रिकारिकेत्यर्थः, युक्ता सं-  
गतेति । विशोधनाईपापसाधकसंप्रतिमसत्त्वेन द्वयप्राज्ञिका-  
रिकाया अकारणीयवै व्यास्तप्यापि न्यायः संमतमिति दृश्यं-  
काह—तथा चोक्तं महात्मनेति । तथा च यथाऽऽत्मसुक्ताधेसंवादा  
भवति, तथैव उक्तमभिहितं, महात्मना परमस्वभावेन, असायेनेति

शेषः । इह च यन्निष्पत्याहृष्टेऽपि व्यासस्य महात्मत्याभिधान-  
माचार्येण कृते, तपर्यसंमतानुकरायामप्रमाणं प्राप्यस्या-  
धिकरणार्थमिति न दुष्टम् । संमतम् प्रत्ययं महात्म्यनवा व्या-  
सः—अत एव च तद्वचनं स्वपक्षे परमार्थिजननयोऽप्यस्तमितिति ॥५॥  
तदेवाह—

धर्मोर्थे यस्य विवेदा, तस्यानांदा गरीयसी ।

प्रज्ञालानां चि पङ्क्तस्य, दूरादपश्यन्तं वरम् ॥ ६ ॥

धर्मोर्थे धर्मोनिमित्तं, यस्य पुंसः, विवेकाद् द्वयोःपार्जनचंद्रा कृषिवा-  
णिज्यादिका, तस्य पुरुषस्य, अनींदा अचंचेद्द विद्यानुपार्जनमेव, ग-  
रीयसी अयसितरा, सङ्गततरत्यर्थः । अयमभिप्रायः—वित्तार्थं चेद्द-  
यामवश्यं पापं भवति, तत्रोपाजित्वावसितरणेनावश्यं शोष-  
नीयं जवति । एवं च विद्याधेमेवैव वरतरा, वित्तविरागविशो-  
ध्ययापाजनात्वात्, परिग्रहारम्नवर्जनात्मकात्वेन वेष्टया एव च धर्म-  
त्यादिति । अत्रार्थे ह्यहन्तमाह—प्रज्ञासनात्पावनात् सकाशाद् द्वि-  
यस्मात्, पङ्क्त्याशुचिरूपकर्दमस्य दूराद् विप्रकर्षाद्दर्शनात्मस्तेष्व-  
मेव, वरं प्रधानमिति । इदमुक्तं भवति—यदि पङ्क्तं करवराणादिवर-  
वः क्षिप्याऽपि प्रज्ञाज्ञनीयस्तदा वरमर्क्षित एव, एवं यथाप्रिकारि-  
कां विधाय संपदं उपाजनीयास्तज्जल्पनात्कं च पुनर्दानेन शोषणी-  
यं, तदा सैवाप्रिकारिका वरमर्क्षेति । प्रयोगश्चेद्द—न विधेया मुमु-  
क्षुणा द्वयप्राज्ञकारिका, नसंपाद्यस्य कर्मपङ्क्तस्य पुनः शो-  
षनीयत्वात्, पादादेः पङ्क्तैवविति । एवं तर्हि गृहस्थेनापि पु-  
जादि न कार्यं स्यात्, नैवम्, यतो जैनगृहस्थानां न राज्यादिनिमित्तं  
पूजां कुर्यति । न च राज्याद्यावर्जितमवर्षं दानेन शोषयिष्यतम  
इति मन्यन्ते, भोक्तृार्थमेव नेषां पूजादी प्रवृत्तेः । भोक्तृार्थतया च  
विहितस्यापामानुसाराणां धीराणापुजादिमौलं तप मुख्यं फलम्,  
राज्यादि तु प्रासङ्गिकम् । ततो गृहिणः पूजादिकं नावि-  
शेषम्, दीक्षितेत्योश्च अनुष्ठानस्यानन्तर्यपारंपर्यं तप फलं  
विशेष इति ॥ ६ ॥

दीक्षितविरागं संपदर्थित्वे सानि युक्ता द्वयप्राज्ञिका-  
रिकायाश्चान्निराकरणायाह—

भोक्ताध्वसेवया चैता, प्रायः शुभतरा ज्ञुवि ।

जायन्ते ह्यनपायिन्ये—इयं सत्त्वास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

भोक्ता निर्वाणम्, तस्याध्या मांगः सत्यगृहीतज्ञानचरणलक्षण-  
सस्य संवाऽनुष्ठानं भोक्ताध्वसेवा, तथा, चशब्दः पुनःशब्दार्थः ।  
तत्तन्नाभिकारिकायाः कार्यभूताः संपदः पापदंतुया अध्याभाः,  
भोक्ताध्वसेवया पुनः शुभतरा जवन्तीत्यर्थो ह्ययते । अध्याध-  
रार्थो वा अत्रादः, तेन भोक्ताध्वसेवैव, नाभिकारिकाकर-  
णान एना अनन्तरादिता अभिकारिकाफलभूताः संपदः, प्रायो  
बाहुल्येन । आशोधनं च कस्यापि भोक्ताध्वसेवाजव एव नि-  
र्वाणभावाच्च जायन्ते एवेति ज्ञापनार्थम् । शुभतरा अभिकारि-  
कार्येण्यः सकाशात्प्रशस्ततराः भुवि गृहस्थवः, जायन्ते भव-  
न्ति । हिशब्दो यस्मादर्थः, अनपायिन्यः पापवर्जिताः । यस्मा-  
न्भोक्ताध्वसेवया प्रशस्ततराः, अनपायिन्यश्च संपदो जायन्ते, त-  
स्मादियमभिकारिका नान्यथा युक्तेति प्रकम् । भोक्ताध्वसेवया  
शुभतरा एता भवन्तीति कथमिदमवसितमित्याशङ्क्यायामाह-  
इदमनन्तरादिता सत्त्वास्त्रसंस्थितानेवसिंसादाकामगर्ववस्थाः,  
यदाह—“भोक्तृमार्गप्रवृत्तस्य, महाज्जुद्यदवस्थयाः । संजायन्तेऽनु-  
पङ्क्तं, पलासं सत्कथायि ॥१॥ मुमुक्षुणां च शास्त्रं अत्राय-  
मेव । यदाऽऽह— न मानामागमादव्युद्भवः, मुमुक्षुणां हि विद्यते ।  
भोक्तृमार्गे ततस्तप, यतितव्यं मनीर्षिभरिति ॥ ७ ॥

अथ परसमयसमाश्रयणैव उज्यात्मिकारिकाकारणं  
निराकृत्याह-

इष्टापूर्चं न मोक्षाङ्गं, सकामस्पोषणमित्थम् ।

अकामस्य पुनर्वैका, तेव न्याय्याऽनिकारिका ॥ ८ ॥  
इत्येते हीयते स्मेतीहम्, पुर्वैते स्मेति पृथक्, इह च पूर्णं वे-  
दीष्टापूर्चमिति समाहारादहः।हान्दसत्वात्वेष्टापूर्चम् । तदसकृपं  
चेद्व-“अतर्वैका तु यद्वचं, ब्राह्मणानां समकृतः । श्रुतिभिर्मर्-  
न्त्रसंस्कारि-रिहं तद्विधीयते ॥ वापीकृतडागानि, देवतायत-  
नानि च । अन्नप्रदानमारामाः, पूर्णं तद्विधीयते ॥ २५ ॥ तदेवमुक्त-  
स्वरूपमिष्टापूर्चम्, न तैव, मोक्षाङ्गं मुक्तिकारणम् । इहायमानि-  
प्रायाः-अनिकारिका न मोक्षाङ्गमिष्टकर्मस्वरूपत्वात् । तस्या यतोऽन्त-  
र्वैद्यामात्राप्रतिप्राधान्येन कर्माणिव्यस्त इति । कुतस्तत्र मोक्षाङ्गमि-  
त्याह-सकामस्याभ्युदयानिहाविषाः, यस्मात्सद्वित्येव वाच्यवो-  
धो हृदयः । उपवर्णितमुपादिष्टम्, भवद्यत्सिकान्त एव यतः श्रु-  
यते-“स्वर्गकामो यजेत” इत्यादि कृतिवचनम् । तथा “इष्टापूर्-  
चं मय्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मृदाः । नाकस्य  
पृष्ठे सुकृतेन श्रूया, इमं लोकं हीनतरं वा विशान्ति” इति ।  
अथाकामस्य का वार्तेत्याहः।हान्द-अकामस्य स्वर्गप्राधान्या-  
सकामो मुमुक्षोः, पुनःशब्दः पूर्ववैकाकार्यस्य विशेषाभिधायकः ।  
योक्त कर्मन्धनमित्यादिना प्रतिपादिता, तेव, नान्या परान्युपग-  
ता, न्याय्या न्यायादनपेता । न्याय्याश्च दर्शित एव । अनिकारिकाऽ-  
निक्रियेति ॥ ८ ॥ इति चतुर्थाष्टकविवरणम् ॥ ४० ४ अष्ट ० ।  
अग्निहोत्रसम्बन्धिष्वत्वाद् इविषि, यद्वा च । पुं ० । वाच ० ।

अग्निहोत्रवाङ् ( ए ) अग्निहोत्रवादिन्-पुं० । अग्निहोत्रादेव  
स्वर्गोपगमाभिधायित्वात्, तत्सकृपे युक्तिवादिनि, “ अग्निहो-  
त्रवादी जलसोयं जे य इच्छति” इत्यादिहोत्रवादिनां कुर्यात्-  
त्वं दर्शितम् । सूत्र ० १ भू ० ३० ।

अगुजाए-अग्रयोद्यान-न० । नगरादेशैः प्रथमोद्याने, “ ह-  
न्धिस्तीसे जन्स नयरस्स बहिया अगुजाएने सत्थसन्धिवंसं क-  
रोति” । इष्ट ० १ अ ० । आं ० मं ० । आं ० मं ० ।

अगोअ-आनेय-वि० अग्नेरिदम्, अग्निर्देवतास्य वा ङक् । अ-  
ग्निदेवताकं हविरादी, वाच ० । शास्त्रभेदं च । न० । सूत्र ० १  
भू ० अ ० ।

अगोई ( पी ) आग्नेयी-स्त्री० अग्निर्देवता यस्याः सा आग्ने-  
यी । दक्षिणपूर्वेषां विदिशि, ( ‘ विसा ’ शब्दे चकल्पता ) न० ।  
श ० १ ङ ० । स्थान ० । आं ० मं ० ।

अगोणीय-अग्रायणीय-न० । चतुर्दशपूर्वाणां मध्ये द्वितीयपूर्वैः,  
( अस्य विस्तरस्तु ‘अग्राणीय’ शब्दं ) नं० । स्थान ० ।

अगोत ( य ) ण-अग्रोतन्-वि० । अग्रे भवति, अग्र-एट् । पौर-  
स्ये, आ ० मं ० प्र० ।

अगोदय-अग्रोदक-न० । उपरितन उदकं, “लवणस्तसं ससु-  
इस्स सत्ति जागसाहस्तीसो अगोदयं धारैति” अगोदयति-  
षोडशसहस्रकोष्ठितया वेलाया यद्यपरि गम्यतिद्वयमानं कृत्वि-  
हामिस्वजावं तदग्रोदकम् । जीषा ० ३ प्रति० ।

अग्रय-राज-धा० हीतो, र्वादि०, उभ०, अक०, सेट्, फणादिः ।  
वाच ० । “ राजेरवन्नजसहरीरैःहा ” = १ । ४ । १०० । इति  
राजेरवः । अग्रय, राजति, राजते । प्रा० ।  
अग्र्ये-पुं० अर्ह-वच् । राजनाद्विद्वयकपे मूल्ये, वाच ० । संधा० ।

आवा० मस्यभेदे, “ हवणसमुद्गे अग्रियेषेण धरति वा जाग-  
राया अग्रासिहा विज्जाह वा ” अग्राद्येवा मस्यकच्छपविश-  
वाः । जी० ३ प्रति० ।

अर्ह-करणं घञ्, न्यङ्कादिवात् कृत्वम् । प्रोषणचारे दूर्वाङ्क-  
तादी, वाच ० । पुष्पादिषु पूजाद्रभ्येषु, हा० १६ अ० ।  
अग्र्ये-वि० अग्रोय देये यत्परद्वयम् । पूजायै देये अज्ञादौ, अ-  
र्थेऽज्यानि च “आयः क्षीरं कुशाभं च, दधि स्वपिः सतण्डुलम् ।  
यवः सिन्धुर्धकश्चैव अष्टाङ्गऽयैः प्रकीर्तितः” ॥ १ ॥ वाच ० ।

अग्राय-पूर-धा० पूर्वां, ग्रीणनं च । दिवा०, आस०, सक०, से-  
ट् । कुशा०, उभ०, सक०, सेट् । वाच ० । प्राहते “पूरेशाडोम्बवोऽकु-  
मांगुमाहिरमाः” = १ । ४ । १६८ । इति पूरैरववाग्नादेशः । अग्रा-  
रुह, पृथ्वेते, पृथ्यति वा । प्रा० ।

अग्रायग-अग्रायक-पुं० । गुच्छवन्नस्पृतिकायभेदे, प्रहा० १ पद ।  
अग्रायो-देशी, अपामागं, हे० ना० १ वर्ग० ।

अग्राया-देशी, तुषधये, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्राय-अग्राय-अभ्य० । नासिकया गन्धं शृहीवेत्यर्थः । “सुर-  
जिगंधाणि वा अग्राय से तथ आसाय वक्रियाय मुच्छिय”  
आच ० २ भू ० १ अ० अ ० । आं ० मं ० प्र० ।

अग्रायमाए-आजिग्रत्-वि० । उस्सिद्धति गन्धे नासिकया शृ-  
ह्वाति, “महाय गंधकश्चि सुयते अग्रायमाणीभो द्वांष्टं विणि-  
ति” हा० अ ० । आं ० मं ० ।

अग्रिय-अग्रित-वि० । अग्रं-क, अग्र्यः संजातोऽस्य इत्त्वं वा ।  
बहुमूल्यं, “अग्रियं नाम बहुमालं” नि० सू ० २ व० ।

अग्र-अग्र-न० । अग्र-भाष्येऽच् । पापे, वाच ० । “ब्राह्मणो लि-  
प्यते नैध-निर्यागप्रतिपासिमाद्” अष्ट ० २८ अष्ट ० कर्त्तरि अच् ।  
पापकारकं, नि० । व्यसने, डुःखं च । न० । पूनायकसुरया-  
र्त्तानि अस्तुरनेदे, पुं ० । वाच ० ।

अग्रयण-अग्रयण-वि० । न० । अष्टदे, ओ० । विरले, पिं० ।

अग्राण्यी-अग्रायिनी-स्त्री० । ज्ञानदर्शनाद्विगुणानां मध्ये न कि-  
ञ्चिद् गुणं प्रतीत्यर्थंशास्त्रा अग्रायिनीत्यः।ज्ञानाद्विगुणानामग्रायिनी-  
करणशिलासु कर्मप्रहृष्टिषु, अग्रायिनीत्यः प्रहृष्टयोः ज्ञानाद्विगुणं न  
प्रति, केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावाऽपि तस्करैः सह वत-  
मानस्तस्कर इव हृदयेत, यवमेता अपि घातिनीभिः सह विद्यमा-  
नास्तदाया इव भवन्ति । यद्वाः श्री।शिवशर्मसूत्रप्रवर्गा-“अभसं-  
सा पयसीभो, अग्रायिनीयैः पयिभ्यमागं” पयिभ्यमागु लि । साहचर्यं  
घातित्वं च प्रहृतीनां रसाविशेषाद् विज्ञेयम् (ताक्षपञ्जसप्तसिं-  
स्थाका अग्निधोयते, इत्यादि ‘कम्प’ शब्दे तुर्नायभागं २६४  
पदे प्रतिपादितम् )

अग्राइरस-अग्रायिरस-पुं० । ज्ञानाद्विगुणस्य स्वकार्यसाधनं प्र-  
त्यसामर्थ्याकारकं रसस्पर्कसङ्गानं, पं० सं० ३ हा० ।

अग्रायिरसस्यरूपमाह-

जाए न विसञ्चो घाट-त्तणम्मि ताणं पि सव्वपाइरसो ।  
जापड पाइसमासे-ण चौरया देव चौराणं ॥ ३६ ॥

यासां प्रहृतीनां घातित्वमपिष्टयत् न कोऽपि विषयो न किमपि  
ज्ञानाद्विगुणं घातयतीत्यर्थः, तासांमपि घातिसकाशेन सर्वभा-  
तिप्रकृतिसंपर्कतो जायते सर्वघातित्वः । अथैव निदर्शनामाह-  
यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता । पं० सं० ३ हा० ।

अधुणित ( य )-अधुणित-त्रि० धुरैरविद्ये, ६० १ ६० ।

अचं ( चं ) कारियभद्रा-अचञ्जुरितभद्रा-स्त्री० धन्वभेद्रिणो  
 भद्राय नार्थायामुपादिनायामुपायध्वन्वत्त्वात्तिल्लेहन न केनचि-  
 द्देया बह्वारयित्तयेति स्मामन्वयतायां सुतायाय, ग० २ अधि० अ-  
 मानफले अचंकारितभद्राशहरमम । यथा-किंपिपिनित्पुंयं नगरं ।  
 जियस्सू राया धारिणी देवी । सुखे च्चिबिबो । तथ य नगरे धणे  
 नाम सद्वा । तस्स भद्रा णाम भारिया । तस्स य ध्याय भद्रा । सा य  
 माउपियभाउयाण य उवायलका । नार्थापताहि य सव्वपरिजणं  
 प्रणति-एस्ता ए य केण वि किंवि चंकारियथ सि । ताहे  
 हांणेण से कयं णामं अचंकारियभद्र सि । सा य अतीय कववती  
 बहूसु पणियकुलेंसु वरिउज्जति । धणो य सद्दी भण-ओ । एयं य चं-  
 कारेदिति तस्सेसा डिअहिदि सि, एवं वरगे परिसेहति । अणण-  
 याए सविणण धरिया । अणेण भणियं-अण य किंवि वि अचराहं  
 चंकारेहिसि ते तो पयच्छामो । तेण य पदिस्सुतो । तस्स दिग्गा  
 भारिया । सो तं चंकारेतो । सो य अमचं रातीय जामे गए रा-  
 यकउज्जाणि समाणेउं आगच्छति । सा तं दिणे खिसिती-संवेद्याय  
 नगच्छसि सि । ततो सवेलाए एतुमणसो । अणया रणणा चिं-  
 ता ज्ञाया-किमेसो मंती संवेद्याय गच्छति । रघो अणणेदिं कडियं-  
 एल नारियाए आणानं ग करेति सि । अणया रणा भणियं-इमं  
 परिसं तारिसं च कज्जं सवहाए तुमं ए गंअम् । सो उस्सुयजू-  
 ते हि रायाणुवनीए तित्तो । सा य रुहा दारं बन्धेत् तिअ । अ-  
 मचचओ । आगओ । उस्सुं दारमुआदिं सि बहुनसियि वि अ-  
 हेण उग्गाअंनि, ताहे तेण चिंरं अन्धिअण भणिया-तुमं ए चे-  
 व सामिणीं होउज्जासि सि । अहो ! मे आलां अंगीकओ, ताहे सा  
 अहमासोदिं सि भणिया दारमुआदिं पियघरं गया, सव्वालं-  
 कारिविभूत्तमा अंतार चोरदिं गहिया । होसि सव्वालंकारे पेणु  
 चोरदिं भणावतिस्स उचणीया । तेण सा भणिया-मम महिला  
 हादिं सि । सो तं बभेण ण छुंजति । सा चितं णेच्छति । ताहे तेण वि  
 मः जदुग्गबेउजस्स हार्ये विक्किया । तेण वि सा जणिया-मम प्र-  
 ज्जा भवादिं सि । नं पि अणचंमंती तेणावि रुसिणण मणिया-पा  
 णीयातो जल्ला गेरहदि सि । सा अण्णारं गवणीएणमंखिउं  
 जलमचसाहः एचं जल्लाओ गिरहति । सा तं अणणुक्वं कम्मं  
 करेति, ण य सीलमं गं इच्छुति । सा तेण रुहिरसावेण विरु-  
 लावथा जाया । इतो य तस्स भाया दूयाकिण्णेण तत्तागओ । तेण  
 सा अणुसरिं सि काउं पुक्किया । तीए कहियं । तेण दब्बेण  
 मोयाविया । आणिया य वमणविरेवणेहिं पुणु णवसरीरा जा-  
 या । अमचणेण पण्णा गियघरमाणिया, सव्वसमिणी उचिया ।  
 ताहे कोहपुस्सरस्स माणस्स होत्सं धरे अमिग्गहो गहियो ।  
 ए मए कोहो माणो वा कायव्भो । तस्स घरे सयसहस्सपागं  
 तेज्जमरिं । तं च साहुणा वणुसंरोहणत्थं ओसहं म्रिगयं । तीये  
 दासचेदी आणत्ता-आण्णिहि सि । तीए अण्णतीए सह तेज्जणं  
 भायथो म्रिगं । एवं तिअि भायाण्णि मिआण्णि, ण य सा रुद्धा ।  
 तिसु सयसहस्सेसु बिण्णुसु चउत्थवाराए अण्णसा उट्टेकण  
 दिवं । अह तीए कोहपुस्सरो मेवसरिंस्वो माणो निअिओ ।  
 साहुणाहिं सुदुनरं सिहंतव्वो सि । ग० २ अधि० ।

अचंचल-अचञ्चल-त्रि० । वशीकृतनिद्रये, प्रथ० ६४ डा० । 'चं-  
 चल' शब्दे प्रतिपादयिष्यमाणे अचलविपरिते अनुयोगाच्च-  
 योर्हं, ६० १ ६० ।  
 अचंचद-अचञ्चद-त्रि० । न० त० । अतीमकोपे, तं० । निष्कार-

णप्रबलकोपरहिते, प्रथ० ४ आध० डा० । स० । सौम्ये, "मा  
 अचंचडालिये कासी" उच० १ अ० ।

अचकि ( ए )-अचकिन्-पुं० न चको । नमः पर्युदासवा-  
 चकत्वेन सदृशप्राहकत्वाद् सामान्यपार्थिवे, ६० १ ३० ।

अचक्रिय-अचक्रित-त्रि० । आवासिते, " समुद्रगंभीरसमा दु-  
 रासया, अचक्रिया केणु दुष्पहंसया " उच० ११ अ० ।

अचकल-दृग्-धा० । आनुबहाने, भ्यादि०, पर०, सक०, अ-  
 निद् । घाच० । " दृशो निअच्छुपेकत्वावयच्छावयञ्जक-  
 सव्वदेकसो अचकलचक्रा " । ५४ । १०० । इत्यादिना सूत्रेणाच-  
 कलादेशः । अचकलश्च, प्रथयति । प्रा० ।

अचकलु-अचलु-प० । न० त० । अचुर्वजेशोपेन्द्रियचतुष्टये,  
 मनसि च । कर्म० १ कर्म० । जी० । उच० । न० च । अचुर्द-  
 र्शनवर्जिते, कर्म० ४ कर्म० ।

अचकलुदेसणु-अचलुर्दर्शन-न० । अचलुया अचुर्वजेशोपेन्द्रियच-  
 तुष्टयेन मनसा वा दर्शने यत्तदचलुर्दर्शनम् । आ० ६ डा० ।  
 अचुर्वजेशोपेन्द्रियमनोभिः स्वस्वविषयस्य सामान्यप्रहणस्वरूपं  
 दर्शनभेदे, पं० सं० १ डा० । कर्म० । स्थाना० ( " दंसणु " शब्दे  
 वरण्येने सर्वम् )

अचकलुदेस पावरणु-अचलुर्दर्शनावरण-न० । अचलुर्दर्शन-  
 स्यावरणम् । दर्शनावरणकर्मभेदे, आ० ६ डा० ।

अचकलुफाम-अचलुःसर्ष-पुं० । अन्धकारे, " पुरसो पवाए  
 पिट्ठसो इत्थिभयदुहसो अचकलुफासो मज्जे सरा णियव-  
 ति " आ० १ अ० १४ अ० ।

अचकलुय-अचलु-त्रि० । अन्धे, " अचकलुओपेनयारं, बुद्धिं  
 अण्णेषए गिरा " इय० १ उ० ।

अचकलुविषय-अचलुर्विषय-पुं० । ६ त० । अचुरगोचरे, " अ-  
 चकलू विस्सओ जय, पाणा दुष्पडिलेहेया " अचलुर्विषयो यत्र  
 न अलुपो व्यापारो यथेत्यर्थः । दश० ४ अ० ४ उ० ।

अचकलुप-अचलु-त्रि० । अलुपाउदश्ये, प्रथ० १ आध० डा० ।  
 अचकलुस्स-अचकलु-त्रि० । उट्टमनिदे, ६० ३ उ० ।

अचयंत-अशकृत्व-त्रि० । अतमर्थे, " चोत्तरा मिच्छवचरिया,  
 अचयंता जजिस्सए " सूत्र० २ थु० ३ अ० २ उ० ।

अचर-अचर-पुं० । न० त० । वृथिव्यादिषु स्थावरेषु, दर्श० ६  
 चलनशब्दे, त्रि० । ज्योतिषोक्तवृषसिहसृक्षिककुम्भराशि संज्ञेषु  
 स्थितराशिषु, वाच० ।

अचरग-अचर-त्रि० । अनुपमोक्ति, " चारिचरकलंसंजीविन्य-  
 चरकचारुविधानतच्चरमे " यो० ११ विव० ।

अचर ( रि ) य-अचरम-त्रि० । न० त० । प्रतिममभ्यवसिनि,  
 तच्चव्यतिक्र, तस्य चरमापेताभावात् । यथानथाविधान्य-  
 शरीरापेक्षया मध्यशरीरमचरमशरीरम् । प्रभा० ६ पद० ।  
 ( सर्वेषां चरमाचरमस्य 'चरम' शब्दे दर्शयिष्यन्ते ) चरमभि-  
 ज्ञेषु नारकादिषु धैमानिकार्थ्येनेषु जीवेषु, ते हि अचरमाः  
 येषां अभ्यर्थे सत्यपि चरमा भवो न भविष्यति, न निर्वा-  
 स्यन्तीत्यर्थः । स्या० २ डा० ६ उ० । " बुद्धिहा सव्वजोवा प-  
 षुत्ता-अचमा चेव अचरमा चेव " स्या० २ डा० ४ उ० ।



अचरिमे दुविद्वे पक्षे च । तं जहा-अणदिप वा अप-  
जवसिप, सादिप वा अपजवसिप ।

अचरमो द्विविधः-अनाद्यपर्यवसितः साद्यपर्यवसितश्च ।  
तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्यः, साद्यपर्यवसितः सिद्धः ।  
प्रश्ना० १६ पद ।

अचर ( रि ) मेनपपस-अचरमान्तप्रदेश-पुं०।अचरम एव क-  
स्याप्यपेक्षयाऽनन्तनीत्याद्यन्ते, प्रश्ना० ए पद । ( 'चरम्' शब्द-  
ऽचरमान्तप्रदेशत्वपुच्छा कारिष्यते ) ।

अचर ( रि ) मसमय-अचरमनमय-पुं० अरमसमयादन्यस्मिन्  
यावच्चैतेऽयव्याचरमसमये, न० ।

अचर ( रि ) मावट्ट-अचरमावत्-चरमपुत्रलपरायतोर्दवाक-  
समये, अष्ट० १८ अष्ट० ।

अच ( य ) झ-अचञ्ज-त्रि०। न० त० । निष्प्रकल्पे, "अयत्ने भव-  
भेरवाणं" कल्प० । " मणिहे अचले चले भवहिङ्गसे परित्य-  
प" । न चलतीत्यचलः परीषहोपसर्गघातेरितोऽपि । आच्० १ श्रु०  
६३०७३० । "अचञ्जे जे समादिपे" यद्यप्यसाधित्प्रदेश स्वतः  
शरीरमात्रेण चलति तथाप्यभ्युद्यतमरणेण चलतीत्यचलः । आ-  
च्० १ श्रु० ८ अ००८३० । "अचले जगत्" । ईदृञ्जा" आच्० १ श्रु०  
६ अ०३ उ० । "अचञ्जे जह मन्दरे गिरिवरं" अचलो निश्चलः परीष-  
हादिभिः । प्रश्ना० ५ संक्ष० द्वा० । "सिचमयलमस्यमकलयमण-  
तमन्त्रवाहमणुराविति सिचमगशास्येयं ज्ञान संपत्तयं" ।  
अचलय, स्वाभाविकप्रयोगिकचलनकालः प्राप्यतोहात् । जी० ३  
प्रति० । स० । ल० । भ० । श्री० । इन्द्रनादिविज्ञित्वात् । प्रश्ना०  
४ संव० द्वा० । रा० । आ० । आ० । रा० । वृष्टे इशाईपुर्ये, अन्त० । वर्ग।  
पुर्वजने मङ्गिनाथजीवस्य महाशक्तानाम्नाः बालययस्य, स च तेन  
सह प्रव्रजितो विपुत्रं तपः कृत्वाऽनशनेन सृष्ट्या जयन्तधिमार्गे  
उपपन्नो देशोनाति २० सारारोपमाणि स्थितिं परिप्राप्य च्यतः  
प्रतिपुच्छे नामेष्टवाकुराजा जातः । मङ्गिनाथ च सह प्रव्रज्यां  
सृष्टीत्या सिद्धः । आ० १ श्रु० ८ अ० । ( 'मङ्गी' शब्दे चेतद् विस्तरण )  
अचसर्पिय्यां प्रथमे बलदेवे, प्रथ० २० एव द्वा० । आच्० ।  
स० । ( स च प्रजापतेर्मेढ्रानाम्यां भास्वयो जातः, तस्य  
भांगेनी मृगावती । तां तस्य पिता प्रजापतिश्चक्रे, इति  
जायान्ते कल्पयित्वा तस्यां त्रिविष्टपनामानं दशमे कामुदेवं  
जन्तयामास । अचलश्च मादिधर्मतां नाम पुत्रीं सह मन्त्राऽऽकृत्या  
मात्रा रातः । इति 'वीर' शब्दे व्येकणे दर्शयिष्यते ) शृं६, द०  
ना० १ यर्म । तद्वचकव्यता समासलो-

पुत्रो पयान्तिस्म, जहा अयलोति कि कुञ्चिसंजूओ ।  
गेरुपपाडिकखमहणं, तिविदु अयलो ति दो वि जणा । ७९।  
अयलं तिविदु दोत्र वि, संगामे आसि दोवि रायाणं ।  
हेतूण सव्वदाहि ण, दाहिणजरहं अइजणं ति । ७३ ॥  
उपणणरयाणविद्वा, कौमिलिणाए वलं तुअउणं ।  
अरुजरहाडिसियं, अह अयल तिविदुणो पत्ता । ७४ ॥  
चकं मुदरिसणं मे, संखो वि प एव पंचजमामां ति ।  
नंदयनामो आर्मी, रिउसोणियमंभितो आर्मी । ७५ ॥  
मात्ता य वेजयती, विचिचरयणोवमोहिषारंजा ।  
सारिक्खा जा जणियं, यणमए इदरायसस । ७६ ॥

सत्तुजणस्स जयकरं, जावं दधियारिजीवउच्छावं ।  
जीवानिग्घोसेणं, सत्तु सहसा पद्दं जस्स ॥ ७७ ॥  
कोत्तुभमणी य दिव्वो, वच्चत्तवज्जुसणो तिविद्वस्स ।  
द्वच्छीए परिगह्निओ, रयणुत्तवसारसंगह्निओ ॥ ७८ ॥  
अयरपरिगह्नियाई, संतं वि रयणाई अह तिविद्वस्स ।  
अयरंत्तु जूसणुत्तु य, एयाई आजिअणुवाइं ॥ ७९ ॥  
वहइ हनी वि इलं जो, पणयजिम्भं वि तिवत्तवइरवडं ।  
पवरं समरमहाभन्-विदत्तकितीणं जीवहृरं ॥ ८० ॥  
साणंदं वा णंदिय, आसं पि य सत्तुक्कसयपदसं ।  
मुत्तसं से जे महपुत्र-जंजणकुत्तसं वइरसारं ॥ ८१ ॥  
सत्तो उ पंचमासं, कुम्पसारवल्लोक्कयणं विउदं ।  
मणिकुंरुत्तं च वामं, कुवेरपरआमारामं ॥ ८२ ॥  
अचञ्जस्स वि अमरपरि-गहाई एयाई पवररयाणं ।  
सत्तुणं अजियाई, समरगुणपहाणयाणं । ८३ ॥  
वद्धमउहाण निच्चं, रउमधुरवहुणधोरवमजाणं ।  
जोऽनरिंदाजाणं, सोलमरार्तासहस्साइं ॥ ८४ ॥  
वायाञ्जीसं झक्खा, दूयाण रहुगयवराण पटिपुष्पा ।  
अट्टयदं वसहस्सा, अभिउन्मा सव्वकज्जसु ॥ ८५ ॥  
अट्टयात्ताकांडीओ, पाइकपयाण रणमत्थाणं ।  
सोअसहस्सा उ तहा, सजणवयाणं पुरवयाणं ॥ ८६ ॥  
पयणासं विजाहर-नगराण सजणवयाई रम्माणं ।  
पव्वंतराअवासी, नेगो य फणमग्भमउको ॥ ८७ ॥  
नेगाई सहस्साई, गागागरनगरपट्टयादीणं ।  
वेयद्वहादिणेष उ, पुव्वारअंतराठियाणं ॥ ८८ ॥  
उरियाणुमाणमहणं, अवसे वसमाएणत्तु नरवडणो ।  
दाहिणभरदं सयलं, अजति तिस्राण पडिक्खा ॥ ८९ ॥  
सोअसहाहस्साती नरवडतणयाण रूवकलियाणं ।  
तवेइ य श्वि यज्जवड-कट्टायातीतो तिविद्वस्स ॥ ९० ॥  
इय वत्तोमसहस्सा, चारुपत्तीण ता तिविद्वस्स ।  
धारिणपामोक्खाण य, अट्टमहस्साइ अयलस्स ॥ ९१ ॥  
उसियमारवयाणं, विदिणवत्तवाअविषयाणं ।  
सोअसगाणियसहस्सा, वसंतंनेणपहाणयाणं ॥ ९२ ॥  
एवं तु मए जणियं, अयज्ञानविद्याण दोएहवि जणासांति० ।  
" अयत्ने बलदेवे, अस्तीं धणुं उद्धु उच्छणं होथा " स० ८  
सम० । मनोहरीपुत्रं, ( र चाण्डियदेहे शक्तिस्वामीविजयं  
वीनशोकायां नगर्यां जिनरात्रोः राज्ञो मनोहरीभार्यायामुपस्थां  
बद्धदेवो जातः । पितर्युपरते मातरि प्रव्रज्यां सृष्टीत्वा सृष्टार्यां  
ज्ञानं कल्पं देवत्येनोपपन्नायामटवीं गत्वा सांश्च विभी-  
षणनाम्नि अतति मृते तत्रैवागत्य तदरुपं विकल्प्य देवक-  
पया मात्रा मिलित उच्छान्तियां मनुजं जित्वा परलोकादिभ-  
कुर्वति । ततः प्रव्रजितो सृष्ट्या अलितान्नाको देवो जात इति,  
पतस्सर्वे आसेनाऽऽप्तनाऽऽप्तनसम्पन्नं प्राकृत्यतः अर्थसः,

इति 'उत्सन्न' शब्दे कि० भा० ११३३ पुष्टे वक्ष्यति । आ० ब० १  
 अ० । अ० म० अ० । निर्णयपुराणम्बरस्य रामचन्द्रस्य सामन्ते,  
 स च स्वयंप्रियतकपदयोगिनो संधं दृष्ट्वा संवेगमापद्य प्रमत्तितो  
 मुनीम्बरो ज्ञातः । तच्चरितं चैवम्—

भयरेदिप निभयपुर-मिम पुत्रजापविदियगुरुवहिरसो वि ।  
 रायांसि रामचन्दो, सलकषणो रामचन्द्रु ध्व ॥ १ ॥  
 तस्स युक्तानुवक्षयं, अयसो नामेण अग्रिय सामन्तो ।  
 मयसम्बसोयसोमी-रयाङ्गुणुर्यगुर्यणनिही ॥ २ ॥  
 कइया वि सो नरितो, सभागतो त्रुटिसारपरिवातो ।  
 बुक्षन्नरसुङ्गाय, गिराह पउरेश्च इय प्रथिञ्चो ॥ ३ ॥  
 देव ! न होसह चोरो, न य जसो न वि य करणसंचारो ।  
 केण वि तव वि मुसिउजह, अविच्छक्येण पुरमेयं ॥ ४ ॥  
 तं सोऽंतं कुविपणं, भणियं रथा अहो सुहृदसंधा ।  
 किं को वि तक्करं तं, निगमिहंतं से समायु ति ? ॥ ५ ॥  
 जां किं पि न बिति भसा, ता अयसो आह देव ! मह देसु ।  
 आएसं नयु कितिय—मिच्छं पसो वराषो ति ॥ ६ ॥  
 रथा सहस्यतंबो—सदाणपुव्यं पंपिषो स इमं ।  
 तह कुणसु जह ! सिग्यं, जह सम्भह तक्करो एसो ॥ ७ ॥  
 जह पक्खेना चोरं, न लदेमि अहं विसामि तो जलणं ।  
 इय काउ पद्धं सो, विगिमिअसो रायनवणाओ ॥ ८ ॥  
 परिजामिअं पुरमज्जे, सिघागत्तियचलककमाइसु ।  
 लकां न को वि चोरो, नोहरिसो तयणु नयराओ ॥ ९ ॥  
 करकसियसम्पदं, विविदीक्यपरिसरो दृढपइओ ।  
 सो रयणियपदमपहरे, पसो कुंडाभिहमसाणे ॥ १० ॥  
 तथ अहकनुपककल-ररंतं तथककुंडुपिच्छं ।  
 भन्नुककककपरिक-पिककपिककारे व खे ॥ ११ ॥  
 एगय कावयो-सज्जसंज्ञणियकिक्किल्लारावे ।  
 अअरथ मुक्कपुट्ट-दृहासपरिजमियभूयजे ॥ १२ ॥  
 जा अयुदिओ अयलो, अयसो इच जाइ किं पि पूभागं ।  
 ता साहगगदणपरं, विसायमेगं स पिच्छेइ ॥ १३ ॥  
 तं पइ भणह महायस ! साहगपुरिसं इणसि किं एयं ? ।  
 आह विसाओ इमिया, पसाइओ हं विये सल्ल ॥ १४ ॥  
 संपइ अइवुहियेणं, मए इमो मगिमो महासंसं ।  
 न तरह दांतं खुदो, ता एयं लहु इणिससामि ॥ १५ ॥  
 पउठवयरपराणो, अयलो पच्छाह मुंच नरमेयं ।  
 नुह देमि महासंसं, अइमि मग्गइ पिसाओ वि ॥ १६ ॥  
 तो त्रुटियाय अिणं, नियमंसं स तस्स वियंइ ।  
 अस्स विसाओ वि अहो !, अमुत्तपुव्यं ति जंपेणो ॥ १७ ॥  
 उक्किण्ठण जह जह, अयलो से देह मंससंधं ।  
 तह तह दिव्योसिहिविहि-कयं एव बुद्धिं ब्रुवा जाइ ॥ १८ ॥  
 नीसेसमंसविययं, निए वि सयलं कल्लवरं अयलो ।  
 अह जीवियनिरिक्कयो, सीसं पि हु अित्तरामको ॥ १९ ॥  
 धरिऊणु विसायणं, वादिहइरणं सल्लतुणेण ।  
 अणिओ सो अज्जेएणं साहसेणं बरेसु वरं ॥ २० ॥  
 अयसो भणइ साहग-इदं पकरंसु जसि तुदो मे ।  
 एयं कयं विय मए, मग्गसु अणं पि आह सुरो ॥ २१ ॥  
 अयलो जंपइ तुज्जं वि, किं सीसइ अमरमुणियकज्जसस ।  
 नातं भोहिबलेणं, तं कज्जं आइ इय अमरो ॥ २२ ॥  
 तं अयसो ! गच्छ सगिदं, वीसरथो होसु मुंचसु विसायं ।  
 एसो चोरपबधो, गोसे सयलो कुमरो होई ॥ २३ ॥

इय मणिय गयो अमरो, अयसो वि विच्छेद्रेहवायओ ।  
 निययावासे पसो, निरिच्छतो सहइ निहं स ॥ २४ ॥  
 वयगयनिदो अयसो, पए विसायण पत्राणओ जह !  
 तं तक्करबुधंतं, निसुणुसु सो आह कहसु कुनं ॥ २५ ॥  
 एयस्स पुरस्स बहिं पुव्वहिंसाभासमे वषट्ठं ओगी ।  
 पव्वयओ से सिओ, कविलकसो वेदओ अथि ॥ २६ ॥  
 तेणं हरेइ नयरे, सो सारं रमइ निसि अहिच्छाप ।  
 काठण ओगिकुवं, दिवसे पुणु कहइ धम्मकहं ॥ २७ ॥  
 तस्सासमज्जुमिहरे, विच्छइ अयहारपेइव्वसज्जसं ।  
 मा काहिंति इह संसय-मिय यणिय तितोदिओ देवो ॥ २८ ॥  
 अह काउ गोसकिच्छं, अयसो कहवयज्जाणुतो पसो ।  
 सुरकदियभासमे त-तथ तेण दिओ कयमजोगी ॥ २९ ॥  
 गऊण य तय अणुं, अयसो पसो वारिदपयमूले ।  
 निवपुओ एगंत, कहेइ तं चोरबुधंतं ॥ ३० ॥  
 को इय पव्वयओ इय, नवररपुट्टो पंपयणं वयसो ।  
 तस्सासमज्जुमिगिह-मिम मोसजायं सयलमथि ॥ ३१ ॥  
 तो सिरवियणाभिसवस-विसज्जिपासिसपरियणो राया ।  
 सुत्तो तयणु जणेणं, पारइता विविहउवयारा ॥ ३२ ॥  
 जावो न य को वि गुणो, आइया मंतवाइपमुहजणा ।  
 ते वि अकयपरिगारा, गया विलक्का सज्जाणेसु ॥ ३३ ॥  
 तो सुविसन्नमणेण व, सो जोगो वारिदपयमूले रथा ।  
 संभसिउमरम्यो, सायरविघ्नासणो य तयं ॥ ३४ ॥  
 पुरिसं य पेसिऊणं, अणाविओ संस आसमो उण्णि ।  
 निमायमसेसमोसं, आणीयं रायनवणमिम ॥ ३५ ॥  
 आइओ तव्वेत्तं, मदायीणं दंसियं तयं मोसं ।  
 उवलकिक्कणं जं अ-स्स आसि तं तस्स उवणीयं ॥ ३६ ॥  
 अह बुसो सो जोगी, रे रे पासंनियायम ! अणज ! ।  
 को एसो बुत्तंसं, सो भीओ जंपए न किं पि ॥ ३७ ॥  
 खेओ दूरीहुओ, सिरुवज्जिम उज्जणु एव लहुं ।  
 सुवहुं विडंविदं सो, जोगी माराविओ रथा ॥ ३८ ॥  
 इय इदं तस्स मरणं, अयलो चित्तेर कुरियवेरमो ।  
 हा ! कह जीवा अणसंभ-विमोदिवा अंत इह विदणं ॥ ३९ ॥  
 पणसोनेणं जीवो, हणंइ जीव सया मुसं वहइ ।  
 पियपुत्तमित्तुसुकल-सपमुहदोयं पि वंचेइ ॥ ४० ॥  
 इह भोइयतुच्छपओ-यणुथमित्थं अकिक्कअणंसं पि ।  
 काउं कच्छइ जीवो, न य पिच्छइ तक्कं बुक्खं ॥ ४१ ॥  
 अइगकपलंहासुगगर-पहारभरगाइविदुरियसरीरा ।  
 हा ! किह पु उज्जाम्मइ अयने निवमंतिमे जीवा ? ॥ ४२ ॥  
 ता सयसोइसंभोह-निविदसरथोरणील्लजणदक्क ।  
 कवयं पिय पव्वज्जे, संपइ गिपहामि दृढससो ॥ ४३ ॥  
 इय जा अजसो अचसिय-संवेगजरो विचित्तप चिच्छं ।  
 ता तथ ससोसरिओ, सूरी गुणसुंदरो नाम ॥ ४४ ॥  
 सुम्भा गुणो तोक्कणं, स आगमो आगो सुगहाससे ।  
 पणमियतव्ययउमं, आसोणो उचियेइसमिम ॥ ४५ ॥  
 तयणु ज्जणपरमण्वेय-कारिणी लोदमोइनिम्महिणी ।  
 विसयासुरागयायव-करिणी संवेयसंजणणी ॥ ४६ ॥  
 संसारसमुत्थसमत्य-वसुविगुणुत्तपयणगणयाणा ।  
 सुसुहहकरेइ वयणे-इइ देसणा सूरीणा विहिया ॥ ४७ ॥  
 तं सोऽंतं पमिबुको, अयलो पुच्छे वि कह वि मरनाइं ।  
 गुक्को तस्स सतीव, संविमो गिणइए विक्खं ॥ ४८ ॥

अचल

परिव्रज्यविहिरिक्तो, गुरुणा सह विहरण मदीयस्य ।  
 चरते अरिन्दे, आराह ह्यसम्मरहते ॥ ४७ ॥  
 पवयवचञ्चलपरो, गणहृत् सिके सया सुहसामिके ।  
 सिषकलतक्यो गुरुणो, सेषव हंसलियण्युत्तयो ॥ ४० ॥  
 सुपवयवपञ्जायधरे, धरे सुवहस्तुप तवस्ती यः ।  
 जह उचियं आराह ह, अत्रिकणनाणोवमोगपरो ॥ ५१ ॥  
 स। ह्यव्यपु आह-स्त्वय्यु परिहर ह वृमहयारे ।  
 अनुपवनायामाहं, सुयभानिपरायणो कुणह ॥ ५२ ॥  
 तयसा निकारयाणं, कम्पान अउ सि कुणह मरुयतधं ।  
 अणलथगाणुवचतो, मुण्णिय मसाह विर्येह ॥ ५३ ॥  
 पकिमगस्स भयस्स व, नासह अरणं सुधं अशुणगाय ।  
 न हु वेयावचअधि, सुहोद्यं नासप कम्मं ॥ ४४ ॥  
 इय विलतो वेवा-वधं पकुणह अतिप्यमाणयो ।  
 पवयवपनावणपरो, कुणह समाहि ह संधस्स ॥ ४५ ॥  
 पथमणु चरदस्स-जायचारिते अतिप्यमायस्स ।  
 उगगतवकारिणो सु-उज्जमानसुपसपल्लेस्स ॥ ४६ ॥  
 अज्जयतिर्यंकरना-मकम्मयो तस्स अवहसाहुस्स ।  
 सव्धोसहिपमुहाओ, जायाओ विविहलकीओ ॥ ४७ ॥  
 इसो निमयपुरे रा-मअंधरत्नो विसिचयिजेहि ।  
 पयडिउज्जेतयु वि स ब-हुभेस्सज्जो सहपओगुसु ॥ ५८ ॥  
 बहूमेततवाह-हि कारमाणसु अवि सुकिरियासु ।  
 रोगेण मरति करी-तो प्रादन्धो निवो जाओ ॥ ५९ ॥  
 अह गुरुणा सुणाओ, अचलसुणो तथ्य आगओ तथ्या ।  
 पसो निवो सुणिते त, नमिय निसन्धो उचियवेसे ॥ ६० ॥  
 मुणिया वि निवहल्लुयो, सहसणुपल्लमूलपरिकलिओ ।  
 पंथाउअवयसंधो, तिगुणवयगरुयसाहोयो ॥ ६१ ॥  
 सिकन्धावयपरिसन्धो, निमयअधुनिपमकुसुमसंकिन्धो ।  
 सुमणुयसमिक्किफलो, कहिओ गिहिधम्मकप्पतठ ॥ ६२ ॥  
 इय सोत निवो अणह, पठे ॥ अम्ममिसं समीहोमा कावं ।  
 कि तु अक्रासे सिपु-संदाहे वृठ मरमाणं ॥ ६३ ॥  
 न गिदे न धादि न जणे, न काणुणं न व दिणं न रयणीय ।  
 मह संपह संपज्जह, रडे मणायं पि मुणिपवव ॥ ६४ ॥  
 तो कहलु कि पि जणं, सुपयमणो हं करमि धम्ममिमं ।  
 इय रत्ना पुणकणं, धुतो पि हु सुणुणित्तुल्लो ॥ ६५ ॥  
 सावज्जकज्जवज्जो, सन्नापो वि हु न कि पि आ अणह ।  
 ता मुणिसमीधियल्ले-यरेण एधं निवो वुत्तो ॥ ६६ ॥  
 बहुलदिसिस्सिदिस-थिययस्स एयस्स समणुसहीहस्स ।  
 पयरेणहि संकुलिय-य कुणसु सज्जं करिसमूहं ॥ ६७ ॥  
 तं सुणिय निवो तुद्धो, मुणियपयसंकुसियरेणुनियरेणु ।  
 करिनियरं सव्वं पि हु, आमरिसावह तिक्कुसुओ ॥ ६८ ॥  
 विसमिय पीडसाहयं, तमं व दिवसयराकिरणपडिकं ।  
 वेणेण रोगजायं, तं नद्धं कुंजरकुलाओ ॥ ६९ ॥  
 तं पिच्छु वि अच्छरियं, अणंतहरितो इमं भणह राया ।  
 भयवं ॥ वारयाधारी, केण निमित्तेण संजाओ ॥ ७० ॥  
 मुणिया भयियं नववर ॥ जो जोरं धारओ तथा मुयय ।  
 मरिउं अफामिज्जर-वसेय सो रक्कसो जाओ ॥ ७१ ॥  
 सरिज्जय पुणववरं, स हु सरिरीमि अण्यमवमाओ ।  
 पयं पि होउ तुक्कं, ति कासि वृत्तीय रोगमरं ॥ ७२ ॥  
 मह चरखरेउल्लुधु, संधं ते वाहिणो सुभयसंता ।  
 सो रक्कसो पणुद्धो, सज्जं जायं करिकुडं ॥ ७३ ॥  
 मुणियाहण्यमण्यं, वृणं गहिदसुवगिहिधम्मो ।

तुद्धो राया पवयव-पमाओ सोओ जाओ ॥ ७४ ॥  
 अयलो वि अगिण्यो, चरखाहसु काउ अयसणं सुमयो ।  
 सोहम्मे उवचओ, तथो य बुओ विदेहम्मि ॥ ७५ ॥  
 कच्छाविजप, सिरिजय-पुरीरओ पुरंउज्जसते ।  
 देवो सुदंसयाण, चउदसवखसुणिकयस्सओ ॥ ७६ ॥  
 गम्भे पाउम्भूओ, समुच्चियसमय व जम्मवपणुओ ।  
 अहिंसितो स सुरासुर-वमोय सुमेवसिहरम्मि ॥ ७७ ॥  
 कयअयमित्तिहाओ, उचिय समयम्मि पव्वरउकामो ।  
 सोमंतियतियसेहि, सविसेसुवुद्धिउच्छाहो ॥ ७८ ॥  
 लोणायं संवच्छर-मच्छिअविधिवाविधवधंभारो ।  
 वउसद्धिसुरेसरविहिय-गठयनिकमज्जमधरमहिमा ॥ ७९ ॥  
 तिजयं पणजयं पि व, पणत्थायणसुवुद्धिउच्छाहो ॥ ८० ॥  
 कुणमाणो पदिवचओ, निस्साअधं ससामअं ॥ ८० ॥  
 तो सुक्कअणालन-समुलनिहउथाकम्मओयो ।  
 उण्णकवेलासाय-सोदथासेतनइल्लो ॥ ८१ ॥  
 सीहासणोवधिओ, सिरउउरिं धारिय सेयसुचतियो ।  
 निवेदह तुवालसगुण-महल्लकमिअण्यसोहो ॥ ८२ ॥  
 चात्रियासियवरचमरो, धुरओ पणिकसकुसुमवरपरो ।  
 निजियादिणयमंरुह-भामंरुहल्लकमियतमोहं ॥ ८३ ॥  
 सुरपहयउत्तुदिसुर-पयमियदुउज्जेमधारउविजओ ।  
 सव्वसज्जासाणुगदि-वववाणियतित्तयसंवेहो ॥ ८४ ॥  
 पायमियसगहमओ, पकिओदियमुंरिजवभयियजणे ।  
 विहरिखा चिरकालं, अणंतलूहसंपयं पसो ॥ ८५ ॥  
 अत्रिनशासिनवनीयवनीयव-  
 मुयेति वृत्तमवसस्य मुनीअरव्य ।  
 सज्जानन्दोततपधरणादिकु  
 अज्जामत्तमहसंता मुनयो विघण ॥ ६६ ॥ ४० २० ॥

अच ( य ) द्वाहाशो-अचलरथात-न० अचसो ( निष्कणः परमा-  
 एवादिभेषति, तस्य स्थानमव हस्थानम् । निरजःक्रासे, अचञ्च च  
 तत्स्थानं चावस्थानमवस्थानमिति मुणुपलव । निरजःक्रासञ्च  
 परमाएवादीनामवय-“ परमाणुपोमानं णं जंतं । निरेव क्रास-  
 ओ केव चिरं दोहः । गोवमा । जहक्षेणं एके सयय उक्कांसणं  
 असेअज्जं कालं असेअज्जओ तसपिणीं आस्सपिणीनां ” ध्य०  
 १ उ० । नि० सू० । अचरस्थानं तु चनुषो, सादिससपयवसानभे-  
 दात् । तद्यथा-सादिसपयवसानं परमावसादिकस्यैकप्रदशा-  
 दावस्थानं जघन्यत एकं समयमकृष्टतथासंब्येयकालमिति;  
 साधपयवसानं सिद्धानां भविष्यत्कालकय, अजादिसपयवसा-  
 नमतीत्यादिकपयशैलंइयवस्थानसमये परमावसादिकस्यैकप्रदशा-  
 रजप्यावानां चोत; अनाद्यपयवसानं धमोधमाकाशानामिति ।  
 भाषा० १ श्रु० २ श्रु० १ उ० ।

अच ( य ) झपु-अचलपु-न० आनीरेदशास्मर्गते ब्रह्मज्ञ-  
 पासने पुरन्दे, कण्ठ० । ( “बभरिविया” शब्दे कथा चाख्य )  
 “अयहपुरा लिखन्ते, कालवस्यप्रायुआंगीए धीरे ” । न० ।

अच ( य ) लजाया-अचलजाता-पुं० श्रीमहावीरस्य मव-  
 मे गणधरे, विशेषं । श्रु० म० छि० । कण्ठ० । ( तस्य पुरादिकं  
 “ गणहर ” शब्दे बहयते )

अच ( प ) झा-अचज्ञा-स्त्री० शकस्य द्वेषेकस्य समग्रामादि-  
 प्याम, श्रु० ध्रु० ( तत्कथा प्र० जा० १३३ पुठे “अग्रामहिसि” शब्दे )

अच ( य ) लिय-अचक्षित-न० वञ्चं शरारं वा न चक्षितं

कृतं यत्र तदचक्षितम् । अत्रमादप्रत्युपेक्षणभेदे, स्था० ६ डा० ।  
 ध० । श्रोत्र० । अत्र चतुर्भङ्गी यथा—“वत्यं अचक्षियं अप्पाणं  
 अचक्षियं; तथा वत्यं चक्षियं अप्पाणं अचक्षियं; तथा वत्यं  
 चक्षियं अप्पाणं चक्षियं; तथा वत्यं अचक्षियं अप्पाणं चक्षियं ।  
 एष्य पदयोर्भंगो सुक्तः” । ६ त० । अत्रारथचक्षनक्रिये, त्रि० । “अ-  
 चक्षियमावां पवसां य” । प० ब० ४ डा० । नि० ब० ।  
 अचक्ष्वच-अचक्ष्वच-त्रि० । अचक्ष्वति शब्दरहितं, प्रश्न० १  
 संख० डा० । “अनुत्तुरं अचक्ष्वचं आहारमाहारं” । प्र० ७  
 श० १ उ० ।

अचक्ष्वल-अचक्ष्वल-त्रि० । न० त० । स्थिरस्वभावे, व्य० ३ उ० ।  
 “गतिगणनासमावा-दिपृष्टि णि कुणति चंचलत्वं तु । गायं  
 गणितानु भवे, अचक्ष्वलो सोऽमुणयसो” । पं० भा० । पं० ब० ।  
 अचक्ष्वलत्वं चतुर्धा जवति-गत्याश्चपलः १, स्थित्याऽचपलः २,  
 स्थायाऽचपलः ३, भावनाऽचपलः ४ । गत्याऽचपलः १, शिष्टा-  
 री न भवति १ । स्थित्याश्चपलः १ शरीररहस्यपादा-  
 दिकमचाक्ष्वयत् स्थिरस्तिष्ठति २ । प्रायायाश्चपलः १सत्यादि-  
 प्रायी न स्यात् ३ । भावनाऽचपलः सुभेऽप्येऽजागतेऽप्रमासे  
 सत्येवाऽप्रमेतं गृह्णाति ४ । ( एष्वंभूतः शिष्यः ॥ “णीया-  
 विषा) अचक्ष्व, अमादि अकृतुहल ” उच्यते १० प्र० ।  
 कायिकादिचापव्यरहितं, प्रश्न० ४ आश्र० डा० । “अनु-  
 रिचमचक्ष्वलमजने मुह्योत्तिषं पडिलिहरे” अचक्ष्वं मान-  
 सचापव्यरहितम् । प्र० २ श० ४ उ० । “अतिष्ठेण अचक्ष्वे, अ-  
 प्पमासी भ्रियासणे” अचक्ष्वलां अमर्दं सव्यं स्थिर इत्यर्थः ।  
 दश० ८ प्र० । विश० १० । “अचक्ष्वला” गत्या कायचा-  
 पव्यवर्जिता । कर्त्त० । “अचक्ष्वला” अचक्ष्वला मनो-  
 वाक्कायैस्त्व्योत् । स० ।

अचाङ्य-अशाक्त-त्रि० । असमर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ प्र० ।  
 “जहादियापोतमपत्तजानं, सायासगा यविर्दे मयमाणं । त-  
 मचाङ्यं तरुणमपत्तजानं ढंकाइ अचक्ष्वत्तमं हरेजा ” । ४१  
 सूत्र० १ श्रु० १४ प्र० ।

अचापंत-अशकवृत्त-त्रि० । असमर्थे, “अव्यावाध अचापंतो ने-  
 च्छह्र अप्पचेतए एए ” व्य० ३ उ० । सूत्र० ।

अचाग-अत्याग-पुं० । त्यागपरिहारे, ध० २ अत्रि० ।

अचास्या-अचासता-स्त्री० । असुन्दरत्वे, “बुधविश्वेयं त्वचास-  
 तया ” वो० १ विव० ।

अचालाण्डिज-अचालनीय-त्रि० । शैथिल्यद्वंशनीये, “अभि-  
 गयतीजीवा, अचालाण्डिजाउ पवययाश्रो ” दर्श० ।  
 अचित्त-अचिन्त्य-त्रि० । चिन्तयितुमनुमापकहेत्वभावेन तर्क-  
 यितुमशक्ये, शक्यार्थे कर्मणि एष्यत् । न० त० । बाच० । अचि-  
 त्तं चक्षते, डा० १६ डा० ।

अचित्तगुणसमुदय-अचिन्त्यगुणसमुदय-न० । अचिन्त्यो गुण-  
 समुदयो ज्ञानादिसमुदयो यस्य तदचिन्त्यगुणसमुदयः । पर-  
 तत्त्वे, “तनुकरणादिविरहितं, तच्चाचिन्त्यगुणसमुदयं सूदमय”  
 वो० १४ विव० ।

अचित्तवितापिण्ड-अचिन्त्याचिन्तापिण्ड-पुं० । चिन्ताभितकान्ताऽ-  
 पवर्षोविधायकत्वेन चिन्तामसिखरलकत्वे तीर्थकरे, पं० सू० ३ सू० ।

अचित्तता-अचिन्तन-न० । न० त० चिन्तनाभावे, यत्कदाचिद्

कृपादिकं हृदं तस्य चेतसि न स्मरन्मपरिभावनमित्यर्थः ।  
 “अचित्तं चेष अकिसत्तं च ” उच्यते ३२ प्र० ।

अचित्तसा-अचिन्त्यशा-स्त्री० । अनिर्वचनीयसव्योष्णाहा-  
 ले, “अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते” डा० १६ डा० ।  
 अपिट्ट-अवेष्ट-त्रि० । अविद्यमानचेष्टे, श्राव० ३ प्र० ।

अचित्त-अचित्त-त्रि० । नविद्यते चित्तमस्तिस्मित्यचित्तमचेत-  
 नम् । जीवरहिते, श्राव० १ श्रु० १ प्र० उ० । श्राव० ।  
 अनु० । नि० ब० । सूत्र० । अचित्तचित्तमिध्वयिकः-

प्रायः सर्वोणि धान्यानि । धानकजरीऽऽजमकविरहाली-  
 सुआरार्थसखसप्रभृतिसर्वकणाः सखोणि फलपत्राणि  
 लयणखारीसारकः रक्तसैन्धवसुञ्जलादिरकृषिमः क्षारं मृत-  
 खट्वीर्षणिकादि आद्रेदन्तकणादि च व्यवहारे सचिन्ता-  
 नि । जले निरवेतिताभ्यणकगोधूमदिकणाभ्यणकमुञ्जद्विदाल-  
 यक्ष क्रिषा अपि क्वचिन्नखकालंभगान्मिथाः, तथा पुष्यलव-  
 णादिप्रदानं वाष्पादिप्रदानं बालुकादिषेपा वा चिन्ता सांका-  
 षण्यका गोपमुद्युग्धंरथ्यादिधानाः क्षारदिप्रदानं विना लोसि-  
 ततिला श्रोलकडेविकाः पृथुसैतिकतफलाकाः पपेटकायां  
 मरिचरजिकाक्षधारादिमात्रसंस्कृतचिर्भटिकादीनि सचिन्ता-  
 नधीजानि सर्वेकफलानि च मिश्राणि । यदिते तिलकुडिः  
 कृता नदिने मिथा, मध्येऽकसेटिकादिषेपे तु मुह्येत्तनुप्रासु-  
 का, दृश्लणमासवादी प्रभूततरयुडपेण तद्विनेऽपि तस्याः प्रा-  
 सुकण्यव्यवहारः । वृक्षात्कान्तासुहृतेतं मुदुलासाङ्गात्यादि, ना-  
 त्कालिको मालिकानिभ्यःकनिभ्यःमेषादीनां रसस्ताकालिक  
 तिलादितैले, तत्कालभ्रमं निर्वाजीकृतं नालिकेर्यूहाटकपूर्णा-  
 फलादि, निर्वाजीकृतानि पक्कलानि, गाढमर्दिनं निष्कणं जी-  
 रकाजमकादि च मुह्यन्ति यावन्मिथाणि, मुह्यन्तदुर्मुं तु प्रासुका-  
 नीति व्यवहारे । अन्यदपि प्रवलाभ्रयोंगं विना यत्प्रासुकी-  
 कृतं स्यान्मुह्यतीति मिथं, तदनु प्रासुकं व्यवहितं । यथा  
 प्रासुकं नीरिति. तथा कक्कफलानि, कक्कधान्यानि, गाढं मर्दि-  
 तमपि लवणादि च प्रायाऽप्य्यादिव्रमलशशं विना न प्रासुका-  
 नि । योजनशान्तरन अगाननि हरीतकीक्षारकोकिसि-  
 सिऽशुलाखजूंमरीत्वापिपलीजातिकलचदः मयायमासोऽटके-  
 मिजापिस्ताचिणी कषायस्फटिकानुकारिसैन्धवादिनेसाजैका-  
 विदुलवणादिः कृषिमः क्षारः कुम्भकारादिपरिकर्मितमुद्गादि-  
 कम्, पलालवङ्गजाविश्रीशुष्कमुस्ताकाङ्गादिपक्ककल्पा-  
 लान्युत्कालितकुञ्जकाटपूर्णादीनि च प्रासुका नीति व्यवहारे  
 दृश्यते । उक्तमपि श्रीकल्पे-

जोअणसयं तु गंतुं, अणहारेणं तु भ्रंनंकंती ।

वायागण्डिधुमेण य, विष्क्यं होइ होणइ ॥ १ ॥

अवणादिकं तु स्थस्थानाद् गच्छन् प्रत्यहं बहुबहुतदिक-  
 मेण चिन्त्यस्वमानं योजनशतात्परतो गत्वा सर्वथैव विष्वस्तम-  
 चिन्तं भवति । शक्त्याभावे योजनशतममत्रश्रेणैव कथमचिर्वा-  
 जयतीत्याह—अनाहारेण यद्व्यपिदंशादिकं साधारणं तत्  
 ततो ध्येबादिधतं सोऽपष्टमकाहारविच्छेदाद् विष्वस्यते । तच्च ल-  
 वणादिकं भाइइसंका-या पूर्वस्मात् २ नाजनाहपरभाजनेषु ।  
 यद्वा । पूर्वस्था माहकशाभाया अपरथया भाइइशाभायां संक-  
 र्ण्यमाणं विष्वस्यते तथा वातेन वा अग्निना वा महानवादीं  
 भूमेन वा अवणादिकं विष्वस्यं जयति “लाणइ” इति । अत्रादि-  
 शब्दादीमि कृष्ट्याः-

हरियालमणासिलिपि-पक्षी अ खजूर मुदिआ अजया ।

आइकमगाइआ, ते वि हु एमेव नायव्या ॥ १ ॥

हरितालं ममःशिखा पिपलीं च खजूर एते प्रसिद्धाः सुदी-  
का झाका, अमया हरतीकी, एतेऽप्येवमेव लवणमिव योजनवा-  
तमनादिभिः कारणैरचित्।भवतो ज्ञानव्याः । परमेकैऽना-  
वीर्णा अपरेऽनावीर्णाः । तत्र पिपलीहरतीकीप्रभृतय आवीर्णा  
इति गृह्यन्ते । खजूरमुदीकादिभिः पुनरनावीर्णा इति गृह्यन्ते ।।

अथ सर्वेषां सामान्येन परिणमनकारणमाह-

आरुहणो ओरुहणे, एमिअण गोणाणं च गाउम्हा ।

भोमाहारच्छेरे, उवकमेणं च परिणामो ॥ ३ ॥

शुक्रादिषु लवणादीनां यदि तूयां नूत्र आरोहणमयरोहणं च  
तथा यन् तस्मिन् शुक्रादी लवणादिजरोपरि मनुष्या निची-  
दन्ति तेषां गवादीनां च यः कोऽपि पिच्छादिशोषमाप्ता, तेषां च  
परिणामो भवति । तथा यो यस्य मौमादिकः पृथिव्यादिक आ-  
हारस्तद्भयच्छेदं तस्य परिणामः, उपक्रमः-शास्त्रं, तच्च शिवा-  
स्वकायपरकायतदुभयकल्पं । तत्र स्वकायशक्त्वं यथा-लवणा-  
दकं मधुरोदकस्य, कृष्णजम् पाण्डुरूपस्य । परकायशक्त्वं यथा-  
अग्निरुदकस्य, उदकं नाम्नेरिति । तदुभयशक्त्वं यथा-उदकं शु-  
क्रादिकस्येत्यादि । यमगादीनि सचित्त्वस्मूनां परिणमनकारणा-  
नि मन्तव्यानि ॥ ३ ॥

उपपलपउमाई पुण, उड्डे दिहाई जाम न धरिति ।

मोगगरगृहीआओ, उड्डे बूढा चिरं हुंति ॥ ४ ॥

मगदंतिअपुफाई, उदकचूटाई जाम न धरिति ।

उपपलपउमाई पुण, उदए बूढा चिरं हुंति ॥ ५ ॥

उपपलपि पद्यानि च उदकयोऽसिक्तत्वात्पुष्पं भातपे दसानि  
यामं प्रहरमात्रं काष्ठं न श्रियन्ते नावतिष्ठन्ते, किन्तु प्रहरादवोगे-  
याचित्वाजवन्ति । मुक्करानि-मगदंतिकापुष्पाणि युधिकापुष्पा-  
णि च उष्णयोनिक्त्वात्पुष्पे क्षिप्तानि चिरमाप काष्ठं भवन्ति,  
सचित्वाप्येव तिष्ठन्तीति ज्ञायः । मगदंतिकापुष्पाणि उदकं क्षि-  
प्तानि याममपि न श्रियन्ते, उपपलपद्यानि पुनरुदकं क्षिप्तानि चि-  
रमपि भवन्ति ॥ ४ । ५ ॥

पसायां पुफाणं, सररुकलाणं तदेव हरिआणं ।

विंदिमि भिलाणामि य, शायवन् जीवविपुजदं ॥ ६ ॥

पद्यानां पुष्पाणां शरतुफलानामवज्जान्धकफजानां वास्तुला-  
दीनां सामान्यतस्तरुणवस्त्वपनीनां बृते मूलनास्ते म्लाने सति  
ज्ञातव्यं जीवविप्रयुक्तमेतत्प्रादिकमिति ( श्रीकल्पवृक्षौ शाल्या-  
दिशाल्यानां तु श्रेयश्चमाङ्गे पशुगतकसममोदेशके सचित्वाचि-  
कत्वविज्ञाना पशुमुक्तः, स च 'जोणि' शब्दे दर्शयित्वा ) कर्पास-  
स्याचित्वात्ता त्रिवर्षानन्तरं स्यात् । यद्गुक्तं श्रीकल्पवृहज्ञाप्यं-

सेरुगं तिवरिसाई गिहंति ।

सेरुकं त्रिवर्षानन्तरं विष्वस्तयोर्निकमेव कल्पते । सेरुकः क-  
र्पास इति । तदुक्तं पिष्टस्य तु मिश्रतायेवमुक्तं पूर्वमुरिभिः-  
" पणदिग्मिसा बुद्धो, अचाक्षिओ सायण अ भद्वप । चउ भा-  
सोए कसिम-मगविरयोसेसु तिभि दिवा ॥ १ ॥ पणपहर कल  
फरुण, पहरा चत्तारि चेत्येसाहो जिआसाडे तिपहर, तेण  
परं होइ आक्षिओ " ॥ १ ॥ आलितस्तु मुहुसौर्ध्वमचित्तं,  
तस्य चाक्षिओभूतानन्तरं विनशुककाष्ठमनां तु शास्त्रं न दृश्यते,

परं कृष्यादिविशेषेण वर्षादिविपरिणामभवेन यावत् कल्पते ।  
उष्णनीरं तु विष्णुकोकलितत्वायै मिश्रय । यद्गुक्तं पारसमिथुंकी-  
उसिणोदगमखुचेषु, देके वासे य पडिअमित्तमिम् ।

मोत्सादासतिगं, चाउलउदगं बहुपसत्तं ॥

अनुदूषेत्तु विदपेत्तूकालेषु जलमुष्णं मिश्रं, ततः परमचित्त-  
म । तथा वर्षे वृष्टौ पतितमात्रायां आमादिषु प्रभृतमनुष्यप्रचार-  
रुमी यज्ञं तद् यावन्न परिणमति तावन्मिश्रम, अरण्याभूमी तु  
यत् प्रथमं पतति तत्पतितमात्रं मिश्रं, पश्चात्पिततु सचित्तम।आ-  
देशाधिकं मुक्त्वा तद्गुहादकमबहुप्रसक्तं मिश्रम, अतिस्वच्छीयुतं  
त्वचित्तम । अत्र अथ आदेशाः । यथा केचिद्बह्वर्नि-तरुलोदके  
तरुदुग्धप्रक्षालनजायमान्दन्त्र जाणैरे क्लिष्यन्त्या बुट्टिन्धा प्रा-  
एवपार्थे लम्ना चिन्द्यां यावन्न शास्त्रमिति तावन्मिश्रम । अपरे-  
तथैव याता यावद्बहुदा न शास्त्रमिति तावत् । अन्ये तु-यावन्न-  
रुद्धान न सिद्ध्यति तावत् । एते त्रयोऽप्यादेशा ककेतरजाए-  
पचन्नामित्समवर्थादिभिः, पुनः काष्ठानियमस्याभावात्, ततोऽति-  
स्वच्छीयुतमेवाचित्तम ।

तिव्योदगस गदणं, केइ चाणेसु अमुइ पडिसेहो ।

गिहिजायणेषु गदणं, त्रिअवासे मीसगं तारो ॥ १ ॥

तीव्रोदकं हि धूमधूस्त्रुनदिरिकरकरसस्यकैसापनीप्रसस्य-  
काचित्चित्तम, अतस्तरुग्रहणे न काचित्तिराधना । केचिदाहुः-स्व-  
भाजनेषु तद् प्राह्वम । अत्राचार्यैः प्राह-अयुचिरवास्तुपात्रेषु  
ग्रहणप्रतिषेधः, ततो गृहभाजने कुपिरकादी प्राह्वम । वर्धति मे-  
धे च तन्मिश्रम, ततः स्थिते वर्षेऽन्तर्दुक्तोत्तुर्ध्वं प्राह्वम । जसं  
हि केवलं प्रासुकौयुतमपि प्रहरत्रयादुर्ध्वं भूयः सचित्तं स्या-  
दतस्तन्मध्ये ज्ञातः कल्पः, एवं स्वच्छताऽपि स्यादिति । पिपली-  
रुकिवृक्षौ तदुल्लभावनोदकानि प्रमदित्वायत्तुयान्यचिर-  
कृतानि मिश्राण, चिरं तिष्ठन्ति त्वचित्तानि, चतुर्थादि विमानि  
तु चिरं स्थितान्यापि सचित्तानि । प्रासुकजसादिकायमानमेय-  
मुक्तं प्रवचनसरोकारादी-"उसिणोदगं तदु-कालिअं फसु-  
अ जलं जउ कणं । नवरि गिलाणाइकप, पहरानिगावरी विधारि-  
अव्वं ॥१॥ जायइ सचित्तपये, गिभहासु उ पहरंयचगसुधरि ।  
चउपडरवरि सिसिरे, वासासु जसं तिपडरवरि " ॥ २ ॥ तथा-  
ऽन्यतन्स्यापि कङ्कुकुमुहरतीतकीकुलिकादिगवनेषुनिररु-  
णत्तं निःशुक्रतादिविपरिहारार्थं च न दस्तादिभिर्मज्यते । यद्गुक्तं  
श्रीभ्राघवियुक्तिपञ्चसतितमगाथावृत्तौ-अचित्तानामेव कया-  
श्छिन्नस्पतीनामविनाश योनिः स्याद शुद्धवीमुदादीनाम । तथा-  
हि-गुन्ची गुष्काऽपि जलसेकात्तादुग्धं मज्जति तिहयते,  
एवं कङ्कुकुमुकादिरपि, अनां गोमिररुक्णाथिमचेतमयतना न्याय-  
वयेवेति । घ० २ अघि० । वृ० नि० वृ० । पि०

पदव्याऽप्यथ सङ्गह-ए-

अह पयाणं जं जं, कालपमाणं अगामि सर्वेसि ।  
अत्तं सिखं विषयं, कट्टुं अं हिशुसहिजं यं ॥ ६२ ॥  
पुफफलपत्तास्यं, वीयच्छाली विणा य क्रामफलं ।  
मंडपुवाइये जल-सप्यसोवडोयपरफया ॥ ६३ ॥  
चउपहरमाणमेत्तं, श्रेयणमंदवारजामजरार ।  
उत तकरवन्नपिण, पडिं य परिमाणमवि सुत्तं ॥ ६४ ॥  
दहितकररुईणं, कयसाणाण सोलजामं च ।  
वासासु पक्कहं-तं मासुसिरणु वीसादिणमाणं ॥ ६५ ॥  
पक्कणयकालो विउ, विधुंसा कुलिकोप पक्कहो ।

बासासु पुगदिणं वा, चक्षियरस्सं ज्ञथं जं जाह ॥ ६६ ॥  
 निव्विगय पक्कम्भं, अमरसुजुयं तस्सिंसेमय परिमाणं ।  
 उच्चुवियारगयाणं, चक्षियरस्सं तं तहा जाण ॥ ६७ ॥  
 घयतिष्ठगुराईणं, वधरस्संघपथमुपपज्जासे ।  
 काक्षपरिमाणमुत्तं, जाणुज्जा नो तहा पायं ॥ ६८ ॥  
 इथ य चक्षियरस्सम्मि, जीथा वेईदिया समुच्चंति ।  
 पुण्णिय पमिदिया, वट्टंति दुवे वि समगं वा ॥ ६९ ॥  
 अचित्तजज्ञे सचित्तं-नवयं पुगैदिया समुच्चंति ।  
 अरणं सुजियमिन्निप, परिणंटी समुच्चिमा तुंति ॥ ७० ॥  
 तिष्ठमुगमसूरचवल्लय-भासकृत्तथयकलायनुबरीणं ।  
 बल्लण वट्टचणयाण, पंचवयरिसस्यमाणं च ॥ ७१ ॥  
 सात्तिविदि जयजुगंधरि-गोदुमतिणधस्यतिष्ठकपासात्तं ।  
 वासानियं परिमाणं, तत्सा विरुंसेय जाणी ॥ ७२ ॥  
 सुट्ठा कंगू अयसी, सणकोसुसगवरट्टसिद्धत्या ।  
 पत्तयकृद्धवमही, मूलगववीया चवट्टा य ॥ ७३ ॥  
 पहियाणं लत्तणं, उक्कासिठई सत्तवासाई ।  
 हाइ जइस्येण पुणा, अंतमुहुत्तं सममाणं ॥ ७४ ॥  
 पिप्पस्सिखज्जुरमिरी-मुदिथ्य धमया वदाम्मारिक्का ।  
 पत्ता जाइफत्ते पुण, ककोलं चार कुलिया य ॥ ७५ ॥  
 विरुंसिद्ध जौली, पुण्णियं जलपधोसंभोगंदि ।  
 संघारयजलफलाइ, घाणं जौणी तहा चित्तं ॥ ७६ ॥  
 जायस्यं जलम्मि, यत्तम्मि सद्धई अंरुसंकांती ।  
 वायामाणधूमोई, पविद्धजौणी हवइ तोसं ॥ ७७ ॥  
 हनियात्तलवणमणसिद्ध-पुण्णसंवासात्तमिदिक्केरा य ।  
 पमेव अणाइसा, विरुंथा अवि मुण्येव्वा ॥ ७८ ॥  
 सीयाविचवपासक-रणीकथिइगुल्लजाईरुंदिगनागाई ।  
 अचित्तजौणीया, द-दस्सणाइयमिदलमजिजा ॥ ७९ ॥  
 पिठ्ठं मिस्समसुत्तं, पुण्णचउजियदिणममाणमापक्कं ।  
 सावणाभांयपासे-सु जुयत्तम्मि यए अणुभांगो ॥ ८० ॥  
 पण्णचरतियजामाण, मादुंग चित्तजुयलजिठ्ठेण ।  
 तइ नज्जियधघाणं, दालीण विपज्जपर पायं ॥ ८१ ॥  
 चालियउरियतुसरईय, सुक्कं जा ताव मित्तिसयं नेयं ।  
 सोणजुयं जं सागं-अज्जियतद्विपणं तं सुद्धं ॥ ८२ ॥  
 अग्गे जणानं भउजिय-धघाणं पक्कत्तमियायमव काठो ।  
 सत्तपणदसदसदिणं, बासासुत्तं मिस्सलोणस्स ॥ ८३ ॥  
 अंतमुहुत्तं मोइ-स्स चोचिसिजाम घाउपत्तगयं ।  
 गोमुत्तं जइ केयल्ल-महिंसा इमं रसाविषज्जासं ॥ ८४ ॥  
 अइमितले विचच्चासे, तिचउपपणजामसुत्तिजानंरस्स ।  
 बासासुत्तं पुपमाणं, कासुज्जस्सावि पमेव ॥ ८५ ॥  
 उस्सेइम १ संसेइम, २  
 तदुत्तनीरं ३ तिलोत्तं ४ य वि ।  
 तुस् ५ जव ६ आयामं ७ वा  
 सोधीरं ८ सुक्कविद्यं च ए ॥ ८६ ॥  
 अंभ १० कविट्ठा ११ मनगं १२,  
 अंभारग १३ माउसिग १४ अज्जउत्तं १५ ।  
 दक्खा १६ द्दामि १७ कैरं १८,  
 चिंवा १९ नारिअर २० कोलज्जं २१ ॥८७॥  
 पुण्यानिं भच्छे, ष्ठे तिष्ठनुसज्जवाधं भणियं ।  
 आ जामं सोधीरं, अट्टमे उलियं नीरं च ॥ ८८ ॥  
 मथमसित्यं गलियं, तियदंहुक्कलियपरिमियमलेवं ।

परकड्जइं ए कप्पइ, न कप्पइं अयमरुंसेसं ॥ ८९ ॥  
 उस्सेइम संसेइम, तंउत्तंतिष्ठनुसज्जवाण नीरं च ।  
 आ जामं सोधीरं, सुक्कं विद्यं जलं नवदा ॥ ९० ॥  
 तिहत्ता तमालपत्तं, मुत्थयकुट्टं च क्यररमाईदि ।  
 फासुक्यं खल्लाइदि, कारणओ कपपिणउत्तं तु ॥ ९१ ॥  
 जिठ तवे भच्छे, पमिसुवहासु अभिमाहायमिं ।  
 सट्टाणं जियकप्पइ, उपाहज्जेणं अयसुणं वि तहा ॥ ९२ ॥  
 फलंविच्छेदगमिगजा-ममाजामं धखनीरसुत्तत्तिगं ।  
 उच्चुरसे सोवीरं जामदुगं घोयणं तिमहु ॥ ९३ ॥  
 वधरसगंधपज्जव-अयविमिस्सं सुं हवइ फासुज्जं ।  
 सक्करगुरुत्तंडाई, वत्थुयिनिपई परिणमियां ॥ ९४ ॥  
 गोपल्लगमहिंसीणं, खीरं पण अट्टइसदियाखुवरी सुक्कं ।  
 तिदिणाणुवरी बलकी, नवत्थसुवाण पमेव ॥ ९५ ॥  
 चउपहरोवरी जायं, वदि सुद्धं इवइ कपपिणजं च ॥  
 तक्करजुयखीरयो, वीयदिणं होइ वा कप्पा ॥ ९६ ॥  
 निधीरं तिलमिस्सं, संघाणं तइ विचारियफत्तणं ।  
 अचित्तजोहणो पुण, कप्पइ तक्करमणुमालियं ॥ ९७ ॥  
 निव्वल्लिनिच्छियफत्तं, जामगमासुहुत्तसुवरी कयं ।  
 वियलं तक्करमिस्सं, न कपपसुत्तिणकथण विणा ॥ ९८ ॥  
 भांयाफलं पत्ताली, घोसादोलां च रुक्कमुत्तं ।  
 तण्णिकत्तं जं नो, इवइ तं देवईचिचि ॥ ९९ ॥  
 उक्कजइइस्यमिस्स-नेपई होइ तिविहज्जत्तत्तं ।  
 चउत्ता सचित्तपरि-आयणुकिट्टनेयए ॥ १०० ॥  
 विदिहम्मि अभिगहं खलु, न कप्पइ सचित्तवावारो ।  
 तत्थाणाहारवत्थु, कप्पइ सव्वावि रयणीय ॥ १०१ ॥  
 आर्यावल्लमथि तिदिं, उक्कजइइस्यमिस्सवपारी ।  
 तिदिहं जं वियलं पु-याईं पकापप वि तत्थ ॥ १०२ ॥  
 सियासिधसुत्तिगिरी, मोई सोचक्कलं च विद्धवयणं ।  
 हिंमुत्तुगंघिसुयाइ य, पक्कपप साइमं वत्थु ॥ १०३ ॥  
 कारणजापण जइण, अत्तणं सिदं इविउज गिमियं वा ।  
 पिठ्ठं जज्ञेण रत्तं, घुग्गेरिट्टाइ सिदकेणं ॥ १०४ ॥  
 पपुत्तवदया रुक्खा, सिद्धा तिगपीकया इवइ कप्पा ।  
 भउजियधणं तिणधस्य, कट्टइसं सिणेहवियलं जं ॥ १०५ ॥  
 सव्वाणं धघाणं, पि हुया उक्केण सिद्धिसाइमयं ।  
 वेसस्यत्थाइ इइ, सिद्धया तीह अक्कयं च ॥ १०६ ॥ जं १०६ प्र० ।  
 अचित्त-वि० अक्कुरे, १०५ उ० ।

अचित्तद्विपक्क-अचित्तउच्यकल्प-पुं० अचित्तउच्यव्याणा-  
 माहारादीनामुपयोगविधिविशेषे, “ अचित्तद्विपक्कं, एत्तो  
 चोच्चं समासेण । आहारे उवाहिम्मि य, भोवसेण तह य पस्स-  
 वणे ॥ १ ॥ पयसं नित्तउत्ताणं, दंरे धंमे चित्तमोहिणी अयल्ले-  
 हणिया वल्लणं सो-चणे दंतसोहणे चेव ॥ २ ॥ पिप्पलगसुत्तिण-  
 क्खा-णट्टेइयं चेव सोलसं मज्जा हारो खलु द्विदिहो भो-इयल्लो-  
 उच्चरं णायव्वा ॥३॥ तिदिहो तु लोइओ खलु, तथ इमो होति  
 णायव्वा” । पं० मा० । पं० चू० ( ‘आहार’ प्रभृतिशब्देषु विवृतिः )  
 अचित्तद्वन्द्वसंध-अचित्तउच्यस्कन्ध-पुं० । अविद्यमानचित्तोऽ  
 चित्तः, स चाऽसी उच्यस्कन्धः । त्रिभेदाकारिपुद्गलस्कन्धरूपे  
 अचेतने उच्यस्कन्धभेदे, अस्तु० ।

अचित्तद्वन्द्वचूला-अचित्तउच्यचूला-स्त्री० चूदामणिकुन्ताप्र-  
 सिंहकर्मणासादापदाघने, नि० चू० १७० ।

अचिचसंभत-अचिचसंभत-त्रि० । न विद्यते चिचमुपयोगो ज्ञानं वक्ष्य । कनकजटादावचिचतेन, सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० । 'चिचसंभतमचिचं वा एव सयं अचिचं गिरहेज्जा' । द्वा० ४ अ० । पा० । आचा० ।

अचिचमहाखंभ-अचिचमहास्कन्ध-पुं० । उत्कृष्टावगाहनेऽनन्तमदेशिके स्कन्धे, (तत्स्यरूपं 'खंभ' शब्दे वक्ष्यते) विशे० ।

अचिचसोय ( गृ ) -अचिचस्रोतम् ( कृ ) -न० । जीवरहित-त्रिभे, (अचिचस्रोतसो भेदास्तत्र शिख्यं प्रवेश्य शुभ्रपुरुलानिष्कासनं च 'मंगादाग' शब्देऽद्र्शि ) ॥ नि० सू० १ उ० ।

अचियत-देशी-त्रि० अतीतिकरे, 'अचियतिथा धाणियतंति वा एग छं' इति वचनात् । व्य० २ उ० । पि० अतीती च । व्य० १ उ० । सूत्र० १ देशीपदमेतत् । वृ० १ उ० । खी० अतीतिमत्याम्, व्य० ७ उ० ।

अचिचंतेउरपरपरपवेस-अचियतान्तःपुरपरगृहप्रवेश-पुं० अचियतेऽनभिमतोभ्रतःपुत्रप्रवेशवत् परगृहप्रवेशोऽन्यतीर्थिकप्रवेशो येषां ते तथा । अनभिमतपरमतप्रवेशेषु सम्प्रक्षिप्येषु, यथा राज्ञामन्तःपुरे गन्तुं नेष्यते, एवं परतीर्थिकेष्वपि यैः प्रवेशो नेष्यते, ते आचकाः । सूत्र० २ शु० २ अ० । "असियफ-तिहा अच्युयवुचारा अचियतेउरपरपरपवेसा चाउदस-दुपिदुपुष्मसिणेषु पडिपुषं पोसहं समं अणुपालेमाणा विहरति" सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अचु ( चो ) वल-अचोस-त्रि० । न० त० । अचुदे, तं। जी० । अचिचुण-अचिचुण-न० । न० त० । चेष्टाभावे, सर्वथा चेष्टानिरोधे, घ० ३ अचि० ।

अच्येयकद-अच्येतस्कृत-त्रि० । अच्येतन्यकृते, भ० १६ श० २ उ० । ( जीवानामच्येतस्कृतकर्मकत्वं 'च्येयक' शब्दे )

अच्येयण-अच्येत-त्रि० । न० त० । चेतनाविकले, अच्य० ४ अ० । 'अच्येयणा' नराधमः, विशिष्टचैतन्याभावात् । प्रस्त० २ अच्य० ह्य० ।

अच्येयसु-अच्येतन्य-न० । न० त० । चेतनाविकल्पे, "अच्येतन्यमजीवता" द्रव्य० ११ अच्य० ।

अचेल-अचेल-न० । अच्य० । चेलस्याभावाऽचेलम् । जिनकल्पिकादीनामन्येषां सुयतीनां निभे स्फुटितेऽप्यमूल्यं च चेलं, प्रव० ११३ ह्य० । वस्त्राणां घासगन्धनवीनावदातसुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽभावे, स० २२ अच्य० ।

अचेल ( ग ) -अचेल ( कृ ) -पुं० । न विद्यन्ते चेलानि वासनांसि यस्यासाच्येलकः । स्था० ४ डा० ३ उ० । नञ् कु-स्त्वर्थे, कुत्सिनं वा चेलं यस्यासाच्येलकः । प्रव० ७ उ० ह्य० । अल्पकुत्सितचेलं, जिनकल्पिकेः च । आचा० १ शु० ६ अ० २ उ० । सव्चेलत्वेन तस्य द्वैविध्यम्-

दुविहो ह्येति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य ।

तिष्णगर असंतचेलो, संताचेलो भवे सेसा ॥

त्रिविधो भवत्यचेलः-सद्वचेलो असद्वचेलश्च । तत्र तीर्थ-करा असद्वचेलो देवदूष्यतनानन्तरं सर्वदैव तेषां वस्त्राभावात् । शेषाः सर्वेऽपि जिनकल्पिकादिसाधवः सद्वचेलोः, जघन्यतोऽपि रजोहरणमुल्लसत्किंवासन्मवात् । वृ० १ उ० ।

आह-यद्येवं ततः कथमसौ अचेलो भवत्यने? सत्यम् । सति च चेलं अचेलकत्वस्यागमे लोके च कदत्वत् ।

पददेवाह-

सदसंतचेलोऽचे-लगां च जं भोगममयंसिम्बो ।

तेपाचेसा मुण्डिआ, संतेहि जिणा असंतोहि ॥  
सद्वचेलश्च सदसती चेले यस्यासा सद्वचेलोऽनो यद्यस्मा-  
च्छोके समये वाऽचेलकः संसिद्धः प्रसिद्धः । अच्युदः प्रस्ता-  
धनायाम्, सा च कृतैव । तेन तस्मादिह मुनयः सामान्यसा-  
धवः सन्निरव चेलैरुपचारतोऽचेलो भवत्यन्ते । जिनास्तु ती-  
र्थकरा असन्निरवैरुपयुक्त्या अचेलो व्यपदिश्यन्ते । इवमर्थो  
भवति-इहाचेलत्वं द्विविधम्-सुखमुपचरितं च । तत्रेदानीं  
मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवत्यत औपचारिकं गृह्यते,  
सुख्यं तु जिनानामेवासीदिति ।

इदमौपचारिकमचेलत्वं भावयति-

परिसुखं जुनकुत्सी-यं योवाऽनिययभोगभोगेहि ।  
मुण्डिओ मुच्छारहिया, संतेहि अचेन्नया ह्येति ॥

मुनयः साधवो मुच्छारहितः सन्निरपि चेलैरुपचारतोऽचेल-  
लका नवान्ति । कथमन्यैश्चैरित्याह-परिसुदंति लुप्तविजकि-  
कदेशेनात् परिसुद्धेरपणीयैः, तथा जीणैर्मुदियैः कुत्सिनैरसा-  
रैः, स्तेकैंगणनाप्रमाणतो हीनैस्तुच्छैर्वा (अनियतभोगभोगेहि नि)  
अनियतभोगेण कादाचित्कसेवनेन भोगः परिभोगो येषां तानि  
तथा तैरेवंनृतेश्चेलैः सन्निरपुपचारतोऽचेलका मुनयः ग्रह्य-  
न्ते । तथा 'अजजोगभोगेहि नि' इत्येवमपि योज्यते, तत्रश्च लोक-  
कदप्रकाराद्युपप्रकारेण भोगः आसन्तं, प्रकारलक्षणस्य मध्यमप-  
दस्य लोपादन्यभोगः, तन्नाम्यभोगं भोगः परिभोगो येषां तानि  
तथा तैरेवंप्रयुक्तैश्चैरचेलकत्वं लोकं प्रसिद्धम्, तथा कर्त्त-  
वाससा चेष्टिनशिरसो जज्ञावगाढपुरुषस्य साधोरापि कच्छा-  
न्धाभावात्कुर्यात्प्रत्यामप्रमाणः, एवं चात्रपदकस्य धारणात्मन-  
कस्योपरि प्राबरणेदावावाञ्छोकरुद्रप्रकारादित्युपकरणं च ज-  
ज्ञेगो कृष्यः । तद्वयं 'परिसुखं जुनकुत्सीय' इत्यादिद्विधाप-  
र्यादिभिः सन्निरपि चेलैस्तथाविधयस्त्रकार्याकर्मणां च मु-  
र्ताजवाञ्छ-मनयोऽवज्ञका व्यपदिश्यन्त इतीह तात्पर्यम् ।

आह-ननु चेलस्यायथापरिभोगेण किमचेलत्वमवशिष्टः

क्वापि हृष्ट इत्याशयं यत्तदुपदेशार्थमाह-

जह जलमवगाहंतो, बहुचेसो विमिरभेदियकटिहो ।  
भषट् नरो अचेसो, तह मुण्डिआो संतचेसो वि ॥

जीर्णादिनिरपि वस्त्रैश्चेलक्यं लोकं कदमर्थति भावयति-

तह थोच जुनकुत्तिय-चेसोहिं विजसप अचेसो ति ।  
जह नुर सैलिय ! अप्पय, मे पोत्तिं नग्गिया वत्ते ॥

इयमपि सुगमा, नवरं जह तुस्त्वादिदृष्टान्तः । यथेह क्वापि  
योचित कटीचेष्टिनार्णवहृदिदेशादिना कश्चिद्वैदिकः सव-  
ति-त्वरस्व नोः हेदियक । शीघ्रो भूय्या मदीयपासां शार्त्तिकां  
निर्माण्य ददस्व समर्ये, नग्गिका वनेऽहम्, तविह सवस्त्राया-  
मपि योत्तंति नाम्भ्याञ्चकशास्त्रवृत्तिः । विशे० ।

अथ तत्रैवाणयनमाह-

शुष्धिं खंदिपाहि य, असन्वतणुपाउतेहि एय णिष्णं ।  
संतोहि विणग्गया, अचेन्नया ह्येति चेदोहि ॥

एवं जीर्णैः पुराणैः, आर्यभूतैरिच्छितैः, असर्वतनुमावृत्तैः स्वल्पप्रमाणतया सर्वस्मिन् शरीरे अवावृत्तैः, प्रमाणैः हीनैरित्यर्थः । न च शिल्पं सर्वेषु प्राप्नोतेः किन्तु शीतादिवाक्यसङ्गाधे एषांविधेभ्यः-  
-ज्ञैः, साक्षिरपि विद्यमानैरपि, निर्गम्या अचेलान् प्रवर्तति ।

अथ पराजिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

एवं दुग्मातपहिया, अचेलगा ह्येति ते जने वृत्तौ ।

ते त्वसु अस्ततरीय, धारंति एष धम्मवृत्तौ ।।

यदि जीर्णैश्चादिवादिभिर्वक्ष्यैः प्रावृत्तैः साधुषोऽचेलकास्तत एव दुर्गताश्च द्विरात्रः पाथिकाश्च पाण्या दुर्गतपथिकास्तेऽप्यचेलका भवन्तीति ते भवेद् बुद्धिः स्यात् । तत्राच्यते-ते अस्तु दुर्गतपथिका अस्वसया नवव्यूतसदृशकादीनां बह्व्याणामसम्पत्त्या परिजीर्णादीनि वासांसि धारयन्ति, न पुनर्धर्मवृत्त्या । अतो भावत-स्नाह्वयवृत्तमुच्छ्रापिणाभस्यानिवृत्तत्वात्तेऽचेलकाः । साधुषस्तु सति क्षामे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णैश्चादिवादिनि धर्मवृत्त्या धारयन्तीत्यचेलान् उच्यन्ते ।

यद्येषमचेशास्ततः किमित्याह—

आचेलकको धम्मो, पुरिसस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।  
मज्झिमाणा जिणाणं, ह्येति अचेशो सचेलो वा ।।

अचेलकस्य प्राय आचेलकस्य च, तदस्यास्तीत्यचेलकस्यः । अत्राहं राकुतिगणत्वाद्प्रत्ययः । एवंविधो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च (जनस्य तीर्थे) प्रवर्तितः । मध्यमकानां तु जिनानामचेलः सचेलो वा प्रवर्तितः ।

इदमेव भावयति—

पदिमाए पाउत्ता, एातिकमंते त मज्झिमा समया ।

पुरिमचरिमाए अमह—द्वणाइ जिष्साइं मोभोत्तुं ।।

मध्यमा मध्यतीर्थकस्तत्काः साधुषः प्रतिमया वा हनन्तया प्रावृता वा प्रमाणातिरिक्तमहाम्बुव्यादिनिर्वासांभिराच्छादितव-  
-पुरां नातिक्रान्ति, प्रागवर्तमानांश्रामांश्रामिति मग्यते । पूर्वचरमाणानु प्रथमपश्चिमतीर्थकरासाधुनाममहाधनानि स्वल्पमूल्यानि, भिक्षानि वा कृतस्नानि प्रमाणैरेतान्यदृशकानि चेत्यर्थः । परिमिमानि कारणानि मुक्त्वा ताभ्येवाह—

आसज खेत्तकर्णं, वासावासं अजान्वितो अमह ।

कासे अच्चाणमि य, सागरि तेणो व पाउरणं ।।

क्षेत्रकल्पं देशविशेषाचारमासाद्याभिमान्यापि प्राक्षिप्यते, यथा क्षिप्रविषये तादृशानि प्रावृत्तयः द्विपठन्ते । वर्षावासं वा वर्षाकल्पं प्रावृत्तयः द्विपठन्ते । अभाषितः शैकः कृतस्नानि प्रावृत्त्या द्विपठन्ते यावत्प्राचितो जवति । असाहसिणः शीतस्येन वा नाभिसिद्धं शक्नोति ततः कृतं प्रावृत्तयात् । कासे वा प्रत्येभं भिक्षार्थं प्रविष्टान् प्रावृत्तयः निर्गच्छेत् । अज्वनि वा प्रावृत्ता गच्छन्ति । यस्यागारिकप्रतिबद्धप्रतिभये स्थितास्ततः प्रावृताः सन्तः कायिकादिद्वेषं गच्छन्ति, स्वेना वा पथि यत्स्येन, तत उत्कृष्टोपधि स्कन्धे कक्षायां वा विपिण्डको कृत्योरपि सर्वोद्गीयमावृता गच्छन्ति । एतेषु कारणेषु कृतस्नयोपधेः प्राचरणं कल्प्यम् । तथा-  
-निकवहयलिगभेदे, गुरुमा कर्पति कारुण्येत्ता ।।

गेषास्रोयणं, सरिरेवतादियिमादं ।।

निवृत्तवृत्तो नाम शीतोपस्तस्य शिल्पमार्दं कुर्वतअतुगुरुकाः । अथवा निवृत्तं नाम यथाजातलिङ्गं तस्य भेदं अतुगुरुकं । तस्य च शिल्पभेदस्येने भेदाः—

खंषे दुवार संगति, गरुळदंसे य पट्टलिगपुवे ।

लुटुगो लुटुगो य तित्थु वि, चउगुरुमो दोसु मूढं तु ।।

स्कन्धे कल्पे शीर्षद्वारिकां वा करोति, मासलसु संयती प्राचरणं करोति, अतुलसु गरुडपक्षिकं प्रावृत्तानि, अर्वाशरुतं करोति, कटीपट्टकं बध्नाति, एतेषु त्रिष्वपि अतुगुरुं गृहस्थलिङ्गं परलिङ्गं वा करोति, द्वयोरपि मूलया । द्वितीयपदे तु कारणजाते लिङ्गभेदोपि कर्तुं कल्पते । कुत्रेत्याह-ग्लानत्वं कस्यापि विद्यते । तस्याहस्तमुपदेशनमुत्पापनं वा कुर्वन् कटीपट्टकं बध्नीयात् । शोचं वा अन्त्यस्य साधोः कुर्वाणः पट्टकं बध्नाति । (रोगि स्थि) कस्यापि रोगिणोऽग्रांसि लम्बन्ते, द्वौ वृषणौ वा शूरी, स कटीपट्टकं बध्नीयात् । एहलिङ्गान्यलिङ्गकारयमपवादः—

असिंषे ओमोयपरिण, रायुदुडे व वादिदुडे वा ।।

आगाह अश्र्वाङ्गिं, कासकसेवो व गणपं वा ।।

स्वपक्ष्मन्ते आगाटे अश्विषे अन्यलिङ्गं कृत्वा तथैव कालक्षेपं कुर्वन्ति, अन्त्यश्च वा गच्छन्ति । एवं राजद्विष्टे राक्षि साधुनायुपरि द्वेषमापधे, वादिद्विष्टे वा बादपरजिते कापि वादिनि व्यपरोपणादिकं कर्तुं कामे एवंविधे कारणे आगाटे अन्यलिङ्गमुपलक्षणत्वाद्द्विलिङ्गं कृत्वा कालक्षेपो वा गमनं वा विधेयम् । ५० ६ ३० । १० मा० । १० चू० । १० वा० । १० सं० । अश्र्वा० । कल्प० । जीत० । प्रथ० । पञ्चा० । ( तिष्ठकोपाने केशीकुमारश्च चातुर्योमपञ्चयामधर्मभेदहेतुप्रश्नकारकण “ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संनन्दनो । देसिओ वडमारणेषुं, पासेय य महायसा ” (उत्त०२३अ०) इत्याचेलकस्यधर्मस्य कथं वीरतीर्थं सत्त्वं पार्वतीर्थंऽस्तस्वमिति पृष्टुं गौतमो विधेयकारणं ‘ गौतमकस्सिज्ज’ शब्दे उच्यते ।) प्रातुराश्रय भविष्यत्कथमतीर्थकरस्य समयेऽप्यचेलकधर्मो भविष्यति । स्या० ए डा० ।

पञ्चनिः कारिरेचलसः प्रयत्तो भवति—

एवंहिं टाणेहिं अचेलए पसत्थे जवइ । तं जहा—अप्पा-  
-पडिलेहा, लापविण पसत्थे, स्वे वेसासिण, तथे अणु-  
-ष्ठाए, विउले इंद्रियनिगहे ।।

(पञ्च हीन्यादि) प्रतीतम्, नवरं, न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्यासाचेलकसः, स च जिनकटिपकविशेषः, तद्भजाभादेव । तथा स्वविरकटिपकत्वात्प्रावृत्तयस्तुल्यसममाणजोऽप्यभिनयसन्तवा-  
-दिति प्रशस्तः, प्रशंसितस्तीर्थकरादिभिरिति मग्यते । अस्या प्रस्तुपेक्षा अचेलकस्य स्वादिनि मग्यं प्रस्तुपेक्षणीयं, तथाविद्योपधे-  
-नावात् । एवं च न स्वाध्यायादिविपरिमर्शेति । तथा लोचनार्थो नो लाघवं तदेष शाभाविकः, प्रत्यतोऽप्यवतोऽपि रागाधिषयाप्राधात् प्र-  
-शस्तमनिधं स्यात् । तथा कृपे नेपथ्यं वैशवासिकं विश्वासप्रयोज-  
-नमलिप्सुतासूचकत्वात् स्वादिनि । तथा तप उपकरणसङ्घान्ता-  
-रुपमुद्रांताते जिनानुमत्तं स्यात् । तथा विपुसो महानिन्दित्यिग्रहः  
-स्यात्, उपकरणं बिना स्पशंनप्रतिकूलतात्वात्तपसिद्विषयनादि-  
-तिः स्यात् ० ५ ३० ३० । (प्रतिमं प्रतिपक्षो वक्ष्यवयान् अतुर्षु वरु-  
-मन्वेपयत् लक्ष्वा च तदु देमन्ते तस्मिन् जीर्णं, ‘अनुवा पगसागे  
-अनुवा अचेले साधुषिपं आगममाणे तथे से अजिनसमाध्यागे  
-भवति स्थि’ ‘मरण’ शब्दे दर्शयिष्यते ।) (अचेलस्य निर्गम्यस्य  
-संचिक्षिकाभिनिर्गम्योनिः संवाचः ‘सांवासा’ शब्दे उच्यते)

अचेलगधम्म—अचेलकधर्म—पुं० । अविद्यमानानि जिनकटिप-



कश्चिन्नापेक्षया असस्योदेव, स्थविरकल्पिकापेक्षया तु जीर्णमस्तिनक्षयित्तभ्याताप्यत्वादिना चेतानि धक्खायि यस्मिन् स तथा, धम्मस्मारिधम्, स चास्ती धम्मस्मारिकधम्मः । आचेलकथास्ये इत्थावशास्ति । धेकराप्रकृते श्रुयत्रवीरतीयेस्मन्ते साध्याचारं, स्वा० ६ उा० । (यथा चैव धम्मस्सथाऽऽन्तरम् 'अचेलग' शब्दे द्वास्तिः) अचेलपरि (री) सह-अचेलपरि (री) षह-पुं० । अचेलं बेलाभायो जिनकल्पिकादीनाम्, अन्वेषां तु यिन्नमस्य-भूलयं च चेलमस्यचेलम् । अथस्मशीलवत्, तदेव परीषहोऽचेल-परिषहः । उक्त० २ अ० । अचेलतयां जीर्णोपुणमस्तिनादिचे-रुत्वे सञ्जाद्विप्याऽऽकाङ्क्षाकारणेन परिवह्यमास्यत्वादिति । अ० उ हा० उ उ० । वष्टे परीषहे, प्रअ० ६ संख० द्वा० १० । अ-महस्युत्थानि क्षरिद्धतानि जीर्णानि च वासांसि धारयेत् । आर० उ ४ अ० । न च तथाविधवस्त्रः सन् मम प्राक् परिपृहीतं वस्त्रं नास्ति, नापि तथाविधो दातेति नैव्यं गच्छेत् ; अन्यथासम्मान-वचना प्रमुदितमानस्य अ भवेदिति । प्रव० उ ६ द्वा० १ । यथा- 'नास्ति वासांशुभं चैवत्, तथेच्छेत्साध्वसाधु वा । नाभ्येन विष्णुतो जान्म, सामाऽनाजनिवचि स म' ॥१॥ ध० ३ अघि० । 'शान्तिप्रतिप०पि यति-स्वयस्वस्त्राणवाजिनः । वासांशुत्वं न शूक्ष्मा-र्द्धनि नोऽज्जालयेद्वि' ॥ ११॥ आब० १ अ० ।

एतदेव सूत्रकार आह—

परिजुषेहि न्येयेहि, होक्खामिति अचेलम् ।

किंवा सचेलम् होक्खं, इह जिस्सु ए चित्तम् ॥

परिजुषेहि—सम्नत्वाद् हासिमुपगतैर्बन्धैः शय्यकादिभिः ( हो-कास्मिति ) श्तिर्निर्नकम्, ततो भविष्याम्यचेलस्यचेलस्यो-ऽप्यदित्तमाश्रित्यादेशामिति भिक्खुं चिन्तयेत् । अथवा सचेल-कथेच्छान्वितो भविष्यामि, परिजोषेवस्त्रं हि मां दृष्ट्वा कश्चिद् आ-कः सुवृत्तरत्तये वक्ष्याति श्रुत्यतोति भिक्खुं चिन्तयेत् । इत्थम्-अवधि-जोषयस्सः सन्ससः प्राक् परिपृहीतं न परं वस्त्रम-स्ति, न च तथाविधो दातेति न नैव्यं गच्छेत्, नचाभ्युत्थानसंमान-वना प्रमुदितमानसो भवेदिति सूत्रार्थः । इयं जीर्णादिवस्त्रतया-ऽचेलं स्थविरकल्पिकमाश्रित्याचेलपरिषह उक्तः । समति तमेव सामान्यानाह—

एगया-ऽचेलम् होहे, सचेले वा वि एगया ।

एयं धम्मद्वियं नब्बा, खाण्णी षो परिदेवप ॥ १३ ॥

एकद्वैकस्मिन्काञ्चे जिनकल्पप्रतिपत्तौ, स्थविरकल्पेऽपि कुल्लं-भवत्कामौ वा सर्वथा बेलाभावेन, सति वा चेले यिना वर्षादी-नि तमप्राचरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलक इत्यस्यो भव-ति । पश्यते च- अचेलम् एयं हाति ' तत्र स्वयमेवात्मनेव न पराजिगीगतः सचेलः सचेलश्चाप्येकदा स्थविरकल्पिकत्वे तथाविधाऽऽस्मन्नाचरये सति । यथंयं ततः किमियाह-एतद्वि-स्वयन्सौमिन्त्येन सचेलत्वमचेलस्य च धर्मो यथिधर्मस्सले हि तमुपकारकं धर्मदितं, श्वात्वाऽप्युच्य, नवाचेलकवस्य धर्म-हितम्प्रमल्पप्रत्युपेक्षादिभिः । यथोक्तम्- 'पंचाहं गणोहं पुरिम-अरहंताणं भगवन्ताणं अचेलम् एयंयं पसंथं भवामि । तं जहा-अपापदिहेहा बेलासिए केव १, तये १ अणुमप ३ लाच-वपसथे ४ विडले इदियणिणगहे ५ नि' ॥ सचेलस्य तु धर्मो-कादित्वमभ्याधारमभिनवाकारयेन संयमफलत्वात् । ज्ञानि-भवा एव प्राथित्येत्पारकस्स-इववपसंथं च मया मन्त्यपि वासांस्वपास्यन इयेयंबोअत्थाव परिदेवयत् । किमुक्तं भवति-

अचेलः सन् किमिदानीं शीतादिप्रीतित्य मम शरणमिति न नैव्यमाहम्भेत इति सूत्रार्थः । उक्त० २ अ० ।

अत्र ' एवं धम्मदियं नक्केति' सूत्रसूचितं दृष्टान्तमाह- ।

बीतजये देवदत्ता, गंधारं सावगं पदियारिषा ।  
लज्जं सयुग्गुणियाणं, पज्जोतेणाणि उज्जोणि ॥  
दहूए वेदिमरुणं, पभावर्धं पव्वइतु कालगया ।  
पुक्खरकरुणं गहूणं, तस्य पुरपज्जोयमुयणं च ॥  
माया य रुद्धोमा, पिया य खाभेण सोमदेवो ति ।  
जाया य फग्गुगखिय, तोसन्निपुत्ता य आपरिया ॥  
संहिगिरिजद्वृत्ते, वदरक्खमणा पडित्तु पुव्वगयं ।  
पव्वावितो य जाया, रक्खियकलमणेहि जणओ य ॥  
उत्त० नि० ॥

गाथाचतुष्टयम् । बीतजये देवदत्ता गन्धारं भवकं प्रतिजा-गय्यं लनते शताहुस्त्रिकानां, प्रघोतेनानिती उज्जयिनीं, दृष्ट्वा वृदीम-रणं प्रजावती प्रमदय काहं गता, पुक्खरकरं, प्रहसं, दशपुत्रप्रघो-तमाचनं च, माता च रुद्धसोमा. पिता च नाम्ना सोमदेव इति, ज्ञाता च फग्गुरक्तिः, तोसन्निपुत्ताआचार्याः । सिंहगिरिभद्र-शुलाभ्यां धक्कमलयः पठित्वा पुष्यगतं प्रमाजित्तवत् ज्ञाता राज-तल्लमणैर्जनकश्चेति गाथाचतुष्टयाङ्कः । जग्याध्वस्तु-वृक्ष-सं-प्रदायाववसेयः । स खायं ( जीवित्तवत्प्रतिमावकतया आ-र्यवृत्तित्तुस्त्रिणां दशपुत्रमगमानवाधि 'अक्षरकिल्लय' शब्दं वक्ष्य-ते ) उक्त० ३ अ० । आषाढेरक्तिनस्त्रिणा तत्र सस्मात्पुत्रिणीप्रमुक्तः सर्वसंसारिकवर्गो दीर्घकं प्रादिति । निता तु दृष्ट्वा तादृशानिऽ-पि सायुल्लिङ्गं न शूक्ष्माति । स्वहातायज्जनामां लज्जां च वदति । आचार्या दीर्घाप्रहणाय तस्य बहु कथयन्ति । ततः स कथ-यति-पुत्रवस्त्रयुगलयेहोषवीं, तन्मण्डलुच्छ्रिक्रिपांनिः सम-चेद् दीर्घां इदामि तदा ज्ञामि । ततो लाभं दृष्ट्वा तादृशः स-च तं गुरुः प्रमाजितवान् । प्राहितक्षरणकरण्याघायम् । अन्यदा वैद्यवन्दनार्थं गता आचार्यास्त्रय सायुशिक्षिता शूद्रस्थविरिज-का वदन्ति—एनं उक्खिं मुक्क्या स्वर्चनं सायुव वन्दामहे । ततः स बुद्धो वक्ति-मम पुत्रनप्यादये तं वन्दित्वा ; अहं कस्मात्प्र-वन्दितः; किमया दोषान् न शूहीता ? त आहुः-किं वीरित्तस्य उग्र-कमण्डव्यादीनि स्युः ततो गुरुव्यागपुत्र स बुद्धो वक्ति-पुत्र ! मम-किमज्जा आप हसन्ति, ततो न कायं उत्रेण । एवं प्रायोगेण क्रमते धैतिकव्यासं सर्वं त्याजिनः बहुरुसथा प्रायोग-रुषेऽपि धैतिकं न मुञ्चति स्म । अन्यदा एकः सायुशूहीतानशूनः स्वर्गं गतः । तत आचार्यैर्वृक्षस्य धैतिकव्याजनाय सायु प्रयेव-मुकम्-य एनं मृतमापुं व्युत्पुणं रक्थेन वदति, तस्य महत् पु-रयम् । ततः स स्वविरा वक्ति-पुत्राऽत्र किं वदुमिजं ? आचार्यो आहुः-वाहम् । ततः स वक्ति-महं वदामि । आचार्यो वदन्ति-अपारसगो ज्ञायते, वेदकरुणाणि लयन्ते, यदि शक्यतेऽधिसेत्तुं तदा वरं, यदि कुंभो अधिपतिं तदा श्रुमस्माकं भविष्यति, एवं सिद्धीकृत्य स तत्र नियोजितः, सायुसाध्वीसमुदायः पुष्ट-स्थानःयावत्स न सायुशः कर्मसंस्माराय योदुमास्यं, तावत्स-स्य धैतिकं शुश्रूषिज्ञितदिग्मकैराकार्येन, स लज्जया याव-त्सायुशः कर्मसायुञ्जति तावद्व्येकलम्-आ मुञ्च ३, एकेन-चोत्तरपटको द्रवरकेन रुष्या कटौ बद्धः स तु लज्जया तस्सायुञ्ज-

वं ह्यारभ्यै वायव्यदृष्टं तत्र द्युत्तराध्यायतो षक्ति-पुत्र ! अथ महाउपसर्गो जातः । आङ्गुत्तराध्याय-आनीयतां शीतिकं, परिधापनाय । ततः स षक्ति-ध्याऽन्तं शीतिकेन, यद् दृष्टव्यं तद् दृष्टमेव । अथ बोलपट्ट एवास्तु । पूर्वं तनाऽन्वेषणपरिवहो न सोढः, पश्चात् सोढः । उच्यते २ श्लो ।

पतदेवाचेस्रतासहनं प्रत्यपादि यथा—

एयं तु शुष्णी आयाणं सया मुद्रकस्यायधम्मे विवृतक-  
प्ये शिञ्जोसङ्घा, जे अचेत्ते परिव्रासिते तस्स ये । विक्कु-  
स्स गो एवं जवति, परिजुएणे मे बत्थे वत्थं जाइस्सामि मुचं  
जाइस्सामि मुई जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्क-  
सिस्सामि बोक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाञ्जिस्सामि,  
अद्दुवा तत्थे परिक्रमं जूज्जेणे अचेत्ते तण्णफासा कुंसति  
सीयफाना कुंसति तेउफासा कुंसति दंसमसगफासा कुंसति  
एणयरे अण्णयरे विरूक्कस्से फासे अट्टियासेधि अचेत्ते  
ज्ञापवं अगममाणा, तवे मे अभिसमएणाए जवति, जहेयं  
भगवता पवेदितं, तमेव अजिसमेच्चा सन्तो, सम्बचाए  
सम्मचमेव समभिजाणिया, एवं तेसिं महावीराणं चिरराइं  
पुन्नाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अट्टियासियं  
आगयएणाणाणं किंसा बाह्वा भवंति । पण्णएयं अंससोणियं  
विस्सेणियं कट्टु परिएणाए एस तिषे मुचे विरए वियाहि-  
ए चि वेमि ।

पतद्यत्तु पूर्वोक्तं चङ्गयमाणं वा, खुर्वोर्षयासङ्घोरे, आदीयत इत्या-  
दानं कर्म, आदीयत इति चाऽनेन कर्मोत्पादानं कर्मोत्पादानम् ।  
तत्र धर्मोत्पत्करणातिरिक्तं चङ्गयमाणं वखादि तन्मुनिर्भोजयितेति  
संबन्धः किंप्रुतः । स्वधा स्वधेकाः सङ्गुत्तराध्यायतो धर्मोऽस्तंति स्वा-  
भ्यातधर्मो संसारजीरुव्याद्यधरोपित्तजारवाहीत्यर्थः, तथा वि-  
पूनः क्षुण्डः सम्यक् रूपुः कटप आचारो येन स तथा, स एवंचूतो  
मुनिरादानं भोजयित्वा आदानमपयेत्यति । कथं पुनस्तदादानं  
वखादि इत्याद्यु येन तद् जोषयितव्यं भवेदित्याह- (जे अचेल इत्या-  
दि) अन्वयं नञ्, यथा-अयं पुमानहः स्वधगहान इत्यर्थः । यः  
सचूतोस्य चेत्तं वक्रमन्तोत्पत्तोऽन्वेषोऽजपवत्त स्वयर्थः । संयमे  
पर्वयितो अयवदियत इति तस्य भिक्षोर्भित्तज्ञयति नैतत्कथ्यते ।  
यथा परिजीणं मे वक्रमन्तोत्पत्तोऽन्वेषोऽजपवत्त, न मेऽन त्यक्त्रा-  
त्वं ज्ञपियति, ततश्च शीताघाटितस्य किं शरणं मे इत्याद् वक्रं  
चिनेयेतोऽहं कञ्चन आषकादिकं प्रत्येय वक्रं यान्धिष्ये, तस्य  
वा जीषस्य वक्रस्य संघानाय सूत्रं यान्धिष्ये, सूचामि यान्धिष्ये  
वा, आसाज्यां सूचीसूत्रान्यां जीणवक्रम् संघाचरामि, पाटितं  
संविषयामि, जणु वा सद्परराकललनगत उक्त्वंयिष्यामि,  
दीर्घं वा सत्तु अजापनयनतो भुक्त्वंयिष्यामि । एवं च कृतं स-  
परिष्कार्यामि, तथा प्रावरिस्यामीत्याद्योऽन्वेषोऽजपवत्तः सत्यपि  
जीणोर्दिक्वसङ्घावे यज्ञविषयस्याप्यवसायिनो यमैकप्रबणस्य  
तु भवत्यन्तःकरणवृत्तिरिति । यदि वा तिमकल्पिकामिः प्राये-  
णेचेत्तत् सूत्रं व्याख्येयम् । तद्यथा- (जे अचेले इत्यादि) नास्यान्वेषं  
वक्रमन्तोत्पत्तः क्षिद्राणिवासायाः । पाणिपात्रयात्पा-  
त्रादिसप्तविधतन्त्रियैर्गरहितोऽनिप्रहविशेषात् स्य ककल्पप्रयः ।  
कचलं रजोहरासुखवैशिकसम्बन्धितस्यद्यचेत्तस्य विद्वोर्भित्त-

ह भवति, यथा परिजीणं मे वक्रं सञ्चिद्रं पाटितं चेत्प्रेयमादि-  
वक्रगतमपचयानं न भवति, धर्मिणोऽन्वेषात्कर्मोभाषः । सति च  
धर्मिणि धर्मोन्वेषणं म्याव्यभिहितं सत्यं चकचत्तयेद्रूपमपि तस्य न  
भवत्येव । यथा परं वक्रमहं याविष्य इत्यादि पूर्ववन्वेषयम् । यो-  
ऽपि त्त्रिद्रपाणिस्वात्पात्राभिर्योगसमन्वितः कल्पव्याप्यत्तरुको-  
ऽसावपि परिजीणोदिसङ्घावे तद्रूपमपचयानं न विधत्ते, यथा  
कृतस्याव्यपरिकर्मणो ब्रह्मयात्तु सुचिन्तुष्यान्वेषणं न करोति ।  
तस्य चात्कल्पस्याव्यवच्छेदस्य वा तुष्णादिस्योसङ्घावे यद्वि-  
धेयं तदाह- (अद्दुवा इत्यादि) तस्य ह्यचेलतया परिवसनो  
जीर्णवखादि कृतमपचयानं न जवति, अथयेनत्तु स्यात्तत्रान्वेष्ये  
पराकर्मणः ( चूज्जेणे ) पुनस्तं स्यामुचेलं कचिद्द्रं प्रामाद्यौ त्व-  
कृत्वाणाभावात् तद्युत्तराध्यायिणं तुष्णातं स्यातोः परव्यास्तुप्य-  
जो जनिताः स्यशाः दुःखावश्यास्तुत्तरस्यगोले करणावित्तु स्पृ-  
शन्ति, तांश्च सम्यग्दर्शनमनसाऽतिसहते इति संबन्धः । तथा  
शीतस्पशाः स्पृशन्त्युपनापयन्ति, नेज्जं चणस्पशाः स्पृशन्ति, तथा  
दंशमशकस्पशाः स्पृशन्ति । तेषां तु परीक्षणात्मकेतरे विक्रवा  
दंशमशकतृणस्पशादयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णाविविपरीक्षणायां  
वा परस्पराविक्रवानामन्यतरे प्रादुर्भवेयुः । प्रत्येकं बहुबन्धननिर्दे-  
शात्तु शीतमन्वेष्यमाशब्दासंज्ञक इति । पतदेवद्योयति-विक्रयं  
धीमत्सं मनोनेयानाह्वादि विविधं वा मन्वादिदेवाद्युं येषां तं वि-  
कृपकपाः के ते ? , स्पशां हुःआविरोधासङ्घापादकस्तृणादिस्योसङ्घा-  
या, तात् सम्यक्करणेनापत्त्यानरहितोऽधिसहते, कोऽसौ ? , अ-  
न्वेषोऽपगतत्वं चोऽन्वेष्येत्तो वाऽन्वेष्येत्तस्य वा सम्यक् तितित्ति ।  
कर्मभिसम्यग् परिवदानधिसहते इत्यत आह- (लाघवमित्यादि)  
लिधोर्जीवां ज्ञापवं, कथ्यतो भावतश्च, कथ्यतो भुपकरणाज्ञापवं,  
ज्ञापवं कर्मज्ञापवं । आगमयणवगमयन्त्युत्पन्नम इति यावद्-  
धिसहते परीक्षोत्तराण्यभिहितं । नागजुर्न्यास्तु पठन्ति-“ एवं  
अहं से उचरगृह्णाशाद्येवं तवं कम्मकथयानं करोति ” एव-  
मुक्तकथनेन ज्ञापवंस्युपकरणं ज्ञापवं तपश्च करोतीति आ-  
चार्यः । किञ्च (तवे इत्यादि) (से) तस्योपकरणज्ञापवेन कर्म-  
ज्ञापवमागमयत्तं कर्मज्ञापवेन चोपकरणज्ञापवमागमयत्तस्य-  
णादिस्योसङ्घासहमानस्य तपः कायक्लेशकपत्या बाह्यमभिसं-  
मन्वागतं जवति।समयाभिसुक्थेन सोढुं भवति।एतत्तत्र न प्रयोच्य-  
त इत्येतद्दर्शयितुमाह- (जहेयं इत्यादि) यथा येन प्रकारेणैज्जमित्त  
यदुक्तं चङ्गयमाणं चैतद्, ज्ञापवता वीरचक्रमन्तस्याभिना, प्रकथं-  
णाऽऽशी वा धेदितं प्रवेदितमिति । यदि नाम भगवता भवेदितं ततः  
किमित्याह- (तमेव इत्यादि) तदुपकरणज्ञापवमाहात्साद्यं वा-  
ऽभिसमेत्य ज्ञापवा, एषकारोऽप्यधरणे, तदेव ज्ञापवं ज्ञाप्येत्तपः  
कथमिति चेत्तुत्तरे-सत्यं इति कथ्यतः केषुचतः कासातो भावतश्च ।  
तत्र त्रय्यत आहाराउपकरणादी, केषुचतः सर्वत्र प्राप्तादी, कालतो-  
ऽहिराश्री वा, दुर्मिहादी वा । सर्वोन्मेते । भावतः कृत्रिम-  
कृत्वाद्यभावेन, तथा सम्यक्त्वमिति । प्रकाशं शोभनमेकं सङ्गतं  
वा तत्तं सम्यक्त्वम् । तदुक्तम्-“प्रशस्तं शोभनमेकैव, एकः सं-  
गत एव च । इत्येतदुपसंहारतु, भाषः सम्यक्त्वमुच्यते” ॥१॥ तदेव-  
चूतं सम्यक्त्वमेव वा समभिजानीयात् सम्यगाभिसुक्थेन जानी-  
यात् परिच्छिन्नात् तथा ह्येवोऽप्येकेशादिकं नाशमयेत, यत्  
उक्तम्-“ जो वि कुवति विवयो,पंगण अचेत्तगो व संवरइ । ए हु ने  
हीत्तोति परं, सत्ये वि हु ने त्तिपा गाए ॥१॥ तथा-“जेअहं विस्-  
परिसकपा, संघयणवियादिदिकारणं जणिया । पण्णयमणुयहोणं,  
अण्णयां मयइ नेत्ते ॥१॥ सर्वे वि जिणा गाए, जहादिहिं कम्म-

कषणमद्वाप । विहरति उडमुया बहु, समं प्रमिजाणैर्पवं ॥२॥ इति । यदि वा तदेव साधनमितिमेत्य सर्वतो ज्ञप्यादिना सर्वोत्पन्नादिता सम्यक्त्वमेव सम्यग्विजिगीषीयाद् तीर्थकर-  
गणधरोपदेशात् सम्यक् कुर्व्यादिति तात्पर्यार्थः । एतच्च नाश-  
क्यामुद्राग्रहः । उच्यते तत्र कृष्णकूर्कुरत्नोपदेशश्च प्रवतः  
केचनमुद्राग्रहस्येत्ये, अपि त्वयैव बुभिक्षिरकाक्षमासेवितमित्येत-  
दृशोयितुमाह— ( एवमित्यादि ) एवमित्येकस्यतया पृथुषितानां  
तुयादिप्रवेशान्निषि सहमानानां तेषां महावीरणां सकळसोकचम-  
न्वृत्तिकारिणां बिरदात्र प्रवृत्तकालं यावज्जीवमित्यर्थः । तदेव  
बिन्नेपतो दृशोयति-पूर्वाणि प्रवृत्तानि रीयमाणानां संयमायुद्धाने ग-  
च्छतां, पूर्वस्य तु परिणामे वर्णानां सप्ततिः कोटिशङ्काः पथं वा श-  
तकोटिसहस्रास्तथा प्रवृत्तानि चर्षाणि रीयमाणानां तत्र नामधेय-  
वारभ्य शीतलं दशमतीथे हरेर्वायवपुर्वसंख्यासद्वजायात् पूर्वाणी-  
त्युक्तम् । तत्र आरभ्य धेयांसाद्वात्रय वर्षसंख्याप्रवृत्तेष्वर्षाणीत्यु-  
क्तमिति । तथा छप्याणां ज्येष्ठां मुक्तिमगमनयोग्यानां पद्मया-  
धमिन्, यत्पुण्यस्पर्शादिकं पूर्वमोर्मिहार्तं, तद्विजिगीष्यामिति सम्यक्  
करणेन स्पर्शगतिरसहजं कृतमेतदवगच्छेति । एतच्चत्वापि सहमा-  
नानां यस्यासदाह— ( प्राणय इत्यादि ) आगतं प्रहानं पदार्थावि-  
र्भावकं येषां ते तथा, तेषामागतप्रहानानां तपसा परीयहानिसह-  
नेन च कृया बाहवो भुजा भवन्ति । यदि वा सत्यपि महोपस-  
र्गपरीयहदावगमनप्रहानत्वाद्वाः पीरुः कृया जवन्ति, कर्म-  
पणायोगित्यस्य शरीरमात्रमपीकारिणः परीयहोपसर्गात् सहा-  
वन्ति अभ्यन्तस्य न मनःपीरुपपद्यत इति । तदुक्तम्—“नि-  
म्माणेह परोत्थिय, अयाणअं न विषयं सररीराणं । अयासोवि-  
य हियस्य, न उणं दुक्कं परं वत्ति” ॥१॥ इत्यादि । शरीरस्य तु  
पीरुः जवत्येवेति दशोयितुमाह— ( पयण्य इत्यादि ) प्रतनुके च,  
मांसं च शोणितं च मांसशोणिते, द्वे अपि । तस्य हि क्क्षादरत्वा-  
दव्याहारत्वाच्च प्रायशः अन्तर्वनेवाहाराः परिणमति, न रसत्वेन  
कारणात्वाच्च प्रतनुके च शोणितं तत्तनुत्वाद् मांसमपीति,  
ततो भेदोऽस्त्येदंन्यपि । यदि वा प्रायशो कर्तुं वातमं भवति  
वातप्रधानस्य च प्रतनुते च मांसशोणितयोश्चेलतया च तृणस्प-  
शादिशुद्धोभवेन शरीरोपापात्प्रतनुके मांसशोणिते भवत इति  
संबन्धः । तथा संसारवर्तनी संसारवाचरतया राग्नेषकषायसंत-  
तिस्तां ज्ञान्यादिना विभ्रंषि कृत्वा तथा पिकात्वा च समवायना-  
यया । तथा—जिनकल्पिकः कश्चिदेककल्पधारी द्वी श्रीन वा  
ब्रह्मति, स्वविरकल्पिको वा मासास्येमासकल्पकस्तथा वि-  
कृष्टाविकृष्टतपक्षारी प्रत्यहं भोजी कूरगह्मका वा । एते सर्वेऽपि  
तीर्थकृच्चानुसारतः परस्परानिन्द्याः संशुण्णित् सम्यक्त्व-  
दर्शन इति । उक्तं च— “ जो वि दुवत्थतिक्कथो, दगेण  
अचेल्लगे व संथरद । न हु ते हंइतिं परं, सव्ये वि हु ते जिणा  
एव मुक्कः सर्वेसङ्कमो वित्तः सर्वसावचायुद्धानेस्यो ध्याक्कथातो  
नापर इति व्वीमि । इतिहास्यः एवंचत् । आवा० १७०६३०२३० ।  
अचेत्यारिः ( रौ ) महद्विजय-अत्रेलेपरिः ( री ) महद्विजय-पुं० उच्यते  
भूतिसंहननादिविक्रमामिदानां नानसाधूनां नृणप्रधानसंसे-  
वापरिहारतः संयमस्कीर्तितिमिभिं अरिहातात्पृथुप्यपरिजोर्जा-  
सर्वेऽर्जोनि वक्ष्यामि आरथतामात्रेऽन्यपरिपहसहने, ०० सं० )

संज्ञमजोगिमिन्निचं, परिजुकादीणि धार्यतस्स ।  
कह न परीसहसहणं, जद णो सह निम्ममचस्स ॥  
ब्राह्मेक्षक्यमुक्तप्रकरणे तावदौपचारिकं तत्तस्याकषायेक्षया-  
सोचनं वरीयसहहनमप्यौपचारिकमेव स्यात् । तथा च सति कुतो  
मोक्षायातिरूपवर्तिकस्य निरूपवर्तिकस्य विरूपवर्तिकस्योक्त्यायाम् । न हि  
माणवको दहतेनोपचारादाधीयते पाके इति यद्येवं तर्हि कल्पनी-  
यमाहारमपि दृष्टान्तस्य न सम्यक् कुर्योरिहसहहनं भवेत् भव-  
दुक्तन्यायेन सद्यथा आदारपरित्यागत एव तत्सहहनोपसर्गः ।  
एवं च सति जगवात्पर्यहर्द्दं क्षुपरीवहजेता न जन्वेत् । सोऽपि  
हि भगवाद् उक्त्वावस्थायां जन्मतेनापि कल्पनीयमाहारमु-  
पयुक्ते । न च स तथा कल्पनीयमाहारमुपयुक्तानोऽपि  
क्षुपरीवहजेता नेहः, ततो यथाऽनेषर्षीयाकल्पनीयमंजनप-  
रित्यागतः क्षुपरीवहसहनमिदं, तथा महामृत्यानेषर्षीयाक-  
ल्पनीयवक्षपरित्यागत ब्राह्मेक्षक्यपरिपहसहनमेधव्यम् । न च  
वाच्यम्—एवं तर्हि कल्पनीयकामिनीजनपरिजोर्जापरिहारतः का-  
शेत्तविकषयवामेनापरिजोर्गमपि कुर्वतः क्षीपरीवहसहनप्र-  
सङ्ग इति, क्षीपरीभोगस्याप्यत्र सर्वोत्पन्ना सूत्रान्तरेण प्रतिषि-  
कत्वात् ; न चैव परिजोर्जात्पृथुप्यवक्षपरिजोर्गः सूत्रान्तरेण  
प्रतिषिक्तः, ततो नातिप्रसङ्गावितिः, कृत प्रसङ्गेन । विस्तरं तु  
धर्मसंप्रहर्णीटीकायामपवादः प्रपञ्चित इति तत एवावधार्यः ।  
पं० सं० ४ द्वा० ।

अचेक्षिआ—अचेक्षिआ—क्षी० । वक्षरहितयां श्रियाम्, निर्म-  
न्त्याऽचेक्षिक्या न भावितव्यम् । वृ० ५ वृ० ।

नो कप्पइ निग्गंधीए अचेत्थियाए हुंतेए ।  
नो कस्यत्ते भिन्नेत्था अचेक्षिक्या वक्षरहितया णवितुनेव-  
सूत्रायः ।

अथ भाष्यम्—

उचो अचेक्षममो, इति काइ अचेक्षलगतं ववसा ।

जिनकप्यो वजाणं, निवारिअं होइ एवं तु ॥

अचेक्षको धर्मो भगवता प्रोक्त इति परिभाष्य काश्चि-  
द्वेक्षकत्वं व्यथस्येत कर्तुमनिलवत्, अतस्ताक्षिपेर्षमिदं सुत्रं  
कृतम्, अचक्षक्यप्रतिषेधेन आचार्याणो जिनकल्पेऽप्येवम-  
नैवेव सुत्रेणैव निवारितं मन्यथः । कुत इत्याह—

अजिअम्मि साहसम्मि, इत्थीण वण अचेत्थिया इाठे ।

साइसमणं पि करं, तेणैव अइपमंणेणं ।

कुलभावितापिणेच्छति, अचेत्थयं किमु सइं कुले जाया ।

पिकावुकिआणं, तिरुपुच्छेआ दुलभाविच्चं ॥

साध्वसे भये तरुणादिकृतोपसर्गसमुद्ये श्रजिते सति अचे-  
क्षिका भवितुं क्षी निर्मथ्रेयो न शक्यतया । अथ जवति तत्सत्सै-  
वानिप्रसङ्गनाचेलतासङ्गुणनाचदपि चतुर्धसैवाधिकं साहसं  
कुर्यात्, तथा कुलटाऽपि तावदनेच्छयचेक्षतां किंपुनः कुमे जाता  
सती साक्षी । अथतत्तं प्रतिपन्नानां वार्यिकाणां ( पिक्खरड्डकिमा-  
शे सि ) लोकापवादद्वगुपितानां तीर्थोच्छेदः, दुस्समा च वृत्ति-  
मेषति, न कोऽपि प्रव्रजति, न वा जन्मपानादिभेद ददातीत्यर्थः ॥  
गुरुगा अचेक्षिणाए, समलं च वुग्गियं मरहियं च ।

होइ परपत्यणिञ्जा, विद्यं अफ्णाणमार्हसु ॥  
 अत एव यथापिका अवेहिका न भवन्ति, यतस्मात्तं वतुगुयुका  
 आहावयश्च होयाः। तथा चेलरहितां सेयतीं स्तस्मात्तं मडावयश्च हो  
 द्वा होको जुगुप्सितं जुगुप्सां कुवीत् । अः कडमिदहोके एता-  
 दवयवस्या, परहोके तु पापतरा भविष्यति । गरिहं च गर्हा  
 प्रवेचनस्य कुर्वात्-असात् क्षयंमेतद्व्यमिति । अवेहिका च  
 परस्य प्राथनीया भवति । अत्र द्वितीयपदमन्वादिषु विधिका-  
 नां मन्तधयम् । अपि च-

पुणरावित्तिनिवारण-उदिष्णयोरो व ददु पेवेजेजा ।  
 पदिबेधो समणार्हं, किंदिणयोसा य नगिणाए ॥  
 अवेसामार्थं दद्वा प्रज्यायिमुक्तावामपि कुलस्त्रीणां पुनरावृ-  
 त्तिर्भवति, प्रज्यां न प्रहं।पुत्रियुधेः । अन्व्ये वा कश्चिन्निवार-  
 षुं कृयात्, किमेतासां कापानिनीनां समीये प्रजजिजेतेति । यत्ता-  
 कश्चिदुदीर्णमाइस्ताम्रावृत्तां दद्वा कर्मगुरुकथा प्रेरयेत्, सापि तत्रैव प्रतिबन्धं कुर्वीत्, प्रतिगमनादिनि वा विद्विष्यात् ।  
 स्त्रियमद्रोपाश्च ज्ञेयः, यत एते गमन्या होया अतोऽवेहया न  
 भवितव्यम् । ितीयपदे सेयत्या अथानि स्तेनैर्विधिकायास्ततो  
 न किमपि वक्षं भवेत् । आदिश्रम्यत्ता किमिच्छा यक्वायिष्ठा वा  
 वस्त्राणि परित्यजेत्, एवमवेशापि भवन्ति । ७०५ उ०।।।।।  
 अचोऽय-अचोदिन-वि० । अग्ररिति, "विशो अवेहो गो णिश्च,  
 णिषं दवह सुचोऽय" उच० १ अ० ।  
 अचोप्पमा-अचोपहा-स्त्री० । निरुत्पाक्ये अक्षेपकृते पेयद्रव्ये,  
 अ० ३ अधि० ।

अचोरिय-अचौर्ये-न० । अव्य० । चोरतामावे, "अचोरियं करे-  
 तं" अचौर्यं कुर्वन्, चोरतामकुर्वाणमित्यर्थः । प्रश्न० २ आश्र० ३० ।  
 अश्च-अर्च-धा० पूजायाम्, उभ०, ज्वादि०, सक०, सेट् । अर्च-  
 ति, अर्चते, आनर्चते, आनर्चते, आर्चति, आर्चिष्ट । चुरा०, उज०,  
 सक०, सेट् । अर्चयति, अर्चयते । वाच० । " अर्चे मुत्ते महाभा-  
 गा, एति किञ्च अर्चिभमा " उच० १२ अ० ।  
 अर्च-वि० अर्चति यः सः । अर्च-अर्च । "कृचञ्जतदप्यवां प्रायो  
 लुक् " ८ । १ । ७७ । इत्यसंयुक्तस्यैव सुविधायकत्वेन न  
 लुक् । पूजके, प्रा० । कालविशेषात्मकस्यभेदे च, यस्मिन्  
 हि धर्मणा भगवान् महावीरो निवृत्ते । कल्प० ।  
 अर्च्ये-वि० । पूज्ये, स्वा० ३ उ० । १ उ० ।

अर्च्य-अत्यङ्ग-न० । आदिशायिषु कारणेषु, " यज्जबमणंतयुं-  
 धरि, अर्च्यमाणं च भोग्यो माणं " । अयङ्कान्तीत्यदिशायीनि  
 प्रोगस्य कारणान्यवयवा मधुमद्यमांसादीनि रात्रिप्रोजनजनक-  
 वन्दनाङ्कनादीनि च । पञ्चा० १ वि० ३ ।

अर्चंतकाल-अत्यन्तकाल-वि० । अन्तमत्तिकात्तोऽत्यन्तः,  
 अत्यन्तः कालो यत्र होऽऽरभतकालः अस्मीमाकालिके, "अर्चंत-  
 कालस्य समुहस्यस्य, सर्वेस्य दुष्कस्य उ जो पमोक्को "   
 उच० ३२ अ० ।

अर्चंतथाव-अत्यन्तस्थावर-पुं० स्त्री० । अनादिस्थावरे, "मद-  
 देवा अर्चंतथावरा सिक्का " मध्येवा अत्यन्तस्थावरा अनादि-  
 वनस्पतिराशेरुज्ज्वस्य सिक्काः । भा० म० द्वि० ।

अर्चंतपरम-अत्यन्तपरम-वि० । अधिकोक्ते, " अर्चंतपरमो  
 आसी, अउलो क्वचिदिहो " उच० ३० अ० ।

अर्चंतभावसार-अत्यन्तजावसार-वि० । अतीवस्ताभ्यव-  
 सायप्रधाने, पञ्चा० १४ वि० ० ।

अर्चंतविशुद्ध-अत्यन्तविशुद्ध-वि० । सर्वथा निर्दोषे, स्या०  
 ए ग० । " अर्चंतविशुद्धीहरायकुलवंसपस्य " अत्यन्तं  
 विशुद्धः सर्वथा निर्दोषः हीनेश्च पुरुषपरम्यरापेक्षया यो राहां  
 भूपाज्ञानां कुललक्षणो वंशः सन्तानस्तत्र प्रसृतो जतो यः स  
 तथा । स्या० ए ग० ।

अर्चंतसंकिंसे-अत्यन्तसंकिंश-पुं० । अतिनिश्चिडतया रामटे-  
 पपरिणामे, च० १ अधि० ।

अर्चंतमुत्परिसुद्ध-अत्यन्तमुत्परिशुद्ध-वि० । अतिनिर्मलतरे,  
 पञ्चा० १४ वि० ० ।

अर्चंतमुद्धि ( ष )- अत्यन्तमुत्सिन्-वि० । निरतिशयसुखा-  
 ऽऽप्त्युते, " तो होइ अर्चंतमुद्धी कयत्यो " उच० ३३ अ० ।

अर्चंतजाव-अत्यन्तजाव-पुं० । अत्यन्तोऽन्तमत्तिकात्तानो नित्योऽ-  
 भावः । क० स० । नास्तीति बाक्याभिलष्यमाने नाशप्रागभाव-  
 निष्ठे संसर्गाभावे, वाच० । अत्यन्ताप्रायमुत्परिशर्त- कास-  
 त्रयापेक्षिणी तादात्म्यपरिणामानिष्कृतिरत्यन्ताभाव इति । अती-  
 तानागतवर्षमानकपालत्रयेऽपि याऽस्ती तादात्म्यपरिणाम-  
 निवृत्तिरकत्वपरिणतित्यावृत्तिः सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते ।  
 निर्दोषयान्ति-यथा चेतनाचेतनयोरेरिति, न खलु चेतनमान्त-  
 त्वमचेतनमुत्सालात्मकतामचकलत्कलयति कस्यपिप्यति वा, तस्मै-  
 तयत्रिरोषात् । नाप्यचेतनं पुद्गलतत्त्वं, चेतनरूपकमचेतनत्ववि-  
 रोधात् । रत्ना० ३ परि० ।

अर्चंतिय-अत्यन्तिक-वि० । अत्यन्त-भवायै उच्च । अतिशयेन  
 जाते, वाच० । सर्वकालजाविनि, " नेगतणुणंतिय उदप वं,  
 वयंति ते दीधि शुणोदयमि " सूत्र० २ शु० ६ अ० । सोऽत्यन्तिको  
 दुःखाविगमः सोऽपवर्गः । अत्यन्तं सकलदुःखाशक्तिनिर्मूलनेन  
 प्रवर्तित्यात्यन्तिको दुःखाविगमः । घ० १ अधि० ।  
 अर्चंतोसपु-अत्यन्तासपु-पुं० । अत्यन्तशेषेव प्रमाजितेषु, सं-  
 विष्टैः प्रमाजितमात्रेष्वेवैवैवसप्रतया विहृतेषु च । "अर्चंतोसपु-  
 सु य, परहिगङ्गे ये मूलकमं य । भिक्खुमिं य विहियतवोऽ-  
 णवट्टपरिचियं पत्तं " । जी० ।

अर्चंतस्वर-अत्यन्तस्वर-वि० । एकादिजिह्वैररिचिके, " अन्वयक-  
 रत्वं हि सुत्रगुणः " इत्येव होचः । अउ० । विशे० । आव० ।  
 आ० म० प्र० । आ० चू० ३ अ० ।

अर्चण-अर्चन-न० । पुष्पादिजिः सत्करणे, "अर्चणं सेषयं सेष,  
 मणसा वि ग परधप " । उच० ३५ अ० ।

अर्चणा-अर्चना-स्त्री० । अर्च-युक् । पूजायाम्, वाच० । "गन्धै-  
 र्नास्त्वैर्विनिर्बहूहसपरिमतेरकृतैर्धूपैर्दीपैः, साध्यायैः प्राज्यभेदे-  
 ष्वकनिरुपहृतिः पाकनृतिः फलैश्च । अर्चमःसम्पूर्णप्राश्नरिति हि  
 जिनपतेरर्चनामष्टभेदां, कुर्वाणा वेष्टमनाजः परमपदमुक्तातोम-  
 प्राराह्णन्ते " ॥ १ ॥ च० ३ अधि० ।

अश्वपिञ्ज-अर्चनीय-त्रि० । अर्च-अर्चनार्थः । वन्दनगण्यदिभिः स्तुत्करण्यैः, " अश्वपिञ्जे बंदिण्डे कल्लानं संगत्तं देवयं वेरुयं ।" औ० । बपा० । जी० । भ० । हा० ।

अश्वपिञ्जा-अर्चनीका-स्त्री० । सिन्धुयतने जिनप्रतिमाद्यर्चने, भ० ४ शृ० १ उ० ।

अश्वत्थ-अत्यर्थ-न० । अतिक्रान्तमर्थमनुकूपवक्रपम् । आतिशये, तद्वत् च । त्रि० । अत्यये, अत्य० स० । अर्थार्थाभावे, अत्य० स० । बाष्प० । " अंगारपल्लिसककल्पश्वत्थसंश्लेषेण " प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अश्वत्थ-अत्यर्थ-न० । महाधैर्याऽपरपर्याये परिपुष्टाधीनिधायिताकपेऽद्यमे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अश्वय-अत्यय-पुं० । अति-इण-अच् । अतिक्रमे, अभावे, विनाशे, वीषे, कृष्णे, अतिक्रम्य गमने, कार्यस्याऽव्ययज्ञावभावे, वाच० । प्रत्यवायं, वृ० ३ उ० । आत्यन्तिके विनाशे च । वृ० ४ उ० ।

अश्वर्षा-अत्यालीन-त्रि० । अलीनावर्धमाहीने आसन्नं, प्रा० ।

अश्वसण-अत्यज्ञान-न० । अतिशयितप्रज्ञानम् । अतिभोजने, वाच० । प्रतिषदादीनां पञ्चदशदिवसानां ( तिथिनां ) लोकांतरसंख्या द्वादशे दिनेषु, पुं० । चं० प्र० १० पाटु० ।

अश्वत्-अर्चा-स्त्री० । अर्चनेऽस्माद्वाहारात्प्राद्वारिभिरित्यर्था । इहे, अचा० १ । ध्रु० १ अ० ६ उ० । सूत्रा० स्या० । "दुविहङ्गा पन्दिमयरसमिहिततर अश्वत्समिचिन्तं अर्चं द्विविधा । तद्यथासचिन्ता अर्चिता च । तत्राचिन्ता द्विविधा-प्रतिमा इतरा च । इतरा नाम क्लीशरीरे निर्जीवम् । पर्येकं पुनाद्विधा-सन्निहिता, अस्निहिता च । इय० ६ उ० । " एगच्चवारं पुणं एगे अयंतारो भवन्ति " एकं पुनरेकस्यैकेन शरीरेणेकस्माद् भवति । सिद्धिगतिं गन्तारो प्रवन्ति । सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । कौशाभ्यवसायान्तिकायां ज्वालायाम्, आचा० १ ध्रु० ६ उ० । स्या० । लेशयापम्, " इहो विच्छंसमाणसः, पुणो संवोर्द्धदुल्लहा । दुल्लभाश्च तदच्छाओ, अथम्भुद् वियागरे " अर्चो लेशयाऽन्तःपरिणतिः, अर्चो मनुष्यशरीरम् । सूत्र० १ ध्रु० १५ अ० । पुत्रायां च, " मध्यान्हृत्वां सत्पत्र-दानपुष्पेभ्यु भोजनम् " अ० ३ अर्धो ।

अश्वत्सु-अत्याकीर्ण-त्रि० । जनसंकुलत्वात्तदीयाकीर्णैः, " अश्वत्सु विंशो पां परस्व शिक्कमणपवेसाए " आचा० २ ध्रु० ३ अ० १ उ० ।

अश्वत्सुर-अत्यनुत्-त्रि० । नृशं ग्लानिः, " अश्वत्सुरं वा वि समिक्कलणं, त्विप तत्रां धेनु दलित्तु तस्स " वृ० १ उ० ।

अश्वत्सा-अत्यागाढ-न० । अत्यन्तस्नेहकादिभ्यः, " अश्वत्सागाढे वसिया, शिक्किल्लो जइ व होउज जयणाए " वृ० २ उ० ।

अश्वत्सेदण-अत्यावेद्युन-न० । अतीत्याऽऽवेद्येन परितोपने, नि० चू० १२ उ० ।

अश्वत्समण-अत्यामनता-स्त्री० । अत्यन्तं सततमामनमुपवेशनं यस्य सौऽत्यासतस्तदामनसत्ता । सततमुपवेशने, स्या० ९ डा० ।

अत्यश्रुता-स्त्री० । अतिमात्रप्रज्ञानमयश्रुतं तदेवाऽत्यश्रुता ।

दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । प्रमाणधिक्रोजने, स्या० ६ जा० । अश्वत्सु-अत्यासन्न-त्रि० । अतिविकटे, " अश्वत्सवे नाश्वरे सुस्तुसमाणे " अ० १ शृ० १ डा० । रा० । सू० प्र० ।

अश्वत्साइत्त-अत्याशातितुम्-अभ्य० । ज्ञायाया अंशवितुमित्यर्थः, " इच्छामि पुं देवापुत्रिया सक्तं देविदे सयमेव अश्वत्सासत्तए । ज० ३ श० २ उ० ।

अश्वत्साइय-अत्याशातित-त्रि० । उपसर्गितं, " से व अश्वत्सासत्तए समाणे परिकुविये " स्या० १० जा० ।

अश्वत्साएमाण-अत्याशातयत्-त्रि० । उपसर्गं कुर्वति, स्या० १० जा० ।

अश्वत्सायाणा-अत्याशातना-स्त्री० । साध्यादीनां ज्ञायापुद्घाटनादिदंशकयायाम्, कर्म० १ कर्म० । आत्यन्तिक्यामाशातनायाम्, स्या० १० जा० ।

जे जिकव्वु जदत्त । अणायरीए अश्वत्सायाणाए अश्वत्साए अश्वत्साएत्तं वा साउज्जइ त्ति । नि० चू० १० डा० । ( अ० रा० २ मा० ४३ उ० पुत्रे 'आसायाणा' शब्दे वक्ष्यते )

अश्वत्साहार-अत्याहार-पुं० । प्रभृताऽऽहारे, " अश्वत्साहारेण सहइ अश्विणेण विसया उहज्जति " । आच० ४ अ० ।

अश्वत्-अर्चि-स्त्री० । अर्चे-इत् । अर्चि-न० । अर्च-इत्सि । वाच० । किरणे, रा० । हा० । शरीरस्थरत्नादिज्ञानाज्वालयाम्, " अश्वत्स एतेषां लेसाए दसादिसाए उज्जापमाणे " ज० २ श० ५ उ० । प्रश्न० । जी० । उपा० औ० । शरीरनिर्मतेज्ञानज्वालायाम्, स्या० ६ जा० । लेदयायाम्, सूत्र० १ ध्रु० १० अ० । द्वाहाप्रतिषेजे ज्वालाविशेषे, आचा० १ ध्रु० ४ उ० । हा० ।

स्या० । अन्नलक्ष्येतिष्ठुत्रायं ज्वालायाम्, जी० ३ प्रति० । " एष बादरेतजसो भेदः " प्रश्न० १ पदं । दश० । दीपशिक्षायाम्, वचनं ३ अ० । प्रथमकृष्णराजरेच्यन्तपुष्येयारथकाशास्त्रे स्थिते लोकान्तिकविमानं, ज० ६ श० ५ उ० ।

अश्वत्समालि ( ण )-अर्चिर्मालिन-त्रि० । अर्चविं किरणास्तेषां माला, सा अस्यातीति अर्चिर्माशो । सर्वतः किरणमालापरिवृतं, " अश्वत्समालिसारासिचञ्चमे " ( सौत्रमकल्पः ) जी० ४ प्रति० । रा० । प्रश्न० । आदिष्ये, पुं० । सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० । स० । पूर्वयोः कृष्णराज्योरथकाशास्त्रे ( स्थिते ) लोकान्तिकविमानदे, ज० ६ श० ५ उ० ।

अश्वत्समालिपत्र-अर्चिर्मालिप्रच-त्रि० । अर्चिर्माली आदित्यस्तद्वत्त्वमान्त्त शोभन्ते यानि तानि अर्चिर्मात्रप्रमाणे सूर्यवत् किरणैः शोभमानेषु, स० ।

अश्वत्समालिणी-अर्चिर्मालिनी-स्त्री० । सूर्याचन्द्रमसोस्तृतीयायामप्रमहिष्याम्, ज० १० श० ५ उ० । सू० प्र० । जं० । जी० । स्या० । ( अन्नयोर्भयत्रयकध्याश्रवे १७२ पुत्रे 'अग्नामहसी' शब्दे प्राञ्जा ) दक्षिणयोरस्त्यरतिकरपथेतस्य पश्चिमदिशि, शक्यस्य संवत्साम्नास्तृतीयया अग्रमहिष्या इह योजनप्रमाणायां राजधान्यां च । स्या० ४ जी० ३ उ० ।

अश्वत्स्य-अर्चि-त्रि० । अश्वत्समालिनां भाषितं, हा० । ध्रु० १ अ० । महापथे, वृ० ३ उ० । प्रमाणीकृतं, नि० चू० ३ उ० । माप्ये, " जं जस्स अश्वत्स्यं तस्स पूषणिज्जे तमस्सिया सिंहे " । ज-

अचिय

वे कप्रत्यय इति क्लियम्, भावप्रत्यये क्लिक्विशेषणानुपपत्तेः ।  
४०० १ ४० । “अचिन्तं यत् तत् पूर्वं निपतति । यथा—मातापितरौ,  
वासुदेवाजुनाविति ” । नि० सू० १ ४० ।

अचिन्तसहस्रमाहणजिञ्-अचिःसहस्रमाहणनीय-त्रि० अचिं-  
चां किरणानां सहस्रैर्माहणनीये परिवारणीयम् । ज्ञा० १ ४० ।  
रा० मणिरक्षप्रमाहणानां सहस्रैः परिवारणीये, किमुक्तं  
भवति । एवं नाम अत्यद्दृष्टैर्मणिरक्षप्रमाहणैराकलितमभवति-  
ति, यथा—नूतमिदं न स्वाभाविकं कितु विशिष्टविचारकः—  
मत्पुत्रप्रपञ्चप्रभावितमिति । “अचिसहस्रमाहणजिञ् रुचगस-  
हस्रकलियं भिसमाणं भिमिसमाणं चक्षुस्त्वोर्याणल्लस्सं”  
आ० म० प्र० । रा० । जी० ।

अचिन्तसहस्रमाहण-अचिःसहस्रमाहण-स्त्री० । दृशिसहस्रमाहण-  
मावलीषु, ज० १० हा० ४ ४० ।

अचिसहस्रमाहणशिष्या-अचिःसहस्रमाहणशिक्षिका-स्त्री० अचिः-  
सहस्रमाहण दृशिसहस्रमाहणमावलयः सन्ति यस्यां सा तथा ।  
स्वार्थिककप्रत्ययं च अचिःसहस्रमाहणशिक्षिका । दृशिसहस्रपरिवृ-  
त्तायाम्, ज० १० हा० ५ ४० ।

अचिकरण-अचिकरण-न० अकृतव्या अचो अतर्चा, अतर्चाया-  
अचिकरणमर्चाकरणम् । अदुततज्ञाच्च चिचः । राजादीनां  
गुणवर्णनं, नि० ४ ४० ।

जे जिकन् रायरक्त्वयं अचिकरेइ अचचीकरंतं  
वा साइज्ज । ३ । जे भिकन् गुणरक्त्वयं अचचीकरेइ अचची-  
करंतं वा साइज्ज । ४ । जे भिकन् शिगमरक्त्वयं अचचीकरेइ  
अचचीकरंतं वा साइज्ज । ५ । जे भिकन् मन्वारक्त्वयं अ-  
चचीकरेइ अचचीकरंतं वा साइज्ज । ६ । (नि० ७०) जे भिकन्  
गामरक्त्वयं अचचीकरेइ अचचीकरंतं वा साइज्ज । जे भि-  
क्व् दमरक्त्वयं अचचीकरेइ अचचीकरंतं वा साइज्ज । जे  
भिकन् मीमरक्त्वयं अचचीकरेइ अचचीकरंतं वा साइज्ज ।  
जे जिकन् रथो रक्त्वयं अचचीकरेइ अचचीकरंतं वा सा-  
इज्ज । जे जिकन् रथो रक्त्वयं अचचीकरेइ अचचीकरंतं वा  
साइज्ज । नि० ७० ५ ४० ।

अचचीकरणं रथो, गुणवपणं तं समासओ दुविधं ।  
संतमसंतं च तदा, पक्कत्तपरोत्सपेक्कं ॥ १५ ॥  
रथो अचचीकरणं किं गुणवपणं सौन्दर्यादि तं दुविधं संतं  
असंतं च पक्कं पक्कवपणं परोत्सपेक्कं ।

एषो एगतरेंणं, अचचीकरणेण जो तु रायाणं ।  
अचचीकरेति भिकन्, सो पावति आणमादीणि ॥ १६ ॥  
इमं गुणवपणं-

एक्को द्विमंतो, अक्षततो साह्वनाहणो राया ।  
समभारतरोकता, तेण ए वद्धत्थप पुह्इ ॥ १७ ॥  
राया रायसुही वा, रायाभिसा अमिच्छद्धिणे वा ।  
भिकखुस्स व संबंधी, सत्थे सुही तवं सोच्चा ॥ १८ ॥  
संजयविग्घकरे वा, सरीरवाथाकरे व जिकखुस्स ।  
अणुलोभे पहिलोभे, कुज्जा दुविधे व उवसगो ॥ १९ ॥

गह्णस्यारवुद्धो, वेरज्विक्फरोहमाहणे ।

उवमुक्कावाणणिकत्वम-खुवपसकज्जमत्थेषु वि य ॥ १२० ॥

एतेहिं कारणेहिं, अचचीकरणं तु होति कातत्वं ।

रायारक्त्वयणागर-योगमसत्थे वि एस गा ॥ ११ ॥

नि० ७० ५ ४० ।

अच्युक्तद-अच्युक्त-त्रि० अत्यन्त उल्कटः । अत्यन्तोमे, वाच० ।  
अच्युन्ते, आ० म० प्र० ।

अच्युत्तगकम्प-अच्युत्तकमेत्-न० । कर्कशवेदनीये कर्मणि, प्रव०  
२२४ हा० ।

अच्युत्तगकम्पदृण-अच्युत्तकमेद्दन-त्रि० अत्यन्तं कर्कशवेद-  
नीयं यत्कर्म तस्य दृहोऽपनायकः । कर्कशवेदनीयस्य कर्मणो-  
ऽपनायकः, “संक्षेपाभिरपेक्षणां, यतीनां धर्म इरितः । अच्यु-  
त्तकमेद्दनो, गदोऽप्रविहारतः” ॥ १ ॥ ४० ४ मकि० ।

अच्युत्तिय-अच्युत्त-त्रि० । होकानामतिरक्षघ्नयोः, “गर्मयोगे-  
ऽपि मातृणां, भूयतऽच्युत्तिया किया” हा० १४ हा० ।

अच्युत्तिय-अच्युत्त-त्रि० । अतीवाकार्यकरणं प्रत्युत्थिते,  
“दासीवित्नाऽत्यन्तमुत्थिता” इति । दास्या अपि दास्याम्, स्त्री०  
“अच्छुत्तियाप यद्दासिप वा भगारिणं वा समवाणुत्सिमा”  
सू० १ ४० १ ४० ।

अच्युत्त-अच्युत्त-त्रि० । अतीवोष्ण तृष्णधर्मो यत्र सोऽच्यु-  
त्तः । अतिशयितोष्णत्वभावे, स्या० ५ ज० ३ ४० ।

अच्युत्त-अच्युत्त-न० । मदांमहति वर्षे, “समए वा सप्तानं,  
अच्युत्तये सुखसंततं षणोण” ओ० प्रदूतजले, जी० ३ प्रति० ।  
अच्युत्त-अच्युत्त-पुं० । सौभाग्यवत्सकादिस्वकप्रविमानप्रधाना-  
च्युतावतंसकादिप्रधानविमानविशेषोपलक्षिते चादशो देशलोके,  
अनु० । दश० । नि० ७० । प्रव० । स० । आरणाच्युतयोरका-  
दशहादशयोः कल्पयोरिन्द्रं च । स्या० ३ ज० ३ ४० ।

अच्युत्त-अच्युत्त-स्त्री० । श्रीपद्मप्रत्यय शासनदेश्याम्, सा  
च मतान्तरेण इत्यामा ( नाम्नी ) देवी इयामथर्षां नरवाहना  
चतुर्भुजा वरदवाणान्वितदक्षिणकरद्वया कर्णुकाजयुतवामपा-  
ण्ड्वया च । श्रीकृत्याः शासनदेश्यां च, सा च मतान्तरेण  
बलाजिधाना कनकचर्ममैरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकश्ला-  
न्वितदक्षिणपाण्ड्वया भुशुक्तिप्रधान्वितवामपाण्ड्वया च ।  
प्रव० २७ हा० ।

अच्युत्त-अच्युत्त-त्रि० । अतीवोद्गतः परिभ्रान्तः । दृशं  
भ्रान्तं, “अच्युत्तवया वसुवेति” वृ० ३ ४० । नि० ७० ।

अच्युत्त-अच्युत्त-त्रि० । अतीव तले भ्रान्तनादिकं, “अच्यु-  
त्तसिणं सुप्येण वा जाव कुमाहि वा” आचा० २ मु० १ ४० ७७० ।

अच्छ-आस्-घा० उपवेशने । अदादि०, आ०, प्रक०, सेद ।  
प्राकृतं “मभिच्छमासां षः” ट । ४ । १२४ । इति प्राकृतसूत्रेण  
अत्यस्य षः । अच्छ, आस् । प्र० । “अच्छति अश्वलोपति व  
लङ्गुमा” ॥ (अच्छति सि) प्रतीकितो व्य० १०० ॥ अच्छेज वा चिदं-  
उज वा” । आसीत सामान्यतः । तं । म० अधिपूर्वेः अधिरादौणं,  
सक० । गगनमध्यमस्थान्ते, वाच० ।

अच्छ-अच्छ-न० । उच्यति दृष्टि, सम्मुखत्वात् । छो-क । न०-  
त० । अभिमुखे, “अच्छ गत्यर्थेयदेवु” १।।।६९ । इति पाणिनिषु

अच्छगत्य, अच्छोष इत्युदाहृत्य, अत्रिमुक्षं गत्या अत्रिमुक्षमु-  
क्षयति व्याहृतम् । लि० क० त० प० ।

अच्छ-त्रि० । न उच्यति इष्टिम् । जे०-क । न० त० । आकाश-  
स्फटिकरत्नवदतिस्वच्छे, प्रज्ञा० २ पदा जी० । आ० म० प्र० ।  
म० । औ० । स्या० । रा० । ज० । निर्मले, ज्ञा० १ अ० १२ अ० ।  
पञ्च० । म० । अनादिं, जी० ३ प्रति० । स्फटिकवद्द्रविर्निर्म-  
लप्रदेशे, जी० ३ प्रति० । "अच्छा सद्यहा मृदा णीरया शिष्यका"  
मेरी, पु० । सुनिर्मलजाम्बूनदरनखबहुलत्वात्पश्य " ता अच्छंति  
णं पश्यन्ति" सं० प्र० ५ पाठोऽपि । जी० । अयदेशभेदे,  
स्फटिके च । पुं० प्रथ० २७५ ज्ञा० न च्छति भक्षयति नाशित-  
सत्वम् । ज्ञा-मङ्गणे-क । न० त० । वाच० । अक्षं, भावा०  
२ अ० १ अ० ५ उ० । प्रति० । जी० । प्रज्ञा० । ज० । एष  
सनखपदनेदः । प्रज्ञा० १ पद ।

अप्स-त्रि० । अपः सनोति । सन-ना । प्राकृते "ह्रस्वात् ध्यञ्ज-  
सप्सामनिश्चले ६ । २ । २१ । इति प्सभागस्य च्छः । प्रा० ।  
अपां विशेषयुणीचूते रसे, वाच० ।

अच्छं-देशी-अययै, शभि च । वे० न० १ घर्ग ।

अच्छन्द-अच्छन्द-त्रि० । नास्ति उद्यो यस्याः । अस्वक्षे । " अ-  
च्छन्दो जे य लूजंति ण से चाइत्ति वुच्चइ" दशा० २ अ० । अ-  
भिप्रायशून्ये च । वाच० ।

अच्छन्द-अच्छन्द-कु-पुं० । मोरकप्रामसन्निवेशशब्दे पाष्वाग्निरनि,  
" मोरपे सङ्कारं सङ्को अचिदप्य कुविद्यो" आ० क० । ( स  
मोरके वसत्यन्तमन्त्रांशं केषुजितसत्र समागतसत्र समाग-  
तस्य श्रीवीरस्य पुत्रतः सिन्धुर्ध्वन्यन्तरेणाऽच्छेद्यमिदमिति प्र-  
तिज्ञाय गृहीते लुणं छिन्दन् शकणे वज्रं प्रक्षिप्य निश्चयशाङ्गुली-  
कृतो जैतुरपहसित इति ' वीर' शब्दे बहयते ) आ० चू० ।  
प्रा० म० द्वि० ।

अच्छण-आसन-न० । अवस्थाने, ग० १ अधि० । ज्ञा० पर्युपास-  
ने, इ० ३ उ० । प्रतिभवेण, "अच्छण अवसेणे वा" व्य० १ उ० ।  
अच्छण-पुं० । अहिसामय, दश० उ अ० ।

अच्छणपारग-आसनगृह-क० । अवस्थानगृहकेषु, येषु यदा  
तदा वाऽपगत्य बहवः सुक्वासिकयाऽवतिष्ठन्ते । जी० ३ प्रति० । ज० ।  
अच्छणजोय-असाणयोग-पुं० । अहिसाव्यापारे, " तस्मिं अच्छ-  
णजोयं शिचचं होयिष्यं" तेषां पृथिव्यादीनामक्षययोगानाह-  
साव्यापारेण नित्यं भवितव्यम् । दश० उ अ० ।  
अच्छणालय-अच्छन्नय-त्रि० । अच्छन्नदेशे स्थिते, इ० ३ उ० ।

अच्छति ( दि ) त-अच्छादित-त्रि० । निरुद्धे, "संणद्धवका-  
लुतितं व्व" प्रश्न० ५ संव० ज्ञा० ।

अच्छत्तय-अच्छन्न-त्रि० । न० ब० । अन्नरहिते, वीरमहापद्मयोरुन्न-  
को धर्मो मतः "अदंतवणे अच्छत्तय अरुवाणहृय" स्या० ५ ज्ञा० ।  
अच्छद्व-अच्छद्व-पुं० । स्वच्छादिके, प० ब० १ ज्ञा० ।

अच्छधी-अच्छधी-त्रि० । ६ ब० । बिमलबुद्धौ, " विष्णुः  
प्रातः प्रभुं नखा, साधुंश्चापुञ्जच्छधीः" प्रा० क० ।

अच्छभङ्ग-अच्छन्नङ्ग-पुं० । अक्षं, व्य० १ उ० । व्याप्रविशोये  
च । प्रश्न० १ आश्र० ज्ञा० ।

अच्छमाण-आसीन-त्रि० । तिष्ठति, " सुचित्प्रापि अच्छमाणो"  
शं० ब० ३ ज्ञा० । ज्ञा० ।

अच्छरगणसंघसंबिदुषु-अप्सरोगणसंघसंबिकीर्ण-त्रि० । अ-  
प्सरोगणानां संघः ससुरासत्तेन सम्पक्व रमणीयतया विकीर्णो  
व्यासा अप्सरगणसंघसंबिकीर्णः । अप्सरोवृषसंपरिबुधे, "अ-  
च्छरगणसंघसंबिकिधा दिव्यनुदिपमधुरसहस्रपथा" । जी०  
३ प्रति० । प्रज्ञा० । रा० ।

अच्छरस-अच्छरस-त्रि० । अच्छो रसो येषां ते अच्छरसाः । प्रत्या-  
सनवस्तुप्रतिबिम्बाधारतुतेष्विधाऽतिनिर्मलेषु, जी० ३ प्रति० ।

अच्छरसा-अप्सरस-स्त्री० । ब० व० । अद्भुतः सरन्ति उक्-  
चन्ति । सु-असद् । अप्सरसः " ह्रस्वात् ध्यञ्जसत्पाम-  
निश्चले" उ । २ । २१ । इति स्वेषेण प्राकृते 'प्स' भागस्य 'च्छ'  
आदेशः । प्रा० । "आयुरप्सरसोयां" उ । १ । १० । इति स्वेषेण  
च अन्यव्यञ्जनस्य वा साः प्रा० । देवीमात्रे, रूपेण देवीकल्पया-  
यां स्थियां च । "गंदशुषणाविवचारिणीश्चो अच्छराश्चो उलर-  
कुमानसच्छराश्चो अच्छररोषोच्छिवाश्चो तिष्ठि पलिश्चोवमाह-  
इ परमाउं पातयिष्या ताभ्यो वि उवणमंति मरणधम्मं" प्रश्न० ७  
आश्र० ज्ञा० । जी० । (आसां धर्षणक "उत्तरकुट" शब्दे बह्यायामः)  
अच्छरसांतकुत्त-अच्छरसतदुहस्त-न० । अच्छो रसो येषु तेऽ-  
च्छरसाः । प्रत्यासनवस्तुप्रतिबिम्बाधारतुता इवातिनिर्मला इत्य-  
र्थः । अच्छरसाश्च ते तदुहस्ता अच्छरसतदुहस्ताः । पूर्वपदस्य  
दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । अंतेषु दिव्यतदुहलेषु, रा० । "अच्छंदि  
संपदि रथसास्यदि अच्छरसतदुहलि अछट्टमगले भालिइह"  
रा० । जी० । आ० म० ।

अच्छरा-अप्सरा-स्त्री० । शकस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पृथ्वा-  
मममहिषास्य, स्या० उ ज्ञा० म० । ती० । ( तस्याः पूर्वाऽपर-  
भवकथा एतस्मिन्नेव आंशे १३७ पुत्र 'अमामहिंसा' शब्देऽर्द्धिं )  
अच्छाणियाय-अप्सरानिपात-पुं० । चतुष्टिकायां, नतकरण-  
काले च । यावता कालेन चतुष्टिका क्रियते तावत् कालोऽप्यप्स-  
रानिपातशब्देनाभिधीयते " अच्छरानियाभिहे तिस्सकक्खुणे  
अणुपरियत्ताणं हव्वमगच्छेज्जा" जी० ३ प्रति । सूत्र० । ज० ।

अच्छवि-अच्छवि-पुं० । न० ब० । योगनिर्गमेनाविद्यमानशरीरे  
स्नातकाभ्यनिर्ग्रन्थभेदे, अत्र अन्वारोऽनुवादायाः- 'अव्य-  
यक' इत्येकं । उचियोगाच्छः शरीरं तद्योगानिर्गमेन व्यस ना-  
स्यसौ 'अच्छविक' इत्यन्ये । कृपा सच्छब्दो व्यापारस्तस्या  
अस्तित्वात् कृपी, तन्निरुधत् 'अक्षपी' इत्यन्ये । घातिकमंचतुष्ट-  
यकृपाणन्तरं वा तःकृपाणभावोऽक्षपीत्युच्यते । म० २५  
श० ६ व० ।

अच्छविकर-अक्षपिकर पुं० । न कविः स्वरयोग्यासा यः सः,  
तत्करणीशो न भवति सोऽक्षपिकरः । ज० २५ श० उ व० ।  
व्यधाधिरोषस्याऽकारके प्रशस्तमनाविनयेनेद, स्या० उ ज्ञा० ।  
अच्छविमलमसितपुष्प-अच्छविमलमसिलपूर्ण-त्रि० । अ-  
च्छेन स्वकपनः स्फटिकवच्छुद्धेन विमलेनऽऽप्तानुकरमलरहिते-  
न सलिलेन पुष्पैः स्फटिककल्पस्फटिनिर्मलजसन्नैः, रा० । जी० ।  
अच्छा-अच्छा-स्त्री० । वरुणदेशप्रतिबद्धे पुरीनिदे, अयदेशराज-  
णनायां वरुणा अच्छा । वरुणा नगरी, अच्छा देशः । अन्ये तु  
वरुणा देशः, अच्छा पुरीत्याहुः । प्रथ २७५ ज्ञा० । सूत्र० ।  
अप्सा-त्रि० । अपो जलानि सनति ददाति । सन्-विश्व । जल-  
दातरि, वाच० ।

चू० आच्छेद्ये प्रायश्चित्तम्-अच्छिञ्जे अणिसिंघे च उज्जहु' पं०  
 चू० । सर्वसिन्नाच्छेद्ये आवाभामलम् । जीत० । दशा० । घ० । प्र-  
 अ० । दश० । चू० । पं० वा० घ्या० पंचा० । स्वा० । सूत्र० । उ० ।  
 आवा० । ( आच्छेद्याहारप्रहणनिषेधः 'पस्तण' शब्धे, आच्छेद्य-  
 पात्रप्रहणनिषेधः 'पस्त' शब्धे, आच्छेद्यवसती स्वाननिषेधो  
 'हस' शब्धे छह्यः )  
 अच्छिञ्जोती-आच्छिद्यमाना-स्त्री० । तुम्बवीणादिवादनप्रकारेण  
 वाद्यमानायाम्, "तुम्बकाणं तुम्बवीणाणं वाहञ्जताणं" भाव० १, अ० ।  
 अच्छिद्यैषींशिय-अक्षिनिमींशित-न० । अक्षिनिकांघ, जी० ३  
 प्रति० ।  
 अच्छिद्यैषींशियमेच-अक्षिनिमींशितमात्र-न० । अक्षिनिका-  
 षकालमात्रे, "अच्छिद्यैषींशियमेसं, णटिय सुधे बुक्खमेव  
 अणुण्हं । णटय येरययां, अहोणिसं पच्चमाणाण " ॥ १ ॥  
 जी० ३ प्रति० ।  
 अच्छिद्यस-अच्छिद्य-त्रि० । छिद-कर्मणि क । अणुप्रभूते, स्वा०  
 १० ग्रा० । अस्मलिते, अनवरते च । पं० व० १ द्रा० । ( छि-  
 द्मच्छिञ्चं चेत्यौदेशिकस्य अहद्वयं कृत्याप्रच्छिञ्चस्य व्याक्या-  
 नम् 'उद्देशिअ' शब्धे छि० जा० ८१६ एते छह्यन्त्यम् )  
 अच्छिद्यञ्ज-त्रि० । आ-छिद-क । बलेन गृहीते, सम्यक्-  
 छिञ्च च । वाच० । प्रतिनियतकालविधत्तारहिते, चू० १ उ० ।  
 अच्छिद्यसच्छेदनाय-अच्छिद्यसच्छेदनय-पुं० । सूत्रमच्छिद्यस्य छेदेने-  
 च्छेति नयभेदे, यथा 'धम्मो भंगलमकुटं' इति श्लोकाऽधेता  
 छिनीयादिश्लोकमपेक्षमाणः । स० २२ सम० ।  
 अच्छिद्यसच्छेदनाय-अच्छिद्यसच्छेदनायिक-न० । अच्छिद्यसच्छे-  
 दनयवति घृते, "अच्छिद्यसच्छेयणयां आजीवियसुत्तपरि-  
 दादीय" स० २२ सम० ।  
 अच्छिद्यत्तणय-अच्छिद्यत्तिय-पुं० । नित्यवादिनि छव्यास्तिके,  
 विद्ये० । प्रब० ।  
 अच्छिद्-अच्छिद्य-त्रि० । न छिद्रं तत्तत्कार्येषु प्रमादादिना  
 स्थलनं रन्ध्रं वा यत्र । प्रमादादिना स्थलनरहिते, "अच्छिद्रं  
 च भवत्वेत-त्सर्वेषां च शिवाय नः" रन्ध्ररहिते, वाच० । अ-  
 विरले, जं० २ वक्त० " गोशालस्य मक्षालिपुत्रस्य यथा  
 दिक्चराणां चतुर्ये दिक्चरे, पुं० । म० १५ श० १ व० ।  
 अच्छिद्रज्ञान-अच्छिद्रज्ञान-न० । अविचरे, यत्किञ्चिद्वस्तु-  
 सम्यक्, प्रअ० ४ आअ० द्रा० ।  
 अच्छिद्रज्ञानपाणि-अच्छिद्रज्ञानपाणि-पुं० । अच्छिद्रज्ञानौ  
 विद्यसितानुत्पन्तरालसमूहरहितौ पाणी हस्तौ यस्य स तथा ।  
 अविचरानुत्पलिसमुद्रयद्वहस्तके, " अच्छिद्रज्ञानपाणी पीव-  
 रकोमलवरांगुली " इति करयोः सुलक्षणम् । औ० । प्रअ० ।  
 अच्छिद्रपत्त-अच्छिद्रपत्र-त्रि० । अच्छिद्रद्राणि पत्राणि यस्य सः ।  
 नीरप्रपत्तौ, आ० १ अ० । औ० । "अच्छिद्रपत्ता अचिरल-  
 पत्ता अवारंगपत्ता अण्येइपत्ता सिद्धयजतदयंरुपत्ता " ( इति  
 पत्रवर्णनाद् वृत्तवर्णकः ) अच्छिद्रद्राणि पत्राणि येषां ते अच्छिद्र-  
 रुपत्राः । किमुक्तं भवति । न तेषां पत्रेषु वातदेहपतः कालदोष-  
 ता वा गभुरिकादिरीतिकपजायते, येन तेषु पत्रेषु छिद्राण्यभ-  
 विच्यन्, इत्यच्छिद्रपत्राः । अथवा एवं नामान्योन्याशास्त्रा-  
 प्रशास्त्रानुपस्थापत्राणि पत्राणामुपरि जातानि येन मनागव्य-  
 पान्तरालरूपं छिद्रं नोपलभ्यत इति । तथा बाह- "अचिरल-  
 पत्ता इति " रा० । जी० । अ० ।

अच्छिद्रवपिणवागरण-अच्छिद्रमभ्रव्याकरण-पुं० । अच्छिद्रदा-  
 यचिरलानि निर्दूषयानि वा प्रख्याकरलानि येषां ते तथा ।  
 अचिरलप्रभोत्तरेषु, निर्दूषप्रभोत्तरेषु च । म० २श० ४ उ० । औ० ।  
 अच्छिद्रविमलदसण-अच्छिद्रविमलदशान-पुं० । औ० । अच्छिद्र-  
 द्रा विमला दशना यासां तास्तथा । अचिरलसच्छदरना-  
 याम, जं० २ वक्त० ।  
 अच्छिद्रपत्र-अक्षिपत्र-न० । अक्षिपत्रमणि, म० १५ श० ८ उ० ।  
 अच्छिद्रवेहग-असिवेधक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उ० १  
 ३६ अ० । जीवा० ।  
 अच्छिद्रमल-अक्षिपत्र-पुं० । दूषिकादौ, तं० नेत्रमले, "अच्छि-  
 द्रमलो दूषिकादि" नि० चू० ३ उ० ।  
 अच्छिद्रोदय-अक्षिरोदक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उ० १  
 ३६ अ० । जी० ।  
 अच्छिद्र-अक्षिपत्र-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उ० १ ३६ अ० ।  
 अच्छिद्रवहयां-देशी-निर्मालनं, दे० ना० १ वर्ग ।  
 अच्छिद्रविआच्छि-देशी-परस्परमाकषणे, दे० ना० १ वर्ग ।  
 अच्छिद्रवेयणा-असिवेदना-स्त्री० । ७ त० । लोचनयोः छेदुःखा-  
 नुभवने, उ० २ अ० । "योःशानं रोगानां द्वादशोऽयम्" उपा०-  
 ४ अ० । झा० ।  
 अच्छिद्ररुद्धां-देशी-श्रेयं, धे० च । दे० ना० १ वर्ग ।  
 अच्छि-अच्छि-स्त्री० । अच्छिनामकदेशोदनवायां श्लियाम,  
 प्रज्ञा० ११ पद ।  
 अच्छिद्यु-अणुज-त्रि० । अणुत् जने तद्दहती अन्तरिक्षे वा जाय-  
 ते । जन-ड, अलुक स० । जलजाते, वाच० ।  
 अचिन्त-त्रि० । अचिन्तादिते, अ० १ अ० ८ अ० ।  
 अच्छिन्तरण-आस्तरण-न० । प्रस्तरणे, नि० चू० १५ उ० । दावा-  
 नलादिभये, यद् भूमावास्तीत्येते प्रस्त्रमादिवितरणाय वा यत्त-  
 दास्तरणम् । पत्रप्रयत्नमयं जर्वात । साधुनामौपप्रहिकोपधा-  
 वन्तभयति । चू० ३ उ० ।  
 अच्छिन्तिय-अच्छिन्तित-न० । आ-डर-क । सशब्दास्ते, नखा-  
 वन्त, नखाद्ये च । आस्तीणं, चू० १ उ० ।  
 अच्छिन्तुसूट-अच्छिन्तुसूट-त्रि० । स्वस्थानं त्याजिते, चू० १ उ० ।  
 अच्छिञ्ज-अच्छेद्य-न० । छेत्तुमशक्ये, स्था० ३ ग्रा० २ व० ।  
 अच्छेदे-अच्छेद-न० । "अहदा तु अद्योच्छिदी", सो कुण्ठौ पा-  
 वचरलामार्दाणि । तद्दा हलु अच्छेदं, गुणव्यसिद्धं इति नामं" ॥ १७ ॥ गौणानुहायाम्, पं० भा० ।  
 अच्छेरे ( ग )-आभय्ये-न० । आ विस्मयतध्वत्येऽवगम्यन्ते  
 इत्यभय्याणि । आ-चर-यत् । सकारः कारस्कारदित्यात् ।  
 स्था० ६ उ० । प्राक्ते " हुस्वात् व्यञ्जस्तस्मान्निञ्जे " ट २ । २१ ।  
 इति अभाषण्ये ङ; तुक् च । प्रा० । गोस्तरस्याऽकारस्य वा पच-  
 म् । तत् " आभय्ये " ट १ । ६६ । इति एतः परस्य यस्य रः,  
 अच्छेरे । पत्याजोवे "अनो रिवारिज्जरीं" ॥ ८ । ३ । ६७ ॥ इति  
 अकारात् परस्य यस्य रिश् अर रिज् रीश् इत्येत आदेशाः । अ-  
 च्छेरेभि, अच्छेरेभि, अच्छेरेभि, अच्छेरींभां प्रा० । अणुपुंतेषु, "रि-  
 ष्यथसिथसिद्धं, आरध्वासं जिणिदकालमि । बहुपच्छेरय  
 पुरणं, उ० १ । अणुपुंतेषु । १ । दस्तसु विधासं सेधं, दस



दस अच्छेरेगाइ जायाईं । उस्सपिणिय एवँ , तितुगालीइ भणियाईं ” ॥ १ ॥ तिसि ॥

दस अच्छेरेगा पसुसा । तं जहा— “उवसमा गम्भहरणं , इत्थी तित्यं अभाबिया परिसा । कएहसस अवरकंका, उचराणं बंदसूराणं ॥ ? ॥ हरिंरंसकुडुपुपची, चमरुपाओ य अइसपतिष्ठा । अस्संजएसु पूया, दस वि अणंतेण कालेण ” ॥ २ ॥

उपसृज्यते किंप्यते क्याप्यते प्राणी धर्माद्देरित्युपसर्गाः, देवादि-  
कृतोपरुखाः। ते च भगवतो महाधीरस्य उग्रशक्याक्षे कवासिका-  
क्षे च नरामरतियेकुकृता अस्त्वद् । इहं च क्लिप्त न कदाचिद्भूत-  
पूर्वम् । तीर्थेकरा हि अनुसप्तपुण्यसंभारतया गोपसर्गभाजनम्, अ-  
पि तु सकलनरामरतिरक्षां सत्कारादिस्थाननिषेधनन्तकाल-  
भाव्ययमर्थो लोकेऽद्भुतोऽसूद् इति । १ । तथा गर्भस्य उदरसत्वस्य इ-  
दरुणमुद्रान्तरसंक्रामणं गर्भेदरणम् । एतद्वृत्ति तीर्थेकरापेक्षयाऽ-  
नूतपूर्वं सद्गणवतो महाधीरस्य जातम् । पुरन्दरादिद्वेज हरिदैगमे-  
विदेवेन देवानन्दामिधानाद्वापुसुवराःकिशालाभिधानाया राज-  
पत्न्या उदरसंक्रामणात् । एतदप्यनन्तकालावित्यादाः। धर्ममेवेति २  
तथा स्त्री योगित् । तस्यास्तीर्थेकरत्वेनोत्पन्नायास्तीर्थे द्वादशाहं,  
सहो वा, स्त्रीतीर्थे हि पुरुषसिंहाः पुरुषवरगणभ्रष्टित्तनक्रिज्जव-  
नेऽप्यव्याहतप्रज्जनावाः प्रवक्ष्यन्ति । इह त्ववसरपिण्यां मिथिधा-  
नरापतेः कुम्भकमहाराजस्य दुहित्वा सुव्याधिधानाः एकान्वि-  
शतितमनीर्थेकरस्यानोत्पन्ना तीर्थे प्रवर्तितवतीत्यनन्तकाल जा-  
तत्वात्स्य जावस्याभ्येतेति । ३ । तथा अज्या अयोग्या चा-  
रित्रधर्मस्य, पणं तीर्थेइहससचरणभ्रोतुल्लोकाः । अयते हि-  
भगवतो बर्द्धमानस्य अग्निकामाननगद्वं बहुरिपुषंकेवलस्य  
तदनन्तरमिंसितचतुर्विधदेविकाविरचित्तसमवसरणस्य ज-  
निकुनुहसहस्रसमायातानेकरामरविशिष्टरतिः। स्वस्वराजाप-  
सुसाराणाऽतिमोहदिरिष्वा महाध्वनिता कदपपरिपालनैधव  
धर्मकया बभूव, यतो न केनापि तत्र बिरतिः प्रतिपत्ता, न चेतत्  
तीर्थेकृतः कस्यापि भूतपूर्वमितीद्माभ्यर्थमिति ॥ ४ ॥ तथा  
कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य अपरकह्वा राजधानी गतिविषया  
आनेत्यप्यजातपूर्वत्वादाभ्यर्थम् । अयते हि-पाठवभमायां दै-  
पद् । धातकीलएदरनरतेकेनापरकह्वाराजधानीनिवासिना प-  
घरानेन दैवसाभिनयेनापवृत्तना । ह्यारातींवास्तव्यश्च कृष्णो वासु-  
देवो मारदादुपस्रव्यतद्वातिकः समाराःभित्तुस्थिताभिधानस-  
वणसमुद्राधिपतिदेवः पञ्जलिः वापन्नः स हि शिवोऽनन्तकृष्णम-  
णं जसधिमतिकस्य पघरानं रणविमर्देन धिक्वित्य द्रौपदीमा-  
नीतवाद् । तत्र च कपिस्वासुदेवो मुनिसुमन्तजिनाव कृष्णवासु-  
देवागमवतींमुपलज्य सवर्द्धमानं कृष्णदीनार्थधामगतः । कृष्ण-  
श्च तदा समुद्रमुल्लङ्घयति स्म । ततस्तेन पाञ्चजन्यः पुरितः ।  
कृष्णेनापि तथैव । ततः परस्परं शङ्काशब्दध्वयमजायतेति ॥ ५ ॥  
तथा भगवतो महाधीरस्य वन्दनार्थंभवतरणमाकाशात्समवसर-  
णभूम्यां च-रुस्युयेयोः क्षाण्वर्तयिमानोपेतयोर्बभूव । इदमप्याभ-  
धैमेवेति ॥ ६ ॥ तथा हरेः पुरुषविशेषस्य वंशः पुत्रयोर्वादिपर-  
म्परा हरिवंशस्तद्गुणं यद् कुलम् । तस्योत्पत्तिकुलं ह्यनंकेचा,  
ततो हरिवंशेन विशेष्यते । एतदप्याभ्यर्थमेवेति । अयते हि-भर-  
तकेपेकेक्या यत् दृतीयं हरिवंशं स्य तिसृषु कक्षेत्रं, ततः केनापि  
पूर्वैरिदोधिना ध्यवतरसुरेण सिधुनकमेकं नरतकेन क्लिप्तम्, तत्र

पुण्यानुभावाद्वाज्यं प्राप्तम्, ततो हरिवंशजातहरिनाम्नःपुष्पाद्यो  
वधाः स त्येति ॥ ७ ॥ तथा चमरव्यासुरकुमाराजस्योपत-  
नसृप्यंगमनं चमरोत्पादाः, सोऽप्याकस्मिन्कथादाभ्यर्थमिति ।  
अयते हि-चमरचञ्जाराजधानीनिवासी चमरेन्द्रोऽग्निनवोत्पन्नः  
सन्तुष्येभमधिनाऽऽश्लोकामास । ततः स्वशीर्षोपरि सौधमेव्यव-  
स्थितराक्षं दधे । ततो मत्सराभ्याः शार्कतिरक्काराहितमति-  
रिदागस्य प्रगचन्तं महाधीरं उग्रस्थावस्थमेकराधिर्षी प्रतिमां  
प्रतिपत्तं सुसुमारनगरोधानावर्षीं सवद्भुमानं प्रणस्य नगधंस्व-  
त्पादपङ्कजयनं मे शरणमरिपरजितस्येति विकल्पविरचितघो-  
ररूपो सङ्घोऽनमानशरीरः परिधरन्मप्रहरणं परितो ब्रामयद्  
गजघात्काराटयनदेवांतलासयन्नुपपात । सौधमर्षवतसकविभान-  
वेदिकार्यां पादप्यासं हृत्वा शकमाकोशयासा । शफोऽपि  
कोपाञ्जवत्सयमानस्कारकपुल्लिङ्गशतसमाकुलं कुलिशं तं प्रति  
मुमोच । स च जयाप्रतिनिधयत् भगवत्पादौ शरणं प्रपदे । श-  
क्रोऽप्यवधिधानावगततद्व्यातिकरत्तीर्थेकराशातनामयास्त्री। प्र-  
मागस्य वज्रमुपसंजहार । भमाण च-बुक्तोऽप्यहो ! प्रगवतः  
प्रसादान्वास्ति मत्सले प्रयमिति ॥ ८ ॥ तथाद्यभिरिधिचक  
शतमघरातम्, अघरातं च ते सिच्चा निर्वृत्ता अघरात-  
सिद्धाः । इदमप्यनन्तकालजातमित्याभ्यर्थमिति । तथा अस-  
यता असंयमवन्त आरम्भपरिग्रहप्रसङ्गा अग्रहचारिण-  
स्तेषु पूजा सत्कारोऽस्यतपूजा । सर्वदा हि क्लिप्तसंयता एव  
पूजार्हाः, अस्यो त्ववसरपिण्यां विपरिणं जातमित्याभ्यर्थम् । १० ।  
अत एवाह दशार्थ्यतानि अनन्तं कालमनन्तकालात्संवृत्ता-  
न्यस्यामवसरपिण्यामिति । स्यात् १० ॥ १० ॥

से भयवं ! अस्मिन्के जेण मिणोपो परमगुरूणं पि अइय-  
णिजं परमरणएफुर्द पयमं पयदपयदं परमकह्वाणं कसि-  
एकमहदुक्कसिद्धिबणं पवयनं अइकमेज वा पइकमेज वा  
खंदेज्ज वा विरादिहज्ज वा आनाइज्ज वा से मएमा वा व-  
यमा वा कायसा वा जाव एं वयसि गोयमाणं तणं का-  
क्षेणं पत्तिवमाणे णं सयं दस अच्छेरेगो जविंसु । तत्पणं  
अमंसेजे अमप्ये अस्सेजेजे मिच्छादिदे अमंसेजे सासा-  
यणदव्वजिणं मासी य सइत्ताए । कंभेणं सकारिज्ज ते ए-  
त्त्वए धम्मं गत्ति काठ्ठणं बहव अदिट्टकह्वाणे जइ एं पवय-  
णमभुवगमंति । तत्पुवगमिंयं रसोल्लुत्ताए विमपल्लोल्लुत्ता-  
ए उइंनियदोसेणं अणुपिथोई जइधियं मगं निड्वं-  
ति । उम्मगं च उमप्यियंति मज्जे तेणं काले णं इमं  
परमगुरूणं पि अल्लंयोगिज्जे पवयणं जावणं चामायंति ।  
से भयवं ! कपरेणं तणं काने णं दम अच्छेरेगो जविंसु । गो-  
यमा ! णं इमे तणं काले णं दम अच्छेरेगो जवतिं । तं जहा-  
तित्यपराणं उवमग्गा, गच्चसंक्रमणे, वामा तित्ययरे, तित्य-  
यस्स णं देमणाए अमव्वसमुद्राए णं परिंसा, वंदियमवि-  
माणणं चंदाइत्ताणं तित्यपरमभवमग्गे, आयमणं बा-  
सुदेवाणं, संसेज्जणं। अइयरेणं वा रायकउडेणं परो-  
परमंसावगो । इह इंतु भारदं लेखे हरिंरंसकुडुपुपचीए,  
चमरुपाए एगसपणं अहसपसिक्किगमणं, अस्संजयाणं

अच्छादणा—आच्छादना—स्त्री०। स्वग्ने, "संतस्त अच्छादणाय

ममस्त" । अ० ३ ७० ।

अच्छि—अच्छि—न०। अक्षते विषयात् । अग्—विस् । "जेऽक्ष्या-

दौ" = ॥ ३ ११७ । इति सूत्रेण संयुक्त्य लामगस्यः ॥ प्रा० ।

"द्वितीयस्यैवोरपरिपुः" । ॥ ३ ११७० । इति द्वितीयस्यैपरि

प्रथमः । अ० । सौख्ये, तं० । दृशा० । "बाऽक्ष्यधेवचनायाः" ।

प्रा० । ॥ ३ १३१ । इति वा पुंस्त्वम "अजय वि सासदते अच्छी नम्बा वि

बाइ तेणइ अच्छीइ" अजयवाविपाजइ किशयः स्त्रीः लिङ्गऽपि ।

प्रा० । "एसा अच्छी" उपा० २ अ० । ( अक्ष्योऽप्राप्यकारित्यम

'इदिव' शब्दे हि० भा० १५७७ वृष्टं कृतव्यम् )

अच्छादणाय—आच्छादना—स्त्री० । स्वग्ने, ( ' अच्छादणा

शब्दसमानार्थः )

अ ( आ ) चिदृण—आच्छेदुन—न०। एकवारमीवद् वा द्वेदने,

"एकस्ति ईषद् वा आच्छेदुणं" नि० चू० ३ ३० । "पायुं-

ज्यामच्छिदृइ वा" अच्छिनस्ति बलादुद्वासाथीति । स्या० ७ ७ १०

१३० । "आच्छिदिहि सि-ईवच्छेत्स्यतीति । अ० १५ भा० १ ३० ।

अ ( आ ) चिदृदिचा ( य )—आच्छिद्य—अव्य० । आ-

च्छिद्यत्ये । इत्याहुहालनेनापह्नव्येय्ये, उपा० ७ ७० । "अच्छि-

दिय जं मिषामामिमादीनां" पञ्जा० १३ विव० । आवा० ।

अ ( आ ) चिदृदपाण—आच्छिन्दुत्—अ० । ईवन्सकृद् वा

चिन्दति ( "सन्धजाए णं आच्छिन्दमाणे" ज० ८ श० ३ ७० ।

अच्छिक्क-ईशा-अस्पृष्ट, "अच्छिक्कायदिहे" अ० १ ३० ।

अच्छिचमरण—अच्छिचमहन—न० । अक्षुभ्योमेलने, वृ० ३ ३० ।

अच्छिञ्ज—अच्छेज—न० । न० तं० । अनुसमशक्ये, ( स्या० )

तत्रा अच्छेजना पणत्ता । तं जहा-समए परमे परमाणु ।

एवमेतज्जा अन्नज्जा अग्गिज्जा अण्णद्दा अमज्जा अप्पसा

तत्रा अविभाइमा ।

छेपुमशक्या बुद्धा सुरिकादिशस्त्रेषु वेत्यच्चेया, अच्छे-

एचं समयादिःषायोगादिति । समयः कालविशेषः ;

प्रदेशो वर्माधर्माकाशजोवपुर्लालानं निरचयवोऽशः पर-

मायुरस्कृत्यः पुर्ल इति । उक्तं च- "सत्येण सुतिकेणे वि,

छेपुं मेणुं च अं किर न स्वक्कं । तं परमाणुं सत्त्वा, धर्यति आइं

पमाणणं" ॥ १ ॥ एवमिति । पूर्वमेत्राभिज्ञापस्यन्ताथं इति, अमेधाः

सुखादिना, अदाद्या अग्निहोत्रादिना, अप्राणा, इत्यादिना, न

विद्यते अर्हं येथामित्यनर्हः, विनागच्छ्याजावात्, अमरूपा विभा-

गत्रयाभावात् । अत एवाह—अमेदेशा निरवयवाः, अत एवा-

विभाज्या विनरूपाशक्याः अथवा विभागने निर्वृत्त्वा विनागि-

मत्सन्निधेयादविभागिमाः । स्या० ३ जा० २ ७० । "होमे अच्छि-

ज्जमेजा" हेतुः शखादिना, तन्नियेधाच्छेद्यः । इत्यपरमार्था,

अ० ३० श० १ ३० ।

आच्छेद्य—न०। आच्छिद्यते अग्निच्छेदोऽपि भूतकपुत्राईः सका-

श्यात् साधुदानाय परिपुष्टाने यनवाच्छेद्यम् । पि० । "अच्छेज्ज

वा निद्वि, जं स्वामी सिद्धमार्शेण" । आच्छेद्यं चाऽऽच्छेद्या-

क्यः पुनर्दोषः । आच्छिद्यवाहृत्य यद् अकादिकं स्वामी प्रयुः

भृत्यादीनां कर्मकरादीनां सत्कं द्वातं तादिति । पञ्जा० १५

विच० । अतुदेशोद्वासादेषुपुष्टे, तदमेदोपचारात् अतुदेशे

उद्गमद्वेषे च । ग० १ अधि० ।

तद्भेदाः—

अच्छेजं पि य तिविहं, पभू य सार्थी य तेणए चेव ।  
अच्छेजं परिपुष्टं, सपमाण न कप्पए पेत्तुं ॥

अच्छेद्यमपि प्रागुक्तशब्दार्थे त्रिविधं त्रिकारम् । तद्यथा—प्रभौ  
प्रयुविषयं प्रयुक्तकर्त्राभितमित्यर्थः । एवं स्वामिनि स्वामि-  
विषयं, स्तेनकविषयं च । एतच्च त्रिविधमप्यच्छेजं तीर्थकरण-  
णभैः प्रति कुरुत्ताराकृतमतः अमणां तस्यैव गृहीतुं न कल्पते ।

तत्र प्रथमतः प्रयुविषयं भावयति—

गोबालए य जयए—उवरए पुषे य भूय सुण्हाए ।

अचियत्तसंस्वहाई, केइ पठस्सं जहा गावो ॥

प्रयुक्तकर्तृकमध्ये गोपालके गोपालत्वविषयं, तथा भूतकः कर्म-  
करस्तद्विषयम् । अक्षरकोः अक्षरकोः अक्षरकानिधानो दास इ-  
त्यर्थः, तद्विषयम् । पुत्रविषयं, दुहिद्विविषयं, सुखाविषयम् । उप-  
लक्षणमेतद् आयोदिविषयं च । अथैव दोगमाइ— ( अचियत्त-  
स्यादि ) अचियत्तमतीति; स्वस्मं कलहः, आदिशब्दादा-  
त्मपोतादिपरिग्रहः । केचित् पुनः प्रयुवमपि सार्था गच्छति ।  
यथा—गोपो गोपालकः ।

एतमेव दृष्टान्तं गाथाश्रयणह—

गोनपयं अच्छेत्तुं, दिक्खं तु जइस्स भइ दिसे पड्डुणा ।

पयजा गुणं दूट्टं, सिंसिइ जोइं स्व चेना ॥

पदियरण पओमो एं, जावं नाठं जइस्स आलावो ।

तन्निवंधंवा गदियं, हुंदि उ मुक्कोसि मा वीयं ॥

वसन्तपुरं नगरम् । तत्र जिनदासो नाम आशकः । तस्य भार्या रु-  
क्मिणी । जिनदासस्य गृहे वसराजो नाम गोपालः । स चा-  
ष्टमेऽष्टमे दिने सर्वसांभोप गोमहिषीणां दुग्धमादत्ते, तथैव  
तस्य प्रथमतः भूतत्वात् । अथवा च सायुसंघाटको भिक्षादि  
तत्रागमत् । इतच्च तस्मिन् दिने गोपालस्य सर्वदुग्धादानवा-  
रकः, ततस्तेन सर्वा अपि गोमहिष्यो दुग्धा मत्तो पारितु-  
ष्येमाऽऽपुण्यौ । जिनदासश्च जिनवचनानिधानः करणतया  
सायुसंघाटके परमपात्रभूतमायातमथलोक्ष्य भक्तितो यथेच्छं  
भक्त्यामादिकं तस्मै दत्तवान् । ततो दुग्धान्निानि ज्ञानानीनि  
पारिजाव्यं प्रकतिरहितमनस्कतया गोपालस्य दुग्धं ब्रह्माच्छि-  
द्य कतिपयं ददौ । ततः स गोपालो मनसि साधोरुपति मनाक्  
प्रह्वं ययौ, परं प्रभुभयात् न किमपि वक्तुं शक्तः । ततस्तत्पयोज्ञा-  
जनं कतिपयवयुषं स्वगृहं भीतवान् । ततः तथात्तुं नान्यमवशो-  
क्य भार्या सरोपं बध्दित्ये—किमित्ति न्यूनमिहं पयोभाजनमिति ? ।  
ततो गोपेन यथावच्छित्ये—कमिते सासपि साधुनाकोष्ठं प्रापत्तं ।  
चेदरूपाणि च दुग्धं स्तोत्रमवशोक्ष्य किमस्माकं प्रविष्यती-  
ति रोदितुं शक्तमिति । तत इत्थं सकलमपि स्वकुटुम्बमाकुम्भमे-  
त्य स गोपः संजातसाधुविषयमहाकोषः साधुश्च ध्यायादधिपुं  
बलितवान् । इत्यथ जिज्ञार्थं परिपुष्टमन्त्रं कृत्वा प्रदेशे साधुः । ततः  
प्रधानिनो लकुटमुखास्य साधोः पुष्टतः । साधुरपि कथमपि  
पश्चादशोकेन तं गोपं तथाभूतं कापारुणजनयमनाशोक्ष्य परिभा-

ष्यामास्त-नूनेमेतस्य दुग्धं ब्रह्माच्छिद्य जिनदासेन महां ददं,  
तेन प्रारणार्थमेव कुपित एव समागच्छन्तुपसह्यते । ततः साधु-  
विशेषतः प्रसन्नवदनो नृत्या तस्यैव संसृष्टं मन्मथानुं प्रथत-  
ते स्म । बभान च—यथा भो ज्ञोः कौरपुष्टनिरयुक्तः । तव  
प्रतुनिवन्धेन मया तवानीं दुग्धमात्रं गृहीतम्, संप्रति तु  
गृहण स्वमार्मीयं दुग्धमिति । एवं चोक्तं सस्युपशान्तकोपः  
साधुं प्रति स्वस्वभावं प्रकटितवान्—यथा भोः साधो !

सुविहित । तत्र मासपार्थम्यमिन्द्रानामागतः, परं संप्रति स्वहृत्वा-  
नामूनपरिप्रेकन उषशशामि म सत्रोऽपि कोपानलः । ततो गृहाण  
स्वमधेव दुग्धम, मुक्कञ्जाकृतगणानां मया, परं भूयाऽप्ययमाच्छे-  
द्यं न सदा तस्यमिति निवृत्तां गोपाः स्वस्वामिं च गतः साधुरिति ।  
सत्रं सुगमं, नखरं (पयजा गुणुं ति) विजलिकोऽपाम्नु पयाजाज-  
नं न्यूनं यद्वा ( भोई इति ) भोम्या प्रायो इत्यर्थः । ( क्वे णि )  
कृदन्ति । इदीत्यामन्त्रणे । तन्निकेन्वात् तदीयाजिनदासाव्यप्र-  
निक्त्वाद् गृहीतव्यः । ततः प्रत्याह-मुक्तोऽसि संप्रति मा ित्नीय  
चारमेवं गृह्णीयाः ।

संप्रति गोपालविषय एव ' अचियससंखडाइ ' इत्येतद्या-  
खियासुग्राह—

नानिञ्चिहं लज्जद, दासं । वि न जुजए रिते जत्ता ।

दोत्रेगयर पत्रोमं, जं क्दाहं अंतरायं च ॥

प्रतुणा बलादाच्छिञ्जमाने दुग्धे कोऽपि गोपो रुधः प्रभोः  
संसुक्ष्ममेवमपि भुवाणः संभाव्यते । यथा-किमिति मदीयं दुग्धं  
बलादाप्यूह्यसि न खख्यनिविष्टप्रमुपाजितमिह किमपि लज्यते,  
ततो मया स्वशरीरायासवलनेदं दुग्धमुपाजितम, अतः कथमत्र  
प्रभवति ? । न हि दास्यपि, आस्तामुत्सवमयादिगणमिष्यपिशा-  
द्वार्थः । जकस्येन जकदानमते भरणपोषणमूत इत्यर्थः । लुज्यते  
भोक्तुं लज्यते । ततो मदीयं जोजनमिदमनो न ते तत्र प्रतुन्वा-  
वकाशः । एवं चोक्तं सति कदाचिन्नु द्वयोरपि प्रतुगोपासुवयोः  
परस्परमेकस्य द्वितीयस्योपरि प्रतुयो वनेते । प्रतुपे प्रथममाने  
यत् करिष्यति धनहरणमात्राणादिकं तत्स्वयमेव आच्छेद्यादने  
दोषान्येन विवेच्यते । तथा यन्नातराये गोपालकस्य तत्तुम्भस्य  
च, तदपि दापयन् विवेच्यमिति । तद्वेयं गोपालपुं इत्यादि  
न्याख्यातम् । एतदनुसारेण च जूतकादावपि यथायोग्यमप्र-  
त्यादिकं समाधनीयमिति ।

संप्रति स्वामिविषयमाच्छेद्यं विनायविपुराह—

सामं चारजका वा, संजय दहणु तेसि अट्टाप ।

कलुणापि अच्छेज्जं, साहण ए न कएप देवुं ॥

इह स्वगृहमात्रनायकः प्रजुः प्रामादिनायकः स्वामी । चार-  
जटा वा स्वामिजटा वा; तेऽपि स्वामिग्रहणेन गृह्यन्ते । संयता-  
नं दृष्ट्वा तेषां संयतानामर्थाय करुणानां कृपास्थानानां दरिद्र-  
कोऽतिभ्रुकदादीनां संसृष्ट्याच्छिद्यद्वादात् तत्साधूनां न कल्पते ।  
एतद्वेद्य व्यक्तं भावयति—

आहारोर्वादिमई, जइ अट्टाप स केइ अछिञ्जे ।

संखरअसंखरीए, तं गेएहेते इमे दोसा ॥

यदि कोऽपि स्वामी जटो वा यर्नानामर्थाय केपाञ्चित्सखिष्य  
आहारोपप्यादिकं संसृष्ट्या कलहकरणात्, असंखरया अकलह-  
नानेन । कोऽपि हि तत्संबन्धिनि बलादाच्छिद्यमाने कलहं करति,  
कोऽपि स्वामिभयादिना न किमपि वक्ति । तत उक्तं संसृष्ट्या  
असंखरया धेति । बलादाच्छिद्य यतिन्यो यद् ददाति तद्यतोनां  
न कल्पते । यतस्तदगृह्यतामिमे दोषाः ।

तानेवाह—

अचियत्तमंतरायं, तेनाहं एगणेगवोच्छेओ ।

निच्छरणां दोसा, तस्स अज्जेने य जं पावे ॥

वेपां सत्कमसिच्छ बलात् स्वामिना दीयते तेषामचियन्-  
मयीतिकर्णं आयते । तथा तेषाम् ( अंतरायं ) शीघ्रमानव्यक्त-

परिजोवाहानिः कृता भवति । तथा इत्थं साधूनामादधानातं  
स्तेनाहते भवति, दीयमानवस्तुनाथयेकाननुकालेत्वात् । तथा  
येषां संबन्धि स्वामिना बलादाच्छिद्य दीयते तं कदाचित् प्रच्छि-  
ष्टाः सन्तोऽपि तस्यैकस्य साधार्यकपातव्यवच्छेदं कुर्वन्ति,  
यथा-अनेन संप्रति बलादस्माकं भकादि गृहीतं ततः काजान्तर-  
ेऽप्यस्मि न कस्मापि दातव्यमस्मान्जिति । अथवा सामान्यतः  
प्रतुयमुपयानि, यथा-अनेन संयतेन बलादस्माकं भकादि गृहा-  
ते तस्मात् काजान्तरं न कस्मापि संयताय दातव्यमित्येक-  
साधूनां भकादिव्यवच्छेदः । तथा ते रुष्टाः सन्तो यः पुत्रमुपा-  
ध्यायं दत्तः तस्माच्छिक्त्वाशयन्ति । आदिशब्दात् अरपरथाणि  
भाषने इति परिगृह्यते । तथा तस्योपाश्रयस्याऽज्ञाने यत्किम-  
पि कष्टं प्राप्नुवन्ति तद्व्याच्छेद्यदानमिभिसमिति दोषः ।

संप्रति स्तेनाच्छेयं जावयति—

तेणा व संजयइ, कजुणाणं अरपणो व अट्टाप ।

ते य पत्रोसं जं वा, न कएपेइ कएणु आश्यां ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतान् प्रति जद्रुका प्रयानि । सं-  
यता अपि कापि दरिद्रसाधेन सह प्रजति । ततस्मान् जि-  
ज्ञावेत्तायां त्रिकामप्राप्तुवनां दृष्ट्वा संयतार्थाय संयतानामर्थाय,  
ज्ञावन्स्थानानांऽर्थाय तेषां करुणानां कृपास्थानानां दरिद्र-  
साधेमानुषाणां सकाशादाच्छिद्यद्वादात् स्तेनास्नतस्तेनाच्छे-  
द्यं कृत्वायः तत्र साधूनां न कल्पते, यत्संसिद्धं गृह्यमानं येषां  
संबन्धि तद् द्रव्यं ते पुत्रोत्पत्तिकरणे एकानेकसाधूनां जन्तव्य-  
वच्छेदं कुर्वन्ति । तथा-अत्रेपं रोपमुपयानि । तथा च सति सा-  
धार्यच्छिक्त्वाशनम्, काजान्तरंऽपि तेषां पाशे उपाश्रयाप्रतिवन्ध  
इत्यादयो दोषाः । यदि पुनस्तेऽपि साधिका यद्यमगुप्रकारेणा-  
नुजानते तर्हि कल्पते ।

एतद्वच गाथाग्रहणेन स्पष्टं भावयति—

संजयभरा तेणा, आयेतं वा असंयरे जणं ।

जइ देति न वेत्तव्वं, निच्छम वोच्छेइ मा होज्जा ॥

पयसचुयदिहंतो, मगणुआया व वेत्तुणं पच्छा ।

देति जइ गतेसि वि य, मगणुआया य जुंतेति ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतमपका जवन्ति, साधवश्च क-  
दाचिन्नु दरिद्रसाधेन सह क्वापि प्रजानि । नतस्तेषां साधूनां  
भिक्षावैलायात्मसंस्मरे अनिवीहेतं स्तेनाः स्वप्रामाण्यमुक्तं प्र-  
त्यागच्छन्तः; बाशब्दात् स्वप्रामाण्यव्यव गच्छन्तो वा, यदि तेषां  
दरिद्रसाधेयमानुषाणां बलादाच्छिद्य भकादि प्रयच्छन्ति,  
तर्हि न प्राथं, यद् मा भूत् निकोतः साधूनाम् । एकानेक-  
साधूनां नेत्रेण भकादिव्यवच्छेदो वा । यदि पुनस्तेऽपि साधे-  
काः स्तेनेबलाद्वाध्यमाना एवं प्रवन्ते-यथाऽस्माकमिह घृतशकु-  
दद्यान् उपातिष्ठत । घृतं हि सक्नुमध्ये प्रकृष्टं विजिष्टसंयोगाय  
जायते, एवमस्माकमप्यथयं चौरैर्गृहीतव्यम्, ततो यदि चौरा  
अपि युष्मत्सं दापयन्ति ततो महानस्माकं समाधिरिति । तत  
एवं साधिकेऽनुज्ञाताः साधवो दीयमानं गृह्णीत । पञ्चाक्षरिष्य-  
पगतेषु जुयोर्थाय तद् कृत्यं गृहीतं ते समर्पयन्ति । तदानीं  
चौरप्रतिभयादस्माभिर्गृहीतं संयति ते गतान्स्तेन पतदास्मायं द्र-  
व्यं यूयं गृह्णीत इति । एवं चोक्तं सति यदि तेऽपि समजुजानते ।  
यथा-युष्मत्संभेदस्मान्निर्दामिति तर्हि लुज्जते, कएपनीयस्था-  
दिति । अनेन कृप्य गुणानामित्यवयवो व्याख्यातः । पि० । नि०

अच्येरे

अभिधानराजेन्द्रः ।

अजससयविम्व्यमाणद्विय

पुष्य करणे वि। महा० ६ अ० । कल्प० । प्रव० । पं०  
व० । धखा णाम सत्यवाहो, तस्य य तुवे अच्येरेगाणै  
चउसद्धरसारजूया मुचावली, भूया । आ० म० दि० ।

अच्येरेपेज्जिजज-आश्चर्यमेकूण । य-त्रि० । अहो ! किमिद-  
मिति कौतुकेन-सौष्ट्याहार्येणेये, जी० २ प्रति० ।

अच्येरेवंत-आश्चर्यवत्-त्रि० । चमत्कारघाति, " चकुमाश्चर्य-  
वाम् भवेत् " अए० ४ अए० ।

अच्योदण-आस्फोटन-न० । आ-स्फुट-ल्युट-ए० । अकुलि-  
मोटने, वाच० । वखाणां रजकेरिच शिलायामास्फालने, पि० ।

अच्योदण-देशी-भूगयायाय, दे० ना० १ वषे ।

अच्योद्गा-अच्योद्देक-न० । स्वच्छपानीय,

अच्योद्गापिद्भूत-अच्योदकप्रतिदहस्त-त्रि० । स्वच्छपानीय-  
परिपूर्णं, " ताड सं पाहसो अच्योद्गापिदहस्तयासो " रा० ।

अजंगम-अजङ्गम-त्रि० । गमनशक्तिविहकले, व्य० १ उ० । ज-  
ङ्गवलयपरिहीनं, " बुद्धो खलु समधिगतो, अजंगमो सो य  
जंगमविस्सेत् " व्य० ८ उ० ।

अजज्जर-अजर्जर-त्रि० । जराग्रहिते, जी० ३ प्रति० ।

अजज्ञियकाधिया-अजनिक्तनियका-स्त्री० । केनचिदजनि-  
तस्य प्रख्यायाय, " उदायायनबोही, पडमावती देवसगर्हितः  
वच्च अणुवेत्त। मणकाः कथप्रे संजगिग्रासो तु केणह वि  
पुत्तो जाय सतिः जेतुमा हानि अज्ञियकस्रो तु पिबति-  
मुत्ताःस्त द्वात्रिं वि निष्कवतं तु भातुमंदां । अगदा रायसुश्रो  
तु जिमार होयपलां कुणति उग्गंढामि पभाते चल्पादां । कात्तु  
कालपविचरत्तं पोमालमप्रमाणं । अह जिन्विणतु बाहसे तु वा-  
न्तीया, ते नम्म व तिरोरुदा तेमिसेव ठाणमि । तस्य य पव-  
सिणाण य अदागता गामं गोनुज्जा । अह तीए रायड्डिया न ये  
दिंतु मपदेमे । अह तस्मि उवचिद्वणविरितो ए पम्मंलुग सइ समो ।  
गाइ तज्जाय सइ स धंलं तेसि रत्त सुकपोमगाइणह तुउभमि  
सअविसे । अह सुक्कं जाणिमोगाइतं गम्मं आत्तनां । अइ पाटं  
वंदिउं पयत्तं च सुणिया य सुधिहिया दि पुष्ठा वेत्ती तु न वि  
जाणे अमिसयणाणां धेया य पुच्छिस्ता तेहिं सिद्धा उदहणुपं  
होही । जुगप्पणाणो रक्कहणं अल्पमाइणं जं मं सक्कुल्ले सु संव-  
ह्तिन्तो गोसुणामकनकसीए । सा तु अजजणकाय पब्बज्जा हांति  
णायत्वा " पं० भा० । पं० ४० ।

अजमेर-अजमेर-पुं० । ग्रियप्रयस्त्रिप्रतिष्ठाधिष्ठानमुभयपत्र-  
पालपालिनहपैपुरिकनरस्थे ' अजमेर ' इतीदानी प्रसिक्के नगर-  
नेद्रे, कल्प० ।

अजय-अयत-पुं० । विद्यते यत्ते यतिष्येयेति सर्वसावद्यविर-  
निहाने, कर्म० ४ कर्म । रुद्रस्थकब्के साधौ, ग० १ अधि० ।  
अविरतसम्यग्दष्टै, कल्प० । कर्म० ६० । अयज्वति च, श्रौ० ।  
यतनाऽप्राये, न० । " अजयं चरमाणो य प्राणद्यूह हिंसद "।  
अयतनमुपदेशं न सूत्रार्थित क्रियायानुगमनतश्च, चरन्  
गच्छन् । वृहा० ४ अ० ।

अजयचउद-अयतचउद-पुं० । अविचलसम्यग्दष्टैनापेवप्रकृतेषु अ-  
विरतसम्यग्दष्टैषुअविरतप्रसत्ताप्रमत्तद्वेषु चतुषु मृतीयावि-  
गुणस्थानबक्षिषु, " मिच्छ अजयचउत्राक " कर्म० ५ कर्म ।  
अजयणकारि ( ण )-अयतनकारि-पुं० । अयतनया कार्य-

कारणि, " अजयणकारिस्वेषं, कञ्जे परद्व्यसिंकारिस्व "।  
अजयणं जौ करोत स्तं मखपि अजयणकारी " गिक्कारणप-  
स्सिंयी, अजयणकारी व कारणे साहु " । ति० ४०० । उ० ।

अजयणा-अयतना-स्त्री० । यतनाऽयत्नं य इय्यां दशोधने, " अज-  
यणाए पृथ्वति, पाहुणगाणं अयच्छसा " ग० ३ अधि० ।

अजययेव-अजययेव-पुं० । दाडस्तावाद्दनामकाव् म्हेच्छनगरादा-  
गच्छतां जिनप्रभसूरीणां जट्टारके राज इति प्रतिष्ठितनामदातरि  
त्रयादंशशतनाशाशितमयपेक्षादिके नेम्भरजेद्रे, ती० ४६ कल्प० ।

अजयभाव-अयतजाव-त्रि० । ६ व० । असंयनायवसायं,  
" परस्म तं देइ सवमा होइ अहिगरणमप्रयत्तावस्स " अय-  
तभावस्व अयतोऽशुक्लाऽऽहारापरिहारकथेयं जयवृक्षगरहितो  
भावांऽप्यवसायो यस्य स तथा । पि० ।

अनयसेवि ( ण )-अयतसेवि-त्रि० । अयतनया प्रतिसेवकं,  
" योगं गमिर्यमि य अजयसेविस्मि " व्य० १ उ० ।

अजर-अजर-पुं० । नास्ति जरा यस्य । देहं, जराकृत्यं, त्रि० ।  
वाच० । " उम्मुक्कम्मकववा अजर अमरा असंयाय " वि-  
का अजरा, वयसेऽजरावच् । ज्ञां । नास्ति जराऽस्या, घृत-  
कुमारिवृक्के, तस्य जराऽभावात्तव्यम् । वाच० । वृक्षदारकवृत्तं,  
पुं० । युष्टोपधिकायाम, स्त्री० । न विद्यते जरा यस्य तज्जरम् ।  
आ० म० प्र० ।

अजरापर-अजरापर-न० । जरा वयोहानि, मरण मरः, स्वरा-  
न्तःवादच्युपययः । न विद्यते जरापरौ यत्र तज्जगामरम् । मोक्षे,  
विशे० । जे० । तं० । ६ व० । वार्थक्यमृत्युदहिते, त्रि० । " अहाय-  
राश्या परिन्तरणाणे, अट सुट्ठे अजगामे व्व " अजगामय-  
द्वन्द्वः, क्रियते भनकाऽस्याम् । मूत्र० १ श्रु० १० अ० । "साधि काउ  
जराभि अजगामरो " । महा० ७ अ० । मम्मणाब्धे वणि-  
भन्दे. पुं० । ( नत्कथा 'मम्मस' शब्दे ऊट्ठयाः )

अजना-अयज्ञस्त-न० । विरोध, न० । अक्षायाम, असद्वृत्त-  
तया निन्दायाम, मूत्र० १ श्रु० २ अ० । ग० । सर्वदिग्गामिन्याः प्र-  
सिक्केभावे, न० ए श० ३३ उ० । अयत्रकमकृते, न्यूनच च ।  
" इहेव धम्मं अजसो अकिली " । दश० १ कुल्ल० । अयला-  
यादनायायाम, ति० ४०० ११ उ० ।

अजसकारग-अयशःकारक-त्रि० । सविदेगामिन्याः प्रसिक्केः  
प्रतिषेधकं, म० ए श० ३३ उ० ।

अजसकिणिणाय-अयशःकीर्त्तिनाम्-न० । नामकमेनेद्रे, य-  
उद्ययाच्छाकीर्त्तौ न भवत्तद्वयशःकीर्त्तिनाम् । कर्म० १ कर्म० ।  
यउद्ययशान्मध्यस्थजतनायश्चशस्थो भवति तद्वयशःकीर्त्ति-  
नाम् । कर्म० ६ कर्म० । प्रव० । श्रा० ।

अजसजणम-अयशोजनक-त्रि० । निम्नीयतादिकारके, ग० १  
अधि० ।

अजसवहुत्त-अयशोवहुत्त-त्रि० । अयशोऽस्यायाऽसद्वृत्ततया  
निम्ना तद्वहुत्तः, यानि यानि परापरकारभूतानि कर्माणुष्ठा-  
नानि विद्यन्ते तेषु तेषु कर्मसु कुरवरणकडेदानादिषु अयशा-  
ज्जाजि, " जिवायिवहुत्ते साधवहुत्ते अजसवहुत्ते, उस्सवत्तस-  
पाणावानी " सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

अजससपनिषपाणाद्वियय-अयशःश्रातविसर्पच्युट-त्रि० ।  
न यशःश्रातानि अयशःश्रातानि, तेषु विसर्पद विस्तारं कचहुट्ठं

अजससयविसपमागदियथ

अभिधानगजेन्द्रः ।

अजिअसेय

दृश्ये मानसं यस्य स तथा, प्रतनास्त्रावाचित्तुमनस्कं, " अजससयविसपमागदियथ कडयवपुसली" ( स्त्रीणां ) तं ।

अजसस-अजस-न० । न०त० । जस्-रा । अजसत्, "आमरणंतमजससं, संजसपरिपालणं विधिणा " पञ्च० = विद्य० । विक्रान्तावस्थायिनि वस्तुमात्रे, वि० । बा० ।

अजहमुकोस-अजयन्तोत्कृष्ट-ज्ञ० । न जघन्योत्कृष्ट स्थितिर्यस्य सः, एवं स्थितिशब्दशोभात् तथा । मध्यमायां स्थितौ वर्तमाने, श्रा० म० ङि० ।

अजहमुकोमपृप्तिय-अजघन्योत्कर्षप्रदेशिक-पुं० । जघन्याभ्योकार्षश्च जघन्योत्कर्षाः, न तथा अजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा इत्यर्थः, न प्रदेशाः सन्तं येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकाः मध्यमप्रदेशनिष्पन्नौ, स्या० १ ङा० १ उ० ।

अजहृथ-अयथाय-न० । पञ्चाशदावयवधावयवेषु के नामभेदे, स्या० १ ङा० १ उ० ।

अजाह्व-अयाचित-वि० । अयाचयता लक्षे, अदत्तादाने च । "मुसावाये बहिष्ठे च, उगहं च अजायते । सत्या दानाह शो-गंसि, तं यिउजं पारजाणया" ॥॥ अयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतम् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

अजाणेत-अजानत-अजानान-वि० । अनवबुध्यमाने, " अजाणेत मुसंभवे " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । कल्पाकल्पमजानानं अजीतायै, पुं० । श्रु० ३ उ० ।

अजाण्य-अज्ञ-वि० । न जानाति । ज्ञा-क । न० त० । स्वल्पज्ञाने, अचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । " एवं विपन्निवक्षणे, अपरणा उ अजाणया " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । हानशुभ्ये, सूक्ष्मे, वेदनिमित्तसिद्धाज्ञानस्यपदार्थायतनं च । वाच० ।

अजाणिय-अज्ञान्य-अव्य० । अविज्ञायत्यर्थे, नि० । नृ० ३ उ० ।

अजाणिया-अज्ञिका-स्त्री० । न-ज्ञिका, ज्ञिकाविलक्षणयां सम्भक् परिज्ञानरहितायां पदेषु, " अजाणिया जहा जा होह पगसहृया मिगभावयसीहकुडुगनृया रयणमिष असंज-यिया अजाणिया सा नवे परिसा " या ताश्चूदकएरीवकुर-द्रूपोपवत्कृष्टया मुक्त्वाभावा अंसंस्पयितजात्यरक्षमियावन्तु-णविशिष्टगुणसमुद्धा सुसप्रज्ञापनीया पदेषु सा अज्ञिका । उ-क्तं च-" पगदे सुदअजाणिया, मिगभावयसीहकुडुगनृया । रयणमिष असंजयिया, सुहसणगणगुणसमिका " ॥ १ ॥

अजाण-अज्ञा-स्त्री० । अज्ञस्य हिंसादेहेतुलक्षणाविवक्षितेषु ज्ञानाद् व्यापृती, स्या० २ ङा० ३ उ० ।

अजाय-अजात-वि० । न० त० । अनिगच्छे, सुसम्पदरूपेण तदाऽवस्थापनाभावे साधौ, तदव्यतिरेकाकल्पभेदे च । पुं० ।

"गीयथ जायकपो, अगिभो बलु भवे अजाभो अ" अगीतः खट्वगीताधेयुक्तः विहारः पुनर्भेदजातोऽजातकल्पः, अव्यक्तत्वेन जातत्वात् । ध० ३ अक्षि० । पञ्च० ।

अजायकपिय-अजातकल्पि-पुं० । अगीतायै, " एगविहारो अजायकपिभो जो भवे उयकप्ये " ग० १ अक्षि० ।

अजिअ-अजित-वि० न० त० । अपराजितं, "अजिबे महःथ" ( जिनाहाम् ) अजिनामशेषपरप्रवचनान्नाजिरपरजिताम्, इहो० । अवा० । जिघातोऽहिकमकवादिर्जितशत्रौ, अ-पराजितदेशादी वाच्ये प्रवृत्तिः, एकस्य कर्मणोऽविवक्षाया-मन्यस्य विवक्षायां, तस्यै कर्मणि क्तः भूरिप्रयोगस्तु-अजाजित-

शत्रावेव । तथा च 'गौणे कर्मणि छुवायेः' इत्युक्तेः, गौणकर्मण एवाभिधाननियमात् तस्यैव जयकर्मणयां क्त्वाऽभिधान्तौ योयत्वद्, न च नास्त्येवाभिज्ञो देहा इत्यादौ गौणकर्मणोऽविवक्ष-यैव जयपददेशादौ जितगोत्रप्रयोगाद् ततो मज्जसमास इति भेदः । रागादिभिर्जितत्वाभावात् शिवे, विष्णौ, बुद्धे च । वाच० । परीवद्दिभिर्नजितेना गनेस्ये भगवति जननीयते राज्ञानजित इत्यजितः ॥ ध० २ अक्षि । अयस्यार्थेष्वार्थितीर्थक-रे, "अक्लेमु जेण अजिया, जणणी अजितो जणेतम्हा" अक्-णु अक्रावियण कारणेण भगवतो जननी अजिता गनेस्ये भग-वत्य मूलस्मादजितो जितः । अथ बुद्धसंप्रदायः-" नगथतो ह-म्मापियरो जुय रमति, पढमं राया जिणिया इतो जाहे भववं आयाओ नाहे देवो जिणारो राया ततो अक्खेसु कुमारभावात् देवो अजिय ति, अजियो से नामं कयं " श्रा० म० ङि० श्रा० चू० । ध० १० कल्प० । ( अन्तरापुरादि कल्पस्य 'मत्स्यस्य' शब्द-वक्ष्यते ) भावनि द्वितीये बलदेवे, ती० २१ कल्प० । श्रीमुवि-धिजिनस्य यक्षु च । स च श्वेतवर्णे, कर्मवाहनश्चतुर्थेऽज्ञो मातु-भिङ्गावस्यत्रयुक्तदक्षिणापाण्ड्यो नकुलकुनकलितवामपाणि-इत्यश्व । प्रथ० २७ श्रा० ।

अजिअदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रसुरैः शिष्ये, विजयसिंहस्य सुरी, "जातो तस्य ( गुरुच-द्वय ) विनयी, सुरैयशोभद्वेने स-चन्द्राहो । तादयां मुनीन्द्रचन्द्रः प्राग्मुनिचन्द्रो गुरुः सम-चूत ॥ १ ॥ श्रीअजितदेवसुरिः श्राम्मस्तस्माद्भुव शिष्य-वरः । वादीनि देवसुरिद्वितीयांशाद्यस्तर्थायोऽनुत् ५ ५ ॥ तत्राऽऽदिमाद् ब्रह्मसं गुरुर्विजयसिंह इति मुनिपसिंहः " । ग० ३ अक्षि० । अयंऽप्येतन्नामा ( वि० सं० १२७३ वर्षे ) ब्राह्मिनि । स च भानुप्रमसुरैः शिष्यः, योगविधानमते ग्रन्थस्य कर्ता । ज० ६० ।

अजिअपुण-अजितपुण-पुं० । स्थानामस्थाने गाणानि स च । ( वि० सं० १२८२ वर्षे ) गुज्जरांश्यां विद्यापुर ( बीजापुर ) प्रान्ते स्थहार्थि-त्, धर्मरत्नश्रावकाचारनामानं अर्थे च व्यरंभवत् । ज० ६० ।

अजिअबला-अजितबला-स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेव्याश्च, सा च गौरवणां लोहासनापिच्छा चतुर्भुजा वरदपशकाधि-छिन्ददक्षिणकण्ठया बीजपुरकाकुशास्तम्कनवामपाणिद्वया च । प्रथ० २७ श्रा० ।

अजिअसंह-अजितसिंह-पुं० । स्थानामस्थानेऽखलकण्ठ्ये सुरी, स च ( वि० सं० १२८३ वर्षे ) जितदेवेन पित्रा जितदेवां नाम मानरि जम्भ ह्रस्वा सिंहप्रजयत्पदाम्बुसले प्रयज्ज, देवे-न्द्रसिंहनामानं च शिष्ये प्रभाजितः । ज० ६० ।

अजिअसेय-अजितसेन-पुं० । जम्बूद्वीपे नारतवर्षेऽतीताया-मुत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुलकरे, स्या० १० ङा० । कौशाभ्या अधिपतौ धारणीवहनेन नृपतिभेदे, " कौशाभ्यान्व्येस्तपुस्तत्रा-जितसेनो महीपतिः । धारणीयमिधा देवी, तत्र धर्मस्यगुरुः " ॥११॥ श्रा० क० । श्राव० । अ० चू० । ( एकथा 'अणयाय' शब्दे-वक्ष्यते ) आरव्तीनगरं समवभूते यशोभजायाः कीर्तिमत्या म-हत्करिकायाः प्रभाजक आवायिनेदे, 'अलाह' शब्दे कथा ह-ए-व्या) श्रा० चू० श्राव० । दर्श० । अजितसेनो नाम अजयनेवसुरि-शिष्यः राजगण्यथावद् महावचनानामं ग्रन्थस्य कर्ता, यस्मय ( वि० सं० १२९३ वर्षे ) अखलगच्छुः समजनि । ज० ६० । श्रा० क० । महिलपुनगरं नागस्य रुद्रभेदेः सुलसानाम्नां भाव्यायामुपनेने पुत्र, स चाऽरिष्टनेमरेति के प्रपञ्च शकुञ्च-लिकः । अत० ६ वी० ।

अजिन्ना-अजिता-स्त्री० । अथसर्पिण्याश्चतुर्धस्याभिनन्दनजिनस्य प्रथमित्याम, "अजिन्यदणस्स अजिन्ना, कास्वी सुमती-जिण्दिस्स" ति० ।

अजिन्दिद्य-अजितोन्मुख-त्रि० । न जितानि भोधादीनीन्दि-याणि येन स तथा । इतिद्रवाचशे, "अजिन्दिद्यसोवहिया, व-हगा जइ ते याम पुज्जति" दश० नि० १ अ० । असर्वेहत्वे, स्था० ५ द्वा० ।

अजिण-अजिन-न० । अजति स्तिपति रज आदि आवरणेन । अज-इनच्, न व्यादेशः । बाच० । शुगादिचर्मणि, उक्त० ५ अ० । आचा० । सुच० । अमेधारित्वे, "कीराजियं नमिणिये, जडीसंघाडिमुंइयें" उक्त० ५ अ० । न जिनेऽजिनः । न० त० । अर्चातरणं, भ० १५ श० १ उ० । असर्वेह, पु० । "अजिणा जिणसंकासा जिणाह याऽवितहं द्यारेमाणा" । औ० । कद० । स्था० ।

अजिस्य-अजीर्ण-न० । अजरशे परिपाकमनागते, वि० । अ. जीर्णेऽभोजनम् । एतदपि गृहिभिर्भोजनेऽयमस्माकमिति बु-द्ध्या कार्यम् । तथाऽजीर्णेऽजरशे पूर्वभोजने, अथवाऽजीर्णे परिपाकमनागते पूर्वभोजनेऽधेजीर्णे इत्यर्थः । अभोजनं भोजनन्यायाः । अजीर्णेभोजने हि सर्वैरोगमुलस्य वृद्धिरेव कृता भवति । यदाह-"अजीर्णप्रभावा रोगः" इति । तत्राजीर्णं चतुर्विधम्-"आमं विदग्धं विप्रधं, रसशेषं तथा परम् । आम-तु तु हवर्गाधत्वं, विदग्धे भूषगन्धिना ॥१॥ विप्रधे गात्रन-होऽज. रमशेषं तु जाम्बती" इवगन्धिव्यमिति । द्रवस्य गृह्य-स्य कृषितनकटादिर्व गन्धो यस्यास्ति तत्तथा, तदुभायस्तत्त्व-मिति । "मलवातयोर्विगन्धो, विरुजेदो गात्रगौरवमरौच्यम् । अविशुद्धाद्वाद्वाः, पडजीर्णव्याक्रान्तकानि ॥१॥" मूच्छो प्रलापो यमपुः, प्रसेकः सदनं घ्नमः । उपद्रवा भवन्त्येते, मरणं वाऽप्यजीर्णः" ॥१॥ प्रसेक इत्यधिकनिष्ठोवनप्रवृत्तिः, सदनमित्यङ्ग-म्लानिरिति । घ० १ अ० । "जिन्नाजिये अमोयणं बहुसो" जीर्णो जीर्णे च भोजने बहुशः; एष आरूप्य उपक्रमः । अस्माद् क्षियन्ते प्राणिन इत्यर्थः । प्राव० १ अ० । जी० । एतत्प्रती-कारो यथा-"अवेदजीर्णं प्रति यस्य शाङ्ग, स्निग्धस्य जन्तो-र्बलिनोऽश्नकाले । पूर्वं स शुष्टीममयामशङ्कः, संप्राप्य भु-ञ्जति विति हि पथ्यम्" ॥१॥ इति चक्रः । "अजीर्णे भोजने वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम्" इति वैद्यकः । कश्चि कः । जीर्णो-वृक्षः, तदभिधे, त्रि० । बाच० ।

अजिम्भकंतेणयणा-अजिह्वकान्तनयना-स्त्री० । अजिह्वेऽम्भे भद्रभावतया निर्विकारचपल इत्यर्थः, कान्ते नयने यासां तास्तथा । सुभगत्वयत्नत्वसहजचपलत्वभाजनलोचनसु, "अजिम्भकंतेणयणा पत्तलधवलतयत्तयत्तबलाश्चाशो" जं० २ वक्त० ।

अजिय-अजित-त्रि० । अपराजिते, ('अजिभ'शब्देऽस्य विस्तरः) अजियदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रवरेः शिष्ये, (निरूपणमस्य 'अजिभ्रवे' शब्दे )

अजियपन्न-अजितपन्न-पुं० । स्वनामक्याते गण्डिनि, (विशेषो-ऽस्य 'अजिभ्रपन्न' शब्दे)

अजियवला-अजितवला-स्त्री० । श्रीभजितस्य शासनदेव्याय, ('अजिभ्रवला' शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियसीह-अजितसिंह-पुं० । स्वनामक्यातेऽङ्गलकण्डोपे सूरौ, ('अजिभ्रसीह' शब्देऽत्र छन्दः)

अजियसेण-अजितसेन-पुं० । जम्बूदिपस्यचतुर्थे कुलकरे, (स्पर्शोऽयं 'अजिभ्रसेण' शब्दे)

अजिया-अजिता-स्त्री० । अथसर्पिण्याश्चतुर्धस्याभिनन्दन-जिनस्य प्रथमित्याम, (अस्मिन् विषये 'अजिन्ना' शब्दो द्रव्यः) अजीर-अजीर्ण-न० । आहारस्याऽजरशे, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः । व्य० १ उ० । जं० । हा० । वि० । उपा० ।

अजीव-अजीव-पुं० । न जीवा अजीवाः । जीवविपरितत्सक-पेषु धर्माधर्माकाशपुञ्जलास्तिकायाऽस्मात्समयेषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च चतुर्धा, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । द्रव्याजीवाः, यदा पुञ्जलद्रव्यमजीवरूपं सकलशुण्यपयोधिकलतया कल्प्यते, तदा तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याजीवः, भावे चाजीवद्रव्यस्य पुञ्जलत्वस्यैव दशविधपरिणामोऽजीव इति प्रक्रमः । ततः शब्दादयः पञ्च शुभाशुभतया भेदेन विवक्षिताः । नथाव सं-प्रदायः-शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः शुभाशुभाभांश्चेति । उक्त० ३५ अ० ।

एतथां ह्येतः क्षेत्रतः काश्चनो भावतश्च व्याख्या-

रुविणो य अरुवी य, अजीवा वृविहा जवे ।

अरुवी दसहा वुचा, रुविणो वि चरविहा ॥ ४ ॥

अजीवा ऽऽविधा भवेयुः, एके अजीवा रूपिणो रूपवन्तः, च पुनरन्ये अजीवा अरूपिणोऽरूपवन्तः । तत्र रूपं स्पर्शावाभ्य-द्रुतं मूर्तं तद्विस्तयेषु ते रूपिणः, तद्व्यतिरिक्ता अरूपिण इत्यर्थः । तत्रार्थापेक्षोऽजीवा दशधा उक्ताः, रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ताः ॥ ४ ॥

पूर्वं दशविधत्वमाह-

धर्ममित्येकापे तदेसे, तत्पपसे य आहिए ।

अहम्भे तस्म देसे य, तत्पपसे य आहिए ॥ ५ ॥

आगासे तस्म देसे य, तत्पपसे य आहिए ।

अस्मात्समयेपे चैव, अरुवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

अरुवी अजीव एवं दशधा भवेदिति द्वितीयायायामन्वयः । प्रथमं धर्मास्तिकायः-धरति जीवपुञ्जौ प्रतिगमनोपरिारिणोति धर्मस्तस्याऽस्तयः प्रदेशसद्भावपरिणतिमद् ह्यव्यमित भावः । धर्मस्तिकायः, सर्वदेशाशुगुणसमानपरिणतिमद् ह्यव्यमित भावः ॥ १ ॥ पुनस्तद्देशस्य धर्मास्तिकायस्य कतमो विभागो देश-स्त्वतीयचतुर्थादिनागस्तद्देशो धर्मास्तिकायदेशः ॥ २ ॥ तथा पुनस्तत्प्रदेशस्तस्य धर्मास्तिकायविज्ञास्य अतिसूक्ष्मा नि-रंशोऽशः प्रदेशो धर्मास्तिकायप्रदेशस्तो धर्मास्तिकायतः क-थितः ॥ ३ ॥ एवमधर्मो जीवपुञ्जलाः स्थिरकारि धर्मास्तिकायान्द्विक्रान्तो धर्मास्तिकायः ॥ ४ ॥ पुनस्तस्य अधर्मास्तिकायस्यापि देशस्तद्देश एकः कश्चिद्भागोऽधर्मास्तिकायदेशः ॥ ५ ॥ एवं पुनस्तस्याधर्मास्तिकायस्य प्रदेशोऽशस्तत्प्रदेश आख्यातोऽधर्मास्तिकायप्रदेश इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इत्यनेन पर-त्रेदा अरूपिणोऽजीवद्रव्यस्य । अथ भोवास्तत्कार उच्यन्ते-आकाश इति सप्तमो भेदः । आकाशात्मिकास्तिकायः, जीवपुञ्जला-रकवादाद्ये आकाशम् ॥ ७ ॥ तस्याऽऽकाशस्य देशः कतमो विभाग आकाशास्तिकायदेशः ॥ ८ ॥ तस्य आकाशास्तिकाय-

स्वः निरंकोः वैश्वस्त्यप्रवेश आकाशास्तिकायप्रवेशः ॥ ६ ॥  
 दशमो भेदश्चास्त्वसमयः अथा काशो वर्णमानमङ्गलस्तद्रूपः  
 सन्मोक्षस्तस्यः। अस्त्वैक एव त्रेशो निर्बिभागात्वाः। वैश्वदे-  
 शावपि कालस्य न सम्भवतः ॥ १० ॥ एवं दशभेदा अर्थापेक्षो  
 हेत्याः ॥ ६ ॥

एतान् अरूपिणः क्षेत्रत आह—

धर्माधर्मो य दो एए, शोगामिता वियाहिया ।

शोगालोमे य आगामे, समप समपरिवापि ॥ ७ ॥

धर्मधर्मौ धर्मास्तिकायधर्मोस्तिकायौ, एतौ द्वावपि लोक-  
 मन्त्रौ व्याख्यातौ । यावत्परिमाणो शोकास्तावत्परिमाणौ धर्मा-  
 स्तिकायाधर्मोस्तिकायौ । यत्तुदेशरज्ज्वात्मकलोकां व्याप्तावित्यने-  
 मालोके धर्माधर्मौ न स्तः । आकाशां लोकशोके वर्तते इत्यनेना-  
 ऽकाशास्तिकायः यत्तुदेशरज्ज्वात्मकलोकां व्याप्य स्थितः, ततो  
 बहिर्लोकमपि व्याप्याऽऽकाशास्तिकायः स्थित इत्यर्थः । स-  
 मयः समयादिकः काशः समयत्रैत्रिको व्याख्यातः । समयोप-  
 सृजितं क्षेत्रं साद्वैद्यप्रतीपसमुद्रात्मकं समयक्षेत्रं, तत्र भवः  
 समयत्रैत्रिकः । साद्वैद्यप्रतीपयो बहिस्तु समय आधुनिका-  
 दिवसमासादिकान्नेदो भनुद्योगोकाभावाच्च विवक्षितः ॥ ७ ॥

पुनरेतानेव कालत आह—

धर्माधर्मागासा ति—भि वि एए अगाहिया ।

अपजजवसिया चैव, सव्वकत्तु विवियाहिया ॥ ८ ॥

धर्मोधर्मोकाशाणि एतानि श्रोत्रमपि सवाहं इति सर्वकांश्च  
 सर्वथा स्वस्वरूपापरिस्थानेन निर्यानि अनादीनि च पुनरपर्य-  
 कसितानि अन्तर्हितानि व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

अथ कालस्वरूपमाह—

समप वि संतदं पप्य, एवमेव वियाहिया ।

आएस् पप्य साहंए, सपज्जवसिए वि य ॥

समयोपि कालोऽपि, एवमेव, यथा धर्मोधर्मोकाशानि अना-  
 दान्तानि; तथा कालोऽपि अनादान्त इत्यर्थः । किंत्वा ?  
 सन्तति प्राप्य, अपरापरोत्पत्तिकरूपमाहात्मिकमाभिव्य-  
 कोऽर्थः, यदा हि कालस्यात्पत्तर्विलोक्यते तदा कालस्याऽ-  
 दिरपि नास्ति, अन्तोऽपि नास्तीत्यर्थः । पुनरादेशं प्राप्य का-  
 र्योऽभ्यमाभिव्य कालः सादिक आदिसहितः, तथा सपर्यव-  
 सितोऽवसानसहितो व्याख्यातः । यदा च यत् किञ्चित् कार्यं  
 यस्मिन् काल आरभ्यते तदा तत्कार्योऽभ्यमयशात् कालस्या-  
 यस्तुपाधिवाशादिति; एवं कार्योऽभ्यमसमाप्तौ कालस्याऽप्यन्तो  
 व्याख्यात इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्भेदा उच्यन्ते—

खंथा य खंप्रदेशा य, तप्यपमा तदेव य ।

परमाणवो य वेपथ्वा, रूषिणो वि चउचिविहा ॥ १० ॥

रूपिणोऽप्यजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्भेदाः । के ते भेदास्तानाह-  
 स्कन्धाः—यत्र पुत्रे परमाणवो विचउचिहा मिलनाच्च न्यूना-  
 अधिका अपि भवन्ति, एतादृशाः परमाणुपुञ्जाः स्कन्धाः १,  
 स्कन्धदेशाः २, तथा तत्पदेशाः तेषां स्कन्धानां निर्बिभागा  
 अंशाः स्कन्धप्रदेशाः ३; तथैवेति पूर्वोक्तं; अ पुनः परमाणवो  
 बोद्धव्याः, परमाणव एव परस्परममिलिता इत्यर्थः । ४। एवं  
 बलवदो रूपिणश्चतुर्विधा बोद्धव्या इति भावः । अत्र च मु-

ख्यवृत्त्या परमाणुवृत्त्यस्य द्वौ भेदौः परमाणवः स्कन्धाश्च । वेप-  
 थप्रदेशयोः स्कन्धेष्वेवान्तर्भावः ॥ १० ॥

अथ स्कन्धानां परमाणुना लक्षणमाह—

एगसेण पनुत्तेण, खंथा य परमाणुओ ।

लोएग्देशो लोए य, भइव्या ते उ खिचभओ ॥

इत्तो काइवविभागं तु, तेसिं बोधं चउचिविह ॥ ११ ॥

एते स्कन्धाश्च पुनः परमाणवः, एकत्वेन पुनः पृथक्त्वेन  
 लोकैकदेशे च पुनर्लोकैः क्षेत्रतो अह्नव्याः । तत्र केचित् स्कन्धाः  
 परमाणवश्च एकत्वेन समानपरिणतिरूपेषु लक्ष्यन्ते । अथ च  
 स्कन्धाः परमाणवश्च पृथक्त्वेन परमाणवन्तैरसङ्घातरूपेषु  
 लक्ष्यन्त इत्यप्याहारः । इति द्रव्यतो लक्षणमुक्तम् । अथ च  
 क्षेत्रत आह—ते स्कन्धाः परमाणवश्चेति तत्स्कन्धपरमाणुनां  
 प्रहणोऽपि परमाणुनामेकप्रदेशास्त्वान्मन्यतां ते परमाणवः  
 स्कन्धेषु लोकैकदेशे लोके सर्वत्र अह्नव्या भजनीया दर्शनीया  
 इति यावत् । ते हि विचित्रन्वात्परिणतेर्बहुप्रदेशे तिष्ठन्ति ।  
 इतः क्षेत्ररूपणतोऽन्नन्तरं तेषां स्कन्धानां परमाणुनां चतु-  
 र्विधं कालभेदं वक्ष्ये, साधनादिसपर्यवसितापर्यवसितभेदं  
 कथयिष्यामि । इदं च सूत्रं पदपादं गाधेत्युच्यते ॥ ११ ॥

संतदं पप्य तेऽएहं, अपज्जवसिया वि य ।

उिदं पनुच माहया, सपज्जवसिया वि या ॥ १२ ॥

ते स्कन्धाः परमाणवश्च सन्निभपरापरोत्पत्तिप्रवाहाकर्यां  
 प्राप्याऽनादय आदिरहितानस्तथाऽपर्यवसिता अन्नरहिताः  
 स्थितिं प्रतीयन् क्षेत्रवस्थानकर्यां स्थितिमङ्गीकृत्य सादिकाः,  
 सपर्यवसिताश्च वर्तन्ते ॥ १२ ॥

सादिसपर्यवसितत्वंऽपि कियत्कालमेयां स्थितिर्नित्याह—

असंखकालमुक्कोसं, इकं समयं जहभयं ।

अजंवाण य रूबांणं, उिदं एसा विवियाहिया ॥ १३ ॥

स्कन्धानां परमाणुनां चोत्कृष्टाऽसंख्यकालं स्थितिः जघ-  
 न्त्यिका एकसमया स्थितिः । एयाऽज्जीवानां रूपिणां पुत्रज्ञानां  
 स्थितिव्याख्याता ॥ १३ ॥

अथ कालतः स्थितिमुक्त्वा तदन्तर्गतमन्तरमाह—

अणंतकालमुक्कोसं, इकं समयं जहभयं ।

अज्जीवाण य रूबांणं, अंतरे यं विवियाहिया ॥ १४ ॥

अजीवानां रूपिणां पुत्रज्ञानां स्कन्धेशप्रदेशपरमाणुना-  
 मन्तरं विवक्षितक्षेत्रावस्थिते प्रच्युतानां पुनस्तःक्षेत्रमाहर्षदेव-  
 धानमन्तरमुत्कृष्टमन्तरकालं अभवति । जघन्यक्रमकसमयं या-  
 वज्जवति । इदमन्तरं तीक्ष्णरूपेण व्याख्यातम्—पुत्रज्ञानां हि विव-  
 क्षितक्षेत्रावस्थितिः प्रच्युतानां कदाचित्स्वमायावलिकादि-  
 संख्यातकप्रज्ञतो वा फण्डोपमादौ यावदन्तकालादपि तत्क्षे-  
 त्वावस्थितिः सम्भवतीति भावः ॥ १४ ॥

अथ भावतः पुत्रज्ञानमाह—

वज्जभओ गेपथ्वा चैव, रसओ फामथओ तहा ।

मंठाएअ य विभेओ, परिशाभो तिसि पंचहा ॥ १५ ॥

तेषां पुत्रज्ञानां परिणामो वणेतो मन्त्रतो रसनः स्पर्शतस्मथा  
 संस्थानतश्च पञ्चया प्रज्ञप्रकारो ह्येवः यतो हि पुरणालनध-  
 मोगे पुत्रज्ञानेणामेव परिणतिः सम्भवति । परिणमते स्पर्श-  
 रूपावस्थितानां पुत्रज्ञानां वणणधरस्पर्शो संस्थानोद्भवधाम-  
 नयं परिणामः । न पुत्रज्ञानो पञ्चप्रकार इत्यर्थः । ( २०५ )

पुरुक्षानां वर्षेगन्धरस्त्वपशैसंस्थानानां जेदाद् बध्ने । अथ तेषां क्रमेण प्रत्येकं संख्यां वदति । तद्यथा-एकस्मिन्नेकस्मिन् पुद्ग-  
 साभितवर्षो गन्धौ द्वौ, रसाः पञ्च, स्पर्शाः अष्टौ, संस्थानानि पञ्च,  
 एवं सर्वेऽपि विशतिविंशतिभेदा जवन्ति । कृष्णनीललोहित-  
 पीतवर्णकानां पञ्चवर्णानां प्रत्येक २ विशतिभेदनीलनाश शतं  
 भेदा वषण्पुद्गस्य । अथ गन्धयोर्द्वयोः षड्चत्वारिंशद्भेदाः जव-  
 न्ति । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च, स्पर्शाः अष्टौ, संस्थानानि  
 पञ्च । एवं सर्वे त्रयोविंशतिसंख्याकाः ते च सुगन्धदुग्न्धतत्क-  
 योविशतित्रयोविंशतिप्रमिताः । वज्रयमोलेने षड्चत्वा-  
 रिंशद्भवन्ति । अथ रसपुद्गलानां शतं भेदा जवन्ति । तद्यथा-  
 वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः अष्टौ, संस्थानानि पञ्च । एवं वि-  
 शतिभेदाः । प्रत्येक २ तिककटुकषायाम्भपुरादिपञ्चभि-  
 र्भक्ताः सन्तः शतं जेदा जवन्ति । अथ षष्टोभेदाः  
 षड्विंशदधिकशतम् । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, रसाः  
 पञ्च, संस्थानानि पञ्च । एवं सप्तदश भेदाः । ते च खरसृद्रुगुह-  
 लयुक्तस्निग्धशोतोष्णपुद्गलैरशभिर्मुणितः षड्विंशदधिकं  
 शतं भेदा भवन्ति । प्रहापनायां स्पर्शपुद्गलानां चतुरश्र-  
 स्थिकशतं भेदा उक्ताः सन्ति । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च,  
 गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः षट्, एवं शृङ्खलं । यतो हि यत्र खरस्पर्शः पु-  
 द्गलो गणयते, तत्र तदा सृद्रुः पुद्गलो न गणयते । यत्र स्निग्धा  
 गणयते, तदा तत्र रुक्लो न गणयते । यत्र स्पर्शरोहिणौ हि एक-  
 प्र न तिष्ठतः, तस्मान् स्पर्शः षट्, संस्थानानि पञ्च, एवं सर्वे  
 मिश्रितास्पर्शोचिदाभिनेवाः । ते त्रयोविंशतिभेदाः प्रत्येकं खर-  
 सृद्रुगुहलघुस्निग्धरुक्कशीतोष्णाद्यष्टभिः पुद्गलैर्मुणितः चतु-  
 रश्रांस्थिकशतं भेदा भवन्ति । वीतरागोक्तं वचः प्रमाणम्,  
 येन यादृशं ज्ञातं तेन तादृशं व्याख्यातम्, तस्यै केवली बध् ।

अथोपसंहारेणोत्तरप्रश्नसम्बन्धमाह—

एमा अजीवविभर्त्ता, समासेण विद्याहिया ।

पर्याऽजीवविभक्तिः समासेन संक्षेपेण व्याख्याता । उक्तं ३६  
 अ० दश० ज० । प्रहा० । जी० । आ० । आ० च्चो० नो० सूत्र० ।  
 दर्श० । स्या० । "गन्धि जीवा अर्जावा या, णव्यं सख्यं णिवस्य"  
 सूत्र० । ( ' अस्थिवाय' शब्दे व्याख्यास्यामः )

अजीवआणवणिया-अर्नंवाहाणपिनिका-अर्नो प्राहाणपिनिका-  
 जन्वः कर्मबन्धोऽप्याहाणपिनिका । अजीवविषयाऽहाणपिनिका अ-  
 र्नोवाहाणपिनिका । 'अर्नोवाहाणपयव' स्पर्शादेशनरुपाया आहाण-  
 पिनियाः क्रियाया भेदे, स्या० २ ज्ञा० १ ष० ।

अर्जवानायनी-अर्नोअजीवविषया भानायनी, 'अजीवमाना-  
 यनम् । आनायनरूपायाः क्रियाया जेदे, स्या० २ ज्ञा० १ उ० ।

अजीवआरंजिया-अजीवारंजिका-अर्नो । या चाजीवात्  
 जीवकलेवराणि पिष्टादिमयाजीवाद्युत्तौ बलाधीन् वाऽऽर-  
 भमाणस्य सा अजीवारंजिका । आरंभिनियाः क्रियाया जेदे,  
 स्या० २ ज्ञा० १ ष० ।

अजीवकाय-अजीवकाय-पुं० । अजीवाच्च तेऽचेतनाः कायाश्च  
 राशयोऽजीवकायाः । जीवविपरतेषु धर्माधर्माकाराणुभलेषु,  
 भ० उ श० १० उ० ।

अजीवकायअसंजम-अजीवकायासंयम-पुं० । पुस्तकादीनाम-  
 जीवकायानां ग्रहणपरिभोगानुपरमेण तस्मात्प्रतिजवविधाते,  
 स्या० ७ ज्ञा० ।

अजीवकायअसमारंज-अजीवकायासमारंज-पुं० । पुस्त-  
 कादीनां ग्रहणपरिभोगतस्त्वादिप्रतिजविवानां परित्यापकरणं,  
 स्या० ७ ज्ञा० ।

अजीवकायआरंभ-अजीवकायारंभ-पुं० । पुस्तकादीनां ग्रह-  
 णपरिभोगतस्त्वादिप्रतिजविवानामुत्पन्नवर्ण, स्या० ७ ज्ञा० ।

अजीवकायसंजम-अजीवकायसंयम-पुं० । पुस्तकादीनामजीव-  
 कायानां ग्रहणपरिभोगपरमे, स्या० ७ ज्ञा० । आव० । प्रज्ञ० ।

अजीवकिरिया-अजीवक्रिया-अर्नो । जीवस्य पुष्कलसमुदाय-  
 स्य यत्कर्मैवापस्थं तथा परिणामने साऽजीवक्रिया । " अजीव-  
 किरिया दुविधा परणत्वा । तं जहा-इरियावहिया चैव, संप-  
 राहया चैव " स्या० २ ज्ञा० १ ष० ।

अजीवाणिसिय-अजीवनिःश्रित-त्रि० । अजीवाश्रिते, स्या० ७ ज्ञा० ।  
 अजीवनिःसृत-त्रि० । अजीवैच्यो निगते, स्या० ७ ज्ञा० ।

अजीवद्वन्द्वविजति-अजीवद्वयविजक्ति-अर्नो । अजीवद्वयत्वा-  
 णां विजागरूपे विभक्तिभेदे, अजीवद्वयविजक्तिस्तु कल्पकृ-  
 द्यजनेदाद् द्विधा । तत्र कृपिद्वयविजक्तिश्चतुर्धा । तद्यथा-स्क-  
 न्धाः, स्कन्धदेशाः, स्कन्धप्रदेशाः, परमाणुपुद्गलाश्च । अकृपि-  
 द्वयव्यभिर्किदंशया । तद्यथा-धर्मास्तिकायां धर्मास्तिकायस्य  
 देशो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः । पश्मधर्माकाराशोरपि प्रत्येकं  
 त्रिजन्ता उद्भूया । अकासमयश्च दशम इति । सूत्र० १  
 श्रु० ५ अ० १ ष० ।

अजीवदिद्विद्या-अजीवद्विष्टिका ( जा )-अर्नो । अजीवानां चिद-  
 कर्मोर्नां दर्शनार्थं गच्छतो गतिक्रियारूपे दृष्टिकायाः क्रियाया  
 जेदे, स्या० २ ज्ञा० १ उ० ।

अजीवदेस-अजीवदेश-पुं० । धर्माधर्मास्तिकायादिदेशेषु, भ०  
 १६ श० उ० ।

अजीवधम्-अजीवधमे-पुं० । अचेतनानां सृतिमतां द्रव्याणां  
 वर्णगन्धरसस्पर्शेषु, असृत्समतानां द्रव्याणां धर्माधर्माकारानां ग-  
 त्यादिकेषु धर्मेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अजीवपञ्जव-अजीवपर्यय-पुं० । अजीवानां पर्यायेषु, प्रहा० ।  
 पर्याया गुणा विशया धर्मा इत्यनर्थान्तरम् । प्रहा० ५ पद ।

अजीवपञ्जवा णं जंते । कइविहा पणत्ता ? । गोयमा !  
 दुविहा पणत्ता । तं जहा-रुविअजीवपञ्जवा य अरु-  
 विअजीवपञ्जवा य । अरुविअजीवपञ्जवा य जंते ।  
 कविहा पणत्ता ? । गोयमा ! दमविहा पणत्ता ? ।  
 तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकाय-  
 यस्स पदेसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे,  
 अधम्मत्थिकायस्स पदेसा । आगासत्थिकाए, आगास-  
 त्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा । अद्दासमए ।  
 रुविअजीवपञ्जवा णं जंते । कतिविहा पणत्ता ? । गो-  
 यमा ! चउत्थिहा पणत्ता । तं जहा-खंपा, खंपदेसा,  
 खंपपदेसा, परमाणुपोगत्ता । ते णं भंते ! किं संखेज्जा, अ-  
 संखेज्जा, अणंता ? । गोयमा ! नो सत्थिज्जा, नो असत्थिज्जा,



अरुंता । से केणुठे एं जंते । एवं बुध्द, नो संखिज्जा, नो असंखिज्जा, अणंताः । गोयमा ! अरुंता परमाणुपोग्गला, अणंता दुपपामिया खंधा, जाव अनंता दमपपरिया खंधा, अणंता संखिज्जपदेसिया खंधा, अनंता असंखिज्जपदेसिया खंधा, अरुंता अरुणपदेसिया खंधा, से तेण्हं णं गोयमा ! एवं बुध्द; ते णं नो संखेज्जा, नो असंखिज्जा, अरुंता । प्रह्णा ० ५ पद ।

अजीवपणवणा-अजीवप्रज्ञापना-खी० अजीवानां प्रज्ञापनाऽजीवप्रज्ञापना । प्रज्ञापनाभेद, प्रज्ञा ० ।

से किंत्तं अजीवपरणवणा ? अजीवपरणवणा उचिह्ता परणवणा । तं जहा-रुविअजीवपरणवणा, अरुविअजीवपरणवणा य । से किंत्तं अरुविअजीवपरणवणा । अरुविअजीवपणवणा दसविहा पणसा । तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायसम देसे, धम्मत्थिकायसम परसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायसम देसे, अधम्मत्थिकायसम परसा । आगामत्थिकाए, आगामत्थिकायसम देसे, आगामत्थिकायसम परदेसा, अच्चासमए । सेचं अरुविअजीवपरणवणा । से किंत्तं रुविअजीवपरणवणा ? रुविअजीवपणवणा चउव्विहा परणवणा । तं जहा-वंश्या, खंधेदेसा, खंधपरसा, परमाणुपोग्गला । ते समासत्रां पंचविहा पणसा । तं जहा-वणपरिणया, गंधपरिणया, रसपरिणया, फामपरिणया, संजाणपरिणया । ते जणणपरिणया ते समा मत्रो पंचविहा पणसा । तं जहा-कालवणपरिणया, नीलवणपरिणया, लोहिवणपरिणया, ट्ठान्हिवणपरिणया, सुक्खिवणपरिणया ।

अमीवामित्थे क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनम् ? उच्यते-इह धर्मास्तिकाय इति पदं मङ्गलभूतम्, अर्थाद् धर्मशुद्धाद्वित्तत्वात् । पदाथं प्ररूपणा च सम्प्रति प्रथमत उक्तानां वनेते, ततो मङ्गलाधर्माद् धर्मास्तिकायस्यापदानम् । धर्मास्तिकायप्रतिपन्नभूतत्वाधर्मास्तिकायस्तनस्तदन्तरप्रधर्मास्तिकायस्य । द्वयोरपि चानयोराधारभूतत्वाकाराभिते तदन्तरप्रधर्मास्तिकायस्य । ततः पुनरजीवसाधर्म्याद्दत्तासमयस्य । अथवा इह धर्माधर्मास्तिकायां विदु न मनस्वन्तद्विभुत्वं तस्मान्मर्थतो जीवपुरुलानामस्वालिनप्रचारप्रवृत्तौ लोकांशोक्यवस्थाऽनुपपत्तेः । अस्ति च लोकांशोक्यवस्था; तत्र तत्र प्रवेष्टो सुत्रे साक्षाद्दर्शनात् । नतो यावन्ति ज्ञेयव्यागदौ (धर्माधर्मो) नावयमाणां लोकांशोक्यवस्थाः शेषस्वभावोक्तिं सिद्धया उक्तं च- " धर्माधर्मविवृतात्, सर्वत्र च जीवपुरुलविवृतात् । नाशोकः कश्चिस्त्यात्, न च सम्मतमनदायोणाम् ॥ १ ॥ तस्मात्सोधर्मा-ववगादौ व्याय लोकाकं सर्वम् । एवं हि परिच्छिन्नः, सिक्खति लोकस्तद्वित्तुवात् " ॥ २ ॥ तत एव लोकांशोक्यवस्थाः ॥ धर्माधर्मास्तिकायावित्तनयोरादुपदानम् । तत्रापि माङ्गलिकत्वात् प्रथमतो धर्मास्तिकायस्य, तद्यत्पिपक्त्यासतोऽधर्मास्तिकायस्य, ततो लोकांशोक्यवस्थापिपक्त्यास्तिकायस्य, तदनन्तरं लोकांशोक्यवस्थापिपक्त्याऽन्यवस्थाकारित्वाद्दत्तासमयस्य । एवमागमासुराणोऽप्यु-

क्यनुपाति धक्यमित्यस्य प्रसङ्गेन । प्रहृतोपसंहारमाह- (संख अरुविअजीवपणवणा) सीया अरुव्यजीवप्रज्ञापना । पुनराह विनेयः- (सं कित्तमित्यादि) अथ का सा क्यजीवप्रज्ञापना । सूरि-राह-क्यजीवप्रज्ञापना चतुर्विधा प्रज्ञापना । तद्यथा-स्कन्धा-स्कन्दन्ति बुध्दान्तं, धीयन्ते च पुण्यन्ते पुरुलानां विचउटनेन चउटनेन वेत्ति स्कन्धाः । पृथोऽद्वारादित्वाद् रूपानिपत्तिः । अत्र बहुधा वचनं पुरुलस्कन्धानामानन्त्यवधानार्थम् । नचातन्त्यमनुपपन्नम्, आगमंऽभिधानात् । तथा चाजीवशब्दे उक्तम्- "इत्थतो गुं पुमाइत्थिकाए गुंता दव्वा" इत्यादि । स्कन्धदेशाः स्कन्धानामेव स्कन्धत्वपरिणाममजहन्ते बुध्दपरिकल्पिता इवादिप्रदेशात्मक विभागाः । अत्रापि बहुवचनमन्तप्रदेशांशु तद्यथाविधु स्कन्धेषु प्रदेशानन्तत्वस्कन्धानाथेम् । स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुध्दपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशा निर्विभागा जगताः, परमाणव इत्यर्थः, स्कन्धप्रदेशाः । अत्रापि बहुवचनं प्रदेशानन्तत्वस्कन्धानाथेम् । (परमाणुपुरुल्ला इति) परमांशु ते अणवश्च परमाणुवो निर्विजानादव्यरुपाः, ते च ते पुरुल्लाश्च परमाणुपुरुल्लाः स्कन्धत्वपरिणामरहिताः केवलाः परमाणव इत्यर्थः । ( ते समासत्रो इत्यादि ) ते स्कन्धाद्यो यथासमन्वं समासतः स्वङ्गेषु पञ्चविधाः प्रकृताः तद्यथा-वर्णपरिणता वर्णतः परिणताः, वर्णभाज इत्यर्थः । एवं गंधपरिणताः, रसपरिणताः, स्पर्शपरिणताः, संस्थानपरिणताः । परिणता इत्यन्तीतकालनिर्देशो वर्तमानानागतकालोपलक्षणम् । वर्तमानानागतवर्तमानानागतत्वस्यासमन्वात् । तथाहि-यथा वर्तमानत्वान्तरातः सोऽस्तीति भवति । वर्तमानत्वं च सोऽस्तु भवति योऽस्तीति त्वमन्तरात्त्वान्तरात् । उक्तञ्च- " भवति स नामानतीति, यः प्राप्नो नाम वचनान्तरम् । एत्थं च न जवति, यः प्राप्यति वर्तमानत्वम् " ॥ १ ॥ ततो वर्णपरिणता इति वर्णरूपतया परिणताः परिणमन्तीति परिणमित्यन्तीति वा द्रष्टव्यम् । एवं गंधरसपरिणता इत्यादि परिणामयनीयम् । प्रह्णा ० १ पद ।

अजीवपरिणाम-अजीवपरिणाम-पुं० । ६ त ० । पुरुलानां परिणामे, "इसविह अजीवपरिणामे पणुत्तं । तं जहा-बंधणपरिणामे, गइयपरिणामे, ठाणपरिणामे, जेवकसरपरिणामे, गंधपरिणामे, फामपरिणामे, अगइयलहुयसहपरिणामे । (बंधणपरिणामादीनां व्याख्याऽप्येव ) स्या ० १ त ० ।

अजीवपाउसिया-अजीवमाद्विपिकी-खी० । अजीवे पापाणादौ स्वाहितस्य प्रह्णापादजीवमाद्विपिकी । स्या ० ३ त ० । अजीवस्यापरि प्रह्णाधाः क्रियाः, प्रह्णचरणमेव वा । प्राह्विक्रियाः क्रियाया भेद, स्या ० ३ त ० ।

अजीवपाउसिया-अजीवप्रातीतिकी-खी० । अजीवं प्रतत्यो यो रागद्वेषाद्भवस्तज्जा यो बन्धाः सा अजीवप्रातीतिकी । प्रातोतिक्याः क्रियाया भेद, स्या ० २ त ० । १ त ० ।

अजीवपुट्टिया-अजीवपुट्टिका ( जा ) ( स्पुट्टिका )-खी० । अजीवं रागद्वेषाभ्यां पुट्टनः स्पुट्टा यो क्रियात्मक, पुट्टिका ( जा ) ( स्पुट्टिका ) याः क्रियाया जेदे, स्या ० २ त ० । १ त ० ।

अजीवमिसिया-अजीवमिश्रिता-खी० । सत्यमृगजंते, यदा यदा प्रभूतेषु मृत्युस्तोक्य जीवन्तु एकत्र राशौ कतेषु शरदादेषु एवं वदति-अदे! महांस मृतोऽजीवराशिरिति तदा सा अजीवमिश्रिता, अस्या अपि सत्यमृगजंते, मृत्युषु सत्यत्वात्, जीवन्तु स्वृत्वात् । प्रह्णा ० १ पद ।

अजीवरासि-अजीवरासि-पुं० । राशिभेदे, स० ।  
 अजीवरासिं दुविधा पञ्चत्वा । तं जहा-रूवी अजीवरासिं,  
 अरूवी अजीवरासी य । से किंतं अरूवी अजीवरासी ॥  
 अरूवी अजीवरासी दसविधा पञ्चत्वा । धर्मत्विकाए० जाव  
 अक्कासपए । रूवी अजीवरासी अणंगविहा ।  
 तत्राजीवराशिद्विधः, रूप्यरूपिभेदात् । तत्रारूप्यजीवरा-  
 शिदेशा-धर्मास्तिकापस्तदेशास्त्यदेशाक्षेति । एवमधर्मोस्तिका-  
 कायाकाशास्तिकायाचपि वाच्यौ । एवं न । दशमोऽज्ञासमय  
 इति । रूप्यजीवराशिभ्यनुर्द्धा-स्फन्धाः देशाः प्रदेशाः परमाणुष-  
 क्षेति । ते च वर्णनधरसपर्यशसंस्थानभेदतः पञ्चविधाः । सं-  
 योगतोऽनक्तिवधा इति । स० ।  
 अजीवविजय-अजीवविजय-पुं० न० । धर्मोऽधर्माकाशकाल-  
 लपुद्गलामानन्तपर्ययात्मकानामजीवानामनुचिन्तने, स-  
 म्भ० ४ ख० ।  
 अजीववेराणिया-अजीववैदराणिका-अजीववैक्यणिका-  
 अजीववैचारणिका-अजीववैतारणिका-स्त्री० अजीवं वि-  
 दारयति स्फोटयति, अजीवमसमानभोगेयु विरुद्धाति, द्वैभा-  
 पिका विचारयानं, पुरुषादिविप्रतारणुक्त्वाऽजीवं भण्यतेना-  
 दशमन्तदिति यस्या तथा । अजीववेदा- ( वैक्य- ) ( वैचा- )  
 ( वेता- ) रणिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ टा० १ उ० ।  
 अजीवमातोवाणवाद्या-अजीवमानतोपतितीर्की-स्त्री० ।  
 कस्यापि रथो रूपवानस्ति, नं च जनां यथा यथा प्रलोकायति  
 प्रशंसति च, तथा तथा तत्त्वानी हृष्यतीति । रथादीं हृष्यतः  
 क्रियात्मकः सामन्तोपनिपातिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २  
 टा० १ उ० ।  
 अजीवसाहस्रिया-अजीवसाहस्रिका-स्त्री० । स्वहस्तगृही-  
 तैवजाजीवन खड्गादिनाऽजीवं मारयति सा अजीवस्वाह-  
 स्तिका, स्वहस्तेनाजीवं ताडयतोऽजीवस्वाहस्तिका । स्वाह-  
 स्तिकाः क्रियाया भेदे, स्था० २ टा० १ उ० ।  
 अजीवपञ्चवाणिकिरिया-अजीवपञ्चवाणिकरिया-स्त्री० ।  
 अजीवपु मयादिषु अत्रत्याख्यानात्कर्मबन्धनरूपेऽप्रत्याख्या-  
 नक्रियाभेदे, स्था० २ टा० १ उ० ।  
 अजीवविभग-अजीवविजगम-पुं० । गुणप्रत्ययाध्या-  
 दिप्रत्ययानः पुण्ड्रास्तिकायाधभिगम, स्था० २ टा० २ उ० । "से  
 किंतं अजीवविभगमं ? अजीवविजगमं दुविधे पञ्चत्वे । तं जहा-  
 रुविअजीवविभगमे य, अरुविअजीवविभगमे य । से किंतं अरु-  
 विअजीवविभगमे ? अरुविअजीवविभगमे दसविधे पञ्चत्वे । तं  
 जहा-धर्मरथिकाए एवं जहा पञ्चवणाए जाव । सत्तं अरुवि-  
 अजीवविभगमे " । जी० १ प्रति० ।  
 अजीवुभय-अजीवोद्भय-त्रि० । अजीवप्रभये, दश० १ अ० ।  
 अजीव-अजीव-त्रि० । युक्तमिष्ये इत्ययं परैरमिष्येते सेव्योऽभिधी-  
 यते । अतो यैति पृथग्भवति इति यु-विचि, ज्ञानसत्त्वाद्  
 गुणात्मानः । न युनयुः । अपृथग्भूते, " चिधोऽयो नः प्रवेदो-  
 यान् " जैनगायत्री ।  
 अजीवभयसा-देशी-अस्मिलकायुके, दे० ना० १ वर्गं ।  
 अजीवभययो-देशी-सप्तच्छन्दनामके वृत्तविशेषे, दे० ना० १ वर्गं ।  
 अजीवो-देशी-सप्तच्छन्दवृत्तविशेषे, दे० ना० १ वर्गं ।

अजुगद्विअ-अजुगद्वित-त्रि० । असमभ्रेणस्थे, "अजुगलत्रिआ,  
 अजुगल, विगहरहिआ वयति पदमं तु " थ० ३ अथि० ।  
 प० व० । अजु० ।  
 अजुसुदेव-अजीणैदेव-पुं० । अज्ञावृद्धीनाऽऽगमनसमयात्वा-  
 म्भाविति जैननन्दभेदे, ती० २० कल्प० ।  
 अजुत्त-अयुक्त-त्रि० । युज्ज-क। न० त० । विषयान्तरसक्त-  
 या कतंयेष्वनयादिते, अजुचिते, अपपत्ते, असंयुक्ते, " अयुक्तः  
 प्राकृतः स्तब्धः " अयुक्तोऽनवहितः । अयोम्ये, बहिमुंखे, युक्ति-  
 शान्ये, अनियोजिते च । वाच० । बुद्ध्या विन्ययमाने अनुपपत्त-  
 क्रमे सूत्रदोषविशेषोपलुष्टे, न० । यथा- " तेषां कटतटवृद्धेयजानां  
 मद्रविन्दुजिः । प्रावसंत नदी घोरा, हृत्सम्भरथावाहिनी " ॥१॥  
 इत्यादि । विशेष० । आ० म० द्वि० । अनु० । वृ० ।  
 अजुत्तकूव-अयुक्तरूप-त्रि० । न० ब० । असंगतरूपे, अनुचित-  
 वेधे, स्था० ४ टा० ३ उ० ।  
 अजूरणया-अजीणैता- (अजूरणता)-स्त्री० । शरीरजीणेत्वाऽ-  
 विधान, पा० । थ० । शरीरापचयकारिशोकाजुत्वाद्यने, " व-  
 हृणं पाणानं जाव सत्ताणं अद्रुकणणयाए असोयणयाए अजूर-  
 णयाए " । म० ७ शा० ६ उ० ।  
 अजोग-अयोग-पुं० न० । शैलेशीकरणे, सकलयोगावप्य-  
 रदिते योगे च । " प्रीतिनाकिकवचोऽस्त्रैः, स्थानाद्यपि चतुर्विधम् ।  
 तस्माद्योगयोगात्मैः क्रियायाः क्रमाद् भवेत् " ॥१॥ अष्ट० २८ अष्ट० ।  
 " तथायोगादागमुक्त्वाद्, भयोपप्रादिकर्मणात् । कथं कृत्वा प्र-  
 यात्युच्चैः, परमानन्दमन्दिरम् " ॥१॥ ज्ञा० २५ टा० । अज्ञसंयोगो  
 योगानां, योगः परं ब्रह्मदत्तः । योगोऽयोजनजावेन, कर्मसंन्यास-  
 त्कृत्यः " ॥१॥ ल० । अद्यापारं, ज्ञा० २५ टा० । असंभवे च । ज्ञा०  
 १० टा० । अज्ञाशस्ये, न० त० । ज्योतिषांके तिथिवादादीनां  
 दुष्टयोगे, " परः ब्रह्मदत्तः, ज्ञानोन्मत्तः भवतो यति । अ-  
 योगोऽपि इत्येते तत्र, सिद्धिद्वयः प्रवर्तते " ॥१॥ राजमार्गप्रः । न०  
 ब० । विधुरे, कूटे, कठिनोदये, सुशुभोके वमनापशमनीये रोग-  
 जेदे च । यत्राभ्याने हृदयप्रहरकृष्णा मूर्च्छां दाहश्च भवति तत्रयो-  
 गमित्याचकृतं. तन्माह वमयदिति । वाच० ।  
 अजोगया-अयोगता-स्त्री० । योगनिरोधोत्तरं शैलेशीकरणात्मा-  
 भवेत्तानायात्मवस्थायात्, श्री० । " योगनिरोहं करेह, करेहत्ता  
 अजोगत्तं पाउरुह, अजोगत्तं पाउणित्ता इंसि रहस्सु " श्री० ।  
 अजोगकूव-अयोगारूप-त्रि० । ६ ब० । अघटमानकं, " अजोग-  
 कूवं इह संजयति, पावं तु पाणानं संस्रकाउं " सूत्र० २  
 थु० ६ अ० ।  
 अजोगि ( ण् )-अयोगिन-पुं० । न सन्ति योगा यस्या । स्था० २  
 टा० १ उ० । बहुव्रीहेर्मत्वर्थीय इति । यथा-सर्वधनी । सर्वध-  
 नादेराकृतिगणत्वात् । दश० । न योगीति वा योऽसाधयो-  
 गी । स्था० २ टा० १ उ० । निरुद्धयोगं, स्था० ४ टा० ४ उ० ।  
 शैलेशयवस्थायम सूत्र० २ थु० ३ अ० । प्राव० । कर्म० । कथमयो-  
 गित्वमसाहुपगच्छतीति वेत् ?, उच्यते-स भगवान् सयो-  
 गिकेवत्री जयन्तोऽन्तमुहूर्त्तमुहूर्त्तदोशानां पूर्वकोटिं विहृत्य  
 कश्चिर्कर्मणां समीकरणायं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनी-  
 याविक्रमायुषः सकारादधिकतरं भवति, अन्यस्तु न करोति ।  
 ( ' केवलिसमुप्राय ' शब्दे वेत्तद् यथाः ) भवत्प्रादिकर्म-  
 क्षणाय लेखयतीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्याने

प्रतिपित्त्युयोगिनोर्धार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं धादरकाययोगेन धादरमनोयोगं निरूपयति, ततो वायुयोगः । ततः सूक्ष्मकाययोगेन धादरकाययोगं, तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्मवायुयोगं । सूक्ष्मकाययोगं तु सूक्ष्मकियमतिवर्ति शुक्रध्यानं ध्यायन् स्वाध्यायमनैव निरूपयति, अन्यस्यावयवमनोवस्य योगान्तरस्य तदाऽसंस्थात् । तदुध्यानसामर्थ्याच्च वेदनादादिविवरणपूर्णं संकचितवेदनिभागावर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तरं समुत्सन्नकियमप्रतिपाति शुक्रध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्जात्तोरुह्रस्वमात्रकालं शैलेशीकरणं प्रविशति । कर्म० २ कर्म० ।

अजोगिकेवलि ( ए )-अयोगिकेवलि-पुं० । अयोगी चाऽसौ केवली च अयोगिकवली । निरुद्धमनःप्रभृतियोगे शैलेशीगते, स० १४ सम० । विगतक्रियानिवर्ति शुक्रध्यानं ध्यातवाध्यायोगिकेवली निःशेषितमलकहोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव ऊर्ध्वगतिपरिणामः स्वाभाव्याविधातप्रदेशप्रदेशशिखावदूर्ध्वगच्छत्येकसमयेनाऽऽलांकात्तात् । सम्म० ४ खं० कर्म० । अयं च शैलेशीकरणं चरमसमयान्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मकल्पनव्यादृष्टसृष्टिकालेपि लिमाधेनिमप्रक्रमपानीतमृत्तिकालेपि-जलनलमयोर्दोषैर्गामि तथाविधाऽलात्तावदूर्ध्वलोकान्ते गच्छति, नापरतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्पं गतुमुपप्रेमकधर्मोस्ति-कायाभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋतुश्रेण्या यावन् स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव प्रदेशादूर्ध्वमवगाहमानो विवर्तितसमयाच्च समयान्तरमसंस्पृश्य गच्छति । तदुक्तमावश्यकचूर्णैः-“जतिप जीवो अखादो तावद्व्याप आखादेष्वपर उर्ध्वं उज्जुगं गच्छद् न वंके वीयं च समयं न फुसइ ति” । दुःपमान्यकारनिमप्रजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः श्रीजिनमद्रगाणिपुण्या अण्वाहुः-“ उज्जुलेदीपडिवयो, समये समयंनरं अफुममराणां । परासमयेण सिउम्हइ, अह सागारेवउत्तो सो” ॥ १ ॥ कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अजोगिकेवलिगुणगण-अयोगिकेवलिगुणस्थान-न० । ६ न० । चतुर्देश गुणस्थानं, कर्म० १ कर्म० । न योगी अयोगी, अयोगी चासी केवली च अयोगिकवली । तस्य गुणस्थानमयोगिकेलिगुणस्थानम्, तस्मिन् वर्तमानः कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्ति ध्यानमारांहेति । आह च-“ स ततो देहत्रयमो-त्तार्धमनिवृत्तसर्ववस्तुगतम् । उपयाति समुच्छिन्नक्रियमनसकं परं ध्यानम् । १ । परमसावर्ण्येनिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्मुदयवानं कर्मोपि तानि स्थितिक्रयणानुभवकृतयति । यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न संभयन्ति तानिवेद्यमानासु प्रकृतिपुस्तितुलकसक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिपतनया वा वेद्यमानस्तावद् याति यावदयोग्यवत्त्वाद्भ्रुकचमसमयेः, तस्मिन्श्च चिच्चरमसमये देवगतिदेवानुपूर्वाश्रयणपञ्चकवधनपञ्चकसंघानपञ्चकसंस्थानपट्टाङ्गोपाङ्गप्रसंहननपट्टवर्णादिविशतितपराधानोपघातागुरुकचूर्णामप्रशस्ताप्रशस्तविद्यायोगनिष्ठारस्थिरभुजाशुभसुरवन्दुःस्वरङ्गपुंगवप्रत्येकान्देवाद्यशः कीर्तिनिर्माणपर्यासकनीचैर्गोत्रसातासातान्यतरागुदितवेदनस्वरूपाणि ह्रिसन्तिसिन्ध्यानि स्वरूपसत्तामिधकृत्य कृत्यमुपगच्छन्ति । चरमसमये स्तितुलकसंक्रमेणोदयवनीयु प्रकृतिपु मध्ये संक्रम्यमानात् । संक्रमञ्च सर्वोऽप्युक्तस्वरूपं मूलप्रकृत्यर्थमिशासु परंप्रकृतिपु उच्यतेः । “मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उच्यतेः प्रकृतीः” इति बचनान् । चरमसमये च सातासातान्यतरवेदनीयमनु-

प्यगतिमनुप्यानुपूर्वमनुप्यापुःपञ्चेन्द्रियजातिवस्तुनागाद्येषु-शःकीर्तिपर्याप्तवाद्दार्थिकैर्बौर्गैर्भूकृपाणां प्रयोदशप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः । अथै पुनराहुः-मनुप्यानुपूर्व्यां द्विचरमसमये व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तितुलकसंक्रमाभावात् स्वस्वरूपं चरमसमये दलितं दृश्यत एवेति युक्तं-स्तानां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्व्यानां तु अनुपूर्वामपि क्षेत्रवियपकतया प्रयापनराज्ञगतात्परोदयः, तेन भवस्थस्य तदुदयसंभवः, तदसंनवाध्यायोग्यावस्था द्विचरमसमये एव, मनुप्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति तन्मतेन द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः, चरमसमये द्वादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये केशवधर्मोक्तलक्षणसहकारिसमुत्पत्त्यजावपिशोषादेरगुरुफलमिव भगवानपि कर्मसंबन्धनिर्मातृलक्षणसहकारिसमुत्पत्त्यसंभावाविशोषादुर्ध्वं लोकांते गच्छति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋतुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव वेदशानुर्ध्वमप्यवगाहमानो विवर्तितसमयाध्यान्यत्ममयान्तरमस्पृशन् गच्छति । वक्तुः-चाऽऽवदयकचूर्णौ-“जतिप जीवो अखादो तावद्व्याप आखादेष्वपर उर्ध्वं उज्जुगं गच्छद् न वंके वीयं च समयं न फुसइ ति” तत्र च गतः सन् भगवान् शाश्वतं कालमवतिष्ठते । पं० सं० १ द्वा० ।

अजोगिजन्त-अयोगिजन्तवस्थ-पुं० । अयोगी चासी भवस्थ-अयोगिमवस्थः । शैलेश्वयस्थापुणगे, न० ।

अजोगिजन्तकेवलिगण-अयोगिजन्तकेवलिज्ञान-न० । ६ न० । शैलेशीकरणमध्यस्थितस्य केवलिज्ञानं, न० । (‘केवलनाय’ शब्दे व्याख्याऽस्य उच्यते )

अजोगिसंतिगा-अयोगिसत्ताका-खी० । अयोगिकेवलिनि सत्ता यासां ता अयोगिसत्ताकाः । चतुर्दशगुणस्थानिनि लभ्यसत्ताकासु प्रकृतिपु, पं० सं० १ द्वा० ।

अजोग-अयोग-पि० । अनुवृत्ते, पञ्जा० १० विव० ।

अजोगिजन्त-अयोगिजन्त-न० । विश्वस्तयोर्नी प्ररोहासमर्थे, दश० ।

अजोगिय-अयोगिनिक-पुं० । न० वा । सिक्के, स्था० २ उ० १ उ० । अजोगिय-अनुवृत्-त्रि० । असंविने, “जे विषयणा अजोसिवा” सूत्र० १ ४२२ अ० १ उ० ।

अज-अन-धा० । प्रतियोगे । श्वादि०, पर०, सक०, सद्-“अजं-वित्तवः” = १ । ३० । इति प्राकृतमूषेण विदवादेशानात्, अजइ, अजैति । आनजं । आजीतं । प्रा० । अजिउजइ, अ-अयंते । प्रा० । अजं संस्कारं, चुग०, उज०, सक०, सेट् । अजयंति-ते । आजीजन्त- । “अनुपपन्नं पितृद्वयं, अमेण यदुपा-ज्येत्य” स्मृतिः । वाच० ।

अज्ञ-वि० । न० त० । “ज्ञो अः” = १ । २ । ३ । इति अज्ञोपे द्वित्वं जस्य । ज्ञानरहितं मूर्खं, प्रा० ।

अद्य-अद्य० । अस्मिन्नहनि इदंशब्दस्य निपातः समर्थ्यं । उक्त० २ अ० । सूत्र० । वर्तमानदिने, नि० च० ए० ३ । “अज्ञो ! आ-उज्जम् सफलं ज्ञो” प्रा० । अद्यतया वाऽभुजानततया धर्मनाशकाल इत्यर्थः । अ० १४ श० ए० उ० । वैजानपर्यवतयाऽप्रत्ययह्रस्वः, पुं० । प्र० २ श० ४ उ० । अज-न० । अस्य जायते । जन्-७ । उ० । पदम्, सङ्घे, पुं० न० ।

निवृत्तबुद्धे, तस्य जलप्रायजत्रयात् तथात्वम् । चन्द्रे, धन्वन्तरी च ( पुं० ) तथाः समुद्रजातवान् तथात्वम् । चन्द्रनामकं कर्पूरे, पुं० । जलजातमात्रं, ( त्रि० ) वाच० । दशार्बुदसंख्यायां, शतकोटिसंख्यायां, तत्संबन्धे च ( न०. ) कल्प० ।

आर्य्य-त्रि० । आर्य्य-यत् । "आर्य्यः स्वामिदैवशयोः" ३ । १ । १०३ । इति पाणिनिस्मृत्यात् स्वामिनि दैवेषु च वाच्ये एततोऽपवाद्यो वत् । स्वामिनि, म० ३ शृ० २ उ० ।

आर्य्य-त्रि० । आरात सवर्धेयधर्मज्यो यातः प्रातो गुणैरित्यार्य्यः । प्रह्ला० १ पद । न० । आच० । पापकर्मबहिर्भूतत्वेनापापे, स्था० ४ ग० २ उ० । न० । साचो, कल्प० ७ । "भगवात्यियजज्ञानं, आस- ह्यु सवर्धु वा " दश० ६ अ० । आरिचार्धे, आचा० १, ७७० अ० २ उ० । आर्य्यकर्मकारिणि अज्जुप्लितकारिणि, श्व० ११ अ० सुजने, वृ० १० । आमन्त्रणे आर्य्यशब्दप्रयोगः । "अज्जोः सामाद्यं जाणामा" हे आर्य्ये ।, आकारान्ता सम्बोधनं प्राकृतत्वात् । म० १ शृ० ६ उ० । "एस्यं अज्जो कहं दे वासुदेवे" अज्जोति आमन्त्रणवचनम् । भगवात् महावीरः किञ्च साधूनामन्त्रयति-हे आर्य्योः । स्था० ६ उ० । "अज्जोति समणे जगवे महावीरे गोयमाइसमणे णिमग्गे आमतिपा एवं वयासी" । स्था० ३ ग० २ उ० । मातामहे, ( नि० ) पितामहे, श्लो० ८ अ० । गात्रप्रवर्तकं श्रुतिभेदे, पुं० । यदुगोत्रं जीतधरः, "वंदे संसिद्धं अज्जजीतधरं" शाबिडल्यस्यापि शिष्य आर्य्यगोत्रो जीतधरनामा स्मृतिरसीत् । न० ।

अज्जसिवाश्रिय-आर्य्यपिपालिन-पुं० स्त्री० । आर्य्यशान्तिधेनिकस्य मातृसंगोत्रस्य चतुर्थे यथापत्ये अन्नेवासिनि, कल्प० । आर्य्यपिपालिताश्रित्यायां शाखायाम्, स्त्री० । "धेरोहिंते अज्जसिवाशिपहिंते इत्यं णं अज्जसिवाश्रिया साहा णिमाया" । कल्प० ।

अज्जउत्त-आर्य्यपुत्र-पुं० । १६ त० । अपापकर्मवतोमातापिथाः पुत्रे, स्था० ८ ग० ।

अज्जअ-देशी-सुरसगुरेयोस्सुणजेदयोः, दे० ना० १ वगं ।

अज्जकह-आर्य्यकृण-पुं० । विगम्बरमनप्रथतकस्य शिवचतुर्दशैरी, आ० म० ह्रि० । उत्त० । विशे० । आ० श्रु० । ( 'बोमिन्' शब्दे किञ्चित् विशेषं वक्ष्यामः )

अज्जकम्म-आर्य्यकर्म-न० । आर्य्य दैवधर्मज्यो मृगंसतादिज्यो वृत्त्यातं कर्म । शिष्टजनोचिते अज्जुत्तने, " जहं संमि भोग वसहं असतो अज्जार्हं कम्मार्हं करेह रायं" उत्त० १३ अ० ।

अज्जकालग-आर्य्यकाल-पुं० । स्वातिसिष्ये हातीतगोत्रे श्यामार्थापरनामके आचार्य्ये, न० । 'सम्मवाय' शब्देऽस्य तत्कारित्वं कृष्टव्यम् ) आ० म० ह्रि० । आ० श्रु० ।

अज्जसउद-आर्य्यखण्ड-पुं० । विधासिसे आचार्य्यभेदे, आ० म० ह्रि० । आ० श्रु० । ( 'विज्जालिक' शब्देऽस्य वक्तव्यता )

अज्जग-आर्य्यक-पुं० । पितामहे; श्व० १ उ० । श्लो० । आ० म० प्र० । "अज्जए पज्जत्र वासि वण्णुत्त पिउ त्तिय । मात्तला भा- इण्णं त्ति पुत्तो नत्त पत्तिसि " १ । १ । दश० १० ।

अज्जपञ्चपिउपज्जयागव य बहुरिरणणे य सुवणणे य' म० ६ शृ० ३३ उ० ।

आर्य्यक-पुं० मृत्युने, नि० श्रु० ११ उ० ।

अज्जगंग-आर्य्यगङ्गा-पुं० । द्वैकियनिह्वयमतप्रवर्तके निह्वाऽऽचार्य्यभेदे; "उल्लुकातीरक्रेत्रे महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम । ह्रस्वापि शिष्य आर्य्यगङ्गा नामाऽऽचार्य्यः । श्रयं च नद्याः पृथ्वेत्त, तथा-ऽऽचार्यास्त्रपरतरे । ततोऽयदा शरत्समये स्मृतिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गाद्वीपुत्तरे ति स्म । स च खलावटः । तत्सत्स्योप- रिष्ठादुभयं न दृश्यते स्य अहोहि, अथस्तासु नद्याः प्रातःपुनश्चैव शिष्यमुत्पद्यते स्म । ततोऽप्यन्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोद- यादसी चिन्तितवान्-अहो! त्स्विकान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभवः किल निषिद्धः । अहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैष्यमौप्ययं च वे- क्षि । अतोऽनुजयविरुक्तत्वाभेदमागमोक्तं शोचनमाभातीति वि- चिन्त्य गुरुज्यो निवेदयामास । तनस्त्वैवैह्यमाणगुणिकमिः प्रहा- पिताऽसी यदा स्वाप्रहस्तस्तुद्विस्वात्त किञ्चित्प्रतिपद्यते स्म, तदा उद्घाष्ट्य बाह्यः कृतः । स विह्वरं राजपृथुनगरमागतः । तत्र च महातपस्वीरत्नप्रभवनाभिन्न प्रपन्नो मणिनागमार्तो नागस्य वैश्वस्येव स्मिति । तत्समीपे च स्थितो गङ्गाः पर्यटुःसरं युगपत्क्रि- याद्वयवेदनं प्रकृत्यति स्म । तत्र श्रुत्वा प्रकृपितो मणिनागस्तम- बादीत्-अरं तुष्ट शिष्यक ! किमयं प्रहापयसि, ? यतोऽपिच प्रदे- श्च समवसुनेन श्रीमद्दुर्द्धमानस्वामिना एवमात् एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियायावेदनं प्रकृपितम् । तच्चेद स्थितेन मयाऽपि श्रुतम् । तर्हि ततोऽपि लक्षणः प्रकृपको ज्ञान । यथैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्रकृत्यति ?; नत्पत्स्यजैनां कृत्प्रकृपणामः श्रयश्चा नाशयिष्या- मीत्यादि । न कृतत्रयकार्य्येकियचर्चनं अत्र प्रकृतोऽसी मिथ्यादुष्कृत- दत्त्वा गुह्यमलं गवा प्रतिज्ञातं इति । अत्र ज्ञाप्यम्- "नमस्तु- गमुत्तरतो, सपरस्ये जत्रमज्जगमस । सुराजितपासिसेतो, उ- सिणयेयणोपयउ लमाहो ? ! । ( अ ) यमसामाहो जुगधे, उजयकिरि- याय उवभोगो त्ति । जं देवि समयमेव च, सीश्रोसिणवेयणाओ मे " । २० । गतां व । विशे० । ( 'दोकिरिय' शब्दे पतन्मतम् )

अज्जोस-आर्य्यपोष-पुं० । पार्थिवतास्य द्वितीये गणधरे, स्था० ८ ग० । कल्प० ।

अज्जचंद्णा-आर्य्यचन्दना-स्त्री० । भगवतो महावीरस्य प्रथम- शिष्यायाम्, कल्प० । आ० श्रु० । आ० म० प्र० । अन्त० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्-

" इतश्च नगरी चम्पा नरेन्द्रो दधिवाहनः । तामादात् शतानीको, नैसिन्येन स्म गच्छति । २४ ॥ निशेकया गतश्चम्पा-मवेद्यदक्षिणित्नाम् । चम्पापतिः पशाघ्न, तदानीं दधिवाहनः । २५ ॥ यद्गृहाहो घोषितस्तत्र, शतानीकमहीतुञ्जा । तदानीकमद्राक्षस्यो, स्वेच्छया मुमुक्षुस्ततः । २६ ॥ औष्टिकः कोऽपि जग्राह, दधिवाहनवज्रनाम् । वसुमत्या समं पृथ्या, वदयन्तीं धारिणीं तदा । २७ ॥ कृतकृत्यः शतानीका, निजं नगरमागत । औष्टिकोऽप्याह शोकानां, पन्थेयां न भविष्यति । २८ ॥ विक्रमे कन्यका चैतां, राज्ञी भुवेति नुःखिना । मृता हृदयसंघट्टात्, स्वशीलम्रशशङ्कया । २९ ॥ दधिवानोष्टिकोऽथा-स्तयुक्तं नोकमिदं मया । सुताऽथ रुदतीं तन, नीता संबोधय द्वाष्टिभिः । ३० ॥ चतुस्पथेऽथ विक्रते, दत्त्वा मूर्ध्नि नृणं धृताम् । कन्यामनन्यसामान्यां, दृष्ट्वा अष्टी अनायतः । ३१ ॥ दधौ राज्ञः सुता कस्या-पीश्वरस्यापवा जनेव् ।

तन्माऽऽपदापदमसौ, कापि हीनकुलं गता ॥ ३३ ॥  
 बाधेयं स्वजनैर्जातु, मिलेदस्मत्पुत्रे स्थिता ।  
 पर्याथितमथ रूपे, दत्त्वा तामप्रदंशिवः ॥ ३३ ॥  
 नीत्वा सा स्वयगृहं पुष्टा, कथं ? काऽसीति नावदत् ।  
 सुतेत्यथ प्रपन्ना सा, श्रेष्ठिना मूलयाऽपि च ॥ ३४ ॥  
 विश्वस्र स्वेच्छया श्रेष्ठिभेदे स्वे वंशमनीय सा ।  
 सुयागृहिनियशीलाथ-गृहलोका यशोऽकृतः ॥ ३५ ॥  
 स लोकास्तौ तनोऽवादीतु, तेषुणश्चम्यन्तेत्यसौ ।  
 ततोऽपिनीयमैतन्नामाऽऽशुद्धिर्ध्यायश्चम ॥ ३६ ॥  
 श्रेष्ठिभ्य-यदा मध्यमाह, श्रेष्ठौ मन्दिरेमागमत् ।  
 काऽप्यङ्किकाहको नासत्, तदाऽऽदीकित चन्दना ॥ ३७ ॥  
 श्रेष्ठिना चार्थमाणाऽपि, ब्रह्मादङ्कावयत् पदौ ।  
 क्वावयत्यास्तदा तस्याः, वृदिता केशवल्ली ॥ ३८ ॥  
 पतन्ती पाणियथैव, कृत्वा श्रेष्ठौ बबन्ध ताम् ।  
 साक्षात् मा पतेद् भूमौ, मूलैकत गन्धकामा ॥ ३९ ॥  
 अचिन्त्यततो मूला, मया कायं विशानितम् ।  
 यदेतामुद्धेत् श्रेष्ठौ, तदाऽहं पतिता बहिः ॥ ४० ॥  
 ध्याधियावसुकुमार-स्तावदेते दिनप्रथमम् ।  
 गते श्रेष्ठियथाऽऽहूय, नापिते ताममुण्डयत् ॥ ४१ ॥  
 निगदयन्प्रयित्वाऽऽश्रेष्ठौ, किंसा कापि गृहाम्तरं ।  
 श्रेष्ठिनोऽवारि कथयन्, सचेः परिजनेऽनया ॥ ४२ ॥  
 मूला मूलगृहे ऽयासौ, भोक्तुं श्रेष्ठौ गृहऽऽगतः ॥ ४३ ॥  
 एव चन्दनेति प्रयच्छ, मूलाभितो न काऽऽयच्छ ॥ ४३ ॥  
 सोऽज्ञासाक्षममाणा सा, भविष्यत्यथवापरि ।  
 पृष्ठा निययपि नाऽऽख्याता, हाने सुप्ता भविष्यति ॥ ४४ ॥  
 तृतीयेऽप्यह्नि नादृशि, तृतीयेऽप्यन्येन हृद्ये ताम् ।  
 क्वच श्रेष्ठौ न यो जानानाख्याता स चान्दयच्छ ॥ ४५ ॥  
 ततः स्थाविरया दास्ये-कया मज्जीविनेन सा ।  
 जीवन्वित्याचक्षेऽस्य, चन्दनाचारकक्षियाम् ॥ ४६ ॥  
 ह्यदा तात्रक भङ्गत्वा, तदङ्गारमुदघाटयन् ।  
 क्षुत्पुयासौ निरङ्कितेता-माश्वस्याथ घनावहः ॥ ४७ ॥  
 पश्यन्, भोज्यं कृते तस्याः, नापश्यत् किंचनापि सः ।  
 कुलमापान् दीप्य दत्त्वाऽऽस्ये, सृपेकोणं निधाय तान् ॥ ४८ ॥  
 निगदानां भञ्जनाया-ऽगताकर्मोर्गृहं स्वयम् ।  
 तदा सा कुलमस्मार्यीद, दुःखपूरणं दुःखिता ॥ ४९ ॥  
 क मे राजकुले तादृश, दुर्दशा कैयमोक्षिणी ? ।  
 किं मया प्राक् कृतं कर्म, विपाकोऽयं यतोऽभवत् ? ॥ ५० ॥  
 श्रीकृतिस्त्रिासनस्यारि, तपसः पारश्यादितं ।  
 साधर्मिकाणां वान्सन्धं, कृत्वा पारणकं व्यधाम ॥ ५१ ॥  
 कस्याप्यदत्त्वा किमपि, पठं पारणकं कथम् ? ।  
 अश्रमासीत्तथैर्मार्गं, पश्यन्त्याऽऽस्तेऽस्ति सा न तु ॥ ५२ ॥  
 मय्येऽह्निमकं देहत्वाः, बहिष्कृत्या छिन्नीयकम् ।  
 द्वारशास्त्राविलग्नऽऽस्ते, रुदती मन्दमुन्मना ॥ ५३ ॥  
 तदाऽन्नागदगवान् वीरो, भिक्षार्थं तमवेधय सा ।  
 अहो ! पात्रं मया प्राप्तं, किञ्छिन्नयुग्ं ममास्थयि ॥ ५४ ॥  
 नोचितं वः प्रभो ! देयं, परं कृत्वा रुपां मयि ।  
 कल्पते चेदाददोषं, भ्रातृऽऽयाधोधना प्रभुः ॥ ५५ ॥  
 पुण्योऽद्याभिप्रह इति, पाणिपात्रमधारयत् ।  
 कुलमापान् वदौ सर्वान्, धर्मं मत्वाऽतिभक्तितः ॥ ५६ ॥  
 साक्षाद्दशकोट्यस्तु, पतन्त्यस्य तद्गृहं ।

बलात्सपः पुष्पगन्ध-हृष्टयो दुन्दुभिष्वनिः ॥४७॥  
 केशपारास्तेयैवाभू-स्त्रिगडानि व पादयोः ।  
 स्वर्णपुत्रना भेत्तु-वैपु कान्तिनैवाऽभवत् ॥४८॥  
 तत्तणागाब्धनना चके, सुदुरैः सर्वाङ्कमुपिता ।  
 आययौ देवघाट शक्रः, प्रमोदभरनिर्भरः ॥४९॥  
 दुन्दुभिष्वनिमाकर्ष्ये, भ्रातृवा पारणकं प्रभोः ।  
 शानतीकः सपत्नीको-ऽप्यागमदहनधर्मनि ॥५०॥  
 घाट्यानांतः संपुलोऽभूद्, दृधियाहनकञ्चुकी ।  
 सोऽप्यागात् तत्र तां वीष्य, तद्दुष्करोः प्रणियन्त्य च ॥५१॥  
 मुककण्ठं वदन् सोऽथ, कैपत्यप्रच्छिन्न भूमुजा ? ।  
 सोऽप्यक चम्पेशपुत्रीयं, वसुमन्यभिधाननः ॥५२॥  
 तादृश्यपि कथं प्रेष्य-भावं प्राप्सिति रोहितम् ? ।  
 मृगावती तदाकरयौ-बोधन्मऽसौ स्वसुः सुता ॥५३॥  
 अन्त्याऽपि सपत्नीक-स्तेनैस्त्वावन्दत् प्रभुम् ।  
 पञ्चाहन्त्यनवरामास्याः, कृत्वा पारणकं प्रभुः ॥५४॥  
 निययौ कनक युक्त्वा, भूपः शक्येण वारितः ।  
 यस्मै दास्यत्यसौ स्वर्ण-भेतनस्य भविष्यति ॥५५॥  
 सा पुष्ठा मत्पितुः स्वर्णं, ततः श्रेष्ठौ तदाददे ।  
 शक्याऽभाणि राज्ञाऽथ, स गोत्या चन्दना त्वया ॥५६॥  
 आश्वाभिधानमेया यन्, शिष्याऽऽता भावितौ प्रभोः ।  
 चन्दनाऽस्याहृते गच्छ, शक्राटाः स्याद्वयं युयुः ॥५७॥  
 लोकनिष्ठाऽञ्जणवल्गा, स्तुता चन्दनया पुनः ।  
 दुर्दशैवं न चन्मं स्यात्, कथं स्यात्पारणा प्रभोः ? ॥५८॥  
 धन्याऽहं कृतपुण्याऽहं, पारणाकारणात् प्रभोः ।  
 बभूव दुर्दशाऽपीयं, मम सर्वोत्तमा दशा ॥ ५९ ॥ अ० क० ।  
 स्यात् । अनर्थेव कालो-अन० ८ ८००) देवानन्दप्रभुनयः प्रवा-  
 जितः । अ० ए श० ३३ उ० । उपालम्बेन, दृश० १, अ० ।  
 अञ्जनेपु-आर्येज्यम्-पुं० । सुधर्मस्वामिन-शिष्यं, " अञ्ज-  
 ढम् अक्षवासी अञ्जनेपु जाव पञ्जनासति " अन्तः १ वग्ं ।  
 अञ्जनेपुवर्णा-आर्यियक्षणा-अ० । अरिष्टेनः प्रथमशि-  
 प्यायाम, कल्प० ।  
 अञ्जनेपुत-आर्येज्यन्त-पुं० । आर्येज्यसंनस्य तृतीय शि-  
 ष्य, कल्प० ।  
 अञ्जनेपुतं-आर्येज्यन्ती-स्त्री० । स्थविरादाव्येयधार्मिणी-  
 तायां शास्त्रायाम्, " धेरहितेनां अञ्जनेरहितेनां णं इत्य णे अ-  
 ञ्जनेयते" साहा णिगया " कल्प० । आर्येज्यना(रुमेतायां  
 शास्त्रायां वः " धराश्रो अञ्जनेयताश्रो अञ्जनेयते" साहा  
 णिगया" । कल्प० ।  
 अञ्जनेपु(ह) र-आर्येजीतुधर-पुं० । आरामस्वर्धेयधर्मभ्यो-  
 ऽवाम् यानमात्यं, जीनमिति मृत्रमुच्यते । जीनं, स्थितिः, कल्पः,  
 मर्यादा, व्यवस्था, इति हि पर्यायाः । मर्यादाकारणं च मृत्र-  
 मुच्यते । ' भूष्य धारणं ' धियने, धारयतीति या धरः । लिहादि-  
 न्य इत्यन्वयः । आर्येजीनस्य धर आर्येजीनधरः । मृत्र-  
 समग्रं, आर्येक्षासौ जीतधरः । आर्येगोत्रे शागिडव्यदिष्यं  
 जीतधरनामकं मूर्ति, " वंदं कान्तियुग्ं, मन्दिञ्च अञ्जनेयधरं "  
 इत्यत्राऽऽर्येजीतधरशब्दस्य प्रदक्षितार्थव्यपश्यतया व्याख्या-  
 नात् । न० ।

अञ्जण-अनेन-न० । अर्जे-व्युद् । प्रदणे, विणे० ।

आव० । सम्पादने, स्वामित्वसंपादकं व्यापारभेदे च । वाच० ।  
अज्जणकखच-आर्यनकृत्र-पुं० । आर्यनकृत्र शिष्ये, कल्प० ।

अज्जणोदित-आर्यनन्दिल-पुं० । आर्यनन्दिलः शिष्ये आर्यना-  
महस्तिगुरौ,

नागार्थिम् दंसणम्मि य, तव विणायणरुचकालमुज्जुत्तं ।

अज्ञानदिल्लवमणां, सिरसा वंदे य संतपणां ॥

आर्यमङ्गोरपि शिष्यमार्थनन्दिलकृपणं प्रमत्तमनसं शर्मरि-  
द्विष्टान्तःकरणं शिरसा वन्दे । कथं नूतमित्याह-होन धुतङ्गा-  
नदशेन, सम्यक्च, चराध्याम्भादित्रे च, तथा तपसि यथायो-  
गमनशानादिरूपे, विनये ज्ञानविनयादिरूपे, नित्यकालमुपेकसप्र-  
मादिनम् । न० । अनेनैवाथमन्दिलेन धरणेन्द्रपन्थ्या नागस्त्रया  
‘नमिज्जण चि’ शब्दादि स्तोत्रं कृतम् । जै० इ० ।

अज्जणगइल्ल-आर्यनागिण्डा-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य प्रथमेऽन्ते-  
वासिनि, कल्प० ।

अज्जणगइला-आर्यनागिला-स्त्री० । अर्यवज्रसेनागिलाभि-  
गतायां शास्त्राद्याम्, “ धराश्रो अज्जणाइलाश्रो अज्जणाइसा सा-  
टा णिग्गया ” कल्प० ।

अज्जणगइल्लो-आर्यनागिद्वी-स्त्री० । आर्यवज्रसेनाभ्रिगतायां  
शास्त्राद्याम्, “ धेरंहितो अज्जवहरसेणिएहिंतो इथयं अज्ज-  
णाइल्लो साटा णिग्गया ” कल्प० ।

अज्जणित्ता-अर्जेयित्ता-अव्य० । उपाहायत्यर्थे, “ एतन् दुक्खं  
भवमज्जणित्ता, वेदंति उक्खी तमणंउक्खं ” सुत्र० १ अ० ५  
अ० २ उ० ।

अज्जणत्तम-आर्यतापम-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य चतुर्थेऽन्तेवा-  
सिनि, कल्प० ।

अज्जतावसी-आर्यतापमी-स्त्री० । आर्यतापसाक्षिःस्तनायां  
शास्त्राद्याम्, “ धराश्रो अज्जतावसाश्रो अज्जतावसी साहा णि-  
ग्गया ” कल्प० ।

अज्जत्ता-अद्यता-स्त्री० । वनेमानकालतायाम्, “ अज्जका-  
लिना अज्जत्तया वा ” कल्प० ।

आर्यत्ता-स्त्री० । पापकर्मधारिभूततायाम्, “ जे इमे अज्जताए  
खमणा णिग्गया विहरति ” अष्ट० २ अष्ट० कल्प० । अ० ।

अज्जणुत्तमइ-आर्यसंयुक्तमइ-पुं० । आर्यसेनं नूतविजयस्य शि-  
ष्यं मद्भागारसुहस्तिनेगुरौ, कल्प० । आद्य० ।

अज्जणुदित्त-आर्यदत्त-पुं० । पारश्वनाथस्य प्रथमगणधरे, स० ।

“पाससत अज्जादेणो पढमो अठव गणहरा ” ति० । इन्दु-  
त्तस्य कायपनाथस्य शिष्ये च । तस्य शान्तिश्रेणिकः सिह-  
गिरिश्च । कल्प० ।

अज्जणुदित्त-आर्यदिक-पुं० । आर्यदिकनामिण शिरशिष्ये, (‘अद्य’  
शब्दे कथा वास्य ) सुत्र० २ अ० ६ अ० ।

अज्जधम्म-आर्यधर्म-पुं० । आर्यमङ्गैः शिष्ये ऋतुगुप्तगुरौ, “ वं-  
वामि अज्जधम्मं, तत्सो वंदे य ऋतुसे य ” न० । आर्यसिंहस्य  
शिष्ये आर्येशानिरुद्वयस्य गुरौ, कल्प० ।

अज्जपत्तम-आर्यपत्तम-पुं० । आर्यवज्रस्य शिष्ये द्वितीये, कल्प० ।

अज्जपत्तमा-आर्यपत्ता-स्त्री० । आर्यपत्ताश्चिन्मिःस्तयायां शा-

खायाम्, “ धेरंहितो अज्जपत्तमहिंतो इथयं अज्जपत्तमा साहा  
णिग्गया ” कल्प० ।

अज्जपुंगुत्त-आर्यपुंगुत्त-पुं० । बौद्धपरिभाषितेषु बाह्यार्थानावात्त-  
केवलतुच्छात्सु अर्थेषु, अने० ४ अर्थि० ।

अज्जपुसगिरि-आर्यपुष्पगिरि-पुं० । आर्यस्यस्य शिष्ये, कल्प० ।

अज्जपोमिल-आर्यपोमिल-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य द्वितीये शि-  
ष्ये, कल्प० ।

अज्जपोमिला-आर्यपोमिला-स्त्री० । आर्यपोमिलाकिंगताया  
शाखायाम्, “ धराश्रो अज्जपोमिलाश्रो अज्जपोमिला साहा णि-  
ग्गया ” कल्प० ।

अज्जपुभव-आर्यपुभव-पुं० । आर्यजम्बूनाम्नः काहयपगोत्र-  
स्य शिष्ये, कल्प० । (‘पभव’ शब्दे वक्तव्यता वास्य )

अज्जप्पनिद-अद्यपत्तुति-अव्य० । इतो वसैसावदिनादार-  
ज्यत्यर्थे, “ सो खहु अंत । कल्पइ, अज्जप्पनिद अन्नवत्थियां  
वा ” उपा० १ अ० प्रीति० ।

अज्जफग्गुमित्त-आर्यफल्गुमित्त-पुं० । आर्यपुष्पगिरिः शिष्ये  
आर्यधनानिपेयुदौ, कल्प० ।

अज्जम ( ण )-अर्यमन्-पुं० । अर्यं श्रेष्ठं मिमीते । मा-कनिन् ।

मूर्त्यं, आदिज्येदे, गितुणां राजनि, वाच० । अयंमनामके देव-  
विशेषः, जे० ७ वक्त्र० । अतु० । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रव्यायामा दि-  
वनेति । ज्यो० ६ पाठ० । अयंमदेवोपक्रान्ति उत्तरफाल्गुनीन-  
क्षत्रे, ज्यो० १५ पाठ० । ख० प्र० । सू० प्र० । ग० । “ दो अज्ज-  
मा ” स्थाने २ उपा० ३० ।

अज्जमंगु-आर्यमङ्गु-पुं० । आर्यसमुच्चस्य शिष्ये,

भूएणं करणं ऊणणं, पभावणं णाएदंसणुणाएणं ।

वंदामि अज्जमंगं, सुयसागरपारं धीरं । ३० ॥

जणमिथ्यादि । आर्यसमुच्चस्यापि शिष्यमार्थं भुङ्क्ते । किन्तु-  
तमित्याह-नेणकं कालिकादिस्तुभामनवरत्नं भणति प्रतिपाद-  
यतीति भणः, भण एव भणकः । “कथं” इति प्राकृतकृष्णसू-  
त्रात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तम । तथा कारकं कालिकादिस्तुभोक्तमेवा-  
पधिप्रत्ययेकृष्णादिकृष्णिकाकार्त्वापे करोति कारयतीति वा कार-  
कः, तम । तथा प्रभेभ्यान् ध्यायतीति ध्याता . न ध्यातारम् ।

इह यद्यपि सामान्यतः कारकविशेषेन ध्यातारमिति वि-  
शेषणं गतार्थम्, तथापि तस्य विशेषतोऽभिधानं ध्यानस्य प्रधा-  
नपरलोकाङ्कताख्यापनार्थमिति । यत् एव जणकं कारकं ध्यातारं  
वा, अत एव प्रभावकम् । ज्ञानदेशेनगुणानाम्, पकमइए तज्जाती-  
यग्रहणमिति न्यायात् चरणगुणानामपि परिग्रहः । तथा धिया  
राजतं इति धीरः, तम । तथा श्रुतसागरपारम् । न० । “तेन प्र-  
माद्वानिलोभोतो यक्त्वं नाधासम् ” ध० २० ।

इह अज्जमंगुसुरी, ससमवयरसमयकणयकसवइ ।

बहुभासत्तुत्तसुस्त्-ससिस्ससुत्तत्थदणपणे ॥ १ ॥

सज्जम्भदसणाए, पमिबोहियज्जियेयत्थेयत्थेदोहो ।

कइया वि विहारणं, पत्था मइरुइ नयरीए ॥ २ ॥

सो गटपमयायपिसाय-गहियहियेया विमुक्कतववरणे ।

गारवतिगपकिञ्चो, सइत्तु मसत्तज्जुत्ता ॥ ३ ॥

अणववरवभत्तत्तपि-अनाएरुइरत्तवत्थेयेणेण ।

सुत्था तहिय चिरं, दुणज्जयउज्जुयविहारो ॥ ४ ॥

दइसिदिल्लयसाम्भो, निस्सामभं पमायमचइत्ता ।  
 कालेष मरिय जाओ, जक्को तथेष निदमणे ॥ ५ ॥  
 मुणिसं नियमाणेणं, पुब्बनवं तो विचित्तए पयं ।  
 हा हा पाबेष मप, पमायसयसत्थिक्खेण ॥ ६ ॥  
 पक्किपुब्बपुब्बममं, हागबहदं महानिहाणं व ।  
 सत्तं पि जिनमयमिणं, कइं तु विदइत्तमुपणीयं ? ॥ ७ ॥  
 माणुस्सक्खित्तजाई-पमुइं अत्तं पि धम्मसाममिं ।  
 हा हा पमायनत्तं, इत्तो कत्तो लहिस्सामिं ? ॥ ८ ॥  
 हा जीव ! पाव तइया, इधुरिस्सारावाण विरस्सत्तं ।  
 सुत्तयजाणणेण, वि, इयासन्नु लक्खिअयं तइया ॥ ९ ॥  
 अउत्तपुब्बधरा वि हु, पमायओ अति णत्तकापसु ।  
 पयं पि इ हा हा पा-वं जीवनत्त तया सखियं ॥ १० ॥  
 थिअं महसुइमत्तं, थिअं गारवपमायपडियममं ।  
 थिअं परोपसत्त-व्यहाणपक्किस्सवमत्तं ॥ ११ ॥  
 एवं पमायउत्थिल्ल-सियं नियं जायपपरमनिव्हेओ ।  
 निदंतो दिवसाइं, गमेइं सओ गुणक्खिउ व्व ॥ १२ ॥  
 अइ तेण पपेसेणं, विचारपुत्तमीइं गच्छमाणो ते ।  
 दण्ण नियविशेषे, तेसिं पक्किवहणनिमित्तं ॥ १३ ॥  
 जक्कपभिमामुहाओ, इहीं निस्सारिअं जिमो जीइं ।  
 तं च पओइय मुणियो, आसओहोउ चय यतिं ॥ १४ ॥  
 जो कोइ इत्थं देवो, जक्कओ रक्खो व किनरो वा वि ।  
 सो पयमं चिय पणजउ, न किपि पयं वयं मुणिमो ॥ १५ ॥  
 तो सविस्सायं जक्कओ, जपइ ओ भो तवस्सिणो ! सोहं ।  
 सुइ गुरु किरियाय, सुपमत्तो अज्जमंगु सि ॥ १६ ॥  
 तहइ दि वि पडिअणिय, विस्सअहिउपपिइं हा सुयानिहाण ! ।  
 किह देव ! तुमाइमिमं, पत्तोसि अहो ! महच्छरियं ॥ १७ ॥  
 जक्कओ वि अइ न इमं, बुत्तं इइ साणुओ महाभागा ! ।  
 एस च्चिय होइ गइं, पमायवससिदिल्लचरणणं ॥ १८ ॥  
 ओसक्खविहारीणे, इधुरिस्ससायिगारवगुरुणं ।  
 उम्मकसाहुकिरिया-नराण अमहारिसाण कुनं ॥ १९ ॥  
 इय मज्ज कुद्वत्तं, भो भो मुणियो ! वियाणत्तं सम्मं ।  
 जइ सुगइए कज्जं, जइ षीया कुगइममाणो ॥ २० ॥  
 ता गयसयलपमाया, विहारकरउत्तुया चरणजुत्ता ।  
 गारवरहिया अममा, होह सया तिअत्तवकलिया ॥ २१ ॥  
 भो भो देवाणुणियं !, सम्मं पक्किवोइया तए अग्गे ।  
 इय जपिय ते मुणियो, पक्किवओ संजजुओयो ॥ २२ ॥  
 इति खुरिरायंमहु-मैहुअफलमअत्त प्रमादवशात् ।  
 तथतयः शुभ्रमतयः !, सदांघटा प्रवत् चरणजेर ॥ २३ ॥  
 ( इत्यायंमहुकथा ) दशं० । तां० आ० चू० । नि० चू० ॥  
 अज्जमंगु-आर्यमणक-ऊ०० । श्रीशय्यन्नवसुविपुजं ,  
 वडिं मासेइं अहिअं, अज्जयणमिणं तु अज्जमणगेणं ।  
 उम्माता परियाओ, अइ कालगओ समाहीए ॥ ३९ ॥  
 पत्तमिंमल्लैरअंत्तं पठित्तमध्ययनमइं तु अर्थीयत्त इत्यव्ययनम,  
 इदं च दशविकालिकाथयं हासकम् । कनाधीतमित्थाह-आर्यमण-  
 कं ज्ञावाराधनयोगात्, आरादं यातः सर्वहैयमैभ्य इत्यायः  
 आर्यभार्या मणकश्चेत् विप्रदः । तेन परमासाः पर्याय  
 इति, तस्यायैमणकस्य परमासा एव प्रख्याकालः, अ-  
 एवजितित्वात् । अत एवाह-अथ कालगतः समाधिनेति यथा-  
 कशाशाब्धयनपर्यायानन्तरं कालगतः । आगमोक्तेन विधिना

मृतः, समाधिना ह्यमहेदयाप्यानयोगेनेति गाथायः । अत्र चैवं  
 वृत्त्वाद्-यथा तेनेतावता धृतेनाराधितम्, एवमन्येऽप्येतदा-  
 राधनाद्युद्यतं आराधका भवतिथिति ।  
 आर्योदंअमुपायं, कासं सिज्जंजवा तहिं थेरा ।  
 जसभइस य पुब्बा, कट्ठाया अ विआहाणामं ॥ ४० ॥  
 आनन्दाधुपातमहो ! आराधितमनेनेते ह्यशुभोक्त्याणकपायुः  
 कृतवन्तः, शय्यमज्जयाः प्रागुच्यारयित्तस्वरूपाः । तत्र तस्मिन् कास-  
 गते स्थविराः श्रुतपर्यायवृक्ताः प्रवचनगुरवः । पूजायं बहुवच-  
 नमिति । यशोन्नदस्य च शय्यमभवप्रधानशय्यस्य गुरुंभुपातद-  
 शेनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सतः पूजा-भगवत्-  
 किमेतदकृतपूर्वमितिच्युत्ता । कथना च भगवतः-संसारकोह ई-  
 शः स्वतो ममायमित्येवंरूपा । चशुदादनुतापअथशोभकार्त्तना-  
 थ-अहो ! गुराविव गुरुकृत्, वचित्तव्यमितिन, न तत् कृत्तमिदंमसा-  
 भिरित्युक्तप्रतिबन्धावपरिहायै यथा न कथितं, नात्र जयतो  
 देवो गुरुपतिस्स्थापनं च विचारणासह इति शय्यमज्जेना-  
 ज्यायुषमनमवेत्य मयेदं वार्षं निर्वर्द्धं किमत्र युक्तमिति निवेदि-  
 त्तविचारणासह कासह्यसदांपात् प्रभुतसत्यानामिदंमैवोकारक-  
 मतस्तिष्ठत्येतदित्येवजुता स्थापना वेति गाथायः ।  
 अज्जमहागिरि-आर्यमहागिरि-पुं० । आर्यस्सुल्लभच्छय पेसा-  
 पयस्सगोत्रं शिष्ये, नं० । अयञ्च जितकल्पिकवउत्तुविदाराः रा-  
 जपिण्णोपभोजिन आर्यसुहस्तिनः स्वशुशिक्षिष्यादपि सनः वि-  
 संभोगमुत्पाद्य पृथमपच्छ कृत्वा विजहार । तदाप्रनृत्येव गच्छ-  
 पृथक्त्वमासीत् । ( 'संभोग' शब्दे चैतद् वक्ष्यामि )  
 अज्जगक्ख-आर्यरत्न-पुं० । आर्यमन्नकृत्स्य शिष्ये, 'यसस्स णं अ-  
 ज्जकृत्तस्स कासवगुणस्स अज्जकरस्स अंतेनाओ । कासव-  
 गोत्तं' अयं रक्षितायाद् भिक्षोऽभिन्नो वेत्यत्र कल्पसुत्रमुपेोधिका-  
 टीकाकृतान् विप्रतिपत्तयः- 'यं अज्जकरक्ख ति' अहो ! वन  
 किरणावलीकारस्य बहुश्रुतप्रसिद्धिभाजोऽप्यनाभोगविश्रितम,  
 यतो येन श्रीतोसत्तिपुत्राचार्याशय्याः श्रीवज्रस्वामिपाश्वेऽधित-  
 स्वाधिकनवपूर्वा नाम्ना च श्रीश्रीभार्यैरक्षितोस्ते निन्नाः, एते च  
 श्रीवज्रस्वामिन्ध्याः शिष्यप्रशिष्यादिगणनया नवमस्थानभाविनो  
 नाम्ना चार्यैरक्षा इत्येवमनयोरायैरक्षितार्यैरक्षयोः स्फुटं ज्ञेयं  
 विस्मृत्याऽऽर्यैरक्ष्यानि आर्यैरक्षितव्यजिकरं जितित्वात् । कथप०  
 अउजराक्खिय-आर्यैरक्षित-पुं० । सोमदेवपिज्जेन रुक्मोमायां  
 प्राययामुत्पादिने तोसत्तिपुत्राचार्याशिष्ये वज्रस्वामिसमोऽधी-  
 तस्वाधिकनवपूर्वं स्थावरभेदः, 'वंदांमि अज्जकरक्खय, खमण  
 रक्खिय चरित्तसव्वमं । रय्यकरं रग्गओ, अणुगोओ रक्खि-  
 ओ जेइ' ॥ ॥ नं० । तदुत्पत्तिस्त्वयम्-  
 " माया य रुक्मोमा, पिअ य नामेण सोमदेवु सि ।  
 प्राया य फग्गुरक्खिय, तोसत्तिपुत्ता य अय्यरिअ ॥ २४ ॥  
 निज्जमणभइरुत्ते, धोसुं पणं च तस्स कुववओ सि" ॥ २५ ॥  
 "आस्ते पुरं दशपुरं, सारं द्वादिशाविव ।  
 सोमदेवो द्विजस्सत्र, रुक्मोमा च तंपिया ॥ १ ॥  
 तस्यायंगदित्तः स्रुतयुजः फल्गुसित्तः" ।  
 ( दशपुरंगोत्तः 'दसउर' शब्धं कृत्वा ) भा० क० ।  
 उत्पन्नो रक्षितस्सत्र, शास्त्रं यावदच्युतिपुतः ।  
 तत्रैवाधीर्वातस्ताव-दथागात् पाटलापुरम् ॥ ७६ ॥

चतुर्दशापि तत्रास्ती, विद्यास्थानान्यधीतवान् ।  
 अथागच्छद्दशपुरं, राजाऽग्राहयत् संसुक्कम् ॥ ७७ ॥  
 उत्तमिमतपताकऽपि, अज्ञातं ब्राह्मणैः स्तुतः ।  
 अघ्निरुदः करिस्कन्धे, प्रविशेशोत्सवेन सः ॥ ७८ ॥  
 स्वग्रुहं बाह्यालान्यां, सित्योत्तं लोकाधिपमहोदत् ।  
 पुरोधसः स्तुतिरिति, न वा केः कैरपुत्र्यत ? ॥ ७९ ॥  
 सुयणैरलवस्थापै-स्वदग्रुहं प्राप्नुवन्मृतम् ।  
 अधानम्रैषेनं गत्वा, जननीमन्यथावाद्यत् ॥ ८० ॥  
 वत्स ! स्वागतमित्युक्त्वा, मध्यस्थं स्थिता प्रवृत्तः ।  
 सोऽवद्यत् किं न ते मात- स्तुष्टिर्मेद्विद्याऽऽजवत् ? ॥ ८१ ॥  
 सत्त्वानां बधच्छ्रुत्वा-ऽधीते बह्वपि पापमेत ।  
 नृप्याम्यहं दृष्टिवारं, पठित्वा वेत्तव्यमागमः ॥ ८२ ॥  
 स दध्यौ तमधीत्याम्नां, तोष्ये किं ममापरैः ? ।  
 दृष्टिवादस्य नामापि, तावदाह्वयव्यसम् ॥ ८३ ॥  
 अस्य काष्यापका मानः !, साऽऽस्यविश्रुष्टो नृजे निजे ।  
 सन्ति तोसत्रिपुत्राख्याः, आचार्याः श्वेतवाससः ॥ ८४ ॥  
 तं प्रगोऽभ्येतुमारप्ये, मातर्मैवाधृतिं हृद्याः ।  
 अघोऽथाय प्रभातेऽपि, नयाऽऽर्थां प्रतिधत्तः सुधीः ॥ ८५ ॥  
 रक्षितं द्रष्टुमागच्छन्, प्रामात्रियसुहृदिपुनः ।  
 नवैक्यथिका सार्काः, विप्रमामनुन्देतेन ॥ ८६ ॥  
 पुम्नं प्रेक्ष्य सोऽप्राज्ञीत्, करुणं भोः ! रक्षितोऽस्यदृष्टम् ।  
 तमयात्रिकेषु सन्नेह-सुखे त्वां द्रष्टुमागमम् ॥ ८७ ॥  
 सोऽवद्याम्यहं कार्या-ध्यायान्, शुकलं दशमस्य तु ।  
 रक्षितः प्रैकतादौ मा-मिति मानुनिवदथेः ॥ ८८ ॥  
 तेन मत्कथितं गत्वा, माता दध्याविदुं ततः ।  
 नवपुत्राणि सार्कानि, मत्पुत्रोऽध्येष्यते स्फुटम् ॥ ८९ ॥  
 सोऽपि दध्यौ नवाऽध्यायान्, शुकलं दशमस्य तु ।  
 अध्येष्ये दृष्टिवादस्य, ज्ञापते शुकुनादतः ॥ ९० ॥  
 ततः सक्तुग्रुहं यातो, दध्यौ ध्यामि किमह्वय ? ।  
 पतद्भक्तं केनापि, समं गत्वा नमामि तान् ॥ ९१ ॥  
 इति यावद् बहिः सोऽस्वाद्यत्, तावद्दयागुडाप्राथम्यम् ।  
 दहुरभावको गाढः, व्यधाशैवाधिकीप्रदम् ॥ ९२ ॥  
 ईयादिबद्धं सर्वं, स चकार खरस्वरस्यम् ।  
 अनुगस्तस्य तत्सर्वं, मेधाघो सोऽपि निमेषे ॥ ९३ ॥  
 श्रांत्तानवादि तेनेति, ज्ञानो नश्यः स सूरिमिः ।  
 पुत्रोऽयं भोः ! कुतो धर्मा-ऽऽसिस्ते सोऽऽर्थादिति ॥ ९४ ॥  
 साधुभिः कथितं पुत्र्याः !, रक्षितः आधिकानुतः ।  
 ह्यः प्रवशोऽभवत्स्य, विमैर्यं मदीयान् ॥ ९५ ॥  
 आचार्याः साहुरस्माकं, दीक्षायाऽधीप्यते हि सः ।  
 परिपाठ्या च सोऽवादी-दृश्वेनं नादमुक्त्वाः ॥ ९६ ॥  
 किं त्वत्र स्वाद्य मे पुत्र्याः !, प्रमज्या यनूपदायः ।  
 बलामां मोक्षययुस्तं, यामो देष्टान्तरं ततः ॥ ९७ ॥  
 अथाऽऽस्यदृक्षितस्तेषां, जनन्या प्रेषितः प्रजे ! ।  
 युष्माकं संनिधौ दृष्टि-वादमथ्येयुत्तमामम् ॥ ९८ ॥  
 सोऽदीदृश्यत तथा कृत्वा, पाठ्याऽस्ती शिष्यचैरिका ।  
 तेनथैकादशाज्ञानि, पठितान्यविरादपि ॥ ९९ ॥  
 दृष्टिवादां मुनेः पार्थिवे, योऽनृत्तमपि सोऽपठत् ।  
 सोऽध्याभ्येतुं दृशुषीत्, यज्ञस्याम्पन्तिकंऽचलत् ॥ १०० ॥  
 याते तेनान्तरांशे च, भीमद्रुष्टतस्वतः ।  
 अधन्यां वन्दितास्तीः स, धन्य इत्युपहृतिः ॥ १०१ ॥  
 वैदकं मम नियोगं, नास्त्यन्यस्येवं ततो जय ।

स तत्रप्रतिब्रूणोति स्म, नोद्वहृष्यं गुरुशासनम् ॥ १०२ ॥  
 कालं कुर्वन्निश्चिन्ते तैः मां यात्कीयंभ्रूंसंनिधौ ।  
 वसेद्यस्यैः स्वैकाम-पुत्र्यां तैः सह तन्मृतिः ॥ १०३ ॥  
 पठंमिहाभ्ययस्थसत्-सद्योति स्वीचकार सः ।  
 तेषां स्वर्गमेतं सोऽभात्, श्रीवज्रस्यामिसंनिधौ ॥ १०४ ॥  
 दृष्टव्यं तेषां स्वल्पः, किञ्चित् किन्तुदुर्गतयः ।  
 सावशेषभुवत्प्राही, तत्रपतिच्छ समस्यति ॥ १०५ ॥  
 इति यावद्विष्णुं तैः, रक्षितस्तावदागतः ।  
 पृष्टस्तोसत्रिपुत्राणां, किं शिष्याऽऽस्म्यार्यरक्षितः ॥ १०६ ॥  
 एवमुक्तेऽवद्ब्रह्मजः, स्वागतं तव वत्स ! किम ? ।  
 कश्चित्तोऽसि बहिः स्वामिन् !, बहिः स्थोऽध्येष्यसे कथम् ? ॥ १०७ ॥  
 स कञ्च भगवद् ! मद्-शुभाऽऽद्याहृष्टिः स्थितः ।  
 यज्ञस्याम्युपयुज्योषे, शुकलं युक्तमाचर ॥ १०८ ॥  
 ततोऽप्यनु प्रवृत्तां ह्यङ्क, नव पुत्रांशेष्वधीतवान् ।  
 प्रारेभे दशमं पूर्व-मायवज्रस्ततोऽभजत् ॥ १०९ ॥  
 यथिकानि त्रिशत्युक्त-परिक्रमसमायुहो ! ।  
 पत्राऽऽदी जितनस्यवानि, कष्टान्दान्येषु सोऽपठत् ॥ ११० ॥  
 इतस्तन्मातापितरौ, शोकासांभितिं दृश्यतुः ।  
 वदुयोने कर्तुमिष्टे च-न्यकारान्तरं ह्यदः ॥ १११ ॥  
 यज्ञव्यथापि नः पुत्रोऽ-धाहृतोऽप्यगमेषु सः ।  
 अथानुजं तमाह्वतुं, प्रहृष्टं फलसुखकृतम् ॥ ११२ ॥  
 सोऽऽन्यथाह्लात्प्रवराज, वतार्यां ते जनोऽस्त्रिजः ।  
 स ऊचं सत्यमतच्छे-त्तस्वमादौ परित्रज ॥ ११३ ॥  
 लग्नः प्रमज्य सोऽभ्येतु-मधीयन् रक्षितोऽप्रतः ।  
 यथैकैर्भिर्नोऽप्राज्ञीत्, शोचमस्य कियतमः ! ? ॥ ११४ ॥  
 स्वाम्युक्ते सर्वेपे भेरा-विन्दुमन्धेष्वस्वमग्रहीः ।  
 ततो दध्यौ विषयात्मा, ह्युप्रापं पापस्य मे ॥ ११५ ॥  
 अथापृच्छज्जम्भो ! याभिः, ज्ञातः मामाह्वययत्सम् ।  
 आहृष्टेऽधीष्व तस्यथा, पीनःपुत्रेण पृच्छतः ॥ ११६ ॥  
 उपयुज्य शुकज्ञेभे, पूर्वं स्थास्यत्यदो मयि ।  
 व्यसृज्यतं दशपुरं, सातुजः सोऽयं जमिवाद् ॥ ११७ ॥  
 यज्ञस्वामी तु याति स्म, विहरन् दक्षिणपथम् ।  
 शंभ्यान्वोऽऽनाथितं बुरगी-मेकदा श्रवणे न्यधात् ॥ ११८ ॥  
 मुले केश्यामि नृकुञ्चित, भोजनान्ते स्मृतान न सा ।  
 विकारं च प्रतिक्वाम्नी, मुखपातीहताऽपठत् ॥ ११९ ॥  
 उपयोगाद्यं ज्ञान-माः ! प्रमादोऽपिक्तेः स्मृतिः ।  
 प्रमादं संयमा नास्ति, युज्यतेऽनशनं ततः ॥ १२० ॥  
 ह्यदशाब्धं च ह्यभिर्कं, तदा सन्नबहाः पथाः ।  
 विद्यापिण्डं तदानीय, यज्ञः साहूनभोजनम् ॥ १२१ ॥  
 अघोचं तन्न भिक्षासंति, विद्यापिण्डेन वचनम् ।  
 ऊचुस्ते व्रतदान्या किं, कियतेऽनशनं न भोः ! ? ॥ १२२ ॥  
 यज्ञसतोऽन्तिष्वद् ज्ञात्या, प्राक् प्रेषीयतुशित्ये तु ।  
 यत्र त्वं बभसे भिक्षां, अज्ञात्वात्तदा मुनि ! ॥ १२३ ॥  
 गतं ह्यभिर्कमित्येत-द्विज्ञाया स्थानमाचरः ।  
 यज्ञस्वामी पुनर्भक्तं, विभोक्तुं सपरिच्छदः ॥ १२४ ॥  
 लघुः कुलक एकस्तु, तिष्ठत्युक्तोऽपि साधुभिः ।  
 नाथ्यादाक्याय भयानः-नथ व्यासोऽहं तवः ॥ १२५ ॥  
 शैलमकमथाकृत्वा, कुलकोऽप्यनु तत्पदैः ।  
 नितम्बे तद्विरेः स्थित्वा, पादपंगमं व्यधात् ॥ १२६ ॥  
 तापेन तु कृणमिष, विज्ञीय धां स जमिवात् ।



सुरैस्तन्महिमा चक्रे, किमिदं मुनयोऽवदन् ? ॥ १२७ ॥  
 आचक्षुर्गुरवस्तेषां, कुहः स्वार्थमसाधयत् ।  
 ऊचुस्ते दुष्करं तर्हि, मास्माकं स्वायंसाधयन् ॥ १२७ ॥  
 मयनीकाऽमरी तत्र, श्राविका रूपज्ञा मुनीन् ।  
 मयन्वयद्रूपकपतिः, पापेण किन्नामिति ॥ १२६ ॥  
 मयनीकेति तां ज्ञात्वा, गुरवोऽयं गिरिं ययुः ।  
 काप्योत्सर्गमधिगच्छे, चक्रः साऽसायत्तानवदुः ॥ १३० ॥  
 पूज्याः सन्तु सुखेनात्र, ततस्तत्र समाधिना ।  
 चक्रुः कालं रथेनैव, शक्रस्तानमत् ततः ॥ १३१ ॥  
 मद्रक्षिणां रथस्थोऽदा-दुक्तादीनप्यनामयत् ।  
 ते तथेषाद्युराद्रिः स, तदद्यावत् इत्ययुः ॥ १३२ ॥  
 (तस्मिन् जगवन्ते अद्वतारायं दसपुत्रा वाञ्छिन्वा । आ० म० द्वि०)  
 बज्रसेनस्तु यः प्रिय, स सांपारं पुरं गतः ।  
 पात्यमादाय लक्षणा-ऽयाकीलभम्बरी तदा ॥ १३३ ॥  
 दृष्यो चात्र विषं किंपवा, स्मृत्वा पञ्चनमस्कृतम् ।  
 स्वः समाधिना काष्ठ-मितं तत्रपुत्रा कृत्स्नम् ॥ १३४ ॥  
 स चागात्तदगृहे साधु-स्तेन तं प्रतिलाज्य सा ।  
 स्वमाथ्याब्धिन्तितं तस्य, सोऽवयोऽन्मा कृथा वदम् ॥ १३४ ॥  
 यत्र लक्षाभिसाऽऽसिः, स्यात्तत्राऽऽयुः सुनिस्तता ।  
 यत्रस्वामीदमुचं मां, नान्यथा भावि कृत्स्नम् ॥ १३६ ॥  
 तपहुलानां तदैवात-धोतास्तत्र समागमन् ।  
 सुनिक्तं सहसा जातं, कुटुम्बं प्रत्ययोधि तत् ॥ १३७ ॥  
 बन्धनानोरुविद्याज्ञ-दुस्तुः स ममोन्ध्वरौ ॥  
 अर्दीक्ष्यच्छसेन-स्तेत्रयोऽऽयुःश्रमस्ततः ॥ १३८ ॥  
 इतश्च रक्षित्वाचार्यैः, गतेदशपुरं तदा ।  
 प्रत्राप्य स्वजानां सर्वान्, सोऽज्यं प्रकटीकृतम् ॥ १३६ ॥  
 स्नेहात् पित्ताऽपि तैः साह-मातेस्तं गृह्णति तद् प्रतप्तम् ।  
 श्लेते सुनास्तुवादीनां, पुरो नावसरत्संप ॥ १४० ॥  
 उकः पुत्रेण सोऽवादीत्, प्रमादिष्यात्यर्थं परम् ।  
 उपानकुशिककाच्छत्र-वस्त्रयुग्मोपवीनयत् ॥ १४१ ॥  
 द्वादिरे पितुराचार्योः, प्रपद्यमपि व्रतम् ।  
 स च तपालयामास, ब्रह्मवेत्तु नामुचत् ॥ १४२ ॥  
 अथोक्तुः दिाकिता मिन्नाः, सर्वान् यन्नामहं मुनीन् ।  
 मुक्त्वा उत्रिणमेकं तु, तत्पराभवतोऽय सः ॥ १४३ ॥  
 ऊचे पुत्रेण पुत्राऽलं, गुरुष्णाह साप्रतम् ।  
 नापे दद्याः पटीं मौला-भेषं सर्वोद्यमोच्यत ॥ १४४ ॥  
 अन्यदोपमते साधी, साधवाः पूर्वेसंज्ञिताः ।  
 अहंपूर्विकया योदुं, गुरुस्त्वमुपास्थिताः ॥ १४५ ॥  
 स्वाविरोऽप्युचिवात् पुत्रां, श्रेयश्चेत्तदहाय्ययम् ।  
 गुप्तः स्नाहोपसर्गः स्यात्, स सहो मेऽप्यथा किति ॥ १४६ ॥  
 तत्रोक्तिसे स संधानां, गच्छतां पथि श्रमकेः ।  
 कर्त्तव्यं कृतेऽप्यस्यात्, तुष्णीं माऽनृदुं गुप्तैः किति ॥ १४७ ॥  
 साधुभिश्च तदैवास्वयं, बह्व्योसपटः पुरः ।  
 अथाऽऽगतानां गुरुकं, शतकालानयनेऽवदन् ॥ १४८ ॥  
 द्रष्टव्यं दृष्टमेवदं, स्यात्सोऽपट एव तत् ।  
 पितुर्निष्ठादनाथे च, गुरुः साधुर्होऽन्यथात् ॥ १४९ ॥  
 भिक्षामानीय भुञ्जीष्यं, मा स दत्तं पितुर्मेम ।  
 प्रक्षिः कार्यो पितुर्मेचत्, साक्षाद्भुक्तवा मुनीमिति ॥ १५० ॥  
 आपृत्र्थार्यमगाद् प्राय-भाग-तास्मि पितः । प्रगे ।  
 स्वर्गोऽप्याहुन् तस्यात्-विहृतेःकेशोऽय ते ॥ १५१ ॥

दृष्यो कष्टोऽयं संप्राप्ते, सूतावाक्यास्यतऽभिज्ञम् ।  
 आचार्योः प्रातरयाताः, पृष्टस्तातोऽभिलं जगौ ॥ १५२ ॥  
 किं च खं नाज्जिष्ण्ये-न्माजीविष्यमहोऽप्यहम् ।  
 ततः सर्वेऽपि गुरुनि-निरभस्थंस्त साधवः ॥ १५३ ॥  
 पात्रमानय तानाश-मन्विष्यति स्वयं तव ।  
 अहमप्येतदानीत्, शोचये नैवाऽद्य दे विनः ! ॥ १५४ ॥  
 सोऽथ दृष्यो लोकपुत्रो, जिज्ञासायस्वस्यौ कायम् ? ।  
 ततोऽहमेव यास्यामी-त्युक्त्वा भेष्यासोऽगमत् ॥ १५५ ॥  
 सोऽथैकत्र गृहेऽवित्त-वपद्दारेऽवदद् गृही ।  
 साधो ! चारेण किं नैपि, सोऽवदद् मुखं ! यत्सि नो ॥ १५६ ॥  
 किं द्वारं किमप्यारं, प्रविशन्त्या गृहं धियः ।  
 तं गृही शकुनं मत्वा, दृढी स्यालेन मोहकान् ॥ १५७ ॥  
 आगत्याशोच्यत्तान् स, तत्संख्यात्वं बीहृष मूरयः ।  
 ऊचुः शिष्या भविष्यति, द्वारिणाभिजसन्तौ ॥ १५८ ॥  
 कुटुम्बमिति साधुनां, लानं स प्रथमं दृढी ।  
 श्रानीयादात्सर्वं पश्चात्, सख्यपञ्चस्य सपायसम् ॥ १५९ ॥  
 स एवं श्लिषसम्पन्नो-ऽनृदुः बाष्ठापुत्रकारकः ।  
 तदा दुर्बलिकापुत्रः, पुण्यं च घृतवस्त्रयोः ॥ १६० ॥  
 गुर्विषया धिम् यया पाङ्क-मोर्सेन-श्लिषतं घृतम् ।  
 घृतपुत्रस्य तद्घात्, साऽपि तद्विधिर्योदरी ॥ १६१ ॥  
 निवीरो काऽपि कष्टेन, कर्त्तव्यं शतकं व्यधात् ।  
 वस्त्रपुत्रस्य तद्घात्, साऽप्यन्येषां किमुच्यते ? ॥ १६२ ॥  
 तत्र दुर्बलिकापुत्रो-अभिगतो नवपूर्विकाम् ।  
 दुर्बलोऽभूत्स्मरतिष्यं, विस्मरयति चास्मन् ॥ १६३ ॥  
 सौगतैर्मीविनास्तस्य, स्वजनो गुरुर्गच्छति ।  
 अस्माकं त्रिकुषो ध्यान-परा न ध्यायामस्ति यः ॥ १६४ ॥  
 ध्यानाद् दुर्बलिकापुत्रो, दुर्बलोऽयं गुणजंगा ।  
 तान्याह गृह्यासेऽनृदुः, स्निग्धारादादसौ वशी ॥ १६५ ॥  
 न स वोऽस्ति गुरुः स्नाह, घृतपुत्रपाद्दुः स नः ।  
 प्रत्यक्षेण वो नीत्वा, स्वगृहे पोष्यतामयम् ॥ १६६ ॥  
 तनस्तेः पोषितोऽप्यनं, पृथेप्यानात्तथेव सः ।  
 अथाध्यानं कृतः पुर्व्यः, प्रान्तोऽगोऽप्यनृदु बली ॥ १६७ ॥  
 ततस्तामि प्रबुधानि, धावकथं वरुचिं वः ।  
 तत्र गच्छे च चत्वारो, मुल्यास्तिष्ठन्ति साधवः ॥ १६८ ॥  
 आधां दुर्बलिकापुत्रो, द्वितीयः फल्गुर्गतिः ।  
 विन्ध्यस्तनीयको गोष्ठा-मादिद्वयं चतुर्थकः ॥ १६९ ॥  
 विन्ध्यस्तन्वपि मेधावी, स्वर्गदृग्धाराश्रयः ।  
 गुरुगुवाच मरुतया-माहापाऽऽतिशिरारमम् ॥ १७० ॥  
 गुरुदुर्बलिकापुत्रं, ततोऽप्यालापकं दृढी ।  
 दिनानि कतिचिद्व्या, धावतां तस्य सोऽन्यथात् ॥ १७१ ॥  
 वाचनां ददतेऽप्ययं, पूर्वं मे स्वयं प्रज्ञो ! ।  
 विस्मरिष्यत्यतः पूज्या-देशोऽस्तु मम कीदृशः ? ॥ १७२ ॥  
 अथैवं दधुराचार्योः, यद्यमुष्यापि विस्मृतिः ।  
 भविष्यति भ्रवं प्रज्ञा-दीनां हानिरतः परम् ॥ १७३ ॥  
 चतुर्वर्षकैस्त्रयो-स्थानं स्यात्कोऽपि न कुमः ।  
 ततोऽनुयोगांशुत्वरं, पार्थक्येन व्यधात् प्रहृः ॥ १७४ ॥  
 चातुर्विंशदाह—  
 “कालिभ्रतुम् च वसिमा-सिन्धौ तदशो अ सुरपत्नी ।  
 सर्वो उ विधियायो, चउत्थन्नो होऽ अशुभ्रान् ॥”

कालिकभुगेकदाशङ्करुपं करणचरणानुयोगं, ऋषिनापितानि  
वसराध्ययानानि धर्मकथानुयोगः । सूर्यपङ्कत्यादिनि गणतानु-  
योगः, दृष्टिदाश्च, सर्वोपि उच्यतानुयोगः; दृष्टिवादाङ्कुल्य  
ऋषिर्भर्मिर्भित्तयाव । कल्पदीनानामपि तर्हि धर्मकथानुयोग-  
त्वम् । तत्रत्याह-

“जं च महाकल्पसुभं, जाणि अ सेसाणि छेअसुत्तणि ।  
चरणकरणाणुभ्रोगं-लि कालिअन्धे उवगयाणि ॥” ११ ॥  
यच्च महाकल्पसुभमेकदाशाङ्करूपं, यानि च शेषाणि निशो-  
धादिनि उदस्राणि, चरणकरणाणुयोगं इति चरणकरणाणु-  
योगग्रहणं कालिकार्थं कालिकभुतसत्केऽथे उपगतानि सम्ब-  
द्धानीत्यर्थः ।

अधार्थरक्षिताचार्याः, मधुरां नगरां गताः ।  
तत्र यत्कुण्डायां च, व्यन्तरायतेन स्थिताः ॥ १७४ ॥  
ततः शक्रो विदेहास्तः, ध्वंस्तीमन्धरसन्निधौ ।  
निगोदजावनाम्नाकी-द्गणवान् व्याचकार तान् ॥ १७६ ॥  
अधोच भरतेऽप्येव, निगोदान् वक्ति कश्चन ॥ १७७ ॥  
जगवाञ्चिवाचार्य-रक्षिताः सन्ति सूर्यः ॥ १७९ ॥  
भिक्षांसापुत्रवृन्दं च, बुद्धसाम्प्रक्षणरूपनाक ।  
शक्रोऽजगवायं पप्रच्छ, कियदापुः प्रभोः ॥ मम ॥ १७७ ॥  
ज्ञानित यत्कथ्यायु-ज्याथ प्राप्तुं तेषु ते ।  
यावत्तदागुरुरित्तं, तावद् छे सागरे गतं ॥ १७६ ॥  
अधोत्पाठ्यं युवावृचं, शक्रस्यं सोऽसर्वाचितः ।

हेतुं स्वागमने तेष्य, निगोदान् स्वामिबुद्धसु ॥ १८० ॥  
तनसुष्टः प्रणम्योच, शक्रो यामिति तेष्यस्युः ।  
तावदागमयस्य तं, आश्रदायानि साधनः ॥ १८१ ॥  
ये चक्रा निश्चयान्ते स्यु-यैतं स्वां बोध्यं दीक्षिताः ।  
स ऊच्येऽतः करिष्यामि, निदानं वोच्यं मामर्मा ॥ १८२ ॥  
तेऽप्युचु कर्तुञ्चिह-मथ यत्कुण्डानुभवम् ।  
दाक्रोऽप्यथा विषयागमा-दाजमुद्ध तपोधनाः ॥ १८३ ॥  
ते च चारं न योक्तो, सुवस्तानाध्यायधुः ।  
शक्रो चारं व्यधादिश्व-मित एत नोऽपुना ॥ १८४ ॥  
कपुस्ते किं मुहूर्त्तं न, धृतोऽस्माकं निर्राजितुम् ? ।  
शक्रोऽकथं ते तेषा-मावयन् छःस्रमथ स्थिताः ॥ १८५ ॥  
अथाप्यवा दशपरं, यानि स्म सूर्यः क्रमात् ।  
मधुरां नालिकस्थ्यागतं, सर्वे नान्तीति स मुवन् ॥ १८६ ॥  
सङ्गः सङ्घट्टकं प्रपीद, गुरुं हापायितुं तनः ।  
निगोष्टामाहिलः प्रियं, व्यग्रहीतं स वादिनम् ॥ १८७ ॥  
आयकैश्च तत्रैव, चतुर्मासं स कारिनः ।

इतश्चायुर्निजं ज्ञात्वा, गुरवो गच्छन्मन्थिरे ॥ १८८ ॥  
आचार्यैः कोऽस्तु च स्माहुः, स्वजनाः फल्गुरक्षिताः ।  
स्याःकोष्टामाहिलो वासिपि, पुण्यस्वर्गाजितो गुरोः ॥ १८९ ॥  
शब्दयित्वा च निःशेषान्, गुरुद्वारान्तमभियान् ।  
निष्पावतेलहयान्तं, कियन्तऽप्येगुक्ताः कुट्टाः ॥ १९० ॥  
सर्वे निर्यान्ति निष्पावा-सैलांशाः सन्ति केचन ।  
निष्पावाज्यं पुनः प्राप्य-मेवमेवप्यहं त्रिषु ॥ १९१ ॥  
पुण्यं प्रति भूतेनाहं, निष्पावकुट्टसन्निभः ।  
धृतकुम्भः पुनर्गोष्ठा-माहिलं मातुङ्गं प्रति ॥ १९२ ॥  
फल्गुरक्षितमाश्रित्य, तैन्नकथमसमस्तथा ।

तथाचार्योऽस्तु वः पुण्य-स्तैरपि प्रत्यपद्यत ॥ १९३ ॥  
नबाऽऽजवै तथा सापुत्र-नुशिष्यं यथोचितम् ।

विषायानशनं बुद्धे, स्वर्गलोकमगाद् गुरुः ॥ १९४ ॥  
ननु गोष्ठामाहिलेनापि, भुने वद् धामगाद् गुरुः ।  
निष्पावकुट्टस्तथागतं, पुण्यश्च स्वर्गद्वे इतः ॥ १९५ ॥  
स गोष्ठामाहिलोऽप्येव, पुण्यं तस्यै तदाश्रयात् ।  
कर्मबन्धवचोरऽभू-ब्रह्मवः मोऽभ्यधोर्गतः ॥ १९६ ॥ आ०क० ।  
देविद्विदं परिहं, महागुभावेदि रविसख्यजेदि ॥  
गुणमासज्जीविभक्तो, आणुभ्रोगो तं क्रमो चउहा ॥

देवैश्चबन्दि तैर्महागुभावेरारक्षितैर्दुर्बलिकाणुपामिप्रप्राङ्गमप्य-  
तिगुणितयत्वाऽनुयोगस्य विस्मृतसुप्रार्थमशोच्यं युगमासाद्य  
प्रचननहिताय विज्रकः पुण्यं व्यवस्थापितोऽनुयोगः, ततः  
कृतञ्चतुर्थो, चतुर्थे स्थानेषु नियुक्तः चरणकरणाणुयोगादिरिति ।  
आ० म० द्वि० । उक्त० । आ० चू० । घ० र० । दश० । ती० ।  
विशे० । स्था० । अञ्जलमन्त्रस्थापके आचार्यं च । अयं च  
( विक्रमसं० ११३६ वर्षे ) दन्तार्थानामप्रेमो द्रोणभेष्टिनो देदीना-  
म्याजार्थायाः जातः । ( विक्रमसं० ११४२ वर्षे ) प्रसजितः । ( वि-  
क्रमसं० ११६० वर्षे ) विधिपक्वः ( अञ्जल- ) गच्छमस्थापयन्,  
( विक्रमसं० १२२६ वर्षे ) ए१ वर्षेऽजमपर्यायो मृत्वा देवशक्तो  
गतः । जै० ६० ।

अञ्जरविसयमीस-आर्यरक्षितमिश्र-पुं० । अनुयोगवानुविष्य-  
कारकं रक्षिताचार्यं, सूत्र० १ अ० १ उ० ।

अञ्जरह-आर्यरथ-पुं० । आर्यवज्रसामितस्तृतीयं शिष्यं, कल्प० ।  
अञ्जल-आद्यह-पुं० । छेच्छमेदे, प्रहा० १ प० ।

अञ्जव-आर्जव-न० । श्रुज्ञोः रागद्वेषवचर्जितस्य सामायिक-  
वतः कर्म भावा वा आञ्जवः । सर्वे, आ० ४ उ० १ उ० । ऋ-  
नुभाव आञ्जवम् । आ० । मनोवाकायविक्रियाविरहे मायारा-  
हित्ये, ध० ८ क्षिप्रो प्रव० । ध्य० । पंचा० । आवा० । कल्प० । आवा० ।  
ज्ञ० । परस्मिहित्वात्परऽपि मायापरित्यक्तं, दृश० १० अ० ।  
पाठ्यं चोरणाज्यनुज्ञातम् । स्था० ४ उ० १ उ० । एतन्तृतीय-  
ध्रमणधर्मः । स्था० ३ उ० १ उ० । दशमो योगसंज्ञः । स०  
३१ सम० । आ० । “ चंपाप कालिप्रज्जो, अंगारसो रूहप अ  
आणुत्त । पंधगजो इजस्ता वि अ, अम्भकलाणं अस्संवेही ॥” ११ ॥

चम्पार्यां कौशिकार्योऽभू-ज्ञापध्यायो महामितः ।  
तस्यापऽङ्कश्रुः वि शिष्यो, प्रणिधिचिद्रुद्रकोऽपरः ॥ १ ॥  
उपाध्यायते दार्वथे, ज्ञापयि प्रेषितो वने ।  
दारुभारं शूहीस्थिति, सायमङ्कश्रुपिन्नात् ॥ २ ॥  
रुद्रो रन्वा दिवा सायं, स्मृत्वा बहिरध्यावत् ।  
दशौ बोध्य तमायान्तं, शुकींसाःरायाम्मुमु ॥ ३ ॥  
इतो ज्योतिर्यथा वस्त-पार्श्वो नीत्वाऽग्रमात्मनः ।  
पुत्रस्य पञ्चकस्यायै, धलन्ती दारुकाष्ठतृत् ॥ ४ ॥  
दृष्टं तेनाथ तां स्त्वाऽऽ-दाय तद्दारुभारकम् ।  
शीघ्रं मार्गान्तरणैत्यं, गुरोरपे करो युवन् ॥ ५ ॥  
आख्यः मिथिश्रुधेण, ज्योतिर्यथा ध्वनाइयत् ।  
आगतः सोऽथ गुरुणा, यथो निस्सारितोऽटवीम् ॥ ६ ॥  
तत्र बुद्ध्या मनोस्थानात्, जातजाविस्मृत्तव्रतम् ।  
सोऽवाप केवलं वाथ, महिमानं व्यपुः सुराः ॥ ७ ॥  
दक्षैः कथितमेतस्या-ज्याख्यानं प्रददंऽपुनम् ।  
रुद्रको हीलितो लोके, दशौ सत्यं मया ददे ॥ ८ ॥  
अथास्थानमिति ध्यायन्, सोऽगामप्रत्यबुद्धताम् ।  
सपाध्यायः सपत्नीकः, प्रत्यय प्राप केवलम् ॥ ९ ॥

चात्तारोऽपि ययुः सिद्धि-मेव कस्यैवमाञ्जवम् । आ० क० ।  
आ० वृ० । आ० ।

अञ्जवद्वर-आपिबन्- ( वैर )-पुं० आरात्सर्वेदेयधर्मभ्यो वातः  
प्राप्तः सर्वैरुवादेयगुरैरित्यर्थः, स चास्ती वज्रक्ष् । आ० म० छि० ।  
धनगिरेः सुनन्त्यां न्यायितासुत्यादिते पुत्रे आर्यसिंहगिरेः शिष्यो  
के ते आर्यवैरा इति स्वसङ्गरेण तदुत्पत्तिमाह—  
तुंबवणान्निवेसा-नु नगयंयं पित्रसारासमष्ट्रीयत् ।

अम्पासिभ्रं अमु शुभ्रं, माऊ अ समभिभ्रं बंदे ॥ १ ॥  
तुम्बवनत्संभ्रशाभिर्गते पितृसकाशमालीने पापमासिकं पद-  
सु जीवनिकाययु युतं प्रयत्नवन्तं प्राञ्च च समन्वितं वन्दे । एष-  
गाथाऽस्यारथः । भावावैरस्तु कथातोऽवगन्तव्यः ।

कथा चेषय-

शक्रस्य लोकपः भीड-स्तस्य सामन्तिकः पुनः ।  
इन्द्रज्ज्वाभोजोऽहं, प्राग्भवं जम्भकामरः ॥ २ ॥  
इन्द्रश्च पुष्टचम्पायं, श्रीवीरः सुमध्यासरत् ।  
सुभूमिभाग उद्यानं, शालस्तत्र नृपः पुरि ॥ ३ ॥  
यवराजो महाशाल-स्तयोर्व्यामिर्द्योमती ।  
पित्रो रमश्चस्तस्याः, गार्गलिस्तनयः पुनः ॥ ४ ॥  
शालः श्रुत्वा प्रजोधर्मं, भ्रतायानुजम्भुचिवात् ।  
राज्ये स्वं विशा सोऽवादीद, न मतेभ्यस्मि ते नु किम् ? ॥ ५ ॥  
समानोयाथ कामिष्यथा, गार्गलि स्वस्वस्तुः सुतम् ।  
राज्येऽभिषिच्य तं तौ द्वौ, पादवै प्रामज्जतो प्रजाः ॥ ६ ॥  
साऽपि तद्भगनी जाता, भ्रमणोपासिका तनः ।  
नाथपेकादशाङ्गाय-धर्माघातां महाऽक्रवो ॥ ७ ॥  
विहरन्त्यदा स्वामी, ययौ राजगृहे पुंरे ।  
ततोऽपि चम्पां नगरीं, प्रति प्रातिष्ठत् प्रजुः ॥ ८ ॥  
मुनी शालमहाशाओ, प्रजुं पप्रच्छतुस्तदा ।  
आवां यावः पुष्टचम्पां, कांऽपि स्वात्तत्र धर्मवान् ॥ ९ ॥  
ज्ञात्वाऽवबोधं तौ तत्र, वैषयज्ञौतमान्वितौ ।  
तनः स्वामी ययौ चम्पां, पुष्टचम्पां च गौतमः ॥ १० ॥  
समानापितृकस्तत्र, गार्गलिर्गौतमान्तिके ।  
श्रुत्वा धर्मं सुतं राज्ये, विषेऽय प्रतमप्रहीत् ।  
यातां मार्गंऽथ चम्पायां, स्वजिनमनहर्षतः ।  
प्राप्ती शालमहाशासौ, निघार्गमिष केवलम् ॥ ११ ॥  
समातापितृकस्याथ, गार्गलेराप केवलम् ।  
अत्रामुत्राधेदावेलौ, भर्मेत ध्यायन्तऽभवन् ॥ १३ ॥  
अथ चम्पां ययौ स्वामी, गौतमस्तपरिचरुद्वः ।  
प्रह्लं प्रदक्षिणीकृत्य, प्रणिनेसुः पुरोऽनवन् ॥ १४ ॥  
इत एव प्रजुं नन्दुः, तानिन्त्यावष्ट गौतमः ।  
प्रजुर्गौतमसूत्रे मा, केवलयाशातनां कृथाः ॥ १५ ॥  
गौतमोऽथ प्रजुं तत्वा, क्रमयामास तां न्दमी ।  
गौतमं केवलाऽनान्ति-बिभ्रं मन्वाऽदिशात्रयः ॥ १६ ॥  
अष्टापदं तपोलभ्या-ऽऽरोहणः स्वात्स केवली ।  
उत्तरुच्छात्तार्णयव-मुक्त्वा श्रुत्वाऽथ तां गिरम् ॥ १७ ॥  
अष्टापदोऽपकण्ठ-स्तापमास्तपसा कृशाः ।  
कौतिन्द्यदृच्छेयावाला, एकत्रिंशत्तरेऽहनि ॥ १८ ॥  
आर्किन्द्युष्ककन्द-शुक्लशैवासभोजनः ।  
आकङ्कन् पदिका एक-द्विजस्तेऽपि तपःकमाद ॥ १९ ॥  
गौतमोऽपि प्रजुं वृष्टा-श्रापदादिमुपयिवात् ।  
दृष्ट्वा तं ते मिथः प्राहुः, स्वुत्सोऽप्येवोऽपिरोक्ष्यति ॥ २० ॥

तपःकृशा अपि षयं, न शक्युम इतः परम् ।  
गौतमस्तावदकौशु-शिक्षां हत्वाऽऽरुहोह तम् ॥ २१ ॥  
तदुत्सुचिर्विस्मितास्तेऽथ, दृश्युयेषाधमन्ध्याति ।  
ततोऽमुष्य षयं शिष्याः, न्रविष्यामो महाऽक्रये ॥ २२ ॥  
नन्वाऽदहेतः प्रतुच्छेयां, विषयशोऽकतरोस्तले ।  
तत्र पृथ्वीशिखापदं, तामयास्तीक्ष्णायत्रीम् ॥ २३ ॥  
आगादष्टापदं नन्दुः, तत्र वैषयषात्तदा ।  
जुम्नकेषु समं सख्या, भव्या सर्वान् जिनान्धय ॥ २४ ॥  
स्वाध्यायध्वनिना ज्ञात्वा-ऽऽप्येस्य गौतममानम् ।  
कुर्वाणः स्वाम्यपि व्याख्यां, सुधामधुरगोव्यधात् ॥ २५ ॥  
अन्नाहारपन्नाहारे-त्यादिकं साधुवर्णनम् ।  
तच्छ्रुत्वा मुखमाशोक्य, मिथस्तेऽ इति तौ सुवै ॥ २६ ॥  
एवं साधुगुणानाह, स्वयमीदृक पुनः प्रभुः ।  
ज्ञात्वाऽऽयस्तेनमनः पुरा-रीकायधनमन्विशान् ॥ २७ ॥  
न दीर्घव्यं ब्रह्मिन्वे वा, सक्त्ये कि नु जावना ।  
श्रीदोऽथ ध्यानविज्ञानान्, प्रीतो नन्वा प्रतोयवात् ॥ २८ ॥  
जुम्नकस्तु प्रनिवृत्तः, शुकं सम्यक्यमाददे ।  
सर्वं च प्रकथा पुरा-रीकायधनमप्रहीत् ॥ २९ ॥  
गौतमस्तु द्वितीयेऽवष्ट-ष्टापदशरवारतरत् ।  
भौतान्त प्रमुमाहूतः, शिष्यं कुरु गुरुभवं ॥ ३० ॥  
स्वाम्यथाद्वाद व्रतं तेषां, वेशान् शासनदेवताः ।  
पारणे वोऽस्तु किं वस्तु, पृष्टान्ते प्रमुमन्वयुः ॥ ३१ ॥  
दृष्टान्तिभेत्तदस्त्वथ, पायस घृतसालयुक्त ।  
तदेवानीय तस्वामी, तानुक्ते ज्ञानुमास्वत ॥ ३२ ॥  
दृश्युस्ते नो भविष्यन्ति, नेयतां तिलकायि ।  
परं गुरुवचः कार्यं, न विचार्य नृणां कवत् ॥ ३३ ॥  
आसीनास्तेऽथ सर्वेऽपि, स्वाम्यङ्गीणमवाप्तसः ।  
आर्तुमिं नोर्जायन्ता ता-नभ्रानि स्व स्वय तनः ॥ ३४ ॥  
शतानां तेषु पञ्चानां, नृजानानां महाशिमाम् ।  
ध्यायतां गौतमीं लक्ष्मि, जज्ञे केवलमुज्ज्वलम् ॥ ३५ ॥  
गच्छतां च प्रनुपान्ति, विलोक्य प्राग्भयो श्रियम् ।  
पञ्चगत्या इषददुर्जां, समजायत केवलम् ॥ ३६ ॥  
एकान्तरनृजां चासात्, श्रीवीरजिनदर्शनं ।  
गौतमस्तेः समं भर्तु-र्ददौ तिष्ठः प्रदक्षिणाः ॥ ३७ ॥  
नवीनाः साधवस्तेऽथ, जग्मुः केवलपिपेदम् ।  
गौतमः स्माह तानेव, नमत् प्रिजगपन्ति ॥ ३८ ॥  
स्वाम्यहाशातनामिन्द्र-ज्ञतेः केवलिनो वध्याः ।  
नन्वा प्रजुं ददौ मिथ्या-वृत्तुर्न तेषु गौतमः ॥ ३९ ॥  
गौतमेऽथायुनिं सुपु, प्रपञ्चं स्वाभ्यसोचत् ।  
अन्ते तुल्या भविष्यामो, मा कार्षीं गौतमाऽऽश्रुतिम् ॥ ४० ॥  
वृणुहिद्वलचर्मोर्णां-कटयकस्यचिन्पुनः ।  
कांऽपि क्वापि भवेत्स्नेहो, मेषोर्णाकटयणु ते ॥ ४१ ॥  
तत्र स्नेहे चिरज्ञये, प्रावृषीय व्यपेयुनिं ।  
केवलज्ञानहसन्ते, हृत्सरस्थां स रस्यते ॥ ४२ ॥  
उद्दिश्य गौतमं शोक-प्रतिवोषकृतं तथा ।  
आदिशद्भ्रमप्रीया-व्ययनं भगवांस्तदा ॥ ४३ ॥  
इतश्चावन्तिदेशी-हृदि हारतटोपमा ।  
संश्रियशस्तुम्बवन-नामा धामदनुनश्रियाम् ॥ ४४ ॥  
तत्रत्यसुधोर्णागि-मैतार्थी पितनो वृत्तः ।  
तच्छेन वृणुतः कन्यां, यस्त्य ते संन्यपेधयत् ॥ ४५ ॥

स्वयम्भराऽथ तस्यादृष्ट, सुनन्दा धनपालसूः ।  
 विबाहिताऽथ सा तेन, तथा कठोऽथ स व्रतात् ॥ ४६ ॥  
 अथाप्यन्दा स्वतः स्वामात, स क्युत्वा जुम्मकाभरः ।  
 सुनन्दाकुञ्जिकासारे-ऽवतरकलहसवत् ॥ ४७ ॥  
 तथाधारोऽभज्जाधी-स्युक्त्वा धनगिरिः प्रियाय ।  
 ब्रह्मसिंहविरैः शिष्यः, क्षालकात्समितायतु ॥ ४८ ॥  
 जाते च तन्धे अन्धो-स्त्वेषे स्फूर्जति काऽप्यवहत् ।  
 अिता बेत् प्राजिष्यन्ना-स्यात्रविद्युत्-संरं तदा ॥ ४९ ॥  
 स संह्री तद्वचः भुक्त्वा-ऽहासीन्मे ब्रह्मचरुयिता ।  
 एषं विन्तयतस्तस्य, जाता जातिस्त्वितिः शिशोः । ॥ ५० ॥  
 अहर्निशं ततोऽरोदीव, माता निर्विद्येन यथा ।  
 प्रवयान्निमुषं पश्चा-नेषं वपमासिन्वाऽगमत् ॥ ५१ ॥  
 अन्यदा समयासार्पित, तत्र सिंहगिरिर्गुरुः ।  
 समितो धनगिरिश्च, पश्यायः स्वज्जनामितं ॥ ५२ ॥  
 यावथातो गुरुं पृच्छा, मकुनस्तावद्विवाचान् ।  
 तस्ततो सूरयोऽप्येव, प्राथी ब्रामाऽथ बां महाद्व ॥ ५३ ॥  
 सचिन्तं वाप्यचिन्तं वा, प्राहं तत् तौ ततो गमौ ।  
 सुनन्दा ससर्वाहुन्दा, दृष्ट्वा तावित्यबोचन ॥ ५४ ॥  
 कात्तयन्ति दिनान्यत्रे, पालयते स्म भया तव ।  
 त्वमेवं गोपयेद्दार्मी, स्वतोऽच्छादितऽमुना ॥ ५५ ॥  
 तेनां च माऽस्तु ते पश्चा-न्तापः संविद्वज्ज निःस्पृहा ।  
 हुन्वाऽथ साङ्गिणोऽप्रति, सोऽप्यार्कः यात्रभयने ॥ ५६ ॥  
 व्रतप्राप्तं च तत्कां, रोदनाङ्घ्रिराम सः ।  
 अथायातो मुनेर्दोष्णो-ऽद्वारोतोऽथ करं गुरुः ॥ ५७ ॥  
 अतिनारासथाऽऽदिव, साधो ! वज्रं किमानयः ? ।  
 आकृष्यालोक्य तं बाह्वं, बाध्यमासमिष स्मरम् ॥ ५८ ॥  
 भाष्येव प्रासनाधारो, वज्रस्वामी गुरुस्ततः ।  
 साध्वीशय्यातरीणां तः नीविषन्नानुमापयत् ॥ ५९ ॥  
 प्रहृष्य-प्रासुकाहार-क्षानमपडनखेलनेः ।  
 तत्रावर्द्धिष्ट वज्रः स, सार्कं गुरुमनारथैः ॥ ६० ॥  
 बहिल्याहापुराचार्याः, सुनन्दाऽमार्गयन्स्तुतय ।  
 उबुस्ता एष निकेयो, गुरुणां नाथ्येते परैः ॥ ६१ ॥  
 आगमस्युचस्तत्र, वज्रे जाते शिवायिके ।  
 सुनन्दा याचते सृष्टे, गुरवस्वर्षयन्ति न ॥ ६२ ॥  
 विबादाऽधामवकाज-कुले जातश्च निगेयः ।  
 यदप्रतः सुतस्तस्याऽऽहृतो याति यद्वन्तिके ॥ ६३ ॥  
 ससंयो गुरुरेकत्र, नन्दुऽभयत्र सनागरा ।  
 ऋषिकृदभितो भूषं, वज्रस्तु नृपतेः पुरः ॥ ६४ ॥  
 राजोचं शय्यन्वादी, पित्ना स्त्रीपाङ्किका जगुः ।  
 स्वामिभ्रम्बाऽऽह्वयवादी, दयास्थाननिधं यतः ॥ ६५ ॥  
 प्राण राजोकाऽह्वयन्मात, साधकेननचाटुमिः ।  
 बहिष्यत्पम्बां परं सोऽह्वादा, नाचार्लीत्किन्त्वचिन्तयत् ॥ ६६ ॥  
 पाजनस्योऽप्युपभृत्वा, योऽर्थातेकादशाङ्कः ।  
 सोऽहं मांहे जनन्याः किं, यामि सङ्गं विशङ्क्य तत् ॥ ६७ ॥  
 ब्रतय्ये मयि माताऽपि, व्रतमङ्गीकरिष्यति ।  
 राज्ञो प्रोक्तः पित्ताऽबोचत्, वचस्तं प्रति तदथा ॥ ६८ ॥  
 “ अहसि कयञ्जवसाभो, धम्मञ्जयस्यसिद्धं इमं वदरं ।  
 गिहद लङ्घयहरणं, कम्मरयत्पमञ्जणं धीर ! ” ॥ ६९ ॥  
 तच्छ्रुत्वा तरुणादेय, स रजोहृदितमाद्वे ।  
 तदैवादीकिं गुरुणा, सपीरोऽप्यबुधन्नुपः ॥ ७० ॥

दृष्यावथ सुनन्दाऽपि, ज्ञाता सार्थो सुतश्च मे ।  
 प्रावर्जन्किं ममान्येन, साऽपि प्रवर्जिता ततः ॥ ७१ ॥  
 पञ्चं तत्रैव संवाप्य, साधुभिः पञ्चैर्बुधैतम् ।  
 स्यहापुर्गुरोरोऽप्यत्र, यक्षैकत्र यतिविद्यतिः ॥ ७२ ॥  
 ब्रथाहवयो वर्यानि-स्यंहरदुःखिः समथ ॥  
 अयमुच्च गुरवोऽवन्त्यां, बुद्धिश्च प्रावृत्तवदा ॥ ७३ ॥  
 तस्य प्राग्जनवाग्मार्ग, व्रजतोऽपि जुम्मकाभरः ।  
 दृष्ट्वा तं तत्र तैः सार्कं, हुन्वा तस्युः परीक्षितुम् ॥ ७४ ॥  
 राप्य्वा न्यमन्वयद्वज्रं, विप्रयो बीहय संस्थिताः ।  
 पुनराह्वन् स्थिते वर्ये, गतस्तत्रोपयुक्तवान् ॥ ७५ ॥  
 ह्यत्यतः पक्कूप्यापरं, कृतस्तस्युन्नयन्वसी ।  
 काभतः प्रथमं वर्या, भावतो दायकाः पुनः ॥ ७६ ॥  
 अमुस्युशो निर्निमेषा, देवा इत्याद्वेदं न तत् ॥  
 तस्य नुष्ठा निधेद्यं, विद्यां वैकुण्ठिकां दृष्टः ॥ ७७ ॥  
 नृयोऽवन्त्यां पुरि ज्येष्ठे, वज्रे बाह्यहृद्यं गत ।  
 प्रन्वद्विधाय सार्कं तं, घृतयुर्गुण्यमन्वयत् ॥ ७८ ॥  
 द्रव्यादकपायेगेन, ज्ञात्वा नासैषु तेष्वपि ।  
 तस्याकाशगमं विद्यां, दत्त्वाऽगुः स्वं निरह्य ते ॥ ७९ ॥  
 निर्युक्तिकारोऽप्यन्वेदेवाह-  
 “ जो गुरुगेहे बाह्ये, निमित्तो भोऽप्येन वासंते ।  
 नेच्छ विष्णोऽभिगुणो, तं ययुरिस्ति नमंसाभिः ” ॥ १ ॥  
 गुरुकेर्देवैः वासंते वर्यति वेद्यति विनातविनयोऽप्यस्तावन्वयः ।  
 तथा—  
 “ उज्जणीए जो जं-भगोहे आणकिन्नल्ल पुममहिंभं ।  
 अक्खीणमहानसिभं, सीहगिरिपसंसिभं वंदे ” ॥ १ ॥  
 प्राणकिन्नल्ल परीधय, स्तुतो न वनेनैः, महितो विद्यादानेन ।  
 तच्छ्रुत्वात् पत्रतः श्रुत्ये-कादशाङ्कं स्थिराऽभवत् ।  
 अतं पूर्वमप्य्यात्, यत्किञ्चिप्यत्रा लुप्तम् ॥ २ ॥  
 पनेत्युक्तोऽपत्र नित्यं, तमेवालापकं मुतुः ।  
 अपराप्यत्रतः श्रुण्वत्, शृङ्खलतः ततः श्रुतम् ॥ २ ॥  
 त्रिजार्थमन्यदा साधु-प्रातं याते हि मध्यमे ।  
 बहिरुमी गुरो प्राप्ते, तस्यो वज्रः प्रतिभ्ये ॥ २ ॥  
 अथाप्यस्य स मल्लरुथा, मध्ये त्रियतिवेष्टिकाः ।  
 मध्ये स्थितः स्वयमदात्, क्रमेणाहुविद्याचन्याम् ॥ २ ॥  
 आयाताः सूरयो दृष्यु-मुनयो द्राक् किमाययः ? ।  
 स्वरमाकर्ष्ये गम्भीरं, ज्ञातं वज्रविभूतितम् ॥ २ ॥  
 अपस्युय ज्ञानं स्थित्वा, व्यष्टयैर्विषयैर्वा च्वनिम् ।  
 ज्ञातस्थानेऽपि मुक्त्वा तां, प्रामाङ्गीस्य गुरोः पदौ ॥ २ ॥  
 इतं त्वम् बुतधरं, माऽवज्जानन्तु साधवः ।  
 इत्याचार्यो विद्वासायै, च्छिताः पञ्चान् दिनान् ॥ २ ॥  
 योगिनः स्माद्गुरुस्माकं, भावी को वाचनगुरुः ? ।  
 गुरवो वज्रमादिक्-स्ते तथेति प्रवेदिरे ॥ २ ॥  
 साधवोऽपि गुरुं वज्र-मासिचिन्वाऽऽग्नेने प्रगे ।  
 योगाऽनुष्ठानमाधाय, वाचनार्थमुपाविशान् ॥ २ ॥  
 वाचनं स तथाऽऽदत्त, मन्दा अल्पवत् यथा ।  
 अधीनमपि तेः स्थदी-कृतौ पुष्टं स शिष्टवान् ॥ २ ॥  
 अथ ते साधवो दृष्यु-गुरुणां बहवो दिनान् ।  
 वेष्टुमान्ति तदाऽस्माकं, श्रुतकथः समाप्यते ॥ २ ॥  
 गुरोऽधीयतेऽह्वाय, तयोऽक्याऽपि वज्रतः ।  
 इत्येवं सर्वसाधुनां, वज्रो बहुमतोऽभवत् ॥ २ ॥

ह्यपितास्ते वज्रगुणा-नित्याचार्याः समाययुः ।  
 आयाजुर्यतिना जहे, स्वाध्यायां वस्त ऊर्ध्वरे ॥ ९२ ॥  
 जहे किं त्वेष एवास्तु, स्वामिन् । नां वाचनानुगः ।  
 गुरुत्वेऽमुनोपास, कर्णेषातात् भूतं ततः ॥ ९३ ॥  
 मुन्यते वाचनं दानु, नास्य स्वयमतद्व्रहे ।  
 हानुं वो वज्रमाहात्म्यं, वाचनाद्व्यप्योयानु ॥ ९४ ॥  
 यस्त्वस्याऽऽसीद् गुरुः सर्वे, भूय वज्रस्य तदहो ।  
 विहरन्न्यदःऽऽयासीत्, पुरं दशपुराह्वयम् ॥ ९५ ॥  
 कृष्णावासं सन्त्यवस्थां, श्रीमच्छुभसूरयः ।  
 तेभ्योऽन्यभुतमादानु, वज्रः प्रैपि ह्रिस्तायुयुक्त ॥ ९६ ॥  
 तदा च भद्रगुणयोः, स्वामिऽपश्यत् यथा मम ।  
 पतद्व्रह्मं ह्रीरभूत्, पीत्याऽऽमानु समाभ्यसीत् ॥ ९७ ॥  
 साधूनां प्रातराचख्य-स्तेऽन्योन्यकलसुचिरे ।  
 गुरुत्वे प्रतीच्येभि, ह्यस्त्वय्येव्यासिन् भुवम् ॥ ९८ ॥  
 वज्रोऽन्यस्याहनिर्नेत्र-मदुर्ध्यायान एव हि ।  
 ह्यायोऽंशानुद्वेजं, माहात्म्ये नम गृहवानु ॥ ९९ ॥  
 तेषां पार्श्वेऽथ वज्रभिर्-दशपूर्वीमधीतवानु ।  
 यत्रोदिरास्तत्रानुक्त-न्यागाहशुभसु सः ॥ १०० ॥  
 तत्रानुयोगानुज्ञायौ, वयस्यैस्तस्य वृद्धमकैः ।  
 इन्द्राचैर्गीतमादीना-मिव चक्रे महात्महः ॥ १०१ ॥  
 अमुमवाथं प्रन्यद्वृदाह—  
 “ जस्स अणुआप वा-यगसत्तणं दम्पुग्गिम्म नयरग्गिम्म ।  
 देवोदि कया मदिमा, पयागुत्तारिं नमस्सामि ॥ १ ॥  
 यस्याऽऽनुत्तं वाचकत्वे आवाचन्त्वे, शोपं स्पपम्पु ।  
 अधान्यदा सिहगिरि-दंत्वा वज्रमुनेणेषुम् ।  
 विवायानदान धीमाद्, यथी स्वर्गं समाधिना ॥ १०२ ॥  
 वज्रस्वाम्यथ संयुक्तः, साधूनां पञ्चभिः शूतेः ।  
 संधेनः प्रसरकान्ति-संन्यागोऽप्ययद् जनम् ॥ १०३ ॥  
 इतश्च पाटलीपुत्र, श्रेष्ठः श्रेष्ठो धनो धनः ।  
 तत्पुत्री रुक्मिणी नाम्नी, रूपापास्तपुत्रोमजा ॥ १०४ ॥  
 साध्यस्तदानशाशास्त्रा-श्चक्रुर्वेज्जुणस्त्वंतिम् ।  
 वज्रमेव पतीयानी, भ्रूत्वा तं रुक्मिणीं स्थिता ॥ १०५ ॥  
 आगच्छतोऽप्यनेकान् सा, वरकाद् इत्यपेधयत् ।  
 साध्योऽन्ययुने हे जने !, भ्रती परिणयन्यसीं ॥ १०६ ॥  
 साऽजदत् मां न वज्रभिः, परिणयति चेतनः ।  
 प्रभ्रजिष्याम्यहमपि, स्त्रियो हि पतिवन्मनाः ॥ १०७ ॥  
 विहरन् पाटलीपुत्र, वज्रोऽप्यन्येयुनामन् ।  
 नियथी संयुक्तस्तस्य, नगेशः सनागरः ॥ १०८ ॥  
 हपुऽऽयातो वृद्धद्वये-दिव्यरूपाद् बहुमुनीन् ।  
 राज्ञोऽथ संप वज्रस्ते-ऽन्ययुक्तस्यैकशायकः ॥ १०९ ॥  
 मा मूर्त्पैरजनकोमः, इति वज्रमुग्गन्तदा ।  
 हत्वा वपुःपराकुत्ति-आगच्छन्तिस्तशस्त्रीः ॥ ११० ॥  
 पश्चिमस्वार्थेक हष्टो, वज्रः स्ववपुपरिच्छदः ।  
 सानन्दं वन्दितो राज्ञा, तत् उद्यानवेध्मनि ॥ १११ ॥  
 धर्ममाख्यप्रभूः क्लीरा-श्रवसाध्यासितं वितम् ।  
 तेनाकितमनाः इमाजुत्, नाऽऽदितं कृत्तुपं तथा ॥ ११२ ॥  
 अन्तःपुरं नदाचख्यो, वध्निन्तुं तं तदप्यगात् ।  
 भ्रुत्वा भेष्टिमुना लोकानु, रुक्मिणी जनकं यथी ॥ ११३ ॥  
 आयातोऽस्यत्र वज्रः सः, तान् । तस्मै प्रवेदि माम् ।  
 सोऽथ वृहन्नपरित्या तौ, नित्ये सार्कै र्यकोटिभिः ॥ ११४ ॥

भगवान् धर्ममाचख्यौ, शोकः सर्वोऽपि राज्ञितः ।  
 दृष्यौ चास्य यथाऽनेकः, गुणा रूपं न तादृशम् ॥ ११५ ॥  
 ज्ञान्वा तदाशयं स्वामी, सहस्रदलमम्बुजम् ।  
 हृत्वाऽप्युत्थः स्वरूपस्यः, कवलीवापावष्टवा ॥ ११६ ॥  
 तं वीङ्क्येवाच लोकोऽस्य, सहस्रं रूपमीदृशम् ।  
 प्राथ्योऽङ्कनातो मा नृप-मित्यस्यैव स्वरूपपञ्चक ॥ ११७ ॥  
 नृपाऽपि विांसनः साह, शक्तिरेवाऽपि पाऽऽस्ति किम् ? ।  
 लघ्वीरेकाः साधूनां, तदाख्यन्वृतेर्गुरुः ॥ ११८ ॥  
 भेष्टिना मान्प्रपञ्चाथे-स्तानुपास्यज्जमी च सः ।  
 मरुका वेद्वदित्यस्तु, जगृहे साऽपि तद्व्रतम् ॥ ११९ ॥

अमुमवाथंमाह—

“ जो कन्नाइ धणेण य, निमित्तोऽनु ज्ञवणमि गिहवरणा ।  
 नयरग्गिम्म कुमुमनामं, तं वध्दरिंरिंरिं नमस्सामि ॥ १२० ॥  
 पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती ।  
 महापरिज्ञाप्यना-दिशोऽथे वेनोपामा ॥ १२१ ॥  
 “ जेणुऽरिंरिंरिंरिंरिं, आगससमा महापरिणायो ।  
 वेदामि अज्जवद्वरं, अपाच्छिमो जो सुअहराणं ॥ १२२ ॥  
 जगह अ शदिग्गिम्मा, जंनुदुव्वा इमाह विज्जाए ।  
 गणुण मारुणमनं, विज्जाए वस्स मे विस्सओ ॥ १२३ ॥  
 जगह अ धारोअण्णा, न इ दापय्वा मए इमा विज्जा ।  
 अत्तपुत्तिआ य मणुआ, होहिंति अओ पर अन्नं ॥ १२४ ॥  
 वज्रोऽथाऽऽमानु, पुर्ववेशा-द्विदम्पुत्तप्राथयम् ।  
 अत्तच्छ तत्र दुग्गिंके, पन्थानोऽप्यधिकः स्थितः ॥ १२५ ॥  
 नतः सङ्कु उध्यात्वाऽऽवार्धांश्चित्तारपति तम् ।  
 पेटेऽथ विचया सङ्ग-मारोप्य प्रस्थितः प्रभूः ॥ १२६ ॥  
 शय्यातरन्तु वायथे, गनोऽन्यायाऽह्लास्ये तान् ।  
 शिवां जिवाऽवद्वृज्ज, प्रभो ! साधर्मिकोऽस्मि वः ॥ १२७ ॥  
 अर्थदं स्मरता स्तु, साऽप्यथ्याऽपि परः पेटः ।  
 ( “ साहर्मिअवच्छहःमि उज्जुया य मज्जाए ।  
 वरणकरणग्गिम्म अ ताह, तिथस्स पमावणाए य ” ॥ १ ॥ )  
 पञ्चाऽनुत्पत्तिनः स्वामी, प्राप्नो नाम्ना पुरीं पुरीम् ॥ १२८ ॥  
 मुनिक्क वसेत्तं तत्र, श्रावकुलन्तर् भूरथः ।  
 तत्र नाथाननः श्रावो, राजा तेऽहं यवस्तनः ॥ १२९ ॥  
 आहंतानां च तेषां च, वैश्युपु रूपधेया पुनः ।  
 कुर्वतोऽहं प्रजापुत्रादि, जनेन्यस्तन्यगमयः ॥ १३० ॥  
 न्यवायन्त्याथ तेः पुण्या-पयहंतो राजवन्धेमा ।  
 श्रावाः पथुपसायां च, पुण्याभावं गुरुं जगुः ॥ १३१ ॥  
 प्रतो ! जेत्तु गुप्पानु, शान्तेन वोऽस्मिनुयुपे ।  
 शयोपन्य यथी वज्रः, कृणाऽमाहोहरवीं पुरिसं ॥ १३२ ॥  
 हुताशनवने तत्र, पुष्पकुम्भः प्रभयः ।  
 भगवतिगत्तुमिंशं च, नक्तितस्तस्य विन्तकः ॥ १३३ ॥  
 प्रभू हपुऽऽवद्वेषोपा-त्तिकं वोऽऽगामकारणम् ? ।  
 स्वाभ्युत्थं पुण्यस्मर्याः, स्वज्जा प्राणमन्ध्याः ॥ १३४ ॥  
 स्वाभ्युत्थं मुनसोऽभि-मेलनेर्थावद्वेद्यहम् ? ।  
 लुद्धं हिमवति स्वामी, यथी धीसन्धिर्वा ततः ॥ १३५ ॥  
 देवाचार्योपात्तपणा, पणा पणहृदाहृदा ।  
 प्रद्वेव प्रभू प्रमेवंतं, प्रमुखा प्राणमन्ध्याः ॥ १३६ ॥  
 ऊर्ध्वोऽवादिदयतो स्वामी, सोऽवद्वेषामपयम् ।  
 साऽप्यथं पट्टीत्या स, हुताशनवद्वेऽऽगतम् ॥ १३७ ॥  
 विमानं तत्र निर्माय, पुष्पकुम्भं निषाय च ।

अज्जकैः कृतसंगीतः, पद्यमूले स्वयं स्थितः ॥ १३४ ॥  
 व्योम्ना पुर्या उपयागा-दुर्बिरः सौगतास्तनः ।  
 अहो ! अस्मत्प्रातिहास्यं, देवा अप्यायुर्मुदिहः ॥ १३५ ॥  
 तद्विहारेमधोऽङ्गकृष्ण, गतासेनैत्यमहेतः ।  
 तन्माहात्म्यं नृपः प्रवेद्य, सपौरौऽप्याहंतोऽभवत् ॥ १३६ ॥  
 उक्तमैवाधेमाह—

“माहेसरीउ सेसा, पुरिभं नीआ हुआसखगिहाओ ।  
 गयणतलमइवइत्ता, बहरण महाउज्जवणं ॥ १ ॥  
 माहइवयो नगयोः सकाशात् सख्यामिकात् नखरव्यादेरखामि-  
 कात् प्रस्तावात्पुष्पसंपदिनि हेयम् । वज्रेण महाजुआवेर हुताशन-  
 व्यन्तरगृहभूताऽऽरात्मात् गगनतलमगित्थनोत्येव अतिशयेन उज्ज-  
 ह्ण पुरिकां पुरीनाम्मीं नगरीं नीता, एवं विहरपुवज्जस्वामी श्रीमा-  
 लपुरं गतः । इत्यन्ते कालं यावदुद्योगस्याप्युपकृतमासीत्, ततः  
 पुथकवम इदित्थ्याह—

“ अनुपुहं अनुओमां, खचारि दुवारभासप पगो ।  
 पुहत्ताणुओगकरणे, ते अत्थ तमां अनुच्छिआ ॥ १ ॥  
 आ०क० । आ० म० । आ० चू० । वि०ग० । पं० । आ०अ० । ध० । र० ।  
 कल्प० । सं० । ( अस्य वज्जस्वामिनोऽनशने कृत्वा देवलोकागमने  
 ‘अज्जकिख्वं’ इत्येवमेवनाम २१२ पुष्टे उक्तम् ) अस्य वज्जस्वामिनो  
 जन्म ( वि० सं० २६ ) ( स्वर्गोयु. ८८ ) ( वि० सं० ११४ वर्षे ) स्वर्गे गतः  
 ज० ६०॥ अत्रकाव्यानि—“माहाग्निपदच्युल्लोकीके, येन बाहेन ली-  
 लया । श्लिनतीस्तेदपूरस्ते वज्जं पृथ्वायुक्तयम् ? ” ॥ १ ॥ आ०क० ।  
 “वंदांमि अज्जधम्मं, तसो वेदं य जहुमुत्तं च । तसो य अज्जव-  
 इरं, तथंनियमगुणं हि वयस्सम् ” ॥ नं० ॥ “ समज्जनि वज्जस्वामी,  
 जुम्भकवेदायिनेस्सुकुरद्वियः । बाल्येऽपि जानजाति-स्सुतिः  
 प्रतुअग्गदुपुथी ” ॥ १ ॥ ग० ४ अत्रि० । अस्माचार्यस्य शिष्य-  
 समुद्-“ धरम्मणं अज्जवइरस्स गोयमसगोअस्स अनेवासं ।  
 धरे अज्जवइरस्सण उक्कोअियगोसं । ” धरे अज्जवइरं धरे अज्ज-  
 रहे ” । कल्प० । ( नीयोऽत्रिकमन एत-भरणे स्थानाकृत्युच्छेदः )  
 “ नरमवचिससपदि, पणणासासम्मिपदि वोच्छेदो ।

अज्जवइरस्स मरणे, उाखस्स जिणं हि निदिट्ठो ” ॥ १ ॥ ति० ।  
 अज्जवइरंसेण-आर्यवज्जमन-पुं० । आर्यवज्जस्य शिष्यं, कल्प० ।  
 अज्जवइरीं-आर्यवज्जं-स्त्री० । आर्यवज्जाभिःसुत्तानां शाखाया-  
 म्, “ अरेहिंतेणं अज्जवइरंदितां मे गोयमसगोसंतेतो इत्थ  
 णं धरेणवइरी साहाणिग्गया ” । कल्प० ।

अज्जवइहाए-आर्जेवस्थान-न०० । आर्जेव सम्यरस्तस्य स्थाना-  
 नि भेदा आर्जेवस्थानानि । साध्वार्जेवादिषु सम्प्रभेदेषु,  
 पंच अज्जवइणा पथाना । तं जइ-साहुअज्जवं साहुमइवं  
 साहुलायवं साहुखंती साहुमोची ।

सापु सम्यदर्शनपूर्वकत्वेन शोभनमार्जवं मायानिग्रहस्ततः  
 कर्मधारयः, साधोर्वा यतेराजवं साध्वार्जेवम् । एवं बोधाव्यपि ।  
 स्था० ५ श० १ उ० ।

अज्जवइहाए-आर्जेवस्थान-त्रि०० । मायोदयनिग्रहप्रदाने, औ०  
 अज्जवभावं-आर्जेवजाव-पुं० । अशशतायाम्, “ मायं चज्ज-  
 वमावेणुं ” इ० ८ अ० ।

अज्जव्या-आर्जेवता-स्त्री० । मायावर्जनात्मके धमणभेदे, पा० ।  
 अस्याः कलम्—

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जण्यइ ? अकिंचणाय णं

काउज्जुयुयं जाडुज्जुयुयं अविंसंवाययं जण्यइ । अवि-  
 संवायणसंपसयाए जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ४२  
 लोनाविनानाविनी च मायेति तदभावेऽवयवे प्राजाजं वमतस्स-  
 दाह- ( अज्जवयाए ति ) सुखवाइदुश्चुत्तकस्स ज्जाव आर्जेवम्, तत्र  
 मायापरिहाररूपेण कायेन, श्वजुयं श्वजुयः कायश्चुत्तकस्स ज्जा-  
 वस्तसा, कुञ्जादिवेषध्वविकाराद्यकरणतः प्राज्ञितः, ताम् तथा  
 प्रावोऽभिप्रायस्सस्मिस्सनेन वा श्वजुयुक्ता भावश्चुयुक्ता, यदन्य-  
 दविचिन्तयत् लोके भक्त्वादिनिमित्तमन्यथाया कायेन वा स-  
 माचरति तत्परिहाररूपा, एवं भाषायाश्चुयुक्ता भावश्चुयुक्ता, य-  
 दुपहासादिहेतोरन्यदेशभाषया भाषयं तत्परित्यागामिका,  
 तथाऽविंसंवादनं पराधिप्रनाशनं जनयति, तथा विधिध्या-  
 विसंवादनसम्पन्नतपोलक्षणत्वात् कायश्चुयुक्तादिसम्पन्नतया  
 च जीवो धर्मस्याराधका भवति, विशुद्धाध्यवसायत्वान्यज-  
 न्मन्यपि तदवोः । उच्य० १७ अ० ।

अज्जविय-आर्जेव-न०० । मायावकतापरित्यागात् ( आचा० )  
 अमायित्वे, सूत्र० २ श्र० १ अ० ।

अज्जेवय-आर्यवेदक-न०० । अग्निमाकारतत्सगोत्राभिःसुतस्य  
 चारस्यगणस्य पठु कुजे, कल्प० ।

अज्जसमिय-आर्यसमित-पुं० । भार्यवज्जस्वामिमातुः सुतद्वया  
 ज्ञातृनि आर्यसिंहगिरिदिशये, कल्प० । आ० म० द्वि० । आ०  
 चू० । येन योगप्रसावाइचपुरासम्भ्रमज्ञापे पाद्वेनेपे जलो-  
 परे गच्छन्ते तपस्सं जित्वा ते सानुपं प्रमाज्य ब्रह्मही-  
 पिका शाखा निर्गमिता । कल्प० । ( ‘ बंधदीपिया ’ शब्दे  
 वक्ष्यामि )

अज्जसमुद्-आर्यसमुच्च-पुं० । उदधिनामनि आचार्यभेदे, ज-  
 ह्वाबलपरिशीलानामुपधिनाम्नाभार्यसमुद्राणामपराक्रमं म-  
 नस्यमभूदिनि वृद्धप्रसिद्धिः । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अज्जसाम-आर्यश्याम-पुं० । आरात्, सर्वदेवधर्मभ्यो यातः  
 प्रातो गुणैरित्यार्यः, स चासौ श्यामश्च आर्यश्यामः ।  
 प्रहापनाहृत्तिकात्काचार्यनामके आचार्ये, प्रहापनासूचक-  
 रणप्रयोऽनादि तदुपक्रम एवोक्तम्—“ वायगयवंसाओ, ते-  
 वीस्स इमेण धीरपुरिसेण । दुद्धरयेण मुणिएणा, पुव्वसुयसमि-  
 ख्खुडीणे ” ॥ ३॥ “ सुयसागरा वि एक-ए जेण सुयसुयसमु-  
 सं दिव्थं । सीसगणवस्स भावओ, तस्स खामो अज्जज-  
 मस्स ” ॥ ४२॥ ( ‘ पल्लवणा ’ शब्दे चैतद् व्याख्यास्यते )

अज्जसुहृत्थि ( ण् )-आर्यसुहृत्सिन-पुं० । आर्यस्फुल्ल-  
 र्दस्य शिष्ये स्पर्धारे, आच० ४ अ० । धैराव्यसुहृत्सिभिर्दीक्षितो  
 द्रमको मृत्वा सम्प्रति नामा राजाऽभूत् । कल्प० । ( ‘ संपर ’  
 शब्देऽस्य कथानकम् )

अज्जसुहृत्थम् ( ण् )-आर्यसुधर्म-पुं० । अमरस्य भगवतो  
 महावीरस्य पञ्चमे गणधरे, तत्सकपं वेदम्-कुल्लागसभिवेशे  
 धम्मिल्लविप्रस्य भार्य्या भद्रिला, तयोः सुतभ्यतुदंशविद्यापात्र-  
 म् । पञ्चाशद्वर्षान्ते प्रव्रजितः । विशद्वर्षाणि वीरसंवा कृता वीर-  
 निर्वाणद्वद्वाद्दशवर्षान्ते जन्मतो द्विनवतिवर्षान्ते च कथंलम् ।  
 ततोऽष्टौ वर्षाणि केवलित्वं परिपाल्य शतवर्षायुषं जम्बूस्वा-  
 मिनं स्वपदे संख्याय शिषं गतः । अत्र० १ वर्ग० अणु० । सं० ।

अज्जसेणिय-आर्यसैनिक-पुं० । आर्यशान्तिसैनिकस्य द्वि-  
 तीये शिष्ये, कल्प० ।

अञ्जसेषिया—आर्यसैनिकी—स्त्री०।आर्यसैनिकीकिर्गतायां  
शाब्दायाम्, “ येनेदितो शे अञ्जसेषिपरहितो इत्थं अञ्ज-  
सेषिया साहा सिग्म्या ” कल्प० ।

अञ्जा—आद्या—स्त्री० । भादौ भवा, विनादित्वात् यत् । वाच०  
‘ गवि ’ इति केचित् । अन्विक्तयाव, दे० ना० १ धर्मे० ।  
आर्या—स्त्री०। अञ्ज—एषत् । प्रशान्तकृपायां तुर्गोपाम्, हा० ८ भ०,  
ग० । सतचतुष्कलगणादिव्यवस्थानिबन्धेः मात्राभ्रन्दादि, जं० १  
षक० । आर्यस्य संस्कृततन्माशुदा माधासंज्ञा । ग० १ अर्ध० ।  
आर्यारचनं हि एकविंशतिकृपायां कलायां गण्यते ( तच्च ‘ कला’  
शब्दे तु० ना० वृष्टे ३७७ द्रष्टव्यम् ) हा० १ अ० । साध्याम्,  
ग० ३ अर्ध० । आर्यासामाचार्याः स्वनिकामाभ्रमण दहयते  
विस्तारस्तु यथास्मानम् (‘पकागि’शब्दे पकाकित्यनिषेधो बहयते)  
आर्याया शुद्धिसमकं दुष्टभाषणे दोषमाह—

जत्थ जयारमयारं, समणी जंषं गिहृत्पपक्वखं ।

पक्वखं संसारं, अञ्जा पक्वखं प्रभाण्यं ॥११०॥

यत्र गच्छे ( जयारमयारमिति ) अवाच्यदुष्टगालिरूपं जकार-  
मकारसहितं बचनं या अमणी शुद्धस्थप्रत्यक्षं गृहिसमकं जल्प-  
ति । हे गौतम ! तत्र गच्छे सा आर्या आत्मानं संसारं प्रत्यक्षं सा-  
क्षात् प्रकृष्यतीति ॥ ११० ॥ ( ‘ गार्तरथयवयण ’ शब्दे दोषं  
प्रायश्चित्तं च वक्ष्यामः )

आद्यायांया विचित्रवस्त्रपरिधानं दोषमाह—

गणि । गोअम ! जा उचित्रं, सेअवत्यं विवज्जउं ।

सेवप चित्तरूपाणि, न सा अञ्जा विआदिआ ॥१११॥

हे गणिन् गौतम ! याऽऽयां उचितं श्रेष्ठवस्त्रं विचर्यं विचरु-  
पाणि विविधवर्णानि विविधानि विचानि वा वस्त्राणि सेवते, उप-  
पन्नकृपापात्रदृग्दण्डपरि चित्ररूपं सेवते, सा आर्या न कथि-  
तेति । विषमाक्षरैते गाथाभ्रन्दः ॥ १११ ॥

अद्यायांया शुद्धस्थादीनां संविनादिकरणे दोषमाह—

सविणं तुअणं जरणं, गिहृत्थाणं तु जा करे ।

तिअणुव्वट्टणं चावि, अपणो य परस्स य ॥११२॥

या आर्यां शुद्धस्थादीनां शुद्धादन्यतार्थिकादीनां च वस्त्रकम्प-  
नीनांशुकादिसंघिच सविणं, तुअणं, [ जरणमिति ] भरयं करो-  
ति, तथा या आत्मानम् स्वस्थ परस्स च शुद्धस्थिकाभादेः ( तिष्ठ-  
ति) तैलानुप्यम् ( उव्वट्टणंति ) सुरभिष्णुणांदिनेाहृतं च अपीति-  
शब्दाक्षयनाभ्रनमुक्त्वात्तलनपरमनादिकं च करोति, न सा आ-  
र्यां व्याहृतेति पूर्वगाथात् आकर्षणीयम् । तस्याः पाम्बस्थादि-  
त्वसमासाद्गन्तात् । ग० ३ अर्ध० । ( अत्र सुत्रज्ज काली चेत्युदा-  
हरणे ‘ बहुमुत्तिआ ’ काली ’ शब्दयोः गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्या )  
अथ गाथात्रयेण गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्याः दृश्यन्ति-

गच्छइ सवितामगई, सपणीयं नूलिअं सविण्णोअं ।

उव्वट्टेइ सरिइं, सिणाणमईणि जा कुणइ ॥ ११४ ॥

गेहेसु गिहृत्थाणं, गन्तुण कदा कहेइ काही आ ।

तरुणइ अहिवंते, अणुजाणे साइ पणिणीया ॥११५॥

याऽऽर्यां सविण्णोचं यथा स्वास्थ सविप्रासा गतिवस्थाः सा  
सविप्रासगतिगच्छति, तथा शयनीयं पत्यङ्गादि वा नूलिकां  
च संस्कृतस्तादिभूतनामकनूलादिभूतां वा, तथा या शरीरमु-  
ह्रनयति, तथा या स्नानादीनि च करोति । अथवा सवितास-

गतिगच्छति तथा शयनीयं नूलिकां च ( सविण्णोचं ति ) उच्छी-  
रं कसहितं सेवते । शेषं तथैव । तथा गृहस्थानां गृहेषु गत्वा  
उपलक्षकत्वात् उपाश्रयेऽपि स्थिता संयमयोगाद् मुक्त्वा वा  
कायिका कथिकसङ्गणोपेता आर्या कथा धर्मविषयाः संसार-  
व्यापारविषया वा कथयति, तथा या तरुणादीन् पुरुषान् अवि-  
पतत अविमुक्तमाच्छतोभुजानानि सुन्दरमागमनं प्रवतां तुनरग-  
मनं विषयेषु, कार्यं ज्ञात्यभित्याद्विप्रकारेण ‘ ई जे इराः पाइपूरणे’  
॥२२१७॥ इति प्राकृतसूत्रोक्तैरकारः पाइपूरणायां । गच्छप्रत्य-  
नीका शशुतुल्या स्वात्, अगवदाहाविराधकत्वादिति ॥ १५ ॥

वृद्धाणं तरुणाणं, रचि अञ्जा कहेइ जा धम्मं ।

सा गणिणं गुणसायरं । परिणीया होइ गच्छस्स २१६  
बुदानं स्थविराणां, तरुणानां युमां, तरुणाणं ( रचि ति )  
‘ सतम्या द्वितीया ’ ॥३११३॥ इति प्राकृतसूत्रेण सतम्रीस्थानि  
द्वितीयाविधानात् । रात्री वा आर्या गणिनी ( धम्मं ति )  
धम्मकथां कथयति, उपलक्षणाद् दिवसऽपि वा केवल-  
पुरुषाणां धम्मकथां कथयति, हे गुणसागर ! हेऽन्धभूते ! सा  
गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । अत्र च गणिनीप्रवचनं शे-  
पसाञ्चीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति ॥ ११६ ॥

अथ यथा भ्रमणीभिर्गच्छस्य प्रधानतः—

स्यात् तथा दर्शयति—

जत्य य समणं।णममं—सख्दाइं गच्छम्मि नेव जायति ।

तं गच्छं गच्छवरं, गिहृत्थभासाठ नां जत्थ ॥ ११७ ॥

यत्र च गणे भ्रमणीनां परस्परम् ( असंस्मरानि ) कदादा नैव  
जायन्ते नैवावगच्छन्ते, तथा यत्र गणे गृहस्थानां जायाः ‘ मामा  
आइ वाप जाइ ’ इत्यादिका अथवा गृहस्थैः सख साधुप्राया  
गृहस्थप्राप्त्यास्ता नोच्यन्ते, स गच्छः गच्छवरः सकलगच्छप्रधा-  
नः स्यादिति ॥ ११७ ॥

अथ स्वच्छन्दाः भ्रमणो यत् प्रकुर्वन्ति

तत्राथापञ्चकन प्रकटयति—

जो जत्तो वा जाअं, नाऽऽ लोअइ दिवसपक्खिअं वा वि ।

सच्छन्दा समणीआं, ययहरिआए न जायति ॥ ११८ ॥

यो धायान् वा अतिचार इति शेषः । आतः उत्पन्नः, तं तथा  
दैवसिकं पाक्किं वा अग्रिशब्दात्तुमांसिकं सायस्तरिकं  
वाऽतीचारं नाऽऽ लोचयन्ति । अत्र वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् ।  
स्वेच्छन्दाचारियः भ्रमणयः, तथा महत्तरिकाया साध्या आहा-  
यामिति शेषः । न तिष्ठन्ति इति ॥ ११८ ॥

विट्टियाणि पडंजति, गिआणमेहीए मेव तपंति ।

अणगादे आगाइं, करंति आगादि अणगादं ॥ ११९ ॥

विट्टिकानि निमिषादीनि।पिपुडंठं निमिषादीयोघनिपुंकिवृ-  
त्त्यादी व्याख्यानात् । तानि प्रयुज्जते।अणपि वचनव्यत्ययः प्राकृत-  
त्वादि च । तथा अणगादं गोगिणयः शैक्ष्यम् नवदीकित्ता इति शब्दः ।  
अनस्ता नैव तर्पयन्ति-औषधभेषजवस्त्राप्रदानदानादिना नैव  
प्रीणयन्तीत्यर्थः । अत्र सूत्रे “ कस्विद् द्वितीयादेः ” ॥३१३॥  
इति प्राकृतसूत्रेण द्वितीयास्थाने घटी । यथा—“ सीमाधरस्य संदे-  
ल ” तथा आगादं भवदयकरोषं नानाप्रतिज्ञाजरायादिकं, न  
आगादं अनागादं तस्मिन् अनागादे, कार्ये इति शेषः । आगाद-  
भवदयकरोषमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा आगादेऽवयवकर्त्त-  
व्ये कार्ये आगादं कार्यं, येन हृतेन विनापि सरति तत्कार्यं कुर्वन्ती

त्यर्थः । अथवा अन्नाद्ययोगानुष्ठानं वर्तमाने अन्नाद्ययोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, तथा अन्नाद्ययोगानुष्ठानेऽन्नाद्ययोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, स्वच्छन्दाः अमणय इति कर्तुं परं पूर्वगाथात आकर्षणीयम् । एवमप्रोक्तगाथाधिकेऽपीति ॥ १६९ ॥

अजयाए पकुञ्चति, पाहुणगाण अक्वञ्चला ।

चिचलयाणि असेवन्ति, चित्ता रयदहरो तहा ॥ १७० ॥

अयतनया ईर्ष्याघाशोनेन प्रकुञ्चन्ति गमनादिकमिति शेषः । तथा प्राधुषणकानां प्रामाण्यराचागतसाध्वीनामवसला निर्दोषिगुणात्मपामादिना मकिन कुर्वन्त्यर्थः तथा निचन्नानि, सूत्रं च कप्रत्ययः स्वाधिकः, प्राहूनलक्षणवशात् । अकारः स्तुभ्यये । विचित्राणि वस्त्राणि इति शेषः । संवन्ते परिदधानि, तथा चित्राणि पञ्चवर्णमुहुरिद्वचनोपेनाति रजोहरणानि सेवन्ते धारयन्ति । स्वच्छन्दाः अमणय इति, विपमाङ्कुरति याथाच्छन्दः ॥ १७० ॥

गद्विभवाइएहिं अगार-विगार तह पयासिं ।

जह वुहुगाण मोहो, समुदरेइ किं तु तपाणी ॥ १७१ ॥

स्वच्छन्दाः अमणये गतिविभ्रमादि (अगारविगार सि) अत्र विभक्तिलोपः प्राहूनत्वात् । तत्र आकारं मुखनयनस्त्वनाद्याद्युक्ति, विकारं च मुखनयनादिविकृति, यज्ञ-आकारस्य स्वाभाविकाकृतोविकारो विकृतस्त्वं तथा प्रकाशयन्ति प्रकटयन्ति यथा वृकानाम्, अपरोमध्यमानत्वात् स्वाविराणामपि मोहः कामानुरागः, सुमुदयेति समुपपद्यते, किं पुनस्त्वनात्मा, तेषां सुतरां समुपपद्यत एवमर्थः । तुः पुनर्थः ॥ १७१ ॥

बहुमां उच्छाज्जन्तो, मुहमणये हृत्पयापयकस्त्राओ ।

गिगहेइ रागमंदल, मोदंदिअ तह य कव्हेइ ॥ १७२ ॥

मुखनयनानि हस्तपादकङ्काश्च बहुमां वार वारं उच्छाजयन्ति स्वच्छन्दाः अमणयः । तथा रागमण्डलं वसन्तादिरागसमूहं अमनन्तह यत् पदस्य 'गिगहेइ' इतिपठेन सह संबन्धात् । तह य गिगहेइ (सि) नयेव युञ्जन्ति नयेव कुर्वन्तीत्यर्थः । यथा (कव-हेइ (सि) कल्पस्थाः समसपरिभाषया वाङ्मयानेपामपि श्रोत्रेन्द्रियं भ्रवणन्द्रियम्, 'गिगहेइ' इति क्रियाया अत्रापि संबन्धाद् युञ्जन्ति हरन्तीत्यर्थः । अथवा कारणेण कायेष्वचरन्तु रागो रागोत्पत्तिहेतुर्न्यस्तु, यथा-मन्थे शृङ्गारगीतादि, नयनेऽङ्गनादि, मन्सके मीमन्नादि, हलाटे नित्रकादि, कण्ठे कुमुममालादि, अयेरे ताम्बुवरागादि, शरीरे चन्दनलोपादिः तस्य मण्डलं समूहं तथा युञ्जन्ति यथा बाजानामपि श्रोत्रेन्द्रियमुपवृत्तयुद्धाद्युद्धिन्द्रियवत्पुष्कं मनश्च युञ्जन्ति हरन्ति । अत्रोत्तराकं पाजानेरम् । यथा- 'मोहण रामण मंडण, मोप्यति थ ताउ कव्हेइ' । अस्यापि युद्धस्वायत्तकानां प्रदणं कुर्वन्ति, रामणं मञ्जारीनेन, मार्कमं वा प्रसादनम्, यदि वा ताः कल्पस्थान् युद्धस्थबाजकां ज्ञेययन्ति । अत्रापि गाथायां विनक्तिलोपविभक्तियव्ययवचनव्ययथाः प्राहूनत्वादेचित्ति ॥ १७२ ॥

अथ साध्वीनां शयनविधिं दर्शयन्नाह-

जत्य य थेरं तरुणी, थेरं तरुणी य अत्रोरे मुयडे ।

गोअम । ते गच्छवरे, वरणाणचारित्तआहारं ॥ १७३ ॥

यत्र च गणे स्थयिरा, ततस्तर्हणी, पुनः स्थयिरा, ततस्तर्हणी-वसन्तारिताः साध्यः स्थयन्ती भाष्यः । तर्हणीनां निरन्तरशयने हि परस्परजङ्गाकरस्तनादिसुर्यशेनेन पूर्वकीर्तितस्मरणानि-दोषः स्वाद्वन्तः स्थयिरान्तरिता एव ताः शरते । हे गौतम ! वरणाणचारित्तआहारं तं गच्छवरे जामीहीति ॥ १७३ ॥

अथ या आर्या न भवन्ति ता गाथाभरणे दर्शयन्ति-धोअंति क्वांतिआओ, पाओन्तो । तह य दिनि पोत्ताणि ।

गिहिकञ्जचिंत्ताओ, नहु अञ्जा गोअमा ! ताओ ॥ १७४ ॥

कण्ठिका गलप्रदेशान् धावन्ति नीरेण क्षालयन्ति, तथा (पोअंति सि) मुक्ताफलचिदुमादीनि प्रोतयन्ति, गृहस्थानामिति गम्यते । तथा च (पोअंति सि) बालकाद्यर्थे अस्त्राणि वदन्ति, अकारादीपद् चक्रादिकामिति वदन्ति । अथवा 'पोत्ता-सि सि' जलाद्रीकृतबन्धाणि वदन्ति, मलस्फोटनाय शरीरे चषेयन्तीत्यर्थः । तथा गृहकार्यचिन्तिका अगारकृत्यकारणतत्परान्, हे इन्द्रभूते ! ता आर्या न हुनैव भवन्तीति गाथायाः ॥ १७४ ॥ खरयोपाहुण्णो, वयंति ते ना वि तथ व्वन्ति । वेसत्थीसंमर्गा, उवससाओ समीवमि ॥ १७५ ॥

खरा गर्वाभाः, घोटकास्तुत्कामाः आदिशब्दाद् इत्याद्ययः, तेषां स्थानि वा व्रजन्ति । उक्तं च व्यवहारभाष्यसममोदेशक- "तह चेष ह्यिथसाला, घोडगमालान् चेष आसन्ना । जंति तह जेतसाला, कोहीयत्तं च कुव्वन्ति" । अथवा [खरसि] खरका दासाः, घोडा भट्टाः, अथ चानयोः शब्दयोरर्थः, आदिशब्दान् शूनकाराद्ययः, तेषां स्थानि व्रजन्ति, ते वा गर्वाभाषाद्ययो दासभट्टाद्यो वा, तत्राऽऽर्थिकोपाश्रये व्रजन्ति समायान्तर्यः । औप्यवहारभाष्यसममोदेशकः (विदं प्रथमपदस्य पाठान्तर्य- 'ध-लिघोडाहट्टाणे नि' नत्र स्थाल्या देवद्वेगयः, नत्र घोटा निङ्गराः, अत्रादिशब्दस्तेपामिथ देवादिङ्गणामनेकेभ्योपाध्यायार्थः, तेषां स्थानि व्रजन्ति । तथा स्थाल्यातादेवदिङ्गणपरपयोयास्तत्रार्थिकोपाश्रये व्रजन्ति । तथा वेण्यास्त्रीसंमर्गा पुमान् स्तैव यासां संमोप वसन्ति, यदि वा वेण्यागृहसमीपे यास्तामुपाश्रयः । ता आर्थिका न भवन्तीति शेषः ॥ १७५ ॥

संभक्त्यामुक्तुगोगा, धम्मकहादिकेपसए गिहो ॥

गिहिनिसुजेजो वाहि-निं मयथं तह करंतीओ ॥ १७६ ॥

स्वाध्यायेन मुक्तो योगो व्यापारो यासां ताः स्वाध्यायमुक्तयो-गाः 'सुक्तायजोग सि' पाठे तु यदकार्येषु मुक्ता योगो यतनालक्षणे व्यापारो यमिभन्ताः यदकार्यमुक्तयोगास्तथाभूताः सत्यो गृहिणा धर्मकथनामाप्त्यानां विकथानां च स्त्रीकथादीनां करणे, प्रपण्ये प्रपण्ये च नानारूपे गृहिणामुक्ताः, तथा या गृहिनि-वर्था वाचन्ते गृहे निपद्यन्तुपविशन्तीत्यर्थः । तथा याः संस्तवपरिचयं गृहस्थैः सह कुर्वन्त्यो वर्तन्ते, ताः साध्वी न भवन्तीति ॥ १७६ ॥ न ॥ ३० ६ अखि० ।

अथ गाथाभरणे यचमुत्तिमाश्रय साध्याचारं दर्शयन्ति-

जत्तुत्तरपडित्तर, वुहिअ अञ्जा उसाहुणा सत्थि ।

पलवंति मुहुटा वा, गोयम । किं तेण गच्छेण ॥ १७७ ॥

यत्र गणे अथां साधुना सार्द्धमुत्तरं प्रत्युत्तरं वा ( बुद्धि-सि ) बुद्धा अपि ताः, अप्यर्थस्यात्र योजनान्, तथा सुरुष्टा अपि भूशं संगवा अपि प्रपन्नति प्रकण्णे वदन्ति । हे गौतम ! तेन गच्छेन किम् ? न किमपीत्यर्थः ॥ १७७ ॥

जत्य य गच्छे गोयम । उप्पण्ये काणम्मि अञ्जाओ ।

गणियाणिपिच्छिअओ, जासंतो मउअमहेण ॥ १७८ ॥

हे गौतम ! यत्र च गच्छे ज्ञानादिकारेण उत्पन्ने ( अञ्जाओ सि ) आर्याः साध्वी गमनीपुदिस्थिताः सुद्धकदाभ्यन्त भाषन्ते स गच्छः स्वादिनि शेषः ॥ १७८ ॥



माऊए छहियाए, मुएहाए अइव नइणियाईणं ।

जत्य न अज्ञा अकखइ, गुणिविभेयं तयं गच्छे ॥ १३१ ॥

यत्र मच्छे आर्यां मातुः दुहितुः स्तुत्याया अथवा भगिन्यादीनां संबन्धि (गुणिविभेयं ति) गुणैश्चैनमुनेन्द्रो भङ्गे यस्मात्तद् गुणिविभेयम्, नात्रकोट्ट्याटकमित्यर्थः । चवनमिति शेषः । नाक्यासिद्धिं बह्वकुलं अथति-हे मातः ! हे स्तुतेः । हे भंगिनि! इत्य-दिनात्रकोट्ट्याटकचवनंन माताश्रीनाम्नापयति । यत्कलं श्रीशशै-काक्षिके सतमाध्ययने-“ अउजए पउजए वा वि, अम्मो माउ-लिय ति अ । पिउरिस्सए भायणिज्जति, धूए ननुणियत्थिय ॥११ ॥ १५ ॥ तथा-“अउजए पउजए वा वि, वण्णुज्ज पिच ति अ । माउहा भायणिउज्ज ति, पुत्ते मनुणियत्थिय ॥१७ ॥ अथया ममेयं माता ममेयं दुदितेत्यादि, अइमस्या वा माता अइमस्या वा दुदिता अइमस्या वा धपूटीत्यादि वा नात्रकोट्ट्याटकचवनं कारणं जिनं न जसपति । अथवा मायातीनामापि ‘गुणिविभे-यं ति’ गोपनीयमर्थं न कथयति; स गच्छः स्यादिति ॥१३१॥

अथ गाथाप्रयेण साध्वीस्वरूपवक्तव्यतागोपमाह-

दंसपियारं कुणई, चरिचनानं जणेइ भिच्छत्तं ।

दुएण वि वग्गाएअज्ञा, विहाउभेयं करेमाण्ण ॥ १३२ ॥

दर्यंनतिचारं करोति, चारित्रनाशं, मिथ्यात्वं च जनयति, द्व-योरपि वर्गयोः साधुसाध्वीरूपयोः, आर्याः किं कुर्वाणाः?, विहार-भाग्यमोक्तविभक्ति विचरणम्, तस्य अद्रो मर्यादांलङ्घनम्, तं कुर्वाणाः ॥१३२॥ ग० ३ अथि० ।

आर्योंणां ज्ञापणप्रकारः—

तम्मूलं संसारं, जणेइ अज्जा वि गोयमा । नृणं ।

तम्हा धम्मवएरसं, मुत्तुं अन्नं न भासिज्जा ॥ १३३ ॥

तद् धर्मोपदेश्यत्पत्तिकं वाक्यं, मूलं कारणं यत्र संसारजनने तत्तम्मूलं, तद्यथा स्यात्तथा हे गौतम ! आर्योंऽपि साक्षाद्यपि तुं निश्चितं संसारं जनयति विध्वंसयति, अस्मात् इति शेषः । तस्मा-त्कर्मोपदेशं मुक्त्वा अन्यदर्शमार्यां न ज्ञापेत् ॥१३३॥

माते माते ऊ जा, अज्जा एगसित्थेण पाएए कलहे ।

गिहत्यजासाहिं, सव्वं तीइ निरत्थयं ॥ १३४ ॥

‘मासे मासे ऊ’ इत्यत्र “क्रियामध्येऽवबालो पञ्चमी च” इति सूत्रेण सप्तमी । वीप्सायां चिध्वनम् । तुश्चैवकारार्थः । ततश्च माते मासे एव नत्वर्थमासादौ या आर्यों साध्वी एकसिद्धेन एककणेन पारयते पारणकं कुर्यात् । ( कलहे ति ) कलहयेच्च कलहं कुर्यात् । गृहस्थजात्याभिर्मेमांश्चाटनत्पापप्रदानञ्कारण-कारादिवचनैरित्यर्थः । अथया कलहे रादौ गृहस्थजात्याभिः क्रि-यमाणे स्वर्गति शेषः । सर्वे तपः प्रवृत्तिं धर्मात्पुण्यं तस्याः निरर्थकं निष्फलमिति । विषयमाकरोति मायाचक्रः ॥१३४॥ ग० ३अथि० ।

अम्यच्च साध्वीनामनाचारिणम्—

जत्य य तेरसहन्थे, अज्जाओ परिहरंति नाएधरे ।

मागमा सुयदेवामिब, सव्वमवि त्थी परिहरंति ॥

इनिहासलेह्कंदे-प्पणहवादाणं कीरए जत्य ।

धावणदुवणल्लंयण-मयाएजयाउत्तरणं ॥

जन्थित्थीकरफरिसं, अंतारियं कारणे वि उप्पये ।

दिट्ठीविसादिचग्गी, विसं च वज्जिउज्ज स गच्छे ॥

जन्थित्थीकरफरिसं, लिंमि अरहा विसयमावे करंज्जा ।

तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणवाहा ॥

मूलगुणेहि उ खलियं, बहुगुणकालियं पि क्खित्तसंपभं ।

उत्तमकुले वि जायं, निद्धाकिज्जइ जहि तहि गच्छं ॥

अथ हिरस्सुववणं, जणधमे कंसदोसकलिहाणं ॥

सपणाए आसणाए य, नयपरिभोगो तयं गच्छं ॥

जत्य हिरस्सुववणं, हत्थेण परायं पि नोच्छिप्ये ।

कारणसमपियं पि हु, खणानिमिसच्छं पि तं गच्छं ॥

दुद्धरबंजनवयपाल-णट्ट अज्जाए वषलविचाणं ।

सतसहस्सं परिहरे-ज्ज ए वी जत्थत्थियं तं गच्छं ॥

जत्पुत्तरचपदिउ-त्तरोहि अज्जा उ साह्मिा सार्द्धं ।

पलवंति सकुच्चा वि य, गोयम ! किं नेए गच्छेण ? ॥

जत्य य गोयम ! बहुवि-प्पक्कणोत्तचंलमणए ॥

अज्जाएणमणुट्ठिज्जइ, जणियं तं केरिसं गच्छं ? ॥

जत्य कवंगसरिरो, साह् अणत्ताहुं णिच्च हत्थयया ।

उहं गच्छेज्ज बहिं, गोयम ! गच्छम्मि का मेरा ? ॥

जत्य य अज्जाहि समं, संलावुद्धावमाइ ववहारं ।

मोत्तं धम्मवएरसं, गोयम ! तं केरिसं गच्छं ? ॥

भवमणियत्थंविहारं, णिययविहारं ण ताव सादृणं ।

कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का वचा ? ॥

निम्मम निरहंकारे, उज्जुत्ते जाएदंसणचरित्ते ।

सयलारंभविमुक्के, अप्पन्दिवच्चे सदहे ॥

आयारमायरंते, पगस्सेत्ति वि गोयमा । मुण्णो ।

वाससयं पि वसंते, गीयत्थाराहगे जणिए ॥

जत्य समुद्देमकाले, साहूणं मंदझइ अज्जाओ ।

गोयम ! उचंति पादे, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥

जत्य य हत्थसए वि य, रयाणीवारं चउएहमूणाम्भो ।

उहं दसएहमसई, करेत्ति अज्जाउ णो तयं गच्छं ॥

अववाएण वि कारण-वमेण अज्जा चउएहमूणाम्भो ।

गोयम ! वीपरिमक्के-तिजत्य तं केरिसं गच्छं ? ॥

जत्य य गोयम ! साह्, अज्जाहि समं पइम्म अज्जए ।

अथवाएण वि गच्छे-ज्ज तत्थ गच्छम्मि का मेरा ? ॥

जत्य य निमहिभेयं, वक्कणुगणुदीराणं साह् ।

अज्जाओ निरिक्खेज्जा, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥

जत्य य अज्जालद्धं, पदिमगहमादि विविहउवगरणं ।

परिअंइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥

अइ दुलहं जेसअं, बलवुद्विदिवहणं वि पुट्ठिकरं ।

अज्जालद्धं अंजइ का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥

साऊण गइ सुक्काम्भि-याए तह ससगजसगजइणिए ।

ताव न वीसभियव्वं, सेयट्ठी धम्मओ जाव ।

ददचारित्तं मोत्तुं, आयरियं मयइरं च गुणरासिं ।

अज्जा वजावेई, तं अणगारं न तं गच्छं ॥

यएणान्णिय कुट्टुकुट्टुव, विउदुगेज्ज मूढहिययाम्भो ।

होउज बावारियाभो, इत्थीरजं न तं गच्छं ॥  
 पक्कला सुयदेवी, ते च सप्पीइ सुराहि अणुया वि ।  
 जत्य एरिसए कुज्जा, इत्थीरजं न तं गच्छं ॥  
 गोयम ! पंचपहव्यय-गुणीयं दसविहसस धम्मसम ।  
 एकां कइ वि खम्मिज्जइ, इत्थी रजं न तं गच्छं ॥  
 दिण्णदिक्खियसस दमण-सस अभिमुहा अज्जवदेणा अज्जा ।  
 निच्छइ आमणगहण्यं, मो विण्णभो मव्वअज्जाणं ॥  
 वाससयादिकिसयाए, अज्जाए अज्जदिकिसभो साहू ।  
 जत्तिभरनिजराए, वेदणविण्णएण सो पुज्जो ॥ महा० प० ५० ।  
 ( उपपयादिकम ' उवहि ' आदिशब्देषु ७० प्रा० १०६० )

पृष्ठे छूट्ठमम ) नि० सू० । ग० ।

अञ्जनाकल्प-आर्याकल्प-पुं० आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याकल्पः । साध्वीनाताऽऽहरे, ग० ।

अध्यार्याण्यतिकरेण गच्छस्वकल्पमेव गाथादशकेनाह-जत्य य अञ्जनाकल्पो, पाण्चचाए वि रोउउत्तिभक्से ।

न य परिमुज्जइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥६१॥

यत्र च गण्ये आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याकल्पः, साध्वीनाताहार इत्यर्थः । प्राण्यत्येऽपि मरुत्तानामनेऽपि, रोउउत्तिभे दाकणुत्तकाले, नच नैव, परिमुज्यते साधुभिन्निति शेषः । कामः, सहसति । अभिविमुच्य संयमस्य विराधना-विराधने, यतः सर्वत्र संयममेव रक्षेत, संयमे च तिष्ठति आन्मानमेव रक्षेत, आत्मानं च रत्नं हिंसादिदोषाद् मुच्यते । मुकस्य च प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशुद्धिः स्यात् । तेन च हिंसादिदोषप्रतिषेधनकालेऽप्यधिरतिः, तस्याशये विशुद्धतया विशुद्धपरिणामत्वात् । उक्तं श्रीचरित्तुक्तौ गाथायाम्-“सर्वत्र संयमं सं-जमाउ अण्णाममेव रक्खना ॥ मुक्खइ वायाभो पु-ण्णा विसोहीन याधिरहू” ॥१॥ नतो विमृश्य परिमुज्यतेऽपि अक्षिकापुत्राचार्यैरिति । यदाह-“अक्षियपुत्राचार्यो, मत्तं पाणं च पुण्णसूत्राए । उवणीयं भुंजतो, पंचपवणं सो अलंगज्जा” ॥१॥ हे गौतम ! स गच्छो भणित् । सूत्रे नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादि-त्ति ॥ ६१ ॥ ग० २ अधि० । अक्षिकापुत्राचार्यसंबन्धश्च ‘ अक्षिभाउच ’ शब्दे धक्यते )

अज्ञान्यदिज्ञ-आर्येणनिन्दुल-पुं० आर्यमज्ञोः शिष्ये आर्येनाग-द्विज्ञागुरौ, न० ( व्याख्यास्य ‘ अज्जणदिल ’ शब्दे छट्ठ्या )

अञ्जालच्छ-आर्यालच्छ-त्रि० । सार्धो प्राप्तिः ग० २ अधि० ।

जत्य य अञ्जालच्छं, परिगहमाइं पि विविदउवगरणं । परिमुज्जइ साहूइ, तं गोयम ! करिसं गच्छं ? ॥६२॥

यत्र च गण्ये आर्यालच्छं सार्धोप्राप्तं पलद्व्रहादिकं विविध-मुपकरणमपि किं पुनराहादिकमित्यादिवाच्यार्थः । कारणं यिन साधुभिः परिमुच्यते, हे गौतम ! स कीदृशो गच्छः?, न कीदृशोऽपि नान्नाऽऽयालच्छं पतद्व्रहाद्युपकरणस्य कथं संबन्धितं, अर्थोनां गृहस्थसकाशात् स्वयं वक्ष्यामस्वैव प्रहणनिषेधात्, ग्रहणे च प्रायश्चित्तम, अनेकं दोषात् । उक्तं च यतिजीतकल्प-प्रकरणे-“गुरुउवाहिम पदिसेहे, उप्पयप्रसोहिकमित्तमाहसे । बह्णुणा गुणज्जाणं, सयमं च वथपायागिहे” ॥१॥ अस्याः किञ्चिदुपपन्नात्कृत्तिलेसो यथा-आर्याणां संयतीनां गृहस्थ-सकाशात् स्वयमेव वक्ष्यामस्वैव अतुष्टुक्काः । यतः संय-

तीनां गृहस्थेषु स्वयमेव वक्ष्यामिप्रहणेऽनेके दोषाः संबन्धि । तथाहि-संयतीं गृहस्थाद्विष्णो गृहस्थां दृष्ट्वा कोऽप्यनियमश्चास्ति विषयायं गच्छेत्, निम्नंशोऽपि भाटी गुहातीति शुक्यते वा । गृह-स्थो वा वक्ष्याति वक्ष्या मैनुनमभवामेव, प्रतिषिद्धे कैयामेव व-क्ष्याणि गृहीत्यांके न करोतीत्युक्ताहं शुक्यात् । स्त्री च स्वयमेव नदपसस्या, ततो येन तेन वा वक्ष्यादिनाऽऽखेनापि सोऽनेन सा-जिता आकार्यमपि करोति, बहुमाहात्र स्त्री, ततः पुरुषैः सह संलापं कुर्वन्त्या वक्ष्या गृहस्थाश्च तस्याः पुरुषसंपर्कनां मोहां दीव्यते, उदाररूप्यां वा संयतीं दृष्ट्वा कामंभादिना कश्चिदशो-कु-यात् । वशीकृता च आदिप्रविराधनां करोति, तस्मात्किंन्यीयि-शुहस्थेषु स्वयं वक्ष्याणि न प्राहासि, किन्तु तानि गणधरेण दातव्यानि । तत्रायं विधिः-संयतीं प्रायश्चयमुपपिमुक्ताए सार-दिनानि स्थापयति, ततः कथं कृत्वा स्वविरं स्थविरां वा परि-धापयति, यदि मानसं विकारस्ततः सुखम् ॥ एवं पंचक्राम-कृत्वा यदि ददाति, तदा अतुष्टुक्कम । तं च परीक्षितमुपधिमा-चार्यो गणियाः प्रयच्छति, गणानि च संयतीनां विधित्वा ददा-ति । आचार्याः स्वयं न तासां ददाति तथा अतुष्टुक्कम, यतः काश्चिन्मन्त्रमां प्रणेद्व्यासांशोरं दत्तं तेभ्योऽप्येथा यीवमस्या च एवमस्थाने स्थापयति । तस्मादाचार्येषु प्रयक्षिन्या एव इत्ते दातव्यमित्यादि । एतच्च निशार्थपञ्चदशोद्देशकृष्णार्थपि सवि-स्तरस्मिनि । प्रश्नोच्यते-यत्कं भवता, तत् सत्यं, परं संज्ञयते, अमणानावादी आर्यांश्वत्थमुपकरणस्य अमणासज्ञावादी निम्नंशोनामपि श्रवित्वादिक्रमेण स्वयमेव वक्ष्यामस्वत्युक्ता-नात् । उक्तं च निशार्थपञ्चदशोद्देशकृष्णार्थे-यथा चायं ग भाइ-यद्येयं, तुत्रस्य नैरुपेक्ष्यं प्रसज्यते । आर्यविप्रो भाइ-‘ अलइ समणण ओअण !, जायंते भोसंसे तइ वेव । जायंति धेरिय सती, व मीसगा भोसंसे उणो ” ॥ १ ॥ हे खोदग ! समणार्यं असति धेरियाओ वधे जायंते, निमंतेषु वार्थं वा गोयंति, जहा साहू तथा ताअं वि, धेरीणं असति तरुणी व ति विस्साउ जायंति स्मे उणे भोसुमित्यादि । अत्र वक्ष्यामस्वत्यप्यत्रमहमनुकल्पं अमणाभावाद्यनुज्ञातं सं-भाव्यते ॥ ६१ ॥

अदुष्टुह-नेसज्जं, बलमुक्त्विबहुणं पि पुष्टिकरं ।

अञ्जालच्छं पुंजं, का मेरा तत्त गच्छमि ॥ ६२ ॥

यत्र गण्ये, अप्रियशब्दस्य प्रतिविशेषणं संबन्धात् अतिदुर्ल-भमपि अतिस्थेन दुष्प्राप्यमपि । अत्र विधिलोपः प्राकृतत्वात् । सप्रसो वा मैषयशब्धेन सह । तथा बहमुक्त्विबोधेनमपि, तत्र बहं शरीरसाधर्म्यं, बुद्धिमत्ता, तथा पुष्टिकरमपि शरीरोपव्य-कार्यपि, अथयमौषधमायोऽन्नं च साध्यानीतिं मुच्यते, साधु-जिविति शेषः । हे गौतम ! ( का मेरा ) का मर्यादा तत्र गच्छे?, न काव्दिपीत्यर्थः । मेरिति मर्यादावाच्यं देशशब्दः ॥ ६२ ॥ एगो एगित्थिए सत्थि, जत्य चिट्ठिज्ज गोअप्पा ।

संज्ञंए विभेमेण, निमरं तं तु जासिमे ॥ ६३ ॥

एक एकात् साधुरेकार्कान्यास्त्रिया सार्धं हे गौतम ! यत्र (त-ष्टेत् तं गच्छं निमरं निमंथोर्त् प्रापामहे वथम् । संयत्ता च एका-किन्या एकाकी वत्र साधुसिंहदं तं तु गच्छं विशेषण निमरं-भाषामहे इति । अत्र एकाकिन्या स्त्रिया साध्या च सार्धमे-कार्कानिः साधुषुद्वैकक स्नानवर्जितं तेषामेकार्काने परस्परम-प्रत्यङ्गादिदर्शनाऽऽत्पायादिकरणतो दोषोत्पत्तेः संबन्धात् । किं-

च-प्रतीतमेकान्तोऽपि श्रेणिकच्छेदणयोः क्वादिदशनेन धीमन्महा-  
 धीरस्तापुसाश्वीनां निदानकरणादिदोषोपपत्तिः संज्ञानेति शी-  
 शाश्रुतस्कन्धे तथोपलम्भमिति । अन्वृत्तः ॥ १८३ ॥ ग० २ अर्थात्  
 महा० आच० । ( 'अग्निश्चाउत्त' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते )  
 अञ्जुवियव-आङ्गापरितव्य-त्रि० आहाये समाहायितव्ये,  
 "अहं षं अञ्जावेयवो अषे अञ्जावेयवा" सूत्र० १५ श्रु० २ अ० ॥  
 अञ्जासंसर्गा-आर्योसंसर्गा-खी० । सध्वोपरिचये, ग० ।

आर्योसंसर्गवर्जिते कारणमाह—

वर्जिते अप्यमत्ता, अञ्जानांसर्गा अग्निविसमरिसि ।  
 अञ्जानुचरो साह, अहं अकिंचि सु अचिरेण ॥ ६३ ॥  
 वर्जयत मुञ्चत; अप्रमत्ताः प्रमादवर्जिताः सन्तो ज्ञोः साधवः ।  
 यूयम काः, आर्योसंसर्गाः सार्वापरिचयान् । अत्र शसां लोपः  
 प्राकृतत्वात् । उपसर्गेश्चिविसदृशीरुपलक्षणत्वात् व्याघ्रविष-  
 घरादिस्तृतीक्ष, सूयैस्मादर्थे । ततोऽयमर्थः—यस्मात्कारणात्  
 आर्योनुचरः साधुमुनिर्भवेत् प्राप्नोति अकीर्तिसमसाधुवादमि-  
 रेण स्तोत्रकालेनात् ॥ ६३ ॥

धेरस्म तवस्मिस्स, बहुस्तुअस्स द पमाणुयस्स ।

अञ्जासंसर्गाए, जणजंपणयं हविआहि ॥ ६५ ॥  
 र्धाचिरस्य वृक्षस्य तपस्विनो वा तपोयुक्तस्य बहुश्रुतस्य वाऽ-  
 धीतवह्न्यागमस्य प्रमाणश्रुतस्य वा स्वजनमायस्य पर्वविध-  
 म्नापि साधोः आर्योसंसर्गाः सार्वापरिचयं ( जणजंपणयं  
 ति ) जनवचनीयता जनापवाद इत्यर्थः, भवेदिति ॥ ६५ ॥  
 अथ यथेष्टविधस्यार्योसंसर्गो जनापवादः स्यात्सर्त—  
 एतद्विपरिचयस्य का कथंयाह—

किं पुण तरुणो अत्रवृ-स्मअ न व विगिटतवचरणो ।

अञ्जासंसर्गाए, जणवंचणयं न पाविजा ॥ ६६ ॥  
 तरुणो युवा अत्रवृक्षवृक्षामर्षादिदानमिदं न चापि बहुवि-  
 द्दुष्टपत्रधरणो न दशमादितपकतोः पर्वविधां मुनिगर्वांससर्गो  
 जनवचनायनां किं पुनर्न प्राप्नुयात्, अपि तु प्राप्नुयादित्यर्थः ।  
 ॥ ६६ ॥ ग० २ अर्थः ।

अञ्जासाध-आर्योषाह-पुं० । श्वीवर्गमिच्छन्तुदशधिकव-  
 र्पदान्द्वयप्रतिक्रान्ते उत्पन्नास्यदृशीनां गुरोः, ते चाऽऽर्योषाहा-  
 त्रिधा आचार्याः श्वेताभ्यां नगर्यां समवसन्त्य तत्रैव हृदयशु-  
 लीरोगतो श्रुत्या सौधमं उपपद्य पुनः शरीरमाद्यष्टाय कश्चिन्व-  
 शिष्यमाचार्ये कृत्वा दिव्ये गता इति । तत्रिण्याश्चाप्युक्तदृष्ट्याऽन-  
 वृत् । आ०क० । तत्०शा०ग० ॥ ( 'अव्यक्तिय' शब्देऽस्य विस्तरः )

अजिअ-अजित-त्रि० । उत्यादितः उत्त० २ अ० । उपार्जितं,  
 " घम्वजित्यं च वयदहं, वृक्षेहायदिय स्या " उत्त० १ अ० ।  
 संश्वेत. " अट्वाहं कमसूलं, बहुहृदि भवेहि अजित्यं पाव " सं-  
 यथा० । नि० वृ० । उत्त० ।

अजिअज्ञाज-आर्यिकालाज-पुं० । आर्यिकालाभ्यां ज्ञान-  
 आर्यिकालान् । साध्यानीतवस्त्रपात्रादौ, आच० ।

अजिअज्ञामे गिद्धा, मएण लोनेण ते अमंनुट्ठा ।

जिक्खापरियाजमा, अग्निपुत्तं ववदंति ॥ ११७ ॥  
 आर्यिकाज्यां ज्ञानं तस्मिन् कृत्वा आत्मज्ञानं, स्वकीयनाम्नीय-  
 न लानेन ये अस्सनुट्ठा मन्धर्मो भिक्षुवियथा भग्नाः जिह्वाऽ-  
 ट्ठेन निर्विषा इत्यर्थः । ते हि सुसाधुना चोदितः सन्तः अम-

द्योऽयं तपस्विनामिति अजिक्खापुत्रमाचार्यो व्यदिक्षस्याल-  
 म्बन्वन्वेनेति गाथायै ॥ ११७ ॥

कथम् ?—

अग्निपुत्रायारिओ, भवे पायं च पुष्पवृणाए ।  
 लवणीयं जुंजंता, तेषं भवेय अंतगदो ॥ ११८ ॥  
 अक्राराथो निगदसिः । भावाथेस्तु कथमागमाद्वयस्येः ( तच्च  
 ' अग्निवाउत्त ' शब्दे वक्ष्यते ) तेन मन्धमतय इदमालम्बनं कु-  
 र्वेन्नः सन्तः, इदमपरं नेहन्ते । किमत आह—

गयसीसगणा ओमे, भिक्खायारिओ अपवन्नं येरं ।  
 निगदंति महो विसदो, अजिअज्ञालामं गवेसंता ॥ ११९ ॥

गतः शिष्यगणाऽऽयति समासस्तस्य, ( ओमे ) दुर्मिक्षे जिह्वा-  
 चर्यायाम्, ( अपवन्नं ) असमर्थः, जिह्वाचर्यायामपवन्नं अम-  
 मर्थसं स्थायिरं वृक्षमेषंगुणयुक्तं न गणयन्ति नाश्रोचयन्ति, स-  
 हा विसदोः समर्थाः, अविशद्वन्तः सहायादिशुणयुक्तोऽपि सत्र-  
 मायायिन आर्यिकालाम्ब वेरं गवेययन्ति अन्वेषन्त इति गाथा-  
 यैः ॥ ११६ ॥ आच० ३ अ० ।

अजिअ-आर्यिका-खी० । मानुमोतरि, दृश० ७ अ० । पिता-  
 महाम्, वृ० ३ उ० । ग० । साऽऽर्यां च । ' ज्ञानोते जिनयचनं, अद्वैत  
 चार्थिकासकलम् । नाभ्यास्यसम्भयोऽस्या-वाट्टविरो-  
 धगतिरसि' ॥ ११७ ० २ अर्थः ॥

अज्जु-अश्रु-अश्रु० । अपगुंशे उकारान्तत्वम् । अस्मिन्नदति,  
 " विष्णुयारत्र जद्वि, पित्रतो वि तं आणहो अज्ज " प्रा० ।  
 अज्जुण-अज्जुन-पुं० । अज-उन्नद । ककुभपयायं, आ० । बह-  
 वीजकृत्कन्दे, प्रज्ञा० । पद० । ज्ञा० । रा० । तपुण्ये, तच्च सु-  
 रजि भवति । ज्ञा० ० १७ अ० । तुणविशेषे, प्रज्ञा० १ पद० । आ-  
 चाः । स्वनामस्मिन् पाण्डुस्त्वगं, जे० ३ वृ० ० । गोशालस्य  
 महश्चिपुत्रस्य ग्रेणे गौतमपुत्रे टिकचरे, भ० १५ शब्दे उ० । " अ-  
 ज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सर्गसो विष्णुज्जाहिं " ज० १५ ज्ञा० ?  
 उ० । द्वैहयवश्ये कृतयोर्योऽप्ये नृपदेन, भूतायमानां हृदयश्चा-  
 न्तेन । ध० १ अर्थः । पाण्डुरजस्य नृतीये आत्मजे, ज्ञा० ?  
 श्रु० १६ अ० । ( विद्याहादि चास्य 'दोष' शब्दे उच्यते )  
 " अज्जुणहिं व तस्स ज्ञाहा " उपा० २ अ० ।

अज्जुणाग-अज्जुनक-पुं० । माहाकारनेदे, अन्तो तत्कथा चैवम-  
 तेषं काले णे तेणं समएणं रायगिहे णयरे गुणसिद्धए च-  
 ए, संभए राया, चट्टणा देवी, तथं णं रायगिहे णयरे  
 अज्जुणए नामा मालागारं परिवसति । अहे जाव  
 अपरिज्ञेने तस्म णं अज्जुणयस्स मालागारस्स बंधुपती-  
 नामं जारया होन्था । सुमालस्स तस्स णं अज्जुणयस्स मा-  
 लागारस्स रायगिहस्स नगरस्स बहिया । एतयं णं महं एगे  
 पुष्पागामे होन्था, किन्हे जाव निकुंवेज्जेते इमच्छवणकुसु-  
 महे पाता ते तस्म णं पुष्पागामस्स अद्वराम्भते एतयं णं  
 अज्जुणयस्स मालागारस्स अज्जपयज्जयपिडपज्जायते अ-  
 णेगकुलपरांसं परंपरागेते भोगपाणस्स अक्खाययणे हो-  
 न्था, पोगेणे दिव्से सच्चे मच्चवातिप जहा पुष्पभंदे तस्य

णं मोग्गरपाणिस्स एणं महं पल्लसहस्सनिप्पणअओपयमो-  
ग्गरं गहाय चिद्धति. तस्सेव अञ्जुणए मालागारे बालप्पञ्जि-  
त्ति चैव मोग्गरपाणि जक्खस्स ज्ञेयाया वि होत्या, कल्ला-  
कद्धि पच्चियन्दिपा वि गेएहोवेत्ति, गेएहोवेत्तिचा रायगि-  
हातो णगमाओ पन्निक्खवत्ति, पाट्ठिक्खस्सपा ज्ञेयेव पु-  
प्फाराये उज्जाणे तेषेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा पु-  
प्फचयं करोति, करोतिचा अग्गाडं वराडं पुप्फाड गहाय जे-  
णेव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेषेव उवा-  
गच्छति, उवागच्छतिचा मोग्गरपाणिजक्खस्स महरिह पुप्फ-  
च्छणं करोति, करोतिचा जाणुपातं पन्दिने पणामं करोति,  
करोतिचा ततो पच्छा रायमग्गंसि विति कप्पेमाणे विहरति,  
तथ एं रायगिहे नगरे ज्ञित्तननामं गोट्ठं परिवसति, अद्दा  
जाव अपपरिद्धया जक्खयमुक्खा या वि होत्या, तं रायगिहे  
णयंरं अमया कयाडं पमाये घुट्टे या वि होत्या, तस्सेव अञ्जु-  
णए मात्तागारे कल्लपयुवतराएट्ठि पुप्फाडं कञ्जंमि तिकहुं  
पच्चमकात्तासमयंसि बंधुमतीए जारियाए सत्ति पच्चिय प-  
टियाडं गेएहति, गेएहतिचा मयाउ गिहातो पन्निक्खवत्ति,  
पन्निक्खवत्तिचा रायगिहं णयंरं मज्झं मज्झणं निगच्छड,  
निगच्छडत्ता जेणव पुप्फाराये उज्जाणे तेषेव उवाग-  
च्छति, उवागच्छतिचा बंधुमतीए जारियाए सत्ति पुप्फचयं  
करोति, तीसं लाडियाए गोटी; तथ गोट्ठिआ पुरिमा जेणव  
मोग्गरपाणिस्स जक्खायतणे तेषेव उवागया अज्जि-  
ममाणे चिट्ठति, तस्सेव अञ्जुणए मालागारे बंधुमतीए  
जारियाए सत्ति पुप्फचयं करोति, करोतिचा पच्छीयं भरोति  
अग्गाडं पुप्फाडं मिडाडं जेणव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स  
जक्खायतणे तेषेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा ते इ गोट्ठि  
पुरिमा अञ्जुणए मात्तागारे बंधुमतीजारियाए सत्ति  
एज्जमाणं पासंति, पामंतिचा अएणमएणं एवं वयासी-पस  
एवं देवाणुप्पिया ! अञ्जुणमालागारे बंधुमतीए जारियाए स-  
त्ति इवममागच्छति. इवममागच्छतिचा तं सेयं खलु देवा-  
णुप्पिय ! अहं अञ्जुणयं मालागारं अउरुयबंधणयं क-  
रोति, करोतिचा बंधुमतीए जारियाए सत्ति विपुलाडं भोग-  
भोगाडं तुंजमाणेण विहरित्तए तिकहुं एयमहं अएण-  
माणस्स पडिमुणुति, पडिमुणुतिचा क्वाडंतंरसु निलुक्कति,  
निक्खा निप्फदा तुनिणं एया पञ्जा चिद्धति, तस्से अञ्जु-  
णए मालागारे बंधुमतीए जारियाए सत्ति जेणव मोग्गर-  
जक्खायतणे तेषेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा झालोए  
पणामं करोति, करोतिचा महरिहं पुप्फच्छणं करोति, जाणुपायं  
परणामं करोति, तत्ते एं तं अ गोट्ठिआ पुरिमा दवदव्वस्स  
क्वाडंतंरहित्तो निग्गच्छति, निग्गच्छतिचा अञ्जुणयं मा-  
त्तागारं गेएहंति, गेएहंतिचा अवरुणं बंधणं करोति, बंधुमती-

मालागारए सत्ति विहराडं भोगजोगाडं तुंजमाणे विहर-  
ति, तस्से अञ्जुणयस्स मात्तागारस्स अयं अएपसत्थीए । एवं  
खलु अहं बालप्पभरित्तं चैव मोग्गरपाणिस्स भगवतो कद्धा-  
कद्धि जाव कप्पेमाणे विहरामि, तं जयणं उडं मच्छिहित्तं सुव-  
त्तेणं एस कट्ठे तत्तेणं से मोग्गरपाणिजक्खं अञ्जुणयस्स  
मालागारस्स अयमेयासुवं अवस्थियं जाव वियागित्ता  
अञ्जुणयस्स मात्तागारस्स मरीरंरं अणुपविमति, अणुप-  
विसन्तिचा नदततददसंबक्काडं छिद्वति, छिद्वतिचा तं पल्लस-  
हस्सनिप्पणं अट्ठमयं मोग्गरं गेएहति, तं इत्थं मत्तं इ  
पुरिसे घाएडं तमे अञ्जुणए मालागारं मोग्गरपाणिणा ज-  
क्खेण अणाड्ढे समाणं रायगिहस्स णगरस्स परिपेवं तेणं  
कद्धाकद्धि उ इत्थिमत्तमे पुरिसे घायमाणे विहरति, तए एं  
रायगिहे णयंरं सिंथारुग जाव महापरेडु बहुजणो अमम-  
णस्स एवमाइक्खति०४ । एवं खलु देवाणुप्पिया ! अञ्जुणए  
मात्तागारं मोग्गरपाणिशा अणुपाड्ढे समाणं रायगिहे णयेरं  
वट्टिया छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणं इविहरति, तत्ते एं  
से मेणिए राया ड्ढासि कहाए द्ढाद्धे समाणे कोट्ठिं ए स-  
दावेत्ति, सदावेत्तिचा एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! एं  
अञ्जुणमात्तागारं जाव घायमाणे विहरति, तं माणं तुभं के-  
डकट्ठस्स वा तथस्स वा पाणियस्स वा पुप्फकट्ठाणं वा अट्ठाए  
संतंरं निग्गच्छमाणं तस्स सरीरयस्स वावत्ती भविसमति,  
तिकहुं ट्ठेत्थिं पि तत्ते पि घोसणयोमेहाति, घोसणयोमेहातिचा  
खिप्पा मम एयं माणत्तियं पच्चप्पिणंति, तए णं कोट्ठि-  
विय जाव पच्चपिणंति, तत्थ एं रायगिहे णगरे सुदंसणे  
नाये सेट्ठं परिवसति, अहं तस्से सुदंसणेण समाणं वासए या  
वि होत्या, अज्जियजंनार्जनिं जाव विहरामि । तं एं कालं एं  
तं एं समए एं ममणं भगवं महावीरं जाव समासेहं जाव वि-  
हरति, तं रायगिहे णयेरं सिंथारुगबहुजणो अममणस्स एव-  
माइक्खति जाव किमंग ! पुण विपुलस्स अट्ठस्स गहणताए  
ते तस्स सुदंसणस्स बहुजणस्स अंतिए एयमहं सुखा निसम्म  
अव्वन्थित्ते ० ५ । एवं खलु ममणं एं जाव विहरति, तं गच्छा-  
मि, एं वंदामि, एवं संपेहेति, संपेहेतिचा जेणव अम्मापियरो  
तेणव उवागच्छति, उवागच्छतिचा करयत्तं ० एवं वयासी-  
एवं खलु अम्मायाओ ममणं जाव विहरति, तं गच्छामि एं  
ममणं भगवं महावीरं वंदामि, जाव पज्जुवामामि, तत्ते एं ते  
सुदंसणं सेट्ठं । अम्मापियरो एव वयासी-एवं खलु पुत्ता  
अञ्जुणए मालागारं जाव घायमाणं विहरति, तं माणं तुं  
पुत्ता ममणं जगवं महावीरं वंदंति, पज्जुवासंति, निग्गट्ठाह-  
माणं तवमरीरस्स वा विति भविसंति, तुमणं उडं गए चैव स-  
मणं भगवं महावीरं वंदाति, तए एं मे सुदंसणे सेट्ठं अम्माप-

गर्तो एवं वयानी-किं एं अस्मयातो समणं भगवं महावीरं इह-  
 मागते इह पत्तं इह समासहं इह तेनो वेव वंदिस्सामि, तं गच्छा-  
 मि, एं अहं अस्मयात्तु गुच्छंदि अस्मन्नुष्माते समणो समणं  
 भगवं महावीरं वंदति, तं सुदंसणं सेच्छी अस्मापियरो जा से नो  
 संचाएति, बहुहिं अयावयोहिय ध जाव पस्सेहिं संता संता  
 परितंवा तीहे एवं वयासी-अह्माइइ तत्ते णं से सुदंसणे अ-  
 स्मापितीहिं अस्मन्नुष्माते समणं यद्वाहिं, सुच्छया वेसाइं जाव  
 सरिरे सपातो गिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता  
 पायावंहाराचारेणं रायगिहं णयरं मज्जे मज्जेणं निग्गच्छति,  
 निग्गच्छतित्ता भोग्गरपाणस्स जक्खल्लस जक्खलायतणे अऊर-  
 माम्भेते णं जेणव गुणस्सिएव चेतिप जेणव समणे जगवं तेणव  
 पाद्विरेत्थगमणए तत्ते णं से भोग्गरपाणं। जक्खे सुदंसणं स-  
 मणो वासयं अद्रसामंते णं वीयीवयमाणे पासमि, पासतित्ता  
 आमुस्सेत्तं तं पल्लसहस्स निष्फल्लं अस्मायमोग्गरं उल्लासिमाणे  
 जेणव सुदंसणे समणो वासए तेणव पद्दारेत्थगमणए तत्ते  
 णं से सुदंसणे समणो वासए भोग्गरपाणं जक्खे एज्जामंते  
 पासति, पासतित्ता अजीते अतत्ते अणुत्विग्गे अक्खुमिते  
 अर्चान्ने अस्संभंते कथंतेणं जूमी पमज्जति, पमज्जतित्ता  
 करयल्लोणं वयासी-एभोत्थु णं अरहंताणं जाव संपत्ताणं;  
 नभोत्थु णं समणस्स भगवं जाव संपाविउकामस्स पुच्चं पि  
 णमए समणस्स जगवओ महावीरस्स अंतिप एलए  
 पाणातिवातं पक्खवाए जावजीवाए धूलए मूमावाए  
 धूलए अदिएणादाणे सदारसंतासे करे जावजीवाए तं  
 इत्ताणं पि ए तस्सेव अंतिअं मच्चं पाणातिवायं पच्च-  
 क्खामि जावजीवाए, मूमावायं अदत्तादाणं बहुएपरिग्गहं  
 पच्चक्खामि जावजीवाए, सच्चं काहं जाव मिच्छादंसणस-  
 ह्दं पच्चक्खामि जावजीवाए, सच्चं असणं पाणं स्वाइयं  
 साइयं चडब्बिहं पि आहारं पच्चक्खामि जावजीवाए, जति  
 णं एत्तो लवसपातो सुत्थिस्सामि, तो मे कण्ठं पारे तत्ते ।  
 अहं एं एत्तो लवसपातो न मुत्थिस्सामि, तो मे तहा  
 पच्चक्खवाए वि तिकहुं सागारं पडिमं पडिबज्जति । स  
 भोग्गरपाणी जक्खे तं पल्लसहस्सनिष्फणं अस्मायं भोग्ग-  
 र उल्लासिमाणे ५ जेणव सुदंसणे समणो वासए तेणव  
 लवगतं नो वेव णं संचाएति सुदंसणं समणो वासयं तेयसा  
 समज्जिपडिताते । तत्ते णं से भोग्गरपाणं। जक्खे सुदंसणं स-  
 मणो वासयं सच्चंओ समंताओ परिणोलोमाणे ५ आहे नो संचा-  
 एति सुदंसणं समणो वासयं तेयसा समज्जिपडितते ताहे सुदं-  
 सणस्स समणो वासयस्स पुरतो न पाक्खिं सपकिदिसिं जिच्चा  
 सुदंसणं समणो वासयं आणमिसाए दिट्ठं। ए सुचिं निरिक्ख-  
 ति, निरिक्खतित्ता अज्जुणयस्स मात्तागारस्स सरिं विप-  
 ज्जाति । तं पल्लसहस्सनिष्फणं अस्मायं भोग्गरं गहाय जाये-

व दिसिं पाउज्जते तामेव दिसिं पकिगते । तए णं अज्जुणए  
 मालागारे भोग्गरपाणिणा जक्खेणं विप्यवुचिक्खसमाणे ध-  
 सति धरणीयतल्लसि, सच्चं गहं निवाइए ते सुदंसणं समणो  
 वासए निरुक्कसग्गमि तिकहुं पडिमं पारेति, तत्ते णं से  
 अज्जुणए मालागारे ततो मुत्तुत्तरेण अस्सत्थे समाणे उट्टेति,  
 उट्टेतित्ता सुदंसणं समणो वासयं एवं वयासी-गुच्छंणं  
 देवापुप्पिया ! कहं वासं पथिया ! तत्ते णं से सुदंसणं समणो  
 वासए अज्जुणयं मालागारं एवं वयासी-एवं खल्लु देवापु-  
 प्पिया । अहं सुदंसणे नाम समणो वासए अग्निगयजीवाजीवे  
 गुणसिद्धे चेइए समणं जगवं महावीरस्स वंदते, सपथिए  
 तमे अज्जुणए मात्तागारे सुदंसणं समणो वासयं एवं वया  
 सी-तं इच्छामि तं देवापुप्पिया ! अहमावे तुमए सच्चिं समणं  
 जगवं महावीरस्स वंदिए जाव पज्जुवासिए । अहामुहं देवापु-  
 प्पिया ! तत्ते णं से सुदंसणे समणो वासए अज्जुणएणं मात्ता-  
 गारेणं सच्चिं जेणव गुणसिलए चेतिप जेणव समणे जगवं  
 महावीरे तेणव लवगच्छति, उवागच्छतित्ता अज्जुणएणं  
 मालागारेणं सच्चिं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव पज्जु-  
 वामति । तत्तेणं से समणो भगवं महावीरं सुदंसणं समणो वा-  
 सए अज्जुणयस्स मात्तागारस्स तिसयद्दम्पकहासुदंसणे सम-  
 णो वासए पकिगते तसे अज्जुणए मात्तागारे समणस्स भगवतो  
 महावीरस्स अंतिप धम्मं सोच्चा इहुत्ता सइहामि, णं जंठे !  
 निग्गयं पावयणं जाव अक्खुत्तेमि, अहामुहं तमे अज्जुणए  
 उत्तरपुरच्छिमे व सपपेव पंचमूहियं लोणं करंति, करंतित्ता  
 जाव अएगारे जाते जाव विहरति, तत्ते णं से अज्जुणए अ-  
 णगारं जं वेव दिवसं मुंसे जाव पच्चइए तं वेव दिवसं स-  
 मणं जगवं महावीरं महावीरस्स वंदति, वंदतित्ता इमे एया-  
 रूवं उग्गहं उग्गिण्णेति, कप्पति, मं जावजीवाए छहं छडेण  
 अग्निक्खलेण तत्रोक्खेणं अण्णाणं जावेमाणस्स विहरितए  
 तिकहुं अयमयारूवं उग्गहं उग्गिण्णेति, जावजीवाए विह-  
 रति, तत्ते णं अज्जुणए अणगारे उट्टक्खमणवारणायंसि  
 पटमपोरसीए सच्चंआयं करंति, जहा गोयमाममी जाव अ-  
 रति, तत्ते णं से अज्जुणयं अणगारं रायगिहं णयरं उच्च-  
 नीचं च जाव अरुमाणं बहवे इत्थी उ व पुरिसा व रुहरा  
 य महला य जुवाणा य एवं वयानी-इमे णं मे पितामातरां  
 इमे णं मे मा मारिया जायजग्गिणीज्जा पुत्ते धूया सुएहा मा  
 मारिया, इमे णं मे अस्से य मयणसंबंधे परियणं मा मारेति, ति-  
 कहुं अण्णगया अकोसंति, अण्णगया वीरंति, अण्णे० निदंति,  
 अण्णे० विसति, अण्णगया गरहंति, अण्णे० तज्जेति, तत्ते-  
 णं से अज्जुणए अणगारे तोहं बहुहं पुरसेहिं महल्ले  
 य जाव अकोमिज्ज मा जाव ताण्णेणते समणसा वि अ पव-

सस्वभाषे समं सहति, समं कल्पति, चितिकल्प, आदिज्जापे  
 आदियांस, समं सहभाषे कल्पतो तितिकल्पति, आदिया-  
 सेति, रायगिरे एषरे कंचनीचमधिकमकुलाद् अरुभाषे जइ  
 भत्तं झजति, तो पाणं न झपति, अइ पाणं झभइ, तो जचं  
 न झभइ, तत्तं छं ते अञ्जुणए अणगारे अदीये अविषये  
 अकलुसे अणाइसे अदीसादी अपरितत्तजांगी अरुति, अ-  
 रुतिचा रायगिहातो नगरातो पहिनिक्खमति, पहिनिक्खम-  
 तिचा, जेणव गुणसिलाए वेइए जेणव समये भगवं महावीरे  
 अहंभ गौतमसामी जाव पहिदंसेते २ समणं भगवं महावीरे  
 अम्भभुण्णते समाणे अरुहिते ४ विमपिव पणमचूतेण  
 अप्पाणेण तमाहारं आहारोति, आहारोतिचा तत्तं पं समये  
 भगवं महावीरे अक्का कपाति, कपातिचा रायगिहाओ  
 पडिणिक्खमति, पांरुणिक्खमतिचा बहिया जणविहं विहारं  
 विहरति, तत्तं पं से अञ्जुणए अणगारे तेणं उरालेणं  
 विपुत्तेणं पयत्तेणं पणगहिएणं महाभुभगंणं तत्तोक्कम्मंणं  
 अप्पाणं भावेभाणं बहुपडिपुंस्स उम्मासे सामस्सपरियाणं  
 पाउणति, अक्कामियाए संझेइणाए अप्पाणं कुंसेति, ती-  
 सं भत्तां अणमणाए उदेति, उदेतिचा जसद्धते कीरति,  
 कीरतिचा जाव सिंद्ध ॥ अंतं ६ वगे ३ अं ।  
 स्वनामथयति तत्करमेदं, आत्तां १ बुं ३ अं १ वं । (तस्य  
 शब्दासक्त्यात् 'सह' शब्दे कथा वक्ष्यते )  
 अञ्जुणसुवस-अञ्जुनसुवर्ण-नं । भक्तकाङ्क्षे, औं ।  
 अञ्जोग-अयोग-पुं । "सेवावै वा" ॥ २ । ६६ ॥ इति प्राकृ-  
 तन्नकाङ्क्षे वा चित्तम् । योगवर्जितं, पं सं १ इत्तां ।  
 अञ्जोगि ( ष् )-अयोगिन्-पुं । सेवादिन्वाद् जाङ्क्षम् । अ-  
 योगिकेशमि, " अञ्जो अञ्जोगी, संमत्सञ्जोगमि होति  
 जागाउ " पं सं १ इत्तां ।  
 अञ्जुओ-देशी-प्रतिबेदिक्के, वें नां १ वर्गं ।  
 अञ्जुत्त-अध्यात्म-नं । अघि भास्मिन् वचते इत्यध्यात्मम् ।  
 वेत्ति, वृशं १ अं । आत्तां प्रवत्तां इत्तां । आत्तां ५ अं ।  
 स्वययधर्म्यानादिभावनायाव, सूत्रं १ अं २ अं । आत्मानमधि-  
 कृत्य यत्तंसे तदध्यात्मम् । सुखदुःखादी, " अञ्जुत्त (न)त्तं जाण  
 इ से बहिया जाणइ, अे बहिया जाणइ से अञ्जुत्तं जाणइ " आ-  
 तां १ अं २ अं ३ अं । (आस्मिन् इति अध्यात्मम्, 'अव्ययं विनो'  
 ॥ २ १ । ६ ॥ इति पाणिनिवृत्तेण समासः) आत्मनोत्थयं, उत्तं १ अं ।  
 अध्यात्मस्य-नं । अध्यात्मं मनस्तस्मिन् तिष्ठत्यध्यात्मस्यम्,  
 प्राकृतत्वाद्ब्रह्मोत्पत्तेः, इहसंयोगान्निष्ठसंयोगादिहेतुभ्यो जाते सु-  
 खदुःखादी, उत्तं ० । " अञ्जुत्तं स्वयं स्वयं, हिंस्रमाणे  
 पियाथए " उत्तं ६ अं ।  
 अञ्जुत्तओग-अध्यात्मयोग-पुं । सुमणिदितास्तःकरणतायाम्,  
 धर्मध्याने च । सूत्रं १ अं १ अं ६ अं । योगभेदे च, तन्नल्लभ-तत्रा-  
 नादिचरजाव औद्यैकमात्ररमणीयतां धर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टि-  
 हेतुं कियत्तु कुर्वन् अर्थे धर्मदुःखा इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामय-  
 निःसंभ्रुद्वात्मभावनाजायितान्तःकरणस्य स्वभाष एव धर्म  
 इति योगद्वयाध्यात्मसंयोगः । अष्टं ० अ अष्टं ।

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य, वचनात्पत्त्वचिन्तनम् ।  
 मेरुपादिजावसंयुक्त-अध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ २ ॥  
 ( औचित्यात्पत्त्वचिन्तनम् ) औचित्याद्भवितप्रवृत्तिरुक्त्याद् वृत्तयुक्त-  
 स्याऽप्युत्तमहात्तसमचित्तस्य वचनात्प्रज्ञानगमासत्त्वचिन्तनं  
 जीवादिपदांशेषां पर्यायार्थोक्तं मेरुपादिभावेर्षीकणामुदिता-  
 पेक्षाकल्पः समन्वितं स्वहितमध्यामे तद्विदोऽध्यात्मज्ञातारो  
 चित्तुजानेते ॥ १ ॥ २ ॥ ॥ " अञ्जुत्तस्यो गयमाणस्य-  
 स्त " आत्तां १ बुं ।  
 अञ्जुत्तओगमाहएणुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं । अ-  
 ध्यात्मं मनस्तस्य योगा ध्यातार धर्मध्यानादवयवत्वेण साध-  
 नान्येकाप्रतादीनि तेषुकोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तः । चित्तैका-  
 प्रताऽऽदिभाति, उत्तं २६ अं । " निविकारेणं जीवे व-  
 गुत्तं अञ्जुत्तस्यो गयसाहणुत्तसे या वि भव " उत्तं २६ अं ।  
 अञ्जुत्तओगसुद्धादाण-आध्यात्मयोगशुक्लादान-विं । अध्या-  
 त्मयोगेन सुप्रतिदितास्तःकरणताया धर्मध्यानेन शुद्धमवदान-  
 मादानं चरितं यस्य स तथा । शुभंसेतसा विदुःशचारित्रे,  
 " अञ्जुत्तस्यो गयसाहणुत्तसे उवट्टिए टिअप्पा संघाए पर-  
 त्तमेहिं भिक्खुं ति वत्ते " सूत्रं १ बुं १६ अं ।  
 अञ्जुत्तकिरीया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री । केनापि कथञ्चाना-  
 प्यपरिभूतस्य धैर्मेनस्यकरणरूपेऽद्ये क्रियास्थाने, इत्तां ५  
 इत्तां २ उं । कोङ्खसाधोरिव यदि सुताः सम्प्रति क्षेत्रवत्त-  
 राणि संजलयन्ति तदा अर्थ्यामित्यादि चिन्तनमध्यात्मक्रिया ।  
 धं ३ अघिं ।  
 अञ्जुत्तसज्जाणुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-विं । अध्यात्मना शु-  
 भमनसा ध्याने यत्तेन युक्तो यः स तथा । प्रवृत्तध्यानापयुक्ते,  
 प्रश्नं ५ सत्त्वं इत्तां ।  
 अञ्जुत्तद-अध्यात्मद्वय-पुं । शोकाधिमिधेऽष्टमक्रिया-  
 स्थाने, प्रश्नं ५ सत्त्वं इत्तां ।  
 अञ्जुत्तदोस-अध्यात्मदोष-पुं । कपाय, सूत्रं ० ।  
 कोहं च मायं च तद्देव मायं,  
 लोभं चउत्तं अञ्जुत्तदोसा ।  
 एआणि नंता अरहा महेसी,  
 ए कुब्बे पाव ए कारवेइ ॥ ११ ६ ॥  
 ( कोहं वेत्यादि ) निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छे-  
 दौ भवतीति त्यागाद् संसारस्थितेच्छो क्रोधाद्यः कार-  
 णतः पतानध्यात्मदोषाश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कपायान्  
 वात्सा परित्यज्याऽऽसौ भगवान्हेतुर्थेकृद् जातः । तथा म-  
 हर्षिश्च । एवं परमाधेतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषान् भ-  
 वन्ति, नाप्यथेति, तथा न स्वतः पापं सावधमनुष्ठानं करोति,  
 नाप्यन्यैः कारयतीति । सूत्रं १ बुं ६ अं ।  
 अञ्जुत्तमपपरिक्त्वा-अध्यात्ममत्परीक्षा-स्त्री । नामानुक्रुपा-  
 मिधेय, शतप्रभ्योक्ता नयचिद्यगिधेय्ये यशोविजयवाच-  
 केन कृते प्रत्यविधेये, प्रतिं ० इत्तां ।  
 अञ्जुत्तरय-अध्यात्मरत- स्त्रिं । प्रवृत्तध्यानासक्ते, इत्तां  
 १ अं ।  
 अञ्जुत्तवचित्य-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं । आध्यात्मिकप्रत्ययि-  
 क्-नं । आत्मनि अघि अध्यात्मम् । तत्र भव आध्यात्मिको द-

एडस्तत्प्रत्ययिकम् । अष्टमे क्रियास्थाने, तद्यथा-निर्मितसमे-  
व दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयं हिमयाण्यभित्तासागरा-  
वगाढः संतिष्ठते । सूत्र० २ श्लो० १२ अ० ।

पतदेव सूत्रकारोऽभ्यस्यसाह—

अहारे अष्टमे किरियादाणे अज्जत्तवत्ति ए ति आहि-  
ज्जइ मे जहा णामए केइ पुरिमे एत्थि मे केइ किं विमं-  
बादेति समयमे हीणे दीणे एते उट्थमे आहयमणसंकपे  
चित्तसोणसागरसंपविट्ठे करतत्तपलहत्तय्युहे अट्टज्जाणावे-  
गए भूमिगयदिट्ठिए किरियां तस ए अज्जत्तयया आसं-  
मइया चत्तारि उणा एवमाहिज्जइ, तं कोहे माणे माया  
लोहे अज्जत्तय्येव कोहमाणमायासोहे एवं खलु तस त-  
प्पथियं सावज्जंति आहिज्जइ अष्टमे किरियादाणे अज्ज-  
त्तवत्ति ए ति आहि ए ॥ १६ ॥

आध्यापरमष्टमे क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्भवमा-  
स्थायते । तद्यथा नाम कश्चिदुपलब्धिसौपक्षप्रधानस्तस्य च  
नास्ति कश्चिद्विषयादायित्वा न तस्य कश्चिद्विचिन्वादेन परिज्ञाये-  
न वा सद्भूतोद्भायनेन वा चित्तञ्चक्षुमुपाययति, तथाप्यसौ  
स्वयमेव वर्णापसदयद् हीनो दुर्गतवर्दीना दुःखितयता दुष्टो दुर्म-  
नस्तयोपहतोऽस्वच्छन्तया मनःसंकल्पो यस्य स तथा । चिन्ते-  
व शोक इति सागरभित्ताप्रधानां वा शोकश्चित्तशोकः सागर  
इव विस्फोटोक्तसागरः । तथातुल्यश्च यद्वयम्नां जयति लक्ष्यो-  
क्ति-कृतले पर्यन्ते मुलं यस्य स तथा अहीनिं भवति, तथाऽऽ-  
र्तयानांयगतोऽपगतसङ्घिकतया धर्मयान्तरवर्ती निर्मितस-  
मेव द्वष्टोपहतवक्ष्यायति । तर्कथेव चित्ताशोकसागरावगाढस्य  
सत् आध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्भवानि मनःसंख्यानसंशयि-  
तानि वा निःसंशयितानि वा चत्वारि ब्रह्मधर्माणि स्थानानि  
जयन्ति, तानि चैवं समाख्यायन्तेः तद्यथा-क्रोधस्थानम्, मान-  
स्थानम्, मायास्थानम्, लोभस्थानमिति । ते चावश्यं केषामान-  
मायाशोभा आत्मनोऽपि भवन्त्याध्यात्मिकाः, परिभयं सङ्गिर्दुष्ट-  
मनो भवति । तदेव तस्य दुर्मनसः क्रोधमानमायालोभयत एव-  
मेवोपहनमनःसङ्घत्तस्य तत्प्रत्ययिकमध्यात्मनिमित्तं सावद्यं क-  
मोऽऽधीयते संबध्यते । तदेवमेतन्निक्रियास्थानमाध्यात्मिकास्थमा-  
स्थानमिति ॥१६॥ सूत्र० २ श्लो० २ अ० ।

अज्जत्तवत्तयण—अध्यात्मवचन—० । आद्यमर्थश्च अध्यात्मम्,  
तच्च तद्वचनम् । हृदयगतो वचनजदे, वंकरयचनानां समप्रमा-  
दम् । आत्मा० २ श्लो० ४ अ० १ अ० । आत्मन्यधि अध्यात्मं हृद-  
यं ते तत्परिहरणान्यद् भणिय्यतस्तद्वच । सहसा पतितं वचनं,  
विशो० । आत्मा० ।

अज्जत्तवत्तिदु—अध्यात्मविन्दु—० । यथार्थतामेधेयं प्रथमेदं, “ये  
यावन्तोऽवस्तवन्था अलसदः, नेदज्ञानाज्यास एयात्र मूलम् । ये  
याफ्तनो ध्वस्तवन्था भयानि, नेदज्ञानाभाय एवात्र बीजम् ॥” ।  
इति तद्वचनम् । अष्ट० १४ अष्ट० ० ।

अज्जत्तवत्तिसीयण—अध्यात्मविपीदन—० । संयमकष्टमनुसय  
मनसि विषमज्ञिचने, सूत्र० ।

जडा संगामकाशमि, पिठनो जीरु वेड्ड ।  
वस्यं गट्ठं रूपं, को माण्ड पराजयं ? ॥ १ ॥  
( जहरेयादि ) दृष्टान्तेन हि मन्दमनीनां सुमेनेषार्थावगतिर्भव-

न्यत आश्रावेष दृष्टान्तमाह—यथा कश्चिद्गीतरङ्गनकरणः सं-  
ग्रामकाले परानीकयुक्तोऽवसरे समुपस्थितः पृष्ठतः प्रकृते आदा-  
ववाऽऽपःप्रतीकारहेतुजुतं दुर्गादिकं स्थानधर्मलोकयति । तद-  
व दशयति—( वदयमिति ) यथादकं वदयाकारेण व्यवस्थित-  
मुदकरहिता वा गतो दुःस्वनिममप्रयशस्तथा गतं यथादिदु-  
क्षैः कटिस्तस्थानीयम्(णुमं ति प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम् । किमि-  
त्यसाधेयमवशोकथयति । यत एवं मयत्तं तत्रैवंजुतं तुमुले संश्रामं  
सुजटसङ्कुले को जानानि कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति । यतो  
देषायत्ताः कार्यविजयः स्तेकिरणं यदवशं जीयन्त इति ॥१॥

किञ्च—

मुदुत्ताणं मुदुत्तस, मुदुत्ता होइ तारिसो ।  
पराजिया वणप्पामो, इति जीरु अवेहेइ ॥२॥  
मुदुत्तानामकथं वा मुदुत्तस्यापरो मुदुत्तः कालविशेषस-  
णोऽवसरस्तादृशमवधि यत्र जयः पराजयो वा संभाव्यते, त-  
त्रैवं व्यवस्थिते पराजित्वा वयमपसंपादो नश्याम इत्येतदपि  
संभाव्यते, अस्मद्विधाधर्माति भिरः पृष्ठत आत्स्यतोकात्कार्यं  
शरखमपचते ॥२॥

शोककष्टयन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्शनिकमाह—  
एवं तु ममणा एगे, अवलं नच्चा व द्रुप्पमं ।  
अणागयं जयं दिस्स, अ विकंपंति मे सुयं ॥३॥

यथा सधामं प्रपदुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति किमत्र मम  
पराभद्रस्य वलयादिकं शरणं आणाय स्यादिति, एवमेव  
अमणाः प्रव्रजिताः कथं कथनादष्टमनयोऽल्पसंस्था आत्मा-  
नमवलं यावज्जीवं संयमभारवहनानामं ज्ञान्या अनागतमेव  
मयं दृष्टीप्रपेय । तद्यथा-निर्लक्ष्यज्ञानोऽहं किमम बुद्ध्यावस्थायां  
म्लानावस्थायां दुर्मिलं वा श्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभ-  
यमुपस्रेय विकल्पयति परिकल्पयति मयन्ते, एवं यत्करणं,  
गणितं, ज्योतिष्कं, घटकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा भूतम-  
धीते ममाऽधमोऽनो श्राणाय स्यादिति ॥३॥

पतन्तेन विकल्पयन्तीत्याह—  
को माण्ड विउत्तात्, विन्तीओ उदगाउ वा ।  
चाइज्जा पववत्तामो, ए णो अयि पक्कप्पेयं ॥४॥

अल्पसंस्थाः प्राणिनः, विचित्रा च कर्मणां गतिः, बहूनि प्रमाद्-  
स्थानानि विद्यन्ते, अतः को जानानि कः परिचिन्तनं तद्वापानं  
संयमजीविनादु-ब्रह्मणसः । केन पराजितस्य मम संयमदुः श्रंशः  
स्यादिति । किं स्त्रीनः स्त्रीपरि । यहाद् उतादकालं मनाथयमुदृका-  
सवनात्रिलयादाित्येयं ते यराकाः प्रकल्पयन्ति, न मोऽस्माकं कि-  
ञ्चन प्रकल्पितं पुषोपाजितद्वयजातमस्त, यत्तस्यामवस्थाया-  
मुपयोगं संयमं यास्याति, अतस्त्वध्यातानाः परेणाबुध्यमानाः क-  
श्चित्शिक्षापुत्रुवेदादिकं कुट्टिप्रविष्टसादिकं वा प्रवश्यं ममः ह-  
यिष्यामः प्रयाहयाम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः संप्रधार्थ्यं ध्याकरणा-  
दीं श्रुतं प्रयत्नत इति न च तथापि मन्दमात्स्यानामभिप्रतनाथावा-  
पिनेत्रयतीति । तथा चोक्तम्—“ उपशमफलसङ्घाबीजात्क-  
षं धनमिच्छताम, भवति विक्रान्तो यथावासस्तदत्र किमद्भुतम् ? ।  
न नियतफलाः कर्तुंशोः फलात्तरमीशते, जनयति खलु वीह-  
वीजं न जातु यचाङ्कुरम् ॥” ।

उपसंहारार्थमाह—  
इधेवं पदिलेहंति, वलया पदिलेहियो ।

अज्जत्तिसीयय

वितिगिच्छसमावभा, पंपायां च अक्रोविया ॥ ५ ॥  
 इत्येवमिति पूर्वप्रकाशपरामर्शाद्यः यथा भीरवः संप्रति प्रवि-  
 विक्रयो बलयादिकं प्रत्ययेकिणो भ्रमन्तीत्येवं तदपि प्रज्जिता  
 मन्त्रभागवत्या अल्पस्त्वया आजीविकाभयाद्याकल्पादिकं जी-  
 वनोपायत्वेन प्रत्ययेकृन्ते परिकल्पयन्ति । किंभूताः विचिकि-  
 त्सा चित्तविध्वुतिः, किमेवं संयममभ्युत्थितमेतुं नेतुं वयं सम-  
 धीः, उत नेतव्यं वचुताः । तथा चोक्तम्—“ लुक्कमणुपदमणि-  
 ययं, कालाहकत भोग्यं विरसं । चुमीस्यण्यं शोभां, अस्तिपा-  
 यं वज्रचरं ” ॥ १ ॥ तां समापनाः समागताः । यथा पथ्याने  
 प्रत्येकोविदा अनिपुणाः—किमयं पथ्या विवक्षितं भ्रमार्गं या-  
 स्यन्वुत नेति, इत्ययं कृतचित्तविध्वुत्यतो भवन्ति, तथा तदपि  
 संयममभ्युत्थं प्रति विचिकित्सां समापना निमित्तगणित्यादिकं  
 जीविकाद्यं प्रत्ययेकृन्त इति ॥ ५ ॥

साम्प्रतं महापुरुषवेदिते दृष्टान्तमाह—

जे उ संगामकालाम्भि, नाथा सूरपुरंगमा ।  
 एते ते पिड्ढमुनेहंति, किं परं मरणं सिया ॥ ६ ॥  
 ये पुनर्महासत्त्वाः, तुभ्यंदां विशण्णाप्यं, संसामकाले परा-  
 नीकयुक्तावसरे ज्ञातारं लोकविदिताः, कथमं, शूराणामप्रगा-  
 मिनां युक्तावसरे सैन्याप्रकल्पयतिन इति, पर्यभूताः संस्रामं  
 प्रविशन्नां न पृष्ठमुपेकृन्ते न दुर्गोदिकमापन्नान्या पर्यालोच-  
 यन्ति, ते चाभङ्गकृततुभ्युद्येऽपि त्वयं मय्यन्ते—किमपरमभ्रा-  
 त्स्माकं भविष्यति, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतम्, यदाः प्रवा-  
 हसिञ्जामस्माकं स्ताकं वनेत इति । तथा चोक्तम्—“ विदा-  
 राहभिरविनश्वर-मतिचपलेः स्थाम्नु वाञ्छन्तं विशदम् । प्राणै-  
 र्थेदि च सुराणां, भवति यशः किं न पर्यामम् ” ॥ ६ ॥  
 तदयं सुनन्ददृष्टान्तं प्रदर्श्य दाष्टान्तिकमाह—

एवं समुद्रिणं भिक्खू, वोसिज्जागारवेषणं ।  
 आरंजं त्तरियं वट्ट, आतत्तापं परिख्वणं ॥ ७ ॥  
 एवमित्यादि । यथा-सुभद्रा ज्ञातारो नामतः कुलतः शौर्यतः  
 शिक्तातत्र, तथा सशिवद्वपरिकराः करं वृहोतंहेतयः प्रतिभट-  
 तसमितिभेदिनां न पृष्ठतोऽवभोकयन्ति । एवं भिक्खुरपि साधु-  
 रपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्धितमिन्द्रियकपायादिकमस्त्रि-  
 र्गं जेतुं सम्यक् संयमेत्यानेनांस्थितः समुत्थितः । तथा चोक्तम्—  
 “कोहं मार्थं च मायं च, लाहं पंचेदियाण्ये य । दुज्जयं वेधमप्या-  
 णं, सव्वमण्ये जिय जिवां” ॥ १ ॥ किं क्त्वा समुत्थितः इति दृशयति-  
 ध्युत्थस्य त्वक्त्वा, अगारभन्धनं वृहथायत्त तथा आरंजं सायघा-  
 नुष्ठानरूपं तिर्यक् कृत्वाऽपहस्तंयत्वाऽऽस्त्रनां प्राब्र आ-भ्रत्वमशेष-  
 कर्मकसङ्हरहितं तस्मै आभ्रत्वमप्या । यदि वा आत्मा मोक्षः, संय-  
 मो वा, तद्वावस्तस्मै तदर्थं, परि संमताद् भवेत् संयमानुष्ठान-  
 कियार्थं हत्वाऽप्यानां भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ सु० १ ॥ सु० २ ॥ सु० ३ ॥  
 अज्जत्तिसीयुद्ध—अध्यात्मविशुद्धि—वि० । विदुःकान्तःकरणे,  
 सु० १ ॥ सु० ४ ॥ सु० ५ ॥

अज्जत्तिसीयादिजुजु—अध्यात्मविशोभियुक्त—वि० । ३ तं ।  
 विदुःकभाधे, “जा जयमाणस्य भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग-  
 स्स । सा होहं गिउजरफला, अज्जत्तिसीयोदिजुत्तस्स” ॥ १ ॥ शो० ।  
 अज्जत्तवेडं ( ण ) —अध्यात्मवेदिन्—वि० । सुखदुःखादेः स्व-  
 रूपसोऽवगन्तरे, आवा० १ ॥ सु० १ ॥ सु० ३ ॥  
 अज्जत्तसंबुद्ध—अध्यात्ममंनूत—वि० अध्यात्मं मनस्तेन संबुत्तः।

कीर्त्तनादत्तनमति, सूत्रार्थोपयुक्तिकदमनोयोगे वा “यद्गुणे  
 अज्जत्तसंबुद्धे परिखण्डय सया पावं” आवा० १ ॥ सु० ४ ॥ सु० ५  
 उ० । सु० ।  
 अज्जत्तसम—अध्यात्मसम—वि० । अध्यात्मानुकेपे परिणामानु-  
 सारिणे, इयं २ उ० ।  
 अज्जत्तसुद्ध—अध्यात्मशुद्धि—की० । चित्तजयोपायप्रतिपादन-  
 शास्त्रे, प्रश्न० १ ॥ सु० ६ ॥  
 अज्जत्तसुद्धि—अध्यात्मशुद्धि—की० । चेतःशुद्धौ, अध्यात्मशु-  
 द्धिरेव फलदा च शाश्वतः, नरतत्त्वकर्त्तनः बाह्यकरणस्य रजो-  
 हरणादरंभवेऽपि अध्यात्मशुद्धेव केशकथोपेतः । प्रसन्नचन्द्र-  
 स्य च बाह्यकरणयोऽपि आच्यन्तरकरणविकल्पस्य सतमपुधि-  
 यीप्रायोग्यकर्मकथात् पश्चाद्द्वैतिया अध्यात्मशुद्धेव मोक्षम-  
 नात् । आ० सु० १ ॥ सु० ।

अज्जत्तसोहिं—अध्यात्मशोधि—वि० । चेतःशुद्धौ, आ० सु० १  
 अ० । ( वर्णनमस्य ‘अज्जत्तसुद्धि’ शब्दे कृतम् )  
 अज्जत्तिय—अध्यात्मिक—वि० । आत्मनि अधि-अध्यात्मक, तच्च  
 भय आध्यात्मिकः । आत्मविषये, आ० म० प्र० । म० । वि० ।  
 हा० । नि० । “अज्जत्तिय चित्तिणं” आत्मनि क्रियमाणे, “पर-  
 किरियं अज्जत्तियं संसेह्यं णोतं सत्तिणं” आवा० २ ॥ सु० १ ॥ ३  
 अ० । आन्तरोपायसाधं सुखदुःखादौ, आध्यात्मिकं दुःखं द्वि-  
 विधस-शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनि-  
 मित्तः मानसं कामक्रोधभ्रमोदेषां विषयशार्दशून्यनिबन्धनात् ।  
 सर्वं चैतदान्तरोपायसाधयत्वादाध्यात्मिकं दुःखमिति साधनाः ।  
 स्यात् । अध्यात्मनि मर्त्तसं भय आध्यात्मिकः बाह्याभिमतान-  
 पेक्षे शोकानिभयः, “अष्टम क्रियास्थानमेतत्” स्म० ।

अज्जत्तियवीरिय—अध्यात्मिकवीर्ये—म० । आन्तरात्मिकजिते संसि-  
 कमित्यर्थः । तच्च वीर्यं चेति । “उज्जमपिति वीरत्तं, सोदीरकं  
 कमाय गेन्नां । उवओमयोगतव सं—जमदि य होह अजु-  
 प्पो” ॥ १ ॥ इत्युक्तेः उद्यमधौत्यादौ, सु० १ ॥ सु० २ ॥

अज्जत्तिय—अध्यात्म—म० । अधि आत्मनि वर्तेत इत्यध्यात्मम् ।  
 सम्यग्धर्मध्यानादिप्राप्तनायाम्, सु० १ ॥ सु० ३ ॥  
 अज्जत्तियओग—अध्यात्मयोग—पुं० । सुप्रतिहितानुःकरणता-  
 याम्, धर्मध्याने च । सु० १ ॥ सु० २ ॥ सु० ३ ॥ ( निरूपणमस्य ‘अ-  
 ज्जत्तयोग’ शब्दे कृतम् )  
 अज्जत्तियओगमहाणुजुच—अध्यात्मयोगसाधनयुक्त—पुं० । बिसै-  
 काप्रतादिनाजि, उक्तं २६ अ० ।

अज्जत्तियओगमुक्त्वादाण—अध्यात्मयोगमुक्त्वादान—वि० । ह-  
 नचेतसा विदुःककारिण, सु० १ ॥ सु० १ ॥ सु० ६ ॥  
 अज्जत्तियओग—अध्यात्मयोग—पुं० । योगभेदे, अष्ट० ६ अष्ट० ।  
 ( बकव्यताऽस्य ‘अज्जत्तयोग’ शब्दे )  
 अज्जत्तियओगमहाणुजुच—अध्यात्मयोगसाधनयुक्त—पुं० । कित्त-  
 काप्रतादिनाजि, उक्तं २६ अ० ।  
 अज्जत्तियओगमुक्त्वादाण—अध्यात्मयोगमुक्त्वादान—वि० । ह-  
 नचेतसा विदुःककारिण, सु० १ ॥ सु० १ ॥ सु० ६ ॥  
 अज्जत्तियज्जाणुजुच—अध्यात्मध्यानयुक्त—वि० । प्रशस्तस्य गो-  
 पयुक्ते, प्रश्न० ४ ॥ सु० ६ ॥



अङ्गप्रत्ययद्वय-अध्यात्मद्वय-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न०  
 ५ सम्ब० ३० ।  
 अङ्गप्रत्ययद्वय-अध्यात्मद्वय-पुं० । कथाये, सूत्र० १ कु० ६ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययविन्दु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । स्वनामस्थाने प्रत्यभेदे,  
 शब्द० १४ अष्ट० ।  
 अङ्गप्रत्ययपरिवर्त्तना-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजय-  
 यवाचकंन कृते प्रत्यविशेषे, प्रति० ।  
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्म-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययचित्त-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने,  
 सूत्र० २ कु० १२ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययवर्ण-अध्यात्मवचन-न० । धोरुशयवचनानां सप्तमे  
 वचने, आवा० २ कु० ४ अ० १ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययविशोभित-अध्यात्मविशोभित-न० । संयमकष्टमनुसृत्य  
 मनसि विषयीभवने, सूत्र० १ कु० ३ अ० ३ उ० । ( विद्वत्तरस्य  
 'अङ्गप्रत्ययविशोभित' शब्दे निरूपिता )  
 अङ्गप्रत्ययविशुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,  
 सूत्र० १ कु० ४ अ० २ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययविशोभित-अध्यात्मविशोभित-त्रि० । विशुद्ध-  
 नावे, प्रति० ।  
 अङ्गप्रत्ययवेद ( ष ) -अध्यात्मवेदिन-त्रि० । सुखदुःखादेः स्व-  
 रूपतोऽवगन्तरे, आवा० १ कु० १ अ० ७ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसंयुक्त-अध्यात्मसंयुक्त-त्रि० । स्त्रीभोगाऽदत्तमनसि,  
 सूत्रार्थोपयुक्तनिरुक्तमनोयोगे च । आवा० १ कु० ५ अ० ४ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मरूपे परिणामा-  
 नुसारिणि, व्य० ३ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसुद-अध्यात्मसुद-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-  
 खे, प्रश्न० १ सम्ब० ८० ।  
 अङ्गप्रत्ययसुदि-अध्यात्मसुदि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० सू०  
 १ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसोहि-अध्यात्मसोधि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० सू०  
 १ अ० ।  
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० प्र० प्र० ।  
 आन्तरोपायसाधने सुखदुःखादौ, स्या० ।  
 अङ्गप्रत्ययवीरिय-अध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमवृत्त्यादौ, सू-  
 त्र० १ कु० ८ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययवाहिसंबन्ध-अध्यस्तोपायिभ्रमन्त्र-पुं० । आत्मनि  
 प्राप्तयुक्तसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्यैव, स-  
 दृशं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जसन्न विमुक्त-  
 नि " ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।  
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्म-न० । चेतसि, दश० १ अ० । ध्याने, आवा०  
 १ अ० ।  
 अङ्गप्रत्यययोग-अध्यात्मयोग-पुं० । अन्तःकरणद्वये धर्मध्या-  
 ने, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।  
 अङ्गप्रत्यययोगसाहजुक्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । शुभ-  
 चेतसा विशुद्धचारिणे, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।

अङ्गप्रत्यययोगमुक्तादाह-अध्यात्मयोगमुक्तादान-त्रि० । शु-  
 द्धचेतसा विशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययकिरिया-अध्यात्मकिरिया-स्त्री० । अष्टमे क्रियास्थाने,  
 स्या० ५ उ० २ उ० ।  
 अङ्गप्रत्यययोग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रतिहितान्तःकरणतायां  
 धर्मध्याने, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।  
 अङ्गप्रत्यययोगसाहजुक्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्त-  
 काप्रतादि प्राप्ति, सत्त्वं २ ए अ० ।  
 अङ्गप्रत्यययोगमुक्तादाह-अध्यात्मयोगमुक्तादान-त्रि० । शुभ-  
 चेतसा विशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।  
 अङ्गप्रत्यययोग-अध्यात्मयोग-त्रि० । प्रशस्तध्यानो-  
 पयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० ३० ।  
 अङ्गप्रत्ययद्वय-अध्यात्मद्वय-पुं० । शोकाद्यनिवृत्त्यर्थे अष्टमे क्रि-  
 यास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० ३० ।  
 अङ्गप्रत्ययद्वय-अध्यात्मद्वय-पुं० । कथाये, सूत्र० १ कु० ६ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययविन्दु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थनामाभिधेये स्वनाम-  
 स्थाने प्रत्ये, अष्ट० १४ अष्ट० ।  
 अङ्गप्रत्ययपरिवर्त्तना-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजय-  
 कृते प्रत्यविशेषे, प्रति० ।  
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्म-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययचित्त-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने,  
 सूत्र० २ कु० १२ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययवर्ण-अध्यात्मवचन-न० । दृढयगते वचनभेदे, धोरु-  
 शयवचनानां सप्तमिदमे । आवा० २ कु० ४ अ० १ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययविशोभित-अध्यात्मविशोभित-न० । संयमकष्टमनुसृत्य  
 मनसि विषयीभवने, सूत्र० १ कु० ३ अ० ३ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययविशुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,  
 सूत्र० १ कु० ४ अ० २ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययविशोभित-अध्यात्मविशोभित-त्रि० । विशुद्ध-  
 नावे, प्रति० ।  
 अङ्गप्रत्ययवेद ( ष ) -अध्यात्मवेदिन-त्रि० । सुखदुःखादेः स्व-  
 रूपतोऽवगन्तरे, आवा० १ कु० १ अ० ७ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसंयुक्त-अध्यात्मसंयुक्त-त्रि० । स्त्रीभोगाऽदत्तमनसि,  
 सूत्रार्थोपयुक्तनिरुक्तमनोयोगे च । आवा० १ कु० ५ अ० ४ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मरूपे परिणामा-  
 नुसारिणि, व्य० ३ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसुद-अध्यात्मसुद-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-  
 खे, प्रश्न० १ सम्ब० ८० ।  
 अङ्गप्रत्ययसुदि-अध्यात्मसुदि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० सू०  
 १ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसोहि-अध्यात्मसोधि-त्रि० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-  
 खे, आवा० १ अ० ।  
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० प्र० प्र० ।  
 आन्तरोपायसाधने सुखदुःखादौ, स्या० ।  
 अङ्गप्रत्ययवीरिय-अध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमवृत्त्यादौ, सू-  
 त्र० १ कु० ८ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययवाहिसंबन्ध-अध्यस्तोपायिभ्रमन्त्र-पुं० । आत्मनि  
 प्राप्तयुक्तसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्यैव, स-  
 दृशं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जसन्न विमुक्त-  
 नि " ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।  
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्म-त्रि० । अध्यात्मरूपे परिणामा-  
 नुसारिणि, व्य० ३ उ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसुद-अध्यात्मसुद-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-  
 खे, प्रश्न० १ सम्ब० ३० ।  
 अङ्गप्रत्ययसुदि-अध्यात्मसुदि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० सू०  
 १ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययसोहि-अध्यात्मसोधि-त्रि० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-  
 खे, आवा० १ अ० ।  
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० प्र० प्र० ।  
 आन्तरोपायसाधने सुखदुःखादौ, स्या० ।  
 अङ्गप्रत्ययवीरिय-अध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमवृत्त्यादौ, सू-  
 त्र० १ कु० ८ अ० ।  
 अङ्गप्रत्ययवाहिसंबन्ध-अध्यस्तोपायिभ्रमन्त्र-पुं० । आत्मनि  
 प्राप्तयुक्तसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्यैव, स-  
 दृशं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जसन्न विमुक्त-  
 नि " ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।

अज्जपियवीरिय-आध्यात्मिकदार्ढ्यं-न० । उद्यमश्रुत्वादी, सूत्र० १, सु० ७ अ० ।

अज्जयण-अध्ययन-न०। अधीयते हायते परिश्रित्यध्ययनादि, नामसु (शाबकदाध्नेषु), "ता कं देवताणं अज्जकथं आदिताति-वपज्जा" खं० प्र० १ पाठु० । सु० प्र० । अधीयते विनेवादिक्लेष शुरुस्तयो हस्यप्यनमः । (विशिष्टाधेयनिमित्तसंवेकपे श्रुतेर्दे, ३।० १ मति० । "अज्जकथं पिय तिबिहं, सुत्ते अर्ये व तदुत्तरं खेव" विद्ये० । तन्मिक्केपो यथा-

से किंत्तं अज्जकथये? । अज्जकथये चउत्तविहे पखत्ते; तं जहा-  
सावज्जयणे, उवखज्जयणे, दव्वज्जयणे, भावज्जयणे । णा-  
सद्वपणाओ पुनवपिआओ । से किंत्तं दव्वज्जयणे? । दव्वज्ज-  
यणे सुविहे पखत्ते । तं जहा-आगमओ अ, णोआगमओ अ ।  
से किंत्तं आगमओ दव्वज्जयणे? । आगमओ दव्वज्जयणे जस्स  
शं अज्जकथय चि पदं सिक्खत्तं उिंत्तं जितं मितं परिजितं जाव  
एवं जावएआ आणुवउत्ता आगमओ तावडआदं दव्वज्ज-  
यणाइं । एवमेव बवहारस्स वि। संहरस्स पं एगो वा अणेगो वा  
जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्जयणे। से किंत्तं पो आगमओ दव्व-  
ज्जयणे? । पो आगमओ दव्वज्जयणे । तिबिहे पखत्ते । तं जहा-  
जाएणसरं । रदव्वज्जयणे, भविअसरं । रदव्वज्जयणे, जाणम-  
सरं । रजविअमरीरवडरिचे दव्वज्जयणे। से किंत्तं जाणमसरी-  
रदव्वज्जयणे? । जाणमसरीरदव्वज्जयणे अज्जयणपदत्त्याहि-  
गारजाएयस्स जं सरं । रं ववगयचुअच्च । विअचत्तदेहं जीववि-  
पमदं जाव अहोएणं इमाणं सरं । रसमुस्सएणं जिणदिंएणं भा-  
वेणं अज्जकथेत्ति पदं आघवितं जाव उवदमितं जहा-को दिहं  
तो-अयं पयकुब्भं आसी, अयं महुकुब्भं आसी, सेत्तं जाणमसरी-  
रदव्वज्जयणे । से किंत्तं भावियसरं । रदव्वज्जयणे? । भावियस-  
रीरदव्वज्जयणे ज जीव जाणिजम्मएणानिक्खत्ते इमेणं खेव आ-  
दत्तएणं सरं । रसमुस्सएणं जिणदिहेणं चावेणं अज्जयणे।  
पदं ते अकाले निविस्सस्सति, न ताव सिक्खति, जहा-को दि-  
हंता-अयं महुकुब्भं भविस्सद, अयं पयकुब्भं जविस्सद, सेत्तं भ-  
विअसरं । रदव्वज्जयणे । से किंत्तं जाणमसरीरजविअसरं । रद-  
रिचे दव्वज्जयणे? । जाणमसरीर । रभावियसरं । रवडरिचे दव्वज्ज-  
यणे पत्तवपात्तवपिखित्तं, सेत्तं जाणमसरीरभावियअसरं । रवड-  
रिचे दव्वज्जयणे। सेत्तं पो आगमओ दव्वज्जयणे। से किंत्तं भा-  
वज्जयणे? । भावज्जयणे उविहे पखत्ते । तं जहा-आगमओ अ  
एगो आगमओ अ । से किंत्तं नो आगमओ भावज्जयणे? । अ-  
ज्जकप्पस्साखयणं, कम्मणं अरववओ उवविआणं । अणु-  
ववउ न विआणं, तहमा अज्जयणमिच्छं । ? । सेत्तं पो  
आगमओ भावज्जयणे, सेत्तं भावज्जयणे, सेत्तं अज्जयणे ।  
( से किंत्तं अज्जकथये इत्यादि ) नामस्सायना, कथयनायमेदात् ।  
कतुधिपो उध्यध्ययनमाह्वय निक्केपो । तत्र नामादिविचारः सर्वो-  
ऽपि पूर्वोक्तद्वयावयवकानुसारं वाक्य-वाक्यो आगमतो प्रा-  
काशयते । अज्जकप्पस्सायणमिवादिनाथाव्याख्या-अस्य सत्सि-  
स्य भाषणं, इह निरुक्तिविना प्राकृतस्वाभाव्याव्यपकारस-

कारः । ऽकारणकारकज्ञानमध्यगतवर्णकतुचयदोष अज्जयणमिति  
भवति, अर्थात् वेतस्तस्यायनमध्ययनमुच्यत इति ज्ञानः । आ-  
नीयते च सामाधिकाराध्ययने शोभते चेत्तोऽस्मिद् सत्यमुज्जक-  
मेकमध्ययनात् । अत एवाह-कर्मणामुपचितानां प्रागुपनिष्कानं  
यानुऽप्यथयो ह्यतोऽस्मिद् सति विद्यते नवानां यानुपपन्नो व-  
न्धा यस्तस्माद्धैवं ययोक्तशब्दाद्यप्रतिपत्तेः "अज्जकथं" प्राकृत-  
भाषायामिच्छामि सूरयः, संकृते विद्वदमध्ययनमुच्यत इति ।  
सामाधिकारिकं वाध्ययनं हायकियासमुद्रवात्समक । तत आगम-  
स्यैकदेशुत्तित्वात्नो आगमतोऽध्ययनाभिदमुक्तिमिति गाथायः ।  
अनु० । "जेण सुहृत्पज्जकथं, अज्जकथायणय महियणयणं वा ।  
वोहस्स संजमस्स व, माक्खस्स व अंतमज्जकथं" । इह नैद-  
केन विधिना प्राकृतस्वाभाव्याव्यपकारः । विद्ये० । आ० म० ॥ १० ।  
निरुक्तयन्तरेद्यौतदेव व्याख्यानुमाह-

अधिगम्यंति व अन्ता, अणण अधिगं व खयणमिच्छंति ।  
अधिगं व साहु गच्छति, तम्हा अज्जयणमिच्छंति । उण० १ ।  
अधिगम्यन्ते वा परिच्छिन्ते वाऽर्था जीवाद्योऽनेनाधिकं वा  
मयं प्राप्यं मय्योवात्तमि हानादिनामनेनेतीच्छति, विद्यां-  
स इति श्रेयः । अधिगमनमर्गं श्रित्तरमिति यावत्, वा सर्वत्र  
विकल्पार्थः । ( साहु ति ) साधयति पौकषेधोभिविशिष्टकिया-  
जिपवर्णमिति साधुगच्छति यानयार्थं मुक्ति, अनेनेत्यत्रापि यो-  
ज्यते, यस्मादेवमेवं च ततः किमित्याह-नेस्मादध्ययनमिच्छ-  
ति, निरुक्तिविधिनाऽर्थानिंशपरत्वाद् वा । अस्यायतरेतेषां अधि-  
पूर्वस्याध्ययनमिच्छन्तीति वाऽभिधानम् । सर्वत्र सुवार्थाभा-  
धया इयाव्यधिकल्पानां पूर्वोच्यते संसतत्वेनाऽऽश्रयव्यापना-  
र्थमिति गाथार्थः । उ० १, अ० १ । अनु० । आ० म० । द० १ ।  
एवा० । सु० १ । अधीयते हस्यप्यनमः । कर्मणि ह्युद् । पठ्य-  
मानं, आ० ४ अ० । धर्मप्रहृती, द० १० ४ अ० । "अध्ययनादि  
शुलोक्च्युत्तानि "

चोयादींसे अज्जयणा इसिजासिया दियाभोगच्छुया भासिया ।

चतुश्चत्वारिंशत् ( इतिमासिधे ति ) आदिभाषिताभ्ययनाभि  
कालिकशुनिवेशवृत्तानि (दियालोयच्छुयाभासिय ति) देवलो-  
कच्युतेः आधीनृतरभाषितानि देवलोकाच्युताभाषितानि । क-  
चित्वाउस्तु- " देवलोयच्छुयायं चोयादींसे इतिभासियज्जयणा  
पन्नत्ता " । स० ४३ स० १ । अधि-द्व-नाभे ह्युद् । पुनः पु-  
नर्मन्थाच्यासे, विद्ये० । स्वाध्यायं, षो० १३ विद्ये० । पठने, गु-  
रुमुखांवारणानुसारीणि उधारणे वा । धा० १ । (पठनकल्पता, ऽ-  
किला "उहेत्" धायता "उवसंपत्त" इत्यदिशब्देषु द्रष्टव्या )  
अज्जयणकप्प-अध्ययनकल्प-पुं० । योयत्ताऽनुसारं वाक्या-  
दानसामाध्याय्यं, पं० मा० ।

वक्खतां सुतकप्पो, एतो वोच्छामि अज्जयणकप्पं ।  
दायव्वं जेण विहिणा, जग्गुणुज्जस व तां तु ।  
जेए परिआए अण-रिहे अरहे व विणयपदिबणे ।  
सुत्तय तदुभएत्तं, जे अज्जयणेसु अणुभागा ।  
जस्सागाढो जोगो, तं आगाढे वा खेव दायव्वं ।  
अणगाढे अणगाढं, एत्तो वोच्छामि परिआणं ।  
जं संसपरिआणं, जणितं सुत्तमि तिबरिआदींयं ।

ते तेषां माणेणं, उदिसियव्वं जवे सुचं ॥  
 सुदिपविसाणयविज-जिमादि दीहे च नृयमायाए ।  
 णवि दिज्जांति अणरिदे. अणारिहेत्ते तु इमो होंति ॥  
 तिंतिणिए च्चल्लिचिचे, गाणं गाणिए य सुच्चलचरिचे ।  
 अयारिय पारिभावी, वामायट्टे य पिसुणं य ॥  
 अदी अदिहभावे, अरुमसमायारिए तरुणधम्मे ।  
 गच्चित्तपइएइणिएहइ, उदेसुचे वज्जितो अउंरुहुरो ॥  
 अकुलीणो ति य दुम्मे-हो दममे मंदवुच्चि ति ।  
 अबियपपलाभलच्छी, सीसो परिजवइ आयरिए ॥  
 सो वि य सीसो दुविहो, पव्वावियतो य सिकसवउ चैव ।  
 सो सिकसित्तो वि ति विहो, सुत्ते अत्ये य तनुजयणं ।  
 एतंमि अणारिहाणं, जे पविन्नस्साउ होंति सर्वंसि ।  
 परिणायमा य जे तु, ते अरिहा होंति णापव्वा ।  
 एतारिमे विणीतो, सुचं अत्ये य जजिया भेदा ।  
 अज्जयणा वेसजुया, सेण अमेसए देजा ॥ पं०जा० ।  
 ( 'सुय' शब्दऽस्य विस्तरो ह्यर्थः )

अज्जयणगुणियउच-अध्ययनगुणानियुक्त-ि० । प्रकान्ताशा-  
 खनिपुण्ड्रजुते प्रकान्ताध्ययनाग्निहितगुणसमन्विते, दश० ए  
 अ० ४ उ० ।

अज्जयणगुणिए ( ष् )-अध्ययनगुणिन-त्रि० । प्रकान्ताध्यय-  
 नोक्तगुणवर्तित, दश० १० अ० ।

अज्जयणाउरु-अध्ययनपदक-न० । अश्वयजनामभूते, तस्य  
 सामायािकादिष्वयनकलापात्मकत्वात् । विशे० ।

अज्जयणाउरुक्वग-अध्ययनपदकव-पु० । आश्वयजे, षडश्व-  
 यनकत्रापात्मकत्वात्तस्य । विशे० । अनु० ।

अज्जवसाण-अध्यवसान-न० । अतिदण्विपादाज्यामधिकम-  
 वसानं चिन्तनमध्यवसानम् । विशे० । रागस्नेहभयात्मकऽध्य-  
 वसाये, स्वा० ७ टा० । रागभयस्नेहभेदात् । विविधमध्यवसानम् ।  
 (तन्निमित्तकं मायुजंदा द्वि० भा० १० पृष्ठे 'आउ' शब्दे यद्यने)  
 मन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मानस्यापरिणती,  
 हा० १ श्रु० १ अ० । उल्ल० । "मणसंकेपेचि वा अज्जवसाणं-  
 ति वा पगहा" नि०चू० १० उ० । प्रकृतोऽपि प्रथमनंदे, अनु० ।  
 विशे० । औ० ।

एरइयाणं जंते ! केवनिया अज्जवसाणा पल्लत्ता ? ।  
 गोयमा ! असंखिज्जा अज्जवसाणा पल्लत्ता । तेणं जंते !  
 किं पसत्था, अपसत्था ? गोयमा ! पसत्था वि अपसत्था  
 वि । एव जाव वेमाणियाणं ।

अध्यवसायविन्त्यायां प्रत्येकैरर्थिकादीनामसंख्येयाध्यवसानानि  
 प्रत्येकं प्रायोऽपान्ताध्यवसायज्ञायात् । प्रहा० ३३ पद ।  
 अन्तःकरणे, आ० म० द्वि० । उपा० । प्रहा० । आवा० ।

अज्जवसाणजोगणिव्वत्तिय-अध्यवसानयोगनिर्वर्तित-त्रि० ।  
 अध्यवसानं जीवपरिणामः, योगश्च मनःप्रभृतिव्यापारस्तान्नां  
 निर्वर्तितो यः स तथा । परिणामेन मनोयोगादिना चासाधिते,  
 म० २५ श्रु० ८ उ० ।

अज्जवसाणाणिव्वत्तिय-अध्यवसाननिर्वर्तित-त्रि० । मनःप-  
 रिणतिसाध्ये, " अज्जवसाणाणिव्वत्तियणं करणोपायणं से य  
 काले तं गणं विज्जजहिहा " अध्यवसाननिर्वर्तितेन कृतो-  
 त्तयं मयेत्येवकपाध्यवसायनिर्वर्तितेन । म० २५ श्रु० ८ उ० ।

अज्जवसाणावरणिएज्ज-अध्यवसानावरणीय-न० । अध्य-  
 वसानस्याऽऽवरणरूपे कर्मभेदे, म० ६ श्रु० ३१ उ० ।

अज्जवसाय-अध्यवसाय-पु० । मधि-अव-पो-घण । इदमेवेति  
 विषयपरिच्छेदे निश्चये, स चात्मधर्मं इति नैयायिकाः । बुद्धिधर्मं  
 इति वेदान्तिनः । उपात्ताविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेः  
 रजस्तमोऽभिभवे स्तिति यः सत्वसमुद्रकः सोऽयमध्यवसाय इति  
 बुद्धिरिति ज्ञानमिति चाऽऽख्यायत इति साङ्ख्याः । वस्तुसाहे,  
 बाच० । संकल्पे, आवा० ३ अ० । सूत्रमेव आस्तनः परिणामविशेषेषु,  
 आवा० १ श्रु० २ अ० । अनुभागवन्प्रस्थानं, "अनुभाग-  
 वंधंराणं, अज्जवसाया च पगहा" पं० सं० २ श्रु० १० चू० ।  
 अज्जवसायहाण-अध्यवसायस्थान-न० । परिणामस्थानं, तानि  
 करणत्रयेऽन्येयानि । अष्ट० ५ अष्ट० । ( 'करण' शब्दे नृपु० प्रा०  
 ३६१ पृष्ठे दृश्यानि धैतानि )

अज्जवसिद्धं-निवापितं, मुख्यं च । दे० ना० १ वग् ।

अज्जवसिय-अध्यवसित-न० । अध्यवसाये, अनु० ।

अज्जवसं-देशी-आकृष्टे, दे० ना० १ वग् ।

अज्जवसिद्धय-आपहित-न० । प्राप्तमानं हितमामादिभ्य ।  
 स्वहिते, प्रअ० १ संघ० द्वा० ।

अज्ज-देशी-अस्त्यायाम्, श्रुभायाय, नवषष्वाय, तरुणायाम्,  
 एतस्यां च । दे० ना० १ वग् ।

अज्जाय-अध्याय-पु० । आ मर्यादाया प्रवचनोक्तं प्रकारं  
 पुनमध्यायः । स्वाध्यायकरणे, प्रव० । अध्यायने, आवा० ४ अ० ।  
 रथा० । कर्मणि घञ् । वेदादिशास्त्रस्यैकार्यकार्यविषयसमाप्ति-  
 यान्तके विश्रामस्थानरूपे अंशविशेषे, बाच० ।

अज्जारुह-अध्यारुह-पु० । उपर्येपर्येध्यारोहन्तीति अर्थाकरुहाः ।  
 वृक्षोपरिजानेव वृक्षानिधानेषु कामवृक्षानिधानेषु वा वनस्थेषु,  
 सूत्र० । च यद्द्विबृक्षानिधाना इति वृक्षाणां शाखाप्ररोहे च । सूत्र०  
 २ श्रु० ३ अ० । प्रहा० । आवा० ( अर्थाकरुहयोपपन्नानां जीवा-  
 नामाहारशरीरवर्णादिष्ववस्था 'वणस्तद' शब्दे चक्षते )

अज्जारोव-अध्यारोप-पु० । अधि-आ-रुह-शिच-पान्ता-  
 देशः-घञ् । अस्मिन्न तद्बुद्धौ, यथा-रजौ सर्वेषां । बाच० ।  
 ज्ञान्तौ, यो० ४ विषय० ।

अज्जारोवण-अध्यारोपण-न० । अधि-रुह-शिच-पान्तादेशः,  
 लुट् । अतिशयेनाऽऽरोपणे ध्यान्तोर्द्वैषेण, बाच० । पर्येतु-  
 योजने, विशे० ।

अज्जारोवमंरुज-अध्यारोपमण्डल-न० । अध्यारोपो ज्ञान्ति-  
 स्तया मण्डलं मण्डलाकारम् । सिध्याज्ञानेन वृत्ताऽऽकाराऽऽ  
 रोपणे, " आगमदीपेऽध्यारोपमण्डलं तस्यतोऽस्येष " पं० ४ विषय० ।

अज्जारोह-अध्यारोह-पु० । वृक्षाणां शाखाप्ररोहे, सूत्र० २  
 श्रु० ३ अ० ।

अज्जावय-अध्यापक-पु० । अध्याययति । अधि-रुह-शिच,

पवुह । अत्ययनकारवितरि, वाच० । उपाध्याये च, "अज्जा-  
 धयाये पञ्चिहूलभासी" उच० १ २ अ० । आ० म० । आ० म्० ।  
 अज्जावसत-अध्यावसत्-वि० । मध्ये वसतिमाने, "गिहमउभा-  
 वसतस्स" इहमध्यावसतः-शुद्धे वर्तमानस्य । उपा० १ अ० ।  
 अज्जाविषा-अधुप्य-अभ्य० । मध्ये वर्तयितेत्यर्थे, "पंच-  
 तित्यनरा कुमारासमम्भाविषा" स्था० ४ टा० ३ उ० ।  
 अधिष्ठायत्यर्थे च । वाच० ।

अज्जासहा-अध्यासना-स्त्री० सहने, उच० २ अ० । (परी-  
 यहासामभ्यासहना 'परीसह' शब्दे ङघ्या )

अज्जाहार-अध्याहार-पुं० । अध्यारुह्यते ज्ञानायाऽनुसन्धी-  
 यते । अधि-आ-ह-घञ् । आकाङ्क्षाविषयपदानुसन्धाने, ऊहे,  
 तर्के, अपूर्वोन्मेषणे च । वाच० । व्याख्याऽङ्गमेतः । आचा० १  
 श्लो० १ अ० ४ उ० ।

अज्जीण-अधीण-न० । आर्थिन्योऽनवरतं दीयमानमपि वर्द्धत  
 एव, न तु क्षीयत इत्यधीणम् । अथवा व्यवच्छिन्नित्यन्यमनेन  
 स्वर्थदैव व्यवच्छेदादस्तीकवदस्तीणम् । विश० । आ० म० ।  
 सामायिकचतुर्विंशतिस्तवात्मक अत्ययने, अज्जु० ।

अस्य निज्ञेपः-

से किं अज्जीणे ? । अज्जीणे च त्रुविहं पमत्तं । तं जहा-  
 णामज्जीणे, ठवणज्जीणे, दव्वज्जीणे, जावज्जीणे । नामत्त-  
 बाणांओ पुव्वं वसिअज्जाओ । से किं तं दव्वज्जीणे ? । दव्वज्जीणे  
 दुविहे पसत्ते । तं जहा-आणमओ अ, णोआणमओ आ । से किं  
 तं आणमओ दव्वज्जीणे ? । दव्वज्जीणे जस्स एं अज्जीणे चि  
 पदं सिखिस्सं जितं मितं परिजितं जाव सेत्तं आणमओ दव्व-  
 ज्जीणे । से किं नो आणमओ दव्वज्जीणे ? । नोआं दव्व-  
 ज्जीणे ति विदे पसत्ते । तं जहा-जाणमसरीरदव्वज्जीणे, जवि  
 अमरीरदव्वज्जीणे, जाणमसरीरजविअसरीरवदरिसे दव्व-  
 ज्जीणे । से किं जाणमसरीरदव्वज्जीणे ? । जाणमसरीरदव्व-  
 ज्जीणे अज्जीणपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववमय-  
 चुअचाविअचचददं जहा दव्वज्जयणे तथा जाणिअव्वं जाव  
 सेत्तं जाणमसरीरदव्वज्जीणे । से किं जविअसरीरदव्वज्जी-  
 णे ? । जविअसरीरदव्वज्ज्जीणे जे जीवे जोणिअम्मणि निक्खं-  
 ति जहा दव्वज्जीणे जाव सेत्तं जविअसरीरदव्वज्ज्जीणे ।  
 से किं जाणमसरीरजविअसरीरवदरिसे दव्वज्जीणे ? ।  
 दव्वज्जीणे सव्वागाससेदी सेत्तं जाणमसरीरजविअसरीर-  
 रवदरिसे दव्वज्जीणे, सेत्तं नो आणमओ दव्वज्जीणे, सेत्तं  
 दव्वज्जीणे । से किं जावज्जीणे ? । भावज्जीणे दुविहे  
 पसत्ते । तं जहा-आणमओ अ, नो आणमओ अ । से किं आ-  
 गमतो भावज्जीणे ? । जावज्जीणे जाणए उवदरिसेत्तं आ-  
 गमओ भावज्जीणे । से किं नो आणमओ भावज्जीणे ? ।  
 जह् दीवा दीवसत्तं, परप्पे दीप्पे अ सो दीवो । दीवसमा  
 आयरिआ, दिप्पंति परं च दीवंति ॥ १ ॥ सेत्तं नो आ-  
 गमओ जावज्जीणे, सेत्तं जावज्जीणे, सेत्तं अज्जीणे ॥

अत्रापि तथैव शिचारः, या तु ( सव्वागाससेदी ति )  
 सर्वाकार्यं लोकात्मकनमःस्वरूपम्, अस्य संबन्धभाविः प्र-  
 शापहारतोऽपह्नियमाणाऽपि न काराचित् क्षीयते, अतो ह-  
 गरीरमभ्यगरीरउपतिरिक्कद्रव्याक्षीणतया प्रोच्यते, द्रव्य-  
 तावत्याऽऽकारोऽव्याप्तगतत्वादिति । अत्र बुदा व्याचक्षते-  
 यस्माच्चतुर्दशशुभविद् आगमोपयुक्तस्यानुष्ठुत्तं मानोपयोग-  
 काले येऽधोपलम्भोपयोगपर्यावास्ते प्रतिस्वयमेकैकापहार-  
 णानन्तात्तन्प्युत्सर्षिणीभिर्नोपह्नियते, अतो भावाक्षीणतेहा-  
 वसेया । नो आगमतस्तु भावाक्षीणता-शिव्येभ्यः सामायिका-  
 दिभुतप्रदानेऽपि स्वामिन्यनाशादित्येनदेवाद्— ( जह् दीवा )  
 यथा दीवादनधिज्ञतादीपशतं प्रदीप्यते प्रवर्त्तते, स च सुलभुतो  
 दीपस्तथापि तैरेव रूपेण प्रवर्त्तते, न तु स्वयं क्षयस्तुपयाति । प्र-  
 कृते संबन्धप्रकाश-एवं हीपसमा आवायो हीप्यन्ते स्वयं वि-  
 वक्षितभुवनत्वेन तथैवावतिष्ठन्ते, परं च शिष्यवर्गी दीपमति-भूत-  
 सपदं लघ्नन्ति । अत्र नो आगतो भावाक्षीणता भुतशुभका-  
 र्यायोपयोगस्यागमत्वाद्, चाज्ञायोगयोऽज्ञायमानव्यतिथि  
 बुक्ता व्याचक्षते इति याथार्थः । अज्जु० । यथा हीपाद् हीपशतं प्रदी-  
 प्यते उज्ज्वलति, सोऽपि च हीप्यते दीपः, न पुनरन्याम्यदोपोत्पत्ता-  
 विद् हीयते । तथा किमियाद्-दीपसमा आवायो हीप्यन्ते सम-  
 स्तनाश्चार्थविनिश्चयेन स्वयं प्रकाशन्ते, परञ्च शिष्यं हीपय-  
 न्ति शास्त्रार्थप्रकाशाननिकियुक्तं कुर्वन्ति । इह च तात्सम्यक्प्रक-  
 र्पेया इत्याचार्यशब्देन भुतज्ञानमेव बोधकम्, भावाक्षीणस्य प्रस्तुत-  
 न्त्यात्, तस्यैव चाज्ञायमेकमेवादिति याथार्थः । उच० १ अ० ।  
 अज्जीणज्ज्जीण-अधीणज्ज्जाक- वि० । अक्षीणकलहं,  
 आच० ४ अ० ।

अज्जुववण-अज्जुपपन्न-वि० । अधिकमत्यथैमुपपन्नस्त्विच्च-  
 स्तदात्मकः । विषयपरिभोगायतजीविते, आचा० ६ श्लो० १ अ०  
 ७ उ० । स्या० । म० । अधिकं तदेकामृतं गते, ज्ञा० २ अ० । वि० ।  
 म० । आतानुरागे, इय० २ उ० । सुचिन्ते, आचा० ६ श्लो० १ अ०  
 ७ उ० । युधे, सूत्र० २ अ० ६ अ० । "मुच्छिन्नं विदुः गतिपरं अज्जु-  
 ववणं य" इति एकयोः । वि० । अज्जोववणं कामेहि, व्या-  
 हञ्जना गया गिहं । अज्जुपपन्नः कामगतविचिताः । सूत्र० १  
 श्लो० ३ अ० २ उ० । अज्जोववणं कामेहि मुचिन्त्या । अज्जुप-  
 पन्ना श्रुत्वा । सूत्र० १ श्लो० २ अ० ३ उ० । पीनमुत्थंभाभिलषमाणं,  
 सूत्र० १ श्लो० २ अ० । अधिक्येन भोगेषु ह्यथ, सूत्र० २ श्लो० १  
 अ० । स्या० ।

अज्जुसिर-अज्जुपिर-वि० । न० ब० । रुद्धणज्जुपिररहिते, रा० ।  
 " अज्जुसिरं जय्थ कोट्टंरं नत्थि" नि० श्लो० २ उ० । तुपाद्य-  
 नवच्छिन्नं, यं ३ अ० । कुडावनतुणादी, संस्तारकनेये च । नि०  
 श्लो० २ उ० ।

अज्जुसिरतण-अज्जुपिरतण-न० । दर्जावै, श्रुपिररहिते तृणे  
 च । जीत० ।

अज्जेमणा-अधयेयणा-स्त्री० । अधि-इ-य-उ-ए । सत्कारयु-  
 क्तियोत्ते, सम्म० । अधिकता यथा प्रायना । अधिकमयं, स्त्री० ।  
 वाच० ।

अज्जीपरय-अध्यवपूरक-पुं० । अधि अधिचक्षेनाध्यवपूरं  
 स्वाधेन्द्रसिधियशारेः साध्यागमनमवगतय तद्योग्यमङ्गलसि-  
 क्षयं प्रादुर्भूय भरत्समध्यवपूरः । स एव साधिककामययवि-  
 धानाद्यध्यवपूरकः, तद्योगाङ्गकाप्यध्यवपूरकः । प्रथ० ६७

द्वा० स्वार्थमूलाद् ग्रहणे कृते स्वाध्यायार्थमधिकतरकणप्रसेपणे-  
न भङ्गादीं संपादिते स्तिति, तत्र सम्भवति योऽत्रो उद्गमदोषे,  
भ०६ श० ३३ उ० । "सद्याण्य मूलगाहणे, अक्रोकोपर हाए प-  
कनेबो" स्या० ६ ज्ञा० । ६० । घ० । ब्राह्म० । पं० ७० । पंचा० ।

अधुना अथवपूरकहारमाह-

अञ्जोययश्चो ति विद्वां, जावत्सिय सपरमीस पार्षदे ।

मूत्रमिष्य पुष्पकर, ओपर्यै ति एद् अष्टाए ॥

अथवपूरकविप्रकारः । तद्यथा- ( जावत्सिय इति ) स्वग्रह-  
मिश्रयोः शब्दयोरत्रापि संबन्धनात् स्वग्रहयावदधिकमिश्रः ( स  
घरमीस स्ति ) अत्र साधुशब्दोऽव्याहियते. स्वग्रहसाधुमिश्रः ।  
( पार्षदे इति ) अत्रापयथायोगं स्वग्रहमिश्रशब्दसंबन्धः ।  
स्वग्रहपाषाणमिश्रः स्वग्रहअमयमिश्रः स्वग्रहपाषाणमिश्र-  
पन्नार्भावितः पृथग्ग नोकः । त्रिविधप्रकारेण सामान्यतो लक्ष-  
णमाह- ( मूलस्मृत्यादि ) मूले आरभ्येऽग्रिसंयुतयास्थालीज-  
लप्रतेपादिरूपे, पूर्वं यावदधिकयागमनात् प्रथममेव स्वार्थं  
निष्पादिते पश्चात् यथासंभवं अत्रासां यावदधिकार्दाना-  
र्थायावतरयति, अधिकतरान् तगकुलादीन् प्रसिपति, ए-  
षोऽथवपूरकः । अत एव चास्य मिश्रजानाद्भेदः । यना मिश्र-  
जाते तदुच्यते-यत् प्रथमत एव यावदधिकयाधेमात्मार्थं च  
मिश्रं निष्पाद्यते, यत् पुनराभ्येते स्वार्थं, पश्चात्प्रभूतानर्धिनः  
पाषण्डिनः साधुन् वा समानानवगम्यतेनावाथीयाधिकतर-  
जलतगकुलादि प्रसिप्यते, सोऽथवपूरकः, इति मिश्रजाना-  
दस्य भेदः ।

अमुमेव भेदं दर्शयति-

तंदूल जत्र आयाणे, वृष्पकते सगवेनेणे णोए ।

परिमाणे नाणचं, अञ्जोयय मीसत्रापे य ॥

इह 'अमयोऽऽयासाम्' इति वचनात् समीप-यथायोगं पृथगर्थे  
तृतीयायै वैदित्तव्या। ततोऽयमर्थः-अथवपूरकस्य मिश्रजातस्य  
च परस्परं नानार्थं हि तगकुलपुष्पफलशाकवैशजलवयादान-  
काले यद् विचित्रं परिमाणं तेन द्रष्टव्यम् । तथाहि-मिश्रजाते  
प्रथमत एव स्थानार्थं प्रभूतं जलमारोप्यते, अधिकतराश्च त-  
गकुलाः कण्डनादिनिरुपकम्पन्ने, फलादिकमपि च प्रथमत एव  
प्रभूततरे संरच्यन्ते । अथवपूरके तु प्रथमतः स्वार्थं स्तोकरतरे  
तगकुलादि गृह्यन्ते, पश्चात् यावदधिक्यादिनिमित्तमाधिकतरं तगकु-  
लादि प्रकृष्यन्ते, तस्मात्सागुद्वादीनामादानकाले यद् विचित्रं  
परिमाणं तमिश्रअथवपूरके निरोधकौडी नामः-यमवस्यम् ।

संयधयवपूरकस्य कालविधिमहा-

जावत्सिय विनोदी, सपरपार्षदिमापर पुरे ।

दिशे विसोद्वि दिन्न-मिमि कण्ठे न कण्ठे मेमं ।

यावदधिके स्वग्रहयावदधिकमिश्रोऽथवपूरकेः शूचनकमव-  
पत्तिते यदि तावन्मात्रमपनीयन्ते ततो विशोधिमयति। अत-  
एव स्वग्रहयावदधिकमिश्रोऽथवपूरको विशोधिकादी बन्धयन्ते ।  
स्वग्रहपाषाणमिश्रे, उपलक्षणत्वात् स्वग्रहसाधुमिश्रे च शूच-  
नकमवपत्तिते प्रतिभवंति, न कल्पते तद्भूतम्, पुतिहावच्छेदं न-  
बनीत्यर्थः । तथा विशोधी विशोधिकादिरूपे यावदधिकयाव-  
पूरके दिशे यावन्तः कणाः कार्पाटकाद्यर्थे पश्चात् तिसास्मान्वा-  
न्यात्रे स्थायानाः पृथक्कृते, कार्पाटिकादिभ्यो बा दृष्टे स्तिति, शोष-  
मुद्गतरे यद्भूतं तत्साधुनां कल्पते । अयं पुनः स्वग्रहपाष्कारि-  
मिश्रस्वग्रहसाधुमिश्रअथवपूरकं न कल्पते । किमुचं भवति ? ।

शुहीते तत्प्राक्स्मात्रं स्यात्वायाः पृथक्कृतं, दत्तं वा पाषण्ड्यादि-  
व्यस्तथापि यत् शुचं, तत्र कल्पत इति ।

' जावत्सिय विसोदी' इत्ययमर्थं विशोधतोऽध्यायानयति-  
त्रिभूमि तथो लक्ष-द्वियमिष्य पुरकए कण्ठे सेसं ।

आहवणाए दिशं, व तसियं कण्ठे मेसं ॥

विशोधिकोदिरूपे यावदधिकेऽथवपूरके यावदधिकं पश्चात्  
प्रकृतं तावन्मात्रं दिशे पृथक्कृतं, तत्र जेवो रेवकादिपि प्रवति,  
तत्र प्राह- ( तथो उक्तद्वियमिष्य ) तत्स्वस्थाद्रूपकारितं कर्पादिते,  
इहाकारितं स्वस्थानादुत्पाठ्य शोषकमस्त्योपरि मिकृत्तमपि अ-  
ल्पते, ततो विशोधयापतरमाह-पृथक्कृते स्थाप्या बहिनिक्रा-  
शिते, शेषं यद्भूतं तत्साधुनां कल्पते । अथवा आजनवया उद्-  
शेन, न तु शिक्यादिविपरिणनेन यदि तावन्मात्रं कार्पाटिकादिभ्यो  
दत्तं स्यात् ? ततः शेषं कल्पते । पि० । तत्र प्रायश्चित्तं प्रत्येकं  
मासगुरुः ६० १ ० । " यावत्सिय अञ्जोययर्प माससह, स्व-  
रपासंरु अञ्जोययर्प मासगुरुः " पं० ७० । अथवपूरकान्तर्भेदद्वये  
एकाशनकम् । जी० १० । पंचा० ।

अत्रभोक्ष्मिन्ना-देशी-कांडाभरणे, दे० ना० १ वर्गे० ।

अत्रभोवज्जाण-अधुपुपादना-स्त्री० । कर्षादिनिष्पाद्यैश्चुप-  
पत्तौ, अभिषेक्यं च । " तिदिहा अञ्जोवज्जणा-जाणू, अजाणू,  
विनिविच्छा " तत्र ज्ञातनां विषयज्जन्मर्थे या तत्रापुपुपात्तः  
सा जाणू । या स्वजानतः सा अजाणू । या तु संशयवतः सा विवि-  
क्तिरसा । स्या० ३ ज्ञा० ४ उ० ।

अत्रभोववमृ-अधुपुपपत्र-त्रि० । विषयपरिनेगावतर्जाविते,  
ब्राह्म० ।

अत्रभोववापु-अधुपुपात-पुं० । प्रवृत्तैकाप्रवृत्ततायाम्, " पर-  
वृत्तैकाप्रवृत्ततायाम् । " इत्यत्रापि परवृत्तव्यस्य अ-  
धुपुपातं च ग्रहणैकाप्रवृत्तनां शोभं मुक्तां जनयति यस्मि  
स्तानि अधुपुपातसंभजनानि । प्रश्न० ५ सत्य० ६० ।

अञ्च-कृप-धा० प्राकरणे, विज्ञेक्षने च । तुदा०, आम०, सक०,  
इति । " कृपेः कृट्साकृडाकृष्णकृष्णकृष्णकृष्णः " । ॥ ७३१ । ७७ ॥

इति कृपेर्ज्ञेदेशः । अञ्चक. कृपने । प्रा० ।  
अञ्चिञ्च-अञ्चिञ्च-त्रि० । अञ्च-क. वर्गेऽन्यो वा । ॥ १ ।

३० । इत्युत्तरायस्य वा परस्वर्णोः पूजिते, आकृषिते च । प्रा० ।  
अञ्च-अञ्च-त्रि० । " न्यपयज्ञज्ञाञ्चः " ॥ ८ । ७२६३ ॥ इति सूत्रं  
मागध्यां इत्येव इत्तः । टिकते अकार इत्यर्थः । सूत्रे, प्रा० ।

अन्य-त्रि० । न्यस्य स्थानं द्विक्रके अकारः । जिञ्च, सद्यो वा । ए-  
वमेतद्वयदिता कृपुदाहास्याः । प्रा० ।

अञ्चन्नि-अञ्चन्नि-पुं० । अञ्च-प्रति, " न्यपयज्ञज्ञाञ्चः " । ॥ ८ ।  
४ । २६२ । इति मागध्यां च इति भागस्य चः । संयुतकर-  
पुटे, प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-धा० गतौ । ज्वा०, सक०, पर०, भेदः । " शकादीनां  
द्विच्यम् " । ॥ ७७३२६३ ॥ इति टिकित्यम् । परिअट्टह, पर्यट्टानि । प्रा० ।

अट्ट-कृष्ण-धा० तिष्ठायां । ज्वा०, पर०, सक०, सट्टा । " कृष्णकृष्णः " ।  
॥ ७७३२६३ ॥ इति कृष्णकृष्ण इत्यादेशः । अट्टह, कृष्णानि । प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-पुं० । अट्टयति तादित्येनऽन्यपुं० । अट्ट-आघार-  
घञ् । प्रासादस्योपरि गृहे, प्राकारोपरिस्थस्यैवपुं० । अट्ट-आघार-  
ता हि नरा अन्याद् हीनतया नादित्यन्ते । यस्मिन् वसतश्चा-

म्योत्कर्षोऽसादरः । आचम० । " अह्निषि वा अहाहवधिषि वा " भाषा० २ श्रु० ११ अ० । अत्रत्येति कर्मयतेऽनेनेत्यङ् । आकाशे, न० २० श्रु० १ उ० ।

आर्ति-वि० अर्तिः शारीरमानसौ पीडा, तत्र जय आर्षेः । आचम० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । पीडिते, श्रु० १ श्रु० १० अ० । दुःखिते, आचम० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । मोहादयेन आर्षे, भाषा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । शरीरतो दुःखिते, श्रौ० । मोहाद्येवाद्गणितकार्यविवेके च । आचम० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अस्य निक्षेपः— " अहं क्षीय परिजुषे दुस्संभोहं अविज्ञायय " । आचम० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ( 'पुद्गलिकाय' शब्दे एतत्सूत्रप्राख्यानेन वक्ष्यते )

अष्टे चठपिहं त्रुदु, दृष्ये नदिपादि जप्य तथुकृष्ठा ।  
आवसंते पदिष्या, से च सुनय्यादि आष्टे ॥

आर्षेः अहु चतुर्विधः । तद्यथा-नामांसे, स्थापनांसे, द्रव्यांसे, भाषांसे । तत्र नामस्थापने सुप्रतीतः । द्रव्यांसेऽपि भोगागमनो ह्यारीरव्यतिरिक्तो यत्र नचायैः प्रदेशे दृष्टकामिनि पतितानि आवसंते, यच्च या सुवर्णपायसंते, स इष्टव्यः प्रा सर्वेनः परिश्रममेव ज्ञातानि गतानि यत्र यो वा स आर्षे इति ध्युत्पत्तेः ।

अष्टवा अतीज्जते, सचिचादिहिं होइ दन्वमि ।  
जाये कोटादीहिं, उ अजिज्जते होति अष्टो उ ॥

अथवा सर्वाचारादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तेः प्राप्तावियुक्तैर्वा य आर्षेः स द्रव्यानेन, द्रव्यैरातोऽप्यतोऽपि इति व्युत्पत्तेः । कौषादिभिरनिर्भूतो नो आगमनो भाषासे । तद्वचनात्सद्वार्था उक्तः । व्य० ५ उ० । आचम० । ऋतस्य पादितस्येदं वचनमिति कृत्वा पौमसे गौणालोके, प्रअ० २ आअ० ३० । अत्रं दुःखं, तत्र अयमात्मैव । अष्ट वा आर्ति-पीडा, पातनं च, तत्र जन्मात्मैव " यं २ अथि० । अष्ट० । क्रिष्टे, आचम० ५ अ० । विषयानुसंज्ञितं, धं २ अथि० । इष्टविषयसंयोगाभिलाषे, प्रअ० ४ अ० ५ उ० । एतदस्मके शोकाकम्पद्विज्ञेपनादिलक्षणेषु वा ध्यानभेदे, आचम० ५ अ० । आ० । अष्ट-देशी-कृतो, दुर्बलं, सुवी, महीनं, शुक्लपक्षिण, सुखं, सौख्यं, धृष्टे, विपाते, झलसे, शीतके, शब्दे, ध्वनी, असत्ये च । दे० मा० १ वगे ।

अष्टद-देशी-कृतं, दे० मा० १ वगे ।  
अष्टक-अष्टक-पुं० ( आट्टो ) कुडिहोपेकतकपे पात्रिककूपक-क इत्ये, श्रु० १ उ० ।

अष्टजगत्-अतिध्यान-न० । अष्टं दुःखम् । ठके हि-अष्टतथ्यो दुःखवर्ष्योवाच्यतायायते । अष्टे नवमासम्, उक्तं ३० अ० । अष्टं दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा अथवा । कृतं वा पीडिते भवमात्मैव । आचम० ५ उ० । आचम० । तच्च तद् ध्यानेन च । आर्षेमावे गन आर्षेः, आर्षस्य वा स्थानमात्मैवधानम् । आ० श्रु० ५ अ० । मनोहामनोऽवस्तुविद्योगसंयोगादि विषयवर्त्मनश्च विप्रवृत्तक्षणे प्रामाण्येदे, स० १ अ० १ । " राज्ञोऽभोगेहायनासनासनासनेषु, सा० गन्धमात्यमभिरन्तमिषूषयोषु । इच्छांमिच्छामतिमाभमुपिति ह्यो-रुधानं मदासैमिति संप्रवर्तित तज्जा " ॥१६२०१ अ० । " भवकार्यामष्टदहा " । आर्षेऽप्यां स्वपिषयसकृत्पुनरेतत्प्रतीति । उक्तं च भगवता वाचकतुष्येन-आर्षेऽगमनो-ह्यामं संप्रयोगे, तद्विप्रयोगेण स्मृतिरसन्वाहात्, वेदना-यश्च विपरितम्, मनोह्यामं निदानं वेद्यादि । आचम० ५ अ० ।

" अष्टजगते च उन्विहे पक्षणे " अतस्तो विधा भेदा यस्य तत्तथा ।  
अपभ्रुक्षंसंप्रयोगसंप्रयुक्तं तस्य विप्रयोगाविति सप्तमस्य गणयति भवइ ।

अगमोऽहस्यानिष्टस्य 'असप्तमस्य सति' पाठान्तरे अस्वमनो-हस्यानामप्रिष्य शब्दादिविषयस्य, तत्सामान्यवस्तुनो वा संप्रयोगः संक्षेपस्तेन संक्षेपस्य संक्षेपः अत्रोऽगमोऽहस्यागसंप्रयुक्तो-ऽस्वमनोऽहसंप्रयोगसंप्रयुक्तो वा, य इति गम्यते । तस्येति, अ-मनोऽहस्य शब्दोऽहस्यागसंप्रयोगे विद्योगार्थं स्मृतिभ्रान्ता, तां सम-न्यागतः समनुप्राप्तो भवति यः प्राणी, सांभेदोऽपचावादासैमिति । वाऽपीतिशब्द- विकल्पार्थक्या समुच्चयावैः । अथवा मनोऽहसं-प्रयोगसंप्रयुक्तो यः प्राणी, तस्य प्राणिनः विप्रयोगे प्रकामादगमो-हस्यादिष्वस्तुनां विद्योगेन, स्मृतिभ्रान्तम्, तस्याः समन्यागतः समगमनं समन्याहारो विप्रयोगस्मृतिरसमन्यागतं वाऽपीति तथैव ज्ञानेति, आर्षेऽप्यामिति प्रकामः । अथवाऽमनोऽहसंप्रयोगसंप्रयुक्तं प्राणिनं, तस्येति अमनोऽहस्यादिविप्रयोगस्मृति-रसमन्यागतमासंभ्यामिति ।

अगमोऽहस्यामं सदा-द्विसप्ततयुषा दोसमदस्यस्य ।

धणित्रं विप्रयोगवित्तल-संप्रयोगागुसुरणं च ॥६॥  
अमनोह्यामिति । अमनोऽमुक्तानि मनोह्यामि, इष्टानीत्यर्थः । न मनोह्यामि अमनोह्यामि, तेषाम्, अथाभिव्यक्तं आह-शब्दादिविषयसं-रूपाविति । शब्दाद्यभ्येन विषयश्च, आदिशब्दाङ्गोऽपि विप्र-हो विधीयन्तेषु सक्तः प्राणिन इति विषयाः-इन्द्रियगोचराः, वस्तूनि तु तदाश्रयज्ञानं रासमादिभि । ततश्च शब्दादि-विषयाश्च, वस्तूनि तेषु विप्रः । तथाच, किंसंप्राप्तानां सत्ताम् ? अणियमत्यर्थम्, विद्योगवित्तलं विप्रयोगवित्तलं योगः । कथं तु नामैर्निर्देशायाः स्यादिति प्रावः । अनेन वर्गमानकाल-प्रहः तथा सति च विद्योगसंप्रयोगानुसमर्ण, कथमेभिः सहेषे संप्रयोगाभावे इत्यनेन वाऽनागतकालप्रहः च शब्दात्पूर्वमपि वि-युक्तानसंप्रयुक्तयोर्बहुमतयेनातीतकालप्रह इति । किंविशिष्टस्य सन इदं विद्योगवित्तलमिति । अत आह-देषमतिरस्य, जन्त-रिति गम्यते । नचापीतिलक्षणोऽहः, तेषु मतिरस्य, तदाऽन्त-मूर्तिरिति गाथायैः । इति प्रथमो भेदः ।

साम्प्रतं द्वितीयमभिधिरुग्राह-

तद् भूतवीसरोमा-एवेअणाय विप्रयोगपणियाहां ।  
तयसंप्रयोगवित्त, तपदिआराहल्लवणस्य ॥७॥

नयेति अणियमत्यर्थमेव । श्रुतिशिरोरोमादिवेदनाया इत्यथ श्रुतिशिरोरोमी प्रसिद्धी । आदिशब्दाच्छेदरोमात्तद्वपरिग्रहः । त-तश्च श्रुतिशिरोरोमादिव्यो वेदना । अणत इति वेदना । तस्याः किम् ?, विद्योगप्रधिधानम्, विद्योगे ह्यहपक्षसया इत्यर्थः । अनेन वक्ष्यमानकालप्रहः । अनागमनमधिकृत्याह-तदसंप्रयोगवित्तलं, तस्या वेदनायाः कथंविद्योमे सति असंप्रयोगवित्तलं, कथं वक्ष्यमानयाऽऽस्त्या संप्रयोगो न स्यादिति विस्तारं आर्षेऽप्यामयेव शुद्धत । अनेन वक्ष्यमानागमनकालप्रहणेनातीतकालप्रहोऽपि कृतं पक्षं वेदितव्यः । अत्र ज्ञानानन्तरं तथायां कृतं च । किं विशि-ष्टस्य सन इदं विद्योगप्रधिधानमिति । अत आह-तद्वतीतीकारे-वदनाप्रतीकारे विकिस्तयामाहकृते स्वप्नं मनोऽन्त्याः कर्तव्यं पक्षं च तथाविधस्तस्याविद्योगप्रधिधानासांभ्यामिति गाथायैः । उक्तो द्वितीयो भेदः । आचम० ५ अ० ।

अनुना लृपीयुपदशोभय-  
आर्वाकसंप्रयोगसंपउचे तस्स विपुत्रोगसितिसमध्याग-  
ए यावि भवइ ॥

आतहो रोगः इति । स्वा० ४ ज० १ ४० ।

इहाणं विसयाई-ए वेअणायइ अ रागरत्तस ।

अविभोगज्जवसाणं, तह संयोगाजिहासो अ ॥॥

इहानां मनोहानां विषयादीनामिति । विषयाः पूर्वोक्ताः आदि-  
शास्त्रास्तुपरिग्रहः तथा वेदनायाश्च इहाया इति वर्तते । किम्?,  
अविषयागम्यवसानमिति योगः । अविषयगणहदाभ्यवसाय इति  
जायः । अनेन च वर्तमानकालग्रहः तथा संयोगजिहास-  
केति, तत्र तथेति । अथिद्युसमिस्त्येनात्ययंपकारोपदशोभायः ।  
संयोगजिहास-कथं भ्रमैर्भविष्यदितिभिरास्यो संबन्धः ?, इ-  
तीच्छा । अनेन च अनागतकालग्रह इति बुद्ध्या व्याकृतेः । अश-  
ब्दात्पूर्ववदतीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य सत इदमविषयो-  
गम्यवसानादि । अत आह-पगरकस्य, जन्मोत्तरित गम्यते ।  
तत्रातिष्यङ्गवृत्तयो रागाः, तेन रकस्य तद्भावितमूर्तेरिति गा-  
धार्यः । उक्तस्तृतीयो नेदः । ब्राव० ४ अ० ।

साम्भवं चतुर्धमभिधितुराह—

परिजुसिय कापजोगसंप्रयोगसंपउचे तस्म अविपुत्रो-  
गसितिसमध्यागए यावि भवइ ॥

( परिजुसिय सि ) निवेदिता ये कामाः कमनीया जोगाः  
शब्दादयः । अथवा कामी शब्दरूपे, जोगा मन्धरस्वरुशोः ।  
कामभोगाः कामानां वा शब्दादीनां यो भोगस्तेस्तेन वा  
संप्रयुक्तः । पाठान्तरे तु तेषां तस्य वा संप्रयोगस्तेन संप्रयुक्तो  
च स तथा । अथवा (परिजुसिय सि) परिजुषो जरादिना, स  
बावो कामजोगसम्प्रयुक्तश्च यस्वरूप, तेनाभावितप्रयोगस्तुतः स-  
म्भवागतं समवाहारस्त्वदि नवत्यार्षभानमिति । स्वा० ४ज०

देदिदचक्वाट्टि-चणाय गुणरिद्विपत्यलामदयं ।  
अहयं निआणचित्तमभाणुणुगमपचत्तं ॥६॥

द्वीत्यन्तंति देवा भवनयास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभयो देवे-  
न्द्राश्चमरादयः । तथा अकं प्रहरणं, तेन विजयाधिपस्य वासिंतुं  
शालमेषामिति चक्रवर्तिनां प्ररतादयः । आदिशब्दाद् बलदेवा-  
दिपरिग्रहः । अमीषां गुणरूपयो देवमूचकत्वात्पिगुणरूपेयः ।  
नत्र गुणस्तु क्वादयः, अक्किस्तु त्तिरिनिः, तत्पार्थनात्मकं  
तदाप्यामथमित्यर्थः किं तदु?, अथयं उच्यते, निदानविभक्तं नि-  
दानाभ्यवसायः, अहमनेन तपस्व्यागादिना हेचनेनः स्वामित्वादि-  
कः । आह-किमिति तदधममुच्यते, तस्मादहंनानुगतम, अत्य-  
न्तम, तथा च नाहानिनो विहाय सांसारिकसुखेऽन्येयामभिलाष  
उपजायते । उक्तं च-“ अहानात्प्राश्च्युतवनिनापाक्कविकेपि-  
नास्ते, कामे सकिं दधति विनवाजोगानुहाजेने वा । विद्विज्जं  
अवति दि महम्मोक्ककाङ्क्षिकतानं, नादयस्सकंधे चिटपिति कस्यं-  
वमित्तं गज्जन्ः” ॥१॥ इति गाधार्यः । उक्तस्तुथो नेदः । ब्राव०  
४ अ० द्वितीयं वृत्तमधनादिविषयं, अनुद्ये तस्संपाद्यशब्दादि-  
प्रागावधयमिति नेदः । उच्यते । प्राश्च्युतं ( ब्रावधय-  
कं ) तु द्वितीयं अनुद्येयोरैकयेन नृतीत्यर्थम्, अनुद्ये तत्र निदानमु-  
क्तम् । उक्तं च-“ अमणुषाणं सद्धानं” इत्यादि । स्वा० ४ ज० १४० ।  
साम्भवागते यथा नृत्स्य भवति यद्वर्धनं चदमिति तदनदनि-  
धातुकाम आह-

एयं चउत्तमिदं रागशोभमोर्दिकअस्स जीवस्स ।  
अट्टअभाणं संसा-रवृत्तणं तिरिअग्गमूलं ॥१०॥

एतद्वन्तरोदितं चतुर्धमं वस्तुप्रकारं रागशोभमोर्दिकं किं तस्य?,  
रागादिहात्रितस्येत्यर्थः कस्य?, जीवस्य आत्मनः किम्?, प्रा-  
र्षभ्यानमिति । तथा वस्तुद्वयमपि किं विशिष्टम्?, इत्यत आह-  
संसारवर्द्धनम्, शोभतस्तिथेर्भातिमूलं विशेष इति गाधार्यः ।  
आह-साधोरपि शुद्धवेदानाभूतस्यासमाधानादाशेभ्यानम्रा-  
तिरित्यभ्योच्यते, रागादिवशावर्तिनां भवत्येव, न पुनरत्यस्य-  
ति । आह च ग्रन्थकारः-

मज्जत्त्वस्स उ मुणियां, सकम्मपरिणायवधिअमेअंति ।  
वत्युस्सइद्विचित्तण-परस्स सम्भं सहवस्स ॥ ११ ॥

अथे निवृत्तौति मध्यस्थः, रागशोभयोरिति गम्यते । तस्य मध्य-  
स्थस्य, तुल्यम् एवकारार्थः, स चाप्रधारणे । मध्यस्थस्यैव नेतर-  
स्य । मनुते जगतत्सकाशावस्थामिति मुनिः, तस्य मुनेः, साधारि-  
त्यर्थः स्वकर्मपरिणामजनितमेतत् जसादि, यच्च प्राक्कथितपरिणा-  
मिदेवाद्बुधभाषणमिति न तत्र परितान्या जयन्ति सन्तः उक्तं च  
परममुनिभिः-“ पुत्रिं च खलु ज्ञो करामं कम्मार्णं उचित्तणं  
उत्परिक्कताणं वेइत्ता मोक्खं नन्धि, अयेइत्ता तवसा वा जेस-  
इता” इत्यादि । इत्येवं वस्तुस्वजाबन्धितनपरस्य सम्यक्शोभ-  
नाभ्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम?, अपि तु ध-  
र्मनिदानमिति वच्यतेति गाधार्यः ॥ ११ ॥ परिहृताऽऽरा-  
हा, गतः प्रथमपक्षः ।

द्वितीयानुवीयावधिइत्याह—

कुणयो व पमत्थालं-वणस्स पहिअारमपसावज्जं ।  
तवसंजमपविअारं, च सेवओ धम्ममाएणम ॥ १२ ॥

कुर्वेनो वा, कस्य?, प्रशसने ज्ञानात्पृषकारम्, आहम्यत इत्या-  
म्यने प्रवृत्तिनिमित्तं शुभमध्यवसानमित्यर्थः । उक्तं च-“ कोह  
अच्छित्तिमित्यादि” प्रशस्तमात्मनं वृत्तं यस्यासौ प्रशस्ताल-  
म्बनः, तस्य । किं कुर्वेत्?, इत्यत आह-प्रतीकारं चिकित्साद्वयम्,  
किंविशिष्टम्?, अल्पसाधुत्वं, अशुचं, सहावचनं सावकम् ।  
अल्पशार्धाऽभाषवाचकः सांकाशकत्वेन वा । अल्पं सावचं यस्मि-  
न्प्रसावल्पसावचसत्तं धर्मनिदानमेधेति योगः । कुतः?, निर्दोष-  
त्वात् । निर्दोषत्वं च बचनमागएयात् । उक्तं च-“ गीयर्थो जय-  
पाए कउजोगी कारणमि निर्दोसो” । इत्याद्यामस्त्योस्तर्गाववा-  
दरुपत्वात् । अन्यथा परलोकरूपे साध्यायुत्पुण्यकृतत्वात्, साधु  
वैतदिति तथा तपःसंप्रदानं च । सेवमात्मन्येति । तपःसं-  
मावेव प्रतीकारः, सांसारिकदुःखानामिति गम्यते । तं च सेवमा-  
नस्य, चशब्दात् पूर्वोक्तप्रतीकारं च । किम्?, धर्मं धर्मध्यानेनैव  
यति, कथम्?, सेवमानस्यानिदानमिति क्रियाविशेषणम्, देवन्दा-  
दिनिदानरहितमित्यर्थः । आह-दुःखकर्मक्षयात्मोक्तः । अचरित-  
दमपि निदानमेव उच्यते, सत्यम् । तदपि निश्चयतः प्रतिविद्यमेव  
कथम्?, “माङ्कं प्रवे च सवेव, नित्युदो मुनिसत्तमः । प्रहयध्या-  
सयेगेन, यत उक्तो जिनागमे” ॥१॥ इति । तथापि तु भावनाध्याम-  
परिणनं सत्त्वमङ्गुल्यम् एवधारत इदमदुर्धमेव । अनेनैव चकारेण  
तस्य विशुद्धयः, क्रियाप्रवृत्तियोगात्पश्यत बहु वक्तव्यम्, तच्च  
नोच्यते ग्रन्थिस्तरमथादिति गाधार्यः ॥ १२ ॥ इत्येव पुनरिदं गा-  
धार्यं वस्तुनिर्भयत्परेष्वध्यामपिहृत्य साध्याः प्रत्येधकृतयथा  
व्याचकृते, न च तद्व्यन्तस्तुद्वयम्, प्रथमवृत्तियपकृत्यं तदवध्या-

ज्ञाया एषानुपपत्तेरिति । आह-उक्तं भवता आतंभ्वाने संसारव-  
र्द्धनमिति, तत्कथमुच्यते ? ॥ बीजत्वात् ।

बीजत्वमेव दर्शयामाह-

रागो दोसो मोहो, ज्ञेयं संसारादेऽत्रोच्यते ज्ञिआम् ।

अहृदि अ ते तिषि वि, तो तं भवत्सत्तर्बीजं ॥ १३ ॥

रागो दोषो मोहश्च येन कारणेन संसारहेतवः संसारकारणा-  
नि मणितः उक्ताः, परममुक्तिमिरिति गम्यते । आत्मे चात्संभ्याने च  
प्रयोऽपि ते रागादयः संनयन्ति यत एव, न तस्संसारतर्बुजं भ-  
वद्बुक्कारणमित्यर्थः । आह-यथाभवेत् एव संसारतर्बुजं  
अ तत्तच्च तिर्यग्नातिप्रसामिति किमर्थमग्निधीयेते ? उच्यते-तिर्यग्-  
नातिगमनात्भेद-भनत्वेनेव संसारतर्बुजमिति । अन्ये तु ध्याव-  
कृते-तिर्यग्नातिव्य मत्तत्सत्त्वसंज्ञयातिर्थातवद्बुत्वाच्च संसारा-  
पचार इति गाथायैः ॥ १३ ॥

इदानीमात्संभ्यायिनो ज्ञेयाः प्रतिपाद्यन्ते-

कावोअनीलकासा, ज्ञेसाओ छाडंसंकिद्धिआओ ।

अहृज्जाणोवगय-स्स कम्मपरिणामजत्तिआओ ॥ १४ ॥

कापोननीलकण्ठा ज्ञेयाः किंज्ञताः, नाति संकिद्धि रौड्धयानजे-  
इयापेसया मानीयात्तानुभावाः, भवन्तीति क्रिया । कस्यत्यत-  
आह-आत्संभ्यानेपगतस्य, ज्ञेनातिरिति गम्यते । किञ्चिदप्यना-  
एना ? इत्यत आह-कर्मपरिणामजनिताः । तत्र-'' कृष्णादिद्वय-  
सात्विश्यात्, परिणामां य आत्मनः । स्फटिकस्यैव तत्रायं, ल-  
इयाशयः प्रयुज्यन्ते ॥ १ ॥ एताश्च कर्मोद्वेयासा इति गाथायैः ॥  
१४ ॥ अत्र ० ४ अ ० ।

आह-कथं पुनरापचन पयात्संभ्यायन् ज्ञायत इत्युच्यते, लिङ्गे-  
ज्यः तान्येवापदर्शयामाह-

अहृस्स अपं भाणस्स चत्तारि ढक्खण्णा पव्वता । तं जहा-  
कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया ।

लक्ष्यते निर्णीयते परोक्षमपि विषयवृत्तिसंभ्यात् आत्संभ्याने-  
मिरिति ज्ञज्ञानानि । तत्र अन्वयना-महता शब्देन विरचणम्, शो-  
चनता-ज्ञानता, तेषनता-तिवः करणाथेत्वाद्युधिमिच्छनम्, परि-  
देवता-पुनः पुनः किष्टभाषणमिति । एतानि चोद्यवियोगानिष्ट-  
संयोगरागवेदनाजनितशोककल्पसंवात्सल्यं ज्ञज्ञानानि ।  
( स्था ० ४ ज्ञा ० १ उ ० ) यत आह-

तस्स कंदणसोअणपरिदेवणताडणायं ङ्गिगाई ।  
इट्ठाण्हविआोगा-विआोगविआणानिमिआई ॥ १५ ॥

तस्यात्संभ्यायिनः, आकन्दनादिति सिङ्गानि . तत्राकन्दं न महता  
शब्देन (विरचणम्, शोचनं त्वभ्रपरिपूर्णेनयनस्य दैवम्, परिदेव-  
नं पुनः २ किष्टभाषणम्, ताः, नमुनुरः शिरःकुलनकशुलुड्भवनादि,  
एतानि सिङ्गानि सिङ्गानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोगवृ-  
त्ताभिमिच्छानि । तत्रेष्टवियोगनिमित्तानि, तथाऽनिष्टावियोगानि-  
मित्तानि, वेद्वानिमिच्छानि चेति गाथायैः ॥ १५ ॥

किं चाप्यत-

निर्दइ निअयकयाई, पसंमई विभिद्धओ विजईओ ।  
परंयई तानु रज्जई, तयज्जाणपरायणो होई ॥ १६ ॥

निन्दति च कुस्तति च निजज्ञानानि आत्मकृत्तानि अल्पफलवि-  
फमिति, कर्मनिष्ठपकलाबाणिज्यादित्येतेष्वन्ये । तथा प्रज्ञोसति  
इति विद्म मन्वते सविस्मयः साध्यः विद्वतीः परस्वपद् इ-

त्यर्थः । तथा प्रार्थयते अमिहसति, परविद्वतीरिति । तथा तानु  
उच्यते-नास्तिति प्राप्तासु विद्वतीषु रागं नमज्जति, तथा तदज्ञ-  
नपरायणो भवति-तासां विद्वतीनामज्ञेन उपादाने परायण उ-  
पुक्तस्तदज्ञनपरायण इति । ततो यश्चेद्विद्वते न भवत्संसारव्याप्त-  
ध्यायतीति गाथायैः ॥ १६ ॥

किञ्च-

सदाइविसयगिद्धो, सद्धम्मपरम्मदुहो पमायपरो ।

निणपमणएविससंता, बट्टइ अहृमि जाणम्मि ॥ १७ ॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषु शूको मूर्च्छितः,  
काङ्क्षावमित्यर्थः । तथा सद्धमपराक्खुलः प्रमादपरः । तत्र दुर्गेना  
प्रपलनमात्मानं धारयतीति धर्मे, संज्ञासौ धर्मश्च सद्धमं,  
क्रान्त्यादिकश्चरकणपथमो शुद्धते, तत्पराक्खुलः । प्रमादपरा  
मयादिप्रमादासक्तः, जिनमतमनपेक्षामापो वरते आत्संभ्यान  
इति । तत्र जिनास्तीर्थकरासंवात् मतमगमनपद्मं, प्रवचनमित्यर्थः ।  
नदनेपेक्षमाणस्तरिपेक्ष इत्यर्थः । किम्, वरते, आत्संभ्यान । इति  
गाथायैः ॥ १७ ॥

साम्प्रतिमिदमात्संभ्यानसंनयमधिकृत्य यदनुगतं यदई च  
वरते तदेतदभिधमसुराह-

तयविरयेदसिरिय-पमायपरसंजयाणुगज्जाणं ।

मत्वं पमायमूलं, वज्जेअत्वं जइजोणो ॥ १८ ॥

तदात्संभ्यानमिति योगः । अविरतदेशधिरतप्रमादपरसंयतानु-  
गतमिति । तत्राविरता मिथ्यादृष्टयः सत्यदृष्टयश्च, देशविरता  
एकहायामुत्तरभेदाः आद्यकाः, प्रमादपराः प्रमादनिष्ठश्च,  
ते संयताश्च, ताननुगच्छन्तीति विग्रहः । नैवाप्रमत्तः संयता-  
नामिति भावः । इदं च स्वकृपतः सर्वे प्रमादमूलं वरते, यत-  
श्चैवमेव नैर्जयितव्यं परित्यजनीयम्, केन?, यतिजननसाधुकोनं,  
उपलक्षणत्वात् आचक्षणं च । परित्यागाहंवेदाहंवास्तीति गा-  
थायैः ॥ १८ ॥ अत्र ० ४ अ ० । ४० । प्रब ० । १० । १० ।

अहृज्जाणवियप्य-आत्संभ्यानविकल्प-पुं । क्खुमप्यानमेदे,

ओ एथ अदिस्संणो, संतासंतेसु पावहेइ चि । अहृज्जाण-  
वियप्यो, स इमीए संगमो कइ ॥ १९ ॥ ४० १ ॥ १० ॥

अहृज्जाणवैरग्या-आत्संभ्यानवैरग्या-पुं । आत्संभ्यानं च तद्  
वैरग्याम् । वैरग्यामेदे, हा ० । तल्लक्षणम्-

इष्टेतरवियोगादि-निमित्तं मायसो हि यत् ।

यथाशुक्लपि हेयादा-वमष्टस्यादिविभित्तम् ॥ २॥

तद्वैरग्यादिविभित्तम्-मात्मयानादिकारणम् ।

आत्संभ्यानं ह्यदो मुखं, वैरग्यां कोकतो मतम् ॥ ३ ॥

इष्टश्च प्रियः, इतरश्चानिष्टः, इष्टेतरौ विषयविति गम्यते । तयोर्धा-  
यासङ्घेन यो विषयादिर्भिरहसंप्रयोगी, स निमित्तं कारणं  
यस्य तदिष्टेतरविषयोर्गादिमित्तम् . प्रायशो बाह्यत्वेन न पुनरिष्ट-  
तरविषयोर्गादिमित्तमेव, स्वविकल्पनिमित्तस्यापि तस्य संभ-  
वात् । हियध्वो यस्मादर्थे । तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः । य-  
दिति वैरग्यामेव तदात्संभ्यानमेवेति संबन्धः । कुतस्तदात्सं-  
भ्यानमेव न पुनर्यथावैरग्यामित्याह-यस्माच्चथाःइत्यपि  
सामर्थ्यानुकूलमप्यास्तां धक्ताऽतिशयाच्छक्त्यतिप्रसन्नः हेयादीं  
हेयावादेयवस्तुविषये क्रमेणानुस्यूदिविभित्तं निवेदतविरहितं  
यत्किञ्च यथावैरग्यां भवति तत्किं प्रियार्थेत्वादेहेतु च तयोर्धा-



मादिषु यथाशाक्तिं निवृत्तिप्रवृत्तियुक्तं भवति, तत्स्वरूपत्वात् । इदं तु तद्वर्जितं वरुणात् तस्मात्प्राक्स्थानमेवेति भावः । तथा उद्वेगं मत्तःस्थास्यैव चखनं करोतीति उद्वेगशब्दः, तथा विधायां द्वैत्यं, तेनाऽऽद्यं परिपूर्णे विधायाऽऽद्यत्वम् । अनेन मनोदुःखहेतुताऽऽश्लेषात् । अथ शारीरदुःखहेतुतामस्यैवाह—आत्महं कठिनः स्वशारीरम्, तस्य घातयि हिंसनताडनादि, तस्य कारणं हेतुतात्सघातादिकारणम्, आर्क्षस्थानम् । हिंसार्क्षस्थैवकारार्थाऽऽर्क्षस्थानमेव अहं इति संबन्धित्वमेव । किञ्चूतस्थान-सुखं प्राप्तं मुख्यं प्रधानम्, निरुपचरितमित्यर्थः । ननु यथास्थानमेतत्तत्र कस्माद्धैराग्यतथोक्तमित्याह—त्रैराग्यमुक्तमित्येवंचनं लोकोता, लोकं पृथुगजनमाश्रित्य तद्द्वैतव्यर्थो न पुनस्तस्यतो मतं संमतं तदवधिदुष्पामिति । हा० १० अष्ट० ।

अष्टज्जायावेरम्ग—आर्क्षस्थानोपगत—त्रि० अगतसन्निधिकेतया धर्मध्यायबुधैर्निनि आर्क्षस्थानत्वायिति, “ अष्टज्जायावेरम्ग, जू-मिगयदिष्टिपि जिवावा” सूत्र० २ सू० २ अ० ।

अष्टदृष्टहाम—अष्टदृष्टहाम—पुं० उभेहस्यनस्येपे हासिधये, उपा० ३ अ० । “नीमं अष्टदृष्टहामं सुयुतो धोहावेह” आ० म० ङि० । प्राच० । अष्टदृष्टो—देवी—यति, दे० मा० १ वर्गे ।

अष्टन—अष्टन—न० । अष्टयते परिच्युते रिपुरनेन । अष्ट—करणे ल्युट् । चक्राकारफलकाशे, प्राये ल्युट् । अनाद्वर, न० । वाच० । स्वनामख्याने मङ्गे, पुं० । उच्य० ५४० । तत्कथा चैवम्—उज्जयिन्यां जित्तशत्रुपथ्ये अष्टनमङ्गो वस्तंते स्मा स च प्रतिवर्षं साधारणं गत्वा सिद्धिगिरि राक्षः सभायां मङ्गल विजित्य जयपत्राकां क्रातिं कृ । अथवा राक्षा एवं चिन्तितम्—परद्वेशीयोऽयमष्टनमङ्गो मत्स-प्रायां जिन्वा बहु उच्यं प्राप्नोति, मर्त्याः कोऽपि मङ्गल न जयति, नैतद्वरम्, एवं हि ममैव मद्यत्कृतिर्जायते । इति मन्वा कञ्चिद्द-लगतं मर्त्यवीर्यं दृष्ट्वा स्वमङ्गं चकार । तदव्यतिरिक्तमेव मङ्गविद्या समायाता । “ मर्त्यो मङ्ग ” इति नाम तस्य कृतम् । अथवा अष्टनमङ्गः साधारणं समागतंस्वतन्त्रं सत्तं राक्षा मर्त्योमङ्गस्य युद्धं कारितम्, जितो मर्त्योमङ्गः । अष्टनः पराजितः स्वनगरे गत एव चिन्तयति स मर्त्योमङ्गस्य तारुण्येन बलवृद्धिः, मम तु बार्द्धक्येन बलहातिः, ततोऽप्यं स्वपक्षपातिनं मङ्गं करामि । ततो ऽसौ बलवन्ते पुरुषं यित्तोक्तयन् जूगुक्चन्द्रोश्च समागतः । तत्र हरिणीप्रामं पक्षः कपैक एकन कारणं हस्तं चादयन् द्वितीयेन तस्य हीमुत्पादयन् दृष्टः । स प्रोज्ञनाय स्वस्थानकं सार्कं नीतः । तस्य बहु भोजनं दृष्ट्वा । दन्तगन्धमेव च सुदृढमरणं पुरीषं दृष्ट्वा मङ्ग-विद्या प्रातिता । “ फलहीमङ्ग ” इति तस्य नाम कृतम् । अष्टनः सा-धारकं फलहीमङ्गं गृहीत्वा गतः । राक्षा मर्त्योमङ्गल समं फल-हीमङ्गस्य युद्धं कारितम् । प्रथमं द्विवचं द्वयोः समन्तव जाता । अष्टनेन साधारकं फलहीमङ्गः पृष्टः—पुत्र ! नवाङ्कं क प्रहारा-सन्नाः । तेन स्वाङ्कप्रहारास्थानानि द्दिशितानि । अष्टनेनोत्थिचरसेन तानि स्थानानि तथा मर्दिनानि यथाऽऽसीन् पुनर्मवीभूतः । मर्त्यो-मङ्गस्यापि राक्षा पृष्टम्—क्व तवाङ्कं प्रहारां सन्नास्तथा ताव् द-शैय ?, फलहीमङ्गः पुनर्मवीभूतः श्रूयते । मर्त्योमङ्गोऽभिमानान् बलस्थानेन म द्योयति स्म, यत्किं स्म च—अहं पुनर्मवीभूतः फलही-पितरं जयामि । द्वितीयद्विवचं पुनर्गृह्णासंरं द्वयोरपि साध्यम्ब-जानम् । तृतीयद्विवचं मर्त्योमङ्गलो जितः फलहीमङ्गलेन । अ-ष्टनेन ह्यपराजयः स्मारितः । ततो मर्त्योमङ्गलेनान्याययुद्धाकर-णेन फलहीमङ्गस्य मर्त्यकं जिज्ञम् । जिन्वाऽष्टनमङ्गो गत उज्ज-

विनीम । तत्र विमुक्तयुक्त्वापारः स्वदुष्टे तिष्ठति क्व परं जराकान्त इति न कस्मैचित् कार्याय क्राम इति स्वजनेः पराजयते कः अन्वैह । स्वजनापमानं दृष्ट्वा साननापृक्त्वैव कौशार्यान् मगरी गतः । तत्र वर्ष-मेकं यावद्भयानयनं भक्तिवत् । ततोऽस्थानवर्षान्वात् आतः । उज्जयि-न्यां राजपथेदि मङ्गमेव प्रवर्षामानं पुनर्महागतवीचनेन अष्टनमङ्गलेन समागत्य राक्षो नीरः कुण्वनासा महामङ्गो जितः । राक्षा तु मदीयोऽयं भागन्तुकानेन जित इति कुण्वना म प्रशंसितः । लोकोऽपि राजप्र-शंसासम्पत्तेश्च सौमनाः क्राताः । अष्टनस्य स्वलक्षणापनाय सभा-पक्षिणः प्रत्याह—नो जोः पक्षिणः?, भूत-अष्टनेन वारङ्कणो जितः । ततो राक्षा उपलक्षितः मदीयं पथायमष्टनमङ्ग इति कृत्वा सन्ततः । बहु द्रव्यं चाक्षे राक्षा दत्तम् । स्वजनस्तं तथाभूतं भृत्वा सम्भु-जमागत्य मिश्रितः । सरकारादि चकार । अष्टनेन चिन्तितम्-द्र-व्यशोभादेते मम साम्रतं सरकारं कुर्वति, पञ्चाभिर्दिव्यं सामप-मानवित्पथ्यन्ति, जरापरिगतस्य मे न कश्चिद् प्राणाय भविष्यति, यावद्दहं साध्याशनबसोऽस्मि तावत्प्रजातीति विचार्य गुरोः समर्पितेऽष्टनेन दीक्षा गृहीतेति । “ जरोपणीमस्तं तु नत्थि तासु ” उच्य० ५ अ० । आ० सू० । आ० । अष्टन—न० । गमने, घ० ३ इति० । स्वायामे, औ० ।

अष्टनसाला—अष्टनशास्त्रा—स्त्री० । व्यायाभशाशाधाम, हा० । तद्वर्णकः—

जेणव अष्टनसाला तेषेव उवागच्छद्, उवागच्छद् उच्यते अष्टनसालं अणुप्यविति, अणेगनायामनेगवगणवामह-णमङ्गयुक्तकरणैरि संते परिभते मयपामसहस्रपगोहिं सुगं-धवरतद्व्यापाएदि पीयणिजोहिं दीर्वाणिजोहिं दुप्यणिजोहिं मण्णिजोहिं विदुण्णिजोहिं सन्विदियणायपन्हायणिजोहिं अम्भिभगेहिं अम्भिभगेण समाणे तेज्जवर्म्मसि पन्पुष्पाणाण-पाचणुत्तुनासकैर्मिन्नतन्नेहिं पुरिसिदिं देपदिं दक्खेदिं पट्हादिं य कुसलोहिं मेहावीहिं निउप्येदिं निउण्णसिपुणवगतोहिं नियप-रिस्समेहिं अम्भिभगणपरिमहाणुच्चदुकरणणुणनिम्माएहिं अ हिउदुहाए मंसमुहाए तथामुहाए रोममुहाए चउक्विहाए संवाहण्णए संवाहिप समाणे अवगणपरिस्समे नरिंदे ऋ-यणात्तातो पक्किन्कलमेति । हा० ? अण० आ० वृ० झी० । अष्टणियदिपचिच—आर्क्षनिवर्तिनाचिच—वि० । आर्क्षं निवर्षितं चिचं येस्त आर्क्षनिवर्षितनिचिस्ताः । आर्षात्ता निवर्षितं चिचं येस्त आर्क्षनिवर्षितनिचिस्ताः । क्रिष्टायणनिचिस्ता, औ० । “ अष्टणियदि-पचिस्ता, जह जोया दुक्खसातरसुंयति ” अ० १ शृ० १ सू० । आर्क्षानिरर्दिनाचिच—वि० । क्रिष्टायणानि, आर्क्षेन नितरामर्दि-तमनुगतं चिचं येषां त तथा । औ० ।

अष्टतर—आर्क्षतर—न० । अतिशयिते आर्क्षस्थाने, “ पजिज्ज-मणाऽष्टतरं रसंति ” सूत्र० १ शृ० ६ अ० १ उ० । अष्टदुहृष्ट-आर्क्षदुहृष्ट—वि० । दंत० । आर्क्षनाम्नो ध्यानविद्योपस्य दुष्काम, उपा० १ अ० । आर्क्षदुःखार्क्ष—वि० । ३ त० । अर्क्षेन दुःखप्रादिने, उपा० १ अ० । आर्क्षेच्छासी दुःखार्क्षः । मनसा देहेन च दुःखितं, चिदो० । अष्टदुहृष्टदसट्ट—आर्क्षदुहृष्टवशात्—वि० । आर्क्षस्य ध्यानविद्यो-

अष्टदुहृद्वसह

वस्य यो दुर्घटो दुःस्वगो दुर्मिरो यो वसः पारतन्त्र्यं, तेनार्थः परि-  
श्रित आसत्तुर्घटवशात्तः । असमाधिभासे, शा० प ४० ।  
आसत्तुःस्वार्तिवशात्त-त्रि० । आसत्तुःस्वार्त्त-आसत्त-  
या वशेन च विषयपारतन्त्र्येण श्रुतः परिश्रितो वशात्तः ।  
ततः कर्मधारयः । किञ्चिदप्यवसत्येन विषयव्यञ्जनाया च  
दुःखिते, उपा० २ अ० । आसत्तु मनसा दुःखितः, दुःखासौ  
वशेन, वशासत्तु इन्द्रियवशेन भीमितः । ततः कर्मधारयः ।  
विपा० १ सु० १ अ० । मनसा, दुर्घटोन्द्रियवशेन च परिश्रितः,  
“अहा सं तृणं अष्टदुहृद्वसह अकाले ज्ञेयं ज्ञाविषाभा ववरो-  
विहज्ज” उपा० २ अ० ।

अष्टदुहृद्विचित्र-आसत्तुःस्वार्दितचित्र-त्रि० । आसत्तुःस्वार्दि-  
तं चित्रं येषां ते तथा । किञ्चिदप्यवसायतो दुःखितमनस्कं तु, जी०  
अष्टदुहृद्वीवगय-आसत्तुर्घटोपगत-त्रि० । आसत्तुःस्वार्त्त-  
दुःस्वगनीयं दुर्घास्यमित्यर्थः, उपगतः प्राप्नो वः स तथा ।  
दुर्मिवाप्यसंस्थानवति, विपा० १ सु० २ अ० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

जाविप्रयाजने, “ अष्टु वा हेतुं वा समगुस्तस चिरं हिप्ये कहेमो”  
इयं २ उ० । अर्थविषयेऽर्थित्वे, उच्यते ३ अ० । क्विप्, स्या० ५  
उ० २ उ० । सोऽने, तत्कारणतुल्ये संयमेषु च । “ अष्ट परिहायनी  
बहु, अहियार्णं न करेन्न पॉरिय” सु० १ सु० २ अ० १ उ० । निवृत्तौ,  
हा० १ अ० । स्वाभाविके, प्राकृतत्वाद् ननुल्लक्ष्यमप्यर्थशब्दस्य।  
पा० । अनियेयं ( वाच्ये ), सु० १ सु० ६ अ० । स्या० । वस्तुनि,  
“ सं नृणं कामदेवा अष्ट समते इता । अष्टि” अस्त्येषोऽर्थे इत्य-  
र्थः । अथवा मयादिते वस्तु समर्थेः संगतः । उपा० २ अ० ।  
“ अन्विदे अष्टे पक्षते । तं अहा-संसय अष्टे, दुगाह अष्टे, अशुजोर्त्तौ,  
अशुसोमि, तदहणणे, अतहणणे” स्या० ६ उ० । (टीकाऽस्य ‘पदु’  
शब्दे कृष्टया । अथ्येते गम्यत इत्यर्थः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।  
हेय उपादेये वा वस्तुनि, उच्यतेऽप्यर्थमनाम्नात् । उच्यते १  
अ० । आ० सु० । नि० । विषयभाषादिके, आ० सु० १ सु० ३  
अ० ३ उ० । सु० । (अच्छक्षुत्पाममासस्यार्थशब्दस्य अर्थो ‘अ-  
त्य’ शब्दे बहव्येते )

अष्टुन-त्रि० । व० व० । अशु-व्यासौ कनिष्ठ, तुष्ट च । सङ्घा-  
भेदे, तसंस्थान्त्रिते च । वाच० । प्रह्ला० ।

अष्टुग-अष्टाङ्ग-त्रि० । अष्टाष्टाङ्गमित्थं वक्ष्ये तदष्टाङ्गम् । यमनियमा-  
दाष्टाष्टाङ्गयोगं, वाच० ।

अष्टांगिणिस-अष्टाङ्गनिमित्त-न० । औषध १, उर्यातम २,  
स्वप्नः ३, शान्तरिकम् ४, आङ्ग ५, स्वर् ६, लक्षणं ७, इयमन्त्रम्  
८, इत्येवं नवमपुर्ववृत्तीयाचारवस्तुनिर्गते सुखदुःखादिसुखके  
निमित्ते, सूत्र० ।

संवत्तरं सुविणं लक्षणे च,  
निमित्तं देहं च उपास्यं च ।  
अष्टुगमेयं बहवे अहिसा,  
सोर्गसि जाणति अष्टांगताईं ॥ १ ॥

सांस्वरासिनि ज्योतिष्य, स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नः, तम-  
धीन्य । लक्षणं श्रीवत्सादिकम् । अष्टाष्टाष्टान्तराष्टाष्टनि-  
अम् । निमित्तं याकुप्रशस्तशकुनादिकम् । देहं अर्थं देहम्, मषक-  
तिल्लकादि । उच्यते नवमौप्यातिकसुखकपातदिश्यादिधोसभू-  
मिकम्पादिकम् । तथाऽष्टाङ्गं च निमित्तमधीन्य । तद्यथा-जीम-  
सुपातमान्तरिकमाङ्गं स्वर् ३ अङ्गं व्यञ्जनमित्येवंकपय । नवमपु-  
र्ववृत्तीयाचारवस्तुनिर्गते सुखदुःखादिसुखकपातमात्राऽभा-  
विसंखकं निमित्तमधीन्य होपेऽस्तिप्रतीति वस्तुनि अना-  
गतानि च जानन्ति परिच्छिद्यन्ति । न च शब्दादिषां पक्षे तदु घ-  
टने, तस्मादप्रमाणिकमेव तैरिच्छीयत इति । एवं पक्षेऽप्यतं  
स्ति अहं पर-ननु व्यतिचार्ये सुखसुपक्षप्रत्ये । तथाहि-  
चतुर्दशशुषेवित्रामपि यदस्थानपतितन्वमागमे उहृदुच्यते, किं  
पुनरुहृदुनिमित्तशब्दादिदम् । अथ काङ्क्षितानां निमित्तश-  
ब्दाणामानुपुनेन उच्यते अन्वसा त्रयोदशशतानि सुखम्, तावन्त्येव सह-  
स्राणि सुखिः, तावत्प्रमाणलक्षणा परिजायते । अहस्य त्र-  
योदशसहस्राणि सुखम्, तत्परिमाणलक्षणा सुखिः, अपरमिति  
वार्तिकमिति ॥

तद्वचमष्टाङ्गनिमित्तविनामपि परस्परतः पदस्थानपतितत्वेन  
द्वयनिवारित्वमत इत्समाह-

केऽनिमित्ता तदिया जवंति,  
केसि च तं विष्पनिष्पति ष्याणं ।

अष्टदुःख-आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० । आसत्तुःस्वार्त्त-मतिवैषां ते आसत्तु-  
मतिकः । आसत्तुःस्वार्त्त-पुं० ।

ते विज्ञमावं अणद्विज्ञायाः,  
आहंशु विज्ञापरिमोकस्येव ॥ १० ॥

ग्रन्थसत्यात्पाकृतशैल्या वा शिक्कव्यत्ययाः कामिचित्प्रित्तिनां तद्यमि त्स्यानि प्रवर्ति । केषांचिच्च निमित्तानां निमित्तस्येदिनां वा शुद्धिचकस्यासत्प्राविष्यक्योपशामामायेन तस्मिन्निज्ञाहानं विषयोऽस्यैव व्यत्ययेने । आहंशानामपि निमित्तव्यभिचारः सन्पुनलप्यते, किं पुनस्तंविज्ञाक्यानाम् । तदर्थं निमित्तशास्त्रस्य व्यभिचारमुपसृज्यते । क्रियावादिनो विद्यासद्भावमनधीयानाः सन्तो निमित्तं तथा चाप्यथा च भवतीति मत्या, ते ( आहंशु विज्ञापरिमोकस्येव ) विद्यायाः श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य परिमोकं परित्यागमाहुरुक्यतः । यदि वा क्रियाया अज्ञावाद् विद्या ज्ञानैव मोक्षं सर्वकर्मस्युत्पन्नकृणामाहुरिति । क्वचित्चरमपादस्यैव पाठः- 'जागृतु शोण सि धयति मेदंसि' विद्यामनधी-व्ये स्वयमेव मोक्षकर्मिन् न वा शोके भावात् स्वयं जानीमः, एवं मन्दा जडा वदन्ति । न च निमित्तस्य तदप्राप्त्यर्थं कस्य चिक-विरमुनेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनात्, क्वचित् शकुनसद्भावेऽपि कार्यविशददर्शनात्, अनो निमित्तबलेनादेशविधायिनां सृष्ट्यावाद् एव केवलमिति । नैतदस्ति । नहि सम्यगधीतस्य श्रुतस्याप्ये-विसंवादाऽस्ति । यदापि पदस्थानपातनव्युत्पन्नोऽप्येत, तदापि पुत्र-प्राश्रित्तयोऽप्यशयशेन । न च प्रमाणाभासव्यभिचारः सम्यक्-प्रमाणव्यभिचाराशङ्कं कर्तुं न्ययते । तथाहि-सममरीचिका-निचये जलप्रादि प्रत्येकं व्यभिचारीति क्त्वा किं सत्यजलप्रा-दिणोऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो युक्तिसंग्रहो भवति ? न हि महा-कवसिंरानिसिक्तानुपदिश्यमाना व्यभिचारसिद्धिर्नान्यथापि व्यभिचारः । न हि सुविशेषितं कार्यकारणं व्यभिचरतीति । तत्र प्रमातुरयमपराधो न प्रमाणस्यैव । सुविशेषितं निमित्तं श्रुतमपि न व्यभिचरतीति । यच्च श्रुतेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनं व्यभिचारः शाङ्कते, सोऽनुपपन्नः तथाहि-कार्योक्तत्वात् श्रुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिः साऽप्यान्तरालेऽन्तरयोऽमननिमित्तबलात्सं-जातेत्येवमवगतव्ययम् । शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतनिमित्त-बलात्कार्यव्याघात इति । तथा च श्रुतिः-किल बुद्धः स्वशिय्या-नाहृमोक्तवान् । यथा-द्वादशवार्षिकमत्र बुद्धिर्न भविष्यतीत्यनो देशान्तराणि गच्छत युयम् । ते तत्रचनाच्छन्तस्तेनैव प्रतिपि-ज्जाः यथा-मा गच्छत यमिहापैव पुण्यवाद् महासत्यः संजा-सतप्रज्ञावास्तुभिरुक्तं भविष्यति । न तदेवमन्तरापरनिमित्तसद्भा-सत्त्वनिचारादशङ्कति स्थितम् ॥ १० ॥ सु० ११ श्रु० १२ अ० ।

“ अद्विज्ञानं संन्यासः, विद्वेषणतत्तत्रिकस्य भोगं च । अंगं सर-लकलनं च-जनं च तिविषं पुणेकेकं ” ॥११॥ अ०११ शं०११३०॥

अष्टगुणित्तय-अष्टाङ्गविज्ञ-पुं० । अष्टवक्त्रेषु पुत्रेषु, ज० ११ शं० ११ उ० ।

अष्टगमहात्तित्त-अष्टाङ्गमहानिमित्त-न० । अष्टाङ्गानि यत्र, एवं-विषयं यद् महानिमित्तं शास्त्रम् । आङ्गस्त्वन्त्याद्यष्टव्येव प्रा-विष्यदार्थसुचकं स्वनादिकफलव्युत्पादके प्रपञ्च, कल्प० ।

अष्टगमहात्तित्तसुचक-अष्टाङ्गमहानिमित्तसूत्रार्थवा-दक-ज० । अष्टाङ्गमहावचयं यन्महानिमित्तं यथाशयप्रतिपत्तिका-रणव्युत्पादकं महाशास्त्रम्, तस्य यो सूत्रार्थो तौ धारयन्ति ये ते तथा । अपीतामदमहानिमित्तशास्त्रम्नानिचयेषु, ज्ञा० १ अ० । १ ।

अष्टगणिया-अष्टाङ्गिका-स्त्री० । अष्टवक्त्रैर्निर्बुल्लायाम्, “ प्रवृत्ति-रष्टाङ्गिकी तस्य ” वो० १६ विव० ।  
अष्टकणिया-अष्टकर्मिक-त्रि० । ४० स० । अष्टकोणविभागं, स्या० ७ टा० ।

अष्टकर्मगणो० । विभोपण-अष्टकर्मप्रधानविभोषक-त्रि० । अष्टक-मैकयो यो ग्रन्थस्तस्य विभोषकः । ज्ञानावरणीयादिकर्मणो-रूपके, प्रश्न० ५ सन्ध० ७० ।

अष्टकर्मतनुपणबंधण-अष्टकर्मतनुपणबन्धन-न० । ३ त० ।  
अष्टकर्मज्ञकृतैस्तनुभिर्घने च-घनं, “ वेदता कोसिकारकीडो एव अप्यंगं अष्टकर्मतनुबंधणेषु ” प्रश्न० ३ आश्र० १० ।

अष्टकर्मसूदयतव-अष्टकर्मसूदनतपस्य-न० । अष्टानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां सूदनं विनाशनं यस्मात्तदष्टकर्मसूदनं तपः । तपोभेदे, प्रश्न० २७१ ज्ञा० । पंच० ।

अष्टकर-अर्थकर-पुं० । अर्थानं हिताहितप्रातिपरिहारादीन्द्राजा-दीनां दिव्याभ्रादीं तथापदेवानः करोतीति अर्थकरः । मन्त्रिणः, भैमिसिके च । स्या० ७ टा० ३० ।

अष्टग-अष्टक-न० । अष्टौ परिमाणस्य प्रत्येकमप्याध्यायामके ऋ-भेदांशनेदे, पाण्डुनष्टाध्यायोदूषे च । बाब० । अष्टपद्यात्मके प्रकर-णे, नाष्टेर्द्वाविंशता घटितं प्रपञ्चं च । यथा हरिजङ्गसुरिखिरचित-मष्टकम्, तस्य जितेभ्यरावाप्येकता तन्निचयश्चैदमयदेशसूत्रि-प्रतिनंस्कृता च युक्तिः । द्वाविंशदष्टकानि, तेषु-प्रथमं महादेश-वा-ष्टकम्, द्वितीयां स्नानाष्टकम्, तृतीयां पुजाष्टकम्, चतुर्थामानिका-रिकाष्टकम्, पञ्चमं भिक्षाष्टकम्, षष्ठं गणपदविशुद्ध्याष्टकम्, सप्तमं भाष्योक्त्याष्टकम्, अष्टमं प्रत्याख्यानाष्टकम्, नवमं ज्ञानाष्टकम्, दशमं वैराग्याष्टकम्, एकादशं तर्काष्टकम्, द्वादशं वादाष्टकम्, त्रयो-दशं धर्मोक्त्याष्टकम्, चतुर्दशं प्रव्यासिकाष्टकम्, पञ्चदशं पर्याय-याष्टकम्, षोडशमं काण्डाष्टकम्, सप्तदशं मांसभक्षणाष्ट-कम्, अष्टादशं मांसभक्षणदूषणाष्टकम्, एकोनविंशं मद्याष्टकम्, विंशतितमं भिक्षुनाष्टकम्, एकविंशं सूदमयद्वेषकम्, द्वाविंशं भा-वशुष्पकम्, त्रयोविंशं शान्तमालिन्याष्टकम्, चतुर्विंशं पुण्य-पुण्यविचाराष्टकम्, पञ्चविंशमोक्षप्रवृत्त्याष्टकम्, षोडशं तीर्थ-करदानाष्टकम्, सप्तविंशं तीर्थकृतानं महादानपुण्यवाष्टकम्, अ-ष्टविंशं तीर्थकृतानां राज्याष्टकम्, एकोनविंशं सामायाष्टकम्, विंशतमं कवलाष्टकम्, एकविंशं तीर्थकृतानं धर्मदेशनाष्टकम्, द्वा-विंशं सिद्धाष्टकम्, अने च “ अष्टकाद्य प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्य-जितम् । विरहात्तन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः ” ॥ १ ॥ हा० । यथा या श्रीमच्छशांविजयोपाध्यायेन ज्ञानसाराख्यां द्वा-विंशदष्टकप्रमाणो ग्रन्थो विरचितः, तस्य द्वाचन्द्रगणि-ना ज्ञानमञ्जरी नाम टीका कृता, तस्य च द्वविंशतोऽष्टका-नां नामाभिधेयो तत्रैवान्तं दर्शिताः । “ पुणो मनः स्थिरा मे होत्र, ज्ञानी ज्ञानो जितनिष्ठः । म्यावो क्रियापरस्मृते, मिलेवो वि-सृष्टो मुनिः ” ॥ १ ॥ विद्यायधिकसंपन्नो, मध्यस्थो भयवर्जितः । अनात्मशंसकस्तस्य-दृष्टः सर्वसंयुक्तिमाद् ॥१॥ ध्याता कर्मवि-पाकाता-मुक्तिर्नो नववाची ॥ लोकसंवाविनिमुक्तः, शास्त्रहय-निष्पारप्रहः ॥ ३ ॥ ॥ अष्ट० ३२ अष्ट० ।

अष्टगुणोपवेय-अष्टगुणोपपेन-न० । अष्टनिर्गुणरूपेनमष्टगु-णोपपेनम् । एणांविशुद्धाद्युत्पेने षेयं । ने चाष्टावमी गुणाः-एणं रकमश्नुतेऽप्यकमविषुष्ट मधुरं तमं सल्ललितं च । तथा

अष्टगुणोपवेय

बोकरम्-“पुत्रं रत्नं च अन्नं-किंच च वचं तदेव अमिच्छते । मष्ट-  
रं सप्तं सप्तत्रिंशं, अष्टगुणं चोक्तं ॥१॥ औ० ३ प्रति० ।  
अष्टचक्रबालापरिहाण-अष्टचक्रबालाप्रतिष्ठान-वि० । अष्टचक्र-  
प्रतिष्ठिते, “पद्ममेघेनं महाशिखी अष्टचक्रबाणपद्मणेन अष्ट  
अष्ट जोषाखण्डं उक्तं उच्यतेच” औ० ३ प्रति० ।

अष्टजाय-अष्टजात-न० । जातशब्दे भेदबाचकः । अर्थभेदे, नि०  
सू० १ उ० । धनाधिनि, व्य० ३ उ० ।

सूच्य-

अष्टजायं निरकुण्ठं गिह्यायमाणं नो कप्यत् । तस्म गणाब-  
च्छेदयस्स निरगुह्येण च अगिलाए करणिज्जं वेयावाहिंये  
जाव रोगागतो विप्यसुके, वतो पच्छा अहा लहुस्सते  
नामं ववहारे पड्डविपयेने सिया ॥

साम्प्रतमर्थेजातं मिश्रं भ्वायन्तमित्यत्र योऽर्थेजातशब्दस्तदु-  
त्पत्तिप्रतिपादनायमाह-

अर्थेषु जस्त कज्जं, चाजिज्जंतो परिगिलाए ।  
सो पुण संजमभावा, वाजिज्जंतो परिगिलाए ॥

अर्थेनार्थितया जातं कार्यं यस्य । संबन्धविवलायामत्र घट्टी,  
येनेत्यर्थः । सोऽर्थेजातः । गमकत्वादेवमपि समासः । उपल-  
क्षयमेतन् । तेनैवमपि ध्युत्पत्तिरसत्तादध्या-अर्थेः प्रयोजनं  
जातंऽस्येत्यर्थेजातः । पक्षत्रयेऽपि कालस्य परनिपातः, सु-  
खादिगणे दर्शनात् । स पुनः कथं ग्लायतीति चेदत आह-स  
पुनः प्रथमनः प्रथमव्युत्पत्तिस्तच्चितः संजमभावाद् वात्यमानः  
निष्काम्यमानः परिगलायति । जित्वायव्युत्पत्तिपक्षे प्रयोजना-  
निष्पत्त्या ग्लायति, तस्योभयस्यापि अगिलया प्रागुक्तस्वरूपया  
वच्यमाणं धैयान्वयं करणीयम्, यावद् रोगान्कृष्विष रोगात्-  
द्वात् । संजमभावबलनात् प्रयोजनातिष्पादनाच्च विप्रयुक्तः  
ततः पश्चात्किमप्युच्चरितं भीषणादि, तद्विषये यथा  
लघुस्वको व्यवहारः प्रस्थापितः स्यादिति ।

सम्प्रति निर्युक्तिरुत्तं येषु संयमस्मितस्याप्यर्थेजातमुत्पाद्यते,  
तान्यमिधित्सुराह-

सेवगपुरिसो अ्रोमे, आवन्न अण्णत् बोहिंये तेणे ।

एएहि अष्टजातं, उण्णज्ज संजमत्रियस्स ॥

सेवकपुरुषे सेवकपुरुषविषये, एवमवमे दुर्मिन्ने, तथाऽऽपने  
दासत्वं स्वमापन्ने, तथा विदेशान्तरकालमे उचमणैनानासे, तथा  
बोधिरूपहरणे, स्तेनेरपहरणे च । बोधिफला-अनायंस्तेच्छाः,  
स्तेना आर्यजनपदजाता अपि शरीरापहारिणः । एतेः कारणे-  
रथेजातं प्रयोजनजातमुत्पाद्यते, संयमस्मितस्यापीति । एष नि-  
र्युक्तिग्राथासंकेतार्थः ॥

साम्प्रतमेनामेव विधारीकुकामः प्रथममाह-

अपरिमह्मागणियाए, सेवगपुरिसो उ कोइ अल्लतो ।

सा तं अतिरागेणं, पणपय ह्नु अज्जाया य ॥

सा कृषिणि ति कारं, रखाऽऽण्णया उ संभवारेण ।

इपरो तीए चित्तो, दुक्कवत्तो चेय निरुत्ततो ॥

पषागप तं सोऽं, निरुत्तं वैइ गंतु णं तीहियं ॥

बहुयं मे उवठत्तं, जइ दिज्जइ तो विसउज्जामि ॥

न विद्यते परिग्रहः कस्यापि यस्याः साऽपरिग्रहा, सा वा-  
हो गणिका च अपरिग्रहागणिका, तथा, कोषपि राजाजीवं से-

वकः पुरुष आलपितः संभाषितः । आलप्य च स्वसुहृत्मानो-  
तः । सा अर्थेजाता सती तं पुत्रमतिराधेयाऽतिरागवश्या-  
त्प्रणयते प्रसादयति । इत्यन्दा सा गणिका कृषिणी अतिशयेन  
रूपवतीति कृत्वा राज्ञा स्मन्भावारेण कटकने गच्छता आमना-  
सहानीसा । अतरोऽपि च सेवकपुरुषस्या गणिकया विद्युको  
दुःखार्त्तः । प्रियाविप्रयोगपीडितो निष्कान्तस्तथाकृपाणामन्तिके  
प्रसज्यां प्रतिपन्नः । सा च वेदया राज्ञा सह प्रत्यागता तं पुरुषं  
न पश्यति स्म, गवेवापितुमारब्धः । ततः कस्यापि पार्थ्वे निष्कान्तं  
श्रुत्वा यत्र स तिष्ठति स्म, तस्यां वसती गत्वा तान् त्वविराज्  
हृने-बहुकं प्रभूतं मम तु इत्यनेनोपयुक्तमारोपयोगं नीतम्, ह्य-  
कमित्यर्थः ; तद्यदि दीयते ततो विसृजामि ॥

एवमुक्ते यत् कतेष्वं स्वधियरेस्तवाह-

सरजेयवसुजेयं, अंतदाह्यं विरेयणं वा वि ।

वर्धण्युपयेवम पुस्स-भूती कुसलो सुहृमे य भ्राणमि ॥

मुदिकाप्रयोजनस्तस्य स्वरभेदं वर्णभेदं वा स्थापितः कुक्षितः,  
यथा सा तं न प्रत्यभिजानाति, यदि वा प्रामात्तरादिप्रयोजने-  
नान्कानं व्यवधानं क्रियते । अथवा तथाविधोपपद्योगतो विर-  
चनं कार्यते येन स ग्लान इव दृश्यते, कृच्छ्रैर्णैष जीवतीति ज्ञा-  
त्वा सा तं मुञ्चति । अथवा शकौ तस्यां यथा ब्रह्मत्त्वादिरेक्यं  
धनुःपुत्रेण वरधनुना मृतकवेपः कृतस्तथैव निश्चला निरकुन्नाः  
सुहृममुच्छ्रुत्वा तिष्ठति, येन मृत इति ज्ञात्वा तथा विसृज्यते ।  
यदि वा पुत्रपुत्रिणोऽपि तस्य सुहृमे ध्यानं कुशलः सन् ध्यानवशाद्  
निश्चलो निरकुन्नाऽऽप्यतिष्ठत् तथा तेनापि सुहृमध्यानकुशलेन  
तथा स्थाप्ये येन सा मृत इत्यवगम्य विसृज्यति ।

एषां प्रयोगाणामभाव-

अणुसिद्धिं उच्चरती, गर्मेति णं मित्पणायगादीहि ।

एवं पि अष्टजायं, करंति मुत्तम्मि जं वृत्तं ॥

तस्या गणिकया यानि मित्राणि, ये च कृतानि, अन्ताराश्याद-  
न्यतथाविधपरिग्रहः । तैः स्वविरास्तां गमयति बोधयति, येना-  
नुशिष्टमुच्चरति, मुक्तकनं करोतीति भावः । एवमपि अविष्ट-  
न्यां तस्यां यदुक्तं सूत्रे तत्कुर्वन्ति, “स मोचयितव्यः”  
इति सूत्रे मोचनस्याभिधानात् । तथा चोच्यम्-“ताहो तौ मो-  
क्षयेव्यो एवं सुप्ते भविष्य” इति । गतं सेवकपुरुषद्वारम् ।  
अधुनाऽवमहारमाह-

सुकुटुंबो निरुत्ततो, अन्वत्तं दारंणं तु निरुत्तवित्रो ।

मित्तस्स धरे सो वि य, कालामतो ताऽऽस्रं जायं ॥

तथ्य अयादिज्जंतो, तस्स उ पुत्तेहि सो तन्नो चेको ।

घोलंतो आवसो, दासत्तं तुस्स अगमणं ॥

मधुरायां किञ्च नयायां कोऽपि वणिक् अन्वत्तं वारं, द्वारकं पुत्रं,  
मित्रस्य शूरे निक्षिप्य सकुटुम्बो निष्कान्तः, सोऽपि च मित्रवृ-  
त्तः पुरुषः काशं गतः । ( तो स्ति ) तस्मात्तस्य कालशममादनन्त-  
रप्रथमं दुर्मिक्कं ज्ञातम् । तत्र च दुर्मिक्के तस्य मित्रस्य पुत्रेः स चे-  
दोऽनादिष्यमाणोऽप्यन्वत्तं घोलति परित्रमति, स च तथा  
परित्रमन् कस्यापि शूरे दासत्वमापन्नः । तस्य च विपुण्यथावि-  
हारकमं विहतस्तस्यामेव मधुरायामगमनं ज्ञातम् । तेन च  
सर्वं तज्ज्ञातम् ।

सम्प्रति तमोक्षने विधिमितिस्फुराह-

अणुसाम करण उविंये, भीसण ववहार सिंघ णं जत्य ।

दुराभोग गवेक्षण, पथे जयणा य जा जत्य ॥

पूर्वमनुशासनं तस्य कर्मसम, ततो धर्मकथाप्रसङ्गेन कथनं स्थापन्यापुत्रादेः करणीयम् । एवमप्यतिष्ठति यश्चिष्कामता स्थापितं कर्मं तद् गृहीत्वा समर्पणीयम्, तस्याप्राये निजकानां तस्य वा भीषणसुप्राप्तनीयम्, यदि वा राजकुले गत्वा व्यवहारः कार्यः । एवमप्यतिष्ठति यतो यत् जिह्वं पूष्यते, ततस्तत्र परिपृष्ट्वा स मोक्षनीयः । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे दुरेणोक्तिप्रस्थापिकतया, दूरदेशव्यवधानेन वा यश्चिष्कानं तस्याभोगः कर्तव्यः, नन्दनन्तरं तस्य गवेक्षणया च गमने पथि मार्गे यतना यथोचित-सुकुत्रता तथा कर्तव्या । या च यत्र यतना साऽपि तत्र विधेया यथासुखमिति द्वारत्वायासंकेपाथः ।

साप्रसक्तनाभेय विवरीपुः प्रथमतोऽनुशासनकथनद्वारं प्राह-  
निस्थिभो तुञ्जधरो, रासिपुत्रो चो ह्रादिर्दु धम्मा ।

धम्मकहापमेणैण, कहरणं यावत्तुपुत्तसस ॥

एष ऋषिपुत्रस्तत्र गृहेऽप्रमादिकं समस्तमपि निस्तीर्णोऽभुना प्र-  
तप्रहरणंमुच्यत इत्यमुं मुञ्च, तथापि प्रभूतो धर्मो नाविप्यन्तीति ।  
एतावता यत्नमनुशासनद्वारम् । नदनन्तरं धर्मकथाप्रसङ्गेन च  
कथनं स्थापन्यापुत्रस्य करणीयम्, यथा स स्थापन्यापुत्रो व्रतं  
जित्पुत्रं सुखेन ग्रहता निष्कमणमहिम्ना निष्काश्य पार्श्वस्थितेन  
प्रतप्रहणं कारितः, एवं युष्माभिरपि कर्तव्यम् ।

तद् वि य अउते उविथं, जीमेषा ववहार विकस्वमतेण ।  
तं धेनुणं देज्जद, तस्सासदए इमं कुञ्जा ।

तथापि च, अनुशासने कथने च कृते स्वर्थः । अनिष्ठति स्थाप-  
नं देवस्य, जीषणं वा करणीयम्, व्यवहारं वा समकार्पणीयम् ।  
तत्र स्थापितं ज्ञापयित-तेन पिना निष्कामता यत्किमपि स्थापित-  
नं कल्पयस्ति तद् गृहीत्वा तस्मै दातव्यम् । उपसक्तस्यमेतत् ।  
तेनैतदपि प्रहृष्टस्य-भजिनस्यः कोऽपि शिष्यक उपस्थितस्तस्य य-  
त्किमप्ययंजानं स्थापितमस्ति, यदि वा गच्छन्तरे यः कोऽपि  
शैक उपस्थितस्तस्य इस्ते यद् उच्यमयतिष्ठते, तद् गृहीत्वा  
तस्मै दायते, तस्य उच्यस्यास्यभावे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह—

नीयद्वगाण तस्स व, जीसणं रायउत्ते सयं वावि ।  
अविरीकाभो अग्दे, कहे व हज्जा न तुज्ज चि ।

बवहारेणै अहरयं, जाणं पेच्छामि बहुतराणं भे ।

अधिपत्तिं गं करं, पडवणा दावण्णाए ॥

निजकानामात्मनां स्वजनानां, तस्य वा जीषणं कर्तव्यम् ।  
यथा वयमिदिका अवि वकरिकया वर्यामेह, ततो मोक्षयत मदी-  
यं पुत्रं, कथं वा केन युष्माकं न लाऽऽनू यदेवं मदीयपुत्रो दास्य-  
त्वमापन्नोऽद्यापि भूता वसेत् बह । अथैवमुक्तं ते हृदयं न प्रय-  
च्छति तत इदमपि वक्तव्यस्य-राजकुले गत्वा व्यवहारोणाप्यहं  
भगं बहुतरकं प्रभूततरकं प्रदीप्यामि (ने) जवतां पाभ्यः, तद् वर-  
मिदानीं स्तोत्रं प्रयच्छथ । एवं तेषां भीषणं कर्तव्यम् । यदि वा  
येन गृहीतो वसेत् तस्य भीषणं विधेयम्, यथा यदि मोक्षनीयं  
तर्हि मोक्ष्य, अन्यथा भवतस्तेन शापं दास्यामि येन न त्वस्य, नेदं  
वा तव कुटुम्बकमिति । एवं भीषणेऽपि कृते यदि न मुञ्चति,  
यदि वा ते स्वजना न किमपि प्रयच्छन्ति, तदा स्वयं राजकुले  
गत्वा निजकैः सह व्यवहारः करणीयः, व्यवहारं च कृत्वा  
जगन्नामीषो गृहीत्वा तस्मै दातव्यः । यथा-स एव राजकुले

व्यवहारः कर्तव्यः तत्र च गत्वा वक्तव्यं-यथाऽप्यसुविपुत्रो  
स्ति विपुत्रः केनापि कपटेन वृत्तत्वं - - - - - - - - - - -  
पारनिवृत्तास्ततो यथाऽयं धर्ममाचरति, यथा सामीयावधीनां  
समाधिकप्रजायते तथा वक्तव्यमिति । अस्वापि प्रकारस्याभावे  
यद्यत्र सिद्धमस्ति तत्परिपृष्ट्वा दापनार्थम्, विवक्षितवाक्यकमा-  
नार्थमित्यर्थः । तादृशकारिणां मध्ये ये महात्मस्तेषां महापना  
कर्तव्या, येन ते मोक्षयति ।

सम्प्रति दुराभोगेत्यादि व्याख्यानार्थमाह—

पुष्टा व अणुचा वा, चुपसामिणिह कहेति उयोहाई ।  
पेत्तूरा जावदद्वा, पुणरावि सा रक्वणा जयणा ॥

यदि वा अवप्यादयोऽवधिज्ञानिनः । आदिशब्दादितिशेष-  
तज्ञानिपरिग्रहः । पूष्टा वा अणुष्टा वा तथाविधं तस्य प्रयोजनं  
ज्ञात्वा द्युतस्त्वामिं निधिमन्सप्रस्थापिकं निधिं कथयन्ति,  
तदानीं तस्य तेषां तत्कथनकस्याचित्तवान् । ततो यावदर्थः,  
यावता प्रयोजनं तद् गृहीत्वा पुनरापि तस्य निधिस्तरङ्गां कर्त-  
व्यम् । प्रत्यागच्छता च गतनाविधित्वा, सा चापि स्वयमेव य-  
चयते ।

सोऽज्जल अष्टजायं, अह्मं पत्तिजगए य अयारिअो ।  
संयादयं वि देति य, पटिजगइ णं गिलाणं पि ॥

निधिप्रहणार्थं मार्गे गच्छन्तमयंजानं सायुः भूत्वा सांभोगि-  
को याऽऽज्ञायेऽयं प्रतिजगति त्वपादयति । यदि पुनस्तस्य  
द्वितीयः संघटको न विद्यते, ततः संघटकमपि दद्याति । अथ  
कथमपि ग्लानो जायते ततो ग्लानमपि जागति न गृह्णाते, जि  
नाज्ञाविशेषप्रसक्तः यतना प्रत्यागच्छता कर्तव्या, तामाह—

यदुक्तमन्तरं यतना प्रत्यागच्छता कर्तव्या, तामाह—

कांरं निर्मादियं जा-ह्मजायपविषयाणं च गुरुहन्थे ।  
दाऊण पत्तिमणं, मा पेहंता मिगा पेसो ॥

यत्रान्यगणे स प्राचूर्णक भायति, तत्र वैपेधिकी कृत्वा, 'नमः  
कृमाअमणेभ्यः' इत्यादिवा च मध्ये प्रविशति । प्रविश्य च बद्-  
धेजानं तद्गुरुभ्य आवेदयति कथयति । आवेद्य च तदर्थजानं  
गुरुहस्ते दत्त्वा प्रतिक्रामति । न स्वपार्श्वे एव स्थित इति बद्ध्य-  
त आह-मा प्रेक्षमाणा मृगा एव मृगा अर्णीतार्थाः क्रुद्धकादयः  
पश्येयुर्गुरुहस्तेऽवस्थिनं तद् निरीक्षते, असदृश्यां समर्पित-  
मिति विरूपसेकस्यऽप्रवृत्तेः ॥

सम्प्रति 'जयणा य जा जत्येति' तद्व्याख्यानार्थमाह—

समी व सावको वा, निरुविण देज्ज अह्मजातस्स ।  
पत्तुपप्पनिहाणे, कारणजाए गहूयसोही ॥

यत्र संहो सिक्खुः श्रावको वा वसेत् तत्र गत्वा तस्मै स्व-  
रूपं निवेदनीयं, प्रहापना वा कर्तव्या । ततो यत्तत्र तेन प्रत्युत्प-  
न्नं तत्र निधानं गृहीतं वसेत् तस्यायंजानस्य मध्याकस्तिप-  
याद् जगाम् दद्यात् । स्वयं तदानीं महापनातो वा शीतार्थ-  
त्वात् । अस्य प्रकारस्याजावे यश्चिष्कानं दूयवगाहं वसेत्, तत-  
स्तेन उक्तस्य दीयमानमवधकते कारणज्ञाते मुञ्चानोऽपि सुकः,  
भगवद्वावसेत्तान् । गतभवमद्वारम् ।

इदानीमापन्नद्वारमाह—

योवं पि धरेमाणो, कप्पइ दासत्तमपे अद्दंसेते ।  
परदेसमि वि सुम्भति, वाणियधम्मो भमेस चि ॥

स्ताकमापि श्रद्धं शेषं धारयन् कश्चिदेव कोऽपि पुत्रः, ततः (अर्धंते पि) अर्धवानः काशकमेण प्रभुत्वा, दासत्वमेव प्रति-  
- - - - - । अर्धव्ये दासत्वमापन्नस्य, स्वर्धेवो दिका न दातव्या ।  
- - - - - कदाचित्परवशे शि. - - - - - शिवादि कारण-  
तो या दिकितो भवेत् । तत्र च बाधिका बाधित्वाद्येन - - -  
प्रवेत् । तत्रार्थं किल न्यायः—परदेशमपि गता बधिका न्याय्यं  
हमन्ते, तत एव बधिनधर्मं व्यवस्थिते स एव श्रूयान् ' मम  
एव दास ' इति न मुञ्चिष्यऽमुमिति ।

तत्र यत्कर्मण्यं ताम्रप्रतिपादनार्थं चरगामाग्रह—  
नाहं विदेसआहुर—गमाइ विज्जा य मंत जोगा य ।  
नेभिस्त राय धम्मो, पासंद गणे धणे वेव ॥

यस्यच दासत्वमापनो बधते, न सोऽहं, किं त्वहमन्यस्मिन्वि-  
- - - - - जातः, एवं तु सद्वृत्तया विप्रसम्भोऽसि, अथ सम्युत्तजनवि-  
- - - - - दितो बधते तत एव न चकर्म, किं तु स्थापत्यापुत्राद्याहरणं  
कथनीयम्, यद्यपि कदाचित् तच्छ्रवणतः प्रतिबुद्धो मुक्त्वलय-  
- - - - ति । आदिश्रुद्दान् शुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदादि कर्तव्यमिति  
प्रहः । एतेषां प्रयोगाणामभावे विधा मन्त्रो योगो वा, तं प्रयोक्त-  
- - - - व्याः, येः परिश्रुद्दितः सन् मुक्त्वलयति । तेषामन्यभावे (निमित्ते-  
- - - - नाना) नानागताविषयेण राजा, उपलक्षणमेतन्, तदर्थो वा नगर-  
प्रधान आचरनीयाः, येन तत्रभोग्यासं प्रेते, धर्मो वा कथनी-  
- - - - यो राजादीनाम, येन त आधुनाः स्मृतस्ते प्रेरयन्ति । एत-  
- - - - र्यापि प्रयोगस्याज्ञाये पापगन्तु सहायान् कुर्यात् । यद्वा  
- - - - गणः सारस्वतादिको बलीयान् तं सहायं कुर्यात् । तद्भा-  
- - - - वे दूरभोगादिना प्रकारेण धनमुत्पाद्य तेन भोजयेत् । एष  
- - - - द्वारगामाघासंक्रोधः ।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीशुराह—  
सारस्वतपूरा जंपासि, जातो अन्नयत् ते वि आभसि ।  
बहुजनविषायाम्पि उ, यावच्चसुयादिआहुरणं ॥

यदि प्रभूतजनविदितो न भवति, यथा-अयं तद्देशे जात इति,  
तन एवं श्रूयान् । अहमन्यत्र विदेशे जातरुव तु साह-  
- - - - द्यैव विप्रसम्भ एवमसमस्त्रसं जल्पसि । एवमुक्तं तेऽपि  
नश्रया आमेवमेतद् यथाऽयं वदतीति साक्षिणो जायन्ते,  
अथ तद्देशजाततया प्रभूतजनविदिनो बधते, ततस्मत्सिन्धु-  
- - - - जनविक्राते पूर्वोक्तं न बह्वयम्, किन्तु प्रबोधनाय स्थापत्यापु-  
- - - - त्राद्याहरणं कथनीयम् ।

विज्जा भंता जोगा, अंतद्वारं विरेयणं वा वि ।  
वरपणु य पुस्तभूती, गुलिया सुहुम य ऊणम्पि ॥

विद्याद्वयो विद्यामन्त्रयोगाः प्रयोक्तव्याः, येन नैरनिपोजितः  
सन् मुक्त्वलयति । आहरणमादीत्यत्रादिश्रुद्दव्याकथनार्थमाह-  
- - - - शुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदेन । उपलक्षणमेतन् । वर्णनेदं कार-  
- - - - येत्, यदि वा अन्तर्कोनं प्रामाण्यप्रयणनं व्यवधानम्, विरेचनं वा  
- - - - न्दानतयाद्वर्धनाय कारवित्तयो यत्कच्छुण्य जीवतीति इत्याद्या  
- - - - विक्षुण्यते । यदि वा बरधुत्तुर्वि शुटिकाप्रयोगतः, पुष्पभूतिरा-  
- - - - धार्यं इष सुहृमन्थानवधायो निष्कृतो निरुच्छ्वासः तदा स्याद्  
- - - - येन मृत इति इत्याद्या परित्यज्यते ।

असतीए विणवेती, रायाणं सो व होज्ज अ निज्जा ।  
तो से कडिज्ज धम्मो, अण्णिच्छमाणां इमं कुज्जा ॥  
एतेषां प्रयोगाणामसति अभावे राजानं शिक्षापयन्ति । यथा-

तपस्विनमिह परलोकादिःस्वहृदमेनं ज्ञाताद्यायनीति; अथासौ  
राजा तेन मित्रो व्युत्पादितो वदति । ततः स तस्य राज्ञः प्रति-  
- - - - बोधनाय; धर्मः कथ्यते, अथ स धर्मं नेच्छति, ततस्तस्मिन् ध-  
- - - - र्ममभिमिच्छति, उपलक्षणमेतन्, निमित्तेन चाऽतीतानागतकृपाया-  
- - - - र्णान्तरे इहं बह्वयमायं कुर्यात् ।

तवेचाह—  
पासंने व सहाए, गेएहइ तुअंके पि एरिसं हुज्जा ।

होहामोह सहाया, तुज्ज विजो वा गणो बलिआं ॥  
पापगन्तु वा सहायान् गृह्णाति । अथ ते सहाया न प्रबन्धि,  
तत इहं तान् प्रति बकल्यथ-गुण्याकर्मपटिठो तस्य प्रोजनं अनेह  
नविष्यति तदा गुण्याकर्मपि व्ययं सहाया भविष्यामः । एषं  
तासहायान् कृत्वा तद्व्यवहतः स प्रेरणीयः, यदि वा यो गणो  
बलीयान् तं सहायं परिगृह्णीति ।

एरिसं असतीए, संता वि जया न होंतिइ सहाया ।  
उवणा दूराभोगे, लिगेण व एसिउं देंति ॥

एतेषां पापगन्तानां गणानां वा असति अभावे, ये सन्तः शिष्टा-  
स्ते सहायाः कर्तव्याः । यदा तु सन्तो वा सहाया न जन्वति, तदा  
( उवणं सि ) निष्कामता वा कृप्यस्य स्थापना कृता तद्दानतः  
स भोजयितव्यः । यदि वा दूराभोगेन प्रागुक्तप्रकारेण, अथवा  
यद्यत्र शिक्षामर्चिनं, तेन धर्ममोषित्वा उत्पाद्य ददति, तस्मै वरद-  
- - - - वभाः । गतमापन्नहारम् ।

द्वारामीनामप्रहारम्—  
एवम अणत्तसं सि, तवतुज्जाणा नवरि एत्य नाणसं ।  
जं जसस होइ धंरं, सो देति मयंतिगे धम्मो ॥

एवमेव अनेनेव दासत्वापन्नगतेन प्रकारेण अनासस्यापि प्रागु-  
- - - - क्तादीधस्य मेनेव यतना प्रकृष्या, नवरय, अत्र धनदानवि-  
- - - - न्यायां नानात्वम् । किं तदित्याह—तपस्तुलना कर्तव्या । सा  
सैवं न्रण्यते—साधवस्तनपोधना आहरणस्यसुवधाः, लोकेऽपि यद्य-  
- - - - स्य न्राणं न्रयति, स तत्तस्मै उचमणांश्च ददति । अस्माकं च  
पार्श्वं धर्मस्ततस्त्वमापि धर्मं गृह्णाम ।

एवमुक्ते स प्राह—  
जोऽण्णेण कतो धम्मो, तं देउ न एचियं समं तुलहं ।  
हीणं जावेताहं, तावयं विजयभंणया ॥

योऽनेन कृतो धर्मः सभं म्हां ददातु, एवमुक्ते सापुनर्निर्वक्तव्यम्,  
नैतावद्दम्, यतो नैतावत्समं तुलति । स प्राह—एकेन संयस्त्रेण  
हीनं प्रयच्छत, तदपि प्रतिपद्यतीयं चेद् द्वाभ्यां संवत्सराण्यं हीनं  
दत्त । एवं तावत् विभाषा कर्तव्या—यावद्देकेन विचसेन कृतो  
योऽनेन धर्मस्तं प्रयच्छत । ततो यत्कल्प्य-नाच्यधिकं ददा-  
- - - - किन्तु यावच्छद् गृह्णीतं मुहूर्तोद्विहृतेन धर्मेण तोत्यमानं समं तुल-  
- - - - ति तावत्प्रयच्छामः । एवमुक्ते यदि तोलनाय दौकते, तदा  
विद्यादिनिस्तुला सत्सनीया, येन कृपमाश्कृतेनापि धर्मेण  
न समं तोल्यतीति । धर्मतोलेन च धर्माधिकारविकनीति-  
- - - - शास्त्रप्रसिद्धमिति, ततोऽवस्थावन्तम् ।

जइ पुण नेच्छेज्ज तवं, बाणियधम्मणे ताहे सुच्छो उ ।  
को पुण बाणियधम्मो, सामुहे संजमे इशमो ॥  
नत्याणाजरणाणिय थ, सत्थं उड्डिउ एरान्दिण ।  
पोयामि विवधम्मि उ, बाणियधम्म इहं सुच्छो ।

पयं इमो वि साहू, तुज्जं नियगं च सारमुत्तूणं ।  
निकसंतो तुज्जं धरे, करेइ इरिहं वु बाणिज्जं ॥

यदि पुनःकृपकारेण कृष्णमात्रकृतस्वाधि धर्मस्थालामेन मेच्छे-  
त् तयो प्रदीमुषु । ततो वक्रयुष्म-वर्णियधर्मो वणिष्णयायेन एष  
बुद्धः स प्राह-कः पुनर्वणिष्णधर्मो येनैव कृष्ण-विष्णोः साध-  
यो वदन्ति-समुक्ते संश्रमं गमनेऽयं वक्ष्यमाणः । तमेवाह-वत्या-  
धामरयेत्स्वाधि यथा वणिष्णु-श्रुं कृत्वा प्रवहणेन समुद्रमव-  
गाढः, तत्र पोते श्रवहणे विपसे आत्सीयानि परकीयानि च प्रज-  
तानि वक्ष्याम्यामरण्यानि, चराव्याकुलेष्वमपि च नानाविधं कया-  
लकं सुभं वदंतिव्या । परित्यज्य, एकवृत्तेन, प्रावप्रधान एकशब्दः-  
एकतैव वृत्तं, तैमैकाको उत्तरीणो, वणिष्णधर्मं वणिष्णयाये वृष्णो  
भवति, न कृष्णं द्वाप्यते । एवमयमपि सायुस्तव सक्रमात्सीयं  
च सारं सवै तव श्रुहे मुक्त्वा निष्कान्तः संसारसमुद्रादुत्तीर्णो  
इति बुद्धः, न धनिका कृष्णमात्सीयं याचितुं शक्यते, तस्मात्  
किञ्चिदत्र तवाऽऽदेश्यमस्तीति । कपोत्विनामिच स्वेच्छया त-  
पोषाणित्यस्य, पोतव्रह्मवणिष्णिव निष्क्रेणो याणित्यमिति । गनम-  
नासद्धारम् ।

अधुना बोधिकस्तेन चारप्रतिपादनार्थमाह—  
बोदियतेणेहिं हिण, विमग्गया साहुणो नियमतो य ।  
आण्णसामणमादंतीतो, एमेव क्कमो निरवसेसो ॥  
बोधिकाः स्तेनाम्ब प्रमुक्कस्वरुपाः, सैहंते साधो नियमशो  
नियमेन साधोविमार्गणं कस्सेव्वत्थं, तस्माच्च विमार्गणे कस्सेव्वं-  
नुशासनादिकोऽनुत्तिष्ठिद्वान्नादिको धनप्रदानपर्यन्त एव पवा-  
नन्तरोदितः क्रमो निरवशेषो भवित्तव्ये ॥

संप्रत्युपसंहाराव्याजेन शिक्षामपवादं आह—  
तम्हा अपरापये, दिक्खिज्जाणारिणण वजेज्जा ।  
अप्पण आणान्णो, विदेस अस्सिदादंतीतो दिव् ॥  
यस्मान्परापयच्छदीकणेऽनार्यदेशगमने चैते दोषास्तस्मादपर-  
रापयन् दीक्येत, अनार्योश्च देशान् वजंयेत् । अत्रैवापवाद-  
माह-( अष्णणत्ति ) अष्णानं प्रतिपन्नस्य ममोपग्रहमेतं करि-  
ष्यन्तीमि हेतोः परायस्तानपि दीक्येत । यद्विद्याऽनान्नो गनः प्र-  
श्नाजयेत् । विदेशस्थानं वा स्वकृपमजानतो दीक्येत । पुनरति-  
वादिषु कारणेषु ( दोषि ति ) च अपि परायणदीकणानार्थदे-  
शगमनेऽपि कुपोत् । किमुक्तं जयति-अग्निवादिषु कारणेषु स-  
मुपनिदिषु परायणानपि मच्छोपग्रहनिमित्तं दीक्येत, अना-  
र्योऽपि देशान् विदेशेदिति । व्य० २ उ० । एतनुकृत्यार्थंज्ञात-  
त्वमुपदर्शितम् ।

अथ संपत्याऽथेजातत्वमुच्यते-  
अष्टजायं शिग्गंथे शिग्गंथं गिहहमाणे वा अवलंबमाणे  
वा गार्हक्यम् ॥  
अर्थः कार्यमुपप्रदाज्जतः स्वकीयपरिणोभेदेजातं यथा साऽ-  
थेजाता पतिचौरादिना संयमात्त्वाद्यमानत्वेन ॥ स्या० ४  
ग० २ उ० ।

इह गाथा-  
अष्टेण जायकज्जं, भंजायं एस अष्टजाया जु ।  
तं पुण संयमभावा, चासिज्जंनो समद्वंसे ॥ १ ॥  
अथेनार्थतया संजाते कार्ये यथा । यद्वा-अथेन द्रव्येण जातमु-  
त्पन्नं कार्यं यस्याः सा अर्थजाता । गनकत्वादेवमपि समासः ।

उपलक्षणमेतत् । तैमैवमपि स्थूलतः कर्तव्या । अर्थः प्रयोजनं  
जातमस्या इत्यर्थंजाता । कथं पुनरस्या अक्षलम्बनं कियत् इ-  
त्याह-तुं पुनः प्रथममुत्पत्तिस्थितिं, संयमप्राप्ताव्यावृत्तयामात्रम् ।  
श्रित्तीयदृष्टीयस्य(जि०के ७-७-१०००)न अर्थजातात्पत्त्या वा  
जातव्या समसतामेतं-साहाय्यकरणेन सम्प्रत्यापयेत्, उप-  
लक्षणत्वाद् दृष्टीवाद्यपि । बु०६ उ० । (संयमस्थिताया निर्गम्या  
अर्थजातव्यक्त्या निरवस्था निर्गम्यस्य भावनीया, केवलं  
स्वयमिहापः कार्यो भवतीति बहुकल्पयोका साऽत्र नोपप्यस्ता ) ।  
अष्टजुत्त-अर्थयुक्त-वि० । अर्थेन हेतोर्वादेयासकेन युक्तान्यन्वि-  
तानि अर्थयुक्तानि । हेतोर्वादेयाभिधायकेषु आगमवचनानिषु,  
अर्थो मोक्षस्तत्र युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । मोक्ष उपादेय-  
तया सज्जतेषु वचनानिषु, “ अष्टजुत्तानि सिक्खेज्जा, गिरचाणि  
उ वज्जप ” उच० १ ख० ।

अष्टद्वयिका-अष्टाष्टयिका-अष्टी० । अष्टाष्टयमिति विनामि यस्वो  
साष्टाष्टयिका । यस्यां हि अष्टौ दिनाष्टकाणि भेदंरत्नोत्पत्त्या-  
ष्टौ अष्टमिति प्रवन्द्येवेति । वतुष्पदिदिननिष्पत्रायां अष्टमि-  
मायाम, स० ।

अष्टद्वयियाणं जिक्खुपटिमा चत्तसडीए रांदिंएहिं दो-  
हि य अट्टासीएहिं, सैक्खिस्वामएहिं अट्टासुत्तं जाव भवइ ।  
मिथुप्रतिमाऽग्निग्रहविशेषः । अष्टाष्टयकानि यतोऽस्ती भवन्त्य-  
तन्मनुष्येषु राशिदिशेः सा पालिता जवति, तथा प्रथमेऽष्टके  
प्रतिदिनेमेकंका मित्रा, एका दक्षिणोऽननस्य पानकस्य च, एवं  
द्वितीये द्वे द्वे यावदष्टमे अष्टाष्टयव्यति संकलनया द्वे शते मित्रा-  
णामष्टाशीत्यधिके भवतः । अत उक्तं द्वान्यो न्येत्यादि यावत्कणा-  
त् । “ अष्टाकल्पे अष्टाममो कसिया पाठिया सोरिधिया नीरिया  
कसिया सम्मं आणए आराहिया वि भवइ ” इति इहयम् ।  
स० ६४ स०० । आ० । अष्टाष्टयिकायामष्टकं आदिष्टकं उ-  
त्तरमष्टको गच्छः । तत्राष्टसङ्ख्यां गच्छ उत्तरणाष्टकेन युतः क्रि-  
यते, जाता वतुष्पदिः, सा उत्तरहीना आदियुता कियते, तथापि  
सैव वतुष्पदिः । एतदष्टमेऽष्टके भिक्षापरिमाणम्, एतद्विद्वान्नाऽष्ट-  
केन पूते कियते, जाता अस्तर्षितः ३२ः सा गच्छाकैत वतुष्कज  
गुरयते, जाते च शते अष्टाशीत्यधिके । व्य०६ उ० । प्र०० । अन्त० ।  
अष्टाष्टाण-अष्टव्यानक-न० । प्रमाणनाया अष्टमे स्थाने, “ एवं  
जहा अट्टाये ” स्या० १० जा० ।

अष्टपाण-अष्टनायन-न० । अष्टविधपराधीनममि, “ से कितं  
अष्टनामं ? । अष्टनामे अष्टविहा वयक्खिभस्ती ” अजु० ( ‘वय-  
णविभस्ति’ शब्दे निकृपितमेतत् ) ।

अष्टदंशिण-अर्थेदर्शिन-वि० । यथाविधितमर्थे यथा गुरुस्-  
काशाहृथारितमर्थं प्रतिपादं कुरुं शीलमस्य स भवत्यर्थदर्शी ।  
सत्यार्थवेत्तदि, “ समाह्वेज्जा पदिपुअभासी, निसाभिया  
सामिय अट्टुणं ” सूत्र० १ ख० १६ ख० ।  
अष्टदुग्ग-अर्थेदुग्गं-वि० । अर्थतः परमार्थतो दुग्गं विषयम् ।  
सूत्र० १ ख० १० ख० । परमार्थतो विचार्यमाणं गदमे दुग्गिक्केयं,  
सूत्र० १ ख० ६ ख० १ उ० । परमार्थतो वुक्कत्ते, “ इमां सुत्तसु  
ड्वमदुदुग्गं ” सूत्र० १ ख० १० ख० ६ उ० ।

अष्टपणसिय-अष्टमंदेशिक-लि० । अष्टौ प्रदेशा यस्मिन्नस्यप्र-  
देशिकः । स्थायिककप्रत्ययविधानादिति । प्रदेशादकनित्यम्,  
“ पथं भं अष्टपणसिय इयेन ” स्या० १० ग० ।

अष्टपदचित्तय

अष्टपद ( य ) चित्तन—अर्थपदचित्तन—न० । अर्थयमाणां विचा-  
 र्यमाणां यत्पर्यं वाक्यादिः पद्यते इत्यर्थेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्यैः । तस्य  
 चिन्तनं भाषनं विचारणं, स्वविषये स्व्यापनमिति यावत् । विचार-  
 णीयस्य वाक्यादिरथैवप्यौघोऽनेनेति, योऽभयं प्रायः-सुखेपेक्षिकया प्रा-  
 च्यनाप्रधानेन स्वताऽर्थेयं विचारणीयं, विचार्यं च बहु भूतसकाशा-  
 त्स्वविषये प्रपद्यितव्यम् । अर्थपदचित्तनं इति सत्यन्धर्मं भक्तानन्देन  
 पद्यते । तथा च परमार्थे “ सुखस्य च धम्मं अरहंतानासिद्धं,  
 समाहितं अष्टपद्मोत्सुकं ” इत्यादि । तस्मादर्थपदं विचार्यं  
 स्वविषये स्थापयितव्यम् । तथा—यदि सुहृदोऽप्यतिचारो ब्रा-  
 ह्मीसुवृत्तार्थानामिव स्त्रीभावहेतुस्तदा प्रमत्तानां साधूनां  
 कथं चारिषं मोक्षहेतुत्वेन पद्यते, प्रमत्तानिचारवत्त्वात् । अर्थेयं  
 समाधानप्राप्त्या—यः प्रमजितः सुहृदमप्यतिचारं करोति, तस्य  
 त्रिपाकोऽतिरीक्य एव, परं प्रतिपक्षाध्यवसायः प्रायस्तस्य  
 हृदयेनैवोक्तोऽन्यादिमात्रम् । ब्राह्मण्यार्थानामपि तद्व्यापत्वात् । प्रतिप-  
 क्षाध्यवसायस्य—कोषादिषु क्रमादिः संस्वरथायैवोक्तः । एतच्च प्र-  
 मत्तानामपि प्रत्यतिचारं तुल्यगुणभिकृत्वा प्रतिपक्षाध्यवसाययतो  
 धर्मचरणमाविरुद्धम्, सत्यकृत्तमप्रतीकारस्य विषयैवातिचा-  
 रस्य स्वकार्योक्तत्वात् । नन्यथ प्रतिपक्षाध्यवसायस्यैवातिचाप्र-  
 तीकारत्वे प्रायश्चित्तादिव्यवहार उचित्येतेति चेन्न । प्रायश्चित्ता-  
 दियतनादव्यवहारे तुल्यतामप्रानुष्यति प्रतिपक्षाध्यवसायस्य वि-  
 शेषणस्य प्रीत्यात् । तदुक्तस्यैवैव च विदोष्यस्य साफल्यात् । वि-  
 शेष्यविशेषणयोश्च विनिगमनाविरहस्तु नयभेदाऽऽप्यस्यो दुष्प्रा-  
 हर एव । तथाप्यसकृत्प्रमादं ( अरुणकृतमतिप्रमादं प्रतिपक्षाध्य-  
 वसायं न कथं परिहृष्येत, असकृत्कृतस्य मिथ्यादुष्कृतस्याप्य-  
 विषयव्यतिहितं चेन्नैवम् । अत एव तुल्यगुणाधिकगुणाध्यवसाय-  
 स्यैव ग्रहणात् । एकंनोपि बहुवर्ता प्रतिपक्षेण परिचर्यते बहु-  
 लमप्यनर्थज्ञानं, कर्मजनितानि विचारोद्वेगास्त्वभावसमुत्पत्त्य-  
 स्मोक्तस्यापि प्रतिपक्षाध्यवसायस्य बलवत्समुपदेशपदादिप्रसि-  
 क्तमेव । स्यादेतत् । मनसो विचारः प्रतिपक्षाध्यवसायनिवर्त्यो  
 प्रवन्तु, प्राथिकप्रतिसेवनारूपो ह्यतिचारस्तु कथं तेन निवर्त्तय-  
 ? इति चेन्नैवम्, संज्वलनोद्दयजनितत्वेनातिचारानामपि मानस-  
 विचारवत्त्वात्, उच्यते प्राथिकप्रतिसेवनादीनां तु अर्द्धविप्रक-  
 र्णैव निवृत्तिरिति हिं । यं ३ अष्टि० ।

अष्टपद ( य ) परकृत्वाया—अर्थपदमरूपत्वात्—स्त्री० । अर्थक-  
 यणुक्त्वाद्यादि, तत्पुंक्तं तद्विषयं वा पदमातुपुर्व्यादिकं, तस्य  
 प्रकृत्वं कथनं, तद्व्याप्यंऽर्थेपरप्रकृत्वात् । अथमातुपुर्व्यादिका  
 संज्ञा, अथअक्ष तद्विधेयकृत्वादिपर्यः संज्ञी, इत्येवं संज्ञा-  
 संज्ञिकसंबन्धकथनं “ स किंति येनमयवकहानम् अथोत्तमिदिया  
 इत्यादिपुष्पी ? । पंचविहा पयणा । तं जहा-अष्टपदकथयथा ”  
 ( इत्यादि सर्वे पितृव्यमागे ३३१ षष्ठं ‘ आष्टपुष्पी ’ शब्धे व-  
 ष्यामः ) अत्रु० ।

अष्टपदोत्सुक—अर्थपदोत्सुक—स्त्री० । अर्थपदानि युक्त्यां हेतव्यो  
 वा तैरुपशुद्धमवहातम् । सत्युक्तिकं, सत्पुंक्तं च । अर्थपरिभेदेः  
 पदेषु वाचकैरुप सामीप्येन युक्तं निर्दोषम् । निर्दोषवाच्यवाचकं,  
 “ लोक्षान् य धम्मं अरहंतभाषिषं, समाहितं अष्टपदोत्सुकं ”  
 सुव० । १ बु० ६ अ० ।

अष्टपिष्टिद्विद्या—अष्टपिष्टिनिष्ठिता—स्त्री० । अष्टभिः शास्त्रप्रसि-  
 द्भिः पिष्टिभिः शिवाऽष्टपिष्टिनिष्ठिता । प्रश्नो १७ पद० । अष्टवार्तिपि-  
 ष्टमदानिष्ये सुराभ्ये, जी० ३ प्रलि० ।

अष्टपुष्पी—अष्टपुष्पी—स्त्री० । अष्टौ पुष्पाणि पूजात्वेन समाहृतान्य-  
 टपुष्पी । पूजायै कं पुष्पाकं, पुष्पाकनिष्पाद्यायां पूजायां च । यावत् ।  
 अष्टपुष्पीं समाहृत्या, स्वर्गमांक्षप्रसाधनी ।  
 अष्टुक्तेतरजेदेन, द्विषा तत्त्वार्थदर्शिनि ॥ १ ॥

अष्टौ पुष्पाणि कुसुमानि यस्यां पूजायां साऽष्टपुष्पी । नद्वि-  
 द्युत्तमाश्च ईरपथः । इयं च जन्मपदमात्तुच्यते, न द्विचि-  
 त्तुःपुष्पाण्यारोपणीयानि । यद्दृश्यति । “ स्तोत्रैकौ बहुभुक्तोऽपि ”  
 इति । अष्टपुष्प्याश्च देवपूजनं कारणत्वं वक्ष्यति । द्विषेत्स्येह  
 संबन्धात् ह्यार्ज्यां प्रकारार्ज्यां द्विषा द्विप्रकारा समाख्याता स-  
 न्यगभिहिता, तत्त्वार्थदर्शिभिरतिहं संबन्धते । तस्यदृष्टा अर्थ्य-  
 जीवाद्यस्तादृ, तस्येव वा परमाथैवुत्पाद्याधीनं पद्यन्तीत्येवं-  
 शीलास्तत्त्वार्थदर्शिनस्तैः । कथं द्विषेत्साह—अष्टुक्तेतरजेदेन, अ-  
 ष्टुक्त्वात् सावदात्वात्, इतरा च निरुच्यतया, अष्टुक्तेर, तत्त्वार्थो कृ-  
 त्वा तयोर्वा नेदो विलक्षणता अष्टुक्तेरिभेदत्वेन, इह चेतरा-  
 ष्वस्य पुष्पद्रावः, “ वृत्तिमाने सर्वोर्हानां पुष्यद्रावः ” इति वच-  
 नात् । फलतस्तानं निरूपयन्नाह—स्वर्गमांक्षप्रसाधनी; अथा  
 देवशांक्षापत्नी, द्वितीया तु निर्वाणसाधनीत्यर्थः । पाठान्तरं  
 तु स्वर्गमांक्षप्रसाधनाकेतोर्द्विषा । पतदेव कथम?, अष्टुक्तेरजेदेन  
 इत्येव पद्ययजना कार्येति ॥ ३ ॥

अष्टुक्त्वं स्तोत्रद्वयेन तावदाह—  
 बुद्धागमिथैथालानं, प्रत्यग्निः स्रुचिभाजने ।  
 स्तोत्रैर्वा बहुभिर्वाऽपि, पुष्पैर्नोत्पादिसंभवेः ॥ ५ ॥  
 अष्टुपापापानिमुक्तं—तदुत्पत्त्युत्पन्नतये ।

दीपये देवदेवाय, यास्य सा सुक्तेत्युदाहृता ॥ ३ ॥  
 गुडा निर्दोष भागमः प्राप्यपुष्पायां येषां तानि बुद्धागमनि,  
 न्ययोपास्यचित्तेनाचौर्येण वा रुहातानित्यर्थः । पुष्पैर्द्विषिते देव-  
 देवाय या सा गुजेत्युदाहृतेति संबन्धः । कथं दीयत इत्या-  
 ह—तामस्थानतिक्रमेण यथालाभं, प्रथमनप्रमाणार्थसुखारजा-  
 धेन मालिकाघाशात्रपुष्टीहेतुशांक्षाधिक्या चोक्तमन्यमज-  
 ययु यानि हर्षयानि तैः पुष्पैरिति भावना । प्रत्यग्निरोत्पन्नैः,  
 शुचिभाजनेः पवित्रपटयकाचारैः, इतरथा स्नानादिशौचमपि  
 न मनोनिवृत्तिमादायैविति, स्तोत्रैर्यैः, प्रत्यापायपणम् पुष्यदा-  
 नादृष्टिरित्यर्थः । बहुभिर्भूरिस्तु पुष्टेरोनादानात् । वाशाधौ  
 स्तोत्रकष्टुपुष्पपूजायां बहुमानधानस्य फलं प्रत्याविशेषप्रतिपाद-  
 नाथी । अथिष्यदस्तु समुच्चयाय इति । पुष्पैः कुसुमैः, जात्यादि-  
 संज्वेमीलसोत्पत्तिप्रसये; आदिशुद्धादिचोक्तशांक्षादिपरिग्रहः ।  
 इह कश्चिदाह—जात्यादिग्रहणं सुवर्णमिस्तुमनसो निष्पाधार्थम् ।  
 जात्यादिकुसुमानि हि स्रुद्धारोपितानि निर्मोक्षमिति कृत्वा न  
 पुनः पुनरारोपन्ते, सौवर्णादीनि तु पुनः पुनरारोपणीयानि  
 भवन्ति, निर्मोक्षारोपणदोषश्चैवं प्रसज्यत इति । पतन्नुक्तम्—  
 “ कंचणमालिचयणा—इदमप्यदि च विविदेहि ” इत्यनेन  
 तेषामनुहातत्वात् । पुनरारोपणनिषेधे तु कः किमाह ? । किन्तु  
 यद्वा नोत्पाद्यन्ते तदा निर्मोक्षारोपणदोषोऽपि न स्यात् ।  
 आत्यादिकुसुमानि हि काशातिक्रमेण विगन्थानि भवन्तीत्यव-  
 द्यसुखारोपणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न तथेन नावयमु-  
 खारोपणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न तथेन नावयमु-  
 खारोपणीयानि स्युः । तथाविधविषयः यथाभावात् । तेषां पुनरारोपण-  
 ऽपि न तथाविधो दोष इति प्रत्यये । यदपि कैश्चिदुच्यते—  
 अक्षरकारोपणमुक्तं, शीतरागाकारस्यात्रावप्राप्तिः । तदपि न  
 युक्तम् । पुनरारोपणं अपि तथाप्रसङ्गात् । यथा हि मानरुग्नि



धीनरागस्य भोपपद्यते, एवं पुष्पाद्ययि, अत्रयेवाभ्यपि स्वरागै-  
 राचरितस्वादिभिः । अष्टपुष्पीविधाने काण्डनामाह-अथापोऽन्धे-  
 स्नत्रेनुत्वाद्यथाया ज्ञानावरणाद्यः, अष्टापायायाः समाहृताः  
 अष्टापायस्य, तस्मादिष्टोपेण प्रकारात्तरेणैव, दग्धरज्जुकल्पक-  
 नः । प्रोपप्राहिःअध्वरुत्थे इत्यर्थः । अितरां विःसत्काकतया  
 खनुत्थे एव धातिकर्मयो मुक्तः अपेतः । धान्वर्थमात्रहृत्वां धा  
 विप्रबन्धिःअष्टाधाति । विनिमुक्त इव विनिमुक्तः, अष्टापायवि-  
 निमुक्तस्तथा, तस्मादष्टापायविनिमुक्त्याष्टापा उक्तानं यस्याः  
 सा तद्व्याया, गुणा अनःतद्धान्वदशेनाद्यस्तेषां त्रुतिः प्रादुर्भावः,  
 त एव धा भूतिर्लक्ष्मीगुणभूतिः । तद्व्याया गुण त्रुतिरेव्य स तथा ।  
 अष्टापायविनिमुक्तस्तद्व्यगुणभूतिःअव्यः स तथा, तस्मैः यद्यपीह  
 गुणीभूतं विनिमोवनं, कप्रत्ययाधेयैश्च प्रथामत्वात्, तथापि  
 तद्व्यनेन तदेव पराभूदयेत, यस्मा तथैव विवक्षितत्वात् । इष्ट-  
 भायं व्यायः । यथा-समप्रत्ययज्ञानवृत्तिका सर्वेषुव्यायांसिद्धिरिति  
 नद्व्यनुत्पाद्यत इत्यादाविति । दीयते विनांयैते, वैदेवदोय स्तु-  
 त्पुष्पाय, वाऽष्टपुष्पी सा युक्ताऽस्याया, उदाहृता सर्वैर-  
 मिहतेति । नन्वष्टापायाविनिमुक्ताया एतद्विनिमोक्त्याया  
 गुणत्रुतिरेत्येतन्नैवाष्टपुष्पीविध-धनस्यावसीयमानत्वात्किं त-  
 द्भ्रष्टायादानेनेति । नैवम्, अष्टापायविनिमुक्त्याय दीयते इत्यनेना-  
 ष्टपुष्पीनिबन्धनमाह । तद्व्यगुणत्वे इत्यनेन चतुःपुष्पिकाया  
 अनतकात्तद्व्ययसुखधीयं चतुःपुष्पिकायादृष्टकर्मविनिमुक्तप्रत्यय-  
 गुणानाम्, अष्टापायविनिमुक्त्यायेत्येनैवावसितमिदमिति चेन्न,  
 कस्मानं हि कैश्चित् प्रवृत्तियोगात् इत्याभायः, शरी-  
 रमनसोरनावाद्गीर्वाभायः, विषयानावद्य सुखानावो भाव्यते,  
 तन्मत्तद्व्युत्सायाधेयादित्युपपन्नायः, तदाऽऽचारकण्ठे हि तेषां  
 व्यायप्रस्ताव्यात् । यद्येव ज्ञानावरणपञ्चकण्ठे केचिन्नो  
 ज्ञानपञ्चकप्रसङ्गः, न चेत्प्यने, " नद्विभ्रमि जाठमत्थिय नाथु "   
 इतिवचनःइति । नैवम् । केचिन्नज्ञानेनैव शोचननक्षेत्रस्य प्रकाशि-  
 त्वायेन तेषामनर्थक्याप्रवृत्तयुपदिश्यत इति । एतेन नु पूर्वोक्तं  
 यं मन्वते जिनाधेयप्रतिष्ठायावदस्याप्रवच्य, उदाहृते तेषां बाह्या-  
 वस्याभयं स्नानम्, निष्कम्पाबाधयोचितं रथारोपणपुष्पपूजादि-  
 कः, केवल्यवस्थाश्रयं च बन्दनं प्रवर्तत इति, तन्मत्तमप्यारोति ।  
 नष्टाष्टापायविनिमुक्तिःइत्येण पूजा क्रियमाणा गृहस्थावस्थां वि-  
 ययीकराति, किन्तु केवल्यवस्थाधेयः । ननु चिन्तनीयमिदं यद्-  
 ष्टापायविनिमुक्तिमात्मस्य केचिदवस्थायां पूजा कर्षति, यतो  
 न चारिणितः स्नानाद्यो घटन्ते । तद्व्याप्त्युत्थामि तदप्रसक्तः ।  
 न च तच्चरितं सताऽऽस्तम्बनीयम्, अन्यथा परिणामकायादिप-  
 दिहार आचरणनिषेधायाः कथं स्यात् । धूयते दि-यकदा स्वनावतः  
 परिणतं तदगोदरस्थाप्यायां तिसरादि अधोपिअवशेषं च इष्टा-  
 पि ज्ञानाद्यं महावीरस्तःप्रयोऽजन्मवतोऽपि साधून् तस्त्वेषाथु  
 न प्रवर्तित्वाद्यः । सा एतेषास्मर्त्तमर्त्तमर्त्तमाद्यैः सूरयोऽन्वास्तेषु  
 प्रवर्तयन्तु, साधवश्च मा तथैव प्रवर्त्ततामिति । सत्यम्, किन्तु वि-  
 म्वकतयोऽव्य इति मन्वते, यद्येव ज्ञायाहति च वर्तितव्यं न त-  
 र्थव्य स्थापनाद्वैत्यपीति प्रायः अत एव अथवस्मर्त्तमै गौतमाद्यः  
 साधवस्तिष्ठन्ति स्म । नद्विभ्रमस्मर्त्तमापवस्थाने नु तेषां निषेध  
 रकः । यदाह- "अहं वि न आह्वाकम्, नविककयं तह वि ब-  
 ज्यंतेहि" । नचौ खनु होह कथा, इहग आसायाया परमा"॥१॥  
 तथा-"बुद्धिमग्नमभ्रस्रस्यवि, तगुरपि सवदग्नि य । अथनो ब-  
 वदो चैव, त गद्वृति न चैरए" ॥२॥ तेषांवायिका वृत्तकं स्थाप-  
 नाच्चायै स्थापयन्ति । अन्यथा यथा भावाचार्यस्मोपे नाचरयकं

कुर्वन्ति. तथा स्थापनाचार्यस्मोपेयि न कुर्युः, न च साः प्रव-  
 तिनीं स्थापयन्तीति वाक्यम् । प्रतिक्रमणकाव एव चैत्यवन्दना-  
 वस्त्रे महावीरादेरुत्थे कल्पनीयत्वेन तद्वापस्य समानत्वात्  
 त, नष्टाचार्ये एव पुष्पाय न भगवाद् । नच बीतरागशेषेऽपि  
 भगवत्स्मोपे आर्येचन्दनाचार्यिका रात्रौ वक्ष्युः । ननु प्रतिक्र-  
 मादिकालेऽस्तेषां कृत्या चैत्यवन्दनं क्रियमानं प्राशातनात्  
 यमसङ्ग इति । नैवम् । जिनायतेऽपि चैत्यवन्दनस्यानुकूलत्वात् ।  
 यदाह-" निस्ककमनिसकडे वा, वि चैरए सक्वाहिं सुरे तिणि ।  
 वेदंयवेइयाणि य, नाउं एकेकिया वा वि " ॥१॥ इत्यथं प्र-  
 सङ्गन्ति ॥ ३ ॥

अष्टकाऽष्टपुष्पी स्वरूपन सका, सैव स्वर्गप्रस्तावनीति

युक्तं तदनुमान प्रदर्शयन्नाह-

संकीर्णेषा स्वरूपेण, उन्वाज्ञापमसत्तितः ।

पुण्यकण्ठनिषित्तत्वा-दिज्ञेया स्वर्गनाथनी ॥ ४ ॥

संकीर्णो अथवेन ध्यामिआ, यथाऽनन्तराकाऽष्टपुष्पी, स्वकेषु  
 स्वभावेन । कथमिच्छाह-कृत्यात् पुष्पाः सकायाद् भावप्रसूनि-  
 तां प्रगवति चित्तप्रसादावपसेः । इदमुक्तं भवति-पुष्पादिकव्यो-  
 पयोगाद्यर्थे, शुभभावाद्यं स्यात्तमिति संकीर्णत्वम् । इवं च न क-  
 र्मेकपणनिष्कर्मपि तु पुण्यकण्ठनिष्कर्मैवेत्यत आह-पुण्यकण्ठ-  
 शुभकर्मणे चण्डो कथनं तस्य निमित्तं कारणं पुण्यकण्ठनिमित्तं  
 तद्वायस्तवं, तस्मात्पुण्यकण्ठनिमित्तत्वात्केतोर्विज्ञेयाऽऽसेया, स्व-  
 र्गनाथनी देवलोकाप्रतिदंनुः । अथलक्षणत्वात् सुमानुष्यसाध-  
 नी, पारंपरेण भावपूजाविधयनतां प्रतिपद्य मोक्षसाधनी चेति  
 उच्यमिति ॥ ४ ॥

अथ शुद्धामष्टपुष्पीमभिधानुमाह-

या पुनर्जावनेः पुष्पैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्घातैः ।

परिपूर्णत्वतोऽस्मान्-रत एव सुगन्धिभिः ॥५॥

याऽष्टपुष्पी, पुनःशब्द उक्तवृत्तयामायापेयैर्गोपयन्नोक्तार्थः ।  
 प्रायश्चैरात्मपरिणतिसंयवेः, पुष्पैरिव पुष्पैर्बद्धयामात्राभिरस-  
 धमिवशेषैः, किन्तुः, शास्त्रोक्तिगुणसंगतेः, शास्त्रमागमस्तस्यां-  
 किर्णैर्नितिराक्येऽथैः । अथवा शास्त्रोक्तिरेव गुणा द्बकरस्तसं-  
 गतेः एतेनेषां माहात्म्यताका, तथा च द्रव्यपुष्पाद्ययि यदा माहं  
 कृत्याऽऽरोप्यन्ते तदाऽष्टावपायापगमान् स्मृत्या रोपणीयानीति  
 दृश्यते । पाठान्ते तु-शास्त्रोक्तगुणसंगतेरिति, तथा शास्त्रोपस-  
 मित्यादिगुणापेतेरित्यर्थः । पुनः किन्तुःसैरित्याह-परिपूर्णत्वतो  
 ऽस्मान्ः परिपूर्णतया सकलजोषुष्टयावाहादिविषयत्वेन निरति-  
 चारतया शास्त्रोक्तिर्गोपयन्तः अत एव च परिपूर्णत्वादेव,  
 सुगन्धिभिः सङ्घोषैः, परिपूर्णताधर्मै चैषामस्मान्निस्तुगन्धि-  
 तालक्षणी पुष्पधर्मो द्रष्टव्यवित्यर्थः । द्विधीयते सा शुद्धवै-  
 क्यः श्लोकावसाने वाक्यशेषो उच्यते इति ॥ ५ ॥

नामस्तस्यान्वाह-

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्कता ।

गुणकार्त्तिकेनो ज्ञानं, सपुण्यापि प्रचक्रुः ॥ ६ ॥

प्रमत्ततायोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तदभावाःऽहिंसा, सैकं  
 पुण्यम् । तथा सङ्गो हि तं सत्यम्, अनुत्तानावो द्वितीयम् । तथा  
 स्तेनस्य चोरस्य कर्म भावो वा स्तेयं चौर्यं तदभावाऽऽस्तेयमि-  
 ति तृतीयम् । तथा ब्रह्म कुमलं कर्म तदेव ब्रह्मेते स्तेयत इति  
 चतुर्थम् । ब्रह्मचर्यं, मनोवाक्यायैः कामसेवनेनचरैर्नसिचर्यैः, तच्छु-  
 धं । तथा नास्ति सङ्गोऽभिभक्तो बन्धु सोऽसङ्गस्तद्ग्राहो-

अष्टपुष्पी

उलङ्घना, धर्मोपकरणातिरिक्तपरिग्रहपरिवर्जनम्, धर्मोपकरणा-  
 रथापरिमहत्वात् । यदाह— “ जं वि वयं च पायं वा, कंचले  
 पायवृत्तयः । तं पि अन्तस्मज्जघा, धारति परिहरति च ॥१॥ न  
 स्तो परिमहो बुधो, नायुष्येण तापना । सुखा परिमहो बुधो,  
 इह बुद्धं महेसिणा ॥२॥ इतरथा हरिहराहारायपि परिग्रहः  
 स्यादिति पञ्चमम् । तथा शृणोति शास्त्रार्थमांत मुक्तः । ब्राह्म  
 च— “ धर्महो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायणः । सत्त्वेष्या धर्म-  
 शास्त्रार्थ-देशको मुक्तकथ्यते ॥१॥ तस्य भक्तिः सेवा, बहुमान  
 च, शुभमकिरिति षष्ठम् । तथा तापयतीति तपोऽनग्रहादि ।  
 ब्राह्म च— “ रसकीधरमांसमेधोऽस्थिमज्जज्जुष्णायनेन लप्यन्ते ।  
 कर्मानां वा श्रुभानोत्यतस्तपो नाम नैरुक्तम् ॥१॥ इति सप्तमम् ।  
 तथा ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति ज्ञानय, सत्यकप्रवृत्तिमिषुतिहेतुत्वे  
 बाध स्थलमह । इह समुक्तव्याजिषायी चराचर्यो ऋषयः ।  
 सप्तपुष्पाणि अत्यन्तमेकान्तं च विवाहितार्थसाधकतया ऊच्य-  
 पुष्पायंक्रया सान्ति शोभनाति पुष्पाणां परिष्कणान्तरं, तथा-  
 नीत्यर्थः । प्रचकते शुद्धाष्टपुष्पस्वरूपभाः प्रतिपादयन्तीति ॥६॥

उक्तमेवापि चाक्यान्तरेणाह—

एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरस्सरा ।  
 दीयते पालनाद या तु, सा वै श्रेष्ठ्येऽनुदाहता ॥ ७ ॥

परिभ्रमन्तरोदितेर्नावपुष्पैः, देवानां पुरन्दरादीनामधिको देवः  
 पुष्पत्याह देवाधिदेवः प्रागुक्तो महादेवस्तस्मै, बहुमानः प्रतिप्रां-  
 यः पुरस्सरः प्रधानो यत्र सा बहुमानपुरस्सरा, दीयते वितार्थते ।  
 कर्षामित्याह—पालनाददिसादि पुष्पाणां परिष्कणान्तरं, तथा-  
 लने दि देवाधिदेवाज्ञा कृता भवति । आहूतकणमैव च सर्वे-  
 था हनन्त्यस्य तस्य पूजाकरणम्; नञ्ज्ञाको विराघयता दो-  
 वपुष्पायंनाप्यसाधार्याघतो ज्वलति, आहूतकणमैवराजवदिति ।  
 या तु यैवाष्टपुष्पी, सा वै सैव, मुक्ता निरचया, इतिरवेप्रकारा-  
 र्थः, उदाहता तत्त्वधिदिनिरजिदिति ॥ ७ ॥

अथ शुद्ध्याय एष महत्साधनीयत्वं दर्शयन् विशेषेण  
 सत्समतत्वं प्रतिपादयन्नाह—

प्रशस्तो ज्ञानया भाव-स्ततः कर्मक्षयो भुवः ।  
 कर्मक्षयाच्च निर्वोण-मत एषा सतां मता ॥ ८ ॥

प्रशस्तः प्रशस्त्यः शुद्धः, दिग्दर्शो यस्माद्धै, ततश्च यस्मात्प्र-  
 शस्तोऽन्याऽनन्तरोदितस्य प्रत्यक्षासन्नया शुद्धाष्टपुष्प्या, भाव  
 आत्मपरिणामो भवतीति गम्यते, न पुनर्द्व्यष्टाष्टपुष्प्या जीवां-  
 यमर्गाभिनवाचस्थाः । ततः प्रशस्तज्ञानात्, कर्मक्षयो ज्ञानाव-  
 रणादिकर्मविक्षयो जयति, भूषांश्वयंमर्षा, कर्मक्षयाच्चोक्त-  
 स्वत्वात् । अथाहः पुनरर्थः । निर्वोणो मोक्षो भवतीति मोक्ष-  
 साधनीयमतः प्रशस्तज्ञायज्जन्मकर्मक्षयसाध्यनिर्वाणसाधनत्वा-  
 द्वा शुद्धाष्टपुष्पी, सतां विदुषां, यतीनामित्यर्थः; मता विधेयत्वे-  
 नेष्ट, न पुनर्द्व्यष्टाष्टपुष्पी । मतो हे कुतोर्धिकाः । यदि दूयं यत-  
 स्वत्वात् प्रायश्चित्तमैव कुर्वतेत्युक्तं जयति । अथवा यतो अत्र-  
 या निर्वाणमतः सतां विदुषामेषा समंतेति ॥ ८ ॥ इति तृतीया-  
 दकाविवरणम् । हा० ३ अष्ट० ।

अष्टपुष्पिकुण्ड-अष्टपुष्पिकुण्ड-३० । क० २० । शुद्ध्यादियु अष्ट-  
 पुष्पिकुण्डे, तैरष्टपुष्पिकुण्डयोगः समागमः कर्तव्यः ।  
 ( एष सामान्यशुद्धिर्मः ) बुद्धिगुणाः शुद्ध्यादयः, ते स्व-  
 मी— “ शुद्ध्या अन्नं चैव, प्रदत्तं धारणं तथा । उदात्तोहोऽध-  
 विज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥ १ ॥ शुद्ध्यादिनिर्जिदं उपहित-

मकषः पुमाक करादिककल्याणामोक्षे, एते च बुद्धिगुणा यथा  
 सम्यग् भ्राह्माः । अ० १ अष्टि० ।

अतज्जाद्या-अष्टपुष्पांगिका-श्री० । अष्टमे भागे वसंत इत्यष्टमा-  
 णिका । वद्व्याप्यवृष्टिकालत्रयपलमानायां षण्णिकायाम्, मा-  
 णिकाया ( अष्टकपर्यन्त्यायाः ) अष्टमभागावर्तित्वात्, श्रान्तिश-  
 यप्रसमाप्ते स्वसामविद्येये, अतु० । अ० ।

अष्टमद्वय-अष्टपुष्पदिक्-श्री० । अष्टौ मन्वन्थानामि येषां तेऽष्टम-  
 दिकाः । अष्टतु मन्वन्थानेषु प्रसक्त्यः, “ जे पुण अष्टमईको, प-  
 षिपपसथाऽपसथा य ” आतु० ।

अष्टमंगल-अष्टमङ्गल-न० । अष्टगुणितामि अष्ट वा मङ्गलानि ।  
 स्वनामकथानेषु श्रीवत्सादियु, “ तत्सत्तं प्रसोमसरपायवस्स  
 उषरिं बहवे अष्टमङ्गलमा पसथा । तं जहा-सोषथियं १ सिरि-  
 वथा २ योदियावत्त ३ बन्धनागम ४ म्हात्सया ५ कलस ६  
 मन्च ७ द्यपम ८ ॥ ” तत्र अष्टाद्यष्टाविति वीत्साकरणात् प्रत्येकं  
 तेऽष्टाविति बुद्ध्याः । अन्यैस्त्वष्टाविति संख्या, अष्टमङ्गलानीति  
 च संज्ञा । मी० । हा० । अ० शू० । अ० म० प्र० । म० । ज० ।  
 रा० । लोकेश्वि च—“मृगप्राज्ञो वृषो नागः, कलशो म्यजन्तं  
 तथा । वैजयन्ती तथा मेरी, दीप इत्यष्ट मङ्गलम् ॥४॥ लोकेश्वरि-  
 मङ्गलान्यष्टौ, ब्राह्मणो गौर्दशानः । हिरण्यं सर्पिरादित्य-  
 भापो राजा तथाऽष्टमः ॥ ३ ॥ वाच० ।

अष्टमभक्त-अष्टमजक्त-न० । एकैस्मिन् दिने शिवारं भोजनी-  
 चित्तेन दिनत्रयस्य वर्षां प्रकानामुत्तरवारणकविमयोर्कैकस्य  
 भक्त्य च त्यागेनाष्टमजक्तं त्यायं यत्र तत्रथा, इति स्युत्पत्त्या  
 समयपरिजात्या वा उपनासत्तये, “तद्यं सं नन्दे तथा बहु-  
 मभंसि परिणममानसि पोसहसाज्ञातो पङ्क्तिक्लमम्”  
 ज० ३ अ० । पंचा० ।

अष्टमजसित्य-अष्टमजसित्य-श्री० । दिनत्रयमनाहारिणि, जं  
 ३ अ० ।

अष्टमपमहण-अष्टमदमयन-श्री० । अष्टमद्वयाननाशके, प्रश०  
 ५ अ० ।

अष्टमहापाकिरे-अष्टमहापातिहार्य-न० । अर्हतां पूजौपायिके-  
 पु अशोकवृक्षादियु, “अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-दिन्यन्धनि-  
 क्षामरमासं च । नामरमंलं कुन्दुमिरातपत्रं, सत्यातिहाय्योणि  
 जिनेम्भराणय” ॥१॥ ने० ।

अष्टमिपोसद्विय-अष्टमिपोषधिक-श्री० । अष्टम्याः पौषध उप-  
 वासादिकोऽष्टमपौषधः, स विद्यते येषां तेऽष्टमिपोषधिकाः ।  
 अष्टम्याः पौषधमते क्रियमाणेषुसत्तये, आचा० ३ अ० १  
 अ० ३ अ० ।

अष्टमी-अष्टमी-श्री० । अष्टानां पुरणी पौदशकशास्त्रकचन्-  
 स्याष्टमकथा । क्रियारूपायां स्वनामकथानां तथैव, वाच० ।  
 “ वाउदसि पवर्षति, वज्जोऽष्टमीं च णवर्षमि च । उाहूँ च  
 अउर्ध्वि वा-रसि च सेसाहुं देआदि ॥१॥ ” विशेषेण । वृद्धवैयाकरण-  
 संमते विभक्तिभेदे, “ अष्टमीं क्षामंतणीं भवे ” अष्टमीं संवृ-  
 रामन्वनी भवेत्, आमन्वणां विधीयत इत्यर्थः । अतु० । अष्टम्या-  
 मन्वनी भवेत्” इति । सु मी जसित्यि अष्टमाऽधी विभक्तिरामन्व-  
 यमङ्गलार्थस्य कर्मकरणादिवत् त्रिज्ञाधेमात्तारिकस्य प्रति-  
 पादकत्वेनाष्टपुष्पाः । का० ८ रा० । “क्षामंतणे भावे अष्टमी उ जहा  
 हे युवाय । शि” क्षामन्वणे भावे अष्टमी तु यथा-हे युवकिति, वृ-

अथैवाकरणद्वारेण चैवमष्टमी गणयते, ऐवंयुगानां त्वसौ प्रथमेवेति मन्त्रार्थमिति । अट्टु० । अष्टसंख्यापूरुषायां च, अष्ट-क । अष्ट संघातं स्याति वा माति, मा-क, गौरा०-क्री० । कोटाहतायाम्, वाच० ।

अट्टमुनि-अट्टमूर्ति-पुं० । अष्टौ दृश्यादयो मूर्तयोऽस्य । शिषे, " कितिजलपथननुशाशन-यजमानाऽऽकाशाचक्रसूत्रोक्त्याः । इति सूर्यो मेन्द्राभर-सम्बन्धिनां जन्मस्थरी " ॥११॥ ७०० ६ ७०१ अट्टरसमंपठस-अट्टरसमंप्रयुक्त-वि० । ३ त० । अट्टजिः अट्टारादिनी रसैः सम्यक् प्रकयेयं युजेत्, जी० ३ प्रति० ।

अट्टविह-अट्टविष-वि० । अष्ट विधाः प्रकारा यस्य । अष्ट-प्रकारे, म० १५ श० १७० । ५० । ५३० । " अष्टविहकम्मन्त-मण्डलपत्रिकेच्छे " अष्टविषकर्मैव तमःपटलसम्भारसहस्रस्तेन प्रायवन्दिष्यन्ति तथा " विज्ञे० ।

अट्टसदया-अष्टैशतिका-त्रि० । अष्टैशतानि यासु सन्ति ता अष्टैशतिकाः । अष्टवा-अष्टानामिष्टकायां शतानि वाभ्यस्ता अष्टैशतस्ता एवाष्टैशतिकाः । स्वायं कःप्रत्ययः । अष्टशतानिपदिक्तासु वागादिषु, " अपुणस्तदादि अष्टसदयादि बभूवुर्दि अण-वरयं अतिशयेता य " जे० २ वक्र० । म० ।

अट्टसंघान-अट्टमङ्गाट-पुं० । क० स० । अष्टसु प्रायश्चित्तसंघा-सु, " संघानां सि वा लयति वा पगारो सि वा एगट्टं " इति घञान् । घृ० १ उ० ।

अट्टमय-अट्टशत-न० । अष्टानिरेषिकं शतम् । अष्टोत्तरशते, ७०० १० टा० ।

अट्टमयसिद्ध-अट्टशतमिष्क-पुं० । अष्टशतं च ते सिद्धाश्च नि-सृंसा अष्टशतसिद्धाः । एकस्मिन् समये अष्टनस्वामिना सह निर्दोषि मतेष्वष्टोत्तरशतेषु सिद्धेषु । इन्द्राऽजन्तकाज्ञाज्ञानमिति नवममाश्रयेमुच्यते इति । स्या० १० टा० । कल्प० । अत्र गुण-विजयगणिना कृतस्य अष्टस्य हीरांबजयसिद्धिस्तमुच्यते । अष्ट-जस्वामी अष्टोत्तरशतैकस्मिन्नेव समये सिद्धः । इदं चाश्रयेस-तत्र बाहुबल्याद्यापराश्रिता का गतिः ? इदं च तत्रप्रतिपाद्यकर्मणाममप्रसाधनपूर्वं निर्भयकारि प्रसाध्यमिति ॥ ५ ॥ उत्तरम्-अत्र 'अट्टसयसिद्धा' अस्मिन्नेवाश्रये बाहुबलरापुत्राऽप्यसंमन्तभे-धनि । यथा-दरिनेस कुक्षुप्यति " ति, आश्रये हरिचर्षकेभानीतस्य युगसंख्यापुत्रपर्वतेन शरीरत्रयुक्तयं नरकगमनादि ज्ञान्तभेय-तीति ॥ ५ ॥ ही० ।

अट्टसदृस-अट्टनदृस-न० । अष्टोत्तरसदृससङ्घेषु, " वरशाम-वधायणितेजोऽहयकसदृससदृसं वरकचणं सत्प्राग्मिषण " भी० ।

अट्टसामय-अट्टसामयिक-त्रि० । अष्टी समयार्थसन्तोऽष्टसम-यः स पद्यष्टसामयिकः । समयार्थकदूम्भे, स्या० ७ टा० । " केवलसमुच्चय अट्टसामय्ये पद्यते " भी० ।

अट्टसिण-अट्टसन-पुं० । वनसंगोत्रजं पुरुषभेदे, तदप्येषु च । स्या० ७ टा० ।

अर्थसेन-पुं० । पुरुषविशेषे, स्या० ७ टा० ।

अट्टसोबधिय-अट्टसोबधिक्-त्रि० । षोडशकर्ममाध्यात्मकु-षणेमानाष्टकमिते, " परमगस्य सं रक्षो वाडरतं चक्रयद्विस्स अट्टसोबधिय काकितिरयणे " स्या० ७ टा० ।

अट्टदृशरि-अष्ट ( श्र ) सप्तति-वि० । अष्टाधिकायां सप्तति-

संख्यायाम्, " अट्टदृशरि ए सुवर्णकुमारदीयकुमारावासस्य-सहस्सायं " स० ।

अट्टा-अट्टा-स्त्री० । प्रथमजिषोः स्तोकेकाग्रहणे, " निगहृत् शुक्रवचो, अट्टा से तिभि अस्तिष्ठा " ॥ ५० ७ १ टा० । मुष्टी, " अउहि अट्टाहि सोयं करेह " जे० २ वक्र० ।

आस्था-स्त्री० । आस्थानमात्सा । प्रतिष्ठायाच, सूत्र० २ भू० १ अ० । आ-स्था-अह । आलम्बने, अण्येसायां, अट्टायां, स्थितौ, यत्ने, आदरे,समायाम्, आस्थाने च । वाच० ।

अट्टाण-अस्थान-न० । अट्टुचिते स्थाने, स्या० ६ टा० । वैश्या-पाटकादौ कुस्थाने, स्य० २ उ० । प्र० । अट्टुके, " अट्टाण-मेयं कुसला वयंति, दगेण जे सिद्धिमुदाहरति " सूत्र० १ शु० ७ अ० ।

अट्टाणद्वेषा-अस्थानस्थापना-स्त्री० । अष्टैवप्रहणिके अस्थाने प्रत्युपेक्षितोपधेः स्थापनं निक्षेपोऽस्थानस्थापना । प्रमाद्-प्रत्युपेक्षणभेदे, स्या० ७ टा० ।

अट्टाणमंदव-आदयानमाहप-पुं० । उपस्थानकृते, स्या० ६ टा० १ उ० ।

अट्टाणिय-अस्थान ( नि ) क-न० । अमाजने, अनाधारे, " अट्टाणिय होह कृड सुणाणं, जेगणण संकार मुसं वपज्जा " सूत्र० १ शु० १३ अ० ।

अट्टादंद-अष्टेदाद-पुं० । अष्टेन स्वपरोपकारलक्षणेन प्रयोज-नेन दूरको हिंसा अष्टेदूरकः । स० ९ सम० । प्रसार्तं स्थावरानां वाऽऽत्मनः परस्य योपकाराय हिंसायाम्, स्या० ५ टा० २ उ० ।

अट्टादंदवतिय-अष्टेदसकर्मण्य-पुं० । न० । आत्मार्याय स्वप्रयो-जनकते दूरकोऽष्टेदसः पापयादानम्, तत्प्रत्ययः । प्रथमे क्रिया-स्थाने, सूत्र० । तत्कर्मणं च-

पदमे दंदसमादायो अट्टादंदवत्ति ए सि आहिज्जट, से नहा छापर कइ पुरिसे आयहुंउं वा पाइहुंउं वा आगारहुंउं वा परिवारहुंउं वा मिषहेउं वा णागहेउं वा वृवहेउं वा नक्खवेउं वा तं दंउं तनधावरोहिं पाणेहिं सयपेव णिपि-रिति, अणेण वि णिपिरिवेति, अमिण वि णिपिउंउं तिसम-णुजाघइ, एवं तल्लु तस्स तत्पत्तिं सत्तज्जति, वि आहिज्जइ, प-इमं दंदसमादायो अट्टा अट्टादंदवत्ति ए सि आहिउंउं । ॥१॥

यःप्रथममुपासं दूरसमादानमर्थाय दूरकमित्येवमाख्यायते, तस्यायमर्थः-तद्यथा नाम कश्चिदुपधः । पुरुषप्रणमनुकेः पल्लकणाधेय । सर्वोऽपि चातुर्भेदः प्रायशात्मनिमित्तमात्मार्थं तथाऽनिहानिनिमित्तं स्वजनाधेयं तथाऽप्यारं गृहं तस्मिन्ने, तथा परिवारा दासकर्मकरादिकः परिकरो वा गृहदिभृत्यादिक-स्तास्मिन्ने, तथा मित्रनाभूतयज्ञादयं, तथाभूते स्वपरोपघात-कृतं दूरकः प्रसंस्थावरं पृ स्वधर्म मिश्रजने निष्ठापितं, दृष्टक-मित्य दृष्टमुपासं पालयति, प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करान्ति-त्यर्थः । तथाऽऽधर्नाप कारयपरं दूरकं निश्रुजति, निश्रुजते समनुजानति । एवं कृतकारितानुमितिभेदे तस्याऽनामहस्य तत्प्रत्ययिकं साधकाक्रियापासं कर्मोपायते संघटयते इति । एतन्प्रथमदूरसमादानमर्थेद्वारप्रत्ययिकक्रियाकथ्यतामिति ॥ १ ॥ सूत्र० १ शु० २ अ० । आ० ७ । आ० ७ । आ० ७ ।

अष्टादश्यामाग-अभिहित-वि० विधितमकुर्वति, " तद् विद्य अष्टादश्या-  
मागं गोयं " पञ्च० १६ विव० ।

अष्टार-अष्टादश्या-वि० आकृतत्वात्स्वभावोऽयः अष्टाधिकेन दशसु,  
" एष सन्धे वि अष्टारा " पञ्च० ३ विव० ।

अष्टारम-अष्टादश्या-वि० अष्टौ च दश च, अष्टाधिका वा दश  
अष्टादश्यात् ( अष्टारश्च सन्ध्यायां, तस्यसन्धेये च । वाच० " पदमे  
ज्माले अन्वये अष्टारसमुद्रचारात् " सू० प्र० १ पाठु० ।

अष्टादशकर्मकारण-अष्टादशकर्मकारण-म० । अष्टादशकौ-  
रप्रसिद्धौ, प्रथ० ३ आश० ब्रा० ।

अष्टारमहाण-अष्टादशस्थान-म० । क० स० । प्रतिसेवनीयेषु  
अष्टादशसु स्थानेषु, दश० ।

इह खलु भो एवमप्येवं उप्पसदुक्खेणं संभवे अरइसमा-  
वसाविनेणं ओहाकुपेहिणा अओहाइएणं चेव इयरस्सि-  
गर्पकुसपोयपपागाभूमाइ इमाइ अष्टारमउत्ताणंइं समं  
संपकिट्ठेहिअन्वाइं हवंति । तं जहा-इंनो उत्तमाइं उ-  
प्पजीवीं । ? ।

इह खलु जोः प्रमाजितेन, इहेति जिनप्रथमेन, खलुशुब्धेऽव-  
धारणे । स च निष्कर्म इति दर्शयिष्यामः । जो इत्यामन्त्रणे ।  
प्रमाजितेन साधुना, किञ्चिद्योयेन्याह—उत्पन्नदुःखेन संजात-  
शीतादिशाररक्षीनिपयादिमानसदुःखेन, सत्यमे व्यापारितस्व-  
रूप, अरतिसमापन्नचित्तोद्देशगताभिप्रायेण, संयमनिर्विघ्नभा-  
वेत्यर्थः । स एव विद्योप्यन्ते-अवधारनोद्देशिणा-अवधारनम-  
पत्सर्गं, संयमादुत्साहत्वेन प्रेक्षितुं शीलं यद्यत् स तथाविधस्तं,  
उत्पन्नजितुकामेनेति भावः । अनन्याधिनेनैवायुष्मजितेनेव, अ-  
मूनि बहुमायासङ्कणाप्यहाइतस्मान्नि, स्वयन्नावसांरं सम्यु-  
पेक्षितव्यानि सुदुग्धोक्षनीयानि, जवन्तीति योगः । अवधारितस्य  
तु प्रमुपेक्षणं प्रायाऽनयेकमिति । तावन्विशेष्यते-इयरहिमग-  
जाकुवापोतपताकाभूतानि अश्वस्वहीनगजाकुशुशुभादिस्थितपट-  
तुल्यानि । एतदुक्तं भवति-यथा इयादिन.सुम्नार्गप्रवृत्तिकामान-  
ी रइय्याइयो नियमनहेतवस्तथाव्यापि संयमादुःमार्गप्रवृ-  
त्तिकामानां आचसत्त्वानामिति । यतश्चैवमतः सम्यक् सम्युपे-  
क्षितव्यानि अशन्ति । अष्टादश्यावधारणयोगान् सम्यगेव सम-  
्युपेक्षितव्याः श्वेतेत्यर्थः । ( तं जहेइयाइं ) तद्योपेक्ष्यफासार्थः ।  
इमेऽं दुःखमायां उच्यज्जिवांति हन्ति, ' हंजे ' शिष्यामन्त्रणे ।  
उच्यन्नावधारणमात्राव्यायां कालदोषादेव दुःखेन कृच्छ्रेण  
प्रकृत्योपादानोपापकृत्या जीवितुं शीलं येषां तं, दुष्पञ्जीविनः  
प्राक्लिच इति गम्यते, नरेन्द्रादीनामप्यनेकदुःखप्रयोगदर्श-  
नात् । उदारयोगारहितेन च विरक्तमायेण कुमातेइतुना किं  
गृहाश्रमेणेति, सम्युपेक्षितव्यामिति प्रथमं स्थानम् । ? ।

सहसुसा इत्तरिआ गिहीणं कामधोगा । २ । जुजो अ  
सापबहुसा मणुस्सा । ३ । इमे अमे दुत्तरेन चिरिका-  
सोवद्वाइं थविस्सई । ४ । ओमणणपुरकारे । ५ । इ-  
त्तस थ पकिपायणं । ६ । अहरगइवावोवसपया । ७ ।  
उत्तहे खलु भो गिहीणं धम्मे गिहिपासपज्जे वसंताणं  
। ८ । आयकं से वहाय हांइ । ९ । संकपे से वहाय  
हाइ । १० । सोवकैसे गिइवासे । ? । निवकैसे परिआए

। ११ । वंषे गिइवासे । ? । मुके परिआए । ? ११ । सावजे  
गिइवासे । १२ । अणवजे परिआए । ? १२ । बहुसाहा-  
णा गिहीणं कायधोगा । १३ । पत्तमं पुणपावं । ? १३ । अ-  
ण्णिवे खलु भो मणुस्साणं जीविणं दुस्सगजलविहुत्तं चसो,  
वहुं च खलु भो पावं कम्मं पगदं, पावाणं च खलु जो  
कपाणं कम्म्याणं पुत्तिं बुद्धिष्णाणं तुप्पकिंताणं वेइत्ता,  
मुक्खो नतिप अवेइत्ता, तत्तवा वा जोसइत्ता अष्टारसमं पयं  
जवइं । भवइ अ इत्थे सिद्धोगो-

तथा-अथ इत्तरा गृहिणां कामधोगा, दुःखमायामिति वत-  
ते । सन्तोऽपि अथवस्तुभजाः । प्रहृष्टैव तुषभविद्यवसाः, इत्तरा  
अत्यकाशाः गृहिणां गृहस्थानां कामधोगा मदनकामप्रधानाः  
शुद्धाद्या विषयाः विषाककसम्बन्धेन हेतवानामिव चिररिताः  
अतः किं गृहाश्रमेणेति सम्युपेक्षितव्यामिति द्वितीयं स्थान-  
म् । २ । तथा-नृपञ्च स्थानिबहुला मनुष्याः; दुःखमायामिति  
वसेत एव । पुनश्च स्थानिबहुला मायाप्रचुराः, मनुष्या इति  
प्राणिनः, न कदाचिद्विभ्रमभेदेतुऽपि, तद्रहितानां च कीदृशो  
सुखम् ? , तथा मायाशब्धेऽनुषेन च दारुणतरो बन्ध इति किं  
गृहाश्रमेणेति सम्युपेक्षितव्यामिति तृतीयं स्थानम् । ३ । तथा-  
इदं च मे दुःखं न चिरकालपरिस्थायि ज्ञाविष्यति, एवं वायु-  
नृपमानं, मम आमप्यमगुपालयते, दुःखं शरीरमामसं कर्म-  
फलं परीपहज्जति, न चिरकालसमुपस्थातुं शीले मविष्यति, अ-  
मप्यप्राज्ञेन परीपहज्जति, अतः किं गृहाश्रमेणेति ४ । सम-  
्युपेक्षितव्यामिति चतुर्थं स्थानम् । ४ । तथा- ( आमज्जणं सि )  
मूनजनपुत्रा, प्रमाजितो हि धर्मप्रमावाप्राज्ञानाम्सादिभिरन्यु-  
स्थानासनाज्जिप्रहादिभिः पृथगे । अमप्रजितेन तु पृथगज्जणव्या-  
पि स्वयसमनुसृतयेऽभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा  
वेदिप्रयोक्तुः स्वरकर्मणो नियम्यत एव, इहेवेदमधर्मकमतः किं  
गृहाश्रमेणेति सम्युपेक्षितव्यामिति पञ्चमं स्थानम् । ५ । एवं सर्वत्र  
क्रिया योजनीया । तथा वागन्वय प्रयापानम्, बुक्तौचित्यपरिभोग  
इत्यर्थः । अयं च श्वमग्राहादिबुद्धस्तव्यचरितः सत्तां निष्ठां व्या-  
धिदुःखजनकः । वान्त्वाक् प्रोगाः; प्रमथ्याङ्गीकरणेनैव प्रत्या-  
पानमप्येवं चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम् । ६ । तथाऽप्युपगतिवासो-  
पसंपन्न, प्रयोगान्तेन कतिथं भातिस्त्वया वसनमभोगतिवासः,  
एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसंपत्तसामीप्येनाङ्गीकरणं  
यदेतदुत्पन्नमनेन चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानम् । ७ ।  
तथा दुर्लभं खलु भोः गृहिणां धर्म इति प्रमाद्वबहुसत्वाद्  
दुर्लभं एव, ' मे ' इत्यामन्त्रणे । गृहस्थानां परमनिष्ठुतिजन-  
कौ धर्मः । किञ्चिद्विद्यानामित्याह- गृहपाश्रमभ्ये वसामा-  
त्यत्र गृहपाशाश्रयेन पाशुकल्पः पुष्कलपादयो गृहस्थे, तस्य-  
भ्ये वसलामनादिमनाभ्यासादकारणं केहधनधनेर्तावन्तनी-  
यमित्यष्टमं स्थानम् । ८ । तथाऽऽनृतस्तस्य वधाय भवति;  
आनृतः सद्योधाती विच्छिन्नादिरोगः, तस्य गृहिणे धर्म-  
बन्धुरहितस्य, वधाय विनाशाय भवति । तथा वधश्चानेक-  
वधहेतुरेव चिन्तनीयमिति नवमं स्थानम् । ९ । तथा संक-  
ल्पस्तस्य वधाय भवति; संकल्प एतन्निष्ठवियोगप्राप्तिसो  
मानस आनृतः, तस्य गृहिणः, तथाकेच्छायोनाद् मिथ्या-  
विकल्पाभ्यामेन प्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवत्येनचिन्तनीयमिति

दशमं स्थानम् । १० । तथा-सोपक्लेशो गृहवास इति; सहो-  
पक्लेशैः सोपक्लेशो गृहवासे गृहाश्रमः । उपक्लेशाः-कृपि-  
पाशुपाल्यधाणिज्याघनुष्ठानानुगतानि; परिहृतजनगाहिताः शी-  
तोष्णभयारयो घृतलक्षणाचिन्तादयश्चेत्येवं चिन्तनीयमित्ये-  
कादशं स्थानम् । ११ । तथा-निरुपक्लेशः पर्याय इति; एभि-  
रुपक्लेशैः रहितः प्रयज्यापर्यायोऽनारम्भो कुचिन्तापरिव-  
र्जितः स्थापनीयो विद्युत्पामित्येवं चिन्तनीयमिति द्वादशं स्थान-  
म् । १२ । तथा-बन्धो गृहवासः, सदा तज्जेत्यनुष्ठानात्  
कायकारकीटवहिस्येतच्चिन्तनीयमिति त्रयोदशं स्थानम् । १३ ।  
तथा-भोगः पर्यायोऽनवरतकर्मनिवहविषयमादा मुकवदित्येवं  
चिन्तनीयमिति चतुर्दशं स्थानम् । १४ । अत एव सावधो  
गृहवास इति; सावधः सपापः, प्रसातिपातशृषावादिप्रभृ-  
त्करेणचिन्तनीयमिति पञ्चदशं स्थानम् । १५ । एवमनन्वयः पर्याय  
इति; प्रपाय इत्यर्थः; आहिंसादिपालनात्मकाद्येताच्चिन्तनीयमिति  
षोडशं स्थानम् । १६ । तथा-बहुसाधारणं गृहस्थं कामजोगा इति;  
बहुसाधारणाभीरुजारणजकुहादिसामान्याः गृहस्थां गृहस्थान-  
म्, कामजोगाः पूर्वेर्वादिचिन्तनीयमिति सप्तदशं स्थानम्  
। १७ । तथा प्रत्येकं पुण्यपापमिति; मातापितृकलत्रादिभिसि-  
म्यनुष्ठितं पुण्यपापं प्रत्येकं पुण्यं २, येनानुष्ठितं तस्य कर्तुरेव  
तद्विदितं भावाधेयः; एवमष्टादशं स्थानम् । १८ । एतदन्तर्गतो बृका-  
भिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽप्येव ॥ अन्ये तु इत्यधिकेते-सोपक्ले-  
शो गृहवास इत्यादिषु पदसु स्थानेषु सप्तविंशत्यु स्थानत्रयं  
शुद्धम् । एवं च बहुसाधारणा गृहस्थां कामजोगा इति चतु-  
र्दशं स्थानम् । प्रत्येकं पुण्यपापमिति पञ्चदशं स्थानम् । शेषा-  
वर्तमानिभन्ते-तथागतं च अष्टविंशत्येव नियमनः । 'भो'  
इत्यामन्वये, मनुष्याणां पुंसां, जीविनमायुः एतदेव विशेष्यते-  
कुसाप्रसर्तान्कञ्जलं सोपक्लेशाद्गनेकादशविषयत्वाद्दृश्य-  
त्सात्कारम्, तदसं गृहाभ्येगेति संप्रत्युपेक्षितमिति षोडशं  
स्थानम् । तथा-बहु च बहु भोः पापं कर्म प्रकृतं; बहु ज्येष्ठं बह-  
व्याद विदधे, 'बहु' शब्दोऽवधारणे, बहुव, पापं कर्म चारि-  
भोहीयादि, प्रकृतं निर्वाह्यं, मयेति गम्यते । भ्रमणप्रयासात्पत्ये-  
वं कुरुचिप्रभृत्; नहि प्रतर्किल्लकर्मरहितानामिवमकुसला  
बुद्धिर्भवति, अतो न किंचिद् गृहाभ्येगेति संप्रत्युपेक्षितमिति  
सप्तदशं स्थानम् । तथा-पापानां केषादि; पापानां चापुण्यकपा-  
नां बहव्यात्पुण्यकपाणां च, बहु भोः हुतानां कर्मणासु; बहुश-  
ब्दः कारितानुसन्धिवाक्यार्थः; 'भो' 'मिति शिष्यात्मने, हुता-  
नां मनोवाङ्मययोगो रोचते निर्धोतितानां कर्मणां ज्ञानावरणीया-  
पसात्तेवदीयादानां, प्राक् पुत्रेभ्यः, अयजन्मसु बुद्धरितानां प्रमाद-  
कायजडभरितक्रतितानि दुश्चरितानि, कारणं कायोंपचारात् ।  
दुश्चरितेहेतूनि वा दुश्चरितानि, कार्ये कारणोपचारात् । एवं  
दुष्पराकान्तानां मित्याद्दशानावर्तजडुष्पराकान्तजनितानि  
दुष्पराकान्तानि, हेतो क्लोपचारात् । दुष्पराकान्तेहेतूनि वा  
दुष्पराकान्तानि, कसे हेतूपचारात् । इह च दुश्चरितानि-प्रघ-  
पानास्त्रीदानुतजापणादीनि, दुष्पराकान्तानि-बन्ध-घनादीनि ।  
तदमीषामिदंभूतानां कर्मणां बद्धयित्वाऽनुत्पन्नं, कर्ममिति बाध्य-  
शेषः । किं भोक्त्रो भवति, प्रधानपुरुषार्थो भवति?, नास्त्येवद्वि-  
त्या न प्रवत्यमनुभूय, अनेन सकर्मकमांशुष्यवच्छेदेमाह । इत्येत  
च स्व्यपकर्मोपेतानां केहिंस्वय सहकारिनिरोधस्तत्कला-  
दानवादिभिः, तत्सद्पि नास्त्येवद्वित्या भोक्त्रव्यापकपत्वात्कर्म-  
णः स्वकलादाने कर्मत्वायोगात्, तपसा वा क्रायवियः, अनश-

नमायविकल्पदिना वा विशिष्टकृत्यां पशुमिकानुभवावर्षेण त-  
पसा प्रशयं नीत्या, इह च वेदनमुद्यमप्राप्तस्य व्याधिचरिवाणारब्धो-  
पकमस्य क्रमशोऽन्यन्विक्रमधनपरिहृतेन, तपःकृपणं तु सत्य-  
शुक्रमेवाणुपूर्वोत्तरणोपकृपणवद्वयानिसिद्धं, अकर्मणाप-  
रिहृशमित्यतस्तपोनुष्ठानमेव भेष इति, न किंचिद् गृहाभ्येगेति  
संप्रत्युपेक्षितमभ्यमित्यादृशं पदं जवति-अष्टादशं स्थानं प्रकथितं ।  
जवति आन इत्येकः; अनेत्यष्टादशस्थानार्थंभ्यामिकर उक्तानु-  
कार्यसंभ्रहर्ष इत्यर्थः । स्त्रेक इति च जातिपरं निर्देशः । ततः  
स्त्रेकजतिस्त्रेकमिदा भवतीति प्रकृतस्त्रेकोपवासेऽपि न  
चिरोचः ।

जया य जय धर्मं, अश्रज्जो जोगकरणा ।  
से तस्य मुच्छिप धामि, अपादं नावबुज्जहं ॥ ? ॥  
यदा वैवम्यप्रादशुष्ठु व्यावसंनकारणेण सस्वर्वाप त्यजति  
अहाति, धर्मं चारिषन्नकृण्य, अनार्यं इत्यनार्यं इवानार्यं स्त्रेक-  
वेदितः। किमर्थमित्याह-भोगकारणात् शम्भ्यादिनांजनिमिकं सत्त्वं  
धर्मत्यागी, तत्र तेषु भोगेषु, मुच्छिपं गृह्ये, कालोऽहः, आर्यत-  
मागामिकालं, नावबुज्जहे न सत्र्यमवगच्छतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥  
एतदेव दर्शयति-

जया अटोतित्रो होहि, इंदो वा पदित्रो उमं ।  
सव्यधम्पपरिक्लृष्टो, स प्रच्छा परितप्ये ॥ २ ॥  
यदा वावधावितोऽप्यदृष्टो भवति संयमसुखचित्तुतः, उग्रमजिन  
इत्यर्थः । इन्द्रो वेति देवराज इव, पतितः हर्मागतः, स्वयिभ्य-  
शुशेन भूमिं पतित इति भाषः । इमा भूमिः । सव्यधम्परिच्छे-  
सर्वधर्मन्यः कान्त्यादिन्यः आसंविनेभ्यांश्रुपि कायत प्रतिहास-  
ननुपालनात्, शौकिकेक्योऽपि वा गौरवादिन्यः; परिच्छेदः संयतः  
चतुतः, स पतितो जुत्वा पश्चान्मना मोहावससने, परितप्यते, कि-  
मिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुत्पापं करोतीति सूत्रार्थः । इशो १  
वृष्टिः ॥ अग्रमगतो ३१ पुष्टुः ॥ होहावधः शब्दे विन्यस्ये ।  
समगेषु जगवया महार्वरिंशे समणार्णानिभ्योपाणं स-  
वस्तुव्य वियत्ताणं अष्टारसप्तदशा पण्णच्छं । तं जहा-“वय-  
द्वकं कायतकं, अकप्यो गिह्जिजापणं । षलिपंकासिन्नाया,  
सिपाणं सोमपउजणं” ॥ ? ॥ स ० १५ स ० ।

(मत्पदाकादीनि विस्तृतोऽन्यत्र स्वस्वस्थाने निवसितानि) एषु  
मत्पदकं, शोभावर्जने वेति विधिः, शेषं प्रतिषेधनीयम् । व्य-  
०-१० उ ० ।

अष्टारसहिं ठाणेहिं जो होति अपतिद्धितो नरमत्यो  
तारिसो होइ बवहारं बवहरितप । अष्टारसहिं ठाणेहिं जो  
होति पतिद्धितो अलमत्यो वारिसो होइ बवहारं बवहरितप ।  
“व्य० १० उ ० । ( इति व्यवहरितलक्षं “बवहार” शब्दे  
वचयेत् )

अष्टारसप्तदशा-अष्टादशपापस्थान ( क )-ग । पापहेतूनि  
स्थानकानि पापस्थानकानि, अष्टादश च तानि स्थानकानि ।  
प्राणातिपातादिषु अष्टादशसु पापोंपचानहेतुषु स्थानेषु, प्रव-  
० ।  
सर्वं पाणाद्वार्यं, अलिपयद्वं च भेदुणं सर्वं ।  
सर्वं परिगृहं तह, रार्दजजं च बोसिरिमो ॥ ? ॥  
सर्वं कोहं माणं, माणं लोचं च रागदोसे व ।

कलहं अन्तरवाणं पेशुं परपरीवायं । ३ ॥  
माया-मोसं मिच्छा-दंमणसंज्ञं तद्देव वीसिरिमी ।

अंतिमज्जनासामि य, देहं पि जिहासपचकलं ॥ ३ ॥

सर्वं सप्रयत्नं प्राणानिपातं, तथा-सर्वमस्त्रां मृत्वादां, तथा-  
सर्वमदृशमदृशदानं, तथा-सर्वं मैत्र्युं, तथा-सर्वं परिग्रहं,  
तथा-सर्वं पात्रमकं रजनिमोजनं, म्युत्पुत्र्यामः परिहरामः ।  
तथा-सर्वं श्लोथं, मानं, मायां, ज्ञानं च, रागपदौ च,  
तथा-कर्महं, अभ्याख्यानं, पैशुन्यं, परपरिवादं, मायां,  
मृत्वा, विषयादर्शनदायकं च, तथैव सप्रतिहं म्युत्पुत्र्यामः ।  
यत्तन्महादृशपापहेतुनि स्थानकानि पापस्थानकानि, न कंचन-  
मताम्येव किन्तु अन्तिमं उच्छ्रासे, परलोकगमनसमय इत्यर्थः,  
देहमात्रं निजशरीरमपि, म्युत्पुत्र्यामः, तत्रापि ममत्वमोक्त्वाद्-  
जिनादिप्रत्येकं शीघ्रकारिणामां समक्रीमिति । प्र० २३७० ।

अष्टारसर्वजसाउल-अष्टादशशयञ्जनाकुस-वि० । अष्टादश-  
मिमीकप्रतीत्यैवञ्जनेः शालनतकारिभिराकुलं सङ्गीयं यत्त-  
तथा । अथवा अष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलम, शाकपा-  
थिवादिदशोनाद्वैदशम्यलोपः । स्याद्यष्टादशशयञ्जनासङ्गीयै,  
चं० प्र० अष्टादश च भेदादमे-“सूत्रो १ दशो २ जषधं, ३ ति-  
थि य मंसार ६ गोरसो ७ जलो ८ अम्फा ९ गुल्लसारवणिया,  
१० मूलकला ११ हृत्त्रियं १२ ज्ञानो १३ ॥ १ ॥ होर रसात्  
१४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणुं चैव १७ । अष्टारसमो  
सागो १८, शिखरवहो लोहप्रो पिडो ” ॥ २ ॥ चं० प्र० २०  
पादु० । स्या० । म० ।

अष्टारसविधिन्परादेशीभासाविसारय-अष्टादशविधिप्रकार-  
देशीजापाविशारद-पुं० स्त्री० । अष्टादशविधिप्रकाराः, अष्टा-  
दशभिर्भा विधिभिर्भेदः प्रचारः प्रकृतिर्विस्थाः सा तथा, तस्यां  
देशीभाषणं देशभेदेन वर्णावलीकृत्वायां विशारदः पशिततो  
यः स तथा । अष्टादशधामिअदेशीभाषापशिते, “ अष्टार-  
सविधिन्परादेशीभासाविसारय गौरवर्गध्वण्यङ्कुसले  
ह्यजोही ” इति १ पुं० १ अ० ।

अष्टारससंज्ञमहस्रस-अष्टादशश्रीलाङ्गसहस्र-न० । शी-  
लभेदानामष्टादशसहस्रं, पञ्चा० ।

तानि चैवच-

नापिऊण वक्रवाणं, संज्ञां६ समासो बोचकं ।  
ममणाय सुविद्वियाणं, गुरुवर्षाणुसारण ॥ १ ॥  
नवा प्रणय, वदंमानं महावीरं, शीलाङ्गानि चारित्रांशक-  
पाणि, तत्कारणानि वा, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये मणिष्यामि ।  
केपां संक्षेपानि इत्याह-अभंगानां यतीनां, सुविद्वितानां सद्गु-  
ष्ठानामां, गुरुपदेशानुसारणं जिनादिवचनानुवृत्तिति गा-  
थार्थः ॥ १ ॥

शीलाङ्गानां तावत्परिमाणमाह-

संज्ञां६ सहस्रा, अष्टारस इत्यं ह्येति गियमेणं ।  
जावेणं ममणायं, अस्त्रं चारिणुत्ताणं ॥ २ ॥  
शीलाङ्गानां चारित्राणामां, सहस्राण्यष्टादश, अत्र-अभंगधर्मं,  
प्रवचनं वा, अचलितं स्युः । नियमेमाद्यह्यतया, न म्युत्पान्चधिकानि  
वेति भावः कथमित्याह-आवेन परिणामेन, बहिर्बुध्या तु कल्प-  
प्रतिषेधस्या-म्युत्पान्यपि स्युरिति भावः । केपामित्याह-अभंगाना-  
नां यतीनां न तु भावकाणां, सर्वविरतानां चैव तेषामुक्तसंख्या-

वतां सज्जनात् । अथवा भावेन अभंगानां न तु कल्पधर्मणामात्,  
तेषामपि किंविधानमित्याह-अस्त्रपदकारिभ्युक्तानां सकलचर-  
णांपेतानां, न तु व्यंगप्रतिषेधया कश्चित्करणाश्रयानाम् । नन्वाख्य-  
वरणा एव सर्वविरता प्रथमिनः, तन्वाङ्गानुसंज्ञयैविरतत्वमसा-  
त्, तथा ' पन्थिअह अहकर्म पंच ' इत्यागमप्रामाण्यात् सर्व-  
विरतः पञ्चार्थि मद्राजपानि प्रतिपद्यतेऽनिकामिति । अत्रो-  
च्येव, नैककादिकमिति कथं सर्वविरतदेशकालनमिति ? अत्रो-  
च्यते-सर्वमेतत्, किं तु प्रतिपश्येकं सर्वविरतत्वं, परिपाल-  
नापेक्षया स्वव्यथापि संशयजनकत्वाद्युक्त्यात् । अत एवाकम्-  
“सर्वे वि य अरयारा, संजलणानं उद्यमो ह्येति” इति । अ-  
तिशारा हि अरण्यदेशकनरकपा एवेति । तथैकजलातिकमं सवा-  
तिकम इति यदुक्तं, तदपि वैयक्तिकम् । शिवज्ञा ज्ञेयम्-“उपेयस्व  
जाव दानं, ताव अहकर्मह चैव एगं पि । एगं अहकर्मनां, अहक-  
र्म पंचमसुतेन” ॥ १ ॥ एवमेव हि दशविधप्रमाणवित्प्रमाणानां सकलं  
स्यात् । अथवा मूलाद्येव, तस्मादाद्यवहनयत्क्यातिशारसंज्ञः,  
निश्चयतस्तु सर्वविरतितया ज्ञान एवमेव प्रसंगमेति गाथार्थः । २ ।  
कथं पुनरेकविचरय शीलस्याङ्गानामष्टादशसहस्राणि

अचलीत्याह-

जोए करणे सप्पा-इंदियचूभाह्दि समणधम्मो य ।  
संज्ञिमपइस्साणं, अष्टातमगमं सिण्पत्ती ॥ ३ ॥

योगं व्यापारं विषयजंतं, करणे योगस्यैव साद्यकतमं, संज्ञासं-  
नि चत्वारिंशद्वानि इत्येकत्ववन्ति । तत्र संज्ञासु केनानाविशेष-  
दृष्टानु, इन्दिपंचकपु, चूम्यादितु पुत्र्यथादिजीविकायजीव-  
कायं च, अभंगधर्मं च क्लान्त्यादी, शीलाङ्गसहस्राणाम् प्रस्तुतानाव,  
अष्टादशपरिमाणमस्य चूंश्यंत्पष्टादशकं, तस्य, निश्चयः सि-  
द्धिर्भवेतीति गाथार्थः ॥ ३ ॥

योगादीनेषु

करणादि तिसि जोगा, षण्णमादि णि उ ह्वंति करणार्हं ।  
आहारादीं सप्पा, चउ सप्पा इंदिया पंच ॥ ४ ॥  
भोगादी एव जीवा, अजीवकाभो य समणधम्मो उ ।  
संतादि दसपगारो, एवं त्रिप जावणा एना ॥ ५ ॥

(करणार्हं चि) स्वव्यात्करणार्थः, करणकारणानुमतयस्यैवो  
योगो भवन्ति । तथा मन आर्दिनि तु मनोवाक्यकारकवर्णानि, पुन-  
रन्वलि स्युः, करणानि अर्थव्ये, तथा आहाराद्यः आहारम-  
यैषुनपरिग्रहविषयाः वेदनीयमयोहवेदमोहलोभक्रवाद्योद-  
यसंवाप्यवसाविशेषरुपाः संज्ञाः, (चउ) चतस्रः संज्ञा प्रथ-  
न्ति । तथा-भोगादीनि भो रचक्षुर्भाषणससंस्पर्शानानादिद्रव्याणि पञ्च  
अचलीति । तथा-भूत्याद्यः पृथिव्यमेजोवायुचन्द्रस्यतिसिचिचतु-  
पञ्चैन्द्रिया नव जीवा जीवकायाः, अजीवकायस्य अजीवकायिः  
पुनर्वशमो यः परिहर्त्येत्येकः स च मद्राजपानि सखपात्राणि  
विकटहिरण्यार्णानि च, तथा-पुस्तकानि मूलाद्यमप्युपजितानि  
प्रावार्हादिदुष्पुत्र्युपजितानि । कोट्यादिपुण्यजादिवर्मांसि  
व्यातमप्रसिदान्तीति । तथा-अभंगधर्मस्यु यतिधर्मः । पुनः क्लान्त्या-  
दिः क्लान्तमार्दावर्जवृत्तितपःसंयमसम्यग्यौषाधिकान्यव्यस्य-  
यैकपां द्वाप्रकारो दृशधिष इति । ( एवं ति ) एषुभुक्त्यात्मन,  
स्थिते औत्साराधयेण पट्टकादी व्यवस्थिते, द्विषितनुपुत्र्यदृश-  
संशयेनृषपद क्लान्तप्रमाणवा अङ्गकाकाराणां, एषा अनन्तरव-  
द्यमाणसकथेति गाथाइत्यर्थः ॥ ५ ॥

सामेवाह-

एष करति मणेण आहारा-रसमिष्यजगो उ शियमेण ।  
सोर्दियसंबुदो पु-दविकायारंज खंतिसुओ ॥ ६ ॥

न करोतीति करणसङ्कणः प्रथमयोग उपासः । मनसेति प्रथ-  
मकण्यम् । (आहाररसमिष्यजगो उ ति) आहारसंज्ञाविप्रदी-  
पः । अनेन च प्रथमसंज्ञा । तथा-नियमेनावर्धयन्वा भोत्रेन्द्रियसं-  
बुतो निरुद्धरागाग्निमत्तोभेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियसं-  
बन्धविधः सङ् किं करोतीत्याह-पृथिवीको, वारउन्नं पृथ्वीजीव-  
हिसाह, अनेन च प्रथमजीवत्वानुत् । कान्तिपुतः कान्तिसंपन्नः, अनेन प्रथमभयनधर्मभेद इति । तदेवमेकं शीलाङ्गमाविनाचित-  
मिति गाथायैः ॥ ६ ॥

अथ शेषानि तान्यतिदेशतो दर्शयन्वाह-

इय मद्वादिजोगा, पुढर्वाकाए जवन्ति दम नेया ।

आउठाकायादीसु वि, इय एतं पिरिचंयं तु सये ॥ ७ ॥

सोर्दिएषण एयं, मेसोहि वि जे इमं तत्रो पंचो ।

आहाररससजोगा, इय मेसाहिं सहस्रमुजं ॥ ८ ॥

एयं प्रयोग वरमा-दिएसु एयं ति उरमहस्माई ।

ण करइ मेसोहि पि य, एपु मन्वे वि अट्टारा ॥ ९ ॥

इत्यनेनैव च पूर्वोक्तमिलापेन, मद्वादिद्योगान् मद्वाद्यजिवा-  
दिपरसंयोगेन, पृथिवीकायै पृथिवीकायमाभिव्य, पृथिवीकाय-  
समारम्भमित्यभिलापेनेत्यर्थः । भवन्ति स्युः, इय भेदा दश शील-  
विकल्पानां, अङ्गायादिष्वपि मयसु स्थानेषु, अपिशब्दां दश-  
स्यस्यहसंकेप्यनार्थे इति । अनेन द्रव्येण एते सर्वेऽपि भेदाः ।  
(पिच्छयं तु सि) प्राकृतव्यापिपरिग्रहाः पुनः सन्तः, अथवा पि-  
चिदन्तं पिचिदमाभिव्य, शनं शतसंख्याः स्वरुतिनि, भोत्रेन्द्रियैश्चैत-  
च्छ्रुतं लक्ष्यम्, शेषेपरिच च कुरिन्द्रियार्थिनिः, यद्यस्माद्देशे शते प्र-  
त्येकं लभ्यते, ततो मीलितानि पञ्चशतानि स्युः । एतानि आहा-  
रसंज्ञायामाङ्गेष्वपि इति । एवं शेषानिरेतस्युः पञ्च पञ्चाङ्ग-  
तानि स्युः, एवं च सर्वमिलने सहस्रद्वयं स्यादिति । यन्तु सह-  
हस्रद्वितीयं मनसा लक्ष्यं ( यमहाएपसु सि ) वागाद्योविचन-  
काययाः प्रत्येकमेतत् सहस्रद्वयम्, इति एवं, यदसहस्राणि न क-  
रोतीति अत्र करण्येदं स्युः । शेषयोरपि च कारणानुसम्योरि-  
त्यर्थः । यद् यद् सहस्राणि स्युः । एते अनन्तरकाः, सर्वेऽपि  
शीलाङ्गाः पिचिदताः सन्तः, (अट्टार चि) प्राकृतव्यादृष्टादृशस-  
हस्राणि भवन्तीति गाथात्रयायैः ॥६॥ नन्वेकयोग एषादाशस्य-  
सहस्राणि स्युर्यदा तु आदिंसंयोगज्ज्या इह स्थित्यने तदा बहु-  
तराः स्युः । तथाहि-एकआदिंसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पानां,  
एवं करणेषु, संज्ञासु पञ्चदश, इन्द्रियैर्व्यवकृतिराद्, मीम्यादिषु त्र-  
योविंशत्याधिकं सहस्रम्, एवं क्षमादिष्वपि । इत्येवां च राशीनां  
परस्परभ्यासे द्वे कीटिसहस्रे, त्रीणि कीटीशतानि, चतुरशीति-  
कोटीनामेकपञ्चाशत्सहस्राणि, त्रिपष्टिसहस्राणि, अशे शते, पञ्चपष्टि-  
श्लोते [ २३८५१६३२६४ ] : ततः किमहादेशीय सहस्रायु-  
कानि ? उच्यते-यदि धावकधर्मवदन्त्यन्तरभङ्गकेन सर्वविरति-  
प्रतिपत्तिः स्यात्, तदा युज्येत, ननुन्नन्नैव तत्रैवमेकतरस्यापि शी-  
लाङ्गकस्यैव शेषसङ्गाय एव भावात् । अन्यथा सर्वविरतिरेव  
न स्यादित्येतदेवाह-

एत्य इमं विमेषं, अइदंपजं तु बुक्किमंतेहि ।

एकपि सुपरिमुच्छं, सीलंगं ससप्तभावे ॥१०॥

अत्र एषु शीलाङ्गेषु, इदं वक्ष्यमाणं, विशेषेण ज्ञातव्यम् । (अवर्धयंजं-  
ति) इदं परं प्रधानमंत्रेणोद्वर्णं, तद्वाच्यं देवैर्षु तत्त्वम् । तुस्यः पु-  
नःशब्दार्थः । तद्वाच्यता चैक्यम्-शीलाङ्गसहस्रायुष्टादृश भव-  
न्ति । देवैर्षु पुनरेवमेव ज्ञेयं, बुद्धिमज्जितुषैः किं तदित्याह-एक-  
मपि । अपिशब्दः बहुवच्यः, सुपरिमुच्छं च निरतिवारं, शीलाङ्गं च-  
रुशारां, शेषसङ्गाय तदव्यतीलाङ्गसत्त्वायामेव, तदेवं समुचितान्य-  
धेतानि जन्वन्तीति न आदिंसंयोगान्ङ्कोपात् । नमपि तु सर्वेषां-  
न्यमङ्गस्येयमष्टादशसहस्रांशोका । यथा विशिष्यं विधिधेनेत्येव  
नवांशतेति । इह च सुपरिमुच्छमिति विशेषाद्यावदारनयमने-  
नापरिमुच्छानि पाहनायामन्यतरस्यामाऽपि स्वरुतिर् इति । एवं हि  
संज्यत्वलोद्व्यवहृतितायो ज्ञेयविति ; चरुकेकदेशभङ्गेऽनु-  
त्वाद् तस्य । अत एव यो मन्यते ह्येवं भङ्गपत्तीति तम(दु)निना) मनसा  
न करोत्याहारसंज्ञाविहीनो रसमेन्द्रियसंबन्धतः पृथिवीकाय-  
समारम्भमुक्तिसंकेप इत्येतेकं तदङ्गम् । तदङ्गं च प्रतिकल्पणादि-  
प्रायाश्चित्तं शक्तिः स्यात्, अन्यथा मूर्धनैव स्यादिति गाथायैः ॥१०॥  
अनन्तरगाथायै समर्थयन्वाह-

एको वाऽऽपपसोऽसंखेयपपससंभां जह तु ।

एतं पि तदा शेषं, सतसचाभ्यं इहारा उ ॥ ११ ॥

एकोऽपि, प्रास्तामनेकः । आत्मप्रदेशो जीवार्थः । असंख्येयप्रदेशसं-  
गत एव संख्यातीतोऽसमन्वित एव भवति, तस्य तदाऽस्वप्नायवा-  
त् । यथा यद्वत्, तुवाद् एवकारार्थः । तस्यप्रयोगश्च इति । एत-  
दपि शीलाङ्गमपि, तथा सङ्घेपत्तीलाङ्गसमन्वितमेव, इयं ज्ञातव्य-  
म्, शेषानपेक्यं च तस्य को दोष इत्याह-स्वतस्य्यागः सर्वविर-  
तिलक्षणशीलाङ्गाः स्यात् । इतरथा तु पञ्चानां पञ्चमितीयैः ।  
समुदितान्येतानि सर्वविरतिशीलाङ्गानामावर्धने । इत्यांशो पुनः  
सर्वाविरतिशीलाङ्गानां त्यजन्तीनि जायन्तेति गाथायैः ॥११॥

इदमेव समर्थयन्वाह-

जम्हा समगंमेपं, पि सव्वसाजजजोगविरि उ ।

तत्तोलोससुर्वं, ण संद्रूपत्तणमुवेइ ॥ १२ ॥

यस्मात् कारणानासमं परिपूर्णमेव, सदा दृष्टाकमित्यर्थः । एत-  
दपि शीलं, न केवलमात्मा समग्रः सन्नामा स्यात् । सर्वसहस्रा-  
योगविरतिः, स्वस्वप्नायव्यापारनिवृत्तिश्च भवति, तस्यैव भावित्यर्थः ।  
तुवाद् एवकारार्थः । योजितञ्च-तथा च-तत्सम सर्वनिवृत्तिरूप-  
त्वेन हेतुना एकस्वकामष्टादशसहस्रांशमेव । अन्यथा सर्वविर-  
तित्वायागाद्, न कारुकरूपमेककोशोक्तकथयम्, उच्येतुपयाती-  
ति । प्रयोगोऽन-वद्यदृष्टया स्वतन्त्रं रूपं तत्तत्समुदितानां तस्य  
भवति । यथा-प्रदेशहीनं ज्ञानम्, यथा वा शतमेकादशानु, ह्य-  
त च सर्वस्वापेक्षया सर्वविरतिः स्वतन्त्रम्, अत एवादृशी-  
लाङ्गविक्रोऽपेक्षे न प्रवर्तीति गाथायैः ॥ १२ ॥

उक्तार्थ एव विशेषमिधानायाह-

एयं च एत्य एव, विरतीज्ञावै पशुष दृष्टव्यं ।

न त् वजं पि पतिचिं, जं सा जावं विणावि भवे ॥ १३ ॥

एतच्च च तत् पुनः शीलम्, अत्र शीलाङ्गकमेव, एवमस-  
दृशकं, विरतिज्ञां साधयामविरमणपरिणामं, प्रतीत्याधि-  
त्य, दृष्टव्यं भवम् । न तु न पुनः, बाह्यमपि कायबाह्यसंनिधानी-  
मपि, अपिशब्दः समुच्छेपः प्रकृति चेट्टाम् ; कुन एतदेव-  
मित्याह-यद् यस्मात्, सा बाह्या प्रतिपत्तिः, भावसंभवस्यार्थः, वि-  
नाऽपि अन्तरेणां । अपिशब्दाऽत्रयम सहापि, अन्तः स्यादिति  
गाथायैः ॥१३॥ पंचा-१४ विष० आवा० ४० प० ४० द० ।

अट्टारसेत्तिणि-अष्टादशश्रेणि-स्त्री०। कुम्भकारादिषु अष्टादश-  
 श्चु राक्षः प्रजासु, जं० अष्टादशश्रेण्यश्वयोः-“कुन्ना११पट्टहादा,  
 सुचषकाया य ३ सुचकाया य ४। गंधस्वा ५ कासयगा ६, मा-  
 लाकारा य ७ कञ्जकरा ८ ॥१॥ तंबोलीश्रा ९ ए यए, नवप्य-  
 यारा य शास्त्रा मथिष्ठा। अष्ट यं गवप्ययाने, केशवयं  
 पवकवाभि ॥ २ ॥ चम्मपर १ अंतपीलय २, गंधिष्ठा ३ क्षिप-  
 य ४ कंसकारा य ५। सीवग ६ युआर ७ भिष्ठा ८, पीवण ९  
 वधार् अट्टवस ॥३॥ चित्रकाराद्वयस्तु एतेष्वेवान्तर्भवन्ति ।  
 “तए ण ताभ्यो अट्टारसेत्तिण्यप्येत्थीभ्यो भरहेणं रक्षा एषं उ-  
 क्ता समाणीभ्यो हट्टाभ्यो” जं० ३ वक्ष्ण० ।

अट्टारसय-अष्टादशक-त्रि०। अष्टादशवर्षप्रमाणे, “ते बरिस्ता  
 होर एवा, अट्टारसिया उ हरिया होर” अष्टादशिका अष्टा-  
 दशवर्षप्रमाणा । वय० ४ ४० ।

अट्टालांजि ( ण् )-अष्टालोभिन-त्रि०। अर्थोऽत्र कुत्यादि-  
 स्त्रत्र या समन्ताङ्गोः अष्टेलाभः स विद्यते यस्येति समन्त-  
 तो धननुष्ये, “अहोयराभ्यो परियप्यमांश्च कालाकालममुद्गा-  
 ई संजागृही अट्टालांभी” आवा० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अट्टावय-अट्ट ( ट्टा ) पञ्चाशत्-स्त्री०। अष्टाधिका पञ्चाशत्  
 अष्टपञ्चाशत्; अष्ट च पञ्चाशत्च अष्टपञ्चाशदिति वा । ‘अ  
 ट्टावय’ इति प्रसिद्धायां संख्यायां, तत्संख्येयं च । “पदमदे-  
 च्चपंचमासु तिसु पुढवीसु अट्टावयं गिरयावाससयसहस्त्रसा”  
 स० ५८ तम० ।

अट्टावय-अर्थपद-त०। अर्थेत इत्यर्थं धनधान्यहिरण्यादि-  
 कः। पदान् गम्यते येनार्थस्तनपदां शास्त्रम्, अर्थार्थं पदमर्थपद-  
 म् । चाणक्यादिकेऽर्थशास्त्रे, सूत्र० १ सु० ९ अ० ।

अट्टापद-त०। घृत्तकीडाविशेषे, सूत्र० १ सु० ९ अ० । घृत्तफत्र-  
 के, जं २ वक्ष्ण०। प्रश्न०। इत्यमन्ति कलासु केषं त्रयोदशो कला ।  
 शा० १ सु० १, अ०। स०। घृत्तफाम्ने, जं० २ वक्ष्ण० । नि०  
 न्यू०। “अट्टावयं ण सिक्किष्ठा” सूत्र० १ सु० ९ अ०। अष्टाधा-अष्टो  
 अष्टौ पदानि पञ्चाशदस्य । वृत्तौ संवाराशदस्य वीप्साधेयाङ्गी-  
 कारः, आत्यम, अर्कवादिः । शारीफलकैः अष्टसु धातुषु पदं  
 प्रतिष्ठा यस्त्य, स्वर्णैः उपचारात् स्वर्णमयंऽपि, शरभे, नूनायां च ।

( पुं० ) तथोरष्टपदत्वात् । अष्टे यथा स्यात्तथा पद्यते, ह्यमैः  
 अष्टसु दिक्षु आपद्यते, कीर्त्तकैः अष्टानिः सिद्धिनिरापद्यते । (आ-  
 पद-अप ३ त०) अणिमाद्यर्थास्तुच्युक्त्ये, केशसे च । पुं० ।  
 शाब० । स्थानामस्थाने पर्वतविशेषं, यत्र अष्टपर्वतैः सिद्धः ।  
 पञ्चा० १५ खिब० । आ० म० प्र० । कटप० । “अट्टावयमि  
 म्नेले, अट्टसमभलेण सो महर्षिसीणं । इवाहि सहस्रहि समे,  
 गिष्वाणमसुररं पत्तो” ॥ १ ॥ आ० क० । जं० । संधा० । नं० ।

( गौतमस्थाष्टापदग्रामने तत्र नाप्यप्रजाजन्म अजवहर’ शब्देऽ  
 त्रैय भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ) आ० क० । भ० । आ० म०  
 खि० । एतस्मादेव चात्ये तौथ्येयम् । तस्मादात्म्यं यथा—  
 यत्तमकं। निश्चयतो, विद्यानव्याधिनः पवित्रयुतः ।  
 देवेन्द्रवन्दितो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २ ॥  
 श्रुपभसुता नवनवनि-बाहुव्यतिप्रभूतयः प्रवरपतयः ।  
 यस्मिन्नभज्जन्मनं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २ ॥  
 अस्मिन्नभिवृत्तिसां, विद्योगमिभूत इव प्रजेः समकम् ।  
 यत्रविदशसहस्राः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ३ ॥  
 यथाश्च पुत्रपुत्राः, सुगपदं वृषभेण नवनवतिपुत्राः ।

समर्थकेन शिवसमुः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ४ ॥  
 एतत्रयमिव मूर्च्छं, स्तुपत्रिनयं चित्त्रयस्थानं !  
 यथास्थापयद्विन्द्रः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ५ ॥  
 सिद्धायनप्रतिमं, सिद्धनिषद्येति यत्र सुचतुर्त्वा ।  
 भरतोऽरवत्यष्टे, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ६ ॥  
 यत्र विराजति वैद्यं, योजनदीपे तद्वत्पुष्पमानम् ।  
 कोशत्रयोभूम्बैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ७ ॥  
 यत्र ज्ञातुप्रतिमाः, व्यधाच्छतुर्वैशतिर्जिनप्रतिमाः ।  
 नरतः स्यात्प्रतिमाः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ८ ॥  
 स्वस्थाकृतिमितिवर्णाङ्क-परिष्ठाण, वर्तमानजिनश्चिन्मात्र ।  
 भरतोः पणितयामिह, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ९ ॥  
 सप्रतिमा नवनवनि, बाष्पुस्त्र्यास्तथाऽहं तस्वपुः ।  
 यत्राचयवचक्रं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १० ॥

( ‘उत्सर्ग’ शब्दे हि० भा० ११५१ पृष्ठे वक्ष्यताऽस्य वक्ष्यते )  
 नरतेन मोहसिंहं, हन्तुमिच्छाम्यपदः कृत्वाऽपदः ।  
 शृणु मेऽप्ययंजगो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ११ ॥  
 यस्मिन्ननेककाष्ठ्यो, महर्षयोः प्रतनचक्रवर्थाद्याः ।  
 सिद्धि साधितवन्तः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १२ ॥

( ‘नरद’ शब्देऽस्य जेतव्यता चक्ष्यते )  
 सगरपुत्रोऽपि सर्वो-धंशिवगनीन्द्र भरतराजवंशर्षीज् ।  
 यत्र सुसुन्दरकथयत, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १३ ॥  
 परिस्वासागरमकर-न्त सागरः सागराऽऽशया यत्र ।  
 परितो रक्षितकृत्ये, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १४ ॥  
 ज्ञातयितुमिव स्वमेतः, जैतो यो गङ्गया श्रितः परितः ।  
 संततमुद्गुलकंरः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १५ ॥

( ‘गंगा’ शब्दे कथाऽस्य चक्ष्यते )  
 यत्र जिततिसकदाता-हमयन्याऽऽपि कृतातुरुपफलम् ।  
 जालस्त्रावतिलकं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १६ ॥  
 ( ‘दमयतो’ शब्दे कथेया निरूपयिष्यते )  
 यमकूपारे कोपत्, क्षिप्रकल्पं बाहिनाऽकृत्रिणाऽकृत्र्य ।  
 आरावि रावणोऽहं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १७ ॥  
 भुजतन्या जिनमहदृक्-लङ्कणोऽथाप यत्र धरणेऽम्बात ।  
 विजयामोर्षो शक्तिः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १८ ॥

( ‘रावण’ शब्दे कथेयं प्रकथयिष्यते )  
 अतुरभ्रतुतोऽप्यादा, द्वौ प्राच्यद्विदिक्षु जिनश्चिन्मात्र ।  
 यत्रावन्दुत गणभूत, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १९ ॥  
 अन्वलेऽश्रोदयमचलं, स्वशाक्तिवन्दितजिनो जिनो ज्ञाने ।  
 वीरोऽवणेयदिति यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २० ॥  
 प्रभुभानिपुत्रुदरीका-ध्वयनाध्ययनात् सुरोऽत्र दशमोऽच्युत् ।  
 दशपुर्वेषुगुदरीकः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २१ ॥  
 यत्र स्तुनाजननायो-ऽदीक्षत तापसज्ञाननि पंचदश ।  
 श्रीगौतमगनाथायः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २२ ॥

( ‘अजवहर’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६ पृष्ठे कथेयं निरूपितम् )  
 इत्यष्टापदपर्वत इव योऽप्यापदमपि चिरस्थायी ।  
 ध्यावर्णि महातीर्थः, स जयत्यष्टापदगिरीशः २३। ती० १८ कटप० ।  
 भरतत्रकवर्णि कारितवैश्यानामिदानीं सत्ये प्रश्नोक्तर-  
 नन्वष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्त्तिकारिताः सिद्धनिषद्याप्रमुखासा-  
 दास्तत्रतन्निष्ठा नि चाद्ययात्कथं स्थितानि सन्ति, तथा योऽभ्युज-  
 यपर्वतेऽपि नरतकारितानि तावप्ये प्रासादविश्वानि कथं न स्थिता-



नि । यतस्तत्रासंख्याता उदाहरा ज्ञाताः भवन्ते, नैनाप्यपदे कस्य-  
 सान्निध्यं, शत्रुञ्चैव च कस्य न ? , यदेतान्वाद् जेद् इति व्यक्यया  
 प्रसास्यमिति । उच्यते-अप्यपदपर्यन्तं भरतकवर्तिकारितमासा-  
 दादीनां स्थानस्य विरपायन्वाद्, देवादिस्त्रिभिश्चात् च "कथस्यं  
 पुण कासं प्रायथणं अर्थासङ्गिस्तदः । ततो तेण अमेवण  
 भण्णि-अव इमाओ ओसण्णिणि सि मे केवडिजिजाण भंतिर  
 सुयं" इत्यादि बहुवचनैश्चत्प्रभृत्प्रवाचकाद्यवाच्यत्वस्थानं  
 युक्तिमेव । शत्रुञ्चयं तु स्थानस्य सापायत्वात्, तथाविधदे-  
 वादिसाभिध्याभावाच्च, भरतकारितप्रसादादीनामधयाव-  
 द्बस्थानाभाव इति संभाव्यते । तस्यं तु तत्त्वविशेषमिति ।  
 ही० ४ प्रका० । किञ्च-अष्टपदपर्यन्ते प्रतिमाप्रतिष्ठा केन कृता ?,  
 कुत्र वा सा कथिताऽस्तीति ?, विष्णुश्रुतिगणितप्रश्नः । तदुत्तरप्र-  
 श्न अष्टपदपर्यन्ते प्रतिमाप्रतिष्ठा भीष्मपदेवशिष्येण कृतेति  
 भीष्मपुत्र्यमाहात्म्यमेव कथितमस्तीति । ( ही० ) अष्टपद-  
 विरौ सक्तीयस्यैवा ये जिनेप्रतिमां वन्दन्ते ते तद्भवसिद्धिगामि-  
 न् इत्युत्तराणि सन्ति, तथा च सन्नि वे विद्याधरपरमिनस्त-  
 धा राक्षसान्तरवारणमेदिमिन्ना अनेके ये तपस्विनस्तत्र गन्तुं  
 शक्नास्तेषां सर्वेषामपि तद्भवसिद्धिगामित्वमापद्यते, ततः सा  
 काश्चित्, यथा तत्र गम्यन्ते, तथा गौतमादिष्वकद्भवसिद्धिगामि-  
 नो भवन्तीति । तथाऽष्टपदविरौ ये तपःसंयमोत्सल्यव्या-  
 यान् कुर्यन्ति ते तद्भवसिद्धिगामिन इति संभाव्यते, व्यक्ता-  
 क्षरानुपलम्भान् । ही० १ प्रका० ।

अष्टपदवाङ् ( ष ) -अष्टपदवादिन्-पुं० । इन्द्रभूतिना सह  
 वीरजिनसमीपं समागते विप्रभेदे, कल्प० ।

अष्टाभि-अष्टाभिर्वाति-स्त्री० । अष्टाष्टिका विंशतिः । अष्ट  
 च विंशतिश्चाऽष्टाविंशतिः । 'अष्टावांस' अष्टाष्टिकाविंशति-  
 संख्यायाव, "तिथि य काले अष्टावांसं षण्णु सयं" ज० । वज्र० ।  
 अष्टाट्ट-अष्टाट्ट-न० । अष्टानामहानां समाहारे, हा० १ श्रु० ४० ।  
 अष्टाट्टिवा-अष्टाट्टिका-स्त्री० । अष्टानामहानां समाहारोऽष्टाट्टि-  
 व इति यस्यां महिमायां साष्टाष्टिका । महिमामात्रं, व्युत्पत्तेः  
 प्रदर्शनमात्रफलत्वेन महिमामात्रस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।  
 हा० १ श्रु० ४० । अष्टदक्षिणार्थं च । 'अष्टादिषा य महिमा,  
 सप्तं अणुधरादिमा केर' पञ्च० ८ विष० । प्रा० म० प्र० ।  
 (अष्टादिकाया रथवागायाः स्वल्पम 'अणुजाण' शब्दे वचयते)

अष्टि-अस्थि-न० । अस्थयते । अस्-विध्नु । "ठोऽस्थिविस्त्रं-  
 ले" । ० । ३२॥ इति संयुक्तस्य थः । प्रा० । कीकश,  
 प्रश्न० प्राय० प्रा० । श्री० कुलके, प्राचा० २ भु० ४० उ० ।  
 कुल्ये पञ्चमे धातो, न० । स्थाने । सास्थिके सरजस्के कापा-  
 लिके, 'अठी विजा कुञ्जनाथिकम्' वृ० १ उ० ।

अष्टि ( ष ) -अस्थिन्-वि० । अथोऽप्याऽस्तीत्यर्थी । प्रयोजन-  
 वति, प्राचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अष्टिप्राम-अस्थिकप्राम-पुं० । सनामक्याते प्रामभेदे, तत्र  
 वीरजिनः समवासरत् । तदेतत्सर्वमुक्तम्—

'अस्थिकप्राम' इत्याक्या, कथं जागति कथ्यते ।  
 प्रामोऽयं वधेमानोऽप्ये, वेगवत्यस्य नद्यभूत् ॥ १२ ॥  
 मयवादिपरमपूरुषांना-मनसां पञ्चभिः शतैः ।  
 चन्देवो वणिक् तत्रा-यातः प्रेष्य महावादीम् ॥ १३ ॥  
 महोत्समेकं सर्वेषु, शकटेषु नियोग्य सः ।  
 बापनो दक्षिणान्ध्यां-स्तौ नद्यनुदत्तरयत् ॥ १४ ॥

अतिभारकपर्षणेन, सोऽथान्तरमुद्रितो वृषः ।  
 तस्य कृत्वा विद्यायाव, प्रायानाकार्यं तत्पुः ॥ १५ ॥  
 वारिधारिकृते तथा, तेषां द्रवियमापयत् ।  
 पाल्योऽयमिति चोक्त्या ताव, साभुक्क स वणिक् ययी ॥ १६ ॥  
 प्राय्या विप्रथय तद् उच्यते, सर्वे जगदिरे स्वयम् ।  
 तस्यासौ निर्दयो प्राम-आरि वारि न कोऽप्यद्वारत् ॥ १७ ॥  
 आस्तां किञ्चित्परिप्यति, द्यया मे प्रसिकियम् ।  
 मत्स्वामिदत्तद्रव्येणा-प्येते किञ्चित् कुर्वते ॥ १८ ॥  
 ततः प्रेष्यमापण-सद्प्रामोपरि सावरः ।  
 सोऽकामनिर्जरायोगात्, सुनृपावाधितो मृतः ॥ १९ ॥  
 यषोऽभूत् शूलपाठयाक्यां, प्रामोऽथैव पुरो वने ।  
 उपयुक्तोऽथ सोऽवासीत्, तद्गुणः स्वं ददौ च ॥ २० ॥  
 मारि तद्भामलोक्तस्य, स विभक्तं ततः कृषाः ।  
 तद्गोकां मनुमारजे-ऽभूत्सस्मैरस्थिसंघयाः ॥ २१ ॥  
 कारितैरपि रक्षाधै-भोरिणोपशशाम सा ।  
 प्रामान्तरप्युल्लोकाः, स तांस्तत्राप्यमारयत् ॥ २२ ॥  
 भवित्तयंस्ते तत्रस्थैः, कोऽप्यस्माजिर्वाधितः ।  
 यामस्तथैव तद्प्रामे, तत्रसाद्वन्देतेव ॥ २३ ॥  
 अघागतास्तद्वेते, प्रचक्रुर्विपुलां बह्विम् ।  
 सप्रमत्तः क्षिप्तोऽपि, प्रामस्यान्वयुक्तमुखाः ॥ २४ ॥  
 देषो वा दानवो वाऽपि, यः कश्चिन्मनोऽस्ति नः ।  
 शरणं नः स एवास्तु, ज्ञाप्यत्वामाः प्रसीदतु ॥ २५ ॥  
 यज्ञोऽन्तरिके सोऽवादीव, ज्ञानार्थो कृत्वायुना ।  
 वणिग्दृक्पथेनेनापि, तदा मोनें तुभाषतु ॥ २६ ॥  
 बली० सन्वाऽदं, शूलपाणिः सुरोऽभयम् ।  
 नेन वैरेण वः सर्वान्, मारयामि ततोऽयुना ॥ २७ ॥  
 तेऽथ तं भक्तिनप्राज्ञाः, देव्यात् कस्यैवपदः ।  
 कृतेऽस्माभिररं मनुः, शान्त्यै च प्राममदिशु ॥ २८ ॥  
 तद्वदेन्यात् सोऽपि शान्तस्ता-न्वे च मन्मरिताश्चिभिः ।  
 कृत्वा कृतं तद्गुपरि, कृत्वायतनं मम ॥ २९ ॥  
 मध्ये विद्याव मे मूर्ध्नि, बहोवदेस्य शैकतः ।  
 पूजयेयुर्ममस्येयु-स्ततो मारिः शमिष्यति ॥ ३० ॥  
 तथैव विद्वचुते च, मारिश्चापि न्यवर्षतः ।  
 इन्द्रमार्भो भूतिं दत्त्वा, प्राम्यैस्तस्यार्थकः हतः ॥ ३१ ॥  
 वीह्यादिचकृतं पथिके-रस्थिप्राम इतीरितः ।  
 'अस्थिकप्राम' इत्याक्या प्रामस्तस्य तदाधभूत् ॥ ३२ ॥  
 प्रा० क० । कल्प० । प्रा० कृ० । प्रा० म० । ह्रि० । सा० ।  
 अष्टिकपञ्चन-अस्थिकपञ्च-पुं० । अस्थिबहुले कल्पपरभेदे,  
 प्रका० । पद ।  
 अष्टिकदिप-अस्थिकदिप-वि० । अस्थिभिः कठिनम् । कीक-  
 शैरमृद्भुजि, न० ।  
 कठिनास्थिक-वि० । कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथा ।  
 अमृद्कीकशके, "अष्टिककठिणे सिररहाक्येण" तं० ।  
 अष्टिग-अस्थिक-न० । इतुके, प्रश्न० ३ प्रा० ४० । कापालिके,  
 पुं० । थ्य० २ उ० । अथकवीर्ये अतिपत्ते कले, न० । वृ० १ उ० ।  
 प्रा ( अ ) थिक-न० । अस्थेत् इत्यथो मोक्षः, स प्रयोजनम-  
 स्वेत्याधिकम् "तद्व्यय प्रयोजनम्" इति उक्तं । अथवाऽर्थैः स  
 पथ प्रयोजनरूपोऽप्यास्तीति अर्थिकम् "अत इतिनौ" ५।३।  
 ११। । इति उक्तं । उच्य० १ अ० । मोक्षोपायकं, "पलवा हा-

प्रवर्त्सन्ति, विवर्त्सन् अद्विष्टं सुयं " उच० १ अ० । प्रमिज्ञाविधि,  
सुय० १ ब० ३ अ० ३ उ० ।

अद्विष्टान् ( ष ) कृच्छ्रद्विष्ट-अद्विष्टकक्षाश्लिष्ट-वि० । अद्विष्ट-  
काम्येव कक्षाणि, कान्तिव्यसाधर्म्यान्, तेषु यदुत्पिन्नं तत्तथा ।  
कर्मिकीकरोम्यः समुचिते देहे, ज० ६ श० ३३ उ० ।

अद्विष्टम्यसिरसा-अद्विष्टम्यशिरसा-श्री० । अस्थीनि च  
चर्म च शिरसाश्च स्नाययो विष्णुले यस्य स तथा, तद्भाषस्तत्त ।  
अद्विष्टम्यसिरसामाश्रयान्ति, ( धनान्गारस्य ) 'अद्विष्टम्य-  
सिरसाप पक्ष्यायति षो चेष भं संस्रोणियसाप चणं अग्रमारं'  
अद्विष्टम्यशिरावसया प्रजायेते तद्भ्रूयादावेताविति, न पुनर्मा-  
ससोपिगतवसया, तयोः कृणन्वादिति । अग्र० २ वर्ग० ।

अद्विष्टम्यावषण्ड-अद्विष्टम्यावनिष्क-त्रि० । अस्थीनि चमोच-  
नकानि यस्य सोऽद्विष्टम्यावनिष्कः । हृग्वाचम्येत्यनकीकरोके,  
" अद्विष्टम्यावषण्डे किमिदिकृद्भ्रूय किसे घम्मणिसंत्तप यावि  
होष्या " ज० २ श० १ उ० ।

अद्विष्टयुक्त-अद्विष्टयुक्त-न० । योश्चप्रतियोधयोश्चरिधायिः संम-  
हार, ज्ञा० १ अ० १ अ० ।

अद्विष्टजाप-अद्विष्टजाप-न० । अद्विष्ट च त्वं ध्यायं चाभिमना  
श्यामर्त्तकृतम् । आपादितवप्यायान्तरेऽस्थिति, म० ५ श० २ उ० ।

अद्विष्टाममय-अद्विष्टाममय-न० । हृग्वासाश्रयते, तं० ।

अद्विष्टमणिसंतामसंतय-अद्विष्टमणिसंतामसंतय-त्रि० । अ-  
द्विष्टमणयः सन्तानेन परम्परया सन्तं ध्यायं यत्तद्विष्टमम-  
निसन्तयम् । अद्विष्टमणिसंतामसंतयः ध्यायते, "अद्विष्टमणिसंताम-  
संतयः सत्यमो संमता परिसंमंतं च " तं० ।

अद्विष्टजन्म-अद्विष्टजन्म-न० । कीकजाजन्मकपे शरीरद्वये,  
प्रअ० १ अ० ४० हा० ।

अद्विष्टिना-अद्विष्टिना-श्री० । अस्मिन्धरस्य, स्या० ३ ज०  
५ उ० । तं० ।

अद्विष्टिनाशुभारि ( ष ) -अद्विष्टिनाशुभारि-त्रि० । अस्मि-  
न्मिज्ञान्तघातुंश्यापके, स्या० ६ ज० ।

अद्विष्टिनापेमागुगगरत्त-अद्विष्टिनापेमानुगगरत्त-त्रि० ।  
अस्थीनि च कौकशाति मिज्ञा च तमम्यवर्त्तधातुरद्विष्टमिज्ञा-  
स्ताः प्रेमानुगणेन सार्वभ्रमवचनप्रतिकल्पमुद्रजाद्विरागेन रक्षा  
द्वे रक्षा यथां ने तथा । अथवाशर्मिमिज्ञासु जितशस्यनगतमेमानु-  
रागेण रक्षा येने तथा । अ० २ श० ५ उ० । अस्यकल्पयासितान्तक्षे-  
तःसु, सु० २ अ० ७ अ० । "स्यमानुसो निःशेषं पातयणे अद्वि-  
ष्टय परमंते सेसे अण्ठे" इत्येवमुल्लेखेन सम्यक्त्वियु, ज्ञा० ५  
अ० । दशा० । दशै० । रा० ।

अद्विष्ट-अद्विष्ट-त्रि० । वाऽद्विष्टे, उच० १ अ० ।  
अद्विष्ट-त्रि० । अव्यवस्थिते, प्रअ० ३ अ० ४० हा० ।

अद्विष्टकल्प-अद्विष्टकल्प-पुं० । क० स० । अनवस्थितसमा-  
चार, पञ्च० ।

अद्विष्टकल्पानिधानायाह-

उसु अद्विष्टो ल कपो, एतो मज्जिमज्जिणाय विण्णेओ ।  
एो सययमेवणिज्जो, अण्णिवचमेवासरुवो चि ॥ ७ ॥  
वदसु दर्शविचयमाणकपेयु पदेयु, अस्थितस्तु अनवस्थितः पुनः  
कल्पः समाचारः, ( एतो ति ) एतेभ्य एव दशः एवः पदेभ्यो, मन्था-

मां मध्यमजिनामां, तस्मात्पुनामित्यर्थः; विक्रयो ज्ञातव्यः । कुतो-  
ऽस्थितोऽयमित्याह—नो नैव, सततसंवेनीयः सदाविधेयो,  
दशःस्थानकपेयुः । एतद्विष्टं कुत इत्याह—अनित्यमयोवा-  
सकपोऽनित्यव्यवस्थास्वजाय इति कृत्वा । ते हि दशानां स्था-  
नानां मन्थाव कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति  
भाव इति गाथायः ॥ ७ ॥

वदस्त्ववस्थितः कल्प इत्युक्तमयं तानि दर्शयन्नाह—  
आचेल व हुदेसिय-परिक्रमणरायपिदमासेतु ।

पञ्जुनगाकृष्णमि य, अद्विष्टकपो ध्रुणेयवो ॥ ८ ॥

आचेलकपोऽपि कप्रतिक्रमणराजपिदमासेतु प्रतीतेषु विप-  
यतुनेषु, पश्यत्याकल्पे च वर्षाकालसमाचार, चः समुच्चय ।  
अद्विष्टकल्पोऽनित्यतायां ( सुयेयथो ति ) ज्ञातव्य इति  
गाथायः ॥ ८ ॥

एवामपि शेषवदपेयुः कया स्थितकल्प एवेति दर्शयन्नाह—  
सेसेतु द्विष्टकपो, मज्जिमगाणं पि होइ विण्णेओ ।

च उतु त्रिता उतु अत्रिता, एतो चिच व भणियपयेतु ॥ ९ ॥

शेषेषु तु प्रागुक्तैः च वदस्त्वोऽन्वेषु पुनः शब्दातरपिण्डाविषु,  
स्मितकल्प इत्यायः, मध्यमकालामपि श्राविशतिजिनसाधुनामपि  
न केवलमाद्यचरमाणो, भवति स्याद्, विक्रयो ज्ञातव्यः । उक्तमेवा-  
थेमानेन समर्थयन्नाह—चतुषु स्थानकेषु शब्दातरपिण्डासु, स्मि-  
ताः परिहारादितोऽवस्थितानां, वदसु आचेलकपाविषु अद्विष्टता  
अनवस्थितताः कादाचित्कारिहारादितो मध्यमजिनसाध्यः,  
अत एव पूर्वोक्तायेषु शब्दैः, जगिणुसुजमागे, एतत् इदम्,  
अनन्तरयेकम् । तुशयः पूरणे, इति गाथायः ॥ ९ ॥

शेषेषु स्थितः कल्प इत्युक्तमथैतेदेव स्पष्टयन्नाह—  
सिञ्जापरपिदंमि य, चाउज्जामि य पुरिसज्जेतुं य ।

किन्तिकम्पस य करणे, त्रियकपो मज्जिमगाणं पि ॥ १० ॥

शब्दातरपिण्डे च प्रसिद्धे, तथा अनुर्त्तौ परिग्रहविरत्यन्तर्-  
तत्राक्षर्येत्वेन चतुःसंख्यानां यामानां व्रतानां समाहारश्चतुर्थीयम्,  
तत्र च; पुरुष एव अंगः पुरुषअंगस्य च, कृतिकर्मणश्च वन्द-  
कस्य; अथवाः समुच्चयायाः । करणे विधाने, स्थितकल्पः प्रतीतः,  
मध्यमानामपि श्राविशतिजिनसाधुनामपि न केवलमाद्यचरमा-  
णामिति गाथायः ॥ १० ॥ संखारोऽविषयो । पं० आ० । पं० चू० ।  
( 'अचेल' शब्देऽस्मिन्नैव भागे १०८ पृष्ठे अद्विष्टकल्प-  
व्यकचित्तरः )

अद्विष्टा वोच्यन्ति अद्विष्टं कपे ।  
संवेदपिदित्यर्थं, जह जणियमणंतयाणीहिं ॥

वत्ये पाए गदुणे, उक्कोसजहसगमि अत्रिओ तु ।  
त्रियमद्विष्टे विमेषो, परुविता सच कपाम्मि ॥

कयाणिय य पाताणिय य, मज्जिममित्थंकराण कपाम्मि ।  
वदस्यमाण वेणे, अद्विष्टकपो समपरताओ ॥

मोक्षमक्यं पि वत्ये, अचारमपन्नं रुजगजेहसं ।  
एतो य मतमइसं, उक्कोसमोअं तु णायव्वं ॥

जहणग अट्टारसगं, वत्यं पुण साहुणो अण्णणणांतं ।  
एतो अतिरिचं कपं, णाणुमातं भवे वत्थं ॥

जिणवेराणं पूर्णं, अहुया वोच्यन्ति आणुपुर्णीए ।

षं जन्थ जडा णिवयति, समासतो तं जहा मुणसु ॥  
 जिणयेराणं कप्यं, जम्हा उड्डितमि अट्टिए चव ॥  
 तित्तअड्डितकप्पाणं, तम्हा अंतगता एते ॥  
 जं तु विसेमो एत्थं, तं तु समासेण णवरि वक्खामि ॥  
 जिणयेराणं कप्ये, जिणकप्ये ता इयं वोचं ॥  
 दुयसत्तणे तियचउ-ककेगस्स अरूच्छएगउदेणं ।  
 अब्बि होज्ज क्कालकरणं, पुणारावत्तं ण वि य तस्सि ॥  
 पिंममणा उ सत्त उ, हवति पाणेमणा उ सत्तव ।  
 चउ सेज्ज वत्थ पाते, तिसे ते चउकगा हौति ॥  
 दोल्लादिमाउ सत्तसु, अयणेउं सेसमायं च ।  
 अरूच्छ होति उदेयो, दो दो अब्बणं चउकेसु ॥  
 गेएहंति उवरिमासुं, तत्थ अति पेसु अस्सतरियाए ।  
 डेड्डिला पुण गेएहति, त्ति विकरे क्कालिकरियं तु ॥  
 अणजिगहेण णविता, गिए हंति विही तु एम जिणकप्ये ।  
 अट्टया उ थेरकप्यो, वोचंमि विहि समासेणं ॥  
 गट्ठेण चउत्विहंमि, विनिए गहणं तु परमजचेणं ।  
 जं पाणवीयरिट्थं, हवेज्ज तरमाणए सोहं ॥  
 गहणं चउत्विहंतं, वत्थं पातं च मज्ज आहारो ।  
 एतेसि अमनीए, गट्ठेण पदमं तु चियसस ॥  
 वितियं पातं जण्णति, किं कारणे तस्स गट्ठेण पदमं तु ।  
 तेष वि ण वोत्तिपडिमा-गिहि भायण भोगहाणी य ॥  
 अहवा चउत्विहं तु, असणादी तेष भोज्जगट्ठाणं तु ।  
 तत्थ तु वितियं पाणं, तस्स तु गट्ठेण पदमत्तण ॥  
 अमनीए फामुयस्स, वसहिए एकं उविय सट्टिए वा ।  
 किं कारणे तेष विणा, आसुं पाणक्कवओ होज्जा ॥  
 तरमाण गेएहंती, सुच्छं अतरं पट्टये संथरे ।  
 संथरं तो तु गेएहति, पावति सट्टाणपत्तिच्चं ॥  
 सेत्तं दुए दसए व, अरणेण उाणेण वा भवगमहणं ।  
 एतो चि मादिरिन्त्तं, उगमउत्पायणोसणासुच्छं ॥  
 जणियं ति कप्यति त्ती, तस्स अमनीए असुच्छं पि ।  
 एतो तु थेरकप्यो, पं भां ॥  
 इयाणि अट्टियकप्यो । तत्थ माहा- 'वत्थे पाव' ति । वत्थाणि सय-  
 सहस्समेज्जाणि वि चेपति, मज्जिमाणं तिथगगणं, संसं पुण जं  
 उियकणियणं अणियं तं भाणियसंबं । जहा-सत्तबहकप्ये ताओ  
 चव, गशो पस् उियकप्यो । इयाणि जिणकप्यो । तत्थ माहा- 'दुय-  
 सत्तणे' ति । सत्त पिंममणाओ, सत्त पाणमणाओ अहवा पि-  
 रुचउगमपदिमाओ य, तियचउके सेज्जपदिमाओ य उ वत्थप-  
 डिमाओ उ पायपदिमाओ उ एयासि अरूच्छओ दं आड उवण-  
 कणं सेमाहिए संति आहागइ पयासु पसमाणा जइ न ज्ञानंति  
 तं अविक्कालाकरिया होज्जा, न थ हेत्तिउसु गेएहति, एस जि-  
 णकप्यो । इयाणि थेरकप्यो । माहा- 'गहणं चउत्विहंमि' ति । वत्थं  
 पायं आहारो सेज्जा चउएहावि असइ, पदमं पायं चेपइ, किं का-  
 रणं? तेष वि पदिमा चव, अहवा असणाई पदमं, तत्थ विदयं पा-

णगहणं परमपयंणेणं सयमाणो, पदमं संवरमाणो तसपाणुबी-  
 यरहिया कंदमुलरहिप गेएहइ, अंतरंतो पुण तसपाणसाहिए वा  
 बीयकंदमुलसाहिए वा गेएहइ, किं कारणं? तेण विणा आसुं पा-  
 णक्कवओ होज्जा, तरमाणो सुच्छं गेएहेज्जा, अतरंतो पेहेज्जा । माहा-  
 'सत्त दुय (तिथि पिंममणापाणसणाभो दसए)' ति । दस, एसणा-  
 दोसा । 'अणगहाणे (ति) उगमाअइ न दस संलसस । 'एत्तो चि'  
 मादिरिन्त्तं नाम उगमउत्पायणएसणासुच्छं, तविवरीयं जं एतेहि  
 जेय उगमासिंहि अरुच्छं, तं गेएहेज्जा गट्ठसारक्कणहउं, गट्ठ-  
 वासीहि अणियं नामकारणे कप्यइ, इयरहा न कप्यइ । एस थेरक-  
 प्यो । पंचू । (अस्थिनकउपसक्काइ जिनस्थाविरकहवाव्युत्तीं)  
 अट्टियकप ( ण ) अस्थितात्म्यु-त्रि० । अस्त्वलाचिचतथाऽस्थि-  
 स्वजाव, " अट्टियया अविस्ससि" उत्त० २३ अ० ।  
 अट्टियरक्ख-अस्थिसरजत्क-पुं० कापालक, व्यं० उ उ० ।  
 अट्टियुवा-अस्थियुवा-स्त्री० अस्थ्यां सुखतेतुवाडस्थिसुखा ।  
 स्त्री० अस्थ्यां सुखकारिण्यां संवाधनायाम्, कल्प० ।  
 अट्टुत्तर-अट्टोत्तर-त्रि० । ६ ब० अट्टाभिगंधिके, "अट्टुत्तर सयस-  
 हस्सं पाहदाणं दसयति" अट्टोत्तरं शतसहस्रं अकं रजनस्य  
 तुष्टिदामं ददाति स्मिति । अं० ।  
 अट्टुत्तरमयकइ-अट्टोत्तरज्ञानकइ-पुं० शशुउजयपयंते, तस्य ता-  
 वत्प्रमाणाकूटयान् । ती० १ कल्प० ।  
 अट्टुत्पात्त-अट्टोत्पात्त-स्त्री० अट्टयम्यात्पात्तिस्यस्मात् । व्यवहारः  
 अथो व्यवहागद्वयपद्यते इति तस्य तथात्मम् । व्य० २ उ० ।  
 अट्टुत्तमा-अट्टोत्तमा-पुं० अत्तमस्कां, "अट्टुत्तमासे अहवा  
 अरुग्माहाइ उडावज्जा" प० व० २ टा० ।  
 अट्टुत्तपट्ट-अट्टोत्तमेय-त्रि० । अट्टो योजनान्युत्सेध उच्छयो ये-  
 पां त तथा । अट्टयोजनं च, "चक्रउपपद्याणा अट्टुत्तमेहा य"  
 स्था० ६ टा० ।  
 अट्ट-अट्ट-धा० गतौ । इवादि०, सक्०, पर०, सेट्ट । वाच० ।  
 ' अरंति संसारे' प्रश्न० १ आओ ८१० ।  
 अट्ट-पुं० लोमपकिभेदे, जीव० १ प्रति० । प्रश्ना० ।  
 अट्ट-पुं० । अट्ट-अट्टत् । " यावत्तावज्जीवितायसं मानावट्ट-  
 प्रावारकदेवकुलैवमेवैवः" = । १ । २७१ । इति सुवणे अन्तर्वर्त्त-  
 मानस्य वस्य लोपः । कृपे, प्रा० ।  
 अट्टउत्तुअट्ट-देवा-पुण्यायिते, विपरितरते च । दे० ना०  
 १ वगे ।  
 अट्टउत्त-अट्टात्-त्रि० । अग्निज्ञारदिना भइमवदकरणीये,  
 "नओ अट्टेज्जा पमत्ता । ते जहा-समए पयसे परमाणु" स्या० २  
 टा० ४ उ० । "अरुज्जकुल्ल अट्टुत्तवधे य गुणा भणिया"  
 दश० १० अ० ।  
 अट्टद-अट्ट-न० । अतुरहीनिसकैगुंमिनेऽट्टाके, स्था० २ टा०  
 ४ उ० । "चउरासीइ अट्टमंससयसहस्साइ से एगे अट्टमे"  
 अतु० । जी० अ० । जं० । कर्म० ।  
 अट्टमंग-अट्टाङ्ग-न० । अतुरभणिया लकैगुंमिने तुट्टिते, "चउ-  
 रासीइ तुकिंससयसहस्साइ से एगे अट्टमंगे" अतु० । वाचना-  
 न्तरमतेन अतुरसीतिलकगुणिते महातुट्टिते, ज्यो० २ पाहु० अ० ।

अक्षर-अक्षर-न०। अक्षरे, गमने च । श्या०६ डा०। आग०। अ०।  
अक्षर-देशी-मार्ग, दे० ना० १ वगे ।

अक्षरपद्धाण-देशी-न०। आटेपु स्वनामप्रसिद्धेऽप्यत्र चिह्निरिति  
कथते बाह्वनमेवे, जी० ३ प्रति० ।

अक्षरभाण-अक्षर-वि०। गण्यति, "अणासो संवत्करकमर्णसि  
अक्षरभाण " आ० म० प्र० ।

अक्षरपा-देशी-असत्याम, दे० ना० १ वगे ।  
अक्षरपा-देशी-असत्याम, दे० ना० १ वगे ।

अक्षराल-अष्ट ( ष्ट ) चत्वारिंशत्-वि०। अष्ट च चत्वारिंशच्च,  
अष्टाधिका वा चत्वारिंशत् । ( अष्टतालिस ) इष्टपञ्चशतमिति,  
आव० ।

अक्षराल-देशी-प्रयंसायाम्, प्रहा० २ पद । जं०। स०।  
जी०। प्रय०।

अक्षरालकयवणमाल-अष्ट ( ष्ट ) चत्वारिंशत्कयवनमाल-वि०।  
अष्टचत्वारिंशद्भेदा विच्छिद्यः कृता वनमाला येषु तानि  
अष्टचत्वारिंशत्कयवनमालानि । अष्टचत्वारिंशद्विधिविच्छेदवृत्त-  
मालायुक्तेषु, जी० ३ प्रति० ।

अक्षरालकृतवनमाल-देशी- 'अक्षराल ' शब्दो देशीवचनन्वा-  
त्प्रसंसावाचोत्पन्नपदमेव निरूपितम् । तेन कृता वनमाला येषु  
तानि । प्रयत्नकृतवनमालेषु, जी० ३ प्रति० । अष्ट० ।

अक्षरालकोत्तर-अष्टचत्वारिंशत्कोत्तरकचित-वि०। अष्टच-  
त्वारिंशत्कोत्तरमिष्विच्छिद्यकचितः कोत्तरका अपचरका रचितः।  
स्वयमेव रचनां प्राप्ता येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कोत्तरकचितानि।  
सुखादिगणने दर्शनायासिको निगमनस्य परनिपातः ॥ " अक्षराल  
" शब्दो देशीवचनन्वात्प्रसंसावाचोत्पन्नपदमेव निरूपितम् ।  
अष्टचत्वारिंशत्कोत्तरमिष्विच्छिद्यकचितोपचरकचितेषु, " अक्षराल-  
कोत्तरकचित " अक्षरालकयवणमाला " स० । जं० । जी० ।

अक्षरवि-अक्षरवि ( वी )-स्त्री०। अक्षरं विद्यायाः पाठिनो यच्च ।  
अक्षर-प्रवि, वा क्षीपः। कात्तरः श्या०४ डा०२ व०। अक्षरस्ये, तं०।  
तन्नेदाः सव्याख्याता-

" अक्षरि सपठ्यव्याप, घोषेउ वेसिप्रोवपसेणं ।  
पाथिति जडिहपुरं, भयारवि यो तदा जीवा ॥ १ ॥  
पाथिति भिन्नुहपुरं, जिष्णोवहेण जेव भण्णेणं ।  
अक्षरिं दे विसिअच्छं, पयं नेअं जिष्णुपादानं ॥ २ ॥  
इहाटयी शिषा-अक्षरपाथी, ज्ञावराथी च । तयोः कथा-  
इहास्ति हास्तिकाश्वीय रथपादाविसंक्रुण्णम् ।  
यसन्नपुरमुवीच्छ-अप्यधःकारि यथिय ॥ १ ॥  
साथेवाहो धनस्तत्र, गान्त्वं देशात्तरं प्रति ।  
प्रक्षितः कारव्यामास, घोषणां पुरि सर्वतः ॥ २ ॥  
यः कोऽप्यस्ति विषयाः स, सर्वोऽप्येत्तु भवा सत्त्वं ।  
मिष्णितानां च सर्वेषा-आप्यधःकारिगुणान् ॥ ३ ॥  
तत्रैकः सरसोऽप्याऽप्ये, अक्षरमेवैण गच्छते ।  
मनाक्ष सुखेन किं त्विच्छ-पुरावातिभिराङ्गवेप ॥ ४ ॥  
यः पुनः सरसः वन्या, अक्षरे मिष्णिते सोऽपि च ।  
गच्छते सर्वत्र तेन, कच्छेन प्रहता परम् ॥ ५ ॥  
तत्रादितोऽपि मार्गं स्तः, सिंहव्याप्नो विज्रीण्णौ ।  
भीतानां त्यक्तमार्गानां, ताचनधांयं भावयथा ॥ ६ ॥

इष्टपूर्वमेव यावत्, तावन्ती वातुयावत् ।  
तत्रैकं तरयः सन्ति, पत्रपुष्पफलाद्भूताः ॥ ७ ॥  
तच्छायास्वपि विभ्रान्ति-नै कार्यं सृष्टये द्वि ताः ।  
ये जीशरीरीयोर्गोष्वाः, श्वेयमीयसदाश्वे ॥ ८ ॥  
मनोऽक्षरपलायया, मनोऽक्षरगिरो नराः ।  
तृयांसो मार्गपार्थस्था-स्तत्राऽऽह्वयति वस्तसाः ॥ ९ ॥  
अप्यं न तद्वधं मोच्या, न प्रसिद्धा कदाचन ।  
श्वयानिः प्रमदन्नं मार्गं, विष्यायः सततोपसैः ॥ १० ॥  
अविष्यात् पुनः स्वर्धे, नियमाक्षिर्हृत्स्यसौ ।  
अप्रैपतिदुर्गः शैलोऽस्ति, सोपयैगिः स लक्ष्यते ॥ ११ ॥  
अप्यथा इहने तु स्वाय, स्वसलनाधैरुतिः क्वचित् ।  
पुरस्तादस्ति गुणिल-गह्वरं वंशजालिक ॥ १२ ॥  
सा विश्वकृष्णः ऋगित्येय, तत्रस्थानां महापदः ।  
अध्वीयानस्ति गत्तोऽस्य, सर्वथा तत्सन्तोऽप्यः ॥ १३ ॥  
द्विगो मनोरथाभिरुषो, वृक्षयेनं पुरयति सः ।  
वक्षस्तथावमत्तरयं, पुर्यः स्तोकोऽपि नैव सः ॥ १४ ॥  
वर्द्धते पुर्यमाणः स, कनिष्ठैः अन्वयमानवत् ।  
तथा पञ्चमकाराणि, सिन्धुमुखाणि वर्णतः ॥ १५ ॥  
न प्रेक्षयानि न अक्षयानि, किपाकाराणां फलानि च ।  
त्राविशतिः करालास्तु, वेतासा विद्वन्ति च ॥ १६ ॥  
न गययास्ते तथामार, इहाइतास्त्रं वृक्षिमाः ।  
ह्यौ यामौ निद्रयपि स्थायः, सर्वदाऽपि अग्रयणम् ॥ १७ ॥  
वक्षिर्त्रयमभ्यान्-मदर्थं कलुषते सद्यु ।  
प्राप्यते पुर्यमिच्छे च, तत्र चाऽऽसाद्यते सुलभ ॥ १८ ॥  
तत्र क्वचित् समं तेन, प्रवृत्ताः सरलाप्यना ।  
इतरेण क्वचित्, स प्रशस्तेऽपि निश्चये ॥ १९ ॥  
पृथुतुगाभिलोकानां, शिशवो कान्ते यद्विदुः ।  
गतागताध्यामानं च, लिखन् यथानं जगाम सः ॥ २० ॥  
तद्विदुःकृतो यद्वत्, द्विजितानुसुमाश्च ये ।  
ते सर्वेऽपि समं तेन, संप्राप्ताः पुर्यमस्तिवत् ॥ २१ ॥  
निषिद्धकारिणां ये च, यातायाध्यायि वा न ते ।  
जिनन्द्रः सायधवाहोऽत्र, घोषणा चर्मदेशना ॥ २२ ॥  
पाण्याः संसारिणो जीवा, भवां ज्ञावराथो पुनः ।  
क्र-जुमागः सापुत्रमं, गृहिहवात्पुत्रपुत्रोपमाः ।  
सिंहव्याप्नो रागद्वेष्ये, वासनायीतुपाभिनौ ॥ २३ ॥  
वसत्यः कृपादिसंस्काराः, सर्ववृक्षच्छायाया समाः ।  
अवृत्तुकोपमानास्तु, निरवद्याः प्रतिभयाः ॥ २४ ॥  
पार्थस्थापाठाः पुनः पार्थि-स्थाह्वानुपुत्रोपमाः ।  
उबलहावानस्रः कांचो, मानो तुर्गमहीधरः ॥ २५ ॥  
बंधुजातिः पुत्रमोया, सोनो गर्धस्तु कुनेतः ।  
फनप्रयाश्च विषया, वेतासास्तु परीधरः ॥ २६ ॥  
दुर्जनं वैषण्णियात्, स्थानं द्वौ प्रहरी निदिः ।  
प्रयाणं तुष्टयो नित्यं, मोक्षधेः सितपत्तनम् ॥ २७ ॥  
शिखादीं वर्णालिखन्, सिंहात्तत्रप्रथमनिर्मितिः ।  
पक्षाद्विमुनीन्काण्यं, गतवप्यावसंविद्धे ॥ २८ ॥  
इष्टुः प्राप्तिसाहाय्या-अप्यते सायधेयो यथा ।  
एवं मोक्षपुरावापुत्र-पकारो नमश्च जिनः ॥ २९ ॥ आ० क० ।

अष्टविजयम्-अष्टविजयम्-न०। अष्टविजयम्-न०। अष्टविजयम्-न०।  
अष्टविजयम्-अष्टविजयम्-न०। अष्टविजयम्-न०।

**अडविदेशदुग्गवासी**

अडविदेशदुग्गवासी ( अ )—अडविदेशदुग्गवासिन्-पुं० अटवीदेशे जलस्थसुवर्णकूपेषु दुग्गेषु वसति वीरदोः, प्रअ० ३ भा०० द्वा०।  
अडवि ( बी ) वास—अटवि ( बी ) वास—पुं० अरण्यवसने, " उष्णिनाग्रव्या असरणा अरवीयासं उषेति " प्रअ० ३ भा०० द्वा०।

अदसट्टि—अट्ट ( प्ठ ) षष्टि—स्त्री० अह व षष्टिव, अष्टाधिक वा षष्टिः । ( अदसत्त ) अष्टाधिकषष्टिसंख्यायाम्, " विम- मस्स णं अरहंभा अदसट्ठि समणसामस्वीणां " स०६ए सम०।  
अडाहो—देही—तथेत्वर्थे, दे० ना० १ धर्म ।

अदिह्ल—अटिल—पुं०। धर्मपक्षिनेदे, प्रहा० १ पद्। जी०।  
अडो—देही—कूपे, दे० ना० १ धर्म ।

अदोसिका—अटोलिका—स्त्री० यवनाज्यो राक्षः एतयां गर्दभराज- स्य प्रतिय्याम, वृ० १ उ०।

अडुक्क—क्रिप—धा० प्रेरणे, तुदा०, उभ०, सक०, धनिद " क्रिपे- गेस्रथाडुक्क " ॥ = ।। ४। १४२ ॥ इति सुत्रेण अडुक्कवादेशः ।  
अडुक्क, क्रिपति । प्रा०।

अडिया—अडिका—स्त्री० उपदेशमात्रकूपे शास्त्रानिकके मल्लानं करणविशेषे, विशे०। द्वा० म०।

अडु—अडु—नञ् अडु—अडु । " अडुकिंशुधापेडेते वा " ॥ = । २। ४१ ॥ इति सुत्रेण संयुक्तस्य वा ङः। प्रा०।  
अडु—वि०। आ—व्ये—क, पूये०। युके, शिशुष्टे च। वान्०। अ- र्था परिपूर्णं, लि०। औ०। धनधान्यादिभिः परिपूर्णं, अ० २ श० ५ ठ०। सट्टिक, ज० ए श० ३२ उ०। द्वा०। धनयति, द्वा० १ ज०। महति च। संघा०।

अडुअडुक्की—देही—कट्यां हस्त ( पाणि ) निवेशे, दे० ना० १ धर्म ।  
अडुक्कलेण—अडुक्कले—न०। अडोरात्रप्रमितस्य केशस्य चन्द्रेण सह योगमहनुवस्तु नक्षत्रेषु, ०० प्र०। अर्द्धक्रेत्राणि नक्षत्राणि च । तद्यथा—उत्तराषाढाप्रश्नाः, उत्तराषाढानुनी, उत्तरा ५ षाढा, राहि- णी, पुनर्वसु, विशाखा चेति। ०० प्र० १० पाठु०।

अडुग—अडय—वि०। युक्तं, परिपूर्णं च । संघा० १२ विष०। " सं- जनतदहगुगस्त उ, अविगप्येषु तहह्वासे " प्रा० म० द्वि०।

अडुरत्त—अर्धरात्रि—पुं०। अर्द्ध रात्रेः, अर्द्ध समा०। निशीथे, " अ- हुरत्ते आगतं दारं अम्हा " प्रा० न० द्वि०।

अडुडुज्ज—अर्द्धतृतीय—वि०। ४० व०। अर्द्ध तृतीये येषां तेऽर्द्ध- तृतीयाः । अत्रयथेन विग्रहः; समुद्रायः समासार्थः । ( अर्द्धादे ) सार्द्धद्वयोः, जी० १ प्रलिट् । प्रहा० । " अडुडुअडुगुसम्हाण- मुस्सहे " नं० १। १०। द्वा० म०।

अडुडुज्जदोव—अर्द्धतृतीयद्वीप—पुं०। अर्द्ध तृतीये येषां तेऽर्द्धतृती- याः; ते च त्रेणीयाश्चि समासः। अर्द्धतृतीयद्वीपाः । अर्द्धतृतीय- धातुकीकण्डपुष्करादेः अर्द्धे सार्द्धद्वीपद्वये, अ० १ श० ३ ठ०।  
अडुडुज्जदोव—अर्द्धतृतीयद्वीप—पुं०। अर्द्धतृतीयद्वीपसमुच्चतदे-

कदेशभाग—पुं०। अर्द्धतृतीयधातुकीकण्डपुष्करादेः द्वीपसमूहस्य- मुक्तकाशोदधिसमुद्राणां विभक्तित्वात्, " साधारणं पडुक्क अ- ष्टारः अर्द्धीषसमुद्गतदेकदेशेनाए होउजा " अ० ए श० ३ ठ०।  
अडुपुर्कति—अर्द्धापकान्ति—स्त्री०। अर्द्धस्याऽसमप्रतिभापक-

पस्य एकदेशस्य वा एकाविविहाराप्रकथनप्रकरणमवस्थानं, ये पस्य तु द्वाविपदसङ्घातव्यस्यैकदेशस्थेऽपि गमनं यस्यां रच- नायां सा समन्वयिभाववशात्प्राकान्तिरुच्यते । इयुक्तनिशक्तिप्र- त्ययां तपोरचनायाम्, विशे०।

अडुडुज्ज—अट्टियज्ज—न०। धनपरित्ये, तस्य सुखकारणत्वात्, सुखभेदे च । द्वा० १० ज्ञा०।

अट्टियेज्या—स्त्री०। आच्छेः क्रियमाना इत्या पूजा आच्छेज्या, प्रा- कृतत्वात् " अट्टिये " ति । धनिहस्तकारे, द्वा० १० ज्ञा०।

अडुकरुग—अर्द्धीकरु—पुं०। अर्धे ऊरुकाद् विभजतीति निदकाद्- कीरुकाः साध्वीनामौपमिहकोपधिविशेषे, ध० ३ अधि०। " अ- डुकरुगो उ द्रोहिह वि गिरिह उ ङाए कदीभागं " अर्द्धीकरु- गपि तौ द्वावपि अवप्रधानन्तकपद्मावपरिष्टाद् एहृत्वा सर्वे क- टीभागमासाद्यति । स च मल्लवचनाकृतः केषमुपरि ऊरुष्वे च कथावचः । वृ० ३ उ०। लि० च् ०। पं० व०।

अणु—अणव०। नयथे, " अण णां नयथे " । ८। २। ११०। एतौ नयथे प्रयोक्तव्यौ । " अणु चिन्तिअमुमुजंति " प्रा०।

अणु—अण—न०। कुसिन्ते, कुसितत्काराणित्वात् कुसितानि क- र्णानि इत्ययन्ति; अणुवन्मेति व्युत्पत्त्योः। पाप, विशे०। आ० म०। अण चयेति द्रव्यकथानुः। अयति गच्छति तासु तासु ये- नित्यु औकात्म्येति । पाप, आ० म० द्वि०। अ०। इन्द्रकरणा- द्यादिप्रदानं, तं। अणुवन्तेन जन्तुभ्युगैतिकं संसाराभियोगम् । कर्मणि, अण० १ श्रु० २ अ० १ उ०। शब्दे, गती च । विशे०। अण रणत्वादि द्रव्यकथानुः । अणनीवाऽधिकमहत्त्वेनासात्थ्यं च नरकाधायुक्तं शब्दव्यस्त्यपणाः । कौधादियु चतुर्थे कथा- येषु, विशे०।

अण—न०। एकदेशेन समुद्रायस्य गम्यमानत्वप्रदन्तानुबन्धिषु कौधादिषु चतुर्थे कथायेषु, विशे०। " अणु इत्स नपुंसिन्धी—येषु ङके च पुरिसयेति च " विशे०। आ० म० प्र०।

अणम्—न०। अणकट, अण इय अणः। शरीरे, तस्याऽन्तर्गतसारार्थि- ना प्रवर्तनीयत्वात् । औ० व०।

अणु—न०। व्यक्त्वारकदेशप्रत्यये, द्वा० १ श्रु० २ अ०। अष्टप्रकारे कर्मणि, सक० १ अ०। द्वा० ०।

अणुह—अनति—अण्व०। अनिति अण्वयमित्यकार्ये, न यति अयति । अनतिक्रान्ते, तं।

अणुहकमणियज्ज—अनतिक्रमणिय—वि०। व्यवहारयितुमश- क्ये, " अणुहकमणियज्जादे वागणार्हा " अ० १३ श० १ ठ०।

अणुहप्यग—अनतिप्रकट—वि०। अनतिक्रान्ते, ध० १ अधि०।

अणुह्वरिय—अनतिपत्य—अण्व०। अनतिक्रम्यर्थे, " अणुह्व- रिय सव्येसि पाणानं " द्वा० ०। १ श्रु० ६ अ० ५ ठ०।

अणुह्वर—अनतिवर—न०। प्रधानं, न विद्यतेऽतिवरं यस्मात्- दन्तिवरम् । सर्वेभेदे, औ०।

अणुह्वरसोमचारुह्य—अनतिवरसोमचारुह्य—वि०। अनति- व्रतियथेन सोमं दृष्टिसुभयं चारु रूपं येषां त तथा । यथा—अ- न्तिव्रतियथेन सोमं चारुह्ये, न यति अनतिव्रतियः सौम्यं च तच्छारु च सौम्यचारुह्ये, सौम्यचारुह्ये च तत्पुं च सौम्यचारुह्ये, यरं च तत्स्त्री-

प्रत्ययारूपं च वरसौम्यचाररूपम् । अनतीति अग्रतिकास्तं वर-  
सौम्यचाररूपं येषां तं अग्रतियरसौम्यचाररूपाः । देवमनुष्या-  
दिभिः स्वभावस्थशुभादिभिरभितकयेषु, सं० । "तेषु मण्डुया  
प्रभवत्सोमचाररूपा योगुत्समा" ति० श्री० ।

अणुइवापमाण-अनापिपातयत्-नि० । प्राणाद्यतिपातमकुर्वति,  
"अणुवकंभमाणा अणुइवापमाणा" प्राचा० २७५०३३० ।

अणुइविलिचिष-अग्रतिलिचि विवृत्त-न० । अष्टाविंशो सत्य-  
वचमतिशये, रा० ।

अणुइसंधाण-अनतिमन्धान-न० । न अतिमन्धानमनतिस-  
न्धानम् । दृश० । अणुइ, "मिषगाअणुइसंधाणं सासयवुद्धी य  
जयया य" पञ्चा० ७ विच० ।

अणु-देशी-अणु, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुम-अनन-न० । नास्ति अणुमाकारो यस्य । आकारो, चित्ते  
वा । अणु० । अणुइति मैथुनपेरिहारेण योनिमहेदं च, तद् व्यतिरि-  
क्तान्यनङ्गानि । कुचककोरुवदनाधिपु, पञ्चा० १ विच० । आहा-  
र्ये शिङ्गादी, स्था० ५ ग्रा० २ उ० । मोहोद्येद्ये नृततामिमुना-  
ध्ययसायाक्ये कामे, अणु० ६ अ० । स च पुंसः-स्त्रीपुंलपुंसक-  
संबन्धेऽत्र, हस्तकर्मादी० वा, वेदो मयात् । तथा-स्त्रियोऽपि पुंरु-  
वपुंसकस्त्रीसंबन्धेऽत्र, हस्तकर्मादी० वा । नपुंसकस्यापि-नपुं-  
सकपरपुंससंबन्धेऽत्र, हस्तकर्मादी० वा । प्रब० ६ ग्रा० ५० ।  
कामधेय, पु० । एक० काश । आनन्दपुरे नगरे जितारिद्राजस्य  
विश्वकर्मायां आर्यायां जाते पुत्रे, रा० २ अणु० ७० ।

अणुगकिट्टा ( कीटा ) -अननङ्गाकीटा-स्त्री० । अनङ्गानि कु-  
चककोरुवदनादीं नि तेषु कीडानमनङ्गाकीटाः । योनिमहेतोरन्यत्र  
रणे, पञ्चा० २ विच० । अणु० । अनङ्गो मोहोद्येद्येभूतस्तीमो  
मैथुनपेरिहारेणसायाक्ये कामो भयदते, तेन तस्मिन् वा कीटा  
अनङ्गाकीटा । समासप्रयोजनस्थायि स्थलिकुमाऽऽहार्यः काष्ठ-  
पुस्तकलक्षणिकाचमोदिघटितप्रयोजनेयोपिद्वयच्येऽदेशीसंब-  
न्धे, अणु० ६ अ० । पञ्चा० । स्वयङ्गेन कुण्डयोऽपि योपि-  
तामवाच्यदेशं नयो ज्ञयः कुण्ठाति । केशाकर्षणप्रहारदानदन्त-  
नकवर्धनादिप्रकारेभ्य मोहनीयकर्मवशात्तथा कीरति यथा  
मन्थो रागः समुज्ज्वलते इति तस्यम् । प्रब० ६ ग्रा० ५० ।  
अणुः कामस्तप्रधाना कीटा, परद्वारेषु अग्रदर्शनासिंहना-  
दिकरणे, वास्यापिनापुच,चतुर्धातिरुक्त्वासेवने च । अ० २  
अधि० । अनङ्गकीडनमप्यत्र । पञ्चा० १ विच० । अणु च स्वधार-  
संयुक्तयोःअणुयोर्वाऽऽतिचारः अणुवकं न समासवर्तितव्यः ।  
अतिचारताऽस्य स्वधारण्येऽप्यत्र मैथुनपरिहारेणानुरागादा-  
सिङ्गादि प्रतमालिच्यदिति । उपा० १ अ० ५० १० । अणु० ।  
असादावर्धेक्रयालक्षणं सम्राटकामभेदे, प्रब० १६९ ग्रा० ।  
"अणुवर्धे गा अणुव्यस्ता यस्याः साऽनङ्गाकीटा" इत्युक्तलक्षणं  
मात्रावृत्तभेदे, वाच० ।

अणुगपदिसेविणी-अननङ्गप्रतिसेविनी-स्त्री० । मैथुने प्रधान-  
मङ्गं महेन अणु, तन्मतेवधोऽनङ्गव,तेनाऽनङ्गनाहव्यैलिक्र-दि-  
ना, अनङ्गं वा मुखादी, प्रतिसेवास्तित यस्याः अनङ्गं वा काम-  
मपरावपुरुषसंपर्कताऽतिशयेन प्रतिसेवत स्व्येर्शीला अनङ्ग-  
प्रतिसेविनी तथापिधवयाद्यत् आहाव्यैसिङ्गादिना, मुखादीं वा,  
बहुपुरुषैर्वा मैथुनप्रतिसेवमानायाव; एतादृशी स्त्री गर्भं न धार-  
यति । स्था० ५ ग्रा० २ उ० ।

अणुगपारिष्ट-अनङ्गपारिष्ट न० १० स० । स्वविरेन्देवाद्गुत्सामि-

प्रभूतिभिराचार्यैरुपनिबद्धे आचर्यकानिष्ठुं कयादीं शुभविशेष,  
आ० म प्र० । नो० वृ० विंश० । ( "अणुवचिष्ट" शब्देऽप्यै ज्ञेये  
३७ पुष्टेऽस्य विदोषस्वकवचुत्तम् )

अणुगंमंजरी-अनङ्गमंजरी-स्त्री० । पृथिवीचूदनरनाथस्य  
देव्यायां सुतायाव, दृश० ।

अणुगंमेश-अनङ्गमसेन-पुं० । सुषेणकारभेदे, 'कुमारनदी'  
इति तस्य नामान्तरम् । वृ० ४ घ० । ( तत्कथा 'दसहर' शब्दे  
वर्धयिष्यते ) ग० ३ अणु० । नि० । सं० ।

अणुगंमेषा-अनङ्गमेषा-स्त्री० । कृष्णवासुदेवसमये द्वारवतीजा-  
तायां प्रधानन्यायिकायां, आ० वृ० । नि० । अन्त० । आ० म० ।

अणुत-अनन्त-त्रि० । नाऽस्यान्तःस्त्रीत्वमन्तः । निरवयवनाश-  
नामद्वयमाने, अपरिचिते, निरवधिक्वे च । "अणुते निदृष्ट लोप  
सास्येण विणस्सति" भावत्याऽन्तःस्त्रीत्वमन्तः न निरवयवना-  
शेन नश्यतीत्युक्तं प्रवर्तति । नृश० १ शु० १ अ० ४ उ० । न० ।  
अङ्गव, प्रब० ३ आ० ग्रा० । अपर्येवसाने, दृश० । वृ० ० ।  
नाऽस्यान्तो विद्यत इत्यन्तम् । केवलाप्रमोऽनन्तत्वात् । इ० ।  
रा० । प्रब० । अनन्ताधिपययत्वाच् वाऽनन्तमन्तरहितम्, अप-  
र्येवसितत्वात् । दृश० १० अ० । स्था० । अनन्ताधिपययत्वाच्  
स्वरूपत्वात् । सं० १ स्म० । अविनाशित्वात् । जं० ३ वङ्ग० ।  
केवलज्ञाने, आ० १ शु० ७ ग्रा० । आकारो च, ( न० ) तस्यान्तव-  
ञ्जितत्वात् । अ० १ श० १ उ० । भरतहोत्रेऽत्र अयसिर्पियाध-  
नुर्देशे तीर्थकरे, अनन्तकर्मोऽजयाऽनन्तः । अनन्तानि वा ज्ञा-  
नादीनि अस्त्येति । "सत्येहि वि अणुता कामेसा जिवा सत्येसि  
च अयेनापि पाणानां वि चरणयिचयमपंतं दामं सुमिणे  
ततो अणुते" रत्नविधिर्ब रत्नसञ्चितमनन्तमिति महाप्रमाणं दाम  
स्येन जनन्या दृष्टमते मतोऽनन्त इति । आ० म० ३ि० । अन-  
न्तान् कर्मोऽकार जयति, अनन्तैर्वा ज्ञानादिभिर्जयति अन्तन्तित् ।  
तथा गर्भेऽप्ये जनन्याऽनन्तरत्नदामि हृष्टे जयति च त्रिभुवनेऽप्य-  
नन्तित्, अंमो प्रीमसेन इतिवदन्त इति । अ० २ अधि० ।  
( अनन्तक्रियाऽन्तरादि 'तिथ्यवर' शब्दे वच्यते ) साधार-  
णजैने, प्रब० ३ आ० ग्रा० ८० ।

अणुतद्-अनन्तान्त-पुं० । अयसिर्पियाधनुर्देशे तीर्थकरे,  
अ० ३ अधि० ।

अणुतम-अनन्तांश-पुं० । अनन्ततमोऽंशो भागोऽनन्तांशः । अ-  
नन्ततमे भागे, विंश० ।

अणुतकर-अनन्तकर-त्रि० । संसारपारमगमाऽसमये, 'तेणानि  
संज्ञागमिण्यपहाय, कायोवगा णंतकरा जनेति' । कायोवगास्त-  
द्वयमद्वारंमभवृत्ताः संसारस्यान्तकराः स्युः; संसारस्यान्त-  
करा न भवन्तीत्यर्थः । नृश० २ शु० ७ अ० ।

अणुतकाइय-अनन्तकायिक-पुं० । अनन्ताः कायिका जीवा यत्र  
तदनन्तकायिकम् । अनन्तजीवे वनस्यतिनेद्रे, अ० ३ अधि० ।  
पं० घ० । ( लक्षण्यदि चार्य 'अणुतजीव' शब्दे वच्यते ) ।  
अणुतकाय-अनन्तकाय-पुं० । अनन्तजीवि वनस्यती, पु० ०४ग्रा० ।

अणुतकाल-अनन्तकाल-पुं० । अपर्येवसितकाले, प्रब० ३  
आ० ग्रा० ३० ।

अणुतकिति-अनन्तकिति-पुं० । धर्मदासगणपरनामक उपदे-  
शमत्ताकृति प्राचाव्ये, जं० ६० ।

अर्णतसुतो-अन्तकृष्यन्-अर्ण०।अन्तवाराणित्यर्थः । " अ-  
इ षं अंते । जीवे णेरस्यस्य एवयवपुत्रे हंता गोयमा । असति  
अनुवा अर्णतसुतो " प्र० १२ श० १६ उ० ।  
अर्णतम ( य ) अर्णतक-न० । गणनासंख्याभेदे, स्था० ।

तच्च पञ्चाण-

पंचविदे अर्णतए पष्ठाचे । तं जहा-णामाणं तए, ठव्छाणं-  
तए, दव्वाणं तए, गण्णाणं तए, पपसाणं तए । अइवा पंच-  
विदे अर्णतए पष्ठाचे । तं जहा-एगङ्गोणं तए, दुहुआणं तए,  
देसविन्वाराणं तए, मव्वाविन्वाराणं तए, सासयाणं तए ॥

पंचविदेत्यादिसुत्रद्वयं प्रतीतार्थम्, नचरं, नाम्ना भवन्तकं नामा-  
नन्तकम्, अन्नतकमिति यस्य नाम यथासमयज्ञापयाऽवस्थ-  
मिति । स्थापनेषु स्थापनया वा भवन्तकं स्थापनाभन्तकम्,  
अन्नतकमिति कल्पयन्नादिद्विग्यासः कृशरोरादिव्यतिरिक्तम्,  
द्रव्याणामप्राधान्यां गणनीयानामन्नतकं प्रधानन्तकं, गणना  
संख्यानां तल्लक्षणमन्नकमायिक्रिनाऽप्यादिसंख्येयविषयः सं-  
ख्याविशेषो गणनानन्तकम्, प्रदेशानां संख्येयानामन्नतकं प्रदेशा-  
नन्तकमिति । एकत एकैर्नाशेनायामल्लक्षणानन्तकमेकतोऽन्न-  
कम्-एकश्रेणीकं क्षेत्रम्, क्रिया आयायवित्ताराभ्यामन्नतकं क्रिया-  
ऽन्नतकं-प्रतरं क्षेत्रम्, क्षेत्रस्य यो ठवकापेक्षया पूर्वोच्यतरदिग्ग-  
ल्लपो देशतस्य वित्तारो विक्रमस्तस्य प्रदेशापेक्षयाऽन्नतकं  
देशवित्तारानन्तकम्, सर्वोकादायम् वस्तुतयम्, शम्भतं च त-  
दन्तकं च शाश्वतानन्तकमनादाययसिते यज्जीवादिद्रव्यम्,  
अन्नतसमयस्थितिकत्वाद्गिति । स्था० ५ जा० ३ उ० ।

दसविदे अर्णतए पण्णत्ते । तं जहा-णामाणं तए, ठव्छाणं-  
तए, दव्वाणं तए, गण्णाणं तए, पपसाणं तए, एगङ्गो-  
णं तए, दुहुआणं तए, देसविन्वाराणं तए, मव्वाविन्वारा-  
णं तए, सासयाणं तए ।

गामानन्तकम्-भन्तकमित्येषां नामभूता वर्णानुपूर्वी यस्य, वा  
स्वचनान्नादिसुतोऽन्नतकमिति नाम तन्नामानन्तकम् । स्थाप-  
नानन्तकं-पद्मदावन्नतकमिति स्थाप्यते । द्रव्यानन्तकं-जीवक-  
व्याणां पुद्गलद्रव्याणां वा यदन्नतकम्, गणनाऽन्नतकं-यदेको ही  
वय इत्येवं संख्यानां असंख्याता अन्नता इति संख्यामानव्य-  
पेक्षं संख्यामात्रतया संख्यातमात्रं व्यपदिश्यत इति । प्रदेशानन्त-  
कम्-आकाशप्रदेशानां यदात्मस्यमिति । एकतोऽन्नतकम्, अनी-  
ताऽऽ अनागतताऽऽ वा क्रियाऽन्नतकम्, सर्वोका देशवित्तारा-  
नन्तकम्-एक आकाशप्रतरः । सर्वोवित्तारानन्तकं सर्वोकाहा-  
स्तिनाय इति । शाश्वतानन्तकमकृत्यं जीवादि द्रव्यमिति ।  
स्था० १० जा० ।

से कितं अर्णतए ?। अर्णतए तिविदे पण्णत्ते । तं जहा-  
परिचाणं तए, जुचाणं तए, अर्णताणं तए । मे कितं परिचा-  
णं तए ? । परिचाणं तए तिविदे पण्णत्ते । तं जहा-जह्छ-  
ए, उक्कोसए, अजह्छएणमण्णकोसए । से कितं जुचाणं-  
तए ? । जुचाणं तए तिविदे पण्णत्ते । तं जहा-जह्छएणए,  
उक्कोसए, अजह्छएणमण्णकोसए । मे कितं अर्णताणं तए ? ।  
अर्णताणं तए दुविदे पण्णत्ते । तं जहा-जह्छएणए,  
अजह्छएणमण्णकोसए ।

अन्नतकम्-पि-परीक्षानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अन्नान्तकम् ।  
अन्नाभन्तकमेवद्वयं जघन्यादिभ्यां प्रत्येकं वैविध्यम् । अन्नान्ता-  
नन्तकं तु-जघन्यमजघन्योक्तद्वयम् जवतति । उक्कोसत्तानन्त-  
कस्य काव्यसंज्ञादिति सर्वमपीदमष्टाविधम् । षडु० ।

जह्छस्यं परिचाणं तयं केवद्वं होइ ?। जह्छस्यं असंखे-  
ज्जासंखेज्जयमेत्ताणं रानीणं अस्समण्णम्मामो पट्टिपुसो  
जह्छस्यं परिचाणं तयं होइ, अइवा उक्कोसए असंखेज्जा-  
संखेज्जए रूवं पक्खित्तं जह्छस्यं परिचाणं तयं होइ,  
तेण परं अजह्छएणमण्णकोसयाइं उण्णाइं जाव उक्कोसयं प-  
रिचाणं तयं ए पावइ । उक्कोसयं परिचाणं तयं केवद्वं होइ ?।  
जह्छस्यं परिचाणं तयमेत्ताणं रानीणं अस्समण्णम्मामो  
खुण्णो उक्कोसयं परिचाणं तयं होइ, अइवा जह्छएणं  
जुचाणं तयं रूवं उक्कोसयं परिचाणं तयं होइ । जह्छस्यं  
जुचाणं तयं केवद्वं होइ ? । जह्छस्यं परिचाणं तयमेत्ताणं रा-  
सीणं अस्समण्णम्मामो पट्टिपुसो जह्छस्यं जुचाणं तयं होइ,  
अइवा उक्कोसए परिचाणं तए रूवं पक्खित्तं जह्छस्यं जुचा-  
णं तयं होइ, अश्वसिच्छिन्ना त्रि तत्तिन्ना होइ, तेण परं अज-  
ह्छस्यमण्णकोसयाइं जाव उक्कोसयं जुचाणं तयं ए पावइ ।  
उक्कोसयं जुचाणं तयं केवद्वं होइ ?। जह्छस्यं जुचाणं तयं  
अजवमिच्छिन्ना गुण्णिता अस्समण्णम्मामो खुण्णो उक्कोसयं  
जुचाणं तयं होइ, अइवा जह्छस्यं अर्णताणं तयं रूवं  
उक्कोसयं जुचाणं तयं होइ । जह्छस्यं अर्णताणं तयं केवद्वं  
होइ ?। जह्छस्यं जुचाणं तयं अजवसिच्छिन्ना गुण्णिता  
अस्समण्णम्मामो पट्टिपुसो जह्छस्यं अर्णताणं तयं होइ, अ-  
इवा उक्कोसए जुचाणं तए रूवं पक्खित्तं जह्छस्यं अर्णता-  
णं तयं होइ, तेण परं अजह्छएणमण्णकोसयाइं उण्णाइं ।

जघन्यपरीक्षानन्तके यावन्ति रूपाणि भवन्ति तत्रासंख्येयानां  
राशीनां प्रत्येकं जघन्यपरीक्षानन्तकप्रमाणानां पूर्ववद्गम्या-यु-  
क्त्यासकपोनमुक्तं परीक्षानन्तकं भवति । 'अइवा जह्छस्यं जु-  
चाणं तयमित्यादि' स्वरूपम् । 'जह्छस्यं जुचाणं तयं कत्तियमित्या-  
दि' व्याख्यातार्थमेव । 'अइवा उक्कोसयं परिचाणं तयं' इत्यादि  
सुत्रार्थम् । जघन्ये च युक्तानन्तकं यावन्ति रूपाणि प्रवन्त्यभर-  
सिक्तिका अपि जीवाः कथञ्चिन्ना तावन्त एव इष्टान्ति । 'तेण परं-  
मित्यादि' काण्डशब्दः । 'उक्कोसयं जुचाणं तयं कत्तियमित्यादि';  
जघनेन युक्तानन्तकेनाभिव्यारित्वादिगुणितो रूपानां सन्तुहद्वं युक्ता-  
नन्तकं जवति, तेन तु रूपेण सह जघन्यमन्नानन्तकं सम्पद्यते ।  
अन एवाह- 'अइवा जह्छस्यं अर्णताणं तयमित्यादि' गताशब्दः ।  
'जह्छस्यं अर्णताणं तयं कत्तियमित्यादि' नाशिनार्थमेव । 'अइवा  
उक्कोसए जुचाणं तए इत्यादि' प्रतीतमेव । 'तेण परं अजह्छस्यमण्ण-  
कोसयाइ इत्यादि' जघन्यादन्नान्तानन्तकागतरलः सर्वोपैयपि अज-  
ह्छस्योक्त्यायामन्नानन्तकस्य स्थापनाय भवन्ति, उक्कोस्यनना-  
नन्तकं नास्त्येवेत्यभिप्रायः । अग्न्ये त्वाचायाः प्रतिपाद्यन्ति-  
अजघन्यमन्नानन्तकं वाच्यं पूर्वं धर्यते, ततश्चिते पडनन्तकाः  
प्रक्षेपाः प्रद्विष्यन्ते । तद्यथा-

“सिका निगोयजीवा, धनस्यै काल पुमाला खेव ।  
सवमसोमगासां, उप्येतऽर्थात् पक्षेणा ॥ १ ॥

अथमर्थः—सर्वे सुकृमबादरिगोदजावाः प्रत्येकानन्ताः, सर्वे  
वनस्थितिजन्यः, सर्वाऽप्यन्तीतामागतवर्मानकालसमयराशीः,  
सर्वेषु फलरूपसमूहः, सर्वाऽसोकाकाशप्रदेशराशिः। एत एव प्रत्ये-  
कमन्तकालरूपाः षट् मध्येऽप्याः, एतैश्च प्रकृत्यौ राशिजायते, स  
पुनरापि वारत्रयं पूर्ववद्भवति, तथाऽप्युक्तमन्तकालान्तकं न प्रव-  
ति; तन्नाम केचनहानकेचनक्षेत्राणां प्रायः प्रकृत्यन्ते। एवं च  
सत्युक्तमन्तकालान्तकं सम्पद्यते, सर्वेऽथैव वस्तुजातरूप संयु-  
हीतत्वात्। अतः परं वस्तु सर्वेऽथैव संख्याविषयस्त्राजायादि-  
ति प्रायः। सुभाभिप्रायस्तत्—इदमप्यन्तकालान्तकमुत्कृष्टं न प्रा-  
प्यते; अजघन्योत्कृष्टस्थानानामेव तत्र प्रतिपादितत्वात् इति। त  
सं तु केवलिनो विवृन्तीति प्रायः। सूत्रं च यत्र कुत्रापि अन्-  
त्यानन्तकं दृश्यते तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टं दृश्यम्, तदेवं प्रक-  
रितमन्तकम्। अतः।

इदानीं नवविधमसंख्येयकं नवविधमेषु चानन्तकं  
निरूपयितुमिच्छुं गार्थापुत्रगमाह—

रूत्रयुतं तु परिचा—संख्यं लहु अस्स रासि अम्भासे ।  
जुचासंसिखं लहु, आत्रवलिवासमयपरिमाणं ॥ ७८ ॥  
पूर्वात्मनोऽन्तकं संख्येयकं, कस्युतं तु रूपेणैकन संप्रपय बुन-  
शुंके लह्यु जघम्यं परीसासंख्यं परीसासंख्येयकं भवति। इद-  
म हृदयम्—इह यत्केन संप्रकरणेण रक्षितोऽनन्तरादिष्टो राशि-  
रुत्कृष्टसंख्यातकमुक्तं तत्र राशी तस्यैव रूपस्य निरूपो यदा क्रियते  
तदा तदाऽन्तक संख्यातकं जघम्यं परीसासंख्यातकं भवति। इह  
च जघन्यपरीसासंख्येयकं उच्यते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृ-  
ष्टमन्तकं प्रायः स्वरूपं सत्यपि परिषुक्तमिजघन्येनैतत्कालेना-  
मप्यसंख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टमन्तकं पञ्चादल्पवक्तव्यत्वात्प्रक-  
रयिष्यते। अतःऽप्युत्ता जघन्ययुक्तासंख्यातकं तावदाह— (अस्स  
रासि अम्भासे इत्यादि) अस्स राशो जघन्यपरीसासंख्येयकगत-  
राशो, अजघनासे परस्परगुणेन सति, लहु जघम्यं, युक्तासंख्येयकं भ-  
वति, तच्चावलिवासमयपरिमाणम्। आत्रवलि—“असंसिखं  
नमयानं समुद्रयसमिहसमामेणम्” इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा,  
तस्याः समया निर्विभागाः कालविभागाः, तत्परिमाणमात्र-  
वासमयपरिमाणम्; जघन्ययुक्तासंख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमा-  
णा आत्रवलि का इत्यर्थः। एतत्कं प्रवृत्ति-जघन्यपरीसासंख्येय-  
कसंख्येयिनि यावन्ति सर्वेषु प्रमाणानि कृत्वापि ताप्येकैकाः पृथ-  
क् पृथक् संस्थाप्य तत एकैकविभं रूपे जघन्यपरीसासंख्यात-  
कप्रमाणं राशिसर्ववस्थाप्यते। तेषां च राशीनां परस्परमन्त्र्यासां  
विधायते। इदं च प्रायः—असकल्पनया किञ्च जघन्यपरीसासं-  
ख्येयकराशिश्रयणे पञ्च रूपाणि कल्पन्ते, तानि विभिन्यन्ते—जाताः  
पञ्चैककाः १११११ एककानामयः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च व्य-  
वस्थाप्यन्ते। तद्यथा— १ १ १ १ १ अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता  
जाता पञ्चविंशतिः। साऽपि पञ्चभिरभ्यासे जातं पञ्चविंश-  
शतम्। इत्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्परभ्यासे जा-  
तानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकविंशच्छतानि ३१२५। एवं कल्प-  
नया तावदेतान्पञ्चो राशिमेषानि, सद्भाषतस्त्वसंख्येयकं  
जघन्ययुक्तासंख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

सम्प्रति शेषजघन्यासंख्यातासंख्यातकदेशस्य जघन्यपरीसा-

मन्तकविलसकपायां त्रयाणां जघन्यानन्तकनेवानां च स्वकल्प-  
तिदेशतः प्रतिपिपादयित्पुराह—

त्रि ति चउ पंचम गुणेषु, कमा मगासंख्येय फडमचलसत्ता-  
ऽणतां तै रूत्रयुता, मत्रका रूत्रुण गुरु पञ्चा ॥७९॥  
इह ‘संख्येयकमसंख्येयसिद्धादि’ गार्थोपपत्त्युक्तं संख्यातकम् ।  
उत्कृष्टसंख्यातकप्रथमोत्कृष्टप्राप्युक्त्वा संख्यातासंख्येयक-  
वि-

परी० सं० २ युक्तासं० ३ असंख्यासं० ४ तानि यानि प-  
परी० अ० ३ युक्तानं० ६ अनन्तानन्तं ७ रीसासंख्यात-

कादीनि षट्पदानि तानि परीसासंख्यातकानन्तानन्तकमुत्कृष्ट-  
विकल्पानि शिषिचतुःपञ्चसंख्यायेन प्रोक्तानि, ततो शिषिचतुः-  
पञ्चमगुणेने द्वितीयपुत्रीयचतुःपञ्चमपदाव्यवहारोऽप्युत्पाद्या-  
से सति, क्रमात् रूपेण, (सगासंख्येय) प्राकृतत्वात् सप्तमासं-  
ख्यातम्। स्थापनापेक्षया जघन्यासंख्यातासंख्यातकम्। (पदम-  
चउसत्ताऽणतं सि) प्राकृतत्वात् प्रथमचतुःपैतसप्तमप्यन्तकं सि,  
तत्र प्रथमानन्तकं जघन्यपरीसानन्तकं चतुर्थानन्तकं जघन्ययु-  
क्तानन्तकं सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं जयतीति। इह अजघन्य

जघ० सं० १ मध्य० सं० २ उत्कृ० सं० ३ मध्यमोत्कृष्टमन्त-  
परी० अ० ३०१ परी० अ० ३०२ ५० अ० ३०३ त्तोऽन्तकस्यान-  
यु० अ० ३०४ यु० अ० ३०५ यु० अ० ३०६ न्तकयोः प्रत्ये-  
अ० अ० ३०७ अ० अ० ३०८ अ० अ० ३०९ कं नवविधत्वात्  
प० अ० ३१० १० अ० ३११ २० अ० ३१२ प्रदृशितभेदात्  
यु० अ० ३१३ यु० अ० ३१४ यु० अ० ३१५ अत्र प्रथमादि-  
अ० अ० ३१६ अ० अ० ३१७ अ० अ० ३१८ संख्याने संग-

उच्यत एव । इदमर्थेपयम्—द्वितीये युक्तासंख्यातकपदावच्छे-  
जघन्ययुक्तासंख्यातककरणे राशी विद्यते सति यावन्ति रूपाणि  
तावन्तु प्रत्येकं जघन्ययुक्तासंख्यातकमाना राशीः। उच्यते—  
यास्ततस्तेषां राशीनां परस्परतामने यो राशिर्भवति, तत्  
सप्तमासंख्येयकं मन्तव्यम्। तृतीये त्वसंख्येयकासंख्येयक-  
पदावच्छे- जघन्यासंख्येयकासंख्येयकरूपे राशी यावन्ति रू-  
पाणि तान्तामेव जघन्यासंख्येयकासंख्येयकराशीनामन्यो-  
न्यगुणेने सति यो राशिः संपद्यते तत्रप्रथमानन्तकं जघ-  
न्यपरीसानन्तकमवश्यमेव। चतुर्थे तु परीसानन्तकपदावच्छे-  
जघन्यपरीसानन्तककरणे राशी यावन्ति रूपाणि तान्तासंख्यानां  
जघन्यपरीसानन्तकराशीनां परस्परमन्त्र्यासे यावान् राशिर्भव-  
ति तच्चतुर्थमन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं भवति। पञ्चमे युक्तान-  
न्तकपदावच्छे- जघन्ययुक्तानन्तकरूपे राशी यावन्ति रूपाणि  
तान्प्रमाणानामेव जघन्ययुक्तानन्तकराशीनां परस्परगुणेने यावान्  
राशिः संपद्यते तत्सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवति।  
आह—परीसासंख्यातक १ युक्तासंख्यातक ३ असंख्यातासं-  
ख्यातक ३ परीसानन्तक ४ युक्तानन्तक ५ अनन्तानन्तक ६  
संख्याः षट्पि राशयो जघन्यास्तान्तावन्तिः। मध्यमा उत्कृष्ट-  
संख्येयकं मन्तव्या इत्याह—(ते रूत्रयुता इत्यादि) ते अनन्तरदि-  
शु जघन्याः षट्पि राशयो रूपेणैकैककरणेन युताः समन्वि-  
ताः। रूपयुताः सन्तः किं भवन्तीत्याह—अथवा मध्यमाः, ज-  
घन्योत्कृष्टा द्वितीया द्वितीया। तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो जघन्यभ्यासे  
संख्यातकराशिः स एकस्मिन् रूपे प्रकृति मध्यमो भवति। उ-  
पपञ्चस्यै वैतन्—नैकैकरूपेण एव मध्यमगुणेन, किन्त्वैकैक-  
रूपेण द्वेषं तावन्मध्यमो मन्तव्यो यावत्कृष्टपरीसासंख्येयक-  
राशिने जयतीत्येवमनया दिशा जघन्ययुक्तासंख्यातकपदावच्छे-  
पि



राशय एकैकस्मिन् रूपे निहिते मध्यमाः संपद्यन्ते, तदनु चैकैकरूपवृद्ध्या तावन्मध्यमा अद्यसेया यावत् स्वस्वमुत्कृष्टपदे नास्वायन्तीति । तद्धेतौ यदपि किञ्चनरूपाः सन्त उत्कृष्टा भवन्तीत्याह—(कृषेण शुरुपच्छ स्ति) रूपैरेकैकत्ररूपेणोनाः युता रूपानाः सन्तस्ते पश्चात् प्रागभिहिता जल्पन्त्या राशयः, तेश्चम्द् भावुष्येहापि संबन्धनीयः । किं भवतीत्याह—गुरुव उत्कृष्टाः, पाश्चात्याः पाश्चिमाशाय इत्यर्थः । इयमत्र जावना—अध्वन्ययुक्तसंख्यातकराशिरैकेन रूपेण न्यूनः, स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षासंबन्धयकस्वरूपो भवति । अध्वन्यसंख्यातासंख्यातकराशिरस्तु एकैक रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तसंबन्धयकस्वरूपो भवति । अध्वन्यपरीक्षानन्तकराशिः पुनरैकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टसंख्यातकस्वरूपो भवति । अध्वन्ययुक्तानन्तकराशिरैकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टसंख्यातकस्वरूपो भवति । अध्वन्ययुक्तानन्तकराशिरैकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षानन्तकस्वरूपो भवति । अध्वन्ययुक्तानन्तकराशिरैकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षानन्तकस्वरूपो भवतीति ॥ ७६ ॥

इदं च संबन्धयकान्तकभेदात्नामित्यं प्ररूपणमागमाभिप्रायत उक्तम् । कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते, अत एवाह—

इय मुचुत्तं असे, वगियमिक्किंसि चउत्थयमसखं ।

द्वेइ असंवासखं, लहु रुवजुयं तु तं मज्जं ॥ ८० ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण यद् संख्यातकान्तकस्वरूपं प्रतिपादितं, तस्यैवमुद्योगात्तररूपेण सिद्धांतै उक्तं निगदितम् । कर्मोऽध्वन्यं (अत्र मतान्तरम्) असंखितं शब्दे व्याख्यायते ॥ मृताच्चादनसमर्थे वस्त्रे, भावोऽध्वन्यं नवप्रवचनप्रसिद्धे अन्तकार्थः, पंचांशु विद्यते । अन्तन्मा—वि० ॥ अन्तं गच्छतीत्यन्तः ; नाप्रत्ययः अनन्तः । अविनाशितं, “चिच्छा अणन्तं सोयं, निर्येकस्वो परिच्येव” सूत्र० १. शु० ६ अ० ।

अर्थांतगुरिय—अनन्तगुरिय—वि० । अनन्तगुरिये, विरे० ।

अर्थांतघाट (घ)—अनन्तघातिन्—पुं० । अनन्तविषयतया अनन्तं ज्ञानदर्शने हन्तुं विनाशयितुं शीलं येषां तेऽनन्तघातिनः । ज्ञानदर्शनाविनाशनशीलेषु ज्ञानावरणशीयादि कर्मपर्येषु, “पसत्यजोगपरिचये यण अणगारि अणतघाटपद्येव खवेइ” उल० २६ अ० ।

अर्थांतचक्रवृत्—अनन्तचक्रुषु—पुं० । अनन्तं क्रैयानन्ततया नित्यतया वा चक्रुरिव चक्रुः केवलं ज्ञानं यस्य, अनन्तस्य वा लोकस्य पदाधिप्रकाशकतया वा चक्रुर्भूतोः यः स भवत्यनन्तचक्रुः । सूत्र० १. शु० ६ अ० । अनन्तमपर्यवसानं निर्यं क्रैयानन्तस्याद्वाऽनन्तं चक्रुः केवलज्ञानं यस्य स तथा । केवलज्ञानिनः, “तारुं स मुहं च महाभयोधे, अनयंकरं वरिं अणंतकव्वु” सूत्र० १. शु० ६ अ० । अर्थांतजिण—अनन्तजिन—पुं० । अनन्तध्यासीं ज्ञानात्मतया नित्यतया वा जिनश्च रागद्वेषजयनादनन्तजिनः । अद्यसंपरिपायाश्चतुर्दशो तीर्थंकरे, आचा० । कल० । प्रव० ।

अर्थांतजीव—अनन्तजीव—पुं० । अनन्तकार्यिके घनस्फटिनेद्रे, स्था० ३ प्रा० १ उ० ।

अनन्तजीवस्य अदास्तत्कृष्णं चेन्धम—

तणमूलकंदमूलो, वंसीमूळि चि याऽवरे उ ।

संखेजमसंखिज्जा, बोधव्वा एंतजीवा य ॥ ? ॥

सिंघाडमस्स गुच्छो, अणगेज्जीवो उ हंति एणय्वेो ।

पत्ता पसेय जीवा, टोणि य जीवा फले भणिया ॥२॥

जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से मुल्ले, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १ ॥

जस्स कंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से कंदे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ २ ॥

जस्स खंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से खंभे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ३ ॥

जस्स तथाए भग्गाए, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवा तथा सा उ, जे यावन्ना तहाविहा ॥ ४ ॥

जस्स साइस्स भग्गस्स, समो जंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से साइं, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ५ ॥

जस्स प्वाइस्स जग्गस्स, समो जंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे पवाले से, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ६ ॥

जस्स पत्तस्स भग्गस्स, समो जंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से पत्ते, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ७ ॥

जस्स पुफ्फस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से पुफ्फे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ८ ॥

जस्स फलस्स जग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे फले से उ, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ९ ॥

जस्स बीयस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से बीए, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १० ॥

तुणमूलं कन्दमूलं यच्चापरं यशीमूलम्, एतेषां मये क्वचि-  
ज्जातिभेदात् देशभेदेना वा सङ्ख्याना जीवाः क्वचिदसंख्याताः,  
क्वचिदन्तश्च ज्ञातव्याः । ( सिंघाडमस्संख्यादि ) शूङ्गाटकस्य  
यो गुच्छः सोऽनिकर्त्तव्यो जवतीति ज्ञातव्यः त्यक्शास्त्रार्त्त-  
नामनेकजीवामक्यात् । केवलं तत्रापि यानि अत्राणि तानि प्र-  
त्येककर्त्तव्यानि, फले पुनः प्रत्येकमैकैर्कर्मिभ्यु द्वौ द्वौ जीवौ भाग्यते ।  
( जस्स मूलस्संख्यादि ) यस्य मूलस्य जग्गस्य सतः सम पक्का-  
न्तरुपश्चकारां भङ्गः प्रकपेण इत्यतः, तन्मूलमनन्तजीवमव-  
सेयम् । ( जे यावन्ने तहा इति ) यान्यपि चान्यानि अभिज्ञानि  
तथाप्रकाराणि अविद्युतमूलभङ्गमप्रकाराणि तावन्मूलन्तजी-  
वनि ज्ञानव्यानि । एवं कन्दस्सन्ध्वकृष्णकृष्णब्राह्मणपत्रगुणफल-  
वांजायपया अपि एव व्याख्यायाः ॥१०॥ प्रश्ना० १ पद० ।

अधुना मूलादिगतानां वल्लकरुपानां लक्ष्मीनामनन्त-  
जीवत्वपरिहृत्तानार्थं लक्षणमाह—

जस्स मूलस्स कट्ठाओ, उल्लो बहुलतरं जवे ।

अर्णांतजीवा उ सा उल्लो, जा याऽवणा तहाविहा ॥१॥

जस्स कंदस्स कट्ठाओ, उल्लो बहुलतरं भवे ।

अर्णांतजीवा उ सा उल्लो, जा याऽवणा तहाविहा ॥२॥

जस्स खंभस्स कट्ठाओ, उल्लो बहुलतरं जवे ।

अर्णांतजीवा उ सा उल्लो, जा याऽवणा तहाविहा ॥३॥

जस्स सालाड कट्ठाओ, उल्लो बहुलतरं भवे ।

अर्णांतजीवा उ सा उल्लो, जा याऽवणा तहाविहा ॥ ४ ॥

यस्य मूलस्य कट्ठाड सन्ध्वसारान् उल्लो यन्करुपानां बहुलतरा

भवति, सा अनन्तजीवा हातम्या । (जा याऽवस्था तद् इति) याऽपि  
 क्षान्त्या, अर्णितया अनन्तजीवन्ते निश्चितया समानकया ब्रह्मि,  
 साऽपि तथाविधा अनन्तजीवात्मका, हातम्या । एवं कन्दस्कन्ध-  
 श्लाघाविषया अर्णितिको गाथाः परिभाषणीयाः । प्रज्ञा० १ पद ।  
 'यदुक्तं' जलस्य मूलस्य सम्यक्स्य समो भ्रमोः य वीसहै' इत्यादि  
 तेष्वेव लक्षणं स्वपदं प्रतिपिपादयिषुरिन्द्रमाह-

चक्रागं भजमाणस्स, गंठी चुसुप्रयो जवे ।  
 पुदवीसरिसभेदेण, अर्णतंजीवं विद्याणाहि ॥ १ ? ॥

चक्रकं चक्रकारमेकात्तेन समं भङ्गस्थानं यस्य अद्यमानस्य  
 मूलकन्दस्कंधः पर्यवस्थाप्यकृत्वादिभयानि, तन्मूलादिकमनन्त-  
 जीवं विज्ञानीहि इति स्वध्वन्याः तथा 'गंठी' चुसुप्रयो जवे' इति ।  
 ग्रन्थः पर्व सामान्यतोः भङ्गस्थानं वा स यस्य प्रत्यमानस्य च्युतं-  
 न प्रस्था यानां ध्यानां प्रवृत्तिं, शय्याया यस्य पञ्चविंशत्यमानस्य  
 चक्राकारं जङ्गलस्या ग्रन्थिस्थानं ध्यायित्वा च विना पुष्टिर्वा'सहो-  
 न भेदेन जङ्गलान् भवति, स्युषेः कर्णिकारप्रत्येकशरीरकारप्रत्येक-  
 अरुणस्य समो भङ्गो भवतीति ज्ञायः । नमनन्तकान्यं विज्ञानीहि । १ ।

पुनरपि लक्षणान्तमाह—  
 गृहसिगमं पत्तं, सञ्चीरं जं च होइ निञ्चीरं ।  
 जं पिय पणहुसंघि, अर्णतंजीवं विद्याणाहि ॥ २ ॥

यस्य सञ्चीरं निःशरीरं वा गृहस्विकारमलक्ष्यमाणशिराविशेषं,  
 यदपि च प्रणष्टसन्धिः सर्वथाऽनुपलक्ष्यमाणपत्राक्षर्यसन्धिः,  
 तदनन्तजीवं विज्ञानीहि ॥ २ ॥

सम्प्रति पुष्पादिगते विशेषमभिधिस्युराह—  
 पुष्पा जज्ञया धज्ञया, विटवच्चा य णालिवच्चा ।  
 संविज्जमसंवेज्जा, बोधव्वा णंतंजीवा य ॥ ३ ॥

पुष्पाणि चतुर्विधानि, तद्यथा-जज्ञजानि सहस्रपत्रादीनि, स्थज्ञ-  
 जानि कारणकान्दीनि, पतान्धपि च प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-कानि  
 चिद् वृत्तवद्धानि-अतिमुक्तकप्रभृतीनि, कानिचिन्नान्नवद्धानि-  
 जानिपुष्पप्रभृतीनि, अथैतेषां मध्ये कानिचित्पत्रादिगतजीवाप-  
 लया समूहयज्जीवानि, कानिचिदसङ्घेयज्जीवानि, कानिचिद्वन-  
 न्तजीवानि यथागतं बोधव्यानि ॥ ३ ॥

अथैव किञ्चिद्विशेषमाह—  
 जं केड नालिया वद्धा, पुष्पा संसेज्जनीविषया ।  
 एणहुया अर्णतंजीवा, जे याऽवस्ये तहाविहा ॥४॥

पञ्चमुष्पसिर्णं कंदे, अन्तरकंदे ग्हेव स्रह्मणी ॥ ४ ॥  
 एते अर्णतंजीवा, एगो जीवो भिस म्मुह्णो ॥ ५ ॥

यानि कानिचिद् नालिकावद्धानि पुष्पाणि जाल्यादिगतानि तानि  
 सर्वान्यपि सङ्घेयतंजीवकानि जगिणानि तीर्थकरणधरैः ।  
 किह् चिद्पुष्पं पुनरनन्तजीवस्य, यान्यपि चान्यानि किह्पुष्पक-  
 ष्पाणि तान्यपि तथाविधानि अनन्तजीवात्मकानि हातम्यानि ।  
 ( पञ्चमुष्पसिर्णं कंदेत्यादि ) पश्चिमीकन्दः, उत्पत्तिमीकन्दः, अ-  
 न्तरकन्दो जसङ्घयनस्पतिविशेषः कन्दः, किह्किह् वनस्पतिविशे-  
 षरूपाः एते सर्वेऽनन्तजीवाः । नवरं पश्चिमादीनां विशेषं, मुणाले  
 चः एकजीवात्मकं विशामुणाले इति ज्ञायः ॥५॥ प्रज्ञा० १ पद ।  
 सत्फाप सज्जाए, उक्थेइलिया य कुदुणकुंठुके ।  
 एए अर्णतंजीवा, कुंठुके होऽ जयणाओ ॥ १३ ॥  
 एतं कुदनाद्वनस्पतिविशेषा शांक्तः प्रत्येतयाः । एते च

अनन्तजीवात्मकाः, नवरं कः कुठुके प्रजनाः स हि कोऽपि  
 देशविशेषादनन्तोऽनन्तजीवो भवति, कोऽप्यसंख्येयजीवात्मक  
 इति ॥ १३ ॥

किं बीजजीव एव मूलादिजीवो जयति. उतान्तरस्तिस्वप्नकान्ते  
 स्वप्नधते इति परप्रश्नमाहाङ्गवाह—  
 जोगिञ्जए बीए, जीवो चकमइ सो व आओ वा ।

जो वि अमूले जीवो, सो वि हु पत्ते पइयएए ॥१४॥  
 बीजं यानिभूतं योन्यवस्थां प्रांसं, यानिपरिणाममुद्गहतीति भा-  
 वः । बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था । तद्यथा-योन्यवस्था, अयोन्यवस्था  
 च । तत्र यदा बीजं योन्यवस्थां प्रांसं, तदा यानिपरिणाममुद्गहतीति भा-  
 वः । तदा ननु यानिभूतमित्यभिधीयते । उज्जितं च जनुना निश्चय-  
 तो नाद्यनित्यं शक्यते, ततोऽनतिशायिना स्वप्नधते सचेतनमच-  
 तनं वा अन्विष्यन्त्यतो यानिभूतमिति व्यभिचरति । विध्वस्त-  
 योनि तु नियमाद्वचनतयादयोन्यभूतमिति । अयं योनिरिति कि-  
 मभिधीयते ? उच्यते-अन्तेऽपरिणामस्थानमाध्यस्तशक्तिकं तत्र-  
 स्थ जीवपरिणामशक्तिः स्वप्नधमिति भावः । तस्मिन् बीजे यो-  
 निरुत्ते जीवो व्युत्क्रामति उपपद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोऽप्यो-  
 वा आगत्य तत्राप्यपद्यते । किमुक्तं भवति-तदा बीजनिवर्षेकन  
 जीयेन स्वयुष्यः क्रयाद् बीजपरिणामः कृतो भवति । तस्य च  
 बीजस्य पुनरभ्युत्क्रांशायनिसंयोगात्पत्रात्मसोऽस्मभवन्तहा क-  
 दाचित् स एव प्राक्तनो बीजजीवो मूलादिनामगोत्रं निष्यञ्ज्य  
 तन्नामस्य परिणमति; कदाचित्पुनः पूर्ववर्थाकायिकादिर्जीवः ।  
 'योऽपि च सूत्रे जीव इति' य एव मूलतया परिणतं जीवः  
 'साऽपि पत्रे प्रथमतयति' य एव प्रथमपत्रतयाऽपि च परि-  
 णमते, इत्येकजीवकर्तृकं मूलप्रथमपत्रे इति भाषा—यद्येवं  
 " स्ववो वि किसलस्यो खलु, उगमममाणो अर्णतस्यो भ-  
 णिभो " इत्यादि पश्यमाणं कथं न विरुध्यते ? । उच्य-  
 ते-इह बीजजीवोऽप्यो वा बीजसूत्रानोरप्येव तदुच्छ्रान्तावस्थां  
 करोति, ततस्तदनन्तरं भाविनीं किसलयवस्थां नियमता  
 ऽनन्ता जीवाः कुर्वन्ति । पुनश्च तेषु स्थितिक्रयापरिणतेषु अ-  
 सावेव सूत्रजीवोऽनन्तजीवतनुं स्वशरीरतया परिणमस्य ताव-  
 द्भूतेन यावत्प्रथमपत्रमिति न विरोधः । अन्ये तु व्याचक्षते-प्र-  
 थमपत्रमिह याऽसौ बीजस्य संसृष्टेनावस्था, तेन एकजीवक-  
 र्तृकं सप्तप्रथमपत्रे इति । किमुक्तं जयति—मूलसमुच्छ्रान्तवस्था  
 एकजीवकर्तृकं, एतच्च नियमदर्शोनाथेयुक्तम् । मूलसमुच्छ्रान्तव-  
 स्ते एकजीवपरिणमिते एव । शेषं तु किसलयदिनाऽवश्यं सूत्र-  
 जीवपरिणामविशिष्टमिति । ततः सख्यो वि किसलस्यो खलु,  
 उगमममाणो अर्णतस्यो जगिणो " इत्यादि पश्यमाणमधिकदम-  
 मूलसमुच्छ्रान्तवस्थानिर्धर्तनाऽरम्भकाले किसलयत्वाभावादिनि ।  
 आह-अत्येकशरीरे वनस्पतिस्वाधिकानां सर्वकालशरीरावस्था-  
 मधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरस्यतु कर्हिमिहद्वयवस्थाविशेषोऽनन्त-  
 जीवस्यमपि सम्भवति ? । तथा साधारणवनस्पतिस्वाधिकाना-  
 मपि किं सर्वकालमनन्तजीवत्वमतु कदाचित्प्रत्येकशरीरस्यम-  
 पि भवति ? ।

तत्र आह—  
 सव्वो वि किसलस्यो खलु, उगमममाणो अर्णतस्यो जगिणो ओ ।  
 सो वेव विवर्तुते, होऽ परीचो अर्णतो वा ॥ १५ ॥  
 इह सर्वशब्दः परिशेषवाचि । सर्वोऽपि वनस्पतिस्वाः प्रत्ये-  
 कशरीरः साधारण एव किसलयवस्थासमुपगतः सन् अनन्त

कायस्त्रीयकरगणधरैर्मणितः । स एव किसलयवयः अनन्तका-  
यिकः प्रकृतिं मन्त्र्यन्तं अन्ते वा भवति परीतो वा । कथम् ? ।  
उच्यते—यदि साधारणं शरीरं निर्वेद्येते तदसाधारण एव भव-  
ति, अथ प्रत्येकशरीरं ततः प्रत्येक इति । कियतः काहावृक्षं प्र-  
त्येको भवति इति चेत्तुच्यते—अन्तर्मुहुर्गुणः । तथाहि—निगोदाना-  
मुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहुर्गुणं कालं यावत् स्थितिरुक्तं, ततोऽन्तर्मुहुर्गुण-  
परतो विवक्षेमानः प्रत्येको भवतीति । प्रका० १ पृ० ।

निगोदादिशब्दैः सहास्य साधियत्वाद्दन्तजीवस्य च अनन्त-  
जन्तुसन्ताननिपातनिमित्तत्वाद् भङ्गणं वर्ज्यम् । यतः—“गुज्यो  
नैरयिकाः सुराश्च निखिलाः पञ्जाकृतिर्येगुणो, द्व्यङ्गाया ज्वल-  
नो यथोत्तरममी संख्यातिगा भयिताः । तेज्यो तुजलवायवः स-  
मयिकाः प्रोक्ता यथाऽनुक्रमं, सर्वेभ्यः शिवगा अनन्तगुणितारस्ते-  
ज्योऽप्यनन्ता नगाः ” ॥ १ ॥ तानि आर्यवेशप्रसिद्धानि ज्ञाधि-  
शब्दः । तदाहुः—

सन्वा य कंदनाई, मूरणकंदो अ वज्रकंदो अ ।  
अक्ष हल्लिया य तहा, अक्ष तह अक्षकचूर्णो ॥ ? ॥  
सत्तावरी विराली, कुंआरि तह पोहरी ग्लोई अ ।  
लमुणं वंसकरिझा, गजर लुणो अ तह लोडा ॥ २ ॥  
गिरिकषि किसलिपता, खरिसुआ येग अक्ष मुन्या य ।  
तह लूणखलउझी, तिलरुहको अमपचुझी य ॥ ३ ॥  
मूला तह भूमिहदा, विरुहा तह टकवयुदो परतो ।  
सुअरवझो अ तहा, पझंको कोपझंविडिआ ॥ ४ ॥  
आलू तह पिंढालू, हवंति एए अणंतनायेणं ।

अक्रमणंतं नेअं, लकखणुचोई समयआओ ॥ ५ ॥  
सर्वेभ्य कन्दजातिरन्तकायिका इति सम्प्रथः । कन्दो नाम  
भूमय्यगोहृत्कलयवः । ते चात्र कन्दा अशुष्का एव प्राहाः, शु-  
ष्काणां तु निर्जीवत्वाद्दन्तकायिकत्वं न सम्भवति । श्रीहैम-  
रिच्येयमेव 'आर्द्रः कन्दः समप्रोऽपि, आर्द्रोऽशुष्कः कन्दः शुष्क-  
स्य तु निर्जीवत्वाद्दन्तकायिकत्वं न सम्भवति' इति योगशास्त्रसु-  
ब्रह्मस्योहारा । अथ तावेष कांश्चिकन्दान्, व्याप्रियमाणत्वात्तामयत  
आह—सूरणकन्दोऽशोणः कन्दविशेषः १, वज्रकन्दोऽपि कन्दवि-  
शेष २, आर्द्रो अशुष्का, हरिद्रा प्रतीतेव ३, आर्द्रं कुङ्कु-  
वर्म ४, आर्द्रकचूर्णस्तिकद्वयविशेषः प्रतीत एव ५, शतावरी  
६, शार्ङ्गिको ७ वल्लोनीयैः । कुमारी मांसस्रप्रणासाकारपत्रा प्र-  
तीति ए, पोहरी स्तुहीनकः ६, युद्धी बह्वीविशेषः ३। एव  
१०, सद्युनं कन्दविशेषः ११, वंशकरिझानि कामस्रातिनव्यं-  
शावयवविशेषाः प्रसिद्धा एव १२, गजकानि सर्वजनविदिता-  
न्येव १३, लवणको वनस्पतिविशेषः—यम दण्डेन सार्जिका नि-  
पचते १४, सोढकः पश्चिमीकन्दः १५, गिरिकषिका बह्वीविशे-  
षः १६, किशलयकपाणि पत्राणि प्रौढपत्रादयोः क्वीजस्योच्चू-  
नावस्यास्रकृणानि सर्वोप्यनन्तकायिकानि, न तु कानिचि-  
देव १७, अरिद्रियुकाः कन्दभेदाः १८, धंगोऽपि कन्दविशेष एव  
१६, आर्द्रो मुस्ता प्रतीता २०, लवणापरपर्यायस्य अमरनाम्नो  
द्वृक्षस्य दुग्धिस्रवक, न त्यन्तेऽवयवाः २१, लिङ्गदंडो लोकप्रसिद्धः  
कन्दः २२, अमृतवल्ली बह्वीविशेषः २३, मूलको लोकप्रतीतः  
२४, भूमोर्हानि छुवाकपाणि वर्षीकालमवाणि भूमोर्हानि-  
कानीति प्रसिद्धानि २५, विश्वाम्यकृत्तितानि द्विदलधान्या-  
नि २६, इक्ष्वास्तुलः शाकविशेषः, स च प्रथमोद्गत एवानन्त-

कायिको न तु विदुश्चक्रकन्दः २७, शकरसंबको वनः, स एवा-  
नन्तकायिको न तु धान्यबह्वः २८, पल्लवह्वः शाकभेदः २९, को-  
मलान्धिलका अश्वत्थारिथका विज्ञानिका ३०, आशुक्र ३१, पि-  
पहालुकी ३२ कन्दभेदी । एते पूर्वोक्ताः पदार्था ज्ञाधिशास्त्र-  
स्याका अनन्तकायनामभिधेयस्तौत्यर्थः । न वैसाधस्य धान-  
न्तकायिकानि किन्त्वन्तेऽपि, तथाऽऽह—अन्यदपि पूर्वोक्ता-  
तिरिक्तप्रमन्तकायिकम्, लक्षणयुक्त्या वक्ष्यमाणलक्षणयुक्ता-  
रणया, समवात् सिद्धान्ततः ज्ञेयम् ।

तान्येवानन्तकायानि यथा—  
पोसकर्रीरुंरु ति—दुयं अइकोमलंवागैरिण ।  
वक्ष्यवर्नान्वयार्द—ए अंरुंरुंरं अणंताई ॥ ? ॥  
घोषताफीकीरीयोरुंरुंरुः, तथाऽतिकोमलान्यवक्ष्यस्थिकानि  
तिन्तुकाप्रफलादीनि, तथा वक्ष्यदंतिम्भार्दीनामहूरा अनन्त-  
कायिकाः । अनन्तकायलक्षणं चेदम्—“गृदासिरसपिपथेव, स  
ममंभोमिहृदहं च द्विग्रहदं । साहारणं सरीरं, तन्विचरीभं च  
पंचेभं” ॥ १ ॥ एवं लक्षणयुक्ता अन्येऽपि अनन्तकायाः स्युः, ते दे-  
याः । यतश्च—“वन्धरो नरकहाराः, प्रथमं रात्रिभोजनम् । पर-  
कीसंगमश्चैव, संधानानन्तकायिकं ” ॥ १ ॥ उक्तमन्तकायि-  
कम् । च २ अधि० । ( अनन्तकायिकस्यादाने प्रार्थयिष्यत  
'पलंब' शब्दे प्रवृत्तियन्ते । )

अहं जंते । आहुर मूल ए मिगवेरे हरिलीं सिंगली  
सिसिरद्वी किट्टिया निरिया ठीरविरालिया कहकंदे व-  
ज्रकंदे सूरणकंदे सेण्डूदे अहमुत्वा पिंढहलिया लो-  
हाणि हृषिवृविजागा अस्सकषी साईकी मुट्टंकी जेयाऽवखणे तहपुणारा सन्वे ते अणंतं । वा विवि-  
दसत्ता ॥ हेता गायमा । आहुर मूत्रण० जाव अणंतं । वा  
विविदसत्ता ॥ भ० ७ शो ५ उ० । प्रहा० ।

जे निक्खु अणंतकायसिम्पस्सं जुत्तं आहारं आहारैरं,  
आहारंतं वा साऽज्ज ६ ।

जे निक्खु अणंतिकातो मूलकंदो अहगकमादि वा एवमादि  
सिम्पस्सं जो भुंजति नस्स चउरुग ॥

जे भिक्खु भसाणादीं, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं ।  
सो आण्णा अणवत्थं, मिच्चत्तविराहणं पावे ॥ ५३ ॥

आण्णादिया दोसा हवंतिः इमे दोसा—  
तं कायपरिव्ययं, तेषु ए वत्तण समं वयति ।

अतिसत्थं आणुचित्तं, ए विसुत्तिकादींणि आयाए । ५४ ॥

इमा आयविराहणा—तेषु रसालेण अतिसत्थं अणुत्तेण व वि-  
स्तिकादीं मंभंजेज्ज वा अज्जंरंतो वा अण्णतरं रोगात्तंको भंवे-  
ज्ज, एवं आयविराहणा, जग्हा एते दोसा तग्हा ए भोतव्यं;  
कारणे तु वृज्जेज्ज ।

असिंवे ओमोयारिणं, रायइदुं भप च गेल्ले ॥

अक्खाणं रोहणं वा, जण्णा इमा तत्थ कायव्वा ॥ ५५ ॥

पूर्ववत् इमे वक्खमाणजयणा—  
अयं तिभागमेहं, तिभाग आर्यविले चउत्त्यादी ।

निम्पस्से मिस्सेया, परिचणं ते य जा जतया ॥ ५६ ॥  
जह णुत्ते वक्खमाथो जहा पापे भणिया तहा वक्खया ।

आणंतजीव

इमो सं अक्षररथो-भोमं एसणिञ्छं जुञ्जति, नित्रांगेण वा कृष्णं पसणिञ्छं जुञ्जति, अरं वा पसणिञ्छं, विभागं वा एसणिञ्छं, आ-  
यं विलेपेण वा अरथ्यति । अउत्थं वा करंति, ग य अणंतकार्यं तस्मि-  
स्सं जुञ्जति आहो णिमिस्सं लभन्ति, जाहो णिमिस्सं ण लभन्ति  
साहे परीसकायमिस्सं गेहदति, जाहो ते पि न लभन्ति ताहो  
अणंतकार्यमिस्सं गेहदति, जा य पणगादिजयया सा दृष्ट्या ।  
नि० सू० १० उ० ।

अणंतजीविअ-अनन्तजीविक-पुं० । अनन्तकथिकचनस्पती,  
अ० ण० ३ उ० ।

अणंतज्ञान-अनन्तज्ञान-न० । अनन्तं स्वपरपर्यायापेक्षया  
यस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानम् । केवलज्ञाने, दश० २ अ० ।

अणंतप्राणार्द्रसि-(ण)अनन्तप्राणार्द्रशिन्-पुं० । अनन्तं ज्ञानं दर्श-  
नं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शा । केवलज्ञानिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतप्राण ( ष ) अनन्तज्ञानिन्-पुं० । अनन्तमविनाशय-  
नन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं विशोषादकं यस्यासावनन्त-  
ज्ञानी । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उपपन्नकेवलज्ञाने तीर्थकरे,  
व्यां० ६ पाठ० । स० ।

अणंतर्द्रसि ( ष ) अनन्तर्द्रशिन्-पुं० । अनन्तमविनाशयनन्त-  
पदार्थपरिच्छेदकं दर्शनं सामान्यार्थपरिच्छेदकं यस्य स  
अनन्तदर्शा । जग्यकवेवलदर्शने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपपसि-अनन्तप्रदेशिक-पुं० । अनन्तपरएवात्मके  
स्फुट्ये, ज० ण० २ उ० ।

अणंतपार-अनन्तपार-स्त्री० । अनन्तः पारः पर्यन्तो यस्य  
कालस्य स अनन्तपारः । अन्तविरहितपर्यन्ते, “ केण अणंतं  
पारं, संनारं हिमं ज्ञीमि ? ” आउ० । “ से परया अक्षयसा-  
गरे वा, महोद्दोहा वा वि अणंतपारं ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपासि ( ष ) अनन्तदर्शिन्-पुं० । परवन्ते भविष्यति वि-  
द्वान्तिभे नो धेकृति, नि० ।

अणंतमिस्सिया-अनन्तमिस्सिया-स्त्री० । मूलकादिकमनन्त-  
कार्यं, तस्यैव सक्तैः परिपाकुरुपरिव्येन वा केनचिन् प्रत्ये-  
कचनरूपान्ताः मिश्रमवलोक्य स्वयोऽप्येवोऽनन्तकार्यिक इति  
वदतः सत्यसूचनायाभेदे, प्रश्ना० १ पद० । घ० ।

अणंतमिस्य-अनन्तमिश्रक-न० । अनन्तविषयकं मिश्रक-  
मनन्तमिश्रकम् । सत्यसूचाभेदे, यथा मूलकादादी परीतपवा-  
दिसम्यनन्तकारयोऽयमिस्सिविदधतः । स्थान० १ उ० ।

अणंतमोहो-अनन्तमोहो-त्रि० । अनन्तोऽप्येवस्ति तदभावा-  
पेक्षया प्रायस्तस्याऽनपममाद् मुखने येनाऽस्ती मोहो हा-  
नावरणदर्शनमोहनीयात्मकः । तन्मोहान्तो मोहोऽस्येत्यनन्त-  
मोहः । वच० ४ अ० । अविनाशिदर्शनावरणमोहनीयकर्मणि,  
‘दोषव्यपेक्षेव अणंतमोहो, नेयाद्यं वं दृष्टमदृष्टमेव’ वच० ४ अ० ।

अणंतर-अनन्तर-त्रि० । न विद्यतेऽनन्तरं व्यवधानं यस्य । ६  
० । अव्यवहिते, नं० । पञ्चा० । निर्व्यवधाने, “ अणं-  
तरं देवलोप अणंतरं मण्डलस्य भवे किं परं ? ” अ०  
१ श्रु० ७ उ० । कव्य० । “ अणंतरं चयं चइसा ” अव्य-  
वहितं व्यवचने कृत्येपर्यः । ( हा० ण० ४ ) देवत्वसम्बन्धिने  
वेहं स्वकल्पेपर्यः । अथवाऽनन्तरम्-प्रायःकृत्वाचननन्तरं ( चयं  
ति ) व्यवचनं ( चइस ति ) च्युत्वा, महाविद्येहे अनन्तरं शरीरं

त्यक्त्वा, व्यवचने वा कृत्वा । चिपा० १ श्रु० १ अ० । न विद्यते-  
ऽनन्तरं व्यवधानमस्येत्यनन्तरः । तन्मामनससम्यं, स्थान० १ उ० ।  
अणंतरस्वेचोगाह-अनन्तरस्त्रेचावगाह-त्रि० । आत्मशरीरा-  
वगाहकेत्रापेक्षया यदनन्तरं केत्रं तत्रावगाहे, ‘ नो अणंतरस्वे-  
चोगाहे योग्यं अन्तमायाए आहारेति’ । ज० ६ श० १ उ० ।

अणंतरस्वेदोववद्यग-अनन्तरस्वेदोवपन्नक-त्रि० । अनन्तरं स-  
मयाद्यव्यवहितं खेदं उन्नेनोपपन्नमुपादकेत्रप्राप्तिलक्षणं ये-  
थां तेऽनन्तरस्वेदोवपन्नकाः । खेदप्रधानोत्पत्तिप्रथमसमयवर्तितेषु  
त्रैर्यिकादित्यु, प्र० १ श्रु० १ उ० । ( अत्र दृग्दकस्तेषामायुर्बन्धश्च  
‘आठ’ शब्दे हि० भा० १ श्रु० पृष्ठे वदयते )

अणंतरगंतिय-अनन्तरग्नित्यत-त्रि० । ३ त० । प्रथमप्रवृत्ती-  
नामनन्तरव्यवस्थितैर्मिथिभिः सह प्रवृत्तौ, ज० ५ श० ३ उ० ।

अणंतरचेप-अनन्तरचेद-पुं० । स्वार्थकैव द्वैधीकरणे, “ अह-  
न्तादि अणंतरं षोडशं देहं वा च क्विचित् तं अणंतरचेप्यो  
जगति ” नि० सू० १ उ० ।

अणंतरणिमय-अनन्तरनिर्गेत-त्रि० । निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या  
गतं गमने निर्गतम् । अनन्तरं समयविना निर्व्यवधानं निर्गतं  
येथां तेऽनन्तरनिर्गताः । प्रथमसमये सगारवेकचित्तेषु स्थानान्-  
तराप्तेषु, अ० १ श्रु० १ उ० । ( अत्र दृग्दकस्तेषामायुर्बन्धश्च  
‘आठ’ शब्दे हि० भा० १ श्रु० पृष्ठे वदयते )

अणंतरदिहृत्य-अनन्तरदृष्टान्तक-पुं० । यः कल्पनन्तरप्रयुक्तो-  
ऽपि परोक्तवादागमस्यत्वाद् दार्ष्टान्तिकार्थसाधनत्वात् न  
न ज्ञानि तस्मिन् दृष्टान्तभेदे, दश० १ अ० ।

अणंतरपज्जत-अनन्तरपर्याप्त-पुं० । न विद्यते पर्याप्तव्यभंते  
येथां तेऽनन्तराः, ते स ते पर्याप्तताकेत्यनन्तरपर्याप्तताः । प्रथ-  
मसमयपर्याप्ततेषु त्रैर्यिकादित्यु, स्थान० १ उ० ।

अणंतरपच्छाक-अनन्तरपश्चात्कृत-त्रि० । अनन्तरं व्यवधाने-  
न पश्चात्कृतोऽनन्तरपश्चात्कृतः । व्यवधानेन पश्चात्कृते, सं०  
प्र० ण० पाठ० ।

अणंतरपरंपरअिगमय-अनन्तरपरंपरानिर्गत-पुं० । प्रथमसम-  
याधिक्रमेण, ये हि गकादुद्वृत्ताः सन्त्या विग्रहगतौ वर्तन्ते न ताव-  
दुपादकेत्रमासादयन्ति, तन्नामनन्तरजावेन परस्परजावेन बोधा-  
दकेत्रप्राप्तत्वेन निश्चयनामिर्गन्तव्यात् । ज० १ श्रु० १ उ० । ( अत्र  
दृग्दकस्तेषामायुर्बन्धश्च ‘आठ’ शब्दे हि० भा० १ श्रु० पृष्ठे वदयते )

अणंतरपरंपरअिवद्यग-अनन्तरपरंपरावपन्नक-पुं० ।  
अनन्तरमव्यवधानं परस्परं च द्विद्वादिसम्यक्प्रमविद्यमानमुप-  
पन्नमुपायो येषां ते तथा । विग्रहातिवक्तुः, विग्रहगतौ हि द्विवि-  
धस्याप्युपादकस्याविद्यमानत्वादिति । ज० १ श्रु० १ उ० ।

अणंतरपरंपरअिवद्यग-अनन्तरपरंपरावपन्नक-पुं० ।  
अनन्तरं परस्परं खेदं नास्ति उपपन्नकं येषां ते तथा ।  
विग्रहातिवर्तितेषु, अ० १ श्रु० १ उ० ।

अणंतरपुरस्वद-अनन्तरपुरस्कृत-त्रि० । स्वाव्यवहितोत्तरव-  
र्तिनि, “ अणंतरपुरस्वदे कालसमयसिनि ” अनन्तरमव्यवधानेन  
पुरस्कृतोऽप्रे कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतः । अनन्तरं द्वितीय इ-  
त्यर्थः । सू० प्र० ण० पाठ० । सं० प्र० ।

अणंतरसमुदाणिकिरिया-अनन्तरसमुदानक्रिया-स्त्री० । ना-  
स्वन्तरं व्यवधानं यस्याः सा अनन्तरा, अव्यवहृता । सा च

**अर्थांतरसमुदायक्रिया**

**अभिधानराजेन्द्रः ।**

**अर्थताणुबंधि**

समुदायक्रिया च । क० स० । प्रथमसमयवर्तिस्समुदायक्रियाया-  
श्च, स्था० ३ डा० १ उ० ।

**अर्थांतरसिद्ध-अनन्तरसिद्ध-पुं० ।** न विद्यतेऽन्तरं ध्ववधान-  
मर्थात् समयेन येषां तेऽनन्तराः, ते च सिद्धाभ्यानन्तरसिद्धाः।  
सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमानेषु सिद्धेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

**अर्थांतरद्वय-अनन्तरद्वित-त्रि० ।** अन्वयबहिर्ते, आचा० १ बु० २  
अ० ३ उ० । सचिञ्चे, आच० ३ अ० । "जे भिक्खु माउग्गामस्स  
मेहुण्णवडियाए अर्थांतरद्वियाए पुदचीए शिसियावेअ वा" अन-  
न्तरद्वितया, अनन्तरद्विया एवम सचिञ्चा । नि० बू० ७ उ० ।

**अर्थांतरागम-अनन्तरागम-पुं० ।** आगमभेदे, अर्थापेक्षया गण-  
धराणामनन्तरागमः । सूत्रापेक्षया गणधरशिष्याणामनन्तरा-  
गमः । सूत्र० १ बु० १ अ० १ उ० ।

**अर्थांतराहारग-अनन्तराहारक-पुं० ।** अनन्तरानव्यवहितान्  
जीवप्रदेशरान्कान्ततया स्पृष्टतया वा पुद्गलानाहारयन्तान्यन-  
न्तराहारकाः । जीवप्रदेशैः स्पृष्टानां पुद्गलानामाहारकेषु भैर-  
यिकार्षिषु, स्था० १० डा० । अनन्तरमुपपातसिद्धप्रार्थिसिद्धमयमेव  
आहारयन्ति इत्यनन्तराहाराः । प्रज्ञा० ३४ पद । प्रथमसमया-  
हारकेषु, स्था० १० डा० । ( 'आहार' शब्दे अनन्तराहारग्रहणं  
शरीरस्य निर्णालित्वेयमवधिक्रमो द्वि० भागे बह्यते )

**अर्थांतरोरिय-अनन्तरिते-त्रि० ।** न० त० । अन्वयबहिर्ते, विशे० ।

**अर्थांतरोगाढग-अनन्तरागढाढक-पुं० ।** अनन्तरं संप्रत्येव स-  
मये क्लिप्ताकाशदेशेऽग्राहादा आभित्यस्त एवानन्तरागमा-  
ढकाः । प्रथमसमयावगाढकेषु विवक्षितं क्षेत्रं द्रष्टुं वाऽपेक्षया-  
व्यवधानेनावगाढेषु भैरयिकार्षिबन्धेषु, स्था० २ डा० १ उ० ।

**अर्थांतरोवशिष्टा-अनन्तरोपनिधा-स्त्री० ।** उपनिधानमुपनिधा,  
धातुनामनेकार्थत्वानामांशमित्यर्थः । अनन्तरोपनिधाऽनन्त-  
रोपनिधा । अनन्तरयोगस्थानमधिकृत्य उत्तरस्य योगस्थानस्य  
मार्गेषु, सं० पं० ५ डा० । क० प्र० ।

**अर्थांतरोवश्लेष-अनन्तरोपपञ्चक-पुं० ।** न विद्यतेऽन्तरं ध्वव-  
धानमस्येत्यनन्तरः वर्तमानः समयः । तत्रोपपञ्चकाः, स्था०  
१० डा० । न विद्यतेऽन्तरं समयादिव्यवधानमुपपञ्च उपपाते  
येषां ते अनन्तरोपपञ्चकाः । प्रथमसमयेऽप्येव, म० १३ श०  
१ उ० । येषामुत्पन्नानामेकोऽपि समयो नातिक्रमन्ते यतः  
स्था० १० डा० । एकसादनन्तरमुत्पन्नेषु भैरयिकार्षिषु वैमानि-  
कपर्वनेषु, स्था० २ डा० २ उ० ।

**अर्थांतरवर्गभ्रय-अनन्तवर्गजक्त-त्रि० ।** अनन्तवर्गापवर्तिते,  
" सोऽर्थांतरवर्गभ्रयो सव्यागासेन मीपज्जा " औ० ।

**अर्थांतरवियोगुत्पेष्ठा-अनन्तवृत्तितानुमेक्षा-स्त्री० ।** अनन्ता  
अत्यन्तं प्रभृता वृत्तिवर्तनं यस्यासावनन्तवृत्तिः, तस्या अनु-  
मेक्षा अनन्तवृत्तितानुमेक्षा । भवसान्दानसयानन्तवृत्तितानु-  
मेक्षणकार्यां शुकुभ्यानस्य प्रथमानुप्रक्षायाम्, यथा-एस अ-  
र्थाई जीवो, संसारसागरो व्व दुचारो । नायतिरियनारमर-  
भवेसु परिहिञ्चय जीवो ॥ अ० ४ डा० १ उ० । औ० । म० ।  
अनन्तवर्तितानुमेक्षा-स्त्री० । अनन्तया वर्तते इति अनन्तव-  
र्ती, तत्रावस्तथा, भवसान्दानस्येति गम्यते; तस्या अनुमेक्षा ।  
शुकुभ्यानभेदे, स्था० ४ डा० १ उ० ।

**अर्थांतरविजय-अनन्तविजय-पुं० ।** भरतकेने भविष्यति चतुर्वि-  
शे तीर्थकरे, स० । ति० । सुषिष्टिराङ्गे, वाच० ।

**अर्थांतरविधाण-अनन्तविक्रान्त-पुं० ।** अनन्तमप्रतिपाति, विशि-  
ष्टं सर्वद्रव्ययोः विषयबन्धोक्तं, केवलान्वयविक्रान्तं ततोऽनन्तं  
विक्रान्तं यस्य सोऽनन्तः । केवलसिद्धि, स्था० १ स्तो० ।

**अर्थांतरवीरिय-अनन्तवीर्य-पुं० ।** जमरक्षिनायोर्या रणेषुका-  
याः स्वसुःपत्न्यौ कार्तेवीर्यपितरि, आ० बू० १ अ० । आ० म०  
आ० क० । दश० । भरतकेने भविष्यति त्रयोविशे तीर्थ-  
करे, ती० २१ क० ।

**अर्थांतरसंसारिय-अनन्तसंसारिक-पुं० ।** अनन्तश्चासौ संसार-  
अनन्तसंसारः, सोऽस्मास्तीत्यनन्तसंसारिकः । 'मनोऽमेकस्व-  
राव' इतीकप्रत्ययः । अपरिमितसंसारे, रा० । प्रति० । भैर-  
यिकार्षिवैमानिकपर्येत्यु, स्था० २ रा० १ उ० ।

अथ केनाजितमनन्तसंसारियः इति प्रश्ने उत्तरमाह—  
जे पुण गुरुषदिणिया, बहुभोहा ससबला कुसीडा य ।  
असमादिण्णा मरंति ठ, ते हुंति अर्थांतरसंसारी ॥६६॥

(जे पुण) ये पुनः, गृणास्यभिषयं तस्यमिति शुकः, नं प्रति, ज्ञा-  
नायवर्णवाद्जावणादिना प्रत्ययः । प्रतिकृजाः, तथा बहुमोहा-  
न्निश्रान्मोदनीयस्थानवर्तिनः, सद्द शब्लैरेकविशतया शबलस्था-  
भैर्वर्तन्ते ये ते सशबलाः, कुत्सितं शीलाभाचारो येषां ते कुदा-  
ज्ञाः । अः समुच्चये । एषांविधा येऽसमाधिनाऽऽनैरुक्तावै वष-  
माना ज्ञियन्ते, तेऽनन्तसंसारिणां भवन्तीति । आनु० ।

**अर्थांतरसमयसिक्-अनन्तसमयसिक्-पुं० ।** अनन्तेषु समयेषु  
एकैकसिक्, स्था० १ रा० १ उ० ।

**अर्थांतरसेण-अनन्तसेन-पुं० ।** तृतीयायामवसर्पिण्यां जाते च-  
तुषुष्कलकरे, स० । भक्तिपूर्वावस्तव्यस्य नागयूथपनेः सु-  
रसानाम्नायां ज्ञायोर्यां जाते पुत्रे; तत्कथा अनन्तहृदशयास्तृतीया-  
ये वर्गे द्वितीयाध्ययने सूचिता, तत्रैव प्रथमाध्ययनोकाऽणीय-  
स्वैव प्रावर्तनीया (अन०) । अर्थ-आदिशुद्धयोः, आदिशुक् एव  
दानम्, विशदितवर्णयि पर्यायः, चतुर्दशपूर्वाणि क्षुत्तम्, शत्रुऽजय  
सिद्धिः । अस्तुस्तु अयं वसुदेववर्द्धकीस्तु । अन० ६ अ० ।

**अर्थांतरमो-अनन्तशस-अर्थ० ।** बहुधारमित्यर्थे, निरवधिक-  
काक्षमित्यर्थे च । सूत्र० १ बु० १ अ० ३ उ० । " गमनमेस्स-  
ति नंतसो " इति । अनन्तयो निर्बिच्छेदमिति वृत्तकारः ।  
सूत्र० १ बु० १ अ० २ उ० ।

**अर्थांतरहियकामुय-अनन्ताहितकामुक-त्रि० ।** मोक्षकामुके, दश०  
६ अ० २ उ० ।

**अर्थांतरानन्त-अनन्तानन्त-त्रि० ।** अनन्तेन गृणिता अनन्ताः ।  
अनन्तगुणितेषु अनन्तेषु, म० १४ श० १ उ० ।

**अर्थांतराणुबंधि [ ए ]-अनन्तानुबन्धिन-पुं० ।** अनन्तं संसारं  
जयमनुबन्धनात् अविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी । अन-  
नतो वाऽनुबन्धो यस्येत्यनन्तानुबन्धी । सप्रयश्चरेशसहस्रभवि-  
क्षमास्वरूपपशमादिचरणास्त्रबन्धिनि कांषादिकषाये, स्था०  
४ डा० १ उ० । यद्वाचि- "यस्मादनन्तं संसार-मनुबन्धनं द्वेदि-  
मः" ततोऽनन्तानुबन्धीति, स्वशां सपु निबंधिता" ॥१३॥ ते च सव्याः  
कांश्रयानमममममः । यद्यपि चैतेषां शेषकषायाद्वरहिताना-  
मुदयो नास्ति, तथाऽप्यवश्यमनन्तसंसारसूत्रकारणसिध्दयावो-

यथाऽऽज्ञेयकथाद्योपमिषान्तानुबन्धिन्धत्वव्यपदेशः । शेषकथाया  
हायवयं मिथ्याऽयोद्यमाज्ञेयपत्यस्तेषामुद्यययोग्येषु सत्यपि  
नायं व्यपदेश इत्यस्यधारणमेवेतन्नामेति । कर्म० १ कर्म० ।  
( 'कसाय' शब्देऽपि मृ०भा० ३६७शुद्ध आर्वितमेतद् विस्तरतः )

अणंतापुबंधि विसंयोग्या- -अननानुबन्धि विसंयोजना-ञ्जी०।  
अननानुबन्धिनां कथायाणां विषयमोजानायाध, ( चिन्ताये) अन-  
नानुबन्धिनां कथायाणामुपशमनास्थाने विसंयोजना भवति ।

क० प्र०। (तत्प्रकार 'उच्यते' शब्दे द्वि०जा०१०२पृष्ठे वक्ष्यते)  
अणतिय-अनन्तिक-न०। अन्तिकमासत् तन्निषेधादन्तिकम्,  
नञोऽप्यार्थत्वात् । अनासत्ते, भ० ५ श० ४ उ० ।

अणंदमाण-अनन्दमत्-त्रि०। सौख्यमनूच्छति, त० ।  
अणं, दिय-अनन्दि-वि० । अणंशोकावसिन्ध्यामष्टमां दिङ्-  
मायांभ, आ० क० ।

अणुं-अनन्ध-पुं०। अणुपुरनगरेश्चरे राक्षि, "अंधपुरं नगरं  
तस्य अणुंयो राया" शृ० ४ उ० । नि० चू० ।

अणुंविद्वा-अनाम्न-त्रि०। न० त०। स्वस्वादावच्छिन्ने, आचा०  
२ शृ० १ अ० ७ उ० । अनाम्नोच्यते जीवितविषयमुक्ते पानकादौ,  
नि० चू० १९, ४० ।

अणुंमुवाइ [ ण ]-अनभ्रुपातिन्-पुं० । न अणु पातयतीति  
मागोद्विषेदेव्यपि अनभ्रुपातनशीले ब्रुभाभ्यादौ, "अं अणंरपा-  
ति अणंरपादि अणुंमुवाइ" जं० ३ वङ्ग० ।

अणुकर्म-अनकर्म-न०। अणः शकटम्, तत्कर्म अणःकर्म । शकटश-  
कटाङ्गघटनक्रेतविकारदौ, घ० । एतच्च पापकृतीनां कारणमि-  
ति ह्यथा भावकेण त्यक्तव्यम् । यदाह-"शकटानां तद्वहानां, घट-  
नं क्रेतनं तथा । विक्रयश्चेति शकटा-आयिका परिकीर्तिता" ॥१॥  
तत्र शकटात्मिनिति चतुष्पदवाक्यानां बाह्यनामां, तद्वहानां चका-  
दीनां घटनं स्वयं परेण वा निष्पादनं, क्रेतनं बाह्यं च शकटाना-  
मेव सम्भवति, स्वयं परेण वा विक्रयश्च । शकटादीनां तद्वहानां  
चैवं कर्मणि सकलचूतोपमर्दजननं गवादीनां च वधवन्धा-  
दिहेतुः । घ० २ अचि० ।

अणुकर-अणुकर-पुं०। अणुं पापं करोतीति अणुकरः। चतुर्विधो  
गौणप्राणतिपाते, प्र० १ आ० ४० हा० ।

अणुक [ वत् ] अनल-पुं० । स्तंभकभेदे, प्र० १ आ० ४० हा० ।  
अणुकजिह्व-अनासाभिन्न-त्रि० । अणुस्तिते बलीबहादौ,  
"अणिल्लिजिह्वे अणुकभिर्गोद्वे गोपेहि तसपाणुविभजिजिह्वेहि  
विशेर्हि विस्ति कप्येमाणा विहरति" भ० ८ श० ५ उ० ।

अणुक्तरसुयं-अनङ्गरभ्रुत-भ० । द्येदितशिरःकम्पनादिनि-  
मित्तं मामाह्वयति धारयति वेत्यादिरूपे अग्निप्रायस्परिहान-  
स्वरूपेऽङ्गरभ्रुतविषयकृते भुनभेदे, कर्म० १ कर्म० ।  
से किं तं अणुक्तरसुयं ? अणुक्तरसुयं अणुगैर्विदं पशुचं ।  
तं जहा- "ऊससियं नीससियं, निच्छूदं स्वागिदं च द्वीयं  
च । निर्ससियं पशुसारे, अणुक्तरं डेलियाईयं" ॥१॥ सेत्  
अणुक्तरसुयं ॥

अथ किं तदनङ्गरभ्रुतम्-अनङ्गरात्मकं भुतमनङ्गरभ्रुतम् । आचा-  
र्थे अह-अनङ्गरभ्रुतमनेकविधम्-अनेकपदार्थं प्रकृतम् । तद्यथा-  
(ऊससियमित्यादि) उच्चूसनमुच्चूसितम्, भांभं निष्ठाप्रत्य-

यः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम्, निद्रीवनं निदृष्टम्, काशनं  
काशितम् । अशब्दः समुच्चयार्थः । छिन्ना कुतम्, एषाऽपि ।  
बहाश्चः समुच्चयार्थः, परमस्य व्ययहितः प्रयोगः । सेटिकादिकं  
केत्येवं दृष्टव्यम् । तथा निःसिद्धितम् । अनुस्वारपदम्-अनुस्वार-  
मित्यर्थः । तथा सेटिकादिकं आनङ्गरं भुतम् । न० ।

अथ प्राप्त्पदम्-

ऊससियार्थे दन्वसु-यमेवमदृष्टो मुञ्जोवउत्सस ।  
सञ्चो वि य वावरो, सुयमिह तो किं न च्छा वि ॥

इहोच्चूसितादि अनङ्गरभ्रुतं, ऊच्यतमात्रमेवाङ्गगतव्यम् ;  
शब्दमात्रत्वात् । शब्दश्च प्रावभूतस्य कारशमेव; यच्च कारणं  
तद्व्यप्येव जवतीति प्रायः । जवति च तथाविधोच्चूसितनिःश्व-  
सितादिश्रवणे शकतोऽप्यमित्यादि ज्ञानम् । एवं विशिष्टमि-  
स्थिष्वप्येकनिष्ठपूतकासितभूतादिश्रवणेऽप्यत्रमहानङ्गं ज्ञानं  
वाच्यमिति । अथवा भूतज्ञानोपयुक्तस्यात्मनः स्वार्थनिर्बोप-  
योगात्सर्वोऽप्युच्चूसितादिको व्यापारः भुनमेवेद् प्रतिपत्तव्य-  
मित्युच्चूसिताद्यः भूतं भवत्येवेति । आह-यथेवं ततो गमना-  
गमनचङ्गनस्पन्दनादिकर्पादि चेद्वा व्यापार एव, ततः भूतोपयुक्त-  
संबन्धिनी एषाऽपि किं भूतं न जवति ? । उच्यते-कः किमाह ? ।  
प्राप्त्यनेन न्यायेन साऽपि भूतः, किन्तु-

रूढी य तं सुयं सु-बद् वि चेद्वा न सुबद् कयाइ ।  
अह्निगमया वएणा इव, जणुस्सारादञ्जो तेषां ॥

उक्तन्यायेन भूतत्वप्राप्ती समानायास्यति तद्वोच्चूसितादि भूतं,  
न शिरोऽधूननकरचलनादिचेद्वा ; यतः शास्त्रलोकरप्रसिद्धा  
रुदिरियं तत उच्चूसिताद्ये भूतं रूढं, न चेदर्थः ॥ अथते  
इति भूतमिति चानर्थक्यशात् । तद्वोच्चूसितादि भूतम्, न चेद्दे-  
त्येवं अशब्दः पञ्जात्तद्व्युक्तो भिन्नकर्मश्च । करारदिचेद्वा तु  
दृश्यत्वात्कदापि न भूत इति कथमसौ भूतं स्यात् । इत्येवं ।  
अनुस्वारपदस्यस्वकारादिवर्णा इवावस्थाविगमनात्, येति तेन  
कारणेन ते निर्विबाहमेव भूतमिति गाथायः । इत्यनङ्गरभ्रुतमि-  
ति । विशेष० ।

टिडि ति नंदगोव-स्स बालि वर्ये निवारइ ।  
टिडि ति य मुच्छडप, सेसा लठीनिवाएण ॥

नन्दगोपस्य बालिका क्षेत्रादिकं रङ्गनी वस्त्रकान् बालगोक-  
पात् टिडि इत्यनुकरणात्कृत्युक्तकार्येऽनुकरन्ती निवारयति । तथा  
ये मुग्धा इतिवाइयस्तामपि टिडि इत्येवं निवारयति । शेषास्त-  
साम्प्रभूतीन् यद्येतिपातेन निवारयति । अत्र टिडि इत्येवदन्-  
कृतमपि वस्त्रादीनां प्रतिपक्षलक्षणाधैर्यापत्तिहेतुत्वं जायते,  
इत्यनङ्गरभ्रुतम् । शृ० २ उ० । कर्म० । विशेष० ।

अणुगराहिय-अग्रार्हिं-त्रि० । परममुनिभिरपि महापुरुषैः सेवि-  
तत्वात् । सामाधिकं, आ० म० ७ि० ।

अणुगार-अनगार-पुं० । अनगारशब्दो व्युत्पन्नोऽप्युत्पन्नश्च । अ-  
व्युत्पन्नः साधै, "अनगरतो मुनिमौनं, साधुः प्रव्रजितो व्रती ।  
अमणः कृपणश्चैव, यतिश्चैकाधैवाचकारः" ॥१॥ इति । उच्यते । व्यु-  
त्पन्नोऽगारशब्दो द्विधा-ऊच्यतेऽप्येवम् । तत्र ऊच्यतेऽगारमगै-  
र्युत्पन्नादिजिनिभूतम्, आचारो पुनरगैर्विपाककार्त्सपि जीव-  
विपाकितया शरीरपुरुगलादिवु बहिःप्रभृत्परिहृतेऽननानुब-  
न्धादिजिनिभूतं कथायमोहनीयम् । तत्र ऊच्यतेऽगारपदं नञ्-  
तु निषेधे । अत्रयमानमृच्छः, भावागारपदं त्वयकवचमोहनीयं;

कषायमोहनीयं हि कर्म । न च कर्मणः स्थान्यादिभ्युपस्थे विर-  
लितसम्भवः । यत् आगमः—“ सत्सहै पयसोयं, अमिभतरसां य  
कोऽकोदीपः । काठकण सारारणं, जह लहह जउयदमथयरे” ॥१॥  
इत्यादि । उक्तं १ अ० ।

( १ ) पतभिक्षेपः—

अणुगारे निकल्वतो, चउज्विहो बुविहो होइ द्वम्भि ।  
अणय नोअणुगमो, अणुगमो हाइ सो तिबिहो ॥  
जाणुगसरीरभविण, तवइरिचे य णियहवईसु ।  
जावे सम्महिट्ठी, अणुगारवास विण्णिसुक्को ॥ उक्तं नि०  
रूपमिदं गाथाच्यम, नवरं, तदुच्यतिरिक्क निह्ववादिपु, आदि-  
शब्दाद्यन्वेषवि चारित्रपरिणामं विना शुदानावयत् । निदरंणे  
सप्तमी । ततश्च यस्तेषु मध्ये अणुगारत्वेन लोके कूट इत्युपस्का-  
रः स तदुच्यतिरिक्को कल्पानुगारो, भावे सम्यग हाईः सम्यग्-  
दर्शनवात्, निह्वयतो यत्सम्यक्त्वं तन्मौलमिति । चारित्रि च अणु-  
गारत्वेनागारवासेन वा, प्राकृतत्वात् लुनीयाथे पञ्चमी । विशेष-  
ण तत्प्रतिबन्धपरिखागकषय, निमुक्तस्यक्तः, विनिमुक्तोऽण-  
गार इति प्रकमः । उक्तं ३३ अ० अ० प्रह्ला० स० सूत्र० नि०  
चू० ॥ हा० सु० प्र० रा० ज० । आचा० । परिम्यकद्रुच्य-  
नावगृहे, न० । सामान्यसाधो, अ० १५ हा० १ उ० । शुद्धगर्हते,  
सूत्र० २ अ० १ अ० । त्यकद्रुहयापांर, आचा० २ अ० ६ अ०  
२ उ० । हा० । पुनदुहितुस्तुवाक्कातिधाज्यादिरहिते, आचा० १  
अ० ० ५ उ० । मि० ५, स्था ६ हा० १ उ० ।

( २ ) अणुगारत्वं धीरात्वेवाप्तानं वर्णकः—

ते एं काले एं ते णं समए एं मयएस्म जगवओ महावीरस्म  
बहवे अणुगारा जगवतो अप्पेगइआ आयागरा जाव विवाग-  
सुअधारा (तथ तथ) ताँतिं ताँतिं देसे मे गच्छागच्छं गुम्मागुमं  
कुट्टाकुट्टं अप्पेगःआ वापंति, अप्पेगइया पडिपुच्छंति, अप्पे-  
गःया परिउटंति, अप्पेगइया आणुप्पेँति, अप्पेगइआ अक्खे-  
वणीओ विक्खेवणीओ मंवेअणीओ णिञ्चेअणीओ चउ-  
ज्विहाओ कइआओ कहंति । अप्पेगइआ उहं जाणु अदो सिरा  
जाएकोटोवगया संजमेणं तवसा अप्पाएं जावेमाणा विट्ठं-  
ति संसारजउज्विग्गा जीआ जम्मए अरमएएकरिं गंभीरकु-  
खलपसुणिअप उरसिअलं संजागविओगवीचीचिंतापसंग-  
पसंतिअवहं बंधमदह्वविउसकट्ठाओसकुणुवाविलाविअलांजक-  
लक पंतितबोलवहुइं अणुगारणंएणित्थिक्खसएणुपुल्ल-  
एणुअरोगवेअणुपरिअवविणवायफरुसधिसणु।समावडि-  
अकटिणकम्मपमत्थतरतरं गरांतंनिब्वमचउजयतो अप्पेहं क-  
सायणायालमंहुइं अणसयसहस्मकलुसजलसंचयं पतिजयं  
अपरिमिअमद्वित्थकलुसमतिवाउवेगे उकुम्मायाणदगरयरयं-  
अधरवरफेणपउरआसाणपिवासधवलं माइमहावचजोगमम-  
माएणुपुपमाणुच्छलंतपक्को णिपत्तपाणियपमायवंचबहुदुससा-  
वयसमाहयुक्तायामाएणउरारोरेदिदियमहारवरवंचउरवरवं  
अएणुणपमंतमच्छपरिहत्थअणुणित्थिदिदियमहारभगरतुरिअ-  
चरिययोवुंउममाएणनंतंचवलचंचलचलेतत्तम्भंजलसमूहं  
अरतिजयविंसाययोगमिच्छत्तसेसंकमं अणाइसंजाणकम्म-

बंधणुकिसेसिक्खिल्लुत्तारं अमारासुरनरतिरियनिरयगइ-  
मएणुहुल्लपरिमत्तविउल्लवेत्तं चउरंतमहंतमयवदगसद्धंसंसा-  
रसागरं जीपदरिसणिज्जं तरंति, धीईपणिए अनियक्केणं तुरि-  
यं चवहं संवरेवरगतुंगकूवयमुसंपउत्तेणं एणु।सितवमल-  
सुसिएणं सम्मचाविसुच्छल्लुक्कणिएजामएणं धीरा संजमोएण  
संल्लकलिया पसत्थज्जाएतववापयोपिअपवाविएए ङ-  
उअभववसायगहियणिएउजरएजयएउवभोगणाएदंसएवि-  
सुदुवयभंअरिअसारा जिणवरवयणोवदिह्वयगणे अकु-  
दिलिए (सिद्धमहापट्टाभासिमुहा सभणवरसत्थवाहा सुमुह-  
सुसंभासपुएहसासा गामे गामे एगरायं सारं एगरे पंच-  
रायं दूइउया जिदंजया णिअभया गयजया सच्चित्ताचित्त-  
मं।सिपु सुव्वसु विरागइंगया संजया विरया मुत्ता ह्रुआ  
णिरवकत्वा साहू णिहुआ चरंति धम्मं ॥

‘अप्पेगइया आयारधरेत्यदि’ प्रतीतम । क्वचित् इत्यने (तथ  
तथं ति) उद्यानादी (तर्हि तर्हि ति) तद्देशोक्तमेषाह-देशे  
देशे अथग्रहभागी धीस्त्वगच्छं वाऽऽधारवाहुर्येन साधुवाहू-  
त्यप्रतिपादनाथंम (गच्छुवागच्छं ति) एकावाधपरिवारं गच्छ-  
गच्छं गच्छे गत्वा गच्छुवागच्छं, वाचयन्तीति योगः । द्यडा-  
दएणादिचच्छुवत्सिद्धिः । एवं गुम्मागुमं कुट्टाकुट्टं च; न-  
वरं, गुमं गच्छं कइथा उपाध्यायाधिष्ठितः, पुक्कं लघुवरो  
गच्छदेश एव गणावच्छेदिकाधिष्ठित इति । अथ प्राकृतवा-  
चना—( चार्यंति ) सूत्रवाचनं इदंति ( पडिपुच्छंति  
सि) सूत्रार्थं पुच्छंति ( परिउटंति ) परिउटयन्ति तावेव ( अणुप्पेँति ति ) अणुप्पेँत्यने तावेव विजयन्ति ( अ-  
क्खेवणीओ सि) आसिष्यन्ते मोहाद नयं प्रत्याकुर्यन्तं श्रोता  
यकामिरित्यालेपयः ( विक्खेवणीओ सि) विजित्यन्ते कुमा-  
र्यमित्युभो विधीयन्ते श्रोता यकामिरित्या लेपयः ( संवेय-  
णीओ सि) संवेद्यन्ते मोक्षसुखानिलाया विधीयन्ते श्रोता य-  
कामिरित्या संवेद्यन्ते ( निवेयणीओ सि) निवेद्यन्ते संसारनि-  
र्विण्यो विधीयन्ते श्रोता यकामिरित्या निवेद्यन्ते । तथा ( उहं  
जाणु अहो मिर ति ) शुद्धपुषिय्यासनयजैनाद्रीपप्रहिकनि-  
पदाया अभावात्।कुट्टकालनाः सन्ताऽपविश्यन्ते ऊर्ध्वं जा-  
दूनी येषां ते ऊर्ध्वं जानवः, अथः शिरसोऽधोऽनुवाः, मोर्ध्वं तिर्य-  
ग्न्वा विक्षिप्तजानव इत्यर्थः । (आणुकोटोवगय सि) ध्याकरो  
यः कोटुल्लमुपगतया ये त तथा, ध्यानकाष्ठप्रवेशेन संबुनेन्द्रिय-  
मनोवृत्तध्याना इत्यर्थः, संवेद्यन्ते तपसाऽऽत्मनं भावयन्ता वि-  
हरन्तीति । प्रकारान्तरेण स एवाच्यन्ते—(संसारभउज्विग्गा सि)  
प्रतीतम् । (अमएणउरमरोत्यदि) जम्मजगमरणात्पंच कस्या-  
नि साधनानि यस्य तस्यथा तच्च तच्छरीरवुत्तं च तदेव प्र-  
भुमिंतं प्रभुरं सलिलं यत्र स तथा; तं संसारसागरं तरन्ती-  
ति योगः । ( संजागविओगन्यादि ) संजागविओगा एव धी-  
खयस्तरङ्गा यत्र स तथा, चिन्ताप्रसङ्गिह्वानासात्मन्यादित्यर्थः,  
स एव प्रवृत्ते प्रभरो यस्य स तथा, धयाः हननानि, कथाः  
संयमनानि, तांवेव अहान्तो दीधो विपुलाश्च विस्तीर्णोः क-  
क्षोला महंमेयो यत्र स तथा, कटुणा, कटुणा विहापितानि यत्र स  
तथा, स वातो लोभश्च स एव कलकलायमानो यो बोद्धो  
ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा—ततः संयोगादिपदानां कर्म-  
धारयः अतस्तथ, (अवमाणुएण्यारि) अपमानमेव पूजनमेव,

फेनो यत्र स तथा । तीर्णभिक्षितं चात्यर्थमिन्द्रा, पुषुष्युत्तमभूता  
 अमरवरोद्धना वा योगवेदना । पाठात्ते-तीर्णभिक्षितमप्रमुभित-  
 तानि च, प्रभूतरोगवेदनाच्च; परिमयवित्पातञ्च पराभिभव-  
 सत्पत्तिः । प्रथमवर्षेषु च निदुग्धवचननिर्भस्तनानि, समापित-  
 तानि समापन्नानि बह्वानि यानि कठिनानि कर्कशोद्यानि,  
 कर्माणि ज्ञानावधारणादीनि, नानि वेति इन्द्रः; ततः एताभ्यं-  
 च प्रस्तारः प्राणाणाः, तैः कृत्वा नरैः दिव्यहीनित्तबलत्वं, तिर्यं  
 भ्रूयं, सुषुभमयमेव मरुत्मीतिरथे, तोषपुष्टु जलोपरितननागो  
 यत्र स तथा, ततः कर्मधारयः । अथवा अप्रमाणफेनमिति ती-  
 यपुष्टस्य विशेषणमतो बहुव्रीहिरेवास्तु, तमः, [ कसायेत्यादि ]  
 कषाय एव पानालाः पानालकषायास्तैः संकुलो वः स तथा  
 तमः । भवसत्यहस्तेत्यादि । भवशतसहस्राण्येव कलुषं जला-  
 नं सत्वतो ज्ञातं यत्र स तथा तमः, पूर्वं जननादिजन्मदुःखस्य स-  
 ल्लवतो ज्ञातं, इह तु भवानां जननादिधर्मवतां जनिविशेषस-  
 सुवादानोक्तं न पुनरुक्तमिति । [ परमयं ति ] व्यङ्ग्यम् । [ अपरिभि-  
 योःयादि ] अपरिमिता अपरिमिता वा मरुत्कृत्वा बुद्धमिलाया सा  
 येषां तं लोकास्तेषां कलुषा मलिना वा मतिः सैव वायुवेगस्तेन  
 ' उदुग्धमार्गं उदुग्धमार्गं वा ' उपाख्यमानं यदुदुक्तरज उदु-  
 क्तरेषु सुसूहः, तस्य रयो वेगस्तेनाम्भकारो यः स तथा, वरफे-  
 नेनैव प्रचुराशापिपासाभिः, तत्र प्रचुरा बहव आशाः अप्रामा-  
 र्थानां प्राप्तिसम्भावना, पिपासास्तु-नेषामेकाकाङ्क्षाः, अतस्ता-  
 निर्भयल एव भयलो यः स तथा, ततः कर्मधारयः । अत-  
 स्तमः । [ मोहमहावसेत्यादि ] मोहकरो महावसें भोगरूपं घाम्य-  
 न्मरुदलेन भ्रमद्वं गुण्युष्णकृत्वा कुलीजलय, उच्छुल्लं तु उत्पत्तं, प्रत्यय-  
 निपातकषा-पतत्, पानीयं जलं यत्र स तथा, प्रमादा भयाद्य-  
 एव एव उडवबुदुष्टसापदाः रौद्रभूरिद्रुष्टयालासैर्ये समाह-  
 ताः प्रहना उड्वावन्तश्च उच्छिष्टतो वा विविधं चेट्टमानाः । समु-  
 द्रत्वे तस्मैत्याद्यः, मंसारपते उडुघातः, तेषां प्रभावरः पूरो वा  
 नसूरी यत्र स तथा, तथा घोरः चन्द्रित्तमहाहः स एव र-  
 वनप्रतिशब्दकरत्नः शम्पायमानो भैरवश्चो भीमयो यत्र स  
 तथा, तत्पदत्रयस्य कर्मधारयः, ततस्तमः । [ अशाणममनेत्यादि ]  
 अज्ञानात्येव ज्ञममनो मस्याः । [ परिदग्धं ति ] दृक्ता यत्र स तथा,  
 अनिभूतान्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि तान्येव महामकारा-  
 स्तेषां यानि त्वरितानि शूद्राणि चरितानि चेतितानि तैः ( खो-  
 रुञ्जमणे नि ) नृषु शून्यमाणे, कृपान्मन्य नृपेभ्यश्च अपशानां मये  
 च लुब्धच्छास्परत्वेन, चलेभ्यः स्थानान्तरगमनेन, पूषिभ्यश्च भ्राम्य-  
 उडससूदो जलसंघातः, अन्यत्र उडससूदो यत्र स तथा; ततः  
 कर्मधारयः, ततस्तमः । [ अरतित्रयेत्यादि ] अरतिभयविदाशोभि-  
 यत्यास्थानि प्रणीतानि, तान्येव शैलान्तैः संकटो यः स तथा, तमः ।  
 ( अश्रासंताश्यादि ) अश्रादित्-ताममनादिप्रवाहं यत् कर्म-  
 न्घनं तच्च, क्रेशाश्च रागाद्यस्तद्वृत्तं यच्छिक्त्वा कर्मस्तेन  
 सुषु पुस्तारो यः स तथा, तमः, अमरास्तुर्यादि । अमरास्तुरित्येक-  
 निरयमिति पु यमनं तदेव कुटिलपरिचर्षाद्यं परिचर्षना विपुला  
 चि वस्तीषो वेला उज्ज्वलितकला यत्र स तथा, तसः, ( चउरं-  
 नइत सि ) चतुर्विभागं दिग्भेदादिनेद्राणां महान्तं च महाया-  
 मम्, [ अणुवद्भवं ति ] अनवद्भ्रमनन्तमित्यर्थः, विस्तीषो संसार-  
 भागरमिति व्यक्तम् । ( भीमदूरिसाधिउरं ति ) भीमो इत्यन्त इति-  
 भिमदूर्षोभीयस्तं, तरन्ति लक्ष्म्यन्ति संवसपोतेमेति योगः । कि-  
 म्भूतेन ( चीरैष्यिअपिपकंयेन सि ) घृतिरउज्ज्वलनेन, चनिक-  
 म्पत्तैर्विषयकमपेविचलो यः स, मध्यमपदसंगो घृतिप्रचनिक-

निष्पन्नकवस्तेन, त्वरितं, चपन्नमित्यरितं यथा जयतीत्येवं तरन्ति ।  
 ( संवरचेरोगेत्यादि ) संवरः प्राणादिधातादिद्विरतिक्रमः, वेराय  
 कषायनिग्रहः, एतद्वृत्तज्ञो यस्तुक्त उच्यते; कूपकस्तम्भविशेषस्तेन,  
 सुषु मयुक्तो यः स तथा, तैः [ आणयादि ] ज्ञानमय सितः  
 सितपटः स विसल शक्तिज्ञो यत्र स तथा तैः, णकारश्चेत् प्राक-  
 तशीलः प्रभवः । [ सम्मत्तेत्यादि ] सम्यक्कषयो विद्युक्तो निर्दोषो  
 हृषोऽभासो निर्भयः कर्मधारयः कर्मधारो यत्र स तथा, तैः, चीराः अज्ञा-  
 नाः, संयमपोतेन हीनकक्षिता इति च प्रतीतम् । ( पसंघेत्यादि )  
 प्रशस्तं प्थानं धर्म्मोदि तद्वृत् यद्यपः स एव वातो वायुस्तेन  
 यत् प्रजोदितं प्रेरणं तं प्रधायितो वेगेन चक्षितो यः स तथा,  
 तेन; संयमपोतेमिति प्रहृष्टम् । [ उज्ज्वलवसायेत्यादि ] उज्ज्वल भवा-  
 ल्कस्यं, व्यवसायो भवतुनिर्णयः, स ह्य्यापो वा, तावनां मूलक-  
 स्थापनो यद् सुदीप्तं क्रीतं निरंतरण्यतनोपयोगात् । नृशर्षाणि सुशु-  
 ब्रतकपं आरककषायकं तस्य भक्तिः संयमपोतेभरतं पितृभ्यः  
 सारो वैस्ते तथा; ध्रमणवरसार्थवाहा इति योगः । तत्र निरं-  
 रणं तपः, यतना बहुदोषान्मोहादप्यदोषान्प्रयत्नम्, उपयोः साध-  
 चानना, ज्ञानदर्शनाज्यां विद्युक्तामिति व्रतानि, अथवा ज्ञानदर्शने च  
 निश्चिद्व्रतानि चेति समासः । व्रतानि च महाव्रतानि । पाठात्स-  
 ( आलदं सनेत्यादि ) तत्र ज्ञानदर्शनचारित्र्याख्ये विद्युत्वरभारम्,  
 तेन भक्तिः सारो वैस्ते तथा । [ जिणवरंत्यादि ] ज्यकः । ( सुसूह इत्या-  
 दि ) सुधुनयः सत्यकृष्टतम्रथाः, सतिसकात्ता वा, सुसूचयो वा, सु-  
 क्तः सम्भारो येषां, सुकन वा सम्भार्यन्त इति सुसम्भाराः, शो-  
 नाः प्रश्नाः, सुकन वा प्रभ्यन्ते ये ते सुप्रश्नाः, शोनाया आशाः चाप्य-  
 येषां तं स्वशाः । अथवा सुकनं प्रभ्यन्ते शास्यन्ते च शिष्यन्ते  
 ये ते सुप्रश्नाश्चाः, शोनायन वा प्रश्नारस्यानि वृत्त्याधान्यानि  
 येषां तं तथा, अथवा सुप्रश्नाः शस्याश्च प्रश्नसनीयाः, ततः कर्म-  
 धारय इति । ( दूडुडय सि ) दूडुडनो वसन्तः, अनेकाथैवाका-  
 दूनम् । ( गिभय सि ) भयमोहनो योर्ध्वयिनेषात् । ( गयभय सि )  
 वयविक्रतताकारणात् । ( संजय सि ) संयमवन्तः । हुत  
 इत्याह- ( विरय सि ) यतो निवृत्ताः हिंसादिभ्यः, तपसि वा वि-  
 शेषेण रता व्रिताः ' विरवा ' वा निरैस्तुष्प्याः विरजसा वा  
 भवायाः । ' संचयतो विरयि सि ' कर्वायद् इत्येते, तत्र सभिष-  
 षिषुना इत्यर्थः । ( मुस सि ) मुक्ताः प्रन्धनः, ( सहशु सि ) सशुक्तः  
 अणोपधिवत्वाद्, ' ( गिरयकं ति ) अमातायीकाङ्कावियुक्तः  
 ( साहृ ) मोक्षसाधनात्, ( शिहृक्ता ) निरुक्तः प्रशान्तवृत्तयः, चरन्ति ।  
 [ धर्म ति ] धर्मकम् । अत्र सातुर्लोकं नितेन्द्रियव्यतीति निशे-  
 षणानि बहुशुऽर्थातानि, नानि च ममानरतया निरवधानि,  
 यत् पुनरत्रेव मं पुनरुक्तमवधानस्तेन, तत् स्ववत्वात् दुष्टम् । यदाह-  
 " सऽजायज्जाणनवर्षो-सहेसु उडयत्सुहृषणामसु । संनगुण-  
 किष्णान्नु यः, न कुंनि पुनरुक्तंसाओ " ॥१०॥ श्री० " " तिदि उणादि  
 संज्ञेभ्य अणुगारं अणुगारं अणुवदंमं दीहृमदं वा उरंतं संसार-  
 कंनारं विरैवपुज्जा । तं जहा-अणिदानथाप विदिषं प्रथाप जो-  
 मवाहियाय " इथा० ३ उा० । ( सर्वेषां पदानां पञ्चत्वा स्वस्व-  
 स्थाने द्रष्टव्या )

( ३ ) प्रथिवीकायिकदिहिसकानामनगरत्वं न भवति-  
 पवयति य अणुगारा, य ए तस्मिं गुणो हि जेहि अणुगारा ।  
 पुददिं विहिसमाणा, न ह्येति वायाइ अणुगारा ॥८०॥  
 अणुगारावाऽणो पुद-विहिसगा निगुष्णा अणारिसमा ।  
 निरोन सि य मत्ता, विरइ पुगुछइ मत्ततरा ॥१००॥  
 आच्चा० नि० ।



इह श्लोकं कुतीर्थिका यतिवेषमास्थाप एवञ्च प्रवदन्ति-वयम-  
नगाराः प्रमज्जिताः न च तेषु गुणेषु निरवघातुगुणानकंपनु घतेने  
वेधनकाराः । यथा खानगारगुणेषु न वनेते तद्दशयति-यतस्तेऽऽ-  
निशं पृथिवीअनुविपसिकाखिणो इत्यन्ते गुदपाणिपादप्रकाश-  
नाथेयं, अम्यथाऽपि निर्लेपनिगन्धव्यक्तं कर्तुं शक्यमा । अथअन्ते गुण-  
कहापण्यथाः, न वाक्कात्रेण युक्तिवरपेक्षानाथारता जयतीत्यनेन  
प्रयोगः सूचितः । तत्र माथापूर्वाथेन प्रतिक्रा, प्रभाधेन चेतुः, उ-  
त्तरगाथाधेन स्वाधर्म्येदधानः । स स्वायं प्रयोगः-तीर्थिका यत्य-  
भिधानवादिनाऽपि यतिगुणेषु न वनेते, पृथिवीहिंसाप्रवृत्तवा-  
त्, इह ये ये पृथिवीहिंसाप्रवृत्तस्ते ते यतिगुणेषु न वनेते, ए-  
हस्यवत् । स्वाअन्ते दधानगर्भे निगमनमाह- [अम्यथादि] अणुग-  
ारवादिनाः-वयं क्लेश इति यदनशीलाः पृथिवीकार्यार्थहसकाः  
सन्तो निर्गुणाः, यतोऽणुपरिसमा इहस्यतुल्या जवन्ति ।  
अन्धबुधमाह- 'स्वचेतना गुणिवी इत्येवं ज्ञानरहितत्वेन त-  
त्समास्वभवतिनः स्वोपा अधि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येवं  
प्रत्यमानाः स्वदोषप्रकाशिसुखार्थाःप्रतिननः कल्पितइत्याः,  
पुनश्चातिप्रसहभतव्य साधुजनार्थिताया निरवघातुगुणानामिका-  
या चित्तेः उरुगुणस्या निन्द्या मयिततरा भवति । अथवा च  
साधुनिन्द्याऽनन्तस्संसारिन्ते प्रदर्शितं भवतीति । आचा० इ. ५०  
१ प्र० ३ उ० १ " अणुगारं पासंइ, चरंगे तह बंधमे चैव " इति ।  
इति । इ. ५० १ प्र० १ " बुद्धः प्रमज्जितां मुक्तं-अनगराअरकल-  
था" । इ. ५० २७ इ. ५० ।

( ४ ) क्रियाऽसंबुनेऽनगमरो न सिध्यति, किन्तु संबुत् इति  
सत्कामरमाह-ननु सत्यपि खानादेमोक्षहेतुत्वे दर्शन एव यति-  
तत्त्वञ्च, तस्मैव संबुद्धहेतुत्वात् । यदाह- "अहेण चरिसाओ, सु-  
दुयरे दंसणे ग्हेवज्जे । स्विसंभति करणरहिया, दंसणरहिया ए  
स्विसंभति" ॥३॥ इति यो मन्वेन ते शिकयितुं प्रवश्यमाह-  
असंबुत्ते खं जेते । अणुगारं सिज्जति वुज्जति मुच्चति  
परिखिन्वाति मव्वुत्तवणाणंमं करेति ? ।

प्रअसुत्तं सुगमम् । उचरमाह-

गोयमा । एा इण्णो समहे । मे केणहे एं जंते । जाव  
अंते न करेति । गोयमा । असंबुत्ते अणुगारो अउयवज्जा-  
ओ सचकम्मपगदीओ सिद्विअवंधणवक्काओ पणियवंध-  
णवक्काओ पकरेइ, हस्सकाइडितीयाओ दीहकाइडिती-  
याओ पकरेइ, मंदाणुजावाओ तिन्वाणुजावाओ पकरेइ,  
अण्यपदेसमाओ बहुपदेसमाओ पकरेइ । आउयं च एं  
कम्मं सिय वंधेइ, सिय नो वंधेइ, असायावेयणिज्जे च एं  
कम्मं भुज्जेओ जुज्जेओ उवाचिणइ, अणुगारं च एं अण्व-  
यगं दीहपक्के चाउरंतंसासरकंतां अणुपरियइति, से ते-  
णइ एं गोयमा । असंबुत्ते अणुगारं णां मिज्जइ ॥

एतदपि कण्ठमम् । नवरं ( नो इण्णो समहेइ ) नो नैव,  
प्रयमन्गरोक्तत्वेन प्रयक्कोऽर्थो भावः, समर्थो वयवान्, वज्य-  
माणवृषणुकरप्रहाणज्जेतिवत्त्वात् । [ आउयवज्जाओ णि ]  
वसमाविकत्र भवप्रहणे स्वकृत्रेण अन्तमूलेषुसाम्यकात्र एव, आयुषा  
बन्धः, तत् उक्त-आर्युषाओ इति । [ सिद्विअवंधणवक्काओ णि ]  
सुखबन्धनं इष्टुता वा, वचना वा, निधुलता वा, तेन वद्धा  
आमप्रदेशेषु सम्बन्धिताः, पूर्ववत्स्यायाम् अन्तरपरिणामस्य

कथञ्चिद्भावाविति शिथिलबन्धनयकाः । एताव्वाशुजा एव  
द्रष्टव्याः, असंबुतभावस्य निन्द्याभ्यासात् । ताः कस्मिन्वाह-  
[अधि वंधेणयुक्ताओ पकरेइ ] गाढतरबन्धनवक्कावस्था वा,  
निधुलता वस्था वा, निष्काशिता वस्था वा प्रकरोति । प्रशब्दस्यादि-  
कर्मार्थत्वात्कृतमारुच्यते, असंबुतत्वस्य शुभभायस्यपत्वेन गाढ-  
तरप्रकृतिबन्धहेतुत्वात् । आह च- "ओ गावपडियपसं ति" यीनः  
पुन्यत्वात् त्वसंबुतत्वस्य ताः कर्गतीत्यर्थे । तथा- "इहस्यक-  
रिथितका दीवेकाइरिथितकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिक्पात्तस्य  
कर्मणोऽवस्थायां, तामप्यकाशां प्रहतीं करोतीत्यर्थेः । असंबुत-  
त्वस्य कथावरुपत्वेन स्थितिक्पाहेतुत्वात् । आह च- "डिइमणु-  
जागं कसावओ कुणइ ति" । तथा [अंदाणुजांवायादि] इहाणुभा-  
वाो विपाकाः, रसविशेष इत्यर्थेः, ततश्च मन्दाणुजावाः परिपेह-  
वरसाः स्स्तीगार्धरसाः प्रकरोति । असंबुतत्वस्य कथावरुपत्वे-  
देवाणुमागबन्धस्य च कथावत्यव्यवर्थाति । [ अण्यपदेसमा-  
दि ] अणयं स्तोकां प्रदर्शां कर्मद्विकपरिमाणं यासां तासुलथा,  
ताः बहुप्रदर्शायाः प्रकरोति प्रदर्शकधर्स्यापि बांगप्रव्यवस्थाव-  
संबुतत्वस्य च बोधकप्रव्यादिति । [ आउत्तं चेत्यादि ] आयुः,  
पुनः, कम्मं, स्यात् कइरिचिइ, बन्धात्, स्यात्क बन्धात् । अण्यपदेसमा-  
जागचवओपायुः परजवणुः प्रकुर्वन्ति, तेन वद्धा मिज्जागदि-  
स्ताइ कजाति, अन्यद्वा न कज्जलीति तथा । [ असाए इत्यादि ]  
असाणवेदनीयं च उ-उत्तवेदनीयं कं पुनर्भूयांइः पुनरुपाच-  
नेति उपचितं करोति । ननु कम्मसमाकृतवर्तिव्याद्वामवेद-  
नीयस्य पुनोक्तविशेषणैभ्य एव तदुपचयप्रतिपत्तः किमैतद्-  
प्रहणेन ? । इत्यत्रोच्यते-असंबुताऽत्यन्तमुक्तिर्भावात् भवतीति-  
प्रतिपादनेन अयजनमासंबुतत्वपरिहारायमिदंनिमित्तमुद्रमिति ।  
[ अणारयं ति ] अभाविकं अविद्यमानादिकम्, अज्ञातिकं वा  
प्राप्यमानस्यजनय, अणुं वा अतीतय, अणुजाज्युःकत्वाऽति-  
कान्तदुःस्थानातिमिसन्तयेति अणुजातयेति । अणुं वा अण्य-  
कं पापमतिशयेनेन गतम्--अणोतीतम् [ अण्यवयमं ति ] 'अण्य-  
मं ति' देशविचनोऽतवाचकस्तनस्ताश्चिपचात् 'अण्यवयमं'  
अनन्तमित्यर्थः । अण्यथा अयनमानस्यमममनो यस्य तस्यथा,  
तन्निष्पादनयत्नाप्रमेतरेवर्षणशुद्धिजनयत्नाप्रमिति । अथवा अन-  
वगतमपरिक्रमप्रं परिमाणं बन्ध तस्यथा । अणप्य [दीहम-  
कं ति ] दीर्घादी दीर्घकाश, दीर्घार्थं च दीर्घमात्मम् । [ चाउरंत  
त्ति ] अणुय-तदेवादिगमिनेनायुषोविदिग्भेदाच्च अनुविज्जागं तदेव  
स्थाश्चिक्काणुअयोपाश्रानाचानुत्तरम् । [ संसासरकंतां ति ]  
प्रवारणयम् [ अणुपरियइइर णि ] पुनःपुनःप्रतीति ॥

असंबुतस्य तावदिदं फले, संबुतस्य तु यावत्तादाह-  
संबुदे एं जंते । अणुगारं मिज्जइ ? । इता मिज्जइ  
जाव अंतं करेइ । मे केण्णहे णं यंते ? एवं कुचइ ? । गोयमा ।  
संबुदे एं अणुगारं आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगदीओ  
पणियवंधणवक्काओ सिद्विअवंधणवक्काओ पकरेइ, दीह-  
काइडितीयाओ हस्सकाइडितीयाओ पकरेइ, तिन्वाणुभा-  
वाओ मंदाणुजावाओ पकरेइ, बहुपदेसमाओ अण्यपदेसमा-  
ओ पकरेइ, आउयं च एं कम्मं न बंधेइ, असायावेयणिज्जे  
च एं कम्मं णो भुज्जेओ जुज्जेओ उवाचिणइ, अणुगारं च एं  
अण्वयदमं दीहपक्के चाउरंतंसासरकंतां वीरिधयइ । से तेण-  
हे एं गोयमा । एवं संबुदे अणुगारं मिज्जइ जाव अंतं करेइ ।

(संयुते णमित्यादि) व्यकम्, नवरं, संयुक्तोऽनगरः प्रमत्तसंय-  
तादिः, स च कर्मप्रशरीरः इत्यादिकर्मशरीरो वा, तत्र यश्चरम-  
शरीरस्तदपेक्षयं सुत्रम्, यैश्चरमशरीरस्तदपेक्षया परस्परया  
सुत्राद्योऽप्येव्यः । ननु पारपर्येणासंबन्धव्यापि सुत्राकार्यस्या-  
वश्यभावात्; यतः ह्युक्तपात्रिकस्यापि मोक्षोऽवश्यं प्राप्ति, तदेवं  
संबन्धासंबन्धयोः कलतो जगतामप्येव्येति । अत्रोच्यते-सत्यम्,  
किन्तु यासंबन्धस्य पारपर्यं तदुक्तकृतं सत्प्रज्ञप्रमाणम् ।  
यतो वक्ष्यति-“अद्वैतं चारिताराहणं आराहिसा सत्प्रज्ञव-  
भाहणेति सिद्धमिति” । यथाऽसंबन्धस्य पारपर्यं तदुक्तकृतो-  
ऽपात्रेणुक्तप्रकारवर्तमानमपि स्यात्, विराधनाकल्पत्याद तस्येति ।  
(वीरेश्वरवृत्ति) व्याख्येयजति, व्यतिक्रामतीत्यर्थः अ० १ श० १ उ० ।

( ५ ) अनगरस्य भावितात्मनोऽभिधारादिव्यवगाहना—  
रायगिहे जाव एवं वयासी-अणुगारे एं जंते । जाविय-  
प्या अस्सिधारे वा खुरधारे वा अगोरेजा । हुंता ओगाहे-  
जा । से एं तत्य जिञ्जेज वा भिञ्जेज वा । एो इण्डे  
समडे, एो खलु तत्य सत्यं कमड् । एवं जाहो पंचमसए  
परमाएणुंगले वचन्वया पत्तं । अणुगारे एं जंते । भावि-  
प्या उदावत्तं वा जाव । णो खलु तत्य सत्यं कमड् ।  
[ रायगिहे इत्यादि ] इह चानगरस्य कुरधारादिषु प्रवेशो  
वैकियव्यक्तिसामर्थ्यादवश्यः । [ एवं जहा पंचमसए इत्यादि ]  
अनन च सम्बन्धितं तद्विद्व-“अणुगारे एं जंते । भावियप्या अण-  
णिकायस्य मज्जे मज्जेणो वीरेश्वरजा ? , हुंता वीरेश्वरजा , से  
णं तत्य जिञ्जापञ्जा ? । नो इण्डे समडे, नो खलु तत्य सत्यं  
कमड् ” इत्यादि । अ० १८ श० १० उ० ।

[ ६ ] अनगरस्य जन्मप्रत्ययानुप्राहारः—  
जत्तपचक्कत्वायए एं भंते । अणुगारे सुच्चिए अज्जोव-  
वणे आहाराहारादे, अहे एं वीसमाए कालं करेइ, तज्जो  
पच्छा अमुच्चिए अगिच्छे जाव अणुज्जोववणेण आहारा-  
महारेति । हुंता गोयमा । जत्तपचक्कत्वायए एं अणुगारं तं  
चवं । से केण्डे एं भंते । एवं वुच्चइ जत्तपचक्कत्वायए णं तं  
चवं । गोयमा । जत्तपचक्कत्वायए एं अणुगारे मुच्चिए जाव  
अज्जोववणेण आहारे भवइ, अहे एं वीसमाए कालं करेइ,  
तज्जो पच्छा अमुच्चिए जाव आहारे भवइ, से तेण्डे एं जाव  
आहाराहारेइ ॥

( भक्त्यादि ) तत्र ( भक्तपचक्कत्वाय ए णं ) अनशनी मूर्च्छि-  
तः संजातमूर्च्छः जाताहारसंरक्षणानुबन्धस्तद्व्यपिषये वा  
मूढः । मुच्छां मोहस्तस्युच्छापयः । इति वचनात् । यावत्करणा-  
दिद् इदमय- ( गडिप ) अथित आहाराविषयहेतुतन्मिः स-  
न्दर्भितः , प्रन्थ अन्थ सन्धेत्ते इति वचनात् । ( गिक् ) वृ-  
ज्जः प्रासाहारे आसक्तः, अनुसन्धेत्त वा तत्काङ्क्षायाद्, ‘वृधु’ अ-  
भिकाङ्क्षायाः इति वचनात् । (अज्जोववणेति) अणुपचक्रोऽप्रा-  
साहारेऽन्ताराध्यामाधिक्येनापचक्रः । आहारे वायुनेलायन्वङ्गादि-  
कम्, अयत्तादिकं वाऽन्युवहाये ती। अणुवेदनीयकमोदयादसमाधी  
स्वति मणुपशमनाव प्रयुक्तमाहारायन्युपभुञ्जे ॥ (अहे एं ति) अ-  
हारात्मनश्च विकल्पया स्वभावात् एव, ( कासं ) कालो मरणं,  
कास इव कालो मारणात्मिकसमुद्घातः, तं करोति यामि । (तज्जो  
पच्छा इति) ततो मारणात्मिकसमुद्घातात्पश्चात् तस्मात्किञ्च

इत्यर्थः । अमूर्च्छितादिविशेषणविशेषित आहाराहाराद्यति, प्र-  
शान्तपरिणामसङ्गावदिति प्रश्नः । अत्रोक्तसम्- [ हुंतागोयमेत्यादि ]  
अनेन तु प्रभायं एवाव्युपगतः, कस्यापि त्रकप्रत्याख्यानुरंते-  
भावस्य सङ्गावदिति । अ० १४ श० ७ उ० ।

[ ७ ] शैलेशीप्रतिपक्षस्यानगरस्य पजना—  
सेहेसिपदिक्कत्वायए एं भंते । अणुगारे सया समियं ए-  
यति वेयति जाव नं तं जावं परिणमइ । एो इण्डे समडे, ए-  
णत्थेगेणं परप्पभोगेणं ॥  
( नो इण्डे समडे ति ) योऽयं निवेशः सोऽन्यथैकस्मात्परप्रयो-  
गादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवेकं शैलेश्यामिजनादि  
नयति, न करणान्तरणेति प्रावः । अ० १४ श० ३ उ० ।

[ ८ ] अनगरतो भावितात्माऽऽत्मनः कर्महेतुव्याधारेणं जानाति-  
अणुगारे एं जंते । भावियप्या अणुप्या कम्मसेसं ए  
जाणइ, ए पासइ, तं पुण जीवस्यत्ते सक्कम्मसेसं एणइ,  
पासइ ? । हुंता गोयमा । अणुगारे णं भावियप्या अणुप्यो  
जाव पासइ ।

( अणगारे णमित्यादि ) अनगरो भावितात्मा संयमज्ञानया  
यासिनात्मनःकरणं , आत्मनः संबन्धिर्नवी कर्मणो योग्या हेतुया  
कृपादिका, कर्मणा वा लेख्या , “ लिहा नेरणे ” इति वचना-  
त् । संबन्धः कर्महेतुया, तां न जानाति विशेषणो न पश्यति च,  
सामान्यतः कृपादिहेतुयायाः, कर्मद्रव्यहेतुव्यत्यस्य चानिसुखम-  
त्वेन ह्यास्वध्यानागोचरत्वात् । ( तं पुण जीवति ) । यो जीवः  
कर्महेतुव्यावांसं न पुनर्जीवमान्मानं ( सकविति ) सइ रूपेण  
रूपरूपवतोऽन्येदोपचारारुचरीरस्य वतते योऽस्ती [समासात्तावि-  
धिः] सकृपि, तं सकृपिणत्त-सशरीरमित्यर्थः । अत एव सकृ-  
मैलेखं कर्महेतुव्या सइ वत्समानं जानाति शरीरस्य च सुकृ-  
त्वाद् जीवस्य च कथाविच्छरीराव्यतिरेकादिति “सकृषि सकम्म-  
सेसं ति” । ज० १४ श० ६ उ० । (अनगरस्य अनयुक्तं गच्छतः  
क्रियाः ‘ किरिया ’ शब्दे तृतीयभागे बध्यते )

( ९ ) अनगरस्य ज्ञावितात्मनः क्रिया-  
रायगिहे जाव एवं वयासी-अणुगारस एं जंते । भा-  
वियप्याणुं पुरजो सुद्धो जगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणसस  
पायसस अहे कुक्कुदपाते वा वट्टापाते वा कुल्लिगच्छाए वा  
परियावज्जेजा, तम्म एं जंते । किं इरियावहिया किरिया  
कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा । अणुगारसस  
णं जावियप्याणो जाव तसस एं इरियावाहिया किरिया क-  
ज्जइ, थो संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्डे एं भंते ।  
एवं वुच्चइ ? । जहा सत्तमसए संवुहुंसए जाव अहो णि-  
क्खिसो सेवं भंते । जंतेति जाव विहरइ । तए एं समणे  
जगवं महावरेरे जाव विहरइ ॥

( पुरभां ) क्रमतः ( वुद्धभां ) तिष्ठान्तराऽन्तरा पाश्वतः  
पृष्ठमभ्येयर्थः ( जुगमायाए ) सुपमात्रया दृष्ट्या ( पेहाए )  
प्रक्षय ( रीयं ) गतं गमनं, ( रीयमाणसस ) कुर्वत इत्यर्थः ।  
( कुक्कुदपायसि ) कुक्कुटभिन्नेः ( वट्टापायसि ) इह वनेका  
पक्विविशेषः । ( कुल्लिगच्छावसि ) पिपीलिकादिसदृशः ( प-  
रियावज्जेजसि ) पर्यापयेत क्रियेत्, ( एवं जहा सत्तमसए दया-

दि ) अनेन च यन्वृत्तिते तस्याद्यंशश्च एवम्-अथ केनायेन भ-  
वन्नेवमुच्यते ? । गौतम । यश्च क्रीयादयो व्ययविच्छेदा भवन्ति  
तस्यैवोपपत्त्येव क्रिया प्रवर्तनीत्यादि । [ जाव अत्रो निविच्छेदो  
ति ] “से केण्डे एं जेते ।” इत्यादिवाक्यस्य निगमनं यावादिव्यर्थः।  
तत्र [ से तेण्डे एं गोयमेत्यादि ] इति शान्मममममिच्छि विचारः-  
कृतः । अथ तदेवाभिध्यान्यधुषिकेभ्योनिषेधतः स एवोच्यते-  
[ तवणमित्यादि ] अ० १८ श० ८ उ० ।

अथगारस्स एं जंते । जाबियपणो उठ्ठे उठ्ठे एं अण्णि-  
कित्तने एं जाव आयावेमाणस्स तस्स एं पुरच्छिमेणं अ-  
वड्ठं दिवसं एं कप्पइ, हत्थं वा पादं वा जाव उठ्ठं वा आउठ्ठं-  
इवेत्थ वा पसारेत्थ वा पवच्छिमे एं अवड्ठं दिवसं कप्पइ,  
हत्थं वा पादं वा जाव उठ्ठं वा आउठ्ठंवेत्थ वा पसारेत्थ  
वा तस्स य अंसिअो लंबइ तं चेव विज्जे अदकखु, इंसि  
पानइ, पादेत्ता अंसियाअो डिंइइजा, स एण्णं जंते । जे डिं-  
देजा, तस्स कइ किरिया कज्जइ, जस्स छिज्जइ एो तस्स  
किरिया कज्जइ ? , णाण्ण्येगेणं धम्मंतराएणं ? । हुंता  
गोयमा । जे डिंइ जाव धम्मंतराएणं एं से एं भंते । भंते ति ।  
(पुरच्छिमेणं ति) पूर्वभागे पूर्वाह्णे इत्यर्थः । (अवड्ठं ति) अ-  
पगनाद्धर्मद्वैत्रिवसं यावद् न कल्पते हस्ताद्याकुण्डलितुं, का-  
योत्सर्गव्ययवित्तित्यात् । (पवच्छिमेणं ति) पश्चिमभागे  
(अवड्ठं दिवसं ति) दिनाद्धै यावत् कल्पते हस्ताद्याकुण्डलितुं,  
कार्योत्सर्गगोभावात् । तदेतच्च चूर्णसुसारीतया व्याख्यातम् ।  
[ तस्स य एति ] मध्य पुनः साधोरेवकायोत्सर्गाभिप्रव्रवतः  
(अंसियाअो ति) । अश्रीति, तानि च नासिकासकानीति  
चूर्णिकारः । (तं च एति) तं बानगारं कृत्वाकार्यसर्गं लम्ब-  
मानार्थसम्, (अदकखु ति) अद्रात्तुम् । तत्राश्रीयं हुंतायर्थम्  
। इंसि पादेइ ति । मनगनवारं भूयसं पातयति, नापानित-  
स्याशौचेदः कर्तुं शक्यन् इति । (तस्स ति) वैद्यस्य, क्रिया  
व्यापाररूपा, सा च शुभा धर्मवुच्छा । छिन्द्यानस्य लोभा-  
दिना क्रियेत म्यशुभा भवति ( जस्स छिज्जइ ति ) यस्य सा-  
प्राश्रीयि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति, निर्व्योपारत्यात् ।  
किं सर्वथा क्रियाया अभावः ? प्रैवम् । अत आह-(नक्षन्धेत्वा-  
दि ) न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्वाद्धर्मन्तरायाद्ध-  
र्मन्तरायलक्षणा क्रिया, तस्यापि भवतीति भावः । धर्मा-  
न्तरायश्च अशुभप्यातविच्छेदादशौचद्वेषद्वेषदोषाद् भवति । अ०  
१६ श० ३ उ० ।

( १० ) संवृत्तस्यानगरस्य क्रिया-

रायगिहं जाव एवं वयासी-संवुदस्स एं भंते । अण्णगार-  
रस्स वीऽपंये त्रिष्वा पुरओ रुवाइ निज्जभायमाणस्स पण-  
ओ रुवाइ अन्नयत्तमाणस्स पामओ रुवाइ अवत्तोएमा-  
णस्स उठ्ठं रुवाइ उतोएमाणस्स अठ्ठे रुवाइ आलोए-  
माणस्स तस्स एं भंते । किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,  
संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा । संवुदस्स अण्णगार-  
रस्स वीऽपंये त्रिष्वा जाव तस्स एं एो इरियावहिया कि-  
रिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्डे एं भंते ।  
एवं वुच्चइ, संवुदं जाव संपराइया किरिया कज्जइ ? । गो-

यमा । जस्स एं कोहमाणमायालोजा एवं जहा सत्तमसए  
पदमुरेत्तए जाव से एं उस्सुत्तमेव रीयइ । से तेण्डे एं जाव  
संपराइया किरिया कज्जइ । संवुदस्स एं भंते । अण्णगार-  
रस्स अवीऽपंये त्रिष्वा पुरओ रुवाइ निज्जभायमाणस्स  
जाव तस्स एं जंते । किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,  
पुच्छा । गोयमा । संवुदं जाव तस्स एं इरियावहिया कि-  
रिया कज्जइ, एं संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्डे एं  
जंते । जहा सत्तमसए सत्तमुरेत्तए जाव से एं अहासुत्तमेव  
रीयइ, से तेण्डे एं जाव एो संपराइया किरिया कज्जइ ।

( रायगिहे इत्यादि ) तत्र । संवुदस्स ति । संवृत्तस्य सामा-  
न्येन प्राणानिपातयास्त्रवद्वानसंबरोपेतस्य (वीऽपंये त्रिष्वा ति)  
वीऽविशब्दः सप्रयोगे । स च सम्प्रयोगो ह्योपेक्षति । तत्रैवह  
कथायां जीवस्य च सम्प्रयो वीऽविशब्दवाच्यः, तत्रैव वी-  
विमतः कथायवतः, अनुप्रात्ययस्य वष्टयाश्च लोपस्य दर्शनात् ।  
अथवा “विचिरं पृथग्भाव” इति धवनाद् विविच्य पृथ-  
ग्भूय यथास्थानसंयमा/कथायोद्यमनपवाच्येत्यर्थः । अथवा  
विचिन्त्य रागाविकल्पवित्यर्थः । अथवा विक्रया कृतिः क्रि-  
या सरायात्वाद् यस्मिन्नवस्थाने तद्विकृति यथा भवतीत्येवं  
स्थित्या (पंथे ति) मागे (अवयक्त्वमाणस्स ति) अत्र-  
काङ्क्षोऽपेक्षमाणस्य वा, पश्चिप्रहृतस्य बोधलक्षणात्वात्-  
म्यत्राप्याधारे स्थित्वेति द्रष्टव्यम् । ( एं इरियावहिया किरि-  
या कज्जइ ति ) न केवलयोगप्रत्यया कर्मव्यपत्तिया भव-  
ति, सकथायवत्तस्येति । जस्स एं कोहमाणमायालोभा । इह-  
एवं जहत्याधनिशयादिहं इत्यर्थ- (बोच्छिष्वा भवन्ति तस्स  
एं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स एं कोहमाणमायालो-  
भा अवोच्छिष्वा भवति तस्स एं संपराइया किरिया कज्जइ,  
अहासुत्तं निवं रायमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उ-  
स्सुत्तं रीय रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ ति )  
व्याख्या चास्य प्राथम्येति । ( से एं उस्सुत्तमेव ति ) स पुन-  
रुत्सृष्टमेवागमात्तत्रमण्युत्त एव (रीय ति) गच्छति । संवुदस्सं-  
त्यादि’ इत्युत्पत्तिपर्यप्यन्तम्, तत्र च [अवीऽइ ति] अवीऽविमतोऽ  
कथायसम्प्रभवतोऽविविच्य वा अपृथग्भूय यथाऽस्थानसंय-  
मात् आविचिन्त्य वा रागाविकल्पाभावेनेत्यर्थः । अविचिन्तिथो  
यथा भवतीति । अ० १० श० २ उ० ।

संवुदस्स एं भंते । अण्णगरस्स आउत्तं गच्छमाणस्स  
जाव आउत्तं वत्यपिगुहं कवलं पायपुच्छं गेएहमाण-  
स्स वा निविस्त्रवमाणस्स वा तस्स एं भंते । किं इरिया-  
वहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? ।  
संवुदस्स एं अण्णगरस्स जाव तस्स एं इरियावहिया कि-  
रिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ । से के-  
ण्डे एं जंते । एवं वुच्चइ संवुदस्स एं जाव नो संप-  
राइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा । जस्स एं कोह-  
माणमायालोजा बोच्छिष्वा भवन्ति तस्स एं इरियाव-  
हिया किरिया कज्जइ, तदेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स  
संपराइया किरिया कज्जइ, से एं अहासुत्तमेव रीयइ, से

तेण्डे एं गोयमा । जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ।  
ज० ७ श० ७ उ० ।

( ११ ) अणुगारस्य गत्युपपादौ-

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणुगारे एं भंते । जावियप्पा चरम देवावासं वीइकंते परमं देवावासं अंसपत्ते एत्थ एं अंतसलं कांअं करेज्जा, तस्स एं जंते । कहिं गइ कहिं उववाए पक्कं ? । गोयमा ! अे से तत्थ परिस्सिओ तल्लेस्सि देवावासा तहिं तस्स गइ, तहिं नस्स उववाए पएणत्ते । से य तत्थ गए बिराहेज्जा, कम्मलेस्सामेव पक्कवड, से य तत्थ गए नो बिराहेज्जा, तामेव लेस्सं उवसंपजिजाएणं विहरइ ।

[ चरमं देवावासं वीइकंते परमं देवावासं अंसपत्ते ति ] चरममयाभ्यागवर्तिनं स्थियाद्यादिभिर्देवावासं सौधमादिदेवलोकां व्यतिश्रान्तो लक्ष्मिस्तत्तुपातहेतुभूतलक्ष्यापरिणामापन्नया परमं परनागवर्तिनं स्थियादिजिरेव देवावासं सनत्तुमारादिदेवलोकांमसंप्रानांऽऽप्राप्तवन्तुपातहेतुभूतलक्ष्यापरिणामापन्नकृषिव । इदमुक्तं भवति-प्रशस्तेष्वध्वजस्यस्थानपुस्तोत्तरणुवर्तमान आराङ्गागस्थितसौधमादिगतदेवस्थियादिविध्वयध्याम्यतामतिक्रान्तः परभागवतिसनत्तुमारादिगतदेवास्थियादिविध्वयध्वजस्यनां चाप्राप्तः । [ एतथ एं अंतरं ति ] इहायमरे [ कांअं करेज्ज ति ] श्रियंते यस्मिन् कांयाद इति प्रश्नः । उत्तरं तु- [ जंसे तया ति ] अथ ये तत्रति तयोश्चामदेवावासपरमदेवावासयोः परि पाश्चिनः समोपे सौधमोदेवासकाः सनत्तुमारादेवो आसन्नास्त्वयोर्मध्यभागे ईशानादौ इत्यर्थः । [ तल्लेस्सि देवावासं ति ] यस्मां श्रेयायां वर्तमानः सायुधुत्तः सा लक्ष्या येतु ते तल्लेस्सिया देवावासाः । [ तहिं ति ] तेषु देवावासेषु तस्यानगारस्य गतिर्भवतीति, यत उच्यते- 'अणुस्सं मरइ जिए, तणुस्सं वेव उववज्जे' इति । [ से य ति ] स पुनरनगारस्तत्र मध्यत्रागवर्तिनि देवावासे गतः [ बिराहेज्ज ति ] येन श्रेयापरिणामेन तत्रोत्पन्नसत् परिणामं यदि विगमयेत् तदा [ कम्मसंस्सामेव ति ] कर्मणः सक्रामाया श्रेया जीवपरिणतिः सा कम्मश्रेया, ज्ञासल्लेयेत्यर्थः । तामेव प्रतिपत्तति-तस्या एव प्रतिपत्तति अशुन्ननतां यति, न तु द्रव्यलक्ष्यायाः प्रतिपत्तति । सा हि प्राकृत्यास्ते इत्यनेनोऽव्यवहितलक्ष्यायाश्चैवानामिति पक्कान्तरमाह- [ से य तत्थेयादि ] सेऽनगारस्तत्र मध्यमदेवावासे गतः सद् यदि न बिराधयेत् तं परिणामं, तथा तामेव श्रेयां योऽतोत्पन्न उपसंपदाश्रित्य बिहस्त्यास्त इति । एवं सामान्यं देवावासमाश्रित्यां कम् ।

अथ विशेषितं तमेवाश्रित्याह-

अणुगारे एं जंते ! जावियप्पा चरमं अणुस्सुकरारावासं वीइकंते, परमं अणुस्सु० एवं चेव० एवं जाव यणियकुमारावासं जोइसियावासं एवं वेमाणियावासं जाव विहरति ॥  
अनु यो भावितारमाऽनगाः स कथमणुस्सुकरामरेवृत्त्यस्वते, विराधितसंयमानां तत्रोत्पादादिति ? । उच्यते-पूर्वकालायेकया भावितारामयमनकाले च संप्रमथिराधमासन्नवायुसुकरामारादित्योपपादइ इति न दोषः । बाह्यतस्वी बाऽयं भावितारमा कृत्वइ इति । म० ४ श० १ उ० ।

( १२ ) अंसंभूतस्यानगारस्य विकृष्टवर्णा-  
अंसंभूतं एं जंते ! अणुगारे बाहिरए पोमगळे अपरियाइत्ता पणू एगवसं एगस्सं विउन्विचत्तए ? । गोयमा ! एो इण्डे समडे । अंसंभूटे एं जंते ! अणुगारे बाहिरए पोमगळे परियाइत्ता पणू ! एगवसणं एगस्सं जाव । हंता । पणू ! से भंते ! किं इह गए पोमगळे परियाइत्ता विउन्विड, तत्थ गए पोमगळे परियाइत्ता विउन्विड, अणुत्थ गए पोमगळे परियाइत्ता विउन्विड ? । गोयमा ! इह गए पोमगळे परि-याइत्ता विउन्विड, नो तत्थ गए पोमगळे परियाइत्ता विउन्विड, नो अणुत्थ गए पोमगळे जाव विउन्विड, एवं एगवसं अणेगस्सं चउजंजो नट्टा उट्टसए नवमे उहेमए तहा इहावि भाणियव्वं, नवरं अणुगारे इह गए य पोमगळे परि-याइत्ता विउन्विड, सेसं तं चेव जहा हुवत्तपोमगळं स्थिक्-पोमगलत्ताए परिणामेत्ताए ? । हंता । पणू ! से जंते ! किं इह गए पोमगळे परियाइत्ता जाव नो अणुत्थ गए पोमगळे परियाइत्ता विउन्विड ।

अंसंभूतः प्रमत्तः ( इह गए ति ) इह पृच्छको गौतमः, तद्वेपक्या इहशब्दाव्या मनुष्यलोकेस्तनस इहगतान्तरलोकाव्यवस्थितान् ( तत्थ गए ति ) धार्क्यं कृत्वा तत्र यावत्यति तत्र व्यय-स्थितानित्यर्थः ( अणुत्थ गए ति ) उक्तस्यानह्वयव्यतिरिक्तस्था-नाभित्तामित्यर्थः ( नवरं ति ) अयं विश्राए- ( इह इति ) इह शतं, अनगार इति, इहगतान्तरं पुद्गलानिति च वाच्यम् ; तत्र तु दे-वइति, तत्र गतानिति चोक्तमिति । म० ७ श० ६ उ० ।

[ १३ ] केयाघटिकात्रकण्डयादिगिकृष्या-

रायगिहे जाव एवं वयासी-से जहाणामए केइ पुरिमे केयाघटिं महाय मच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे वि जावियप्पा केयाघटिया किबहत्थयगएणं अप्पाणेणं उण्णं वेहासं उप्पएज्जा । हंता गोयमा ! जाव सणुप्पएज्जा । अणुगारे एं जंते ! भावि-यप्पा केवइयां पणू ! केयाघटियं किच्चहत्थयगएणं रुवाइं विउन्विचत्तए ? । गोयमा ! से जहाणामए जुवति जुवाणे हत्थेणं हत्थेणं एवं जहा वइयसए पंचमोदसए नावतां चेव एवं संपत्तीए विउन्विटु वा विउन्विटि वा विउन्विस्संति वा से जहाणामए केइ पुरिसे टिरत्थेपेदिं गहाय मच्छेज्जा, एवा-मेव अणुगारे वि भावियप्पा हिरसपेदिं इत्थकिबगएणं अप्पा-णेणं सेसं तं चेव । एवं सुवत्थपेदिं एवं रत्थपेदिं बपरपेदिं वत्थ-पेदिं आजरपेदिं, एवं विउत्तकिंसुवाकिंसं चम्मकिंसं कंब-लकिंसं, एवं अयजारं तंबजारं तउयभारं सीसगजारं हिर-सभारं सुवत्थजारं वट्टजारं से जहाणामए वग्गुसं । सिया दावि पाए उलंविग उलंविप उण्णं पाया अणुओ सिरा विउ-ज्जा, एवामेव अणुगारे वि जावियप्पा वग्गुसो किबगएणं अप्पाणेणं उण्णं वेहासं । एवं जसो वडयवत्थवया भाणि-यव्वा जाव विउन्विस्संति वा से जहाणामए जसोया सिया

उदगंसि कार्यं वि उच्चिहयि उच्चिहयि गच्छेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए मे जहाणामए वीयं वियगसउणे सिया दोवि पाए समतुरंगेमाणं समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए पक्खिविरालए सिया रुक्खाओ रुक्खं केवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए जीवं जीवगसउणे सिया, दो वि पाए समतुरंगेमाणं समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए हंसे सिया तीराओ तीरं अजिरममाणे अजिरममाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे हंसकिचगएणं अप्पाणं, सेसं तं चेव । से जहाणामए समुहायसए सिया वीईओ वीई केवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव तहेव । से जहाणामए केइ पुरिसे चकं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे जावियपा चककिचगएणं अप्पाणं, सेसं जहा केयावदिपाए, एवं उणं, एवं चम्मं, से जहा केइ पुरिमे रयणं गहाय गच्छेज्जा एवं चेव । एवं वइए वेरुळीयं जाव रिउं एवं उप्पलहत्थयं पठमहत्थयं कुमुदहत्थयं एवं जाव । से जहाणामए केइ पुरिसे महस्सपत्तगं गहाय गच्छेज्जा, एवं चेव । से जहाणामए केइ पुरिसे जिसे अवदालिय अवदालिय गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे वि जिसे किचगएणं अप्पाणं तं चेव, से जहाणामए सुणाक्षिया सिया उदगंसि कार्यं उम्मज्जिअ उम्मज्जिअ विडेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए, मे जहाणामए वणखंडे सिया किएहे किएहोभासे जाव निकुंखचए पासादीए ष्ठ, एवामेव अणुगारे भावियपा वणखंडकिचगएणं अप्पाणं उहं वेहासं उप्पएज्जा, सेसं तं चेव । से जहाणामए पुक्खविरिणं मिया चउक्कोणा समतीरा अणुपुव्वसु जाय जाव सवुत्तइय मधुरसरणादिया पामादीया ष्ठ एवामेव अणुगारे वि जावियपा पोक्खविरिणं किचगएणं अप्पाणं उहं वेहासं उप्पएज्जा ? । हेता उप्पएज्जा अणुगारेणं भंते । जावियपा केवयाई पत्तु । पोक्खविरिणं किचगएणं रुवाई विउच्चिउत्तए । सेसं तं चेव जाव विउच्चिउत्तएति वा । से जंते । किं मायी विउच्चउ, अमायी विउच्चइ ? गोयमा । मायी विउच्चउ, णो अमायी विउच्चइ, मायीणं तस्स उणस्स अणुलोइय एवं जहा तइयमए चउत्तुइयमए जाव अरियं तस्स अणारहया ॥

( रायमिहेत्यादि ) ( केयाघटिंयं ति ) उज्जमान्तराष्ट्रिका केयाघटिया ( किचहत्थयणं ति ) केयाघटिकासङ्गणं यत्कृत्यं कार्यं नक्षत्रं गतं यस्य स तथा, तेनात्मना विहासं ति ) विजकिविपरिणामाद्गहायस्याकाशे केयाघटिया [ किच इत्य गयाइ ति ] केयाघटिकालक्षणं कृत्यं हस्ते गतं येषां तानि तथा [ हिरण्यं ति ] हिरण्यमज्जवां ( वियदकिलं ति ) विद्वलानां वंशाङ्गानां वा कटाः स तथा तं ( संवुकिउं ति ) अत्रणकटं ( चम्मकिउं ति ) चम्पेत्तं शब्दादिकं [ कववकिउं ति ] औष्णी-

मयं कंषडं औभादि [ वग्गुली ति ] चम्मपहः पक्खिविधेयः । [ वग्गुलिकिचगए ति ] वग्गुलीसङ्गणं कृत्यं कार्यं गतं प्राप्ते येन स तथा, तदुपगतं गत इत्यर्थः । [ एवं उच्चिहयिउत्तएवया ज्ञानियवव्या ] इत्यनेनेवं सूचितम् । “ हेता उप्पएज्जा, अणुगारे णं भंते ! भावियपा केवयाई पत्तु । वग्गुलिकिचगए विउच्चिउत्तए ? गोयमा ! से जहाणामए उच्चिउत्तं उच्चिउत्तं हत्थेणं हत्थेणं गिहेहेत्थेयाइ ” [ जलोय ति ] जलोका जलजो अत्रियज्जीव विधेयः । [ उच्चिहयि ति ] उच्चिहयि ३ उच्येयं २ इत्यर्थः । [ वीयं वियगसउणे ति ] वीजो बीजकामिधामः शकुनिः स्यात् [ दोवि पाए ति ] जावपि पादौ । [ समतुरंगेमाणं ति ] समी तुष्यौ तुरङ्गस्याभ्यस्य समुरङ्गेणं कुर्वन् समतुरङ्गयमाणः समकसुत्पादयतिर्यथः । ( पक्खिविराउय ति ) जीवविशेषः [ उम्मज्जि ति ] अत्रिकामिचयथः [ वीईओ वीई ति ] कडोसाराकडोसाम्पेकेसियम् । इह यावत्करणादिहं इत्यम्- “ होहियक्खं मत्सागङ्गं हंसगणं पुसुमं सोलीयंथं जोरसेसं अकं अज्जेणं रयणं जायकवं अजणुपुल्लं फसिहं ति ” । “ कुमुदहत्थयं ” इत्यत्र तु एवं यावत्करणादिहं इत्यम्- “ नल्लिणहत्थयं सुत्तगहत्थयं सांगं ( वियहत्थयं ) पुत्तुरीयहत्थयं महत्तुत्तुरीयहत्थयं सययतहत्थयं ति ” । [ मिसे ति ] विशं मूणालं [ अयदासिय ति ] अयदायं दार्यायम् । [ मुणात्तिय ति ] नोसितीकायं [ उम्मज्जिय ति ] कायमुत्तमउ उम्मग्रं कृत्वा [ किएहे किएहो जासे ति ] कृणः कृण्यधर्मा जनयत्स्वरूपेण कृण्यं यथावास्तसेते कृण्णां प्रतिभार्तानि कृण्णाव्यायामः । इह यावत्करणादिहं इत्यम्- “ नोसि नोसोभासे हरिए हरिओभासे सीए सीओभासे तिने तिओजासे तिन्ने तिन्नेजासे किहह किहहच्चाए नोसि नोसच्चाए हरिए हरियच्चाए सीयं सीयच्चाए तिन्ने तिन्नेच्चाए चणकडिच्चाए रम्मं महामहेनिउत्तएत्तए ति ” तत्र च [ जोसि नोसोजासे ति ] प्रदेशान्ते, [ हरिए हरिओजासे ति ] प्रदेशान्तर एव । नोसिअ मयुत्तगलत्त, इतिउत्त शुक्कपिच्चात्त, हरिस्ताताभ इति च वृत्ताः । [ सीए सीओजासे ति ] श्रुतिः स्पर्शाधिकृत्या, वल्ल्याद्याकान्त्यादिहितं च वृत्ताः [ तिन्ने तिन्नेजासे ति ] स्निग्धो कृष्णस्वर्णतः [ तिन्ने तिन्नेजासे ति ] तीक्ष्णो वर्ष्वादिशुणप्रकर्षेयाव [ किएहे किएहच्चाए ति ] इह कृष्णशब्दः कृष्णच्चाय इत्यस्य विशेषकामिति न पुनरुक्तः । तथाई कृष्णः सन् कृष्णच्चाय, ग्राया चादियत्तवरो जम्भो वस्तुविशेषः । परमुत्तरपद्वत्त्वविधेयकमित्यच्चाए ति ] अन्यत्तं शास्त्रानुप्रवेशाद्दहलान्तरच्चाय इत्यर्थः । “ अणुपुव्वसुजाय ” इत्यत्र यावत्क रणात्त्वं इत्यम्- “ अणुपुव्वसुजायवत्तणं नीरसीयज्जत्ता ” आनुपुव्वेण सुजाता यथा यत्र. गम्भीरं श्रुतिं च जस यत्र सा तथा इत्यादि । [ सुवुत्तइय मधुरसरणादिय ति ] इहमेव इत्यम्- “ सुयवहिनमयणुसालुकेऽसकोरकजिगारककडलकजीवजीवकनदीमुहकविलिगलक्षगकारं उचकवायकलदस्सवारसअण्णेणसण्णेणमिठुणविरयसुहसुइयमधुरसरणात्तय ति ” तत्र शुकादीनि स्वरस्तातानामेकेषां शकुलनामानि ( मिथुने विरचितं शब्दोद्भूतं चोत्तरशब्दं च मधुरस्वरे च नादितं सपितं यस्याः सा तथेति । ज० २३ हा० ६ उ० ।

[ १४ ] अणुगारस्य भावितानामनो विकुर्वेया वाणां पुव्व-

गणपर्यादानपुत्रेकं स्त्रीकल्पस्य-

अणुगारे णं जंते । जावियपा बाहिरिए पोम्मो अपरियादत्ता मभू । एणं महे इत्येत्तवं वा जाव तंमाणयत्तवं

वा विकुञ्चित्प ?। गोयमा ! एते इण्डे समेटे । अणुगारं एं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पांगले परियाइत्ता पजू ! एणं महं इत्थिरुवं वा जाव संदयाणियरुवं वा विकुञ्चित्प ?। हंता । पजू ! अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पजू ! इत्थिरुवाइं विउञ्चित्प ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं लुवाणे हत्येण हत्ये गेण्येज्जा, चक्कस्स वा नाजी अणुग उत्ता सिया, एवामेव अणुगारे वि भावियप्पा वेउञ्चित्प-समुयाएणं समाहणइं जाव पजू ! एं ! गोयमा ! अणुगारे एं भावियप्पा केवलकएणं जंजुदीवं दीवं बहुदिं इत्थिरुवे-दिं आयभं वित्तिकिएणं जाव एस एं गोयमा ! अणुगार-स्स जावियप्पाएणं अयमेयारुवं विसए विसयमेसे बुइए नो चेव एं संपचीए विकुञ्चित्प वा ३, एवं परिवारिणए नेयचवं जाव संयाणिया । से जहानामए केइं पुरिसे अवि-चम्मपायं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे वि भाविय-प्पा अविचम्मपायं हत्यकिच्चगएणं अप्पाणेणं उहं वे-हामं उणएज्जा ?। हंता उणएज्जा । अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पजू ! अविचम्मपहत्यकिच्चगयाइं रुवा-इं विउञ्चित्प ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं लुवाणे हत्येण हत्ये गेण्हइत्ता तं चेव जाव विउञ्चित्प वा ३, से जहानामए केइं पुरिसे एगओ पहाणं काउं गच्छेज्जा, ए-वामेव अणुगारे जावियप्पा एगओ पहाण हत्यकिच्च-गएणं अप्पाणेणं उहं वेहामं उणएज्जा ?। हंता गोयमा ! अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा केवइयाएणं पजू ! एगओ प-रुगा हत्यकिच्चगयाइं रुवाइं विउञ्चित्प, एवं जाव वि-कुञ्चित्प वा ३, एवं दुइओ पहाणं पि से जहानामए केइं पुरिसे एगओ जणोवइं नं काउं गच्छेज्जा । एवामेव अ-णुगारे वि भावियप्पा एगओ जणोवइं य किच्चगएणं अप्पाणेणं उहं वेहामं उणएज्जा ?। हंता उणएज्जा । अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पजू ! एगओ जसो-वइयं किच्चगयाइं रुवाइं विउञ्चित्प, तं चेव जाव विकु-ञ्चित्प वा ३ । एवं दुइओ जसोवइयं पि । से जहानामए केइं पुरिसे एगओ पहाणियं काउं विउज्जा, एवामेव अणु-गारे भावियप्पा तं चेव जाव विउञ्चित्प वा ३ । एवं दुइओ पहाणियं पि, से जहानामए केइं पुरिसे एगओ पन्नियं काउं चइत्तेज्जा, तं चेव विकुञ्चित्प वा ३ । एवं दुइओ पन्नियं के पि । अणुगारे एं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पांगले अपरियाइत्ता पजू ! एणं महं आसरुवं वा हदियरुवं वा सोहरुवं वा वण्य-मदीविय अउतरउपरत्तररुवं वा अभिजुंजित्प ?। एणं इण्डे समेटे । अणुगारे एं एवं बाहिरए पांगले प-रियाइत्ता पजू ! अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा एणं महं आसरुवं वा अभिजंजित्ता अणुगारे जायएणं

गमित्प ?। हंता । पजू ! से जंते ! किं आइदीए गच्छइ, परि-हिए गच्छइ ?। गोयमा ! आयदीए गच्छइ नो परिहोए । एवं आयकम्मएणा परकम्मएणा आयपपभोगेणं पएयमेयेणं उरिस्स-ओदयं वा गच्छइ, पयोदयं वा गच्छइ । से एं भंते ! किं अ-णुगारे आसे ?। गोयमा ! अणुगारे एं से नो खलु से आसे, एवं जाव परासरुवं वा । से भंते ! किं मायी विकुञ्चइ, अमायी विकुञ्चइ ?। गोयमा ! मायी विकुञ्चइ, नो अमायी विकुञ्चइ । मायीणं जंते ! तस्स उणएस्स अणुलोइयपभिकंते काउं करेइ किं उववज्जइ ?। गोयमा ! अणुपरेसु आभियोगेसु देवजोगेसु देवचाए उववज्जइ । अमायीणं तस्स उणएस्स आसोइय प-दिकंते कालं करेइ, किं उववज्जइ ?। गोयमा ! अणुपरेसु अ-णुजायिणियेसु देवजोगेसु देवचाए उववज्जइ, सेवं भंते ! जंतंति । गाहा -“ इत्थी अमीपद्मगा, जसोवइए य होइ बोधव्वो । पण्हइत्थि य पन्नियंके, अभियोगविकुञ्चणा मायी ॥ ? ॥ ” तइयसए पंचमोइसे सत्तमात्ता । अणुगारे एं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छदिदी बीरियलकीए वेउञ्चित्प-की-ए विभंगनाणइकीए बाणारसिं नगरिं समोहए समोइहि-त्ता रायगिहे नगरे रुवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पास-इ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अणुगाराजं जा-णइ पासइ ?। गोयमा ! एं तहाभावं जाणइ पासइ, अणुगारा-जं जाणइ पासइ । से केण्डे एं जंते ! एवं जुवइ-नो तहा-भावं जाणइ पासइ, अणुगाराजं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! तस्स एं एवं जवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहापिचा बाणारसीए नयरीए रुवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्डे एं जाव पासइ, अणु-गारे एं जंते ! मायी मिच्छदिदी जाव रायगिहे नगरे समोहए समोहापिचा बाणारसीए नयरीए रुवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ, तं चेव जाव तस्स एं एवं होइ, एवं खलु अहं बा-णारसीए नयरीए समोहए समोहापिचा रायगिहे नगरे रुवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्डे एं जाव अणुगाराभावं जाणइ पासइ, अणुगारे एं जंते ! भावि-यप्पा मायी मिच्छदिदी बीरियलकीए वेउञ्चित्प-कीए वि-जंगलकीए बाणारसिं नगरिं रायगिहे च नगरं अंतरए एणं महं जणवयवणं समोहए समोहएत्ता बाणारसिं नगरिं रायगिहे तं च अंतरए एणं महं जणवयवणं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अणुगाराभावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! एं तहाभावं जाणइ पासइ, अणुगाराभावं जाणइ पासइ । से केण्डे एं जाव पा-सइ ?। गोयमा ! तस्स खलु एवं जवइ, एस खलु बाणारसीए नयरीए एव खलु रायगिहे नगरे एस खलु अंतरए एणं महं

जणवयवगं नो खलु एस महं बीरियलक्ष्मी वेरन्वियलक्ष्मी विभंगनायलक्ष्मी इही जुची जसे बले बीरिए पुरिसकारपर-  
कमे लक्ष्मी पत्ते अभिनमवाणगए, सेसे दंसणे चिववासे भवइ,  
से तेणइएणं जाव पासइ । अणगारे एं भंते । भावियप्पा अ-  
मायी सम्मदिही बीरियलक्ष्मी वेरन्वियलक्ष्मीए ओहिनाण-  
लक्ष्मीए रायगिहे नगरे समोहए समोहणिया बाणारसीए  
नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ ? इंता जाणइ पासइ । मे भंते ।  
किं तद्धानां जाणइ पासइ, अणगाराजां जाणइ पासइ ? ।  
गोयमा ! तद्धानां जाणइ पासइ, नो अणगाराजां जाणइ  
पासइ । से केणइएणं भंते ! एवं बुचइ ? गोयमा ! तस्म णं  
एवं जइइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समो-  
हणिया बाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणामि पामामि ।  
मेसे दंसणे अवियप्पामे जइइ, से तेणइएणं गोयमा ! एवं  
बुचइ । बीओ वि अलावगो एवं चेष, एवरं बाणारसीए  
नयरीए समोहणा भेषवो । रायगिहे नगरे रूवाइं जा-  
णइ पासइ अणगारे एं भंते । जावियप्पा अमायी स-  
म्मदिही बीरियलक्ष्मीए वेरन्वियलक्ष्मीए ओहिनाणलक्ष्मी-  
ए रायगिहे बाणारसि नगरि च अंतरा एणं महं जणवय-  
वगं समोहए समोहणा रायगिहे नगरे बाणारसि च न-  
गरि तं च अंतरा एणं महं जणवयवगं जाणइ पासइ ? ।  
इंता जाणइ पासइ । से भंते । किं तद्धानां जाणइ पा-  
सइ, अणगाराजां जाणइ पासइ ? गोयमा ! तद्धानां  
जाणइ पासइ, नो अणगाराजां जाणइ पासइ । से केणइ  
ए ? गोयमा ! तस्म एं एवं जइइ, नो खलु एस रायगिहे  
णो खलु एस बाणारसी नगरी नो खलु एस अंतरा एणे  
जणवयवगं एस खलु ममं बीरियलक्ष्मी वेरन्वियलक्ष्मी  
ओहिनाणलक्ष्मी इही जुची जसे बले बीरिए पुरिसकार-  
परकमे लक्ष्मी पत्ते अभिसमाणागए मेसे दंसणे अविववासे  
जइइ, से तेणइएणं गोयमा ! एवं बुचइ, तद्धानां जाणइ  
पासइ, नो अणगाराजां जाणइ पासइ । अणगारे एं  
भंते । जावियप्पा बाहिरए पोमगं अपरियाइत्ता पजू !  
एणं महं गामरूवं वा नगररूवं वा जाव सभिवसरूवं वा  
विकुन्वित्तए ? गोयमा ! णो इणइएणं समहे । एवं त्रिभिओ  
वि अलावओ, नवरं बाहिरए पोमगं परियाइत्ता । पजू !  
अणगारे एं भंते । केवइयइं पजू ! गामरूवाइं विकुन्वित्तए  
? गोयमा ! से जहानामए जुवइं जुवाणे हत्येण हत्ये गे-  
यइंजा तं चेष जाव विकुन्वित्ति वा ? । एवं जाव साधि-  
वेसरूवं वा ? ।

[ असिचर्मपात्रं गहाए सि ] असिचर्मपात्रं स्फुरकः ।  
अथवा असिष्क लक्ष्मः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, अक्षुकराको वा,  
असिचर्मपात्रं तद् गृहीत्वा । [ असिचर्मपात्रहत्याकिञ्च-

गएणं अस्पाणेषुं ति ] असिचर्मपात्रं हस्ते यस्व स तथा  
हृत्वं संघासिप्रयोजनं गत आश्रितः कृत्ययतः, ततः कर्म-  
धारयः । अतस्तेन आत्मना । अथवा असिचर्मपात्रं हृत्वं  
हस्ते कृतं वेनासी असिचर्मपात्रहस्तकृत्यकृतः, तेन, प्राकृ-  
तत्वात्तैवं समासः । अथवा असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यं हस्त-  
करणं गतः प्राप्ते यः स तथा, तेन । [ पलित्वेति ] अस्स-  
विशेषः प्रतीतश्च [ विगिति ] वृत्तः । [ लोचित्वेति ] अस्तुप्य-  
विशेषः । [ अचछुंति ] अस्तुः । [ नरच्छुंति ] व्याघ्रविशेषः ।  
[ परासरति ] शरभः । तथाऽन्यान्यपि शृगालादिपदानि वा-  
च्यनान्तरे दृश्यन्ते । [ अभिभुञ्जत्ताए सि ] अभिभोञ्जं विद्याऽऽ-  
दिसामर्थ्येन स्तनहनुप्रवेशेन व्यापारयितुं यच्च स्वस्थानुप्रवेशेन-  
नाभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तबाधुपुङ्गवान् विनाम स्या-  
दिति कृत्योच्यते [ नो बाहिरए पोमगं अपरियाइत्ता ण ] [ अ-  
णगारेणं वेति ] अणगार एवासी तस्मत्तोऽनगारस्येवाऽभा-  
वचतुप्रवेशेन व्याघ्रप्रयमाणात्तान् [ मायो अभिभुञ्जइ णि ] कषाय-  
वानभियुक्त इत्यर्थः । अचिन्तनाचरणायां । मायोपिउच्यइ णि ।  
दृश्यते । तत्र चाभियोगोऽपि विबुधैर्गति मन्वत्पदं, विक्रियारू-  
पत्वात्संज्ञयति । [ अणयरेस्तु णि ] आभियोगिकदेवा अच्युतान्ता  
भवन्तीति कृत्वा अन्तर्गन्धित्युक्तम्, केचुचित्तिदुःखं । व्युत्प-  
द्यते चाभियोगभावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु करेति च  
विद्यादालक्ष्युपजीविकाऽभियोगभावनाय । यथाऽऽमना जोगं  
काउं, भूईकम्मं तु जे पउंजति । साइरस्तइअदिउं, अभिभोणं  
जावणं कुणणं ॥ १ ॥ इत्थोव्यादिमहुगहाया गन्थां । ( इति  
तुनीयशतके पञ्चमः ) विकुन्वित्तकारसम्बद्ध एष पण उहं-  
शकः, तस्य चाद्युत्पन्नम् । ( अणगारे णमियादि । अणगारे गृह-  
वासयागाहाऽवियान्ता स्वस्मयानुसारादिप्रशामादिमार्गान्यु-  
पलक्षणत्वान् कषायवान् । स्वयमष्टिरथ्येवं स्यादित्याह-मिथ्या-  
हृदिरन्वनीयिक इत्यर्थः । वीर्यलक्ष्यादिभिः करणानुनाभिवांरा-  
खसी नगरी ( संमोहए णि ) विकुन्वित्तवान् राजशुहे नगरे रुपा-  
णि पशुपुरुषमासाद्यप्रभृतीनि ज्ञानानि पश्यति पिबन्नुजानसंख्या  
( नो तद्धानां भवति ) यथा वस्तु तथा जावोऽनिसंघियेयं इति  
तत्तथाभावम् । अथवा यथैव संवयाने तथैव भावो बाधो वस्तु  
यत्र तत्तथाभावम्, अन्यथा भावो यत्र तत्तथाजायम् । क्रिया-  
विशेषणे चेत्ये । स हि मन्यतेऽहं राजशुहे नगरं स्वमहतां वारा-  
णस्या रूपाणि जानामि पशवामीयेष्वम । ( सं ति ) तस्याऽणगारस्य  
[ सं ति ] अस्ती दशमे विषयोऽसौ विषयोऽसति ; अन्यद्वाय-  
रूपाणामन्यद्वीयतया विकल्पितत्वाद् । दिक्कांहादिव पुत्रांसापि  
पश्चिमां मन्यमानस्येति क्वचित् [ सेसे दंसणे चिववरीए विशिष्ठा-  
से णि ] इत्यर्थे तत्र च तस्य तद्दहनं विपरीतं क्षेत्रव्यत्यर्थेति  
कृत्वा विषयोऽसौ सिध्यत्यर्थः । एवं द्वितीयसूत्रम् । तुनीये तु  
[ बाणारसीं नगरीं रायगिहे नगरे अंतराए एणं महं जणवयव-  
गं समोहए णि ] वाराणसीं राजशुहे तथारेव चान्तरालवर्तिनं जन-  
पद्वर्गं दशसमूह सम्यहते विकुन्वित्तवाद्, तथैव च तानि  
विमङ्गले जानानि पश्यति केचन नो तथाजावय, यतोऽस्ती वैकि-  
याथयति तानि मन्यते स्वाभाविकानिति [ अस्से ति ] यशोहे-  
तुत्वापदाः [ नगररूवं वा ] इह याचनकरणादिदं दृश्यम्- " निगम-  
रूवं वा, रायहाणिकरूवं वा, लेहकरूवं वा, कषरूवं वा, मरु-  
रूवं वा, दोणमुद्रकरूवं वा, पणरूवं वा, पाणरूवं वा, आत्म-  
रूवं वा, संवाहकरूवं वसि" ज ० २ श ० १ क ० १ ।

[ १५ ] अणुगारस्य भाषितात्मनो वृक्षमूलस्कन्धादिदृशेनम्—  
अणुगारे एषं जंते ! जाविष्यपा स्कन्धस्स किं अंतो पासइ,  
बाहिं पासइ चउजंगो १, एवं किं मूलं पासइ, कंदं पासइ च-  
उजंगो, मूलं पासइ, खंभं पासइ चउजंगो । एवं मूलेणं बी-  
जं संजोएयव्वं । एवं कंदेण वि समं जोएयव्वं जाव बीयं ।  
एवं जाव पुण्णेण समं बीयं संजोएयव्वं । अणुगारे एषं  
जंते ! भाविष्यपा स्कन्धस्स किं फलं पासइ, बीयं पासइ  
चउजंगो ॥

[ अंतो णि ] मध्यं काष्ठसारादि, [ बाहिं ति ] बहिर्वर्तिन्वृक्षप-  
त्रसञ्चयादि । [ एवं मूलेणमित्यादि ] पत्रमिति सूक्ष्मन्दन्त्राभिला-  
षेन मूलेन सह कदाचिपदानि वाचयानि, यावद् बीजपद्म् ।  
तत्र च मूलं १, कन्दः २, स्कन्धः ३, त्वक् ४, शाखा ५, प्रवालं ६,  
पत्रं ७, पुष्पं ८, फलं ९, बीजं १० चेति दश पदानि । ०यां च प-  
ञ्चम्यार्यादृष्टिकसंयोगाः । एतावन्त्येव चतुर्जङ्घीसुप्राग्य-  
धेयाधीनति । एतदेव दर्शयितुमाह—[एवं कंदेण दीत्यादि ] अ०  
३ श० ४ उ० ।

[ १६ ] अणुगारस्य भाषितात्मनो बाणुपुद्गलसादनपुर्वकं  
उल्लूकपनप्रलङ्घनम्—

अणुगारे एषं जंते ! जाविष्यपा बाहिरए पांग्ले अप-  
रियाइचा पजू ! वेजारपव्वयं उल्लूयेत्तए वा पडंयेत्तए वा ? ।  
गोयमा ! नो इण्णइ समइ । अणुगारे एषं जंते ! जाविष्यपा  
बाहिरए पांग्ले परियाइचा पजू ! वेजारपव्वयं उल्लूयेत्तए वा  
पलंयेत्तए वा ? । इत्ता । पजू ! अणुगारं एषं जंते ! भाविष्यपा  
बाहिरए पांग्ले अपरियाइचा जावइयाइं रायगिहं नगरे  
रूवाइं एवइयाइं विउत्तिचा वेजारपव्वयं अंतो अणुप-  
विमिन्ना पजू ! समं वा विममं करेत्तए, विममं वा  
समं करेत्तए ? । गोयमा ! नो इण्णइ समइ, एवं चेव  
विनिओ वि अलावगो, एवरं परियाइचा । पजू ! से भंते !  
किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा ! मायी  
विकुव्वइ, एषो अमायी विकुव्वइ ? से केण्णइ एषं जंते !  
एवं वुचइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा !  
मायीणं पणीयं पाणजोयणं जोच्चा भोच्चा बामइ, तस्स  
एषं तेषं पणीएणं पाणभोयणेणं अट्ठि अट्ठि मिंजा बहन्नी  
जवंति, पणुए मंससोणिए अवइ, जे वि य से अहा बायरा  
पांग्ले त वि य से परिणमंति । सांइदियत्ताए जाव फा-  
निदियत्ताए अट्ठि अट्ठि मिंजकेसमंसुरंमनइताए सुक्काए  
सांणियत्ताए अमायीणं ल्हं पाणजोयणं भोच्चा भोच्चा  
एां बामइ, तस्स एषं तेषं ल्हं पाणजोयणेणं अट्ठिअट्ठि-  
मिंजापणुजनेति बहलं मंससोणिए जे वि य से अहा बादरा  
पांग्ले त वि य से परिणमंति । तं अहा—उच्चारत्ताए  
जाव सांणियत्ताए स तेण्णइ एषं जाव नो अमायी विकुव्वइ ।  
मायीणं तस्स ठाएस्स अणालोइयं पकिंते कासं करेइ,

नत्थि तस्स आराइहा, अमायीणं तस्स ठाएस्स अणालो-  
इयं पकिंते कासं करेइ, अत्थि तस्स आराइहा, से वं  
जंते ! जंते चि ।

[ बाहिरए णि ] औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैकियाभिलष्ये ।  
[ वेमारं ति ] वेजारभिधानं राजपुद्गलीकार्यतं [ उल्लूयेत्तए  
वत्यादि ] नभोहल्लं स्कन्धं, प्रलङ्घनं पुनःपुनरिति [ नो इण्णइ  
समठे णि ] वैकियपुद्गलपर्यादानं विना वैकियकरणस्यैवामा-  
वात् । बाणुपुद्गलपर्यादानं तु सति पवंतस्याल्लङ्घनादौ प्रतुः  
स्यात्, महत्तः पवंतात्क्रामियः शरीरस्य सभवावदिति ।  
[ जावइयाइं इत्यादि ] याचन्ति कृपाणि पशुपुद्गलविकृपाणि  
[ एवइयाइं ति ] एतावन्ति [ विउत्तिच णि ] वैकियाणि  
कृत्या वेमारं एवंते समं सन्ते विममं । विममं तु समं, कर्तुमिति  
सम्बन्धः । किं कृत्येत्याह—अन्तमंभ्ये वेजारस्यैवाद्युप्रदिद्य [मायी  
ति ] मायावायुपुद्गलकृत्वत्वाद्स्य सकृदायप्रसक्त इति याचत् ।  
प्रमसो हि न वैकियं कुरुत इति । [ पणीयं ति ] प्रणीते गल्लस्नेह-  
वि-वृक्षमं [ भोच्चा २ यामेइ णि ] यमनं करोति विरेचनं वा करो-  
ति, वलीवलायधं यथाप्रणतं भोजनं तद्धमनं च विकियास्त्वभावं  
मायिन्याद् भवति, एवं वैकियकरणमपीति तात्पर्यम् । [ बहन्नी-  
जवंति णि ] घनीभवन्ति, प्रणीतत्सामर्थ्यात् [ पणुए णि ] अघ-  
नम् [ अहावायए णि ] यथाचितवादेन आहारपुद्गला इत्यर्थः ।  
[ परिणमंति ] श्रोत्रेन्द्रियादिव्येन, अन्यथा शरीरदृष्ट्यां प्रवा-  
त् । [ ल्हं ति ] कृत्तमप्रणीतम् [ षो बामेइ णि ] अकृपायितया  
विकियायाभिमर्शित्वान् "पास्वणत्ताए" इह यावत्कृपायादिदं  
इदमम्—"संलत्ताए सिवाणत्ताए वंत्तत्ताए पित्तत्ताए पुयत्ताए  
णि" कृत्तोजिनं उच्चारितव्याहारादिपुद्गलाः परिणमन्ति,  
अन्यथा शरीरव्यासारात्सापसरिति । माय्यामिनाः कृत्तमाह-  
[ मायीणमित्यादि ] [ तस्स षाण णि ] तस्मात् स्थानतः विकुर्वणा-  
करणत्, प्रणीतं भोजनं कृत्वा वा [ अमायीणमित्यादि ] पनेम-  
मायित्वाङ्गिकयं प्रणीतभोजनं वा कृतवान्, पश्चाद् जातानु-  
तापोऽमायी सन् तस्मात् स्थानात् आसोचितप्रतिक्रान्तः सन्  
कालं करोति बल्लस्यास्साराधनेति । अ० ३ श० ४ उ० ।  
[ १७ ] वैकियसमुद्घातेन कृतकपमनगारो जानाति न वेति—

अणुगारे एषं भंते ! जाविष्यपा देवं वेउत्तियं समुग्याए णं  
समोहय जाणक्खेणं जायमाणं जाणइ पासइ ? । गोयमा !  
अत्थेगइए देवं पासइ, नो जाणं पासइ । अत्थेगइए एं  
जाणं पासइ, नो देवं पासइ २ । अत्थेगइए देवं पि जाणं पि  
पासइ ३ । अत्थेगइए नो देवं पासइ नो जाणं पासइ ४ ।  
अणुगारे एषं भंते ! जाविष्यपा देविं विउत्तियं समुग्याए एं  
समोहय जाणक्खेणं जायमाणि जाणइ पासइ ? । गोयमा !  
एवं चेव । अणुगारे णं भंते ! जाविष्यपा देवं सदेविं  
वेउत्तियं समुग्याए एं समोहय जाणक्खेणं जायमाणं जा-  
णइ पासइ ? । गोयमा ! अत्थेगइए देवं सदेविं पासइ, नो  
जाणं पासइ । एणं अजिज्ञावेणं चचारि भंगा ॥

तत्र भाषितात्मा संयमनपञ्चम्यधेविषधानात्मनारणां हि प्रा-  
योऽवधिज्ञानाधिष्ठधयो भवन्तीति कृत्या प्रावितात्मत्युक्तम्;  
विहितोत्तरवैकियशरीरमित्यर्थः । येन प्रकारेण ताविकायाका-



एषस्त, वैकियाविमानोन्मेष्यः । धान्तं गच्छन्तं, ह्यनेन दर्शनेन ।  
कथरनिह चतुर्भङ्गाविशिविषयार्थविज्ञानस्येति । ३० ३ श० ३  
३० । [ अध्याहारस्य भावितात्मनः केवलासमुद्र्यातसमवहतस्य,  
मारणान्तिकमुद्र्यातसमवहतस्य वा चरमपुरुलाः सर्वशोकं  
सुपुत्रा विच्छन्ति इति 'केचिसिसमुद्र्या' शब्दे नृतीयनागे वक्ष्यते ]

- ( १ ) अनगारस्य निष्पत्तिः ।
- ( २ ) अनगारस्य धारान्तेवासिनां वर्णकः ।
- ( ३ ) पुष्यीकायिकादिर्दिसकानामनगारत्वं न भवति ।
- ( ४ ) कियाऽसंभूतोऽनगारो न सिद्ध्यति ।
- ( ५ ) अनगारस्य भावितात्मनोऽसिधारादिष्वधवाहमा ।
- ( ६ ) अनगारस्य अकप्रत्याख्यातुराहारः ।
- ( ७ ) शैलेदीप्रतिपन्नस्यानगारस्य पञ्जना ।
- ( ८ ) अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मलेयाद्यारतीं ज्ञानाति ।
- ( ९ ) अनगारस्य भावितात्मनः क्रियाः ।
- ( १० ) संवृत्तस्यानगारस्य क्रियाः ।
- ( ११ ) अनगारस्य मत्पुत्रपत्नी ।
- ( १२ ) असंभूतस्यानगारस्य विकुर्वणा ।
- ( १३ ) कियाषटिकालक्षणकृत्यादिविकुर्वणा ।
- ( १४ ) अनगारस्य भावितात्मनः स्त्रीरूपस्य बाह्यपुरुलादान-  
नपूर्वकं विकुर्वणा ।
- ( १५ ) अनगारस्य भावितात्मनो वृत्तमूलकस्यादिदर्शनम् ।
- ( १६ ) अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुरुलादानपूर्वकमुल-  
ह्वनप्रलङ्घने ।

( १७ ) वैकियसमुद्र्यातेन कृत्तुपमनगारो ज्ञानाति न वेति ।  
ऋणकार-पुं० । अणमिष कालान्तरक्रेयापुत्रमवहेतुया अ-  
णमष्टप्रकारं कर्म, तत्करोर्गीति कोऽर्थः-तथा २ शुक्लचनविप-  
रतमन्वुत्तिमिदरायिनोतीति अणकारः । दुःशिक्षे, उत्त० १ अ० ।  
अध्याहारगुण-अनगारगुण-पुं० । ६ त० । साधोः मतपदके-  
न्द्रियाभिप्रहादिषु सप्तविशतिगुणेषु, उत्त० ३१ अ० ।

मन्वावीतं अध्याहारगुणा पण्यत्ता । तं जहा-पाणाश्वाया-  
ओ वेरमणं सुसावायाओ वेरमणं अदिआदाणाओ वेरम-  
णं मेद्रुणाओ वेरमणं परिमाहाओ वेरमणं सोईदिय-  
निग्गेह चकिंसदियनिग्गेह घाणिदियनिग्गेह जिञ्जिनियनि-  
ग्गेह फासिदियनिग्गेह कोह्दिबिगेमे माहविगेमे मायाविगेमे  
होत्रविगेमे भावसत्त्वे करणसत्त्वे जोगसत्त्वे खवाविरा-  
गया मणनमाहरणया वयसमाहरणया फायसमाहरणया  
घाणसंपन्नया दंसणसंपन्नया चरितसंपन्नया वेषणअद्विया-  
सणया मारणंतिय अद्वियासणया ॥

अनगारार्णं साधूनां, गुणाभारिजविशेषाः अनगारगुणाः,  
तत्र महाप्रतानि पञ्च ( ५ ) पञ्चेकियनिग्रहाश्च पञ्च ( १० )  
क्रोधादिष्विवेकाद्यः ( १४ ) सत्यानि षीणि । तत्र भावसत्त्वं-  
युद्धान्तरात्मना, करणसत्त्वं-धर्मप्रतिषेधनादिक्रियाः । तां यथो-  
क्तं सम्मगुपयुक्तः कुर्वते । योगसत्त्वं-योगानां मनःप्रवृत्तानाम-  
विनयधर्म [ १७ ] क्षमाऽननिय्यक्रोधादानस्य रूपस्य ह्यसं-  
हितस्यामीतिभावस्याभावः । अथवा क्रोधमानयोर्व्यतिरो-  
धः, क्रोधमानविवेकशब्दाभ्यां तदुद्भवप्राप्तयोर्निरोधः, प्रायेण-  
भिहित इति न पुनरुक्तताऽपीति ( १८ ) विरागता-अविष्य-  
क्रान्तस्य भावः । अथवा मायालौभयोरुद्भवो मायालौभविवे-

कशब्दाभ्यां तदुद्भवप्राप्तयोस्तयोर्बिधेः प्रागभिहित इतीहापि  
न पुनरुक्ततेति ( १९ ) मनोवाक्कायानां समाहरणना, पाठान्-  
तरनः-समत्पाहरणना अकुशलानां निरोधाभ्यायः ( २२ ) आ-  
नादिसंपन्नतासिद्धः ( २५ ) वेदनाऽतिसहनता शीताघृतिस्-  
हनम् ( २६ ) मारणात्मिकातिसहनता-कृत्याणामिष्यद्वा मार-  
णान्तिकोपसंगसहनमिति ( २७ ) स० २७ सम० उत्त० ।  
प्रश्न० । जीन० । आ० चू० । संघा० ।

पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह-  
से जहाणामप अध्याहार भगवतो इरियासमिया ज्ञाना-  
समिया एसाणसमिया आयाणजेरुमत्तणिकेवलासमिया  
लघारपासवणखेलसियाणज्जपरिहावणियासमिया मण-  
समिया वयसमिया कायसमिया मण्युत्ता वयगुत्ता काय-  
गुत्ता गुत्ता गुत्तिसिया गुत्तसंबवारी अकोहा अमाणा अ-  
माया अलोजा संता पंतता उवसंता परिणिव्वुत्ता अणा-  
सवा अगंधा जिञ्जिसीया निरुवलेवा कंसपाऽ व सुकताया  
संख इव एिरंजणा जीव इव अपदिहयगती गगणतदं  
पि व निरालंबणा वाउरिच अपदिबंथा मारदमलिल इव  
सुच्छदियाया पुक्करपत्त इव निरुक्लेवा कुम्भो इव गुत्तिसि-  
या विहग इव विष्पुम्भो खमिभिसाणं व एगजाया भारड-  
पक्खी व अप्पमत्ता कुजरो इव सौमीरा वसजो इव जातथि-  
मा सीहो इव बुक्करसा भंदरो इव अप्पकंया सागरो इव  
मंजीरा चंदो इव सोमलेसा मूरो इव दित्तयेया ज्जचकं-  
एणं च इव जातरूवा वयुंधरा इव मन्वपासविमहा सुट्ट-  
यदुयासणो विव तेयसा जज्ञता एत्थिणं ॥ ७ ॥ तेसिं  
जगवंताणं कत्थवि पमिबंधे भद्व, से पडिबंधे च उग्विहं  
पण्येचे । तं जहा-अंढएइ वा ( वोदजेइ च ) पो-  
यएइ वा उग्गेइ वा पग्गेइ वा जणं जणं दिसं इच्छति  
तणं तणं दिसं अपदिबक्का सुच्छदिया अप्पसहुज्या अप्प-  
मंथा संजमेणं तवसा अप्पयां जावेमारेणे विदुरंति ॥ ७ ॥  
तेसिणं भगवंताणं एमा एतारूवा जाया माया विची होत्था ।  
तं जहा-चउरुपे भचे उठ्ठे जत्ते अट्टमे भचे दसमे जत्ते  
दुवालसमे भचे चउदसमे जत्ते अक्कपासिए जत्ते मासिए भचे  
दोमासिए तिमासिए चउरमासिए पंचमासिए अम्मासिए  
अनुत्तरं च वणं उक्खित्तचरया णिक्खित्तचरया उक्खि-  
त्तणिकित्तचरया अंतचरया पंतचरया सुहचरया  
समुदाणचरया संसहचरया असंसहचरया तज्जातसंसहच-  
रया दिह्लाभिया अदिह्लाभिया पुह्लाभिया अप्पुह्ला-  
भिया निक्खुत्ताभिया अणिक्खुत्ताभिया अन्नापचरया  
अन्नायसोगमरणा उवनिहिया संसादत्तिया परिमितपिक्वा-  
इया सुद्वेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विर-  
साहारा लुहाहारा तुग्गाहारा अंतजीवं पंतजीवं आ-  
यंभिसिया पुमिपडिया विगइया अमज्जपंसा समिणो खो-  
णियामरसजोइहाणइया पदिमाताणइया उक्कुआस-

गिया गेसजिया बीरासणिया दंदायतिया झगंदसाणो  
 अप्पाउना अगचया अकंदुया अण्डिदुहा पुतकेसमसरोपन-  
 हा सव्वया य पढिकमविपण्णका चित्ति ॥ ७२ ॥ तेषं  
 एतेषं बिहारेणं बिहरमाणा बहुदं बासाईं सायणपरियाणं  
 पाठणंति बहु बहु आवाहंसि उण्णंसि वा अणुण्णंसि  
 वा बहुदं जचाईं पक्खलाइ, पक्खलाइया बहुदं बासाईं अ-  
 णसणाईं ठेदिंति, अणसणाईं ठेदिंत्ता जसहाइए कीरति  
 नगजावे मुंदभावे अएहाणजावे अदंतवणेगे अइत्तए अ-  
 णोवाट्टणए नृमिसेजा फलगमेजा कइसेजा केसओए वंज-  
 चरवांस परपरपवेसे लक्खा अलक्खामा अमाणाणामो ही-  
 लणाओ निंदणाओ खिसणाओ गरहाणओ तज्जणाओ ताल-  
 णाओ ओ उक्खावया गामकटंगा बाबींसं परीसाहोवसगं अइया  
 सिज्जंति, तमइं आराहंति, तमइं आराहिचा चरेमिं उस्सा-  
 मनिस्सासिदिं अणंत्तं अणुचरं निब्बापात्तं निरावरणं कसिणं  
 पादिपुणं केवलपरणाणइंसएससुप्पोदंति, सव्वुपादंतिचा  
 तमो पच्चा सिज्जंति उज्जंति मुञ्चंति परिणिब्बायंति सव्वा-  
 यंति सव्वदुक्खायं अंतं करंति ॥ ७३ ॥

तद्यथा नाम केचनोचमसदनमधुतिबहोपेता अनगारा भगव-  
 न्तो जवन्तीति । ते पञ्चजिनः सान्निभिः समिताः, वरमित्युपश्रु-  
 तः । श्रीपारतिकाचारार्कसंनयप्रथममुपायः । तत्र साधुगुणः  
 प्रबन्धेन व्याख्ययन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण दृष्टव्यमित्यदिदे-  
 शः । यावद्भूतमवर्षात् केराहमशुशोभनकारिकं येसते, तथा  
 सर्वग्राहपरिकर्मिषुमुक्त्वा निष्ठातिक्रमोक्षीरास्तिज्जतीति ॥७०॥  
 ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ तं चोपप्रविहारिणः प्रकृत्यामनुपाद्य बाधाकपे  
 रोगान्तु सन्मुपकटुमुपेक्ष बा अकप्रत्याक्यान् विदधति, किं बहु-  
 मोकेम-यत्कृत्यमयोगेक्षकश्चिरात्सादः करवालधारामाणव-  
 द् दुःपथवसायः अमणसाधोनुपाद्यन्ते, तमयं सम्यग्ज्ञानज्ञान-  
 चारित्राख्यमाराधय, अव्याह तमनत्तं मोक्षकारणं केवलज्ञानमा-  
 नुवन्ति, केवलज्ञानायासेकत्वं सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षम-  
 वाणुवन्तीति । सूत्र० २ श्लु० २ अ० ।

अणुगारचारित्रधम्म-अनगारचारित्रधर्म-पुं० । अणारं नास्ति  
 येणं तेअनगाराः साधवः, तेषां चारित्रधर्मः महाव्रतादिपापहनकेपे  
 चारित्रधर्मजने, “अणगारचारित्रधर्मं दुबिहे पण्णत्तं । तं जहा-  
 सरागसंजमे, कीयरागसंजमे” इवा० २ ज्ञा० १ उ० । [व्याख्या  
 वास्तव स्वस्वस्थाने दृष्टव्या]

अणुगारधम्म-अनगारधर्म-पुं० ६ त० । सर्वेविरतिचारित्रे य-  
 तिमं, श्री० ।

अणुगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वयाए मुंके  
 भविता अगाराओ अणुगारियं पव्वइस्सं सव्वओ पाणइ-  
 वायाओ वेरमणं सुसावायअदिआदुपमंहुणपरिमगहाराई-  
 धोअणुओ वेरमणं अयमाउमो । अणुगारसामइए धम्मं  
 पण्णत्तं । एअस्स धम्मस्य सिकलाए उवड्ढिए निग्गये वा नि-  
 म्मंथी वा बिहरेमाणे अणुगए आराइए जवति ।  
 अथचिह्नतयात्मना-इह खलु-इदं च, मर्येद्रोके, [खञ्जो स-

व्याप ए चि] सर्वतः-द्रव्यतो प्रायतश्चेत्यर्थः । सर्वात्मना स-  
 र्वाणं क्रोधादीनामपरिणामानाभिव्येत्यर्थः । एते च सुखेष्टिभू-  
 त्वस्यस्य विशेषण, अनगारिता प्रमजितस्वतन्त्रत्वस्य वा [अय-  
 माउसो चि] अयमायुष्मन् ! [अणगारसामइए चि] अनगाराणां  
 समये समाचारे, सिक्तन्ते वा यथाऽनगारास्तामपिकं, अनगार-  
 सामयिकं वा [सिक्खआए चि] सिक्खामाभ्यासे [आणयाए चि]  
 आहाया विहरन् आराधको भवति ज्ञानादीनाम् । अथवा आ-  
 हाया जिनापदस्याराधको प्रवर्तति । श्री० ।

साधुधर्ममाह-

खंती य मएव अण्ण, मुची तवसंजमे अ बोधव्वे ।  
 सव्वं सोयं अण्णि-चएणं च वंजं च जइधम्मो ॥ १४ ॥  
 क्खान्तिअ, मार्दवअ, अजैवअ, मुक्तिः, तपःसंयमी च वोक्खो;  
 सत्तं, हीचअ, भाकिज्जयं, अल्लवयं च यतिधम्मं इति मायाह-  
 रायं ॥ १४ ॥ दृश० नि० ६ अ० ।

सायंको निरपेक्खअ, यतिधर्मो जिथा मतः ।  
 सायंकेसुत्तत्र शिक्खाय, युवन्तेयासिताऽव्वइह ॥  
 यतिधर्मं उक्खकणः मुनिस्संखण्डुगुणविशेषः, जिथा हाज्यां  
 प्रकाराभ्यां, मतः प्रकृतितः, जिनेरिति शेषः । द्वैविध्यमेवाह-  
 सायको निरपेक्खति । तत्र युक्त्यादिसाहाय्यमेपेक्खामो यः  
 प्रवृत्त्यां परिपालयति स सायकः । इतरस्तु निरपेक्को यतिः, ग-  
 ष्ट्यारोपेकारहित इत्यर्थः । तयोधर्मोऽपि क्रमेण गच्छावसत्सख्यो  
 जिनकट्यादिरक्षणकथं सायको निरपेक्कोऽप्येत, धर्मधर्मियो-  
 रभेदोपचारात् । तत्र तयोः सायकानिरपेक्यतिधर्मयोर्म्याव  
 अयं सायक्यतिधर्मो भवतीति क्रियासकथः । पवयमऽपि या-  
 ज्यम् । स च यथा शिक्खाया इत्यादि । तत्र शिक्खा अन्यासः ।  
 सा च जिथा-प्रकृतिज्ञाऽस्यवनामिक्का चिति । तत्र प्रहण-  
 शिक्का-प्रतिदिनसुचार्यप्रदानान्यासः । आसियनाशिक्का-प्रति-  
 दिनक्रियाऽभ्यासः । तस्यैतदर्थं न त्तरपुत्र्यांघर्षमिति भावः ।  
 ध० ३ श्रुति० ।

अणुगारमगमाह-अनगारमार्गमति-खी० । ६ त० । सम्यग्दृष्टे-  
 स्तत्रप्रतिबन्धपरित्यागकण्येण शिमुं कस्य सम्यग्ज्ञानज्ञानचारित्रेपु,  
 सिक्किगतौ च । उच० ।  
 एषां चोत्तराधयनानां पव्वचिरोऽप्यवसे द्दिसित्ति सुवापि-  
 मुणुहं भोगमणोणं, पमं बुदेदि देसियं ।  
 जमापरंतो जिकव्वु, दुक्खलाणंतकरो जवे ॥ १ ॥

अणुन आकूल्यत, मे मम, कथयत इति शेषः । एकाग्रमनसः  
 कोऽर्थः-अन्यव्ययानजिथाः सन्तः, शिष्या इति शेषः । किं तदित्याह-  
 मार्गमुक्कपं प्रकमानुसूक्तैर्देवगतवशादिधृतवस्तुनस्वैकवप-  
 कवलरहंतिः भूतकेवलनिर्गमणधरादिविषेयुक्तं भवति । हेरां-  
 तं प्रतिपादितम् । अर्थतः सूत्रतः । तमेव विशेषयितुमाह-[ज-  
 मिनि] मार्गमाचरन् आसेवमानो, मियुत्तरनगारो, दुःआनां शार-  
 रीरमानसानामनसः पर्यन्तः सकरुणशीलोऽस्तकरो, अनेव  
 क्याव, सकलकर्मनिर्मुलमत इति जावः । तदनेनसेव्यासेक-  
 संकपेनाऽनगारसंघर्षधर्मो, तफले च मुक्तिगतिरिति  
 दर्शितम् । ततश्चानगारमार्गं, तज्जनिं च बुणुत्त इत्यर्थं उक्तं भव-  
 तीति सूचार्थः ॥ १ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह-

तिद्वारां परिचज्ज, पव्वज्जामसिस्सओ सुणी ।

इमे संगे विद्याणिज्जा, जेहिं सज्जति माणवा ॥ २ ॥  
 गृहवासं गृहवासस्थानं, यदि वा गृहमेव पारवश्यहेतुतया पा-  
 थो गृहपाठस्थलं, परिवृत्त्य पविष्टव्यं, प्रज्यायां सर्वसङ्गपरि-  
 त्यागलक्षणं भागवतीं ब्रह्मण्यभाष्यतः प्रतिपन्नः सुमिः, अत्रात्र  
 प्रतिप्राप्तिप्रतीततया प्रत्यक्षान्, सङ्गान् पुत्रकन्यादींस्तत्प्रति-  
 बन्धाद् वा, विज्यामीयाद् भवहेतुत्वात्प्रति विशेषणानुभूयत,  
 निष्कथतो निष्कलत्वात्सत्त्वात् ज्ञानस्य च विरतिकलत्वात्  
 प्रत्याञ्जतीत्येकं भवति । संगराध्वयुत्पत्तिमाह- [ जेहिं ति ]  
 सुखव्यत्ययाद् येषु, सङ्गने प्रतिपद्यन्ते, अथवा ये संगेः सङ्गने  
 संभवन्ते, ज्ञानावखण्डिकर्मेणैति गम्यते । के ते ? । मानवा  
 मनुष्याः, उपसङ्गणव्यत्ययेऽपि जन्तवः ॥ २ ॥

तदेव हिंसं अस्मिन्, चोर्जं अर्धजसेवाणं ।  
 इच्छाकामं च लोहं च, संज श्रो परिवज्ज ॥ ३ ॥  
 तथैति समुच्चये । एतेन पूरणे । हिंसा प्राणव्यपरापणम्,  
 अर्धजननृतभाषणम्, चौर्ध्वमन्सादानं, अन्नह्रस्वयनं भेषु-  
 नाचखलुम्, इच्छाकामः काम इच्छाकामस्ते, भाग्यासवस्तुकाङ्क्षाकामे,  
 लोहं च लब्धवस्तुविषययुक्त्वात्मिकम्, अनेनाभयेनापि परिग्रहं  
 उक्तः । परिग्रहं च स्वयतो यतिः, परिवर्जयेत् परिहरन्तु । अनेन  
 मङ्गुणा उक्ताः । एतदर्थस्थितस्यापि च शरीरिणोऽवश्यमाश्र-  
 याहाराभ्यां प्रयोजनं, तयोश्च तद्विचारहेतुत्वमपि क्रयाभि-  
 रत्यादिनि स्म्भानस्तत्परिहाराय सुखपदकन तावदाश्रयचिन्तां  
 प्रतियते ॥ ३ ॥

मणोहरं चित्तपरं, मल्लभूतया वासियं ।  
 सकवामं पेरुह्लय्यं, माणमा वि न पश्य ॥ ४ ॥  
 [मनोहरंति] चित्ताङ्गेकम्, किं त्वत्, चित्रप्रधानं गृहाम् । तदपि  
 कीदृशम् ? । मादर्थ्यप्रयत्नपुष्पैर्ध्वनिश्च काश्यास्तुत्पत्तिदिस्त्व-  
 स्त्रिभिनयोस्तिं सुरभीकृतं, मान्यधूपनवास्ते, सह कपाटन वनेत  
 इति स्फुटपद्यम्, तदपि पागडुल्लोचं भवन्त्यव्ययिच्युति, मनसा-  
 पि, आसनां बवसा, न प्रार्थयेत् नाभिलष्यन्, किं पुनस्त्र  
 तिष्ठति भावः ॥ ४ ॥

किं पुनरेवमुपविश्यत इत्याह—  
 ईदियाणि उ भिक्षुस्य, तारिसम्म उवस्मय् ।  
 उक्ताह निवारो उ, कामरागविन्दुषु ॥ ५ ॥  
 इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, तुरिति यस्माद्, निष्कारनगरस्य  
 तद्वेशे तथाभूते उपाश्रये, उ-संज्ञेन क्रियन्ते-करातेः सर्वेषांवाप्ये  
 माले स्वकृष्यन्ते दुःकराणि, दुःशकालीनयोः तुरेवकारार्थः । उ-  
 कारस्येव धारायितुमुन्मांगप्रवृत्तिनिषेधतो माग एव व्यवस्थापि-  
 तम् । पश्यन्ते च-दुःकराणि निवारिन्ति । तत्रार्थं निवारयितुमि-  
 ति नियाभित्तु, स्वस्वविषये प्रवृत्तोरिति गम्यते कीदृशीम् ? । काम्य-  
 मानवात् कामममनेहा इन्द्रियविषयास्तेषु रागाभिप्लवस्त-  
 स्य विवरुने विशेषणं वृद्धिहेतौ कामरागाविवधने, तथाविध-  
 चित्तव्योक्तेरसंभवात् । कस्यचिन्मूलगुणस्य कथंचिदांतचार-  
 स्तेनैव दोष इत्येवमुपविश्यत इति प्राबः ॥ ५ ॥

एवं तर्हि क कीदृशं स्वातन्त्र्यम् ? —  
 मुसाणे मुष्णारे वा, रुक्खमूले व एराए ।  
 पहरिके परकमे वा, वार्यं तत्थाभिरोरिए ॥ ६ ॥  
 इमशांनं प्रथमौ, श्रृत्यागारे उल्लसितगृहे, वा-विकल्पे, वृक्षमूले

वा पादपसमीपे, एकत्रेत्येकस्मिन्स्थथाविधकाले । पश्यन्ते वैश्वम-  
 पि-एगतां चि'एकको रागद्वेषवियुक्तोऽसहायो वा, तथाविधधयो-  
 म्यतायां, पारक्ये वा परस्त्वन्धिनि तथाविधप्रतिबन्धनास्कीकृते ।  
 पाठान्तरतः— " पतिरिक्ते " देशीभाष्येकान्ते कृपायासंभुले,  
 परकृत-परैर्यैर्निर्यादिते, स्वार्थमिति गम्यते । वा समुच्चये ।  
 वासमवस्थानं, तत्र इमशानादौ, धर्मिरोक्षयेत् प्रतिज्ञासंबन्ध ।  
 अर्थोदागमनो निरुक्तिर्युत्तरेण योगः ॥ ६ ॥

फासुयस्मि अण्णावाहे, इत्थीहिं अणजिण्णु ।  
 तत्थं संकप्पए वार्यं, भिक्खु परमसंजए ॥ ७ ॥  
 प्रासुके अचिन्तीभूतभूजानरूपे, तथा-अचिपमाना बाधा, आत्म-  
 नः पर्यायं वाऽऽत्मनूकसत्त्वाभिनि गृहस्थानां च यस्मिन्स्तथा  
 तस्मिन्, तथा-कीर्तिरिच्छनाभिः उपलक्षणव्यात पादकादिनि-  
 क्षानभित्तु, तदुपलक्ष्यरहितं स्वयंप्रः पतानि हि मुक्तिव्यपत्तिनि-  
 ग्द्यत्येन तदवृत्तानामुपपन्नबहेतुभूतानां वैश्वमाभिधानम् । तत्रैतं  
 प्रासुकां विशेषणविशिष्ट इमदानादौ सङ्गद्वेषयत्तं कुर्यात् । किम् ?  
 वासम्, (भिक्षुणशीलो निःशुः) स च शाश्वत्यादिपरिस्थादत आह-  
 परम् प्रधानं, स चेह मोक्षस्तदर्थे सम्यक् यत्नेन परमसंयतः,  
 जिनमार्गप्रतिपन्न इत्युक्तं भवति । तस्यैव मुक्तिमार्गं प्रति वस्तु-  
 तः सम्यग् यत्नसंभवात् । प्रागवासे नत्राजिनोच्येदित्युक्तं, ऊर्ध्व-  
 मात्रेण्य कश्चित्तुप्यदिति । तत्र सक्तपयेऽसामिष्ये (भिधादम् ॥३॥  
 ननु किमिह परकृतं धर्म विशेषणमुक्तमित्याहुः साह—  
 न सयं गिहाड कुर्वेज्जा, नेज अन्नोदि कारणं ।  
 गिहकम्मममारम्भे, ज्ञयाणां टिस्मण वहे ॥ ८ ॥

न स्वयमानाना, गृहाणि उपाश्रयकराणि, कुर्वीतं विदधीत, नि-  
 वास्यैर्गृहस्थादिनाः, कारयेत्प्रापयेत् उपलक्षणव्याप्रापि कुर्व-  
 न्तमनुगम्यन्त । किंमिति, येनो गृहनिपत्येयं कर्म गृहकर्म, ए-  
 कासूदानयनादि, तदेव समारम्भः, प्राणानां परित्यागकरत्वात् ।  
 उक्तं हि-परित्यागकरा भवे समारभोति । यथा-तस्य समार-  
 भ्मः प्रत्यन्ते गृहकर्मसमारम्भः, तस्मिन्, ज्ञानानामेकान्द्रयादिप्रा-  
 णिनां, हृदयेते प्रत्यक्षत एवोप तत्रन्ते, कोऽपी ? । यथा विनाशः ।।  
 ज्ञानानां वध इत्युक्तं तत्र मा भूत् केपां-  
 चिदेवासांनित्याशङ्क्याह—

तमार्गां थावराणं च, सुहृदाणां बायराण य ।  
 तद्धा गिहमभारंभं, संजओ पारिवज्ज ॥ ९ ॥  
 असानां शिन्द्रियादीनां, स्वाधारणां पृथिव्याद्येकान्द्रियाणां, चः  
 समुच्चये । तेषामपि सूक्ष्माणांनिरुद्धगानां शरीरा-  
 नुरेयाः जीवप्रदेशापेक्षया तस्यामन्तयेव प्रायो व्यवहारायोगाद्,  
 बाधराणां वैश्वमव, स्थूलानाम् । यथा-सूक्ष्मनामकर्मोद्घात-  
 ह्नाणां, तेषामपि प्रमादतो भावहिंसासंभवान् । बाधरनामक-  
 र्मोद्घातश्च बाधराणां । उपसहेतुमाह-[तत्र चि] एसाद्वैभूत-  
 षधस्तस्माद् गृहसमारम्भं संयतः । सत्यमार्गोद्घातश्च उपर-  
 तः, अन्नगार इत्यर्थः । परिवर्जयेत् परिहरन्तु ॥ ६ ॥  
 इत्यमार्थचिन्तनां विधायाहारविन्यामाह—

तदेव जपपाणोसु, पयणे पयावणेसु य ।  
 पाणज्ययद्दिए, न पए न पयावण ॥ १० ॥  
 तथैव तेषव प्रकारेण, भक्तानि च शाश्वत्यादानादीनि, पीयन्त इ-  
 ति पानानि च पयःप्रज्जनीनि, भक्तपानानिः तेषु पचनानि च  
 स्वयं विद्देहापादमकथनानि, पाचनानि च तां-यार्थ्यः पचन-

पाचमानि, तेषु च भूतवधो ह्येत इति प्रकम् । ततः किमि-  
त्याह-प्राणा ङीष्वाद्यायः, ज्ञानानि पृथिव्यादीनि, तेषां हया  
रक्षणम्, प्राणभूतदया । तदर्थस्य-तदेतोः । किमुक्तं जवति-पवन-  
पाचयन्पृथुत्वानां यः संभवां जीवांपथातः स मा जृदिति न पच-  
त्, स्वतो भक्तादीनि तः प्रकम् । नापि पाचयेत्, तदेवायं-  
दिति ॥ १० ॥

अनुमेवायं स्वप्नरमाह-

जलप्रश्ननिस्सिया जीवा, पुदबीकट्टानिस्सिया ।

हमांत जत्तपाणेषु, तम्हा भिक्खु न पयाचए ॥११॥

जलं च पानीयं, प्रान्थं च शय्यादि, तत्रिःभित्तास्नानाम्थ च  
रूपय यं तत्रिःभ्याः स्थिताः-पुनरकण्टुजंगलकापिपथिलिका-  
प्रभृतयः । उपलङ्घन्यात् नदपाच जीवाः प्राणिनः । एवं  
पृथ्वीकायनिर्गमिता एकांस्त्रयाद्यो इत्यन्ते, भक्त्यानु प्रकमात्  
पचयमानादिषु । यत् एव तस्माद् भिक्षुने पाचयेत् । अत्र अर्पण-  
स्यमानत्वात् पाचयेदपि न, किं पुनः स्वयं पचेत् । अनुमतिनि-  
षेधोपलक्षणं वेत्तत् ॥ ११ ॥

अपरं च-

विसपं मन्वओ धारे, बट्टपाणिविणाणसे ।

नथि जोइममे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए ॥ १२ ॥

विसर्पतीति विसर्पस्य, स्वल्पमपि बहु भवति । यत् उक्तम्-  
" अणयांश्च वणयोश्च, अर्माधोश्च " इत्यादि । सवेतः सर्वानु  
दिक्षु, धारंश्च धारा जीवाविनाशिका शक्तिरस्येति सर्वतो धारम्,  
सर्वोद्धारस्थितजन्तुपदानकत्वात् । उक्तं च-" पार्षणपरुणं वा  
हि " इत्यादि । अतएव बहुधा प्राणविनाशसमनेकजीवजीवि-  
तयपरेणकं, नास्ति न विद्यते, ज्योतिःसमस-अज्ञितुल्यम्, वास्यन्ते  
हृत्सन्नेऽनेन प्राणिन इति शब्दं प्रदृष्टव्यम्, अयंदिनि गम्यते ।  
तस्याविसर्पित्यादसर्वतो धारःत्वारुप-जन्तुपघातत्वात्केतुः प्रायः ।  
सर्वोद्धारस्थितयः प्राणन् । यस्मादेवं तस्माद्, ज्योतिर्विभ्रान-  
रस, न दीपयेत् न ज्वाहयेत् । अनेन च पवनस्याग्निवज्रनाऽवि-  
नाभांवात्वात् तपरिहार एव समाहितः इत्यं च विशेषप्रकम्ऽपि  
सामान्याभिधानं प्रसङ्गतः शीतान्पादादिप्रयोगेनैवापि तदारम्भ-  
नपंचायंम्, आपाकर्मादिका विष्णुर्कारिदरेनेवाच्यतः परिहायो-  
क्तः, तदपरिहारं ह्यवश्यं भावपचनानुपपत्त्यादिप्रसङ्ग इति ॥ १२ ॥  
नन्वेवं जीववधानमित्यन्वयम् पच्यादांनिषेधे निरुपपन्नम्, तच्च  
नास्ति कृयविक्रयपरिहारः, युक्तमेवायं निषेधमिति कस्यचि-  
दप्याहुः स्यात्, अनल्पपानोदनाया हिरण्यपिपरिपूर्यपूर्वकायाच-  
योस्नास्निषेधपूर्वकत्वे सूत्रप्रयोगे तत्परिहारमाह-

हिरन्मं ज्ञापकृत्वं च, मणसा वि न पत्थए ।

ममधेष्कृत्तं चो भिक्खु, विरए कपविकप ॥ १३ ॥

हिरन्मं कर्मकम्, ज्ञातरूपं कल्पम् । चकारोऽनुकारोशेषधान्यादि-  
स्मृत्कथये । मणसाऽपि त्वित्संनानि, आरत्नां वाञ्छा, न प्राथयेद्-ममा-  
मुकं स्यादिति । अयेगेम्यमानत्वात्प्राथयेदपि न, किं पुनः परिशुद्धि-  
यात् । कीदृशःसद्?, सन् कीदृशं-प्रतिभवाभाववस्तुत्वं, हेतुका-  
ञ्चने सुविपरुषकरकमेकमेवेति समधेष्कृत्तञ्चनः, एवंविधञ्च सद्  
भिक्खुविरतो निवृत्तः, स्यादिति शेषः । कृतः?, कयो-स्येनाय-  
संबन्धेन तथाविधवस्तुनः स्वीकारः, विक्रयञ्च-तस्यैवास्तीयस्य  
तथाविधवस्तुज्ञातेनायस्य दानम्, कृयञ्च विक्रयञ्च कृयविक्रय-  
मिति समाह्वारः, तस्मात् । पञ्चम्येवं सप्तमी, विषये सप्तमी या ।

तत्र च कृयविक्रयविषये विरत इति-विरातेनामित्यर्थः ॥ १३ ॥

किमित्येवमत आह-

किणंते कइओ होइ, विक्कणंते वा बाणिओ ।

कयविक्रयम्मि वट्टंते, भिक्खु न हवइ तारिस्सो ॥ १४ ॥

कीणन् परकीयं वस्तु मूल्यमावादानः, कयोऽस्यास्तीति कृयिका  
जवति, तथाविधेतरलोकास्वहा एव भवति । विक्रीणानञ्च स्व-  
कीयं वस्तु तथैव परस्य ददद् बणिग्भवति, वार्जज्यप्रभृत्सत्त्वा-  
दिति भावः, अतएव कृयविक्रयं उक्तेषु, वतमानः प्रयत्नमानो,  
भिक्खुने तादृशो भवति, गम्यमानत्वाद् यादवः स्थानिहितो  
मावभिक्खुरिति ॥ १४ ॥

किमित्याह-

भिक्खियण्वं न केयव्णं, भिक्खुणा जिक्खुवित्तिणा ।

कयविक्रमो महादोसो, जिवत्वाविचो मुहावहा ॥ १५ ॥

जिक्रितव्यं याचितव्यम्, तथाविधं वस्तिवति गम्यते । न जैव,  
केतव्यं मूल्येन प्रदीतव्यम्, केन?, भिक्षुणा । कीदृशः?, जिक्खैव  
वृत्तिवर्तने निर्बर्हणे यस्यासौ भिक्षार्कतस्नेन । उक्तं हि-" सर्वं  
सं जादयं होइ, नथि किं अजादयं " । कृयविक्रयवद् भिक्षाऽपि  
सदोषैव भविष्यतीति मन्धीमेवेत्, तत्र आह- कृयञ्च विक्रयञ्च  
कृयविक्रयम्, एवचक्रेद्दफलत्वाद् रूपं, नदेद् महादोषः उत्पत्त्यापत्तः,  
लिङ्गव्यत्ययञ्च प्राग्वत् इति । जिक्खुणा वृत्तिः कुजमिहलोकपर-  
लोकायोः कल्याणं, सुखं वा तदावृत्तिं सम्पत्तात् प्रापयतीति  
शुभावाहा, सुखावाहा वा । एतेन कतिदोषपरिहार उक्तः, स चा-  
शेयाव्युत्कृष्टाटीगमनेपरिहारोपरिष्कारम् ॥ १५ ॥

जिक्रितव्यमित्युक्तं, तच्च दानभङ्गादिवैरमानं क्वचिदकृतव  
स्यात्त आह-

मुमुयाणं उंठममेज्जा, जहामुत्तमणिदिपे ।

लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिन्दवायं चरे सुणी ॥ १६ ॥

समुदानं भैश्यस, न त्येकभिक्षामेव, तत्त्वोऽभिधेयत्वम्-अन्या-  
न्यवैरमानः स्वल्पस्वल्पमात्राणां मौलमन्-मभुकरुत्या हि प्रमत्त  
दृष्टेव भवतीत्येवमुक्तम्, एषयज्ञेयव्येत् । एतच्छोम्प्रमपि  
स्यात् । अत्र आह-सुखमागमस्तदनिर्कमेण यथासुखमागमाभि-  
हितोऽस्मैयणाद्यभाषात् । इत्युक्तं जवति तत् एवामिन्दितं शिष्ट-  
निःशेष स्वपरप्रसादि हेतुमोत्पादितं जातयादिमुत्प्लितजसं-  
विधवात् जवति । तथा ज्ञानञ्च कर्माभञ्ज ज्ञानाज्ञानं, तस्मिन्,  
संतुष्टोद्भेदान्देः प्राप्ताप्रतीति च संतोषवानः, न तु वाञ्छाविशु-  
चित्विचिन्त इति प्रायः । इह च लाभोऽपि धान्-उत्तरोत्तरवस्तु-  
विषयेत्येव भावनीया । पिपुक्कत इति पिपुक्को जिज्ञा, तस्य  
पातः पतनम्, प्रकमात् पात्रेऽस्मिन्निति पिपुक्कपाते मिषाद्यस्य, नद्  
चरदासंवेत, मुनिरिति तपस्वी । पात्राम्तरतः-पिपुक्कस्य पातः  
पिपुक्कपातस्ते गवेषयेद्व्येवयेत् । उभयश्च वाक्पाततस्विष-  
यत्वात्पानकलयम् ॥ १६ ॥

इयं च पिपुक्कवाप्य यथा वृज्जितं तथाऽऽह-

अदाले न रसे जिक्के, जिक्कजदं अमुत्तिअए ।

न रतट्टापे जुज्जजा, जवणट्टापे महामुणी ॥ १७ ॥

बलाहः सरसः क्व प्राप्ते लाभोऽप्येवार्थः, न रसे स्निग्धमधुरादौ  
गुदोऽप्रासावनिकाह्णकान्, कथं चैवविषयः । यतो [जिक्कजदं  
सि ] प्राकृतवादात्पाना वरीकृता जिह्वारसना येनासौ दान्-  
जिह्व, अत एवास्मिन्नितः सविधेरकरणेन नक्वासे चानिष्पङ्गा-

आयन । उक्तं हि- "यो धामातो इत्युवाच, दाहिणे दाहिणा उवाचा ये संचालय- " एवंविधश्च स्वरभेद । रसघ्राय चि । रसायि सरसमिदमहास्वाद्यामीनि, चातुर्विधेषां वा रसः । स च शेषधातुपणकणं, तत्समुपपन्नः स्यादित्येतदर्थं न सुखीति नाभ्य- वहरण । किमर्थं तर्हि ? यापना-निर्वाहः, स आचारसंय- मस्य, तदर्थं महाभिनिः प्रथानपस्वोः । अनेन पिण्डविशुद्धि- कृत्वा । तदेवमादी मूलगुणान् विधेयनयाऽविशया तन्मतिपा- सनायमाभयाहाररक्षिताहारण उत्तरगुणाश्च उक्ताः ॥ १९ ॥

समाप्ति तदर्थान्तरस्तत एवास्मन्मुत्पन्नश्च मानः कश्चिद्वचना- वि प्राथयेदिति तन्निषेधार्थमाह--

अणुणं सेवणं चैव, वेदणं पुण्यं तथा ।  
 उच्चैस्सकारसमाहणं, मणमा वि न पत्थणं । १८ ॥

अनेनां पुण्यादिभिः पूज्याम्, इत्येवमिति यादिविषयां, स्थिति- कादिन्यासात्मिकां वा । चः समुच्चये; एषोऽनारण्ये, नेत्यनेन संभवस्त्यते । अन्यत् समस्तुच्यमित्यादि याच्चाऽर्थाद्येवमन्, पु- जन्तं विशिष्टवत्त्वादिभिः प्रतिज्ञानम् । तथेति समुच्चये । अ- क्तित्वात् आचकारात्कारणादि संयत्त्वात्प्रार्थनार्थिका वा, सत्कार- र्थाद्येप्रदानादि, संसादनश्च अस्तुत्यामादि, श्रुत्वात्सकार- संमानम्, ततो मनसाऽपि, आस्तो वाचा, नैव प्रार्थयन्-ममैवं स्यादित्यन्तिज्ञयत् ॥ १८ ॥

किं पुनः कुर्यादित्याह--

मुक्कञ्जभाणं जियाएज्जा, अनियाणं अकिंचो ।  
 वोमदुक्काए विहरेउज्जा, जाव कालस्स पज्जअं ॥ १९ ॥

युक्कपानममुकरं यथा भवत्येवं ध्यायतिभक्तयेव । अनिदानो- प्रविद्यामाननिदानः, अकिञ्चनः प्रावर्तनं, व्युत्पन्नश्च व्युत्पन्नः का- चः शरीरं येन स तथा, विहरतः श्रमनिवृत्तविहारनयेति मन्थ- ये । वाचयति मनोदायाय, कालस्तेनां मुखाः । [ पज्जअं चि ] पर्यायः परिप्रायः, प्रस्ताव इति यावत् । यावत्प्रकरणसमयः क्ल- म्भातो भवतीति ज्ञायः ॥ १९ ॥

एवंविधाऽनगारगुरुस्यहच यावदासुविद्वन्त्य मृगुसमये यच्छ्रया यत्कलमयाभिति तदाह--  
 निज्जूहिठुण आट्ठां, कोझधम्मे उवट्ठिए ।  
 चड्ठाय माणुमं वोदिं, पट्टं दुक्खे विमुक्कह ॥ २० ॥

( निज्जूहिठुण चि ) परिचयस्य, आहारमशनादि, तत्परित्याग- हच संलेखनकामेवैव । अस्मिंति तत्कारणं बहुतरुपसज्जवान् । तथा चायाम् " देहस्मि अस्मिंदिपि, सहसा आत्तं हे निज्जमा- रोदि । जायच अट्टज्जाणं, सरोरिणो चरिमकालम्मि " ॥ १ ॥ वट्टाः; कालधर्मे आगुःकयसङ्गणं मृगुस्त्वयनेव, उपस्थितं प्रत्यासक्तं- ते, त्यक्त्वाऽपराधाय, [ माणुमं सं ] मानुर्या मनुष्यमन्वयन्धीनोम, वोदिं शरीरम्, मञ्जु-वीर्या-तरायकयतो विशिष्टमामर्थ्यवान्, [ दुक्खे चि ] दुःखैः शारीरमानसैः, विमुक्कयेत-विशेषेण मुक्कयेत, तद्विषयनकमोपगत इति ज्ञायः ॥ २० ॥

कट्टिहः सन्नियाह--

निम्ममां निरुंकारां, वीयगगो अण्णासवो ।  
 संपत्तां केवलं नाणं, मासए परिनिज्जुवे ॥ २१ ॥-चि वेमि ॥

निम्मोऽपगतममकारः, निरुंकारोऽमस्यकजातीय इत्याद्यहः- काररहितः, ईदृशकुलः, वीतरागः प्रावर्तमानरागद्वेषः, तथासा- भवः कर्माश्रवरहितः, विध्याव्यभिचिन्त्येव यावत् । स प्राप्तः, केव-

ज्ञानम्-उक्त-रूपम् । शाश्वतम्, कदाचिद्व्यवच्छेदात् । परिनि- ज्जुताऽस्वास्थ्यहेतुर्कर्मजावतः सर्वथा स्वस्वर्थावृत्तः, इत्येकविंश- तित्त्वभावार्थः ॥ २१ ॥ उक्तं ३६ ख० । स० ।

अणुगारमट्टेभि-अनगारमट्टेभि-पुं० । अनगाराश्च ते महर्षय- इहेति । अनगारगुणविशिष्टेषु महर्षिषु, स० ।

अणुगारवाऽ( ए )-अनगारवादिन-पुं० । यतिवेषमास्थितेषु अ- नगारगुणरहितेषु अनगारमन्थेषु शाक्यादिषु, आचा० १ सु० १ अ० ३ उ० । "अनगार" शब्देऽप्येव भागे २७० पृष्ठे भावितं वेतन्- यन् शाक्यादयो नानगाराः ]

अणुगारसामायिक-अनगारसामायिक-त्रि० । अनगाराणां स- मये भव इति । अनगाराणां समाचारे सिद्धान्ते वा भये, भा० । स्थाः ।

अनगारसंज्ञ-अनगारमिह-पुं० । मुनिंसिहः, "एवं युजिस्ताश्च स रायसिंहं परमाह जलौप" उक्तं २० ख० ।

अनगारमुय-अनगारभुत-ज० । आचारभुतापरनामके मृगहता- कृष्य द्वितीयेष्वनस्कत्वे पञ्चमाऽप्ययने, मृग० । "आचारसुय" शब्दे त्रि० भा० ३६१ पृष्ठेऽस्य प्रयुक्तिनिमित्तम् ।

अणुगारि ( ण )-अनगारिन्-पुं० । अणुरी गृही असंयतस्त-प्र- तिषेधादानगारी । संयतः, प्रअ० ।

अणुगारिय-अनगारिक-त्रि० । न विद्यते अणुर यत्पत्यनगारः सायुस्त्वस्वधर्मित । अनगारस्मर्याद्येन सर्वेविरिनसादायिका- दौ, विषे० ।

अणुगारिया-अनगारिता-स्त्री० । अणुरी गृही असंयतः, तत्र- तिषेधादानगारी संयतः, तद्भाववन्ता । सायुतायाव, स्था० ४ उ० १ उ० ।

अणुगाल-अनगाल-पुं० । उष्णकालः, वृ० ३ उ० ।

अणुगिण-अनग-पुं० । सुप्रसस्यगमायां जगत्तपे कर्मभूमिषु च सदा भवति कल्पवृक्षजेदे, ति० । अनेषुषु कल्पयादेषु अन्यथे बहुप्रकृत्याणं यस्मान्नि विश्रान्तान् एवातिस्त्वमसुहुमा- र्देवदुमायुकाराणि मनेहराणि निमत्सानि उपजायन्ते । तं ।

जि० । अदिगम्बरं, आच्छादकविशिष्टं च । वाच० ।

अणुग-उत्तर-स्त्री० । सर्वोत्तमव्याद्विद्यमानमूल्ये, आच० ४ ख० । अर्थगोचरान्ते, संथा० । "मन्त्रे वि य सिज्जंता- साद्व्यययणमाय सतेसांका । जिणययणम्म भवण्मां, न तुज्ज- म्पियं अणुगन्थं" ॥ १ ॥ यथाऽन्यस्त्वानर्थप्रकाशकत्वेन सकल्प- प्रणेतृत्वात्त्वाद्यादिविद्यमानमूल्यमन्त्र्यम् । अथवा श्रुणन्प्रमिति, तत्र श्रुणं पुनश्चपरस्पर्यापासकमप्यकार कर्म, तद् हस्ति यत्तत् श्रुणम्म । दर्श० ।

अणुगयगवचुत्त-अर्णवचुत्त-पुं० । मृगुपत्तने श्रीमुनिसुसुते देवे, मृगुपत्तने अर्णवचुत्तः श्रीमुनिसुसुतः । तौ ४४ कल्प ।

अणुय-अनय-त्रि० । नास्ति अथ पापे दुःखं व्यसने कासुख्यं वा यस्य । पापशून्यं, मलशून्यं, स्वच्छं, वाच० शौभंभं, पं० ४० १ उ० । ४० । व्यापुत्तत्त्वप्रतिपासवाशकर्मपापान्यात्मनिष्ठं, "संयिमस्तच्छुत्तरेव, ज्ञानतयो नरात्तथाः " ख० १ अणु० ।

अणुयमय-अनयमत-त्रि० । ६ त० । अयदानबुद्धिः, पं० ४० ४ उ० ।

आणुचउक्क-अनतानुवन्धिचतुष्क-न० । अनतानुवन्धिचो- धमातमयात्तंभास्यं करण, कर्म० २ कर्म ।

अणुश्रुतिय

अणुश्रुतिय-अनात्यन्तिक-पुं० । सहायिनं मुक्त्वाऽप्रतिनिधायित-  
प्यति सहायभेदे, वृ० ४ उ० ।

अणुश्रुतिसर-अनत्यङ्ग-न० । एकदिगिरिकुरैरधिकमन्यङ्गं,  
न तथा अनत्यङ्गम् । अणु० एकन्यायङ्गेणानधिके, आ०प्र०प्र० ।

अणुश्रुचाविय-अनति-त्रा० । वक्ष्मात्मनं वा न नर्षितं न नृत्य-  
वदिष कृन्तं यत्र तद्वर्तितं प्रत्युपकृणाम् । अग्रमात्प्रत्युपकृणाभेदं,  
स्था० । वक्ष्म मर्तयत्यात्मनं चेत्येवमिह चत्वारो भङ्गाः-“ वक्ष्य  
अप्याणमि य खड्गे अणुश्रुचावियं ” स्था० ६ ना० १ उ० । पं०  
व० औ० “ गच्छण सरौरे वत्ये वा, सरैरे उच्छरणं, वत्ये वि  
विकारा करेति, ण णुच्छावियं अणुश्रुचावियं ” नि० वृ० ८ उ० ।

अणुश्रुचासायणाम्-अनत्याशातनाश्रील-पुं० । अतीवायं  
सम्यक्चावित्थलामं शातयति विनाशयति इत्याशातना, तस्याः  
श्रीलं न तच्छ्रुच्छब्धात्सकस्येत्याशातनाश्रीलं, न तथाऽ-  
नत्याशातनाश्रीलः गुरुपरिचारादिकृतिः । आचार्यादीनामभ-  
क्तिनिर्दाशीलावेषावाद्याशातनानिचारके, उच्य० २६ अ० ।

अणुश्रुचासायणानिणय-अनत्याशातनानिणय-पुं० । अत्या-  
शातनं शातना, तर्षणप्रभृते विनयोऽनत्याशातनानिणयः ॥ भ०  
२४ श० ७ उ० । दर्शनविनयभेदे, औ० ।

स किं नं अणुश्रुचासायणानिणयं १ अणुश्रुचासायणा-  
निणयं पणयालीसिद्धिं पश्यते । तं जडा-अरहेतापं अणु-  
श्रुचासायणया अरहेतपणुसप्तमं धम्मस्स अणुश्रुचासायणया  
अयस्मिणां अणुश्रुचासायणया उवज्जायाणं अणुश्रुचासा-  
यणया धेराणं अणुश्रुचासायणया कुलुस्स अणुश्रुचासाय-  
णया गणस्स अणुश्रुचासायणया संघस्स अणुश्रुचासायणया  
किरियाण अणुश्रुचासायणया संजोगस्स अणुश्रुचासाय-  
णया आभिण्णिवोदियणाणस्स अणुश्रुचासायणया नाव  
केवज्जाणाणस्स अणुश्रुचासायणया एएमि चेव भत्तिवहु-  
माएणं यं एएमि चेव वससं जलणया, सचं अणुश्रुचासाय-  
णया निणयं, सचं देसाणनिणयं ॥

( किरियाए अणुश्रुचासायणयं ति ) इह किया-अस्ति परलो-  
कोऽस्यात्माऽस्ति च सकलक्रियाकलाहितं मुक्तिर्दमित्यादि  
प्ररूपणमिका गृह्यते । ( संयोगस्स अणुश्रुचासायणयं ति )  
संयोगस्य समानधार्मिकाणां परस्परं भक्त्यादिदानप्रहण-  
कल्पनानत्याशातनानिणयसंस्कारणपरिचर्जनम् ( भत्तिवहु-  
माएणं ति ) इह णेकारो वाक्यात्सङ्घेरे, अक्या सह बहुमानो  
भक्तिवहुमानः, भक्तिवहे वाक्सा परिच्छुष्टिः, बहुमानश्चान्तरः  
पानियोगः ( वससंजलणयं ति ) सद्भूतगुणवर्णनेन यशोदी-  
पनम् । भ० २४ श० ७ उ० ।

अणुश्रु-कुप्-धा० । आकर्षणे, धिलेस्सने च । तुदा०, आत्म०,  
सक०, अनिदं । श्वादि०, पर०, सक०, अनिदं । “ कुपेः कहुस्ता-  
अधाऽशाणच्छ्वायश्चाऽहच्छ्वाः ” ॥ ८ । ४ । १८७ ॥ इति कुपेरण-

अणुश्रु-अरं-देशी-अच्छिञ्ज, वै० ना० १ वने ।

अणुश्रु-अणु-अणु-पुं० । उत्तमणावुं श्रुतिद्वयस्वोच्छेदे,  
ध० । अणुश्रुच्छेदे च न विलम्बनीयम् । ननुकम्-“ अमरभ्ये  
अणुश्रुच्छेदे, रुग्णाद्दारे ४ रागमे । गुरुवनेऽक्षिरोमे क, काज-

लेपेन कात्येत् ॥ १ ॥ स्वनिर्वाहात्मतया अणुश्रुदानाश्रितेन नूत-  
मर्णेशुहे कर्मकरणादिनाऽपि अणुश्रुच्छेद्यम्, अन्यथा भयान्तरे  
तदुद्देशे कर्मकरमाहितेष्वमकरात्समाहित्यस्यापि संभवात् ।  
उत्तमणाऽपि सर्वथा अणुश्रुदानाश्रितो न याच्यः, सुधाऽऽसत्त्वा-  
नक्रेणपापवृत्त्यादिप्रामुखावात्, किन्तु यथा शक्नोति तदा  
दद्याः नो चेद्विद्वं मे धर्मपदे भूयादिति याच्यः, न तु अणुश्रुसंब-  
न्धक्षिन्नं स्थाप्यः, तथा सत्यानुःसामासौ भयान्तरे इवोक्तिः-  
संबन्धैरवृत्त्याद्यापतेः । ध० ३ अवि० ।

अणुश्रु-अनार्य-पुं० । आराधातं सर्वहयधर्मस्य इत्याच्येयं,  
न आर्यमनाच्येयं । आच० ४ अ० । आर्येतरं, करे च । प्रश्न०  
४ आअ० हा० । पापकर्मस्य, प्रश्न० २ आअ० हा० । अनार्य-  
द्वानार्यः । म्लच्छोद्यते, दश० १ वृ० । अनार्यलोककरणात्,  
प्रश्न० १ आअ० हा० । अनार्यप्रयुक्ते, प्रश्न० २ सम्ब० हा० ।  
अन्याय्य-त्रि० । अन्यायोपेतं, प्रश्न० १ कअ० हा० ।

अणुश्रु-अनार्यधर्म-पुं० । अनार्योणामिव धर्मः स्वाभा-  
वो येषां ते तथा, अनार्यकर्मकारिणात् । सूत्र० २ ध्रु० ६ अ० ।  
कर्मकारिणुः, “ इष्टेयमाहसु अणुश्रुधर्मं, पणारिया बाल-  
रसेसु गिद्धा ” सूत्र० २ ध्रु० ६ अ० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । कोधादिमतिं पुरुषजाते, श्वा०  
४ डा० २ उ० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुश्रु-अनार्यजाव-पुं० । आलोचनामात्रे अणुश्रु-  
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुद्वकारण

अणुद्वकारण-अनर्थकारक-वि० । पुरुषार्थोपचालके, प्रश्न० २ आश० ब्रा० । अनाते, पुं० आर्तेध्यानरहिते, वच० २ अ० । अणुद्वप्राण-अन्यार्थप्रकृत-वि० । साधुनिमित्तं नियतितं, "अ नर्त्तं पंगडं ज्ञेयं, जहन्सत्ययासत्" दृश० ८ अ० ।

अणुद्वद्वन्द्व-अनर्थद्वन्द्व-पुं० । अर्थः प्रयोजनं गृहस्थस्य क्षेत्र-वाच्यतन्धनात्म्यं शरीरपरिपालनादिविषयं तदर्थं आरम्भो नू-सोपमदोऽयं दृश्यः । दृशो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः । अर्थेन प्रयोजनेन दृशोऽयं दृश्यः, सैवैतन्न उपमदंनलक्षणो वृषटः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽयं दृश्य उच्यते, तद्विपरीतोऽ-नर्थद्वन्द्वः । आश० ४ अ० । निष्प्रयोजने हि सादृश्यात्, आनु० । इहलोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनतोपमदं नाम्नो निग्रहं, पंचा० २ विव० । स च उच्यते-यदकारणं राजकुले दृशकथेत । प्रावन्सन्-निष्कारणं ज्ञानाद्गोला इति । वृ० १ उ० । आश० १ । " जो पुण सरद्वारिणं, धावरकायं च वणस्यपिङ्गं । मारुतं वि-दिकण च, जंमे पत्तो अणुद्वय " ॥ २ ॥ प्रब० २ ५४ ब्रा० ।

अद्वारं दोषं दंसमादाने अणुद्वन्द्वान्तरि चि आ-द्विज्ज, से जहाणामए केडं पुरिसे जे इमे तसा पाणा भ-वंति, ते सो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो मो-णियाए एवं हिययाए पिच्चाए वसाए पिच्चाए पुच्चाए बालाए सिंसाए विसाणाए देताए दादाए णहाए एहा-रुणिए अच्चीए अद्विमंसाए णो हिंसंमुमंति णो हिंसिनि-मेसि णो हिंसिस्मंतिमेसि णो पुसपोसणए णो पसुपोस-णए णो अमारपरिवृद्धणए णो सपणमाहणवत्तणा-हए णो तस्स सरंरग्गस्स किंपिसिपपरियादिचा भवंति, से हंता वेथा भेत्ता हंउपत्ता वित्ठंपत्ता उद्वदत्ता उज्जितं-बाले वेरस्स आभाम्गं भवंति अणुद्वदंने ॥६॥ से महा-णामए केडं पुरिसे जे इमे थावारा पाणा भवंति, तं जहा-इकडाइ वा कदिणइ वा जंतुमाइ वा परमाइ वा भोवखाइ वा तणाइ वा कुसाइ वा कुन्डगाइ वा पप्पमाइ वा पन्नाइ वा ते णो पुसपोसणए णो पसुपोसणए णो अमारप-दिवृद्धणए णो सपणमाहणपोसणए णो तस्स सरंर-ग्गस्स किंपि विपरियाइत्ता जवंति, से हंता वेथा भेत्ता हं-उपत्ता वित्ठंपत्ता उद्वदत्ता उज्जितं बाले वेरस्स आ-भाम्गं अणुद्वदंने ॥९॥ से जहाणामए केडं पुरिसे क-च्छंसि वा दहंसि वा उदग्गंसि वा दहयंसि वा बलयंसि वा गुणंसि वा महणंसि वा महणविट्ठमंसि वा वणंसि वा वणविट्ठमंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविट्ठमंसि वा तणाइं उअविय सयवेपं अमणिकायं गिनिवित्तं, अक्षे-ण्वि अमणिकायं पिमिरावेंति, अक्षयं पि अमणिकायं पि-सिरितं सयणुआणइ अणुद्वदंने, एवं खनु तस्म तत्प-त्तियं सावज्जेति आद्विज्ज, दोषे दंसमादाने अणुद्वदं-दवन्ति चि आद्विज्ज ॥८॥

अवापरं द्वितीयं दृशसमादानसर्वद्वयप्रयत्नस्य किमप्यनिधी-

यते । तद्वचना व्याख्यायते । तद्यथा नाम-काश्चित्पुरुषो निर्नि-मित्तमेव निर्विकल्पकतया प्राणिनो दिनस्ति । तदेव दशयितुमाइ- [जे इमे इत्यादि] ये केषुनामी संसारात्मकानि- प्रयत्नाः अणुद्वद्व-यः प्राणिनस्तांश्चासी हिंसकाश्च शरीरं, सो जैव, अर्थाय दिनस्ति, तथाऽजिनं जमे, नापि तदर्थं मयं, जैव मांसोपगतद्वयपित्तवत्सा-पिच्छपुच्छबालमृद्यविशालुहृद्यन्तरेभूतलक्षसम्बन्धित्वा इत्येवमा-दिकं कारणमुद्दिश्य, जैव हिंसितुमीपि हिंसविय्यति मां भद्रयं केति कारणमुद्दिश्य, तथा मो पुत्रपोषणार्थेति-पुत्रादिकं पोषयित्वाभीष्टे तदपि कारणमुद्दिश्य न व्यापादयति, तथा नापि पशुनां पोषणार्थे, तथाऽभारं गृहं तस्य परिवृद्धणमुपभयवस्तदर्थं वा न दिनस्ति, तथा न अमणब्राह्मणवर्तनान्तेऽपि, तथा यत्नेन पात्रयितुमारब्धं नो तस्य शरीरस्य किमपि परिआणाय तत्राणव्यपरोषणं भवति, इत्ये-वमादिकं कारणमनपेक्षयित्वासी केषुया कच्छलितया, प्चसं-न वा प्राणिनो हन्ता भवति दानादिभिः । तथा वेत्ता भवति क-र्णनासिकाविकर्तनतः, तथा नेत्ता शुलादिना, तथा ह्युष्णितान्-त्यत्राणुव्यवयविकर्तनतः, तथा वित्तुत्पत्तिना अहंभुताजनव-मंत्रिकर्तनकरपादादिद्वन्द्वजनः, परमाधामिकव्यप्राणिनां निर्नि-मित्तमेव नामविशेषोपायैः दीनोपादकां भवति, तथा जीविता-द्वयपदायिता भवति । स च सत्त्विकमज्जित्वा, आत्मानं वा परित्यज्य, बालवृद्धालोऽङ्गोऽसंभ्रांक्षितकारितया जमन्तराणुव-धिनो वैरस्य आनो भवति ॥ ६ ॥ तदर्थं निर्निमित्तमेवं पञ्जे-न्द्रियप्राणीपुरुनतो यथाऽनर्थद्वयो अस्ति, तथा प्रतिपाक्षिन्व । अधुना स्थावरानधिहृत्यायत्ये- ( स जेग्गयादि ) यथा कश्चि-त्पुरुषो निर्विकल्पकः पांथ गच्छन् वृद्धादिः पञ्चवाहिकं दग्धादिना प्रवृत्तस्य न फलनिर्पेक्षस्तच्छीघ्रतया व्रजति । पदेतद्दशयंती- ( जे इमे इत्यादि ) ये केषुनामी प्रयत्नाः स्थावरान वनस्पतिका-याः प्राणिनां भवन्ति । तद्यथा-कृत्कदाचो वनस्पतिविशेषो उचि-नाथीः । तद्विद्वेका माननाया प्रयो जमामियेयमभिसंधाय न जि-नस्ति, केचन तदवबुधानादिसिरेपेक्षस्तच्छीघ्रतया जिनसोऽयेतस्म-वैरं योजनोयमिति । तथा न पुत्रपोषण्य, नो पशुपोषण्य, नावारप्रतिवृहण्य, न अमणब्राह्मणप्रवृत्तयं, नापि शरीरस्य कि-ञ्चित् त्राणं जिविष्यतीति केषुलभवासां वनस्पतिहन्ता जेत्सेत्यादि-यावद् जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्य आगो भवति । अयं वनस्प-त्याभयोऽनर्थद्वयोऽभिहितः ॥ ७ ॥ संप्रानमभ्याश्रितमाइ- ( स जेग्गयादि ) तद्यथा नाम-काश्चित्पुरुषः सत्त्वज्विकल्पक-तया कच्छादिकेषु दशसु स्थानेषु वनदुर्गवर्षेणेषु तुष्णानि कु-शोपाकीर्दीनि वैनःपुत्रयोनांपांचःस्थाने कृत्वाऽप्रिकार्ये हुत्सुभुज-नित्तुजतिं प्रकल्पयति, अर्थेन वाऽऽत्मिकायं बहूस्त्वावपकारं द्वा-वयं निवज्जेयति प्रकल्पयति, अन्यं च निरुत्तमं समनुजायते, त-दर्थं योगत्रिकेण क्लृप्तकारितानुमतिमिदमेव यत्किञ्चनकारिण-स्तप्रत्ययिकं दृश्यन्तिनिमित्तं साधकं कर्म महापातकमाचार्यं, द्वितीयमनर्थद्वयसमादानमाख्यातमिति ॥ ८ ॥ सूत्र० २ अ० २ अ० । आ० ५० ।

अणुद्वद्वन्द्वैरमण-अनर्थद्वन्द्वविरमण-म० । अर्थः प्रयोजनम्, तन्प्रतिषेधोऽनर्थः, दृश्यन्ते आत्मानन्तेनो दृशो निग्रहः, अर्थेन-न दृशोऽनर्थदृश्यः । इह लोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभू-तोपमदं नाम्नो निग्रह इत्यर्थः । तस्मात्सत्य वा विरमणं ( विर-तिः ) । नृतीये गुणान्तरे, पंचा० १ विव० । उपा० । तथा क्लृप्तं च णं अणुव्यर्थेदं च उल्लिखे पक्षतः ॥ तं जहा-अणुद्वान्तरि पमावाचरिप हिंसपपत्यौ पायकमोक्षवत्से । तस्स तं अणुद्व-

दंडवैरमणस्य समयोबास्यस्य पंच अहयारा आणियव्या, न समायोरयव्या । तं जडा-“एहाण्यवदृणवचन-विलेखते सह-कवरसंगं० । अणुद्रास्यप्रमरते, पदिकमणे देवस्त्वयं सव्वं ॥१॥ कंठपं १ कुकुइए ३, मोहारिए अंसजुतादिकरणे धव । उ-वमोगपरिभोगानिरे-” । अणु० १ अ० अस्यामधंदवडविरमण-एव अस्यामधंदव अमी पञ्चमीवारा हातवया न अस्यामधंदव तव्याः । भाव०६ अ० । (इयाक्या ‘कंठप’ आदिशब्देषु रुचय्या)

अणुद्राधिपि-अनर्षवन्निन्-पुं० पक्षमये अनर्थकं निष्प्रायोजन-मेकवारोपरि ही श्रौं वतुरो वा वाराव् कम्पाव् अणुद्रा द्वाति, वतुरपरि बहूनि अहकामि वा वजाति, तथा च स्वाध्यायवि-ष्णपरिमन्धाद्वा दोषाः, यदि कैकालिकं अणुद्रादिपदे लभ्य-ते तदा तदेव ब्राह्मण, कथमादिपलिमन्धपरिदारात् । कणप० । अणुद्राण-अनटन-न० । अणुमणे, पंजा० १३ विव० ।

अणुद्रो-देशी । आरे, वे० ना० १ वगं ।

अणुणुपिपु-अनर्ष-अण्य० । प्रतीपमनयेत्यर्थे, “अपदिह-दुमणुपिपु संवज्जव” । अणुणुपिपु-न प्रतीपं अर्षयतीत्य-र्थः । नि० सू० ३ उ० ।

अणुणुओग-अननुयोग-पुं० । अनुयोगविपर्यते अननुरूपे यां-गे, विशे० ।

नामादिभेदात्मसविधमनुयोगं व्याख्याय तत्रिषु कृभूतमननु-योगं विमणित्पुरुकोपसंहारं प्रस्तावनां आह--  
एवोऽणुद्रवजोगां, गज्जोऽणुओगो इओ विवज्जतयं ।  
जो सो अणुणुओगो, तत्पं-मं होति दिट्ठं ॥१॥  
तदर्थं गतो भणित एवोऽणुद्रवजोगोऽणुओगः समविधोऽपि ।  
अथ विपर्यस्ततद्विपर्ययेण योऽयमनुयोगः, स उच्यते, तत्र  
कैनं वद्वयमाणदृष्टान्ता भवन्तीति ॥ १ ॥

के पुनस्तऽननुयोगदृष्टान्ता इत्याह-

वत्तगंगाणी खुजा, सज्जाए चव बाहिकुव्या ।  
गावद्वए य वयण, मत्ते यं होति भावमि ॥ २ ॥  
सावगजजा सत्तव-इए य कोकणदगए उतले ।  
कमसामेला संब-स्त साहसं सेणए कांवा ॥ ३ ॥

यथाऽनुयोगो नामादिभेदात्मसविधस्तथाऽननुयोगो यथासं-  
भवं वकष्यते । तत्र नामस्वापने सुगमे, क्वानुयुयोगस्तसंगतः ।  
द्वयानुयोगश्च वत्समीकृदाहरणम् । तत्र स्वमनुयोगानुयोगोः  
कुज्ज उदाहरणम् । काले स्वाध्यायः । वचने पुनकृदाहरणमध्यम,  
तद्यथा-अधिराणुपः, प्राययकम् । जावे तु सतोदाहरणानि जव-  
न्ति, तद्यथा-आवकमार्या १ सासपदिकः पुरुषः २ कोकणक-  
वारकः ३ गकुलः ४, कमसामेला ५, शम्भरए साहसम्, ६ धे-  
णिककोप ७ अेति विनुंकिनामासंज्ञेपार्थः ॥ ३ ॥  
अथ विस्तरतो वत्सगोणुवुदाहरणं आधुकारः प्राह-

बाहिरं न देहं सम्मं, परवत्तनिओयओं जाहा गाव् ।  
अणुज्ज व परनुत्तं, करेज्ज देहोरोहं ॥ १ ॥

यथा काश्चित्तत्पलादिका गौरवस्था बहुप्रादिकायाः संबन्धि-  
नि मोदोदकं वत्से नियुक्ते सन्मनुयोगोऽध्यामिति कृत्वा तन्वियोग-  
गतः क्षीरं दुग्धं सम्यक् न दृशति । अथवा न तावता तिष्ठेत् कि-  
न्तु परवत्तन-अन्वयस्था अपि गोः सत्त्वं कृत्वा समस्तं वि मोदोदक-  
कार्यां ध्ययन्निमनुज्जन्ती उर्ध्वयेव त्याजयेत्, यदि वा देहोपरो-

धं सत्साप्रदारादिभिर्जानुज्जाविना देहबाधामपि कुर्वीदित्यर्थः ।  
तथा किन्मियाशक्यं प्रमुने येोजयकाह-

तह न चरयं पत्तुं, परपजायवियोत्रोमाओ दव्वं ।  
पुव्वचरणोवघायं, करेऽ देहोवरोहं वा ॥ १ ॥  
जिणवणएसायणोओ, उम्मायातंकरणवसणाई ।  
पावेज्ज सव्वंओवं, स बोहिंसाभोवघायं वा ॥  
दव्वविचउज्जासाओ, साहणपेओ तओ चरणपेओ ।  
ततो मांस्वाजावो, मोक्खाजावेऽफला दिक्खा ॥

तथाऽत्रापि व्याख्या-यदा जीवार्थद्वयमजीवार्थिचर्मैः प्र-  
पयति, अजीवार्थिद्वयं वा जीवार्थिचर्मैः प्रकृपयति, तद्विधे  
प्रकृपयामां तद् द्वयमनुयोगतो उच्यस्वामीवं अरत्तं चिंत्तं  
न प्रकृते । परपर्यायविनियोगतो विपर्ययोऽप्युक्तः, तत्र अर्थ-  
तीत्यर्थः । न सैतावता तिष्ठति, किन्त्वियधमनुयोगं कुवंतः  
पूर्वमात्रवरोपघातं च करेति, नपश्चमन्त्रैश्चकृपणवत्तत्त्व  
रोगाभुवसेत्तद्विद्व्याप्युपरगे च बाधं विद्वधाति । किञ्चैतं जिन-  
वचनशास्त्रेणैवोक्तमादात्मरत्तद्व्यवसनावपि प्राप्नुयात्, तथा  
सर्वप्रतलोपं, बोधिज्ञानोपघातं च प्राप्नुयादिति । ननु कथं-  
चित्पर्यायप्रकृपणामात्राद्वैतयातयों दोगा म्युचित्याह-“द्वयावि-  
चऽज्ञास्त्यादि । विपरीतप्रकृपणे हि द्वयस्य विपर्ययोऽभ-  
वति, तथा च सति साधनस्य सम्यग्ज्ञानादेर्ज्ञेयोऽप्यघामावो  
जायते, ततः साधनभेदात्प्रवर्णनं प्रवृत्तं तस्याप्यव्य-  
मोक्तव्यानावप्रसङ्गः, उपायभेदे उपेयास्यते । ततो मोक्षा-  
भावो निष्कलैव दीक्षा, मोक्षाद्येव तस्मिन्निपत्तिस्तन्मन्त्रभाव-  
निरर्थकैव भवति । तदेवं क्वानुयुयोगो निर्दिष्टो दोगाः ।

अथ द्रव्यस्य सत्यगुणयोरे गुणानाह-  
सम्मं एयं पयच्छेद, सवत्तविण्णिओगो जहा षेणु ।  
तह सयपज्जवोया, दव्वं चरणं तओ मोक्खो ॥  
यथा परवत्तपरिदाराणं स्थवःसविनियोगतो गोः सम्यक् एवः  
प्रयच्छति तथा स्वकपर्यायोऽणुद्राद्व्यं, तन्मध्यं, ततो मोक्कः प्रा-  
प्यत इति । तदेवं क्वानुयुयोगे च दोगवगुणयोर्वत्सगोदृष्टान्त सकः ।  
अथ क्षेत्रघननुयोगे दोगंस्वतनुयोगे तु

गुणा-सोदाहरणानतिदिशआह-  
एवं सेत्थाएंसु वि, सपम्याविण्णिओगोऽणुओगं वि ।  
विपरीए विपरीओ, सोदाहरणोऽणुओगवो ॥

एवमुक्त्वानुसारेण, क्षेत्रकाववचनभावेणैव स्वधर्मविनियो-  
गः आत्मोचितमनुयोगोऽज्ञानात्, अत्रपरीते तु-वि-  
परीतधर्मयोऽज्ञे तु, विपरीतोऽनुयोगः सोदाहरणः स्वबुद्ध्या,  
प्रधाताराहोऽनुगुणवत्तयोः हातव्यः ।

तत्रधर्मातिदिष्टेऽपि सुधर्मियेयानुप्रसार्थे किञ्चिदुच्यते-तत्र  
क्षेत्रतोऽनुयोगोऽनुयोगश्च कुञ्जादाहरणमधिधायते-प्रतिष्ठ-  
ननगरं शालिवाहनो नाम राजा । स च प्रतिवर्षं समागत्य  
भृगुकच्छे नरोवाहनदनुपं रुणक्ति स्म । अतुनके च काले तत्र  
स्थित्वा वर्षासु स्वनगरं रुणक्ति स्म । अन्वद्य च रोहक  
समागते तेन राज्ञा स्वनगरं जिगमिषुणा आस्थानसभाम-  
रदपिकार्यां पतङ्ककमन्तरंणापि भूमौ निष्कृष्टतम् । अन्वद्य च रा-  
ज्ञः पतङ्ककारिणी कुञ्जा समस्तं स्म । तया चातीयभावाद्गतया  
क्षितिम्-दनुपं परिजिहासिद्वं स्थानं नरपतियांस्थितिं प्रजाते  
स्वनगरं, मनेधमिद निष्ठिवनीति संखिन्य निगदितं कथ-



आणुशुभोग

मप्यामप्रविवित्तम्य यानांशान्कस्व । तत्स्नेन प्रणीकृत्य या-  
नायपचञ्चल एव राहः पुरतोऽपि प्रवातितामि, तत्पुष्टनक्ष स्वर्वा-  
ऽपि रूकश्यावारः प्रवृत्ता गन्तुम् । श्यामं च नजामपकतं कटकधं-  
शिकिणः । तन्निहितं विस्मिन्नमनसा तराधिपेन-मनु कस्या-  
पि प्राणकं न कथितं धूरीभयात्किञ्चिद् स्ववपवारिच्छता भू-  
त्वा मेष्यस्य पुरन एव यास्यास्येत्तच्च विपरीतमापन्नम्, तत्कथ-  
मिद् कटकशोकं विहास्यमिति । पश्यत्या शोधयना विहासा  
कुरवा । पृथया च तथा कथितं सर्वमपि यथाशुचम् । तदत्र सत्रा-  
मवर्षिकादि क्लेशेण निष्ठिवनस्य अननुयोगं, निष्ठिवनादिर-  
क्षप्रमाजैतोपन्नपनादिकस्वनुयोगं । एवमेकाम्निनियमकमप्रदेशं  
याकाथां प्ररूपयतोऽनुयोगं, स्याद्वाद्वाऽपि न तु तद्वं प्ररूप-  
यतोऽनुयोग इति ।

कालाननुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायवृष्टाह्नः-तद्यथा-एकः सा-  
धुः प्रादोषिककालप्रहाणान्तर कासिकभ्रुमर्मोतामपि तदुण-  
नवस्रामज्ञानानः परावनेयेन स्म । नन सन्ध्यादिदेवतया वि-  
नितम-बोध्यायस्य, मा रुनिमध्याहृदिदेवताजसस्य, ततो  
मथितकारुण्य मथितभूतमेव घट मन्तं न निषाय तस्यैव स्वा-  
धारनिके गतागतानि कुर्वती मथितं सन्त्येन इति महता शब्दे-  
न पुनः पुनर्वोच्यन्ती परिश्रुति स्म । ततोऽप्युद्देशेन साधुना  
प्रोक्तम-अहो ! जयत्यास्तकविक्रयवेहा ? । ततो मथितकारिक-  
याऽप्यवधि-अहो ! तवापि स्वाध्यायवेहा ? । ततो विस्मितः सा-  
धुरुपयुज्य मिथ्यादुष्करं देवतां स्म । ततोऽज्ञानस्वाध्यायविधा-  
नेन मिथ्याहृदिदेवतांयहितत्तज्जलानि भवन्त्यतः प्ररूप्येवं मा का-  
र्ष्यस्वमिथ्यादि साधुदेवतयाऽप्युदासितः । इत्येव स्वाध्यायस्य  
काज्ञाननुयोगं, काज्ञेऽप्युत्तस्त्वनुयोगं, प्रकृत्येनपि काश्चर्मा-  
णां वैरीत्यावैपरीत्यरूपणं अननुयोगाऽप्यवधिौ चाध्यायिति ।

अथ वचनविषयमनुयोगाननुयोगयोराहरणद्वयमुच्यते-तत्र  
प्रथमं बधिरोगोपानः । तत्र कैकस्मिन् प्राप्ते बधिरकुटुम्बं परिवस्-  
ति स्म । स्थविरः, स्थविरा, पुत्रः, बधुश्च । सन्ध्या च पुत्रः क्षेत्रं हस्ते  
वाहश्च । पथिकैर्मणिं पृष्टो, बधिरतया ब्रवीति-गृहजातो मम बहो-  
वर्दाविमो, न पुनरन्वस्य सत्की । ततो बधिरोऽप्यमिति विहाय गताः  
पथिकाः । ततो जकं गृहीत्वा बधुः समायाता । शृङ्गिणी पाथिकै-  
र्ब्रांशवोविश्यादि निबोधितं तेन तस्याः । तथा च प्रोक्तम-कारमस-  
वर्षं बिति न जानाम्यहम्, एतस्वदीयजनस्यैव हि संस्कृतम् । ततो  
गृहं गन्तया तथापि द्वारदिदं भग्नमव्यतिकाः निबोधितः स्थविर-  
या च कर्तव्यम् । प्रोक्तम-स्थूलं सुहृदं मा भवन्तिदं, स्थविरस्य प-  
रिचालं भाविष्यतीति । निबोधितं चैतानुपययिष्यसि तथा स्थविरया  
गृहप्रान्तस्य स्थविरस्य । तेनऽपि विच्यता प्रोक्तम-तय जीवितं  
निबोधि, मथेकमपि तिलमहं व इत्यामीनि । एवमकथयनानादिकम-  
प्युक्तम् । श्लिषचनादितया यः शृणोति तथैव चाप्यस्य प्ररूपयति,  
तस्यानुयोगः, यथावच्छङ्कणनिकुपणे स्वनुयोग इति ॥ यचना-  
नुयोगस्यैवैह प्राधान्यस्याप्यनार्थं वचनविषयमेव चिन्धिं प्रायेण-  
कादाहरणमुच्यते-तत्र कैकस्मिन्नपरे कस्याश्चिन्महिलाया जतो  
सूतः, तत्रभ्रमजहादिकेण बाधिता निवेदन्तिं श्रुत्वा निजत-  
नयेन सह प्राप्तं यताऽसीत् । ततो बृद्धिं गतेन पुत्रेण सा पृष्टा-मदी-  
यायितुः का उचिकेका आसीत् । तया प्रोक्तम-राजसेवा । नेनोक्त-  
महंमपि तां करोमि । तया प्रोक्तम-पुत्र । दुष्कराऽसी, महता  
विनयेन इति । कादृष्टः पुनरसौ विनयाः । तया प्रोक्तम-सर्व-  
वर्षापि हृदस्य प्रणामः कार्यः, मुनिवैश्या सवस्थापि प्रयतित्यम्,  
पुत्रजन्तानुवृत्तिपर्यैव सर्वत्र भवितव्यम् । एवं कतिप्यामीय-

रनुपगम्य चलिताऽयं राजधानीम् । सम्मुखे मागे च हरिषेष्वा-  
गच्छन्तु युक्तसुखैश्चाक्षुषयुद्धयोर्निलाना व्याधाः हृष्टाः । तेषां  
च तेन महता शब्देन योत्कारः कृतः, ततस्वस्ताः प्रवशास्य गता इ-  
रिणाः । ततो व्याधेः कुहयित्वा बहोऽसीम् । ततस्तेनोक्तम-जनयाऽहं  
शिक्षितः-हृदस्य सर्वस्यापि योत्कारः कर्तव्य इत्यादि । तत्राह-  
नुययामिति हात्वा मुकस्तेः, शिक्षितश्च-यथा-इहो हृष्टे निजानैर-  
वनेनः शब्दमुकुर्वतिः शिवायां जल्पन्निवृत्तामगम्यते । तदनुप-  
गम्य पुरतो गन्तुं प्रवृत्ताऽसीम् । इत्याह वरणा ज्ञालयन्तो रज-  
कास्तेषां च वरणापि तस्करीनैत्यमपह्नित्येन स्म, ततस्तत्र दिने  
श्रुगुदादिव्यप्रमाणयो रजकाः प्रवृत्तापिष्टा हेरयत्नस्तिष्ठन्ति  
स्म । आगतश्चाजल्पप्रयनगत्रो निशियमानः स्यैः सः तत्र प्राप्ते-  
यकः । स एव चौर इति कृत्वा कुहयित्वा बहोऽसी रजकः । तत्राह-  
न च कथिते मुकस्तेः शिक्षितश्च-यथेहो कार्मिभ्यः हृष्टे एवमुच्य-  
ते, यथा-ज्येकारोऽत्र एतत्तु, शुकं च भयमिति । तत्राह-  
गम्ये श्रुतुः पुरतो गन्तुम् । ततो हृष्टे कृत्वाहमे बहुमिर्मन्त्रैः  
प्रथमं कृत्वाहमे कृत्वा निवृत्तकरणं क्रियमाणम् । तत उक्तम-उप-  
त्यादि । ततस्तेरपि कुर्वन्तिः पितृभिः कृत्वाहमे कृत्वाहमे कृत्वाहमे कृत्वाहमे  
शिक्षितश्च-यथेहो क्वापि हृष्टे प्राच्यते, यथा-गन्धोऽत्र श्रियन्तां,  
बह्वत्र मथतु, सर्वे च ममास्वति । अभ्युपगमे च तेनेदम् ।  
आन्यत्र च स्तनकः बहिर्लोमाने प्राक्तमिदम् । तत्रापि कुह्यतो बह-  
वः, सत्रावकथने च मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेहो मा भूदुष्वातां क-  
दाचिदपि, विद्यायाश्चिहतां नास्ति स्म । एतन्नान्यत्र त्रिषुवा प्रोक्तम-  
तत्रापि तथैव बहः, सत्राने परिज्ञान मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेहो  
प्राच्यते-सर्वे एहमस्वीदृशाति भवन्तः, साधवश्च भवन्तस्ते-  
ष्वपः, मा त्रुद्विद विद्यया इति । इत् वाऽन्यत्र क्वाचिदगम्य, बहो  
राजानमवन्तस्य युवाणस्तथैव कर्तव्योयथा मुक्तः, शिक्षितश्च-  
यथेहो विद्योः शोऽपि भवत्यनेन, एव च मा युवहाऽन्यपि तस्य-  
भिषोयते । एतन्नान्यत्र क्वाचिदृशां सर्वो जल्पयमाने प्राक्त, तत-  
स्तत्रापि तथैव कर्तव्यः । एव स्वानि उक्तमप्यमानोऽप्यहा क-  
स्यापि विभवतः प्रमुक्तस्य उक्कुरस्य सेवां विधानुमावश्यः, त-  
त्र चाप्यहा गृहे आमुत्रश्रिकायां मिदयां धामसमाजनसमुह-  
मध्ये उपविष्टस्य उक्कुरस्य शान्तिभूता एया ज्ञानुप्रयोगाया  
भविष्यतीति ज्ञायया नदाकारणया प्रोपतो प्रायेणकः । तेनापि  
तस्य जनसमूहस्य शृत्वन्तो महता शब्देन प्रोक्तम-आगच्छ  
उक्कुर ! शोभयतु हृष्टे, सुहृदश्च, शस्त्रस्वतिका वातं ततोऽजनां  
स्थिताऽसी । ततो लाज्जितकुरो गृहं गन्तव्यं वा तादयिया  
शृङ्गिताऽसी, यथा नेथं कुर्वन्निगृहप्रयोजनानि भवन्ते, कि तु  
बखेण मुखं स्थगयित्वा कर्णाभ्योर्न च स्थित्वा शूनेः कथन्ते ।  
ततोऽप्यहा वाहरीति गृहं गते । प्राप्तेनान्यो, शानैरतः स्थि-  
त्या वक्ष्य च मुखह्वारं दत्त्वा कथितं तस्य कथं । ततः  
संभ्रमाद् धावितो गृहानिमुक्चः उक्तः, इमं च सर्वेवश्च सर्वेमाप  
गृहं, तत- कृपितेन धामं तादितोऽसी उक्कुरेण, परिगतश्च निशे-  
कण ! प्रथमेव वृत्ते निजलावाऽश्रुधामिस्मात्ता तस्य कर्माति  
तथा न निद्रित, महता च शब्देन किमिति त्वया न प्रकृतम् ।  
तेनोक्तम-अप्यहा इयं करिष्यामीति । ततः कदाचिद्विहितस्त्वानो  
धृपनायोपविष्टः उक्कुरः, निर्मोः च प्रवृत्तादनपटस्थापारं श्रम-  
ध्याशोशां दृष्ट्वा च प्रायेणकं क्षिप्वा बोध्याहृष्टा तनुपयोर्वाऽश्रु-  
महास्थाऽऽ, जलप्रधीनसादिकं च, तथा च एकं महश्रुः  
शब्देनिान । ततोऽप्यानुप्यमिति निष्कासितो गृहवा । एवं शिष्यो-  
र्पि यावन्मते वचन मुक्तः कथयति तावन्मामेव स्वय इत्य-

केचकालपगामिप्रार्थोक्तिपरिहाराभययो यो वक्ति, तस्य वचनमा-  
नुयोगः, यस्तु ह्यस्य केचकपौत्रिकियमेव कथं तस्य तदनुयोग इति ।  
भावावनुयोगानुयोगयोः सन्तदाहरणमनि—

तत्र आषकथायां ह्येवमाह—एकं पृथ्वीताणुजननं तदणु-  
आषकस्य आषकजायंती। यदपवती कृताद्भूतकण्टकान्तरा निजप-  
त्या एव सखी कदाचिद्दृष्टा । गाढलक्ष्यपरकषाड तस्यो, परं ह-  
आदिना किमपि वचनमशक्यं संस्तथा। सिचिनया च प्रनिदिनम-  
तीय दुबलेभो भवश्लिषंघेन पृष्टं कारणं स्वजायंथा, काथं तं च कथं  
कथमपि तन । तथा चातीवदकृतया प्रोक्तम—एतावन्मात्रेऽन्यथे  
किं श्लिषसे? प्रथममेव ममेतर्कि न कथितम्? स्वाधीना हि मम सा,  
आनयानि सन्वरमभवति । ततोऽन्यादिनं मणितां मता-तथा अन्वृ-  
पगतं सार्धं यथा युष्मासमीहितं, प्रदोष एवागमिष्याति, परं ल-  
आहृतया वाससमनप्रविष्टमात्रमपि प्रदोषं विषयापिष्यति। ततो-  
कम-परं ज्ञतु, किमियं विनयेत्यति, ततो वासस्यायाः सकाशाक-  
चिन्मिक्तसुजायय याचिनानि तथा तदोयानि स्वनिदृष्टपुष्पाणि  
प्रधानवस्त्राणामभरणानि च, ततो मुष्टिकादिप्रयोगतो विदितस-  
खीसदशस्वरादिस्वरूपा तथैव कृतशुद्धारा तस्यदशसालिनन  
विशोऽन्वयान्विता तस्यैव आरूपाय मायां सखिहितवरकुमुदता-  
म्बुधोऽन्वयान्तागुरुकरंकरुत्कारिदिनासि समस्तभोगाङ्गं विदितामल-  
प्रदोषाशोकं रमणीयं वासभवने सपिलात्ममयिश्शत । ततोऽद्य  
सोऽकृपयादिवस्त्रारिन्दशा भिदशकसांशिनीपुलिनप्रतिपधिप-  
द्यकृपाविष्टेन जगन्नेव नयनमनसोऽनुभूयिमिवाद्यधाना तेने-  
या । तथा च हृष्टमाश्रया विषयापानः प्रभूतः । कौतिलं विधिधर्मा-  
दृष्टिभ्रष्टपुष्पकं तथा सद् विनेरं तन । तायां च सख्यां प्रगुपसि  
चित्तनमनेन—“सयलसुरासुरपुत्रमिय-वल्लगेहि जिगेहि जेहि-  
नं प्रीयते । न परजवसंचलये, अहह ! मय हारि रं सति” ॥ ६-  
न्यादिस्वंगवशोऽप्यल्पवस्त्रासपामहालक्ष्मुष्प्रधानानःकराः प्र-  
निदिनमधिकतरं दुबेलीमायस्यती । ततो निक्षेपेन मायां पृष्टा नि-  
श्वस्य सखदं प्रवीति स्म—प्रये । यतश्चिह्नकालानुपार्जितस्वर्गाप-  
वर्गनिक्षेपनसखपदानेनामुना कृतं मया नदकतस्यं यद् बाह्निशा-  
नामव्यविषयसः । ततः कृशी भवाभ्यहमनया चिन्तया । ततो भाय-  
या स्वंगवशः। मृतं व्यापृत्तं च तन्मना विहाय कथितः सर्वोपय यथा  
वृत्तः । सन्प्रायस्वनिहानकथनादिनिश्चय समुदादिना प्रतीतिस्त-  
स्य, ततः स्वधर्मानुतोऽयमिति । तदर्थं स्वकलत्रमपि परकलत्रा-  
मिप्रायेण नुज्जानस्य तस्य ज्ञाधाननुयोगः, यथाऽवस्थिततावगमे  
ज्ञाधानुयोगः । एवमीदृशिकादिभावन स्वकल्पवैरीत्येन प्रकृपय-  
तो ज्ञाधानुयोगः, यथाऽवस्थिततावकल्पे तु भावपुण्या इति ।  
सर्वाथः पदैव्येवहरतीति सातपथिकस्तदुदाहरणमुच्यते—  
एकस्मिन्प्रत्यन्तश्रामे काप्रपि सेवकपुरुषो वसति स्म । स च  
सापथादिशोनिमां संवाच्येनं यमे कदाचिद्वदिप न शृणोति स्म न  
च तदतिकं कदाचिद्विप प्रजति स्म, न च कस्याप्युपाश्रयं ददा-  
ति स्म । यतो दयावृत्तां परचरपरकलत्रनिष्ठाद्विगुणप्रतिपत्ति  
केन उपदेहयन्ति, न च पाह्यवितुमर्हं शक्यतेति। अन्यदा च वयो-  
स्रजसमायातास्तत्र कथमपि साधय, तेषां च तत्र चरानिमन्नेषय-  
स्यो कौतुकिदृष्टुमिः सेवकनरविधिर्भाषैरुक्त-आश्रयं ज्ञतो भ-  
वनामनिदं अकोऽनुकगृहे आरुकासिन्हाति, यन्मन्यता न किञ्चि-  
दुभयं कारित्यति; तन्पुच्छत तथैति; कृतं तत्सत्पथैतैः । स च नेपां पु-  
तोऽपि स्थितानां संमुखमपि नाशशोकयति स्म । तत एकं स-  
धुना शेषसाधनानामिमुखमुक्त-स एव न भवति, प्रवक्षिता वा  
तेनांमियकैवयम् । ततस्तेन संप्राप्तनोक्तम-किं किं भगव ययम् ।।

ततस्मैः कथितं स्वधर्मपि भावितव्य, ततस्तेन चिन्तितव-आहो ।  
मनाऽपि ते किं पृष्टा वैरेतेऽपि प्रवक्षिताः, तस्मात् तदा स्वधर्मो ह्यहं  
च तदुपहासापक्याः अतोऽनिष्टमपि करोम्येतदिति चिन्त्योक्तम-  
निष्टम मम निप्राकृशालायाभितस्याह, परं मम धर्माकरं न क-  
थानियंत् । प्रतियुक्तमैः। स्थिताश्च सुखिनं तत्र वतुमोसकालस्यं  
यावत् । ततो विद्विज्जिधुसिस्तेरनुज्जानांमयागतस्य शयानतरस्य  
कथोऽयमिति द्वाऽनुशासितः । ततो प्रथमसंज्ञोपाधतादिवि-  
रतिं कर्तुमशक्यतुवतस्तस्यातिशयव्यामितयाऽत्र प्रसिधोऽधुगुं प-  
द्यद्विगुणतिः सातपथिकं व्रतं दत्तम् । किञ्चिदप्यन्विद्यप्रानिं  
जिघांसुना यावता कालेन सप्तपदान्धवध्वष्यन्ते, तावन्तं काशं  
प्रतीव्य इत्यतोऽसाविति । प्रतिपद्यमेतत्सेन । गताश्च साधवोऽन्य-  
त्र । अग्यदा चासौ सेवकनरकोऽयं गतः क्रापि, ततोऽप्यशक-  
नादिकारोनेन स्वल्पमेव कालेन प्रतिसिद्धः । कीदृशो मयाशु-  
कभयपृष्टे समाचार इति जिह्वासुभिर्शीघ्रं प्रच्छन्न एव प्रविष्टो  
निजपृष्टे, तस्मिन् दिने तदोयजगिनो प्रामान्यरादागता, तथा  
च कनचिद् हेतुना विदितपुरुषनेपथयया नटा नृत्यनाना निरौक-  
ताः । ततोऽसौ प्रचलनिदवाशीकृतपुरुषवैषैव श्लाघजायायाः स-  
मीपे प्रदोषाशोकादिविषयवासमभनगतपथकृ एव विनेरं प्रस्तुता ।  
तेनाऽपि च तदप्युना अकस्मादेव शृष्टमविष्टेन दृष्टं तत्साहसम् ।  
ततश्चित्तमनेन-आहो । विनष्टं मद्गृहम् । विष्टः कोऽन्यथं मज्जा-  
योसमीपं प्रस्तुसस्तिष्ठातीति कोपावेशादाशकृपाणः, ततः स्मृतं  
व्रतं, विलासितं च सप्तपदापसरकालम् । अत्रातं तत्रजग्नि-  
शुद्धनिका निद्रावनेन तत्राप्येवाम सस्तेकनाकासा, ततः पी-  
क्यमानया तत्राग्न्या प्रोक्तम-हंतः । मुञ्च मम बाहू, द्येऽत्यथे-  
महम् । ततः स्वराशोपेण ज्ञाताऽनेन स्वमगिनो। अहो ! विदुष्टोऽहं,  
मनाय मया न कृतमिदमकार्यम् । तन उचितं संसृप्तं भ-  
गिनोभाये । कुपितश्च सर्वैः स्ववर्षिकरः परदपरः । ततो य-  
थोक्तानप्रहमावस्याव्येवृत्तेन कसमुद्वेष्टय स्वधिरः प्रमजितोऽ-  
साविति तदत्र स्वभागीनीमपि परगुणानिप्रायेण जिघांसोस्तस्य  
ज्ञाधाननुयोगः । यथाऽवस्थिततावगमे तु भावानुयोगः । प्रस्तुत-  
योजना तु भावकार्योदाहरणवदिति ।

काङ्क्षकदारकादारणम्—  
यथा काङ्क्षकविषये एकस्य पुरुषस्य श्लुष्टारकाऽस्ति स्मा नारायं  
तु स्तुता, अन्यां च परिप्रेतुमिच्छन्तोऽपि सपानीपुत्रोऽस्यास्ताति  
न कोपि ददाति स्म । अन्यदा च सर्वेव तेन दारकेणासावरस्य का-  
ष्ठानां गतः, तत्र च कस्यापि पित्रा काण्डं मुक्तं, तदनिन्त्यस्य च  
दारकः शोषणः, गतशून्यः, अत्रानरे दुष्पितृमत्स्य चदति चिन्तं,  
यस्य दारकस्य सत्कारणेनान्यां नारायं मम न कोपि ददाति ।  
ततोऽन्यः काण्डं किंवा विदोऽसौ दारकः, ततो महता स्वरे-  
णोक्तं बाह्कनेन-नात । किंमत्कारकं त्वया मुक्तम्, विदो ह्यने-  
नाहम् । ततो निर्दुषेण पित्राऽन्यत् कारकं मुक्तम् । ततो ज्ञातं द-  
रकण-इत ! बुद्धा मारयत्येव मामिति विस्वरं रटाकिदृष्टेन तेन  
मारितोऽसाविति । पूर्वमन्यस्य बाणं मुञ्चताऽपिज्ञाजोगत एवाहं  
विदो इत्येवमवबुधप्रमानस्य ज्ञानानुयोगः, पक्षाध्यापयस्थता-  
वगमे तस्य ज्ञाधानुयोगः । अथवा संरक्ताहमपि तं बाह्कं मारया-  
न्यायपथस्यः पितृभोवातानुयोगः, तदङ्गापथस्येव तु ज्ञाधानु-  
योगः। एवं विपरितज्ञावप्रकरणं भावानुयोगः, ऋषिपरीतभाष-  
प्रकरणे तु भावानुयोग इति ।

अथ तदुदाहरणम्—  
यथा पद्मिनः कस्यचिद् ज्ञायां शुविणी ज्ञाता, तदुलिका च

काश्चिद् दृष्टव्याधाभिता मुञ्चिणी, पदातिनाययो सह एकस्यां रज्ज्वां प्रवृत्ता । तस्या नकुञ्जो जातः, इतरस्यास्तु पुत्रः, ततोऽस्य समीपे नकुञ्जः स्वैव तिष्ठति स्म । अन्वया च पदातिनाययो ह्यारो कस्यङ्कयन्त्या मध्ये मञ्जिकायां स्थापितो बालकः स-पेण दृष्टो सुतश्च । ततो मञ्जिकाया अक्षरं नकुञ्जेन दृष्टो विचपरः अयमसः कृत्वा मारितश्च; ततो ह्यारो पदातिनाययोः समीपे गत्वा शोभितोपशितवकाचयचयोऽतो चाद्विज कर्तुमारभ्यः, दृष्टश्च तथा । ततो नूनं मदीधुपुत्रं मारयित्वा भङ्गिनाऽभ्येतेति विचिन्त्य कोपाधेहासमुश्रुत्वेन हत्वा मारितो नकुञ्जः । गता च पुत्रसमीपे । दृष्टश्च पुत्रेण सह चिनष्टः सपे; ह्यारो च यथा सया निहतस्मना इत्येत्यं निरपराधोऽप्युपकारयि मया नि-कृष्टया इतो बराको नकुञ्जः, इति विचिन्त्य द्विगुणतरं बोकापयत्वा । पूर्वमपराधिनां विज्ञाय नकुञ्जं प्रस्थापयत्या प्राजावनयुगां इति; यथावस्थितावगमे त्वन्युयाः । प्रस्तुतयोजना त्वनन्तरं कश्चदिति ।

अथ कमलामेसोदाहरणम्—

तत्र द्वारावर्षां नारायं ब्रह्मद्वेषुना निषचः, तस्यापि सतुः सागर-चन्द्रः, स च रूपेणालीबोऽकृष्टः, शम्भुादीनां च कुमारणां सर्वे-वाग्म्यतिभियः, तस्यामेव च द्वारावर्षां नारायोऽम-व्यथ राज्ञा उ-दिता कमला नाम समस्ति स्म । सा बोधसेननयनस्य नभःसेनकु-मारस्य दत्ता वृता च तिष्ठति स्म । अन्वया च तत्र नारदः सागर-चन्द्रस्य समीपे गतः । तेनाप्युपधाय उपवेश्य च पृष्टः— दृष्टं भगवन् । ब्राह्मणं किमपि क्वापि ? नारदोऽनोक्तम्—एष्ट कमलामे-सोदाहरणमप्युक्तव्याः न क्वाहु ब्रह्मैव किन्तु भुवनत्रयस्याव्या-प्योऽकारि रूपम् । सागरचन्द्रोऽनोक्तम्—किं दत्ता कस्यचित्साः ? नारदोऽनोक्तम्—इसा परं नाथापि परिणीता । कथं पुनममं सा संप-त्यते ? इति सागरचन्द्रोऽनोक्तं, न जानाम्येतत् इहमित्यजिघास गतो नारदः । सागरचन्द्रस्तु तदिनाद्वारम् न शयानो नाप्यासीनः कश्चि रतिं क्षमते, तामिव कन्याकं फलकद्रिष्टिबालिभ्यः, तन्नाम-मात्रजापं चानवतरं कुर्वन्नास्ते स्म । नारदोऽपि कमलामेसोदाहरणं गतः । तयाऽपि नयेवाक्ये किमपि दृष्टम्, इति पृष्टः—कलहदृशेन-मिषवत्या स प्राह—दृष्टमाक्षरैर्द्वयं मया-भारगचन्द्रं सुकृपायं, नभः-सेने तु कुरुष्यम् । तयो ऋगियेव सा विरक्तानजःसेने, अनुरक्ता च सागरचन्द्रे । तन्मात्रचित्त्याऽस्तुरा च समाभ्यासिता नारदो न-सा-वर्ते । स्थिरीभव संपत्यते ब्रह्मरादेव तत्वायमित्युक्तया गतः सागरचन्द्रसमीपे । दृष्टव्यं त्वां सेत्यपवेश्य गतः । ततो विहा-सृष्ट्यायथियं प्रलपति च सागरचन्द्रः, आतेः सर्वोऽपि मन्नादिल्ल-जनवर्षः; किञ्चते यादवाः, तद्वारन्तरे समायातः कथमपि याग-रच-कृतसमीपे शम्भुकुमारः, दृष्टश्च तेनास्ति तद्वचसा; ततः पूज्युल्ल-स्य विज्वा इत्यज्ञयेनाचक्रादिने तद्विक्रिणी शम्भेन । सागरचन्द्रेणो-क्तम्—किं कमलामेसोदाहरणं? शम्भोऽनोक्तम्—नाहं कमलामेसा, किन्तु कमला-मेसोदाहरणम् । ततः सागरचन्द्रेण शम्भोऽयमिति क्वात्वा प्राकम्—सत्य-मेव कमलाममदीर्घलोचनं कमलामेलां मेलापिष्यति, कोऽभारोऽय-सः समर्थ इतिगतोऽप्येवेऽकृणुमिः पीतमघः परवर्षाः । ततः शम्भो प्राहितस्तद्द्वाराप्रमत्तिज्ञाम् । उच्यते च मदीयां विचिन्तितं शम्भेन-ब्रह्मो । नहं मयाऽऽप्युपगतम्, अराक्यं मेलादृष्टम्, कथमपि प्रतिज्ञा-दिबोऽपिष्यते, ततः प्रपुत्रं पाश्वोऽनोक्तवित्वा याचित्वा शम्भेन । त्रिभ्राह्मदिवसे च ब्रह्मिणीवचकुमारेः परिकृतेन तेन सुब्रह्मं पाल-चित्त्या पिशुपदाहृकृत्य नीत्वा बहिकृपाते कमलामेसा । नारदं च साक्षिणं कृत्वा कारितस्नयणाग्रिप्रहणसंकर्यः सागरचन्द्रस्य । ततः सर्वेऽपि कृष्णविद्याचरणाः श्रीमन्स्तिष्ठति स्म । उच्चा-

ने पितृभ्यस्तुराधिकैकान्धेवपरिर्दंष्ट्रा इतविधापरकपा नवपरि-ष्णितेषधारिणी च क्रीडन्ती कमलामेसा । विधापरैरपहस्य प-रिणीताः कमलामेसोति कथितं तैर्बोद्धुदेव्येति । निर्गतञ्च विद्या-धरोपरि कृपितः सखलवाहोऽस्ती, ब्रह्मं च महद्वाप्येधं ताव-द्यावन्ध्याचन्द्रस्यः परिहृतैकियकपः पतितो जनकस्यास्मिपुत्रे । ततोऽनोक्तं संहतः सः सुभ्रमः; इत्वा च कृष्णेन कमलामेसा सागर-चन्द्रस्यैव । गताश्च सर्वे सखलवाहः । तत्र सागरचन्द्रस्य शम्भं कम-लामेसां मन्व्यमानस्य प्राजावनयुगां, यथावस्थितावगमे तु प्रा-जातुयांताः । विपरीतादिप्रकल्पयोजना तु प्रस्तुता पुर्वेवदिति । शम्भुसाहसोदाहरणमिति वचनान्तरे शम्भुसाहोदाहरणम्—आसु-देवाऽप्यजाह स्वैव भृणोति आम्बुवती—समस्तानामप्यास्तीनां मन्दि-रं त्वपुत्रः शम्भु एति । ततो आम्बुवत्या विष्णु रभितः-मया पुत्रसक्तः एकऽप्यामिने दृष्टा । विष्णुना प्रोक्तम्—आम्बु-वेनाह दृशोयति । ततो आम्बुवती चकृत्साहस्यमाजीरिर्कृपं कारता, स्वयं पुनराभीरुपं कृत्वा द्यकहस्तः स्वयं पुष्टे व्य-च-रितः । अग्रतस्तु मत्सकन्यस्तद्विहृदिपका आम्बुवती । कृता, प्रविष्टोऽथ दधिचिकथायं मगदीप्रये । दृष्टा च शम्भेन सात् । तदुक्तकृत्वा आभीरिति विज्ञाय प्रांका शम्भेनीवा-आम्बु-वत्तद्वयुदं सर्वस्यापि तद्विद्यया योवाम्भारं सुस्यं यावत्से तदहं दास्या-मीत्यग्रतः स्वयं पुष्टतस्वामीरी पश्चात्स्वामीरीः स्वतः शून्येव ब-कुलिकायोमेकस्यां गर्वा प्रोक्ता शम्भेनाभीरी—प्रविश्य पतम्भ-धये, भुञ्ज दधि । तथा च विद्युपाजिप्रायं नं विज्ञाय प्रोक्तम्—नाहमभ-प्रविशामि, द्वारस्थिताया एव शृङ्गा दधि, प्रयच्छ मृन्मय । बलादपि प्रवेशयिष्यामीत्यादिभाष्य शृङ्गाणां शम्भेन सा बाही, ततो धावित्वा द्वितीयाबाही क्षम्य आभीरः । द्वयोरापि चाकपलं विकषणं कुर्वतोऽनेनं भारदम् । गतः कृतं सहजपमामातो, आम्बुवत्याश्च विष्णुना । तच्च दृष्ट्वा लज्जितो नष्टः शम्भुः, नाग-रुजति चावसेऽपि लज्जया राज्ञकम् । ततोऽस्मिन्ने विष्णु-—नियुक्तवृद्धतुर्वयः कथेनानीयमानः क्षुरिकया वंशाकीलकं घट्टय-चागच्छत्यस्ती । प्रणामे च कृते पृष्टो वासुदेवश्च शम्भुः—किमेतत् क्षुरिकया घट्टते । तेनोक्तम्—कीलकोऽयम् । किमर्थं पुनरस्ती ? यः पृथुपिनामतीतज्जल्प्याश्चिद्व्यति तन्मुञ्जे ब्रह्मदनायमिति । तद-ञ्च शम्भस्य मानस्मयाजीरी मन्व्यमानस्य भावानुयुगां, पश्चा-द्यावाब्धवगमे तु प्राजातुयांताः । प्रस्तुतयोजना तु पुर्वेवदिति ।

अथ भोगकपोपोदाहरणम्—

राजपृष्टे नगरे समभवत्तस्य भगवतः भीमन्महावीरस्य क्षेपिक-नाराधोपो राक्ष्या चेल्लणया सह प्राचमासे हिमकणमवर्षिणि महाहाति पतति चन्मार्थे गतः । तनां निवर्तेशाकस्य च तस्य, राक्ष्या चेल्लणया भारोसन्नः तपःकथितशरीरः सर्वथाऽप्यनारा-शु मेरुशिखरमित्यप्यकल्पः प्रतिभामानपद्योऽजितवकायैः तसमि स्थितः संप्रयायं दृष्टः कथितपथवी । गताऽस्ती तद्व्युजानेव मना-सि ध्यायन्ती शृष्टम्, सुप्ता च रजन्त्यानेकश्रीतापशुभ्रमण्यराज-वृता पश्यन्ते, निर्गतञ्च प्राचरणपञ्चा बहिस्ताऽकथमप्येकः करः, श्रीतामिन्नूतञ्चयमतीव स्तथीयता, तदनुसारं स समस्तमपि शरीरं तया न्यातं पीतेन यथा निष्कारंऽपि जागीरतं तथा । ततः क्षितो इतः प्राचरणमप्ये, स्थितञ्च इदये स तथा कायो-स्तमस्यायो महाहृदि; तद्गोणपथाकुचकुचमानया विस्मितया च प्रोक्तं तथा—स तपस्यै किं करिष्यमीति, यथेकानप्यावराज-बहिर्निर्गतेन इत्सेनाहमेतावतीं शीतवाचां प्रसातः, तद्वारये निरा-चरते कृकणः कथितञ्चैवविचमहाश्रीतावधितः स तपस्यै किं

करिष्यतीति तस्याभिसातिप्रायः, अयं चेत्यालुतया अणिकनूप-  
करिष्ययापरिणतः—नूनमनया कस्यापि संज्ञाना इक्षन्तद्वलिके  
ए माय संज्ञाहितं गन्तुमशक्यं, तन्तस्तच्छिखरदं चेतसि निष्ठा-  
य एतदुक्तम् । ततो महता खेदेन तस्य विभ्राता रजनी । चञ्चितः  
अभिन्वद्यवीर्यस्यात्मिकम् । गच्छता चानिकोपावेशाशक्यपिनोऽ-  
भयकुमारः—सर्वोभिरवधानःपुरिकातिः सह प्रदीपय सर्वोपगमनः-  
पुरदृष्टाणि । ततोऽभयकुमारेण चिन्तनम्—केनायाभिनयोपश-  
कोपावेशोभयमसौ बलि, प्रथमकांषं यं यदुच्यते तत्क्रियमाण  
न खलु परिणतो सुखयति । अथवाऽन्यतेनीयं गुरुणां वचनमन-  
शुभ्यां इक्षितशास्त्रिकां प्रदीप्य प्रस्थितः संऽपि भगवच्छन्दना-  
थम् । इतश्च भगवान्मृष्टः अङ्गकजातेन—जगद्वत् । चेल्लया किम-  
कयन्ती, अनेकयन्ती वा? । भगवता प्राक्कम्—एकयन्तीति । ततो  
निवृत्तः सन्तमेव गृहामिभुक्षमभयकुमारनिवारणाय । भगो चो-  
गच्छन्वीकृतेऽपि । पृष्ठश्च किं दृश्यमन्तःपुरम् ? । तेनोक्तम्—दृश्यम् ।  
राज्ञा प्रकृतिनाऽन्यथाप्य—एवमपि तंथं प्रविश्य किं न दृष्योऽ-  
सि ? । कुमारोक्तम्—किं ममाभिप्रेयसेन ? । मनेमेव प्रदीप्यस्यह-  
य, ततो मा नुदृश्य महान् श्वर इति कथितं यथावदेवेति । तद्ब्र-  
ह्मविश्रामपि चेल्लयां कुशलीनां मयमानस्य राज्ञो भावाननुयोगः,  
यथावदयमानं च तदनुयोगः । एवमिदं दायिकादिभावाद् विपरिण-  
स्वरूपानं प्रकृत्यनो भावाननुयोगः । यथाऽप्यास्तिस्वरूपास्तु  
ताम् प्रकृत्यनो भावानुयोग इति । विशेषः ० । विषयः ० ।

अणुशब्दोप—अननुचिन्—त्रि० । शास्त्रानुज्ञाने, “ जो तु अ-  
काण्ठेवा सा सत्या अणुशब्दोच्यतेनां हौति, जा अकाण्ठेना प-  
रिन्विता गुणदोसे अश्वितिक्रमा सा अणुशब्दोचि ” नि० सू० १ उ० ।

अणुशब्दोप—अननुपादान—न० । न० । अनासिन्धु, आय०  
६ अ० । पंचा० । “ योसहोवयासस्व सम्ममणुपालयणा ”  
पापथोपवासानिवाः । उपा० १ अ० ।

अणुशब्दोप—अननुपातिन्—त्रि० । सिक्कामेन सहऽघट-  
मानकं, इय० १ उ० ।

अणुशब्दोप—अननुपात—पुं० । अनागमने, पंचा० ७ विव० ।

अणुशब्दोप—अननुशामना—स्त्री० । शिक्ताया अभावे, का०  
१ श्रु० १३ अ० ।

अणुशब्दोप—अनन्य—त्रि० । अभिन्नं, विज्ञे० । “ अणुशब्दोप  
अन्यगित्यर्थः । नि० सू० १ उ० । मोक्षमार्गोद्वयऽन्यथः, ना-  
न्यऽन्यत् । ज्ञानादी, “ अणुशब्दोप अनन्यत्वेण सं ग ङ्या-  
वय ” भाषा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यनय—त्रि० । अन्येन नेत्राऽनेन्ये, “ ज्ञानात्तं अ-  
न्येन अणुशब्दोप बुद्धा ह्येन अंतकमा हवती ” न च स्वयं बुद्ध-  
न्यादर्थेन नीयन्ते तस्यावशेषं कार्यन्ते इत्यनन्यनेयाः, हिता-  
हितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेना विद्यत इति भावः ।  
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यदक्षिन्—पुं० । अन्यद् रूपं शीलमस्ये-  
न्यदक्षिं यस्तथा, नासायनन्यदक्षिं । यथावस्थितपदाधिच्छ-  
रि, भाषा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यपरम—पुं० । न विद्यतेऽन्यः परमः प्रजातो य-  
स्मादित्यनन्यपरमः । संयमं, “ अणुशब्दोप भाणी, एो परमाए  
कथाइ सि ” भाषा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यपानस—त्रि० । न विद्यते अन्यद् धर्मोपायल-

कृणात्मनो यस्य सोऽन्यमननाः । एकाप्रवृत्ते, मथा० । अण-  
वमनसि, श्रौ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यपात्रादिन्—पुं० । सत्यवकरि, “ अ-  
णुशब्दोपपात्रादिह—वराणां जे जिणा जगत्पत्रा । जिभराम-  
दोसमोह, अनश्रवावाहोणेण ” ॥ १ ॥ भाषा० ४ अ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यप्राप—त्रि० । मोक्षमार्गोद्वयप्रारम्भणं, आ-  
चा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुशब्दोप—अनाश्रव—पुं० । न० । न० । नवकर्मोऽनादानं, प्रश्न०  
१ आश्र० छा० । स्था० ।

अणुशब्दोप—अनाश्रवकर—पुं० । प्राणातिपाताद्याश्रवकरणर-  
हिते पञ्चमे प्रदास्तमनाविनयभेदे, न० २५ श्लो० ३ उ० । स्या० ।

अणुशब्दोप—अनदृक्त्वन्—न० । न विद्यते अहः पापं यस्मिन्  
तन् अहस्कम्, तस्य भावोऽनहस्कत्वम् । अविद्यमानकर्मत्वे,  
“ संज्ञेयेण अणुशब्दोप जणयश्च ” उच्य० १ अ० ।

अणुशब्दोप—अनतिक्रमाणीय—त्रि० । न० । अचाल-  
नीय, भा० २ श्लो ५ उ० । दृश० ।

अणुशब्दोप—अनतिक्रमणीयवचन—त्रि० । अनतिक-  
मणीयं वचनं येषां त । वचनानतिक्रमकेषु, “ अस्मादिणं अ-  
णुशब्दोपअणुशब्दोप ” अस्मादित्रोः स्वरकर्मणतिक्रमणीयं वचनं  
येषां त तथा । श्रौ० ।

अणुशब्दोप—अनतिवार—त्रि० । न विद्यन्ते अतिवागा यस्मिन् ।  
अतिवारहिते, ध० ३ अश्रि० ।

अणुशब्दोप—अनतिपातिन्—पुं० । अनिपत्तमतिपातः प्राःशु-  
पमर्दने, नतिघाते यथासाव्यनिपातिकस्तप्रतिषेधादनिपात-  
तिकः । अश्रिसके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणुशब्दोप—अनतिविलम्बित—न० । अतिविलम्बरा-  
हित्येयं वचनातिशय, श्रौ० ।

अणुशब्दोप—अणुशब्दोप—पुं० स्त्री० । राजादीनां हिरण्यादिकधारेकं,  
ग० १ अश्रि० । ऋणपीडिते, स्था० ३ अ० ४ उ० । स न दी-  
कृणीयः । ध० ३ अश्रि० । प० भा० । प० सू० ।

अनात्—अपरिदृष्टांति, ध० २ अश्रि० । स्था० ।  
दयानि अणुशब्दोप—  
सविचं अश्रिचं, वा योसंगजायते तु धर्मि ।  
समणाय व समणीण व, न कपतीता तारिसं दिक्वा ४ ? ?

कंठा । इमे दोसा—  
अथ मां य अक्रिचीया, तम्मूला गंतहिं पवयराम् ।  
अणुशब्दोपवदभंक्रिया, सव्वे एयारिसा मण्ण । ४ ? २ ।

अणुशब्दोप—अणुशब्दोप—पुं० स्त्री० । राजादीनां हिरण्यादिकधारेकं,  
ग० १ अश्रि० । ऋणपीडिते, स्था० ३ अ० ४ उ० । स न दी-  
कृणीयः । ध० ३ अश्रि० । प० भा० । प० सू० ।

अणुशब्दोप—अणुशब्दोप—पुं० स्त्री० । राजादीनां हिरण्यादिकधारेकं,  
ग० १ अश्रि० । ऋणपीडिते, स्था० ३ अ० ४ उ० । स न दी-  
कृणीयः । ध० ३ अश्रि० । प० भा० । प० सू० ।

अणुशब्दोप—अणुशब्दोप—पुं० स्त्री० । राजादीनां हिरण्यादिकधारेकं,  
ग० १ अश्रि० । ऋणपीडिते, स्था० ३ अ० ४ उ० । स न दी-  
कृणीयः । ध० ३ अश्रि० । प० भा० । प० सू० ।

अणुशब्दोप—अणुशब्दोप—पुं० स्त्री० । राजादीनां हिरण्यादिकधारेकं,  
ग० १ अश्रि० । ऋणपीडिते, स्था० ३ अ० ४ उ० । स न दी-  
कृणीयः । ध० ३ अश्रि० । प० भा० । प० सू० ।

धनिता स्वस्मिन् इदिके तेण विसज्जितो पव्वाविज्जति. संसं कंठे । अणसे रातामिति । नि० चू० ११ उ० ।

अणसं-देशः । निर्मात्रे. दे० ना० ११ वगे ।

अणस्यै-अनात्मार्थिक-वि० । नामार्थे एव यस्यास्यसाधनात्मार्थिकः । परमार्थकारिणि, प्रश्न० १ स्वम्ब० हा० ।

अणस्यै-अनात्मप्रश्न-वि० । नामने हिताय प्रज्ञा येषां ने अनात्मप्रश्नाः । व्यर्थे बुक्तिवु. " एगे विस्वियमाणे अणस्यपणने " आचा० १ अ० ५ अ० ६ उ० ।

अणस्यै-अनात्मवत्-वि० । अकषायो ह्यात्मा भवति. स्वस्थकषायस्थितत्वान्, तत्रापि भवति यः सोऽनात्मवाद् । सकषायै, स्था० ६ उ० ।

अणस्यै-अनात्मगतमन-न० । अनात्मा अपरिच्युहीता-वेद्यदा, स्वीर्णिषी, प्रापितननुका, कुलाङ्गना वाऽनात्मा. मन्यां गमनम् । अपरिच्युहीतागमने स्वदारसम्नोपासितारे, ध० २ अधि० ।

अणस्यै-अनर्थ-पुं० । अनर्थदत्तुवाद् गीण एकविशे परिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० हा० ।

अणस्यै-अनर्थक-पुं० । परमार्थबुध्या निरर्थके अष्टाविशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० हा० । निष्प्रयोजने, पंचा० ६ विव० । अणस्यै-अनर्थकारक-वि० । पुरुषार्थोपघातकारकं, प्रश्न० ३ आश्र० हा० ।

अणस्यै-अनर्थानन्तर-न० । अन्वयोऽर्थोऽर्थानन्तरम्, न विद्यतेऽर्थानन्तरं यत्र पार्थिवे । एकार्ये शब्दे, " योऽर्थमहिमिन्यर्थानन्तरम् " आ० म० ६ उ० ।

अणस्यै-अनर्थग्रन्थ-पुं० । न० त० । प्रावधनयुक्ते, श्री० ।

अणस्यै-अनर्थचूर्ण-पुं० । निजगुणापात्तनामके रत्नवत्त्वाः सुते. दश० ।

अणस्यै-अनर्थदोषध्यान-न० । अनर्थदोषो निष्प्रयोजनं हिंसाकारणं नस्य ध्यानात् । दुर्दान्तमत्तया ह्योपायनं कथी कुर्वतो शास्त्रादीनामिध. वक्रमण्डलीं सर्पविशेषरूपं धनो गङ्गात्तस्यै, विष्णु श्रीदेवीस्वर्गमदेशकथननिपुणस्य वा बालस्यैव, ध्याने, आनु० ।

अणस्यै-अनर्थफलद-वि० । स्वपर्योत्तरकारकफलदायकं, पश्चा० ३ विव० ।

अणस्यै-अनर्थमङ्कल्प-अनस्तमितसंस्कारण-पुं० । अनस्तमिते सुये मङ्कले भोजनमितिलांवा यस्य । अनिष्टरात्रिभोजने दिवान्जित्ति, वृ० १ उ० ।

अणस्यै-अनर्थवाद-पुं० । निष्प्रयोजने जल्पे, प्रश्न० २ स्वम्ब० हा० ।

अणस्यै-अनर्थदण्ड-पुं० । निष्प्रयोजनहिंसाकरणे, आनु० । (' अणदण्ड' शब्देऽश्वे प्रागे शब्दं पृष्टे वास्य विवृतिः ) अणस्यै-अनर्थदण्डविरमण-न० । नृत्तये गुणव्रते, पंचा० १ विव० (' अणदण्डवैरेमण' शब्देऽश्वे प्रागे शब्दं पृष्टेऽस्य विस्तरः )

अणस्यै-अनर्थधारक-पुं० । अणं व्यवहारकदंष्ट्रं द्रव्यं, तयो धारयति । अघमर्थे, हा० १७ अ० ।

अणस्यै-अनर्थचौद-पुं० । अनः शकटं प्रचोदयति प्रेर-

यति । विष्णोः, शैशवे हि विष्णुना चरणेन शकटं पर्यस्तमिति श्रुतः । " धियो योऽनः प्रचोदयान् " अ० गा० । अणस्यै ( प ) उज्ज-अनात्मज्ञ-वि० । अनात्मज्ञं ग्रहयुहीने, त्रिभुवि सार्दा च । नि० चू० १ उ० ।

अणस्यै-अनर्थकारि-पुं० । अधिकारिकरुके, ल० । अणस्यै-अनर्थक-वि० । न विद्यतेऽर्थे येषामित्यनर्थाः । निर्विभागेषु, " समयः प्रदेशः परमाणव एते अनर्थाः " स्था० ३ हा० २ उ० ।

अणस्यै-अनर्थप्रकृतिक-पुं० । व्यन्तरनिकायोपरिवर्तिनि व्यन्तरभेदे, प्रश्न० १ आश्र० हा० । स्था० । श्री० । ते च रत्नप्रभाया उपरितने रत्नकाण्डरूपे योजनसहस्रं अथ उपरि च दशयोजनशतगहिते वस्तनि । प्रश्न० १२४ हा० ।

अणस्यै-अनर्थग्रन्थ-वि० । अनर्थोऽनपेक्ष्यग्रन्थ-वि० । अनर्थोऽनपेक्ष्योऽसौकर्मणः परेषामाध्यात्मिकत्वाद् ग्रन्थवद् द्रव्यवत् ग्रन्थो ज्ञानादियैस्वसोऽनर्थग्रन्थ इति । परंभ्योऽनात्मव्याख्यादिके, स्था० ६ हा० । अनल्पग्रन्थ-वि० । न० व० । बहूगमे, श्री० ।

अनात्मग्रन्थ-वि० । अविद्यमानो वा आत्मनः सम्बन्धी ग्रन्थो हिरण्यविर्यस्य । अपरिग्रहे, श्री० । सूच० ।

अणस्यै-अनर्थित-न० । अविशेषिते, यथा जीवद्रव्यं संस्वारी, स्वसार्थेण प्रसरत्, स्वकल्पयति पञ्चन्द्रियं, तद्विपरकरूपमित्यादि तु अर्पिते विशारिते विशेषः । स्था० १० हा० ।

अणस्यै-अनर्थितनय-पुं० । अनर्थितमविशेषिते सामान्यमुच्यते, तद्वद्वादी नयोऽर्थितनयः सामान्यमेवास्ति न विशेष इत्येवं वादिनि आगमप्रसिद्धे नयभेदे, विशेषः । आ० चू० । अणस्यै-अनर्थबल-पुं० । अणो भवति त्वे बलं यस्मिन् । बलवत्युत्तमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० हा० ।

अणस्यै-अनर्थबलप्राप्त-पुं० । उत्तमर्णेनास्मद् द्रव्यं देहीत्येवमभिहितं अघमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० हा० ।

अणस्यै-अनर्थ-वि० । अन्नरहिते, हा० २४ हा० ।

अणस्यै-अनर्थ-वि० । अन्नरहिते, तं० ।

अणस्यै-अनर्थप्राप्त-वि० । श्रुतसंपदानुपसंपत्ते अन्विदितात्मनि, आ० म० प्र० ।

अणस्यै-अनर्थप्राप्त-पुं० । अणं देयं द्रव्यं अङ्गमिति न ददति ये ते । उत्तमर्णेभ्यः अणं श्रुतिवाऽदायकेषु, प्रश्न० ३ आश्र० हा० ।

अणस्यै-अनर्थयोग-पुं० । न अभियोगोऽनर्थयोगः । अनर्थयोगेभ्यः, श्री० ।

अणस्यै-अनर्थज्ञान-वि० । न अभिकान्तो जीविनादन्मिकान्त इति । सचेतने, आचा० २४७ १ अ० १ उ० । अनतिलक्षिते, आचा० १ सु० ४ अ० ४ उ० । अन्वैरन्मिकान्त्यायामपरिभुक्तायां दोषविशेषविशिष्टायां यस्मै, श्री० १ अ० १ आचा० । अणस्यै-अनर्थकिरिया-अनर्थज्ञानक्रिया-श्री० । नरकादिनिवन्धनेतिपूर्वायां यस्मै, सा चान्निकान्तत्वाद्वाऽकटर्पनीया । आचा० २ सु० ४ अ० २ उ० ।

अणस्यै-अनर्थज्ञानसंयोग-पुं० । अनर्थज्ञानोऽनन्विदितः संयोगो धनध्यायहिरण्यपुत्रकर्मत्रादिकृतोऽसंघ-

संयोगो या येनाऽसावनभिद्वन्द्वसंयोगः । परिग्रहप्रस्तेऽसंयते, आचा० १ बु० १ अ० ४ छ० ।

अणुनिगम-अनभिगम-पुं० न० तं० विस्तररघोषाज्जावे, अ० २ श० १ इ० । सत्यगमनिपत्तौ, अ० ३ अ० ३ पा० ।

अणुभिगमहिय-अनभिगमिहिक-न०० अभिग्रहः कुमत्परिग्रहः स पञ्चदशित तदाभिगमिहिकं, तद्विपरितमनाभिगमिहिकम् । निष्पत्त्याव-  
नदे, स्था० २ ज्ञा० १ उ० । तच्च प्राकृतजनानां सर्वे देवा बन्धान  
निन्वीत्याः, एवं सर्वे गुरुषः, सर्वे धर्मा इत्याद्यनेकविधम् । अ० २  
अ० ३ । "अणुभिगमहियमिच्छादेशेण कुडिहे पद्यते । तं जहा-सप-  
ञ्चयति चैव अणवकस्यै चैव" अनभिगमिहिकं भव्यस्य सपर्य-  
वसिनामतरस्यापर्यवसितमिति । स्था० ३ ज्ञा० १ उ० ।  
अनभिग्रहित-पुं० अभिग्रहिकमिच्छात्वरिहेते, वृ० १ उ० ।

अणुभिगमहियकुददिष्टि-अनभिगमिहृत्तितकुददिष्टि-पुं० । अनभिगमिहृत्ता  
अनभिगमिहृत्ता कुददिष्टी-अनभिगमिहृत्ता येन सोऽनभिगमिहृत्ताकुददिष्टिः ।  
संकेपदर्शां, येन मिष्यात्विनां कुमत्तमङ्कितं नास्तीत्यर्थः ।  
उच० २ ए अ० ।

अणुभिगमहियसिञ्जासाणिय-अनाभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० ।  
न आंजगृहीते शय्यासने येन सोऽनभिगमिहृत्तितशय्यासनिकः ।  
स्था० ३ इकप्रत्ययः । शय्यासनविषयकमभिग्रहिते, "नो क-  
पयं निगन्थाण वा निगन्थां वा अणुभिगमहियसिञ्जासाणिय-  
ण हुत्त" कण्य० ।

अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगम-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।  
अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।  
अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।

अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।  
अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।

अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।

अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।

अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।

अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।

अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।

अणुभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-पुं० । अनभिगमिहृत्तितशय्यासनिक-  
नपुष्पपापे, अविदिततुष्पपापकमेहेता च । प्रअ० २ अअ० ३ ज्ञा० ।

अणु, दुःखं समुदायमार्गनिरोधलक्षणं, अतुरास्यत्यादानार्तिरि-  
क्तं वा यीदृश्यस्यादि । अणु० । अ० ३० छि० । विद्ये० ।

अणुराय-अराजक-न०० । राहोऽभावः, प्राक्तनस्य राहो मरणे  
संजाते सति यावद्वापि राज्ञा युवराजस्यैो ह्यापि नाभिषे-  
क्तौ तावद्वाजकं भवत्येव, वृ० १ उ० । ("विहाट्" शब्दे व्याख्या)

अणुरिक-देशी-न०० । इषिकीरादेः, नि० वृ० १६ उ० ।

अणुल-अनल-पुं० । भास्ति अनलः पर्यासिरेत्येव, बहुदाहवद्देहे-  
ऽपि कृतेरभावात् । न० व० । बन्हा, अनलदेवतत्वात् कृत्सकान-  
कृते, चित्रकवृक्षे, पुं० । तस्य स्वतन्तः पर्यास्येऽपि पर्यासः स्ति-  
माभावात्तस्यम् । भङ्गातकं वृक्षे च । बाव० । प्रअ० । स्था० ।  
आष० । न प्रलोऽनलः । अत्रत्येते अपर्यासे अयोम्ये, नि० वृ०  
११ उ० । अलसम्ये, ज्ञा० म० छि० ।

अनलमित्यस्य—

कामं खलु अनलसरो, तिविहो पञ्चत्तर्हि पगतं ।  
अणुशो अपचलो विष, ह्योति अजोगो व एगदा ३२ ?

चादकं ब्राह्-ननु अलशब्दः त्रिष्वर्थेषु वृहः, तद्यथा-पर्यास-  
भूषणे, वारणे च । आचार्ये ब्राह्-यथापि त्रिष्वर्थेषु वृहः  
तथापि अर्थवशात्त्र पर्यासे वृहस्यः, न अलोऽनलः, अपचलः  
अचान्यथ एते एकायाः । नि० वृ० ११ उ० ।

अणुलंकिण-अनलकृत-त्रि० न० तं० । मुकुटादिभिरविचूषिते,  
अ० ३ ज्ञा० १ उ० ।

अणुलंकिणविचूषित-अनलकृतविचूषित-त्रि० न० तं० । अ-  
नलकृतं मुकुटादिभिः, विचूषितं घन्नादिभिः, तक्षिषेधादमल-  
कृतं विचूषितम् । मुकुटादिभिस्त्व्यादिभिर्बो शोभामप्राप्येते,  
ज० २ श० १ उ० ।

अणुलंकिण-अनलंकिण-पुं० । अणुलंकिणोऽनलंकिणः, अ-  
नलं १ अ० । " स्मरन् च शिवा देवी, गतोऽनलंकिणः  
पुनः" । अ० क० ।

अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।

अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।

अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।

अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।

अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।

अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।

अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।  
अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।

अणवकंठवसिया किरिया लुविदा पमता । आयशरीर-  
 अणवकंठवसिया चैव, परशरीरअणवकंठवसिया चैव ।  
 तत्रात्मशरीरानवकाङ्कप्रत्यया सा स्वशरीररक्षतिकारिकर्मा-  
 षि कुर्वतः, तथा परशरीररक्षतिकारिण तु कुर्वन्ते ह्यनीयेति ।  
 ७२० १ टा १ उ ० । "अणवकंठवसिया इह लोके परलोके य ।  
 इह लोके अणवकंठवसिया लोकादिनां विचोदिकादीनि  
 करति जेषु वद्वधधादीनि इहैव पावति, परलोके अणवकंठ-  
 वसिया अदृष्टदृष्काती इदियपरधुते हिंसादिक्कम्मणि करे-  
 माणे परलोके नावकंठवति" आ० ७० ४ अ० ।

अणवकंठा-अनवकाङ्का-आ० । अनाकाङ्कायां स्वशरीराद्य-  
 नयेत्तत्त्वे, स्था० १ टा १ उ ० ।

अणवगय-अनवगत-वि० । अपरिहाने, स्था० ४ टा ४ उ ० ।

अणवगल्ल-अनवकल्प-पुं० । जरसा पीडिते, अनु० । अत्य-  
 न्तवृद्धे, पं० व० १ टा ० । ध० ।

अणववनुय-अनववयुत-त्रि० । न० त० । अपृथग्युते, व्य० ७ उ ० ।

अणववज्ज-अनववद्य(अणववज्ज) -न० । अवद्यं पापं, मान्निअव-  
 द्यसत्तयनवद्यम । सामागिके, विशेषे । आ० ७० । सावध-  
 योमाप्रत्यास्थानामकत्वाशस्य । आ० म० हि ० ।

पावमवज्जं सामा-इयं अप्रापं ति तो तदणवज्जं ।

पावमणंति व जम्हा, वज्जज्जद तेण तदसेसे ॥

अणुशब्दस्य कुलिस्तार्थं शब्दाद्यन्ति कुलिस्तानि करणानि श-  
 ब्दयानि, अणुन्ययेनेति व्युत्पत्तौ, अणुं पापमुच्यते । तदर्थं  
 सर्वमपि व्यर्थेन परिहृत्येते यस्मान्नेन सामागिकेन अणुं वज-  
 यतीति वा, ततः सामागिकमणववर्षमुच्यते इति शेषः ।  
 विशेषे ० ।

इदानीमणवचक्षणम् । तत्र कथानक-वसन्तपुरे नगरे जिय-  
 सन् राया । धारिणी देवी । तीसं पुत्तो धम्मरुई । सो व राया  
 थेरो । अथवा तावसां पव्वइउकामा धम्मरुईस्स रज्जं दाउ-  
 मिक्कुइ । सो मायरें पुच्छइ-कीस तातो रउजे परिव्वइय ? ।  
 सो अणइ-रउजे संसारवृद्धं । सो अणइ-मम वि न कज्जं ।  
 ततो सो वि सह पियरेण तावसां जाओ । तथ अमावसा  
 होहिं सि गइओ घोसेइ आसमसु-कल्ल अमावसा होहिं इ-  
 तो पुष्पफलाणं संगरहं करेह । कल्लं नइइ हिदिउं । धम्मरुई  
 चिनेइ-जइ सव्वकालं न हिदिउजा तो सुंदरें होजा । अथवा  
 साहु अमावसाए तावसासमस्स अट्टणंणं बोलीति । ते धम्म-  
 रुई पंक्तिउण अणानि-अथयं । किं तुप्पे अण्णाकुट्टी नत्थि तो  
 अद्वियं जाह । ते अणानि अन्हं जावज्जीवं अण्णाकुट्टी । सो  
 संसरो चिन्दिउमारउ-साह वि गया जाईसंमरिया पत्ते य-  
 बुद्धो जातो ।

अनुमंवाधेमभिधित्तुराह-

सोऊण अणाउट्ठे, अणानिचो वज्जिपाण अणमणुं ।  
 अणवज्जयं उवगतो, धम्मरुई नाम अणुणगतो ॥  
 धुत्वा आकर्ण्ये, आकुट्टेनाकुट्टिः क्षेत्रं हिसंस्थेयं । न  
 आकुट्टिरनाकुट्टिः, तां सर्वकालकीमाकायं अणुभीतः अण  
 वणेति दृष्टकथातुः, अर्थात् गच्छन्ति तासु तासु योनिषु जीवो  
 अनेनेति अणुं पापं, परित्यज्य सावधयोगात्मियर्थः । अणस्य  
 वर्ज्ये अणुवर्ज्येत्तद्ग-वसनामणुवर्ज्यतानुपगतः प्राप्तः सायुः  
 संकृत इति भावः । धर्मकथित्वेन अनगारः । गतमनवद्यहा-

रम् । आ० म० हि ० । निर्वापे, म० १ श ० ६ उ ० । उक्तं ।  
 पापाभावे कर्मापचयाभावे, "अणवज्जमनहं तेसि" कुतोऽपि  
 हेतोः कथंलमनसः अणुवैऽपि अणवद्यं पापाभावः, कर्मापच-  
 याभावां वा जयन्ति । सुत्र० १ श ० १ अ० १ उ ० । कामादि-  
 पापव्यापाराप्रकपे, विशेषे । गुणविशेषविशेषे सूत्रे, अणवध-  
 मगद्धीमहिंसाप्रतिपादकम् । यतः "पशुनामिं नित्युच्यन्ते, पशुनां  
 मध्यमेऽहनि । अश्वमधस्य वचनत्पुनानि पशुमिंकारिभिः" ॥११ ।  
 इत्यादिवचनमिव न हिंसाप्रतिपादकम् । आ० म० हि ० अनु० ।  
 पीडानुपादके, अप्रापे वाक्यं "संभसु वा अणवज्ज वयंति"   
 सूत्र० १ श ० ६ अ० । ("सत्त्व" शब्देऽस्य विवृतिः) ।

अणवज्जंगी-अनवव्याङ्गी-खं० । सुदशेनापरनामिकायां भगवतो  
 महावीरस्य वृत्तिर्न विनाहियुदिस्यात्, विशेषे ० । उक्तं ० ।

अणवज्जजोग-अनवव्ययोग-पुं० । कुशलानुष्ठाने, "अणवज्जजो-  
 गमसं" अणवद्यं योमं कुशलानुष्ठानमकं सकलकुशलानुष्ठानानाम-  
 नवद्ययोगव्याख्यातचारात् । पा० ।

अणवज्जया-अणवज्जयता-खं० । अणस्य पापस्य वर्ज्येऽणव-  
 ज्यस्तद्वाच्येऽणवज्जयता । संखरे, आ० म० हि ० ।

अणवद्व-अनवद्व-पुं० । अनवस्थाप्ये, व्य० १ उ ० ।

अणवद्वेष-अनवस्थाप्ये-न० । अवस्थाप्ये इत्यवस्थाप्यस्य, तन्नि-  
 षेधादनवस्थाप्यस्य । पुष्टनापरिणामस्याऽहृतनपरिणामस्य प्रता-  
 नामनारोपणं, ध० ३ अ० १ । श० १ । अ० १ । ये इह श्रमविना-  
 तिचारविशेषः सकलाकारितनपरिणामः, तद्व्यापारनां महाद-  
 तेषु नावस्थाप्येते नाधिक्रियेते इति; तदतिचारजाने तच्छुद्धि-  
 केषु, नवमे प्रायश्चित्तं च । स्था० ३ टा ० ४ उ ० । यत्र प्राति-  
 मन्थेने उच्छान्नायामप्ययोम्यन्तेन यादृशदानां गीतया । पञ्चाब्धि-  
 ग्णतया-पुनर्माहावनेषु स्थाप्येते तव । जी० न० । व्य० ० ।

अनवस्थापनीयाः—

ततो अणवद्वष्टपा पन्नतां ते जहा-साहम्मियाणं तणां करेमाणे ।

अन्नप्रश्मियाणं तेषां करेमाणे, इत्यादात्तं दक्षेमाणे ॥

अणवद्वष्टपापनाः कृणावेव अणवद्वष्टपापनायाः प्रहत्याः ।  
 तदथा-नाश्रिमिकाः साधवस्तेषां मन्त्रकस्यांस्तद्विषयः शिष्या-  
 देवो स्तैन्यं चीर्यं कुर्वानः । अन्वधामिकाः शाक्यादयो शुद्धस्था  
 वा, तेषां सत्कस्यां पथयोः स्तैन्यं कुर्वन् । तथा हस्तेन तान्मे ह-  
 स्तानतां, सूत्रे च तत्कारस्य द्कारध्यातः । अपिच्यवः, ते द्रवमाणे व-  
 द् व यिष्णुद्विष्णुनिर्दिशामनः परस्य वा प्रहरंति भावः ।  
 अथवा हस्ताभ्यानि पात्र हस्ताभ्यां ह हस्ताभ्यां उणिवादि-  
 प्रशमनार्थे निवारकमन्त्रादिप्रयोगत्वे द्रवमाणः कुर्वन् यद्वा-ह-  
 म्थादापं दक्षमाणे लि' पात्रः स्वाधादानमर्षोपादानकारणमघा-  
 ङ्कनिमित्तं ददत्प्रयुञ्जानः । एव सूत्रसंक्षेपार्थः । श्रु० ४ व ० । जी० न० ।

अथ विस्तरार्थे विजिषुधुराह—

अमायाएपनिमवी, अणवद्वष्टो वि होति वुविदो तु ।

एवकेको वि य वुविदो, सचरित्तो चैव अचरित्तो ।

आशातनाऽवस्थाप्यः, प्रतिसेयनाऽवस्थाप्यः अणवद्वष्टो  
 द्विविधो भवति । न केवलं पाराश्रिक इत्यादिवादायैः । पुन-  
 रैकेकोऽपि शिष्यः-सच्चारिः-आचरिः-सचरिः । एतौ द्वौ वि  
 जेदौ पाराश्रिकवद्वक्तव्यौ ।

अथासातनाऽवस्थाप्यमहा—

तित्यपरपणुपुत्तं, आयरिये गणहरें महिष्ठीप ।

एते आसादेते, पाच्छिचे मगणा हाई ॥  
 नाथेकरप्रयचने सुनम, आचार्यः, गणधरः, महर्षिकञ्जोते ।  
 एतानाशानतः प्रायश्चित्तमार्गेणा भवति । अमीषां आशातः  
 पाराश्रिकव्याख्यामीयाः ।

प्रायश्चित्तमार्गेणा पुनरियम्-  
 पदमवितिपसु नवमे, भसे एकैकं चउगुरु ह्यति ।  
 मन्वे आसादेतो, अणवद्वयो उ भो होइ ॥

प्रथमद्वितीयाथास्तीरकरसङ्क्रामतनायाकपाध्यायस्य नवम-  
 मन्वस्थाप्यं भवति, शेषेषु शुभादिषु प्रत्येकमेकैकस्मिन्नाशा-  
 स्तमाने चतुर्गुरां भवति । अथ स्वर्षाधि चतुर्थेष्वधि पुनार्त्वि-  
 नि आशःतर्वातः, ततोऽसाधनवस्थाप्यो जयति । उक्त आशात-  
 नाऽनवस्थाप्यः ।

अथ प्रतिशेवनाऽनवस्थाप्यमाह-  
 पदिशेवणअणवद्वो, तिबिडो सो हाई आणुपुष्पी ।  
 साहृमियऽसुधामिय, हत्यादात्तं व दत्तया ॥  
 यः प्रतिशेवनाऽनवस्थाप्यः सूत्रे साक्षादुक्तः स आनुपूर्वां वि-  
 विधौ भवति-साधर्मिकसैम्यकारी, अथधार्मिकसैम्यकारी,  
 हस्तातालं दद्व ।

तत्र साधर्मिकसैम्यं तावदाह-  
 साहृमि तेष उवधि-वाचारणजामणा य पद्वबणा ।  
 सेहं आहाराविडो, जा जडि आगेवणा जगिता ॥

साधर्मिकानामुपयवन्त्यात्रादिलक्षणस्य सैम्यं करति [ वा-  
 चारणात् ] मुर्खानकपथेकपादनाय व्यापारणा प्रेषणा कृता, अत-  
 रनमुपाय गुरुगामनिवेशान्तरां स्वयमवधिनिष्ठिति [ कामणा  
 यत् ] उपकरणं सङ्क्रामनाऽनवस्थाप्ये वा ध्यामिने दन्धे भ-  
 वेत्, तद्व्याजने आनवस्यदन्धे धर्मादिकं शूदृष्ट्या स्वयमेव  
 पृच्छे [ पठवण [त् ] कनाप्याचांयेण कस्यापि संयतस्य हस्ते  
 ऽवारायैस्य दौकतया प्रतिग्रहः प्रेषितस्नमसाःतरा स्वयमेव  
 स्वीकरेति [ सेह [त् ] गेत्सविषय सैम्यं करति [ आहाराव-  
 दि ] दानअक्रादिषु स्थापनाकुषेषु शुश्रितरननहात आहार-  
 विधिप्रशनादिकमाहाराप्रकरं शूदृष्टानि । एतेषु स्थानेषु साधर्मि-  
 कसैम्यं जयति । अथ च या यत्र स्थाने आरापणा प्रायश्चित्ताप-  
 रपर्याया भिन्नाः,सा तत्र चकृत्या । एष निर्गुणिकाधासकंपार्यः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरोवृदाह-  
 उवद्विस्त आसियावण सहमसेहं य दिह्दिह्दिहं य ।  
 मेहं मूलं जगित्त, आणवद्वयो य पारर्षो ॥

इहोपेयः, 'आसियावणं' सैम्यमित्येकार्थः । तत्र शैके वा कुप्या-  
 दशैके वा । उनावधि-द्वे वा सैम्यं कुप्यात्, अहर्षे वा । तत्र शैके  
 सूत्रं यावदावधिभक्तं भवित्यतः ; उपाध्यायस्वानवस्थाप्यपर्यन्त-  
 म् ; माच्यैस्य पाराश्रिकान्तम् ।

एतदेव भावयति-  
 सेडो चि अगीपरयो, जो वा गीतो आणुसिंपयो ।  
 उवद्वी पुणु वस्थादी, सपरिगव एतरो तिबिडो ॥

शैक इतिपदेनागीतायां जयते । यो वा गीतार्थोऽपि अन्-  
 कित्येव आचार्यपदादिसम्युक्तिसमाप्तः, सोऽपि शैके इहोपेयः ।  
 उपाध्यायः पुनर्व्यादिकः, आदिशुभ्याप्यपरिग्रहस्तवपरिशुद्धीतः  
 स्थान, इतरो याऽपरिशुद्धीतः स्थान् । पुनर्कैकस्मिन्विध-  
 जघन्षो अथम उक्तुधत्त ।

अथ 'सेहं सूत्रं' इत्यादि पञ्चाधे व्याख्यातयति-  
 अतो बहिं निवेशण-वाङ्मगुजाणस्यमितिकेने ।  
 यास चउ च्छलहु गुरु, देडो मूलं तह उणं वा ॥

अन्तः प्रतिश्रयान्यतरं साधर्मिकाणामुपधमदरेशैकः स्तेन-  
 यति तदा मासलसु, वसनेषुबिदरहमेव स्तेनयति तदा मास-  
 गुरु, निवेशनस्यान्तमांसगुरुकं, बहिः अतुलंशुक्कं, वादकस्यान्त-  
 तुलशुक्कम्, बहिः अतुलशुक्कम्, उधानस्यान्तः पद्वद्वयु, बहिः पर-  
 गुरु, स्वीमाया अन्तः पद्वद्वयु, बहिः अन्तःतयां तु तस्यां बहिः  
 येः ( मूलं तह उणं यत् ) मूलं, तथा द्विकं या-अनवस्थाप्य-  
 पाराश्रिकमुपमा ।

एतदेव भावयति-  
 एवं ताव अदिह्दि, दिह्दि एहमे पदे परिह्वेत्वा ।  
 तं चेव असेहं वै, अदिह्दि दिह्दि पुणो एकं ॥

एवं तावदसेहं सैम्यं क्रियमाणं शैकेस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् । एह  
 तु प्रथमं मासगुरुलक्षणं पदं परिहाय्य परिह्वय मासगुरुका-  
 वारम्भं मूलं यावद्वक्तव्यम् । अशैक उपाध्यायस्तस्यापि अहर्षे  
 नाप्येव मासगुरुकादीनि मूलान्तानि प्रायश्चित्तस्थानानि प्रच-  
 रन्ति । एह पुनरेकं मासगुरुलक्षणं पदं हस्तानि, चतुर्वेद्युकादा-  
 र्थमनवस्थाप्यं निहो यातीत्यर्थः । आचार्यस्याप्यहर्षजनवस्था-  
 प्यान्तमेव । एह तु चतुर्गुरुकादारभ्य पाराश्रिकं तिष्ठति । गते  
 साधर्मिकापविशैम्यद्वारम् ।

अथ व्यापारणाहाराह-  
 वाचारिय आः हा, बहिं वेषुण उवधि गिगहृति ।  
 लु णो आदात्त लहुगा, आणवद्वयो य आदिमा ॥  
 व्यापारिता नाम गुरुनिः प्रेषिताः, यथा- [ आणहृत् ] उव-  
 धिसुधामनयत । तं थैवमुक्ता अनेकविधमुपधिं शूदृष्टया शू-  
 ल्त्वोपाध बाहरेवाचार्यैसमीपमयाता उपाध उपाधिन-इहं तव, इहं  
 मेमेति विजज्य स्वयमेव स्व[कर्त्तव्य]त्यर्थः । एष शूदृहतां मासस-  
 यु, आगता आचार्यस्य न इदंति, तदा चतुर्विधः प्रस्तुतसुधा-  
 वेशाहारा स्व स्वचन्दश्चस्तुप्राहकः साधुवर्गोऽनवस्थाप्यो भव-  
 ति । गते व्यापारणाहारास ।

अथ ध्यामनाहारास-सा च ध्यामना द्विविधा-सती, असती  
 च । तत्र सती तावदाह-  
 दृघु निमतण लुच्छे-ऽणुपुच्छा तस्य गंतु तं जणति ॥

जामिय उवधिं अहृपद, गीहं पमितो गहति पातो य ॥  
 आचार्याः केनापि विरुपरूपैथैकैर्निमित्तान्तरासैकं तानि प्रति-  
 यिद्वानि, एकञ्च साधुस्तो निमन्त्रणां श्रुत्वा तानि च सुत्य-  
 राण्यि वक्षणां दृष्ट्वा लुच्छो लोभं गतः । तत आचार्यमना-  
 वृच्छप ( तमिति ) तं भावकं तत्र गत्वा भणति-अस्माक-  
 मुपाधिर्योमिति दग्धः, ततोऽहं तैराचार्यैर्युष्माकं सकारो  
 वक्ष्यामि प्रेषिताः, एवमुक्ते दत्तस्तेनोपाधिः, स च शूदृहता गतः,  
 अन्वे च साधव आगतः । आदिन भंगतव-युष्माकमुपाधि-  
 र्दग्ध इति कृत्या यो भवद्विः साधुः प्रेषितस्तस्य नृतमोपाधि-  
 र्दग्धं स विद्यते, यदि न पर्याप्तं ततो यथोऽपि द्वाभिमिति । सा-  
 धवो ध्रुवने-नास्माकमुपाधिरदग्धः, नचा खयं कमपि प्रेषयामः,  
 एयं स लोभामभिमत्तः । साधुस्तेन भावकं ज्ञातः यथा-गुरुणां  
 वृच्छामन्तरंशायां शूदृहतायात् ।

ततश्च किं भवतीत्याह-  
 अहुता आणुपुच्छाद्वर्षी, गुहगा अणितियस्य क्वापवत् ।



मूलं वा जलमग्ने, वोच्येद पवज्जना मेसे ॥

एवं तेन साधुना स्तैन्वेन वस्तेषु गृहीतेषु यद्यद्यत्तु भाद्रोऽ-  
नुवहं मय्यन्त-यथापि नथापि वदामीति साधक इति, नथापि  
चतुर्लोकः । अथवाऽऽमीतिकं करोति, ततश्चतुर्गुरुषः प्राय-  
श्चित्तं कर्तव्याः । अथास्ती स्तेनोऽप्यमिति शब्दं जनमध्ये  
विस्तारयति, तदा मूलम् । यत्क शेषद्रव्याणां शेषसाधुनां वा  
न्यवच्छेदः ( पसवज्जण णि ) प्रसंगतः करोति, तन्निष्पन्न  
प्रायश्चित्तम् ।

अथ सर्वा भ्यामनां दर्शयति-

सुव्वचत्तामिन्द्रोऽवधि-पसए गह्निने व अंतरा ह्रुद्धो ।  
लहुगो अद्वैतं गुरुमा, अष्टावहृणो व आदरेस ॥

अथ सुव्वचत्तामिन्द्रोऽवधि-पसए गह्निने व अंतरा ह्रुद्धो ।  
लहुगो अद्वैतं गुरुमा, अष्टावहृणो व आदरेस ॥  
अथ सुव्वचत्तामिन्द्रोऽवधि-पसए गह्निने व अंतरा ह्रुद्धो ।  
लहुगो अद्वैतं गुरुमा, अष्टावहृणो व आदरेस ॥

अथ प्रस्थापनाद्वारमाह-

उक्तेस मनिज्जोगो, पदिग्गहो अंतरा गह्ण लहुद्धो ।  
लहुगो अद्वैतं गुरुमा, अष्टावहृणो व आदरेस ॥

केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अग्राचार्यस्य दौ-  
कनेतेतः प्रतिग्रहः प्रेषितः । स चांतकृप उत्कृष्टोपाधिपक, यद्वा-  
नृत्तसमवचनुरस्ववर्णोऽथवादिगुणोपेतः, तथा सह नियो-  
गेन पात्रकवन्धादिना यः स मनिर्योगः । एवविधस्य प्रति-  
ग्रहस्यानुराल एवास्ती लुप्यं प्रहणं स्वीकरणं करोति, तत्र  
चतुर्लुपः । तत्र गनस्तेषां मृगिणां तं प्रतिग्रहं न प्रयच्छति,  
तत्र चतुर्गुरुः । तथाप्रयोगे वा अनवस्थाप्योऽस्ती उच्यते ।  
गनं प्रस्थापनाद्वारम् ।

अथ शैलद्वारमाह-

एव्वावण्णज बाहिं, उवेत्तु धिक्खुस्स अतिगते संने ।  
सेहस्स आसियावण, अजिघारेत्तं य पावयर्थो ॥

कोऽपि साधुः प्रमाजनीयं सशिक्षाकं शैलं गृहीत्वा प्रस्थितः,  
तं निष्काकाले कापि प्राग् बहिः स्थापयित्वा शैलाधर्मनिगतः-  
प्रविष्टः, प्रविष्टे च स्ति तस्मिन् परः साधुस्त्वं शैलं वृद्धा विप्र-  
तायं च तस्य 'आसियावणो' अग्रहरणं करोति, साधुविराहती  
वा एकाकी कमपि साधुमनिधारयन् शैलां व्रजेत्, तमपरः  
साधुर्विप्रतायं प्रमाजयेत्, एतेो ह्रावपि यदा प्रावचनिको जातो,  
तदा ह्रावपि शैली स्वयमेवात्मनो दिक्परिच्छेदं कुरुत इति  
संग्रहमावासात्साव्याः ।

अथेनामेव विधुर्गोति-

सस्यदिग्गभो अद्दा-एिओव व वणदणग पुच्छं से होमि ।  
सो कृत्यं पज्ज कज्जे, उतापिवासिस्स वा अहति ॥

सन्नाभूमिगत आदिशब्दाद्वाह्वादिपिष्ठापनिकायं निगमः  
कोऽपि साधुः शैलं दृष्टवान्, अथवा अश्वनिकः पथिकोऽस्ती  
साधुस्ततः पथि गच्छन् शैलं दृष्टवान् । तेन च कन्दनं कृते  
स्ति, साधुः पृच्छति-कोऽसि त्वं, कुन आगतः, क वा प्रस्थितः ?  
शैलः प्राह-अमुकेन साधुना सार्कं प्रस्थितः प्रव्रजितुकामः,  
शैलोऽस्त्यहम् । साधुः पृच्छति-स साधुः संप्रति क्व गतः ?

शैलो भगति-स मम कार्यं बुभुक्षितस्य पिपासितस्य वा भ-  
रूपानार्थं पियतम् ।

मञ्जुं मय्यवसणार्णं, उव्वत्रीवऽणुकणपा य सुच्छो ढ ।  
पुहमपुट्टे कणपा, एमेव य इहरा होसो ॥

ततः स साधुर्वर्धयामिदमन्नानमुषजीव लुक्कथेति कुर्वीते  
यादं साधुर्मीकोऽप्यमिच्छत्युक्तस्या दद्याति, तदा शुद्धः । शैलंग  
पुट्टो अष्टो वा यद्यमेवातुक्तस्या धर्मकर्ता करोति, तदा  
शुद्धः । इतरथा अग्रहरणाथं नृकपानं ददती धर्मं च कथयती  
दोषः, चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अग्रहरणप्रयोगानेव दर्शयति-

जत्ते पाणवण प्रयो-हणा य बावार ऊपणा चेव ।  
पत्थावाग सपट्टरणा, सेहे अन्वच वणे य ॥

अग्रहरणाथं नृकपानं ददाति, धर्मं वा तस्य पुरतः प्रज्ञापयति ।  
तत्र म शैलं आहृतः सन् जगति-नयेन एव सकाशोऽहं प्रम-  
जामीति किन्तु न शक्नोमि येनातीतस्पुरतः स्थातं ततो मां  
गुणं प्रदंशं निगदन् गतोऽस्मी न व्यापारयति-अमुकत्र नित्यं  
निष्ठोति । तनस्व तत्र नित्रीं साधुः पलात्तादिना ऊरुयति, स्थ-  
गयतीत्यर्थः । अन्यैः सार्धमन्यं ग्रामं प्रस्थापयति, एकाकिने वा  
प्रेषयति, अमुकत्र प्रमादो व्रज, अहमप्रसमुष्पन्दिवसे तत्राग-  
मिष्यामि । अथवा स्वयमेव गृह्णीता तमग्रहरति, एतानि पद-  
पदानि भवन्ति । तथाचा-नृकप्रदानं १, धर्मकथा २, निगदना-  
वचनं ३, व्यापारणं ४, ऊरुयनं ५, प्रस्थानं स्वयंहरणं ६ वाति ।  
एतन् पदेषु शैलं व्यक्तैऽयं च प्रायश्चित्तमिदं भवान्-

गुरु चउलहु चउगुरु उलहु उगुरुमेव वेदो प ।

निचतुगुणायारिणाणं, मूठं अष्टावहृणं पारं च ॥

निभुद्युव्यक्तं कृत्वापहरणाथं भक्तं ददाति, तदा मासगुरुः  
धर्मप्रहापनायां चतुर्लुपः निगूहनपत्रं चतुर्गुरुः व्यापारणं  
पदलुपः ऊरुयनं पदगुरुः प्रस्थापने स्वयं हरण वा वेदः । एवम-  
व्यक्तशैलं भणितम् । अन्यको नाम-पस्थापानि इमथु न सं-  
जानम् । यस्तु व्यक्तः स ज्ञातहमथुः, तस्य चतुर्लुपकृदाकार्ये  
मूलं यावत् निजोः प्रायश्चित्तम्, गतिं उपाप्यावस्य चतुर्लु-  
पकृदाकार्यमनवस्थायं विष्ठति । आचार्यस्य चतुर्गुरुकृदा-  
रुधं पाराञ्चिकं पर्यवर्त्तान् । एवं सहाय्यं शैलं भागुनम् ।  
यः पुनरसहाय्योऽभिधारयन् व्रजति तत्र विधिमाह-

अजिघारं पयवेतो, पुच्छो एवमहं अमुगकुलं ।

पाणवणजजत्ताणं, तेहं वेसेसा पदा एत्थं ॥

कोऽपि शैलं एकाकी कमप्याचार्यमनिधारयन् प्रमज्यामिमुक्तो  
व्रजति, तेन कचिद् ग्रामे पथि वा साधुं दृष्ट्वा यन्मनकं कृतम् ।  
साधुना पुष्ट-क गच्छति ? स प्राह-अमुकस्याचार्यस्य पदमूलं  
प्रव्रजनाथं व्रजामि । एयमके यदि निहुरव्यक्तशैलकस्य नृकपानं  
करोति, तदा मासगुरु, धर्मप्रहापनायां चतुर्लुपः, व्यक्तशैलकस्य नृ-  
कपाने चतुर्लुपः, धर्मकथायां चतुर्गुरुः, उपाप्याचार्यस्योप्याचार्य-  
मं पदगुरुकं च भवति । अश्वस्ननमेकैकं पदं दृष्ट्वास्वयं जावः ।  
शेषाणां तु निगूहनपत्रापरकृत्तनादपि पदानि न सन्ति,  
असहायस्त्वात् । तदत्रावाप्रायश्चित्तमपि नास्तीति ।

एतं चाऽपरे दोषाः-

आणादगंतंसेमा-रियचं बोद्धियदुच्चजंतं वा ।  
साहमियंतधम्मं, एमत्त उण्णाणाऽधकुराणं च ॥

शैक्षमपहरत श्राद्धाभङ्गाद्यो दोषा जवन्ति, अनन्तसंसारिक-  
त्वे च अणवतामङ्गाजङ्गप्रवृत्तिः । बोधेभ्य उद्वेगभक्तं जायते,  
सामाधिकस्त्वैभ्यं च कुर्वाणः प्रमत्तो भवति, प्रसक्तस्य च प्रान्ते  
देवताया उद्वेगता जवन्ति । यस्य च संबन्धी सोऽपह्नियते, तेन  
समसाधिकरणं कलह उपजायते । एवं तावदुत्पद्यविषयाद्यो  
दोषा उक्ताः ॥

अथ स्त्रीविषयांस्तानेवातिदिशति—

एवेव य इत्यीए, अजिधारेति ए तद् वयंतीए ।

वत्तव्रत्ताए गम, जहेव पुरिससस नायव्वा ॥

एवमेव स्त्रिया अपि शैक्षकाया अभिधारत्वाः, तथा ( वयंतीए  
सि ) सलहायायाः प्रसजितुं प्रसजत्याः, व्यकाया अव्यकायाश्च  
गमः स एव ज्ञानव्या यथा पुरुषव्यांकः ।

अथ प्रायश्चनिकवर्गं व्याचष्टे—

एवं तु मो अत्रिद्रिओ, जाहे जाओ सयं तु पावयणी ।

निष्कारणे य गहिओ, पवयति ताहे पुरिद्रिओ ॥

एवमनन्तरैकैः प्रकारैः स शैकोऽपहृतः सन् यद्वा स्वयमेव  
प्रायश्चनिको ज्ञानः, अस्यां या निष्कारणे यः केनापि शुदीनः,  
स आत्मनो विकृपारिच्छेदं कृत्वा भूयांसि बोधिज्ञानाभावात्  
पूर्ववर्तिव्याचार्याणामितिक प्रसजति ।

अप्रसन्नं व असतीए, गुरुभिम अशुभ्जएगरतनुतो ।

धारेति तमेव गणं, जाव हको कारुणज्जाते ॥

येन स शैको निष्कारणमपहृतस्त्वस्यैः अपरः कोऽप्याचार्यः  
पदयोग्यो न विद्यते, ततोऽन्यस्याभावे. यद्वा—गुरवाचार्यैः  
ऽन्युद्यतस्यैकतरणं युक्तं अत्युद्यतमपहृत्युद्यतविहारं वा  
प्रतिपन्न इत्यर्थः । ततो यदि कोऽपि शिष्यस्त्वंनिष्पन्नो ना-  
स्ति तदा तमेव गणमसौ धारयति, यावत्कोऽपि तत्र निष्पन्न  
इति । यश्च कारणजाते केनाप्याचार्येण हृतः, सोऽपि तमेव  
गणं धारयति ।

किं पुनस्तन्कारणमित्याह—

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते काक्षियाणुओगे ए ।

अज्जा कारणाजाते, कप्पति सेहाऽवहारे उ ॥

कोऽप्याचार्या बहुभूतः, तस्य पूर्वगते किञ्चिदस्तु प्राभूतं वा,  
काक्षिणानुयोगेऽपि भूतस्त्वोऽप्ययं वा, विद्यते, तन्नाभ्यस्य  
मान्ति, तस्य यद्यभ्यस्य न संकाशयते, तदा तद् व्यचक्षिद्येत । एवं  
पूर्वगते काक्षिणानुयोगे च व्यचक्षेदं ज्ञात्वा तं च संप्रसिद्धितं वीक  
पहणधारणसमर्थं विज्ञाय भक्तादानधर्मकथादिभिर्विपरिणा-  
मकम्पनादभ्यपि कुर्वाणः शुद्धः । यद्वा—तस्याचार्यस्य नास्ति  
कोऽप्याचार्या प्रवर्तकस्तस्तासामपि कारणजाते शैक्षमपह-  
रेत्, एवं कल्प्यते शैक्षापहारः कर्तुम् ।

तस्य च कारणे ऽपहृतस्य को विधिरित्याह—

कारणजाए अवहिरिअ, गए धारेतो तु अवहरंतसम ।

जा एगो निष्पद्यो, पच्छा से चप्पणो ऽच्छा ॥

यः कारणजातेऽपहृतः स तदीयं गणं धारयन् अपहरत एव  
विनेयो जवति । अथ येन कारणेनापहृतस्तन्कारणं न पुरयति  
तदा पूर्ववर्तिव्य भवति, नापहृतः । स च कारणापहृतस्त्वस्मि-  
न्गणे तावदास्ते तावत्को गानार्थो निष्पन्नः, पश्चात्तस्वार्थ्या  
इच्छा—तत्र वा तिष्ठति पूर्वार्थं वा सत्कार्ये गच्छति । यस्तु

निष्कारणे अपहृतः स एकस्मिन्निष्पन्ने नियमात्पूर्वेषामितिके  
गच्छति । स तस्यात्मीयेच्छेति भावः । गतं शैक्षकार्यम् ।

अथाहारविधिचारमाह—

उवाणारम्मि लहुगो, मायो गुरुगो अणुगगे लहुगा ।

अपिणियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जाण सेसे ॥

दानअजाविकुसं स्थापनागृहं जयते, तस्मिन् य आचार्यैरसं-  
दिष्टोऽननुज्ञातो वा प्रायश्चित्तं, तस्य मासस्यु । अथवा प्राधुणिक-  
स्थानार्थमहमिहायात् इति तेषां आदानं पुरतो मार्यां कराति,  
ततो मायिनो मासगुरुकथ, एवमुक्ते यदि ते श्राद्धा अनुग्रहोऽ-  
यमिति मन्यन्ते, तदा चतुर्लक्षे । अथामितिके कुर्वन्ति, तत्रशु-  
गुरुकः, यश्च तदुत्पन्नव्यवच्छेदादि शोषदोषाणां प्रसज्जनाप्रसङ्गात्,  
तानिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्याचष्टे—

अज्ज अहं निद्रिष्टो, पुद्धोऽपुद्धो व साहई एवं ।

पाहुणगगिज्ञाणद्धा, तं च पलोजेति तो वितिये ॥

काक्षिदाचार्यैरसंदिष्टः स्थापनाकुत्रेषु प्रविष्टः पूष्टोऽपुष्टो वा इदं  
जगति—अद्याह गुरुजिः संदिष्टः प्रेषित इति, ततो मासस्यु ।  
यदि च पूर्व संदिष्टसघाटकप्रविष्ट आसीत्, आर्यैश्च तस्यासंदिष्ट-  
स्याग्रे इदं भणितं भवेत्—संदिष्टसघाटकस्य दक्षमिति । ततो यदि  
क्षयात्—प्राधुणिकार्थं भ्लानार्थं वा साम्प्रतमहमागत इति, एवं तं  
आह्वजनं मत्पथा यदि प्रोत्रयति, ततो द्वितीयं मासस्यु । ते च  
आद्या विपरिणमेयुः, विपरिणतात्प्याचार्यादीनां प्रायोभ्यं न  
दद्युः, ततः शुद्धं कुन्देनाप्येतन्नायश्चित्तं भास्यम् ।

आर्यारिगिलाए गुरुगा, लहुगा य हवतिं स्वपणपाहुणए ।

गुरुगो य बालवुद्धे, मेमे सव्वेसु मासलहु ॥

आचार्यस्य भ्लानस्य च प्रायोभ्यमह्वानेषु आह्वये चतुर्गुरुकः ।  
कृपणकस्य प्राधुणिकस्य च प्रायोभ्यमह्वानेषु चतुर्मेघवः । बाल-  
कुक्षानां प्रायोभ्ये अत्रभ्यमाने गुरुमासः । शोषाणामेतद्व्यति-  
रिक्तानां सर्वेषामपि प्रायोभ्ये अत्रच्यमाने मासस्यु । गतं साध-  
मिकस्त्वैत्यम् ।

अथान्यधार्मिकस्त्वैत्यमाह—

परधम्मिया वि बुविहा, सिंगपबिद्धा तद्दा गिट्ठ्या य ।

तोसिं तेधे तिनिहं, आहारे उपधि सव्विधे ॥

परधार्मिका अन्यधार्मिका इत्येकोऽर्थः । ते च द्विविधा—सिक्क-  
प्रविष्टाः, गृहस्थाश्च । सिक्कप्रविष्टाः शाक्यादयः, गृहस्थाः प्रती-  
ताः, तेषामुजयेयामपि स्त्रीभ्यं त्रिविधम्—आहारविषयमुपवि-  
धिवयं सव्विधसव्विधं चेति ।

तत्राहारविषयं तावदाह—

जिकखुण संखमीए, विकरणरुणेण तुंजई तुच्छे ।

आभोगएमुच्छेसए—पवणएहीला दुरपाओ ॥

मिक्षो वाजास्तेषां सक्कसन्धां कश्चिल्लुक्को विकरणरुणेण  
सिक्कविषकेन भुङ्क्ते, तदीयं लिङ्गं कृत्वेति भावः । एवं तुऽजानं  
यदि कोऽप्याभोगयति उपलक्षयति, तदा चतुर्लक्षवः । एवमुप-  
लक्ष्य यद्यत्पादुच्छेपं कोऽर्थः निर्भस्तेनं कराति, तत्रअनुगुरुकः ।  
प्रवचनहीनां या ते कुट्टु— यथा बुरामानोऽमी भोजननिमि-  
त्तमेव प्रसजिता इति ।

अपि च-

गिहवासो वि वरागा, धुवं कृष्ट एते अदिदृक्कणाणा ।

मन्त्रं पावारी च बलिता, एतं सत्युपा चेव ॥

गृहवासोऽप्येते वराका भूयं निश्चितमेवाहृष्टकल्याणाः, एतेषां च यो तीर्थैकता सुम्भरितामाहारशुष्पादिचर्योमुपदिशता गन्तव्य एव नवरं च बलिताः, तेषां तु सधर्मयि कृतमिति जायः । गतामाहारविषयं स्तैव्यम् ।

अथोपविषयविषयमाह-

उवस्सए उवदि उवे-तं गतभिवसुम्मि गिणहती लहूगा ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकददुहृट्टणाणिव्विसए ॥

उपाशये बोध, उपविषुपकरणं, स्थापयित्वा क्वाञ्चिद्विक्रमां बोधो भिक्षां गनस्तस्मिन् गते यदि तदीयमुपधिं गृह्णाति, तदा चतुर्विधः । स भिक्षुकः समायातः स्वकीयमुपकरणं स्तेनितं मत्वा तस्य संयतस्य प्रदहनं करोति, तदा चतुर्विधः । राजकुलानिमुष्णमाकर्षणे वद् गुरुयः । व्यवहारं कारयितुमारभ्ये उदः । पक्षाङ्कने सति सुसम् । उवहनेऽनवस्थाप्यम् । निर्विषयज्ञापने पाराञ्चिकम् ।

अथ सच्चित्तविषयं स्तैव्यमाह-

सच्चित्ते सुव्हादी, चउरो गुरुगा य दोस अस्सादी ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकददुहृट्टणाणिव्विसए ॥

सच्चित्तं स्तैव्यं चित्तयमानं भिक्षुकादिः सम्भारं धनं सुल्लकम्, आदि-शब्दात् क्लृप्तकं वा यद्यप्यहरति, तदा चत्वारो गुरुकाः, आजायद्यद्य दोषाः । प्रहणकपणव्यवहारपक्षाङ्कतोऽुहाहानिर्विषयज्ञापनाद्य-ञ्च दोषाः प्राक्वन्मन्त्राः ।

अथ तेष्वेव प्रायश्चित्तविषयमाह-

गठणे गुरुगा उप्पाम, कट्टणे उंओमं होंइ ववहारी ।

पच्छा करम्मि मूले, उव्हणविंरंणे नवमं ॥ १ ॥

उदावणनिव्विसए, एगमंणेगे य दोस पारंचं ।

अणवड्डपा दोमु य, दोसु उ पारंचिओ होइ ॥ २ ॥

गाथाद्वयं गनाथंम् ।

सुहं व सुहियं वा, सैति अचवं अपुच्छियं तसं ।

वत्तम्मि णत्थि पुच्छा, खेत्ताणो च नाऊणं ॥

कुल्लका वा कुल्लिका वा योऽप्यकः, स यस्य शास्त्र्यादेः सम्बन्धो, तमपुष्ट्या यदि तं कुल्लकं कुल्लिकां वा मयति, ततः स्तेनाः अयथाधिकं स्तैव्यकारो स मन्त्रव्यः, चतुर्गुरुकं च तस्य प्रायश्चित्तम् । यस्तु व्यक्तव्यं नास्ति पुच्छा । तामन्त्रेणापि स प्रज्जनाः किं सर्वथैयान्तेत्याशङ्कण्याद-ऊपस्थानं च ज्ञात्वा । एकमुक्तं भवान्-यदि विभक्तितं केचं शास्त्र्यादिवानिं राजवस-प्रनादिकं वा तेषां तत्र भवं, तदा पुच्छामन्त्रेण व्यक्तोऽपि प्रमा-जयितुं न कल्पते, अन्यथा तु कल्पत इति । एवं तत्र लिङ्गप्रवि-ष्टानां स्तैव्यमुक्तम् ।

अथ गृहस्थानां तदेवाह-

एमेव होंति तेसां, तिचिं गारत्थियाण जं वुत्तं ।

महणादिगा य दोसा, सविनेसतरा ज्वे तेसु ॥

एवमेवागारस्थानामपि चित्तविषय-आहागादिभवाञ्चिकारं, स्तैव्यं भवति, यद्वन्त्रमेव परतोऽधिकानामुक्तम् । नेपु च गृहस्थ-

पु आहागादिकं स्तेनयतां प्रहणाद्यो दोषाः सविनेसतरा ज्वे-युः । ते हि राजकुलं कारादिकं प्रयच्छन्ति, ततस्तद्वलेन समधि-कतराद् प्रहणाकर्षणादीन् कारययुः ।

कथं पुनरमीमांसाहारादिकं स्तेनयतीत्युच्यते-

आहारं पिह्वादी, तेषुण सुव्हादियं भणियपुत्वं ।

पिह्मि य कप्यद्दी, संउभण पदिग्गहे कुससा ॥

आहारं, पिशादिकं बहिर्षिगहिनं दृष्ट्वा क्लृप्तकः स्तेनयति, उप-धा, [तु] [त्] सुत्राष्टिकास, उपसङ्गणवाहृत्सादिकं च, अपहर-नि, सच्चित्तं, कुल्लकं वा स्तेनयति । एवं यदेव पूर्वं परतीर्थैकानां प्राणत, तदेवाथापि मन्त्रव्यम् । कथं पुनः पिशां स्तेनयति-(पिह-म्नीत्यादि)क्वाञ्चिद्विक्रमां हि ज्ञामदन्त्यः किञ्चिद् गृहं प्रविष्टास्त्र-त्र च बहिः पिष्टं विसारितमास्ते, तत्र दृष्ट्वा तासां मध्यादेका कल्प-स्थिका पिष्टपिण्डकां सुदीप्त्वा पतद्गृहं प्रक्षिपत्यतः । सा वा-विरतिकया हृष्टा । ततो जणितम्-एसां पिष्टपिण्डकांममैव स्थापय, ततस्तथा क्लृप्तिकाया कुर्यासवेनाम्यस्याः संघटिकाया अन्तरे प्रक्षिप्ता । एव सुत्राष्टिकांमपि दृक्त्वैवापहरन् ।

अथ सच्चित्तविषयं विधिमाह-

नीणहिं अविदिंसे, अप्पचवयं पुमं ए दिक्खित्वां ।

अपरिग्गहो उ कपपनि, विजोओ जे समदोमेहिं ॥

निर्जकमात्तुपत्तुमपूतिभिः स्वज्जनेरवितोणमथ तमप्रमवयस्स-मयत्तं पुमानं न दीज्याति । यदि पुनरपि गृहीतोऽप्यकः स श्रे-पदायिषालज्जस्याधिनादिनिर्विमुक्तस्ताहिं प्रयाजित्यु कल्प्यते । अपरिग्गहा उ नारी, ण ज्वति तो माण कपपति अदिप्पसा ।

सा वि य हु काचि कपपति, जह पउमा सुवुडुमाता य ॥

नारी स्त्री सा प्रायणापरिग्रहा न जवतिः पितृपतिप्रज्जतीनाम-न्यनेरप परिगृहीता जवति ति भावः । ततो नाम्नायदत्त्वा स्तौ कल्पने प्रयाजित्युम् । साऽपि च कारिन्दत्ताऽपि कल्पते । यथा पश्चात्तौ देव-करकणकुमाना प्रजाजिता । यथा वा सुल्लककु-मारमाता योगसंभ्रानाहिता यशोभन्ता नास्ती प्रयुजिता ।

अथ द्वितीयपदमाह-

विइयपयं आहारो, अस्साये हंममादिणे उव्हिं ।

उवउज्जिऊण पुत्वि, होहिंति लुण्यहाण ति ॥

द्वितीयपदमाहारादिपु त्रिष्यप्यभिधीयते । तत्राहारोऽस्मानं प्रवेष्टुकामस्ततो वा सत्त्वानां उपलक्षणत्वाद्दशविधां चर्ष-माना अन्नस्तरणं अदक्षमपि जकयानं सुहोतुः । आमा-दे कारणे उपधिमापि हंसादेः सम्भाष्यना प्रयोगेणोत्पादयेत् । सच्चित्तविषयं अपि भविष्यन्मयो युगप्रधाना इत्यादिकं हृदा-लम्बनं पूर्वं प्रथममेवापयत्युत्तर परिभाष्य गृहस्थकुल्लकान् अन्य-तीर्थककुल्लकान् वा हरेत् ।

इदमेव भावयति-

अविं ओम विं वा, पविमिउत्तामो ततो व ठनिष्सा ।

नियत्तिगिअप्पतित्थियग, जायइ अदिस्से तु गेएहंति ॥

अशिवगृहीते विषये स्वयं वा साधवाऽशिवगृहीता भक्तपा-नसामावाञ्च संस्तरयुः । अथमं दुश्चित्तं तत्र वा भक्त्यामं न लभेत् । विहमध्यानं वा प्रवेष्टुकामस्ततो वा उत्तीर्णो न सं-स्तरयुः । ततः स्थलिक्रियां वा स्थलिका-देवप्रोक्षित्युः, तस्मां याञ्च-न्ते, यदि ते न प्रयच्छन्ति तदा बलादपि गृह्यन्ति । अथ बल-

बन्धनं, शक्यप्रकृतयो वा, ततोऽन्यतीर्थिकानामपि स्थलीषु याच्यते, यदि न प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेव प्रकटं, प्रच्छन्नं वा शूद्रोऽपि । एवं गृहस्थेष्वपि याचितमभमानः स्वयमपि गृह्णीति । असंस्तरेण उपधिरप्येवमेव सैव्यप्रयोगेण प्रहीतव्यः ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुत्राप ए काशियापुत्राग्रो य ।  
गिहि अस्मानित्थियं वा, हरेज्ज एतेहिं हेतुहिं ॥  
पूर्वगते कालिकानुयोगं वा व्यवच्छेदं श्वात्वा यो गृहस्थपुत्र-  
कोऽन्यतीर्थिकपुत्रको वा प्रहृष्टधारणमेधावी, स याचितो यदा न लभ्यते तदा स्वयमपि शूद्रोऽपि । एतेरेवमादिभिर्हे-  
नुभिः कारयेद्यैहस्थमन्यतीर्थिकं वा हरेत् । गतमन्यधार्मिक-  
स्तैव्यम् ।

अथ 'हत्यादालं दलमाणे' इत्यादिपदत्रयं विधरीषुराह-  
हत्यादाले हत्या-लंवेऽप्यादाणे य वोच्यते उ ।  
एतेनि णाणत्तं, वोच्छामी आणुपूर्वाए ॥  
हस्तानालो हस्तालम्बोऽथोदानं चेति त्रिधा पाठोऽत्र बो-  
ध्यः । एतेषां त्रयाणामपि नामात्वं वचयामि यथानुपूर्वोऽर्थम् ।  
तत्र हस्तातालं तार्यादिसृष्टौति-  
उक्किम्मि य गुरुगां, दंभो पडियम्मि होइ जयणा उ ।  
एवं सु होइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥

इह हस्तेन, उपलक्षणवान् सद्वादिभिश्च यदा ताडनं, स हस्ता-  
तालः । स च त्रिधा-लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिक-  
हस्तातालं पुरुषवधाय सद्वादावुत्कर्णं गुरुकां रूपकाश-  
मर्शातिस्तहस्रलक्षणो दग्धो भवति । पतिते नु प्रहारे यदि कथ-  
मपि न मृतस्तदा भजना देश देश अपरापरदग्धलक्षणा भवति ।  
अथ मृतस्तदवशात्सिंहलक्षं दग्धः । एवं खुरवधारणे,  
लौकिकानां दग्धो भवति । लोकोत्तरिकानां तु दग्धमतः  
परं वचयामि ।

दृश्येण व पादेण व, अणवदृष्टो उ ह्मिति उगिणो ।  
पदिप्याम्म ह्मिति जयणा, उडवणे ह्मिति चरिपपदं ॥  
हस्तेन वा पादेन वा उपलक्षणत्वाद् यद्विमुष्ट्यादिभिर्वा यः  
साधुः स्वपन्नस्य परपन्नस्य च प्रहारमुञ्जति सोऽनवस्थाप्यो  
भवति, पतिते नु प्रहारे भजना, यदि न मृतस्ततोऽनवस्थाप्य  
पथ । अथापद्रावणे मृतस्तदा चरमपदं पाराञ्चिकं भवति ।  
अत्रेदं द्वितीयपदम्-

आयरिय विणयणाहुणं, कारणजाते व बोधिकादीसु ।  
करुणं वा पडिमाए, तस्य तु भेदोपममण वा ॥  
आचायेः पुत्रकस्य विनयग्राहणं कुर्वन् हस्तातालमपि द-  
द्यात् । कारणजाते वा गुणवच्छ्रमभूतानामात्मन्तिके विनाशे  
प्राप्ते, बोधिकस्तेनादिव्यपि हस्तातालं प्रयुञ्जीत । पञ्चाङ्गेन ह-  
स्तालम्बमाह- ( करुणं वा इत्यादि ) अशिशुपराचरोऽथाली त-  
त्पद्यमनाथं प्रतिमां पुत्रलिकां करोति, तत्र अभिचारिकमन्त्रं  
परिजपयत् तथैव प्रतिमाया भेदं करोति; ततस्तस्योपद्रवस्य  
प्रशमनं भवति । एषा निर्दुर्किणया ।  
अत पर्नां विवृणोति-

विणयस्स उ गाहुणया, कसामोडणसङ्गचचेरणीं ॥  
सावेकस इत्थतासें, द्वाति मग्गासि फेदंती ॥  
इह विनयशब्दः शिष्यायमपि वर्तते । एत उक्तम्-विनयः

शिक्षाप्रणयोरिति । ततोऽप्यर्थः-विनयस्य प्रहृष्टशिक्षायां  
आसेवनाशिक्षायां वा कर्णोमांडकेन सज्जुकाभिश्चपशानियां  
सापेको जीवमापेको कुर्वन्, अत एव मर्माणं स्केटयन्-येषु प्र-  
देशोऽप्यहाताः सम्भो श्रियन्ते तानि परिहरन् आचायः कृत्स्नकस्य  
इस्तातालं दद्यात् । अत्र परः प्राह-ननु परस्य परितापं किय-  
मासो अशातवेदनोऽयकमेवन्थो न्वति तत्कथमसामान्नायत ? ।  
उच्यते-

कायं परपरितापो, असायहेतुं जिणेहिं पमत्तो ।  
आत-परहितकरों पुण, इच्छिज्जद दुस्सले खल्लु उ ॥  
काममनुमतमस्माकं परपरितापो जिमैरशातहेतुः प्रकृतः, परं  
परपरितापो दुःश्लं मादवकशिक्षया तुमैहे तुविनीते शिष्ये ऋण  
निश्चिनमिष्यन् एव । कुन इत्याह- ( आतपरहितकरों शि ) हे-  
तो प्रथमा, भावप्रधानश्चिर्देशः । ततोऽप्यर्थः-आत्मनः परस्य  
च हितकरत्वात्, तथात्मनः शिष्याशिक्षां माहयतः कर्मनिर्जरा-  
ज्ञानः । परस्य तु सम्यगगृहीतशिक्षस्य यथावच्छरणकरणानु-  
पालनादर्थो भूयोऽसौ गुणः । पुनःशब्धो विशेषणस्य । स चैतद्विशि-  
ष्टोऽनुश्रयवसायनया परपरितापः किरने स एवाशात-  
हेतुः प्रकृतः, यस्तु शुक्याभ्यवसायनं श्वात्परहितकरः कियत स  
नैवाशातहेतुर्निति ।

अमुमेयायं दृष्टेन उडवयति-  
मिपं णेउणियद्दा, वाते वि संहतिं सोऽप्या गुरुणो ।  
ए य मधुराथिच्छया वे, ए ह्मिति एसेविहं उवमा ॥

शिष्यानि रथकारकमभूतानि, निपुण्यानि च द्विपणिता-  
दिकलाकीशालानि, तदर्थं शौकिकाः शिष्यकागुरुपरिषदस्य या-  
नाद् परिस्मरन्ते, नच तथा ते, तदानीं दाकणा अपि मधुरनि-  
श्चयाः, तेः सुन्दराः कियन्ते, नैतथापरिणामा न प्रवर्तन्ते, किन्तु  
शिश्यादिपरिज्ञानं वृत्तज्ञानमजनुपुञ्जनीयतादिना परिणामस्ते-  
षां सुन्दरां नवतीति प्रायः । येषांपमा इह प्रस्तुतायै मन्तव्या,  
यथा तेषां ते याता हितस्तथा प्रस्तुतस्यापि दुविनीतस्य  
शिष्यस्येति भावः ।

अत्रायं बुद्ध्याप्ये उक्तः सापमेयोऽपरो दृष्टान्तः-  
अहवा वि रोगियस्सा, ओसद विञ्जेदिं दिअए पुण्वि ।  
पच्छा साज्जिमुत्तमां, देहहिण्येछा पाडिअज्ज स ॥  
इय नवरोगिणस्स वि, अणुकूलं ण तु सारणा पुण्वि ।  
पच्छा पदंकिमणं वि, परसोगहिण्येछ कापव्वा ॥  
( आंसह सि ) विभक्तिज्ञेपादौषधमिति मन्तव्यम् । अस  
एव साधुरेवोधिषा जयेव-

संविगो महविओ, अमुदं अणुवचओ विसेसन्त्तु ।  
उज्जुत्त अपहितेती, इच्छयपत्थं सइइ साहु ॥  
संविन्ने मोक्षाभिज्ञायी, सार्थविकः स्वभावकोमलः, अमोची  
गुरुणाममोचनशीलः, अनुवर्तकस्तथामेव उन्मोऽनुवर्ती, विशेष-  
हो वस्त्वस्तुविभागयेदी, उचुकः स्वाध्यायादी, अपहृत्तानो  
वैयानुश्रयादी, एवंविधः साधुरीप्सितमर्थमिह परत्र च श्रमते ।  
अथ कारणजाते ' बोधिगाम्मुत्ति ' पदं व्याख्ये-

बोधिकतेणजयादिसु, गणस्स गसिणो व अणए पत्ते ।  
इच्छंति हृत्थतासें, कालातिचरं च मज्जं वा ॥  
बोधिकस्तेनमर्थे, आदिशब्दात् आपादादिमयेषु वा यदि

गणस्य गच्छस्य गणितो वा आचार्यस्य अत्यय आत्यमिका विनाशः प्रागः, तथा कालानिचार् य वा कालानिकमेण, सद्यो वा तत्कालमेव, हस्वनास्रमिच्छन्ति, गोत्राथो इति गच्छते ।

अथ हस्तास्रम् व्याख्यानयति—

अस्ति च पुरोवर्गेण, एवार्दी वरममसु अजिज्ञता ।

संज्ञापपवया खलु अस्तेसु य एवार्दीसु ॥

परत्तमयेणऽभिज्ञते, ते णानु देवते बुवाभंते ।

पदिमे कांठं मज्जे, विंधति मंते परिजन्तो ॥

अशिशेन लोको भूयान् क्रियते, परबलेन वा पुं समन्तादुपकृष्टं, तत्र ऋदिः कटकयोधेगान्यनाराणां कटकमर्दः क्रियते, अन्नकृष्याद्या कृष्या क्रियते, आदिशब्दाद् गलगाणानिभिर्धा रो- गार्थाः प्रभूतो जनां मरणमव्युत्ते । एवमदिभिर्धोशंसुःखरिञ्जितास्ते पौरजनाः संज्ञातप्रत्यया यं उच्यते आचार्यो बहूभूतां शुश्रूवंस्तपस्वी स शक्तो वैशसमिदं निरोद्धे नायः कश्चिदिति । ( स्मिति ) सम्यग् ज्ञानः प्रत्ययो येषां ते तथा, न कचलमन्धेय किन्तु अन्धेष्वप्येवमादिषु संज्ञातप्रत्ययास्ते संज्ञय तमाचार्यमुपासते-धरणमुपगताः प्राञ्जलिपुटाः पादपतितस्तित्छन्ति । ततः स एवाचार्यस्तान् पौरजनान्, मरणजनयनाजिज्ञान् देवनामिवा- स्मानं पृथुवासीनाम् हावा तदनुकम्पायरीतचित्तः प्रतिमां कृत्वा तन आचिन्तारिकमन्त्रान् परिजपन् तं प्रतिमां मध्यन्तानि विधायत, ततो नष्टा सा कुत्रदेवता, प्रशमितः सर्वोऽप्युपद्रवः । पथविशार- स्तालम्बार्था यदा अणुत्पच्छति तथा नकास्रमेव गोपन्थायते किन्तु किमनम्रापि कासं गच्छेत् एव ससन् व्यामर्देन कायते ।

अथायीदानमहाह—

अणुकंपला निमित्तं, जायण पदिसेहणा सउणि मे वा ।

बाणिय पुच्छा य तहा, सारण उन्नापयविणामे ॥

कस्याप्याचार्यस्य भागिनियो मते परिच्ययमुकज्ञापयति । तत्र आचार्यस्य अन्नकम्पा-कथयम द्रव्यमन्तरेण गृहवासमभ्यासि- ध्यात इत्येवैकज्ञासा अनुच । स च निमित्तऽनीचकुशर इति तैत्तिर्याजैतयोर्द्वयोर्विणजोरन्तिके भागिनियं रूपकयाचनाय प्रोपतवान्, स च तत्रैकं यणिजा- किं मम शकुनिका रूपका- न् हदते, एवमनुचथा मिथिदः, द्वितीयानु रूपकनवलकानां दर्शना कृता । द्वितीये च सर्वे चाभ्यामपि बलिगम्यां पुच्छा कृता, तत आचार्येषु सारणा कयासकप्रणविषया शिक्षा दत्ता, ततो येन रूपका न दत्तास्तस्यैव सर्वेस्वविनाशः समजनि, येन तु दत्तास्तस्योद्गावते मद्दधिकानसंपादनं कृतवान् । एष निःपु- किगायाऽहारायः । पू० ४ उ० ।

आचार्यस्तु कथानकादबसेयः । तखेदम्—

“वशिजायुजायिन्मां ३०, प्रायः पुत्रा गुं सदा ।

पनायमानो पयोधैः, परमामिद्धीमयानुः ॥ १ ॥

ओउकद् गुच्छां जामियो, जोगार्थो म्वतमयथा ।

ततस्ते कृपयोचे स, विनाऽर्थे किं कल्प्यसि ? ॥ २ ॥

तथाहि वणिजो तो ल्वं, अणुऽर्थे मे प्रयच्छमय ।

गुंयंदिवालतः सोऽपि, गत्वा तौ अणत स्म तत् ॥ ३ ॥

प्रयैकः स्माह जोः ! कस्मा-दस्माक द्रव्यसंखयः ।

शकुनी रूपकाद् अडः, कुवापि हसतेऽत्र किम् ॥ ४ ॥

अडौकयद् द्विनीयस्तु, तस्यारो इजिये बहू ।

ऊचे देव ! गृहाण स्तं, यथेच्छं सोऽपि आग्रहीत् ॥ ५ ॥

द्वितीयेऽप्ये स तैर्द्रव्य-प्रदः पुच्छजनययत ।

कीर्त्तिहि तुणकाद्यानि, स्थापयेच्छ पुत्राद् बहिः ॥ ६ ॥

द्वितीयकस्तु नैकतः कीर्त्ता स्नेहं गुणं कलात् ।

यन्मकार्यमकाद्यादि, पुत्रमयेव निधेहि भोः ॥ ७ ॥

वयांग्मं स मस्तेन, क्वादिनेष्वथ येमस्तु ।

दग्धं सर्वं पुत्र जह, तुणकाद्यमहयंता ॥ ८ ॥

प्रायं तदाऽप्याङ्गितं, मुकज्ञामियस्यदः ।

दग्धं सर्वं द्वितीयस्य, सोऽप्याज्येप्यावदद् मुकम् ॥ ९ ॥

किं न ज्ञातमिदं पुत्र्याः, गाढं प्लुष्टोऽहमेवमः ।

निमित्त्युचं निमित्तं नः शकुनी हृदतेऽत्र किम् ? ॥ १० ॥

तथाऽप्यायाऽपि वा किंचित्, स्यात्कथंयन्म मे धनम् ।

ततो रुष्टं गुणं हात्वाऽत्यर्थं क्रमयति स्म सः ॥ ११ ॥ जतं ॥

उज्जोर्त्तिसोसर्धं, दो बणिया पुच्छिचं बवहरति ।

जोगाजितोस तन्वय, मुंचति ए रुवर् सउणी ॥ ? ॥

एगो व एउल्लादायण, वितिएणं जलिप तर्हि एको ।

अणाम्मि ह याम्मि य, गेहहामो किंति पुच्छंति ? ॥ १२ ॥

तएकट्टेनैटथम्, गिाहह कपासदसुगुस्यार्दी ।

अतो बर्दि च उत्रणा, हर्मां सउणी ण य निमित्तम् ॥ १३ ॥

इति तिष्ठाऽपि व्याख्यातार्याः, नवरं मित्रकेण यणिजा भागिनिय उच्यते-अत्रिय तर्हि एको जियान्तो युष्मज्यं रोचन्ते तायेना नवलकान् गृह्णीत, पथं द्वितीयेन धाणजा भाणतम् । तत्र नेपं मन्थे एकां नवत्रका गुडीतः । अन्वस्मिन् हायते वयं इत्यर्थः । दृष्यं वल्लभ्यन्ते, ( सउणी न य निमित्तं ति ) न च नैय मम शकुनिका निमित्तं हदते ।

प्यारिमो य पुंमसो, अणवद्वयो उ मो सुदेसम्मि ।

नैतुण अणदेसं, चिद्ध उवचावणा तस्म ॥

एतादृशोऽथो दानकारी यः पुरुषोऽप्युत्तिष्ठत स स्वदेशेऽन्य- स्थाप्यो न महादानेषु स्थाप्यते, किन्तु तमन्वदेशं नीत्या तस्य च तत्र तिष्ठत उपस्थापना कर्तव्या ।

कृत् इति च उच्यते—

पुव्वन्नासा जांस-ज किंचि गोरेवासिणेहनयतो वा ।

न सहइ परी-नहं पि य, णारुं कंठुव्व कच्छुद्धो ॥

न तैमिक्तिकं लोकाः पुत्रंन्यासाभिमिचं पुच्छेत्, सोऽपि ऋकि- नीरवतः स्नेहाद्वा नयाद् वा किंचिद्वा नयाद् च तत्र शिक्तो जायते । अपि च स ज्ञानविषयं परीवेद तत्र न स हते, सोऽहं न जायते- नो- धेः । यथा कच्छुः पाप्मा तद्वात् पुच्छः, कण्ठं आर्जेन विनाशितुं न शक्नोति ; एवमेवोऽपि तत्र निमित्तकथनमन्तरेण न स्यात् शक्य इति भावः ।

अथ पूर्वोक्तमप्यर्थं विदोषज्ञापार्थं भूयोऽप्याह—

तदपस्स दांभि मोत्तुं, दृव्वे जावे य सेस जयणा उ ।

पकिमिद्धांल्लिकरणं, करणं अस्सत्थ तत्थेव ॥

इह 'साधर्म्यनेस्थियं करेमाणे' इत्यादिष्वकममाद्येन ह- स्थातागतवृत्तनीय उच्यते । स च त्रिधा-हस्तानासो हस्तासम्भो- ऽथादानं वेति । तत्राद्ये हं एते मुक्याव उच्येवमर्थादानासं मृतीयं पदे तत्र उच्यते भावतश्च लिङ्गमदानं अजना मषति । कथा- स्थाद-(पमिसिद्ध इत्यादि) उल्लेख कारणे ह्यवधिष्यत्कथानास्त्वा- दिह निष्कारणमिति गम्यते । ततो निष्कारणे प्रतिषिद्धमर्थोक्त-

मकारिणो लिङ्गकरणे प्रथमलिङ्गस्य वा तत्र क्लेशे प्रथमो, कारणं तु भक्तप्रत्याख्यानप्रतिपत्तिलक्षणे अन्वय वा तत्र वा अनुकृतमेव । एषा पुरातनी गाथा ॥

अतः पदानां विश्वरूपवादः—

हृत्पातालो जलिओ, तस्य उ दो आइमे पदे मोसुं ।

अत्र्यापाणे लिंमं न दिंति तस्येव त्रिसयाभि ॥

हृत्पातालमूत्रकमप्रामापायात्, तुर्यायैव, अथोद तस्यैव आदिमे हस्तातालहस्तालम्बकक्षणे पदे मुक्त्वा यद्दार्थानाक्यं पदं तत्र वतमेतस्य तस्यैव विषये देशे लिङ्गं न ददति । स च अर्थादानकारी गृहीही ही वा । तत्र—

गिहिलिगस्य उ दोम वि, आसन्ने न दिंति जावलिगं तु ।

दिज्जंति दोवि लिगा, अत्रवत्थि य उचचपइस ॥

यो गृहीलिङ्गि प्रप्रज्याधमच्यप्रतिष्ठित तस्य द्वे अपि-कृत्यजाव-लिङ्गे तस्मिन्देशे न ददति । यः पुनरवसन्नस्यस्य कृत्यलिङ्गं विद्यत एव, परं भाषालिङ्गं तत्र तस्यैव ददति । यदा पुन-रस्वावुत्समाधंस्य प्रतिपत्त्येवमुपतिष्ठते तदा तस्मिन्नापि देशे द्वा-पारपि गृहस्थावसन्नयोर्द्वे अपि लिङ्गे ददति ।

अथेवं करणम्—

अप्रासिवापार्हिडि व, सपिस्मति तेषु तस्म तस्येव ।

न य अमहाओ मुचः, पुडो य भाणज्ज वामरिये ॥

अथमाश्रवराजप्रियादिषु वा समुपस्थितेषु गच्छस्य प्रतिस्-पिप्यति अपवृद्ध करिष्यति, तेन कारणेन तस्यैव क्लेशतस्य लिङ्गं प्रपच्छति । तत्र चेयं यनना [न य अमहाओ अन्वादि] स नप्रा-रोपिनमहात्मनः स्मन्सहाय एकाकी न मुच्यते । लोकं च नि-मित्तं पुष्टे । प्रणति-विस्मृतं मम स्वांम तन्निमित्तमिति । अथ साधर्मिकारिस्तैःस्येषु प्रायश्चित्तमुपदर्शयति—

साहृषिषु अक्षयभिम्य-तेषुषु उ तस्य हावति (६) मा जयणा ।

चउलडुगा चउ गुरुगा, अणवद्वयो य आएसा ॥

साधर्मिकस्तैःसाध्याधार्मिकस्तैःसाध्यास्तावद्विषं प्रजना प्रायश्चि-त्तरचना भवति-आहारे स्तेनयतश्चतुर्लक्षेण, सचिचं स्तेनयतश्च-तुर्लक्षेण । आदेशेन वा अनवस्थाप्यम् ।

अहवा अणुवज्जाओ, एरसु एरसु पावती तिविहं ।

तेसु चैव पपसुं, गणिअयारियाणु खयंवे तु ॥

अथवा अनुवाध्यायो य उपाध्यायो न भवति किं तु सामान्य-निष्ठुः स पतपु आहारोपायसिन्धिरुपेण यथाक्रमं त्रिविधं अ-धुमानं चतुर्लक्षेण चतुर्लक्षवृक्षमाणं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । तेष्वेव आहारादिषु पदेषु गणितेन उपपत्त्यायथाचार्यस्य च नवममनव-स्थाप्यं भवति । अथ परः प्राह-ननु सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्य एव भणितो न पुनर्लक्षप्रामाणिकं त्रिविधं प्रायश्चित्तं, तत्कथ-मिन्द्रमेवनाजिषीयते ? उच्यते-आहृतानामेकान्तवाद्ः कापि न जवति । तथाहि—

तुसुम्भि वि अत्रराडे, तुसुमपुसुं व दिज्जप दोएहं ।

पारविंके पि नवमे, गणिसस गुरुगो ठ तं चैव ॥

तुस्यः सहस्रोऽवराधो हाउपयामपि आचार्योपाध्यायाज्यां से-विताः, तत्र ह्येवंपि तुस्यमनुसृतं वा साधुचित्तं दीयते, तत्र तुस्य-हानं प्रनातमेव । अनुस्यदानं पुनरिन्द्रम-पाराश्रिके पाराश्रिकाप-विशयोक्तेः स्वपराचपदे सेविते गणित उपाध्यायस्य तदममनव-

स्थाप्यमेव दीयते, न पाराश्रिकम्, गुरोराचार्यस्य पुनस्तद्वेव पा-राश्रिकं दीयते, ततो यथापि सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्यमुक्तं त-थापि तत् पुरुषविशेषायेकं प्रतिपत्तयम्, यद्वा-अमीहस्येवा-निष्पन्नम् । तथा चाह—

अहवा अजिक्त्वसेवी, अणुवरयं पावर्द गणी नवमे ।

पावर्ति मूलमेव छ, अजिक्त्वपन्तिसेविणो सेसा ॥

अथवा साधर्मिकस्तैःसाध्याधर्मिणस्तैः पुनः २ प्रतिसेवां यः करोति स ततः स्थानादनुपपन्नम् अविद्यतेमानो गणो द्वाध्याया-यो नवमे प्राप्नोति । शेषास्तु ये उपाध्यायत्वमाचार्यत्वं वा न प्राप्तान् अमीहणप्रतिसेविणोऽपि मूलमेव प्राप्नुवन्ति, नानव-स्थाप्यम् ।

अस्थादापो ततिओ, अणवद्वो लेत्तओ समक्त्वाओ ।

गच्छे चैव वसतो, निज्जुहुज्जति सेसाओ ॥

अथाङ्गानिमित्तप्रयोगेथार्थे कृत्यमावृत्त इति अर्थादानाक्यो य-स्तुतोऽयानवस्थाप्यः, स क्लेशतः समाक्यतोः, तत्र क्लेशं नापस्था-प्यत इत्यर्थः । शेषास्तु उ हस्तातालकारिमृशृतयो गच्छ एव चसन्तो निवृत्तान्ते आलाचनादिभिः पदैर्बैहिः कियन्ते इत्यर्थः ॥०५७०॥ उक्तोऽसं बहुसो वा, पउट्टिचिचो व तेषियं कुणइ ।

पइरइ जो य सपक्वे, निरवेक्वो धीरपरिमाणो ॥

अजिसेधो सन्नेसु वि, बहुसो पारविषियाज्वराहेसु ।

अणवद्वप्रावचित्तु, पसज्जमाणो अणुेगासु ॥

उच्येदं वस्तुत्वेयं बहुशो वा पौनःपुन्येन प्रवृत्तचित्तो वा संक्रि-ष्टमनाः कोऽपि आदि कृत्यमित्तमनसो यत् स्तैः यैः साधर्मिकस्तैःस्य-त्र-यथाधर्मिकस्तैः वा करोति । जितो । एवंविधायां पाराश्रिके । आचार्यः स्वस्य महाव्रताः पारोपितुमभ्यर्थयमानो तदोपकरण-निवृत्तौऽपि तत्र क्लेशे न महाद्वेषेण स्थाप्यते, तथा हस्तालम्बक एव हस्तान्मस्मिन् ददानः, अगिवे पुरोऽप्रादौ तत्रमग्नयार्थमजिन्वा-रमन्वादीन्प्रयुञ्जान इत्यर्थः । तथा हस्तेन ताम्रं हस्ततालसं दानः यदपिद्विज्जुहुज्जतिदिराग्नतः परस्य च मरसभयनिरवे-क्कः स्वपक्के, अश्रयात्परपक्के च, धारपरिणामो निर्वो वा प्रहर-ति । एते त्रयोऽप्यनवस्थाप्याः कियन्ते । याद् वाऽऽन्वायोर्द्वि-कोऽपि हिनस्ति ततस्तन्मारणेनापि ताम् रक्षेत् । यदाह—“आय-रियस्त विषासः, गच्छे अहवा वि कुसमणे संधे । पविंदिथेव-रमणं, काठं नित्थारणं कुज्जा ॥ १ ॥ एवं तु कर्तितेन, अ-णुच्छिचो कया उ नित्थंस्मि । जइ वि सरीराज्जाओ, तइ वि य आराहको सो ॥ २ ॥ ” यस्तु समर्थोऽप्यागाडेऽपि प्रयोजने न प्रगल्भते स विराधकः । इहातिथेक उपाध्यायः स येषु वेध-परपेषु पाराश्रिकमापद्यते तेषु बहुशुः पाराश्रिकमापद्येणु स-र्वेष्वपि बुद्धिमित्तमनवस्थाप्याः कियन्ते । यथा भिक्कोरमव-स्थाप्यपाराश्रिकेऽपि प्राप्तस्य सूत्रमेव चरमं प्रायश्चित्तं भवति, एवमुपाध्यायस्याप्यनवस्थाप्यमेव परमं, तथा अनवस्थाप्याव-सिषु उपचारादुपस्थाप्यमापद्येणु प्रायश्चित्तार्थात्कारिणोऽपि ति-चारप्रतिसेवाप्यनेकासु प्रसज्जणं प्रसक्तिं कुर्वीतोऽनवस्थाप्याः कियते ।

स आनवस्थाप्यः कियमाणः कस्मिन्क—

स्मिन्विषये कियते इत्याह—

कीरइ अणवद्वप्पो, सो लिगविषयकालो तवतो ।

लिगेषु द्व्यज्जावो, जसिओ पच्चाणया ऽगरिहो ॥

क्रियते तथाविधापरिधाकारिस्वाम्नाइतेषु सिद्धे वाऽनवस्था-  
 प्य इत्यनवस्थाप्यः । स चतुर्थो-सिद्धतः, क्षेत्रतः, काशतः,  
 तपोविशेषतश्चेति । सिद्धं द्विधा-रूपे च प्राञ्च वा । तत्र इत्यसि-  
 ङ्गे उद्देश्यत्वादि, भावसिङ्गे महाप्रतादि । अत्र चतुर्भङ्गी-रूप-  
 सिङ्गेन भावसिङ्गेन आनवस्थाप्य इत्येको नङ्गः । इत्यसिङ्गेनाव-  
 वस्थाप्यो न भावसिङ्गेनेति द्वितीयः । प्रावसिङ्गेनानवस्थाप्यो  
 न इत्यसिङ्गेनेति तृतीयः । अत्राप्यानवस्थाप्य इति चतुर्थः ।  
 इह इत्यसिङ्गेन भावसिङ्गेन चाऽनवस्थाप्यः प्रथममङ्गस्यः  
 प्रशाजनाऽनर्हो भणितः ।

सिङ्गानवस्थाप्यादिचातुर्थीधमेव चित्तव्याह-  
 अप्परिचरितोसम्भो, न भावसिङ्गारिहोऽणवद्वयो ।

जो जल्य जेष दूमइ, पहिसिक्को तत्य सो खितो ॥

अप्रतिरिक्तः सार्धमिकाप्यधामिकस्तेत्यासद्वृत्तित्वेना-  
 निवृत्तः स्वपक्षपरपक्षरूपगोचतश्च निरपेक्षातुपशान्तवैरो यः  
 स इत्यभावल्लिङ्गाप्रामनवस्थाप्योऽनवस्थाप्यप्रथममङ्गवर्ती  
 कियते । इस्तादव्यवर्था अर्थाद्वागकरो धाव्यसम्भाविकश्च तत्त-  
 द्वापानिवृत्तं न प्रावसिङ्गार्हः । अयं भावः-स इत्यसिङ्गी भव-  
 ति न भावसिङ्गमर्हति, भावसिङ्गमपेक्षाजनवस्थाप्यतुलीयतद्भ्रूयतीं  
 जन्तोत्यथैः द्वितीयचतुर्थेभङ्गे पुनरपि संभवतः, क्षेत्रतोऽनवस्था-  
 प्यो यो यत्र क्षेत्रे येन कर्मणा इत्यनेन स तद्दोषकरणानिवृत्तोऽपि  
 क्षेत्रे प्रतिरिक्तो महाप्रतेषु स्थाप्यते । निराकृतो यथाशौहानकाली  
 तत्रैव क्षेत्रे न महाप्रतेषु स्थाप्यते, यतः पूर्वोऽन्यासात् तं लोको-  
 भिमिर्न पृच्छेत्, स च न निमित्तज्ञानअनुचित्परीचरं सोऽनुमत्तः  
 कदाचिन्म कथयेत्, ततोऽप्यत्र निश्चयस्थाप्य उक्तमार्थप्रतिप-  
 क्षय पुनस्तथापि स्वस्थानेऽपि विद्यतेत्य महाप्रतारोपः कार्य  
 यत्र । उक्ती लिङ्गेनाऽनवस्थाप्यी । जीतो ।

जत्तियमिच्छं कालं, तवसा उ जट्ठअणण उम्मासा ।

संबच्चररुफुकोसं, आसायाइ जो जिणइणं ॥ ए१ ॥

यो यावन्तं कालं दोग्धाषोपरमते तावन्तं कालमनवस्थाप्यः  
 कियते । तपसा स्वमवस्थाप्यो द्विधा-प्राशानताऽनवस्थाप्यः,  
 प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च । तत्र जिनादीनां तीर्थेकरसङ्घुता-  
 चार्यमहर्षिकगणधराणामाशानतां यः कुर्वान् । यथा-तीर्थेकरैः  
 स्वयोपायकृताक्षैरपि गृहवासस्यागारिकास्तिककंशा देशना हताः  
 यद्वि च गृहवासो न भेद्यन्त ततः किमिति स्वयं गृहवासं वस-  
 न्ति स्म, नोगांश्च लुकवन्त स्वयं हतोऽसिङ्गः सङ्घं च दृष्ट्वा  
 ऽपराधां वदन्त-पुं० शब्दा मयाऽरक्षेऽपि सङ्घः ऽप्यालम्बानवृ-  
 क्षिवाकान्दीनामिति । सुतं श्रैवमर्षिकैरपि यथा-“कथावचाय  
 तित्किच्य, पुणे वि तित्किच्य वमायपय । मुक्खस्स देसणण,  
 जोइसजोणंदिं किं कळं॥१॥” आचायं च जातादिभिरधिष्ठा-  
 पिति । महर्षिकाश्च गणज्जना गौतमादयः, ये वा यस्मिन् युगे प्रधा-  
 नभूताः, तान् श्रुत्वा रसा गौरवप्रसक्तः कथका इव सोऽप्याय-  
 नोद्यता इत्यादिवाक्यैरधिष्ठापिति । स आशानताकारिवादाशान-  
 ततपतोऽनवस्थाप्यः । स जघन्थेन पाशासत् उक्तवन्तः संभस्स-  
 रं यावत् तपः कुर्वन् कर्तव्यः, तावता च तपसा कृपिताऽऽशा-  
 नतामनितकर्मत्वापूर्वै महाप्रतेषु स्थाप्यते, प्रतिसेवनाऽनव-  
 स्थप्यत्वात्तरगाथायां वद्व्यते ।

सा वेयम-

वासं वारसवासा, पकिसेवो कारणात्त सव्वो वि ।

धोवं धोक्त्तरं वा, वडिज सुब्बिज वा सव्वं ॥ ए२ ॥

प्रतिसेवो प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः सार्धमिकाप्यधामिकस्तेना-  
 च्यां इस्मतालादिनिश्चयश्च, स च जघन्थतो वर्षेण, उरुहृष्टोना  
 दाश वर्षाणि, तदनन्तरं प्रतेषु स्थाप्यते । स चानवस्थाप्यः  
 संदर्शनादिगुणयुक्त एव कियते, अन्यस्य तु मूलमेव दीयते ।

अथ कौटुशाणयुक्तस्यानवस्थाप्ये दीयते इत्याह-

“संशुणवावरियअगम-सुत्तस्यारिहो यदीहयथो ॥ १ ॥

तवसी निग्गाहत्तुसो, पवयणसारां व गहिइयथो ॥ २ ॥

तिलतुसमतिभागमित्तं, वि जस्स अनुभो न विज्जं भावो ।

निज्जुणारिहो सो, सेसे निज्जुहणा नरिय ॥ ३ ॥

पयगुणसंपपत्तो, पावइ अणवद्वयुत्तमगुणो ॥ ४ ॥

पयगुणवियुत्तुण, तारिसगम्मा भवे सुत्तं ॥ ५ ॥

[ तपसी ] तपश्चरणवान् [ निग्गाहत्तुसो ] जिनिःप्रयः [ नि-  
 ज्जुहणारिहो ] गच्छात् पृथक्करणार्हः अपवादतत्त्वमनवस्थाप्य-  
 लक्षणसंकेधकारिणी, बहुजनसाध्यं च कार्यं ऽप्युक्त्यादितमुच्य-  
 ते, तत्साध्यकश्चायमित्यतः कारणात्सर्वोऽपि द्विप्रकारोऽपि प्रा-  
 शानतेनानवस्थाप्यते । प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च गुरुमुखात् सङ्घा-  
 वेदान् लोकं लोकतरं वा, मासद्वयं मासिकमात्रं वा श्रानवस्था-  
 प्यतयो बहवः । सङ्घो वा सार्धोऽपि मर्षिकैर्मवायमनवस्था-  
 प्यशोभत वारमत्रे क्षान्तियत्तलोऽपि सधे सुक्ष्मे, अनवस्था-  
 प्यतयो न कारयदित्यर्थः । जीतो । ५० ।

अस्वमवस्थाप्यतपः प्रतिपद्यते तद्विधिमाह-

आसायाणो ऽहृष्ट, उम्मासुक्कांस वारस उ मासा ।

वासं वारमभासं, पक्केभो कारणे भणियो ॥

इचिरियं निक्खेवं, काउं वन्नं गुणं गमित्ताणं ।

दव्वाइ सुत्ते विपकण, निरुवस्मगह्ठ उवस्मगो ॥

अणवद्य निक्खयथा, आणारंभो य जंतोणं सणो ।

परगो न होति पए, आणो थिरया जयं चेष ॥

गाथापदकं, यथा पाराशिक्के व्याख्याते तथैवात्र मन्तव्यम् । नवर्न,  
 [व्यादसुहे विवरण ति] इत्येकैककालजावेषु घृतेषु प्रशस्तेषु,  
 प्रथतो वटवृक्षादीं क्षीरवृक्षैः क्षेत्रत इङ्गुक्षेत्रादीं, काशतः पुष्पांश्च,  
 प्राशतः प्रशस्तेषु चन्द्रताराविद्येषु, गुरुणां विक्रानतासां चमा  
 ददाति । तत आचार्यो भणन्ति-“पय स्यादुस्स अणवद्वयत्तव-  
 स्स निरुवस्ममित्तिं उमि काउसम्भं [ ति ] अणवत्ससिप-  
 वं” इत्यादि वार्त्तारमोति याद्यत् । ततश्चतुर्विंशतिहृदुःसुःसार्था-  
 चार्यो भणन्ति-एव तपः प्रतिपद्यते, ततो न भवद्गः सार्धमाशान-  
 तादिकं विधास्यति, स्वममयेनेन सार्धमाशापादिकं परिहरस्व-  
 मिति । ५० ४ उ ॥

वंदइ नइ वंदिज्जं, परिहराततं सुट्ठरतं चइ ।

संवासो से कपट्ठे, नाइवाणइणं देसाणि ॥ ए३ ॥

अनवस्थाप्यतपश्चरणकरुणकालं यावत् स्वगणं गीताथे नि-  
 क्षिप्यान्वार्थे उपाध्यायो वा प्रशस्तेषु इत्येकैककालजावेषु,  
 तत्र इत्यतो घटादीं क्षीरवृक्षैः, क्षेत्रतः इङ्गुक्षेत्रादिषुःसु-  
 मित्तनश्चक्रप्रदक्षिणावर्त्तजपपासासरक्ष्येप्रादिषु, कालतः  
 पुष्पांश्च, भावतः प्रशस्तेषु चन्द्रतारावलेषु, सध्यागतादि-  
 नक्षत्रयजमालोचनं प्रयुक्ते स्वगन्तवारं प्रकारायाति । आशो-  
 चऽनन्तरं जघन्थेन मासमुकथेतः पथमासादिकमनवस्था-  
 प्यतपःप्रपद्यमाने आलोचनादायकः काप्यास्तेषु करोति । “प-  
 यस्स आयपरियस्स अणवद्वयत्तवस्स निरुवस्ममित्तिं उमि

अणवद्विष्य

काउत्सस्योत्तमं अक्षय उत्ससिष्योः, इत्यादि 'बोसिपामि' इति यावत्  
 चतुर्विंशतिस्तनवमशुक्रिष्य पारथिवता चतुर्विंशतिस्तनवमुष्माख्या-  
 55 चार्यो बलिः—इत्येतत् पदविग्रहः, न किंचिद्वाहवद् माह  
 ब्राह्मवह । अणुद्विष्यतगस्तत्, चायात्रो मे न कायव्योः । " एव  
 युष्माकालपिव्यति, युष्माभिरपि नालाप्यः, एव युषायै शरीर-  
 यात्री वा न प्रवृत्तयति, युष्माभिरपि न पृच्छत्यः । ब्रह्ममल्लकमा-  
 ब्राह्मिकं वा नास्य ब्राह्मण्यमर्थनीयं वा, उपकरणं परस्परं न प्रति-  
 श्लेष्यं, अकपानं परस्परं न प्राश्न्यत । संघाटकोऽस्य न मेलनीयः ।  
 अनेन सहैकमाहृत्यं न भोक्तव्यम्, किमप्यनेन साधे न  
 काये कारयेमिति । अयुषा गाथाऽनकार्याः—प्रतिपक्षाऽनवस्थाप्यत-  
 पः शैकादीनिप वन्दते, न कासी वन्द्यते । परिहारतपश्च पारि-  
 हारिकसाधूनां तपः शीघ्रे चतुष्षष्ट्याहमिति, शिशिरे ब्रह्महमद-  
 शमनि, यथाऽब्रह्मदशमब्रह्मदशानि अग्रथमन्विव्यमोक्तुष्टानि, पार-  
 थिकं च निलेपः, अकमिष्यंश्च कपे सुनुभुवर्तं चरति । संवासः स-  
 हवासो गच्छनास्य एकक्षेत्रे एकप्राशये एकस्मिन् पार्श्वे शेष-  
 सायुर्विभोऽभ्यपदेशे कल्पते, नालपनादीनि शेषाणि; इत्येष  
 संक्षेपतोऽनवस्थाप्यविधिः । उक्तमनवस्थाप्याहम् । जीत० ।  
 एवंविधं तपः प्रतिपद्य यदसी विद्ययाति तदुपदेशयति—  
 सेदृष्टिं वंदंतो, परगद्वियमदातावो जपो चैव ।  
 विद्वद्द नारसवासं, अणवद्विष्यो गणौ चैव ॥  
 शैकादीनिप वन्दमानो जिनकल्पिक इव प्रह्रीतमनहातपाः  
 पारणक निलेपं अकपानं प्रह्रीतमन्विव्यधोनाशनकामिअहयुक्तं  
 चतुष्षष्ट्याहिकं विपुलं परिहारतपः कुर्वन्नीत भावः । एवंवि-  
 धोऽनवस्थाप्या गण एव गच्छतमंतं एवोत्कपेतो ब्राह्मण  
 वर्षाणि विहरति ।

इदमेव ज्ञाययति—

अणवत्तं बहमाणां, वेदं सो बहमायिषो मध्ये ।  
 संवासां मे कपड, सेसा उ पया न कल्पति ॥  
 परमणुऽनवस्थाप्य बहमानः स उपाध्यायादिः शैकादीनिप  
 सगंठं साधुन् वन्दते, नस्य च गच्छेन सार्धमेकत्रोपाशये एक-  
 स्मिन् पार्श्वे शेषसायुजनापरिजोमे प्रदेशे संवासं कर्तुं क-  
 ल्पते । शेषाणि तु पदानि न कल्पन्ते ।

कानि पुनस्तानीत्याह—

अज्ञानवपदिपुत्रण-परियदुष्ठाणवद्वेणम मथे ।  
 पक्षिहणसंयादाह—भक्षदापसंभुजणा च ॥ १०३ ॥  
 अज्ञापने न साधुभिः सह न कायते, सर्वेभामपि स करा-  
 ति, तस्य पुनः साधवो न कुर्वन्ति, (अथेति) । ब्रह्ममात्राद्विप्रत्य-  
 पेयं तस्य न कियते, भोऽपि तेनां न करोति । उपकरणं परस्परं  
 न प्रात्येकान्तं, संघाटकने परस्परं न भवन्ति । अकहानम-  
 न्योऽं न कुर्वन्ति । एकत्र माणव्यां न संसृजन्ते । यथाप्यव कि-  
 ष्टिकरणीभय, तस्मै साधे न कुर्वन्ति । 'संधो न लभइ कम्'  
 इत्यादिगाथाः पारार्थिकब्रह्मद्वयानि ७५ श्लो० (अनवस्थाप्य-  
 स्य वृद्धिभूतस्याग्निभूतस्य बोधस्थायता । उवडावणा' शब्दं  
 ३० आ० ४९०० पूष्टे बह्वयते) तपोऽनवस्थाप्यश्च चतुर्दशपूर्वधरे  
 श्रीभक्त्याहुस्वामिनि व्युत्पिचः । " अणवद्विष्यो तवसा, तव  
 पारथियं द्वावि शुद्धिमा । अबदसपुवधरिभम, चरंति सेसाउ  
 डा तिथं " ॥ १ ॥ जीत० ।  
 अणवद्विष्यो—अनवस्थाप्याता—श्री० । येन पुनः प्रतिसेवातेन  
 उपाध्यायता अन्ययोः सद् कश्चित्काक्षं न श्लेषु स्थाप्यते

तदनवस्थाप्याताऽहस्वानद्वस्थाप्याता प्रायश्चित्तम् । यथा—योषो-  
 कं तपो यावत्कृतं तावत्कृतं श्लेषु श्लेषु वाऽनवस्थाप्यत इत्यनव-  
 स्थाप्यस्तस्य भाषाऽनवस्थाप्याता । नवमप्रायश्चित्तं, स्या० १५  
 श्लो० । अणवत् । पंचा० ।

अणवद्विष्यारिह-अनवस्थाप्याह-ना० नवमप्रायश्चित्तं, स्या० । य-  
 क्षि भासतिचे कश्चन काश्चं भेत्पवनवस्थाप्यं क्वावा पक्षाब्धौ भेत्तवा  
 तरोयोपरतो भेतपु स्थाप्यते तदनवस्थाप्याहम् । स्या० १० ग्रा०  
 अणवद्विष्यावति—अनवस्थाप्यावर्षि—श्री० । ( उपचारार्त्तं )  
 अनवस्थाप्यास्यप्रायश्चित्तापसिकारिणीषु प्रतिसेवाषु, जीतो०  
 अणवद्विष्याण-अनवस्थापिता—न० । न० त० । सामायिककालापे-  
 र्पूने यथा कथञ्चिद्विज्ञानाहनस्य करणं, एव सामायिकस्य  
 पञ्चमोऽतिवारः । उपा० १ अ० अंश० ।

अणवद्विष्य-अनवस्थिता—त्रि० । अनवत्प्रमाणे, " अणववि-  
 शालं तस्य श्लु राशिविवा पक्का " च० प्र० प० पाठु० । अस्थिरे  
 कल्पानुयोगाश्रयानहंभेदं, वृ० ।

तत्रानवस्थितं ताबदाह-

दुविहो लिंगविहारो, एकैको चैव हाइ दुविहो उ ।  
 चतरो य अणुग्याया, तस्य वि आणाङ्गो दोसा ॥

अनवस्थितो द्विषिः । तद्यथा—लिङ्गानवस्थितो विहारान-  
 वस्थितश्च । एकैकः पुनरपि द्विषिधो भवति । तदुभयमपि  
 द्वेषिष्यमनमनस्याध्यायं वष्यते । अन्वत्थमासा अतुदाला  
 गुरुः, उपलक्षणात्प्राज्ञमुसासाविकं वा अत्र यद् प्रायश्चित्तं  
 भवति, तन्न यथास्थानमेव भावयिष्यते । तत्रापि लिङ्गानव-  
 स्थितविहारानवस्थितयोरप्याहावयो दोषा दृष्टव्याः ।  
 अथेनामेव गाथां ध्यात्वानवस्थितः—

गिद्विलिगं अन्नसिगं, जो उ करेइ स शिगओ द्विहो ।  
 चरणं गणौ अ अयिरो, विहार अणवद्विष्यो एसां ॥

शुद्धिलिङ्गं पृथस्थानं वेपम्, भव्यलिङ्गमतीर्थिकानां नेपव्यम् ।  
 यः सायुः, युषाव्यो विशेषण्ये । किं विशिनष्टि ? इत्येण यो लि-  
 ङ्गव्यं करोति, स एव लिङ्गतो द्विषिः उन्वस्थितः । अस्य च  
 स्कन्धोपरि कल्प्याश्लानामारोपणकं गदइपाक्षिकं प्रायुष्य-  
 त उतरासन्नकृपमदृशस्यत्वात् कुर्वते । प्रत्येकं चत्वारो गुरु-  
 मासाः, शापि बाहू छादयित्वा संयतीं प्राधरणागतान्वास्य  
 चत्वारो लघवाः, कल्पेन शिरस्थगनकपां शीर्षहरिकां कुर्वतो  
 मासलघु, चतुष्कलं मुक्तं वा कल्पे स्कन्धोपरि कृत्वा गो-  
 पुच्छवद्भोलम्बमानं कुर्वतो मासलघु । एतेऽपि लिङ्गाऽनव-  
 स्थितेऽन्तमेवाति । तथा चरणे चापि अस्त्रियोः यः पुनः पुन-  
 आदिनात्यादिपतति, तस्य यदि स्वं 'दवाति तदा चतुर्ल' अर्थं  
 कुर्वति । एष द्विषिः अपि विहारानवस्थितः । एतद्विपरितोस्य  
 स्थलिङ्गावस्थितस्य संश्लिषिविहारानवस्थितस्य च दातव्यं यदि  
 न ददाति, तदा तथैव स्वं चतुर्ल' अर्थं चतुर्ल' । सतमनव-  
 स्थितश्चाहम् । ३० १ उ० । स्या० । ( आनेलक्यावयः पञ्चमव-  
 स्थितकल्याः 'कल्प' शब्दे तु० ग्रा० ३३३ पूष्टे बह्वयते ) " अ-  
 स्थितकल्याः करण्यता " अनवस्थिततत्प्रात्यकारणान्वासिनव-  
 तस्य सामायिकस्य करणमनवस्थितकरणमत्पकालकरणान-



अणवद्विद्य

स्तरमेव स्वजति, यथाकथञ्चिद् वा करोतीति भावः । उपा० १ अ० । पंचा० । अ० । आच० ।

अणवद्विद्यवित्त-अनवस्थितवित्त-त्रि० । एकत्र स्थापितान्तःकरणस्वरहिते, वि० सू० १ उ० ।

अणवद्वि ( त ) यस्त्राण-अनवस्थितसंस्थान-न० । सतत-अणुप्रवृत्त्या सम्यगवस्थाने, जी० ३ प्रति० ।

अणवस्थायि त-अनपनीतत्व-न० । कारकलक्षणवचनलिङ्गविध्यव्ययरूपवचनदोषापेक्षताकूपे पञ्चविंशे सत्यवचनातिशये, स० ३५ स० । रा० । औ० ।

अणवतत्पया-अनवत्राप्यता-स्त्री० । अपतापायितुं लङ्गवित्तुमर्तः शक्यो वा अपत्राप्ये लङ्गनीयः, न तदाऽनवत्राप्यस्त्वन्तुभायोऽनवत्राप्यता । हीनसर्वाङ्गत्वे, उक्त० १ अ० । अल-अनोयाङ्गतायाम्, स्था० = टा० ।

अणवतारण-अनवतारण-न० । न० त० । अणुपस्थापने, अ० २ आधि० ।

अणवत्या-अनवस्था-स्त्री० । अत्र-स्था-अङ् । अत्रस्थातिः । न० त० । अत्रस्थाभाष्ये, तर्कदोषविशेषे च । उपापाद्यस्य समर्थ-नाय उपापादकस्यानुसरणं तर्कः, यत्र तर्क उपापादोपापादकयोर्विभ्रान्तिर्नस्ति तादृशतर्कस्थानवस्थादोषः । तत्र न तर्को न ब्रह्मः । आच० । अनवस्था तु पुनः पुनः पदद्वयावतन्त्राया प्रतिज्ञेय, इह तु अनवस्थाचक्रयोर्नामकृत एव विशेषो लभ्यते न पुनरर्थकृतः । किञ्चिद् यद्व्यपत्ति-सामान्यविशेषयोरे चक्रक-मनवस्थाविभुत्वेरिति । अत्र हि चक्रके साध्ये अनवस्थानिवृत्त-लक्षणो हेतुरपन्यस्तः । अतो ह्ययत्नेऽनवस्थेय चक्रवत् पुनः पुनर्ग्रहणं च चक्रकमित्युच्यते इति । अ० १ अधि० । किञ्चिद्व्य-वस्थानाऽप्राप्तौ, विशे० । अनाम्नात्वे, वृशे० । किञ्चिदकार्यं कुर्वन्ने कदाऽप्येयामपि तथाकरणे, व्य० ७ उ० । यथा कि-मयमेवंविधं करोति किमहमेतन्न करिष्यामीत्येवंरूपा । ( तस्त्व-रूपे च 'पलंब' शब्दे यद्व्यत )

अणवद्वग्-अनवताम्र-त्रि० । अवनतमासक्रमप्रमत्तो यस्य त-स्यथा । तस्त्रिंशदादनवतमास्रम, तदेव वर्णमाशादनवताम्रमिति । आससन्नाथे अनवगतमपरित्रिंशत्परिमाणं यस्य तस्यथा । अ-परित्रिंशान्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अणवद्वृत्-त्रि० न विद्यतेऽनवद्वृत्तं पर्येतो यस्य सोऽयमनवद्वृत्त इति । अपर्यन्ते अन्तरे, सूत्र० ३ अ० २ अ० । स० । इ० । न० । प्र० । अपर्ययसाने, सूत्र० २ अ० ५ अ० । अपरिर्मिते, वि० सू० २ उ० । सूत्र० । प्र० ।

अणवपरित्वसा-अनवेष्ट्व्य-अन्व० पक्षाद् प्रागमनवलोक्ष्येन्व-ये, "जेणं तो पणुं मगगो क्वादे अणवयक्किष्ठाणं पासिसा-य" न० ७ श० ७ उ० ।

अणवप्रयमं-देशी-अवयमं इति देशीयचनोऽतवाचकः, तत-स्तन्निषाद्यवयमं । अन्तरे, भ० १ श० १ उ० ।

अणवयमाण-अनपवदत्-त्रि० । अपवदन् अन्वधैव व्यवस्थि-तं वस्तुस्यथावद्अपवदत् । न अपवदन् अनपवदत् । प्राकृ-तत्वादास्याद् वा पकारलोपः । मृधाभाद्मकुर्वात्, व्य० ३ उ० ।

अणवविर-अनवर्त-त्रि० । अत्र-वर्त-त्राये कः । अवर्तन् विर-मस्तप्राप्ति यस्य । भ० । निरन्तरे, विभ्रामशुभ्ये च । वाच० ।

निरन्तरे, कल्प० । सतते, अ० १ श० ३३ उ० । पंचा० । आच० । जं० । सकलकाले, प्रा० म० ङि० ।

अणववाद्-अनपवादित्व-न० । सर्वेषु अणवोऽसमभ्यमने-वेषु जन्तुषु अपवाद्मन्त्राद्यो करोतीत्येवं शोकोऽपवादी, मापवा-दी अनपवादीति । न० त० । तस्य भावस्वरूपम् । अपवाद्भाष-णे, परापवादे हि बहुदोषः । यदाह बावकचक्रवर्ती-"परपरि-वषपरिवादा-शामोक्त्यापच भवते कम् । नोविशोऽं प्रतिजव-म-नेकजवकोटिदुर्भोचम्" ॥१॥ इति । तद्वैयं सकलजगत्तोचरोऽप्य-वर्णवादा न अत्रान्, किं पुनरेवमात्यपुरोहितारिषु बहुजनमा-न्येषु । मृधाघवणंवाद्वाणु प्रागनाशादिदोषादिति । भ० १ अधि० ।

अणवय-अनपाय-त्रि० । अपायरहिते निर्दोषे, " आगमवचन-परिणति-भेययोगसदोषधं यद्वनपायम्" यो० ५ विष० ।

अणविक्रियता-अनपेक्षता-स्त्री० । शिखारहितन्त्रे, ग० १ अधि० ।

अणवैकस्वमाण-अनपेक्षमाण-त्रि० । शरीरनिरपेक्षं, "सुणे उ-रालं अणुवेदमाणं, चिन्वा ए सायं अणवैकस्वमाणे" सूत्र० १ अ० १० अ० ।

अणवे ( वि ) क्त्वा-अनपेक्षा-स्त्री० । स्वपरविशेषाकरणे, व्य० ३ उ० ।

अणुमाण-अनदान-न० । अश्रयते भुज्यते इत्यनदानम् । अश्रेया-हारप्रत्यास्थाने, उक्त० । एकस्मादुपवासादारभ्य पापमासिक-पर्यन्ते, उक्त० ३० अ० । पा० । आहारन्यायकपे वाह्यनानेद, स्था० ६ उ० । ग० ।

से किं तं अणमणे । अणमणे द्विविधे पणुते । तं जहा-इत्तरिण्य, आत्रकट्टिए य मे किं तं इत्तरिण्ये ? इत्तरिण्ये अणमणे पणुते । तं जहा-चउर्ये भत्ते, उद्रे भत्ते, अद्रेभे भत्ते, दस्ये भत्ते, तुवात्समे जत्ते, चउद्रेभे भत्ते, अद्रेभे भत्ते, मासिए भत्ते, दोपामिए जत्ते, निपामिए जत्ते, जाव उम्पामिए जत्ते, मेत्तं इत्तरिण्ये । से किं तं आत्रकट्टिए ? आत्रकट्टिए द्विविधे पणुते । तं जहा-पात्राङ्गमिण्ये य, ज-त्तचक्वसाणो य । ज० ३५ उ० ।

अश्रयन् त्रिधा-इत्वरं, यावत्कथिक च । तत्रैव्यरं सतुर्धावि प-रामासान्तिम्हं तेषामाश्रयन्ति, यावत् कथिकं न्वाज्जमजावि त्रिधा-पादपोषणमन्त्रित्तरणमन्त्रपरिभेदात् । एतन्न प्राये-द्याम्यातिमिति । स्था० ६ उ० । तत्रैव्यरं परिमितकालम्, तत्पु-नःश्रीमाहचारतीर्थं नमस्कारसहितान्द्रियमासान्, धीनाभयर्त्त-थेऽहोर्त्तौर्त्तौ लक्षस्त्रपर्यन्तं, मध्यमार्त्तौ कर्त्तव्यं अष्टौ मासान्, यावत्कथिकं पुनराज्जमजावि । तत्पुनःकालजदोषादिदोषत-क्षिधा । यथा-पादपोषणमन्त्रम्, इङ्कितमन्त्रम्, भङ्गारिङ्गाचेति । प्रव० ६ उ० ।

इत्तरिण्ये मरणकाला य, अणमणे द्विविहा जने ।

इत्तरिया सावर्कला, निरवर्कले उ वेदज्ञिया ॥ ११ ॥

( इत्तरिण्ये ) इत्वरभेव इत्वरकं स्वल्पकालं नियमकालाधि-कमित्यर्थः, मरणवसानः कालो यस्य तन्मरणकालम् । प्रा-भ्यन्मध्यमपदलोपो समासः यावज्जीवमित्यर्थः । यदा-मरणं का-

श्रोत्रसरोरो यस्य तन्मरणकालम् । चः समुच्चये । अथयते तुज्यत इत्यशामम्, अथोसाहाराविधानमेतत् । उक्तं हि—“सर्वो वि य आहारे, ए सस्यं सस्यो वि बुध्वाय पाणं । सर्वो वि आरामं चिय, सर्वो वि य अरामं होह” ॥ १ ॥ ततश्चाविधानमेतत् । सर्वतो बाध्यमन्मस्मिभित्तनयानं, द्विविधं हिः प्रकारं भवेत्, तत्र [इच्छरिय चि] इच्छरं सहायकान्णया घटिकाह्वयापुच्छरकासं प्रोजनामिलाचक्याय वरतेत इति सायकान्णम्, भिष्कात्समाकान्णतो निराकान्णम्, तत्रजम्भि प्रोजनाशांसाभावात्, तुवाभ्यस्ये भिष्कमत्वात् । द्वितीयं पुनर्मरणकालम् । पाठांतरतश्च निरवकाङ्कं द्वितीयम् ।

जो सो इच्छरियतवो, सो समासेण उच्यते ॥

सेदितवो परतरवो, यणो य तद् होह वगो य ॥ १० ॥

तयो य वगवगो, पंचम उक्त्वो पञ्चतवो ।

माघोच्छिप्यचित्त्यो, नायवो होह इच्छरियो ॥ ११ ॥

यथोद्देशं निर्दिष्ट इति न्यायतः इच्छरकानशनस्य जेदनाह— यथादित्यरं तपः इच्छरकानशनरूपमनन्तरमुक्तं तन्समासेन संक्षेपेण बहिर्षं विस्तरण तु बहुतरभेदमित्था भावः । बहिर्ष्यत्वमवाह— ( सेदितवो इत्यादि ) अत्र च भ्रंशः पङ्क्तिस्तदुपसङ्कितं तपः भ्रंशिनपल्लवतुषोधिक्रमेण क्रियमाणमिदं यमासान्तं परिगृह्यते, तथा भ्रंशिरत्र श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, तनुपलङ्कितं तपः प्रतरतपः, इह आख्यामोहाय चतुष्षष्टाष्टमदशमाक्षयपदकतुष्टयात्मिका बहिर्षिविषयतः सा च अनुनिर्गुणिता योरुपपदात्मकः प्रतरो भवति । अयं च प्रायामतो विस्तरतश्च नुव्य इति । अस्य स्थापनोपाय उच्यते—

“एकाद्याद्या व्यवस्थाप्याः, पञ्कयोऽत्र यथाक्रमम् ।

एकादींश्च निवेशयान्ते, क्रमापङ्क्तिं प्रपूरयेत्” ॥

अस्यार्थः—एकः आदित्यो वेत एकादशः एककक्षिकत्रिकचतुष्कास्ते आद्या यास्तु ता एकाद्याद्या, व्यवस्थाप्या न्वसनीयाः, पञ्कयः षण्योः, यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण, कोऽप्ये—प्रथमा एकाद्या पङ्कदादरज्य संस्थाप्यते, द्वितीया द्विकाद्या द्विकादारज्य, तृतीया त्रिकाद्या, त्रिकादारज्य, चतुर्थी चतुष्काद्या चतुष्कादारज्य । आह—एवं सति प्रथमपङ्क्तिरेव परिपूर्णा भवति, द्वितीयाद्यास्तु न पूर्यन्ते एव, तत्कथं पूरणीयाः ? उच्यते—एकादींश्च निवेश्य व्यवस्थाप्य, अन्त त्व्यत्र, क्रमादिति क्रममाश्रित्य, पञ्कयपूर्वमाणां भणी, पूर्यते परिपूर्णां कुर्यात् । तत्र च द्वितीयपङ्क्तिं त्रिकाक्षिकचतुष्कात्प्रथम एककः तृतीयपङ्क्तिं त्रिकचतुष्कयोः पर्यन्ते एकको द्विकश्च, चतुर्थपङ्क्तिं चतुष्कावसाने एकाद्वित्रिकाः स्थाप्यन्ते ।

स्थापना अर्थय—

प्रक्रमाद् घन इति घनतपः, चः पूरणे, तथेति समुच्चये, अचरीति क्रिया प्रतिलपोनेद् योजनीया । अत्र च योरुपपदात्मकः प्रतरः पञ्चतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणिता घनो भवति आगनं चतुः षट् षट्, स्थापना तु पूर्विकैव, नवरं, बाहुल्यतोऽपि पञ्चतुष्टयात्मकं विरोध पतनुपपङ्कितं तपो घनतप उच्यते । चः समुच्चये । तथा अचनी वर्गश्रेतीहापि प्रक्रमादग्रे इति घनतपः, तत्र च घन एव घनं गुणितां वर्गो प्रवति, ततश्चात्पुष्टिचतुष्पञ्चयेव गुणिता जातानि षड्व्यत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि, पतनु-

चतुर्थेऽं	षष्ठं	अं	दं
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

पलङ्कितं तपो वर्गतपः, ततश्च वर्गतपसाऽमन्तरं वर्गं २ इति वर्गं २ तपः, तुः समुच्चये । पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम्, अत्र वर्ग एव यदा वर्गेण गुप्यते तदा वर्ग वर्गो भवति, तथाच चत्वारि सहस्राणि षड्व्यत्यधिकानि तावन्ते गुणितानि जातेककोटिः, सप्तसष्टिसहस्राः, सप्तसप्तसहस्राणि, षे श्रेते षोडशस्राधिके । अत्रतोऽपि १६७७२१६ । एतनुपपङ्कितं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते । एवं पञ्चतुष्टयात्मिका श्रेण्यादितपो दक्षिणम् । एतदुत्तरांशे पञ्चाद्विपदेऽप्यन्तत्परिजावनो कार्या । पङ्क्तं प्रकीर्णकतयो यत् श्रेण्यादित्यतरचनान्दिरदितं स्वशक्यपेक्षं यथा कथं विधिषीयते, तच्च नमस्कारसहिनादि पूर्वतुरुपचरितं यद्यमप्यवज्ञप्रतिमादि च । इयं अदाननिधाय उपसंहारमाह—(अशुद्धिकृत्यचित्तत्योः) मनसश्चित्तस्य ईक्षितं इष्टद्विभोऽनेकप्रकारांशेः स्वर्गापचर्वादिसेजोलेइयादिवो यस्मात् तन्मनं ईक्षितवित्वाद्यं हातव्यं अचनीत्वरं प्रकामानुशान्त्यं तपः उक्तं ३ ब्र० । ( कियत्कालद्विकेनाऽमशनन कियती निर्जरा प्रवतीति ‘अशु-इत्याय’ शब्दे बह्व्यते )

संप्रति मरणकालमनशनं वक्तुमाह—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाद्विया ।

सविपारम्भोऽपि, काःचैर्षे पई भवे ॥ १२ ॥

( जा सा अणसणा इति ) प्राक्तत्वाद्न क्रीतव्यं, यदनशनं मरणे मरणायसरे द्विविधं, तद्दोषोपस्थाप्यते कथं व्यथ्यते, तीक्ष्णदाहिभिरिति गम्यते । द्विविधमेवाह—सह विचारं च च्छेत्समेकं वर्तते यस्तस्यिचारं, तद्विपरीतमविचारम् । विचारश्च कायथाङ्गमनोभेदात् अविचरिति । तद्विषयोपरिक्लामासमाह-कायच्छेदम्, अहर्तनपरिवर्तनादिकं कायप्रविचारं प्रतीतिमाश्रित्य, प्रवृत्तं स्यात् । तत्र सविचारं अकप्रत्याख्यानादिप्रतिमरणं च । तथादि—नकप्रत्याख्याने गच्छमप्यवती । गुरुहसोक्ष्मो मरणायोधनो विधिना संलेखनां विधाय तमाश्रिषिं चतुर्विधं चाऽहार्दं प्रत्याचष्टे; स च समास्तुतमृच्छंसारं समुत्सुज्य शरीरापुष्करणममत्तः स्वयमेवाङ्गाहितनमस्कारः समीपवादि—सायुदसनमस्कारो वा सत्यं शकौ स्वयमुद्व्रते, परिवर्तते च, शकिकलतायां चापरेरपि कितित्कारयति । यत् उच्यते “विद्यमममुच्छान्, उच्यते संलेहणं च काऽयं । पञ्चकनति आहार्दं, तिषिं च अउचिर्वा वा वि ॥ उच्यते परयत्तद्, सयमेव श्रेयाय कारयति । उच्यते अथा नवरं, समाहितगणं अप्र-द्विष्ये ॥” इतिनिर्माणमप्युक्त्यायतः प्रतिपद्य शुद्धस्वादिहस्थानामेकाक्षयं कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानस्तत्प्राद्विहस्थानच्छायात्त उपागुणव्यवस्थायां स्वयं संक्रामति । तथा साह—“इंगियमरणाविहाणं, आपव्वज्जं तु विद्यमणं दावं । संलेहणं च कावं, जहासमाही महाकावं ॥ १ ॥ पञ्चकनति आहारं, अउचिर्वा नियमञ्चो गुरुसगले । इंगियेदसम्मि तदा, चिद्विपि दु इंगिये कुरुह ॥ उच्यते परियत्तद्, कायमण्डेनु होह च विलासो ॥ किञ्च वि अप्पणचिय, हुंजह नियमण धीवल्लो ॥ ” अविचारं तु पादपोगममं तत्र हि सव्याघाताघातात्तदभेदतो द्विजेदेऽपि पादपवलिच्छेदनवैध स्वीयते । तथा च तद्विधिः—“प्रभिरादिकण देये, जहाद्विरे सेसय यमुत्तम् । पञ्चकनहास्तु तत्रो, तथेतिव सव्यसमाहार्दं ॥ सत्समावसिम् त्रियपवा, सम्मं लिंत्तमणियमभेणं । गिरिकंरं तु गंतं, पायवगमनं अह करेति ॥ सव्यश्यापदिच्ये, देनो य पतायज्जणमिह नाऽं ।

जावज्जीवं चिद्वयं, निविष्टो पायवसमाप्ते ॥ ”  
पुनरपि त्रिविधं प्रकारान्तरणाह—

अहृषा सपरिक्रम्या, अपरिक्रम्या य अह्रिया ।  
नीहारिपनीहारी, आहारञ्चेन्नो य दोसु वि ॥ १३ ॥

अथवेति प्रकारान्तरसूत्रेण, सह परिक्रमेणा स्थाननिवदनत्वगुण-  
तद्विधायिका विभ्रामणादिना च वतते यत्सत्परिक्रमं, अपरिक्रमं च  
तन्निर्णीतमाख्यातं कथितम् ॥ तत्र अपरिक्रमं जक्रमत्याख्यात-  
सिद्धिनीमरणं कैश्च स्वयमेवैव वा कृतस्य अन्त्य तु स्वयं विहि-  
स्य, उद्धृत्यादिनेष्टात्सपरिक्रमणांशुक्रानात् । तथ चाह—“अथ  
परपरिक्रमं, अत्तपरिचारा दो अणुश्रया । परयञ्जिजया य ई-  
गिण्ये, चतसिह्वहाहारचिरतो य ॥ गणुनिसीय तुयद्दृष्ट, तिरि-  
याहिं जहा समाहोय । सयमेव य सो कुणह, उवसना परीस-  
हृदिया से ॥ ” अपरिक्रमं च पादोपगमनय, निध्नप्रतिक्रमेताया एव  
तत्राभिधानात् । तथा चागमः—“समक्षिसममिष य पडिओ, अ-  
च्छह जह पायवोय विह्रंयो । निष्कननिष्पडिक्रमो, निष्कनवह  
जं जहिं अंमं ॥ तं थिय होह तहृषिय, एधरं चरणं परंप्रओ-  
गामो । बायादिह तस्सत् । वत्रिणीयादिह तदिं तस्सत् ॥ ” यथा-  
परिक्रमं संलेखना सा यत्रादिन तत्सपरिक्रमं, तत्रिणीमपरि-  
क्रमं । तत्र च इयाघाते त्रयमप्येतत्सुत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पा-  
दितशेषः संलेखनायुक्तेमेव विधायं, अन्यथा अतंभ्यानसंन-  
यात् । उक्तं च—“देहमि अस्सिदिहिय, सहसा धादिह किञ्जामाणेहि ।  
जायति अहृच्छरणं, सदीरियो अरिमकालमि ॥ ” इति सपरिक्रमो-  
च्यते । अन्त्यमन्त्रोघाते गिरिभिसिपतनाभिजातादिपु संलेख-  
नायव्यवधिच जक्रमत्याख्यानादि विधेयं, तदपरिक्रमं । उक्तं चा-  
गमे—“ अमिघाउ वा विज्जुगिरिभिसिपकोणया य वा होउजा ।  
संलच्छहृथपाया, दयायापण होउजाहि ॥ एप्यदि कारणेदि, वा  
घातिसमरण होह नाययं । परिक्रममकाउणे, पचककलाती  
ततो मचं ॥ ” तथा निदेरुणं निहोदि गिरिकन्दरादिगमनेन प्रमादे-  
वेदि निर्मिगं, तद्विद्यते यत्र तत्रिहोदि, तद्व्यवधिहोदि, यदुन्था-  
तुकामेन वृजिकादी विधोयते, एतच्च प्रकारद्वयमपि पादोपा-  
यमनविषयम्, तत्रस्ताव पचागमेऽस्याभिधानात् । तेषां चागमः  
“ पचककलाती काउं, णेययं जाव होह वोच्छिपो । पंचतले ऊ-  
णय सो, पाओपगमं परिणओ य ॥ तं कुविहं नाययं, नीहारि वेव  
तद अणीहारिं । बहिया मामादीणं, गिरिकन्दमाह नीहारिं ॥  
बहयास्तु जं अंतो, उद्धोसो मणाणगाह अणदारिं । तद्दा पायव-  
गणयं, जं उवमा पायवणेणयं ॥ ” आहारोऽप्यादिनस्त्वच्छेदस्तत्रि-  
कारणमाहारच्छेदः । शुक्योरपि सपरिक्रमोपरिक्रमणोर्नि-  
हृषियेतिरिणोश्च स्तम इति शेषः । उभयत्र तद्व्यवच्छेदस्य  
तुल्यत्वादिनि सूत्रपञ्चाशदर्थः । उक्तमनगमम् । सण ३० अ० ।  
स्या० । औ० ( अमशानविधानं, येन येनाऽमशनेन कृतं तत्तच्छ-  
वेऽपि हृत्त्वम्, यथा ‘कंदगं’ शब्दे ‘मिधकुमारं’ शब्दे ‘मरण’ शब्दे च  
विशिष्टे विधिः ) अपरिभोगे, सूत्रं १ श्रु० ७ अ० । तथा दाञ-  
उवरी कश्चिदमशने कृत्वा रज्ज्मासपि जलपानं विधत्ते । यथा-  
ह्रियामशनेमेव न करोतीत्यत्र राओ संबंधा जलत्यागाशक्तेन ते-  
नाहारत्यागरूपमशनेन तु विधेयमेवेति ज्ञातमस्ति । तथाऽमश-  
निगा आख्यानाद्विधये च जलं पेयं, तद्व्युत्पन्नेभ्येति । हो० प्रक० ।  
“ नंदे जहे सुभहे य, वे पुष्पेऽमशने करे ” इति तन्मुहूर्तम् ।  
गण ३० ।

अणुसिय-अनशित-वि० । न अशितोऽनशितः । अनुके, “न-

ययं पदीगमणतो, संघच्छरमणसिभो विहरमायो ” आ०  
मं ३० ।

अणुसुआ-देशी-आसकप्रसे, वे० ना० १ वर्ग ।  
अणुह-अनय-वि० नाऽमशमस्याऽस्तीति अमशः निरघद्यानुष्ठ-  
यिनि, सूत्रं १ श्रु० २ अ० २ उ० । अप्राये, आय० ४ अ० नि-  
होये, औ० प्रक० । अकते, सू० प्र० २० पाहु० । वं० प्र० ।  
अणुहृत्पायुं-देशी-अन्ते, वे० ना० १ वर्ग ।  
अणुहृत्वीय-अनघधीज-पुं० । अविनष्टधीजे, वृ० ४ उ० ।  
नि० सू० ।

अणुहसमग-अनयसमग-वि० । अमशमकृते न पुनरपान्त-  
राले केनापि चौरादिना विभुतं समग्रं ऊच्यं ज्ञापकोपरकरणादि  
यस्य स तथा । नरकरादिनाऽऽनुगमनसंबन्धे, चं० प्र० २० पाहु० ।  
निर्वृत्तं, अहीनपरिवारं, “ सखटं कथकउं अणुहसमगो (ण-  
यं घंरं इवमागए ” अमशयं निर्वृत्तयतया समप्रत्यमहीनधन-  
परिचारातया । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।  
अणुहाराओ-देशी-सखट, वे० ना० १ वर्ग ।

अणुहृत्सखट-अनशितानार्थ-पुं० । अविषयसमुद्देशानर्थे,  
“ तांसि पचकयदेउं अणुहृत्कषाजा अ कलहो अ ” ह० १ उ० ।

अणुहृत्गिय-अनधिगन-वि० । अगीताथे, व्य० १ उ० । अम-  
न्तरभाविनि, विश० । अविज्ञाते, व्य० १ उ० ।

अणुहृत्गियगुप्सापाव-अनधिगतपुष्पापा-वि० । सूत्रार्थकथने-  
ऽर्थव्यवहृतपुष्पापाये, “ अणुहृत्गियगुप्सापाये उघाघांवेत्सत् चउ  
गुक् होंति ” व्य० ४ उ० ।

अणुहृत्ज्जमाण-अनधीयमान-वि० । अपगति, “ ते विज्जा-  
माण अणुहृत्ज्जमाण, आहसु विज्जा परिमोक्कमवेव ” सूत्रं  
१ श्रु० १ श्रु० १ अ० ।

अणुहृत्पिण्डि-अनधिनिविष्ट-वि० । अतस्वार्थिनिवेशार्थेन,  
पंचा० ३ विय० ।

अणुहृत्पास-अनधिसह-पुं० । असहियौ, वृ० १ उ० ।

अणुहृत्पिला ( वा ) कणुणय-अनहृत्पिलापटकनगर-क्य० ।  
गुर्जरेधारिण्यो सरस्वतीनदीतीरे ‘ पाठण ’ इतीदानीं कथां  
नगरे, यत्रादिपदेभिः पूज्यते । “ पणमि अररिदेनेमां, प्रणहिर-  
पुरपहृत्तावयसस्स । वंनाण गच्छाणिसस्य, अरिण्ठेनिमिस्स ( क-  
सिमां कयं ” ती० २६ कटप । “ अरिचणुमि ’ शब्दे दृष्टो-  
प्यतेऽयं कटपः । यत्र अमयदेवद्वारनिर्मणया विरचिताः । यथाःकं  
पञ्चाशकं—“अतुरधिकविशतिवृत्ते, बर्षेसहस्रे शते च सिक्तंयम् ।  
धवलकणुपे वसन्त्यां, धनेपरयोःकुलचन्द्रिकयोः । अणहृत्पिला-  
पटकनगरे, सखटैरेवेतमानुत्पद्यन्त्येः । अदीणाणाक्यादी-वि-  
हृत्तिः शोभिता येति ” पञ्चा० १६ विय० । अमवतीवृत्तय-  
“ अहविशतियुके, वर्षेसहस्रे शतेन चाऽप्यधिके । अणहृत्पिला-  
पटकनगरे, कृतेयमच्छेत्तधनिवसती ” अ० ४३ श० १ उ० ।

अणुहृत्-अनधी-स्त्री० । पाक्षिपानकनगरे कपदिनामधेयस्य  
ग्राममहत्तरस्य आर्योयाभ, ती० ३३ कटप ।

अणुहृत्-अनधीत-वि० । अन्त्यते, मं० १ अधि० ।  
अणुहृत्परमरथ-अनधीतपरमार्थ-पुं० । अमधीता अमथ्यस्ता

परमांश्च आगमरहस्यमि वैस्तेऽनधीतरमांशोः । अग्नी-  
तायै, “ जे अथाह्वयपरमत्ये गोवामा ! संज्ञाय प्रवे ”  
ग १ अथि० ।

अथाह्-अनादि-वि० । न विद्यते आदिः प्रावत्यमस्येत्यनादिः ।  
वच० १ अ० । अथाद्यभ्ये, हा० ३० अह० । पं० सं० । आदि-  
विक्रते, उच० १ अ० । अथाप्यां आ० म० । नास्याऽऽदिरस्यना-  
दिः । संसारे, सूत्र० २ कु० ३ अ० । आदिरहिते, श्या० ३  
जा० १ उ० ।

अथाह्जजापाम्पिअनादेयानाम्प-न० । नामकर्मभेदे; कर्म० १  
कर्म० । प्रव० आ० । यद्बुधवशात्पुपत्रमपि भुषाणो नोपादेयव-  
चनो प्रयति, नाप्युपकिचमाणांऽपि जनस्तस्याऽप्युत्थानादि समा-  
चरति । पं० सं० ३ इ० ।

अथाह् ( ए ) ज्वषययाषषापाय-अनादेयवचनमत्याजात-  
वि० । अनादेये वचनप्रत्याजाते येषां ते तथा । अनुपादेयवचन-  
जन्मसु, ज० ७ हा० ६ उ० ।

अथाह्पिह्य-अनादिनिधन-वि० । आदिः प्रथमं निधनं प-  
र्यन्तः, ततश्च ते आदिनिधने, न विद्यते आदिनिधने यस्य स  
अनादिनिधनः । दृश० । स्वम० । अनाद्यप्यर्थव्यतिस्ते, अत्युत्प-  
शब्धते च । आश० ४ अ० ।

अथाह्पि-अनाचीर्ण-वि० । अनासेचिते, महापुत्रैरनाचीर्णम्  
[ नाऽऽचरणीयम् ] कु० १ उ० । तदेवाशुशुष परः प्राह-यदि  
यद्यथास्वीमशुर्गनिचावीर्णं तस्यान्वायैरप्याचारितव्यं, तर्हि ती-  
र्थकैः प्राकारत्रयत्रयप्रभृतीकप्रभृतीकैः तेषामिवाधीयं तु-  
दैर्बर्हिजा यथा समुपजीविता, तद् वयमपि अस्मभिमिचकृते  
किं नोपजीवामः ? । सूत्रिराह-

कामं तद्वु अणुगुरुणो, धम्मा तद् वि तु न सव्यसाहम्मा ।  
गुरुणो जं तु अइसस्य, पाहुनिपाई समुपजीवे ॥

काममनुमत्तं कल्पस्माकं यदनुगुरो धर्माः, तथापि न सर्वथा-  
साध्याधिचिन्त्यन्ते किन्तु देशसाधन्योदेव । तथाहि-गुरुच-  
स्वीर्थकराः, यस्तु यत्पुनरितिशयान् प्रावृत्तिकादीन् कोऽप्येः प्रा-  
वृत्तिका प्रैरन्कादिकृता समवसरणरचना, आदिशब्दादवस्थि-  
तनकरोपधोनुककण्टकादिस्तुत्कृतातिसायपरिग्रहः, तान्, समु-  
पजीवति, स तीर्थकरो जीतकल्प इति कृत्वा न तत्रानुधर्म-  
ता जितनीया, यत्र पुनरनीधकृतामित्येषां च साधूनां सामा-  
न्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मता चिन्त्यते, सा चैवमनाधीर्षेति हृदयते ।

सगदहसमधोमे, अवि अ विसेसस्य विरद्वियतरं से ।  
तथा वि स्तुलु अथाह्मं, एससुपुधिमो पवययसस ॥

यदा स भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगुहमनरादुदा-  
यननरेन्द्रप्रमाजगप्ये सिन्धुसौबीरेदेवावतंसं वीतमयं नगरं प्र-  
स्थितस्तदा किन्नापस्तदासं बहवः साधवः बुधाषांस्तुप्रादिताः  
संज्ञावाधिताश्च बभूवुः, यत्र च भगवानावास्तितस्तत्र तिलपूता-  
मिं शकटानि, पानीयपूनीहश्च हृदयं, स्वमीमं च गर्वाधिष्ठादिर्वाजि-  
तं स्थापितममनवत् । अपि च-विरोधेण तथिहोदकस्यविकलजा-  
तं विरहिततरय, अतिशयेनाऽऽमृग्यकैहच अधिर्बर्हिजमित्यर्थः ।  
तथापि कस्य भगवताऽनाचीर्षि, मातुगुणं च, येषोऽनुधर्मः प्रवच-  
स्य तीर्थस्य, सर्वैरपि वचनमध्यमन्वासीमैः शक्नोपहस्यरिहार-  
कृष्ण पच च धर्मोऽनुगमनस्य इति भावः ।

अथैतदेव विष्णोति-

वक्तंजोषि र्थंनिल-अतसा दिशा जिई अवि तुहाई ॥

तद् वि न गेहंहुं जिषो, माहु पसंगो असत्यहए ॥

यत्र जगवानावास्तितवन्न बहुनि तित्वाकटाऽन्यावास्तितान्या-  
सन्, तेषु च तिस्रा ध्युकास्तयोनिका अशक्नोपहता अन्नापुःसंज्ञ-  
येणाविशीभूतानि च यद्यस्थितिज्ञे स्थिता भवेयुक्तानां न कल्पे-  
रक्षित्यत आह-स्थितिज्ञे स्थिताः । एवंविधा अपि प्रसैः संस-  
का भविष्यतीत्याह-अत्रसास्तदुसमागन्मुकलसाधिरहिताः, ति-  
लशाकटस्वामिभिश्च गृहस्थैरसाः । एतेन वाऽऽस्तावानदोषोऽपि  
तेषु मालीर्युक्तं जवति । अपि च-ते साधवः बुधापीकितं मापुषः  
स्थितिक्षयमकार्षुः तथापि जिना वक्त्रमानस्वामी नाग्रहीत, प्रा  
भूदशकृते प्रसङ्गाः तीर्थकरेणापि गृहीतमिति मदीयमात्मन्यनं  
कृत्वा मत्सन्तानगतितिनः शिष्या अशक्नोपहत्तमप्रदीयुति  
भावः । युक्तिज्ञं चैतद् प्रमावस्थपुरुषाणाम् । यत् उक्तम्—  
“ प्रमाणांनि प्रमणस्थैः, रक्षणीयानि यत्ततः । विधीयन्ति प्रमा-  
णांनि प्रमाणस्थैःसिंसंस्तुतेः ” ॥ १ ॥

एवमेव य निज्जीवे, दृहम्भि तसचमिप दए दिन्ने ।

समजोमे अत्र अवि त्रिती, जिमिताऽऽसन्ना न याणुन्ना ॥

एवमेव च हृदे निज्जीवे यथाऽऽप्युक्त्यावृत्तिशीतुते भवित-  
पृथिव्यां च स्थिते प्रसवर्जिते च उदके पानीये दृढस्वामिना च  
वृत्ते तुषार्हितानां स्थितिक्षयकारणेऽपि जगवासानुत्तमीते स्म, प्रा  
पूत् प्रसंग इति, तथा स्वामी मृतीयोर्युक्त्यां जिमितमत्रैः सा-  
पुजिः सार्द्धमकारण्यो प्रपञः स्वमनिसंज्ञाया आभावा, यथा-  
[मासलन नि] ज्ञावास्तनता साधूनां समज्जि। तत्र स्वमनौमं गण-  
गोप्यद्विस्वादिर्वाजितं यथा स्थितिक्षयं व्युत्कान्तयोनिक्पृथिवीकं  
प्रसप्रापयिदिदं स्फुटिज्ञं नतेन, अपरं च शक्नोपहते स्फुटि-  
ज्ञं नास्ति न प्राप्यते, अपि च ते साधवः संज्ञावाधिताः स्थिति-  
क्षयं कुर्वन्ति, तथापि भगवान्नुहां करोति, यथाऽत्र ध्युस्तुज-  
तेति, सा भूदशकृते प्रसङ्गः, इत्येषोऽनुधर्मः प्रवचनस्येति स-  
र्वत्र योज्यम् । ६० १ उ० । नि० पू० । [ कश्चिद्विषयाऽऽशीर्णताऽऽ-  
नाचीर्णता च ‘पलम्ब’ शब्दे बहयते ]

अथाह्पि-अनाः दिवन्ध-पुं० । यस्त्वनानादिकासात् सस्तानप्रा-  
वते प्रवृत्ते न कदाचिद् व्यर्थचिन्तनः सोऽनादिधनः । कर्मव-  
धनेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

अथाह्पि-अनाः दिवन्ध-पुं० । निध्यायस्यसंसारे, पंचा० ३ विव० ।

अथाह्भवद्वन्निग-अनादिजवद्वन्प्लिङ्ग-न० । अनादिप्रवे नि-  
ध्यायस्यसंसारे यानि कृत्यानिङ्गानि भावविकलत्वेनाप्रमाणप्र-  
जितादिनेपथ्यचरजकृष्णानि तानि तथा । संसारे परतीर्थक-  
प्रमजितेषु, “ एतेषु च विभाषणो अथाह्भवद्वन्प्लिङ्गोमे वेव ”  
पंचा० ३ विव० ।

अथाह्पि-अनाः आधिक-वि० । अविचमानस्यजने, अ० १ श० १ उ० ।

अथाहीत-वि० । अत्युत्पन्नं पापमसिंसायेनेतं गतमपातीतम् ।  
पापं प्राप्ते, अ० १ हा० १ उ० ।

अनादिक-वि० । अविचमानादिके, प्र० १ श० १ उ० । श्या० ।

नास्यादिः प्रथमोपरिधिद्यते इत्यनादिकः । अतुर्दशऽऽस्तात्मके  
श्लोके, चर्मोऽधर्मविके वा कल्पे, सूत्र० २ कु० ५ अ० ।

अथाहीत-वि० । अत्युत्पन्नतय, अत्युत्पन्नः स्थितामिच्छताया  
संसारे, अ० १ हा० १ उ० ।

अथाद्भ

अथाद्भ-अनाविल-वि०। अकल्पे, "अथाद्भयो अकसाह मुके, सकेव देवादिबर्होद्भे" यथा जासी सागरोऽनाविलोऽकमुष-अस एव जगवानपि तथाधिधकमेतेषामाथाद्भकमुषकान इति । सूत्र० १ सु० ६ श्र० । "गीतागे वणलापका, विप्रस्योय अथादिबे । अथाद्भे स्याद्भे, संधिपे अनेशिसं" यथाऽना-विशोऽकमुषयो गण्ठेयाऽस्युकतया मरुतराऽनाकुलो वा, विषयाम्बुः । सूत्र० १ सु० १५ श्र० । सामादिनिरपेके, "गो नुष्पय गो य विकपद्भ्या, अथाद्भयो अकसाह भिष्क्" अनादिबोः सोऽनादिनिरपेकः । सूत्र० १ सु० १४ श्र० ।

अथाद्भसंयुक्तय-अनादिंसंयुक्त-पु०। न विद्यते आदिः प्रायस्य-मस्येत्यनादिः। स बेह प्रकमात् संयोगस्तेन संमिते, "अणो-एणाणुगयायं, एमं च तं च तिविमयणमजुत्तं" इत्यागमाच्चि-आ-गानावेम युक्तः क्रिष्टोऽनादिसंयुक्तः स एवानादिंसंयुक्तः । यथा-संयोगः संयुक्ततोऽनादिसंयुक्तमस्येत्यनादिसंयुक्तम् । कर्मणाऽनादिसंयोगसंयुक्ते जीवे, उक्त० ३ श्र० ।

अथाद्भसंताण-अनादिमन्तान-पु०। अनादिप्रथाहक, औ० । "अथाद्भसंताणकर्मबंधणकिसंखिकिष्णसुधुत्तारं" अनादिः सन्तानो यस्य कर्मबन्धनत्व तस्यथा । प्रश्न० ३ श्रा० ३३ ।

अथाद्भसिक्त-अनादिसिक्तान्त-पु०। अमनमन्तो वाच्ययाचक-कल्पनया परिच्छेदोऽनादिसिक्तश्चासावन्तश्चानादिसिक्तान्तः । अनादिकाऽनादावन्त्येदं वाचकमिदं तु वाच्यमित्येवं सिद्धं प्रति-ष्ठितं परिच्छेदं, अनु० ।

अथाद्भ-अनायुष-पु०। न विद्यते चतुर्विधमव्यायुर्यस्य स भवत्यानायुः । द्रष्टव्यकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तिविरहे जिते, "अ-पुत्तरे सव्यजगसि विज्जे, गंथा सन्ति अनय अणाऊः" सूत्र० १ सु० ६ श्र० । अयत्तायुःकर्मणि क्ते, "तं सहहाणा य जणा अणाऊ, इदा व देवादिब आगमिस्सं" सूत्र० १ सु० ६ श्र० । जीवनेदे, स्या० २ ग० १ श्र० ।

अथाद्भ-अनाकुटी-पु० । 'कुह क्हेदेने' अकुहन्माकुहः, स विद्यते यस्यासावाकुटी, नाकुटी अनाकुटी । आहिसायम, आचा० १ सु० ५ अ० १ श्र० । आ० म० द्वि० । "जाणं कायण गाउट्टी, अनुदो जं च हिंसति । पुणे संबेदं परं, अभियत्तं कलु स्याउजं" सूत्र० १ सु० १ श्र० २ श्र० १ श्र० । 'कम्म' शब्दे चैतद् तुतं। यज्जां ३३० वृष्टे स्पष्टं। न विद्यति ।

अथाद्भट्टिया-अनाकुट्टिका-स्त्री० । अनुपेत्य करणे, पंच० १६ वि० ।

अथाद्भउत्त-अनायुक्त-वि०। न०। १। अनाभोगयति अनुपयुक्ते, स्या० २ ग० १ श्र० । उक्त० । असवधाने, औ० । आलस्य-भाजि प्रत्युपेकाऽनुपयुक्ते, उक्त० १७ श्र० ।

अथाद्भउत्त-अनायुक्त-अनायुक्तदानवा-स्त्री० । अनायुक्तोऽना-जोगवाननुपयुक्त इत्यर्थः । तस्यादानता अनायुक्तदानता । अनायुक्तस्य वस्त्रादिविषये प्रहणनायाम्, अनाजोगप्रत्ययक्रिया-भेदे, स्या० २ ग० १ श्र० ।

अथाद्भउत्तपमज्जयाया-अनायुक्तप्रमाजैतता-स्त्री० । ६ त० । अनायुक्तस्य पात्रादिविषयप्रमाजैतारूपे अनाजोगप्रत्ययक्रिया-नेदे, इह इयोः शब्दयोः ताप्रत्ययः स्वाधिकः । प्राहृत्यनेन अनादानां भावविबन्धनेति । स्या० २ ग० १ श्र० ।

अथाद्भउत्तल-अनाकुल-वि०। समुद्रवक्रकादिभिः परीयहोपसर्ष-

रकुज्यति, "अथार्थमिप अणाउले, समविस्साई सुणी दिथा सय" सूत्र० १ सु० २ अ० २ श्र० । सूत्रायां दुत्तरति, "सव्वं अणेत्त परिचज्जयंते, अणाउलेया अकसाह भिष्क्" सूत्र० १ सु० १३ श्र० । "गवपि अणाउतो संबंजरसमणंसि" भा० म० प्र० । अन्त० । क्रोधादिपरहिते, स्या० १ श्र० । औत्सुक्य-रहिते, इ० १ श्र० ।

अथाउलया-अनाकुलता-स्त्री०। निराकुलतायाम्, "सर्वज्ञा-नाकुलता-यतिप्राधाप्रयपरसमासं" सो० १३ वि० । अथाएम-अनादेश-पु०। आकृति मयोदया विशेषरूपानतिक्र-मात्मिकया विद्यते कथ्यते इत्यादेशो विशेषः, न आदेशोऽना-देशः । सामान्ये, उक्त० १ श्र० । (सोऽहाइरयोऽयं 'संजोग' शब्दे एव प्रदर्शयिष्यते )

अथागाद-अनागाति-स्त्री०। न०। १। अनागमने, अशेषकर्मद्यु-तिकर्यायां लोकात्प्राऽऽकाशं च आनुकुर्यायां वा सिक्ते, "गदं च ओ जाणइ पाणइ च" सूत्र० १ सु० १३ श्र० ।

अथागाता-अनागत्य-अव्य० । अगमनमकरेत्यर्थे, स्या० ३ ग० २ उ० ।

अथागत ( य )-अनागत-वि०। न आगतोऽनागतः । वर्तमान-न्यमप्राप्ते जविष्यति, स्या० ३ ग० ४ उ० । समयार्थे पुत्र-परावतने काले भविष्यत्कालसम्बन्धिनि, म० १ सु० । "अथागतमपरस्संता, पच्चुपपन्नयसगा । ते पच्चा परितप्यति, कांणे आरम्मि जेवणं" अनागतमेध्यत्कामानिपुत्तानां नर-कादियाननस्थानेषु महादुःखमपश्यन्तोऽपत्यंते। ज्वनन्ति । सूत्र० १ सु० ३ अ० ४ उ० । "ततिय उप्पन्नमणागयाइ, लोमसंज जा-याति तहागयाई" अनागमानि च भवान्तरमावीनि सुखदुःखा-दीनि । सूत्र० १ सु० १३ श्र० । "जं य बुक्का अगिकता, जं य बुक्का अणागया" अनागत भविष्यदन्तकाशमयिनि । सूत्र० १ सु० १३ श्र० ।

अथागत ( य ) काश-अनागतकाल-पु०। विवर्तितं वर्तमानं समयमपधीहृत्य भाविनि समयशो, ज्ये० १ पाठु० ।

अथागतका-अनागतका-स्त्री० । आगामिपत्युक्लपरा-वर्तेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

अथागत ( य ) काशमहाद्य-अनागतकालमहाद्य-न० । ज-विष्यत्कालमहाद्यस्य वस्तुनः परिच्छेदात्मके विशेषपदशुभान-भेदे, अनु० ।

से किं तं अथागतकाशमहाद्यं ? अथागतकाशमहाद्यं-अभस्स निम्मझंत्तं, कसिणायगिरिं सविज्जुआ मेहा । धणियं वाउक्कामां, सज्जारसापण्णटा य ॥१॥

वारुणं वा मीहिदं वा अस्सयं वा उप्पयां पत्तत्थं पा-निक्ता तेण साहिज्जा । जहा-सुवृत्तिं जविस्सइ । सेत्तं अथा-गतयाल्लुमहंत्तं ॥

गारा सुगमा, नवरं, स्मन्तितं मेघगर्जितं (वाउक्कामो षि) तथा-विषो हृद्यव्यभिचारं प्रदक्षिणं दिक्षु भ्रमरं प्रशस्तो वातः (वा-रणं ति) आर्कमूलादिनक्षत्रप्रजयं, माहेच्छरोर्हाणोऽप्येद्यदिनक्षत्र-संभवम्, अन्यतरमुत्पातमुत्पातानिद्विन्द्यादिकं, प्रशस्तं वृष्टे-व्यभिचारिणं दृष्ट्वाऽनुधीयते, यथा-सुवृष्टिश्च भविष्यति, तत्र-व्यभिचारिणामभ्रनिमैत्रव्यादीनां समुदितानामभ्यतरस्य वाद्दो-

नाथयाऽन्वयविति । विशिष्टा ह्यत्र निर्मस्यवाच्यो वृद्धिर्न व्यति-  
चरति, अतः प्रतिपद्ये तत्र निपुणो न भाव्यमिति । अत्रु० ।

अष्टागात्-अनागात्-पुं० । अनागमने, आत्मा ० शु० ६ प्र० ३० । अपौ-  
ठयेयादौ आगमे, आगमसंज्ञकविहीनत्वात्तस्य । ह्यां० १० उ० ।  
अष्टागात्पुंशब्दम-अनागमनपर्यन्त-वि० । अनागमने न धर्मो येषां  
तं याऽऽरोपितप्रतिज्ञाभार्याह्रिस्थात् । न पुन्युद्देश्यमागमने-  
पशु, आत्मा ० १ शु० ६ प्र० ३० ।

अष्टागात्पचक्षत्वाण-अनागतप्रत्याख्यान-न० । प्रत्याख्यान-  
भेदं भविष्यति प्रत्याख्यानं, आया० अनागतकरणाद्नागतपश्व्यु-  
षणाद्वाच्यार्थव्युद्धियैवाहस्य करणान्तरस्यज्ञावाहारत एव त-  
त्सत्पःकरणे, ह्यां० ।

उक्तं च—

होद्दौ पजोसवणा, ममयतया अंतराद्यं होज्जा ।  
गुरुदेयावर्षेण, तत्रस्तिमेवाप्य एव ॥ ५ ॥  
सो दाइ तवोक्त्तम्, पहिन्नज्जइ तं अष्टागात् काले ।  
एवं पचक्षत्वाणं, अष्टागात्पं होइ नायव्वं ॥ ६ ॥

अभिष्यति पशुषणा मम च तदाऽन्तरायं भवेत् । केन हेतुनेत्यत  
श्राद्ध-गुरुदेयाद्यर्थेन नपरिवशान्नातया वेत्सुपकृणामिति गाथा-  
समासार्थः—(सो दाइ सि) स इदानीं तपःकर्म प्रतिपद्येत् तदनागते  
काष्ठे एतत्प्रत्याख्यानमेवभूतमनागतकरणाद्नागतं हातय्यं जव-  
नीनि गाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ "इमो पुण पथ जावयो-अष्टा-  
गात् पचक्षत्वाणं, जहा अनागात्पं तयं करेज्जा पजोसवणा  
गहणुणं पथासिगुद्धे कीच, सव्वज्जहोअं अचमं, जहा पजोसव-  
णा एतहा वाअम्मासिणं उद्धं पचिस्सय अचमत्तं अण्येसु य  
एहणुणुज्जाणादिसु तहिं ममं अतराद्यं होज्जा, सुअन्नाय रिया  
तेस्सि कायव्वं, ते कि ण करेति असद्ध होज्जा अहया अन्ना काइ  
आणसिया होज्जा कायक्खिया गमंतरादि सव्वस्य वा आण-  
णव्वं सगंरिययावक्खिया वा ताहे सो उववासं करेइ, गुरुदेया-  
वचचं न सक्केइ जो अन्नो दोगहवि समग्घो सो करेइ, जो वा  
अन्नो समग्घो उववासस्स सो करेइ नत्थि न वा लंभेज्जा ण-  
याण० जाव विधि ताहे सो जेव पुव्वं उववासं काठणं पच्छा त-  
द्विसं भुजेज्जा तवस्सं नाम आमग्घो वेत्स कायव्वं होज्जा  
तो कि तदा न करेइ सो तीरे पचो पजोसवणा उसारिया  
(असद्ध सि) वा सयं पाराविचो नाइ य सयं पजोसमसग्घो  
जाणि अग्घामं ताणि वचचो नत्थि अथइ सेसं जहा गुरुहि  
विमासा मेवजं जाणइ जहा ताहिं दिवसे असद्ध होइ विज्जेण  
वा भणियं अग्घुं दिवसे (काहसि) अहवा सयं जेव जाणाति  
संगंरोगादिहिं तेहिं दिवसेहिं असद्ध होइ (सामिणि) सेसे वि-  
मासा जहा गुरुहिं कारणकुलगणसंघञ्जायरियगच्छे वा तरेव  
विमासा पचो सो अष्टागाते काले काठण पच्छा पुजेज्जा  
पजोसवणादिसु तस्स जा किर निज्जा पजोसवणादिहिं त-  
हेव सा अष्टागाते काले भवति ॥ गतमनागतद्धारम् । आब०  
६ अ० । आनु० । ध० । ज० प्र० ।

अष्टागात्पि-अनमैलित-वि० । अनिचारिते, अ० १५ श० १ उ० ।

अनाकलित-वि० । अग्रमेये, अ० १५ श० १ उ० । उपा० ।

अष्टागात्पिचर्नतिकरौस-अनगैलितचार्दत्तत्रौष-वि० ।

अनिचारितचर्दत्ततीम्नांशे, अ० १५ श० १ उ० ।

अनाकलितचार्दत्तत्रौष-वि० । अनाकलितप्रमेयचर्दत्तो-  
व्यांशे, " अनागात्पचर्नतिकरौसं समुहृषियं च वलं ग्रमं

तं द्विचिचिसं सत्पं संबंहेति" । अ० १५ श० १ उ० । उपा० । हा०  
अष्टागात्-अनागात्-वि० । अनभिगृहीतवर्षेणविशेषे, वृ० १  
० । आगादभिष्टे कारणे, अ० ३ उ० । "आगाद्" शब्दे त्रिती-  
यनागे ६६ पृष्ठे व्याख्यास्यते ] अथ किमिदमगादं किं वा अ-  
नागादम् ? । अथत्वे- "अहिद्विद्विसविवृद्ध-सज्जकस्यवृत्तमा-  
गादं" । अहिना सत्पेण दृष्टः कश्चिद्, यिषं वा केनचिद् अका-  
दिभिश्च दत्तं, विद्विषा वा कस्यापि ज्ञाना, सचः कृयकारि  
वा कस्यापि क्षुल्लमुपस्य, एवमादिकमाद्युष्वाति सधमप्यागा-  
दम् । एतद्विपरीतं तु खिरघाति कुञ्जादिरोगात्सकमनागादम् ।  
वृ० १ उ० । नि० अ० । अनागादं योगे अथ उच्यतेनागादौ  
सुते, नि० अ० ४ उ० ।

अष्टागात्-अनाकार-न० । अविद्यमाना आकारा महत्सकां-  
राद्यो विच्छिन्नयोजनत्वात् प्रतिपद्यतिस्तिवत्नकारम् ।  
ह्यां० १० उ० । अविद्यमानमहत्सकांराद्याकारं, प्र० ३३ ह्रा० ।  
अविद्यमानाकारे प्रत्याख्यानभेदे, यच्चिद्विशेषयोजनसम्भवा-  
ज्ञां कान्तारदुर्भिक्षादौ महत्सकाद्याकारमनुष्चारयद्विभिधी-  
यते तदनाकारमिति केवलमनाकारेऽपि अनाभोगसदृसाकारा-  
नुष्चारयितव्यावेच काष्ठादुष्वाद्दुर्भिक्षे प्रकृषेपणतो न ज्ञां मा नृदि-  
ति । अतोऽनाभोगसदृसाकारापेक्षया सर्वदा साकारमेव । अ०  
७ श० १ उ० । ह्रा० प्र० । अनाकारं नाम तत् किंतु केवलसि-  
हानाकारेऽपि अनाभोगः सहसाकारश्च आद्याकारौ भणितव्यौ,  
येन कदाचिदनाभोगतोऽज्ञानतः सहसा वा रमसेन नृणादि  
मुखे क्षिप्रनिपेत्ता कुतोऽपि इति कृत्वाकारत्किमपि शेषैर्माहस-  
रकारादिभिराकारैः रहितमनाकारमितिधीयते । उच्यतेनागादौ  
कदा विधीयते ? अत्राह- "दुर्भिक्षव्यवित्तकंता-रगाडरोगाद्य  
कुञ्जा" । दुर्भिक्षे वृष्टयभावे हिष्टमनापेयं भिक्षा न लभ्यते,  
तत एदं प्रत्याख्यानं कृत्वा ज्ञियते । वृत्तिकान्तारे वा, वसंत  
शरौरेष्वथ सा ह्युत्पत्तिर्नादिका तद्विषयं कान्तारमिय कान्तारं  
तत्र यथाऽऽव्यां निज्ञानं लभ्यते तथा सिणुषल्लयादिपुत्रजा-  
बाऽऽदावृत्तिजाकीर्णेषु शासनसिद्धौऽपिच्छितेषु भिक्षादि माऽऽ-  
साद्यते, तदेदं प्रत्याख्यानम् । तथा वैद्याभ्युपनिधिषेये गाडतर-  
रोगे सति गृह्यते । आदिशब्दात् कान्तारं केशरिशिकोरादिज-  
न्यमानायामापादिं कुर्यादिति । प्र० ४ ह्रा० । अविद्यमान आ-  
कारो भेदो ब्राह्मणस्यास्त्ययनाकारम् । सम्म० । अतिकान्तविशेषे  
सामान्यालम्बानं दर्शने, " साकारं सेणोणे अष्टागात् वे ससुं"  
सम्म० । " मसुपेवहिमणकेवल-विद्यममसुपेणाणासागरा ।"  
सह आकारेण जातिवस्तुप्रतियनियतम्रहणपरिणामरूपेण " आ-  
गारां उ विसेसा " इति वचनात् विशेषेण वर्तन्त इति साका-  
राणि । अग्रमथः-वद्वयमापानि चत्वारि दर्शनानि अनाका-  
राणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि-सामान्यवि-  
शेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु । कथमिति वेदुच्यते- दूराद्वृ-  
हि शासलमात्रव्यक्त्यावकचरूपकदम्बजम्बुनिष्पादिशिशिष्टव्य-  
क्तिरूपतयाऽवधारितं तत्कनिकामयशोकयतः सामान्येन वृक्ष-  
माअप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमाप रूपं चकस्ति, तस्मान्-  
म्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, "निर्देशं विशेषाणामग्रहा दर्शन-  
मुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य  
तासत्मात्रशाक्षादिव्यक्तिकरूपतयाऽवधारितं, तस्यैव महोदहमुप-  
श्रयतां विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमापानि, तद्विशे-  
परूपं साकारं ज्ञानमग्रमेयम् । प्रमा च पारोम्भपरप्रयचन-  
प्रधीणचेतसः प्रतिपद्यमिति, सद् विशिष्टाकरणे वर्तते इति

कृत्वा । तदर्थं प्रतिप्राथम्यसिद्धप्रमाणाभावितप्रतीतिबध्नात्सर्वमपि चक्षुःज्ञानं सामान्यबिद्योपवृक्षयत्नात्मकं भावनीयमिति । कर्म० ४ कर्म० । "अक्षय्यं अक्षय्यं भोही केवलद्वैतस्य अथागारः" द्यो-पवृक्षयत्स्य प्रत्येकं संबन्धात्क्षुद्रोदरीनाः । ऽवक्षुद्रोदरीनाः ऽवधिद्व-रानाम् । केवलद्वैतमहाकापि अथागारं द्योनमिति । तत्र अक्षुद्या घ-स्तुसाध्यात्प्रार्थनात्मकं प्रदर्थं चक्षुद्रोदरीनाम्, अक्षय्यया अक्षुद्रज्योद-येकियत्वात्प्रुपयेन श्रवसा च यद्दर्शनं सामान्याशात्मकं प्रदर्थं तत्क्षुद्रोदरीनाम् ३, अथयिना रूपिच्छमयथांद्वा द्दर्शनं सामान्याशा-त्मकमथधिद्वैतानम् ३, केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वप्राहादिकबोधविशेष-रूपेण यद्दर्शनं सामान्याश्रयप्रदं तत्केवलदर्शनमिति । किंरुपा-एतेतापि द्दर्शान्त्यत आह—अनाकाराणि सामान्याकारयुक्त-त्वे स्वयमि न विद्यते विविद्यमाने च आकारो येषु ताभ्यामकारा-णि इति । कर्म० ४ कर्म० ।

अनाजीवे-अनाजी । विक्र-पुं० । निःस्पृधे, दृश० ३ अ० । "अगि-साह अनाजीवे नाथव्ये सो तथाप्यारो" ग० १ अधि० ।

अनाजीवि ( ष् )—अनाजीविन्-त्रि० । न आजीवी अनाजीवी । अनाशीसिनि, नि० षू० १ उ० ।

अनाजीवे-देही-जादे, दे० ना० १ शर्ग ।

अनाहायमाण-अनाहियमाण-त्रि० । अनादृत्यति, आचा० २ षू० १ अ० २ उ० ।

अणादिदे-अनाहृत-ज० न० ०। आ-हृ-भावे-क्त। अनादरे सं-क्षमरहिते, आचा० ३ अ० । "आदरकरणे भाद्र, तसिधरि"यं अना-दित्यं होइ । आदरः संभ्रमस्तत्करणाभाहृतता, सा यत्र न जयति तद्वनाहृतमुच्यते । इत्येकपदं चन्मन्दांधानां प्रथमं दोषे, वृ० ३ उ० आचा० आ० षू० । ध० । अदरः संभ्रमः, तत्करणाभाहृतम् । आर्थस्वादादिभ्यं सतिपरीतं तत्कहितमनाहृतं जयति । प्रथ० २ अ० । अनादरेण वन्देन, एष धम्नकस्य प्रथमदोषः । आ० षू० ३ अ० । तत्परकृते, त्रि० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये गृहपतिनेदं, पुं० । तत्क-थानिरुपयाव्यः ३ वर्गे १० । अधयने सुखिताऽस्ति । तत्रैव पञ्चमा-ऽध्ययनेऽकृष्णजकृष्येव ज्ञावनीया । सारथेस्तु-अनाहियगृहप-निः काकन्दी नगरीयं सभ्रमवृत्तानां स्थविराणामस्ति के प्रत्ययं गृहीत्वा श्रुतमर्थात् तपः कृत्वा श्रमपयमनुपादय अनाहानेन का-सं कृत्वा सौधमं कल्पे अणादियदिवाने द्विसागरोपमायुक्तत-या देवत्वनोपपन्नः, तत्कृत्वा महाहविर्देह स्वस्थः । नि० । भाहता आदरक्रियाविषयः । कृताः, शेषा जम्बूदिपगता द्वा येना-त्मना हस्तदृढतं महद्विक्तमभिक्लामणेन सोऽभ्रातः । जी० ३ प्रति० ।

अनकिंक्र-पुं० । जम्बूदिपाविद्याद्वेषे, उच० ११ अ० । "ज-म्बूदिपादिवर्षे अणादिमो" द्वी० । जी० । स्था० । "अण्डुत्तस्य" शब्देऽप्येव चकथ्यता ।

अणादिप्या-अनाहता-क्लि० । अनाहताद्नाहृदाया सा अनाहता, नन्दिषेखस्येव अनाहृतस्य वा सिधिलस्य वा सा तथा । स्था० १० जा० । "दोगनियत्त सविक्का अणादिप्या रामकहपुत्रवचने" सं० प्रा० ० व० । अनाहृतस्य जम्बूदिपाधिपतेः राजधान्याव, जी० ३ प्रति० ।

अणाद्या-अनाहा-क्लि० । आहात्पत्ते स्वन्नाहा इति तदिह मासिप-रिदारतया सर्वेदोपदेशस्तद्विषययोऽनाहा । तीथकरानुपदिष्टे स्वमनीयिकाया भाचरितेऽभावे, आचा० ।

अणापाए एने सोपद्वामा, आगामाए एने निरुवचाण, ।

एषं व मा होउ एषं कुसस्तस देसणं ।

इह तीथहरणधरादिनोपदेशगोचरोभूते विनेयोऽभिधायिभे-यदि वा सर्वे भावसंनिवित्वाद् भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्, अ-नाहाऽनुपदेशः स्वमनीयिकाचरितोऽनाहारस्त्याऽन्यथा तस्यां वा एकेन्द्रियवशात् तुगति जिगमिष्यः स्वभिमानप्रव्रस्ताः । सह उपस्थानेन अर्धचरागान्तोऽप्येन वर्तते इति सोपस्थायाः, किल बधमपि प्रव्रजिताः सदसकर्मविशेषविधेयविकलाः साव-धारमन्तया धतन्ते । एके तु न कुमानवासिताःतःकरणाः किन्तु आसस्यावर्णेनस्तऽनुपभृंहितरुचय आहायां तीथकरोपदेशः श्रे-ष्ठेति सदाचारं निगतमुपस्थानमुद्यमेन येषां ते निरुवस्थायाः, सर्वेद्वप्रतीतसदाचारानुष्ठानविकलाः । एतःकुःमागानुष्ठानं सन्मा-गावसादनं च ह्यमपि ते तव शुक्तिनेयोगमतस्य तुगोनिहेतु-त्वात्मा ङ्गतिः सुभस्वमाभि स्वमनीयिकापराहारात्साह—(एव-मित्यादि) । एतद्युक्तयोर्क यदि वा अनाहायां निरुवस्थातःकमा-हायां च सोपस्थानत्वमित्येतत्कृत्वात् तीथकृतो द्योनमनि-प्रायः, यदि वैतद् बधयमाणं कुशलस्य दर्शनम् । आचा० १ अ० ५ अ० ६ उ० ।

अणाणव-अनानान्त-न० । भेद्वचनेतं, स्था० १ जा० ।

अणाणव-अनाहृक्-तीथकरोपदेशशब्दे स्वैरिति, आचा० १ अ० २ अ० ६ उ० ।

अणाणुगामिय-अनानुगामिक-त्रि० । न अनुगच्छति इति कास्नात्समुपाकारित्वेनानुगतारिति, स्था० ४ ठा० १ उ० । अनु-जानुबन्धे, स्था० ९ जा० । न अनुगामिकमनानुगामिकदः । श्र-ञ्च त्रयतिबन्धप्रतीपसदशे गच्छन्तमननुगच्छति अविहङ्गानविशे-धे, नं० । तच्च—

से किं ते अणाणुगामिय ओदिनाणं ? अणाणुगामियं ओदिनाणं सं ज्ञानामए केऽपुरिसं एगं महंतं जोऽहृताणं काठं तस्सेव जोऽहृताणस्म परि परंतदि ३ परिऽहृताणं परियोलोभाये तमेव जोऽहृताणं पासइ, अणस्त्यगए नो पासइ, एवामेव अणाणुगामियं ओदिनाणं जन्त्येव मुपज्जइ, तत्येव संखिज्जाणि वा अर्मंखिज्जाणि वा संबच्छाणि वा अणसंबच्छाणि वा जोगयाए जाणइ पामइ अणस्त्यगए न पासइ, सेत्तं अणाणुगामियं ओदिनाणं ।

अथ किं तद् अनानुगामिकमवधिज्ञानम् ? सुरिराह-अनानुगामिकमवधिज्ञानं स विवक्षितं, यथा नाम-काश्चिदुच्यते पृथेः सुख-तुःआनामिति । पुरुषः पुरि शयनाहा पुरुष यत् महज्जयतिः स्वान-मस्तिस्थानं कुपांन कस्मिन्निस्त्येन, अनेकज्जाहासातसंकुलमग्नि-प्रदीपं वा स्तूलवर्तिज्जाहाऽनुकममुपावर्थादियथैः । ततस्तत्कृत्वा तस्यैव ज्योतिःस्थानस्य परि एवमेतत् २ परितः सर्वान् दिक्षु पर्य-न्तेषु परिपूर्णात् परिभ्रमन् इत्यर्थः । तत्रेव ज्योतिःस्वानं ज्योति-स्थानप्रकाशितेकेऽं पश्यति, अन्यत्र गतो न पश्यति । एष हृत्वात्तः । उपनयमाह—एवमेव अनेनेव प्रकारेणानुगामिकमव-धिज्ञानं यथैव केने स्ववदियेतस्य सतः समुपपद्ये तस्यैव व्य-बस्थितः सद् सङ्ख्येयानि असहस्येयानि वा योजनानि स्वाध्याया-हक्त्रेण सह संबन्धानि असंबन्धानि वा धर्माधिष्ठातिकोऽपि ज्ञा-यमानः स्वबाधाबद्धेशादारज्य निरन्तरं प्रकाशयति कोऽपि पुन-रपान्तरमे अन्तरं कृत्वा परतः प्रकाशयति, सत् उच्यते-सम्भ-

काचसंस्कारानि वीर्यं ज्ञानाति विरोधाकारेण परिकल्पितानि, पश्यति सामान्याकारेणानुपप्लुते, अन्यत्र देशान्तरमतेषु वैषय-  
तिः अविद्यानावरणकारणैरामस्य तत्क्षेत्रस्यापेक्षत्वात् । तदेव-  
मुक्तमनुतामिकम् । मं० । कर्म० ।

अथापुगाभिय-अनानुतामि-वि० । अनाहते, 'से यस्यं ज्ञान म-  
नेस्यं च, अस्वस्स पाणस्स अथापुगामिदे' सु० १ ७० १ ३ ७० ।  
अथापुगाभिय- ( अ )-अनानुतामि-पुं० । अथवापदेने कायाना-  
मुपग्रभेर्षि कृते पश्चादनुतापदेति, अयं २ उ० । इ। । पुत्रु कृत-  
मित्यादि पश्चात्तापमकुर्वति निःशङ्क, निर्दये च अर्पतेमाने,  
बु० ३ उ० ।

अथापुगाभियि वारम्-

वितियपदे जो तु परं, तावेसा एणुपुत्तपते पच्छा।

सो होति अथापुगाभियं, किं पुण दप्पेण सेविवा? ।।४७२।।

वितियं अथवातपदं, तेण अथवातपदेण जो साह्यपर पृथक्किंवाया  
तेजोसंघट्टपरितावकवहवणेण वा तावयं करेत्ता, पच्छा एणुपुत्त-  
प्यति, अहा-हा । बुद्ध कयं, सो होति अथपुगाभियं-अपच्छावाहीत्य-  
र्थः । कारणवितियपदेण जयणाय पन्निसेविकुण अपच्छावाधियाणो  
अथपुगाभियं पन्निसेवा जयति, किं पुण जो दप्पेण पन्निसेविता  
नानुत्तप्यते इत्यर्थः । अथापुगाभियि ति गमत् । नी० अ० १ उ० ।

अथापुगाभिय-अनानुपूर्वी-स्त्री० । न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी, आनुपूर्-  
वीपश्चानुपूर्वीप्रकारकानुपूर्वातिरिक्तकण्ठपायामपरिधाटी, ब्रतु० ।  
( अनानुपूर्वी आनुपूर्वी सह सम्मिश्रितो विषयः 'अथपुगाभियं'  
शब्दे द्वितीयानो १३१ पृष्ठे बहव्यते, सांकाशांकादीनां पूर्वपश्चा-  
त्प्रयोऽनुपूर्वीत्यादि च 'रोहा' शब्दे बहव्यते )

अथापुगाभिय- ( अ )-अननुवर्त्तिन्-न० । नानुवर्त्तोऽनुवर्त्तः, सो-  
ऽप्यन्त्यसंज्ञिति । न विद्यतेऽनुवर्त्तः सातव्यं प्रस्फोटकादीनां  
यत्र तदनुवर्त्ति, इन् समासान्ताऽत्र इत्यर्थः । नानुवर्त्ति अननुवर्-  
त्ति । स्था० ६ डा० । अत्रमादप्रत्युपेक्षणविधिभेदे, प्रत्युपेक्षेण च  
न निरन्तरमात्रोटादि, किं तर्हि, सास्तरं सविच्छेदमिति तस्यच ।  
धर्म० ३ अधि० । औ० । नि० अ० । उ० ।

अथापुगाभिय [ अ ]-अननुवर्त्तिन्-वि० । प्रकृत्येव निदुरे, बु० १ उ० ।

अथापुगाभिय [ अ ]-अननुवादिन्-पुं० । वादिनोक्तं साधनमनु-  
वादिन् शीघ्रमन्वेष्येऽनुवादि, तत्रातिव्याधाननुवादि । अथापुगाभिय-  
नन्वेष्येऽनुवादिमपि कर्तुमशक्ते, " से मुमुदे होह अथापुगाभिय"  
सु० १ ७० १२ अ० ।

अथापुगाभिय-अननुवर्त्तिन्-अव्य० । पश्चादविचारवैयर्थ्ये,  
सु० १ ७० १२ अ० ।

अथापुगाभिय-अनातापक-वि० । संस्तारकपात्रादीनामातेऽ-  
दातरि, [ साधौ ] कल्प० ।

अथापुगाभिय-अनातीति-पुं० । आ समन्तादतीति शते गतोऽनाद्यन-  
न्तसंस्तारे आतीति, न आतीतोऽनातीति । संस्ताराद्येवपारगामि-  
नि, आत्मा० १ सु० ७ अ० ६ अ० ।

अथापुगाभिय-अनादि-वि० । प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, उ० ७ अ० ।  
आ० म० हि० । प्र० ।

अथापुगाभिय-अनाहत्-पुं० । अन्वृषीं प्रापिथवी स्थन्तरुरे,  
उ० १० अ० ।

अनादि-पुं० । मास्यादिः प्रथमोत्पत्तिविद्यते इत्यन्वादिः । अत-  
देवाऽऽव्यक्त्यर्थे धर्मोऽनादिके वा इत्येव, सु० १ ७० ५ अ० ।  
दोषविशेषे, बु० ३ उ० । [स्युत्पत्तिस्तु 'अनादिच' शब्दे निरुक्तिः]  
प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, नि० १ न० ७० । प्र० १ ३ अ० ५ अ० ।

अनादि-वि० । अणं पापकर्म आदिकारणं यस्य सोऽन्नादि-  
कः । पापकार्ये, प्र० १ ३ अ० ५ अ० ।

अनादि-वि० । अणमणं हेयकल्पमतिक्रान्ते, "पंचविहो पन्नतो  
जिणेहि इह अणयो अनादिये" प्र० १ ३ अ० ५ अ० ।

अथापुगाभिय- ( अ )-अनापुत्रयचारिन्-पुं० । गणमनापु-  
त्रय चरति क्षेत्रान्तरंस्वकारि कर्तोतीत्येवंशीतोऽनापुत्रयचारि-  
न् । नो आपुत्रय चारिणि पक्षमं विग्रहस्थानं प्राप्ते, स्था०  
१ म० १ उ० ।

अथापुगाभिय-अनावाप-पुं० । अथकाते, बु० ३ उ० । वाधाव-  
र्जिते, दश० ६ अ० । न विद्यते आवाधा अन्वयारामरक्षुत्तुपिया-  
सादिका यत्र तदनावाचम् । स्वार्थाविकथायापगमतो मोक्षकुले,  
स्था० १० डा० । स्वाध्यायादास्तारायकारणरहिते, उ० ७ अ० ।  
"होह अनावाहादिमित्त-मन्वेषणमनाउलो निदुरे" अनावाधा-  
निमित्तमनावाधाकार्येव, निमित्तशब्दः कार्यवाचकः तथा लो-  
के वक्तारो भवन्ति-अनेन निमित्तेन अनेन कारणेन मयेदं कार्य-  
मारब्धमनेन कार्योन्त्यर्थः । आ० म० हि० ।

अथापुगाभिय-अनावाप-वि० । अनावाधमुखाजिजाह्वित-पुं० ।  
मोक्षकुलाभिज्ञापिणि, दश० १ अ० ।

अथापुगाभिय-अभिप्रह-न० । न विद्यते अभिप्रह इदमेव  
दर्शने शोभने मान्यदित्येवकपो यत्र तदभिप्रहय । मिथ्या-  
न्वये, यत्रमास्त्वर्थावयपि दर्शनाति शोभनातीत्येवमीषस्ता-  
धर्म्यमवलम्बते । पं० सं० १ डा० ।

अथापुगाभिय-अनाज्ञोभ-पुं० । आभोगमनाभोगः, न आभोगोऽ-  
नाभोगः । पं० व० २ डा० । अत्यन्तविस्तृतौ, आनु० । पंचा०  
जीत० । नि० अ० । व्य० । एकान्तविस्तृतौ, आ० अ०  
६ अ० । अज्ञाने, नि० अ० २ अ० । आभोगमनाभोगः, उपयो-  
गविशेष इत्यर्थः । अनुपयोगे, आ० ७ अ० । असाधधान-  
तायाम्, ध० २ अधि० । न विद्यते आभोगः परिभाषणं यत्र  
तदनाभोगम् । तत्त्वैकेन्द्रियव्यापिनिमिति । पं० सं० ३ डा० ।  
विचारग्रन्थस्यैकेन्द्रियव्यापिनि विशोभनातिविकृतस्य भवति । इदं  
सर्वोपाधिप्राप्यकथोपस्वरूपं विवक्षितं किञ्चिदंशान्यक-  
थोपस्वरूपं वैत्येवैकविधयम् । ध० २ अधि० । दृश० । कर्म० ।

अथापुगाभिय-अनाभोगध्यान-न० । अनाभोगोऽत्यन्त-  
विस्तृतिः, तस्य ध्यानम् । विस्तृतव्रतप्रसन्नचन्द्रस्येव ध्याने,  
आनु० । [ 'पस्यचंद्र' शब्दे वैतथ कथानकम् ]

अथापुगाभिय-अनाभोगकृत-न० । अनाभोगेन कृतं जति-  
तत् । अज्ञानकृते, कर्म० ५ कर्म० ।

अथापुगाभिय-अनाभोगक्रिया-स्त्री० । अनाभोगमन्वेष्ये  
क्रियाभेदे, अनाभोगक्रिया द्विविधा-आदातनिलेपपञ्चानाभोग-  
क्रिया, उक्तमणानाभोगक्रिया च । तत्राऽऽदानं रजोहरणप्रा-  
प्तीवरादिकानामप्रत्युपेक्षिता, अत्रमजितानामनाभोगोनाऽऽ-  
दाननिलेपः । उक्तमणानाभोगक्रिया-सहस्रसंज्ञकभाषानासमी-  
क्षागमनागमनादि । आ० अ० ५ अ० ।



अष्टाजोगशिवस्तिथि-अष्टाजोगनिर्वाहति-पुं० । अष्टाननिर्व-  
लिते, स्था० ।

अष्टाजोगप्रतिसेवणा-अष्टाजोगप्रतिसेवना-स्त्री० । अष्टा-  
भोगो विश्वस्तिथस्तत्र प्रतिसेवना । प्रतिसेवनाभेदे, स्था० १०  
डा० । ( अष्टाभोगप्रतिसेवनायाः स्वस्वयं ' पश्चिसेवणा ' शब्दे  
वर्णयिष्यते )

अष्टाजोगभूष-अष्टाभोगभूष-पुं० । विश्वरूपसम्प्राये, " इय  
चरणमि दिवाशं, होर अष्टाभोगमाश्रयो बलस्यो " पंचा०  
१७ विष० ।

अष्टाभोगया-अष्टाजोगता-स्त्री० । अष्टाभोगरहिततायाम,  
कर्म० ४ कर्म० ।

अष्टाभोगव-अष्टाजोगवत्-त्रि० । अष्टाभोगोऽपरिज्ञानमात्र-  
सेव केवलं प्रस्थाप्योदितुं सूक्ष्मबुद्धिगम्येष्टु, स विद्यते यस्य स  
तथा । अष्टार्थापरिज्ञातरि, " यो निरनुभवंदोषा-च्छ्रद्धाद्धोऽना-  
भोगवान् बुद्धिनदीकः " शो० १२ विष० । संमूच्छेनजप्रायं  
अष्टानिनि, ज्ञा० १० ज्ञा० ।

अष्टाभोगवत्सिधा-अष्टाभोगमत्स्यया-स्त्री० । अष्टाभोगोऽष्टा-  
नादि । अष्टानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा तथा । स्था० २  
डा० १ उ० । पात्राद्यादृतो निक्षिप्तो वा सम्भवति क्रिया-  
भेदे, स्था० ५ डा० २ उ० । " अष्टाभोगवत्सिधा क्रियाया दु-  
विहा प्रथमा । तं जहा-अष्टाउत्स्रष्टायस्या जेव, अष्टाउत्स्रम-  
ज्जणया जेव " स्था० ४ डा० २ उ० । अष्टा० ५० । अष्टा० ।

अष्टार्धस्तिथि-अष्टानमन्थि-अष्ट्य० । अष्टापूर्ववत्प्रथमं, अष्टा०  
२ भु० १ अ० ४ उ० ।

अष्टाभियावाहृ-अष्टाभिकव्याधि- पुं० । नामरहिते व्या-  
धौ, अष्टाभिको नामरहितो व्याधिरसाधरतरागः । सं० ।

अष्टार्धवित्त-अष्टाचामाश्रु- त्रि० । अष्टाचामाश्रुविरहिते,  
अष्टा० ६ अ० ।

अष्टाशयण-अष्टाशयक-पुं० । न विद्यतेऽन्यो नायकोऽत्येव्यना-  
यकः । स्वयंप्रभे चक्रवर्त्यादौ, सूत्र० १ भु० २ अ० २ उ० ।

अष्टाशयक-त्रि० । अष्टसजने, त्रि० ५० ८ उ० । अष्टभाषने, त्रि०  
५० ११ उ० ।

अष्टाशयण-अष्टाशयन-न० । न अष्टायनमनायतनम् । अष्टधा-  
ने, वेष्ट्यासामन्ताधिकेपे दृश० १ अ० । साधुनामानश्रये, प्रश्न०  
४ सम्ब० ३० । नाट्यशास्त्रायां, अष्टवर्षपरितजन्तुगुणशास्त्रा-  
याम्, पंच० ५० । पार्श्वस्थायायतने, अष्टा० ३ अ० । पशुप-  
रथकंसलके वा स्थाने, शो० ।

इदानीमनायतनस्यैव पर्यायशब्दाद् प्रतिपाद्यशब्दाह—  
सावजमणाययणं, अष्टोद्विडाणं कुसीलसंसर्गि ।  
एगदा ह्येति पया, एए विवरणं आययणा ॥ १०६ ॥  
साव जमनायतनमशोषिस्थानं कुशीलसंसर्गि एताभ्येकार्थिका-  
नि पदाणि भवन्ति । एताभ्येव च विपर्ययानि अष्टायतनं भवति ।  
कथम् ? असावद्यमनायतनं शोषिस्थानं कुशीलसंसर्गि । अत्र  
जामनायतनं वर्जयित्वा आशयतनं गविवर्णायम् ।

पतदेवाह—

ब्रह्मिषु अष्टाशयणं, आययणमेवेषां मदा कुज्जा ।

तं तु पुण अष्टाशयणं, नायनं चन्द्रजात्रेण ॥ १०७ ॥

वर्जयित्वा अनायतनमायतनस्य गवेषणं सदा सर्वथाहं कुर्वन्-  
त् । तमुत्तरनायतनं ह्येतो प्रावतश्च विज्ञेयम् ।

तत्र ह्यनायतनं प्रतिपाद्यशब्दाह—

दन्वे रुहाइया, अष्टाशयणं भावओ दुविहयम् ।

सोइय नोऽनुत्तरियं, तस्य पुण सोऽप्ये इष्टयो ॥ १०८ ॥

ह्येव द्रव्यविषयमनायतनं रुहाइयुहम् । इदानीं जाततोऽना-  
यतनमुच्यते । तत्र प्रायतो द्विविधमेव-सौकरिकं, लोकोत्तरं च ।  
तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्तते—

स्वरिया तिरिस्वरणोष्ठी, गालायर समण माहृण मुसाणो ।

वागुरिय वाह गुम्मिय-हरिएसपुसिद्वयकिञ्चंभा या १०८ ६ ।

स्वरिकति इतिस्वरिका यथाऽस्ते तदनायतनम्, तथा तिर्यग्येवमथ  
यत्र तद्व्यनायतनम्, तामाश्रयाश्रयास्ते यत्र तदनायतनम्, अ-  
मणाः शाक्यादयस्ते यत्र, तथा श्रावणा यत्र तदनायतनं, इमहा-  
नं वानायतनम्, तथा वागुरिका व्याघ्रागुल्मिकाव्युत्पत्तिशालाः  
हरिमना पुलिन्दा मत्स्यवन्ध्याश्च यत्र तदनायतनमिति ।

एतद्व्यनायतनेषु कृणमपि न गतव्यम्, तथा चाह—

स्वणमवि न स्वमं गंतुं, अष्टाशयणसेवणा सुविहियाणं ।

जं गंधं होइ वणं, तं गंधं मारुओ वणं ॥ १०९ ॥

कृणमपि न कर्म न योग्यमनायतनं गन्तुं, तथा सेवया च अना-  
यतनस्य सुविहितानां कर्तुं न क्त्वा न सुक्ता । यतोऽप्यं दोषो  
जयति " जं गंधं होइ वणं तं गंधं मारुओ वाह " । सुगमम् ।

न अत्र एवमाई, शोगमि दुर्मजिया गरहिया य ।

अष्टाशयणं न समणो ण व, न कप्ये तारिसो वासो १०९ १ ॥

येऽप्ये एवमाद्यं चोक्तं तत्रोक्तं निदर्शयति । अष्टाशयणम-  
तनविशेषाः, तत्र अमणानां अमणीनां वा न कल्पते तादृशो वास  
इति । उक्तं सौकरिकं भावनायतनम् ।

इदानीं लोकोत्तरं प्रावनायतनं प्रतिपाद्यशब्दाह—

अहं लोगुत्तरियं पुण, अष्टाशयण भावओ सुशयव्वं ।

जे संजमसोणाणं, करिति हाणि ममत्ता वि ॥ १०९ २ ॥

अथ लोकोत्तरं पुनरनायतनं भावत इदं ज्ञातव्यम् । ये प्र-  
जिनाः संयमयोगानां कुर्वन्ति हाणि समथा अपि सन्तः, तल्लोक-  
त्तरमनायतनम् । तेष्वं पर्वविषः संसर्गो न कर्तव्यः । ( कुशीलसं-  
सर्गं दोषाः ' किहकम्म ' शब्दे नृनीयमाणे वक्ष्यन्ते )

नाणस्स दंसणस्स य, चरणस्स य जत्थ होइ उवथाओ ।

वाज्जिज्जव्वज्जभूरे, अष्टाशयणवज्जओ खिणं ॥ ११० ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्र्यस्य च यत्रायतनं भवति सपञ्चातस्त्वं  
वर्जयेद्वद्यमीकः साधुः, किचिशिष्टः ? अनायतनं वर्जयतीति  
अनायतनवर्जकः । स पर्वविषः किमि अनायतनमुपघातकं  
वर्जयेदिति ।

इदानीं विशेषतोऽनायतनप्रदर्शनायाह—

जत्थ साहम्मिया बह्वे, जिञ्चिच्चा अष्टारिया ।

पूसगुणपफितेवो, अष्टाशयणं तं वियाणाहि ११० १ ॥

सुगमा, नवरं, मूलगुणाः शाणातिपाताद्यवस्तानामितिसंभव  
इति मूलगुणप्रतिसेवित्वेन च न निवसन्ति तदनायतनमिति ।

जत्थ साहम्मिया बह्वे, जिञ्चिच्चा अष्टारिया य ।

उत्तरगुणपदिसेवो, अष्टाशयणं तं वियाणाहि ११० २ ॥

सुगमा, नवरं, उत्तरगुणाः 'पिंडस्स जा बिखोही' इत्यादि  
सम्यक्सिद्धिभेदे ।

जन्ध साधमिया बहवे, भिक्षुविया अणारिया ।

लिंगवैसपदिच्छन्ना, अणायययं तं विद्याणारि ॥ १ ० ३ ॥

सुगमा, नवरं, सिद्धिवेद्यमानेन प्रविष्टकृत्वा बाह्यतः, आत्यन्तरतः  
पुनर्दूतगुणसेविन उच्यतेपुणसेविनश्च, ते यत्र तदनायतनमिति ।  
उक्तं लोकोत्तरं आध्यात्मयत्नेन तत्रापि तदनायोक्तमनायतनस्वरूप-  
पदम् ॥ अ० ।

अणाययये चरंतस्स, संसग्गीए अमिकसणं ।

दोज्ज वयायं पीसा, सायक्कमिय य संसज्जो ॥ १० ॥

अनायतने अस्थाने वेद्यसासामन्तादी, चरतो गच्छतः, संसर्गेण  
सम्पन्नेन, अनीक्षणं पुनः २। किमिच्छाह—अन्वेष्टं प्रत्यागं प्राणाति-  
पातविरत्यादीनां पीसा, तदाज्ञितव्येसासो भावविराघना, आम-  
ध्ये च अमणभावे च उच्यते रजोहरणादिविचारणरूपे नूयो  
भास्वतप्रधानहेती संघायाः कदाचिदुभिक्षाः प्रत्येकवेद्येः । तथा  
च कृत्वायाथा— " वेसादिगयभायस्स, मेहुणं पीडिज्जह, अणुप-  
योगेणं पसणाकरणं हिंसा, पशुपायणे अणुपुञ्जप्रवलयणा-  
ऽसत्त्ववयणं, अणुसायवेसाहंस्सणे अहंसादानं, मसत्करणे  
परिभाहा, एवं सत्त्ववयपीसा । दय्यसाम्भे पुण संसज्जो उचि-  
क्कमयोगेण पित् " सुत्रार्थः । दश० ५ अ० ३ उ० ।

अणाययणपरिहार—अनायतनपरिहार—पुं० । आयतनं पार्श्व-  
स्थादिक्रुतीर्धिवेद्ययादिवद्वादिक्कृत्वायतनजनेन, दश० ।

अणाययणसेवण—अनायतनसेवन—न० । पार्श्वस्थाधायतनज-  
नेन, आव० ३ अ० ।

अणायर—अनादर—पुं० । तिरस्कारे, को० । अनुत्साहादिमके  
सामायिकव्यतिक्तारभरे, स च प्रतिनियतवैश्यायं सामायि-  
कस्वकारणं, यथाकथंचिद्धा करणानन्तरमेव पारयं च । यदा-  
हुः—"काठण तक्कणं विय, पारेद करेद वा जहण्णए । अणवण्ठि-  
असामाहअ—अणायराज्जो न तं सुक्क" ॥१॥ धर्म० ५ अ० १ प्रथ० ।

अणायरंत—अनाचरत—अ० । विवर्जयति, " पाचमणायरंतं "  
पापमगममिषिकं कर्म, अनाचरत् वियजेयत् । पंचा० ११ विच० ।

अणायरणजोग—अनाचरत्खोजोग—अ० । आसत्त्वनाऽनेहं,  
" सिक्कवावेउ अणायरणजोगो " पञ्जा० १० विच० ।

अणायरणया—अनाचरत्खता—अ० । गौणमाहंनयकर्मणि,  
सम्भ० ।

अणायरिय—अनार्य—पुं० । आराद् यताः सर्ववेद्यवर्मेज्य इ-  
त्यर्थः । अस्त्रिष्येयान्द्वारायोः । कूरकर्मण, आवा० १ पु० ५ अ०  
१ उ० । शक्यवनादिवेशोऽज्ञवेपु, सुत्र० २ सु० १ अ० ।

अणायस—अनायस—अ० । अल्लोहमये, नि० ५ उ० ।

अणाय्या—अनात्मन्—पुं० । न आत्मा अनात्मा । यदादिद्वयार्थे, 'यो  
अनाया' सप्रदेशार्थेतयाऽसंख्येयान्त्वप्रदेशोऽपि तथाधिक-  
परिणामरूपप्रव्यायीपेक्षया एक एव, सत्तानापेक्षयाऽपि, मुख्य-  
रूपापेक्षया तु अनुपयोगसङ्गैकस्वभावयुक्तत्वात्कथाभिजात्रि-  
रूपकपाणामापि धर्मास्तिकायादीनामनासामयैकत्वमयत्सवामि-  
नि । स० १ सम० । परस्मिन् " अणायार अचकमह " अ०  
१ श० ५ उ० ।

अणाय्याण—अनादान—न० । अकारणे, "अणाय्याणमेवं अमिना-  
दियसिज्जासथियस्स " कथ० ।

अणायार—अनाचार—पुं० । आचरणमाचारः, आचारकर्मोदिय-  
रिहरणपरिष्ठापनरूपोऽनाचारोऽनाचारः । आचारकर्मोदिय-  
रुणो, आनु० । साध्याचारस्वपरिभोगतो ष्वन्ते, ष्व० १ उ० । आव० ।  
ध० । (अनाचारव्याख्याऽऽध्याकर्मोऽभिव्यक्तं 'अहकर्म' शब्दे अत्रैव  
भागे २ वृष्टे कृता ) आचरणीयः आचकाणामाचारः, न आचा-  
रोऽनाचारः । अनाचरणीये " अणायरे अणियस्ये " ध० २  
अधि० । शास्त्रविहितस्य व्यवहारस्याभावे, ग० ३ अधि० ।

अथ साधूनां यदनाचरितं तत्तत्समासेन व्यासेन च  
प्रदर्शयामः । तत्र दर्शयैकालिके द्वितीयाध्यायने—

संजमे सुट्ठि अण्पाणं, विप्पमुक्काण ताएणं ।  
तेसियेयमण्णाएणं, निम्मांयाण मह्सेसिणं ॥ १ ॥

इह संदितादिकमः सुपुषः । भाषायेस्वययव-संयमे कुमपुणिय-  
काव्यावर्णितस्वरूपे शोचनेन प्रकारेणऽऽगमनीयता स्थितं, आरंभं  
येषां तु सुस्थितात्मानः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-विधियमनेकैः  
प्रकारैः प्रकषेण भावसारोक्षमुक्ताः परित्यक्त्वा बाह्यभ्यन्तरेण प्र-  
त्येनेति विप्रमुक्ताः, तेषाम् । न एव विशेष्यन्ते-भाष्यन्ते आत्मानं प-  
रजुनयं चेति ज्ञातारः, आत्मानं प्रत्येकमुक्ताः, परं तीर्थेकराः, स-  
त्स्वीतोत्साहप्रभं स्थविरा इति । तेषामिदं बह्व्यमाणसङ्गणमना-  
चरितमकथयः । केवाभित्याह-निर्मम्यानां साधूनामभिधामभेत-  
त् । महान्तश्च ते श्रुत्ययश्च महर्षयो यतय इत्यर्थः । अथवा महान्त-  
मर्षितु शीलं येषां ते महर्षिणोतेषाम् । इह च पूर्वपूर्वज्ञाच पयो-  
सरोपरत्वाभो नियतो हेतुहेतुमज्ञानेन वेदितव्यः । यत एव  
संयमे सुस्थितात्मानः अत एव विप्रमुक्ताः । संयमसुस्थिताऽऽ-  
त्मनिबन्धनसङ्घिप्रमुक्तेः । एवं शेषेष्वपि भावनीयम् । अन्ये तु  
पञ्चातुर्पुण्या हेतुहेतुमज्ञानमित्यं वणैयन्ति-यत एव महर्षयः  
अत एव निर्मम्याः । एवं शेषेष्वपि उच्यतेमिति सुत्रार्थः ।

साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह—

उदेसियं कीयगमं, नियामगमिह्णुणायि य ।  
राज्जके सिणायो य, गंधमद्धे य वीयणे ॥ २ ॥

( उदेसियं ति ) उद्देशानं साध्याद्याभिव्यक्तं दानारम्भस्थेनूद्देशः,  
तत्र भवमीदृशिकम ( १ ), कथयं कीर्तं, भावे निज्जात्येयः ।  
साध्यादिनिमित्तमिति गम्यते । तेन कृतं निर्वेर्तितं कीर्तकृतम ( २ ),  
नियाममित्यामन्वितस्य पितृत्वस्य प्रहस्यं नित्यं तत्त्वनाय-  
न्वितस्य ( ३ ), (अनिह्णायि व ति) स्वप्रसादेः साधुनिमित्त-  
मनिमुञ्जनातीतमत्याहृतम्, बहुवचनं स्वप्रसादप्रभामाशेषाधि-  
निभेद्व्यापनार्थं ( ४ ), तथा चात्मिकं चाभिज्ञानं दिवस्युत्ती-  
तदिवसनुकाचित्तुर्मेज्जनस्यम् ( ५ ), स्वानं च देशस्वर्जद-  
निर्घं देशस्वानाम् (अनिह्णायी) चातिरेकधाक्षिपहमप्रकालममपि ।  
सर्वस्वानं तु प्रतीतम् ( ६ ), तथा गन्धं मादयं च, गन्धप्रदं गान्-  
त्काष्ठुदादिपरिप्रदः, मादयप्रदं चा प्रथितवहित्नादेभ्यस्त्व-  
( ७ ), वीजनं वयजनं तद्वक्तृतादिना चर्म एव, इदमनाचरितम्  
( ८ ), दोषाद्यैदृशिकादिप्यारम्भपर्यन्तान्द्वयः स्वविध्याऽव्यन्त-  
व्या इति सुत्रार्थः ॥ ३ ॥

संनिद्धी गिह्णपे च, रायपिदे किमिच्छए ।  
संवाह्यायं दंतपद्दानं य, संपुच्छये देहपलोयणा य ॥ ३ ॥

इदं काव्यचरितमित्याह—( संविद्यं चि ) समिधीयतेऽनेनाऽऽ  
 त्वा कुर्वताथिति संनिधिः । वृत्तमुद्रादीनां संबन्धकिया ( १ ),  
 पृथक्त्वं यद्व्यस्यमानं च ( २ ), तथा राजपिण्डा सुपादारः  
 ( ११ ), किमिच्छतीत्यर्थं यो दीयते स किमिच्छकः राजपिण्डो-  
 ऽप्यो वा सामान्येन ( १२ ), तथा संवाधनमधिक्यमोस्तत्प्रमो-  
 ह्यवतया वसुविषं मयेन्द्रम् ( १३ ), दत्तप्रपाचनं शाङ्गुत्यादिना  
 भाषणम् ( १४ ), तथा संमसः सावधो गृहस्थविषयः, पम्बा-  
 र्थं कीदृशो वाऽइमित्यादिक्रमः ( १५ ), देहमलोकं चादर्श्यादी  
 ( १६ ), अनाचरितम् । दोषाश्च सन्निधिप्रभृतिषु परिग्रहमाणाति-  
 पाताश्चः स्वधियैव बाधया इति सुभाष्यैः ॥३॥

अद्वावप य नालीए, अयस्स य धारखु ए ।  
 तेगिच्छं पाहणा पाए, सपरंभं य जोइयो ॥ ४ ॥

अद्यपदं दूतम्, अर्थेपदं वागुद्देश्यमधिकृत्य निमित्तादिविषय-  
 म् ( १७ ), अनाचरितम् । तथा नात्रिका जेति पूनविशेषलक्षणा, यत्र  
 मऽदूष्कल्याऽन्यथापादाकपातनमिति नात्रिकाया पात्यन्त इति ।  
 इयं आनाचरिता अद्वापवेन सामान्यत्वेन दूतग्रहणे सत्यमिनेय-  
 निवचनत्वेन नात्रिकायाः प्राधान्यव्यवधानार्थं जेदत्त उपादानम् ;  
 अर्थेपदमेवोक्तार्थं तद्विरुद्धे अभिव्यजते । अस्मिन् एषे सकलप्र-  
 तोपलक्षणार्थं नात्रिकाग्रहणरक्षणपदवृत्तविशेषपक्षे कोत्रयोदिति  
 ( १८ ), तथा उभयत्र च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं  
 प्रति भाषनयोर्विद्यावाग्दानमात्रात्मत्वं युक्त्याऽनाचरितम् । प्रा-  
 कृतवैश्या आत्मानुसंधारदोषोऽकारणकारणोपायं च उच्यते, तथा  
 कुत्रिमारण्ययादिति ( १९ ), तथा ( तेगिच्छं चि ) । खिकित्स्याया भा-  
 वकैकित्स्वं स्वाधिप्रतिक्रियाकल्पम् [ २० ], तद्योपानही पाद-  
 बोधोचरितम् । पादयोदिति सामिप्रायकम् । न त्वापकल्पप-  
 रिहाराथंमुग्रप्रहारार्थेन [ २१ ], तथा समासस्मरक समासम्भ-  
 न्ने च व्योतिषोऽमेः [ २२ ], तदनाचरितम् । दोषा अद्यपदा-  
 दीनां क्लृप्ता पथेति सुभाष्यैः ॥ ४ ॥

सिञ्जापर पिर्नं च, अत्रासंदी पक्षिभ्रंकर ।

गिहंतरनिसिञ्जा य, मायस्सुव्वहृणाणिय य ॥ ५ ॥

किञ्च—शब्दातरपिण्डोऽन्यनाचरितः । शय्या वसतिस्तथा  
 तरति संसारमिति शय्यातरः स्वायुषसतिव्रता, तपिपथः [ २३ ],  
 तथा भ्रासदकपर्यङ्को अनाचरितः । पतैः च लोकप्रसिद्धावयव  
 [ २४ ], तथा सुदान्तरनिपादाज्जाचरिता । पृदमेव सुदान्तरं गृहयो-  
 र्थं अयान्तरालं, तत्रोपवेशनं, बहाम्दान्तराद्विपरिग्रहः [ २५ ]  
 तथा मायस्य कायस्योत्पत्तेर्नामि आनाचरिताभि । उद्वल्लेनामि प-  
 ह्नापयमवहृणामि । अद्यत्वादन्यसंस्कारपरिग्रहः [ २६ ], इति  
 सुभाष्यैः ॥ ५ ॥

गिहियो वेद्वावचिर्भं, जा य अजाजीववचिषया ।  
 तत्तानिबुद्धभोहर्षं, अद्वावस्सरखाणिय य ॥ ६ ॥

तथा ( गिहियो चि ) गृहियो, गृहस्थस्य वैषाण्यं व्यापृत्तस्य  
 मनो वैषाण्यं, गृहस्थं प्रत्यक्षादिसंपन्नमित्यर्थः [ २७ ], यत्त-  
 वनाचरितमिति । तथा आजीववचिषया जानिकुलगणकमेतिष्वा-  
 नामाजीवयमाजीवस्तेन बुधित्स्वज्ञाव आजीववचिषया । जात्या-  
 ध्याजीवनेनात्मपाहनेत्यर्थः [ २८ ], इयं आनाचरिता । तथा तसा-  
 निबुद्धभोतिर्भं-तत्तं च तद्विभूतं च आदिपदोऽनुत्तं भेति वि-  
 ग्रहः । उद्वकमिति विशेषणमन्यथाऽप्युपपन्ना गम्यते । तन्नोचि-  
 त्वं मिश्रसचिचोदकमोतिवमित्यर्थः [ २९ ], इयं आनाचरि-

तम् । तथाऽऽनुरस्मरणानि च क्लृप्ताद्युतराणां पूर्वोपयुक्तस्मर-  
 णानि च अनाचरिताः । आनुराग्यरानि वा दोषाऽऽनुराग-  
 यदान्भिः ( ३० ), इति सुभाष्यैः ॥ ६ ॥  
 मूलए सित्तरेये य, वसुत्संभे अग्निच्युडे ।

कंदे मूले य सचिचते, फले वीए व अग्रपए ॥ ७ ॥

किञ्च ( मूलए चि ) मूलको लोकप्रतीतः ( ३१ ), पृथक्त्वं  
 चार्ककम् ( ३२ ), तथेकुकणं च भोकप्रतीतम् ( ३३ ), अग्नि-  
 नमग्रहणं सर्वैर्भोजनसंभव्यम् । अग्निदेवमपरिणतमनाचरितमिति ।  
 इकुकणं चापरिणतं द्विपर्जातं यत्तं यतः तथा कन्वो बहकन्वा-  
 दिः ( ३४ ), मूलं च सद्वाहृणादि सचिचमनाचरितम् ( ३५ ),  
 तथा फलं वसुत्संभे ( ३६ ), बीजं च तिलादि [ ३७ ], आमर्कं  
 सचिचमनाचरितमिति सुभाष्यैः ॥ ७ ॥

सौवच्यत्वे सिंधवे लोणे, रामालोणे य आमए ।

साम्भे पेंसुवारे य, कादालोणे य आमए ॥ ८ ॥

किञ्च ( सौवच्यत्वे चि ) सौवर्चलम् ( ३८ ), सैन्धवम् ( ३९ ),  
 लवणं च सौमरलवणम् ( ४० ), दमालोणं च ( सानिलवणम् )  
 ( ४१ ), आमकमिति सचिचमनाचरितम् । साम्भं लवण-  
 मेव ( ४२ ), पांसुसारकोषेरलवणम् ( ४३ ), कृष्णलवणं च  
 ( ४४ ), सैन्धवलवणं च वैतेकदेशजम्, आमकमनाचरितमिति  
 सुभाष्यैः ॥ ८ ॥

पुत्रणे चि वृषणे य, वन्धीकम् वियेयोणे ।

अंजयो दंतवसे य, गायाम्भंग विजुत्तणे ॥ ९ ॥

किञ्च ( पुत्रणे चि ) धूपनमित्यात्मव्यवहारोनाचरितम् । प्राह-  
 तशील्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूपपानमित्येव व्याख्ययते  
 ( ४५ ), वमनं प्रयत्नफलादिना ( ४६ ), बालकम् पुटिकाधि-  
 छाने स्नेहदानम् ( ४७ ), विरेचनं दन्त्यादिना ( ४८ ), तथाऽऽ-  
 व्रजनं रत्नाङ्गनादिना ( ४९ ), दन्तकाष्ठं च प्रतीमम् ( ५० ),  
 तथा गान्ध्याङ्गुलीलादिना ( ५१ ), विजुत्तणं गान्ध्यामेधेति  
 ( ५२ ), सुभाष्यैः ॥ ९ ॥

किचासूक्ष्माह—

सव्वमेयपपाइर्षं, निर्गमंया महेमिणं ।

संजममि अ बुच्छाणं, लहुचुपविहारिणं ॥ १० ॥

( सव्वमेयं ति ) सर्वमेतदौद्देशिकादि यदन्तरमुक्तं तदमा-  
 चरितम् । केचामित्याह—निर्गम्यानां मरुपर्जाणां साधुनामित्याह ।  
 त एव विशेष्यत्वे-संयमे अद्यात्तपरिसंयुक्तानिमिषुत्त-  
 नां, लघुभूतविहारिणां-लघुभूतो वायुः, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिब-  
 द्यतया विहारो येनां ते लघुभूतविहारिणस्तेषाम् । निगमनकि-  
 चापदमेतदिति सुभाष्यैः ॥ १० ॥

किमित्यनाचरितं यतस्त पबंदूता भवन्तीत्याह—

पंचातप परिष्वाया, तित्तुया हसु संजया ।

पंचातपगहृणा बीरा, निर्गमंया उज्जुदंतिणो ॥ ११ ॥

( पंचातप चि ) पञ्चाशवा हिंसाव्या परिष्वाया द्विविधया  
 परिक्रया-कपरिक्रया, प्रत्याव्यानपरिक्रया च । परि समन्ताद् वा-  
 यैस्ते पञ्चाशवपरिष्वायाः । आहितान्प्रादेराकृतिगणव्याख्य-  
 निष्वायाः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव । परिष्वातपञ्चाशवा  
 इति वा । यत एव चैवंभूता अत एव त्रिगुणा मनोवाक्कायगु-  
 णैः । वदंसेताः वदसु जीविकायेषु वृषिय्यादिषु सास-

स्येन यदाः [पंच निगार्या इति ] निरूपणीति निगृह्यः, क-  
र्यति च्युद । पञ्चानां निगृह्याणां, पञ्चानामतीतिर्यात्वात् । च्युद  
शुक्तिमत्तः स्थिरा वा । निर्याः साधनः च्युद्वर्णित इति ।  
अनुप्रासिर्त्त इति अनुप्रासः संयमः, तं परमन्युप्रासद्वयमेति अनु-  
वर्णितः संयमप्रतिबन्धा इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

ते च अनुप्रासिनः काव्यमधिकृत्य यथाशक्येतरकुर्वन्ति—  
आचार्यति गिन्हेऽयु, हेमतेषु अचाउठा ॥

वासामु पदिसंज्ञीया, संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥  
( आचार्यति ति ) आतापयन्त्युक्तुस्थानादिया आतापनां कुर्व-  
न्ति, प्रीधेपुण्यकालेषु, तथा हेमतेषु शीतकालेषुप्रामुख्या इति  
प्रारणरहितस्तिलहन्ति । तथा वर्षासु वर्षाकालेषु प्रतिसेमीमा  
शक्येकाग्रयस्या भवति । संयताः साधनः, सुसमाहिता ज्ञाना-  
दियु यन्तपराः । प्रीधिविषु बहुवचनं प्रतिवर्षेकरणापनाय-  
न्ति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

परीसहरिजु दंता, धूमोहा जिर्दिया ।  
सव्वदुक्कसपरीणह्ठा, पकमंति महोमिया ॥ १३ ॥  
( परीसह ति ) मार्गोच्यवनिर्जराऽपि परिषोडव्याः कृत्विपा-  
सादृशः । त एव रिपवस्तुल्यधर्मैर्भाष्योपरिहरिपवः, ते, दान्ता  
उपशमं नीना येस्तं परीषद्विपुद्वान्ताः । समासः पुर्ववत् । तथा  
धूमोहा विजिसमाहा इत्यर्थः, मोहाङ्गानम् । तथा जितेन्द्रि-  
याः शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थः । त एवेज्जताः सर्वेदुःख-  
प्रकृषार्थं शरीरमानसांशुःखप्रकृत्यानिमित्तं, प्रकामन्ति प्रय-  
सन्ति । किज्जताः ? महर्षयः साधव इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

इदावीमेतेषां फलमाह—  
बुकरारिं करिताळं, दुसह्रांइं सडिषु य ।  
केइं त्य देवलोपसु, केइं सिक्कांति नीरया ॥ १४ ॥

( बुकरारिं ति ) एवं बुकराणि कुर्वन्नेशिकादित्यागादीनि,  
तथा दुःसह्राणि सडित्वा तापनादीनि, केचन तत्र देवलोकेषु  
सौधमार्दिषु गच्छन्तीति वाक्यशेषः । तथा केचन सिक्कान्ति  
तैवैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य त्रिका-  
द्विषयत्वज्ञापनायः । नीरजस्का इत्यद्विषयकमविप्रमुक्ता न त्वे-  
कं क्रिया इव कमेयुका एवेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥  
येऽपि वैश्विधानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति, तेऽपि ततश्च्यु-  
ता आर्यदेशेषु सुकुन्तु जन्मावाप्य कांश्च सिक्कान्त्येवेत्याह—

सवित्ता पुव्वकम्मांइं, संजमेण तवेया य ।  
निष्किममागधुप्यत्ता, ताइणो परिणिवुक्के ॥ १५ ॥ ति वेमि ।

( सवित्ता ति ) ते देवलोकेच्युताः, स्रपित्वा पुर्वकमणिं सा-  
वशोपानि । संजमेण—संयमेनोक्तकामेण, नपसा च; एवं प्र-  
वाहणे सिद्धिमार्गं सन्त्यध्वशीनादिशकृणमनुप्रासाः सन्तक्यातारः  
आत्मादीनां परिनिर्वाणति सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अन्ये तु  
पञ्जित् ( परिनिष्पुडु ति ) तत्रापि प्राकृतशैल्या जन्मसत्त्वाभा-  
संभवा पात्रे अवापान्ति । ब्रवीमीति पुर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥  
इहा ३३०० उक्तं समासतोऽनाकारितम् । अथ विशेषतस्तदुच्यते—  
‘आसूणी मक्किरारं च, गिणुपपवायकम्मंगं । उच्चोक्षणं च  
कळं च, तं विज्जं परिजाणिमाः’ ॥ १५ ॥ सूत्रं १ कुं ६ अ० ॥  
( अस्या व्याख्या ‘ धम्मं ’ शब्दे ऊढव्या )

आदशोदी मुक्कदशंमाकिं क्कोति—  
जे निक्कम् मत्तए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे निक्कम् आदाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥  
जे निक्कम् असाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥  
जे निक्कम् मणीए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥  
जे निक्कम् उडुयासाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥  
जे निक्कम् तोए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥  
जे निक्कम् फाणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥  
जे निक्कम् वसाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

मत्तमे दप्पणस्स भरिते तथ अप्पणो सुहं पडोवति जा, ए-  
त्तस्स भाणादिया दोसा । चउवहुं था से पडिक्कं । एवं पडिग्ग-  
हादियु विससपदानं इमा संगहणी गाहा—  
दप्पण मणि आणये, सत्तु दए जाणएऽभतरए य ।

तेल्लु महु सपि फाणित—मज्ज वसा सुचमादीसु ॥ ५६ ॥  
वृषणमादरोः, स्पष्टिकादि मणिः, स्थानकादि आभरणं, कर्तुया-  
दि शक्यं, वृकं पानीयम्, तत्र अन्यतरे कुयदादिभाजेने स्थितं, ति-  
लादिजं तैवं, मधु प्रसिद्धं, सर्पिषूतं, फाणितं जिह्वामुने, मज्जं  
मत्यादीनां, वसा, सुचं, मज्जे कज्जति इक्कुरसे वा शुद्धिया सुचं  
सर्वे सुचसु जहासंभवं अप्पणां अक्कम्भुविससयत्ता णयणादियु  
देहावयवा पडोवइ कोऽप्या—तथ स्वयं पडवति । चोदक आह-  
कितं तद पडयति ? आचार्यं आह—अत्रोच्यते यथा—  
रप्याद चोदकः—कथमादित्यादिनामरुज्जानितेऽप्यादिजोमं  
प्रमुक्या अयतोऽपि हयते । आचार्यं आह—अत्रोच्यते यथा—  
पञ्चानन्दनीलप्रदीपशिखानामात्मस्वकपातुरुक्या प्रया गत्या  
स्वत एव सर्वतो भवति, तथा सर्वपुत्रकल्याणामात्मप्रजाऽनुक-  
पा छया सर्वतो जन्मव्युत्पल्लवा वा इत्यतोऽप्यतोऽपि हयते ।  
पुनरपि चोदक आह—जति अप्पणां च्छायां देहति, तो कइं अप्प-  
णा सरीरसत्तिसं वणकपं पिच्छति ? ।

अत्रोच्यते—  
भामा तु दिवा गत्या, अभासरगता णिसि तु काट्ठाभा ।  
से सव्वे भासरगतं, सदेहवत्ता म्मुणयव्वा ॥ ६० ॥

आदित्येनाश्वजासिते दिवा अभासत्थरे अदीप्तमिति त्रुम्यादि-  
के ऊच्ये बुक्कादीनां निपतिता गत्या गयैव हयते । अनिर्णयिज्ज-  
ताऽवयवा वर्णतः इयामाऽऽजा तस्मिन्नेवात्रावत्थरे ऊच्ये भूयसा-  
दिके रात्रौ निपतिता गत्या वर्णतः ऊच्यते भवति । जया पुण स-  
व्वे व ह्याया दीप्तमिति दृग्गोचरे ऊच्ये निपतिता दिवा रा-  
त्रौ वा तदा वर्णतः शरीरवर्णतः शरीरवर्णवर्जितावयवा च  
हयते । सा च गत्या सहरशी न भवति । चोदक आह—यदि  
गत्या सहरशी न भवति सा कथं न भवति, किं वा तपयान्ति ? ।  
अत्रोच्यते—

उच्चोयपुक्कम्मि तु द्दप्पणम्मि संजुज्जे जया देरी ।  
होति तथा पडिबिषं, गत्या जइ जाससंजोमो ॥ ६१ ॥  
उच्चोयपुक्कं वर्णतः निर्मलः इयामादिविरहितः तस्मिं दया स्व-  
रीरं अथं वा किंचि अभादि संयुज्यते तदा स्पष्टं प्रतिबिम्बं प्र-  
तिनिभं जयति घटादीनाम्, यदा पुण स वर्णतो साम्ये आवारितो,  
गमणं वा अज्जगदिहि आवारितं तदा, तस्मिं देवायं अयं  
पणासद्धिते देहादिसंज्ञते गामामांश्चिस्सइ । इदायं सीसो  
पुच्छति—तं पडिबिषं गायं वा को पासति ? । तथ भवति—  
ससमयपसमयवचनव्याप—

आदरिसपादिह्याभ्रो-वलभंति रस्सीं सरुबभवेसि ।  
तं तु न जुञ्जनि जम्हा, पस्सति अचा ए रस्सींओ ॥६३॥  
आत्मनः शरीरस्य वा रश्मयः पददिसं विनिर्गताः तासां या  
आदरीं अथाह्नाः प्रतिहता रश्मयः । ता रश्मयो विभ्यादिस्व-  
रूपमुपलभन्ते । एषोऽभिप्रायोऽयं वा परतन्त्राणाम् । जैनतन्त्र-  
व्याख्येया आहूः-न सुयते पतद्, यस्मात्सर्वप्रमाणानि आत्मा-  
धीमानि तस्यादात्मा पश्यति न रश्मयः । इदानीं पराजिप्रायं  
तिरस्कृते स्वपक्षः स्थाप्यते-उज्जोयपुकुम्मि 'कि' गहा ।  
एषोऽर्थस्तस्यार्थस्य विधोःकरणार्थं पुनरुप्याह-  
जुञ्जति हु पमासकुमे, पमिषिषं दपण्णमि पस्सतो ।  
जस्सेव जया चरणं, सो ज्ञाया होति विषं वा ॥ ६३ ॥  
जुञ्जते घटने फुहण्णमासं दपणे अप्पाणे पणोएतो पमिषिषं  
प्रतिकुपे सिध्वंजिताययवं पस्सति । तं च पस्संतस्स जया  
अप्पादाहं अप्पमासीज्जुं भयति तदा समंय विषं च्याया हा-  
सति [विष'ति] यं वा पेक्कंतस्स अग्धादी आक्वण्णवगमे नमेव  
ज्ञायं विषं पस्सति णिष्वंजिताययवं प्रतिकुपमित्यर्थः ।  
सोसो पुञ्जति-कम्हा सन्ने देहावयवा आदरिसे ए पेञ्जति  
अतो भवति-

जे आदरिसे वचा, देहावयवा इवंति ण्यण्णादी ।  
तमिं तरपुवल्लकी, पमासजोगा ण इतरंसिं ॥ ६४ ॥  
छुहिमि सररीरतरयस्सिसु पचाविनासु जे द्विसि आदरिसे  
जितो ततो जे ण्यणहत्यादां सररीरावयवादी । जे य आदरि-  
से ण वकिया तेसि तमिं आदरिसेण उवल्लकी जयति । अदि य  
आदरिसे अग्धावगो सव्वाण्णसंजुतो न अंधकारव्यवस्थित  
इत्यर्थः । [इतरंसिं ति] जे आदरिसेण सह न संजुत्ता तेन तत्रो-  
पलक्षयन्ते ।

एमेव य परविषं, जे आदरिसे ण ह्वा संजुत्तं ।  
तस्य विट्ठो उवसळ्की, पमासजोगा आदिट्ठे वि ॥ ६५ ॥  
एवमित्यवधारणे । किन्तु अवधारयितव्यम् य, येन द्रुपलम्बि-  
कारणमुक्त्वा । अनेन उपलम्बिकारणेन यद् व्यज्यते घटादि-  
रूपप्रतिबिम्बमादर्शं संयुज्यते । तत्रानुपलम्बिभवेत्यात्मनोऽप-  
श्यतोऽपि घटादिकम् । एवं मणिमार्द्रसु विभावयिष्यं, णवरं,  
तेलुज्जवादिषु जारिसं विषं प्रागासमंतरंति तारिसमेव वीसन्ते ।

एवमापमनरे, अप्पाणं जे उ देहेन भिक्खु ।  
सो आणाण अणवण्यं, मिच्छल्लविराहणं पावे ॥ ६६ ॥  
दप्यणमणिसादीयाणं अण्वरं जे अप्पाणं जण्येन तस्स  
आणादिवा य दासा, चउत्तहु वा सं पच्छिक्तं । आयसंजमं विरा-  
हणा य भवति, इमे य अण्वं य दासा ।  
गण्णादीया रुबम-रुवं तु जुञ्जा णिदाणमादीणि ।  
वाउस-गारवकरणं, खिख्वादि निरत्यगुञ्जाहं ॥ ६७ ॥  
आदरिसादिषु अप्पाणं रुबवंतं द्दुं विषएण जुञ्जामि पिसि पारि-  
माणं करंति, अण्वतिरिण्यपसु वा पविसति, सिद्धपुष्पो अर्भानि,  
सिद्धपुष्पो वा संवति, सखिमेण वा संवति पडिसंति । विरुवं वा  
अप्याणं द्दुं णियाणं करेज्जा । आतेसहातो देवतारोहणादि  
वसीकरणजोगादि वा अग्निजेज्ज, सररीपाउसत्तं वा करेज्जा ।  
आदरिसे वा अप्पणां रुवं द्दुं सोमाभिं पिसि गारवं करेज्जा

रुवेण इगिसिउ, विरुवो वा विसादेण खिखादिविषो भवेउज्जं  
कम्मसवणवेसिजं निरत्यकं सागारियं दिट्ठे उग्गाहो ण एव  
तस्सी कामीय स अग्निहंदिउ [सि उग्गाहं करेज्जा । वितीयागहा-  
वितियपपदमणपग्ग्गो, मेहो अवि कोवितो च अप्पज्जो ।

विस आर्यका पज्जण-मोद्वृतिगिच्छापे नाणमवि ॥ ६८ ॥  
अणुपज्जो परापोषणं तं, वेहो अवि कोवितो अज्ञानसणतो  
ओ पुण अणुज्जो जगणो सं इमहिं कारणेहिं अप्पाणं आदरिसे  
देहति, सप्पादिसिसेण अजिजुते आत्ताहमहत्तातकं वा उवाचित  
आदरिसाविज्जाए प्रतिकुपय्वं, तस्य आदरिसे अणुसो पमिषिषं  
गिशाणस्स वाउ मज्जति, ततो पण्ण्यंते मोह[तिगिच्छापे वा देह-  
ति । अहया इये कारणो-

पुण्णं गल्लगंई वा, पंडळ दंतरोय जंहु उट्ठे य ।  
उचमलुत्तिसयद्विय बु-ट्टिहाणिसि जाणह्वा वा पधो ॥६९॥ ॥  
अभिविम्मि पुहणं गेवा वा मंमं पसुसि मेमंलं वा वंतं वा कां-  
नियुएदंतगादिगंरो अहवा जिप्पाए उडे वा किंवि उच्चियं  
पिलगादि एवमादिसे अवचवुचित्तयद्वियं अप्पिक्खतो तिगिच्छा-  
णिमिभं बुद्धिहाणिसि जाणानिमिभं वा उहाए देहंति अण्य-  
सागारिए ण दोसो । तिउ च्चु १३ उउ ।  
उपानहादिधारणम-

" पाणहाअं य उचं च, णालीअं बालवीअणं ।  
पराकिरियं अणमअं च, तं विज्जं परिजाणिआ " ॥१॥  
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ( 'धम्म शब्देऽस्या व्याख्या ' )  
कपाटोद्घाटनादिकरणम्-  
" गोपिण्डे ण यावपणुणं, धारं सुणणघरस्स संजए ।  
सुट्ठेण उदाहे वयं, ण समुत्थे णा संथंर तणं " ॥१॥  
सूत्र० १ श्रु० २ अ० २० । ( ' धाण्णिय ' शब्दे व्याख्याऽस्या  
पश्यते ) ( अविचमनिपुत्तं सविचमनिपुत्तं वा गंधं जिप्रति  
इति ' गंध ' शब्दे वचयते )  
गात्रप्रमाणनम्-

जे जिक्व् लहुसपे सं आदागविधेहेण वा उतिपोदगवि-  
येहेण वा हत्याणि वा पायाणि वा कप्पाणि वा अर्च्छा-  
णि दंताणि नहाणि मुहाणि वा उच्छोलेज्ज वा पयोत्रे-  
ज्ज वा उच्छोवंतं वा साइज्ज ॥ १० ॥

लहुसं स्तोकं याव तिष्ठि य सती स्तीतोदकं स्तीनं उतिगो-  
दगं उगहं विधरं पयगतज्जियं पथ्य स्तीनदवाविधरं हि सपवि-  
सकखेहि चउमंगसु, ते य पदमतातिया मेगा गहिया, दो हत्या  
हत्याणि वा, दो पादा पादाणि वा, दन्तासं दंता दंताणि वा, आ-  
सय पोसय य अण्वं य इंदियमुहा मुहाणि वा, उच्छोलेज्जा धा-  
वणं । तं पुण दांसं सन्ने य णिउत्तु'त्तियिधारा इमे-  
तिस्स य मती य लहुसं, विधरं पुण होति विगततीर्वतु ।  
उच्छोलेज्जा तु तेषां, देसे सन्ने य णायव्वा ॥१०॥  
गताथो ।

आइसमणाऽस्या, दुविधा देयमि होति णायव्वा ।  
आययं विं य दुविहा, णिकारणया य कारणम् ॥ ८१ ॥  
देसं उच्छोलेज्जा उविहा-आइसा अणास्या वा । साधुभिगम-  
यंते या सा आचोर्षो, इतरा नडिपरीता । अणाहया उविहा-  
कारणं णिकारणे व आ कारणं सा दुविधा-

अथा मासे लेवे, कारण णिकारणे य विवरीये ।  
 माणिवंधादि करसुं, जचियमिचं ति लेवेण ॥ ८५ ॥  
 तथा जन्ना मासे मखिबंधाओ करेसुं ति अणणाइणा वेवडेण  
 इत्या लेवाभिया ते माणिवंधानो जाव धोवति, एसा भन्ना, मा-  
 से इमा, लेवे-जचियमचं तु वेवेणं तिअसज्जा तिय मुत्तपुरीसा-  
 दिणाजति सरीराऽववेणधावि गातं लेवाजिते तस्से तचियमेसा-  
 धोव, एसा कारणओ भणिता । णिकारणे तविवरीये सि ।  
 एतं खलु आइन्ने, तविवरीते भवे अणायाम् ।  
 चलणादी जाव सिरे, सर्वं चिय धोतिऽणायाम् ॥ ८६ ॥  
 भन्ना मासे लेवे य इमं आइण्यं, तविवरीये देसे सव्वे वा  
 सव्वं अणायाम् ।

मुहणायणचलणपदता-णकसिरा बाहुवन्तियेदो य ।  
 परिणट्टाह दुमुओ, पचय उच्छोअणा देसे ॥ ८७ ॥  
 मुहणयणदिया ण कसि वि डुग्गमत्तयं वा देसे सव्वे वा  
 उच्छोअणं करोतीत्यर्थः । वच्यमाणोऽशुभङ्गमध्यादर्मी अष्टौ  
 घटमानाः, शेषा अष्टमानाः ।

आइएण लहुसएणं, कारण णिकारणे वऽणायामो ।  
 देसे सव्वे य तहा, बहुएणेमेव अइ पदा ॥ ८८ ॥  
 आइणलहुसएणं देसे एव प्रथमः । एव एव णिकारण-  
 साहेतां द्वितीयः, अणात्वीणप्रइणात् तृतीयचतुर्थीं शुद्धीं,  
 लहुसणिकारणदेसेत्यनुवर्तते । चतुर्थं विशेषः सर्वमिति वक्त-  
 व्यम् । अहा लहुस पदे चतुरो भंगा तथा बहुएण वि चउरो  
 सव्वे अइ । पयशब्दप्रइणात् तृतीयचतुर्थपञ्चमपष्ठमिप-  
 यांसः प्रदर्शितः । वच्यमाणोऽशुभङ्गक्रमेण घटमानाघटमान-  
 नङ्गप्रदर्शनार्थं लक्षणम् ।

जत्याऽऽऽमं मव्वे, जत्थ व करणे अणायाम् ।  
 जंगमा सोलसएहं, ते वज्जा मेसगा गज्जा ॥ ८९ ॥  
 यस्मिन् मङ्गे आचोणंमहणं इहयते तथैव यदि सव्वेअ महणं इहयते  
 ततः पूर्वोपरविरोधान्न इहयते घटने अमौ नङ्गः । यत्र वा का-  
 रणप्रदमे इह अनाचोणं इहयते असावापि न घटते । एतत्तु व-  
 जैयित्वा शेषा प्राणाः ।

सोलसभंगयण गाहा इमा-  
 आइम लहुम कारण, देसेतरे जंग सोलम इवेति ।  
 एतयं पुण गेज्जभा, ते पुण वोचं संमासेणं ॥ ९० ॥  
 इतरप्रइणान् आरधवइत्यणिकारणस्यत्वमिति-एते पदा व-  
 च्छ्वा अमी प्राणाः ।

पदमे तति एकारो, वारो तह पंचमो य सत्तमओ ।  
 पन्नर सोलनमो वि य, परिवारं हाति अइएहं ॥ ९१ ॥  
 पदमो ततिओ एकारो वारसो पंचमो सत्तमो य दो चरिमा  
 य यथादिहक्रमेण स्थापयित्वा इमं अयमनुसरेज्जा ।

आइणलहुसएणं, कारण णिकारणे व तत्थेव ।  
 आइण देसमव्वं, लहुसे तहं कारणं एणिय ॥ ९२ ॥  
 आइणलहुसएणं कारणे इति प्रथमः । णिकारणे तत्थेवेति  
 आइणलहुसे अनुवर्तमाने णिकारणं द्रष्टव्यं द्वितीयो अङ्गः ।  
 पदमोऽर्थात्पुणु देसमित्थं उच्यते । पञ्चमं तृतीयचतुर्थ-  
 भङ्गो शुद्धीतौ । अणायामं तृतीयं देसे, चतुर्थं सर्वं बहुसमित्यनु-  
 वर्तते, ततियवउत्थेषु कारणं एणिय ।

इदानीं पञ्चमविभङ्गप्रदर्शनायं गाथा—  
 आइमं बहुएणं, कारण णिकारणे वि तत्थेव ।  
 अणायण देससव्वे, बहुणा तहं कारणं एणिय ॥ ९३ ॥  
 पंचमे बहुएणं आइमं कारणं तत्थेव सि आइण बहु एस  
 अणुवट्टमाणेषु उडे णिकारणं द्रष्टव्यमिति । पंचमच्छेदेषु देस-  
 मिति अथाहं द्रष्टव्यमिति । सत्तमाइमेपु अणायामं सत्तमे देसम,  
 अइमे सर्वं बहुसमित्यनुवर्तते, कारणं नास्त्येवेत्यर्थः ।  
 प्रथममङ्गानुष्ठानार्थं शेषमङ्गप्रतिषेधार्थं वेदमाह—  
 आइण लहुसएणं, कारणतो देसतं अणुसमातं ।  
 सेसाणाणुणायया, उवरिह्वा सत्त वि अदातुं ॥ ९४ ॥  
 आइणलहुसएणं कारणे देसे एस भङ्गे अणुणायतो उवरिमा  
 सत्त वि पडिऽसिद्धा भंगा ।

द्वितीयादिभङ्गप्रदर्शनायमिदमाह—  
 आइणलहुसएणं, णिकारणदेसओ जवे वितिउं ।  
 णायणलहुसएणं, णिकारणदेसओ तइओ ॥ ९५ ॥  
 णायणलहुसएणं, णिकारणसव्वतो वउत्थो उ ।  
 एवं बहुणा वि अओ, जंगा चचारि णायव्वा ॥ ९६ ॥  
 पदमं मुद्धो लहुगा, तिसु लहु उवन्नहु य अइमए ।  
 एणियं परिवारं, अउत्तु भंगेषु एएसु ॥ ९७ ॥  
 दुग्गं आइणलहुसे णिकारणे सव्वतो वउत्थमंगो, एवं बहुणा  
 वि अथं चउरो भगा णायव्वा । पदममंगो सुद्धो, सेसेसु  
 इमं पच्छिउं—

सुच्छिणायतो वितिए, ततियपदमि पंचमे चेव ।  
 उद्धं य सत्तमे वि य, ते भेवेताणुपदादिण ॥  
 वितियततियपंचमच्छेदसत्तमेसु भंगेषु सुच्छिणायतो मास-  
 लहु, चउत्थपदमेसु चउलहुं तमिति । ति० सू० २ उ० । “पर-  
 मत्तं अणयानो, ण भुंजिउज्ज अहं वि । परवच्यमयेलोवि, ते  
 विजं परिजाणिया” ॥ २० ॥ सू० १ सू० ६ अ० । ( अरथा  
 व्याख्या ‘धम्म’ शब्दे द्रष्टव्या )

मद्यमासादिसेवचप—  
 अमज्जमासासि अमच्छरी य,  
 अणिवसणं निव्विगयं गया य ।  
 अजिक्खणं काउरसमगाकारी,  
 सिउजायजोगे पयओ ह्वियजा ॥ ७ ॥

अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाशी च स्यात् ।  
 एते च मद्यमांसं लोकागमप्रतिं एव । ततश्च यत् कैचमाभि-  
 द्धव्यारनालाऽरिष्टाद्यपि संधानादीवनाद्यपि प्राणयङ्गत्वात्  
 त्याज्यमिति । तदसत् । अमीनां मद्यमांसत्यायागात् । लोकाशा-  
 खयोरप्रसिद्धत्वात्, संधानप्राणयङ्गुल्यत्वचोदनात्सत्तात्त्वात्,  
 अतिप्रसङ्गत्वात्, द्रष्टव्यकृतीत्यनुत्पत्तया सूत्रयानमात्तुगम-  
 नादिप्रसङ्गात्, इत्यसं प्रसङ्गेन । अक्षरगमनिकाभाप्रक्रमत् ।  
 तथा अमत्सरी च न परत्सपदद्वेषी च स्यात् । तथा अमीच्छं  
 पुनः पुनः पुष्टकारणाभावे, निविद्धकित्वाच्च निमित्तविकृतिपरि-  
 भागश्च अर्थः । अनेन परिभोगोचितविकृतिक्रियात्मककारण  
 प्रतिषेधमाह—तथा अमीहणं गमनागमनादिषु विकृतिपरिभा-  
 नेऽपि चान्ये । किमित्याह—कार्योत्सर्गकारी भवेत् । इत्यादिपथ-

प्रतिकमथमङ्गल्यः न किञ्चिद्व्यक्तुर्व्याप्तं, तद्व्यक्तत्वापचेरिति । तथा स्वाभ्यायवेधेः बाधनापुत्राभ्याम्पारो बाधनाभ्यायदी प्रयतोऽतिशयप्रयत्नपरो भवेत्, तथैव तस्य फलवत्त्वादिप्रियं-य-कन्त्यादाविद्योषप्रसङ्गादिति सूत्रायाः ॥ ७ ॥

किञ्च—

एष पश्चिमाविजा सयथाभयणाई,  
सिजर्जं निसिजर्जं तह अचपायं ।  
गामे कुञ्जे वा नगरे व देसे,  
मयचजावं न कर्हि वि कुजा ॥ ८ ॥

[ एष पश्चिमाविजो षि ] न प्रतिहायवेन्मासादि कल्पपरिसमाप्ते गच्छन् भूयोऽभ्यन्तलक्ष्यं ममैतैतानि दातव्यानीति न प्रतिकारं कारयेत् धृक्कर्म । किमाभित्येत्यहं-शयनाशने शय्यां निषयां तथा अह्नपानमिति । तत्र शयनं संस्तराकदि, आसनं पीठकदि, शय्या वसतिः, निषया आभ्यायवेद्युर्मि, तथा तेन प्रकारेण तु-कास्तावकैवित्येन अह्नयावं अतःकदाप्यकद्रासापानकादि न प्रतिकारयेत् । ममत्ववेद्योऽतु सर्वथैतच्छेषेऽप्याह । ग्रामे शक्तिमा-मादी, कुले वा आशककुलादी, नगरे साकेतादी, देशे वा म-भ्यदेशादी, ममत्वभावं भेदवर्माति स्नेहं मोहं न कश्चिदुपकर-यादिष्वपि कुर्यात्, तन्मृकत्वात् तुःआदीनामिति सूत्रायाः ॥ ८ ॥ दश०२२५३० (रोमरुन्तमम रोमं शब्दे निषेक्त्यते) 'सर्वेऽपि परो वीहाइ बातावं वीहाइ रोमाइ इ'हाइ भुहाइ वीहाइ कफस्वरोमा इ' वीहाइ वतियरोमाइ कपेञ्ज वा संदेषेञ्ज बा णो तं साएण णो तं नियमे' आचा० ( घमनिषेरेचमादिकरणं 'वमन' शब्दे वषयते ) वस्त्राधानादिकरणम्—

'धोअणं रयणं वेव, वट्ठीकम्म विरेयणं ।  
वमयं अणुपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १२ ॥  
गन्धमङ्गलसिणाणं व, देतपफलासणं तहा ।  
परिग्गहत्थिकम्मं व, तं विज्जं परिजाणिया' ॥ १३ ॥  
सू० १ कु० अ० । ( अनयोर्व्याख्या 'धम्म' शब्धे )

विषयव्यवहारे—

आदाय वंजचेरं च, आसुपणे इमं वयं ।

अस्मि धम्मे अणायारं, नायरेज कयाइ वि ॥ १ ॥

आदाय शुद्धीत्वा, किं तद् ? प्रसन्नचयं सत्यतपोभूतदयंन्द्रियनि-रोधकज्ञानस्य तद्वर्षते अनुगृहीयते यस्मिन्समौनीन्द्रप्रवचनं प्रस-न्नचित्तमित्युक्तम् । तदादायाम्ऽसुप्रश्नः पटुप्रश्नः, सदासद्विवेकज्ञानं । क्त्वाभिस्यस्योत्तरक्रियासम्पत्तिवत्त्वात् तामाह-इमं सम-स्ताभ्ययनेनाभिधीयमानं प्रत्यक्षासन्नभूतां वाचमिदं शश्व-तमेवेत्यादिकां कदाचिदपि नाचरेदं नाभिद्व्यात्, तथाऽस्मिन् धर्मे सर्वैकप्रणीते व्यवस्थितः सन् अनाचारं साधयानुष्ठान-कं न समाचरेच्च विद्व्यादिति संबन्धः । यदि वा ऽसुप्रश्नः स-धैरः प्रतिसमर्थं केवलज्ञानव्यवहारेणोपयोगित्वात्, तत्सम्बन्धिनि धर्मे व्यवस्थित इमं वषयमायां वाचमनाचारं च कदाचि-दपि नाचरेत् । इति श्लोकायाः । तत्रानाचारं नाचरेदित्युक्तम् । अनाचारश्च मौनीन्द्रप्रवचनानु-अपरोऽभिधीयते । मौनीन्द्रप्र-वचनं तु मोक्षमार्गहेतुत्वात् सम्यग्दर्शनज्ञानवाचित्प्रत्यक्षकथ, स-म्यग्दर्शनं तु तत्त्वार्थेऽनुष्ठानरूपं, तस्यं तु जीवाजीवपुष्यधयापा-अवकथसंवरनिर्जैरामोक्षात्मकम् । तथा धर्मोऽधर्मोकारणुक्त-जीवकालात्मकं द्रव्यं नित्याभित्यस्वभावं, सामान्यविशेषा-त्मकोऽनाद्यपर्यवसानवानुदेशरज्ज्वात्मको लोकस्तस्वमिति । ज्ञानं तु प्रतिभुतायाधिमनःपर्यायकेवलस्वरूपं पञ्चधा । चा-

रिजं सामाधिकं क्षेत्रोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीयस्वमसंप-रायध्याऽऽख्यातकपं पञ्चविधः । मूलोत्तरगुरुभेदो बाजेकथे-त्येवं व्यवस्थिते मौनीन्द्रप्रवचने न कदाचिदनीदृवं अगतिरिति कृत्वाऽन्त्यापर्यवसाने लोके सति दर्शनाचारप्रतिपक्षमूलमना-चारं दर्शयितुकाम आचार्या यथावस्थितलोकप्रसङ्गोदाहृत-पूर्वैकमाह—

अग्राहियं परिहाय, अणुवद्गोति वा पुणो ।

सासयमसासते वा, इति दिद्धिं न धारए ॥२॥

( अग्राहियमित्यादि ) नास्य वस्तुदेशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य धर्मोऽधर्मोदिकस्य वा लब्धस्थादिः प्रथमोत्पत्तिविद्यते इत्य-नादिकस्तमेवदूतं परिहाय प्रमाणतः परिच्छिद्य, तथाऽनवदप्रम-पर्यवसानं च परिहायोभयात्मकव्युदासनेकनयदृष्टाऽप्यधारणा-त्मकं प्रत्ययमनाचारं दर्शयति-शश्वत्नयतः। इति शाश्वतं नित्यम्, सांख्यजिघांषाप्रकृतानुपकारादिकत्वात् । अनाचारं वातु-याविनं सामान्यश्रमवलयस्य धर्मोऽधर्मोकाशाविष्यन्तादित्यम-पर्यवसानत्वं बोधप्रत्यय, सर्वमिदं शाश्वतमित्येवज्ञानं इति न्य-वधारयदिति; एवं पदं न समाधत्ते । तथा विशेषकृत्वाभित्य-वर्तमानानरकाः समस्तस्थानांति एतच्च सूत्रमङ्गीकृत्य यत्-स्तवंमनित्यमित्येवज्ञानं दर्शयामिप्रायेण च सर्वमशाश्वतम-नित्यमित्येवज्ञानं च इति न धारयदिति । किमित्येकान्तेन शाश्वतमशाश्वतं वाऽऽस्त्येवज्ञानं इति न धारयदित्याह—

एएहिं दोहिं उणेहिं, ववहारो ए विज्जनि ।

एएहिं दोहिं उणेहिं, अणायारं तु जाएण ॥ ३ ॥

( एतदिहं दोहिमित्यादि ) सर्वं नित्यमनित्यमित्येव विनाश्यां ह्यप्यां स्थानान्यामभ्युपगम्यमानाभ्यामनयोर्वो पक्षयोर्व्यव-हारो व्यवहारो लोकस्थैरिह काममित्येवः कार्यायोः प्रवृत्तानिभु-लक्षणं न विद्यते । तथाहि-अभ्ययुनानुपकारार्थं कस्यभाय सर्वं नित्यमित्येवं न व्यवह्रियते । प्रत्यक्षेणैव नचपुराणां प्रायेण प्र-ध्वंसाभावेन वा दर्शनात्तथैव च लोकस्य प्रवृत्तेरामुक्तिःऽपि नित्यवान्मनोबन्धमोक्षप्रायेण द्वाप्यामनित्यमादिकमनर्थ-कमिति न व्यवह्रियते, तथैकान्तानित्यमेनापि न लोकोऽधनधा-न्यवष्टपटादिकमनागतज्ञानार्थं संशुद्धीयात् । तथाऽमुष्मि-केऽपि कृष्णिकन्वादात्मनः प्रवृत्तिर्न स्यात् । तथा च द्वाविहारा-दिकमनर्थकं तस्मात्श्रियानित्यात्मकस्याहादे सर्वव्यवहारप्रवृ-त्तिः, अत एव तयोर्नित्यानित्ययोरेकान्तत्वेन समाश्रियमायवर्हि कामुष्मिकार्थेविष्वंसकप्रमत्ताचारमौन्यादानावाहारात् । विजा-मीयात् । तुराष्ट्रो विशेषणार्थः । कथञ्चिन्तियाभित्ये वस्तुति स-ति व्यवहारो युज्यते इत्येतत्तशिनिर्णयः । तथाहि-सामान्यमववि-मर्शशासिभ्यः 'स्यानित्यस्य' इति प्रवृत्तिः । तथा विशेषाभो प्रति-क्षणसन्ध्या च नचपुराणादर्शयतः 'स्याद्वनित्यस्य' इति भव-ति । तथोत्पादिव्यवहारेणैव आहर्दशनाभित्तानि व्यवहाराणि भवन्ति । तथा चोक्तम्—'घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादविधितिः स्वयम् । शोकप्रमोदमात्रस्वयम्, अनो याति सहतुक्कम् ॥' इ-त्यादि । तदेवं नित्यानित्यपक्षयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाऽनयो-रेवाचारं विजाणयादिति स्थितमिति ।

तथाऽन्यमन्याचारं प्रतिपेक्षकाम आह—

समुच्छिदिति सत्पारो, सखे पाणा अणेत्तिसा ।

गंठिया वा जविस्संति, सासयंति य एो वदे ॥ ४ ॥





यितुकाम आह—

आह्लाकस्माणि भुंजति, अस्रमषे सकस्मृणा ।

उत्वालिचे ति जाशिज्जा, अणुपलिचे ति वा पुणो ॥ ७ ॥

साधुप्रधानकारणमादायाऽऽशित्य कर्मोष्णाध्याकर्मणि, तानि नु-  
 क्षमांगेन वस्त्यादी-युच्यन्ते । एतान्याध्याकर्मणि यत्तु ज्ञेय एतेरु-  
 पभोगं ये कुर्वन्ति, अत्यन्तं परस्परं तास्वकीयेन कर्मसांप्रसिन्नात्  
 विजानीयादित्येवं नो वदेत्, तथाऽनुपालसामिति वा नो वदेत् ।  
 एतदुक्तं प्रवर्ति—आध्याकर्मणि धृतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा  
 सुज्ञानः कर्मणा नो पक्षिष्यन्, तदाऽऽध्याकर्मोपयोगेनाद्ययतया  
 कर्मबन्धाः अवलम्बितं नो वदेत् । तथा धृतोपदेशमन्तरहाह-  
 रुद्धाऽऽध्याकर्मोपज्ञानस्य तन्निमित्तकर्मबन्धस्य दशावयव-  
 योग्यवहरणं व्यवहारो नियुक्तिकत्याद्य युज्यते । तथाहि—  
 न वक्ष्यस्य सद्यश्चत्वात्सद्यश्चत्वाद्यवहरणं व्यवहारो नियुक्ति-  
 क्त्याद्य पुक्तसद्यश्चत्वात्, अतोऽनुमित्तानां नो वदेत् । यथाऽव-  
 दित्येवमौनीः कामकृतस्य त्वं युज्यते वक्तुमाध्याकर्मोपयोगेन  
 स्यात्कर्मबन्धः, स्यात्प्रति । यत् उक्तम्—“किञ्चिदनुक्तं कदप-  
 म-कल्पं वा स्यात्कल्पमपि कल्पम् । पिगलः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा  
 नेत्रजालं वा ॥ १ ॥ ” तथाऽऽशित्यनिर्हितम्—“उपपद्यत हि  
 साऽऽवस्था, देशकालागमयान् प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्,  
 कर्मं कार्यं च वर्जयेत् ॥ २ ॥ इत्यादि ॥ ८ ॥

किमित्येवं स्याद्भवः प्रतिपाद्यते इत्याह—

एषदं दौर्हे उषोर्हे, बवहारो ए विजर्ह ।

एषदं दौर्हे उषोर्हे, आणायारं तु ज्ञापय ॥ ९ ॥

( एषदं दौर्हे इत्यादि ) आणायारं स्थानान्नाश्रिताऽन्या-  
 मनयोश्चेत्कामयोरध्याकर्मोपयोगेन कर्मबन्धात्प्रभावभूतयो-  
 र्बन्धकारो न विद्यते । तथाहि—यद्यत्राध्याकर्मोपयोगेनो-  
 क्तं कर्मबन्धोऽऽद्युपगम्यते, एवं चाहाराजानेवमपि कल्पिसुत-  
 रामनयोर्द्वयः स्यात् । तथाहि—सुत्रप्रपञ्चिनां न सम्पन्नो-  
 पधं शोषयेत्, ततश्च ब्रजन् प्राणयुग्ममैरपि कुर्यात् । मूच्छां-  
 द्विसत्त्वजनया वेदपाने सति अवर्जयन्ती वा असादिव्याघ्रातोऽ-  
 कालमरणं चातिरिक्त्वा कृत्वा नृणां जन्तुं, आनेप्यानापत्तां च तिर्यग्-  
 निरिति । आगमश्च—“सर्वत्र संजम संजमाश्रो अण्यणमेव र-  
 क्णज्जा ” इत्यादिनाऽपि तदुपयोगे कर्मबन्धाभाव इति । त-  
 दाहि—आध्याकर्मव्ययि निष्पादामाने पञ्जीविनिकायवधः, त-  
 द्बोधे च प्रतीतः कर्मबन्ध इत्यतोऽनयोः स्थानयोरकान्तेनाधीय-  
 माणयोग्यद्वयं व्यवहारो न युज्यते । तथाऽऽध्यामेव स्थानान्त्यो  
 समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितम् ।

पुत्रव्यवस्था द्वाभौ प्रति चागमामाने प्रदोषयितुमाह—  
 यदि वा योऽप्रमन्तरमाहारः प्रदक्षिणः स सति शरीरं भवति ।  
 शरीरं च पञ्चधा, तस्य चौदारिकादिः शरीरस्य भेदादे-  
 प्रतिपादयितुकामः पूर्वपक्षचरिणाह—

जपदं शरालमाहाहं, कर्मणं च तद्देव य ।

सर्वत्र च वरिण्यं अस्थि, एतिय सर्वत्र च वरिण्यं ॥ १० ॥

( जपदं इत्यादि ) यदिदं सर्वं स्रमजस्य हस्तुद्विः पुस्तिकिभूत-  
 औदारिकमन्तरेवोपार्धं निस्सारय्यात् । एतच्च निर्वेकमनुपणापि  
 भवति । तथा चतुर्दशपञ्चिंशो कश्चित्संशयादाद्यादिदस्य द-  
 न्याहारकम् । यत्तद्वृत्तमाह वैकियोपादानमपि द्रष्टव्यम् । तथा क-  
 र्णना निर्भूतं कर्मणम्, एतत् सर्वं तैजसमपि प्राहम् । श्री-

दारिकवैकियोपाहारकाणां प्रत्येकं तैजसकार्मणाभ्यां सह युगप-  
 त्सम्बन्धः कस्यचिद्व्यापारहा स्यादतस्तत्पदोदाहं तदाभि-  
 प्रायमाह—तदेव तद्यदेवौदारिकं शरीरं, त एव तैजसकार्मण-  
 शरीरं । एवं वैकियोपाहारयोःपि धार्यम् । तदेवंभूतां संज्ञां नो  
 निवेदयामादित्युत्तरमार्गं किया । तथैतन्नायात्यन्तको भेद इत्ये-  
 वंभूतामपि संज्ञां नो निवेदयेत् । युक्तिसिद्ध-यद्येकान्तमभि-  
 पद्य, तत् इदमौदारिकमुदाहरणकल्पिष्ये, तथैतत्कर्मणा निवे-  
 र्मितं कार्मणं, सर्वेभ्यस्तस्य संसारचक्रवात्सस्य प्रगमस्य करण-  
 भूतं ततोऽदृश्येनिष्पन्नं तत्र एव तैजसम्, आहारपकृतिमितं तै-  
 जसस्रप्तिमितं ज्ञेयं जेदं संज्ञानिरुक्तं कार्यं च न स्यात् ।  
 अथात्यन्तिको जेद एव, ततो घटयद्विभ्रयोदेशकालस्योरपु-  
 लभियः स्यात् । न निश्चता युगपदुपस्रप्तिरिष्ये च व्यवस्थितं  
 कदाचिद्वेषोपस्रप्तेरभेदः, कदाचिच्च संज्ञाभेदादत्र इति सिद्धम् ।  
 तद्येवमौदारिकान्तां शरीराणां जेदाभेदो प्रदृश्यामि सर्व-  
 स्यैव इत्यस्य भेदाभेदो प्रदोषयितुकामः पूर्वपक्षं श्रोतव्या-  
 क्तं न दर्शयितुमाह—(सर्वत्र धीरियमित्यादि) सर्वे सर्वत्र वि-  
 चरन् इति कृत्या सार्वभूमिप्रयोगेन सार्वजन्तमोरुपस्य प्रधान-  
 स्यैक्यत्वात्स्य च सर्वस्यैव कारणत्वात्, अतः सर्वसर्वात्मक-  
 मित्येवं व्यवस्थितं घटपटाद्यवयवस्य व्यक्तस्य धीरियं शक्तिविद्य-  
 ते । सर्वस्यैव हि व्यक्तस्य प्रधानकार्यवत्कारणकारणशक्तिव्या-  
 दतः सर्वस्य सर्वत्र वीर्यमस्तौत्येवं संज्ञां नो निवेदयेत् । (अण-  
 मेतवायुं शब्देऽत्रैव भागे अन्नमनि साक्ष्यमननिरासत्परा युक्तिः  
 वर्ज्यते) सुत्र० २ श्लो० ४० ( “अणियं श्लोप अणोप वा, उणं च मण-  
 गणिसप ” इत्यादि सूत्राणि ” अन्धिवारं शब्देऽऽप्रदृशयित्यन्ते )  
 आचनेऽभोगानानोगेनैवितार्थमाह—

से य जागमजाणं वा, कर्तुं आश्रम्यं पर्यं ।

संचरे विपगमजाणो, वीर्यं तं न समाये ॥ ११ ॥

स साधुज्ञानमज्ञानं वा अज्ञेयानोऽनायोगेनाभ्यर्थः । कृत्वा  
 अधार्मिकं पदम्, कथञ्चिदागद्वेषाभ्यां युक्तोत्तरगुणविराधनामि-  
 ति ज्ञावः । संचरेति प्रमात्मानं भावते । निवर्त्योऽनाचारानि प्राका-  
 रण, तथा द्वितीयं पुनस्तन् समाचरन्नुक्तव्यथायादिति सूत्रार्थः ।  
 एतेर्वाह—

आणायारं परकृम नेव गृहे न निन्हे ।

सुदं सया विपदभावे, असंसत्तां जिदिदिपु ॥ ३२ ॥

अनाचारं नावद्ययोगं परकृम्याऽऽवश्यं गुरुमसक्तं श्लोचय-  
 नैव गृहयेत्, न निह्वेति । तत्र गृहेन त्रिंशत्कथाम्, निह्व  
 पकान्ताऽपलायः । किञ्चिदः सन्निपाह-शुचिरकल्पुपमार्तः,  
 सहा विकटभाबः प्रकटजाबः, असंसत्तां प्रतीबकः, कावाज्जा-  
 तैन्दिभ्यो जितेन्द्रियप्रमादः सन्निपाह । दृश० ४० अ० (सकृत्प-  
 उक्तां न कदाचिद्व्ययनाचारानिर् ‘निदिसेण’ शब्दे उदाहरणकृत-  
 वा वर्णयित्यन्ते । तथा त्रिपिंधोऽनाचारः ‘संकलेत’ शब्दे वर्ज्यते )  
 आणायारं ज्ञाण-अनाचारं ध्यान-न० । आचारोऽनाचारः ।  
 नमः कुलाधेयवत् दुष्टाचारस्य ध्यानमनाचारः । दुष्टोनेन,  
 यन्नरदायं ध्यायतः कांशुस्यसाधारिव, देवानामागममाद्युत्तम-  
 जितुकामस्थापाठस्यैरिव वा कुप्यान्, आतु० ।  
 अणायाराइ ( ए ) अनात्मवादिन्—पु० । आत्मानं यदिदं शु-  
 क्षमयेति । यः पुनर्वच्युत्तमात्मानं नाभ्युपगच्छति सोऽनात्मधा-  
 इ । आत्मानमननुपगन्तार नास्तिके, सर्वव्यापिते निर्यं कृपि-  
 कं वाऽऽप्रमगमननुपगन्तार, आवा० १ श्लो १ क्र० १ उ० ।

अणयायावि ( ण )—अनातापिन-पुं० न आताप्यता । अना-  
पनां शीतादिहसहनरुपां करोतीत्यनाताप । मन्द्ब्रह्मत्वात्परिष-  
दाहसिद्धी, स्था० ४ ग्रा० ३ उ० ।

अणारंज-अनारम्ज-पुं० जीषानुपघाते, भ० ८ शो १ उ० ।  
जीषानुपघते, "सत्तर्षिह अणारंजे परणसे । तं जहा-पुद्विकार-  
इयअणारंजे जाव अजीवकायअणारंजे " स्था० ७ ग्रा० । न  
विद्यते सावध अणारंजे येनां ते तथा । सावधयोगादितिषु,  
"अपरिमहा अणारंजा, भिक्खू ताणं परिष्वप " सु० १  
शु० १ अ० ४ उ० ।

अणारंभजीवि ( ण )—अनारम्भजीविन्-पुं० । आरम्भः सा-  
वधानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, तद्विषयबंधेन स्वमारम्भः, तेन जी-  
वितुं शोभं येषां ते अनारम्भजीविनः । समस्तारम्भनिवृत्तेषु  
यतिषु, आचार्त्वा ।

आरंतिप आरंतिक्षोयोनि आणारंजजीविण् तेषु चैव-  
मणारंभजीवी एतंबवरत्तं भोसिमाणे ॥

यावन्तः केचन लोके मनुष्यलोकेऽनारम्भजीविनः, आरम्भः  
सावधानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा । उक्तं च— "आयाणे णवसेये,  
जासु संनयागणममादि । सर्वो प्रमत्तजोगो, समणस्स  
विहाइ अरंजे " ॥ १ ॥ तद्विषयेयण स्वनारम्भस्तेन जीवितुं  
शिलमेपाभिनयनारम्भजीविनो यतयः । समस्तारम्भनिवृत्तास्ते-  
ष्वेव गृहियु पुत्रकलत्रस्वशरीरार्थमरंजमवृत्तेष्वनारम्भजी-  
विनो भवन्ति । एतदुक्तं भवति—सावधानुष्ठानमवृत्तुषु गृहस्थ-  
पुं० दत्तापनाथमन्वयचारम्भजीविनः साधवः पट्टापापपङ्कयसि-  
द्धेया एव भवन्ति । यद्येवं ततः किमिग्याह— ( यथावचरए ह-  
स्यादि ) अत्रास्मिन्साधारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः संकोचितगता-  
त् । अत्र चार्हते धर्मे व्यवस्थितः उपरतः पापारम्भज्ञत् किं  
कुर्वते ? स तत्प्राधानुष्ठानायात्कर्म ऊपरयन् रूपयन् मुनि-  
जावं भजन इति । आचार्त्वा ।

अणारंजट्टाय-अनारम्भट्टयान्-न० । असावधारम्भस्थाने,  
"पगतमिच्छे असाह तथं ज्ञा सा सवतो विरहे एसहाणे  
अणारंभट्टाय आरिप " सु० १ शु० २ अ० ।

अणारण्ड-अनारण्ड-त्रि० । केचक्षितिर्विशिष्टमुनिभिर्बोऽना-  
कीणं, "आरंजं जं चऽणारंभे अणारण्डं च ण आरंभे" आचार्त्वा  
१ शु० २ अ० १ उ० ।

अणाराहव-अनाराहक-त्रि० । विराधके, "अणयायी  
अस्समिप धम्मस्स अणाराहव जठं" । स्था० ४ ग्रा० ३ उ० ।

अणारिय-अनारिये-पुं० । न आर्योऽनारियः । अज्ञानाहृतत्वाद्-  
सन्नुद्ययिनि, सु० १ शु० १ अ० ३ उ० । पापासकं, भ० ३  
शो ६ उ० । सु० १ अ० । अकार्यकर्मकारिणं, नि० ब्यू० १ उ० उ० ।  
धर्मसंज्ञागदितं, शिष्टसंमर्तानिखलव्यवहारं वा क्षेत्रं, सु० १  
शु० ५ अ० १ उ० । तथा—

सग जवया सवर बन्वर-कायमुहंङ्गुगोडुपकणया ।  
अरत्तागहणारोमय-पारसखसखासिया चैव ॥ १ ॥  
हंभिलयलकुमबोक्कम-जिह्वंयपुल्लिदकौचजमरुआ ।  
कांबायचीणचुंयुय-मालवदविभा कुलत्मा य ।  
कैकयिक्रापहयमुह-खरमुहगयतरगमिदयमुहा य ।  
हयकभा गयकभा, उक्त्वे वि अणारिया बह्वे ॥ ३ ॥

शकाः, यवनाः, श्वराः, बर्वराः, कायाः, मुद्रकाः, वड्डाः, गोड्डाः,  
पकणकाः, अरत्तामाः, दुस्साः, रोमकाः, पारसकाः, खसाः, खासि-  
काः, बुभिलकाः, लकुशाः, बोक्कसाः, मिह्णाः, चान्नाः, पुसिन्दाः,  
कौञ्जाः, अमरकताः, कायांतकाः, चीनाः, सुम्बुकाः, मालवाः, इवि-  
डाः, कुशार्थाः, कैकेयाः, किराताः, इयमुजाः, खरमुसाः, गज-  
मुसाः, तुयकमुसाः, मिपदकमुसाः, इयकयाः, गजकणांभेयते  
देशा अनार्याः । अन्धेपि देशा अनार्याः । प्रथ० २७४ ब्रा० । न  
केवलमेत एव किन्त्वपरिऽप्येवं प्रकारा बहवोऽनार्या देशाः प्रश-  
व्याकरणादिप्रम्याका विक्षेयाः ।

तथाच सूत्रम्—

बहवे मिलिक्खुजाई, किं ते १, सक्का जवणा सवरबन्वरगा  
य मुहंकोडुजडगभियि य पकाणिया कुलकत्ता गौदसिंदुल-  
पारसकोचअंधविद्विक्खुल्लसुपुल्लिदआरोमरोवपोक्काणंघ-  
हारमबहुलं।यज्जहा रोसाभासा बउसमलया य चुंयुया य  
चूलियकोकणमामेयपट्टमालवमहुदरआजासिया अण-  
कवीणलासियसखसखासियनेट्टरभट्टमुट्टियआरवर्भोविस्स-  
गकुहयकेकयहणारोमगरुमरुगविहायविसववासी य पव  
पट्टया ।

(इमे बहवे मिलिक्खुजाई लि) म्लेच्छजातीयाः किंने इति ?  
तद्यथा—शकाः १, यवनाः २, श्वराः ३, बर्वराः ४, कायाः ५, मुद्र-  
काः ६, उड्डाः ७, आरत्तामाः ८, जिलिकाः ९, पकणिकाः १०, कुशार्थाः  
११, गौशार्थाः १२, कौञ्जाः १३, पारसकाः १४, बोक्कसाः १५, अन्नाः १६,  
द्रविडाः १७, चिस्वलाः १८, पुसिन्दाः १९, आर्यायाः २०, डोवाः  
२१, पोक्कयाः २२, गणहाराकाः २३, बरलोकाः २४, जल्लाः २५,  
रोसाः २६, मायाः २७, बकुशाः २८, मलयाख २९, सुम्बुकाश्च ३०,  
सूलिकाः ३१, सिह्णुसाः ३२, मेहाः ३३, पकवाः ३४, मासकाः ३५,  
महुदाः ३६, आभाषिकाः ३७, अण्यकाः ३८, चीना ३९, लासिकाः  
४०, खसाः ४१, खासिकाः ४२, नेट्टराः ४३, (मरहट्टं लि) मह-  
रारायाः ४४, (पाठान्तरे पासुट्टं ४५,) मौट्टिकाः ४६, आरवाः ४७,  
आम्बिलिकाः ४८, कुहणाः ४९, केकयाः ५०, हुणाः ५१, रोमकाः  
५२, रवयः ५३, मरुकाः ५४, इति । एतानि च प्रायो लुप्तमध-  
मावहुवचनानि पदानि, तथा खिलतविषयमात्रासिन्ध म्लेच्छ-  
देशवासिनः । एते च पापमत्तः । प्रश्न० १, आश्र० ब्रा० ।

अथ सामान्यतोऽनार्यदेशस्वरूपमाह—

पावा य चेरुक्कमा, अणारिया निग्गिणा शिरनुतायी ।  
धम्मो ति अक्खराई, सुइये वि न जजए जेसु ॥

एते सर्वेऽनार्यदेशाः पावाः । पापमपुत्रमप्रकृतिरूपे, तद्व्य-  
नवात् पावाः । तथा अरंजं कोपाक्कटतया रौद्रानभिधानर-  
विशेषप्रवर्तितत्वादिनैरौट्टं कर्म समाचरन्तं येषां ते अण्डक-  
मर्याः, तथा न विद्यते घृसा पापजुगुप्सात्तज्जया येषां ते नि-  
घृसाः, तथा निरनुतापिनः सेवितेऽप्यकृत्ये मन्नात्पि न पश्चा-  
त्प्राप्तभाज इति भावः । किञ्च—येषु 'धर्मः' इत्यत्राणि स्व-  
रूपेण सर्वथा न ज्ञान्यन्ते केवलमपेयपापमिदमभलगतत्वात्प्रा-  
मनादिनिरताः शास्त्राद्यप्रतीतवेषमापादिमन्नाचाचाराः सर्वेऽ-  
प्यमी अनार्या अनार्यदेशा इति । प्रथ० २७४ ब्रा० ।

आर्यानांवेद्यव्यवस्था चैत्थम्—

अस्त्युप्यचि जिणाणं, चक्कीणं रापकहाणं ।

यश्च तीर्थकारादीनामुत्पत्तिस्त्वदायं, शेषमनायेमिति । आ-  
श्वकृष्णौ पुनरिस्थमार्थानायायव्यवस्था उक्ता-“अस्तु केसु वि  
पयसेसु, मिथुणवाणि परदिपसु हकाराया नीई पाकुडा ते  
आयरिया, सेसा अनारिया” इति । प्रय०२७३ इति । (अनारि-  
सेने न विहत्तव्यमिति विहार शब्दे वचयते) “अयंसि वा  
महत्वा वा अणारियरिई” विमहिस्यत्पदादनायैस्त्रैचङ्गादि-  
भिर्जीवितकारिप्रापहारिभिरभिभूयमानमिति शेषः । स्था० ५  
डा० २ उ० । स० । अनार्या स्त्रैचङ्गास्तत्तत्र साधुनिन्दा-  
दिना अनार्या इव अनार्याः । साधुप्रत्यनीकेषु उक्त०३अ० ।  
अणारिषङ्गाण-अनार्यास्थान-न० । साधवाऽऽऽम्भाभये,  
सुख० २ सु० २ अ० ।

अणारोहण-अनारोहक-त्रि० । न० ब० । योषयजिते, “अणा-  
स्य अणारहिय अणारोहणं” अ० ७ हा० ९ उ० ।

अणालोचन-अनालम्बन-न० । न विद्यते अनालम्बनं यस्य तद-  
नालम्बनम् । स्वोपादानङ्गाणामात्रापुरणयोगं कस्यापि विषय-  
स्याऽनवगमके बुद्ध्याने, अने० ५ अक्षि० ।

अणालोचनयोग-अनालम्बनयोग-पुं० । परतत्त्वविषये ध्यान-  
विषये, यो० ।

कः पुनरनालम्बनयोगः कियन्तं कांश्च भवतीत्याह-  
सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिद्वेदेत्यसङ्गशक्याद्याया ।  
साऽनालम्बनयोगः, प्राक्तस्तददर्शनं यावत् ॥८॥

(सामर्थ्यादि) शास्त्रोक्ताद् रूपकत्वेणाङ्गिनीयाऽपूर्वकरण-  
भाविनः सकाशात् । सामर्थ्ययोगस्वरूपं चेदम्-“शास्त्रसंश्रि-  
तोपाय-स्मृत्तिकान्तोच्चरः । सर्वोऽेकः शिरोधेयः, सामर्थ्य-  
कथोऽयमनुत्तमः” ॥१॥ यावत् परतत्त्वं द्रष्टुमिच्छा दिद्वेहा इत्येवैव  
रुता, अत्रज्ञा चाली शक्तिश्च निरमित्यङ्गानविरत्नपुस्तितयाऽऽ-  
ख्या परिपूर्णा, दिद्वेहा, सा परमात्मविषये दर्शनेच्छा अनालम्बन-  
योगः प्राक्कः, तद्विभिनत्स्य परतत्त्वस्यापूर्वमनुत्तमम्भः, तद् य-  
थावत् परमात्मस्वरूपं दर्शनं तु केवलज्ञानं अनालम्बनयोगो  
न भवति, तस्य तदानलम्बनत्वात् ।

कथं पुनरनालम्बनोऽयमित्याह-  
तत्रामतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्त्वन ।  
सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥९॥

(तत्रेत्यादि) तत्र परतत्त्वेऽप्रतिष्ठितोऽप्रतिष्ठितः अयम-  
नालम्बनः, यतो यस्मात्प्रवृत्तश्च ध्यानरूपेण तस्यतो वस्तुतस्त्वन  
परतत्त्वं सर्वोत्तमानुजः खलु सर्वोत्तमस्य योगस्यानुजः प्रागन-  
न्तरवर्तिना कारणेनानालम्बनो गीतः कथितः ॥ ९ ॥

किं पुनरनालम्बनाऽवर्तनीत्याह-  
द्वागस्मात्तदर्शनं-मिथुपातज्ञानमात्रतो हेयम् ।  
एतच्च केवलं तद्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ १० ॥

(जानित्यादि) काक शीघ्रमस्मात्प्रस्तुतादानालम्बनात्तदर्शनं  
परतत्त्वदर्शनमित्योः पातस्तद्विषये ज्ञातमुपाहरन् तस्मात्तद्विधु  
पातज्ञानमात्रतो हेयं तद्दर्शनम् । यत्तच्च परतत्त्वदर्शनं केवलं  
संपूर्णम् । तदिति तत्प्रसिद्धं ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । यत्त-  
क-  
बलज्ञानं परं प्रकृत्य ज्योतिः परमाशुक्रम, इधुपातोदाह-  
रणं च यथा-कनकविभूषणं लक्ष्मणमिच्छे चणो तद्-  
मिसंवादिनि प्रकृदिने यावत्तस्य वाणस्य न विमोचनं त्राय-

तत्प्रगुणानभिप्रेण तद्विसंबादित्येव च समानोऽनालम्बनो यो-  
गः, यदा तु तस्य वायस्य विमोचनं ज्ञयाविसंबादि पतनमा-  
श्रादिषु लक्ष्यवेषकं तदा अनालम्बनोत्तरकालभावी तत्पातकल्पः  
स्याऽम्बनः केवलज्ञानप्रकाश इत्यनयोः साधर्म्यं नृप्ये निद-  
शेयम् । यो० १५ विष० । अह० ।

अणालोचनपट्टाण-अनालम्बनप्रतिष्ठान-त्रि० । अविद्यमानमा-  
म्बनं प्रतिष्ठानं भाग्यकारणं यत्तत्तथा । अनाम्बनरूपकरहिते,  
प्रज्ञ० ३ ब्राह्म० ८१० ।

अणालोचन-अनालपित-त्रि० । अभाषिते, “पुनिय अणालोचनेण  
अलपित्तए वा संज्ञवित्तए वा” प्रति० । उपा० ।

अणालोचन-अनालस्य-न० । अनुत्साहे, तं० । ब० स० । कृतो-  
द्घमने, व्य० ७ उ० ।

अणालोचनस्यणिलय-अनालस्यनिदय-पुं० । अनालस्यमुत्साह-  
स्तस्य शुक्य, अकार्यदोः सादरं प्रवृत्तिस्तुवाह । योषिति, तं० ।

अणालोचन-अनालप-पुं० । मज्जः कुलास्यत्वादिनीतिस्त्वादिवत्  
कुत्सित आभाषोऽनालप इति । वचनाधिकल्पनेदं, स्था० ७ डा० ।

अणालोचन-अनालपि-त्रि० । अहताऽऽस्त्रेण, प्रय० २ इति० ।  
आव० ।

अणालोचन-अनाललोचन-त्रि० । अनिवेदिते, न० ब० । गुरु-  
णां समीपेऽहतालोचने, औ० सादरमर्वाकिंते, “मूर्तिः स्फुटिमती  
सदा विजयते जैनश्वरं । विरकुत-भोहोऽमाद घनदमादमदिगम-  
सैरनालोचिता” अनालोचिता सादरमर्वाकिंतेत्यर्थः अनालोचि-  
तपदस्य सादरमनालोचनार्थोऽनरसंक्रमिततया वाच्यत्वाद्,  
अन्याथा चकुम्भतः पुनः क्लेशवस्तुनाऽनालोचनत्वात्पुनः प्रति०

अणालोचन-अनाललोचन-त्रि० । अनालोचिताऽप्रतिक्रान्त-त्रि० । अना-  
लोचनश्चासौ अर्थाकारिनाम्ब । गुरुणां समीपेऽहतालोचने दा-  
पाचचानिबुद्धे, औ० ।

अणालोचन-अनालोचन-त्रि० । अनालोचननापिन-पुं० । सम्यग्-  
ज्ञानपूर्वकमपयोलाप्य भाषक, प्रय० ७ इति० ।

अणालोचन-अनालोचन-पुं० । न० त० । अहे, “खुलसीहजोणि-  
सयसह-सस गुविंश्च अणालोकमध्यारं ति” ॥ संसारसागर-  
वर्णकः ) अनालोको नामाज्ञानान्धकारां यस्य स तथा । प्रज्ञ० ५  
ब्राह्म० ८१० ।

अणालोचन-अनालोचन-न० । न अणालोचनवागमः परस्व अर्थस्य  
रूपपरवक्तव्य या यस्मिन् स्थितिज्ञे तदानपातम् । प्रय० ७ इति० ।

अणालोचन-अनालोचन-न० । अणालोचनवागमः परस्व अर्थस्य  
रूपपरवक्तव्य या यस्मिन् स्थितिज्ञे तदानपातम् । प्रय० ७ इति० ।

अणालोचन-अनालोचन-न० । अणालोचनवागमः परस्व अर्थस्य  
रूपपरवक्तव्य या यस्मिन् स्थितिज्ञे तदानपातम् । प्रय० ७ इति० ।

अणालोचन-अनालोचन-न० । अणालोचनवागमः परस्व अर्थस्य  
रूपपरवक्तव्य या यस्मिन् स्थितिज्ञे तदानपातम् । प्रय० ७ इति० ।

अणालोचन-अनालोचन-न० । अणालोचनवागमः परस्व अर्थस्य  
रूपपरवक्तव्य या यस्मिन् स्थितिज्ञे तदानपातम् । प्रय० ७ इति० ।

अणालोचन-अनालोचन-न० । अणालोचनवागमः परस्व अर्थस्य  
रूपपरवक्तव्य या यस्मिन् स्थितिज्ञे तदानपातम् । प्रय० ७ इति० ।

“अमयंकरे भिक्कु अणाविहप्या” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।  
अणानुद्धि-अनानुद्धि-स्त्री० । चषयाऽभावः, स० ।

अणासंसि ( ख )-अनाशांसि-पुं० । न० त० । अत्रुत्पयो बन्धा-  
यनाकाङ्क्षिणं प्रयत्नसारपरिकथनयोः, १० १ उ० । आधा-  
यांघाराधनाशांसारहिते, सांसारिकफलज्ञानयंके वा, आशोचनानप्र-  
दानयाम्बे, आशयिम्बे हि स्वमप्रातिचारालोचनानासंज्ञवात् आहां-  
साया यथाशिकारवात् । धर्म० २ अथि० ग० । प्रय० । पञ्च० ।  
अणानुद्धि-अननुद्धि-स्त्री० । अम्बरहिते, न० ७ श्रु० ६ उ० ।

अणानुद्धि-अच्छिन्नानाम्-स्त्री० । अकृतप्राणे, नि० चू० ७ उ० ।  
अणानुद्धि-अनासन्न-स्त्री० । अकितपयतिनि, उच० २० अ० ।  
अणानुद्धि-अनासक्ति-स्त्री० । अप्रतिबद्धतायाम्, स्वजनादिषु  
कोहाजाभे, म० १ श्रु० ६ उ० ।

अणानुद्धि-अनाशय-स्त्री० । न विद्यते आशयः पूजाभिप्रायो  
यस्यांसावनाशयः । उच्यते विद्यमानेऽपि समवसरणादिके  
ज्ञातयोऽनास्थाद्के तीर्थकृति, तद्वगतगाह्योनाशवात् । मूच० १  
श्रु० १५ अ० ।

अणानुद्धि-अनाश्रव-पुं० । न विद्यते आश्रवा हिंसाद्योयस्य ।  
३४ पापकर्मव्यवहिते हिंसायाश्रवहारवितरे, क० प्र० ।  
उच० । प्राणातिपाताविरहिते, स्त्री० । “अणासवे प्रथमे अकि-  
चने” स्त्री० । अविद्यमानपापकर्मव्यवहिते, स्त्री० । आश्रवति तान्-  
शोशनत्वेन अशोभनत्वेन वा शुद्धालीपाश्रवः, नाऽऽश्रवोऽना-  
श्रवः । अम्यस्थं रागद्वेषविरहितं, पुं० ।

सहासि दोष्वा अद्दु जेरवाणि, अणासवे तेषु परिचरएजा ।  
शब्दान् वेदुषीणादिकाम्यपुरान् श्रुतिपशालान्, भुत्वा स-  
माकर्षये, अथ अगवान् अयावहाद्, कर्षणकट्टाकार्षये, तेष्वनुक-  
लेषु प्रतिकलेषु अयनपशुपागतौ शुभद्वे, नाश्रवो अम्यस्थं  
रागद्वेषविरहितो ज्ञत्वा परि समन्ताद् अत्रेतिप्रज्जेव, इति । ४० ३  
उ० । नवकमानुपादाने, प्रअ० १ आश्र० ३३ ।  
अनाश्रवणैव सर्वथा कर्मकृय इति यथाऽस्ती भवति तथा-  
पापवद् ह्युसावायं, अद्दत्त मेदुषा परिग्माहविरआ ।  
रार्धोयण विरअो, जीवो होइ अणानुद्धो ॥  
पंचसमिअो तियुत्तो, अकसाओ जिइदिअो ।  
अणानुद्धो य निरुद्धो, जीवो होइ अणानुद्धो ॥

सूत्रद्वयं प्रायः प्रतीतायमेव, नवरं, विरत इति प्राणवधादिभिः  
प्रत्येकमनिसम्बन्धते । तथा प्रकल्पनाश्रव इति अविद्यमानक-  
र्मोपादानेऽनुः । द्वितीयसूत्रेऽप्यनाश्रवः समित्यादिविषयध्यानां  
कर्मोपादानेऽनुत्वेनाश्रवकल्पवात्, तेषां अविद्यमानत्वादिति  
सूत्रद्वयार्थः । एवंविधश्च तादृशं कर्म यथाऽस्ती रूपवस्था-  
यत्नमाय ।

पुनः शिष्यानिमुक्तीकरणपूर्वकं दृष्टान्तद्वारेण तदाह-  
एषसिं तु विवक्षासे, रागदोसममज्जियं ।  
त्ववई तवसा जिक्खु, मपगममणो सुणो ॥  
जहा मद्दतलायस्स, सधिरुक्के जलागमे ।  
उत्सिचणाय तवणाय, कम्मए सोसाया जये ॥  
एवं तु संजयस्सवि, पावकम्मनिस्ससो ।  
ज्वकोदीसंचयं कम्मं, तवसा शिज्जिरिज्जइ ॥

सूत्रद्वयम्-यतेषां तु प्राणिवधाविरत्यादीनां समित्यादीनां धाना-  
श्रवहेतूनां ( विवक्ष्यासे त् ) विषयान्से प्राणिवधादावधामि-  
त्वादीं च रागद्वेषाद्यनां समाजिसमुपाहितरागद्वेषसमाजितं,  
कर्मैति गम्यते, तस्मै कथयतेति शेषः । एकमेकत्र वस्तुनि अवि-  
निविद्यत्वेव मनो यस्याः सा एकमनाः, श्रुतवति शास्त्राभिप्रेक्षी-  
करणम्, सचिकित्से पाठ्यादिना नियोज्ये, जलागमे जलप्रवेशे, (उ-  
त्सिचणाय त् ) सूत्रत्वाद्भुत्सेचनमारुधुधृटीनिवहार्थिनिकर्-  
त्तवेन ( तवणाय त् ) प्राग्ब्रह्मसंपनेन रश्मिकरनिकरसत्पाकरूपेण  
कर्मण परिपाठ्या शोषका अज्ञानावस्था भवेत् । पापकर्मविरा-  
श्रवे पापकर्मनाशाश्रवाजाभे, आशकोटीसञ्चितमित्यत्र कोटिप्र-  
हणप्रतिबद्धबुद्धेर्पलक्षणम्, कोटिनियमासंभवात्, कर्म तपसा नि-  
र्जयंते आधिपत्येन ह्ययं नीयते, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः । उच०  
३० अ० । पञ्चमिश्रो वीणप्राणातिपातविरमयो, तस्य कर्मव्यवधि-  
राधोपायत्वात् । प्रअ० १ सस्म० ३३० । आ सस्मत्ताद् श्रुतवति  
शुद्धवनमाकार्ययन्तीति आश्रवाः । न तथा प्रतिज्ञावाचिषयस्य  
तस्याश्रवणादनाश्रवः । शुद्धवचनेऽस्तिथत्, “अणासवा पूहवथा  
कुलीहा, मिउं पि चंनं पकरेति स्वीसा” इति तुर्विनीतलक्षणम् ।  
उच० १ अ० । आश्रवः व्रतविशेषः, आश्रव० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । केवलं रत-  
नेन्द्रियविषये, म० १ श्रु० १ उ० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । आशाविषयमकुर्वणे .  
उच० १ श्रु० १ उ० ।

अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।  
अणानुद्धि-अनाश्रवण-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० । अनाश्रवणायाम्-स्त्री० ।

कृत्वा ? सिद्धात् पञ्चदशप्रकारान् नमस्कृत्य, च पुनर्जावतो ज-  
कितः, संत्यक्तं साधुन् अण्णाद्योपेयावाप्तिसवसाधुन् नमस्कृ-  
त्वा । कीदृशी मे अमुशिष्टिः । अर्थधर्मगताः । अर्थ्यते प्रार्थ्यते  
धर्मात्मनिः पुनरैरिति अर्थः, स वासौ धर्मश्च अर्थधर्मस्तस्य ग-  
तिज्ञानं यस्मात् सा अर्थधर्मगताः, ताम्, इत्यवस्थां दुष्प्राप्त्या धर्म-  
स्तस्य धर्मस्य प्राप्तिकारिकायाम्, यया मम शिक्षया दुर्लभधर्मस्य  
प्राप्तिः स्यादिति ज्ञातः । पुनः कीदृशी मे अमुशिष्टिः ? , तस्यां स-  
त्याम् । अथवा 'तस्य' तस्य कथां वा, इह आमुशिष्टिरभिधेया, अर्थ-  
धर्मगताः प्रयोजनम् । अनयोश्च परस्परमुपायोपेयजायलक्षणः  
सम्बन्धः सामर्थ्याद्युक्त इति सूत्राः ? ॥ १ ॥

सम्प्रति धर्मकथाऽनुयोगाद्वास्तव्य धर्मकथाकथनव्याजेन  
प्रतिज्ञातमुपकमितुमाह—

पञ्चदशयोगो राया, सेखिभ्रो मगहादिभो ।  
विद्वाजत्तं निजाभो, मंकिञ्चित्ति सेइए ॥ १ ॥  
श्रेणिको नाम राजा एकदा मणित्तकुत्सिनामिन् कैव्ये उद्याने  
विहारयात्रया उद्यानकीयया निवृत्तः, नगरात् क्रीडत्यमतिरुत-  
कुत्सिबन्धने गत इत्यर्थः । कीदृशः श्रेणिको राजा ? , मगधाधिपः म-  
गधानां देशान्तमधिपो मगधाधिपः पुनः कीदृशः ? , प्रदूतरत्नः  
प्रदूरप्रधानगजाश्वमणिप्रमुखपदाध्याधारी ॥ २ ॥

तद्वच विशिनिधि—  
नाणात्तुमलयाएषं, नाणापक्खिनिसेविणं ।

नाणात्तुमुपसंभ्रं, उज्जाणं नंदोपवमं ॥ ३ ॥  
अथ मणित्तकुत्सिनाम उद्यानं कीदृशं क्वंते तदाह । कीदृशं  
तद्वनम् ? , आनाद्वमगतकोपं विविपञ्चकृत्तर्जिनीवासम् । पुनः  
कीदृशम् ? , नाणापक्खिनिविणं विविपायिक्कुरेत्तेशियेनाश्रितम् ।  
पुनः कीदृशम् ? , नाणात्तुमुपसंभ्रं भववृणुपुण्येवासम् । पुनः  
कीदृशं तत् उद्यानम् ? , नामरिक्कजानानं कीदृशद्यानम् । नगर-  
समीपस्थं वनमुद्यानमुच्यते । पुनः कीदृशम् ? , नन्दोपवमं न-  
न्दनं देववमं तदुपवमम् ॥ ३ ॥

तद्य सं पस्सं ताहू, संजयं सुत्तमाहिणं ।

नित्तं रुक्खमूलम्मि, सुकुमलं सुहोएयं ॥ ४ ॥  
तत्र वने न श्रेणिको राजा स्यात्पश्यति । कीदृशं साधुम् ? , संयतं  
सम्यक्प्रकरणेन यतं यत्नं कुर्वन्तम् । पुनः कीदृशम् ? , सुसमाधितं  
सुतरामतिशयेन समाधियुक्तम् । साधुः सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते,  
तत्र वचकेशयो संयतमित्युक्तम्, सांश्रियं च बहिः संयमवान् नि-  
ह्वारिरेपि स्यात् इति सुहू समाहितं मनःसमाधानवान् सु-  
समाहितस्तमित्युक्तम् । पुनः कीदृशम् ? , सुकुमलं निषत्तणं स्थि-  
तम् । पुनः कीदृशम् ? सुकुमलम् । पुनः कीदृशम् ? , सुखां वितं  
सुखलाभ्यम्, शुनो वितं वा ॥ ४ ॥

तस्स रुवं तु पासित्ता, राहो तोम्मि संजए ।  
अर्थत्तरपो आसी, अउलो रुवविन्दिआ ॥ ५ ॥

राजः श्रेणिकस्य तस्मिन् संयते साधौ अत्यस्तः परमोऽतिशय-  
प्रधानोऽधिकोऽपि, अतुलो निरुपमाऽन्यत्सहो रूपविस्मयो-  
रुपाश्चर्यमार्थात् । किं कृत्वा ? , तस्य साधोः, क्वं दृष्ट्वा । तुशब्दो-  
क्त्वात्तद्वदति ॥ ५ ॥

अहो ! वभो अहो ! रुवं, अहो ! अज्जसत् सोम्पया ।  
अहो ! खंती अहो ! मुत्ती, अहो ! जोगे असंगया ॥ ६ ॥  
तथा राजा मनसि चिन्तयति स्म—अहो ! इत्याश्रयं । आश्रयं कारि

अस्य शरीरस्य वशो गौरवादिः । अहो ! आश्रयं कृतं, अस्य सा-  
धो रूपं श्रावण्यसाहितम् । अहो ! आश्रयं कारिणी अस्य आश्रयस्य  
सौम्यता वन्द्यधर्मप्रियता । अहो ! आश्रयं कारिणी अस्य कर्त्तुः  
कृपा । अहो ! आश्रयं कारिणी आस्य मुक्तिर्लोकभता । अहो !  
आश्रयं कारिणी अस्य जोगे असङ्गता-विषये भिद्युहता ॥ ६ ॥

तस्स पाए उ बंदित्ता, काऊण य पाहाहिणं ।  
नादूरमणासभे, पंजली परिपुच्छइ ॥ ७ ॥

तस्य साधोः पादौ बन्दिन्वा, पुनः प्रदक्षिणां कृत्वा, राजा ना-  
तिदूरं नात्यासन्नः, कोऽर्थः ? , नातिदूरवर्ती, नातिनिकटवर्ती वा  
सर्व, प्राञ्जलिपुटो वक्त्राञ्जलिः पुच्छति प्रश्नं करोति ॥ ७ ॥

तरुणांसि अज्जा ! पव्वइअो, जोगेकालाम्पि संजया ! ।  
उवाहिअोसि सायसे, पयमइ सुणापि ते ॥ ८ ॥

तदा श्रेणिकः किं पुच्छति—हे आश्रयं ! हे साधो ! , त्वं तरुणांसि युवा-  
ऽसि । हे संयत ! हे साधो ! तस्माद् भोगकाले भोगसमये, प्रसजितो  
गृहीतदीकः, तारुण्यं हि भोगस्य समयोऽस्ति न तु दीक्षायाः स-  
मयः । हे संयत ! तारुण्ये भोगायोग्यकाले त्वं भ्रामय्य दीक्षाया-  
मुपस्थितोऽसि, आदरसहितोऽसि । एतदर्थं एतन्निमित्तं, त्वत्तः  
शृणोमि, किं तव दीक्षायाः कारणम् ? , कस्मान्निमित्तात् दीक्षा  
तया गृहीता ? , तत्कारणं त्वमुक्त्वात् श्रोतुमिच्छामोऽस्ये ।

( पादौटीका )  
तरुणस्यादिना प्रशस्त्वकपमुक्तम् । इह च यत् एव तरुणाऽन

एव प्रसजितो भोगकाले इत्युच्यते, तारुण्यश्च भोगकालस्यात् ।  
यथा-तारुण्यंऽपि रागादिपञ्चाशानां भोगकालः स्यात्, इत्येवमभि-  
धानम् । सांप्रिप कदाचित्कस्येवमुक्तं एव स्यात् । त्वं नुरुपस्थि-  
तः । पञ्जलि च—[ वक्त्राञ्जलिः ] एवमर्थमिति सं योनाथेन प-  
मीहयात्मयस्वच्छायां प्रसजितः, शृणोमि, 'ना' इति तावत्, ए-  
व आत्तु यत्वं ज्ञाप्यसि तद्वि श्रेण्यमीति जायः । इति श्लो-  
कस्तत्कार्यः ॥ ८ ॥

इयं राक्षोके मुनिराह—  
अण्णाहोमि महाराज !, नाहो मज्ज न विज्जइ ।  
अण्णकंपये सुदिं वा वि, कंचो खादि तुमं महं ॥ ९ ॥

अनाथोऽस्मात्तुकोऽस्मीत्यर्थं महाराज ! प्रशस्यन्तुपे ! किमि-  
त्येवम् । यतः—नाथो योगकर्मविधाता, मम न विधानं । तथा  
( अण्णकंपयेति ) आश्रयं वादनुकम्पया यो मामनुकम्पेन  
( सुदिंति ) तत एव सुदत्त ( कञ्चित्ति ) कश्चिन्न विधानं,  
ममैति सत्प्रथाः [ नाहिंति ] प्रकामानन्दरुकोत्तमं जानी-  
हि [ तुमंति ] त्वम् । पत्रम्—' किञ्चो पाभिसमं महं ' कि-  
ञ्चिदनुकम्पकं सुदत्तं वापि नाभिसमं नाभिसंगच्छामि न केनाञ्च-  
दनुकम्पनेन, सुदत्तं च संगतोऽहमित्यादिनाऽप्येन तरुणोऽपि प्रस-  
जित इति जायः । इति सूत्राः ? ॥ ९ ॥ एवं मुनिनाके-  
तत्रो पदसिञ्जो राया, सेणिअो मगहादिहो ।  
एवं ते इष्टिमत्तस्य, कदं नारो न विज्जई ? ॥ १० ॥  
हामि नारो जयंताणं, भोगे जुंजाहि संजया ! ।  
मित्तनादंरिपुवो, माणुस्सं खलु दुद्धं ॥ ११ ॥

[ पादौटीका ]  
तनस्तदन्तरं श्रेणिको मगधाधिपो राजा प्रहसितः । हे महा-  
जग ! एवं तव श्रेणिकतः श्रेणिकस्य कथं नाथो न विद्य-  
ते ? । नवरम्, एवमिति इत्यमानकारेण, श्रेणिकसतो वि-

स्वयनीयवर्षादिस्वपत्निभान्, कथमिति केन प्रकरेश, नाथो न विद्यते ? तस्मालायेक्या स्वैत्र वरंभामनिर्देशः । “यत्राकृतिस्तत्र गुण्या बसन्ति, तथा गुणुवति धनम्, ततः श्रीः, श्रीसम्पत्क, ततो राज्यम्” इति हि श्लोकप्रवादः तथा च न कथाजिद्वन्नाथत्वं भवतः संज्ञनवतीति नाथःयदि वाऽनाथत्वं भवतः प्रव्रयाप्रतिपत्तिहेतुः, ततः हे पूज्याः ! अहं ( अर्थात्तं ) जन्तूनां पुत्र्यानां सुष्पार्कं नाथो न्रभामि, यदा न्रवतो कोऽपि स्वामी नास्ति तदा अहं भवतो स्वामी भवामि, यदा अनाथत्वाद् सुष्पार्निर्वाहो पृहतिता तदाऽहं नाथोऽस्मीति ज्ञायः । हे स्वयत ! हे साधो ! भोवाद् हृत्स्वय । कौहशः सन् ? , मिषहासितः परिहृतः सन्, हे साधो ! खलु इति निश्चयेन, मानुष्यं दुर्जनं वर्तते, तस्मान्मनुष्यत्वं दुर्जनं प्राप्य जोगत्वा लुक्त्वा सफरीकुरु ॥ १० ॥ ११ ॥

मुनिराह—

अष्टाणा वि अष्टाहोसि, सेषिया ! महाह्रिवा ! ।

अष्टाणा अष्टाहो संतो, कस्स खाहो जविस्ससि ॥ ११ ॥ ११ ॥  
हे राजन् ! अंगिकः मगधदेशाधिपस्वभास्मनाऽपि अनाथोऽसि, अस्मान् अनाथस्य स्तस्तयापि अनाथता, तथा त्वमपरस्य कथं नाथो भविष्यसि ? ॥ १२ ॥

एवं च मुनिनोके—

एवं वृचो नरिंदो सो, सुमंभतो सुविम्भितो ।

वययां अस्सुयुक्वं, साहुणा विरुद्धं निम्भो ॥ १३ ॥

स नरेन्द्रः साधुना एवमुक्तः सन् विश्वस्यं नीत आश्रयं प्रापितः । कौहशः नरेन्द्रः ? , सुस्वप्नान्द्रोऽत्यन्तं व्याकुलतां प्राप्तः पुनः कौहशः, सुविस्मिनः पूर्वमेव तदश्रुतात् संजाताश्रयः पुनरपि तद्वचनप्रवचनं विस्मयमान् जातः, यतो हि तद्वचनमभ्युत्पूर्वं, अंगुकाय अनाथोऽसि त्वमिति वचनं पूर्वं केनापि नो भावितम् ॥ १३ ॥

यदुक्तयांस्पादाह—

अस्सा हन्वी मणुस्सा मे, पुरं अंतोत्तरं च मे ।

भुंतामि माणुमे पोए, अष्टाणा इस्ससि च मे ॥ १४ ॥

एरिसे मंपयग्गामि, मवक्कामसमपिण्ण ।

कहं अष्टाहो जवद, मा हु भंते ! सुमं वए ॥ १५ ॥

अश्रुतां माधान्यां अंगिको राजा वदति—हे जन्तू ! पूज्य ! दुर्जनित निश्चयेन, मृषा मा ब्रूहि असत्यं मा वद । एतादृशो संपदः इह सति सम्प्रप्रकथं सति, अहं कथमनाथो जवामि ? , कौहशोऽहम् ? , सर्वकामसमर्पितः—सर्वं च ते कामाश्च सर्वकामाः, तेज्यः सर्वकामेभ्यः समर्पितः शुनकमणा ढौकितः । अथ राजा स्वसंप्रकथं वर्णयति—अष्टा घोटकाः बहवो मम सन्ति, पुनर्दंस्तिनोऽपि प्रभुराः सन्ति, तथा पुनर्मनुष्याः सुनटाः संवका बहवो विचन्ते, तथा मम पुरं नगरमप्यास्तं, च पुनर्मम अन्तःपुरं राक्षीवृत्वं वर्तते । पुनरहं मानुष्यान् भोगान् मनुष्यसम्बन्धिनो विषयान् भुञ्जामि । च पुनरहं श्रेष्ठं वर्तते आशा अप्रतिहतशासनस्वरूपं प्रभुत्वं वर्तते, यतो मम राज्ये कोऽपि मदीयामाहानं न खलुद्रवतीत्यर्थः ।

यतिस्तनुवाच—

न तुमं जाणे अष्टाहस्स, अत्यं पोत्यं च पत्थिया ! ।

जहा अष्टाहो हवद, सखाहो वा नराहिया ! ॥ १६ ॥

हे पार्थिव ! हे राजन् ! त्वम् । अष्टाहस्स अनाथस्य अर्थम्

अभिधेयय, अशब्दः पुनर्ये, च पुनरनाथस्य प्रोत्यां न जानासि, प्रकथेणेत्यानं सुखोत्पत्तिः प्रोत्या, तां प्रोत्याम्, केनाभिप्रियेणायमनाथशब्दः प्रोक्त इत्येवंप्रकारं न जानासि । हे राजन् ! यथाऽनाथोऽथवा सनाथो भवति तथा न जानासि, कथमनाथो भवति, कथं वा सनाथो भवति ? ॥ १६ ॥

सुणहे मे महाराय ! , अन्वक्षिस्सेण चयसा ।

जहा अष्टाहो जवद, जहा मे य पवसियं ॥ १७ ॥

हे महाराज ! मे मम कथयतः सतः त्वमभ्यासितेन स्थिरंण वेतसा शृणु । यथाऽनाथो नाथरहितो भवति, तथा मे ममानाथत्वं प्रवर्तितम् । अथवा ( मे य इति ) मे एतदनाथत्वं प्रवर्तितं तथा मे शृणु इत्यनेन स्वकथाया उद्बुद्धः कृतः ॥ १७ ॥  
कोसंबी नाम नयरी, पुराणपुरजेयणी ।

तत्थ आसी पिवा भज्जं, पत्तुपथणसंचओ ॥ १८ ॥

हे राजन् ! कौराव्नी नगरी आसीत् । कौहशी कौराव्नी ? , पुराणपुरमेदिनी जीर्णनगरमेदिनी, यादृशास्ति जीर्णनगराणि भवन्ति तेभ्योऽधिकशोभावती । कौराव्नी हि जीर्णपुरी वर्तते जीर्णपुरस्था हि लोकाः प्रायशश्चतुरा धनवन्तश्च बहुधा विविकवन्तश्च भवन्तीति हार्दम् । तत्र तस्यां कौराव्नीयं मम पिताऽऽसीत् । कौहशी मम पिता, प्रभूतधनसञ्चयः नाम्नाऽपि धनसंचयः, गुणेनाऽपि बहुलधनसंचय इतिवृत्तसंप्रदायः ॥ १८ ॥

पदमे वए महाराय ! , अउत्ता मेऽत्थियेयणा ।

अश्रोत्या विउलो दाहो, सव्वगसेमु पत्थियावा ! ॥ १९ ॥  
हे महाराज ! प्रथमे वयसि यौवने एकदा अतुल्लोकात्, अस्थिवेदना अस्थिपीडा, ( अश्रोत्या इति ) अरूढ । अथवा “ अस्थिवेयणा ” इतिपाठे अस्थिवेदना वेदनाः अभूत् । ततश्च हे पार्थिव ! हे राजन् ! सर्वगणेषु विजुषो दाघोऽरूढः ॥ १९ ॥  
सत्यं जहा परमातिरुत्वं, मरीरविचरंतेरे ।

पाविजिज्ज अरी कुण्ढो, एवं मे अत्थियेयणा ॥ २० ॥

हे राजन् ! यथा कश्चिदरिः कथम् कुण्ढः सन्, शरीरविचरान्तरे नासाकेशेषुऽप्रसूकरप्रणोयं मथे परमतीक्ष्णं शस्त्रं प्रपीडयद् गाढमवगाहयत्, एवं मे ममाशिवेदनाऽरूढः । ( शरीरविचरंतेरेति ) ( पाईटीका )

शरीरविचरणि कथैरभ्रादीनि, तेवामन्तरं मथं शरीरविचरान्तरे तरेन्द्र ( पाविजिज्ज इति ) प्रवेशयत् प्रक्षिपेत् । शरीरविचरं मथेणमतिशुभ्रारवादात्तरं च आगाढयदनेपलक्षणम् । पत्थये च—शरीरवीर्यान्तरंण “आधिलिज्ज ति ” पागान्तरे शरीरवीर्यं सत्त धातवस्तदन्तरे तन्मध्ये आपीर्येद् गाढमवगाहेयत् । एवमित्यापीर्यमनास्य शब्दवद् मे ममाशिवेदना, कौहशः ? , यथा तदत्यन्तबाधिपायि तथैवाऽपि ॥ २० ॥  
तियं मे अंतरिचंजं च, उत्तमंगं च पीरुई ।

इंदासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

हे राजन् ! सा परमदारुणा वेदना मे मम शिकं कटिपृष्ठविभागम् । च पुनरन्तरिचंजम्—अन्तर्मथे इच्छा अन्तरिचंजम्, तामन्तरिचंजम् । भोजनपानरमणाभिलाषरूपम् । च पुनरुत्तमंगं मरुत्कं पीडयति । कौहशी वेदना ? , इन्द्रादानिसमा घोरा, इन्द्रस्याशनिर्वेजं तस्मिन्साऽऽतिदाहोपादकत्वात् तुल्या, घोरा जयदा ॥ २१ ॥

रिं न कश्चिस्सं प्रसिद्धवतिस्साह ।

उन्दििया मे आपरिया, विज्जामंततिगिण्णया ।

अर्षीया सत्यकुसला, मंतमूलाविसारया ॥ ३३ ॥

हे राज्ञ ! तदेत्यभ्याहारः । आर्षाथी वैधानां शास्त्रान्या-  
सकारकाः मे उपस्थितानि चिकित्सां कर्तुं लज्जानां, कीदृशा आर्षा-  
थ्याः १, विद्यामन्त्राधिकारिकाः विद्याया अभ्येष्टं च विकित्सन्ति  
चिकित्सां कुर्वन्तीति विद्यामन्त्रचिकित्सकाः, प्रतिक्रियाकर्तारः ।  
पुनः कीदृशा आर्षाथ्याः १, अर्षीताः सत्यकृ पतिनाः । 'अर्षी-  
या' इति पाठे न विद्यते अन्ये द्वितीयो येन्यस्तेऽद्वितीया अ-  
साधारणाः । पुनः कीदृशास्ते १, शास्त्रकुसलाः शास्त्रेषु विचक्ष-  
णाः । पुनः कीदृशास्ते १, मन्त्रमूलाविसारदाः, मन्त्राणि देवाधि-  
ष्टितानि, मूलानि जटिकाकपालि, तत्र विचक्षणाः मन्त्रमूलिका-  
नां गुणज्ञाः ॥ ३२ ॥

ते मे तिगिच्छं कुर्वन्ति, चातुष्पायं जहादियं ।

न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अण्णाहया ॥ ३३ ॥  
ते वैधाचार्या मम चिकित्सां रोगप्रतिक्रियां यथा हितं भवेत्त-  
था कुर्वन्ति । कीदृशं चैकित्सव्यम् १, चातुष्पादं चत्वारः पादाः  
अकारा यव्य तच्चतुष्पादम्, तस्य भावः चातुष्पादम्, चातुर्विध्य-  
मित्यर्थः । वैद्य १ औषध २ रोगिण ३ प्रतिचारक ४ रूपम् ।  
अथवा-अमन १ विरेचन २ मदन ३ रवेदन ४ रूपम् । अथवा-  
अज्जन १ अण्णवत् २ लेपन ३ मदनरूपम् । शास्त्राणं गुरुपारंपर्यागतमा  
चक्रतिरति स्थाने प्राकृतत्वात्कुर्वन्तीत्युक्तम्, ते वैधा मां दुःखाच्च  
विमोचयन्ति स्म । प्राकृतत्वाद्भूतायै वर्षमानार्थः प्रत्ययः, एषा  
ममानाघता वर्तते ॥ ३३ ॥

अथवा—

पिया मे सख्यसारं पि, देजाडि समकारणा ।

न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अण्णाहया ॥ ३४ ॥  
हे राज्ञ ! मम पिता मम कारणे सर्वमपि सारं गृहे यत्सारं  
सारमस्तु नसर्वमपि वैद्योऽप्योऽदात्, तथापि वैधा मां दुःखाद्  
न विमोचयन्ति स्म । एषा मम अनाघता हेत्यति शेषः ॥ २४ ॥  
माया वि मे महाराय !, पुत्रसोमजुद्धिया ।

न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अण्णाहया ॥ ३५ ॥

[ पार्श्वटीका ]

तथा मातापि पुत्रविषयः शोकः पुत्रशोकः, हा कथमिच्छं  
दुःखी मस्तुनो जात इत्यादिरूपः, ततो दुःखम्, तेन [ अद्वियंति ]  
अर्शाः । अथवा [ अद्वियंति ] अर्शिता, वमयत्र पीनितेत्यर्थः ।  
ततः पुत्रशोकदुःखायां पुत्रशोकदुःखादीनां वा हेत्वा ॥ २५ ॥  
भायरा मे महाराय !, समा जिह कण्ठिहया ।

न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अण्णाहया ॥ ३६ ॥  
हे महाराज ! मे मम अत्रारोपि स्वका आर्षीयाः, ज्येष्ठक-  
निष्ठका वृक्षा लघुचक्ष मां न च दुःखाग्निमोचयन्ति स्म । एषा  
ममनाघता हेत्वा ।

( पार्श्वटीका )

[ सग ति ] शोककण्ठित सारथाः स्वका वा आर्षीयाः ॥ २६ ॥  
जह्यामि मे महाराय !, समा जिह कण्ठिहया ।  
न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अण्णाहया ॥ ३७ ॥  
हे महाराज ! मे मम अग्निग्योऽपि स्वका एकमातुजाः । ज्ये-  
ष्ठः कनिष्ठश्च मां दुःखाच्च विमोचयन्ति स्म, एषा मम अनाघता  
हेत्वा ॥ २७ ॥

भायिया मे महाराय !, अण्णुरणा अणुष्वया ।

अणुषुषेहि नयोहिं, उरं मे परिंसिच ॥ २८ ॥

अन्नं पाणं च यदुणं च, गंधमज्जविक्षेपणं ।  
मए नायमनायं वा, सा वाला नोयज्जइ ॥ २९ ॥  
त्वंपि मे महाराय !, पामाओ वि न फिट्ठ ॥  
न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अण्णाहया ॥ ३० ॥  
हे महाराज ! मे मम प्राण्यं कामिग्यर्षिणं दुःखमनं मोचय-  
ति स्म । कथमभूता प्राण्यं १, अत्रुत्तरा अत्रुत्तरागवती । पुनः क-  
थमभूता १, अत्रुत्तरा पतिमत्तुत्तराङ्गाव्यस्य त्रयं यथाः सा  
अत्रुत्तरा । एतादृशी भाषां मे ममोरा इदमयणुप्याभ्यां सोच-  
नाभ्यां सिञ्चति स्म ।

( पार्श्वटीका )

अपरञ्च भाष्यं पत्नी अत्रुत्तराऽत्रुत्तरागवती [ अणुष्वयं वि ] अ-  
न्विति कुलात्रुकं प्रनमाचाराऽभ्या अनुत्तरा, पतिमनेति याव-  
त्, यथोऽनुत्तरा । पत्यने च- [ अणुत्तरमणुष्वयं वि ] इह  
च मकारोऽलाङ्गणिकः । अत्रुत्तरा भति प्रधाना ( उरं ति )  
उरो बह्वः, परिश्रित्यति समन्तात् प्लावयति ॥ ३० ॥

पुनः सा वाला मत्कामिनी अन्ममनां मोत्कारिकं महयं,  
पुनं शकरोदकदिक्, पुनः स्नानं कुकुमदिपायनैरिज्जितेत्वा-  
वकमेवज्जाभिप्रोखंभाञ्जनं मया ज्ञानं वा अज्ञानं स्वभावेनै-  
व पत्यस्यै भोगाङ्गं नोपचुत्ते नानुजयति । मम दुःखात्सर्वा-  
पथपि जोगाङ्गानि त्यक्तानि ।

( पार्श्वटीका )

स्नानं स्नात्यनेनेति स्नानम्-गन्धोद्कादि, मया ज्ञानमज्ञानं वे-  
त्येन सङ्गयसारताप्राह । पत्यने च- 'तारिस्व रोगमावधे' ति'  
ताहयमुककपं रोगमक्षिरांगोदिकम्, 'आयधे' प्राप्ते मर्याति-  
गम्यते । ( से ति ) भाष्यं बालव बालाऽमिनवयार्थना नोप-  
भुञ्जे नासेवते ॥ २६ ॥

( खणं वि ति ) पुनर्हे महाराज ! सा वाला मम पार्श्वभै-  
कट्यात् ( न विकिट्ठति ) न अप्रयान्तीत्यर्थः । परं दुःखान्मां  
न मोचयति, एषा ममानाघता हेत्वा ।

[ पार्श्वटीका ]

[ पासाओ वि ए फिट्ठ ति ] अपिअश्रुध्यायः, ततः पार्श्वभै  
नापयाति सदा सखिहितेवाऽन्ते ॥ ३० ॥

अनेन तथा अपि वत्सलत्वमाह-  
तओ इं पवमाहुंसु, दुक्खमा हुं पुणो पुणो ।  
वेयणा अणुभवित्ठं, संमारम्मि अणंतप ॥ ३१ ॥  
ततोऽनन्तरं प्रतीकारेषु विफलेषु जातेषु अहमेवमवधि-  
ष्य । यवमिति किम् ? इ इति निश्चयेन या वेदना अत्रुत्तरावित्तु  
दुःखमा भोक्तुमसमथोऽस्ता वेदनाः संसारं पुनः पुनर्भूता इति  
शेषः । वेद्यते दुःखमनयेति वेदना । दुःखेन क्षम्यते सखाते  
इति दुःखमा दुस्सदा, कीदृशे संसारे १, अनन्तकेऽपारे ॥

[ पार्श्वटीका ]

तत इति रोगाप्रतिकार्यतात्पर्यमहमेवं वक्ष्यमाणप्रकारेषु  
[ आहुंसु ति ] वरुवान, यथा [ दुक्खमा हुं ति ] दुरेवका-  
राथः । ततो दुःखमेव दुःखहेतु पुनःपुनर्भूतना उक्तकथा  
रोगव्यथा अत्रुत्तरावित्तुम्, 'अ इति निपातः पूर्यते ॥ ३१ ॥

सहं च अहं मुक्खेज्जा, वेयणा विउत्ता उ मे ।  
संनो दंतो निरारंभो, पव्वइए अणगारियं ॥ ३३ ॥  
अहं किमवादिषम !, तदाह-यति सङ्कल्प्येकवारमप्यहं वेद-

नाया विमुच्ये, तदाऽहं ज्ञानतो भूत्वा, पुनर्नान्तो जितेन्द्रियो भूत्वा निरारम्भः सन् अनगरत्वं साधुत्वं प्रव्रजामि कीर्त्तां गृह्णा-  
मीति भावः । कथम्भूत्या वेदनायाः, विपुलाया विस्तीर्णयाः ॥

[ पादौटीका ]

यतश्चैवमतः [ संरं च सि ] चशब्दोऽपि शब्दार्थः । ततः सकृ-  
दप्येकदाऽपि यदि मुच्येयाहमिति गम्यते । कुतः, [ विषयसि ]  
वेदनाया [ विडलसि ] विपुलाया विस्तीर्णयाः । इत्यनुभूय-  
मानायाः । ततः किमित्याह—ज्ञानतः समायान्, दान्त इन्द्रियनो-  
इन्द्रियदमेन [ पव्वप अणुगारियं सि ] प्रव्रजेयं गृह्णा/किम्भयम् ।  
ततश्चाऽनगरितां भावविभुतामङ्गीकुर्वामिति शेषः । यद्वा—प्र-  
व्रज्यं प्रतिपद्येयानगरिताम्, येन संसारोच्छिद्यते मूलत  
एव न वेदनासंभवः स्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

एवं च चिंतित्वापि, पसुचोमि नराहृत्वा । ।

परियर्दति य राहृए, वेयणा मे खयं गया ॥ ३२ ॥

एवं पूर्वोक्तं चिन्तने चिन्तयित्वा हे नराधिप ! याचद्दहं सुतो-  
ऽऽस्मि तावत्सख्येभ्य राक्षीं प्रवर्त्तमानायाम्—अतिक्रमन्त्यां, मे  
मम, वेदना कृत्यं गता ; वेदना उपशान्ता इत्यर्थः ॥

( पादौटीका )

एवं च चिन्तयित्वा नृणन्ति न केवलमुक्त्वा चिन्तयित्वाचैवं  
( पसुचोमिसि ) प्रसुतोऽस्मि ( परियर्दति य सि ) परिवर्त्तमा-  
नायामातक्रामन्त्याम् ॥ ३३ ॥

तत्रो कद्धे पभायस्मि, आणुच्चत्ताण चंपेवे ।

खंतां देतां निरारंभो, पव्वडओ अणुगारियं ॥ ३३ ॥

( पादौटीका )

ततो वेदनापशमनात्मनरं ( कद्धे सि ) कलयो नीरोगः सन् प्रमा-  
ते जातः । यद्वा— कद्धे सि ] चिन्ताऽऽदिनाऽप्येकया द्वितीयादिने  
प्रकर्षेण ब्रजिनो गतः प्रव्रजितः, कोऽर्थः, प्रतिपद्येयानगरिता-  
मिति । ततो वेदनाया उपशान्तेरनन्तरं ( कद्धे इति ) नीरोगं जाते  
सति प्रभातसमये बान्धवाद् स्वहातीनाणुच्चत्ताणहमनगरित्वं  
माधुवं प्रव्रजितः, साधुधर्ममङ्गीकृतवान् । कीदृशोऽहम्, ज्ञानतः  
पुनर्नान्तः, पुनर्हं निरारम्भः ॥ ३४ ॥

तत्रो हं नाहो जाओ, अणुपणो य परस्स य ।

सव्वेमिं चैव जूयाणं, तसाणं चायराण य ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! ततो द्वाज्जाप्रहणानन्तरमात्मनश्च पुनः परस्व  
नाथो योगक्षेमकरत्वेन स्वामी जातः । आत्मनो हि नाथः, बुद्ध-  
प्रदुपपन्नश्च । अपरस्व च, तिनचिन्तनात् । एवं निश्चयेन स्वधे-  
र्षा भूनानाथ, ब्रह्मनां च पुनः स्थावराणां नाथो जातः ॥ ३५ ॥  
किमिति प्रव्रज्याप्रतिपद्यन्तरे नार्थस्त्वं जातः, पुरा तु नेत्याह—

अप्या नई वेयरणी, अप्पामे कूढसामर्द्धं ।

अप्या कामदुया धेणु, अप्पामे नंदंणं चाणं ॥ ३६ ॥

( आत्मसि ) व्यक्त्वच्छेदकत्वाद्वाक्त्वस्थ्यात्सैव नाथः कश्चिद्वि-  
त्याह—नदी सरित् । चैतरणीति नरकनद्या नाम । ततो महाज-  
यंहेतुतया नरकनदी वा । अत एव आत्मेव कूटमिव जन्मुद्यत-  
नाहेतुत्वात्कात्मली कूटशालमही नरकोद्भवः । तथा आत्मेव  
कामानभिलाषावर्द्धोऽपि प्रापकनया प्रवृत्त्यति कामजुषा, धेनु-  
रिव धेनुः इयं कद्धित वक्ता । एतदुपमात्कामभिलाषितस्वर्गोपवर्गा-  
श्वासिहेतुतया आत्मेव मे मम, नन्दनं नन्दननामकं वनमुद्यानम् ।  
एतदीपर्यं चाद्भ्य चित्तच्छ्रितहेतुतया ॥ ३६ ॥

यथा चैतदेवं तथाऽहं—

अप्या कत्ता विकत्ता य, दुट्टाण य पुट्टाण य ।

अप्या मित्तममितं च, दुण्णडिय सुपडिओ ॥ ३७ ॥

आत्मेव कर्त्ता विधायको दुःखानां सुखानां वेति योगात् प्रक-  
माश्च आत्मन एव विकर्त्ता च विकल्पकश्चात्मेव तेषामेव ।  
अतश्च आत्मेव निम्नमुपकारितया सुखद, (अमितं वेति ) अमि-  
प्रक्षोपकारितया दुःखद । कीदृक् ? ( दुण्णडियं सुण्णडिनो सि )  
दुष्टु प्रस्थितः सकलदुःखहेतुरिति विषादिकथनः, सुष्ठु प्र-  
स्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधन्वादिकथनः । तथा च  
प्रव्रज्याऽवस्थायांमिवमुपस्थितत्वेन आत्मनोऽन्धेषां च योगक्षे-  
मकरणे समर्थस्याप्राधार्यमिति सूत्रगर्भाथः ॥ ३७ ॥

पुनरन्वथा नाधरवमाह—

इमा हु अओ वि अणाहुया निवा ।,

तमेकचित्तो निवुओ सुण्णेदि ।

निगडुधम्मं लभियाण वी जहा ,

सोर्दति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥

( पादौटीका )

इयमनन्तरेभ्य बह्वयमाणा । हु पुरणे. अग्या परा, अपिः  
समुच्येयं । अनाधत्ताऽस्वामिना, यद्भावतोऽहं नाथो जात  
इत्याशयः । निवुत्तरुपतामित्यनाधत्तामेकचित्त एकप्रमत्ताः,  
निभूतः स्थिरः, सुण्णु । का पुनरसावित्याह—निम्नान्धां धर्म  
आचारां निम्न-धर्मस्तम् [ लज्जियाण वि सि ] अग्याऽपि ।  
यद्यनुपदेशिनः स्वीकृति तदनुष्ठानं प्रति शिष्टिशीलमिति । एके  
केचन, ईषदपरिसमाप्ताः कातरा निःसत्त्वा बहुकातराः 'विभा-  
या सुयां बहुदु पुस्तकाणु' ॥ पाणि०—५। ३। ६० ॥ इत्यतः प्रागु  
बहुदुप्रत्यये हि सर्वथा निःसत्त्वाः न भूता एव न निम्नप्रमाणी  
प्रतिपद्यन्त इत्येवमुच्यते । यदि वा कातरा एव बहवः संजव-  
न्तीति, बहुदुशब्दो विशेषणम् । नराः पुरुषाः स्वीदत्तश्च नाम्ना-  
मर्थाश्च रक्षयितुं क्रमाः । इतीयं स्वीदत्तलक्षणं पराऽनाथ-  
तति प्रायः ॥ ३० ॥

जो पव्वडत्ताण महव्वयापई,

सम्मं च नो फासइ स पमाया ।

आणियाणहृप्पा य रसेसु णिके,

न मूलओ उदिदं वेणपं से ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! यो अनुच्यः प्रमज्य कीर्त्तां गृहीत्वा, महाभक्तानि प्र-  
मादात् सम्यक्चिन्तानां न स्पृशति न सेवेत, [ से इति ] स प्र-  
मादवशवती बन्धनं कर्मबन्धनं रागद्वेषभङ्गणं संसारकारणं  
मूलतां मूलान् न जिनसि मूलतो नात्पाटयति । सर्वथा राग-  
द्वेषी न निवारयतीत्यर्थः ।

[ पादौटीका ]

नो स्पृशतीति नाऽऽसेवेत प्रमादाभिधादेरनिप्रहोऽपिधमान-  
वियवनिमन्त्रेण आत्मा यस्य सोऽनिप्रहोत्ताम् । अत एव रसेसु  
सधुरादिषु शुद्धौ शुद्धिमान् । बन्धतेऽनेन कर्मैति बन्धनम राग-  
द्वेषात्मकं [ से इति ] सः ॥ ३९ ॥

आउत्तया जस्स य नत्थि काई,

इरियाइ भासाइ त्हेसणाए ।

आयाण—निकसेव—हुणंणयाए,



न धीरजाय आणुजाइ मग्गं ॥ ४० ॥

हे राजन् ! स साधुवीर्यात् मार्गे जायति, धीरैर्महापुरुषै-  
स्तीर्थकरैरेवैरैश्च यातं प्राप्तम्, अर्थोन्मोक्षमार्गं न प्राप्नोति ।  
न काः, यस्य साधोरीयायां गमनागमनसमितौ, तथा जायायां,  
तथा एषणायामाहारप्रद्वयसमितौ, पुनर्यत्ननिकेयसमितौ,  
वस्तुनां ब्रह्मभोग्यविधौ, तथा [पुनोन्जाय इति] उच्चारप्रभव-  
णस्येवज्ज्ञांसहसायादीनां परिष्ठापनसमितयाऽऽयुक्ता का  
विद्यास्तीति ॥ ४० ॥

तथा च—

चिरं पि से सुंकरई जविचा,  
आथिरव्वप त्वनिययेईं जट्टे ।  
चिरं पि अप्पाण किल्लेत्तत्त्वा,  
न पारए होइ दु संपराए ॥ ४१ ॥

स पूर्वोक्तो मुण्डकविरसरो नवति । अन्नःकरणे धर्मानायात्  
त्वाऽऽत्मानमपि चिदं क्लेशो पातयिष्या, दु इति निश्चयेन, सं-  
परापे संसारे पारगो न भवति । कीदृशः सः ? अस्थिरव्रतोऽ-  
स्थिराणि भ्रतानि यस्य सोऽस्थिरव्रतः । पुनः कीदृशः सः ? , त-  
पो नियमद्वन्द्वः । यः कदापि तपो न करोति, तथा पुनर्नियममभि-  
प्रहादिकं च न करोति, केवलं ब्रह्मयज्ञो नवति, स संसार-  
स्य पारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

स वैश्वविधः—

पोखेव मुट्ठी जह से असारो,  
अर्थतिए कूफकहावणे वा ।  
राहामणी वैकसियपमासे,  
अमम्यए होइ दु जाणएसु ॥ ४२ ॥

स पूर्वोक्तो मुण्डकविरसरो नवति । अन्नःकरणे धर्मानायात्  
रिक्तोऽकिञ्चिद्विकरो भवति । स क इव ? पोखो मुट्ठिरिव । यथा-  
रिक्तो मुट्ठिरसरो मध्ये सुथिर एव, तथा स मुण्डकः कूटका-  
र्षण इवास्त्यनाणुकमिषायन्त्रितो नवति, न यन्त्रितोऽयन्त्रितो-  
ऽनाद्वेषीयो निर्गुणश्चाद्वेषकृणीयः स्यादित्यर्थः । उक्तमर्थमधो-  
न्तरयासेन कथयति—दु यस्मात्करणात् राहामणीः काचमणिः  
[ जाणएसु इति ] कालुकेषु मणिपरीक्षकनरेषु वैदुर्यमकाशोऽ-  
मर्चको भवति बहुमूल्यो न भवति । वैदुर्यमणियुत् प्रकाशो य-  
स्य स वैदुर्यमणिकाराः, वैदुर्यमणिसदृशतेजाः । महान् अर्घो  
वस्य स महार्घः, महान् एव महार्घकः । न महार्घकोऽम-  
हार्घकः । अर्घमुस्य इत्यर्थः । यथा—मणिहेतु वैदुर्यमणि-  
हेतुमूल्यः स्यात्, तथा काचमणिहेतुमूल्यो न स्यादेवं  
धर्मोदो नो मुनिः साधुपणहेतु यथा सन्धीन्यारयुक्तः साधुवै-  
न्दव्यः स्यात्तथा स मुण्डकवैधर्मन्यो न स्यादिति प्रायः ॥

( पार्श्वटीका )

“पोखरमुठी जहति” पाठान्तरम् । इह “पोखरत्ति” सुथिरा,  
असारत्वं चोभयोरपि सव्यैशून्यतया ॥ ४२ ॥

कुसीसिर्गमं इह पारयिता,  
इसिउम्भयं तीजिय वूइयिता ।  
असंजये संजिय सण्णमाणे,  
विणिट्ठायसामउइ से चिरं पि ॥ ४३ ॥

(स इति) स साध्याचारवदितः, इह संसारं चिरं चिरकालं या-  
वक्षिणातमागच्छति पीडां प्राप्नोति । किंकरवा ? कुसीसिर्गमं  
पार्श्वस्थादीनां चिह्नं धारयित्वा । पुनर्जीविष्येति आजीविकायै-  
सुविधेजं रजोहरणमुद्योगोत्तिकादिकं बृंहयित्वा चूर्ति प्रापयन्,  
विशेषेण विज्ञाने विनिघातं विविधपीडाम् । न किं कुर्वीष्ये ?,  
असंजयतः सद् बहं संजय इति ज्ञातव्यमानः— असाधुपयि  
साधुरहसिति ह्यवाणः ॥ ४३ ॥

अथैव हेतुमाह—

विसें तु पीयं जह काळकम्,  
हणाइ सत्थ जह कुग्गहंयं ।  
एवेव धम्मो विसमोवत्तएणो,  
हणाइ वेयास इवाविवएणो ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! यथा काळकृतो महाविषः पितः सन्न [ हणाइ ति ]  
इति । पुनर्यथा कुग्गहंयं विपरीतवृत्त्या गृह्यते शास्त्रं इति ।  
एवमेव अननेव इष्टातेन विषयैरिच्छियसुखैरुपपन्नो विषयस-  
न्धानिज्ञानयुक्तो धर्मोऽपि इति । पुनः स विषयो धर्मोऽपि पस-  
वेतास इव इति । मन्त्रादिभिरकीर्तितः । यथा स्फुरत्पशो  
मन्मथनैरनिवारितबलां वेतातो महापिशाचो मारयति, तथा  
विषयसहितो धर्मोऽपि मारयतीत्यर्थः ॥

[ पार्श्वटीका ]

[ वयास इवाविषयो ति ] अस्य गम्यमानयाष्टेतास इयाऽ-  
विषयोऽप्राप्तविषयत्, मन्त्रादिविरनियन्त्रित इत्यर्थः । पठयन् च—  
[ वेयास इवाविषयवेषो ति ] इह वा विकल्पनोऽविद्यमानमन्त्रा-  
द्विनियन्त्रणः । उभयत्र साधकमिति गम्यते ॥ ४४ ॥

जे लक्खणं सुविणं परंजमाणे,  
निमित्तकाऊहससंपगाइ,  
कुहेदविज्जासवदराजीवी,  
न गच्छई सरणं तम्म काळे ॥ ४५ ॥

यः साधुवैक्षणं प्रयुज्जानः साधुप्रोक्तं स्वीपुरुषशरीरचिह्नं श्र-  
जानुत्सुकं प्रयुज्जः गृहस्थानां पुरतो वक्ति । यः पुनः साधुः सु-  
विणं स्वप्रविष्यं प्रयुज्जानो भवति—स्वप्रानां फलाफलं वक्ति ।  
पुनर्यः साधुनिमित्तकौतूहलसम्प्रगादो जयति—निमित्तं च  
कौतूहलं च निमित्तकौतूहलं तयोः सम्प्रगादोऽप्यन्ताराकः  
स्यात् । तत्रनिमित्तं अयुक्तोत्कापातकतृत्वादि । कौतूहलं कौ-  
तुकं पुत्रादिप्राप्त्यर्थं ज्ञानजेषु जीवेषु आदि प्रकाशयन्म् । उभयत्र सं-  
ज्ञो नवति । पुनर्यः साधुः कुहेदविद्याऽऽभवद्दाराजीवी भवति—कु-  
हेदका विद्याः कुहेदकविद्याः । अलीकाऽऽध्ययविधायिमन्त्रतन्त्र-  
यन्त्रहोमात्मिकास्ता यथाभवद्दाराण, वैजीवितुमाजीविकं कर्तुं  
शीलं यस्य स कुहेदकविद्याऽऽभवद्दाराजीवी, पलाहशो यो भव-  
ति । हे राजन् ! परं तस्मिन् काले लक्ष्मणस्वप्ननिमित्तकौतूहल-  
कुहेदकविद्याभवद्दाराप्राप्तितयाकफलोपनोगकासे स साधुः  
शरणं न गच्छति, न प्राप्नोति । तं साधुं कौऽपि दुःखान्नकरतियै-  
न्येत्यादौ न श्रवत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अमुमेवार्थं भावयितुमाह—

तमंतपणोवठ से असीसे,  
सया मुठी विष्णुपिया समुवेइ ।  
संभारइ नयं तिपरिक्खणेवी,

मोणं विराहिषु असादुरुषे ॥ ४६ ॥

न पुनः स द्रव्यसुराः साधुक्रुषो जौनं विराध्य साधुधर्मं दूष-  
यित्वा, नरकतिर्योगीनि संघावति सततं गच्छति । पुनः अघा-  
तः कुगीको विषयोऽसमुपैति-तस्यैव विपरीत्यं प्राप्नोति, मिथ्या-  
स्वप्नेषु भवतीति ज्ञायः कीदृशः सः । तमस्तमसैव सदा दुःखी  
मतिहायेन तमस्तमस्त्वमः, तेन तमस्तमसैव अज्ञानमहात्माका-  
रैर्नैव संशयविपानाजिततनुः क्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

कथं पुनर्मौनं विराध्य कथं वा नरकतिर्यग्गती सम्भावतीत्याह-

तद्वैसिंयं क्रीयमनं नियामं,

न मुषः किंचिद् अघोसणिज्जं ।

अग्नीविवा सत्त्वभक्ष्सी भविष्या,

इधो बुधो गच्छद् कद्रुपुषावं ॥ ४७ ॥

पुनर्यः साधुप्राप्तः बहिःशिकदशैनिन सद्दिश्य कृतं उद्देशिकमा-  
हात्म्यं । पुनः साधुनिमित्तं क्रीतं मौन्येन गृहीतम् । पुनरुद्धतं  
साधुसंमुखमानीनं साधुज्ञान एव गृहस्थेन प्राणीनं तद्गृहत्तम् ।  
पुनर्यद्द्वारं नित्यकं नित्यपिण्डं गृहस्थगृहे नियतपिण्डमहात्त-  
सदोपमाहारमनेषण्यं साधुना अग्रमां न मुञ्चति । जिह्वासा-  
ग्न्येन किमपि न त्यजति, सर्वमेव गृह्णाति । सोऽग्निरिव सर्व-  
भक्षी नृप इतिशुक्रप्रस्तात्रको वैभानार इव पूत्वा प्रासुकाहारं  
मुक्त्वा इतश्च्युतो मनुष्यजन्माच्युतः कुर्वति ब्रजति । किं कुर्यात्,  
पापं कुर्या संयमविचायां विधाय ॥ ४७ ॥

न तं अरं । कंठत्रेसा करेऽ,

जं से करं अप्रपणिय दुरूपया ।

से नाहर्दं मच्छुद्धं ति पत्ते,

पच्छाऽगुतावेण दयाविहृणो ॥ ४८ ॥

( पादौटीका )

यतश्चैवं सुदुष्करिर्नैव दुर्गतिप्राप्तिः, अतोऽनेनैव ( तमिति )  
प्रस्तावाद्मन्थेकरउक्त्वा प्राणहृत्ता (सि) तस्य (दुरूपयेति) प्राकृ-  
तत्वाद् दुरात्मतां दृष्टाचारप्रवृत्तिरुपां नचैनामात्वरूपि जन्तु-  
रत्यन्तमुद्धनया वेत्ति । तस्मिन्नुत्तरकालमपि न वेत्स्यतीत्याह-  
स्व दुरात्मा कसौ ज्ञास्यति । प्रकमाद् दुरात्मतां श्रुत्यमुक्तं तु मर-  
णसमयम्, पुनः प्रासः पश्चादनुतापेन हा बुधं प्रयाऽनुष्ठिनमिति,  
एवंरूपेण दया संयमसत्यापुपुसङ्गममहिंसा वा तद्दिहीनः  
स्वः । मरणसमये हि प्रायःअतिमन्त्रधर्मस्थापि धर्माजिप्रयोगत्प-  
शिरेवमनिधानम् । यतश्चैवं महानर्धेनुः पश्चात्पारहेतुश्च दुरा-  
त्मता तद्द्वितं एव सुदनामपहाय परिहरेन्वेयमिति भाषः ॥४८॥  
यस्तु श्रुत्यमुक्तं प्रस्ताऽपि न तं वेत्स्यतीति

तस्य का वासैत्याह-

निरद्विया निषुर्दं ठ तस्स,

जे वसमहे विवञ्जासधे ।

इमे वि से नदिय परे वि लोए,

दुदुधो भि से जिभ्रुज्ज्महं तथ लोणे ॥ ४९ ॥

( पादौटीका )

निरर्थिका तुदाग्दसैबकारांघस्येह सम्भ्रंषाशिरधैकैव नि-  
षुर्दं । नाम्ये आम्ये कश्चिदिच्छा नाम्यसविस्तस्य [ जे उ-  
त्समदं ति ] सुव्यस्ययाद्देष्य गम्यमानाऽनुसमार्थेऽपि  
पर्यन्तस्त्वयाराधनारुपे आस्तं पृथैमिवापिदृष्टार्थः । वि-

पर्योसं दुरात्मतायामपि सुन्दरात्मतापरिज्ञानरूपमेति गच्छति,  
इतरस्य तु क्वाञ्चित्सादापि किञ्चिद्व्यक्तमिति भाषः । किमेवमु-  
च्यते ? यतः [ इमे वि सि ] अयमपि प्रत्यक्षो लोक इति सम्भ्रंषः ।  
[ सि इति ] तस्य मात्स्यं न्ययः । न किंचिदमेवमेव परोऽपि हो-  
को अन्तर्गतः कृष्णः । तमेह होकाऽभावः शरीरकमेव हेतुलोक-  
भादिस्वभावः, परलोकामावृष्य कुगतिगमनतः शरीरमानसदुः-  
खसम्भवात् । तथाच [ बुधो वि सि ] जिह्वाऽपेक्षिकपारत्रिका-  
र्थे भाषेन [ जिभ्रुज्ज्महं सि ] स पेक्षिकपारत्रिकाकार्येऽपिसमतो ज-  
नानवलोच्य चिन्मामपुण्यभाजनमुपयुक्तहृत्तयेति चिन्त्या ही-  
यते । तत्रेऽप्युपयुक्तोकाभावे सति लोके अगति ॥ ४९ ॥

यद्दुक्तं स ज्ञास्यति पश्चात्तनुतापेनेति तत्र यथाऽस्ती परितप्यते  
तथा दशयन्नुपसंहारमाह-

एवैव हा बंदकुसौलरुषे,

मगं विराहिषु जिण्णुसमाणं ।

कुररीविवा भोगरसाणुगिद्धा,

निरपत्तोया पतितामपे ॥ ५० ॥

( पादौटीका )

एवमेवोक्तदोषेव महाश्वनस्पश्यादिना प्रकारेण यथाऽग्नाः स्व-  
कश्चिद्विराचितान्दाराः कुररीलाः कुसितशास्त्रास्त्ररूपस्त्रस्त्रमा-  
वाः कुररीव पात्रिणीयां निरुक्तसोयं सि ] निरर्थो निष्प्रयोजनः शो-  
को यस्यः स्या निरर्थेऽपि, परितापं पश्चात्पारत्रिकम्, एति गच्छ-  
ति । यथा चैवाऽऽमिषगुणा पश्चात्तरेऽप्यो विपत्त्याशी शोचनेन च  
ततः कश्चिद्विपत्प्रतीकार इत्येवमसावपि भोगरसयुक्त पेक्षिका-  
सुधिमकानर्धेप्राप्ती ततोऽप्येव स्वपरिद्वान्नासमर्थयेऽनाथत्व-  
मिति ज्ञायः ॥ ५० ॥

एतच्छुन्या यरुक्तं तदुपवेष्टुमाह-

सोञ्जाण मेडावि । सुजासिपं इमं,

अनुतासयं नाणुगुणांवेवंयं ।

मगं कुसीज्ञाण जहाय सव्वं,

महानियद्वहाण वए पहेणं ॥ ५१ ॥

हे मेधाविदु ! हे पश्चित ! हे राजदु ! इवं सुभाषेनं सुष्टु भाषि-  
तं सुभाषितम्, अनुतासमन्-चपेदश्वचनेन, श्रुत्वा सव्वं कुसीज्ञानं  
मार्गम् । [ अहाय इति ] त्यक्त्वा महानिष्प्रधानो महासाधुनां,  
पथं मार्गं, चरेद् ब्रजेव । कीदृशमनुज्ञासनम् ? आनुत्तापयेतं  
ज्ञानस्य गुणाः ज्ञानगुणाः तैवपतेनं ज्ञानगुणांपपेतम् ॥ ५१ ॥

ततः किं फलमित्याह-

चरिसमापारगुणसिपे तम्भो,

अणुत्तरं संजमपालियाणं ।

निरासवसे खविद्याण कम्मं,

ववेइ ताणं विजुत्तमं धुवं ॥ ५२ ॥

ततस्तस्मात्कारणात्पश्चात्तनुतापेनानामवस्थानात्संकोपेऽसुप्त-  
तपाहकः साधुर्बुधमन्त्रतसिदानामवस्थानात्संकोपेऽसुप्त-  
सर्वोत्कृष्टं पुनश्चैवं निष्प्रयं शाश्वतमेतादृशं मोक्षस्वानुमुषिति प्रा-  
प्नोति । कीदृशः साधुः, चारिवाचारगुणाग्निः चरित्रत्याचार-  
आरिवाचारआरिचरित्येवं, गुणा ज्ञानशीलज्ञान्यः, चारिवाचारः  
गुणाश्च चारिवाचारगुणास्तीरान्विते चारिवाचारगुणाग्निः । अत्र

प्रकारः प्राकृतत्वात् । किं कृत्वा सायुर्मौलं प्राप्नोति ? अन्वृत्त-  
रं प्रधानं जगद्वाङ्मयस्य संसर्गशक्तिं पालयित्वा । पुनः  
किं कृत्वा ? कर्मोपेयच्छक्तिं संज्ञेय्य कर्मोपेयतायता चारिभ्रा-  
चारक्षान्नादिगुणयुक्तः । इत एव निरुद्धाश्रयः प्रधानसंशयं प्रया-  
स्य, सर्वकर्मणि संकल्पं नीत्वा मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अधोपसंहारमाह—

एतुम्गदंते वि महातबोहणे,  
महासुणी महापदस्ये महायम ।  
महानिर्पञ्जिमिणं महासुयं,  
से कहिए महया वित्यरेणं ॥ ५३ ॥

एवममुना प्रकारेण, अणिकेन राज्ञा, पृष्टः सन् स्व महासुनिर्महा-  
सायुः, महात्वा विस्तरणं बृहत्ता व्याख्यानं, महानिर्पञ्चीयं म-  
हापुनःप्रकथयत्, महास्यक्तं ते निर्हन्त्याश्च महानिर्पञ्चास्तेष्वप्यो  
हितं महानिर्पञ्चीयं, महासुनीनां हितमित्यर्थः । कीदृशः सः ? ,  
उग्रः कर्मशत्रुदहनं बलिष्ठः । पुनः कीदृशः सः ? , दातॄणां जित-  
न्धियः । पुनः कीदृशः ? , महानयोधनः प्रहस्य तत्तपश्च महातपः  
महातपो धनं यस्य स महातपोधनः । पुनः कीदृशः ? , महाप्रतिहः  
यने हृदप्रतिज्ञाधारकः । पुनः कीदृशः ? , महायथाः महा-  
कीर्तिः ॥ ५३ ॥

ततश्च—

नुद्यो य सेणिओ राया, इणमुदाहं कपंजही ।

अणुाहणं जहा जूर्यं, सुदरु मे उवदंसियं ॥ ५४ ॥

अणिको राजा नुद्यः । नु इति निश्चयेन । इदम्, 'उदाहं' इदमवा-  
दीत् । कीदृशः अणिकः ? , हताजलिः बद्धाजलिः इदमिति किम् ? ,  
हे मुने ! यथाज्ञतं यथावस्थितममनामयं, मे मम, सुदृष्टपदार्थं  
सस्यम्दर्शितव्यं, त्वयेति शेषः ॥ ५४ ॥

किं अणिक आह—

तुजं सुलच्छं खु माणससजम्भं ,

लाना सुलद्धा य मुमे महेसी ।

तुम्हे सण्णाहा य सर्वंधवा य,

जं भे द्विया मग्गजिणुत्तमाणं ॥ ५५ ॥

हे महर्षे ! खु इति निश्चयेन सुलब्धं सफलं त्वदीयं मानुषं ज-  
न्म । हे महर्षे ! त्वेव लानाः रूपवर्णविद्यादीनां लानाः सुल-  
जाः रूपलाभयथादिप्राप्तयः सुप्राप्तयः । हे महर्षे ! पृथमेव स-  
नाथां भ्रातृभ्यो नाथयथात् नाथसहिताः । च पुनर्भूयमेव सन्धान्य-  
वा हासिदुदुम्भसहिताः । यद् यस्मात्कारणात् ( मे इति ) ज-  
न्मनः जिनोत्तमानां तीर्थकरणां मार्गं स्थिताः ॥ ५५ ॥

तं मि खाहो अण्णाहाणं, सब्वज्जायणं संजया ।

त्वाभेमि ते महाजागा !, इच्छामि अणुसासिजं ॥ ५६ ॥

हे संवत् ! त्वम्, अनाथानां सर्वसूतानां वसनां स्थावराणां च  
जीवानां नाथोऽसि । हे महाभाग ! हे महाभाग्ययुक्त ! ( ने इति )  
त्वामहं क्लामि, मया पूर्वैयस्तथापराधः कृतः स क्लान्तव्य इत्य-  
र्थः । अथ भवतोऽनुसासयितुं त्वत्तः शिक्षितुमामानमिच्छा-  
मि । मदीय आत्मा तवाङ्गानुवर्ती भवत्विति च्छामोत्यर्थः ।

( पाठटीका )

( तं सीति ) पूर्वोक्तं रूपबुद्धया कृता, उत्तरार्द्धेन तु क्लमो-  
पसंपन्नता दर्शिता । इह ( तुम्हे सि ) त्वम् ( अणुसासयंति )

अनुशासयितुं शिक्षितुमामानं ज्ञयेतेति गम्यते ॥ ५६ ॥

पुनः क्लमणामेव विरोधत आह—

पुच्छिऊणं मए तुज्जं, ज्जाणविग्गो य जो कओ ।

निर्मांतियो य जोएहिं, तं सब्वं मरिसिहे मे ॥ ५७ ॥

हे महर्षिन् ! मया तुज्यं पृच्छा प्रश्नं कृत्वा यस्तव ध्यानविषयः  
कृतः च पुनर्जोतिः कृत्वा निमित्तत-भोः स्वामिन् भोगाव  
पृच्छस्वत्यादिप्रार्थना तव कृता तं सर्वं मे ममापराधं कृतुम-  
र्हसि, सर्वं ममापराधं क्लमस्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सकलाप्ययनाधोपसंहारमाह—

एवं युण्णिचाणं म गायमीहो,

अणुमासीहं परमां जत्तए ।

सारोहो सपरियणो सर्वंधवो,

धम्मणुत्तरो विमलेण चयमा ॥ ५८ ॥

राजसिंहः अणिको राजा । एवममुना प्रकारेण, तमनगा-  
रसिंहं मुनिसिंहं परमया उत्कृष्टया भक्त्या स्तुत्वा, विमलेन  
निर्मलेन चेतसा धर्मानुरक्तोऽऽर्जितं शेषः । कीदृशः अणिकाः ? ,  
सावरोधः अन्तःपुरेण सहितः पुनः कीदृशः ? , मर्याजिनः सह-  
परिजनैर्नैते इति सपरिजनाः स्यादियमसहितः । पुनः कीदृ-  
शः ? , सबाण्यवः सह बाण्यवैर्ज्ञानुप्रमुक्तैर्वैतन इति सबाण्यवः ।  
पुराऽपि वनवाटिकायां स्वान्तःपुरपरिजनबाण्यकुटुम्बसहित  
एव कीर्त्तं कर्तुमामात् । ततः मुनोर्वाच्यश्रवणात्सर्वपरिकरयु-  
क्तो धर्मानुरक्तोऽऽर्जित्यर्थः ॥ ५८ ॥

उत्ससिरोमकूबो, काऊण य पयाट्टिणं ।

अभिवोदुण्ण सिस्सा, अद्रयाओ नराहो ॥ ५९ ॥

नगधिपः अणिकोऽनियतात् पृष्टं गतः । किं कृत्वा ? , शिरसा म-  
स्तेनक, अभिवन्द्य मुनिं नमस्कृत्य । पुनः किं कृत्वा ? , प्रदक्षिणां  
कृत्वा प्रदक्षिणां दत्त्वा । कथञ्चूतो नराधिपः ? , ( उत्ससिरोम-  
कूबो सि ) उच्चसितरोमकूपः साधोर्देशनाश्रयश्रवणादुल्ल-  
सितरोमकूपः ॥

( पाठटीका )

उच्चसिता इवोच्चसिता उद्भिन्ना रोमकूपे रोमर-ध्रानि यस्य  
स उच्चसितरोमकूपः । ( अद्रयाओ सि ) अतियतां गतः स्व-  
स्थानमिति गम्यते ॥ ६० ॥

इयंरो वि गुणसमिक्को,

तिगुणिसुत्तो तिदं कविरओ य ।

विहइ इव विपपुत्तको,

विहइ वसुहं विगयमाहो ॥ ६० ॥ ति चिमे ॥

अधेनरोऽपि अणिकापिकृत्वाऽपरोऽपि मुनिरपि वसुधां पृथिवीं  
विहरति विहारं करोति । कीदृशः सन् ? , विमोहः सन् मोहरहितः  
सर्व-अप्राधं केवली सन्, कीदृशो मुनिः ? , गुणसमूहः सतविधा-  
निसासुगुणसहितः । पुनः कीदृशः ? , विगुणिसुत्तः सुमित्तव्यसहितः ।  
पुनः कीदृशः ? , विहएकविरतः विहाएकत्वा मनोवाक्षायानामसु-  
त्रव्यापारैर्भ्यो विरतः । पुनः कीदृशः ? , विहइ इव विपसुत्तः  
पहोो कथिदपि प्रतिक्थयमित्तो निष्परिग्रह इत्यर्थः । इति  
सुधर्मो स्वामी जन्मस्वामिनो प्रति चरति, अहमिति ब्रवीमीति  
॥ ६० ॥ सस २० अ ० ।

अष्टाहपञ्चजा—अनाथमन्त्र्या—की० । विशतितमे उत्तराश्व-  
यने, स० ३३ स० १० । तच्च महानिर्गन्धीयमिति नाम्ना प्रसि-  
द्धम् । उत्तर० २० अ० ।

अष्टाहारण—अनाथरण—न० । आश्रित्येतेनेत्याधरणमाधारः ।  
तन्निधोऽनाथरणम् । आधर्तुमक्रमे, ज० १८ श० ३ स० ।

अष्टाहासाला—अनाथशास्त्रा—की० । आरोग्यशास्त्रायाम्,  
अथ ५ उ० ।

अष्टाहार—अनाहार—पुं० । न० त० । आहारविपरीतेऽप्यव-  
हाय्ये, तल्लक्षणं चाऽऽहारनिष्प्रत्यमित्याहारानाहारयोः स्वकृप-  
मन्वेव प्रदर्श्यते—

परिवासात्प्रमाहार—स मगला को भवे अणाहारो ? ।

एगंगिभो चउविहो, जं वा अन्नमइजाइ तर्हि ॥

परिवासितस्याहारस्य मार्गणा विचारणा कर्त्तव्या । तत्र  
शिष्यः प्राह—वयं तावत् पतदेव न जानीमः को नाम आहारः  
को वा अनाहारः इति । सुरिराह—एकाङ्गिकः शूद्र एव यः श्लुषं  
शमयति स आहारो मन्तव्यः । स च अनशनादिकश्चतुर्विधाः  
यद्वा-तत्राहारोऽप्यह लवणादिकमतिवाति प्रविशति, तद्व्या-  
हारो मन्तव्यः ।

अथैकाङ्गिकं चतुर्विधमाहारं व्याचष्टे—

कूरो नासइ दुहं, एगंगि तक्कउदमजाइ ।

साइम फलसंसाइ, साइम महुफाणियार्दाणि ॥

अन्नान् कुर एकाङ्गिकः शूद्र एव श्लुषं नाशयति । पाने तत्रोद-  
मादिकमेकाङ्गिकमाद्यं श्लुषं नाशयति, आहारकार्यं च करोति,  
खादिमे फलमासादिकं, स्वादिमे मधुफाणित्वादीनि केवलान्य-  
याऽऽहारकार्यं कुर्वन्ति ।

‘जं वा अहइ तर्हि ति’ [ शूद्रसूत्रस्य ] पदं व्याख्यानयति—

जं पुण खुहापममणे, अममन्थेगंगि ह्वाइ लोणार्इ ।

तं पि हाइ आहारो, आहारजुयं व विञ्जनुवा ॥

यत्पुनरेकाङ्गिकं श्लुषाप्रशमनेऽसमर्थं परमाहारे उपयुज्यते तद-  
प्याहारोऽनस्युकमस्युकं चाऽऽहारो भवति, तच्च लवणादि-  
कम् । तत्राशनं लवणादिद्रुजोरिकदिकमुपयुज्यते ।

उदए कपुर्पार्इ, फलमुत्तार्इणि सिंगवेर गुहो ।

न य ताणि खर्वन्ति खुहं, उवगारिन्ता उ आहारो ॥

उदके कर्पूरादिकमुपयुज्यते, आहारदिकत्रेण सूकादीनि क-  
व्याणि, शूद्रयंत्रं व शूद्रां गुह उपयुज्यते । न ताणि कर्पूरा-  
दीनि श्लुषं क्षपयन्ति, परन्तुफारित्वादाहार उच्यते, शेषः  
सर्वोऽप्यनाहारः ।

अहवा जं तुक्खुचो, कइमउववाइ पविस्वइ कोष्ठे ।

सव्वो सो आहारो, ओसहमाइ पुणो जइतो ॥

अथवा बुभुक्षया आशयं कर्त्तव्यमप्यया शूद्रादिकं कोष्ठे प्रक्षि-  
पति । कर्त्तव्यमप्यपि कर्त्तव्यमपि एतानां कुर्व्यां कुर्वन्ति निरन्तरं  
स सर्वोऽप्याहार उच्यते । औषधादिकं पुननेकं विकल्पितं  
किञ्चिदाहारः किञ्चिन्नाहार इत्यर्थः । तत्र शर्करादिकमौषध-  
माहारः, सर्पदण्डैर्मूलैश्चापि औषधमाहारः ।

जं वा तुक्खुत्तस उ, संकममाणसइ इइ अस्साइ ।

सव्वो सो आहारो, अकामऽणियं च-उणाहारो ॥

यद्वा-क्यबुत्तुकाऽऽस्तस्य संकमतो प्रसमानस्य कम्बलप्रक्षेपं कु-  
र्वत इत्यर्थः; आस्वादं रसनाह्लासकं स्वादं प्रपञ्छति स सर्व आ-  
हारः । यत्पुनरकामस्यचहृत्प्राप्तिवैषम्यमभिसंख्यार्णायम्, अग्निं  
च जिह्वाया अरुचया, ईदृशं सर्वमनाहारो भवत्येते ।

तथाानाहारमिदम्—

अणहार मोय उल्लो, मूयं स फलं च हांते ऽणाहारो ।

सेस सपचूदसोयं, विट्ठिमि व चउगुक् आया ॥

मोक्तं कार्यात्, उल्लो निम्बादिष्वक्, मूयं च पञ्चसूत्रादिकं, फलं  
चाऽऽमसकदरितकविभीतकादिकमित्यसंख्यमनाहारो भवतीति  
शृण्विः । निशीथशृण्वी तु या निम्बादीनां उल्लो त्वक् तच्च, तेषामव-  
निम्बोलिकादिकं फलं, यच्च तेषां मूलव, एवमादिकं सर्वम-  
प्यनाहार इति व्याख्यातम् । इ० ५ उ० । नि० ५ उ० ।  
च इहारे रयणीए, फण्डज्ज आणि माणि वत्तुणि ।  
समभागकया तिहना, प्रमिषोलीरचंदवणु ॥ ५६ ॥  
गोमुचं कटु रोदिणि, वग्वा आनया य रोदिणी तुग्गा ।  
मुग्गन्न ववा करीए, तिभं पंचंगभासणो ॥ ५७ ॥  
नह आसगंथि वंभी, वीइ हलिहा य कुंदक कुट्टा ।  
विसनार्इ य धमासो, कोलयवीया अरिद्धा य ॥ ५८ ॥  
मिदलमं जिठकके—ल्लिकुमारिकं धेर बेर कुट्टा य ।  
कपास वीय पत्तय, अगुठुठुका य तंतुवडा ॥ ५९ ॥  
धवखयरपन्नासाइ, कंतकसक्याण उट्टिया स्वाया ॥  
जं कटुयसपरिगंथं, आहारं पि हु अणाहारं ॥ ६० ॥  
इवाइ जं अणिं, पंचुवमं तं भवे अणाहारं ।

यथाप्यसिद्धं वंभी, वीइ हलिहा य कुंदक कुट्टा ।

विसनार्इ य धमासो, कोलयवीया अरिद्धा य ॥ ५८ ॥

मिदलमं जिठकके—ल्लिकुमारिकं धेर बेर कुट्टा य ।

कपास वीय पत्तय, अगुठुठुका य तंतुवडा ॥ ५९ ॥

धवखयरपन्नासाइ, कंतकसक्याण उट्टिया स्वाया ॥

जं कटुयसपरिगंथं, आहारं पि हु अणाहारं ॥ ६० ॥

इवाइ जं अणिं, पंचुवमं तं भवे अणाहारं ।

यथाप्यसिद्धं वंभी, वीइ हलिहा य कुंदक कुट्टा ।

विसनार्इ य धमासो, कोलयवीया अरिद्धा य ॥ ५८ ॥

मिदलमं जिठकके—ल्लिकुमारिकं धेर बेर कुट्टा य ।

कपास वीय पत्तय, अगुठुठुका य तंतुवडा ॥ ५९ ॥

धवखयरपन्नासाइ, कंतकसक्याण उट्टिया स्वाया ॥

जं कटुयसपरिगंथं, आहारं पि हु अणाहारं ॥ ६० ॥

इवाइ जं अणिं, पंचुवमं तं भवे अणाहारं ।

यथाप्यसिद्धं वंभी, वीइ हलिहा य कुंदक कुट्टा ।

विसनार्इ य धमासो, कोलयवीया अरिद्धा य ॥ ५८ ॥

मिदलमं जिठकके—ल्लिकुमारिकं धेर बेर कुट्टा य ।

कपास वीय पत्तय, अगुठुठुका य तंतुवडा ॥ ५९ ॥

धवखयरपन्नासाइ, कंतकसक्याण उट्टिया स्वाया ॥

जं कटुयसपरिगंथं, आहारं पि हु अणाहारं ॥ ६० ॥

इवाइ जं अणिं, पंचुवमं तं भवे अणाहारं ।

यथाप्यसिद्धं वंभी, वीइ हलिहा य कुंदक कुट्टा ।

विसनार्इ य धमासो, कोलयवीया अरिद्धा य ॥ ५८ ॥

मिदलमं जिठकके—ल्लिकुमारिकं धेर बेर कुट्टा य ।

कपास वीय पत्तय, अगुठुठुका य तंतुवडा ॥ ५९ ॥

धवखयरपन्नासाइ, कंतकसक्याण उट्टिया स्वाया ॥

जं कटुयसपरिगंथं, आहारं पि हु अणाहारं ॥ ६० ॥

इवाइ जं अणिं, पंचुवमं तं भवे अणाहारं ।

अष्टाघार—पुं० । अष्टाघारकं, शिवा० १ पु० १ अ० ।  
अष्टाघाहारग—अनाहारक—पुं० । न० त० । आहारमकुर्वन्ति विप्र-  
रगत्यापके समुद्रघातगतकेचक्षिणि, अयोगिसिद्धे च । ज० ६  
श० ३ उ० । शूद्रया दुविहा पञ्चत्वा । तं जहा—आहारगा  
वेव अणाहारगा वेव; एवं जाव वेमाणिया ” इथा० २ टा०  
३ उ० । ५० ।

अनाहारकाश्चवारः—

विग्रहगद्मावन्ना, केवल्लिणो समुहया अजोगी य ।

सिक्का य अणाहारा, सेना आहारगा जीवा ॥

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापकाः सर्वे-  
ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुद्रताः हतसमुद्रघाताः, तथाऽ-

योगिनः शैलेस्वयवस्थां प्राप्ताः, तथा सिद्धाः क्लीणकर्मद्वाराः । सर्वे ऽप्यन्तेऽनाहाराः, एतद्व्यतिरिक्ताः शिवाः सर्वेऽप्याहारकाः । इह परमजे गच्छतां जन्तुनां गतिद्वेषा-अज्ञानातिः, विप्रहगति-  
 स्त्रा । तत्र यथा जीवन्तु अन्तर्धानादुत्पत्तिस्थानं समभेद्यं प्रा-  
 ष्जलमेव भवति तदा अज्ञानातिः सा वैकल्यमा समभेदिव्यव-  
 स्थितत्वेनांगपक्षिदेशस्याद्यस्य एव प्राप्ते नियमादाहारकभा-  
 स्त्वा हेयप्राहाणरीरकोग्रहणान्तराणांभेदानाहाराद्यवच्छेदात् । यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं वक्तं भवति तदा विप्रहगतिः,  
 अकथेयामन्तरारम्भरूपेण विप्रहणेपलक्षिता गतिर्विप्रहगति-  
 रिति कुर्यात् तत्र विप्रहगत्यापका अकथेतस्त्रीत् समयात् याव-  
 दनाहारकाः । तथाहास्यां वक्तव्यं विधत्ते अन्तरेकेन ज्ञान्यां वि-  
 तिच्छान्तौर्वा अकथेयपक्षिदेशमाभाति, तत्रैकव्यक्त्यायां यो समये तयोक्तं निरमाहाराःकः । तथाहाद्यसमये पूर्वेशरीरमोक्तस्वदिम-  
 समये तच्छरीरयोभ्याः केचित् पुत्रलाः जीवधैर्ययोगाङ्गोमाहा-  
 राः तस्मिन्मयमायाति । मीढरिक्तेवैक्याहारकपुत्रजानां चा-  
 हाराः, तत आद्यसमये आहारकः, द्वितीयं च समये उत्पत्तिदेशे  
 तन्वययोग्यशरीरपुत्रलात्प्रानाहाराकः, द्विचकार्यां गतयः स-  
 मयाः । तत्राद्येऽप्ये च प्राग्ब्रह्माहारको मध्यमेऽवनाहारकः । त्रि-  
 चकार्यां चत्वारः समयाः, ते चैवं ब्रह्मनाम्ना बहिरेषस्तनजगा-  
 त्पूर्वसुपरितनजगामादर्थो वा जायमानो जन्तुर्विदिशो दिशो  
 वा विदिशि यद्गोपयते तदैकेन समयेन विदिशो दिशि याति, द्वि-  
 त्तीयं त्रसनादीं प्रविशति, तृतीयोपर्येयो वा याति, चतुर्थं च  
 बहिरेषपद्यते । विशो विदिशि उत्पद्ये त्रसनादीं प्रविशति, तृती-  
 योपर्येयो वा याति, चतुर्थं च बहिरेषपद्यते; दिशो विदिशि उ-  
 त्पद्ये त्वाद्य समये त्रसनादीं प्रविशति, द्वितीये उपर्येयो वा या-  
 ति, तृतीये बहिर्गच्छति, चतुर्थे विदिशि उत्पद्यते । अत्राद्यन्तयोः  
 प्राग्ब्रह्माहारको मध्यमयोस्वनाहारकोः । चतुर्थकोऽप्येव समयाः,  
 ते च ब्रह्मनाम्ना बहिः, एषं विदिशो दिश्युत्पद्ये प्रागवन्नायनी-  
 यः । अत्राद्यन्तयोराहारकस्युत्पत्त्यादाहारकः । प्रथमं २३३ द्वा० ।  
 अतःसमयापत्तिश्चेत् भवति-ब्रह्मनाम्ना बहिरेषपरिष्ठाद्योऽव-  
 त्नाहा प्रत्येयधामानो विशो विदिशि विदिशो वा दिशि यद्गोपय-  
 दते तदा लभ्यते । तत्रैकेन समयेन त्रसनादीं प्रवेशः, चिन्तियोपर्ये-  
 यो वा गमनम्, तृतीयं च बहिर्निःसरणम्, चतुर्थं तु विदिशू-  
 त्पत्तिदेशमासि रिति । पञ्च समयात्त्रसनाम्ना बहिरेव विदिशा  
 विदिशुत्पत्तौ लज्जयते । तत्र च मध्यवर्तिषु अनाहारक इत्यवग-  
 न्तव्यम् । आद्यन्तसमयोऽस्वाहाकर इति । सूत्रं २ सु० ३  
 अ० । तथा केवलिनः समुद्रान्तेऽहस्तासमये तृतीयचतुर्थपञ्चमरू-  
 पात् केवलकर्मयोगमुत्तान्त्रोम्समयात् अयोगिनः शैलेश्यव-  
 स्थायां ह्रस्वपञ्चाकरोकारणमात्रम् । सिद्धान्तं साविमपर्ययसिन्ते  
 कालमनाहारका इति । प्रथमं २३३ द्वा० । केवलसमुद्रान्तेऽपि  
 कर्मणशारीरवर्तिव्यात् तृतीयचतुःपञ्चममयेऽवनाहारकोः कुर-  
 ष्यः । शेषेषु त्वाहारिकादितन्मिधशरीरवर्तिव्यात् आहारक  
 इति । ( मुद्रुसमत्तं च सि ) अन्तर्मुहूर्त्तं शुक्रान्ते । तत्र च केवलो  
 न्यायुवः कृते सर्वयोगानिरोधे सति ह्रस्वपञ्चाकरोक्तिरणमात्र-  
 काञ्चं यावदनाहारक इत्येवमवगन्तव्यम् । सिद्धजावास्तु शैले-  
 श्यवस्थायाः भाविसमयादारभ्यान्तरत्वात् काश्मनाहारका इति ।

साप्रतमेतदेव स्वाभिविशेषविशेषिततन्माह-

एकं च दो व समए, केवलपरिवर्जिया अण्टाहारा ।

पंचमि दोसि लोए, य पूर्ण विधि समयाओ ॥ ७ ॥

केवलपरिवर्जिताः संसारस्था जीवा एको द्वौ वा अनाहारका  
 भवन्ति । ते च द्विविप्रहत्रिविप्रदोषपत्तौ त्रिचतुःसामयिकायां  
 द्रष्टव्याः । चतुर्थपदपञ्चसमगोत्पत्तिस्तु स्वदपसत्वाचितेति न  
 साक्षाद्गुप्ताः । तथाऽप्यत्रायन्निहितम्-एको द्वौ वाऽनाहार-  
 कः । वायाध्यायिक वा आनुपूर्व्यो अन्तुद्वय उक्तव्यो विप्रहगतौ  
 चत्वारः समयाः नाऽऽप्तमोऽपिदिताः । ते च पञ्च समयोपत्तौ ह-  
 र्भ्यन्ते, नात्युपेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्रान्तमप्येतत्करणोप-  
 संहारावसरे तृतीयपञ्चमसमयो द्वौ लोकात्पूर्वचतुर्थसमयेन  
 सहिताख्यः समया भवन्तीति ॥ ७ ॥

पुनरपि नियुक्तिः सादिकमपर्ययवानं काश्मनाहारकं  
 वक्ष्यितुमाह-

अंतो मुहुचपमं, सेलेसीए जेव अण्टाहारा ।

सादीयमनिदृशं पुण, सिद्ध्याण्टाहाराग हौति ॥ ७ ॥

शैलेश्यवस्थाया आरभ्य स्वयंथाऽनाहारकः तिकावत्वात्प्रत्या-  
 वनन्तमपि काञ्चं यावदिति पूर्व तु कावशिकाख्यव्यतिरेकेण प्रति-  
 समयमाहारकः । कावशिकेन तु कदाचिक इति । सूत्रं २ सु०  
 ३ अ० । नि० । अ० । कर्म० । [ क समयमनाहारकः " जीवे  
 णं जने । कं समयमनाहाराए अवर्षात् " आहारा " शब्दे द्वि-  
 तयिजागे ५०० पुष्टे वक्ष्यते ]

अण्टाहारिम-अनाहारिम-न० । अनाहार्ये, नि० सु० ११ उ० ।

अण्टाहारिय-अनाहृत-वि० । अतीताहरणकिययाऽपरिणा-  
 मिते, म० १ श० १ उ० ।

अण्टाहृद्ध-अनाहृष्ट-पु० । वसुदेवस्य धारएयां जाते पुत्रे, त-  
 द्बृचकल्पना गजसुकुमारस्येवमन्तकृशुहानां तृतीये वर्गे त्रयोद-  
 शाय्यने सूचितः । अन्त० ३ यति० ।

अण्टिडय-अनितिक-पु० । इतिवाद्ये नियतरूपोपवर्णनयः, त-  
 त्तत्र न विद्यते इतिवैशवासावर्तिनः । अण्टिडयमाननियतस्यैव,  
 ईश्वरदरेरपि दारिद्र्यादिभावात् संसार, म० ७ श० ३३ उ० ।  
 अण्टिडपत्त-अर्नानिपत्त-त्रि० । ईतिवैरहितकम्पे, इ० १  
 सु० १ अ० ।

अण्टिउं ( उँ ) तय-अतिमुक्तक-न० । मुचो-भावे-क्त । अ-  
 तिसायेन मुक्तं कथ्यं नयस्य । प्राकृते ' गतितातिमुक्तके षः '  
 ८ । १ । २०० । इति तस्य णः प्रा० । 'यमुनाचामुद्राकासुकाति-  
 मुक्तके मोऽनुनासिकश्च ॥ १ । १ । ७८ ॥ इति मस्य लुक्, तन्मा-  
 नं वाऽनुनासिकः । प्रा० । ' वकादावत्तः ' ॥ ८ । १ । २६ ॥ इति  
 तृतीयस्थानुत्वाः । प्रा० । तस्य णवऽङ्कन्ते- ' अदसुचं अदसु-  
 स्यं ' इति रूपकथम् । तिप्पकवृत्ते ताञ्चकृते च । प्रका० १ पृ० ।  
 अण्टिउण-अनियुत्त-त्रि० । न नियुक्तोऽनियुक्तः । कृत्वाशले,  
 भाव० ४ अ० । नि० सु० । दश० ।

अण्टिण्ट्रवाचारे ( ण् )-अनियतचारिन्-पुं० । अनियतमम-  
 तिबद्धं परिष्ठाद्योगाचारितुं शीलमस्याऽसावनिनयत्तचारी । अ-  
 तिकव्यतिहारिण, सूत्रं १ सु० ६ अ० । " स भूदृश्यसे अण्टिण्ट्र  
 अचारी, प्रोदिते धीर अणतचक्षुश्च " सूत्रं १ सु० ६ अ० ५  
 उ० । " अखिले अण्टिण्ट्रपयवारी, अमयंकरे भिक्कु अणा-  
 विश्लया " सूत्रं १ सु० ७ अ० ।

अण्टिण्ट्रवासा-अनियतवासा-पुं० । मासकल्पादिनाऽनिकेन-  
 चात् अण्टे उचानादीं धात्ते, " अण्टिण्ट्रवासासमुयाण चरि-

अण्डिप्रवास

अण्डिप्रभाव्या

वा, अण्ड्याय उच्छं पत्र तिरिक्त्वा य " दश० २ सू० ।  
 अण्डिप्रोग-अनियोग-पुं० । मिथोगाद्वयोऽनियोगः । विपर्य-  
 यासिपयोगे, पं० सू० ४ सू० ।  
 अण्डिगाल-अनङ्कार-त्रि० । रागपरिहारेकाङ्कारोदपरहिते, प्र-  
 ङ्ग० १ सख्य० ह्रा० ।  
 अण्डिद-अनिन्द्र-त्रि० । मास्तीन्द्रो यस्मिन् सोऽनिन्द्रः । इ-  
 न्द्विरहिते प्रजास्वामिके, न० ३ श० १ उ० ।  
 अण्डिन्य-त्रि० । अङ्गुलिस्ते, सामायिके च । ङ्ग० म० ह्रि० ।  
 ङ्ग० सू० ।  
 अण्डिद्विज्ज-अनिन्दनीय-लि० । गीतार्थादिजनादृष्ये , जी०  
 १ प्रति० ।  
 अण्डिदिय-अनिन्दित-त्रि० । शुभानुबन्धितयाऽगहणीये, च०  
 १ अर्थि० । सप्तमकिश्वरेषु, प्रङ्गा० १ पद ।  
 अण्डिन्द्य-पुं० । सिद्धे , सपत्नीसंके , उपयोगतः केवलज्ञेनि,  
 स्या० १० उ० । " गेरुव्यादुविहा पक्ष्यात् । तं जहा-सिंहदिया  
 च, अण्डिदिया च य जाव येमाणिया " स्या० २ उ०२० ।  
 अण्डिदिया-अनिन्दिता-स्त्री० । षष्ठ्यामूर्ध्वलोकवास्तव्यायां  
 द्विक्रमारीमहस्रिकायाम्, स्या० ८ उ० ङ्ग० सू० । आ० न०  
 प्र० । ति० ।  
 अण्डिनिवृत्त-अनिक्रिप्त-न० । अविधान्ते, औ० । म० ।  
 अण्डिकेय-अनिक्रम्य-त्रि० । अविधान्ते, माचा० २ बु० २ अ० ३ उ० ।  
 अण्डिकाय-अनिकाय-न० । परिमिते, सु० १ उ० ।  
 अण्डिकाय-अनिकाय-पुं० । लघुपुत्रावादे, वि० सू० १ उ० ।  
 ( ' मुसावाय ' शब्देऽस्य विवृतिः ) ।  
 अण्डिकेय-अनिकेत-पुं० । न विद्यते निकेतो गृहं यस्य । उक्त०  
 २ अ० । अविद्यमानगृहे, अनेकत्र बह्नास्पदे, उक्त० १ अ० ।  
 अण्डिकेय-अनिकेय-त्रि० । न० न० । द्रव्यतोऽङ्कशाशरीरे, जा-  
 वतोऽवदाङ्कनकपायं, स्या० ४ उ० ४ उ० ।  
 अण्डिकावाइ ( ण )-अनेकवादिन्-पुं० । सत्यपि कथाञ्चिदेक-  
 न्त्वे भाषायां सर्वथाऽनेकत्वं वदनीत्यनेकवादी । परस्परवि-  
 लङ्गणा एव भाषाः, नर्थैव प्रतीयमान्यात् । यथा रूपं रूपत-  
 येनि । अनेके तु भावाणां जीवाजीवषकमुक्तुस्त्रिभुङ्कित-  
 दाभासकम्पसह्राद् दीक्षादिवेयर्थमिति । किञ्च-सामान्य-  
 मङ्गीकृत्यकथं विचकिते परैः । सामान्यं च भेदत्रयो निजामि-  
 धनया विन्यमानं न युज्यते । परमवयवेऽन्येऽवयवौ धर्मत्रयश्च  
 धर्मी ऽन्येवमेकवादी । इत्युपदिशितस्वरूपे अक्रियावादिनि,  
 स्या० ८ उ० ।  
 अण्डिनिवृत्त-अनिक्रिप्त-त्रि० । अनुक्तिस्तेऽस्याक्याते, न०  
 १ उ० २ उ० । अविधान्ते, औ० ।  
 अण्डिगामसोक्त्व-अनिकामसोक्त-त्रि० । अपक्वष्टुक्के तुक्क-  
 सुक्ते, उक्त० १४ अ० ।  
 अण्डिगाम-अनगन-पुं० । न विद्यते गमनास्तरकालीना जना  
 येभ्यस्तेऽनगनाः । अ० २ वक्र० । सवस्त्ववहेतुषु कल्पवृक्षेषु,  
 स० १० सप्त० ।  
 अण्डिगृहण-अनिगृहण-न० । अगोपने, पंशा० १५ विध० ।  
 अण्डिगृहयवर्त्तरीरिय-अनिगृहितवर्त्तरीर्ये-पुं० । अनिगृ-

हितेऽगोपिते बह्वर्थायें देहमाणुषिस्तत्साहक्येन स तथा ।  
 पंचा० १५ विध० । अनिगृहताह्वान्यभरत्सामर्थ्ये, ग० १ अर्थि० ।  
 दश० । आशा० । पं० सू० । "अण्डिगृहयवर्त्तरीरिउ, परिक्मह  
 जो अङ्कमात्रतोः । अं अङ्क जहा धामं, नापयो वीरियायापो"  
 दश० ३ अ० । पं० सू० । पञ्जा० ।  
 अण्डिगृह-अनिगृह-पुं० । अविद्यमानो निगृह इन्द्रियनो-  
 इन्द्रियनियन्त्रणत्सोऽस्येति । उक्त० ४१ अ० । अयशीकृतेऽपि-  
 ये, उक्त० ११ अ० । सैरे, प्रङ्ग० २ आश० ह्रा० । उक्त्वकथते,  
 दश० ८ अ० । एकादशे गौणाऽब्रह्मणि, तत्राऽनिग्रहोऽनिपेक्षो  
 मनसो विषयेषु प्रवृत्तमानस्येति गम्यते । एतस्मिन्मद्यत्वाच्चास्या-  
 ऽनिग्रह इत्युक्तम् । प्रङ्ग० ४ अक्ष० ह्रा० ।  
 अण्डिब-अनित्य-त्रि० । न० न० । नित्यमित्ये सर्वदा स्यादिति, प्राचा.  
 १ सु० १ अ० ५ उ० । प्रत्युतानुपपत्तिर्यैकस्वभावतया कूटस्थं  
 नित्यत्वेन व्यतिष्ठतं सन्नित्यं नैवं यत्तद्विद्यम् । अयुनानुपप-  
 त्तिर्यैकस्वभावं हि नित्यमनोऽप्यप्रतिज्ञाविशारतु अनित्यम् ।  
 आशा० १ सु० ५ अ० ७ उ० । अतु० । उक्त० । अशाश्वते, उक्त० २  
 अ० । अनित्यमस्थिरत्वात् । प्रङ्ग० ५ आश० ह्रा० ।  
 अण्डिबजागरिया-अनित्यजागरिका-स्त्री० । अनित्यचित्ता-  
 याम्, " अण्डिबजागरियं जागरंती " न० १५ श० १ उ० ।  
 अण्डिबभाव्या-अनित्यभाव्या-स्त्री० । अनित्यत्वचित्तना-  
 त्तमे प्रथमभावानोद्रे, प्रथ० । तत्स्वरूपं च—  
 " प्रत्यन्ते वज्रसाराङ्गा-स्तेऽनित्यत्वरक्तसा ।  
 किं पुनः कदलीगर्भे-निसारा नेह देहितः ? ॥ १ ॥  
 विषयसुखं उच्यते, स्यादयति जने विनास इव मुदितः ।  
 नात्याटितसुखमिदो-त्पश्यति यममहदह ! किं कृष्णः ? ॥ २ ॥  
 धराधरचुनीनीर-पूरपारिप्लवं वपुः ।  
 जन्तुनां अचितं वात-भूतपञ्चजटोपमम् ॥ ३ ॥  
 श्रावणं ब्रह्मनाडोक-शोचताम्वलचञ्चलम् ।  
 यौवनं मत्समातङ्क-कर्णताम्वलचञ्चलम् ॥ ४ ॥  
 स्वल्पं स्वप्नप्रवृत्तीसम्, चपलाचपलाः श्रियः ।  
 प्रेम द्विवृत्तमेव, स्थिरत्वविमुक्तं सुखम् ॥ ५ ॥  
 सर्वथापि भावाणां, जायवशित्यनिर्यताम् ।  
 प्राणप्रियंऽपि पुत्रादी, विषयंऽपि म शोचति ॥ ६ ॥  
 सर्ववस्तुषु नित्यं च-प्रदमस्तसु वृष्टयः ।  
 जीर्णतृणकुटीरेऽपि, जने रोदित्यैऽनिशम् ॥ ७ ॥  
 तत्सन्तृणाधिनारेण, निर्मेमत्यविधागिनीम् ।  
 सुकृतीभ्यवेतिर्यमित्यनित्यत्वात्तन्मा ॥ " ॥ वा प्र० ६, ७ उ० ।  
 तत्रानित्यत्वं जायमेवम्—  
 " यस्मात्तस्मिन् मय्यङ्गे, यम्यथाङ्गे न तस्मिन् ।  
 निरीक्यते भवेत्किञ्चिद्वि, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥  
 शरीरं देहिनां सर्वे-पुरुषार्थेनित्यमनम् ।  
 प्रवृत्तपवनेऽहत्-वनागलविनम्बरम् ॥ २ ॥  
 कल्लोऽचपला लङ्गमीः, संगमाः स्वप्नसंज्ञाः ।  
 वात्याऽपतिकरोऽङ्कित-सुखतुल्यं च यौवमम् ॥ ३ ॥  
 तथा ध्यायन्नानित्यत्वं, मृतं पुत्रं न शोचति ।  
 नित्यतां शृदधुस्तु, कुष्ठजनेऽप्येति रोदिति ॥ ४ ॥  
 एतच्छरीरं यमयौवनमप्यथापि, जायन् केव यमनित्यमिहाऽमुभाजाम् ।

विभं सधेतनमधेतनमप्यधोप-  
सुपत्तिधर्मकमित्यनुवाचिन्तः ॥ ५ ॥  
इत्यनित्यं जगदुत्तं, विधरविचः प्रतिक्षणम् ।  
गुण्णाह्वय्याहितमत्राप, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥६॥ च०३३अधि० ।  
अधिष्ठाया-अनित्यता-॥७०॥ अन्वयवतापाम्, सूच० ।

अग्न्या सर्वैस्त्वामाऽनित्यतां दर्शयितुमाह-  
देवा गंधर्वारक्षसाः, अमुरा नृमित्रा सरीसिपा ।  
राया नर सेड्ढि माहृणा, डाणा ते वि चर्गति कुक्खिया ॥१॥  
देवा ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वैराक्षस्योरुपस्रक्षणात्वाद्दृष्ट-  
प्रकारा इवस्तदा गृह्णन्ते । तथा-अमुरा द्वाप्रकारा जयनपत्नयः ।  
ये चाऽन्ये भूमिचराः सरीसृपाद्यास्तियेभ्यः । तथा-राजानभ्य-  
कषातिनां बह्वैवेधासुवैचमभूतयः । तथा-नराः सामान्यमनु-  
ष्याः, भ्रेष्ठिनः पुरमहत्तराः, ब्राह्मणाश्च, एते सर्वेऽपि स्वकीयानि  
स्थानानि कुक्षिताः सम्पत्स्यञ्जितः । यतः-सर्वेषामपि प्राणि-  
नां प्राणपरित्यागे महद्दुःखं समुपघत इति ॥ ५ ॥

किञ्च—

कामेहि य संभवेहि य,  
गिष्ठा कम्मसद्धा कालेण जंतवो ।  
ताले जह बंधणच्छुप,  
एवं आउक्खयमिं तुहृति ॥ ६ ॥

कामैरिच्छामदनरुपैः, तथा संस्तवेः पुत्रोपरभूतैः, शुद्धा अण्यु-  
पपन्नाः सन्तः ( कम्मसद्द हि ) कर्मविपाकसहिष्णवः । कालेन  
कर्मविपाककालेन जन्तवः प्राणिनो भवन्ति । इदमुक्तं भवति-  
भोगेसोर्बिषयाऽऽसन्नेन तदुपशममिच्छत इहासुत्र क्रोधा एष  
केचनं न पुनरुपशमावांसिः । तथाहि- "उपभोगोपायपरो. वा-  
च्छति यः शमयितुं विषयवृत्त्याम् । धायस्याऽऽकृतिमुत्तसैः पुरा-  
ऽवराहै निजज्जायाम्" ॥१॥ न च तस्य दुःसुतोः कामैः संस्तयेच्च  
आणमवसतीति दर्शयति-यथा तालफलं बन्धनाङ्गनाव च्युतम-  
न्नाणमवश्यं पतति, एवमसावपि स्वायुषः कृत्यं नुत्पति जीवि-  
तान् व्यवत इति ॥ ६ ॥

जे या वि बहुसुण सिया,  
धम्मियमाहणानिकसुण मिया ।  
अग्नि णामकदेहिं सुच्छिप,  
तिव्वं से कम्मोहिं किन्ती ॥ ७ ॥  
ये चापि बहुभूतः शास्त्रार्थेयारामाः तथा धार्मिका धर्मोचरण-  
शिक्षाः । तथा ब्राह्मणाः, तथा मित्रिका भिक्षादत्तनीक्षाः, स्वधुर्-  
धेयुः, तेऽप्यानिमुष्येन (णमं ति) कर्म माया वा तत्कनैरसवनु-  
ष्ठमिच्छिता युद्धास्तीव्रमप्यधेयम् । अत्र च द्वादसत्वाद् बहुष-  
वन् इत्ययम् । एवमन्तः कर्मभिरसद्वेधादिभिः कृत्यत विघ-  
न्ते पीड्यन्ते इति यावत् ॥ ७ ॥  
सांप्रतं ज्ञानदर्शनकारिभ्यन्तरेण वाऽपरो भोक्तामार्गोऽस्तीति  
त्रिकालायपयत्वात् सूयस्याऽगामितीर्थिकधर्मप्रतिषेधार्थमाह-

अह पास विवेगमुद्धिप,  
अविनिभे इह जासई पुवं ।  
हाहिसि आरं कसो परं,  
नेहामे कम्मोहिं किच्चत ॥ ८ ॥  
अधोऽर्थिकारात्तरे बह्मादो पकादो इति । अधोऽर्थमन्तरं ए-

तश्च पश्य यस्तीर्थिको विवेकं परित्यागं गृह्येय पश्चान्तं  
वा संसारस्याऽऽभिव्येतिथतः प्रत्ययोऽयानेन ? । स च स्वस्व-  
कूपविज्ञानाभावादिचित्तोः संसारसमुद्रप्रमत्तनीचैः केशकमिद  
संसारं प्रकृत्या वा शाश्वतत्वाद् भ्रूयो मोक्षस्तं तदुपायं वा  
संयमं ज्ञात एव न पुनर्विघ्नते, तपरिज्ञानाभावादिभिः भावः ।  
तस्मान् प्रपञ्चस्त्वमपि कथं हास्यात् च आरमिदं प्रश्नं, कुतो वा  
परं परलोकम् ? । यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्रप-  
ज्यायांचयम् । अथवा आरमिति संसारं, परमिति मोक्षम्, एवंभू-  
तत्वाऽन्योऽन्युभयभ्रष्टः ( वेहासि सि ) अन्तराले उभयात्यागतः  
स्वहृतेः कर्मभिः कृत्यतं पीड्यत इति ॥ ८ ॥

मनु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा मिह-  
सदेहाश्च तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाह गार्हपा-  
जइ वि य जिगिषुं किंते चरे,  
जइ वि य जिगिषुं मायमंतसो ।  
जे इह मायादि भिज्जइ,  
आगंता गन्नाय ऽणंतसो ॥ ९ ॥

यद्यपि तीर्थिकः कश्चित्तापसादित्येकबाह्यगृह्यासादिपरिग्र-  
हत्वाद् निष्किञ्चनतया तमस्ववृक्षाणां प्राणायाश्च कृशाश्चरतः ;  
स्वकीयप्रमत्तयाऽनुष्ठानं कुर्यात् । यद्यपि च यष्टाष्टमदशमहादशा-  
दि तपोविशेषं विधत्ते । यावदन्ततो मार्गं स्थित्वा भुङ्क्ते, तथा-  
ऽपि आन्तरकथायाऽपरित्यागाच्च मृत्यवन्ते इति दर्शयति—य-  
स्तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणैर्यथात् तत्कथं यः इ-  
त्येवं परिग्रहिते अस्मी गर्भाय गन्नांथमा समन्नाद् गन्ता याच्य-  
त्यनन्तशो निरवधिकं कालमिति । एतदुक्तं जयति—अकिञ्चनो-  
ऽपि तपोनिष्ठसदेहाऽपि कथायाऽपरित्यागाच्चरकादिस्थानात्  
तियेगादिस्थानं गर्भोर्गमनतमपि कालमगमन्मवत संसारं  
पश्यन्तीति ॥ ९ ॥

यतो मिथ्याहृद्युपदिष्टतपसाऽपि न दुर्गेनिर्गमोनिर्गमोऽतो  
मदुक्त एव मार्गं स्थयेतकर्ममुपदेशं दातुमाह-  
पुरिसोपरम पात्रकम्मणा, पलितंयं मणुयाण जीवियं ।  
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंबुद्धा ॥१०॥

हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणा असदनुष्ठानरूपेण न्यमुपलक्षि-  
तत्वात्तदाऽसकृत् प्रवृत्तत्वात् तस्मादुपरमं निवर्तयेत् । यतः पुरु-  
षार्णां जीविं सुवृक्षपि विपत्योपपत्तम्, संघमज्जीविनं वा पत्यो-  
पमस्यान्तमंथं वसंतं, तद् ऽप्यनां पूर्वकालिभित्तिं यावत् । अथ  
वा-परि समन्तात् अनांऽऽपति पर्यन्तं सानमित्यर्थः । नक्षैव  
तत्रमेवाऽवगन्तव्यम् । तदेव मनुष्याणां स्तोके जीवितमवग-  
म्य यावत्तत्र पर्यति तत्रैकमोनुष्ठानेन तत्कथं कसंभयम् । ये पु-  
नर्मोक्षेणहृष्टेऽथसत्रा मग्ना इह मनुष्यमेव संसारं वा कामेवि-  
च्छामदनरुपेण युच्छिता अण्युपपन्नास्ते नरा मोहं धार्मिन्, हि-  
ताहितप्रासिधरिहारे मुह्यन्ति मोहनीयं वा कर्मोपाधिभ्रमन्तीति  
संभाव्यते । एतद्बन्धुत्वात् हिंसादिस्वधानिभ्यो निवृत्ततामसं-  
यतिन्निर्वाणां चति ॥ १० ॥

एवं च स्थिते यश्चिधेयं तद्दर्शयितुमाह-  
जयवं विहराहि जोगवं, अणुयाणा पंथा दुहत्तरा ।  
आणुसासणमेव यकमे, वरिहे च समं पवेइयं ॥ ११ ॥  
स्वल्पं जीवितमवगम्य विषयार्थं क्लेशेयामानवभुञ्जन् जि-  
त्या गृहपादाबन्धनं यतमार्गो यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरोधेन

विहर युक्तिद्वारी जव । एवं देव युगैति-योगवानिति-तयम-  
योगवान्, सुखः समितिगुह इत्यर्थः । किमित्येयम् १, यतोऽणवः  
सुखमाः प्राणाः प्राणिनो येतुते । तथा श्वेनूताः पश्यान्ऽनुपयु-  
क्तैर्जीवानुगच्छन् दुस्तरा दुनीमा इत्यनेन देवात्वमितिरूपा क्रिया ।  
अस्यान्नापि सुकृणाथेयात् अस्यास्यापि समितिगु सततोपयु-  
क्तेन जयितव्यम् । अपि च-अनुशासनेभ्य यथाऽऽगममेव सूत्रा-  
नुसारेण संयमं प्रकमेत् । एतच्च सर्वत्र बीरैरहीन्द्रैः स-  
स्यक्त प्रवेदिनं प्रकपेणाऽऽस्थातामिति ॥ ११ ॥

अथ क एते वीरा इत्याह—

विरया बीरा मधुद्रि-या कोटकायिरियावपीसणा ।

पाणे ण ह्यंति तच्छ्रयो, पावा क्रो विरिया अजिनित्वुका ? १  
हिंसाऽनुगताऽऽदिपत्रयो ये विरयाः । विशेषेण कमे प्रेरयन्तीति  
बीराः, सस्यगरकमपरिख्यागोनीयिताः समुत्थिताः, ते, एवंभूता-  
श्च क्रोशकतारैकादिपापसाः, तत्र क्रोशप्रदणद्वामो योहीतः,  
कान्तरीका माया, तद्वृषदणाल्लोभा योहीतः । आदिप्रदणत् शय-  
संहानीयवप्रिदः । तस्यावघनास्तद्वपनेतारः, तथा प्राणिना जी-  
वानुसृष्टमन्दरभेदभिनान् सर्वशो मनोवाकायकर्मभिरे धनन्ति न  
व्यायादयन्ति । पावाश्च सर्वेनः साधवाऽनुगताऽऽदितरा निवृ-  
त्ताः । ततश्चाऽनित्वुकाः क्रोशाद्युपशमेन शान्तीभूताः । यदि  
चाऽनित्वुका मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥ १२ ॥ सूत्र० १ भू०  
२ अ० १ उ० ।

अणिवाणुपेहा-अ-नत्यानुपेहा-ली० । कायः सखिहिना-  
पायः, सस्यः पदमापदाम् । सस्यमसाः सापवामाः, सर्वभु-या-  
दि भङ्गम् ॥१॥ इत्येवं जीविनादरनिभ्यस्तुभङ्गाः । घमको  
घमस्थानस्यानुपेहानेदः, स्या० ४ प्रा० १ उ० ।

अणिचन्ना-अनिचन्ना-ली० । इच्छामावलकृणावामामपरि-  
ली० । अनिचन्ना ह्यत्र संसारे, स्वच्छालाभादनुकृता । ॥ ३० ६  
३० । पं० सू० ।

अणिचिन्ना-अनीपितता-ली० । प्राणुसवाधिक्तयः, भ०  
६ श० ३ उ० ।

अणिचिन्ना-अनेह्य-ली० । मनागपि मनसाऽपि अप्राथ-  
मीयः, आ० ४ अ० । प० । " दुःखचित्तो अणायारो अणि-  
चिन्नाः " आ० ४ अ० ।

अणिजाम-अनिजीर्ण-ली० । जीवप्रदेशेनैवः परिशुद्धिप्रदे-  
शः, आ० । कटप० ।

अणि ( मि ) जामाण-अनीयमान-ली० । अनुगमयमाने,  
विषा० १ श्रु० १ अ० ।

अणि ( मि ) जामाणमग-अनीयमानमाम-ली० । अनुग-  
मयमानमामे, " मच्छिन्ना चमराहपहकरणे अणिजामाणमगं  
मियागामे मयरे " इत्यादि । विषा० १ श्रु० १ अ० ।

अणिजुदिना-अपौष-अथ० । अपस्येयर्थे, " वर्यं अणिजु-  
दिना " अपौषाद वसा हस्ताधावृतसुखस्य । प्रति० । ज० ।

अणिजाप-अनिर्थाद-अथ० । अकुटल्यापार्थेयर्थे, भ०  
७ उ० ७ उ० ।

अणिजाप-अनिर्थापणात्मिका-ली० । वाचनासंपद-  
नेदः, उक्त० १ अ० ।

अणिकुड-अनियद-ली० । मदनो मय्यात् सुखाद्येकोपाय

सङ्केपनिमित्तमनुप्रदप्रयुक्तमनुप्रदुते, ज० १ श० ६ उ० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । इत्येते स्मेति प्रयोजनवशात् इष्टम्,  
न इष्टमित्यम् । भ० १ श० ५ उ० । " इष्टयानुष्टयासंरुष्टे " ॥ ८

। २ । ३४ ॥ इति सूत्रेण इष्टयः च । प्रा० । मनस इच्छामात्मिका-  
न्ते, जी० १ प्रति० । उपा० । स्या० । अ० । अवाभिते, न० १४

श० ३३ उ० । सताममभिलषण्ये, "सदाश्वित्यसाहण-धन  
संरक्षणापरायणमणिचं " आ० ४ अ० । " अणिच, अकंता,  
अपिया, अमसुखा, अमलासा, एते एकायाः । विषा० १ श्रु० १

अ० । " अणिच नचति यान्ति त्वुत्थिनीया " अनिष्टा जमस्य-  
ति गम्यते । प्रश्न० ३ आ० ३ इ० । इष्टस्य सुखादेर्विरादिनि  
प्रतिकूलवेदनीये दुःखः, तस्याधने पापे, विषादे, अपकारे च ।  
। नागसलायाम्, ली० । यज-क्त । न० त० । अकृतयागे देवा-  
दी, याच० । स्या० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । अतिशयेन कमनीये, जी० ३  
प्रति० । विषा० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । अशुभे कर्मणि, उपा० २ अ० ।  
अनभिमतफलं दुर्गतिप्रयोजने, पञ्चा० ११ विव० । अनभिमत-  
प्रयोजनेऽनर्थक्ये, पञ्चा० ३ विव० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । आकाशवाचि, " अणिकुडव-  
यदि सप्यमाणा " प्रश्न० ३ आ० ३ इ० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । अस्वमापिते, " अणिचायि-  
सन्धकारसंज्ञक्ये " अनिष्टापिताऽस्वमापिता सर्वकालं सदा  
संस्थाप्यता नत्स्यकरणं यस्य तत्तथा । भ० १ श० ३३ उ० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । प्रयोजनवशाद्वाच्छादयिष्ये,  
स्या० ८ प्रा० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । अहतास्वादे, " स  
च सर्वसक्त्याऽनुष्ठानेषु यथाशक्तयोत्तमं कर्ताति " दश० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । प्रस्तारगमनवत्काश्चर्यरहिते, ग० १  
अथि० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । सुखस्येष्मणाऽपरिच्छापके, प्रश्न० १  
सम्भ० ३० । सूत्र० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । आसर्वीषयदिसक्त्यामृत्कि-  
माते, न० । प्रश्न० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । अनुकृतिमाते, " उद्यमिहा अ-  
णिकुडिता मणुस्त्वा पञ्चत्ता । तं जहा-इ मनेना हिरवधन्तता  
हरिवसता रमगवसता कुकुर्वासिणो अंतर्दीवशा " स्या० ।  
६ प्रा० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । अनीश्वरप्रमाजिते, आ० म० ३ इ० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । न० त० । अनवलपते, ग० १ अथि० ।  
ध० । व्य० । दश० । ( निह्वयवन्दे वदयमाणेन ) निह्वयत्वेन र-  
हिते, श्रु० १ उ० ।

अणिकुड-अनिकुड-ली० । निह्वयनमपलपनम्, न निह्व-  
यनमनिह्वयनम् । यतोऽर्थात् तस्याऽनपलोपे, एव हानात्वा-  
रस्य पञ्चा० म विषयः । यतोऽनिह्वयनेन पात्रादिमुखादेर्विधिः, न  
पुनर्मोनादिवशाद्दाम्भेन साधवाद्याहुष्या अतुत्तुकां अतुत्तस्य  
वाऽप्रापयेति । प्रश्न० ६ प्रा० । य० । द० । ग० ।



शिणहृदयं अवलाबो,  
कस्म सगामे अधिनमम चरगुम्गा ।  
यद्भावित विच्युरपरप,  
दाण तिर्दं ऽग्निहृदय ॥ १६ ॥

को वि साहू बिस्तुक्कस्वरपदार्थम दूमसादिप पढेनो परक्यते  
अग्निं साहूया पुच्छिओ-कस्म सगामे अदीय १, सागारहि-  
गाराणं संधिपपभ्रांगेण आमारो लम्भानि, ततो अहीते भवति;  
तेण य जस्स सगामे सािक्खयं सो पुण सुकृतकस्सदांसकते-  
सु पवीणो, ज्जच्चादिसु वा हीणतरो अतो तेण लज्जानि । अग्मं  
जुमप्यहाणे कहय सि तगारणगाराणं संधिपपभ्रांगो लम्भानि,  
तेण अक्षिभित्ति भवति । एवं शिणहृदयं भवति । इत्थं से प-  
च्छिओ य गग्धि कलाणं उयादरणं ॥ नि० चू० १ उ० ।  
सुहीतभ्रुनानिह्वयः कार्यः । यद्यस्य सकारोऽर्थात् तत्र स एव  
कथनीयो नान्यः, चित्तकालुष्यापत्तेरिति ।

अत्र ऋतः—

परस्स एहाबियस्स खुम भेदविज्जासाभयेण आगामे अच्च-  
त्ति । तं च एगो परिष्वायगो बद्धुहि उवसेपज्जसाहि उवसेप-  
ज्जसण, तेण सा विज्जा ब्रह्मा, ताहे अन्नयं गंतुं तिदरेण-  
गासल्लण महाजणेण पुञ्जजति सि । यथा य पुच्छिओ-भगवो !  
किं मे स विज्जानिससो उय तवानिससो ? सो भणति-वि-  
ज्जानिससो । कस्स सयासामो गहिओ ? सो भणति-हिमसे-  
ज्जाहायरस्स रिस्सिणो सयासं अथिज्जसो । एवं तु बुत्तं समा-  
णे सत्तिंसे सवुत्तयाए तं तिदरें खम्मि पदिने । एवं जो अण्णा-  
गमं आयरियं निणसहेउण अग्मं कहाते, तस्स चित्तसंकिंसे-  
सदंसिणं सा विज्जा परलोपणं इयाति सि, अग्निहृदयण सि  
गतं । दृश० ३ अ० ।

अग्निहृदयमाण-अनिह्वान-त्रि० । अत्रपदपति, हा० १  
श्रु० १ अ० ।

अग्निर्त्य-अनित्य-त्रि० । अग्रच्युताऽनुपुन्रस्थैरेकस्वभावा-  
त्तया कूटस्थानियत्वेनाऽप्यवस्थिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अग्निर्त्यथ-अनित्यस्थ-त्रि० । अग्नं प्रकारमापन्नमिथः, स्थ  
तिष्ठतीति इत्यंस्थम, त इत्थं स्थमामिथंस्थवा । केनाच्चिह्नो (किकेन  
प्रकारांस्थिते, अ० । आच० । प० १०० । परिमरुद्रादिमंस्थान-  
रहितं, अ० २५ श्रु० १२ उ० । अनित्यताकारं, जी० १ प्रि० ० ।

अग्निर्त्यथपंजाणसंतिप-अनित्यंस्थमंस्थानसंस्थित-त्रि० ।  
इत्थं तिष्ठतीति इत्यंस्थम, त इत्थंस्थमनित्यंस्थम, अनित्यता-  
कारमित्यर्थः । तच्च तत्संस्थानम, तेन संस्थानेन अनित्यत-  
संस्थानसंस्थिते, जी० १ प्रि० ० ।

अग्निर्त्यथपंजाणा-अनित्यंस्थमंस्थाना-स्त्री० । अग्निर्त्यथं  
संस्थानं यस्या अकवणयाः सत्तायाः सा । अनित्यताकार्यायां  
सत्तायाम्, पं० सू० ५ सू० ।

आण्दा ( या )-अनिदा-स्त्री० । निदामं निदा, न निदाऽनिदा,  
प्राणिर्हिंसा नगदादिदुःखहेतुरिति परिज्ञानविकलेन सता क्रि-  
यामाए प्राणिविहले, स्वपुत्रादिमये वा विभागोनाऽवि-  
विच्य सामान्येन विधीयमानं, अज्ञानतो वा व्यापाद्यस्य स-  
स्वस्य व्यापादने च । “जाणं तु अजाणंते, तहेव उहिसिय उ  
बह्वो वा वि । जण्णम अजाणं या, वहेद अणिया निया

पसा” पि० । अग्निर्द्वारणायां, “पुढविकारया स्वधे, अस्-  
सिभूया अग्निदाए वेयणं वेदंति” अ० १ श० २ उ० । चित्त-  
विकलायां स्वयन्निधेकधिकलायाम्, पञ्चा० ३ अ० । अना-  
भोगवत्यां हिंसायाम्, अ० १६ श० ५ उ० ।

अग्निदा ( या ) ण-अनिदान-त्रि० । नाऽस्य स्वर्गावाप्या-  
निदानमस्तीत्यनिदानम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । न  
विद्यते निदानमस्येत्यनिदानः, निराकाङ्क्ष अशेषमंक्षयार्थिनि,  
सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । निदानरहितं, हा० ५ हा० । निदानव-  
जितं, आनु० । प्रार्थनारहितं, अ० २ श० १ उ० । पञ्चा० ।  
आचा० । भाविकलाशंसारहितं, “ अग्नियाणे अकोउहले य  
ज स भिक्खु” दृश० १० अ० । पञ्चा० । प्रअ० । ध० । स्व-  
र्गावाप्यादिलक्षणनिदानरहितं, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।  
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यथासाधारि-  
दानः । सावधानुष्ठानरहितं अनाश्रयं, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।  
भोगार्थप्रार्थनास्वभावामाभ्यायाम् । तद्दृष्टजितं निदानेऽप्ये,  
स्वा० ३ हा० २ उ० ।

अग्निदा ( या ) एच्य-अनिदानजन्-त्रि० । सावधानु-  
ष्ठानरहितेनाश्रयभूते कर्मापादानरहिते अनिदानकल्पे ज्ञा-  
नार्ता, सूत्र० ।

अप्यभिप्राजिक्खु समाहितपसे अग्नियाणवृते सुपरिव्वज्जा  
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यथासाधारिनिदानः ।  
न गयन्नतः सावधानुष्ठानरहितः परि समन्तात्सयमानुष्ठानं  
व्रजेच्छेदिति । यदि वा अनिदानततोऽनाश्रवन्नतः कर्मापादान-  
रहितः सूष्टु परिब्रजन्तु सुपरिब्रजन्तु । यदि वा-अनिदानतनाभे-  
निदानकल्पयानि ज्ञानार्थानि तेषु परिब्रजन्तु । अथवा-निदानं  
हेतुः कारणं दुःखस्यातोऽनिदानतनाः कस्यचिद् दुःखसमु-  
पादनं न्येधमे पराक्रमेदिति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अग्निदा ( या ) ण्या-अनिदानता-स्त्री० । निदायते न्ययन  
ज्ञानाद्याराधना लना आनन्दरसोपेतोमाक्षफला येन परब्रह्मण्य  
देवैन्द्रादिगुणधिप्राथनाऽप्यवसानेन तदनिदानमनिदानं तद्यस्य  
सोऽनिदानः, तद्वाच्यस्तत्ता । निरुक्तकतायाम्, एतस्याश्च फलमा-  
नमित्यद्भुतमन्त्रयव कर्मप्रकरणम् । स्था० १० हा० । निदान भो-  
गकिं प्राथेनास्वभावामाभ्यायान्, तद्दृष्टिनाऽनिदानता । जोग-  
दिप्राथेनायाम्, एतस्याः फले ससाध्यानिव्रजन्नम । स्था० ३  
हा० १ उ० । “ सव्यथ भगवया अग्निदाता पसन्था”  
स्था० ६ हा० ।

अग्निदिद्व-अनिदिष्टि-त्रि० । प्रागकृतानिर्देशं, नि० चू० १ उ० ।

अग्निदेम-अनिर्देश-पुं० । अग्रमाणं, उक्तं १ अ० ।

अनिर्देशय-त्रि० । केनाऽपि शब्देनाऽभिप्रायं, वि० ० ।

अग्निदेमकर-अनिर्देशकर-पुं० । अग्रमाणकत्वेन, “ आणाणि-  
देसकरं, गुणपुत्रायकारणं” उक्तं १ अ० ।

अग्निप्याण-अग्निप्यञ्च-त्रि० । अतीतकारं निष्पत्तिरहितं, औ० ।

अग्निमनेमाण-अग्निमन्त्रय-त्रि० । निमन्त्रणमदम्पति, आचा०  
२ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अग्निमा-अग्निगन्-पुं० । परमाग्युरूपनायत्तिकरूपे सिद्धिभेदे,  
हा० २६ हा० ।

अण्विमिस-अण्विमिष-पुं० । न० ब० । मत्स्ये, "बहु अट्टिषं पो-  
मङ्गं, अण्विमिसं बहुकटयं" दशा० १ अ० । निष्कसनयने,  
आव० ५ अ० ।

अण्विमिसण्वण्य-अण्विमिषण्यन-पुं० । न विद्यते निमेषो येषां  
नामि अण्विमेषाणि, अण्विमेषाणि नयनामि येषां तेषामिमेधनयनाः ।  
वेषेषु, " अमि शानमसुदात्ता, अण्विमिसण्यसा य नीरजसरी-  
रा । अवरंगुहणे जृमि, न द्विर्वति सुरा त्रिषो कइइ" द्य० १  
उ० । आ० म० छि० । निर्निमेषलोचने, पञ्चम० ११ पृथ० ।

अण्विय-अनीक-न० । सैन्ये, कण्व० ।

द्वेष-द्राणां सानीका अनीकाधिपतयः—

चपरम णं असुरिंदस्स असुरकुमाररसो मत्त अण्विया,  
सत्त अण्वियाद्विर्वई पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए, पीढा-  
णिए, कुंजराणिए, महिमाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गं-  
धंवाणिए, दुम पायत्ताणियाद्विर्वई । एवं जहा पंचद्वाणे  
जाव किअरे रहाणियाद्विर्वई रिद्धे नट्टाणियाद्विर्वई गीय-  
र्वई गंधंवाणियाद्विर्वई । वरिस्स णं वड्डीयाणिंदस्स वड्डी-  
यणत्तां मत्त अण्विया, सत्त अण्वियाद्विर्वई पणत्ता । तं  
जहा-पायत्ताणियं जाव गंधंवाणियं । मद्दुमे पायत्ताणि-  
याद्विर्वई जाव किंपुरिसे रहाणियाद्विर्वई मह्हाणिंठे णट्टा-  
णियाद्विर्वई गीयत्तेस गंधंवाणियाद्विर्वई । धरणस्स णं  
नागकुमरिंदस्स नागकुमारत्तां मत्त अण्विया, सत्त अण्वि-  
याद्विर्वई पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधंवाणिए ।  
रुदमेणे पायत्ताणियाद्विर्वई जाव आण्णे रहाणियाद्विर्वई  
णट्टेने णट्टाणियाद्विर्वई तेतले गंधंवाणियाद्विर्वई । ज्ञयाणं-  
दस्स सत्त अण्विया, सत्त अण्वियाद्विर्वई पणत्ता । तं जहा-  
पायत्ताणिए जाव गंधंवाणिए दक्खं पायत्ताणियाद्वि-  
र्वई जाव णत्तंरं रहाणियाद्विर्वई रई णट्टाणियाद्विर्वई मा-  
ण्णे गंधंवाणियाद्विर्वई । एवं जाव त्रोसमहायोसाणं णे-  
यव्वं । मक्कन् णं देविंदस्स देवरत्तां सत्त अण्विया, सत्त  
अण्वियाद्विर्वई पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधं-  
वाणिए र हण्णिणमिंसे । पायत्ताणियाद्विर्वई जाव मादरे  
रहाणियाद्विर्वई सेए णट्टाणियाद्विर्वई तुंवरुं गंधंवाणिया-  
द्विर्वई । ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरत्तां सत्त अण्विया, सत्त  
अण्वियाद्विर्वई पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधंवा-  
णिए लहुपक्कमे पायत्ताणियाद्विर्वई जाव महासेए णट्टा-  
णियाद्विर्वई णाए गंधंवाणियाद्विर्वई । सेमं जहा-पंच-  
द्वाणे एवं जाव अक्खुअस्सेमिं नयव्वं । द्या० १ अ० ।

अनृत-न० । वितथे, मिथ्यावितथममृतमित्तं पर्यायाः । द्या०  
१० डा० । आ० म० छि० । विशेषेण । आ० ब० ।

अण्वियट्ट-अण्वियत्त-पुं० । मोक्षे, आ० ब० । १ अ० । उ० ।

अण्वियट्टामिन्-अण्वित्तैगामिन्-पुं० । अनियतो मोक्षत्तर

गन्तुं शीलं यस्य स तथा । निर्वाणयाधिमि, आ० ब० । १  
शु० ५ अ० ३ उ० ।

अण्वियट्टि ( ण )-अण्वियत्तिन्-न० । न निवर्त्तते न व्यायसते  
इत्येवंशीलमनिवर्त्तते । प्रवर्षेमानतरपरिणामादभ्यावर्षमशीलं,  
" सुदुमकिटिए अण्वियट्टी" इति शुक्लप्यायस्य सृतीये भेदे,  
स्था० ४ डा० १ उ० । अशीलिनं महाप्रभे, अ० प्र० २  
पाठु० । आगमिष्यन्त्यामुस्तपिरयां न विचर्यात् विशतित्तमं  
तथिकरे, स० ।

अण्वियट्टिकरण-अण्वियत्तिकरण-न० । निवर्त्तनशीलं निवर्त्तितं,  
न निवर्त्तितं अण्वियत्तितं, आस्य्यदर्शनेनाभ्यां निवर्त्तत इत्यर्थः ।  
न निवर्त्तते नापि त्तो ज्ञानतत्त्वार्थजकल्पं सत्यकृत्वमनासाद्येव  
शीलमनिवर्त्तितं । पञ्चम० ३ विव० । अण्वियत्तिकरणमित्यन्त्यं  
नातिवर्त्तन्ते परिणामा अस्मिन्नित्यनिवृत्तिकरणम् । आ० ब० ।  
१ अ० ६ अ० ३ उ० । तच्च तत्करणं च अण्वियत्तिकरणं सत्यकृत्वा-  
द्यनुगुणे विशुद्धतत्त्वाव्यवसायकपे भव्यानां करणभेदे, "अण्वि-  
यट्टीकरणं पुण, सम्मसपुरकखडे जीव" आ० म० छि० ।

अण्वियट्टिवापर-अण्वियत्तिवापर-पुं० । न विद्यते अन्योऽन्य-  
मध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्न्यस्यासावनिवृत्तिः । स चासीं  
बादरश्चेति । कर्म० २ कर्म । नवमगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे,  
स च कथायादृकसंपर्गाभ्यां पुंसकविदांपराशमे यावद् भ-  
वति निवृत्तिवापरसमायुद्धं लोभमद्वेगद्वन्द्वनां यावदनिवृत्ति-  
वापरः । आ० ब० ३ अ० । अवाताणियादिभवे, पं० ब० । डा० ।

अण्वियट्टिवापरसंपरायगुणद्वय-अण्वियत्तिवापरसंपरायगुण-  
स्थान-न० । नवमगुणस्थाने, व्याख्या चैव-पुणपदेतद्गुणस्था-  
नकं प्रतिपन्नानां बहुनामपि जीवानामन्योन्यमध्यवसायस्थान-  
स्य व्यावृत्तिर्नस्यस्यति अनियुक्तिः, समकालमेतद्गुणस्थान-  
कमादृकस्थापरेषु यद्व्यवसायस्थानं विवाहितोऽन्योऽपि क-  
श्चित्तद्व्येवैत्यर्थः । संपरंति पर्यटति संस्वार्मनेनेति संपरायः क-  
पायोदयः वादरः सुदमकिट्टिकृतसंपरायपिकया स्फुल्लसंपरायो  
यस्य स बादरसंपरायः । अण्वियत्तिश्चासीं बादरसंपरायश्च त-  
स्य गुणस्थानमनिवृत्तिवापरसंपरायगुणस्थानम् । इदमप्यन्त-  
मुह्येत्प्रमाणमेव । तत्र चान्तमुह्येत् यावन्तः सप्रयास्तप्रविष्टा-  
नां तावन्त्यन्ताव्यवसायस्थानानि जयन्ति । एकसमयप्रविष्टाना-  
मेकस्येवाव्यवसायस्थानस्यानुवर्त्तनादिति स्थापना०००० प्रथ-  
मसमयादराय प्रतिसमयमननगुणविशुद्धं यथोत्तरमध्यव-  
सायस्थानं भवतीति वेदितव्यम् । स चानिबृत्तिवादर्श द्विधा-  
कृपक उपशमकश्च । कृपयति उपशमयति वा मोहनंवादि क-  
मेति वा कृत्वा । कर्म० २ कर्म । प्रव० । आ० ब० ।

अण्वियत्त-अननन-पुं० । विविचयत्वाद्यापित्वात्विक्तं नमना  
निवासिनो जना वेत्यस्तंऽनमनाः । संहाशब्दो यादयमिति । वि-  
शिष्टपक्षरायिषु कल्पमन्त्रेण, द्या० १ अ० । प्रव० । आ० ब० ।

अण्वियत्त ( य )-अण्वियत्त-त्रि० । अण्वियत्त-सुत्र० १ अ० १  
अ० । उत्त० । अण्वियत्ते, अष्ट० ८ अष्ट० । अनेकस्वरूपे, दशा०  
१० अ० । न० । अण्वियत्तानि अण्वियत्तानि, प्रथम० १ अ० ४ डा० ।  
अ० । अश्वत्थेमाद्वुद्वयाप्रापिते आमपुंसोश्चरस्वजावकमा-  
दिकृतं सुखादिकं, " निथयानियं संने, अयागंता अक्रुडिया" ।  
सुत्र० १ अ० १ अ० २ उ० । "अशाभतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि

केह च । देवास्तुमनुष्याणां-सूत्रयश्च सुखानि च ।" सूत्र० १  
 सु० ८ अ० । इयं शरीरमनियते सुकपादेरापि कुरुपादिदशानाद् इ-  
 रितिलकराजसुताविक्रमकुमारशरीरवत् । तं० । "अपिषया  
 बासां" अनियतो बासां नानादेशांप्रक्रमणम् । इयं १ उ० ।  
 अपिषत् ( य ) चारिष्-अनियतचारि-पुं० । अनियतमप्रतिषधं  
 परिहृद्दयोगाच्चरितुं शीलमस्यासायनयतचारिः । अमप्रतिषध-  
 विद्वारिषि, सुत्र० १ सु० ६ अ० ।  
 अपिषत् ( य ) प्य ( ण् )-अनियतात्मन-पुं० । असंयते,  
 अनिश्चितस्वरूपे च । अष्ट० ८ अष्ट० ।  
 अपिषत् ( य ) वृष्टि-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतविहारे,  
 उच्य० १ अ० ।  
 अपिषत् ( य ) वाम-अनियतवास-पुं० । मासकलादिना-  
 ऽनिकेनवासे दृष्टे, उद्यानादीं वासे. दश० २ खृत्ति० । "अपिष-  
 यां वासां शिष्यायवाहाराः" अस्य दृष्टान्तसूत्रायेस्य शिष्य-  
 स्थानियतो वासः क्रियते । ग्रामनगरसंश्लेषशादिष्वनियतवासे-  
 न । विशे० । देशदशाने कार्यते ततः स आचार्यपदे स्थाप्यते ।  
 इ० १ उ० ।  
 अपिषत् ( य ) विंचि-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतचारिणि  
 अनियतविहारे, स्था० ८ ग० । व्यं० । अनियताऽनिक्रिता वृ-  
 त्तिसंश्लेषण विहारां वा यस्य सोऽनियतवृत्तिः । "गामे परगरे  
 नगरं पंच राठं" इत्यादिप्रकारेण । दशा० ४ अ० ।  
 अपिषत्-अनिवृत्त-त्रि० । अनिवृत्ते, उच्य० १ अ० ।  
 अपिषत्काम-अनिवृत्तकाम-त्रि० । अनुपरतेच्छे, उच्य० १ अ० ।  
 अपिषाहावृह-अनीकाधिपति-पुं० । ६ तं० । गजादिस्वप्नप्र-  
 धाने पेरारवातौ, स्था० ३ ग० । ३० । १० । (यस्य वाचन्य-  
 नोक्तानि अनीकाधिपतयश्च ते सर्वे "अपिष" शब्दे उक्ताः) ।  
 अपिषिक्त्व-अनिर्दिश्य-अर्थ० । चक्षुषाऽङ्गायत्यर्थे, आ० ।  
 अपिषरुद्ध-अनिरुद्ध-त्रि० । कांचद्व्यस्सालिते, सुत्र० १ सु० १२  
 अ० । कृष्णवासुदेवपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य वैदर्न्यामुत्पत्ते पुत्रे, स च  
 अरिष्टनेमरात्मिक प्रद्युम्न इत्युच्यते सिद्धः । अतः ०४ अ० । प्रअ० ।  
 अपिषरुद्धप्रण-अनिरुद्धप्रण-त्रि० । अनिरुद्धा कचिद्व्यस्स-  
 क्षिता प्रण, प्रहायतेऽनेथेति प्रणा ज्ञानं, येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्ध-  
 प्रणः । कचिद्व्यस्सक्षितज्ञानेषु तीर्थकृताः, सुत्र० १ सु० १२ अ० ।  
 अपिष-अनिष-पुं० । बायी, प्रअ० १ आ० ४ अ० । कर्म० ।  
 दश० । आच० । एकान्वितो भारततीरताजने, चाविश-  
 क्षिप्तस्य प्रवर्तिभ्यां च । स्त्री० । प्रअ० ४ अ० । ति० ।  
 अपिषाम् ( ष् )-अनिषामपिन-त्रि० । चतरोगाणि,  
 इ० २ उ० ।  
 अपिष-देशी-प्रजाते, वे० ना० १ अ० ।  
 अपिषक्षिप-अनिर्झाक्षित-त्रि० । अघार्थकते अक्षयधीकृते,  
 म० ८ श० ५ उ० ।  
 अपिषाविष-अनिषारित-त्रि० । निषेधकरहिते, पिपा० १  
 सु० २ अ० ।  
 अपिषारिया-अनिवारिका-स्त्री० । वास्ति निवारको भ्रैष  
 कार्पात्तरिष्यं निषेधको यस्याः साऽनिवारिका । प्रतिषेधकर-  
 हितायाम्, आ० १ सु० १६ अ० ।

अशिषवत्-अनिवृत्त-त्रि० । न० तं० । कर्वाण्यनुप्राप्तते, "अ-  
 णिवत्ते घातयुषेति बासे" सूत्र० १ सु० ४ अ० २ उ० । अप-  
 रियते, दश० १ अ० ।  
 अपिषाणमादि-अनिर्वाणमादि-त्रि० । अनिवृत्तयर्थदान्यर्थी-  
 सिद्धिप्रभृतिषु दोषेषु, पञ्चा० ७ विष० ।  
 अपिषवाणि-अनिर्वाणि-पुं० । अस्तुते, व्य० १ उ० ।  
 अपिष्वुद्-अनिर्दृति-स्त्री० । पीडायाम्, आ० म० इ० ।  
 अपिष्वुद्-अनिर्दृत्त-त्रि० । अपरियते, दश० ३ अ० ।  
 अपिष्वेय-अनिर्दं-पुं० । उद्योगादनुपरम्, दश० ३ अ० ।  
 ( तद्विषया अर्थकदा 'अर्थकदा' शब्देऽत्रैव भागे वक्ष्यते )  
 अपिषिद्ध-अनिष्ट-त्रि० । न निष्टुं सर्वैः स्थाभिः साधु-  
 दानायमनुकृते यत् तदनिष्टम् । पि० । एकैव दीप्तमान  
 बहुसाधारणं, "अपिषिद्धं सामकं गौडियभत्तारं देव परमम्" ।  
 प्रअ० ४ अ० पञ्चा० । दशा० । स्त्री० । अनिष्टं स्था-  
 मिनाऽनुसंस्कृतं निष्प्रक्रमेवाप्यतः समानीतम् । आचा० २  
 सु० १ अ० १ उ० । यदा द्विषाणां पुरुषाणां साधारणं आहारं  
 एकोऽन्यानानपृच्छय साधयेद् ददाति तदा पञ्चदशोऽनिष्टो  
 दोष उद्गमस्य । उच्य० २ अ० ।  
 अधानिष्टप्रामाह-  
 अपिषिद्धं परिभुद्धं, ऽणुआयं कल्प सुविद्विषाणं ।  
 लक्ष्मि चोन्नम जते, संखदि खीराऽऽवगाऽणुम् ॥  
 निष्प्रमुक्तमनुज्ञानं, त्विरीतमनिष्प्रमननुज्ञानमिच्छतेः तत्प्र-  
 तिकुष्ट निराकृतं तीर्थकरणधैर्यनुकृतं पुनः कल्पते सुविहि-  
 तानाम् । तच्चानिष्टप्रमेधा । तद्यथा-लक्ष्मीविषय मोक्षार्था-  
 धयं, तथा शुद्धकर्मिभोजनविषयम् । ( यत् इति ) कांक्षकादि-  
 प्राणकविषयं, तथा सम्भविषयं विवाहादिविषयं, तथा क्री-  
 रविषयं दुष्प्रविषयं, तथा आपणानादिविषयम् । आदिशास्त्र-  
 गृहादिविषयमवनेयम् । इयमत्र भावना-इदं सामान्यनानि-  
 लुष्टं द्विधा । तद्यथा-साधारणानिष्टं, भोजनानिष्टं च । तत्र  
 नोक्तानिष्टं शुद्धकर्मणोक्तम्, साधारणानिष्टं तु श-  
 यमन्देरिति ।  
 तत्र मोक्षकविषये साधारणानिष्टोदाहरणं गाथाचतुष्टयेनो-  
 पदेश्यमिति-  
 वचीसा मायने, ते कहि एहावं गय ति इइ बुषड ।  
 परसत्सिण पुन्नं, न तरसि काठं ति पचडाऽऽइ ॥  
 अवि य हु वचीसाए,दिन्ने हि तवेगो भोग्यो न भवे ।  
 अप्यवयं बहुआयं, जइ जालसि देहि तो मज्जं ॥  
 दानिय वितो पुटो, किं लच्छं पेच्छं मांदाए ।  
 इयरो वि अठो नाई, देमि ति महोदवोरसं ॥  
 मेएइणकहएववह । रपच्छकडुहाइ तहय निक्खिसए ।  
 आयम्मि भवे दोमा, पहाम्मि दिन्ने नज गगहणं ॥  
 एतत्पुरे प्राणिमनुसमुक्ता द्व्यंशद्वयस्याः, ते कवाचिपुत्रायाना-  
 निमिषं साधारणान् मोक्षकारि कारितवन्तः । कारयित्वा च  
 समुदायेनोद्यापनिकायां गताः । तत्र चिको मोक्षकरको मुक्तः  
 शेषास्थेकार्पात्तरि नयां स्मृतं गताः । अत्रान्ये च कोऽपि लोत्तु-  
 पन्मापुमिकांशपातिष्ठत्, एहाअ नेम मोक्षकाः, ततो जातकाश्च-

स्यो धर्मं क्षान्तिपथात् तं पुरुषं मोक्षकाद् याञ्छितवान् । स प्राद-  
भगवत् । न ममैकाकिन्मांऽधीना एते मोक्षाः किन्त्वैतन्प्राप्तमप्ये-  
कमिश्रज्जनात्, ततः कथमहं प्रयच्छामि । एवमुक्तं साधुराह-  
ते ( कर्त्ति नि ) कुत्र गताः । स प्राह-नृणां स्नातुमिति । तत एव-  
मुक्ते दृष्टोऽपि साधुस्तं प्रत्याह-परस्वत्केन मोक्षकसमूहेन त्वं पु-  
ण्यं कर्तुं न शक्नोषिः, यद्येवं याञ्छितोऽपि न ददासि । महापुना-  
यमुदस्यै यः परस्वत्कानपि मोक्षकाद् महां दत्त्वा पुण्यं नोपा-  
जैयसि । अपि च-ह्राश्रिततमपि मोक्षकाद् यदि मे प्रयच्छसि  
तथापि न च प्रागे एक एव मोक्षा का याञ्चितः । एवमस्यव्ययं ब-  
ह्वायं दानं यदि ज्ञानासि सम्यग् हृदयेन तर्हि देहि मे सर्वान-  
पि मोक्षकानिति । एवमुक्ते दत्त्वास्तेन सर्वेऽपि मोक्षाः, भूतं  
साधुनाजन्म, ततः संज्ञानतःपुः साधुस्तस्मात् स्थानाद् विनि-  
र्गुप्तं प्रवृत्तः । अत्राने च सर्वे समागच्छन्ति स्म माणिभ्याद्यः ।  
पृच्छतः साधु-जगवत् । किञ्च नृणां लक्षणम् । ततः साधु-  
ना चिन्तितम्-यथा एते मोक्षकस्यामिनस्ततो यदि मोक्षका  
सन्धा इति वक्ष्ये तर्हि भूयोऽपि प्रहीत्यन्ति । तस्मान् किञ्च  
पि लक्षणमिति प्रचीमामि । तथैवाकवात् । ततस्त्वैमाणिभ्यः प्र-  
सूक्तं नृणां कानि साधुमन्त्रलक्षणं संजातवर्गैरेवमाणि-दृश्ये निज-  
प्राजने स्यात् । येन प्रकामे । साधुश्च न दृश्यति । ततो बलात्प्र-  
लोकितम् । इहा मोक्षाः । ततः कौपाकणज्ञोचैतः साधिलेपं रक्त-  
कपुरुषः पृष्ठः यथा किं भाः स्वयाऽस्मि सर्वेऽपि मोक्षा दत्त्वाः ।  
स तं नम कर्ममानोऽध्वत-न मया दत्ताः । एवं चोक्तं माणिभ-  
द्यादिनिः साधुक्त्वं-चौरस्य पापः साधुवेषाबिम्बक । सहाह-  
रानि इराशो प्राप्ताऽसि, कुनस्ते मोक्ष इति वृष्टीनो यस्माद्-  
हे कर्त्तितो बाहुना । ततः पश्चात् कुडिल इति वृष्टीत्वा मकल-  
मपि पात्रजोहरणादिकमुपकरणं वृष्टयैःकृतः, तत् उडुह इ-  
ति । नीनो राजकुलम्, कथितो धर्माधिकराणकानाम् । पृच्छतः तैः  
साधुश्च न किमापि लक्षणं वक्तुं शक्नुवति । ततः परिजातितम्-  
नूतमप चौर इति, परं साधुवेषधारीति कृत्वा प्राणैर्मुक्तो नि-  
विषयश्चाऽऽज्ञापितः । एवमप्रजायनाप्येकं दैतदि एतेऽनन्तरोका  
प्रहणकैर्णाद्यो बोधा भवन्ति । ( पठुमिच्छ ) तृतीयार्थं सप्तमी ।  
यथा-“ नित्यु अज्ञांकियपुड्वर्षे ” इत्यत्र । ततोऽप्यमर्थः-तस्मात्प्र-  
भुणा मायकेन दत्ते मति साधुना प्रहणं जकद्वैः कर्त्तव्यम् ; न-  
त्राप्याक्रेणादिकं सम्यक् परिहर्त्स्यमिति । उक्तं सादाहरणं  
मोक्षकद्वारम् ।

अधुना दोषावयोर्यो द्वाराण्यतिदेशेन व्याख्यानयति—  
एवमेव ज तंमि बि, संसोदि खीरआप्यासां सु ।  
सामनें पर्वकुडं, कपप ईषुं अणुआयं ।  
एवमेव मोक्षकोदाहरणप्रकारेण यन्नेऽपि संक्षयामपि कीरे  
च आपणादिषु च यत् सामान्यं साधारणं तत् स्वामीभिः  
सर्वैरप्यनिच्छेत्, तत् प्रतिकुष्टे तीर्थकरणाधरेः अदुहातय, पुनः  
सर्वैरप्यस्वामीभिः कल्पते प्रहीतुस्, तत्र दोषाभावात् ।  
संप्रति बुद्धकद्वारस्य प्रस्तावनां बुद्धकस्य भेदं च  
प्रतिपादयति-

बुद्ध नि दारमहुशा, बहुदत्तत्वं ति तं कयं पच्छ ।  
वर्षे गुरु सो पुण, साभिय हत्थाण विषेओ ॥  
अधुना बुद्धकद्वारं व्याख्येयम् । अद्योच्यते-नूतनाध्यायां द्वि-  
तीये स्थाने निर्दिष्टमात्रं कस्यात् अत्यवयवेषाणां पञ्चाशद्वारम् ।  
तत् आह-यद्बुधकस्यामिदं द्वारम्, अतः व्याख्यासेत्यावां कृत्वा-

तकम् । तत्र गुरुस्तीर्थकरादिष्वैष्यति प्रकथयति यथा स  
बुद्धको द्विधा । तद्यथा-स्वामिनो इति नमश्च ।  
तत्र प्रथमतः स्वाम्यनिर्दिष्टं बुद्धकमाह—

क्षिप्रमक्षिप्रो दुर्बो, होइ अत्रिभो निःसिद्ध अणिसिद्धो ।  
क्षिन्मिच्छु गामि य, कपप ईषुं निःसिद्धम् ॥  
इह द्विधा बुद्धकः । तद्यथा-क्षिप्रोऽक्षिप्रश्च । प्रथमं भावना-  
इह कौश्लि कौटुम्बिकः सत्रगतहालिकानां कस्यापि पाम्यं  
कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति । स यदा एकैकहालिकयोऽप्यं पृथक्  
पृथक् भोजनं कृत्वा प्रस्थापयति, तदा स बुद्धकौश्लिः, यदा तु  
सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थानां कृत्वा प्रथ-  
यति, तदा सोऽक्षिः । एवमन्यत्राप्युदापनिकादीं क्षिप्राऽक्षि-  
प्रत्वं बुद्धकस्य भावनीयम् । अत्रिभोऽपि द्विधा । तद्यथा-नि-  
च्छुऽनिच्छश्च । तत्र निच्छुः कौटुम्बिकेन यथा च हालिकानां  
योग्यः स बुद्धकलैश्च साधुभ्यो दानाय मुक्तलिः । इतरतु  
मुक्तलिः तऽनिच्छुः । तत्र यस्य निमित्तं क्षिः स एव यत्  
स्थानांयस्य क्षिःस्य दाता तर्हि तस्मिन् क्षिः बुद्धकः तत्स्वा-  
मिना दीयमाने साधूनां प्रहानुं कल्पते, दोषाभावात्, तद्यथा  
क्षिःऽपि सर्वैरपि तस्वामिभिरनुज्ञाते तं प्रहानुं कल्पते, त-  
त्रापि दोषाभावात् ।

एनमेवार्थं स्वधियेनमाह—  
क्षिप्रो दिष्टमदिदो, याप निःसिद्धो इ त्रिभो य ।  
सो कपप इयरो उ ण, अदिद्विदो अणुआओ ।  
यद्बुद्धको यस्य निमित्तं क्षिः स तेन दीयमानो मूलस्वा-  
मिना कुटुम्बिकेनाहो ह्यो वा कल्पते । तथा यथाक्षिः  
योऽपि च यस्य निमित्तं क्षिः स स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽप्येन  
दीयमानः स्वस्वामिभिरनुज्ञो ह्यो वा कल्पते ( इयरो उण  
त्ति ) इतर एतद्व्यतिरिक्तः, तुः पुनरर्थः । क्षिप्रोऽक्षिप्रो वा  
स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽह्यो ह्यो वा न कल्पते, प्राक्कमहणा-  
दिदोषसंभवात् । अयं च विधिः साधारणोऽऽनिच्छुऽपि  
वेदितव्यः ।

तथा चैतदेव गाथादैनं प्रतिपादयति—  
अणुसिद्धमाणुआयं, कपप ईषुं तहव अदिद्वि ।  
गजयस्स य अानिसिद्धं, न कपप ईषुं अदिदं ॥  
अनिच्छुऽपुं स्वस्वामिभिः सर्वैरनुज्ञातमपि यदि पश्चादनुज्ञा-  
तं जन्त तर्हि कल्पते तद् गहीतुं, तेषामनुज्ञातं सर्वैः स्वामिभि-  
रन्वय गतत्वादिना कारणेनाहमपि प्रहानुं कल्पते, तदोषाभा-  
वात् । संप्रति इति नमश्च बुद्धकानिच्छुऽपि गाथात्तराजेन ज्ञाययति-  
( गजयस्स त्ति ) इत्येतान् प्रकं ( मिपडेनानुज्ञातमपि राजा गजेन  
चाऽनिच्छुऽमज्ञातं न कल्पते, वक्ष्यामिणादिदोषसंभवात् । तथा-  
मिगजेन स्वस्वजन्यं भक्तं दीयमानं गजेनाहं कल्पते, यजहृ-  
प्रहणं तु वक्ष्याम्यां पाश्चात्तद्वा विदोषप्रसङ्गः ।

अस्यैव विधेरन्यथाकरणे दोषाभाह—  
निर्वर्षिणो गजजन्तं, गहणाईयंतरादुमदिर्षं ।  
सुं वस्त सतिप वि ट्ठ, अमिक्ख सहाईः फेणया ॥  
इह यद् गजस्य प्रकं तद् राज्ञः पिण्डो राज्ञो भक्तं ततो  
राज्ञा अमनुज्ञातस्य प्रहणे प्रहणाद्यो प्रहणाकर्षणाद्यो दोषा  
भवेयुः, तथा-अम्यरायिकम् अन्तरायिकमपि सर्वो साधोः  
प्रसजतः । राजा हि अर्थायाकान्तरैष्ये साधवे पिण्डं

बदातीति षडः सन् कदाचिद् विरजं स्वाधिकाराद् अरुणयति, ततो मिश्ररूपं वृष्टिच्छेदः साधुनिमित्तं इति साधोरात्तराण्यिकं कल्पते । तथा (अण्डिच्छेदं) अर्धआदान्दोषं, रागाऽनुजातत्वात् । तथा कुम्भरूपं मिश्रणेन स्वयं हीयमानेऽभीष्टं प्रति- विचलं यदि साधुस्तं विरजं गमस्य पश्यतो युष्मति, तदा मदी- यकव्यमवादानेन शुभेन विरजो युष्मते इत्येवं कदाचित् उच्यते सन् यथायोगं मार्गं परिब्रूयन् उपाख्ये साधुं इष्टुं तं सुखं प्र- साधये स्फोटितं साधुं च कथमपि प्राप्य मारयेत्, तस्मान्न गज- रूप्य पश्यतो मिश्ररूपायि सत्कं वृद्धीयात्, तदेवमुक्तमनिच्छद्वा- रयत् । पि० । प्रव० । आशा० । जीत० । पं० व० । 'अण्डिच्छेदं षड् भङ्गं' पं० वृ० । सु० । (अनिच्छेदं रजोहरणादि शब्धे- ष्वेव प्रथमं ) "अण्डिच्छेदं न कल्पति ब्रह्मण्येण" नि० वृ० १४ उ० । शुभ्यात्तरेणानुजातप्रथये, निच्छेदो नाम यस्य शुभ्या- तरेण प्रथेयोऽनुजातः, तद्विद्योऽनिच्छेदः । वृ० ३ उ० ।

अण्डिच्छेदः-अण्डिच्छेदः-पि० । अनुमते, कल्प० । सावधानु- ज्ञानानिच्छेत्, पञ्जा० १२ वि० ।

अण्डिच्छेदः-अण्डिच्छेदः-पि० । प्रकाशपातात्मकासोपदेशाद् वा निशीथमिति श्रुतभेदे, प्रा० म० ।

सांज्ञतमनिशीथनिशीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—  
ज्ञापापरिणयविमर्षं, सत्करणं तदेव मनिशीदं ।

पञ्चभं तु निशीदं, निशीदनामं जयउजयणं ।  
जुतमुजयणं, अपरिणयं नित्यं, विभक्तं विनदं, जुतापरिणतवि- नतम्, समाहारस्वादेकवचनम् । किमुक्तं भवति ? "उप्यखेदे वा विमर्शे वा बुधे वा" इत्यादि । किंविशिष्टम् ? "दास्यकरणं- शब्दः कियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । उक्तं च— "उक्तं स- हकरणं, पासासपातं च सत्किसेसोषा" स निशीथो भवति । इयमत्र भावना-चतुःपादाद्यथेप्रतिपादकः, तथा महताऽपि शब्धेन प्रतिपाद्यं, तत् प्रकाशपातात् प्रकाशोपदेशाद्वा निशीथ इति । आ० म० शि० ।

अण्डिच्छेदः-अनिश्रुतः-न० । सर्वगण्यसाधारणे केशे, "नि- स्सकदं जं गच्छं, संति अ मोक्षं अण्डिच्छेदः । सिद्धाययनं च इमं, वेदययनं विण्डिदं" ॥" ४० २ अण्डि० । ये रजो- हारादिविषयधारिणो मत्विद्युत्स्वास्त्रयो शास्त्राभ्यां संकल्पं निश्चाऽऽदौकान्यथ, वशिन्त्यादि, स्वयंप्रादिप्रक्रियात्रयं भवेत् अंके च । पि० ।

अण्डिस्तिस्त्रोवहाय-अनिश्रितोपाधित-पु० । निमित्तं रागः, उपाधितं द्वेषः । अथवा-निमित्तमाहागदिक्षिप्त्वा, उपाधितं शि- ष्यकुलारोपेक्षा, ननुवाञ्छितो यः सोऽनिश्रितोपाधितः । रागद्वेष- अनेन, आहारशिष्यकुलारोपेक्षाराहित्येन च मध्यस्थनायं गते, "साद्विभयानं आहगराणं सं उप्यखंसि तथ्य अण्डिस्तिस्त्रो- वहायस्यो षड् पञ्चभागाः" इत्या० उ० ।

अण्डिस्तिस्त्रोवहायस्य, सत्तं बवहरमाणे समणे णिगंये,  
आणाय आराहद् जवद् ।

अनिश्रितः सर्वांसांसारहितैक्याभितोऽङ्गीकृतोऽनिश्रितोपाधित- स्तम् । अथवा-निमित्तम् शिष्यावादिप्रतिपक्षं, उपाधितम् स यद् वैयर्थ्यकत्वरहितानां प्रत्यासत्तत्वेन । अथवा-निमित्तं रागः, उपाधितम् द्वेषः । अथवा-निमित्तमाहागदिक्षि- ८८ । उपाधितं च शिष्यप्रतीक्ष्यककुलारोपेक्षा, नेन स्तो यत्र

तत्तथेति कियविशेषणम् । सर्वथा प्रकृत्यात्पित्तकेन यथाचरि- त्यर्थः । इह युगव्याख्या—"रागो य होइ निस्सा, उचसिस्त्रो वोससंजुषो । अहव न आहारार्थे, दाही मज्जे तु पस निस्सा- भो ॥१॥ सो सौ पडिच्छद् वा, होइ उचसिस्त्रोवहाय च पि ।" भ० उ० म० उ० उ० ।

अण्डिस्तिस्त्रोवहाय-अनिश्रितोपाधित-न० । निमित्तमनिमित्तं कल्प्योपाधितम्-उपाधितकर्मव, आणोपाधितं तपः । आ० ४ ४० । आ० वृ० । शुभयोगसङ्गहाय परसाहाय्यान्नेके तपसि, स० ३२ स्व० । परिहृक्कटाऽन्येषत्तपःकारितायाम्, एष चतुर्थो योगसङ्गहः ।

इह परत्र च केन क्व इत्यत्रोवाहरसुभ-

"पादसिपुत्त महागिरि, अक्षसुहृन्धी अ सेति वसुधुर्ष ।  
चरं मिसि उज्जोपाय, जिणपडिना पलकचङ्गु व" ॥ १ ॥

शिष्यो द्वौ स्थूलजन्तव्य, महागिरिसुहृत्स्तिनी ।  
महागिरिमहासत्तो, गणं दत्त्वा सुहृत्स्तिनः ॥ १ ॥

जिनकल्पे व्यक्तचिन्ते-ऽप्यप्यसिं तस्य वसंते ।  
विहारेणान्यदाभ्याता, पादसिपुत्तपुत्रमम् ॥ २ ॥

तत्र श्रेष्ठो वसुहृतिः, सुहृत्स्तिप्रतिधाधितः ।  
भावकोऽप्युपाधितो-द्वोष्यन्तं स्वजना मम ॥ ३ ॥

ततः सुहृत्स्ती तं देवः गत्वा धर्ममुपाधितम् ।  
महागिरिस्तदा तत्रा-वासोऽजिष्णुःकृतोऽथ तान् ॥ ४ ॥

इदुत्तस्यो सुहृत्सोऽपि प्राय, वसुहृत्स्तिप्रथावधी ।  
गुरवो वोऽप्यमी तेऽथ, चक्षुस्तदुत्तुलसंस्तवम् ॥ ५ ॥

एवमाधेयं तेषां ते, प्रथायानुत्तमाऽप्युः ।  
वसुहृत्स्तिप्रतिधेयं, स्वजान्पुत्रिणावधी ॥ ६ ॥

तदेज्जका भवेत्तानि, वसुहृत्स्तिप्रथां महागिरिम् ।  
इदुत्ता मसुहृत्कामम्, महागिरिप्रथागतः ॥ ७ ॥

तद्बुद्धमिति ज्ञात्वा, वसिष्ठोऽपि सुहृत्स्तिनम् ।  
अन्युत्थानशुभाख्याने-रुच्युचिदिधे ल्पथा ॥ ८ ॥

अथ ह्रावपि वैदेशी, सगच्छी उमत्तुर्गुहम् ।  
तत्राजितप्रतिनिधिं, वसिष्ठः श्रीमहागिरिः ॥ ९ ॥

गजाप्रपद्बन्धु-रत्नकच्छुपुरे यथी ।  
तद्वरानुपुरं पृथे-मासीत् स्वस्तिमनुपासिका ॥ १० ॥

अके वैकालिकं नित्यं, प्रथायथाति स्म वाध सा ।  
उपाधिसत्यतिस्मस्ताः, सायं शुकरोऽपि किम् ? ॥ ११ ॥

निशयद्यात् सोऽपि लुक्पाऽऽद्, प्रथायथाव्यद्वदमप्यतः ।  
अकृत्वायि त्वं नयेत्युक्ते, न प्रकृत्यामीति सोऽवदत् ॥ १२ ॥

देवताऽविस्त्ययच्छासा-मसायुधदसत्यतः ।  
निशीथे स्वसुहृत्पाऽऽ-न्यागादात्राय साभनस ॥ १३ ॥

आद्विषयः पन्थोच, किमेतैवात्तज्जालकेः ।  
देवता तं प्रहृत्याय, हसोती च व्यापातवत् ॥ १४ ॥

मा नृममायशः आकाः, कायोऽसर्गोऽथ सा स्थिता ।  
देवता स्माद् तं आहाऽ-प्युपाधैव ममायशः ॥ १५ ॥

साऽधार्मीयात्रो सयो, मारितैरस्य चक्षुषी ।  
पङ्ककस्तनः स्यताः, स आकः प्रथायाद्बन्धु ॥ १६ ॥

लोकः समेति तं दृष्टु-मन्दकसं कुण्डहात् ।  
पदकां पुरमित्, तत्सासा तद्दत्त ततः ॥ १७ ॥

गजाप्रपद्गोपालः, शीसस्यैवमन्तु पुनः ।  
गवं दग्गानेनस्य, हर्तुं राजः समागतः ॥ १८ ॥

यजेन्काकड यथाव, निः प्रादक्षिण्यत् प्रहृष्टम् ।  
 ततो दशार्णकृदाश्च, तपद्वाभ्युत्थिताभ्ये ॥ १५ ॥  
 देवाभ्युत्थिताः क्वातोऽथ, यजेन्प्रपद् इत्यसौ ।  
 तस्मिन् महर्णगिरिर्नमं, प्रत्यक्त्वाव विदं वयौ ॥ २० ॥  
 सुहृदित्स्वयोऽपेयुञ्ज्युत्सर्जयिषी नुदीभ ।  
 सुभका यानराक्षसायां, विशालायां च ते स्थिताः ॥ २१ ॥  
 यकथा वसिनीगुम्फाभ्यचर्म पर्यवर्त्तयद् ।  
 सुनका नृस्तदाऽचन्तिस्तुक्कामांशो महर्षिकः ॥ २२ ॥  
 पत्नीह्राविशता सार्द्धं, सौधे ससतह्येऽस्रस्रत् ।  
 सुस्तुक्कः स तच्छ्रुत्वा, जातजातिस्त्वितिः क्वात् ॥ २३ ॥  
 अगत्याऽपेयत्वात्सिन्-स्तुक्कामांशोऽस्म्यहं प्रभो ! ।  
 आभूर्वं नक्षिणीशुभे, द्वेषः प्राक्पतमे भवे ॥ २४ ॥  
 कथं तद्विद्य यत् किं, यूपमप्यागतास्ततः ? ।  
 तयोऽप्यप्यनुनेद् ! तद्विज्ञो वयमागाम ॥ २५ ॥  
 हाकथं हजपते स्थमिन्नुत्सृष्टे मद् ! संवमाव ।  
 सोऽयक् न संवयं कर्तुं, चिदं शुकोऽस्मि किं पुनः ? ॥ २६ ॥  
 तदर्थी ज्ञतमादाय, करिष्यामीक्षिणीवृत्तित् ।  
 अयुक्त्वाऽनर्त्तनीं, नैक्त्वा-होचं सोऽयाकृत स्म्यहं ॥ २७ ॥  
 निष्कं गुह्येदी सोऽयावत्, ततः कम्पारिकावने ।  
 तदर्थी प्रतिमया तत्र, मरुतानेऽनशयी मुनिः ॥ २८ ॥  
 स्तुष्टुपादास्त्रमाश्वेना-कृष्टा तत्र शिवाऽभवात् ।  
 पतनाः सा शिवाऽजावत्, तदप्ययानि काव्यतः ॥ २९ ॥  
 प्रथमे प्रहरे जानुं, ऊरुस्तस्मिन् द्वितीयके ।  
 तृतीये जउरं तुर्वे, सूत्रा स्वानेऽङ्गनीपित्ते ॥ ३० ॥  
 गन्धाम्बुपुत्रवर्षाणि, तस्योपरि सुरा व्युत्थ ।  
 आषाढास्तज्जैः पूष्टास्तमिहगतितं जयुः ॥ ३१ ॥  
 सुनका सस्तुवा तत्र, वीह्वय सं कृतञ्जकरम् ।  
 प्रवमाज स्थितेका तु, सुषिषी तस्तुता ततः ॥ ३२ ॥  
 अवीकरदेवकुलं हसराणिऽद्भुतसुकृतिम् ।  
 तद्विदानीं महाकाशं, जातं शोकपरिग्रहात् ॥ ३३ ॥  
 आर्यमहागिरिणामभिहिते तपः आ० क० ।

आग्निस्त्वय-अग्निभित्त-त्रि० । निष्चयेनाऽऽविषयेन च भित्तो-  
 निभित्तः । न निश्चितोऽग्निभित्तः । कश्चिच्चरीरादावप्रतिषेधे, 'य-  
 न्य वि समन्तं आग्निस्त्वय अग्निभित्तं' सूत्र० १ सु० १ ६  
 अ० । 'अग्निहे सधकास्तसु, आरंजेसु कश्चिस्त्वय' आर-  
 ज्नेषु सावद्यानुष्ठानकषेधेननिश्चितोऽस्मत्करोऽप्रवृत्त इत्यर्थः ।  
 सूत्र० १ सु० ६ अ० । आचा०। कुलादिभ्यप्रतिषेधे, दशा० अ०  
 इह परलोकाऽऽस्ताभिप्रमुक्ते, " आच जीषाय अग्निस्त्वय-  
 ओ- हेव सयं पाणे अहनायउजा " पा०। व०। ज० । कथ्यमाव-  
 निभया रदिते प्रतिषेधविप्रमुक्ते, दशा० अ० १ उ० । कात्या-  
 यिनिरपेक्षे वैवाह्यायां, प्रश्न० १ स० ३ इ० ।  
 अक्षिजे अचप्रदे, " अग्निस्त्वयमोगेहृद् " निश्चितो लिङ्ग-  
 प्रसितोऽभिधीयते-यथा वृथिकाकुसुमानामन्वत्पत्नीतस्यु-  
 त्स्विभ्यात्रिक्रुपः प्राक् स्वशोऽनुभूतलेनाऽनुभागेन लिङ्गेन तं  
 विधियमपारंतिव्युत्सृत् यथा ज्ञानं प्रवर्तते तदाऽनिश्चितमसिङ्ग-  
 मचयुद्धातोऽभिधीयते । स्या० ६ डा० । अग्निभित्तं नाम पुस्त-  
 कादिनिर्दिष्टमेषावपुष्पाति च । अथचा-द्वयकारं भुतं पुन-  
 र्बन्दा कश्चिदनुच ददति तदैव वक्तुं समयो नाम्बन्दा । एवं  
 विधानं किमु स्मरन्निर्दिष्टेषु एव भवतीति । दशा० ४ अ० ।

निष्कारहिते, कस्याऽपि साहाय्यमवाप्त्युक्ति, उच० १५ अ०।  
 अग्निस्त्वयकर-अग्निभित्तकर-त्रि० । रागद्वेषपरिहारतो व-  
 थाऽचक्षितव्यवहारकारिषि, व्य० ३ उ० ।  
 अग्निस्त्वयप्य ( च् )-अग्निभित्तात्मन्-पुं० । अग्निदाने, "अ-  
 षिस्त्वयप्या अषदिबद्धा " आच० ६ अ० ।  
 अग्निस्त्वयपथा-अग्निभित्तवचन-त्रि० । रागादिना वाच्य-  
 कालुष्यवर्जिते, दशा० ४ अ० ।  
 अग्निस्त्वयवयपथा-अग्निभित्तवचनना-कौ०।निश्चितं क्रोष्ण-  
 र्दानाय, अथचा रागद्वेषाणां निराश्रयुपगतम् । न निश्चितमभि-  
 नितम् । व्य० ३ उ० । अथचव वचनतायाव, स्या० ८ डा०।  
 रागाद्यकलुषवचनतायाम्, उच० १ अ० ।  
 अग्निस्त्वयववहृदि ( च् )-अग्निभित्तव्यवहृदि-पुं०।नि-  
 श्चा रागः, निष्ठा संज्ञाता अस्त्विति निश्चितः । न निश्चितोऽ-  
 निश्चितः । स्या० ३ उ० । अथचवहृत्त्वाऽनिश्चितव्यवहृत्, तत्क-  
 रशरीला अग्निभित्तव्यवहारिषः । अरागेषु व्यवहारका-  
 रिषि, व्य० १ उ० ।  
 अग्निहृत्-अग्निहृत्-पुं० । निहम्यत इति निहः । न निहोऽनिहः ।  
 कोधादिभिरपीडिते, तपःसंयमसहने वा, निहृदितबलवीर्यं  
 च । "अग्निहे से पुते अहियासय" सूत्र० १ सु० २ अ० १ उ० ।  
 परीसहोपसर्गे, निहम्यत इति निहः । न निहोऽनिहः । उपस-  
 र्गिरपरजिते, सूत्र० १ सु० २ अ० २ उ० । " अग्निव संहिर  
 सुसंयुते, धम्मदो उवाहावर्षीरिण " सूत्र० १ सु० २ अ० २  
 उ० । निहम्यन्ते प्राणिनः संसारो यथा सा निहा माया । न  
 विघते सा वस्याऽसावनिहः । प्रायाप्रपञ्जरहिते, सूत्र० १ सु०  
 ८ अ० । दशा० । " अस्ति सुविधा अग्निहे अरेजा " सूत्र० २  
 सु० ६ अ० ।  
 अग्निहृत्-पुं० । निष्चयेन निहम्यत इति निहतः । न निहि-  
 तोऽनिहतः । भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिरनिहते, " अ-  
 षिहे दयमप्याक्षं संपेहाय बुषे सिरिरे " आचा० १ सु० ४  
 अ० ४ उ० । सर्वत्र ममत्वरहिते, सूत्र० १ सु० २ अ० २ उ० ।  
 अग्निहृत्-अग्निधन-त्रि० । अन्तरहिते, अह० ७ अ० ।  
 अग्निहृतय-अग्निहृतक-त्रि० । निष्पकमायुष्कत्वात् उरो  
 युद्धे च, शुभ्यामपातित्वाद् अतमप्रपिते, स० ।  
 अग्निहृदिरिउ-अग्निहृदिरिपु-पुं० । अहिसपुत्रकाल्पव्यनागशु-  
 धतेः सुलसत्तान्त्र्यां प्रायांयां जातोऽन्यतमे पुत्रे, तत्कथाऽन्त-  
 कृद्दशसु ३ वेगे ४ अथचयेन सुचितः । तत्रैव प्रथममथयनांकाऽ-  
 षीचसकुमारत्वेच साधनीया । यथा-ह्रागिनात् जग्याः ह्रागिना-  
 र्क एव दानव, विशातिवर्षाणि पथ्यांय, सतुरेशपुत्राणि भुतम्,  
 शशुज्यवे सिद्धिः, तत्त्वतस्त्रयं चतुर्दशदेवकोस्तुतः । अन्त०  
 ३ वेगो ४ अ० ।  
 अग्निहृत् ( य )-अग्निजुत-त्रि० । अनुपछान्ते, प्रश्न० ३ आ-  
 अ० डा० । कौ० । निहृदिनि, हृ० ३ उ० । " अग्निहृत्वा य  
 संज्ञाया " अग्निहृत्ताश्च संज्ञाया गुर्वादिनाऽपि निहृत्तवको-  
 कस्यादयः । पं० व० ४ डा०। प्रश्न० । हृ० ।  
 अग्निहृत् ( य ) परिणाम-अग्निजुतपरिणाम-त्रि० । अग्नि-  
 भृशोऽनुपचयत परिणामो येषां ते, अनुपचयपरिणामेषु,  
 प्रश्न० १ आश० डा० ।

अणिङ्कृतिविद्य-अनिङ्कृते निरुप-प्रि० । अनुपशान्ते निरुपेणु वे-  
हेषु, व० ल० । प्र० ५ । ल० ५ ।

अणींश्च-अनीतिपत्र-प्रि० । न विद्यते इतिगुरुकादिकवा  
येषु ताम्यनीतिनि । अनीतीनि पत्रायि येषां ते तथा । इतिवि-  
दहितच्छेषु, अ० १ । व० ० ।

अणीयस-अनीक-न० । इत्यभ्युपगच्छतिवृषभनसंकाशकपञ्चम-  
रुगे लभ्ये, औ० । न० ।

अणीयस-अणीयस-पुं० । अहिह्रपुरवास्तव्यनागपदपतेः सु-  
हसनामभ्यां भाषायां ज्ञातेऽन्यतमे पुंषे, अन्त० ।

एवं खलु अर्चु । तेषां कालेषु तेषां समेषां अहिलपुरे  
प्रायं प्रागेरु हेतुः । वक्ष्यते । तस्मिन् अहिलपुरस्स उचर-  
पुरच्छिन्नेषु दिशिमाए सिरिषणे खाम उज्जाणे हेतुः । व-  
क्ष्यते । जियसपू राधा, तस्य णं जहिल्लुरेण्यरे नागेनामं  
गाहाती हेतुः । अहं जाव अपरिचूए तस्स णं पागस्स  
गाहावत्तस्स सुलसा णामं भारिया हेतुः । सुडुमाला  
जाव सुख्वा, तस्स णं पागस्स गाहावत्तस्स सुलसाए  
नारियाए अत्तए अणीयस्स नामं कुमारं हेतुः । सुडुमाजे  
जाव सुख्वा पंच धातिपरिकल्पे । तं जहा-खीरधातं । जहा  
दृष्टपद्मे जाव [गिरिकंदरमंजु] एव चंपगवरपायवे सुईं सुईं  
एव परा इहे । तेषु णं से अणीयसं कुमारं ] सातिरेगा अ-  
ह्वासात्रायं अम्मा पिपरो कलायारियाओ जाव भोगस-  
मत्थे जाते यावि हेतुः । तेषु णं ते अणीयसं कुमारं उ-  
म्युक्कवालनावं जाणिया अम्मापिपरो सरिसयाणं जाव  
वत्तासाय रायवरकक्षयां एगदिदसेणं पाणी सिद्धाविति ।  
तते णं से नागे गाहावती अणीयस्स कुमारस्स इमे एया-  
रुत्ते पीइदाणं दलयति । तं अह्वा-वत्तासं हिरिष्कांदांता  
नदा महद्वस्स जाव उप्पि पासा फुरुं विहरति । तेषु  
काज्ञेण तेषु समेषां अरहा अरिद्धनमं जाव समोमदे सि-  
रीषणे उज्जाणे अरहा जाव विहरति, परिसा. ख. घ. ।  
तते णं तस्मिन् अणीयस्स कुमारस्स । तं जहा-गोयपा ।  
तहा खचरं सामाइयाइयाति चोइसपुव्वाइं अह्मिज्जति ।  
बीसं वासाणि परियाओ तेसं तद्देव । जाव सपुजए ददवए  
भाविवाति संदेहगाते जाव सिद्धि एव खलु जम्भ समणणं  
मगवया महावीरेणं जाव संपत्तयं ।

यथा ( वदपद्य लि ) हदप्रतिहो राजप्रकृते यथा ध्वित-  
स्तयाऽयं वर्णनीयो यावत् 'गिरिकंदरमंजु' एव चंपगवरपाय-  
वे सुईं सुईणे परिवह्ण, तस्य णं तस्योयसं कुमारं' इत्यादि सर्व-  
मन्युका वकथ्यम् ; अभिज्ञानमात्रकथायात् । पुस्तकस्य सारि-  
सियाणमित्यादी यावत्करणात् 'सरिसयाणं सरिसलाय-  
क' आख्यायुभाषकेषां सरिसिंहितो कुलेहितो अणुपल्लिया-  
मिति वदयम् । 'जहा-अहद्वस्सत्स लि' मगवत्याभित्तस्य तथा  
सस्यापि दानं तस्य वाच्यम् । ' उप्पि पासावरगए फुहमाणेहि  
सुइंगमच्छेपिं भोगमोगां तुंजमाणे विहरादि लि' 'सपुत्रयप-

व्यए मासियाए संदेहजाए सिद्धे एव वाक्चित्त सुगमम् । अ-  
न्त० ३ वगे ५ अ० ।

अणीसम-अनिमृष्ट-प्रि० । इत्सप्रमाणाव्यवसायस्फोटिते, वृ-  
३ उ० ।

अणीसाकट-अनिभ्राकुत-न० । सर्वगच्छाधारणे कैत्थे, व०  
२ अचि० ।

अणीइह-अनिद्रुत-प्रि० । अतिष्कासिते, वृ० १ उ० । अचरि-  
रिगिते, अनामीहृते च । आवा० १ वृ० १ अ० १ उ० ।

अणीहारिम-अनिहारिम-न० । गिरिकन्दावी विश्वंभामने पा-  
दोपगमनमरणे, कलेचरस्यानिर्हरणीयत्वात् तस्यम् । प्र० १ ३  
श० २ उ० । रथा० ।

अणु-अणु-प्रि० । प्रमाणतः स्तोके, प्र० ३ सव्य० ह्रा० ।  
पं० व० । आ० म० । अणु० सुषे लघौ, विशेषेण अणु० रथा० ।  
लघौयासि, आवा० १ अ० १ उ० । परमाणी, श्राव० ५ अ० ।  
अणुः परमाणुर्निर्देशो निरवयवेषु निष्पदेशोऽप्रवेश इति । विशेषेण  
अणु-अणु० । पञ्चाक्षरार्था, आवा० १ वृ० ५ अ० । यथा-  
उजाते, प्रि० रथा० १ उ० । अणुरूपे, उ० १ २ अ० । समीपे, वृ०  
३ उ० । अथधारणे, वृ० १ उ० ।

अणुअ-अणुक-प्रि० । तनुके, "अणुअसुकुमासलोमणिअणुअंवि"  
अणुकानां तनुकानामतिसुधमाणां सुकुमालानां लोम्नां स्निग्धा  
उवियत्र तस्यथा । अ० ३ व० । मित्रकथास्ये धान्यभेदे, इति हे-  
मचन्द्रायचुलिः । युगपद्यथा, की० । अ० २ अचि० । वृ० ।  
अणुअंत-अणुवत्मान-प्रि० । उच्यतेऽशक्यमागतं, जि०  
वृ० ३ उ० ।

अणुअल्ल-देशी-लघणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वगे ।

अणुआ-देशी-यष्टे, दे० ना० १ वगे ।

अणुइओ-देशी-चणके, दे० ना० १ वगे ।

अणुइछ-अणुवीर्ण-प्रि० । आगते, "कायमंफासमणुविद्याए"  
कायः शरीरं तस्मिन् रूपेण मनुजीर्णः कायसंयमागताः । आवा० १  
वृ० ३ वृ० ।

अणुउद-अनत-पुं० । अत्यकाले, "विसमं पवाशिषो परिण-  
मंति अणुइसुदेति पुष्पकम्" रथा० ५ अ० ३ उ० ।

अणुओइय-अणुयोजित-प्रि० । प्रचलिते, ने० ।

अणुओग-अणुपुयोग-पुं० । अणु सुं महानर्थस्ततो महतोऽ-  
र्थस्याणुना सुवेण योगोऽणुयोगः । अणुयोजनमनुयोगः । अणु-  
रूपे योनाऽनुयोगः । अणुशुला वा योनाऽनुयोगः । औ० ।  
व्याख्याने विधिप्रतिषेधान्प्रामथप्रकरणे, विशेषेण ह्रा० । निजेना-  
भिधेयेन सार्धमणुरूपे सम्बन्धे, स० । जी० । रथा० ।  
अणु० । ह्रा० म० प्र० । आवा० ।

- ( १ ) अणुयोगाधिकारे ह्यरनामनिदर्शनम् ।
- ( २ ) निकेयहारम् ।
- ( ३ ) सप्तविधापुयोगे नामस्थापनानुयोगी ।
- ( ४ ) प्रथमानुयोगः ।
- ( ५ ) प्रथमानुयोगभेदस्वरूपनिरूपणम् ।
- ( ६ ) क्षेत्रानुयोगनिरूपणम् ।
- ( ७ ) कालानुयोगनिरूपणम् ।
- ( ८ ) वचनानुयोगनिरूपणम् ।
- ( ९ ) भावानुयोगस्य यथां प्रकाराणां प्रयोगम् ।

- (१०) एषां आनुयोगविषयाणां द्रव्यादीनां परस्परं बन्ध  
वन्न सभावयो भजना वा तद्विकल्पवन्म् ।
- (११) एकाधिकानां बन्धनात् ।
- (१२) अनुयोगद्रव्यादीनिर्बन्धनम् ।
- (१३) अनुयोगविधिः ।
- (१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
- (१५) युक्तिव्यवहारानुसंगीकृतिकल्पनम् ।
- (१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
- (१७) कस्य शास्त्रानुयोगः कर्तव्यः ।
- (१८) पञ्चानेषु भूतज्ञानस्यानुयोगः ।
- (१९) तद्द्वारं अनुयोगवशात् ।
- (२०) यथोक्तयुक्त्युक्त्य कोऽर्थ इत्यनेन संबन्धेन तद्द्वारद्वारम् ।
- (२१) क्वाधिकारः ।
- (२२) चरस्य करणाद्यनुयोगात्तुल्यव्यतिकल्पनम् ।
- (२३) अनुयोगानां वृथक्त्वमायैरक्षितत्वात् ।

(१) अथाऽनुयोगाधिकारः, स वैतैर्दीरनुगतव्यः—

निस्संश्लेषेण चिक्त्व—विद्धि परिचयं च केण वा कस्तः ? ।  
 तद्द्वारजेयसकलण—तद्विद्धि परिसां च मुच्यन्ते ॥  
 अनुयोगस्य निक्रैपो नामादिन्यासो बन्धव्यः , तद्वन्तरे तस्यै-  
 कार्थिकामि, तदनु मित्कं बन्धव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे  
 कर्तव्य इति विधिबन्धव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रसक्तोऽनुयोगस्य  
 बन्धव्यः । तद्वन्तरे केनानुयोगः कर्तव्य इति बन्धव्यम् । ततः परं  
 कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तद्वन्तरे तस्यानुयोगस्य द्वारा-  
 बन्धकमादां वि चकम्बन्धि । तत्र तेषामेव भेदः, ततः परं तत्रस्य  
 लक्षणम्, तद्वन्तरे सुस्वार्थां योग्याः, ततः परं परिच्छेदः,  
 ततः सूत्रार्थः । एष द्वारगाथासंज्ञेयाः । व्यासार्थस्तु प्रति द्वारं  
 वक्ष्यते । ७० ३ उ० । स्या० अनु० । आ० म० प० । आ० ७० ।

( २ ) तत्र प्रथमतो निक्रैपद्वारमाह—

निस्संश्लेषो नासौ चि य, एगंक्षं सो उ कस्त निस्संश्लेषो ? ।  
 अणुश्लोमस्त जगद्वन्धो, तस्त इमे वक्षिया जेया ॥  
 निक्रैपो न्यास इत्येकार्थः । परं द्वारं—स निक्रैपः कस्य कर्त-  
 व्यः ? । सूरिारह—अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निक्रैपस्य इमे  
 बह्वधमाणा वक्षिया भेदाः । ७० ३ उ० ।

अथानुयोगस्यैव संभयन्तं नामादिनिक्रैपमाह—  
 नामं उच्यथा दृषि, संश्लेषं कश्चि य वक्ष्यजाये य ।  
 एसो अणुश्लोमस्त उ, निस्संश्लेषो द्वोऽस्य सचिद्विदो ॥१८॥  
 नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, कल्याणुयोगः, क्षेत्रानुयोगः,  
 कालानुयोगः, बन्धानुयोगः, भावानुयोगः । एषोऽनुयोगस्य  
 सप्तविधो निक्रैपः । इति मिथुनिकाध्यायः ।

( ३ ) विस्तरार्थे स्वमिथुनस्योप्यकारो नामास्थापनानुयोग-  
स्वरूपं तावदाह—

नामस्त जोऽणुश्लोमो, अह वा सत्सामिहाणपणश्लोमो ।  
 नामेष व जों श्लोमं, जोगो नामानुश्लोमो तो ॥  
 उच्यथा जोऽणुश्लोमो-ऽणुश्लोम इति स उचिज्ज ए जं च ।  
 आह इज्ज अस उच्यथा, जोगं क्वयानुश्लोमो तो ॥

जाने इन्द्रादेर्योऽनुयोगो व्याख्यात्मनी नामानुयोगः । अथवा  
बन्ध वस्तुनोऽनुयोग इति नाम क्लिप्ते तथामनाज्ञेयानुयोगो  
नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नाम्ना सह यः क्लिप्तोऽनुश्लोमः

यो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुक्रयोऽनुक्रुतो  
योगो नामानुयोग इति व्युत्पन्नः । यथा—दीपस्य दीपनाम्ना  
सह, तदपत्यस्य तपनानाम् सह, उबलपत्य उबलनानाम्ना सह  
इत्यादि । एवं स्थापनायाः अनुयोगो व्याख्यानं स्थापनानुयोगः ।  
 अथवा अनुयोगं कुर्वन्नायावद्विधेयं काश्चाद् स्थाप्यते तत्स्था-  
 पनानुयोगः । यावद्विहाणुयोगकर्तुराद्यावद्वैस्त्वाकारयति तेष-  
 व्यकमादीं योग्याऽनुक्रुतो स्थापनाक्रिया इति । यथा—  
 स्थापनायाः अनुक्रुतोऽनुक्रुतो योगः संबन्धः स्थापनानुयोग इति  
 व्युत्पत्तेः । इति निक्रैपद्वारम् । वि० ० ।

( ४ ) अथ द्रव्यानुयोगमाह—

सामिष करण अद्विगरण, एद्विं एगेषे व बहुषे य ।  
 नामं उच्यथा मोंशुं, इति द्रव्यादीणु उच्येया ॥  
 स्वामित्तं संबन्धः, करणं साधकतमम्, धर्मिकृतम्, अतिक-  
 रणमाधारः, एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां द्रव्यादी-  
 नामनुयोगो बन्धव्य इति । एवं नामस्थापनां मुक्त्वाऽनुयोगः  
 नामनुयोगस्य प्रत्येकं परममेवा भवन्ति । ७० ३ उ० ।

तथाहि—

द्वन्वस्त जोऽणुश्लोमो, द्बन्वे द्बन्वे द्बन्वे उस्त ।  
 द्बन्वस्त पञ्जावेण व, जोगो द्बन्वे वा जोगो ॥  
 बहुवयणश्लो वि एवं, नेत्रो जो वा कदं व अणुभवतो ।  
 द्बन्वाणुश्लोम एसो, एवं त्वेवाऽप्याणं पि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेव कल्याणुयोग इति त्रितीयगा-  
 ध्यायां संबन्धः । तथा कल्पे नियथादायधिकरणभूते स्थित-  
 स्थापनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येषु वा शरीरपादायाः कला-  
 दिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्यहेतोवो शिष्य-  
 कल्पप्रतिबोधनादिनिमित्तमानुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा  
 कल्याणव्यवहारेः कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह य इह यो-  
 गोऽनुक्रुतो योगः संबन्धः, स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्येणा-  
 म्नीकादिना कृत्वा यस्यैव कर्त्वाद्द्वैतैव कुसुम्भरागादिना  
 पर्यायेण सह योगोऽनुक्रुतो योगः संबन्धः स द्रव्यानुयोगः ।  
 एवं बहुवचनतोऽपि त्रैयो द्रव्यानुयोगः । तद्यथा—द्रव्याणां द्र-  
 व्येऽनु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनु-  
 योगो कल्याणुयोगः, द्रव्याणां पर्यायेः सह कल्याणं करणभूतेरनु-  
 क्रुतो योगो द्रव्यानुयोग इति ॥ यो वाऽनुपयुक्तः कस्यत्यनु-  
 पयुक्तोऽनुयोगं करोति, स कल्याणुयोगः । एवं क्षेत्रानामपि  
 क्षेत्रकालबन्धनमावेष्टयि यथासंभवमित्यर्थोऽनुयोगस्य इत्यर्थः ।  
 तद्यथा—क्षेत्रस्य क्षेत्रेषु क्षेत्रे क्षेत्रानां क्षेत्रैः क्षेत्रेऽनुयोगः क्षे-  
 त्रानुयोगः, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुशा-  
 पनाय क्षेत्रेभ्यः कर्त्वादीनामनुयोगो व्याख्यानं यत्किञ्चत इ-  
 त्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा क्षेत्रेषु क्षेत्रेषु करणभूतेः  
 पर्यायेण पर्यायेर्वाः सहानुक्रुतोऽनुक्रुतो योगः क्षेत्रानुयोगः । एवं  
 कालबन्धनमावेष्टयि त्रैय्येकवचनबहुवचनान्यां सुधिया यथा-  
 संभवं चाप्यम, नवरं, कालादिधामिहायः कार्य इति द्रव्य-  
 स्थापनानुयोगो व्याख्यानं द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । वि० ० ।

( ५ ) तत्र कतिभेदं तद्रव्यं किंस्वकपञ्च तस्यानुयोग  
इत्याशङ्क्याह—

द्वन्वस्त उ अणुश्लोमो, त्रिद्वन्वस्त वा अत्रिद्वन्वस्त ।  
 एकैकांशं य भेया, ह्वंति द्बन्वाऽप्य वरतो ॥



अपिहृत्तिदिव्य-अग्निहृत्तिदिव्य-वि० । अत्रुपशास्त्रेऽपिहृत्तिदिव्ये हे-  
द्वेषु, व० स० । प्र० ५, स० ५० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अग्निहृत्तिदिव्य-वि० । न चिद्यते इतिगुरिकादिकया  
येषु ताम्यनीतीनि । अनीतीनि पत्रापि येषां ते तथा । इतिवि-  
दितस्येषु, अ० १ वक्र० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अग्नीहृत्तिदिव्य-वि० । इत्यथभरतपत्रातिहृत्तिपत्रमन्त्रकगायकजन-  
के सन्धे, औ० । ज० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अपिहृत्तिदिव्य-वि० । अग्निहृत्तिपत्रास्तव्यनागपुत्रपतेः सु-  
हसनाभ्यां भावायां ज्ञातेऽप्यतमे पुत्रे, अम० ।

एवं स्तुतु जन्व ! तेषां कालेषु तेषां समेषां भवितुपुरे

एषाम् एगरे द्रोत्या । वक्ष्यते । तस्य एं भवितुपुरस्त उचर-  
पुरश्चिमेणं दिशिभाए सिरिषणे एषाम उज्जाये होत्या । व-

क्ष्यते । जितसत्तू राधा, तस्य एं जहिलुः एणरं नागेनामं  
गाहातती होत्या । अद्दे जात्र अपरिहृत्ति तस्य एं पागस्त

गाहावतिसम सुलसा एषामं भारिया होत्या । सुकुमाला  
जाव सुकृवा, तस्य एं एगस्तम गाहावतिसस सुससाए

जावियाए अत्तए अपिहृत्तिसेनां कुमारं होत्या । सुकुमादे  
जाव सुकृव पंचधातिपरिक्रिये । तं जहा-स्त्रीधातं । जहा

दवषसे जाव० गिरिकेद्रमद्दे । एव चंपगवरपायवे सुदं सु-  
द्वेषु पर इहे । तेषु एं से अपिहृत्तिसेनां कुमारं सातिरेगा अ-

द्वेवासजायं अम्मा पियरो कदापरियाद्यो जाव भोगस-  
मत्ये ज्ञाते यावि होत्या । तते एं ते अग्नीहृत्तिसेनां कुमारं उ-

भ्युकृवालाजाव जाविजा अम्मापियरो सरिसयाणं जाव  
बीसाय रायवरकक्ष्याः एगदिकसेणु पाणी विहाडिवाते ।

तते एं से नागे गाहावती अग्नीहृत्तिसेनां कुमारस्त एं ये एया-  
रुचे पीड्याणं दलयति । तं जहा-वत्सां इरिष्यकांतीता

जदा महव्वस्त जाव अर्पि पासा कुदं विहरति । तेषां  
कात्रेण तेषां समेषां अरहा अरिहृत्तिनां जाव समामदे सि-

रिषणे उज्जाये अरहा जाव विहरति, परिसा एग रा ।  
तते एं तस्य अग्नीहृत्तिसेनां कुमारस्त । तं जहा-गोयमा ।

तदा एवरं सामाइयमाइयाति चोइसपुव्यादं अग्निमज्जति ।  
बीसे वासाति परियाद्यो मेसे तदेव । जाव सपुजए दवष

मानियाते संसेइयाति जाव सिदिक् एव स्तुतु जन्व समयाणं  
भगवया महावीर्यं जाव संपंचेयं ।

यथा ( वदपदक्ष वि ) ददमनिहो राजमककते यथा वनिन-  
कत्याऽयं वर्णनीयो यावत् गिरिकेद्रमद्दीणं एव चंपगवरपाय-

वे सुदं सुतेणं परिवद्वद, तप एं तमयीयसे कुमारं इत्यादि सचं-  
मन्त्रसु वकव्यम् ; अग्निहोत्रमात्रकृपयात् । पुस्तकस्य सारि-

सियापमित्यादी यावत्कृत्वात् 'सरिसियाणं सरिसलावद्य-  
क आंशुपुत्रावबेयाणं सरिरोहिणे कुत्रेदितो अग्निपल्लियाव-

मिति दइयम् । 'जहा-अद्वेदस्त वि' भगवयामिदितस्य तथा  
तस्यापि वानं सत्यं वाच्यम् । ' अर्पि पासावरमप कुदमापेहि

सुदंमन्त्रादि भोगयोगादं तुंजमाये विहरद वि' । 'संजुजय-

व्यए मासियाए संसेइयाए सिडे एव कविविति सुगमम् । अ-  
स्त० ३ वर्ण० ५ अ० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अग्निहृत्तिदिव्य-वि० । इस्तप्रमाणवचनमाहस्कोदिते, वृ०  
३ उ० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अग्निहृत्तिदिव्य-वि० । सर्वगच्छसाधारणे केत्ये, व०  
२ अर्धे ।

अपिहृत्तिदिव्य-अग्निहृत्तिदिव्य-वि० । अग्निहृत्तिदिव्ये, वृ० १ उ० । अर्धदि-  
निर्गते, अग्नीहृत्ति व । आवा० १ वृ० १ अ० १ उ० ।

अग्नीहृत्तिदिव्य-अग्निहृत्तिदिव्य-वि० । गिरिकेद्ररादौ विधीयमाने पा-  
दोपगमनमरणे , कलेवरस्याग्निहृत्तिपादात् तत्त्वम् । ज० १ ३  
श० उ० । स्था० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अपिहृत्तिदिव्य-वि० । प्रमाणतः स्तोके, प्र० ३ स० ५० ।  
पं० व० । आ० ५० । सु० ५० । सु० ५० । वि० ५० । स्था० ।

सर्वायसि, आवा० १ अ० १ उ० । परमाशौ, आवा० ५ अ० ।  
अपिहृत्तिदिव्य-अग्निहृत्तिदिव्य-वि० । निरवयवो निरवयवोऽप्रवश इति । वि० १  
अनु-अवयव० । पञ्चाङ्गध्याये, आवा० १ अ० ५ अ० । उ० । पञ्चा-

उजाते, वि० स्था० १ उ० । अनुकृपे, उ० १ २ अ० । समापे, वृ०  
३ उ० । अर्धधारणे, वृ० १ उ० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अपिहृत्तिदिव्य-वि० । तनुके, "अपिहृत्तिदिव्योऽग्निहृत्तिदिव्ये"  
अपिहृत्तिदिव्ये तनुकानामतिदुष्प्राणं सुकुमालानां लोभ्यां स्निग्धा

नवियं तत्तथा । ज० ३ वक्र० । मित्रवशात्के धाम्यमेदं, इति हे-  
मन्त्राभ्यवृत्तः । युगययाम, क्ली० । व० २ अर्धे । वृ० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अनुवर्तमान-वि० । उचरवदशाकामगतं, वि०  
वृ० ५ उ० ।

अपिहृत्तिदिव्य-देशी-क्षणरहिते, निरवयवे च । हे० ना० १ वर्ण० ।  
अपिहृत्तिदिव्य-देशी-यष्टे, हे० ना० १ वर्ण० ।

अपिहृत्तिदिव्य-देशी-लपके, हे० ना० १ वर्ण० ।  
अपिहृत्तिदिव्य-अनुवीर्य-वि० । आगने, " कायमंकासमपुत्रिष्णाए"

कायः शरीरं तस्मै स्पशमनुवीर्योः कायसंगमागताः । आवा० २  
वृ० ३ वृ० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अनुव-वि० । अस्वकाले, " विस्वमं पवारिणो परिण-  
मंति अपिहृत्तिदिव्येति पुष्ककसं " स्था० ५ ज० ३ उ० ।

अपिहृत्तिदिव्य-अनुयोजित-वि० । प्रवर्तिने, न० ।  
अपिहृत्तिदिव्य-अपुत्रयोग-वि० । अपुत्रस्य महानयस्तेना महतोऽ-

र्थस्यापुत्रा सुवृत्ते योगोऽपुत्रयोगः । अनुयोजनमनुयोगः । अनु-  
कृपो योगोऽनुयोगः । अनुकृलो वा योगोऽनुयोगः । अ० १ ।

व्याख्याने विधिप्रतिषेधाऽयमप्रकरणे, वि० ५० । ज्ञा० । निज्ञेना-  
भिधेयेन साधेयमुकृते सत्येभ्ये, स० । अ० । स्था० ।

अनु० । आ० ५० । आवा० ।  
( १ ) अनुयोगाधिकारे हारनामनिर्देशम् ।

( २ ) निकेपहारम् ।  
( ३ ) सत्यविधानुयोगे नामस्यापनानुयोगी ।

( ४ ) द्रव्यानुयोगः ।  
( ५ ) द्रव्यानुयोगभेदस्वकपनिकपणम् ।

( ६ ) सैवापुत्रयोगनिकपणम् ।  
( ७ ) कालानुयोगनिकपणम् ।

( ८ ) वचनाऽनुयोगनिकपणम् ।  
( ९ ) भाषानुयोगस्य यथां प्रकाराणां प्रदर्शनम् ।

- (१०) एषां चानुयोगविषयार्थां द्रव्यादीनां परस्परं बन्ध यत्र समावेशो भजना वा तन्निकपणम् ।
- (११) एकधिकानां बन्धव्यता ।
- (१२) अनुयोगसम्बन्धार्थनिर्बन्धनम् ।
- (१३) अनुयोगविधिः ।
- (१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
- (१५) युक्तविषययोश्चानुभूतिनिकपणम् ।
- (१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
- (१७) कस्य शास्त्रस्यानुयोगः कर्तव्यः ।
- (१८) पञ्चज्ञानेषु बुतज्ञानस्यानुयोगः ।
- (१९) तद्द्वारे ऽनुयोगलक्षणम् ।
- (२०) यथोक्तगुणस्य कोऽई हत्यनेन संबन्धेन तद्द्वारम् ।
- (२१) कथाधिकारः ।
- (२२) बरक्षकरशाघनुयोगचानुविषयनिकपणम् ।
- (२३) अनुयोगानां पृथक्त्वमायैरक्षिणात् ।

(१) अथाऽनुयोगाधिकारः, स वैतैर्दीरैरनुगतभ्यः—

निकलेषोऽपि गिरुच-विहि परिचीं य केष वा कस्स ? ।  
तदारजेलयत्तवण-तदरिह् पारिसा य मुचन्त्यो ॥

अनुयोगस्य निकेषो नामादि-व्यासो बन्धव्यः, तदनन्तरं तस्यै-  
काधिकानि, तदनु निकर्तं बन्धव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे  
कर्तव्य इति विधिर्बन्धव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रलसोऽनुयोगस्य  
बन्धव्यः । तदनन्तरं केनानुयोगः कर्तव्य इति बन्धव्यम् । ततः परं  
कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तदनन्तरं तस्यानुयोगस्य द्वारा-  
बन्धकमादिनि बन्धव्यानि । तत्र तेषामिव भेदः, ततः परं परिषद  
लक्षणम्, तदनन्तरं सूत्रस्यार्थां योयाः, ततः परं परिषद  
ततः सूत्राः । एष द्वारागथासंकेताः । व्यासायस्य प्रति द्वारं  
वचयते । ७० १ उ० । स्या० । अनु० । आ० म० प्र० । आ० ७० ।

( २ ) तत्र प्रथमतो निकेषद्वारमाह—

निकलेषो नासो चि य, पण्डं सो उ कस्म निकलेषो ? ।  
अणुश्रोगस्य जगवधो, तस्स ईमे वधिया जेया ॥  
निकेषो म्यास इत्येकार्थः । पर अह - स निकेषः कस्य कर्त-  
व्यः ? । सुरिराह-अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निकेषस्य इमे  
बन्धमाणा बाणितो भेदाः । ७० १ उ० ।

अथानुयोगस्यैव संभयन्तं नामादि निकेषमाह-  
नामं उषणा दधिप, लेषे कांश्च य पयणजावे य ।  
एसो अणुश्रोगस उ, निकलेषो द्वोइ स चविहो ॥३८॥  
नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, कल्याणुयोगः, क्षेत्रानुयोगः,  
काष्ठानुयोगः, बन्धनानुयोगः, आवातानुयोगः । एषोऽनुयोगस्य  
सप्तविधो निकेषः । इति निर्दिष्टमाचार्यः ।

( ३ ) विस्तरार्थं त्वभिसिन्तुर्न्यकारो नामक्यापमानुयोग-  
स्वरूपं तत्त्वदाह-

नामस्स जोऽणुश्रोगो, अह वा जस्साभिहाणमणुश्रोगो ।  
उणेष व जो जोओ, जोगो नामाणु श्रोगो सो ॥  
नामण्णं जोऽणुश्रोगो-ऽणुश्रोग इह व उविज्जणं ञं व ।  
जावेइ जस्स उषणा, जोण इषखाणुश्रोगो सो ॥

नाम इत्यादिषोऽनुयोगो व्याख्यात्मकस्य नामानुयोगः । अथवा  
बन्ध वस्तुषोऽनुयोग इति नाम किञ्च तेषाममायेनानुयोगो  
नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नामा सह यः कश्चिद्योयोऽणु-

यो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुक्रपोऽनुक्रो-  
योगो नामानुयोग इति व्युत्पत्तेः । यथा-दीपस्य दीपनाम्ना  
सह, तपसस्य तपनाम्ना सह, ज्वलनस्य ज्वलनानाम्ना सह  
इत्यादि । एवं स्थापनाया अनुयोगो व्याख्यानां स्थापनानुयोगः ।  
अथवा अनुयोगं कुर्वन्नाम्नादियेषु काष्ठादीं स्थाप्यते तस्या-  
पमानुयोगः । यावदिहाणुयोगकर्तुराचार्यादिसहकारविशे-  
ष्यकर्मादी योग्याऽनुक्रया स्थापना कियते, स स्थापनानुयोगः ।  
स्थापनाया अनुक्रपोऽनुक्रूलो योगः संबन्धः स्थापनानुयोग इति  
व्युत्पत्तेः । इति निकेषद्वारम् । विशेषे० ।

( ४ ) अथ द्रव्यानुयोगमाह-

सामिच करण अहिरण्ण, धरिह् एगसे य बहुसे य ।  
नामं उषणा मोणुं, इति इव्वादीण उठ्ठेभया ॥

स्वामित्वं संबन्धः, करणं साधकतमम्, अधिकृतत, कानि-  
करणमाधारः, एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां इव्यादी-  
नामनुयोगां बन्धव्य इति । एवं नामस्थानानां अनुक्रया-  
नामनुयोगस्य प्रत्येकं बहुभेदा भवन्ति । ७० १ उ० ।

तथाहि-

द्वन्वस्स जोऽणुश्रोगो, द्वन्वे द्वन्वेण द्वन्वेउत्तस ।  
द्वन्वस्स पज्जेव च, जोगो द्वन्वेण वा जोगो ॥  
बहुवचणुश्रो वि एसो, एवो नो वा कइव अणुवउपो ।  
द्वन्वाणुश्रोणं पसो, एवं खेवाऽप्याणं पि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेव कल्याणुयोग इति द्वितीयमा-  
थायां संबन्धः । तथा कस्यै निषयादावाधिकरणभूते क्लि-  
प्तानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येण वा चौरायापयसकला-  
दिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्यहेतोर्वा विष्य-  
क्यप्रतिबोधनादिनिमित्तमनुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा  
कस्यै बन्धाः कुसुम्भरागदिना पर्यायेण सह य इह यो-  
गोऽनुक्रपो योगः संबन्धः, स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्येण-  
स्वीकादिना कृत्वा यस्यैव बन्धादस्सैव कुसुम्भरागदिना  
पर्यायेण सह योगोऽनुक्रपो योगः संबन्धः स द्रव्यानुयोगः ।  
एवं बहुवचनतोऽपि ज्ञेयो द्रव्यानुयोगः । तद्यथा-द्रव्याणां द्र-  
व्येषु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनु-  
योगो कल्याणुयोगः, द्रव्याणां पर्यायेः सह कस्यैर्वा करणभूतै-  
रनुक्रपो योगो द्रव्यानुयोग इति ॥ यो वाऽनुपपुक्तः कथयत्यनु-  
पपुक्तोऽनुयोगं करोति, स कल्याणुयोगः । एवं क्षेत्रानामपि  
क्षेत्रकालबन्धनमायैव्यपि यथासंभवमभिसिन्तुर्न्यकारोऽप्यु-  
पपुक्तः । तद्यथा-क्षेत्रस्य क्षेत्रेण क्षेत्रे क्षेत्रानां क्षेत्रेः क्षेत्रेऽनुयोगः क्षे-  
त्रानुयोगः, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्रानां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुभा-  
वनाय वेद्येन्द्रकवर्षादीनामनुयोगो व्याख्यानां यनियत इ-  
त्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्रानां वा क्षेत्रेण क्षेत्रैर्वा करणभूतैः  
पर्यायेण पर्यायेर्वा सहानुक्रपोऽनुक्रूलो योगः क्षेत्रानुयोगः । एवं  
कालबन्धनमायैव्यप्येऽप्येकवचनबहुवचनान्यां सुधिया यथा-  
संभवं वाच्यम्, नभवं, काष्ठादिष्वभिलाषः कार्ये इति द्रव्य-  
स्यानुयोगो व्याख्यानां द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । विशेषे० ।

( ५ ) तत्र कतिभेदं तद्रव्यं किञ्चकपथ तस्यानुयोग  
इत्याहद्वयाह-

द्वन्वस्स उ अणुश्रोगो, जीवद्वन्वस्स वा अज्जीवद्वन्वस्स ।  
एकेकांभ्य य भेया, हवंति दव्वाऽया उउरो ॥

अणुभोगो

द्रव्यस्यानुयोगो द्विधा-जीवद्रव्यस्य वा अजीवद्रव्यस्य वा, एकैकविक्रमयोगे द्रव्यादिकाद्यत्कारो भेदा भवति । किमुक्तं भवति ।-जीवद्रव्यानुयोगोऽजीवद्रव्यानुयोगो वा प्रत्येकं भवतिः केनतः कालतो भावतश्च भवति ।

तत्र जीवद्रव्यानुयोगं द्रव्यादित् आह-  
द्व्येयोर्कं त्वेव, संसारीतपदेसमोगाहं ।

काले अनादिऽनिहृष्टे, चात्रे नाशायाऽऽंता ॥

द्रव्यतो जीवद्रव्यमेकं, सेवतोऽसंख्येयप्रदेशावगाहं, कालतोऽभाषमिचनं, भावतो ज्ञानादिकाः पर्याया अनन्ताः । तथा अनन्ता ज्ञानपर्याया अनन्ताऽऽतिरिचपर्याया अनन्ता दर्शनपर्याया अनन्ता अणुवस्तुपर्यायाः ।

अणुना द्रव्यादिति जीवद्रव्यद्रव्यानुयोगमाह-  
एवैव अजीवस्स वि, परमाणु द्व्येयैगच्छं तु ।

त्वेये एगपत्से, अगोदो सो जवे नियया ॥  
समयादिति असंसा, आसापिणिको हृषति कालमि ।  
वधादि चावऽंता, एवं दुपदेसमादी वि ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, अजीवद्रव्यस्याणुनुयोगो वक्ष्यः, तद्यथा-परमाणुसंख्येत एकं वक्ष्यम्, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाह्य कालतो उच्यन्वतः स्थितिः समवायिको ह्यी चये वा । समवायुकथेतोऽसंख्यावगाह्य । असंख्येया इत्यपिष्योऽवसर्वा-वक्ष्यं भवति । ज्ञावतो अनन्ता वर्णादियर्थाः । तद्यथा-अनन्ता वर्णपर्यायाः, अनन्ता गन्धपर्यायाः, यावद्वनन्ताः स्पर्शपर्याया इति । एवं चिद्विशेषादेरपि । द्विप्रदेशकस्य वावद्वनन्ताप्रदेशिकस्योपेनु-एव वक्ष्यम् । तद्यथा-द्विप्रदेशकः स्फुटो द्रव्यतः एकं द्रव्यं, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाहः, द्विप्रदेशावगाहो वा । कालतो ज-अवगतः स्थितिः, समवायिकथेत असंख्या उन्सर्पिष्योऽवसर्पेवय एव इत्यादि ।

अथ द्रव्याणामनुयोग इत्येतद् ब्याहिक्यासुराह-  
द्रव्याणं अणुभोगो, जीवमर्जावाण पञ्जवा नेया ।

स्तव वि व मगखाओ, ऽडोगा सहाखपरत्रासे ।

द्रव्याणामनुयोगो द्विधा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां वा । किं कथोऽसत्त्वात्वाह ?-पर्यायाः प्रकृत्यमाणा हेयाः । तथाहिकोऽतिविधा मयन्त । पर्यायाः प्रकृताः । गीतम् ! चिचिवाः । तद्यथा-जीवद्रव्याणामर्जावद्रव्याणां च । तत्रायनेकाः स्वस्थाने वा परस्थाने वा मार्गयाः । तावद्यत्त-नैरविकिणाणामसुरकुमारणां च कति पर्यायाः प्रकृताः । गीतम् ! अनन्ताः । अथ केनायेनेवमुच्यते । गीतम् ! नैरविकोऽसुरकुमारस्य द्रव्यार्थतया तुष्यः, प्रत्येकमेकद्रव्यत्वात्, प्रत्येकार्थतयाऽपि तुष्यः, प्रत्येकं भोकाकाराप्रदेशत्वात् । स्थित्या चतुःस्थानगतितः, भावतः वद-द्रव्यगतितः, ततो भवति नैरविकिणाणामसुरकुमारणां प्रत्येकं पर्याया अनन्ताः । एवमर्जावद्रव्याणां पर्याया अपि, एवं स्वस्थाने परस्थाने वा मार्गयाः । ('परमाणु गेगमत्राणं नते ।' इत्यादि 'पञ्च' शब्देऽभिधास्यते) ततो भवन्ति इयानामपि प्रत्येकमनन्ताः पर्यायाः । एवमनेकधा जीवद्रव्याणामर्जावद्रव्याणां वाऽऽनुयोगः, एते तत्र तत्र प्रवेशोऽभिविधौ ज्ञावर्णावस्तरेषं द्रव्याणां भेति स्थानितेषं गतव ।

इदानीं करणे एकवचनानुयोगमाह-

वृतीए अकलेण व, करंयुलादीख वा वि द्बन्वै ।

अकलेदिं तु द्बन्वै, आदिगरणे वदुषु कपेसु ॥

वर्तिनाम जटिका, तत्र या कृता शशाका तथा, वक्रोव वा, करारुद्रया वा, आदिशुश्रायशेषकादिना वा वाः कियतेऽनुयोगः स्वद्रव्यानुयोगः । इत्यैरनुयोगो यद् बहुजुनिरकैः कियतेऽनुयोगः । अधिकरणे एकस्मिन् द्रव्येऽनुयोगो यदा एकस्मिन् कल्पे स्थितोऽनुयोगो करोति, यदा तु बहुषु कल्पेषु स्थितस्तदा कल्पेषु अनुयोगः । उक्तो द्रव्यानुयोगः बहुभेदः । ७० १ उ० । वि०० । इथा० । ('पराविदे द्रवियाणुभोगे' इति 'द्रव्यानुभोग' शब्दे ब्याहवासाहितं सूचय )

( ६ ) सम्प्रति क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वाऽऽनुयोगमाह-

एएएति-जंबूद्वि, खेपस्सेयाइ होइ अणुभोगो ।  
त्वेचाणं अणुभोगो, दीवसमुहाण पथती ।

क्षेत्रस्यानुयोगः क्षेत्रानुयांण एवमादिको भवति । क इत्याह ?- [एवमिति सम्प्रतिपे सि ] अम्बूतीप्रकृतिरत्यर्थः । अम्बूतीपत्र-कण्ठकक्षेत्रावस्थानकपत्रासत्त्वाः । बहुनां तु क्षेत्राणामनुयोगो ह्यपसागप्रकृतिर्भवति । बहुनां ह्यपससुक्तक्षेत्राणां तत्र ब्याह्यामादिति । तत्रेषं क्षेत्रस्य क्षेत्राणामनुयोग इत्युक्तम् ।

अथ क्षेत्रेण क्षेत्रानुयोग इत्येतदाह-

जंबूद्विपमाणां, पुद्विजिवाणां तु पत्थयं काठं ।  
एवमसंस्तिज्जाया, इवंति लोगा असंस्तिजा ॥  
खेतेदिं बहुद्वि, पुद्विजिवाणां तु पत्थयं काठं ।  
एवमसंस्तिज्जाया, इवंति लोगा असंस्तिजा ॥

इद अम्बूतीपत्रमाणां प्रस्थकं पत्थं कृत्वा पुनस्त-पूरणविरचितक-मेषु यदा सषंघेपि मूहप्रभातपृथकीकायिका जीवा मीयन्ते तथा असंख्येयलोकाकाराप्रदेशसंख्येयानां अम्बूतीपत्रमाणाः प्रस्था भवन्तीत्येव क्षेत्रस्य अम्बूतीपत्रपेणानुयोगोऽभिधीयत इति । क्षेत्रैस्वनुयोगोऽयं प्रथमः । तद्यथा-बहुद्विपत्रप्रस्थकं कृत्वाऽऽजिघनं त-पूरणविरचितकमेषु प्रथमस्तपृथकीकायिकाजीवा मीयमाना अ-संख्येयलोकाकाराप्रदेशराशिपरिमाणा बहुद्विपमानप्रस्था प्र-थिति । एतदसंख्येयकं पुत्रेस्मात्पुत्रोऽहव्यय । प्रस्थस्यह वृ-हत्तरावधेय बहुद्विपत्रकलीः क्षेत्रानुयोग इति ।

अथ क्षेत्रे क्षेत्रेषु वानुयोगमाह-

त्वे तन्मि व अणुभोगो, तिरिचं होगामि जन्मि वा त्वेये ।  
अहइवदीवेषुं, अफ्ठवीसारा त्वेषुं ॥

क्षेत्रे पुनरयमनुयोगः, तथा तिरिचोकाक्षेत्रे षोऽनुयोगः प्रवर्षते यत्र वा आमननरादी । अथान्यत्ररादी वा क्षेत्रे स्थितोऽनुयोग-कसोऽनुयोगो करोत्येव क्षेत्रानुयोगः क्षेत्रानुयोग इत्येतत् । क्षेत्रेषु अनुयोगः क इत्याह-योऽऽनुवृत्तियद्विपसमुहाणत्वंति क्षेत्रेषु वतते, साक्षेऽप्युचितोऽनुभवप्रकृत्युप वा अथक्षेत्रेऽभ्यति । उक्तः बहुषुः क्षेत्रानुयोगः ।

( ७ ) अणुना कालस्य कालाणां वानुयोगमाह-

कालस्स समयरुवण, कालाण तदाइ जाव सम्भवा ।  
कालेणऽनिलऽवराहो, कालोदिं तु सेसकायाणं ॥

कालस्यानुयोगः, क इत्याह ?-(समयरुवण सि) उन्वक्ष्यकश-तनेदपरादिकापाटमादिदृष्टान्तेः समयस्य प्रकृतेरत्यर्थः । कालाणां वानुयोगः-(तदा जाव सम्भवि सि) समयमादी कृत्वा वाच्यं सन्तोऽस्याः प्रकृत्येत्यर्थः । कालेणानुयोगोऽभिधापराः । इत्युक्तं जवति-वारपर्यायानुयायिकाः वैकिकारोदेरे वषेऽना-

ना इत्येवमेषोपमस्यासंबन्धेयमेतेनापदिबन्ध इत्येवं प्रकृत्या, स काशेमानुश्रुतमो इति कोऽत्राचार्यटीकायां विदुमः । अन्यत्र स्व-  
 अनुश्रुतमोऽनुश्रुतमो वैकिक्यशरीरेको वाचकः क्लेशपदोपमासंख्येय-  
 भागमदेवपरिमाणा इत्यन्वये । तदर्थं तु केवलिनो विदुः । शेषा-  
 नां तु बुधिव्यादिकापानायां च धातुसंघे कालेरनुश्रुतमो । तथाचा—  
 "पञ्चकषायायदानमह-मसंखया इति श्लाघित्यवयमा स्ति ।"

प्रायस्त्रिकाकार्यां चापनः समयास्तयोर्धर्मः क्रियते-तथाविधेषु  
 चासंबन्धतेषु धर्मेषु वाचनतः समयास्तनामायाः चादरपर्याप्ततेज-  
 स्कायिका भवन्ति, तथा प्रत्युत्पन्नसकायिका असंख्येयानिरु-  
 स्तपरिव्यवसायिणीरिपरद्विष्यते । एवं बुधिव्यादिष्वपि यथासं-  
 भवं चाप्यभिति ।

अथ काशे कालेषु चानुश्रुतमोमाह—

कालमि वीयपोरिति, समासु सिद्धोऽसौ वा वि कालेषु ।  
 प्रथमपौरुषात् किल सूत्रमध्यतयव, द्वितीयपौरुष्यां तु तस्यानु-  
 श्रुतमोः प्रवर्तते, अत्र इह कालस्य प्राधान्येन चित्रकणाकाले  
 द्वितीयपौरुषीककलेऽनुश्रुतमोः कालानुश्रुतमो इत्युच्यते । तथाऽ-  
 वशासिद्ध्यां सूत्रमनुश्रुतमोः प्रथमतः मास्यत्र । अस्तुपरिधयां  
 तु दुःखमसुखमासुखमदुःखमादुःखयोः समबन्धोऽयोरकयो-  
 रनुश्रुतमोः प्रवर्तते मास्यत्र । अथ च काशेऽनुश्रुतमोः कालानुश्रुतमो-  
 ऽभिधीयते । तदर्थं प्रथितः बहिष्कः कालानुश्रुतमोः ।

( ८ ) संप्रति वचनस्य वचनानां चाऽनुश्रुतमोमाह—

व्ययसंज्ञेयव्यादि, व्ययार्थं सोऽस्यसंज्ञं तु ।  
 ( व्ययसंज्ञेयव्यादि ) इत्यं नुतमेकवचनं भवत्येवंतूतं वा द्विव-  
 चनानां वा बहुवचनसंज्ञेयव्यादि एकवचनमाद्यप्यतरवचनस्य  
 योऽनुश्रुतमोः, स च वचनस्यानुश्रुतमो उच्यते । वचनानां त्वनुश्रुतमोः  
 बोधस्यवचनानुश्रुतमोः [ योऽनुश्रुतमोनामि 'व्यय' इत्येव व्ययसंज्ञे ]  
 वचनानामनुश्रुतमोः—अ एवे इव वचनादीनामेकवचनस्यवचनानां व्या-  
 ख्येति वचनानामनुश्रुतमोः ।

अथ वचनेन वचनैर्वचनेऽनुश्रुतमो इत्येतदाह—  
 व्ययेऽप्यापरिचयार्थं, एकेषुषो बहुर्द्वौ व्ययेर्द्वौ ।

व्यये स एवोऽवसामि, व्ययेषु वृष्य नरिष्य अनुश्रुतमो ॥

वचनेनानुश्रुतमो यथा—कश्चिदाचार्योदिः स्वाध्यादिना सङ्घेके-  
 नोपि वचनानुश्रुतमोऽनुश्रुतमो करोति । वचनैस्त्वनुश्रुतमो—यद् स  
 एवासङ्घे बहुभिर्बन्धैरुपययितसं करोति । हायोपशमिके व-  
 चने स्थितस्यानुश्रुतमो वचनानुश्रुतमो । वचनेषु पुनर्नास्त्यनुश्रुतमोः,  
 वचनस्य चाद्योपशमिकेनेकवचनसंज्ञया । अन्वये तु मन्वन्व-  
 केतिवचनस्य तन्धेय वचनोपशमिकेषु बहुषु वचनस्यनुश्रुतमो इत्य-  
 पविद्वन्द्वेऽपि । तदर्थं पञ्चविधः बहिष्कः वा सिद्धिं ह्यो वचनानु-  
 श्रुतमोः । ६० । १ । ८०

शुच्यवचनानुश्रुतमोः—

दमादिहे मुच्छायावापुजोमे वसुषे । तं अहा—बंकारे मं-  
 कारे विकारे सत्यकारे सार्यकारे एगचे बहुषे संज्ञेह सं-  
 कासिपे भिषे ॥

मुच्छा अतपेहेतवचनार्था, या वाक् वचनं, सुच्छासिध्वयैः, तस्या अ-  
 नुश्रुतमो विधाः शुच्यवचनानुश्रुतमोः । सुधे चाऽनुश्रुतमोः प्राकृतवा-  
 ह, तत्र चकारादिकायाः शुच्यवाचो योऽनुश्रुतमोः स चकारादिरव-  
 नपदेवत्तः । ( तत्र चकारादीनां अनायास इत्यवस्थाने वचने ) ( सि-  
 ष्कभिति ) कश्चकरोत्तदितिर्भिर्भिर् विचरवचनम् । तदनुश्रुतमो वचन-

'सिद्धिर्देवमिति' संवदनुश्रुतमो पुनर्मेणमिध्यादिना सिद्धि-  
 हेण सि विदुतमिति कर्मजिष्यत्, कमेण हि ( सिद्धिर्देवमित्येतक कर्मा-  
 म्बोधादिना सिद्धयु ततस्सिद्धिर्मेण सिद्धयुर्वाच्यं भवतीति । अन्य-  
 च कर्मजिष्यत्स्यानुश्रुतमोऽप्यव, यथा-कर्मजिष्यत्स्ये हि यथासंख्ये-  
 योषः स्यादिति तदपरिहायै कर्मो भद्रः । तथाहि-न करोमि मन-  
 सा न कारयामि चाया कुर्वन्तं मानुजानामि, कायेभ्योऽतिप्रसन्नं,  
 अस्मिन् वैतु, प्रत्येकपदस्येवदशात् । तथाहि-मनःप्रभृतिभ्यं न क-  
 रोमि, तैरेव न कारयामि, तैरेव मानुजानामि । तथा कालतो  
 नेहाऽतिनादिभिर्दोषे प्राप्तं वर्तमानादिभिर्दोषः । यथा-अपुत्र-  
 पमकृष्णवित्तुः शुच्यमस्वाभिमनाभित्थ' सङ्घे दोषैर्देवदरया  
 बंद्व समस इति 'सुखे । तदनुश्रुतमोऽप्यव वर्तमानादिभिर्दोषा, नि-  
 कासजाविष्यपि तांयोकरेभ्येतयावप्रदोषाद्ये इति । इह च  
 दोषावित्तुचकवमन्यापि विमर्शनीये, सम्यंरतवाहस्येति वाग-  
 नुश्रुतमस्यपौरुषीयुश्रुतमोः प्रवर्तते इति । ६० । १० । ८०

[ ९ ] सम्प्रति भावानुश्रुतमो वद्व्यकरमाह—  
 जायेषु संवदार्थे-ए ७ व्ययर्थेऽस्य दुर्गादजायेषुर्द्वौ ।

जाये स्वोऽवसामि, जायेषु उ नस्य अनुश्रुतमो ॥  
 अहवा आयादासु, भावेसु वि ए स होइ अनुश्रुतमो ॥  
 सामिभं आनञ्ज व, परिणामेषु बहुविहेषु ॥

संभ्रहादीनां पञ्चानामप्यवसानामान्यतरेण विस्वाभ्यवन्त-  
 येन योऽनुश्रुतमोः क्रियते स्त भावेनानुश्रुतमोः । ते चामी पञ्चाभि-  
 प्रायाः । यदाह स्थानादि—  
 "यवर्हि टालोहि सुये वापुजः । तं अहा-संगहदुयाए उवग-  
 हटयाए निजअरुदयाए सुयपञ्जवजाएषु अमोऽधिकुलीए ।"

अथमर्थः—कथं तु नामैते शिष्याः सुत्रार्थसंग्रहकाः संपत्स्य-  
 न्ते ? तथा कथं तु नाम गोतापीन्याऽऽसी वस्त्राध्यापनेन ग-  
 द्दत्तस्योपपन्नकरो जायन्त्यन्ति, प्रमात्सेनां वाचकः कर्मजिष्यत्  
 भाविस्यति, तथा मुनपर्वेवजातं भूगपयोरुपश्रापिमेसादिपुत्रो वा-  
 स्यति ? इत्यस्य वाऽप्यवद्विषयिर्भविष्यतीत्येवं पञ्चाभिरिमास्यैः  
 भूतं सुत्रार्थेनो वाचयेदिति । एषामेव संग्रहादिभाषानां मध्याद्  
 द्विष्यादिभिर्मांसैः स्वैर्वोऽनुश्रुतमो कुर्वतेता भावेरनुश्रुतमोः । ज्ञा-  
 योपशमिके मांश्चित्तस्य स्वात्वां कुर्वतेता भावानुश्रुतमोः । जायेषु  
 पुनर्नास्त्यनुश्रुतमोः, जायेषुपशमिकस्येन तस्यैकवात् । अथवा ए-  
 कोऽपि ज्ञायोपशमिको जाय आचार्यादिशास्त्रकृष्णविषयमेहा-  
 स्मिधते, तत्र आचार्यादिशास्त्रविषयनेदिभ्येषु ज्ञायोपशमि-  
 कभाषेषु अन्येषु जन्मस्यनुश्रुतमो न कश्चिद्विरोधः । वा इत्यथवा  
 स्वाभिमन्सासाधानुश्रुतमोः स्वाभिमो बद्धु प्रतीत्य ज्ञायोपश-  
 मिकपरिणामेषु बहुषुऽनुश्रुतमोऽप्यवर्तते जायेषुऽनुश्रुतमो न विद्वन्द्वे-  
 इत्युक्तेः बहिष्कः भावानुश्रुतमो इति ।

[ १० ] एषां चाऽनुश्रुतमोऽप्यवसानां क्त्वादीनां परस्परं व्य-  
 यत्समबन्धो भजना वा तदेवाह—  
 द्घने नियमा भावां, न विद्या ते यावि स्वैस्तकाशेर्द्वौ ।  
 स्वैस्ते तिस्र वि भयथा, काशो जयथाह तीर्षु पि ॥

इत्येतावन्नियमाव् भावः पर्यायोऽस्ति, पर्यायनिरहितस्य इत्य-  
 स्य कापि कथाविषयभाषान् । तौ चापि इत्येवजावो क्लेशकाशाभ्यां  
 विना न संभवते । उच्यतेजायोर्द्वौ नियममार्थं स्वजायो व-  
 दीत एव, उच्यं चाप्यवयवकं क्त्वादिभेदेऽप्यवयवपरिधितिसं-  
 व नयति, अतः सिद्धमिदं उच्यतेभाषापि क्लेशकालात् । विना



सूत्रस्याप्युक्तमेव । यद्यप्युक्त-न च मद्रथमेकानेनार्थेऽप्येवादि, त्वप्यपरिभाषितपरिभाषितम् । बुद्धकृतिज्ञातादिषु सूत्रानुक्त-  
 म्यादिकांऽप्येतादृशान्तरस्य सूत्रस्य, अथेवचतुः शेषोऽर्थः । उ-  
 कोऽनुभोगः । ३० इ० स्वाभिधायकसूत्रेण सहस्रैस्त्वानुगीयते-  
 भ्युक्तो वा योगोऽप्येवमभिधेयमित्येवं संयोगे शिष्येभ्यः प्रति  
 पाठनमुपयोगः, स्वार्थैकधर्माभिस्येव । अथवा एकस्याऽपि सू-  
 त्रस्यानन्तार्थे इत्यर्थो मद्रथ, सूत्रं त्वष्टु, ततश्चाप्युक्ता य-  
 त्रेण सहाधेयस्य योगोऽनुभोगः । तदुक्तम्—“ नियथाप्युक्त-  
 तजोगो, सुसुक्तऽप्येव जो य अथुभोगो । सुप्तं च अष्टं तेन,  
 जोगो अथस्त अथुभोगो ” अत्रु० । १४० । न० । आ० न०  
 प्र० । अ० । आ० । वि० ।

( ११ ) अथुना विधिद्वारावसरः, तत्र येन विधिना-  
 ऽनुयोगः कर्त्तव्यस्तमाह—

सुसुक्तो रत्नतु पदयो, विद्मो नो निज्जु(पम)सिभो भणिभो ।  
 तदुक्तो य निरवसेतो, एत विद्मि भणिय अथुभोगे ॥

प्रथमस्य भोतुः प्रथमं तावत् सूत्रार्थः कथनीयः—

यथा नो कृप्यइ निगमाथं वा निगमैर्धी वा अप्पे  
 तालो पमंवे अत्रिभे, परिग्राहिषाए ॥

अस्यार्थः—नो इति प्रतिषेधे, न कल्पते न वचत इत्यर्थः । नैषां प्र-  
 थ्यो विधये इति निम्नेत्याः, तेषां, वा विभाषायाम्, निम्नेयीमां वा,  
 आममपक्तं, तासो वृक्तस्तालननं तासं, तालफलमित्यर्थः । प्रथमं  
 सूत्रं, त्वपि तस्यै तालवृक्तस्य प्रतिषेधस्य । ततः समाहा-  
 रः । अभिन्नमव्ययगतजीवं, प्रतिप्रतीनुमिति । एवं तावत् कथ-  
 यितव्यं यावद्भव्यनपरिसमाप्तिस्ततः । द्वितीयस्यां परिपाठ्यां  
 निर्युक्तिमित्तः परितुक्त्या सूत्रस्यैकानिन्युक्त्या च समन्वितः,  
 सोऽपि यावद्भव्यनपरिसमाप्तिस्तत्कथनीयः । तृतीयस्यां  
 परिपाठ्यामनुयोगो निरवशेषो वक्तव्यः, परंपदायैवात्तनाप्रत्यव-  
 स्थानादिभिः समप्रज्ञं समस्तं कथयितव्यमिति ज्ञावः । एष वि-  
 धितुयोगे मद्रथुधारणादिसमर्थान् शिष्यान् प्रति वदितव्यः ।

मन्द्रमतीन्द्रति प्रकारान्तरैरनुभोगविधिमाह—

मृपं हुंकारं वा, वादकारं परिपुच्छं भीमंता ।  
 ततो पमं पारा—यथं च परिगिद्धं सत्तप ॥

प्रथमतः श्रुत्यात् । किमुक्तं भवति—प्रथमभव्ये संयतगात्र-  
 स्युत्पीसादि, ततो द्वितीये भव्ये हुंकारं द्यात्, वन्दनं कुयो-  
 दित्यर्थः । तृतीये वादकारं कुर्यात्, वादमेवमेतद् मान्यधेति प्रशं-  
 सेत्यर्थः । चतुर्थे पृथीतपदां(परस्युक्तिप्रियां) मनाकृति-  
 पुञ्जां कुर्यात्, यथा कथमेवमिति । पञ्चमे मीमांसां प्रमाणजि-  
 ह्वासां कुर्यात् । षष्ठे तदुच्छरोरशुणे प्रसङ्गः, पारगमनं वाऽस्य  
 भवति । ततः सप्तमे परिनिष्ठो मुच्यन्तुजापेत इत्यर्थः । यत एवं  
 मन्द्रपेचसां भवणपरिपाठ्या विधयिज्ञाऽप्यन्यार्थावगमः, ततः  
 स्वात् प्रति सप्त पारान् अनुयोगो यथाप्रतिपत्ति करेव्यः ।

अथ पराक्काहामाह—

चोइए रागदोसा, सोऽप्य परिग्रामं परवणया ।  
 एवसिं नाथचं, चाम्पयि अद्वाशुपुम्पे ॥

शिष्ये मोक्षयति प्रथयति स्वमर्थं मद्रथधारणासमर्थं, तथा  
 परिग्रामके । उपसङ्गणनेतत्—मद्रथधारणासमर्थंयतिपरिग्रा-  
 मके च वा प्रकृपणा तथा पुष्पां रागदोषीं प्रसवणतः । तथाहि-  
 तिस्रिभिः परिपाटीनिर्देकात् आरधको र्नामोऽपरात् सप्तभिः परि-  
 पाटीभिर्नाह्वयतो ज्ञेयः । तथा परिग्रामकात् आह्वयतो रागः, इत-

रासतिपरिग्रामकात् परिदरत्तञ्ज ज्ञेयः । एतेषां मद्रथधारणा-  
 समर्थोसमर्थानां परिग्रामकादीनां च यथानुपूर्व्यां क्रमेण  
 नामार्थं वद्व्ये, तत्र प्रतिज्ञातमेव निवोहयते ।

प्रथमतो मद्रथधारणासमर्थोसमर्थोऽप्यति रागदोषावाह-  
 म्भरपा अविमुचि, पूया सकार मच्छइ अत्रिभो ।  
 दोसा गहृत्ससमत्ये, इयेरे रागो उ बुच्छेपो ॥

मद्रथधारणासमर्थं शिष्यं तिस्रिभिः परिपाटीभिर्नाह्वयत एता-  
 वन्ति कारणानि स्युः—एव बहुविधितो मम प्रसक्तो भविष्यति  
 ततो मत्सरतया परिभारत्वेन वसेत इत्यविमुक्तिकारणम् । अ-  
 धवा—युद्दीतसूत्रार्थस्यास्य पूजा सत्कारो भविष्यति । शिष्यो वा  
 परिग्रामतोऽप्यगणं गमिष्यति । (बुच्छेयं चि) मद्रसतो धानुयोग-  
 स्य ध्ववच्छेदो भविष्यति, अन्यस्य तथाविधिशिष्यास्याज्ञानात् ।  
 एवं कारणानि संज्ञाय मद्रथधारणासमर्थं तिस्रिभिः परिपाटी-  
 निरुयोगं वदतो ज्ञेयः । इतरस्मिन् वदते रागः, यथा—तद्वचो-  
 चमनुयोगस्य प्रवर्त्तनत् । अत्राचार्यं आह—

निरवयवो नहु सक्तो, सवं पयासो उ संपपेसेवं ।  
 कुंजजले विहु तुरि उ—किज्यामि नहु तिष पदिसाण्ड ॥  
 नहु नैव सूत्रस्य सकथोऽर्थः सङ्कथेकया परिपाठ्या निरवयवः  
 समस्तः संमर्थोयितुं शक्यः, तस्य मद्रथधारणासमर्थो नैकया  
 परिपाठ्याऽवधारयितुमीवा इति तिस्रिभिः परिपाटीनिरुयोग-  
 कथनमित्यर्थोऽर्थः ।

संभ्रतमतिपरिग्रामकानपरिग्रामकात् परिदरतो ज्ञेयाज्ञापमाह—

सुसुक्तं कथयंतो, पारोक्त्वा सिस्सजावमुवज्ञचई ।  
 अथुक्त्पाइ अपत्ते, निज्जुइ मा विणिंसाजा ॥  
 पारोक्त्वा परोक्त्वागोपेयः शिष्येभ्यः सूत्रार्थो कथयन् विनयावि-  
 नयकरणादिना तेषां शिष्याणां प्राथमाभिप्रायमुत्पन्न्य, अत्रावा-  
 नि अत्रावभूनात् शिष्यान् अनुकंपया निर्युहयति अपवदति ।  
 न तेभ्यः सूत्रार्थो कथयति । श्रुताहातनादिना मा विनयेयु-  
 रिति कृत्वा ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह—

दाहं धाठं वाही—वीए कंकसुय लखणं सुविणं ।  
 एगंण अजोगं, एवमाई उ उदाहरणा ॥

एकान्तेनात्येभ्ये अपरिग्रामके च दाह धातुव्याधिर्वाजानि कां-  
 क्तुको लक्षणं स्वल्प इत्येवमार्थानि उदाहरणानि दृष्टान्तः ।

तत्र दाहदृष्टान्तमाह—

को दोसो एरंके, जं रहुदाहं न कीएर तपो ।  
 को वा तिणिसे रागो, उवजुजइ जं रहुंगेसु ॥  
 पररंके पररइदुमे को ज्ञेयः, यत्सस्मात् रथयोगं दाह न कि-  
 यते, को वा तिणिसे रागो यद्वपुयुज्यते स रथाज्ञेयः ? ।

जं पिय दाहं जोगं, जस्स उ वट्युस्स तं पि हु न सका ।  
 जोएउमणिमविठं, तच्छणदलवेहुकुसेहिं ॥

यद्यपि वस्तुनोऽक्रावेयौष्यं दाहं तदपि तद्वपुयुज्यतेवजुगीरेर  
 निर्मोत्यं योजयितुमशक्यम्, किंतु निर्मोत्यं, एवमिहापि योष्यो-  
 अपि यावद्दोषोक्तैः सूत्रैः न परिकर्मितस्तावन्न कथं व्यवहारं वाऽ-  
 ध्यापयितुं योग्यः । तत्र लक्षणं प्रतीतय, द्वाभानि द्विधा विधा वा  
 काष्ठस्य पाटनं, वेधः प्रतीतः, कुण्डो यो वेधे मोतः प्रवेद्यते ।

संभ्रति धातुदृष्टान्तमाह—

एमेव अथावं उ—अभ्रजण कुणइ पाठण अत्रायाणं ।

न य अक्षमेण सका, भाउमि वि इच्छियं काठं ॥  
एवमेव रागद्वेषौ विना अभातुं त्यक्त्वा धाम्नामादानं करोति ।  
न च धातामप्यक्रमेणैवित्तं कर्तुं शक्यम्, किन्तु क्रमेण । एव-  
मिहाप्ययोषान्ति क्रमेण ब्राह्मणे न द्वेषः ।

अधुना ध्याधिदद्यान्तमाह-

सुहसज्जो जषोणं, जषासज्जो असज्जवाह्री उ ।  
जह रोगे पारिच्छा, सिस्समजाबाण वि तद्देव ॥

यथा रोगे वैद्येन परीक्षा क्रियते, यथा-एव सुखसाध्यः, एव य-  
त्नेन साध्यः, एव बाधसाध्यव्याधिष्येनेनाव्यसाध्यः । परीक्षाऽन्त-  
रं च रागद्वेषौ विना तदनुकृपा प्रवृत्तः । एवं शिष्यस्वज्ञावानामपि  
तथैव रागद्वेषान्नावेन परीक्षा क्रियते, तदनुकृपा च प्रवृत्तिः ।

अधुना बीजदृष्टान्तमाह-

वीयमवीयं नाठं, भोयुमवीयं उ करिसभो सालिं ।  
बवइ विरोहणजोगो, न यापि से पक्कलवाओ उ ॥  
यथा कर्मको बीजमबीजं च ज्ञान्ना अभीजानि मुक्त्वा साक्षि  
साक्षिबीजानि वपति, न च तस्मिन् विरोहणयेयं बीजे ( से )  
तस्य कर्मकस्य पक्वपातो रागः । एवमत्रापि आबन्धीयम् ।

संप्रति काकंडुकदृष्टान्तमाह-

को कंकडुए दोसो, जे अगगी तं न पाययइ दित्तो ।  
को वा इयरे रागो, एमेव य अस्स जइज्जा ॥  
को द्वेषोऽग्नेः काकंडुकं ( ' कोरइ ' इति ख्याते ) यदग्निर्दो-  
सोऽपि ते न चन्ति, को वा इतरेऽग्नेर् रागो यत्पाचयति ?, नैव  
कश्चित् । एवमत्रापि आबन्धीयम् ।

अधुना लक्षणदृष्टान्तमाह-

जे उ अल्लकलणजुचा, कुमारगा ते निनिद्धिउं इयरे ।  
रज्जारेइ अणुपसइ, सामुद्धो ने विमयां उ ॥  
यथा सामुद्रलक्षणपरिकृता राहो व्यपगतं नस्य ये कुमार  
अलक्षणयुक्तास्ताइ निषिष्य इतरां लक्षणोपेतान् राज्याहो-  
नुमन्यते । न च स तथाऽनुमन्यमानो विषमो रागद्वेषवान् ।  
एवमत्रापि दृष्टव्यम् ।

स्वप्नदृष्टान्तमाह-

जे जह कहेइ सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तच्चाणी ।  
रत्तां वा दुट्ठा वा, नया वि वत्तव्वयमुपेइ ॥

यो यथा स्वप्नं कथयति तस्य तदा तज्जानो स्वप्नफलं  
कथयति, न च स तथा कथन्तु कथ इति वा द्विष्ट इति वा  
वक्तव्यतानुपैति । एवमत्रापि एकान्तेनायांया ये शिष्याः तेषां  
परिहारे रागद्वेषान्ये दृष्टान्ता अभिमहिताः ।

संप्रति कालान्तरयोषानपरिणतान् क्रमेण परिणामयतो-

रागद्वेषामावे दृष्टान्तमाह-

अगगी बाल गिलाणे, सीहे रुक्खे करील्लयाईया ।  
अपरिणए जह एए, सएणिवक्खला उदाहरणा ॥  
अपरिणते आलकात्मानन्वयोर्ये, यतानि सप्रतिपत्तानि, पूर्वै-  
स्योपन्यायां पश्चाद्योपन्यायाभिर्यथः । उदाहरणानि, तद्यथा-  
अग्निशोभां ध्यानः । सिंहो वृकः । करीले वंशकरीलम् । आदि-  
शब्दाइ वक्ष्यमाणहस्यार्थदृष्टान्तपरिग्रहः ।

तत्र प्रथमदृष्टान्तमाह--

जह अरणीनिम्मविओ, योत्तो विउत्तिथणं नवा दहिउं ।

सकइ सो पज्जलिभो, सज्वस्स वि पबलो पच्चा ॥  
यथा अरविनिर्मोहितः स्तोको बहिर्विपुलमिन्धनं न दग्धं श-  
क्येनोति, स एव पञ्चाभ्याञ्जलितः सर्वस्वापीञ्जगतस्य इहणे  
प्रत्यक्षः समर्थः ।

एवं स्रु प्लवुष्की, निउणं अत्यं अपक्वओ येणुं ।  
सो चेव जणियुष्की, सज्वस्स वि पबलो पच्चा ॥  
एवमग्निदृष्टान्तेन प्रथमतः शिष्यः स्थूलबुद्धिः सन् निगुणम-  
र्षं प्रहीतुमप्रव्यहः । पश्चात् स एव शास्त्रान्तरेऽर्जितबुद्धिरुपा-  
दितबुद्धिः सर्वस्वापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यक्षो न्वति ।

बालदृष्टान्तमाह-

देहे अभिवहुंते, बाइस्स उ पीहगस्स अजिनुवुदी ।  
अइबहुएण विणस्सइ, एमेव हु णुद्धियगिलाणे ॥  
बालस्य देहे अजिवद्धमाने तदनुसारंश्च दातव्यस्य पीथक-  
स्यादारस्थापि बुद्धिर्भवति । देहदृढ्यनुसारतः पीथकमपि  
कमशो यद्धमानं दीयत इति ज्ञायः । यदि पुनरतिबहुं दीयते  
तदा स विनश्यति । पश्चात् स एव शास्त्रान्तरेऽर्जितबुद्धिरुपा-  
दितबुद्धिः सर्वस्वापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यक्षो न्वति ।

बालदृष्टान्तमाह-

खीरमिउपोग्गेहिं, सीहो पुट्ठा उ स्वाइ अट्ठी वि ।  
रुक्खो दुपत्तओ खलु, वंसकरिद्धो य नट्टिज्जो ॥  
तं चेव विवहुंता, हुंति अइज्जा कुहाइमाइहिं ।  
तह कोपलानिनुदी, जज्ज गहणेषु अस्सेयु ॥

खीरमिउपोग्गेहिं, सीहो पुट्ठा उ स्वाइ अट्ठी वि ।  
रुक्खो दुपत्तओ खलु, वंसकरिद्धो य नट्टिज्जो ॥  
तं चेव विवहुंता, हुंति अइज्जा कुहाइमाइहिं ।  
तह कोपलानिनुदी, जज्ज गहणेषु अस्सेयु ॥

सिंहः प्रथमतः क्षीरमुद्रपुत्रैः स्वमात्रा पोष्यते, ततः पुष्टः सन्  
अस्थीन्यापि स खादति । तथा वृक्षां द्विषणो, वंशकरीलम्, पत्तौ  
द्रावपि प्रथमतो कथच्छेद्यौ, ततः पश्चादग्निर्बर्हमानौ यतस्ततः  
कुठारादिभिरच्छेद्यौ भवतः । प्रथमतः कोपलानि बुद्धिर्भवति, ततः  
सा गहने ध्वंशेषु ज्वयते प्रह्वमुपयाति । क्रमेण तु शास्त्रान्तर-  
शेनतोऽग्निवर्हमाना कठोरारुकरतरौपजायते इति न कश्चिदपि  
अङ्गमुपयाति ।

यत्तदेषोपदिशसाह-

निउणं निउणं अत्यं, प्लवुत्वं प्लवुष्कीओ कएए ।  
बुद्धीविपहणकथं, होहिइ कालेण सो निउणो ।  
निगुणे निगुणमर्षं कथयत, कथंभूमिस्वाह बुद्धिर्विचर्चनकरम् ।  
एवं सति स कालेन निगुणो न्वति । अग्र्यथा बुद्धिर्जन्मप्रस-  
ङ्गतो न स्यात् ।

संप्रतिवदिशस्यस्वचितान् हस्यार्थान् दृष्टान्तामाह--  
सिक्कत्थए वि गिएइ, हत्थी प्लुगएणो सुनिम्माओ ।  
सरवेहपत्ताज्जि-प्पव घट्टपडिच्चित तह धमए ॥

हस्तौ स्थूलग्रहणो सुनिर्मोतः सन् पश्चात्सिकार्यकानपि युष्मति ।  
तथाहि-नवको हत्थी शिष्यमात्रः प्रथमं काष्ठानि प्राशते, तदनन्तरं  
शुद्धकान् पाषाणान्, ततो गोष्ठीकाः, ततो बद्धराणि, तदनन्तरं  
सिकार्यकानपि, यदि पुनः प्रथमम् एव सिकार्यकान् प्राशते, ततो  
न शक्योति प्रहीतुमिति । एवं स्वरे वेषवेषेऽप्यवकथकारकप-  
टकारक विचकारकमकश्च दृष्टान्ता जावनीयाः तं चैवम-प्रथमं

धातुकाः स्फुल्लं कल्पं व्यङ्ग्यं शिक्षति, पद्मात् सखासं पदुषाद्-  
निस्तुमिपुनमातिः स्वेणराऽपि विष्यति । तथा पञ्चदशकार्ये  
प्रथममकिञ्चित्करैः पथैः शिक्षयते, ततो यथा निर्मातो भवति तथा  
ईत्सिनं पञ्चदशे कार्यते, तथा द्विषकोऽपि प्रथमं बहो लगयित्वा  
ज्ञाप्यते, ततः पद्माद्द्वयसन् आकारोऽपि तांति तांति करणानि  
करोति । घटकारोऽपि प्रथमतः शराबाद्गणि कार्यते, पश्चात्त्रिंश-  
को घटाजपि करोति । पटकारोऽपि प्रथमतः स्फुभानि कीचरा-  
णि शिक्षयते, ततः सुशिक्षितः शोऽप्रनामापि पटान् वयति । विष-  
कारोऽपि प्रथमं मृगकं खिरयितुं शिक्षयते, ततः शोषानवयया-  
द्, पद्मात् सुशिक्षितः सर्वं विषकर्म सम्यक् करोति । धमको-  
ऽपि पूर्वं श्टक्वादीन् धमयते, पद्मात् शङ्खम् ।

वृत्रेषोपनयमाह—

जल्प मई श्लोगाहृद्, जोगं नं जस्स तस्स तं कट्ठए ।

परिणामागमसरिसं, संवेगकरं सन्निवेयं ॥

यथेते हस्यादयः क्रमेण निर्माप्यन्ते, एवं शिक्षयन्त्यापि यत्र म-  
तिरवगाहते, यस्य च यद्योयं शालं तस्य तत्कथयति । कथंभू-  
तमित्याह—परिणामागमसहस्रं यस्य याद्वाहः परिणामो यस्य च  
याद्यानागमस्तस्यदर्शं यथेदशापरिणामस्येदंमैताथदागमस्य पु-  
नरिदमिति । पुनः किञ्चिद्विदुषं कथयितव्यमत आह—संवेगकरं-  
सिक्किंवलोकंः सुकुलोत्तरपरिणामाद्देरभिज्ञायः संवेगः, तत्कर-  
णशीलं संवेगकरं, तथा नरकहितर्ययोगाः कुमानुवत्यमित्यादिनि-  
रकता निर्वैद्यः, तत्करणशालं निर्वैद्यकरः । तदेवं योन्वेऽपि  
क्रमेण दाने रागद्वेषासात्र उक्तः ॥ समाति शिष्येष्व्याचार्येण परि-  
णामकत्वं परीक्षानुयोगः कर्त्तव्यः, शिष्यैरव्याचार्ये परीक्ष्य  
तस्य सकाशे श्रोतव्यमिति ।

शिष्याचार्ययोः परस्परविधिमतिदेहात आह—

गेहंत्त गाहगाणं, आदमूएणु विदि समक्खामो ।

सा चेव व होइ इयं, उज्जोगो वक्खामो नवरं ॥

शुद्धां शिष्याणां प्राहकस्याचार्यस्य आदित्सुषु सामायिका-  
विषु यो विधिः समाख्यातो गोण्णोचन्वणोत्यादिस्फुणः स यथेह  
किरवशोयो वक्तव्यः । यस्तु-शिष्याणामनुयोगकथने उद्योग उद्य-  
मो यथा-तिसुभिः परिपाटीभिरथवा सततिः कर्त्तव्यः सः, नवरं,  
सप्रपञ्चमुपवर्णितः । वृ० १ ७० ।

इषान्निमुद्योगविधिश्चरुचत—तत्रानुयोगो वक्ष्यमाणशार्द्धः, स  
यदाऽधीनस्तुव्याख्यायप्रश्नापनयोऽथस्य शिष्यस्यानुज्ञायते, तदा-  
ऽपि विधिः, प्रज्ञास्तेषु तिष्ठानवकारणमुद्गुत्तैः, प्रज्ञास्ते च जिना-  
यतनात् कृते लुचं प्रमायं एका सुक्यामेका शिष्याणामिति नि-  
पचाश्रयं कियते, ततः प्राभातिकस्यासौ प्रवेदिते निषद्यानिषद्यस्य  
गुरोर्भोक्षपहकरजोहरणमुक्त्वयत्किनामात्रोपकरणो विनेयः पु-  
रतोऽवतिष्ठते, ततो ह्रावपि शुक्रशिष्यो मुक्त्वयत्किना प्रेषुपकृतयतः,  
पुनस्तथा च समग्रं शरीरं प्रेषुपकृतयतः ततो विनेयो गुरुणा  
सह ह्रादशावर्तवन्दनकं दत्त्वा वयति—इच्छाकारेण संदिशत  
स्वाध्यायं प्रस्थापयामि । ततश्च ह्रावपि स्वाध्यायं प्रस्थापयतः,  
ततः प्रस्थापिते स्वाध्याये गुरुर्निषीदति । ततः शिष्यो ह्रादशा-  
वर्तवन्दनकं ददाति । ततो गुरुस्तथा शिष्येण सहानुयोगप्र-  
स्थापननिमित्तं कायोऽस्वयं करोति, ततो गुरुर्निषीदति, ततः स  
शिष्यो ह्रादशावर्तवन्दनकं वन्दते, ततो गुरुः क्वाजिन्मन्डो-  
विच्छुपुत्याय च निषद्यां पुरतः कृत्वा चास्यार्थीकृतशिष्यकृत्य-  
वन्दकं करोति, ततः समाते वैश्यवन्दने शिशुर्दक्षश्चित्त

एव नमस्कारपूर्वं मन्त्रिसुच्चारयति, तदन्ते चानिषते-नां  
साधोऽनुयोगप्रज्ञानीनां, क्वाभ्रमणानां इस्तेन च्यपुण-  
पथयैरनुज्ञातस्ततो विनयस्यो वन्दनकं वन्दते । उचित्यत-  
श्च ब्रवीति—संदिशत किं भवामि ? ततो गुरुराह—वन्दित्वा प्रवे-  
द्य । ततो वन्दते शिष्यः । उचित्यतस्तु ब्रवीति—प्रज्ञाकिंमत्तानुयो-  
गोऽनुज्ञात इच्छाम्यनुवास्तिम् । ततो गुरुवैदिते—सम्प्रगवचा-  
रय, अन्वेष्ये च प्रवेद्य, अन्वेष्यामपि व्याख्याने कुर्वीत्यर्थः ।  
ततो वन्दते ब्रवीति, वन्दित्वा च गुरुं प्रदक्षिणयति, प्रदक्षिणांते  
च भवद्भिर्मत्तानुयोगोऽनुज्ञात इच्छाम्युक्तिप्रत्युक्तीः करोति । द्विती-  
यप्रदक्षिणा च तथैव, पुनस्तुनीयाऽपि तथैव, ततस्तुनीयप्रदक्षि-  
णांते गुरुर्निषीदति । तत्पुरःस्थितश्च विनेयो वदति—युष्माकं  
प्रवेदितं संदिशत, साधूनां प्रवेद्यामीत्यादिशेषमुद्गुत्तशिष्यवि-  
द्वकव्यञ्च, याददनुयोगानुज्ञानिमित्तं कायोऽस्मिं करोति । त-  
दन्ते च सनिषयः शिष्यो गुरुं प्रदक्षिणयति । तदन्ते च वन्द-  
न्ते, पुनः प्रदक्षिणयति, एवं त्रीन् वारान्, ततो गुरोर्दक्षिणमुज्जा-  
ऽऽसक्तं निषीदति । ततो गुरुवारं पर्ये एतानि मन्त्रपदानि गुरुः  
त्रीन् वारान् शिष्यस्य कथयति, तदनन्तरं प्रवेक्ष्यमाणाः प्रवरश्च-  
गन्धमिश्नास्तिभोऽङ्कमुद्गीस्तस्मै ददाति । ततो निषद्याया गुरु-  
स्तथाय शिष्यं तत्रोपवेश्य यथासन्निहितसाधुभिः सह तस्मै  
वन्दनकं ददाति । ततो विनेयो निषद्यास्थित एव “नामं पञ्च-  
विदं पणयुञ्जं ” इत्यादि सुब्रह्मचार्ये यथाशक्ति व्याख्यानं क-  
रोति । तदन्ते च साधुभ्यो वन्दनकं ददाति, ततः शिष्यो निष-  
द्याय उचित्यति । गुरुं च पुनस्तत्र निषीदति । ततो ह्रावप्यनुयो-  
गविस्मगोर्षं कालप्रतिक्रमार्थं च प्रत्येकं कायोऽस्मिं कुरुतः ।  
ततः शिष्यो निरुक्तं प्रवेदयति, निरुक्तं करोतीत्यर्थः । अणु० ।

शिष्यं प्रति आचार्येण—

एवं वएमु ठवणा, समण्णं वक्खिआ समासेणं ।

अणुश्लोकाणामुत्तं, अश्रो परं संपवक्खामि ॥ ३१ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण व्रतेषु स्थापना भ्रमणानां साधूनां वर्णिना  
समासेन संक्षेपेण अनुयोगगणानुज्ञां प्रागुद्दिष्टमतः परमः कि-  
न्तियाह—सप्रवक्ष्यामि स्वाज्ञानसारतो ब्रवीमीति गाथायः ॥३१॥

किन्तित्यं प्रस्ताव इत्याह—

जम्हा वयसंपथा, कातोचिअग्गहिअसयलसुत्तथा ।

अणुश्लोकाणामुत्तं, जोगा जणिआ निर्णपेदहं ॥ ३२ ॥

यस्माद् व्रतसंपत्ताः साधवः कालोचित्युद्गीतसकसंस्मार्था-  
स्तदनुयोगवन्त इत्यर्थः । अनुयोगात्कात्या आचार्यैः स्थापनाक-  
पाया यथैवा भणिता जिनेन्दैर्नाम्य इति गाथायः ॥३२॥

कस्मादित्यह—

इहराओ मुसावाओ, पववणास्सिसा य होइ लोगम्मि ।

सिस्साए वि गुण्णहारणं, तित्युच्छेओ अजावेण ॥ ३३ ॥

इतरथा इनीहशानुयोगानुज्ञायां मृषावाद्ः गुरोस्तम्भुजाभनः  
प्रवचनकिसा च व्रवति लोके, तथाज्ञतप्रकृत्यत् । ततः शि-  
ष्याणामपि गुणहानिः, सन्नायकामावा । तीर्थोच्छेद-  
ततः, सम्यक्ज्ञानाद्यप्रवृत्तिरिति शारणाथायः ॥३३॥

व्यासायं त्वाह—

अणुश्लोको वक्खार्यं, जिणवरवपणस्स तस्सऽणुष्ठा उ ।

कायवर्णिगं जयया, विदिआ सइ अण्यपत्तेणं ॥३४॥

अनुयोगो व्याख्यानमुच्यते जिनवरवचनसंगामस्य, तस्यानु-



इम पुनरियम, यद्वत कर्तव्यमिदं व्याख्याय भवता विधिना,  
न यथाकथञ्चिद्विदुः सहायमवचेन ; सर्वेषु सप्तवत्सव्यादिति  
गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालोचितप्रयाये, वयणं निश्चिन्तयमेवमेव ति ।

दुग्धपशुश्रमि अहिंमं, दिक्काइ इमाई रयणाइं ॥ ३५ ॥

कालोचिततदभाये अनुयोगाभाये, यथनं निश्चिन्तयमेवमेव ति ।  
तदनुष्ठाप्यनदृष्टान्तमाह-वुर्गनसुते इरिप्रपुषे यथेदं वचनम-  
'यदुत दद्यात्सव्यमेतानि रत्नानि' रत्नाभावाभिधिपथं, तथेद-  
मप्यनुयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अस्तत्रबुधिमिच्छापोहायाह-

किं पि अ अहिं अं पि इमं, अलंबनण नो गुणेहिं गुरुत्राणं ।

एत्थं कुसाइहुत्तं, अइप्संगा सुसायाओ ॥ ३६ ॥

किमपि धावधावधीतमित्येतत्साम्यं न तत्त्वतो भवति  
शुभैर्गुरुकामाः । अत्र व्यतिकरे कुसावितुल्यमनालम्बनमित्यर्थः ।  
कस्मात् , अतिमसङ्गात् । स्वल्पस्य आश्चर्यादितिरूप्यधीतत्वा-  
द्गो सुनाभावो गुरोस्तदनुष्ठानत इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अणुश्लोमि शौगार्थं, किल संसयाणसो दहं होइ ।

तं अग्निमिति गो ते, पायं कुसलाहिनमहेओ ॥ ३७ ॥

अनुयोगी आचार्यः लोकानां किल संशयानशक्तो दृढमत्यर्थं  
भवति । नय, 'अग्निर्यति' उपयान्ति तत्तत्त लोकाः प्रायः । किमर्थ-  
मित्याह-कुसलाधिगमहेतोः अयमिदंज्ञानायेति गाथार्थः ॥ ३७ ॥  
ततः किमित्याह-

सो धोवो अ वराओ, गंभीरपत्यग्रजिइमगम्मि ।

एगंनेणाकुसलो, किं तेसिं कहेइ मुट्टमपयं ? ॥ ३८ ॥

स तस्योको वराकञ्जावपलु इत्यर्थः । गंभीरपत्यग्रजिभूति-  
मार्गे बन्धमोचतत्त्ववचनलक्षणे एकान्तेनाऽकुसलोऽनभिन्नः  
किं तेभ्यः कथयति लोकभ्यः तस्य सुदमपदं बन्धादिगो-  
चरमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

ततश्च-

जं किं पि भासगं तं, ददुणं वुहाएण होइ अणवण चि ।

पवणणपरो ठ तम्मो, इअ पवणणरिंमणणा णेओ ॥ ३९ ॥

यतिकञ्चिज्जापकं तमसंयद्वप्रलापिनमित्यर्थः । ददुणा बुधानां वि-  
कुषां अभवत्त्वहेति । कथं केयञ्चाह-प्रवचनपरोऽर्थमिति कृत्वा  
तस्मिन् प्रवचने य एवं, प्रवचनसिन्ना अवधा ज्ञातव्या-  
च्छेदो । अस्मरोभ्यतन्त्रेदयमेतद्भिन्नः सन्नैवमाहेति गाथार्थः ।  
सिंसाण कुण्डइ कइ सो, तथाविहो इंदिइ । नाणमाइं ।

अहिंआहिअसंपिं, संमारुच्छेअणं परं ॥ ४० ॥

शिष्यास्वामिति-शिष्येषु करोति । कथमसौ ? तथाविधोऽहः  
सन् इतीत्युपदर्शनं, ज्ञानादीनां गुणानां ज्ञानादिगुणानामधि-  
कांशसंप्रतिभूतिमित्यर्थः । तर्कभूतामित्याह-संसारोच्छे-  
दिसिं संप्राप्ति, पत्न्यां प्रधानामिति गाथार्थः ॥ ४० ॥  
तथा-

अणुत्तलओ पायं, हेअइविनेगविरिद्विओ वा वि ।

नदु अन्नओ वि सो तं, कुण्डइ अ भिच्छाऽजिमाणाओ ॥ ४१ ॥

अल्पत्वात् तुच्छत्वाकारणान् प्रायो बाहुल्ये, न हि तु-  
च्छोऽस्तर्तौ गुणसंपदमारोपयति । तथा-इयादिधिकेकवि-  
हितो वाऽपि । हेयोपायेयपरिज्ञानाभावत इत्यर्थः । न ह्यन्य-

तोऽपि बहुभूतादसावकस्तां प्राप्तिं करोति तेषु । कुत इत्याह-भि-  
ष्याऽभिमानाद्दृष्टव्याकार्य एव, कथं प्रच्छिद्यता अन्वयसमीपे  
बृहवन्तीत्येवंकथयति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

सो ते वि त्वानुष्ठा, कालेण वि होंति नियमओ वेव ।

सीसाए वि गुणदाणी, इअ संताणेण विणेआ ॥ ४२ ॥

तत्तत्तेऽपि शिष्यास्तथाभूता सूक्ष्मा एव कालेन बहुनाऽपि  
भवन्ति नियमत एव, विशिष्टसंपर्काभावाच्छिष्याणांमप्यगीता-  
धंशिष्यसत्त्वानां गुणदानिरियम, एवं सन्तानेन प्रवादेण वि-  
भेदेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

नाणाइणमजावे, होइ विसिद्धाएऽणत्थगं सण्वं ।

सिरतुंमं दणाइ वि, विवज्जायाओ जहऽओसिं ॥ ४३ ॥

ज्ञानादीनामभाये स्तिति निश्चिन्तामा । किमित्याह-अन-  
र्थकं सर्वं निरवशेषम् । शिरस्तुण्डमुपडनाद्यपि, आदिशब्दा-  
ज्जिज्ञास्येतिपरिग्रहः । कथमनर्थकमित्याह-विपरीत्यकारणा-  
द् यथाऽन्येषां वराकादीनामिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ए य समइविणयेणं, जहा तहा कयमियां फंसे दे ।

अवि आगमाणुवाया, रोमतिगिच्छाविहाणं व ॥ ४४ ॥

न च स्वमिगित्वाकल्पेनागमशून्येन यथा तथा कृतमिदं शिरस्तु-  
ण्डमुपडनादि फलं ददाति स्वर्गोपवर्गलक्षणम् । अपि चागमानु-  
पातादागमानुसारेण कृतं ददानां किमित्येव्याह-रोमतिगिच्छा-  
विधानवत्, तत्रैककर्मण्यन्वात् परलोकस्तेति गाथार्थः ॥ ४४ ॥  
इय दम्बद्विगमिचं, पायमगीआउ जं अणत्थकणं ।

जायइ ता विणेओ, तित्थच्छेओ य भावेणं ॥ ४५ ॥

(इय) एवं प्रव्यलिङ्गमात्रं भिन्नानादिफलं प्रायोऽर्गताथोद्  
गुरोः सकाशाद् यद्यस्तानर्थफलं विषयकं जायते, तत्समा-  
द्विहेयस्तीर्थोच्छेद एव, भावेन परमार्थेन, मोक्षलक्षणतीर्थ-  
फलाभावादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

कालोचिअमु सत्ये, तन्हा सुविणिचिचयस्स अणुश्लोमो ।

निअमाऽणुजाणिअव्वो, न सवणओ वेव जह भणियं ॥ ४६ ॥

कालोचितसुचार्यं अस्मिन्विषये तस्मात्सुविनिश्चितत्वान्न-  
तत्त्वस्यानुयोग उक्तमङ्गणः । नियमादेकान्तेनानुज्ञातव्यः । गुरुणा  
न श्रवणत एव श्रवणमंत्रणेषु । कथमित्याह-यतो अजितं सं-  
मत्यां सिद्धसेनाचार्येणेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

किमित्याह-

जह जह बहुस्तुओ सं-भओ अ सीसगणसंपरिवुओ अ ।

अविण्णिच्छओ अ समये, तइ तइ सिच्छंतपदणीओ ॥ ४७ ॥

यथा यथा बहुभूतः श्रवणमंत्रेण संमतश्च तथाचिच्छलोकरय,  
शिष्यगणसंपरिवुत्तश्च बहुस्तुपरिवाच्छे, अस्तुद्वानां तथाचिष्ठाप-  
रिहणान्, अविनिश्चितज्ञानतत्त्वश्च स्वमये सिद्धान्ते तथा  
तथाऽसौ वस्तुस्थिरया सिद्धात्प्रत्ययनीकः सिद्धात्तथाभासकः,  
तद्वाच्यवाचादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

पतदेव भावयति-

सव्वसूहिं पणियं, सो उणपमइसएण गंभीरं ।

तुच्छकइहाइ दिद्धा, सेसाण वि कुण्डइ सिच्छंतं ॥ ४८ ॥

सर्वेषुः प्रणीतं सोऽविनिश्चित उच्यते प्रधानमतिशयेन गंभीरं ज्ञा-  
चार्येभ्यः, तुच्छकथनयाऽपरिचलनेऽनयाऽप्यः शेषाणामपि सिद्ध-  
त्वानां करोति, तथाचिच्छलोके प्रति सिद्धास्तमितिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

तथा-

अविधिच्छिद्रो ह्य संतः, उदसगाववायजाणभ्रो होइ ।  
अविसवपश्रोगभो सिं, मो सपरविशासभो नियमा ॥४६ ॥  
अविनिश्चितः समये न सम्प्रत्यसर्गापवादो जषीत सर्वेष्व,  
तत्कक्षिष्यप्रयोगतोऽनयोऽरुसर्गापवादयोः, तथाविधः स्वपर-  
चिनाशको नियमात्, कूटैवेयधरिति गाथार्थः ॥४७ ॥

ता तस्वव द्विभ्रट्टा, तस्मीसाणमयुगोभ्रगाणं च ।  
तद् अप्यणो अ धीरो, जोगमस्सपुजाणार्इ एव ॥ ५० ॥  
तत्तस्मान् तस्यैवाधिह्रानुवोगधारिणः हितार्थे परहोके, तथा  
तच्छिष्याणां आधिनामनुमोदकानां च तथाविधाऽङ्गप्रार्थिनां,  
तथाऽऽत्मनश्च हितार्थेमाहाकारधनेन धीरो गुरुयोग्याय दिनेयाय  
अनुजानाति एवं वक्ष्यमाणेन विधिनाऽनुयोगमिति ग्थायैः ॥४८० ॥

विद्धिजोगमि पसत्ये, गहिए काले निवैइए चैव ।  
भ्रासणमह पिमिज्जा-स्यणं संस्पर्णं चैव ॥ ५१ ॥  
विधियोगे प्रशस्ते संकल्पितपूर्णिमादी, रुद्दिते काले, विधिना  
निवेदिते चैव गुरोः समस्वरणश्च ।अथ निषघारचनमुचितभूना-  
वपि गुरुनिषघाकरणमिर्षयर्थः । संघट्टनं चैवाऽनिकेप इति गा-  
थार्थः ॥ ५१ ॥

ततो पवेइआए, उवविसइ गुरुभ्रो पि अनिसिञ्जए ।  
पुरभ्रो चिट्ठइ सीसो, सम्म जहाजायउवकरणो ॥ ५२ ॥  
तत्तस्मिन्तरं रचकेन साधुना प्रत्येद्यं कथितानां सन्त्यसुप-  
विशति गुरुराचार्ये पय, न शेषसाधवः । कस्याह ?-निजनिषघायां  
या तदधैमव रचिर्नाति । पुस्तकश्च शिष्याहितप्रति प्रकाशः, सम्प्रगसं-  
भ्रास्तः, यथाजातोपकरणो रजोहरणमुखवस्त्रिकादिषुः, इति  
गाथार्थः ॥ ५२ ॥

पेहिंति तत्रो पोसिं, तीए अ स सीसगं पुणो कार्ये ।  
बारसवंदण संदिम, सञ्भार्यं पट्टवामो चि ॥ ५३ ॥  
प्रत्येवकेते तदनन्तरं मुखवस्त्रिकां द्रावपि, तथा च मुखव-  
स्त्रिकया स शिरः पुनः कार्यं प्रत्येवकेते इति । ततः शिष्यो  
द्रादृशावशेषवन्दनपुरस्सरमाह-संदिशत यूयं स्वाध्यायं प्रत्या-  
पयामः, प्रकृषेण वनेधाम इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

पट्टवणाऽणुत्तराए, ततो दुअगा वि पट्टवेइ िषि ॥  
ततो गुरु निसीअइ, इभरो वि शिंनइइ वं ति ॥ ५४ ॥  
प्रत्यापेत्यनुज्ञाते सति गुरुणा, ततो द्रावपि गुरुशिष्यौ प्रस्था-  
यत इति । तत्तस्मिन्तरं गुरुनिषीदति स्वनिषघाधाम, इतरोऽपि  
शिष्यो निवेदयति तं स्वाध्यामिति गाथार्थः ॥५४॥

ततो वि दोवि विहिणा, शत्रुभ्रांणं पट्टिविति उवउत्ता ।  
वंदिषु तत्रो सीसो, अणुनाणावेइ अणुभ्रांणं ॥ ५५ ॥  
तत्तत्क द्रावपि गुरुशिष्यौ विधिना प्रवचनोक्तानाऽप्योगं प्रस्था-  
पयतः उपयुक्तौ कृत्वी यन्वित्वा तत्तस्मिन्तरं शिष्यः । किमि-  
त्याह ?-अनुज्ञापकेष्वनुयोगं, गुरुणेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

अभिर्मतिजण अकसे, वंदइ देवं तत्रो गुरु बिहिणा ।  
विअ एव नमोकारं, कइइ नैदि च संसुषं ॥ ५६ ॥  
अग्निमन्त्र आचार्यमन्त्रेणा कृत्वाऽन्वनाक वन्ते देवार्थेऽस्त्वानि  
ततो गुरुर्षिणा प्रवचनोक्तेः । ततः किमित्थए-स्थित धरो-  
वैश्वानरे नमस्कारं पञ्चमङ्गलकारमाकर्षयति, त्रिः पठति कर्णं

च संसुषमण्यपद्धतिमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥  
इभरो वि त्रिभ्रो अंतो, सुणेइ पोचीइ उइअमुद्रकमतो ।  
संविगं उवउत्तो, संवतो सुदुपरिणाभो ॥ ५७ ॥

इतरोऽपि शिष्यः स्थितः सन्मुखैश्चानेन कृणेति मुखवस्त्रि-  
कया विशिष्टरुद्दितया इयतिमुद्रकमतः सन्निहिते स एव विशेष-  
व्यत-संविभ्रो मोक्षायां उपयुक्तः सुखैकामतया, अनेन प्रकारेण-  
त्यन्तं शुरुपरिक्षामः ह्युवाशय इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

तो कइकिण नैदि, जणइ गुरु अइभिमस्स साहुस्स ।  
अणुभ्रांणं अणुजाणे, स्वयासमणाय इत्येणं ॥ ५८ ॥  
तत्तद्वाक्ये पठित्वा नर्त्तं भयति गुरुराचार्यैः-अहमस्य  
साधोकरस्थितस्यानुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि क्रमाश्रमणानां  
प्राकृतसंस्कारां इस्तेन, न समनोर्विधिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

कथमित्याह-  
द्वयगुणपञ्चवेदिं अ, एम अणुभ्राज वेदिंउं सीसो ।  
संदिमइ किं जगामो, वंदणमिदु जइव सामए ॥५९॥  
रूपयगुणपर्यायैर्व्याख्याकरैरोऽनुज्ञात इत्यवन्तरे वन्दित्या  
मिष्यः-संदिशत यूयं किं भगवतीत्यादि वन्दनं जातं यथैव सा-  
माधिकं तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

यदत्र नानान्यं तदभिधानुमाह-  
नवरं सम्मं धारय, अशेसिं तह पवेइव भणइ ।  
इच्छामणुसट्टीए, सीमिण कयाइ आयरिभ्रो ॥ ६० ॥

नवरम्, अत्र सत्यधारय, आचार्यसंवेनेत्यर्थः । अयेत्यस्त-  
था प्रवेदय सम्यगेवेति जणति । कथेत्याह-इच्छाम्यनुशास्ती  
शिष्येण कृतानां सत्यासचार्य इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

तिपयक्वणीकए तो, उवविसए गुरु कए अनुससंगे ।  
सणिसज्जे तिथय विसण, वेदए सीससस वावरो ॥ ६१ ॥  
त्रिः प्रदक्षिणिकृते सति शिष्येण तत् उपविशति गुरुः, कृत्वा-तरे  
ऽनुज्ञाकार्यात्मगः कृते च कार्योत्सगं तद्गु सनिषघं गुरो त्रिःप्रद-  
क्षिणं वन्दनं ज्ञावसारं शिष्यस्य व्यापारोऽयमिति गाथार्थः ॥६१॥  
उवविसइ गुरुमयीव, सो साहइ तस्स तिषिं वाराभ्रो ।  
आयरियपरंपरए-ए अणुगए तत्थ मंतपए ॥ ६२ ॥

उपविशति गुरुसमीपे तन्निषघाधामेव दक्षिणपार्श्वे शिष्यः  
स गुरुं कथयति । तस्य ब्रून् वारा । किमित्याह-आचार्यपारम्प-  
र्येणागतानि पुस्तकादिष्विन्निक्रानि तत्र मन्त्रपदानि विधिना  
सर्वार्थेसाधकानीति गाथार्थः ॥६१॥

तथा-  
देइ तत्रो मुट्टीभ्रो, अकखाणं सुरभ्रंघमइअिणं ।  
वहुंन सो वि सीसो, उवउत्तो गिणइइ विहिणा ॥ ६३ ॥  
इदंति तत् ब्रून् सुट्टीनाऽऽचार्याऽङ्गानां चन्दनकानां सुपनि-  
गन्धसदितानां, वस्त्रेमानाद् प्रतिमुट्टि सोऽपि च शिष्य उपयुक्तः  
सन् शुद्धाति विधिनेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

एवं व्याख्याकरूपानकान् दत्त्वा-  
उट्टेति नासिज्जाभ्रो, आयरिभ्रां तत्थ उवविसइ सीसो ।  
तो वंदइ गुरु तं, साहिको सेसेहिं साहुइं ॥ ६४ ॥  
उच्छिष्टति निषघाया आचार्योऽज्ञान्तरे तत्रोपविशति शिष्योऽ

जुषोमी, ततो वन्द्ये तु गुरुस्तं शिष्यसहितैः शेषसाधुभिः सखि-  
हितैरिति गाथायैः ॥ ६५ ॥

जगद् अ कुरु वक्तव्यं, तस्य त्रिभो चैव सो तभो कुण्ड ।  
सोद्ग्राह जहासची, परिसं नाक्षय वा भोगं ॥ ६५ ॥

भयति च-कुरु व्याख्यानामिति तमग्निवाचार्ये, तत्र स्थित एव  
ततोऽसौ करोति सद्गुणव्याख्यामिति मन्वादि यथाशक्तयेति  
तद्विषयमित्यर्थः । पर्येदं च ज्ञान्या योग्यमन्यदपीति गाथायैः ।

आयतिरग्निमज्जाए, ठवाविसणं वेदणं च तद् गुरुणो ।  
तुल्लगुणत्वावपद्म, न तथा ऋद्धं दुविहं पि ॥ ६६ ॥

आचार्यनिषघायासुपवेशनश्च, अग्निनवाचार्यस्य बन्धनं च तथा  
गुरोः, मधममेमाचार्यस्य तुल्यगुणव्यापनार्थं शोकानं, न तथा  
ऋद्धं ब्रह्मरपि शिष्याचार्यायैयोग्यंतामेतदिति गाथायैः ॥ ६६ ॥

वेदंति तयो साह, उचिह्यद् अ तभो पुष्ठां रिणिसिजात्रो ।  
तस्य निसीद् अ गुरु, ठवदूहण पदमभ्ये उ ॥ ६७ ॥

बन्धने ततः साधयः, व्याख्यानसमनन्तरमुक्तिप्रति च ततः  
पुनर्निषघाया अग्निनवाचार्यैः, तत्र निषघायां निषीदिति च गुरु-  
मीलः उपवेदणमभ्यान्तरे प्रथमम् । अन्यं तु व्याख्यानादिति  
गाथायैः ॥ ६७ ॥

पधोऽसि त्वं णार्य, जिणवयणं जेण सव्वदुत्तवहरं ।  
तं सम्मपिये भवथा, पद्मोजिअव्वं सयाकासं ॥ ६८ ॥

धन्योऽसि त्वं सम्पद्य ज्ञानं जिनवचनं येन भवता सव्वदुःख-  
हरं मेऽहं दुःखसन्मयगिन्दं जयथा प्रवचनमीत्या प्रयोक्तव्यं  
सदा सर्वकालमनन्तरतमिति गाथायैः ॥ ६८ ॥

इहा उ रिणं परमं, असंमज्जोमे अजोअग्गो अवरो ।  
सा तद् इह जइअव्वं, जह एतो केवळं होइ ॥ ६९ ॥

इतरगुरुनिर्णं परममेतत्सम्पद्ययोगं सुखशरीलया । असम्प-  
द्योगाद् अजायतोऽन्यपरः पापीयान् दुःख्यः । तच्छेदयति नव्यसु-  
पयोगेन यथाऽतः केवलं जयति, परमज्ञानमिति गाथायैः ॥ ६९ ॥

परमो अ एस हेऊ, केवलनाणस्स अत्रापाणं ।  
माहावणथणओ तद्, संवघाइसयभावेणं ॥ ७० ॥

परममेव जिनवचनमयोगेदुःखः क्लेशकलान्धय, अवन्ध्य इत्यर्थः ।  
कुत इत्याह-अन्यप्राणिनां माहापनयकम्मोऽहपसरणकरणात्,  
तथा संवघातिशयभावेनोन्नयोरपीति गाथायैः ॥ ७० ॥

एवं उव्वुहेठं, अथुभोगाविसज्जणइयुस्सग्गो ।  
काहस्स पडिकमणं पवेअणं संघविहिदाणं ॥ ७१ ॥

पवमुपेधुल्ल तमाचार्यमनुयोगविषयैर्जातार्थसुखसं क्रियते ।  
काहस्य प्रतिक्रमणं, तदात्ये प्रवेदनं, निरुक्तस्य संघविधिदानं  
यथाशास्त्रे नियोगत इति गाथायैः ॥ ७१ ॥

पच्चा य सोऽणुभोगं, पवयणकज्जन्मि निच्चयुज्जमुचो ।  
जोगाणं वक्तव्याणं, करिज्ज सिक्कंतविहिणा उ ॥ ७२ ॥

पश्चात् सोऽनुयोगी आचार्यैः प्रवचनकार्यं निष्पद्युक्तः सद्  
योगेन उपो विनेयेऽन्यः व्याख्यानं कुर्याद् गुर्वदिशाहासिद्वान्त-  
विधिनेवेति गाथायैः ॥ ७२ ॥

योग्यताह-

मज्जत्या बुद्धिजुअ, धम्मतीयी अओयओ इमो जोगा ।  
तद्द वेव पसत्थारि, मुचविससं सपासज्ज ॥ ७३ ॥

मध्यस्थाः सर्वेश्वरकक्षिणाः, बुक्तियुताः प्राणाः, धर्माधिनाः  
परलोकभीरवः, श्रोतः सामान्येभ्येते योग्याः सिद्धांतमध्यस्थः ।  
तथैव प्रशस्तानयो योग्याः आधिपत्यपरिणामकादिपरिग्रहः,  
स्वविशेषमहत्कारुणिकं समाश्रित्येति गाथायैः ॥ ७३ ॥

मध्यस्थादिवपदानं गुणानाह-

मज्जत्याऽसग्गाहं, एवो वि अइ कल्पयं न कुव्वंति ।  
सुच्छासया प पायं, होति तद्द तास्स भवजन्मया य ॥ ७४ ॥

मध्यस्थाः प्राणिनः असद्ग्राहं तत्त्वावगोचराभ्युप, अत एव क-  
विद् वस्तुनि न कुर्वन्ति, अपि तु मार्गानुसारिमतय एव जवन्तिः,  
तथा बुद्ध्याऽपि मायादिदोषरहिताः प्रायो जवन्ति मध्यस्थः,  
तथाऽऽसन्नजन्याश्च, तेषु सफलः परिश्रमः, इति गाथायैः ॥ ७४ ॥

बुक्तियुता गुणदांभे, सुदुभे तद् वायरे य सव्वन्त्य ।  
संभक्तकारुण्ये, तच्च इहंए पवज्जंति ॥ ७५ ॥

बुक्तियुताः प्राणा गुणदांभे, सुदुभे तद् वायरे य सव्वन्त्य ।  
सर्वत्र विषये सम्यक्त्वकारुणिकान्, कश्चिद्दत्तपद्मार्थस्त-  
स्थियाऽतिगम्भीरतया प्रपद्यन्ते सांख्येति गाथायैः ॥ ७५ ॥

धम्मतीयी दिह्दुत्थे, ददो षं पकंमि अणदिंघाओ ।  
उत्तारिज्जति सुद्धं, धन्ना अण्णाणससिद्धाओ ॥ ७६ ॥

धर्माधिनाः प्राणिनः दृष्टार्थे ऐहिके दृष्ट एव पदुऽप्रतिबन्धा-  
त्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् कियन्ते सुखं, धन्याः पुण्यभाजाः ।  
कुतः ? अज्ञानसलिलान्मोहादिति गाथायैः ॥ ७६ ॥

पत्तो अ कपिअओ इह, सो पुण्ण आवस्सामासुत्तस ।  
जा भूअग्गं ता जं, जेणा ऽपीअं ति तस्सेव ॥ ७७ ॥

प्राज्ञश्च कल्पिकोऽत्र जयत्येव, स पुनरावयवकारिदुःखस्य यावत्  
सुशक्तं चिन्तियमर्कं तावच्छेदनाधीतमिति पठितमित्यर्थः । त-  
स्यैव तान्यर्थेति गाथायैः ॥ ७७ ॥

तेअमुआइएसु अ, ससमयजोवे वि भावुत्तो जो ।  
पिअधम्मऽवज्जर्जीरु, सो पुण्ण परिणामगो णेओ ॥ ७८ ॥

नेऽसुत्रविषु च निशिक्षादिषु स्वसमयमावेऽपि स्वकाशभावे-  
ऽपि भावयुक्तो यः विशिष्टान्तःकरणवाद् प्रियधर्मस्वीकार-  
स्वधर्मीकः पापभीरुः स पुनरयमेवभूतः परिणामको इत्यर्थः उ-  
त्तर्गोपवाद्दिविषयप्रतिपत्तोरिति गाथायैः ॥ ७८ ॥

एतद्वाह-

सो उत्सर्गाइणं, विषयविभागं अहट्ठिअं चैव ।  
परिणामेइ हिंयं ता, तस्स इमे होइ वक्तव्याणं ॥ ७९ ॥

स परिणामकः, उत्सर्गोपवादाद्येविवयविभ्रान्नामौचित्येन यथाऽ-  
वस्थितमेव सम्यक् परिणमयत्यंभवे हितं तत्तस्मात्कारणात्-  
स्येद् भवति व्याख्यानं सम्यक्त्वोपादिहेतुत्वयेति गाथायैः ॥ ७९ ॥

अइपरिणामगऽपरिणामा-मगाण पुण चित्तकम्मदोसेणं ।  
उदिणं विसेयं दो-सुदए ओसइहमाए उ ॥ ८० ॥

अतिपरिणामकारिपरिणामकयोः पुनः शिष्योपाधिप्रकर्षादोपेय  
हेतुनाहितमेव विद्वेयं व्याख्यानं, तांशोत्वेयं जीवधसमाप्तं विषय-  
यकारिति गाथायैः ॥ ८० ॥

तसिं तसिंय जायइ, जओ अएत्थो तओ ण मइं ।  
तसिं चैव हिंयइ, करिज्ज पुज्जा तद्दा चाहु ॥ ८१ ॥

तयोऽतिपरिणामकाऽपरिणामकयोः तत एव व्याख्यानाऽप्याये

यतोऽन्यौ विषयैवयोगात्, ततो न तद्व्याख्यायन् मतिमात्रं शुद्धस्त-  
 दोरेवातिपरिणामकारिणामकारिणैर्लाभयत्प्रतिष्ठातेन कुर्व्यात् ॥  
 नति वतन्ते, पुत्र्याः पूर्वशूर्याः तथा चाशूरिणि गाथायाः ॥ ८१ ॥  
 आमे षडे निहिचं, जहा जलं तं षडं विद्यासेह ।  
 इह सिद्धं तरुहस्तं, अप्पाहारं विद्यासेह ॥ ८२ ॥

आमे षडे भिक्षितं सद् यथा जलं तं चक्ष्मायं विनाशयति, इत्येवं  
 सिद्धन्तरहस्यमप्यप्यहारं प्राप्तिं विनाशयतीति गाथायाः ॥  
 न परंपरया वि तत्रो, मिच्छाभिनिवेशजाविभ्रमदंश्रो ।

अन्नेसिं पि अ जायइ, पुरिस्तयो मुद्दरुओ अ ॥ ८३ ॥  
 न परस्परयाऽपि ततोऽतिपरिणामकारे मिच्छाऽतिनिवेशजावि-  
 त्तमेतः सकाशादप्येवामपि श्रोतृणां जायते पुत्र्यार्थः, शुक्ररूपो  
 वा, मिच्छाप्रकपणादिति गाथायाः ॥८३॥

एतदेवाह—

अविषवत्तत्रो वि पायं, तन्नाशोऽप्याहंमं ति जीवाणं ।  
 इअ मुण्डिऊण तयत्तं, भोगाण करिज्ज वक्खाणं ॥८४॥  
 अविषवत्तत्रो एव अतिपरिणामादिक एव, प्रायो मिच्छाऽतिनिव-  
 द्याभावित्तमेतः सकाशात् तस्य च भावः तद्वाच्यं मिच्छाऽतिनि-  
 वेशाभावाऽनादिमानिति कृत्वा जीवानां भावनासहकारिणि-  
 शोपादियमेवं मन्था तदर्थं तन्निगदायैव योग्यत्वा विनेयेत्यः  
 कुर्व्याद् व्याख्यानं विधिनेति गाथायाः ॥८४॥

उवसंपाणणा जटा-विहाणुओ एव गुणजुओणं पि ।  
 सुतत्त्याइकमेणं, सुविणिच्छिऊअमपपणा सम्मं ॥८५॥  
 उवसंपाणनां सतां यथाभिधानतः सूत्रान्तीत्या, एवं गुणयुक्ताना-  
 म्प्रथे मान्यथा तदपरिणत्यादिदोषात् । कथं कतंयमिच्छाह-स्-  
 वाधादिक्लेश यथाकोचं सुविनिमित्तमात्मना सम्यक्, न शुक्रप्र-  
 क्षापमायमिति गाथायाः ॥८५॥ पं ० व ० ४ ४० । ( अङ्गाद्यनुयो-  
 गविधिः ' जोगविधि ' शब्दे बहयते )

( १५ ) अनुना प्रवृत्तिद्वारं वक्तव्यम्—

प्रवृत्तिः, प्रवाहः, प्रवृत्तिरित्येकाद्याः । प्रथममुद्योगः प्रवर्तते इति ।  
 सा च प्रवृत्तिर्द्विधा-द्रव्यतो भावनम् । तत्र ऊच्यतः प्रवृत्तिमाह—  
 अण्डिउत्तो अण्डिउत्ता, अण्डिउत्तो वेव होइ उ निवत्ता ।

नीउत्तो अण्डिउत्ता, निउत्तो वेव उ निउत्ता ॥  
 निउत्तोऽण्डिउत्ताणं, पवचाइ अइव त वि उ निउत्तो ।  
 दवम्मि होइ गाणी, नावम्मि निपादयो हुंति ॥

ऊच्यतः प्रसवे गौर्दृष्टान्तो मथति, भावे जिनावयं, तत्र गवि गो.  
 दोहकन सद् अत्थारो भङ्गाः, तद्यथा-दोहकोऽनियुक्तो गौरप्य-  
 नियुक्ता १। दोहकोऽनियुक्तो गौरनियुक्ता २। दोहको नियुक्तो गौर-  
 नियुक्ता ३। दोहको नियुक्तो गौरपि नियुक्ता ४। पचमाचार्यशिष्य-  
 च्छपि प्रङ्गत्तुष्टयं योजनार्थं, तस्मान्न साधयते । तत्र तृतीये भङ्गे  
 नियुक्त आचार्यो ब्रह्मादप्यनियुक्तानां शिष्याणांमनुयोगं प्रवर्त्तय-  
 ति । अथवा द्वितीये प्रङ्गे तेऽपि शिष्या नियुक्ता अनियुक्तमाचा-  
 र्यमनुयोगं प्रवर्त्तयति; एवं हि तृतीये द्वितीये च प्रङ्गेऽनुयोगस्य  
 प्रवृत्तिः । अयमेव तु संबन्धा न प्रवर्त्तते । अतएव प्रवृत्तिर्मिथ्यतिपक्षेव ।  
 तत्र गौदृष्टान्तविषयं प्रङ्गत्तुष्टयं व्याख्यायत्यति-

अप्यहदुया य गोणी, नेव य दोहा समुज्जओ दोहं ।  
 स्वीरस्त कुओ पसवो, जइ वि य सा स्वीरादं षण्णु ॥  
 वीए पि नत्थि स्वीरं, थोवं च इविज एव तइए वि ।

अपि अतुत्ये स्वीरं, एतुवमा आयरियसीसे ॥  
 गौरप्यस्तुता नेव च दोहा वा दोहंयु समुद्युमः, ततो यद्यपि सा  
 स्वीरादं वेनुस्तथाऽप्येवमेव प्रथमप्रङ्गे कुतः कृत्स्नत्वं स्तोत्रं; नैव  
 कुतश्चित् । द्वितीयेऽपि भङ्गे दोहकोऽनियुक्तो गौरनियुक्त्येवं रूपे ना-  
 स्ति कौरव. दोहकस्यानियुक्तत्वात्, अथवा गौः प्रस्तुतेति स्तोत्रेण  
 गलत्तु स्तोत्रं कौरं भवेत् । एवं तृतीयेऽपि प्रङ्गे दोहको नियु-  
 क्तो गौरनियुक्त्येवं लक्षणं नास्ति कौरप्रसवः, स्तोत्रं वा  
 स्यादोहकगुणेन । अतएव पुनर्भङ्गे गौरपि प्रस्तुता दोहकोऽपि  
 नियुक्त इत्यस्ति कौरप्रसवः । एषा उपमा प्रङ्गत्तुष्टयात्मिका अ-  
 चार्याशिष्ययोरेवमनुयोगस्य प्रसवे वेदितव्या । तथाहि-आचा-  
 र्योऽप्यनियुक्तः, शिष्या अपि अनियुक्ता इति प्रथमप्रङ्गे नास्त्य-  
 नुयोगस्य प्रवृत्तिः । अनियुक्त आचार्यः शिष्या नियुक्ता इति  
 द्वितीयेऽपि प्रङ्गे नानुयोगः, आचार्यस्यानियुक्तत्वात् ।

अह्दवा अण्डिउत्तमणं, अवि किं वि उजोगिणो पवर्त्तति ।  
 तइए सारिंते वा, होज्ज पविची गुण्ठिंते वा ॥  
 अथवा अनियुक्तमाचार्यमनिष्कन्तमपि उद्योगिनः शिष्याः  
 किञ्चित्प्रवृत्तिपुच्छादिनिरनुयोगं कर्तुं प्रवर्त्तयन्ति, ततो मथति  
 द्वितीयेऽपि भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः । तृतीये-आचार्यो नियुक्तः,  
 शिष्या अनियुक्ता इत्येवंरूपे नास्त्यनुयोगस्य संभवः; अथवा  
 पुनःपुनः सारथत्याचार्ये, अथवा श्रोतृमनिष्कन्तमपि शैलस-  
 मानं किञ्चिद् भोतारं पुरतोऽपि शिष्यस्यानानस्य त्वनुयोग इति शु-  
 ब्धयति गुणनमित्तमनुयोगं कुर्वेति भवेन्ननुयोगः ।

अत्र दृष्टान्तः काशिकाचार्यैः; तत्रैवाह—

सागरारिपम्पाहण-सुवनमुयसिस्सखंतलक्खेण ।  
 कहणा सिस्सागमणं, वृल्लोपुंजोवमाणं च ॥ १ ॥  
 उज्जयणीए नयरीए अज्जकालगा नामं आय-  
 रिया सुत्तयोववेवा बहुपरिवारा विहरंति, तेसिं अ-  
 ज्जकालगाणं सीसस्स सीसो सुत्तयोववेवो सागरो  
 नामं सुवनन्नुमीए विहरइ, ताहे अज्जकालगा विंतेति-एए  
 मम सीमा अण्णुओमं न सुणंति, तत्रो किमेएसिं मंजेते चि-  
 द्दामि, तत्थ जामि जत्थ एणुओमं पवचोत्ते, अविप पए वि  
 सिस्सा पच्छ लज्जा सा सोचिंविंति, एवं चोत्तिऊण सेज्जा-  
 यरमापुच्छंति-कहं अन्नत्थ जामि, तत्रो मे सिस्सा सुणोहं-  
 ति, तुमं पुण मा तेसिं कहेज्जा, जइ पुण गाढतरं निवंधं  
 करिज्जा, तो खरंटेउं साहेज्जा, जहा सुवनन्नुमीए सागराणं  
 सगासं गया, एवं अप्पाहिता (संदिय) रंछिं वेव पमुत्ताणं  
 गया सुवच्छभूमिं, तत्थ गंतुं खंतन्नवसेण पविद्धा सागराणं  
 गच्छं, तत्रो सागरारिया खंत चि काउं तं नादाइआ अ-  
 न्नुद्धाईण्णि, तत्रो अत्थ पारिसंवेत्तेसा सागरारिणं अण्णि-  
 या-खंता तुमं एयं गमइ । आयरिया अण्णि-आमं तो  
 खाइं सुणोहात्ति एकहंिया गन्वायंता य कहंति । इयरे वि सी-  
 साए पजाए संते संभंता आयरियं अपस्संता सब्बत्थ मग्गि-  
 ओ, सिज्जायरं पुच्छंति, न करइ, जण्णइ य तुमं अण्णणो  
 आयरिओ न करइ, मम कहं कहेइ, तत्रो आउरीनुए-

हिं गाढनिष्कंधकए कदियं-जहा-तुष्म निव्वेएण सुवन्न-  
 च्चपीए सागराणां समासं गया, एवं कदिया त खरिंठिया ।  
 तत्रो मे तह वेव उच्चलिया सुवन्नचूमिं गंतं, पंचे लोगो  
 पुच्छर एस कयरो आयरिओ जाइ । ते कर्हिंति-अज्जकाल-  
 गा, तत्रो सुवन्नचूमिंए सागराणं भोगेण कदियं-जहा  
 अज्जकालया नाम आयरिया बहुसुया बहुपरिधारा इहा-  
 गंतुकामा पंचे पहांति- ताहे सागरो सिस्साणं पुरआं भण-  
 ति-मम अज्जया इंति, तेसिं समासे पयत्थे पुच्छीहामिं सि ।  
 अचिरेयं ते सीसा आगया, तस्य अग्निहोहिं पुच्छिज्जाति-  
 किं इत्थ आयरिया आगया चिठ्ठाति, नरिथ, नवरं अग्ने  
 खंता आगया, केरिसा वंदिए नावं एए आयरिया?, ताहे साग-  
 रो इज्जिज्जो बहु, मए इत्थे पञ्चाविंयं-खमासमणा य वेदाविया,  
 ताहे अत्राएइवेसाए चिष्माटुककं करंइ, आसाइय चि ।  
 भणियं चाणेण-केरिसं खमासमणो अहं वामोरेमिं? आप-  
 रिया जणंति-सुंदरं, मा पुण गव्वं करिज्जासिं । ताहे धूली-  
 पुंजादिहंते करंति, धूली इत्थेण भेजुं तिसट्ठाणेसु उयारंति,  
 जहा-एत धूली उविज्जमाणी ओखियमाणं ३ सव्वत्थ  
 परिसइ एवं अत्थो वि तिय्यमोरेहोतो गणहारां गणह-  
 रेहोतो जाव अइहं आयरियं लवज्जायाणं परंपरेण  
 आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गत्तिया १, तो मा  
 गव्वं काहिसिं, ताहे चिष्माटुककं करिथा आइथा अज्ज-  
 कालिया सीसपर्सोसाणं अणुआगं करंते ।

संप्रत्यङ्गरामभिका-सागारिका श्रान्तारस्तस्य 'अप्याहणं' सं-  
 देशकथनं, स्वयमाचार्याणां सुयोगभूमीं श्रुतशिष्यस्यापि शिष्य-  
 स्थ सागराभिधानस्य 'संनक्षत्रकेण' हृद्यज्जनेन गमनं, पञ्चाद-  
 शिष्याणां सागारिकेण कथना-यथाऽऽचार्याः सुवर्णयूसां सा-  
 गरस्याभिकं गताः, ततः शिष्याणां तत्राऽऽगमनं, सागरं गमं-  
 इहन्तं प्रति धूलीपुञ्जपमानमिति ।

अतुर्थमङ्गमधिकृत्याह-

निरुत्तो लजयकालं, भयवं कइणइ पच्चमाणोओ ।  
 गोयपमाई विसया. सोयव्वे हुंति उ निरुत्ता ॥ १ ॥

नियुक्त उभयकालमनुयोगं करोति, नियुक्ता उभयकालं  
 धूपयति । अत्र कथनार्थं दृष्टान्तो-जगत्वात् सर्वमानस्वामी-  
 नी, श्रोतव्ये स्वदा नियुक्ता दृष्टान्ता प्रवर्तिनौ सौतमादयः ।  
 (' वायणा' शब्धे चैतद् विस्तरतो वक्ष्यते ) गतं प्रवृ-  
 त्तित्वाद्यं ॥ १ ॥ ३० । अ० ॥

( १५ ) उद्यमी स्मृतिरुद्यमिनः शिष्याः, उद्यमी स्मृतिरुद्यमिनः  
 शिष्याः, अनुद्यमी स्मृतिरुद्यमिनः शिष्याः, अनुद्यमी स्मृतिरुद्य-  
 मिनः शिष्याः, इति अनुमेयं ।

अत्र प्रथमज्जे अनुयोगस्य प्रवृत्तिर्भवति, अतुर्थं तु न भव-  
 ति, द्वितीयतृतीययोस्तु कदाचिन्महाज्जिन्नस्यपि । अतु० ।

'अर्थं वृणु अहिगारो, सुयणारणं उज्जा सुयणं तु ।  
 सेसाणमप्यपो वि य, अणुओपेववदिहुंतां ॥  
 अनुस्य बोहेसायवः प्रयच्छन्त इति । उक्तं च-सुयणासस्स उद-

सो समुदेशो अणुया अणुओगो पवसइ' तत्रादावेकोहिदस्य  
 समुहिदस्य समनुकालस्य च सतोऽनुयोगो भवतीति । अतो  
 नियुक्तिकारणान्प्रयथापि भुवहानो अनुयोगेनाधिकृतमिति ।

( १६ ) इदानीं केलाऽनुयोगः कस्येव इति आरम्भाह-  
 देमकुलआइरूवी, संदुएणीधिऽनुओ आणासंसी ।

अविकत्थयो अयाई, धिरपरिवादी गहियवको ॥

जियपरिसो जियनिदो, भइकत्थं देसकालजावन् ।

आसन्ननइइपट्ठो, नाणाविहददसजानन् ।

पंचविहे आयारो, जुत्तो सुसत्थ-तत्तुजपविदिन्नु ।

आहरण हेज उवयण-नयनिठणो गाहणाकुसलो ॥

ससयपरसययिषो गंजोरो दित्तिमं सिवो सोमो ।

गुणमयकलिओ जुत्तो, पवणसारं परिकहेत्तं ॥

युतशब्दः प्रत्येकमाहिसंबन्धते । देशयुतः कुलयुत इत्यादि । तत्र  
 यो मध्यदेश जातो यावदर्थचंद्रशान्तिजुनपदेषु स देशयुतः,  
 स ह्यार्थदेशान्गतं जानाति, ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्या  
 अधीयते इति । तदुपादानम्, कुलं पैतृकं, तथाच लोकं स्वयवहारः,  
 इववाणुकुलजोऽयं, नाग (जात) कुलजोऽयमित्यादि । तेन युतः प्र-  
 तिपश्चाद्येनिर्वाहको जवाति । जातिमोक्तुंकीं तथा युतोऽविनयादि-  
 युपादा भवति । इत्युतो लोकानां गुणविषयवद्गमनमागं जायते,  
 " यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति " इति प्रयादात् । सहनयुतो  
 व्याख्यातं न भाष्यति । धृतियुतो नाऽऽतिरिहनेत्येषु प्रथममुपा-  
 ति, अनाशंसी श्रोतुभ्यो वखाघनाकाङ्क्षे । अविकथनो नाति-  
 बहुभाषी । शिरोऽतिशयेन निरन्तराभ्यासतः स्वयंभाषणा  
 अनुयोगपरिपाठ्यो यस्य स स्थिरगुणिरासीत्, तस्य हि सुप्रमयो  
 वा प्रमाणार्थं गालति । शुद्धीनवाक्य उपादेयवचनः, तस्य ह्य-  
 द्यमपि वचनं महार्थमित्य प्रतिज्ञाति । जितपरिधत्तं मर्यादापि  
 पर्यादि न क्रोभमुपयति । जितनिद्रो रात्रौ सुप्रथं शिष्यवद् पर-  
 निजावयन् वा न निद्रया वाष्यते, मध्यस्यः सर्वेषु शिष्येषु मम-  
 चिन्तः । देशं कालं भावं च जानातीति देशकालभायकः । स  
 हि देशं कालं जायं च लोकानां ज्ञान्वा सुखेन विहरति, शि-  
 ष्याणां वाऽभिप्रायान् ज्ञान्वा तान् सुखेनानुवचयति । आसन्न-  
 नक्षत्रमितिः परवादिना समाप्तमिः शोऽनुसत्तरादी । नाना-  
 विधानां देशानां ज्ञानं जानातीति नानाविधदेशज्ञातकः, स  
 हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणां प्राहयति । पञ्चवि-  
 षा अचारो ज्ञानाचारोदिकृत्यनक्षिम्भं युक्तः स्वयमाचार्यविधे-  
 तस्याप्यानाचारंगु प्रवर्तयितुमदावश्यकतः । सूत्रार्थग्रहणेन च-  
 तुर्मेज्ञं सुचितं । एकवत् सूत्र नाथः ? द्वितीयाप्याथो न सूत्रम्  
 २ । तृतीयस्य सूत्रमप्यथऽपि ३ । अतुर्थस्य न सूत्रं नाऽप्यथः  
 ४ । तत्र तृतीयमङ्गग्रहणार्थं तदुभयग्रहणं सूत्रार्थं तदुभयविधि-  
 जानातीति सूत्रार्थमनुययिचिक्रं । आहरणं दृष्टान्तः । हेतुश्च-  
 तुषिधो हापकादिषेधा-दशवैकाभिकमित्येकीं, यत्र वा द्विविधो  
 हेतुः कारको हापकश्च । तत्र कारको-चदस्य कर्ता कुम्भकारः ।  
 हापको यथा-तमसि घटादीनामनित्यङ्गकः प्रधीः ।  
 उपनय उपसंहारः, नया नैगमादयः, पतेषु नियुग आहृदणहे-  
 नुपनयमित्युणः, स हि श्रोतारमपेदेव तमपिपस्यनुरोधतः क-  
 ष्वित दृष्टान्तोपन्यासं कश्चिदनुपन्यासं करोति । उपसंहारानियु-  
 णतया सम्यग्धिकृत्यमुपसंहरति । नयमित्युणतया नवचकयना-  
 ऽपसरे सम्यक् प्रपञ्चं वैचिक्येन नयानभिधत्तं । प्राहणाकुशाः

प्रतिपादनशास्त्रयुगेतः, स्वसमयं परसमयं वेद्यति स्वसमय-  
परसमयविद्यः; स च परेणाकृतिः सुखेन स्वपक्षं परपक्षं च  
निर्वाहयामि। गम्भीरोऽनुच्छस्वनामः दीप्तिमाह परवादिधामि-  
सुदूरणीयः। शिबोऽकोपनः। यदि वा यत्र तत्र वा विहरद् क-  
दवाणकरः। सोमः शान्तदाहिः। गुणा मूलगुणा षण्णगुणाश्च,  
केनो मृगमि कैः कश्चितो गुणशातकश्चितः। युक्तः समीचीनप्रवच-  
नस्य ब्राह्मणाङ्गस्य सारमयं कथयितुमय।

कस्माद् गुणशातकश्चित इत्येते शिबे चरत् ब्राह्—

गुणसुद्धियस्स वयाणं, धयपरिसिभु व्व पावभो भाइ ।

गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविदूषो जइ र्पवो ॥

यो मूलगुणविभु गुणेषु सुस्थितस्तस्य वचनेन चूतपरिसिषया-  
वक इव ज्ञाति दीप्यते। गुणहीनस्य तु न शोभते वचनम्,  
यथा स्नेहेन विहीनः प्रदीपः। उक्तं च—“आयारं वद्धन्तो, भाया-  
रपकवषामसंकेतो। आयातरपरिमद्धे, सुदुधरपद्वेसेणे मग्-  
भो ॥” गतं केन चेति ब्राह्म ।

( १९ ) अथुना कथ्येति ब्राह्मण-  
जइ पवयाणस्स सारो, अत्यो सो तेषां कस्स कायण्वो ।

एवं गुणनिर्णयं, मन्वसुयस्सा ठ देसस्सा ॥

यदि प्रवचनस्य सारोऽर्थस्तर्हि स तेनैवगुणान्वितेन कस्य क-  
थ्येयः ? किं सर्वश्रुतस्य, तत्र देशस्य श्रुतस्कन्धादिर्तिरिति।

अथ सुरिराह—

को कङ्गानं नेच्छइ, सत्त्वस्स वि एरिसेण वचण्वो ।

कण्णववहारेण ठ, पमयं मिससाण थिज्जय्यं ॥

को नाम जगति कल्याणं नेच्छति। ततः सर्वव्ययं वि श्रुतस्या-  
नुयोगं ईदृशेन वक्तव्यः; केवलं कल्पे व्यवहाररूप्याद्यद्बहुस-  
स्मन तयोरनुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतमधिकारः, एवं गुण-  
युक्तेनैव कल्पव्यवहारयोरनुयोगः कल्पेव इत्यर्थः। कस्मादेवमु-  
च्यते?—शिष्याणां स्थिरीकरणार्थम् ।

तदेवं स्थिरीकरणं माभवति—

एसुस्समाठियप्पा, जयथाऽपुन्ना ता दुरिसंयतो वि ।

तासु न वद्धं नूणं, निच्छयभ्रो ता वि अक्करिज्जा ॥

यथा नाम यथोक्तगुणशतकलितः कल्पव्यवहारयोरनुयोगं क-  
रोति तथा शिष्या एवमेव बुध्यन्ते—एष स्वयुक्तमर्थं सिध्यताम्सा,  
अथ च कथं व्यवहारं च यतनया पञ्चकादिपरिहाणिरूपया  
प्रतिषेचनाः अनुज्ञाताः प्रशस्यन्ति। ततः प्रतिषेधनायतनया अनु-  
ज्ञाता अपि प्रदर्शयन् स्वयं तासु न वर्तते, किंतु केवलमुत्सर्ग-  
माचरति, तदेवं हायते नूनमेव, निश्चयेनैता यतनया अनुज्ञाता अपि  
प्रतिषेचना अकरणीया न समाचरितव्याः।

किञ्च—

जो उच्चमोहं पडभो, मग्गो सो बुग्गमो न सेसाणं ।

आपरियमिं जपंते, तद्दुच्चरा केण सीऽज्जा ॥

य उच्चमैशुंयमिः प्रकृतः सुखां मार्गः पन्थाः स शोषणां दुर्गमो  
न भवति, किं तु सुगमः; तत्र आचार्ये यतमाने यथोक्तवृत्तित्या  
प्रयत्नवति, नचतुच्चरास्तदाभिज्ञाः शिष्याः केन हेतुना सीदंयुः?,  
मैव सीदंयुवति भावः। तत्र यतनेन कारणेन कल्पव्यवहारयो-  
रनुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतम् ।

अपुभोगमि य पुच्छा, अंग्गाइ अ कपण्णनिक्खेवो ।

सुयस्त्वे निक्खेवो, इकेके चउविहो होई ॥

अनुयोगे अङ्गादेः पुच्छा वक्तव्या, तदनन्तरं कल्पस्य चतुः निक्षे-  
पः, ततः अल्पकन्धे च एकैकस्मिन् निक्षेपानुविधौ प्रवर्तति  
वक्तव्यः। एष ब्राह्मणासमाप्तार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विचारीषुः प्रथमतोऽनुयोगे अङ्गादेः, पुच्छामाह-  
जइ कप्पाइऽपुभोगो, किं सो अणं उपाहु सुयस्त्वे ॥

अज्जयणं उदसो, पडिववसंगादिणो बद्धो ॥

यदि कल्पादिपरिहायाद् व्यवहारस्य प्रदहमनुयोगस्ततः  
किं सोऽङ्गमुत्तरो बुतस्कन्धोऽप्यवयवमुद्देशो वा। अमीनां आङ्गा-  
नां प्रतिपन्ना बहवोऽङ्गादेवो कल्प्याः। इयमत्र भावना—यदि  
नामैतादृशेनाऽऽवयवयानुयोगः कल्पस्य व्यवहारस्य च कथं-  
व्यः, स कल्पे व्यवहारो वा किमङ्गमन्विता, सुतस्कन्धः सुत-  
स्कन्धाः, अन्वयनमन्वयनानि, उद्देश उद्देशाः ।

अथ सुरिराह—

सुयस्त्वेभो अज्जकयखा, उदमा चेव हुंति निक्खिप्पया ।

सेसाणं पडिसेहो, पंचहइ वि अंगमपारोणं ॥

सुतस्कन्धोऽप्यवयवानि उद्देशा एते त्रयः पन्ना प्रवन्ति निक्षेप्याः  
स्वाभ्या आदरणीया इत्यर्थः। शेषाणां पञ्चानामप्यङ्गादीनां प्र-  
तिषेधः। तद्यथा—कल्पे व्यवहारो वा—नाङ्गानि, सुतस्क-  
न्धो नां सुतस्कन्धाः, अन्वयनं नान्वयनानि, नो चद्देश उद्देशाः।

तम्हा उ निक्खिविस्सं, कप्प व्ववहारो सो सुयस्त्वेभं ।

अज्जकयणं उद्देशो, निक्खिविस्सं तु जं जत्तय ॥

यस्मादेवं तस्मात्कल्पं निक्षेप्यामि, व्यवहारं निक्षेप्यामि, स्क-  
न्धं निक्षेप्यामि, अन्वयनं निक्षेप्यामि, उद्देशं निक्षेप्यामि, यथा  
यत्र निक्षेपस्य नामादिचतुःप्रकारं पदप्रकारं च तत्र वक्तव्यमि, तत्र  
कल्पस्य यद्यपि नामादिका निक्षेपाः यत उक्तं आह्वारणाध्याया-  
‘कल्पकृत्निष्केषो’ व्यवहारस्य चतुर्विधो नामादिनिक्षेपः।

एतयोः स्वस्थानमाह—

आऽह्णायां दुहइ वि, सद्धानं होइ नामनिक्खेवो ।

अज्जकयणस्स चउविद्धे, उदसस्सऽणुगमे भण्णिओ ॥

आद्ययोर्द्वयेः कल्पव्यवहारयोर्व्याधकं बद्धस्य चतुष्कल्प-नि-  
क्षेपस्य स्थानं भवति नामनिष्पन्ने निक्षेपे, ततः स तत्र वक्तव्यः  
तत्र कल्पस्य पञ्चकल्पे, व्यवहारस्य पात्रिकाया अन्वयनस्य  
चतुष्प्रकारो निक्षेप इत्येवमिष्ये निक्षेपेऽभिधास्यते। उद्दे-  
शस्य चानुगमे उपोद्घाते नियुक्त्यनुगमे अणितः।

संमति ‘सुयस्त्वेभं निष्केषो’ इत्यादित्याख्यानायैमाह—

नामसुयं उवणसुयं, दम्बसुयं चेव होइ जावसुयं ।

एमेव होइ स्त्वेभं, पम्बवणा तोरिंसे पुव्णुचा ॥

सुतस्य चतुष्प्रकारो नामादिको निक्षेपः। तद्यथा—नामसुयं  
स्थापनासुतं कल्पसुतं भावसुतं च। एवमेव अनेनैव प्रकारेण,  
स्कन्धेऽपि चतुष्प्रकारो निक्षेपः। तद्यथा—नामस्कन्धः, स्थापनास्क-  
न्धः, कल्पस्कन्धः, भावस्कन्धश्च। एतेषां प्रज्ञापना पूर्वमाव-  
श्यकं कल्पावधारणीया। गतं कथ्येति ब्राह्म ॥ वृ० १ उ० ।

( १८ ) इदमेव सत्यमं गतं वेतति मिश्राय सूत्रकाराह—

नाणं पंचविद्धं एणचत्तं । तं जहा—आजिणिषोहिणनाणं,

सुयनाणं, ओरिहियाणं, मणपज्जवयाणं, केवलनाणं ॥

यदि नाम ज्ञानं पञ्चविधं प्रकृतं ततः किमित्याह—

तस्य चत्वारि नाणां उण्यां उविणिजाइं षो उद्दिस्तं-  
ति, षो समुद्दिस्तंति, षो अणुसुविज्जंति । सुयनाणस्स  
उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओमो य पवत्तइ ॥

(तस्येत्यादि) तत्र तसिन्वन् अणुपञ्जके आभिनिर्वाधिकावधिमन-  
पर्थिक्तव्याख्यानि वान्नि ह्यभिनि (स्पृष्टं ति) स्वाध्याय-  
संबन्धवहायोणि । ध्वयहारनये हि यदेव होकस्योपकारे वसंतं  
तदेव संबन्धवहाये मन्थते । होकस्य च हेयोपारिधेयवशो निभु-  
त्सिप्रभुत्तिहारोप प्रायः भुतमेव साहादयन्तोपकारि । यद्यपी कं-  
षलादिदृष्टमथं भुनमनिषत्से तथापि गौणवृत्त्या तानि लोकोप-  
कारीणीति ज्ञावः । बहुकन्याथेनासंबन्धवहाय्योणि तानि ततः किं-  
मियाह-(उबखिज्जांरं ति) ततः स्थापनीयानि पदानि तथापि शो-  
षकात्तन्मोऽसंबन्धवहायैवाभिनि (स्पृष्टं ति) स्वाध्यायसमुद्देशाद्य-  
बलसंश्लेषकार इत्यर्थः । अथवा स्वाध्यायसुखलापि स्वस्वरूपप्रति-  
पादनेऽप्यसमर्थानि, नाहि शब्दप्रत्येके स्वस्वरूपमपि केवलात् ।  
इति प्रतिपाद्यंयितुं समर्थानि । शब्दव्याप्त्यन्तरमेव भुतत्वमेक इ-  
ति स्वपरस्वरूपप्रतिपादने अतमेव समर्थम्, स्वरूपकथनं चेदम्,  
अतः स्थाप्यनि अणुखण्डाणि यानि चत्वारि ज्ञानानि तानिहाजु-  
योगादारविचारप्रक्रमः । किमित्याह—अणुपयोगिव्याप्तापनीया-  
न्यनधिकृतानि; यथैव ह्युद्देशसमुद्देशानुद्वायः क्रियन्ते तत्रैवाऽ  
नुयोगस्तद्गाराणि चोपक्रमद्वानि प्रवर्तन्ते । एवंयुते त्व्याच-  
रविभूतज्ञानमेवेत्यत उद्देशाद्यविषयव्यादनुपयोगीनि शेष-  
ज्ञानानि इत्येतोऽनाधिकृतानि । अग्रह-अणुपयोगं व्याख्यायाम्,  
तत्र शेषज्ञानचतुष्टयस्यापि प्रवर्षतं पश्चेति कथमनुपयो-  
गित्वम् ? ननु समथयत्वाभिनिर्हतात्त्विकमेवेदं वचः , यत-  
स्तत्राऽपि तद्ज्ञानप्रतिपादकानुसंदर्भे एव व्याख्यायते, स च  
भुतमेवेति, भुतस्यैवानुपयोगप्रवृत्तिरिति । अथवा स्थाप्यानि सुव-  
न्धोऽन्तेनोद्देशाद्यविषयज्ञानानि । अतदेव 'अणुपयोगा-  
भिनिर्हतात्त्विके' इत्येवमुक्तिः । अणुपयोगव्याप्त्यादितिगम्यो-  
त्त्वाद् विविधमन्त्राद्यतिशयसम्पन्नत्वाद् प्रायो गुरुपदेशायेकं  
भुतज्ञानम्, तत्र गुरोरन्तिकं शुद्धामाणं परमकट्याणकोदायव्याउद्-  
देशादिविधित्वा गृह्णन् इति । तस्योद्देशादयः प्रवर्षन्ते, शेषाणि तु  
चत्वारि ज्ञानानि तद्वारणक्रमेक्योपशमार्थान् स्वन एव जाय-  
मानानि मोद्देशादिप्रक्रममपेक्षन्ते । यत्तथैवमत् आह-नां उद्वि-  
सिज्जंतीत्यादि' । नां उद्विरयन्ते नां समुद्दिश्यन्ते नां अनुज्ञायन्ते  
। अणु० एवं भुतस्यैव उद्देशाद्यः प्रवर्षतं न दोषकानानाम् ।  
अत्र चानुपयोगीत्वाधिकारो न शेषः, अनुपयोगद्वारविचारस्यैव-  
ह प्रकृतत्वत् । अत्र यथाऽभिहितमनुपजवौवाह शिष्यः—

जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओमो य  
पवत्तइ, किं अंगवाहिस्स उद्देसो अणुण्णा अणुओमो य प-  
वत्तइ, किं अंगवाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओमो य  
पवत्तइ ? अंगपविट्टस्स वि उद्देसो जाव पवत्तइ, अंगप-  
विट्टस्स वि उद्देसो जाव पवत्तइ । इमं पुण पट्ठयां पट्ठञ्च अ-  
णंगपविट्टस्स अणुओमो । जइ अंगपपविट्टस्स अणुओमो,  
किं कालिअस्स अणुओमो, उकालिअस्स अणुओमो ? कालि-  
अस्स वि अणुओमो, उकालिअस्स वि अणुओमो । इमं  
पुण पट्ठयां पट्ठञ्च उकालिअस्स अणुओमो । जइ उका-  
लिअस्स अणुओमो, किं आवस्सगस्स अणुओमो, आव-

स्सगवित्तिरत्तस्स अणुओमो ? आवस्सगस्स वि अणुओमो-  
गां, आवस्सगवित्तिरत्तस्स वि अणुओमो ॥

( यदीत्यादि ) यथुक्तमेव भुतज्ञानस्योद्देशः समुद्देशोऽग्राह्य  
अनुपयोगश्च प्रवर्षते तर्हि किमसावङ्गप्रविष्टस्य प्रवर्षते, अता-  
ङ्गवर्षत्यस्येति ? तत्राङ्गेषु प्रविष्टमन्तेनमङ्गप्रविष्टं भुतमाचार्यदि,  
तद्वासाहसुत्तरावयनादि । अत्र गुणिर्विचिन्तनाह-( अंगपविट्टु-  
स्स उ)त्यादि अपिशाब्दे परस्परसमुखाथार्थं । अङ्गप्रविष्टस्या-  
प्युद्देशादि प्रवर्षन्ते, तद्वासाहस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं  
प्रारम्भं प्रतीत्याभित्याङ्गकाहस्य प्रवर्षते नेतरस्य; आद्यस्यकं यत्र  
व्याख्यास्यते तच्चाङ्गवाहमेवेति भावः । अथाङ्गवाहस्येति सामान्योक्तौ  
सत्यां संशयानो विनये आह-[जइ अंगवाहिरस्ये-  
त्यादि] यथाङ्गकाहस्योद्देशादि; किमसौ कालिकस्य प्रवर्षते त-  
त्कालिकस्य वा ? त्रिधाऽप्यङ्गकाहस्य संन्यवार्दिति ज्ञायमा; तत्र  
दिवस्निशाप्रथमचत्तरपौरोहित्येण कालेऽधीयते मान्यत्रेति  
कालिकसुत्तरावयनादि । यत्तु काङ्क्षंतामात्रवर्षे अंगकालानि-  
यमेन पठ्यते तदुक्तकालिकमावश्यकादि । अत्र गुरुः प्रतिवचन-  
माह-( कालिस्स वीत्यादि ) कालिकस्याप्यसौ प्रवर्षते, उ-  
त्कालिकस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं प्रती-  
त्याङ्गिकस्य मन्थयम् । आवश्यकमेव शब्द व्याख्यास्यते, त-  
थाङ्गकालिकमेवेति ह्येत्यम् । उत्कालिकस्येति सामान्यवचनं वि-  
शेषजिज्ञासुः पृच्छन्ति-[जइ उक्ताङ्गस्येत्यादि] यत्तु कालिकस्या-  
द्देशादित्कालिकाहस्यकस्यापि प्रवर्षते ? अथवाऽऽद्यप्रत्यभि-  
रिक्तस्य ? ; उभयथाऽप्युत्कालिकस्य संन्यवार्दिनि । परमार्यस्तत्र  
अरणेः श्रवकेभ्योऽन्यस्तत्प्रायशकरणादावश्यकं सामर्थ्यं  
कादिपकथयन्तकत्रापि । तस्मान्नु इत्यतिरिक्तं जिभं दशविशु-  
कादि । अतस्मात् इति व्याख्यानवत् । अस्यादि । अणुपयोगव्या-  
प्तीत्योद्देशादिः प्रवर्षते किमिदं प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं  
प्रतीत्यावश्यकस्यानुपयोगो नेतरस्य, सकलमाचार्याग्राह्यत्वाद्-  
स्यैवेद शेषपरिहारं व्याख्यानादिति भावनीयम् । उद्देश-  
समुद्देशानुद्वाहस्यैव इति प्रवर्षतेमाना अर्थवत् भावित्वाः, अनुपयो-  
गावसरत्वात् । अतस्त्वपि र्दिहं गोः क.म् -(अणुओमो स्सि) अनु० ।

इमं पुण पट्ठयां पट्ठञ्च आवस्सगस्स अणुओमो । जइ आ-  
वस्सगस्स अणुओमो, किं अंगं अंगं सुअत्रंयो सुअत्रंयो सुअत्रंयो  
अउज्जयाणं अउज्जयाणं उद्देसो उद्देसो ? आवस्सगस्सं नो  
ओमो नां अंगं अंगं नो सुअत्रंयो नो सुअत्रंयो नां अउज्जयाणं  
नो अउज्जयाणं उद्देसो नां उद्देसो ॥

इदं पुनः प्रस्थापनं प्रतीत्यावश्यकस्यानुपयोग इति पुनरपि आह-  
(जइ आवस्सगस्सत्यादि) यथावश्यकस्य प्रस्तुतोऽनुपयोगस्ताई  
किमपी गमिनि वाक्यावकाशे, किमिति पारम्भकं, किमकं चाऽश-  
क्त्यन्तं नमङ्गमिदं तद्बहुपञ्जालि । अर्थकः भुनक्तव्यो बर्धयो  
वा भुनक्तव्याः, अथयनं वैकं बहुनि वाऽप्यवयवनि, उद्देशको  
वा एको बर्धयो वा उद्देशकारः, इत्येतो प्रश्नाः । तत्र भुनक्तव्योऽप्य-  
यनानि वेदं प्रति प्राप्तिपत्तव्यम् । पदवचनान्तकभुनक्तव्यरूप-  
त्वादस्य । दोषास्तु पद प्रश्ना-अनादयोः, अनङ्गद्विकल्पव्यात् । इत्ये-  
तदेवाह-(आवस्सगस्स गमित्यादि) अत्राह-अन्मात्रस्यकं किम-  
ङ्गमङ्गानीत्येतत् प्रश्नाद्वयमत्रावयवाकाशमेव, मन्थयथ न पद्याव्या-  
ङ्गप्रविष्टमेव निगीतत्वात् । तथाचाप्यङ्गकाहोऽङ्गकालिकमेवान-  
न्तरमेयोक्तव्यादिति । अत्रोच्यते-यथावदुक्तं न्यायवचनं पदे-

त्यादि । तदुक्तम् । यतो नावश्यकनन्वयवयनं व्याख्याय तद्विद्  
व्याख्येयमिति नियमाऽस्ति , कदाचिदुद्योगादारभ्याऽव्याख्यानस्यैव  
प्रथमं प्रकृत्यैः अनियमभाष्यकक्षायमेव स्वोपपन्नासः, अन्यथा  
ह्यह्नाह्वारव्यवस्थे तथैव निश्चितः, किमिहाङ्गानङ्गप्रविष्टविन्ताष्ट-  
श्रोपपन्नासेनेति ? ।

अणुना तद्द्वारं वक्तव्यम् । यदाह—

तस्स एषं इमे चत्वारि अणुश्रीगोदारा भवन्ति । वं जडा  
उक्त्वयम् ? एषिक्त्वे ३ अणुगमे ३ एषु ५ ॥ अणुः ० ।  
इदानीं भेदद्वारं तेषामेव द्वापारामाणुपूर्वी नाम प्रमाणदिकोऽ-  
भेदोक्तस्वक्यां प्रेदो वक्तव्यः ।

( १६ ) तथाऽणुयोगस्य लक्षणं वाचयम्—

यदाह—

“संघियायपदं चैव, पयस्थो पयविभागो ।  
चाणनाय य पसिदी य, उद्विषे विद्वि लक्षणम्” ॥  
प्रथमं कृते सति ( पसिदि णि ) चाणनायां सत्यां प्रसिद्धिः  
सनाधानम्, ( विदि णि ) जानाहि । व्याख्येयसूत्रस्य च “अल-  
यमुद्योगजणयमित्यादि” द्वाविशदोषपरिहितत्वादिक्तं द्रव्यं व-  
क्तव्यम् । अणुः ० ।

( २० ) यथाकगुणयुक्तस्य सूत्रस्य कोऽहं इत्यनेन संश-येन  
तद्द्वेद्वारमापनितम् । तत्र सोऽहं उरिष्कदादिदृष्टान्त—  
स्यापनयभूतस्तत आह—

उद्विष्य नृमी पद्विष, पुरिमगहणं तु पदमश्रो कांउं ।  
एवं परिक्लियम्मी, दायव्वं न वा पुरिमे ॥

नवे नगरे निवेद्यमाने प्रथमतो नृमिः परीक्ष्यते, तदनन्तरं पी-  
यिकाः एवमत्रापि प्रथमतः पुरुषमहणं कृत्वा तदनन्तरं परीक्षा  
कलैःश्या-किमयमपरिणामकोऽप्रतिपरिणामकः, परिणामको वेति ? ।  
एवं पुरुषे परीक्षिते दातव्यं, न वा अपरिणामको अप्रतिपरिणाम-  
को वा न दातव्यम्, परिणामको दातव्यमिति गाथासंज्ञेपाथैः ।

संप्रतिमेनामं व विद्योपुराह—

अग्निवननगरनिवेशे, समनृमिर्विरेयणऽखरविद्विन्तू ।  
पादेऽ उंनियाश्रो, जा जस्म चाणसोहृणया ॥

स्वर्णं कुदृण उवणं, पीहं पायाय रयण सुहवासो ।  
इअ संजमनगर्लक्ष्य-लिणं पिचउत्तसोहृणयं ॥  
वरि इदमठवएणानिजा, पेदं पुण होअ नाव मूयगदं ।  
पासाय जह्दि पगयं, रयएणानिजा हुंति अत्यपया ॥

अग्निने नगरे निवेद्यमाने प्रथमतो नृमिः परीक्ष्यते, परीक्ष्य  
च तस्याः समनृमिर्विरेजन् विद्योयते । तदनन्तरमङ्करविधिहा  
या यस्य योष्या नृमिस्तस्य तस्याः प्रदानायमुपि प्रासादकः अङ्करसं-  
हिताः मुद्रिकाः पातयति । ततः स्वस्थानस्य बोधनता-शोधनम् । ततः स्वस्थाः ३ भूमेः क्षमनं, तदनन्तरं वृषणीरिष्टकाःशकलानि  
प्रक्षिप्य तेषां कुदृणं, ततस्तस्योपरि दृष्टकानां स्थापनं, तदनन्तरं  
यावत् स्वयं तावत् पीडं, ततस्तस्य पीडकस्योपरि प्रासादकरणं,  
तदनन्तरं तेषां प्रासादानां रत्नैरापूरणं, ततः सुखेन वासः परि-  
षलनम् । एष दृष्टान्तः । अग्रमद्योपयण-नृमीमहणद्वयानां पुरुष-  
पणनं, शुकं पुरुषं परीक्ष्य तस्य प्रज्यवदानमित्यर्थः । तत “इति”  
पद्यमुक्त्वाणनगरनरस्थानीयं संशये द्वापारमेत, तत उरिष्कदा-

स्थानीयं रजोहरणविद्वि लक्षणं दीयते , तदनन्तरं मिथ्यात्वस्य  
ज्ञानस्य च कच्चरस्थानीयस्य शोधनं, ततः शोषयित्वा मि-  
थ्यात्वं समूलमुत्खन्य स्थिरीकरणमिति संशयकत्वमुपश्लेषेच्छे-  
पयमिच्छते । मिथ्यात्वपुनःशान्त्यकत्वत् कुदृष्टिया अस्मच्छाणानि-  
मिव कृत्वा । तत उपरि दृष्टकास्थापनमिति ज्ञानानं दीयते, तत  
भावशक्यमादि कृत्वा यावत् सुखेन तावत्पीडं जयति, ततो  
यकाभ्यां प्रकृतं तो कल्पव्यवहारी प्रासादस्थानीयौ द्वीयते, तना-  
शोधनानि यानि तानि रत्नमिजानि । गतं तद्द्वेद्वारम् । हू १ उ ० ।  
तथा तस्यैवानुयोगस्य परिपद्य वक्तव्यः । ( सा च ‘सलपणकुड-  
ग’ इत्यादिदृष्टान्तैः परीकृतयन्ति ‘संस’ शब्दे , हापिकादिका  
च त्रिविधा पयंत् ‘परिसा’ शब्दे वषयते )

( २१ ) संप्रति कयाऽधिकार इति प्रतिपादयति—

उत्तंतिभाए पगयं, जद्व पुण सा होऽज्जोमिहं उव्वेया ।  
तो देति जेहं पगयं, तदभावे ठाणमादीणं ॥

अत्र उत्रानतिक्रिया पर्यदा प्रकृतमधिकारः, शोषाः पयंत् उत्ररि-  
तसदृशा इति प्रकृत्याः । तत्र यदि सा उत्रान्तिका पयंत् एजि-  
पेदयमार्येगुंरुपेता भवति तदा यकाभ्यामत्र प्रकृतं तवकी  
व्यवहारी सुरयो वदति, नद्रव्यं चक्ष्यमाणणामाभावे स्थानादी-  
नि, आदिप्रदहनेन प्रकीर्णकानं परिश्रमः ।

अथ के ते गुणा इत्यत आह—

बहुशुभ्र चिरपव्वइए, कर्पिप य अवेचज्जो ।  
अवद्विप य मद्दवां, अपरिज्जाविश्रो विउं ॥  
पने य अणुश्रीगो, भावतो परिणामो ।  
एयारिसे महाभागे, अणुश्रीगो सोऽपरिहइ ॥

बहुशुभ्रमिद्वरप्रजिनः, कल्पिकोऽवच्छ्रतः, अवस्थितो, मेघाशी,  
अपरिभाशी, यच्च विद्विद्वान् प्रकृतंशयथावत्परिमलितकुलिः,  
( पने य स्ति ) पात्रं प्राप्ता वा तथाऽनुज्ञातः सन् भावतश्च परि-  
णामकः , एतदृशो महाभागोऽणुयोगे श्रेतुमहिति, सामर्थ्याव  
कल्पव्यवहारयोः । एष दारगाथाद्वयसंज्ञेपाथैः । हू १ उ ० ।  
( बहुशुभ्रानां निमित्तिकादीनां च धराभया स्वस्थाने  
दृष्टव्या ) एतत्सर्वमभिधाय ततः सूत्राभो वक्तव्यः ।

( २२ ) सोऽणुयोगवचतुर्बिधोभवति—

सुयनाए अणुश्रीगो-एऽऽहियं सो चउव्विहो होइ ।  
चरणकरणानुयोगे, धम्मं काले य दविप य ॥

कथम्, चरणकरणानुयोगः, चर्यत इति चरणं प्रताडि, यथोक्तम्—  
“ वय समणधम्म संजम, वेयावचं च वंजं मुत्तु” । आणादि-  
तियं तवका—इतिमग्गहादी चरणमेयं” ॥१॥ कियन् इति करणं-  
पियदविद्विद्व्यादि । उक्तं च—“पियदिसोहो समिदं, भावणुपडि-  
माह इदियनियोहो” । परिभेहणमुत्तुश्रीगो, अग्निमग्गा चैव करणं  
तु” ॥ १ ॥ चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः । अनुकरो  
योगोऽणुयोगः—सुखस्थानेन साधंमनुरुपः संशयो व्याख्यान-  
मित्यर्थः । एकारान्तः शब्दः प्राकृतवीद्या प्रथमाद्वितीयातोऽपि  
कृद्व्ययः । यथा “कथरे आगाक्कं दिक्षकवे” इत्यादि । धम्म इति  
धर्मकथानुयोगः । काले वेति कालाऽणुयोगश्च गणितानुयोगः ।  
क्षेत्र्यर्थः । द्रव्यं वेति द्रव्यानुयोगश्च । तत्र काशिकेषुतं चरणकर-  
णानुयोगः, अप्रतिभाषितानि उरुशारथ्ययानादीनि धर्मकथानु-  
योगः, सूत्रप्रकृत्यादिगणितानुयोगः, दृष्टिवादस्तु द्रव्यानुयोगः



इति । उक्तं च- "काशियसुयं च इतिमा-सियाई तदयो य स्वरूप-  
 णी । सत्वो य द्विचिदायो, अरुणको होइ अणुभोगो " इति  
 गाथायैः । इह बौधतोऽणुयोगो द्विधा-अणुधक्त्वानुयोगः पृथ-  
 क्वानुयोगश्च । तन्माधक्त्वानुयोगो धक्त्वसिद्धयै सत्त्वं सर्वं यत्र  
 अरणाद्यः प्रकल्पन्ते, मननागमपर्योयत्वात्तुत्रस्य । पृथक्त्वानु-  
 योगश्च यत्र कश्चित् सूत्रे अरणकरणमेव, कश्चिदणुपर्यमेकथा वे-  
 त्प्यादिति । दृश० १ अ० । अरणुकरणानुयोगः " भोद्रेण उ वि-  
 उक्तुः, बोधं अरणकरणानुभोगो " इति नियुक्तिगाथाया-  
 अरणकरणस्येति वक्तव्ये शैलीं त्यक्त्वापञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्ना-  
 चायै पतञ्जापयति-सन्त्यन्त्येऽणुनुयोगा इति । तत्राह- 'अर-  
 णुकरणानुयोगाद्भवे नान्यानुयोगेभ्यः' इति । तथा षष्ठी त्रिविधा  
 दृष्टा-भेदपृष्ठी, अमेदपृष्ठी च । तत्र भेदपृष्ठी यथा-देवदत्तस्य  
 गृहम् । अमेदपृष्ठी यथा-तैलस्य धारा, शिवाणुधक्त्वशरीर-  
 मिति । तत्र यदि अष्टधा उपन्यासः कियते ततो न ज्ञायते, किं अ-  
 रणुकरणानुयोगस्य शिक्षामोचनियुक्तिं बह्वे, यथा-देवदत्तस्य  
 गृहमिति, आहोस्मिदभिर्नां बह्वे, यथा तैलस्य धारेत्यस्य संभो-  
 दस्य विदुस्वर्यै पञ्चम्या उक्तप्यासः कृत इति । एवं व्याख्याते स-  
 त्यपरस्वाह-अस्तीत्येकचनम्, अणुयोगा बहवश्च, तत्कथं बहु-  
 र्प्रतिपादयति ? उच्यते-अस्तीति तिकृन्तप्रतिरूपकमभ्ययम् ।  
 अभ्ययं च- "सहसं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभाक्तवु । वच-  
 नेषु च सर्वेषु, यत्र श्येति तद्व्ययम् ।" ततो बहुवचं प्रतिपादयन्त्ये-  
 येत्यर्थः । अथ वा-व्यवहितः संप्रथोऽस्तिशब्दस्य, कथमित्यम्,  
 बोद्धकचनम् । षष्ठी सन्त्यन्त्ये किमिति न भवति विमर्शः । आ-  
 चायै आह-अस्ति षष्ठीविभक्तिः । पुनरुक्त-व्यवहिते ततः प-  
 ञ्जमी भगिता किम् ? आचायै आह-अन्येऽणुनुयोगाश्चात्वारः,  
 अतः षष्ठी विष्टमानाऽपि नोक्तेति भावना पुनर्वच ।

अन्येऽपि अणुयोगाः सन्तीत्युक्तम्, न च ज्ञायन्ते  
 कियन्तोऽपिने इत्यत्र प्रतिपाद्यब्राह्म-

चचारि उ अणुभोगा, चररो धम्मगणियाणुभोगे य ।  
 द्विषियणुभोगे य तदा, जहकमं तं महद्दीया ॥ ७ ॥

अचार इति संख्यावचनः शब्दः, अणुकृता अणुरूपा वा योगा  
 अणुयोगाः । तुशब्दं पथकारार्थः । चत्वार पथे त । अन्ये तु तु-  
 शब्दं विशेषणार्थं व्याख्यानयति । किं विशेषयन्तीति खन्वा-  
 रोऽणुयोगाः, तुशब्दोऽयं अयः पृथक् ई देनात् । कथं चत्वारोऽ-  
 णुयोगा इत्याह- (अरण धम्मगणियाणुभोगे य) अयं इति च-  
 रणं, तद्विषयोऽणुयोगाश्चरणाणुयोगस्तोत्रमेव चरणाणुयोगे । अत्र  
 कोऽरूपद्वेष्टोपादित्युपपत्त्यासः अन्यथा अरणकरणानुयोग इत्येवं  
 वक्तव्यम् । स च पक्कदशाङ्ककः । (यस्मै) धारयतीति धमेः  
 दुर्गती प्रपतन्तं सत्त्वमिति, तस्मिन् धम्मे, धर्मविषयो द्वितीयाऽणु-  
 योगो भवति । स चोत्तराच्ययनप्रकारोऽणुधक्त्वः । (गणियाणुया-  
 ने यत्ति) गणयत इति गणितम्, तस्यानुयोगं गणितानुयोगः, त-  
 स्मिन्, गणितानुयोगविषयसन्तीत्यो भवति । स च सूत्रेऽणुधक्त्वा-  
 विक्रयः । अशब्दः अन्त्येकमणुनुयोगपदसमुच्चयार्थः । (द्विषियाणुयो-  
 गेयत्ति)द्वेषतीति उच्यते-तस्यानुयोगो उच्यतानुयोगः, सत्त्वसर्पाय-  
 भासोऽणुधक्त्वः, स च उच्यतानुयोगः । अशब्दाद्विनायैः सन्त्यविक्रयश्च  
 तथेति क्रमप्रतिपादकः, श्रामानोक्तेन प्रकारेण यथाक्रमं यथापरि-  
 पाठ्येति अरणुकरणानुयोगाया महाङ्कितः प्रबाना इति यदुक्तं भ-  
 वति । एवं व्याख्याते सत्याह- (अरु) धम्मगणियाणुभोगे य द्विषि-  
 यऽणुभोगे यत्ति) यथेतथा ज्ञेदोऽणुपन्यासः कियते तत्किमर्थं अ-  
 त्त्वार इत्युच्यते, विशिष्टदोषपन्यासाद्विषयमर्थोऽवगम्यत इति ।

तथा अरणपदं मिश्रया विभजया किमर्थमुपप्लस्यत ? धर्मेगणि-  
 तानुयोगी तु एकैव विभजया, पुनर्द्वानुयोगो मिश्रया विभ-  
 क्येति, तथाऽणुयोगशब्दश्च एक एवोपपत्त्यसनीयः किमर्थं द्वयानु-  
 योग इति ज्ञेदोऽणुपन्यस्ये इति । न प्रमोष्यते-यथावदुक्तं यतु-  
 प्रेक्षणं न कर्तव्यं, विशिष्टदोषोपन्यासात् । तदसत् । यतो न विशि-  
 ष्टदोषोपन्यासे विशिष्टसङ्ख्याश्रयगमो प्रवर्तित, विशिष्टदोषोपन्यासे-  
 ऽपि कृतश्चरणधर्मगणितकृत्यपदान्ति सन्तीति, अन्यात्पथि स-  
 न्तीति संशयो मा भूत्कस्याद्विदित्यतश्चतुःप्रेक्षणं कियत इति । तथा  
 यथाक्त्व-मिश्रया विभजया अरणपदं केन कारणेनोपप्लस्यते,  
 तत्रैतत् प्रयोजनम्, अरणकरणानुयोग एवाऽप्राधिकृतमाधा-  
 न्यस्यापनायै मिश्रया विभजया उपन्यास इति । तथा धर्मेग-  
 णितानुयोगी एकविभक्त्योपप्लस्यते; अत्र प्रकृते अत्रप्रधानावे-  
 ताविति । तथा द्वयानुयोगे च त्रिविधविभक्त्योपन्यासे प्रयोजनम् । अर्थं  
 हि एकैकानुयोगमीलनोक्तः इति । न प्रमोष्यते-किंकराशब्दव्युक्तिमि-  
 र्बिचारणीय इति । तथाऽणुयोगे हाब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्य-  
 ते । यत् अत्राणां पदानामतेऽणुयोगपदमुपप्लस्यते तदपृथक्त्वाऽणु-  
 योगप्रतिपादनार्थम् ; यत्र द्वयानुयोग इति तदपृथक्त्वानुयोग-  
 प्रतिपादनार्थमिति । एवं व्याख्याते सत्याह परः इह गाथा, तत्र  
 पर्यायत इदमुक्तम्- 'यथाक्रमं तं महाङ्कितः' इति । एवं तदिह अरण-  
 करणानुयोगस्य सङ्घट्टं, तत्किमर्थं नस्य नियुक्तिः किमर्थं ? अपि  
 तु द्वयानुयोगस्य उपप्लस्यते कर्तुम्, सर्वेषामेव प्रधानत्वात् । एवं  
 चोदकनाङ्कपे कृते सत्युच्यते-

सविसयवल्लवंतं पुण, लुज्जं तदि वि महद्दियं चरं ॥  
 चारि चरकखट्ठा, जेणियरे तद्धि अणुभोगा ॥ ८ ॥

खट्ठासौ विषयशब्द स्वविषयः, तस्मिन् स्वविषये, बलवत्त्वं पुन-  
 सुंज्यते घटते । पतञ्जकं प्रवर्तित-आत्माऽऽत्मीयविषये मर्मे एव  
 बलवन्तो घर्तन्त इति । एवं व्याख्याते सत्यपरस्वाह-यथेति सर्वेषा-  
 मेव नियुक्तिकरणं प्राप्तम्, आत्माऽऽत्मीयविषये सर्वेषामेव बलवत्त्वा-  
 त् ; तथापि अरणकरणानुयोगस्य न कर्त्तव्येति । एवं चोदकनाऽऽ-  
 शङ्किते सत्याह मुक्तः- ( तह वि य महद्दियं अरणं ) तथाऽप्येव-  
 मपि स्वविषये बलवत्त्वेऽपि सति महद्दिकं चरणमेव, शेषानुयो-  
 गानां अरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानतः पूर्वोऽन्यन्तररक्षणार्थं  
 पूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च । शेषानुयोगा अन्येवंबुद्धभूताः । यथा हि  
 कपूर्वरूपार्थं वृत्तिकयादीयत, तत्र हि कपूर्वरूपेण प्रधानं न तुन-  
 र्भूतः । पदमभ्यापि चारित्ररक्षणार्थं शेषानुयोगानामुपन्यासः ।  
 तथा चाह-[ चारित्तरक्षणज्ञा जेणियरे तद्धि अणुभोगा ]  
 चारित्रमेव चारित्रं, तस्य रक्षणं, तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं, येन  
 कारणेन इतर इति धम्मोऽणुयोगाह यत्तयोऽणुयोगः इति ॥  
 एवं व्याख्याते सत्याह-कथं चारित्ररक्षणमिति वेत्त तदाह-

चरणपरिविचिदेह, धम्मकट्ठा कालदिकमवादाया ।  
 द्विषे दंसणमुक्की, दंसणमुक्की अ चरंणं तु ॥ ९ ॥

अथेते इति चरणं प्रतीति, तस्य प्रतिपत्तिः अरणप्रतिपत्तिः ।  
 अरणप्रतिपत्तेः हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायः । किं तदा  
 इ-धर्मकथा, दुर्गती प्रपतन्तं सर्वसंघातं धारयतीति धर्मे, त-  
 स्य कथा कथनं ; कथाचरणप्रतिपत्तिहेतुः धर्मकथा । तथाहि-  
 आक्षेपपर्यायधर्मकथाऽस्तीत्याः सन्तो अभ्यधागिन्धारिन्तं प्रानु-  
 वन्ति (कासे दिक्कमादा यत्ति) कसंनं काला; कलासद्वदो धा  
 कासं; तस्मिन् कासे, दीक्षादयःपीकपं दीक्षा प्रपञ्चप्रदानम्, वा-  
 दिशब्दादुपस्थानाद्विपरिग्रहः । तथा च शोऽनन्तितियनक्कमकुसू-

योगादौ प्रमथ्याप्रदानं कर्तव्यम् । अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरणात् इति ( इषिय सि ) इत्येव द्रव्यानुयोगे ऽर्कं भवतीत्यत आह - ( ईसण्युसिचि ) इदमं सभ्यगृहधेनवमभिधीयते, तस्य गृहकिर्तिर्मत्तता इदमगृहः । एतन्नृकं भवति-द्रव्यानुयोगे सति इदमगृहकिर्तिर्भवति, सुकिर्तियथावद्विद्यतार्थपरिच्छेदात् । तत्र च अण्यमपि युक्तं यन्मृगमेष इह । तस्यै न पुनरागमोदेष कव-लादिस्थाह-दृशेनगृहस्यैव । किं तदाह ?-दृशेनगृहस्य-दृशेन गृह-पस्थाऽसी इदमगृहस्यैव, चरणं चारिषं भवतीत्यर्थः । तु-शब्दो विशेषणं । चारिष्युस्य इदमगृहमिति । अथवा-प्रकारान्त-रेण चरणकरणाद्युयोगस्यैव प्राधान्यं प्रतिपद्यते । आदिपूत-स्वाऽपीति ।

तत्र दृष्टान्तबलेनावलं भवति मान्यत्वेत्येवो दृष्टान्तद्वारेणाह-

हृद रजो विसर्पम्, बद्धकरणग्रयत्यलोहे इति ।  
 चत्वारि आग्रा स्रुषु, चडहइ पुत्राव ते दिक्षा ॥ १० ॥

यद्येत्साहृद्योपन्यासे, राज्ञो विषयेषु जनपदेषु ( बरर सि ) व-  
 ज्ञाकरो भवति, बज्राभि रमानि तेषामाकरः खविषंज्ञाकरः । सि-  
 तासोहाग्ररिपे इत्यतः सिहावलोकितापथ्येनाऽऽकरग्रहणं सं-  
 भव्यते । एतेन कारणेन 'होइ हुति' इत्यतः किंवा सर्वं  
 मालनीयेति । कनकं सुवर्णं तस्याऽऽकरो भवति तथा द्वितीयः ।  
 रजनं कर्णं तद्विषयञ्च तृतीय आकरो भवति । अथायः स-  
 मुच्ये । अनेकभेदभिरुपनाकारान् समुच्चिनोति ( लोहे व सि )  
 सोहइ-अथः, तस्मिन् लोहे, लोहविषयञ्चतुर्थ आकरो भवति । अ-  
 शब्दो मृदुकठिनमभ्यलोहसमुच्चयायकः 'चत्वारि' इति संख्या ।  
 आकिरन्त एतेऽभित्याकाराः, तथा च मर्यादाया अग्निविधिना वा  
 क्रियते बज्रादीनि येष्विति । अणुशब्दो विशेषणं । किं विधान-  
 इ-सविषयाः सद्भावेऽथः पुत्रेषु चोदत्तञ्चतुर्थी पुत्राणां  
 सुनानां त इत्याकारः, दक्षा विजका इत्यर्थः ॥ १० ॥

अधुना प्रधानोत्तरकाले येषां तदुच्यते-

चिंता सोहाग्ररिपे, पक्षिनेहं कुण्डं सो इहस्स ।  
 बद्धादीहं य गृह्यथं, करंति लोहस्स ते लोहे ॥ ११ ॥

सोहाऽऽकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकः तस्मिन् लोहाकरिके  
 चिन्ता भवति-राज्ञा परिभूतोऽहं येन ममाग्रान आकरो दक्ष, ।  
 एवं चिन्तायां सत्यां सुबुद्धमिधानेन मन्त्रिणाऽजिहितः-देवः ।  
 यां विन्तां कुह, भवद्द्वय एव प्रथम आकरो न शेषा आकरा  
 इति । कुत एतद्वचसीयेत ! यदि प्रथमस्य ( लोहाः ) करो न प्रथ-  
 तस्यमं शेषाकाराप्रकृतिः-सोहादेवकरणाभावात् प्रकृतिरिति । ततो  
 निर्वोदं अथाव कारयतु कतिचिद्विधानि, यावत्पुत्रैश्च प्रतिपद्यते  
 तेषुपकरणजातं, पुनः सुमहाधर्मं ते लोहं प्रदीष्यन्ते इत्यत  
 आह - [ पक्षिनेहमित्यादि ] प्रतिषेधोदाहरणान्तं प्रतिषेधं करो-  
 त्यसौ, लोहं प्रतीतमेव, तस्य लोहइत्यं । तुशब्दो विशेषणं  
 केषममनिर्वाहं करोति, अणुपुत्राणामिरोधं च । ततश्चैवकुते  
 शेषाकारपुत्रैरुक्तः इयं प्रतिपद्यते, ततस्तेऽवज्ञादितिः प्रदं  
 कुर्वन्ति । कस्येत्यत आह-सोहइत्यं । के कुर्वन्ति ? । इतरे बजा-  
 कारिकादयः अथान्याश्च केषां बज्रादिविधेरुपस्थितिः । अत्र  
 कथानं कल्पद्वयान्त्रिभिः । अयं दृष्टान्तः । सांमनं दाष्टी-  
 क्रमोऽना क्रियते-यथाऽसी लोहाकर आचारजुतः शेषाकराणाम्,  
 तस्यपुत्री शेषाणामपि प्रकृतेः । एवमन्यथाऽपि, अथवकरणा-  
 नांने सति शेषानुयोगसंज्ञावः । तथाहि-बररुच्यवस्थितः  
 शेषानुयोगस्यैव समर्थो भवति, मान्यत्वेत्यास्थास्य प्रतिपाद-

नार्थं गाथासाह-

एवं चरणमि त्रिभो, कोइ गृहोपे विधिषु इयरेत्त ।  
 एषण कारणेणं, चरणानुग्रहोपे महद्भिः ॥ ११ ॥

एवमित्युपक्रमः ( बरणमिति ) चयं त्रि बरणं, तस्मिन्, व्यवस्थितः करोति विधिना इदमगृहमितरेषामिति च्यानुयो-  
 गादीनां, तदनेन कारणेन भवति चरणं महर्किचय, तुसाह्वाइत्य-  
 थां च गुणानां समर्थो भवतीति । भो० । वृश० ।

( २३ ) कियन्तं काशं यावत्पुत्रिदमपृथक्त्वमासीत्, कुतो  
 वा पुरुषविशेषादारन्त्र पृथक्त्वमनूदित्याह-

जावंति अजयवदरा, अणुहृत् कालियाणुग्रोमस ।  
 तेणारेण पुहृत्, कालियसुपदिद्विवायं ॥ ११ ॥

यावदायं वैरा गुह्यो महाभयस्तावत्काकालिकभुतानुयोगस्यापृ-  
 थक्त्वमासीत्, तदा व्याकृत्वाणुं ओऽनूत्तं च लोहपक्त्वमसत् ।  
 कालिकग्रहणं च आधाव्यवथापनायेदं, अन्ययोक्ताकालिकेऽपि सर्वत्र  
 प्रतिसूत्रं चत्वारोऽपि अनुयोगस्तदादीनामासन्नं चेति तदाऽऽर-  
 त्स्वायेरिजेतेऽयः समारच्य कालिकभूते इष्टिचद्वे चानुयेगानां  
 पृथक्त्वमनूदिति निरुक्तिगाथायः ॥ २३ ॥

माध्यम-

अणुहृत्यापासि वदरा, जावंति पुहृत्समारओऽजिहिष्टे ।  
 के ते आसि कथा वा, पसंगओ तेभिसुपुत्तु ॥ ११ ॥

आयं वैराद्यावदपृथक्त्वमासीत्, तदाऽऽरतस्तु पृथक्त्वमसत् ।  
 एतास्मिन्नाभिहिते क एते आयं वैराः कदा च ते आसन्ति  
 विनेयपृच्छायां प्रसन्नत आयं वैराणांमुपचिदुच्यते । इति गाथा-  
 र्थः ॥ ११ ॥ ( एतन्नरितं तु ' अजयवदर ' शब्देऽप्येव भागे  
 ११६ पृष्ठे ऊह्यते )

सविशेषमाह-

अणुहृत्ते अणुग्रोमां, चत्वारि पुत्रार जासई एगो ।  
 पुहृत्-ऽणुग्रोमकरणं, ते य तसो वावि वोऽच्छिन्ना ॥ २१ ॥

आयं वैराद्यावदपृथक्त्वमे सति स्रमत्तव्याऽरुप एकेऽणुमुयोगः  
 कियमाणः प्रतिपद्ये चत्वारि आगि प्राणतः चरणकरणादि-  
 तुनेऽप्यर्थान् प्रतिपादयतीत्यर्थः । पृथक्त्वानुयोगकरणं तु ते  
 चरणकरणाद्ययोऽर्थाः ततोऽपि पृथक्त्वानुयोगकरणद्वयं, व्यव-  
 स्थिभाः, तन्मनुष्येक एव चरणकरणादिनामन्यतरोऽर्थः प्रतिपद्ये  
 व्याख्यायते, न तु चत्वारोऽपीत्यर्थः । इति निरुक्तिगाथायः ॥ २१ ॥  
 अथ चैरनुयायाः पाथकयन व्यवस्थापितान्तेष्वामार्थं कृतसूरी-  
 णामुपस्थिमभिहितुमोभ्यंकाः सन्मथगाथासाह-

किं वदंतीहं पुहृत्, कयभद तदन्तरेहं जयियमि ।  
 तदपन्तरेहं तदनिहि-यगदियसुत्तयसारेहं ॥ ११ ॥

विनयः पृच्छति-नन्वर्थं वैराद्यावदपृथक्त्वमित्युक्तं ततः किमार्थं  
 वैरेव कृतं तद्व, किं वा तदन्तरेऽर्थोऽर्थाः कृतसुपरिचित्येवमुप-  
 थाऽपि यावच्छब्दायौपपत्तेः । इति शिष्येण भणिते, मुहुराह- तन्न-  
 न्तेरेऽर्थोऽर्थाः कृतसुपरिचित्येवमुपथाऽपि यावच्छब्दायौपपत्तेः ।  
 आयं वैरेणाऽजिहितः प्रतिपादितो गृहीतः सुत्रार्थेसारो येत्ते त-  
 वा, तैरार्थैरेवसमीपेऽपीतन्नूत्रोऽर्थैरित्यर्थः । इति गाथायः ॥ २१ ॥

पुत्रारप कथं नूतेः किनामिकञ्च तैरित्वाह-  
 देविदवंदिष्टिहं, महापुत्राभिहं । रक्सियजोहं ।  
 जुममासज्ज विभयो, अणुग्रोमो तो कयो चऽहा ॥ ११ ॥

अग्निधोम

देवेभ्यश्चित्तेमहातुभ्यश्चिरयश्चित्तेः दुर्बलिकपुष्यमिन्द्रं प्राहम-  
व्यतिगुणिलतभाऽनुयोगस्य विस्मृतवृत्तार्थमवलोच्य बलेमानका-  
हस्रकृष्णं युगं चाऽऽसाद्य प्रवचनवाहिनायुयोगो विभक्तः-पुष्यक २  
व्यवस्थापितः । ततश्चतुर्धाकृतञ्चतुष्टयकालिकमुतादिहानेषु निरु-  
कम् । इति निरुक्तिगाथायः ॥ २८१ ॥

“माया य इहस्तेमा” इत्यादि पूर्वं सूक्ष्मव्ययकटीकास्थेभावाद्  
भैरवैकतकधानकमवस्थेयमिति । ( यतश्च अक्षरविश्वय ) शब्दे-  
ऽत्रैव जगो २१२ पृष्ठे विव्यस्ते इष्टय्यम् )

आप्यकारोऽपि “देविव्येदिव्येदिव्येदिव्येदिव्ये” गाथाभावात्तथाह-  
नाऊण रक्तित्यजो, मध्येभाधारणासमगं पि ।

किच्छेज धरेमाणं, सुयसवं प्रदामितं पि ।

अदसपक्यलवभ्रोगो, मध्येभाधारणासमगं पिर्हाणो ।

नाऊण-नेसपुरिसे, स्वेत्तंकाढागुरुवं च ॥

साण्णमहोऽणुभ्रोगे, बीसुं कासी य सुयविभागेण ।

सुहृगह्णाइनिमित्तं, नपे वि सुनिगृह्यि विज्ञागो ॥

स देवेभ्यश्चित्तेः श्रीमानार्थरहितसुरिनिर्गच्छिष्यं दुर्बलिका-  
पुष्यमिन्द्रमपि कृच्छ्रेण शुभाणं धारयन्ते ज्ञान्वा विनयेवर्गं सा-  
नुप्रदो बहयमाणकालिकादिशुभाविभागेन विष्वक् पृथक् चरण-  
करणाद्युयोगानकार्थिदिति सम्बन्धः । कथंभूतं दुर्बलिकापु-  
ष्यमिन्द्रं, मतिमेधाधारणासमप्रतिपि । तत्रंमनु बांधेन भनंनं स-  
तिरेव, बोधशक्तिः मेधा, धारणा अवधारणाशक्तिः, तामिः समग्रं  
सुकामं, तथा अतिशयज्ञानकृतोत्पद्योन्तथा अप्यात्र भवित्यनः पु-  
रुषांश्च ह्यन्वा, कथंभूताहं, मतिमेधाधारणाशक्तिपरिहृणान्त, तथा  
केन्द्रकाहस्रमुकपं च ह्यन्वा, न केचस्रमुयोगान्द पृथगकार्थिनं, तथा  
नयांश्च जैमावाद्, अकार्थिदिति धतेत । कथंभूताहं ? । सृष्टि-  
विश्वे निगृहितो व्याख्यातिरंशेन उच्यते कृतो विभागो त्यक्तताया-  
दानक्यो येषां तं निगृहितविभागस्तस्त्व धातुनाहं । किमर्थम् ? ,  
सुखप्रदधादिनिमित्तम् । आदिशब्दाकारणादिपरिग्रहः । ( वि-  
शे-० ) ( चरणकरणाद्युयोगभेदेनायुयोगावृत्तविश्वमाय्यरहित-  
सुरिजिः कृतमिति ‘अज्जरविश्वय’ शब्देऽत्रैव जगो २११  
पृष्ठे दृष्टितम्, इहापि उपयुक्तो जगो दृष्टितः ) अनुक्यो-  
ऽनुक्यो वा योगोऽनुयोगः । सुखस्य स्वेत्ताभिधेयेन स्वा-  
कंमनुकपसंबन्धे तदपे दृष्टित्वात्तन्मतेऽधिकारं, सः । स्यात् ।

स च द्विधा-  
मे किं तं ब्राह्मणो ? । अणुभ्रोगो जुहिवे पस्यते ।

तं जह्वा-मूढपदभाणुभ्रोगे, मन्दिपाणुभ्रोगे य ॥

स च द्विधा-मूलप्रथमानुयोगः, मणिरुकायुयोगश्च । इह सूत्र धर्मप्र-  
त्ययना सौविकरस्तेषां प्रथमं सत्यकथावासिष्ठकृष्णपूर्वनावादिगा-  
वोऽऽनुयोगो घृतसम्यमानुयोगः । इहवाकाहीनां पृथारपरिच्छि-  
न्नो मध्यभागो गरिम्का, मणिरुक् च मणिरुका, एकवाधिकारा प्र-  
शिक्षितिरित्यर्थः । तस्यानुयोगो गरिम्कानुयोगः । नं । सः । सः ।  
( प्रथमानुयोगगरिम्कानुयोगस्योर्थात्था स्वस्वस्थाने इष्टय्यम् )  
अणुभ्रोगमत्र-अनुयोगगत-पुं० । अनुयोगः प्रथमानुयोग-तौ-  
थैकरविपुषेनवादिप्यक्तप्रत्ययः, गादिङ्काऽनुयोगश्च मतन-  
रपतिवैशज्यतामो निष्काणमनानुसरविभागेनमनवकल्पनाव्या-  
वृत्तयश्च शक्तिं शिब्रुपञ्चुयोगे गतोऽनुयोगसतः । दृष्टित्वात्सोभ-  
दे दृष्टित्वात्तन्मतेऽधिकारं, अथयवे समुदायांपचाराद् दृष्टि-  
वादे च । स्यात् १० ज्ञा० ।

अणुभ्रोगगणुष्या-अनुयोगगणुनुज्ञा-स्त्री० । अनुयोगोऽप्य-  
व्याख्यानम्, गणो गच्छः, तयोनुज्ञाऽनुमतिः ॥ ३३३३३३० ॥ अ-  
नुयोगागणयोः प्रवचनोकेन विधिना स्वतन्त्रानुज्ञाने, पंचव० इह० ।

अणुभ्रोगतत्तित्त-अनुयोगमूढ-पि० । अनुयोगप्रवहैकनिष्ठे,  
बु० १ उ० ।

अणुभ्रोगस्य-अनुयोगार्थ-पुं० । व्याख्यातन्मतेऽर्थे, ब्राजा० १  
बु० १ अ० १ उ० ।

अणुभ्रोगदायय-अनुयोगदायक-पुं० स्त्री० । सुषवंस्थाभि-  
प्रभृताद्यनुयोगार्थायानं, “ बंदिनु सव्यासिद्धे, जिणे व अणुभ्रो-  
गदायव सव्ये । आचारस्स जगत्रभ्रा, निवृत्तपि कित्तस्सत्तामि”

॥ १ ॥ ब्राजा० १ अ० १ प्र० १ उ० ।

अणुभ्रोगदाय-अनुयोगदायक-पुं० स्त्री० । ॥ १० ॥ ३ । अथयनायैकयन-  
विधिरनुयुग्मोऽह्नाराणीव द्वाराणि, महापुरस्वैय सामायिकस्या-

ऽनुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वाराययुयोगद्वाराणि । उपकमादिषु  
व्याख्यानकारेषु, अत्र नगरदृष्टान्तं वर्णयन्त्याचार्याः । अणु० ।  
वस० । यथा हि अह्नतद्वारं नगरं नगरमेव भवति; कृतेकद्वार-  
मपि हृदयहरधजनसकुलत्वाद् दुःस्वसंचारं कार्यातिपस्ये च  
जायते; कृतचतुर्भूतयनालोहारं तु सप्रतिद्वारं मुखनिर्गमप्रवेशं  
कार्यातिपस्ये च । सामायिकपुरमप्युपार्थिगमोपायद्वाराण्यु-  
मशक्यार्थिगमं भवति; कृतेकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेण द्वाधीय-  
सा च कालनाधिगम्यते; विहितसमयेदोषकारिद्वारचतुष्टयं  
सुखाधिगमप्रत्यक्षा च कालेनाधिगम्यते, ततः फलवान-  
नुयोगद्वारोपस्थासः । उक्तं च-

“अणुभ्रोगद्वारां, महापुरस्वैय तस्स चत्वारि ।  
अणुभ्रोगोऽपि तदर्थो, दारां तस्स च मुहारां ॥  
अकथहारमननं, कथंभूताहं पि दुर्बलिकपुष्यं ।  
चउमूहद्वारं पुण, सप्यदिद्वारं सुहाहिगमं ॥  
सामाह्यपुरमेवं, अकथद्वारं तद्वद्वारं वा ॥  
दुराहिगमं चउद्वारं, सप्यदिद्वारं सुहाहिगमं ॥  
आ० म० प्र० । विशेषेण । स्यात् । आवा० ।  
( अथारि अनुयोगद्वाराणि ‘अणुभ्रोग’ शब्दे  
३५४ पृष्ठेऽनुपदमेधोकाणि )

नवाद्यौ उपकथः, तदनन्तरं निक्षेपः, तदनन्तरं चानुगमः,  
ततोऽप्यनन्तरं नव इत्यमीषामनुयोगद्वाराणामिच्छं क्रमापस्थासं  
किं प्रयोजनमित्यशक्यं ‘कमप्योत्राव्याहारं च वच्चा’ इत्यष्टम  
क्रमप्रयोजनद्वारमितिःसुराह-

द्वारकमेऽप्येव च, निक्षिप्तव्यं जेण नासमीत्तयं ।

अणुगमम्द नाण्णो, नाणुगमो नयपयविहृणो ॥

संपंधोपकथमर्थो, समीपमापीय नयानिक्तवैवं ॥

सत्थं तथोऽणुगमम्द, नरुहं नाण्णविहाणोहं ॥

पथामनुयोगद्वाराणावयमेधोपस्थासकथः । येन नासमीपस्थ-  
मनुपकथान्तं निक्षिप्तं, न च नामादिनिरनिक्रिसमर्थेनाऽनुगम्यते,  
नापि नयमनविकलोऽनुगमनिमित्तञ्च संकथकप उपकथः सं-  
धोपकथमस्तेन संकथकप उपकथेण समीपमापीय व्यासंधोऽथ  
विधाय स्वस्मिन्निक्षेपं विहिततामस्यापान्निक्षेपे सच्छास्त्रं  
ततोऽर्थेनाऽनुगम्यते व्याख्यायते । नामापिचित्तानोनाभेदेऽर्थेस्त-  
स्मादर्थमेवानुयोगद्वारक इति क्रमप्रयोजनद्वारं समाप्तमिति ।  
आ० । नं० । बु० । नि० ५० । व्य० । आ० म० ३० । स्या०

कर्म० । सत्पद्मरूपणताविषु, विशेष० । ' संतपयपकवत्तया  
द्वयपरमांश्च ' इत्याद्यनुयोगद्वाराणामत्यन्तरदेकमन्युयोग-  
द्वानुच्यते । कर्म० १ कर्म० । तत्त्वकर्मप्रतिपादकध्वयनवि-  
शेषोऽपेक्षोपचारादनुयोगद्वाराणानुच्यते । पा० । उक्तालिक-  
शुतविशेषे, नं० ।

अस्यादावेतद्गीकाह्वत्—

सम्यक्सुरेन्द्रकृतसंस्तुतिपादपथ—  
मुहामकामकरिराजकठोरसिंहम् ।  
सहस्रमैदेशकवरं वरदं नतोऽस्मिन्,  
घोरं विशुद्धतरबोधनिधिं सुजीरम् ॥ १ ॥  
अनुयोगभृतां पादान्, वन्दे श्रीगीतमाविस्तीर्याम् ।  
निष्कारणबन्धुनां, विशेषतो धर्मदेवानुग्रहम् ॥ २ ॥  
यस्याः प्रसादममूलं, प्रपथ्य भवन्ति भव्यजननिबहाः ।  
अनुयोगव्येदिनस्तां, प्रपथः क्षुतदेवतां वन्दे ॥ ३ ॥ ”  
इहातिगम्भीरमहानीरचिन्मपिततानप्यैरत्नमिवातिबु-  
ल्लेभं प्राप्य मानुषं जन्म ततोऽपि लब्ध्वा विभुवैकहितधी-  
मजिनप्रणीतबोधोपलभं समासाद्य विरत्यनुगुणपरिग्रहं प्र-  
तिपद्य चरणधर्ममधीत्य विधिष्वत् सूत्रं समाधिगम्य तत्पर-  
मायं विज्ञाय स्वपरसमयरहस्यं तथाविधकर्मण्योपशमसं-  
भारिणां चावाप्य विशदप्रज्ञां जिनवचनानुयोगकरणे यतित-  
न्यम् । तस्यैव सकलमनोऽभिलषितापेक्षार्थसंसाधकत्वेन य-  
थोक्तसमप्रसादमीफलत्वात् । स चाऽनुयोगो यद्यप्येकप्रन्य-  
विषयः संभवति, तथाऽपि प्रतिशास्त्रं प्रत्यध्ययनं प्रत्युद्देशकं  
प्रतिवाक्यं प्रतिपद्य चोपकारित्वात्प्रथममनुयोगद्वाराणामसौ  
विधेयः । जिनवचनं ह्याच्चारद्विभुतं प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिनि-  
पानुगमनयद्भरिविचार्यते । प्रस्तुतशास्त्रे च तान्येयोपक्रमादि-  
द्वाराण्यभिधायन्ये, अतोऽस्यानुयोगकरणे वस्तुतो जिनव-  
चनस्य सर्वस्याप्यसौ कृतो भवतीत्यतिशयोक्तकारित्वात्प्रक-  
तराश्वस्यैव प्रथममनुयोगो विधेयः । स च यद्यपि चूर्णितो-  
काद्वारेण वृद्धैरपि विहितस्तथापि तद्वचसांमतिगम्भीरत्वेन  
तुरधिगमत्वाद् अन्वमतितानाऽपि मयाऽस्माधारण्युतमक्रिज-  
नितोऽस्तुक्यभाषतोऽविचारितस्वशक्तिवाद्देषधियामनुग्रहाधे-  
स्याच्च कर्तुमारभ्यते । अनु० ।

सोलससयाणि चतुर्ष्व-सराणि हौति च इम्मिमगाहाणं ।  
दुसहस्समणुत्तुभंउदं-द्विचिण्णमामो भणिमो ॥ १ ॥  
गारमहादाराहं, चउवकमाणुओगकरदारा ।  
अक्खरारब्धंमत्ता, सिहिह्मा पुक्कलणयउपार ॥ २ ॥  
गाहा १६०४; अनुत्पुण्ड्रसा प्रपथसंख्या ३००क ।  
अन्धान्ते च टीकाह्वत्—  
प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्टः, सर्वोऽप्यर्थो मयाऽत्र संकलितः ।  
न पुनः स्वमनीषिकया, तथापि यत्किञ्चिद्दिदं वितथम् ॥ १ ॥  
सुत्रमतिलक्ष्म्यं शिञ्जितं, तच्छोत्रं मय्यनुग्रहं कृत्वा ।  
परकीयदोषगुणयोः स्व्यागोपादानविधिमुक्तासौ ॥ २ ॥  
उग्रस्थस्य हि बुद्धिः, स्वसति न कस्येदं कर्मवशास्य ॥  
सदनुत्तिविरहितानां, विशेषतो मज्झिमासुतमम् ॥ ३ ॥  
कृत्वा यदस्मिमां, पुण्यं ससुपासितं मया तेन ।  
मुक्तिमन्त्रेण समता, कृपितरजाः सर्वत्रन्यजनः ॥ ४ ॥  
श्रीप्रज्ञाहन्कुलाम्भुमिधिप्रसूतः,  
द्यौर्गन्तप्रघनतकीसिद्धीर्गशासकः ।  
विभवसाधितविकल्पितवस्तुदञ्चै-

श्लयाशतप्रभुरनिर्बुतप्रभ्यजन्तुः ॥ ५ ॥  
ज्ञानादिकुसुमनिञ्जितः, फलितः श्रीभ्रमूनीन्द्रकलकृद्भिः ।  
कल्पद्रुम इव गच्छः, श्रीहर्षवृषीयनामाऽस्ति ॥ ६ ॥  
पतोस्मिद् गुणरक्तःरहणगौरांभ्रमोऽन्योपाधिनिधि—  
स्तुक्त्वायुक्तकृमाधरपतिः सौम्यत्वतारापतिः ।  
सम्यक्ज्ञानविशुद्धसंयमनपःस्वाभारचर्चाननिधिः;  
शान्तः श्रीजयसिद्धसुरिभ्रमविज्ञःसङ्गक्षुद्रामणिः ॥ ७ ॥  
रत्नाकरादिवैतस्मा-च्छिष्यत्वेनं बन्व तत् ॥  
स क्षापीशोऽपि नामाऽन्यो, यद्गुणग्रहणे प्रभुः ॥ ८ ॥  
श्रीबीरदेवविभुधिः, सत्यन्नाथातिशयप्रवरतोयिः ।  
द्रुम इव यः संसिक्तः, कस्तगुणवर्णने विभुषः ? ॥ ९ ॥  
तथादि-आज्ञा यस्य नरेण्वैररपि शिरस्वरोप्यते सादरं,  
यं दृष्ट्वाऽपि मुदं ब्रजन्ति परमां प्रायोऽपि दुष्टा श्रपि ।  
यद्दक्षाभुधिनियंनुञ्जलवचःपीयूषपात्रोक्षते-  
गीर्वाणैरिव दुग्धसिन्धुमथने तृप्तिने ह्येने जनेः ॥ १० ॥  
कृत्वा येन तपः सुदुष्करतरं विश्वं प्रबोधय प्रभो-  
स्तीर्थं सर्वविद्ः प्रभावितमिदं, तैस्तेः स्वकीयेर्गुणेः ।  
शुक्लीकुबेदोपविश्वकुहरं मन्वेनिबुधकस्युहै-  
यस्याऽऽशास्त्रनिवारितं विचरते श्वेतांगुगौरं यशः ॥ ११ ॥  
यमुनाप्रवाहविमल-श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिसंयकात् ॥  
विष्णुजैकक्षिकालदुस्तरतमःसंतापुमनिधयिनिः,  
स्येणैव विवेकिदृष्टरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।  
सम्यग्ज्ञानकर्तृभिन्नतन्मनुष्यैः समद्व्योतितो,  
मार्गः सोऽभ्युदेचसूरिरनयनसन्धः प्रसिद्धो लुवि ॥ १३ ॥  
तच्छिष्यलवप्रार्थ-रवगीतायांऽपि शिष्यज्जनेषुद्वयै ।  
धीदेमचन्द्रसूरिनि-रिचमनुस्तिता प्रकृतवृत्तिः ॥ १४ ॥ अनु० ।  
अणुश्लोकादरसमास-अनुयोगद्वारसमास-पुं० अनुयोगद्वाराणां  
द्वाविस्समुदायं, कर्म० १ कर्म० ।  
अणुश्लोकादर-अनुयोगपर-पुं० अनुयोगिके, व्व० ३ व० । “अ-  
णुश्लोकादरं अणुश्लोकादरव्याख्यं रिद्वरख्यं सो ताराख्यं यल-  
ञ्जाख्यं रिद्वरख्यं” आह अनुयोगध्याया । नि० वृ० २० उ० ।  
अणुश्लोकादर-अनुयोगपर-त्रि० । सिद्धान्तव्याख्याननिष्ठे, जी०  
१ प्रति० ।  
अणुश्लोकादर-अनुयोगानुज्ञा-स्त्री० । आचार्य्यपदव्यापना-  
याम्, पं० व० ४ हा० । ( ‘अणुश्लोकादरं ’ शब्देऽत्रैव ज्ञानं ३४७  
पृष्ठे चैतद्रूपं व्याख्यातम् )  
अणुश्लोकादर ( ष )-अनुयोगि-पुं० । अनुयोगो व्याख्यानं  
प्ररूपेणैव यावत्, स यत्राऽस्ति । व्याख्यानार्थं क्रियमाणे प्रभ-  
वेदे, यथा— “चउदं हि समपदि लोणे” इत्यादिप्ररूपणात् ‘क-  
इहि समपदि’ इत्यादि । सा० ६ डा० । आचार्य्यं, “अणुश्लो-  
कादरं लोणाणं, किल संस्ययासाओ दृढं होह ” पं० व० ४ हा० ।  
अणुश्लोकादर-अनुयोगिक-त्रि० । प्रप्रजिते, नं० । “अणुश्लो-  
कादरवचनसमे, शारलकुलवसंसन्दिकरे ” नं० ।  
अणुश्लोकादर-अणुश्लोकादर-स्त्री० । द्वारवतीघास्तव्यव्याहंनिभ्रस्य  
अर्थोयाम्, यस्याः पुत्रस्य जिनदेवस्य आत्मदोषोपसंहारे  
कथा । आच० ४ अ० । आ० वृ० ।  
अणुश्लोकादर-अणुश्लोकादर-त्रि० । अनुश्लोकादर-पुत्रस्य, ततश्चापुत्रं

कस्यते वेहत् इत्यनुकम्पः । अनुकम्पक्रियाप्रवृत्तेः, उचो १ २ अ० ।  
अनुकम्प-वि० । अनुकम्पनीये, ४० ३ उ० ।

अणुकंपण-अनुकम्पन-न० । दुःखातीनां बालवृद्धात्महत्यानां  
यथादेशकात्मनुकम्प्यकरणे, ४० ३ उ० ।

अणुकंपपथमसवपाद्या-अनुकम्पपथमेश्वपाद्यादि-क्री० ।  
जीषद्वयाधर्मशाकाकारणप्रभृति काव्याम्, पञ्चा० १० विष० ।

अणुकंपय-अनुकम्पक-वि० । भगवतो भक्ते, अनुकम्पयावाङ्  
भक्तिवाचित्त्वम्, 'आचारियऽणुकंपय', गच्छे अणुकंपिभ्यो  
महाभागो " इति वचनात् । कल्प० । आत्माहिते प्रवृत्ते, ४०  
४ टा० ४ ७० ।

अणुकंपा-अनुकम्पा-क्री० । अनुकम्पनमनुकम्पा । इयायाम्,  
नि० ४० १ उ० । अनुकम्पा, कृपा, दयत्येकार्थाः । श्रो० । अनु-

कम्पा कृपा । यथा-सर्वे एव सत्याः सुखार्थिनां दुःखग्रहा-  
णार्थिनाम्, ततो नैवामत्याऽपि पीडा मया कार्येति । घ० २  
अधि० । अनुकम्पा दुःखितेष्वपकापातेन दुःखग्रहणेषुका स-  
म्यकस्वलिङ्गम् । पकापातेन तु कस्या पुत्रादौ व्याधादीनाम-  
प्यस्येति च तादृश्याः कृपायास्तत्त्वम् । सा चानुकम्पा द्र-  
व्यतो भावतमेति श्रिया । इत्यतः सत्यां शक्ती दुःखप्रतीकारे-  
रेषु । भावतस्माद्द्रव्यत्वम् । यदाह-"दृष्टुं पाणिनिवहं, भीमे  
भवसागरमि दुष्कृतं । अविसेसत्रोऽणुकंपं, दुःखा वि सान-  
त्यत्रो कुणह" ॥१॥ घ० २ अधि० । श्रो० । प्रब० । दृष्टो० संघा० ।  
अत्रादिदानकृपायाम्, घ० २ अधि० । भक्ती, श्रो० क० ।  
( अनुकम्पया कुतसामायिकलाभे उदाहरणानि 'घञन्त'  
शब्दे वचनम् ) भङ्गपानादिभिरुपधर्मैश्च, म० ८ श० ८ उ० ।  
'अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्यात्' अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, श्रो० १  
श्रो० १० ।

अणुकंपं पठ्च तन्नो पदिणीया पद्यता । न जहा-तव-  
रिसपदिणं । ए गिलाणपडिणं । ए सेहपडिणं । ए ॥

अनुकम्पापधर्मं प्रतीयन्ति तपस्वी सपकाः, तानो रोगा-  
दिभिरसमर्थः, शैतोऽभिनवप्रमजितः, एते अनुकम्पनीया भव-  
न्ति, तत्करणाकारणान्यं च प्रत्यनीकतेति । अनुकम्पातो  
यदानं तदनुकम्प्येषोपचाराद् । दानभेदे, उक्तं च वाचकमुच्यैह,  
मास्वातिपुत्र्यपादैः-"कृपणैऽनाथदरिद्रैः, स्वसनप्राप्तं च रोग-  
शोकहते । यदीयते कृपायां-नुकम्पात् तद्भवद्दानम् " ।  
स्थाने १० टा० ।

अणुकंपादाण-अनुकम्पादान-न० । अनुकम्पया कृपया दानं  
दीनानाथविषयमनुकम्पादानम् । स्थाने १० टा० । रङ्गवाने, प्रति०  
अनुकम्पादानं जितैरप्रतिकुम्पे-

अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्या-ज्ञक्तिः पात्रे तु संगता ।  
अन्यथाधीस्तु दातृणा-मतिचारप्रसन्निका ॥ २ ॥

(अनुकम्पति)अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, भक्तिस्तु पात्रे सान्ध्यादौ  
संगता स्यात् समुचितफलदास्यात् । अन्यथाधीस्तु अनुकम्प्ये  
सुपात्रत्वस्य, सुपात्रे चानुकम्प्यत्वस्य कृत्स्निं दातृणामति-  
चारप्रसन्निकाऽतिचारापादिका । अत्र यद्यपि सुपात्रत्वविषयोऽ-  
नुकम्प्ये संयतोऽपि मिथ्यारूपत्याऽतिचारापादकत्वं युज्यते ।  
सुपात्रेऽनुकम्प्यत्वविषयस्तु न कर्त्तव्यं, तत्र मानवादिद-  
शायामन्यदाऽपि च संशोद्धारप्रयोगितुःसाध्यत्वरूपाऽनु-  
कम्प्यत्वाधिः प्रमात्वात् । तथापि स्वपेक्षयाऽहंनिर्भवे सति

संशोद्धारप्रयोगितुःसाध्यत्वरूपमनुकम्प्यत्वं तथाप्रामाणि-  
कमेवेति न कोचः । अथैरत्वाद्भु-तत्र प्रायुक्तं निर्विशेषण-  
मनुकम्प्यत्वं प्रतीयमानं साहचर्यादिरिणय यदा हीनत्वमुप-  
जनयति तदैवातिचारापादकं नास्यत्, अथवाधिर्नाहिनिगच्छ-  
दोःकृपाः कर्णमुद्गाधानादिव दोगत्यात् । अत एव नचातुःक-  
मात्मानं सातुत न संभवति । "आचारियऽणुकंपय', गच्छे  
अणुकंपिभ्यो महाभागो" इति वचनादित्यत्रकृत्यन्तुकारणात्वा-  
दिष्वन्युक्तद्वयधियाप्रतिरोधेऽनुकम्पाऽव्याहतेति । एतन्नये च  
सुपात्रदानमपि ग्रहीतुःकृत्स्नारोपायत्येतेष्वमानमनुकम्पादा-  
नमेव, साक्षात्संशोपायत्वनेष्वमात्रं चान्यथेति वाच्यम् ॥ २ ॥

तत्राथा दुःखिनां दुःखो-दिधीर्षोऽप्यासुखश्रमात् ।  
पृथिव्यादौ जिनाऽर्वादी, यथा तदनुकम्पिनाम् ॥ ३ ॥

( तत्रेति ) तत्र भक्त्यनुकम्प्यांमेव आद्याऽनुकम्पा दुःखिनां  
दुःखातीनां पुंसं दुःखोदिधीर्षो दुःखोत्तरिच्छा इत्यानाम-  
सुखं यस्मादेत्याशेषः अत्रस्तस्मात् । इत्थं च यस्तुमया बल-  
वन्निष्ठाननुभवधी योऽनुःसिदुःखोत्तरस्तद्विषयिणी स्वस्यच्छाऽ-  
नुकम्पयति फलितम् । उदाहरति, यथा-जिनात्वादी कार्यं पृथि-  
व्यादौ विषये तदनुकम्पिनामिन्धेनुतमगवपुत्राप्रदेशानादिना  
प्रतिबुद्धाः सन्तः वरकृपायाद् रत्नित्यति परिणामवतामित्यर्थः ।  
यद्यपि जिनात्वादिकं भक्त्यनुष्ठानमेव, तथापि तस्य सम्यक्त्व-  
शुद्धयर्थत्वाच्चस्य चानुकम्पानिङ्गकत्वात्सर्वेकत्वमप्यारुढमे-  
वेति पञ्चलिङ्गादावित्येव्यवस्थिनैरन्वामिभिरप्यवमुक्तम् ॥ ३ ॥  
अप्यासुखश्रमादित्यस्य कृत्यमाह -

स्तोकानामुपकारः स्या-दारान्नाद्यत्र नृपसाम् ।  
तत्रानुकम्पा न मता, यथेष्टानुर्पुर्कर्मम् ॥ ४ ॥

(स्तोकानामिति)स्वपथ, नवरम्, दष्टपुष्टस्ववृकमेतत्, "आत्वि-  
रिमन्त्रसंस्कारे-श्रीधाराणां समङ्गतः । अन्वयं हि यद्वत्-  
मिष्टं तद्विधीयते ॥ १ ॥ यार्पाकूपनमामानि, देवताऽऽयतनाति  
च । अन्नप्रदानमेतत्, पुनं तन्विवेदो विदुः " ॥ २ ॥  
नन्वेवं कारुणिकदानेतात्कारिकमार्गेऽप्युच्छेदापत्तिरित्यत  
आह-

पुष्टादम्बनमाश्रित्य, दानशशादि कर्म यत् ।

तत्तु प्रवचनोन्नत्या बीजाधानादिनावतः ॥ १ ॥

(पुष्टालम्बनमिति)पुष्टालम्बनं सजावकारणमाश्रित्य यद्दानशा-  
नादि कर्म प्रदेष्टुं संप्रतिरत्नादीनां, तत्तु प्रवचनस्य प्रोक्षादि-  
नोन्नत्या बीजाऽऽनामादीनां भावतः सिद्धेऽर्कानाम् ॥ २ ॥

बहूनामुपकारेण, नातुकम्पा निमित्तताम् ।

अतिक्रामति तेनाऽत्र, सुख्यो हेतुः शुभाशयः ॥ ६ ॥

(बहूनामिति)ततो निवृत्तिसिद्धेर्बहुनामुपकारेणानुकम्पा निमि-  
त्ततां नातिक्रामति, तेन कारणेनाशुभकम्पाभिन्नफल, सुख्यः  
शुभाशयो हेतुः । दानं तु गौणमेव, वेदसंवेद्यपदस्य एव  
साहायशयपाम्, साहायशादानुगम एव च निश्चयतोऽनुकम्पयति  
फलितम् ॥ ६ ॥

एतन्नेव नयप्रदर्शनपुत्रे विवेचयति-

क्षेत्रादिव्यवहारं, दृश्यते फलसाधनम् ।

निश्चयेन पुत्रजातः, केवलः फलनेदकृत् ॥ ७ ॥

व्यवहारेण पात्रादिव्यवहारकमेवो, निश्चयेन तु नावैकित्या-  
द्वेति तस्यम् ॥ ७ ॥

कालाशम्भनस्य पुष्टयं स्पष्टयितुमाह-  
 काशेऽल्पमपि लानाप, नाकाले कर्म बह्वपि ।  
 वृष्टौ वृद्धिः कणस्यापि, कणकोटिर्दृष्टाऽन्यथा ॥ ८ ॥  
 ( काश इति स्पष्टय ॥ ८ ॥ )  
 अथ सरानुगुपयेनानुकम्पादानस्य प्राधान्यं जगवद्दृष्टान्तेन स-  
 मर्थयितुमाह—  
 धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं, दानस्य जगदानपि ।  
 अत एव व्रतं गृह्णन्, ददौ संवत्सरं वसु ॥ ९ ॥  
 ( धर्माङ्गत्वमिति ) अत एव काशेऽल्पस्यापि लाभार्थत्वादेव,  
 दानस्यानुकम्पादानस्य, धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं जगदानपि व्रतं गृ-  
 ह्णन् संवत्सरं वसु ददौ । ततश्च महता धर्मोपसरे तुष्टितं सर्व-  
 स्यात्प्यवश्यौचित्ययोगेन धर्माङ्गमिति स्पष्टीजनयतीति भावः ।  
 तदाह—“ धर्माङ्गत्वापनर्थे च, दानस्यापि महामतिः । अथस्थौ-  
 चित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ” इति ॥ ९ ॥  
 नन्वयं साधारण्यतदापचित्यत आह—

साधुनाऽपि दशजनेदं, मायैतदनुकम्पया ।  
 ततः ज्ञानान्नगवतो, रङ्गस्वैव मुहस्तिना ॥ १० ॥  
 साधुनाऽपि महाव्रतधारिणाऽपि दशजनेदं प्राप्य पुष्टालम्बन-  
 नमाभ्येतद्वानमनुकम्पया दत्तं मुहस्तिनेव रङ्गस्य तदाऽऽह ।  
 अथैतं आगेन-आयंस्फुटसुखाचार्यस्य रङ्गदानमिति । कुत इत्याह-  
 भगवतः श्रीवर्चमानस्त्वामिदं ज्ञानात् । ननुक्तम्—“ आपकं चाप-  
 जगवान् । निष्कान्तोऽपि द्विजजने । देवकृष्यं ददौ कामानुकम्पायि-  
 शेषतः ” ॥ १० ॥ इति । प्रयोगश्चात्र-दशाविधो यतः संस्यताय दानम-  
 तुष्टम, अनुकम्पायिमित्वाद्, भगवद्द्विजजनयनवित्याहः ॥ १० ॥  
 न चाधिकार्यं भोत-चित्युद्देशाश्रयो यतम् ।

अपि त्वन्यद् गुणस्थानं, गुणान्तरनिबन्धनम् ॥ ११ ॥  
 ( न चेति ) नचैतत्कारणिकं यतदानमधिकरणं मतम् । अधिक्रि-  
 यते आत्माऽनेनासंयतसामर्थ्येणोपेतु इत्यधिकरणम् । कुत इ-  
 त्याह?—विद्युद्दशयतोऽवस्थोचित्येनाऽऽश्रयविद्युतेः, मायभेदेन  
 कर्मनेदात् । अनर्थासंज्ञवमुक्तार्थमासिमप्याह-अपि चिति अच्यु-  
 ष्याय । अन्यधिकृतगुणस्थानकाद् दिश्याहास्योपदेरपरमविर-  
 तसम्पत्प्रदृष्टादिकं गुणानां ज्ञानार्थानां स्थानं मतं, गुणान्तरस्य  
 सत्त्वविरत्यादेर्निबन्धनम् ॥ ११ ॥ इति ॥ ११ ॥

नेव दारं पिहावेद्, भुञ्जमाणो मुसावधो ।  
 अणुकंपा जिगिदेहिं, सद्भाणं न निवारिआ ॥ १ ॥  
 दृष्ट्वा पाणिनिवडं, भंभिं जवसायरम्मि दुक्खवं ।  
 अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामथ्यओ कुणई ॥ २ ॥  
 ( दुहा वि चि वि ) इत्यभावाभ्यां द्विधा । इत्यतो यथा-आ-  
 षादिद्विनेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रयत्नेन, धीयञ्जमाङ्गादावपि  
 आद्वयवर्णनाधिकारे “ अचंयुदुवारा ” इत्युक्तम् । श्रीजिनेनापि सांय-  
 स्तरिकद्विनेन दीमोकारः कृत एव, न तु केनापि प्रतिविद्येः ॥ २ ॥  
 सर्वेहिं पि जिणेहिं, लुज्जयितयारागदासमोहेहिं ।  
 अणुकंपादाणं स-हृषाय न कट्ठि पि पकिसेत्त ॥ ३ ॥  
 न कस्सिदं सुभं पमिपिकं, प्रत्युत्त देशनाड्ढरेण राज्ञस्यकीयां-  
 पाके केशिनापदेविनयम् । तथाहि—“ माणं नुमं पपस्सि पुब्बि  
 रमाणञ्जं भविष्सा पच्चा अरमणिञ्जं भविष्सासिं ” इत्यादि । ध०  
 ११ अत्रि० ।

दाणं अणुकंपाए, दीखाणाहाण सत्तिओ णेयं ।  
 तित्येकरखांतणं, साहण य पचमुच्छीए ॥ ६ ॥  
 दाणं वितरणप्रकारेणानुकम्पया इत्यथा हीनानायेभ्यः, तत्र ही-  
 नाः क्लीणविजयवत्वाद् वैश्वप्रासास्त एव सानाध्यकारिहरिता भ-  
 नाथाः, अतस्तेभ्यः शक्तौ विसृजते सामर्थ्यमाश्रित्येत्यर्थः,  
 क्षेत्रं ज्ञातव्यम् । अथ हीनादीनामसंयतत्वात् तद्दानस्य होष-  
 पोषकत्वात्संगतं तदानमित्याशास्त्वयाह-तीर्थेकरकालेन जि-  
 नोदाहरणेन । तथाहि-संगतं हीनादिदानं, प्रभावनाङ्गत्वाद् त्रि-  
 नस्यैव । अथवा तीर्थकल्पनायंन निर्विशेषतयेत्यर्थः, तीर्थेकरप्रभा-  
 णेनो वा । तथाहि-न हीनादिदानमविधेयं, जिनाप्यरितत्वाद्, म-  
 दावतानुयाजनवदिति । हीनादीनामनुकम्पया तावदात्म । अथ  
 साधुनामपि किं तथैवेत्याशङ्क्यामाह-साधुनां च संयतेभ्यः पुनः  
 पात्रमुक्त्वा ज्ञानादिगुणरत्ननाजनेनतदिति धिया भक्षयेति गाथा-  
 येः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ६ विष० ॥

अणुकंपासय-अनुकम्पाशय-पुं० । अनुकम्पाप्रधानमाश्रयोऽनु-  
 कम्पाशयः । अनुकोशप्रधाने चित्ते, सः० “अणुकंपासयस्योपा-  
 तिकात्म दविस्तुङ्गलज्जपाणां” अनुकम्पा अनुकोशस्तत्प्रधान  
 आशयाश्चेत् तस्य प्रयोगोऽप्यावृत्तिरनुकम्पाशयप्रयोगस्तेन स०॥  
 अणुकंपि ( ण ) -अनुकम्पित्-त्त्वी० । अनुकम्पयमाने तच्छीले,  
 स्व० १ भु० ३ अ० ३ ङ० । कृपावति, प्रति० ।

अणुकम्पि-अनुकृष्टि-त्त्वी० । अनुकम्पणमनुकृष्टिः । अनुवर्त्तने, पं०  
 सं० ५ ङा० । अनुभागवत्प्राप्यवसायस्थानानां तीक्ष्णमन्ता-  
 परिज्ञानार्थमनुभागवत्प्राप्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः “ बन्ध ”  
 शब्दे च इत्येनं )

अणुकम्पेमाण-अनुकम्पित्-त्रि० । अनु पश्चात् कर्त्तव्यं अनुकम्पं ।  
 पुष्टनः पश्चात् कृत्वा समाकर्षति, नं० ।

अणुकल्प-अनुकल्प-पुं० । ज्ञानदर्शनेनचारित्रतपोवृत्तानां पूर्वा-  
 चार्याणां ज्ञानप्रदहेन च तपोविधानेषु च अनुकृतिकरणं,  
 पं० च्० ।

..... एनो वोडं अणुकल्पं ।  
 अणुसदो जूताट्टियं, पच्चाभावे मुण्णयन्वो ।  
 छाणचरणहुगाणं, पुब्बावारियाण अणुफात्तिं ॥  
 कुणई अणुगच्छद्द गुण-धारी अणुकल्पं तं विवाणाहि ।  
 गुणसयमहस्सकलियं, गुणंतेरं च अजिलमंताणं ॥  
 जे खेत्तकालाजावो, आसज्जा जोगट्टाणिज्जेव ।  
 गुणमतकालिअमंजमो, मोस्सवो य गुणंतेरो मुण्णयन्वो ।  
 नाणाऽमु परिहाणी, तुजेगहाणी मुण्णयन्वो ।  
 खेत्ताण संति अच्चा-ए उच्चकलेत्तम्मि काड्ढ दुम्भिकवे ।  
 भावे गेलेहहादी, सुक्काजावे उ जदसुक्कं ॥  
 गेहेज्जाऽऽहारादी, छाणादिमु उज्जमण कुज्जा ।  
 अणसणमादी य तवं, अकरेमाणस्स साहस्स ॥  
 एवंताण्णज्जररा ने, जह जणिता मामणे जिणवराणं ।  
 जोगनिवुत्तमतीयं, सुद्धसीलात्तं तवोच्छेदो ।  
 सुद्धसंलिउद्धसंलिता, तेसिं अणफासु गेहेमाणणां ।  
 जं आवज्जे तथियं, तवं च वेदं च तं पावे ॥ पं० जा० ।

इयाँहि अणुकप्यो- ( गाहा ) ( माणचरखुड लि ) जो माणव-  
रिसखुचरितवऽऽङ्गुणानं पुष्यावरियाणं नाममाहयेण य त-  
बोविहयेसु य अणुकिए करे, सो अणुकप्यो । ( गाहा ) ( गु-  
णवचनि ) आ पुण गुणसयसइहसकनियायाँ, अलंकृतानामि-  
त्यर्थः । गुणतरं खेच अभिससंस्तानं नाणरसु परिहाणी होउआ,  
केतं अक्कायासु, कालं भोमासु, प्राबं गिलायासु । ( गाहा )  
पगतमिअरा तरेच तेसं पगतमिअरा वेह । यथा- नगवजिरुप-  
विहं प्रणीतमित्यर्थः । ओ पुस संजमजोगनियतमई खट्ठालि-  
या सिरी सुहसिलो डुछसोसो ति अजह तेसं तबोच्छेओ वा ।  
यस अणुकप्यो ॥

अणुकरण-अनुकरण-न० । सीचलनेपनादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा श्ले-इच्छा-  
कारेण तयेदमहं करिष्यामीत्युक्त्वा तदाकरणे, व्य० १ उ० ।

अणुकरणकारावणानिसंग-अनुकरणकारापणनिसर्ग-पुं० । अ-  
नुकरणं नाम यस्सीचलनेपादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा श्ले-इच्छाकारेण त-  
बेदमहं करिष्यामि, कुर्वन्तं च, कारापणं वेह यत्कव्यं करेण कु-  
शलोऽप्यावणीकक्षाकारेण कारापयति, तस्मिन् निसर्गे, स्व-  
भावे यस्य संऽनुकरणकारापणनिसर्गः, इत्येनृतस्तस्य स्व-  
जायो यदि अनभ्ययितं एव कर्माति कारयतीति जावः अनन्य-  
र्थमेवैव कुर्वन्ति कारयन्ति च । जावसङ्घविशेष, व्य० ३ उ० ।

अणुकहन-अनुकथन-न० । आचार्यप्रकरणतः पश्चात् कथ-  
नं, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणुकारि [ ण ]-अनुकारिन्-वि० । अनुकरोति । अनु+क-  
णिनि । शिष्यां ङीप् । गुणक्रियाऽऽदिभिः सहवृत्ताकारके, वाच्य० ।  
विचक्षितवस्तुनः सदर्थे, अष्ट० ७ अष्ट० ।

अणुकुडय-अनुकुचित-वि० । अनुचिते; नि० षू० ८ उ० ।

अणुकुड-अनुकुडय-अव्य० । अनुसुखस्य समीपार्थप्रोक्तकत्या-  
त्, अनुकुम्भमुपकुम्भम् । श्रु० ३ उ० । कुम्भसमीपार्थसंज्ञि प्रदे-  
शे, श्रु० ३ उ० ।

अणुकूल-अनुकूल-वि० । अनुलोमे, आवा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।  
स्था० । नि० । अनुकूपे, आ० म० प्र० । "अणुकूलेण धमे कुमार-  
बंभचारी" आवा० ४ अ० । अग्रतिकूले, मशु० ४ सव्य० ४ ।।  
आचार्याणामन्यथा वा पुत्र्यानां वैषाण्युपादिना हितकारिणि  
उत्साराकविषयोन्वयात्वात्, श्रु० ३ उ० ।

अणुकुसवपण-अनुकुसवचन-न० । अग्रतिकूलवचने, यथा  
हे महाजान । नेदं तवोचिनं वक्तुं कर्तुं वेति । दर्श० ।

अणुकूलवाय-अनुकूलवात-पुं० । आमायकविचक्षिते पुरुवाणं  
पवनं, जी० १ प्रति० ।

अणुकान्त-अनुक्रान्त-वि० । अनुष्ठिते आसेवनापरिहया सेविते,  
आवा० । "एतं विदी अणुकान्ते माहेणं मई मया बहुसो" ।  
आवा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० ।

आनाक्रान्त-वि० । अनुकीर्णं, आवा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ० ।

अणुकम-अनुकम-पुं० । अनुपरिपाठ्याय, आ० षू० । आनुपूर्वी  
अनुकमोऽनुपरिपाटीनि पर्यायाः । अनु० । आवा० । "अणु-  
परिवाग्निंति वा अणुकमेति वा परद्रु" । आ० षू० १० अ० ।

अणुकसाइ ( ण )-अनुत्कशापिन-पुं० । उक्त उक्तापित्तः स-  
त्कारादिषु वेते इत्येवंशील उक्ताशापी, न तथा अनुत्कशापी ।  
प्राकृतत्वाद्ऽनुकशापी । सर्वेष्वनारिवाद्विदिः । सत्कारादिक-  
कुर्वन्ते कुप्यति, तसं पत्तौ वाऽनहंकारवात्, उच्य० ३ अ० ।

अणुकशापिन-वि० । अणवः स्वभ्याः संवलनमात्रान इति  
यावन् । कशायाः क्रोधाद्योऽप्येति सर्वेष्वनारिवादिप्रत्ययेऽणु-  
कशापी । प्राकृतत्वात् ककारस्य द्वित्वम् । संवलनकशापयि-  
रिष्ट, उच्य० १५ अ० ।

अनुत्कशापिन-वि० । उत्कशापी प्रव्रजकशापी, न तथा अनु-  
त्कशापी । अणवप्रकशापये, उच्य० १५ अ० । सत्कारादिना इहं-  
राहने, "अणुकसाइ अपिच्ये अत्राप सीअलोत्तुए" उच्य० १५ अ० ।

अणुकस्त-अनुत्कर्षवत्-पुं० । अष्टमदस्यानामान्यत्वमेतान्ऽन्युत्सं-  
कमकुर्वन्ति, सूत्र० १ श्रु० १ उ० । "अणुकस्ते अणुर्हाणि,  
मज्जेण मुणिजावए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुकोस-अनुनुक्त-पुं० । आत्मनः परेभ्यः सत्काशाड् गुणैह-  
त्कर्षणमुत्कृष्टतानिधानम् । गौणमोहनीयकर्मणि, अ० १२ श० ४  
उ० । स० । आत्मगुणानिमित्ते, स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अनुक्रोश-पुं० । व्यायाय, स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अणुवित्त-अनुक्लिम्-वि० । पञ्चाशुर्यादिते, "अणुक्लिप्तसि  
धूमनि" हा० ८ अ० ।

अणुगंतव्य-अनुगन्तव्य-वि० । अनुसर्तव्ये, स्था० ५ डा० १  
उ० ।

अणुगच्छण-अनुगमन-न० । आगच्छतः प्रत्युत्तमनकूपे काय-  
विनयभेदे, दशा० १ अ० ।

अणुगच्छमाण-अनुगच्छन्-वि० । अनुवर्त्तमाने, "अणुगच्छ-  
माणे वि ते विजाणो, तथा तथा साहु अकसत्तणं" सूत्र० १  
श्रु० १५ अ० । आवा० ।

अणुगम-अनु ( ण ) गम-पुं० । अनुगमनमनुगमः । अनुगम्य-  
तेऽनेनास्मिभ्रममादिति वाऽनुगमः । सूत्रानुकूले परिच्छेदे,  
स्था० १ डा० । निकृत्तसुत्रस्य अनुकूले परिच्छेदे, अर्थे, कथने च ।  
ज० १ वक्ष० । सूत्रस्यानुकूपेऽर्थोक्त्यान्, व्य० १ उ० । आ० य०  
प्र० । आवा० । संहितादिव्याख्यानाप्रकारप्रकृते, लेशदोहैदानिर्ब-  
मादिद्वारकसायके वा । स० । अनुयोगहारे, अनु० ।  
अत्राऽनुगमनिर्वाक्यमाह-

अनुगम्यदे तेण तद्धिं, तत्रो व अणुगमणमेव वाऽऽणुगमो ।  
अणुणाऽणुकवमो वा, जं सुत्तत्यासाणुमुराणं ॥

अनुगम्येन व्याख्यायते सूत्रमेतान्ऽस्मिन्नस्मादा इत्यनुगमः,  
वाच्यार्थविवक्षा तथैव । अथवा अनुगमनमेवाणुगमः । अणुना वा  
सूत्रस्य गमो व्याख्यानात्म्यमनुगमः । यथे वा अनुकूपस्य षट्-  
मानव्याप्येय गमनं व्याख्यानात्म्यमनुगमः । सबंधं किमुक्तं भवती-  
त्याह-यत्तुधार्थ्येयानुकूलं सम्बन्धकारणमित्यनुगम इति ।  
विशे० ।

अनुगमभेदाः-

से किं तं अणुगमे ? । अणुगमे दुर्विहे पससे ।  
तं जहा-सुत्ताणुगमे अ निज्जुत्तिअणुगमे अ ॥

( से किं तं अणुगमे इत्यदि ) अनुगमः पूर्वोक्तशब्दार्थः । स  
च द्विधा-सुत्रानुगमः सूत्रस्याख्यायानमित्यर्थः । निरूप्येधनुगम  
निर० युक्ताः सूत्रेणःसह लोलीभावेन संबन्धा निरूपेता अथोस्ते-  
षां युक्तिः ऋतुत्कृताऽऽपादनम्, एकस्य युक्तशब्दस्य बोधार्थि-  
व्युत्पत्तिः ।

किञ्चाम्बपनादिप्रकारैः स्वविभजनेत्यर्थः । तत्रोपभ्रुगमस्तस्या वा भ्रुगुमो व्याख्याने निरूप्यन्तुगमः । भ्रुगु० । (स्त्रानुगमनि-  
रूप्यन्तुगमयोर्व्याख्या स्वस्तस्याने द्रष्टव्या) व्याख्याने, संपूरीते,  
सर्वव्यक्तिषु अनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने च । विशेषे । यत्र  
स्वाधने तत्र साध्यमित्येवमङ्गुणे साध्यस्य साधनेन सदाशब्धे,  
विशे० । पञ्चाङ्गने, सहाय्यजनने च । घाञ्० ।

अयुगम्भ-अनुगम्भ-अभ्य० । बुद्धेत्यर्थः, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अयुगमय-अनुगमय-त्रि० । पूर्वमवगते, विशेषे० । अव्यक्चिजन-  
याऽनुगुत्ते, प्रश्न० ३ आश० द्वा० । 'मतिस्वदिनेति वा मतिमयु-  
गतेति वा एगता' । प्रा० ब्रू० १ अ० । पितृवितृत्वाऽनुयाते पितृ-  
समे पुत्रे, पुं० । स्या० ८ द्वा० ३ उ० । आनुकूल्ये, न० । स० ।  
अयुगवेसेमाण-अनुगवेषयत्-त्रि० । सामाधिकपरिसमाप्त्य-  
नन्तरं गवेषयति, " तं मंडं अयुगवेसेमाणे किं सयं मंडं अ-  
युगवेसेह ? " अ० ८ श० ४ उ० ।

अयुगा ( ग्वा ) म-अनुग्राम-पुं० । अनुकूलो ग्रामोऽनुग्रामः,  
व्य० २ उ० । विवक्षितग्राममार्गानुकूले ग्रामे लघुग्रामे, एक-  
स्माद् ग्रामान्वयस्मिन् ग्रामे, उच्य० ३ अ० । एकग्रामान्नुप-  
आद्वाभावाभ्यां स्थिते ग्रामे, स्या० ४ द्वा० २ उ० । विवक्षित-  
ग्रामान्तरन्तरे ग्रामे, " गामायुगा ( ग्वा ) मं ब्रूहज्जमाणे "   
श्रौ० । घ० ।

अयुगामि ( र् )-अनुगामिन-त्रि० । साध्यमसाध्यमन्या-  
दिकमनुगच्छति, साध्याभावे न भवति यो ध्यादिहेतुः सोऽनु-  
गामी । अद्भृदर्थेति, स्या० ३ द्वा० ३ उ० । अनुयातरि, आश०  
४ अ० । मोक्षयाऽनुगच्छति, व्य० १० उ० ।

अयुगामिय-अनुगामिक-त्रि० । उपकारित्साक्षान्तरमनु-  
याति तदनुगामिकम् । स्या० ४ द्वा० १ उ० । अनुगमनशीले  
भवपरम्परानुबन्धिषु लजजनके, पा० । स्या० । अनुगमनशीलेऽ-  
बन्धिज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । गच्छन्तमनुगच्छतीति  
अनुगामिकः । अनुचरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । अकत-  
व्यदंतुभूतेषु चतुर्दशस्वसदनुष्ठानेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अयुगामियत्त-अनुगामिकत्वं-न० । भवपरम्परानु सातुबन्ध-  
सुक्ते, श्रौ० ।

अयुगिद्ध-अनुयुद्ध-त्रि० । प्रत्याशक्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अयुगिच्छि-अनुयुच्छि-स्त्री० । अन्निकाङ्क्षान्याय, उच्य० ३ अ० ।

अयुगिल्ल-अनुगिर्द-अभ्य० । भवचित्सेत्यर्थः, शा० ७ अ० ।

अयुगगीत-अनुगीत-त्रि० । मूलाध्यायार्थोपाधात्परिशिष्यैः कृते  
प्रथमैः, " महत्प्रथमका वयस्यभूया, गाथायुगीया नरत्संघमज्जे "   
अन्विति तीर्थकृद्वगणधरादिभ्यः पञ्चाद् गीता अनुगीता ।  
काऽर्थः-तीर्थकरादिभ्यः भूया प्रतिपादिता, स्वावैरिति  
शेषः । अतुलोमं वा गीताऽनेन श्रोत्राणुसुकैव देशना कियते  
इति क्यापितं भवति । उच्य० १३ अ० ।

अयुगुह-अनुगुह-त्रि० । यद्यथा पूर्वशुक्रमिराचरति तत्तथैव  
पाञ्चात्यैरिति आचरणीयमिति शुरुपात्पर्ये व्यबस्यथा व्यब-  
हरणीये, श्रु० १ उ० ।

अयुगुह-अनुगुह-पुं० । उपकारे, श्रौ० । ज्ञानाद्युपकारे, स्या० ।

तिविधे अयुग्महे पक्षे च । नं जहा-अयायुग्महे, पराश्र-  
महे, तदुभयायुग्महे य ॥

तत्र आत्मानुग्रहोऽभ्ययमात्रिप्रकृतस्य, परानुग्रहो वाचनान्दि-  
प्रकृतस्य, तदुभयाग्रहः शास्त्रव्याख्यानादिष्व्यसङ्गहादिप्रकृ-  
तस्येति । स्या० ३ द्वा० ३ उ० । पञ्चा० । " सर्वभोक्तोपदेशेन,  
यः सत्त्वामानुग्रहय । करोति दुःखतत्तानां, स प्रामोत्यधि-  
राच्छिवम् " प्रा० म० प्र० । प्रश्ना० । यो० वि० । अनुपचारेति,  
उज्जालने, लि० ब्रू० १ उ० । देहस्य अरुच्यन्वनाङ्गनावसना-  
दिभिर्मोक्षरूपधर्मे, य० १ अ० वि० ।

अयुग्महृद्-अनुग्रहार्थ-पुं० । अनुग्रह उपकारस्तत्कृपायो यो-  
ऽर्थः पदार्थः, तदनुग्रहप्रदः शास्त्रव्याख्यानादिष्व्यसङ्गहादिप्रकृ-  
तस्येति । स्या० ३ द्वा० ३ उ० । पञ्चा० । " सर्वभोक्तोपदेशेन,  
यः सत्त्वामानुग्रहय । करोति दुःखतत्तानां, स प्रामोत्यधि-  
राच्छिवम् " प्रा० म० प्र० । प्रश्ना० । यो० वि० । अनुपचारेति,  
उज्जालने, लि० ब्रू० १ उ० । देहस्य अरुच्यन्वनाङ्गनावसना-  
दिभिर्मोक्षरूपधर्मे, य० १ अ० वि० ।

अयुग्महृता-अनुग्रहृता-स्त्री० । अनुग्रहान् इति अनुग्रहः । क-  
र्मेयनद् । तस्य भावोऽनुग्रहता । अनुग्रहस्ये, व्य० १ उ० ।

अयुग्महृतापरिहार-अनुग्रहृतापरिहार-पुं० । अनुग्रहतया  
परिहारोऽनुग्रहतापरिहारः । कोटादिभङ्गरूपे परिहारभेदे,  
व्य० १ उ० ।

अयुग्म्याय-अनुवृत्ताति-न० । उद्घातो जागपातस्तेन नि-  
वृत्तमुद्घातिम् अतिव्यर्थः । यत् उक्तम्-" अद्वेज जिज्ञसेसं, पु-  
व्व्वर्त्तं तु संयुते कामे । जिज्ञाह सद्गुणानं, गुणानं तत्तत्त-  
वेच " इति । ( ' उद्याहश्च शब्देऽस्या व्याख्या ' इति भा० ७३०  
पृष्ठे द्रष्टव्या ) यत्तन्निघादनुवृत्तातिम् । पौगुण्डिण प्राथम्ये,  
तपोगात् महदैव सायुष्य च । स्या० ३ द्वा० ४ उ० ।

अयुग्म्याय-अनुवृत्तातिक-पुं० । न विद्यते उद्घातो अयुक्तर-  
जलक्षणं यस्य तपोविशेषस्य तदनुवृत्तातम्, यथाब्रुतदामित्य-  
र्थः, तद्यथा प्रतिसेवाविशेषेनोऽस्ति तेऽनुवृत्तातिकाः । स्या० ४  
द्वा० ३ उ० । उद्घातो नाम आगत्यः, सात्तरहानं वा, स वि-  
द्यते येषु ते उद्घातिकाः; तद्विपरीता अनुवृत्तातिकाः तपोगुण-  
यच्छिचार्थेषु, श्रु० ४ उ० ।

प्रयोऽनुवृत्तातिकाः-

तत्रो अयुग्म्याय ( मा ) पश्यता । तं जहा-इत्यकर्म्यं क-  
रेमाणे, मेयुषं सेवमाणे, राइनोयणं लुंजमाणे । स्या० ३  
द्वा० ४ उ० ।

प्रविक्षितस्थका अनुवृत्तातिकाः । उदातो नाम-" अद्वेज जि-  
ज्ञसेसं " इत्यादिविधिना जागपातः, सात्तरहानं वा; स विद्यते  
येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुवृत्तातिकाः, प्रश्नास्तीर्थक-  
रादिभिः प्रकृतिताः, तद्यद्योपदेशोभाः । इति इत्यति वा सुकामा-  
त्यनेनेति हस्तः कारीरेकदेशो निष्कृपाद्यानादिसमर्थः, तेन यत्कर्म  
कियते तदस्तकर्म, तत् कुर्वन्; तथा स्त्रीपुंसयुग्मं मिथुमनुवृत्ते,  
तस्य ज्ञावः कर्म वा मेयुषं, तत्रप्रतिसेवमाणः; तथा शरीर्भोज-  
नमशनादिकं भुञ्जान् । एष मन्त्रार्थः । श्रु० ४ उ० । निक्षेपपुर-  
स्सरं विशेषव्याख्यानम् ।



अथाणुग्यातिपदं व्याख्यातुमाह-

अथातमणुग्याते, निस्सुवेयो द्विविद्धो उ कायचो ।

नामं उवखा दविए, खेते काझे य जावेय ॥

इह ह्रस्ववर्द्धीर्धत्वमह्रस्वादिक्कानुग्यातिकस्य प्रसिद्धिरिति ह्रस्वा द्वयोःक्यातिकाणुग्यातिकाः पश्चिंशो निक्षेपः कस्येव्यः । तद्यथा-नामानि स्थापनायां ह्रस्वे क्षेमकाश्च भावे चेति । तत्र नामस्थापने गताये ।

ह्रस्वादिषिष्यमुक्त्वातिकमनुग्यातिकं च दर्शयति-

अणायमणुग्याया, द्वचमि ह्रल्लिराग किमिरागा ।

लेखमि काहजूमी, पत्यरजूमी य ह्रमादी ॥

ह्रस्वे ह्रस्वत उक्त्वातिकं ह्रिन्द्रारागः, सुक्ष्मेत्यापने शक्यत्वात् । अनुग्यातिकः ह्रिमिरागः, अपनेतुमशक्यत्वात् । क्रेजत उदात्तिका ह्रमाभूमिः अनुग्यातिकः प्रस्तरभूमिः । कुत इत्याह- ( ह्रममादि षि ) ह्रल्लुक्तिकादिभिः ह्रण्णमिभिरुदात्तयितुं क्रोदयितुं शक्या, प्रस्तरभूमिरशक्या ।

तथा-

कालमि संतर गिरं-तरं तु समयो व होतऽणुग्यातो ।

नचवस्म अह्र पयमी, उग्याति पपतरा इयेरे ॥

कालत उदात्तिकं साम्प्रत्यायञ्चितस्य दानव, अनुग्यातिकं निरन्तरदानं, लुघान्दात्तं लघुमासादिकमुदात्तिकं, गुरुमासादिकमनुग्यातिकम् । अथवा-कालतः समयोऽनुग्यातिको भवति, सागराः कर्तुमशक्यत्वात् । आचञ्चिकत्वं उदात्तिकाः, स्मृतिरनु शक्यत्वात् । जावत उदात्तिका अथवस्थाधे कर्मप्रकृतयः, उदात्तयितुं शक्यत्वात्, इतरस्याजव्यस्य जलास्ता पदेतरा अनुग्यातिकाः ।

कुत ? इति चतुर्वच्यते-

जेण खवणं करिस्मति, कमाणं तारिसो अनव्यस्म ।

ण य उण्जज जावो, इति भावो तस्सऽणुग्यातो ॥

येन सुभाष्यसत्तायेन कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कृपणमसौ करिष्यति स तादृशां भावोऽभव्यस्य कदाचिदपि नापद्यते, इत्यतस्तस्य जावोऽनुग्यातः कर्मणाऽनुग्यातं कर्तुमसमर्थः । अत एव तस्य कर्मणि अनुग्यातिकानि ज्ञयन्ते ।

अत्र च प्रायश्चित्ताणुग्यातिकेनाधिकारः । तत्र कुत्र नवतीत्याह-

ह्रथे य कम्म मेहुण, रत्तीभने य होतऽणुग्याता ।

एतेसि तु पहाणं, पचेय परुवाणं वोच्छं ॥

इहने हस्तकर्मकरणे, भैयुनसेयने, रात्रिभक्ते पतेतु विपु सुत्रो-कपदेशु अनुग्यातिकानि गुरुकानि प्रायश्चित्तानि ज्ञयन्ति । तत्र हस्तकर्मणि मासगुरुकं, भैयुनरात्रिनकयोश्चतुर्गुणकः । एतच्च प्रायश्चित्तं यदा यत्र स्थाने भवति तत्परस्तादृ व्यक्ती करिष्यते ॥ ३०४ उ० । ( अथेतेषां इत्यकर्मभैयुनरात्रिभोजनानां व्याख्या-अत्र च स्वस्वस्थान एव ह्रद्व्या ) ।

उपसंहराह-

अत्थं पुण अभिकारो-ऽणुग्याता जेसु जेतु ठाणेषु ।

उच्चारियसरिमाहं, सेसाह विकोवण्डाय ॥

अत्र पुनः प्रस्तुतस्य इत्यकर्मभैयुनरात्रिनकविषयेः स्थानैरधिकारः प्रयोजनम् । कैरित्याह-येषु येषु स्थानेषु अनुग्यातानि शु-

कानि प्रायश्चित्तानि भजितानि तैरेवाधिकारः । शेषानि पुनरु-च्चारितार्थसकदानि ज्ञाप्याणां चिकोपनायेमुक्तानि ॥ ३०४ उ० । उदात्तिकं अनुग्यातिकमनुग्यातिकं वा उदात्तिकं पञ्चानु-ग्यातिकाः । "एव अनुग्यात्मा पणुणा । तं जहा-हृण्यकम्मं क-रेमाणे मेहुणं परिसेवमाणं राधेभोयणं तुजमाणे उच्चारियपिकं तुजमाणे रायपिणं तुजमाणे" इत्या० पृ ० २७० । उदात्तिकं अनु-ग्यातिकमनुग्यातिकं उदात्तिकं दत्तः प्रायश्चित्तम् ।

जे भिक्खु उग्याइयं सोष्वा एच्चा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे जिकखु उग्याइयहेट्टं सोष्वा एच्चा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे जिकखु उग्याइय-संकपं सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे जिकखु उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयसंकपं वा सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे जिकखु उग्याइयं सोष्वा एच्चा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे जिकखु उग्याइयहेट्टं सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खु उग्याइयं वा उग्याइयं वा सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खु उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयहेट्टं वा सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खु उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयहेट्टं वा सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे जिकखु उग्या-तियसंकपं वा उग्याइयसंकपं वा सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे जिकखु उग्याइयं वा उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइय-इयहेट्टं वा उग्याइयसंकपं वा उग्याइयसंकपं वा सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे जिकखु उग्याइयं वा उग्याइयं वा सोच्चा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे जिकखु उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयहेट्टं वा सोष्वा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खु उग्याइयसंकपं वा उग्याइयसंकपं वा सोष्वा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे जिकखु उग्याइयं वा उग्याइय-इयहेट्टं वा उग्याइयसंकपं वा उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयसंकपं वा सोष्वा एष्वा संतुजइ संतुजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

एवं अणुग्याति वि सुत्तं । उग्याताणुग्याइयेण वि हो सुत्ता । उग्याताणुग्याइयसंकपे वि हो सुत्ता ।

एते क सुत्ता- उग्यातिर्यं वहुंते, आवसणुग्याइयेणे होति । उग्यातियसंकपिय-सुक्खे परिट्ठारियं त्हेव ॥ २६० ॥ उग्यातियं याम जं संतरं वहति, लघुमित्थयः । अणुग्यातियं याम जं सिरंतेरं वहति, गुरुमित्थयः । सोष्वा ति.अक्षसगा-

साओ, एवं तिसर्वाभ जाणित्ता, संयुज्जति एगओ भोजनम् ; उग्धायाहंउ संकप्पाय अयुग्धातियाण तियहि इमं वक्कामां । उग्धातिव पायक्किणं वहतस्स पायक्किणमावक्कस्स जाव मयालायं ताव हेउं भयति, भाओपय अ सुउदिये तुगळं य पक्किणं चिक्किहिति तिस संकप्पियं भणति, पय पुण तुविधं पि तुविधं वदति-सुउदतवेण वा परिहारतवेण वा इत्थणिसुउद-स्स तवस्स वा परिहारतवस्स वा संकप्पियं पि सुउदतवेण वा परिहारतवेण अयुग्धायाहेवहेउं संकप्पाय अयुग्धातियाण तियह इमं वक्कामां ।

अयुग्धातिवं बहूते, आबभुग्धातहेउगे हेति । अयुग्धातियसंकप्पिय-सुक्के परिहारियं तहेव । ॥१६१॥

पूर्ववत्, खवरं, अयुग्धातिव तिस वचस्स, जे सगक्के सुउदपरि-हारतवा ए अरुह ते सुउज्जति वेव । जे परगच्छातो आगता ते पुक्किउज्जति ।

को भंने ! परियाओ, सुउत्तयअभिगगहो तवो कम्मा । ककखदमवखदपयु ए, सुक्कतवे मंडवादो ति ॥१६२॥ इमा पढमा पुक्क्या ।

गीयमगीओ गीओ, महत्तकं नत्तु कस्स वसि जोग्गो ? । अग्गो उ त्ति य भणित्ते, थिरमधिरतवे प कयजोग्गो ॥१६३॥

सो पुक्किउज्जति-किं तुमं गीयथो आगीयथो ? । जदि सो भणति-गीनोऽहमिति, तो पुणो पुक्किउज्जति-किं आयरिओ ? उवय्ज्जाओ ? पव्वसो ? थिरो ? गणवक्केओ ? नेता ? वसओ ? । एतेसि एयंतरे अक्कणाय पुक्किउज्जति-कयमस्स तयजोग्गोमा सुउ-दस्स परिहारस्स, अरुह सा आगीनोऽहमिति भाणुज्जति, नत्तो पुक्किउज्जति-थिरो अथिरो ति । थिरो ददो तवकरणे बलवा-नित्थयोः । अथिरो अन्तर एव भउज्जे, नान्तं नयतीत्यर्थः । पुण थिरो अथिरो वा पुक्किउज्जति-ताव कयजोग्गो तव-कारणेनाभ्यस्ततवो ।

सगणम्मि नत्थि पुक्क्या, अयुग्गयादागयं व जं जाणे ।

परियायजम्मदिक्खत्ता, उण्णतीसा बीसकोमी वा ॥१६४॥

सगणे पया उ णत्थि पुक्क्या उ, जओ सगणवासिणो सत्थे वाउज्जति । ओ जारिस्सो अयुग्गयागयं पि जं जाणं तं सो पुक्केम भंतं । आमतणवययणं परियाय त्ति । परियाओ तुविहो-जम्मव-रियाओ, पव्वउजापरियाओ य । जम्मपरियाओ अहणेषु अस्स एण्णत्तीस बीसा कहं ? जम्मवचरिस्सो पव्वति । तो रावमव-रिस्सो पव्वति, तो णवमवचरिस्से पव्वति, तो ते णवमवचरिस्से प-व्वतीओ विस्सतिचरिस्सस्स चरिस्सेण सम्मओ । एवं चरिस्सेण स-म्मओ । एवं चरिस्सेण सम्मओ । एते अ उणतीसं बीसो उक्कोसेण देसुणा पुव्वकोडी पव्वउजा उणवीसस्स विट्ठिवातो उहिओ चरिस्सेण सम्मओ । एते बीसं उक्कोसेण देसुणा पुव्वकोडी ।

इत्थणिय सुत्तयमिति—

नवमस्स ततियवत्तु, अहण्णओसन्नूणय दत्तं ।

सुत्तयअभिगगहे पुण, दव्वादित्तवो रयणमादी ॥१६५॥

रावमस्स पुव्वअहणं ततिआयारवत्तयुक्को णायं वणि-उज्जति, जाहे तं अथीयं उक्कोसेण जाहे ऊणगा वसपुव्वा अ-भीता संमवदसपुव्विणो परिहारतवो य विज्जति, सुत्तयस्स

एवं पमाणं (अभिग्गोहे ति) अभिग्गोहा इव्वक्कओ के कालभावे हि तवो तवोकम्मं पुण (रयणमादी ति) रयणवाली आदिस-हातो कण्णवायली, 'रीराहियिक्कीलिं अचमअकं वहरमज्जं वेवा-णयं' कक्कडेसु य पक्कळं । अस्स ब्याक्खा-सुउदपरिहार-त्ताए कतमो कक्कओ, कयमो वा अक्कओ । एत्थ सेलए मंडवाहं विट्ठो कज्जति ।

अं मायति तं ह्हुमति, सेलमए मंदवे ए एरिं ।

उययपलियम्मि एवं, परिहारो दुव्वले सुक्को ॥१६६॥

सेलमंडवे जं मायतं तं ह्हुमति ए सो भउज्जति, एरंडमए पुण जावतियं ह्हुमति, एवं उययचत्तिय तिथिवे संघयं गो-वज्जुओ अं आवज्जति इमेरिसाणं सव्वकालं सुउदतवो तं परि-हारतवेण विउज्जति, सो पुण विक्कसंघयणं हि दुव्वलेऽति-हीणो तस्स सुउदतवो वा हीणतरं पि विउज्जति । सीसो पुक्क-ति-किं सुउदपरिहारतवाए एगववओ उत मिष्ठा ? ।

उच्यते—

अविस्सिद्धा आबन्धी, सुक्कतवे संघयणपरिहारे ।

वत्तु पुण आसज्जा, दिज्जते तत्थ एगतरो ॥१६७॥

सुउदपरिहारतवाए अविसेती आबन्धी आरियाविचन्धी । संघयणोवज्जुतं जाणिज्जणं परिहारतवो विउज्जति, इतरो वा सुउदतवो एयं एगतरा दिउज्जति, इमेरिसाणं सव्वकालं सुउ-दतवो दिउज्जति ।

सुक्कतवो अजाणं, अग्गियत्थे दुव्वले अमंयणो ।

पित्तियवलिए संभत्ता-गए य सव्वंमिं परिहारो ॥१६८॥

अज्जाणं गीयथस्स वितीयुत्थवस्स संघयणहोणे एतेसि सुउदतवो दिउज्जति, पित्तवलज्जुसो संघयणसमधिप य पुरिस्से परिहारं तथं पडिउज्जते । एमो विही-

विउसग्गो जाण, ववखाजि, ए य दोसु वी तेसु ।

आगण य दीयराया, दिट्ठतो जीय आसत्थे ॥१६९॥

परिहारनवं पडिउज्जंतं दव्वादि अप्पसत्थवज्जेत्ता पस-त्थेसु दव्वादिसु काउस्सग्गो कीरर, सेससाह जाणएठा आ-लावयादिपदाए पट्ठयाए ठविउज्जति, तेसु अ ठविपुत्तु जदि भीता तो आसासो कीरर ति, इमेहिं से वीहे पायक्किणं सु-उज्जति महती य णिउज्जरा भवति, कण्ठियअयुपरिहारियां य दो सहाया ठविन्ता इमेहिं अगडतिरादिट्ठेनेहिं नीतस्स आसासो कीरर, अगडे पडिबस्स आसासो कीरर ति, एस ज्जातो धावति, रउज्जआ णियज्जति अथिरा उअरउज्जसि, मावि-सादं गेणहसु, एवं जतिणा सासिउज्जति, तो कयातिभाएण तत्थ वेव मारउज्ज, णरीपूरोण हीरमायो भणति- इं अचल-वाहिए सत्ताग्गो इतिगादि धमुमतरिओ मुत्तारेदिस्सि, मावि-सादं गेणहसु । रायगहिओ वि भयति-एस एया जदि वि दुट्ठो तहवि विधाविउज्जंतो पुरिमादियसु आचारं पस्सति, अहमंडं न करंति, एवं आत्तासिउज्जंतो आससाति; दव्वेओ व प्रवति ।

काउस्सग्गो य किं कारणं कीरर ? उच्यते—

नीकवसग्गामिचित्तं, भयजणएट्ठा य सेसगाणं तु । तस्स-उप्यो यं गुक्को, पसाहए ह्योति पविचर्णी ॥७०

सायुस्व विद्ययसम्पत्तिमिच्छं सेससाहृण य भयाजणणटा का-  
 वरसम्मा कीरद, सो य वस्यो भद्रमादि कीरकवत्सो जिण-  
 चरापित्तु कासो धुवधसुरं पसरयादिविणेषु य भावतो बन्ता-  
 राकेषु तस्यस्योप्यो य गुरुणा य साहयसु पवित्रतो भवति । सो  
 य जइवेण मासो, उक्कोसेण उम्मासा, तस्मि णरहरतत्तं पवित्र-  
 ज्जंति । आयरियो भणति-एय सायस्व (पवित्रसम्पत्तिमिच्छं ग-  
 मि काउत्तस्समां जाव वासिरामि, सोमसुत्तोजोगरं अणुपहेत्ता  
 यमोऽरिइतायं ति पारेत्ता सोऽगुस्सवं करं कच्चिन्ता आयरि-  
 यो भणति-

कपाटिओ अहं ते, अणपरिहारी य एस ते गीओ ।  
 पुत्रिय कयपरिहारी, तस्स य सयणो विद्वहेहो ॥२७॥

आथरिओ आयरिया गिउत्तो वा गियमगीयथो तस्स आ-  
 थरियाय पदाणुपालयो कप्यदितो भणति । सो जणति-अहं  
 ते कप्यदितो परिहारियं मच्चन्तं सव्वथ्य अणुपकृच्छति जो सो  
 अणुपरिहारितो सो वि (गियमा गीयथो) । सो स रिज्जति एस ते  
 अणुपरिहारी, सो पुण पुण्यकयपरिहारियस्स अस्सति अथो वि  
 अकयपरिहाराधित संवयवत्तुओ वदंदेशो गीयथो अणुपरि-  
 हारितो उचिउज्जति । एवं दोसु उचियसु इमं भणति-

एस सर्वं पडिवज्जति, य किं चि आलवति मा कु अ्यासवह ।  
 आत्तहचित्तगस्सा, वायाओ जे न कायव्वो ॥ २७५ ॥

एस आयविसुक्कारओ परिहारतत्तं पडिवज्जति । एस तुज्जे  
 न किंचि आलवति, तुज्जे वि एयं मा आसवह । एस तुज्जे  
 सुत्तयेसु सरिंरं यइमाणी वा ण पुच्छति, तुज्जे वि एयं मा पु-  
 च्छह । एवं परिउहणादिपदा सव्वे ज्ञानियथया । एवं आलव-  
 णादिपदे आत्तायं चिन्तकस्य ध्यानपरिहारक्रियाव्याधानो न  
 कर्तव्यः । इमा ते आशयणाधिपदा-

आलावणपडिपुच्छण-परियहृत्ताणसंवेदनगमतो ।  
 पत्तिलिहृणपानागम-भत्तदाणसंज्ञेयण च व ॥ २७३ ॥

आज्ञायो देववत्तादिवुच्छादियसु पुब्बा वीतसुतस्स परिउह-  
 णं कालजिक्खादियाण उठाणं । सआ सुतुत्तिहे जमणमादी-  
 यं वा बंधं जलकाइयसयासंसेसत्तो सभयो वा ण सोऽहित तस्स  
 तिओ वा ण जेप्यति वचकरणं, परोत्परं ण पत्तिलिहेति संघारुगा  
 परोत्परं ण जयंति , जचदानं परोत्परं ण करंति । एवं मइल्लिय  
 णहुंज्जति । वच्चा-यत्किञ्चिक्करणीयं तत्तेन सार्कं न कुवेत्तीत्य-  
 थः । इमं गच्छयास्तींणं पक्कित्तं-

संघारगतो जो वा, लहुगो मामो दयह तु पदाओ ।  
 लहुगा य जसदाए, सअंजो होत उणुग्याया ॥२७४॥

अदि गच्छिज्जाग परिहारियं आलवेति ता ताणं मासअहु ।  
 एवं जाव संघारुगपदे अहमं सव्वथं मासअहु । जदि गच्छ-  
 या जत्तं गेहइसु तो वउत्तइहं, एवमं छंजनाण वउत्तइहं, परि-  
 हारियस्स अहसु पयसु मासअहु, जसदाणससंज्ञेयण वउत्तइहं,  
 कप्यदियस्स अणुपरिहारियस्स दोएह वि एगसंभोगो, एते दो-  
 वि कच्छिउपरिह समाणं आश्रायं करंति । यंयामोचि य अणुति  
 सेसं च करंति । कप्यदियपरिहारियाण इमं परोत्परं करणं-  
 कितिकर्मं च पडिउत्तति, परिउष पडिपुच्छं पि से देति ।  
 सो वि य गुरुमुवचिउत्तति, उदंतमवि पुच्छितो कइति ॥७६॥

कप्यदितो परिहारियवेदनं पक्कित्तं, परिउषति पक्कित्त-  
 नं हेति । छुत्तयसु पडिपुच्छं दिण, सो वि परिहारियओ

कप्यदियं अणुच्छितं अणुद्वाराणि किरियं सुसमं करंति ।  
 सयादिगत्तो आयथे पुच्छितो कप्यदियेण ओदंत इति सरि-  
 इमारी कइति-

उच्छिज्ज एसिएजा, भिवत्तं गेहउत्तज्ज यंयं पव्हे ।  
 छुवि प वि बंधयस्स व, करंति इतरो च तुसियाओ ॥२७७॥

परिहारितो तवकलामितो जइ धव्वसयाप उठ्ठे ज सकेह,  
 ताहे अणुपरिहारियस्स अगमो जणति । उच्छिज्जामि शिसीपजा-  
 मि जिक्कं दिंजिक ण सकेमि, ताअणुपरिहारिको परिहारियजाय-  
 पोहं दिक्कं देति । जइ ण सकेह जंरुमं पडिसेहेउं ताहे अणु-  
 परिहारितो से पवित्रेइणियं करं, जइ ण सकेमि सयासा-  
 हयज्जं गंतुं, तथ्य परिहारिको भणति-काहयसक्यं नृमिं ग-  
 च्छेज्जामि, ताहे संसे अणुपरिहारिको करंति ।

सुयाणियाओ इत्थं, परिहारतवम्मि होति दुविधमि ॥  
 सोषा वा एषा वा, संजुंत्तंस्स आण्णादं ॥ २७८ ॥

एथ सुत्तं निवाओ, जो परिहारतत्तं वृथियं उग्यायं अणुप्रायं व-  
 इइ ते सोषा एषा वा जो संजुंत्तं तस्स आण्णादिहंसा जयंति ।

वितीयपदे साहुवेदं-ए उभओ गेलसुथेरअमती य ।  
 आलोयणादि तु पए, जयणाए समापेरं जिक्कं ॥ २७९॥

साधुबंध्याचि अणुत्तं माधुसंजिता अणयो साधू ते दहुं भ-  
 एति-अनुगमाहस्स बंधुणं करेखा, सो परिहारतत्तं पडिवयो  
 जस्स परिज्जति ये हथो ते आयाणतो बंधिउं वंउणकयं कथोतं  
 तस्स यं दोसो, उभओ गेलसुं वि कप्यदित्य अणुपरिहारिय परि-  
 हारिको य एते जइ तिणिया वि गियाणा, ताहे गच्छेज्जाया सव्वे  
 जअणय करंति । का जयया भणति ॥ गच्छिज्जाया अणुपरिहारि-  
 यमाणेइ दिंजित्ता कप्यदियस्स पणामेति । सो अणुपरिहारि-  
 यस्स पणामेति, सोवि परियस्स पणामेति । सो वि परिहारियक-  
 प्यदिय अणुपरिहारिया पणामेउ पि ण वपति । सोयमेय गच्छि-  
 ज्जाया सव्वे गियाणा तो ते कप्यदिया दिया तिथि जयणाए  
 सव्वं पि करेखा, परिहारिउं गच्छिज्जयआयणेसु आणियो अणु-  
 परिहारियस्स पणांविं, सो कप्यदियस्स, सो वि गच्छिज्जयाणं  
 वेरअसनीए धेरा आथरिआ तोसं वेयावचक्करस्स अस्सतो  
 वेयावचक्करदायाए वा अणयो य सलइंओ पायं, ताहे परि-  
 हारिको वि करेख जयणा, एतो आयणंसु हिंइउं अणुपरिहारि-  
 रियस्स पणावति । कप्यदियस्स वासो आयरियाव देति, वयमा-  
 दिकजेसु आलावणादिपदे जयणा भिक्कु समाचरेदित्थं:

सुत्ताण इ इदाणि एतंसि वेव एहं सुत्ताणं दुगादिअणुसुत्ता  
 य सज्जा । तथ्य दुगसज्जोणं पयसु सुत्ता जयंति । तथ्य वइमं-

इसमं च एते निविं दुगं संजोगसुत्ता सुत्तं णेव गहिया ।  
 सत्ता बारसउत्तया व तज्जा । तिमसंजोगेण वीसं सुत्ता भ-  
 वंति । तथ्य छउ पयससमं च होति सुत्ता सुत्तेणेव गहिया ।  
 सत्ता अट्टारस्स वाणेषेव वज्जया । उउसंजोगेण पयसस, ते  
 अथंणं यत्तया । उउमसंजोगे एते न सुत्तंभव भणियं । एवं  
 एते सत्तावणं संजोगसुत्ता भवति । एतंसि अत्तो पुब्बसमो  
 दुगसंजोगेण उधातियं अणुयातियं वा कइं संभवति ॥ अ-  
 थ्यति-आथत्ती से उग्यातिया कारणे उ दाउं अणुयातियं, एवं  
 उधाय अणुयायसंभवो । अइया तथ्य अणुयात्ताकालतो  
 उधातियं एवं वरिउत्तं भावेतत्तं । नि ० १० उ ० ।

अणुग्याय-अणुद्घात-पुं० । न विद्यते उद्घातो लघूकरण-  
लक्षणो यस्य तदणुद्घातम् । यथासुतदाने, स्था० ५ डा० २  
उ० । आचारप्रकल्पभेदे, आचा० १ ध्रु० ८ अ० २ उ० ।

अणुग्यायण-अणोद्घातन-न० । अणुत्यनेन अणुगण्यन्तु-  
भक्तिर्कंसंसारमित्यर्थं कर्म, तस्योपायास्येन घातनमपनयनम-  
णोद्घातनम् । कर्मण उद्घातने, " से मेहावी जे अणुग्याय-  
णस्तु जेयण जे य बंधप मोक्षमधेखी कुसले पुण यो बधे  
खा मुके " आचा० १ ध्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणुग्यासंत-अणुग्यासयत्-त्रि० । आत्मना गृहीत्वा पक्वाद् प्राप्तं  
इति, " जे भिक्षु मा उन्मासस्तु मेदुण्युबन्धियाए अणुग्या-  
संज्ज वा अणुपापउज वा अणुग्यासंतं वा अणुपायंतं वा स्वा-  
इज्ज " ति० वृ० ७ उ० । ( ' मेदुण्य ' शब्देऽस्य व्याख्या )

अणुच ( य ) र-अणुचर-त्रि० । अणुचरन्ति । अणु-चर-ट ।  
स्त्रियां ङीए । सहचरे, पक्वाद्भक्तिश्च । वाच० । अणुपरिहा-  
रिक्पदस्थितानां यावत् बाणमासकल्पस्थितानां सेवाकारके,  
उत्त० २४ अ० ।

अणुचरिता-अणुचर्य-त्रि० । आस्ये, स० ।

अणुचितण-अणुचिन्तन-न० । पर्यालोचने, आच० ४ अ० ।

अणुचिना-अणुचिन्ता-स्त्री० । अणुचिन्तनमणुचिन्ता, मनसै-  
वायस्मरणमिभिसं स्मृतास्मरणे, आच० ४ अ० ।

अणुचिण-अणुच्युत्ता-अभ्य० । पक्वाच्च्युत्येत्यर्थे, " अणु-  
चिण्णेहागमो तिरियपक्कसुत्तु " महा० ६ अ० ।

अणुचिमर्द-अणुचीर्णवत्-त्रि० । अणुछिनवति, आचा० १ ध्रु०  
८ अ० ६ उ० ।

अणुचिय-अणुचित-त्रि० । अज्ञाधिनशंके, वृ० १ उ० । अयो-  
भ्य, था० ७ विव० ।

अणुची-अणुचिन्त्य-अभ्य० । शौचपत्तिकादिनेवमिक्कया बुद्ध्या  
पर्यालोच्येत्यर्थे, आच० ४ अ० । जी० । सूत्र० । " अणुची  
भासए सयाणमज्जे लइइ पसंसणं " अणुचिन्त्य पर्यालोच्य  
भाषमाणः सतां साधूनां मभ्य लभते प्रशंसनम् । दश० ७  
अ० । सूत्र० ।

अणुचीर्णमि ( ण )-अणुचिन्त्यभाषिण-त्रि० । अणुचि-  
न्त्य पर्यालोच्य भाषंत इत्येवं शीलोऽणुचिन्त्यभाषी । व्य०  
१ उ० । आलोच्यतयकदि, दश० ६ अ० ।

अणुचरिय-अणुचरित-त्रि० । अश्रिते, महा० १ वृ० ।

अणुचर्य-अभ्य० । निष्ठास्वाङ्गारयित्तसयोग्ये, " अभिभादि-  
यमिच्छदिडि अणुचरियणामधेजे सुज्जसिये " महा० १ वृ० ।

अणुचसद-अणुचसद् पुं० । अणुचसरे, " तं पुण अणुचसदं  
बाण्डिमियं पमासेइ " न विद्यते उच्चः शब्दः स्वरो यस्य तद-  
नुशब्दः, तदुच्यतेकिञ्च शब्दं विधिकममिश्रिताकारमित्यर्थः  
तस्मिन् । व्य० १ उ० ।

अणुचाकुद-अणुचाकुचि पुं० । उच्चा हस्तादि यावत् येन  
विप्राधिकारेष्वेधो न स्यात् सप्रादेशो र्दंशो न स्याद् ; अकु-  
चाकुचपरिस्वयम् इति बचमाद् । परिस्वन्वरहिता निम्बेल्लेति  
वायत् ; ततः कर्मधारये उच्चा कुचा शब्दा कम्भादिमयी सा

नो विद्यते यस्य स अणुचाकुचिकः । नीचसपरिस्वन्शब्दायोके,  
कल्प० ।

अणुजाइ ( ण )-अणुयापिन् पुं० । सेवक, की० ।

अणुजाण-अणुयान-न० । रथयात्रायाम्, वृ० १ उ० ।

तद्विधिष्वेवम्-

नमिठण वद्धमाणं, सम्मं संसेवओ पवक्खामि ।

जिणजत्ताए विहाणं, सिक्कफलं मुत्तणीतीए ॥ १ ॥

नस्वा प्रणम्य, वर्षमानं महावीरं, सम्यग्भावतः, संक्षेपतः स-  
मासेन, प्रवचयामि भणिष्यामि, जिनयात्रायाम् अहंहुत्सकस्य वि-  
धानं विधिं, सिक्कफलं मोक्षप्रयोजनं, सूत्रनीत्या आगमन्याये-  
नाति गाथार्थः ॥१॥

जिनयात्राविधिं प्रथमयामीत्युक्तम्, अथ तत्प्रस्तावनायैदह-

र्दंसणमिह्मोक्खं, परमं एयस्स अइइऽऽयां ।

णिस्सकादीं जणितो, पजाणंतो तिण्णिदेहिं ॥ २ ॥

दर्शनं सम्यक्त्वम्, इह प्रवचने, मोक्षाङ्गं सिक्कारणं, परमं प्र-  
धानम्, आदिकारणत्वात्, तस्यामन्तरकारणतया तु परमं आ-  
रिचमेव, 'सारां चरणस्स निष्ठाणमिति' वचनादिति । एतस्य  
दर्शनस्य, पुनरुच्चाऽप्याभिः प्रकृतिः, आचारो व्यवहारो यः स-  
म्यग्दर्शनाभावात्तः स दर्शनस्याच्चार उच्यते, गुणगुणिनोरभेदात् ।  
तमेवाह-आहु संयायं, तदभावां निःशङ्को निःशङ्कतत्वं, त-  
दादियस्य स निःशङ्कादिः, जणितोऽभिहितः, प्रभावान्तो जिन-  
शासनाङ्गत्वात् । अयस्यानः, जिनःश्रीतोऽर्थकः । तथाहि- " निस्स-  
कियनिक्कंसिय, निजिनिगिक्कळा अमूद्विट्ठी य । उवव्हुत्थिरी-  
करणे वच्छसपभाषणा अट्टा " इति गाथार्थः ॥२॥

ततः किम् ?, अत्र आह-

पवरा पभावणा इह, अनेसभावमित्थीए सज्जावा ।

जिणजत्ता य तयंमं, जं पवरं ता पयातोऽप्ये ॥ ३ ॥

प्रवरा प्रधाना, प्रयावना जिनशासनोद्गावना, इहाउपकारे स-  
म्यग्दर्शनाचारे । कुन एवमित्याह- अशयाणां समस्तानां नि-  
शङ्कनादिसम्यग्दर्शनाचाराणां भावः सत्ता अशोपभावस्सिक्कम्  
सति, तस्याः प्रभावनायाः, सज्जावात् संभावनाःसाङ्गिताधि-  
गुणयुक्त एव हि प्रजावको जवतीति । ततोऽपि किमित्याह-  
जिनयात्रा च जिनादेशमहः, पुनरुद्धं जिणप्रवचनप्रजावना-  
कारणं, यदस्माकंतोः, प्रवरं प्रधानं, तत्सस्माकंतोः, प्रयासः प्रय-  
त्नोऽयमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो जिनयात्राविषय इति गाथार्थः ॥३॥

अथ जिनयात्रेति कोऽर्थ इत्यर्थं जिज्ञासायामाह-

जत्ता मट्ठसो खल्लु, उरिस्स जिणे स कीरिइ जो उ ।

सो जिणजत्ता जणई, तिए विहाणं तु दाणाइ ॥ ४ ॥

यात्रा केत्याह-अहोस्त्वयः खलु महामह एव, नतु देशान्तरगम-  
नम् । ततः किमत आह-उरिहायाभिय जिनावहेनः स इति म-  
होस्त्वयः 'जिणे उ' इत्यत्र तु पाठान्तरे जिनास्तु जिनेनेति व्या-  
क्येयम्, कियतं विधीयते । यस्तु य एव स इत्यसावेव अहोस्त्वयो  
जिनयात्रेति भूयते अभिधीयते, तस्या जिनयात्रायाम् विधानं  
तु कल्पः पुनर्नात्रि विधाणनप्रवृत्तिः । आदिशब्दात्पःप्रवृत्तिप्र  
इति गाथार्थः ॥४॥

एतदेवाह-

दाणं तवोवहाणं, शरीरसकारो जहाससि ।

उचितं च गीतवाद्य, सुतिथोवापिच्छणादीय ॥ ९ ॥

दानं वितरणं, तथा तपउपधानं तपःकर्म, तथा शरीरसकारो देहद्वेषा, अवाह्यः प्राकृतशैलीप्रभवः, यथाशक्तिः सामर्थ्यान्तिक्रमेण, इयं च किष्पविशेषमात्रं, अयं कर्तव्यनिष्ठ संकल्पते । उचितं योग्यम् । अशब्दः समुच्चये । गीतं च गेयं, वादितं च पट्टादिनादितं, गीतवादितम् । अनुस्वारलोपश्चात् इत्यर्थः, आकृतत्वात् । तथा स्तुतिस्तोत्राणि एकानेकश्लोककृपाणि, प्रकृणादि च प्रकृणाकप्रकृति च । आदिशब्दात्काव्यकथारथप्रमणाद्विपरिग्रहो जिनयात्राविधानं च अतीति प्रकम्; इति ह्यारणायासंश्लेषार्थः ॥ ९ ॥ पञ्चां ९ विवो । ( यात्राविवयं दानद्वारम् ' भगुकेया ' शब्देऽप्येव मागे ३९० पृष्ठे उक्तम् ) ।

अथ तपोद्वारमाह-

एकासंघाद्विगमया, तवोवहाणं पि एव कायव्यं ।

तसो ज्ञापयिष्ये, शिष्या विद्विहेनत्वा चेत् ॥ ७ ॥

एकाशनादि एकभक्तप्रकृति, आदिशब्दात्पुनराद्विपरिग्रहः, निषमाहर्षव्यवस्था, उपवीथयते इनेनेतुपधानं चरित्रोपधमनहेतुः; तप एवोपधानं तपउपधानं, तद्वि म केवलं दानमेव । अत्र जिनयात्रायां कर्तव्यं विधेयं भवति । कस्माद्दि कतेष्वमित्याह-तत्पण्डितपण्डित आवाविष्णुद्विरव्यवसायनेमदं निषमाहर्षव्यवस्था जयति, आवाविष्णुद्विरव्यवसायनेमदं निषमाहर्षव्यवस्था जिनयात्रा मीत्यनुपधाना चैवति समुच्चयार्थः इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्त तपोद्वारमाह-

अथ शरीरसकारद्वारमाह-

व्यविलेखयाम्यह-दिर्घं विद्विहो शरीरसकारो ।

कायव्यो जहाससि, पवरो देविद्वेषाएण ॥ ८ ॥

व्यविलेखनमात्स्यादिनिर्वासात्पुनरेपपुनप्रकृतिनिरादिशब्दात्कृपापरिग्रहः । विविधो बहुविधः, शरीरसकारो देहद्वेषा, कर्तव्यो विधेयो, यथाशाक्ति शक्यतन्तिक्रमेण, प्रवरः सर्वोत्तमः । कथम् ? हेनेच्छातेन सुखराजोदाहरणेन, यथादि-जगवतामहंतां जन्ममहाविपु लुनेभ्यः सर्वविपुल्या सर्वोद्वेजे च शरीरसकारं विधेयं, तद्व्यवस्थारूपस्यै विधेय इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तः शरीरसकारः ।

अथोचितं गीत्याद्याह-

उचितमिह गीतवाद्य-सुतिथान क्वाइपादिहि जं रम्यं ।

जिणगुणविसयं सत्क-अमुद्विज्ञेणो अभ्युजायते ॥ ६ ॥

उचितं योग्यमिह जिनयात्रायां, गीतवादि तं गेयवाद्यम् । निविधमित्याह-उचितानां योग्यानां स्वशुभिकोपकृपा च अवादिः कालकृतावस्थाप्रकृतिभियं वैसहजयकपसैतान्मयीर्द्वैश्वर्यो-दिमिनीवैश्वर्यं रमणीयं जिणगुणविवयं धीतरागमवादितीर्थे-करणगोचरं म राजाविष्णुविवयं, तद्वि सत्कर्मशुक्तिजनकं सुन्दरधर्ममयुष्यादकं, तद्व्यनुपहासविधिमनानोपहासमनुपहासमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

स्तुतिस्तोत्रादिभिधानायाह-

पुष्टयोषा पुण ओचिय, गंजं रिपयव्यविगइया जे उ ।

संवेगवृद्धिजणया, समा य पाएण सव्वेसिं ॥ १० ॥

स्तुतिस्तोत्राणि प्रतीतानि, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः उचि-

तानि योग्यानि । किंविधानीत्याह-गम्यं रिपुत्पत्त्यात्सुभयुधि-गयोः पदार्थैः शब्दानिर्धेयैर्विचरितानि विद्वितानि गम्योपवाधेर्विचरितानि, यानि तु वान्येव तान्यपि स्ववेगवृद्धिजनकानि भोजानभिलाषातिशयकारिणी, समानि च तुष्टयानि च अभिप्राणि वा सुखोपानीत्याह-प्रायेण बाहुद्वयेन सर्वेषां स्तोत्रानामनुप्यादिस्तोत्रादिपठे हि कोलाहलं पथेति म पुनस्तोत्राणां भावोत्कर्ष इति गाथार्थः ॥ १० ॥ उक्तं स्तुत्यादिद्वारम् ।

अथ प्रेक्षाणकाद्विद्वारमाह-

पेच्छणगा विष्णुमादं, धम्मिपणा क्क्युआरं इह उचिया ।

पत्यायो पुण छेओ, इपेसिमारंभमादंओ ॥ ११ ॥

प्रेक्षणाकान्यपि प्रेक्षाविधयः । अविशब्दः स्तुत्याद्यपेक्षया समुच्चये । किं स्वरूपाणि; नदा इति नदः शैल्यः तत्रवर्षितं वने-कृष्णकं तच्छट एवोच्यते-नदप्रकृणाकमित्यर्थः । तदादि येषां प्रेक्षाणकाणां तानि नदादीनि । आदिशब्दात्विद्वारपरिग्रहः । तानि येह किंवियाम्युचितानीत्याह-धार्मिकनाटकपुनानि । जिनश्चाम्यात्पुन्यमरत्निकमशादिधर्मसंबन्धानादिकोपाति, इह जिनयात्रायामुचितानि योग्यानि, भव्यभूतानां संवेगोत्पादकत्वात् । प्रस्तावोपस्वरः । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । हेतवः ज्ञातव्यः, एषां प्रेक्षाणकानामारम्भमादिशब्दात्प्रेक्षादिशब्दात्प्राथम्याद्विरिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ प्रेक्षाणकानामारम्भद्विप्रस्ताव उक्तः ।

अथ दानव्य कः प्रस्ताव इत्याहप्राथम्यामाह-

आरंजे शिय दार्णं, दीणार्दंछामपुतुद्विजणणायत्तं ।

रसाऽमायायकरण-सर्णं गुणानं सचणी ॥ १२ ॥

( आरंजे शिय ) यात्रारम्भकाल एव, दानं वितरणं विधेयं भवति । किमर्थमित्याह-दीनार्दानं रक्ष्यमूर्तानां मनस्तुष्टेः दिनानाथचित्ततोविधानाय तथा राज्ञा नृपेण मा सक्नोः । सा च हेत्वा-धनसहस्रैः प्राणलपमोक्ष; अनस्तथा घातां हननं नत्या-प्राणोऽभाषानोऽमारिरक्ष्यपहारोच्यते । तस्य करणं विधानममाघातकरणात्मकं निर्द्वयं अथकृष्णमोजनशुभिमात्रसंपादनं, अन्यथा तदुत्प्रेक्षेत्प्राणकुंठना प्रायश्चित्तकं स्वहाकृत्या स्वसामर्थ्येनिति गाथार्थः ॥ १२ ॥

प्रस्तुतविधिसमर्थनायागमविधिमाह-

विसयपवेसे रएणो, उ दंसणमोग्गाहादिकवणा य ।

अभ्युजायान्वाणविहिणा, तेणापुणतायसंघानो ॥ १३ ॥

विसयप्रवेशे मण्डलप्रवेशेने, राज्ञो नृपतेः, तुशब्दः समुच्चयार्थः । तेन तद्व्याये तन्माम्यनुष्यराजमहाभाग्यात्कं दृष्टेन मीक्षकः कार्यः, दृष्टो यं हति ' किमाराजनकारणम् ? ' इति च तेन सुधे अयमहस्य ' देविद्वेषाद्यहह-सागरसाहस्रमोक्षो माहो जेय ' इत्येवविषय, आदिशब्दात्प्राज्ञापकृतास्त्वपस्त्रेणो भवन्तीत्यादे-कः । यदाह-"सुदृशमाकुले लोकं, धर्मं कुरुः कथं हि ते! क्वा-दान्सारिहन्त्यारस्त्रोक्ष्णान् न रक्षतीति " कथना प्रकृणा अत्र-प्रहादिकथना, अशब्दः समुच्चये, कार्येति शेषः । तन्मा-नुज्ञापनं मुक्तजनं कार्यम्, प्रथमहस्य विधिनाऽप्रमतीत्या, तत्संज्ञेन राज्ञा राजसंज्ञेन वा अनुज्ञाने मुक्तसितेऽवधे संघातो निवासः तद्वैशो विधेय इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

कस्मादेवं विधीयते इत्याह-

एमा पवणणती, पवसेताण. गिज्जरा विज्जला ।

इहसोयम्मि वि दसा, ण रंति गियमा गुणा हांति ॥ १४ ॥

एयाऽनन्तरिका प्रवचननीतिरागमन्याये वर्णते । अघानया  
 को शुण इत्याह-एषममन्तरकनीत्या वसतां तद्देशे निवसनां  
 निजरा कर्मस्यवा, विपुला बहूः, अक्षरात्मनस्तस्य निरतिचार-  
 स्तानुपासनादाहाराधनाश्च । नचैतावदेवात्र फलमित्याह-इह  
 लोकंऽप्यत्रापि जन्मनि, भासां परलोकः, शोषाः प्रायसीकृष्टो-  
 पद्रवस्रकणाः, न प्रचन्ति न जायन्ते । नियमाद्व्यवहर्षमात्रेण गुणाः  
 पुना राजप्रविप्रहाहाकां मायतादयो, भवन्ति जायन्ते । यद्, ह-  
 "गन्तव्यं राजकुले, द्रष्टव्या राजपुत्रिता लोकाः । यद्यपि न  
 जन्मन्त्यर्थः, जन्मन्त्यनर्थप्रतीघाताः" ॥ १ ॥ इति गाथायः । १५ ॥

ये गुणा भवन्ति तानेवाह-

दिद्वो पवणगुरुणा राया अणुसासिश्चो ये विहिणा उ ।

तं नत्यि जं ए वियरः, किचियमिऽ आमपाशो चि ॥ १५ ॥

दृष्टोऽप्रलोकितः, प्रवचनगुरुणा प्रधानाचार्येण, राजा नृपतिः, अ-  
 नुशासितऽनुशिष्टश्च, विधिना तु प्रवचनान्त्यैव तस्यकृत्यनुवर्तना-  
 दित्कृत्याय । यदाह-"भाह्मिणि माधमेवं, सत्यविक्रान्य देहिर्दानीं गुरु-  
 णा । सख्यमर्देशनाशपि हि, कर्तव्या तदनुसारेण" ॥ १ ॥ एवं चासी-  
 त्प्रमुदितमना तद्वस्तु नास्ति न विद्यते यत्र वितरति न ददाति,  
 सर्वमेव ददातीत्यर्थः । कियत् परिप्रामाणम्, अल्पमिति कृत्वा  
 ददात्येवत्यर्थः । इह यात्राऽनन्तर अमाघातः प्राणिघातनिवारण-  
 म्, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । इति गाथायः ॥ १६ ॥

अनुशासित इत्युक्तमन्तरकनुराशासनविधिं प्रस्ताव्यन्नाह-

एत्यमणुसासणविह्नी, जणिओ सामएणगुणपसंसाए ।

गंधाराहरणेहिं, उतीहिं ये जावसाराहिं ॥ १६ ॥

अत्र राजविषये, अनुशासनविधिरनुशासितविधानं, भणित  
 उक्तः, नृपतिः । कथम्? सामान्यगुणश्रयसा लोकं लोकोत्तरा-  
 विरुचयिनयदाहियेसांज्यादाद्गुणश्रयसा, तथा गमनीयोदा-  
 हरणैरनुकूलानिः, महापुरुषगतैर्लोकभिश्च त्रणिनिनिश्च, भाय-  
 साराभिर्भावगर्भाभिर्ननु तद्विक्रमाभिरिति गाथायः ॥ १६ ॥

अनुशासनविधिमवाह-

सामएणे मणुजते, धम्माओ णरीसरत्तंणं एयं ।

इय मुणिकणं सुंदर !, जत्ता एयमि कायव्वो ॥ १७ ॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे मनुजत्वे नरत्वे धर्माद्  
 कुशलकर्मणा नरेभ्यस्तं नृपत्वं भवतीति कथं ज्ञातव्यम् । इति  
 पदं शास्त्राऽगमस्य, सुन्दर ! नरप्रधानं । यत्न उच्यतेऽत्र धर्मं  
 कस्येषो विधेया भवतीति गाथायः ॥ १७ ॥

इच्छीण मूलमसा, सव्वाभिं जणपपाहाराणं ति ।

एसो ये जाणवन्, ऐओ संसारजलदिहिमि ॥ १८ ॥

श्रद्धीनां संपदां सूत्रिणं मूलं कारणम्, एव धर्मः । सर्वासां  
 नरामरसंश्लिष्ठीनीनां जनमनोहरणां शोकव्यताहरिणिनाम् । इति  
 शब्दो लोकमासिद्धस्य संपदां जनमनोहरत्यस्यांप्रदर्शनार्थः ।  
 अनेन च सांसारिकफलसाधुत्वमस्योपादर्शितम् । अथ निर्वाण-  
 फलसाधकत्वमस्याह-एष चायमेव यानपात्रं बोधिस्थ इव क्रे-  
 यो ज्ञातव्यः, संसारजलधी जयोवधौ तरोतव्य इति गाथायः ।

कथं पुनरेव भवतीत्याह-

जायइ ये मुहो एसो, उचियेत्यापायणेण सव्वसस ।

जसाए वीयरामा-णं विसयसारत्तओ पवरो ॥ १९ ॥

जायते संपद्यते, अशमः पुनरर्थः, शुनः कुशलानुबन्धः, शुभ-

निसित्यादेव धर्मः, उचितार्थापादनेनानुपपन्नसंपादनेन, स-  
 वस्य समस्तजनस्य । इहैव विशेषमाह-"जसाए" इत्यादि । का-  
 का चैवमध्यमेव-आत्रयोस्त्येन, पुनर्थप्रायां वा उचितार्थापाद-  
 नेनाति प्रकृतम् । केयाइ, बीतराणाणां जिनानां, विषयसारत्वन-  
 प्रधानोच्यन्त्याह । बीतराणा एव हि निश्चितप्रवचनजातिशा-  
 यिगुणत्वेन यात्रागोचरोऽनुपपन्नितो जवतीति प्रवचः प्रधानतः  
 शेषजनाधिनार्थसंपादनेऽत्रधर्मपिक्रया एव जायत इति प्रकृ-  
 तमिति गाथायः ॥ १९ ॥

अधिकतराजानुशासनविधौ यो जावस्तं प्रकृत्यन्नाह-

एतं णं सव्वसत्ता, सुहिया खु अहिसि तमि कालाम्मि ।

एहिं पि आमपाए-णं कुणुत्तं तं चैव पत्तेसि ॥ २० ॥

एतथा बीतरागयात्रया एतस्या वा, सर्वसत्त्वाः समस्तदेहिनाः,  
 सुखिता एधानुवस्त एव, 'खु' शब्दोऽनुशासितारथायः । ( अहि-  
 सि सि ) अशुभः, तस्मिन् काले तदा यदा, जिनानां जन्माद्य-  
 जवत् । ततश्चदानीमप्यनुनासिपि, यथाऽतीतकाले इत्यपिशब्दाः ।  
 [ आमपाएणं ति ] प्राकृत्याद्यदमाघातेन, अमाराप्रदानेन, कुरुष्व  
 विधेहि, त्वं सव्वाराजं देव । सुखितत्यमेव । एतेषां सर्वसत्त्वाना-  
 नामिति गाथायः ॥ २० ॥

अथाचार्यो न भवेत्तत्र तदा को विधिरित्याह-

तम्मि असंते राया, दृष्टव्वा सावोगोहिं वि क्रमेण ।

कारेयव्वो य तद्दा, दाएण वि आमपाओ चि ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रवचनगुरावसत्यविद्यमाने, उच्यते कृणवाऽज्ञाजदशोना-  
 चासमर्थे वा, राजा नरपतिर्दृष्टव्यो दर्शनीयः, आचारेणपि  
 श्रमणापासकरिपि, न तु न दृष्टय इत्येतदर्थेऽसंख्यानार्थोऽपि-  
 शब्दः । क्रमेण नीत्या तदाज्ञकुलप्रसिद्ध्या, कारयितव्यो विधा-  
 यितव्यो राज्ञः । चराष्ट्रः समुच्चयः । तथेति वाक्योपक्रममा-  
 धेयः । तथा कारयितव्यशब्दस्य चास्य प्रयोगः । इति नेकवलि  
 चेद्भाजाते कारयितुं तदा दानेनापि दृष्टयव्यवर्णनेनो न केवलं  
 वचनेनैवपिशब्दाः । ( आमपाओ ति ) अमाघातः प्राणिनाम-  
 मारिः, इतिशब्दः समाप्त्यर्थे इति गाथायः ॥ २१ ॥

किं चायन्-

तेसि पि वायगाणं, दायव्वं सामपुव्वगं दाणं ।

तत्तियदिणंणं उचियं, कायव्वा दमणा ये सुह्वा । २२ ॥

तेषामपि न केवलममाघात एव कारयितव्य इत्यपिशब्दाः ।  
 घातकानां प्राणिवधोपजीविनां मास्यकषादीनां, दातव्यं देयं,  
 सामपूर्वकं प्रेमोत्पादकचचनपुरस्सरे, दानमन्त्राद्वितरणं, ताव-  
 दिनानां यात्रापरिणामदिवसानामुचितं वायव्यः कस्येत्या विधेया,  
 देशना च धर्मदेशना च शुभाऽनवघा । यथा-भवतामन्वयं धर्मा-  
 वार्त्तिसंविध्यतित्यादिरूपा, इत्यनेन च परिपत्तापरिहारो धर्मा-  
 धिनां अयान्तिपुत्रकिति गाथायः ॥ २२ ॥

एव कियमाणे को गुण इत्याह-

तित्तस्य सस्यमाओ, एवं लोणमो बोहिल्लानो ज ।

केसिं नि होइ परमो, आमोमिं वीयल्लानो चि ॥ २३ ॥

तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य, वर्णवाद्: स्थाधा, एवममुना प्रकारेण  
 दानपूर्वकं काऽमाघातकारणरूपकमेन, लोकं जने, भवति । ततश्च  
 किमित्याह-बोधिल्लानिः सम्यग्शरीरप्रति, अशमः पुनर्थो  
 भिन्नकमश्च । केपाविह्युक्रमेणां प्राणिनां, जवति जायते, परमः  
 प्रधानोऽङ्गुपेण मोक्षसाधकत्वात्त्वाद्यो पुनरपर्यायं, पुनर्बीजलाजः  
 सम्यग्दर्शनबीजस्य जिनशासनपक्षात्तदुभयाभाष्यसायल्लक-

वक्ष्ये प्रसिद्धः । इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥  
 कथं तीर्थयेष्वक्षयं येष बोधिविचि ज्ञवत्तत् आह-  
 जच्छिव गुणपञ्चकचर्च, सच्यवकुमपन्मि होऽपि परिमुद्रा ।  
 सा वि य जायति बोद्धी-ए नेख हाएण चोराणं ॥ २४ ॥  
 चियशब्द एषकारार्थः, स चार्थापवादायः । ततश्चायमपि काञ्चि-  
 द्बन्धाऽप्यर्थार्थः । गुणप्रतिपत्तिगुणाऽनुपगतः, स्वैक्यमते जिन-  
 शास्त्रनिषेधे, भवति जायते, परिमुद्रा मायगर्भा, साऽपि गुण-  
 प्रतिपत्तिः, जायते स्वयन्ते, बो जइतुबोधये, सच्यवकुमप्रतिप-  
 त्तेः, तेन ज्ञातेन, चौरादाहरणेन तच्च प्रयुक्तमिति गाथार्थः ॥ २४ ॥  
 यदि श्चक्षक अपि राजहंशानामसमोस्तादा कां विधिरेत्याह-  
 इष सामत्याभाये, दोहि वि वर्गोहं पुत्रपुरिमणं ।  
 इयसामत्थलुभासं, बहुमाणां होति कायव्भो ॥ २५ ॥  
 इत्युक्तके राजहंशान्तराणामागतकारणं यस्मात्प्रथं बलं  
 तस्य योऽजायः स तथा गरिन्द, ज्ञान्यामपि, आस्मानकेन,  
 वर्गोर्णो समुद्रायान्त्यं, अथचनगुश्वककण्ठान्त्यं पूर्वपुरुषा-  
 णामतीतमानयामात्, इतिस्वामिण्युत्पन्नमानमागतकारणकस्यु-  
 क्तानां, बहुमानः प्रीतिविशेषो, भवति वचने, कर्त्तव्यो विषये इति  
 गाथार्थः ॥ २५ ॥

बहुमानमेव स्वरूपत आह-

ते धष्ठा सण्णुरिसा, ज एयं एवमेव णीसेण ।

पुर्वि करिसु किञ्च, जिणजत्ताए विहाएणं ॥ २६ ॥  
 ते पूर्वपुरुषाः, धन्याः रक्षयाः, सण्णुरा महापुरुषाः, बलने ये,  
 एतन्नतरां कर्त्तव्यमिति योगः । एवमेवोक्त्यायैवैष, निःशयं सर्वं,  
 पूर्वकाले (परिसु ति) भद्रापूर्वः कृत्यं कर्त्तव्यं, दानपूर्वमात्मान-  
 रक्षणं, जिनयात्रयां जिनास्त्वंब, विधानेन विधिनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अम्हेउ तह अथया, धष्ठा उए एकिणए जे तेसिं ।

बहु मण्णयो चरिये, सुदावहं धम्मपुणिसाणं ॥ २७ ॥

वयं तु वयं पुनस्तथा तेन प्रकारेण जिनयात्रादिसमयविधान-  
 संपादनसामर्थ्याभावसंश्लेषोऽप्या अरुधाप्याः, धन्याः पुनः  
 रक्षयाः, पुनरिचयता एतावता, यत्तथां पूर्वपुरुषाणां, बहु मण्णयोऽह  
 पुरुषातिविषयकर्मः, अरितं वेदिने सुखायहं सुखकारणं गुत्राय-  
 हं वा, धर्मपुरुषाणां धर्ममेषान्नराणां । बौरपुरुषाणामिति च  
 पाठः । अस्मरिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

एतद्बहुमानमेव फलमाह-

इय बहुमाणा तेसिं, गुणाणमण्णोमयाणा णिअंगेण ।

तत्तो तणुं वि य, होइ फसं आसयचिमेस्स ॥ २८ ॥

इयतिवहं हुमादान्दन्तरोकयच्छपातन्तेतोस्तेषां पूर्वपुरुषाणां  
 सत्कानां गुणानां धर्मधरणादीनामनुमेदनाऽनुभूतिनिर्वायेनाय-  
 दर्थतया भवति (तत्तो रि) तत्तत्त गुणपूर्वमनुमेदनाः, तनुदयमेव  
 पूर्वपुरुषानुष्ठानफलसममेव प्रवर्ति । जायते । फसं कर्मकथादिको  
 गुणः । यदाह-“अप्यदिहयमायतेत, अणुमेयोतेय यन्नाइं सट्टह ।  
 रइकारणमअणुमा यतो मिणो जइ य बभवेयो” ॥११॥ अथ कथं  
 कलागुणानवतां सकलागुणानवद्विस्तृत्यं फसं भवतीत्याह-  
 आराधयित्वाद्यथाध्ययत्ययजता । अध्ययसाय एव हि परं कार-  
 णं गुणागुणकर्मधर्मादिभिः । यदाह-“परमरहस्समिद्धिणं,  
 सम्मतगणिपदयजतरेयवाराणं । परिकामिये वमाणं, निचयय-  
 वड्ढमयाणां” ॥११॥ इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

‘आरंभेच्छिव दाणं’ इत्यादि पञ्चकं तदुपसंहरन्नाह-  
 कयमेव पसंगणं, तत्राहृदाणादिषा वि गियसमए ।  
 अणुक्वं कायव्वा, जिणएण कट्ठाणदिषेहेसुं ॥ २९ ॥  
 कृतमसन्न दानाभाषातप्रसङ्गेन प्रसक्त्या तप उपधानादिका  
 अपि तपःकर्मशरीरवस्त्कारप्रवृत्तिका अपि तत्रावा-न केवसं दान-  
 मित्यपिशब्दाः । निजसमये स्वकीयावसरं कट्टिगमये अणुक्वम  
 भौक्त्येन कर्त्तव्या विधेया । कदेत्वाह-जिनानामहंतां कट्टयाण-  
 दिवसेषु पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबद्धदिनांश्चित् गाथार्थः ॥ २९ ॥

कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह-

पंचं महाकट्ठाणा, सचर्विं जिणएण हंति रिण्णेषेण ।

जुवणच्छेरयज्जया, कट्ठाणफला य तं वारणं ॥ ३० ॥

गच्छे जम्मे य तदा, णिकसमो चो व णाएणिव्वाणे ।

जुवणगुणए जिणएणं, कट्ठाणा हंति णायव्वा ॥ ३१ ॥

पञ्चंति पञ्च महाकल्याणाणि परमश्रेयांसि सर्वेषां सकलकार-  
 णनिश्चयनरत्नोक्तभाविनां जिनानामहंतां भवन्ति निषेधभाषितेषु भा-  
 षेन, तथावस्तुस्वरभावत्वात् । सुवनाभयंजुता नि निर्लिखस्युस्व-  
 न्नुवतानि, विशुवनजानान्दहेतुत्वात् । तथा कल्याणकट्टानि च  
 निःश्रेयससाधनानि । वाः समुच्चये । जीवानां प्राणिनामिति । गमे  
 गर्माधानं, जन्मन्युपपत्तौ । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योप-  
 क्रमे । निकमणे आगारवासार्थाभिगमे, वैश्वेति समुच्चयवाधावार्था-  
 र्थावित्युत्तरञ्च संज्ञस्येते । ज्ञाननिर्वाणे समाहाररुद्धत्वाव्यवस-  
 ज्ञाननिर्मुक्तये च । केषां गर्मादिष्वित्याह-जुवणगुणकट्टा जगत्सं-  
 घ्राणां जिनानामहंताम् । किमित्याह-कट्टयाणमि श्वःश्रेयसानि,  
 प्रवर्ति वतन्ते, इत्येतन्निर्दिष्टा गाथार्थाः ॥ ३०-३१ ॥

ततश्च-

तेसु य दिसेसु धष्ठा, देविंदाइं करिंति जत्तिणया ।

जिणजत्तादि विहाणा, कट्ठाणं अण्णो चो व ॥ ३२ ॥

( तेसु य ति) तेषु च दिनेषु दिवसेषु, येषु गर्माद्येषु बलवृधे-  
 न्या धर्मेषु संख्यातः, पुण्यभाज इत्यर्थः । देविंदायः सुरम्भ-  
 प्रभूतया, कुर्वन्ति विद्वन्ति, भक्तिजता बहुमानमन्त्राः । किमित्या-  
 ह-जिनयात्राऽदि-नहंजुवणपूजाश्रावणप्रज्ञम् । कुल इत्याह-  
 विधानादिभिः । अथवा जिनयात्रादिभिः फलानि । किन्तु जिन-  
 यात्रादीत्याह-कट्ट्याणं श्वःश्रेयसम् । कस्येत्याह-आत्मनः स्वस्य,  
 वैश्वस्यैव समुच्चयार्थेनेन परेषां वेति याथार्थः ॥ ३२ ॥

यत एवम्-

इय ते दिणा पसत्था, ता मेसोहं पि तेसु कायव्वं ।

जिणजत्तादि महरिसं, ने च इमे वक्क्याणसस ॥ ३३ ॥

इत्यतो हेतोः पूर्वोक्तजीवानां कल्याणफलयादिलक्षणस्य इति,  
 येषु जिनयात्राणां अर्थात्, दिना दिवसाः, दिनशब्दः बुद्धि-  
 श्लोष्येति । प्रकृताः श्रेयांसः ततः किमित्याह-( ता इति) य-  
 स्मदिकं तस्मात् शेषैरपि श्रेयःकारिभ्यर्थादिहेतुभ्यैरपि, न के-  
 वलमिन्द्रादीनां श्रेयसपिशब्दाः । तेषु गर्मादिष्वित्याह-वत्तेषु,  
 कर्त्तव्यं विधेयं, जिनयात्रादि वातारगोःसुवपूजाप्रज्ञानिक वस्तु,  
 सहर्षं स्वमार्गं यथाभवति । क्वानि च तानि दिनातीत्यर्थं  
 जिहासायां सर्वत्रजनसंघानन्दं तेषां च वक्तुमशक्ययत्तर्त्तमान-  
 तीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नस्यैव कस्यैव महावीरस्य, तानि वि-  
 वक्तुमाह-( तेषु ति) तानि पुनर्गोदिदितानि इत्यादि वक्ष्यमा-

मायानि बर्हमानस्य महावीरजिनस्य भवतीति गाथाद्यैः ॥३३॥  
ताम्येवार्ध-

आसाहमुद्रदृष्टी, चेत् तद् सुकृतेरसी चैव ।

भग्नासिराकिएदसमी, यद्साहे सुच्छदसमी य ॥ ३४ ॥

कसियकिएरे चरिमा, गम्भाःदिणा जइकमं एते ।

इत्पुत्तरजेएणं, चउरो तद् सातिणा चरमो ॥ ३५ ॥

आयाइयुक्पव्वी आयाइमासं शुक्लपक्षस्य वव्वी तिथिरित्येकं दिनम् । एवं चैवमासं । तथेति समुच्चये । शुक्लपयोदयेवेति द्वितीयम् । चैवेत्यवधारणं । तथा भाग्यशीपेकृष्णदशमीति मृती-यम् । वैशाखं शुक्लदशमीति चतुर्थम् । अशुभः समुच्चयार्थः । कार्तिकेकृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् । एतानि किमित्याह-  
माभेदिनानि गन्नेज्जमनिष्कमण्णानविद्योणदिसाः, यथाक्रमं क्रमणैव, एताम्यनन्तरोक्तानि, एषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन इहत् उत्तरो यस्मां हस्तोपस्रज्जिता वा उत्तरा इतोत्तरा उत्तराफा-  
ल्लुपुयः ताभियोगं संवत्थञ्जइत्येति इतोत्तरायोगः, तेन कर-णशून्येन, अन्वयोद्यानि दिनानि भवन्ति । तथेति समुच्चये । स्वातिना स्वातिनसाम्भेण युक्तः । ( चरमोसि ) चरमकल्याणक-  
दिनमिति, प्रकृतस्वातिनि गाथाद्वयार्थः ॥ ३४-३५ ॥

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दृष्टीतानीत्यब्रुव-  
अभिधानातिर्यविहाया, भगवं ति णिदंमिवा इदं तस्स ॥

मंसाण वि एवं वि य, णियणियतिस्सेयु विसेया ॥ ३६ ॥

आयज्जुनीतीथंविधाता वसंमानप्रचनकतो, भगवान्महावीर इति, हेतोर्निर्दिष्टानाम्युक्तानि, इमानि कल्याणकविमानि, तस्य चरमानीजिनस्य, अथ शेषाणां ताभ्युदितशास्त्राह-शेषाणामपि, न चरुदमानस्यैव । अर्धभाद्रीनामापि, चरममानस्यस्यपिर्गोभरत्तकृत्वा-  
पेकृत्वा एवंमवद तीथं वज्जमानस्यैव, जिज्जिज्जतीथेषु स्वकी-यमवचनावसरूपे, विक्रयानि ज्ञातव्यानि, मुक्खबुत्त्या विधेयतथेति । इह च यान्येव गतीदिनानि जम्बुद्वीपजनस्तानामुपजादिजिनानां ताम्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च, यान्येव यथेयाप्रस्थामवस-  
पिण्णयां ताम्येव च व्यत्ययेनोत्सर्पित्त्यामणीति गाथाद्यैः ॥ ३६ ॥

अथ किमेषं कल्याणकेषु जिनयात्रा विधीयत इत्याह-

नित्यगरे बहुमाणो, अञ्जानो तद्द य जौतकप्पसस ।

देविंदाद्यणुकित्ती, गंभीरएक्खणा भाए ॥ ३७ ॥

बभो य पव्वएणसा, इय जत्ताए जिखाण णियंमण ।

मग्गाणुसारिभावो, जायइ एसां विव य विपुक्को ॥ ३८ ॥

तीर्थकरं जिनविषये, बहुमानः पक्वपातः तद्विदं दिनं यत्र भग-  
वान् अञ्जनीत्यादि वि कल्पितः कृतो भवतीति सर्वत्र गम्भ-  
रमिति । यात्रयेरयमेन योगः । तथेति वाक्योपेक्षयाऽपि द्रष्ट-  
व्यं । अत्रयासोऽप्यसनम् । अशाब्दः समुक्लृष्ये । जितकल्पस्य  
पूर्वपुरुषाच्चरितलक्षणवाचस्त्येति । तथा हंभन्दाद्यनुकृतिः दे-  
वाधिपदेवदानवप्रभृत्याचारानुकरणम् । तथा गम्भीरप्रकृषणा  
गम्भीरं स्थापयामिदं यात्राविषयं न यादृच्छिकमित्यस्य प्रक-  
पण्डा प्रकाशना गम्भीरप्रकृषणा कृता जयतानि, तथा शोक  
जनमभ्ये; वधैः प्रसिद्धिज्जयत इति योगः । अशाब्दः समुच्चये ।  
कल्पे, प्रचनस्य जितशानस्यस्य, श्रीकल्पं प्रकृतस्वादिनि । या-  
त्रया अनन्तरोक्तविधानोत्सवेषु, किंयानोत्सवेषु । केपास् ?  
जिनानां शैलरागाणां, निधमेन नियोगेन, ( एसांवि य सि ) यत्

एव कल्याणकयात्रया तीर्थकरबहुमानादिकं कृतं भवत्यत एव  
हेतोर्मांगानुसारिभावो मोक्षपादानुक्रमाभ्यवसाय भागमानुसारी  
या, जायते जयति । असी किमुतः ? विशुद्धोऽभवद्यः । स्वतो विशु-  
द्धोऽस्वी जायते, विशुद्धनीत्यर्थे इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७-३८ ॥

यद्यसौ जायते ततः किमित्याह-

ततो सयलसमीहिय-सिक्कं णियमेण अबिकलं नं से ।

कारणमितीं भणियओ, चिण्णैहिं निबरागदोसेहिं ॥ ३९ ॥

ततो विशुद्धमोगानुसारमायस्विकलसमीहिनसिद्धिर्निष्-  
लेपिसनार्थेनिष्पात्तनियमेन नियोगेन, कुतः पुनरेतदित्याह-अ-  
विकलमवगन्धं यद् यस्मात्कारणं हेतुः, अस्याः सकल-  
समीहिनासिद्धेभणितोऽर्जिताहता, जिबेरहेत्तुः । जिनाब्ब नाम-  
जिनादयोऽपि भवन्तीत्यत आह-जिनरागद्वैविगतासत्यव्या-  
दकारणैरित्यर्थे इति गाथाद्यैः ॥ ३९ ॥

अथ कथमसौ मांगानुसारिभावः सकलसमीहितसिद्धेः कार-  
णं भणित इत्यबोधयेत्, शुभंवेष्टानिमित्तत्वेन; एतद्वैव दर्श-  
यथाह-

मग्गाणुसारिणो खनु, तत्ताभिसिखेमओ मुजा चैव ।

होइ समत्ता चेद्धा, अमुथा वि य णिरणुधंथि ॥ ४० ॥

मांगानुसारिणो मांसपथानुकूलभावस्य जीवस्य, अलुर्वाक्या-  
लङ्घने, गुणैव चोदति संबन्धः । कुत एवमित्याह-तस्वामिनिवे-  
शनां वस्तुस्वकपनिर्मायानिश्चयान्, शुभैव प्रशस्तैव, नेतरा ।  
चैवशुभोऽवधारणार्थः । भवति जायते, सप्रस्ता निष्कृया, चे-  
ष्टा क्रियाऽशुभा । किं सर्वथा न भवतीत्यस्यामाशङ्कयामाह-  
अमुथाऽपि चाप्रशस्ताऽपि च । चेष्टति वसति । अथि वेति  
समुच्चये । भवति केवलं निरनुबन्धा अनुबन्धनराहिता-पुनः  
पुनरभावनीत्यर्थः । इतिशब्दः समासाविति गाथाद्यैः ॥ ४० ॥

कृतो निरनुबन्धा सेत्याह-

सो कम्मपारतता, वट्टं तीए ण जावओ जम्हा ।

इय जत्ता इय वीयं, एवंभूयस्स जावस्स ॥ ४१ ॥

स मांगानुसारी जीवः कम्मपारतत्याचारविप्रमोहनीयक-  
मवशादेव, वस्तुने प्रवर्तते, तस्यामशुभचेष्टायां, न भावतो न  
पुनर्भावान्तःकरणेन तस्याभिविशादेव यस्मात्कारणात्सा-  
स्माद् निरनुबन्धेति प्रकृतमिति । कल्याणकयात्राकामिनिव-  
नयाह-इति यात्राऽनन्तरोक्तकल्याणकजिनोत्सव इत्युक्त्या-  
येन शुभचेष्टाहेतुलक्षणं शोचं कारणम्, एवंभूतस्यानन्तरो-  
क्तस्य सकलसमीहितसिद्धिकारणस्य, भावस्य मांगानुसारि-  
परिणामस्य, पूर्वोक्तस्येति गाथाद्यैः ॥ ४१ ॥

उत्तवविशेषपस्यान्यस्यापि कल्याणकदिनेष्वेव वि-  
धेयतां दर्शयथाह-

ता र्हणिकवणणादि वि, पत्तेमु दिसे पणुच्च कायव्वं ।

जे एसां विव य त्रित्तओ, पहाशमो तोएँ किरियाए ॥ ४२ ॥

तद्विति यस्मात्तीर्थकरबहुमानादयोऽनन्तरमहितमुष्णाः क-  
ल्याणकदिनेषु जिनयात्रायां भवन्ति, तस्यद्वयस्य जिनाव-  
स्थाधिष्ठितस्य स्वप्नस्य, जिनगृहाभिष्कमणं निर्गमो नगरप-  
रिप्रमार्थं रथनिकमणं तद्व्यापि तत्प्रभृत्तिकमं, आदिश-



व्याकृष्टिकाचित्रपटनिकम्पयादिप्रहः । न केवलं यावत्तद्यपि शब्दाः । एतेषु च तान्येव कल्याणकरुपाणि दिवसान् प्रतीत्याभित्य, कर्तव्यं विधेयं भवति । कस्माद्विभक्तिर्याह-यद्यन्नाकारशास्त्रे एव कल्याणदिनलक्षणो विषयो शोचरः प्रधानः शोभनः । मकारस्तु प्रकृतशैलीप्रत्ययः । तस्या रचनिकम्पयादिकायाः क्रियायाः चेष्टायाः, इदं ब्याधारण्यमनागमोद्दिनव्यवच्छेदाद्येभ्य प्रष्टव्यम्, आगमोक्तदिनानां स्वगम-प्राप्तयाद्येव प्रधानत्वात् । अभिधीयते चागम- "संवच्छुरा-उम्मा-सपसु अर्चाहियास्तु य तिहीस्तु । स्वव्यायेर्ये लम्पह, जि-ण्वरूपया तवगुणेसु" ॥ १ ॥ तथा प्रतिष्ठानन्तरमष्टाहिकाया इदेष विधयतयोपरिदृष्ट्यादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

ननु कल्याणकदिनेष्वेव यात्रायाः कथं प्राधान्यम् ? बहुफलत्वादिनि श्रमः, एतदेवाह-

वितयत्परगिरिसभावे, किरियायेत्तं पि बहुफलं होर्ष ।  
सकिरिया विदु ए तद्दा, इयरिमि अवीरारागिन्व ॥४३॥

विषयस्य क्रियाविशेषतोचरस्य प्रकर्षेभाव उच्छ्रुताविषय-प्रकर्षेभावः । तत्र, क्रियामात्रमपि अविशेषवत् क्रियाऽपि, आस्तां विशिष्टा, बहुफलं प्रयुक्तेषु भवति जायते । एतस्यैव व्यतिरेकमाह-सर्गिकाया विशिष्टवेष्टाऽपि आस्तां क्रियामात्रप । इश-व्योऽलक्षकनैः । न तथा न तत्प्रकार, न बहुफला जयति । इत-रन्व, विषयस्य प्रकीर्णाय, उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह-अवीतरागे इव पुरुषमाप्रवत् । यथाऽस्य वीतरागे गुणोऽकरो-अवेत विषयप्रकीर्णानेव महत्स्यपि पुञ्जादिका चेष्टा बहुफला न भवति, तथा कल्याणकदिनेष्वेव भवति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ कल्याणकयात्रामेव पुरस्कृत्यनुपदेशमाह-  
लक्ष्णा लुङ्गर्ष ता, माणुपत्तं नह य पवयामं जर्षणं ।  
उत्तमणिर्दंमणेषुं, बहुमाणां होर्ष कायव्यां ॥ ४४ ॥  
अथवा प्राप्य, दुर्लभमसुन्नं ( ता र्नि ) यस्मादिन्दुःखिनिः कृता बहुफला च कल्याणकयात्रा तस्मात्कारणात्मनुजल्यं नरत्थम् । तथाचेति समुच्चयार्थः । प्रयत्नं शासनं, जैनं सर्वेह्वरचितं, जिनमतप्रतियुक्तस्यैव विशिष्टोपदेशोऽप्यतः । तत्सफलताकरणं सामर्थ्यं च भवतीति कृत्वा मनुजत्वमित्यायुक्तम् । उत्तमनिर्द-र्शनेषु प्रधानसर्वज्ञातेष्विन्द्रादिलक्षणेषु । तद्यथा कल्याणक-यात्रा विधया देवप्रत्युत्पन्नप्रवर्तितं, यत्र इति बहुमानः प-कृ-पातो, भवति जायते, कस्येषु विधेयं, न तु सोदोपहतसन्नि-दर्शनेषु यथा यथाऽमुनाऽमुना वाऽरुमत्पत्न्युचितामदादिना-ऽप्येन चेदं विहितमिति विधेयमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अधिकृतवाशागतमेवोपदेशान्तरमाह-  
एसा उत्तमज्ञा, उत्तमभुवणिएणआ सइ बुहेहि ।  
सेसा य उत्तमा खलु, उत्तमरिर्द्धिँ कायव्यां ॥ ४५ ॥

एवाऽनन्तराका कल्याणकयात्रा उत्तमयात्रा प्रधानयात्रा, तद-न्यस्याः का वास्तव्याह-वसमभुवणित्वा प्रधानागमामिहता उ-सा, शेषा च कल्याणकव्यतिरिक्ताऽपि, उत्तमा खलु प्रधानैव । उत्तमभुवणित्वा तु, लोककडिहृता तु भेति । प्रतञ्जोत्तमवत्सदा बुधैर्विद्विक्तरुमच्छां प्रधानवर्जनेन, न यथाकथंचिक्तव्या विधेयति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

उत्तमतिरेके यदापद्यते तदाह-  
इपरा वाऽबहुमाणां-उत्तमा य इमीए णिणएबुद्धीए ।

एयं विधितियन्वं, गुणदोसविहायं परमं ॥ ४६ ॥  
इतरथाऽन्यथा उत्तमच्छो तदकरणे । अथवोत्तमयात्राया अक-रणे तत्र यात्राविशेषोनात्रायाके कसमभुने उत्तमनिर्दशनेषु वा बहुमानः प्रीतिस्त्वद्बहुमानस्तगतविधेयोऽस्तद्बहुमानः स भवति । तदुक्त्यात्राविशेषोपस्थाकरणान् तथाऽऽह-आध्याध्यायं कृता भवति । अस्यामुत्तमयात्रायामिति निगुणबहुला सूक्ष्माध्याया । एतदन्तराकमनर्थेद्वयं विचिन्तयित्तव्यं परिजायमियम्, यतो गु-णादोपविजायमनर्थान्शोचनं सर्वस्यानुष्ठानस्य परमं प्रधानम्, ततः प्रवृत्तिनिवृत्तिभावादिनि गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उत्तमभुनोक्तयात्राऽऽह-कानेन लोककडयोऽहाकरणमुक्तमिति-  
दृश्यन्नाह-

जेदमि विज्जमाणे, उचिय अणुजेदुपूयणमणुत्तं ।  
सांगाहरणं च तदा, पयमे जगवंतवयशमि ॥ ४७ ॥

ज्येष्ठे बृहत्तरं पुत्रावपेक्षया पित्रादौ विद्यमाने सति उचिते निर्दोष-त्वेन पुत्रायोयं, अनुज्येष्ठस्य स्रयोः पुत्रादेः, पुत्रेण सत्कौरोऽनुक-मसंगतम्, यथेति शेष इति दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकमाह- (सांगा-हरणं च ) लोकोदाहरणमपि पित्राऽपुत्रेशानामुत्तमयात्रा मासादौ अमुना च कियते यात्राऽनस्तैषेव सा नो विधेयस्येव लक्षणं, तथा तद्वदयुक्तमेवानुज्येष्ठपुत्रनवत्, प्रकटं रूपं भगवत्त्वेन जनागमे सत्कजगज्जज्येष्ठं सर्वाति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अयुक्तस्यैव लोकोदाहरणस्य भावयन्नाह-

लोगो मुत्तस्सो खलु, एत्तं मति जगवतो विदो ल्पि ।  
मिच्छन्तमो य एयं, एसा आसायणा परमा ॥ ४८ ॥

लोक एव सामान्यजन एव, गुरुतरको गरीयान् । खलुग्वधा-रणे, तस्य च दर्शित एव प्रयोगः । एवमुक्तान्त्या, जनवत्त्वव-सद्भावेऽपि लोकप्रधानीकरणलक्षणे वन्मनि सति, भगवतोऽपि सत्कजगज्ज्येष्ठजिनादपि सकाशादिदोऽनमतः । इतिः समाप्ता । ततः किमन्याह-मिध्यात्यं मिध्याहाष्टवम् । आचारो निपातः पूरणार्थः चेदाह- पुनर्येकाः एतद्भूतवद्वेषेणैवा लो-क-स्य गुरुतरत्याभिगमनं विपरितोषोऽन्वयत्, तथा एया लोकस्य गुरुतरत्याभिगमनलक्षणा, आद्यातना सर्वज्ञावमानना, परमा प्रकृष्टा, अन्नसत्संसारोवेदन्यर्थः । सर्वज्ञवचनेमेव प्रमाणेनाऽऽह-क-कन्त्यम् । लोकस्तु तद्विकृतानुष्ठानं पद्यति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

अथ सर्वभूमिपदेशमाह-

इय अन्नतथ वि सम्मं, पाठं गुरुत्वायं विमसेण ।  
इत्थे पट्टियन्वं, एसा खलु जगवतां आणा ॥ ४९ ॥

इत्येवं कल्याणकयात्रावत्, अन्यथापि यात्राव्यतिरिक्ते दानादा-वपि, सम्यगवैपरीत्येन, ज्ञान्वा विज्ञान, गुरुत्वायं सारंत्तवत्, विशेषेण परस्परवैपरीत्यव्यतिरिक्तं, इष्टजिनमेतैष्याभ्युत्पादौ, प्रव-र्तितव्यं यतितव्यं, यत एया खलु इयमेवमन्तराकमगततो जि-मन्याका आदेश इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अयोपसेहराह-

जत्ताविहागमेयं, णाऊणं गुरुत्वाहाज धीरेहि ।  
एवं वि य कायन्वं, अविरेदियं भयित्तेहि ॥ ५० ॥

यात्राविधानं जिनेनेसवधिधिः, एतदन्तराको ज्ञान्वा विज्ञान, गुरुत्वात् सन्विरनाद्, धीरधीमस्त्रिः, (एवं वि य) एयमेवोक्त-विधिनैव, कस्यैव विधेयम्, अविरेदिते सन्ततं भक्तिर्ज्ञेयबहुमान-

विक्रितिं माध्याह्ने ॥ २० ॥ इति यात्राविधिप्रकरणं विचरणतः समाप्तम् । पञ्चाङ्क विषयः । (अथयुजाने यथा स्वाध्यायकल्पे परिहरति तथा 'एतस्या' शब्दे तृतीयजगो ७० पृष्ठे दर्शयिष्यते )

अथान्यानविषयो विचिन्वते—

आषाढशुभे य दोसा, विराहणा ह्येऽसंजमप्याए ।

एवं ता वच्येते, दोसा पचे अण्येगविद्वान् ॥

निष्कारणेऽनुजाने गच्छत आह्लादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मनो जवति । एवं तावद् प्रकृतो माये दोषाः, तत्र प्रातानां पुनरनेकविधा दोषाः ।

तत्र संयमात्मविराधनां भावयति—

महिषा तस्त्वयज्ञए, इरियादं । न य त्रिसोहए तत्य ।

अप्या वा काया वा, न सुपं नेव पकिलेहणा ॥

महिषा नाम जगधनः प्रतिमायाः पुण्यारोपणविज्ञात्मकः स्वातिशय उत्सवः, तस्य दर्शनाधेनुमुक्तदूतं देवीदसमितिनं विशोध्यति । आदिशम्भ्रावणयादिपरिग्रहः । तत्र अयोदिनामगोपधन आत्मा च कायाश्च विराध्यते । आत्मविराधना कण्टक-स्पर्शयामुष्णधानेन, संयमविराधना यथा कायानामुष्णमर्दादिना, तथा स्वरामणात्वादेव न सूत्रे गुणयति, उपसङ्गणत्वाद्यर्थं च ना-नुमेकते, नैव प्रतिनिधत्तानं वक्ष्यामाधेः करानि, अथवा अकालेऽपि विधना स करोति । एवमेव मांयं गच्छतां दोषा अभिहितः ।

अथ न तत्र प्रातानां ये दोषास्तानमिधित्स्वरगाधामाह—

चेदय आहाकर्म, उगमदोमा य सह इथीत्ता ।

नादगसंफामसुतं—तुमुक्त्वा निष्कस्यकजा य ॥

वैत्यानां स्वरूपं प्रथमतः वक्तव्यं, तत्र आधाकर्म, तत्र उग्रम-दोषाः, ततः शैक्षणं पारिभ्रंशेषु यमनं, ततः स्त्रीदर्शनसंख्या दोषाः, ततो नाटकयशोऽकनप्रभवः, ततः संस्पर्शनेसमुत्थाः, तदनन्तरं तन्मयः कौलिकजालं तद्विषयाः, तदनु (सुबु लि) पारिभ्रंश्यादिमुक्तदर्शनसमुत्थाः, ततो निर्धमेणां लिङ्गानां यानि कायाणि तदुपनिषताश्च दोषा वक्तव्याः । इति ह्यारगाधासमा-साधः । १० । ३० । ( सैन्यव्याख्या 'चेदय' शब्दे द्रष्टव्य ) । ( वसन्तिवचयनांवाकर्म 'आधाकर्म' शब्दे टि० भागे ३२० पृष्ठे द्रष्टव्यम् )

अथोक्तमदोशैकद्वयप्रमाणम्—

ठनिए संज्ञानादी, दुनोहया होति उगमे दोसा ।

वर्दिज्यंते ददु, इपरं सेहा तर्हि गच्छे ।

बहवः संयताः समायाना इति ह्युवा धर्मश्रद्धावाद् शोकः संयतार्थे स्थापितं भक्तपानादेः स्वपानां कुर्वीत । गृहमाग-नामभक्त्येवैव दास्याम इति ह्युवा (संज्ञो भ लि) यानि गृहाणि क्षाणुनिर्धनंयदानि अशुक्लीयानि तेषु शायेषान्ततगकुल-भावनादिकं भक्त्याने, मोक्षकशोकसंनिप्रतुनीनि या आचक्र-विधानानि निहितेषु, साधुनामागतानां दातव्यानीति । आदि-शब्दाद् क्रीतकृत्प्राप्तिकादिपरिग्रहः । एते उग्रमदोषाः, तत्र दुःशोष्या बुधपरिहायां भवति; तथा इतराद् पारिभ्रंश्यादीन् व-दुर्जनन वधयमानान् पुत्रयमानान् च दृष्ट्वा शैक्षास्तत्र पारिभ्रंश्या-दिषु गच्छेयुः ।

स्त्रीनाटकद्वयप्रमाणम्—

इत्थी विउन्विया वि ह, जुषाणं ददु दोसाओ ।

एमेव नादईया, सविधमा नविगीयाए ।

स्त्रीः विक्रियिता यश्च विभ्रंशपनादि निरलङ्कृताः दृष्ट्वा युक्तानां दोषाः स्मृतिकौतुकप्रजवाः जवन्ति । एवमेव नाटकीया नाटयथोचितः, सविज्जमाः सविज्ञासाः, भक्तिगतोत्तयोः प्रवृत्ता शिक्षोपय, लुत्वा च लुक्तायुक्तसमुत्था दोषा विज्ञेयाः ।

संस्पर्शनेहारमाह—

इत्थिपुरिसाण कामे, गुरुगा लहुगा सई य संयेट ।

अप्यासंजयदोसा—ऽणुभावनं पच्छकम्मादी ।

समवसरणे पुण्यांगोपयादिकौतुकेन श्रूयांसः स्त्रीपुरुषाः समा-यान्ति, तेषां संमर्देन स्वशीं जवति, ततः स्त्रीणां स्वयों चत्वारो गुरुवः, पुरुषाणां स्वयों चत्वारो लघवः, स्मृतिश्च संयदे तुकभो-गिनां भवति, चत्वारद्वयुक्तभोगिनां कौतुकश्च । आत्मसंयमवि-राधनादोषाश्च जवन्ति । आत्मविराधना संमर्दे सति इत्सवा-दाणुपघातः । संयमविराधना संमर्दे बुधिय्यां प्रतिष्ठिता पदक्या नावशोकयमेने, न च परिहृषुं शक्यन्ते । अनुजावणपच्छकम्मा-दी स्ति) साधुना कोऽपि शौचवाद् । पुरुषः स्पृष्टः संसनायात्, संसनां निरीक्ष्यापः पूजति-किमर्थं स्नासीति ? स ग्राह-सं-यनेन स्पृष्ट इति । एवं परम्परया साधूनां सुपुष्पंजायते-यथा 'अहा' मञ्जिना एते' एवमनुभावना, पञ्चादकर्म च भवति । आ-दिशम्भ्रादसंस्पर्शादयो दोषाः ।

अथ तनुद्वारमाह—

सुयाकोलिगजाग्रम—कोर्यलकोरीयं उवरी गेहे य ।

सांभितमसांभिते, लहुगा गुरुगा अचनैए ॥

असंमाज्यंमाणं चैत्ये भगवन्प्रतिमाया उपरिष्टोद्वेता नाम भ-वेयुः, दूता नाम कौलिकपुटकाणि । कौलिकजालकानि तु जा-सकाकाराः कौलिकाणां जालाननुसंताना, कोर्यद्वारको भ्रम-री, तस्याः संसिन्ध शूद्रोपरि जयेव । यद्येतानि दूतादीनि शाटय-ति तदा चत्वारो लघवः । अथ न शाटयति ततो भगवतां प्र-क्तिः कृता न जवति, तस्यां आनक्रयतां चत्वारो गुरुकाः ॥

अथ कुलकद्वारं, निर्धमेकायपारं च व्याख्यानयति—

यद्वाड इपरकुडु, ददुं अगोणिया तर्हि गच्छे ।

उक्तद्वयप्रमाणं, ववदारा चैव ति लिंगीणं ॥

त्रिदंतस्स अणुमर्द, अमिज्ञंत अमिदं उक्त्विषया ।

द्विहाणि य पहेती, नेव य कज्जेयु साहिज्जं ॥

इतरे पारिभ्रंश्यादेयो ये कुलका गृह, आदिप्रदहणं । मत्तमु-पेडा पंडुपुदकावचनं इत्यादि, तानित्थंभूतात् दृष्ट्वा संविध-कुलका अवगुणितना मस्रदिग्धदेहाः परिजनाः सन्तः, तत्र तेषां शिक्षिनामन्तिकं गच्छेयुः, तेषां च तत्र मिलितानां परस्परमुत्सृ-गृहधनादिविषया इव्यहारा विवादा उपदौकन्ते, ते च व्यवहार-च्छेदनाय तत्र स्वयन्नाद् आकारयन्ति, ततो यदि तेषां व्यवह-रमिच्छते तदा भवति स्फुटस्तेषां गृहधनादिकं दहतः साधो-वदुर्मतदोषः । उपसङ्गणामिदम्, तेन येषां यद् गृहधनादिकं न दीयते तेषामप्रातिकप्रदेशयमानादयो दोषाः । अथ शिक्षिनामे-तद्दोषप्रथमत्वं प्रथमत एव न मिलन्ति, न वा व्यवहारपरिके-रं कुर्वन्ति, तत उक्तेषुणा उद्घाटना साधूनां भवति, संघाटाद्-हित्करणमित्यर्थः । जिहाणि च बुधजानि, ते आकारिताः सन्तः साधूनां प्रकृते, नैव च ते कायेषु राज्ञिभ्रंशाननादयो समाहयं

तस्मिन्प्रक्रमसुपष्टम्भं कुर्वते, यत एते दायाः, अतो निष्कारणे न प्रवेष्ट्यमनुयानमिति स्थितम्, कारणेषु च समुपपन्नेषु प्रवेष्ट-  
व्यं, यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः ।

कानि पुनस्तानित्युच्यते-

चेद्यप्या राया-निर्माणां सभि वाई भम्मकडा ।

संकेय पत्त पभाक्ख, पविचि कजाइ उडाहां ।।

अनुयानं गच्छता वैत्यपुजा स्थिराकृता भवति; राजा वा कश्चिदनुयानमहोत्सवकारकः संप्रतिनरेन्द्रादिवत् तस्य निम्न-  
स्थं भवति, सैही भावकः, स जिनप्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठापनां चिकी-  
र्षति, तथा वार्दी कृपको, धर्मकथा च तत्र प्रज्ञानार्थं गच्छति, शक्तिर्योश्च सुभार्योस्तत्र निर्णयं करोति, पात्रं वा तत्राव्य-  
वाप्तिस्विकाकारं प्राप्ति, प्रभावना वा राजमन्त्रिजातयिस्तत्र-  
गौर्भवति, प्रवृत्तिस्वाचार्यदीनां कुसलवार्त्ताकृपा तत्र प्राप्यते, कात्यायि च कुलादिविषयाणि साधयिष्यन्ते । उक्त्वाहञ्च तत्रगते-  
निर्भारयिष्यते इत्येतेः करणैर्गन्धर्वमिति द्वारमाथासमासाधः ।

अथ विस्तरार्थं विजगिषुधैत्यपुजारजनिम्नत्रणद्वारे  
विद्युर्जाति-

समुदावुहुं रणो, प्याए त्थिचत्तं पभावणायं ।

पदिपातो य अणत्थे, अणत्थ य कराई तित्थे ।।

कोर्यप राजा रथयात्रामहोत्सवं कारयितुमनास्तत्रनिम्नत्रणे  
गच्छति; तस्य राज्ञः भद्रावृत्तिः कृता भवति, चेत्पुजायां स्थिर-  
स्थं, प्रभावना च तीर्थस्थं संपादित्वा जयति, ये च जैनप्र-  
वचनप्रत्ययिकाः शासनार्थं वाद्माहोत्सवोपवादादिकमनर्थं कुर्व-  
न्ति, तस्य प्रतिघातः कृतो भवति, तीर्थं च आस्था स्वपरप-  
कृत्यादरवृत्तिर्यादित्वा नवतीति ।

अथ संक्षिप्तं चाह-

एमेव य सर्वाण वि, जिण्णाण पदिमासु पढमपडुवणे ।

मा परवाई विग्गं, करिज्ज वाई अक्खो विसई ।।

संज्ञिनः भावकाः कंचित् जिनानां प्रतिमासु प्रथमतः ( पठव-  
ण लि ) प्रतिष्ठापनं कर्तव्यकामाः, नेपात्म्येयमेव, राज इव भद्रा-  
वृत्त्यादिकं कृतं भवति, तथा मा परवाई प्रस्तुतोत्सवस्य  
विघ्नं कार्यादितो वार्दी प्रविशति ।

परवादिनिग्रहं च क्रियमाणे शुणानुपदशोचति-

नवभम्माए यिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।

अभिगच्छंति य विदुमा, अविग्गम्पूया य सय्याए ।।

नवप्रथिमशासनियमवशाच्चकारणां स्थिरस्थं स्थिराकरणं, शास-  
नस्य च प्रभावना भवति । यथा आह- "प्रतिपत्तिपार्यम्भरं प्रव-  
चनं यमेहडा वाद्दस्यसंपन्न" इति । बहुमानकाम्येयामापि शा-  
सनं भवति, तथा च यादिसमजिगच्छन्ति अथवायाति विग्राहः  
सहृदयाः नचादिनः कौतुकाहृष्टविधाः, नेपां च स्वयंविख्याति-  
प्रतिपत्त्या महाहं साजो भवति, परवादिना च निरुहीनेन प्र-  
विशं निष्पन्नुहं पूजा कृता सती स्वपक्षपरपक्षयोरिव परचं च  
अन्यसं भवति ।

अथ कृपकहारमा-

आयावेति तवस्सो, अभाविना गया परपवाणि ।

ज्ज पूरना वि म हम्मं, उव्वंति कारिंति सदा य ।।

तत्र तपस्विनः पण्डित्यादिकृपा आतापयन्ति, तत्रक्षापमा-

यना शायवं परप्रवादिनां परतीर्थिकानां भवति, तेषां मध्ये ईह-  
शानां तपस्विनामनावात् । आह्लाक्षित्ययन्ति-यदि तावद् । एता  
अपि जगवन्तोऽस्मानिः क्रियमाणं महिमां वैत्यपुजां छुप्या-  
यन्ति, तत इत ऊर्ध्वं विशेषत एतस्यां यत्नं विधास्याम इति  
प्रवर्त्तमानभद्राका महिमां कुर्वन्ति कारयन्ति च ।

अथ काथिकद्वारमाह-

आयपरसमुत्तारो, तित्थविबुद्धी य होइ कहर्यते ।

अन्नाक्काभिमणो य, पूयाथिरया य बहुमाणो ।।

कीराश्रयादिलक्ष्यसंपन्न आकृषणाविकृषणासंयोगजनीनिषेध-  
नीनिदाश्चतुर्थिधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथेत्युच्यते । तस्मिन्  
धर्मे कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारो  
निरतरो भवति, तीर्थेविबुद्धिश्च भवति, प्रवृत्ते साकस्य  
प्रवृत्त्याप्रतिपत्तेः । तथा देशान्तरं पुजाकर्मसुषुष्यन्त्या-  
निगमने अन्यायभावकबोधनं च पूजायां स्थित्वा बहुमानश्च  
कृतो भवति ।

अथ शक्तिपत्राचर व्याख्याति-

निस्संक्रियं च काहिइ, उजए जं संक्रियं मुयहरे वि ।

अइ वांच्छित्तिकरं वा, सस्यस्य शङ्किं पत्तं दुपक्खाओ ।।

उजयं सूत्रे मध्ये च, यत्स्य शङ्किं तत्तत्र भुतधरंयः पार्था-  
क्षिःशङ्किं करिष्यति । अथ व्यवच्छित्तिकरं वा पात्रं छि-  
पकान् लप्यते । इौ पक्षां समाह्वनी छिपकम्, गृहस्थपक्षः सय-  
तपकक्षेत्र्यथः ।

अथ प्रभावनाद्वारमाह-

जाइकुसलरूपणवल्ल-संपक्का इकिंमत्तं निकवत्ता ।

जयणाजुत्तो य जई, ममेस तित्थं पभावति ।।

जातिर्गुरुवर्गः कर्त्तव्यः कर्त्तव्यः, अथ गोसम-  
रिचमेयपारिकरैश्च अस्मिन्नुक्तं अस्मिन् जन्तु गृहस्थावस्थाया-  
मासीत्, बलं सहस्रयोधिप्रभृतीनामिव सानिधायं शारंगीर-  
धम् । एतेजात्यादिभिर्गुणैः संपन्ना, ये च अह्निमनः निष्कान्ता  
राजप्रभ्रजितादयो, ये च यतनायुजा यथोक्तसंयमयोगकालना  
वतयः, ते संस्यं तत्रामत्य तीर्थं प्रभावयन्ति ।

अपि च-

जो जेण गुणेषा हिओं, जेग विणा वान मज्जए जंतु ।

सोतेण तंमि कजे, सवन्त्याणं न हावइ ।।

य आचार्यादियं प्रवचनकथादिना गुणनायिकाः सानिधायः,  
येन वा विद्यासिद्ध्यादिना विना यप्रवचनं प्रथमीकशिक्षणादि-  
कार्यं न सिद्ध्यति, स तेन गुणेन तस्मिन् कार्ये स्वस्थानं सकल-  
मायं धीयं न हाययति, किं तु सर्वथा शक्त्वा तत्र गत्वा प्रवचन  
प्रभावयतीति ज्ञावः । उक्तं च- "प्रवचनं धर्मकथा, यादीं मेदि-  
तिसकतस्त्वथि च । जिनप्रवचनकृष्यः प्रवचनमुद्गाहन्त्येते" ।  
प्रवृत्तिद्वारमाह-

साहम्मिवायमाणं, खेमसिवाणं च लकिभइ पविचि ।

गच्छिहिति जहिं तीई, हांहीति न वा वि पुच्छति सो ।।

तत्राभ्यर्थं साधर्मिकाणां चिन्देशान्तरगतानां वाचकानां  
वा आचार्याणां तत्र प्राप्तः प्रवृत्तिं लभ्यते, तथा क्रमे परचक्रा-  
शुपग्लवाभावः, शिवं व्यवमृष्टेणपदवाभायः, तथापलक्ष-  
यान्, सुमिकृष्टिभिर्कादीनां चागामिसंयन्मभावितानां प्रवृत्तिं

तत्र त्रैलोक्यकलाधुनां लकाशास्त्रव्यते । यदि वा यत्र वेदो लक्ष्यं  
गमिष्यति तत्र तानि क्रमाद्वािनि भविष्यन्ति नवेति साधार्मि-  
कादीव वृत्तति ।

कार्योद्वाहद्वारद्वयमाह-

कुलमार्गं कजाई, साहिस्सं द्विगणो व मासिस्सं ।

जे होगविरुद्धाई, करिंति होगुत्तराई च ॥

कुशादीनि कुलगणसंघसत्कामि, कार्याणि तत्र गतः श्राधयि-  
ष्यामि लिङ्गिनश्च तत्र गतः श्रासिष्यामि हितोपदेशानाम्नादिना  
शिक्षयिष्यामि । ये लिङ्गिनो शोकविरुद्धानि लोकोत्तरवि-  
रुद्धानि च प्रवचनोद्वाहकराणि कार्याणि कुर्वन्तीति ।

आह-यद्येगानि कारणानि भवन्ति, ततः किं कर्तव्यमित्याह-

एपुद्दिं कारणेहिं, पुब्बं पडिनेहिउण अइगमणं ।

अद्धानुनिगमायादीं, हाग्गा सुच्छा जहा स्वपञ्जां ॥

पतैश्वर्यपूजादिभिः कारकैरनुयानं प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पूर्वं  
प्रत्युपेय्य ततोऽतिगमनं कार्यम् । अथाध्वनिर्गतास्ते अध्वानम-  
तिसंक्षुब्ध सहस्रैव तत्र प्राप्ताः । आदिशब्दात्पूर्वोत्सवादिब्रह्म-  
मात्मकारणपरिग्रहः । यथोक्तं कार्तवीः प्रत्युपेकितेऽपि क्षेत्रे  
गतः सन्तो यथोक्तां यतनां अपि यादं सम्ना अशुद्ध-  
भक्त्यादिग्रहणदोषमापन्नस्तथापि शुद्धः । यथा कृपकः पिण्ड-  
निर्मुक्तौ प्रतिपादिनश्चितः शुद्धं गवेषयन्पि निरुद्धबाह्याकार-  
वा तथापि आदिकथा उच्यते सत्कारणमप्यपि गृहीते शुको-  
ऽराठपरिणामस्यादिति निर्मुक्तिगथासमासार्थः ।

अथैतद्देव भाव्यते-

नाऊण य अइगमणं, गीए पेसिंति पेहिंउं कजे ।

उयमय जिवत्वावरिया, बाईं उणामारादीथा ॥

सम्भाविक इयरे वि व, जाणतीं मंरुवाइणो गीया ।

सेहादीण य थेरा, वेदणुत्तिं बहिं कइए ॥

चैत्यपूजादिके कार्ये समुपेक्षे अनुयानक्षेत्रं प्रत्युपेकितुं गीत-  
थानं प्रेषयति, ततो ज्ञात्वा सम्यक् क्षेत्रस्वरूपमतिगमनं कर्तव्यम् ।  
किं पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यमित्याह-मौलप्रामे उपपक्षयो बहिर्बाह्य-  
ग्रामेषु च उद्ग्रामकाङ्क्षा भिक्ताभ्यां । आदिशब्दात्तस्यां गच्छ-  
तामपामन्तराले विद्यामरुधामं, मौलप्रामे च भिक्षाविचारभूमिप्र-  
दूतिकं प्रत्युपेक्ष्यम्, तथा सन्न्यासिका नितरंतरं मरुवादीर्गगी-  
तार्थं ज्ञानमिति । यथा अमी सन्न्यासिनः स्वर्गं मरुच्छपाः हुनाः ।  
अमी तु संयतार्थं पदं केशवप्रयोगोपमास्मान्तिर्यं प्रत्याययन्ति ।  
आदिप्रदणानु पाठिकादिपरिग्रहः । इत्थं तैः प्रत्युपेकिते सूरयः  
सत्सद्गुरुजनस्यसहिना अनुयानक्षेत्रं प्रविशन्ति । स्वधराश्च  
बहिरेव वसन्तानां श्रेष्ठादानां वन्दनयुक्तिं पार्श्वस्थादिचन्दन-  
विधिं कथयन्ति, मा भूदन्वथा तदन्वने तेषां विपरिणाम इति ।

अथ चैत्यवन्दनाविधिमाह-

निस्सकदम, निस्सकदं, वि चेइए सकेहिं गुईं तिञ्चि ।

वेत्तं व चेइयाणि य, नाठं उक्किंथिया वा वि ॥

निष्ठाकृते गच्छप्रतिबन्धे, अनिष्ठाकृते च तत्परिणते, चैत्यं सर्व-  
अनिष्ठः स्तुतयो दीयते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतिप्रथं दीयमाने  
बेत्ताया अतिक्रमो भवति नृणांस्ति वा तत्र चैत्यानि, ततो येषां  
चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकेकाऽपि स्तुतिर्दीयतेति ।

अथ समवसरणविषयं विधिमाह-

निःसकदं चेइए गुरु, कइयवसहिए य वयारावसहिं ।

जत्य पुण आनिस्सकदं, पूरितिं तीईं समोसरणं ॥

निष्ठाकृते चैत्ये गुरुत्वाद्यैः कतिचयैः परिणतसत्पुमिः सहि-  
तैश्चैत्यमहिमावलांकनाय तिष्ठति । इतरे श्रेष्ठादयस्तं मा पार्श्व-  
स्थादीव न्ययसा लोकेन पूज्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमनं कार्त्तुरिति  
कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वसति मज्जेयुः । यत्र पुनः क्षेत्रे अनिष्ठा-  
कृते चैत्ये तत्राऽऽचार्यैः स्वमवसरणं पुरयन्ति, सन्नामापुंयं धर्म-  
कथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

आह-किं संविश्रेस्तत्र धर्मकथा, आहो-

श्विदंस्संवेरपि ? उच्यते-

संविगेहिं य कइणा, इयरेहिं अपचञ्चो न अोवसमो ।

पव्वज्जाजिमुहा वि य, तसु वए सेहुमादीया ॥

संविश्रेरुपतविदारिभिः कथना धर्मस्य कर्त्तव्या । कुत इत्याह-  
इतरे असंविश्रेस्तत्र धर्मकथायां कियमानायां श्रोतृणामप्रत्ययो  
भवति, नैत यथा वादिनस्तथा कारिण इति । नच तेषामुपश्रमः  
सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिर्भवति । अपि च । प्रमथ्याजिमुहाः श्रेष्ठा-  
दयो वा अद्याप्यपरिणतजितवचनाः तऽपि तेषु मज्जेयुः ; होमनं  
कल्येतेऽपि धर्मं कथयन्तीति ।

आह-निष्ठाकृतचैत्यं यदि तदानीमसंविद्यानं प्रवर्तति ततः को-  
विधिर्नित्याह-

पूरितिं समोसरणं, अस्सासइनिस्सचेइएपुं पि ।

इहरा लोगविरुद्धं, सत्थान्तो गे सट्ठाणं ॥

अन्येषामसंविद्यानामसत्तिनिष्ठाकृत्यर्थापि चैत्येषु समवसरणं  
पुरयन्ति, इतरथा शोकविरुद्धं शोकपाषाडो भवति-अहो ! अ-  
मी मन्त्रिणां यद्वचमन्वदं चैत्यमिति कृत्वा नामोपविश्य  
धर्मकथां कुर्वन्ति, अक्षानङ्कभ आक्षानां भवति, तेषामन्यायधर्म-  
ज्यपेयमानामामापि तत्र धर्मकथाया अकरणात् ।

अथ निष्ठाकृत्यर्थो यतनामाह-

पुव्वपडिहेहिं समं, हिंरतीं ततये ते पमाणं तु ।

साभाविकजिक्वाओ, विदंतउपुव्वा य उवियादीं ॥

पूर्वप्रविद्यानामपुंये ये क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रतितास्तैः सम भि-  
क्षां दिरकन्ते, तत्र च भिक्षामदतो त एव प्रमाणं गन्तुं केशत्र  
शुशुक्रगवेषणा कर्त्तव्या, ते च पूर्वप्रविद्या इदं विदन्ति-यतनाः  
स्वाभाविकभिक्षाः स्वायन्निष्पादिताः, यतस्तु अपुर्वाः संयता-  
र्थं स्थापिता भिक्षिस्तादयः ।

स्त्रीसंकुलानुदकशीतोयार्थतनामाह-

वेदे ण इंति तंति य, जुवपज्जेमे थेर इत्थिओ तेणं ।

चिद्धंति न नारुपुंयं, अह तंति न पेहु रागादीं ॥

स्त्रीसंकुलवृन्दं नायन्ति निर्गच्छन्ति च, ये च युवावस्ते प्रप्ये  
क्रियन्ते, यतः स्त्रियस्तेन पार्श्वेन स्वधरा बुद्धा भवन्ति, मा भू-  
वन् तुलानुक्तमुत्था दोषा इति । यत्र नाटकानि निरीक्ष्यन्ते  
तत्र न तिष्ठन्ति । अथ कारणस्तत्तिष्ठन्ति, ततो ( न पेहां स्तं ) न-  
सक्यादिकृपाणि न प्रकृतेः, सहसा इष्टिमोच्यमाणतेषु रागादीन्  
न कुर्वन्ति, तेज्ज्जं प्राए इहिं निवन्तेयन्ति ।

तत्तुजाहादिषु विधिमाह-

संलिह मंलफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु ।

अभिजो जयंति तिसु य, आणिण्ठि फेहंतर्जंस्सता ॥

इतरे अस्मिन्निष्ठा देवकुलिका इत्यर्थः, तावत्तन्नुजाल्लुताकोलि-  
कादिषु सन्तु, ते साधवो मोक्षयन्ति-यथा शीलियत परिकर्मयत  
मङ्गलकसकानीय मङ्गलकसकानि । मङ्गो नाम विभक्तःप्रकृतप्रहस्त-  
स्तस्य च यदि फलकानुत्पल्लं भवति, ततो लोकः सर्वोऽपि तं  
पूजयति । एवं यदि श्रुयमानं देवकुलानि ज्यो भूयः संसाजंका-  
दिना स्वयंशुश्रवायान, ततो ज्ञेयान् लोकानो जवतां पूजासकारं  
कुर्यात् । अथ तं देवकुलिकाः सवृत्तिकाभ्यन्तप्रतिषेधकपृष्टकेभा-  
दिदृष्टिजोगिनस्ततस्तानजिजोअयन्ति निर्मल्यस्यन्ति-यथा एकं  
तावदेवकुलानां वृत्तिसुपजीवय द्वितीयमेतेषां संसाजंकादिसारा-  
मयि न कुपय । इत्यं युक्ता अपि यदि तन्नुजासादीन्पयमेतुं निषेध-  
न्ति ततो अक्षयप्रमालाः स्वयमेव स्फोटयन्ति, अपनयन्त्यर्थः ।  
शुद्धकविपरिणामसंभव यतनामाह-

छजलवेमे खुड्डे, करिंति उन्वट्टहाइ चोषले य ।  
नो शुद्धंतऽसहाए, दिंति मणुअे य आहारं ॥  
शुद्धकाव् उन्वट्टवेयान् पायदपूरुहोत्तलपट्टधारिणः उडसंन-  
प्रहासनादिना च बोक्कान् शुचिशरीरान् कुपेन्ति । न च ते लु-  
ह्मका असहाया एकाकिनो मुकयन्ते, वृषभाश्च तेषां मनेहाव्  
स्तिश्रमपुत्रानाहारानानीय ददति । उडस्रहट्टान्तेन च प्रहाप-  
यन्ति । १० १ उ० । ( स च दृष्टान्तः ' उरभम् ' शब्दं द्वि० जा०  
०५ १ पृष्ठे वच्यते )

अथ निर्मलकर्मैषु यतनामाह—  
न विमंति सिंगिकजे, अर्यंति च मेसिया उदा रीणा ।  
विंति य निर्मंभश्मि, करेसु तिन्वे खु जे देमं ॥  
यत्र सिङ्गिनामाहृष्टपृष्टयनादिकार्योपयुपदोक्ते तत्र प्रथमत  
एव न मिलन्ति । अथ तैस्त्रिहाइ मोदिकया मीपित्वे ततो मेसिना  
अपनुदासीना आसते । अथ ते शुवीरन्-कुत्तासमंहीयस्यव्यव-  
हारस्य परिच्छेदः । तत एव निर्मंभे तैः कार्याणि साधवो भवन्ते-  
यद्यस्माकं याम्बै ध्यवहारपरिकुर्वेद कारधिष्यथ तत उभयेया-  
यामपि भवतां । तत्रादृगमगामोक्तःप्रायश्चित्तसङ्घर्षे कुर्मः क-  
रिष्याम इति ।

' शङ्गाणनिमयादा' इति पदं व्याख्यानयति—  
अच्छाणनिमयादा, ठाणुपाइयमहंसवो कुणगो ।  
नेलअस्त्यवसगा, महानइं त्तिपा वा वि ॥

अथनिर्गता अथानमलिलहृष सहसैश्च तत्र प्रासाः । आदिशा-  
ब्दःअप्यर्थवेषिषो कारणं शुद्धत, स्थानाणान्तिकमदोन्सयं  
मान तत्रपूर्वः कोऽनुत्पन्नकविशेषः, सहसैश्च आर्क्षं कर्तुमार्थः  
तं वा शुक्ता, यदि वा क्लृप्तं प्रत्युपहितुं प्रयत्ने, तदानीं स्थाना-  
ग्मानप्रतिषेधरणव्यापृता वा । अथया सार्यवशगस्ते तत्र सार्य-  
मन्त्रेण गन्तुं न शक्यन्ते । महानइं वा कार्याधिपातराले, ताम-  
भीक्ष्णमुत्तरतां बहवो दांयाः, तावन्मात्रा एव वा ते साधवो  
यावतां अम्यादिकस्याप्यन्यत्र प्रेषणं न संशक्यते, अत एतैः कार-  
णैरप्रत्युपहितेऽपि प्रायशमां न कश्चिद्वैयः ।

अथ यतनामाह—  
समणुन्ना सह अन्मे, वि दड्डिउं हाणमाइ वज्जंति ।  
दुव्वाइं पेहेता, जइं जग्गंती तट्टिं मुच्छा ॥  
यदि समनोहाः सांयोगिकाः पूर्वप्रविष्टाः सन्ति ततस्तैः सह  
निष्ठाप्रदति । अथ न सन्ति समनोहास्ततोऽप्यानप्यव्यसन्ति-  
गिकामपि दड्डा दानभाश्चकारिकुञ्जानि उज्जयन्ति ने, आधाकामि-

दिदोपसंजयात् । शेषेषु कुंजेषु पर्यटन्ते ( इत्यादीं पेहंन णि )  
कथ्यतेः क्लृप्तः कास्तो ज्ञातश्च ह्युक्तमन्वेष्यन्ते, यद्यपि कि-  
मपि स्थापनादिकं दांये जगति प्राप्नुवन्ति, तथा ह्युक्ताः कृप-  
कवशशरपरिणामतया अलक्षानोपयोगप्रवृत्तत्वादिति । गतं परि-  
हरणानुयाननाम । १० १ उ० ।

अणुजाण्ण-अनुज्ञापन-न० । अनुमोदेने, सुअ० १ अणु ए  
अ० । स्या० ।

अणुजाण्णायणा-अट्टज्ञापना-अ० । सुत्वाग्ने, पञ्चा० ६विव० ।  
अणुभाणाहिगार-अनुपानाधिकार-पुं० । रथस्य पृष्टतोऽनु-  
मज्जेन प्रतिष्ठाधिकारं, जौ० १ प्रति० ।

अणुजाण्णित्तए-अनुज्ञानुम्-अव्य० । तथैव स्वयंगनद्वारयाऽ-  
न्येषां च प्रवेद्येवैवमभिधातुमित्यर्थे, स्था० २ उ० १ उ० ।  
अणुजात ( य )-अनुपात-त्रि० । अनुगतं, प्रअ० २ आश्र०

हा० । " सारिते वसभाणुजाए " अनुजातशब्दः सहशयचनः ।  
श्रुयमस्य अनुजातः सहशो वृषमानुजातः सू० प्र० १२ पाठु० ।  
अनुकयः सम्पदा पितृस्तुत्यां ज्ञानेऽनुयातः, अनुगतो वा  
पितृवितृयाऽनुयातः पितृसमं सुतज्जेद, यथा महायशाः, आदि-  
त्ययशासा पित्रा तुल्यत्वात् । स्था० ४ उ० १ उ० ।

अणुजुत्ति-अनुयुक्ति-अ० । अनुगतयुक्तौ, "सव्वाहिं अणु-  
जुत्तौहिं, अचयंता जवित्तए" सर्वान्निरस्यानुगताभिर्गुंकारिभिः  
सर्वैश्च हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणवृत्तराशकनुवन्तः । सूत्र० १ अ० ३  
अ० ३ उ० । "सव्वाहिं अणुजुत्तौहिं, मनिमं पदन्निदिया"।  
सर्वायाः काश्चनानुरुपाः पृथिव्यादौर्जविकायसाधनान्येनानु-  
कुला युक्तयः साधनाणि, यदि वा साद्विषयकान्तिकात्कारिहा-  
रणेण पृथग्भयंस्वपृक्षस्यविपक्षयावृत्तकृतया युक्तिसंगता  
युक्तयस्ताभिर्मानमात् । सूत्र० १ अ० ४ अ० १ उ० ।

अणुजट्ट-अनुज्येष्ट-त्रि० । अनुगतो ज्येष्ठः । प्रा० । स० ।  
ज्येष्ठानुरूपे ज्येष्ठान्तिकमेव च । वाच० । पञ्चा० । ज्येष्ठसमीपे  
वर्तमानं यथा एको द्विकस्य ज्येष्ठः त्रिकस्यानुज्येष्ठः; अणुष्का-  
दीनां तु ज्येष्ठानुज्येष्ठः । आ० म० अ० । अणु० ।

अणुजया-अनुयथा-अ० । उहैइयतारूपे विषयताविशेषे,  
ध० १ अश्रि० ।

अणुजियथ-अनुजितत्व-न० । वराकल्पे, १० ३ उ० ।  
अणुजुय-अनुजुक्त-त्रि० । असखे कथञ्चित् सखे कर्तुम-  
हाके, वत्त० ३४ अ० । वक्के, प्रअ० २ आश्र० हा० ।

अणुजभाण-अनुप्यान-न० । चिन्तने, अष्ट० २४ अष्ट० ।  
अणुजभाविता-अनुप्याय-अव्य० । चिन्तित्वैत्यर्थे, "कम्म-  
गरस्ताणाए अणुजभाविता पदिमंवितां" हा० म० द्वि० ।

अणुज्ञाण-अनुज्ञान-न० । आचारे, स्था० ७ उ० । धैर्यव्यवहा-  
दिके आचरणे, पञ्चा० ३ विव० । अणु० । क्रियाशब्द, पञ्चा०  
१६ विव० । क्रियाकलापे, ग० १ अश्रि० । काशाध्ययनादौ,  
अ० २ श० १ उ० ।

फलबहुमसद्वीज-परोदसर्था तथा ।  
साधनुष्ठानमित्युक्तं, साधुबन्धं यदधिभिः ॥ शुध३ ॥  
फलवन्तः फलभाजानरभाजो दुमस्य न्ययोधावैः सहबन्ध-  
यदीजं, तस्य यः प्ररोहोऽङ्गोऽज्जैरूपमनेन सहदां समं यत्त-

सया, तथेति वक्तव्यान्तरसमुच्चये, एतेषां योगाधिकारिणां, सायु सुन्दरमनुष्ठानं यमनियमाधिकारमियनेन प्रकारेणोक्तं, शास्त्रेषु सायुबन्धमुत्सरोत्सरायुबन्धवद् महर्षिभिः परममुनिभिः, आधिकारिसमारम्भश्चास्य ॥ २४३ ॥

अत एव—

अन्तर्विवेकसंपूर्तं, शान्तदान्तमबिष्णुतम् ।  
नाम्नोन्नयनताप्रायं, बहिर्विशेषाधिमुक्तिकम् ॥ २४४ ॥

अन्तर्विवेकसंपूर्तम्, अन्तर्विवेकेन तत्त्वसंबेदनात्मा संपूर्तं प्रवृत्तं, शान्तदान्ते, शान्तदान्तेपुरुषारम्भश्चाद्, अत एवाबिष्णुतं सर्वथा विस्मरणदिनम् । व्यवच्छेदकमाह—न नैव, अन्नान्नयनताप्रायम्—अन्नान्नयनताप्रायं यस्याः, सा चास्ती ज्ञता च तत्रायम् । सा हि ज्ञता अन्नान्नयनेन न लतान्तरमनुष्ठानं कृता इदं सायुष्ठानमनुत्सरोत्सरायुबन्धप्रधानमित्यत उक्तं नाम्नान्नयनताप्रायमिति । तथा बहिर्विशेषाद्यैव्यवन्दानदिक्रियायामधिमुक्तिः श्रुता यत्र तत्सथा ॥ २४४ ॥

इयं विषयस्वरूपायुबन्धवृत्तिप्रधानमनुष्ठानत्रयमग्निधाय  
साम्प्रतं प्रयस्याप्यवस्थाजनेन समतन्त्रमाविधिकीपुराह—

एष्यते चैतदप्यत्र, विषयोपाधि संगतम् ।  
निर्दिशितमिदं तावत्, पूर्वमग्नौ भेदातः ॥ २४५ ॥

इष्यते मन्यते मतिमग्निः । चः समुच्चये । एतदपि प्रागुक्तमत्र योगविभाषायां, विषयोपाधिबिषयशुद्धमनुष्ठानं, किंपुनः स्वरूपशुद्धानुबन्धशुद्धे इत्यपिशब्दाद्यैः । कीदृशप्रामत्याह-संगते युक्तमेव, निर्दिशितं निकृष्टमित्दं संगतत्वम्, तावच्छब्दः कर्माद्यैः पूर्वमग्नौ तत्र शब्दे भेदातः संक्षेपेन "मुक्ताविष्णुऽपि या स्यात्प्रा, तमःस्यकरौ मता" इत्यादिना प्रन्येन । विस्तरतस्तु विशेषप्रत्याहव्यसंयमिति ॥ २४५ ॥

अथ प्रस्तुतमनुष्ठानं यस्य भवति तमधिकृत्याह—

अपुनर्वैधकस्यैवं, सम्पद्य योपपद्यते ।  
तत्पुनत्रोक्तमखिल—भवस्थाजेदसंप्रयात ॥ २४६ ॥

कार्पाणलसौगतदिशाःप्रणीतं समुक्तजनयोग्यमनुष्ठानमखिलं समस्तम् । कुत इत्याह—भवस्थाभेदसंभयात् । अपुनर्वैधकस्यानेकस्वरूपाङ्गीकरणात् । अनेकस्वरूपाण्युपगमे हि अपुर्वैधकव्यक्तं किमप्यनुष्ठानं कस्यामप्यवस्थापामवतरतीति ॥२४६॥ यो० वि० ।

प्रतिज्ञक्रानुष्ठानादिप्रेक्षाः—

सूक्ष्माश्च विरलाश्चैवा—तिचारानुबन्धोदये ।  
सूक्ष्माश्च वनाश्चैव, ततः पूर्वमग्नी पुनः ॥ ए ॥

(सूक्ष्माश्चेति) सूक्ष्माश्च लघुशः प्रायशः कार्पाणिकृत्यात् । विरलाश्च सन्तानमाभावात् । प्रतिष्ठाया अपरपथा वचनोदये भवन्तिः ततो वचनोदयात् । पूर्वमग्नी अतिचाराः पुनः स्फुल्लाश्च वादराश्च, वनाश्च निरन्तराश्च प्रवन्ति । तदुक्तम्— "वरमाद्यायां सूक्ष्माः, अतिचाराः प्रायशोऽतिविरलाश्च । प्रायश्चये त्वमी स्युः, स्फुल्लाश्च तथा वनाश्चैव" ॥ ६ ॥ ब्रा० २८ ब्रा० ।

सदनुष्ठानमतः खलु, बीज्यासात् प्रशान्तवाहितया ।  
संजायते नियोगात्, पुंसां पुण्योदयसहायम् ॥ १ ॥  
तस्वी, तभक्तिवचना—संगोपपदं चतुर्विधं गीमम् ।

तस्वाभिज्ञैः परमं, पदसाधनं सर्वमेवैतत् ॥ २ ॥

यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।  
शोषत्यागेन करो—ति यश्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ३ ॥

गौरवविशेषयोगात्, बुद्धिमतो यद्बुद्धिदितरयोगम् ।

क्रियेतरतुल्यमपि, हेतयं तद् भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

(सदनुष्ठानमित्यादि) सदनुष्ठानं प्रागुक्तमतः खलु बीज्यासात्वाह-स्मात् पुण्यानुबन्धिपुण्ययत्तिक्रान्तं, प्रशान्तवाहितया प्रशान्तं बोद्धुं शीघ्रं यस्य तद् प्रशान्तवाहि, तद्वाहस्तस्या विस्तरसंस्कारक-पया, संजायते निष्पद्यते । नियोगाक्रियमेन, पुंसां अनुष्ठानां, पुण्योदयसहायं पुण्यानुष्ठापसहितम् ॥१॥ तदेव जेद्वारणाह— (नदित्यादि) तत् सदनुष्ठानं प्रीतिश्च भक्तिश्च यत्नं चासङ्ग-क्षेते शब्दा उपपद्युषोऽकारिपदं यस्य सदनुष्ठानस्य तत्सथा, चतुर्विधं खलु जेदं, गीतं शब्दितं, प्रीत्यनुष्ठानम् ॥२॥ आहः प्रयत्ना-तिशयोऽस्ति परमः, प्रीतिश्चाऽभक्तिश्चरूपा, हितोदया हित सर्वतो यस्याः सा तथा भवति । कर्तुः अनुष्ठानुः, गोपत्यागेन शोषप्रयोज-नपरित्यागेन, तत्काले करोति यच्छातीय धर्मोदरान् । तदेवं जूलं प्रीत्यनुष्ठानं विज्ञेयम् ॥३॥ द्वितीयस्वरूपमाह—गौरवत्यादि । गौरवविशेषयोगात्, गौरवं गुरुवं पूजनीयत्वं तद्विशेषयोगात् तद् ध्य संकल्पात्, बुद्धिमतः पुंसां यद्बुद्ध्यां विद्युत्तरयोगं विद्युत्तरयोगं, कियया करणेन, इतरतुल्यमपि प्रीत्यनुष्ठान-तुल्यमपि, हेतयं तदेवविधं ज्ञक्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

आह—कः पुनः प्रीतिज्ञकयोर्विशेषः ? उच्यते—

अत्यन्तवज्रज्ञा खलु, पत्नी तद्विचिता च जननीति ।

ुद्यमपि कृत्यमनयो— क्लृप्तं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥५॥

[अत्यन्तेत्यादि] अत्यन्तवज्रज्ञा खलु अत्यन्तयत्नमेव, पत्नी ज्ञायती, तत्पत्नी वदन्त्येतेषु हितानां च हितकारिणीति कृत्या जननी प्रसिद्धा, तुल्यमपि सहशर्मपि, इत्यं ज्ञानान्वाहनादि, अनयो-जनेनीपत्याङ्गीतमुदाहरणं स्यात्, प्रीतिज्ञकितं प्रीतिज्ञकवि-धयामिदमुक्तं भवति, प्रीत्या पत्न्या क्रियते, ज्ञक्या मातुरीती-यात् प्रीतिभक्तयोर्विशेषः ॥५॥

सृतीयस्वरूपमाह—

वचनात्मिका महत्तिः, सर्वत्रोचित्ययोगतो या तु ।  
वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ६ ॥

(वचनेत्यादि) वचनात्मिका आगत्यात्मिका, प्रवृत्तिः कियारूपा प-क्षेण सर्वस्मिन् धर्मेन्यापारं क्लान्तिप्रत्युपकारदौ, प्रीत्यत्ययोगतो या तु देशकालपुरुषव्यवहाराद्यौचित्येन वचनानुष्ठानमिदमेवं प्रवृत्तिकरं चारित्रवतः साधोर्नियोगेन नियमनं नान्यस्य ज-वतीति ॥ ६ ॥

तृतीयस्वरूपमाह—

यत्तन्ज्यामानिशयात्, सात्प्रीभृतमिव चेष्टयते सक्तिः ।  
तः सङ्गानुष्ठानं, जगति त्वेतत्तदा वैधात् ॥ ७ ॥

(यत्तित्यादि) यत्पु पुन पुनरन्त्यासातिशयाद्भ्यासप्रकर्षाद्भूयो भूयस्तदासेवनेन, स्वाभीभृतमिवात्मसाद्भूतमिव, खन्दनगन्ध-न्यायेन चेष्टयते क्रियते, सक्तिः सापुरुषेजिनकटिपकादिभिस्तदे-वविधमसङ्गानुष्ठानं जगति स्थेतज्ञायते, पुनरेतत्तदा वैधाद् वच-नवैधादागमसंस्कारात् ॥ ७ ॥

अणुशा

बचनसङ्क्रान्तुष्ठानयोर्विद्यमाह—

बकप्रमथं दक्षा-बक्रां वै यत् परं भवति ।

बचनात्सङ्क्रान्तुष्ठान-नपेस्तु तद्वक्त्रात्पक्षं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

(बकस्याधि)बकप्रमथं कुम्भकार-बकपराशरं, दक्षामृगसं-  
योगात्, बकमात्रे वैद्य द्रव्यसंयोगात्प्राज्ञे वैद्य, यत्रमध्यमज्वलति,  
बचनासङ्क्रान्तुष्ठानयोस्तु तयोस्तु, हापकमुद्राहरणं ज्ञेयम् । यथा  
बकप्रमथमेकं द्रव्यसंयोगात्प्राज्ञेन प्रयत्नपूर्वकमेवं बचनामुष्ठान-  
मप्यागमसङ्क्रान्तं प्रवर्तते । तथा आन्यबकप्रमथं द्रव्यसंयोगा-  
त्प्राज्ञे केवलप्राज्ञे संस्कारपरिष्कारात् संजयति । एषमागमसं-  
स्कारमात्रेण वस्तुतो बचननिरपेक्षमेव स्वाभाविकत्वेन यत् प्रव-  
र्तते तदसङ्क्रान्तुष्ठानमितीयात् जेद् इति प्रायः ॥ ८ ॥

एषामेव बन्तुणामनुष्ठानमाह फलविज्ञानमाह—  
अणुद्वयफले चाये, निःश्रेयसप्राप्तये तथा चरये ।  
एतदनुष्ठानानां, विज्ञेये इह गतापाये ॥ ९ ॥

अणुद्वयफले आणुद्वयभिर्यत्कं च, आये प्रीतिमत्क्यनुष्ठाने,  
निःश्रेयससाधने मोक्षासाधने, तथा चरये बचनासङ्क्रान्तुष्ठाने,  
परोपमानुष्ठानाणां प्राये, विज्ञेये, इह प्रकमे, गतापाये अपाचर-  
हिते निरपाये ॥ ९ ॥

परोप्येव बन्तुणामनुष्ठानेषु पञ्चविधकान्तिभोजनमाह—  
उपकार्येपकारिविधा-कवचनधर्मोत्तरा मता स्मृतिः ।  
आद्यहये त्रिनेदा, चरमद्वितये द्विभेदेति ॥ १० ॥

(उपेयादि) उपकारी उपकारवान्, अपकारी अपकारप्रवृत्तिः  
विपाकः कर्मफलानुभवजनधर्मरूपरा वा, वचनमागमः, धर्मः  
प्रशामादिकपः, तदुत्तरा तत्प्रयाना मना संमता पञ्चविधा, स्मृ-  
तिः ज्ञाना, आद्यहये आद्यानुष्ठानत्रये, त्रिनेदा त्रिमकारा । चरम-  
द्वितये चरमानुष्ठानद्वितये, द्विभेदेति द्विविधा, तत्रापकारिणि कान्-  
तिरुपकारिकास्मिः, तदुत्तरादुर्वचनार्थिण सहमानस्य, तथा अप-  
कारिणि स्मृतिरपकारिकास्मिः, मर्मपूर्वकमाउत्तरसहमानस्यायम-  
पकारी प्रविष्यति इत्यभिप्रायेण समानं कुर्वेत् । तथा विपाके  
ज्ञानिः विपाकज्ञानिः, कर्मफलविपाकं नरकादिगतमनुपपद्य-  
तो दुःखनीकतया मनुष्यजायमेव वा अनधर्मपरम्पराभोगोचयतो  
विपाकदर्शिनोपुःसरा संभवति । तथा बचनकान्तिराममेवावल-  
म्बनीहृत्य या प्रवर्तने न पुनरुपकारिवापकारिविपाकाक्य-  
माहम्यनस्य सा बचनपूर्वकत्वान्वायनिरपेक्षत्वात्सोध्यते । च-  
म्बनीत्तरा तु कान्तिभेदस्येव शरीरस्य देवदाहादिषु सौरभावि-  
श्वधर्मकस्या परंपेकारिणी न क्रियते, सहजज्येनावस्थिता  
सा ततोभवते ॥ १० ॥ को० १० (वि०) । अष्ट० । देवपूजनादिके,  
शा० १३ शा० कर्मणि, आ० म० ३ ॥

आणुद्वि-अनुष्ठित-वि० । अनुष्ठाने, भावा० १ श्रु० ए अ० ४  
० । आ० म० प्र० । आसेविते, पञ्चा० ६ वि० । "अहवा अ-  
वितहं णो अणुद्वि" सु० १ सु० २ अ० २ उ० ।  
अनुत्तिवत्-वि० । इत्यतो निषवणे, आवतो हानवदंशन्चारिजो-  
योगहिते, आवा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।  
अणुद्वय-अनुनयत्-वि० । स्वामिप्रायेण गतेः २ प्रकापयति,  
"पुरोहितं तं कमसोऽणुद्वयं, शिमंतयंतं च सुप धमेणं " ३  
उ० १ ४ अ० ।

अणुशा(ए)-अनुनादि-वि० । अनुनयति । अनु-तद्-गिति ।

प्रतिरुपशब्दकारके, "गम्भीरेषामनुनादिना" वाच० । "गच्छि-  
सहस्र अणुशाश्या" अनुनादिना सहशेन । क२७० ।

अणुशास-अनुनादित्व-न० । प्रतिरूपेयतताकृपे सत्यबचना-  
विधये; स० ३५ सम० । रा० ।

अणुशाया-अनुनाद-पुं० । मेघस्वनादी, "अणुशादे पवादिभजने  
जिणघरे वा" आ० म० ३ ॥

अणुशास-अनुनाश-पुं० । अनु-नश-घञ् । अनुमरणे, अर्द्धेशा-  
दावये । संकारादित्वात् ष्यः । वाच० ।

अनुनाश-वि० । तद्बुद्धेशदौ, वाच० । अनुनासिके नासा-  
कुलस्थरे, स्था० ७ उा० । नासा विनिर्गतस्वरानुगते मेयदेवोपेदे,  
जं० ७ बह्व० । अनु० । जी० ।

अणुशिवनमाण-अनुनीयमान-वि० । प्राथ्यमाने, "अह एवं  
पि अणुशिवनमाणे शेष्पति" नि० वृ० १ उ० ।

अणुसुत ( य ) अनुसुत-वि० । अनुसुते मन्वरेहिते, "एतद्  
वि सिक्खु अणुसुत पिण्णिय" न उच्यतेऽनुसुतः शरिरेणोऽनुसुतः,  
आवाग्मन्स्वविमानप्रदप्रस्तः, ताम्रतिपेचत्पानिर्जंरामदमपि  
न विषयते । सु० १ सु० १६ अ० । "अणुसुतमायस्य अणुसि-  
हो अणावते" अनुसुतेऽप्युच्यते भावतत्र । उच्यते माकारश-  
र्त्तौ, भावतो न जात्याद्याजिमानवान् । श० ५ अ० १ उ० ।

अणुसुवणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । अनुसुवने, "आवप्यमाणसि-  
त्तो, चउरितं होइ उमाहो मुक्को" । अणुसुतमायस्य सत्मा, न  
कप्ये तस्य पक्षिसेव" इत्यानिमनुज्ञापना, साऽपि नासादि(भ-  
र्तु)द्वैव । मामस्थाने सुगमे । इत्याजुहापना विधा-सौकाफिकी,  
सौकात्तरा, कुमायचनिकी च । तत्र सौकाफिकी स्वविधा(वित्ति-  
भर्तु)द्वैव-अन्वाद्यनुज्ञापना प्रथमा । सुसाफलयेऽप्यनु-  
ज्ञापना द्वितीया । विधिप्राज्ञरणित्पितवमिताद्यनुज्ञापना तृती-  
या । सौकात्तराऽपि स्वविधादिनाम् विधा—शिष्यरनुज्ञा  
प्रथमा । वसाद्यनुज्ञा द्वितीया । परिहितस्वविशिष्याद्यनुज्ञा  
तृतीया । एवं कुमायचनिक्यपि त्रेधाऽवगतव्या । कुमायज्ञापना  
यावतो क्षेत्रवस्तुज्ञापनं विधीयते, यस्मिन्मा क्षेत्रेऽनुज्ञा व्याख्या-  
ते वा । एवं कान्दानुज्ञापं । ज्ञावानुज्ञा आचारद्यनुज्ञा, एषा चात्र  
प्राज्ञा । प्र० २ शा० । प्रायप्रदविषयाऽनुज्ञापना 'उमाह' शब्दे  
द्वि० जा० ६६ पुष्टे; वसतिविषया च 'वसत्' शब्दे प्रथमा ।  
अणुसुवणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । अवप्रदस्यानुज्ञापनायावां  
भावाय, स्था० ४ उा० ३ उ० ।

अणुसुविधा-अनुज्ञाप-अव्य० । अनुसुवोत्सर्वे, "जिष्वर  
मणुसुविधा, अंजनघणस्यमधिभद्रसंकासा" आ० म० ३ ॥

अणुसुवियपाणोयभोऽ(ए)-अनुज्ञापानभोजनभोजिन्-  
पुं० । आवायोधीननुज्ञाप पानभोजनप्रतिविधाविति, अदत्तादा-  
नविरतोऽिनायां ज्ञावनां प्रतिपद्ये, आवा० २ सु० २ अ० ६ उ० ।  
आव० ।

अणुसुवेमाण-अनुज्ञापयत्-वि० । अनुज्ञां ददति, स्वजनान्  
तदकालगतसाधिमकपरिष्ठापनायामनुज्ञापयतीति नातिक्रम-  
न्ति" स्या० ६ उा० ।

अणुसा-अनुज्ञा-स्त्री० । अनुज्ञाननुज्ञा । अविचारकाने,

कथा० ३ ज्ञ० ३ उ० । अनुमोदने, सूत्र० २ पु० २ अ० । ज्ञ० ।  
निष्कषोऽस्य—

ने किं तं अणुष्ठा ? । अणुष्ठा ऋविद्वा पञ्चत्वा । तं जहा-  
नामाणुष्ठा ? , उवणाणुष्ठा २, दन्वाणुष्ठा ३, सेचाणुष्ठा ४,  
कालाणुष्ठा ५, ज्ञावाणुष्ठा ६ । से किं तं नामाणुष्ठा ? ।  
नामाणुष्ठा जस्त एं जीवस्त वा अनीवस्त वा जीवाणं  
वा अनीवाणं वा तदुभयस्य वा तदुजयाणं वा अणुष्ण  
त्ति नामं कीरइ, सेचं नामाणुष्ठा । से किं तं उवणाणुष्ठा  
? । उवणाणुष्ठा जेणं कद्रकम्मे वा पोत्यकम्मे वा चि-  
त्तकम्मे वा गंठिम वा वेदिमे वा पुरिमे वा संघाऽमे वा अ-  
कल्प वा वरादप वा एगभो वा अगेगभो वा, सन्जा-  
बद्रवणाए वा अस्तम्भावउवणाए वा अणुष्णत्ति उवण-  
विजइ, सेचं उवणाणुष्ठा । नामद्रवणाए वा को वइसिसेओ ? ।  
नामं आवकहियं, उवणा इत्तरिया वा हुज्जा आवकहिया  
वा, सेचं उवणाणुष्ठा । से किं तं दन्वाणुष्ठा ? । द-  
न्वाणुष्ठा हुविद्वा पणुष्ठा । तं जहा—भागमभ्यो य, नो भा-  
गमभ्यो य । से किं तं भागमभ्यो य दन्वाणुष्ठा ? । भागमभ्यो द-  
न्वाणुष्ठा जस्त एं अणुष्णत्ति पयं सिक्खिपं त्रियं जियं  
मियं परिजियं नामममं पोससमं अहीणकलरं अणुष्णकलरं  
अन्वाइडकलरं अकखलियं अमिलियं अविचामोसियं पदि-  
पुष्पं पडिपुन्नापोसं कंठोइविष्णुष्कुरुवायाणोवियं से एं  
तथ्य वायणाए पुच्छणाए परिपट्टणाए भम्मकहाए नो अणु-  
पेट्हाए कम्हाए अणुष्णउगो दम्भमिति कहुं नेगपस्स एगे  
अणुवउत्ते भागमभ्यो य इक्का दन्वाणुष्ठा हुन्नि अणुवउत्ता  
भागमभ्यो दुस्सि दन्वाणुष्ठाओ तिस्सि अणुवउत्ता भागम-  
भ्यो तिएण दन्वाणुष्ठाओ, एवं जावऽया अणुवउत्ताओ  
तावऽयाओ दन्वाणुष्ठाओ । एवामेव बवहारस्त वि सग-  
दस्स एगो वा अणुष्ठा वा उवउत्ता वा अणुवउत्ता वा द-  
न्वाणुष्ठा वा ना एगा दन्वाणुष्ठा उजुसुप्पस्स एगे अणु-  
वउत्ते भागमभ्यो एगा दन्वाणुष्ठा पुवुत्तं नत्थि इतिएइ  
सदनयाणं जाणए अणुवउत्ते अकखकम्हा जइ जाणए  
अणुवउत्ते न भवइ, जइ अणुवउत्ते जाणए ए भवइ, सेचं  
भागमभ्यो दन्वाणुष्ठा । से किं तं नो भागमभ्यो दन्वाणुष्ठा  
? । नो भागमभ्यो दन्वाणुष्ठा ति विद्वा पणुष्ठा । तं जहा-जा-  
णगसरीरदन्वाणुष्ठाणा, भवियसरीरदन्वाणुष्ठाणा, जाण-  
गसरीरभवियसरीरवइरिक्का दन्वाणुष्ठा । से किं तं जाणग-  
सरीरदन्वाणुष्ठाणा ? । जाणगसरीरदन्वाणुष्ठाणा अणुष्ण  
त्ति पयऽथादियारं जाणगस्त जं सरीरं ववगयउयचऽविय-  
चत्तेइं जीवविष्णुअं सिज्जागयं वा संघारगयं वा निनी-  
दियागयं वा सिद्धिसिद्धायं वा अहोखं इमेणं सरीर-  
समुत्सएणं अणुष्ठात्त य पयं आणवियं पन्नीवियं पक्खियं

दियं निदंसियं उषदमियं जहा । को विद्दतो ? । अयं पय-  
कुंभे आसी, अयं यणुकुंभे आसी, सेच जाणगसरीरदन्वा-  
णुष्ठा । से किं तं भवियसरीरदन्वाणुष्ठा ? । जे जीवजोणी-  
जम्मनिकखत्ते इमेणं च व सरीरसमुत्सएणं आसत्तेणं  
जियदित्तो णं भवो एं अणुष्णाति पयंसियकाले सि-  
क्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ जहा । को विद्दतो ? । अयं पयकुंभे  
भविस्सइ, अयं यणुकुंभे जविस्सइ, सचं भवियसरीरदन्वा-  
णुष्ठाणा । से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरिक्का द-  
न्वाणुष्ठाणा ? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरिक्का दन्वाणु-  
ष्ठा ति विद्वा पणुष्ठा । तं जहा—लोइया, कुप्पावणिया य, झो-  
उत्तरिया । से किं तं लोइया दन्वाणुष्ठाणा ? । लोइया दन्वाणु-  
ष्ठा ति विद्वा पणुष्ठा । तं जहा—सच्चिवा अचिवा मीसिया ।  
से किं तं सच्चिवा ? । सच्चिवा से जहा णामए रायाइ वा  
जुवगयाइ वा ईसरे वा तल्लरे वा मार्दन्निपइ वा कोदंविपइ  
वा सेह्ठीइ वा इम्भेइ वा सेणावइ वा सत्थवाट्टेइ वा कस्सइ  
कम्मि कारणे तुट्टे समाणे आसं वा इत्थि वा ठहं वा  
गोणं वा खरं वा पोढयं वा एलयं वा चलयं वा दासं वा  
दायिं वा अणुष्णाणिज्जा, सेचं सच्चिवा । से किं तं अ-  
चिवा ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ  
वा तल्लरेइ वा कोदंविपइ वा मार्दन्निपइ वा इम्भेइ वा सेह्ठीइ  
वा सेणावइ वा सत्थवाट्टेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्टे स-  
माणे आसं वा सयणं वा उत्तं वा चायरं वा पदं वा  
मउरं वा द्विरिखं वा सुवणं वा कंसं वा मणिसुत्तियंसंख-  
सिलप्यवात्तरत्तरयणमायं संतमारसावज्जं अणुष्णाणिज्जा,  
सेचं अचिवा दन्वाणुष्ठाणा । से किं तं मीसिया दन्वाणु-  
ष्ठाणा ? । मीसिया दन्वाणुष्ठाणा मे जहा नामए रायाइ वा  
जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तल्लरेइ वा मार्दन्निपइ वा कोदं-  
विपइ वा इम्भेइ वा सेह्ठीइ वा सेणावइ वा सत्थवाट्टेइ वा  
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्टे समाणे इत्थिं वा मुदुमंरुणमं-  
दियं आमं वा पासमं वा मरमंदिंयं सक्कंदिंयं दासं  
वा दासिं वा सव्वाअंकारविच्चिसियं अणुष्णाणिज्जा, सेचं मी-  
सिया दन्वाणुष्ठाणा । मेत्तं लोइया दन्वाणुष्ठाणा । से किं तं कु-  
प्पावणिया दन्वाणुष्ठाणा ? । कुप्पावणिया दन्वाणुष्ठा ति विद्वा  
पणुष्ठा । जं जहा—सच्चिवा अचिवा मीसिया । मे किं तं  
सच्चिवा ? । मे जहा नामए आयरियाए वा उवउत्ताइए  
वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्टे समाणे आमं वा  
इत्थि वा उट्टिं वा णाणं वा खरं वा धोमं वा अयं वा एल-  
गं वा चलयं वा दासं वा दासिं वा अणुष्णाणिज्जा, सेचं  
सच्चिवा कुप्पावणिया दन्वाणुष्ठाणा । से किं तं अचिवा ? ।  
अचिवा से जहा नामए आयरियाए वा उवउत्ताइए वा  
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्टे समाणे आसं वा सयणं वा



छत्तं वा चामरं वा पदं वा मण्डं वा हिरण्यं वा सुवर्षं वा कंसं वा वृषं वा मणिसुसियसंखिलपत्रालरचरणमादयं संतनारसावज्जं अणुजाणिज्जा, सेत्तं आचिन्ता कुप्पावांग-या दब्बाण्णया । से किं तं मीसिया ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवञ्जाएइ वा कस्सए कम्मि कारणे तुट्टे समाणे इत्थिं वा मुहजंढगमरिये वा आसं वा घासगं वा चामरमरियं वा सक्कियं वा दासं वा दासिं वा सन्नालकारविहू-सियं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया कुप्पावणिया दब्बाण्णया । सेत्तं कुप्पावणिया दब्बाण्णया । से किं तं सोउत्तरिया दब्बाण्णया ? । सोउत्तरिया दब्बाण्णया तिविहा पयत्ता । तं जहा-सच्चिन्ता आचिन्ता मीसिया । मे किं तं सच्चिन्ता ? । सच्चिन्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवञ्जाएइ वा पवत्तएइ वा धेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेपएइ वा सीमस्स वा सीसिणीएइ वा कम्मि कारणे तुट्टे समाणे मीसं वा सि-स्सिणीयं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सच्चिन्ता । से किं तं अ-चिन्ता ? । आचिन्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवञ्जाएइ वा पवत्तएइ वा धेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणाव-च्छेइए वा सीमस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि य कारणे तुट्टे समाणे नत्थं वा पायं वा पक्कमाइं वा केवडं वा पायपुञ्ज-णं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं आचिन्ता । से किं तं मीसि-या ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवञ्जाएइ वा पवत्तएइ वा धेरे वा गणावच्छेइए वा सिस्सस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि कारणे तुट्टे समाणे सिस्सं वा सि-स्सिणीयं वा सजंढमत्तोवगरं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया । सेत्तं लोमोत्तरिया । सेत्तं जाणगमरीरभविषयरीरवइरिन्ता दब्बाण्णया । सेत्तं नो आगमओ दब्बाण्णया । सेत्तं दब्बाण्ण-या । से किं तं खेत्ताणुष्ठा ? । खेत्ताणुष्ठा ओ णं जस्स खेत्तं अणुजाणइ जत्थियं वा खेत्तं जम्मि वा खेत्ते, सेत्तं खेत्ता-णुष्ठा । से किं तं कात्ताणुष्ठा ? । कात्ताणुष्ठा ओ णं ज-स्स कालं अणुजाणइ जत्थिया वा कात्तं अणुजाणइ जम्मि वा कालं अणुजाणइ, तं तीतं पणुप्पं वा अण्णागतं वा व-संतहेपत्ताउत्तं वा अन्नत्थणुत्तेत्तं, सेत्तं कात्ताणुष्ठा । से किं तं जावाणुष्ठा ? । जावाणुष्ठा तिविहा पयत्ता । तं जहा-सोग-इया, कुप्पावणिया, सोगुत्तरिया । से किं तं सोगइया भावाणु-ष्ठा ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा जाव रुट्टे स-माणे कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्जा, सेत्तं सोइया भावा-णुष्ठा । से किं तं कुप्पावणिया जावाणुष्ठा ? । कुप्पावणिया से जहा नामए कइ आयरिए वा जाव कस्स वि कोहाइभावं अणुजाणिज्जा, सेत्तं कुप्पावणिया । से किं तं लोमोत्तरिया भावाणुष्ठा ? । लोमोत्तरिया जावाणुष्ठा से जहा नामए

आयारए वा जाव कम्मि कारणे तुट्टे समाणे कात्ताणुष्थे नामाइ गुणजोगिणो विणयस्स ख्माइपट्टाणस्स सुसिद्धा-स्स सीसस्स तिविहणं तिगणविमुक्केणं भावेणं आयारं वा सुयमदं वा उणं वा समवायं वा विवाहणुष्थी वा छायाधम्मकहा णं वा उवासगदसा उ वा अंतमदसा उ वा अणुत्तरोववाइदसा उ वा पएहा वा गरणं वा विवागमुयं वा दिट्ठिवायं वा सब्बद्वग्गुपञ्जवेहिं सव्वाण्णओं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं लोमोत्तरिया भावाणुष्ठा ॥

किमपुष्पा कस्सणुष्ठा, केवडं कात्तं पविण्णोअणुष्ठा । आइगरपुरिमत्तं, पवत्तया उसट्टेणुष्ठा ॥ ? । अणुष्ण उणमणी णमणी, नामणि उवणा पजावो य । पभवण पयर तज्जयं, मज्जाया नाउ मगो कप्पो य ॥ २ ॥ संगहसंवरनिज्जर, उइकारणं चिच जंविगुट्ठिपयं । पय पवरं चिच तहा, वंसमणुष्ठाइं नामाइं ॥ ३ ॥ नं० ॥ अणुण्वइत्तणुष्ठा, उण्णामि य जत्थियं वि उणमणी । गिडिसाधुत्तिं णमिज्जति, तम्हा जा हाति णमण चि ॥ सुतधम्मचरणधम्मो, णमयती जेण णामती तम्हा । उविओ य आरियत्ते, जम्हा तो तेण उवण चि ॥ उवितो गणापवत्ते, हाति पन्नूण पज्जवो य । सव्वेसिं णामादी-ण हाति पज्जवो पसु चि ॥

एगहा आयरिया-दीणं रूपं पजाविते । जेण विणा णो मिज्जति, तेण विचारो तु ज्जित्ति गगोसे । तदुभयद्वियंति ज्जति, इह परलोके य जण इत्तं ॥ गणधरमेव वरंती, जम्हा जत्तेण हाति मज्जाइ । फणो ज्जो कप्पो चि य, कप्पो गणकप्पकरणेणं ॥ खाण्णोदिमोक्खमगो, सो तम्मि ठितो चि तो जवति मगो । जम्हा तु णायकारी, णाओ वा एस तो खातो । दव्वे जावे मगइ, दव्वे आहाइवत्थमादीहिं ॥ जावे णायादीहिं, संगेहति संगहो तेणं । उविहण संवरो, इंदिय-णोइदिएसु जम्हा उ ॥ अण्णाण गणं व तहा, संवरयति संवरो तम्हा ॥ गणवारणमगिणो, कुणमाणे णिज्जरेति कम्माइं । अथे य णिज्जरावे, तम्हा तो णिज्जरा हाति ॥ वातेरिता एइ इ, एक पमाणए तरुणमादीणं । हात्ति थिरा वडंतो, तव्वं थिरकरणतेणं तु ॥ जम्हा तु अबोच्चिन्ती, सो कुणती णाणवरणमादीणं । तम्हा त्थु अच्चेइ, गुणप्पसिक्कं इवति णामं तु ॥ तित्थकरेइं कयमिणं, गणधारिणं तु तेहिं सीसाणं । तत्तो परंपरेणं, आयमिणं तेण जीयं तु ॥ वडइ य णाणचरणं, गणं तु तम्हा उ तेण बुद्धिपं ।

पवरं पद्मानपेक्षं, सन्वेभिं राखेदबाणं ॥  
 एस अणुष्ठाकप्यो, जहाविही बसिएतो ममासेणं । पं०भा० ।  
 तिविहाऽणुष्ठा पयसा । तं जहा-आयरियणाए, उव-  
 ज्जायत्ताए, गणित्ताए । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

परं प्रति सूत्रार्थेदानानुमते, जी० १ प्रति० । सूत्रार्थेयोरन्यप्र-  
 दानं प्रत्यनुमते, व्य० १ ठ० । गुरोर्भिक्षिते, सम्पत्तिर्धर्या-  
 ५-योश्चाऽध्यापयेति गुरुवचनविशेष, अनु० । अन्त० । अनुष्ठावि-  
 धिस्तु योगोक्तैपकार्योत्सर्गवजं: सर्वोऽप्युद्देशविधिवद्वक्तव्यः,  
 नवरं, प्रवृत्तिते गुरुवृत्ति-सम्यग् धारयान्येषां च प्रवेद्य, अन्या-  
 नपि पाठव्यत्यर्थः । आचरण्यकादिषु तदनुष्ठाविचारखादिप्रकी-  
 र्णकेषुपि चैव एव विधिः, नवरं, स्वान्यायप्रस्थापनं योगोक्तैप-  
 कार्योत्सर्गश्च न कियत । एवं साम्यिकादुपन्ययनेषुशक्येपु च  
 चैत्यवन्दनप्रदक्षिणात्रयादिविशेषक्रियारहितनसम्यग्धनकप्रदा-  
 नादिकः स एव विधिरिति तावदियं चूर्णिकारक्षिततासामा-  
 चारी । साम्रनं पुनरन्यथाऽपि ताः समुपलभ्यन्ते, न च तथो-  
 पलभ्य संमोहः कर्त्तव्यः, विधिप्रत्यासामाचारीणामिति । अ-  
 नु० । अन्त० । आ० म० ङि० । ( इत्यतिहृष्टदशकालादौ उद्देश-  
 निषेधः ङि० भा० ८११ पृष्ठे ' उद्देश ' शब्दः पञ्चानां ज्ञानानां  
 मध्ये श्रुतस्यैवाऽनुष्ठा प्रवर्तत इति 'अणुष्ठा' शब्द उच्ये भागं  
 ३५३ पृष्ठ समुक्तम् ) धनिय्याशतभिकस्वतीश्रयणपुनर्वसुषु  
 अनुष्ठा कारयोः । द० प० ।

आणुष्ठा-अनुष्ठात-वि० । जिानुमते, स्था० ३ ठा० ४  
 उ० । द्वाहं, उत्त० २३ अ० । आ० क० ।

अणुष्ठाकप्य-अनुष्ठाकप्य-पुं० । कस्मिन् काले वल्गाधनु-  
 हातमित्येवविधौ, पं० भा० ।

..... अनुष्ठा बोचं अणुष्ठाकप्यं तु ।  
 काही कान्ने गहणं, वत्थाईणं अणुष्ठातं ॥  
 वत्यपायगहणे, वासावासाणुष्ठागमो मरदे ।  
 तिण पयग सत्त तदुगा, उयम्मि कपोदं जाणो ॥  
 वत्यादीणं गहणं, एऽणुष्ठाणां होति वासासु ।  
 वामादीं परेणं, दुमाम अणुष्ठासु गिरहंति ॥  
 तेभिं पुणु षोताणं, मरदे जदि दोहणा उयाखंतो ।  
 दगसंयद्दहणेषु, ए तिणिद्द यं चैव च्छिक्कममा ॥  
 सत्ते च च्छ उकोसा, गिम्हद्द यं तिरियाण पंच हेमंते ॥  
 वामासु य सत्त जवे, परेण खेत्तं गणुष्ठाणांतं ।  
 अणुष्ठात्तं च्छिक्कममा, जं तीरीयासु वणित्तं पुत्तिं ॥  
 तं अरुद्धजोयणं, दगयद्दा जाव सत्ते वा ।  
 वत्यपायगहणे, ए व संथरणम्मि पदमणुष्ठाणम्मि ॥  
 एत्तोऽवत्तिकमम्मि तु, सट्ठाणा सेवणा सुच्छी ।  
 पदमं ताऽणुष्ठासुगो, तेषां नू णवम होति खेत्तेसु ॥  
 वत्यादीणं गहणं, तत्थेव य होति उ विहारो ।  
 एवणुष्ठाणातिकमे पुणु, हर्दई सट्ठाणतो विसुद्धो तु ॥  
 किं पुण तं सट्ठाणं, अनवादो असति ते होति ।

अथवा एणं गहणं, उत्सम्भो चैव होऽ सो ताहं ॥  
 गेहंत्तसस तु करणे, सुच्छी तह चैव बोचव्वा ।  
 जह गेहंत्तुवसग्गे, सुच्छीओ बहिसस एव वितिएणं ।  
 गेहंत्तसस विसुच्छी, सट्ठाणं एवमक्खवायं ।  
 अहवा वि इमे अणुष्ठा, खव तु द्वाणा विवाहिता ॥  
 दव्वादीया ऽणुष्ठा, बोचक्षामी आणुष्ठासु सी ।  
 दव्वे खेत्तं काले, वमहं । भिक्खमंतेरे ण्यं ।  
 संभ्राई गुरुजोमी, एतं ठाणा खिवाहिता ।  
 दव्वाणाहारादी-णि जाति सुलजाई तम्म खेत्तम्मि ॥  
 खेत्तं वितिएहं खवु, वत्तं सुणंत्तं गगणसस ।  
 वत्ताएपरियट्ठंती, सुणंति अत्थं गणो तु बालादी ॥  
 तसस पट्ठवति खेत्तं, आहारादीहिं संथरणं ।  
 तत्तियकाले चेलो, वमहं । जाग्गा तु तिकखुसु लज्जति ।  
 न विगिट्ठमंतंती, मज्जाउ सुवक्क जहिं च हल्लमं च ।  
 आयत्तिअणुष्ठा जोगं, त्रिएण्यं चैव णियंमणं ।  
 एते ते खव ठाणा, जहिं उत्सम्भेण गहणं तु ॥  
 उत्सम्भोण विहारो, संथरणमाणेण णवसु खेत्तसु ।  
 ते स वुधदुवदीणं, विपेत्तिया वि दगयट्ठे य ॥  
 एवि दूरं गच्छंती, णवमसस असंजवे वितियणं ।  
 दगयट्ठे वट्टए वी, पेट्ठे वरं पि गच्छेज्जा ।  
 दुल्लहम्मि वत्थपादं, उणुण वि एम्मे वि णवसु गच्छेज्जा ।  
 एमवे विहारो वि तु, खेत्ताण सती सुणयत्तो ॥  
 अल्लंवेणं विसुच्छे, उगुणं तिरुणं चउगुणं वा वि ।  
 खेत्तं कालातीयं, समणुष्ठाणात पक्कणम्मि ॥  
 एम अणुष्ठाकप्यो ॥ पं० जा० ॥

इयाणि अणुष्ठाकप्यो (गाहा)(वत्थे पाए)अणुष्ठाणयम्मि काले  
 वत्यपायाणि घत्तव्याणि धामरत्ते ण्यं तेषु घत्तव्याणि, पच्छा-  
 ण्याणं नाणुष्ठायाणि निग्गयाणं वत्थे सत्तए अणुष्ठा खेत्तसु, जत्थ  
 मीयत्थं(विग्गेसु) वासो न कओ तत्थ गेहंत्तं, अत्थ वा गीय-  
 त्येहिं संविग्गई कओ तेहि गय्हं वीरे पच्छा गेहंत्तं, तेसिं  
 पुणु निग्गच्छत्ताणं जह अद्द जोयणसस वंतां तिणिद्द पंच सत्त  
 दगसंयद्दहणं, दगसंयद्दहणं नाम जणुष्ठाहंत्ता तद्वि अणुष्ठाण्यं परेण  
 नाणुष्ठायं जंति अणुष्ठागमात्ततिरियाए जणियं जाय सत्तसंघ-  
 ट्ठा, एवं अरुद्धे जोयणे (गाहा)(वत्थे पाए) एवं वत्यपायगहणे  
 वा तणुष्ठाधार य पदमणुष्ठाणं तु उत्सम्भेण गहणं नवसु ण्येसु  
 पदमणुष्ठाणं उत्सम्भेण वुत्तं होऽ नवउणवदक्कमे पुणु सट्ठाण-  
 विसाहं) अथ उवाहिमाह । किंच । तं सट्ठाणं आवाए ताह  
 उत्सम्भो ताहं अथवायंभो गहणं । काणि पुण ताणि नव णाणा-  
 णि ?-तत्थ (गाहा)(दव्वे खेत्तं) दव्वाणि जह आहारावकरणा-  
 णि ख्खंति तम्मि वंत्त उगमाह सुट्ठाणि (खेत्तं) खेत्तं विदिउ-  
 वं मदाजणवाग्गं अथं च तारिसं मत्थे खेत्तं (काले) ति, नह-  
 थाए पारिसीए भिक्खवत्ता (वसिहादि) वसिहादि उग्गा हेमंत-  
 गिरदवासपाठमा मत्थि ननुसगाह दोस्तरदिवा भिक्खा सुस-

भा, शुक्रमास्या उष्मा भिषक्त्वा गामंतराणि अथिक्त्रिणाणि अथ-  
 भ्रमस्रक्कापयं गुरुण सुभ्रमं पावसं जोगीशु व अग्राहेतराणं  
 सुवने पावसं, एवाणि णव सुमेति, अथं सुगुणं, साइषो अ-  
 भिषणं शुभेति वा साहेति वा कुरुगुपातिंति वा सुसं नेहरति  
 परिग्रहेति कुरुगुपातिंति वा सबाभुगुवाहसस्स वा गच्छस्स न-  
 स्थि तारिस्स अथं केचं कारं व अगुत्तरसिंघंरंताण केव विसं-  
 डिहाणं येहति वा न हूरं गच्छंति मासकप्यं करता केव उथदि  
 कप्यायंयति अह पुण द्यं वयं पायं डुल्लं, केचं था न पडुअह,  
 तादे अणुप वि द्वासंघंहे पेअह, हूरं पि गअअह, अरुजोअणपणेण  
 वि(गाहा)(आभंषणे)ते व आलंषण विसुडे सव्यं पि अगुत्तराण्यं  
 डुगणं केसकालं दुगुणतिगुखचडुगणहगुण वा केसकालाह-  
 कमागुष्ठाया पक्कपम्मि । एस्स अगुष्ठाकप्यो । पं० सू० ।

अगुत्तरगहं-अगुत्तरगति-वि० । अगुत्तरगहं-अगुत्तरगति-वि० । भि-  
 क्षापरिभ्रमणामावाडुष्णलगनाभावेन संवर्तितानि वतुलीभू-  
 तानि अत एवाऽककशानि अङ्गानि पाण्डिपादपृष्ठादग्मभूनी-  
 नि येयांते अगुत्तरसंघासिनकककशाः । भिक्षाणामभावाद्दुष्णसं-  
 कथ्याभावेन शीतीभूताकेषु, " अगुत्तरसंघादियककसंगा. वि-  
 ग्रहंति अं अग्नि न तं सहामो " इ० ३ उ० ।

अगुत्तरगहेन्द्र-अगुत्तरगहेन्द्र-पुं० । यशस्येव द्रव्यभेदे, स्या०  
 १० डा० ।

अगुत्तरदियाजेय-अगुत्तरदिकाभेद-पुं० । इणुव्यगादिषु द्रव्य-  
 भेद, प्रज्ञा० ११ पद । ( तत्रेताः 'सद्यद्व्यभेद' शब्दं वक्ष्यते )

अगुत्तरपि ( ए )-अगुत्तरापिन्-वि० । अकल्पं किमपि प्रति-  
 सव्यं अगुत्तरपिन्हाद् हा । दुषु कारितमित्यादिरूपेण तपति स-  
 तापमनुभवति, इत्यंशोऽलोऽनुतापि । अकल्पप्रतिस्वनाऽन-  
 न्तरं पाश्चात्तापविविधे, इय० १ उ० ।

अगुत्तरादि-अगुत्तराप-पुं० । पश्चात्तापे, प्राव० ४ अ० । हा० ।

अगुत्तरादि ( ए )-अगुत्तरापिन्-पुं० । पुः कर्मदिदोषदुष्टाहा-  
 रमहणात् पश्चाद् 'हा । दुषु कृतं मया' इत्यादिमानसिकता-  
 पश्चात्तापशोले, इ० ३ उ० ।

अगुत्तरादि-अगुत्तरापिका-स्त्री० । अगुत्तरापयतीति अगुत्तरापि-  
 का । परस्वानुतापकारिकायां भाषायाम्, " अगुत्तरादिवयं  
 खलु ते भास् मासंति " सूत्र० २ सु० ७ अ० ।

अगुत्तरपण्या-अगुत्तरपण्या-स्त्री० । अणुत्तरपण्या-उत्तरावलेपेन  
 कप्येते लज्जयते यन तत् उरत्रप्ये, न उरत्रप्यमनुत्रप्यमलज्जनीय  
 यथा व शरीरशरीरमतांरभेदमधिकस्य । अहंनसर्वाङ्गशरीरं  
 संपदभेदं, " वतुलउज्जय धाऊ, अलउज्जगीअं अहीसुस-  
 वंयो । होई अगुत्तरप्ये सो, अविगलइदियपडिपुष्पां । ति । स्य०  
 २ उ० । उस्त्त० ७० ।

अगुत्तर-अगुत्तर-वि० । अकथिते, घ० ३ अ० । अभाषिते,  
 पं० सं० ५ डा० ।

अगुत्तर-अगुत्तर-वि० । उत्तरः प्रधानो नास्त्योत्तरो विद्यते  
 इत्यनुत्तरः । स्या० १० डा० । सूत्र० । अविद्यमानप्रधानतरे,  
 घ० १ श० ३ उ० । अनन्यसदयो, अ० म० डि० । आचा० ।  
 अ० । अनुत्तरप्रधाने, विशेषेण । सर्वोक्ते, अष्ट० १४ अष्ट० । प्रअ० ।  
 कल्प० । आ० म० प्र० । दशा० । उस्त्त० । श्री० ।

केवलिनो दशानुत्तराणि—

केवलिस्स पं दस अगुत्तरा पमत्ता । तं जहा-अगुत्तर  
 नाणे, अगुत्तरं दंतेणे, अगुत्तरं चरिणे, अगुत्तरं तवे,  
 अगुत्तरं वीरिणे, अगुत्तरा संती, अगुत्तरा मुचि, अगुत्-  
 तरे अजजेन, अगुत्तरं भदने, अगुत्तरं लापे ॥

तत्र हानावरस्यत्वाद् हानमनुत्तरम्, एवं दशानुत्तरस्यत्वाद् द-  
 शैरम, मोहनीयत्वाद् दशानं, चारित्रमोहनीयत्वाच्चारित्रं, चारि-  
 त्रमोहस्यत्वादनन्तर्धीयम्, अनन्तवीर्यत्वाच्च तपः शुक्रध्यान-  
 विक्रपं, वीर्याग्निरात्यत्वाद्दीर्यम्, इह च तपःसात्त्विकस्याजैव-  
 माईवलाभायानि चारित्रभेदा एवेति चारित्रमोहनीयत्वात्वाद् भ-  
 वन्ति । सामान्यविशेषयोश्च कथंकिञ्चैद्वैद्वेदोपासनातीति ।  
 स्या० १० डा० । बुद्धिर्ग्रहिते च । आचा० १ सु० १ अ० १ उ० ।  
 नास्त्यस्यांत्तरं सिद्धान्त इत्यनुत्तरम् । यथाऽपरिधितसम्बन्ध-  
 वस्तुप्रतिपादकत्वाद्दुस्तरम्, प्राव० ४ अ० । सूत्र० । सर्वोक्ते  
 श्रीजिनधर्मे, सूत्र० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अगुत्तरगहं-अगुत्तरगति-वि० । सिद्धिगतिप्राप्ते, " एस्स क-  
 रेमि पणामं, तिन्धयराकं अगुत्तरगहं " । इ० प० ४ प० ।

अगुत्तरगमा-अगुत्तरगमा-स्त्री० । अनुत्तरा भावो सर्वोक्तम-  
 त्वादस्या च लोकप्रथयस्थितत्वाद्दशानुत्तराऽस्याः । ईपत्राग्न्यायां  
 पृथिव्याय, सूत्र० १ सु० ६ अ० ।

अगुत्तरण-अगुत्तरण-त० । न विद्यते उत्तरणं चारममं व-  
 सिन् न सति इत्यनुत्तरणः । फरममप्रतिबन्धकं, उस्त्त० १ अ० ।

अगुत्तरणवाम-अगुत्तरणवास ( पाश )-स्त्री० । न विद्यते उत्त-  
 रं पाश्चात्तममसिन् स्त्रीत्यनुत्तरणः । स चाऽसौ वासश्चा-  
 वस्थानमनुत्तरणवामः । अनुत्तरणवामहेतुत्वाद् अगुत्तरं त-  
 मित्यादिवयनुत्तरणवामः । यद्वा-आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुनया  
 पाशयतीति पाशः, ततोऽनुत्तरणश्चासीत् पाशश्चाऽनुत्तरणपाशः ।  
 उभयत्र च सापत्नत्वैर्धर्म गमकव्याप्तमासः । संसारार्थक्षीनो,  
 पाश्चर्ये वा । एतच्च सम्बन्धसंयोगस्थापनः । फलम् ।  
 उस्त्त० १ अ० ।

अगुत्तरणार्थदशानुत्तर-अनुत्तरज्ञानदर्शनपर-वि० । कथञ्चिद्  
 भिन्नज्ञानदर्शनधारे, " एवं से उदाह अगुत्तरदंसी अगुत्तर-  
 नापदं सणुत्तरे " सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अगुत्तरणाणि ( ए )-अनुत्तरज्ञानि-वि० । नास्त्योत्तरं प्र-  
 धानमस्तीत्यनुत्तरम्, तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानम्, तद्-  
 स्यास्तीत्यनुत्तरज्ञानो । केवलिति, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अगुत्तरभ्रम-अनुत्तरभ्रम-पुं० । नास्त्योत्तरः प्रधानो धर्मो  
 विद्यते इति अनुत्तरः । सूत्र० १ सु० ६ अ० । सुतचारित्राक्ये  
 धर्मे, सूत्र० १ सु० २ अ० २ उ० ।

अगुत्तरपरक्रम-अनुत्तरपरक्रम-पुं० । परे शब्धे । ते च त्रि-  
 धा-उच्यते मस्तरिणा; भावः क्लोधाद्यः । इह भावश्रुतिः  
 प्रयोजनं, तेषामयोक्तेऽद्वेदो मुक्तिभावात् । आक्रमणमाक्रमः, प-  
 राजय उच्छेद इति यावत् । परंपायाक्रमः पराक्रमः । सोऽनु-  
 त्तरोऽनन्यसदद्यो यस्त्विति, " जिनं तिथयंरं भगवते अगुत्तर-  
 परक्रमे अस्मियलाणि " । अत्र अहं-यं स्वतैवैश्वर्यादिभगवन्त-ते

ऽनुत्तरपराक्रमा एव, तन्मध्येण विद्यक्षितभगासंभवात्, ततोऽनुत्तरपरपराक्रमाभिव्यक्तनिरिक्रयते । नैव दोषः—अस्य अभाविदित्तैःश्वरीतिस्मन्वितपरमपुत्रपुत्रपतिपाद्मपत्नरुषधादिनिषेधपरगत्यात् । तथाहि—कैश्चिदनुत्तरपराक्रमत्वमनरैश्चैव हिरण्यगर्भादीनामनादिदिविक्षितभगयोगोऽनुत्तरपुत्रपत्यते । उक्तं च—“हानमप्रतिषेधं स्वयं, धैर्यात् च उगत्यते । येऽभ्यर्षे शैव धर्मज्ञे, सह सिद्धं चतुष्टयम् ” ॥ १ ॥ इत्यादि । अ० म० प्र० ।

अणुत्तरपुत्रसंज्ञार—अणुत्तरपुत्रसंज्ञार—पुं० । अणुत्तरः सयौ-चमहेतुत्वात् । तत्कार्योत्पुत्रपत्यसंज्ञारः तीर्थेकरनामकर्मलक्षणो येषां तं तथा । तीर्थेकृतसु, षं सू० ४ सूत्र ।

अणुत्तरविमाण-अणुत्तरविमान-न० । नैषामन्याःपुत्रराणि विमानानि सन्तीत्याणुत्तरविमानानि । सन्तुर्देश्येवलोकास्तथापुत्ररोपपतिकेवविमानेषु, अणु० (अत्र पचक्यं विमानं शब्दे वच्यते) “कहं नु जते । अणुत्तरविमाणा पशुता ? । गौयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पशुता । नै सं जने ! किं संखेज्जवित्थदा अर्थेखज्जवित्थदा य ? । गौयमा ! संखेज्जवित्थदा य असंखेज्जवित्थदा य ” । म० १३ श० ३ उ० । “कहं नु जते ! अणुत्तरविमाणा पशुता ? । गौयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पशुता । तं जहा-विजय, येज्यते, जयते, अपर्याजय, सव्यत्सिक्के य ” । म० १६ श० ६ उ० ।

अणुत्तरोवाइय-अणुत्तररोपपतिक-पुं० । अणुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु उपपातो जन्मानुत्तररोपपातः । स विद्यते येषां तेऽणुत्तररोपपातिकाः । अ० । उत्तरः प्रधानः । नास्त्योत्तरो विद्यते इत्यनुत्तरः । उपपत्तनमुपपातो जन्मैःस्यथैः, अणुत्तरख्यास्ता-वपयानश्चेत्यनुत्तररोपपातः ; साऽस्ति येषां तेऽणुत्तररोपपातिकाः । सर्वोर्थासिद्धादिविमानपञ्चकोपपातित्वे, अ० १० श० । विजयाद्यनुत्तरविमानवर्षाम्नि, स० १, स० ० ।

अणुत्तररोपपतिकानामनुत्तररोपपतिकार्यम्—  
अस्थिं जंते । अणुत्तरोवाइया देवा । हेता । अस्थि । मे कण्ठे जंते ! एवं वुच्ये अणुत्तरोवाइया देवा । गौयमा ! अणुत्तरोवाइयाणं अणुत्तरा सदा अणुत्तरा रूदा जाव अणुत्तरा फाना, से तेण्ठे पं गौयमा ! एवं वुच्ये जाव अणुत्तरोवाइया देवा ॥

( अर्थ जन्तिवार्त्ति ) ( अणुत्तरोवाइयसि ) अनन्तरः सर्वप्रधानोऽणुत्तरदाभ्यदिविषययोगादुपपातो जन्मानुत्तररोपपातः ; साऽस्ति येषां तं अनुत्तररोपपातिकाः । म० १६ श० ७ उ० ।

भेदाः अणुत्तररोपपतिकस्य—  
से किं तं अणुत्तरोवाइया ? । अणुत्तरोवाइया पंच-विधा पमत्ता । तं जहा-विजया, वैजयंता, जयता, अपराजिया, सव्यत्सिक्का । ते समाभमत्रो दुविहा पशुता । तं महा-पज्जत्तया य अपज्जत्तया य । पज्जा० प पद । ( अन्तक्रियाद्येऽस्य स्वस्थान एव वऽव्याः )  
वुच्यन्वच्य-  
अणुत्तरोवाइयाणां देवाणं एगा रयणी उकुं उबत्ते-  
णं पशुता ।  
( एगा रयणि सि ) हस्त्वं यावद्, कोशं कीटिन्धेन नदी इतिव-  
दिह तिदिता । ( उकुं उबत्तेणं सि ) वस्तुनो लोकेको वास्तव्य-

दिशतस्यैकस्य, अपरं तिर्यं कृषितयस्य, अन्वद्गुणोक्तिकपय । अ० १ श० । विजयादिविमानेषुपपत्तिसम्पत् साणुत्तु, स्था० व्जा० ।

अणुत्तरोवाइयां जंते ! देवा केवएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोवाइयदेवताए उववष्ठा ? । गौयमा ! जावइयं उट्ठजत्तिए समणे णिमंथे कम्मं जिज्जेइ, एवइएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोवाइयदेवताए उववष्ठा ॥

( जावइयं उट्ठमत्तिए इत्यादि ) किल वृष्टमत्तिकः सुसापु-  
योश्चकर्म कृपयति, एवाथा कर्मोवशेषेणानिर्जीर्णेनऽणुत्तररोप-  
पातिका देवा वत्यथा इति । म० १४ श० ७ उ० ।

अणुत्तरोवाइयदसा-अणुत्तररोपपतिकदशा-क्री० । व० व० ।  
अणुत्तररोपपतिकवत्कव्यताप्रतिबद्धा दशा दशाऽप्ययतोपबद्धकि-  
ता दशाध्ययनमतिबद्धप्रथमवर्गयोगादशा अन्वविशेषोऽणुत्तररोप-  
पतिकदशा । स्था० १० श० । अणु० । नवमेऽङ्के, मे० पा० ६० ।

से किं तं अणुत्तरोवाइयदसाओ ? अणुत्तरोवाइयद-  
सापुं अणुत्तरोवाइयाणां नगराई उज्जाणाई चइयाई वणखंडाई रायाणो अम्मापियरो समोसरणाई धम्मापरि-  
या धम्मकहाओ इहलोगपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिखा-  
या पव्वज्जाओ सुयपरिमहा तवोवहाणाई परियागो प-  
दिमाओ संझेइयाओ जत्तपाणुपबक्खत्ताणाई पाओवगम-  
णाई अणुत्तरोवाइयाओ सुकुलपच्चाओ पुण वोहिसाओ अं-  
तकिरियाओ आधवर्ज्जेत अणुत्तरोवाइयदसापुं ति-  
त्थकरमभोसरणाई परमंगलजगहियाई जिगाविसेसा य ब-  
हुविसेसा जिणसीसाणं चव समणणाणुपवरंयहेइयाणं ति-  
रजमाणं पारिसहेसमपिउवउपपट्ठणाणं तवदिच्चरित्तिण-  
णा सम्पत्तसारविहिष्पगारपसत्थगुणंमुजुयाणं अणगरम-  
ट्टरिसेणं अणगरागुणाए वक्खओ उत्तमवरतवविमिच्छणाए  
जंगजुच्चाणं जह य जगहियं भगवओ जारिसा इड्ढिविसे-  
सा देवापुरमाखुसाणं परिसाणं पाउज्जाओ य जिणसमीवं  
जह य उवासंति जिणवरं, जह य परिकर्हति धम्मं, होगमु-  
रु अमरनरमृगणाणं सोऊण य तस्स जासियं अवसेसकम्म-  
विमयविरत्ता नरा जहा अणुत्तुवति, धम्ममुदालं संजमं तवं वा  
ति बहुविष्पगारं जह वहुणि वासाणि अणुच्छरत्ता आराहि-  
यनाणंदसणुचरित्तजंगा जिणवयणमणुगयमहियमुपासिय-  
त्ता जिणवराण हिययेण मणुणत्ता जे य जहिं जात्थिया-  
णि जत्ताणि उअत्ता हक्काया य समाहिसुत्तमज्जाखोजो-  
गजुत्ता उववक्का मुणिवरोत्तमा, जह अणुत्तरपसु पायंति  
जह अणुत्तरं तत्थ विसयमोक्खं तत्रो य चुआ कमेण का-  
हिंति संजया जहा य अंतकारियं एए अन्नेन य एवमात्थ्या  
विन्त्यरेण ॥

अणुत्तररोपपतिकदशासु तीर्थेकरसमयसरणाणि किंज्जतानि ?  
परममाङ्गल्यजगत्किंज्जानि, जिगाविशेषाश्च बहुविशेषाश्च “ देहं  
विमःसुयं ” इत्यादयश्चअनुत्तिसंज्ञादधिकतरा वा, तथा जिगत्ता-

ध्यानां चैव गणचरादीनाम् । किं नूतानामत्र आह-धम्मणगएव, रत्तणइहस्सित्तं, धम्मणोत्तमानामिदंमेव । तथा विहरयहासां, तथा परीहइसैयमेव परीहइहइत्थमेव, रिउत्तलं पचकं, तथमईनानां, तथा दूवइहवात्तिरिउ, हीसाणुत्तमानि, पाउत्तलं, पाउत्तलंरेण तपोदीप्तानि' यानि आरिउत्तलानसम्यक्त्वाणि, तैः साराः स्फलाः, विविध-प्रकारविस्तारा अनेकविधप्रयत्नाः । प्रशस्तानि च क्कमाइयो गुणाः तैः संयुतानाम् । क्विइ' गुणयजाआमिते' पाठः । तथा अनगाराइत्ते महपेयइत्थनगारमहपेयः, तेषामिनगारगुणानां वर्णकः अण्णाथा, आक्खायत्त इति योगः । पुनः किंभूतानां जिनसिध्याणाम् । उक्तमाइत्ते जत्यादितिविहरनपसइत्ते च ते विगिउत्तलानयोगयुक्ताइत्थनस्तेपासुसमवत्तपोविधिउत्तलानयोगयुक्ता-नाम् । किंच । अपरे यथा च जगत्किं भगवत्त इत्यत्र जिनस्य शास्त्रमिति अभ्यन्ते । याहशाइत्त अइदिविशेषा देवासुरमानुषाणां, रत्तानुत्तलसक्योअनमानविमानरत्तचं स्यामिनिकाधानकद्वयदेव-कौटिसमधाचयेन, मणिअरुममिउत्तदत्तरुपट्टुप्रचलत्तयााककाशा-तायथाभितमहापधउत्तपुरःप्रवर्तिने, विविधाऽऽनोपायाद्वयगतानो-गपुरणं, वैशमादिसक्याणां, प्रतिकल्पितानिधमिधुभूरुक्कधाराहणं चतुरङ्कसैयपरिवारणं क्कञ्चानमरमहापधजादिमहागज्जिह्व-प्रकाशाने, वैशमादयइत्त सम्यग्विशेषाः समवसरणगमनप्रवृ-त्तानां, वैमानिकउपातिष्कानां भवनपतिव्यस्तराणां, राजादि-मुज्जानां च । अथवा अणुत्तरेणपानिकसाधुनाम, अइदिवि-शेषा देवादिभस्वोपनस्नाराशा' आशयायन्ते' इति क्रियायो-गः । तथा पर्यदां ' संजययंयोगानां संजइत्तुत्वेण पविमिओ वारे' इत्यादिनेकस्वरूपाणां प्रादुर्भायाइत्त आगमनानि, क १- (जिनवरसमो व सित्) जिनसमीपे, यथा च येन प्रकारेण, पञ्च-विधाभिगमादिना ( उपासमीपेति ) उपासने सेवने गजा-दयः, जिनवर्त्तं तथा ' कथायन्ते' इति योगः । यथा च परिकथय-ति धर्मे, श्लोकमुक्करीति जिनवरः, अमरनरासुरगणानां भूत्वा च 'नरुपेति' जिनवररूप मापिते, अवशोपाणि क्लीणप्रायाणि, कर्मो-जि येषां ते तथा । ते च ते विषयविरत्ताइति, अवशोकर्मवि-षयविरत्ताःके, नराः । किम् ? यथा अणुत्तययित्ते यममुदराम् । किंश्चकपमत आह-संजमं तपआपि । किंनूतमित्याह-बहुविध-प्रकारं तथा, यथा बहुनि वर्षाणि ( अणुत्तरि व सित् ) अणुत्तये आसंयत्त, संयमं तपआति वसंते । तत्र आयाजितज्ञानदर्शनवा-दिश्रयोऽनाः । तथा ( जिनवयणमणुगयमोहियमाभिय सित् ) जिनव-चनमाचारदिह, अणुगतं स्वैवं नाद्वित्तवैमिर्लथेः । महितं पु-जितम्, अथिकं वा भावितं शैरुप्यापमानितं तं तथा । पाउत्तलं-जिनवचनमनुगत्याऽऽसुकुह्येन सुपुमापितं यत्ते जिनवचनानुग-तिनुभाविताः । तथा ( जिनवराण हियणम पुण्णं सित् ) इति वदुं जितोभाये । तेन जिनवराइ हइयेन मन्वाः अणुनीय प्राप्य ध्यावोति यावत् । ये च यत्र यावोति च भक्तानि उद्वेग्यित्वा ल-ध्वा च समाधिमुत्तमभ्यानयोगयुक्ता उपपथा मुनिवरात्तमाः यथा अणुत्तरेषु, तथा ' कथायन्ते' इति प्रकमः । तथा प्राणुत्त-विनि यथाऽणुत्तरे ( तस्य सित् ) अणुत्तविनिषेणु विषयसुत्तं, तथा कथायन्ते ( तस्यो व सित् ) अणुत्तविनिमानेऽयं पुनः क्रमण करि-ष्यति, संवथा यथा आरतः क्रियते तथा कथायन्ते । स ॥

से किं ते अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरोववाइयद-साएमुणं अणुत्तरोववाइयाणं नगराई उज्जाण्णाई चेइयाई बणुखंसाई समोत्तराणाई सायाणां अम्भापिरो धम्मायारि-

या धम्मकहाओ इह्हाइयपरलोइया इहिविसेसा भोगप-रिश्वाया पव्वज्जाओ परियागा सुपपरिगमहा ततोवहाणाई पदिमाओ उन्नसगमलेहणाओ भत्तपक्खत्ताणाई पाओवग-मणाई अणुत्तरोववाइ उच्चनत्तसु कुलपवायाइओ पुण्ण सौ-हिलाभा अंतकिरियाओ य आद्यविज्जांति अणुत्तरोववाइयद-साणं परिचा वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेहु संखिज्जा मिलोगा संखिज्जाओ ( नजुत्तुत्तीआ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पदिवत्तं,ओ मे एवं अंगइयाए न-वम अंगे एगे सुयखंधे तिथि वगे तिथि उदेसणकाला तिथि समुद्वेगणकाला संखिज्जाई पयमहस्साई पयगणं संखि-ज्जा अक्खरा अर्णात्ताऽऽगमा अणोत्ता पज्जवा परिचा तसा अणोत्ता थावरा सामयककनवत्तनिकाइया जिणपक्कत्ता जावा आद्यविज्जांति पक्कविज्जांति पक्कविज्जांति दंसिज्जांति निदंसिज्जांति उवदंसिज्जांति, मे एवं आया एत्तं नाया एवं विज्जाया ओ वणकरणपरुवणा आद्यविज्जा, संचं उअ-त्तरोववाइयदसाओ ॥

( अणुत्तरोववाइयदसाणुमित्यादि/पाठसिद्धं यावन्नगमनम, नयवध, अणुत्तयनसमुदो वगै । वगै च वगै च दत्तं दशाभ्ययानानि, वर्गोऽथ युगपदवेदिइयते इति । अथ पय उद्देशनकाला, अथ पय संवदशनकालाः, संस्थेयानि च पदसहस्राणि, महाप्राधिक-पदव्यावर्तशुद्धप्रमाणानि वेदितव्यानि ॥ सं ॥

अणुदत्त-अणुदत्त-पुं० । न उदात्तः, विरोधे नञ् । 'नोर्त्तरनु-दात्तः' पा० १, २, ३, ४ । इति लङ्किते तादृशवदि प समांगु स्वानपुं-भागे निष्पन्नं स्वरुद्धं, यथा नञिः शब्देन 'अ निष्कृ' इत्यकं करेह' इत्यादि । पुं० १, ३ ० ।

अणुदय-अणुदय-पुं० । वेलामाकानं, इ० ७ इ० ८ ।

अणुदयवंपुकिट्ठा-अणुदयवंपोत्तुट्ठा-खी० । यासां विपाका-दयामाये व-आदुत्तुक्कसिधितिसकमावांसिः तासु कर्मप्रकृति-पु, पुं० सं ३ इ० । ताइ ' नाययतिर उरलदुग्' इत्यादि-गाथया 'कर्म' शब्दे तु० भा० २, ७६ पुष्टे दर्शिताः )

अणुदयवई-अणुदयवती-खी० । " चरिमममवडिम इजिये, जासिं अन्नथा संकमं ताओ । अणुदयवई " यासां प्रकृतीनां दालिकं चरमसयसंयसमयसं, अणुत्ताऽयप्रकृतिवु, स्तितुक्कस-त्रमण संकमयत्, संक्रमय्य चावप्रकृतिमवपदंशानुभावतः स्वोदयेन तास्युत्तयवयोऽणुदयवती संज्ञा । इत्युक्तज्ञानासु कर्मप्रकृतिपु, पुं० सं ३ इ० ।

अणुदयसंकमुकिट्ठा-अणुदयसंकमोत्तुट्ठा-खी० । यासामु-दयसंकमत्त वन्कृष्टसिधितिलाजः तासु कर्मप्रकृतिपु, पुं० सं ३ इ० । ('कर्म' शब्दे तु० भा० ३, ३० पुष्टे वासां स्वरुपमावेदियत्तं) अणुदरभरि-अणुदरभरि-पुं० । अनात्समदरी, इ० ६ इ० ।

अणुदरि-देहा-करणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वगै ।

अणुदहमाण-अणुदहत्-त्रि० । निसर्गान्तरमुपतापयति, रथा० १० ज्ञा० ।

अभुपिदित्-अनुदीर्घ-ना० न० त० । अभागतकाले उदीर्घा-  
रहितं चिरेण भविष्यदुदीरणेऽभविष्यदुदीरणे वा कर्मणि, भ०  
१ श० ३ उ० ।

अभुपिदिसा-अनुदीर्घ-ली० । आभेयाविकायां विदिशि, कल्प० ।  
आवा० । "पाश्र्वापकिस्ये वा वि, उद्धं अभुपिदिसामि" वश०  
६ अ० । आवायोपाध्यायपदद्वितीयस्थानवसिष्ये, स्व० २ इ० ।  
( 'उदीर्घ' शब्दे द्वि० जा० ङ० पृष्ठे तदुदीर्घो बध्यते )

अभुपिदित्-अनुदीर्घ-त्रि० । यावन्तिकदिनेद्वयजिते, प्रश्न० १  
संख० हा० ।

अभुपिदित्कुंभु-अनुदीर्घकुंभु-पुं०-ली० । अनुपदिनामके  
कुम्भुजिबे, वृ० १ उ० । स्था० । स हि चक्षुषेव विभाव्यते न  
स्थिनः । सूत्रभाषिते । स्था०ऽ हा० । "अं रयिषं व णं स्रमणे  
भगवं महावीरं जाव सव्वदुक्कलपणीं ते रयिषि व णं कुंभु-  
अभुपिदित्नामं समुपसा, आ जिया अचलमाणा णिमांघाण य  
णिमांघाण य नो चक्खुप्फासं हव्वमागच्छह, जा जिया चल्-  
माणा छुउअघाण णिमांघाण य निमांघीण य चक्खुप्फासं  
हव्वमागच्छह" । कल्प० । ( 'वीर' शब्दे व्याकथयत्येते कैतय )

अभुपिदित्-अनुदीर्घ-त्रि० । अनुपदिने वादनार्थमुक्तिसेऽनुप-  
दितः । वादनार्थमेव वादीरत्येके सूदङ्गावौ, हा० १ अ० विपा० ।  
ज० । "सूदङ्गुअनुअंमा" अनुदूताऽनुपेण वादनार्थमुक्तिना,  
अनुदूता वादनार्थमेव वादीरत्येका, सूदङ्गा मर्दला वर्यांसा  
तथा । हा० १ अ० विपा० । भ० । कल्प० । यत्र आनुपदिने  
यथामार्दङ्गकविधिकमुदता वादनार्थमुक्तिना सूदङ्गा मर्दसाः  
सन्ति । ज० ३ उ० ।

अभुपिदित्-अनुदीर्घ-पुं० । बुहस्ताधुपमेगेप्याऽऽरुत्तरो धर्मो-  
ऽधुपमः । वशाविरतौ, विशेष० । आ० म० द्वि० ।  
अनुदीर्घ-पुं० । अनुगतो मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः । अहि-  
सालक्षणं, परीषहोपसर्गसहस्रक्षणं वा धर्मं, "पसोऽधुपधर्मो  
मुनिणा पवेदिआ" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अनुपध्माद्  
धर्मोऽनुधर्मः । तीर्थकराऽनुधर्मादनन्तरं चर्यमाणं धर्मं, "पसा-  
ऽधुपधर्मो ह्य संजयाणं" सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । नि० चू० ।  
( स यथा पूर्वोक्तार्थो तथाऽनुधर्माण्यमितं 'अणाइय' शब्द  
ऽत्रैव जागे ३०४ पृष्ठे उक्तम् )

अभुपिदित्चारि ( ण )-अनुदीर्घचारि-पुं० । तीर्थकरप्रणोत-  
धर्मोऽनुधर्मायिनि, "जसो विरता समुद्रिया, कासवस्स अभुपिदित्-  
चारिणो" काश्यपस्य श्रुतमन्त्र्याभिमो वरुमन्त्र्याभिमो वा  
संबन्धी गं धर्मः, तदनुधर्माण्यस्तीर्थकरप्रणोतधर्मोऽनुधर्मायिनि  
इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अभुपिदित्-अनुपध-पुं० । मार्गात्पण्ये, वृ० २ उ० ।

अभुपिदित्-अनुपध-त्रि० । पश्चात्प्राते, वृ० ३ अ० ।

अभुपिदित्पिदि ( करेमाण-अनुपधक्रीणिकुर्वाण-त्रि० । आनुक-  
ल्पेन प्रदक्षिणीकुर्वाणे, रा० ।

अभुपिदित्पट्टण-अनुपदिर्वचन-न० । वीनःपुन्येन प्रथमे, भ० १  
हा० ७ उ० । पाहवेती प्रथमे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । घटोपन्य-  
वेन प्रथमे, आवा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । न० । " बुक्कजाण-  
मेव आहट्टं अभुपिदित्पिदि" । दुःखानां शारीरमानसाना-

मायसैः वीनःपुन्यवनमनुपरिवसैते, दुःखावतां वमनो बसन्त्य-  
ते । आवा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अनुपदिदित्-न० । योऽनुपदिदित्वागममे, "संसारपारकंभी ते  
संसारं अनुपदिदित्" । संसारमेव अनुपदिदित्कसंसारणरूपमे, अनु-  
पदिदित् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

देवेणं जंते । महिद्वि एव जाव महेशकले पन् । अणयसमुद्दं  
अनुपदिदित्पिदिनां हव्वमागच्छत्प । हंता । पन् । देवेणं  
जंते । महिद्वि एवं पायऽ संदीवं जाव हंता पन् । एवं  
जाव रुयगवरं दीवं जाव हंता पन् । तेष परं वीद्विपेजा  
णो चैव एं अनुपदिदित्पिदिनां ॥

( वीरवहज्ज ति ) एकया दिशा इत्यतिकामेव ( नो चेव णं  
अनुपदिदित्पिदिनां ति ) नैव सत्यमेः परिश्रमेव, तथाविधप्रयाजना-  
भावाविति संज्ञायते । न० १२ श्रु० ७ उ० ।

अनुपदिदित्पट्टाण-अनुपदिर्वचन-त्रि० । एकैकियादिवु पव्वे-  
रति, जमजरामरणानि वा बहुदोऽनुभवन्ति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।  
अरघट्टघटीन्यायंन वर्तमाने, आवा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । ज० ।

अनुपदिदित्पिदिना-अनुपदिदित्पिदि-अव्य० । सामस्येन परिश्रमेयति  
प्रादक्षिणेयन परिश्रमेयति वांघे, जी० ३ प्रि० ।

अनु ( नु ) परिहारि ( ण )-अ ( णु ) नुपरिहारि-पुं० ।  
परिहारिणः । अनुप स्तोत्रं प्रतिश्रवणादिवु साहाय्यं करांति ।  
अनुपरिहारि । यत्र यत्र भिक्षादिनिमित्तं परिहारी गच्छति  
तत्र तत्र अनुप पश्चात् पृष्ठणे हनः सद् गच्छतीत्यनुपरिहारी ।  
व्य० १ उ० । परिहारिकाणांमनुचरे, विशे० । ( यथा च अनु-  
परिहारिकाणां परिहारिकत्वेवा कर्मव्या तथा ' परिहार '   
शब्दे बध्यते ) निर्वर्ते, आसंभितविचक्षितचारित्रे च । स्था०  
३ हा० ४ उ० ।

अनुपविदित्-अनुपविदित्-त्रि० । अनुप पश्चाद्जावे चरकाविषु  
निवृत्तेषु पश्चात्पाकरणकालतो वा पश्चाद् भिक्षार्थे प्रवेशं  
कुर्वति, नि० चू० २ उ० ।

अनुपविदिना-अनु ( णु ) मविश्य-अव्य० । अनुपकृतं स्तोत्रं वा  
प्रविश्येत्यर्थे, नि० चू० ७ उ० ।

अनुपवेस-अनु ( णु ) मवेश-पुं० । इतुकले स्तोत्रे वा प्रवेशे,  
नि० चू० ७ उ० ।

अनुपदिदित् ( ण )-अनुदीर्घि-पुं० । अनुप द्रष्टुं शीलमस्वत्ये-  
नुदीर्घी । पर्यालोचके, " पयाणुपस्ती णिऽमोसइत्ता " पत-  
द्वुदीर्घी भवति, अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीति  
यावत् । आवा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अनुपदिदित्-अनुपदिदित्-अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, सूत्र० १  
श्रु० २ अ० २ उ० ।

अनुपपाण-अनुपपाण-त्रि० । अणवः सूदमाः प्राणाः प्राणिनो  
येषु ते अनुपपाणाः । सूदमजन्तुपुके, " जययं विहरति जोगवं,  
अनुपपाणा पंथा इवत्तरा " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अनुपपा ( वा ) यकिरिया-अनुपपात्क्रिया-ली० । प्रमत्तसंय-  
तानामापन्नपातं प्रत्ययंशुणसंपातिससत्त्वानां विनाशात्मके  
क्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

**अधुपाल्याय**

अधुपा ( वा ) य इ-अनुपातन-न० । अनु-पत-णिच्-ल्युट् ।  
अवतारणे, ध० २ अथि० ।

अधुपालेत-अनुपातयत्-त्रि० । अनुभवति, " साया सोऽन्म-  
मुपालेतं " शाते सुखमनुपालयताऽनुभवता । सुखात्-  
कमनसेत्यर्थः । पा० । प्रतिपालयति, आचा० । ५०२ अ० २ उ० ।

अधुपा ( वा ) लण-अनुपालन-न० । शिष्यगणरक्षणे, नचाकु-  
र्वेनो दोषः । ध० ३ अथि० । अनुपालने तु शासनप्रवृत्तीकवादि-  
दोषा एव । वतः पञ्चवस्तुप्रकरणे- " इत्थं पमायकलिया, पु-  
ष्वम्भालेण कस्स वयं होंति । ओ तेण वेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स  
सफलं ति ॥१॥ को शास सारहीणं, सहाज्जं ओ भइवाहणे  
दमए । पुट्टे वि अ जे अण्ये, दमइ तं आसिअं विति ॥२॥ जो  
आयरेण पदमं, पुब्बा वेज्जाय माणुण्णसि । सेहे सुत्तविहीए,  
सो पयवणुपच्छणीओ ति ॥३॥ अवि को वि अपरमत्था, विरु-  
द्धिइ परम्ये असेवं वा । जे पारिवि अण्यथं, सो अल तणु,  
अवओ सव्वो " ति ॥४॥ ध० ३ अथि० ।

अधुपा ( वा ) ललाकप्य-अनुपालनाकटप-पुं० । आचाय्यं  
कथञ्चिद् विषये गणरक्षणविधौ, पं० अ० ।

**स चैव-**

..... अहूणा अधुपालगाकप्यं !  
संखेवममुदिहं, बोच्छामि अहं ममासेणं ॥  
मोहतिगिच्छाएँ गते, एण्ठे खेवादि अहं व कालगते ।  
आयरि ए तम्मि गणे, पालादीरक्खण्णहाए ॥  
कोवि गणी उवणिअओ, मच्चति जंति तस्स कोवि सीसो तु ।  
सुत्तत्थतदुभएदिं, णिम्माअओ सो उवेयव्वो ॥  
असती य तस्स ताहे, उवियेव्वा कमेण मेणं तु ।  
एव्वज कुले णाणे, खेचे मुट्टिउव्वसुतसीसो ॥  
गुरु गुरुणं तं तू वा, गुरुवज्जिअण्ण उव्व तस्स सीसो तु ।  
एव्वज एगपक्खी, एपादीं होंति णापयो ॥  
असतीएँ कुञ्जओ वी, तस्स सतीएसु एगपक्खीअं ।  
खेचे उवसंपणे, तस्स मतीए उवेयव्वो ॥  
सुहदुक्खियसव असती, तस्स मतीए सुतोवमंपणे ।  
एवं उियाणु वेदिं, सोसम्मि तु मगणा णट्ठिय ।  
पादिअ गण्णरे पुण, उविये इत्थं तु मगणा इयमो ।  
सुत्तयमहिज्जेतं, अण्हिअजेतं इमं ज्ञाया ।  
साद्वारणं तु पदमे, वितिए खेतम्मि ततिएँ मुहउक्खे ।  
अण्हिअंते मंसे, सेने एकारम विजाया ॥  
पुव्वुदिहं गणस्स तु, एरुयुदिहं पवाइयंतस्स ।  
पुव्वं पच्चुदिहं, सोसम्मि तु जं तु होंति सच्चिचं ॥  
संवच्छरम्मि पदमे, तं सब्वगणस्स आह्वति ।  
पुव्वुदिहं गणस्सा, पच्चुदिहं पवाइयंतस्स ॥  
संवच्छामि वितिए, सोसम्मि तु जं तु सच्चिचं ।  
पुव्वं पच्चुदिहं, सोसम्मि तु जं तु होंति सच्चिचं ॥  
संवच्छरम्मि ततिए, एतं सब्वं पवा.यंतस्स ।

पुव्वुदिहं गच्छे, पच्चुदिहं पवाइयंतस्स ॥  
संवच्छरम्मि पदमे, सिस्सिणिए जं तु सच्चिचं ।  
संवच्छरम्मि वितिए, तं सब्वपवाइयंतस्स ॥  
पुव्वं पच्चुदिहं, पदिच्छियए उ जं तु सच्चिचं ।  
संवच्छरम्मि पदमे, तं सब्वपवाइयंतस्स ॥  
खेनुवसंपायरिओ, सुहउक्खी चैव जति तु सो उव्विओ ।  
कुञ्जगणमविओ वा, तस्स वि सइ होंति उ विवेगो ॥  
संवच्छराणि तिणिए ष, सोसम्मि पदिच्छियम्मि तद्विवसं ।  
एककुञ्जवणिविओ, संवच्छर संप अम्मासो ॥  
तत्थेव य णिम्माए, अण्हिगए णिम्माए इमा भेरा ।  
सकुले तिणिए तिपादं, गणे दुगं वच्छरं संधे ॥  
ओमादिकारणेदिं, उम्मेदत्तेण वा ण णिम्मासो ।  
काउण कुलसम्मयं, कुलयेरे वा उव्वेति ॥  
एव हायण्णो ताहे, कुञ्जं तु भिक्खावए पयणेण ।  
ण य किंचि तेसिं गेहएति, गणो दुगं एगसंघो तु ॥  
एवं तु दुवाअसदिं, समादिं जदि तय कोवि णिम्मासो ।  
तो णिंति अण्हिम्माए, पुण वि कुञ्जादी उव्वेहणा ॥  
तेणैव कमेणं तु, पुणो समाओ हवंति वारस तु ।  
णिम्माए विहरंते, इहरकुञ्जादी पुणोवड्ढा ॥  
तद्ध वि य वारसमामो, सोमस्स वि गण्णरे होइ ।  
तेण परमणिम्माए, इमा विदिं होइ तेसि तु ॥  
इत्थीसातिकेते, पंचावहु एव संपदा पयो ।  
पच्छा पत्तं तुवसं-पदे पवज्जएसु एगपक्खम्मि ।।  
एव्वजाएँसु तेण य, चउभंगो होंति एगपक्खम्मि ।।  
पुव्वोद्वित वीसरिए, पदमा मति ततिपजेणं ।।  
सव्वस्स वि कायव्वं, णिच्छअओ कंकुलं व अकुलं वा ।  
काअसजावमत्ते, गारवज्जाएँ कादिंति ॥  
एसउणुपाअणकप्यो । पं० अ० ।

आयरियाण्डावय, आयरिए म्हे वा, मोहतिगिच्छाए वा, प-  
क्खिअच्चिचं वा, कालगया वा, तस्स य सव्वसुव्वुअओ तस्स ग-  
च्छस्स को गणधारी कायव्वो?, तय(गाहा)(एव्वज्जा)ओ अस्स  
सोसां निम्माएसु तस्स सइ ओ एव्वज्जागणक्खमो पित्तिय-  
ओ पित्तियपुणो वा तस्स सइ कुञ्जव्वओ तस्स सइ नाणंगय-  
क्खिओ एगवायण्णो तस्स जो तम्मि खेले उवसंपणओ मा-  
यरिओ सुहदुक्खिओ वा सुवनिमित्तं वा जा तय एगअओ  
पदिच्छओ एयसि इवियाणु अहिउजंताणं कस्स किया जवइ,  
सोसे ताव उचित्तएण का कहा?, संसंघु अण्हिअंतेसु पदि-  
च्छए उविये आयरिएण निम्मावियएण कुञ्जगणसंचयिए वा जो  
सो आयरिओ उवियो नाऊय य बोच्छयं सो कुलिय पाइस्सि  
अथं ते चैव आयरिया कालगया नेवि आयरियेवा तं निमित्तं  
चैव सीसववावरं तम्मि ममत्तं चरंता एस अहं सज्जतिओ सो  
वि एए मम सज्जति एत्ति काकण ममत्तं करेइ, एयं सो निम्मा-

शो आयरिया काज्ञया स्तो तं गच्छं न सुयद्, परया भवंतं वषे  
इ, क्षय जे ताव आयरियस्स पडिच्छया तस्सि तद्विद्वस्समेव गे-  
पदह, सच्चिदाहं आयरियसीसा ते न सउकपायि तस्स लका-  
स्से तेण कोरयवथा तेसु अणुद्विज्जेने सुत्तं तथ्य लभह सच्चिदा-  
हं ते स्सायएहं पदमवारिस्स, विद्दे वेत्तावसंपपम्भो जं सम्भह ते  
तं न्नाभंति । सत्तोवसंपपया नादवम्मां दुविहं भसवप य य  
सज्जति । नइए वरिस्से जं सुहपुक्कोवसंपपम्भो ज्ञनइ तं तस्सि  
झाभं सुहपुक्कियस्स लानो पुव्वस्यंथपो पक्खुा संथया य च  
उत्थे वरिस्से स्वव्वं गेपदह । एवं अणुद्विज्जेने पुणु इमेऽकारस्स वि-  
ज्जाया-तस्सायरियस्स सीसा सीसियाभो पदिच्छयाभो जं  
जीवं तेणायरियज्जणस्स उद्विद्धं अज्जायं तस्स पदमवारिस्स स-  
च्चिदाहं चित्तं वा लभह, तं सव्वं गुरुणो काज्ञययस्स वि पणो  
विभागां भह इमेण उद्विद्धं पदमवारिस्स, तो पवाइयंतस्स जं स-  
च्चिदाहं चित्तो विभाभो विइए वरिस्से पुव्वं उद्विद्धं, पक्कोव-  
दिद्धं वा, सव्वं पवाइयंतस्स तइभो विजाभो, एवं पदिच्छ-  
यीस्सस्स पदमवारिस्से आयरियए वा उद्विद्धं तेण वा पदिच्छ-  
पण उद्विद्धं सव्वं गुरुणो विजाभो, विइए वरिस्से आयरियएण  
उद्विद्धं पदमवारिस्स सच्चिदाहं चित्तं सम्भह । तं सव्वं गुरुणो वि-  
जाभो पक्कोव इमेण उद्विद्धंते पवाइयंतस्स उठो विभाभो ,  
तइए वरिस्से आयरियए वा उद्विद्धं इमेण वा सव्वं पवाइयंतो  
गेपदह वा पर्यंतो एउविभागां सत्तभो, सीसणीयाए जहा पदि-  
च्छयस्स निगिह गमा एए द्दम गमा, पडिच्छयस्स । आयरियए  
वा उद्विद्धं इमेण वा पदमवारिस्से वेध गेपदह वाययंतो, एए प-  
क्कारस्स विभागां वा एवं उभादे जणियं । प० चू० ।

संघतिपाह्ननं त्विचयम्—

..... बोद्धं अणुपालापाकपं कथं तु ।  
अणुपालंति सुविहंगा, गच्छं विहिया उ जणं तु ॥  
परिकधी परिकधं, तभो य बुविदो पुणो वि एक्को ॥  
उवसगस्सलकाज्ञ-व्वसे य अज्जाण परिवट्ठी ॥  
परियट्टियव्वयं सखु, परियट्ठी चैव होति एगट्ठं ।  
समया समणीभं वा, बुविहं परियट्टिव्वं तु ॥  
समएपरियट्ठं बुविदो, आयरिभो वीयभो उवज्जाभो ।  
संजतिपरियट्ठो पुण, तिविहो तु पवत्तणी तउया ॥  
समणपरियट्ठं बुविदा, विहपरियट्ठी य अविहिते चैव ।  
जतिणि परियट्टियव्वो, नियमेण य कारणा णिमिया ॥  
ताभो बद्धवसगा, तेणादिदुसंत्तराणि सेव्याणि ।  
कालवसेण य संजति, जायति झोगस्स जं तत्तं ॥  
तम्हा सव्वपयत्ते-ण रक्खियव्वा उ ताउ णियेवणं ॥  
ए वि सरती सोतव्वा, मा होज तासि तु विणासो य ।  
संवेगतिपरिणतो, तासं परियट्ठो अणुणुत्तो ॥  
हांति पुण अणरिहो सखु, परिकधी तु इमो तासि ।  
अहइस्सुए अगणिय-त्ये तरुणे य मंधभम्मि ॥  
.....पनीज्ञणहा, अविही दौणे य गहणे य ।  
बहुसुयणीतजइएणो, आत्तासगमादि जाव आयारो ।  
तेयमी य बहुसुय-तिरइसमाणा रतो तरुणे ॥

जो उज्जेगं न कुणति, चरणे सो होति मंधपम्भो तु ।  
अणुद्वियुवद्विवादी, सरीरकिरिआ य कंदपी ॥  
णिकारणे अणुदा, संजति वसही तु वच्चए जो तु ।  
णिकारणमविहीए, जो देती गिहइती वा वि ॥  
एयारिसे तु अज्जा-ण परिकधी तु ण कपप्ति ।  
कारुण्हिं इमंहि तु, गम्मत उ ज्ञाणवत्सयं ॥  
उवत्सए य गेसएहं, उवही संयपाहुणे ॥  
सेहइवणुपेसे, अणुनाजंइणे ठाणे ॥  
अणुपज्जअगलियाभो, वीयारे पुत्तसंगमे ।  
संज्ञेइएवोविणिये, बोसट्टाणिइए तेहिं ॥  
अरिहो उ णरिहो वा वी, परियट्ठी एवमाहिंभो । प०पा० ।  
इयाणि अणुपालापाकप्यो ( गहा ) ( परियट्टियव्वयं ) परि-  
वट्टित्त्वभो भाणियव्वो परियट्टिभो ताव आयरियउवज्जाभो  
साहुणं संजइणं आयरियउवज्जाभो पवत्तणीं परियट्टियव्वयं  
दुविहं साहु साहुणंभो जतीणं पुण एक्को दुविहो विहि-  
परियट्टिभो अविहपरियट्टिभो य तथ्यं संजइभो नियमा  
परियट्टियव्वोभो, कि कारणं बहुवत्तमां तारिस्से तेयाणि  
सुव्वेवाणि य तुसवाराण काज्ञवसेणं संपपं पक्खुा होगोपंतो  
जाभो, एयाभो जरदाहमि पुव्वपरिपाहियाभंते बुद्धं निवारिंति ।  
तम्हा नियमा परिपाहियव्वोभो साहु इदया केरिस्सो पुण परि-  
वट्टित्तो ( गहा ) ( अहइस्सुए अहइस्सुएण ) न कथए अगणियए  
ण वा गीयथो तां तरुणां मंधपम्भो वा नाणुणाभो यम्मसट्टि-  
भो वि जो कंदपसलीं सो वि णाणुणाभो अणुद्वए जाइ संज-  
इणं वसहिं आव्हिदायगो नाम निकारणे देह, गिहइह वा,  
परिस्सो न कथए गणधरो प्राड्जियाणं [ गहा ] [ उवत्सए ] अणु-  
ज्जाभो नाम जो इमाहं कारणां मोक्खण जां कां पुण ताहं  
कारणां उवत्सए य गेसएहं उवत्सभो संजयिणं संजयदि  
पडिलेहे तु दायव्वो तमुवत्सयं गणधरो दाउं उज्जेजा, निहोसो  
गिज्ञाणर अज्जाए श्रोसहो सउजपयज्जायं वा दाउं वव्वेज्जा  
उवत्तिसिउं वा, जइ वा अगिला जियाए गिज्ञाणियाए संजइए  
बोह निज्जुत्तिगमए ण उवत्सए वा चिन्मिदिहंरतोए वसंतो  
निहोसो कयहो उस्सभेण संजइणं गणधरो उवत्तमं पवत्तणी-  
ए दाउं पक्खेजा संयपाहुण क्लृणयराइआ गया इहिंमंतो वा  
पव्वभो रायसेयागरे अमच्छेडिगणनायगामाउरउरउभोममा  
इप तज्जाणनिमित्तं निज्जाएराइएववणुनिमित्तं विणिया वक्खेजा  
सेहइवणु वा वायुत्तो पव्वभो मोयपज्जायदि जिस्सुणायाहिं  
कहिंभो मा एयंसि महिइिये होउत्ति अमच्छाईण ममांतो  
कहिए ताहं आहवियेति दवदवत्सए ताहं इतट्टाणिय वेज्जाए  
पसावैत, अस्स इवेज्जाए गेवइइनियदि काकण संजइण पदिस्स-  
यमुयैति, ताहे तथ्य अमणुणसंघारोए कजियाइपरियाइपरि-  
सेयं काकण स्सहाभो भोसदेहं संति अइहाभो अइरिं करेति ।  
जहा संजइ पदिस्सगति खरकम्महा अगणयां मा वोहं करेणिव,  
पदिस्सहं करेति ; एवं नाइक्कमइ वरिहिसिउं वा गणधरो अंगसु-  
यसंउरुणपं बक्खेजा समुहिसिउं अणुजाणिये वा वि बक्खेजा  
वरं खुट्टियाइगोपेणं आयरियएण उद्विद्धंति काकण मंरुणे वा  
संजइण उपपण्येण गणधरो उवत्सामेउं बक्खेजा पवत्तणी वा  
काज्ञया तथ्य अणुत्सात्तणनिमित्तं, अणु वा पवत्तणीं उवेउं  
बक्खेज्जा अणुपज्जए वा सिस्सवत्तज्जायाए णाय पुज्जाणि-



मिर्षं शोसदं वा दादं वच्चेज्जा, अगणिकाय वा उद्धिभो संजरेषु उचस्सओ मा उज्झिहरे, उज्जे वा अन्न— उवस्सय्यं कादं वच्चेज्जा, आउक्काय वा नरैरुपरि उद्धिपुं जयणं उवकरणं संजरेओ वा मा उउक्केज्जा, आउक्कायण बालमाय वस्सिदं सञ्जेदं अन्नं वा दादं वच्चेज्जा, विचारभूमि वा पण- मन्ना उद्धा वा संजरेदं अन्नं वा दादं वच्चेज्जा, सुतो भाया वा अज्जाय पव्वहओ, सो य अणुदेसं गणुण पुव्वगए कालि- याणुओगे व निम्माओ आनाओ तं गणधरो घेत्तं वच्चेज्जा, सं- जेहं वा करेठकामो तथेव एसं दादं संझाडाय वा बोसिरणे पोसटाए वा अणुसोह्मि दादं वच्चेज्जा, पसा विहं, तन्विष- रीया वविहं । १० ५० ।

अणुपा ( वा ) लयाणुक्क-अनुपालनाणुक्क-न० । प्रत्यावथा- ननेदे, आव० ।

कंतारे दुब्बिनक्वे, आयंके वा महइ समुप्ये ।  
जे पालिअं न जग्गं, तं जाणुअणुपालाणुक्कं ॥ ३१ ॥  
कान्तारे अरतये, दुब्बिसे कावविअमं, आत्ते महति समुप्ये सति यपासितं न अमं तज्जानोअणुपालनाणुक्कमिति । " पथ उमामहोसा सोलंन, उण्णायणए वि दोसा सोल्लस, एसणाए दोसा इस्स, एए सव्वे बायालीसं दोसा निच्चपमिस्सिद्धा; एए कंनारदुब्बिक्काइस्सु न अंजजंति " इति गाथायैः ॥३२॥ आव० ६ अ० । स्था० । आ० ५० ।

अणुपासिता-अनुपात्य-अप्य० । यथा पूर्वेः पालितं तथा पश्चात्परिपाल्येत्यर्थे, कल्प० ।

अणुपालिय-अनुपालित-वि० । आत्मसंयमानुकूलतया पा- लिते, स्था० ८ ग० । दशा० ।

अणुपासमाण-अनुपश्यत्-वि० । भूयः पश्यति, " किं मे परो पासहं किं च अप्पा, किं वा हू अलियं न विचउजयामि । इच्चेव सम्मं अणुपासमाणा, अणुपाणयं नो पदिअं व उज्जा " वश० ३ अ० ।

अणुपिट्ठ-अनुपुट्ठ-न० । आनुपूर्व्याव, 'अणुपिठ्ठिकारं' सम० ।

अणुपुन्द-अनुपूर्व-न० । कामं, आशा० १ ५० ६ अ० ३ उ० । स्था० ।

अनुपूर्व्ये-न० । मूलादिपरिपाठ्याम्, औ० । "अणुपुव्वसुजा- यीहलंशुओ" अनुपूर्व्येण परिपाठ्या सुट्टु ज्ञात उतपो यः सोऽनुपूर्व्यज्ञातः । एवञ्चानुपूर्व्येण कालकामजातो हि बलकपा- दिगुणयुक्तो भवति, स चासौ दीघेष्वाङ्गूतो दीघेपुच्छेति स तथा, अनुपूर्व्येण वा स्थूलसूदमसूदमतरलकण्ठेन सुजातं दीघेष्वा- ङ्गूतं वस्य स तथा । "अणुपूर्व्येणपिगलक्को, अणुपुव्वसुजाय- यीहलंशुओ" स्था० ४ उ० ४ उ० । "अणुपुव्वसुजायरुहलव- ह्मावपरिणया" आनुपूर्व्या मूलादिपरिपाठ्या सुट्टु जानाः आ- नुपूर्वीसुजाताः, क्वचिरः स्निग्धतया देदीप्यमानाच्चविमन्तः, तथा हृत्तनावपरिणुताः । किमुक्कं भवति-एवं नाम सर्वो- सु दिणु च शाकाभिन्नं प्रवृत्ता यथा वतुत्ताः संजाता इति । आनुपूर्वीसुजाताश्च ते क्वचिराश्च आनुपूर्वीसुजातक्वचिराः हृत्त- नावपरिणुताः । १० । आ० । जी० । "अणुपुव्वसुजायवप- गम्भोरसीयलजलाओ" आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचस्तरं भाव- कपेय सुट्टु अतिशयेन यो जातश्चमः केदारं, जलस्थानं तत्र गम्भोरसलम्भतलं शीलतं जलं यासु ताः आनुपूर्व्यसुजात- वप्रगमभीरशीतलजलाः । १० । आ० । जी० । "अणुपुव्वसु-

संहयंगुलोए" आनुपूर्व्येण क्रमेण वर्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते । औ० जी० । पूर्वेत्या अणु, लघव इति गम्यते, अनुपूर्वाः । किमुक्कं भवति-पूर्वेस्था उत्तरोत्तरा नन्नं नखेन हीनाः, " गह शरेश हीणउ " इति सामुद्रिकशास्त्रम्वचनते । अथवा-अनुपूर्व्येण परिपाठ्या वर्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते, सुसंहता क्वचिरला अणुत्थः पादाप्रापयवा येषां ते तथा । आनुपूर्व्येति शिष्यशास्त्रादाहुलाप्रमहं, तासांमव नन्नं, नखेन हानित्वाव । जी० २ वत्त० ।

अणुपुव्वसो-अनुपूर्वशस्-अप्य० । अनुक्रमेणेत्यर्थे, आशा० १ ५० ६ अ० ३ उ० ।

अणुप्यय-अनुपतित-वि० । उद्दिने, " आगामेऽणुप्ययओ ललियच्चलकुडलतिरीही " उच० ६ अ० ।

अणुप्यय-अणु ( णु ) प्रग्रन्थ-पुं० । अनुरूपतयौचित्येन विरतेः नत्युपयोगव्याह, अणुपरिपाठ्या सूत्रोऽप्यन्वोऽपि प्रमाने प्रमथो घनादियस्य यस्माद् वाऽसावनुग्रमग्रन्थः । अणुपूर्व्यन्तर्भू- तत्वाद्युग्रमग्रन्थो वा । परिग्रहविरते, स्था० ६ उ० । अणुप्यय-अनुपुव्व-वि० । वर्धमानसमयेऽपि घमाने, नि० ५० ५ उ० । अलब्धे, ग० १ अधि० । ( ' नमोकार ' शब्दे तदुत्पन्नानुपपन्नव द्योयिष्यते )

अणुप्यदां-अनुयदातुम्-अप्य० । पुनःपुनर्दातुमिन्त्यर्थे, प्र- ति० । उपा० ।

अणुप्यदा ( या ) ण-अनुपदान-न० । पुनःपुनर्दाने, आव० ६ अ० । आचा० । परम्परकेण प्रदाने, व्य० २ उ० । गृह- स्थानां परतीर्थिकानां स्वयूच्यानां वा संयमोपघातके दाने, जेणुहं गिज्जेहं भिअस्सु, अणुपाणां नट्टाविहं ।

अणुप्यपाणमोसं, तं विज्जं परिपाणिया ॥ आचा० ? श्रु० ए अ० ।

( ' धम्म ' शब्दे अस्या व्याख्या )

अणुपपनु-अनुप्रभु-पुं० । युवराजे, सेनापत्यादौ च । नि० ५० २ उ० ।

अणुपपाएत्ता-अनुप्रवाचयितु-वि० । पाठयितरि, ग० १ अधि० । स्था० । "आययिअवउभाए गणांसि सम्मं अणुप्य- वायसा जग्गह" नृनीयं संग्रहस्थानम् । ग० १ अधि० ।

अणुपपाएमाण-अनुप्रवाचयत्-वि० । वर्णानुपूर्वाक्रमेण पठ- ति, जं० ३ वत्त० ।

अणुप्यवाय-अनुप्रवाद-पुं० । अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन निदिप्रकरणं प्रवदतीति । न० । नवप्रवृत्ते, स्था० १ ग० । विज्ञे० । आ० म० डि० । 'विद्याऽनुप्रवादम्' इत्यपरं नाम । म० । अपुण्यवसय-अनुप्रवेशन-न० । मनसि लथाऽऽस्वदीभवने, उच० ३ अ० ।

अणुप्यवेमेका-अनुप्रवेश-अप्य० । "अन्नयरंति अन्नंति सौवगंसि अणुप्यवेमेका" नि० ५० १ उ० ।

अणुप्यसूय-अनुप्रसूय-वि० । जानं, आशा० १ ५० ६ अ० ३ उ० ।

अणुप्याइ ( णु )-अनुपातिन-पुं० । अनुपतीतित्युपाती । अट्मणे युत्पमाने, नि० ५० १ उ० ।

अणुपिप्य-अनुमिय-त्रि० । मियानुकृते, " अन्नस्स पायस्सि-  
हलोह्यस्स, अणुपिप्ये भासति सेवमाणे" अनुमियं ज्ञाप्ते  
यद्यस्य त्रियं तत्स्य वदन्तेऽनु पक्खाद् भावते अनुज्ञाप्ते ।  
सुत्र० १०७ अ० ।

अणुपुष्टा-अनुप्रेक्षा-खि० । अनुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा । चिन्तनि-  
कायाम्, स्था० ५ त्रि० ३ इ० । अर्थचिन्तने, ध० ३ अर्थि० ।  
प्रस्थापानुचिन्तने, ग० २ अर्थि० । 'सुभानचिन्तनिकायाम्'  
उत्त० २ अ० । द्वा० । अनुप्रेक्षा स्वाध्यायविशेषः । स तु  
मनसस्तत्रैव नियोजनाद् ज्ञायति । उत्त० २ए अ० । प्रथ० ।  
अवधानं, प्रति० । तद् विधिरसी- " ज्ञिणवत्प्रययणपायद-  
णयउण मुकथयणभो सुणिययुववे । एगममणो धणिये, विसे  
चित्तेइ सुयवियारे" ११॥ ध० २० ।  
एतस्याः फलम्-

अणुपुष्टाएणं भंते ! जीवे किं ज्ञायइ ? अणुपुष्टाएणं  
अनुप्रेक्षाओ सच्च कम्मपयइओ धणियेवंपणवक्खा-  
ओ सिद्धिबंधणवक्खाओ पकरेइ, दीहकालद्धियाओ  
हस्सकालद्धियाओ पकरेइ, तिक्वाणुभावाओ मंदाणुजा-  
वाओ पकरेइ बहुपएसमाओ अपपएसमाओ पकरेइ, आ-  
उं कम्मं सियवपइ, मियनो वंधइ, अमायावेयणिज्जं च  
णं कम्मं नो भुज्जेओ तुज्जाओ उवाचियाइ, अणुपुष्टाएणं च णं अण-  
वदमं दीहमक्खं चाउरंतंसारकंतरं सियमेवे वीदिवपइ ॥  
हे जदन्त ! स्वामिन् ! अनुप्रेक्षया सूत्रार्थचिन्तनिकाया, जीवः  
किं ज्ञयति ? । शुद्धाह-हे दिशण ! अनुप्रेक्षया कृत्वा जीवः  
सप्त कर्मप्रकृतौ ज्ञानावरणदर्शनावरणवैदनीयमोहानियमनागोत्रा-  
न्यायपरिणामो सत्तायां कर्मणां प्रकृतयः एककालचतुष्पञ्चाशत्प्र-  
माणाः सप्तकर्मप्रकृतयस्ताः सप्तकर्मप्रकृतौ धैषणियधनपञ्जाः  
मादकचयनबद्धाः, निष्काचितबद्धाः, शिथिलबधनबद्धाः प्रकरोति ।  
यतो हि अनुप्रेक्षा स्वाध्यायविशेषः, स तु मनसस्तत्रैव नियोज-  
नाद्भवति, स आनुप्रेक्षा । स्वाध्यायो हि आरधयन्तं तपः, तप-  
स्तु निष्काचितकर्माणि शिथिलीकर्तुं समर्थं प्रवर्त्येव । कथंभूनाः  
सप्त कर्मप्रकृतौः, आयुर्वैजाः, प्रकृष्टभावहेतुत्वेन आयुर्वैज्यनिय-  
त्यायुर्वैजाः । पुनर्हे शिष्य ! अनुप्रेक्षया कृत्वा, जीवस्तापव कर्मप्र-  
कृतौ दीर्घकालस्थितिकाः शुभाध्यवसाययोगाद् स्थितिस्साद्ग-  
नामपद्वारेण ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति । प्रसुरकालयोग्यानि  
कर्माणि स्वल्पकालभोग्यानि करोतीत्यर्थः । पुनस्तीमानुभावाः  
कर्मप्रकृतौ मन्दानुभावाः प्रकरोति, तीमाः प्रकरोऽनुभावा रसा  
यासां तास्तीमानुभावाः, ईदृशीः कर्मप्रकृतौ मन्दां निर्बंधेऽनुजा-  
वां यासां ता मन्दानुभावाः प्रकरोति, तादृशीः प्रकपेण विद्वधा-  
ति, पुनर्बंधप्रदेशात्प्र अल्पप्रदेशात्प्रः प्रकरोति । बहुप्रदेशाप्रं कर्म  
पुनर्बंधप्रमाणं यासां ताः बहुप्रदेशात्प्रः, एतादृशीः कर्मप्रकृतौ  
रल्पप्रदेशात्प्रः प्रकरोति । इत्यनेन अनुप्रेक्षयाऽष्टमभ्यनुविधाऽपि  
बन्धः-प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभावाबन्धः प्रदेशबन्धः अज्ञाने-  
न परिणमतीत्यर्थः । अत्र च आयुर्वैज्यमित्युक्तम् । तत्प-एकस्मिन्  
भवे सकृदेव अन्तर्मुहूर्त्तकोशे एव आयुर्जीवो भज्नाति । च पुनः  
आयुःकर्मोऽपि स्याद् भज्नाति, स्याद्भज्नाति, संसारमध्ये ति-  
ष्ठति चेत्तर्हि अष्टमभ्यायुर्न भज्नाति । जीवेन नृनोऽयमागादिशुधा-  
युक्तेन आयुःकर्म बध्पते, अन्धत्वा न बध्पते । तेन आयुःकर्मबन्धे  
निश्चयो नाकः, इत्यनेन मुक्तिं प्राप्नोति तदा आयुर्न अष्टतीत्युक्तम् ।

पुनरनुप्रेक्षया कृत्वा जीवोऽस्तावेदनीयं कम्मं शारीरादिदुःख-  
हेतु च कम्मं । अथाध्याद्व्याख्याऽऽनुप्रेक्षकृतौ नो भूयो नृप कपिचि-  
नोति । अत्र भूयोजनोपग्रहणेन एवं हेतव्य-कश्चित्पतिः प्रमा-  
स्थानिके प्रमाद् भजेत् तदा भज्नात्पिप्य इति हादयं । पुनरनुप्रेक्ष-  
या कृत्वा जीवश्चातुरन्तसंसारकान्तरं क्षिप्रमेव ( वीदिवपइ  
इति) व्यतिमज्जाति । कत्वाऽऽनुप्रेक्षकृत्या भज्नात् प्रययथा यस्य  
तत् आतुरन्तं, तदेव संसारकान्तरं संसारारण्यं, तत् शीघ्र-  
मुल्लङ्घयति । कीदृशं संसारारण्यम् ? अनादिकम्-आदिरभावा-  
द् आदिरहितम् । पुनः कीदृशं संसारकान्तरम् ? अनवद्यप्रम-  
नागच्छत् अत्रं परिमाणं यस्य तद् अनवद्यम्, अनन्तमि-  
त्यर्थः । प्रवाहापेक्षया अनाद्यनन्तम् । पुनः कीदृशम् ? दीर्घा-  
ध्वं दीर्घकालं, 'दीर्घकम्' इत्यत्र अकारो लाक्षणिकः, प्राकृ-  
त्यात् ॥ उत्त० २ए अ० । तत्रानुप्रेक्षा चिन्तनिका, तथा  
प्रकृष्टशुभभावोत्पत्तिनिबन्धनतया आयुष्कवजाः सप्त कर्मप्र-  
कृतौ, (धणियं तिलं) वादं बन्धनं श्लेषणं, तेन बद्धाः, निष्काचिता  
इत्यर्थः शिथिलबधनबद्धाः प्रकरोति । कोऽर्थः ? अपवसं-  
नादिकरणयोग्याः प्रकरोति, तपोरूपत्वाद्द्वयाः तपसश्च निष्का-  
चितकर्मकृपेणऽपि कृतव्यात् । उक्तं हि-" तवसा उ निष्काइ-  
याणं व त्ति" दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरो-  
ति, शुभाध्यवसायवशात् । स्थितिस्साद्गनामपद्वारेणेत्येति भावः ए-  
तन्मैत्र्यं, सर्वकर्मणांमपि स्थितेरष्टमत्वात् । यत् उक्तम्-" स-  
व्वासि पि डेतीथो, सुभासुभाणं पि होति अस्सुभाओ । माणुस-  
तेरिच्छदेया-उयं च मोणुण ससामो" ११॥ तीमानुभावाऽऽनुप-  
स्थितिकारसत्वेन, मन्दानुभावास्थित्यानिष्कारसत्वाद्युपादानेन  
प्रकरोति । इह चाष्टमभ्यनुप्रेक्षया पय शुभान्ते । शुभभावस्य  
शुभासु तीमानुभावहेतुत्वात् । उक्तं हि-"सुभयदणं विसेओ-  
दियेत् तिक्वमसुभाणं संकिञ्जेसं ति" अत्र हि-"विसेदिपति" शु-  
प्रजावेन तीमिस्यनुप्रेक्षणं भज्नातीति प्रकम् । कश्चित्दिग्मपि ह-  
इयते-"बहुपएसमाओ पकरेति" ननु कर्माभिप्रायेणस्युष्णकवजाः  
सत्तन्व्यभिधानम्, अणुपुष्क एव संयतस्य संभवात्सदैव आनुप-  
क्षा ताविकी । न च अणुप्रमाणेन अष्टमप्रकृतौ शिथिलतादिकरणं,  
संक्षेपहेतुकत्वात् । अह-शुत्रायुर्वैजाऽप्यस्याः किंन फ-  
लमुक्तम् । उच्यते-आयुष्कं च कर्म स्याद्भज्नाति, स्यात्प्र बध्नाति ।  
तस्य विभागादिशेषायुष्कतायामेव बध्पसंज्ञवान् । उक्तं हि-  
"सिय तिमागतित्त्राणं" इत्यादि । ततस्तस्य कादाचित्कत्वेन  
धिवक्त्रित्वात् । तद्वन्न कस्यचित् शुक्तिः प्राप्तेः तद्बध्पाननिधान-  
मिति भावः । अपरं आश्रितावेदनीयं शारीरादिदुःखहेतु कर्म ।  
अशब्दाद्व्याख्याऽऽनुप्रेक्षकृतौ नैव नृयो नृप उपविनोति । भूयो-  
भूयोऽग्रहणं त्वन्यतमप्रमादत्तः, प्रमत्तस्ययतुष्णस्थानवसित्तायां  
तद्बध्पस्याऽपि उपविनोति । अन्ये त्वेवं पठन्ति-" सायवियणि-  
उजं च णं कम्मं भुज्जाओ भुज्जाओ उवाचिणोति" इह च अष्टमप्रकृ-  
तिसमुच्चयार्थेऽशब्दः, शेषं स्वपरम् । अनादिकर्मोद्वैरसंभ-  
वात् । चः समुच्चयार्थो योच्यते । (अणुवदमं सत्) अन-  
वद्यकृद्बध्पं परिमाणं यस्य सदाऽऽविधानानन्तरपरिमा-  
त्वेन साध्यमवद्यप्रमाणेन इत्यर्थः । तम् । प्रवाहापेक्षं चैतन् ।  
अत एव (दीर्घकम्) त्रकारो लाक्षणिकः । दीर्घाध्वं दीर्घं  
कालं, दीर्घां वाऽऽऽया तत्परिभ्रमणेन तत्कर्मकृपा मार्गो यस्मिन्स-  
त्तथा । अत्राचः आनुप्रेक्षकृत्या भज्नात् अत्रयथावर्तिसंभव-  
नुरन्तम्, संसारकान्तरं क्षिप्रमेव ( वीदिवपइ इति) व्यतिमज्जाति,

अशुभेष्टा

विशेषशान्तिनामनि । किमुक्तं भवति-मुक्तिप्रदायामिति । उक्तं २६ अ० । अशु पश्चात्, प्रेक्षकप्रत्ययान् । धर्मध्यानादिः पश्चात्प्रत्ययान्-लोचने, अ० २६ श्लो० ८ उ० । अशु० । अशु० । उक्तं । “ धर्मस्तस्य सं भागस्तस्य चकारि अशुभेष्टाश्च ” इत्यादि धर्मध्यानादिशब्देभ्यश्च इत्ययम् । अशुभेष्टानां मुमुक्षुभूयन्मरणं च । “ अशुभेष्टाएव बहुमासीएव जामि काउस्तस्मिन् ” अ० २ अशु० । अशु० । नत्वायानुचिन्त्यायाम्, ल० ।

अशुभेष्टायन्-अनुभेष्टित्यन्-त्रि० । अन्वयान्वातविधना परिभाषनीयं, पं० ए० १ सू० ।

अशुभान्-अनुभेष्टी-पुं० । अनुभावे, “ लोहस्त्वेषशुफाकसो, मन्वे अचययामवि ” इश० ६ अ० ।

अशुभैष-अनुभेष्ट-पुं० । सातत्यं, स्था० ६ टा० । अनुभ-धः संतानः प्रवाहोऽपिचक्रेद् इत्यनर्थान्तरम् । यो० १ विय० । अन्वयविशेषानुसङ्गपरम्परया देवमनुज्जन्मसु कल्याणपरम्परारूपं सन्तानं, यो० १३ वि०० । तत्परिणामाविचक्रेद्दन्तः प्रकरोयापितायाम्, पञ्चा० १६ वि०० ।

अशुभेष्टउक्त-अनुभेष्टउक्त-न० । प्रयोजनादिकरिसंबन्धान्मिथेयवस्तुषुच्ये, तच्च अन्वादावभिधानव्ययम् । अशु० १ अ० । अत्र कश्चिदाह-नर्वाधिगतशास्त्रार्थानां स्वयमेव प्रयोजनादिकरिषां नर्वाधिगतानि निरर्थकं पर शास्त्रार्थप्रयोजनाद्युपन्यास इति चेद् । न । अन्वयगतशास्त्रार्थानां प्रवृत्तिहेतुतया सफलत्वान् । अथ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिनिश्चयपूर्विका भवन्ति । न च प्रयोजनाद्युक्तैः अपि अन्वयगतशास्त्रार्थानां तन्निश्चयोपर्यन्तः, वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्याभावान् । न च संशयतः प्रवृत्तिपरपश्चात्, प्रेक्षावतां क्षान्तप्रसङ्गान्, ततः कथं सार्थकता अचिकृतप्रथेऽज्ञानाद्युपन्यासस्य ? तदेतदपरिनिर्वादिनपरिचितम् । वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्याभावान्, अन्यथा सकलव्यवहारांश्चक्रेत्प्रत्येकः । विवृतिभेदं च्वात् प्रपञ्चते । धर्मसङ्ग्रहणीटीकादाविति ततः परिभाषनीयम् । अथ यदि वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्यं तर्हीत एव सत्यमभिधेयादिरिषिज्ञानभावादिभिरर्थिका शान्तिं प्रेक्षावतां प्रवृत्तः, फलाभावात् । प्रवृत्तौ हि फलमभिधेयादिरिषिज्ञानं, तच्चावचिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासत एव सिद्धमिति । तदेतद्बालशिशुवृत्तिभेदतः अचिकृतं हि प्रयोजनाद्युपन्यासेन प्रयोजनादीनामधिगतिसंश्लेषः । सामान्येन नाशेषविशेषपरिज्ञानवृत्तिसरः, अचिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य सामान्येन प्रवृत्तत्वात् । सामान्येतिष्ठ हि वचः सामान्यं प्रतिपादयति, विशेषाद्युक्तं विशेषम् । अतो वचनप्रामाण्यदादिचिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासवाक्यतः सामान्येन प्रयोजनिकेऽधिगतं कथं तु तामास्माकमविशेषं सामान्यिकादिपरिज्ञानं स्यादिति विशेषपरिज्ञानाय भवति प्रेक्षावतां शान्तिं प्रवृत्तिः । अन्वयश्च यदि वचनस्य न प्रामाण्यमनुपगम्यते तथापि न काश्चिद्विचिकृतार्थेऽस्ति । अ० म० प्र० ।

अशुभेष्टच्छेप्रा-अनुभेष्टच्छेदना-दि-पुं० । अनुभन्-तिनन्तिनि अनुभन्च्छेदनः, तदादिः । निरनुभन्धनाऽऽपादनादीं कर्मकृत्परिणायं, “विज्ञानं कर्ममाणं, विज्ञानं विद्ये होह स्ववृत्ताभो वि । अशुभन्च्छेप्रायाई, सोऽं वणं नि पायवे,” ॥१॥ पञ्चा० १८ वि०० ।

अशुभेष्टभाव-अनुभेष्टभाव-पुं० । अनुभावस्य सत्तायाम्, पञ्चा० ५ वि०० ।

अशुभेष्टजावविहि-अनुभन्धजावविधि-पुं० । प्रत्याख्यातपरिणामाविचक्रेद्भावस्य विधाने, पञ्चा० ४ वि०० ।

अशुभेष्टवच्छेद-अनुभन्धवच्छेद-पुं० । अन्वयतराम्भकाणामितरेषां च क्रमणां बन्धभावकारणं, शा० १८ टा० ।

अशुभेष्टमुक्तिजाव-अनुभन्धमुक्तिद्विधाव-पुं० । सातत्येन कर्मकृत्यापशमनात्मनां निमित्तत्वसदृशत्वात्, पञ्चा० ८ वि०० ।

अशुभेष्टावशयण-अनुभन्धापनयन-न० । अशुभजावज्ञानकर्मानुभन्धवच्छेदे, पञ्चा० १५ वि०० ।

अशुभन्धिर्भ-देशी-दिकार्यायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अशुभेष्टि ( न )-अनुभन्धिन्-त्रि० । अनु-बन्ध-गिति । हेतौ, अ० २ अशु० । प्रकटाटकादीनां सान्त्वयविशिष्टे अननुबन्धिदोपरहितं प्रतिनेत्वनं, स्था० ६ टा० ।

अशुभेष्ट-अनुभेष्ट-त्रि० । सदानुगतं, जी० ३ प्रति० । अ० म० । शूरीते, नि० चू० १ उ० । निरन्तरमुपचिते, जी० ३ प्रति० । सतते, प्रश्न० १ सशब्दं शा० । स्थान् । अव्यवच्छिन्नं, प्रश्न० १ आश्र० शा० । प्रतिबंधं, शा० २ अ० । श्यामं, शा० २ अ० । पूर्वोपाहितेऽप्यव्यवच्छेदं, उ०० ४ अ० ।

अशुभेष्टशुद्ध-अनुभेष्ट-सु-वृत्तौ-न० । सततशुद्धतायाम्, “ अशुभेष्टशुद्धापरकस्य । तगततहव्ययणाद्युभृष्टव्यविवरणमुद्दिविचरविया ” प्रश्न० ३ आश्र० शा० ।

अशुभेष्टनिरन्तर-अनुभेष्टनिरन्तर-त्रि० । अत्यन्तनिरन्तरे, “अशुभेष्टनिरन्तरेणाम्” अनुवृत्तनिरन्तरेः अत्यन्तनिरन्तरवेदना येपुं नि तथा । प्रश्न० ३ आश्र० शा० ।

अशुभेष्टनिश्चये-अनुभेष्टनिश्चये-त्रि० । अत्यन्तनिश्चयेः कर्तव्यभावे, “ अशुभेष्टनिश्चयेरा, परंपरं येयण उद्गरेति ” प्रश्न० ३ आश्र० शा० ।

अशुभेष्टधर्मकृत्-अनुभेष्टधर्मकृत्-त्रि० । अनुबन्धं सततं धर्मध्यानमाहाविनयादिकृतं येषां तदनुभेष्टधर्मध्यानाः । सततप्रवृत्तधर्मध्याने, प्रश्न० १ सशब्दं शा० ।

अशुभेष्टसंप्रप-अनुभेष्टसंप्रप-त्रि० । अनुबन्धः सततसत्यवच्छिन्ना रोम्यत्वात् प्रसंगे विस्तारो यस्य सोऽनुबन्धसंप्रपसरः । निरन्तरकृते, ग० ८ अशु० ।

अशुभेष्टविगह-अनुभेष्टविगह-त्रि० । सदा कलहशालं, पं० ए० ३ श्लो० ।

निश्चं विगहशीलौ, काठज य नाशुतप्ये पञ्चा । न य खामिदं पसीये, सपकपरपकयशो वा वि ॥

नियं सततं विगहशालः कलहकरणमन्ततः, कृत्वा च कलहं नाशुतप्ये पश्चात् । यथाह-किं कृते अशु वापरेति । तथा क्षमितोऽपि, क्षम्यतां ममायमपराधं इति भाषणोऽपि स्वपक्षपरपक्षयार्थं, न च नैव, प्रसीदति प्रसन्नतां नृजति, तौत्रकयाया-व्यव्यान् । अत्र च स्वपक्षे माशुत्वात्वीच्योः, परपक्षे गृहस्थवर्गः । एषोऽनुभेष्टविगह उच्यते । इति ॥

अशुभेष्टान्तर-अनुभेष्टान्तर-पुं० । सदा वैरान्धराणामादेशप्रती-

ककनयाऽनुयायिनां वेद्वन्धरा अनुबेलंधराः । स्वनामख्या-  
तेषु नागराजेषु, जी० ३ प्रति० ।

तद्वेदेना, तदावासपर्वनाम्न यथा—

कदि एं नंते ! अणुबेलंधरणागरायाणो पस्यता ? । गो-  
यमा ! चत्तारि अणुबेलंधरणागरायाणो पस्यता । तं जहा-  
ककोटप, कदमप, कदलासे, अरुणपत्रे । एतेसि एं भंते !  
चउएणं अणुबेलंधरणागराएणं कति आवासपवचया प-  
एणता ? । गोयमा ! चत्तारि आवासपवचया पएणता । तं  
जहा—ककोटप, कदमप, कदलासे, अरुणपत्रे । कदि एं भंते !  
ककोटमगस अणुबेलंधरणागराएणं ककोटपएणं आवासप-  
वचने पस्यते ? । गोयमा ! जंहुद्वि देवि भंदरस्स पवचयस्स  
उत्तरपुरचिउमणं लवणसमुदं बायालीसे जोयणसयाई उ-  
ग्गाट्टिका एयं पं ककोटयस्स एणागरायास्स ककोटप पाप  
आवासं पएणत्ते, सत्तरसएकवीसाई जोयणसयाई, तं चेव  
पमाणं गोधृजस्स, णवरिं सत्तरयएणप अच्छे जाव निर-  
वनेमं जाव मीहाणमं सपरिवारं अट्ठे म वहुं उण्णत्ताई  
ककोटमगपमाई, सेमं तं चेव, णवरिं ककोटमगपवचनस्स  
उत्तरपुरचिउमणं, एवं चेव सव्वं कदमगस्स वि सो चेव ग-  
मओ अणुपरिमंथिआं, णवरिं दाहिणपूरचिउमणं आवासं  
विज्जुजिउभावी रायहाणी, दाहिणपूरचिउमणं कति जा  
सें वि एवं चेव, णवरिं दाहिणपूरचिउमणं कदलामा वि  
रायहाणी, ताए चेव दिमाए अरुणपत्रे वि उत्तरपुरचिउ-  
मणं गयट्टाणीं वि, ताए चेव दिमाए चत्तारि वि एणपमा-  
णा सत्तरयएणांमया य ।

( कदि शमित्यादि ) कति भदन्त ! अणुबेलंधरराजा प्रह्लाताः ? ।  
भगवानाह—गौतम ! अश्वारोऽनुबेलंधरराजाः प्रह्लाताः । तद्यथा-  
ककोटकः, कदमकः, कैलासः अरुणप्रमथः ( एणसि णमित्यादि )  
एतेषां भदन्त ! अणुबेलंधरराजाणां कति आवासपर्वना-  
नाः प्रह्लाताः ? । भगवानाह—गौतम ! एकैकस्य एकैकमायन च-  
त्वारोऽनुबेलंधरराजाणामावासपर्वनाः प्रह्लाताः । तद्यथा—कको-  
टकः, विधुरप्रमथः, कैलासः, अरुणप्रमथः । ककोटकस्य कको-  
टकः, कदमस्य विधुरप्रमथः, कैलासस्य कैलासः, अरुणप्रमथस्य अ-  
रुणप्रमथ इत्यर्थः । ' कदि एं भंते ! ' इत्यादि प्रश्नस्य सुगमम् ।  
भगवानाह—गौतम ! जम्बूद्वीपे ऽपि मन्दरस्य पर्वतस्थोत्तरपु-  
र्वस्यां दिशि ज्वणसमुदं द्वाचरवारिशांतं योजनसहस्रायवगाहा,  
अथ पूर्वदिशिभयकाशं ककोटकस्य तुजोनाकस्य तुजोगजस्य क-  
कोटको नाम आवासपर्वनः प्रह्लातः । ( सत्तरसएकवीसाई जोयण-  
सयाई ) इत्यादिका गाम्भृपस्यावासपर्वतस्य वा वक्तव्येने-  
का, सर्वेहापि अहोनातिरिक्ता जगित्तथा । नवरं सर्वरत्नमय इति  
वक्तव्यं नामानिमलकिन्तायामपि, यस्माच्च नृद्वान् शुल्लिकानु  
वापीनु, यावद् विलपङ्क्तिषु, बहूनि उप्यलानि च यत्नं शतसहस्राप-  
त्राणि ककोटप्रसाणि ककोटकाकाराणि मनस्वानि ककोटका-  
मनि इयच्छिन्त्यन्ते । तद्योगायुर्वेतोऽपि ककोटकः । तथा कको-  
टकनामः । द्वैस्तरप तयोपमस्थितिकः परिवसति । नतः ककोट-  
कश्चासिवात् । ककोटकः राज्ञोऽप्यपि । ककोटकस्यावासपर्वन-

स्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंस्थेयान् द्वीपसमुद्धान् ध्याति-  
मश्यावासिनं ज्वणसमुदं द्वादशयोजनसहस्रायवगाहा कको-  
टकमिथाना राजधानी, विजया राजधानीव प्रतिपस्यता । एवं  
कदमकैलामारुणप्रमथकव्यताऽपि भावनीया, सवरं जम्बूद्वीप  
द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुदं दक्षिणपूर्वस्यां कदमकः,  
दक्षिणपूर्वस्यां कैलाशः, अष्टोत्तरस्यामरुणप्रमथः । नामनिम-  
लचित्वायामपि यस्मान् कदमक आवासपर्वते उत्पन्नानि क-  
दमप्रजाणि ततः कदमकः । भावना प्रागिव । अयस्वकदमके धि-  
सृष्टप्रज्ञो नाम देवः पठ्योपमस्थितिकः परिवसति, स च स्व-  
जावाद् यज्ञकदममियः । यज्ञकदमो नाम कुहुमागुरुकर्पूरक-  
स्तुरिकाचन्दनमलापकः । उक्तं च— ' कुहुमागुरुकर्पूरकस्तुरी-  
चन्दनानि च । महासुगन्धमित्युक्तं-तामको यज्ञकदमः ' ॥ १ ॥  
ततः प्राच्युत्थेय यज्ञकदमसंज्ञवाद्द्वीपे पुष्यपदोपे सत्यनामनिवर्ष-  
कदम इत्युच्यते । कैलाशो कैलाशप्रमाणो उत्पलाराजि, कै-  
लाशनामा च तत्र देवः पठ्योपमस्थितिकः परिवसति, ततः कै-  
लाशः । एषमरुणप्रमथेऽपि वक्तव्यम् । कदमका राजधानी कद-  
मकस्याऽऽवासपर्वतस्य दक्षिणपूर्वस्यां कैलाशा, कैलाशस्यावा-  
सपर्वतस्य दक्षिणाऽऽवस्था अरुणप्रमा, अरुणप्रमथस्यावासपर्व-  
तस्यापरोक्षस्यां तिर्यगसंस्थेयान् द्वीपसमुद्धान् ध्यातिमश्यान्ध-  
रिम्न लवणसमुदं विजया राजधानीव वक्तव्या । जी० ३ प्रति० ।  
अणुबेलंधर—अनुदुत्त—त्रि० । अनुरवण, जी० ३ प्रति० । अमि-  
मानग्दिने, उक्तं २ अ० ।

अणुबेलंधरस्य कुरिखि—अनुदुत्तप्रशांतकुञ्जि—त्रि० । अनुदु-  
त्तऽनुत्तवणः प्रशांतः प्रशांतलक्षणः पानः कुञ्जियांतां ताः  
अनुदुत्तप्रशांतपानिकुञ्जयः । जी० ३ प्रति० ।

अणुबेलंधरेषु—अनुदुत्तरेषु—पु० । धिज्जनाचिन्तितपथ्यधजिनें  
स च तृतीयश्रावकगुणविशिष्ट इति ।  
संयत्नमुद्रवेष इति तृतीय जेदं प्रविक्तविषयगोष्ठापूर्वा-  
रुमाह—

सहृदु पसंनो धम्मी, उच्यमनेमो न सुदुरो तस्म ।

( सहृदु इति ) राजते शोभते, प्रशान्तः प्रशान्तवेधो, धर्मो धर्म-  
वान् धार्मिको, प्रायश्चावक इत्यर्थः । अतः कारणदुष्टद्वेषः पि-  
रुजनाचिन्तितपथः । " लक्ष्मस्य प परिहाण, गमस्य च श्रेण न-  
हियया गाहा । सिरवेदो दमणेण, वेसंमो सिसिमाण । १ ॥  
तिहिण्णेण भग्गेदोसं, उग्गामो नाहिमेरुलं तहय । पासाय अरु-  
पिहिया, कंखुयोम एस्स वेसाणं " ॥२॥ इत्यादिरूपो न सुदुरो  
नैव शोभाकारो तस्य धार्मिकस्य । स हि तेन सुतरामुपहास-  
स्थानं स्यात् । " नाकामी मरुडमियेयं " इति लोकातिरिहलंके-  
ऽपि कदोचिद्वचनार्थं प्राण्ययाद्, वन्धुमनीवच । अन्ये पुनराहुः—  
" संतलयं परिहाणं, जलं च बोधायां व मञ्जिमयं । सुसि-  
लिउत्तसुरायं, धम्मं लच्छि जस्सं कुण्णं ॥ १ ॥ परिहाणमणु-  
ध्वरञ्जल-णुकोऽडिमउभाय मयुसरतें तु । परिहाणमक्रमनां,  
कंखुयञ्चा होइ सुसिल्लिणे " ॥२॥ इत्यादि । एतदपि संगतमेव ।  
किन्तु कदोचिद्वचने कुले वा प्रदत्तः श्रावकास्तु नानादेशेषु च  
संभवन्ति, तस्माद्देशकुलाविरुद्धं वेधोऽनुदुत्त इति व्याख्यानं  
व्यापकमिह संगतमिति ।

वन्धुमनीहानं त्वेष्वच—

अग्धि इह नामलित्ती, नयरी न अरीहिं कदवि परिभूता ।

अशुभभङ्गवैसरो, सिद्धी तत्प्राप्त्यै रक्षसरो ॥ १ ॥  
 सारयससिम्मिलसी-लक्ष्मणुला शंभुला पिया तस्स ।  
 ताणं धूया कया-इयुणद्धया शंभुमह नाम ॥ २ ॥  
 सा पुण कंचणकूरुय-मंडियवाहा अलंकियसरीरा ।  
 पार्ये उच्चमइय-सपरिगया विच्छे स्या वि ॥ ३ ॥  
 अशुभभङ्गवैस पियडा, भणिया वयायुर्गिं पयायपयणं दि ।  
 एवं उच्चमइयसो, वच्छे ! पच्छे न सच्छाए ॥ ४ ॥

बृद्धकर्म—

"कुलदेसाणु विरुद्धो, येसो रओ वि कुणइ नहु सोइं ।  
 वणियाणु विसेसेणं, विसेसओ ताण इत्थीणं ॥ ५ ॥  
 अहरोसो अहतासो, अहहासो दुज्जणंदिं संबासो ।  
 अइउभभनो य येसो, पंच वि गरुयं पि अहुयपति" ॥ ६ ॥  
 अइउभभनो, पुला वि न मणए इमा किपि ।  
 विच्छे तदेव निष्ठा, पिउपायपमायडुज्जणिया ॥ ७ ॥  
 उरुयच्छासिणा वि-मलसिद्धिपुत्तेण शंभुदत्तेण ।  
 सा गंतु तामिच्छि, महाविजुईए परिच्छीया ॥ ८ ॥  
 मुक्ख जणयजणं, शंभुमई शंभुपरिणयसंभो ।  
 जलहिम्म शंभुदत्तो, संवत्तिओ जाणयत्तेण ॥ ९ ॥  
 जा किंवि त्तिमनागं, गच्छइ ता असुहकम्मउदएणं ।  
 परिक्खलपवणसहरो-पणुल्लियं जराहिम्मज्जम्मि ॥ १० ॥  
 सत्थं य विणयदीणं, विणयलियसीले दिशुकराणं च ।  
 तं पवइयं विणुद्धं, धणुधणणदिराणपरिणुत्तणं ॥ ११ ॥  
 सो कइकइमवि फलइ-ण तुत्तरं उत्तरं च नीरनिदिं ।  
 जा विच्छेइ दिस्सिच्चको, ता तं निच्छेइ ससुरपुरं ॥ १२ ॥  
 मो अण्यं जाणावइ, केण वि पुरिसेण निययससुरस्स ।  
 तं सुणिय इा, किमयं ति, जपिरो उट्ठिओ सो वि ॥ १३ ॥  
 अइउभभङ्गवैसलिये-सपरिणयःकारासारभूसाए ।  
 शंभुमईए सहिओ, जा से पांस स मलिपइ ॥ १४ ॥  
 वररयणकणयच्छुभय-विपुत्तियं ताव रुइकरजुयसं ।  
 शंभुमईए छिन्न, केण वि जूयारचोरेण ॥ १५ ॥  
 तसो सो आरंभिय-नीओ नासिनु उत्ति संपत्तो ।  
 पइपरिसमवसलुत्ता-स्स शंभुदत्तस्स पासम्मि ॥ १६ ॥  
 तंणं च पुत्तयाव, जितिय मिणमय वसकासं मे ।  
 इय मुणु तस्स पांस, करजुयसं तक्को नटो ॥ १७ ॥  
 पच्छा गयतसवरनुत्तो-असवणवुत्तो सलुइओ पसो ।  
 चोत्ति काउ तंदि, सुहाए भात्तं पक्खिओ ॥ १८ ॥  
 अह रक्षसरो सिद्धी, नियपुत्तए निदुत्तु तमयथं ।  
 बह कुरिक्खण पसो, जा जामाउयसमीवं पि ॥ १९ ॥  
 ता सं मृत्तानिष्ठं, सहसा पिक्खित्तं बहु च पञ्चविचा ।  
 अंसुभरपुञ्जयणो, सुहियो सं कुणइ मयाकं ॥ २० ॥  
 इसो य सुजसन्तामा, चउत्ताथो तथ आगओ त थ ॥  
 नमित्तं पसो सिद्धी, गुह वि इय कहइ से घम्मं ॥ २१ ॥  
 नेो भयिवा ! उच्चमइय-सयउज्जे कुणइ चयइ परुत्तिगरे ।  
 वितह जयस्स रुयं, जेण न पविइ दुक्खाइं ॥ २२ ॥  
 तो सोअं सविग्गो, सिद्धी पणमित्तं पुच्छए जयथं !  
 मह जामाउयउट्ठिया-दिं किं कयं उक्खयं पुत्तिं ॥ २३ ॥  
 भयाइ गुह अग्गिरामे, सां भामा पि इत्थिया पमा ।  
 प्राप्ति अड्डियं वय बहुनय-आससुया उमाया विहवा ॥ २४ ॥  
 सा उयरकंदगापू-रणाथमीस्सगिहइ निष्ठा पि ।  
 कम्म करेइ पुत्तो, उ चारए वच्छक्खाए ॥ २५ ॥

सा उदिय भोयणं सि-कगम्मि पुट्टमकथा पसा ।  
 कस्सइ शेहे कम्म-यमागओ तम्मि जामाऊ ॥ २६ ॥  
 सा तस्स तपणणहा-यमाइकम्मसु निउत्तया पदमं ।  
 पच्छा बंदणवीसल-रंथणदल्लणाइ कारिया ॥ २७ ॥  
 आया मइइं येसा, तेण गिदत्थेण वाउलत्तयुओ ।  
 नहु सा जिआयिवा तो, तुक्खिच्चयत्तिसिया गया समिइं ॥ २८ ॥  
 तं द्दुत्तु सुपण द्दुहा-इयण नणिया रुनिदुरं पसा ।  
 किं तथ तुम विसा-सुहाए अं न बहु पसा ॥ २९ ॥  
 तीह वि अणयधभरिया-इ जंपियं किकरा तुइं जिहा ।  
 अं सिक्काउ गतिउ-ण जेयणं नेय तुत्तोसिं ॥ ३० ॥  
 इय फलसवयणजाणियं, कम्मं दोहिं वि निकाइयं तोइं ।  
 अइनिविरज्जिमभवि-ण-नेव आलोइयं तं च ॥ ३१ ॥  
 तेसिं द्वाणरथणं, संजमरइत्थियाण मज्जिमगुणाणं ।  
 किंवि सुइजाणयाए, वट्टंताणं गलियमाउं ॥ ३२ ॥  
 तो सां बाओ जाओ, जामाऊ तुज्जु शंभुदत्त पि ।  
 सा पुण कुमायनारी, शंभुमई तुह मुया जाया ॥ ३३ ॥  
 भविणवया निओगा, विचित्तयाए य कम्मपगइं ।  
 माया जाया जाया, पुत्तो भत्ता य संजाओ ॥ ३४ ॥  
 तक्कमवियाणं, शंभुमई पाविया करच्छुयं ।  
 पसो य शंभुदत्ता, सुलापिक्खवणवसणमिणं ॥ ३५ ॥  
 इय सोअं रक्षसरो, सिद्धी संजयकरुयसंवेओ ।  
 गिण्हिय गुणए पांस, दिक्खं सुहभायणं जाओ ॥ ३६ ॥

इयुद्धतं वेयमातिधयन्त्या,  
 श्रुवा विपाकं खलु शत्रुभय्याः ।  
 भव्या जना निर्मलशीलनाज -  
 स्तद्वत्त देशाथिचिद्वदमेवम् ॥ ३७ ॥ ४० ॥

अशुभभङ्गवैस-अनुद-प्रापक-पु-० । मौलप्रामे भिस्त्रापिमाणशी-  
 ले, शू १ उ-० ।  
 अशुभभङ्गवैस-अनुभ-पु-० । अनु-भू-अप । स्मृतिभेदं ज्ञानं, वि-  
 पयानुकपभचनाथं बुद्धिचूत्तरनुनवत्यथ । अनुभवश्च-प्रत्यक्षानु-  
 मानोपमानाशब्दभेदेन चतुर्विध इति नैयायिकादयः । वेदान्ति-  
 नो मीमांसकाश्च श्रुतौपपुन्यपलम्बिकपमधिकं त्रैदशयमूर्त्तौच-  
 कुः । वैशेषिकाः सांगताश्च प्रायज्ञानुमानरूपमेवानुभवद्वयं स्थी-  
 यकुः । श्रव्येषां स्वपेयामनयारन्तमावात् । सांख्येयः प्रत्यक्षा-  
 नुमानाशब्दा एवेति जेद्वयंयामङ्गीयकुः । चार्वाकाः प्रत्यक्षमात्र-  
 मिनि भेदं । वाच० । स्वसंवेदनं, पञ्च० प विव० । ४० ।  
 आश० । प्रश्न० ।

अनुभवलक्षणं च योगदृष्टिसमुच्चयानुसारं लिख्यते-  
 यथाश्वस्तुस्वकरोपलम्बिपरिभावात्सपत्यस्वकरोपमनन्दत्वा-  
 दनैकत्वमनुभवः ।

तद्वृद्धकर्म—

संधेयं दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।  
 बुधैरनुजवो दृष्टः, केवलाकारुणोदयः ॥ १ ॥  
 व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्कददर्शोन्नेव हि ।  
 पारं तु प्रापयत्येकोऽ-नुजवो जववाग्धिः ॥ २ ॥  
 अर्तोच्छ्रियं परं ब्रह्म, विशुष्कानुजवं विना ।  
 शास्त्रयुक्तिज्ञानेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥  
 इयिणं हेतुवादेन, पदाशो ययतीन्द्रयाः ।

कालौतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥  
 केषां न कल्पनादर्था, शास्त्रद्वाराभाषाद्विना ।  
 विरलास्तुतसास्वाद-विदोऽनुजवनिहया ॥ ५ ॥  
 पश्यन्तु ब्रह्म निर्देहं, निर्देहानुभवं विना ।  
 कथं लिपिमयीं दृष्टि-वार्कभययी वा मनोमयी ॥ ६ ॥  
 न मधुसिगमोदत्वा-भाषि च स्वापज्जगरी ।  
 कल्पनाशिन्पविश्रान्ते-स्त्योर्वाऽनुजवा दृशा ॥ ७ ॥  
 अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शश्वहशा मुनिः ।  
 स्वसंवेद्यं परं ब्रह्माऽनुभवनाधिगच्छति ॥ ८ ॥  
 अष्ट ० २६ अष्ट ० ।

स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विषाकनो वेदने, विशेषे ॥  
 अष्टममण-अनुजवन-न ० । कर्माविषाकवेदनेऽनुजाव, आय ०  
 ४ अ ० ।

अष्टमभिवर्द्ध-अष्टमभिवृत्त-अष्टम ० । लोकमित्यर्थ, " वेद्यणा  
 अष्टमभिवर्द्धे ज संसारमि भणतप" इत्य ० १९ अ ० ।

अष्टमभिवृत्ता-अनुजव-अष्टम ० । अनुभवं ह्यव्यर्थे, प्रश्न १  
 अध ० द्वा ० ।

अष्टमनाम (व) -अनुजनाम (व) -पुं ० । वैकिक्यकरणादिकायामभि-  
 न्यायार्थो, स्या ० १ ज ० ३ उ ० । आ ० । अ ० । च ० । माहात्म्ये,  
 सूत्र ० १ अ ० ५ अ ० १ उ ० । वर्णमयादिरुणे, विशेषे ० । शापाय-  
 नुभवेऽपि सामर्थ्यं, प्रश्ना ० १ प ० । अनु पश्चाद् बन्धोत्तर-  
 कात्रं जजनं सेवनमनुजनय, अनुभागः । कर्म ० ६ कर्म ० । कर्मणां  
 विपाक, सूत्र ० १ अ ० ५ अ ० १ उ ० । उदये, रसे च । स्या ० ७  
 ज ० । दर्शो ० । तीर्णादिभेदे रसे, स ० । "अनुभागो रसः प्राकः,  
 प्रदेशो दल्लस्ययः" कर्म ० ५ कर्म ० । अनुभागः, रसः, अनुजाव  
 इति पर्यायाः ।

अनुजनागस्य किञ्चित्सात्त्व स्वकमुच्यते-

इह गग्नीरापारसंसारस्वरिपतिमध्यविपरिर्मी, रागादिसखि-  
 यो जन्तुः पृथक्सिद्धिनामन्तजागयिर्भिरजव्येयंऽजन्त-  
 गुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्क्न्धान प्रतिसमर्थं श्रद्धति ।  
 तत्र च प्रतिपरमाणुकायायिशेषान् सर्वजीवान्मगुणान् अनुजा-  
 गस्याविनागपलि (रि) च्छेदना करति । कदाचिप्रहया विद्यमानो  
 यः परमाणुद्वेषुऽनुजनागोऽपिस्त्वमतयाऽनं उद्वति सोऽपिजा-  
 गपश्चिच्छेद उच्यते । उक्तं च-"बुद्धि इ विज्ञानाणां, अष्टमभागं सो  
 न द्वे जं अक्षं । अविभागपश्चिच्छेदा, सो इह अष्टमभागंयमि" ।  
 तत्र वैकिककर्मैकधेयः सर्वजवन्यरसः परमाणुः सोऽपि के-  
 वलिप्रहया विद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽजन्तगुणान् रसजगान्  
 प्रपच्छति ; अन्यस्तु परमाणुः तानपिभागपश्चिच्छेदनाकायिका-  
 प्रपच्छति; अपरस्तु तानपि प्रपच्छिकान् ; अन्यस्तु तानपि चतुर-  
 धिकाभिन्यादिवृद्ध्या तावन्नयं वायव्य उच्छेदरसः परमाणुमैलि-  
 राशेरान्तगुणानपि रसभागान् प्रपच्छति । अत्र च जघन्यरसा  
 ये कचन परमाणुचस्तेषु सर्वजीवान्तगुणरसजागयुकेष्वप्य-  
 स्त्कदाचनया शतरसांशानां परिकल्प्यते । एतेषां च समुदायः  
 समानजातीयत्वादेका वर्णेत्यभिधीयते । अन्येषां तेषांका-  
 रराजससामगुणानामपुनां समुदायं द्वितीया वर्णया । अपर-  
 षां तु द्रव्यरसराजसांशयुक्तानामपुनां समुदायस्मृतीया वर्णया ।

अन्येषां तु अणुरसराजसभागयुक्तानामपुनां समुदायश्चतुर्थी  
 वर्णया । एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामपुनां समुदा-  
 यरूपा वर्णया : सत्त्वानामन्तभागोऽन्येष्वप्योऽजन्तगुणा वा-  
 च्याः । एतासां चैतावतीनां वर्णानां समुदायः स्पष्टकामित्य-  
 भिधीयते । स्पष्टंनत इषोत्सोत्तररससुद्ध्या परमाणुवर्णयाः । अ-  
 नेति कृत्वा एताश्चात्मनोऽत्तानन्तकप्रमाणः । अथ सान्कल्पयथा  
 वद स्थाप्यन्ते-

१०४	इदमेकं स्पष्टकम् । इत ऊर्द्धमेकोत्तरया
१०५	बुद्ध्या, वृद्धो रसां न जघन्यते, किं तर्हि
१०६	गुणैरेव रसजागैर्बुद्धौ जघन्यते । इति तैनेव
१०७	ततस्तेनैव कर्मण तृतीयमित्यादि यावद्-
१०८	स्पष्टकामि उचिष्टन्ते ।

तीव्रमन्दत्या द्विविधोऽनुभागः-  
 अयं चानुभागः शुभशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां ती-  
 व्रमन्दरूपनया द्विविधो भवति ।  
 अतोऽशुभशुभप्रकृतीनां येन प्रत्यनयासौ तीव्रो  
 स्यते, येन च मन्दः तत्किरूपणार्थमाह-

तिव्रो अशुभसुहाणं, संकेसविसेदिस्यो विचज्जय ० ।  
 मंदरसां गिरिपदिरय-जलेरहासरिकसाएहिं ॥ ६३ ॥

तत्र प्रथमं तावत्तीव्रमन्दस्वरूपमुच्यते पश्चाद्द्वययोः । इह घो-  
 पातकीमणुभृद्दृष्टाशुभवनस्पतीनां सम्बन्धो सहसोऽर्थासौ  
 द्विजागयासां भागत्रयावसंक्ष यथाकर्म कटुकः कटुकतरः कटु-  
 कतमोऽतिशयकटुकतमस्य; तथेशुभोर्गोर्दृष्टद्वयोर्नां सम्बन्धी  
 सहजोऽर्थासौ द्विजागयासां जागत्रयावसंक्ष यथासंक्ष  
 मणुरो मणुभुरा मणुतनामोऽतिमणुभुरतमस्य रसा जघान्यसम्ब-  
 न्धाद्यथा तीव्रो भवति तथैतयामिव पिबुम्बदादीनां ह्रीरादीनां  
 च द्रव्याणां सम्बन्धी सहजो रसो जलवयवित्कृद्वस्तुसुखसु-  
 कप्रत्ययऽजसिक्करकृष्मन्गोर्गादिसम्बन्धाद्यथा बहुद्वये मन्द-  
 तरादिव प्रतिपश्ये तथा अर्थासौर्थासोऽपि रसाः । यथा ज-  
 जलवाद्दिसम्बन्धनामन्दमन्दतरमन्दतममित्यं प्रतिपद्यते तथै-  
 वाशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसास्तराशतदृशकयायवशा-  
 र्थास्यं मन्दत्वं चातुर्विधतीति । अत्रार्थोऽपुनां विवियते-  
 तीव्रः रसा जवति । कासाभिन्याह-(अशुभसुहाणं ति) अशुभाश्च  
 शुभाश्चाशुभशुजाः, तासामशुभशुभानाम, अशुभप्रकृतीनां शुभ-  
 प्रकृतीनां चेत्यर्थः । कथमिदं? संकेसविसेदिस्योत्तिसंक्षे-  
 षविशुक्तिश्च संक्षेपविशुक्तिः, ताभ्यां संक्षेपविशुक्तिः, आद्ये-  
 राकृतिगणत्वात् तन्प्रत्ययः । यथासंख्यमशुभप्रकृतीनां संक्षे-  
 पशान् शुभप्रकृतीनां विशुक्त्यर्थः । इदमत्र इदयम्-अशुभप्रकृतीनां  
 प्रशरीतिस्यथासंक्षेपशोभन तीव्रकृत्वाद्येन तीव्रकटो रसां  
 प्रधानं । सर्वोशुभप्रकृतीनां तद्वधविधायिनां जन्तूनां मध्ये यो य  
 उच्छेदसंक्षेपो जन्तुः स स तीव्ररसं बधनातीत्यर्थः । शुभप्रकृती-  
 नां विशुद्ध्या कयायविशुद्ध्या तीव्रोऽनुभागो भवति । शुभप्रकृति-  
 बन्धकानां मध्ये यो यो विशुद्धयान्तपरिणामः स स तासां  
 तीव्रमनुभागं बधनातीत्यर्थः । उक्तस्तीव्ररसस्य बन्धप्रत्ययः ।  
 सम्मति स एव मन्दरसस्याभिधीयते-(विचज्जय ०) । मंदरसां  
 सत्) विपर्ययेण विपर्ययेण उक्तवैपरितीयं मन्दोऽनुकटो रसां  
 प्रति । अयमर्थः-सर्वप्रकृतीनामनुभागानां विशुद्ध्या मन्दा रसां  
 जायते, शुभानां तु मन्दः संक्षेपशेनेति । उक्तः संक्षेपशिविशुद्धि-  
 चराशुभशुभप्रकृतीनां तीव्रो मन्दश्चानुभागः । ( एकस्यावि-  
 कादिकश्चतुर्विधोऽनुजावः । अयं वैकिकद्विविधः स्थानिकमेवा-

अष्टाध्याय

चतुर्थां भवत्यत एकस्थानिकादिरसो यः प्रत्ययेयांसां प्रकृती-  
नां प्रवति तदाह—(गिरिस्वद्वय इत्यादि) गिरिस्वद्वयं, यथा  
चतुर्थां, रजसं वायुका, जलं च पानीयं, गिरिमहोत्तरोजसा-  
नि, तेषु रेखाश्रयस्थानिः सशशास्त्वप्यगिरिमहोत्तरोजसा-  
शस्त्व च नै कवायाश्च सप्रत्ययान्ते रम्यं भवतीति प्रक्रमः ६३।  
काहं गित्याह—

चउठाणदं अमुहमुद-भदा विण्देसपाइआवरणा ।

पुमसंजज्ञाणिगदुतिचउ-ठाणरसा सेसदुगमाह ॥ ६४ ॥

चतुःस्थानिक आदिर्यस्य रसस्य, त्रिस्थानिकाद्विस्थानिकपञ्च-  
स्थानिकपरिग्रहः । स चतुःस्थानादिः । कासारामित्याह—(अमुम  
रस) इह यष्टपथं प्रथमा । ततः शुभानामगुणप्रकृतीनाम् । इयम-  
थ भावना—इह रेखाश्रयस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गिरिरेखाश्रयेन  
प्रयुक्तकाल्पपेक्षयाद्वितीयांशं कवायाणां प्रिणापठनततश्च गिरि-  
रेखासदृशैः कवायैः, अनन्तानुबन्धसिद्धिर्नित्यः । यथासामगुण-  
प्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति । आतपशोपिनतदागम-  
हिरिस्वद्वयसदृशैः कवायैरप्रत्याशयानावरणंमगमत्वादिश्रयगुण-  
प्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति । वायुकारेखास्वदृशैः कवा-  
यैः प्रायान्यानावरणंगुणप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः ।  
जलरेखासदृशैः कवायैरितिसम्यग्दर्शयैः संत्यजनाभिधौर्विषयपञ्च-  
कादिबन्धमगमसदृशाः शुभप्रकृतीनामोर्वेकस्थानिकरसबन्धो  
जातिः, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामगुणप्रकृतीनामिति हि द्वयामा-  
हकाऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः । इदानीं शुभानां रसप्रत्यय-  
विभागमाह—(सुछहृत् लि) शुभप्रकृतीनाम् । अत्राध्यायकथेपर्याय-  
न हेतुविषययोश्चाऽऽस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र वा-  
युकाजलरेखासदृशैः कवायैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो जयति ।  
महोत्तरोजसासदृशैः कवायैश्चद्विस्थानिको रसबन्धो जयति । गिरि-  
रेखासदृशाः कवायैश्चद्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां जयति ।  
शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पुर्वमथान्तरम् ।  
अथ यासां प्रकृतीनामेकैकैऽत्रिचतुःस्थानिकजज्ञाणतुविधौर्धि  
रसबन्धः संजयति, यासां त्वेकस्थानिकयज्ञेस्त्रिचतुःस्थानिक-  
नयज्ञाह—(विश्वदेसपाइ आवरणा इत्यादि) विष्णानि दानश्रम-  
भोगोपभोगार्थीयान्नराचेन्द्रावन्नरायानि पञ्च । वेदशायावरणा  
देशशायावधारिकाः सप्त प्रकृतयः । तथा—मानिहानिभृत्क्षो-  
नाथविहानमनःपयोविहानावरणाश्चतस्रः । चतुर्वेदशानाचतुर्वेदो-  
नाथविहानावरणाश्चतस्रः, इत्येताः (पुम लि) पुमवः । संत्यज-  
नाश्चकारैः क्रायमानमायाशोभा, इत्येताः सप्तदश प्रकृतयः । कि-  
मित्याह—(इगदुतिचउठाणरस लि) स्थानिकाद्वयस्य प्रत्येकं  
सम्बन्धात् एकस्थानिकस्थानिरेखास्त्वचतुःस्थाना रसा यासां  
ता एकैकैऽत्रिचतुःस्थानरसाः । एताः सप्तदशापि प्रकृतयः ए-  
कैकैऽत्रिचतुःस्थानिककेषु चतुर्विधेनापि रसेन संयुक्ता बन्ध-  
न इति तात्पर्यम् । तथाविधैस्त्वद्वयैरे गुरुस्थाने संकेष्येषु  
भागेषु गतेष्व्यासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकैकैऽस्थानिको रसः  
प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयोऽप्यासां संसारस्थान ज्ञाना-  
नाधिभ्य प्राप्यन्त इति । शयाः प्रकृतयस्माद् किंरूपा भवन्ती-  
त्याह—(सेसदुगमाह लि) शयाः ज्ञानसप्तदशप्रकृतिभ्य उद्गिरि-  
ताः, सद्यैः ज्ञाना भूमाभाश्च प्रकृतयो वष्यन्ते । दुगमाह लि) सूच-  
नास्तुबन्धित् म्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिश्रयत्वाद् त्रिस्थान-  
नरसाश्चतुःस्थानरसाश्च । शयाः प्रकृतयो द्विस्थानिकत्रिस्थान-  
निकचतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता  
इति ज्ञावः । अयमथाशयाः-सप्तदशप्रकृतिष्वेकैकैऽस्थानिको रसो

वष्यते, न तु शयासु, यनाऽशुभप्रकृतीनामेकैकैऽस्थानिको रसो  
यदि सज्यते तदाऽऽनिशुभत्वाद् संकेष्ययनोभ्यः परत एव । तत्र  
च सप्तदश प्रकृतीर्वर्जित्या शयाणामगुणप्रकृतीनां बन्ध एव  
नाम्यनः शयाणामगुणानामेकैकैऽस्थानिको रसो न जयति । तत्र  
ऽपि केवलज्ञानकेष्वदनावरणात्कण्ठे छेदोपि प्रकृती तेषु  
बन्धने तथैवार्थे सिद्धिर्नित्याद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्तयेत,  
नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वोत्तमप्रत्येकस्थानिको रसो  
न भवति, यत इहासंकेष्यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संकेले-  
शस्थानानि जयन्ति । विजुकिस्थानान्येतावन्त्येव, यथा यावन्त्ये-  
व संकेलेशस्थानान्यारोहन्ति तेष्वेव विगुह्यमानोऽवतरन्ति,  
तत्र च यथा प्रासादादमारोहतां यावन्ति सांपानस्थानान्यवतर-  
तामपि तावन्त्येव तदाऽन्वपीति ज्ञावः । केवलं विगुह्यस्थानानि  
विशेषाधिकानि । कथामिति चेदुच्यते—कृपका येष्वाप्यवसाय-  
स्थानं कृप कृपकभ्रंजिकामारोहन्ति न तेषु पुनरपि निर्वर्तन्ते, नस्य  
संकेलेशमासान्, अनस्तानि विगुह्यस्थानान्येव जयन्ति न संकेले-  
शस्थानान्तीति, तैस्त्वन्त्यावस्थानिविगुह्यस्थानान्यधिकानि ।  
एवं च स्थितेऽप्यन्तवैगुह्यतां यतमानः शुभप्रकृतीनां चतुः-  
स्थानिकं रसमाभिर्नियमयति । अत्यन्तसंकेलेशऽनुवर्तमान-  
नस्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छति । या अपि वैकल्पितैः स-  
सकामिणायाः शुभा नरकप्राप्तयोः संकिलेशऽपि बन्धानि  
नामामपि स्वभावान्तरसंस्किलेशऽपि द्विस्थानिकमेव रसे वि-  
द्व्याति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थाप्ये शुभप्रकृतयो वष्यन्ते  
तेषु तानां त्रिस्थानिकपर्यन्त एव रसो वष्यते नैकस्थानिकः,  
मध्यपरिणामान्यारोहन्ति न कापि शुभप्रकृतीनामेकैकैऽस्थानिक-  
रससंभव इति कृष्णः, ननु त्विदमप्यपि रसस्य प्रत्ययकल्पना ६४।  
सम्प्रति शुभाऽशुभरससंकेष्येणैकैऽक्षत स्वकृपमा-  
निवृच्छुद्धासं सहस्रो, उतिचउठाणकहृद्वैकधातोः ॥  
ऽमठाहदि अमुहो, अमुहोपं मुहो मुहोपं ॥ ६५ ॥  
इहैवमस्तु चउठा—अशुभानामगुणप्रकृतीनां रसाऽशुभः, अशु-  
भाध्यवसायनिष्पन्नयत् । क इत्याह—निस्वर्णविष्णुमन्त्रवत् ।  
चनुश्रयस्य लुप्तस्यैह प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा शुभानां शुभप्र-  
कृतीनां रसाः शुभः, शुभाध्यवसायनिष्पन्नयत् । क इत्याह—इ-  
च्छुवत् इच्छुवत् । तथा इमरकमणिग्यायाभिःसुवसुवसुवः  
एवमप्यवर्त्यते, यानि निम्बरस एव इच्छुवस एव सहाः स्वभा-  
वस्य एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकसः । द्वि-  
चतुर्भागाश्च तेषु पृथग्विभक्त्याश्रयेषु कार्येनकभागान्ता द्वि-  
स्थानिकादिरभेवति । कोऽर्थः—द्वौ च अथश्च व्यतराश्च द्वित्रि-  
वन्तारस्ते च भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च  
ते पृथग्विभक्त्याश्रयेषु कथिताश्च द्वित्रिचतुर्भागाकाधित-  
रनेयमिक एकसंकेष्ये भागोऽनेऽवसाने यस्य सहजरसस्य  
स द्वित्रिचतुर्भागाकार्थेनकभागान्तः । स कामित्याह—एकैकै-  
स्थानिकादिः आदिश्रयत्वाद् द्विस्थानिकत्रिस्थानिकचतुःस्थान-  
निकसपरिग्रहः । इत्यन्तराथः । भावार्थेस्त्वयद्-इह यथा निर-  
घोषान्तकाऽप्रकृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजोऽधिपतः कटुको  
रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वयप्रमाणः स्थाल्यां  
कथितोऽर्द्धावसितः कटुकतरौ द्विस्थानिकः, स एव भागत्रि-  
यप्रमाणः स्थाल्यां कथितः। त्रिभागात्तः कटुकतमस्त्रिस्थानिक,  
स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभक्तस्थाने कथितः। चतुर्भा-  
गान्तोऽनिककटुकतमश्चतुःस्थानिकः । तथा इच्छुवोरादीनां स-  
हजो मन्वुरसस्य एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्व-

यप्रमाणः पृथग्भाजनं कार्यतोऽर्थावस्थितौ मधुरतरौ द्विस्था-  
निकः, स एव भागत्रयप्रमाणः पृथक्स्थान्यां कार्यतत्त्वभा-  
गान्तौ मधुरतमात्त्वस्थानिकः, स एव भागचतुष्प्रमाणो वि-  
भिन्नस्थानं कार्यतत्त्वतुष्यभागान्तौऽन्तिममधुरतमत्त्वस्थानिकः ।  
मधुमशुभात् प्रकृतौनां तादृशतादृशकथायनिष्पाद्यः कटुकः  
कटुकतरः कटुकतमोऽन्तिकटुकतमश्च । शुभप्रकृतौनां मधुरा  
मधुरतरौ मधुरतमाऽन्तिममधुरतमश्च रसां यथासंख्यमंकादि-  
भिचतुःस्थानिको भवति । एवं च रसोऽशुभप्रकृतौनामशुभः,  
शुभप्रकृतौनां शुभ इति । तुर्यशब्दा विशेषणैः । स चैवं विशान-  
दि-यथा समदशाऽशुभप्रकृतौनामैकस्थानिकरसस्पष्टकान्य-  
संख्येयव्यक्तियुक्तत्वात्संख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वेजघ-  
न्यस्पर्द्धकरससंख्य निम्बाद्युपमा । तदनु चानन्तेषु रसपलि-  
च्छेदेष्वनिक्रान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्द्धकं भवति । एषमुत्त-  
रान्तरकमेण प्रशुद्धदुःखतरसंयोजनां शेषस्पर्द्धकान्यपि भ-  
वति । एवं शेषाः शुभप्रकृतौनामपि द्विचिचतुःस्थानिकरस-  
स्पष्टकान्यसंख्येयव्यक्तियुक्तानि प्रत्येकमसंख्ययानि भवन्ति ।  
तान्यापि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदेषु निष्कल्यात् पन्त्यरम-  
नन्तगुणरसानि । अत उत्तरांशस्पर्द्धकान्यप्यनन्तगुणरसा-  
नि, किं पुनरशुभात् द्विचिचतुःस्थानिकं रसा इति । तथाहि-  
अशुभात् निम्बापमवर्षीयं य एकस्थानिको रसस्तस्मादनन्तगु-  
णवर्षीयो द्विस्थानिकस्ततोऽप्यनन्तगुणवर्षीयैकस्थानिकस्तस्मा-  
दप्यनन्तगुणवर्षीयश्चतुःस्थानिक इति प्रत्येकमन्तरं सुप्रतीतमेवान-  
न्तगुणरसवर्षीयम् । शुभप्रकृतौनां पुनरेकस्थानिको रस एव न-  
र्भवति । यश्च शुभानामन्तगुणो रसोऽर्थावस्थितः स द्विस्थानिक-  
रसस्य मध्यजघन्यस्पर्द्धक एव इत्यर्थः । सतुत्तरस्पर्द्धकं चानन्तगु-  
णा रसा भवन्ति । पतसर्वे पञ्चसंप्रहर्षाऽन्तिमयोऽप्यव्यक्तयः ।  
किञ्च-केशवज्ञानारणादिरूपणां सर्वेक्षणानि विधातिसं-  
स्थानां प्रकृतौनां सर्वोद्योग्य रसस्पर्द्धकानि सर्वेषानि-येव ।  
देशघातिनीनां पुनर्मिहान्तरावरणप्रमुत्पिच्छविशितप्रकृतौनां र-  
सस्पष्टकानि कानिचिन्सर्वेषानि कानिचिद्देशघातानि । तत्र  
यानि चतुःस्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पष्ट-  
कानि तानि निजमतः सर्वेषातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुनः  
कानिचिद्देशघातानि कानिचिन्सर्वेषातीनि, एकस्थानिकानि  
तु सर्वोद्योग्य देशघातीयेव उक्तं च-रसस्पष्टकानि सकलम-  
पि स्वधर्मां ज्ञानादिगुणं ध्वन्ति । तानि च स्वरूपेण तादृग्भा-  
जनयार्थास्वरूपार्ण घृणान्तराधिनोयनि निमग्नानि, छात्तावत्  
तनुप्रदेशोपचिन्तानि, स्फटिकाभ्रप्रदृष्टबाह्वीव निर्मलानि । उक्तं  
च-“जो धाएइ नियगुणं, न्यत्रं मो होइ न्यत्रधाइरसो । सं-  
निच्छिदो निर्रो, तएथो फलिहोअरदविमज्जो ” ॥ १ ॥  
यानि च देशघातानि रसस्पष्टकानि तानि स्वधर्मां ज्ञानादिगु-  
णं देशतो ध्वन्ति, तदुदयेऽथद्वयं ज्ञापोपशमसंभवत् । तानि  
च स्वरूपेणानकविधौवचरसकुत्रानि । तथार्हा-कानिचिच्छ-  
द्धानिस्फुरद्विच्छातसंकुत्रानि, कानिचिच्छब्द इव मध्ययधि-  
वर्शनसंकुत्रानि, कानिचिन्तनुनिष्ठमविधरिनकरसंकुत्रानि,  
यथा धासन्ति । तथा तानि देशघातानि रसस्पष्टकानि स्ते-  
कसंनर्दानि भवन्ति, वैमल्यरहितानि च । उक्तं च-“दसाविधा-  
धनगन्धो, इयं कदकयलं सुसंकासो । विधिहृद्भिर्ज्ञानिश्चो,  
अपस्निग्धो अ विमलो य ॥ १ ॥ ” इति प्रकृतिः सप्रपञ्च-  
मनुनामशब्द इति । कर्मो ५ कर्मो ८ । ( आद्यातिरसवकपमवैद्य-  
ज्ञाने १२० पृष्ठे “अथारस” शब्देऽभिहितम् )

इदानीं तु अनुभागः कस्य कस्यः कतिविध इत्यभि-  
धि-सुग्राह-तत्रादी ज्ञानावरणव्यस्य-  
नाणावरणज्जस ए भेते । कर्मस्य जीवेणं बद्धस्य  
पुष्टस्य बद्धकासपुष्टस्य संचितस्य चिचस्य उचचिचस्य  
आवापचस्य विवापचस्य फलचचस्य उदयचस्य जी-  
वेणं कयस्य जीवेणं निचचिचस्य जीवेणं परिणामि-  
यस्य सयं वा उदिरजस्य परेण वा उदीरियस्य तदुभयण  
वा उदीरिउजमाणस्य गतिं पपप टिडं पपप जवं पपप पो-  
गलपरिणामं पपप कतिविधे अणुनावे पपपते ? । गोयमा !  
नाणावरणज्जस्य णं कर्मस्य जीवेणं बद्धस्य जाव पोग्-  
दपरिणामं पपप दनविधे अणुभावे पपपते । तं जहा-सोता-  
वरणे सोयचिचिणावावरणे नेतावरणे नेचचिचिणावावरणे धा-  
णावरणे धावचिचिणावावरणे रसावरणे रसचिचिणावावरणे  
फासावरणे फावचिचिणावावरणे अं वेदति पोगमले वा पो-  
गमले वा पोगलपरिणामं वा बीसमा पोगमलाणं परिणामं  
तेमिं वा उदएणं जाणियव्वं न जाणइ, जाणिउ कामे न  
जाणइ, जाणिता विन जाणइ, उचउअनाणं।या वि चवति  
नाणावरणिउजस्य कर्मस्य उदएणं, एस एं गोयमा !  
नाणावरणिउजस्य कर्मस्य जीवेणं बद्धस्य जाव पोग्दपरिणामं पपप दस-  
विधे अणुभावे नाएते ॥

ज्ञानावरणव्यस्य । एमिति वाक्यनिष्ठारूपे । अन्तः । जीवेन  
बद्धस्य रागद्वेषपरिणामवशातः कर्मकथयथा परिणामियस्य  
स्पष्टस्यात्मप्रदेशेः सह संकेशामुपगतस्य (बद्धकासपुष्टस्येति)  
पुनरपि गाढतरं बद्धस्यातीव स्पष्टेन स्पृष्टस्य च । किमुक्तं भ-  
वति-आवेदनपरिवेष्टनकथयथाऽतीव सापेक्षयागाढतरं च ब-  
द्धस्येति संचितस्य आभाधाकालानिक्रमोत्तरकालवदमयो-  
म्यतया निपिकृत्य चित्तस्य उत्तरांतरादिधितुषु प्रदेशहात्या र-  
सकृत्प्राप्त्याऽवस्थापितस्य उपाचनस्य समानजातीयप्रकृत्यन्तर-  
दलिकर्मयोग्यपचयं नितस्य आपाकप्राप्तस्य ईष्यत्वाकामिमु-  
खैर्भूतस्य विषाकप्राप्तस्य विशिष्टपाकमुपगतस्य, अत एव  
फलप्राप्तस्य फलं दातुमभिमुखैर्भूतस्य ततः सामग्रीशुद्ध-  
द्वयप्राप्तत्वाद्यः कर्मधर्मोः यथा आपकफलस्य । तथाहि-आप-  
फलं प्रथमत इष्यत्वाकामिसुखं भवति, ततो विशिष्टं पाकमु-  
पागतं, तदनन्तरं त्विमप्रमोदादि फलं दातुमुच्चिन्तय, ततः सा-  
मग्रीशुद्धाद्युपयोगप्राप्तं भवति । एवं कर्मोऽपीति । ततः पुनर्जी-  
वेन कथं बद्धमित्यत्र आह- ( जीवेण कयस्य ) तथाहि-आप-  
धनबद्धेनेति गम्यते । कृतस्य निष्पादितस्य जीवो ह्यापयोग-  
स्वभावस्ततोऽस्ती रागादिपरिणतो भवति, न शेषः, रागादिपरि-  
णान्बद्धसंन कर्म करोति । सा च रागादिपरिणतिः कर्मबन्धनर-  
कस्य भवति, न तद्विषयोः अन्यथा मुक्तानामप्यर्थांतरागावप्रस-  
क्तः । ततः कर्मबन्धनबद्धेन सता जीवेन कृतस्येति छद्मव्ययम् । उक्तं  
च-“जीवस्य कर्मबन्धन-बद्धो बीरस्य भवततः कर्ता । संनस्या-  
नायं च, तद्विष्टकर्मोत्पन्नः कर्तुः” ॥१॥ तथा जीवेन निर्वातेनस्य  
इह बन्धनसमय जीवः प्रथमतो विशिष्टानु कर्मयोगेणाऽन्तःपातितः



पुत्रलाभ पुत्रद्वय आनामोर्गकेन वीर्येण तस्मिन्नेव बन्धसमये  
 ज्ञानावरणीयद्वितया स्वयस्वधापेन तन्निर्वृत्तमित्युच्यते । तथा  
 जीवेन परिष्णामितस्य विशुद्धप्रत्ययैः प्रवेष्टेनह्रवादिनिस्तत-  
 स्तमुत्तरोत्तरं परिष्णामं प्रापितस्य स्वयं वा विपकप्राप्ततया पर-  
 निरपेक्षमुदीनेष्य उद्यमसाहस्य, परं च वा उदीनेस्य उद्ययमु-  
 पनीतस्य, ननु उद्येन स्वपरदेषोन्मयेन उदीर्यमाणस्य उद्ययमु-  
 पनीतस्य गानं प्राप्य किञ्चित्कर्म काञ्छेद् गानं प्राप्य तीक्ष्णानु-  
 भावं भवति । यथा नरकगतं प्राप्याऽस्ततवेदनीयम् अस्मान्दीव्यं  
 हि यथा नारकाणां तीमो भवति, न तथा तिर्यगादीनामिति ।  
 तथा स्थितिं प्राप्य सर्वान्कृष्टानुभावाभिति शेषः । सर्वोऽकृष्टां हि  
 हिंसात्मुपगतमद्युतं कर्म तीक्ष्णानुभावं भवति । यथा मिथ्यायं  
 अर्थं प्राप्य इह किमपि किञ्चित्प्रवृत्तमाश्रित्य स्वविपाकप्रदर्शनसम-  
 र्थम् । यथा निद्रा मनुष्यजयतिर्भवत् प्राप्यत्युक्तम् । एतावता  
 किल स्वत उद्यस्य कारणाणि दृशितानि । कर्म हि तां तां  
 गतिं स्थितिं जयं वा प्राप्य स्वयमुद्ययमागच्छतीति । सप्रति  
 परत उद्ययमाह-पुत्रलं काष्ठलेपुष्कङ्गादिलक्षणे प्राप्य । तथा-  
 हि-परं कृते काष्ठलेपुष्कङ्गादिकमासाद्य अत्यसातवेदनीय-  
 यः । क्रोधादीनामुद्ययस्याऽपुत्रलपरिणामं प्राप्य इह किञ्चित्क-  
 र्म कमपि पुत्रलमाश्रित्य विपाकमाप्नोति । यथाऽऽर्यब्रह्मणस्याऽऽ-  
 ऽहारस्याजोऽप्येवपरिष्णामाश्रित्य अस्मान्देदनीयम् ; ज्ञा-  
 नावरणीयं तु सुरापानमिति । नतः पुत्रलपरिणामं प्राप्यत्युक्तम् ।  
 कतिविधोऽनुभावः प्रहसः, इत्येव प्रसन्नः अत्र निर्वृत्तम-दशवि-  
 धोऽनुभावः प्रहसः, तत्रैव दशविधमनुभावः दशयति-सांवाय-  
 रणे इत्यादि इह श्रेयसाभेदेन श्रेयसिन्द्रियविययः क्रयोपशमः परि-  
 श्रुत्येन (सांवायिवाणावरणे इति) श्रेयसिन्द्रियमाभेदेन श्रेयसिन्द्रियो-  
 पयोगः, यच्च निर्वृत्त्युपलक्षणं उद्येनैत्रयं यद्दोषाङ्गं नाम नामकं  
 निर्वृत्यं न ज्ञानावरणीयस्य इति, न श्रेयसिन्द्रियेन गृह्यते । एवं  
 नैवावरणं इत्याद्यपि भावनीयम् । तैश्चैन्द्रियाणां रमनप्राणव-  
 क्षुःश्रेयसिन्द्रियाणां लक्ष्युपयोगानां प्राय आवरणम् । प्रायोऽग्रहणं  
 च कृत्वादिद्वयवच्छेदाद्यर्थम् । कृत्वादीनां हि यथायोगे पञ्चाना-  
 मपीन्द्रियाणां लक्ष्युपयोगाः फलतः स्वप्ता उपलभ्यन्ते । आगमे  
 पि च प्राप्यन्ते-“पौंचदश्यां व्व बडलां, नरो व्व पंचिदश्यां व्व-  
 गाशो । तद हि न जज्ञत पंचि-दिश्यां चि दशिविद्या ज्ञावा” ॥ १ ॥  
 तथा-“अह सुदुमं भावेदिय-नाणं दशिदश्यावरादे वि । द्य-  
 स्तु य भावसि मि, भावस्यं पंचिवादिषे” ॥ १ ॥ इति । ततः  
 प्राय इत्युक्तम् । हिंसादिनां प्राणवक्षुःश्रेयसिन्द्रियविययानां  
 लक्ष्युपयोगानां त्रौण्डियाणां चक्षुःश्रेयसिन्द्रियाणां चतुरि-  
 ण्डियाणां श्रोत्रेन्द्रियलक्ष्युपयोगावरणं स्वर्शनिन्दित्यलक्ष-  
 यणांवावरणं कुष्टादिभ्याः। पत्रिकुपहन्वेदस्य उच्यते । पञ्चोन्दि-  
 याणांमपि ज्ञानाव्यादीनां पञ्चाहा क्रान्धचिरीत्तानां चकुरादी-  
 न्द्रियलक्ष्युपयोगावरणे भावनीयम् । कथमयमिन्द्रियाणां च  
 लक्ष्युपयोगावरणमिति चेत् ? उच्यते-स्वयमुदीनेष्य परंण वा  
 उदीरितस्य ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उद्ययः । तथा चाह-  
 ( ज वेदरे ) यद्भवत्येते परंण क्षिमे काष्ठलेपुष्कङ्गादिलक्षण  
 पुत्रुत्तरेणामि चक्षुःश्रेयसिन्द्रियं परंण क्षिमान् वेदयन्, तेरनि-  
 घातजननसमयः पुत्रुत्तरेणपरिणामसमयवहनाहारपरिणामरूपं  
 पानी परसादिकमनिष्कञ्जनकं वेदयन् ; तेन वा ज्ञानपरंण्यु-  
 त्तरेणमाह । तथा ( दीससा वा पंचिभाण परिष्णामिति ) विस्-  
 लस्या यन्पुत्रुत्तरेणं परिणामं शीतोष्णतापादिकपरंणं वेदयन्

यदा तदा तत्रेन्द्रियोपघातजननद्वरेण ज्ञानपरिष्णानुपहतायां  
 ज्ञानव्ययम् । एकेन्द्रियः किमपि स्रक्षस्तु न जानाति, ज्ञानपरिष्ण-  
 तेषुहृतस्यात् । प्रयं सांपेक्ष उच्य उक्तः । निरपेक्षस्य तु विषये  
 सुत्रमिदम्- ( तसि वा उद्येण ति ) ज्ञानावरणीयकर्मपुत्रुत्तरेण  
 विपाकप्राप्तानामुद्येन काश्चन्यं न जानाति । ( जातिउक्तमि न  
 जानह स्ति ) ज्ञानपरिणामेन परिणाममुच्छिन्नश्चापि ज्ञानपरिण-  
 नुपघातान्न जानाति । ( जाणसा वि न जायह स्ति ) प्राग्  
 ज्ञान्वाऽपि पञ्चाक्ष जानति, तेनामेव ज्ञानावरणीयकर्मपुत्रुत्तरेण  
 नामुद्ययान् ( उच्छिन्नानाणीयां वि जयह इत्यादि ) ज्ञानावरणीयस्य  
 कर्मण उद्येन जीव उच्छिन्नहा-यापि भवति । उच्छिन्नं च तज्ज्ञानं  
 च उच्छिन्नज्ञानं, तदस्यास्तीति उच्छिन्नज्ञानं, सर्वधनादिपा-  
 नाभ्युपगमादिनिःपाद्यत्वात् प्राक्प्रच्छादितज्ञानात्वात् भवतीत्यर्थः ।  
 “ एत न गीयमा ! नाणावरणजं कर्म” इत्यादिपुत्रुत्तरेणवाक्यं  
 कथ्यते । महा० । ३० ।

दर्शनावरणीयस्य-

दरिमाणवरणिजस्य णं जंते । कम्मस जंविणं  
 वक्षस जाव पोग्गलपरिणामं पप कतिविहे अष्टाजगं  
 पससे ? गोयमा ! तवविहे अष्टाजगं पससे । तं जहा-  
 निदा निदानिदा पयला पयहापयला र्थणकं । चक्खुदेस-  
 णिवरियं अचक्खुदेसणावरणं श्रो ! हदंसेणावरणं केवलदंसे-  
 णावरणे जं वेदेड पंगलं वा पोग्गलं वा युगलपरिणामं वा न  
 व ससा वा पंगलपरिणामं तेसिं वा उदयणं पसियव्वं  
 वा न पासड, पासिउकामे न पामड, पामिचा वि न पामड,  
 उच्छिन्नदंसेणाया वि जव्व दरिमाणवरणिजस्य कम्मस  
 उदण णं, एस णं गोयमा ! दरिमाणवरणिजं कम्मं, एस  
 हां गोयमा ! दरिसणावरणिजं कम्मं, कम्मस जंविणं  
 वदस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप नवविहे अष्टाजगं पससे ।  
 प्रअयुत्तं पुव्ववत्त । निव्वंनममाह-गंमम ! नवविमः प्रहसत नद्व  
 नयायिअव्वं हदंयति-निदा इत्यादि । निदाशब्दाद्यर्थमथ व-  
 ह्ययमः । ज्ञानाविरण्ययम्-“सुहायिंकोहा निदा, दुहायिंकोहाय  
 निदिनिदा य । पयला हाह त्रियस्सा, पयहापयला येव चकमश्रो  
 ॥ १ ॥ यीणजं पुण अस्स, किउच्छिन्नमाण येयण हाह । मह-  
 निदादि ण किंनिय-यावावपसाहणी पार्थ” ॥ २ ॥ चक्षुदेसना-  
 वरणं चक्षुःसामान्योपयोगावरणम् । एवं शोषेणपि जावनीयम् ।  
 ( जं येव ह इत्यादि ) यं वेदयन् पुत्रुत्तमुद्ययनीयार्थिकं ( पुत्रुत्तं  
 वा इति ) यान् पुत्रुत्तान् बहून् सुदराचर्नीयार्थिन् वेदयन्  
 पुत्रुत्तपरिणामं महिपदस्याभ्यवहनाहारपरिणाममित्यर्थः । ( श्री-  
 ससा वा पोग्गलाण परिणाममिति ) वर्षास्त्रजसंस्तननोरूपं,  
 धाराभ्युत्पानरूपं वा यं वेदयन् तेन निद्रादृष्ट्याज्ञापितो दर्श-  
 नपरिणानुपघाते । एतावता परत उक्तः । सऽयानि स्तन उद्य-  
 माह-( तसि वा उदयणं ) तेषां वा दर्शनावरणीयकर्मपुत्रुत्तरेण  
 नामुद्येन परिणानिःशियानेन दृष्टयं न पश्यति । तथा किञ्चिदर्श-  
 नपरिणामेन परिणाममुच्छिन्नश्चापि ज्ञानावरणीयदिना दर्शनपरिणानु-  
 पघातान्न पश्यति-प्राग् दृष्ट्वाऽपि पञ्चाक्ष पश्यति , दर्शना-  
 वरणीयकर्मपुत्रुत्तरेणामुद्ययान् । किं बहूना ? दर्शनावरणीयस्य  
 कर्मण उद्येन जीव उच्छिन्नदश्यापि यावच्छिन्नप्रच्छादित-  
 दर्श्यापि जयति । “ एत न गीयमा ! दरिसणावरणजं कम्म”  
 इत्यादिपुत्रुत्तरेणवाक्यम् ।

सातासातावेदनीयस्य—

सातावेयण्णिजस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुजावे पणत्ते ? ! गोयमा ! सायावेयण्णिजस्स कम्मस्स जीवेण वच्छस्स जाव अट्ट विहे अणुजावे पणत्ते ! तं जहा—पणुन्ना फासा, मणुन्ना रू—हा, मणुन्ना गंधा, मणुन्ना रसा, मणुन्ना फासा, मणुन्ना सुहता, वयसुहता, कायसुहता । जं वेद्दं पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा बीससा वा पोग्गलान्णं परिणामं तेषिं वा उदएणं सातावेदण्णिजं कम्मं वेदेइ । एस एं गोयमा ! सातावेयण्णिजं कम्मं, एस एं गोयमा ! सायावेयण्णिजस्स जाव अट्टविहे अणुजावे पणत्ते । असयावेयण्णिजस्स एं जंतं ! कम्मस्स जीवेणं तंहेव पुच्छा, उत्तरं च, नवरं अमणुन्ना सदा जाव वयसुहता एस एं गोयमा ! असतावेयण्णिजस्स जाव अट्टविहे अणुजावे ।

प्रअसुं प्रभवत् । निर्वचनमाह—गौतम ! अणुविधोऽणुभावः प्रकृतः । अणुविधोऽणुभाव इत्यर्थः—( मणुजा सदा इत्यादि ) मनोःकाः शब्दा आगन्तुका वेणुर्विणादि संबन्धिनः । अन्यं 'आमीया' इत्याहुः । तद्वशुक्तम् । आत्मं यशब्दानां वाक्यसुखं तस्य नैव गुणोन्नात्वात् । मनोःका रसा इहुरस्स प्रभृतयः ; मनोःका गन्धाः कर्पूरादिसुखमिधनः ; मनोःकानि कर्माण स्वरातस्सुखं । विधादिगतानि । मनोःका स्पर्शाः हंसतुल्यादिगतानः ; ( मणोःसुहा इति ) मनानि सुखं यस्यानौ मनःसुखस्सतस्य भावो मनःसंखितान्, सुखिनं मन इत्यर्थः । वाचिं सुखं यस्यासौ वाकसुखस्सतस्य जावा वाकसुखितान् । सर्वेषां आश्रमनःप्रकृतकारिणी वागिति तात्पर्यार्थः । काये सुखं यस्यानौ कायसुखस्सतस्यः कायसुखितान् । इत्यर्थः काय इत्यर्थः । एते चाट्टे पदार्थाः सातावेदनीयस्योदयनं प्राणिनामुपतिष्ठन्ते ।

मोहनीयस्य—

मोहण्णिजस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव कइविहे अणुजावे पणत्ते ? ! गोयमा ! मोहण्णिजस्स कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव पंचविहे अणुजावे पणत्ते । तं जहा—मम्मचवेयण्णिजं मिच्छत्तवेयण्णिजं मम्मामिच्छत्तवेयण्णिजं कसायवेयण्णिजे नो कसायवेयण्णिजे जं वेदेइ पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा बीससा वा पोग्गलपरिणामं तेषिं वा उदएणं मोहण्णिजं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! मोहण्णिजकम्मं, एस एं गोयमा ! मोहण्णिजस्स जाव पंचविहे अणुजावे पणत्ते ।

प्रअसुं प्रभवत् । निर्वचनम्—पञ्चविधोऽणुजावः प्रकृतः । तदेव पञ्चविधत्वं दर्शयति—सम्यकत्ववेदनीयमित्यादि । सम्यकत्वरूपेण यद्व्येयं तत्सम्यकत्ववेदनीयम् । एवं शेषपदेष्वपि प्रादुर्भावो जावनीयः । जावाधैर्यपञ्च—बहिहं वेद्यमानं प्रशमादिपरिणामं करोति तत्सम्यकत्ववेदनीयम्, यत् पुनरुदावादिखुब्धे तुल्यमित्थ्यात्त्ववेदनीयं मिथपरिणाममुत्तुः । सम्यकमित्थ्यात्त्ववेदनीयं क्रोधादिपरिणामकारणम् । क्रवायवेदनीयं हास्यादिवरिणामकारणम् । नो कपायवेदनीयम् । ( जं वेदेइ पुगलमि-

त्यादि ) ये वेदयन्ते पुगलं विषयप्रतिमादिकं पुगलान् वा याव वेदयन्ते बहुहं प्रतिमादिकं यं पुगलपरिणामं देशाद्यनुकपाहारपरिणामं कम्मं पुगलविधोपादानसमर्थं भवति, आहारपरिणामविशेषादपि कदाचित्कर्मपुगलविधोपा यथा—आहोपोषधाद्याहारपरिणामात्पुगलान्नाकारण्यकर्मपुगलानां प्रतिविधिष्टः क्षयापहामः । उक्तञ्च—“उद्ययकत्वस्य उदयसो—वसमाविजयं च कम्मणो जणिया । दव्वं केत्तं कालं, अवं च भावं च संवपे” ॥१॥ विजससया वा यत् पुगलानां परिणाममन्नविकारादिकं यद्विद्वान्नेदं विवेक उपजायते—“आयुः शरज्जत्तप्रभ्रमिं नराणां, संपत्तयः कुसुमिंतुमसारतुल्याः । स्ववपानेजागहसा विषयोपजोगाः, संकल्यमात्ररमणीयमिदं हि सवम्” ॥१॥ इत्यादि । अन्यं वा प्रशमादिपरिणामानि च यदयन्ते तस्मात्सम्यकत्ववेदनीयं सम्यकत्ववेदनीयादिकं वेदयन्ते, सम्यकत्ववेदनीयादिकर्मकं प्रशमादि वेदयन्ते इति जावः । एतावान् परत उदय उक्तः । सप्रति स्वतस्तमाह—( तेषिं वा उदएणं ति ) तेषां च सम्यकत्ववेदनीयादिकर्मपुगलानामुदयनं प्रशमादि वेदयन्ते 'एस एं' इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

आयुः—

आउत्तयस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं तंहेव पुच्छा । गोययमा ! आउत्तयस्स एं कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव चउ—विहे अणुजावे पणत्ते । तं जहा—नेरइयाउए निरियाउए मणुयाउए देवाउए जं वेदेइ, पोग्गलं वा पोग्गले पोग्गलपरिणामं वा बीससा वा पोग्गलान्णं परिणामं वा, तेषिं वा उदएणं आउत्तयस्स कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! आउत्तयस्स कम्मस्स जाव चउविहे अणुभावे पणत्ते ।

प्रअसुं प्रभवत् । निर्वचनम्—चतुर्विधोऽणुजावः प्रकृतः । तदेव चतुर्विधत्वं दर्शयति—(नेरइयाउए इत्यादि) सुगमम् । 'अं वेएइ पुगलं वा' इत्यादि, यं वेदयन्ते पुगलं शास्त्रादिकमायुपरवर्षनसमर्थं बद्धं पुगलान् शास्त्रादिकपाठं याव वेदयन्ते यं या पुद्गलपरिणामं विधायादिपरिणामरूपं विजससया वा यं पुगलपरिणामं शीलादिकमेवायुपरवर्षनकर्म तेषांपुण्यमानजवायुपापयनेनाश्रारकथायुःकर्म वेदयन्ते । एतावता परत उदयोऽभिहितः । स्वत उदयस्य सुप्रनिदम्—निम्तिं वा उदएणं ति तेषां वा नारकायुःपुगलानामुदयनं नारकाद्यायुर्वेदयन्ते, 'एस एं' इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

तत्र नामकं मिथ्या—शुभनामकम्, अशुभनामकम् च । तत्र शुभनामकमोचित्युत्थं सुखमाह—

सुभणामस्स एं जंतं ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गोयमा ! शुभनामस्स एं कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव चउइसविहे अणुजावे पणत्ते । तं जहा—इहा सदा इहा रूवा इहा गंधा इहा रसा इहा फासा इहा गर्इ इहा उिइ इहं लावन्नं इहा जसोकिचं । इहं उट्टाणकम्मवत्तीरियपुसिस्कारपक्कंम इहस्सरता कंनस्सरता पियस्सरता मणुअस्सरता जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पुगलपरिणामं वा बीससा वा पोग्गलान्णं परिणामं तेषिं वा उदएणं सुजनामं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! सुजनामकम्मं, एस एं गोयमा ! शुभनामस्स कम्मस्स जाव चउइसविहे अणुभावे पणत्ते ॥

प्रश्नस्य प्राग्वत् । निर्वचनस्य-चतुर्दशविधोऽनुभावः । तदेव च-  
 तुर्दशविधस्य दर्शयति— ( इहा सहा इत्यादि ) येते शब्दादय  
 आम्नाया यथ परिशुद्धते, नामकर्मविपाकस्य चिन्त्यमानत्वात् ।  
 तत्र वादिशाधुमादिता इत्येकः । तत्रपुत्रम् । तेषामन्यकर्मोद्यनि-  
 धाधत्वात् । इहा गतिमन्साधारणानुकारिणो ( शिविकापाया-हण-  
 नहन्तीति एकः, इहा स्थितिः सहजा सिंहासनादीं च अन्ये, इए ला-  
 षण्यं जायाविशेषलक्षणं बुद्धकुमाद्यनुलेपनजमिति अर्पर, इहा य-  
 शाःकींशियेशसा युक्ता कींशिः । यशःकीर्त्योश्चः यं शिषोः-  
 दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः, ( इहे उद्गुणकम्म-  
 बहवोरियपुरिसङ्कारपरिक्रम इति ) उर्यातं देहस्येष्टाविशेषः,  
 कर्म रेचनसुमण्णादि, बन् शरीरस्वाम्यर्थदिविशेषः, धीर्यं जी-  
 वप्रजनवः, स एव पुरुषाकारोऽभिमानविशेषः, स एव तिष्ठा-  
 दित्तस्वियपरपराक्रमः । इष्टस्वरता चञ्चमस्वरता । तत्र इहाः  
 शब्दाः इति सामा-योकाशिये विशेषोक्तिस्वरत्यव्यवृत्तत्वापेक्षा-  
 उवागतत्वात् । कान्तस्वरतेति । कान्तः कर्मनीयः सामान्यना-  
 ऽभिप्रायणीय इत्यर्थः । कान्तः स्वरो यस्य स तथा तद्भावः  
 कान्तस्वरता । प्रियस्वरतेति । प्रियो भूयोऽभिप्रायणीयः । प्रियः  
 स्वरो यस्य स तथा तद्भावः प्रियस्वरता ( मणुश्रमस्वरया  
 इति ) उपरतभाषोऽपि स्वाश्रमभनप्रतिजनको मनोः स स्वर-  
 रो यस्य स मनोःकृत्यवर्ता ( ज वेद इत्यादि ) यं वेदयते पुत्र-  
 सं वीणावर्णकमग्न्याम्बुशुपट्टशिविकासिन्हासनकुडुमदानराज-  
 योमणुलिकादिभक्षणम् । तथा च वीणादिसम्प्रदाहं भवन्तीष्टाः  
 शब्दादय इति परिभाषनीयमन्तव सूत्रमिषा मार्गोऽनुमिग्याय ।  
 ( पुणमेव वा इति ) यतो बहून् पुत्रान् न वेणुयुवादिवादिवात् वेदय-  
 तो यं पुत्रश्रयपरिणामं ब्राह्मणाद्याहारपरिणामं विस्त्रयया वा यं  
 पुत्रदानं परिणामं श्रुजजलदादिकं तथा चोन्नानकजजस्रस्य-  
 प्रजापतेषान्तथोक्तय प्रथममनसो गायन्ति मत्तयुवयया रेलुका-  
 निष्टस्वचानित्यादि, तन्प्राभावात् पुत्रान् न वेणुयुवादिवात् श्रुजना-  
 मकर्मकलमिष्टस्वचानित्यादिकमनुभवतीति ज्ञावः । एतायना परत  
 उक्तः । इहानी स्वतस्त्वमाह— [ तस्मि वा उदण्णे ति ] तेषां वा  
 शुभानां कर्मपुत्रदानामुदयेन इहाशब्दादिकं वेदयते " पस्य गं  
 गोयमा ! " इत्याद्युपसंहारवाक्यम् । उक्तोऽष्टविधनातवेदनीय-  
 स्यानुज्ञाः । परतः सातवेदनीयस्योदयमुदयोदयति- [ ज वेद  
 पुगुलमित्यादि ] यद् वेदयते पुत्रं स कुरुकुरमादि याद् वा  
 वेदयते पुत्रलात् बहून् अकुरुकुरमादीन् यं वा वेदयते पुत्रला-  
 परिणामं देशकालवयोवस्थाऽनुकूलाहारपरिणामम् [ वाससा वा  
 पुगुलान परिणामं ] विस्त्रयया वा यं पुत्रदानां परिणामकर्मोऽ  
 ऽभिप्रायितं शीतोष्णादिवेदनाप्रतीकाररूपं तेन मनसः समाधान-  
 सत्त्वाद्वात् सातवेदनीयं कर्मानुभवति । सातवेदनीयकर्मफलं  
 सातं वेदयते इत्यर्थः । उक्तः परत उदयः । सप्रति स्वत उदय-  
 माह— [ तस्मि वा उदण्णे ति ] तेषां वा सातवेदनीयपुत्रदानामुद-  
 येन मनोःकलदादिव्यतिरेकणापि कर्मान्वितिसुखं वेदयते, यथा न-  
 र्यिकास्तीर्थकर्मजन्मादिकोले । " पस्य गं गोयमा ! " इत्याद्युपसंहा-  
 रवाक्यम् । प्रश्नस्य सुप्रम, निर्वचनं पूर्ववत् । तथा चाह— " तदेव  
 पुत्रा, उच्यते च, तदेव " इत्यादिना पूर्वमन्त्रादय विशयमुपदशय-  
 ति- [ अमयुञ्ज सहा इत्यादि ] अमानाहा रसाः स्वस्याप्रतिमानिनो  
 दुःखजनकाः, अमनेहा गन्था गोमहिषादिमन्तकलेरारदिएन्धाः,  
 असनोऽज्ञानि कर्पाणि स्वगणस्त्रीगानादीनि, अमनोऽज्ञाः परशोः क-  
 र्कशब्दाः [ मगोदुहया इति ] दुःखितं मन इति । वयदुहिया

इति ] अन्नया वागिति प्रावाधेः [ कायदुहिया इति ] काये  
 दुःखं यस्यासौ कायदुःखस्तद्भावः कायदुःखिता, दुःखितं काय  
 इत्यर्थः [ ज वेद इत्यादि ] यं वेदयते पुत्रं विषयशक्त्यु-  
 कादि [ पुगलं वा इति ] याद् वा पुत्रलात् बहून् विषयशक्त-  
 कण्टकादीन् वेदयते यं वा वेदयते पुत्रश्रयपरिणाममत्याहारलक्षणं  
 विस्त्रयया वा यं वेदयते पुत्रश्रयपरिणामकर्मोऽभिप्रायितं  
 शीतोष्णादियपरिणामं तेन मनसोऽसमाधानसम्प्रदात्वात् असा-  
 तवेदनीयं कर्मानुभवति । असातवेदनीयकर्मफलमसातं वेदय-  
 त इति भावः । एतेन परत उदय उक्तः । सप्रति स्वत उदय-  
 माह— [ तस्मि वा उदण्णे ति ] तेषां वा असातवेदनीयकर्म-  
 पुत्रदानामुदयेनासातं वेदयते ' पस्य गं गोयमा ' इत्याद्यु-  
 पसंहारवाक्यम् ।

अथुजानामः—

दुहनामस्त एं भेत । पुत्रा । गोयमा ! एवं चैव, नवरं अ-  
 ण्डा सदा जाव ह । णस्सराता दीणस्सराता अण्डस्सराता  
 अकंतस्सराता जं वेदेइ, सेसं ते चैव जाव चउदसविहं अ-  
 थुचावे एणणे च ॥

प्रश्नस्य प्राग्वत् । निर्वचनस्यं प्रागुक्तार्थवैपरीत्येन भावनीयम् ।  
 गोत्रं द्विधा-उच्चैर्गोत्रं वा नीचैर्गोत्रं वा । तत्रोच्चैर्गोत्रावयं  
 स्त्रमाह-

उच्चागोयस्य एं भेत । कम्मस्स जीवेणं पुत्रा । गोयमा !  
 उच्चागोयस्य कम्मस्य जीवेणं बच्चस्स जाव अट्टविहे अ-  
 थुजावे एणत्ते । तं जहा-जातिविमिहता कुलविमिहता  
 बलविमिहता स्वविमिहता तवविमिहता सुयाविमिहता  
 लानविमिहता इस्सरियविमिहता जं वेदे पोग्गलं वा  
 पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वाससा वा पोग्गलाणं  
 परिणामं तस्मि वा उदण्णां जाव अट्टविहे अथुचावे  
 एणणे च ॥

प्रश्नस्य प्राग्वत् । निर्वचनम्—अष्टविधोऽनुभावः प्रज्ञः ।  
 तदेवाष्टविधस्य दर्शयति— [ जादिविसिद्धया इत्यादि ] जाया-  
 दयः सुप्रज्ञताः । शब्दाथस्त्वेवम्—जाया विशिष्टो जाति-  
 विशिष्टस्तद्जातो जातिविशिष्टता इत्यादिकम् । वेदयते पुत्रं  
 बाह्यदृष्ट्यादिलक्षणम् । तथाहि-दृश्यसम्बन्धाच्चाजादिविशि-  
 ट्पुरुषस्यपरिग्रहाद्वा नीचजातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादिस-  
 म्यञ्च इव जनस्य मान्य उपजायते । बलविशिष्टताऽपि म-  
 न्नानामिध लकुटिप्रमण्यवशाद् । कर्पाविशिष्टता प्रातिविशिष्टव-  
 क्षान्तद्वारसम्बन्धात् । तपोविशिष्टता गिरिकूटाद्याहारहणनापा-  
 नं कुर्वेनः । श्रुतविशिष्टता मनोःकुरुदेशसंक्त्वात् स्वाध्यायं कु-  
 र्वेति । लानविशिष्टता प्रतिविशिष्टरत्नादियोगात् । ऐश्वर्यवि-  
 शिष्टता धनकनकादिसम्बन्धाच्चादिति । ( पुगुलं वा इति ) याद्  
 बहून् पुत्रलात् वेदयते पुत्रश्रयपरिणामं विषयफलघादारपरिखा-  
 मरूपं विस्त्रयया वा यं पुत्रदानां परिणामकर्मसादाभिहितज-  
 लशामसंसादादिलक्षणं तत्प्राभावात् दुष्कर्मोर्षं वेदयते उच्चैर्गो-  
 कर्मफलं जातिविशिष्ट्यादिकं वेदयते । एतेन परत उदय उ-  
 क्तः । सप्रति स्वतस्त्वमाह— [ तस्मि वा उदण्णे ति ] तेषां वा  
 उच्चैर्गोत्रकर्मपुत्रदानामुदयेन जातिविशिष्ट्यादिकं भवति  
 " पस्य गं गोयमा ! " इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

नीधोगोपस्य णं भेत् । पुच्छा । गोयमा । एवं चैव, नवर्  
जातिविहीणता जाव इस्सरादिविहीणता जं वेदेऽ पौ-  
गसं वा भोगले वा पंगलापरिणामं वा बीससा वा पांम-  
लाणं परिणामं तेषि वा उदएणं जाव अद्विविहे अष्टुभा-  
वे पस्यत् ॥

प्रश्नस्यं प्राग्भूत् । निर्वचनम्—अष्टविधोऽनुभाषः तमेवाद्यधिधम-  
नुभावं दर्शयति—( जाहविहीणया इत्यादि ) सुप्रतीतम् । [ जं  
वेदेऽ पुगलमिति ] यं वेदयते पुत्रं नीचकर्मसवमरूपं, नीच-  
पुत्रसम्बन्धलक्षणं वा । तथाहि—उत्तमजातसम्पन्नोऽपि उ-  
त्तमकुलोत्पन्नोऽपि यदि नीचैः कर्मवशात् यथा नीचकारूपमा-  
सन्नेव, वापकार्त्तं वा गच्छति तदा भवति चारास्त्रादिरिष जनस्य  
निष्पत्तिः । बन्धनानां, सुखययनीयादिसम्बन्धात् । तथाविहीणता  
प्राग्भूत्वादिंसर्गात्, धृत्विहीनता विक्रमोपस्यत्प्राजासादि-  
संसर्गात्, लानविहीनता देशकालानुचितकुक्रियाणां संपर्कत्, पे-  
थ्यैर्विहीनता कुग्रहकुलत्रादिसम्पर्क इति । [ पुगले  
वा इति ] यान् बहून् पुत्रान् वेदयते, यथा—पुत्रत्परिणामं  
धृत्वाकांफत्रं ह्यन्यवहनकास्तृत्यानेन रूपविहीनतामापाद-  
यनीयादिति । विवृत्तया वा पुत्रलाभां परिणाममभिहितजलदाग-  
मविन्यादलक्षणं वेदयते, तत्रमाद्यौ नीचैःकर्म वेदयते, नी-  
चैः कर्मफलं जात्यादिविहीनताकर्णं वेदयते इत्यर्थः । एतावता  
परत उदय उक्तः । सप्रति स्वत उदयमाह—( तेषि वा उद-  
एणं ति ) नेर्णां वा नीधोगोपस्यत्प्राजासांमुदयेन जात्यादिवि-  
हीनतामुभवति । “ एस णं गोयमा ! ” इत्याहुपसंहारवाक्यम् ।

अन्तरायक्य—

अंतरादयस्स णं जंत । कर्मसस जीवेण पुच्छा । गो-  
यमा । अंतरादयस्स कर्मसस जीवेणं बरुसस जाव  
पंचविहे अष्टुजावे पस्यत् । तं जहा—द्वयंतराए लाभं-  
राए भोगंतराए उवजोगंतराए बीरियंतराए जं वेदेति पौ-  
गसं वा जाव बीससा वा तेषि वा उदएणं अंतरादयं  
कर्मं वेदेऽ, एस णं गोयमा । अंतरादए कर्म, एस णं गोय-  
मा । जाव पंचविहे अष्टुभावे पस्यत् ।

प्रश्नस्यं प्राग्भूत् । निर्वचनम्—पञ्चविधोऽनुजावः प्रकृतः । तदेव  
पञ्चविधस्यं दर्शयति—( दानंतराए इत्यादि ) दानस्वान्तरा-  
यो विधुः दानान्तरायः । एवं स्यत्र आभनीयम् । तत्र दानान्-  
तरायो दानान्तरायस्य कर्मणः फलस्य । दानान्तरायो दानान्तरा-  
यदिकर्मणामिति । ( जं वेदेऽ पुगलं वा इत्यादि ) यं वेदयते पु-  
त्रं विविधविशिष्टरत्नादिसम्बन्धात् हृद्यते तन्दिष्ये एव दानान्-  
तरायोदयः स्वल्पिद्रेदनामुपकरणसम्बन्धाद्दानान्तरायकर्मो-  
दयः, प्रतिविशिष्टहारसम्बन्धादर्थोपस्यत्प्राजा सांभोगो भो-  
गान्तरायोदयः । एवमुपभोगान्तरायकर्मोदयोऽपि जायनीयः ।  
तथा लकुटाधिगताद् धीयान्तरायकर्मोदय इति । पुत्रगलान्  
वा बहून् तथाविधाद् यान् पुत्रान् वेदयते यं वा पुत्रलपरि-  
क्षाम तथाविधाहारीयथादिपरिणामरूपम् । तथाहि—हृद्यते  
तथाविधाऽऽहारीयथपरिणामाद्भीक्ष्णान्तरायकर्मोदयः । भग्ने-  
पसि कजासादिगणपुत्रलपरिणामाद् भोगान्तरायोदयः । यथा  
सुवपुसन्निवस्य विक्रसया वा पुत्रगलानां परिणामं विष्य ही-  
दादिजक्षणम् । तथाहि—हृद्यते वस्त्रादिकं दातुकामा अयि

हीतादिनिपतस्तमोक्षक्य दानान्तरायोदयात् तस्यादातरः,  
इति तत्रमायान् एष परत उदय उक्तः । स्वतस्तमाह—( तेषि  
हाएणं ति ) तेषां वा अन्तरायकर्मपुत्रगलानामुदयेन अन्तरायक-  
र्मफलं दानान्तरायोदिकं वेदयते । “ एस णं ” इत्याहुपसंहारवा-  
क्यस्य । प्रकृतः ३३ पद् । “ तद्वा एतसि कर्मणां, अष्टुजागे  
विवाहिए । एतसि संबरे चैव, लयणय जप बुध् ” ॥१॥ उक्तः  
३३ ३० कर्मणः स्वभावे, तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—“अष्टुभागे-  
ति सहास्रो” क० प्र० । ( कर्मणां करणाणां बन्धसंक्रमदांनानु-  
भागेबन्धादिभेदाः बन्धादिदाम्बु उदयाः ) ।

अष्टुजागअपावुष्टुय-अनुभागान्त्वहृत्त्वं-न० । अनुभागं प्रत्य-  
ल्पबहुत्वे । यथा “ स्वव्थायादं अणतमुण्वुक्तिद्याणाणि असं-  
केअणुगुक्तिद्याणाणि असंखिअणुगुणाणि संखिअणुगुक्तिद्या-  
णाणि असंखिअणुगुणां जाव अणतभागानुक्तिद्याणाणि असंखि-  
अणुगुणाणि ” अत्रेष्टादल्पबहुत्वं यथा—“अर्चाहृद्यगस्तस्य वा अत्र-  
यभागे योषो नामगोयाणं तुल्लो विस्साहिअं नाहृदंसाणव-  
णंतरायाणं तुल्लो विस्साहिअं मोहस्स विस्साहिअंो बंध-  
णिअस्स विस्साहिअंो सि ” । एथा० ४ पा० २ उ० ।

अष्टुभागउदीरपोवक्कम-अनुजागोदीरपोपक्रम-पुं० । प्रासंययेन  
रसेन सहाऽप्रासोदयस्य रसस्य वेदनाऽऽरम्भे, एथा० ४ पा० १ उ० ।  
अष्टुजागकर्म-अनुजागकर्म-न० । अनुभागरूपं कर्मोभा-  
गकर्म । रसासिके कर्मनेदे, भ० १ पा० ४ उ० ।

अष्टुजागामानिहन्ताउय-अनुगतानामनिषत्तागुष् - न० ।  
अनुजाग अष्टुकर्मद्रव्याणां तीव्रादिभेदे रसः । स एव तस्य वा  
नाम परिणामोऽनुभागनाम, अथवा तस्य हीनतां नामकर्मणामनु-  
जागबन्धरूपं भेदोऽनुजागनाम, तेन सह निषत्तमायुस्तनुभा-  
गनामनिषत्तागुषिति । अष्टुबन्धनेदे, स० । प्र० । एथा० ।

अष्टुभाग ( व ) बंध-अनुजाग ( व ) बन्ध-पुं० । अनुभागं  
दिपाकस्तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थः, तस्य बन्धोऽनुजागबन्धः । ब-  
न्धनेदे, एथा० ४ पा० २ उ० । ( “बंध” हाब्देऽस्य व्याख्या )

अष्टुभागेवैषम्यसायडाए-अनुभागेबन्धाध्यवसायस्थान-  
न० । कृष्णादिरेव्यापरिणामविशेषे, कर्म० १ कर्म० । सकया-  
योदया हि कृष्णादिसुखापरिणामविशेषाः अनुजागबन्धरूपं हतव  
इतिवचनात् । क० प्र० ।

अष्टुजाग ( व ) बंधडाए-अनुजाग ( व ) बन्धस्थान-न० । तिष्ठ-  
त्यस्मिन् जीव इति स्थानम्, अनुजागबन्धस्य स्थानमनुजागब-  
न्धस्थानम् । एकेन कापायिकेणपचवसायेन शुहीतानां कर्मपुत्र-  
गानां विविधैकसमयवत्परमसमुदायपरिणामं ताधिप्यादकुरु  
कपायोदयरूपेण अथवसायविशेषु, प्रव० १६२ डा० ।

एसमयय्मि शोए, सुदुमगाणजिया उ जे उ पावसंति ।  
ते तुंतससल्लोय-एपससुदुवा असंसेजजा ॥  
ततो असंसगुणिया, अगणिकाया उ तेषिं कायतिई ।  
ततो संजमअष्टुभा-गबंधडाएसंत्वाणि वा ॥

शोके हृद्य जगति एकस्मिन् समये पृथियोकायिकादयोऽ जीयाः  
( सुदुमगाणजिया उ सि ) सत्समर्थताम्यमथायाः, सुदमार्त्तिज्ञी-

अणुभागवंधाण

अभिधानराजेन्द्रः ।

षेणु सूक्ष्मनामकर्मोत्पत्तिषु तेजस्कस्याधिकर्जाषेणु प्रविशन्ति च  
 त्पद्यन्ते । संख्ययात्ममेवाह—असंख्यश्लोकः प्रदेशस्तुत्या असं-  
 ख्ययल्लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । इह च विज्ञातीयजीवानां  
 जित्स्वप्नरत्नचोत्पत्तिः प्रदेश उच्यते । इत्थमेव प्रकृतेः प्रवेशनक-  
 श्वाद्याधेश्वरव्याख्यातत्वात् । तत्रने जीवा प्रपृथ्व्यादित्रयोऽष्का-  
 र्थेभ्यो भावतेजस्कः। येषुः सूक्ष्मेतेजस्कथातयोत्पद्यन्ते, इह सूक्ष्मा-  
 न्ते, ये पुनः पूर्वमुत्पन्नाः तेजस्कायिकाः पुनर्मुत्पन्नातेव पर्यायेणा-  
 त्पद्यन्ते न गृह्यन्ते, तेषां पूर्वमेव प्रविष्टत्वात् । ततः सर्वेस्तोका  
 एकसमयं समुत्पन्नसुक्ष्माश्रिकायिकाः । ( तस्यै ति ) ततस्तेज्य  
 एकसमयोत्पन्नसुक्ष्माश्रिकायिकेभ्योऽसंख्ययगुणिता असंख्य-  
 यगुणा अभिनकाणाः बुद्धोत्पन्नाः सर्वेऽपि सूक्ष्मान्निकायिकजी-  
 वाः। कथमिति चेत् ? उच्यते—एकः सूक्ष्मान्निकायिको जीवः स-  
 मुत्पन्नोऽनमुत्तुर्न जीवनि, एतावन्नुत्पन्नोऽसंख्ययगुणितो असंख्य-  
 यगुणितोऽनमुत्तुर्न य समयास्तेषु प्रत्येकसमयेषुश्लोकाकाशप्रमा-  
 णाः सुक्ष्माश्रिकायिकाः समुत्पद्यन्ते, अतः सिद्धमेकसमयोत्पन्न-  
 सुक्ष्माश्रिकायिकेभ्यः सर्वेषां पूर्वोत्पन्नसुक्ष्माश्रिकायिकानामसं-  
 ख्ययगुणत्वम् । तेभ्योऽपि सर्वेसुक्ष्माश्रिकायिकेभ्यस्तेषामेव प्र-  
 त्येकं कार्यस्थितिः पुनः पुनस्तेष्वेव कार्यं समुत्पन्नं तद्वगुणा सं-  
 ख्ययतगुणा एकैकस्यापि सुक्ष्मान्निकायिकस्य संख्ययोत्सर्पिणी-  
 प्रमाणायाः कार्यस्थितेरुत्कर्तव्यः प्रतिपदिदन्त्वादिति । तस्या  
 अत्रिय कार्यस्थितेः सकाशात् संख्यमस्थानायनुभागवंधस्थाना-  
 नानि च प्रत्येकसंख्ययगुणानि कार्यस्थानावसंख्ययानां  
 स्थितिबन्धानां भावाद्देहिकैकत्वमेव स्थितिबन्धे असम्भ्ययाना-  
 मनुभागवंधस्थानानां सद्भावादिनि । संख्यमस्थानान्यप्यनु-  
 भागवंधस्थानेस्तुद्वयान्धेवन्ति । तेषामनुभागानां तत्स्वरूपं चाऽऽप-  
 न्नायामः । अथाऽनुभागवंधस्थानानानि कः शब्दायै ? ।  
 उच्यते । निष्ठयस्मिन् जीव इति स्थानम् । अनुभागवंध-  
 म्य स्थानमनुभागवंधस्थानम् । एकेन कार्याधिकेणाध्यवसाय-  
 न्त सूहीतानां कर्मपुत्रलानां विवक्षितेकसमयबद्धरससमु-  
 दायपरिमाणमित्यर्थः । तानि चानुभागवंधस्थानान्यतस्येय-  
 श्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तेषां चानुभागवंधस्थानानां नि-  
 ष्टादकः कर्पायोद्यक्त्वाः अध्यवसायविशेषास्तेऽप्यनुभाग-  
 वंधस्थानानीत्युच्यन्ते, कारणे कार्यापेक्षारत्वात् । तेऽपि चानु-  
 भागवंधाध्यवसाया असंख्ययल्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणा इति ।  
 प्रब० १६२ ड्रा० । क० प्र० । पं० सं० । “ अणुभागव-  
 ष्टाणा अउजवसायद्व्याणा व पगडा ” पं० सं० ५ ड्रा० ।

अणुभाग ( व ) संकम-अनुभाग ( व ) संकम-पु० । अनुजा-  
गविवय संकमभेदे, क० प्र० ।

तत्स्वरूपं च—

“ तथऽदृश्यं तव-द्विया व भोवद्विया व अविजारा ।  
 अणुभागसं कर्मो ए-स अक्षरगर्भे निषा वा वि ” ॥ १ ॥ स्ति ।  
 ( अदृश्यं ति ) अनुभागसंक्रमस्वरूपनिर्कारणम् । ( अ-  
 विजारा स्ति ) अनुभागाः ( निय स्ति ) नीति इति । क० प्र० ।  
 पं० सं० । ( 'संकम' शब्दे चास्य विस्तृता व्याख्या )

अणुजागमंतकम्-अनुजागमंतकर्म-न० । अनुजागविवययायां  
कर्मणः सत्तायाम्, क० प्र० । पं० सं० । ( 'सत्ता' प्रकरणे द्या-  
क्यास्यामि )

अणुजागुदीरणा-अनुभागोदीरणा-स्त्री० । प्रामोदधेन रसेन  
सहाप्रामोद्रे वेद्यमाने रसे, स्यात् ४ ग्रा० २ उ० । क० प्र० । पं०

सं० । ( ' उदीरणा ' शब्दे हिं० भा० ६४६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या )  
 अणुभागोदय-अनुजागोदय-पु० । अनुभागविवये कर्मणासु-  
 दये, पं० सं० ४ ड्रा० । क० प्र० । ( ' उच्यते ' शब्दे हिं० भा०  
 ७७६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या )

अणुभावं-अनुभाव-पु० । शूनानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोगकर्मणो-  
पाक्षानां प्रवृत्तिविद्यतिप्रदेशरूपाणां तीव्रमन्दागुभावतयाऽनुज-  
घने, आवा०? भु०२ प्र० १ उ० । सं० । अविन्यायां विकिचकरणा-  
दिकायां शक्तौ च । स्यात् ३ ग्रा० ३ उ० । प्रभावे च । व्य० २ उ० ।

अणुजावकम्-अनुजागकर्म-न० । अनुभागतो वेद्यमाने क-  
मेति, यस्य हि अनुभावो यथा बद्धरसां वेद्यते । स्यात् २  
ग्रा० ३ उ० ।

अणुजावण-अनुभावक-वि० । चिन्तापके, आ० म० हिं० ।

अणुनामण-अनुभाषण-न० । आचार्येणान्नापत्येवाद्वा द्रा-  
षणे, आचार्येण प्राविने एषाब्दो द्राषणं न पुनः प्रधानीजुया-  
चार्यभाषणादत्र प्रायेत । “ साष्टाणं अणुनासह, आचार्येण तु  
प्राप्तिरिति संते । ” इय० ३ उ० । आ० न्य० ।

अणुभासण ( या ) मुक्त-अनुनाषण ( णा ) मुक्त-न० ।  
मुक्त्वारितस्य शनेः मुक्तोत्सारणरूपं भावविद्युक्तिभेदे, आ०  
न्य० ६ अ० । अनुनाषणागुक्तं यथा-

“ अनुभासह गुरुवयण, अक्षरवयवयज्जगहिं परिमुक्तं  
 “ अनुभासह गुरुवयण, अक्षरवयवयज्जगहिं परिमुक्तं  
 पंजलिठडो अभिमुहो, ने ज्ञानऽनुभासणागुक्तं ” ॥ १ ॥  
 नवरं गुरुभेगति- ( वॉसिसस् स्ति ) शिष्यस्त्- ( वॉसि-  
 राम स्ति ) स्यात् ५ ग्रा० ३ उ० । कृतकृतिकर्मप्रमा-  
 न्यानां कुर्वन् अनुभावेन गुरुवचन लघुपरेण शब्देन भग-  
 तीत्यर्थः । कथमनुभावेन ? अक्षरपद्व्यञ्जनेः परिमुक्तमनना-  
 नुजागयायत्नमाह । नवरं गुरुभेगति- ( वॉसिसस् स्ति ) ' इमो वि भ-  
 शति- ( वॉसिराम स्ति ) ससं गुरुभाषणसरिसं भाषण्येव' । कि-  
 भूत सन् ? कृतकृत्यरिजमुक्त्वास्त्वाजां हि अनुभाषणागुक्त-  
 मिति । आव० ६ अ० ।

अणुसूद-अनुजुति-स्त्री० । अनुजनवमनुजुतिः अनुजवे, विदो० ।  
आ० म० प्र० । दृश० ।

अणुमह-अनुमति-स्त्री० । अनुमोदने । आव० ४ अ० । सूच० ।  
तत्स्वरूपं च—“ काठं स्यं परिणते, अणुवारणअनुमतां हाति  
 एवं अणति तुमं अणयो य आणस्यस्य वा रुचकम्मं कर-  
 हिति” । आत्मव्यतिरिक्तस्य परस्यैवम्—“ इच्छस्य वा अणि-  
 च्छस्य वा बहानिभ्रवा ह्यचकम्मं कारावयते कारावणा  
 जयति ” नि० न्य० १ उ० । अणुमुक्तं, प्रब० ६ ड्रा० ।

अणुमत्या-अनुमति-स्त्री० । उज्जान्यां देयलानुनस्य  
राज्ञो प्रायास अनुत्कलोचनाया शक्याम्, आ० न्य० ११ उ० ।  
आव० ।

अणुमण्ण-अनुमनन-न० अनुमोदने , प्रति० । ( प्रव्यहनवा-  
नुमोदने साधोः कदप इति 'वेद्य' शब्दे वदयते )

अणुमत ( य )-अणुमत-वि० । अणोरपि मनसि, “ अणुम-  
यादं कुहादं प्रवति” अणुरपि कुरकरोऽपि मनो येषु सर्वसा-  
धुसाधारण्यवान् तु मुयं दृष्ट्वा तिस्रः कुयोतीति । कदप० ।



अनुमान

णमिति, अथय तु विस्ववादादिद्विप्रमाणमिति व्यवस्थाप्रतिपादा-  
 धीयान् । न खलुपक्षमाधेनेष प्रमाणाप्रमाणविधेकः कर्तुं शक्यः ;  
 तद्वदशाशुभयोः सौख्यत्वात् । संवाद्यविस्ववादिपक्षार्थाय च  
 तन्निरूपयति निश्चित एवानुमानोपनिपातः न चेदं प्रतिपक्षप्रतिप-  
 क्षौ चकस्वकपोपायायैव अनुमानाभाव्यक्रमणान्तेषु च प्रमाण-  
 कमान्वयस्ते कौतुस्कुती प्रमेयव्यवस्थाऽप्युपस्थाता त्वदीयद्व-  
 यस्वेषु सर्वेषु शून्यता । साऽपि वा न प्राप्नोति, प्रमाणमन्तरण  
 तस्या अपि प्रतिपक्षमशक्यत्वादिति । अत्रो ! महति प्रकट-  
 कष्टसंकटे प्रविष्टोऽयं तपस्वी किं नाम कुर्यात् ? । अथ  
 “धूमार्थोन्निविज्ञानं, धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भा-  
 भ्या-मिति पञ्चनिरन्वयः ॥ १ ॥” निरूप्यते, अनुपलम्भोऽपि,  
 प्रत्यक्षविशेषोऽपि प्रत्यक्षमेव व्यतितात्पर्योपयोज्ञोचनत्वात्तुयर्थ  
 किं तर्कोपक्रममेति चेत् ? , न तु प्रत्यक्षं तावद्विद्यतधुमाग्नि-  
 शोचरतया प्राक् प्रावृत्तः तद् यदि व्याप्तिपि तावन्माधिव  
 स्यात्तदाऽनुमानमपि तत्रैव प्रवर्तेते कुतस्सं धुमानग्नी-  
 धरकम्पराधिकरणशुष्कणिलक्षणं तद्वद्विद्वद्भूयान्पिकल्पः ।  
 साधैर्वाकिं व्यतिपि पर्याप्तमिति निर्णयमिति चेत् , को नमिधे नामं-  
 स ? तर्कविकल्पस्यापलाभानुपपन्नसस्मजव्येन स्वीकारान् ।  
 किन्तु व्यतिपिनिषावयमेव प्रमाणं कर्तव्यः कर्णः । अथ तथा  
 प्रवर्तमानोऽयं प्राक् प्रवृत्तप्रत्यक्षव्यापारमेवाऽनुमुख्यनीति  
 तद्वेव तत्र प्रमाणांमिति चेत् । तन्ननुमानमपि अिद्विद्वदप्रत्यक्ष-  
 स्वैव व्यापारमामुख्यनीति तदेव वैश्वानर्येदेन प्रमाणं, नातु-  
 नानुमानमिति किं न स्यात् ? । अथ त्वमिधे यत्कुशकथमर् ? तद्विद्वदप्रत्यक्षं  
 हि अिद्विद्वद्विद्वदप्रमेयं, अनुमानं तु साध्यागोचरमिति कथं तत्तद्  
 व्यापारमामुख्येत् ? , नहि प्रत्यक्षपुराणितिस्वरूपेणैव कणुणमेव ।  
 तर्कविकल्पानुसृत्य साध्यसाधनसामान्यव्यवशर्णमिति किं म्योऽ  
 पि तद्व्यापारमुदीपयेत् ? । अथ सामान्यमामान्यमेव असत्त्वादि-  
 ति कथं तत्र प्रवर्तमानमनः कः प्रमाण स्यादिति चेत्तनुमानम-  
 पि कथं स्यात् ? , तस्याऽपि सामान्यगोचरत्वाऽव्यतिचारान् ।  
 “ अथस्यामान्यरूपं सोऽनुमानस्य विषयः ” इति  
 धर्मकीर्तिना कतिनात् । तस्वनेऽप्रमाणमेवेत्, व्यवहारणै-  
 वास्य प्रमाणान्ताः सवे एवायमनुमानाभुमप्यवहारां बुद्ध्या-  
 कृतेन धर्मधर्मिन्यायेनेति वचनादिति चेत् , तर्कोऽपि तथा-  
 ऽस्तु । अथ नाऽयं व्यवहारेणाऽपि प्रमाणम् , सर्वथा वस्तुसं-  
 स्पर्शपरानुसन्धादिति चेत्, अनुमानमपि तथाऽस्तु । अवस्तुनि-  
 वेत्समपि परम्परया पदाथं प्रातिपद्यन् प्रमाणमनुमानमिति  
 चेत्, किं न तर्कोऽपि । अथस्तुत्रं च सामान्यस्याऽपि केशरि-  
 किशोरवककोरुर्दृष्टाङ्गुलः कर्णायामानमस्ति । सटशपरिणामरू-  
 पस्यास्य प्रत्यहादिपरिच्छेदाद्यादिति तस्य ऽयामानम् , त-  
 र्कश्च प्रमाणं प्रत्यक्षव्यतिपि पाप, चरुः ॥ ३ ॥

अत्रोदाहरणम् -

यथा यावान् कश्चिद्वृक्षः स सर्वा वृक्षा मन्त्येव जवतीति  
 तस्मिन्नसत्यो न जवत्येव ॥ ४ ॥  
 अत्राद्यनुदाहरणमन्वयव्याप्ती, जिनोयं तु व्यतिरेकव्यातायिति  
 ॥॥। रत्ना० ३२३००। सम्भ०। (प्रमाणमयमनुमानतो न प्रहीतुं शक्य-  
 म्, तस्य प्रमाणत्वाऽयं न्यादिति) प्रमाणं शब्दे वक्ष्यतेपरलोकि-  
 तावत्तनुमानप्रमाणव्यवहारेण, अथानुमानप्रमाणव्यवहारेणः )  
 अत्राद्यनुमानाननिरासश्च सम्भन्तःकणप्रथतोऽवसेवः )  
 अथाऽनुमानस्य लक्षणार्थं तावत्प्रकारैः (स्वाधैपरार्थानुमाने)  
 प्रकाशयति-

अनुमानं द्विपकारं, स्वाधै परार्थं च ॥ ६ ॥

नन्वनुमानस्याध्यक्षस्यैव सामान्यरूपेणानुमानस्यायैव कथमिति-  
 त एव प्रकारकीर्तनमिति चेत् । तस्वने-परार्थतोः स्वाधैस्वैक-  
 नुमानस्य ज्ञातव्यं, स्वाधैतमेव अनुमानं कारणे कार्योत्पत्त्यापरा-  
 र्थं कथ्यते । यद्वक्ष्यते तत्र जयन्तः-“पक्षेहेतुवचनात्मकं परार्थ-  
 मनुमानमुपचारात्” इति । न हि गोपचरितं गोवत्स्य च बाहो-  
 कस्यैकं लक्षणमस्ति, यन्तुनः स्वाधैतुत्स्यकतयऽस्तोपादानम्,  
 तद्वद्वै शाल्यं वाऽनेनैव व्यवहाराङ्गोक्तं च प्राथम्यात्परा-  
 गात्तद्व्याप्याख्यापनार्थम् । तत्र अनु हेतुप्रहणसंबन्धस्मरण-  
 योः पश्चाम्नीयेते परिच्छेद्यते ऽथाऽनेनेत्यनुमानम् । स्वधै प्र-  
 मानुत्तानेन इदं, स्वस्य वाऽथाऽनेनेति स्वाधै, स्वाधैतमेव निब-  
 धनमित्यर्थः । एवं परार्थमपि । अत्र चायोक्तव्येति-ना-  
 ऽनुमानं प्रमाणम्, गौशब्दात् । गौणं ह्यनुमानम्, उपचरितप-  
 क्षादिद्वयत्वात् । तथाहि-“ज्ञातव्यं वृक्षधर्मैव, पक्षो धर्म्य-  
 जिषायते । व्यातिकाज्ञे भवेद् धर्मः, साध्यसिद्धौ पुनर्यथेव ”  
 ॥ १ ॥ इति । अर्गणे हि प्रमाणं प्रत्यक्षं, प्रत्यक्षव्यतिपि । त-  
 न्नायं वराकश्चायोक्तः स्वाकृदां शाल्यं सारूप्ययितं भीतम-  
 नुकरेति । गौणव्यादिति हि साधनमिदधानो प्रयं स्वीकृत-  
 वानेनायमनुमानं प्रमाणमिति कथमेतद्वेद इत्येतत् । न च  
 पक्षधर्म्ये हेतुलक्षणमाचक्षते, येन तस्मिन्नेव साध्यधर्मविशि-  
 ष्टे धर्मिणि प्रत्यक्षमपि पत्रत्वं धर्मिण्युपक्रमः अन्यथाऽनप-  
 स्येकपक्षत्वात् हेतोः । नापि व्याप्तिं पक्षेणैव समहे, येन तस्मि-  
 न्नेव धर्म्ये तदार्थपर्यमिदः साध्यधर्मैर्गैव तद्विधातात् । नचा-  
 नुमानिकप्रतीति धर्मैर्विशिष्टे धर्मौ, व्याप्ती तु धर्मः साध्यमित्य-  
 निधायत्त इत्येकं गौणमेव साध्यव्यतिपि ज्ञे । मेवम् । अत्र  
 ज्ञे मुख्यतुल्यकणनायेन साध्यत्वस्य मुख्यत्वम् । तन्मिद्विद्व-  
 द्वां साधनीयम् ॥ सत्यम् । न हि व्याप्तिरपि परस्य प्रतीता, त-  
 त्तःप्रतिपादनमे धर्मैर्विशिष्टे धर्मिणमर्थं प्रशयनीय इत्यसिद्धं  
 गौणत्वम् । अथ नोपादीयत एव तस्मिन्को कोऽपि हेतुः । तर्हि कथ-  
 मप्रमाणकाप्रमाणिकस्यैर्धर्मैः स्वाधैदिति, नानुमानप्रमातय-  
 प्रतिपेयः साधैयस्तां दद्यात् । “नानुमानं प्रमेत्यत्र हेतुः स चेत्,  
 कानुमानानात्पत्तं स्यात्त्वा ॥” इति स्वदृश्लोकः । कथं वा प्रत्य-  
 क्षस्य प्रमाणगणित्यर्थः यदि पुनरर्थक्रियास्ववादात्तत्र तन्निरूप-  
 स्तर्हि कथं नानुमानप्रमाणत्वम् ? । प्रतीपेदाय च-“ प्रत्येऽपि  
 परेऽङ्गलक्षणमेत-येन प्रमाकृता ॥ १ ॥” इति ॥ ७ ॥  
 तत्र स्वाधै व्यवस्थापयन्त-

तत्र हेतुप्रहणसंबन्धस्मरणकारकं साध्यनिज्ञानं स्वा-  
 धैपिति ॥ १० ॥

हिंसाभ्यन्तर्भावितानुज्ञेयत्वत्वाद् गमयति परेऽङ्गधर्ममिति हेतुः,  
 अनन्तरमेव निद्वैक्यमाणलक्षणस्य प्रहणं च प्रमाणं नि-  
 षेयः । संबन्धस्मरणं च यथैव संबन्धो व्याप्तिनामा प्राक् तर्क-  
 पानार्कं, तथैव परामर्शने कारणं यस्तु तत्तथा । साध्यस्याक्या-  
 स्वमानस्य विशिष्टे संशयदिश्यायेन ज्ञानं स्वधैमनुमानं  
 मन्त्यम् ॥ १० ॥ रत्ना० ३ ३१० ।

अथानु परार्थानुमानं प्रकथयन्त-

पक्षेहेतुवचनात्मकं परार्थानुमानमुपचारात् ॥ २३ ॥  
 पक्षहेतुवचनात्मकत्वं च परार्थानुमानस्य व्युत्पन्नमितिप्रतिपा-

धापेक्षयाऽत्रोक्तमनव्युत्पन्नम् । अतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु धूमोऽत्र  
 दृश्यते इत्यादि हेतुवचनमात्रमकमपि तन्नञ्चनम् । बाहुल्येन त-  
 द्प्रयोगाभावात् न तु नैतस्मात्तावत्त्वे सूत्रनम, उपलसितं तु द्र-  
 द्यम्च, मन्दमतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु दृष्टान्तादिवचनमकमपि  
 तन्नञ्चनम् । यद्वच्यमानं— "मन्दमतींस्तु द्युत्पादितं दृष्टान्ताप-  
 नयमिगमनात्यपि प्रयोज्याम्" इति । पक्षहेतुवचनस्य च  
 जडरूपतया मुख्यतः प्रामात्ययोगे सत्युपचारादित्युक्तम्,  
 कार्योपचारादित्यर्थः । प्रतिपाद्यगतं हि यत् क्त्वां तस्य  
 कारणं पक्षादिवचनम्, कार्यं कारणोपचारात् । प्रतिपादक-  
 गते हि यत्क्यायानुमानं तस्य कार्यं तन्नञ्चनमिति ॥ २३ ॥  
 संप्रति व्याप्तियुरस्सरं पक्षधर्मनोपसंहारं तत्पूर्विकां वा  
 व्याप्तिसामञ्जसात्, भिन्नपक्षप्रयोगमङ्गीकारयितुमाह—

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिष्वन्विताप्रसिष्ये द्वेतांरूपसं-  
 हारवचनवत्पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४ ॥

यथा यत्र धूमस्तत्र धूमश्च इति हेतोः सामान्येनाऽधारप्र-  
 तिपत्तावपि, पक्षेनादिविशिष्टधर्मिधर्मताऽपिगतये धूमश्चात्रे-  
 त्येयरूपमुत्संहारवचनमवश्यमाश्रयिते सौगतैः । तथा साध्य-  
 धर्मस्य नियतधर्मिधर्मतासिद्धये पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्र-  
 यितव्य इति ॥ २४ ॥

अमुमेवार्थं सोपालम्भं समर्थयन्ते—

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विद्विधानः  
 कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥ २५ ॥

त्रिविधं कार्यस्वभावाद्युपलम्भमेवेदात् । तस्य साधनस्य सम-  
 र्थनमस्ति ज्ञानादिद्वन्द्वदानेन स्वभावात्साधनसामर्थ्योपदर्शनम् ।  
 नञ्चनमर्थनो हेतुः स, ध्यांसङ्ग इव, अनिप्रमङ्गत्वात् । ततः पक्षप्र-  
 योगमन्तङ्गुत्वेना तत्समर्थनरूपं हेतुवचनमधीयते तत्समर्थनं  
 विशिष्यम्— "हन्तु हेतुरिह जल्पयन् न चे—दन्तु कुत्र स समर्थ-  
 नाविधाः । तर्हि पक्ष इह जल्पयन् न चे—दन्तु कुत्र स समर्थ-  
 नाविधाः" ॥१॥ प्राप्यते ननु विवादतः स्फुटं, पक्ष एव किमन-  
 स्तदात्थव्यः । तर्हि हेतुरपि लभ्यते ततोऽनुक्त एव तदसौ स-  
 मर्थ्यताम् ॥२॥ मन्दमतिमानं पत्तिनिमित्तं, सौगतं । हेतुमथा-  
 नदधेयाः । मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, तर्हि न किं परिज-  
 नदस्ये पक्षम् ? ॥३॥ ॥ २५ ॥ अस्मान् ३ परि० । तच्चानुमानं  
 त्रिविधम्—पूर्ववत्, शेषवत्, अदृष्टसाध्यव्यवच्छेदित-

से किं तं पुत्रवत् ? । पुत्रवत्—माया पुत्रं जहा नष्टं, जुवाणं पु-  
 स्तारामयं । कां पञ्चाजिजाणैः, पुत्रजिज्ञेण केणइ ॥१॥  
 तं जहा—त्वत्तेण वा वणेण वा क्षेत्रेण वा मसेण वा  
 तिज्ञएण वा, सेत्तं पुत्रवत् ॥

विशिष्टं पूर्वोपलक्ष्यं त्रिविधं पूर्वमुच्यते, तदेव निमित्तरूप-  
 तया यस्यास्त तत्पूर्ववत्, तद्व्यतिरेकं गमकमनुमानं पूर्वव-  
 दिति भावः । तथा चाह—"मायापुत्रं" इत्यादिश्लोकाः । यथा  
 माना स्वकीये पुत्रं बाल्यावस्थायां नष्टं जुवानं मन्ते काला-  
 न्तरेण पुत्रं कथमप्यगमं काचित्कथाविधिसंस्तुतिपाठयवती न सत्यां  
 पूर्वदृष्टेन लिङ्गन केनचित् सानादिना प्रत्यभिजानी-  
 यात्, मनुष्योऽयमिति अनुमिनुयादित्यर्थः केन पुत्रं लिङ्गैः नयाह-  
 (लक्षणं वेत्यादि) । स्वदेहाद्भवमव क्तम, आगतुकस्तु-द्वयद्वै-  
 दिकतो म्रणः, साऽगममवतिलकास्तु प्रतीताः तद्वयमत्र प्रयोगः-

मनुष्याऽयम्, अमयसाधारणज्ञानादिलक्षणाविशिष्टं कुण्डल-  
 श्बः, इति स्वाधर्म्ये धर्म्येदृष्टान्तयोः सत्त्वेनाभावाद्ययमहेतुरिति  
 ज्ञेत् । नैवम् । हेतोः परमाधेनेकक्षणव्याप्तद्वन्द्वनैव गमकत्वाप-  
 न्धोः उक्तं च न्यायवादिना पुरुषवन्द्रेण—अथयाऽनुपपन्नत्वमात्रं  
 हेतोः स्वात्तक्षणम्, सत्त्वाऽसत्त्वे इ तद्वर्षम् । दृष्टान्तव्यवक्षणम् । न  
 च धर्मिसत्तायां धर्म्याः सर्वेऽपि सर्वदा नवत्येव, पदादेः शुद्ध-  
 स्वादिधर्मैर्व्यतिचारात् । नतो दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वधर्मो यथ-  
 पि क्वचित् हेतौ न दृश्यते तथापि धर्मिसत्त्वकूपमन्थाऽनुपपत्तं  
 भविष्यतीति न काश्चिद्विरोध इति भावः । यत्राऽपि धूमादौ  
 दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वं हेतोर्दृश्यते, तत्रापि साध्यायथाऽनुपप-  
 न्नस्यैव प्राधान्यात्, तस्यैवैकस्य हेतुत्वज्ञानताऽवसंथा । तथा  
 चाह— "धूमार्थेयथैव स्यातां, सत्त्वाऽसत्त्वं च लक्षणं । श्रव्यथाऽ-  
 नुपपन्नत्व—प्राधान्यात्तद्वैक्यता" ॥ २ ॥ किं च—यदि दृष्टान्तं  
 सत्त्वाऽसत्त्वदर्शनात्केतुमेक इत्यन्ते, तथा लोहद्वन्द्वं बद्धं, पाथि-  
 वत्वात्काष्ठादिवदित्यादेरपि गमकत्वं स्यात् । अथवायि च—  
 "दृष्टान्तं सत्त्वसत्त्वायाः, हेतुः सत्त्वयद्यद्वैतः । लोहद्वन्द्वं  
 जयेद्वद्धं, पाथिवत्वाद् द्रुमादिवत्" ॥१॥ इति । यदि च पक्षध-  
 र्मेत्सपक्षसत्त्वविपक्षाऽसत्त्वव्यवक्षणं हेतोस्त्वैक्यमनुपपन्त्यापि  
 यथोक्तोपपन्त्यासाध्यं सहायथाऽनुपपन्नत्वमन्वेषणीयं, तर्हि-  
 तद्वैकं लक्षणमनया यत्कुञ्चितस्य, किं पक्षत्रयेण । आह च—  
 "श्रव्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् । साध्यथाऽनुपपन्नत्वं,  
 यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥१॥ इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, म-  
 न्यगहननाप्रसङ्गात्, अथत्र यन्नेतोकथावर्ति । आह—अथवायि-  
 पयत्वादेवात्रानुमानप्रवृत्तिरयुक्ता । नैवम् । पुरुषपिण्डमात्रप्र-  
 त्यक्षतायामपि मनुष्यत्वं वा वाति ? संहिदाद् युक्तं पञ्चानुमानो-  
 पन्यास इति कृतं प्रसङ्गम् ।

से किं तं सत्त्वं ? । सत्त्वं पंचविद्ं पणत्तं । तं जहा-  
 कर्षणं कारणेण गुणेषु अवयवेषु आसम्पणं ॥

'से किं तं सेसवमित्यादि' पुरुषार्थोपयोगिनः पणजिज्ञासि-  
 तात् तुमुदाहरंशोर्दाम्ना हेतुनादिरर्थः शेष इहोच्यते । स गम-  
 कत्वेव यस्याऽस्ति तच्छेषवदनुमानम् ।

तच्च पञ्चविधम्, तद्यथा—  
 से किं तं कर्षणं ? । कर्षणेण सेसे सहेणं जेरि ताडिएणं  
 वमत्तं दकिएणं मोरं किंकाडिएणं हयं हेसिएणं गयं  
 गुगुलुप्राएणं र्हं पणपणप्राएणं, सेत्तं कर्षणं ॥

( कर्षणम्यादि ) तत्र कार्येणाऽनुमानम् । यथा इयमक्षयं  
 हेतितेन, अनुमितुने इत्यप्याहारः । हेतितस्य तत्कार्येण-  
 यत्, तदाऽऽकरयं इयाऽप्रति या प्रतीतिरुपपत्ते तर्हि कार्येण  
 कार्यत्तरणेऽप्यत्र शेषवदनुमानमुच्यते इति भावः । क्वचित्तु  
 प्रथमतः शङ्कराध्वन्द्वेन्यादि दृश्यते, तत्रोक्तानुसारतः सर्वो-  
 दाहरणेषु भावना कार्या ॥

से किं तं कारणेणं ? । कारणेणं तंतयो परस्स कारणं, ण  
 पयो तंतुकारणं, बीरणा कस्स कारणं, ण कपो बी-  
 रणाकारणं, मिथिदो परस्स कारणं, ण घनो मिथि-  
 वकारणं, सेत्तं कारणेणं ॥

( से किं तं कारणेणमित्यादि ) इह कारणेण कार्यमनुमा-  
 नं । यथा विशिष्टमद्योत्पत्तिदर्शनात् काश्चित् लुप्तपुत्रानं क-  
 रति । यदाह— "रोऽस्त्वगवलव्याल-तमालमस्तिनियुमानं" । वृष्टि



अयुग्माणा

अभिधानराजेंद्रः नैवं प्रायाः पयोमुचः” ॥ १ ॥ इति । एवं चम्दा-  
 द्याज्जलपेठेखिरनुमीयेते, कुमुदविकासः । मिश्रोद्याज्जलरह-  
 प्रबाधः, धुकमधमोकः । तथाविधवर्षणास्तस्यविष्यासिः, ह-  
 वीबलमनःप्रमोदभेत्वादि । तद्वं कारणमेवहानुमापकं साय-  
 स्यमाकारणम् । तत्र कार्यकारणभाव एव कर्णोच्छ्रितप्रतिपत्ति  
 पर्यैरुत्तमेव तावन्नियतं दर्शयन्नाह-तन्त्वः पटस्य कारणम्, न तु  
 पटस्तन्मनां कारणम् । पूर्वमनुपलब्धस्य तदर्थेव तद्वाचं त-  
 स्मात् । इतरेषां तु पटाभावेऽप्युपलम्भात् । अन्नाह-ननु यदा  
 कश्चिन्निष्पत्तिः पटजानेन संयुक्तानि तन्तु कमेण विद्यांजयति,  
 तदा पटाऽपि तन्मनां कारणं ज्ञयत्येव । नैवम् । सर्वेनोपयोगाभा-  
 वात् । यद्येव हि स्रष्टव्यस्तथा सत् स्वस्थिनिभावेन कार्यमुपकृते  
 तदर्थे तस्य कारणत्वेनोपदिश्यते । यथाः मृत्पाकाः घटस्य । ये तु  
 तन्मृत्विद्योत्तरेऽभावीजवना पटेन तन्त्वः समुत्पद्यन्ते,तेषां कथं  
 पटः कारणं निर्दिश्यते, न हि अत्राऽनावेन भवत आरोगिता-  
 सुखस्य उच्चरः कारुण्यमिति शक्यते वक्तुम् । यद्येवं पटऽप्युत्पद्य-  
 माने ततयोऽभावीजत्वमिति तेषां तत्कारणं न स्फुरिति चेत् ।  
 नैवम् । तन्तुपरिणामरूप एव हि पटः, यदि च तन्वः सर्वथाऽ  
 भावीजत्रयस्तथा मुद्गाद्यं घटस्यैव पटस्य सर्वथैवापलम्बितं  
 स्यात्, तस्मात्पटकालेऽपि तन्वः सन्तीति सर्वेनोपयोगात्  
 पटस्य कारणमुच्यते । पटविद्योत्तरेण त्वेकेकतन्मृत्स्यत्वायां  
 पटो नोपपद्यते । अतस्तत्र सर्वेनोपयोगाभावात्सां तेषां कार-  
 णम् । एवं चोत्तरकटादिष्वपि ज्ञानमा कार्या । तद्वं यद्यस्य  
 कार्यस्य कारणत्वेन निश्चितं तत्तस्य यथासम्भवं गमकत्वेन  
 वक्तव्यमिति ।

से किं तं गुणेषु ? गुणेषु-सुवायं निकसेणं, पुष्पं गंधेणं, ल-  
 ब्धेणं रसेणं, भद्रं आसायणं, वर्यं फासेणं, सेचं गुणेषु ॥

( से किं तं गुणेषामित्यादि ) निकपः कपपट्टना कपितसुव-  
 र्णेखा, तेन सुवर्णेणमुमीयेत । यथा पञ्चदशदिवर्णकोपेनमिदं  
 सुवर्णं, तथाविधनिकपापरम्भात्, पूर्वापञ्चोपयोज्यसंनसुवर्णे-  
 वत् । एवं शतपरिक्रादिपुष्पमत्र, तथाविधनान्धोपलम्भात्, पूर्वा-  
 पञ्चपञ्चस्तुवत् । एवं ब्रह्मणं मदिवाचस्वाद्योऽपेक्षितेनभवतो-  
 ऽनियतस्वरूपा अपि प्रतिनियतत्वाविधिरसास्यादस्पर्शादियु-  
 षोपलम्बे, इति नियतस्वरूपाः साधयितव्यः ।

से किं तं अयवयेणं ? अयवयेणं-महिंसं सिंगेणं, कुक्कुं  
 सिहाणं, हृत्वि विसाणं, वाराहं दाहाण, मोरं पिच्छं-  
 णं, आसं खुरेणं, वग्मं नरेणं, चवरं बाह्मणेणं, दु-  
 प्यं मणुस्सादि , चत्पयं गवमादि, बहुपयं गोमिआमादि,  
 सीहं केसेरेणं, वसहं कुक्कुहेणं, महिला वल्यवाहाण । परि-  
 अरवधेणं भर्तं, जाण्जा महिद्विभ्रं निवमणेणं । सित्येण-  
 दाणपामं, कविं च एकाणं गाहाण ॥१॥ सेचं अयवयेणं ॥

( से किं तं अयवयेणमित्यादि ) अयवयदर्शनेनावयवो अ-  
 नुमीयेते । यथा महियोऽत्र, तद्विनाभृतष्टङ्गापलम्बेः, पूर्वा-  
 पञ्चोपयोज्यसंनप्रदेशवत् । अयं च प्रथमो वृत्तिवररुद्धकाद्य-  
 न्निगन्त्यादप्रत्यक्ष परावर्गविति उच्यते; तन्मृत्तनायामिच्य-  
 क्षत एव तस्मिन्नेः; अनुमानवैयर्थ्यःपसङ्गादिवा । एवं शोषादाहर-  
 णाभ्यापि भावनीयानि; नवरं हिपदं मनुष्मादीत्यादि । मनुष्मो-  
 ऽयम्, तद्विनाभृतपदयोऽपलम्भात्, पूर्वदृष्टमनुष्मवत् । एवं

चतुष्पदबहुपदेष्वपि गोम्ही, कर्षुगुगाली । “परिवरबन्धेण  
 भद्रं” इत्यादिगताया पूर्वं व्याख्यातेव । तदनुस्वारश्च भावा-  
 योऽप्युक्ता इति ।

से किं तं आसणं ? आसणं-अग्निं भूयेणं , सन्निसं  
 बज्ञाणं, बुद्धिं अन्नभिविकारेणं, कुसुपुचं सीहमायारेणं,  
 सेचं आसणं, सेचं सेसवं ॥

( से किं तं आसणमित्यादि ) आश्रयतीत्याश्रयो धूमबला-  
 कादिमन्त्र धूमादम्यनुमानं प्रतीतमेव । आकारेऽङ्गितादिनि-  
 क्षाप्यनुमानं भवति । तथा चोक्तम्-“आकरिदिक्रितेगत्या, से-  
 ष्या भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽनगते मनः” ॥१॥  
 अन्नाह-ननु धूमस्मद्भ्राणकार्येवात्, पूर्वोक्तकार्यानुमान एव गत-  
 त्वातिकमिहापन्यासः ? सत्यम् । किन्त्वन्म्याश्रयत्वेनापि लोके  
 तस्य रूढत्वाद्ब्राह्मण्युपन्यासः कृत इत्यदोषः । तदेतद् दृष्टव-  
 दनुमानम् ।

से किं तं दिद्वसाहम्बं ? दिद्वसाहम्बं दुविहं पञ्चत् ।  
 तं जहा-साम्बदिद्वं च विसेसदिद्वं च ॥

[ से किं तं दिद्वसाहम्बमित्यादि ] दृष्टेन पूर्वोपलब्धेनाद्येन  
 सह साधर्म्ये दृष्टसाधर्म्ये, तद्व्यक्तत्वेन विद्येन यत्र तद् दृष्टसा-  
 धर्म्यवत् । पूर्वदृष्टसाधर्म्येः कश्चित्सामान्यतः कश्चिन् विशेषतो  
 दृष्टः स्यादस्मद्भ्राणकार्येवात्, पूर्वोक्तकार्यानुमान एव गत-  
 त्वातिकमिहापन्यासः ? सत्यम् । किन्त्वन्म्याश्रयत्वेनापि लोके  
 तस्य रूढत्वाद्ब्राह्मण्युपन्यासः कृत इत्यदोषः । तदेतद् दृष्टव-  
 दनुमानम् ।

से किं तं सामयणदिद्वं ? सामयणदिद्वं-जहा एगो पुरिसो  
 तहा बहवे पुरिसा, जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो,  
 जहा एगो कग्मिमावणो तहा बहवे कग्मिमावणा, जहा बहवे  
 करिमावणा तहा एगो करिमावणो, सेचं सामयणदिद्वं ॥

[ से किं तं सामयणदिद्वमित्यादि ] तत्र सामान्यत्वे यथा  
 एकः पुरुषस्तथा बहवः पुरुषा इत्यादि । इदमुक्तं भवति-ना-  
 लिकरुद्धोपादायानः कश्चित् तत्रप्रथमतया सामान्यत एक कश्चि-  
 न् पुरुषं दृष्ट्वाऽनुमानं करोति । यथा-अयमेकः परिदृश्यमानः  
 पुरुष एतदाकारविशिष्टस्तथा बहवोऽत्रापरिदृश्यमाना अपि  
 पुरुषा एतदाकारसम्पन्ना एव, पुरुषत्वाविशेषात्, अन्याकारत्वे  
 पुरुषत्वहानिप्रसङ्गात्, गवादिवत् । बहुषु तु पुरुषेषु तत्रप्रथमतो  
 वीक्षित्वेनैवमनुमानोति-यथाऽम् । परिदृश्यमानाः पुरुषा एत-  
 दाकारवन्तस्तथाऽपरोऽप्येकः कश्चित्पुरुषः एतदाकारवानेव,  
 पुरुषत्वात्, अपरकारत्वे तर्कान्प्रसङ्गात्, अथवादिवत् । इत्येव  
 कार्यापणादिष्वपि चारुचम् ।

विशोषतेन दृष्टमाह-

से किं तं विसेसदिद्वं ? विसेसदिद्वं से जहा साम केऽ  
 पुरसे, बहुणं पुरिसाणं मजे पुव्वदिद्वं पञ्चिजाणो जा-  
 अयं से पुरिसे बहूणं करिमावणाणं मजे पुव्वदिद्वं करि-  
 सावणं पञ्चिजाणो जा-अयं से करिमावणं ॥

( से जहा नाम इत्यादि ) अथ पुरुषाः सामान्येन प्रतीता एव के  
 चङ्गे यदा कश्चित् कश्चित् कश्चित् पुरुषविशेषे दृष्ट्वा तद्विना-  
 लिकरुद्धोऽन्वयप्रतीत्यर्थः समयात्तरं बहुपुरुषसामान्यमेव त-  
 मेव पुरुषविशेषमासीनमुपलम्बानुमानार्थतयाः पूर्वं प्रयोगलम्बः  
 स एवायं पुरुषः, तथैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उभयाभिज्ञमनु-

व्यवत् । इत्येतत् तदा विशेषदृष्टमानुमानमुच्येत, पुरुषविशेषविषयत्वात् । एवं कार्याण्यपि विषयत्वात् ।

तस्यैवमानुमानस्य त्रैविध्यमुपदर्शय सांप्रतं तस्यैव कालत्रयविषयतां दर्शयन्नाह—

तस्स समासओ तिविहं गहणं जवइ । तं जहा—अतीयकालगगहणं, पदुप्यषकास्रगगहणं, अणायगकालगगहणं ॥

( तस्वेति ) सामान्येनानुवर्तमानमानुमानमात्रं संबन्धेत, तस्याऽनुमानस्य त्रिविधं ग्रहणं भवति । तद्यथा—अतीतकालविषयग्रहणं प्राञ्चल्यं च्युतुनः परिच्छेदोऽतीतकालग्रहणम् । प्रत्युत्पन्नो वर्तमानः कालस्तद्विषयं ग्रहणं प्रत्युत्पन्नकालग्रहणम् । अनागतो भविष्यत्कालस्तद्विषयग्रहणमनागतकालग्रहणम् । कास्रयवचरिणोऽपि विषयस्थानुमानापरिच्छेदो जयतीत्यर्थः ।

मे किं तं अतीयकालगगहणं ? अतीयकालगगहणं उत्प्लाणि वणाणि निप्यं सव्वं वा मेइणि पुष्पाणि अ कुं-दरराण्णदीहिआतहागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा सुवुड्ढी आमी, सेचं अतीयकालगगहणं ॥

तत्र ( उत्प्लाणंदि ) उत्प्लाणं तेषु घनेषु नाति तथा । अयमत्र प्रयोगः—सुवृष्टिरिहाऽऽसन्नं, तृणवननिप्यसस्यपु-र्वीतत्रजसपरिपुणं कुलादिजस्राशयप्रभृतीतत्कार्यदर्शनाद्, अ-तिमतदेशवनं, इत्यतीतस्य वृष्टिसंज्ञाविषयस्य परिच्छेदः ।

से किं तं पदुप्यषकालगगहणं ? पदुप्यषकालगगहणं साहूगोअरगगयं विच्छांरुयपउरभत्तपाणं पासित्ता, तेणं साहिज्जइ, जहा मुभिकसे वट्टइ । सेचं पदुप्यषकालगगहणं ॥

साधुं न गोचराग्रगतं भिक्षुप्रदियं विशेषणं उर्त्तिमानि गृह-स्थैर्यत्तानि प्रयुक्तकणमानि यस्य स तथा तं ताहयं हृणा क-ञ्चित् साचयति । सुभिक्षुमिह चरेते, साधूनां तदेतुकप्रयुक्त-कपानलामदर्शनात्, पूर्वदृष्टप्रदेशाचरिति ।

से किं तं अणायगकालगगहणं ? अणायगकालगगहणम्-अ-म्भसप निम्भस्रचं, कसिणाय गिरं । सविज्जुआमेहा । यणि-अं वाउरुज्जायां, संभारत्ता पणिष्ठा य ॥ ? । वारुणं वा महिदं वा अणाययं वा पसयं उपपायं पासित्ता तेणं साहि-ज्जइ, जहा सुवुड्ढी भविस्सइ । सेचं अणायगकालगगहणं ॥

( अणस्रत्त निम्भस्रचं ति ) गाथा सुगमा, नवरं स्तानि मेघ-गात्रिणं ( वाउरुज्जायां स्ति ) तथाविधो हृद्यव्यभिचारी प्र-द्विणं विष्णुं भ्रमन् प्रशस्तो यातः ( वारुणं ति ) आर्षाभूवादिन-कृतममयं माहेन्द्रोर्दिणोऽप्येधादिनकृतसम्भयम् । अत्यन्तरमु-त्पातमुलकापातविशुद्धाहविकं प्रशस्तं वृष्ट्यव्यभिचारिणं हृष्टाऽनु-क्रीयते—यथा—सुवृष्टिरत्र भविष्यति, तद्व्यभिचारिणामनुमि-सत्यादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्शनाद्, यथाऽन्यथ-दिति । त्रिविधो ह्यत्र निम्भस्रत्वाद्यो वृष्टिं न व्यजिचरन्त्यतः प्रतिपत्नैवं तत्र निपुणेन भाव्यमिति ।

एषसि चैव विवज्जासं तिविहं गहणं भवइ । तं जहा अती-यकालगगहणं, पदुप्यषकालगगहणं, अणायगकालगगहणं । से किं तं अतीयकालगगहणं ? अतीयकालगगहणं निष्पाणं

अनिप्यसं वा सव्वं वा मेइणि । सुकाणि अ कुंढवरनदीहिष्वा-तहागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा कुवुड्ढी आसीं । सेचं अतीयकालगगहणं । से किं तं पदुप्यषकालगगहणं ? पदुप्य-षकालगगहणं साहूगोअरगगयं जिकसं अन्नभमाणं पासित्ता तेणं साहज्जइ, जहा मुभिकसे वट्टइ । सेचं पदुप्यषकालगग-हणं । से किं तं अणायगकालगगहणं ? अणायगकालग-हणम्—धमायंति दिसाओ, मंविअमेइणिअपकिवट्टा । वा-या नेरइआ खलु, कुवुट्टिमेवं निवेयंति ॥ ? ॥ अगगंयं वा वायव्यं वा अणायवं वा अणमत्तं उपपायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा कुवुड्ढी भविस्सइ । सेचं अणायगकालगग-हणं, सेचं विमेसदिहं, सेचं दिह्साहम्मयं, सेचमणुमाये ।

( एषसि चैव विवज्जासं इत्यादि ) एतेषामेवोष्णवनादीनाम-तीतवृष्टिप्रादिसाचकरोधेनोपन्यस्तानां हेतूनां व्यत्यसि व्यत्यधे सा-ध्यस्यापि ध्यत्ययः साधयितव्यः। यथा कुवुष्टिरिहाऽऽसि । अस्तुणवना-दिदर्शनादिव्यादिव्यत्ययः सुत्रसिद्धः । नवरम्—अनागतकाल-ग्रहणं माहेन्द्रवारुणपरिदारं पाणेषु वायव्योत्पाता उपन्यस्ता, ते-षां वृष्टिविधातकत्वात्, इतरेषां सुवृष्टिहेतुत्वादिति । “सचं वि-ससदिह, सचं दिहसाहम्मयं” इत्येतांश्रगमनत्वं हृष्टसाधर्म्य-ज्ञानानुमानाभावेद्वयस्य समर्थनानन्तरं युज्यते । यदि तु सर्व-व्याचनस्यैव स्थाने इत्येतत् तदा हृष्टसाधर्म्यवर्तोऽपि सभेद-स्यानुमानाभिव्यक्तत्वात् कालत्रयविषयतां योजयंथिच । अतस्ता-मप्यभिधाय ततो निगमनद्वयमिदमकारीति प्रतिपत्तव्यम् । तदे-तदनुमानमिति । अनु० ।

तत्र कश्चित्पञ्चाशदयनेन वाक्येन, कश्चिद्दशाश्वययेन वाक्येन परं प्रति दर्शयते—तत्र पञ्चाशदयथाः—“प्रतिहादिमुद्गाहरणाद्यभि-धानमिति वाक्यशेषः । अथ च—“धर्मा मंगलमुक्तिं, अहिंसा संजमां तयोः । देवा वि तं णमंमति, जस्स धम्मं सया मणो ” ॥१॥ इति शेषमापहृत्य निदर्शयते—

कत्थइ पंचायवयं, दसहा वा सव्वहा न परिमिदं ।

न य पुण सव्वं जन्नइ, हंइ । सवियारपक्खायं ॥ ५ ? ॥

धोत्तरमेवाङ्गीकृत्य कश्चित्पञ्चाशदयनेन, दशधा वति—कश्चिद्-शावयवम् । सर्वथा गुरुश्रेयपक्ष्या न प्रतिपिञ्जमुद्गाहरणाद्यभि-धानमिति वाक्यशेषः । यद्यपि च न प्रतिपिदं तथाऽप्यविशेष-जैव च न पुनः सर्वे भगवते उदाहरणादि । किमिव्यत् आह- (हंइ) सांघियारपक्खायं ति हंइ । न्युपपदशोचं । किमुपपदशोच-ति ? यस्मादिहाऽन्यथ शास्त्रास्त्रं सवियारं सप्रतिपक्षमाक्यात-म्, साकटयत् उदाहरणाद्यभिधानमिति गम्यते । अत्राश्वयथाह प्रतिहाद्यः । यथाकम्—“प्रतिहादिमुद्गाहरणोपनयनिगमानान्यथ-यथा” । दश पुनः प्रतिहादिभसद्यः । वव्वयति च—“ते उ पदघणविभवां हेतुविनत्वां” इत्यादिप्रयोगाञ्छेतेषां लाघवा-र्थमिदं स्वस्थाने दर्शयिष्याम इति गाथायः । दश० ? अ० ।

दशाश्वयवाः पुनरिदमथ—  
प्रतिहादि १ विभक्तिः २ हेतुः ३ विभक्तिः ४ विषयः ५ प्रतिषेधः ६ हृद्यन्तः ७ आशाङ्कः ८ तत्प्रतिषेधः ९ निगमनम् १० । हृद्य च दशाश्वयवाः प्रतिहादिमुक्तिमिति भवति । अथयवयं च

तच्छुद्धिमात्रविद्वन्वाच्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञादीनामिष भा-  
वनीयामस्य च नु चकल्पं, तन् नोक्तयनं, गमनिकामाप्रत्यावगा-  
रन्त्यर्थेति । इत्य० १ अ० । ( प्रतिज्ञादीनां स्वरूपं साक्षात्करणं  
स्वरूपस्थाने इत्यर्थः )

अथोत्तमं चूषेऽपि बहुव्ययनराजा इत्यवयवयनैव वाक्येन  
सर्वत्रयवयनेन व्याख्यातं नियुक्तिःकारः—

ते च पश्चद्विभर्त्ता, हेतुऽवन्तर्त्ता विवरत्त पदिसदो ।

विद्धंती आसंका, तपदिदेशो निगमयां च ॥ ४५ ॥

( तस्मिन् ) अवयवयोः । तु पुनःशाब्दार्थः । ते पुनरमी प्रतिज्ञादयोः ।  
तत्र प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा, बहुव्ययमात्रस्वरूपं च । ५वयवः । तथा  
विनञ्जनं विनञ्जिः, तस्या एव विषयविभागकथनमिति द्वितीयः ।  
तथा द्विनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानि हेतुस्त्व-  
तीयः । तथा विनञ्जनं विभक्तिरिति पूर्ववत्तुच्यते । तथा विसह-  
काः पदो विपक्षः साध्याद्विषयैश्च द्वि पञ्चमः । तथा प्रतिषेधनं  
प्रतिषेधः, विपक्षस्येति गम्यत इत्यर्थे षष्ठः । तथा इष्टमयमन्तं  
नयतीति इष्टान्त इति सप्तमः । तथा आशङ्कनमाशाङ्का, प्रकामाद्  
इष्टान्तस्त्वैव इत्यष्टमः । तथा न्यग्रान्तवेषः, अचिकित्ताशङ्कामि-  
वेष इति नवमः । तथा निश्चयनं गमनं निगमनम्, निश्चितोऽव-  
साय इति दशमः । अशब्द उक्तस्तुमुच्यते इति गायत्र्यमासा-  
र्थः । व्यासार्थे तु प्रत्ययवयवं यद्यति प्रथकार एव ॥ ४२ ॥

तथा चाइ—

धर्मो मंगलमुक्तिर्द्वि—ति पञ्चा अत्रचवयवनिर्देशो ।

सो य इहेव जिगमश्, नऽश्चय पश्चद्विजर्त्ता ॥ ४६ ॥

धर्मो मङ्गलमुक्त्यभिहितं पूर्ववत् इति । आह—कथं प्रतिज्ञा-  
रूपव्यते । आसवचकोर्मिहेश्च इति । उक्तञ्च अत्रतारकः । अत्रतार-  
कश्चातोपर्यायाधिकार्याशङ्कतीति । तत्र च— ' आगमां आसवच-  
न—मासं शेषकृत्वाऽद्विः । चीनारागोऽमुक्त वाक्यं, न श्याकंत्वंसं-  
जयाम् ॥ १ ॥ तस्य वचनमात्रवचनम्, तस्य निर्देश आसवचनानि-  
र्देशाः प्राह—'अवमासम्' इति । उच्यते—विप्रातपञ्चसंप्रतिपत्ति-  
निश्चयनमन्येन एव प्रतिज्ञेति नैव शब्दः । पाठान्तरं वा—'साधवच-  
ननिर्देशः, इति । साधव इति साध्वम्, उच्यते इति वचनमर्थः  
यस्मात्स एवोच्यते । साध्वं च तद्वचनं च साधवचनम्, साधा-  
र्थ इत्यर्थः । तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेत्युक्तः प्रथमोऽवयवः । अधुमा  
द्वितीय उच्यते—स चाधिकृतो धर्मः किमिहेव जिनशासने अ-  
स्मिन्नेव श्रौतान्ते प्रवचनं नात्यत्र कपिलादिप्रमाणे ? । तथादि-  
पर्वकत्त एवोपलज्यते यस्मात्प्रवृत्तप्रवृत्तौकाः सुपुनोगेणो परिज्ञा-  
त्तुच्यतेः प्रासुपुनरे कृत्वाणाः, तत्रश्च कुतस्तेषु धर्मैः । इ-  
त्याशङ्क बहु बहुव्ययम्, तन् नोक्तयनं, प्र-अधिस्तरभयाद्वाधि-  
तत्वात्त्वेति । प्रतिज्ञा प्रविभक्तिरयम्—प्रतिज्ञाविषयविभाग-  
कथनेति गायार्थः । उक्तो द्वितीयोऽवयवः ॥ ४६ ॥

अधुमा तृतीय उच्यते । तत्र—

सुरपुरःश्रो नि हेऊ, धम्मांने त्रिया ल जं परमे ।

हेतुऽवन्तर्त्ता निरुवाहि—निवाण अवहेण य जियेति ॥ ४७ ॥

सुरा देवास्तैः पूजितः सुरपूजितः । सुरप्रहस्यनिद्रापुलक-  
णम् । इति शब्द उपदर्शनं । काश्यम्, हेतुः पूर्ववत् हेतव्यैस्त्व-  
त्तु चेतुं वाक्यम् । हेतुस्तु सुरप्रादि प्रथमत्वादिभिः प्रथमः ।  
अथैव विद्वानां दर्शयति—धर्मः पूर्ववत् । तिष्ठत्यास्मिन्निति स्था-  
नं, धर्मैश्चाली स्थानं च धर्मस्थानम्, आनमालयः, तस्मिन्

स्मिताः । तुवरमेवकारार्थः, स चावधारणे, अयं श्लोपरिहात क्रिय-  
या सह योरत्तः । यद् यस्मात्, किञ्चुते धर्मस्थाने, परमे प्राधाने,  
किम्, सुरादिभिः पूज्यम् एवेति वाक्यशेषः । इति तृतीयोऽव-  
यवः । अधुना चतुर्थ उच्यते—हेतुविभक्तिरियं हेतुविषयविभाक्-  
कथनम् । अथ क एते धर्मस्थाने स्मिता इत्यत्राह—निरुपचयम्  
उपार्हल्लुषा माया इत्यनर्थान्तरम् । अथ च कांशोऽपलक्षणम् ।  
तत्रश्च निर्गतो उपभ्याद्यः सर्वे एव कथाया येभ्यस्ते निरुपच-  
यो विष्कवायाः, जीवानां पृथिवीकाधिकारिणाम्कृत्वाणां च धर्माधिष्ठाया,  
अशब्दात्पदस्वरसादिना च हेतुभूतेन जीवन्ति प्राणान् धार-  
यन्ति ये त एव धर्मस्थाने स्मिता नाम्न् इति गायार्थः ॥ ४७ ॥

उक्तवत्तुर्थोऽवयवः । अधुना पञ्चममभिधित्पुराह—

जिणवयवपदुद्धे वि हु, समुदाइ अइदुविवक्सो ॥ ४८ ॥

मंगलमुक्तिर्द्वि जणो, एणमइ आइदुविवक्सो ॥ ४९ ॥

इह विषयः पञ्चम इत्युक्तम् । स सायव्य-अतिज्ञादिव्यक्तयोपि ति ।  
जिनास्तीर्थकारस्तयोः वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रतिज्ञा अ-  
धीता इति समासः, तात् । अधिश्चर्यादप्रतिज्ञानपि । इ इत्यर्थे  
निपातोऽवधारणार्थः । अस्थानप्रयुक्तश्च स्थानं च दर्शयिष्यामः  
। इयं गुराहो । इत्युक्तो लोकप्रसिद्धः—अधिश्चर्यादप्रतिज्ञा-  
परिग्रहः । न विद्यते धर्मं कश्चिद्यथा ते अधर्मं कश्च्यस्तात् । अधि  
श्चर्यादुधर्मं कश्चिन्निपि । किम्, । मङ्गलमुक्त्या मङ्गलप्रधानया वि-  
या । मङ्गलमुक्त्यैव नाम मङ्गलमुक्त्यैवकारोऽवधारणः, योः किम् ?  
जनो लोकः । प्रकृत्यु नमति प्रशंसति । आधिश्चर्यादप्रतिज्ञा इति ।  
अत्राद्यव्य प्रतिज्ञा नच्छुक्तिश्च । नम्य विपक्षः साध्यादेविषयय  
इत्याद्यद्वयविपक्षः । तत्राधर्मं कश्चिन्निपि मङ्गलमुक्त्या जनः प्रशंस-  
तीत्यनेन प्रतिज्ञाव्यवहारादेवेत्यामोक्त्यान्वयान्तरं काद् । जिनव-  
चनप्रतिज्ञानपिच्यते तु चच्छुद्धस्तथाऽपि इत्युपगमप्रकृत्या  
धर्मैस्त्वेति गायार्थः ॥ ४८ ॥

विइयदुपस्स विवक्सो, सुहेहिं पुज्जंति जणणजंइ वि ।

बुक्काइ वि सुनया, वृत्तंते एणपपुक्कवक्सो ॥ ४९ ॥

द्वयोः पूरणं द्वितीयम्, द्वितीयं च तद्वयं च द्वितीयव्ययम्—हेतुस्त-  
च्छुक्तिः, इत्वं च प्रागुक्तद्वयानुपेत्या द्वितीयमुच्यते । तस्यार्थं विप-  
क्षः इह सुरैः पूज्यन्ते यथायाजिनोऽपि । इयमत्र भावना—यथ-  
याजिनो हि मङ्गलरूपा न भवन्ति, अथ च सुरैः पूज्यन्ते, तत्रश्च  
सुरपूजितत्वंकारणमित्येव हेतुविषयः । तथा—अजातं कप्याः  
सोपधयश्च परमं स्ते वन्ते, अतोऽनेनैव ग्रन्थेन धर्मस्थाने स्थि-  
तः परम इत्यादिकाया हेतुविषयविषय विपक्ष उक्तः यद् इत्य-  
इति । उदाहरणं विपक्षमाधिकृत्याह—बुक्काइ योऽप्यविद्वान्त्वात् का-  
पिलादिपरिग्रहः । ते किम्, सुरनमा इवपूजिता उच्यन्ते ग्रन्थेन,  
तन्वासनप्रतिषेधैरिति ज्ञातप्रतिपक्ष इति गायार्थः । आत्—ननु इ-  
ष्टान्तमुपरिहाद्वयत्यर्थं तत्रश्च तत्स्वरूपं उक्तं च तत्रैव विपक्ष-  
स्तत्रातिषेधश्च उक्तं युक्तः, तत् किमपि हि विपक्षस्तत्रातिषेध-  
श्चाभिधीयते । उच्यते—विपक्षस्याप्याधिकृत एव विपक्षकारे सा-  
ध्यायमजिघासते, अन्त्येधमपि प्रपञ्च्यते इत्युक्तं । तत्रैव तत्राति-  
षेधोऽपि शागनं प्राप्नोति, तथा च सति प्रथमीर्ये जायते । त-  
स्माद्वाच्यं धर्मस्थानं चतुर्यथोः । आह—'दिद्धुतो आसंका, नप्य-  
हिन्दु' ॥' इत्येवमात् चतुरत्र इष्टान्तमभिधाया पुनराशाङ्कोऽन्य-  
तिषेधं च बहुव्ययं । तथाशब्द च तद्विपक्ष एव । तत्किमर्थमिह  
दुनविपक्षप्रतिषेधविषयिष्येति । । उच्यते—आनमालयपरम्परान्ते-

न दृष्टान्तद्वैविध्यवधापनार्थम्, यः कश्चनन्तःपुरुषोऽपि परोक्त-  
त्वाद्गमनस्यवाहाद्यभिर्यासैसाधनायाऽस्य न भवति, तस्मात्स-  
द्योर्विषयज्ञासिद्धिं याऽस्य उच्यते, स परम्परादृष्टान्तः । तथा च  
नाथैकतास्तथा साधयत्वाद्वापि भिन्नवैतानुत्तरत्र दृष्टान्ताव-  
भिधास्येते । तत्र तीर्थकृद्गणं दृष्टान्तमङ्गीकृत्यैव विपक्षप्रतिषे-  
धात्तुक्तौ । साधुस्यैवविद्वत्सैवाऽऽज्ञातप्रतिषेधौ दृष्टीव्यपे-  
क्षे इत्यर्थः । स्थानम् तं प्रागुक्तं विधानं साधयार्थमनुक्त एव  
दृष्टान्तः, उच्यतां काममिदं दृष्टान्तविपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च स एव  
दृष्टान्तः, किमित्युक्तरोपविद्यते, येन हेतुविभक्तकन्तरनिद्वैध न  
जयत्येते । तथाहात्र दृष्टान्ते भवयमाने प्रतिज्ञादीनामिषं श्लिष्यस्या-  
पि दृष्टान्तस्याहेतुसाधुत्तृणस्यैतादेव विपक्षस्तत्प्रतिषेधात्तुपपद्यते ।  
तत्रच साधुत्तृणस्य दृष्टान्तस्यासङ्गात् तस्मात्प्रतिषेधात्तुत्तरत्र न  
पृथक्स्यक्तयो भवति । तथा च स्तित्प्रत्यक्षावयं जायते । तथा प्रति-  
ज्ञाहेतुत्वाद्दृष्टान्तस्यैवः सविद्युत्किञ्चिदप्यवयवाः कर्मणोका भ-  
वन्तीत्यर्थोच्यते-इहाह(अथोयमाने दृष्टान्तस्यैव प्रतिज्ञादीनामपि  
प्रत्येकमाहाशङ्कतत्प्रतिषेधो यत्कर्म) स्तः । तथा च सत्यवयवबहुव्ये  
दृष्टान्तस्य वा प्रतिज्ञादीनामिषं विपक्षस्तत्प्रतिषेधात्तयां पृथगा-  
शङ्कतात्प्रतिषेधौ न वक्तव्यौ स्थानम् । एवं सति दृशावयवा न  
प्राप्नुवन्ति । दृशावयवं चद् वाक्यं अकृत्यन्तरणं प्रतिषिपादादि-  
चित्तस्यथाऽपि न्यायस्य प्रदीनार्थमेत एव यत्तुक्तं साधुत्तृण  
दृष्टान्तस्याशङ्कतात्प्रतिषेधात्तुत्तरत्र न पृथग्बक्तव्यौ स्यातामि-  
यादि, तत्रप्राक्च वेदितव्यमित्यलं प्रसङ्गः । एवं प्रतिज्ञादीनां  
प्रत्येकं विपक्षोऽस्तिदितः ॥१४६॥

अधुनाऽयमेव प्रतिज्ञाद्विषयकः पञ्चमोऽवयवो वर्तते इत्येतद-  
श्यायिदमाह—

एवं तु अवयवार्थो, चतुष्टयं पितृवस्तु पञ्चमोऽवयवो ।

एतो ह्येतेऽवयवो, विपक्षप्रतिषेधं तं शोचं ॥ १४७ ॥

एवमित्ययमेवकार उपप्रदर्शने । तुरवधारणे । अयमेवोऽवयवा-  
नां प्रमाणाऽङ्गलक्षणानां अर्थो प्रतिज्ञादीनां प्रतिपक्षो विपक्षः  
पञ्चमोऽवयव इति । आह-दृष्टान्तस्याप्यत्र विपक्ष उक्त एव, त-  
त्किमर्थं अनुशांमित्युक्तम् ? उच्यते । हेतोः सपक्षविपक्षान्भ्या-  
मनुवृत्तिन्यायान्तकपत्वेन दृष्टान्तधर्मत्वात्सिपक्ष एव वास्या-  
न्तर्भावादशोय इत्युक्तः पञ्चमोऽवयवः । अधुना षष्ठ उच्यते-  
तथा आह-इत उत्तरत्र षष्ठोऽवयवो विपक्षप्रतिषेधस्तं वष्येभि-  
दस्य इति साधार्यः ॥ १४७ ॥

इत्थं सत्त्वान्वेनाभिधायैतान्नामाहर्थावपक्षप्रतिषेधमभि-  
धातुकाम आह—

सायं सम्मथ पुमं, हासरई आठनामगोयसुहं ।

धम्मकं आइडुगे, विपक्षप्रतिषेधं मो एतो ॥१४८॥

( सायं ति ) सातवेदीनयं कर्म ( सम्मथंति ) सम्मथकं स-  
म्पन्नायः सत्यकं मोहनयं कर्मैव ( पुमं ति ) पुंवेदमोहनयम् ।  
( हासंति ) हस्यतेऽनेनेति हासस्तत्प्रार्थो हास्यम्, हास्यमोहनी-  
यम् । रय्यतेऽनेनेति रतिः, कीडाहेतु रतिमोहनयं कर्मैव ॥ (आठ-  
नामगोयसुहं ति ) अत्र शुभसम्पत्ः प्रत्येकमभिसिपक्षत्वे, अस्ते व-  
चनत् । तत्रच आयुःशुभं, नामशुभं, गोशुभं, तत्रायुःशुभं तं ती-  
र्थकत्वात्, नामशुभं, नामगोयं अस्मि कर्मैव शुभं तेषामेव अर्थः ।  
तथाहि-यथोनामादि शुभं तीर्थकर्तृनामैव भवति । तथो-  
क्तैर्नां तदपि शुभं तेषामेवैव । ( धम्मकं हि ) धर्मकं फल

धर्मफलम्; धर्मैव वा फलं धर्मफलम्, एतद्विहादेजिनोक्तस्यै-  
व धर्मस्य फलम् । अदिहादिना जिनांजनैव च धर्मैवैव फल-  
माप्यते । सर्वमेव चैतत् सुखहेतुत्वाद् दितम् । अतः  
स एव धर्मो भवति, न शब्दप्रादयः । तथाहि-मङ्गवो हितम-  
न्नेति मङ्गलम् । तत्रच यथोक्तधर्मैवैव मङ्गलते नाम्येन, तस्मात्-  
सायं मङ्गलं, न जितवचनमाहाः शब्दप्रादय इति पित्तम् ।  
आह-मङ्गलस्युक्तो जनेः प्रथमतोऽप्युक्तं, तत्कथमित्युच्यते मङ्ग-  
लस्युक्तिं गोप्राज्ञाऽऽदिमोहतिमिरोपपन्नसुक्तिगोचर्यो जन्म-  
प्रथममपि न मङ्गलत्वनिश्चयायाहम् । तथाहि न तैस्मिन्किञ्चि-  
दप्युक्तं सत्त्वेनां चक्षुष्मतां द्विचक्षाऽऽकारायाः प्रतीतेः प्रत्य-  
यतां प्रतिषेधते । अतएव एव तदप्राप्यारोपद्वारेण तत्रप्रवृत्तिरिति ।  
( आशुगे ते ) आशुद्वयं प्रागुक्तं, तस्मिन्प्राच्यविषयविपक्ष-  
प्रतिषेधः। मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः । एव इति यथा वचि-  
त इति गाथायाः । इत्यप्यप्यवयवप्रतिषेधः प्रतिषिद्यते-१४८॥  
संप्रति हेतुत्तुक्त्योर्विपक्षप्रतिषेधप्रतिषिपादादिष्वेवमाह—

अनिर्दिश्य सोषदित्या, वहाग महे ते वि नाम पुज्जति ।

अग्नी वि होञ्ज संत्तं, हेइविजत्तं। एव पत्तिसेहो ॥१४९॥

न जितानि भोत्रादीनि शक्तिपानि चैस्ते तथोच्यन्ते । उपधि-  
मञ्च मायेयनयोत्तरम् । उपधिना सह वचन्ते इति संप्रथमो  
मायायिनः, परमसंका इति यावत् । अथवा उपप्राप्तोपुपधि-  
मञ्चानेकद्वयः परिग्रहः । ( वहाग महे ते ) वहाग महे ते तथयिधाः, महा  
परिग्रह इत्यर्थः । ( वहाग महे ते ) अर्धनाति वधकाः प्रत्युप-  
देकतारः ( अत्र ते वि नाम पुज्जति ति ) यदीति पराभ्युपगम-  
संयुक्तः, त इति यादिकाः । अविः संज्ञावैभं नाम इति निपा-  
तो वाक्यालङ्कारार्थः । येऽजितेऽपि तदप्युपदेहः यहाजितो  
वर्तन्ते, यदि तऽपि नाम पुज्यन्ते, एवं तस्मिन्निपि अवेच्छति । न  
च कदाचिदप्यसौ धीतो जवति । तथा यदीधीवरत्ततोऽपि वाग्ध-  
येरःत्त्वज्ञानमादधीर्य, न अन्तर्भवति । यद्यैवमादिरत्यतोऽ-  
प्रावचनधर्मधीति मन्वते । अथापि कान्तरीशुष्यात् कथां चद्-  
बिभेकिना जनेन पुज्यन्ते, तथाऽपि तेषां न मङ्गलस्यसंप्रसिद्धिरे-  
हावतामनद्वेषेऽपि वस्तुनि तत्रप्राप्यारोपेण प्रवृत्तेः, तथाहाकल-  
धियामेव प्रवृत्तिवस्तुनस्तत्तत्तां गमयति । अतथाऽनेते वस्तुनि  
तदुक्त्या तेषामप्रवृत्तेः । सुविद्युत्तुक्त्यप्यत्र हेतुः प्रमत्तप्रा-  
ते वादिःसविलक्षणं धर्मस्य पुज्यन्ति, न यहायजिनः । तस्मा-  
द्वैतमत्तद्विदुषिजितत्वाज्जर्म एवात्तच्छं मङ्गलं, न याजिका इति  
क्षितम् । ( हेऽविजत्तं ति ) एव हेतुत्तिभक्तयोः ( पत्तिसेहो  
स्ति, विपक्षप्रतिषेधः । विपक्षशब्द इहाजितोऽपि प्रकरणात् साव-  
य इति गाथार्थः । एवं हेतुत्तुक्त्योर्विपक्षप्रतिषेधो दर्शितः ।

सांमते दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधं दर्शयन्माह—

इच्छाई उवयारे, पुयाठाणं जिणा उ सज्जावं ।

दिहंते पत्तिसेहा, छट्ठो एनां अवयवो उ ॥१५०॥

बुद्धादयः, आदिशुद्धात्कापिज्ञादिपरिग्रहः । उपचार इति  
सुपां सुपो जवनतीति न्यायात्तुपचारेण किञ्चित्तीन्द्रियं कथय-  
न्तीति कृत्वा न वस्तुविधाय्या पुज्यायाः स्थानं पूजास्तथा । सर्वमन्ना-  
जितान्तु सद्भावं परमार्थमिष्यन्ति वाक्यशेषः । तस्मान्ना-  
याः। चरुगुणयुक्तवादिंति भावना । दृष्टान्तप्रतिषेध इति । वि-  
पक्षशब्दोपेहाह दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधः। किम् ? एव एवोऽवयव ।  
नुविद्योपयाथैः । किं विशिर्नाह ?, सर्वोऽप्यवयवमन्वोऽपिः अस्ति-

ह्रादिविपक्षप्रतिपेधः पञ्चप्रकारोऽप्येक एवेति गाथायः ॥१४०॥  
पञ्चमवयवमभिधायार्त्तानां सप्तमं दृष्टान्तनामानमजि-  
घातुकाम आह—

अरहंतं भग्गामाभी, दिईतो साहुणो वि समविचा ।

पापएसु गिहोमु ठ, एस्तं अरहमाणा ठ ॥ १५ ॥

पूजामहंतीति अहंन्तः । न रुहन्तीति वा अरहन्तः । किम् ? दृष्टान्तं इति सम्बन्धः । नथा मागेगामिन इति । प्रकामस्तुपदिष्टेन मार्गेण गन्तुं शीघ्रं वेधां तं एव यद्दृष्टान्तः । के च ते ? इत्यत आह— साधवः । साधव्यार्ति सम्बन्धुकोनादिव्योमैरवयवमिति साधवः, तेषु वि दृष्टान्त इति योगः । किं तुलाः ?, समान्विता रागद्वेषादित-  
विष्ठा इत्यर्थः । किमिति तेषु दृष्टान्त इति ? अहिंसादिगुण-  
युक्तत्वात् । आह च— पाकरतेष्वभिधायमेव पाकस्केषु युद्धेष्व-  
गारेष्वेवन्ते शोषयन्ति विहरणपानमित्यथाहारः । किं कुर्यात्सा  
कथन्त आह— (अवहमाणा उक्ति) न चन्तेऽन्तः । तुल्यधा-  
रणायः । ततश्चाभ्यन्त एव, आरम्भाकरणेन पीडामकुर्वाणा  
इत्यर्थः । एवं द्विविधोऽपि दृष्टान्त उक्तः । दृष्टान्तवाक्यं च दम् ।  
स तु संस्कृत्य कस्येषोऽहंदादिवदिति गाथायः ॥ १५१ ॥ उक्तः  
सप्तमोऽवयवः ।

सप्तममहममभिधिसुराह-

तत्थ जवे आसंका, उदिरस जई वि कीरए पागो ।

तेण र विसमं नायं, वासतएणा तस्स पकिमेहे ॥ १५२ ॥

तत्र तस्मिन् दृष्टान्ते अथेदाशङ्का भवत्याक्षेपः । यथादिश्याऽङ्गीकृ-  
त्य यतानोप संयतानोप । अयिशाश्वत्थोपस्थाऽऽर्थाय । क्रियते  
निर्वर्त्येत् पाकः । कैः ? सुद्विर्गिराणि गम्यते । ततः किमित्यत  
आह— तेषां कारणेन । र इति निपातः किलशब्दात् । तेषां विषमम-  
नुत्पत्त्य, ज्ञातमुदाहरणं वस्तुतः पाकां पञ्जिविधेन साधुनामानव-  
द्युक्त्यभावादिति ज्ञाविशतमेत्येव पुनमित्यष्टमोऽवयवः । इदानीं  
नवममभिधिसुराह— यथानुत्पत्ति तस्य प्रतिपेध इत्येवञ्च भाष्य-  
कना प्राक्प्रपञ्चनमेत्येति न प्रतप्यत इति गाथायः ॥१५२॥ उक्तां  
नवमाऽवयवः ।

साम्पत्ते चरममभिधिसुराह--

तम्हा ठ सुरनराणं, पुजजं मंगलं सया भम्भो ।

दसमो एस अवयवो, पक्केठे तु पूणो वयणां ॥ १५३ ॥

यस्मादेवं तस्मात् सुरनराणां देवमनुष्याणां पुण्यस्त्वद्भाव-  
स्त्वेत्सावः पुण्यस्त्वात्मकं प्रातिभक्तिपदान्तर्यायं सदा सर्वकाल-  
तं यमः प्रागुक्तः । दशम एषोऽवयव इति संस्थाकथनम् । किं-  
थिश्रोष्टोऽयमित्यत आह— प्रतिज्ञाहस्तेः पुनर्वचनं पुनर्हेतुप्रति-  
ज्ञावचनमिति गाथायः । उक्तं द्वितीयं दशमवयवम् । साधवता-  
ऽङ्गता चावयवानां विनयोऽपेक्षया विग्रहप्रतिपत्तिजनकत्वेन  
भावयन्तेत्युक्तोऽनुगामः ॥१५३॥ दशमं ति० १ अ० ।  
प्रासङ्गिकमतिशय पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमिति  
प्रागुक्तं समर्थयन्ते—

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टा-  
न्तादिवचनम् ॥ १७ ॥

आदिशब्देनोपनयानिगमनादिग्रहः । एष च यत् व्याप्युपेतं  
पक्षधर्मतोपसंहाररूपं सौगम्ये, पक्षहेतुदृष्टान्तस्वरूपं भाह्यमा-  
त्राकारकाविति, पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयानिगमनप्रकारं मेधाधि-  
क्यैरेषोपकाञ्चनामनुमानमात्राय । नन्वास्तम् । व्युपपन्नमतीत्यादि

पक्षहेतुवचनरेखोपयोगात् ॥ ७८ ॥

पक्षप्रयोगं प्रतिपद्यन् हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति—

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्याऽनुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः । १२१।

तथैव साध्यसम्बन्धप्रकारेणोपपत्तिस्तथोपपत्तिः । अन्यथा सा-  
ध्यानाः प्रकारेणानुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥२१॥

अथ एव स्वकृपतां निरूपयन्ति—

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये

हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ ३० ॥

निगद्यथाव्याजम् ॥३०॥

प्रयोगानोऽपि प्रकटयन्ति—

यथा कृशानुमानं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमुक्ते धूम-  
ववस्थोपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेरौ ॥ ३१ ॥

एतदपि तथैव ॥३१॥

अनुयोः प्रयोगो नियमयन्ति—

अनयोरन्यतरमयोर्गेष्व साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयमयोगस्यै-  
क्याऽनुपयोगः ॥ ३२ ॥

अयमर्थः—प्रयोगमनुमेऽपि वाक्यविव्यास एव विशिष्यते, नार्थः स  
वाच्यतरप्रयोगेष्व प्रकटीय नृचिन्ति किमपरप्रयोगं ? इति । ३२।

अथ यदुक्तं “ न दृष्टान्तदिवचनं परप्रतिपत्तेरङ्गम् ” इति  
तत्र दृष्टान्तवचनं तावदात्राविकीर्यवस्तुकिं किं परप्रतिपत्त्यर्थं  
परं क्लीकियते ? किं वा हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णयं ? यथाऽ  
विनाभावस्त्वन्त्ये ?, इति विकलरोप प्रथमं विकल्पं तावद्दृष्टयन्ति—  
न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तेर्ये प्रजवति, तस्यां पक्षहेतुवच-  
नयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

प्रतिपत्त्या अत्रिस्तुनसम्बन्धस्य विप्रमातुरङ्गमानयं देशो धूमव-  
स्थान्याऽनुपपत्तिरेवत्येवमेव अन्वयेव साध्यप्रतीतिरिति । ३३।

द्वितीयं विकल्पं परास्थिति-

न च हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये यथोक्तकर्ममाणदे-  
व तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

दृष्टान्तवचन प्रथमतीति योगः ॥३४॥

अत्रैवोपपत्त्यन्तरमुपवर्णयन्ति—

नियतैकविंशत्परस्वजाच च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयो-  
गता विप्रतिपत्तौ तदन्तराऽपेक्षायामनवास्थितेर्दुर्निवाः स-  
मवतारः । ३५ ॥

प्रतिनियतव्यक्तौ वि व्याप्तिनिश्चयः कर्तुमशक्यः । ततो व्य-  
क्त्यन्तरं तु व्याप्यर्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरं सूत्र्यम् । तस्याऽपि व्यक्त-  
रूपत्वेनाऽपरदृष्टान्तोपज्ञायामनवस्थायः स्यात् ॥ ३५ ॥

तृतीयविकल्पं पराकृत्वन्ति-

नाऽप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपत्तिप्रतिपत्त्यस्य व्युपपन्नमतेः

पक्षहेतुप्रदर्शनमेव तत्परिष्कारः ॥ ३६ ॥

दृष्टान्तवचन प्रथमतीति योगः ॥३६॥

अनुमेवाथ समर्थयन्ते—

अन्तर्व्याप्त्या हेतौ साध्यप्रत्यायनं शक्तावशक्ता च ब-  
दिर्व्याप्तिरुक्तावनं व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

अयमर्थः—“अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशकौ, बाधव्यथासैर्बर्णेनं

वन्त्यमेव । अस्तस्योसं सः साधुस्यसिद्धयगौ, बाह्यात्सिद्धेर्धनं ध-  
 न्यमेव ॥१॥ अणुबोधं बहिर्बन्ति, एवं कपस्वरान्यथातुल्यपक्षे, इ-  
 त्यत्र बहिर्व्याप्यमात्रेपि गमकत्वस्य 'स इयाम्, तन्मुक्तत्वात्, इत-  
 रन्तुमुक्तत्वात्, इत्यत्र तु तन्नापेक्ष्यगमकत्वस्योपलब्धेरिति ॥ ३७॥  
 रत्नां ३ परि० ( परिमणं साधयेत्कालत्यादी साधयेत्येव वैद्यस्येत-  
 सान् शकंतीति 'अणोर्नाना' शब्दोऽपि भोगवक्ष्यते ) अणुवित्तं  
 सत्यवित्तानामूतहेतुजात्यावेत्ताऽणुविकाराद् हेतु, विशेषेण, स्वा. धरा० ३  
 ७० । ननु शिक्षप्रहणं संशयस्मरणपात्र्यामणुपश्चात्मानमनुमानम्,  
 शिक्षणं ज्ञानमूच्यते । कथं शिक्षमयातुमानमित्येव ? सत्यम्,  
 किन्तु कारणं कार्योपचारादप्यनुमानम् । यथा-प्रत्यक्षज्ञान-  
 जनकाः घटाऽपि प्रत्यक्ष इति । विशेषः । दृष्टान्तं, आकाशपदानु-  
 मानाद्वाऽनुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः । दशा० १ अ० ।

अणुमाणाऽसा-अनुमान्य-अव्य० । अनुमानं कृत्यै, व्य० १  
 ७० । अणुतरापरगधनिवेदनेन स्रुतदृश्यादित्यव्याचर्याकत्व-  
 व्यर्थे, यं ३ अ० ३ । अ० ।

अणुमाणापरक्रिय-अनुमाननिराकृत-वि० । अनुमानबाहो,  
 यथा नित्यः शब्दः । वस्तुदेवविषये विशेषे, स्वा० १० जा० ।  
 अणुमाणा नाम-अनुमानाभास-पुं० पञ्चानासादिसमुत्थे ज्ञा-  
 नेऽयथाधोऽनुमानं, रत्ना० १ परि० ।

अणुमाय-अणुमात्र-वि० । स्तेकमात्रे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणुमिद-अणुमिति-स्त्री० । अनु-मा-नि-त् । अनुमानेन यथासिद्धि-  
 विद्वष्टे पक्षधर्मेनाज्ञाना-धीनजन्यवदेव, अनुमोदने च । परि० ।

अणुमु ( म्यु ) क-अणुमुक्त-वि० । अभिमुखे, प्रश्न० भाष० ७० ।

अणुमोदय-अणुमोदित-वि० । अनु-सुत-णिच् । कर्मणि कः । हता-  
 ऽणुमोदनेन स्वानुमन्यज्ञापनेन प्रोत्साहिते, " भवता यद् व्यव-  
 स्तिने तमे सावयुमोदितम् । प्राथमेनानोऽपिना यत्र, ह्यार्था निव  
 विद्यन्तिताः ॥१॥ दानकालऽथवा तृष्णां, स्थितः सोऽर्थाणुमो-  
 दितः " इति । वकनेऽप्ये च, वाच० । यद् त्वया वायुहननादि-  
 कार्ये भव्ये कृतमित्यादिवदने, आनु० ।

अणुमोयग-अणुमोदक-वि० । दानस्य ग्रहणपरिभोगाज्यां प्र-  
 शंसकं संप्रदानं, विशेष० ।

अणुमोयण ( णा )-अणुमोदन ( ना )-न०-स्त्री० । अ-  
 नुमतिं, पञ्च० ७ विव० । आण० । अनुमानं, सूत्र० १ अ० ८  
 अ० । अण० । आचारकर्मप्रभृतिकर्तृप्रशंसायाम्, अप्रतिषेधने  
 च । अभिनिर्विक्रमनुमतिमिति विद्वत्प्रथादात् । पि० । " दृश्यं ना-  
 णुजाणह " धनत् नानुजानाति । अनुमोदनेन तस्य वा दीयमा-  
 नस्याप्रतिषेधनाप्रतिषिद्धमनुमतिमिति च वचनादनप्रसङ्गजन-  
 नाच्च । आह च-" कर्म सत्यं न कुर्वह, ज्ञातौ पुण तथा वित-  
 माह । वदहै तत्पसंगं, अगिरेष्टमाणा उ वारह " ॥१॥ स्वा० ७ अ० ।  
 जिनपुत्रादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसदिलक्षणायामनुमतिं, पञ्च० ७  
 ६ विव० ।

अणुमोयणकर्मजोयगपसंसा-अणुमोदनकर्मजो नकप्रशंसा-  
 स्त्री० । अनुमोदनादाचारकर्मभोजकप्रशंसायाम्, अहमपुण्याः  
 सुप्रतिषेधा वृत्ते, ये इत्येसैव सभन्ते यनेत्येवंवरुपा । पि० ।  
 अणुयत्तया-अणुवर्तना-स्त्री० । आणुकृत्याऽणुपद्यते, जं० १  
 प्रति० । शानोपचारं, ह० १ उ० । ( श्लानस्याऽणुवर्तना ' शि-  
 लाण ' शब्दे कृष्ट्या )

अणुयत्तयाऽणुत-अणुवर्तनादिपुक्त-वि० । आणुकृत्याऽणुय-  
 धालसाहिते, " अणुयत्तयाऽणुयो, पासायास्तु ता जिते " जं०  
 १ प्रति० ।

अणुयत्तयाण-अणुवर्तमान-वि० । अनुगच्छति, विशेषः । " स-  
 हह समन्धे ह य, कुण्ड ह करावेह शुकजाणामिस्रं । उदमणुयत्त-  
 माणां, शुकजाणारहणं कुण्डे ॥ १॥ आ० म० प्र० ।

अणुपरिय-अणुचरित-न० । आसेविते, ज्ञा० १ अ० १ अ० ।

अणुया-अणुका-स्त्री० । अनुमोदने, सूत्र० २ अ० १ अ० ।

अणुयास-अणुकाश-पुं० । विकासप्रसरे, ज्ञा० १ अ० १ अ० ।  
 अणुरंगा-अणुरक्षा-स्त्री० । गन्ध्याम्, घंसिकायां च । " अ-  
 णुरंगाह जाणं " ह० १ उ० ।

अणुरजिपन्नय-अणुरजित-वि० । अनु-रज्ज-क । प्राकृते  
 स्वार्थिक इष्टकप्रत्ययः । संप्रदायकमरजिते, जं० ३ अ० ३ ।

अणुरत्त-अणुरक्त-वि० । अनु-रज्ये, औ० । आणु० । अत्यन्त-  
 स्नेहनाजि, उत्त० १४ अ० । ज्ञा० । अनुरागवत्याम्, अ० १३  
 श० ६ उ० । पतिरक्तार्या भर्तारं प्रति रागवत्याम्, ज्ञा० १६  
 अ० । स्त्रियाम्, " अणुरक्ता अणुरक्ता, इष्टे सहपरिसरसक्य-  
 गये पंचविधे माणुस्ये कामभोगे परबणुजन्यमाणी विहर-  
 ति " अणुरक्ताऽविरक्ता अणुरज्या भर्तारं प्रति कृतं सत्यम्, न  
 विप्रियेऽपि विरक्तानं गतेत्यर्थः । औ० । वृणोर्बादिनि प्रतीकृत्के,  
 " ... अणुयत्तनां विसंसेणोऽणुयत्तमपरितोते, इच्छति मयं  
 लजति साधु । जं० तु अवाऽज्ञोना, ण कस्यतो जह ममेण वा पति ॥  
 सो होति अणुरक्ता " ... " यं जा० ।

अणुरत्तलोपणा-अणुरक्तलोचना-स्त्री० । उजयिनीपुरीश्व-  
 रस्य देवशासनस्य राज्ञोऽप्रमोदित्याम्, आ० क० । भाय० ।

अणुरसिय-अणुरसित-न० । शब्दायिते, ज्ञा० ६ अ० ।

अणुराग-अणुराग-पुं० । अनु-रज्ज-घञ् । प्रीतिविशेषे, आ०  
 परस्परस्यात्यन्तिकार्या प्रीतिमत्याम्, ह० १ उ० । ( विवि-  
 धोऽभिध्वङ्करूपः, तद्यथा-दृष्टयनुरागो, विषयाऽनुरागः, स्नेहा-  
 नुरागश्चेति 'राग' शब्दे वक्ष्यते ) विशेष० । यथावस्थितयणु-  
 कर्तितेन तदनुकरोपचारलक्षणै तीर्थकरणनामकर्मव्यकारणे,  
 प्र० १० अ० ।

अणुरागय-अणुरागत-वि० । अनु आ-गम-क । रेफ आ-  
 गमिकः । अनुकरोपे आगमने, अ० २ श० १ उ० ।

अणुराहा-अणुराधा-स्त्री० । अनुगत राधां विशाखाम् ।  
 वाच० । मित्रदेवताकं नक्षत्रमेतद्, अनु० । जं० । दधा० ।  
 " अणुराहाणकृत्ते चउतारं " पं० सं० । सू० प्र० । ज्यो० ।  
 ( ' राकृत्त ' शब्देऽस्यास्तत्त्वं व्याख्यास्यामः )

अणुरुर्भत-अणुरुभयमान-वि० । अनु-रु-यक-शानच् ।  
 प्राकृते " समनुपाद् रुधेः " ॥ना०। २५८ ॥ इति अनोः परस्य  
 रुधेः कर्मभावे ज्यो वा । अपरस्यमाणे, प्रा० ।

अणुरूपिजंत-अणुरूपयमान-वि० । अनु-रु-यक-शानच् ।  
 अपरस्यमाणे, प्रा० ।

अणुरूप-अनुरूप-त्रि० । अविषये, स्था० ६ टा० । अनुकूलं, आ० म० अ० । घटमानेऽर्थे, विशेषे० । सहरो, उत्त० १ अ० । उचिने, हा० १६ अ० । अनुरिति सादृश्यरूपमिति अव्ययी-भावः । स्वभावसहरो, सम्प्र० ।

अणुलाव-अनुलाव-पुं० । पौनःपुन्यभावेण, "अनुलापो मुहुर्भाष्य" इति बचनतः । स्था० ७ टा० । हा० ।

अणुलिंग-अनुलिंग-न० । सकृद्विधायी भूमः पुनर्लेपने, प्रश्न० ३ सम्प्र० हा० ।

अणुलिप्त-अनुलिप्त-त्रि० । चन्द्रनादिना कृतानुलेपे, श्री० ।

अणुलितगत्-अनुलितगत-त्रि० । अन्विति अतिशयेन लिप्तं विलिप्तंरूपकृतं गात्रं शरीरं यस्य स तथा । कृतानुरूपशरीरे, तं० ।

अणुलिहंत-अनुलित्व-त्रि० । अभिलहयति, "गगणतलमणुलिहंतसिहरे" सू० प्र० १८ पाठु० । रा० । तं० । स० । जी० खं० प्र० ।

अणुलेपण-अनुलेपण-न० । श्रीखण्डादिविलेपने, स्था० ८ टा० । हा० । प्रव० । सकृद्विधेयं पुनः पुनरुपलेपने, प्रश्न० २ पट्ट० । अणुलेपणत-अनुलेपणत-न० । अणुलेपणप्रधाने तले, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । पुनरुपलितसुमिकावाह, "मेघवसापूर्वधरंसेसविश्विष्णुलिप्ताणुलेपणतला" प्रश्न० २ पट्ट० ।

अणुलोम-अनुलोम-त्रि० । अविपरीते, पं० सू० । अनुकूलं, श्री० । सूत्र० । आचा० । हा० । अनुकूलतया वेद्यमाने, जं० २ वच० । मनोहारिणि, दृश० १ अ० । अनुलोमनाथद्रव्यानुयोगेऽनुलोमः । अनुलोमे, अनुकूलकरणापरस्य यो विधीयते यथा केमे भवतामित्यादिकरूपद्रव्यानुयोगभेदे, स्था० ६ टा० ।

अणुलोमइत्ता-अनुलोम्य-अव्य० । विवाहाऽध्यतानसामनो-न्यानुलोमान् कृत्वा प्रतिपन्थिनमेव वा पूर्वं तत्पक्षाभ्युपगमेन अनुलोमं कृत्येत्यर्थे, "अणुलोमइत्ता पठे" स्था० ६ टा० । अणुलोमवाउवेग-अनुलोमवायुवेग-त्रि० । अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः शरीरान्तर्वर्ती वातजवो यथा तेऽनुलोमवायुवेगाः । वायुशुद्धरहितोऽद्रमध्यप्रदेशेषु, तं० । जी० । युगलमनुष्पादिवृ । आह च टीकाकारः उद्रमध्यप्रदेशे वायुशुद्धो यथा ते तथा, तदभावात् तेषामनुलोमा भवति, वायुवेगा मिथुना-नास इति । जी० १ प्रति० ।

अणुलोमविलोम-अनुलोमविलोम-पुं० । गतेप्रत्यागमौ, पश्चा० १६ विव० ।

अणुश्रव-अनुश्रवक-पुं० । कन्दविशेषे, क्रीन्द्रियजीवभेदे च । उत्त० ३ अ० ।

अणुश्राव-अनुश्रावण-त्रि० । अगधिते, वृ० ३ उ० ।

अणुश्राव-अनुश्राव-पुं० । कुतिसने काकावर्णने, स्था० ३ टा० ।

अणुश्रीय-अनुश्रवक-पुं० । क्रीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

अणुषुद्ध-अनुषुद्ध-त्रि० । आचात्यं परः पराजानते, "उ-स्तुसमणुषुद्धं नाम जं नो आपरियपरंपरागयं मुक्तव्याक-ल्पवत्" । नि० सू० ११० । इय० ।

अणुवत्त-अनुवपुक्त-त्रि० । हेयोपादेयपरीक्षाविकले, अष्ट० १४ अष्ट० । उपयोगशुभ्ये, नि० ।

अणुवत्स-अनुवदेश-पुं० । स्वजाये, निसर्गे स्वभावेऽनुप-देश इत्यनर्थान्तरम् । स्था० २ टा० १ उ० । नमः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितोपदेशे, श्यामवधितार्थाद्युशासने, पश्चा० १२ विव० ।

अणुवत्तोग-अनुवयोग-पुं० । अनर्थे, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयो-गो निष्कारणतेति पर्यायाः । आच० ६ अ० । शक्योऽनुपयोजने अव्यापारणे, पश्चा० १४ विव० । उपयोजनमनुपयोगो जीवस्य बोधरूपो व्यापारः । स चेह विद्यकृताऽर्थे विस्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते, न विद्यते स यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः । उपयो-गविषयः, "अणुवत्तोगो दव्ये" प्राचक्षन्नाथार्थं च । अनु० ।

अणुवत्कय-अनुपकृत-त्रि० । उपकृतमनुपकारो न विद्यते उपकृतं यथांते । अकृतोपकारिवृ, पं० ए विव० । परैरचितेषु, आच० ४ अ० ।

अणुवत्कयप्राद्वेय-अनुपकृतपरहित-त्रि० । उपकृतमनुपकारः, न विद्यते उपकृतं यथांते इमेऽनुपकृताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते पराअनेत्यां द्विते तस्मिन् रतोऽभिरतः प्रकृतोऽनुपकृतपरहितरतः । निष्कारणवत्सले, पं० ६ विव० ।

अणुवत्कृत-अनुपकृतान-त्रि० । अनिगृह्यते, श्री० ।

अणुवत्कृत-अनुपाख्य-त्रि० । यत्ताऽऽख्यतिके, वृ० १ उ० ।

अणुवत्कवच-अनुपकृत-त्रि० । अकृतोपरकारे, "उपकवचाय-अन्तरदहिमादिः । अणुवत्कवात्सव्येऽनु परिधिषु" नि० सू० १ उ० ।

अणुवत्करण-अनुपकरण-न० । उपधेरन्तरे, व्य० ७ उ० ।

अणुवत्चय-अनुपचय-पुं० । अनुपचयीमानतायाम्, अनुपादाने च । उच० १ अ० ।

अणुवत्चैन-अनुवत्त-त्रि० । अनु-वत्त-शतु । अनुगच्छति, मा० ।

अणुवत्जीवि ( छ )-अनुवत्जीविन्-त्रि० । अनाजीविके, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुवत्ज-गम्-धा० । गमौ, ज्या० प० अनिट् । "गमेरेण इहच्छा-ऽणुवत्जवत्सतोऽ- ॥ ७ । ४ । १६३ ॥ इत्यादिसूत्रेण गस्यतोऽणुवत्जोदेशः । अणुवत्ज-गच्छति । प्रा० ।

अणुवत्जिअ-देशी-प्रतिजागरिते, दे० ना० १ वर्म ।

अणुवत्त-अनुवत्त-त्रि० । द्वितीयवारं प्रवृत्ते जितव्यवहारौ, "अणुवत्तो जो वृत्ता वितीयवारं" व्य० २ उ० ।

अणुवत्तय-अनुवर्तक-त्रि० । सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्तरे, खं० ३ आधि० । भावाऽनुकूल्येन सम्यक्परिपालके, पं० वृ० १ टा० । शिष्याणां कृदाऽनुवर्तिते, वृ० ४ उ० । चित्रस्वनाशानां प्राणिनां गुणान्तराधामधियाऽनुवृत्तिर्वाले, शिष्याणां अनुवर्तनया प्रमा-जनायोग्ये गुरौ, खं० ३ आधि० । "आगारहंनिर्गते, जानुं हियय-स्थितं उवर्तिहेति । गुरुवर्षेण अनुवर्तते, एतो अणुवत्तयो नाम" पं० वृ० २ टा० । अनुवर्तकमविपरीतमित्यर्थः । पं० सू० । (अनुवर्तकस्य व्याख्या द्वि० भा० ३०५ श्लु० 'आयतिव' शब्दे बहूनेते) अणुवत्ताया-अनुवर्तना-स्त्री० । शिष्याणुपालनतायाम्, पं० वृ० १ टा० ।

अणुवृत्ति-अनुवृत्ति-श्री० । इतिनादिना गुरुत्विचं विहाय त-  
हाऽऽनुकल्पेन प्रवृत्तौ, विशेषे । आ० म० द्वि० ।

अणुवृत्तोज्ज-अनुपमोऽप्य-श्री० । साधुनामुपमोकुमयोप्ये, वृ०  
३ उ० ।

अणुवृत्त-अनुपम-श्री० । उपमासहिते, आवा० ५ अ० । न विद्यते  
उपमा शरीरसंज्ञासहस्रीन्द्रयोर्दिनिर्मुण्यस्य तदनुपमम् । वी०  
१५ विषय० ।

अणुवृत्तसिरिय-अनुपमश्रीक-श्री० । निरुपमवदहकान्तिकल्पिते,  
आ० म० प्र० ।

अणुवृत्तमा-अनुपमा-श्री० । आद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

अणुवृत्तमाण-अनुवृत्त-श्री० । पश्चाद् वदति, “ आरंभद्वी  
अणुवृत्तमाणे हणपाने घायमाणे ” ( आवा० १ श्रु० ६ अ०  
४ उ० ) “ असौत्रा अणुवृत्तमाणस्य वितिया ” अनुवृत्तोऽऽ-  
पश्चाद्भद्रः पृष्ठोऽप्युत्थोऽप्यवृत्तोऽप्येन वा मिथ्यादृष्टवादिना  
कुर्गाला इत्येवमुक्तेऽनुवृत्तः पार्श्वस्थादः । आवा० १ श्रु० ६  
अ० ४ उ० ।

अणुवृत्त-अनुपत्-श्री० । अविवर्ते, स्थः० २ टा० १ उ० ।  
पापुपुष्टानेऽप्येऽनित्ये, आवा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अवि-  
च्छिन्न, स० ।

अणुवृत्तकायकिरिया-अनुपत्तकायक्रिया-श्री० । अनुपत्त-  
स्याविरतस्य साययत् मिथ्यादृष्टः सम्यग्दृष्टौ कायक्रियोऽङ्क-  
पादिलक्षण कर्मव्यभनमनुपत्तकायक्रिया । कायिक्याः क्रियाया-  
मिभ, न० ३ श० ३ उ० ।

अणुवृत्तदृष्ट-अनुपत्तदाग-श्री० । मनोवाक्यायलक्षणदृष्टा,  
द्विगते, आवा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुवृत्तदृष्ट-अनुपरोध-श्री० । अयापादने, “ प्रायोऽयाऽनुपरोधेन’  
द्वयस्मानं लडुच्यते ” । अग्रनिषेध च, घ० १ अ० ३ ।

अणुवृत्ति-अनुपत्तविध-श्री० । उप-ज्ञ-ल-ज-न० । त० ।  
सामाऽसां, प्रत्यङ्गाऽनाये च । वाच० ।

सा च—

दुविहा अणुवृत्तश्रीश्री । मश्री अमश्री य ।  
स्वसंमस्य वितोया, सश्री वि द्वाऽनायश्रीऽजिहिया ।  
सुहमा सुक्तत्तणश्री, कम्पाणुगप्यस जिवसम ॥ १ ॥

सा च अणुपलब्धिरेका असतो जयति, यथा—सखरुक्कस्य ।  
द्विनाया तु सतोऽप्यर्थस्य भवति । कुत इत्याह— ( द्वादिमा-  
वादिनि ) द्वात् सखरुप्यर्थो न दृश्यते, यथा—स्वर्गादिः १ । आ-  
दिशब्दादितिसंनिकर्षादिनिर्वाह्यमनोऽनवस्थानादिन्द्रियाया-  
दवाऽमनिमायाऽशक्यत्वात्प्रायश्चित्तमित्येवामन्यादनुपयो-  
गाऽनुपयाद्विस्मृतेर्दुरागमाऽमोहात् विदेशनाद्विकारादक्रियतोऽ  
नधिगामात्कालविप्रकर्षात्स्वभावविप्रकर्षाच्च । तथाऽनिसजि-  
कर्षात्सकल्पयोर्नोपलभ्यते । यथा—नेत्रदृष्टिकापह्मादिः २ । अति-  
सौहृद्व्याप्यपरमावादिः ३ । मनोऽनवस्थानात्सतोऽप्यनुपलब्धिः,  
यथा नष्टवेत्सामाद्य इतिपाशटवात् किंचिद् बधिगद्गानाम् ।  
मनिमाऽद्वानुपत्तविधः, सतामपि सूक्ष्मात्स्वाधिविशेषाणाम्

६ । अशक्यत्वात्स्वकर्णशुकाटिकात्मस्वकपृष्ठादीनाम् ७ । आचर-  
णाद् यत्प्रतिदृश्यगिनलोचनायाः, कटुकुट्यावृत्तानां च ८ । अजिन-  
वाप्रभुनमुरतेऽसि शिवसे नाकपासा ९ । सामान्यास्तुप्र-  
कृतिस्यपि मायावैः समानजानीयमायादिशाश्रितानस्याऽप्र-  
त्यभिहानात्सतोऽप्यनुपलब्धिः १० । अनुपयोनाहृषोपयुक्तस्य  
शेषविषयाणाम् ११ । अनुपयावाक्त्वात्प्राद्विषयो गोमहिष्याद्विषय-  
परमाणादिज्ञासोः १२ । विस्मृतेः पूर्वोपलब्धस्य १३ । दुरागमाद्  
दुरुपदेशात्सन्निरूपकरीतिकारिष्यप्रलम्भितमतेः कनकादीनां  
सतामप्यनुपलब्धिः १४ । माहात्मनामपि जीवाहितस्थानाम् १५ ।  
विदेशनात्सवेधाऽऽप्यादीनाम् १६ । वाचिक्यादिविकाराद्बहुयाः  
पूर्वोपलब्धस्य सतोऽप्यनुपलब्धिः १७ । अक्रियानां भ्रुञ्जनना-  
दिक्रियाऽनाघाद् बुक्कमूलानीनामनुपलब्धिः १८ । अत्रिधिमामा-  
च्छास्त्राद्यप्यासदर्थस्य सतोऽप्यनुपलब्धिः १९ । काश्चिद्विप्रकर्षा-  
द्भुतमविच्छिन्नसमवेद्यवस्थानाम् । धैर्यरतीनामनुपलब्धिः २० ।  
स्वभावविप्रकर्षाच्च निपाशाच्चादीनामनुपलब्धः २१ । तद्वचं  
सतामप्यध्यानामकविश्रान्तिविधाऽनुपलब्धिः । विशेषेण आ० ७० ।  
श्रिविधा सा, अयन्नात् सामान्याद्विस्मृतेर्ह—

अथैता समाथा, य विस्सुती होइ अणुवृत्तदी तु ।  
अनुपलब्धिरेव त्रिधा भवति । तथाहा-अत्यन्तात्कान्तानुप-  
लब्धिः । सामान्याद्विस्मृतेरच ।

तत्र प्रथमतोऽत्यन्तानुपलब्धिमाह—

अत्यस्य दरिसणमि वि, लद्धी एगंततो न संभवद् ।  
दृष्टुं पि न जाणंतो, बोद्धियपंदा फणमसच् ।  
अर्थस्य दर्शनेऽपि कस्यचित्तदृष्टेविषया लब्धिरेकान्ततो न  
संभवति । तथा च योग्यैः पाहचमद्विषयानि स्लेच्छाः पन-  
सं दृष्ट्वाऽपि ‘पनस’ इत्येव न जानते ; तेषां पनसस्याऽत्यन्त-  
परकृत्यात् । न हि तद्देशे पनसः संभवति । तथा एषाः मधु-  
गायसिनः सकृत् दृष्ट्वाऽपि ‘सक्तयोऽमी’ इति न जानते, तेषां हि  
सक्तवोऽत्यन्तपराङ्काः । ततो न तद्देशेऽपि तद्भूतज्ञानम् ॥

संप्रति सामान्यतदनुपलब्धिमाह—

अत्यस्मुरगमद्विमि वि, लद्धी एगंततो न भंभवद् ।  
सामान्ना बहुमज्जे, मासं परिपे जहा दृष्टुं ॥  
अर्थस्यावच्छेद इत्यतन्धनाऽधेन सामान्यात् सादृश्यादेका-  
न्ततो लब्धिरेकलब्धिर्न संभवति । यथा बहुमज्जे पतिते  
मापे दृष्ट्वाऽपि तद्वन्धेन सामान्यात् तद्वत्तरं लभते ।

विस्मृतेरनुपलब्धिमाह—

अत्यस्यऽपि तुवदभे, अचवत्तल्ल्ही न होइ सव्वस्य ।  
पुव्वविद्वत्तप्परेथे, जस उ नामं न संमरद् ॥  
अर्थस्य पूर्वेष्वप्यनुपलब्धेऽपि सर्वस्याऽन्तरलब्धिस्तद्विष-  
याऽन्तरलब्धिर्न संभवति । कस्य न भवतीत्यत आह यस्यार्थे  
विवक्षाधिविषयं पूर्वोपलब्ध नाम न संसर्गति । तद्वमुक्ता  
श्रिविधाऽप्यनुपलब्धिः । वृ० १ उ० । विशेषेण ।

सामान्यतदनुपलब्धि प्रकारः प्राहुः—

अनुपलब्धिरेपि द्वैरूप्यम्, अविरुद्धानुपलब्धिर्विरुद्धाऽनुप-  
लब्धिरेव ॥ ६३ ॥

अविकल्पस्य प्रतिषेधनाधेन सह विरोधममासस्यानुपल-  
ब्धिरेविरुद्धाऽनुपलब्धिः । एवं विरुद्धाऽनुपलब्धिरेपि । ६३ ॥



अणुवलि

सम्प्रत्ययिच्छानुपलब्धेभिर्धेयसिद्धौ प्रकारसंख्यामाख्यानि-  
तभाऽविरुद्धाऽनुपलब्धिप्रतिषेधाऽवबोधो सप्त प्रकाराः ॥६५॥

असूनेष प्रकारान् प्रकटयति-  
प्रतिषेधेनाऽविरुद्धानां स्वजावयपकार्यकारणपूर्वचो-  
षारचरसहचराणामुपलब्धिः ॥६५॥

एवं च स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः,  
कारणानुपलब्धिः, पूर्वचरानुपलब्धिः, उत्तरचरानुपलब्धिः,  
सहचरानुपलब्धिश्चेति ॥ ६५ ॥

कमेयामूर्च्छाहरति—

स्वभावानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यत्र नूतले कुम्भ उपल-  
ब्धिज्ञानमाप्तस्य तत्स्वभावस्याऽनुपलम्भात् ॥६६॥

(उपलब्धिज्ञानमाप्तस्येति) उपलब्धिर्ज्ञानम; तस्य लक्षणाणि  
कारणानि चञ्चुरादीनि, तैश्चुपलब्धिर्लक्ष्यते अन्यत इति या-  
वत् । तानि प्राप्तः; जनाकृतेनोपलब्धिकारणत्वात्संभवात्स तथा  
हृष्य इत्यर्थकस्याऽनुपलम्भात् ॥ ६६ ॥

व्यापकानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यत्र प्रदेशे पनस; पादपाऽनु-  
पलब्धेः ॥६७॥ कार्यानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यत्राऽप्रतिहतश-  
क्तिर्ब्रजमङ्कुराऽनवलोकनात् ॥६८॥

अप्रतिहतशक्तित्वं हि कार्यं प्रति अप्रतिषक्ततामर्थ्यं  
कथ्यते । तेन बीजमात्रेण न व्यभिचार् ॥ ६८ ॥

कारणानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यस्य प्रशमपभृतयो भावा-  
स्तस्वार्थश्रद्धानाऽज्ञावात् ॥६९॥

(प्रशमप्रतययो भावा इति) प्रशमसंवेगनिर्वेदानुपलब्ध्याऽऽदि-  
कथलक्षणज्ञेयपरिणामविशेषाः । तस्वार्थश्रद्धानां सम्बन्धेन  
तस्याऽभावः । कुतोऽपि देवदत्तनृकण्ठः पापकर्मणः सका-  
शान्तरिक्तस्तस्वार्थश्रद्धानकार्यं नृतानां प्रशमदानामभावं गम-  
यति ॥ ६९ ॥

पूर्वचरानुपलब्धिर्धेया-नोद्गमिष्यति सुहृतांते स्वाति-  
सत्र, चित्रोदयादर्शनात् ॥ १०० ॥ उत्तरचरानुपलब्धिर्धे-  
या-नोद्गममत्पूर्वज रूपामुहूर्तित्वेषु तरज रूपोद्गमाऽनवग-  
मात् ॥ १०१ ॥ सहचरानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यस्य सम्य-  
ज्ञानं सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

इयं च स्वभावाऽप्यनुपलब्धिः साक्षाद्गुणजनकारण परम्पर-  
या पुनरेषा संनवन्त्येवन्नानोचनीया । तथाहि-नास्त्यैका-  
न्तमित्यर्थं तत्त्वस्य, तत्र तस्मात्सकामानुपलब्धिरेति या कार्यव्याप-  
कानुपलब्धिः, निरन्वयतत्त्वकार्यव्याप्यकारणस्य यद् व्यापकं  
कामाक्रमकं तस्यानुपलम्भसद्भावात्, सा व्यापकानुपलब्धिर्धेय-  
प्रदेशानीया । एवमस्या अपि यथासंभवमादेव विशति ॥१०२॥  
विरुद्धाऽनुपलब्धि विधिभिर्द्वौ ज्ञेयता प्रापन्ते—

विरुद्धानुपलब्धित्वेन विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥ १०३ ॥

तानि च ज्ञेयानाहुः—

विरुद्धकार्यकारणस्वजावयपकसहचरानुपलम्भभेदा-

त् ॥ १०४ ॥

विधेयाऽप्येन विरुद्धानां कार्यकारणस्यभावव्यापकसहचरा-  
णामनुपलम्भा अनुपलब्धयस्त्वैभेदा विशेषस्तस्मात् । ततश्च वि-

रुद्धकार्यानुपलब्धिः, विरुद्धकारणानुपलब्धिः, विरुद्धस्वजावयाऽनु-  
पलब्धिः, विरुद्धव्यापकानुपलब्धिः, विरुद्धसहचरानुपलब्धि-  
श्चेति ॥१०४॥

क्रमेणैतानामुदाहरणान्याहुः—

विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्धेयाऽत्र शरीरिणि रोगातिशयः  
समिति, नौरव्यापाराऽनुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

विधेयस्य हि रोगातिशयस्य विरुद्धमारोग्यस्य, तस्य कार्यं वि-  
शिष्टो ध्यापारः । तस्यानुपलब्धिरियम् ॥ १०५॥

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्धेया-विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टमिष्ट-  
संयोगाऽज्ञावात् ॥ १०६ ॥

अत्र विधेयं कष्ट, तद्विरुद्धं सुखस्य, तस्य कारणमिष्टसंयोगः,  
तस्यानुपलब्धिरेवा ॥ १०६॥

विरुद्धस्वजावानुपलब्धिर्धेया-वस्तुजातमेकान्तात्मक-  
मेकान्तस्वभावाऽनुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

वस्तुजातमन्तरङ्गं बहिरङ्गञ्च विश्ववर्षिपदाशस्यार्थः । अग्न-  
ते गम्यते निष्पीयते इत्यनो धर्मः, न एकाऽनेकः अनकक्षासा-  
यन्तभ्यानेकान्तः न चात्मा स्वजावो यस्य वस्तुजातस्य तदने-  
कान्तात्मकम्; सद्व्युत्पद्यनेकधर्मात्मकमित्यर्थः । अत्र हेतुः एका-  
न्तस्वभावस्य सद्व्युत्पद्यन्तरङ्गमावधारणस्यकथम्यानुपल-  
म्भादिति । अत्र विधेयमेकान्तात्मकमेव सद्विरुद्धः सदाये-  
कान्तस्वभावः; तस्यानुपलब्धिरेवा ॥१०७॥

विरुद्धव्यापकानुपलब्धिर्धेया-अस्त्यत्र त्रया औपत्या-  
ऽनुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

त्रियथा ह्यत्रया विरुद्धस्तापः तद्व्यापकधर्मोऽयम् । तस्या-  
ऽनुपलब्धिरियम् ॥ १०८ ॥

विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्धेया-अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, स-  
म्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

विधेयेन मिथ्याज्ञानेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं, तत्सहचरं सम्यग्-  
दर्शनं, तस्याऽनुपलब्धिरेवा ॥१०९॥ रत्नां ३ परि० ।

अथाऽनुपलब्धेः प्रामाण्यविचारः—

यदापि— “प्रत्यक्षादेरनुपलब्धिः, प्रमाणमात्रं कथ्यते ।  
साऽमनोऽपरिणामां वा, शिक्षानं वाऽप्यवस्तुनि ” ॥ १ ॥

( सेति ) प्रत्यक्षाणानुपलब्धिः आत्मनो घटादिप्राहकनया  
परिणामाभावः प्रमत्तपक्षे । पुरुषात्मनो पुनस्त्यसिद्धं घट-  
विरुद्धाऽप्येव वस्तुप्रत्ययं घटां नान्तराणि विज्ञानमित्येवाव-  
प्रमाणमभिधीयते । तदपि यथासंभवं प्रत्यक्षादृष्टतर्कमेव ।  
तथाहि— “शुद्धाया वस्तुसद्भावं, स्मृत्या च प्रतियोगितम् ।  
मानसं नान्तिताज्ञानं, जायतेऽज्ञानेपक्षया ॥१॥ ” इतीयमज्ञा-  
वप्रमाणज्ञानिका सामग्री । तत्र च भूतसादिकं वस्तु प्रत्यक्षेण  
घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टमसंसृष्टे वा शूरोतः । नाद्यः पक्षः  
प्रतियोगिसंसृष्टस्य नूतनाद्यवस्तुनः प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षं तत्र प्रति-  
योग्याद्यप्राहकत्वेनाऽभावप्रमाणस्य श्रुत्विचिरोपाह । प्रवृत्तो  
वा न प्रमाण्यस्य, प्रतियोगिनः संसृष्टेऽपि तत्रप्रवृत्तेः द्वितीयेपक्षे-  
त्यभावप्रमाणथेयस्य, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भानीनामभा-  
वप्रतिपक्षेः । अथ न संसृष्टे नाऽप्यसंसृष्टे प्रतियोगिसिद्धेण-  
दिवस्तु प्रत्यक्षेण शूरोतं, वस्तुमात्रस्य तेन प्रवृत्त्याऽनुपलम्भा-  
दिति सत् ? तदपि दुष्टम् । सन्सृष्ट्याऽसंसृष्टस्योः परस्पर-  
रिदारिच्यतिरूपत्वेनैकनिषेधे अपरविधानस्य परिहृतेमशक्य-

स्थादिति । सदसद्रूपवस्तुप्रदणप्रपणेण प्रत्यक्षेणैवायं वेद्यते । क्वचित्तु तद्वचनं चूतलमिति स्मरणेन, तदेवेदमचतं भूतलमिति प्रत्यानिष्ठानेन, योऽभिमान् न अद्यति नासौ धूमवानिति तर्कस्य, मात्र धूमोऽननेरित्यनुमानेन, वृद्धे गार्हो नास्ति ध्यायमंगमाभास्य प्रतीतेः, क्वाऽभास्यप्रमाणं प्रवर्ततेतस्मात् ॥ इत्याम० २ परि० ॥ अर्थ-स्यासत्सिद्धिरुच्येति सिद्धयर्थं प्रमाणान्तरप्रमाणैवभाव्यात्वं वर्णयन्ति । तथाऽपरि-अभावाविति प्रमाणाऽज्ञावो नास्तीति, अर्थस्यासत्सिद्धिरुच्येति वचनात् । अन्ये-पुनरभावात्कं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति । प्रमाणपञ्चकाऽभास्यप्रमाणं प्रवर्ततेतस्मात् ॥ इत्याम० २ परि० ॥ प्रतिविध्यमानाद्वा, तद्व्यवहानमात्रा वा, विषयरूपेण तन्निवृत्त-स्वराज्य इत्यनेन च भावप्रमाणेन, प्रदेशादौ घटादितिप्रमाणो गम्यते । तदुक्तम्-

“प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते ।  
वस्तुसत्ताऽवधोर्धार्थं, तत्राऽज्ञायमाणता ॥ १ ॥  
प्रत्यक्षादेरनुपपत्तिः, प्रमाणाभास उच्यते ।  
सारमन्ताऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽप्यवस्तुनि” ॥ २ ॥

न च प्रत्यक्षेणैवाभासोऽवशील्यते, तस्यानाद्यविषयत्वविरोधात् । भावोऽनेवेन्द्रियार्था संयोगात् । तदुक्तम्-“न तावदिन्द्रियेषीणा, नास्तीत्युपपद्यते मतिः । ज्ञावाशौनैव संवेद्या, योयत्वादिन्द्रियस्य हि” ॥ १ ॥ नाऽप्यनुमानेनासौ साध्यते, हेतव्यभावात् । न च प्रदे-श एव हेतुः, तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात् । न चेवमपि हेतुः प्रतिज्ञा, अपौरुषेयकदेशानाप्तौः न च प्रदेशो विशेषो धर्मस्मन्तस्मात्साध्यहेतुः, तस्य घटाऽज्ञाव्यतिचारत्वात् । न हि सर्वत्र प्रदेशघटाऽज्ञावः शक्यः साध्यविशेष, सघटाव्यतिप्रदेशस्य संज्ञवात् । अथ घटाऽनुपपत्त्या प्रदेशं धर्मिणि घटाभिवाः साध्यते । असदेतत् । साध्यसाधनयोः कस्याचित् संबंधस्याभावात्तस्माद्भावाविति प्रमाणान्तरमेवा न चाऽभासस्य तद्विषयस्याभावाद्ज्ञापप्रमाणात्तर-वैयर्थ्यम् । प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याऽज्ञावस्य भावात् । अन्यथा कारणदिविभागातो व्यवहारस्य लौकिकप्रतीत-स्याभावप्रसङ्गात् । “न च स्यात् व्यवहारोऽयं, कारणदिविभागतः प्रागभावादिभेदेन, नाऽज्ञावो यदि निघते” ॥ १ ॥ अजावस्य च प्रागभावादिभेदाऽव्यथानुपपत्तेरर्थयाप्य वस्तुरूपताऽवशील्यते । तदुक्तम्-“न चावस्तुन पते स्तुः, सदा त्साऽप्यवस्तुत् । कार्या-द्वं नामभावः स्या-दित्येकं कारणं विना” ॥ १ ॥ इति । अनुमानप्र-माणाऽवस्था वाऽभासवस्तु वस्तुरूपता । यदाहि” यद्वाऽनुपपत्त्यावृ-त्ति-रुक्तिर्नाहो । यतस्वयम् ॥ तस्माद् गवादिबद्ध वस्तु, प्रमेयत्वाच्च शुद्धानम् ॥ १ ॥ अभावावस्य चतुर्धा व्यवस्था-प्रागभावाः, प्रवृत्तसा-भावः, इतरंतराभावः, अत्यन्ताभावश्चेति । तत्र-

“कीरे वृद्धादि यथास्ति, प्रागजावः स उच्यते ।  
मास्तिता पयसो द्धि, प्रवृत्तसाभावलक्षणस्य ॥ १ ॥  
नहि योऽम्भाघाभावस्तु, सोऽप्योऽस्तिवस्तु उच्यते ।  
शिरसोऽवयवा निम्नाः, वृद्धिकाठिन्यजिनाः ॥ २ ॥  
शशो ह्युद्धादिकूपेण, सोऽप्यन्ताभाव उच्यते” ।  
यदि चैतद् व्यवस्थापकमाभावात्कं प्रमाणं न भवेत्, तदा प्र-तिनियतवस्तुव्यवस्था दूरस्मारितैव स्यात् । तदुक्तम्-  
“ कीरे दधि नवेदेव, दधि कीरे घटे पटः ।  
शशो शुक्लं पृथिव्यादौ, सैत्यं सूरिताराम्नि ॥ १ ॥  
अस्तु गन्धो रसश्चासौ, वायो रूपेण ती सत् ।  
व्यामि तु स्पशतो त्वं, न चेदस्य प्रमाणता” ॥ २ ॥

निरंशमाविकरूपवाहस्तुनस्तस्वरूपप्राप्तिनाऽप्यक्षेण तस्य सर्वात्मना प्रदृशाद्गृहीतस्य चापरस्यासदंशस्य तत्राज्ञावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्तमानप्रजावाक्यं प्रमाणं प्रामाण्यं नृत्तमस्तु इति वक्तव्यम्, यतः सदसत्त्वामकं वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदस्यप्रदणेऽप्यगृहीतस्य तदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमा-णाभासस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहृतः । तदुक्तम्-  
“ स्वकुरणरूपार्था, नित्यं सदसत्त्वामकं ।  
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित्, रूपं कैश्चित् कदाचन ॥ १ ॥  
यस्य यत्र यदाद्गृहीत-जिमिज्ञा चोपजायते ।  
वेद्यतेऽनुभवस्तस्य, तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥  
तस्योपकारकत्वेन, यतैतंऽशस्वेतरः ।  
उभयोरपि संख्यो-दभयानुगमोऽस्ति तु ॥ ३ ॥  
प्रत्यक्षाघचकारस्तु, भावाशो शुभते यदा ।  
व्यापारस्तदनुपपत्तेरभावाशो जिपुक्तिः” ॥ ४ ॥  
न च ज्ञावांशाद्भिन्नत्वाद् ज्ञावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह-इति; सदसदंशोऽर्थोऽपि भेदाऽप्यनुपगमात् । उक्तं च-  
“ ननु भावाद्भिन्नत्वात्, संयोगोऽस्ति तेन च ।  
नक्षत्रपत्यमभेदाऽस्ति, कृपादिविद्वापि न ॥ १ ॥  
धर्मयोर्भेद इष्टोऽपि, धर्मं ज्ञेयोऽपि नः स्थिते ।  
उद्धाजिनवासस्वाह, ग्रहणं चावतिष्ठते” ॥ २ ॥ इत्यादि ।  
तदेवमगृहीतप्रमेयाऽज्ञावप्राहकत्वात् प्रमाणजावस्य प्रमा-ण्यम्, प्रत्यक्षाद्व्यवन्नतीवात् । प्रमाणात्तरत्वं च व्यव-स्थितम् । सम्म० । ( सम्मतितकं प्रथेऽस्मिन् विषये विशे-षोऽप्येव्यः )

अणुवल्लजमाण-अनुपपत्त्ययमान-त्रि० । अग्रहयमाने, “अणु-बलवममाणो वि सुहृदुक्त्वमादृष्टि” इश० १ अ० ।  
अणुवपयकारक-अनुपपत्त्यकारक-त्रि० । अप समीपे पतनेन श्वा-नमुपपत्तौ हेतुविषयदेशावस्थानम्, तत्कारकस्तदनुपपत्ता तद्विज्ञो गुणादेशादि भीत्या तद्व्यवहितदेशस्यासिद्धिः गुर्कान्तं हेतुविये स्थित्यकारकः, तस्मिन्, उच. १. अ. आदेश भयादूरं तिष्ठति । उच. १. अ.  
अणुवसंत-अनुपशान्त-त्रि० । उपशान्तो जितकषायः, न उपशान्तोऽनुपशान्तः । रक्तवायु, उच० १ ए अ० । उपशाम-घाने, सूत्र० २ अ० २ अ० । निर्विषयं, रथाप० ।  
अणुवसंत-अनुपशामयन्-त्रि० । अनुपशामं कुर्वति, व्य० १ उ० ।  
आणुवसु-अनुवसु-पुं० । वसु इत्यं तद्भूतः कषायकालिका-दिमलागमाद्दृष्टीतराग इत्यर्थः । तद्विषयवर्षेणऽनुवसुः । सरागे, वसुः साधु, अनुवसुः श्रावकलमिन्, “यीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिने वा संयोगऽथवा । सरागोऽनुवसुः प्राकनः, स्थाविरः श्रावकाऽ-धया” ॥ १ ॥ “वसु वा अणुवसु वा जाणिपु धम्मं जहा तदा” श्रावा० १ अ० ६ अ० २ उ० ।

अणुवस्मियवहारकारि(णः)-अनुपपत्तव्यवहारकारिन्-त्रि० । निश्चारागः, निश्चा संजाता अस्येति निश्चितः, न नि-श्चितोऽनिश्चितः, स चासौ व्यवहारश्च अनिश्चितव्यवहारः, त-त्करणशीला अनिश्चितव्यवहारकारिणः । रागेण व्यवहारकारि-णि, व्य० १ उ० ।  
अणुवह-अनुपथ-अव्य० । पथः समीपे, । अनुपथमेवासम्-वसथो भवतां वसंत । श्रावा० १ अ० ६ अ० २ उ० ।

अणुपथ-वि० । जावत उपचाऽणुक्ते, पं० सं० २ श्रा० ।

अणुपहृय-अणुपहृत-वि० । न० तं० । अण्पादिभिरविध्व-  
स्ते, वि० ।

अणुपहृयविद्धि-अणुपहृतविधि-पुं० । अनुरूपप्रमुखाद्य हाने,  
गुरुभिर्दत्तस्य अण्प्रत्यय गुरुननुवाच्य हाने वा । अणुपहृतविधि-  
यैवतुप्रप्रमुखाद्य ददाति । अण्ये तु व्याचक्रते-यगुनस्तस्य गुरुभि-  
र्दत्तं तत्सोऽन्यस्य गुरुननुवाच्य ददाति "अणुवहियं जं तस्स  
उ, विद्धं तं देह सोऽ अण्प्रस्स" यत्स्य दत्त सोऽन्यस्यै गुरुन-  
नुवाच्य ददाति । क्रमाभ्रमेणस्तुचयमिदं दत्तमित्येषोऽणुपहृतवि-  
धिः । १४० १ ७० ।

अणुपहृयास-अणुपहृयास-वि० । अविद्यमानोपहासे, पञ्चा० ६  
विश० ।

अणुवह्नुआ-देशी०-नयवध्याय, दे० ना० १ बर्ग ।

अणुवाह(ष्)-अणुपातिन-वि० । अणुवत्तयनुसरतीत्येवं शीलः ।  
स्वा० ६ श्रा० । योष्ये, " अणुवाह स्वयसुखस्स" पं० य० २  
श्रा० । अणुवदितुं शीलमस्येत्यनुवाही । अणुवादशीले, मूत्र० १  
श्लो० १२ ब्र० ।

अणुवापज-अणुपादेय-वि० । हेये अग्रहीतये, आ० म० वि० ।

अणुवाणहृय-अणुपानत्क-वि० । न विद्यते उपानही यस्य  
सोऽयमणुपानत्कः । उपानहोरुपारकं, पौ० १ विश० ।

अणुवाय-अणुताप-पुं० । संयोगे, अ० १२ श० ४ उ० ।

अणुपात-पुं० । अनुसरणे, प्रभा० १७ पद । अनुपतनमनु-  
पातः । शब्दोच्चारणकालानुदरीनादी, उपा० १ अ० ।

अणुवात-पुं० । आश्रायकविचलिनपुरुषाणामनुकूले घाते,  
जं० १ वस० । रा० । अनुकूलो घातो यत्र देये सोऽणुपातः ।  
यस्माद् देशाद् वायुरागच्छति तत्र, अ० १६ श० ६ उ० ।

अणुवाद-पुं० । विधिप्राप्तस्य वाक्याऽन्तरेण कथने, वाच० ।

"ब्राह्मणं मासाः संवत्सरोऽग्निरूपोऽग्निर्हिमस्य मेघजम्" इत्या-  
दीनि तु वेदवाक्यान्वनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थ-  
स्येतेष्वनुवादात् । विश० ।

अणुवायवाय-अणुपायवाद्-पुं० । पथे मिथ्यात्ववादे, नयो० ।

अणुवालय-अणुपालक-पुं० । आजीविकोपासकमेदे, अ० २४  
श० २० उ० ।

अणुवास-अणुवास-पुं० । वर्षावासे श्रुतवज्जे वा उपित्यापुन-  
स्तत्रैव प्रभ्राद् वसने, अविधवाधिकारणेषु वृद्धादिवासे वा  
वसने च । तत्र कल्याः—

..... अणुवा अणुवासपापकप्यं तु ।  
बोच्छामि गुरुवेदेसा, अणुगामदृष्टा सुविहियाणं ।  
अणुवासस्मि तु कप्यो, पशवग पशुब बहुविधा अस्या ।  
अणुवासण्य पगतं, सुच्छा य तद्वा अणुदा य ॥  
अणुवासत्वां बहुदा, उडवासे वण अहव असिवादि ।  
बुद्धादी वासो वा, अहवा अणुवमणमणुवामो ॥  
बसितं पुणो वि वसती, अणुवासिगवसतद्वैममर्गसण्णा ॥

तीवह्निगारो पत्यं, सा होञ्जा सुदुऽसुक्को वा ॥  
पट्टीवसादीर्हि, वंसगकरणदिपिर्हि तद्दे वेव ।  
होति अणुच्छा वसदी, मूसगुण उचरगुण्ये य तद्वा ॥  
कालक्यातिरिचं, अविभुच्छामु च तासु वसमाणो ।  
पावाति पायच्छिचं, मीपुचं कारणमिदं ॥  
अग्निवे ओमोयरिण, रायदुडे भए व आगाटे ।  
गेहएह उचमडे, चरिचमज्जातिए असती ॥  
वादिं सव्वत्थ सिवं, तेण सया काडुवगुगम्भि ।  
पुणो वि य णहु णिगुच्छे, अणुपच्छा जाव अणुवामी ॥  
आह्ववणे विमुदं, सुच्छुत्तं परिहरं पयत्ताणं ।  
आसज्ज तु परिभाणं, भयणा पदिमेवसंकमणे ॥  
अग्निवादीर्हि वसते, सुद्धाए वमहीए वसे साह ॥  
सुच्छासतीए जतनी, विमोहिकाभीए पुचवं ति ॥  
जयण्णी जं ज्ञासितं, पुचवाए तु जेतुं जे दोसा ।  
ते ते पुचवं सेवे, कम्मएणे वी इमा जयणा ॥  
अणुवाहं तु सेवं, जत्य गुणा तु भवेज्ज बहुतरगा ।  
गच्छं गच्छंताणं व, तं चेव तर्हि करेज्जा तु ॥  
अग्निवादिनिद्विए पुण, अणुवसवेवेण मंकेम ततो ।  
सत्यं तु पाकिच्छंते, जइ अण्ये तस्य सुच्छा तु ॥  
एतं णयरिवृणं, अणुवासियं जेतु अग्निवसे कप्यं ।  
कालक्यावराहे, संवह्निमोऽवराहाणं ॥  
संवह्निनावराहे, नवावठ्ठदी तदेव भूलं वा ॥  
अणुयापकप्यं जं-पमाश्रयमाणं चरिचमि ॥  
अणुवासियाए कप्यो, एमे सो वसितो समासेणं । पं० जा० ।

इयाणि अणुवासकप्यो-तस्य(गाहा)अणुवासामि उअणुवासो  
नाम वासावासो उवदे वा वसित्या तथेय अणुवसह, उवदे  
मासबहु, वासे चहबहु । तस्य पुण बहुवाहा सुसन्धा । जहा पथे  
व कप्यं त्रिए मासकप्यसुत्ते पथ पुण अहारा अणुवासिज-  
तीति । अणुवासिया का पुण साः, वसही सुच्छा य, असुच्छा य ।  
असुच्छा पचीवं सोवसमाकरणा वेज्जाणिए (गाहा) अग्निवे अ-  
सिवावसु कारणेसु असुच्छाए वि वसति णयदुट्टे काप्यपणु । वा  
सोयाणि वा तस्य तथि जाणि बाहिरपदिं वेसांहि सजयाणि  
दोसकरणाणि त्रए व बोधिमादिस्स गेसअउसिमडे चरिच इधि-  
दोस पसणा दोसा असज्जाए वा असह वा गुणाणं जं तमिं  
वसहए (गाहा) अल्लचणं त्रिवं आह्ववणविमुं ससज्जए परि-  
हरजा कुत्तणं परिमोमं पुण मासज्जगुणपरिवाहासि त्रिणियं हेहइ  
त्रिणिया पदिमेहसंकमणे गुणवृत्तिमिसं अणुज्जा न सज्जा  
अयं वसदिं सेवं वा पणु पुण कारणेसु विणासे अणुवासि-  
यं परिवसह तस्स संघट्टियावराहे, एस अणुवासणाकप्यो ॥  
पं० चू० ।

..... अणुवा बोच्छं अणुवासणाकप्यं ।  
अणुवासामाकप्यो, वासावामो इमेसं तु ॥  
जिण्णथेर अह्ववदे, परिहारितअज्जावामकप्यो तु ।

खेचे कालमुवस्सय-पिंडग्गहणे य एणएत्तं ॥  
 एएसिं पंचएह वि, अयणोष्सस चउपदेहिं तु ।  
 खंचादीहिं विसेसो, जह तह बोच्छं समासेणं ॥  
 एण्थि उ खेचं जिणक-पिय्याण उउचइवासकावो तु ।  
 वासासुं चउमासो, वसही अममत्त अपरिकम्मा ॥  
 पिंनो तु अलेवकदो, गहणं तु एसखा उवरियादि ।  
 तत्थ वि काठमभिग्गह, पंचएहं अस्सतरियाए ॥  
 थेराण आत्थि खेचं, तु उग्गहो जाव जोयणसकोसं ।  
 णगरं पुण वसहीए, विकालउउचइवासो तु ॥  
 उस्सग्गणं ज्ञाणओ, अत्रवाएणं तु होज्ज अहिओ वि ।  
 एमेव य वासासु वि, चउमामो होज्ज अहिओ वि ॥  
 अममत्त अपरिकम्मा, उवस्सओ एत्थ जंगचउरो तु ।  
 उस्सग्गणं पदयो, तिण्णि उ सेसाउववादेयं ॥  
 जत्तं क्षेत्रकरं वा, अक्षेवकरं वा वि ते तु गेएहंति ।  
 मचहिं वि एसएहिं, सावेक्खो गच्छवासो च्चि ॥  
 अहलं दियाण गच्छे, अप्पमिक्खण जह जिणएणं तु ।  
 एवरं कालविसेसो, उउवासे पणगचउमामो ॥  
 गच्छे पडिक्खणं, अहलंदिणं तु अह पुण विसेसो ।  
 उगहो जो नेसिं नू, सो आयरियाण आत्तवति ॥  
 एगवमहीए पणगं, उच्चिउ ववगाम कुञ्जोति ।  
 दिवसे दिवसे आत्थं, अहंति विहो य पियमेणं ॥  
 परिहारविमुच्छं, जहेव जिणकपिय्याण एवरं तु ।  
 आयंविस्सं तु जत्तं, गेएहंति य वासकप्पं च ॥  
 अज्जाण परिग्गहियाण, उग्गहो लोतु सोतु आयरिए ।  
 कात्ते दो दो मामा, उउचखे तामि कप्पो तु ॥  
 सेसं जह थेराणं, पिंनो य उवस्सओ य तह तासिं ।  
 सो सव्वो वि य उविहो, जिणकप्पो थेरकप्पो य ॥  
 जिणकपि अहासंदी, परिहारविसुच्छियाण जिणकप्पो ।  
 थेराणं अज्जाण य, बोधव्वो थेरकप्पो तु ॥  
 उविहो य मासकप्पो, जिणकप्पो खेव थेरकप्पो य ।  
 णिरणुग्गहो जिणएणं, थेराण अणुगहपवचो ।  
 उउवासकालउतीते, जिणकप्पोणं तु गुर्या य ॥  
 होंति दिणम्मि दिणम्मि वि, थेराणं तेष्वि लहू तु ।  
 तीसं पदाउराहे, पुटो अणुवासियं अणुवसंतो ॥  
 णे तत्थ पदे दोसा, त तत्थ तगो समावधो ।  
 पम्मरुग्गममदोमा, दस एसखा एएं पुण वीसं ॥  
 संयोगणदि पंचय, एते तीसं तु अवरहाहा ॥  
 एतदिं होमेदि, जदि असंपत्ति लगतो तह वि ।  
 दिवसे दिवसे सो खमु, काहावातीते वसंतो तु ॥  
 वासावासपमाणं, आयाये उप्पमाणितं कप्पं ।  
 एयं अणुमांयंतो, जाणुअ अणुवासकप्पं तु ॥

आचारपकप्पम्मी, जह जणियं तीत संवसंतो वि ।  
 होति अणुवासकप्पो, तह संवसमाणदोसा तु ॥  
 दुविहे विहारकाले, वासावासे तहेव उउचखे ।  
 मासातीते अणुवादि, वासातीते जेव उवही ॥  
 उउचइएस्स अहसु, तीनेसुं वास तत्थ ए तु कप्पो ।  
 पेत्तणं उवही खलु, वासातीतेसु कप्पति तु ॥  
 वास उउ अहालंदे, इत्तिरिसाहाणं पुहत्ते य ।  
 उग्गहमंक्कणं वा, अमोआसकासहिज्जोत्तो ।  
 वासासु चउमामो, उउचखे मामलंद पंचहियाण ।  
 इत्तिरिउ रक्खमूलं, वंसिमणद्धा वि ताणं तु ॥  
 माहारणा तु एते, समहितयां वहुण गच्छाणं ।  
 पक्केण परिग्गहिया, सव्वं पाहंत्तिया होंति ॥  
 संक्कणमन्नसय-स्स सकासे जदि तु ते अहोयंते ।  
 सुत्तत्थ तदुजयादं, संये अहवा वि पडिपुच्छे ॥  
 ते पुण मंक्कियाए, आवालियाए व तं तु गेएहोजा ।  
 मंक्कियाएपडिज्जोते, सच्चिचादी तु जो लातो ॥  
 सो तु परंपएणं, संक्कमती ताव जाव संटाणं ।  
 जहियं पुण आवलिया, तदियं पुण अंतए जाति ॥  
 तं पुण उतएक्काए, वसहीए अहव पुक्कियाओ ।  
 अहवा वि तु संक्कणो, दव्वस्सिमणं विहो अणो ॥  
 सुत्तत्थ तदुजयिमा-रथाण धोव अस्संतती भांए ।  
 संक्कणदव्वमंक्किल-आवलियाकप्पअणुवासे ॥  
 पुव्वहितयाण खेचे, जदि आगच्छेज्ज अयआयरियो ।  
 बहुसु य बहु आगमिओ, तस्स सगासम्मि जादि खेचो ॥  
 किंचि अहिज्जेजाही, धोवं खेचं व तं जदि हव्वेजा ।  
 ता ते अस्संघरंता, दोषि वि साहू विभज्जोति ॥  
 अणोआसम मगासे, तेसिं पि य तत्थ पिज्जमाणेणं ।  
 आभवणा तह खेव य, जह जणियमयंतरे सुत्ते ॥  
 एवं णिउवायाते, मासचउमासतो उ थेराणं ।  
 कप्पो कारणतो पुण, अणुवासो कारणं जाव ॥  
 एस-उणुवासएणकप्पो ..... पं० जा० ।

इयानि अणुवासकप्पो-(गाहा)[जिणथेरो]सो पुण अणुवास-  
 कप्पो जिणथेराअहासंदि य परिहारविसुच्छि य अज्जाणंति एगे-  
 गाओ एगस्स वहुं ज्ञाणेहिं खेत्तकालउवस्सयपिंडग्गहणे य  
 नाणत्तं जिणस्स ताव खेत्तं नत्थि काले उउचखे मासो वासा-  
 रसे वाउम्मासो उवस्सओ अममत्तो अपनिकम्मो भिक्खा अ-  
 लेयाडा खेत्तोग्गहो थेराणं अत्थि सक्कोसं जोयण नगरे वस-  
 दि उग्गहो तेसिं काहओ मानं वा मासाएयं वा उउम्मि वाण-  
 मकारणे वासासु वाउमासं वा निक्कारणे कारणं पुण कणाहिं  
 उवस्स उ उस्सग्गण अयमत्तो अपरिकम्मो य अत्रवाएण सस-  
 मत्तो सपरिकम्मो य पिंनो सेचामो अलेवकदो य अहासंदियाण  
 गच्छे अपनिकप्पणं जहा जिणएणं नवदि काले उउवासे गामो  
 कारए एगेगो ज्ञाणं पंचदिवस जिक्खं हिंमंति, तत्थेव वसंदि

वासाणु पदाथ्य चउम्मासो एवं परिहारियाणु वि जहा जिणाणं  
 णवरि आर्यविज्ञेण मासो सव्वो वि दुविदो जिणुकण्यो धरक-  
 ष्यो य, जिणअहाइंदिपरिहायिणुसिआयो जिणकण्यो अज्जाणं  
 येराणु य येरकण्यो गच्छुपंभियेचअहालंदिआणं आर्यारं-  
 यारणं चेष सो विञ्चिणोभारो संजयणगीतारपरिभरिआदियाणं  
 अस्थि केत्तं सो आर्यरियाणं चेष जिणकण्यो निरएणुमाहो  
 अस्त्रियाओ कारणा नथिय धेरकण्यो साणुमाहो अस्त्रियाओ  
 कारणेसु कासाइए उउमि जिणाणु गुरुओ मासो दिणे दिणे  
 थेराणु अहो मासो विणे दिणे तमि खेत्तं अत्थेताणं चउम्मा-  
 साइय जिणाणं तमि चेष खेत्तं दिणे दिणे चउगुरुं थेराणु वि-  
 णे दिणे चउलहुं (गाहा) [ तोसपयाऽवगहं ति ] सोलस उग-  
 मदोसा, संजोयणाइं पंचदस पसणा दोसा, सारुपरिवासीए  
 पअस्स उग्गमहोसा पंच संजोयणमाइं तथ्य वृद्धा एसा वीसा  
 दस पसणा दोसा एए हीसपयावरोदिं तेसिं अहवा दिवधं  
 दिवस्य अवरारो तीस दिणा मासो जमि आयउजइ जयमाणां वि  
 अथंत्तो (निक्कारेण तेण उग्गहं (गाहा) [ वासावासपमाणं ] वासावा-  
 सपमाणं च एवं आर्यारकण्ये भणियं तमि अरुक्कंते उग्गहकाले  
 अणुवसंतस्स अणुवासिया जवइ (गाहा) [ दुविहं विहारकाले ]  
 अइक्कंते अट्टदिं मान्हिं अट्टदिं धासं पस्सिचउजइ तथोवहो न  
 चेणए वासो अइए चेणए (गाहा) [ वास उउ ] एणमि त्रियाणं जइ  
 बहुया एकांमिं खेत्तं त्रिया होउजा वासासु उउमि सा अहाइं-  
 दिं पंच दिवसा जाव साइएणा पुहुत्ते वा ररारत्तए वा कक्कटेटा  
 संकमणं एगो एगस्स मूले इस वेयाहिंअं उउज्यारइ तस्स पुण  
 दस वेयाहिंअं उउज्यारतस्स मूले अहो उउत्तरउज्यणाणि  
 पट्ठे ज उउत्तरउज्यणाएत्तो सच्चिआइं इत्थइ तं दसं-  
 याइयाइं तस्स देइ दोसो उत्तरउज्यणं उउज्यारइ तस्स  
 मूले अथो वंमचेर उउज्यारइं जाव विवागसुयं जहा-  
 उत्तरापइया सट्ठाणं चेष इइ दसवेयाइयइकस्स अथ्यपुण एगो  
 एगस्स मूले आवासगाहाओ पट्ठे अथो पुण आयम्मरुस्स  
 अथ्यं कहेइ अथ्यइत्तो वडिओ वा एगो दसवेयालिपस्स सुत्ते  
 वाएइ एगो अथ्यं कहेइ अथ्यइत्तो वडिओ एगो उत्तरउज्यणा  
 वाएइ एगो अथ्यं कहेइ अथ्यइत्तो वडिओ एवं जाव विवाग-  
 सुयं सव्वथ्य अथो वडिओ एगो पअस्सि वाएइ एगो दसवेया-  
 लियाइं जाव कयवववहाराणं अथ्यं कहेइ, अथ्यइत्तो वडिओ-  
 एवं जाव विवागसुयं एगो कयवववहारे कहेइ एगो दिठियाइसु-  
 त्ते वाएइ सुत्तइत्तो वडिओ सव्वथ्य पुववयंयइत्तो वडिओ ज्जथ्य  
 वा मंरुलो जिजइ हेड्डिआणं तथ्य वावइ सच्चिआइं ते पुण  
 एगए बसहीए त्रिया पुण्फायाकिआ वा (गाहा) [ सुत्तथ्य ] अहवा  
 पगग्धिं गामे एगो खारिओ सुत्तथ्यविसारओ पुव्वट्ठिअं तस्स  
 अग्निं पस्से पट्ठेति, तं च खेत्तं थोवं अपज्जत्तं भणपाणे दां वि  
 जणा पट्ठेनथो वड्डणं संजए विसज्जेति अणुणं खेत्तं माहे तेसिं  
 अणुगामं गयाणं एगोएरस्स पट्ठेताणं तदेव संकमणट्ठाणं सच्चि-  
 आइं कहेइ जाव आवलिया सट्ठाणवयमिं (गाहा) [ एसो उ ] काइ-  
 कण्यो निववाघापण वासासु चाउम्मास्स उउमि अट्टमास्स कार-  
 णे पुण थेराणं जाइं अणुवासां जवइ जाव तं कारयं समसं  
 अस्त्रियाइं ताव अणुवासां ता वि जयंता सुद्धा, एस अणुवास-  
 कण्यो । पं० चू० ।

अणुवासगं-अणुवासक-पुं० । न उपासकः आशक्तोऽणुवासकः ।  
 मिथ्यादष्टी, स च हातकोऽहातकश्च, नायकोऽनायकश्चेति हि-

धा । "अणुवासो च वि नायगमनाथगो य" एतस्य द्विविधस्या-  
 ऽपि प्रमाणं चतुर्गुणं, अहाइयश्च दोषाः । नि० चू० ११ उ० ।  
 उपासकः आशक्तः इतरोऽणुवासकः । अशक्तकं, नि० चू० ७ उ० ।  
 अणुवासणो-अणुवासनां-खी० चर्मयज्ञप्रयोगेणाऽपानेन ज-  
 नेरं तैलविशेषप्रवेशनं, हा० १३ अ० । विधा० । व्यवस्थापना-  
 याम, अावा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।  
 अणुवि(चि)म-अणुद्विभ-वि० न० । प्रशान्ते, "चरं मइ-  
 मणुविविभं, अविचिखेत्तं चेषसा" दशा० ५ अ० १ उ० । अणु-  
 द्विभः क्षुधादिजयात् प्रशान्त इति । वृ० १ उ० ।  
 अणुविरइ-अणुविरति-खी० । देशविरतौ, कर्म० १ कर्म० ।  
 अणुवृइ-अणुविचिन्त्य-अथ० । अणु-वि-चिति-एय० । पर्या-  
 लोच्येत्यर्थे, प्रश्न० २ सम्भ० द्वा० । आलोच्येथे, दशा० ७ अ० ।  
 केवलज्ञानेन ज्ञावेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।  
 अणुवाच्य-अथ० । आनुकृत्यं वाचधित्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४  
 अ० १ उ० ।  
 अणुवीदनाभि(ण्)-अणुविचिन्त्यनापिण-पुं० । अणुविचि-  
 न्त्य पर्यलोच्य आपते इत्येवंशीलोऽणुविचिन्त्यनापी । व्य० १  
 उ० । स्वाश्लोचितवक्तृरूपे वाचिकवियनयभेदे, दशा० १ अ० ।  
 अणुवींइसभिजोग-अणुविचिन्त्यसमितियोग-पुं० । अणुवि-  
 चिन्त्य पर्यलोच्य प्राणणरूपाः सःसमितिः सम्यक्प्रकृत्यः सा-  
 उर्ताविचिन्त्यसमितिस्तयोयोगः संबन्धमनूयो वा व्यापारं वाऽ-  
 णुविचिन्त्य समित्यारः । भाषासामितियोगः, प्रश्न० २ सम्भ० द्वा० ।  
 अणुवृहृण-अणुगुहृण-न० । प्रशंसने, कथ० १ ।  
 अणुवृद्वयंते-अणुवृद्वयत्-वि० । अणुमयति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।  
 अणुवृढमाण-अणुवृढमाण-वि० । अणुवृद्धां कुर्वति, "घुणे उ-  
 रालं अणुवृढमाणं, विवाणु सोयं अणुवृढमाणं" सूत्र० १ अ० ।  
 अणुवां-देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना० १ धर्ग ।  
 अणुव्यय(अ)-अणुव्यत-न० । अणुनि लघुनि व्रतानि अणुव्य-  
 तानि । लघुत्वं च महाव्रतयोक्त्वाऽणुव्ययव्यादिनेति प्रतीत-  
 भवेति । उक्तं च- "सव्वगयं सत्तमत्तं, सुए चरिणेन पज्जवा  
 सव्वे । देसविरइं पट्ठु, वंशह वि पस्सिखणं कुज्जा" ॥११॥ इति ।  
 अथवा सर्वविरताऽपेक्षयाऽणुव्यतं लघुत्वेन व्रतान्यणुव्यतानि ।  
 स्था० ५ अ० १ उ० ।  
 अणुव्यत-न० । अणु महाव्रतस्य पश्चादप्रतिपत्तौ यानि व्रतानि  
 कथ्यन्ते तान्यणुव्यतानि इति । उक्तं च- "जाइ धम्मस्स समथे,  
 जुज्जइ नइसथे पि साहूणं । तदइहग्गवेऽस्सिनिवसं, फलेति का-  
 याणुकपट्टे" ॥११॥ इति । स्था० ५ अ० १ उ० । अणु० ।  
 ध० । आशक्तयोश्चैव देशविरतिकरूपे चूचुसप्राणातिपाताविर-  
 मणादिषु ; तानि च-

पंचाणुव्यया पमत्ता । । तं जहा-एलाओ पाणाइवाओ  
 वेरमणं, थुलाओ मूसावायाओ वेरमणं, थुलाओ अदिद्दा-  
 दाणओ वेरमणं, सदरासंतेसं इच्छापरिमाणे ।

स्फुटा द्वीद्वियाद्यः सत्याः; स्यूत्यन्वै चैतेषां सकस्रलौकिकानां जीवत्वापरिसिद्धेः; स्यूत्वविषयत्वात् स्यूत्वं, तस्मात् प्रमाणात्प्राप्तत्वात् । तथा स्यूशः परिस्यूशस्तु विषयऽतिच्छेदे विषयसमुद्भवः, तस्मात् श्रुतावादाद् । तथा परिस्यूत्वस्तुविषयं कीर्त्यापणहेतुत्वेन प्रसिद्धमतिदुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्यूत्वं, तस्मात्प्रसादान्नात् । तथा स्वदारसन्तोषः; आत्मीयकस्राद्भ्यस्त्वानुचित्युत्पन्न-कृष्णपरदारवर्जनमपि प्रामाण्यं । तथा इच्छत्या धनादिविषय-स्वाभिलाषस्य परिमाणं नियमनमिच्छापरिमाणम्; देशतः परि-ग्रहविरतिरित्यर्थः । प्रा० ५ ज० १ ३० । आ० १ उपा० ।

( सातिचारणां प्राणातिपानादीनां ध्यायत्वा स्वस्थाने )  
 अस्य ग्रहणविधिः—

तस्माद्भ्यासेन तत्परिणामदाह्यं यथाशक्ति ह्यदशशतस्वीकार-  
 णः, तथासति सर्वाङ्गुलिवरतेः संवायान्नरतेश्च मदाफस्रत्यात्, अर्धेऽपि च नियमाः सम्यक्त्वमुक्तत्वाद्देशान्तरप्रतसंज्ञया ए-  
 व देशविनिर्वाहमित्युक्तकाः । अन्यथा तु अस्तं पाथ्येभ्यः आदि-  
 भावादिनां वक्राः, यत् 'अपदेशरत्नाकरे' सम्यक्त्वात्ऽणुमत्तादिश्रा-  
 क्तमर्हति । नमस्कारशुभानां जिनार्थैर्नवदशान्निग्रहप्रभृतः श्रव-  
 काभासाः श्राद्धधर्मस्य पाथ्येभ्य इति ।

इत्थं च विधिग्रहणस्यैव कथंभ्यत्वात् संग्रहेऽस्य प्रयत्ने इ-  
 त्यत्र धर्मस्य सम्यग्वाधना प्रतिपत्ती प्रयत्ने इत्येवं पूर्व प्र-  
 तिज्ञत-व्याख्या तद्ग्रहणविधिमेव दर्शयति—

योगवन्दननिमित्त-दिगाकारविमुक्त्यः ।  
 योग्यापचयति विधि-रशुभ्रतुमुग्रहे ॥ ३२ ॥

इह विमुक्तिश्राद्धः प्रत्येकमभिसंबन्धने, इन्द्रान्ते श्रयमाणत्वात्-  
 । ततो योगशुक्तिवन्दनशुक्तिनिमित्तशुक्तिविकृष्टाकारशु-  
 क्तिव्यर्थः । तत्र योगाः कायवाङ्मनसापारसङ्क्रमाः, तेषां शु-  
 क्तिः सोपयोगांतरगमननियमयज्ञानपशुभोभित्तनादिक्रियाः; व-  
 न्दन्शुक्तिरम्बालतमपानादिद्वारकसमुत्पन्नानां स्रान्तका-  
 योगाः । दिक्कालकृष्ण, निमित्तशुक्तिस्तत्सोऽक्षरलितशुभ्र-  
 वादिनिनादश्रयणपुण्यजन्तुद्धारकप्रथमजन्मपाराधवलोकनगु-  
 नगन्धामागुदिरुचभावा, दिक्शुक्तिः प्राच्युदीर्घाजिनचैत्याधि-  
 स्थितऽऽसासमाश्रयणस्वरूप, श्राकरशुक्तिरस्तु राजाभियोगादि-  
 प्रत्याख्यानपवादमुक्तलीकरणात्मिकेति । तथा योग्यानां देव-  
 गुरुसाधर्मिकजनदीनानाधादीनामुचिता उपचर्यां धूपपुष्प-  
 वस्त्रविलेपनाऽऽसनदानादिगौरात्मिका चेति विधिः । अ च  
 कुर्व भवतीत्याह । अशुभ्रवर्तते । अशुभ्रवर्तते मुखे श्रादी-  
 येषां तानि अशुभ्रतमुच्यन्ति सापुत्रावयविशेषधर्माचरणात्, तेषां  
 ग्रहे प्रतिपत्ती भवतीति सदाग्रहेणविधिः । विशेष-  
 विधयस्तु सामाचारीनोऽवसर्याः । तपाठश्रायम्—'पसर्धे किञ्च  
 जित्तुभवत्प्राणं पसर्धसु तिहे करशुभ्रकसलसुदुष्टसुचद्वयसु  
 परिक्रिययगुणं सीसं सूरी श्रमशो कांउं क्षमासमखदाख-  
 पुव्यं भणोवेह-इच्छकारि भगवद् ! तुम्हे श्रासं सम्यक्त्व-  
 सामाधिक्यं श्रुतसामाधिक्यं देशविरतिसामाधिक्यं आरोवाच-  
 णीयं नंदिकरावर्णायं देवं धंदावेह । तन्नो सूरी सेहं वामपासे  
 ठक्षिया वदुंतियाहिं शुद्धेहि संघन समं देवं वंदेह जाच मम  
 दिसंनु । ततः श्रीशान्तिनाथाराधनायं करेमि काउस्समं,  
 'बंदव्यापसियाप' इत्यादि सत्पावीतुस्सामाधिक्यं काउस्समं करेह,  
 'श्रीशान्ति' इत्यादिरस्तुति च भवति । ततो ह्यदशश्राधारा-  
 चनार्थं करेमि काउस्समं बंदव्यापसियाप' इत्यादि कायोस्तमं  
 नमस्काराचिन्तनम्, ततः स्तुतिः; तन्नो सुवदेवयाप क्रेमेति

काउस्समं, अश्राध उरससिएणमिच्छा, ततः स्तुतिः, एवं श्राव-  
 नदेवयाप करेमि काउस्समं, अश्राधकं'या पाति श्रासमं, जैनं,  
 सद्यः प्रत्यहशान्ति । साऽभिप्रैतसद्युक्त्यै, भ्रायच्छारादेव-  
 वता" ॥११ ॥ इति स्तुतिः । समस्तैषाण्युक्तकारणां योग्याःसंगेः; ततः  
 स्तुतिः; नमस्कारं पत्रिव्योपविशय च शुकःस्तवपात्रः । परमैष्टित्यः  
 'जय वीरयार' इत्यादि । इयं प्रक्रिया सर्वविधिसु तुल्या, तत्सामो-  
 धारकृतो विशेषः । ततो बंदवपुस्यं सीसोपगह-इच्छकारि भ-  
 गवन् ! तुम्हे अहं सम्यक्त्वसामाधिक्यं श्रुतसामाधिक्यं देशविरति-  
 सामाधिक्यं, आरोवाचणीयं नंदिकरावर्णायं काउस्समं करेह ।  
 तन्नो सीससहितो गुरु सम्यक्त्वसामाधिक्यं श्रुतसामाधिक्यं देश-  
 वरितिसामाधिक्यं आरोवाचणीयं नंदिकरावर्णायं करेमि काउ-  
 स्सममिच्छाह जगह । सत्पावीतुस्सामाधिक्यं वदुंतीसत्ययभयनं  
 क्रामां नमस्काराचयकपान्दिरुचयः । ततः पुष्पकन्दनमस्कारपूर्वकं  
 वारयसं सत्यकवर्णकरकावः । स वायम्—

"अहं भंते ! तुम्हाणं समोवै मिच्छुत्ताश्रो पमिक्कामि संमत्तं  
 उपसंपज्जामि । ते जहा-द्वयशो वित्तश्रो काशश्रो भावशो, दयशो  
 णं मिच्छुत्तकारणां एवमिच्छामि, सम्मत्तकारणां एवसंपज्जामि,  
 नेमि कप्यइ अउजपयंति अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयापि  
 वा अन्नउत्थियपरिमाहेयाणि वा अरिहेतवहयाणि वंदित्तए वा  
 नमंसिस्सए वा पुंविं अयालससए श्रावदित्तए वा सवभित्तए वा  
 तेसिं अस्सणं वा पाणं वा खाइं वा साइंमं वा दाउं वा क्खुण्ण-  
 याउं वा वित्तश्रो णं इत्थं वा अन्नयथा वा काशशो णं जावज्जीवाए  
 जायशो णं जाउं वा गेहेणं न गदिज्जामि, जाव ज्ञेणेणं न कुंठिज्जामि,  
 जाव संनियापणेणं निजमिज्जामि, जाव अन्नं वा केणइ रोगा-  
 यं काइणइ एव परिजमि न परिजमइ, नाथे मे एअं सम्महइ  
 नन्नय एवाभियोगेणं गणाभिओगं वलामिओगेणं देवयाभि-  
 योगेणं गुणमिगहइ विचिकित्तारेणं वीत्तरामि, तसह "अरिहे-  
 तो महंदेवो जाव" इत्यादिगाधिया वारत्रयं पाठः । यस्तु सम्य-  
 कप्रतिपत्तनन्तरं देशविरतिप्रतिपद्यते, तस्यैव प्रतीकारः ।  
 तन्नो वंदित्ता सीसो भणइ-इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अहं स-  
 म्यक्त्वसामाधिक्यं श्रुतसामाधिक्यं, देशविरतिसामाधिक्यं, आरो-  
 वीः । गुरुगह-आरोवेमि । पुणो वंदित्ता भणइ-संदित्त किं भण-  
 मिः । गुरु भणइ-वंदित्ता पव्वेहइ । पुणो वंदित्ता भणइ- तुम्हे अहं  
 समत्तसामाधिक्यं सुयसामाधिक्यं देसविरहसामाधिक्यं आरोवियं इच्छा  
 मि अणुसद्धिः गुरु भणइ आरोवियं रक्षामसमणासं हत्थेणं सुत्तेणं  
 अय्येणं नदुज्जणं समं धरित्तज्जाइ । गुरुगुणोत्तं वुत्तहिं नित्याय-  
 पारगा हाह । सीसो भणइ-इच्छं ३ तन्नो वंदित्ता भणइ-तुम्हाणं  
 पवेइय संदिहइ साण्णं पव्वेपमि । गुरु भणइ-पवेपइ धा तन्नो  
 वंदित्ता एगनमुक्कामरुच्छरतेणं सोमसरणं गुरुं च पयकिण्णइ,  
 एवं तिञ्चि वेला । तन्नो गुरु नित्तित्तिए उवाचिस्सइ । क्षमासमण-  
 पुंविं सीसो भणइ-तुम्हाणं पवेइयं साण्णं पवेइयं संदिहइ  
 काउस्समं करेमि । गुरु भणइ-करेहइ । तन्नो वंदित्ता भणइ-स-  
 म्यक्त्वसामाधिक्यं ३ स्थिरीकरणार्थं करेमि काउस्सममि-  
 त्यादि, सत्पावीतुस्सामाधिक्यं अउवीसत्ययभयनं । ततः स्-  
 रित्तस्य पञ्चोत्सव्यादि ३ यथायोग्यमभिप्रायं ददाति । त-  
 द्वाइकशैवम्—'अहं भंते ! तुम्हाणं समोवै इम अभिग्गोहि गि-  
 पहामि । ते जहा-द्वयशो वित्तश्रो काशश्रो भावशो । इच्छुत्ता  
 शो इम अभिग्गोहि गिपहामि, वित्तश्रो णं इत्थं वा अन्नयथा वा का-  
 शशो णं जावज्जीवाए, भावशो णं अहमाहं यनंपणेणं अरिहेत-  
 वस्यं विस्सुत्तासिक्खियं सत्तु'द्वेव'अप्यं अन्नयऽणाभोगेणं सह-

स्वसागारेणं महत्तरागारेणं स्वस्वसामाह्वितप्रसागारेणं वासिरामि " तत यथासागारविशेषोऽतएवः कारयति, स्वयमव्यादिपुत्रे भवतिविषयां च देशानां विषये । देशासागरारोपणविशेषेभ्यः । भवतिनिष्ठापस्वस्वभ्यः—अहं चंते ! तुम्हारां समीचे पूज्यं पाणा-इवायं संकल्प्यो निरवराहं पचकस्वामि जावज्जीवाय दु-विहं तिबिहेणं मण्येणं वायाय कायेणं न करेनि न कारयेमि, तस्स जंते ! पकिक्कामि निदामि गरिहामि अण्पाणं वासिरामि १ । अहं चंते ! तुम्हारां समीचे पूज्यं सुगन्धायां जीहा दे-व्याहरेणं कन्माइसीयाहिं पंचाविहं पचकस्वामि द्विक्रमाह अवि-सण आचखीवाय पुविहमित्यादि २ । अहं चंते ! तुम्हारां समी-चे पूज्यं अदृसादायां वेत्तकयुवाह चोरंकारकरं रायनिगाहकरं सविष्ठाचिसवन्पुविसयं पचकस्वामि जावज्जीवाय दुविह-मित्यादि ३ । अहं चंते ! तुम्हारां समीचे चोरासलियवउविषयभे-यं पूज्यं मेहुणं पचकस्वामि, तथ विदं दुविहं तिबिहेणं तेरिचं पयविहं तिबिहेणं मणुअहाराणहियभंगएणं, तस्स जंते ! पांर-क्कामि निदामितीत्यादि ४ । अहं चंते ! तुम्हारां समीचे अपरिमि-षपरिगाहं पचकस्वामि धणयकाएनवविहव्यपुविसयं इच्चाप-रिमाणं उचसंपत्तामि जावज्जीवाय अहाराणहियभंगएणं, तस्स जंते ! पकिक्कामीत्यादि ५ । एतानि प्रत्येकं नमस्कारपूर्वं वा स्वयमुच्चारणीयानि ।

" अहं चंते ! तुम्हारां समीचे गुणव्ययतिप उक्ताहो तिरि-यमणुविसयं द्विसिपरिमाणं परिवज्जामि । उचभोगपरिभोग-वप भोगणञ्चो अणेतकायवहुवीयारभोगयणाइ परिहरामि । कम्मभोगं पचरसकम्मादाणाइ इंगालकम्माहयाइ बहुसाव-उजाइ चरकरज्जाइ रायनिगोचं च परिहरामि । अणथदं अण-वउक्ताणाइ चउत्तवहं अणथदं जहासलीय परिहरामि । जावज्जीवाय अहाराणहियभंगएणं तस्स चंते इत्यादि " ८

वीक्ष्यति समुदितानि वारचयम् ।  
" अहं चंते ! तुम्हारां समीचे सामाहयं देसावगासियं पोसहोवचासं अतिहिसिपिभागययं विभागतयं च जहासलीय पडिवज्जामि जावज्जीवाय अहाराणहियभंगएणं, तस्स चंते ! इत्यादि " १२ जत्वायंति समुदितानि वारचयम् ।

" इच्छेयं संमत्तमूलं पंचाणुव्ययं सप्तसिक्खावहयं बुधा-लसाविहं सावगधम्मं उचसंपरिजसायं विहरामि " वा-रचयमिति ।

अधाराग्रतादित्येव क्रमेण दर्शयाम्हा-

स्थूलहिंसादिक्रिति-व्रतभङ्गेन केनचित् ।

अणुव्रतानि पञ्चाहु-रहिंसादीनि संज्ञयः ॥२४॥

इह हिंसा प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणरूपा । सा च-स्थू-सूक्ष्मा च । तत्र सूक्ष्मा-पृथिव्यादिविषया । स्थूला-भिष्पाहृष्टी-मानवि हिंसात्मिक प्रसिद्धा वा । स्थूलानां वा प्रसामां हिंसा स्थूलहिंसा । आदिगात्रात् स्थूलसूक्ष्मवादाइत्तादानाअप्रवृत्ति-प्रदानां परिग्रहः पच्यः स्थूलहिंसादिषु या विरतिनिष्ठावि-स्ताम । अहिंसादीनीति " अहिंसासूत्रात् । स्तेय-भ्रष्टाचार्याप-रिग्रहात् " अणुि सायुज्जेत्ययः सकाशात्तूनि, व्रतानि ति-यमरूपाणि अणुव्रतानि, अणोर्वा यत्पेक्षया स्रुगुणस्थानि-नो व्रतान्पुण्यव्रतानि । अथवा-अणु पञ्चाभ्याइत्तप्रकृपाण्य-कृया प्रकृपायंयद्वा व्रतानि अणुव्रतानि । एवं हि महाव्रतानि प्रकृत्यन्ते तत्सम्प्रतिपद्यसमर्थेद्यत्सुव्रतानि । यदाह— " अह-

धम्मं असमत्थो, सुज्जह तदेसणं पि साहुं ति " । तानि किय-न्तीत्याह— ( पञ्चेति ) पञ्चसंख्यानि, पञ्चाणुव्रतानीति बहुवचन-निर्देशोऽपि यद्विरतिमित्येकवचननिर्देशः स सर्वत्र विरतिसामा-न्योऽपेक्ष्यतेति । शंजवस्तीयंकराः, आहुः प्रतिपादितवन्तः । क्रिमवि-शेषेण विरतिः, नेत्याह-वृत्तभङ्गेनेत्यादि । केनचित् द्विविधवि-धातीनामन्यतमेन व्रतभङ्गेन व्रतप्रकारेण वाच्यमेव हि आचकारां द्विविधविधिषादयः बनेय भङ्गाः संभवन्तीति तदाहिंसाज्जा-ग्रहणसुचित्वांमिति प्रायः तं च प्रकृा पच्य-आत्मा विरताः, अ-विरताश्च । तं सामान्येन द्विविधा अपि विशेषतोऽपि विधा भव-न्ति । यत् आवश्यकं— "सामिग्गाहा य गिरिज-ग्गाहा य भोगेण स्वा-भया दुविहा । ते पुण विभज्जामाण, अट्टुविहा हुंति पायज्य" ॥२॥ सामिग्गाहा विरता आनन्दाद्यः, अनजिग्गाहा क्रूरविरताः कृष्णसा-त्यक्रियेणिकाद्य इति । अथविधास्तु द्विविधविधिषादिभङ्गेन-देन भवन्ति । तथाहि—

" दुविह तिबिहेण पदमो, दुविहं दुविहेण वीचमो होइ ।  
दुविहं एगविहेण, एगविहं चय तिपियं ॥ १ ॥  
एगविहं दुविहेण, एगंविहेण उट्ठो होइ ।  
उत्तरगुणससमञ्चो, अविभो वि चय अट्ठमञ्चो " ॥२॥

द्विविधम-कृतं कारितं च । त्रिविधेन-मनसा वचसा कायेन, यथा स्थूलहिंसादिकं न करोत्यात्मना, न कार्यात्म्येनमेनसा वचसा कायेनेत्यत्रिग्रहवाद् प्रथमोः अस्व धानुमतिः प्रतिपिठः, अपत्या-दिपरिग्रहसङ्घातः, वैदिंसादिकरणे तस्यानुसृतिप्राप्तः अन्याथा परिग्रहापरिग्रहयोर्विशेषेण प्रव्रजिताऽप्रव्रजतयोरभेदापत्तेः । त्रिविधविधिषाद्यस्तु भङ्गा सुहिणामाश्रित्य प्रगवत्सत्ता अपि क्वाचित्कत्वाभेदाधकृताः; बाहुल्येन पञ्चिरेव विकल्पेस्तेषां प्र-त्याख्यानप्रसङ्गात्; बाहुल्यापेक्षया वाच्य सूक्ष्मप्रवृत्तेः । क्वाचित्-त्कत्वं तु तेषां विशेषपरिचयत्वात् । तथाहि यः किल प्रविभाज-युः पुत्रादिसंनतिपात्रनाय प्रतिमाः प्रतिपद्यते, यो वा विदोषं स्वयं दूरमणादिगतं मन्यादिमांसं द्दित्दन्तात्रिकचक्रमादिकं स्थूलहिंसादिकं वा क्वचिद्वस्त्रेषाविशेषे प्रत्याख्याति, स एव त्रि-विधविधिषादिना करोतीत्यप्यविषयत्वात्प्रोच्यते ॥ तथा द्विवि-धं द्विविधेनेति द्वितीयो भङ्गः । अत्र चोत्तरमङ्गल्ययः तत्र द्वि-विधं स्थूलहिंसादिकं न करोति न कारयति द्विविधेन मन-सा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वाचा कायेनेति ३ । तत्र यदा मनसा वचसा न करोति न कारयति तदा मनसा-ऽभिसंविद्धित एव यावाऽपि हिंसादिकमनुवृत्तेषु कायेन दुष्-छिनादि अस्विक्करोरिति १ । यदा तु मनसा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसाऽनिसंविद्धित एव कायेन दुष्छिनादि परिहरन्नेवाभामोगात्तत्रैव हनि घातयामि चेति श्रूते २ । यदा तु वाचा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसै-वाभिसंविद्धिमधिकृत्य कारति कारयति ३ । अनुमतिस्तु त्रि-विधेः सर्वैष्यास्ति । एवं दोषविकट्या अपि भावनीयाः ॥ द्विवि-धमेकविधेनेति तृतीयः । अत्राप्युत्तरमङ्गल्ययः । द्विविधे करणं कारणं च, एकविधेन मनसा, यद्वा-वचसा, यद्वा-कायेन ॥ एकविधं त्रिविधेनेति चतुर्थः । अत्र च द्वौ भङ्गौ, एकविधं कर-णम्, यद्वा-करणं, त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन ॥ एकविधं द्विविधेनेति पञ्चमः । अत्रोत्तरभेदाः षट्, एकविधं करणं, यद्वा-कारणम्, द्विविधेन मनसा वाचा, यद्वा-मनसा कायेन, यद्वा-वाचा कायेन ॥ एकविधमेकविधेनेति षष्ठः । अत्रापि प्रतिग्रहः षट्, ए-





नीयमिति । स्या० ४ डा० ३ उ० । ' धर्मकथां कुर्वन्ति ' इत्य-  
स्यायं, ४० १ उ० ।

अणुसमय-अणुसमय-अव्य० । समयं समयमनुहृक्कृत्येत्य-  
णुसमयम् । वीत्सायामव्ययीनायः । कर्म० ५ कर्म० । सततमित्यर्थे, उच्य० ५ अ० । प्रतिस्मयमित्यर्थे, क० प्र० प्रति० । प्र-  
तिक्रममित्यर्थे, चं० प्र० ६ पाठ० । "अणुसमयं अविहरित्यं निरं-  
तरं चववञ्जति" । अणुसमयमित्यादिपदत्रयमेकाधर्मम् । अ० ४१  
श० १ उ० ।

अणुसमययणोवचित्र-अणुसमयवद्वनोपातिक-त्रि० । अ-  
नुकृपा समाऽविषयमा वद्वनोपपत्तिर्होषयता येथं ते तथा । अ-  
नुलांसाविषयमद्वारघटनाके, " सतिस्वरचक्रलक्षण-अणुसम-  
ययणोवचित्रमा " जं० ३ अ० ।

अणुसय-अणुशय-पुं० । गये, पश्चात्तये च । अणु० । प्रअ० ।

अणुसख-अणुस्मरण-न० । सद्सम्कतैर्यप्रसूतिहृत्युत्तऽ-  
णुस्मरन्, पञ्च० १ विव० । " शाणानयाणुस्मरणं, पुव्यगय-  
सुयाणुस्मरणं " भाव० ४ अ० । स्मृतौ, विश० ।

अणुसरियव-अणुसतीव-त्रि० । अणुगतव्ये, स्था० ५ डा० १ उ० ।  
अणुसमर्णव्य-त्रि० । अणुचिन्तनीय, " अणुसरियव्यो सुहेण  
चिन्तेण एष्वच नमोक्षारा कयन्तुं प्रममंमाणं " भा० म० द्वि० ।

अणुसरिर-अणुसदृश-त्रि० । अनुकृपे, "अणुसरि र्सातस्स हो-  
उवञ्जाम्रो" व्य० ३ उ० ।

अणुमार-अणुमार-पुं० । अणु-सू-भावे घञ् । अणुगमने, स-  
द्विकरणे च । वाच० । " विवसाय अ लक्षणाणुस्मरणं " इ-  
त्यादि । प्रा० । पारतन्त्र्ये, बिशे० ।

अणुस्वार-पुं० । स्वगार्थेण उच्चार्यमाणे बिन्दुत्वेत्या व्यञ्ज-  
माने अनुनासिके वर्णभेदे, वाच० । अनुस्वारां विद्यतेऽस्येति अ-  
नुनादिय्य इति मन्वर्थोऽयं प्रत्ययः । अनुस्वारवर्त्तनेनाच्चार्यमा-  
णेऽनकृयधुनविशेषे, भा० म० द्वि० । न० । " अणुस्वारं णाम  
पहंहुं अच्चे सच्च वा संभरिते अत्रेण वा संभारिते जं अक्षस्-  
रविरहितं सद्दकरणं तमणुस्वारं प्रजति " । भा० सू० १ अ० ।  
अणुमासंत-अनुशासत्-त्रि० । शिक्कयति-शिक्कां मयच्छति,  
उच्य० ४ अ० ।

अणुसाण-अणुशासन-न० । अणुशासयन्ते सन्मार्गेऽवतार्य-  
न्ते सद्सद्विवेकनः प्राणिनो येन तदनुशासनम् । धर्मदेशनस-  
न्मार्गावतारणं, " अणुसासनं पुट्टो पाणी, चसुमं पूयणासु ते "   
सूत्र० १ सू० १ ५ अ० । जगद्वद्वाक्ये-आगमं च । " सांख्य  
प्रवाद्याणुसासनं, सख्यं तथ्यं करज्जुयकमं " सूत्र० १ सू० २  
अ० ३ उ० । शासनमनु-अवययीनायः । यथागममित्यर्थे । सूत्रानु-  
सारेणैतं यावत् । "अणुसासनमेव पक्षम्, वीरिदिं समं पवध-  
यं " सूत्र० १ सू० २ अ० १ उ० । शिक्कायाम्, ज्ञा० १ ३ अ० ।  
उच्य० । राजद्विष्टराज्ञोऽणुशासनं बध्वायामि । पञ्च० ३  
विब० । दुःस्थस्य सुस्थतासंपादने, स० । अनुकम्पायाम्, "अ-  
णुकृपे चि वा अणुसासनं ति वा एगछा " पं० सू० । अणुशास-  
नं प्रथमानं वा दृष्टे वा, किमुक्तं नपति १-सामाख्यरीतः प्रतिन-  
त्रयमानात् कथञ्चिद् दृष्ट्यादनुशासित तदनुशासनम् । यदि वा  
वां बाधोक्तकार्येऽपि सद् कथञ्चिन्न करुणं, तत्कथञ्चिन्नकृपायाम्,

'एतत्तव कृत्यमिति' दृष्ट्यादनुशासित एतदनुशासनम् । संभ-  
वेदे, इय० ३ उ० । " अणुसासक- अनुशासते । वृ० १ उ० ।

अणुसासणविहि-अनुशासनविधि-पुं० । अणुशासित्विधानं,  
पञ्च० ३ विव० ।

अणुसासिजंत-अणुशास्यमान-त्रि० । तत्र तत्र चोद्यमाने,  
" अणुसासिजंतो सुस्सुख " । दश० १ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

अणुसामिय-अनुशासित-त्रि० । युक्तानि शिष्यमाणे कथञ्चि-  
त् स्फालितादिषु गुणभिः परयोक्त्या शिक्तिते-गुणभिः कठोर व-  
चनेऽनमिते, उच्य० १ अ० । अभिहिते, सूत्र० १ सू० १ ५ अ० ।

अणुसिद्ध-अणुशिष्ट-त्रि० । शिक्कां गृहीते, " तत्तेण अणुसि-  
द्धाते, अपदिअणु जाणया " सूत्र० १ सू० ३ अ० ३ उ० ।

अणुसिद्धी-अणुशिष्टी-स्त्री० । तदभाषकधनपूरस्तरं प्रहाय-  
नायाम्, वृ० १ उ० । ( "अणुसिद्धी" शब्दप्रकरणे दृशितार्थे, )  
शिक्कायाम्, उच्य० १० अ० ।

अणुमुत्त-देशी-अनुकूले, दे० ना० १ वर्णं ।

अणुभूयग-अणुसूचक-पुं० । नगराभ्यन्तरे चारुगुपलममाने,  
सूचकयितं भुतं दृष्टे वा, स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः  
कथयति, सामन्तराज्येषु वसन्तिकृतवृत्तिके क्रमात्सुपुत्रे,  
तादृश्यां कृतवृत्तिकार्यां चैव महिलायाम्, "स्यग तहाऽणुसू-  
यग-पडिसुयग सख्ययुगा चैव । पुरित्ता कयार्त्तिया, वसति  
सामंतनगरं सु ॥१॥ महिला कयवर्त्तिया वसति सामंतण्य-  
रं सु " व्य० १ उ० ।

अणुम् ( स्तु ) यत्ता-अणुस्युतत्व-न० । अपरगरीराश्रितता-  
यां परिभाषाम्, " अचिन्तेसु वा अणुस्युत्वाय चि उद्दृति "   
सूत्र० २ सू० ३ अ० ।

अणुसोय-अणुभ्रोतस्-न० । प्रवाते, "अणुसोयपटिप बडु,  
णमिमि पडिसोयलखलक्षणेण । पडिसोयमेव अण्वा, दायव्यो  
होउ कामेणं ॥१॥ अणुसोयसुहो लोगां, पडिसोत्रो आसमां  
सुयिहियाणं । अणुसोत्रो संसारा, पडिसोत्रो तस्स उत्तां-  
रा " ॥२॥ अट्ट० २ ३ अट्ट० । पं० सू० ।

अणुसोयचारि ( ण )-अणुभ्रोतश्चारि-त्रि० । अणुभ्रोतसा  
चरतीति अणुभ्रोतश्चारि । नद्यादिप्रवाहागामिनि मत्स्ये, एवं  
मिखाके च । यो हि अभिमहविशेषाणुपाभयसमीपात् क्रमेण  
कुलेषु मिच्छंते सोऽणुभ्रोतश्चारि । स्या० ४ डा० ४ उ० ।

अणुसोयपट्टिय-अणुभ्रोतःमस्थि-त्रि० । नदीपूज्याहपतित-  
काष्ठवद् विषयकुमार्येद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते, "अणुसोय-  
पट्टिय बडु, जणमिमि पडिसोयलखलक्षणेण । पडिसोयमेव अ-  
ण्वा, दायव्यो होउ कामेणं " ॥१॥ दश० २ सू० ।

अणुसोयसुह-अणुभ्रोतःसुह-त्रि० । उक्कभिक्षामिसंपरणत्  
प्रवृत्त्याऽणुकूलविषयादिसुखं, दश० १ अ० । "अणुसोयसुहो  
लागां " दश० २ सू० ।

अणुसमग-अणुसर्गा-पुं० । अपरित्यागे, दश० ।

अणुस्तरिता-अणुमृत्य-अव्य० । अणुसारां कृन्धेत्यर्थे, " अंधं च



नेषारमण्यस्तरिचा, पापाणि केचं विविहिंति मन्त्रां" सूत्र० १ सु० ७ अ० ।

अभ्युत्सव-अनुश्रव-पुं० । अनुश्रव्यते शुभमुखादियनुश्रवः । वेदे, इां ८ इा० ।

अभ्युत्सुय-अनुश्रुत-त्रि० । अवधारिते गुरुजनक्यमाने, उच० ५ अ० । अवनपयमायात्, सूत्र० १ सु० २ अ० २ उ० । भरतादी प्रापे सुत, सूत्र० १ सु० ३ अ० ४ उ० । न उत्सकोऽनुत्सुकः । सूत्र० १ सु० ९ अ० । औत्सुक्यरहितं, पं० सू० ४ प० ।

अभ्युत्सुयत्-अनुत्सुकत्व-न० । विषयसुखेऽनुत्साहत्वे, "सुहृत्सापण्य अनुत्सुयसं जणयइ । उच० २ ए अ० ।

अभ्युत्सुयसिद्ध-अनुत्सुयसिद्ध-त्रि० । स्वसेवेदनप्रतीते, पञ्च० ३ विष० ।

अभ्युत्सुयवृत्ति-अनुत्सुय-अभ्य० । संवेद्योत्पत्ते, पञ्च० २ विष० ।

अभ्युत्सुयसाय-अनुत्सुयसायन-न० । अविचलकायनया सहने, जं० २ बक्र० ।

अभ्युत्सुय-अनुत्सुय-त्रि० । अनुत्सुय-क । प्राकृते " केहुः " ॥ ८ ५ । ६४ ॥ भुवः के प्रत्यये ह्राददेशः । अनुत्सुयविययीकृतं, प्रा० ।

अभ्युत्सुय-देवी-शास्त्रिनंदे, दे० ना० १ खं ।

अभ्युत्सुय-अनुत्सुय-त्रि० । अनुत्सुय आपो यत्र । ब० स० । अश्रुत्सुमा० । अश्रुत्सुयम् । जलमाये स्थाने, धाव० । तथाद्विपानीयबहुले, सू० १ उ० । विशेष० । व्य० ।

अभ्युत्सुय-अनुत्सुय-पुं० । जलदेशे, व्य० ४ उ० ।

अष्टाङ्क(ग)-अष्टाङ्क-त्रि० । बहुव्यु, सूत्र० १ सु० १२ अ० । अनेकशब्दघटनप्रयोगा यथा: " अष्टगणनायकदेवनायकराटसरतलवहारमंत्रविश्वकोर्मविश्वमतिमहामातिलगकदायारिअअमअ-चेरपिउमहानगरनिगमसद्विसेनावदस्त्रधायुदत्संविवालसर्दिसिं संपरिहृते " अनेके य गणनायाकाद्यस्तेषां इन्द्रस्तनस्तैरह नृत्पुन्याथाहृबचनभ्रांपो ऋषयः ( सर्दि ति ) साईं सईत्यर्थः ।

न कथलं त्मन्दिहभमेव, अपि न तु तैः सामानि समन्ताव परिदृतः परिवारित इति । आ० । " अष्टगजाइजराभरणजांषिवरण्ये " अनेकजातिजराभरणप्रधानीयेषु, वेदना यत्र स तथा । ( संसार इति विशेष्यम् ) औ० । " अष्टगजातिजराभरणजांषिसंसारकलंकलभाषणुपुण्यवर्गव्यासवसइा । पंचवसमश्केतासावस्यमाणस्यसिद्धं " अनेकजातिजराभरणजैम्पराजशुभ्रु-भिवंशं तासु यानिषु संसारः संसरण्ये तेन च यः कलङ्कलः । भावः कद्रथ्यमानता यच्च विध्यसुखमनुमानानामपि पुनभवे संसार गर्भेवसतिप्रपञ्चः, तौ समानिजाति, अत एव द्वाभ्यन्तमनाने काशं तिष्ठति । ( सिद्धा इति विशेष्यम् ) प्रज्ञा० २ पद ।

अनेकजातिभ्रंशदा विन्त्रात्रयम् । सर्वभाषानुव्यापितचक्ररूपता । रा० । इह जातयो वर्णनीयवस्तुसुखवर्णानि । स० । " अष्टगणनायकवियेच्छक्रभ्रवयायपत्रापरिहरपरं " अनेकानि नदानि कटकाश्च गयकरौला यत्र त् तथा । विभारणि, अष्टकराश्च निकरविशेषाः, प्रपानाश्च भुवः, प्राग्भागाश्च ईश्वरध्वजानि गिरिदेशाः, शिखराणि च कुटानि, प्रभुर्वाणि यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः ( पशंत इति विशेष्यम् ) ज्ञा० ५ अ० ।

" अष्टगणनायकवियेच्छक्रभ्रवयायपत्रापरिहरपरं " अनेके नैरव्यायेः पुरुषव्यायैः सुप्रसारितैराह्लाऽप्रमयो घनो निभिसां विस्त्रां विस्त्राणीं वृषः स्तयोः यथां ते-अनेकमण्यव्यासुप्रसारिताप्राहाघनविपुलसुखस्तथाः रा० । इा० । " अष्टगणनायकवियेच्छक्रभ्रवयायपत्रापरिहरपरं " अनेकं भूता अतीता भावाः सत्याः परिणामा वा प्रव्याश्च भावितो यस्य स तथा । इति शुक्तं प्रतिस्थापत्यानुषः । रथा० १ उा० १ उ० । " अष्टगमनिर्णयविविहगिजुक्त्वविविधविधया " अनेकानि बहुनि प्रणितानि प्रतीतानि विधिधानि बहुप्रकाराणि नियुक्तानि नियोजनानि येषु तानि तथा, तानि विधिधानि चिह्नानि गताः प्राप्ताः ये ते तथा । ( सुपुरुषवर्णकः ) औ० । प्रश्न० । " अष्टगमनिर्णयविविहगिजुक्त्वविविधयागामिषं " अनेकं निरत्नैर्विषं नामाप्रकारं सुविरचितं नाम चिह्नं निजनामवर्णं पङ्क्तिरूपं यत्र स तथा । जं० ३ पक्ष० । " अष्टगमनिर्णयविविहगिजुक्त्वविविधयागामिषं " अनेकं विषयनिर्णयकनकनिरपरिमिदमभोगे जिकिचित्रे चिह्नचिह्नानि चित्रे विनियुक्ते कर्णयानि शंशने गमनगुणन गतिनामर्थ्येन जनिने कृतं प्रश्नाभमाने चञ्चले ये वरललिनकुफरुले तान्यापुञ्ज्यात्रनेतोहो । पनेनाधिः काप्यामात्रप्राप्त्यापुञ्ज्यातितापिकेयोऽऽत्रनेषौश्च कुफरुलव्यागिर्निकैर्जनिता शोभा यस्य स तथा । इा० । प्र० । " अष्टगमनिर्णयविविहगिजुक्त्वविविधयागामिषं " अनेकवा रथशकटादीनामधोविस्तीर्णत्वात् प्रतिसोचनं येषु ते तथाः रा० । " अष्टगयावरसहस्रपाशुआयमभं " अनेकयो राजवराणां बहुसुकुटारां सहस्रैरनुयातेऽनुगतो मर्गः पुष्टे यस्य स तथा । जं० ३ बक्र० । " अष्टगवद्विप " अनेकानि वृक्षानि परिधाराः यस्याः सा तथा सत्याः (पशदः) रा० । " अष्टगवरातुगमकुकुंजरपहकर (सहकर) सीयस्त्रमाणं (शिष्टाप्रजाजुगमा) अनेकैर्वेत्तुगमैः सुकुर्यैः ( रह-पहकरे ) श्रधति करैः ( रहसहकरे ) ति घाः ) रथानां सहकारिः सुह्रातैः शिविकभिः स्वयंमानि । जिराकर्णां व्यासाः वानिनुश्रंश्च या सा तथा । आर्काणिशपरव्य मथानिपातः प्राकृतवात् । अथवा अनेकं बरतुराश्वयो यस्यामाकीर्णानि च गुणयन्ति यानार्त्नानि यस्यौ सा । आ० । " अष्टगवरातुगमकुकुंजरपहकर " अनेकैर्वेत्तुगमैः सुकुर्यैः रातदाश्च रथाः पाणिद्वेक्षा यस्य स तथा । औ० । " अष्टगवायामाजोमागमणाग्रमहणमशुभ्रु-क्करणम् " अनेकानि यानि ध्यानात्मनिमित्तयोर्व्यतिरि तानि तथातैः तत्र योग्या गुणानि का यलानसुललनं ध्यामर्दनं परस्परस्थाङ्कमाटेन मध्ययुद्धं प्रतीतं कर्णानि चक्रमङ्कलवितोया मल्लनाशप्रसिद्धाः । औ० । इा० । " अष्टगवासासयमायतं " अनेकवपशतायुधमत्तः । प्रश्न० ५ आश्र० इा० । " अष्टगवसाणिगणमिदुगणवियारिण्य " अनेकशुकुंनिमित्तानां प्रियचित्तमितस्ततो गमने यत्र लक्षया ( प्रयानकुर्यपहं ) जं० ४ बक्र० । रा० । " अष्टगमस्कृत्तमागसहस्रवितते " अनेकैः शुकुंप्रमारीः कीलकसहस्रैर्महर्त्नाई कीलकैस्ताम्रिताया मध्यकः संभवति । तथाकृतामाऽसंभवात्तः शुकुंप्रहणं, चित्तं चितानि कृतं तादृशमिति भावः । रा० । जी० । " अष्टगवसाय " अनेकानि पुरुषाणां श्रतानि संख्या यस्याः सा अनेकश्रतः, तस्याः । रा० । " अष्टगवासाप्लासाहविदिमा " अनेकशाखाप्लाशावित्यापस्तम्यध्यानां बुद्धिविशारदो वा यथां तः ( बुद्धाः ) । औ० । इा० ।

अथोक्तायंतरसिद्धकेवललाण-अनेकान्तरसिद्धकेवललाण-  
न० । आनिर्वाणिकज्ञानभेदे, यद्वा २ टा० १ उ० ।

अथोक्तंत्राय-अनेकाङ्गिक-पु० । अनेकपङ्क्तये, नि० चू० १ उ० ।  
कन्धिकप्रस्तागमके संस्तरभेदे च । वय० २ उ० ।

अष्टोक्तंत्राय-अनेकान्तर-त्रि० । एकान्ते नियमोऽप्यविचारी यत्र ।  
अनियमे, अनिश्चितफलके च । याव० । अनिश्चये, विशे० । एकाङ्ग्ये,  
प्रथ० ३ टा० ।

अष्टोक्तंत्रयपदागा-अनेकान्तत्रयपदाका-खी० । हरिजलसुरि-  
विरचिते स्वनाम्नयथातन्त्रभेदे, यद्वा चिचिवरणं मुनिवेन्दुणा-  
कारि । तदुपक्रमे "शेषमतातिशयानं, यस्यानेकान्तत्रयपदाका-  
द । हर्तुमशुभ्या केनाऽपि वादिना नैःमित्ते तदीयं ॥१॥ कतिपयवि-  
षयमद्वयतं, ध्वंस्यनेकान्तत्रयपदाकायाः । वृत्तेर्विचरणमहम-  
ल्पवृत्तिवृत्तयै समासिन" ॥२॥ अनेकान्तत्रयपदाकायुतिविष० ।

अष्टोक्तंत्रय-अनेकान्तात्मक-अ० । अन्वयेते गम्यते निश्चायते  
इत्यन्ते धमे । न एकोऽनेक । अनेकश्चास्वायतनश्चानेकान्तः ।  
स आत्मा स्वभावा यस्य वस्तुज्ञानस्य तदनेकान्तात्मकम् । स्-  
द्वन्द्ववाचनेकधर्माऽऽत्मके, एता० ३ परि० ।

अष्टोक्तंत्रय-अनेकान्तत्रय-पु० । स्याद्वादे, स च यथा युक्त-  
तामश्नति, तथा स्याद्वाद्दमज्जयार्थिष्यन्धयेः संशुद्धांत ।

- ( १ ) एकान्तवाद्द्वयपुरस्सरमेकान्तवाद्दमनम् ।
- ( २ ) प्रत्यक्षोपपत्तमरणमप्यनेकान्तवाद्दयेऽप्यवमन्यते  
तेषामुपमत्तनाऽऽविर्भावोवचनम् ।
- ( ३ ) उत्पादविनाशयोरेकान्तकाऽस्तुपगमनिषेधः ।
- ( ४ ) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम् ।
- ( ५ ) वस्तुन एकान्तसदृक्त्वयै स्वीकृत्यैतः सांख्यमतस्य  
परामते युक्तिः ।
- ( ६ ) काशयेकान्तवाद्दोऽपि मिथ्यात्वमेव ।
- ( ७ ) साधर्म्येनो वैषम्येनपुत्र सत्यसिद्धिः ।
- ( ८ ) अनेकान्तवाद् एव समागः ।
- ( ९ ) एकान्तवादिनोऽङ्गाः ।
- ( १० ) अनेकान्तवाद्दोऽप्येकार्थस्वीकारयोः सम्बन्धमिथ्यात्वम् ।

( १ ) तत्रैकान्तवाद्द्वयपुरस्सरमेकान्तवाद्याह-

आदीपमाप्योम समस्तत्रयं,  
स्याद्वाद्दमुदाऽनन्तिते द्वे वस्तु ।

तद्विषयमेकमनित्यमन्य-  
निश्चिन्वाऽऽङ्गाद्विषतां प्रज्ञापाः ॥ १ ॥

आदीप दीपादिरभ्य, आद्योम ध्योममर्यादां ह्यय, सर्वं वस्तु प-  
दार्थस्वरूपं, समस्वभावक-समस्तुल्यः स्वभावः स्यत्कपयस्य त-  
त्तथा । किञ्च-वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति व्रमः ।  
तथा च वाचकमुच्यते- "उत्पादव्यययुक्तस्य सत्" इति ।  
समस्वभावत्वं कुतः ? इति विशयसङ्गारण्य हेतुमाह- (स्याद्वाद्-  
मुद्राऽनन्तिते) स्यादित्यव्ययमनेकान्तधोनकम् । ततः स्याद्वा-  
द्भेदेकान्तवादे । नित्यानित्याधेकधर्मशब्देकधर्मव्युत्पत्तयि  
द्विष्टे यावत् । तस्य मुद्रा मर्यादा तां नातिविनिश्चितं नातिक्रमतीति  
स्याद्वाद्दमुद्राऽनन्तितेति । यथाहि-व्यधिकर्तव्यं राजानं राज्य-  
धियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तमुद्रां नातिवर्तिमुनीशेन,  
तदतिक्रमे तासां सर्वाधोदानिभावाद् । एवं विजायिनि भिक्-

एदके स्याद्वाद्दमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदायां नाति-  
कामनिः । तदुद्भाङ्गेन तेषां स्वरूपव्ययस्याहातिप्रसङ्गः । सर्वे-  
स्तुनां समस्वभावकधर्मे च पराभावेऽप्येकं वस्तु व्योमादि-  
नित्यत्व, अन्यत्वं प्रदीपादि अनित्यत्वेति वादस्य प्रतिषेध-  
नीजम् । सर्वे हि भावा द्रव्याधिकर्तव्यत्वात् नित्याः, पर्या-  
याधिककनयादेशात् पुनरनित्याः । तत्रैकान्ताऽनित्यतया परै-  
रङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापने दिक्तात्र-  
मुच्यते । तथाहि-प्रदीपपर्यायाऽऽपकास्तेजसाः परमाणवः स्वर-  
सनस्तेजसत्वाद्भाताभिघाताद्वा, ज्यातिःपर्यायं परिवर्त्य ततो-  
रूपं पर्यायान्तरमासाद्व्यन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः, पुत्रलद्रव्य-  
रूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । नश्चातावतेषाऽनित्यत्वं यावता  
पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य स्रोत्पादः । न खलु सू-  
द्रव्यं स्यात्सकशाशुकुल्लशिशुकघटाद्यवस्थाभन्तरस्याप्यधाम-  
नमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु सूद्रव्यानुगमस्याऽऽबालगोपाल-  
प्रतीनित्यात् । न च तमसः पौर्वात्मिकत्वमसिद्धम् ; चाक्षुषत्वाऽऽ-  
न्यथाऽऽनुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् । अथ यत्त्वाक्षुषं तत् सर्वं  
स्यप्रतिमानेकान्तत्वमपघते, न वैधं तमः । तत् कथं चाक्षुषम-  
नैवम् । उल्लुकार्द्विनामात्रेकान्तरेणपि नत्वनिभासात् । यत्रस्व-  
स्यादिभिन्नेष्वप्यक्षुषं घटादिकमालोक विना नोपलभ्यते,  
तैरपि निम्नरमालोकविष्यते, चिच्चिन्त्रयाद्वाभावात् । कथम-  
न्यथा पंतद्वेनान्दयोऽपि स्वल्पमुत्पाकलावाः आलोकापेक्षस-  
नाः । प्रदीपचन्द्राद्वयस्तु प्रकाशाभन्तरपरिज्ञाः इति सिद्धं तम-  
साक्षुषं, रूपवयाच्च स्वशेषत्वमपि प्राप्येते, शतित्यस्योपलभ्यते-  
नत्वत्वात् । यानि त्वानि स्वल्पवत्त्वमप्रतिष्ठातिव्यमनुद्वृत्तस्य  
शिशोपलभ्यमप्रतीयमानत्वमात्रवयविकल्पविनाशमितिर्वादि-  
तमसः पौर्वात्मिकत्वनिषेधाय परैः साधनाऽनुपपेक्षानि, तानि  
प्रदीपप्रभाहृदन्नेव प्रतिपत्त्यानि, तुल्ययोगकमेवम् । नञ्  
वाच्यं नैजसाः । परमाणवः कथं तमस्येव परिणमते इति ? पु-  
श्चानां लक्षणासांगीतवृत्तानां विनष्टकाश्यात्पादकत्वस्याऽपि  
दर्शनात् । यद्वा ह्यद्वयसंयोगवशात्काशरूपस्याऽपि चङ्गे-  
भास्वरूपधर्मरूपकाश्यात्पादः इति सिद्धो नित्याऽनित्यः प्रदीपः ।  
यद्वाऽपि निर्विघादवर्तते देवोपमनां द्वापसन्दाऽपि तत्रनवपर्या-  
योत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रतीपत्यान्वयाद्यच्च नित्याऽनित्य  
एव । एवं व्योमापि उत्पादव्यययोऽप्यनेकान्तानित्याऽनित्यमेव ।  
नशादि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहानोपग्रह एव  
तन्लक्षणम्, "अवकाशुद्दमकाशांमिति" वचनात् । यद्वा  
चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विद्यमानां वा एक-  
स्मात्प्रतःप्रदेशात्प्रदेशात्स्वरूपमुत्पत्तिं, तदा तस्य ध्वोऽनित्य-  
रवगाहकः सममेकस्मिन् प्रदेशे विद्यमानः, उत्तरस्मिन् प्रदेशे-  
संयोगः । स्योमाविद्यमानं च परस्परं विकर्तुं धर्माः । सङ्घे-  
वाच्यं धर्मिणो जेदः । तथा वाहुः-"अयमेव हि भेदा भेदहेतुनां,  
यद्विद्वत्कथमाप्यासः कारणजद्वयं ॥" । तत्र च यद्वाकाशो पूर्व-  
योगविनाशलक्षणपरिणामापस्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादा-  
स्यपरिणामोऽनुभाक्त्वपरिणामः । उतपर्यःऽऽकाशुद्दव्यत्वात्तुगन्त-  
व्योत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम् । तथा च "यदप्रच्युतामुत्प-  
त्तिर्बिकल्पे नित्यम्" इति नित्यलक्षणवचनम् । तद्वास्तवम् । एवं  
विषयकस्यैतद्विद्वत्तुनोऽभावात् । "तद्वाच्यत्वं नित्यम्" इति  
सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सङ्घातेऽपि तद्वाद्दव्य-  
यिरुपाद्यत्वेन तन्नित्यत्व, इति तदर्थस्य घटमानत्वात् । यदि हि  
अप्रच्युताऽऽदि लक्षणं नित्यमिष्यते, तदीयत्वादव्ययैरिनाधारव्य-



पवादाक्रमम्, अक्रमाच्च क्रमिणां नामाकार्याणां कथमुत्पासिः ? इति चेत् ; अहो ! स्वपक्षपाती भवान् इति, यः अतु स्वयमेकस्माच्चिरंशुभ्र्यादि कृत्वाकारणानुपपन्नपक्षेककारणसाध्याभ्यन्तककार्या-  
 एकीकृत्याणांऽपि परपक्षे नित्येऽपि घट्टुनि क्रमेण नामाकार्य-  
 कारेणऽपि चिरंशुभ्रुद्भवति । तस्मात् कृषिकस्यापि भावस्या-  
 क्रमेणार्थक्रिया युच्येत् । इत्यनित्यैकान्तादि प्रमाकमयोर्व्योपक-  
 पोर्निबूधैव ध्याप्यार्थक्रियाऽपि व्यावर्तते । तदुभ्यावृत्तौ च सत्त्व-  
 मपि व्यापकाऽनुपपन्नविषयलैवेति निश्चतेन, इत्येकान्तानित्यवादाऽपि  
 न रमणीयः । स्वाहावे तु-पूर्वोपपत्ताकारपरिहारस्वीकार-  
 स्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र  
 वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माभ्यासायोगाद्भवन् स्वा-  
 हाद् इति वाच्यम् ? । नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तर-  
 स्थापिक्रियामन्वाद्, तथैव च सर्वैरनुभवान् । तथा च  
 पठति-“ प्रागे सिंहा नरो भागे, योऽप्ये प्रागह्यात्मकः ।  
 तत्रमग्नं विनागेन, नरसिंहं प्रचक्रेत् ॥ १ ॥ इति । वैशधि-  
 कैरपि चित्ररूपस्यैकस्याऽऽवयवितोऽप्युपगमात् । एकस्यैव पदा-  
 देक्षलाऽऽचरन्काऽऽरकाऽऽवृत्ताऽऽवृत्तत्वादिचित्ररूपधर्माणामुपल-  
 ष्ये; सीमातिरप्येकत्र चित्रपटीऽङ्काने नीलाङ्गीभयोर्विरोधान्नीका-  
 रान् । अत्र च यद्यप्यधिकृत्यादिनः प्रदीपादिकं कालान्तराऽव-  
 स्थापित्वाद् क्राणिकं न मन्यते, तन्मते पूर्वोपपत्तावच्छिन्नायाः  
 सत्ताया एवाऽनित्यतालक्षणत्वं । तथाऽपि बुक्तिसुखादिकं तेऽपि  
 क्राणिकत्वंच प्रतिपन्नम् । इति तदधिकारोऽपि क्राणिकत्वाच्चर्चा ना-  
 ऽनुपपन्ना । यदाऽपि च कालान्तरावस्थाप्य वस्तु, तदाऽपि नित्य-  
 नित्येऽप्येव । क्राणोऽपि न खलु साऽस्ति, यत्र वस्तुपदाद्वयव्यभि-  
 च्यात्मकं नास्तीति कात्यायनः ॥ ५ ॥ स्यात् । ( अनेकान्तज्ञानस्य  
 यथाऽर्थं 'मोक्ष' शब्दे वक्ष्यते )

( २ ) साऽप्रमत्तनाद्यदिष्टायास्तनाद्यसितसम्पत्तयः प्रत्यक्षोप-  
 लब्धयामानम्येनकान्तवाद् येऽवमन्यन्ते तेषामुपलक्ष्यतामविर्जा-  
 यत्वाह—

प्रतिक्षुणात्पादविनाशयोगि,  
 स्थिरैकमध्यक्षमर्पिक्रमाणः ।  
 जिनः त्वदाज्ञामवमन्यते यः,

स वातकीं नाथ ! पिशाचकीं वा ? ॥ २१ ॥

प्रतिपक्षं प्रतिस्वयमुत्पादेन सकारारस्योपकरणेय, विनाशेन  
 च पुंऽऽकारपरिहारकृष्णेन, तुष्यत् इत्येवशीलं प्रतिक्षुणात्पाद-  
 विनाशयोगिः किं त्वत् ? स्थिरैकं कमेनाऽऽपक्षम्; स्थिरमुत्पादविना-  
 शयोरनुत्पादित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं क्वचिं तिष्ठैरकम् । एक-  
 वाग्धेऽत्र साधारणत्वात् । उत्पादे विनाशे च तत्साधारणम-  
 न्याधिप्रदत्तत्वात् । यथा चैकमेतदर्थोक्तं अमर्षा साधारणत्वर्थः ।  
 इत्येवमे हि तयोरेकाऽधिकरणता, पर्यायार्था कथञ्चिदनेकत्वेऽपि  
 नित्य कथञ्चिदेकत्वात् । एवं त्रयात्मकं वस्तु अल्पक्षमर्पिक्र-  
 मायः प्रत्यक्षमवलोक्यथापि, हे ! जिनः ! राणादित्थै ! त्वदाज्ञाय,  
 अा सामस्येनाऽनन्तधर्मोविशिष्टतया ज्ञायतेऽवबुध्यन्ते औवाह्यः  
 पदार्था यथा सा आज्ञा, आगमः, शास्त्रमः; तथाहा त्वदाज्ञा, तां त्व-  
 दाज्ञां जवत्प्रतीतस्याहादमुद्गतां, यः काश्चिद्विषयीक अवमन्यतेऽव-  
 जानति । ज्ञान्यपक्षमेकत्वचनम्, अत्रह्यथा वा । स पुष्टपक्षमुप-  
 त्तिकी, पिशाचकी वा । यान्ते रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी, वात-  
 की च वातकी, ज्ञान्य इत्यर्थः । एवं पिशाचकीव पिशाचकी, भूतादि-  
 इत्यर्थः । अत्र वाशाब्धः समुच्चयार्थं उपमाभार्यो वा । स पुष्टपा-  
 पसदो वातकीपिशाचकिच्यार्थमिदोऽस्ति; तुसाभित्यर्थः । “वा-

तातीसारपिशाचात् कञ्जानः” ( श २।११ ) इत्यनेन हेमस्त्रेण ]  
 अर्थार्थः कञ्जानः । एवं पिशाचकीत्यपि । यथा किञ्च वातेन  
 पिशाचेन वाऽऽऽन्तत्त्वपुत्रेस्तुतत्वं साक्षात् कुर्वन्पि तववैश-  
 वशाद्गन्ध्या प्रतिपद्यते, एवमथमन्येकान्तवाद्यप्यसापरवश  
 इति । अत्र च जिनेति साभिप्रायम्, रागादिऽस्तुत्वादि जिनेः ।  
 ततश्च यः किञ्च विगलितदोषकालुष्यतयाऽवधेयचनस्यार्थापि तत्र-  
 भयतः शालनमवमन्यते तस्य कथं मोक्षमश्नतेति भावः । नाथ !  
 हे स्वामिन् ! अलक्ष्यस्य सम्गृह्यशंसेदलैम्मकतया लक्ष्यस्य  
 च तस्यैव निरातिचारपरिपालनोपदेशादयितया च योग्यक्रमकर-  
 त्वोपपत्तेर्मायः, तस्यामन्वयम् । वस्तुतत्वं च-उत्पादद्वयव्यञ्जैव्या-  
 त्मकम् । तथाहि—सर्वे वस्तु ज्ञ्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते वा;  
 परिष्कुटमन्यवदेशोनात् । लुप्तपञ्जातनिव्यवशादेन  
 अ्यामिचार इति न वाक्यम्, प्रमाणेन वाध्वमानस्यान्वयस्यापि-  
 स्कुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविकृतः, सत्यप्रसङ्गिज्ञा-  
 नासिद्धत्वात् । सर्वव्यक्तितु निश्चते कृणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न  
 तिदोषः । “सत्यंस्वित्यपिच्योरा-कृतिजातनिव्यवशात् ॥ इति  
 वचनात् । ततो ज्ञ्यात्मना स्थितिरैव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायाम-  
 नाना तु सर्वे वस्तुपद्यते, विपद्यते च; अस्त्वक्षितपर्यायानुभवसत्ता-  
 वात् । न चैवं वृक्षेण शङ्खे पीतादिपर्यायानुत्पेन व्यभिचारः, त-  
 स्य स्वसङ्गत्वात् । न खलु साऽऽखलज्जायां यम् पुषाऽऽनित्यव-  
 शाजहद्वृत्तौत्तराकारोत्पादाऽविनाशार्थो भवेत् । न च जीवाहौ  
 वस्तुनि ह्योमर्षीदासीत्यादिपर्यायपरपरपुऽऽनुभवः स्वसङ्गुपः,  
 कस्यचिद्वाचकत्वात् । न नृत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते, न वा ? ।  
 यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तुव्यात्मकम् ? । न भिद्यन्ते चे-  
 सथापि कथमेकं व्यात्मकम् ? तथा च—“यद्युत्पादादयो जिनाः,  
 कथमेकं त्रयात्मकम् ? । अथोत्पादादयोऽजिनाः, कथमेकं त्रयात्म-  
 कम् ? ॥ १ ॥ इति चेत् । तत्रयुक्तं । कथञ्चिद्वृक्षकृष्णत्वेने तयो  
 कथञ्चिद् भेदाऽनुपगमात् । तथाहि—उत्पादविनाशप्रोत्पापि  
 स्याद् जिनाणि निश्चलक्षणत्वाद् रूपादिवदिति । न च जिनाश्चक्षु-  
 त्वमसिद्धम्; अस्त आत्मज्ञानम्; सतः सत्साधियोगः, ज्ञ्यरूपतया-  
 ऽनुपवर्तनं च खलुत्पादादीनां परस्परमसङ्गीर्णानिलक्षणाभि सक्-  
 ललोकसात्त्विकाद्येव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्पराम-  
 पेक्षा खलुपवदसत्साधयेः । तथाहि—उत्पादः कबलो नास्ति,  
 स्थितिपिगमरहितत्वात्, कूर्मेरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति,  
 स्थित्युत्पादपरिहितत्वात्, तच्छु । एवं स्थितिः केवलो नास्ति,  
 विनाशोत्पादश्च्यत्वात्, तद्वेव । इत्यन्योऽप्यपि क्राणामुत्पादादि-  
 नां वस्तुनि सर्वे प्रतिपक्षत्वम् । तथा चोक्तम्—“घटमैसिखुण्यो-  
 र्णां, नाशोत्पादितिः स्वयम् । शोकप्रमोदमात्यस्त्वयं, जनां  
 याति सहेतुकम् ॥ १ ॥ पयोमते न दध्यधि, न पयोऽन्ति इधि-  
 म्नतः । अगोरसमो नोते, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥ २ ॥  
 इति कान्यायः ॥ २१ ॥

अथाऽन्ययोगव्यवच्छेदश्च प्रस्तुतत्वाद्, आस्तो तावत्साक्षा-  
 न्नयम् ; ज्यदीयप्रवचनावशयया अपि परतीर्थिकीतरस्कारब-  
 कक्षा इत्याशयवाद् स्तुतिकारः स्वाहाद्व्यवस्थापनाय प्रयोगा-  
 सुपन्यस्य स्तुतिमाह—

अनन्तधर्मोत्सकमेव तत्त्व-मतीऽऽख्याया सचमसूपपादम् ।  
 इति प्रमाणान्यपि तं कुवादि-कुरङ्गसंवातसिंहनादाः ॥ २२ ॥  
 तत्त्वं परमाऽप्येव वस्तु, जीवाऽऽशुचिबलक्षणम्, अनन्तधर्मोत्सकमेव,  
 अनन्तान्त्रिकाक्षविषयवदपरिमिता ये धर्माः सहमाविनः प्र-म-

भाविनश्च पर्यायास्त एवास्मात् सवर्णं यस्य तदन्तर्गतधर्मात्मकम् । एवकारः प्रकाशान्तरव्यवधानाद्योः अत एवाह—[अतोऽप्यथोत्सावि ] अतोऽप्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन, सर्वं वस्तुतत्त्वमस्युपपादम्—सुखानानुपपाद्यते धर्मानां हिंस्रकर्ममारोप्यत इति सुपपादम्, न तथाऽप्युपपादः दुर्घटमित्यर्थः । अनेन साधनं दर्शितम् । तथा हि—सर्वमिति धर्मि, अज्ञानधर्मात्मकत्वं साधनो धर्मः, सत्त्वाऽप्यथाऽप्युपपत्तेरिति हेतुः, अथवाऽप्युपपत्तेरुक्तज्ञानात्वादेना । अन्वयार्थोऽप्यैव साध्यस्य भिक्त्वाद् इष्टान्नामिदित्येन प्रयोजनम् । यदनन्तधर्मात्मकं न भवति, तत्सदपि न प्रवति । यथा—विद्यदित्यविरम् । इति केव न्नयतिरेकं हेतुः, साधनं च दृष्टान्तानां पक्षकुत्किन्किन्त्येनान्वाद्योपात्तः । अनन्तधर्मात्मकत्वं चाऽऽप्यनि तावत्—साकारात्साकारोपात्तो गीता, कर्तृत्वं, लोफनृत्वं, प्रवेशादकमित्येनान्वात्, अनृत्वं मसल्लघुत्वमिदंशास्मकत्वात्, अथित्यमित्याद्यः सहासाधिनो धर्माः इर्वाविबाधयोः कसुचुत्तुः अन्वयान्तरकारितेरेकत्वात् यस्तु क्लमप्राविनः । अर्थास्तिकायादि अन्वयसंख्येयप्रवेशात्मकत्वं गम्यानुपग्रहकारित्येनान्यादिज्ञानविषयत्वं । तत्साधनं चोदकापच्छेदात्मकविद्यतत्त्वमकपित्येमेकद्रव्यत्वं निष्कियत्त्वमित्याद्यः । घटे पुनरामत्वं, पाकजककारित्यर्थः, पृथुपुष्पोद्भवत्वं, कस्तुरिमीयत्वं, जलादिधारणाऽऽहरणादिसामर्थ्यं, मत्स्यादिज्ञानहेतव्यं, नवद्वयं, पुराणत्वमित्याद्यः । एवं सर्वेषुदार्थेष्वपि अनानयमताभिन्नेन शास्त्रानाधोऽर्थपर्यायान् प्रतीत्यैव साध्यम् । अत्र चाऽऽतमशब्दानानन्वयेऽपि धर्मेष्वनुपदिक्त्वमन्वयि कृत्यं ध्वनितम् । ततश्च 'उपादव्ययधोऽप्युक्तं सन्' इति व्यञ्जसिध्दयम् । एवं तावदर्थानु शब्धेष्वपि उदाहरितानुदासत्त्वात्तयिबुतसंभूतयोवदयोषताऽऽप्यप्राथम्येन प्रागुक्तयस्तत्सदर्थप्रत्यायनानुपपाद्यैव यथावत्सयाः । अथ ह्येतोस्तिष्ठत्वाऽऽनेकान्तिकत्वादि कण्ठकोटारः स्वपमन्त्रुः । इत्येवमुक्तेऽशोऽशोर्धारणते तेषु, प्रमाणानि न्यायोपपञ्जसाधनान्यायानि । आस्तां तावत्साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायिनिकायो भवति, यावदेतात्पर्यि कुर्यादिकुरङ्गसंज्ञासर्वासिंहनादाः—कुवादिनः कुस्तितादिन एकांशप्रादकनयाऽऽनुयायिनोऽपतीर्थिकाः, त एव संसारचनगहनवसनव्यसन्मित्रया कुरङ्गा मृगाः, तेषां सम्पकुरासने सिंहनादा इव सिंहनादाः । यथा सिंहस्य नादप्रमत्प्याकप्ये कुरङ्गासमासुप्रयान्ति, तथा भवत्प्रणीतिवैप्रकारप्रमाणवचनापि भुवा कुवादिनस्मासमभुवत्, प्रतिवचनप्रदानकारतरतां सिध्दनीति यावत् । एकैकं त्वहुपदं प्रमाणमन्ययोगव्ययच्छेदकमित्यर्थः । अत्र प्रमाणानि बहुवचनमेवंजातीयानां प्रमाणानां भवत्कासने चानन्यत्वापनाधेयः एकैकस्य सुवच्य सर्वोत्पत्तिज्ञसर्वस्यैस्त्रिद्वालुकाऽऽन्तलुगार्थत्वात्, तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया भवत्प्रतीत्यै । अथवा इत्यादि बहुवचनात्ता गणस्य संसुचका भवन्तीति न्यायात्, इतिशब्दं प्रमाणत्वाद्दृश्यसुचनानुपार्थे एकमित्थपि प्रमाणं उपपन्नत्वे उचितमेव बहुवचनमिति कार्यार्थः ॥ २२ ॥ (सतनह्रीनिकुपणं 'सत्समंगे' शब्दे बह्वन्ते) ( उपादव्यययोर्लक्षित्वं स्वस्थाने )

( ३ ) न चोपादव्ययानाशयोरैकान्तिकतत्पत्ताऽऽप्युपगमे—नेकान्तवाद्यथातः ? , कथञ्चित्तयोस्तद्वत्ताऽऽप्युपगमात् । तदाह—

तिषि वि उपायार्हं, अज्ञिज्ञकाला य जिज्ञकासा य । अत्यन्तं अत्यर्थं—तरं च द्विवाहार्हं गायत्र्या ॥ १३३ ॥ अयोऽप्युपादवियगमितिसमाधाः, परस्परतोऽप्यकालाः । यतो

न पदादेरुपादव्यस्य एव विनाशाः, तस्यानुपपत्तिप्रसक्तः । नापि ताद्विनाशसमयं तस्यैवोपात्तः, अविनाशाद्योः न च तत्राप्रानुपेक्षसमय एव तत्स्तिः, स्वरूपेणैवाऽवस्थित्यनशाऽनवस्थाप्रसक्तिः प्रादुर्भावोपात्तात् । न च रूपधरपदभूतत्वितिकत्वे तस्य विनाशाः, तद्वृत्तानुपादवस्थितस्य विनाशाऽऽप्येव च स्वसंऽप्युत्पत्तिप्रसक्त एव युक्तः । तदन्वयानामपि भिन्नकालत्वात्, तद्व्ययमर्थान्तरम् । नानास्मादात्वेनैकान्तानुपपत्तिसंकीर्णताऽऽप्युत्पत्तिप्रसक्त एव युक्तः । हि कुहुम्विनाशाद्योपादव्योर्भेदकालता, अन्यथा विनाशात्काव्योपात्तः स्यात् । घटापुत्तरपर्यायानुपपत्तावपि प्राकृतनपर्यायस्वसप्रसक्तियः स्यात् । पूर्वोत्तरपर्यायविनाशाद्योपादव्यया विघोर्तायोगात् । तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽप्युपपन्नत्वा । न च क्रियाफलमेव क्रियाः, तस्य प्रागसत्त्वात्, सर्वं वा क्रियायैकत्वात् । तदन्वयानामपि भिन्नकालत्वाद् तद्व्यतिरिक्तं कृत्यमभिन्नं तथाजावघटात्तद्विनाशाद्योपात्ता भिन्नकालनयाऽर्थान्तरत्वम्, कुलघटाद्विनाशाद्योपादव्येऽपि भिन्नकालनयाऽर्थान्तरत्वम् इति वक्तव्यं कृत्यम् । द्रव्यस्य पूर्ववस्थायां निश्चािन्नतया प्रतीयमानस्योत्तरावस्थायांमपि भिन्नाजिन्नतयैव प्रतीनेनेकान्तोऽप्याहतः । न चाबाधिताव्युक्तादिप्रतिपत्तिविषयस्य नस्य विरोधाप्युद्भावनेन युक्तसंगतम्, सर्वप्रमाणमन्यव्ययहरविशेषप्रसक्तम् । अत एवार्थान्तरमनर्थान्तरं चोत्पादाद्योः कृत्यस्यद्विवापो वा तन्व्यसन्धेनि हेतव्यः । उच्यते, तथाभूतत्वाद्व्याहकत्वपरिणतताद्व्याहकत्वाप्रमाणानिदित्यपि व्यत्ययम् । न हि तथाऽनुपगमनप्रसक्तः तथाऽतार्थमन्तरेणोपात्तः धूमध्वजमन्तरेण स येद्येन च । तथाऽतुप्रमाणद्विहकत्वमयाऽनेकान्तस्य स्वसंवेदनः प्रमाणमिति न तद्वपहायः कर्तुं शक्यः, अन्यथाऽऽप्युत्पत्तिः । यद्दे-शाद्विप्रसक्तश्च उपात्तविनाशाद्योपात्तस्वभावा निश्चािन्नकालता अर्थान्तरगतयोत्तरकया द्रव्यत्वाद्, द्रव्याद्द्रव्यात्तत्तत्त्वादित्यर्थः । अन्वयार्थत्वात्विनाशमावप्रसक्तः । तेषां वा द्रव्यमर्थान्तरमनर्थान्तरम्, द्रव्यत्वात् । प्रतिज्ञार्थकदेशना च हेतुनाराहुनीया, कृत्यविरोधे साधे द्रव्यसामान्यस्य हेतुत्वेनोपपत्त्यात् ॥ ३३ ॥

अर्थार्थे प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणमाह—

जो आर्तचणकातो, वेव पसारिस्स विजिणुतो । तसिं पुण पमिद्वची—विगमे कादन्तरं नत्थि ॥ ३३ ॥

य आहुःअनकालोऽप्युत्पत्तिद्रव्यस्य, स एव तद्वप्रसाधनस्य न युक्तः, भिन्नकालतयाऽऽहुःअप्रसक्तपर्यायः प्रतीत्यर्थो भेदः । अन्वयार्थयोः स्वरुपाभावापरिस्तिर्युक्तं तत्पर्यायाभिन्नकालाद्विहकत्वस्यापि यथाविधेयत्वात्, तदपि भिन्नजन्युत्पत्तित्वम् । अन्वयात् तदनुपलभ्यमानात् । अविज्ञं च, तद्वस्थयोस्तस्यैव प्रत्यङ्गव्ययमानत्वात् । तयोः पुनस्त्याद्विनाशयोः प्रतिपत्तिश्च प्रादुर्भावः, विगमश्च विपत्तिः । यतिपत्तिविगमश्च, तत्रकाःकालान्तरं जिज्ञकालत्वमहुःसिद्धव्यस्य च नास्ति पूर्वपर्यायविनाशाद्योत्तरपर्यायत्पत्त्युक्तित्वाद्द्रव्योपात्तस्थितानामभिन्नकालनाऽभिन्नरुपात्त च प्रतीयत । एकस्यैव तथाविधैतौत्मकस्याप्युत्पत्तः प्रतीतेः । अथवा काःकालान्तरान्स्वीत्यथाऽऽकारप्रत्येयात्तत्त्वात्पदानात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतैः काःकालान्तरं काःकालेद उपादादेर्द्रव्यस्य वाऽस्तीति कथञ्चिद् भेद इत्यर्थः । कथञ्चिद् भेदनापि प्रतिपत्तेनेनोपत्तिविनाशास्तिनीनां परस्पररुपपरित्यागमवृत्तप्रत्येकत्वामकैकपत्त्येनपि वर्तमानपर्यायात्मकत्वेत्वात्तानागतकाःकालयोः सत्यं, व-





माणुषु नियोज्यत इति अणुपगमादामपरमाणुसंयोगानाञ्च-  
 ५२५परोऽतिशयो वाच्यः । तद्वच्च तत्र दृश्यम् । किञ्चासौ  
 संयोगो अणुकादिनिवचकः किं परमाणुवाचाश्रितः, उत तस्मात्-  
 श्रितः, आदांश्रितनाश्रित इति । यथायः पक्षः, तदा तदुपस्थावाभ्य  
 उपपत्त्ये, न वेति । यद्युपपत्त, तदा परमाणुनामपि कार्यव्यवसक्तिः,  
 तस्यैव गत्यत । अथ नोत्पद्यते, तदा संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्,  
 समवायस्याभावात् । तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्वे तु  
 तत्र तस्य प्रागभावाविबुद्धोः, तद्व्युत्पान्तरस्यत् । ततस्तेषां कार्य-  
 रूपतया परिणतिरनुपगन्तव्या । अन्यथा तदाश्रितत्वं संयोगस्य  
 तस्माद्व्याश्रितत्वंऽपि पूर्वोक्तप्रसङ्गः । अनाश्रित्यपक्त्तु निहितु-  
 कोत्यसिप्रसक्तिः । अथ संयोगो नोत्पद्यते इत्यणुपगमः, तदा  
 बकत्यं किमसौ सन्ऽशसन् ? यदि संस्तदा तत्रित्यव्यवसक्तिः,  
 सदाकारणव्यवसिप्रसक्तिः प्रवृत्तोऽणुपगमात् । तथा चासौ गुणो न  
 भवेत् नित्यत्वेनामाश्रितत्वात् । अनाश्रितस्य पारतन्त्र्यायोगात्, अ-  
 परतन्त्रस्य चागुणत्वान् । अथासंश्रितिपक्षः, तदा कार्योत्पत्तिप्र-  
 सङ्गः ; तदभावं प्राग्वद्विशिष्टपरिमाणोपेतकार्यरूपव्योत्पत्त्यसम्भ-  
 वात् । तथा च जगताऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगिकृत्यसं-  
 ख्यापरिमाणमहत्त्वाद्येनकगुणानां तत्रोत्पत्तिरनुपपेया, कार-  
 णगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्योत्पत्त्यणुपगमादिभेदेनदिति चेत् । ननु  
 तेषां क आश्रयः ? इति वक्तव्यम् । न तान्यु कार्यम्, तदुत्पत्तेः  
 प्राक्तन्यस्तस्यत्, सर्वं चोत्पत्तिविरोधान् । न च प्रथमं प्रथमं निगु-  
 णमेव कार्यगुणोत्पत्तेः प्रागस्तीति वक्तव्यम् । गुणसंबन्धत्वं स-  
 चासंबन्धस्याप्युक्तं अत्राद्यः, तस्मत्संबन्धत्वात् । न चाोपगु-  
 त्वात्संबन्धयोरेककालतयाऽऽप्युक्तं एव संभवः, नदा रूपादिगु-  
 णसमाप्त्याभावोऽणुपसत्त्वे तन्तस्मत्सत्त्वात्संबन्धव्यवस्थापना-  
 संभवान् । न हि सदिद्व्युत्पत्तस्मत्प्रकारेण तदा तस्य सत्त्वात्संबन्धः,  
 सर्वं वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादेशुणद्वयेण स-  
 होतृत्वात्तदुत्पत्त्येना, तदुत्पत्त्येव वा तदाऽऽप्यात् ; अकारण-  
 स्यादभ्यस्ययोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सभ्येतर-  
 गोविधानयोरेव भयत्पक्त्तुः, सन् न कार्ये तदाभ्यः आद्यण-  
 वस्तदाभ्यां, तदि कार्यद्वयस्यापि त एवाभ्य इत्येकाश्रयो का-  
 र्यगुणौ प्राप्तेः । तदनुपगमेऽपि नावद्युत्पत्तिस्कार्योस्तयोः कुतश्च-  
 द्दत्तदाभ्यांश्रयिभावः, अकार्यकारणप्रसङ्गात् । नायुनिमित्तयोः,  
 अयुतसिद्ध्याभ्याभ्यिनाशविरोधात् । तथा हापुपृथक्सिद्ध इत्येते-  
 न भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते, समवायाभावेऽप्यस्याथैक्यत्वात्संभवात् ।  
 आधाराधेयभाव इत्येतेन चैकत्वनिषेधः क्रियते इति कथम-  
 नयोरेकं सद्भावाः । आध्यात्म्याधाराधेयभावः, तदि तेषां सख-  
 नुतास्त्वमितिव वक्तव्यम् ? यथायः पक्षः, तदा संयोगादियुगा-  
 कारपरमाणव एव तथाचूतकार्यमिति नैनपक्त्तु एव समा-  
 श्रितः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु, सर्वानुपपन्नधिप्रसक्तिः । यदि च  
 परमाणवः स्वरूपापरित्यागतः कार्यद्रव्यमारभते स्वात्मनो  
 व्यभिक्तम्, तदा कार्यद्रव्यानुपत्तिप्रसक्तिः । न हि कार्यद्रव्य-  
 परमाणुस्वरूपापरित्यागे स्फूर्त्तव्यस्य सद्भावाः, तस्य तदभावात्म-  
 कत्वात् । तस्मात्परमाणुपत्तापरित्यागेन सृष्टृद्रव्यं स्फूर्त्त-  
 कारस्वरूपमासात्पत्तीति वक्तव्यत् पुनस्तद्व्यपत्तिरितिः आदि-  
 रन्तो वा न विद्यते, इति न कार्यद्रव्यं कारणयो मिश्रत । न चार्थो-  
 न्तरजावगमनं विनाशोऽयुक्तः, इति तदुपपरित्यागोपादानात्म-  
 कत्विधित्वमाधस्य द्रव्यस्य वैकाल्ये नाणुपपन्नम् । यथा च  
 एकसंख्यविभागादुपपरिमाणपरत्वात्मकत्वेन प्रादुर्भावात्परमा-  
 णुवः कार्यद्रव्यत्, तयोपस्थाञ्चणुपगन्तव्याः । कारणान्य-

व्यतिरेकात्तुविधानोपलस्यत् कार्यतायवस्थानिबन्धनस्यात्रा-  
 विस्त्रयात् ; इत्यनयोः ( तसौ वा ) इत्यादिना गद्यपद्यार्थानि यद-  
 श्रितः ; तस्मात्सदापरिमाणदुत्पत्त्यादिभक्तः विजाग्रात्मकत्वेनो-  
 त्पन्नः ( अणुविति ) अणुजातो भवति ; एतद्वच्यथायाः प्राक-  
 तस्यत् । अथे वा इदानीमिध प्रागपि स्फूर्त्तरूपकार्योभाव-  
 प्रसङ्गात् । इदानीं वा तदुत्पत्तिविशेषात् प्राकनाश्रयत्वमित्येना-  
 त् । एव चतुर्विधकार्यद्रव्याणुपगमे संगतः । न च य एव कार-  
 यद्रव्यात्मिकाः, परैकत्वविरोधात् ; घटद्रव्यप्रागभावप्रसंभवा-  
 भावमृत्पिण्डरूपपालयत् । न च प्रागभावप्रसंभवायोगोपपत्त-  
 वा मृत्पिण्डरूपरूपत्वमसिद्धम्, तुच्छरूपस्याभावस्याप्र-  
 प्राणत्वात्सज्जनकत्वेन तदुपपत्त्यवतो व्यवस्थापयितुप्रशङ्क-  
 त्वादिति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमु-  
 पजापेते, तदिद्विभागेन विनश्यतीति मृत्पिण्डवत् घटद्रव्य-  
 समवायिकारणत्वानुमानमथ कृत्वाश्रितकर्मिदेशान्तरप्रयुक्त-  
 त्वेन कासात्पत्त्यार्थद्विषत् । न चावपरिमाणतनुप्रसंभवं महत्प-  
 रिमाणं पटकार्यमुपलब्धमिति घटादिकर्मा । तदुपपरिमाण-  
 नेकारणप्रतयं कर्त्तव्यं युक्तम् ; विपर्ययणापि कल्पनायाः  
 प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । अथ कृत्वायस्तु नदिदन्त्रापि समानः किञ्च ।  
 परमाणुनां सर्वदं रूपमणुपगच्छन्नभावमेव तेषामणुपगच्छे-  
 त् । अकारकत्वप्रदं कृत्वा । तच्च प्रागजावपत्त्येनाभावाद्येकद-  
 त्येनानाधेयानिदशयत्वात्, विद्यन्कतुमुभवत् । तदसर्वं च कार-  
 यद्रव्यस्याप्यन्तः, तस्यासत्त्वात् । नदजावं च परापर्यादिप्र-  
 त्ययादित्योगात् । कासादित्यस्यसृष्टिरुत्पत्त्याभाव इति संबोधाव-  
 यत् । तथादि न ताद्यद्व्यते तत्र प्रविष्यते नो व्यतिष्यते, क-  
 पात्रपत्त्येनघटविनाशोपलभते तस्य व्यापारोपलब्धः । नानुमा-  
 नमपि ; प्रत्यङ्गप्रवृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तः ; अथकृतुपेकत्वेन  
 तस्य द्वावधेनात् । अणुमस्य आश्रयः अणुपयोगत् । परमा-  
 णुपयोगे च विनाशो घटादित्येन न किञ्चिद्रूपत्वान्भ्येत, पर-  
 माणुतामहत्त्वत्वेनाणुपगमात् । किञ्चिदंतेन पार्कानिकितेन वा  
 तेनानिकान्त इति चेत् । न । सर्वस्य पक्त्तुत्वात् । अथयतिनि  
 च किञ्चिदुत्पत्त्यत् तस्य च निरवयवत्वात्प्रागवतदुत्पत्तिः ;  
 परमाणुपु तदसंज्ञत्वात् । पाकान्त्याऽणुपपरया परमाणुपयतेनो  
 विनाशः परिहृत्यते इति चेत् । न । विशिष्टसामप्रविदा-  
 श्रिशिष्टवर्षेण घटादित्यस्य कयाञ्चिद् विनाशोऽप्युत्पत्तिः सं-  
 भवान् । परमाणुपयतेनविनाशोऽणुपगमे च तदश्रयत-  
 संस्थानावन्तरपरिमाणत्वोपयवस्थापितकपर्यायताप्रत्यक्षोपल-  
 भ्यत्वादीनि पद्यमानं घटं न स्युः । मृच्छप्रविद्धघटंनानि-  
 कान्तः परिहृत्य एव ।

न च कपालार्थो घटं मिथादापरिमाणत्वेन विनाशो नतः  
 प्रतीतिवैकल्यत्वात्प्रासाध्यणुपगन्तव्य इति प्रसक्तु-  
 म्वाङ्केपरिणोपसंहत्याचार्यैः-

बहुपाण एवसद्, जइ संयोगादिं हां उष्पात्रां ।  
 एणु एवविभागमि वि, जुज्जइ बहुपाण उष्पात्रोः ? ३१।

अणुकादीनां सति संयोगे यथैकस्य अणुकादेः कार्यद्रव्यव्यो-  
 त्पत्तादां भवति, अथैकैकानि वातमत्यव्यवहारयोगात् । नहि व-  
 द्भुवैको घट उपपन्न इत्यादिव्यवहारो युक्तः । नित्यस्य समायाम-  
 कस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशोऽपि युज्यते एव बहुनां समानजा-  
 तीयानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभूततया विभक्त्यात्मना-  
 मुत्पाद इति । तथादि घटविनाशोद् बहुनि कपालानि उर्य-

मानित्वेनकामिभिधानमत्यव्यवहारां युक्तः, अन्यथा तदसंभवात् । ततः प्रत्येकं इयात्कालिकाभ्यात्पादाद्यो व्यवस्थिता इत्येवमनपरोपयोग्यक्रमकं इत्यर्थः ; तत्त्वनन्ते काले भवत्वनन्तपरोपयोग्यक्रमकं इत्यर्थः । एकसमये तु कथं तत्तदात्मकमवसीयते ? । प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तदवसीयत इत्यादि—

एगसमयस्मि एगद-वियस्म बहुया वि होति उप्पाया ।  
उप्पायसमा विगमा, डिउ उ उस्समग्गो णियमा ॥ ? ३८ ॥

एकस्मिन्समये एकद्रव्यस्य बहुव उत्पादा भवन्ति, उत्पादस्मानसंख्या विगमा अपि तस्यैव तद्वैवात्पद्यन्ते, विनाशमन्तरेणोत्पादस्यासंभवात् । न हि पूर्वपर्यायाविनाशे उत्तरपर्यायः प्रादुर्भूयितुमर्हति । प्रादुर्भावे वा सर्वस्य सर्वकार्यताप्रसक्तिः, तदकार्यत्वं वा कार्योत्तरस्य च स्यात् । स्थितिरपि सामान्यरूपतया तथैव नियता ; स्थितिरहितस्योत्पादस्याभावात् । भावे वा शशशृङ्गावैरुप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ १३८ ॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयद्वाह-

कायम गवय गृकिरिया-रूवाइ गर्दे त्रितेसओ वा वि ।  
मंभोगनेयओ जा-एणा य द वियस्म उप्पाओ ॥ ? ३९ ॥

यदेवानन्तानन्तप्रदेशिका हावभावपरिणतपुरुहोपयोगोपजातशशशृङ्गाधरान्दर्पणनवशरीरभूतेशरीरसङ्कुलपाद्यकोपायो-भावपरिणतस्वरुम्भुमतगदिभेदमिन्द्रावयवात्मकस्य कार्योत्पत्तिः, तदेवानन्तानन्तरमापृथग्विगतनोवर्गोपाणिनितभ्यमानं उन्पादादपि, तदैव च तस्योपापकाद्युत्तरवर्गोत्पत्तिप्रान्त्यप्रवृत्तौत्तरुपादाः, तदैव च कार्यात्मनोऽप्योप्यानुप्रवेशाद्विषयोक्तानासंख्यातात्प्रदेशे कार्यात्मोत्पत्तिः, तदैव च रूपानुनामपि प्रतिचणोत्पत्तिविश्वरामामुत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाऽपिरितिप्रमादकार्यादिपरिणतिसमुपादितकर्मबन्धनिगित्तागामिगतिविशेषणामप्युत्पत्तिः, तदैव चान्युत्पत्त्यमानोपादाभिधानानन्तरमाभावाद्यनन्तरमापृथगेत्योगिजगानामुत्पत्तिः यद्वा-यदेव शरीरान्दर्शय्योत्पत्तिः, तदैव तत्रैकान्तगतसमस्तद्रव्यैः सह साक्षात् पारम्पर्येण वा संबन्धानामुत्पत्तिः, सर्वव्यापिग्व्यवस्थानाकाशं धर्मोधर्मोद्विध्यस्वसंभवात्, तदैव च भाविस्वपरोपरोत्तरादीनामिध, अन्यथा तत्र तदुत्तरकालत्वमुत्पत्तिप्रसङ्गात् । उत्पादविनाशाद्विनाशकालात् प्रतिक्षणं भावाः प्रतिक्षणसंपत्तिकारिभेदेन । न च पुराणतया क्रमेणोपलब्धिः प्रतिक्षणं तदोत्पत्तिमन्तरेण संभवति । न चास्मदाद्याधिकं निरवशेषधर्मोत्पत्त्यस्तुप्राहकं, येनानन्तधर्मोणामकदा वस्तुव्यप्रतिपत्तेरभाव इत्युच्यते; अमुमानतः प्रतिक्षणमनन्तधर्मोत्पत्त्यस्य तद्विद्योतन्यायेन प्रतिपत्तेः । सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तस्य वस्तुनोऽप्युत्पन्नं प्रद्वेषं न द्रव्यावृत्तानां पारमार्थिककर्मरूपतया । अन्यथा तस्य न द्रव्यावृत्तयोगान्, कथं नानन्तधर्मोणां वस्तुव्यप्येक्षणं प्रद्वेषम् ? । ( सम्प्र० )

अन्योन्यनिरपेक्षताऽऽश्रितस्य मिथ्यात्वा-

विनाशून्येव इत्येवद्वाह-

जे संतवापं दोसे, सकोऽसूया व्यति संखाणं ।  
संखाय अमग्गाप, तेमिं सव्येऽपि ते सव्वा ॥ ? ४६ ॥

येऽनेकान्तसद्वाद्यपेक्षे द्रव्यास्तिकायाऽन्युपानपदार्थान्युपगमे शाक्योवुक्त्वा द्रोपाय ददन्ति, सांख्यानां क्रियाशुणस्यपदेशापल-ब्धादिप्रसङ्गादित्युक्ताः । ते सर्वेऽपि तेषां सख्या इत्येवं संबन्धः कार्यः । ते च द्रोपा एवं सत्याः स्युः यद्यपिनिरपेक्षताऽऽन्युपगपनपदार्थरतिपादकं तच्छब्दानं न मिथ्या स्यात्, नाऽन्यथा प्रागपि कार्योवस्थात एकान्तत्वेन तत्सत्यनिबन्धनत्वात्सायम् । अन्यथा कथञ्चित्त्वेऽनेकान्तवादापसदोपाभावात् एव स्यात् । सम्प्र० ।

( ४ ) वस्तुनोऽनन्तधर्मोत्पत्त्यम्—

अनन्तरे जगदवर्तितास्योनेकान्तात्मना वस्तुनो बुधरूपपेच्छत्वमुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गाप्ररूपेण न सुखानेयं स्यादिति साऽपि निकृतिना, तस्यां च विकृद्धमोभ्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽप्युचरुवा विरोधमुद्रावयन्ति । तेषां प्रमाणमामोक्ष्यवनमाह-

उपाधिभेदोपाहितं विकृद्धं,  
नार्येष्वसत्वं सद्वाच्यते च ।

इत्यप्रमुञ्छेव विरोधनीताः,  
अदास्तेदकान्ततहाः पतन्ति ॥ ४४ ॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाऽवतेनत्वमन्तं नास्तित्वं च विकृद्धं न विरोधाद्यद्वयम्, अस्तित्वेन सह विरोधं नानुजवर्तितात्वं । न केवलमसत्यं न विकृद्धं, किन्तु सद्वाच्यते च । सद्वाच्यत्वं च सद्वाच्यं, तयोर्भावीः सद्वाच्यते, अस्तिवाच्यत्वे इत्यर्थः । तदर्थं न विकृद्धं । तर्थाह-अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विकृद्धयेत । अथ कथमसत्यं विरोधात्परिणतकर्मणोऽर्थं न विकृद्धयेत् । अथवाऽवकलत्वत्वं वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्गृह्णति । अनेकं च नास्तित्वाऽस्तित्वाद्युक्तव्यवकाशकृत्तत्वेण सकलसमस्तकृत्या निर्विरोधतोपलक्षिताः अमीयामेव त्रयाणां मुख्यत्वात्तेष्वपनृत्तानां च संयोगाव्येत्यनानीध्वेवान्तत्रोवादि । तन्वेत धर्माः परस्परं विकृद्धाः, तत्कथमेकत्र वस्तुनोऽपि समावेशः संभवति ?, इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह- ( उपाधिभेदोपाहितमित्ति ) उपाधयोऽवकलत्वात्का शंशाप्रकाराः, तेषां जेदां नानात्वं, तेनोपाहितमित्येवम् । असत्यस्य विशेषणमेतम् । उपाधिभेदोपाहितं सत्येष्वस्तसत्वं न विकृद्धम् । सद्वाच्यतयोश्च वचनजेट् कृत्या यानेनीधम् । उपाधिभेदोपाहितं सन्नी सद्वाच्यते अपि न विकृद्धं । अयमभिप्रायः-परस्परनिवारणं येषु तयोः दौतोऽन्येष्वस्तसद्वाऽन्येष्वानल-क्षणो विरोधः । नचायदि सत्यमसत्त्वं परिहृत्स्व वर्तते, पररूपेणाऽपि मत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्वान्निरिक्तयोःतराणां नैरपेक्ष्यम्, नैवैव शिशुवनायिसाध्यार्थोक्तयाणां सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्स्व वर्तते स्व्यपेणोत्पत्त्यसत्त्वप्रतिः । तथा च निरुपाधत्वात्सत्यं शुभ्यति; तदा हि विरोधः स्याद्यप्येकोपाधिकं सत्यमसत्त्वं च स्यात् । न चैवम्; यतो न हि यैतैर्बांशेन सत्त्वं नैवेवासत्त्वमपि । किं त्वन्योपाधिकं सत्यम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । स्वरूपेण सत्त्वं, पररूपेण चासत्त्वम् । दृष्टे हि एकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि सत्योपाधिकं तु नीलत्वमन्योपाधिकं भेदे वर्णाः । नीलत्वं हि नीलोपायोपाधिकम्, वर्णान्नराणि च तच्छब्जन्तद्वयोपाधिभिः । एवंमेव करकेऽपि तत्तद्वज्रपुत्रलांयाधिकं यैविद्यमवसेवम् । न चैरिदृष्टान्तेः सत्यासत्ययानिन्देक्षत्वमिति; चित्रपटावयवयविनि

वक्तव्यत्वं तत्रापि भिन्नदशास्वादिभिः । कर्थाश्च यस्तु दद्यान्ते  
 धार्मिके च स्याद्भादिनां न तुल्येभ्यः । एवमप्यपरितोषोद्धृत्पुष्प-  
 कम्, तत्रैकशेष्येयं सुसंस्तम् तत्तद्व्याधिनेव । तित्युत्पुष्पवत्प्रत्ययानुल-  
 भागिनश्चार्थविशेष्यवत्प्रत्ययानुत्पुष्पादिष्वभाषां परस्परवैकल्यानाम-  
 पि प्रसिद्धिर्होमाय किं वाच्यम् ? । यवमवकथ्यतादयोऽपि वा  
 कथाः । इत्युक्तप्रकारेणोपाधिभेदेन कथान्ये चिरोधाज्जावमभु-  
 ष्यैवाकाशैव, एवकारोऽप्यकारेण । स च तेषां सम्प्रदानस्या-  
 भाव एव, न पुनश्चेन्नोऽपि भाव इति व्यनक्ति । तनसं  
 चिरोधर्मोताः—सत्त्वास्तत्त्वाधिधर्मोवा बहिर्भुवोमुप्युत्पा संभा-  
 वितो यो चिरोधः सहाभवस्थानादिः, तस्मान्द्रोतास्तमान-  
 मनाः । अत एव अह्नास्तासिचकमयहेतोर्भावेऽपि तथाप्यथप-  
 युषद्द्रोतास्त्याभूर्जाः परधादिनस्तदोक्तान्तहताः, तेषां सत्यादि-  
 धर्मोपां य एकास्त इतरधर्मोन्निषेधेन स्वाभिप्रैतधर्मव्यवस्थाप-  
 ननिश्चयः, तेन हता इव हताः पतन्ति स्खलन्ति । पतिनाश्च  
 सन्नसन्ते स्यायमागोक्तमयेनासम्पर्था स्यायमागोक्तधर्मोनानां च  
 सर्वैर्वाप्यमागोक्तधीयतां शान्तीति भावः । यद्वा—पतन्तीति प्र-  
 सामागोतत्त्वव्यवन्ते । लोके हि सम्मार्गच्युतः पतित इति  
 परिभाष्यते । अथवा—यथा वज्रादिप्रहारण हतः पतितो  
 सूक्ष्मांस्तुक्छामासाप निकृद्धाकप्रसरो भवति; एवं तेषां  
 धारितः स्वाभिर्मेकान्तवादेन युक्तिस्वरूपान्ननुत्तरना वज्रा-  
 शनिप्रयोगे निहताः सन्तः स्याद्भादिनां पुनरोऽकिञ्चित्करा  
 वाह्यात्मनि पोर्वाचार्यतुमीशत इति । अत्र च विरोधस्योप-  
 लक्षणस्यद्विधैयधरकथममवस्था सहजो ध्यतिक्तः संशयोऽप्र-  
 तिपत्तिवैयर्थ्यव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि प्रोद्गादिनां दोषा अ-  
 भ्यूह्याः । तथाहि—सामान्यविशेष्यनामकं वस्तित्युत्पुष्पव्यन्ते परे  
 उपायलक्षारो धर्मोत्तरं । अत्र सामान्यविशेष्ययोर्विधेप्रतिषेध-  
 कपर्यायैव धर्मोत्तरं स्यादिति च वस्तुन्यसंशयः क्लृप्तोत्पुष्पव-  
 दिति विरोधः । न हि यदेव विशेष्यधरकथं तदेव प्रतिषेध-  
 स्याधिकरणं अथितुमर्हति, एकरूपतापत्तेः । ततो वैयर्थ्यधरकथ-  
 मपि भवति । अपरं च—येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन  
 च विशेषस्य, तावप्यात्मानो एकैनेव स्वभावनाधिकरति,  
 ह्यभ्यां वा स्वभावान्तराभ्याम् । एकैनेव चेत्, तत्र पूर्ववाहिनोः ।  
 ह्यभ्यां वा स्वभावान्तरा सामान्यविशेष्यस्य स्वभावव्यवस्थापि-  
 करति, तदाऽनवस्था—तापि स्वभावान्तराभ्यां, तावपि  
 स्वभावान्तराभ्यामिति । येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरणं  
 तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन  
 विशेषस्य सामान्यस्य चेति सहस्यदोषः । येन स्वभावेन सा-  
 मान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिक्र-  
 मः । ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशकं संशयः । तत-  
 आप्रतिपत्तिः, ततश्च प्रमाणाविषयव्यवस्थाहानिरिति । एते च  
 दोषाः स्याद्भादस्य जात्यन्तरस्याधिकरकाशा एव । अतः स्या-  
 द्भादमर्थेद्विभिन्नकरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति, स्वतन्त्रतया  
 निरेपेयोरैव सामान्यविशेष्ययोर्विधेप्रतिषेधकपर्यायैवभाव-  
 काशात् । अथवा चिरोधशब्दोऽत्र प्रदोषवाची । यथा  
 विकृद्भावात्परन्तीति बुद्धिमत्तया । ततश्च चिरोधेऽप्यो विरोध-  
 वैयर्थ्यधरकथादिदोषेऽप्यो मीता इति व्याख्येयम् । एवं च  
 सामान्यशब्देन सर्वा अपि दोषव्यकयः संशुद्धा भवन्तीति  
 काव्यार्थः ॥२४॥

धर्मानेकान्तवाद्यस्य सर्वैकव्यप्याध्यापित्वेऽपि युक्तमेवाऽ-  
 वेह्या चातुर्विध्यानिश्चान्तरात्तत्र भगवतस्तत्त्वामृतनरसास्वा-

सौहित्यमुपवर्णयन्नाह-

स्यान्नाशि नित्यं सत्पि विकल्पं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तद्वे ।  
 विपश्चिनां नाथ । निपीततत्त्व-पुत्रोद्गोद्गारपरम्परस्य ॥१॥

स्यादित्यव्ययमेतकान्तानोक्तमशक्यं पदेपु योच्यम्, तदेवावि-  
 कृतमवक वस्तु स्यात्कथञ्चिन्नाशि, विनशनाशोक्तमित्यमिच्छेः ।  
 स्यात्किम्यमिनाशकथमतीत्यर्थः । एतावता नित्यानित्यकथमक-  
 विद्यानाम् । तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपमात्रादिकरुपे  
 विविधरुपं विसदृशपारणामात्मकं, व्यावृत्तिहेतुविशेषरुपमित्य-  
 थैः अनेन सामान्यविशेषरुपं द्वितीयः प्रकारः । तथा स्याद्भास्यं  
 वक्तव्यम् । स्यादं न वाच्यमवकथ्यमित्यर्थः । अत्र च समासेऽवाच्य-  
 मिति युक्तम्, तावप्यवाच्यपदं योऽर्थां क्वामित्यस्यतथापरि-  
 हारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं अकार स्तुतिकारः । यतेशानि-  
 लाप्यानिभाष्यव्यवस्थाकथनोपां जेदः । तथा स्यात्सद्विद्यमान-  
 मस्तिकरुपमित्यर्थः । स्यादसत्तिलकृष्णमिति । अनेन सदसदा-  
 कथा चतुर्था विधा । हे विपश्चिनां नाथ ! सत्यत्वनां सुख्यं । इयम-  
 नन्तरोक्ता निपोततत्त्वमुपांज्ञतोऽप्यपरपर, तथैति प्रकृशास्ता-  
 माख्याः गम्यन्ते । तत्र यथावत्त्ववस्तुस्वरुपपरिकृद्दः, तदेव  
 जराभरणपदादिस्वादिबुक्त्वापेयमेवस्यानिमध्यात्वाविधायिनीरा-  
 करिषुत्वावातराद्वाकार्वास्वाधेयं तत्त्वमुपां । नितरामन्य-  
 सामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वमुपां तस्या अकृता  
 प्राङ्भूता तत्कारणिका अकारपरम्परा उकारअगिरिवैयर्थ्येः ।  
 यथाहि—कश्चिदाकारेण पीयूषस्वसामप्या तदनुत्पत्तिमुद्गार-  
 परम्परं मुञ्चति, तथा जगवानपि जराभरणपदादि तत्त्वमुने  
 स्वर्मास्वाद्य तद्रसातुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवाद्भादचतु-  
 र्दशैकान्तानामुद्गारपरम्परां देशनामुक्तोऽर्थो नित्यास्यः ।  
 अथवा—यथाकथमादिनिः सिध्यान्तरतनोऽनेनमिति जलितं,  
 तेषां तत्तद्व्यवस्था उकारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः । येस्तु पचेभि-  
 मप्राचीनपुण्यप्राग्गानानुशुद्दिनेऽंगदुक्त्वात्तदुक्तिः स्याद्वि तथा-  
 मुने मनोहृत्य पीने तेषां विपश्चिनां यथाध्यावदिवदुपां हे  
 नाथ ! इयं पुत्रदृशदिनेऽनेकैस्वशा उकार परम्परेति व्याख्येयम् ।  
 एते च अन्वयोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः । तथा-  
 हि—'आदीपमव्योमोर्नि' वृत्तं नित्याऽनित्यवाद् । 'अनेकमेकान्तम-  
 मिति' काऽपि सामान्यविशेषवाद् । ममभक्त्यामभित्वाप्यानिशा-  
 यवाद्यः, सदसत्तादश्च; इति न भुवः प्रयासः । इति काव्यार्थः ॥२४॥

इदानीं नित्यानित्यपदयोः परस्परद्वेषप्रकारावबलकृतयो  
 वैरायमाणयोर्निरतरोद्गारिणरविधेहेतुद्वैतसंनिपातसंज्ञान-  
 विनिपातयोर्न्यायव्यतिरेकप्रतिपक्षमतिक्रमणं जयव्यवसायसंज्ञा-  
 ज्यस्य सद्योक्तंमेवाह-

य एव दोषाः किञ्च नित्यवादे,  
 विनाशवादेऽपि समास्त एव ।  
 परस्परसिंघिषु क्राटकेषु,  
 जयत्यधृष्टं जिन ! शासन्ते ते ॥ १६ ॥

किञ्चित् निश्चयः । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अ-  
 नित्यैकान्तवादिभिः प्रसजिताः कमयोगपञ्चायामपेक्षिवाऽनु-  
 पपरावाद्यस्त एव विनाशवादेऽपि क्षयिकैकान्तवादेऽपि समा-  
 स्तुत्या नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्याना अम्युदाधिकाः । तथाहि-  
 नित्यवाद् । प्रमाणवति-स्यं नित्यं, सत्त्वता । कृत्तियेक सदसत्काल-  
 चोरधैकविधोऽशक्यं कृष्णं सत्यं नायस्यां चर्चान्तीति । ततो

निवर्तमानमन्यशरत्तया नित्येऽवतिष्ठति । तथाहि- कृणोकोऽयः सन् वा कार्यं कुर्यादसन् वा । मन्यतराभावात् । न तावदायः पक्वः, समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात्, सकलजावानां परस्परं कार्यकारणभावमाख्याऽतिवस्तुक्त्वात् । नापि द्वितीयः पक्वः क्लेशं क्षमते । असतः कार्यकरणशक्तिविकल्पत्वात् । अन्यथा शशविधायादृशेषु कार्यकरणेषुऽप्यस्त्वदेव, विशिष्याभावोदिति । अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति- सर्वे कृषिकं, स्वस्थात्, अकृषिकं क्रमयौगन्धार्ज्यामर्थक्रियाविरोधात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात् । ततोऽर्थाक्रया व्यावर्तमाना स्वकर्मोक्तानां सत्तां व्यावर्तेयति कृणोकरासात् । न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुम्वहते, पूर्वापेक्षितकारणस्वभावोपमर्दद्वारेणोत्सर्गक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वापेक्षितकारणविरामप्रसङ्गात् । नन्वयथावप्रचयत्वं नित्यता प्रवृत्तिः, अतादवस्थस्थानित्यतालक्षणत्वात् । अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थस्योक्तमाणस्तत्त्वदत्तोत्, पञ्चममासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत् । न । सहकारिकारणस्य नित्येऽपि कृणोकरत्वात् ; अर्थाक्रयाकरण्याऽपि प्रतिपत्तयाऽभावप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते, अर्थकृतिविरोधात् । तत्रैककालं सकलाः क्रियाः प्रारम्भणः कश्चिदुपलभ्यते, करोतु या, तथाऽप्याद्यकृण एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयोऽर्थोऽर्थक्रियाण्यस्मान्निवृत्ता कश्चादीकते ; कारणकारणयोर्कस्मिन् विरोधात् इति । तद्वैकाल्यस्यऽपि य एतयस्ते युक्तिमाय्याद् विरुद्धं न व्यञ्जितरत्नीत्यविचारनिरमनीयतया मुग्धजनस्त्व इत्यत्र चोत्प्राद्यन्तनीति विरुद्धा इत्यभिचारिणो मेकांतिका इति । अथ च नित्यानित्यैकान्तपक्षप्रतिक्रमं परोक्तः । उपजनकणस्याश्च साम्यावविधायां कालावहा अपि मिथस्त्वयदोषनया विरुद्धा इत्यभिचारिण एव हेतुमुपस्थासन्ति । ( परिभाषणीयम् । परस्परं विशुद्धं स्वधर्मं कृत्यमुपयित्तु द्विषन्तु अथानसिद्धिकण्टकत्वं समूकं राज्यमुपसृज्जानः सर्वोत्कृष्टो जयत्येवं त्वञ्चासन्नमपति कलाप्यायः ॥ २६ ॥

अनन्तरकार्ये नित्यानित्योपकालत्वाद् दोषसाम्यामर्थमिदितम् । इदानीं कतिपयतद्विशेषाश्चामथाद् दर्शयन्तप्रकृपकारणमसङ्गताद्भावकतयोद्घृत्तनवाधिविपुञ्जतज्जितोपपद्यमिव परित्रानुवैरिच । ततोऽपि जगत्पतेः पुरतो लुब्धवन्नयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ,  
न पुण्यपापं न च बन्धभोगौ ।  
तुनीतिवाद्द्वयसनासिनैवं,  
परिथिल्लुप्तं जगदप्योषधम् ॥ २७ ॥

एकतत्त्वाद्दे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षाज्युत्पन्नं, न सुखदुःखभो-

गौ घटते, न च पुण्यपापं घटते, न च बन्धभोगौ घटते । ननुः पुनःप्रश्नः प्रयोगोऽप्यन्तघटनतादर्शनायोः । तथाहि-एकान्तनित्ये आत्मनि तावत्सुखदुःखभोगौ नोपपद्यते । नित्यस्य हि लक्षणं-अप्रच्युतानुपपन्नविधेरैककल्पत्वम् । ततो यद्दऽस्या सुखमनुभूय स्वकारणकलापमग्रीशवाद् बहुः अनुपपत्तुं, तदा स्वजावभवाद्नित्यत्वात्वा स्मिर्ककल्पतादाग्निसम्पत्तः यत्तुःखमनुभूय सुखमुपसृज्जानस्यापि वक्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारः । न चावस्थासु मिदममानास्यापि तत्रतो भेदः ; संप्रत्येव कुमदशाजैवाद्यवस्थासु इति चेत् । ननु तास्ततो व्यतिरेका अर्थव्यतिरेका वा ? व्यतिरेक तास्तस्येति संबन्धाभावः, अतिप्रसङ्गात् । अर्थव्यतिरेके तु तद्वानेवैति तद्वद्विधैतव्येतिरेककल्पनादागि । कथं च तदेकान्तैककल्पत्वेऽप्यन्तघटोऽपि जयति । किञ्च । सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिवृत्तौ, तत्रिधेनेन कार्यक्रिया, सा च कृतेऽर्थानित्यस्य क्रमकारणमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रत्ययं । अत एवाकल्प- ( न पुण्यपापे इति ) पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनंय शुद्धं कर्म । पापं हिसादिक्रियासाम्यमद्युक्तं कर्म । ते कृपि न घटते, प्रत्युत्कर्मातः । तथा न बन्धभोगौ । बन्धः कर्मपुञ्जैः सह प्रतिभेदशमात्मनो वल्लभ-यःपिःकृत्वदुःखोत्पन्नसंश्लेषः । मोक्षः कृत्कर्मकृत्यः । तावत्प्यक्तनित्ये न स्यात्तत्र । बन्धो हि संयोगावशेषः, स चाप्राप्तानां प्रतिरिति लक्षणः । प्राक्कालाभावेनि अप्राप्तिरनित्याऽप्यस्या । उत्पत्तकालाभावेनि प्राप्तिरनित्या । तदनयोरेव्यवस्थाभेदाद्यो दुस्तः । कथं वैकल्पत्वं सति नित्यतासिद्धौ बन्धनसंयोगः, बन्धनसंयोगात् प्राक् कृति नार्थमुक्तं नभवत् । किञ्च । ननु बन्धनोत्सर्गविकृतितमुभवति, न वा ? अनुभवति संबन्धादिवदन्तियः । नानुभवति च्छिन्विंकारव्ये सता असता वा तेन मानस्येव न कोऽप्यस्य विशेषः । इति बन्धव्येकस्यानित्यस्युक्त एव स्यात् । तत्रैव विशेषाणो जगति बन्धभोगोऽवस्था । तथा च परमिन्- 'वर्थातपारम्यं कि व्योम्न-इवमेवास्त्ये तयोः फलम् । चमोयमभेदसेऽनित्यः, अतद्व्यवेदसत्यकः ॥ १ ॥ बन्धातुपपत्तौ मोक्षस्याऽप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिश्चदृश्यते । एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखानुपपत्तः । अनित्यं हि अन्यन्तोच्छ्रयधर्मकम् । तथा नूनं चास्मान्ने पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनश्यत्वात् कथं नाम तत्फलभूतसुखदुःखो भवः ? । एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरव्यवधानो कस्य दुःखस्येदमवगतः ? । एवं चाप्यः क्रियाकारो, अन्यश्च तत्फलभोक्त्यसमञ्जसमापद्यते । अथ " यस्मिन्नेव हि सन्तानं, आदिता कर्मवासना । एवं तत्रैव संघत्तं, कपोसं रकता यथा ॥ १ ॥ इति वचनान्तासमञ्जसमित्यपि वाच्यमत्र, सन्तानमनयोर्वास्तव्येन प्रागेव निशोऽजितत्वात् । तथा पुण्यपापं अपि न घटते । तयोर्धर्मिक्रिया सुखदुःखः प्रायोगः । तद्व्युत्पत्तिस्त्वहान्तत्वेभेदकः, ततोऽर्थक्रियाकारिताऽभावात्सयोरेककल्पमानत्वम् । किञ्च । अनित्यः कृणसावस्थाधी, तस्मिन्नेव कृण उत्पत्तिभावप्रवृत्तत्वात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियाऽज्जनं ? । द्वितीयाद्यैककृणेषु चावस्थातुममे न लभते, पुण्यपापोपादानक्रियाभोगे च पुण्यपापं कुतः ?, निर्मुक्तत्वात् ; तदसत्त्वं च कुतस्तानः सुखदुःखभोगः । आस्तां वा कश्चिच्छेदतत्, तथाऽपि पूर्वकृणसद्वदोत्पत्तकृणन भवितव्यम्, सपादानाऽनुकल्पतादुपादवैषम्य । ततः पूर्वकृणाद् दुःखितादुत्पत्तकृणः कथं सुखितं तस्यघटते ?, कथं च सुखितासत्तः स दुःखितः स्यात् ?, विलक्ष्यतानास्तऽऽप्यतः ।

एवं पुरुषपापादावधि । तस्माद् यत्किञ्चिदेतत् । एवं बन्धमोकृतयो-  
रप्यसंबन्धः । लोकऽपि हि य एव बन्धः स एव मुच्यते । निरवन्ध-  
नमाशाशुभपुण्यं बन्धकारणमात्राभावात्सत्त्वानस्य चावासन्ब-  
न्धात् कुतस्संयोगः संभावनामात्रमपीति ? परिणामिनि चात्स्मिनि  
सर्वैर्भक्तिविशेषाणैः सर्वैर्निर्वाधमुपपद्यते । "परिणामोऽवस्थाधन्तर-ना-  
मन्तं न च सर्वेषां ह्यवस्थाधनम् । न च सर्वेषां विनाशः, परिणाम-  
सन्धिः ।" ॥११॥ इति बच्चनान् । पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह-  
" अवस्थातस्य ह्यवस्थस्य पूर्वधर्ममिहसूत्रौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परि-  
णामः " इति । एवं सामान्यविशेषसद्विभक्त्याऽनजि-  
लार्थिकान्तवादेऽपि मुखदुःखापनायः स्वयमनियुक्तैरभ्युद्युक्तः ।  
अधोत्तरार्कड्याश्वा—एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखमोहा-  
दिष्वयद्वहारे परैः परतीर्थिकैः, अथ च परमाधेतः शशुभिः; पर-  
शश्वोऽ हि शशुपर्शयोऽप्यन्वितं ( दुर्नीतियादव्यसनानिना ) नी-  
यते एकदेशशशिष्टशुभैः प्रतीतिरप्यमाभिरिति नीतयो न-  
बाः, दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः; तेषां वदन् परभ्यः  
प्रतिपादनं दुर्नीतियादः । तत्र यद् व्यसनमत्यासक्तिरौचित्य-  
स्वयनरपेता प्रवृत्तिरिति यावद्; दुर्नीतियादव्यसनम् । तदे-  
व सर्वेषांशरीरोच्छेदनशक्तिमुक्तव्यादिसिखासिः कृपाणः,  
दुर्नीतियादव्यसनासिः । तेन दुर्नीतियादव्यसनानिना करणजु-  
तेन दुर्नयप्ररुपशहेवाकलङ्घनेन । एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह ।  
अपि शश्वस्य भिन्नकर्मत्वाद्दशोपमं जमाथैवित्तमपि ध्रुलो-  
क्यम्, तात्स्थान्तद्वयदेश इति । त्रैलोक्यगतजन्तुजानं विलु-  
प्तम्; सत्यज्ञानादि नावप्राणव्यपरोपणं व्यापादितम् । तत् ज्ञा-  
यस्वेत्याशयः । सम्प्रज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गी-  
र्णवन् । अत एव सिद्धेऽप्यपि जीवजन्तुपदम् । अन्यथा हि  
जीवधानुः प्राणधारणाद्येऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राण-  
धारणाभावाद्जीवत्वप्रतिनिः सा च विरुद्धः । तस्मात्संस्था-  
रिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानादिभा-  
वप्राणधारणादिति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्यं व्याख्या-  
स्यामः । इति काव्यार्थः ॥ १७ ॥ स्यात् ॥

वस्तुनोऽनियतसद्वत्त्वमनेकान्तजयपताकायां न्येकज प्र-  
त्यपादि परं तद्वृत्तस्यानिर्वाहसंयत्नं दूरबधोचन्यात्सम्प्रतिप्रभु-  
तिप्रयैर्गन्तर्थाद्यासास्मिन्नोपेक्षितम् । अनेकान्तजयपता का-  
शक्तिर्वि-० ।

( ४ ) एकान्तेन सर्वे वस्तु सतिचि साङ्गधर्मानं तु न युक्तम् ।  
युक्तिभ्रान्त यत्तावदुच्यते सर्वस्याऽभिप्रायेण—सर्वे सर्वात्मकम्; दे-  
शकालाकारप्रतिबन्धात् न समानकारांशप्रतिबन्धितः । तदुक्तम् ।  
यतो नदेन सुखदुःखजीविनमण्डरदूरासन्नसूक्ष्मबाद्गुरुकुक्कुवादि-  
कं संस्वारेऽपि स्वमध्यं कृणोऽनुज्यते । न च हृदयुपपन्नं नाम ।  
न च सर्वे मिथ्येषुधुपपन्नं युज्यते, प्रतो हृदहानिरदृक्कलेपना च  
पापीयते । किञ्च । सर्वैर्भक्त्येऽनुपपन्मयमाने संस्वरोक्ताजाव-  
त्तया कृतनाशोऽहताच्यगमश्च बलाद्वापनति । यच्चैतस्सत्त्वज-  
स्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्येतत्सर्वस्य जगतः कार-  
णं, तास्मिन्तराः सुहृद्ः प्रत्येभ्यस्मिन्, निर्मुक्तिकावात् । अपि च ।  
सर्षथा सर्वस्य वस्तुन एकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वजस्तमसा-  
मप्येकत्वे स्थान् । तज्ज्ञेदं च सर्वस्य भेद इति । तथा यदुच्यते न-  
सर्वस्य व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्सकार्यवादाव्याचक मयूरास-  
करणे चञ्चुपिकराङ्गानां सनामिवापादाऽनुपपन्मादसदुत्पत्ति-  
ब्रह्मकलादीनामप्युपपन्नप्रसङ्गादित्येतद्ब्रह्माश्रयम् । तथा हि—यदि  
सर्वेषां कारणे कार्यमस्ति न तदुत्पत्तिः, निष्पन्नघटस्थेयः अपि

च । मृत्पिण्डावस्थायांमेध घटगताः कर्मगुणव्यपदेशा प्रवृत्तौ न  
च भवति, ततो नास्ति कारणं कार्यम् । अथाऽनभिव्यक्तमस्तीति  
चेत् । न । तर्हि सर्वोत्पन्ना विघ्नते नाऽप्येकान्तेनासक्त्यर्थाद्  
एव । तद्भावे हि ध्योमारविद्युनामप्यकारतनासतो मृत्पिण्डा-  
देधेऽदार्देवोत्पत्तिः स्यात् । न चैतद् हृदमिष्टं वा । अपि चैवं  
सर्वस्य सर्वसदुत्पत्तेः कार्यकारणानुपादानकारणत्वात् । एवं  
न शाल्यकुशार्थौ शालिभोजमेषाऽऽद्यादपि तु यत्किञ्चिदेवेति  
नियमेन च प्रकृत्वुवकारिणामुपादानकारणत्वात् प्रवृत्तरतो ना-  
सक्त्यर्थाद् इति । तदेव सर्वपदार्थानां सर्वैर्भक्त्यवत्वमप्यर्थादिभि-  
र्धर्मैः कथञ्चिद्व्यक्तम्, तथा प्रतिनियतार्थकार्यतया यद्वार्थभक्ति-  
याकारि तदेव परमार्थतः सतिचि कृत्यं । कथञ्चिद्वेदं इति सा-  
मान्यविशेषात्मक वस्तुवति स्थितम् । अनेन च स्याद्विद्वत्, स्या-  
न्नास्तीति भङ्गकथनेन शेषभङ्गता अपि प्रुष्टव्याः । ततश्च सर्वे  
वस्तु सप्तमङ्गलैरुपायैः । तु चान्ती—स्वच्छव्येकत्रकाज्ञायापेक-  
या स्यादस्ति, परद्वयापेक्या स्यात्साम्प्रति । अनयोरेव धर्मयोरी-  
गपथानांशानुमतावस्थात्वाद् स्यादवत्कथ्यम् । तथा कस्यावदशस्य  
स्वच्छव्यापेक्या विवर्जितान्ता, कस्यावत्त्वांशस्य परद्वयापे-  
क्या स्यात्, नास्ति वा, चतस्रं चेति । तथेकस्यांशस्य स्वच्छव्या-  
द्यपेक्या परस्य तु सामर्थ्येन स्वच्छव्यापेक्या विवर्जितत्वा-  
त् । स्यादस्ति चावत्तयं चेति । तथेकांशस्य परद्वयापेक्या  
स्यान्नास्ति चावत्तयं चेति । तथेकस्यांशस्य स्वच्छव्यापेक्या  
या, परस्य तु परद्वयापेक्या, अम्यस्य तु धैर्यापेनेन स्वपर-  
द्वयापेक्या विवर्जितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चाऽवत्क-  
थ्यम् । इय च सप्तमङ्गलं यथायागमुत्तरभाऽपि योजन्यपद्यति ।  
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

( ६ ) कालाद्येकान्तवादाऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

कालो सद्भावः एतद्, पुत्रकर्म्यं पुरिमकारणैर्गता ।

मिच्छन्ते तौ चेत्वा, ममापन्नो ह्यौतं सम्मत्तं ॥ १४६ ॥

कालस्त्वभावमितिपुत्रैर्कृतपुरुषकारणत्वा एकात्मताः सर्वेऽपि  
पयका मिथ्यात्वम् ; न एव समुदिताः परम्पराजहद्वृत्तयः स-  
म्यक्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते इति नापर्यायोः ॥ १४६ ॥ (सम्यक्त्वोः ०) ॥  
तत्र कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः संबन्धनीनि तद्भावा मिथ्यात्व-  
वाद् इति स्थिते त एषाऽप्योत्पन्नपेक्या नित्याद्यकान्तव्यपरो-  
धैकानेकत्वभावाः कार्यनिर्गन्तेनपद्व्यः प्रमाणविषयतया परमा-  
र्थतः सन्न इति तत्राप्रवादकस्य शास्त्रस्यापि सम्बन्धनामिति  
तद्भादः सत्यगुदातया व्यर्थत्वः । यथेते कालाद्येकान्ताः मि-  
थ्यात्वमनुभवन्ति, स्याद्भावेप्रह्लासु त एव सम्यक्त्वं प्रति-  
पद्यन्ते, तथाऽऽस्मात्कालान्तिनित्यामित्यन्त्याद्यधर्मभासितो  
मिथ्यात्वम् ; अनेकान्तरूपतया त्वन्पुण्यमयमानः सम्यक्त्व-  
प्रतिपद्यत इत्याह—

रात्पि ए शिच्छो ए कृणुइ,  
कयं ए वेएइ ग्णपि शिच्छाणं ।  
शात्पि य मोक्षेणोत्तमा ॥  
इं मिच्छसक्तं उताइ ॥ १५० ॥

नास्यात्सा एकान्त इति सांभ्याः । अत एव प्राहुः—यः कर्त्तौ, स  
न योक्तौ, प्रकृतियन्, कर्त्तुभोक्तृत्वानुपपत्तेः । यद्वा—येन कृतं  
कर्म, नाऽसौ तद् युक्तः, कर्णिकवात्, जिज्ञसंतोरिति बौद्धः ।  
अपि कृत्याच तत्सन्तः कृतं न वेद्यत इति बौद्ध एवाह—कर्त्तौ

भोक्त चारमा किन्तु न मुच्यते, सचेतनखात्, अज्ञव्यवन्, रागादीनामात्मस्वरूपातिरेकात्, तद्वृत्ते नेमात्म्यकृत्यादिति सायिकः । निहंतुक पयासौ मुच्यते, तन्मभावतत्त्वतिरेकेण परस्य तत्रोपायस्यानावादिति मारुती प्राह । यतानि बद् मिथ्यात्वस्य स्थानानि, यथात्म्येषां पदाणां मिथ्यात्वाधारतया व्यक्षयितेः । तथाहि यतानि नास्तित्वादिविशेषणादीनि साध्यवर्तिविशेषणतयोपाधीयमानानि किं प्रतिपन्नव्युत्पन्नस्येनोपाधीयन्ते ? आहोस्विन् कथंविषयसंग्रहणेत कल्पनाद्वयम् । प्रथमपक्षे-अव्यवहारिषः, स्वसंवेदनाप्यज्ञतज्ञैतन्व्यस्यात्मरूपस्य प्रतीतिः, कथञ्चित्तस्य परिष्णानित्यताप्रतीतिश्च, शरीरादिव्यापारतः कर्तृत्वोपलम्बश्च, स्वव्यापारनिर्वर्तितभक्कपादिभोक्तृत्वसंवेदनाश्च, पुरुललक्षणतया, रागादिव्यकृतया च, शम-वृत्तरसावस्थायां कथञ्चित्तस्योपलम्बश्च । स्वोक्तपन्नरतमादिभावतो रागाद्युपपन्नरतमभावादिधोषिण्यस्य ज्ञानदर्शनेरुपलम्भाच्चानुमानतोऽपि विरोधः । तथाभूतज्ञानकार्यान्वयाऽनुपपत्तिरित्यलक्षणस्यात्मनः सािद्धं चेदादिषुत्त कपादिशुभ्रतः ज्ञानस्वरूपशुभ्रोपलम्भात् कथञ्चित्तमिदमस्याऽऽत्मलक्षणस्य शुभ्रतः सिद्धिरिति मानुमानविरोधः । इतरधर्मनिरपेक्षधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य तदाधारभूतस्य च विशेष्यस्याप्रसिद्धेः । अप्रसिद्धविशेषणत्वोपलम्बोपपत्तिरुच्यते पक्ष आरमेति बचनेन, तत्ससाऽभिधानं नास्त्येवेनेन च, तत्प्रतिपक्षमिधानपदयोः प्रतिज्ञावाक्यव्याघातो लोकविरोधश्च । तथाभूतविशेषणविशिष्टतया धर्मिणो लोकं तद्व्यवहित्यमाणत्वात् स्वबचनविरोधश्च । तस्मिन्पादकचचनस्येतरधर्मसापेक्षतया प्रत्यक्षदुर्गतरीत्यरनिरपेक्षकधर्मरूपोऽसिद्धः, तथाभूतस्य तस्य क्वचिदनुपलम्बेः सर्वत्र तद्विपरीत एवाभावात् । विरुद्धश्च दृष्टान्तः, साधनधर्मोधिकरूपतया कस्यचिद्धर्मिणोऽप्रसिद्धः । तत्र प्रथमः पक्षः नापि द्वितीयः, स्वायुपगमविरोधप्रसङ्गात्, साधनवैफल्यपक्षे । तथाभूतस्यैकान्तकपतयाऽसाभिरप्यनुपगमात् । तस्माद्व्यवस्थितमनेतेदेकान्तरूपतया पश्यन्तानि । तद्व्ययंशाप्येकान्तवादे तथैव तानीति दर्शयन्नाह-

अत्रिय अभिगणामधमा, करेऽपेइइ अत्रिय णिष्वाणं ।

अत्रिय प्र मोत्रलोवाभो, तं मित्रकस्य ठाण्णं ॥११॥

अस्यामेति पक्षः पुराणदेवोर्दिनः स आविनाशार्थी, यथा प्रसिद्धा कलत्रतानुसारिणः । कर्त्तृजोक्तस्वभावाऽसायिति मने ज-मिनेः । तथाभूत एवासौ ऊरुस्वरूप इत्युक्तापदकृत्कृतमतानु-सारिणः । अस्ति नियोगमस्ति च मोक्षापाय इत्यामन्ति नास्तिक-काष्ठीकव्यतिरिक्ताः । पाषाणिरुत एते चाऽनुपगमाः एकान्तेन तद्वस्तित्वादेरप्यक्तानुमानाज्जगमप्रतीतेः । तथाऽनुपगमे च स्वा-स्तित्वेनेनायमावासात्संवेनापि तस्य भावात् संवेजायसंकाशो-त्प्राप्तसक्तः, स्वस्वरूपावयवस्थितेः क्षुण्णपदसत्त्वमेव स्थान, इत्यादि, शुभ्रणमसङ्गत् प्रतिपादितम् । तथाभूतस्योपाधौ पूर्व-बद्भापि बाधवाः । चतुर्थपादं तु गाथायाः क्वचिद्व्यथा पठन्ति-ससम्भरस्येव जगणैति । अत्र तु पाठे इतरधर्मो जददृशुया प्रकर्मभावा एते वदं पक्षाः स्वयंस्वरूपाधारात् प्रतिपद्यन्त इति इवाक्येयम् । न च स्यादकस्यात्मा निष्वादिप्रतिज्ञावाक्यमप्यज्ञा-दिना समानेन बाधयेत्, स्वपरजावासात्स्वक्यादिप्रमाणव्य-तिरेकेणान्यथाभूतस्याऽप्यज्ञादेरप्रतीतिः । तेनानुमानानुपगमनात् स्वबचने लोकस्य व्यवहारविरोधोऽपि न, प्रतिज्ञाया अप्यज्ञा

विप्रमाणावसेये सत्सदात्मके वस्तुनि कस्याच्चिदोपस्थांस-मभावः । न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः शौकिककृत्कृत्तयाभू-तविशेषणस्यापि प्रतिपत्त्या सर्वत्र प्रतीतिरित्यस्य वा विशेषण-व्यवहारस्याऽपेइइप्रसङ्गात् । अन्यथातस्य क्वचिद्व्यवसंभवा-त्तथाभूतविशेषणत्वमकस्य धर्मिणः सर्वप्रतीतेनाप्रसिद्धविशेष-नादोषः । नाप्यप्रसिद्धोभयता बुधभयः, तथाभूतकृत्वमतिरेकेणा-न्यस्यासत्त्वतः प्रमाणविषयत्वदुर्गुरपि नाप्रसिद्धः ; तत्र तस्य स-त्वप्रतीतेः विपक्षे सत्त्वांसंज्ञाभापि विरुद्धः । अनेकालिकताऽ-प्यत एवायुक्ता । दृष्टान्तदोषा अपि साध्यादिविकल्पत्वाद्यो नात्र संज्ञविमः, असिद्धत्वादिदोषवत्येव साधने तेषां ज्ञावात् । मानु-मानतोऽनेककामं वस्तु तद्वादिभिः प्रतीयते । अथक्त्सिद्धत्वा-द्वस्तुप्रतिपत्तेरपि तत्सन्निवृत्ति विमतिपद्यते । न प्रति तस्मात्संवे-नेव न्यायमानुमानोपपत्त्येव विप्रतिपत्तिनिराकरणमात्रमेव वि-धीयत इति नाप्रसिद्धविशेषणत्वादिदोषस्यावकाशः । प्रतिज्ञ-णपरिणामपरमाणादीनां नृद्विकाराद्योऽनुपगमशून्याऽप्यथाऽ-नुपपत्त्यामनेनाप्यक्षादिवाधाऽस्मदाद्यक्षस्य सव्योत्पत्ता वस्तु-प्रणालासामर्थ्यात् इफटिकादीं बाधोग्राणपरिणामयोग्यत्वं कृत-एकैकदा प्रतिपत्तेरनवस्थैयप्राधान्यं प्रतिज्ञणपरिणामानुमेनेन विरुध्यते; अथ तदनुपगमत्वात्, कथञ्चित्तप्रतिज्ञणपरिणाम-स्य तत्प्रतीतिरैवैवानुमानतोऽनिश्चयात् ।

अनेकान्तव्यवच्छेदीकान्तवाधारिधर्मोधिकरणत्वेन धर्मिणो साधयंशकान्तवादात् । न साधर्म्यतः साधयितुं प्रयुज्यति वैधर्म्यत इति प्रतिपादयन्नाह-

[ १ ] साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः ।

साहम्यत्रो व्व अत्र्यं, साहिज्ज परो विहम्यत्रो वा वि ।

अएणोसं पक्किञ्जुत्ता, दोसं वि एए असव्वाचा ॥ १५२ ॥

समानस्तस्यः साध्यसामान्यान्वितसाधनधर्मो यस्यासौ स-धर्मो, साधर्म्यदृष्टान्तोऽप्येवा साधर्मो, तस्य भावः साधर्म्यम्, ततो वाऽर्थे साध्यधर्मोदिकरणतया धर्मिणो साधयंशः, अन्वयिदनु-प्रदर्शनात् । साध्यधर्मिण विवक्षितं साध्यं यदि वैशेषिकदि सा-धयत्, तदा तत्पुत्रव्यतिरेकपि धर्मकस्य स्यात्; अन्यथाप्यस्य तथ-पि भावात् । अथ वैधर्म्यद्वयं विगन्तव्याभूतसाध्यधर्मो ह्यस्मा-दसौ विधर्मो, तस्य भावो वैधर्म्यम्, ततो वा व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्यं साधयत्, उभाभ्यां वा ; वाशब्दस्य समुच्चवाये-त्यात् । तथापि पुत्रव्यतिरेकं यमकत्वप्रसङ्गं इत्यामत्वाभावे च तत्पुत्रवादेः, अन्यत्र गौरपुत्रे अजायात्, च भाव्यामपि तत्सन्धने । अत एव साध्यसिद्धिप्रसक्तः स्यात् । अथात्र कालात्यापदिष्ट-त्वादिदोषसङ्गाद्यश्च साध्यसाधकताप्रसक्तः; असिद्धिरुक्तमै-कान्तिकहेत्वाज्ञासमन्तेरणपरहेत्वाज्ञासांसंभवात् । न च त्रैक-व्यसङ्गयोगिनेऽसिद्धत्वादिहेत्वाभासता कृतकत्वप्रतिपादि-त्यावसाधने संभवति । अस्ति च भवद्विप्रतीयं त्रैक्यं प्र-कृतहेताविति कुतोऽस्य हेत्वाभासता ? अथ भवत्येवं दोषः, येषां त्रैक्येऽविनाशजाव्यतिरेकमाभिः, नास्माकं च सङ्गणहेतु-वादिनाम् ; प्रकरणसमन्वयैरेव हेत्वाभासत्वोपपत्तेः त्रैलोक्य-सङ्गावेऽप्यपरस्यासत्प्रतिपक्षादेरेतुसङ्गणस्यासंभवे तदा-भासत्वसंज्ञावत्, 'यस्मात्प्रकरणचित्तं स प्रकरणसमः' इति प्रकरणसमस्य सङ्गणोपिधानात् । प्रकियेते साध्यत्वसाध्यिक-त्वे निश्चितौ पक्षान्तिपक्षौ चैतौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता संशया-

म् प्रवृत्त्यनिच्छयादाहोचनस्वभाक्त्वो भवति । स एव तद्वि-  
 क्षयार्थं प्रयुक्तः प्रकरणसमः, पक्षद्वयेऽपि तस्य समानत्वात् ।  
 कल्पत्रयत्वादिस्वरूपात् । तथाहि तस्योदाहरणम्-अग्निधः  
 शब्दः, नित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलब्धमग्नानित्यधर्मकं घटाद्य-  
 क्षित्यं दृष्टव्यं, यद्युपलब्धं न तदनुपलब्धमग्नानित्यधर्मकं यथा-  
 ऽऽस्यादि । यद्यं किन्तासंबन्धिपुरुषेण नत्वाऽनुपलब्धेरेकदेश-  
 षुभवा अन्यतरानुपलब्धेरनित्यत्वात्सिद्धौ साधनत्वोपायासि-  
 क्षति द्वितीः। कश्चिन्तासंबन्धिपुरुष आह-यद्यनेन प्रकारेणानित्य-  
 त्वं साध्यते तर्हि क्षित्यत्पसिद्धिरपि,अन्यतरानुपलब्धेस्तथापि स-  
 ज्ञावात् । तथाहि-नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपल-  
 ष्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टव्यमादि । पुनर्यत् न नित्यं तथाऽनु-  
 पलब्धमग्नानित्यधर्मकं, यथा घटादि । एवमन्यतरानुपलब्धेस्तथा-  
 चपक्षे साधारणत्वात् प्रकरणानतिशुद्धेहेत्वाभासत्वम् । न च नि-  
 क्षितितयोः पक्षप्रतिपक्षपरिहारेऽधिकाराय कथं किन्तायुक्तं एवं सा-  
 क्यमेवोपलब्धं विवक्ष्यदिति वक्तव्यम्, यतोऽयदा संज्ञेऽपि किन्ता-  
 संज्ञकधनुषोपांश्वनराऽनुपलब्धेः पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकानवगत-  
 स्तद्वहसास्वसाध्यं यदा निश्चिन्तितं, तदा द्वितीयस्तामव स्वसा-  
 ध्यसाधनाय हेतुन्योमानिषेधे । यद्यनस्त्वप्युक्तासिद्धिरत एव मय-  
 क्तसिद्धिः किं न भवेत् ?; वैकल्प्यस्य पक्षद्वयऽप्यत्र तुल्यत्वात् । अथ  
 नित्यत्वानित्यत्वैकान्त्याविपर्ययेणाऽप्यस्याः प्रवृत्त्यनैकान्तिकता ।  
 उच्यते। किञ्चिन्नैकान्तिको न प्रकरणसमः । न यत्र पक्षप्रवृत्तिव्याघ-  
 रानुक्तो धर्मो हेतुन्येनाऽप्यादि।यत्ते तत्र संशयहेतुताः; साधारणत्वेन  
 तस्य विवक्षित्येषानुपलब्धत्वात् ननु प्रवृत्त्यनुपलब्धः। यतो नित्य-  
 धर्मानुपलब्धेरनित्य एव भावो न नित्ये, एवमनित्यधर्मानुपलब्धे-  
 रनित्य एव भावो नास्ति। एव चात्र साध्यं विपक्षत्वात्। प्रकर-  
 णसमता, तद्वैकान्तिकता पक्षद्वयसिद्धये न तथा आयात् । न यद्ययं  
 पक्षद्वयं तदा साधारणाऽनैकान्तिकः । अथ यत् नित्यं कथमयं पक्ष-  
 द्वयसाध्यकः स्यात्, अतदुत्तरतत्साध्यकत्वात् । न पक्षद्वये प्रवृत्त-  
 यं वृथमुपगममात् । तथाहि-कथं साधनकालेऽनित्यधर्मानुपल-  
 ष्यधर्मते न नित्ये । यदाऽपि नित्यत्वं साध्यं तदाऽपि नित्यपक्ष-  
 एवानित्यधर्मानुपलब्धधर्मते नाऽनित्ये । तत्र च स्वपक्ष एव  
 प्रकरणसमस्य वृत्तिः, स्वपक्षविपक्षयोश्चानैकान्तिकस्य साध्या-  
 त्पक्षप्रवृत्तिपक्षव्यवहारः, नाऽप्यथा, तेन साध्यवृत्तिरुत्तरज-  
 साध्यस्वपक्षसिद्ध प्रकरणसमो, न तु कदाचित्साध्यापेक्षा  
 विपक्षवृत्तिः । अनेकान्तिकस्तु-विपक्षवृत्तिरपि तस्य साध्यस्य ज्ञः ।  
 न च रूपप्रययोऽप्यस्य हेतुत्वम्, समप्रतिपक्षत्वात् । यस्य तु क-  
 दाचित्साध्यापेक्षा विपक्षवृत्तिरेकत्वानित्यधर्मापरिसमाहितपत्र-  
 योगे, तेन प्रकरणसमस्य नाहेतुत्वमुपदर्शयितुं शक्यम् । न  
 चाऽप्य कालात्साध्यापेक्षित्यस्य भावविषयम् । यथाहि प्रकर-  
 णश्रित्वा तथोच्यं हेतुः । न च ततः संदिग्धत्वात् बाधामस्यो-  
 पदर्शयितुं क्लमः । न च हेतुद्वयसन्निपातद्वयं चार्थिणि  
 संशयोत्पत्तेश्चानत्येनास्यानैकान्तिकताया तेन संशयहेतुताऽनै-  
 कान्तिकत्वम्, इन्द्रियसंज्ञिकयोरेपि तथावप्रसक्तः । न च त-  
 यानुपलब्धविशेषस्तुत्यादिद्विध्याया संशयकारणम् न च तत्स-  
 हितया अस्या हेतुत्वम् कथंसाया एव तत्वेनोपायमात् । न च  
 संदिग्धविषयज्ञान्तपुरुषेण निश्चयार्थमुपादिधर्मानाया अस्याः  
 संज्ञेहेतुता युक्ता । नतु यथा कथञ्चिदः संशयोत्पत्तिः, तथाऽप्य-  
 नैकान्तिकत्वादस्य विषयता । स हि स्वपक्षविपक्षयोः समानः,अयं तु  
 तर्हिपरीतोः, साध्यवृत्तित्वात् प्रकरणसमः । न चासंभवः,  
 अस्त्वैवंविधसाधनप्रयोगस्य ज्ञानः सज्ज्ञावात् । अथास्यासिद्धे-

रन्मयोः। अग्निध्यादिना नित्यधर्मानुपलब्धेरितरस्य केतरध-  
 र्मानुपलब्धेरसिद्धत्वात् । असदतत् । यतश्चिन्तान्तोसंबन्धिपुरु-  
 षेण समस्य हेतुन्योपन्यासस्तस्य च तत्संबन्धिना सा कथ-  
 मितरेणासिद्धताज्ञानेन विधानं शक्यम् । यथा ह्यनुपलब्धिनि-  
 क्षित्यसंशयोत्पत्तौ साध्यं नित्यत्वात्। अतः, स कथमन्यतरानुपल-  
 ष्ये हेतुप्रयोगसिद्धतां ह्यावात् ? अत एव सन्नकारं च असाध्यकत्व-  
 किन्ता, इत्यासिद्धतादौ परिहाराधेनुपलब्धम् । एवमनित्यः शब्दः  
 स्वपक्षप्रवृत्तौ स्मरन्तदाऽप्यद्वयवृत्तिः किन्तासंबन्धनाय पुत्रवृत्त-  
 केऽपरस्तरसंबन्धात्। शब्दः, पक्षस्वपक्षयोरेवमन्यतरत्वादाकाशा-  
 वत् यदाह । तथा प्रकरणसम एव अत्र प्रययन्ति-पक्षस्वपक्षयोरे-  
 ततः पक्षः ? स्वपक्षो वा ? यदि पक्षः, तदा न हेतोः स्वपक्षवृत्तिना  
 न हि शब्दस्य धर्मस्तरं वृत्तः संशयोत्पत्त्यासाधारणतैवावश्य हेतोः  
 स्यात् । अथ पक्षोऽन्यतरशब्दवाच्यस्तदा हेतोरेसिद्धता ।  
 स्वपक्षयोघटाकारयोः साध्यत्वं धर्मिण्यप्रवृत्तिरसिद्धेऽनुभूते  
 साध्यस्य न प्रकरणसमता न च पक्षस्वपक्षयोरेत्येतिरिक्तः कश्चिद-  
 न्यतरशब्दवाच्यः, यस्य पक्षधर्मात्।ऽन्यत्वं भवेत्, तत्रायं हेतुः।  
 अत्र प्रतिविद्यमानि-भवेत्पक्षो यद्यदि पक्षयोर्विशेषशब्दवाच्य-  
 योर्हेतुत्वं विवक्षितं नवेत्, तन्न न; अन्यतरशब्दविधिस्यैव  
 हेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । स च पक्षस्वपक्षयोरेव साधारणः, तस्यैव  
 साधारणशब्दान्निधेयत्वात् । यदि याऽनुगतो ह्ययोर्धर्मः कश्चिच्छ-  
 द्याच्यो न प्रवेत्तदा विशेषशब्दवद्व्यतरशब्दोऽपि न तत्र  
 प्रवर्तते; नाऽपि तच्छब्दाद्युभयत्र प्रतीतिर्भवेत् । दृश्यते, तस्मान्-  
 पक्षानां स्वपक्षानां सासाधारण्यपर्येकत्वपर्याप्तं परस्परव्यत्यक्त-  
 रशब्दो ह्ययोरेपि वाचकत्वेन योग्यः । ततो वा विशेषप्रतीतिः सा  
 पुरुषविषयज्ञानिकत्वना । यदा हि साधनपर्येकता पक्षधर्मत्वस्य  
 विवक्षति तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्षः स्वपक्षेऽनुगमाशब्दा-  
 भिधायोऽपि स्यात् । यतोऽश्लोकव्यवहारोऽप्यत्राद्यर्थे संकथयुक्त्या-  
 स्तत्र च पक्षोद्वयस्य न स्वपक्षे प्रवृत्तिः । नाऽपि स्वपक्षशब्दस्य  
 पक्षः । यथा याऽनयोः सद्भेदादपि नात्यत्र प्रवृत्तेरेवमन्यतरशब्द-  
 स्य सामाये सद्भूतित्वेन न विशेष एव वृत्तिः। उभयार्थिधायकत्वे  
 तु विवक्षावसानाऽन्यतरनियमः न चैवमपि विशेषे तस्य वृत्तौ  
 दूषणम्, नद्वयव्यायामेव दोषोऽज्ञानेन कस्त्विति सम्प्रत्येकत्वत्प-  
 रं कृतकत्वादेरेपि पक्षधर्मविवक्षयां विशेषोपस्थादनुगमाज्ञा-  
 यात् । स्वपक्षविशेषितस्य पक्षधर्मत्वयोगात् । अथ कृतकत्वमात्र-  
 स्य हेतुत्वेन विवक्षातो न दोषः, नाहि तत्प्रवृत्तेऽपि तुल्यम्; अन्य-  
 तरशब्दस्याप्यनुक्तानुविशेषस्य ह्यथाऽनित्यधर्मानां सामर्थ्योप-  
 पत्तेः । यत्नेन यदुक्तं न्यायवृत्तं अतः; स्वपक्षोऽपि कथमन्यतरविशो-  
 न लिङ्गात् तथा पक्ष एवार्थे पक्षधर्मप्रवृत्तयोरन्यतर इत्यादि । तद-  
 पि निरस्तम् । वैकल्प्यसज्ज्ञावैपि प्रकरणसमत्वेनास्यागमकत्वात् ।  
 प्रत्यज्ञागमभाषितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्साध्यापेक्षित्य-  
 हेतुयानासाध्याऽनुपगमः यथा-पकायैतत्प्राप्ताप्रफलात् । एक-  
 शास्त्राप्रवृत्तत्वात्, उपायुक्तत्वत् । अस्य हि रूपप्रयोगिनाऽपि  
 प्रत्यव्याधापितकालान्तरप्रयोगात् । अर्थाद्विद्यताप्रवृत्तये नित्यध-  
 र्मोः काशाहुपक्षानानन्तरं प्रयोगः । प्रत्यज्ञादिविषयकस्य तुपक्ष-  
 र्मानन्तरं प्रयोगात्कृतकार्यथिकमेव प्रयोगः । तथाच काशा-  
 र्थापयद्विशेषादग्निधत्ता हेत्वाभासता च । तदुक्तं न्यायभाष्यकृ-  
 ता-“यत्तुल्यमानं प्रत्यज्ञागमविकृतं न्यायभाषाः सः” इति ।  
 नदेवं पक्षज्ञानयोगिनि हेतायविकृतं न्यायपरिसरस्य । तत्पुत्रवृत्त-  
 दौ नु तैलकृतेऽपि कालात्साध्यापेक्षित्यव्यागमकत्वमिति नैवावि-  
 काः । असदतत् । असिद्धिरित्यतिरेकेण परस्व प्रकरणसमहेतु-

स्वाप्नासत्याऽप्योगात् । यच्च प्रकरायसमस्यानिस्तः शब्दोऽनुपपन्नज्य-  
 ज्ञानानिषयधर्मकत्वाद्दियुत्पादरन्तुं प्रदासितम् । तद्व्याप्यते । यतो-  
 ऽनुपपन्नप्रयामानित्यधर्मकत्वं यदि न ततः सिद्धं तदा पक्षवृत्तितया-  
 ऽप्यासिद्धिः कथं नासिद्धः ? । अथ तत्र सिद्धं तदा किं साध्यधर्मि-  
 त्वे धर्मिणो तन्निष्कम्प्येन तद्विद्विक्लवृत्तिषु कालव्ययैः ? यदि तद्विद्वि-  
 त्त्वा साध्यधर्म्ये धर्मिणो तत्र सद्भावेत्येव : कथमगमकता ? । न  
 हि साध्यधर्ममन्तरेण धर्मिजनवत् विद्विह्यापरं हेनोराविनाभावावयवं  
 भवेत् । तस्मै स्वस्मिन् कर्तव्यं न गमकता । ऽदिनाप्रायश्चित्तमन्वयात्  
 तस्याः । अथ तद्वि कालात्मिकं तदा तत्र वर्तमानो हेतुः क-  
 थं न विद्वक्तः ? । विपक्ष एव वर्तमानस्य विद्वक्तत्वात् । जवन्ति च  
 धर्मविकल्प एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः । अथ सदिग्ध-  
 साध्यधर्मवति तत्र च वर्तते तदा सदिग्धविपक्षवृत्त्यावृत्तिकत्वा-  
 दैकैकान्तिकः । अथ सामर्थ्यमतिरिक्त धर्म्यन्तरे यस्य साध्या-  
 भाय एव दशानं स विद्वक्तः । यस्य च तदभावेऽप्यसावयवैका-  
 न्तिकः । न धर्मिण एव विपक्षता; तस्य हि विपक्षव्ये सर्वस्य  
 हेतोरहेतुत्वप्रसक्तः । यतः साध्यधर्मसाध्यधर्मसद्व्यवसायध-  
 र्मवत्त्वं सादृश्य एव साध्यसिद्धेः प्रागुच्य साध्याभावे  
 निश्चिते साध्याभावनिश्चायकेन प्रमाणेन बाधितत्वात्कृतेरप्र-  
 तिरिक्तं स्यात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणो  
 निश्चये हेतौ धर्म्यधर्मप्रसक्तिः प्रत्यक्षादित एव हेतुसाध्यस्य सिद्धेः  
 नस्मात्संविद्यसाध्यधर्मो धर्मो हेनोराश्रयव्यवैधे उच्यते इति ।  
 यथैकैकान्तिकस्तत्र वर्तमानो हेतुः ; धृमादिरपि न हि तथाविध  
 एव स्यात् । तस्याप्येव सादृश्यव्यतिरिक्तत्वात् । यदि हि विपक्ष-  
 वृत्तित्वेन निश्चिनो यथा गमकत्वात् सादृश्यधर्मिणस्ययुक्तान-  
 प्रामाण्यं परिच्यत्तमेव भवेत् । नतोऽनुपपन्नव्यतिरिक्ते साध्यधर्म-  
 वानि धर्मिणोः साध्याप्राये चार्थैकान्तिको हेतुः ; साध्याभाववयं  
 यातुवर्तमानः पक्षधर्मस्य सति विद्वक्त इत्यनुपपन्नत्वमर्थः ।  
 यत्र च विपक्षाद्रूपानुसः सपक्षे वाऽनुगमः पक्षधर्मो निश्चिनः स  
 स्वसाध्यं गमयति । प्रकृतम्नु यथापि विपक्षाद्वावृत्तस्तथाऽपि  
 न स्वसाध्यसाधकः ; प्रतिबन्धस्य स्वसाध्याभावनिवचयान् । तद-  
 निश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन किन्तु प्रकरणसमयेन, एकशास्त्रा-  
 प्रभवत्वाद्दोस्तु कालायथापदिष्टत्वेनेति । अस्येतेन । यतो यदि  
 धर्मित्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्याय प्रतिबन्धोऽप्युपगम्य-  
 ते, तदा धर्मित्यथापि यमनोऽपि हेतुः स्वसाध्योपस्थापको न  
 स्यात् । साध्यधर्मिणि साध्यधर्ममन्तरेणापि हेतः सद्भावाभ्युप-  
 गमात् ; तद्वातिरिक्त एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्याय प्रतिबन्धप्रद-  
 ध्यात् । नन्वाप्यत्र स्वसाध्यादिनाभावात्प्रत्येक निश्चयतोऽप्यत्र सा-  
 ध्यं गमयति । अनिप्रसक्तत्वात् । अथ यदि साध्यधर्म्यान्तरेन सा-  
 ध्याधर्म्येयपि हेतुत्वमयमदशैककाल एव निश्चितमस्माद् धर्मव  
 साध्यधर्मस्य धर्मिणो निश्चयान् पक्षधर्मताप्रदणस्य वैधर्म्यं च ।  
 अस्येतेन । यतः प्रतिबन्धप्रसाधकं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण  
 साध्याधर्मसाध्यधर्मोभावे क्विद्विद्वि न भवतिति सामान्ये-  
 न प्रतिबन्धनिश्चये पक्षधर्मताप्रदणकाले तत्रैव धर्मिणुप-  
 पद्यते हेतुः, तत्रैव स्वसाध्यं निश्चययतीति पक्षधर्मताप्रदण-  
 स्य विशेषविषयप्रतिपक्षनिश्चयवन्तावाणुमानस्य वैधर्म्यं च ।  
 नहि विशिष्टधर्मियुपपन्नज्यमानो हेतुस्त्वद्गतसाध्यधर्मन्तरे-  
 षोपपत्तमान् अस्य । अथवा तस्य स्वसाध्यव्यवसायो-  
 गान् । ननु यं तत्र हेतुपदमेवऽपि साध्यविषयसद्व्यवसायनिश्चयः,  
 येन सादृश्यव्यतिरिक्ता हेतोः सर्वैव भवेत् , निश्चितस्वसा-  
 ध्याभिज्ञानं तद्विद्वत्तन्तरेव साध्यधर्मिण साध्यप्रतिपक्षिण्य-

स्यात् । नहि तत्र तथाप्युक्तं हेतुनिश्चयात्परस्तस्यासाध्यप्रतिपक्ष-  
 न्यकारः । अत एव निश्चयान्तरेण हेतुत्वान्नये धर्मिणि न  
 विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तद्वृत्तयोर्यागं देहवन्तरस्य स-  
 द्भावाः । तयोर्द्वारोपि स्वसाध्याविनाप्रायत्त्वाभिप्रायानित्यवयोधि-  
 कत्वं कालव्यतिरिक्तं न यिरोपादंसत्यं त, तद्व्यवस्थापकहृत्वा-  
 र्थ्यसंभवस्य न्ययप्रामत्त्वात् । संभव वा तयोः स्वसाध्याविना-  
 नित्यत्वधर्मियुक्तवं धर्मतः स्यादिति कुतः प्रकरणसमयस्याऽ-  
 गमकता । अन्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाप्रायविकलता तर्हि तत  
 एव तस्याऽगमकतिति किमसमतिपक्षरूपप्रतिपादनप्रयत्न-  
 न ? किञ्च नित्यधर्मोपपत्तित्वः प्रसज्यप्रतिपक्षरूप, पूर्ववृत्तिस-  
 वा वा शब्दानित्यत्व हेतुः ? । न तावदाद्यः पक्षः अनुपपत्तिसाध्य-  
 तुल्यस्य साध्यासाधकत्वात् । अथ द्वितीयः, तदाऽपि स धर्मो  
 पक्षविधेय इति पक्षेति । यथासं शब्दे सिद्धा, कथं नानित्यता सिद्धिः ?  
 अथ चिन्तासंबन्धना पुत्रव्यवसाये प्रयुज्यत इति न तत्र निश्चिता,  
 तर्हि कथं सादृश्यासिद्धा हेतुभावेन प्रति प्रतिपाद्यव्यवसायो  
 स्वक्यासिद्ध एव ? , नित्यधर्मोपपत्तित्वः ? ; तत्र तस्य सिद्धेः ।  
 यद्युपपन्नानुपपत्तिसंबन्धना यदा द्वयोरेपि चिन्ता, तदैकदेशो-  
 पपत्तिसंबन्धनेन हेतुत्वयोनादानं कथं चिन्तासंबन्धनेन चिन्तितः  
 तस्यासिद्धतां चकुरुं वायव्यासाध्याभिधानम् । तदप्यसकृतम् ।  
 यतो यदि द्वितीयः संशयापत्तिसाध्यासिद्धतां नोद्भाविष्यति  
 समर्थः प्रथमोऽपि तर्हि कथं संशयाविन्वाद्यं तस्य हेतुतामनिधातुं  
 संशयानोर्धमं तत्र हेतुनामानुपपत्तित्वं, तद्विद्विद्वतामप्यभिद्वेष्या-  
 तः श्रान्तरेभ्यत्राविश्रयान् । यदिपि साधनकाले नित्यधर्मोपप-  
 त्तित्वेनित्यत्व एव वर्तते न विपक्ष इत्यादिभिधानेन तदसंभ्रतम् ।  
 विपक्षादकालतोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्मस्य च स्वसाध्यव्याध-  
 र्थमेव अन्त्यायव्यवच्छेदरूपानामिकस्यवच्छेदनेनापरं वृत्तिसिद्ध-  
 यं गम्यन्तान्नाशयति । नहि योऽपि पक्ष एव वर्तमानो निश्चितो  
 वस्तुधर्मः स तत्र साध्यावयवो विकृतम् । अथ द्वितीयोऽपि  
 वस्तुधर्मस्तत्र तावन्निश्चिता न; परस्परविरुद्धधर्मद्वयस्तद्विना-  
 नृत्यायो एकत्र धर्मिण्ययोगात् । योगे वा नित्यत्वोः शब्दा-  
 र्थ्ये धर्मिण्ययोगात् सद्भावादनेकः तद्व्यवस्तुसद्भावोऽप्युपग-  
 मः । नमन्तरेण तत्रानोः स्वसाध्याविनाप्रायत्त्वायैतन्न्यायगात् ।  
 धर्मिणो ययोरुपपत्तित्वेव स्वसाध्यसाधकत्वमिति कुतस्तत्ता-  
 नृत्योस्तत्राप्रवृत्तिः सा च त्रैक्याभ्युपगमो विराद्यनुपपत्तः  
 भावाभावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया एकत्रायोगात् ।  
 अथ द्वयोर्न्यायव्यवच्छेदरूपयोरेकत्रायोगात् नित्यधर्मोप-  
 पत्तित्वेनित्यधर्मोपपत्तित्वे च बाधा । न । अनुमानस्याऽनुमाना-  
 न्तरेण बाधायोगात् । तथाहि-तुल्यबलत्वयोर् तयोर्बाधक-  
 भावोऽतुल्यबलयोर्वा ? । न तावदाद्यः पक्षः । द्वयोस्तुल्यत्वै ए-  
 कस्य बाधकत्वमपरस्य च बाधत्वमिति विशेषोपपत्तयः ।  
 न च पक्षधर्मताप्रसाध्यादिरिकस्य विशेष-प्रतिपक्षज्युपगमात् ।  
 अस्त्युपगमे वा तत एवैकस्य दुष्टत्वञ्च किञ्चिदनुभावबाधया ।  
 तत्र पूर्वः पक्षः । नापि द्वितीयः । यतोऽतुल्यबलत्वं तयोः पक्ष-  
 धर्मत्वादिभावकृतम्, अनुमानबाधाजनित वा ? । न तावदाद्यः  
 पक्षः । तस्यानुपपत्तित्वेन । अस्त्युपगमे वाऽनुमानबाधाविषय-  
 प्रसक्तेः । नापि द्वितीयः । तस्याद्यापि विचारोऽस्यदत्त्वात् ।  
 न हि द्वयोर्लक्षणाऽतुल्यत्वै एकस्य बाधत्वमपरस्य च बाध-  
 कत्वमिति व्यवस्थापयितुं शक्यम् । तत्रानुमानबाधाकृतमप्य-  
 नुत्तबलत्वमपि इतरेतदाभ्येदोपपत्तः परिशुद्धत्वात् । एतेन प-



क्षपणकान्यतरत्वादेरपि प्रकरणात्मस्य व्युत्पत्तः कृतो द्वयद्वयः ।  
 म्यायस्य समानत्वात् । यद्यत्प्रसाधारण्यासिद्धयद्वयद्वय-  
 निरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्षसंपत्तयोः साधारण्यं हेतु-  
 त्वेन विधासितम्, अन्यतरशब्दात् तथाविधासिद्धिप्रसक्तस्यैव  
 तत्र योग्यत्वादिर्व्याप्यमानः तदप्यसङ्गतम् । यतो यथानियमेन  
 कलसंबन्धो विविक्षितो भवति तस्यैव लोकान्यतरशब्दप्र-  
 योगो ह्येहः । यथा-देवदत्तसहस्रदत्तयोर्मन्तरं ज्ञेयस्यव्यापिन्य-  
 मेन देवदत्तो यद्दत्तको वा भोजनक्रियया संबन्धते, इत्यन्यतर-  
 शब्दप्रयोगः । नचैवं शब्दः पक्षसंपत्तयोर्मन्तरः ; तस्य पक्ष-  
 त्वेनान्यतरशब्दवाच्यत्वायोगात् । यद्यपि यदा पक्षधर्मत्वं प्र-  
 बोक्ता विवक्षति, तदाऽऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्षसाधारण्यविधानम् ।  
 तदप्यसङ्गतम् । एवं विवक्षयात्मस्य पक्षसाधारण्यमित्येव  
 धैरूपतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः । नहि कल्पनाविरतस्यार्थत्वं, धै-  
 रूप्यं बोधोपसिद्धम् ; अतिप्रसङ्गात् । तत्र वाऽप्यस्य गमकता-  
 निबन्धनस्याऽभावत्वात्, सम्यग्धेतुत्वं स्यादित्युक्तं प्राक् काला-  
 त्पवापिषिदस्य तुल्यलक्षणमसङ्गतमेव । नहि प्रमाणप्रसिद्ध-  
 रूप्यसद्भावो हेतोर्विषयबाधा संभाषिनी, तथाविरोधात् । सा-  
 ध्यसद्भावो एव हेतोर्धर्मिणि सद्भावोऽप्यस्य, तद्भाव एव  
 च तत्र तत्सद्भावो बाधा, भावाभावायोश्चैकधैरूप्यस्य विरोधः । किं  
 बाध्यतामयः कुतो हेतुविषयबाधत्वमित्यतश्चक्ष्यम् । स्वा-  
 योसंबन्धं तयोर्भावादिति चेत्-हेतावपि सति धैरूप्यं तत्समान-  
 मित्यस्मावपि तयोर्विषयो बाधकः स्यात् । दृश्यते हि चन्द्रा-  
 कादिस्थैरप्राक्षयत्वं देशान्तराभिन्निक्रमभवत्तदप्यनुमानेन  
 बाध्यमानम् । अथ तत्स्थैरप्राक्षयत्वंतथाभासत्वात्त्वाप्यर्थं  
 नलोकशास्त्रप्रभावोऽनुमानस्यापि नद्वान्तरास्यत्वाद् वाप्यर्थमित्य-  
 ध्युक्तमन्यम् । नचैवमस्तिविति चक्ष्यम्, यत्तस्मिन् तद्भासात्वं  
 किमप्युक्त्वाप्यनुमानेन धैरूप्यस्यत्वं । न तावदाहः पक्षः ।  
 हस्तेतराभ्यर्थापसङ्गात्वात् । नदाभासात्त्वंऽप्युक्त्वाप्यर्थम्, तत्र च  
 तद्भासात्त्वात्मियेकासिद्धव्यतराप्रसिद्धः । नापि द्वितीयः ।  
 धैरूप्यसद्भावस्यैव तत्र परेणाऽनुपगमाह । अन्नुपगमं चा तत्र  
 पक्ष तस्यागमकत्वापत्तेरप्यस्तत्वाऽऽऽनुपगमनिवैयर्थ्यात् । नचा-  
 धिचितविषयत्वं हेतुलक्षणमुपपन्नम्, धैरूप्यवत्त्वित्तस्यैव तस्य  
 गमकाङ्ग-बोधोपपत्तेः । न च तस्य निश्चयः संभवति; स्वसंबन्धि-  
 नोऽप्राधिपतत्वाभिन्नस्य तत्काङ्गाजिनोऽस्तस्यगुप्तमानेऽपि स-  
 साध्यवत्त्वित्तस्यैव तस्य गमकाङ्गत्वोपपत्तेः । न च तस्य निश्च-  
 यः संभवति, स्वसंबन्धिनाऽप्राधिपतत्वाभिन्नस्य तत्काङ्गाजिनो-  
 ऽस्तस्यभावाद्दुस्तरकाङ्गाभाविनाऽसिद्धत्वात् । सर्वसंबन्धितना-  
 ढाविकस्योस्तरकालभाविनकाङ्गासिद्धत्वात्काङ्गात्वात् । सर्वत्र स-  
 र्वेदा सर्वगामत्र बाधकस्याप्याह इति निश्चेतुं शक्यम् । तच्छिष्य-  
 निश्चयः तस्यभावात्तदुपपन्नस्य निश्चयः ; सर्वसंबन्धितस्य  
 सिद्धत्वात् । आत्मसंबन्धिनाऽसिद्धित्वात् । अतस्तद्व्यतिरिक्तस्यः  
 प्रागनुमानप्रवृत्तः । तस्यासिद्धेऽनुमाने तत्सिद्धत्वात् अनु-  
 पगमं इतरेतराश्रयार्थोपपत्तेः । तथा हि-अनुमानप्रवृत्तौ संवादा-  
 निश्चयः, ततश्चाबाधितत्वावगमे अनुमाने प्रवृत्तिरिति परि-  
 स्फुटद्वयनिराश्रयत्वम् । न चाविनाशम् निश्चयवत्त्वात् । अत-  
 विवक्षितविषयः ; यतो बहुययोग्यविनाशोऽपि समाप्तिवदि-  
 नाभावादि विषयश्च निश्चयः अविनाशवत्त्वित्तस्यैव संभवात् ।  
 अत्र च प्रत्यङ्गामभावादिनिर्देशान्तर्गततदप्युक्तस्यैव कालात्-  
 व्यापदिष्टत्वं, तदिदं योऽयं देवदत्तः, त्वनुपगमादनुभवाभिमतान्य  
 पुत्रवत्, इत्यस्यापि गमकता स्यात् । न हि सकलशास्त्राभ्या-

न्युत्पत्तिङ्गजनितानुमानवाधितविषयत्वमतरेणान्यदप्युक्त्वाधि-  
 तविषयत्वं वा गमकतानिबन्धनमस्यास्ति न चानुमानस्य तुद्वयव-  
 लत्वात्तानुमाने प्रति बाधकता संज्ञाविति च वक्ष्यम् ; निश्चितप्र-  
 तिबन्धसिद्धमस्युत्पत्त्यानुमानस्यासिद्धिप्रतिबन्धसिद्धस्यसंप्र-  
 नानुपबलत्वात् । अत्र एव न साध्यमप्राक्हेतुमेकः, अपि त्वा-  
 न्निष्पत्त्यनिराकृत साधर्म्यविशेषात् । नापि व्यतिरेकसाध्यात् किं-  
 न्वङ्गीकृतत्वमेवात् । तद्विषयान्वये च परस्परविद्योर्भेदमभावात् ।  
 अपि तु परस्परस्वरूपताहृदृत्तसाधर्म्यविषयत्वरूपत्वात् । न  
 च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिरावायकप्रमाणनिबन्धनं कैरूप्यं निश्चित-  
 मिति । तदनावादेऽप्यस्य हेत्यानासत्त्वं, न पुनरसत्वादिपक्षत्वात्वा-  
 धितविषयत्वापररूपविहरात् । यदा च पक्षधर्मत्वाद्येनकालात्स-  
 र्वात्मकमेतत् लिङ्गमभ्युपगमात्विषयः, तदा तत्तथाभूतमेव वस्तु  
 प्रसाधयतीति कथं न विषयसिद्धिः ? नच साध्यप्रधानयोः प-  
 रस्परतो धर्मिणाश्चैकालभेदे पक्षधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमा-  
 त्र, संकथासिद्धेः । नच समवायादेः संबन्धस्य निवेधे एकाधिक-  
 समवायादिः साध्यसाधनयोर्धर्मिणाश्च संबन्धः संभवः । एका-  
 स्तपक्ष तादात्म्यादेरनुपगमसङ्गणोऽप्यसावयुक्त एवेति पक्षधर्म-  
 स्य सपक्ष एव सत्त्वं, तदेव विपक्षतः सत्यं व्यावृत्तासमिति  
 वाच्यम् ? ; अत्रव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सत्यं वा  
 तादात्म्यायोगात् । तस्य वा केवलान्वयः केवलव्यतिरे-  
 र्का वा सर्वो हेतुः स्यात्, न विकल्पः । व्यतिरेकस्य चाभा-  
 वात्प्रायस्त्वार्थकोनेऽस्तत्परत्वंऽभावोरुपा हेतुः स्यात् । नचाभा-  
 वस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्यन धर्मिणा वा संबन्धोपपत्तिमा-  
 त्र । एवं विपक्षं सर्वत्रात्मस्वमेव हेतोः । स्वकीयं व्यतिरेकं प्र-  
 तिनित्यस्य तत्रासंभवात् । अतस्तद्व्यतिरेकान्तरे तर्हीकरूपस्यैकां  
 न तुच्छानामप्राप्तमिति चक्ष्यम्, यतो यदि सपक्ष एव सत्यं वि-  
 पक्षादप्यनुपगतत्वं न ततोऽपिस्मरितं, तदा तस्य तदेव साध्यापारणं  
 साध्यासत्त्वं ; वस्तुनान्ताभावाद्यमन्तरेण प्रतिनियतस्य तत्रासंभ-  
 वात् । अथ तत्सत्यं स्वयमेव तर्हीकरूपस्यानिक्रमार्थमस्य हेतोः  
 तथातन्तस्य साधार्यताऽनुपगतत्वं निश्चितस्यानिकाः ताम्यकत्वमुप-  
 तिप्राद्वन्तः कथं न परोपपत्त्यन्तहेतुना सर्वेषां विकल्पानिःका-  
 नेन व्यासत्त्वं । किञ्च हेतुः सामान्यरूपो बोधादीनि यतः, विज्ञो-  
 र्को वा ? यदि सामान्यरूपः, तदा तद्विकल्पयो जिघ्रामिभंषं वा ?  
 न तावद्भिन्नम् । इदं सामान्यम्, अयं विज्ञोः अथ तद्वान्विति वस्तुन-  
 बोधोपपत्त्यनुपपत्तिपक्षे । तथा च सामान्यत्वं भेदेनानुपगम-  
 दाक्षयत्वात् । न च समवायश्चापि परस्परं तथा भेदेऽनुपपत्तिपक्षम्,  
 यतः समवायस्यैव हृद्वेदेऽनुपगमयोगः । न च भेदप्रहणमन्त-  
 रेण हेतुत्वव्यतिरिक्तमिति बुद्धरूपत्वात्संभवः । किञ्च । तादात्म्यादिदे-  
 वाग विज्ञोः बुद्धिरिति कारणदानात्सिद्धान्तः । न च सामान्य-  
 निश्चयः संस्थानभेदावसायमन्तरेणापत्तये यतो हृत्-परत्वात्-  
 स्वकमुपपत्तिममनो नागृहीतसंस्थानजह-अथवावाहिसामान्य-  
 मुपपत्त्यु शक्यं ; न च संस्थानभेदावसायमन्तरेणापत्तये यतो हृत्-  
 ममन्तरेण संभवतीति कथं नेतरेणश्रयद्वयप्रसङ्गः । तथा-  
 हि-पदार्थप्रहणं सति संस्थानभेदावसायमन्तरेण परस्पर-  
 न च सामान्यवि-  
 दोषावबोधः, तस्मिन्न च सति पदार्थस्वरूपावगतिरिति व्यकमित-  
 रेतराश्रयत्वम्, चककप्रसङ्गो वा । किञ्च । प्रत्यत्वादेः समाध्यभे-  
 दस्यैव साध्यसंभवतयैव कल्पकालोऽप्येव देशे प्रथमतः उपपत्त्याभा-  
 नाया व्यकेश्व्यादिनिर्माणान्तेन बोधो न भवेत् । व्यकित्तुः देशे  
 सामान्यभेदस्य स्वाध्यसंवेगनस्यानवस्थानात्, व्यकित्तोः

द्वानामवस्थानाच्च । ततः स्वहेतवन्नुपगन्तव्यम्, एवं च कर्कादिभिरेव शाब्दश्रेयादिभिरपि तदभिप्रेयते । न च कर्कोद्यानामेव तदभिप्रेयकिसामर्थ्यं, न शाब्दश्रेयादीनामिति वाच्यम् । यतो यथा प्रत्यासराया ता एव तद्वात्मन्यवस्थापयन्ति तथैव ता एवाशब्दाश्च इत्येकाकारपरामर्शप्रत्ययपञ्चजनविव्यस्तीति किमपरतदुभित्तसामान्यप्रकल्पनाच्च । न च स्वार्थप्रद्विषययोगात् प्राक् स्वज्ञानजनने अस्मर्थे सामर्थ्ये तदा परैरनाधेयतितशयं तमेपेक्ष्य स्वावभासिज्ञानं जनयति, प्राक्तनासमर्थस्वज्ञावापरिस्थागस्वज्ञानानुरागुपादे च तदयोगात् । तथाऽनुपगमे च कृषिकताप्रसक्तः न च स्वभावेनरस्योपजायमानस्य ततो भेदः, स्वैकधासिद्धितस्तद्भावेऽपि प्राग्वत्तस्य स्वावभासिज्ञानजननायोगाच्च प्रतिप्राप्ताः स्यात् । तथा च सामान्यस्य व्यक्तित्वांशे जेदनाप्रतिभासमानस्यासिद्धत्वाद्ये हेतुत्वम् । किञ्च । प्रतिव्यक्तिसामान्यस्य सत्योपपत्त्या परिसमाप्त्यनुपगमनात् एकस्यां व्यक्तविविध, शतस्वरूपस्य तद्वैध व्यक्त्यन्तरे वृत्त्यनुपपत्तेस्तदुपपत्त्यस्य तत्रासंनवाद् असाधारणता हतोः स्यात् । यदि चासाधारणरूपा व्यक्तयः स्वरूपतस्तदा परिसामान्ययोगादपि न साधारणतां प्रतिपद्यन्त इति व्यर्था सामान्यप्रकल्पना; स्वतोऽसाधारण्यस्यान्ययोगादपि साधारणरूपत्वाद् व्यक्तयः, स्वरूपतस्तदा परिसामान्ययोगादपि न साधारणता, अनुपपत्तयः स्वतस्तद्वपत्वेऽपि निष्फला सामान्यप्रकल्पनेति व्यक्तियुतिरिक्तस्य सामान्यस्याभावादासिद्धस्वरूपज्ञानो हेतुरिति कथं ततः साध्यसिद्धिः ? । अथ व्यक्तव्यतिरिक्तसामान्यं हेतुः । तदप्यसङ्गतमेव । व्यक्तव्यतिरिक्तस्य व्यक्तिस्वरूपव्यपक्यन्तरानुपपत्त्या सामान्यरूपताऽनुपपत्तेः । व्यक्त्यन्तरे साधारण्यस्य वस्तुनः सामान्यमित्यभिधानात् । तस्यासाधारण्ये वा न तस्य व्यक्तिस्वरूपव्यतिरिक्त्यमानमूर्तिता, सामान्यरूपतया भेदाव्यतिरिक्त्यमानस्वरूपस्य विरोधात् । तत्र व्यतिरिक्तमपि सामान्यं हेतुः, व्यक्तिस्वरूपवत्साधारण्यत्वेन गमकत्वायोगात् । अत्र पृथ न व्यक्तिस्वरूपमपि हेतुः । नचोभयं परस्परानुबुद्धिं हेतुः, वभयोदोषप्रसंगात् । नाप्यनुपपत्त्यम्, अन्त्यान्यव्यवच्छेदरूपानामिकाभावे द्वितीयविधानाद्भुमयस्यासत्वेन हेतुत्वयोगात् । बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यं वस्तुप्रकल्पात् साध्यनाप्रतिबद्धत्वादासिद्धत्वाच्च, न हेतुः । तस्मात्पदार्थान्तरानुबुद्ध्यावृत्तस्यप्रमाणानं विघ्नदकमेव पदार्थस्वरूपं प्रतिपद्युर्भेदाभेदप्रत्ययस्युतिनिश्चयं हेतुत्वतोपादीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिश्चयमन्युपगन्तव्यम् । न च यद्वैध रूपं रूपान्तराद्भावेतते तद्वैध कथमनुबुद्धिसामसादयति ?, तच्चानुबुद्धते, तत्कथं व्याख्याकृत्पतामत्साकारोतीति वरुण्ये ?, भेदाभेदरूपतयाऽध्यक्तः प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधासिद्धेरित्यसङ्कोदावेदित्वात् । किञ्च । एकान्तवाद्युपपत्त्यस्तदोः किं सामान्यं साध्यम् ?, आहोस्विद्विशेषः, उतोभयं परस्परविक्रमम्, उतसिद्धनुभयमिति विकल्पाः ? । तत्र न तावत्सामान्यम्, केवलस्यसंभवात्, अर्थक्रियाकारिः यविकल्पनाच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायित्वेन साधयितुमशक्यत्वात् । नाप्यनुभयम्, उभयदोषानातिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्, तस्यासतो हेतव्यव्यापकत्वेन साध्यसत्तायोगात् । पतद्वैदाह माधवाच्छाब्देनः अन्त्यान्यप्रतिकुष्टी प्रतिज्ञितौ द्वयव्येनौ सामान्यविशेषिकाः सावस्यद्वयविति, इतरवित्तुक्तस्यैकस्य शशरुपद्वैदरेव साधयितुमशक्यत्वात् ।

सामान्यविशेषयोः स्वरूपं परस्परविक्रमनृपा निराकुर्वन्नाह—  
 दृञ्चट्टिय-वत्तवन्दे, सामग्रेण पञ्जवस्तय विसिसे ॥  
 एए ममोवृणीया, विजजजावयं विसिसेति ॥ १३ ॥  
 दुःखास्तिसिद्धय वत्तवयं भावयं विशेषं निररोपेय सामान्यमात्रम्; पर्यायास्तिकस्य पुनरनुस्यूताकारविविक्तो विशेष एव वाच्यः । पत्तो च सामान्यविशेषावयव्यान्वयनिरपेक्षो, एकैकरूपतया परस्परप्रधानेन एकत्रोपनीतो प्रदर्शितो, विजजवाद्मनेकान्तवादां स्तपथादस्वरूपमतिशयानं, अस्त्यरूपतया तत्तत्प्रवृत्तिशयं ज्ञमेत इति यावत् । विशेषे साध्येऽनुगमाभावात्; सामान्ये साध्ये सिद्धसाधनेवैफल्यतः, प्रथानोभयरूपे साध्ये उभयदोषापापित्तः, अनुभयरूपे साध्ये उभयमात्रम्; साधयव्यायोगात् । तस्माद्वाद्युत्पत्तिभूतसामान्यविशेषप्रमात्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मिण्यन्योन्यानुबुद्धसाध्यधर्म्येऽप्येवसाध्यक्यात्मकहेतुप्रदर्शनतो नैकान्तवाद्पक्कोक्तोपायक्याः संज्ञाति । अत्र पृथ गथापञ्चाङ्गैर्नैतो सामान्यविशेषोऽपि समुपनीतो परस्परसम्बन्धकृतया स्याद्वाद्प्रयोगतो धर्मितयवस्थापितौ चिजजववाद्मनेकान्तवाद् विशेषयतो निराकृतः; अत एव थयोरतद्विज्ञातः । अन्त्याऽनुमानवपवस्यैकतन्व्यायेनास्तव्यादित्यपि दर्शयति ।

यत्रानुमानं विषयतयाऽनुपगमनव्यमिति दर्शयन्नाह—  
 हेतुविसमोवाणीयं, जह वयणिज्जं परो नियचं ॥  
 जडं तं जहा पुरिद्धो, दाई तो केण जिचंति ॥ १३ ॥  
 हेतुविषयतयोपनीतनुपदर्शिनं साध्यधर्मिज्ञज्ञानं वस्तु पुष्येपञ्जवादिनः 'अनित्यः शब्दः' इत्येव यथा वचनयोः परो दृपणवादां नियतयति, सिद्धसाध्यनाऽनुपगमदोषाद्युपव्यासेनेकान्तवचनयोस्य तद्विषयधर्माऽनुपपत्त्यव्यतिरेकदोषदुष्पत्तया नियतयितुं शक्यत्वात् । यदि तच्चा द्वितीयधर्माभावेन स्यात् शब्दव्यजनं 'पुरिद्धः' पुष्येपञ्जवादां अदर्शयिष्यत्, ततोऽसौ वै केनचिद्विषयतः । ततश्चासौ तथाभूतस्य साध्यधर्मिणः प्रदर्शनात् प्रदर्शितस्य कैकान्तरूपस्यासत्त्वात्, तत्प्रदर्शोऽस्त्यव्यादितया निप्रहाह इति ।

पतदेव दर्शयन्नाह—

एगतामन्नूयं, सन्नूयमणिच्छिपं च वयमाणो ।  
 लाईपपिच्छियारणं, वयणिज्जपदे पदइ वई ॥ १४ ॥

आस्तां नावधेकान्तेनासद्भूतमसत्यं, सद्भूतमव्यतिथिभिनं वद्ववादां लौकिकानां परीक्षकानां वचनीयमानं पतति । ततोऽनेकान्तात्मकास्तेनोः तथात्नमेव साध्यधर्मिणं साधयन् वार्त्ताः सद्भावाः स्यादिति तथैव साधयित्वाभूतं हेतुधर्मिणित्तत प्रदर्शनीयम् । तद्वर्शने हेनोः स्वपक्षविपक्षयोः सदस्त्वमवश्यं प्रदर्शनीयमिति यदुच्यते परैः । तद्व्यास्तं जवति । तावन्मात्रादेव साध्यमतिपत्तः । न च ततस्तत्प्रतिपत्तावपि विद्यमानत्वाद् रूपान्तरमपि तत्रावश्यं प्रदर्शनीयम्, ज्ञानत्वादापि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तोः अथ सामर्थ्यात् तत्रप्रतीयत इति न वचनेन प्रदर्शने तद्विषयव्यतिरेकावपि तत एवावश्यं प्रदर्शनीयः; अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वाच्यः । साध्यधर्म्येऽप्येवप्रदर्शनीयपरव्यावस्थोपपत्तयानामनवचनयोस्तु दुरापास्तता, तद्वर्शनेऽपि साधयित्वाभूतं हेतुधर्मिणित्तत प्रदर्शनीयमात्रं साध्यप्रतिपत्त्युपपत्तेस्तथा तदयोगात् । जिज्ञज्ञानहेतुप्रदर्शनवादान्तरनुनिर्गद्यस्वरूपानुपगमविरोधः; निरुद्धो भूतज्ञानव्यवरोधात् । परि-

कद्विपत्स्वरूपैकव्याभ्युपगमोऽप्यसंगतः । परिकल्पितस्य परमा-  
 धैसत्त्वं तदधोगतमितिक्रमात्; प्रपरमार्थसत्त्वं तल्लक्षणशायोगात्सतः  
 सल्लक्षणवचिरोपधात्; न च कल्पनाव्यवधापितल्लक्षणजेदाह-  
 ष्यनेषु उपपत्तिमानिति शिक्षयेत् निरंशसत्त्वज्ञानस्य किञ्चित्पं धा-  
 ष्यम । न च साधनार्थद्विव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं प्रदर्शयितुं शक्यम्  
 इति । तस्य किञ्चिद्भावतासत्त्विकः । न चैकलक्षणहेतुत्वादिनाद्वैतस्यै-  
 कान्तात्मकवस्त्वभ्युपगमात् दर्शनव्याघात इति वाच्यम् । प्रयागनै-  
 गम एषैकलक्षणतो इत्युक्तिरिति व्यवस्थापितव्यात् । नचैकान्तवादिनीं  
 प्रतिबन्धप्रहणमपि युक्तिसङ्गतम् । भवित्वालिप्तकं भ्राम्यन्ति ज्ञानपी  
 र्थापर्याजावात् प्रतिक्षणार्थसिन्धुपुन्यप्रहणाद्युत्पैक्यैक्यैतन्पाना-  
 वात् । कारणस्वरूपप्रादिणा हानेन कार्यस्य तन्स्वरूपप्रादिणा कार्य-  
 कारणत्वाभावेभेदः; एकसंबन्धिस्यकल्पप्रहणोऽपि तदुपग्रहणप्रसक्तः ।  
 न च तदभावेऽपि निश्चयाऽनुपपत्तयः, सविकल्पकल्पेन प्रथमा-  
 क्रिसन्निपातजस्यार्थकस्य व्यवस्थापनात् । न च कार्योपनवानन्त-  
 रस्त्वाभिना स्मरणेन कार्यकारणभावेऽनुसंधेय इति यत्कल्प्यम् ;  
 अनुनूत एव स्मरणप्रादुर्भावात् । न च प्रतिबन्ध- केनचिदनुभूतः;  
 तस्यैवाभयनिष्ठत्वात्; उतस्यैव च पूर्वापरकालज्ञानपि एकनाप्र-  
 हणात् । न च कार्योपनवानन्तराभिनः स्मरणस्य कार्योपनूतयो  
 जनकः, तदन्तरं स्मरणस्याभावात् । न च कृणिकेकान्तवादे कार-  
 यकारणत्वात् उपपत्तिमानित्युक्तम् । न च स्तानाद्विकल्पनाऽप्य-  
 त्तोपयोगिनी । न च स्मरणकालेऽतीततल्लिखयमात्रं प्रतीयते, अपि  
 तु तदाऽनुभविताऽपि ब्रह्मेतन्निर्दिष्टमनुनूतत्वानित्यनुपपत्तिना धाराऽ-  
 नुनूतविषयस्त्वप्यवसायादेकाधारे अनुजवस्मरणे अभ्युपग-  
 मत्त्वं; तदभावे तथाऽप्यवसायानुपपत्तेः । नचानुभवस्मरणयो-  
 रगतत्वेतन्नाज्ञात्वं तद्वन्ततया अनुभवस्मरणयोस्तद् प्रतिपत्ति-  
 युक्तम् । नहि यथातिपत्तिकालेन यथाहित, तत्कर्मतया प्रतिपत्तुं यु-  
 क्तम्; नोऽभावे प्राप्ताप्राप्तकसंस्थित्वात्प्रतिपत्तिव्यभिचयत्; अस्ति त-  
 त्कर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तद्वि प्रतिपत्तिरिति कर्तव्यं कृणिकेका-  
 न्तवाद्; तत्र वा प्रतिबन्धनिश्चय इति ? । नचैकान्तवादिनः सामा-  
 न्यादिकं साधं संनवीति प्रतिपादितम्; नतमादनेकान्तात्मकं च-  
 स्वरूपपगमत्वमव, धर्माद्यदः प्रमाणस्य तत्रातिपादकत्वेन प्रवृत्तेः ।

( ८ ) स एव च सत्त्वाग्नां ( अनेकानां एव सत्त्वाग्नां )

स्वरूपसंहरकाह—

द्वन्द्वं द्वेषिं कालं, जावं पञ्जायदेससंजोगे ।

भेदं च पदुच्च समा, भावाणं पञ्चदशपञ्जा ॥ १५५ ॥

ऊच्यतेऽत्रैकान्तवापरपर्यायदेहासंयोगात् नरे चेत्यद्यै प्राधाना-  
 भित्य वस्तुना भेदे सति समा सर्ववस्तुविषयताः प्रतिज्ञाप्यरू-  
 पायाः स्याद्वाद्कपायाः पर्यायपथा मार्गे इति यावत् । तत्र द्वयं  
 पृथिव्यादि, क्षेत्रं तद्वच्यवरूपं तदाभ्यं वा आकारा, कासं यु-  
 ष्यपद्विगतवर्थाऽल्लक्षणं क्वतैमानात्मकं वा, नवपुराणदिल्ल-  
 क्त्वां भावय, मृशाहुरादिप्रसन्नं पर्यायम्, क्पादिस्यजावं देशम्, मृ-  
 शाहुराकाराधिक्रमनाविभिरागं संयोगं चूच्याद्विप्रत्येकं स-  
 मुद्रुद्वा च्छयपर्यायसङ्गं भेदं, प्रनिष्ठल्लक्षणं सैनात्मकं वा; जीया  
 आदिमायानां प्रतीय- स्वमानतया तद्वत्मानात्मकत्वेन प्रकृापना-  
 निकृपणा वा सा सत्यं इति नहि तद्वत्तात्मकेच्छयत्वादिनेदा-  
 न्ये चरविषयाणादेर्जावादिप्रसन्नं विशेषम्, यतो न प्रवृत्तेऽत्रैक-  
 त्वाभावरपर्यायद्वयसंयोगेऽर्थात्तं वस्तु कश्चित् प्रत्यक्षप्राधान्य-  
 त्तमप्रमाणं नावगन्तुं शक्यम् । न च प्रमाणागं चरस्य सद्दृश्यवहा-

रगोचरणा संबन्धिनिति तद्वत्तात्मकं तदभ्युपगमत्वमव । नल्ल-  
 कान्तोऽनन्तात्मके ऽस्त्वादिभेदमित्थं व्यतिरिक्तकल्पं च प्रमाणं  
 तन्निरूपयितुं शक्यम्, इत्यादिभ्यतिरिक्तस्य शशुद्रप्रकृतं कुत-  
 क्षिप्रप्रमाणप्रतीतिः । नहि ततोऽस्यवादिनां जेदेऽपि समवायसं-  
 कचघशात् तत्संबद्धताप्रसङ्गः । सत्त्वार्थानेन तद्विज्ञानकल्पेन  
 दृशानांतुल्यः । प्रथमविकल्पं समवायिकत्वप्रसक्तिः । संवाग्धि-  
 भेदतो जेदात् संयोगावदित्यव्यवसत्त्विकः । द्वितीयकल्पनाया-  
 मपि संवाग्धिसङ्करप्रसक्तिः । नचैवं छत्रवृद्धकुरादिसंब-  
 न्धविशेषादिशुद्धेवत्सांशैरिष समवायिनां जातिगुणत्वादे मे-  
 नोपलब्धेः । नहि य एव द्वाद्देवदृश्ययोः संबन्धः स एव  
 उवादिभिरिव, तत्संबन्धविशेषणार्थशेषकल्पप्रसक्तः । न विशेष-  
 णं विशेष्यं धर्मोन्तरा द्वयविज्ञाप्यमान्यवस्थापयत् विशेष-  
 णकर्ता प्रतिपत्तिः । एवं समवायसंबन्धस्यवाशिरोषे ऽप्यस्वादि-  
 नामपि विशेषणानामविशेषात्त ज्ञायाज्ञायादिद्रव्यव्यवच्छेदक-  
 ता स्यादिति समवायिसङ्करप्रसक्तिः कथं नासज्येत ? । न च  
 सप्रमायस्तद्वद्वाहकप्रमाणाज्ञावात् संनवीति, तदभावे न वस्तुना  
 वस्तुत्वयोगो भवेदिति तद्वेकान्तात्मकेकल्पमप्युपगमत्वमव ।  
 नचैकानेकात्मकत्वं वस्तुना विकल्प, प्रमाणप्रतिपक्षे वस्तुनि वि-  
 रोधायोगात् । तथाहि—एकानेकात्मकमात्मादि वस्तु, प्रमेयत्वा-  
 त्, चिप्रपदरूपवत्, प्राह्माहृहकारसंवलिरूपेकविज्ञानस्य प्रमा-  
 त्तसंवेदनीयत्वात् । न च धैरोधिकं प्रति चिप्रपदरूपेकानेक-  
 त्वमासिद्धम्, प्राक् प्रसापिद्यत्वात् । नापि प्राह्माहृहकारसंवलिर-  
 क्णरूपप्रथमकर्मके विज्ञानं बोधं प्रत्यक्षिद्धम्; तथाप्यनुविज्ञा-  
 नस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयस्य प्रतिपत्तप्रसक्तः । स्वाधकारायोगि-  
 ज्ञानमभिनन्वकल्पम्, विज्ञानस्य च वेद्यवत्कारोऽभिनामानां,  
 कथञ्चिदनुभवगोचरपक्षे । एतन्न प्रतिपत्तिस्यनयानेवद्विद्वदनुभव-  
 द्धि न सर्वथा जेदवत् संवेदनं इति संविदात्मनः स्वयंभिकस्य  
 कर्मवर्त्येकान्तात्मकत्वं न विरोधमनुभवनांति कथमध्यक्रादिपिरु-  
 द्धं निरन्वयविनाशिव्यमप्युपगन्तुं युक्तम् । नहि कदाचित् क्वचि-  
 त् कृणिकत्वमन्तर्देहोऽप्युक्तोऽनुनूतः; नैव निष्पानावपुनप-  
 भेदात्मन एवात्तविज्ञानस्य षड्विधत्वादेऽस्त्वात्मनः निश्चयत् । तथा  
 नूतस्यानुभवस्य ज्ञानिकल्पनायां न किञ्चिदध्यक्षमज्ञानल्ल-  
 क्णमागु भवेत् । न हि ज्ञानं वेद्यवत्काराशुच्यं स्पृहाकारात्मकं प-  
 रमागुरुप वा घटादिकमेकं निरीक्षामहे, यतो बाह्याभ्यात्मिकं  
 भेदाजेदकल्पतयाऽनुनूतमानं ज्ञानविज्ञानविषयतया व्यवस्थाप्य-  
 त । अतो यथादर्शनमेवयमनुमेयव्यवस्थितः न पुनर्नधातव्यमि-  
 त्येतद्विनिश्चिताथोनिश्चयम् । नहि क्वचित् केनचित् प्रमाणेनै-  
 कान्तकल्पं वस्तु निरन्वयं प्रतिपन्नवात्, यत एवं वदद् शोभते;  
 यथा वाऽप्यक्रियकते निरंशज्ञानिकान्तस्ततो मातृमानमव्यव-  
 प्रथतितुमुत्सहते, अप्यक्त्वाधितविषयत्वात् । तस्य तेन निरन्व-  
 यविनम्भरं वस्तु प्रतिक्षणमेवमेकमागोऽपि नावधारयतीति । ए-  
 तदप्यसद्विनिश्चयम् । प्रतिक्षणं विशराकतया कुतश्चिद्व्यतीक-  
 णात् । अत एव कृणिकत्वेकान्ते च स्वसादिहेतुत्वादीव्यमानः  
 सर्वे एव विकटः, अनेकत एव तस्य संनवीत । तथादि—प्रथकि-  
 यालक्षणं संवेद्यं न चासौ तत्तत्तत्तत्प्रक्रमयोगपद्यान्यां संनवीत,  
 यतो यस्मिन् संवेद्यं यद्वर्थात् तत्स्य कारणांमतिरिक्तं कार्यमिति  
 कार्यकारणसत्त्वम् । कृणिकं च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्न-  
 वेत् तदा कार्यकारणयोः सहोत्पत्तेः किं कस्य कारणं वा किं कस्य  
 कार्यं इत्यवस्थापितं । शैलेककथय चिककण्वतीता प्रसज्येत । व-  
 दन्तरे यद्वर्थात् तस्यस्य कार्यम्, इतरत् कार्यामित्थं व्यथवा-

बां कारणाभिप्रेते वस्तुन्यसत्त्वं च भवतस्त्वन्मन्तरभाविष्यत्युत्प्रे-  
 ष्ठादितरचिन्तित्वादि च तस्य जायते जन्तुः, तद्भावाविशेषात् । न  
 चान्तरस्यापि कार्यात्प्राप्तकालमप्राप्य विनाशमनुजन्तवत्त्वित्वाती-  
 लस्येव कारणात् । यतोऽधिक्रिया कृणु कृषे न विकुञ्चते । प्राक्काल-  
 प्राप्तिवन्तं कारणत्वं सर्वे प्रति सर्वस्य कारणत्वं प्रकल्प्येत, सर्व-  
 वस्तुज्ज्ञानां विषयिनकार्ये प्रति भाविकाविशेषात् । तथा च-  
 स्वरूपरसस्वाध्वयवस्थाऽप्यनुपपन्नैव स्यात् । न च साहचर्यात्प्रका-  
 षत्वा, सर्वथा साहचर्ये कार्यस्य कारणरूपताप्रसङ्गेककृणुणमात्रं  
 सन्तानः प्रत्ययेन । कथञ्चिन्साहचर्येकान्तपदानप्रसक्तिः । न च  
 साहचर्ये प्रवद्विभारिणास्ति, सर्वत्र वैशङ्क्यताविशेषात् । अन्य-  
 था स्वकृतात्मप्रकोपवत्प्रोक्तकृणिकैकान्तपदान्नाऽप्यन्यव्यतिरेक-  
 प्रतिपात्तः सन्तवतीति साध्यसाधनायासिकाभाविषयायाः साक-  
 ष्येन म्यानेरसिद्धेः । यत्सत्तत् सर्वे कृणिकं यथा शङ्खशब्द इत्याद्य-  
 नुमानप्रवृत्तिः कथं न प्रवेत् ? ; अकारणस्य च प्रमाणविषयत्वम-  
 न्युपगमसाध्यसाधनायासिकाभाविषयसिद्धिप्रदव्यस्य दूरतस्त्वा-  
 रित्वात् । "नामनुकृतान्धव्यतिरेके कारणं विषयाः" इति व-  
 चनमनुमानोच्छेदकप्रसक्तं महाप्रादिककारकान्तिकत्ववत्, प्राहा-  
 कारकथापि युगपदनेकार्थव्यभिचिनैवेककृणुना एकान्तवादि प्र-  
 तिक्रिपति । एवं भ्रान्त्याऽऽत्मनश्च स्वशून्यस्यान्वेषैर्द्वेष भ्रान्त-  
 यत्सर्वं कथञ्चिद्वस्तुपगतत्वम् । अथथा कथं स्वसंबन्धा-  
 न्यकृता तस्य भवेत् ? । तद्भावे च कथं तत्स्वाभावसिद्धि-  
 युक्तौ ? । कथं च भ्रान्तज्ञानं प्राणितरूपतयाऽऽत्मनमसंसिद्ध-  
 ज्ञानरूपतया चावगच्छत्वस्यैर्द्वेषतया नावगच्छत् । यतो  
 भ्रान्तैकान्तकृणुनाऽप्युपपन्नदशां भवेत्, कथं च भ्रान्तविक-  
 लज्ञानयोः स्वसंबन्धनमज्ञानविकल्पके च । अऽप्युपगच्छन्नेक-  
 नान्यं नाप्युपगच्छेत् ? । प्राहाप्रादिकवृत्त्याकारविकल्पसंबन्धे स्व-  
 संबन्धेनैव संवेदनं संवेदनां वाऽनुभवत् । कथं क्रमभाविनो-  
 र्विकल्पेनैव क्रमनोरनुमानसंबन्धनात्मानमनुभवप्रसक्तं प्रतिक्रिपति ।  
 ततः क्रमसहजाविनः परस्परविलक्षणान्वाजावान्वाऽन्यथा-  
 रथित्यन्तकृपनाया व्यानुवृत्तः सकलसोक्तप्रतीतं स्वसंबन्धन-  
 मनेकान्तत्वव्यवस्थापकमकान्तवादिप्रतिक्रिपे प्रतिष्ठितमिति ।  
 निरंशा कृणिकस्य कृणुणमन्तर्बहिष्कामिभिनमपि संविचिद्विषयी-  
 करणीति कल्पनाऽप्युक्तसंगतैव ; अग्रप्राप्तसिद्धिकल्पनायाः  
 सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् । सकलसंवेदनाकल्पनप्रसक्तैर्द्वेषकस्य  
 संविचिः परस्यासंविचिः । नाहं वास्तवसंबन्धाभावे परिकल्पि-  
 नस्य नियामकत्वं युक्तम्, इतिप्रसङ्गात् । न च वास्तवः संबन्धः  
 परस्य सिद्ध इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् साध्यसाधनयोः  
 प्रतिष्ठान्नियामाजायेऽनुभवमप्रवृत्तैर्दूरतस्त्वात् । अथ कृणु-  
 कादि नियतेमानमर्थैर्ध्यायालक्षणस्य स्वयमकृणुणिके च स्वास्यतीनि  
 नरंतेनेऽज्ञानात्मकनस्तुसिद्धिः । भाकृणिकेऽपि, क्रमयोगप्राधान्यात्  
 तस्य विरोधात् । तथाहि न तावदकृणुणिकस्य क्रमवत्कार्यकारणं  
 प्राक्कृणुणस्यमर्थस्याभिमतकृणुण्यं तदकृणुणविरोधात्प्राक्क-  
 र्मास्यर्थे प्रवृत्तिरिति न तत्सामर्थ्यमर्थेरेषामिनोऽज्ञाध्यायतिहाय-  
 त्वात् । स्वाभावित्पत्तिविनाशाऽप्युपगमेऽपि नियेकान्तवादिविरो-  
 धात् । ततो व्यतिरेकस्यासिद्धास्यैव कर्त्तव्येनतिहायस्य प्राग्व-  
 यत्वादापि तत्कारणासंभवात् । सहकारिणोऽप्येहापि तस्याऽप्यु-  
 क्तवत्, यतोऽसहायस्य प्रागकरणत्वावयवपुनः सध्रीसहायस्य कार्य-  
 करणं प्रवेत्, नहि सहकारिक्रमान्तिसामनकृणीकुर्वतेतस्मा-  
 द्प्रकोपपत्तिमत्तत्तत्र क्रमेणपरिणामी भावः कार्यं निवर्तयति,  
 भापि र्वांगपद्येन कालान्तरे, तस्याकिञ्चिदकृत्येनावस्थापकेः

अज्ञानाभावात्साध्यप्रसक्तैः । न च क्रमयोगपदव्यतिरेकं प्रकार-  
 म्तरं संजन्तौ स्वर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सत्यौ  
 नित्याद्विधायापि निवर्तते इति । यत् सत्त्वं सर्वमेकान्तात्मकं  
 सिद्धम्, अन्यथा प्रसक्तविरोधात्प्रसक्तैः । न हि भेदमन्तरक-  
 कारकविद्धं कल्प्येत्संवेदनापलम्बिः, इहविद्ययाऽनेककारणविद्यो-  
 त्तमकस्यान्तर्बन्धस्य संबन्धाध्यकृते वर्णनेस्त्वानसदाद्येनका-  
 कारस्य स्थूलस्य वृष्टीपरस्वभावापरिध्यांगोपादान्तरकस्य य-  
 दादेर्बहिरेकस्यैवज्ज्ञानाध्यकृतः संबन्धात् । सुखादिस्वभावादि-  
 द्विक्रयता चैतन्प्रकटादेः कदाचिद्वस्तुपलम्बनांगवरत्वात्स-  
 दासामान्यस्यान्तरसामान्यस्य वा सर्वेयतासंबन्धतामन्त-  
 कता समवायस्य चानवस्थादायतः संबन्धेतरभावात् इ-  
 व्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामवयव्यं प्राप्तव्यतिष्ठेत् । तेष्ववृत्त-  
 त्तस्यैवप्राद्वैस्वकृपाप्रसक्तिः स्यात् । स्वत एव समवायस्य  
 उभयदिषु वृष्टौ समवायमन्तराणापि द्रव्यादापि स्वाधारा-  
 वृत्ति स्वत एव तस्मात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावै-  
 र्यर्थमसत्तत्त्वेनैव तस्मात्करिष्यन्तीति । अग्रहीतस्वभाववै-  
 र्युदात्तस्वभावस्य इत्यस्य आतद्वतां सामस्येन प्रदणसंज-  
 वात् कथं तद्वत्त्वं तद्वत्प्रणं भवेत् ? , अथासाविपत्तौ तदा-  
 धेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपक्षः । सामान्याद्यंशेषु गृहीतेष्वपि सामा-  
 न्यादेः वृत्तविकल्पविशेषाणामवयव्यं प्राप्तव्यतिष्ठेत् । तदाधे-  
 यस्य तत्त्वेनाप्रतिपक्षः । तदश्रमहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापितः  
 कदाचिद्व्यतिपत्तयः सद् द्रव्यमित्यादिप्रतिपात्तस्तत्त्वानु न कदा-  
 चिज्ज्ञेयत्वं, तदशानां सामान्यादिरन्वन्तत्वात् । एवं द्रव्यादि-  
 पदप्राथम्यवत्त्वाऽप्यनुपपन्ना भवेत्, प्रतिभास्येवकारिणां  
 सामान्यादशानां पदाद्यन्तरताप्रसक्तैः । अथ निरंशं सामान्य-  
 मप्युपगम्यते इति नयं दायाः, तर्हि सकलस्वाध्यायप्रतिपाद्यभा-  
 वतो मनावापि न सामान्यप्रतिपाद्यविरति सद् द्रव्यं पृथिवी-  
 त्यादिप्रतिपक्षमिनरामजायः स्यात् । तदशानां सामान्याद-  
 जेदभिर्कल्पनान्यां द्रव्याद्य एव जेदभेदात्तमकाः किं नाभ्यु-  
 पगम्यन्ते ? इति सामान्यादिकल्पना दूरात्सारितैवेति कुन-  
 स्तज्जैकान्तकल्पनाः ? । ततः सामान्यविशयात्मकं सर्वं वस्तु-  
 सत्त्वात् । नहि विशेषरहितं सामान्यमात्रं सामान्यरहितं  
 वा विशेषमात्रं संभवति तादृशः कश्चिदपि, वृत्तिविरोधात् ।  
 वृत्त्या हि सर्वं व्याप्तं स्वलक्षणतास्मान्महात्वाद् वा  
 तादृशाऽप्युत्तिवृत्त्वा निवर्तते एव, यतः कश्चिद् वृत्तिमतेऽपि  
 स्वलक्षणस्य न देशान्तरवृत्तिः, नान्येन संयोगः, तत्संलग्नव्यव-  
 द्धिस्त्वस्यभावात्तरविरहादिशेषविकलः, सामान्यत्वात् । एकस्य  
 प्रतिबंधधर्मभाविषयाभ्युपगमविशेषाणां तत्त्वस्य कश्चं साम-  
 न्यलक्षणमेव स्यात् । न च विशेषरन्वदेशात्तैः अस्तु-  
 स्वैकत्र तस्य वृत्तिः, अव्यवधानाविशेषात् । एवं च स्वभाव-  
 विशेषाणां सामान्यरूपाः सर्वे एव भावाः विशेषरूपाश्च तत्र  
 देशकालावभाविशेषाण्यतानां सर्वेषामपि सत्त्वं सामान्यरूप-  
 कस्य, अव्यवधानात् । तस्य च त विशेषा एव, अनेके रूपम्, यत्स-  
 त्त्वेव सत्त्वं परिणामविशेषोपपत्त्या गोचरत्वात्प्राप्त्यादिलक्षणा  
 जातिः, परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यवहय इति । परस्पर-  
 व्यावृत्तानेकपरिणामयोर्गादेकस्यैकानेकपरिच्युत्तिकता संश-  
 यज्ञानस्येवाधिकृता व्यक्लिष्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलक्षि-  
 लक्षणताप्रस्तापुपलम्बिः, शराऽप्यव्यवदसत्त्वात् । स्वस्वभावादि-  
 प्रत्ययः सामान्यविशेषात्मकव्यवस्थाऽव्याधिनको न स्यात् ।  
 न च अशुद्धादिः शुद्धौ वर्णाकल्पत्वाकारण्यत्वं सामान्यपर-

स्वाध्वयितस्वकूपयवभासते, प्रतिभासमेवप्रसङ्गात् । यदि च तत्संबन्धेन पितृद्वारात्संश्लेष्युपलभ्येत, स्वभावाविशेषादाभ्यामाभावाद्भूमिभ्यस्त्वप्युपगमऽभिव्यक्तत्सकूपमेदात् सामान्यरूपता न स्यात् । नचाभ्यवभावाभावाद्भूमिव्यक्त्यनभिव्यक्तिरूपत्वस्यकथं नित्यिकस्वभावस्य स्युज्यते, तदुपयोगिनास्यैवं कथं ननिकात्तसिद्धिः ? । स्वाभ्यससर्वगतताप्रकाशितयाः संबंधप्रकाशितव्यात्मस्वकलयत्पुत्रांशस्य सकृदुपलभिष्यप्रसंगो न वा कतस्त्विदुपलभिष्यप्रसंगविशेषात् प्रकारात्तरेण प्रतीत्यभ्युपगमे, अनेकान्तवाद् एव स्वतः सर्वां विशेषाणां सत्त्वांसंबन्धानर्थक्यम्, असर्वां संबन्धानुपपन्निरिति प्रसङ्गरूपासाामान्यसंबन्धाद्यकीनामक्रियायत्त्वाद्वाप्यकारकं स्यात् । व्यक्तित्वरूपकं स्वकिसलसक्षयवत्सामान्यमेव न भवेत् । व्यक्तानां वा सामान्याव्यतिरेकाद् व्यक्तिस्वरूपहानिः, सामान्यस्य तदुपता न भवेत् । न च व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षेऽन्यवस्था, उभयपक्षदोषैश्चधिकारण्यसंशयविरोधादिदोषप्रसङ्गात् । सर्वथा तदभाषोऽन्यस्वभाविदोषस्य प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् । प्रतीत्यमेऽपि तथाभूतेप्रतिविरोधादिदोषासङ्घने प्रकारात्तरेण प्रतिभाससंबन्धात् सर्वशून्यताप्रसंगः न च सेवासिद्धिं चकथ्यम् । स्वसंबन्धनामभ्रयाप्यभाषप्रसंगो नः प्रमाणिकायाः तस्याप्यप्युपगतपुत्रशयवत्वाद् । तथापि तस्याभ्युपगमेन वरमेतकान्तात्मकं बसवत्पुपगमनव्यम्, तस्याबाधितप्रतीतिगोचरत्वात् । तेन रूपान्दिकृषिगिद्विज्ञानमात्रशून्यतादाऽभ्युपगमः, तथा धृष्टिवाच्यकान्तनित्यत्वाऽभ्युपगमः, तथाऽऽत्मायवेतानुक्तीकरणं, तथा परशोकाभावनिरूपणं, ऊच्यगुणादेरन्यननेदप्रतीकज्ञानं च, तथा हि सार्ता धर्मोऽभ्युपगमः, यद्यतो मूलप्रतिपादनमित्याद्यैकात्म्याद्विप्रभिक्ष्य सर्वमन्स्य प्रतिपत्तव्यम्; नम्यतिपदात्कहेतुनां प्रदर्शिनित्याऽनेकान्ततासन्तवेन विरोधात् । इतरथासर्वव्यपकृत्यैकात्मतावाद्यनुपगतस्य सर्वस्य वारमार्थिकत्वात्; अग्निवज्राद्विप्रतिषेधाच्च विज्ञानमात्राद्यभिधानस्य सार्थकत्वात् । तथाहि— 'अहमस्वैवाहमेवास्व' इत्येकान्तनित्यत्वस्वामिसंबन्धाद्यजिनविशेषप्रवर्तगादिप्रतिषेधपरं कृणिकरूपमिदं प्रतिपादन् युक्तमेव । सात्त्विकान्तकान्तप्रतिषेधपरं विज्ञानमात्राभिधानं सर्वविषयाजिन्सङ्घनिषेधप्रणं शून्यताप्रकाशनं कृणिक एषायां पृथिव्यादिरिति एकान्ताजिनविशेषसङ्घनाद्विनिषेधपरम्, तन्नित्यत्वप्रणयं जात्यादिमदोन्मुक्तानुपगममात्राद्यैतत्प्रकाशनजनमानरजनिनतकमरुतभाक्त्वमेव धर्मानुष्ठापमित्यैकात्मनिरासप्रबोधं जनपरशोकाभावावबोधं च ऊच्यदव्यातिरेकैकान्तप्रतिषेधाय तज्ज्ञेदाख्यानम् । स्वम् । नं० ।

( ६ ) ये च (एकातवादिनाऽह्नाः) विचेतनागमप्रतिपत्साम्भ्रमाभ्यन्ते, तेऽनवगतपरमार्था पंचति प्रतिपाद्यव्याह—

पादकनयपहृगयं, सुचं सुचपरससंतुहा ।  
अत्रिकविअसामत्प्या, जहागम विभाग पादिवत्ती ॥ ११६ ॥

प्रयेकनयमार्गतं सुचं कृणिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेत्यम्, भां जिनपुत्राः । यद्विदं त्रैधातुयमिति । आशाशास्त्राकाभयशून्यात्वमिति, नित्यमेकं मगुरुयापि मिश्रकयमित्यादि स्वकारणवक्ष्यामित्येन 'अन्तर' । आतव्या ह्यतव्याः मन्त्रव्यां निर्विध्यासितव्य' इत्यादिस्वात् । ऊच्यत्वसंबन्धात् । सद्र्द्रुचं च, शितितरलोकिनाऽप्राजान् परशोकाज्ञावः । ' चोदनास्त्रकूपोऽर्थो धर्मः । इति धर्माधर्मज्ञयकरी । दैकृत्यादिकमधीय सूत्रधरा वयमिति

शब्दमाश्रयंतुहा गबंधनाऽधिकोविदसामर्थ्याः अत्रिकोविदमर्हो सामर्थ्ये येषां त तथा, अत्रिविदित्सुस्वभावाविषया इति यावत् । किमित्येवं त इत्याह—यथाभूतमेवाधिकरूपा अत्रिवेदेन प्रतिपासरेपामिति इत्याह सूत्राजिनविषयतिरिक्तविषयप्रतिपासित्वात् इतरजनवदाह इत्यजिनप्रायः । अधथा स्वयुष्या एव पकनयदर्शने कतिचित्सुत्राण्यधीत्य केचित्सुत्रधरा वयमिति गांवेता यथाऽस्मान्मान्यनस्यस्वपेकृत्युद्यार्थापरिज्ञानाद्विगतधामविद्विस्त्वैरुप इति गाऽजिनप्रायः ॥ ११६ ॥

अधेपामेव नयदर्शनेन प्रवृत्तानां यो दोषस्तमुद्गावित्तुमाह—  
सम्भूतं पमिण्यो, सयज्ञसमतन्वयण्णिज्जिषोमं ।  
अपुकोसविण्ण्डा, सलाहभाणा विण्णसेति ॥ ११७ ॥

सम्यदर्शनेनेतरस्वरूपविषयापरित्यागप्रवृत्तानेकनयामकम्, तच्च स्यात्काल इत्यादि सकृत्प्रधानेतिरिक्तमाश्रयबन्धोयथा निर्दोषम्, एकनयवादिनः स्वविषयेनत्र स्ववस्थाफेनेनात्मोक्तयेण विनष्टा इत्याहदाजिनमं प्रत्यनाक्रियमाणा वयं सूत्रधरा इत्यात्मानं ऋषध्यानाः सम्यदर्शने विनाशयन्ति, तदात्मनि नये न स्थापयन्ति । ति यावदाह । अथ न ते आगमप्रत्यनिकाः, तद्वक्तव्यात्, तदेहापरिज्ञानवन्मच्छेति ॥ ११७ ॥

कथं तद्विनाशयन्त्यत्राह—

ए ह सातण्णत्तं भे—त्तएण सिच्छंतं ज्ञाणञ्चो होह ।  
ण वि जाओ वि गिय्याम, पणम्यात्ति निच्छिञ्चो णाम् ? १८

न च शास्त्रमार्कमात्रेण सिद्धातज्ञाता भवति । न च तदज्ञानवान् प्रायसम्यक्ययाम प्रवर्ति, प्रज्ञानमव्याधेयं स्वविशेषार्कवावययत्वानुपपत्तः । तद्वक्तमात्रेण अक्रान्तुसागितं यद् उच्यसम्यक्यमार्गानुसारि, अत्रबोधमात्रानुपक. कचित्सन्नात् तु सर्वे भावसम्यकस्यसाधकनिवतनं कथं, प्रायसम्यक्यमिति सत्येव तस्य ऊच्यसम्यक्यमार्गानुसृत्यैवबोधोपसम्पन्नरूपतोपपत्तः । न च जीवादिद्वैतैकदेशज्ञाताऽपि नियमतोऽनेकान्तात्मकवस्तुरूपमापायनार्थं निश्चितो भवति, एकदेशज्ञानवतः सकलधर्मात्मवस्तुज्ञानविकसतया सम्यक् तत्प्ररूपत्वात्संभत् । तथाहि—सर्वज्ञा यथावस्थितैकदेशज्ञः, जीवादि सकल तत्प्रज्ञाना स्वागमविवेकसामान्यरूपतयाऽजिनीयते, मतिभ्रुतार्थानिर्बन्धो द्व्येष्वसर्वेष्वधीष्यति वचनात् ।

तत्वं तु— ' जीवाजीवाश्रयबन्धसंवरनिजेरामोहाभ्याः सप्त पदाथाः' । तत्र चेतनलक्षणो जीवः तद्विपरीतज्ञातकत्वस्य जीवः धर्मार्थमात्राकाशात्पुत्रमर्थेन चारी प्राणात्त्वयवस्थापितः । एतत्पदार्थज्ञानत्वनिर्बन्ध संघेऽपि नास्ति । नहि कृत्वत्पदार्थस्य द्वािदयः साधारणासाधारणरूपा मूषं चेतनचेतनलक्ष्यगुणाः, इदं रूपानुपेक्षणेणादीनि च कर्मणि, सामान्यविशेषसम्भावया जीवाजीवव्यतिरेकरूपोऽऽमरिधितिं सन्नते । तद्वैतैकान्तात्मवस्तुननुपगमत्वात्, तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेः । अन्यथा तद्वस्तुप्रसक्तोः ततो जीव्यजीवादर्थां पृथग् ज्ञायत्तरत्वेन 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसम्भावयाः' न वाच्याः । एवं 'प्रमाणप्रमेयसंहायप्रयोजनदेशान्तसिद्धात्तावयवतकेनित्युपवाद्यज्ञपदितपदाद्देव्याभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानि' च न पृथगभिधेयानि । तथा— 'प्रकृतमर्हस्ततोऽहङ्कार-स्तसादृश गणस्य पौडशकः । तस्यद्विष्य पौडशकान्, पञ्चम्यः पञ्च भूतानि' ॥ ११ ॥ इति चतुर्विंशतित्पदाथाः पुरुषभ्यानि न वक्तव्यम् । तथा—दुःखसमुदायमार्गनिरेतधाभ्यायैवं सत्यानीति न वक्तव्यम् । ते

धा 'पुष्यव्यापस्तेजो वायुरिति तत्राति' इति न चकल्प्यत् । तत्र-  
 धत्तकृत्याऽभिधानस्य न दोषः, जात्यन्तरकल्पनाया एवा-  
 धत्तमानत्वात्, राशिद्वयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात्,  
 तद्व्याप्तस्य सृष्टादृष्टत्वात्, शब्दशब्दादिकान्तस्य च  
 प्राक् प्रतियुज्यत्वात् । अत्राधितरूपोपप्रतिभासस्य तथायु-  
 त्तवस्तुव्यवस्थापकस्य प्रसाधितस्यैवाधिस्यविधौभेदात्-  
 द्वैतकल्पनायामपि त्रिव्यप्रसक्तः । बाह्यालम्बनभूतभाषापेक्षया  
 विधात्वोपपत्तः । अन्याथा निविषयत्वेनोभयोरविशेषात् तत्रप्रति-  
 भागस्याधत्तमानत्वात् । न हि द्वयोर्निरात्मन्ये विषयैस्तावि-  
 पर्यस्तज्ञानयोरेव विधाऽविधाःभेदः । ततो नाह्वयं वस्तुः नापि  
 तद्व्यतिरिक्तमस्ति । अथाधवादीनामत्यनुपपत्तिः, राशिद्वयेन सक-  
 लस्य व्याप्तत्वात् । न तत्रलेपां कथञ्चिद्भेदप्रतिपादनायैवात् ।  
 अत्रयोरेव तथापरिख्यानयोः सकारणसंसारमुक्तिप्रतिपादन-  
 परत्वात् । तथाऽभिधानस्थानेन वा क्रमेण तज्ज्ञानस्य मुक्तिस्तु-  
 प्रदर्शनायैवात्, विमतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, तद्वदभिधानस्यादु-  
 प्रस्तात् । तथाहि-आश्रयति कर्म यतः स आश्रयः, कायवाक्मनो-  
 भ्यपराः स च जीवाजीवाभ्यां कर्माञ्जिह्वः, तथैव प्रतीतिवि-  
 ययत्वात् । अथ कथाजावे कथं तस्योपपत्तिः? प्राक्तन्मन्त्रांश्च वा  
 न तस्य कथयंतुता । न हि यथाह्निस्तुक्, तत्तद्भावेऽपि भवति,  
 अतिप्रसङ्गात् । असन्देहत् । पूर्वोत्तराण्युक्त्यान्वयकारण-  
 भावनियमात् । नचेत्तरतत्राश्रयदोषः । प्रथापेक्षयाऽनादित्वात् ।  
 पुण्यापुण्यहेतुबन्धहेतुतया चास्ती द्विविधः । उक्त्योपपत्तौभे-  
 दानेकप्रकाराऽपि । दृग्गोचर्यादितिःसंख्याभेदात्सादायत्  
 गुणानुबन्धमनुबन्धिभेदात् । अनेकशब्दविशेषाद्यतयामनुभवति ।  
 एकाऽन्यादिना त्वयं नासम्भवन्ति ; " कर्मजागमिमिच्छं  
 " गार्थार्थं प्रदर्शयद्भिः प्राक् प्रतिपादिनत्वात् । सम्भ० ।

( १० ) अनेकान्वादास्ती कार्याकार्ययोः स्वयम्भूमिस्थायि-  
 ष्वेव गणितपरमं, निष्कदन्त्यद्विधायां नात्येव ।  
 पञ्चापर्य अणकचं, निरुचानिचचं च सियवादी ॥ ६२ ॥  
 जो सियवायं मासति, पमाणनपपेससं गुणाधारं ।  
 भावेऽ सं श्ण गस्यं, सो हि पमाणं पषयणस्स ॥ ६३ ॥  
 जो सियवायं निद्वि, पमाणनपपेससं गुणाधारं ।  
 भावेण छुट्टभाषो, तसो पमाणं पवयणस्स" ६४ ॥ ति०औ०ज्ञा० ।

अष्टमोऽंशः-अनेककोटि-वि० । अनेकाः कोटयोः उच्यसङ्ख्या-  
 यां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेषांकोटयोः कोटिसङ्ख्याक-  
 तु कोटुम्यादियुः, ज्ञा० । "अणकोटोः कुटुम्बिधासङ्ख्यव्यसुहा" ।  
 अनेकाः कोटयोः उच्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेषां  
 अनेककोटयोः, तैः कोटुम्बिकैः कुटुम्बिभिः, आकीर्णां संकुलाया  
 सा तथा, सा चास्ती निर्द्वया च संतुष्टजनयोगारसंतोषनीति  
 कर्मधारयः । अत एव सा चास्ती सुखां च वेति कर्म-  
 धारयः ॥ ज्ञा० १ अ० । औ० । रा० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकाङ्कुरिक-न० । अनेकानि च तानि अङ्क-  
 राणि तैर्निवृत्तमनेकाङ्कुरिकम् । अत्रादिनिवृत्ते द्विनामनेद्रे,  
 अणु० । "सो हि तं अणमणस्वरिणः ? । अणमणस्वरिणः कत्रा धाणा  
 लता माला । सत्तं अणमणस्वरिणः" अणु० ।

अष्टमोऽंशः-अनेककलाम्-खी० । अनेकैः नहतयां नराणां  
 मगैर्दृताः अष्टद्वयोऽप्यङ्गराणि यस्यां साऽनेककलाम् । विपा० १  
 सु० ३ अ० । अनेकनदयस्तरनिगमापहारायां पुष्यम्, ज्ञा० १८ अ० ।  
 १११

अष्टमोऽंशः-अनेकस्वभूतशतसङ्ख्यविष्ट-वि० । ७  
 त० । अनेकस्य स्वभूतशतसङ्ख्यविष्टेः ७ अ० । यत्र धा अने-  
 कानि स्वभूतशतानि सङ्ख्यविष्टानि । अ० ६ श० ३३ उ० । रा० ।  
 विपा० । " यत्र च एषं महं नभयं करति अष्टमोऽंशमस्यसङ्ख-  
 यिष्टं लीलछियसामंभ्रज्यां" ज्ञा० १ अ० । ज्ञा० ४० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकगुणज्ञायक-वि० । अनेकैः गुणाना-  
 मुपलक्षणत्वात् दोगाणां च ज्ञायकः । बहुदोगाणां ज्ञायकं, "अ-  
 ष्टमगुणज्ञायकं यन्निप विष्टिषु" ज० ३ अ० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकचित्त-वि० । अनेकानि चित्तानि कृषिवाण-  
 ज्यावृत्तानादीनि यस्य सोऽनेकचित्तः । कृष्यादियुः व्यापृत-  
 चित्तं, अथा० १ सु० ३ अ० २ उ० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकजनम्-न० । अनन्तभये, पञ्चा० ८ वि० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकजीव-वि० । अनेकैः जीवा यद्येति । बहुजीवा-  
 जीवात्मकं द्वित्यादीं, "पुटवीचिचमेतमप्यथा अष्टमोऽंशो पु-  
 टोसत्ता" दश० ४ उ० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकयोगधर-पुं० । योगः क्रीडाधवादिदृष्टि-  
 कलापसंबन्धः, न धारयन्तीति अनेकयोगधराः । ज्ञानसंबन्धेभ्यः,  
 सूत्र० १ सु० १ अ० १ उ० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकभय-वि० । विविधभयैरेभ्यः नृममत्स्य-  
 खलमत्स्यादियुः, प्रश्न० १ अ० ३ अ० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकनरप्रवृत्तजात्रा-वि० ।  
 अनेकस्य मनुष्यस्य यः प्रवृत्ताः प्रलम्भा सुजा वादयन्तेप्राज्ञो-  
 ऽपारम्येनअनेकनरप्रवृत्तजात्राऽप्राज्ञः । अनेकपुरुषव्यापैरप्रतिभे-  
 यन्त्येव बुक्तादौ, रा० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकनामन्-न० । अनेकपर्यायेषु, "अनेकपरि-  
 र्यति वा अनेकपञ्जायति वा अनेकणाप्रजेदति वा यगदा"  
 आ० चू० १ अ० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकनिर्गमद्वार-वि० । न विद्यन्ते नै-  
 कानि बहूनि निर्गमद्वारानि निःसरणमार्गाः यत्र, च० १ अष्टि० ।  
 अनेकनामनायाराण्योरिय-अनेकनामनायाराण्योरिय-वि० । अ-  
 नेकं च ये नामनाः ताः नामनानेन प्रज्ञाकारिणः तैर्ननुचरित आ-  
 सेवितो वा स तथा । धौ० । नामविषेणकारिर्नसंवेति, अ० ११  
 श० ४ उ० । विपा० । पुरादीं, ज्ञा० १ अ० । ज० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकदन्त-वि० । अनेकं दन्ता येषां तेषां अनेक-  
 दन्ताः । अष्टमोऽंशः, तं । प्रश्न० । अनेकं दन्ता येषां तेषां अनेक-  
 दन्ताः । अनेकदन्तयुक्तयुः, तं ।

अष्टमोऽंशः-अनेकदन्तयुक्तयुः-वि० । अनेकैः सञ्चित्साऽ-  
 चित्तसङ्घर्षैर्विषयः स्वस्वः अनेकदन्तयुक्तयुः । विशिष्टै-  
 कपरिणामपरिणामसंचेतनाऽचतनदशसमुदायाम्भ्यः हयादि-  
 स्कन्धे, विशेष० ।

अष्टमोऽंशः-अनेकप्रदेशता-खी० । निषप्रदेशतायाम्, "नि-  
 षप्रदेशता संवा-अनेकप्रदेशता हि या" । निषप्रदेशता सैव अनेक-  
 प्रदेशत्वज्ञानता निषप्रदेशयोगेन तथा निषप्रदेशकल्पनायाऽने-  
 कप्रदेशयोग्यत्वमुच्यते, द्रव्या० १३ अ० ।

अणोगपासंरुपरिगाह्य-अनेकपासखण्डपरिगृहीत-वि० । ३ त० । नामाविधमतिभिरङ्गीकृतं, प्रश्न० २ ख० ३० ॥

अणोगपद्विविधविषयसंपरिणय-अनेकवहुविविधविश्रमाप-रिणय-वि० । न एकःअनेकः, अनेक एकजातीयोऽपि व्यक्तिके-दाइ प्रकथति । तत आह-बहु प्रभूने विविधो जातिभेदात्प्राप्तप्र-कारः बहुविधः, प्रभूतजातिभेदतो नामाविध इति भावः । स ख केनाऽपि निष्पादिनेऽपि संगम्यते । तत आह-विश्रमया स्व-प्राप्तं तथाविधकेनादिसामग्रीविशेषजनिनेन परिणतो न पुन-रीश्वरादिना निष्पादितो विश्रमापरिणतः । ततः पदत्रयस्य पदत्र-यमालिनेन कर्मधारयः । नामाविधस्त्वभावाद्भूतं, अ० ३ प्रति० ॥

अणोगजापत्य-अनेकजागस्य-वि० । द्विप्रादिजागस्ये, नि० चू० २० उ० ।

अणोगजाव-अनेकभाव-वि० । बहुपर्याययुक्तं, ज० १४ श० ४ उ० ।

अणोगज्यय-अनेकज्यत-वि० । अनेकरूपे, म० १४ श० ४ उ० ।

अणोगभेद-अनेकभेद-पुं० । अनेकरथार्थे, "अणोगपरिरयति वा अणोगपञ्चयति वा अणोग [गाम] भेदंति वा एगडा " । आ० चू० १ अ० ।

अणोगरूप-अनेकरूप-वि० । ६ ब० । नामाप्रकारे, " इह सो-द्वयं भीमाई अणोगरुवाइं अवि सुमिनुसुमिगंधाई सहाई अण-गरुवाइं " । आचा० १ चू० ६ अ० २ उ० । "मुहुं मुहुं मोहगण जयंतं, अणोगरुवा समणं चरंतं । कासा कुलंतो असमजसं व, न ते लुजिकन्वु मगना पञ्चमं " ॥१॥ उक्त० १ अ० । अनेकमित्यनेकविधं पर्यायपरिसंख्यानाभिभेदं रूपं एकपमेधामिति अनेकरूपाः । त्रयोविशतिविधाः । उक्त० ४ अ० ।

अणोगरूपधुना-अनेकरूपधुना-स्त्री० । अनेकरूपा सख्याप्रयाद् अघिका धुना कम्पना यस्यां सा अनेकरूपधुना । उक्त० २६ अ० । अनेकरूपधुना-अनेकरूपा वासो संख्याक्यातिप्रमणतो धु-नपदनेकवत्प्रमहणतो वा धूना कम्पनातिप्रका या साऽनेकरू-पधुना । उक्त० २६ अ० ।

अनेकरूपधुना-अथ च धूने कम्पनमन्यत प्रावन्तु । उक्त० २६ अ० । अनेकप्रकारं त्रयाणां पुरिमाणपुपरिहृदनात्मकं, अने-कवशाधेयकश्च गृहीत्वा युगपद् धूनात्मके वा पश्चाद्व्यत्ये प्रत्युपहृणभेदं, अ० ३ अ० १० । " एगां मांसा अणगरूपधुना " उक्त० २६ अ० । " अणोगप्रकारं कर्पति, अथवा प्रणोगाणि एगक्रो आहुण धुणइ एमाण एमायति " पुरिमेषु खोटकेषु यत्प्रमाणमुक्तं भवति तत् पुरिमादीन् न्यूनामाधिकारं वा करोति । अ० ।

अणोगवयवप्यदाण-अनेकवचनप्रधानं-पुं० । नामाविधवाग्-व्यवहारार्थिकं, अनेकेषु विविधप्रकारेषु वचनेषु वक्तव्येषु प्रधानो मुख्यः । अनेकधा वचनप्रकाराणां निजसांभनप्रवर्तनादी- "आदौ तावन्मधुर्, मध्ये रुक्तं ततः परं कटुकम् । भोजनयिधिभिव विबुधाः, स्वकार्यसिद्धौ वदन्ति वचः " ॥ १ ॥ अथवा-" सत्यं मित्रैः श्रेयं स्त्रीभिरहोकरमयुर्द्विषः । अनुकूलं च सत्यं च, वक्तव्यं स्वामिना सह " ॥ २ ॥ इति । अं० ३ वृत्त० ॥

अणोगवायामजोग-अनेकव्यायापयोग्य-पुं० । परिश्रमविशेषे, " अणोगवायामजोगवगमवामवृणमल्लयुद्धकपर्णोई संते परि-स्संते " अनेकानियार्थं व्यायासयोग्यांन परिश्रमयोग्यानि वल्लम-व्यामदेतमल्लयुद्धकरानि, तत्र वल्लमं उल्लङ्घनं, व्यामदं न पर-स्वपेण बाह्याद्युद्धमदम, मल्लयुद्धानि प्रतीतानि । एतैः कृत्वा शान्तः सामान्येन श्रममुपगतः परिश्रान्तः सर्वज्ञानं भ्रमं प्राप्तः, एवमविधः सद् । कल्प० ।

अणोगवालसयसंकणिज-अनेकक्यालाशतशकुनीय-वि० । ३ त० । अनेकैः श्वापदशतेभ्यञ्जनकं, " अणोगवालसयसंकणिज या हिं होथा " इति० २ अ० ।

अणोगविनय-अनेकविषय-वि० । अनेके दृशांसो विषया गो-चरा अर्थो वा येषां ते अनेकविषयाः । प्रवृत्तविषयतामिकमित-प्रकारतावस्तु, इत्या० ए अथा० ।

अणोगविहारि ( ण )-अनेकविहारिन्-वि० । स्वविकल्पि-कं, वृ० ४ उ० ।

अणोगसाहुपूय-अनेकसाधुपुजित-वि० । अनेकसाधुचरिते, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणोगसिद्धि-अनेकसिद्धि-पुं० । एकसिद्धि समये अनेके सिद्धाः अनेकसिद्धाः । प्रश्न० १ आश० ३० । एकसमये द्वौदिव्यदृष्टाना-नेषु, स्वा० १ उ० १ उ० । न० । अनेकं च एकसिद्धि समये सिद्धन्त उक्तपेताऽणुसंश्रुतसंख्या योदितव्याः । यस्तत्तुक्तम् ।

बर्तसा अर्थात्सार्थं सार्थं वाचरं । य बोधव्या । चुस्रौई उभक्तं, मुद्रिहियमदुत्तरसंयत् ॥ १ ॥

अस्या विनेयज्ञानसुप्रदाय व्याख्या-अष्टौ समयान् यावद्वि-रन्तरमेकादयः द्वौदिव्यपेताः सिद्धन्तः प्राव्यन्ते । किमुक्तं अच-ति ?-प्रथमे समये उच्यन्त एको द्वौ वा, उक्तपेतां चार्थशक्ति-कृतानः प्राव्यन्ते, द्वितीयेऽपि समये उच्यन्त एको द्वौ वा, उक्त-पेतां द्वौदिव्यतः एव यावद्वयमपि समये एकां द्वौकृतेनां द्वौ-विशतं, तत् परमव्यवमन्तरतः तथा त्रयोविंशद्वयोऽष्टकव्यारि-शान्त्येनां निरन्तरं सिद्धन्तः सप्त समयान् बाधव्याप्यन्ते परतो नियमादन्तरम्, तथा एकावपञ्चाशदादयः षष्टिपेतां निरन्तरं सिद्धन्तः पद समयान् यावद्व्याप्यन्ते, परतोऽष्टव्यवमन्तरम्, तथा एकपष्टादयः द्विसप्तानपेतां निरन्तरं सिद्धन्तः सप्तकृतेनां पञ्च समयान् यावद्व्याप्यन्ते, ततः परमन्तरम्, त्रिसप्तत्याद्वय-अनुश्रुतिनिर्णयतां निरन्तरं सिद्धन्तः सप्तकृतेनां सप्त-यावत् यावत्, तत ऊर्ध्वमन्तरम् । यज्ञो १ पद० । अन्ये तु व्याक-रुतं-अष्टौ समयान् यदा निरन्तरेण सिद्धन्तः प्रथमसमये उच्यन्तेनैकः सिद्धयति, उक्तपेतां द्वौदिव्यदिति । द्वितीयसमये उच्यन्तेनैकः, तृतीयेऽष्टकव्यारिणः । तदेवं सर्वत्र उच्यन्तेनैकः समयः उक्तपेतां गाथाधोऽयं जायतीयः 'वर्षसिंसादि' । स्था० १ उ० १ उ० । पा० । अ० । त० । ५० ।

अणोगाहगमणिज-अनेकाहगमनीय-न० । अनेकरोहिनिः अनेकद्विवां गम्यत इति अनेकाहगमनीयम् । बहुद्विचसै-गन्तव्येऽवधि, नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अणैज-अनेज-वि० । निष्कम्पे, " अणैजकमुपये " आ० क० ।

अणोयालय-अनैयायिक-त्रि० । न्यायेन चरति नैयायिकः, न नैयायिक अनैयायिकः । असन्ध्यायकृतिके, "अपदिपुष्पे अणयात्राप असस्तुके" । सूत्र० ७ श्रु० २ श्र० ।

अणोलिस-अनैहश-त्रि० । नाऽन्यत्र ईहशमस्तंति अनैहशकम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अन-यसस्तं अचित्तिये, सूत्र० । "जे अथंमं सुकम्भकानि, पदिपुष्पमणोलिस" । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । अतुले, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणवन्जय-अनवन्जुत-त्रि० । एवमकारमनापणे, "अणवन्जुयं पि वेयणं वेदति" यथा शब्दं कर्म नैवं नूनाऽनेवेजुता अतस्त्नाम, अयन्ते श्लागमे-कर्मणः स्थितिघातादय इति । ज० ५ श्र० ५ उ० ।

अणोसणा-अनेषणा-त्रि० । इयदर्थे नम् । न एषणा अनेषणा । प्रमादावेषणायाम्, घ० ३ अ० पि० । "अणोसणाए पाणोसणाए पाणोत्रोवणाए बोयभोवणाए अणोसणाए" । इदमुक्तं जयति- "अणोसणाए अण-त्रेण दोसणं स्मृता कता अणोसणाए तुट्टा महस्स सकारेण गदिता" आ०च्यु० ४ अ० । "से एसणं जाणमणसणं च" एषणां गवेषणाप्रदोषणपणादिकां जानन् सम्यगवगच्छअनेषणां चोद्दगमदोषणादाकां तपरिहरं विषाकं च सम्यगवगच्छन् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणोसणो-अनेषणो-त्रि० । एष्यत इवेषणोयं कल्पय, तन्निषेधादनेषणोयम् । ज० ५ श्र० ५ उ० । केमाचदोषणोऽनुके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । उ०० । साधुनाऽप्राणं, उ०० २० अ० । एष्यते गण्यते उद्दगमादिदोषाधिकलतया स्वाधुनिवत तदेवणोयं कल्पय, तन्निषेधादनेषणोयम् । स्या० ३ ज० १ उ० । पि० । "पूये अणोसणोउजे च, ते विज्जे परिज्जाणिया" । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अनेषणोयपरिहरामधिहत्याह—  
 ज्याइं च सहारण्ण, तमुद्दिस्स य जं कुरुं ।  
 तारिंमं तु ण गिण्हेज्जा, अणपाणं सुसंजए ॥ १ ॥

अभूद्व अचमि अविघ्न्यन्ति च प्राणिनस्तापि जुतानि प्राणिनः समापश्य मरुत्तमसमाग्माम्मरुत्तमपयित्वा ते सासुणुद्दिहय सवधेयं यत्कन्तं तदकल्पितमाहारोपकरणदिकं ताहशमाथ-कर्मदोषदृष्टं सुसंयतः सुनपस्वी तदक्षं पानके वा न भुञ्जीत । तुशब्दस्यकाराधिसाधिसाधयवहरदेषं तेन मार्गोऽनुपाश्रितो भवति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अणोह-अनेहस-पुं० । काष्ठद्वये, द्वया० १२ अ०वा० ।

अणोउया-अनुत्का-त्रि० । न विद्यते ऋतु रकरूपः, शाक-प्रसिद्धो वा यस्याः सा अनुत्का । अरज्जकायां स्त्रिया, यस्या ऋतुकावे मसि मसि रक्तं न प्रस्रवति पताहशी स्त्री पुरुषेण सादृं गनं न धरते । स्या० ५ श्र० १० ।

अणोकेत-अनुपकान्त-त्रि० । अकिराहते, श्रौ० ।

अणोग्गसिय-अनवपायित-न० । अय्य० स० । अघघर्षणम-वघर्षितं, भाषे कः प्रत्ययः ; तस्याऽभावोऽनवघर्षितम् । भूत्यादि-नाऽनिसिमाज्जे, जी० ३ प्रति० । रा० । "अणोय च ( इ ) सिया-म्मज्ञाप ह्याएव स ततो वेय समणुवच्छ" । अनवघर्षितं निमंज्ञा तथा ह्यायथा समणुवच्छा युक्ताः । (आयशकाः) जी० ३ प्रति० ।

अणोज्ज-अनवच-त्रि० । निर्दोषे, हा० ८ अ० ।

अणोज्जो-अनवचा-त्रि० । जगता महावीरस्वामिने लुहितरे जमालिशुद्धिव्याम, आ० म० हि० । आ० च्यु० ।

अणोज्जा-अनवचा-त्रि० । महावीरस्य लुहितरे, कल्प० । आ० क० । आचा० ।

अणोत्तप-अनवत्तप-त्रि० । अविद्यमानमत्राप्यमवत्रपणं सज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्योऽप्रज्जनीयः । अदिनसत्तोक्कवे-नालज्जाकरे, प्रव० ६५ हा० । दशा० ।

अणोत्तपया-अनवत्तपया-त्रि० । अज्जनीयशरीरतायाम्, व्य० ६ उ० । ( विद्योवायंस्तु 'अणवत्तपया' शब्दस्मिन्नेव भागे ३०२ पृष्ठे द्रष्टव्यः )

अणोत्तपिज्जाण-अनुपव्वस्सयमान-त्रि० । माहात्माद्यपात्य-मानं, श्रौ० ।

अणोप-अनवप-त्रि० । मिथ्यादर्शनाऽविश्रयदिविषय्यंस्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोपाणतर-अनवमानतर-त्रि० । अतिशयेनासङ्कोपे, ज० १३ श्रु० ५ उ० ।

अणोरपार-अनर्वाक्पार-त्रि० । अत्राङ्गाभागरभागवर्जिते, पक्षा० १५ विव० । अत्राङ्गापरपर्यन्ते, स्या० । विस्मर्णे-स्वरूपे, प्रश्न० ३ आश्र० हा० । "अणोरपारं आगास वेव निरालंभं" महस्वान्तर्वाक्पारम् । प्रश्न० ३ आश्र० हा० । "जहं समिआपमदं, सागरसल्लिजं अणोरपरमि ति" अणोर-परमिनि देशीयवचनं प्रचुराद्यैः उपचाराद् आराद् भागपरभाग-रहिते, आ० म० हि० ।

अणोत्रय-देशी-कृणुरहिते, निरवसे च । दे० ना० १ वर्गं ।

अणोत्रयिण्टिया-अनोपनिधिकी-त्रि० । न विद्यते चङ्ग्यमा-नपूर्वांनुपूर्वांनुपूर्वाधिकमण विरचने प्रयोजनं यस्य अन्यनौप-पानिधिका । अन्यानुपूर्वावेनेदे, यस्यां चङ्ग्यमाणपूर्वांनुपूर्वादि-क्रमेण विरचनानं कियतं साऽप्रादिपरमाणुनिषेककन्धविष-या आनुपूर्वा अनौपनिधि कीत्युच्यते । अणु० ।

अणोत्रय-अनुपम-त्रि० । न विद्यते उपमा यस्यासावुपमः । अणुत्रे, "अनुलुहसगरगया अत्रावाहं अणोत्रयं पत्ता" अं० । स० ।

अणोत्रयमर्शि ( ण )-अनवमर्शिन्-पुं० । अवमं हीनं मि-थ्यादर्शनं, अविश्रयदिवि, तद्विषयैस्तमनवमं तद् ऊटुं शीलमस्ये-त्यनवमदर्शी । सम्प्रकृतदर्शोचचारित्रवानि, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । "अनेतेपासु अणोवमर्स्सी गिस्ससंघो पावेदि कम्मदि कोहदाम्मायं हणिया यं" । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोत्रयमर्श-अनुपमश्रीक-त्रि० । न० ष० । निरुपमानशो-त्रे, "अणोवमसरीआ दासीदासपरिउहा" हा० ८ अ० ।

अणोत्रयमर्श-अनुपमसुत्वि-न० । न विद्यते उपमा स्वभावि-कात्यन्तिकत्येन सकलव्यावाचारहितत्वेन सर्वसुखातिशायि-त्वाद्यस्य तत्सुखमनस्वरूपं यस्मिस्तत् । मोक्षसुखे, "हाण-मणोत्रयमसुहसुवगयणं" इति । सत्तम० १ काण० ।

अणोत्रयमाण-अनवत्त-त्रि० । अनवत्तरति, "अणोत्रयमा-



बोहि उच्यति " आवा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।  
अणोवलेवय-अनुपलेपक-त्रि० । कर्मबन्धनरहिते, प्रश्न० २  
आश० श्रु० ।

अणोवसंवा-अनुपसहस्य-श्री० । संख्याने संख्या, परिच्छे-  
दः । उप सामीप्येन संख्या उपसंख्या । सत्यप्यथाऽपस्थित्या-  
ऽप्यपरिहानम् । नोपसंख्या अनुपसंख्या । अपरिहाने, " अणो-  
वसंख्या इति ते उदाह, अष्टे सभो जासह अष्ट पदं " सूत्र०  
२ श्रु० १ श्रु० ।

अणोवहिय-अनुपधिक-त्रि० । कृत्यनो हिरण्यविकैर्भावतो  
मायया रहिते, आवा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणोसहित-अनोपधियात्-त्रि० । औषधिलरहिते, आवा०  
४ अ० ।

अणोसिय-अनुपिन-त्रि० । अयवसिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।  
" अणोसियेण न करति णञ्च " श्रु० ३ अथि० ।

अणोहन्तर-अनोपन्तर-पुं० । न ओधेन्तरः । संसारोत्तरखं प्र-  
त्ययश्च, " अणोहन्तरा एव, ग्य थोर्दन्तरित्त्व " आवा० १  
श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अणोहृदय-अनपपट्टक-त्रि० । अविद्यमानोऽपचट्टको यदृक्तया  
प्रथमैमानस्य हस्तप्रहादिना नियन्त्रको यस्य स तथा । श्रु० १  
अ० । ब्रह्माहस्मादीं शूरीत्या निवारकेणाप्रतिवारिते स्वचन्द्रप्रवृ-  
त्ते, विषा० १ श्रु० २ अ० । " तद्वर्णं सा सुमहदा अज्ञा अणोह-  
ृदिया अणिवारिता सच्छ्रुतमती " त्रि० ३ वयं ।

अणोहारिण-अनवधारयत्-त्रि० । अनवधुच्यमाने, हा० २६  
अष्ट० ।

अणोद्विषा-अनोघिका-श्री० । अविद्यमानजलौघिकायाम्, म०  
१५ श्रु० १ उ० ।

अणुद्वा-श्री० । अनिगदन्त्येनाविद्यमानोद्वायाम्, " एवं महं  
अणामियं अणोहियं जिष्वाययं दीहमहं " अ० १५ श्रु० १ उ० ।

अणु-अण-न० । अन्त्यनेन अणु-नन्वा अणम इति अण-  
के वा । " अण्णणः " । प्रा० २५ इति सूत्रिर्देशात् अणायनया न  
जतिवः । वाच० । अणुमसकदादिके, उक्त० ११ अ० । अशने  
मोहकादिके भक्ष्ये, उक्त० २० अ० । आद्वयादिके, सूत्र० १ श्रु०  
४ अ० २ उ० । भोजने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । उक्त० । श्री० ।  
अण्य-त्रि० । त्रिभे, सप्तसे च । वाच० । ' अण्यं ' पृथ-  
नित्यर्थः । त्रि० नू० १ उ० । प्रश्न० । प्रश्ना० । स्वाति-  
रिक्ते, हा० २५ हा० । प्रश्न० । सर्वनामान् वास्य, ज० २  
श्रु० ५ उ० । " नो अणुद्वे सं अणुद्वे द्वयान् देवीमां अजिज्ञेजिय  
अभिज्ञेजिय परिवारं " अ० २ श्रु० ५ उ० । " अणोद्वे बहव  
एवमादेषां " श्री० । श० । श्रु० सूत्र० । अन्यविह्वयः- " अणये  
छकृत् पुण, तद्व्यमादेशो वाच्य " अन्यस्य नामादिव्यवृत्तयो  
निक्रमेन नामस्थानेन कृत्वा, उच्यतेऽप्यत्र त्रिधा-तद्व्यवत्,  
अण्यान्य, आदेशःऽप्यस्त्विति, उच्यतेऽप्यत्रैवमिति । स० ।

अण-अ-न । अकारादौ वयं, गमनस्वताय, त्रि० । जठे,  
न० । उक्त० ४ अ० ।

अण्य-त्रि० । अण्यते उच्यते इति आण्यम् । प्रणिधेयं,

" तस्त्वितुर्वैर्यम् " इति । वश्यां वाक्यात्प्रकारेण हेयः, २  
आण्ये इत्याकारलोपः । ननुमतेन मायवीध्याख्या-श्रु० ग० ।  
अणुद्व-वैरी-तुसार्थं, दे० ना० १ वयं ।

अण ( अ ) इ ( गि ) लाय-अण्णन्नायक-पुं० । अणं भो-  
जनं विना नापयति अण्णन्नायकः । अजिप्रहाविशेषात् प्रातरेव  
होवाण्णजि, श्री० । प्रश्न० । सूत्र० ।

रायगिहे जाव एवं वयासी-जावयं णं जंते ! अण्णमि-  
न्नायक समणे निग्गये कम्मं जिज्जेरति एवइयं कम्मं एर-  
एसु एरइयाण वासेणं वासेहिं वा वाससएण वा खविंतिं  
णोऽण्णइ समइ । जावयं णं जंते ! चउत्थमत्तिए समणे  
ग्गिये कम्मं जिज्जेरति, एवइयं कम्मं परएसु णो-  
रइया वाससएण वा वाससइस्सेहिं वा वाससइस्सेण वा ख-  
वयंतिं । णोऽण्णइ समइ । जावइयं णं भंते ! उहणत्तिए  
समणे णिग्गये कम्मं जिज्जेरति, एवइयं कम्मं परएसु  
एरइया वाससइस्सेण वा वाससइस्सेहिं वा वाससइस्से-  
स्सेण वा खवयंतिं, णोऽण्णइ समइ । जावइयं णं भंते !  
अट्ठमथ चए समणे णिग्गये कम्मं जिज्जेरइ, एवइयं कम्मं  
परएसु णेरइया वाससइस्सेण वा वाससइस्सेहिं  
वा वासकोदीए वा खवयंतिं, णोऽण्णइ समइ । जावइयं  
भंते ! दसमत्तिए समणे णिग्गये कम्मं जिज्जेरइ, एव-  
इयं कम्मं परएसु णेरइया वासकोदीए वा वासकोदीहिं  
वा वासकोडाकोदीए वा खवयंतिं । णोऽण्णइ समइ । मे  
केणइ णं जंते ! एवं एवइइ जावइयं अण्णमिन्नायक समणे  
णिग्गये कम्मं जिज्जेरइ, एवइयं कम्मं परएसु एरइया  
वासए वा वासेहिं वा वाससएण वा णो खवयंति, जाव-  
इयं चउत्थमत्तिए एवं तं चव पुब्बमत्तिये उच्यारयव्वं  
जाव वासकोडाकोदीए वा णो खवयंतिं । गोयमा ! स  
जहा णामए केइ पुरिसे लुभे जराजज्जरियेदेहं मिहिततया  
बलितरंगसंविण्णकगणे पविग्गह्णपरिमिक्खिपदंतसइ उहण्ण-  
जिहए तएहण्णिए आतुरे कुंजंते विषाग्गिप डुल्लंते कि-  
लंते एणं महं कोसेवगंइयं तुक्कं जकिलं गंउिद्धं चिककं  
वाऽऽ अपात्तियं तुक्केण परसुणा अकम्ममेज्जा तए णं मे  
पुरिसे महंताइं सहाइं करंइ, णो महंताइं महंताइं दलाइं  
अवदासोइ, एवायव गोयमा ! एरइयाणं पावाइं कम्माइं  
गादीकयाइं चिककीकयाइं एवं जहा बइसए जाव णो  
महपज्जवसाणा भवंति । से जहा णामए केइ पुरिसे अ-  
ह्णिरणणे आउत्तमाणे महंता जाव गोपज्जवसाणा जवंति ।  
से जहा णामए केइ पुरिसे तएणं बइवं जाव मेहादी णि-  
पुणसिप्पोवणए एणं महं सामग्गिगंइयं देहं अजहिंइ  
अग्गंउिद्धं चिककं अवाऽऽ संपत्तियं अतितिकेणए पर-  
सुणा अकमेज्जा, तए णं से पुरिसे णो महंताइं महंताइं

सदाईं कौर, मंताईं मंदाईं दलाईं अरवदांसे, एवामव  
गोयमा । ममपाणं पिग्मंथाणं अहावादराईं कम्माईं सि-  
दिलीकयाईं गिद्ध जाव खिप्पामेव परिक्खिक्खाईं भवेति,  
जावस्यं तावदयं जाव पज्जवमाणा जवंति । से जहा वा  
केह पुरित्ते सुक्के तएहदयमं जाव तेयमि पक्खिवेज्जा, एवं  
जहा उभमए तहा अयोकवद्धं जे जाव पज्जवमाणा ज-  
वंति, से तेणट्ठे णं गोयमा । एवं बुद्धं अस्सगि-  
हायए समणे णिमंथे कम्मं सिउजरेह, ते वेव जाव को-  
न्नाकोटीए वा णो खवयंति ॥

( अन्नगिलायने सि ) अन्नं विना ग्हायति ग्लानो भवतीति  
अन्नमत्रायकः । प्रत्यन्नकृगदिनिष्पत्तिं यावद् बुद्धकानुत्तया प्रती-  
कित्तकानुत्तयः यः पशुपित्तकृदि प्राग्नेययुक्ते, कृगकुकुमाय-  
द्वयर्थः । कृणंकारेण तुनिस्सुहन्वाद् " सोयकुरमाईं अंतपंता-  
हारां सि " व्याख्यानम् । अथ कथमिदं प्रत्यक्ष्यम्, यदुक्तं नारको  
महाकटापन्नो मइनाऽपि कालेन तावकम्मं न कूपयति याथसाधु-  
रन्यकटापन्नोऽप्यकालेनेति ? उच्यते दृष्टान्ततः स्व चायम्- [ मं  
जहा नामए केह पुरित्ते सि ] यथेति दृष्टान्ते, नामेति संज्ञावेने,  
' प इत्येवद्धारे । [ सं सि ] स कश्चिमुत्तुषः । [ तुष् सि ] जंणो  
हानिगतदेहः । स च कारणवशाद्बुद्धजावऽपि स्यादन्त आह-  
वज्जिउरयंदेहं सि ] व्यक्तम् । अत एव ( सिदिल्लतया ) अल्लत-  
संपणइगगेत्तं सि । शिथिल्लया स्वचा वज्जितरङ्गं संपिणइं परि-  
गं गाव देहां यस्स स्म तथा । ( पांसिलपरिसरियदंतसेहं सि )  
प्रवित्ताः कैवासंकेत्तुचच परिशट्टना दन्ता यस्सां सा तथा-  
विधा अण्णित्तानामेवं यस्स स्म तथा । ( आउरे सि ] आनुरो  
उरुधः [ कुजिए सि ] बुद्धलित्तः । पुरित्तक इति टीकाकारः ।  
( बुद्धवत्तं ) बलदीनः [ किल्लेत्तं ] मनःकम्मं गतः एवंरूपो  
दि पुरुषश्चुद्धेन असमयो जयतीत्येवं विदोपितः ( कोसंबगंदि-  
यंति ) ' कोसवत्तं ' वृत्तविशेषः, तस्य गणिरुक्ता अण्डविशो-  
पस्नाम् । ( जंरत्तं सि ] जटावतीं बालितांक्षितामिति वृद्धाः ।  
( गण्डिच्छंति ) प्रमथ्यमतीम् । ( चकणंति ) अट्टणस्करन्यनिष्पत्तां  
( बाह्कंति ) व्यादिग्धां विशिष्टद्वयोपदिग्धाम्, वक्तामिति वृद्धाः ।  
( अयात्तंयंति ) अपात्रिकां अविद्यमानाधारात्, एवभूता च ग-  
पिरुक्ता दुष्पट्टा भवतीत्येवं विशोषिता, तथा परशुरापं मुण्डोऽ-  
च्येदको भवतीति मुण्ड इति विशेषितः । शेषं तदृशकालं  
वायव्यशृणववहास्येयमिति । ज० १६ श० ३ उ० ।

असृष्टत्त-अन्योक्त-त्रि० । अन्यैः अविशेषिकिनिः कथितं, औ० ।  
अराणउत्थिय-अन्ययुधिक-पु० । अैनयूथादन्यद् यृथं सङ्गा-  
न्तरं, तीथान्तरमित्येधः ; तद्वत्तयेषां तेष्ययुधिकाः । उपा० १  
अ० अंतससकृपापेक्कयाऽन्येषु, औ० चरकपरिभाजक.शाक्याऽऽ-  
जीवकवृद्धआवकप्रभृतिषु, नि० अ० १ उ० । परतीर्थिकेषु, औ० ।  
हा० नि० अ० । आत्ता० स्वरजस्कादेषु, आत्ता० १ कु० १  
अ० १ उ० । तीथान्तरियेषु कपिशार्देषु, हा० १० अ० ।

- ( १ ) अन्ययुधिकाः कासोदायिप्रभृतयः ।
- ( २ ) अन्ययुधिकाः सह विप्रतिपत्तिषु इहनिविकस्य पर-  
भविकस्य वाऽऽयुषो विप्रतिपत्तिः ।
- ( ३ ) एकां जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषो प्रकरोतीत्यथ  
अन्ययुधिकाः सह विवाहः ।

- ( ४ ) चलक्षमित्तित्यादिकमोदेषु कुतीर्थिकैः सह विप्र-  
तिपत्तिः ।
- ( ५ ) एकस्य जीवस्यैकस्मिन् समये क्रियाद्वयकरणेऽन्ययु-  
धिकाः सह विप्रतिपत्तिः ।
- ( ६ ) अस्वादानादिक्रियाविषयेऽन्ययुधिकाः सह विप्रति-  
पत्तिः ।
- ( ७ ) भ्रमणानां कृता क्रिया क्रियेन मत्वेत्तव विवाहः ।
- ( ८ ) प्राणातिपातादौ तद्विपरिमाणदौ च वर्तमानस्य जीवस्या-  
न्यो जीवोऽन्यो जीवास्मिति विप्रतिपत्तयः ।
- ( ९ ) परिचारणा कालगतस्य निरन्धस्य भवति न वेति वि-  
वाहः ।
- ( १० ) बालशासपिगतते अन्ययुधिकाः मतोक्तये तयोर्विवाहः ।
- ( ११ ) भावाविषयेऽन्ययुधिकाः मनोपन्यासः ।
- ( १२ ) पञ्चयोजशृणानि मनुष्यशोकं मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः ।
- ( १३ ) सवें जीवाः अन्नचंचुतां वेदनां वेदयन्ते इत्यत्र विवाहः ।
- ( १४ ) शालं श्रेयः, श्रुति श्रेय इत्यत्रान्ययुधिकाः सह विवाहः ।
- ( १५ ) सवेंजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः ।
- ( १६ ) राजशुद्धनगरस्य बाह्यैर्वाजारपथंतदयाथाःस्वस्य इदस्य  
विषये विप्रतिपत्तयः ।
- ( १७ ) संसगेषु कापिलादिभिः सह न समाचरणीय  
इत्यत्रागादवचनम् ।
- ( १८ ) उक्त्वोपिगाकाऽन्ययुधिकाः सह न समाचरणीया ।
- ( १९ ) तथाऽन्ययुधिकाकरणाचरणा ।
- ( २० ) तथा सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययुधिकां न कारयितव्यमिति  
२१ ) तथा शिष्यकादिकोपकरणकारणम् ।
- ( २२ ) अन्ययुधिकादिभिः सह गोचरवर्षाये न प्रविशेत् ।
- ( २३ ) ( दानम् ) अन्ययुधिकाज्याऽश्नादिति न द्येयम् ।
- ( २४ ) तथा धानुप्रवेदनम् ।
- ( २५ ) तथा पादानामाभेदनप्रमाज्जसम् ।
- ( २६ ) तथा पदमागोदि ।
- ( २७ ) तथा भूतकर्मोदि मार्गप्रवेदनं च ।
- ( २८ ) ( याचना ) अन्ययुधिकाः पात्रयिकतो गृह्णिणः सुख-  
शीला या न प्रमाज्जनीयाः ।
- ( २९ ) विचारणमोवेहारममेवां निष्कमणम् ।
- ( ३० ) विहारः ।
- ( ३१ ) ( शूका ) अन्ययुधिकस्य वा गृहहस्य शिल्पादि-  
शिकणम् ।
- ( ३२ ) अन्ययुधिकादिभिः सघाटीसंभवम् ।
- ( ३३ ) अन्ययुधिकादाभिः सह सभोगः ।
- ( ३४ ) अन्ययुधिकाः सृष्ट्युपकरणम् ।

( १ ) तत्र अन्ययुधिकाः कासोदायिप्रभृतयः—  
तेषां काले णं तेषां समए तां रायगिहे नामं नयरे हात्त्या ।  
वणअं । गुणसिलए च्दए वणअं जाव पुदविसिलाप-  
ट्टअं । तस्स णं गुणसिलएस्स चेदयस्स अद्रसामंते बह-  
वे आणउत्थिया परिवमति । तं जहा-कासोदाई, सेला-  
दाई, सेवातोदाई, उदए, नाशुदए, नमुदए, अस्सवालए,  
सेलवाए, संखवालए, सुहत्तां, गाहावई, तए णं तेषिं  
आणउत्थियाणं अरणया कथाई एण . ओ सट्टियाणं ससु-

वानपायं सखिषिद्धाणं संनिसएणाणं अयमेयाकरुं भिहो-  
कहाससुद्धावे समुपगिनत्या । एवं खलु समये नायपुचे  
पंचअत्थिकाए पएणवेइ धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थि-  
कायं । तस्य एं समये नायपुचे चचारि अत्थिकाए अजी-  
वकाए पयणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अहम्मत्थिकायं  
आगासत्थिकायं पोमलत्थिकायं एग च एं समण नाय-  
पुचे जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पएणवेइ । तस्य  
एं समये नायपुचे चचारि अत्थिकाए अरूविकाए पय-  
वेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिका-  
यं जीवत्थिकायं एगं च एं समणे नायपुचे पांगलत्थिका-  
यं रूवीकायं अजीवकायं पयवेइ । से कट्ठमेयं ?, मणे एवं ते-  
एणं काले एं ते एं समए एं समणे जगवं महावीरं जाव० गुण-  
सिस्सए चेइए समोसहे जाव परिसा पकिगया । ते एं काले एं  
ते एं समए एं समएस्स जगवओ महावीरस्स जेहे अंते-  
षासी इंदेचुरीनामं अणगारे गोयमगोसेणं एवं जहा विंति-  
ए सए नियंदुहेसए जाव जिक्खापरियाए अरुमहाणं अ-  
ट्टापज्जवं भत्तपाएणं पभिल्लानेमाणे २ रायगिहाओ जाव-  
अतुरियमचवलं जाव चरियं सोदेमाणे २ तेसिं अणउत्थि-  
याणं अदूरसामतेणं वीईवयइ, तए णं ते अष्टउत्थिया  
भगवं गोयमं अदूरसामतेणं वीईवयमाणं पासंति, पासइत्ता  
अष्टमणं सहावेति, सदादेत्ता एवं वयासी-एवं खलु दे-  
वाणुप्पिया ! अरुंइ इमा कहा अविप्पकटा, अयं च एं  
गोयमं अदूरसामतेणं वीईवयइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया !  
अरुंइ गोयमं एयमंइ पुच्छित्तए तिकहु अष्टमसस्स अंतिए  
एयमंइ पदिमुणंति, परिस्सुणंतिहा जेणव भगवं गोयमे तेणव  
उत्थागच्छंति, उवागच्छत्तिहा भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं  
खलु गोयमा ! तव धम्मायिए धम्मोवएसए समणे नायपुचे  
पंचअत्थिकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव आ-  
गासत्थिकायं तं चेव जाव रूवीकायं अजीवकायं पएण-  
वेइ । से कट्ठमेयं गोयमा ! एवं ?, तए एं से भगवं गोयमे  
ते अष्टउत्थियं एवं वयासी-नो खलु देवाणुप्पिया ! अ-  
त्थिजावं नत्थि ति वयामो, नत्थिजावं अत्थि ति वयामो,  
ओसे णं देवाणुप्पिया ! सव्वं अत्थिजावं अत्थि ति वया-  
मो, सव्वं नत्थिजावं नत्थि ति वयामो, तं चेयसा खलु तु-  
स्से देवाणुप्पिया ! एयमंइ समयं व प्पुचुवेक्खइ तिकहु ते  
अहणत्थिया एवं वयासी-जेणव गुणसिलए चेइए जे-  
णेव समणे भगवं महावीरं एवं जहा नियंदुहेसए जाव ज-  
त्तपाएणं पकिदेइइ, पकिदेसइत्ता समयं भगवं महावीरं वंदइ  
नमंसइ नच्चासएणे जाव पज्जुवावेइ ॥

(तेकभित्तादि) (एगओ समुचागयाचं ति) स्थानान्तरंज्व एका

स्थाने क्षमागतानामागत्य च (सखिषिद्धानं ति) । उपविष्टानाम्,  
उपवेशनं चेत्कुट्टकत्वादिनाऽपि स्यादत आह-(सखिसभायं ति)  
सङ्गततया नियएणानां सुखासीनानामिति यावत् । (अत्थिकाए  
ति) । प्रवेशाराशीर (अजीवकाए ति) अजीवावकं तेच्छेतना, का-  
पावकं राशयो अजीवकायाएत्ता । 'अजीवत्थिकायं' इत्येतस्य स्व-  
रूपाविशेषणयाह-(अरूवकायं ति) अमूर्तमित्यर्थः॥ (जीवकायं ति)  
जीववं जीवो हानासुपयोगं, तत्प्रधानं कायो जीवकायांउत्तरेतं  
कैश्चिज्जीवास्तिकायां उदयतयाऽभ्युपगम्यते, अतस्तन्मतसुद्धावा-  
येदमुक्तमिति॥ (से कट्ठमेयं मणे एवं ति) अथ कथमंतहस्तिकायव-  
स्तु, मन्थे इति वित्तकार्यः । एवममुनाऽचेतनादियिजागेत अवतीति  
तेषां समुहायः (इमा कहा अविप्पकट्ठ ति) इयं कथा एषाऽस्ति-  
कायवक्यतयाऽप्यानुकूल्येन प्रकृता प्रकान्ता । अथवा न विशेषेण  
प्रकटा प्रतीता अविप्रकटा । 'अविक्कयकट्ठ ति' पाठान्तरम् ।  
तत्र अविक्कयप्रकृता अविक्कप्रकृता, अथवा न विशेषत उवाच-  
व्यतन्न प्रकटा अत्युक्कटा । (अयं च ति) अयं पुनः (तं चेयसा-  
इ ति) यस्माद्वयं सर्वमस्तित्त्वामववास्तीति वदामः; तथाविध-  
संवाहद्वीगेन प्रवतामपि प्रसिद्धमिदं तत्तस्मान्नसत्ता मनसा  
'वेदस्स ति' पाठान्तरं-ज्ञानेन प्रमाणावाचित्त्यसङ्गणेन (एयम-  
इ ति) अमुमस्तित्त्वयास्वरूपलक्षणमपि स्वयमथ प्रत्युपेक्ष्यं  
पर्यालोचयेतेति ।

ते णं काले एं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरं महा-  
कट्टापविणएणे या वि होत्या । काडोदाई य तं देसं इत्थ-  
माए कालोदाई ति समणे भगवं महावीरं कालोदाई एवं  
वयासी-से नूणं ते कालोदाई अएणया कयाई एययओ  
सदियाणं समुचागयाणं तहेव जाव मे कट्ठमेयं मणे एवं  
से नूणं काडोदाई अहे समहे । हुंता ! अत्थि । तं संवेणं  
एवमहे काडोदाई ! अइं पंच अत्थिकाए पएणवेमि, तं जहा-  
धम्मत्थिकायं जाव पोंगलत्थिकायं तस्य णं अइं चत्तारि  
अत्थिकाए अजीवकाए अजीवत्ताए पएणवेमि, तहेव जाव  
एगं च एं अइं पोंगलत्थिकायं रूवीकायं पएणवेमि, त-  
एणं से काडोदाई समयं जगवं महावीरं एवं वयासी-  
एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकायंसि अधमत्थिकायंसि  
आगासत्थिकायंसि अरूवीकायंसि अजीवकायंसि चकि-  
या केइ आसइत्तए वा चिइत्तए वा निर्साइत्तए वा सइ-  
त्तए वा जाव तुयइत्तए वा ? नो इयणे समहे । कालोदाइ !  
एयंसि एं पोंगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि  
चकिया केइ आसइत्तए वा जाव तुयइत्तए वा । एयंसि णं  
जंते ! पोंगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि  
जीवाणं पावाणं कम्पाणं पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?  
एो इणहे समहे । कालोदाइ ! एयंसि एं जीवत्थिकायंसि  
अरूवीकायंसि जीवाणं पावा कम्पा पावफलविवागसंजुत्ता  
कज्जंति ? हुंता ! कज्जंति । एत्य णं से काडोदाई संजुइ  
समए जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमंसइत्ता एवं वयासी-  
इच्छामि णं जंते । तुक्कं अंतियं धम्मं निसामेत्तए एवं जहा

संदर्प तदेव पव्वइए तदेव एकारस अंगाणि० जाव विहरइ, तए णं समणे जगवं महावीरं अघया कयाई रायगिहाओ णय- राओ. गुणसिद्धाओ चंड्याओ पणि, निरुवमइ । पढिनिक्खा- मइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइते णं काले णं ते णं स- मए णं रायगिहे नामं नगरं गुणसिलए नामं वेइए होत्या । तए णं समणे जगवं महावीरं अघया कयाई जाव समोसहे जाव पढियाय, तए णं से कालोदाई अणुगारे अघया कयाई जेणेव समणे जगवं महावीरं तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं जगवं महावीरं बंदइ नमंसा । नमंसइत्ता एवं वयासं।—

( महाकहापदिचोत्ते ) मइकायाप्रथमेन महाजनस्य त- स्वदशना ( एयसि णं ति ) एतास्मिन्नुत्कस्यरूपे ( च्चि- यया केइ ति ) शकुन्त्यात्कश्चिन् । ( एयसि णं जंते ! पांगलान्दियकायंसीत्वादि ) अयमस्य भावार्थः—जीवसंबन्धी- नि पापकर्मणि अद्युभस्वरूपफलरूपविपाककार्यानि पु- द्गलान्ति कायंन भवन्ति, अचेतनचेतानुभववर्जितत्वात्तस्य, जावास्तिकायं एष च तानि तथा ज्वाति । अतुभवयुक्तत्वा- त्तस्येति प्राक्कालोदायिप्रभद्वारेण कर्मवक्तव्यतेका । अद्युना तु तत्प्रभद्वारेणैव ताव्यं यथा पापफलविपाकादि न ज्वाति । तद्योपदर्शयिषुः—

अत्थि णं जंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग- संजुत्ता कज्जंति ? । इत्ता ! अत्थि । कइं णं जंते ! जीवाणं पा- वा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुणं धालीपागसुद्धं अद्वारस- वंजणाल्लं विममिस्सं जोयणं जुंजेज्जा, तस्स जोयणस्स आवाए जइए जवइ, तन्नो पच्छा परिणममाणे २ दुक्क- बचाए दुग्गंभत्ताए जहा महस्सवए जाव नृज्जो ज्जुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणइवाए जाव मिच्छादंसणमइहे तस्स णं आवाए जइए भवइ, तन्नो पच्छा परिणममाणे २ उरुक्कचाए ज्जुज्जो नृज्जो परि- णमइ, एवं ज्जुज्जो ज्जुज्जो कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा पाव कज्जंति । अत्थि णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा कट्ठाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । इत्ता अत्थि । कइं णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति ? । कालो- दाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुणं धालीपागसुद्धं अद्वारसवंजणाल्लं आसहमिस्सं जोयणं जुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाए नो भइए जवइ, तन्नो पच्छा परिणम- माणे परिणममाणे सुक्कचाए सुक्कचाए जाव सुहत्ताए नो सुवत्सचाए ज्जुज्जो ज्जुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणइवायवेरमणे जाव परिगहवेरमणे कोह- विनेमे जाव मिच्छादंसणसहविनेमे तस्स णं आवाए नो जइए भवइ, तन्नो पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुक्क-

वत्ताए० जाव नो दुक्कचाए ज्जुज्जो नृज्जो परिणमइ । एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति । दो जंते ! पुरिसे सरिसया जाव सरिसजंढयचावरणा अयममणेणं सुद्धं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकायं नि- व्वावेइ । एएसि णं जंते ! दोएहं पुरिसाणं कयरे पुरिसे मट्टाकम्मतराए चैव महाकिरियतराए चैव महासवतराए चैव महावेयणतराए चैव?, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चैव जाव अप्पवेयणतराए चैव, जे वा से पुरिसे अगणि- कायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे मट्टाकम्मतराए चैव जाव महावेयणतराए चैव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चैव० जाव अप्पवेयणतराए चैव । से केणहे णं जंते ! एवं बुद्धः; तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चैव ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतरायं पुढवी- कायं समारंभइ, बहुतरायं आठकायं समारंजइ, अप्पतरायं तेउकायं समारंजइ, बहुतरायं वाउकायं समारंजइ, बहुत- रायं वणस्सइकायं समारंजइ, बहुतरायं तसकायं समारंभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पतरायं पुढविकायं समारंजइ, अप्पतरायं आठकायं स- मारंभइ, बहुतरायं तेउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वाउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वणस्सइकायं समारंजइ, अप्पतरायं तसकायं समारंजइ, से तेणहे णं कालोदाई ! जाव अप्प- वेयणतराए चैव ॥

( अत्थि णमित्यादि ) अस्तीदं वस्तु बहुत जीवानां पापानि कर्मणि, पापो यः कलरूपो विपाकः, तत्संयुक्तानि भवन्ती- त्यर्थः । ( धालीपागसुद्धं ति ) स्यात्पापम्—उच्चार्य, पापो यस्य तत् स्यात्पापम्, अन्यत्र हि पक्षमपेक्षं वाः न तथाविधं स्यादितिदं विवेचयेणं ब्रुवं भक्तदोषवर्जितं ततः, कर्मधारयः । स्यात्पापके- न वा शुद्धमिति विग्रहः । ( आचारसवंजणाल्लं ति ) अष्टादशभि- लोकरूपेणैव शालमकैः तकादिभिर्वा, आकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवाऽष्टादशभेदे च तदुद्वेगजनकत्वं चेति । अत्र भेदपदलोपेन समासः । अष्टादश जेदाश्चित्ते—“सुओ १ वणे २ जवणं ३, तिजि य मंसाई ६ गोवसो ७ जूसो ८ । अक्का १ गुन्न लावणिया १०, सुक्कल ११ इरियणं १२ मागो १३ ॥ १ ॥ होय रत्साल्लु य १४ नडा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणमं वेइ १७ । अद्वारसमो सागो १८, निरुवहओ लोअओ पिंदो ॥ २ ॥ तत्र मांसत्रयं जलवत्पादिस्तकं, जूयो सुदुगतत्तुलजी रककुट्टभायदा- द्धिरसः, अद्याणि अषट्कभायादिनि, गुजलावणिया गुन्नपयं- टिका लोकरूपिका, गुनधाना वा । सुक्कलान्त्येकमवै पदं, हारितकं जीरकादि, डाको वास्तुकदिभाजिका, रत्साल्लु अजिका,

सङ्घर्षणं चेदं- (दो घयपला मङ्गु पलं, द्दहिससऽप्यादयं मिरियथी-  
 । दस्य षड्गुसुपलाई, पसर रसायु निषेइजोगो"॥१॥ पानं सुरा-  
 दि, पानीयं जसं, पानकं छाङ्गापानकादि, शाकस्तफासिक इति ।  
 (आवापय सि) आवापयस्तपधमनया संसयः (मद्दप सि) मद्दपु-  
 र-स्वामनोदरः (तुक्रुयसाप सि) तुक्रुपतया देतुक्रुततया (जइ-  
 मदासयप सि) पछुदरासय तृतीयेदंशकां महाशयकस्तत्र यथेदं  
 सूत्रं तथेदंशययधेयम् । (एवामंभ सि) विपमिश्रभोजनयन्, "जा-  
 बाणं पाणाश्वाय" इत्यादौ भवतीति शेषः । (नस्स णं ति) तस्य  
 प्राणःतिपातादेः (तत्रो पञ्चु विपरिणममाणं) ततः पश्चा-  
 द्वापातान्तरं विपरिणमय परिणामान्तराणि गच्छन् प्राणानि-  
 पातादि, कार्यं कारणोपचारात् प्राणानिपातादिदेतुकं कम्मं (तुक्रु-  
 यसापय सि) तुक्रुपताहेतुतया परिणमति, तुक्रुपतां करणीत्यर्थः ।  
 (आसंइमिसं सि) औपथं महातिक्कपुत्तां । (एवामंभ सि) औप-  
 थयमिश्रभोजनयत् । (नस्स णं ति) प्राणानिपाताविरमणादेः  
 (आवापय नो भदप जयइ सि) इन्द्रियमिन्द्रियान्वात् ( परिण-  
 ममांशु सि) प्राणानिपाताविरमणाःद्वयत्तयं पुण्यकम्मं, परिणाम-  
 मान्तराणि गच्छद् अनन्तर कर्माणि फलानि निरूपयति । अथ-  
 क्रियाविशेषमाश्रय नरकतुणुपुण्यद्वारंण कम्मोदंतामपत्यबहु  
 ये निरूपयति--(दो जंतं) इत्यादि (अगणिकार्यं समारंभति सि) अ-  
 नेजस्कार्यं समारंभते, उपपद्यतः तथैक उज्जवालनेन, अन्यस्तु  
 विधापनन । तत्रोउवादाने बहुतुरजसामुपादेऽप्यत्तराणां  
 विनाशोऽप्यतिरिच्येदं वदनात् । अत उक्तम्--तथं णं एतं इत्या-  
 दि (महाकम्मतराप चेव सि) अतिनायेन मद्द कम्मं ज्ञानावरणा-  
 दिकं यत्स्य स तथा, चेयदाश्चः समुच्छेयं । यथ (महाकारियतराप  
 चेव सि) स्वयं, क्रिया दाहकपा (महास्मत्तराप चेव सि) दृढक-  
 म्बन्धयेतुकः । (महावेयणतराप चेव सि) महती वेदना जीवाणां  
 परमाप्त तथा । अनन्तरमांनवकल्पनात् ।

अस्थि णं जंतं । अचत्ता वि पोग्गला अजांमति, उज्जोवेति, तवेति, पवामंति ? इहा । अस्थि । कयं णं जंतं ।  
 अचत्ता वि पोग्गला अजांमति, जाव पनामंति ? कालो-  
 दाई । कुच्छस अगगामम्म तेयलेस्मा निमहा ममाणं दूरं  
 गता दूरं निवतइ, देसं गता देसं निवतइ, जहिं २ च णं  
 सा निवतइ तहिं २ च एतं अचत्ता वि पोग्गला अजांसं-  
 ति जाव पनामंति एए णं कातोदाई । तं अचत्ता वि पोग्ग-  
 ला अजांसंति । तए णं से कातोदाई अणगारे समणं  
 भगवं महावीरं वृद्धं नमंइ बहुहिं च उयल्लड्डमं जाव  
 अण्णाणं जावेमाणे जहा पदमए कालासंवासियुते जाव  
 सवइतुक्खपहीणे सेवं भंते । जंतं । सि ।

अग्निश्च सचेतनः सन्नवभासने, एवमंजित्वा अपि पुद्गलाः किम-  
 वशास्मन् इति प्रश्नयन्नाह- (अग्निश्च सग्मियाद्) (अचत्ता वि सि)  
 सचेतनाग्नेजस्कार्यकाद्यैः तावद् वनास्मन् एवेयं पिदाध्दाई ।  
 ( आंभासंति सि) प्रकाशा भवति ( उज्जोवेति सि) वस्तु-  
 षोऽस्मिन् । तवेति सि) तापं कुर्याति ( पनामंति सि) तथा-  
 यिधवस्तुदाहकत्वेन प्रनावं ज्ञानेन कुच्छसे सि) विभक्तिविपरि-  
 णामात् कुच्छेन दूरं गता ( दूरं निवतइ सि) दूरगमिनांति दूरं  
 निपततीत्यर्थः । अथवा दूरं गत्वा दूरं निपततीत्यर्थः । ( देसं गता  
 दंसं निवतइ सि) अग्निभिरस्य गन्तव्यस्य क्रमसात्वादेदो तद-

कादौ गमनस्त्वजावेऽनन्दो तदकादौ निपततीत्यर्थः । क्वा-  
 प्रयययक्कोऽप्येकमेव । ( जाई जाई च सि) यत्र यत्र दूरं वा  
 तदोशं वा, सा तेजोऽज्ञया निपतति ( ताई ताई) तत्र तत्र  
 दूरं तदोशं वा [ तं सि ] । तेजोऽज्ञया सम्बन्धिनः । म० ७श०  
 १० उ० ।

( २ ) अथान्यव्यूथकैः सह विप्रतिपत्तयः प्रदश्यन्ते, (आः) ]  
 तत्र इह त्रिविकस्य परत्राविकस्य वाऽऽप्युतः समये विप्रतिपत्तिः-

अस्त्रउल्लिख्य णं भंते । एवामंभवेति, एवं भार्मति, एवं  
 पारणवेति, एवं परकवेति-एवं स्तुतु एगे जंवे एगे एं सम-  
 एणं दो आउयाई पकरेइ । तं जहा-इहभविष्याउयं च परभ-  
 विष्याउयं च; जं समयं इहभविष्याउयं पकरेइ तं समयं परज-  
 विष्याउयं पकरेइ, जं समयं परत्रविष्याउयं पकरेइ तं समयं  
 इहत्रविष्याउयं पकरेइ । इहभविष्याउयस्य पकरणया पर-  
 भविष्याउयं पकरेइ, परभविष्याउयस्य पकरणया इहत्रवि-  
 ष्याउयं पकरेइ । एवं स्तुतु एगे जंवे एगे णं समए णं दो आ-  
 उयाई पकरेइ । तं जहा-इहत्रविष्याउयं च परभविष्याउयं च ।  
 मे कहमेयं भंते ? । एवं गोयमा । जं णं तं अज्ञाउल्लिख्य  
 एवमाइकस्संति जाव परत्रविष्याउयं च जेते एवमाइसु, सि-  
 च्छं तं एवमाइसु । अइं पुण गोयमा । एवम, इमयांमं  
 जाव परकवेति-एवं स्तुतु एगे जंवे एगे एं समए णं  
 आउयं पकरेइ । तं जहा-इहत्रविष्याउयं वा परभविष्या-  
 उयं वा । जं समयं इहत्रविष्याउयं पकरेइ, णो तं समयं  
 परत्रविष्याउयं पकरेइ, जं समयं परभविष्याउयं पकरेइ, एणो  
 तं समयं इहत्रविष्याउयं पकरेइ । इहत्रविष्याउयस्य पकरण-  
 याए णो परभविष्याउयं पकरेइ, परभविष्याउयस्य णो इह-  
 त्रविष्याउयं पकरेइ । एवं स्तुतु एगे जंवे एगे एं समए णं  
 एगं आउयं पकरेइ । तं जहा-इहत्रविष्याउयं वा, परभविष्या-  
 उयं वा । मेवं भंते । भंते । ति; जगवं गोमेयं जाव विहरइ ॥

दशान्तरस्य विषयस्त्वनां दशंशत्राद- ( अणणउल्लिख्य-  
 र्यादि ) अन्यव्यूथं विवक्षितस्वच्छादपरः स्वहः, तदास्त्वं  
 येनां तं अणव्यूथं सास्वतीं धांतिराया इत्यर्थः । एवामिति  
 च इयमाणं ( अउकखति सि) आखयति सामान्यतः । ( जा-  
 संति सि) विशेषतः । ( पणवति सि) उपपत्तिः । ( पर-  
 वति सि) भेदकथनमा इयोर्जीवयोरैकस्य वा समयभेदेनायु-  
 त्वैयकरणे नास्ति विरोध इत्युक्तम् । ( एगे जंवे इत्यादि ) । ( दो  
 आउयाई पकरेइ सि) जीवो हि स्वयंप्रयोज्यसमूहात्मकः, स च  
 यदैकमायुःपर्यायं करति तदाऽयमपि करति, स्वपर्यायत्वा-  
 उद्धानस्यैकपर्यायत्वात्, स्वपर्यायकतैयं च जीवस्थाऽयुपगत-  
 इयमेव । अन्यथा भिन्न्याद्विपर्यायानामनुयायप्रसङ्ग इति ज्ञा-  
 वः । उक्ताथंभ्येयं जावनाथंमाह- [ जमियादि ] विभक्तिविपरिणाम-  
 माथार्थिमस्यस्य, इदं भवो वतंमनाज्जो यत्राऽऽयुयं विद्यते फल-  
 तथा तदि इतयायुयं परवयायुयं । अनन्त चेहतायुःकरणसमये  
 परत्राव्युःकरणं नियमितम् । अथ परत्राव्युःकरणसमये इह-  
 त्रवाव्युःकरण नियमयन्नाह- ( जं समयं परभविष्याउयमित्यादि )

पथमेकसमवकाथसां इषोरस्त्रभिजायैकविकार्याकार्यतामाह—[इह-  
भविष्याडयस्सेत्यादि ] ( पक्षययाप लि ) करणं, एवं अ-  
दिवर्यादि निगमनम् । ( जरणं ते अणुस्र उत्थिया पथमाइकभं-  
ति ) कथापुत्राद्वाक्वस्यान्ते तत्त्वतीत्, न केवलमित्यर्थं वा-  
क्यश्रेयो इदम् : । ( जे ते पथमाहंसु मिच्छं ते पथमाहंसु लि ) तत्र  
[ आस्रुत्थि ] उक्तयन्तः, यथायं यत्नमानानिदंशऽपि कुरुतेऽती-  
निदंशः स सर्वो यत्नमानः कालोऽतीतो भवति। यथायं यत्न-  
ज्ञापनार्थः, मिथ्यायज्ञार्थयम्, एकैनाप्यवसायेन विकरुणोरा-  
युगोक्त्यायागात् । यच्चोच्यते—पर्यायान्तरकरणे पर्यायान्तरं  
करानि, स्वपर्यायत्वाद्दिनि । तदनेकांतिकम् । सिद्धय-  
करणे संसारित्वाकरणादिनि । टीकाकारव्याख्यां ननु—इह  
भवायुर्वेदा प्रकरोति वेद्यत इत्यर्थः, परमवायुस्त्वदा प्रक-  
रोति प्रथमानीत्यर्थः, इह भवायुसुप्रमेतेन परमवायुसुब्रजानी-  
त्यर्थः । मिथ्या चैतत्परमम् । यस्माज्जातमात्रो जीव इह भवायुर्वे-  
द्यते, तदैव तेन यदि परमवायुसुबद्धं, तदा दानाध्ययनाद्दिनां  
वैयर्थ्यं स्यादिति । एतन्वायुसुबन्धकालात्प्रभावसेयम् । अन्य-  
थाऽऽयुसुबन्धकाले इह भवायुसुबद्धते, परमवायुसु प्रकरोत्ये-  
वेति । ॥० १ श्रु ६ उ० ।

( ३ ) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र  
अन्ययूथकः सह विवादः—

अनन्तरं के लक्षणसमुदादिकं स्वयं सम्यक्त्वानिप्रतिपादि-  
तत्त्वानिष्पन्नाभानिप्रतिपादितं तत्त्वस्यमर्थि एव्यादिति दर्शयै-  
स्त्वनीयौदेशकस्याद्भिधमिदमाह—

अस्र उत्थिया णं भंते । एवमादस्वति, एवं जासेति, एवं  
पसवति, एवं पक्वतेति । से जहानामप जालगंठियाइ वा आयु-  
पुल्लगंठिया अणंतरगंठिया परंपरगंठिया अस्रमस्रगंठिया  
अस्रमस्रगुरुयत्ताए अस्रमस्रजारियत्ताए अस्रमस्रगुरुसंजा-  
रियत्ताए अस्रमस्रधरत्ताए चिद्वेति; एवायेव बहूणं जीवानां  
बहुसु आजाइसहस्सेसु बहूः आउयतहस्साइ आणुपुत्वि-  
गंठियाइ जाव चिद्वेति, एगे वि य णं जीवे एगंणं समएणं  
दो आउयाइ पदिसंवेदयइ । तं जहा—इह जन्वियाउयं च पर-  
जन्वियाउयं च । जं समयं इह जन्वियाउयं पदिसंवेदेइ, तं स-  
मयं परजन्वियाउयं पदिसंवेदेइ, जाव से कइमेयं भंते !  
एवं ? । गोयमा ! जं णं ते अस्र उत्थिया । ते चेव जाव पर भवि-  
याउयं च जे ते एवमाहंसु ते विच्छइ ? । अहं पुण गोयमा ।  
एवमाइकलामि-जाव अस्रमस्रधरत्ताए चिद्वेति, एवायेव एग-  
मेगस जीवस्स बहूदि आजाइसहस्सेसि बहूदि आउसहस्सा-  
इ आणुपुत्विगंठियाइ जाव चिद्वेति, एगे वि य णं जीवे एगे-  
णं समएणं एगं आउयं पदिसंवेदेइ । तं जहा—इह भविआउयं  
वा परभविआउयं वा, जं समयं इह जन्वियाउयं पदिसंवे-  
देइ नो तं समयं परजन्वियाउयं पदिसंवेदेइ, जं समयं पर-  
जन्वियाउयं पदिसंवेदेइ षो तं समयं इह जन्वियाउयं पदिसं-  
वेदेइ, इह जन्वियाउयस्स पदिसंवेदणयाए णो परजन्वियाउ-  
यस्स पदिसंवेदहा, परभविआउयस्स पदिसंवेदयाए णो इह-

भविआउयस्स पदिसंवेदया । एवं खलु जीवे एगंणं सम-  
एणं एगं आउयं पदिसंवेदेइ । तं जहा—इह भविआउयं वा  
परभविआउयं वा ।

[ अस्र उत्थियायास्रमित्यादि ] [ जालगंठिय लि ] जालं मत्स्यबन्धनं,  
तस्यैव प्रथयो यस्यां सा जालप्रथिका । किंस्वरुपा सेत्याह—  
[ आयुपुत्विगंठिय लि ] आयुपूर्व्या परिपात्ता प्रथिता गुप्तिकता  
आपुचितप्रमथीनामादौ विधानादस्तोचितानां च क्रमेणान्त एव  
करणात् । एतदेव प्रपञ्चयथाह—[ अणंतरगंठिय लि ] प्रथमप्र-  
मथीनामन्तरव्यवस्थापितेप्रमथिभिः सह प्रथिता अनन्तरप्र-  
थिता । एवं परंपरेव्यंबहिद्वैः सह प्रथिता परंपरप्रथिता ।  
किमुक्तं भवति—[ अस्रमस्रगंठिय लि ] अन्योऽयं परस्पररा ए-  
केन प्रथिता सहाय्यां प्रथियन्त्येन च सहाय्य इत्येव प्रथिता  
अन्योऽय्यप्रथिता । एवं च [ अस्रमस्रगंठियत्ताए लि ] अन्योऽय्येन  
प्रथनाद् गुप्तिका विस्तीर्णता, अन्योऽय्यगुरुकता, तथा, [ अस्र-  
मस्रमारियत्ताए लि ] अन्योऽय्यस्य शो भ्राः स विद्यते यत्र तद्-  
न्योऽय्यभारिकं तद्भाइवस्तत्ता, तथा, एतस्यैव प्रत्येकालापर्य-  
यस्य संयोगेनेन तयोरेव प्रकर्ममिधवायुमाह—[ अस्रमस्र-  
गुरुयत्तमारियत्ताए लि ] अन्योऽय्येन शुद्धं यत्तमारिकं च  
सत्तथा, तद्भाइवस्तत्ता, तथा [ अस्रमस्रगंठियाए लि ] अन्योऽ-  
य्यं घटा समुदायिचत्ता यत्र तदन्यांऽय्यघटं तद्भाइवस्तत्ता तथा;  
[ विद्वेति लि ] आस्ते, इति दृष्टान्तः । अथ शार्दूलिक उच्यते—  
[ एवायेव लि ] अनेयेव जीवानां बहुधां जीवानां संवेकीनि  
[ बहुस्तु आजाइसहस्सेसु लि ] अनेकेषु देवादिजन्मसु प्र-  
तिजीवं क्रमप्रवृत्तेश्चपिकरणत्वेषु बहुन्यायुक्तसहस्राणि त-  
स्यामिजीवानामाजातीनां च बहुसहस्रसंख्यानत्वात् । आयु-  
पूर्वीमांशानामिच्छाद् पूर्ववद् व्याख्येयम् । नवरारिह भारि-  
कत्वं कर्मपुत्रलापेतया वाच्यम् । अथैतपामायुषां को वेद-  
विधिर्नित्याह—[ एगे वि येत्यादि ] एकोऽपि जीवः आ-  
स्तामनेक एकेन समयेनेत्यादि प्रथमशततथत् । अत्रोत्तरम्—  
[ जे ते एवमाहंसु इत्यादि ] मिथ्यासं वैशामिधम—या—  
नि हि बहूनां जीवानां बहुन्यायुषि जातप्रथिकावस्त्रिभूतिनामि  
यथास्वं जीवप्रदेशेषु संबन्धानि स्युरसंबन्धानि वा ? । यदि संब-  
न्धानि, तदा कथं भिन्नान्नज्जीवित्यनां तेषां जालप्रथिका  
कल्पना कल्पयितुं शक्यते, तथापि तत्करणेन जीवानामपि जात-  
प्रथिकाकल्पयैव स्यात्, तत्संबन्धत्वात् । तथा च सर्वेजीवानां सर्वा  
युःसंबन्धेन संबन्धजनयनप्रसङ्ग इति । अथ जीवानामसंबन्धा-  
न्यायुषि तदा तदुच्चाद्वादिजन्मेति न स्यादसंबन्धादेविति । तद्धि-  
कृतम्—एको जीव एकैन समयेन द्वे आयुषां बद्धयति । यद्यपि  
मिथ्या । आयुद्वयसंबन्धेन पुनरपद्भवप्रसङ्गादिति । [ अहं पुण  
गोयमेत्यादि ] इह एकं जालप्रथिकासंकारितामायम् ।  
[ एगमेगसंस्स्यादि ] एकैकस्य जीवस्य न तु बहूनां, बहुष्वजा-  
तिसहस्रेषु क्लृप्तसुखतीतकालेषु तत्कालापेक्षया सन्तु  
बहुन्यायुस्सहस्राणि अतीतानि, यत्नमानज्जातान्यभधिकम-  
न्यभधिकन प्रतिबन्धनित्यर्थं सर्वोणि परस्परं प्रतिबन्धानि भव-  
न्ति, न पुनरेकमेव एव बहूनि [ इह भविआउयं व लि ]  
यत्नमानभवायुः [ परभविआउयं व लि ] परभवायुषोयं यत्न-  
मानमेव निबद्धं तच्च परजनेव गतो यदा बद्धयति, तदा व्यपदि-  
हयते [ परभविआउयं व लि ] ॥ ० १ श्रु ६ उ० ।

[ ४ ] [ कर्म ] चलत्कालित्वादिवाक्यमादिषु कुनीचिकैः सह विभक्तिविधयः-

अथ उरियया एं जंते । एवमाइकखंति०, जाव परुवेति । एवं खलु चलमाणे अचलिए० जाव निज्जरिज्जमाणे अनिज्जि-  
 ष्से दो परमाणुपोगला एगयञ्चो न साहणंति, त, कम्हा दो  
 परमाणुपोगलाएणं णत्थिय निणोहकाए०, दो परमाणुपोगला  
 एगयञ्चो न साहणंति, तिष्ठि परमाणुपोगला एगयञ्चो साह-  
 णंति, कम्हा तिष्ठिण परमाणुपोगला एगयञ्चो साहणंति ।  
 तिष्ठि परमाणुपोगलाएणं अत्थिय सिणेहकाए, तम्हा तिष्ठि-  
 परमाणुपोगला एगयञ्चो साहणंति । ते भिज्जमाणो दुहा वि  
 तिहा वि कज्जंति, दुहा किज्जमाणो एगयञ्चो दिवहे परमा-  
 णुपोगले भवइ, एगयञ्चो दिवहे परमाणुपोगले जवइ, तिहा  
 कज्जमाणो तिष्ठिण परमाणुपोगला इवंति, एव जाव  
 चत्तारि पंच परमाणुपोगला एगयञ्चो साहणंति, एगय-  
 ञ्चो साहणंति दुक्खत्ताए कज्जंति, दुक्खे वि य एं से मा-  
 सए सयामपियं उवाचज्जइयं अवचिज्जइयं पुब्बि जास-  
 जासा जासिज्जमाणो जासा अजासा भासाममयं विनि-  
 क्तं च एं जासिया भासा जा सा पुब्बं जासाजासा जा-  
 मिज्जमाणो भासा अभासा भासासमयं वितिकंतं च एं  
 जा.ियाजासा मा किं जासञ्चो भा । अजासञ्चो भासा ।  
 अजासञ्चो एं सा जासा, एो खलु सा जासञ्चो भासा, पु-  
 ष्वि किरिया दुक्खा कज्जमाणो किरिया अदुक्खा किरि-  
 या समयं वितिकंतं च एं कदा किरिया दुक्खा जा सा  
 पुब्बं किरिया दुक्खा कज्जमाणो किरिया अदुक्खा कि-  
 रिया समयं निहकंतं च एं कदा किरिया दुक्खा सा किं क-  
 रणञ्चो दुक्खा अकरणञ्चो दुक्खा, अकरणञ्चो एं सा दुक्खा,  
 एो खलु मा करणञ्चो दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिञ्चा, अणुक्खं  
 दुक्खं अणुक्खं दुक्खं अकज्जमाणकं दुक्खं अकट्टं अकट्टं-  
 पाणञ्चयं जीवमत्तावेदणं वेदंति णि वत्तव्वं सिया, से कट्ट-  
 मयं भंते । एवं । गोयमा । जं णं ते अथ उरियया एवमा-  
 इक्खंति० जाव वेदणं वेदंति वत्तव्वं सिया, जे ते एवं  
 आहंसु मिच्छंते ते एवं आहंसु । अहं पुण गोयमा । एवमाइ-  
 कखंति०, एवं खलु चलमाणे अचलिए जाव निज्जरिज्जमाणे  
 निज्जिणएणं दो परमाणुपोगला एगयञ्चो साहणंति, क-  
 म्हा दो परमाणुपोगला एगयञ्चो साहणंति ।, दोहए पर-  
 माणुपोगलाएणं अत्थिय निणोहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग-  
 ला एगयञ्चो साहणंति, ते भिज्जमाणो दुहा कज्जंति, दुहा  
 कज्जमाणो वि परमाणुपोगले एगयञ्चो पर-  
 माणुपोगले जवइ । तिष्ठि परमाणुपोगला एगयञ्चो साह-  
 णंति, कम्हा तिष्ठिण परमाणुपोगला एगयञ्चो साहणं-  
 ति । तिष्ठि परमाणुपोगलाएणं अत्थिय सिणेहकाए, तम्हा

तिष्ठि परमाणुपोगला एगयञ्चो साहणंति, ते जिज्जमाणो  
 दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणो एगयञ्चो पर-  
 माणुपोगले एगयञ्चो दुपदेमिए खंथे भवइ, तिहा कज्ज-  
 माणो तिष्ठिण परमाणुपोगला भवंति, एं जाव चत्तारि  
 पंच परमाणुपोगला एगयञ्चो साहणंति, साहणंति  
 खंथत्ताए कज्जंति, खंथे वि य एं से अजासए सया समयं  
 उवचिज्जइ य अवचिज्जइ य पुब्बि भासा अभासा भासि-  
 ज्जमाणो जासाभासा भासासमयं वितिकंतं च णं भा-  
 सिया भासा अजासा, जा सा पुब्बि जासा अजासा  
 भासिज्जमाणो भासाभासा जासासमयं वितिकंतं च एं  
 जासिया भासा अभासा, मा किं जासञ्चो जासा, अजा-  
 सञ्चो भासा । भासञ्चो एं जासा मा, एो खलु मा अभा-  
 सञ्चो जासा । पुब्बि किरिया अदुक्खा जहा जासा तहा  
 भाणियव्वा, किरिया वि जाव करणञ्चो णं सा दुक्खा नो  
 खलु सा अकरणञ्चो दुक्खा सेवं वत्तव्वं सिया, किच्चं दु-  
 क्खं कुसं दुक्खं कज्जमाणकं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणञ्च-  
 जीवसत्तावेदणं वेदंति णि वत्तव्वं सिया ।

( चलमाणे अचलिए ति ) चलत्कालित्वेन, चलता तेन चलित-  
 कार्यकरणान्द वनेमानस्य चान्तान्तया व्यपदे प्रमशकस्यत्वन्देयम-  
 न्यत्रापि वाच्यमिति । ( एगयञ्चो न साहणंति णि ) पकए पकवेन  
 पकस्सकथनेत्यर्थः । न संद-येने न संहो मिज्जो स्याताम ।  
 ( नग्धि सिणेहकाए ति ) अहपथेवरादिनातिं न्दमत्वात्, अ-  
 दियंगे तु रूपत्वान्दोऽस्ति । ( दुक्खत्ताए कज्जंति णि ) पक्खा-  
 तुक्खाः संहये दुक्खत्ता कमेत्या क्रिये न प्रयत्नित्यर्थः । ( दु-  
 क्खं वि य एं ति ) कर्माप च ( से णि ) तत् शाश्वतमभारित्या-  
 व । ( सय ति ) सर्वदा ( नमिय ति ) सम्यक्तपरिमाणं वा,  
 चायने चयं याति, अयच्यंयते अयचयं याति, तथा [ पुव्व ति ]  
 भाषणप्रमाणं जासंति वाच्यसंहरति । [ भास ति ] सत्यादि-  
 भाषा स्यात्कारणत्वात् विमङ्गलमित्येव याः नेषां मतमात्रे-  
 तन्निरूपयित्वाकमुन्मत्तयचनयत् । अने नेहापरितरन्त्येव येषो-  
 या । एवं सर्वत्रापि ति तथा [ भासिज्जमाणो भासा अजास ति ]  
 निज्जयमानवाग्द्वयान्धभाषा, चर्मानसमयस्यातिस्वमयेन व्य-  
 धारानद्भव्यादिति । [ जासासमयंविहकंतं च णं ति ] इह क-  
 प्रत्ययस्य भाषायेत्यात् विज्जि.विपरिणामाच्च भाषासमयत्वात्  
 क्रमे च । [ भासिय णि ] निज्जु सती भाषा अर्थात्, प्रतिपाद्य-  
 स्याभिधेये प्रत्ययेत्यादिकर्वादिनि । [ अजासञ्चो णं भास णि ]  
 अभाषमाणस्य भाषा, भाषणपूर्वे पक्खा तदच्युपमात् । [ नो  
 खलु जासञ्चो णि ] भाष्यमाणायान्तस्य अन्तज्युपगमादिति ।  
 तथा [ पुब्बि किरियेत्यादि ] क्रिया कार्याख्याइका सा या-  
 यन्न क्रियते तावत् [ दुक्खं णि ] दुःखहेतुः [ कज्जमाणे णि ]  
 क्रियमाणो क्रिया न दुःखान न दुःखहेतुः क्रियासमयव्यति-  
 क्रान्तं च क्रियायाः क्रियमाणता, व्यतिक्रमे च कृता सती  
 क्रिया दुःखान्ति । इदमपि लम्बतमात्रमेव निरूपयित्वा । अथवा  
 पूर्वं क्रिया दुःखान्ध्यासात् क्रियमाणो क्रिया न दुःखान् अ-  
 भासात् कृता क्रिया दुःखान्ध्यासात् क्रियायाः [ करणञ्चो दु-  
 क्खं णि ] करणमाश्रय करणकाले कुर्वन् इत्यर्थः । [ अक-

रणाश्रो दुष्कस्य सि ] अकरण्यमाश्रय्य अकुर्वन् इति यावत् [ नो  
 बल्लु सो कस्यश्रो दुष्कस्य सि ] आक्रियमाणस्य दुःखनया तस्या  
 अभ्युपगमात् । [ सेवं वक्तव्यं सिया ] अथ एवं वचोर्लं वस्तु  
 धरुयं स्थायुपपन्नत्वादस्येति । आद्यन्वयार्थकान्तमतमाह-  
 अरुण्यमनागतकालोपपन्नया अनिवर्तनीये जीवितेति गम्यं,  
 दुःखमसात् तकाराणां वा कर्म, तथा अरुण्यत्वादेवास्तुश्यम-  
 कषधर्मीयं तथा क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतं, चातीतकाले  
 तत्रिपेधादक्रियमाणकृत कालत्रयस्यपि कर्मणां धनधनियेधात्-  
 कृताऽकृताः आभादेत्ये द्विर्वचनं, दुःखमिति प्रकृतमेव । के  
 इत्याह-प्राणभूतजीवसत्त्वाः । प्राणादिकमाण्यं वेदम-” प्राणा  
 द्वित्रिचतुःप्रांताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चन्द्रिया  
 ह्याः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः” ॥१॥ [ वेयर्थं ति ] शुभाशुभक-  
 र्मेवदोषां पीडां वा वेदयन्त्यनुभवन्ति । इत्यतद्वह्मस्ये स्थादभ्यै-  
 वीपपद्यमानत्वात् । यादृच्छिकं हि सर्वलोकं सुखदुःखमिति ।  
 यदाह-” अतर्कितोपास्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःख-  
 जातम् । काकृत्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र बु-  
 धाऽभिमानः” ॥१॥ [ से कहमेये ति ] अथ कथमेतत् भवन्ति ।  
 एवमन्यपूर्विकांक्रियायनेति प्रश्नः ? । [ जयं न अश्रुउत्थिये ]  
 इत्याद्युत्तरम् । व्याख्या चाभ्य प्राग्वत् । मित्या चेतद्वचं यदि  
 चलेद्वेव प्रथमसमये चालितं न भवेत्तदा त्रितोयाद्विष्वापि तद-  
 चालितमेवेति न कदाचनार्था चलेदत्र एव वर्तमानस्यापि चि-  
 त्तया अतीतत्वं न विरुद्धम् । एतच्च प्राग्यं निर्णीतामिति न  
 पुनुरुच्यते । यथाऽप्यने-वालितकार्याकरणादचलितमेवेति । त-  
 दयुक्तम् । यतः प्रतिज्ञानुपपद्यमानेषु स्थानकशादिवस्तुव्य-  
 न्त्यदणुभाविष्यन्तु आचरणं स्वकार्यं न करोत्येव, अस्तत्वाद्,  
 अतो यदन्यसमयचालितकार्यं विवक्षितं परेण तदाद्यसमय-  
 चालितं यदि न करोति तदा क इव दोषोऽत्र कारणानां स्व-  
 स्वकार्यैकरुण्यभावत्वादिनि । यच्चोक्तम्-द्वी परमाणु न सं-  
 हर्षयन्, मृदमनया छेदाभावात् । तदयुक्तम् । एकस्यापि परमाणोः  
 अहसंभवात् । सार्द्धोऽनुकूलस्य संहर्षयन् नैरेवाभ्युपगमाच्च ।  
 यत उक्तम्- [ तिभि परमाणुप्रांगला पण्यशो साहणति, ते नि-  
 उजमाणो दुहा वि तिहा वि करजति, दुहा कजमाणो पण्यशो  
 दिवहति ] अनेन हि सार्द्धोऽनुकूलस्य संहर्षयन् अभ्युपगमेन तस्य  
 अहोऽभ्युपगमेन एवेत्यतः कथं परमाणुः अहोभावेन सङ्गा-  
 तामाव इति । यच्चोक्तम्-एकतः सार्द्धे एकतः सार्द्धे इति । एत-  
 दप्यच्चाह । परमाणुगर्दीकरणे परमाणुत्वामावप्रसङ्गात् ।  
 तथा यदुक्तम्-पञ्च पुत्रलाः संहताः कर्मनया भवन्ति । तद-  
 प्यसङ्गतम् । कर्मणोऽनन्तरपरमाणुत्वाऽनन्तरकषणरूपत्वात्प-  
 ञ्चणुकृत्ये च स्वरूपमात्रत्वात् । तथा कर्मजीवाचरणस्वभा-  
 वमित्यन्ते, तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्वरूपमात्ररूपं सदसङ्गतात्-  
 प्रदेशात्मकं जीवमाणुपुण्यामिति । तथा यदुक्तम्-कर्मं च शा-  
 र्वतम् । तदप्यसमीचीनम् । कर्मणः शाश्वतत्वे क्योपशमाद्य-  
 भावेन शान्तादीनां हानिरुक्तपस्य चाभावप्रसङ्गात् । इत्येते च  
 शान्तादिहानिवृद्धी । तथा यदुक्तम्-कर्मं सदा चीयेन अपची-  
 यते चेति । तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यते इति । यच्चोक्तम्-  
 प्राणशारापूर्वं भाषा, तद्वन्तुत्याम् । तदयुक्तमेव । औपचारिकत्वात् ।  
 उपचारस्य च तत्त्वतोऽवस्थुत्वात् । किञ्च उपचारस्तात्त्विके  
 वस्तुनि सति भवतीति तारिष्यकी भाषाऽस्तोति विद्वाह ।  
 यच्चोक्तम्-भाष्यमाणा अभाषा, वर्त्तमानसमयस्याख्यावहा-  
 रिकत्वात् । तदप्यसम्यक् । वर्त्तमानसमयस्यैवास्तित्वेन व्य-

हाराङ्गत्वादीनितागतयोश्च निवृत्तानुपपन्नताया सत्त्वेन व्य-  
 हारानङ्गत्वादिनि । यच्चोक्तम्-भाषासमयेत्यादि । तदप्यसाधु ।  
 भाष्यमाणनायाया अभावे भाषासमय इत्यस्यव्यतिरिक्तत्वा-  
 भावप्रसङ्गात् । यच्च प्रतिपाद्यत्वाभिधेयं प्रत्ययोपादकत्वा-  
 दिनि हेतुः । सोऽनेकात्मिकः । करादिष्वेष्टानामभिधेयप्रतिपा-  
 दकत्वं सत्यपि भाषासादाविति यतः काचित्सुखादिकृषेत् । तथा यदु-  
 क्तम्-अत्रापकस्य प्राप्तिः । तदसङ्गतरम् । एवं हि सिद्धस्याचनेनस्य वा प्राणाप्राप्तिसङ्ग-  
 इति । एवं क्रियाऽपि वर्त्तमानकाले एव युक्ता, तस्यैव सत्त्वा-  
 दिनि । यश्चानन्यासाऽन्यासादिकं कारणमुत्तम् । तच्चानैका-  
 त्मिकम् । अनन्यसादाविति यतः काचित्सुखादिकृषेत् । तथा यदु-  
 क्तम्-प्रकरणतः क्रिया दुःखेति । तदपि प्रतीतिषाचितम् । यतः  
 करणकाम एव क्रिया दुःखा वा सुखा वा हृद्यते, न पुनः पूर्वं  
 पश्चाच्च; तदसङ्गत्वादिनि । तथा यदुक्तम्-अक्रिषाः मित्यादि, यद-  
 क्त्वादिमताश्रयत्वात् । तदप्यसङ्गत्वात् । यतो यथक्त्वादेव कर्म  
 दुःखं सुखं वा स्यात्सदा विविधैर्हिकराणालोकाकानुष्ठानाभा-  
 वप्रसङ्गः स्यात् । अन्वुपगतं च किञ्चित्पारमौकिकानुष्ठानं  
 तैरपि चेति । एवमेतत्सर्वमहाज्ञानपञ्चमिकम् । उक्तं च बुद्धेः-  
 “ परतिन्धियवत्तव्येव य, पदमन्यप दसमयम् उदसे । विज्जे-  
 रीणा देसा, मद्दभया या वि सा सया ॥ १ ॥ सन्त-  
 यमसद्वपु, जंगा चत्तारि हौति विधग्गे । उमत्तस्यपरसिरिं,  
 तो अण्णं ति विहग्गे ॥ २ ॥ ” सङ्गते परमाणौ असङ्गतरमेव-  
 दि, असङ्गते सर्वगाम्प्रति सङ्गते चेतयं, सङ्गते परमाणौ सङ्ग-  
 ते निष्पदेशाच्च, असङ्गते सर्वगाम्प्रति असङ्गतरमेवत्वेमिति च ।  
 [ अहं पुण गोवमा । एवमादकस्मान्मि ] इत्यादि तु प्रतीत्यर्थमेवे-  
 ति, नवरं । दोषं परमाणुप्रांगलायं क्वचित् सिद्धकाय [ त ]  
 एकस्यापि परमाणोः शीतोष्णस्निग्धरुक्त्वाणामन्यतरद्विद-  
 र्कस्पर्शद्वयमेवत्वादिनि । ततो सङ्गत्वात् तथाः स्निग्धत्वाभावात्  
 स्नेहकायोऽस्यैव । ततश्च नो विद्यमस्नेहास्नेहयते । इदं च  
 परमतानुवृत्त्योक्तम् । अन्यथा कृत्वापि कृत्वावैषम्यं सहयते ।  
 एवं यदाह-”समनिद्वयाद्य बंधो, न होइ समलुक्कयाद्य वि न  
 होइ । वेमायहुद्वानिष्कल-भणणे बंधो उ खंधाणं ” ॥ १ ॥ ति ।  
 [ अंधे यिय णे से असासए सि ] उपचयापचयिकत्वाद् । अत  
 पथाह-[सया समिमित्यादि] [ पुर्वि भासा इभास [ त ] आ-  
 ध्यत र्हात भाषा, भाषणञ्च पुर्वं नो भवन्त इति न भायेति ।  
 [ भासिउजमाणौ भास [ त ] शश्यांयंयत्ते ] [ भासिया अ-  
 भास [ त ] शश्यांयंयिग्याम् । [ पुर्वि किरिया अदुष्कस्य [ त ]  
 करणार्पूर्वं ] क्रियैव नास्तीत्यसत्त्वादेव च न इहा, सुखाऽपि  
 नास्तावत्सत्त्वादेव, केयलं परमतानुवृत्त्या दुःखेन्युक्तम्, जहा भासं  
 सिं वचनत् । [ ऊजजमाणौ किरिया दुष्कसा ] सत्त्वादिर्हापि  
 यत्किथमाणा क्रिया दुःखेन्युक्तम्, नपरमतानुवृत्त्यैव । अन्यथा  
 सुखाऽपि क्रियामार्गं च क्रिया । तथा [ किरिया समयाचितिकं तं  
 णमित्यादि ] इत्यम् । [ किञ्चं दुष्कसमित्यादि ] अनेन च कर्मस-  
 ताः वेदिता, प्रमाणसिद्धत्वात् इत्यतः । अह-इह, यदु इयोरीहा श-  
 श्वादिविषयसुखसाधनसमेतयोरेकस्य दुःखसङ्गणे फलमन्ये-  
 तरत्, न तद्विधिष्टे तुमन्तरणं सम्जात्येन, कार्येधात्; घटत्वं ।  
 यथासौ विशिष्टो हेतुः स कर्मनि । आह च-”जे तुल्लसङ्गणं,  
 फलं विंसंमे ण सत् विणा हेउं । कञ्चत्तणश्रो गोमयं । धमा  
 व्व देके य से कम्मं ” ॥ १ ॥ ५० १ शो १० उ ० ।

[ ५ ] [ क्रिया ] एकस्य जीवस्य एकं समयेन क्रियाद्वयकरणे-



अस्य उत्थियं

पुनरुत्थिययूथिकात्तरमत्समुपदशंयथाइ-

अएणउत्थिया एणं जंते । एवमाइकस्वंतिं जाव एवं खलु एणं जीवे एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । जं समयं इरियावहियं पकरेइ तं समयं संपराइयं पकरेइ. जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ । इरियावहियपकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एणे जीवे एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा । जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइकस्वंतिं तं चैव जायव । जे ते एवमाइसु मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा । एवमाइकस्वामि ४-एवं खलु एणं जीवे एणस्य एणं किरियं पकरेइ, ससमयवत्तव्याए नेयस्वं जाव इरियावहियं संपराइयं वा ॥

[अएणउत्थिया णमिप्पादि ] तत्र च [इरियावहियं नि ] इयां गमने, तद्विषयः एथा मार्गे इयांयथस्तत्र भवा एथांयथिका, केवलकथायांगप्रत्ययः कर्मकथ इत्यर्थः । [संपराइं च चि ] संपरैति परित्रमति प्राप्तां जंब धमिरिति संपरायाः कथाभा, सत्तराया वा सा सांपरायिका, कथायहेतुकाः कर्मकथ इत्यर्थः । [एउत्थियं वलउंवे णेयवन्ति ] इह सुंयेइस्ययूथिकवत्तव्य स्वयमु-त्थाणीयं, अथगौरवअयेनांलभित्तयात्तया । तत्कथम्- "जे समयं संपराइयं पकरेइ, तं समयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहिया-पकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरिया-वहियं पकरेइ, एवं खलु एणं जीवे एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च संपराइयं च । ससमयवत्त-व्याए शेयवत्" सुखमिति मध्यमः सा कथम्- "से कहमेयं जंते । एवं ? गोयमा । जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइकस्वंतिं ४ जाव । संपराइयं च जे ते एवमाइसु, मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा । एवमाइकस्वामि ४-एवं खलु एणं जीवे एणेणं सम-एणं दो किरियं पकरेइ । तं जहा-इत्याइ पुंवाकानुसारंणा-भेयमिति । मिथ्यात्वं चास्थैवस्-पेर्यायथिका । कया अकथाया-त्वप्रभवा, इतरा तु कथायोदयप्रभवेति, कथमकथैकता तयोः संततवः ? विरोधादिति । अ० १ श० १० ३० ।

अएणउत्थिया एणं जंते । एवमाइकस्वं, एवं जामेइ, एवं पक्खेइ, एवं पक्खेइ-एवं खलु एणे जीवे एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं च, मि-च्छत्तकिरियं च । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरण-याए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एणे जीवे एणेणं स-मएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं, मिच्छत्तकिरियं वा से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा । जंते ते अएणउत्थिया एवमाइकस्वंतिं, एवं जासंति, एवं पक्खंति-

ति, एतं पक्खंति-एवं खलु एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तत्रैव जाव सम्मत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जे ते एवमाइसु तएणं मिच्छा । अहं पुण गोयमा । एवमाइकस्वामिं जाव पक्खेपि-एवं खलु एणे जीवे एणेणं समएणं एणं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा, मिच्छत्तकिरियं वा । जे समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियाप-करणायाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकर-णयाए नो सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एणे जीवे एणेणं समएणं एणं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा मि-च्छत्तकिरियं वा । सेचं तिरिकवलोणोति उदंनओ वीओ ॥

[अअउत्थिया सं जंते । इत्यादि ] अन्ययूथिका अन्यतोथिकाः, भ-द्वन्-चरकादय एवमाचकृते सामान्येन एव भाषन्ते, स्वशिष्यान् भवन् प्रत्यभिमुखानवबुधु विस्तरण व्यक्त, कथयन्ति, एव प्रहापे-यन्ति प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति । यथा स्वाग्मने व्यद्यम्बिते ज्ञाने तथा परे-ध्वानुयात्कथन्ति, एव प्रकथयन्ति तत्र चिन्तायामसंदिग्धमेतदि-ति निरूपयन्ति-इह खल्वेको जाय एकेन समयेन युगपद् द्वे किंय प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्क्रिया च सुन्दराध्यवसायात्मिकां, मिथ्यात्वाक्रियां चासुन्दराध्यवसायात्मिकां । [जे समयं मिति ] मि-च्छत्तकिरियं सत्सम्यर्थं द्वितीयां, यास्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरो-ति [ तं समयमिति ] तस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति । अ-धोऽप्यसंनलेनोभयनिधिमप्रदशोनायमाह-सम्यक्प्रकरणेन मिथ्यात्वाक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वाक्रियाप्रकरणेन सम्यक्प्र-क्रियां प्रकरोति । तदुजयकरणस्वजात्यस्य तत्त्वाक्रियाकरणत्वात्, स्वोत्तमाना प्रवृत्तेः । अन्यथा उक्रियायामादिति । एव खल्वि-त्यादि-निगमने प्रतीतार्थम् । [ से कहमेयं जंते । इत्यादि ] तत्कथमेतद् भद्वन् । एवमः । तद्वेवं गौतमेन प्रथे कृते सति भगवानाह-गौतम । यतः 'शु इति' वाक्यात्तद्गुरे । ते अन्ययूथिका अन्यतोथिका एव-माचकृते इत्यादि प्राग्वत् जायवत् । तन्मिथ्या त एवमाकथात्कथ-न्तः । अहं पुनर्गौतम । एवमाचक्रे, एवं जामे, एवं प्रहापयामि, एवं प्रकथयामि-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन एकं क्रियां प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्प्रक्रियां वा, मिथ्यात्वाक्रियां वा । अत एव यस्मिन् समये सम्यक्प्रक्रियां प्रकरोति तस्मिन् समये मिथ्यात्वाक्रियां प्रकरोति, यस्मिन् समये मिथ्यात्वाक्रियां प्रकरोति तस्मिन् समये सम्यक्प्रक्रियां प्रकरोति । परस्परव-चिकथनियमप्रदशोनायमाह-सम्यक्प्रक्रियाप्रकरणेन मिथ्या-त्वाक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वाक्रियाप्रकरणेन सम्यक्प्रक्रियां प्रकरोति; सम्यक्प्रक्रियात्वाक्रियायोः परस्परपरिहारात्स्वत्वात्-सकथना जीवस्य तदुभयकरणस्वभावत्यायोगात् । अन्यथा स्वैवा भोक्ताभावप्रसक्तेः कदाचिदपि मिथ्यात्वात्विचिन्तात् । जौं ३ प्रलि० ।

(६) अक्तात्त्वानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः  
सह विप्रतिपत्तिः-  
ते एषं कास्ते एषं ते णं समयं णं रायावेहं नयरे वणणओ ।

गुणसिद्धाए चैए वषाक्रा० जाव पुडवीसिद्धावद्भो तस्म  
 यं गुणसिद्धयस्म यं चैयस्स अद्रसामते वद्दे अस्यउत्थिया  
 पविचसंति । ते यं समये यं समये जगवं महावीरं आदिगरे  
 षाव समवसदे जाव पतिसा पणिगया । ते यं कासे यं ते यं  
 समए यं समणस्स भगवओ महावीरस्स वद्दे अंतवासी  
 येरा जगवंतो जाइसंपणा कुलसंपणा जहा विइयतए० जाव  
 जीवियासा मरणजयविष्णुक्का समणस्स जगवओ महा-  
 बीरस्स अद्रसामते उडुंजाणु अदो सिरा भाणकोटोव-  
 वगया संजमणं तवसा अप्पायं भावेमाणा जाव विहरंति ।  
 तए यं ते अएणउत्थिया जेएव येरा भगवंतो तेणव उवा-  
 गच्छंति । उवागच्छंतिना ते येरे भगवंते एव वयासी-तुज्जे  
 यं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजयअविरयअप्पविहय  
 जहा सचमसए विइओ उरेसओ० जाव एगंतवालाया-  
 वि जवह । तए यं ते येरा भगवंतो ते अएणउत्थिए  
 एव वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं ति-  
 विहेणं असंजय अविरय० जाव एगंतवालाया वि भवामो ।  
 तए यं ते अएणउत्थिया ते येरे जगवंते एव वयासी-  
 तुज्जे यं अज्जो ! अदिएणं गिएहह, अदिएणं जुंजह,  
 अदिएणं साइज्जह, तए यं ते तुज्जे अदिएणं गेयहमाणा,  
 अदिएणं सुंजमाणा, अदिएणं साइज्जमाणा, तिविहं तिवि-  
 हेणं असंजय अविरय० जाव एगंतवालाया वि जवह । त-  
 ए यं ते येरा जगवंतो ते अएणउत्थिए एव वयासी-केणं  
 कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिएणं गेयहामो, अदिएणं  
 सुंजामो, अदिएणं साइज्जामो, तए यं अम्हे अदिएणं  
 गेयहमाणा० जाव अदिमं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेणं  
 असंजय० जाव एगंतवालाया वि जवामो ? तए यं ते अण-  
 उत्थिया ते येरे जगवंते एव वयासी-तुज्जे यं अज्जो !  
 दिएणमाणे अदिएणे पणिगाहइज्जमाणे अपणिग्गहिए  
 निसिंरिज्जमाणे आणिसिंहे, तुज्जे यं अज्जो ! दिएणमा-  
 णं पदिग्गहणं असंपचं एत्थ यं अंतरा केइ अवहंरिज्जा  
 गाहावइस्स यं तं अंते ! णो खलु तं तुज्जे तए यं तु-  
 ज्जे अदिएणं गिएहह० जाव अदिएणं साइज्जह, तए यं  
 तुज्जे अदिशं गिएहमाणा० जाव एगंतवालाया वि जवह ।  
 तए यं ते येरा जगवंतो ते अणउत्थिए एव वयासी-  
 नो खलु अज्जो ! अम्हे अदिएणं गिएहामो, अदिएणं सुं-  
 जामो, अदिएणं साइज्जामो । अम्हे यं अज्जो ! दियणं  
 गिएहामो, दिशं सुंजामो, दिशं साइज्जामो । तए यं अ-  
 म्हे दियणं गिएहमाणा, दियणं सुंजमाणा, दियणं साइज्ज-  
 षा तिविहं तिविहेणं संजयअविरयपविहय जहा सचम-  
 सए० जाव एगंतपणियाया वि जवामो । तए यं ते अणउ-

त्थिया ते येरे जगवंतं एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो !  
 तुज्जे दिशं गिएहह० जाव दिशं साइज्जह । तए यं तु-  
 ज्जे दिशं गिएहमाणा० जाव दिशं साइज्जमाणा, एगंतप-  
 णियाया वि भवह । तए यं ते येरा जगवंतो ते अणउत्थि-  
 ए एव वयासी-अम्हे यं अज्जो ! दिज्जमाणे दिशे  
 पणिगाहइज्जमाणे पदिग्गहिए निसिंरिज्जमाणे निसिंहे अ-  
 म्हे यं अज्जो ! दिज्जमाणं पदिग्गहणं असंपचं, एत्थ  
 यं अंतरा केइ अवहंरिज्जा अम्हे यं तं नो खलु गाहाव-  
 इस्स तए यं अम्हे दियणं गिएहामो, दियणं सुंजामो,  
 दिशं साइज्जामो । तए यं अम्हे दिशं गिएहमाणा०  
 जाव दिशं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजय० जाव  
 एगंतपणियाया वि भवामो; तुज्जे यं अज्जो ! अप्पणा चेव  
 तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए  
 यं ते अणउत्थिया ते येरे जगवंते एव वयासी-केणं कार-  
 णेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं० जाव एगंतवालाया वि भ-  
 वामो ? तए यं ते येरा जगवंतो ते अणउत्थिए एव व-  
 यासी-तुज्जे यं अज्जो ! अदिमं गिएहह ३, तए यं  
 तुज्जे अदिमं गेयहमाणा० जाव एगंतवालाया वि भवह ।  
 तए यं ते अणउत्थिया ते येरे भगवंते एव वयासी-केणं  
 कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिशं गिएहामो० जाव एगंत-  
 वालाया वि भवामो ? तए यं ते येरा भगवंतो ते अणउ-  
 त्थिए एव वयासी-तुज्जे यं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिशे  
 तं चेव० जाव गाहावइस्स यं तं नो खलु तं तुज्जे तए  
 यं तुज्जे अदिशं गिएहह । तं चेव० जाव एगंतवालाया  
 वि जवह । तए यं ते अणउत्थिया येरे भगवंते एव वयासी-  
 तुज्जे यं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंत-  
 वालाया वि भवह । तए यं ते येरा भगवंतो ते अणउत्थिए  
 एव वयासी-केणं कारणेणं अम्हे तिविहं तिविहेणं० जाव  
 एगंतवालाया वि जवामो ? तए यं ते अणउत्थिया ते येरे  
 भगवंते एव वयासी-तुज्जे यं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुडवी  
 पेवेह, अभिइणह, वत्तेह, लेहेह, संघाएह, संघट्टेह, परितावह,  
 किंतामह, उवद्वह, तए यं तुज्जे पुडवीं पेचेमाणा अजिह-  
 णमाणा० जाव उवद्वेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअ-  
 विरय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए यं ते येरा  
 जगवंतो ! ते अणउत्थिए एव वयासी-नो खलु अज्जो !  
 अम्हे रीयं रीयमाणा पुडवीं पेचेमा अभिइणामो० जाव उव-  
 द्वेमा ; अम्हे यं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं वा जागं वा  
 रीयं वा पदुच्च देसं देसेणं वयामो, पदेसं पदेमेणं वयामो,  
 तेणं अम्हे देसं देसेणं वयामाणा पदेसं पदेसेणं वयमाणा,  
 नो पुडवीं पेचेमा अजिहणामो० जाव उवद्वेमा, तए यं

अस्य उ त्विय

अम्हे पुढवीं अपेच्येमाणा असाभिहाणामाणं जाव अणो-  
 वणेमाणा, तिबिहं तिबिहेणं संजयं । जाव एगंतपदिपाया वि  
 बबामो १, तुज्जेणं अज्जो । अप्पणा चेव तिबिहं तिबिहेणं  
 अयमज्जणं जाव बत्ताया वि जवह । तए णं त अस्सउत्तियाया  
 थेरं जगवंते एवं वयासी-केणं कारुणं अज्जो । अम्हे ति-  
 बिहं तिबिहेणं एगंतवालाया वि जवामो ? । तए णं त थेरा  
 जवन्तो अस्सउत्तिए एवं वयासी-तुज्जेणं अज्जो । रीयं  
 रीयमाणा पुढवीं पेच्चेहं जाव उव्वेवह । तए णं तुज्जेणं ाव  
 पेच्चेमाणाणं जाव उव्वेवेमाणा तिबिहं तिबिहेणं जाव एगं-  
 तवालाया वि जवह । तए णं त अस्सउत्तियाया थेरं जगवंते एवं  
 वयासी-तुज्जेणं अज्जो । गयपाणं अणए बीडकमिज्जमाहो  
 अवीडकंते रायागिदं न्मरं संपाविउत्तये असंपत्त, तए णं ते  
 थेरा भवन्तो ते अस्सउत्तिए एवं वयासी-ना खल्लु अज्जो ।  
 अम्हे गयपाणं अणए बीडकमिज्जमाहो अवीडकंते राय-  
 गिदं नगरं । जाव अंसपथे अम्हे णं अज्जो । गयपाणे गए  
 बीडकमिज्जमाहो बीडकंते रायागिदं नगरं संपाविउत्तये संय-  
 तो तुज्ज्जं णं अप्पणा चेव गयपाणे अणए बिडकमिज्ज-  
 माणं बीडकंते रायागिदं नगरं । जाव अंसपथे तए णं ते थेरा  
 भवन्तो अस्सउत्तिए एवं पदिहंणंति । एवं पदिहंणंता गइ-  
 प्यवायनामं अज्जजयणं पएणवइं ।

(लेखमित्यदि) तत्र [अज्जो ति] हे आर्याः ! [ तिबिहं तिबिहेणं  
 ति] तिबिहं करणादिकं योगमाध्यय तिबिहेणं मम-प्रभृति-  
 कारणेन [अदिएणं नाइडकं ति] अदत्तं स्वदत्तं अनुमन्यथ  
 इत्यर्थः । [विज्जामो अदिणं इत्यादि] द्वायमानमदत्तं द्वायमा-  
 नमथ वत्सैलकालासाहाइत्तस्य च अतीतकालवर्तिन्यादु वतंमा-  
 नतीतयोइवान्यन्तं मिश्रावाहीयमानं दत्तं न भवति । दत्तंभ-  
 व इत्तमिति व्यपदिश्यते । एवं प्रतिशुभासाहादावपि । तत्र द्वा-  
 यमानं दावकापेक्षया, प्रतिशुभासायं प्राहकापेक्षया, निम्नजयमानं  
 किम्प्यमाय पात्रापेक्षयेति [अंतरे ति] अथस्ते । अयमजिमाय-  
 वहि द्वायमानं प्राजेऽपतितं सत्त्वं नयति तद्दा तस्य इत्स्यस्य स-  
 तः पात्रपतनसंज्ञकं ग्रहणं कृतं जयति । यद्वा तु तदा यमानमभ-  
 वत्, तदा प्रायतनसंज्ञकं ग्रहणमदत्तस्येति प्राप्तामिति । निम्नोन्ध-  
 तस्यार्थे तु-[अम्हे णं अज्जो । विज्जामो दिणं] इत्यादि यजुक्तं,  
 तत्र किंवाकालिष्ठाकालयोरेभेदोद्वायमानत्वार्थं दत्तंवादिस्वप्रय-  
 सेवामिति । अथ द्वायमानमदत्तमित्यादौ बन्धनन्यादौ द्यमेवा-  
 क्तवत्वादिमुष्णा इत्यादिवाच्यत्वात्पुष्पयुक्तिकाप्रति स्थावित्रः प्राहुः ।  
 (तुज्जेणं अज्जो । अप्पणा चेवेव्यादि) (रीयं रीयमाणा ति) इति  
 गयपन्, रीयमाणा गच्छन्तो, गयपन् कुवांणा इत्यर्थः । [पुढवीं पेच्चेहं  
 ति]पुढवीं आक्रामयथत्यर्थः । [अभिहणद ति]वादात्प्रायामिभु-  
 क्सेन हस्य [पच्चेह ति] पाणानिजातं शैव जनेयथ, इल्लहणतां न-  
 थव । [अक्केह ति] इत्सेवयथ, सुत्तमं शिल्लएत्त कुत्थय । [संघा-  
 व्ह ति] संघातवथ, संइत्तए कुत्थय । [अंघेह ति] संघ-  
 व्ह स्फुरथ । [परिनाघेद ति] परिनापयथ, समन्नास्तासन्ता-  
 पान् कुत्थय । [किलामेह ति] क्लमयथ, मारणात्तिकसमुदात्तं  
 वमयथ इत्यर्थः । [उव्वेवह ति] उपक्वचथ, मारयथ इत्यर्थः ।

[कामं व ति] कामं शृणवं प्रतीत्योच्चारदिकायकायमित्यर्थः ।  
 [योगं व ति] योगं यमानवेवात्तुयादिव्यापारं प्रतीत्य [ रीयं क  
 पकुच्च ति] अतं सत्यं प्रतीत्यात्कायाविज्ञाबस्तरकणसंज्ञकं स-  
 यममाभित्यर्थः । [दिसं देसेणं वयामो ति] प्रभृत्यायाः पुद्यव्या  
 ये चिबक्षिता देशास्तेनैतानो जाविणोणोयोसि मितिवरापणम्भ  
 खन्तनेदरापरिहारतोऽप्येतनेहंश्रीश्रीश्रीश्री इत्यर्थः एवं (पदसं प-  
 वेकेणं वयामो) इत्यपि, तवर्तं देशो तुमंमहंनगरसु, यद्वदुत्तु ल-  
 पुनरमिति । अर्थात्पुष्पयोगेन नाम्नाकमिवेपं यमवमस्तीत्य-  
 भिप्रायतः स्थवित्रा द्यमेव पुंशुष्णाकमणादिनाऽसंयतत्या-  
 दिशुष्णा इति प्रतिपादनायाऽन्ययुक्तिका प्रत्याहः- [ तुज्जे-  
 णं अज्जो ! इत्यादि ] भ० ० श० ७ उ० ।  
 प्रायमनमाभित्य तिबिहाः कृतोऽथ तदेषाभिवाऽन्ययुक्ता-  
 क्तवर्तिचपतः स पयोऽप्येन-

वे णं काले णं ते णं समए णं रायागिदं जाव पुढवीं ति-  
 लापट्टए तस्स णं गुणमिहस्स चेट्ठयस्स अदूरमामंते बहवे  
 अस्सउत्तियाया परिवसंति । तए णं समए जगवं महावीरं जाव  
 समोसहं जाव परिस्सा पदिगया । ते णं काले णं ते णं समए  
 णं समएस्स जगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतवासी इंदुदं  
 पाणं अणगारं जाव उहं जाणुं जाव विहरइ । तए णं ते  
 अस्सउत्तियाया जेणव भगवं गोयमे तेणव उवाणच्छइ । उवाग-  
 च्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-तुज्जेणं अज्जो ! तिबिहं  
 तिबिहेणं असंजयं जाव एगंतवालाया वि भवह । तए णं  
 भगवं गोयमे ते अस्सउत्तिए एवं वयासी-ने केणं कारुण-  
 णं अज्जो ! अम्हे तिबिहं तिबिहेणं अमंजयं जाव एगंत-  
 वालाया वि भवामो ? । तए णं ते अस्सउत्तियाया भगवं गोयमं  
 एवं वयासी-तुज्जेणं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणं पेवेह,  
 अज्जिहएणं जाव उव्वेह । तए णं तुज्जेणं पाणे पेच्चेमाणा  
 जाव उव्वेमाणा तिबिहं जाव एगंतवालाया वि जवह । तए  
 णं जगवं गोयमे ते अस्सउत्तिए एवं वयासी-णा खल्लु  
 अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पाणा पेच्चेमो जाव उव-  
 वेमो अम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं च जोथं च  
 रीयं च पकुच्च दिस्सा पेवेस्सा वयामो, तए णं अम्हे दि-  
 र्ना इ वयमाणा पदिस्सा इ वयमाणा णो पाणे पेच्चेमो  
 जाव णं उव्वेमा, तए णं अम्हे पाणे अपेच्येमाणा जाव  
 अणो उव्वेमाणा तिबिहं तिबिहेणं जाव एगंतपिंडाया वि जाव  
 भवामो, तुम्हे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिबिहं तिबिहेणं जाव  
 एगंतवालाया वि भवह । तए णं ते अस्सउत्तियाया भगवं  
 गोयमं एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे  
 तिबिहं जाव वि जवामो ? । तए णं भगवं गोयमे ते  
 अस्सउत्तिए एवं वयामो-तुम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा  
 पाणे पेवेहं जाव उव्वेह, तए णं तुम्हे पाणे पेच्चेमाणा  
 जाव उव्वेमाणा तिबिहं जाव एगंतवालाया वि जवह ।  
 तए णं जगवं गोयमे ते अस्सउत्तिए एवं पदिहंणंति । पदि-

इच्छाया जेषेव समथ जगवं महावीरे तेनेव उवागच्छद् ।  
 उवागच्छद्वा समथं भगव महावीरं बदेद् णमंसद् णचवा-  
 म्भे जाव पञ्जुवासद् गोमयादि मण्ये भगवं महावीरे  
 भगवं गोयमं एवं वयासी-सुद्ध ण तुम्ह गोयया ! ते अन्न-  
 उत्थिय एव वयासी-साहु णं तुमं गायया ! ते अन्नउ-  
 त्थिय एव वयासी-अत्थिय णं गोयया ! ममं बह्वे अंतवासी  
 ममणा णिगंथा उउभयथा जे णं णो पजू एय बागरण् बा-  
 गरत्तप जहा णं तुमं तं सुद्धु णं तुमं गायया ! तं अणज-  
 त्थिय एव वयासी-साहु णं तुमं गायया ! ते अन्नउत्थिय  
 एव वयासी ॥

[ पेबेइ लि ] आकामथ ( कायं च लि ) देहं प्रतीत्य प्रजाप  
 त्ति योनाः देहभेदमनशका भवति, तदा प्रजासो नाम्यथा, अ-  
 न्नशकटादित्यर्थः । योमं च स्यमव्यथापदं ज्ञानाणुपपन्नकर्म,  
 प्रजाजने जिज्ञाऽऽनान्दि न तं विनेत्यर्थः [ रीयं च लि ] गमनं च  
 अन्तर्विनादिकं गमनविशेषं प्रतीत्याश्रित्य कायमित्याह-[ विस्सा  
 विस्सा लि ] दृष्टा दृष्टा । [ पविस्सा पविस्सा लि ] प्रवर्षण दृष्टा  
 दृष्टा । ( १० १८ श्लो ८ उ० )

( १७ ) अमणानां कृता क्रिया कियेत-  
 न वा ? इत्यत्र विवाद -

अणउत्थिया णं जंते । एवमाइकस्वद, एवं भोमइ, एवं  
 पस्वे-कहमं समणा णं निग्मोथा णं किरिया कज्जंते ? ।  
 तत्थ जा मा कदा कज्जइ णो तं पुच्छंते ? । तत्थ जा सा  
 कदा णो कज्जइ णो तं पुच्छंते ? । तत्थ जा सा अकदा  
 कज्जइ तं पुच्छंति ? । तत्थ जा सा अकदा णो कज्जइ णो  
 तं पुच्छंति ? । स एव वत्तवं सिया अकिञ्चं दुवलं अकुत्तं  
 दुवलं अकज्जमाणकं दुवलं अकट्टु अकट्टु पाणा जूया  
 जीवा सत्तायेणणं वेपंति, वत्तवं जे ते एवमाहुंनु । ते मिच्छा ।  
 अइं पुण एवमाऽस्सामि, एवं ज्ञासामि, एवं पञ्चवेमि, एवं  
 पस्वेमि-किञ्चं दुवलं किज्जमाणं कं दुवलं कट्टु कट्टु पाणा  
 जूया जीवा सत्तायेणणं वेपंति ति वत्तवंसिया ॥

“अन्नउत्थियेत्यादि” प्रायः स्पष्टव, किन्त्वन्तीर्थिका इह ताप-  
 सा बिजज्ञानवन्त एवं बह्व्यमाणप्रकारमावधानिं सामान्यतो  
 भावन्ते, विशेषतः क्रमेणतदेव प्रहापयानिं प्रकृपयन्तीति  
 पर्यवहृपपदद्वयेनोक्तमिते । अथवाऽऽवधानोपप्रापन्ते, व्यक्त-  
 अथवा प्रहापयन्ति, उपपत्तिभिर्बोधयन्ति प्रकृपयन्ति प्रवेश-  
 किञ्चनत इति । किं तद्विवाह-कथं केन प्रकारेण अमणानां  
 निर्गमनानं वन्त इति शेषः । कियेत इति क्रिया कर्म, स  
 कियते भवति दुःखायति विषयैति प्रश्नः । इह अन्तरो भङ्गाः  
 नथथा-कृता कियते विहिते सत्कर्मं दुःखाय भवतीत्यर्थः ।  
 एवं कृता न क्रियते २, अकृता कियते ३, अकृता च कियत  
 इति ४ । एतद्वचनं प्रश्नेन यो अहः प्रवृत्तियन्ते शेषमङ्गि-  
 राकरणपूर्वकमभिधानुमाह-(तथा लि) तेषु वतुषु भङ्गकेषु म-  
 र्चं प्रथमं द्वितीयं वतुषु च न पुच्छन्ति । एतन्नयस्वात्पत्तस्वरेवि-

पयनथा तत्रग्रहणस्याप्यमवृत्तेरिति । तथाहि-वाऽसौ कृता क्रि-  
 यते यत्कर्मं कृतं न भवति नो तत् पुच्छन्ति, अत्यन्तविराधि-  
 नासम्भवात् । तथाहि-कृतं चेत्कर्म कथं न भवतीति ? उच्यते ।  
 न प्रवति चेत्कर्मं कृतं तदिति, कृतस्य कर्मणोऽनवनावावा ।  
 तत्र तेषु वाऽस्यापकृता यत्कृतं कर्मं नो कियते न भवति  
 नो तां पुच्छन्ति अकृतत्वात्सत्त्वः कर्मणः अरविषाणकपयत्वा-  
 दिति । अमुमेव च अङ्गश्च निषेधमाश्रित्यास्य सूत्रस्य त्रिसृण-  
 नाकावतार इति संज्ञायते । नृतीयमङ्गकस्तु तत्सम्मत इति  
 तं पुच्छन्ति । अत एवाह-तत्र यासावकृता कियते पसाहकृतं पु-  
 र्वंमविहितं कर्म भवति दुःखाय सम्पद्यते, तां पुच्छन्ति पूर्वका-  
 हकृतत्वस्याप्राप्त्यक्तयाऽस्तरेन दुःखानुपत्तौ प्रत्यक्तया स-  
 र्वेनाकृतकमभवनपक्षस्यासम्भवात्तदिति । पुच्छतां चायमभि-  
 प्रायः-यदि निषेधा अपि अहंतेव कर्मं दुःखाय वेहितां भव-  
 तीति प्रतिपद्यन्ते, ततः सद्यु शोभनं अस्त्वमनामोघाद्यादिति ।  
 शेषाह पुच्छन्तस्तृतीयमेव पुच्छन्तीति भावः । [ स्तलि ] अथ  
 तेषामकृतकर्मण्युपपत्तयामं यद्बह्व्यमाणप्रकारं वत्तव्यमुद्घापः  
 स्यात् । त एव वा एवमावधानिं पराद् प्रति यदुत्त श्रेयं व-  
 त्तव्यं प्रकृपणीयं तत्त्वयादिनां स्याद्बह्वेव, अकृते सति कर्म-  
 णि दुःखानावात् । अकृत्यमकर्णायमवृत्तयिमतप्राप्तयमन-  
 गे काले जीवात्तमित्यर्थः किं दुःखं ? दुःखइत्यादि । [ अ-  
 कुत्तं लि ] अकृत्यं कर्मकृत्याद्येव, तथा कियमाणं च वर्तमा-  
 नकाले षड्यमाणं कृतं वाऽतीतकाले षडं कियमाणम् । इदं कृत्यं,  
 कर्मधारयो वा । न कियमाणकृतमकियमाणकृतम् । किं दुः, दुःखः  
 ? “अकिञ्चं दुष्कृतमित्यादि” एतदर्थं [तथ जा सा अकदा  
 कज्जइ ] तं पुच्छन्तीत्यन्तीर्थिकायामिति कालत्रयात्मनमा-  
 श्रित्य त्रिसृणनाकावतारोऽस्य उच्यते । किमुक्तं प्रवतीत्याह-  
 अकृत्या अकृत्याः । प्राणा द्विन्द्रियाद्यः, ज्ञातस्मरचः, जीवाः  
 पञ्चन्द्रियाः, सन्तः किञ्चिदाद्यः । यथोक्तम्-“प्राणा त्रि-  
 चतुःप्राकाः, भूतान्स्तु तरयः स्मृताः । जीवाः पञ्चक्रिया शेषाः,  
 शोषाः सस्वा इतीरिताः” ॥ १ ॥ ४८नां पंजां वेदयन्तीति व-  
 क्तव्यमित्यर्थे तेषामुद्घापः । एतद्वा तं प्रहाणोपहनपुत्रकथं ज्ञा-  
 न्तं पराद् प्रति यदुत्त एवं वक्तव्यं स्यादिति प्रश्नः । पथमन्ती-  
 र्थिकमतमुपबह्वेव निराकुलंवाह-[ जे ते इत्यादि ] य एते अ-  
 न्न्तीर्थिका पथमुक्तप्रकारमाहुः [ मुत्ति ] उक्तवन्तो मित्थाः अस्-  
 त्वकृततेऽन्वतीर्थिका पथमुक्तवन्तः, अकृत्याः क्रियावानुपपत्तेः ।  
 कियते इति क्रिया यस्यास्तु कथञ्चनपि करणं नास्ति स्य कथं  
 कियते ? अकृतकमानुभवेन इह वत्तमुक्तसुखिणः कियतादिति-  
 नयव्यवहारानावप्रसङ्ग इति स्वमनमाविष्कृतंवाह-[ अह-  
 मित्यादि ] अहमित्येवमेव नावन्तीर्थिकाः, पुनःशोषाः विशेष-  
 णाथः । स च पूर्ववत्तथायाद्यं सत्त्वायाद्यं स्य विलक्ष्यतत्तामाह-  
 [ एवमाहकर्मणोऽप्यादि ] पूर्ववत् । कृत्यं करणीयमनागतकालं  
 दुःखं तत्केतुत्वात्, कर्म स्पृश्यं स्पृष्टलक्षणवन्धावस्थायोम्यम, क्रि-  
 यमाणं वर्तमानकाले कृतमतीतं अकृतं नास्ति कर्मणोऽकृत्य-  
 नापीति भावः । स्वमनस्यैवमवाह-कृत्या कृता, कर्मैति गम्यते ।  
 प्राणादयो वेदानं कर्मकृत्यप्राह्वानुत्तिति वेदयन्त्यनुपपन्तीति  
 वक्तव्यं, स्वात्सम्प्रदाविति माह । स्यात् ३ उ० २ उ० ।  
 [ जीवोवात्मानो ] ( तत्र जन्तीन्द्रियस्य जीवस्य सति ‘संयुक्त’  
 शब्दे मरुहकः करिष्यते )

( ८ ) प्राणातिपातादौ तद्विप्रमणादौ च वर्तमानस्याथो जी-  
 वोऽन्यो जीवात्मेति विप्रतिपत्तिः-

अष्टउत्थिया एं भंते । एवमाङ्कलंति० जात्र परूवति-  
एवं खलु पाण्ड्यावाए सुसावाए० जात्र मिच्छादंसखसङ्गे  
बट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया पाण्ड्यावावेरमणे०  
जात्र परिग्गाहवेरमणे कोहरविणे० जात्र मिच्छादंसखसङ्ग-  
विनेगे बट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया उप्पत्तियाए०  
जात्र पारणाभियाए बट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया  
उम्हादे ईहा अवाए बट्टमाणस्स० जात्र जीवाया उट्ठाए०  
जात्र परकमे बट्टमाणस्स० जात्र जीवाया खेरइयत्ते तिरि-  
कसवाणस्स देवत्ते बट्टमाणस्स० जात्र जीवाया खाणा-  
वरणिज्जे० जात्र अंतराइये बट्टमाणस्स० जात्र जीवाया,  
एवं कण्डलेस्साए० जात्र सुक्केस्साए० सम्माहिटीए ३,  
एवं चक्कुदंसए ४ आभिणिगोहियणाए ५ एइआणा-  
णे ३ आहारसएणाए ४ एवं खोरालियसरीरे ५, एवं  
मणजोए ३, सागरोवअंगे अण्णागारोवअंगे बट्टमाणस्स  
अएणे जीवे अएणे जीवाया, से कइयेवं जंते ! एवं ? ।  
गोयया ! जएणं ते अएणउत्थिया एवमाङ्कलंति० जात्र  
मिच्छं ते एवमाहुंभु । अइं पुण गोयया ! एवमाङ्कस्वामि०  
जात्र परूवेमि-एवं खलु पाण्ड्यावाए० जात्र मिच्छादंसखस-  
ङ्गे बट्टमाणस्स सवेव जीवे सत्त्वेव जीवाया० जात्र अणा-  
गारोवअंगे बट्टमाणस्स सत्त्वेव जीवे सत्त्वेव जीवाया ।

अन्ययुक्तिप्रकमार्थदेवमहा—( अष्टउत्थिया णमिम्यादि )  
प्राणातिपातादिषु वर्तमानस्य हेतुः ( अष्टो जीव इति ) जी-  
वति प्राणात् धारयतीति जीवः, शरीरे प्रकृतिरित्यर्थः । स्व-  
स्वाम्यो ध्यतिरिक्त अन्यो जीवस्य देहस्य सम्बन्धी अविच्छि-  
दत्वादात्या जीवात्मा, पुरुष इत्यर्थः । अन्यस्य च तयोः पुरुषा-  
पुरुषत्वमावत्यात् । ततश्च शरीरस्य प्राणातिपातविषु वर्तमा-  
नस्य इत्यवमानस्यात् । शरीरमेव तत्कर्तुः, न पुरातनस्यैके । अ-  
न्ये तथाऽऽ-जीवतीति जीवो नाकारविपर्यायः, जीवात्मा तु स्व-  
र्षेभदानुगामि जीवइत्यं द्रव्यपर्याययोःस्वाभ्यस्यथ, तथाविधप-  
तिनासंभेदनिष्पन्नत्वात्, घटघटादिवत् । तथाहि-इत्यमनुना-  
साकारं बुद्धि जनयति, एवमोयास्त्वनुगतकारामिति । अन्ये  
तथाऽऽ-अन्यो जीवोऽन्यथा जीवात्मा जीवस्यैव स्थकपमिति ।  
प्राणातिपातादिभिर्विभक्तिविधानात् । अत्र सर्वोपस्थासु जीवजी-  
वात्मनोऽभेदकथापनार्थमिति परब्रह्मते । स्वमते तु- (सत्त्व जीव  
सत्त्वैव जीवाव इति) स एव जीवः शरीरं स एव जीवात्मा जीव  
इत्यर्थः, कथञ्चिदिति गम्यथ । नह्यनयोरेत्यन्तं भेदः, अन्वन्तरेदे  
हेतुन रूपद्रव्यासंभेदमप्रसङ्गो देहहतस्य च कर्मणो जन्मान्तरे  
वेदनाप्रज्ञाप्रसङ्गः । अयत्कृतस्याप्यसंयतं चाकृतान्यगमप्रस-  
ङ्गोपरश्च, अनेदे च परलोकान्नाय इति । इत्यपर्यायव्याख्या-  
भेषि न इत्यपर्यायोपरत्यन्तं नैव त्स्यानुपसभेः । यच्च प्रति-  
पत्तिसमो मासावात्यन्तिकजन्मैरुक्तः, किन्तु पदार्थानामव तुल्या-  
नुत्पत्त्यपकृत इति जीवात्मा जीवस्यरूपम् । इह तु स्यावयाने  
स्वरूपवतो न स्वरूपमयत्वं मिथं, भेदे हि तिःस्वरूपता तस्य  
प्राणोति । नच शब्दभेदे वस्तुनो भेदेऽस्ति, शिलापुत्र-  
कस्य घटुरित्यादावप्येति ॥ म० १७ श्लो० २३० ।

( ९ ) [ परिचारणा ] परिचारणा कालगमस्य निम्नैरुत्थ-  
-

अष्टउत्थिया एं भंते । एवमाङ्कलंति, पसवेति, परूवेति-  
एवं खलु निधेउकालगए समाणे देवस्सुएणं अण्णाणेणं  
से णं तत्थ नो अण्णदेवे नो अस्सेसिं देवाणं देवीअो अ-  
भिजुजिय अभिजुजिय परिवारंइ, एो अण्णणिबियाओ  
देवीअो अजिजुजिय अजिजुजिय परिवारंइ, अण्णणामेव  
अण्णाणं विजज्जिय ५ परिवारंइ; एगे वि य एं जीवे एगे-  
णं समएणं दो वेदे वेदे । तं जहा-इत्थिवेवं च पुरिसवेवं  
च । एवं अष्टउत्थियवत्त्वया नेपस्वा० जात्र इत्थिवेवं च  
पुरिसवेवं च स कइयेवं जंते ! एवं ? । गोयया ! जंसं ते अष्ट-  
उत्थिया एवमाङ्कलंति० जात्र इत्थिवेवं च पुरिसवेवं य ।  
जंते एवमाहुंभु, मिच्छां ते एवमाहुंभु । अइं पुण गोयया !  
एवमाङ्कस्वामि० जात्र पकवेमि-एवं खलु निधेउ कालगए  
समाणे अण्णपरंइ देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो जवंति,  
महिहियसु० जात्र महाण्णामेसु दूरंगतीसु चिरद्वितीसु से णं  
तत्थ देवे जवइ महिहिए० जात्र दस दिमाओ उज्जावेमाणं  
पत्तासमाणे० जात्र पटिइव, सेणं तत्थ अएणे देवे अममिं  
देवाणं देवीअो अजिजुजिय २ परिवारंइ, अण्णणिबि-  
याओ देवीअो अजिजुजिय अभिजुजिय परिवारंइ, नो  
अण्णणामेव अण्णाणं वेउज्जियं परिवारंइ, एगे वि य एं जीवे  
एगेणं समएणं एणं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेवं वा पुरि-  
सवेवं वा । जं समयं इत्थिवेवं वेदेइ दो तं समयं पुरिसवेवं  
वेदेइ, अं सत्त्वं इत्थिवेवं वेदेइ, अं सत्त्वं इत्थिवेवं वेदेइ  
वेदा । इत्थिवेवत्स इत्थिवेवं नो पुरिसवेवं वेदेइ, पुरिसवेवत्स-  
उदएणं नो इत्थिवेवं वेदेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं सम-  
एणं एणं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेवं वा पुरिसवेवं वा ।  
इत्थी इत्थिवेएणं उदिसेणं पुरिसं पन्थेइ, पुरिसो पुरिस-  
वेदेएणं उदिसेणं इत्थिवे एत्थेइ । दो वेए अण्णमथं पत्थेइ ।  
तं जहा-इत्थी वा पुरिसं, पुरिसा वा इत्थिं ॥

( अष्टउत्थिय इत्यादि ) ( देवजन्म संति ) देवजन्मेन आत्माना कार-  
णानुत्तनेनो परिचारयतीति योगः ( मंति ) । प्रसी ( निम्नैरुत्थैवत्स-  
त्रैयसोके नो नैव ( अष्ट ) इति ) अण्णात् प्राणान्तरिकत्वात् देवान्  
सुरान्, तथा नो अन्वयं देवानां संवर्धनोर्ध्वैः ( अजिजुजिय  
इति ) अभिवुज्य वशीहृत्य आत्त्रिय वा परिचारयति परियुक्ते  
( णा अण्णणिबियाओ इति ) आत्मीया ( अण्णणामेव अण्णाणं विज-  
जिय इति ) कोपुणरूपतया विवृत्य । एयं च इत्थिते ( एगे वि च  
णमिम्यादि परउत्थियवत्त्वया गेयज इति ) एयं चेत्यं ज्ञातव्या-  
“ जं समयं इत्थिवेवं वेदेइ तं समयं पुरिसवेवं वेदेइ, जं सम-  
यं पुरिसवेवं वेदेइ तं समयं इत्थिवेवं वेदेइ, इत्थिवेवत्स वे-  
वणयाए पुरिसवेवं वेदेइ पुरिसवेवत्स वणणयाए इत्थिवेवं  
वेदेइ, एवं खलु एगे वि णमिम्यादि” ( मित्यायं वैचामेवच-स्त्री-  
रूपकरणेऽपि तस्य देवस्य पुरुषस्यापुणरवत्त्वस्यैकत्र समये  
उदयो न स्त्रीवत्स्य, नपुंरित्युत्था वा स्त्रीवत्स्यैव न पुरुषवत्-  
स्येत्ययः परस्परवैकृत्यादिति । [ देवनेपेतु इति ] देवजन्म

मथे [ उववस्तारो जयंति स्मि ] प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवती-  
ति इत्ययम् । "महि(द्विप) इत्यत्र यावत् करणादिर्देहयम्- "मह-  
उद्देप महाक्षे महाजसे महासोक्ष्मे महाशुभान्ग इतरविदा-  
यवर्षे कस्यनुक्रियार्थमियभूए" । मुद्रिका बाहुद्विकिका [ अंग-  
यकुंमलमङ्गलकपोतधारं ] अङ्गदानि शास्त्राभरणविशेषान्,  
कुपडशास्त्रि कण्ठाभरणविशेषान्, मृश्रणदानि शौचि/खिलकपो-  
लानि, कर्णपोडानि कर्णाभरणविशेषान्, धारयतीत्येवं शालो यः  
स तथा । [ विचित्रहृद्यानरणे विचित्रशास्त्राभ्रक्षिमेवेन ] वि  
चित्रमाला च क्लृप्तमञ्जु मैत्री मस्तके मुकुटं च यस्य स त-  
था, इत्यादि यावत् । [ रिक्ताए लुईए पजाए ग्रायाए अग्नीए ते-  
ए एं हेस्साए दस दिस्वाओ उज्जाएमाणे स्मि ] तत्र अद्धिः परि-  
वारदिका, युतिरिष्टार्थस्योगः, प्रभा यानादिद्वांसिः, ज्ञया शोभा,  
शार्ङ्गिः शरीरस्वरुनदितेजोवासा, तेजः शरीररौचिः, लज्या दे-  
वध्वेषः, एकाधोवन्तः । वृद्योतयप्रकाशकण्ठेन [ पानसिमाण  
स्मि ] प्रनासयद् शोभयद् इह यावत्करणादिर्देहयम्- [ पा-  
साइए ] दृष्टान् विष्टप्रसादजनकः [ दूरसन्धिज्जं य ] परयच्छु-  
कं श्राभ्यति [ अभिरुवे ] मनोङ्कपः [ पदिरुवे स्मि ] छुटारं प्र-  
ष्टारं प्रति रूपं यस्य स तथा । एकैनेकदा एक एव वेदा वेद्यन् ।  
इह कारयमाह- [ इत्थी इत्थीवेपणमित्यादि ] अ० १० श० ७० ।

( १० ) बाह्यपरिदत्तते—

अस्र उत्थिया एं जंते ! एवमाइकवंति० जाव परुवैति-  
ति-एवं खलु समया पंडिषा समणोगामसा बालपंडिया ।  
जस्म एं एगपाखाए वि दंके अग्निक्लिस्ते, से एं एगंतवा-  
हे स्मि वत्तव्वं मिया, से कहम्येवं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं एं  
ते अस्र उत्थिया एवमाइकवंति० जाव वत्त-ं मिया, जे ते  
एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! ० जाव  
परुवैमि-एवं खलु समणा पंडिया समणोगामसा बाल-  
पंडिया, जस्म एं एगपांण वि दंके णिक्लिस्ते, से एं एो  
एगंतवाले स्मि वत्तव्वं मिया ॥

एतत्किञ्च पक्रद्धं जिनाजिमतेमेवानुवाद्परतयोक्त्वा टित्तीयप-  
कं वृषयन्तस्ते वृद्धं प्रहापयन्ति- ( जस्स एं एगपाणाए वि दंके-  
इत्यादि ) [ जस्स स्मि ] येन वेदंदिना एकप्रमाणियकथापि जीव  
सापराधादे, पृथिवीकायिकादी वा किं पुनर्वहृदुप दृष्टको वधः ।  
[ अग्निक्लिस्ते स्मि ] अग्निक्लिस्तेऽनुजितेऽप्यत्याख्यातो भवति ।  
स एकान्तबाल इति वक्तव्यः स्यात् । एवं च अमणोपासका एका-  
न्तवासा एव न बाह्यपरिदत्ता, एकांतवासासम्पदंशानिबन्धनस्यास्ये-  
प्राणिएदृशत्यागस्य भावाद् इति परममथ । स्वयन्ते तु-एकप्रमाणिय-  
पि येन द्वापरिहारः कृतोऽसौ नैकात्मन बाह्यः, किं तदि ? बाह्य-  
परिदत्तः विरयर्थसास्त्रायेन मिश्रत्वात् सत्यं । एतदेवाह- ( जस्स ज-  
मित्यादि ) एतदेव बालस्यादिजीवाविविक्तपयशाह- ( जीवाप-  
मित्यादि ) प्राणुक्त्वात् संयत्तादीनामिहाकारानं च परितृतादीनां  
वधपि शब्दत एव भवेत् नार्थतस्तथापि संयतत्वादिद्वयपदेशः  
क्रियाभ्यपेक्षः, पण्डितत्वादिद्वयपदेशस्तु बाधविशेषापेक्ष इति ।  
ज० १७ श० २ उ० ।

( ११ ) जाथा—

रायगिहे० जाव एवं वयामी-अस्र उत्थिया एं भंत ! एव-  
माइकवंति० जाव परुवैति-ए- खलु केवली जक्खाएसेणं

आइस्संति । एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइहे समाणे  
आहव दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सक्कामोसं  
वा, से कहम्येवं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं एं ते अएणउ-  
त्थिया० जाव जं एं एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण  
गोयमा ! एवमाइकस्वामि० ए- एा खलु केवली जक्खाएसेणं  
आइस्सइ, एा खलु केवली जक्खाएसेणं आइहे समाणे  
आहव दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सक्कामोसं  
वा; केवली एं अमावज्जाओ अपरोवपाइयाओ आहव दो  
भासाओ भासइ । तं जहा-सव्वं वा असक्कामोसं वा ॥

( जक्खाएसेणं आइस्सइ स्मि ) वैश्वेशानाविद्ययनेऽधिधीयत  
इति [ नो खलु इत्यादि ] नो खलु केवली यज्ञावेशानाविद्ययने  
ऽनन्तरीत्येत्वात्तन्मयः (अस्रवादि स्मि)अस्रवादिष्ठः परवशीकृतः स-  
त्यादिभाषाद्वयं च जायमाणः केवली उपपिप्रहप्रणधानादिकं  
विचित्रं वस्तु ज्ञापत इति । अ० १० श० ७ उ० ।

( १२ ) [ मनुच्योक्तः ] पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोको  
मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः—

अस्र उत्थिया एं जंते ! एवमाइकवंति० जाव परुवैति-से  
जहा नामए लुब्धं जुवाणं हत्थेणं हत्थं गेएहज्जा, चक्कस वा  
नाभी अरागाउत्थासिया, एवामंत्र चत्तारि पंच जायणसयाइ  
बहुसमाइएणं मशुयलोए माणुस्सेदिं, से कहम्येवं भंत ! एवं ?  
गोयमा ! जसं ते अस्र उत्थिया जाव माणुस्सेदिं जे एवमाहंसु,  
मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइकस्वामि० जाव-  
एवामंत्र चत्तारि पंच जायणसयाइ बहुसमाइएणं नरयलोए  
नेरइएदि ।

( अस्र उत्थियेत्यादि ) ( बहुसमाइनेति ) अत्यन्तमाकीर्णम्,  
मिथ्यात्वं च लक्ष्मणस्य विज्ञहृत्तानपुत्रेकत्वात्सत्यमित्ति ॥ ज०  
४ श० ६ उ० ।

( १३ ) [ वेदना ] सर्वे जीवा अनेवंभूतं वेदनां वेदयन्ते  
इत्यत्र विवादः—

अस्र उत्थिया एं जंते ! एवमाइकवंति० जाव परुवैति-सन्वे  
पाणा सन्वे ज्ञया सन्वे जीवा सन्वे सत्ता एवंजुयं वेयणं  
वेदंति, से कहम्येवं भंत ! एवं ? गोयमा ! जसं ते अस्र उ-  
त्थिया एवमाइकवंति० जाव वेदंति; जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते  
एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! ए. माइकस्वामि० जाव परु-  
वैमि-अत्येगइया पाणा ज्ञया जीवा सत्ता एवंभूयं वेयणं  
वेदंति, अत्येगइया पाणा ज्ञया जीवा सत्ता अणवंपुयं वेय-  
णं वेदंति । से केण्हे ए अत्येगइया तं चेव उक्कारेवव्वं ?  
गोयमा ! जएण पाणा ज्ञया जीवा सत्ता जहा कदा कम्मा  
तथा वेयणं वेदंति, तेण पाणा ज्ञया जीवा सत्ता एवंभूयं  
वेयणं वेदंति, जेण पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कदा  
कम्मा नो तथा वेयणं वेदंति. तरणं पाणा ज्ञया जीवा सत्ता  
अत्येवंपुयं वेयणं वेदंति, से तेण्हे एं तद्वेव ॥

( एवंभूयं वेद्यं ति ) यथाविधं कर्म निबन्धमेव नूनामेवमका-  
 एतयोपस्थां वेदनामसातादि कर्मोद्यं वेद्यन्त्यनुभवानि । मि-  
 थ्यान्वैततद्वादिनामेवम-न हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्मोऽनुभू-  
 येत, आधुः कर्मणा व्यभिचारात् । तथाहि-दीर्घकाशानुभवनी-  
 यस्तान्याधुःकर्मणोऽपि यसाऽपि कालेनानुज्ञां भवति, कथम-  
 न्यथाऽन्यत्रयुव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात् । कथं वा महा-  
 क्षुण्डगारी जीवश्चक्षुणामप्येकैव म्रुयुरुपदेतेति । [ भयोव न्युयं  
 पि लि ] यथा बद्धं कर्म नैवमनूताऽनेवमनूता, अतस्तामः भूयते  
 आगमे-कर्मणः स्थितिघातरसघाताद्य इति ॥ अ० ६ श० ५ उ० ।

अपणउत्थिया णं भंते । एवमाइकखंति० जाव परुवैति-  
 एवं खलु सव्ये पाणा नूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वे-  
 यणं वेयंति, से कइमंयं भंते । एवं ? गोयमा । जएणं ते  
 अणउत्थिया० जाव मिच्छंते एवमाहुंमु । अइं पुण गोयमा ।  
 एवमाइकखामि० जाव परुवैति-अत्यंगइया पाणा नूया  
 जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति । आइह सायं अत्यं-  
 गइया पाणा नूया जीवा सत्ता एगंतं सायं वेयणं वेयंति,  
 आइह असायं वेयणं वेयंति, अत्यंगइया पाणा ४ वेमाणाए  
 वेयणं वेयंति, आइह सायमसायं से केण्णे एं ? गोयमा ।  
 नेरइयं एं एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति, आइह सायं भवणउ-  
 बाणमंतजोडमवेमाणाया जाव एगंतं सायं वेयंति, आइह असायं  
 पुढाकिआऽणं जाव मणुत्ता वेमाणाए वेयंति, आइहच्च  
 सायमसायं , से तेण्णे एं ॥

( अश्वउत्थियेयादि ) ( आइहच्च सायं ति ) कदाचित्सातां वे-  
 दनाम । कथामिति ? उच्यते—“उववापण च स्वायं,नेरइओ देवक-  
 म्मुणा वा सि”।(आइहच्च असायं ति) देवा आहननंप्रियविप्रयो-  
 गादिष्वसातां वेदनां वेद्यन्तीति । (वेमाणा य लि) विविधया  
 मात्रया कदाचित्सातां, कदाचिदसातामित्यर्थः । ज० ६  
 श० १० उ० ।

( १४ ) [ दीश्रम ] शीशं भेयः , भुतं भेय इत्यत्रान्यव्यूहिकैः  
 सह विचारः—

रायमिहं० जाव एवं वयासी-अणउत्थिया एं भंते । एव-  
 माइकखंति० जाव परुवैति-एवं खलु सीलं सेयं, सुयं सेयं,  
 सुयं सीलं सेयं, से कइमंयं जंते । एवं ? गोयमा । जं जं ते  
 अणउत्थिया एवमाइकखंति० जाव-जे ते एवमाहुंमु, मिच्छंते  
 ते एवमाहुंमु । अइं पुण गोयमा । एवमाइकखामि०  
 जाव परुवैमि-एवं खलु म चत्तारि पुरिमपाणा पयसत्ता ।  
 तं जइा-सीलसंपथे नाम एगे नो सुयसंपथे १ । सुयसंपथे  
 नाम एगे नो शीशसंपथे २ । एगं सीलसंपथे त्रि सुयसंपथे  
 चि ३ । एगे नो सीशसंपथे नो सुयसंपथे ४ । तत्थं जं से  
 पदमे पुरिसजाए, से एं पुरिसे सीशवं इमुयवं उवरए  
 अब्रिषाययम्ये । एम णं गोयमा । मए पुरिसे देसाराहए पण-  
 चे ? । तत्थं एं जे से दोषे पुरिसजाए, से एं पुरिसे अमी-

इवं सुतवं अणुवरए विण्णायधम्मं, एम एं गोयमा । मए  
 पुरिसे देसविराहए पणचे २ । तत्थं एं जे से तथे पुरिस-  
 जाए से एं पुरिसे सीशवं सुतवं उवरए विण्णायधम्मं, एम  
 एं गोयमा । मए पुरिसे सव्वाराहए पणचे ३ । तत्थं एं  
 जे से चउत्थे पुरिसजाए, से एं पुरिसे असीशवं अमु-  
 तवं अणुवरए अब्रिषाययधम्मं, एम एं गोयमा । मए-  
 पुरिसे सव्वविराहए पणएते ।

अस्य सूत्रयनुसारेण व्याख्या-एवं लोकासिद्ध्यायेन खलु  
 निश्चयेन इहाऽन्यव्यूहिकाः क्वचिक्रियायाभावेवाऽभीष्टाऽर्थसि-  
 ष्चिद्व्यञ्जिते । न च किञ्चिदपि ज्ञानेन प्रयोजन, निश्चेष्टयात् ;  
 घटादिकरणप्रसूतावाकाशाद्विपदाधैषत् । पठन्ते च-“क्रियेय  
 फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः खीं भूयभोगको, न  
 ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥” १ । तथा-“जहा खरं चंदएजारावाही,  
 भारस्स जग्गी न हु चंदणस्स । एवं खुं नाणी वरणणहीणं,  
 नाणस्स जग्गी न हु समंइए ॥” २ । अतस्ते प्रकृपयन्ति-शीलं भे-  
 यः प्राणातिपातादिविरमण्यानाध्ययनादिकृया क्रियेव हेयंऽति-  
 शयेन प्रशस्यं , सुशुभ्यपुरुषार्थसाधकत्वाच्चेवं वा समाभयणीयं  
 पुरुषार्थवशेषार्थिना । अन्ये तु ज्ञानदेवेष्टाद्यसिद्धिमिच्छन्ति, न  
 क्रियातः, ज्ञानविकलस्य क्रियातोऽपि फलसिद्धिर्नास्तीति । अ-  
 ध्यायन्ते च-“विक्षन्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्या-  
 ज्ञानाप्रभु तस्य, फलसंवाडदर्शनात् ॥” ३ । तथा-“पदमं नात्तं  
 तवोदया, एवं चिह्रद स्वयमंजया अस्मार्गी किं काहो किं वा, नाहो  
 वेयपावयं ॥” १ ॥ अतस्ते प्रकृपयन्ति-भूतं भेयः, भूतं पुनहा-  
 नं तदेव धीलोऽतिप्रशस्यमाश्रयणीयं वा; पुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वा-  
 द् ; न तु शीलमिति । अन्ये तु ज्ञानक्रियाभ्यामन्यांन्येनेपेक्षा-  
 न्यां फलमिच्छन्ति । ज्ञानं क्रियाविकल्पमेवंपसजनीयुक्तं वा  
 फलदम् । क्रियाऽपि ज्ञानविकला लयमर्जनात्तज्ज्ञाना वा फलद-  
 ति भावः । अणुगितं च-“किञ्चिद्वैदमं पापं, किंचत्पाप तपोम-  
 यम् । आगमिष्यसि यन्पात्रं, तपयत्र तारयिष्यति ॥” १ ॥ अत-  
 स्ते प्रकृपयन्ति-भूतं भेयः, तथा शीलं भेयः, द्वयोरपि प्रत्येकं पुरु-  
 षस्य पथिष्वनानिबन्धनवादिनि । अन्ये तु व्याचक्षते-शीलं भे-  
 यस्तावन्मुख्यवृत्त्या, तथा भूतं भेयः, भूतमपि भेयो, गौणवृत्त्या  
 तदुपकारित्वादिप्रत्ययैः, इत्येकौयं मतम् । अन्येदीयमतं तु भूतं  
 भेयस्तावत् । तथा शीलमपि भेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादि-  
 प्रत्ययैः । इयं चार्थे इह सूत्रे काकुत्थागाल्लस्यते । एतस्य च प्रथ-  
 मव्याख्यानेऽन्यव्यूहिकमतस्य मिथ्यात्वं, पुत्रां नपक्कयवस्सापि फ-  
 लसिद्धिवाचनइत्यात्, समुदायपत्त्यर्थं च फलसिद्धिकारणत्वात् ।  
 आह च-“ नाणं पयामयसो, इओ नवो सजमो य शुलिकरो ।  
 तिहं पि समाओंगं, मोक्खो जिणत्तासणं माणओं ॥” १ ॥  
 तप-संयमी च शीलमेव । तथा-“संजोगसिद्धिदं फलं व-  
 येति, न हु एगचकए रदो पयाड ॥” २ । अथ यं पंगु य वणे स-  
 मिद्धा, ते संपउत्ता नयं पिट्ठा ॥” ३ ॥ [ श्रित्तिन्यव्याख्यान-  
 पक्षेऽपि मिथ्यात्वं, संयोगतः फलसिद्धिहेष्ट्यादेकस्य प्रधानत-  
 रयिष्यताया अमहतत्वादिनि । अहं पुनर्गीतम् । एवमाख्यामि,  
 यावत्प्रकृपयामीत्यत्र भूतपुक्तं शीलं भेय इत्येवमात्रं वाक्यशेषो  
 दृश्यः । अथ कस्मादेवमत्राच्यते-[ एवमित्यादि ] एव वयव्यभा-  
 णन्यायेन [ पुरिमजायं लि ] पुरुषकाराः । [ सीशवं असुयर्थं लि ]  
 काशयः ? उवरए अब्रिषायधम्मं लि उपरतो निवृत्तः खलुखला

पापात् अविज्ञानधर्माभावतोऽनधिगतभुतज्ञानो बाह्यतपस्वी-  
र्यथे । गीताश्रीमिथिनतपश्चरणनिरतो गीताश्री इत्यन्वे । [ देसा  
राहपत् ] । देशं स्तोत्रमशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः । स्वय-  
म्भोऽर्घाहृतन्यासिकायापरन्यासोति । [ अस्रोलवं सुयवे ति ] कोऽर्थः ?  
[ अणुचरप विष्णोयधर्म ] [ पापाद्विभूतोः ] बाह्यधर्मा च अ-  
विज्ञानस्वयम्भुदृष्टिरिति प्राबः । [ देसविराहपत् ] । देशं स्तोत्रम-  
शं हानादिप्रकल्पस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयमागक्यं, चारित्र्यं वि-  
राधयतीत्यर्थः ; प्राप्तस्य तस्याप्राप्तनादमासौ [ सञ्चाराहप  
त् ] । सर्वे प्रियकारमापि मोक्षमार्गमाशयतीत्यर्थः ; भुतशब्देन  
ज्ञानदर्शनयोः संयुद्धीतत्वात् । नदि मिथ्यादृष्टिर्विज्ञानधर्मा तस्य-  
नो भवतीति । एतेन समुदितयोः शीलक्षणयोः ध्यस्वस्वमुकमि-  
ति ( सञ्चाराहप ) इत्युक्तम् । भ० ८ श० १० उ० ।

( १५ ) [ सुख्य ] सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः-

अस्र उत्थियाया एं जंते ! एवमाङ्कस्वति० जाव परुवेति-जा-  
ब्दया गायगिहे खगरे जीवा, एवदयागं जीवाणं नो च-  
क्रिया केड मुहं वा उहं वा० जाव कोलट्टिमायमावे निपा-  
वामयायवे कलमयायमावे नामायायवे युगमायमावे जुयमा-  
यमावे त्रिकयमायमावे अज्जिनिच्छेत्ते जा उवर्दंमिचप मे कटमंयं  
जंते ! एव ? । गायमा ! जसं ते अस्र उत्थियाका एवमाङ्कस्वति०  
जाव मिच्छंते एवमाङ्कमु. अहं पुण गायमा ! एवमाङ्कस्वामि०  
जाव परुवेमि-मन्वलोए वि य एं मन्वजीवाणं नो चक्रिया  
केड मुहं वा ते चव० जाव उवर्दंमिचप मे केण्टे खो ? । गायमा !  
अयणं जंजुद्वे दीवे० जाव विसेसाहिए परिकखेवेणं पस-  
चे । देवेणं माहिद्विप० जाव महाणुजागे एमं महं सविज्ञेयण-  
गेयसमुगममगायने न्भवहालद । अत्रादक्षेचा० जाव इगाभिच  
कट्टु कवलकपं जंजुदीने दीवं तिहिं अचछानिनाएहि तिप-  
चात्तु को अप्पारयादिनां इवमायच्छेजा, मे नूणं गो-  
यमा ! से केवलकपे जंजुदीने दीवे तिहिं पाणपोगमेहिं  
कुने ? । इता ! कुडे, चक्रियाणं गायमा ! केड तेसि पाणपे-  
गज्ञाणं कोलट्टिमायमावे० जाव उवर्दंमिचप एो इण्टे मम-  
हे । से तेण्टे एं जाव उवर्दंमिचप जीवेणं जंते ! जीवे जी-  
वे ! । गायमा ! जीवे ताव नियमा, जा वि जे वि नियमा जीव ।

( अत्र उत्थियायादि ) ( नो चक्रिय ति ) न शक्युयात् ।  
( जाव कोलट्टिमायमावे ति ) आरानां बहु बहुनरं वा या-  
वत्, कुवशास्त्रिकप्रभ्रमपि, तत्र कुवलास्त्रिकं बरककुलकः, ( नि-  
प्याव ति ) यल्लः, ( कल ति ) कलायः, ( जुय ति ) युकाः  
" अयसांमिवादि " दृष्टान्तोपपत्तयः । एवं यथा गन्धपुक्रानामा-  
मोत्सुकुद्वेवनामूत्सुकल्पयाकुवशास्त्रिकमात्रादिकं न दर्शयितुं  
शक्यते । एवं सर्वजीवानां सुखस्य दुःखस्य चेति । भ० ६ श०  
१० उ० ।

( १६ ) [ हृदः ] राजशुहनगरस्य बहिर्देशेनारपेतस्याऽध-  
रथस्य हृदस्य विषये विप्रतिपत्तयः-

अप्राणउत्थियाया एं भंते ! एवमाङ्कस्वति, जासंति, पाण-  
वति, परुवेति-एवं खलु रायगिहस्स नपरस्स बहिया वा वे-

जारस्स एवयस्स अहे एत्थ एं महं एगे हुरए अघे पससे ।  
अपेगाई जोगयाई आयामविकखेजेणं नाणादुमख्लंमंफ-  
उहेसे सस्सिरीए० जाव पदिरुवे, तत्थ एं बहवे उदारा  
वलाहया संसेयंति, समुच्छियंति, वासंति, तन्वतिरिचे वि य  
एं सया समिञ्जं उसिणे आउकाए अमिनिस्सवद, मे कट-  
मं भंते ! एवं ! । गायमा ! जसं ते अस्र उत्थियाया एवमाङ्-  
कस्वति० जाव जे ते एवमाङ्कस्वति, मिच्छंते एवमाङ्कस्वति ।  
अहं पुण गायमा ! एवमाङ्कस्वामि, जासेमि, पससेमि, परुवेमि-  
एवं खलु रायगिहस्स गायरस्स बहिया वेभारपव्वयस्स अदूर-  
सामंते एत्थ एं महातवोवतीरप्यनवे नाम पासवणे पससे ।  
पंच धाणुसयाई आयामविकखेजेणं नाणादुमख्लंमंफिउहेसे  
सस्सिरीए पासादीए दरिसिण्णे अतिरुवे पदिरुवे, त-  
त्थ एं बहवे उसिणोणिया जीवा यपोगला य उदगताए  
वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उवचयंति, तन्वतिरिचे वि य  
एं सया समियं उमिणे उमिणे आउआए अज्जिनिस्सवद,  
एम एं गायमा ! महातवोवतीरप्यनवे पासवणे, एस एं  
गायमा ! महातवोवतीरप्यनवे पासवणस्स अहं पससे ।  
सेवं जंते ! भंते ति जगवं गायम समणं जगवं महावीरं  
वेदइ नममं ॥

( अस्र उत्थियेत्यादि ) [ पव्वयस्स अहे ति ] अघस्तास्योपायं प-  
व्वेत इत्यर्थः । ( हुरए पत् ) हृदः [ अघे ति ] अघानिधानः । क्वचित्पु  
( हुरएत्ति ) न हृदयने, अघ हृदयस्य च स्थाने अघं पत् हृदयने, तत्र  
च आन्यः अघो प्रभवः, हृद एव धेति ( ओगल ति ) विस्तीर्णः,  
( वलाहय ति ) मेघाः, ( संसेयंति ति ) स्वीकृत्यान्, उपादादि-  
मुखो जवति ( संमुच्छियंति ति ) संसृजन्मुचयन्ते ( तन्वतिरिचे य  
ति ) हृदपुरणादतिरिक्तञ्च उन्मूलित इत्यर्थः । ( आउयाए ति )  
अपकायः [ अमिनिस्सवद ति ] अमिनिश्चयति कुरति [ मिच्छंते  
एवमाङ्कस्वति ति ] मिथ्यात्वं चेतदाकथानस्य विज्ञानपूर्वक-  
त्वात्प्रायः सर्वज्ञवचनारुरुद्धत्वाद् व्यावहारिकप्रयत्नेण प्रायोऽन्य-  
थोपगमनाच्चावगन्तव्यम् । [ अदूरसामंते ति ] नानिदूरे नात्यंति-  
समीप इत्यर्थः । ( एत्थ एं ) प्रभाषणकनोपदेश्यम् ( महात-  
वोवतीरप्यनवे नाम पासवणे ति ) आतप इव आतप उज्जना,  
महोश्वासावातपश्चानि महातपो, महोऽऽनस्य उपनीरं नारि-  
सूरी प्रभव उत्पद्यो यस्यासी महातपोपतीरप्रभवः । प्रभवति  
कुरतीति प्रभवणः, प्रभवन्त इत्यर्थः । ( वक्कमंति ) उत्पद्यन्ते,  
( विउक्कमंति ) विनश्यन्ति । एतदर्थ व्यययेनाह-चययन्ते  
उत्पद्यन्ते चेति । उक्कमेवापि निगमयआद-एस शमित्यादि )  
एयोऽनन्तरोरुक्कपः, एव वा अन्ययुधिकपरिकल्पताप्यसं-  
क्षेपे महातपोपतीरप्रभवः प्रभवण उच्यते । तथा एव यो-  
ऽयमनन्तरोरुक्कः ( उसिणोणियाए इत्यादि ) स महातपोपती-  
रप्रभवस्य प्रभवणेत्याथोऽभिधानान्वयः प्रभवः । भ० २  
श० ५ उ० ।

इति दर्शिता अन्ययुधिकैः सह विप्रतिपत्तयः । ( अन्ययुधि-  
कविशेषैः कापिलादिभिः सह विवादास्तु तत्तदुद्बन्धु, 'समा-  
सरख' शब्दे च दर्शयिष्यन्ते )



(१७) संसर्गस्तु तैः [कापिश्राद्धभिः] सह न समाचरणाय पृथ [आगाढबचनम्] यथा-

अन्ययुधिकं वा गृहस्थं वा आगाढं वा वदति-

जे जिक्वू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदः, वदंतं वा साइज्जइ । १८ ।

आगाढ इत्यादि ।

जे भिक्खू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदः, वदंतं वा साइज्जइ । १७० जे जिक्वू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं फरुसं वदः, वदंतं वा साइज्जइ । १७१ ।

जे जिक्वू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा अणययिणं अच्चा-सायणाए अच्चासादइ, अच्चासायंतं वा साइज्जइ । १७२ ।

आगाढगाहास्तुसं-

आगाढफरुसमीसग-दसमुदेसम्भ वसितं पुव्वं ।

गिहअण.त्थियएहिं, ते चेव य होति तेरसमे । १७५ ॥

जहा दसमुदेसं भदंतं प्रति आगाढफरुसमीसगमुत्ता भ-  
षिता, तथा इह गिहस्थं अणउत्थियं प्रति वक्ष्यामि । इमेहिं जा-  
निमात्थियएहिं गिहस्थं अणउत्थियं वा ऊत्तरं परिभवतो आगाढं फरुसं वा भयति-

जातिकुलरूवभाभा-धणवत्तापाहणदाणपरिभागे ।

सत्तवयवुद्धिनागर-तकरभयकेयकम्मकरे । १७६ ॥

जादि ताव मम्मपरिय-द्वितसं मुत्थिणो वि जायते मणुं ।

किं पुण गिहं ण मणुं, न जाविस्सति मम्मविच्छो णं । १७७ ।

जातिकुलरूवजासा धणेषु बणेषु पाहणवत्तणेषु य एतेहिं दान-  
णं प्रति अदाना संति वि धणेषु, किमसंयेण अपरं जोगी हानिस्स-  
त्तां वयस्मा अपहणेषु मंदबुद्धिः स्वतो नागरस्ते प्राभ्यं परि-  
भवति । तं वा गिहस्थं अणउत्थियं वा तस्करप्रभृतककम्मकर-  
जावे हि छियं परिभवति । जादि ताव कोहाणिमाहपरा वि  
ज्जदि णो जानिमानिममेण छद्विया कल्पति, किं पुण गिहं णो  
सुतरं कापं करिष्णत्तात्थिये ।

सो य उप्पन्नमतं इमे कुज्जा-

खिप्यं मेरेज्ज मारे-ज्ज वि कुज्जाउगोहणा दाणि ।

देमव्वा वंचकरे, संताउसेतेण पकिंसिधो । १७८ ॥

अपण्णा वा मणुष्णो मेरेज्ज, कुथितो वा साइं मारंजा, कट्टो  
वा साइं रायकत्तादिणे नेराहायेज्जा, सावुणा वा सोहंओ देस-  
कागं करेज्ज, संतेण असंतेण वा प्रत्यभिधो पयं कुयादि । १७९  
चू । १३ २० ।

( १८ ) उदकवीणिका-

जे जिक्वू दगवीणियं अणउत्थियएहिं वा गारत्थियएहिं  
वा कारंति, कारंतं वा साइज्जइ । १७९ ॥

पाणी तं दगं वीणिया वासोदगस्स वीणिया वि  
कोवणाभिमितं णिज्जुत्थिकारां भयति-

बासाम्दगवीणिय, वसहीसंबक्क एतरं चेव ।

वसहीसंबक्का पुण, बहिया अंतो वरि तिथा णिब्ब । १८३ ॥

वासाम्दगवीणिया कज्जति । सा दुविहा-वसहीए संबक्का,  
इतरा असंबक्का । वसहीसंबक्का तिबिया विद्विता-बहिया, अंतो,  
उवरि च । इमं निबिहाए वि विक्कणां णिब्ब-

परिगज्ज विद्विता उम्म-ज्जाण अंतो व ओदए वा वि ।

इम्मियतल्लमा वे, पणालाज्जिइ व उवरिष्णू । १८३ ॥

जा सा वसहीसंबक्का सा निब्ब परिगज्जो, जा सा अंतो  
संबक्का सा जुमी उम्मिज्जति, सिरा वा उप्पत्रिगा वा-  
सोदगं वा जिह्मिं पविट्टं, जा सा उवरि संबक्का सा इम्मियतले  
इम्मतले भायाज्जो वा ममंबिगाच्छादितमाले वा वासोदगं पथिं  
जायले वा पणाइच्छिइ ।

वसही य असंबक्का, उदगागमगाणकदमे चेव ।

पढा वसहणिमित्तं, मण्णिमित्तं दुवे इतरा । १८३ ॥

वसहो असंबक्का विविहा-उदगस्स आगमो उदगागमो, व-  
सहिं नण आवाच्छति पविस्सति सि, अंणे वा जयथा साहुणो  
अच्छति तं नाण उदगं पति, णिममणपहे वा उदगं पति, तथ  
कदमं नयति, तथ पढमा जा वसही नेण पविस्सति सि, ते अ-  
णो दगवाहो कज्जति, मा वसहीणियामो प्रविस्सति, उयगसु  
दुसु जा अणं पति, जा य णिममणपहे, पना अणो दगवीणिया क-  
ज्जति, मा उदग ठादिं सि, न च संवज्जति, तथ अति नणं ताणं  
तस्स पाणविगहाया कज्जमो वा होहि सि मण्णिमित्तं णाम  
मा मग्गो कज्जिहिं सि. उदगेण कदमेण वा वसहिसयथासु वि  
दगवीणिया कज्जति ।

एते सामपातरं, दगवीणिय जा उ कारेवे जिक्वू ।

गिहअस त्थियएण व, अयगोल्लमएण आगाढं । १८६ ।

अयं ज्ञोह, नम्म गोळो पिदो, सो नत्तो समनो वदति । पव  
गिहअणमित्थिअं वा समनतो जावोवघातो, तथा एतेहिं ण  
कारवं ।

दगवीणियएणिया एमे-

दगवीणिय दगवाहो, दगएरिमासो य होति एगट्टा ।

विणायति जम्हा तु दगं, दगवीणिय भाणते तम्हा । १८७ ।

पुव्वके एणियाए, पच्छके दगवीणियं णिरुत्त । १८७ ॥

गिहअणत्थियएहिं दगवीणियं कारवं नम्म एमे दोसा-

आया तु हत्थपादं, इंदियजायं च पच्छकम्मं वा ।

फासुगमफासुदंसं, सब्बिणाणिये लोहुराया । १८८ ॥

[आय धनि] आयधिराहणा-तथ हत्थं पादं वा लुंसेजा, इंदि-  
याण अणतरं वा लुंसेजा, अहया इंदियजायमित्थि वैदियादिया,  
ते विराहेज्जा, पच्छकम्मं वा करंज्जा, तथ फासुगं देसें मास-  
इहुं, सव्वे चउलहुं, अफासुगं देसे, सव्वे वा चउलहुं, अण्णो  
करंतस्स पते चेव दोसा ।

दगवीणियाए अकरणे इमे दोसा-

एण गदिहरित्तुच्छण-संजमआताअजीरगेद्वेषो ।

वहिता वि आयसंजय-उवथाणासं दुग्गया य । १८९ ॥

कारणेण करेज्ज वि दगवीणियं । किं कारणं ? इमे-

वसहं हिं हुज्जभाप, नायातज्जाए अहव गुलियाय । १८९ ॥

एतेहिं कारणेहिं, कपति ताहे सयं करणं ॥१४० ॥  
 पणयो उड्ड। समुच्चर, अदिग्रहणतो वेदियादि समुच्चति,  
 हरियकाओ उड्डति, एसा संजमविराहणा । आयविराहणा  
 स्तितभवसहाए भयं ज करति, ततो गमयं जायति, एते  
 वसहिसंबहाए दगवीनियाए अकजमणीए होसा, वसदिभ-  
 संबहाए बहिया एस होसा-उदगामने जणे अनावरं बिसिच-  
 से लुतिआयविहारणा संजमे पणया हरिता वेदिया वा उयहि-  
 विणासा कहुमणे मसिणवासा उगुंविज्जजति । कारणे गिहिस-  
 खतिरिथियेहिं वि कारविज्जति ।

वितियपदमण्डिउणे वा, सिउणे वा केणई भवे असहू ।  
 वाधातो व साहुस्स, नरिकरणं कपती ताहे ॥ १४१ ॥  
 पच्छाकडसानिमाह—गिरजिगमहइण्ण ए असएणं वा ।  
 गिहिसासित्थिए वा, गिहिसासि एतेर पच्छा ॥१४२॥  
 दो वि पूर्ववत् कणता । नि० नू० १ उ० ।

( १९ ) [ उपकरणरचना ] अन्वयार्थकैः चिह्न-  
 मिलिकादि कारयति—

जे निक्ख् मोत्तिये वा रउजुये वा चिन्नामिंति वा असउत्थि-  
 एण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंते वा साइज्जइ?४॥  
 सुत्तं सुत्तं भवा सोत्तिया, वक्कबवत्थादिक्का इत्यर्थः । रउजुए  
 भवा रउजुआ, दोगकिं सि वुत्तं जवति ।

असवइण्णपरणे, वामे उज्जकलणं जिओ एति ।  
 उल्लवोहिं विरल्लेति व, अतो वहिं कसिए इतरं वा । १६३॥

जाव मंतभो ण परिट्टुविज्जति ताव पच्छुभं धरिज्जति, भक्काणं  
 वा जाव धंभिले न लज्जति ताव उदितो गमो बुज्जति , जओ  
 उक्कलणं एति, ततो कदमं चिह्निसिंलिं दिज्जति, वासासु वा  
 उल्लवोहिं विरल्लेति दोरे जहासंखं अंत बहि कसिए इतरं वा ।  
 पंचविधचिह्नमर्लोए, जो पुवं कपती गहणं ।

असतं पुवंकडाए, कपति ताहे सयं करणं ॥ १६४ ॥  
 वितियपदमण्डिउणे वा, निउणे वा होज्जकेणई असहू ।  
 वाधातो व साहुस्स, नरिकरणं कपती ताहे ॥ १६५ ॥  
 गाहा पूर्ववत् कणता । नि० नू० १ उ० ।

( २० ) सुचोपभूयुपकरणान्वयव्युत्थिकेन वा गृहस्थेन  
 वा कारयति—

जे निक्ख् सूचियस उत्तरकरणं अन्नउत्थिएण वा गार-  
 त्थिएण वा कारेति, कारंते वा साइज्जइ ॥ १६६ ॥  
 सूयीमार्दीयाणं, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा ।  
 गिहिसासित्थिएण वा, सो पावति आणमार्दीणि ॥१६६॥  
 उक्कगहिता सूया-दिया तु एक्केए गुरुस्तेव ।

गच्छं व समासज्जा, आणायसेक्के सेसेसु ॥ १६७ ॥  
 सूयी पिप्लसो णइच्छेयणं कएणसोइणं उक्कगहितीय-  
 करणं, एते य एक्केका गुरुस्स भवति । सेसा तेहिं केव कज्जं  
 कारेति, महल्लगच्छं या समासज्ज अणायसा अहोइमया सवसं-  
 सिगमयी वा सेससाट्ठणं एक्केका भवति । किं पुण उत्तर-  
 करणं ? इमं—

११६

पासम मड्डिणिसीयण-पउजण रिउकरण ओसरणं ।  
 सुहुयं पि जं तु कीरति, तदुत्तरं मूलोणव्वत्ते १६८ ॥  
 पासमं विसंय डिज्जति, अएइकरणं मड्डिणिसीयणं गिसाये पज्ज-  
 णं सोहकारागारे रिउ उज्जुकरयं ययं सव्वं उत्तरकरणं । अहवा  
 सुखनिव्वत्ते उतरं सुहुयममं व जं कज्जति ते सव्वं उत्तरकरणं ।  
 सूयीमार्दीयाणं, गिण्णिकरणं तु कपती गहणं ।  
 असती गिण्णिकरम्मं, कपति ताहे सयं करणं ॥ १६९ ॥  
 नि० नू० १ उ० ॥

( २१ ) शिक्खाधिकोपकरणकारणम्—

जे भिक्ख् सिकंमं वा सिकगणंतेमं वा अन्नउत्थिएण  
 वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंते वा साइज्जइ ॥ १७१ ॥  
 जे भिक्ख् सिकरोत्पादि सिकंमं एसि जारिसं वा परिव्वायग-  
 स्स सिकंमं अणतभो उपाणभो उक्कगणं भयति, जारिसं का-  
 वसिस्स भोयणसुखियाणं, एस सुख्यो । इहासिं निउजुसि-  
 त्थियो—

सिकगकरणं दुविधं, तसयावरजीवइहणिएणं ।  
 अइगवाइम कीदज-होक्कवज्जादिगतेरस ॥ १७३ ॥  
 जे निक्ख् पिप्लगमस उत्तरकरणं आणउत्थिएण वा  
 गारत्थिए वा कारे, कारंते वा साइज्जइ ॥ १६ ॥  
 पिप्लगणहच्छेदण-सोषणए च व हति एवं तु ।

णवरं पुण खाणत्तं, परिभोगे हांति खायव्वं ॥ १७३ ॥  
 एवं पिप्लगणहच्छेयणसोइणं य एक्के वउरो सुत्ता, भत्थो  
 पूर्ववत् । परिभोगे विसेसा इमो—

वत्थं डिदिस्सामिति, जाइ उ पादद्विदं कुणति ।  
 अथवा वि पादद्विदं, काहिंतां डिदंती वत्थं ॥ १७४ ॥  
 एक्खं डिदिस्सामिति, जाइ उ कुणंति सल्लमुद्धरणं ॥  
 अहवा सल्लुद्धरणं, काहिंतां डिदंती एक्खे ॥ १७५ ॥  
 पिप्लगणहच्छेयणां अपण्ये इमा विधी-

पउजे वा गेहिहा, हत्थे उपाणयम्मि वा काउं ।  
 चुमीए व उवेत्तं, एस विधी हांति अप्पणणे ॥ १७६ ॥  
 उभयतो धारणसंभवा मज्जे गेहिहज्जण कप्येति । सेखं कंउं ॥  
 कएणं मोधिम्मामिति, जाइं तु देवसोषणं कुणति ।  
 अहवा वि देवसोषणं, काहिंतां सोहती कएणे ॥ १७७ ॥  
 लानाज्जानपरिच्छं, दुल्लभआचियत्तमहसअप्पणणे ।  
 वारसमु वि सुभेसु अ, अवरपदा हांति णायव्वा । १७८ ॥  
 जे भिक्ख् हाउथयायं वा दारुपायं वा यट्ठियापायं वा  
 चउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्ठीवेति धो, संउवेइ  
 वा, जम्माइति वा, अन्नमपण्यो कारणयाए सुहुयममं णो  
 कपइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमभस्स वि सरमाणे वियर-  
 ति, वियरंते वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

( जे भिक्ख् हाउथयायं वा इयादि ) दो श्लिकं बुधादिनं सू-  
 मयं कपालकादि परिघट्टणं गिम्मभंणं संउवयं सुहादीयं  
 जम्मायणं विसरमाण समंकरणं अन्नं पज्जंते सक्कंति, कप्यो  
 काउं ति वुत्तं जवति, जाणइ जहा ग वट्टति, अन्नउत्थियगारत्थि-  
 एहिं कारवत्तं जाणति वा, सुत्तं सरति, एस अहभोवदेसो प-

११६

पिच्छं वा सन्द्, अथमथा गिहृत्वाऽस्य उतियया, ताण वितरति पय-  
च्छति, कारयतीत्यर्थः । अद्वा युक्तः पृष्टः साधुभिवेद्या-युहस्था-  
न्यसौर्विकेर्था कारयामः । ततः प्रपञ्चते, अतुक्तो ददातीत्यर्थः ।  
प्रणिधो सुसत्यां ॥ नि० सू० ५ ३० ।

पदमभितियाण करणं, सुहृममयी जो तु कारये भिक्व् ।  
गिहृत्वाऽस्य उतियेण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९९ ॥

पदमं बद् परिक्मम्, वितियं अयपरिक्मम्, सेसं कञ् । ज-  
म्हा एते दोसा तम्हा—

य दृत्तसंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।

असती पुव्वकदाए, कप्पति ताहे सय करणं ॥ १९० ॥

नि० सू० ५ ३० ।

जे जिक्व् दंरुयं वा लद्धियं वा अवलेहणियं वा विणु-  
सुइयं वा अण्णउतियेण वा गारत्येण वा परिघटावे-  
इ वा, जम्हाइइ वा, अलमपणो कारखयाए सुहुममवि  
यां कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे असमभस्स वि सरमाणे  
वियरसि, वियरंते वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

पदमभितियाण करणं, सुहृममयी जो तु कारये भिक्व् ।  
गिहृत्वाऽस्य उतियेण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९९ ॥  
घट्टितमंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।

असती पुव्वकदाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १९१ ॥

वेसुमयी मक्कलमयी, तुविषा मूयी समासतो होति ।

अउरंयुत्तप्याणा, सामिच्छणसंधण्डाए ॥ १९० ॥

एकेका सा तिषिया, बहुपरिकम्मा य अपरिकम्माए ।

अपरीकम्मा य तहा, छातम्भा आणुपुव्वीए ॥ २१९ ॥

अरुंमुत्तापमाणं, परिज्जंतो होति सपरिकम्मा तु ।

अरुंमुत्तमंगं तु, उज्जंतो अयपरिकम्मं ॥ १९० ॥

आ पुव्ववद्विता वा, पुव्वं संठविते तत्थ सा वा वि ।

लम्भति पमाणुत्ता, सा णायव्वा अथाकम्मा ॥ १९१ ॥

पदमभितियाण करणं, सुहृममयी जो तु कारये भिक्व् ।

गिहृत्वाऽस्य उतियेण व, सो पावति आणमादीणि ५२२

घट्टितमंठविते वा, पुव्वं जमिते होति गहणं तु ।

असती पुव्वकदाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १९३ ॥

माहा सव्वाभो पूर्ववत् । नि० सू० १ ३० ।

( २२ ) अय्यथिकादिभिः सह गोचरचर्यायै न प्रविशेत्-

जे भिक्व् गिहृत्वाया वा अण्णउतियाया वा सोआद्दग-  
परिधोयणा वा हृत्थेण वा मत्थेण वा दाव्विण्ण वा जाय-  
ण्ण वा असणं वा पायं वा स्वाइयं वा साइयं वा पडिग्गा-  
हेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १-८ ॥

इमे सुसत्थो-

गिहृत्वाऽस्य उतियेण व, धूयीमादीहितं तु मत्थे ।

जे जिक्व् असखादी, पडिच्छते आणमादीणि ॥ १९५ ॥

गिहृत्वा सोत्थिवंमणादि, अथतितियया परिव्यायादि, उद्दग-  
परिधोमी मत्थो सुइ, अद्वा कोइ सुवेवादी तेण दहेज्जा, सो य  
सीआद्दगपरिजोमी मत्थो उद्धंकरमादि तेण नेएहंतस्स आ-  
णादिया दासा, चउल्लुं व स पच्छुण्ण । इमे सीतोद्दगपरिजो-  
इयो मत्था-

दगवारगवट्टणिया, उद्धंकाऽऽयमाणिब्रह्मा वा पट्टगा ।

मपवारवट्टणमत्ता, सीआद्दयधोगिया एते ॥ १९३ ॥

दगवारगो गट्टुअरं आयमणो लोद्धिया कट्टमभो उद्धंमभो  
कट्टमभो वारमो वट्टुयं कप्पयंतं पि कट्टमयं । एतेसु नेएहंतस्स  
इम दासा-

नियया पच्चाकम्मं, धोतो वि पुणो दग्गस सो वत्थं ।

तं पि य सत्थं असणो-दग्गस संसज्जते वाणं ॥ १९८ ॥

भिक्षुलप्याणोवलिंसं पच्चा पुव्वंतस्स पच्चाकम्मं स मत्थो  
असणादिरसमाविमो व उद्दग्गस्स सत्थं भवति, णो जवति वाः ।  
माचायं आइ-सुणसु-

सीआद्दगजोइणं, पडिसिक्कं मा तु पच्चाकम्मं ति ।

किं होति पच्छकम्मं, किं व न होतिचित्ते सुणसु ॥ १९९ ॥

जेण मत्थेण सच्चिंतोदगं परिभुंजति, तेण भिक्षुलमहणं पडि-  
सिक्कं सीसो पुच्छकम्मं-कह पच्चाकम्मं भवति, णो जवति वाः ।  
माचायं आइ-सुणसु-

संसद्धमंसहे, भावे मेमे य निरवसेसे य ।

हृत्थे मत्थे दव्वे, सुच्छ-मयुक्के तिग्गाए ॥ १९० ॥

संसद्धे इत्थे संसत्ते मत्थे साधसेसे दव्वे एपसु निसु एवेसु अट्ट  
जंगा कायव्याविसमा सुखा, सम्या अत्तुत्तांजमेसु इमा गहणविधी-

पदमे गहणं सेसे-सु वि जत्थ सा सुइं वसु सेसं तु ।

अससु तहा गहणं, असव्वसुत्थे वि वा गहणं ॥ १९४ ॥

( अत्तसु ति ) संसेसु जंगेसु आदि देयं दव्वं सुक्कं अवलेकं  
सुक्कं मरुगकुम्भवितां गमं पच्चाकम्मस्स अभावात् विति-  
यपदं ॥ १९४ ॥

अमिसे ओमोयारिए, रायहुडे जए व गेलाहडे ।

अच्छाण रोहए वा, जयणा गहणे तु मीयत्था ॥ १९४ ॥

पुव्ववत् अत्तसरत्थीया । नि० सू० १२ ३० ।

जे जिक्व् आणउतियेण वा गारत्येण वा असणं  
वा पायं वा स्वाइयं वा साइयं वा देइ, देयंतं वा साइ-  
ज्जइ ॥ १९८ ॥

जे जिक्व् असखादी, देज्जा गिहृत्वा अद्वा अथात्थिणीं ।

सो आणा अणवत्थं, भिच्छवतिराहणं पावे ॥ २६८ ॥

तेसि अथतितिययगिहृत्वायां हितो आणादी पावति, चउल्लुं  
व ॥ २६८ ॥

सव्वे वि य खसु गिहिया, परपवादी य देमविरता य ।

पडिसिक्कदाणकरणे, जेण परलोमकंलीण ॥ २६९ ॥

एतेषु दानं शरीरसुखाकरणं अथवा दान एव करयं वः

परशोककाहरी भ्रमणः तस्यैतत् प्रतिषिद्धं, अहवा एतेषु दास्यं करणं किं परिषिद्धं जेष समगो परलोककंकषा । आह-  
क आह—

शुचमदाणमसीले, करुनामहभ्रो उ ह्योति समण इव ।

तस्स मज्जुसमदाणं चोदग ! सुण, कारणं तत्तय ॥२७० ॥

शुचं अथातिथियगिहंरधेषु अचिरतेसु चि काउं द्वाणं ए दि-  
ज्जति, जो पुण देसविरतो सामाहयकरो तस्स जं द्वाणं परि-  
सिज्जति, एयमज्जुसं, जेष सो समणदूतो ह्यनति । आचार्यं  
आह—हे चोदक ! एतत् कारणं सुणुसु—

रंधण-किमि-वाणिज्जं, पावति तस्स पुच्च विणिणउचं सो ।

कपसाभाइयमोमि वि, मूयस्स अपच्छुपाएस्स ॥

जदि वि सो कयसीमहभ्रो उचस्स ए अथति, तदा वि तस्स पु-  
च्चिज्जुसा आहिकरणजोगा पावति चि रंधणजोगो कृषिकरणजोगो  
वाणिज्जजोगो य, एतेण कारणेण तस्स दाणमज्जुसं । चादक-  
णए अणियं समगो इव सावधो । उच्यते-ओवस्मेण तु समणे ते  
जेष सव्वविरती ण ह्यनति । अत्रो अणति—

सामाय्य पारेउं, ए णिग्गतो साधुवसहीए ।

अट्टिकरणं सातिज्जति, उता हु तं वोसरति सव्वं ॥ १२ ॥

आयरियो सीसं पुच्चति-सामाहयं करेमि चि । साधुवसही वि  
तो पत्तो सो आरुच्यं जाय सामाहयं पारिठणं न णिग्गतो साधु-  
वसहीए पोसहसालाभो वा एयमि साइयकालो तस्स अ-  
रंधिकरणजोगा पुच्चववत्ता कज्जति, तो सा किं सातिउज्जति,  
उताहु ते वोसरति सव्वे । उच्यते-ए वोसरति साइउज्जति,  
जदि साइउज्जति एवं भणुनस्स सव्वविरती लभति ॥ १३ ॥

दुविद्धनिविट्टे ए रुज्जति, अणुमसा तेण सा ए परिक्कटा ।

अणुओ ए सव्वविरतो, म समापति सव्वविरओ य ॥ १३ ॥

पाणदिवायादियायं पंचणं अणुव्वत्तणं सो विरति क-  
रेति । ( दुविधं ति विधेण चि ) दुविधेण करेति, ए कारवेति,  
तिविधं मणेष चायाए कारणं नि । एतथ तेणं अणुमणी ए णि-  
क्कटा, तेण कारणेण वडसामाति ता वि सो सव्वविरतो ए  
लभति, किं चाऽप्यत् ॥ १३ ॥

कामी सपर-गणतो, मूलपट्ठसा स होइ द्दुह्वना ।

उपणभेयणकरणे, उद्विहकनं च सो जुंजे ॥ १४ ॥

एट्टेहितविसरिते, उिषे वा मरुलि ए व चोच्चे य ।

पच्छाकम्पवहणा, धुयावणं वा तदद्दस्स म ॥ १५ ॥

पंच विषया-कामेति चि कामी सशूद्वेण सशूहः अहमा  
ह्मी, सह अन्नया साङ्गनः, मूलपट्ठसा, देसविरति चि जुसं भ-  
वति । साधूणं सव्वविरतो वृक्षादिक्खेदेन पृथिव्यादिभेदेन  
प्रवृत्तः सामायिकभावाद्व्ययं जं च उद्विहकउं तं कडसामा-  
भो वि भुज्जति; एवं सो सव्वं ए भवति, एतेण कारणेण  
तस्स ए कप्पति दाउं इमो । अहवा—

विशियपदे परदिग्गं, सेहट्ठाणं ए वेज्जमाहारे ।

अक्काण देसगलणे, असती पडिहारिते गट्ठणं ॥ १६ ॥

एयस्स इमा विभासा कारणे । परतिथियाण अक्के अ-  
चंजतो देज, सेहो उट्ठां एनत्थणा देज्ज, गिही अथातिथी वा णिज्जं-

धेण मग्गोज्ज, तदा से दिज्जति, सेहो वा गिहिविसरितो  
भावतो पव्वइओ तस्स देज्जा, सयेण वा पव्वहा अट्ठाणं साधु-  
तिथ्यागिहियं तत्तत्कारणेहि गिहीण अट्ठाणं तं साधु गिहीण  
पव्वजिणेज्जा, अथवा अट्ठाणं भंतिपतियमादिवाण देज्जा,  
वेउजस्स वा गिशाण्णा अणायिस्स देज्जा, तं च जहा दि-  
उज्जति तदा पुच्चभणियं जथ गिहीणं अथातिथियाणा व  
साधूणं य अंथियका ज उट्ठेण भत्तपाणदंशियमादिष्णा साहारं  
ण दिशं तथ्ये ते गिही अथातिथिया विभज्जाययत्था, अह  
ते अणिक्का साधु भणुज्जा, अह वा ते पंता, तदि साधु विमज्ज-  
ति, साधुणा विभयंतेषु सव्वेसि वि हु समग्गव चिनइयव्यं,  
एयवदेसां ॥ १७ ॥ नि० चू० १५ उ० ।

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा गाहाविकुलं जाव पवि-  
सिंजुकां एणो अस्स उत्थियण वा गारत्थियण वा परि-  
हारिउ वा अपरिहारिणए सकिं गाहावदकुलं पिहवायपडिया  
ए पविसेज्ज वा, एिक्कवमेज्ज वा ।

( से भिक्खु वा इत्यदि ) स जिक्खुयोवद् शूदपतिकुलं प्रवेष्टु-  
काम एविहैक्कयमारीः सार्द्धं न प्रविशेत्, प्राक् प्रविष्टो वा नाति-  
कामेदिति संबन्धः । यैः सह न प्रवेष्टव्यं ताद् स्वनामग्राह-  
माह-तत्रान्यतीर्थकाः स्वजस्काद्यो शूदस्थाः, पिरेदोपजं। विना  
धिष्णातिप्रभृत्यस्तैः सह प्रविशानामो दौषाः । तद्यथा-ने पृष्टनां  
वा गच्छेयुरसतो वा, नेऽप्राप्तो न गच्छन्तः यदि साधुपुत्रुव्या वा गच्छं-  
युस्मन्स्त्वत्कुलं ह्यौप्राप्यः कर्मभण्यः, प्रवचनशासकं च, तेषां वा  
स्वजात्यापुत्रकपं इति । अथ पुष्टनस्मन्स्त्वत्प्रवृत्तो, दातुर्वा अज-  
कस्य शासं च, दाता संविभज्य दद्यात्तनामोदर्यादौ। हुमिहा-  
दौ प्राणवृत्तिर्न ह्यास, इत्येवमादयो दौषाः । तथा परिहारास्तेन  
वराति परिहारिकः, पिण्डदोषपरिहरणादुपुत्रकविहारी, साधुरि-  
त्यर्थः । स एवंगुणकलितः साधुरारिदारीकेण पावहैव्यावस-  
न्नः कुरीलसं स कय पाच्छूदकुरेण न प्रविशेत्, तेन सह अविष्टा-  
नामनेपणीयजिक्काप्रणप्रहणकृता दौषाः । तथाहि-अनेपणीयप्र-  
दणे तत्प्रवृत्तिरनुज्ञाता अव्ययप्रहणे तैः सहऽऽसंक्खडादयो दौषाः ।  
तत एताद् दौषाद् हास्या साधुशूदपतिकुलं पिण्डरूपातप्रतिह-  
या तैः सह न प्रविशेत्प्रापि भिक्कामेदिति । आचा० २ भु० १  
अ० १ उ० ॥

( २३ ) [ दानम् ] अन्पयधिकेच्योऽशनादि न वेष्यम्-

से जिक्खु वा भिक्खुणी वा० जाव पावेडि समाणो एणो अस्स-  
उत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहा-  
रियस्स वा असणं वा पाणं वा त्थाइं वा साइं वा देउज  
वा, अणुपदेउज वा ॥

माम्भन्तं तहानाथप्रतिपेयमाह-  
( से भिक्खु इत्यदि ) स भिक्षुयोवद् शूदपतिकुलं प्रविष्टः सन्तु-  
पन्नगणः/वद्वाध्रयत्था वा तेषांऽप्यनतीर्थकादिन्यो दौषसं-  
नयादशनादिकं न दद्यात्, स्तेनो नाप्यनुपद्राव्युत्परेण शूदस्था-  
दिनेति । तथाहि-तेन्यो दौषमानं दद्यात् लोकाऽभिभयंते, एते  
क्षयविधानामपि दक्षिणादाः । अपि च । तदुपुष्टनादसंमप्रवृत्ते-  
भादयो दौषा जायन्त इति । आचा० २ भु० १ अ० १ उ० ।

जे जिक्खु अष्टाण्डित्ययण वा गारत्थियण वा परिहारि-  
ओ वा अपरिहारिणए वा गाहावदकुलं पिहवायपडियाए

अग्रणउत्थिय

अणुप्रापिसञ्ज वा, निक्वसञ्ज वा, अणुप्रापिसंतं वा निक्वसंतं वा साङ्गञ्ज ॥ ३९ ॥

अन्यनष्टिकाश्चरपरिवाजकशकाश्चाजीवकवृक्षआयकप्रभृतयः, गृहस्था मन्नादिभिक्षाभारपर, परिह्वारिभ्रो मूलुसरदासे परिह्वरति, अहया मूलुसरगुट्टो धरेति, आचरतीत्यर्थः । तत्प्रतिपङ्कभूतो अपरिह्वारी । ते य अग्रतिरिथिया गिहत्या ।

सुषम्-

णो कल्पति निक्वसुसा, गिहिया अथवा वि अष्पतिर्यो ॥ परिह्वारियस्स परिह्वारि-रिणण गुंतुं वियाराप ॥३००॥

सकि समानं युगपत् एकत्र ब्राह्मकर्मं गाढापरिचयिकाप सा-बज्जमनादिगोत्रार्थं करणार्थं च गाढापरिचयिकुसं । अस्य व्याख्या-गाहगिहं गाढा गेहं ति वा गिहं ति वा एगत्, तस्येति गृहस्थेति-प्रभुः स्वामी, गृहपरिचरित्यर्थः । इतरत्यादिस्समुदायं कुलं पिकां वा य परिचयाप (सा) इत्यथ व्याख्या-पिकां असणदाः गिहिया दीयमानस्य पिकास्य पात्रे पातः, अतया प्रकथा एव्यं विद्वतो जहा-बासं नुसपयिण्णवत्तं जं चसुं नाम परिभो । अयेण पुच्छियं-किणिमित्तं नाम परिचोसि ? भणानि-सुत्तपायपरिचयाप अग्रणपायपरिचयाप ति, तदेव पिचवायपरिचयाप ति । किंच-इदं सुत्तं लोमोत्तरउभयसंज्ञापरिचरकं किचित् स्वयमयं संज्ञाप्रतिबन्ध जति, अणुप्रापिसिनि । अस्य व्याख्या चरगादि गाढा । अणु पश्चात्तयं चरगादि-सु गियंसेसु पच्छा पागकरणकालतो वा पच्छा, एवं अनुशुशब्दः पश्चाद् योगं सिद्धः ।

एतो एगतरेणं, सहितो जो गच्छती वियाराप ।

सो आणा अणवच्छं, मिच्छत्तिविराहणं पाव ॥ ३०१ ॥

एतो एगतरेणं गिहस्थेण वा अष्पतिरिथ्येण वा समं पविंसंतस्स आणादिवा दोसा । आयसंजमविराहणाभो ज्ञापणा । गाढा परंरगादिपुसु सकि हिंङ्गनस्स पवयणो भाषणा जयति, लोमो वयति-पइरगादिपसायभो लभंतो, सयं न सभंतो, असारथचन-प्रयत्नवात् । अथवा लोमो वदान-अभ्रकिमता य परलोगे वा अदिअदाणा आत्मानं न विदति, गृहा इति । एतं परंरगादि शिष्य-स्समनुपगमना वसति, यन एभिः सार्वं पर्यटनं, किंचान्यत् । अधिकरणगाहा, गिहो अयगोससमाणो ण पट्ठति भणितुं, परिणिसीदनु बहववाहिं वा भणतो अधिकरणं गिहत्या अस्सदी साह लकी उव इणति, साहस्स अंतयं बह संजतो अलकीतो गिहत्थस्स अंतयं जेण समं हिंङ्गति, दातारस्स वा अचित्तं किमया समं हिंससि ति, अधिकरणं च भवे, अक्केजेण पडुट्टो अयस्सयं अणांणया उहेउज, पंता वणाति वा करेउज, परास्स वा गाहणा गिहणीणं उ दोहह वि तेउज तं चव अंतयारयं अचिय-पाग संखंदा नीया य साहुस्स करेउज, दातारस्स वा करेउज, उयस्स वा कुज्जा, दोगाहना अट्टणीणिय य परास्स देउज, साहुस्स गिहत्थस्स वा, तं चव अंतयारी दोसा । जतो अणानि-संजयप-दासणाहा । संजयगिहो उभयदोस इति मत्ताभो । एवं अयोगहा ह ति । अस्य व्याख्या-गुट्टे दुपुडे बडुपदे णवपप च, एतेसु चैव इडसु कथादिपेसु वा वि सुमतिं (सु सायुगिहं वा एगंतं सं-केउज, उभयं वा किह पुणाति संकेउज, एन समणमाहया प-रोत्परं विरुद्धा वि एगतो अचंति, य एते ज वा ते वा सणुं एते चारा चोरिया वा, कामी वा बुपयादि वा अचहडामपरिहं ज-इहा एते दोसा, तन्हा गिहत्थपडतिर्योहिं समं भिक्षाप ए प-

वित्तियव्वं, वित्तियपदेण कारणे पविसंज्जा वि । जतो वित्तिय-पदगाहा । अर्थायं दुग्गिअकम्भं, एतेसु अर्थायदिसु एतंहिं गिह-त्थपडतिर्योहिं समं भिक्षा लभति, अन्नदानं लभति; अतो तेहिं समाणं बडे, सोय जति अहा भदो णिमंनह वा, अहा भ-इएण पुण समाणं दो तिभिं धरा, अस्सहा ते चेवासंखकारी । रायडुट्टं सो रायवल्लोमो गिलासुस्स सह एय भोग्यादि, सो दव्वावाति, अस्सहा ण सभति, भिक्षापर्यायं वा वचंत्तस्स उ वि सरीरं तेण रक्खति, परिधीयसाणे वाचारेति; आदिसहातो गों-सुयरातोप विपविंसतो पुण इमा विहो पुव्वगते गाहा/गिहत्थ-अभित्थेपेसु पुव्वपविडे पत्तं वा पुव्वपावट्टो अस्सभावे ति, परि-सं तापं इरिसंति जेण णउजति, उदा एतेण समाणं हिंसंति, अ-उंनस्स य इमो विहो पुव्वं पच्छा करमकरुपु नभो पच्छा क-रन्नायिण्णोसु, तभो अइजहमरुपु नभो अहाअहमसाल्लिगि-खा अहाअइए वि, एस चैव कमा । नि० चू० १ उ० ।

जे निक्खु अगंतारिं सु वा आरामागारिं सु वा गाढावकु-लेसु वा परिचावसहेसु वा अस्सउत्थियं वा गारत्थियं वा अएणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायात्, जायतं वा साइज्ज ॥ १ ॥ जे निक्खु आ-गंतारिं सु वा आरामागारिं सु वा गाढावकुलेसु वा परिचाव-सहेसु वा अस्सउत्थिं वा अएणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओजांमिय ओभासिय जायति, जायतं वा साइ-ज्ज ॥ २ ॥ जे निक्खु अगंतारिं सु वा आरामागारिं सु वा गाढावकुलेसु वा परिचावसहेसु वा अणुउत्थियणि वा गारत्थियणि वा अएणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओजांमिय ओजांमिय जायति, जायतं वा साइज्ज ॥ ३ ॥

'जे निक्खु' पुर्ववत् अगंतारं-ज्जथ अगारा अगंतुं विहरंति, तं अगंतोमारं, नामपरिसदणं ति बुचं भवति । अनुउत्थियणि वा कयं अगारं अगंतोमारं, बहिवा वासो । त्त, अरामं अगारं आरा-मागारं, गिहस्स पतो गिहपतो, तस्स कुल गिहपतिकुल, अय्य-गृहमित्यर्थः । गिहपजायं मेसुं पव्वञ्जा परिचापजिता, तेसिं आचसदोः परिचावसदो, एतेसु उणसु छित्त अणवत्थियं वा गारत्थियं वा अस्सणाह ओभासति, माइज्जति वा, तस्स मास-लह । एस सुल्लथो । इमा सुल्लकसिया-

आगंतारादिं सुं, अमणादी जासनी तु जो भिक्खु । सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तिविराहणं पावे ॥ १ ॥

आगंतारादिं सु गिहत्थमभिनित्थियं वा जो भिक्खु अस्सणादि ओभासति सो पाणिं आणा, अणवत्थमिच्छत्तिविराहणं च ॥ २ ॥

अगमकयमागारं, अगंतुं जत्थ चिद्धति आगारा । परिगमणं पज्जाभो, सो चरगादी तु णोगविहो ॥ ३ ॥ आगमा रक्खा, गेहो कय अगारं अगंतुं जत्थ चिद्धति, अ-गारं तं अगंतोमारं परं समंता गारं गिहभासं गेत्थथोः णउज्जा-यांपयज्जा, सो य चरगादिव्यायससकआजां वागमादि वेणवियो जइतरा ॥ ३ ॥

जइतरा तु दोमा, हवेज्ज ओभासिते अउणाम्मि । अर्चियथा भावणता, पंते जइ मेहोति ॥ ४ ॥

अद्वाष्वादिनो प्रासिते पंतजहोसा । पंतस्स मन्विसुं भवति,  
भोभासणता-अहो ! इमे अहोसा ।

जह आतरासि दीसइ, जह य विपग्गंति मं अठाणम्मि ।  
दंतेदिया तवस्सी, तं देमि ण भारितं कज्जं ॥९॥

अहा एवं स्वाहस्तातरो दीसति, जहा-अयं अद्वाण्डियं विम-  
भन्ति-दंतेदिया तवस्सी तो देमि अहं एतेसि षूणं सं भारितं  
कज्जं, आपरकल्पामित्यर्थः ॥ ९ ॥

सङ्घिगिहं अणणत्तिर्यं, करिञ्ज ओजासिए तु सो असते ।  
उग्गमदोसेगतरं, खिप्पं से संजतद्वाए ॥ ६ ॥

अदास्यास्तांति आच्छी, सो य गिही, अश्वत्थिण्यो वा, भोभा-  
सिए समाणसे इति । स गिही अश्वत्थिण्यो वा खिप्पं तुरियं  
सएहं उग्गमदोसाणं अश्वतरं करिञ्जा संजयता ॥ ६ ॥

एवं खमु निणुकप्पे, गच्छो णिक्कारणम्मि तह जेव ।  
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओजासित्तं गच्छे ॥७॥

एवं ता जिणकप्पं प्रणिपं गच्छ्यासिणो वि जिक्कारणे एवं  
जेव कारणजाते पुण कप्पति । धरकप्पियाणं भोभासिचं कि  
चिक्कारणं इमं-

गेणएह रायदुट्ठे, रोहग अच्चाण अंविने ओमे ॥  
एतेहि कारणेहिं, असती संभंति ओजासे ॥ ७ ॥

गिजाणउच्चाण य दुट्ठे वा रोहगे वा अंतो अणच्छंता अंविने वा, अं-  
चियणं पांम दासयंती, तथ अत्रणी उ अंविआउ ण वा णिणकप्पं,  
णिणकप्पे वा ण अम्मति, ओमं दुर्मिहं, एवं अंचिए ओमे, दीर्घं  
दुर्मिहमित्यर्थः । एतेहिं कारणेहिं अश्मभंते ओजासेज्जा-

जिणं ममतिकंतो, पुच्चं जतिकणए पणगणणेहिं ॥  
तो मासिएसु पच्च वि, ओजासणमादिंसु असदो ॥ ६ ॥

इमा जयणा-पदमं पणगदोसेण मेरइनि पच्छा इस पधरस  
धीस भिषमासवांसेण य एवं पणगभेइहिं जाह जिधं समनि-  
कंनो ताहं मासि अद्वाणंसु भोभासणादिसु जतति, असदो । तथ  
तु भोभासणे इमा जयणा-

तिगुणगतेहिं ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेइ ।  
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करंति जे सुत्तपकिट्ठे ॥ १० ॥

पदमं धरे ओजासिज्जति अदिट्ठे, एवं तयो वा रायधरे गवसि-  
षण्यो, तथ भज्जा ति णीया वसुत्ता, तस्स आगयस्स कहेउज्ज-  
साधू व सगासं आगया, कज्जणे धरं अदिट्ठे पच्छा आगंतारा-  
दिसु दिट्ठस्स धरगमणादिं सव्वं कहेतु, तेण धांदिने अवेदिने वा  
तेणेव पुट्ठे अपुटा वा जे सुत्ते पदिसिचं तं कुव्वंति, ओजासांति  
इत्यर्थः ।

जे जिकव् अगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकुले-  
सु वा परियावसहेसु वा अश्वत्थियं वा गारत्थियं वा को-  
उहड्डपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा स्वा-  
इयं वा साइयं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा  
साइज्जइ ॥ ४ ॥

एवं अश्वत्थिया वा गारत्थिया वा, एवं अश्वत्थिण्यो वा  
वा गारत्थिण्यो वा ।

पदमम्मी णो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो जेव ।  
ततिय चउत्थे वि तहा, एगसपुहसंसुत्ते ॥ ११ ॥

पदमं सुत्ते जो गमो, वितिए वि पुरिस्सोइत्थियसुत्ते सो जेव  
गमो । ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सां जेव गमो ॥४॥

जे जिकव् अगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकु-  
लेसु वा परियावसहेसु वा अश्वत्थियाए वा गारत्थियाए  
वा कोउहड्डपडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा स्वाइयं  
वा साइयं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइ-  
ज्जइ ॥ ५ ॥ जे जिकव् अगंतारेसु वा आरामागारेसु वा  
गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा अश्वत्थियाए वा  
गारत्थियाए वा कोउहड्डपडियाए पडियागयं समाणं अ-  
सणं वा पाणं वा स्वाइयं वा साइयं वा ओभासिय आंभासिय  
जायति, जायंतं वा माइज्जइ ॥६॥ जे भिकव् अगंतारेसु वा  
आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा  
अश्वत्थियाए वा गारत्थियाए वा कोउहड्डपडि-  
याए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा स्वाइयं वा  
साइयं वा ओभासिय आंभासिय जायति, जायंतं वा  
साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिकव् अगंतारेसु वा इत्यादि कोकहलंति यावच्च, कौतु-  
केनत्यर्थः ।

गाहावुत्थाणि-

अगंतारासेसु, आरामागारे तह गिहा वसही ।  
पुच्चद्विंताए पच्छा, एज्ज गिह । अश्वत्थियं वा केइ ॥११॥

तमागते जे असणातीतो भासति, तस्स मासलहुं, धम्मं  
सावधम्मं वा पेच्छामो । एसो गाहा-

अहजावेणं कोऊ-हुल केइ वेदगणिमिचं ।  
पुच्छिस्सामो केइ, धम्मं उविधं व पेच्छामो ॥ १३ ॥

एगो एगतरणे, कारणजातेण अगंतं संते ॥  
जो जिकव् ओभासति, असणादि । तस्सिमा दोसा १४ ॥

तस्सिमं अहंपंतहोसा-

अगतपरांजासणता, अदिष्ठादिमे व तस्स अचियचं ।  
पुरिसो ज्ञासणदोसा, सविसेसवरा य इत्थीसु ॥१४॥

अलदे अप्रयो भोभासणा सुद्धा लभंति तिसि अविधे परस्स  
ओभासणा किवणे सि, अविधे वा अचियचं भवति, महायस-  
मज्जे वा पणइ, ते देमि ति, पच्छा अचियचं भवति, हाओ पुरि-  
से ओभासणदोसा एव कवला, रंथिअसु ओभासणदोसा,  
सकादोसा य, आयपरसपुरया य दोसा ।

जहो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छम अविहकादिणि ।  
पंता पेलवगदणं, पुणरावत्तिं तहा उविधं ॥१५॥

अहओ उग्गमेगतरदोसं कुज्जा, पच्छमाभिहं पगाडाभि-  
हं वा अयज्जपंता साहुसु पेलवगदणं करेज्ज-अहो इमे  
अविधवाणा, जो आगच्छति तमोभासंति, साहुसावधम्मं

बा पश्चिञ्जामि स्ति, भोजानसिञ्जो उद्बुद्धो पदिनियसो जाहे स्वावगो हादासि ताहे ण सुवहिति, जह पञ्चउज्ज चेप्यामां स्ति एगो विपरिणमति, तो मूळं दोसु णवमं तिसु चरिमं, जं च ते विपरिणया असंजमं काहिति तमावज्जति, अथवा शिणहएवसु वधंति जग्दा एते दोसा तग्दा ण भोभासियव्वां आगभो, एवं वि पच्छुत्तं परिहरियं आणा अणुपालिया, अणवत्था, मिच्छत्तं च परिहरियं, दुविहाविराहणा परिहरियत्ता कारणे पुण भोभास्वति । इमं य कारणे-

असिबे ओमोदरिए, रायहुडे जप व गेहएडे ।

अद्दाए रोहए वा, जतणा ओजामितुं कपे ॥१६ ॥

तिगुणयोदेहि णा दिट्ठो, एणीया वुत्ता तु तस्स तु करहे ।

पुट्ठापुट्ठा व तनो, करेति जं नुत्तपडिक्खं ॥ १७ ॥

एगंते जो तु गमां, णियमा पोदति धम्मि सो चव ।

एगंता तो दोसा, सविसेसतरा पुहत्तमि ॥ १८ ॥

असिबे जग्दा मासं पत्तो ताहे धरं गंतु भोजानसिञ्जति, अविट्ठे महिला से न्णयति-अपञ्चञ्जामि सावगस्स साधुणां द्दुष्पमा-  
गता, ते आसिस्सो अविट्ठे य समीपे सोउ अहभावण वा आगतो सब्बं से धरगमणं कडिउज्जति, कारणं च ते दांविञ्जति, ततो जयणाए भोजानसिञ्जति, जग्द सो अणति, धरं पञ्जह, ताहे तेणव समं गंतव्वं, मा अग्निहंउ काहिति, असुक्क या एवं राय-  
उत्तएतिसु विपगलियसुत्ता तो पंहेमियसु सविसेसतरा दोसा ॥

पुरिसाणं जो उ गमां, णियमा सो चव होइ इत्थीसु ।

आहारो जो उ गमां, णियमा सो चव उवधिम्म ॥ १९ ॥

जो पुरिसाणं गमां दोसु सुत्तेसु इत्थीण वि मो वेधे दोसु सुत्तेसु वत्तव्वा, जो आहारो गमां सो चव आविसेसि सो उवकरण इच्छवो ॥ १९ ॥

सुत्राणि चउरो-

जे नित्थक्क आगतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कुत्तेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थिएण वा गारित्थिएण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिह्वं आहट्टु दि-  
ज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुविचितियं श्पारिवेट्टेयं श्परि-  
जवेयं परिजवेयं ओभासियं ओभासियं जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खु आगतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कुत्तेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउ वा गारित्थियाउ वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिह्वं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणु-  
वित्थियं श्परिवेट्टेयं श्परिजवियं श् ओभासियं श् जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे नित्थक्क आगतारेसु वा आ-  
रामागारेसु वा गाहावड्कुत्तेसु वा परियावसहेसु वा अन्न-  
उत्थियाणी वा गारित्थियाणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिह्वं आहट्टु दिज्जमाणं पदि-  
सेहित्ता तमेव अणुवित्थियं श्परिवेट्टेयं श्परिजवियं श् ओभासियं श् जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे नित्थक्क आगतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कुत्तेसु

वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउणी वा गारित्थियाउणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिह्वं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुवित्थियं श्परिवेट्टेयं श्परि-  
जवियं श् ओभासियं श् जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ आगतारागारसु द्वियाणं साहणं अणुवित्थियं गारित्थियं वा अजिह्वं-आभिसुत्थेयं इतं अजिह्वं, पारखादिसु कोइ सत्थी सयमेव आहट्टु इत्थपज्जति, पडिसेहेत्ता तमेव चित्तं, तं दायारं अ-  
णुवित्थियं चित्तं, सत्तं पदाहं गंता परिचेद्वियं चित्तं, पुरतो पिट्ठतो पा-  
सतो डिच्चा परिजवियं चित्तं परिजव्यं २ तुज्जकं रायं अ-  
ग्गहा आशियं मा तुज्जकं अकलो परिस्समां भवतु, मा वा अर्धतिं करेस्सह, तो गेहामो । एवं भोभासंतस्स मासलद्धं ।  
सुद्धं वि अग्गुडे पुण जेण अस्तुत्तं तमावज्जो ॥

अगतारागरेसुं, आरामागारे तह गिहा वसहो ।

गिह्विअसुतित्थिए वा, आणिज्जा अभिह्वं अमत्थियमारं ।

ओलज्जणमणुवयणं, परिवेट्टण पासि पुरउ गतुं वा ।

परिजवणं पुण जंपइ, गेहामो मा तुमं रुस्स ॥१२ ॥

अणुवइयं चित्तं आलंगितं अद्वयं चित्तं परिवेट्टणं पुरतो पास-  
ओ वाउ परिजव्यं परिजव्यः ; इमं जंपइ-गेहामो, मा तुमं रुसिहासि ॥ १२ ॥

तं पदिसेवे नूणं, दोर्धं अणुवतियं गेहहती जो उ ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तचविराधणं पावे ॥ १३ ॥

एतेण उ वा तमापहड्डमेव पडिसेहेतं एकप्रतिपेधः, द्वितीया  
ग्रहा जो एवं गेरहति, तस्स आणादां दोसा, अहपंतदोसा य ।  
आणाए अन्नो अणवत्थया कत्ता, अन्नहाकारं तेण मिच्छत्तं जणियं-  
यं, इमं संजमविचाहणा दोसा, अहपंतदोसां य ॥

तेणं गेहहति भइउ, करे पमंमं अहाहियाउजित्ता ।

माइ कवदायारा, घेत्तव्वं जणणत्तं पंता ॥१३ ॥

अहा चिन्हेइ-एतेण उवाएण गेहहति, आहमे पुणो पसंमं करेति,  
पंता पंत्तवगहणं करे, भणेज्जा वा अन्नियं अणुत्तं, तस्मिं अन्नं  
अनिरया आर्यानिरया ण गेहदमां चित्तं जणिया पच्छागेहदं-  
ति मायाधिणां, तथे वसहोएण गेहहति, इदं पदिणियंतस्स  
गेहहति, कवमं कृतकाचारे कवमेण स्वव्वं पवज्जे आयरंति, ण  
एतेसिं काउ सपत्तावो अणियं, स्वभाधिणां माइ किरियाउत्तो कव-  
त्तायारमाइं भणणति । एवं पंत्तो वदति-अग्गहा एते दोसा तग्दा  
ए पव चत्तव्वं, कारणे पुण संगहणं कुच्छति ॥ १३ ॥

अमिबे ओभायारंए, रायहुडे जप व गेहएडे ।

अक्खाए रोहए वा, जतणा पदिसेवणा गहणं । २४ ।

पदिसेहे उ जतणाए गेहहति । का य जयणा, इमा-

जदि सब्बे गीतथा, गहणं तत्थियं व होति तु अलंजो वि ।

मीमे पुण वाइउणं, मा य पुणो तत्थ आणह ॥ २५ ॥

जाडे पणमाइजवणाए मासलद्धं पत्तो, ताहे जह सब्बे स्वाधु  
गोवत्था, ताहे तथेव वसहोए गेहहति, पसं गणिवाणत्थं वा  
अणति-अग्गं धरं गमायां वेधे विउज्जति, तज्जाणिउज्जति, ताणि जणं-  
ति-अज्जेकं गेहह, ण पुणो अ श्मोमा ताहे धप्यति, अज्जति, अण्णा-

वंता अर्गायमीसे पुण अर्गायत्यं पुरतो पम्सेधेउं पञ्चसो तस्स अणुणित्ठण भणति—मा पुण आणेइ, नन्धव अग्गे हिंरंता वदाम्, णिमेंतेउता । अइवा उइ अणुणदोसवजिउंते जहपंत्तदोसा वा ण जन्धंति, तादे गेरहति, इमं च जन्धंति—

सुभे दुराहदं एरं, आदरेण सुमंभितं ।  
सुदवण्णो य ते आसी, विवएणो तेण गेरिहमो ।२६।

सुभे दुराओ भाणियं वेसवारइयाण सुसंभिक्षियं कयं तुज्ज पम्सेधिते सुदवण्णो विवणो वि आसी, तेण गेरहामो, एवं जयणाए गेरहति, पसंगं णिवारितो अर्गाया य बंधिया आइइ प्र-  
तिनिवृत्तनावासीकृतपवात्, एवं इत्थियासु वि, एवं सुदस सुत्ते वि २६ ॥ नि० चू० ३ उ० ॥

( २४ ) धातुप्रवेदनम्—

जे निक्खु अणुणउत्थियायाणं वा गारत्थियायाणं वा गारत्थियायाण्हिं वा धाउं पावेइ, पावेयंतं वा साइज्ज । २७ ।  
जे निक्खु अणुणउत्थियायाणं वा गारत्थियायाणं वा गारत्थियायाण्हिं वा धाउं पवेइ, पवेयंतं वा साइज्ज । २८ ।

यस्मिन् धर्म्यमाने सुवर्णं धत्ति, स धातुः ।

अणुणयरागं धातुं, निहिं व आइक्खते तु जे भिक्खु ।  
गिहिअस्यत्थियायाणं वा सो पावति अणुणमादीं ण । २९।  
अणुणयरागणतो बहुनेदा धातुणियाणणिपीणिहितं स्थापितं, क्विणजागमित्यर्थः । तं जो महाकालमतदिणा णाउं अक्खानि, तस्स आणादिया दोसा । इमे धातुनेदा—

तिविट्ठो य ह्वाति धातु, पासाण रमो य मट्ठिया च व ।  
सो पुण सुवएण वृत्तं, वरतरकालायसदींणं ॥ ११ ॥  
सपारेगट्ठेतरो वि य, होइ निह्दी जलगअय यथल्लो य ।  
कयाडकय होति सब्वा, अहिकतरं कायवट्ठो धातुम्मि । १६।

अथ पासाणे सुत्थिणे जुल्ले वा धममाणे सुवधादि पन्ति, सो पासाणधातु, जेण धातुपाणिपण तं वगादि आसंतं सुवएणा-  
दि भवति, सो रत्तो जन्धति । जा मट्ठिया जंगजुत्ता अजुत्ता वा धममाणे सुवधादि भवति, सो धातुमट्ठिया, कालायसं लोहं आदिगमहणाओ मणिरयणमोत्थियपवालयगरादिणिहायो इमं विण्णो (सपरि)गाहा । सो णिहं । मणुणयवत्तं परिग्गहंति वा इज्ज, अयं जनेा वा सो जले वा होज्ज. थले वा, जो स थले, सो दुविधो-णिक्खतो वा अनिक्खतो वा, सव्यो च व णिसी-  
इरुवण उविधो-कयरुथो अकयरुथो वा, रुवगाभरण्णादि कय-  
रुथो, क्कअरिंरुट्ठित्तं अकयरुथो । सं परिग्गदे अधिकतरा दोसा, कहेतस्स गिहाणगसासिसमीवातो धातुण्हिं धंसयं साधु धा-  
तुव्यायं कारयेति, पसेा धातुंसणे दोसा । इमं णिधायो मय-  
रंकरुंत्तो—

अधिकरणं जा करणं, निह्दिम्मि मक्कोरुगहण्णदी ।  
मोरिणंसकियदीणा—रपिहियण्हिंजाणएण ते कहिया ।  
दिछा ववहरमाणा, कओ तए परंपरागहणं ॥ १७ ॥  
मयूरको णामराया, तेण मयूरकेण भंक्ता दीणारा, आहरणा-  
दिया, महेि दीणारोइं णिहाणं उवियं, तम्मि उविते बहुकालो

गतो, तं केणुइ णिमिसिणा गिह्लिक्खणेण णायं, तं तोहे उक्खा-  
यं, ते दीणारा चवहरंता रायपुरिसेदिं दिछा । सो वणिओ, तेहिं  
रायपुरिसेदिं रायसमीवंणीतो । रक्खा पुज्जिओ—कतो एते तुम्भ  
दीणारा ? तेण कहियं—अणुणसमीवातो । एवं परंपरेण ताव णायं,  
जाव अदि उक्खंतं, तोहे सो गदितो, दंभिया य, असंजयणिगहण  
अधिकरणं णिह्दिओ, क्खणेण य णिसि जागरणं कायवं, अइवा  
ण्हिदंसणे णिह्दिओ, जागरणं णाम यजनकरणं उवाअयन-  
धुवपुण्यावसिमादिकरणं अधिकरणमित्यर्थः । णिह्दिक्खणेण य  
विभीसिणा—मक्कोरुगदि वि सतुंदा भवति, तथ भायविराह—  
णादि रायपुरिसेदिं य गहणं, तथ गेरहणकहुणादिया दोसा,  
एथ इमं वितियपदं—

असिंवे ओमोयारिए, रायदुटे भए व गेल्ले ।  
अच्छाए रोहकज्ज—इजातवादी पत्तावणादं । ३० ॥

असिंवे वेजो आणितो, तस्स इंसिज्जति, धातुणिहाणं वा,  
ओमे अस्सधरंता गिहिअस्यत्थियाए सहाए चेतुं धातुं करोति, णि-  
हिं वा गेरहति, रायदुटे रएणो उवसमणत्ता सयमंभ, जो वा नं  
उवसमेति, तस्स वा धाउं णियाणं वा इंसंति, सोधिगादिजयतो  
जो तापेति, तस्स इंसंति, गिआणकज्जेसयं गिरहति, वेजस्स  
वा इंसंति, अइयो जो णिधारेति, रोहगे अस्सधरंता सहायस-  
हिता गेरहंति, अइवा जो रोहगे आघारजुत्तो, तस्स इंसंति, कु-  
आइज्जे वा संजजतिमादिणिमित्तं वा अक्खजे वा उदा-  
सीणगहणट्ठा पवयणपभायणट्ठा पूयादिकारणणिमित्तं सहाय-  
सहितो गिहिअस्यत्थियाएदिं धातुं णिहाणं वा गेरहज्ज ।  
नि० चू० १३ उ० ।

( २५ ) वादानामामाजैनप्रमाणम्—

जे निक्खु अणुणउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स वा पायं आ-  
मज्जेज वा, पमज्जेज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्ज ।  
१ ? १। जे भिक्खु अणुणउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स वा पाए  
संवाट्ठेज वा, पडिभदेज वा, संवाहंतं वा पलिमदंतं वा  
साइज्ज ॥ ? १। जे निक्खु अणुणउत्थिययस्स वा गार-  
त्थिययस्स वा पाए तेठ्ठेण वा घएण वा वसाएण वा एवसी-  
एण वा मंखेज वा, भिल्लिगेज वा, मंखंतं वा निल्लिगंतं वा  
साइज्ज ॥ ? २। जे निक्खु अणुणउत्थिययस्स वा गारत्थि-  
यस्स वा पायं लोढेण वा ककेण वा पोउमसुणेण वा उट्ठोलो-  
ज्ज वा, उवट्ठेज वा, उट्ठोअंतं वा उवट्ठंतं वा साइज्ज । ? १।  
जे भिक्खु अणुणउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स वा पायं सी-  
आदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोलोज्ज वा,  
पधोएज वा, उच्छोअंतं वा पधोयंतं वा साइज्ज ॥ ? २।  
जे निक्खु अणुणउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स वा कायं आ-  
मज्जेज वा पमज्जेज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइ-  
ज्ज ॥ ? १। जे निक्खु अणुणउत्थिययस्स वा गारत्थि-  
यस्स वा कायं फूमेज्ज वा रएज्ज वा, जाव साइज्ज  
॥ ? २० ॥ जे निक्खु अणुणउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स  
वा कायं संवाट्ठेज वा, पडिभदेज वा, संवाहंतं वा पलिमदंतं



वा साइज्जइ ॥ १११ ॥ जे भिक्खु अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं तेह्णेण वा पण्येण वा बण्णेण वा साइज्जइ वा भंखिज्ज वा, जिलिज्ज वा, भंखंतं वा जिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ ११२ ॥ जे भिक्खु अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं लोद्वेण वा कंकेण वा पोउममुछेण वा उट्ठोसिज्ज वा, उव्वेट्ठेज्ज वा उट्ठोलंतं वा उव्वेट्तंतं वा साइज्जइ ॥ ११३ ॥ जे भिक्खु अणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं सोभोदग्गवियरुण वा ठसिणोदग्गवियदेण वा उव्वोद्वेज्ज वा, पधोयेज्ज वा, उच्छेलंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ॥ ११४ ॥ जे भिक्खु अणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं धूमंज्ज वा, रयेज्ज वा, भंखंज्ज वा, धूमंतं वा रयंतं वा भंखंतं वा साइज्जइ ॥ ११५ ॥ जे भिक्खु अणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं सिबर्णं आमण्जेज्ज वा, पण्णजेज्ज वा, आमण्जंतं वा पण्णजंतं वा साइज्जइ ॥ ११६ ॥

एवं जाव तइयो उदंसो गमो गेयस्वो , गवरं अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा अभिलत्तां जाव ।

जे भिक्खु गामाणुगामं वृज्जमाणे अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसट्ठवारिमं करेइ, करंतं वा साइज्जइ १६६ तुत्थिपोदोसकमनिका सव्वारिणात्थियस्सकत्था यावत् । जे भिक्खु अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसट्ठवारियं कारतीत्थादि ॥

पायप मत्तगार्दी, सीसट्ठवारिदि जे करेज्जाई ।

गि ह्ममत्तित्थियाण व, मो पावति आणमार्दीणि । ३५ ।

अवशुक्तं पायच्छिन्नं, आणदिया य दोसा भवति । निच्छले थिदीकारणं सिहादियाण य तथ्य ममणं पययणस्स भोभावणं; जम्हा पने दोसा तम्हा पनेसि वेयावधं णो कायध्वं । कारणे पुण कायध्वं-

वितियपद्मपण्णे, करेज्ज अवि को वि ते व अण्णजे । जाणंते वा वि पुण्णो, परलिंगं सहमार्दीसु ॥ ३६ ॥

कारणे परंनिगपवणो करेज्जा. सेहो वा अणलो विगिणियध्वो, कमिणि करेत्तो सुत्तो, तस्समणो वा पच्चत्तणं करेत्तो सुत्तो ॥ नि० चू० ११ उ० ।

( २६ ) पद्ममार्गदि-

जे भिक्खु पद्ममं वा संकमं वा अवलंबवणं वा अश्वउत्थियेण वा गारत्थियेण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १११ ॥

जे भिक्खु पुंघववापदं पदाण, नेसि ममो पद्मममो, सो माणा संकमिज्जति, जेण सो संकमो णाउचारयेत्थयोः अवलंबिज्जति ति । जे तं अवलंबं सो पुण वेति, ता मत्तावलंबो वा, अगारो ससुभयवात्ता । एते अश्वत्थियेण वा गिरुधेण वा कारावति, तस्स मासगुत्तं, आणादिणा य । इदार्थो निज्जन्ती-

पद्ममसंक्रमात्तं-बण वसहिसंबद्धमेतरो चेव ।

विस्मं कइमो दोर्षं, हरिते तसपाणजातिसु वा ॥ ११२ ॥

अस्य व्याख्या-

पद्ममो सोवाणा, ते ते तज्जा व होज्ज इने वा । तज्जाता पुदवीए, इहमगार्दी अतज्जा य ॥ ११३ ॥

पदानां मार्गः पद्ममार्गः, सो पुण ममो सोवाणा । ते दुविहा-तज्जाया, इतेर अतज्जाया । तस्मिं जाना तज्जाता, पुदवी चेष अणिज्जण कता, न तस्मिं अज्जाया अतज्जाया, इहमगवाणादिदि कता, एकेका वसहीए संबद्धा, एतरा अस्संबद्धा, अस्सहीए लम्भा जिता, अस्संबद्धा अंगणए अंगमपेवसदरे वा , तं पुण विस्मं कइमे वा उररे वा हरिणसु वा जानेसु तसपाणसु वा अण्णा-संससेसु करेति । इदार्थो संकमो ति ॥ ११२ ॥ १२३ ॥

अस्य व्याख्या-

दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपइद्विगो य वेहासो । दब्बे एमभेणो, बलावत्तो चेव गायत्तो ॥ ११४ ॥

संकमिज्जति, जेण सो संकमो, सो दुविहो । खलु अवघाणेण । अणंतरपइद्विगो-जो भूमोए चेष पहादिगो, वेहासो-जो खंभासु वा वेहासु वा पइद्विगो । पहेकां दुविहो-एगोअं य अंगोअं यो य; एकानेकपट्टेकृत्येत्थोः । पुनरप्येकैको बलस्थिरविकल्पेन नेयः, तदपि विषयकदेशमादिषु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अस्य व्याख्या-

आलंबणं तु दुविहं, जुर्यापि मंकेमे व गायत्तं । दुइतां व एगतां वा, वि वेदिया सः तु गायत्ता ॥ ११५ ॥

एतस्स चेव संकमस्स अवलंबवणे कज्जति, तं अवलंबवणं दु-विहं भूमोए वा संकमं वा भवति । भूमिए विस्मं लग्गणसि-मित्तं कज्जति, सक्केमे थि लग्गणसिमित्तं कज्जति, सो पुण दुइत्तो एगत्तो वा भवति, सा पुण वेहय ति भवति, मत्तावलंबो वा ॥ १२५ ॥

एतंमामसत्तं, पद्ममं जो तु कारए जिकव् । गिह्मिअश्वत्थियेण व, मो पावति आणमार्दीणि ॥ ११६ ॥

एतेसि पयममसंक्रमावलंबवणाणमसत्तं जो भिक्खु गिरु-धेण वा अश्वत्थियेण वा कारावति, सो आणादीणि पावेति, इमे दोसा ॥ १२६ ॥

खणमाणे कायवधो, अवि ते वि य वणस्सतितसाण । खणणं तत्तण्णेण व, अहिदुरमादिआपाप ॥ ११७ ॥

तस्मिं गिरुधे अश्वत्थियेण वा, अण्णेणं सुद्धं जीवनिक्कायाणं विराहणा भवति, जइ वि पुदवी अश्वत्था भवति, तथा थि वणस्सतितसाणं विराहणा । अइवा पुदवीअण्णेणो अहिं वदुं वा धापज्जा, कइं वा तच्छित्तोअभेतेर अहि उवुरं वा धापज्जा, एसा संजमविराहणा, आपापे हत्थं वा पादं वा लसेज्जा, अहिमादिणा वा अज्जेज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा स तेहिं कारवेज्जा, अवघाणए कारवेज्जा ति ॥ १२७ ॥

वपदं दुइअभाए, वायातजुताए अणव सुलभाए । एतेहिं कारणेदिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ ११८ ॥ दुइभा वज्जदी, मग्गतेहिं थि व लम्भति, अइवा सुलभा

बलही, किं तु वाधातज्जुसा लम्बति, ते य वाधायदध्यपडि-  
बद्धा, भावपडिबद्धा, जोतिपडिबद्धा इत्यादि । पञ्चदं कंडं ।

सयं करये ताव इमेरिखो साहू करति—

जितिदिभ्यो षिण्णि दक्षले; पुष्यं तक्षम्भाचितो ।

उच्यन्तां जती कुजा, गीपत्यो वा असामरं ॥११॥

इन्द्रियजयमाखो जिह्रिभ्यो, जीवदयात् घिणी, अक्षोषकिरि-  
याकरणे दक्षले, (पुष्यमिति) गिह्रयकाले तक्षम्भाचितो याम  
तक्षम्भाभिरः । स च रहुकारधरणिपुत्रेत्यादि, यती प्रमजितः,  
स च उपयुक्तः कुर्यात्, मा जीवोपघातो भविष्यति, एवं तावत्  
कक्षम्भाचितो गीयत्यो, तस्स अभावे अगीयत्यो, तक्षम्भा-  
चितो तस्स भावे, तत्कर्मोऽभाचितो तस्य अभावे गीयत्यो अ-  
गीयत्यो य अर्पते सव्ये वि असामरं करेति । यदा तदि प-  
दमगलंकमालंबशेषेहि कज्जं सम्मत्तं तदा इमा सामायारी-  
कतकज्जं तु मा होजा, तन्नो जं विविराषणा ।

मोतुं तजायसामाणे, सेसे वि करणं करे ॥ १३० ॥

कति परिसंमत्ते कज्जे मा जीवविराहणा जवेत्, तन्नो तस्मात्  
साधुपर्यागात् अतः तज्जानो सामाणं मोतुं ससे वि करणं  
विणालसणं कुज्जा, तज्जापणं विणालसे स्ति, मा पुट्टविकाइय-  
विराहणा भविस्सति अचवायं । उस्समं पसे अचवाअं  
अपति—

विनियपद्मणिउणे वा, णिउणे वा केणइ भवे असहू ।

वापअं उवहिस्सा, पक्खरणं कपपती ताहे ॥ १३१ ॥

विनियपद्म अचवातो, तेण सयं करेति, गिह्रिया कारयति, कडे?,  
जसिण-सयं अणिउणो णिउणो वा केणइ यो रोगानंकेण असहू  
सहूणा वा वाघातो विचयेनं च अयययंगिलणां नि पभोअणं  
परं गिह्रयो जतो अप्पणा पुव्वाजिह्रियकारयानो असमत्तो,  
ताहे तेण कारावउं कपपते, तेसि गिह्रिथाय कारायणं इमा  
कमा-

पञ्चाकद साजिग्गह, थिराजिग्गह जइएण व असएणी ।

गिह्रिअणएणतितियए वा, गिह्रिपुष्यं एतरे पञ्चा । १३२ ।

पञ्चाकरो पुतापो पदमं ताव तेण कारावउज्जति, तस्स  
अभावे सानिग्गहो गिह्रीवाणुवतो सावगो, ततो निरजिग्गहो  
इसणसावगो, तन्नो अथा अइएण असरिणगिह्रिया मिथ्याह-  
ठिना पञ्चाकदादि परतिनिधया वि अउरो दठ्ठवा । यत्तेसि पुण  
पुष्य गिह्रिया कारवयउरं, पञ्चा परतिनिधया अप्पतरपञ्चकक्ष्म-  
दास्तातो ॥ १३२ ॥ वि० नू० १ उ० ।

जे जिकखू अणउतियएण वा गारतियएण वा अप्पणो  
पाए आमउजेज वा, पमउजेज वा, आमउज्जंत वा पमउजंत  
वा साइज्जइ ॥१३॥ जे भिक्खू अणउतियएण वा गार-  
तियएण वा अप्पणो पाए संवाइजेज वा, पलिमउजेज वा,  
संवाइतं वा पडिमइतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू  
अणउतियएण वा गारतियएण वा अप्पणो पाए तेल्लेण  
वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंलेज्ज  
वा, जिलिंगेज्ज वा, मंलेतं वा जिलिंगंत वा साइज्जइ ॥१५ ॥

जे भिक्खू अणउतियएण वा गारतियएण वा अप्पणो  
पाए लोक्केण वा ककेण वा एहाणेण वा पाउमचुसेण वा  
सिएहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा  
परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥१६॥ जे भिक्खू अणउतियएण वा  
गारतियएण वा अप्पणो पाए सीओदगविययेण वा उसि-  
खोदगविययेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधावेज्ज वा, उच्छालंतं  
वा पधावंतं वा साइज्जइ ॥१७॥ जे भिक्खू अणउतियएण  
वा गारतियएण वा अप्पणो पाए पू उज वा, एएज वा,  
मंवेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंलेतं वा साइज्जइ ॥१८॥ जे  
भिक्खू अणउतियएण वा गारतियएण वा अप्पणो पायं  
आमउजेज वा, पमउजेज वा, आमउजत वा पमउजंतं वा  
साइज्जइ ॥१९॥ जे भिक्खू अणउतियएण वा गारतियएण  
वा अप्पणो कायं संवाइजेज वा, पलिमइजेज वा, संवाइतं वा  
पलिमइतं वा साइज्जइ ॥२०॥ जे भिक्खू अणउतियएण वा  
गारतियएण वा अप्पणो कार्यं तेल्लेण वा घएण वा वसेण  
वा वसाएण वा एवणीएण वा मंलेज्ज वा, जिलिंगेज्ज वा,  
मंलेतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू अणउ-  
तियएण वा गारतियएण वा अप्पणो कार्यं लोक्केण वा  
ककेण वा एहाणेण वा पाउमचुसेण वा वसेण वा सिए-  
हाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं परियट्टंतं वा  
साइज्जइ ॥२२॥ जे भिक्खू अणउतियएण वा गारतियएण वा  
अप्पणो कार्यं मोओदगविययेण वा उमिणोदगविययेण  
वा उच्छोलेज्ज वा, पधावेज्ज वा, उच्छालंतं वा पधावंतं वा  
साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू अणउतियएण वा गारतिय-  
एण वा अप्पणो कार्यं फूमज्ज वा, एएज्ज वा, मंलेज्ज वा,  
फूमंतं वा रयंतं वा मंलेतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू अण-  
उतियएण वा गारतियएण वा अप्पणो कार्यसि वणं अ-  
उजेज वा, पमउजेज वा, आमउजंतं वा पमउजंतं वा साइज्जइ  
॥ २५ ॥ जे भिक्खू अणउतियएण वा गारतियएण वा अ-  
प्पणो कार्यसि वणं संवाइजेज वा, पलिमइजेज वा, संवाइतं वा  
पडिमइतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू अणउतियएण  
वा गारतियएण वा अप्पणो कार्यसि वणं तेल्लेण वा घएण  
वा वसेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंलेज्ज वा,  
जिलिंगेज्ज वा, मंलेतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥२७॥  
जे भिक्खू अणउतियएण वा गारतियएण वा अप्पणो का-  
यसि वणं लोक्केण वा ककेण वा एहाणेण वा पाउमचुसे-  
ण वा सिएहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्व-  
ट्टंतं वा परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू अण-  
उतियएण वा गारतियएण वा अप्पणो कार्यसि वणं सीओ-  
दगविययेण वा उसिखोदगविययेण वा उच्छोलेज्ज वा,



पलिमदावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पत्तिमदावंतं वा साइज्जइ । ५३ । जे भिक्खू अस्यउत्थियएण वा गार-  
त्थियएण वा अप्पणो अट्ठे तेत्थेण वा घएण वा वसण  
वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिल्लिगा-  
वेज्ज वा, मंखावंतं वा भिल्लिगावंतं वा साइज्जइ । ५४ । जे  
भिक्खू अस्यउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठे  
लोप्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुम्भेण वा वधे-  
ण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा  
उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ । ५५ । जे जिक्वू अस्यउत्थियएण वा  
गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठे सीअोद्गविषयेण वा उमि-  
णाद्गविषयेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पयोवाएज्ज वा, उच्छो-  
लावंतं वा पयोवावंतं वा साइज्जइ । ५६ । जे भिक्खू असा-  
उत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठे फूमवेज्ज वा,  
रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमवंतं वा रयावंतं वा मंखा-  
वंतं वा साइज्जइ । ५७ । जे जिक्वू अस्यउत्थियएण वा गार-  
त्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि आमज्जावेज्ज वा, पमजा-  
वेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ५८ । जे  
भिक्खू अस्यउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अ-  
ट्ठेणि संवाहावेज्ज वा, परिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा  
पलिमदावंतं वा साइज्जइ । ५९ । जे जिक्वू अस्यउत्थियएण  
वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि तेत्थेण वा घएण  
वा वसण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज  
वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जिल्लिगावंतं  
वा साइज्जइ । ६० । जे जिक्वू अस्यउत्थियएण वा  
गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि लोप्पेण वा कक्केण  
वा एहाणेण वा पउमचुम्भेण वा वसण वा उट्ठो-  
लावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा उव्वट्ठावंतं  
वा साइज्जइ । ६१ । जे भिक्खू अएणउत्थियएण वा गार-  
त्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि सीअोद्गविषयेण वा  
उसिणाद्गविषयेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पयोलावेज्ज वा,  
उच्छोलावंतं वा पयोलावंतं वा साइज्जइ । ६२ । जे भिक्खू  
अएणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि  
फूमवेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमवंतं वा रया-  
वंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६३ । जे जिक्वू  
अएणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठेनि  
वा कएणमलं वा दंतमलं वा णट्ठमलं वा एहीहरावेज्ज,  
एहीहरावंतं वा साइज्जइ । ६४ । जे जिक्वू अएणउत्थिय-  
एण वा गारत्थियएण वा अप्पणो कायाउभये वा जलं वा पं-  
कं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा, विमोहावेज्ज वा, णीहरा-  
वंतं वा विमोहावंतं वा साइज्जइ । ६५ । जे भिक्खू गामाए-

गामं दुइज्जमाणं अएणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा  
अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ । ६६ ।  
सुत्तयो जहा तनिउदंसने, तहा भणियव्वं, णवरे कस्यउत्थियएण  
कारवेइ सि वसव्वं । एवं प्रलम्भाधिकारः समाप्तः ।

पादप्यमज्जणादी, सीसदुवारिदि जो करेज्जाहि ।

गिहिसस्यउत्थियएणं, व, सो पावति आणमादीणि । ५८ ।

तेहि अएणउत्थियएणं गारत्थियएण वा कारवेइत्तस्स खु किं  
कज्जं ?, उच्यते-

कुज्जा व पच्छकम्मसे, से य मलादीहिं होज्ज व अयएणो ।

संपातमेव होज्जा, उच्छोलाणजावणे कुज्जा । २५६ ।

ते साहुस्स पादे पमज्जिता पच्छकम्मं करेइ, साहुस्स प्रस्सेवे  
मसं वा द्दुं पायं वा लंलि अयाउठण अमुइ इति अथसं आसं-  
ज्ज, अजयणाए वा पमज्जतां संपातमेव होज्ज, बहुणा वा द्द्वे  
अजयणाए पोयंता उच्छोलाणदोसं करेइज्जा, जूमि ठिए वा  
पाणो क्खावेज्ज, इमो मयवादां ॥ २५६ ॥

वितियपदमाणप्यज्जो, कारेज्जउवि कोवि ते वि अप्पज्जं ।

जाणते वा वि पुणो, परंदिगे सेहमादीणु ॥ २६० ॥

अयप्यमो कारवेज्जा, सेहो वा अजाणतां कारवेज्जा, कारणेण  
वा परंदिगे गांइते परंदिगिभज्जाहिंमो कारवेज्जा, मेहो वा उव-  
चित्तां जाय ण दिक्खिज्जज्जति तेण कारवेज्जा । २६० । किञ्चान्त्य-  
पच्छकम्ममादीहिं, विस्सामावेउ वादि उज्जातो ।

पणविज्ज भावितारणं, सति देइ हत्यकप्पं तु ॥ २६१ ॥

साहुण अभावे पच्छकम्मसेण, आदिस्सहातो (गंही)याहुणएण  
दंसणं, स्वाधेण वा परेदि विस्सामए, को विस्सामाविज्जा ?, वा-  
दं वा अजाणतां वा उज्जातां आन्तः । जे भाविता ते पणवि-  
ज्जति । साधुतां पादरजःश्रेष्ठमाहुणयं गिरसि धाव्यते न दोषः ।  
जे पुण अभाविता तेसि सति मयुरएवणविज्जमानं हत्यकप्पं  
तेसि दिज्जति, मा पच्छकम्म करिस्स । नि० ५०० १६ उ० ।  
( 'अस्यममकारिया' शब्दे संवाधानपरिमर्दनसूत्राणि बह्व्यन्ते )

( २७ ) भूतिकर्मादि-

जे भिक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा जूइकम्मं  
करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे जिक्वू अस्यउत्थिय-  
याणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ  
॥ १५ ॥ जे जिक्वू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा  
पसिणापसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भि-  
क्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं कहेइ,  
कहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे जिक्वू अस्यउत्थियाणं वा  
गारत्थियाणं वा पमिणापविणं कोहेइ, काहंतं वा साइज्जइ  
॥ १८ ॥ जे भिक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा  
तीतनिमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू  
अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पक्खिपुष्पं निमित्तं करेइ,  
करंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे जिक्वू अस्यउत्थियाणं

वा गारत्थियाणं वा आगमं संनिमित्तं करेइ, करंतं वा सा-  
इज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थिया-  
णं वा लक्खणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे  
भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मुषिणं करेइ,  
करंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा  
गारत्थियाणं वा विज्जं पडंजइ, पडंजंतं वा साइज्जइ ॥२४॥  
जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मंतं पडंजइ,  
पडंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे जिक्खु अस्य उत्थियाणं  
वा गारत्थियाणं वा जोगं पडंजइ, पडंजंतं वा साइज्जइ  
॥ ३६ ॥ नि० २० ३३ उ० ।

मार्गपवेदनम्—

जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा णट्ठाणं  
विपरियासियाणं मगं वा पवेदेइ, मंधि वा पवेदेइ, मग्गाणं  
वा संधिं पवेदेइ, संच्छिन्नो वा मगं पवेदेइ, पवेदेतं वा सा-  
इज्जइ ॥ ३७ ॥

इमो सुत्तन्थो—

नट्ठा पथि फिड्ढिता, मूढा उ दिसाविजाग मयुणंतं ।  
तं वि य दिसं पढं वा, पवरेति विवज्जिया वन्नं ॥ ४८ ॥  
पथि प्रनट्ठाणं पन्थानं कथयति, अरुचीए या मूढाणं दिसिमाणं  
अमुणताणं वि दिसि विभागणं पढं कहेति । जतो जेव आगता  
तं जेव दिसं गच्छेताणं विवज्जिता वण्णं सत्तमायं कहेति ॥४८॥

मग्गो खडु समरुपडो, पंथो वा त.न्ववाजिता संधी ।

मो खडु दिमावनागां, पवेषणा तस्स कट्ठाणाओ । ४९ ।

संधी संसंख्ययो जतो गमिस्सति सो दिसामागो, तं तंसि  
मूढाणं पवेदेति, कथयतीत्यर्थः । समरुमग्गा उज्जुसंधिसंखे-  
इयं पवेदेति, उज्जुसंधिसंखेरुया वा समरुमग्गा पवेदेति, रुढय-  
ति ति बुणं भवति । इदं वा सत्थो जेव पहांमग्गा भयति, संधी  
पथं बोधयत्तं । इहवा पंडुमग्गो जेव संधी, पंथस्स वा संधी  
अनरे कहेति, संधी उ वा जो वामत्थिस्सो पदो, नं कहेति ४९

गिड्ढिअस्य उत्थियाणं न, मगं संधीं उ जो पवेदेति ।

मग्गातो वा संधिं, संधीतो वा पुणो मगं ॥ ५० ॥

गतायां । तंसि गिड्ढिअणत्थियाणं मग्गादि कहेतो इमं  
पावति—

सो आणा अणवन्थं, पिच्चउचविराहणं तद्दा बुविहं ।

पावति जग्गदा तेणं, एते उ वए विवज्जेज्जा ॥ ५१ ॥

बुविहा आचपरसंजमविराधणा, तंसि सायुविधिं तेषुपदेणं  
गच्छंताणं इमे मग्गे दोसा—

उक्कायाण विराहण, साचय तेणांविहिं दि उविदेहिं ।

उं पावति जाता वा, पदोम तेमिं तर्हिउपेसिं ॥ ५२ ॥

अं ते गच्छंता उक्काय विराहति, स विराधंतो तं गिण्णयं पाव-  
ति, नेण वा पहेण गच्छंताणं ते साचयोवहवं सरीरोवहितेणोवहवं  
पावति, (अं पावति ति) अं वा ते गच्छंता अस्सि उवहवं करेति,

जतो वा ते अणिचिदिट्ठातो स्वयं पावति, ततो ते तस्स पथवि-  
हंगस्स सायुस्स अक्खस्स वा सायुस्स पदोत्समावज्जेति, अरुं  
पडिणियक्खणण एरिसयं बुदा, इमेणं पंतावणादि करेज्ज ।  
अथवा दातो विवज्ज ॥

विंथियपदमण्णप्येओ, पावे अवि को वि ते व अण्णजे ।

अप्पाए असि व अहिओ—गआत्तरादीमु जाणमहि ५३॥

खित्तादिगो अणप्यज्जेओ सेहो वा, अवि कोवि नो विधेज्ज, अ-  
प्यज्जे वि अट्ठाणं वा सत्थस्स पदं अजाणंतस्स विधेज्ज । अ-  
सिधे गिलाण्णज्जे वा वेज्जस्स कल्पियारिस्स वा अणिज्जं-  
तस्स पंथमुयदिसि ति । अविमो ति बहारातिणा हेसिंता गदि-  
ते एवमादिकरयोहिं जाणंतो वि कहेतो सुज्जां ॥ नि० २०  
३३ उ० ॥

( २८ ) [ वाचवा ] अन्ययुधिकाः पाश्चात्तरादीमु गृह्णिः सुख-  
शीला वा न प्रमाज्जनीयाः—

जे भिक्खु अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ,  
वायंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खु अण्णउत्थियं वा  
गारत्थियं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खु पासत्थं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खु पासत्थं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ २८ ॥

जे जिक्खु उसणं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । २९ ॥ जे

भिक्खु ठसणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३० ।

जे भिक्खु कुमीसियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३१ ।

जे भिक्खु कुमीसियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३२ ।

जे भिक्खु गिनियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३३ ।

जे भिक्खु गिनियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ, । ३४ ।

जे भिक्खु संसत्तं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३५ ।

जे भिक्खु संसत्तं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइ-  
ज्जइ । ३६ ।

एवं पासत्थे दो सुत्ता, उसणे दो, कुसिले दो, संसत्तं दो, गि-  
नियं दो, पंतंमि वायणं दंत, पडिच्छति, जाक्खण वा संखेणु  
अटाच्छंदवजिज्जसु चरलहुं, इदं वा अथे व इदाग्गे चरगुं,  
सुत्त अत्थेसु—

अमपासंदिय गिद्दी, सुहमीदो वा वि जो उ पव्वज्जे ।

अहव पडिच्छति तेमिं, चाओस्स य साति पोरंसिं ॥ ३७ ॥

( पोरंसि ति ) सुत्तपोरंसि अथपोरंसि वा दंतस्स, तंसि  
वा समीवातो पोरंसि करंतस्स, इहवा एओ पोरंसि वाएत-  
स्स, अणगासु इमं—

मतरत्तं तवो होति, ततो वेदो पहावति ।

वेदेण तिमपपरिया, एतो मूलं ततो दुगं ॥ ३८ ॥

सखदिवसे चरलहुं तथो, ततो एक्के दिवसे चरलहुं वेदो,  
ततो एक्केकदिवसे मूलमणवट्ठा पारंविद्य, इहवा तथो, तदव य  
चरलहुं, वेदो, सखदिवसे सेट्ठा, एक्केकके दिवसें इहवा तथो  
तदव । गुरु, च्चदो, सखदिवसे, तसा एक्केकके, इदं वा चरलहुतो

वा सत्तद्विषये, ततो चउगुक्, ततो सत्तद्विषये, ततो गृह्यह सत्तद्विषये, ततो गृगुह्य सत्तद्विषये, ततो एते चैव, देवो सत्त सत्त दिवसे, ततो भृशऽणवत्पर्यायिष्या एकक-  
कृदियं, अथवा ते चैव चउखडुगारिगा सत्सत्तद्विषया, ततो देवो, सद्गुणगादिगा सत्त सत्तद्विषया सत्त सत्तद्विषयेणयव्या, जाव कृगुयुक्, ततो भृशऽणवत्पर्यायिष्या एकककृदिवसं ; गिहिराक्षुत्थियपुष्पु इमे इंसो ।

मिच्छन्निचरिंकरणं, तित्थस्सोत्तजावणा य गेहहं तु ।  
देति पंचवणकरणं , तेषोवकस्वैवकरणं च ॥ १६ ॥

कहं मिच्छन्तं पिरतरं ? उच्यते-तं वहुंतेसि समीचे गच्छं मिच्छ-  
दिदी विनेति-इमे चैव पहाणतरा जाता, एते विपतेसि समीचे सिक्खन्ति, होमो वहुं भगानि, एतेसि अण्यो आगमो गारिध, परं संति, माणु सिक्खन्ति, गिस्सरां पवणं नि घोभायणा, अह तेसि देति, मा ते सवहइत्थादिजातिना महाजणमण्ये चहं चोरं खुज्जा विनिवासणप करीसप पितुअप णि । एवमादि पंचवणं करंति वहुहं च, अथवा तेषोवसिक्खकणप अक्खेवेति, चोयणं करेज्जा, वृसेज्जा वा २२६ ॥

गिहिराक्षुत्थिययाणं, एए दोसा व देत गेहहेते ।  
गहणपदिच्छण दोसा, पासत्थादीणि पुच्छन्ता ॥ १७ ॥

कंठा, गवरं पासत्थादिसु गहनपरिच्छणदोसा जे ते एणरस-  
मे उदसगे बुत्ता, ते दृच्छवा, वंदणपसेसणादिया वा तेरस्सं जम्हा एते दोसा तदथा गिहिराक्षुत्थिया वा ण वापयवणा, परपासलिककखणं जो अण्णाणं मिच्छिअं कुव्वंते कुतित्थिए वा एति, जिणवचणं वा भाजिअच्छति, सो परपासंदी, जो पुण गिही अणणित्थिअं वा इमेरिसो-

नाणचरणे परूचण, कुणति गिही अहव अण्णाणं पामंदी ।  
पयपहिं संपउत्तां, जिणवयमएणासमतीं जाति ॥ २१८ ॥

साणद्वसचरिणाणि पकवन्ते । जिणवखल्लोरो एति सो सं.  
पासंदी चैव सो वाइअअह, अ तस्स जोगं ॥ २१८ ॥

एते व विपमुक्को, गच्छति गति अएणत्थिणी ।  
पवज्जाए अजिमुह, एति गिही अहव अण्णासंदी ॥  
उववायविहारं वा, पासन्था भोवणंतुकामं वा ॥ ११९ ॥

जो अक्षुत्थिययाणुक्का गती, तं गच्छति, सेसं कंठं, ज्वेव कार-  
णं वा पज्जा णि (पवज्जाए) गहाह । गिही अण्णासंदी वा पवज-  
ज्जाजिमुहं स्वावगं वा उज्जावणियसि जाव सुत्तयो, अथतो जाव विहसपा, एस गिहइत्थादिसु अथवादो, इमो पासत्थादिसु अथवा-  
हों तिणि उवसंपदा उज्जावणिविहारीणो उवसंपथां जो पासत्था-  
दो सं। उववावविहारद्वितो ते वा वापज्जा, अहवा पासत्था दि-  
सण जो संविग्गविहारं उवगंतुकामो, अण्णुठिककाम इत्यर्थः ।  
तं वा पासत्थादिभावचितं चैव वापज्जा जाव अण्णुठिति, पंच  
वायवादिद्दा, तेसि समीचातो गहणं कहं दोज्जा ? उच्यते-

वित्थियपदसमुच्छेदो, दसाहि ते तद्दा पकप्यंति ।  
अण्णस्स व असतीए, पदिक्कतं व जयणाए ॥ १३० ॥

अजस्स जिक्खुस्स णिरुक्कपरिया उचिठ्ठिति, णिरुक्कपरियातो लाम  
११९

अजस्स तिथि वरिसाणि पणियायस्स संपूरणि, तस्स य आया-  
रपण्यो अविज्जयव्वो, आयरियाय कालगतो एसेव समुच्छेदो ।  
अथवा कस्सइ सादुस्स आयरपण्यस्स देसण भणधीते स-  
मुच्छेदो य जाया, एतेसि सव्वो आयरपण्यो पदमस्स वित्थि-  
यस्स य देसं य अयस्सं अविज्जयव्वो, सा कस्स पासं अवि-  
ज्जयव्वो । उच्यते-

संविगपच्छाककदसि-कपुणसासुवि पदिक्कंते ।  
अण्णुठिते अ असतीं, अण्णिच्छेसु तत्थ वति देसा वीति । ३ ? ।

सगच्छे चैव जो गीथया, तेसि अस्सति परगच्छे संविग्गम-  
ण्णुअसगासे, तस्स अस्सति परगच्छं संविग्गमण्णुअस्स, ताइ अ-  
अस्स वि अस्सति पाणि पणि, अण्णसंभोइअस्स वि अस्सति एति,  
अण्णसंभोइयस्स वि असावणिआदि उक्कमेणं अस्सविग्गसु तेसु  
वि णित्थियादिउत्ताणो आवकदाए पदिक्कमाविता, अण्णिअ  
जाव अहिअह, ताव पदिक्कमाविता, तथा वि अण्णिच्छे तस्संव  
सगासे अहिअह, सव्वथ वंदणादीनि न हावइ । एसेवजयसा  
तेसि अस्सतीए पच्छाकदादिसु पच्छाकदो सि, जेण चारिंत्तं प-  
च्छाकइं अमिअत्तो अिअक्खं हिअइ वा, न था सावणं पुण  
मुक्किलवत्थपरिहइमां मुक्कसिहं अरेइ । अमअज्जो अय-  
त्तादिसु जिक्कं हिअइ । अण्णं अण्णुति-पच्छाककदसिउत्ता  
चैव जे अस्सिदा ने साकविगा, एपसि सगासे साकविगाइ प-  
च्छाणुलोमणं अविज्जति, तेसु साकविगादिसु पडक्कंते अण्ण-  
ठिए सि सामात्थियपदिक्कता वनारांपितो अण्णुठिमां, अथवा प-  
च्छाकदादिसु पदिक्कंतसु एते सव्वं पासत्थादि पच्छाकदा-  
दिया य अयं केणं यउं पदिक्कमाविज्जति, (अण्णिच्छेसु तत्थ व-  
तिदेसा वीति सि ) । अस्य व्याख्या-

देसो मुत्तमहोयं, न तु अत्या अस्सितो व अस्सपत्ती ।  
अस्सति मण्णुअमण्णु, इयंरतरपक्खीयपक्खीयं ॥ ३२ ॥

पुण्यं कंठं । (अस्सति मण्णुअमण्णु सि ) पयं गच्छति (इतरे-  
तर सि) अस्सति णित्थियाण इतरा संसत्ता, तेसि अस्सति इतरा  
कदाह्मा पयं णायव्वं, एसेो वि अयो गंठा चैव लेसु सि पुण्यं  
जेसि विग्गपरकएसु इमेरिसा , जे पच्छाकदादिया मुंनं वा  
गा ते पच्छाकदादिया । जावउज्जावाए पदिक्कमाविज्जति  
जावउज्जावमिच्छेसु जाव महिअजति, तह वि अण्णिच्छेसु अदि ।

मुंनं व अयेमाणे, सिहं च फट्ठित्थियसिस्साह ।  
लिगेस मसगारिण, ए वंदणादीणि होवेति ॥ ३३ ॥

( मुंनं चरं सि ) तारयाहरणादि वृक्षभिंगं दिज्जति, जाव उदे-  
साइ । करेइ, सा सहस्सपसिहं फेनतु । एमेव वृक्षभिंगं दिज्जति,  
अण्णिच्छेसु दव्वलिंगं वा णो इच्छति फेनंतु, तो स सिंहस्सेव  
पासं अविज्जत सभिंगे तिमो चैव असागारिण पएसंसु य  
पूयात्ताभो वंदणाइ सव्वं ण हावइ, तेण वि वारंयवं पच्छा-  
कदयस्स पासत्थादिसुयस्स वा जस्स पासं अविज्जति, तत्थ  
वेवावक्कं ण करे । इमां विही-

आहार उपहि मेज्जा-एपसामादीसु होति जतियचवं ।  
अण्णुमोयणकवावण, सिक्खति य पदम्मि सो सुक्को । ३४ ।

अदि तस्स आहारादिया अत्थिनो, पहाणं अह सुत्थिय, ताहे  
सव्वं अण्णया एसाणज्जे आहारादि उप्पाययव्वं, अण्णया  
असमण्यो-

चांदति से परिवारं, अकरेमाणे मणादिवास्तडे ।  
अचोः चिपिकरस्स ठ. सुयज्जंते ए कुण्डल पयं ॥३९ ॥  
दुविहाप्सति एतेसि, आहारार्दो करेति सव्वं तो ।  
पणिहाणी व जयंते, असद्धा एवेमं गएहंतो ॥ ३६ ॥

जे तस्स परिवारो पासत्थादियाण वाम्मी स परिवारो सहावि  
संताण करेति, असंता वा गतिथ सहा, एवं असनी एसो सि-  
क्कणो आहारदि सव्वं पणं परिहाणोति जयणा, ते तस्स  
विस्सोहिकोदीहिं सव्वं करेता सुज्जति, अप्पणो वि पमव पुव्वं  
पुव्वं गेगहति। असति सुज्जस्स पच्छा विस्सोहिकोदीहिं गेगहंतो  
सिक्कति, अथवापदण पवुज्जहे । नि० न्णु० १९७ उ० ।

( ९ ) विचारभूमेविहारभूमौ निष्कामण्य-

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा बहिया विचारभूमिं वा विहा-  
रभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविस्समाणे वा णो असाउत्थिय-  
एण वा गारत्थिएण वा परिहारार्थो वा अपरिहारिणं  
सद्धिं बहिया विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमेज्ज  
वा, पविस्सेज्ज वा ॥

( से भिक्खु वेत्यादि ) स जिणुषेहिंविचारभूमिं संहायुत्सर्ग-  
भूमिं तथा विहारभूमिं स्वाध्यायभूमिं तैरन्यनीथिकादिभिः सह  
दोषसंनयान्न प्रविशेदिति संक्षेपः । तथाहि-विचारभूमौ प्राप्नु-  
कोदकस्वच्छवह्न्यग्निर्ज्ञेयपठनोपधानसद्भावो विहारभूमौ वा सि-  
कान्तलापविशिकथननयतः, सेहारासोहिंशुक्लहसद्भावोऽथ  
साधुस्तु तैः सह न प्रविशेत्, नापि ततो निष्कामेदिति । आस्य० २  
शु० १ अ० १ उ० ।

जे जिक्खु अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ  
वा अपरिहारिणं वा सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा विचार-  
भूमिं वा निक्खमएज्ज वा, पविस्सेज्ज वा, निक्खमंतं वा प-  
विस्संतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

( जे भिक्खु अणउत्थियेयादि ) सण्णोसिरणं विचारभूमि-  
असज्जाप सज्जायभूमिं जा साविहारभूमिं, सा उज्जामणोपारि-  
सा वि अथति णो कप्पति । “ एत्तो एगतरेणं ” गाहा कठा ।

वीयारभूमिदोमा-संका अपवत्तणं कुरुकुया वा ।  
दवअप्यकनुसमंभे, असती व करेज्ज उट्ठाइ ॥३०२ ॥  
वीयारभूमि असती, पणिणीए तेष सावए वा वि ।  
रायवुंठे रोधम, जयणाए कप्पते गुंतुं ॥ ३०३ ॥

वियारभूमिपे पुरीसा वा, तसज्जोए अ दोसासंका ( अपन-  
त्तणं ति ) अपवत्तं य सुत्तणिरांहे नीणि सट्थादिप माहं-  
याए बहुद्वेषेण व कुरुकुया करयथ्था, एय उज्जोत्तणं अण्वील-  
णादीं दोसा । अइ कुरुकुयं ए करेति, उट्ठाइ अप्पेण वा द्येण  
कालुसेण वा द्येण णिवुत्तं वुं चउत्थरसियादिणा वा माधि-  
क्खेण अमावे वा वस्स अणुसुत्तिये जणुपुरोस उट्ठाइ करेज्ज,  
जसहा एते दोसा तमहा नेहिं सद्धिं णं गंतव, अथवापए जे  
उज्जइ । ( वियार ) गाहा । अणणो वियारभूमिं असति जादं ते  
मिण्डअणउत्थिया वदंति, ततो वएज्ज, जतो अणायाममं  
सोमं तभो इमे पठिणाएण सावयवाधिंतदोसा । अंतरे

तथ वा धंदिने गतस्स, एतो गिहरेथाहिं समं गते, ते निवारिंते,  
रायवुंठे रायवुंठेण समाणं गममह, राहपवणा चेव सएणा-  
भूमिं परिस्सोहिं कारणेहिं जयणाए गमत्ति, सा य इमा जयण-  
पच्छाकडचदसण, अससिणगिहिए उत्तो कुडिगीसु ।

पुव्वमसोयीवादिस्स, पउरदवेमथिदियु व कुरुया य । ३०४ ।  
पुव्वं पच्छाकरेत्ते गिहोयाणवपसु तेषु चेव संसणसावपसु  
ततो एसु चेव कुतित्थिएसु ततो अन्नसिणगिहियेसु ततो कुलि-  
गिएसु असएणीसु सव्वसा सुव्वेसु पुव्वं असोयीवादिस्सु पच्छा  
सांयवादिस्सु दूरं दूरं परं सुदो उच्च संववज्जित्तो पउरद्वयणं म-  
हियाए व कुरुक्कं करेत्ते अ दोसां ।

एवमं विहारभूमिं, दोसा उट्ठंणमादिया बहुधा ।  
असनी पणिणीयादिस्सु, विंतिथं आगादजागिस्स ॥३०५ ॥

विहारभूमिं वि प्रायश्चः एत एव दोषाः । उक्तञ्चाद्यथ अ-  
धिकतरा बहवः । अन्ये उरुञ्जा कुडिद्रा उट्ठंति वा वेदवादिषु  
प्रत्यनीकादिक्रित्यपदं पूर्ववत् । चांद्रको भगानि-जयंथिया  
दोसा तथा तदिं सामसं गंतुं विनियपदणं विस्सज्जाभां मा क-  
रउ । अयारिओ भणति-आगादजागेत्स उहससमुहसाएओ  
अवस्सं कायथा, उवस्सए व असव्भावेहिं पणिणीयादि, अतो  
तेण समाणं गंतुं करेत्तो सुद्धो । नि० न्णु० २ उ० ।

( ३० ) विदारः-

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणं णो  
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ अपरिहा-  
रिणं वा सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥ ४१ ॥

तथा ( से भिक्खु वेत्यादि ) स भिक्खुसामादं प्रामत्तरम, उप-  
रुद्धणोय्याअगरादिकमपि ( वृज्जजमाणं ति ) गच्छंमिस्स-  
नीथिकादिभिः सह दोषसमवायं गच्छेत् । तथाहि-कायिकादि  
निरोधे सत्यामागिराधना, अयुक्तं व प्राप्नुकोप्राप्तुकप्रहासाव-  
पघातसंभयविराधने सवतः । एवं भोजनेभ्यो दोषसंभयो ज्ञाय-  
नाय, सेहादिविप्रतराखादिदोषकोत्ते । आस्य० २ शु० १ अ० ३ उ० ।

जे जिक्खु अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ  
वा अपरिहारिणं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जे, दूइज्जंतं वा  
साइज्जइ ॥ ४१ ॥

प्रामादन्तो प्रामो प्रामानुग्रामम शेषः पूर्वस्थाधेयत् ॥४१ ॥  
णो कप्पति जिक्खुस्सा, परिहारस्सा उ अपरिहारिणं ।  
मिह्ठिअसतिरियएण व, गामाणुगामं तु विहरिस्सा ॥३०६ ॥  
एत्तो एगतरेणं, संहितो दूइज्जती तु जे जिक्खु ।

सो आणुअणवत्तं, मिच्छाविगाराहं पावो ॥ ३०७ ॥  
“ उट्ठुगनौ ” दूइज्जइ ति रीयति, गच्छन्तीत्यर्थः । रीयमाणो ति-  
थराणां आणं आणमिं जे अणवत्तं करेति, मिच्छत्तं अर्धेसि  
जणयति, आयरिस्संजमविगाराहं पावति । इमं च पुरिसवि-  
ज्जाणेण पच्छिंत्तं-

मासादीया गुरुगा, मासां आविमसियं चउएहं पि ।  
एवं सुत्तं पया-ए ह्वाति सट्ठाए पच्छं ॥ ३०८ ॥  
अगीयथानिक्खुणो गीयथानिक्खुणो उवज्जायस्स अयारिय-

स्स एतेसि चउएह वि मासादी चउगुरु मत्तं, अइया माससहुं  
 केव तथकालविसिंयं । अइया अविंसितियं वेव माससहुं । बोद-  
 ग-आह-कि णिमिस्समिइ सुत्ते पुरिसिचभागेण पच्चिअं विअं ?  
 आवात्थं आह-सर्वसुयप्रदं दोनाथं पं । एवं सुत्ते २ पत्थाण सट्ठाण  
 पच्चिअं इट्ठं । इमा संजमविराद्याण-

संजतगतीरं गमणं, ठाण्णिगतीण उ अट्ठणं वा वि ।  
 वीसमणादि पन्दिस्सुय-उच्चारार्दी अवीमत्था ॥ ३०ए ॥  
 मासादीया गुरुगा, जिक्ख व समाजिगेअवारिप ।  
 मासो विसेमिअो वा, चउएहर्त्ती चउमु सुत्तेषु ॥ ३१० ॥

जदा संजओ सिग्गतीय वा वच्चति, तदा गिरत्थो वि-  
 तितो अचिकरणं भवति, तदा हुआए व परिताविज्जति,  
 तथिप्यअं वीसमंतो य सच्चित्तुदविकाए उच्चाद्यं निसी-  
 यणे तु अट्ठणं वा करेति, भत्तपाणादियाअ उच्चारपासवणेसु  
 य सागारिअो भिकाअं अवीसत्थो साहुणिसिआए वा गच्छति ।  
 तो फलादि आएज्जा, अहिकरणं साहु वा तस्स पूरआं विति-  
 यपदेण गेएहेज्जा । परितावणायिप्यअं पादपमज्जयादि वा  
 य करेज्जा, तथ वि सचाणं अह करेति, उट्ठाहो ।

भाष्यकारैरेवभाषयन्ते उच्यते-

अत्यंतिलमेगते, ठाणादी खच्छवहि उट्ठाहो ।  
 भरणिएसग्गे वा तो-जयस्स दोसा पमज्जएण ॥ ३११ ॥  
 साहुणिसिआए वा साहु अथांदिसे ठाएज्ज, क्खोदोहिणा भारं  
 इट्ठुअंत्त उट्ठाहं करेति, धरुणिसिग्गे वा वायकाइयसकाल  
 उअयहा दोसो पमज्जंतस्स उट्ठाहो, अपमज्जंतं य विराहणा  
 जहाअ ण गच्छे ॥ ३१२ ॥

वितियपदं अच्चारणं, मूढमयाणांत दुट्ठाएहे वा ।  
 उवहीपरोरंतेणए-मावयजपदुल्लभपवंसे य ॥ ३१२ ॥

अच्चारणं सन्धिपरिहं समं वच्चति पंथाउ वा मूढो विस्सतो वा  
 मूढो, साहु जाव पंथ उअरेति पंथमयाणांतो वा जाणए गिहिं  
 स्वमं गच्छेज्ज, रायदुट्ठे वा रायपुरिसिंहं समं गच्छे, बोधिगा-  
 दिभया णटो वा तेहिं समाणं णिहोसो हेवज्ज, तेणगमप वा  
 गच्छे, सावयमप वा अणम्मि वा णगरदेसरज्जे दुल्लभपवंसे  
 तेहिं समं पयिसेज्ज । अअहा ण लभमति । तथ्य पुण खगरा-  
 वित्तु विहरंतो तथ्य अत्थंतो णितितो भवति, तेहिं समाणं  
 गच्छंतो इमा जयणा-

णिज्जणं पिट्ठउ गमणं, वीसमणादी पदा तु अस्सत्थ ।  
 सावयसरीरंतेणए-जएगुतिट्ठाए जयणा तु ॥ ३१३ ॥  
 णिज्जणं पिट्ठओ गच्छति, पिट्ठतो डिगा सव्वपमज्जणादि सा-  
 मयारिं पंजंति, वीसमणसि पदा जदि असजंतो थंदिअं करे-  
 ति, तो संजया अणयंदिसे ज्ञायंति, तेण सावयमयं जइ गिठ-  
 तां, तो मज्जंतो पुरतो वा गच्छंतं, मज्जे तप पुरतो पिट्ठओ वा ग-  
 च्छंति ॥ ३१३ ॥ नि० च्चु० २ उ० ।

( ३१ ) [ शिक्का ] अन्वयार्थिकं वा शुद्धं वा शिन्द्यादि  
 शिक्कायति-

जे जिक्ख अष्टाउतिय्यं वा गारतिय्यं वा निर्यं वा नि-  
 शोमं वा अट्ठापदं वा कक्कपं वा वुगाहं वा सलाहं वा

सलाहत्थयं वा सिक्खावेडं, सिक्खावंतं वा साइज्ज । ८ ।

( जे भिक्खु अष्टाउतिय्यं वा इत्यादि ) सिप्यं तुअगादि, सि-  
 शोगो वरणणा, अट्ठापदं जूतं, कक्कडगदंउ सुगाहा कउदां,  
 सलाहा कव्वकउण्यओगो । एस सुत्तयो । इमा णिज्जुत्ती-

सिप्पासिलोगादीहिं, सेसकलाओ वि मूडया होति ।  
 गिहिअष्टातितिय्यं वा, सिक्खावंते तमाणादी ॥ २० ॥

सेसा उ गणियलक्खणसत्तणकयादिसुविधा ण गिहो अष-  
 तित्थी वा सिक्खावेयव्या । ओ सिक्खावेयं, तस्स आणादिया  
 य दोसा, अउसहुं च से पच्चं ॥ २० ॥

सिप्पासिलोगे अट्ठा-वए य ककमवगुगहसलाहा ।

तुंगाण वस जूतो, हेतु कलहुत्तरा कच्चो ॥ २१ ॥

पुव्वकेण सुपसिआ गाहा, पक्कडेण जहासंभं तथ्य उअइरणं ।  
 सिप्यं अं आयरिओयवेसेण सिक्खिज्जति, जदा तुअगं तुअ-  
 दि, सिशोगो गुणवणेहिं वणणा, अंटापदं अउरगेहिं जूतं,  
 अइया इमं अट्ठापवं-

अट्ठेण वि जाणामो, पुट्ठो अट्ठापयं इमं वेति ।

मुणगाविमालकूरं, पेच्छति पक्कजातम्मि । २२ ।

पुच्छितो अणुच्छितो वा अथति-अइदं णिमिअं ण सुटु जाणामो,  
 पत्थियं पुण जाणामो, परंपरभावकाले दधि कूरं सुणगादिजाओ  
 ण जवति, अणिआं वा भणितो विपासो घटवत्तु कृतविप्र-  
 णासादयअओ दोपा भवति । अइया कर्कटेइ तुसवतांविअप्रति-  
 पत्तिः । अअहा-यथा दोपो मूर्धिममसुत्तंसदुःखभेदतो आकाल-  
 लभेदाअ कारकजुतविशेषाअ विरक्तं सर्वजतिवयम । अथ नैव,  
 ततः प्रतिआहानि । वुगहो रायादीणं अनुककाले कसहो भवि-  
 स्सति । रम्यो वा जुअं सगमादिपण कउइ जयमादिसति । दो-  
 पहां वा कलहं ताणं उ कस्स उअरं कहेति ? सलाह सि, कथा-  
 सन्भावो कहेति । कवोहिं वा वारितो कथं करेति ? सलाह कउअं-  
 णं ति, सव्वकालो तो सूचिततो भवति, ताण अणुतिथिमादां णि  
 सिक्खावेति, अउलह, आणादी य संजमे दोसा । अचिकरअं  
 उस्सगावेडं य इमं वितियपदं-

असिंवे ओपोयरिप, रायदुट्ठे जए व गेआएण ।

अदाण रोएण वा, सिक्खावणया उ जयएण ॥ २३ ॥

रायादिमयं वा इस्वं सिक्खावेतो असिंवेगहितो तपभावा  
 ओट्ठागादि लज्जति, ओमे वा पुव्वति सोआ रायदुट्ठे ताणं करेति ।  
 वोहिं गादिअये ताणं करेति । गिआणस्स वा उअहातिपरिहं उव-  
 गहं करिस्सति । अक्काए नेइहेसु वा उअभाहकारी जविस्सति ।  
 एवमादिकारणं अवेविसउण इमाए जयसाए सिक्खावेति । २३ ।

संविगमसंविग्गो, धाविं नु सोहेज्ज पदमतोगीयं ।

विचरीयमणीए पुण, अणभिग्गमाइ तेण परं ॥ २४ ॥

पणगपराहणीए जाहे अउअहुं पसा तेनु जतिवं ते से वि अ-  
 संतरंतो ताहे संविग्गो धाविअं गीअयं सिक्खावेति, पच्चा  
 असंविग्गो धाविंते नीयत्थं, अणीअं प्पु विवयं कउअत्तं, ततो अ-  
 संविग्गो धाविंते अणीअं, ततो संविग्गं अणीअं, अन्वविपरीतक-  
 रणाए हेतुमज्जयन्तं करिप्यति । संविद्या अणीआथे । पक्कजा ग-  
 हियाण्णवयं, ततो पच्चा इंसणसायमे, ततो पच्चा अदानइय,



अज्ञउत्थिय

ततो भिक्खुं अणुभिग्गाभाजिमाहियं । नि० ५० १३ उ० ॥

( ३३ ) [ संघाटीसीवनम् ] अण्ययूथिकादिभिः संघाटी  
संविधति—

जे निक्खुं अण्ययो संघानियं अणउत्थियण वा गार-  
त्थियण वा सीवावेइ, सीवानंतं वा साइजजइ । ११ ।

अण्यणे अण्यणित्तं संघाटी णाम स्वदी सएहसति ति कार-  
ण दोहं अंतेहि मज्जे व जदि अणउत्थियण स सरकमादिणा  
गिहत्थेण तुष्ठागादिणा संसंज्जावेइ अण्यणे ॥ १२ ॥

णिक्कारणम्मि अण्यण, कारणे गिहि अण्यन अणउत्थियणीहं ।  
संघादि सीवावे, सो पावति अणणमादांणि १५ ॥

जदि णिक्कारणे अण्यणा संविधति, कारणे वा अणणउत्थियगार-  
त्थियणं ति संविधति, तस्स मासल्लहं, अणणदिवा इमे दोसा-

णिक्कारणम्मि लहुगो, गिग्गाण आरोवण्णा पविइम्मि ।  
पच्चाककसाभिग्गह-णिग्गिग्गह जहएण व अणसएणी ।

गिहं अण्यविद्याहमा अण्यणियवाअसंजजमधिगहणा, कारणे  
विधीए सयं सिव्वंते सुखे । चोदण आह-पञ्चमुदेसगे परकरणे

मासगुंठं वसियं, इह कर्हं मासल्लहं भवति । अण्यणिय आह-  
कामं खनु परकरणे, गुक्कमासो तु वसिअं पुव्वं ।

कारणियं पुण सुचं, सयं वऽएणणसते लहुअो ॥१७॥  
खोगुणममुंचंते, पल्लिमंयो उग्गमो तु पदियत्थो ।

एगस वि अक्खंते, अवहारो हाति मव्वंसि ॥ १८ ॥  
कामं अण्यणयत्थे, ललु पूरणे पुव्वं पदमइसेए, इह तु कार-

णिय सुत्ते अण्यणो अण्यणाने परेण सीवावत्तस्स मासल्लहं,  
स्वविय इमे दोसा । (खगुणे) गाहा । जदि बद्धं पाइलेहेति

अण्यणरूपवृत्तुणुदोसा, अह वंथी मोनुं पाइलहेति पुणो वं-  
धति, सुखत्थपल्लिमंयो भवति, पडियत्थं उग्गमो णेगण,

अक्कल्ले एगे वि सव्वंसि अपहारो भवति, अकारणे सि-  
व्वणे व इमा दोसा-

मयदिअणम्मि विडं, गिलाण आरोवण्णा तु सविसेसा ।  
उज्जति ये संजमम्मि, सुत्तादी अकारणे इयं च ॥२०॥

अण्यणो सिव्वंते सूर्यपरिवज्जे ताहे गिलाणारोवण्णा सवि-  
सेसा सपरिनाममहातुक्कला अण्यणियवाअं अंजजमो भवति,

तथ्य लहुगो सुतःथपारसि ण कंति, जहासंयं सुत्तणासे इअं  
अण्यं मासेइ, काइमं व परकारवणे दोसदंसयं ।

अविमुद्धरण काया, पक्कोदण अण्यया व वा तीय ।  
पच्चाककम्मं वमिया, उण्यति वेधं व हरणं च ॥ ३० ॥

अविमुद्धरणं अनुदनीकायादियणं उवर्धं ठयेति, कायवि-  
द्याहया, पक्कोदणं अण्यया पडंति, वाउसंयट्ठणा व घाणावदि-

वयजिअण्य देसस्ववपद्दायं करेअ, अण्यया उवाअंथिनं,  
अण्यणो वा ऊरुयं विधति, हरेअ वा तं संघाडं । इदाणि

अण्यणो सिव्वणकारणं भवति—  
वितियं तु चट्टमुट्टारमा, य गेलाभविसमवत्थे य ।  
एतेहं कारणीहं, संसिक्खयमण्यणा कुज्जा ॥ ३१ ॥

कुड्डी तस्स इत्था वा पाया वा कंधंतेण, तरति पुणो रसं उवेउं;

अज्ञउत्थिय

अथवा उट्टारमा गिलाणो वा ण तरति, पुणो र संवेउवं विस्-  
मवण्यणि वा एगं संविज्जाति, एतेहि सयं सीवेंते सुखे, ज-  
इअण तिणिय वेधा, पक्को दंसते, विसीधो पासंते, ततियो सज्जे  
वि । तिक्खि उक्कोसेण उ भवति, कारणे अणणउत्थियण सि-  
व्ववधति ।

वितियपदपणित्ठणे वा, णित्तये वा होज्ज केण वी अणसु ॥  
वाधातो व सट्टस्सा, परकरणं कपपती ताहे ॥ ३१ ॥

अण्यणा अणित्ठणे वा अणसु गिलाणवाघाते गिलाणाणि, पभो-  
यणण वा वदी एवं एदेए कारवंतं कण्यति, इमाए जयणाए-

पच्चाककसाभिग्गह-णिग्गिग्गह जहएण व अणसएणी ।  
गिट्ठिअण्यणित्थियणं, अण्ययसंए गिदी पुव्वं ॥ ३३ ॥

पच्चाकको पुराणो पदमं तेण नतो अणुअवयसंपणो सावअो  
सामिग्गो; ततो सएणो अहअो, असएणो अहअो, एते चउरो

गिहंजिदा । अण्यणित्थियं ए चउरो जेदा पक्केअ अण्योवसंय  
जेया कायव्वा, पुव्वं गिहंनु, पक्का सोववादिनु, पक्का अणण-

त्थियएणु । नि० ५० ५ इ० ।  
जे भिक्खुं निग्गंणीयं संघाटी अणणउत्थियण वा गार-

त्थियेण वा सिक्खावेइ, सिक्खावतं वा साइजज ॥ ७ ॥  
अज्ञानत्थियण गिहत्थेण सिक्खावति, तस्स चउल्लह, अणणदि-

या य दोसा ।  
संघाटीओ चउरो, तिपमाणा ता जवे दूविहा ।

एगमणोयं छम्मि, आट्टिकारोउणेअसकीए ॥ ९ ॥

प्रायेण (संघाडज्जनि ति) संघाटी गुणसंघायकारणो वा, सं-  
घाटी देसीभासातो वा पाउरणे संघाटी, नतो संक्खा, पमा-

णेण चउरो प्रमाणेण तिपमाणणा एमा उट्टथा दीहा, उ-  
ट्टथविग्गधारा सा व उयस्सए अथयणोयो भवति, इतिगिहत्थ-

दीहा, निदत्थविग्गारा, तथेया भिक्खवारियण्य, वितिया विचयं  
गच्छनी पाडणानि, चउहत्थ चउट्टथादीहा, चउहत्थविग्गारा,

पया सत्त्वा वि पासगल्लका पुणो एक्ककका दुवाइव । पच्छं  
कंठं ॥

तं जो नु संजतीणं, गिह्दीअ अट्टवा वि अणणित्थियं ।  
सिक्खावेती भिक्खु, सो पावति अणणमादांणि ॥ ९२ ॥

तं संजतो संजनेयं संघाडो ओ आयरितो गिहत्थेण अणणित्-  
थियण वा सिक्खावति, तस्स अणणदिशो दोसा ।

कुज्जा वा अज्ञियोगं, परेण पुडे व संकि उट्टाहो ।  
हीणार्हियं व कुज्जा, अण्यणो सहंरिज्जा ॥ ५३ ॥

सो गिहो अणणित्थियो वा तथ्य वसीकरणण्योगं करेअ, अ-  
सेण वा पुट्टो-कस्स संतियं वय्यं । सो कधिअ संजनी-मंज-

तियं, ताडे तस्स संको भवति, उट्टाहं वा करेअ, नूणं को वि-  
संभो अण्यणिय एमे सिक्खेति, पमाणेण हीलमहीधं वा करेअ,

अण्ययातो उट्टेअ, मारेअ वा, तं वा संघाडि करेअ, सिक्खंते  
वा चिअं तथ्य परितावणादिनिपत्ते उण्यसणादि वा पच्छा-

कम्मं कुज्जा, उट्टा एते दोसा तग्गा इमा विदी-  
दियपरिकम्मियं खनु, अणुअण्यणित्थियं तु गणहरो देति ।

गुज्जोवहिं तु गणियां, सिक्खंते जहादिहं मिणे तु। पक्षा  
ज अतिपमाणं तं विदंति, व कुतिमादिणा परिकम्मियं अ-

गुणोबही तिरि कप्या चउरो संघाडीतो पातं पार्थगज्जोभो थ, पसं गणहरो परिकम्मत्तं देति, विसो गुणोबही तं गणिणी सरी-  
रपमासं सिणिव सिभ्येति, कारणे गिहि अन्नतिरथीण वा सिव्या-  
वेति ॥ ४४ ॥

वितियपदमणिलो वे वा, निउणे वा होज्ज कणवी अस्सह ।  
गणियणह्वर गच्छे वा, परकरथं कप्यती ताहे ॥ ४५ ॥

गणी उचउज्जो भो गणहरो आयरिओ, अओ वा गच्छे बुहो तवणी  
वा बुहसोभो, ते सिव्येज्जा, अह ते अस्सह होज्जा, गच्छे वा नत्थि  
कुसओ, ताहे गिहि अन्नतिरथीण वा सिव्यावेति ।

तत्थ इमो कप्या—

पच्चाककसाणिगह—निरिणिगहउहए थ व अमएणी ।  
गिहि अमोतितियएण व, गिहि पुव्वं एतेरो पच्चा ॥ ५६ ॥

पुव्वेवव सिव्यावणे इमो विहो—

आगातेयं अस्सी, संठाणं गंतु सिव्यावे ।  
पासांडिय अवास्सिंतां, तो दोसे वेजना ण जायंति । ५७ ।

सो गिहएओ अन्नतिरथीओ वा साहुसमीयं अह पवलीए भा-  
गनो सिव्याविउज्जति । जदि अक्कमासागतो थ अमज्जति, तो तस्स  
अ संठाणं तं गंतु सिव्याविउज्जति, जयणाए उएपदानो पुअं अन्नतथ  
संकाणिउज्जति, तस्स समीये अक्किसओ थि तो णिवयो वासा  
व चिद्धति, जाव सिव्ययं, एवं पुव्वुत्ता दोसा ण ज्वंति ।

( ३३ ) संयोगः—

जे भिकवू अस्सणं वा पाणं वा स्वाइयं वा साइयं वा उ-  
बहामं णिकिववड, णिकिववेतं वा साइउज्ज । ३० । जे  
भिकवू आएउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सदिं उंज्ज, उंजंते  
वा साइउज्ज । ३१ । जे भिकवू आणत्थिएण वा सदिं उंज्ज, उंजंते  
वा साइउज्ज । ४० ।

असन्नतियथा तवसिधिया विभंभणा वेत्थिया गारत्था, तेहिं सदिं  
पवभायणे ज्ञेयणं एगदुतिदिसिदिपरु आवेदिअं, स्ववदिसि  
उितेसु परवेदिअं । अह वा आह मयादया वेदितः, विसि विदिसा-  
सु विच्छिअद्धितेसु परिवेदितः । अह वा एगयंतोपसु आवेदितः,  
दुगादिसु पंतोसु समंता परिवेदियानु परिवेदिओ ।

गिहिअसन्नतियएहिं व, सदिं परिवेदिओ व तं मज्जे ।

जे भिकवू असणादी, उंजेज्जा आणमादीणि ॥ ५७३ ॥

असन्नतियएहिं सदिं उंज्जति, अन्नउत्थिएण वा मज्जे उितो  
परिवेदितो वा उंज्जति, तस्स आणादिया इत्सा । ओहओ अउ-  
अहुं पक्किसं । विभागतो इमं—

पुव्वो पच्चा संयुव, असोयसोयवडि व इहगा वा ।  
चउरो वा जमसपदा, चरिमपदे दोहि वी गुस्सा ॥ ५७४ ॥

पुव्वं संयुवा असोयवारी व पच्चा संयुवा । (असोय सि) एतेसु  
अउसु पयसु लहुगा (अउरो सि) (अमलपदं ति) कालतवेहिं  
विसोसज्जति जाव चरिमपदं पच्चा संयुवो सोयवादी, तत्थ  
अउसुगुं तं कालतवेहिं वि गुकगं भवति ।

सुत्थीसु चउ गुस्सा, उहहुगा अएणात्थीसु ।

परत्तरियणि उग्गुग्गा, पुक्कावरसमणसत्तचं ॥ ५७५ ॥

एयासु वेव सएथीसु पुएं पच्चा अस्सयसोयासु अउगुग्गा काल-  
तवेहिं विसोसता, एतेसु वेव अन्नतिरथियपरुसेसु अउसु उह-  
हुगा कालतवसिदि, एयासु वेव परतिरिथीणोसु उग्गुग्गा, उ-  
व्वसयुयासु समणीसु उेदो, (अवर सि) पच्चा संयुतासु सम-  
णीसु अहुंमं ति मूलं । अयमपरः कएयः—

अह वा वि एणसवणे, अणुएवओवासाए व चउसहुगा ।  
एसु वि व दोसु इत्थी—सुएणालवदे चउ गुस्सा ॥ ५७६ ॥

णालवदेणे पुरसेणे अणालवदेणे थ गहिताएवओवासणेथ  
एतेसु दोसु चउसहुगा, एयासुं वि व दोसु इत्थीसु एणसवणे व स-  
वियसम्महिदिमि एतेसु वि अउगुग्गा ।

अणालदंसणितियसु, उहउतु पुरिसे व दिद्ध—आमहे ।  
दिद्धित्थि पुप अदिहे, मेहुणजोई व उग्गुग्गा ॥ ५७७ ॥

इत्थीसु अणालवदासु अवियसम्महिदिसु, दिट्ठानहेसु पुरि-  
सेसु, एतेसु दोसु वि उहहुगा, इत्थिसु विउमअत्तासु, पुरिसेसु अ-  
दिट्ठानहेसु, (मेहुणि व) माउल्लोपिअवधाता (जोइय व) पु-  
व्वभउत्ता, एतेसु चउसु वि उग्गुग्गा ।

अदिट्ठज्जपासु थोसु, संजोइयसंजनीए उेदो व ।  
अमणुएसंजनीए, मूलं थी फामसंबंधो ॥ ५७८ ॥

इत्थीसु अदिट्ठानहेसु संजोइयसंजनीसु थ एयासु दोसु वि  
उेदो (अमणुए णि) अस्सोअइयसंजनीसु मूलं, इत्थीहिं सड  
भुंजंतस्स फासे संबंधो, आयपरोज्जदोमा, देहे संकारया थ  
दोसा, जदि संजति संति तो समुदोसं, तो अउल्लं, अथिकरणं थ ।

पुव्वं पच्चाकम्मं, एगतरदुग्गुउहउहउहाओ ।

अमोषामयगहणं, स्वग्गगहणं थ अचिचं ॥ ५७९ ॥

पुरकम्मं संजतए सड भोत्तव्वं, इत्थपादादिसुइं करेइ, संजतो  
भुंजित्सह । अथिगततं देधावेति, पच्छाकम्मं कोथि एसोति  
सवेसं एहाणं करेउज्ज । पच्छिसं वा पडिवउजे, संजतएण वा लुणे  
अपहुणंते अथं पि रंधेज्जा, संजंतो गिही वा एगतरो दुग्गुं  
करेउज्जा, विलिगभावण थ उहुं करेउज्जा, अण्णेण दिंठे उइओ  
भवति, कासादिरोमा वा संकमेउज्ज । अथिकतरं अउएण वा  
अचियसं भयेउज्ज ।

एवं तु भुंजमाणे, तेहिं सदिं तु वसिता दोसा ।

परिवरितो जदि उंज्ज, तो चउ लहु इमं दोसा ॥ ५८० ॥

परिवारितमउज्जगते, स्ववपयारेण हौति चउ लहुगा ।

कुकुकुयकरणं दोसा, एमादिसु उग्गमा हौति ॥ ५८१ ॥

मज्जे उितो जलस्स परिवारिओ जह भुंजइ, अहवा समंता  
परिवारितो दोपहं निरहं वा जह मउग्गओ भुंजति, स्ववप-  
गरोहिं अउलहुं गिहिभायणं थ ण भुंजियव्वं । तत्थ भुंजतो  
अयात्ताओ अस्सता । कंसिसु कंसपाएसु विसोमो वा एयमुग्ग-  
मादिसु भुंजंतस्स उइओ भवति, कं विउ देवणे व उइओ, इयरेण  
आउक्कायविराहणा, बहुदवेण कुउकुकुयकरणे उण्णि-  
लावणादि दोसा, जम्हा पवमादी दोसा तम्हा एतेहिं सदिं  
परिवारिपण वा न भुंजियव्वं ।

विनियमद्वेसाहा-रणा य गेलक्ष रायजुचे य ।

आहार तेष अक्का-ए सहेए संच तत्थेव ॥ ६७५ ॥

पुर्वं संयुक्तो पक्का संयुक्तो वा पुर्वं एगभायको आसी, स तस्य संयुक्ते अगतो जडि ह भुंजति तो परिणमति, अतो सेवेह संमं भुंजति, परिच्छेदितो चि तेसागपसु मा तेसि संका भविससति-कि एस अण्यसागारियं समुदिसति सि, अन्धे वा चि करति मा बाहिरभावं गच्छपरिच्छेदितो भुंजति । साहारर्थं वा लभ्यं, तं ए चेष भुंजियन्वं । अह कच्छमंदिभो तावे वेत्तुं तीरं भुंजति । अह दाया भदंति ताहे तेहिं चेष सहसि परिवुत्तो वा भुंजति, गिलाणा वा घञ्जस्स पुरतो समुदिसिञ्जा, जयणाए कुकुर्यं करेञ्जा, रायवुट्टे रायगुरिसोहिं णि-उजंतो तेहिं परिचेदितो भुंजेज्जा । आहारतेणगेषु तसिं पुरत्तो भुंजेज्जा, अदाण तेष सावयभया सन्धस्स मन्ने चेष भुंजति । सेहानं सख्येसि एकावसही होञ्जा, बाहिग्गादिमए जणेष सह करदाणु अन्धति । तस्य तेसि पुरतो समुदिसिञ्जा, भोमे कहिं चि सत्ताकारे तत्थेव भुंजता ए लभमति, भायणेषु ए लभमति । तत्थेव भुंजेज्जा सामारिए एको परिचेषणं करे, बहमाहसु संतरं संभुंजति, णावं दुविहेण द्वाेष कुकुर्यं करेह । सन्धेसु जाहसंनवं एसा जण्णा । नि० सू० १६ उ० ।

अणुप्रतिबन्धदेवय-अण्ययुधिकदेवत-न० ६ त० । परतीर्थिक-पुण्येय हरिहरादियु देवेषु, उपा० १ म० । औ० आ० लु० । प्रति० अणु प्रतिबन्ध परिभादेय-अण्ययुधिकपरियुहीतं-नि० । तीर्थो-न्तरीयैः पूज्यत्वादिनाऽऽकृतैः ५ ह्येत्वेत्यादौ , उपा० १ अ० ।

अण्ययुधिकास्तद्वैतानि, तत्परियुहीतानि वा अर्हैत्येयानि, आष-च न यन्ते । तदुक्तं सम्यकृत्यं प्रतिपद्यमानेनाऽऽनन्देन-“ यो कालु जंत । कथं अज्ययनिह अण्ययुधिका वा अणुप्रतिबन्ध-देवयानि वा अणुप्रतिबन्धपरिभादेयानि वा अर्हंतं चैह्यारं कंदित्तए वा णमंसित्तए वा” उपा० १ अ० औ० । अण्ययुधि-कपरियुहीतानि वा अर्हैत्येयानि अर्हंतंतिमालकणानि यथा औ-त्तपरियुहीतानि अर्हमकमहाकासादीनि । उपा० १ अ० आ० लु० ।

अणुप्रभो ( चो ) ( दो )-अण्यतस्-अण्य० । अण्य-तसि लु । “ चो दो तसो वा ” ॥ म० १ ६० ॥ इति सूत्रेण तसः स्थाने सो दो इत्यादौ, पले द्वाेषपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ने निष्कं, निष्कू जायहि अणुप्रभो ” । न हु नैव दाहयामि ते तुज्यं भिक्षां याचस्व अण्यतोऽस्मदस्यतिरिक्तत् । उच० १ अ० ।

अणुप्रकास-अणुप्रकास-पुं० । सुचार्योक्त्युत्तरकासं भिक्षाकाले, “अयं अणुप्रकास, पायं पाणकाले” सूत्र० २ अ० । अ० ।

अणुप्रवसाण-अणुप्रवसान-न० । अण्वदेये, प्रा० म० प्र० ।

अणुगुण-अण्यगुण-नि० । चैनत्याद्वेय गुणा येषां तन्वन्मगुणा-नि । अण्वतनेषु, “पंचवहं संजोए, अणुगुणाणं चयेणाह गुणो” आचार्यादिभ्यगुणा पुचिबी । म० १ अ० । अ० । अ० । उ० ।

अणु ( ङ ) गोत्तिय-अण्यगोत्रीय-पुं० ङी० । गांश्च नाम तथाविधैकपुरुषप्रजयां बंधाः । अण्यन्च तद् गोभं चान्यगोभं तत्र तत्रा अण्यगोत्रीयाः । अतिचिरकालस्यचानवशेन मुदितगो-प्रसंन्येषु, च० १ अ० । “ वैवाहामन्त्यागोत्रीयैः, कुलशीलसमैः सप्तम् ” । अ० १ अ० ।

अणु ( झ ) माहण-अण्यमहण-न० । गानजाते मुखवि-कारे गान्धर्विके, । “ अण्यमहण सि रात्रगहस्स उअभो करणरंथेसु सरणीतो मरणातो सुवातमहदीयासु य आणह-यसं मुं अं तं हवेज्ज, अहया अण्यमाहं मधंदिषो ति ” । नि० सू० १७ उ० ।

अणुप्रयोग-अण्यप्रयोग-पुं० । कार्योत्तरजननसंबन्धे, अनेकान्त-जयपताकावृत्तिसिव० ४ अ० चि० ।

अणुप्रयोगवचनेद-अण्यप्रयोगवचनेद-पुं० । अण्यप्रयोगस्य कार्यान्तरजननसंबन्धकृष्णरथाभावे, अनेकान्तजयपताका-वृत्तिसिव० ४ अ० चि० ।

अणुप्रयोगवचनेदवर्चीसिया-अण्यप्रयोगवचनेदवर्चीसिका-स्त्री० । श्रीमहिलेणविरचितस्याद्यादमज्ज्यांशुस्यवृत्तिसिव-क्लिं अर्हमेचमन्सरिविहिते निःशेषदुर्वादिपरियवधिज्ञेप-दक्षे द्वात्रिंशत्पद्यन्धे, अर्हमेचमन्सरिणा जगप्रसिक्त-असिक्तसैनदीवाकरविरचिन्द्वात्रिंशत्कानुकारि श्रीवर्कमाजि-नस्तुतिरूपमयोमण्यवचनेदान्ययोगस्यचन्देदभिधानं द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत्कानुक्रियं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं विद्वधे । स्या० । ( कुनधिंभैः श्रीवीरेण सह अण्ययोगसिद्धिः ) । यथा श्रीवीरे यक्षधर्मादी तथा ऽण्येयि सौगतादयो देवाः यथायां दानिस्तोयां स्यवचनेदो निषेधः अण्ययोगस्यचन्देदः ) । [ स्वाह-वादमञ्जरीटिप्पणी ]

अणुप्रयोगिय-अण्यप्रयोगिय-स्त्री० । परकीयकलत्रेषु, मनुष्या-णां देवानां तिरस्कां च परिणतसंयुहीतं भदंभिक्षेषु कलत्रेषु, च० २ अ० चि० ।

अणु ( ञ ) झ ( झ )-अण्योण्य-त्रि० । अण्यशब्दस्य कर्मव्य-तिहारे द्वित्रिम् , पूर्वदेव सुब्र । “ सोतोऽद् वाऽऽप्योत्तम् ” । १ । १ । ५६ ॥ इत्यादि-सूत्रेण अन्वं वा । पररूपार्थे, प्रा० ।

अणु ( ञ ) त ( य )-अण्यतर-त्रि० । अण्य-इतर । बहुनां मये पकत्तरे, औ० । “अण्यरेसु आभियेमेसु देवतोणेषु देवत्वाए उवयज्जह” अण्यरेषु केषुचिद्विषयैः । अ० १ हा० १ उ० । नि० लु० । “अण्यरे वा दीहकासपडंभेच पधं तस्स न भवह” जं १ यकू० । नि० लु० । उत्त० । “अण्यरेसु देवतोणेषु” अण्यतरदेवानां मधे इत्यर्थः । स्या० १ उ० डा० १ उ० । आ० लु० ।

अणुप्रतर-अण्यप्रतर-पुं० । एकस्मिन्काले आत्मपरयोरेकस्यमन्-तरं तारयन्तीति अण्यतरकाः । अण्यतर-अणु । पूर्वोदरादित्यच् ह्रस्वः, स्वायं क । तपवैयाकृत्यवियवकसामर्थ्याऽभावेन केश-हमूनयं युगपत्कतुंमहाशुक्लपुण्य एकस्मिन्काले आत्मपरयोरेकतरं तारयन्तु प्रायश्चित्ताहंपुण्येषु, ज्य० १ उ० ।

अणुप्रतिबन्ध-अण्यप्रतिबन्ध-पुं० । अणुप्रतिबन्धकशास्त्रा-जीवकृच्छ्रावकप्रभृतिषु, नि० लु० १ उ० । निष्कूभौतिका-दियु वा, च० २ अ० चि० । परदर्शनेकेषु, प्राय० ६ अ० ।

अणुप्रतिबन्धवचनानुश्रोण-अण्यप्रतिबन्धवचनानुश्रोण-पुं० । अण्यप्रतिबन्धवचनानुश्रोणः सकाशात् । अणुः स्वकायात्पर-वस्तुनस्वमनयोगो विचारः, नत्प्रकरणार्थं शास्त्रसमं इत्यर्थः, सोऽप्यतीर्थिकप्रवृत्तयुयोग इति । पाण्डुराजेन्द्र, स २ ६ सप्त० ॥

असत्तजावणा-अन्यत्त्वजावणा-स्त्री० देहादेरात्मनो भेदबुद्धौ,  
 “ जीवः कायमपि व्याप्य बहो ! लोकात्मरं याति तत्  
 भिन्नोऽसौ वपुषोऽपि कैव हि कथा इत्यादि वस्तु मज्जेत् ।  
 तस्माद्विस्मयति यस्तनु मलयजयोर् इति दृग्बादिजि-  
 र्थः पुष्पाति घनादि यच्च हरते तत्रापि साम्यं श्रयेत् ॥ १ ॥  
 अन्यत्त्वजावनाभिधं, यः करोति महासतिः ।  
 तस्य सर्वेश्वनाशेऽपि, न शोकाशेऽपि जायते ॥२॥ प्रथ० ६७  
 द्वा० । घ० ।

असत्प्र-अन्यत्र-अव्य० । परिवर्जने, यथा “अन्यत्र भीष्मघो-  
 णार्या,सर्वे योधाः पराङ्मुखाः” । “असत्प्रऽप्राज्ञोमेणं सहसा  
 गारणं” इत्यत्र अन्यत्र अनाभोगात्सहसाकाराण्यपत्तौ यज्ञिय-  
 त्येवर्थः । घ० २ अघि० । “अणत्थ कथंइ” अन्यत्र कुत्राच्चिद् व-  
 स्त्वन्तरं, विधा० १ श्रु० २ अ० । अ० ७० । “अणत्थ क-  
 थंइ मणं अकुच्रमाणं” अन्यत्र कुत्रस्मिन्ननोऽकुच्रन् । अतु० ।  
 अन्यार्थ-पुं० । वा दुर्भावाः । भिन्नार्थे, अन्याऽर्थः अनिधेयं  
 प्रयोजनं वाऽप्य । भिन्नाभिधेयवाचक शब्दे, भिन्नप्रयोजनक  
 पदार्थे च । त्रि० । वाच० ।

अन्यर्थे-पुं० । अनुगतोऽर्थश्च । अस्या० सं । अद्योतुगेन व्युत्प-  
 लितुक् शब्दे, वाच० । “त्रियमस्यते नयथानिरपेकत्वं” विवक्ति-  
 तनुक् नूनकदारकादिपदमाद्यन्वयासावर्धेभ्योऽन्यायां देवाधिपा-  
 दिः सऽज्ञातस्त्वय यत्स्थितं नूनकदारकादौ तर्हि कथं वचनं ?,  
 इत्याह-तदर्थनिरपेकं तस्येन्द्रादिनाम्नोऽप्येवमर्थः । परमिभ-  
 योर्दि, तस्य निरपेकं संकनमाशेषेव तदर्थशून्यं नूनकदारकादी  
 यननं इति पर्यायानभिधेयं स्थितमन्यायं अन्येथं वा तदर्थ-  
 निरपेकं यत् कच्चिद् नूनकदारकादी इन्द्राद्यनिधानं क्रियते  
 तन्नामेतीह तावन्व्यायः । विशेषः ।

असत्प्रमार्थ-अन्यत्रगत-वि० । उत्कस्यानद्वयव्यतिरिक्तस्या-  
 नाभिने, म० ७ श० ६ उ० । प्रहापकज्ञेयदेवस्यापनाभापरत्र  
 स्थिते, म० ६ श० १७ उ० ।

असत्प्रयोजग-अन्यर्थयोग-पुं० । अनुगतशब्दशब्दार्थसंबन्धे,  
 पञ्चा० १२ विव० ।

असत्प्रार्थ-अन्यर्था-स्त्री० । अर्थमनुगता या संज्ञा सा अन्य-  
 र्था । अर्थमङ्गीकृत्य प्रयत्नमानायां संज्ञायाव, कथम्, इह यथा  
 भास्करसंज्ञा अन्यर्था । कथमन्यथा ? भासं कगेनीति भास्कर  
 इति यां प्रासनायांस्तमङ्गीकृत्य प्रवचत इत्यन्यथा । आ०  
 चू० १ अ० ।

असत्प्रदसि ( ए )-अन्यदर्शिन-वि० । अन्यद् द्रष्टृशीलम-  
 स्यतस्यदर्शी । अयथावस्थितपदार्थरूपदर्श, आचा० १ श्रु०  
 २ अ० ६ उ० ।

असत्प्रदत्त-अन्यदत्त-पुं० । अन्येन दत्तं हरतीति राजा-  
 दिनाऽप्येवया वित्तीणस्यापास्तगल एव त्रेकं, “अरण्यदत्त-  
 हरे तणे, माई कन्तु हरे सदे” उच्य० ७ उ० ।

असत्प्रदाण-अन्यदान-न० । अशनादेत्यस्मै दाने, “नो ति-  
 विहं निविहेणं, पञ्चकषाह अणदानकारणम्” पं० व० २ द्वा० ।

असत्प्रधर्मिय-अन्यधार्मिक-पुं० । जैनधर्माद्व्यस्मिन्न धर्मे व-  
 र्तते इति, मिथ्यादृष्टी, आच० । परधार्मिके, वृ० ४ उ० । परती-

र्थिकं, वृ० ३ उ० । शाक्यादी, गृहस्थे च । स्या० ३ उ० ५ उ० ।  
 असत्प्रपर-अन्यपर-त्रि० । अन्यरूपतया परस्मिन्न मन्वस्मिन्न,  
 यथा एकाणुकाद् द्वाणुकव्युपादि, एवं द्वाणुकादेकाणुकव्य-  
 युपादि । आचा० २ वृ० १२ अ० ।

असत्प्रपरिजोग-अन्यपरिजोग-पुं० । आद्यादिसंयने, पं०  
 व० २ द्वा० ।

असत्प्रपुण-असत्पुण्य-न० । अस्मात्पुण्यमसत्पुण्यम् । प्राप्तायास-  
 दानार्थं धेकरनामादिपुण्यप्रकृतिबन्धरूपं पुण्यजेद, स्या० ६ उ० ।

असत्प्रपमत्त-असत्प्रमत्त-वि० । अकार्थं प्रमत्तः । नेजजनकरणा-  
 सके, उच्य० १४ अ० ।  
 अन्यप्रमत्त-त्रि० । अन्ये सुहृत्स्वजनमाद्यस्तदर्थं प्रमत्तः । उच्य०  
 १४ अ० । सुहृत्स्वजनमात्पुत्रपुत्रकलत्रपञ्चाशदादीनां कार्यंकरणा-  
 सके, “अणव्यमत्ते धनमेसमाणं, पण्योति मच्चुं पुरिसं  
 जरं च” उच्य० १४ अ० ।

असत्प्रवेलाचरक-अन्यवेलाचरक-पुं० । अन्यायां भोजनकासा-  
 पेक्षया आद्यावसानकृपायां वेलायां समये चरतीत्यादिकाला-  
 निप्रहविशेषविशिष्टे निकौ, स्या० ५ उ० १ उ० ।

असत्प्रजोग-असत्प्रभोग-पुं० । आद्यादिक्रमे जोग्यपदार्थे, “अ-  
 एणमोगेर्हि जेणमोगेर्हि” औ० ।

असत्प्रमस-अन्येन्य-त्रि० । अन्यशब्दानु कर्मेव्यतिहरि त्रिविं, सुअ  
 “आतोऽज्ञाऽन्येव्यप्रकाशानोपशिरोऽवेदानामनोरसररोहे का-  
 ष्य वः” उ० । १२६६॥ इति सूत्रेण श्रोतः अस्त्वम् । मकार प्रागसिकः  
 परस्परशब्दार्थे, द्वा० १ अ० । रा० । आ० म० प्र० । म० । आ-  
 चा० । उच्य० । घं० प्र० अतु० । स्या० । मृ० ३० । “असमस्य-  
 म्पुण्यस्यया अणुप्रमणमणुष्यया अणमणुण्डाणुष्यस्यया अ-  
 णमणुह्रियद्विच्यकारया असमणुणुगिहंतु किच्वाहं कर-  
 शिञ्जाहं पचच्चुमवमणा विहरंति ।” ( जिनदत्तसागरदत्त-  
 पुत्रयोर्मिथोऽनुरागवर्षकः ) अन्योऽन्यमनुरक्तौ स्नेहवन्तौ, अत ए-  
 वाऽन्योऽन्यमनुरजतः इत्युच्यन्ते, एवं अन्वत्तुवर्तकौ अनिप्रा-  
 यानुवर्तितौ, एवं हृद्येऽपिस्तकारकौ । ( किञ्चाहं करणीयाहं ) क-  
 र्तेव्यनि प्रयोजनानीत्यर्थः । अथवा कृत्यानि नैविकारिणः, करणी-  
 यानि कार्यानि कृत्यानि, प्रयुजन्तस्तीति विद्वान्नी । आ० २ अ० ।  
 “असमसं शिञ्जमणीषो विच” । परस्परं चतुषुऽऽज्ञोक्तनानो-  
 वज्ञोक्तनेन वं शेषाः संश्लेषास्तैः शिञ्जमाना इव । रा० । स्या० ॥  
 “असमसं सेवमाणा” अन्योऽन्यस्य परस्परस्यासेवनयाः श्लो-  
 अिनभोगेन क्वचित्पाठः । प्रथ० ४ आच० द्वा० । “असमसं  
 करेमाणं पारंचिद” अन्योऽन्यं परस्परं मुल्लगानुप्रयोगात्  
 मैथुनं कुवेदं पुरुषपुत्रमिति शेषः । उच्यते-“असत्प्रपेऽस्य-  
 सेषो, के ति मशुस्सा दुबेयणा हंति । तसिं लिं गविं वगो ति” ।  
 स्या० २ उ० ४ उ० । औ० औ० । ( ‘पारंचिय’ शब्देऽस्य व्याख्या )

असत्प्रमस्यकिरिया-अन्येन्यक्रिया-स्त्री० । परस्परतः साधुना  
 कृतप्रतिक्रियया विधेयायां रजःप्रमाजनादिकार्यां क्रियायाव,  
 अन्योऽन्यं क्रियाञ्च अन्योऽन्यक्रियाः । ससके इतिता यथा-  
 से भिवन् वा जिकसुण्णी वा असमस्यकिरियं अउक्त्-  
 तिथयं संसैद्यं णो तं सानिण षो तं गिणमे, से अणुस्यएणो-

पापे आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, एणे तं सातिए णो तं  
निगमे, सेस तं वेच, एवं खसु तुस्स जिकखुस्स वा जिकखु-  
णीए वा सापगियं सपभयो सत्तिकमो सम्मचो ॥

क्रिया रजःप्रमाजेनादिकास्ता अन्वयान् परस्परतः साधुना  
कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्याऽन्वयक्रियास-  
त्तिकक इति । आचा० २ सु० १३ अ०

जे भिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अएणउत्थिएण  
वा गारत्थिएण वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं  
वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ११६। जे जिकखू णिग्गंथे णि-  
ग्गंथस्स पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवा-  
हेज्ज वा, पस्सिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा पस्सिमहंतं वा सा-  
इज्जइ ॥११७। जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अएण-  
उत्थिएण वा गारत्थिएण वा त्थेण्ण वा घएण वा बाएण्ण  
वा वसाएण वा खण्णीएण वा मंखेज्ज वा, जिलिंणोज्ज वा,  
मंखंतं वा भिलिगंतं वा साइज्जइ ॥११८॥ जे जिकखू णि-  
ग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा  
लोद्वेण वा ककेण वा उट्ठाएण वा पउममुष्सेण वा वप्पेण  
वा उट्ठाणेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उट्ठाणंतं वा उव्वट्टंतं वा साइ-  
ज्जइ ॥११९॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अएणउ-  
त्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियेण वा उसि-  
णोदगवियेण वा उच्छोद्वेज्ज वा, पधोपज्ज वा, उच्छो-  
लंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥१२०॥ जे जिकखू णिग्गंथे  
णिग्गंथस्स पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फू-  
पेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूपंतं वा रयंतं वा मंखंतं  
वा साइज्जइ ॥१२१॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं  
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जजावेज्ज वा, पम-  
ज्जावेज्ज वा, आमज्जजावंतं वा पमज्जजावंतं वा साइज्जइ १२२।  
जे भिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अएणउत्थिएण वा  
गारत्थिएण वा संवाह्वेज्ज वा, पस्सिमहावेज्ज वा, संवा-  
ह्वेज्जजावंतं वा पस्सिमहावेज्जजावंतं वा साइज्जइ १२३। जे भिकखू  
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण  
वा त्थेण्ण वा घएण वा बाएण्ण वा वसाएण वा णवणी-  
एण वा मंखावेज्ज वा, जिलिंणोवेज्ज वा, मंखावंतं वा  
जिलिंणावंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे जिकखू णिग्गंथे  
णिग्गंथस्स कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-  
केण वा ककेण वा ह्हाण्णेण वा पउममुष्सेण वा बाएण्ण  
वा सिहाण्णेण वा उव्वट्टावावेज्ज वा, परिवट्टावावेज्ज वा,  
उव्वट्टावावंतं वा परिवट्टावावंतं वा साइज्जइ १२५। जे जिकखू  
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण  
वा सीओदगवियेण वा उसिणोदगवियेण वा उच्छो-  
लावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा

साइज्जइ १२६। जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अ-  
एणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूपावेज्ज वा, रयाएज्ज  
वा, मंखावेज्ज वा, फूपावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा सा-  
इज्जइ ॥२७॥ जे भिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं  
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जजावेज्ज वा, पम-  
ज्जावेज्ज वा, आमज्जजावंतं वा पमज्जजावंतं वा साइज्जइ १२८।  
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं अएणउत्थिए-  
ण वा गारत्थिएण वा संवाह्विज्जावेज्ज वा, पस्सिमहावेज्ज  
वा संवाह्विज्जावंतं वा पस्सिमहावंतं वा साइज्जइ १२९॥  
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं अएणउत्थिए-  
ण वा गारत्थिएण वा त्थेण्ण वा घएण वा वप्पेण वा  
वसाएण वा खण्णीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंणावेज्ज वा,  
मंखावंतं वा जिलिंणावंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिकखू  
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं अएणउत्थिएण वा गार-  
त्थिएण वा सोद्वेण वा ककेण वा एट्ठाणोण वा पउममुष्सेण  
वा वप्पेण वा सिहाण्णोण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज  
वा, उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ १३१। जे भिकखू  
णिग्गंथे णिग्गंथस्स वा कायं म वणं आमज्जउत्थिएण वा  
गारत्थिएण वा सीओदगवियेण वा उसिणोदगवियेण  
वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवा-  
वंतं वा साइज्जइ १३२। जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स का-  
यं म वणं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूपावेज्ज वा,  
रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूपावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं  
वा साइज्जइ १३३। जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म  
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा मंखं वा पस्सियं वा  
अरियं वा आमियं वा जग्गदंलं वा अमयंरेण वा तंखे-  
ण वा सत्थजाएण वा अचिद्धावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज  
वा अचिद्धावंतं वा विच्छिदावंतं वा साइज्जइ १३४।  
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म अएणउत्थिएण  
वा गारत्थिएण वा मंखं वा पस्सियं वा अरियं वा असियं  
वा जग्गदंलं वा अमयंरेण वा तंखेण वा सत्थजाएण  
वा अचिद्धावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं  
वा णीहरावेज्ज वा, विमोहियाएज्ज वा, गिहरावंतं वा  
विमोहियावंतं वा साइज्जइ १३५। जे जिकखू णिग्गंथे  
णिग्गंथस्स कायं म अमज्जउत्थिएण वा गारत्थिएण वा मंखं  
वा पस्सियं वा अरियं वा अमियं वा भग्गदंलं वा अमयं-  
रेण वा तंखेण वा सत्थजाएण अचिद्धावेज्ज वा, विच्छि-  
दावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विमोहिया-  
वेज्ज वा, सीओदगवियेण वा उसिणोदगवियेण वा  
उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवा-



जिक्व् लिंगंये णिगंयस्म अचिञ्चिण् अण्णत्तं गारत्थि०  
 अमज्जावेज्ज वा , पमज्जावेज्ज वा , आमज्जावंतं वा  
 पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥६३॥ जे भिक्खु णिगंये णिगं-  
 थस्स अचिञ्चिणे अण्णत्तं वा गारत्थिपण वा संवाहिया-  
 वेज्ज वा,पमिपथावेज्ज वा,संवाहियावंतं वा पमिपथावंतं वा  
 साइज्जइ ॥६४॥ जे जिक्व् णिगंये णिगंयस्म अचिञ्चिण् अ-  
 ण्णत्तं गारत्थि० तेल्लेण वा घण्ण वा बसाण्ण वा ख-  
 ण्ण वा संवावेज्ज वा, जिलिगावेज्ज वा, संवावंतं वा  
 भिलिगावंतं वा साइज्जइ ॥६५॥ जे जिक्व् णिगंये णिगंय-  
 स्म अचिञ्चिण् लोक्केण वा ककेण वा एहाण्णेण वा पउमचुभे-  
 ण वा वसेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं  
 वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ॥६६॥ जे भिक्खु णिगंये णिगं-  
 थस्म अचिञ्चिण् अण्णत्तं गारत्थि० सौमोदगवियडेण वा  
 ठसिणोदगवियडेण वा उव्वोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा,  
 उव्वोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ ॥६७॥ जे जिक्व् णि-  
 गंये णिगंयस्स अचिञ्चिण् अण्णत्तं गारत्थि० कूपावा-  
 एज्ज वा, रयाएज्ज वा, संखावाएज्ज वा, फूसावावंतं वा रयावंतं  
 वा संखावावंतं वा साइज्जइ ॥६८॥ जे जिक्व् णिगंये णिगं-  
 थस्स अण्णत्तं गारत्थि० अचिञ्चल्लं वा कए पमत्तं वा दंतमत्तं  
 वा हाहमत्तं वा खीहरावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ॥६९॥ जे  
 भिक्खु णिगंये णिगंयस्म कायाउमेयं वा जलं वा पंकं  
 वा मल्लं वा अण्णत्तं गारत्थि० णीहरावेज्ज वा, विसो-  
 हावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ॥७०॥ जे भिक्खु णिगंये णि-  
 गंथस्स गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णत्तं गारत्थि० वा गार-  
 त्थिपण वा सीमदुवारीयं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ॥७१॥  
 आमज्जनं सहुव, पुनः प्रमाज्जनं, (जा समणं) गहाह । आदि स-  
 हाओ बंधसादिसुत्ता पंच, कायसुत्ता ३, वणसुत्ता ५, गंदसुत्ता  
 ३, वासुकमिसुत्तं एहसिहारोमराइंसुत्तुत्तं च, वनाणि वसरो-  
 ह्णालिसागुत्तं च अचिञ्चल्लमज्जणसुत्ता । तिष्ठि मुहसुत्तं स्वय-  
 न्तं अभिसामग्गाइसुत्तं, सांसज्जवारियसुत्तं च । एते चसात्तासं  
 सुत्ता तनिमोहेसगमगेण भासियवथा । तथ स्वयंकरणे इह पुण  
 णिगंथीणं समणस्स अण्णत्तं गारत्थि० य गारत्थिपण वा कारवेति  
 सि; ससा इमं अचिञ्चल्लुत्ते भरणंति ।

समणान् संजतीहिं, असंजतीओ गिहयेहिं ।  
 गुरुणा लट्ठगा चउ वा, तथ वि अण्णत्तंदिदां दोसा ॥११॥  
 संजतीओ जदि समणस्स पायपमज्जणादि करेति, तो चउगु-  
 रुणा (असंजतीओ सि) गिहन्थिओ जइ करेति, तथ वि चउगुरुणा,  
 गिहत्थपुरिसा जदि करेति, तो चउवलट्ठगा, अण्णत्तंदिदा य दोसा  
 भवंति ॥११॥

मिञ्चत्ते उट्ठाहो, विराहणा कासजावत्तंवेधे ।  
 पणिमगणादी दोसा, नुत्ताजोगी य थापव्वा ॥ १२ ॥  
 इत्थियाहिं कीरनं यानिसा कोह मिञ्चत्तं गच्छेज्जा-पने-  
 काव मेय । स, संजमविराहणा य, इत्थिफासे मोहोद्वेषा, परो-

परमो वा फासेण भावसंबंधो इवेज्ज, ताहे पविशममं वरण-  
 तिथियाधी दोसा, अहवा फालवज्जो वृत्तजोगी सा पुबवरयादि  
 संभरिज्जा, अहवा चित्तिउज्ज-परिसो मम मोक्षयाप फासो परि-  
 संतो वा मम मोक्षा प्राप्ती, अण्णत्तमोहस्स इत्थिफासेण कोव-  
 यादि विनासा-

दीहं व णीमसेज्जा, पुञ्जा कदि एरिमेण कदि एणं ।  
 मम जाइया एरिसी, सा वा बलणे बदे एवं ॥ १३ ॥

यो वा संजओ संजनीयाए पमज्जमाणीए हीहं णोसासिज्जा,  
 जाहे सो पुञ्जाति-किमेयं दीहं ते मोसत्थियं ? । सो भणत्ति-कि  
 परिसेण भणत्ति कदि एणं ति, निज्जंये करेइ, मम भाइया एरिसी  
 तुमं वी सा वा बलणे पमज्जती दीहं णीमसेज्जा, पुञ्जा कदं णं  
 च एवं वेव एते संजतीहिं दोसा ॥ १३ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पञ्चकम्मं च ।  
 आतपरमोद्वेदीरउ, पाउसव हु सुत्तपरिहाणी ॥१४॥

गिहत्थीसु अतिरित्तदोसा पञ्चकम्मं इत्ये सीतोत्तकण प-  
 च्चासंजा, पाइयामउज्जणादीहिं य उज्जल्लेवस्स अण्णत्ते मोहो  
 वयिज्जेजा-संजानामि वा अहं, कोमे परिसक्कामो ति सि धव्वो इ-  
 वेज्ज, तं वा वज्जल्लेवस्स इदं धव्वेसि इत्थियाणं मोहो उदिअज्ज,  
 सरीरपाउसव च कनं जवति, आव तं करोति ताव सुत्तथप-  
 लिमंओ ॥ १४ ॥

संपातिमादिपातो, विवज्जिओ जे च सोगपरिवाओ ।  
 गिहिएहिं पञ्चकम्मं, तन्हा समणेहिं कायव्वं ॥ १५ ॥

पमज्जणं संपातिमे अभिघाएज्ज अजवत्तणेण ( विवज्जिते  
 ति) साधुणा सिधुसापरिचिञ्चल्लण होयव्वं । अण्णं च "विज्जसा  
 इत्थिसंस्समी" ति सिलोमो । यस्स सिधुविकरणे अं भवे  
 सोगपरिवादी य, आरिसं सयज्जमाहण एरिसेण च विवज्जितं भवि-  
 त्तय्यम, एवमादि इत्थिसु दोसा । गिहत्थपुरिसेसु वि इत्थिफा-  
 सादिया मोत्तं एते चेव दोसा, पञ्चकम्मं च । इमे य दोसा-

अजयंते पफोदे, ते पाएप उणीत्थलं च संपाटी ।  
 अतिपेण्णायामं आता, फोहणं सय अहिजंगादी ॥ १६ ॥

संजओ अजयणाए पफोदेतो पाव अभिभेज्ज, बहूव वा इ-  
 वेण धोवंतो तणे वणीमोवेज्ज वा, जिण्णुवेज्ज वा संयातिसा पने-  
 उज्जाह । एत संजमविराहणा । प्रायविराहणा इमा-भण यिदिहा  
 अनीय पण्णिओ पादो, तादे संधी वि केज्ज, फोहणे ति जिण्णु-  
 हल्लेज्जा, महादिहा वा अयं करंज, अर्हिं वा जेजेज्ज ॥ १६ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पञ्चकम्मं च ।  
 गिहिएहिं पञ्चकम्मं, पञ्जा तमहा उ समणेहिं ॥ १७ ॥

गतायां, किं विसेसे । पुव्वेकस गित्थी अमित्ता, पञ्चकेण  
 गिहत्था, वे वि पाए पफोदेते कुव्वं करंज, कुव्वेतो पञ्चा-  
 कम्मसजवो, जग्धा एते दोसा तमहा समणान् समणेहिं काय-  
 व्वं, णो गिहत्था अण्णत्तियथा वा जेइवथा ॥ १७ ॥

विंतिपदमणणउत्ते, अण्णत्तं उवात्त अप्पओ उ करे ।  
 पमज्जणादी तु पदे, जयाण्ण ए समयाहिं भिक्खु ॥१८॥  
 अणणउत्ते कारवेज्जा, अणणउत्तस्स वा कारविज्जति, अण्णत्तं  
 पतिवण्णो वा अतीव उच्चा उण्यमज्जणादी पदे क्खप्पे वेव

अथवा पकरेज्ज, अरण्यो असतो संजयर्हि कारवेज्ज ॥ १० ॥

असती य संजयाणं, पच्छाकनमादिर्एहि कारेज्ज ।

गिर्हिअसतिरित्थिएहि, गिर्हत्थि-परतित्थि-तिविहादिं । १६ ।

असनी संजयाणं पच्छाकनार्हि कारवेति, तस्मां साजिग्यपरिं, ततो गिरभिमगोर्हि, ततो अहाभएर्हि, ततो गियस्यपरिं मिच्छ-दिट्ठीहि, ततो अजिन्नाहियांमच्छदिट्ठीर्हि, ततो अश्वमसूक्तिपरिं मिच्छदिट्ठीमदिपरिं, पुत्र्यं असोयवादीर्हि, पच्छा सोयवादीर्हि, ततो पच्छा गिर्हत्थिपरितित्थिद्विहादिं ति, ततो गिर्हत्थीर्हि णालब-च्छाहि अणालबच्छाहिं ति विधाहिं धेरमज्जिमनरुणीहिं, एवं पर-तिरिधएणहिं वि, संजयांर्हि वि, एवं चेव, एस्तो वेव अतो विर्य-रतो अश्वनि, तस्मां पच्छा गिर्हत्थिपरितित्थिद्विहादिं ति । गिर्ह-त्थी दुयिदा-णालबच्छा अणालबच्छा । ततो र्हेदि गिर्हत्थीर्हि णालबच्छाहिं-

माताजगिणीधूया-अजिज्जाणी अयिद्वियाण असतीए ।

अणियद्विय धेरिंदि, मज्जिमनरुणीर्हि असतिरत्थीर्हि ॥ २० ॥

माता मगिणी धूया अजिज्याण्युत्तरी य, एतंसि असतीए, एयाहिं वेव अणयतिरिधणीर्हि, एतंसि असतीए अणालबच्छाहिं गिर्हत्थीर्हि ति विधाहिं कमेण धेरमज्जिमनरुणीर्हि, तस्मां एयाहिं वेव अणयतिरिधयाहिं ति ॥ २० ॥

तिविहाण वि एयाणं, असतीए संजतिमादिजगिणीर्हि ।

अत्थि य जगिणी ण सती, तपच्छा उवसेसतिविहादिं ॥ २१ ॥

माताजगिणीधूया-अजिजयाण वि य ससतिविहा तु ।

एतांसि असतीए, ति विहा वि करेति जयण तु ॥ २२ ॥

अणालबच्छाणं धेरमज्जिमनरुणीहिं असति संजतीतो माता प्राणिणी धूया य अजिज्याण पञ्चमादिं ततो करंति, ततो पच्छा अ-सेलाओ अणालबच्छाओ ति विहाओ धेरमज्जिमनरुणीओ करा-वेति वा, एयस्मिं चेव अत्थे अणयावदिक इमा माथा-(माता-मगिणी) । (एतांसि असतीए स्ति) माथमगिणिमादिधाणं ति, सेवं ति विहाउ स्ति अणालबच्छाओ संजतिओ ति विधाओ धेरम-ज्जिमनरुणी य जयणा जहा फाउसेबच्छादि ण जयति, तदा कारवेति, करंति वा ॥ २१ ॥ २२ ॥

जे भिक्खु गिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जा-वंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । १७ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अश्वउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवा-हावेज्ज वा, पालिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पालिमहावंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा त्थेण वा घएण वा वएण वा वसाएण वा एवधीएण वा मंखेज्ज वा, जि-ल्लिगज्ज वा, मंखंतं वा जिल्लिगंतं वा साइज्जइ । १८ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा झोद्वेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-चुएणेण वा वएणेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ । १९ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थि-

एण वा सीअोदगवियंकेण वा उसिणोदगवियंकेण वा उचो-लेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उचोलेंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ । १६ ॥

जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा कुपेएज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखेएज्ज वा, कूमावंतं वा रयावंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ । १७ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गं-थीए काये अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जा-वेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । १८ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायं अएण-उत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पालिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पारिमहावंतं वा साइज्जइ । १९ ॥ जे भिक्खु शि-ग्गंथे शिग्गंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा त्थेण वा घएण वा वएण वा णवणीएण वा मंखेएज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखेवंतं वा जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ । २० ॥

जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोकेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-चुएण वा वएणेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ । २१ ॥

जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीअोदगवियंकेण वा उसिणोदगवियंकेण वा उचोलेवेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उचोलेवंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ । २२ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गं-

थीए कायं कूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखेवेज्ज वा, कूमा-वंतं वा रयावंतं वा मंखेवंतं वा साइज्जइ । २३ ॥ जे भि-क्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायंसि वएणं अश्वउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आम-ज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । २४ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायंसि वएणं अश्वउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा त्थेण वा घएण वा वसाएण वा एवधीएण वा मंखेवेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखेवंतं वा जिल्लि-गावंतं वा साइज्जइ । २५ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथेसत कायंसि वएणं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा झोद्वेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउमचुएणेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंतं वा परिव-ट्टावंतं वा साइज्जइ । २६ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायंसि वएणं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीअोदगवियंकेण वा उसिणोदगवियंकेण वा उचोला-वेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उचोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ । २७ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायंसि वएणं अश्वउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कूमावेज्ज वा, रया-वेज्ज वा, मंखेवेज्ज वा, कूमावंतं वा रयावंतं वा मंखेवंतं वा





जे भिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा तैस्सेण वा पएण वा बएणेण वा बसाएण वा एवएणिएण वा मंखाएज्ज वा, भिंलिगाएज्ज वा, मंखा-  
वंतं वा जिंलिगावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३३ ॥ जे जिक्वु णि-  
ग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा  
लोक्केण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुएण वा ब-  
षेण वा उट्ठोत्तावेज्ज वा, उव्वहावेज्ज वा, उट्ठोत्तावंतं वा  
उव्वहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३४ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गं-  
थीए उट्ठे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा मीआदगवि-  
येण वा उस्सिणोदगवियेण वा उच्चोत्तावेज्ज वा, प-  
धोवावेज्ज वा, उच्चोत्तावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥  
११३५ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अणएणत्थिए-  
ण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखा-  
वेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥  
११३६ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए अचिउणि असुप्त-  
त्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा,  
आमावेज्जं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ११३७ ॥ जे जिक्वु  
णिग्गंथे णिग्गंथीए अचिउणि अएणत्थिएण वा गार-  
त्थिएण वा मंवाहावेज्ज वा, पलिमहावेज्ज वा, मंवाहावंतं  
वा पलिमहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३८ ॥ जे जिक्वु णिग्गं-  
थे णिग्गंथीए अचिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण  
वा तैस्सेण वा पएण वा वाग्गएण वा बसाएण वा एवएणी-  
एण वा मंखावेज्ज वा, भिंलिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जि-  
लिगावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३९ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गं-  
थीए अचिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-  
क्केण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुएणेण वा बएणे-  
ण वा उट्ठोत्तावेज्ज वा, उव्वहावेज्ज वा, उट्ठोत्तावंतं वा  
उव्वहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११४० ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णि-  
ग्गंथीए अचिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा  
सीआदगवियेण वा उस्सिणोदगवियेण वा उच्चोत्ता-  
वेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्चोत्तावंतं वा पधोवावंतं वा  
साइज्जइ ॥ ११४१ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए अ-  
चिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा,  
रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखा-  
वंतं वा साइज्जइ ॥ ११४२ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए  
कायाउ अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा सिध वा जज्ञं  
वा पंक्कं वा मग्गं वा एहीट्टरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, पि-  
ट्टरावंतं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११४३ ॥ जे जिक्वु  
णिग्गंथे णिग्गंथीए मायाणुगामं दुइज्जमाणे अणएणत्थिए-  
ण वा गारत्थिएण वा सीमदुवारियं करेइ, करंतं वा  
साइज्जइ ॥ ११४४ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथस्स

पाए अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज  
वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइ-  
ज्जइ ॥ ११४५ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए का-  
याउ अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा अचिउमसं वा  
कणमलं वा दंतमसं वा णट्टमलं वा धीट्टरावेज्ज वा ० जाव  
साइज्जइ ॥ ११४६ ॥ एवं मव्वं मिग्गममिग्गमप्यसरिसं ए-  
यवं जाव जे णिग्गंथीए णिग्गंथस्स मायाणुगामं दुइज्जमाणे  
अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ,  
करावंतं वा साइज्जइ ॥ ११४७ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गं-  
थीए पाए अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज  
वा, पमज्जावेज्ज वा, आमावेज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइ-  
ज्जइ ॥ ११४८ ॥ एवं तं एतेण वा मएण सरिसा खेयव्वा  
जाव जे णिग्गंथी णिग्गंथीए मायाणुगामं दुइज्जमाणे  
अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ,  
करावंतं वा साइज्जइ ॥ २४५ ॥

सुत्ता एकवत्तलीसं ततिउदइसगमा जाव सीसदुवारियं सि  
सुत्तं; अन्थे पूर्ववत् ।

एवंव गमां नियमा, णिग्गंथीसं पि होइ खायव्वो ।  
कारवण संतेहिं, पुव्व अवरम्मिय पदस्मीतु ॥ ११३० ॥  
संजमं गारत्थमादिहं संजनिणं पंदं पमज्जमादि कारवेति,  
उत्तगणसु संजवति, अजकखणए वा संभवति । नि० सू०  
१७३० ।

असुप्तसखंतिअ-अन्योन्यप्रथितं-वि० । परस्परंकेन प्रथिन्या  
सहाऽन्यो प्रथिरन्वयेन च सहऽन्य इत्येवं प्रथिते, अ० ५ श०  
३ उ० ।

असुप्तसखरुचत्ता-अन्योन्यगुरुकता-त्वी० । अन्योन्येन प्रथ-  
नाद् विस्तीर्णतायाम्, ज० ५ श० ३ उ० ।

असुप्तसखरुचत्तं जातिरयत्ता-अन्योन्यगुरुकत्तंभारिकता-स्त्री० ।  
अन्योन्येन गुरुकत्तं यत्तं जातिकं च तत्तथा, तद्भाष्यत्तं । अन्यो-  
न्येन प्रथनाद् विस्तारसंभारवत्त्वं, ज० ५ श० ३ उ० ।

असुप्तसखपट्टना-अन्योन्यपट्टता-स्त्री० । अन्योन्यं घट्टते सं-  
वधन्तीति अन्योन्यघटाः । ज० ३ प्रति० । अन्योन्यं घटाः  
समुदायरचना यत्र तदन्वयघटाः । अन्यान्यं घटाः समु-  
दाया येषां तदन्वयघटाः । परस्परसंबन्धनायाम्, ज० ५  
श० ३ उ० ।

असुप्तसखएणपुट्ट-अन्योन्यस्पृष्ट-वि० । स्पर्शनभावेण सिधः  
स्पृष्ट, अ० १ श० ६ उ० । ज० ० ।

असुप्तसखएणवक्क-अन्योन्यवक्क-वि० । अन्योन्यं जीवाः पु-  
ज्जानां, पुज्जानां जीवानामित्येवमादिकूपेण गाढतत्संबन्धे,  
अ० १ श० ६ उ० ।

असुप्तसखवेह-अन्योन्यवेह-पुं० । अन्यस्याऽन्यस्य संबन्धे, नि०  
सू० २० उ० । "अणोत्तणवदंशं भस्ति सि" अन्योन्यस्य संबन्धे सं-

अष्टाणमस्येह

बन्धोऽप्येवमेवस्तस्मात् पञ्चदशाश्रायेण एकैकस्मिन् स्व्यापेन संयुज्यते इत्यर्थः । नि० सू० २० ब० ।

अष्टाणमन्तास-अन्योन्याभ्याम-पु० । अन्योन्यं परस्परम-प्रायासः । परस्परं गृह्णते, अयु० ।

अष्टाणमए गुणान्विता-अन्योन्यात्कारिता-स्त्री० । अयो-भ्यस्य आ या भारः स विद्यते यत्र तन्मन्यन्तारकं, तद्भाव-स्तत् । परस्परं त्रारयन्ते, ज० ६ श० ३ उ० ।

अष्टाणमए गमपुगय-अन्योन्यानुगत-त्रि० । परस्परगनुवचं, न० ।

अष्टाणमए गमपुगय-अन्योन्यासंप्राप्त-त्रि० । परस्परमसंलभे, ज० ३ प्रति० ।

अष्टाणमए गुमंवात-अन्योन्यसंवात-पुं० । परस्परमेकत्र सं-वासे, व्य० ३ उ० ।

अष्टममसिगोहपांरुच-अन्योन्यसेहप्रतिवच-त्रि० । प-रस्परं खेहेन प्रतिवचं, अ० १ श० ५ उ० । यैकेस्मिन् चा-स्त्यमाने गृह्यमाणे वा परमार्थं चलनादिधर्मोपेतं भवति । ज० ३ प्रति० ।

अष्टमपं-देशी-पुनरुक्तेऽर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अष्टालिग-अन्यलिङ्ग-न० । अन्यतीर्थिकानां नेपथ्ये, इ० २ उ० ।

अष्ट गतिगसिद्ध-अन्यसिद्धिभिन्-पुं० । परिव्राजकादिसंब-न्धिनि बल्ललकपायादिवस्त्रादिरूपे द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्तेऽप्यलिङ्गसिद्धाः । न० । परिव्राजकादादि-हस्तियेऽपु, ल० । आ० ५ उ० ।

अष्टाणव-अर्णव-पुं० । अर्णोति सन्त्यसिद्धि । अर्णव-व । स-लोपः । सयुद्धे, उदकयुक्ते, जलदागरे, सूर्ये, इन्द्रे च । वाच० । अर्णो जलं विधत्ते यत्रासार्कवर्णवः । “ अर्णसो लोपश्च ” इति ( वार्तिकेन ) चमत्प्रत्ययः सकारलोपश्च । द्रव्यतो जलधो, भावतश्च भवे, उक्त० ५ अ० ।

अष्टाणवसि महोर्धसि, एगे तिरएणे ढुरुत्तरे ।

जत्य एगे महोर्धसि, इपं पाहृमुदाहरे ॥

एतस्मिन् कीदृशि ? ( महोर्धसि स्ति ) महानोद्यः प्रवाहो द्रव्य-तो जलसंबन्धी, भावतस्तु भवपरम्पराम्बकः प्राणिनामत्यन्त-माकुलीकरणेऽहोतु, चरकादिस्मृतेषां वा यस्मिन् स महोर्धसि-स्मिन् । महूर्ध्वं चोभयत्रागायतयाऽष्टपरपरतया च मन्तव्य-म् । तत्र किम् ? इत्याह- ( एक इति ) अस्वहायो रागद्वेषादिसह-भावनिरहितो गौतमादिरित्यर्थः । तरति परं पायमार्गित, त-कालापेक्षया वर्तमाननिर्देशः ( दुरुक्ते इति ) विभक्लियव्ययाद् दुरुक्ते दुःखेनात्तरीतुं शक्ये । दुरुक्तरमिति क्रियाविशेषणं वा । नहि यथाऽस्ती तरति तथा परंयुक्तमभिः सुखेनैव तीर्यते, अत एव एक इति संख्यावचनो वा । एक एव जिनमतप्रतिपक्षः, न तु चरकादिमताकुलितचेतसोऽन्ये, नथा तरीतुमीशान इति । ( तत्रति ) गौतमादी तरणप्रवृत्ते ( एक इति ) । तथाविधनीर्धक-रनामकमोदयादनुत्तरावाःसविभूतिरङ्गीत्यर्थः किमुक्तं नयति ? तीर्थकरः सन्नोक्त एव भग्ने संभवतीति । महती निरावरल-नया अष्टाणवणा प्रक्षा केषलक्षानामिका मन्दिद्वयंति महा-प्रक्षः । स किमित्याह-इममनन्तरव्ययमायं हृदि विपरिणयमान-

प्रत्यक्षं प्रकामसरलोपायं पठति । स्पष्टमसंदिग्धम् । पठ्यते च- ( परहं ति ) पृच्छयते इति प्रश्नः । नं प्रकृत्यायैकपसुमुरते इति भूते लिट् । तत् उदाहरेदुदाहृतवान् । पठ्यते च- “ अमघांसि महो-र्धसि एगे तिष्ठे दुरुत्तरे ” ति । अत्र तु प्रत्यये विशेष-त-तन्नाशैवात्महोधाद् दुरुत्तरान् तीर्थे इव तीर्थेस्तीरप्राप्त इति योगः । एको धानिकर्मसाहित्यरहितः, ( तत्रति ) स द्वेषमु-जयोः परिषदि एकोऽङ्गीतीयः, स च तीर्थेऽहोदेव । शयं प्राग्ब-दिति सूत्रार्थः । उक्त० ५ अ० ।

अष्टाणव-अष्टाणवत्-त्रि० । ससविशतितमे लोकोत्तरमुद्धते, जं० ७ वक्त० ।

अष्टाणवपदेश-अन्यव्यपदेश-पुं० । परस्य व्यपदेशे, इदं हि शक्यं निदेशादस्य गडवृत्तप्रादिकं यद्वत्ससंबन्धीति व्रतिनः शक्यं च डीकषेत्स्वमुत्तुखा, न च व्रतिनः स्वामिनाऽनुपज्ञाते शुक्लतीति नियमाऽपि तेषां अक्षरकः शुक्रादिकं च रासतमिति तृतीयाऽतिचारः । प्रव० ७ हा० ।

अष्टाणवलय-आं पालक-पुं० । कालोदाय्यादिकं अन्ययूथिकं, अ० ७ श० १० उ० ।

अष्टाणविति-अष्टाविति-पुं० । मूपकारकलायाम्, जं० २ वक्त० । म० । हा० । आ० ।

अष्टाणव-अन्यव-अध्य० । अहिं अहिं वीत्यायंऽप्यथी० । अश्व-समा० । प्रत्योमित्यर्थे, वाच० । निरन्तरमित्यर्थे, ध० १ अधि० ।

अष्टाण ( व ) ( ह ) इ-अन्यथा-अध्य० । अद्येन प्रकारेणत्य-र्थे, आचा० १ भू० ५ अ० ३ उ० । आ० म० । प० ५ उ० ।

अष्टाणविकाप-अन्यथाकाप-पुं० । पाददारयं, हा० ३ अष्टा० हा० ।

अष्टाणवऽनुपवृत्ति-अन्यथाऽनुपपत्ति-स्त्री० । अ-यथा अ-न्यभावेन अनुपपत्तिः अस्मन्तः क्याभावाप्रयोज्यसंभवे, अर्था-पत्तिप्रमाणे च । तथाहि- धानो देवदत्ता दिया न वृद्धे, इत्यादी दियाऽभोक्तुं देवस्य पीतच रात्रिजाजन विनाऽनुपपश्य, इति ज्ञानाद् रात्रिभाजनकर्तृत्विषोपानयेन रात्रिभाजेन कल्प्यते । वाच० । मान्योऽभावकारेणानुपपत्तिः, अस्मिन् साधये हेतोरनु-पपत्तिरवान्यथाऽनुपपत्तिः स्यात् । “ अन्यथाऽनुपपश्यं, यत्र तत्र श्रेण किम् ? ना-यथाऽनुपपश्यं, यत्र तत्र श्रेण किम् ? ” इ । मू० १६ पु० १२ अ० ।

अष्टाणव-अन्यथाभाव-पुं० । अन्यथा अन्यकरणेण जावो-यस्य । यथाक्रमुज्यते ततोऽप्यथाकरणेण भवने, वाच० । विपरिण-मने, सू० ४ उ० ।

अष्टाणविति ( ण )-अन्यथावादिन्-त्रि० । अमृतवादिने, “ अष्टाणवकयपरगुणहरपरया जे ( जणा जगत्पवरा जिअरग-दोससंमोहा ये नऽपहावाणो नेण ” आठ० ४ अ० ।

अष्टाणविति-अन्यथा-अध्य० । अन्यत्र “ अपो दिहाइयां ” च । १ । ६ । इति वपप्रत्ययस्थाने ई इ त्या आदेशः । अन्वसिद्ध स्थाने इत्यर्थे, प्रा० ।

अष्टाणविति-अन्यथाभाव-पुं० । विपरिणमने, सू० ४ उ० ।

अष्टाणविति-अन्यथावृत्ति-त्रि० । अस्मिन्वासे, जं० १६ श० १ उ० ।

अष्टाणविति, अ० १६ श० ६ उ० ।

असा ( श्रा ) इस-अन्यादृश-त्रि० अन्यादृशशब्दस्य "अन्या  
दृशोऽन्यादृशावरा इती" । ७ । ४ । १३ । इति अर्षभ्रंशे अन्नाइसे-  
त्यादेशः । प्रकारान्तरतामापन्नं, प्रा० ।

आसाणसि ( ष् ) -अज्ञातैषिन्-पुं० । जातिकुलसञ्चयनि-  
रूप्यतादिनाऽपरोक्षिताऽज्ञातः, तादृशं गृहस्थमादारा कथमे-  
षयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषि । उक्त० २ अ० । अज्ञातो जातिभुना-  
दिनिर्भरपुत्र्यति अर्थात् पिताज्जाति इत्यादि । उक्त० ३ अ० ।  
अज्ञातस्तपस्विनादिनिर्गुणैरनवगत पश्यते प्रामादिकं गवेषय-  
तीत्येवंशीलोऽज्ञातैषि । उक्त० १५ अ० । यत्र कुले तस्य साधो-  
स्तपानियमादिगुणो न ज्ञातस्तत्र पश्यते प्रामादिकं गृहणी-  
तुं चाभ्यत इत्येवंशीलोऽज्ञातैषि । उक्त० १५ अ० । विनिर्गुणैर-  
ज्ञात एव भिन्नगणते, " अकामकामी असा ( श्रा ) एती परि-  
व्यप स भिक्व् " उक्त० १५ उ० ।

असाण-अज्ञान-न० । न ज्ञानमज्ञानम् । सम्प्रत्यक्षानादितर-  
स्मिन् ज्ञाने, अया० ।

असाणं परियाणामि, नायं उदसंपज्जामि । आब० ७ अ० ।

( नाणे स्ति ) ज्ञानिनः सम्प्रत्यक्षदृष्टयः, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः ।  
आह च-"अविलेसिया मद्दक्षिय, सम्मद्विट्तिस्त ता मद्द्वान् ।  
मद्द्वान्णं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एम्व " ॥ १ ॥ इति ।  
अज्ञानता च मिथ्यादृष्टोऽर्थस्य, सदस्तद्व्यवशेषोपात्त । तथा-  
दि-सन्त्येवार्थो इह, तत्सत्यं कर्थाश्चिदिति विज्ञापितव्यं भवति,  
स्वरूपेणेत्यर्थः । मिथ्यादृष्टिस्तु प्रत्यन्ते-सन्त्येविति, ततश्चा-  
परकृपाणिपि तेषां सत्यप्रसङ्गः । तथा न सत्यवर्था इह, तदस-  
त्यं कर्थाश्चिदिति विज्ञापितव्यं भवति, परकृपेणेत्यर्थः । स तु-  
न सन्त्येविति प्रत्यन्ते, तथा च तत्प्रतिषेधकचनस्याप्यनायः  
प्रसज्यतीति । अथवा शश्यावपाणादयो न सन्तीत्यतत्कथ-  
ञ्चित्ति विज्ञापणीयम्, यतस्ते शशमस्तकादिसमवेतत्वैव न  
सन्ति; न तु शशश्च विपाणं च, शशस्य वा विपाणं, ह्य-  
पूर्वेनवप्रदणोपक्रया शशविपाणश्च, तद्व्यपतयाऽपि न सन्तीति,  
तदेव सदसतोः कथाश्चिद्व्ययतस्य विज्ञापणस्थानरूपमगमात् ।  
तस्य ज्ञानमप्यवधार्यत्वेन कुस्तिरत्यादज्ञानमेव । आह च-  
"जह दुव्वयणमवयणं, कुञ्चयसोअमसोअमसइव । जण० त-  
अणं पि ह्व, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं " ॥ १ ॥ इति । तथा मिथ्यादृष्टे-  
रुच्यवसायो न ज्ञानम्, जवहत्तुत्वात्, मिथ्यात्वादिच्च । तथा  
यद्व्येपज्ञाप्यधेरुमसचवशाज्ञानफलस्य सत्किर्यालक्षणभावा-  
दप्यस्य स्थहस्तगतरीपप्रकाशवदिति । आह च-"सदस-  
विलेसणासो, अवेदक जदधिपश्रोत्तमभासो । नाणफह्णाजा-  
वासो, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं " ॥ २ ॥ इति । स्था० २ ग०  
५ उ० । ४० । आ० १० । "अज्ञानं जयंतमच्छपरिदृश्येणहृत्सिदि-  
यमहमगरतुरियचरियसोऽल्लुभमानणनंत्तचवसंचेचलचसंतपु-  
मंतजलसमूहं " अज्ञानान्धुव अमंतो मत्त्याः ( परिदृश्यं ति )  
दृक्का यत्र स तथा । अग्निभूतान्यनुपशक्तानि यानिन्धियाणि  
तान्येव महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि श्रीमिाणि चरितानि  
वेष्टितानि तैः ( कोऽस्तुधमराणे ति ) पृशं कुञ्चयमाणो नृप्यन्निव  
नृत्यंश्च चालानां मध्यं चञ्चलश्चास्तिप्रत्येन कसंश्च स्थाना-  
नगरमगनेन सृणंश्च आम्पद जलसमूहो जलसंघातः, अन्त्यत्र  
जलसमूहो यत्र स तथा तं, सत्सारमिति भावः । श्री० ।  
मजः कुत्सायत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानमिति । अन्तु० । ज्ञाना-  
वरणकर्मोदयजनितं, अया० ४ अ० । आसमपरिणामे, दृशं० ।

मिथ्यात्वमिरोपच्युतदृष्टोऽर्थस्य विपर्यस्ते बोधे, विशे० ।  
उक्त० । अज्ञानमनवयोऽयः । उक्त० ३ अ० । मुदताकपे, आतु० । ज्ञाना-  
भावे मिथ्यादृष्टिकुतीर्यिकापाम्बेस्थादिसंबन्धिशास्त्रावगाहाना-  
त्मकं, दृशं० । उक्त० । स० । संशयविपर्ययविरूपे मिथ्याज्ञाने, ज्ञा०  
२१ ज्ञा० । जीवाजीविवेकरहिते, अष्ट० २२ अष्ट० । सद्बोधा-  
भावे, दृशं० । कुशास्त्रसंस्कारं, श्री० । कुस्तिरत्यं च मिथ्याव्य-  
संचालितत्वात् । उक्तं च-"अविसेसिया मद्दक्षिय, सम्मद्विट्ठिस्स  
ता मद्द्वान्णं । मद्द्वएणाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुय पि एम्व " ।  
ज० ८ श० २ उ० ।

तत्र अज्ञानं मिथ्याव्यमिति उच्यते—  
असाणो ति विहे पण्णत्ते । तं जहा-देसऽएणाणे, सन्वऽ-  
साणो, जावऽएणाणे ।

( असाणेत्यादि ) ज्ञानं हि रूच्यपर्योषविषयो बोधः, तन्निषेधोऽ-  
ज्ञानं, तत्र विवक्षितरूप्यं देशतो यदा न जानाति तदा देशाज्ञा-  
नम्, अकारप्रत्येपोपात्त । यदा च सर्वतो न जानाति तदा सर्वा-  
ज्ञानम् । यदा विवक्षितपर्यायतो न जानाति तदा भायाज्ञानमि-  
ति । अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति ।  
अकारप्रत्येयं विनाऽपि न दोष इति । स्था० ३ ग० ३ उ० ।

अएणाणं णं भंते । इहविहे पण्णत्ते । गोयमा । ति विहे  
पण्णत्ते । तं जहा-मद्द्वएणाणो सुयअएणाणे विचंगनाणे ।  
से किं तं मद्द्वएणाणे । मद्द्वएणाणो चउविहे पण्णत्ते ।  
तं जहा-उगहं० जाव धारणा । से किं तं उगहं० । उगहं०  
दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अत्थ्याग्गहं० य वंजणोग्गहं० य । एवं  
जहं० अविणोऽपिणोऽपिणोऽपिणो तदेव, एणं० एणद्विपवज्जं० जाव  
नोऽपिदिपधाणा, सेत्त धारणा । सेत्त मद्द्वएणाणे । से किं तं  
सुयअसाणो । सुयअसाणो जं एमं असाणोपिहि मिच्छादि-  
द्विपहिं जहा नदिपि जाव चचारि य वेदा संगोवंगा । सेत्तं  
सुयअएणाणे । मे किं तं विभंगनाणे । विभंगनाणे अणे-  
गविहे पण्णत्ते । तं जहा-गामसंतिपि नगरसंतिपि जाव ससि-  
वेमसंतिपि दीवसंतिपि समुद्दसंतिपि वाससंतिपि वामदरसं-  
तिपि पव्वयसंतिपि रक्करसंतिपि सून्नसंतिपि ह्ययसंतिपि गय-  
संतिपि नरसंतिपि किंनरसंतिपि किंपुरिससंतिपि महोरग-  
संतिपि मंथव्वसंतिपि उसमसंतिपि पधुमपयविहगवानरणा-  
णासंताणसंतिपि पण्णत्ते । ज० ८ श० ५ उ० ।

मोहविजुग्मंसे, सू० १ अ० ३ उ० । आचा० । ज्ञायते  
सुत्समनेनति ज्ञाने भुताक्यम्, तद्भावात्ऽज्ञानम् । प्रथ० ७६  
ज्ञा० । अज्ञाने-प्रकपे गवेः प्रज्ञाऽभावे दैन्यचित्तनमित्युभयथा ।  
उक्त० २ अ० । अज्ञानभावाऽभावाभ्यां द्विधा सांध्यं एकवि-  
शे परीद्वेनेवे अज्ञानपरीद्वेश्च सांध्यं एव, तं तु कर्मविकाक-  
जादृक्षाणादुज्जितं । आवा० ४ अ० । तदुक्तम्-"विरमस्तपसां-  
पेतः, ह्युदरस्योऽहं तथापि च । धर्मादि साक्षाद्वैवेके, मैत्रं  
स्यात् क्रमकालविदं " ॥ १ ॥ आवा० १ अ० ।

एतदेव सूत्रकृत प्रपञ्चियुक्तावद्भावपकमङ्गीकृत्याह—  
निरद्वगमि विरभो, मेहुणाओ सुसंयुदो ।

जो सकलं नाजिजाणामि, धर्मं कदापि पावमं ॥

अर्थः प्रयोजनं, तदभावे निरर्थं, तत्रैव निरर्थकं, तस्मिन् इति विरतो निवृत्तः, कस्मात् ? , मिथुनस्य भावः कर्म वा भेषुनमत्रह्य, तस्मात् , आश्रयान्तरविरतावपि यदर्थोपादानं तस्यैवातिशु-  
क्लित्तुलया दुस्त्वज्जवात् । उक्तं हि— " इयोरवस्था कामा इमे " इत्यादि । सुदु संवृतः सुसंभूतः इत्यस्यसंज्ञेयं, यः साक्षादिति परिस्फुटं नाभिजानामि, धर्मं वस्तुस्वरूपं ( कदापि न ) वि-  
न्दुल्लोपात्कदाप्यपि शुभं, पापकं वा तद्विपरीतं कल्याणं गम्यमान्वात् । यथा—धर्ममाचारं, कल्याण्यन्तरीककृतया मोक्षः । तमानयति प्रापयतीति कल्याणो भुक्तिहेतुः, तं, पापकं वा नरकादि-  
हेतुः । अयमाशयः—यदि विरतो कश्चिदर्थः सिद्धयैवैवं समाहा-  
नं प्रवेत् । उच्यते ३ अ० । " अहानं खलु कष्टं, क्रोधादि न्योऽपि सर्वपापस्थः । अयं हितमदितं वा, न वेत्ति येनावृत्तो लोकः " ॥१॥  
उच्यते २ अ० । आच० । आच० । दर्श० " नातः परमदं ग्रन्थं, जगतां ह्यः साकारणम् । यथाऽहानमहाशरीरं, दूरतः सर्वदेहिनाम् " ॥२॥  
आच० । १ भू० ३ अ० ३ इ० । " अज्ञानं वस्तु जिज्ञासु-नं सु-  
हृत् कर्मदोषियत् । ज्ञानिनां ज्ञानमन्वीक्ष्य, यथैवेत्यप्या न तु " ॥१॥  
आ० म० द्वि० । १० । " अज्ञानाणो रिपुः अज्ञानं, पाणिणं णव विज्जति । एषोः सखिरियातीयं, अणत्या विस्सतां मुदा " ॥ १॥  
प० सु० ५ सू० ।

कदाचिन्नामान्यचर्यैव न फलावाप्सित उ आह—

तवीवहाणमादाय, पकिमं पकिवज्ज उ ।

एवं पि विहरओ मे, उउमं न नियद्दु ॥

( पाण्टीका )

तपो जद्रमहामहादि, उपधानमागमोपचाररूपमाचम्लादि, आ-  
दाय स्वीकृत्य, चरिन्वति यावत् । प्रतिमां मासिक्यादि ( निष्ठुयति-  
न ) । ( पकिवज्ज उ उ चि हति प्रतिपथाङ्गो ह्यत् । पञ्चतं च— " पडिमं पडिपञ्चिनां चि " प्रतिमां प्रतिपथमानस्याऽपुण्यञ्चति । एवम-  
पि विशेषचर्यायाऽपि, आस्तां सामान्यचर्यायैव्यापिशादार्थः । विह-  
रतो निष्पत्तिफलानियतं चिचरतः, उद्दपनीति उह्य ज्ञाना-  
चरणार्थिककर्म, न निवचते नपैतीति भिक्कुभिर्न ( वल्लयविर्युस-  
रेण संवचः । अज्ञानाभावापेक्षे तु समस्तशास्त्रार्थनिकषोपलक-  
रुपतायामपि न दुर्पोऽऽज्ञातमानसो भवेत्, किंतु पूर्वपुरुषभि-  
दानां विद्वानातिशयसागरानन्त्यं भुव्या सम्यतं पुरुषाः कथं  
रुच्युक्त्वा मन्थन्वति । परित्रास्येवर् विगलितावस्यैः सखेवं  
भावयन्तं " निरद्वयं " सूत्रद्वयम् । अहङ्गरामनिका सैव, नवरं ( नि-  
रुच्यमि चि ) निरर्थकस्य प्रकामाऽप्यहावैरपेता, भेषुनात्सुसं-  
भूतः सखिक्रान्ता, सत्योऽहं यः साक्षात्समकं नाभिजानामि,  
धर्मं कदापि पापकं वा । अयमभिप्रायः " जे एवं जार्णति, से  
सव्यं जार्णति, जे सव्यं जार्णइ, से एवं जार्णइ " इत्यऽऽगमात् ।  
उच्यते ५६ मंक्रमपि धर्मं वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो वेदति, ततः सा-  
क्षादायस्वभाव्याधरासि चेत् न विज्ञानमस्ति, किमनोऽपि मुकु-  
लितवस्तुस्वरूपपरिज्ञानतोऽप्यलेपनेन भावः । तथा नप उपधा-  
नादिभिरप्युपक्रमणदेतुभिरुपक्रमित्युपशये उच्यते दारुणं विरि-  
ति निष्प्रतिपासिकः किल ममाद्द्वारावसर इति सूत्रद्वयार्थः ।

साम्प्रतमद्वेष्या पुनः सूत्रकारमङ्गीकृत्य प्रकृतसूत्रोपहित-  
मज्ञानसत्रायै उदाहरणमाह—

परिन्तो बायणार्णं, गंगाकुलेऽपि घयसमदाय ।

संवचरोहं द्विचक्र, वारसयं असंखयज्जयणं ॥

( पाण्टीका )

परितान्तः श्लोको वाचनया गङ्गाकुलेऽपि ता अशकटा याः संवन्-  
रैरुच्यते इन्द्रादिभिरसंस्कृतपथ्यनामिति गाथाकारार्थः । भावार्थ-  
स्तु वृक्षसंप्रदायादयस्यैः । स चायम-गङ्गातीरं द्रो आतीरं वैरा-  
क्षाहं कां शुं । नच्यन्ती, तत्रैकां विद्वान् जातः, द्वितीयस्तु सूक्ष्मं । यो  
विद्वान् सोऽनेकशिष्याध्यायनादिमां श्लेष एवं विलयति स्म-  
असौ ! धन्यायं मे भ्राता यः सुखेन तिष्ठति, निद्रादिकमयसं-  
कुर्वन्नस्ति । अहं तु शिष्याध्यायनादिकृते पतितोऽस्मीति वि-  
न्त्यन् काव्यमिदं चकार—

" भूयैवं हि सखे ! ममापि रुचिर्न तस्मिन् यदष्टौ गुणाः,  
निश्चिन्तोऽ वदुभोजनो २, ऽवप्रमाना ३, कं दिवा शायकः ४ ॥  
कार्याकार्यविचारणानुपधिगो ५, मानावमानि समः ६,  
प्रायशः ऽऽमयवर्जितो ७, उद्वेगु ८, यूर्ध्वः सुख जीवति " ॥१॥

परं नेवं विन्ययति स्म—

" नानाशास्त्रसुभाषितान्मूनसैः श्रोत्रोत्सवं कुर्वतां,  
नेवां यान्ति दिनानि परिकृतजनन्यायामाखिप्रामनाथ ।  
तेषां जन्म च जायति च सफलं तैरेव भूभूषिता,  
शेषैः किं पशुवद्विचरहितैर्भूमाभूतैरे " ॥ २ ॥

एवं परिष्ठनगुणान् अचिन्त्यन् सूक्ष्मगुणांश्चासतोऽपि विन्त्य-  
यन् ज्ञानावगणयो कमे वद्धा दिवं गतः । नतद्व्युतो भरतसंज्ञ  
आभीरपुत्रा जातः । क्रमण परिगोतः । तस्य पुत्रिका जाता ।  
सा रूपयती । अन्त्या अनेक आभीरा घृतभृत्शकटाः कांश्चिन्न-  
गरं प्रति गच्छन्ति स्म, असावपि तस्मात् घृतभृत् शकटं य-  
हीत्या चलिताः । मासं सा पुत्री शकटयन्तं करीति स्म । नतस्व-  
दुपयामाहैतैर्गर्भो पुत्रैः अयं योऽज्ञानि शकटानि नाति  
सर्वाणि भ्रान्ति । नाशब्दं संसारस्वरूपं दृष्ट्वा संज्ञानवेद्यमः स  
आभीरः तां पुत्रीमुद्राह्व दीक्षां जहाह । उचराययनयां गङ्गा-  
नायसरे अन्वययाऽध्ययनोद्देशे कृते तस्य आभीरप्रोक्षणाभा-  
वण्योऽप्यो जातः, न तदध्ययनमायाति स्म, आचाभ्रान्यव क-  
रोति, उच्चैःस्वरं नदध्ययननिर्घोषं करोति स्म । एवञ्च कुर्वन्त-  
स्तस्य द्वादशयुवप्रान्तं अज्ञानपरीषहं सभ्यगपिसहमानस्य  
केवलज्ञानं समुपलभ्य । एवमज्ञानपरीषहं आभीरः सापुत्रकथा ।  
प्रतिपक्षे च भीमाह्वारम् । तथाऽप्यन्त्यः सूक्ष्मविमुदाहरणम्—

इमं च एरिंसे तं च, तारिसे पेच्य केरिसे जायं ? ।

इय भणुइ प्लनदी, सभाययवं गतो संतो ।

( पाण्टीका )

इदं चेति द्रव्यम्, ईश्वरमिति स्मभूमूलस्थितमतिप्रभु-  
च, अतिशयज्ञाननिषेधं तस्य इति विपरिचयसमानतया द्रव्यस्य-  
द्विमानेदशः ( नथेति ) नस्याज्ञानतः परिभ्रमसं, तादृशमिति  
विप्रकृतदुर्गवेशान्नरविषयं यस्य, कीदृशं कन सदृशं जातम् ? ।  
न कनापि, नाहं कश्चिद्दु गृहे सति इत्ये द्रव्यार्थी बहि-  
ष्प्रान्त्यानीति भावः । इतीत्येवं भणति स्थूलमद्रः स्वजातिवि-  
स्तजातिरस्यन्नुद्दृश्ये गतः सन्निति गाथायः ।

संप्रदायश्चात्र—यस्य च ज्ञानार्जोऽपि स्यात् तेनापि ज्ञानपरी-  
षहो न मोहः । तत्रार्थे स्थूलमद्रकथा—  
स्थूलमद्रकथामि विहरन् बालमिभ्रजिज्जयं गतः, तत्र तमद्वहा

तज्जायौ पृथक्वाद्-कते पतिगेतः?। सा प्राह-परदेशे धनाजनायै यमोऽस्ति । ततः स्वामी तदुग्रहस्तम्भमूलाश्रितं निधिं पर्यवृत्तम्भामिमुक्तं हस्तं कृत्वा " इदमीश्वरम्, स च तादृशः " इति भणित्वा गतः । ततः कालान्तरे शुक्रागतस्य विप्रस्य तज्जायया शूलभद्रप्रसाधिवचो ज्ञापितम् । तेन परिउत्तरेण ज्ञातव्य-अज्ञा-भयं किञ्चिदस्ति । ततः क्षान्तिः स्तम्भः लघो निधिः । एवं शूलभद्रेण ज्ञानपरिवहो न सोढः । शेषसाधुमिरपीदृशं न कार्यम् । उक्तं ३ अ० । (विषयान्तरं 'परीसह' शब्दे वक्ष्यते) शूलभद्रप्रसाधिकादिलौकिकश्रुतरूपं पापशुभप्रसङ्गे, १५० = डा० । भावशुद्धप्रतिस्वाविशेषे, १५० । तत्वं च-

अभयरपरमाणुं, असंपञ्चतस नो पञ्चतस ।

इरियाइसु च्युत्ये, अवदते एयमाणुां ॥

पञ्चानां प्रमादात्मन्यन्येणापि प्रमादेनात्मन्युक्तस्याक्रोमीकृत-स्यात् एव र्थाद्विपु समतिपु ज्ञातये न तस्यतां धर्तमानस्य यद्भवमेतदज्ञानम् । १५० । ३० । कुशास्त्रसंस्कारो च, १५० । निर्हाने ( ज्ञानरहिते ), वि० । अ० १ श० ६ उ० ।

अरणाणाम्प्रो-अज्ञानतस्-अव्य० । ज्ञानावरणात्कटतयेत्यर्थे, दश० १ चू० ।

आरणाणिकिरिया-अज्ञानक्रिया-स्त्री० । ५ त० । अज्ञानान् क्रियमाणयोश्चेष्टाकर्मणोः, स्या० ३ ग्रा० ३ उ० । ( असाध्य-किरिया तिबिहा ' किरिया ' शब्दे वक्ष्यते )

असाध्यणिव्वाचि-अज्ञाननिर्वृत्ति-स्त्री० । अज्ञानस्य निर्वृत्ती, अ० "कहविदा शं भने । असाध्यणिव्वाची पणुत्ता?। गोयमा । तिबिहा असाध्यणिव्वाची पणुत्ता । तं जहा-महअसाध्यणिव्वाची, सुयअसाध्यणिव्वाची, विनेयणाणिव्वाची । एवं जस्स जह जाय धमाणाया " । ज० १६ श० ८ उ० ।

अरणाणतिग-अज्ञानत्रिक-न० । मन्त्राण्डः कुसायां, मिथ्याज्ञानानामित्यर्थः । तेषां त्रिकं अज्ञानत्रिकम् । मिथ्याज्ञानादित्यर्थे, ५० सं० १ डा० ।

आरणाणदोम-अज्ञानदोष-पुं० । अज्ञानान्कुशास्त्रसंस्काराद् द्वि-साद्विषधमेवस्वरूपं नरकाधिकारणेषु धर्मेभुद्धाऽऽनुदयायै या प्रवृत्तिप्रसन्नकृणो दोषोऽज्ञानदोषः । अथवा उक्तलक्षणमज्ञानमेव दोषोऽज्ञानदोष इति । स्या० ४ ग्रा० १ उ० । रीड्यानस्य लक्षणभेदे, अ० २५ श० ७ उ० । औ० । प्रमाददोषं, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ग० ।

असाध्यपरिसह-अज्ञानपरिषह-पुं० "ज्ञानचारित्र्ययुक्तोऽस्मि, ज्ञास्योऽहं तथापि हि । इत्यज्ञानं विग्रहेण, ज्ञानस्य क्रमलो जनेत् " ॥१॥ इति संख्येय परीषहभेदे, ४०३ अ० । प्रव० ( "असाध्य" शब्देऽत्रैव भागे ४८८ पुष्टेऽस्य तथ्यमावेदिनम् )

असाध्यपरिसहविजय-अज्ञानपरिषहविजय-पुं० । अज्ञोऽयं पशुसमो नवेति किञ्चिद्विद्येयमधिकेपवचनं सम्यक् सहमानस्य परमदुष्करतयोऽनुज्ञानगिनरस्य नित्यमप्रसक्तं तस्यो न मेऽद्याऽपि ज्ञानानिशायः समुपघाते इति चिन्तने, पञ्च० १३ विष० १

असाध्यफल-अज्ञानफल-त्रि० । अज्ञानमनवबोधस्तत्फलानि, ज्ञानावरणकृष्णणीत्यर्थः । धर्माचार्य्युक्तशुभनिन्दारूपेषु ज्ञानावरणकर्मेषु, उक्तं २ अ० ।

असाध्यया-अज्ञानता-स्त्री० । अज्ञानो निर्हानस्तस्य भावो-ऽज्ञानता । स्वर्कषणापुत्रसंभवे, अ० १ श० ६ उ० ।

अरणाण्डकि-अज्ञानस्य-स्त्री० । आमानोऽज्ञानस्य ज्ञाना-ऽऽवरणीयोऽतो लानं, "असाध्यस्यो नो जेतः कहविहा पणुत्ता ?। गोयमा । तिबिहा पणुत्ता । तं जहा-महअसाध्यणलकी, सुयअसाध्यणलकी, विनेयणाणलकी " अ० ८ श० २ उ० ।

असाध्यवाइ ( ए )-अज्ञानवादिन-त्रि० । सति मत्यादिके हेयोपादेयप्रदर्शके ज्ञानपञ्चके अज्ञानमेव भेद्य इत्येवं वदति अज्ञानिकं, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अरणाणसत्य-अज्ञानशास्त्र-न० । भारतकाव्यनाटकादौ लौकिकश्रुते, स्या० १९ ग्रा० ।

अरणाणि ( ए )-अज्ञानिन्-त्रि० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानमेव भेद्य इति वदत्यु वादिभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ज्ञाननिहवधादियु, "असाधो असाध्यं वि-णइसा वणइचवाद् " । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । न ज्ञानिनोऽज्ञानिनः । ननुगृह्यः कुसायाम् । मिथ्याज्ञानेषु, पं० सं० १ डा० । "असाधो कम्मं अयांति बह्व्याहिं चासकोमीहिं, तज्जाणो तिहिं शुचो खवेह ऊसासमिण्ण" उक्तं १ अ० । अरणाणी किं काही, किवा नाही वेयपावन " इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

असा(सा)णिय-अज्ञानिन्-पुं० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानशब्दस्यांतरपदत्वाद्वा वा मत्वर्थीयः । यथा-गौरखरत्नद्वयमिति । प्राकृते स्वार्थिकः कः । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० १ उ० । अज्ञानिक-पुं० । अज्ञानेन चरन्तीति अज्ञानिकाः । अज्ञानं वा प्रयोजनं येषां ते अज्ञानिकाः । अत्र० ६ अ० । सम्यग्ज्ञानरहितेषु अज्ञानमेव भेद्य इत्येवं वादितु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तन्मते चेत्यमुपायस्यसाइ सूत्रकम्-

अरणाणिया ता कुमदा वि संता,  
अमंथुया णो वितिभिञ्च तिन्ना ।  
अकोविया अह्नु अकोविपिहिं,  
अरणाणुविऽत्तु मुसं वपेति ॥ ३ ॥

ते चाज्ञानिकाः किञ्च वयं कुशलाः, इत्येवं वादिनोऽपि स्वतोऽसंस्तुता अज्ञानमेव भेद्य इत्येवंवादिनया असंबन्धाः । असंस्तुतत्वाच्च विचारिकत्वात् । संश्रिति-स्तां न तीर्णो नातिप्रज्ञाताः । तथाहि-ते ऊचुः य एते ज्ञानिनस्तं परस्परकिञ्चवादिनया असंबन्धा असंस्तुतत्वाच्च विचारिकत्वात् । न यथाधेयानि न ज्वलिन्ति । तथाहि-एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति । तथाऽन्ये असर्वगतम् । अपरं अज्ञुत्तपवमात्रवः । किंचन इयामाक-तन्तुलमात्रम् । अन्ये सूर्तेमूर्ते हृदयमभ्यवर्तिनं ललाटायवस्थि-तमित्याद्यात्मपदाद्यं एव सर्वपदाधिपुरःसरं तेषां निकटाकृत्या । नचातिशयानिनी किञ्चिदस्तीति यथाकथं प्रमाणिकियेत । नचासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्थाद्दिशि । "नासवेहः सर्वे जानाति" इति वचनात् । तथाचोक्तम् "सर्वज्ञोऽसाद्यतिष्ठान-सत्कालेऽपि बुजुस्तुजि । तज्ज्ञानेयविज्ञान-शुच्येविज्ञायते कथम् ? " । १ । न च तस्य सम्यक् तज्ज्ञायपरिज्ञानाभावात्संज्ञा, संज्ञाभावाच्चे-तरेतराभयत्वाद् । तथाहि-न विद्यापरिज्ञानमूले तद्वाच्यपुन-

यपरिक्रान्तम्, उपायमन्तरेण न चोपेयस्य विधिष्टपरिक्रान्तस्याबा-  
 सिरिति । न च ज्ञानं हेतुस्य स्वकथं परिक्रमेणुत्तमम् । तथाहि-  
 गत्सिन्मप्युपलभ्यते, तस्यावागमप्रपञ्जतिर्भोष्यम् । तथावागम-  
 वाक्यं चोपलभ्यते तत्रयोः, तत्रैव ध्यवादि तयात् । अर्थांशभागस्यापि  
 भागत्रयकल्पनात् तत्सर्वातीत्यभागरिकल्पनतया परमाणुपर्य-  
 वसानता, परमाणोश्च स्वानाग्निकप्रकृष्टवाद्वाग्भृत्तनिर्नां नो-  
 पलभ्यिरिति । तद्वयं सर्वज्ञस्याभावात् सर्वज्ञकथं च यथावस्थि-  
 तसत्त्वक्यत्वापरिक्रमेणास्त्यंवादिनां च परस्परविरोधेन पदा-  
 स्वरूपानुपगमात् यथोत्तरपरिक्रानिनां प्रमाद्वत्तां बहुतरदा-  
 वसंभवात्प्रमाणमेव श्रेयः । तथाहि-यद्यज्ञानवाक् कथाञ्चिदपि  
 शिरसि ह्नुम्नात्, तथापि चित्तशुद्धये तथाविधश्रोतानुपपत्तौ स्वा-  
 दित्येवमज्ञानिने पथंवादिनः सन्तोऽसंख्या नवेदविधां चित्त-  
 विस्तृतिं वित्तापी इति । तत्रैववादिनस्ते ब्रह्मानिका ब्रह्मविदा  
 आतिपुत्राः-सत्यकृष्णानाधिकेका इत्यवदन्त्यः । तथाहि-यसै-  
 रिति तत्रैव-ज्ञानवादिनः परस्परविरोधशोभावाद्दत्तान न यथाशौचा-  
 दिन इति सन्नचतु अस्सर्वज्ञप्रणीतानामानुपगमवादिनामयथा-  
 येषादित्यम् । न चाप्युपगमवादा एव बाधायै प्रकटयन्ते, सर्व-  
 ज्ञप्रणीतानामानुपगमवादिनां तु न कचित्परस्परतो विरोधः, स-  
 र्वज्ञस्याप्यथाप्युपपत्तिरिति । तथाहि-प्रकृष्टाऽप्युपगमवदन्त्यो  
 रागद्वेषमोहानामनुकारणानामत्रावात् तद्वक्तव्यमयथार्थमित्येवं  
 तत्तत्तानीतामप्रवृत्तां न चिरोधंवादिभ्यमिति । मनु च स्यादित्य, य-  
 द्दि सर्वज्ञः कश्चिन्स्यात्, नचासौ संभवतीत्युक्तं प्राक् ।  
 सत्यमुपपत्तं, अतुक्तं तुक्तम् । तथाहि-यत्तापद्युक्तम्-न चासौ  
 विद्यमानोऽप्युपलभ्यतेऽप्येवमिति । अतुक्तम् । यतो यथापि  
 परचेतोऽसौनीनां दुरव्ययत्वात्सरागा चिनरागा इव चेष्टन्ते,  
 वीतरागाः सन्तागा इव, इत्यतः प्रत्येकानुपपत्तिश्च, तथापि  
 संज्ञवानुमानस्य सन्नावात्तत्राप्रकप्रमाणभावाच्च तदस्त्व-  
 मानिनामेव । संज्ञवानुमानं विद्वद्-व्याकरणादिना साक्षात्प्रा-  
 सेन संस्क्रियमाणायः प्रकृष्या ज्ञानातिशयो हेतुवगमं प्रत्यु-  
 पलभ्यः, तद्वत् कश्चिन्नाभूत्तत्रास्यवशात्सर्वज्ञोऽपि स्वा-  
 दिति । न च तदत्रावसाधकं प्रमाणमस्ति । तथाहि-न ता-  
 वद्वाग्भृत्तितिः प्रत्येकं सर्वज्ञानाच्च साधयितुं शक्यः । तस्य  
 हि नञ्ज्ञानहेतुविक्रान्तशयनत्वात् । कश्चिन्नाप्युपगमं च सये-  
 क्त्वाऽऽपत्तिरिति । नाप्यनुमानं, तद्व्यञ्जिचारिलिङ्गजाया-  
 दिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः सात्थ्येन, तस्य साहचर्यबलेन  
 प्रकृष्यते । न च सर्वज्ञानायै सात्थ्यं तादृशेषु साहचर्यमस्ति,  
 येनासौ सिध्यतीति । नाप्यधाराणा, तस्याः अयज्ञादिप्रमा-  
 णपूर्वकत्वेन प्रकृष्यते । प्रत्यज्ञादीनां च तस्याधकत्वेनाप्रयत्नेमा-  
 नात् तस्याप्यप्रकृष्टिः । नाप्यापमानं, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि  
 दर्शनात् । न प्रमाणवञ्चकाभावकपेलाभावेन सर्वज्ञाभावः  
 सिध्यति । तथाहि-सर्वज्ञ सर्वज्ञानं संभवति, तद्व्याहकप्र-  
 माणमित्येनदर्शयतिर्निनां वक्तुं न युज्यते, तेन हि देवाकालविप्र-  
 कृष्टानां पुरुषाणां याज्ञिकानं तस्य प्रदत्तमुशक्यत्वात्, तद्व्यहण  
 या तस्यैव सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तेः । न चाद्योऽर्थिनां ज्ञानं निवर्तमानं  
 सर्वज्ञाभावं भावयति, तस्याऽप्यपेक्षात्वात् । न चाप्यपेक्षात्वा-  
 द्वाया पदापेक्षावृत्तिरुक्तं । न च वस्तुस्मर्यावज्ञानरूपो भावः  
 सर्वज्ञाभावसाधनावाप्त्यै, वस्तुस्मर्यावज्ञानरूपो भावः सर्वज्ञाभा-  
 वसाधनावाप्त्यै । तद्वयं सर्वज्ञाव्यक्तमानाभावात्संज्ञवानुमा-  
 नस्य च प्रतिपादितत्वाद्दस्ति सर्वज्ञः, तद्व्याप्यमानाऽप्युपगमा-  
 क्च मतभेददोषो दूरापासेव इति । तथाहि-तत्तत्तानीतामनु-

पगमवादिनामेकाक्यवतया शरीरमात्रस्यापि संसारोत्साऽस्ति,  
 तत्रैव तद्व्याप्यप्रकृष्टेः । इति इतरतःप्रायदोषश्चात्र नावतरस्ये ।  
 यतोऽप्यस्यमानायाः प्रकृष्या ज्ञानातिशयः स्वात्मव्यपि वृष्टो, न  
 च इदंऽप्युपपत्तेर्नामिति । यदप्यतिहितम्-तद्यथा न च ज्ञानं ज्ञे-  
 यस्य स्वकारुषं परिच्छेद्युत्तमम्, सर्वत्रावागमिनेत्येवथामात्सर्वा-  
 ऽऽपत्तौ भागवस्य च परमाणुक्यवताऽतन्त्रियत्वाद्दित्येतद्वि-  
 वाहकमात्रमेव । यतः सर्वज्ञानस्य देहाकालस्वप्नव्यवहृतितामा-  
 मपि प्रहणाश्रितित् व्यधानसंभवः । अत्रावृत्तिज्ञानस्याव्यवधि-  
 व्यहारेणाऽव्यविति प्रकृष्टोर्नास्ति व्यधानस्य । न ह्यव्यवधि  
 स्वाययैर्येवधीयत इति युक्तिःसंगतम् । अपि च-अज्ञान-  
 मेव श्रेय इत्यत्राऽज्ञानमिति किमयं पयुदासः ? आहोऽस्ति-  
 त्वसत्यप्रतिषेधः ? । तत्र यदि ज्ञानादप्यज्ञानात्प्रति, ततः  
 पयुदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात्, नाज्ञानवाद्  
 इति । अथ ज्ञानं न प्रवर्तयित्वाज्ञानं, तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः,  
 स च सर्वज्ञानमर्थरहित इति कथं श्रेयानिति ? अपि च-अज्ञानं  
 श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधे न ज्ञानं श्रेयो प्रवर्ततीति क्रियाप्रतिषेध  
 एव कृतः स्यात् । एतच्चाप्युपलक्ष्यमितम्, यतः सत्यगुणानादृष्टे  
 परिच्छिद्य प्रवृत्तमानोऽर्थाज्याधीनं न विसर्वाद्यत इति । किञ्च-  
 ब्रह्मानप्रमाद्वद्विः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वव्यप्यापवतां प-  
 रिच्छिद्येवाज्ञानं श्रेय इत्युपपद्यते । एवं च सति प्रत्येक एव  
 स्यादप्युपगमविरोधो नातुमानं प्रमाणमिति । तथा तद्वयं  
 सर्वेषां तदज्ञानवादिनाऽकोविदा अर्थापदेशं प्रत्यनिपुणाः, स्व-  
 तऽकोविदित्येव स्वामिण्येव, आहुः कथितवन्तः । अन्त-  
 रस्यैकैकवचनं सूत्रं कृतमिति । शोषणा अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः ।  
 अविज्ञापित्वं कथं न वेत्तः । यतस्तदज्ञानमव्ययम् ।  
 तथा ये च शास्त्रमस्तुत्यापेक्षोऽप्युपलक्षणा प्रकृष्यका इत्येव-  
 मप्युपगमं कुर्वन्ति, न सर्वेऽप्यकोविदा वृष्टव्या इति । तथाऽज्ञान-  
 नपक्षसमाश्रयणात्तानुपलक्ष्यमित्येव जाणानुप्या ते सदा वदन्ति,  
 अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, तत्पुष्पकथावच-  
 सत्यवाद्स्थानो ज्ञानानुपगममदुर्विचिन्त्य भाषणाजावः, त-  
 द्भावाच्च तेषां मृषावादिभविति ॥ २ ॥ सूत्रं १ सु० १२ अ०  
 इति दर्शिनं सद्युपगमज्ञानिनां मतम् । अथ कियत्तस्ते इति  
 दर्शयति निरुक्तिरुत्त-

आणानाध्यायि सत्तद्धि

सास्त्रप्रमहानिकानामज्ञानादेव विधातृकृतकार्यसिद्धिमिच्छतां  
 ज्ञानं तु सदापि निष्कलम्, बहुशोऽप्यन्तर्गत्येवमप्युपगमदनां  
 ससपरिहरिनेनापानावगन्तव्याः-आवाजोवादीह नथ पदादीह  
 परिपाठ्या अथस्थापय तद्दोषमौ सप्तभङ्गकाः संस्वरम्-सप्त,  
 असत्, सत्सत्, अथकल्पम्, सद्यकल्पम्, अस्सद्यकल्पम्,  
 सद्यसद्यकल्पमिति । अत्रिनासपस्थपद्-सद्य जीवः, को वेति ?  
 किं वा तेन ज्ञाते ? ॥१॥ असत् जीवः, को वेति ? किं वा तेन  
 ज्ञातेन ? ॥२॥ सद्यसत् जीवः, को वेति ? किं वा तेन ज्ञातेन ?  
 ॥३॥ अथकल्पो जीवः, को वेति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥४॥  
 सद्यकल्पो जीवः, को वेति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥५॥ असत्-  
 वकल्पो जीवः, को वेति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥६॥ सद्यसद्यक-  
 ल्पो जीवः, को वेति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥७॥ एवमजीवादिष्वपि  
 सप्त भङ्गकाः । सर्वेषां मिलित्वास्त्रिधाः । तथाऽप्येवौ चत्वारो  
 भङ्गकाः । तथाया-सती प्रायानुपगमः, को वेति, किं वा तथा ज्ञात-  
 या ? ॥१॥ असती भावोपपत्तिः, को वेति, किं वा तथा ज्ञातया ? ॥२॥  
 सद्यसती भावोपपत्तिः, को वेति, किं वा तथा ज्ञातया ? ॥३॥ अथकल्प

भायोत्पत्तिः, को वेषिः, किं वा तथा कृतया । १४। सर्वेषु अपि सप्त-  
षाष्टिरनुचरं भङ्गकत्रयमुपप्रजायाश्चयथापेक्षमिह प्राबोत्पत्तौ न  
संज्ञयतीति नोपम्यस्तम् । उक्तं च—“अज्ञानिकवादिमतं, नव जी  
वादीन् सदाद्विसर्वाविधात् । भावात्पत्तिः सद्सद्, द्वेषा याच्या  
व को वेषिः” ॥११॥ सू० १ ५७ २ २ अ० । एतन्ननुचरप्रज्ञेयात्सप्तष-  
ष्टिरन्वति । तत्र सन् जीव इति को वेषीत्यव्यायर्थः—न कस्यचि-  
द्विशिष्टं ज्ञानमस्ति, योऽनीन्द्रियत्वात् जीवादीनवभोक्तव्यतः । न च  
वैज्ञेयैः किञ्चिदफलमस्ति । तथाहि—यदि नित्यः सर्वगतोऽ-  
मृतो ज्ञानाद्विद्युत्पोषणः, एतद्व्युत्पन्नत्विरिक्तो वा इतिः कतमस्य  
पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्माद्ज्ञानमेव श्रेय इति । सू० १  
सू० १ अ० २ उ० । प्र० १ आ० १ १० । आ० १ १० ।

साम्प्रतन्मानिमत्तं रूपयितुं दृष्टान्तमाह—

जविषो भिगा जहा संता, परित्राणेण वज्रिआ ।  
असंकिपाई संकंति, संकिआई असंकिणो ॥ ६ ॥  
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।  
अएणाणनयसंविग्गा, संपसिंति तहिं तहिं ॥ ७ ॥  
अहं तं पवेज्ज वज्जं, अहे वज्जस्स वा वए ।  
सुवेज्ज पयपासाआं, तं तु मेदे ण देहई ॥ ८ ॥

( जविषो इत्यादि ) यथा जविनो वेगवन्तः सन्तो मृगा आ-  
रयताः पशवः, परि समन्तात् आयते रत्नतीति परित्राणं, तेन  
वज्रिणा रहिताः, परिआणुषिकत्वा इत्यर्थः । यदि वा परित्राणं  
वागुरादिबन्धनं, तेन तर्जिता भयं गृहीताः सन्तो भयोद्भ्रा-  
न्तलोचनः सन्, कुलीभृताः करण्यः सम्यक् विवेकविक्रमः,  
अज्ञानीयानि कृत्पाशादिकरहितानि ज्ञानान्यशुद्धाहोणि, ता-  
न्येव शङ्कन्ते, अनयोपपत्त्यर्थेन गृह्णन्ति । यानि पुनः शङ्कुऽ-  
होणि, शङ्का संजाता येषु योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि, शङ्काया-  
प्यानि वागुरादीनि, तान्यशङ्कितस्तेषु शङ्कामकुषोष्तास्त्र  
तत्र पाशादिके संपर्ययन्त इत्युच्यते संबन्धः ॥ ६ ॥

पुनरप्येतदेवाऽतिमोहाविष्करणायाह— [ परिवाणीत्यादि ]  
परित्रायते इति परित्राणं तज्जातं येषु तानि, यथा परित्राणयु-  
क्तान्येव शङ्कमाना अनिमूढत्वादिपर्यस्तबुद्धयश्चातर्पयि भय-  
मुत्पन्नमाणाः, पाशितानि पाशोपेतान्यनयोपादकानि, अशङ्कि-  
नः, तेषु शङ्कामकुषोष्णः सन्तोऽज्ञानिनो अयं च [संविमं ति]  
सम्यक् व्याप्ता वशीभूताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तत्राऽपरित्रा-  
णोपेतं, पाशा घनयोपेतं वा, सत्यं कृत्रिविक्रमऽज्ञानानाः, तत्र तत्र-  
ाऽनर्थेवबुद्धे पाशावागुरादिके बन्धने, संपर्ययन्ते संसर्गमाये-  
व, परित्राणानि, अयन्ते वासिते वा, गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेवं  
दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताऽज्ञानवादिनो दार्ष्टान्ति-  
कत्वेनाऽऽवोच्यः ॥ यत्सर्वेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानकारणाभूताने-  
केकान्तवादावसिंताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरकारणया-  
दाऽपुनरगमेनाऽनाशङ्कनीयमेकान्तवादादमाशङ्कन्ति । शङ्कनीयं  
च नियत्यज्ञानवाद्मेकान्तं न शङ्कन्ते । तं एवंभूताः परित्रा-  
णाईऽप्येकान्तवादे शङ्कां कुषोष्णा युक्त्वा घटमानकमनर्थ-  
बुद्धमेकान्तवाद्मशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु  
कमन्धस्वप्नेषु संपर्ययन्त इति ॥ ७ ॥

पूर्वदोषैरनुभवाचार्यो दोषान्तरवित्तस्या पुनरपि प्राक्तमह-  
ष्टान्तमधिकृत्याह— [ अहं तं पवेज्ज इत्यादि ] अज्ञानस्तरमसौ  
मृगस्तत् [ वज्रकर्मिति ] बन्धं बन्धनाकारेण व्यवस्थितम् ।

वागुरादिकं वा बन्धनं, बन्धकत्वाद्बन्धमित्युच्यते । तदेवंभूतं  
कृत्पाशादिकं बन्धनं यद्यत्सातुपरि प्लवत्-तद्बन्धस्तादृशक-  
म्योपरि गच्छेत्, तस्य धर्मादेवबन्धनस्याथो गच्छेत्त एवं  
क्रियमाणऽसौ मृगः, एते पाशः पदपाशा वागुरादिबन्धनं,  
तस्मान्मुच्यन्ते । यदि वा पदं कृत्, पाशः प्रतीतः, ताच्यां मुच्यते ।  
कृत्रितं पदपाशादिति पठ्यते । आदिप्रहणाच्छताऽज्ञानमाणा-  
दिकाः क्रिया गृह्यन्ते । एवं सन्तमपि तमनयोत्पादकं परिदर-  
वापायं मन्ये अतोऽज्ञानावृता न देहतीति न पश्यतीति ॥

कृत्पाशादिकं चापश्यन् यामवस्थांमाप्नोति, तां दर्शयितुमाह-  
अद्विअपाऽद्विचपएणाणे, विममेतेणुवागते ।  
स बन्धे पयपासेणं, तस्य पायं नियच्छइ ॥ ६ ॥  
एवं तु समया एगे, मिच्छदिद्वि अणारिआ ।  
असंकिआई संकंति, संकिआई असंकिणो ॥ १० ॥  
अमपएणवण्णा ना सा, तं तु संकंति मूढमा ।  
आरंजाई न संकंति, अविअत्ता अकोविआ ॥ ११ ॥  
सव्वपणं विठकस्सं, सव्वं एणं विह्विअमा ।  
अप्पात्तं अकम्मसे, पयमइ भिगे चुए ॥ १२ ॥

( अहीत्यादि ) स मृगोऽहितारामा । तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो  
यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । स आदिनप्रज्ञानः सन् विषमाम्नेन  
कृत्पाशादियुक्तप्रदेशोपागतः । यदि वा विषमाम्ने कृत्पाशा-  
दिके आत्मानमनुपातयेत् । तत्र बासी पतितो बद्धत्वेन  
कृत्पादिना कृत्पाशादानर्थेवहुलानवस्थाविशोच्यन् प्रातः, तत्र ब-  
न्धने, घातं विनाशं, नियच्छानि प्राप्नोतीति ॥ ६ ॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्ये सुत्रकार एवं दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं  
दर्शयितुमाह— ( एवं तु इत्यादि ) एषमिति यथा मृगा अ-  
ज्ञानावृता अनर्थमेकेशः प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे । एव-  
मेव, अमणाः केचिद्, पाशगुरुविशेषाभिनः । एकं, न सर्वं ।  
किं भूतास्ते इति दर्शयति—सिध्या विपरिता दृष्टियेषामज्ञानपा-  
दिनां, नियतिवादिनां वा ते सिध्यादृष्टयः । तथा अनयोः  
आराऽज्ञाताः सर्वदेयधर्मेषु इति आशयः, न तत्रायं ज्ञानयो  
अज्ञानावृत्त्यादसदनुष्ठायिन इति यावत् । अज्ञानावृत्त्यं  
च दर्शयति—अशङ्कितान्यशङ्कनीयानि सुधर्मोऽनुष्ठानादिनि,  
शङ्कामाः, तथा शङ्कनीयान्यपयबहुलान्येकान्तपक्षसमाभय-  
णानि, अशङ्कितो मृगा इव सुदृढचसत्सत्तदभन्ते, यद्य-  
द्वनर्थाय संपद्यन्त इति ॥ १० ॥

शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्ययोसमाह— [ धम्मपणवण्णेत्यादि ] धर्मस्य  
ज्ञान्यादिदृशकणोपेतस्य वा प्रज्ञापना प्रकृषणाः । तं निवृत्ति ।  
तामेव शङ्कन्ते । असद्वर्त्मप्रकृषणपणमित्येवमव्यवस्थयन्ति । ये पुनः  
पाशोपादानभूताः समारम्भान्साक्षात्शङ्कन्ते किमिति । यतोऽप्येका  
मुधाः सदसद्विवेकविक्रमः, तथा अकोविदा अप्रजिताः  
सच्चास्त्रावधोधरहिता इति ॥ ११ ॥

ते च अज्ञानावृता यजानुचरिन्, तद्दर्शनायाह— ( सव्वपण-  
मित्यादि ) सर्वत्रायांमा यथासौ सत्त्वान्तो लोभः, तं विधुषे-  
ति संबन्धः । तथा विविध उत्कर्षो गतो व्युत्कर्षो मान इत्यर्थः ।  
तथा ( एणं ति ) माया, तां विधुष्य । तथा ( अप्पात्तं ) कोषं  
विधुष्य । कृपायविधुष्यन्ते च मोहनीयविधुष्यन्तमावोदत्तं भवति ।



तद्वपगावच्च दोषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह—[अकर्मा-  
हा इति ] न विद्यते कर्माद्योऽस्त्येव्यकर्माद्याः । स च कर्माद्यो  
विशिष्टकालाद् भवति, नाहानादित्येव दर्शयति । एतन्मद्यो कर्मा-  
भावत्वज्ञानं, मृगः अहानी (सुप/सि) त्यज्ज-। विज्ञाकेविपरिधा-  
मन वा अस्मादेवंभूताद्यथा स्ववेदु इत्येवदिति ॥ १२ ॥

श्रुत्योऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिहितस्याऽऽह-

जे एयं नाभिजाणति, मिच्छदिद्धिं अणारिया ।

मिगा वा पासवप्त्वा ते, घायमेसतिऽणंतसो ॥ १३ ॥

माहणा समणा एगे, सत्त्वे नाणं सयं वए ।

सत्त्वतोगे वि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण ॥ १४ ॥

मिलक्कु अमिलक्कुस्स, जहा वुत्ताऽणुभापए ।

खे हेउं स विजाणाइ, जाभिअं अणुभापए ॥ १५ ॥

एवायसाणिया नाणं, वयंता वि सयं सयं ।

निच्छत्थं न जाणंति, भिन्नक्कुच्च अयोहिया ॥ १६ ॥

(जे एयमित्यादि) ये अज्ञानपक्षे समाधिना एते कर्मरूपणोपाये  
न जानन्ति । आत्मीयाऽसत्त्वद्वाहाऽऽप्रहप्रस्ता मिथ्याहृद्योऽनायो-  
क्ते मृगा इव पाशावत्ता घाते विनाशमेव्यप्लि शास्त्रम्यन्त्येवयति  
वा, तयोपयक्रियाऽनुष्ठानात् । अनन्तशो विच्छेदेत्येवज्ञानवादिनो  
यताः ॥ १३ ॥ इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्दिनावधिषया स्वभाव-  
यन्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति न-मनाविश्रामयाऽऽह—(मा-  
दणा इत्यादि) एकं केचन, ब्राह्मणविशेषाः, तथा अमृगाः परिब्रा-  
जकविशेषाः, सर्वेऽप्येते, हायतेऽनेनेति ज्ञानम् । हेयोपायेद्यार्थो-  
ऽऽश्रितोषकं परस्परविरोधेन व्यभिचिनं, स्वकर्ममयीषं, वर्द्धनं ।  
न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वास्त्यानि । तस्मा-  
दज्ञानमेव अयः, किं ज्ञानपरिकल्पनाया इत्येवदर्शयति-सर्वसम्-  
क्षयि होके, ये प्राणाः प्राणिनः, न ते किंचनापि सत्यगुणतवाचं  
जानन्तीति विदन्तीति ॥ १४ ॥ यद्यपि तेषां शुरुपरम्पर्येण ज्ञानमा-  
यातं, तदपि क्रिष्णसूत्रत्वादिवितयं न भवतीति हट्टान्तद्वारेण ह-  
र्शयितुमाह—(मिलक्कु अमिलक्कुस्सेत्यादि) यथा स्लेच्छञ्ज आये-  
नावाऽननिज्ञाः, अस्लेच्छस्यायंस्व स्लेच्छञ्जभावाऽननिज्ञस्व, यज्जा-  
चिर्न, तदनुज्ञापते अनुवदति, केवलं न सत्यक् तदाभिप्राय वेचि-  
यथाऽप्या विवक्त्वाऽनेन भाषिनमिति । न च हेतुं निमित्तं,  
निश्चयनात्तो स्वेच्छस्तदज्ञापितस्य जानाति, केवलं परमार्थशुभ-  
तदज्ञापितमेयानुभाषत इति ॥ १५ ॥ एवं हट्टान्तं प्रदर्शयं द्वाणं-  
कर्मं योजयितुमाह—(एवमित्यादि) यथा स्लेच्छाः, अस्लेच्छ-  
स्य परमार्थमज्ञानानः केवलं तदज्ञापिताननुभाषते, तथा अज्ञा-  
नकाः सत्यमज्ञानरहिताः अमृगा ब्राह्मणा वदन्ताऽपि स्वार्थं स्वो-  
य ज्ञानं प्रमाणयेन परस्परविच्छेदार्थं नापणान् । निश्चयार्थं न जान-  
ति । तथापि-ने स्वकीयं तीर्थकं सर्वज्ञत्वेन निश्चयं तदुपदे-  
शन क्रियासु प्रवर्तन्, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्थाद्रीनिना गहीतुं  
शक्यते, “ नासर्वज्ञः सर्वे जानातीति ” न्यायात् । तथाचोक्तम्—  
“ सर्वज्ञोऽसामिति होत-सत्कालेऽपि बुधुःसुमिः । तज्ज्ञान-  
कृत्यविज्ञान-रहितैरेग्यते कथम् ? ” ॥ १ ॥ एवं परचेतोऽसुखानं  
दुरन्धरत्वात्पददुराणं यथावत्स्वविषयज्ञाया प्रहृष्टाऽसंभवाः। अज्ञ-  
नमज्ञानाना स्लेच्छवदपरकोक्तम् अनुभवति एव । अर्थाधिक्यो बो-  
धरहिताः, केवलमियत्नाऽऽज्ञानमेव भाषयति । एवं यावदावज्ञान-  
नाःयुगमस्नावत्सावद्बहुवचनं। तथार्थ-योऽयगच्छन्  
पादेन कश्चिन्नः सिः स्पृशति, तस्य मदानपरो भवति । य-

स्वनामोर्गेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपरप्राप्त्येत्येवं आहानमेव  
प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥ १६ ॥

एवमज्ञानवादिमतमनुपदेतानीं तद्वदुपणयाह-

असाक्षिणायाणं वीमंसा, नाणे ए विनियच्छइ ।

अपणो य परं नासं, कुतो अत्राणुसासिउं ? ॥ १७ ॥

वणे मूढे जहा जंतुं, मूढे गोपाणुगामिए ।

दो वि एए अकोविद्या, तिवं संयं नियच्छइ ॥ १८ ॥

अंधो अंधं पडं णितो, दूरमपदाणु गच्छइ ।

आवज्जे उप्पइं जंतुं, अदुवा पंयाणुगामिए ॥ १९ ॥

एवमेगे णियायट्टी, धम्मपाराइया वयं ।

अदुवा अहम्ममावउंजे, ए ते सव्वज्जुयं वए ॥ २० ॥

( असाक्षिणायामित्यादि ) न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञा-  
निनः । अज्ञानशब्दसत्परदत्वाद् वा मत्वर्धीयः । यथा गौर-  
व्वरदृष्ट्यादिति । यथा तेषामज्ञानिनामज्ञानमेव अर्थः, इत्ये-  
वंवादिनां योऽयं विमर्शः पर्योक्तोऽनात्मकः, मीमांसा वा  
मातुं परिच्छेदुमिच्छता सा, अज्ञानेऽज्ञानावयवं (ण णियच्छइ)  
न निश्चयं यच्छति नावतरति, न सुयुजं स्य पर्याप्तं चनस्य ज्ञानकप-  
त्वादिति । यैवभूता मीमांसा, विमर्शो वा, किमेतज्ज्ञानं सत्य-  
मुताऽस्त्ययमिति ? यथा अज्ञानमेव अर्थः, यथा यथा च ज्ञा-  
नानिशयस्त्वथा तथा च दोषानिरक इति, साऽप्येवंभूतो  
विमर्शोस्त्वर्थं न बुध्यते । एवं नूनस्य पर्याप्तं चनस्य ज्ञानकप-  
त्वादिति । अपि च-तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि, परंप्रधानमज्ञान-  
वादिमिति, शास्त्रसुपरिच्छेदं, नालं न समर्थः । तेषामज्ञानपक्ष-  
माभयणेनाऽज्ञायादिति, कुतः पुनरेतं स्वयमज्ञाः सन्तोऽप्यप-  
दिश्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं समर्थः भवगुरिति ?  
यद्यप्युक्तम्-निश्चमूलत्वात् स्लेच्छाऽनुभाषणवत् सर्वमुपदेष्टादि-  
कम् । तद्व्ययुक्तम् । यतोऽनुभाषणमपि न ज्ञानमूले कर्तुं शक्यते ।  
तथा यद्व्युक्तम्-परचेतोऽसुखीनां दुरन्धरत्वादाज्ञानमेव अर्थ इ-  
ति । तद्व्ययुक्तम् । यतो भवतेवाज्ञानमेव अर्थ इत्येवं परोपदेशदा-  
नाऽप्युच्यतेन परचेतोऽसुखीनामप्याऽनुपगमः कृत इति । तथाऽऽ-  
म्यैरप्यप्यथापि—“आकरिणिक्रैनेगत्या, अेधरा भाषितेन च ।  
नेत्रवक्त्रविकारिश्च, शुभ्रानेऽनगतं मनः ” ॥ १७ ॥ तद्वेदं तं त-  
पस्विनाऽज्ञानिन आत्मनः परेषां च हासने कर्तव्यं यथा  
न समर्थस्तथा । हट्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—( वणे इत्या-  
दि ) । वनेऽऽस्थां, यथा कश्चिन्मूढा जंतुः प्राणी, दिक्पारिच्छे-  
दं कर्तुमसमर्थः, स एवंभूतो यथा परं मूढमेव नेतारमनुगच्छति,  
तदा ह्यव्यक्तविकारी सत्यमज्ञानानुपूर्णा सन्ती, तीव्रसंज्ञा,  
अज्ञानं गहनं, होक्कं वा, नियच्छतो निश्चयं गच्छतः प्राणुतः,  
अज्ञानानुभवति । एवं तेष्यज्ञानवादिन आत्मायं मागे शोऽन-  
त्वेन निर्धारयन्तः परकीयं वाऽशोऽनत्वेन जानानाः स्वयं  
मूढाः सन्तः परानपि मांहयन्तीति ॥ १८ ॥ आसंक्षेपार्थं ह-  
ट्टान्तान्तरमाह—( अंधो अंधमित्यादि ) यथा अंधः स्व-  
यमपरमं च पथानं नयत्, दूरमपदानं विषाकृतादृष्वेनः पर-  
तरं गच्छति, तथाऽप्यमापयते अनुत्थः । अथवा-परं प-  
थानमनुगच्छेन्न विषाकृतमेवाऽज्ञानमनुयायादिति ॥ १९ ॥ एवं  
हट्टान्तं प्रस्तप्य द्वाशोऽनिकर्मथे द्वाशितुमाह—(एवमेगे निधा-  
दि सि ) । एवमिति पूर्वोक्तोऽप्युपदर्शनेन । एवं भावसूदा भा-  
याऽनाशेके आज्ञाविकाशयः, (नियायदि सि) । नयोभोक्तः, सृ-

धर्मो वा, तदार्थिनस्तैः किल वयं सधर्मात्पक्षा इत्येवं संशय प्रकृत्यायामुच्यतेः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पर्शादिकथोपमैर्न । पवनपारब्धानादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तथास्तु स्वयमनुतिष्ठन्ति, अन्यथां चोपादिशक्ति, यथामिप्रैतथा संज्ञातिर्गृह्यन्ति । अथ-वा तावतोक्तानावस्तयतेषु प्रवर्तमाना अधर्मे पापमापद्यन्त ।

पुनरपि तद्वर्णानिधिस्ययाऽऽह—

एवमेव विपक्वादि, नो अन्धं पञ्चुवासीया ।  
अपणो य विपक्वादि, अयमंशु द्वि दुर्मई । २१ ।

एवं तकाइ माहिता, धम्माधम्ये अकोविपा ।

दुरस्त्वं ते नाऽनुद्वैति, सद्योऽपि पञ्जरं जडा ॥ २२ ॥

सयं सयं पर्यंयता, गरहंता परं वयं ।

जे उ तस्य विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥२३॥

(एवमित्यादि) एवमन्तरोक्तया तांया एके केचनाऽज्ञानिका वितर्कितमीमांसाभिः स्वोपेक्षितोपरिस्वकत्वनाभिः, पिरमन्मार्हातादिक ज्ञानवादिने न पर्युपासने न भवेत् । स्वा-वन्पप्रहस्रस्ता वयमेव तत्त्वज्ञानानिज्ञानपदाः कर्त्तव्यदित्येवं नाम्ये पर्युपासने र्जात । तथाऽऽस्मिथिर्किर्त्तैरेवमभ्युपगमनभ्यो यथाऽऽपनवास्मदीयाऽज्ञानमेव श्रेय श्रेय्यमागतको मागेः । (अज्ञ र्गिति) निर्दोषावाद् व्यक्तः स्पष्टः परैस्तिरस्कृतमशक्यः; अतुर्व्यां प्रगुणाऽऽदित्तः, यथावस्थिताशांनयाधियन्तः । किमिति एवम-निदधति— ईदृशेस्मादर्थे । यस्मात्स तुर्मनयो विपयैस्तबुध्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥

सांयमनज्ञानवादिनां स्वप्रेमेवाऽनधर्माधिभिस्ययाऽऽह—(एवं त-काइ इत्यादि) एवं पूर्वोक्तयोस्त तर्कया स्वकीयविकल्प-नया साधयन्तः प्रतिपाद्यन्ते धर्मे ज्ञान्यादिकेऽधर्मे च जी-वोपमर्दापादिने पापिऽर्थादिना अनिपुणा बु-ध्मसमातोदयज्ञ-णो नद्वन्द्वे वा, मिथ्यास्यानुपचितकर्मबन्धन मातिप्रोद्यन्ति, अति-शयेनैतद्व्यपस्तिनम । तथा ते न प्रोद्यन्त्यवपन्यन्ते । अत्र दृष्टान्त-माह-यथा पञ्जरस्यः शकुनिः पञ्जरं प्रोद्यति पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयति तादृम । एवमतावापि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयति नाश्रमिति ॥ २२ ॥

अनुना सामान्यैकैकान्तवादिमतवृत्तणार्थमाह— (सयं सयमित्यादि) स्वकं स्वकमात्मोयं च दर्शनमनुपगते प्रशोभन्ते वर्णयन्तः समर्थयन्ते वा , तथा गर्हमाणान् निन्दन्तः परकीयां वाचम । तथाहि—सौकर्याः संशयैवाविर्भावोर्ज्ञानवादिनः सर्वे वस्तु कृणिकं निरन्वयं निरीक्ष्यते वेत्यादिवादिनां धोक्ताइ द्य-यन्ति । तेऽपि नित्यस्य क्रमव्यतिपाद्यत्वात्प्रार्थक्याविग्रहात् सां-क्यात् । एवमन्येऽपि कृष्टया इति । तद्वे च एकात्मवादिनः । सुवधारणं (निरकमन्त्र । तत्रैव तेष्वेवाऽसीपासमीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुवोणाः परवाचं च विगर्हमाणान् विशदयन्ते विद्वान्स-द्वाऽऽवर्त्तिन् । तेषु वा विशेषणोऽशक्ति स्वशास्त्रविषये विदिशते युक्तिमातं वदन्ति । ते श्वैवं वादिनः संसारं चतुर्गतिर्नद्वेन संस्-रुकरूपे विविधमनकप्रकारदुःस्वावस्थयेन श्रिताः संशदाः तत्र वा ससारे उचिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा जन्मन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अज्ञापियवाइ ( ए )—अज्ञानिकवादिन—पुं० । अज्ञानमज्यु-पगमद्वारेण यथामार्गं तदज्ञानिकास्त एव वादिनाऽज्ञानिकावा-दिनः । अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं प्रतिशब्द, स्याद्यं ॥३॥ ७० । सूत्रं । २५

अज्ञात ( य )—अज्ञात—वि० । अनभिगतो सम्बन्धनधारिते, य० ३ अत्रि० । अनुमानेनाऽविषयीकृते, । ज० ३ श० ६ ७० । स्वयं स्वजनादिसंबन्धाऽऽकथनेन सुदृश्योपरिज्ञातस्वभावादि-भायै भिक्षो, प्रश्न० १ सम्ब० ८० । यत्र प्रामादौ प्रतिमा प्रतिपत्ता, तथाऽऽदित्तः, प्रय० ६९ इति । जानिकुनसद्व्यया-दिनाऽपरिज्ञिते, वस्त० २ अ० । राजादिप्रमजितवेनाविदित—स्य भैक्ष्ये, पञ्च० १०१ विष० । “अथायं नाम जटा, अचित्तकरो चित्तं कालेण ण जाणति” अज्ञायान् अज्ञायिज्ञानत्वादित्यर्थः । नि० सू० १५ ७० ।

अज्ञात ( य ) उच्यते—अज्ञातोऽज्ञ-न० । विशयोपकरणप्रदणे, दश० १ सू० । परिचयाकरणे, दश० ९ अ० ३ ७० ।

अज्ञाताज्ञोऽनु विद्विदं, दब्धे भावे य होइ नायस्व ।  
दव्वुंउं एणविदं, लोगांरदीणं मुणयस्व ॥  
अज्ञानोऽनु द्विथियम । तद्यथा—दृश्ये ज्ञावे च । तत्र द्रव्योऽज्ञम-नकाविषं लोकमुपार्णां तापमानां ज्ञातव्यम ।

तद्व्योमकविषं द्रव्योऽज्ञमाह—  
ठक्वल खलए दर्व्वी, दंइ संनासए य पोची य ।

आमे पके य तथा, दव्वोछे होः निकलेवो ॥

तापसा उच्यतेऽतः, उद्वज्ज उदितेपु नन्दुत्तियु ये परिशदितः

शालितमुद्गलादयस्ताइ उचित्य रन्धन्ति । ( खलए ति ) खलं धान्यं मर्दिते संसृष्टं च यत् परिशदितं तत् उचित्यन्ति । ( दर्व्वी ति ) धान्यराशेयंदकया दर्व्वी उत्पाद्यते तद् गुरुहन्ति । एवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं ( दंइ ति ) स्वार्थमनम-नुज्ञाप्य यद् धान्यराशेरकया यष्टया उत्पाद्यते तद् गुरुहन्ति, पन्थेवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं ( संनासए ति ) कृद्गुष्ठयेदं—शिनीभ्यां यद् गुरुहन्ति शास्त्रादिकं नामस्मान्ने प्रतिगुरुं गुरुहन्ति । यद्यपि बहुक पश्यन्ति शास्त्रादि, तथापि न मुष्टिं भुञ्ज्या गुरुहन्ति । पोची य ति । स्वार्थमनमुष्णाय धान्यराशौ पोचित्तिपन्ति, तत्र यत् पोसां लगति तद् गुरुहन्ति । एवमन्यत्रापि । तथा आम, पक वा यश्चकादयो भिन्नाप्रविष्टा मृगयन्ते, एव भवति दृष्ट्याऽङ्गे निक्षेपः ।

संप्रति भावोऽज्ञमाह—

पमिपापमिक्वेषे ए-स जयवमज्ज किर एत्तिया द्दी ।

आदियति चि न नज्जे, अज्ञाताज्ञं तवो जत्तियो ।

प्रतिमाप्रतिपन्न एव भगवान् अथ किल पतावद् दृश्या-दत्त इति न ज्ञायते, तेन तस्य भगवतस्तपोऽज्ञातोऽङ्गे भवति ।

व्य० १० ० ।

अज्ञात ( य ) चरय—अज्ञातचरक—पुं० । अज्ञातोऽनुपदर्शित-सौजन्यादिभावः संश्रयति यः स तथा । औ० । अज्ञातेषु वा गुरुषु चरन्तीति अज्ञातः । अज्ञानगुरो वा चरामतीत्यामभवत्, सूत्र० २ ७० २ अ० ।

अज्ञातपिंद—अज्ञातपिण्ड—पुं० । अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञात-पिण्डः । अन्तप्राप्तकरूपे पिण्डे, अज्ञातेभ्यः पिण्डोऽज्ञातपिण्डः । अज्ञातेभ्यः पूर्वोऽपरस्तनुतेभ्य उच्यतेऽतः लक्ष्ये पिण्डे, “अ-ज्ञातपिण्डेण हि पास्तपज्जा, तां पूयतां तवसा आबोहेज्जा ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ ० ।

अज्ञादत्तहर—अन्यादत्तहर—त्रि० । अन्यैरदत्तमनिसुष्टं हरत्या-

अक्षरादत्तहर

दशे इत्यन्यादत्तहरः । प्रामनगरादिषु सौम्यैकृतिः, उक्त०७ अ० ।

अथा ( वा ) दि ( रि ) स-अन्यादत्त-त्रि० । अन्येव ह-  
इत्येते । अन्य-ह-क-अत्त्वम् ॥ " हरोः क्लिष्टकसकः "   
भा० १४२ इति श्रुतो रिः । अन्यसदृशे, प्रा० ।

अणाय-अन्यादत्त-त्रि० । न्यायदपेते, सूत्र० १ अ० १३ अ० ।

अणायजासि ( ण ) -अन्यादत्तजासि-त्रि० । अन्यादत्तं भा-  
षितुं शीघ्रमस्य सोऽन्यायजायो । यात्कञ्चन भाषिणि, अस्थान-  
जायिणि, गुवांघाधिकेपकरे च । "अ विगमहीय अणाययभासो,  
न से समे होइ अर्जुनम्" सूत्र० १ अ० १३ अ० ।

अणायया-अज्ञाता-स्त्री० । तपसा यशःपूजाऽऽद्यर्थित्वेना-  
प्रकाशयाम्निः करणे, स० ३२ सम० । कोऽर्थः १, पूर्वं परीपह-  
समं जानाति यदुपधानं कियते, तद्यथा लोको न जानाति  
तथा कर्तव्यम्, विज्ञातं वा कृतं न नयेत्, प्रच्छन्नं वा कृतं न-  
येत् । आच० ४ अ० ।

अभानाहारमाह-

कांसिं व अजिअमेणो, धम्मवसू धम्मपोप-धम्मज्जो ।

विणयजया विणयवर्धे, इहिविजूसीद परिक्कम्भे । १ ॥

कौशाभीत्यस्मिन् पुस्तका-जिनसेनो महीपतिः ।  
धारिणीत्यभिधा देवी, तत्र धर्मवस्तुगुरुः ॥ १ ॥  
धर्मयोषो धर्मयशा-स्तस्यान्वेषाविनाभुजौ ।  
आसीद्विनयवत्याख्या, तत्र तेषां महतरा ॥ २ ॥  
तच्छिष्या विगतभया, विदधेऽन्तरे तपः ।  
महाप्रभावनापूर्वे, सङ्गृह्णाति निर्यामयत् ॥ ३ ॥  
तौ च धर्मयसाः शिष्यौ, कुतः परिकर्माणम् ।

इत्थ-

उज्जेशिऽन्तिबक्कण, पात्तय सुरद्ववद्दणो चेव ।

धारिणोऽन्तिमेखे, मणिण्णजो वच्चगार्तीर ॥ १ ॥

उज्जयिन्यस्ति पृथुत्त, प्रद्योतस्तत्तुनाभुजौ ।

आघाः पालकनामाऽभू-ल्लघुसोपालकः पुनः ॥ ४ ॥

गोपालकः प्रवव्राज, पालको राज्यमासदत् ।

अवन्तिवधेनो राष्ट्र-वर्देनवन्ति तत्सुतो ॥ ५ ॥

तौ राज-युधराजौ च, कृत्वाऽयुपालको वती ।

धारिणीकुलिजोऽयस्मिन्-सेनोऽमुद् युधराजसू ॥ ६ ॥

भुभुजाऽभ्ययुकधान, स्वेच्छुधेऽथाऽदृशौ धारिणी ।

ऊच दृष्ट्वाऽपुरकृत्सां, सा नेच्छुधुशर्मांलता ॥ ७ ॥

यथा भावन् साऽवाच-न्न भ्रातृपि सज्जसे ? ।

ततोऽसौ मारितस्तेन, स्थालं साऽथ गच्छितुम् ॥ ८ ॥

ययौ सार्धेन कौशाभ्यौ-मासस्वाभरणोच्छया ।

भुभुजो यानशालायां, स्थिताः साध्वीनिरीच्य सा ॥ ९ ॥

धन्दिन्वा आविका साऽभूत्, कामाच्च व्रतमग्रहीत् ।

गर्भे न सन्तमप्याथ्यद्, व्रतलोभभयानुगुः ॥ १० ॥

ज्ञानो महसरायाः स्वः, सद्गुरोऽथ निवदिनः ।

सुसुप्तं स्थापिता साऽथ, राजी पुत्रमर्जोजनत् ॥ ११ ॥

स्वमुद्राजगणाद्यैस्ते, तदैवाभूथ्य जुपतेः ।

सौधक्कणेषु स्थापयित्वा, प्रच्छुद्धा स्वयमसिधत् ॥ १२ ॥

पार्थिवोऽजितसनसेत्, रङ्गाऽऽकाशतलस्थितः ।

श्रीश्याऽदात्पद्मराज्ञया, अमुनायाः सुते जवात् ॥ १३ ॥

पृष्ठा साध्वीमिरास्यसा, मुनोऽज्जयुज्जितस्तेः ।

पट्टराज्ञया समं चक्रे, साऽथ स्वथ्य गताऽऽमतेः ॥ १४ ॥

मणिप्रभास्यस्तस्सुसुते राहृद्यभवन्युतः ।

साध्याः स चातिरक्तोऽस्या, राजा चावन्तिवधेनः ॥ १५ ॥

ज्ञाताऽस्मारेत् न साऽथाऽभूत्, पञ्चालपतेः पीडितः ।

राज्यं ज्ञानुसुतेऽवन्ति-सेने न्यस्याग्रहीद् व्रतम् ॥ १६ ॥

सा कौशाभ्योऽनुयाहक-मयाचक्र स वसधाद् ।

धर्मयोषयनोरकः, प्रपेदऽन्तशनं यतिः ॥ १७ ॥

भूयान्ममापि विगत-भयाया इव सङ्घातः ।

हेतौषीकस्तु कौशाभ्यो-व्रतयो वातरा गिरौ ॥ १८ ॥

शुदाया वसकान्तरं निरीहोऽन्तशनं व्यधाद् ।

इतश्चागत्य कौशाभ्यो, हरोऽथावन्तिसेनगतः ॥ १९ ॥

धर्मयोषान्तिके नागाद्, भयप्रस्तस्मतो जनः ।

स च चिन्तितमप्राप्ता, मुनो ह्येण विगतः ॥ २० ॥

न लज्यते तनः क्षिप्तो, शरारोपरितलेन सः ।

साऽथ प्रव्रजिता दध्या, मा जृष्टुके जनेऽन्यः ॥ २१ ॥

तनभान्तःपुरं गत्वाऽ-धोचक्षमाणप्रजे रटः ।

ज्ञाता सद् कथं योक्त्ये, सोऽयुक् कथामिदं ततः ? ॥ २२ ॥

सर्वे प्रबन्धमाचर्यते, पृच्छाऽस्मिन् प्रत्ययो न चेत् ।

पृष्ठाऽस्माऽऽभ्ययुकधावुत्सं, नाममुद्रामदर्शयत् ॥ २३ ॥

राष्ट्रवर्द्धनसत्कानि, सर्वोप्याभरणानि च ।

अथांच प्रसदृश्वत्सं, सोच्ये तं सोऽपि मोक्ष्यते ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा सा विनिर्गत्या-ऽवन्तिसेनदऽऽगतम् ।

उत्तमं जनाः सर्वेऽ-नान्तिसेनमुपेय ताम् ॥ २५ ॥

अथयसिहागताऽस्या ते, हृष्टोऽप्यथप्रनाम ताम् ।

मानोः ~~कौशाभ्योऽनुयाहक-मयाचक्र स वसधाद्~~   
नेदथ त्व सोऽर्थो, मिलितौ तावयो मिधः ॥

स्थित्वैकमासे कौशाभ्यो, ह्यवपुज्जयिती गतौ ॥ २७ ॥

नित्यं सगुरुकाऽभ्याऽपि, वत्सकान्तरपवने ।

तत्रारोहावरोहान्ते, कुर्वते वाद्य संयानम् ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा तेऽप्यममभन्ते, नृपो नत्वा मुनि जुदाः ।

चक्रतुर्हावापि स्थित्या, महिमानं जनेः सद् ॥ २९ ॥

एवं तस्याजिते श्रेष्ठा-प्रनच्छनाऽपि हि सङ्घनिः ।

क्षिणीयस्येच्छतेऽप्यासी-न्न सः तत्रवोऽपि हि ॥ ३० ॥

ततो धर्मयोशोऽवशिर्षिदं ततः कार्यम् ॥ अ० क० ।

अणायवर्धविणे-अज्ञातेवाग्विनेक-पु० । शुकाशुक्रयोऽ-  
योमधिपयत्यादिक्रयो यसेन । आग्विनेकमज्ञानवस्तु, ज्ञा० ।

" अज्ञानवाग्विनेकानां, पवित्रतया निमानिनाम् ।

विषयं वनेते वाचि, मुलेनाशीविपस्य तत् " ॥ ज्ञा० ३ श्वा० ।

अणायपत्तील-अज्ञातज्ञो ल-त्रि० । पवित्रैरप्यज्ञानस्वभावे,  
अज्ञानशक्ति च । " तापं अणायवीलाण ( नारीसुं ) " तासां नान-  
रीणामज्ञानशीलानां पवित्रैरप्यज्ञानस्वभावानाम् । यद्वा-न ज्ञा-  
ते नाङ्गीकृतं शक्तिं अज्ञानस्वरूपं यामिस्त्वा अज्ञानशीलास्तासां ।

यद्वा-नञः कुस्माधेयात् कुस्मिन् ज्ञानं शीलं साध्वीनां यामिः  
पवित्राजिकर्थागम्यादिभिस्ता अज्ञानशीलास्तासां ।

अणायारंजघिचित्ति-अन्यारम्भनिवृत्ति-स्त्री० । अणायार-  
जघियागं, " अणयारजघिचित्ति, अणयणा दिदृणं चैव " ।

पञ्चा० ७ वि० ।

अष्टाणवपस-अन्यापदेश-पुं० । अन्वस्य परस्य संबन्धीहं  
 गुरुआजाद्वीत्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः । परकीयमेतत्तेन  
 साधुप्यो न दीयते इति साधुसमर्कं मरणे जानतु साधवो  
 यद्यस्यै तद् भकादिकं जनेश्वर कथमस्मरन् न दद्यादिति  
 साधुसंप्रत्ययार्थम् । अथ वा अस्त्रानाम् ममाश्रयोः पुण्यम्-  
 स्थितिं ज्ञाने च , एष अतिथिसेविनागस्य पञ्चमोऽतिवारः ।  
 ५० २ अथि० ।

अष्टिण्य-अन्वित-त्रि० युक्ते, सूत्र० १ सु० १० अ० अ० उच्यते ।

अष्टिण्याउत्त-अग्निकापुत्र-पुं० । जयसिंहनाम्नो वणिक्पुत्रस्य  
 जाभेः अग्निकायाः पुत्रे , ती० । कतमः स महासुनिः । तदनु  
 जगद् वैमिलिकः-ध्वनां देव । उत्तरमधुरायां वास्तव्यां देवदत्ता-  
 क्यो वशिष्क पुत्रो दिव्याचार्य द्वेक्षिणमधुरामगमत्, तत्र तस्य ज-  
 यसिंहनाम्ना वणिक्पुत्रश्च सौ सौदार्यमभवत् । अम्यदा तदभ्युद-  
 द्युज्जानो ऽग्निफानाम्नीं तस्मात् स्थाने भोजनं परिवेष्य वातव्य-  
 नं कुर्वन् रथ्यकपालालोक्य तस्यामनुकृतः । द्वितीयोऽग्निं वरकाद्  
 प्राप्य जयसिंहो देवदत्तमनयाऽऽविष्टसौहृदमन्यथापद्-भदं तस्मा  
 एव ददं स्वसारम्, यो मद्युः। द् दुर् न भवति, प्रत्यहं तां च  
 यथा पश्यामि, यावत्पश्यज्म तावद्यदि मद्युदं स्वधात, तस्यै  
 जार्यां दद्यामीति । देवदत्तोऽप्यामित्युक्त्या शुभेऽग्निं तां प्यै-  
 धीत् । तथा सह जोगान् भुञ्जेत्स्यायथा धिनुभ्यां हेमः प्रेषितः,  
 वाचयामनस्य नेत्रं वापितुमभु प्रवृष्टे , तत्तस्य वा हेतुः पुष्टो  
 वाचप्रावर्धते तत्तस्य वाऽऽख्ये लेखः सत्यं वाचितः । पत्रं बहं  
 त्रिजिन्मासोऽद् गुरुध्याम्-यद् वस्य । आवां वृक्षीं निकटनि-  
 धनी, याद् नी जीवन्ती विद्वद्भ्यः तदा द्वागामन्तव्यमिति । तदनु  
 सा पतिमाश्वस्य श्रान्तं इगद्वयजिष्णुसुभ्रं सह प्रतस्थ  
 चोत्तरमधुरां प्रति । सगमो कर्मागमो सनुम्लान्, मामास्य  
 पितरौ करिष्यन् इति देवदत्तोके परिजनसमनेकमशिकापुत्र  
 इत्युच्चारितनाम् । क्रमण देवदत्तोऽपि स्वपुरीं प्राप्य पितरौ प्रण-  
 म्य च शिष्यं तयारापयत् । संघोरौश्याक्यं तौ नत्पुत्रकान्तौ तथा  
 ऽप्यशिकापुत्र इत्येव प्रपद्ये । असौ बर्कमानश्च प्राप्ततारणयोऽपि  
 जोगींस्तुण्यवद्विभूय जयसिंहानायांपाद्वे दीक्षामग्रहीत् । गीता-  
 धीतुः प्राग्द्वार्यकम् । अम्यदा विद्वद् सगच्छेऽऽके पुण्य-  
 भद्रपुः स गङ्गानदस्थं प्राप । तत्र पुण्यकेतुर्मुपैः तद्वीथी पुण्यवती ।  
 तयोर्मुमजो पुण्यचूडः पुण्यश्ला चरति पुत्रः पुत्री चाभूताम् । तौ  
 च सह वद्वेमानौ कीरुतौ परस्परं प्रीतिमन्तौ जातौ । राजा  
 ध्यूथी-यद्यतौ विद्युत्पते, तदा नूनं न जीवतः । अहमप्यनयां विरहं  
 सोऽमुनीशुः, नत्सामदनयारं विवाहं करोमीति ध्यात्वा मन्त्रि-  
 निर्षारपीरुद्रेमाऽपुच्छत्-नोः । यन्ममाऽस्त-पुर उत्पद्यते, तस्य कः  
 प्रहृः ? त्रिंशत्सप्त-देव । अन्तःपुराणपत्रस्य किं वाप्यस्य, यद्देशम-  
 ध्येऽप्युपपद्यते रत्नं, तदा जाययच्छं विनिमुक्ते, कोऽत्र बाधः ? । त-  
 क्कुट्या स्वाभिप्रायं निवेद्य देव्यां वारयन्त्यामापि तयोरेव संबन्ध-  
 मप्यवन्नुपः । तौ दम्पती भोगान् ह्युक्तः स्म । राज्ञी तु पत्युपमान-  
 वैराग्याद् व्रतमादाय स्वर्गं देवतोऽनुत् । अम्यदा पुण्यकेतो कथादोषे  
 पुण्यचूला राजाऽनुत् । स च देवप्रयुक्तावधितयोरकृत्यं ज्ञात्वा  
 स्वनेपु पुण्यचूलाय नरकादशोच्यते, तद्दुःखमिति च । सा च प्रमु-  
 क्तमीना च पत्युः सत्यमावेदयत् । सोऽपि शान्तिमञ्चिकरत् । स  
 च देवः अग्निशं नरकात्स्यस्या अद्देशयत् । राजा तु सर्वोत्ती-  
 र्थिकानाह्वय प्रपन्न-कीदृशा नरकाः स्मुरिति ? । कैश्चि कृत्यासम्,  
 कैरपि वाऽरुचम्, अत्रैः पारतन्त्र्यमिति तैरेवैक आचर्चाङ्करे,

राज्ञी तु मुञ्चं मोदयिष्या तान्, विसंबादिश्वदसौ व्यङ्गाङ्गीत् । अथ  
 नृपोऽशिकापुत्राचार्यमाकर्ष्य तदेवाप्राङ्गीत् । तेन तु यादृशान्  
 देव्यपहयत् । तदृशा एषोका नरकाः । राज्ञी प्रोच-भगवद् । नव-  
 ङ्गिरपि किं स्वर्गं हृष्टः ? । कथमन्ययोः स्थि । सुरिवरवद्-अद्रे !  
 जिनागमनैः भवगम्यतेः पुण्यचूलाशोचद्-जगवद्-केन कर्मणा  
 ते प्राप्यते ? । गुरुगुणाद्-भक्तैः । महारजनपरिग्रहेऽनुग्रहस्यतीकतया  
 पञ्चोद्भिदयवाधाम्नांसादाराश्च तेष्यङ्गिनः पतति । क्रमेण स सुरि-  
 र्स्तस्थे स्वर्गोत्तरोच्यते स्वर्गः । राहृया तथैव पाश्चात्तनः पूधानपि  
 व्यनित्चारिवाचो विमुह्य नृपस्तमेवाचार्यै स्वर्गस्वकप्रममाङ्गीत् ।  
 तेनापि यथावत्तत्रोदिते स्वर्गोवातिकारणमप्युच्छद् राज्ञी । ततः  
 सम्यक्स्वर्गलौ युधितयिधमर्वादिशद् मुनीशः प्रतिबुद्धा च सा  
 सद्युक्तो नृपमनुशासयति स्म प्रजयव्याः । सोऽप्युच्यते मद्युह  
 एव भिक्षामादस्ते तदा प्रजज्जतयोरीकृते नृपवक्षसि सा सोऽस्व-  
 मभूत्स्यावापयस्य शिष्या, गीतायां च । अम्यदा च दुर्मिक् कु-  
 तोपयोगाद् ज्ञात्वा सुरिसेच्छं देशान्तेरे प्रेषितः । स्वयं तु परीक्ष-  
 णजङ्गालस्तत्रोदितवत्, नत्पतन् च पुण्यचूलाऽपि गुरुदानीम्  
 गुरवेऽदात् । क्रमासस्या गुरुमुखांमभिनवाप्रकायो ह्यककेभ्यव्या-  
 रोदात्कवत्तत्राप्तुप्ये । तथाऽपि गुरुवैवागुव्यास्य निवृत्ता, या-  
 वद्वि गुरुणा न ह्यापते केचङ्गीति नावत्पुत्रं प्रयुक्तं विनयं केवस्थपि  
 नास्ति । साऽपि यद् यद् गुरोराचिन्तं, रुचिरं च तस्यैवादि स-  
 पादिनवती । अम्यदा तु वर्यथ्ये स पापिदमहाहृद् । गुरुभि-  
 रभिहितम-वस्यैः श्रुत्वाऽऽस, किमिति वृष्टौ त्वया नीताः । पिपदा  
 इति ? साऽप्याग्नि-नगवद्-यथावन्ति अत्रकालोऽचित एवा-  
 सीसैनैवायासिपमपुनः । कुतः प्रार्थयिष्याऽऽपतिः ? गुरोराऽ-अ-  
 ष्यः कथमेतद्देव ? । तयोच-केतनं ममास्ति । ततो मिथ्या न प्रकृतं  
 केवयाशातनेति भुवश्चपुच्छतां गच्छाधिपः-किमहं सेस्यमि  
 नवति ? । केवयुच-ना ह्युचमप्युचित, महासुचरतां चो ज्ञापिष्यति  
 केवलम् । ततो गङ्गापुरसुरीतं लोकैः सहा नावमारोहत् सुरिः ।  
 यत्र यत्र स मयैर्दत्तत्र नौमैकुमारने , तदनु मयदेशासीने  
 मुनी सर्वोऽपि नौमैकुं ज्ञाना । ततो लोकैः सुरिजेवै क्षितः । तु-  
 र्भंगीकराशिवाख्या प्राग्भवपत्न्या व्यन्तरीभूतयाऽत्तजवं श्ये  
 निहितः । शूलप्रतोऽयमप्येकापञ्जीवितारनामैव शोचयन्नाऽऽम-  
 पोर्न, सपकभस्यां रुदोऽन्तकृतकेवलीभूय सिद्धः । आसक्तः सुरै-  
 स्तस्य निर्वाणमहिमा चक्रे । त पव तर्थायै प्रयाग इति जगति प्रप्र-  
 धे । प्रकृष्टो याग-पुञ्जाऽप्रेति प्रयागः । ती० ३६ कल्प० संधा० ।  
 आच० । १० ।

असु-अङ्ग-त्रि० । स्वजायविभावाविबेचके, “ मज्जत्यङ्गः  
 किशान्ते, विद्यायामिव सूकरः । ज्ञानीति मज्जति ज्ञाने, मरह  
 इव मानस ” ॥ १ १० १६ विव० ।

अष्टाणुत्तु-सु (श)-अन्योन्य-त्रि० । अन्वशब्दस्य कमवति-  
 हारे द्विवचम्, पूर्वेषु दे सुख । “ श्रोतोऽज्ञाऽन्योऽन्य० ” ॥ ८ । १ । ६६ ।  
 इत्यादिस्वस्य वैकल्पिकत्वेनौतः तयोऽङ्गैव संशोभादित्येव  
 हूत्वं तथाकथम् । प्रा० । ह्रस्वाभावे “ अयोर्ध्वं ” श्रा० । पिगं वृ० ।  
 अष्टेसगा-अनेपगा-खी० । मागणावाम्, शा० म० श्रि० ।  
 प्राथंभार्यां च, आचा० १ शु० उ अ० ८ उ० । स्व० । आ० म० ।

अथ्योसि ( १ )—अन्वेषिन्—त्रि० । अन्वेषुं शीघ्रमस्येति अन्वेषी । मार्गणाशीघ्रं, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अथ्योसंतिरि अंशुसिद्धि—अन्योन्यान्तरिताद्युल्लिख—त्रि० । अन्योन्यं परस्परअन्तरिता अङ्गुलयां पयोस्तावन्यांअन्यान्तरिताङ्गुलयाः । इशं० । अथ्यवहितकरशाकाकेषु, पञ्चा० ३ विव० ।

अथ्योसोपकार—अन्योन्यकार— पुं० । परस्परं वैद्यावृत्त्यकरणं, श्रु० ३ उ० ।

अथ्योसोपगमण—अन्योन्यगमन—त्रि० । परस्परनिगमनीये, प्रश्न० २ सन्ध० द्वा० ।

अथ्योसोपगणयिष्य—अन्योन्यजनित—त्रि० । परस्परकृते, “अथ्योपगणयिष्यं च होजज हासं, अथ्योपगमणं च होज कम्म” । प्रश्न० ३ सन्ध० द्वा० ।

अथ्योसोपगपत्स्यपदिनेक्वजव—अन्योन्यपकृतिपत्स्यजव— पुं० । अन्योन्यं परस्परं यः पकृतिपत्स्यभाषः पकृतिपत्स्यन्वयमन्योन्यपकृतिपत्स्यभाषः । परस्परं पकृतिरोधे, नयादि—य एव मीमांसकानां नित्यः शब्दः इति पक्षः, स एव सौगतानां प्रातपक्षः; तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात् । य एव सौगतानामनित्यः शब्द इति पक्षः स एव मीमांसकानां प्रतिपक्षः एवं सर्वयोगेषु योग्यम् । स्यात् ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अन्योन्यप्रशुद्धीतत्व— न० । परस्परं पदानां वाक्यानां वा स्तूपकृततायाम्, स० ३५ सम० । सप्तदशे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अन्योन्यप्रशुद्धीतकरण—न० । अन्योन्यस्य श्रुत्स्य दुष्टस्य च यदतिकरणं नयाधिप्राक्रियासु पौनःपुन्यप्रवृत्तिसन्ध्या, ततोऽन्योन्यप्रशुद्धीतकरणम् । परस्परं श्रुत्तद्व्याः क्रियासु प्रवर्तने, तत्राभ्यांअन्योन्यातिकरणं परस्परं पुरुषयोगेद्विकारकरणं मुद्रातिकरणं पञ्चमिन्द्रायशिविवर्तनम् । दुष्टातिकरणं तु द्विधम्—कथायतो विषयतश्च । तत्र स्वपक्षे कथायतो लिङ्घ्यातः । विषयतस्तु लिङ्गिनि प्रतिसन्ध्या । परपक्षे तु कथायतो राजयथः, विषयतस्तु राजद्वारसंयति । अथवा “अन्योन्यप्रशुद्धीतकरणतः” इति व्याख्येयम् । तत्र चादिशब्दासौधकाराद्याशातनाकरणपरिषदः । अस्माद् विषयपाराञ्चिक भवति । पञ्चा० १६ विव० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अन्योन्यसमनुवृत्त—त्रि० । परस्परानुगतौ, “अथ्योसोपगणयिष्यत्, गिच्छत्यतो भयिष्यिसत्यं तु” पञ्चा० ६ विव० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अन्योन्यसमनुवृत्त—त्रि० । परस्परं सन्ध्या, श्रु० ६ उ० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अन्योन्यसमाधि—पुं० । परस्परं समाधौ, “अथ्योसोपगणयिष्यत् एवं वर्णं विदग्धं” यो यस्य गच्छान्तर्गतः समाधिपरिहितस्तद्यथा समाधिं गच्छावसिनां निगच्छन्ति गतानां द्वयोर्महः पञ्चशु अभिमहः इत्यनेन । इहान्ति । आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अन्योन्यप्रदेश—पुं० । आहरणतद्देशाक्योदाहरणभेदे,

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अन्योन्यप्रदेश—पुं० । आहरणतद्देशाक्योदाहरणभेदे,

दाणादकतं तसिं, न विजई चरुह तरोसं ॥ ७९ ॥

अन्योपदेशतः अन्योपदेशेन नास्तिकवादी श्लोकयोरो वक्तव्यः इति शेषः । अदो । विकल्पे येषां वादिनां नास्तिकत्वं एव, न विद्यते आमेव, दानादिकत्वं वा तेषां न विद्यते, दानहोमथागतः पःसमाध्यादिकत्रं स्वगपवगादिनां वादिनां न विद्यते, नास्तीत्यर्थः । कदाचिद्वेत्तुत्वेवं श्रुत्वा प्रयत्न, का नो हानिः ? नष्टान्युपगमा एव बाधये प्रवर्तनीति । तत्रह सत्यैविकथाव्यथाऽनुपपत्तन्ते संप्रतिपत्सिमानेतव्याः, इत्यलं विस्तरं । गमनिकामात्रमेतदुदाहरणदेशाना चरणकरणाद्युपात्तुसारंण भावनीयति । गतं निश्चाहारम् । इशं० १ अ० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—देशी—इति कान्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—पुं०, पालनाअन्यवहारयोः, रुधादि०, पाहने ५०, स०, अदि । अन्यवहारं नोति, धाम्, स०, अदि । प्राद्वृत्ते—“भुजो भुजजिमजमकम्माएदसमानवमद्वचुः” । उ ४ । ११० । इति वृत्तरादेशः । अथइह—उक्तं । प्रा० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—पुं० । भोजनं कुर्वन्त्याम्, तं० श्रौ० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—पुं० । आश्रुणोत्यादत्सं कर्म यैस्ते आश्रवाः । पा० । अग्निविधिना श्रौति अश्रानि कर्म येष्यन्ते आश्रवाः । कर्मोपादानभूतेषु प्राणातिपातादिषु पञ्चश्रु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । ( आश्रवचक्यतना प्रश्रव्याकर्णेषु आदावेव कृता, सा च प्राणातिपातादिषु शब्देष्वेव इत्या )

“जंबू । इगमो अग्रहय-स्वरा-विगिच्छत्यं वयणमस्य । गिच्छत्यं वोच्छ्राम्, गिच्छत्यं सुभाम्गियं महंसीर्हि” । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । स्या० । उक्तं । “पचविहो पञ्चमो, जिगहि इह अग्रहयं अग्रादीयो । हिसा १ मास २ मदि ३, अथम ४ परिमहो चय ४” ॥ ११ ॥ प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अश्रवकर—पुं० । आश्रवः कर्मोपादान, तत्करणशाल आश्रवकरः । प्राणातिपाताश्रवजनकेऽश्रवसमनो-विनयभेदे, स्या० ७ टा० । अश्रवः कर्मोपादानकारिणि, ग० १ अथि० । श्रौ० । आचा० ।

अथ्योसोपगणयिष्यत्—अश्रवजावना—श्रौ० । सतस्यां भावनयात्, अथाश्रवभावना-

“मनोचचेत्पुष्योणाः, कर्म येनाशुभं शुभम् । भविनामाश्रवन्त्येन, प्राञ्चान्नाश्रवा जिने ॥ १ ॥ प्रैश्या सर्वेषु सत्त्वेषु, प्रमोदेन शुर्गायिके । मध्यस्थेष्वविनीतेषु, कृपाया दुर्भतेषु च ॥ २ ॥ तं तथा धारिन्त स्वान्ते, कस्यचिन्पुण्यशालिनः । विदधाति शुभं कर्म, द्विचत्वारिंशदात्मकम् ॥ ३ ॥ रोक्षास्येनामिष्यान्व-कथायविषयमेतः । आकान्तमशुभं कर्म, विदधाति द्व्यशीतिधा ॥ ४ ॥ सर्वेषुशुभेषुशुभ-संघसदुशुभेषुशुभेनम् । कृतं हितं च घचनं, कर्म सर्वाचनुतं शुभम् ॥ ५ ॥ अस्तुशुभेषुशुभेषु-धर्मेषामिदं कृत्वा । उन्मागेदशुभचन-मशुभं कर्म चत्पार्थि ॥ ६ ॥ देवाचनेनुरुपास्ति-साधुधिभ्रामणादिकम् । वितन्वतां सुगुप्ता च, तनुर्विन्तुते शुभम् ॥ ७ ॥

मांसाशनसुरापान-जन्तुघातनचौरिकाः ।  
 पारदायांदि कुवाय-मशुनं कुतने वपुः ॥३॥  
 एतामाश्रवभावनामविरतं या भावयद्वायव-  
 स्तस्यानर्थपरम्परैकजनकाद् दुष्टाऽऽश्रवौघात्प्रभनः ।  
 व्यावृथ्याऽखिलदुःखदायजलदे निःशेषार्थमौवलो-  
 निर्मोणप्रवणे शुभाश्रवणणे नित्यं रतिः पुष्पात् ॥ १४ ॥  
 प्रब० ६७ ॥ ० ।

अएटाण्ण-अस्मानक-न० । शरीरमञ्जनाकरणे, भ० १ श० १ उ० । औ० । स्था० ।

अत-अतु-पुं० । अत्ति भजने जगदिति सृष्टिसंहारकत्वान् । अ-  
 क्षपादसम्मते शिवे, उक्तं च-“अक्षपादमते देवः, सृष्टिसंहारक-  
 ष्टिभुवः । विभुर्निर्यैकस्वर्भो, नित्यबुद्धिसमाश्रयः ” ॥ १ ॥  
 “धियां यो नः प्रचोदयाऽत्” अत्रानि सानत्येन गच्छति ‘ग-  
 त्यर्थो ज्ञानार्थः’ इति वचनात् अयमच्छरीरिणि षन् स्व-  
 वंशः; धियां यो नः प्रचोदयाऽत्-इत्यत्र बौद्धेस्तथा व्याख्या-  
 नात् । ३० गा० । ( परमेतादृक् शब्दः प्राकृतं न प्रयोक्तव्यः )

अतंत-अतन्त्र-त्रि० । न तन्त्रं कारणां, तद्दर्शना विचक्षा वा  
 यस्य । कारणानर्थोने अनायत्ते, अन० वृत्त० विव० ।

अतक्कागिज्ज-अनर्कणीय-त्रि० । अनभिलषणीये, वृ० १ उ० ।

अतकिओरद्विय-अतकिंतेोपस्थिन-न० । अनभिसन्धिपूर्वि-  
 कायामधेप्राप्ती यदच्छायायाम्, यथा-काकनालीयम्, अजाकृ-  
 पाणीयम्, आनुरभेयजीयम्, अन्धकण्टकीयमित्यादि ।  
 आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

“ अतकिंतेोपस्थिनमेव सर्वे, चित्रं जनानां सुखदुःखजात-  
 कः । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वाऽत्र वृथाऽ-  
 भिमानः ॥ १ ॥ ” अ० १ श० १ उ० ।

अतकिओवदि-अनकिंतेोपधि-पुं० । अतर्कणीये उपर्यै, यमु-  
 पधि न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति । व्य० ८ उ० ।

अतजाय-अतजात-त्रि० । अनुत्पज्जातीये, प्राव० ४ अ० ।

अतजाया-अतजाता-स्त्री० । अनुत्पज्जातीये क्रियमाणायाम्  
 परिष्ठापनिकायाम्, आव ४ अ० ।

अतह-अतद-पुं० । अर्थायै तद, “अतदुववातो सां चैव मभो” ।  
 वृ० १ उ० ।

अतणु-अतनु-त्रि० । न विघने तदुः शरारं येषां तेऽननवः ।  
 सिंजु, प्रब० २१४ ॥ ० ।

अतत्त्वेदत्-अतत्त्वेदित्व-न० । साक्षादेव वस्तुत्वमहातुं  
 शीलमस्य पुरुषविशेषस्य । अर्वाभ्यासीनि, ष० १ अधि० ।

अतत्त्वेद्वैवाय-अतत्त्वेद्विदाद्-पुं० । अतत्त्वेद्विनः साक्षादेव  
 वस्तुत्वमहातुं शीलमस्य पुरुषविशेषस्यार्वावर्शिन इत्यर्थः ।  
 शान्ते वस्तुत्वमनमत्त्ववेद्विवाद् । साक्षाद्वीक्ष्यमाणेन हि  
 प्रमाणा प्रोक्ते वस्तुत्वमनेनातत्त्वेद्विवाद्यः सम्यग्वाद् इति ।  
 ष० १ अधि० ।

अतत्तिय-अतात्स्विक-त्रि० । अथास्तये तात्स्विकाज्ञाये, ॥ ०  
 १६ ॥ ० ।

अतत्तुचुक-पुं० । अणहिल्लपाटनदुग्भञ्जके हरियल्लप्रामवै-  
 १२४

स्यशेटके चौलुक्यवंशीयमीमदेवनरेन्द्रसमकाशने तुलकमहारे  
 राक्षि, ती० ० ४१ कटप ।

अतर-अतर-पुं० । न तरीतुं शक्यते इत्यतरः । रत्नाकरे, वृ० १  
 उ० । सागरे, प्रब० १ ॥ ० । अतिमहस्यादुधिवत्सरीमुक्षिरापारं  
 नेतुं न शक्यत इत्यतराणि । सागरोपमकाशेषु, कर्म० १ कर्म० ।  
 असमर्थे, नि० चू० १ उ० । श्राने, वृ० १ उ० ।  
 अतरंत-अतरंत-त्रि० । असहै । नि० चू० १ उ० । व्य० । ग्ला-  
 ने, ष० ३ अधि० ।

अतव-अतवस्-त्रि० । ६ ब० । तपसा विहीने, “अतवो न होनि  
 भोगां” वृ० ४ उ० । न० त० । तपसामजाये, लुक्त० २३ अ० ।  
 अतमी-अतसी-स्त्री० । (अवसी-नीसी) कुमायाम्, ग० २  
 अधि० । अतसी वत्कलप्रधाने वनस्पति, यत्सुं मासवादिदेशे  
 प्रसिद्धा । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।  
 अतह-अतथा-तन्त्र-तन्त्र-कथ च । मिथ्याचूतेऽर्थे, सूत्र० १  
 श्रु० १ अ० १ उ० ।

अतधत्-न० । असदर्थोभिधायिणे, “अणवज्जमतहं नेसि,  
 ण ते संयुद्धारिणो” सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अविश-  
 माने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । वितथेऽसवृचूते,  
 आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अतद्वृण-अतदाज्ञान-न० । न विघते यथा वस्तु तथा ज्ञाने  
 यस्य तत्तथा । मिथ्यादृष्टिर्जादृश्ये, तस्य वितथज्ञानत्वात् ।  
 नास्ति यथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथा । अज्ञातच्छब्दे  
 वा, वक्तव्याऽऽभ्यासमाने एकांतवाद्यच्छ्रुयते वा वस्तुनि,  
 तथाहि-एकान्तेन नित्यमानित्ये वा वस्तुनेरनुभूयते, प्रतिभानि च  
 तन् परिणामितयति तद्वत्तथाज्ञानानि । एष दशमो छव्यानु-  
 योगः । व्या० १० टा० । यथा प्रच्छन्नीयार्थे प्रदृश्यस्य ज्ञानं तथैव  
 प्रच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञाने जानन्नश्च इत्यर्थः ।  
 एतद्विषयीतस्त्वन्तथाज्ञानः । अज्ञानप्रश्ने, भ० ६ श० ८ उ० ।

अतार-अतार-त्रि० । ६ ब० । तर्गीतुमशक्ये, नदीप्रवाहादौ  
 यस्य हि तरणं नास्ति । “अथाहमनारमपारिस्तीये सींश्रोत्र-  
 गम्भि अण्णं मुयंति” । ज्ञा० १२ अ० ।

अतारिम्-अतारिम्-त्रि० । अनतिरङ्गनीये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०  
 २ उ० ।

अतारि ( लि ) स-अतादृश-त्रि० । न० स० । अतस्सदो, “अना-  
 रिन्धं मुणी ओहंतेरे” । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । उक्त० ।  
 अतिउट्ट-अतिट्ट-त्रि० । अतिक्रान्ते वृत्तादतिवृत्तः । वृत्तम-  
 जानति, सूत्र० । “जसी गुहाय जलणेऽनिउट्टे, अविजाणओ रुज्जह,  
 लुत्तपणो” । उवज्जनेऽप्यावतिवृत्तां वेदनारिपुत्तवाद् स्वकृत-  
 दुश्चरितमजानन्न सुसप्रज्ञा गतप्रज्ञाधिषेको दन्दहात । सूत्र० १  
 श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अतितिण-अतिन्तिन-त्रि० । न० त० । अलाभेऽपि ईवद्यत्  
 किञ्चनाभाषिणि, दश० १ अ० । सक्तुकिञ्चिदुक्ते, चूयो-  
 न्याऽस्ययाऽवक्त्रि च । दश० १ अ० ।

अतिवस्तुंतुं-अतीदृणुतुण्-त्रि० । अनयन्तमेदकुमुके, प-  
 ज्ञा० १६ विव० ।

अतिक्रमेयवर्षी

अग्निधानराजन्धः ।

अतीरंगम

अतिक्रमेयवर्षी-अतीरङ्गा ( नैऋ ) ( हृष्ट्यु ) वैतरणी-स्त्री० । परमाधार्मिकविकृतनरकनद्यास, तं० ।

अतिहृष्टपुत्र-अहृष्टपूर्व-वि० । पूर्वमष्टमष्टपूर्वम, वैशाख्यां त- कार्पाणिकपत्तिः । प्रथममेव हृष्टे, "परिसं अतिहृष्टपुत्रं" । प्रा० ।

अतिष्ठ-अतप्त-वि० । न० तं० । असन्तुष्टे, उक्तं० "एवं अद- शाधि समापयंतो. भाये अतिष्ठो ङ्हिभो अग्निस्सो" उक्त० १४ अ० । "अतिष्ठा कामायं" । प्रश्न० ४ अश्र० ३३० ।

अतिष्ठप-अतप्तान्-वि० । सानिजाये, षो० ४ वि० ।

अतिष्ठज्ञान-अतप्तज्ञान-पुं० । ६ त० । तपेणं कृतं, कृमिरिति यावत् । तस्य लाभस्तुतलानः, न तथाऽतुतलानः सन्तोयाऽप्रा- सी, उक्तं० ३२ अ० ।

अतिष्ठि-अतुमि-स्त्री० । असन्तुष्टौ, उक्तं० ३४ अ० । सा च छि- तीयं अज्ञातकणम ।

संप्रत्युत्तिस्वरूपं द्वितीयमतिष्ठित्युराह-

तिष्ठि न चैव विंदे, मरुत्ताजोगेण नाणचरणेषु ।

वेयावपतवाऽसु, जटविरियं जावभो जवइ ॥ ६४ ॥

तुमि सेतोपं कृत्तव्योऽश्चेतावतवेत्यं रूप, (नवेति) चशब्दस्य पुराणावशेष विन्दति शान्तेति, अज्ञायां योगेन संबन्धेन ज्ञान- बन्धनयोर्विषये ज्ञाने पठिते यावत् । अज्ञानानुष्ठानं निर्वहन्ति नि- संबन्धेन न तद्विषये प्रमाद्यति, किं तर्हि नवनवकुलवैशेष्युक्तो- विशेषतः सेतसाहो भवति । तथा चोक्तम्-

"जइ जइ सुयमवगाहइ, अइलवरसपसरसंनुयमउअं । तइ तइ पइहाइ सुगुणं, नवनवसंबेगसकाए" ॥ १ ॥

तथा-

"अथो जइल जिह्वुसमेहिं भलिभो जायमिभ मोहककए, बइ गोयममाइएहि सुमहाबुद्धीं ज सुतओ । संबेगइगुणाण बुद्धिजगणं नित्येसनामावहं, कायइवं विदिहा सया नवनवं नाणस्स संपजणं" ॥ १ ॥

तथा आरिषवियये विशुचविशुक्तरस्यंयमस्थानावातये सज्ञाव- सासारं सर्वमनुष्ठानमुपयुक्तमेवाऽनुष्ठिति, यस्मादप्रमादकृताः स- र्धेऽपि साधुष्यापारा उक्तोरंकरसंयमककारुकारोहणेन केवअहा- मलाभाय भयन्ति । तथा चांगमः-

"जोगे जोगे जिणला-सणमि दुक्कअककया पंडंअंत । इअकअमि अणता, वइता केवलीं जाया" ॥ १ ॥

तथा वैशाख्यतपस्यी प्रीति, आदिशब्दात्पुत्रेणप्रमाण- नादिपरिग्रहः । तेषु यथा नीयं सामर्थ्यानुपपं जायतः सज्ञाव- साारं यतंत प्रयत्नवान् प्रवति । ष० २० ।

अतिष्ठिला-अतुतिलाज-पुं० । ६ त० । तुमिप्राप्त्यभाये, "संज्ञेगकात्रे य अतित्तलाभे" उक्तं० ३४ अ० ।

अतिष्ठि-अतीर्थ-श्रव्य० । तीर्थस्थाऽभावेऽतीर्थम् । तीर्थस्था- तुवादे, (अवांतराते) व्यबच्छेदे च । प्रहा० १ प२ ।

अतिष्ठगरसिद्ध-अतीर्थकरसिद्ध-पुं० । न तीर्थकराः सन्तः सिद्धाः । सामान्यकेवलसु सन्तु गौतमादिवत् सिद्धेषु, प्रहा० १ प२ । ल० । पा० । अ० । स्या० । न० ।

अतिष्ठसिद्ध-अतीर्थसिद्ध-पुं० । तीर्थस्थाभावेऽतीर्थेव, ती- र्थस्थाजायमानुत्पादोऽपान्तरासे व्यबच्छेदो वा, तस्मिन्नेव सि- द्धास्तेऽतीर्थसिद्धाः । न० । तीर्थान्तरसिद्धेषु, अ० । तीर्थान्तरे साधुव्यबच्छेदे आतिस्मरणादिना प्रायायवर्गमागौ मरुदेवी- वन् सिद्धाः । स्या० १ उ० १ उ० । नहि मरुदेव्यादिसिद्धिगम- नकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत् । न० । ष० । तथा तीर्थेस्य व्यब- च्छेदश्चन्द्रमस्वामिसुविद्युविश्वाम्यपान्तरासे । तत्र ये आति- स्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यबच्छेदसिद्धाः । प्रहा० १ प२ । स्या० ।

अतिष्ठायवापा-अतिष्ठायवापा-स्त्री० । उडुक्कनावाप, षं० सं० ४ अ० ।

अतिष्ठदुक्क-अतिदुःख-न० । अतिदुःखे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतिष्ठदुक्कधम्म-अतिदुःखधर्म-वि० । अतीव दुःखमशातावेद- नीयं धर्मः स्वनायो यस्य तत्तथा । अकिमिमेयमात्रमपि कालं न यत्र दुःखस्य विश्रामः । ताश्चो नरकादिस्थानं, सूत्र० "सथ य कलुण पुण धम्मठाणं, गढोवणांयं अतिष्ठदुक्कधम्मं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अतिष्ठुत्त-अतिष्ठुत्त-वि० । अतीव उत्तमप्रकारं कर्म यस्य स्याऽतिष्ठुत्तः । प्रचतुर्कर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अतिष्ठुत्त-वि० । बहुलकर्मणि, "अथ पुरिसं अतिष्ठुत्ते अइ- अरइसे" सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अतिष्ठाप-अतिष्ठाप-पुं० । परेषु तेषु अत्युत्तमप्रवृत्तियंयां जाने समश्रो तीर्थकरे, सं० ८४ सम० ।

अतिष्ठापया-अतिष्ठाप-स्त्री० । स्वदेलाज्ञाजुलकारणकारण- परिचये, पा० । ष० ।

अतिष्ठुत्त-अतिष्ठुत्त-वि० । अत्यन्तमूर्च्छितोऽतिष्ठुत्तः । विषयदेवदर्शनं प्रत्यभिमुदतामुपने, प्रश्न० ४ अश्र० ३३० ।

अतिष्ठुत्त-अतैल-न० । सर्वथा तैलांशुरहिते, तं० ।

अतिष्ठवत्त-अतिष्ठवत्त-वि० । अतिशयेन प्रजति गच्छतीति, अति-मज-शत् । बाहुल्येन गच्छति, ज० ३ प्रति० ।

अतिविज्ञ-अतिविद्य-पुं० । जातिवृक्षसुखः अशरणादतीव वि- द्या तत्पारिच्छत्री यथाऽसायतिविद्यः । जातनिषेदे तत्सह, "तद्दाऽतिविज्ञं परमंति नया, आयंकरंसील क करेइ पायं" । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतिविद्वत्-पुं० । विशिष्टमह, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अतीरंगम-अतीरङ्गम-वि० । तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः ( अन्वप्रयः ) । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः । तीरं गन्तुमसमर्थेषु, आचा० ।

अतीरंगमा एए, पा य तीरंगमित्तए । अतीरंगमा एए, णाय पारंगमित्तए ॥ १ ॥

( अतीरंगमा इत्यादि ) तीरं गच्छन्तीति तीरंगमाः, पूर्व- वत् अन्वप्रयर्थादिकम् । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः ( एते इति)नात् प्रत्यङ्गावन्मपनात् कुनीयिकात्वी, इत्येयति । न च

अतीरंगम

ते तीरङ्गमनायेद्यता अपि तीरं गन्तुमसम, सर्वहोपदिष्टस्वाम्यागो-  
 भावादिनि भावः तथा (अपारंगमा इत्यादि)पारस्तटः, परकुलं,  
 तच्छुक्लतीति पारंगमाः, न पारकुमा अपारकुमाः॥(एत इति)पु-  
 षोकाः, पारंगतोपदेशान्मृते पारकुमनायेद्यता अपि पारं गन्तुमसम । न  
 च ते पारंगतोपदेशान्मृते पारकुमनायेद्यता अपि पारं गन्तुमसम ।  
 अथथा गमने गमः, पारव्य पारे वा गमः पारगमः ।  
 नृषे त्वनुस्वारोऽज्ञाकृषिकः । न पारगमोऽज्ञाकृषिकमस्तस्मात् अपा-  
 रगमनाय । असमर्थेसमासोऽयम् । तेनायमर्थः—पारगमनाय ते  
 न भवन्तीत्युक्तं प्रबन्धि । नन्वात्मनमपि संसारं संसारान्तर्वेतिन  
 न्वात्मने, यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वहोपदे-  
 शयिकस्तः स्वकचित्परचिततस्मात्पुत्रयो वैभ संसारपारं गन्तु-  
 मसम । आच्ञ० १ श्रु० २ श्रु० ३ उ० ।

अनुच्छन्नजात्र-अनुच्छन्नजात्र-त्रि० । अकार्षण्ये, पं० व० ४ द्वा०  
 उद्गाराय, पञ्च० ६ वि० ।

अनुरिय-अन्वविरित-त्रि० । स्तिमिते, घ० ३ अघि० । उल्ल०  
 विधा० । "अनुरियमचलमसंभंताए अविश्रंविवाए रायइंसस-  
 र्स्तीए गदैए" । अन्वविरितया मानसैस्तुक्त्परहितया । कल्प० ।  
 देहमन्त्राप्यपरहितं यथाभवत्येवम् । अ०१२श०११ उ० । रा० ।

अनुरियगइ-अन्वविरितगति-त्रि० । भायया सोकावर्जनाय  
 मन्त्रगामिनि, कु० १ उ० ।

अनुरियमासि [ ए ]-अन्वविरितजापिन्-त्रि० । विवेकभावि-  
 णि, आच्ञ० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अनुत्त-अनुत्त-त्रि० । तुलामितकान्ते, संधा० । असाधारणे,  
 स० ३० सम० । निरुधमे, प्रश्न० १ आश्च० द्वा० ।

अत्त-अत्त-त्रि० । आ-दा-क । युहीते, उक्त० १७ उ० । क-  
 रतसपरिपृहीते, द्वा० १ अ० । भीमो भीमसेन इति न्यायात्  
 आसो युहीतेः सूत्राद्यो यस्ते आत्ताः । गीताथेयु, सु० १  
 उ० । स्था० ।

अत्तान्-उ० । स्वस्मिन्, उक्त० ३२ अ० । जीवे, आच्ञ० १ श्रु०  
 ६ अ० १ उ० । पञ्च० । स्वनाये, नं० ।

अत्र-त्रि० आ अत्रिभिधित्ना त्रयते दुःखासंस्कृति सुखं चो-  
 त्पाद्यतीति आत्रः । दुःखेण सुखसाधके, "गेरहवाचं जंते ! कि  
 क्वात्पापेगमला अणसापेगमला या ?" ज०१४ श०९ उ० । स्था० ।

अत्रा-त्रि० । आते, उक्त० १२ अ० । अतीव सुदुपरिक्रमिते, सु०  
 २२० पाहु० । चं० प्र० । स्था० । आतिथिं रागद्वेषमोहानामैका-  
 न्तिक आयत्निकञ्च कृष्य, सा यस्याऽस्ति स आतः अत्रादि-  
 स्वात्मस्वधीयोऽप्रत्ययः । स्या० । यथार्थेदशानिगुणयुक्ते पु-  
 क्य, नं० १ द्वा० । रागादिप्रमुक्ते, सुव० १ श्रु० ६ अ० ।  
 जी० अत्रतारके, अत्रतारकञ्च (प्रकीर्णदेशेः सर्वज्ञः) प्रशेषयो-  
 षकृपाद्य भवतीति । उक्तं च-"आगमोऽज्ञासिखन-मार्तं देशकृपा-  
 विदुः । बीतरागोऽदुतं वाक्यं, न प्रयाकेत्यसंभवात्" ॥ १ ॥  
 द्वा० १ अ० । स्य० ।

नाणमादशीणि अत्राणि, जेण अत्रो ल सो जवे ।

रानहोसपट्ठीणो वा, जे व इहा व सोधिष ॥ १ ॥

हानादिनि हानदशीचरित्रिणी येनामानि स अन्वथासः ।  
 हानादिनिरगत्ये स आत्र इति श्रुत्यसंस्तरम् । ये वा यमज्ञे-

वप्रहीणः स आतः । यदि वा (इहा) इहाः, सोषो शोधिषिचये  
 आसाः ॥ ५ ॥ स्य० १० उ० ।

आतस्वरूपं प्ररूपवन्ति-

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानति, यथाज्ञानं च-  
 जिघत्से स आतः ॥ ४ ॥

आप्येते प्राप्येते अर्थोऽस्माद्विभ्यासः । यद्वा-आसिः रागादिदो-  
 षस्य, सा विघने यस्येत्यर्थे आदित्वादि आतः । जानन्नापि  
 हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत्, तद्व्यवच्छि-  
 ष्ये यथाज्ञानमिति । तदुक्तम्— "आगमो ज्ञातवचन-आसि  
 दोषक्यं विदुः । क्रीणदोषान्जुनं वाक्यं, न श्रुयादेवसंभात्" ॥ १ ॥  
 अनिधानं च ध्वनेः परस्परयाऽप्यत्र रूपध्वम् । तेनाह-  
 वितेखनद्वारं, अहृकोपदं नोमखनं, करपञ्चम्यादिषेधाविशेष-  
 पशयेन वा शब्दस्मरणात्ः परोक्तयोविषये विज्ञानं चर-  
 त्यादयति. सोऽप्याप्त इत्युक्तं नवति । स च स्मर्यमाणः शब्दः  
 आगम इति ॥४॥

कस्मात्सूदृशस्यैवाप्यन्तधमिण्याहुः—

तस्य द्वि वचनमविसंवादि जवति ॥ ५ ॥

यो हि यथावच्छिन्नाभिधेयवादी परिक्रान्तुसारेण तदुपदेश-  
 कुगप्रश्न भवति. नस्यैव यस्माद्वचनं विसंवाद्यश्रुत्संजायते ।  
 सूदृश्यञ्चकवचने विसंवाद्यदर्शनात् । ततो यो यस्माद्यञ्चकः  
 स तस्यात इति श्रुत्यायमेव चरसाधारणं बुद्धानामासतकृपम-  
 नूदितं नवति ॥ ५ ॥

आतमेवौ वशयन्ति-

स च द्वेषा-लौकिको, लोकोचरश्च ॥ ६ ॥

लोकं सामान्यजनरूपे भवे लौकिकः । लोकादुत्तरः प्रधान-  
 मोक्तृमार्गोपदेशकवाङ्मोकोत्तरः ॥ ६ ॥

तावेष वदन्ति—

लौकिको अनकादिलोकोचरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

प्रथमाऽऽदिशब्देन जनन्यादिप्रदः । त्रितीयाऽऽदिशब्देन तु  
 गणपरादिप्रदस्यम् ॥ ७ ॥ रत्ना० ४ परि० ।

न च वाच्यमाणः क्रीणसर्वदोषः, तथाविधं चात्मसं कस्यापि  
 नास्तीति । यतो रागादयः कस्यचिदत्यन्तनुचिह्नयन्ते, आसदा-  
 दिषु तदुच्छेदकप्रकार्योपलम्भमात्, सुधायाचारकजसदपट-  
 सवत् । तथा चाहुः—"देशतो माग्निं भावाः, इहा तिमिलनम्भ-  
 राः भेषपक्कवाद्या यद्देवं रागादयो मताः" ॥१॥ इति । यस्य च  
 निरवयवतयते विशिष्टाः स एवातो जगत्वाद् सर्वज्ञः । अथाना-  
 दिःत्वाद्भागदिनां कथं प्रकथ इति चेत् ? । उपायतस्तद्भारवा-  
 त्, अनादेरपि सुवर्षमलस्य क्षारसूदृष्टपाकादिना विलयोपल-  
 म्भमात् । तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षरूपरत्न-  
 यान्वासनं विप्रयोपपत्तेः, क्रीणदोषेषु च केवसहानाम्यनि-  
 चारान् सर्वज्ञत्वम् । तस्मिन्दिस्तु-ज्ञानतास्त्वयं कश्चिद्विद्मन्तः, ता-  
 रतमभ्यस्य, आकाशपरिमाणपरात्स्वयश्च । तथा-सुदृशान्तरि-  
 तद्वार्याः, कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, कितिचरकन्धरा-  
 धिकरणभूमयजवत् । एवं चन्द्रस्योपरगादिषुचकयं गित्तीह ।  
 हानादिनि हानदशीचरित्रिणी येनामानि स अन्वथासः ॥ १ ॥  
 सच० । सागुर्नो शोधिषिचये इष्टे प्राक्प्रच्छद, स्य० १० उ० । मोक्षे,  
 सुच० १ श्रु० १० अ० । एकात्तद्विदिते, वि० । अ० १४ श० ६ उ० ।



आर्त्त-त्रि० । स्थानीजूते, भ० ३५ श० १ ३० । दुष्कारैः, स्वः०  
७ ग्रा० । "कम्पसा दुष्भगा खेव, इच्छादं सुपुष्टो जणा" पूर्वा-  
चरितेः कर्मभिराप्तौः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदि  
वा कर्मनिः कृष्यादिभिरातोस्तकहेतुमसमर्थः । सूत्र० १ श्रु० ३  
अ० १ उ० ।

अत्र उपव्यास-आत्मोपन्यास-पुं० । आत्मान एव उपन्यासो  
निवेदनं यस्मिन्तद्वत्तमोपन्यासम् । उदाहरणे, दोष, उपन्यास-  
नेदं च । इश० ।

इदानीमात्मोपन्यासद्वारं विकृत्ववशाह-

अत्र उपव्यासमि य, तलागजेवामि पिण्डो यवर्द्ध ।

आत्मान एवोपन्यासो निवेदनं यस्मिन् तद्वत्तमोपन्यासम्, तत्र  
च तद्व्यासनेदं पिण्डः स्वपतिवदाहणमित्युक्तायः । जावार्थः  
कथानकगम्यः स चायम्—"इह एगस्वस् रत्नो तलागं स्ववरज-  
स्वस ताहृष्ट, तं च तलागं वरिस्व वरिस्व भग्यं निजइ । ताहृ  
राया जगइ-को सो उवाओ होजा, जेण तं न भिजेजा ? । तथ  
पराः कविल्लो मणुषो जणति-जदि तवरं महराय ! अचिह्णपि-  
ण्डो, कथिल्लियाओ से दाडियाओ, सिरे से कथिल्लिये, सो जाव-  
तो च्वे जम्मि टाणं भिज्जति तस्मिं टाणं णिक्खमति, तो जणवं  
सु भिज्जति । पच्छा कुमारा मण्ण भणियं-महराय ! एसो च्व  
परिसो, जारिस्वयं जणति, परिसो नग्धि अओ । पच्छा सो तथेव  
मारिस्वो कथिल्लिसो । एवं परिसो गो भाणिययं जं कण्य-  
टाए भवइ " । इदं लौकिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि सूचि-  
तम् । एवमप्रहणेन तज्जातीयमदण्डात्तत्र चरणाकरणाद्युपनिवे-  
न्युदा यदुत— " लादयधम्माम्नां वि ह्रु. जे पम्भडा णगइहा  
ते उ. कइ द्धस्वोपरदिथा, धम्मस्साराहया होति " ॥ १ ॥  
इत्यादि । इत्यानुयोगे पुनरंकेन्द्रिया जीवाः, व्यकांन्वास-  
निःश्रवासादिजीवल्लिङ्गमाद्याः, घटपुत्रः इह ये जीवा न भव-  
न्ति न तेषु व्यकांन्वासनिःश्रवासादिजीवलिङ्गसद्भावः, यथा  
घटे, न च तथैतेष्वसद्भाव इति तस्माज्जीवा पथेन इत्यत्राम-  
नोऽपि ननुपपत्त्याऽऽप्तोपन्यासस्य भावनीयमिति । उदाहर-  
णदोषना चास्याऽऽप्तोपन्यासजनकत्वेन प्रकटार्थवति न ज्ञायते ।  
गतमात्मोपन्यासद्वारम् । दृश० १ अ० ।

अत्रकद-आत्मकृत-त्रि० । आत्मायं कृते स्वशुद्ध्यर्थमेव स्या-  
पिते, वृ० १ उ० ।

अ तकम्भ-आत्मकर्मन्-न० । ६ त० । स्वदुष्कारिते, " निष्कु-  
न्विमां जहा तेषां, अत्रकर्मैर्हि दुष्कर्मैः " द्वा० ५ अ० २ उ० ।  
आत्मा अष्टपरकारकमेणाऽऽयतकणकारणामोदनादिनिर्लिप्यते  
तदात्मकम् । दृश० । यथाचक्रादिसम्बन्धि कर्म पाकादिलक्षणं,  
ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा, तदात्मनः सम्बन्धि क्रियतेऽनेनेत्या-  
त्मकम् । वृ० ५ उ० । आध्यात्मशुद्ध्यर्थं, पि० । निष्कृपाऽप्य-तद्व्यमु-  
कमात्मस्य नाम । सम्प्रत्यात्मकमेनाम्नोऽऽवसरः । तदपि चात्मक-  
मं चतुर्धा । तद्यथा-नामात्मकं, स्वानामात्मकं, कृष्यात्म-  
कम्, भावात्मकम् वा । इदं चाध्यात्मैव तावद्भावनीयम्, याव-  
त्तथागतो जग्यशरीरं कृष्यात्मकम् ।

हृत्शरीरत्वमशरीरव्यतिरिक्तं तु कृष्यात्मकम् प्रतिपाद्यति-

दृव्विम्भि अत्रकर्मम्, जं जो ङ मयापए भवे दृव्वं ।

यः पुरुषो यद्गव्यादिकं कृष्यं ममायते-मेमेति प्रतिपद्यते । तन्-

मेति प्रतिपादनं, तस्य पुरुषस्य ( दृव्विम्भि अत्रकर्मम् ति ) हृत्श-  
रीरजग्यशरीरव्यतिरिक्तम् । दृव्व्ये दृव्वयविषयं, आत्मकम्  
भवति । आत्मसंबन्धित्वेन कर्मकणमात्मकम्, इति व्युत्पत्त्याऽऽ  
त्मश्रयणात् । ज्ञावात्मकम् च द्विधा । तद्यथा-आगतम्, नो-  
आगतम् । तत्रागतम् आत्मकमशब्दाधिहाना चोपयुक्तः ।  
नो आगतम्: पुनराह-

भावं आशुप्रपरिणओ, परकम्भ अत्रपणे कुणइ ।

अशुप्रपरिणतेऽऽशुमेन प्रस्तावाहाध्याकर्मप्रहणरूपेण भावेन  
परिणतः परस्परपाचकाद्यैः संबन्धे यत्कर्म पच्यताम्बनादिजनितं  
ज्ञानावरणीयादि, तदात्मनः संबन्धि करोति । तच्च परसंबन्धिनः  
कर्मण आत्मायत्वेन करणे, जावे भावत आत्मकम्, नो आगतमो  
भावात्मकमेव्यः । भावेन परिणामविशेषेण परकीयस्यासं-  
बन्धित्वेन कर्मकरणं भावात्मकमेति व्युत्पत्तेः ।

पतदेव सार्द्धया गाथया भावयति-

आहाकम्भपरिणओ, फासुयमवि सैकिद्विडुपरिणामो ।

आयपमाणां वज्जइ, तं जाणसु अत्रकम्भे ति ॥ १ ॥

परकम्भ अत्रकम्भा, करेइ तं जो गिगिहत्तुं जुंजे ॥

प्रासुकम्भेनतद्वृत्तमेतदपण्यं च स्वरूपेण भक्तादिकम् ।  
आस्तनामाचक्रैर्यापशुद्ध्यर्थः । संक्षिप्तपरिणामः सखाध्याकर्म  
प्रहणपरिणतः सन्नादसं शुष्टइन् यथाऽऽहर्तदोयेन व्याख्यात-  
लक्ष्यमाह, मद्गुणाध्यासाधारणविश्लेषादिकथाः, स्वयंस्व भाव-  
नमिव कुत्र कुत्र न वा प्रसंगमधिरोहति । ततो मद्गुणावर्जित  
एव सोऽपि लोकाः पक्व्या पाचयिष्या च महाभिष्टमिदमाह-  
नादिकं प्रयच्छतीत्यादि, स इत्थमाहदानः साक्षादारम्भकतैव  
ज्ञानावरणीयादिकमेणा चष्यते । ततस्मज्ज्ञानावरणायादिकम्  
बन्धनमात्मकम् जानाई । इत्यत्र भावेन-आध्याकर्म, यद्वा-  
स्वरूपेण अत्राध्याकर्मपि जिकवशतो मद्गमेनश्रुत्पादिनाम्या-  
ध्याकर्मप्रहणपरिणतो यदा शुष्टइति तदा स साक्षादारम्भक-  
तैव स्वपरिणामविशेषतो ज्ञानावरणीयादिकमेणा चष्यते, यदि  
पुनरं शुष्टइत्यात्तर्हि न चष्यते । तत आध्याकर्मप्राहणा यत्पर-  
स्य पाचकादयः कर्म तदऽऽप्तोपन्यासपि क्रियत इति परकम्भ आ-  
त्मकम्भे करोतिनि चष्यते । पतदेव रूपेण व्यनक्ति- ( परकम्भ-  
त्यादि ) तत आध्याकर्म यदा साशुष्टइतिवा भुङ्क्ते स परस्परं  
पाचकाद्यैर्यत्कर्म तदात्मकं करोति, आत्मनोऽपि संबन्धि  
करोताति भावाधे ।

अमुं च भावार्थमस्य वाक्यव्याजानामः परो जात-  
संशयः प्रकथयति-

तथ्य जेव परिकिरिया, कहे तु अश्रय संकम्भ ।  
तत्र परकम्भ आत्मकम् करोतीत्यत्र वाक्यं जन्वत् परस्य वक्त-  
व्यम् । यथा-कथं पराधिपरस्य सकं ज्ञानावरणीयादि कर्मैः,  
अन्यत्र आध्याकर्ममेतजः साधौ संक्रामतीति भावः न खलु जा-  
तुचिदपि परकृतं कर्म अन्यत्र संक्रामति । यदि पुनरन्यथापि संक-  
र्मसहिं रूपकभेगमधिकृतः कृपापरीतयेताः सकसजगज्जनुक-  
र्मनिर्मुक्तनापादनसमर्थः सर्वेषामपि जन्तूनां कर्म ज्ञानामपि संक-  
मय्य कृपयते । तथा च सति सर्वेषामेककालं सुकुरुष जायते ? न  
जायते, तस्मात्प्रेव परकृतकर्मणामन्यत्र संक्रामः उक्तं च-कृपकभे-  
गिपरिगतः समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म कृपायित्वा भवेत् कृपापरी-  
तात्मकः यदि कर्मसंक्रमः स्यात्परकृतस्य । परकृतकर्मणो यत्समा-

आकाशमिति संक्रमो विजगो वा, तस्मात् सत्वानो कर्म यस्य संपन्नं तेन तद्भवति । तत्कथमुच्यते परकर्म आत्मकर्मकिरोतीति ? इदं च वाक्यं पुराणनगमम् । अथथाऽपि केचित्परमार्थमज्ञानाया व्याख्यानयन्ति । ततस्तत्प्रत्ययकतुमुपपत्त्यस्यैव कुरुवभाषणं केदं, परम्पउत्ते वि रिति दंधो ति ।

केचित् स्वपुत्र्या एव प्रथमचन्द्रस्यमजानाः कृतोपमायाः कृतेष्टधानेन, सुवने-परप्रयुक्तोऽपि परेण पात्रादिना निष्पादितेऽप्योदानादौ साधोस्तद्वाहकस्य भवति बन्धः । एतदुक्तं जयति-यथा व्याघ्रं कृते स्थापितं मृगस्यैव बन्धो, न व्याघरस्य, तथा गृहस्थेन पाकादौ कृते तद्वाहकस्य साधोबंधः, न पाककृतोः । ततः परस्य यत्कर्म ज्ञानावरणोपादि संजयति, तदापाककर्मप्रदा। स्वस्थेय संबन्धि करोतीत्युच्यते । तदेतदुक्तमपि । जिनवचनविरुक्तव्यात् । तथाहि-परस्यापि साक्षा-दारम्भकतुल्ये नियमतः कर्मबंधसंज्ञकस्ततः कथमुच्यते तदुप्राहकस्य साधोबंधो, न पाककतुः ? । न च मृगस्यापि परप्रयुक्तिसाधोबंधः, किन्तु स्वस्मादेव प्रमादादिदोषात्; एवं साधोरपि ।

तथा चैतदेव नियुक्तिद्वारा-

जगद् य गुरु पमचो, वज्रज कूडे अद्रक्सो य ।

एमेव जावकूडे, वज्रज जो असुभजावपरिणामो ॥१॥

तद्वा उ असुजजायो. वज्रयन्वो..... ।

भणति प्रतिपाद्यति, चः पुनरपि । पुनरर्थव्यायम्-एकः केचन स्वस्य गुरुवरणपशुपासनाविकस्रतया यथाऽवस्थितं तस्मिन्वेदितारोऽन्तरिकं सुवने-गुरुः पुनरभवान् श्रीयशोभद्रसुरिरेवमाह । एतेनैतदावेयिन-जिनवचनमवितभं, जिज्ञासुना नियमतः प्रज्ञानाऽपि स्वस्यगुरुवरणकमलपशुपासनासाध्यं, अन्यथा प्रज्ञाया अवैतयानुपपत्तः । तदुक्तं च-“तत्तदुपेन्द्रयमाणानां, पुगणैरगमिंशानां । अनुपासितवृत्तानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदान्”॥१॥ गुरुवचनमेव दर्शयति-मृगाऽपि क्लृु कृतः स बध्यते यः प्रमत्तोऽद्भक्त जयति । यस्वचमत्तो दक्षश्च कदाचनपि न बध्यते । तथाहि-अप्रमत्तो मृगः प्रथमतः एव कृतेदंशं परिहरति । अथ कथमपि प्रमादवशात् कृतेदंशमपि प्राप्नो भवति तथाऽपि एव साक्षापि बन्धः पनति, तावद्दक्षतया जगति तद्विषयादपस्यति । यस्तु प्रमत्तो दक्षताराहृतस्व, स बध्यत एव । तस्मान् मृगाऽपि बध्यते । परमाधीतः स्वप्रमादद्विक्रियावशतो, न परप्रयुक्तिसाक्षात् । (एयमेव) अनेनैव मृगहृष्टान्तोक्तप्रकारेण (जावकूडे) संयमरूपजानेवचनया कृतमिष कृतमापाककर्म, तत्र स बध्यते, ज्ञानावरणोपादि कर्मणा युज्यते, योऽसुभभाचपरिणाम आहारमाचरते, आधाकर्मप्रदाशात्मकाद्युभभावपरिणामां, न दोषः न क्लवाधाकर्माणं कृतस्य यो न तद् गृहदाति, नापि भुङ्क्ते, स ज्ञानावरणोपाऽऽदिना पापेन बध्यते । नदि कृते स्थापितं यो मृगस्तेदा एव नायति, आयातोऽपि यत्नस्तदेवं परिहरति, स कृते बन्धमाप्नोति । तत्र परयुक्तिसाधु बन्धो येन परोक्तोत्पत्त परहृतकर्मण आत्मकर्मकिरणमुपपद्यते, किरणगुमाध्यक्षसाधुजावतः । तस्माद्दृश्यो भोय आधाकर्मप्रहरणरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयितव्यः । परकर्म करोतीत्येव वाक्यं प्रायः प्रागेव दर्शितः । यथा-परस्य पात्रकादीयकर्म तदारमकर्मिकरोति, किमुक्तं जहाति ?-नतामस्यापि कर्म करोतीति, ततो न कश्चिद्वापः । परक- १२६

मैणश्चात्मकर्मिकरणमाधाकर्मणो प्रहणे प्रोजने वा स्ति भवति यथा, तत उपचारात्पात्राकर्म आत्मकर्मत्युच्यते । न तु तदाऽऽधाकर्म, यदा स्वयं करोति, अन्येन वा कारयति, कृतं वाऽनुमोदते, तदा भेददोषोऽयदा तु स्वयं न करोति, नापि कारयति, नाप्यनुमोदते, तदा कस्तस्य प्रहणं दोष इति ?

अत्राह-

कामं सयं न कुव्वद्, जायतो पुण तद्वा वि तग्गाइ । वहुइ तपसंगं, अगिगएग्गाणो उ वारेइ ॥ ? ॥

कामं सम्मतमेतद्, यथापि स्वयं न करोत्याधाकर्म, उपलक्षणमेतद्, न वारयति, तथापि मद्दधेमतस्मिणादिति जानानो यदि आधाकर्म गृहदाति तदि तद्प्रादं । तत्रसंगं-आधाकर्मप्रहरणसङ्घं वर्जयति । तथाहि-यदा स साधुराधाकर्म जानानो गृहदाति, तदाऽप्येवं साधुनां हापकानां च पशुविकरुपजायने-नाधाकर्म प्रोजने कश्चनापि दोषः; कथमन्यथा स साधुजानानोऽपि गृहदाति-तथाद् ? इति । तत एते तेषां शुक्रपुत्राद् संतत्या साधुनामाधाकर्मभोजने दोषेकालं वदंतीति वाचिकायविघातः, स परमार्थतस्तेन प्रबध्यते । यस्तु न गृह्णाति स तथाभूतप्रसङ्गवृत्तिं निवारयति; प्रवृत्तेरयोभावात् । तथा चाह-( अगिगहमाणां उ वारेइ ) ततोऽतिप्रसङ्गदोषमथाकृतकारितदोषरहितमपि नाधाकर्म भुञ्जीत । अन्यथ तदाधाकर्मं जानानोऽपि नृजानो नियमतोऽनुमोदते । अनुमोदना हि नाम-अप्रतिषेधनम् । अप्रतिषेधनमुमोदनमिति विदित्यथादाह । तत आधाकर्मभोजने नियमतोऽनुमोदनदोषोऽनिवारितप्रसरः अपि च-वयमाधाकर्मभोजने कदाचिन्मनोहाहारप्रोजनविषयतया स्वयमपि पचेत् पाचयेद्वा । तस्माच्च सर्वथा आधाकर्मं ज्ञोक्तव्यामिति स्थितम् । तदेवमुक्तमात्मकर्मिति नाम ॥ १० ॥ नि० चू० ।

असंग-आत्मग-त्रि० । आत्मनि गच्छतीति आत्मगः । आन्तेर, “विच्छाण अस्मं मोय ” सूत्र० १ श्रु० १७ श्र० ।

असंगवेमण-आसंगवेषण-न० । अस्याद्यापस्तु, आसैस्य, उपलक्षणमेतद् । आनासैस्य वा, गवेषणं तुल्यभद्रस्यसंपादानादिक्रमसात्संगवेषणम् । औपचारिकविनयभेद, व्य० १ उ० ।

असंगवेसणया-आसंगवेषणता-श्री० । अर्तं श्रान्तीमूतं गवेषयति भेषयद्वादिना योऽन्त्यासंगवेषणः तदुभाव आसंगवेषणता । भ० २५ श० ५ उ० । आर्तस्य तुःश्रान्तस्य गवेषणमौपधादित्वात्संगवेषणम्; तदेवातंगवेषणतिति । पीकितस्योपकार इत्यर्थः । स्या० ७ उ० ।

आत्म ( सु ) गवेषणता-श्री० । आत्मना, आत्मेन वा तुव्या गवेषणं सुस्थदुस्थतयोऽन्तेवयं कार्यमिति । लोकोपचारविनयभेद, स्या० ७ उ० । श्री० ।

साप्रतत्सासंगवेषणरूपविनयप्रतिपादनार्थमाह-

द्ववावऽमासुं, अचमपणो गोवेसं कुणइ ।

अथापि तुल्यभद्रस्यसंपत्तौ च । तथा च भवति केतुचिद्देशोयवस्यादिषु दुर्बंभे घृतादिद्रव्यामिदं । आदिशब्दात् के-त्रापदादिपरिभ्रदः । तत्र केत्रापिदं कामारादिपत्तने, कात्रापिदं दुर्बिके, भावापिदं गाढाज्ञानेन । आसैस्य पीकितस्य अत्यन्त-हिष्युतया, आनासैस्य वा यथाहासिः यद् गवेषणं करोति तुल्यभद्रव्यासंपादयति, स आसंगवेषणविनयः । व्य० १ उ० ।

असृष्टगवेषय

असृष्टगवेषय—आत्मगवेषक—पुं० । आत्मानं चारित्र्यात्मानं गवेषयतीति आत्मगवेषकः । कथमर्थं मम स्वादिति संप्रमजीवमार्थगतिरिति, " तिमिरच्छं नाभिर्मेदेजा, संविक्लेशस्तगवेषये । एवं शू तस्य सामर्थं, जत्र कुञ्जा न करेजः " ॥१॥ उक्त० २ उ० ।

नो ताहिं विदुभेजा, च करेजस्तगवेषय ।

आत्मानं गवेषयन्, कथं मयाऽऽत्मा भवतिनस्तारणीय इत्यन्येषते । " आत्मगवेषकस्त्रिंशः स्वकृपापातः " इति वचनात् । त्रिंशोऽऽत्मा । ततः कथं मयाऽस्ती स्वादित्यन्येषक आत्मगवेषकः । यथा आत्मानमेव गवेषयन् इत्यात्मगवेषकः । किमुक्तं भवति—विश्रालहृकारशालिनोरपि स्वियोऽवश्लोक्य तद्दृष्टिन्यासस्य बुध्ताऽवगममात् फण्डिति ताज्यो ह्युपसंहारत आत्मान्येष्टैव ज्ञात । उक्त० ३ अ० ।

असृष्टगामि ( ष् )—आप्त ( स्य ) गामिन—पुं० । आप्तं (मांक्तं) गच्छति तच्छीघ्रः । मांक्तगमनशील आत्माइतिगामिनि, सर्वज्ञोपदिष्टमार्गगामिनि वा मुनौ, " मुसं न कृया मुण्ये असृष्टगामि " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

असृष्टगुण—आत्मगुण—पुं० । बुद्धिसुखलुब्धेच्छाह्वयप्रयत्नधर्मधर्मसंस्कारेषु जीवगुणेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असृष्टित्त—आत्मचिन्तक—पुं० । आत्मानमेव चिन्तयतीति । परकार्यमनोपेक्षैवात्मानं चिन्तयति गणधारणायोभ्ये, इयं ।

असृष्टज्ञयमेगपरं, पदिबजिस्तसंति असृष्टचित्तौ ।

जो वि गणे वि वसंतो, न वदति तर्त्तौ तु अज्ञेसि ॥१॥

य आत्मानमेव केवलं चिन्तयन्मन्यते—यथाऽहमन्यते जिनकथं यथा लङ्कहृदानामाकरं प्रतिपत्त्ये इति आत्मचिन्तकः । योऽपि गणेऽपि गच्छेऽप्यसक्त निष्ठुन्न न वदति न करोति, त्विमन्यो साधुनां सोऽप्यात्मचिन्तकः । एतौ चाप्यात्मचिन्तकावर्त्तौ । इयं ३ उ० ।

असृष्टदृष्ट—आत्मपट्ट—पुं० । आत्मा पट्ट इति । पञ्चानं ज्ञानात्मामा पट्टः प्रतिपाद्यत इत्यर्थे पञ्चमं सूत्रकृताङ्कस्य प्रथमेदृशकस्य अर्थांशं हारं, सूत्र० ।

सांभ्रतमात्मपट्टवादिमनं पुर्वेपकृत्यनुमाह—  
मतिं पंच मट्टव्यूया, इह मेगसिं आदित्या ।

आयच्छौ पुणो आहू, आया लोगे य सामए ॥१॥

( संतोऽप्यादि ) सन्ति विद्यन्म, पञ्च महात्तानि ( नि पूर्वध्याद्वानि, इहास्मिंस्तंसां, एकेषां वेदधादिनां सांख्याः नां शैवाधिकारिणां च, एतद्वाक्यात्मा आख्यातानि च त्तानि ते च सांदिन एवमाहुर्वेदमातृतावन्तः—यथा आत्मपट्टानि आत्मा पट्टो येषां तानि आत्मपट्टानि, त्तानि, विद्यन्त इति । एतानि चात्मपट्टानि ज्ञानानि यथाऽप्येयां वादिनामित्यानि तथा नामीचामिति दर्शयति—आत्मा, शोकश्च पूर्वाध्यादिकृपाः शाश्वतोऽविनाशः । तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वात्तदने—स्वाकाकाशव्येव शाश्वतत्वम, पूर्वध्यादीनां च तत्प्राप्रच्युत्तरांशं नभ्रवर्त्तमिति ॥ १५ ॥

शाश्वतत्वमेव ज्ञयः प्रतिपादयितुमाह—

दुहओ ण विणुस्संति, नो य उपजए अस्सं ।

सत्थे वि सक्कहा भाया, निरत्तीभायामागया ॥ १६ ॥

( बुध्दश्चो ण विणुस्संतंर्यादि ) ते आत्मपट्टाः पूर्वध्यादयः

पदार्थाः ( उजयत इति ) निहेतुकसहेतुकविनाशश्चयेन न विनश्यन्ति । यथा बौद्धानां स्वत एव निहेतुको विनाशः । तथा च ते कस्युः— " जानित्वं हि ज्ञायासं, विनाशो देहतरिप्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पञ्चात्स केन च ? " ॥ १ ॥ तथा च हेतुशेषिकाणां बहुतादिकारणासांध्यो विनाशः सहेतुकः । तेनाजयरुपाणां विनाशेन शोकामनोने विनाश इति तात्पर्याथः । यदि वा ( दुहओ ण ) द्विकृपायात्मनः स्वभावाच्चेतनचेतनरुपाणिविनश्यतीति । तथादि—पूर्वध्यातजोवाक्याकाशानि रूपापरित्यागतया नित्यानि ; न कदाचिदनीदृशं जगदिति कृपया आत्माऽपि नित्य एव, कृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः । " नैनं ज्मिन्ति शशाणं, नैनं ददति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापः, न शोषयति मातः ॥१॥ अच्येयोऽयमदाहोऽयं—सर्विकार्योऽयमुच्यते । नित्यः सर्वगतः स्याद्यु—रचलोऽयं सनातनः " ॥ २ ॥ एवं च कृपया मानद्वयपत्तः, सर्वस्य सर्वज्ञं सद्भावान् । असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवाद् । यदि वा असद्वयपत्तः, अरदिप्राणादिरप्युत्पातः स्यादिति । तथा चोक्तम्— " असदकरणदापदा—नदणतसर्वसंभवाजानान् । शकस्य शषयकरणात्, कारणभावात्च सत्कार्यम् " ॥३॥ एवं च कृपया सृष्टिर्गोऽपि घटोऽस्ति, तदर्थिनो सृष्टिर्गोपादानान् । यदि वा असद्वयपत्तः, ततो यतः कृतसिद्धेव स्यात्सावश्यमेतदर्थिनो सृष्टिर्गोपादानमेव क्रियते, इत्यतः सर्वे च कारणे कार्यमुत्पद्यत इति । एवं च कृपया सर्वेऽपि ज्ञायाः पूर्वध्यादय आत्मपट्टानित्यानिनित्यं नित्यत्वमागता, नामापरूपताम् । अत्रभूयां च भायकपत्तं प्रतिपद्यते । अविमोयंनानात्राजयमात्वात्पूर्वात्सविनाशोपरिगति । तथा चाजिहितम्— " नामेनां ज्ञयते आयो, माशयो ज्ञयते सत " ॥ इत्यादि । अस्यासर्वं नियुक्तदृहाह— " को वेप " इत्यादि प्राक्तन्येव गाथा । सर्वेपदार्थानित्यत्वात्पुण्यमं कर्तुं—वर्षाणामां न स्यात्, ततश्चात्मनोऽप्यनुवे कर्मकाशजायतदभावाच्च को वेदयति, न कश्चिन्मुल्लटः स्वादिकर्तुनुभवतीत्यर्थः । एवं च सति कृतनाशः स्यात् । तथा असत्तत्त्वोपादाज्ञये येयं मया आत्मनः पूर्वभावपरित्यागनापरतावत्पत्तं कृपया पञ्चया गतिरुच्यते, सानस्यात् । ततश्च मांक्तगतेरजावाद् । कृदादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमापद्यते । तथाऽप्रकृत्याऽनुष्ठानार्थेरेकस्वजाज्ञायेन त्वात्मनो देवमानुष्यमात्यागता, तथा विस्मृतेरजावाद् जानिभ्रमणार्थिकं वा न प्राप्नोति । यत्तत्काम-सदेवोत्पद्यत । तदत्यन्तम् । यतो यदि सर्वथा सदेव, कथमुत्पादीः तपश्चेत्, तर्हि सर्वेऽप्यदादितातो चोक्तम् : " कर्ममुत्पायेऽपेशाः, प्राणुत्पत्तेर्न सति । यत्कामाः । कायैवसदिकृत्यं, क्रियावृत्तेश्च कर्तुं गामः " १ । तस्मान्नसर्वेपदार्थानां कथं—विकल्पयत्वं सर्वसत्कार्यवाद्भ्रमण्यव्यायम् । तथा चाभिहितम्— " सर्वेऽत्यपि नित्यते, कृणे कृणोऽप्यव्ययम् च न विशेषः । सत्यश्चिन्त्यपचित्यो—नाकृतिजानित्यवस्थानान् " ॥१॥ इति । तथा— " नात्यः स हि भेदत्या-क भेदोऽवयववृत्तितः । मुष्टदृश्यसंसेम—यसिज्ञात्यन्तरं घटः " ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० १ उ० ।

असृष्ट—आत्मसृष्ट—त्रि० । आत्मानं निरुत्पत्तिं आत्मसृष्टः । जीवस्य, " आत्मस्य श्लेशक्य-प्रकाशकं निरिच्छय परानन्त्या । नीतादिपरिच्छेदक-मत्र ध्रुये चिति समयज्ञाः " ॥१॥ धा० १५ विव० । आत्माधी—त्रि० । आत्मनोर्गाथं स्वभावाथ, श्रु० २ अर्थ० । आत्मनोऽर्थः आत्माथः । अर्थममानया स्वर्गादी, आत्मनोर्थ आत्माथः । आत्मव्यतिरिक्तं, मोक्तं च । उक्त० १॥ इह कामनित्यत्सत्त्व, असृष्टे नाऽपरऽकह " उक्त० ८ अ० । हा० ।



कस्य बचनमासवचनं, तस्य निर्देश आसवचननिर्देशः । सर्व-  
लोकानाम्, "धर्मो मंगलयुक्तिं ति पश्चात् अक्षययथाहिरेस" ।  
६४० १ अ० ।

अक्ष ( अक्ष ) संज्ञा-आत्मसंयोग-पुं० । आत्मनः संयोगो क्षो-  
परात्मिकादिभिर्भावैर्जावितस्य सम्बन्धकस्य संयोगभेदे, अक्ष० १  
अ० । ( "संज्ञा" शब्दे वैष्य विशेषतो दृशयिष्यते )

अक्षसंपरिग्रहिय-आत्मसंपरिग्रहीत-त्रि० । आत्मेव संप-  
ग्रहीतः-सम्बद्ध प्रकषेण ग्रहीतो येनाहं विनीतः सुसाधुरित्ये-  
वमादिना स तथा । आत्मोत्कर्षप्रधानं, द्वा० ६ अ० ४ ड० ।

अक्षसक्विय-आत्मसाक्षिक-त्रि० । आत्मा एव साक्षिको  
वर्षति आत्मसाक्षिकः । स्वसाक्षिके, " आत्मसाक्षिकस्य-  
मे-सिद्धौ किं लोकयात्रया ? " । अक्ष० २३ अक्ष० ।

अक्षसप्त-आत्मसप्त-त्रि० । आत्मसप्तं, ६४० १० अ० ।

अक्षसमाहि-आत्मसमाधि-पुं० । ६ त० । स्वपक्षसिद्धौ, मा-  
ध्यस्थवचमादिना पराजुपधाते च । सूत्र० १ श्लो३ उ० ३ अ० ।

अक्षसमाहिय-आत्मसमाधिक-पुं० । चित्तस्वास्थ्यवति, सू-  
त्र० १ श्लो३ अ० ३ ड० ।

अक्षसमाहित-त्रि० । आत्मना समाहित आत्मसमाहितः । ज्ञा-  
नदृशमचारिभोषणयोरेव सदापयुक्ते, आचा० १ श्लो ४ अ० ३ उ० ।  
आत्मा समाहितोऽप्येत्यात्मसमाहितः । आहितभ्यादिदर्श-  
नादाप्येत्वाद् वा निष्ठाभ्रतस्य परनिपातः । यद्वा-प्राकृते पूर्वोत्त-  
रनिपातोऽप्येवः । समाहितमित्यर्थः । शुभव्यापारवति, आचा०  
१ श्लो ४ अ० ३ ड० ।

अक्षसुभ-आत्सुभ-त्रि० । आत्सो धीतरागस्तरस्य वाक्यं  
सिद्धान्तसेन शून्यं वार्जितमासुभयमिति मध्यपदसोषो ममा-  
सः । आसुभाक्येन शून्यमासुभयं स्वमत्या असंभविने विर-  
क्तस्य लोकः प्रथमौरवाहिसितं, ( देवसेन परतःप्रपञ्चनमचीकरत् )  
द्रव्या० ६ अथा० ।

अक्ष ( आय ) हिय-आत्माहित-त्रि० । ६ त० । आत्मापका-  
रके, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वा० । विशे० । आत्माहितं दुःखेनाऽसुमना  
संसारं पर्यटताऽकृतधर्मोनुष्ठानेन सन्नयते अथाप्यत इति । त-  
थाहि- " न पुनरिदमतिदुर्लभं-मगाधसंसारजन्धिष्विष्येत् ।  
मानुष्यं ज्योतिषं-तन्निष्ठाताबलसितप्रतिमम् " ॥१॥ सूत्र०  
१ श्लो ६ अ० २ ड० ।

अक्षा-नेशो-जनन्याय, पिनुष्वसति, श्वश्राय, बबस्यायं च ।  
दंजा० १ अर्गं ।

अक्षागम-आत्मागम-पुं० । अपीक्षेये आगमे, " वयणेण का-  
वजोणा, भावेण य सो अणादिसुखस्स । गदणमि य नो हेऊ,  
सायं अक्षागमो कहे षू " ॥१॥ उक्त० २ अ० ।

अक्षाण-अक्षाण-त्रि० । ६ ब० स० । अनर्थप्रतिघातकवर्जितं,  
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । शरणविरहिते, आ० म० द्वि० ।  
स्कन्धयस्त्रस्रगुदश्रीनीये देशान्तरे गच्छति, कार्पाटिके च । ६० ।  
चिरकराज्येऽथं चिदृणाविधिः-

अक्षाण चौर भेया, वरगुर मोनिय पलाइणो रडिका ।  
पडिचरगा य सहाया, गमणागमणम्मि नायक्या ॥

( अक्षाण ति ) संयता आग्नेयैव चौरादिसहायविग्रहिता ग-  
च्छन्ति । एष चूर्णोऽभिप्रायः । निशीथचूर्णोऽभिप्रायस्तु- ( अक्षा-  
ण ति ) अक्षाणां नाम स्कन्धयस्त्रस्रगुदश्रीनीया ये देशान्तरे  
गच्छन्ति, कार्पाटिका वा । ६० १ उ० । आत्मसाधस्य तुनीयेक-  
वचनेऽपि 'अक्षाण ति' इयं भवति । ' अक्षाण अक्षिगमादिया  
करेति ' आत्मना अनिग्रहीता, अनिग्रहीतात्मन इत्यर्थः । प्र-  
श्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अक्षाहिडि-आत्माधिक-त्रि० । आत्मलक्षिके, च० ३ अक्षि० ।

अक्षि-आक्षि-कां० । उपलभ्यो, द्वा० १० द्वा० । रागद्वेषमोहा-  
नामैकान्तिके आत्यन्तिके च कृपे, स्या० ।

अक्षिज [ य ]-आक्षेत्र्य-पुं० । अक्षिवच्ये श्रेयो, " जीणे प्रो-  
जनमात्रेयः " का० १० । ( ' संक्षेप ' शब्दे कथा इत्यप्या )

अक्षीकरण-आक्षीकरण-ल० । अनात्मन आत्मत्वेन करणं आ-  
त्मीकरणम् । आत्मसात करणे, पि० । स्ववशीकरणं, नि० वृ० ।  
तच्च राजादानीं संयतने करणीयम् । तदुक्तम्-

जे भिक्खु रायं अक्षीकरेइ, अक्षीकरंते वा साऽज्जइ । नि० वृ० ।  
अक्षीकरणं रमो, सान्नायियं कडंते चं मायुस्वं ।

पुञ्जावरसंवेकं, पञ्चस्र परोत्समेकं ॥ ११ ॥

ते पुण पत्थीकरणं दुविधं-सान्नायिय, कडंतिवये च । सान्ना-  
यियं संतं सत्थं चेत्तमां, तस्स मयाणज्जउ, कंतंते पुण अक्षियं ।  
ते पुणो एकेके दुविधे-पुण्वं संवृता वा (अवग्रभितं) पञ्जा सवतं ।  
पुणो दुविध-एवकत्थं, परोत्सं च । पञ्चकत्थं सयंमं करंते,  
परोत्सं श्रेणुणं कायंते । अइवा राइः समकं प्रयत्तमं, अ-  
न्याया परोत्सं भवति । संते पञ्चकत्थपरोत्सं इमं भवानि-  
रायभरणीम्म कुलघर-गताएँ जितो मि अक्खियाएँ वा ।  
निव्वामियपुत्तोवमि, अमुगच्छगएण जानो वा ॥३॥

रायाएँ मंते देवी आवसुल्लता कुलघर गया, नांमे अइं पुत्तां,  
जहा-सुइगकुमारां । अक्खियाएँ य जहा-पुलमवतीएँ करकंठू-  
कोरियरायपुत्तां शिच्छंदां । अएण्थ गतेणं तेणाहं जानो, जहा-  
अमयकुमारां । अमुगच्छगएण रणएँ अइं जानो, यथा-वसुदे-  
वणेण जरकुमारां, वत्तरमइरवणएण वा अयं णियपुत्तां संते प-  
रकरयं कहे संनवति ।

दुष्कमपेवमलजा-सुगो व एपेवअम्यच्चमादीहि ।

पञ्चकत्थपरोत्सं वा, करेज वा संयंते को वि ॥ ४ ॥

तस्य रायकुले दुष्कलो पवेसो, सज्जालुमां वा, सो सायु अण-  
णो असत्तो, असत्तीकरयं कायं, ताइं अम्यच्चमादीहिं कार्पाटि,  
एमव गदणायां असत्तं संवरकति । एते चैव कुलधरादिंकारणा  
जडवज्जणतो पञ्चकत्थं परोत्सं संयंते करेज, अम्यच्चमा-  
दीहिं वा कारवेज ।

एषो एगतरेणं, अक्षीकरणं तु संतं-असंतं ।

अक्षीकरंते रायं, लहुगा वा आर्यामादीणि ॥ ५ ॥

संते पञ्चकत्थं परोत्सं वा मासहं, असंते पञ्चकत्थं परो-  
त्सं वा चवसहुं, आणादिणो य हांसा, अणुजोमे पडिभोमे वा  
उपसगो कएज्ज ।

राया रायसुइ वा, रायामिक्का अमित्तदुद्धिो वा ।

जिक्खुस्स व संबंधी, संबंधिमुद्धी व तं सोभा ॥ ६ ॥  
 सयमेव राधाः राहः सुहृदः, ते पुनः स्वजना मित्राणि वा, राधो  
 अमित्राः; ते स्वजना दायदाः, अस्वजनाः केनचित्कारणेन नि-  
 कृताः । अमित्राण्य वा जे सुहृदो, साधुस्स वा जे संबंधीषो,  
 ताण्य वा संबंधीण्य जे सुहृदी, तत् सोभा दुबिह उवसण्णो करेज्ज ।  
 संजमविण्यकरे वा, सररीवाहाकरे व भिक्खुस्स ।

अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा कुबिषे व उवसण्णो ॥ ७ ॥  
 संजमविण्यकरे वा उवसण्णे सररीरवाहाकारके वा करेज्ज, जे  
 संजमविण्यकरा तं अणुकूला इतरे पडिकूला । एते दुबिहे उव-  
 सण्णं करेज्ज ॥ ७ ॥

तरिधमे अणुकूला-

साइज्जमु रज्जसिरिं, अुरारायचं व गेएहसु व भोगे ।  
 इति राय तस्सुह्हीसु वि, उच्चैज्जितरे व तं घेणुं ॥ ८ ॥  
 राधा अणुति-रज्जसिरिं साइज्जसु, अयं ते पयच्छामि  
 अुरारायचं, विविद्धे वा भोगे गेएहसु । इति उपपर्युत्तरे । राधा  
 पय । तस्य सुहृदः, तेऽप्येवमेवाः ( इतरे ऋि ) जे एत्थो पडिणी-  
 या, पडिणीयाण वा जे सुहृदो, ते तं उप्पव्यावेउ घेणुं वि उ-  
 त्थणं करेज्जा, उदुमरं करेतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सुहृदो व तस्स विरिय-परक्कमे एाउ साहते राधो ।  
 तो सेही एस णिवं, अम्हे तु ए मुउ पणणेइ ॥ ९ ॥  
 जे पुण भिक्खु, ते तस्स साइज्जसु विरियवत्तरिकमा णा-  
 उ उप्पव्यावैति, साहेति वा, र्धो सो तं उप्पव्यावेइ, ते पुण  
 किं उप्पव्यावैति, एस रायाणं तो सेहिति णि । अम्हे राया ण्य  
 सुउ पणणेइ ॥ ९ ॥

इमे सररीरवाहाकरा पडिकूला उवसण्णा-

ओजासितु पिम्मं-किएण कुज्जा व रज्जविषे ये ।  
 एपेव सुहृदि दरिमिते, णियपपोसितरे मारे ॥ १० ॥  
 राधा भयति-अहो ! इमेण समणेषु महापण्णमज्जेओभासिओ  
 पिण्णु मुएडितेन अुरात्मना य एवं भावते, अहवा एव भोगा-  
 भिलाषी मम परिसं भिदिउं रज्जविण्णं करेज्ज, तं सो राधा  
 हणुएज्ज वा, बंधएज्ज वा, मारंएज्ज वा, र्धो जे सुहृदी, तेहि अण्योओ  
 र्धो इरिसिते, राधा तहं व पडिकूलं उवसण्णं करेज्ज ।  
 इतरे णाम जे र्धो अमित्रा, अमित्रसुहृदो वा, ते र्धो पडि-  
 णीयताए तं मारंएज्ज, भिक्खुस्स णीया वा पडिलोमे उवसण्णं  
 करेज्ज ॥ १० ॥

उद्धंसिण्णो लोणं-सि भागहारी व होहि वा माणे ।  
 इति दायिगादिणीता, करेज्ज पडिलोमवसण्णो ॥ ११ ॥  
 उद्धंसिय णि ओभासिया-अम्हे एतण्य लोणं मज्जेओभा-  
 सिआ वा एस अम्हे भागहारी होहि णि, मा वा अम्हे अधि-  
 क्तवरो एतथ रायकुले होहि णि, बुध्वयण्ययाए बंधाहपरिं उसा-  
 वेति वा, जम्हा एते दोसा तम्हा ए कण्यति एत्थो अत्तीकरणं  
 काउं, कार्थे पुण्य कण्यति ॥ ११ ॥

गेलाएण रायउट्ठे, अवरज्जविक्ररोहणज्जाणे ।

शिलोमज्जावण्य सासण-णिकलमणुवदेसकजेणु ॥ १२ ॥  
 गिलाएवस्स वेजेण उवविद्धं-वसतेणं कल्लाणययं तिसणं, महा-  
 तिसणं वा, कलमसालिओयणो वा, तण्णि परं एत्थो इवेज्ज,  
 माहं जयथाए अत्तीकरणं करेति ॥ १२ ॥

इमा जयथा-

एणमादिमतिकेतो, परोक्कं ताहे संतऽसंतेणं ।  
 एमेव य पचक्कलं, जावे णाणं तु चउयजुओ ॥ १३ ॥

पण्यपरिदानीय एाहे मासलहुं पत्तो ताहे संतं परोक्कं  
 र्धो व भावो जाणियम्भो, म्रियाभियेति, जो य रय्यउज्जुत्तो  
 यो दर्शनीयः तेजसी वा स अत्तीकरणं करेति, रायउट्ठे  
 वा उवसमण्यठा वेरज्जे वा आत्मसंरक्षणायं विकररज्जे वा  
 संकमणटा रोहणे वा णिणामणठा अयमता वा मणहु  
 र्धो वा सद्धि अय्यं गच्छता बहुसु उप्पसियसु कारणेसु  
 एवमेव अणुऽवंती जसहुटा, वादकासे वा पवयणउज्जयणठा,  
 परिणीयस्स वा सासणहुटा अत्तीकतो वा जे णिक्कमज्ज, तव-  
 हुटा धम्मं वा पडिवज्जिउकामस्स धम्मोवदसदानठा कुलगणा-  
 दिकजेसु वा अण्येणसु ।

एतांहे कारणेहिं, अत्तीकराणं तु होति कायवर्णं ।

रायारक्खियणामार-एणम सच्चं वि एस गयो ॥

एतेहि उक्तराणेहिं वा र्धो अत्तीकरणं करेज्ज, रायाणं ओ रक्क-  
 ति सो रायारक्खिओ-राजशरिंररक्कः । तण्य वि सो वेव लुगरं  
 रक्कति ओ सो णगररक्खिओ-कोट्टयासमं । सत्वपगर्होओ जो  
 रक्कति सो णियमारक्खिओ-सो सेठं । हेत्तो विसमं, तं जो र-  
 क्कति सो देसारक्खिओ-वोरंउररणिः । एताणि सव्वाणि जे  
 रक्कति सो सव्वारक्खिओ । एतेषु सर्वकार्येष्वपुच्छनीयः स च,  
 महाभासाधिकनयेत्यर्थः । एतेसि पंचहर्ष सुत्ताणं इमं पच्छं अ-  
 हंसें करेति, रायारक्खियणारखेणमे सच्चं । अणिकाव्हाइसा-  
 रक्किंओ द्रष्टव्यः । एतेसु वि एसेव उवसण्णाऽववायगमो हृच्छो ।  
 नि० चू० ४ उ० ।

सुत्रपाउस्सेवम-

जे भिक्खु रायारक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइ-  
 ज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खु रायारक्खियं वा अत्तीकरेइ,  
 अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खु णियमर-  
 क्तियं वा अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥  
 जे भिक्खु सव्वारक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइ-  
 ज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खु गामरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्ती-  
 करंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खु देसरक्खियं अ-  
 त्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खु  
 सीमरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥  
 जे जिक्खु र्धो रक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ  
 ॥ १५ ॥ नि० चू० ४ उ० ।

अणुक्कुरिस-आत्तोत्कर्ष-पुं० । पज्जेमं गीयमोहनीयमैसि, स०  
 ५२ सम० । अहमेव सिक्कात्थायेंधेयं मापरः कश्चिन्मनुष्योऽ-  
 स्तीत्येयंरूपप्रभिमाने, "ण करेति दुक्कमोक्कं, उज्जममाणो वि  
 संजमतेवसु । तम्हा अणुक्कुरिसं, यजेयम्भो अजिज्जेणं" ॥११॥  
 ख० १ सु० १३ अ० ।

अणुक्कोसिय-आत्तोत्कर्षिक-पुं० । आत्तोत्कर्षोऽस्ति वेषां ते  
 आत्तोत्कर्षिकाः । गर्वप्रधानेषु वामप्रस्थेषु, झी० ।  
 अत्तोवणीय-आत्तोपनीत-न० । आत्तोपनीतस्तथा निवेदि-  
 तो नियोजितो यस्मिन्स्तथा । परमतद्वृषणयोषासे सति आत्म-

अन्वयार्थ

मत्स्यैव द्रुततयोपनायकं ज्ञानं, यथा पिङ्गलेनाऽऽत्मा । तधाहि-  
 कपामिदं तदागममेदं भविष्यतीति राज्ञा पृष्टः । पिङ्गलाभिधानः  
 स्वपतिर्योच्यते-नेदंस्थाने कपिसाविगुणं पुरुषं तिष्ठति स्मानीति ।  
 अनाथेन तु स एव तत्र तद्रूपत्वाशिक्षत इति । तेन आत्मेव नि-  
 युक्तः स्ववचनदोषात् । तदर्थं विषय आत्मेपनीतमिति । अत्रोदाहरणं  
 यथा-“ सर्वे तसत्वा न हस्तव्याः ” इत्यस्य पङ्क्तस्य दूषणाय क-  
 षिदादाह-अन्यधर्मस्थिता इतव्या विष्णुवयं दानवाः । इत्ये-  
 वेवादिनामात्मा इत्यन्यनपनीतो धर्मन्तरस्थितपुरुषाणामिति,  
 तदोपेता तु प्रतीतैवास्त्येति । स्या० ४ उ० ३ उ० ।

अन्वय-आद्ये-पु० । अर्थनमर्थः । अष्टष्टऽपि बलयादी भ्रुत्वा तद-  
 भिप्रायमात्रे, दश० १ अ० । विद्यापुर्वे घनाज्ञे, आ० म० द्वि० ।  
 अर्थेनऽभिप्रायतेऽर्थेते वा याक्यते बुद्धुःसुतिरित्यर्थः । व्याख्या-  
 ने, “जो सुखाभिप्रायो, सो अर्थो अत्रजय जम्ह ति” । स्या० २  
 उ० १ उ० । विशेष० । श्री० । “अथस्व इमे अणुभ्रामो ति वा  
 भ्रामो ति वा भासति वा विभासति वा घस्यति वा एमहा”  
 आ० ष० १ अ० । अर्थेऽस्त्विधा-सुखाभिप्रायः, दुःखिप्रायः, अन-  
 विप्रायश्च भोतारं प्रति भिद्यते । तत्र सुखाभिप्रायो यथा-चकुम्भ-  
 तश्चिक्रमनेपुणस्य रूपसिद्धिः । दुःखिप्रायमस्तु-अनिपुणस्य । अन-  
 विप्रायमस्तु-अन्यस्य । तत्रानविप्रायमरूपोऽयस्त्वेव । सुखाभिप्राय-  
 मस्तु-विश्विक्रमसाविषय एव न जयति । दुःखिप्रायमस्तु-देशका-  
 स्त्वेवमात्रविप्रकृष्टविश्विक्रमसाधोचरीभवति । आ० १० ४  
 अ० ३ उ० । अत्र-गौरी, अर्थेते गम्यते, ज्ञायत इत्यर्थः । विशेष० । सुत्रा-  
 निधिष्ये, उक्ता०, आ० प्रव० नि० षु०, आ० म० प्र० । पं० य० ।  
 दशा० । न० । ज्ञानाचारविषयमेदं यथायं पक्षाः करणायः, न-  
 त्वेतिभेदः । दशा० १ अ० । “(णा)गावार” शब्दे विशेषो वक्ष्यते।प०  
 ष० । नित्यं षु० । सूत्रताप्ये, ४०४ अ० । अर्थेते प्रार्थते इत्यर्थः ।  
 स्वर्गापवर्गप्राप्तिकारणभूते, उक्त० १८ अ० । इत्ये, आव० ४ अ० ।  
 भागिकककदा, कल्प० । शुद्धादेर्विषयभावेन परिणते इत्यस-  
 भूद, विशेष० । राजलक्ष्म्यादी, स्या० ३ उ० ३ उ० । आचू० ।  
 “स्थानचतुर्थोयं वा” । ॥ १० । ३३ । इति सन्धिस्यार्थज्ञास्य  
 उक्तं प्रयोजने एव जयति । धनं तु ‘अर्थो’ प्रा० । अर्थेते गम्यते,  
 साध्यत इत्यर्थः । स्वर्गाभिप्राये, “जो सुखाभिप्रायो, सो अ-  
 र्थो अत्रजय जम्हा” विशेष० । आ० म० प्र० । सुत्र० । य० । आ० ।

अधुना त्वार्थवसरस्तेभ्रमाह-

(धर्मो एमुवइहा), अर्थस्यम चउचिद्वेडो उ निरलेवो ।  
 आदेण उचिद्वइऽत्थो, चउसइविदो विजागेण ॥११॥  
 अर्थस्य चतुर्विधस्य निक्षेपो नामादिभेदात् । तत्रैवेन सामा-  
 न्यतः षड्विधोऽर्थः । आगमनेआगमभ्यनिरिक्तो ऽव्यार्थः चतु-  
 षड्विधिवो विभागेन विशेषणैति गाथासमुद्धार्यार्थः ।

अथवार्थं त्वाह-

धर्माणि रयण थावर-द्रुपय चउप्यय तहेव कुविअं च ।  
 आदेण उचिद्वइऽत्थो, एसो धीरोहं पन्नतो ॥ १६ ॥  
 धान्यानि यथादीनि, रत्नं सुवर्णं, स्थावरं द्रुमिगृहादि, द्वि-  
 पदं गन्धमादि, चतुष्पदं गमादि, तथैव कुण्डं च तात्रकलशाद्यंन-  
 कविष्यत् । आद्यंन षड्विधोऽर्थः, एषाऽन्तर्गतवित्त, धीरस्त्रीधे-  
 करमाणधैः, प्रह्लासः प्रकृतिव इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

एतमेव विभागोपार्थं भिषम्भराह-

चउदीसा चउदीसा, तिग दुग दग्हा अणेगविह एव ।

सर्वेसि पि इमेसि, विभागमहयं पवक्त्वापि ॥ १७ ॥

( चतुर्विधसिचतुर्विधसिती ) चतुर्विधसितीविधो धान्याद्यो, द-  
 न्नाथैश्च ( अत्रिदशधुपदा ) विविधः स्थावराद्यो, विविधो  
 द्विपदायः, दशविधश्चतुष्पदायः । अनेकविध एतैस्तेनकविधः  
 कुण्डायः सर्वेनामव्यार्थोयं चतुर्विधसिचतुर्विधसादिसंख्याजि-  
 हिनानां धान्यादीनां विभागं विशेषय, अधानन्तरं प्रवक्ष्यामी-  
 त्यर्थः ॥ १७ ॥ दश० ६ अ० । ( धान्यादीनां व्याख्या स्वस्थान-  
 नं दर्शयिष्यते ) “ अर्थांतामज्ञेते तु-समाज्ञितानां च रक्षणम् ।  
 आर्थं दृक् व्यर्थं दुःखं, विद्यार्थं दुःकारणम् ॥ १ ॥ ” स्या०  
 ३ उ० ३ उ० । ‘धियदस्यं दुःखद्वैतम्’ । दश० १ अ० । ‘धियर्था-  
 ऽनर्थं नाजन्म’ इति वा पाठान्तरम् । घ० ३ अर्थि० ।

इदानीमर्थे इति तृतीयं भेदं प्रकटयिषुराह-

सयज्ञाण्त्व्यानिपिचं, आयासाकिस्तेसकारणमसारं ।  
 नाऊण एणं धंमं नहु लुण्डं ताम्मि तणुयामि ॥६३॥  
 इह धने ज्ञात्वा तत्र न सुदयतीति योगः । किं विशेषं चरम-  
 सफलानर्थनिमित्तं समस्तदुःखनिवधनम् । आयासाश्चसंबंदः ।

यथा-

“राजा रोन्वति किं तु मे हनयदो दग्धा किमंतकमे,  
 किं धाम्मं प्रतियण्यः कृतीनेन लास्यन्वदा गोत्रिकाः ।  
 मांयप्यान्वित्तं तस्यैवः किमु तथा नथा निम्बानं द्रुवि,  
 ध्यायन्नैवमहादंयं धनयुतोऽप्यास्मन्तरो दुस्वितः ॥ १ ॥  
 तथा क्रेशः शरीरपरिभ्रमस्तयोः कारणं निवधनम् । तथाहि-  
 “अर्थार्थं नरकचक्रकुलजलनिवर्षं केचिदुद्धरन्ति,  
 प्राथम्यलक्ष्मिनिप्रातेऽपिथितशिक्षिकणक ज्ञेयमन्ये विशान्ति,  
 धीनोष्णात्मःसमीरस्यगिततनुजनाः श्रेष्ठिकां कुयेनऽप्ये,  
 शिष्टे चान्तल्पेदं विदधन्ति च परे नाटकं च केचित् ॥ २ ॥  
 तथा असारं, सारफलांशपानात् । यदाह-

“ध्याधोश्रो निदलादि मृत्युजननयानि-कृयेन क्रमं,  
 नेष्टाऽनिष्टवियोगयोगाहृतिरुक्तस्यैव न च प्रत्ये च ।  
 विन्तावन्धुविशेषवधनवधनासाऽऽप्यदं प्रायशो,  
 विचं विचाविचक्षणः तसामपि क्षमावहं नैकोत् ॥ ३ ॥  
 इत्थं भूतं धनं ज्ञात्वा, न लुप्यति नैव गृह्णाति, धीमान् बुद्धि-  
 माय, ताम्भ्ये द्रव्ये, चारुदक्षवत् तनुकाम्यं स्तोकापि आस्मानं  
 बह्वित्येपर्यर्थः । भावभावको हि नान्यायंन तदुपाज्जनाय  
 प्रवर्तते, नाप्युपाज्जितं तुष्णावान् भवति, किं तदिह-  
 “आयाददं निरुज्जात, धर्मं समर्थिकं ततः ।  
 शेषेण शेषं कुर्वति, यत्नतस्तुच्छमहेकम् ॥ १ ॥

इति विमृशद् यथायोगं तत्समवेद्योऽर्थं व्ययतीति । घ० २० ।  
 अर्थ्येते परिच्छिद्यते इति अर्थः । पदायं, “सदेव सत् स्यात्स-  
 दिति त्रिधाऽर्थो, मांयेत दुर्नीतनयप्रमासोः” । स्या० । अर्थ्यं  
 इत्यर्थः । द्रव्ये, गुणे च, “अर्थो द्रव्यं गुणो वा वि” उक्त० १ अ० ।  
 पुरुषार्थभेद, यतो हि सधेयमोज्जनासिद्धिः । घ० १ अर्थि० । प्रयो-  
 जने, “स्थानचतुर्थोयं वा” ॥ १० । ३३ ॥ इति [हिसम्भ] ठवमार्थं  
 कदाचिन्न भवति । “अणुगहर्षं सुविहितयास्य” इत्येव प्रयो-  
 जनायं कथ्येनैवाऽर्थशब्दस्य व्याख्यानात् । आ० १ । आ० १ । घ० ।  
 “अर्था ति वा हे उ ति वा कारण ति वा एमहा” निष्क० २० ३ उ० ।

अत्य

साम्प्रतं धर्मादीनामेव संप्रजतासंपन्नते अभिधित्पुराह-  
धर्मो अत्यो कामो, भिन्ने ते पिडिया पडिसवसा ।

जिणवययं ठत्तिष्ठा, अद्दसत्ता ह्वीति नायव्वा ॥११६॥

धर्मोऽर्थः कामः, यद्य एते पिण्डता युगपरस्संपातेन प्रति-  
सप्तलाः परस्परविरोधिनः, लोकैः कुप्रवचनेषु च । यथो-  
क्तम् "अर्थस्य मूलं निष्कृतिः समा च, कामस्य चिन्तं च बहुषु-  
बद्ध । धर्मस्य दानं च दया दमश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः  
क्रियायुः" ॥ १ ॥ इत्यादि । एते च परस्परविरोधिनोऽपि सन्तो  
जिनप्रवचनमयतीर्थाः, ततः कुशलाशययोगतो व्यवहारेण  
धर्मादितत्त्वस्यैकपतो वा निश्चयेन असप्तलाः परस्परविरोधि-  
नो न भवन्ति, ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

तत्र व्यवहारेणाधिगेधमाह-

जिणवययस्मि परिणय, अनत्यविहिआणुआणुओ धम्मो ।  
सच्छाऽऽयप्ययोगा, अत्यो वीसंभन्नो कामो ॥ १० ॥

जिनवचने यथावत् परिणये सति अयस्योचितविहितानुष्ठा-  
नात् स्वयंयत्नामपेक्ष्य दर्शनादिभावकप्रतिमाङ्गान्कारण-  
निरतिचारपालनाद्भवति धर्मः । स्वच्छाऽऽयप्रयोगाद्विशि-  
ष्टलोकनः पुण्यपलाच्छायाः विश्रमन्त उचितकलत्राङ्गीकर-  
णताऽपेक्षा विषम्येण काम इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अधुना निश्चयेनाविरोधमाह-

धम्मसम फसं भोक्खो, सामपमउलं सिवं अणावाहं ।  
तमधिप्येया माहू, तम्हा धम्मऽत्यकाम चि ॥ ३१ ॥  
धर्मस्य निरतिचारस्य, फलं मोक्षो निर्वाणम् किं विशिष्टम् ?  
इत्याह-श्रावते नित्यम्, अधुनामन्यतुल्यम्, शिवं पवित्रम्, अ-  
नावायं वापावर्जितमेतदेशार्थः ॥ धर्मोऽर्थो मोक्षमभिप्रेताः काम-  
यन्तः साधवो यस्मान्प्रस्माङ्गार्थीयकामा इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥  
एतदेव हृदयवाह-

परसोममुत्तिमगो, नत्थि हु मोक्खो चि र्विंति अविहिन्नु ।  
सो अत्थि अविहो जिण-मयस्मि पवरो न अत्थत्था ॥ ३२ ॥

परसोकां जन्मान्तरलक्षणो, मुक्तिमार्गो, ज्ञानदर्शनचरित्राणि  
नास्त्वैव मोक्षः सर्वकर्मफलत्रय इत्येवं भ्रुवते लब्धिज्ञा-  
न्यायमार्गोऽवेदितः । अत्रोच्यते-स परसोकादिः अस्यैवा-  
वितथः सत्यो, जिनमते चीनरागवचने प्रवः पूर्वोपारविरो-  
धेन; नाथयैकान्तानिवादी, हिंसादिविरोधादिति गाथार्थः  
॥ ३३ ॥ दश० ६ अ० ।

अस्त-पुं० मेरी, यतस्तेनात्मारितो रोबेरसंगत इति स्वपदि-  
श्यते । स० ३१ सम० निरस्ते अविद्यमाने, चि० हा० १३ अ०  
अज्ञ-न० । अस्यते क्षिप्यते । अस्-ध्रुव । सेव्ये शरादी,  
वाच० । धनुरादिषु, च० २ अवि० । रिपुषेयसामने साधने,  
प्रहरणमात्रे अहगावापि, वाच० ।

अत्यअवयम-अर्थोऽवयम-पुं० ६१ त० अर्थपरिच्छेदे, दश० १ अ० ।

अत्यंगय-अस्तंभत-चि० । अस्तपर्वतं प्राप्ते, दश० ८ अ० ।

अत्यंतर-अर्थान्तर-न० । वस्तुवन्तरे, यो १६ विब० पृथग्भूते,  
दश० । नामाध्यामिदृशतेऽसत्यमेवे, च० १ अवि० । न्यायमते  
हृदयसिद्धयै प्रयुक्तस्य सामर्थ्यादितुद्वेषसिद्धयुक्तमेव दृष्ट-  
साधनवाक्ये, वाच० ।

अत्यंतकृपावाशा-अर्थान्तराद्भवाना-की० । अतीकृपचचन-  
भेदे, यथेश्वरादिः कर्त्ता समस्तस्यास्य जगतः क्रोधादिक-  
वायाऽऽभ्यातवेतसः प्रकृपचपापस्य । दश० ।

अत्यकविय-अर्थकाङ्क्षित-चि० । काङ्क्षा युक्तिः, आसक्तिरित्य-  
र्थः । अर्थे द्रव्ये काङ्क्षा अर्थकङ्क्षा, सा संज्ञता अस्येति अर्थका-  
ङ्क्षितः । म० १ श० उ० । प्राप्तेऽप्यर्थे अविच्छिन्ने, म० १३  
श० ६ उ० ।

अत्यकप्य-अर्थकदिप्य-पुं० । भावइत्यदिश्रुतमधीतवति, पुं०  
अर्थकदित्यकमाह-

अत्यस्स कपिणो खलु, अवास्सगमादि जाव मय्यमरं ।  
पोषणं ज्ञेयमुचं, जेण अरीयं तदत्थस्स ॥

आवश्यकमादि कृत्वा यावत् सुप्रकृतमङ्गं तावत्, यद् येना-  
धीतं स तस्यार्थस्य कल्पिको भवति । सुप्रकृताङ्गस्वोपर्येपि ज्ञे-  
दृष्टं मुक्त्वा यद् येनाधीतं स्र्त्वं स तस्य सुप्रस्य सप्तत्यस्य  
प्यर्थस्य कल्पिको भवति । ज्ञेयपुत्राणि पुत्रः पठितानपि याव-  
दुपरिणतं, तावन्न आश्रयते, यदा तु परिणतं भवति तदा क-  
ल्पिकः ॥ ७ ॥ दृ० १ उ० ।

अत्यकय-अर्थकृत्-की० । अर्थार्थे, "आसणत्वात् च अत्यकय"  
दश० ६ अ० ।

अत्यकर-अर्थकर-पुं० । अर्थस्य करस्तकरणशीलेऽर्थकरः ।  
प्रशस्तविश्विकर्मकृत्योपशामातिभोवतो विद्यापूर्वे धनार्जनकर-  
णशीले, धा० म० हि० ।

अत्यकहा-अर्थकथा-की० । अर्थस्य कथा लक्ष्म्या उपायप्रति-  
पादनपरे वाक्यप्रश्नचालके कथाभेदे, उक्तं च-"सामादि-  
धातुवादादि-कृत्वादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा, कथाऽर्थ-  
स्य प्रकीर्तिता" ॥ १ ॥ तथा-"अर्थव्यः पुत्रवर्षाऽर्थं, प्रधानः  
प्रतिभासते । नृणावपि लघुं लोके, धिगर्थोऽर्थात् नरम्" ॥ इति  
एतदेव विस्तरत उक्तम् ।

अधुनाऽर्थकथामाह-

विज्जासिप्यमुवाओ, अण्डिओ संचओ य दक्खत्तं ।

सामं दंदो भेओ, उवप्यपाणं च अत्यकहा ॥ १६५ ॥

विद्या सिप्यमुपायोऽनिवेदः संक्षयश्च दृक्त्वं साम इत्ये-  
भेद उपमदानं आर्थकथा, अर्थप्रधानत्वादित्यङ्गयोः । प्राव-  
येस्तु बुद्धिब्रह्मादवसंयः । तदर्थम्-"विज्जा पदुक्खअथक-  
हा; जो विज्जाए अत्थं उवउपयति; जहा-पणेण विज्जा सा-  
हिया, सा तस्स पंचयं पइपजायं देह । जहा वा-सवइस्स  
विज्जाइरक्खक्कहिस्स विज्जापजायेण प्रोमा उवणया । सवइ-  
स्स उवपसी जहा य सङ्कुले वणितो, जहा य भइसेरो नामं  
कयं । एवं निरवसेत्तं जहाऽऽवस्सए जोगसंवेदिहू, तहा भाणिय-  
व्वं । विज्जा सि गयं । इयाणि सिप्ये सि । सिप्येणऽथो वञ्जि-  
याइ सि । एत्थ उवाहरणं कौक्कासो जहाऽऽवस्सए । सवइ-  
स्सए सि गयं । इयाणि सिप्ये सि । एत्थ दिट्तो वाणको । जिण-आण-  
केण बहुविहोई अयो उवउज्जयो । कटं, दो मज्जावरत्ताओ ।  
पयं पि अक्काणयं जहाऽऽवस्सए तहा भाणियव्वं । उवाय सि  
गयं । इयाणि आणियेए संचए व प्कयेव उवाहरणं-अमणव-  
णिओ । सो पि जहाऽऽवस्सए, तहा भाणियव्वं" (अप्रतनं तु  
"वृक्ष" शब्दे वच्यते । दश० ३ अ० । विद्यादिभिरभ्यस्तप्याना  
कथा अर्थकथा । सदसत्यकमेव वस्तुसर्वकथामिति पदार्थ-  
संचयिन्या वर्तव्याम्, स्या० ॥



अत्यकामय-अर्थकाम-नि० । अर्थं द्रव्यं कामो वाङ्मार्गं च-  
ख्याऽसावर्थकामः । इत्ययं वाङ्मके, ज० १ श० ७ उ० ।

अत्यक्रियार्या-अर्थक्रिया-शी० । सुकृत्यःशोपमोते, ख्या० ।

अत्यक्रियाकारि [ ञ ]-अर्थक्रियाकारिन्-नि० । अर्थक्रि-  
याकरवशीक्षे, भा० म० श्लि० ॥

अत्यकुसल-अर्थकुशल-रुं० यथोपाजंनं हस्तनाघवाविप-  
रित्यागेन कुर्वति, दश० ४ अ० ४० २० ।

अत्यत्यर्थकुशल इति द्वितीयं भेदं व्याचिख्यासुगीयापूर्वादेव्य  
श्रित्तीयं पादमाह-

....., सुप्रहृ तयत्वं तद्वा सुमित्यस्मि ।

कुपोत्याकर्णयति, तदर्थं सुप्रार्थ, तथा तेनैव प्रकारेण स्वर्-  
मिकौचित्यरूपेण, सुगीयं सुगुरुमूलं । यत आह-

“तिर्ये सुप्रार्थार्थं, गदणं विदिणा उ इत्य तिर्यमिणं ।  
उभयन्तुं खेव गुरु, विदिभो विद्ययाह भोषितो” ॥१॥ इत्यादि ।  
अत्यमहाशय-आविमदपुत्रवत् संविभ्यगीतायं गुरुसमीपभ-  
वणसमुपपन्नप्रवचनार्थकौशलेन प्राधभावकंण भाव्यमिति ।

आविमदपुत्रकथा चैवम-

“इत्येव अंबुदीवे, भारद्वाजसस्स मज्जिमे खंने ।  
अत्थि पुटी आलभिया, न कथा वि अरीहि आलभिया ॥१॥

सुगुरुणसायवहस्यसिय-विमलवदुवयणअत्यकोसज्जो ।  
इसिभदपुत्रनामो, सज्जो तत्पासि सुवियुद्धो ॥ २ ॥

अत्रे वि तथ्य नियसे-ति सावया प्रायया सुददधम्या ।  
इसिजसुभ्रो करया, वि तेहि मिलिप्येहि इय पुठो ॥ ३ ॥

जो भो देवात्पुपिया । देवान तिरे कहेसु अय्याहण ।  
सो वि तु पवयणमणिय-पयसयकुसलो वि इय जणह ॥ ४ ॥

असुरां नामा २ विजु, ३ सुवज्जुप अमरी उ वा उ दयाणिया उ या  
उदही उ वीव ६ विसा वि य, १० वसहा इह हुंति जवणवर्षे ॥५॥

पिसाये १ लूया २ अक्काय, ३ कल्लस ४ किनरा यक्षिपुरिसा ६ ।  
महोरणा य उ गंधग्वा उ, अद्दविहा वाणमंतरिया ॥६॥

सालिं र वि २ गह ३ नक्कला, तारा ५ जोरसिय पंक्का देवा ।  
वेमाणिया य दुविहा, कल्पया कल्प उतीया य ॥ ७ ॥

तत्र कल्पगताः-

सोदमी-१-स्वाण २ सण-कुमार ३ माहिद् ४ धंज ५ संतगया ६ ।  
सुक ७ सहस्तराकाणय, ८ गणय ९ आरय १० अरय ११ अकचुपज्जा १२ वा ।

कल्पतीतास्त्रिये-

सुवतरिण १ सुपुववर्षं २, मणोरमं ३ स्ववभद् ४ सुविसासं ५ ।  
सोमणसं ६ सोमाणस ७, पीडकरं खेव ८ नेदिकरं ९ ॥ ६ ॥

विजयं व १ वेजयंतं, २ जयंतं ३ अपराजियं ४ सवणं ५ ।  
यपसु अ गया ते, कप्पाय्या गुणयव्वा ॥ १० ॥

अमरवीक्ष अवर महियं, विवहृपलियं तु लसजन्माणं ।  
आरं दो देवुणं, तारापलियं वणयराणं ॥ ११ ॥

सालियं वासरसकं, वासरसदस्सं च पलिय मत्तं च ।  
खडमागो य कमणं, ससिरपिगइरिक्कलापारणं ॥ १२ ॥

दो १ सादि २ सत ३ सादिहय ४, ५ ध ६ ध उ ७ द सत ८ अयर जा सुकोर  
पक्किा उरिगतदुवरी-तितीस अणुपारेसु परं ॥ १३ ॥

इसवरिससहस्सारे, जवणवर्षं तिरे अइकाओ ।

पल्लवउप्रागो चंवा-इवत्तु तारेसु अरमागो ॥ १४ ॥  
पलियं १ सादिहय २ दो अवर ३, सादिहा ४ सत ५ सवय ६ चउदस ७ ।  
सतरस उ अ सहस्सारे, तदुवरी इग अरयसुहि ति ॥ १५ ॥

नीह अणुकोसठिरे, अयरा तितीस हुंति सव्यंठे ।  
एतो परेण देवा, देवाण तिरे य विजिउद्धे ॥ १६ ॥

इसिजपुत्रकदियं इणमठं, सुदुहियं पि ते सक्का ।  
सव्वे असइहाता, नियनियगेहेसु संपत्ता ॥ १७ ॥

सुपभूयभिसिआह-यवपरुदयवहसुसमुदमो ।  
अइ तथ्य वीरसामी, सामीयरसमपहो पचो ॥ १८ ॥

सिरिपवयणउत्थप्यण-पुव्वं जयता य पायमणत्थं ।  
इसिजपुत्रसहिया, ते सव्वे सावया पत्ता ॥ १९ ॥

काउं पवाहि गतिं, सुभसिजुत्ता नमिउ ते सामि ।  
निसियंति उचियेसे, इय धम्मं कइइ नुवणगुक् ॥ २० ॥

भो जणिया । अइउल्लहं, नरजम्मं लहिय उअमह सवयं ।  
अन्नायु इणणत्थं, पवयणमणियथकासज्जं ॥ २१ ॥

इय आर्यभियधम्मं, ते सज्जा विनवंति जयपइसुणो ।  
तं देवपिडविसिसे, सव्वं इसिभइसुयकदियं ॥ २२ ॥

तो संसह संसवरे-पुउउदरेण समीरणो सामि ।  
भो अहा । देवतिरं, पमेव अहं वि जणेमि ॥ २३ ॥

इय सोउं ते सज्जा, इसिजदसुयं सुयत्थकुसलकाइ ।  
आमितु नमितु एहं ते, संपत्ता नियनियगिरेसु ॥ २४ ॥

इयरो वि चंदिय जिणं, पुत्थियेविसाहं एसिगहसपुपवो ।  
वरकमसुव्वं पइ वि उ, अन्नायु सुयासप भापेण ॥ २५ ॥

सम्म इसिभइसुत्ता, विरकालं पालिकण गिहियम्मं ।  
कयमासमसयाओ, जाओ सोहम्मसमगुरो ॥ २६ ॥

अरुणां प विमाणो, चउपलियायं तइ सुहं उणुणु ।  
चविय विदेहं पवयण-कुसलां दोउं सिचं गमिदं ॥ २७ ॥

एवं निशम्य सव्यं, अय्याः ॥ आविमदपुत्रसुचरित्रम् ।  
अवत प्रवतापुत्रकथा, कुशलधियाः प्रवचनार्थेयु ॥ २८ ॥

इति आविमदपुत्रकथा । अत्युक्तः प्रवचनकुशलकस्य अर्थकुशल  
इति द्वितीयो भेदः । घ० २० ।

अत्यक्त-अक्काएद-म० । प्राकृते-“ गोगाह्यः ” ॥ टा २ उ ४ ॥  
इति अथक्कादेवाः । अनवसरे, मा० ६० मा० ।

अत्यक्तजाया-अक्काएदयाच्चा-शी० । अकालप्रार्थनायाम्,  
वृ० ३ उ० ।

अत्यगवेसि ( ञ )-अर्थगवेसिन्-नि० । कस्यान्वेवणकृति,  
म० १५ श० १ उ० ।

अत्यग्गहा-अर्थग्रहण-म० । अर्थपरिहाने, व्य० ७ उ० ।  
अर्थनिश्चयकरणे,  
अर्थार्थग्रहणद्वारं विवरौपुराह-

सुत्तस्मि य गहियम्मी, दिट्ठतो गोए-सासिकरणेणं ।  
उवभोगफलासादीं, सुचं पुण अत्यकरणेणं ॥ १ ॥

सूत्रे ष्ठीते सति अथयं सत्कार्यं श्रोतव्यः । किं कारणमिति  
चेदुच्यते-दृष्टान्तोऽत्र नया बहोवदेन, ग्राहिकेनेन । तत्र गौहृ-  
न्तो यथा-कश्चिद्दलीभेदेः सकलमपि विवचं वाहयित्वा इलाह-  
कषट्कामुकः सन् सुन्दरमसुन्दरां वा स्त्रीयं प्राप्नोति, तां स-  
वांमनात्स्वहृदं चरन्त्येव । पश्चाद् प्रातः सन् उच्यतेव्य प्राक् षीर्थे

रोमन्धाभ्यते, रोमन्धावयमानश्च तदास्वाद्यसुपलजते । ततोऽसौ नीरस्सं कचचरं परित्यजति । एवमयमार्थं शुद्धवासारकचङ्गा-मुक्तः प्रथमं परिक्रमपि सूत्रं चारिकरुपं गुरुसकाशाद्यधिगच्छति, तत्सन्धेयथास्वाद्यनविवरहितं शुद्धहति, ततः सूत्रं शुद्धीते अर्थप्रदणं करोति । यदि पुनरर्थं न शुद्धीयान् तदा तत्सूत्रं निरास्वाद्यमेव संजायते; अर्थे तु श्रुते सम्पद्यते तदर्थमेवमुक्त्यमानः सन्नसौ यथावद्व्यधारयत्युपदेशं, परिहरति विन्दुमात्रनिर्देशादीषुदुष्टान् कचचरकल्पनाजिज्ञासापानति । शास्त्रिकरुणदृष्टान्तः पुनरयम । यथा-कथं कः शास्त्रीन् महता परिश्रमेण निष्पाद्य ततो लयनमसन्नपवनादिप्रक्रियापुरस्सरं काष्ठगारं प्रक्रियन् यदि तैः शास्त्रिनः साधुपयादीनामुपजागं न करोति, ततः शास्त्रिसंप्रदः तस्याफलः संपद्यते । अथासौ करोति तैः शास्त्रिमियथावामुपजागं ततः शास्त्रिसंप्रदः सफलः जायते । एवं द्वादशवर्षाधिकं सूत्राध्ययने परिश्रमे कृतेऽपि यदि तदीयमर्थं न शृणुयात्तदा स स्वार्थेऽपि परिश्रमो निष्फल एव भवेत् । अर्थे तु श्रुते मन्मथगवधारिते च सफलः स्यात्, अत एवाह-उपभोग्यफलाः शालयः, सूत्रं पुनरर्थकणफलम् । अरणकरणादिरूपमन्मथार्याचरणान्दिरूपस्तदयो चरणफलं, तच्च सूत्रोक्तार्थाचरणं श्रुत एवार्थं भवति, नात्यथा ।

अतः-

जडं वारमवासार्थं, मुचं महर्षिं सुणाहि से अहृणो ।

वारस चैव समात्रां, अत्यं तो नाहिंस नवा एं ॥३॥

यदि द्वादशवर्षाणि त्वया सूत्रं शुद्धीतम्, अतस्तस्य सूत्रार्थं मधुना द्वादशैव समा वर्षाणि शृणु । ततोऽपि शृणुवन् स्वज्ञानाकारकमन्त्रयोपशमानुसारंणं ज्ञान्मयि वा, न वा ( श्मिन्ति ) तं विचक्षितमर्थम् ( षु० ) किंच-सन्नाम्नादीन्मन्त्रकविधारिणः सन्ति । इत्यमनेकधा सूत्राणां संभवे तदर्थेअवयमन्तरंण न शक्यते कीदृशमिति विवेकं कर्तुम्, इति कर्तव्यमर्थ-प्रहणम् । अथ ते शिष्या ब्रूयुः-यः कण्ठतः सूत्रं निबद्धोऽर्थस्यनैव वयं नुष्टाः, किमस्माकं दुरधिगमत्वाद्द्वादशपरिक्लेशेन " मज्जण णिसणज्ज अकम्भा " इत्यादिप्रक्रियापुरस्सरमर्थ-प्रहणप्रयासेनेति । एते इत्थं ब्रुवाणाः प्रभाषयितव्याः । कथमित्याह-

जे सुचगुणा खलु ल-क्वणामि कट्टिया उ सुत्तमार्थे य ।

अत्यग्हाद्यमराज्ञा, तद्धि चिय पप्पविज्जंति ॥

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः ' निहोसं सारवंतं च ' इत्यादिना कथिताः यद्वा-(सुत्तमार्थे य णि) " सुत्तं तु सुत्तमेव च " इत्यादिना प्रतिपादिताः, तैरेव हेतुभिर्द्वयप्रहणं मराला अल्लसाः शिष्याः प्रहाष्यन्ते । यथा-भो अहः! निर्दोष-सारवद्विभक्तोमुक्ताद्यः सूत्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथा-विधि गुरुमुक्ताद्यर्थं श्रयमाण एव प्रकटीभवन्ति । किंच-यथा-द्वास्तस्यतिलकापरिच्छितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन्न किञ्चित्सासां कलामां जानीयते । एवं सूत्रमप्यर्थेनाश्रितं सुममिष द्रष्टव्यम् । विचित्रार्थनिबद्धानि सांप्रकाराणि च सूत्राणि भवन्ति । अतो गुरुसंप्रदायादेव यथावत्त्वत्संयते न यतस्तत इत्थं युक्ति-युक्तैर्बोधिभिः प्रभाषितास्ते विनयाः प्रतिपद्यन्ते-गुरुणामुपदेशं शृणुहति द्वादशवर्षाणि विधिष्ववश्यम् । इति गतमर्थप्रहण-द्वारम् ॥ षु० १ उ० ।

अत्यजाय-अर्थज्ञान-न० । द्रव्यप्रकारे, पञ्च० १० चिब० ।

अत्ययुक्ति-अर्थयुक्ति-स्त्री० । हेयंतरकूपार्थोऽज्ञानायाम्, दश० ५ अ० १ उ० ।

अत्यजोशि-अर्थयोनि-स्त्री० । अर्थस्य योनिरर्थयोनिः । राजलक्ष्यादिरूपार्थं, "तिविहा अत्यजोशी पञ्चसा । तं जहा-सामे, दंडे, भेप " सामदण्डादीनामन्वय स्वकल्पम् । स्था० ३ टा० ३ उ० ।

अत्यया-अर्थेन-न० । ज्ञानार्थं परस्याऽऽवार्थस्य पार्थेऽवस्थाया ज्ञानादियुगाजने, उक्त० २६ अ० ।

अत्यणय-अर्थेनय-पुं० । अर्थेनिरूपणप्रवृत्तत्वाद्धेनयः स्यात् । रत्ना० । मुखवृत्त्या जीवाद्यर्थेसमाभयणत्वात् । आ० म० ह्रि० । यथाकथाच्छब्दा एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वादर्थेनयः । अनु० । यो ह्यर्थमाभित्य वक्तृस्यसंप्रदह्यवहारसुभाष्यप्रत्ययः प्रादुर्भवति साऽर्थेनयः । अर्थवशेन तदुत्पत्तेः । अर्थप्रधानतयाऽऽसौ व्यक्त्वापयतीति । सम्म० । अर्थमेव प्राधान्येन शब्दोपसर्जनमिच्छति । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अत्यप्यवरं सदा, सदाएव वत्युज्जुत्तंता ॥

अजुनुशान्ताभ्यवारां नया वस्तु भवते प्रतिपाद्यन्ति । कथं भूतम् ? इत्याह-अर्थप्रवरं शब्दोपसर्जनम् । अथवा अर्थप्रवरं-प्रधानभूतो मुखोऽर्थो यत्र तदर्थप्रवरम् । शब्द उपसर्जनमप्रधानभूतो गौणो यत्र तच्छब्दोपसर्जनम् । शेषास्तु शब्दाद्यस्त्वयो व्यस्यमिच्छन्ति । विशे० ।

अतश्शाण-अर्थज्ञान-पुं० । अर्थिधियावधाधे, पञ्च० १२ चिब० ॥

अत्यणिकर-अर्थनि ( कुर ) पूर-न० । चतुरशीतिलसंयुक्ति-तेऽर्थनिरूपाङ्क, अनु० ।

अत्यणिकरंग-अर्थनिरूपाङ्क ( निकुराङ्क )-न० । चतुरशी-तिलसंयुक्तिं नालिन, अनु० । स्था० । जी० ।

अत्यणिजावणा-अर्थनिर्यापणा-स्त्री० । अर्थः सूत्राभिधेयं वस्तु, तस्य निरिति भूशे, यापना निर्वारणा, पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्यथा च कथनतो निर्गमतो निर्यापणा । वाचनानसंपदभेदे, उक्त० १ अ० ।

अर्थस्य निर्यापणामाह-

निजवगो अत्यस्स य, जो उ वियाणाइ अत्य सुत्तस्स ।

अत्येण वि निव्वहति, अत्यं पि कहेइ जं जणियं ॥

अर्थस्य निर्यापक इति यद्वर्णितं तस्यायमर्थः-यो नाम सूत्र-स्यार्थं कथ्यमानं विज्ञानानि । यदि वा-अर्थेन निर्वहति-अर्थो-वधारणबलेन सूत्रपाठे निर्वहमुपयाति, तस्यायमर्थं कथयति, आस्तां सूत्रं ददातीत्यपिशब्दाद्यैः । व्य० १० उ० ।

अत्याणियय-अर्थेनियत-वि० । अर्थेनियतने, सम्म० ॥

अत्यत्यत्र-अर्थार्थिन-वि० । अर्थेमर्थयते इति अर्थार्थी । द्र-व्यप्रयोजने, अ० १५ श्रु० १ उ० । औ० । ज्ञा० । जं० ।

अत्यदं-अर्थदं-पुं० । शरीरार्थेदं, प्रअ० ५ सम्ब० ह्रा० ।

अत्यदाधि ( ष )-अर्थदायिन-वि० । सूत्राभिधेयप्रवातरि,

अत्यदायि ( कृ )

अभिधानाजन्तः ।

अत्यमाणा

“ काठं पणमं च अत्यदायिस्वत् परजुष्यकमासमणस्वत् ”  
नि० कृ० १ उ० ।

अत्यधमकजासासुवयेत्-अर्थधर्मात्प्रासानपेतत्वं-न०। अ-  
र्थधर्मप्रतिबन्धताकृते सत्यबन्धनातिशये, क्री०। रा०।

अत्यधर-अर्थधर-पुं०। अर्थधरोक्ति, स्वार्थ० ४ उ० १ उ०।  
“ सुहृत्तरा अत्यधरो, अत्यधराभ्रा होह तज्जयधरो ”  
भा० म० प्र०।

अत्यधजप-अर्थधर्मात्-पुं०। अर्थकदेशप्रतिपादकेषु पर्या-  
येषु, अर्थकषेषु पर्यायेषु च। विशेष०। अर्थविषयं पर्येत्यवगच्छ-  
ति यः सोऽर्थपर्यायः। इहानुतापेऽप्राहकत्वे, सम्म०।

अत्यधविवाचि-अर्थप्रतिपात्ति-क्री०। अर्थावबोधे, “ नि-  
याभास्तार्थं जन्ते, समाणस्य। इति अत्यधविवाचि ”। विशेष०।

अत्यधय-अर्थपद-न०। उत्पादक्यप्रतीत्ययुक्तं, सादित्यादिवद-  
र्थप्रधाने पदे, विशेष०।

अत्यधविवासिय-अर्थविवासित-त्रि०। विवासय विवासा- प्रा-  
प्तेऽर्थेऽनुतिः। अर्थे अर्थस्य वा विवासा संज्ञाना अर्थस्येति  
अर्थविवासितः। तं०। अभासाद्यविषयसंज्ञानुत्पन्ने, म० १५  
श० १ उ०।

अत्यधुरिस-अर्थपुरुष-पुं०। अर्थाज्जनन्यापरत्वे पुरुषभेदे, यथा-  
ममन्यायुक्तं। का० म० द्वि०। का० कृ०।

अत्यधुदुत्त-अर्थपुण्यदत्त-न०। “ अर्थो सुखस्व विषयो, ततो  
जिज्ञं सुयं पुरुहं ति” अर्थः किमुच्यते?, इत्याह-अनस्य विषयो  
विषयः, तस्मात्कार्थार्थकथाऽद्भुत् निभत्वात्पुं पुरुच्यते। प्रा-  
कृतत्वात्तदेव पुरुकत्वम्। सुभाषितश्लोकाभयपत्रे श्रुतान्ते अ-  
र्थस्य पुरुकत्वम्। श्रुतज्ञाने तस्य अर्थपुरुकत्वसंज्ञितत्वात्।  
“ अत्याभ्रा य बुद्धसं, जस्वत् तत्रा वा पुरुशर्भो जस्वत् ” अर्था-  
त्पुरुकत्वं कथञ्चिद् भेदो यस्य तदर्थपुरुकत्वम्। स चार्थः पृ-  
थक्त्वः पार्थक्येन भेदेन वर्तते यस्य तदर्थपुरुकत्वम्। श्रुत-  
ज्ञाने, “ ते धंविठण सिरसस, अत्यधुदुत्तस्व तेहि काहियस्स।  
सुयणाणस्व भवयसो, णिउत्तंवि कित्थस्सामि ” विशेष०।  
आ० म०।

अत्यधुदुत्त-अर्थपुण्यदत्त-न०। “ अर्थस्य व पितृभायो, पुहुत्त-  
मध्यस्य विचरन्ते ति ” पृथु सामान्येन विस्तार्यमुच्यते, तस्य  
भावः पुण्यत्वम्। अर्थस्य पुण्यत्वमर्थपुण्यत्वम्। जीवार्थायविस्त-  
रात्मकं श्रुतज्ञानं, श्रुतज्ञानमात्रं च। स्वार्थपुण्यत्वसंज्ञितत्वात्।  
“ जं वा अत्येण पुहुत्त, अत्यधुदुत्तं ति तभाभा । ” अर्थेन पुण्य  
विस्तार्यमर्थपुण्यदत्तं। तदुभायोऽर्थपूर्वजायः-अर्थपुण्यत्वम्; ध-  
र्मधर्मिणोरभेदापत्कारणात्। श्रुतज्ञानं, “ अत्यधुदुत्तस्व तेहि  
काहियस्स ”। विशेष०।

अत्यधोरिसि-अर्थधैरुष-क्री०। अर्थप्रतिबन्धायां धै-  
रुष्याम्, ध० ३ अर्थि०। “ अत्यधोरिसि ण जन्ते, मास्सहुं ”  
नि० कृ० १ उ०।

अत्यधवर-अर्थधवर-त्रि०। अर्थः प्रवरो यत्र तदर्थप्रवरम्।  
सुवचार्थकं वस्तुनि, यस्य (ह वस्तुने)ऽयं पथ प्रथान नूनः। विशेष०।  
अत्यधदुल-अर्थधदुल-त्रि०। अर्थो बहुलो यस्मिन्सतर्धे बहु-

स्य “ क्वचित्पुत्रिः क्वचिदपुत्रिः, क्वचिद् विजाणा क्वचिदन्वये-  
व। विधेविधानं बहुधा समीह्य, चतुर्विधं बाहुल्यं क्वचित् ॥१॥  
“ अत्यधदुलं महत्थं, इतिविधानोपसम्भारणीरं ” दशा० ३ अ०।  
अत्यधेय-अर्थधेद-पुं०। आत्मपरार्थेऽप्यस्वाध्यायपरिकल्पने,  
ज्येता०। “ धार्वाके यावन्ती होगामि विष्णुसुसंति ” इ-  
त्यत्र आकारस्यैवावन्तः केचन लोकैः उस्मिन् पावामिहोके वि-  
परासुश्रुतीत्यर्थे विधाधोभिधाने, अत्यन्तमपदे केषां रज्जु  
वातात् कूपे पतितं लोकाः स्फुरतीत्यन्यथायित्वाऽऽह। अ०  
१ उ०। ध०। दशा०। रा०।

अत्येति द्वारं-

वंजणमजिदमाणे, अर्थतिमादीण अत्यगुरुो तु ।  
जां अयोऽणुणुवार्द्धं, एणादिविराहणा। नवरि ॥१९॥

धंजणं सुत्तं, अणुहाकरणं जेदं, ण जिदमाणां अजिदमाणा,  
अविणासंती ति अर्थानं हतिं। तेषु चैव धंजणसु अभिषेसु  
अर्थं अर्थं विकल्पयति। कद्दं, जहा- (अवतिमार्हाणं ति) अर्थतिकं  
यावन्ती लोणं, समणा य माहणा य (विष्णुसुसंति ति) अर्थती  
णामं जणवन्ना, क्वचि रज्जुदे ति शााम, पनिया कूचं लोयंति  
णाया। जहा-कृत् कथा पतिना, ततो यावति समणा भिष्णुमाह  
माहणा विउज्जाये। ते समणा माहणा कूचं उयारिउं णाययमज्जं  
विचिउं परासुसंति। आदिस्सहानो अर्थं पि सुत्तं एवं कप्पति।  
अर्थति अर्थाः अर्थं कल्पयति, एवं अर्थं अर्थाहा कल्पियं सो ह।  
अर्थे गुरुणो उ। अर्थस्व अणगाणि वंजणाणि करेणस्व मास्-  
गुरु। अह अर्थं अर्थं करेति, तो चउगुरुणा (जां अर्थां ति) अर्थि-  
तो अर्थणिनां अर्थां सो य अर्थिद्विदुस्सकं, ( अणणु-  
पाति ति) अणुपतनीत्यनुपाती, घटमानो उययमान इत्यर्थे ।  
न अणुपानी अननुपानी, अघटमान इत्यर्थः। तमघटमानमर्थ  
सुत्तं जाजयतो (णाणादिविराहणं ति) णाणं अर्थां जसि ता-  
णिमाणि एणादीणि। आदिस्सहानो इत्यणुचरित्तः; ते य विराह-  
ति, विराहणा खरणा भजणा य एगाहा। (अवरि ति) इह पर-  
लोणगुणपावणसुदरास्यं अवरिसहो पठन्तो, विराहाण्य केव-  
लेत्यर्थः। अर्थेति द्वारं गद्यम्। नि० कृ० १ उ०।

अत्यनोमपरिव्रजय-अर्थधोमपरिव्रजित-क्री०। प्रत्येण  
जोणैभ्वरहितं, प्रअ० ३ अर्था० ह्रा०।

अत्यमरुली-अर्थपराहली-क्री०। इतीयायां धैरुष्याम्, आचा-  
र्याः सूत्रार्थे प्रदर्शयानि, शिष्याश्च श्रुतवन्नात्येवकपायामर्थे-  
रुष्याम्, ध० ३ अर्थि०। १। (एतद्विधिः “ उचसेवपा ” शब्दे  
द्वितीयमाने १८३ पृष्ठे समप्रथं कृत्यः )

अत्यमय-अस्तमय-न०। स्यादं ईहयस्य सतोऽहृथीभन्वे,  
म० २ श० १ उ०।

अत्यमहृत्-अर्थमहृत्-त्रि०। त्राधाऽजिधेया अर्थां,  
विजाणा- (वार्तिक) अजिधेया महार्थाः, तेवामर्थमहाध्यानां आनि-  
रिच अर्थमहाध्यानाणिः। आनाथार्थिकरूपानुयोगविधाधनिपटी-  
यसि, “ अत्यमहृत्-अर्थमहृत् सुसमयवक्त्वाणकहृत्साणिशाणि ” न०।  
अत्यमहुर-अर्थमहुर-त्रि०। परलोकाणुगुणाः, “ वयणां  
अत्यमहुरां ” पं० ४ ह्रा०।

अत्यमाणा-आसीन-त्रि०। हमसानादायास्धीयमाने, “ तस्य स्वे  
अत्यमाणास्व, उचसेमाजिचारय ” उच० २ अ०।

अत्यमित्र-अस्तमित-त्रि० । अस्तमितस्तंगते, हा० ४ अ० ।

अत्यमित्रोदिय-अस्तमितोदित-त्रि० । अस्तमितआसी हीन-  
कुशोत्पत्ति कुशोत्पत्तिवृत्तवादिना, उदितश्च सम्युक्तिशीलसु-  
तिहासमिति अस्तमितोदितः । प्रथमावस्थार्या हीन पञ्चाश  
सिद्धि प्राप्ते पुरुषजाते, स्वा० । यथा हरिकेशबलाभिधानोऽनगरः ।  
स हि अन्त्यान्तरोपपन्नमीश्वरोन्नकमेवशाब्दवास्तहरिकेशाभिधान-  
वाच्यबहुकृतया, दुर्भगतया हरिकृतया च पूर्वमस्तमितवाक्ये  
इवानुपदिशयत्वात् अस्तमित, पञ्चाशत्प्रतिपक्षप्रमज्यो निष्कल्प-  
वत्तदुशुणावर्तिवद्वक्तृताक्षिप्यतया प्राप्तसिद्धितया सुगति-  
गततया च उदित इति । स्वा० ४ ज० ३ उ० ।

अत्यमित्यमित्य-अस्तमितस्तमित-पुं० । अस्तमितआसी सूर्ये  
इव दुष्कृततया, दुष्कर्मकारितया च कर्तिसिद्धिसङ्गतेजो-  
विधावित्तम्बा, अस्तमितम्बा दुर्गतिप्रमानादित्यस्तमितस्तमितः ।  
पौराण्येण दुर्गते, स्वा० । यथा काज्ञानिधानः सौकरिकः स हि  
नृकरश्चरति मृगयां करोतीति यथायैः सौकरिक एव दुष्कृत-  
त्यप्र- प्रतिदिने महिषपञ्चाशतीव्यापादक इति पृथमस्तमितः,  
पञ्चादपि मृगया सममन्त्रकपुयिषीं गत इति अस्तमित पवति ।  
स्वा० ४ ज० ३ उ० ।

अत्ययारिया-देशी-संख्यायाम्, दे० ना० १ वगै ।

अत्यरय-आस्तरक-ना० आच्छादके, भा०म० प्र० जी० रा० ।

अस्तरजस्-त्रि० । निर्भेदे, " अत्यरयमितमस्तरगत्यर्थं "  
आस्तरकण प्रतीनेन मृतुमस्तरकेण च, अथवास्तरजसा निर्भे-  
लेन मृतुमस्तरकेण अवस्तुनमाच्छादितं यत्तत्तथा । न० ११  
श० ११ उ० ।

अत्यनुक्त-अर्थलुब्ध-त्रि० । ऊव्यासास्ये, म० १५ श० १ उ० ।

अत्यवं-अर्थवत्-त्रि० । पञ्चाशितो मुहूर्ते, कल्प० ।

अत्यवति-अर्थपति-पुं० । धनपती, व्य० ७ उ० ।

अत्यवाय-अर्थवाद्-पुं० । अर्थस्य लक्षणया स्तुत्यर्थस्य नि-  
र्वाच्यस्य वा वाद् । वद्-करणे घञ् । प्रशंसनीयगुणवाचके,  
निन्दनीयदोषवाचके च शब्दविशेषः । भावे चात्र तत्कथने,  
वाच० । अर्थवाद्स्तु द्विधा-स्तुत्यर्थवादेो निन्दार्थवाद्वा । तत्र  
"पुरुष एतद् सर्वम्" इत्यादिकस्तुत्यर्थवाद् । तथा तत्र "स-  
सर्वाद्यस्यैवा महिम्ना तु विद्येते ऋषयः श्रेष्ठभ्योऽप्यात्मा सुप्रतिष्ठि-  
तवत्प्रह्लादे बेष्मतेऽप्य यस्तु स सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वभेमाविबे-  
शु" इति । तथा "यक्या पूर्णोद्भूत्या सर्वाद् कामानवाप्नोति"  
इत्यादिकञ्च सर्वाऽपि स्तुत्यर्थवाद् । "यक्या पूर्णया" इत्यादि  
विधिवादेऽपि कस्माच्च अत्रतीति चेत् । उच्यते । शेषस्याग्निहो-  
वाद्यनुष्ठानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । "यद्य वाच प्रथमो बहो योऽ-  
ग्निहोमः योऽग्निमाहुः" इत्येन वचने स सर्वमन्यप्यतत्" अत्र पद्य-  
मेवादीनां प्रथमकरणे निन्दित इत्ययं निन्दार्थवाद् । " द्वादश  
मासाः संवत्सरोऽग्निहोमोऽग्निहोमस्य अथजम् " इत्यादीनि तु  
वेद्याक्यान्वयनुवाद्प्रधानानि, शोकमसिद्धस्यैवाद्यर्थस्यैतेष्वनुवा-  
दादिति । विश० । प्रा० म० ।

अत्यविगम्यणा-अर्थविकल्पना-स्त्री० । अर्थनेत्रोपदर्शने, भा०  
म० द्वि० ।

अत्यविद्युय-अर्थविनय-पुं० । विनयशब्दे बहुवचनार्थके  
विनयभेदे, दश० ७ अ० ।

अत्यविशिष्टय-अर्थविनिश्चय-पुं० । अयापरकके कस्याद्यावदे  
च अर्थावितयभावे, " पुच्छिञ्जस्यविनिश्चयः " । दश० ८ अ० ।

अत्याविष्णान-अर्थविक्रान-न० । ३ त० । ऊदायोहयोगा-  
न्यादे सन्देहविषयार्थोत्पद्यमाने ज्ञानरूपे बुद्धिगुणे, घ० १ अ० ।

अत्यविदूण-अर्थविहीन-त्रि० । अर्थात्ताये, व्य० ३ उ० ।

अत्यसंपयाण-अर्थसंप्रदान-न० । अर्थदाने, " अत्यसंपयाणं  
दक्षयशालं " । अर्थदानं करोतीत्यर्थः । विषा० १ नृ० १ अ० ।

अत्यसत्य-अर्थज्ञान-न० । अर्थोपगममिच्छे शास्त्रमंशशास्त्रवै ।  
भा० म० प्र० । अर्थोपायव्युत्पादनप्रभ्ये कौटिल्यराजनीत्यादौ ।  
हा० १ अ० । प्र० १ मं० । "अत्यसत्यकोसल्लभ्यमाती तथा उच्य-  
वशा" भा० नृ० १ मं० । भा० म० द्वि० । (उदाहरणमस्य "वेणु-  
हया" शब्दे प्रकृत्ये )

अत्यमत्यकुलन-अर्थशास्त्रकुलन-त्रि० । ७ त० । नीतिशास्त्रा-  
दिषु कुलने, जे ३ वक० ।

अत्यसार-अर्थसार-पुं० । प्रथमस्ये, भा० म० द्वि० ।

अत्यसिद्ध-अर्थसिद्ध-पुं० । अर्थो धनं स इत्यास्ताधारणो  
यस्य सोऽर्थसिद्धः । मम्मणवगिणवत् सिद्धजने, ख० २ अ० ।  
"पञ्चरथो अथापरा-स्य मम्मणो अथासिद्धो च " प्रचुरार्थः  
प्रनृत्तार्थः, अर्थपरोऽर्थनिष्ठः, अर्थसिद्धोऽतिशययोगात्म्यमणव-  
गिन्वादिनि गाथादलायैः । भा० म० द्वि० । आचार्येण कथा-  
नकावसंयः (स च 'मम्मण' शब्दे बहयते) शोकाचररीत्या दशमे  
अर्थसिद्धे, जे० ७ वक० । परवते प्राविष्यति पञ्चमे तीर्थकते, ति० ।

अत्यसुराण-अर्थजन्-न० । दिग्पादिकेऽर्थेहीने परे, स्वा० १  
ज० १ उ० ।

अत्या-आस्या-स्त्री० । स्वपक्षाणामर्थेकते तीर्थे बहुमानात्,  
जीवा० १ अ० ।

अत्याण-अस्थान-न० । अविषये, हा० १५ अ० ।

अत्यादा (या)ण-अर्थदान-न० । प्रत्योपादानकरणे महान्न-  
निमित्तं, स्वा० ३ ज० ४ उ० । (अस्मिन्ने भागे ३१८ पृष्ठे 'अणव-  
द्वय' शब्दे व्याकथयतमेत् )

अत्याम-अस्थामन्-त्रि० । सामान्यतः शक्तिविकले, न० ७ अ०  
ए उ० । शारीरिकबलविकले, हा० १ अ० । विषा० ।

अत्यारिय-अस्तारिक-पुं० । मृत्युप्रदानेना शालिलसमाच-  
जेने क्लियमाणे कर्मकरे, व्य० ६ उ० ।

अत्यारो-देशी-सादाध्य, दे० ना० १ वगै ।

अत्याल्लवण-अर्थोल्लम्बन-न०-पुं० । अर्थो वाक्यस्य भावा-  
र्थः । आल्लम्बनं वाक्ये पदार्थे अर्थस्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम् ।  
अर्थञ्च आल्लम्बनं आर्थोल्लम्बने । अर्थे, आल्लम्बने च । अर्थोल-  
म्बनयोश्चैवत्यन्वयादौ चित्राकत्वम् । अष्ट० २७ अष्ट० ।

अत्यालिय-अर्थलीक-न० । ऊव्यार्थमसत्ये, प्र० १ अ-  
अ० हा० ।

अभ्यासोपप-अर्थोलोचन-न० । अर्थस्य सामान्येन प्रहणे,  
आ० सू० १ अ० ।

अष्टावगृह-अर्थविग्रह-पुं० अवप्रहणमग्रहः, अर्थस्यावग्रहो-  
ऽर्थावग्रहः । अग्निदेवसामान्यमकरप्राथम्यप्रहणे, आह ख न-  
न्यध्वपचनपूर्तिहृत्-“ सामरुक्त्वा इविसलगरादियस्त अवग्रह  
ति” । प्रह्ण० ५ पदं । अभा० ।

अष्टावलि-अर्थापत्ति-की० अर्थस्य अनुक्तार्थस्य, आपत्तिः सि-  
क्किः । वाच० । “प्रमाणपरुक्त्विकातो, यत्रार्थो नान्यथा जवेत् । अष्ट  
कल्पयेत्थं, साऽर्थापत्तिश्चाहना” ॥ १ ॥ इत्युक्तप्रमाणं प्रमाणभेद,  
रत्ना० २ परि० अनुच० हृत्-भूतो वाऽर्थोऽन्यथा, नोपपद्यते इति अष्टार्थ-  
कल्पने, सम्प्रोक्तं प्रमाणचतुष्कवादिनोऽनुमानेऽतज्जवेत्ति, त  
स्याः प्रमाणभेदोऽनुमानेऽतभूतत्वात् । तथाहि-हृत्-भूतो वाऽर्थोऽ-  
न्यथा नोपपद्यते इत्यष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः । न चास्यार्थोऽन्यथाऽ  
नुपपद्यमानेऽतज्जवेत्ति अष्टार्थपरिकल्पनातिमितम् । अर्थथा स  
येन विनोपपद्यमानेन निश्चितस्तरपि परिकल्पयेत्, येन विना  
नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्; अनवगतस्यान्यथाऽनुपपद्यतेना-  
र्थापत्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यष्टार्थपरि-  
कल्पकत्वात्संभवात् । संभवं वा शिक्कस्याप्यनिश्चितनियमस्य  
परोक्ताधुनापकत्वे स्यादिति, तदपि नार्थापत्युत्थापकत्वादि-  
द्भिद्येन । स चाप्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः, तस्यार्थस्य न भूयो-  
द्विपरिमितसिः सपक्षे । अन्यथा लोहलेशस्य वज्रे, पार्थिवत्वात्,  
काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपल-  
म्भनिमित्तोऽसौ । व्यतिरेकनिश्चयकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमेव  
निषिद्धत्वात्; किं तु विषये तद्वापकप्रमाणनिमित्तम् ।  
तच्च वाचकं प्रमाणमर्थापत्तिवस्तुत्वेः प्रागेवाऽनुपपद्यमानस्यार्थ-  
स्य तत्र प्रवृत्तिमदन्युपगतत्वम् । अन्यथाऽर्थापत्या तस्याऽ-  
न्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽन्युपपद्यमाने यावत्तस्याऽन्यथाऽ-  
नुपपद्यमानत्वं नावगमः, न तार्थार्थापत्तिप्रवृत्तिः । वाचक  
न तत्रवृत्तिः, न तार्थार्थापत्युत्थापकत्वाद्यस्याऽन्यथाऽनुपप-  
द्यमानत्वावगम इतीतरं तत्राभ्यववाद्यार्थापत्तिप्रवृत्तिः ।

अत एव यदुक्तम्-

“ अविनाभावित्वा चात्र, तद्वैध परिगृह्यते ।  
न प्रागवगतत्वेयं, स्वव्यप्या न कारणम् ॥ १ ॥  
नेन संबन्धेलाभा, संबन्धमन्तरौ भूयस ।  
अर्थापत्यैव मन्तव्यः, पश्चादस्वनुमानता ॥ २ ॥ इत्यादि ।  
तन्निरस्तम् । एवमन्युपगमे अर्थापत्तेरनुधानस्य प्रतिपा-  
दितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं  
हृत्प्रान्धमिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ? , आहोस्वित्स्वसाध्यधर्मि-  
प्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ? , इति । तत्र यदाहः पक्षः । तदाऽर्थाप-  
तिवक्तव्यम् । किं तु हृत्प्रान्धमिप्रवृत्तप्रमाणं साध्यधर्मि-  
व्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चययति, आहो-  
स्वित् हृत्प्रान्धमिप्रत्येव । तत्र यदाहः पक्षः । तदाऽर्थापत्युत्था-  
पकत्वाद्यर्थस्य, शिक्कस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारं प्रति न  
कमिच्छिदेशः । अथ द्वितीयः स न युक्तः । न हि हृत्प्रान्धमिप्रि  
निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽवत्र साध्यधर्मिणि  
तथा जवति । न च तथार्थेनानिश्चितः स साध्यधर्मिणि स्वसा-  
ध्यं परिकल्पयतीति युक्तम्, अतिपक्वत्वात् । अथ शिक्कस्य हृत्प्र-  
ान्धमिप्रवृत्तप्रमाणत्वशयात् सर्वोपसंहारण स्यसाध्यनियत्येत्य-  
निश्चयः अर्थापत्यापकत्वं त्वयस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्ता-

त्प्रमाणान्त्वोपसंहारेण हृत्प्रान्धमिऽनुपपद्यमानत्वं निश्चय इ-  
ति शिक्कापत्युत्थापकत्वाभेदः । नासाहृद्दार्थापत्तेरनुमानं  
भेदमासाद्यति । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विषयथा-  
केतुव्यावर्तकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारण स्वसाध्यनिय-  
तनिश्चयकमभ्युपगतम् । अन्वथा सर्वमेकान्तात्मकं, स-  
त्वादित्यस्य हेतोः पक्षे हृत्प्रान्धमिप्रत्येव हृत्प्रान्धमिणोऽभा-  
वाकथं तत्र प्रवर्तमानं वाचकं प्रमाणमेकान्तात्मकत्वं नियत-  
त्वमवगमयेत् सत्यस्य । न च साध्यधर्मिणि हृत्प्रान्धमिणि च  
प्रवर्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्युत्थापकत्वाद्यर्थस्य शिक्कस्य च यथा-  
क्रमं प्रतिबन्धां गृह्यत इत्येतावमात्रेणाधार्थापत्यनुमानयोर्भेदोऽ-  
न्युपगमने युक्तः । अन्यथा पक्षमेव्यसहिते हेतुसमुत्थापत्युमा-  
नात्सङ्घितहेतुसमुत्थापत्यनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाण-  
परुक्त्वादेव विचार्येन । नियमयतो शिक्कापरोक्ताधर्मिण्युत्थाप-  
त्तेः शयात् तत्सन्निवृत्तमित्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाशुत्थापत्तार्थ-  
प्रतिपत्तेरविशेषाद्यनुमानादार्थापत्तेः कथं नांभेदः । सम्प्र०  
अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्, यतस्तस्या लक्षणम्-हृत्-भूतो  
वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यष्टार्थकल्पनेन ।

कुमारिणोऽन्ये तत्रैव लाप्यवचनं विभज्जनाह-

“प्रमाणपद्विक्रान्तो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।  
अष्टे कल्पयत्यर्थं, साऽर्थापत्तिश्चाहना ॥ १ ॥  
हृत्प्रान्धमिप्रवृत्तम्, भेदोना न भूतोऽन्यथा ।  
प्रमाणप्रादिकान्धमि, यस्मान्पूर्वोविलक्षणम् ॥ २ ॥

प्रत्यङ्गादिनिः पत्तिः प्रमाणाः प्रमित्योऽर्थोऽस्य स येन विना  
नोपपद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः । यथाऽग्नेर्दोहकत्वम्,  
तत्र तत्रयत्तुर्वाकाऽर्थापत्तिः यथाऽग्नेः प्रत्यङ्गोष्णस्पर्शसुगन्ध-  
स्य दाहकशक्तियोऽर्थापत्त्या प्रकल्पने । न हि शक्तिरुच्यङ्गादि-  
त्वेनान्यः नाप्यनुमानादिनमर्थवगम्यः, प्रत्यङ्गाद्येन शक्तिरुत्प्रे-  
कस्यचिदर्थस्य मन्त्रार्थापत्तिः । यतुमार्थापत्तिः । यतुमार्थापत्ति-  
याऽदित्यस्य दशान्तरप्राप्या देवदत्तस्यैव गत्यनुमानम् । ततो  
गमनशक्तियोऽर्थापत्याऽवर्जयान् । उपमानपूर्विकात्पार्थापत्त्ये-  
था-गवयवद् गौरित्युत्तरयोर्वाहरेहादिशक्तियोगसन्ध्याः प्रती-  
यते, अन्वथा गाल्वस्यैवायोगात् । शम्भुपूर्विकाऽर्थापत्त्येथा-श-  
ब्दार्थप्रतीतेः शम्भुस्यार्थेन संबन्धात्सङ्घः । अर्थापत्तिपूर्विकाऽ-  
र्थापत्त्येथात्प्रकारेण शम्भुस्यार्थेन संबन्धात्सङ्घावधिन्यव्य-  
सिद्धिः, पौरुषेयत्वे शम्भुस्य संबन्धयोगात् । अत्रावपूर्विकाऽ-  
र्थापत्त्येथा-जीवो देवदत्तस्य देवदत्तशब्दार्थेन वादिसंभवाः ।  
अत्र चतुर्भिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते । पश्चम्यं नि-  
व्यत्ता । पष्ठमं गृह्यत वादिसंभवाः देवदत्त एव साध्यते । इत्येवं  
पदमन्ताराऽर्थापत्तिः । अन्ये तु-भुनाथार्थनिमन्त्रयोर्वाहरे-  
‘पानो देवदत्तां दिवा न लुक्ते’ इति वाक्यश्रयणाद् शक्तिमो-  
जनवाक्यप्रतिपात्तेः भूनाथार्थापत्तेः । गत्ययोपमिताया गान्तज्ज्ञा-  
नप्राप्तशक्तिरुपमानपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

तदुक्तम्-

सत्र प्रवृत्तौ ज्ञानात्, तदा दृढशक्तिः ।  
वह्नरनुमानं सूर्यं, यानात्सर्वज्ञयोगिनाम् ॥ १ ॥  
पानो दिवा न लुक्ते इत्येवं प्रतिबन्धः भूतो ।  
शक्तिजनविज्ञानं, भुनाथार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥  
गत्ययोपमिताया गान्तज्ज्ञानप्राप्तशक्तिः ।  
अभिधानमसंख्यस्य-मर्थापत्याऽवबोधितात् ॥ ३ ॥

शब्दे शाचकसामर्थ्यात्, तन्नित्यत्वप्रमेयता ।  
प्रमाणाभावाविर्णीत-वेत्ताभावाविशेषितत्वात् ॥ ४ ॥  
येहादृशैर्बहिर्नोचक्षितैश्चो विवह दक्षिता ।  
नामज्जावोत्थितामन्वा-मर्थापिषुमुदाहरत् ॥ ५ ॥ इत्यादि ।

इयं च षट्प्रकाराऽप्यर्थापत्तिर्नाभ्याम्, अतीन्द्रियशक्यत्वाद्यर्थ-  
विषयत्वात् । अत एव नातुमायम् । इत्यहोवागतमतिबद्धसिद्धमभ-  
धनेन तस्योपपत्तेश्च नात् ; अर्थापत्तिनोचक्षित्यर्थस्य कदाचिद्व्य-  
प्येकत्वत्वात्वात् । तेन सहाध्यापरमुत्थापकस्याप्यर्थस्य संबन्धाप्र-  
तिपत्तेः ; तद्विवाधोपपत्त्या तनस्तस्य प्रकल्पना । सम्म० ।

अत्यावतिदोस-अर्थापत्तिदोष-पुं० । सूत्रदर्शनेदे, यथार्था-  
पत्त्यानिष्ठमात्रापति तथाऽर्थापत्तिदोषः । यथा- 'युद्धकुण्डो न  
हस्तस्य' इत्युक्ते अर्थापत्त्या शेषघातोऽद्भुत इत्यापत्ति । विशेष ।  
अनु० । यथा- 'ब्राह्मणो न हस्तस्य' इत्यर्थोद्ब्राह्मणघातात् । आ०  
म० द्वि० । वृ० ।

अत्याह-अस्ताध-( घ ) षि० । अगाधे, अस्तं निरस्तमवि-  
षयमानमधस्तं प्रतिष्ठानं यस्य तदस्ताधः । स्ताधो वा प्रति-  
ष्ठानं, तदभावाद्स्ताधम । ज्ञा० १४ अ० । पि० । अत्र नास्ति-  
का न भुङ्गति तत् स्ताधम, यत्र तु नास्ति का भुङ्गति तदस्ता-  
धम । वृ० ४ उ० । पञ्चदशे ज्ञारतातीतजने, प्रथ० ६ द्वा० ।

अत्याह्रिगम-अर्थाधिगम-पुं० । अभिधेयावगमे, पञ्चा० ४ विच० ।

अत्याह्रिगार-अर्थाधिकार-पुं० । ६ त० । यो यस्य सामायिका-  
ध्ययनस्यास्मायोऽप्येस्तुत्कर्तृतेनविषयके ऋकमभेदे, 'से किं  
नं अर्थाह्रिगारेः । अर्थाह्रिगारे औ जस्स अरुभयणस्स अर्था-  
ह्रिगारे । तं जहा- 'सावज्जाअगविरेरे, उक्किण्णगुणपथोयपदिव-  
षो' । आनिवस्स मिदधावण-निमिच्चउत्तणधारणा चव ॥ १ ॥  
सेत्तं अर्थाह्रिगारे' । अनु० । आ० ।

अत्यि-अस्ति-अव्य० । 'स्तस्य धोऽसमस्तस्तश्चे' ॥ ७१२।४५ ॥  
इतिभूवेण स्तमागस्य धः । प्र० । अस्तीति तिङ्गन्तक्रियावचनप्र-  
तिरूपको निपातः । औ० । जीवा० । बह्वर्थे, सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० ।  
निपातस्याऽप्यव्ययेन, अव्ययस्य च 'सर्वाश्च त्रिषु सिद्धेषु, सर्वस्य  
च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु, यच्च व्यति तद्व्ययमिति' ॥ १ ॥  
बहुत्वप्रतिपादनात् । औ० । 'अर्थेगम्या बुद्ध्याणां ।' सन्त्येक-  
काः द्वाहानिनः । जी० ३ प्रती० अस्तिशब्दशब्दायं निपातसिक्काल-  
विषयः । आ० । १ भु० ४ अ० ४ उ० । त्रिकालवर्तिषु विद्यमानेषु  
अर्थेषु, अस्तुवत् प्रवृत्ति भाविव्यति च इति प्रत्ययवस्तु,  
स्था० ३ डा० १ उ० । 'अत्यि णं नंतं । जीवाणं पाणाइवावणं  
किरिया कज्जह' । म० १ दा० १ उ० । आ० । 'अत्यि य १ निम्बो  
२ कुण्डे, ३ कथं च वेदेरेइइ अत्यि निव्वाणं ५ । अत्यि य मोक्खं-  
आभाइ, ६ उः सम्मत्तस्स उणाइ' ॥ १ ॥ प्रथ० १ प्र० ६ द्वा० । येन येन  
यदा यदा प्रयोज्जनं तत् तत्तदा तदाऽस्ति भवति जायते इति ।  
अस्य आनन्दहेतुत्वात् सुखजने च, स्था० १ ग० । प्रदेशे,  
स्था० १ ग० । अनु० । उच्यते । अस्तीति निपातः सर्व-  
सिद्धवचनेभिर्विभक्ति । अनु० ।

अत्यि- ( छ )-अर्थिन्-वि० । अर्थशब्दात् अस्यर्थे 'अर्थाऽस-  
त्तिहेतु' इति वार्तिकेन इति । याचके, वाच० । यः परस्मान्मयर्थे  
अभ्यमिति याचते । इय० १ उ० । अर्थेवति ईश्वरे, पञ्चा० १०  
१ २ ५

विच० । स्वामिनि, विशेष० ।

अत्यि-अ-अस्त्विक-पुं० । बहुवीजकवृत्तियेषे, प्रज्ञा० १  
पद० । तत्फले, न० । आ० । १ भु० १ अ० ५ उ० ।

अर्थिन्-वि० । याचके, स्वामिनि च । 'अर्था अत्यिषो' प्र० ।

आस्ति-पुं० । अस्तीति मतिरस्येति भास्तिकः । तत्त्वात्तर-  
अवघोऽपि जिनाकतस्यविषये निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिमति, अ० ।

यदाह-

"मस्यइ तमेय सत्त्वं, निस्सकं अ जिणेहि' पण्यत्तं ।  
सुहपरिणामो सम्मं, कंसाइ वि सुत्ति आरोइआं" ॥ ५ ॥

यथाप्यस्य मोहदशाकचन संशयो ज्ञानेन, तत्राप्यप्रतिहेतय-  
मर्गज्ञा श्रीजिनभक्तगणिकुमाभ्रमणादिना-

"कथं य मसुदुल्लभं, नत्थिय अत्यरिअविरहो वा वि ।  
अभ्रगइणत्तणं य, नाशावणोदपणं च ॥ १ ॥  
हेऊदाहरणासं-नवे अ सइ सुदु अं न बुद्धंजा ।

सव्यभूमयमविगहं, तदा धि तं चित्तं म इमं ॥ २ ॥  
अणुषकयपराणुमगइ-परायणां ज जिणा जणप्यवरा ।

जिभरागदोस्समाहा, यऽनसहा वाइयो तेणं ॥ ३ ॥

यथा वा सूत्राकस्यैकस्याप्यरोचनानुक्तरस्य प्रवृत्ति नरो मि-  
थ्याहः । सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनानिर्दिष्टमिति । ध० २ आधि० ।

"भास्तिकमतमाग्यायाः, नित्यानित्यात्मकानव पदार्थाः काल-  
नियतिस्वजावे-इत्यारम्भकृताः स्वप्राप्तस्थाः ॥ १ ॥ कालयत्-  
व्यानिपतेश्वरस्वभावात्मनश्चतुरशीतिः ॥ १ ॥ स्था० ४ डा० ४  
उ० । आ० । जीवा० । चावोकादिभिर्भद्रदृश्यन्स्वोक्तर्ति  
च । न० । तं० ॥

अत्यिकाय-अस्तिकाय-पुं० । अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो नि-  
पातः । अर्भुवत् भवतिनि प्रविशन्ति चेति प्राधाना । अतो-  
ऽस्ति च तं प्रदेशानां कायाश्च राशय इति अस्तिशब्देन प्र-  
देशप्रदेशाः कालव्युच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः ।  
स्था० ४ डा० १ उ० । अवयविद्रव्येषु धर्मास्तिकायादिषु,  
अ० २ श० १० उ० । दर्श० । आ० चू० ।

ते च-

चत्तारि अत्यिकाया अजीवकाया पञ्चत्ता । तं जहा-  
धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोमल-  
त्थिकाए । चत्तारि अत्यिकाया अरुक्विकाया पञ्चत्ता । तं  
जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए,  
जीवत्थिकाए ।

अजीवकाया अचेतनत्वाद्दिति अस्तिकाया मूर्त्तान्मूर्त्तं प्रवन्ती-  
त्यमूर्त्तप्रतिपादनाय अरुक्वस्तिकायव्युत्पन्नम् । रूपं सूक्तिवर्णा-  
दिमत्त्वं, तदस्ति येषां तं रूपिणः, तत्पुंदासादरूपिणोऽमूर्त्ता  
इति । स्था० ४ डा० ४ उ० । जी० । उच्यते ।

यत्ते प्रदेशाग्ने तत्पुत्राः-

चत्तारि परसग्नेषु तुम्हा पञ्चत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए,  
अधम्मत्थिकाए, लोमाग्ने, एगे जीवे ।

प्रदेशाग्नेषु प्रदेशप्रमाणेनिति तुम्हाः सत्मानाः सर्वेषामेधामसं-  
न्यातप्रदेशत्वात् । स्था० ४ डा० ३ उ० ।

साम्प्रतमत्तिकायद्वारमाह -

एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकायअधम्मत्तिकायअग्गास-  
त्तिकायजीवात्तिकायपोगलत्तिकायअक्कासमया एं दब्ब-  
द्वयाए कयरे कयरेहिंतो अया वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसा-  
द्विया वा ? गोयमा ! धम्मत्तिकाय अधम्मत्तिकाय अग्गास-  
त्तिकाय, एर सित्थि वि तुट्ठा दब्बद्वयाए सच्चत्थोवा, जीव-  
त्तिकाय दब्बद्वयाए अणंतगुणे, पोगलत्तिकाय दब्बद्वयाए  
अणंतगुणे, अक्कासमए दब्बद्वयाए अणंतगुणे ।।

( एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकायेत्यदि ) धर्मास्तिकायोऽधर्मा-  
स्तिकाय आकाशास्तिकायः । एते धर्मोऽपि उच्यते तथा उच्यते-  
धर्मो उच्यते तस्य भावो उच्यते तथा, तथा उच्यते रूपतया इत्य-  
र्थः । तुल्याः समानाः, प्रत्येकमसंस्कृताकाशात् । अत एव सर्वे  
स्तोकाः, तेषां जीवास्तिकायां उच्यते धर्मतया अनन्तगुणः । जीवानां  
प्रत्येकं तदुच्यते, तेषां च जीवास्तिकायां अनन्तत्वात् । तस्मादपि  
पुद्गलास्तिकायां उच्यते धर्मतया अनन्तगुणः । कथमर्थः, इति चेत् ।  
उच्यते-इह परमाणुद्विप्रदेशादिति पृथक् इ द्वयाणि, तानि  
च सामान्यतस्त्रिधा । तद्यथा-प्रयोगपरिणामनि, मिश्रपरिणत-  
नि, विभ्रसपरिणतानि च । तत्र प्रयोगपरिणतान्यपि तावज्ज्ञाव-  
ध्वोऽनन्तगुणानि, एकैकस्य जीवस्थानतैः प्रत्येकं ज्ञानपरिण-  
तपरिणतसु पुद्गलस्कन्धेषु विहितत्वात् । किं पुनः शेषानि ? ततः  
प्रयोगपरिणतस्यो मिश्रपरिणतान्यनन्तगुणानि । तेषोऽपि विभ्र-  
सापरिणतान्यनन्तगुणानि । तथा चोक्तं प्रकृतौ-“ सव्याधोवा  
पुष्पाश्च पद्मोपरिणतयो मीसपरिणतयो अनन्तगुणा, बीससापरि-  
णतयो अनन्तगुणाः ” इति । ततोऽत्रयति जीवास्तिकायात् पुद्गलास्तिका-  
यां उच्यते धर्मतया अनन्तगुणः । तस्मादप्युद्गासमया द्रव्याधे-  
तया अनन्तगुणः । कथमर्थः, इति चेत् । उच्यते-इहैकस्थेव परमा-  
णोरनागते काले तच्च द्विप्रदेशकमिप्रदेशकयावद्वहसमप्रदेशकसंख्या-  
तप्रदेशकप्रसंख्यतप्रदेशकान् अनन्तप्रदेशकसंख्यानतः परिणामित-  
या अन्नता भाविनः संयोगाः पृथक् पृथक् काशाः केवलदेशोप-  
लब्धाः । यथा कैकस्य परमाणोस्तया सर्वेषां प्रत्येकं द्विप्रदेश-  
काद्विस्कन्धानां च अन्नताः संयोगाः पुरस्कृताः पृथक् पृथक्  
काला उपलब्धाः । सर्वेषामपि मनुष्येकज्ञानवर्धिततया परिण-  
मसंभवात् । तथा ज्ञेयतोऽप्यर्थं परमाणुसुम्भिद् आकाशप्रदेशो  
अभूमिषु काले भवगादित्येत, इत्येवमन्नता एकस्य परमाणो-  
ज्ञानः संयोगा यथैकस्य परमाणोस्तया सर्वेषां परमाणूनां,  
तथा द्विप्रदेशकादीनामपि स्कन्धानामनन्तप्रदेशकसंख्यधर्मतां  
प्रत्येकं तद्वद्विप्रदेशकयावद्वहसमप्रदेशकमिभ्रसका अन्नता भा-  
विनः संयोगाः । तथा काशातोऽप्यर्थं परमाणुसुम्भिद् आकाशप्रदे-  
शो एकसमयस्थितिकः, इत्येवमेकस्यापि परमाणोरैकसिद्धाका-  
शप्रदेशोऽसंख्यया भाविनः संयोगाः । एवं सर्वेभ्यस्तिका-  
याप्रदेशेषु प्रत्येकमसंख्यया भाविनः संयोगाः । ततो भूयो  
धृष्टमन्ताऽऽकाशप्रदेशेषु परमाणूनां कालस्थानतयावन्नताः  
काशातो भाविनः संयोगाः । यथा कैकस्य परमाणोस्तया सर्वेषां  
परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्विप्रदेशकादीनां स्कन्धानां, तथा  
भावतोऽप्यर्थं परमाणुसुम्भिद् काले एकगुणकाशांको अन्नती-  
त्येवमेकस्यापि परमाणोमिभ्रसिभ्रसकाः अन्नताः संयोगाः ।  
यथा कैकस्य परमाणोस्तया परमाणूनां च सर्वेषां च द्विप्र-  
देशादीनां स्कन्धानां पृथक् पृथक् अन्नता भावनः पुरस्कृताः

संयोगाः । तदेवमेकस्यापि परमाणोरैक्येकप्रकालभावविशेष-  
संबन्धवशाद्भवन्ता जाविनः समया उपलब्धाः । यथैकस्य  
परमाणोस्तया सर्वेषां परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्वि-  
प्रदेशानां स्कन्धानाम् । न ज्ञेयपरिणामकासंबन्धव्यतिरेक-  
परिणामिपुद्गलास्तिकायादिव्यतिरेके चोपपद्यते । ततः सर्वमिदं  
च ताविकमवसेयम् । उक्तं च-“ संयोगपुरस्कारक, नाम  
भाविनि हि युज्यते काले । न हि संयोगपुरस्कारो, अस्ततो केवां  
चिदुपपन्नः ” ॥१॥ इति यथा च सर्वेषां परमाणूनां च द्विप्रदेशका-  
दीनां स्कन्धानां प्रत्येकं उच्यते कालज्ञानवशिष्यसंबन्धवशाद्भव-  
न्ता जाविनोऽस्मासमयाः, तथा अन्नती अयाति, सिद्धः पुद्गलास्तिका-  
यादन्नन्तगुणोऽस्मासमयो उच्यतेथेत्येति । उक्तं उच्यतेथेत्या  
परस्परमद्वयवृत्तमिति ।

इदानींमतेषामेव प्रदेशार्थतया तदाह-

एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकाय अधम्मत्तिकाय अग्गास-  
त्तिकाय जीवत्तिकाय पोगलत्तिकाय अक्कासमया एं पदे-  
सद्वयाए कयरे कयरेहिंतो अया वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसा-  
द्विया वा ? गोयमा ! धम्मत्तिकाय अधम्मत्तिकाय अग्गास-  
त्तिकाय, एर सि एं दो वि तुट्ठा पदेसद्वयाए सच्चत्थोवा,  
जीवत्तिकाय पदेसद्वयाए अणंतगुणा, पोगलत्तिकाय प-  
देसद्वयाए अणंतगुणा, अक्कासमए पदेसद्वयाए अणंतगुणा,  
अग्गासत्तिकाय पदेसद्वयाए अणंतगुणा ।।

( एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकायेत्यदि ) धर्मास्तिकायोऽध-  
र्मास्तिकायः, एतौ द्वौपि परस्परं प्रदेशार्थतया तुल्यौ, उभयोर-  
पि लोकाकाशप्रदेशत्वात् । शुषास्तिकायाऽक्काससमयापुद्गला-  
य च सर्वेस्तोको । तेषां जीवास्तिकायाः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः,  
जीवास्तिकायां जीवानामनन्तत्वात् । एकैकस्य च जीवस्य लो-  
काकाशप्रदेशपरिणामप्रदेशत्वात् । तस्मादपि पुद्गलास्तिकायाः  
प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः । कथमिति ? उच्यते-इह कर्मस्कन्ध-  
प्रदेशा अपि तावत्सर्वं जीवप्रदेशेषोऽनन्तगुणाः एकैकस्य च जी-  
वप्रदेशस्थानान्नान्तैः कर्मपरमाणुभिर्विद्येतिपरिविद्येतितात् ।  
किं पुनः सकलपुद्गलास्तिकायप्रदेशस्ततो भवति ? जीवास्तिका-  
यात्पुद्गलास्तिकायाः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, तस्मादप्युद्गास-  
मयाः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः ; एकैकस्य पुद्गलास्तिकायप्रदेशस्य  
प्रागुक्तकमेण तसद्वद्व्येकप्रकालजाविशेषेसंबन्धजावतोऽन-  
न्तानामतोऽस्मासमयानामन्नतासमयानामन्नतासमयानां भावात् ।  
तस्मादाकाशास्तिकायप्रदेशार्थतया अनन्तगुणः ; अत्रोक्तस्य  
सर्वतोऽप्यनन्तताभावात् । ततो प्रदेशार्थतयाऽप्यद्वयवृत्तयम् ।

इदानीं प्रत्येकं उच्यतेप्रदेशार्थतयाऽप्यवद्वयवृत्तमाह-

एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकायपस दब्बद्वयाए पदेसद्वयाए  
कयरे कयरेहिंतो अया वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसाद्वि-  
या वा ? गोयमा ! सच्चत्थोवा एगे धम्मत्तिकाय दब्बद्वयाए,  
सो वेव पदेसद्वयाए अससिज्जगुणा । एरसि एं भंते ! अध-  
म्मत्तिकायपस दब्बद्वयपदेसद्वयाए कयरे कयरेहिंतो अया  
वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसाद्विया वा ? गोयमा ! सच्चत्थोवे  
एगे अधम्मत्तिकाय दब्बद्वयाए, सो वेव पदेसद्वयाए अस-  
सिज्जगुणे । एतस्स एं भंते ! अग्गासत्तिकायपस दब्बद्वये-

सङ्घयाप कयरे कयरेहिंतो अप्पा बाधु । गोयमा । सञ्चत्योवे एगे आगासत्थिकाए दब्बङ्घयाए, सो चेव पदेसत्थयाए अणं-तगुणा । एतस्स णं जंते ! जीवत्थिकायस्स दब्बङ्घपदेसङ्घ-याए कयरे कयरेहिंतो अप्पा बाधु । गोयमा । सञ्चत्यो-वे जीवत्थिकाए दब्बङ्घयाए, सो चेव पदेसङ्घयाए असंस्ति-ज्जगुणा । एतस्स णं जंते ! पोमलत्थिकायस्स दब्बङ्घपदे-सङ्घयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा बाधु ? गोयमा । सञ्चत्यो-वा पोमलत्थिकाए दब्बङ्घयाए, सो चेव पदेसङ्घयाए अ-संस्तिज्जगुणा, अक्कासमए ण पुच्छिज्जइ, पदेसाजावा ।

सर्वस्तोको धर्मास्तिकायो इत्याथेतया, एकत्वात् । प्रदेशार्थ-तया असंख्येयगुणः, श्लोकाशाश्रमदेशपरिमाणश्रमकत्वात् । एवमधर्मास्तिकायसंख्यमपि भावनेयम् । आकाशास्तिकायो इत्याथेतया सर्वस्तोकाः, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, अपरिमितत्वात् । जीवास्तिकायो इत्याथेतया सर्वस्तोकाः, प्रदे-शाथेतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवं श्लोकाशाश्रमदेशभावात् । तथा-सर्वस्तोकाः पुद्गलास्तिकायो इत्याथेतया, इत्याणां सर्वेषा-पि स्तोकात्वात् । स एव पुद्गलास्तिकायस्तद्वृत्त्यापेक्षया प्रदेशार्थ-तया चिन्मयमानोऽसंख्येयगुणः । ननु बहवः शतु उगलनन्तप्रदेश-का अपि स्कन्धा विद्यन्ते, ततोऽनन्तगुणः कस्मान्न भवन्ति ? तदुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि स्वधया अनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः ; परमाण्वाद्यवस्थतिबन्धः । तथा वक्ष्यति सूत्रम्-“स-ञ्चत्योव अणंतपपसिया खंधा दब्बत्थयाए, परमाण्णोपोमला द-ब्बत्थयाए अनत्तगुणा । संखेज्जपपसिया खंधा दब्बत्थयाए अ-संखेज्जगुणा, असंखेज्जपपसियाए खन्धा दब्बत्थयाए असंखेज्ज-गुणा” इति । ततो यदा सर्वे एव पुद्गलास्तिकायाः प्रदेशार्थतया चिन्त्यन्ते तदा अनन्तप्रदेशकानां स्कन्धानामितिलोकत्वात्पर-माण्णां चानिबद्ध्युत्सर्षां च पृथक् इत्यन्यात् असंख्येयप्रदे-शकानां च स्कन्धानां परमाण्वपेक्षया असंख्येयगुणत्वात्संख्येय-गुण एवोपपद्यते, नामान्तागुणः । (अक्कासमए ण पुच्छिज्जइ सि) अक्कासमयो इत्याथेप्रदेशार्थतया न पृच्छन्ते । कुतः ? इ-त्याह-प्रदेशाभावात् । आह-कायमक्कासमयानां इत्याथेतानि-यमः ; यावता प्रदेशार्थतासि तेषां विद्यते एव । तथाहि-यथा अ-नन्तानां परमाण्णां समुदायस्कन्धा भव्यते, स च इत्यं, तद्व-यथाशब्द प्रदेशाः तथेहापि एककाः कालो इत्यथ, तद्वयवथाश-भयः प्रदेशा इति । तदुक्तम् । इहान्तदार्ष्टान्तिकवैभक्त्यात्, परमा-ण्णां समुदायः तदा स्कन्धो भवति, यदा ते परस्वसापेक्षतया परिणमन्ते, परस्परानिर्पेक्षाणो केवलपरमाण्णामिभ स्कन्धत्वा-योगात् । अक्कासमयानु परस्परं निरपेक्षा एव, यत्तैमानसमय-जावे पूर्वापरसमययोरजावात् । ततो न स्कन्धत्वपरिणामः । तदाभावात् नाक्कासमयाः प्रदेशाः, किं तु पृथक् इत्याथेवेति ।

सम्प्रत्यर्थां धर्मास्तिकायादीनां सर्वेषां गुणपद इत्याथेप्र-देशार्थतयाऽप्यवहुत्वमाह-

एस्सि णं जंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगासत्थि-कय जीवत्थिकाय पोमलत्थिकाय अद्दासमया णं दब्बङ्घयाए पदेसङ्घयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बुद्धा वा तुद्धा वा बिसेसाहिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय

आगासत्थिकाए य, एए णं तिथि वि तुद्धा, दब्बङ्घयाए स-ञ्चत्योवा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए य, एए णं दोधि वि तुद्धा पदेसङ्घयाए असंस्तिज्जगुणा, जीवत्थिकाए दब्ब-ङ्घयाए अणंतगुणे, सो चेव पदेसङ्घयाए असंस्तिज्जगुणे, पोमलत्थिकाए दब्बङ्घयाए अणंतगुणे, सो चेव परसङ्घ-याए असंस्तिज्जगुणे, अद्दासमए दब्बङ्घपदेसङ्घयाए अणं-तगुणे, आगासत्थिकाए पदेसत्थयाए अणंतगुणा ॥

( एएसि णं प्रते ! इत्यादि ) धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः, एते त्रयोऽपि इत्याथेतया तुल्याः, सर्वस्तो-काश्च प्रत्येकमेकसंख्याकत्वात् ३ । तेष्वो धर्मास्तिकायोऽधर्मा-स्तिकायः, एतौ द्वावपि प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणौ, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यौ ॥ सार्थ्या जीवास्तिकायो इत्याथेतया अनन्तगु-णः, अनन्तानां जीवइत्याणां भावात् ३ । स एव जीवा-स्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवमसंख्येयानां प्र-देशानां जावात् ३ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया जीवास्तिकायां-तुद्गलास्तिकायो इत्याथेतया अनन्तगुणः, प्रतिजीवप्रदेशं हा-मावरणीयादि कर्मपुद्गलस्कन्धानामन्यनानानां भावात् ४ । स एव पुद्गलास्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, अत्र भावना प्राणिब ६ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया पुद्गलास्तिकायात् अक्कासमया इत्याथेतया अनन्तगुणः, अत्रापि भावना प्राणिब १० । तस्मादप्या-काशास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, प्रातिव्यपि विशु वि-विशु तस्यान्तर्भावात्, अक्कासमयस्य च अनुपेक्षेन्नमात्रभावात् ११ । गतमस्तिकायम् । प्रज्ञा ३ पद । “ सडहिं अतियकायहिं शोमे फुदे पन्नसे । तं जहा-धम्मत्थिकायाणं अधम्मत्थिकायाणं जीवात्थिकायाणं पोमलत्थिकायाणं ” काण ४ उा ३ उ ३ ॥

प्रथवा—

कइ णं भंते ! अतियकाया पएएत्ता ? गोयमा ! एंव अतियकाया पसत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थि-काए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोमलत्थिकाए ।

धर्मास्तिकायादीनां चोपन्यासेऽयमेव क्रमः । तथाहि-धर्मा-स्तिकायादिपदस्य मात्रालिकत्वाद् धर्मास्तिकाय आदावुक्तः, तदनन्तरं च तद्विपकत्वाद् अधर्मास्तिकायः । अतश्च तदाधारत्वाद् आ-काशास्तिकायः । ततोऽनन्तत्वाद् धूर्त्तत्वसाधर्म्याज्जीवास्तिकाय-यः, ततस्तदुपसमकत्वात् पुद्गलास्तिकाय इति ॥ ३० २ श ० १० उ ० । तेषामितित्वम् । अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथाऽनुपपत्ते-र्धर्मास्तिकायस्य तेभानिव स्थित्यन्यथाऽनुपपत्तेरधर्मास्तिकायस्य सर्वं प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्तव्यं तद्विस्थितौ च भविष्यतः, धर्माधर्मास्तिकाये च न भविष्यत इति । प्रतिबन्धाज्जावादे-कान्तिकतेति । तावन्तरेणापि तदुभयानुल्लोकेऽपि तत्रसङ्गातः । यदि त्वल्लोकेऽपि तद्वत् स्थितिस्तीत्यां, तदाऽल्लोकास्त्यानन्त-त्वाद्दोकाशिन्येव जीवपुद्गलानां तत्र प्रवेशादेकद्विधादिज्जीवपु-द्गलपृथः सर्वथा तच्छून्यः वा कर्वाविश्लोकाः स्यादः, तैतद् इहामि-धं वेत्याद्यन्यदपि रूपवजासम्यपत्ति, नोच्यते इत्यथिस्तरभया-दिति । आकाशं तु जीवादिपदाद्यनामाचारः, अन्याऽनुपपत्ते-रस्तीति अद्वयम् । न च धर्माधर्मास्तिकायायेव तदाधारी जविष्यत इति वक्तव्यम् । तयोस्तद्विस्थितिसाधकत्वेनोक्त्वात् । न चाप्यसाध्यं कार्यमयः प्रसाधयति, अप्रसङ्गाह । इति षट्दधि-



इत्यनुभवश्च प्रतिप्रामाण्यत्वं चेदत्र न सिद्धत्वात् । क्लेशव्यस्तित्वमव-  
गतव्यस्य । न च सुखिनमस्तरणं दुःखस्य च सा युक्ता, अतिप्रसङ्गात् ।  
न च देहं पचास्य शुणी सुखते, यतो हानमस्मिन् चिद्रूपं लब्धं, इ-  
न्द्रियगोचरासीत्वादिधर्मापेक्षितम्, अतः सत्त्वानुसृष्ट एव कश्चिद्  
शुणी स्वभावश्चर्मायः स च जीव एव, च तु देहः, विपरितन्वात् ।  
यदि पुनरनुसृष्टोऽपि शुभानां शुणी कल्प्यते, तत्रैव न च । कपादि-  
शुभानामप्याकारादेव शुणित्यकल्पनाप्रसङ्गादिति । पुनस्तस्मिन्का-  
वस्थे तु धर्मादिकार्यान्वयाऽनुपपत्तः, प्रायश्चित्वाच्च सर्वं प्रति-  
तमेवेति । अणुः ।

अस्ति काषाणाभिलेखिकायव्यम्—

एते जंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसे धम्मत्थिकाए चि वत्त-  
व्वं सिया ? गोयमा ! गो इण्ठे समट्ठे, एवं दोभि वि तिभि  
वि चचारि एव ढ सत्त अट्ठ नव दस संसेजा अस्सेजेजा  
अंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसा धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सि-  
या ? गोयमा ! गो इण्ठे समट्ठे, एगपदेसूणे वि य एवं  
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया ? । गो इण्ठे समट्ठे,  
से केणहेणं भंते ! एवं बुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे नां  
धम्मत्थिकाये चि वत्तव्वं सिया, जाव एगपदेसूणे वि य एवं  
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । से एणां  
गोयमा ! खंनं चक्के सगले चक्के ? जगवं ? नो खंनं चक्के स-  
गले चक्के । एवं उच्ये धम्मे देसे एसे आउठे गोयए । से  
तेण्णं गोयमा ! एवं बुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे गां  
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सियां जाव एगपदेसूणे वि य एवं  
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । से किं  
खाइए एवं जंते ! धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । गोयमा !  
अस्सेजेजा धम्मत्थिकायप्पएसा, तं सत्त्वे कसिणा पटि-  
पुष्पा निरवसेसा एकगहणगहिंया । एस एवं गोयमा !  
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । एवं अट्ठमत्थिकाए चि ।  
आगमासत्थिकायजंतिवत्थिकायपोगलत्थिकाए चि एवं चेव,  
नवरं तियइं पि एपसा अणंता जाणियन्वा, सेसं तं चेव ।

( कंठे चक्के इत्यादि ) यथा अणं चर्कं चर्कं न भवति, अणु-  
चक्रमित्येवं तस्य व्यपदेश्यमानत्वात्, अपि तु सकलमेव चर्कं  
चर्कं जगति । एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशानाम्पूनां तं धर्मास्तिकाय  
इति वचनमः क्वादा । एतच्च तिष्ठत्यनवच्छेदम् । व्यवहारप्रय-  
त्ने तु एकदेशानामपि वस्तु वस्त्वेव । यथा अणुकोऽपि घटो घट  
एव, क्लृप्तकोऽपि भ्या भ्येव । अणति च—“एकदेशविकृतमन-  
व्यवहितम्” । ( से किं आएए चि ) अथ किं पुनरित्यर्थः । ( सत्त्वं  
चि ) समसत्त्वे च देशोपेक्षयाऽपि नवमिन्, प्रकारकस्त्वेऽपि  
सर्वेष्वव्यवृत्तः । इत्यत आह—( कसिण चि ) क्वादा न तु  
सत्कदेशोपेक्षया सर्वं इत्यर्थः । ते च स्वस्वजायचरहिता अपि भव-  
न्तीत्यत आह—अतिपूर्णां आत्मस्वकपेक्षाविक्रमाः, ते च प्रदेशा-  
न्तरायेकया स्वस्वजावन्मृता अपि तयोऽप्यन्तं इत्याह—( गिरव-  
केस चि ) प्रदेशान्तरनोऽपि स्वस्वभावेनामपूनाः । तथा—( एगमहा-  
यागहिंय चि ) एकप्रहरोऽपि केशाब्धेव धर्मास्तिकाय इत्येवं अणु-  
मेव शुद्धीना ये ते तथा, एकशब्दाभिधेया इत्यर्थः । एकाशो-  
-

ते शब्दाः । ( एपसा अणंता भाणियव्व चि ) धर्माधर्मयोरे-  
सम्बन्धोः प्रदेशा उक्ताः आकाशादीनां पुनः प्रदेशा जनता वा-  
क्याः ; अन्तर्गतदेशकामात्राणामपि । उपयागोप्यो जीवा-  
स्तिकायः प्रवर्णितः । प्र० २ श० १० उ० ।

प्रदेशानिवृत्तम्—

एयंसि एवं भंते ! धम्मत्थिकायअट्ठमत्थिकाएआमा-  
सत्थिकायंसि चकिया केइ आसइत्तए वा सुत्तए वा सि-  
द्धित्तए वा गिसंयत्तए वा, तुयइत्तए वा ! । गो इण्ठे समट्ठे,  
अणंता पुण तत्थ जीवा अणगाढा । से केणहेणं भंते ! एवं  
तुच्चइ—एयंसि एवं धम्मत्थि० नाव आगमासत्थिकायंसि नो च-  
किया केइ आसइत्तए वा० जाव आंगाढा । गोयमा ! से जहा  
एामए कूपागारसाला सिया इहुअंभो सिञ्जा गुत्ता गुत्तदुवाग  
जहा रायप्पसेण० उजे० नाव दुवारवयाणाइं पिहंति । दुवार०  
तंभे य कूपागारसालाए बहुमज्जेसेजए जट्ठेणं एकां  
वा दो वा तिभि वा । उक्कामेणं पदावसेहससं पत्ताविञ्जा,  
से खणं गोयमा ! ताअो पदावसेहसाअो अणमणसंभ-  
क्काअो अणमणसुद्धाअो० जाव अणमणसपवत्ताए चिद्धंति,  
इंता चाकिया एवं गोयमा ! केइ तासु पदावसेहसासु आसइ  
त्तए वा० जाव तुयइत्तए वा । जगवं ! गो इण्ठे समट्ठे ।  
अणंता पुण तत्थ जीवा आंगाढा । से नेणहेणं गोयमा !  
एवं बुच्चइ० जाव आंगाढा ॥

एतस्मिन् णमिति वाक्यालङ्कारे ( चक्रिण चि ) शब्दनुयात् ।  
कश्चित्पुरुषः । प्र० १३ श० ४ उ० ।

प्रमाणम्—

धम्मत्थिकाए नं जंते ! केमहाइए एणसे ? । गोयमा !  
लोए लोयमेसे डोयपपामे लोयकुडे डोयं चेव एुमिचा  
एवं चिट्ठइ । एवं अट्ठमत्थिकाए लोयाकामे जंतिवत्थिकाए  
पोगमत्थिकाएकाजिञ्जावा ॥

( केमहाइए चि ) सुसनाथप्रणयत्याश्रितेशस्य, किं महत्त्वं  
यस्यासौ किमहस्यः । ( लोए चि ) लोकां लोकप्रभिनित्यात्,  
लोकव्यपदेशज्ञा, उच्यते च—“पंचम्यिकायमयं लोयमित्यादि”  
लोकं चासौ बतते । इह चाभ्यहितवन्प्युकम् । शिष्यहितवादा-  
चार्यस्येति । लोकामात्रं लोकपरिमाणं, स च किञ्चन्युनाऽपि  
व्यवहारतः स्यादित्यत आह—( लोयपपामे चि ) लोकप्रमाणं  
लोकप्रदेशप्रमाणत्वात्प्रदेशानाम् । स चाप्युभ्यामुत्पन्नं स्थित  
इत्येतदेवाह—( लोयकुडे चि ) लोकं लोककारेण सक्तस्य-  
प्रदेशैः स्पृष्टा लोकस्पृष्टः । तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशैः  
स्पृष्टा तिष्ठतीति पुनरालोकायां लोकं स्पृष्टा तिष्ठतीत्यन्तरस्य-  
कर्मितः । प्र० २ श० १० उ० ।

एयं ग-धरस्तादिः—

धम्मत्थिकाए एवं कति वधे, कति भंथे, कति रसे, कति  
फासे ? । गोयमा ! अत्रथे अणंथे अरसे अफासे अरुवी  
अर्जाथे सामए अवडिणं लोएदव्वे, ते समासअो पंचवि-  
पणसे । तं महा-दव्वअो त्वचओ कालअो भावअो गु-

णञ्चो । दन्वञ्चो णं धम्मत्थिकाए एगे दन्वे, लेखञ्चो णो-  
 प्पमाएमेते, कालञ्चो न कयाइ न आसि न कयाइ न-  
 त्थि जाव निबे, भावञ्चो अवबे अंगथे अरसे अफासे,  
 गुणञ्चो गणगुणे । अण्धम्मत्थिकाए वि एवं चेत, नवरं गु-  
 णञ्चो ठाणगुणे । आगामत्थिकाए वि एवं चेत, नवरं ले-  
 खञ्चो एं आगामत्थिकाए होयाहोयप्पमाएमेते अणुंते  
 चव जाव गुणञ्चो अवगाहगुणे । जीवत्थिकाए णं भंते !  
 कइ वणे, कइ गेथे, कइ रसे, कइ फासे । गोयमा ! अवबे  
 जाव अरुवी जीव सासए अवहिए लोगदन्वे, स समासञ्चो  
 पंचविहे पएणत्ते । ते जहा-दन्वञ्चो ० जाव गुणञ्चो । दन्व-  
 च्चो णं जीवत्थिकाए अणुंताई जीवदन्वाई, लेखञ्चो णो-  
 प्पमाएमेते, कालञ्चो न कयाइ न आसि ० जाव निबे,  
 जावञ्चो गुण अवबे अंगथे अरसफासे, गुणञ्चो उव-  
 च्चोगुणे । पांगलत्थिकाए णं भंते ! कइ वणे, कइ गं-  
 धरसफासे । गोयमा ! पंचवणे पंचरसे चुंगथे अइफासे  
 रूवी अजीवे मासए अवहिए लोगदन्वे । से समासञ्चो पं-  
 चविहे पएणत्ते । ते जहा-दन्वञ्चो लेखञ्चो कालञ्चो भाव-  
 च्चो गुणञ्चो । दन्वञ्चो णं पांगलत्थिकाए अणुंताई दन्वाई,  
 लेखञ्चो लोयप्पमाएमेते, कालञ्चो न कयाइ न आसि ०  
 जाव निबे, जावञ्चो उवधमेतं गंधरसफासमेते, गुणञ्चो ग-  
 हणगुणे ॥

( अवधे इत्यादि ) यत् पचायणादित्त्वं पचाकूपी ध्रुमूर्धः, न तु  
 निःस्वभावः, नभः पर्युदासवृत्तित्वात् । शाश्वतां ह्यन्यतोऽव-  
 स्थितः प्रदेशतः ( लागदन्वे चि ) होकस्य पञ्चस्तिकायात्म-  
 कस्यांशान्तं ह्यन्यं लोकद्वयम् । भावत इति पर्यायतः ( गुण-  
 च्चो चि ) कार्यतः [ गणगुणे चि ] जीववुज्जलानां गतिपरिण-  
 तानां गत्युपग्रहहेतुः, मास्थानां जलामिधेति । [ ठाणगुणे चि ] जी-  
 वपुज्जलानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपग्रहहेतुः, मन्वसानां स्थल-  
 मिधेति । [ अवगाहणगुणे चि ] जीवादीनामवकाशहेतुः, धरुदरानां  
 कुलमिधेति । [ उवचोगुणे चि ] उपयोगक्षैतन्यं साकारानाका-  
 रमेधेति । [ गहणगुणे चि ] प्रवर्णं परस्परं च सम्बन्धनं जीबन  
 वा, भौदार्गिकादिभिः प्रकीरति । अ० २ श० १० उ० ।

अवगाहनाद्यर्थः-

धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमाहाए पएणत्ते ! गोयमा !  
 होए होयमेते लोयप्पमाए होयक्कहे लोयं वेय ठमाहि-  
 द्वाए चिट्ठवि, एवं जाव पांगलत्थिकाए । अइहे होए णं  
 जंते ! धम्मत्थिकायस्स केवइयं अंगोठे । गोयमा ! साइरं  
 अण्धं अंगोठे, एवं एएणं अजिजावेणं जहा वियइएणं  
 जाव ईसिप्पन्जारानं । जंते ! पुइवीहोयागासस्स किं सं-  
 खेज्जजागं अंगोठा पुच्छा । गोयमा ! णो संखेज्जजागं  
 अंगोठा, असंसंखेज्जजागं अंगोठा, णो संखेज्जजागो  
 अंगोठा, णो असंसंखेज्जजागे अंगोठा, णो सच्चं लो-  
 यं अंगोठा, सेसं तं चव ।

“धम्मत्थिकाएणं भंते !” इत्यादिवाक्याणः; तत्र च नवरं  
 केवलं “लोयं वेय कुसित्थानं चिट्ठवि” । एतस्य स्थान-  
 “लोयं वेव ओगाहित्थानं चिट्ठवि” इत्ययमिहायो वदय इति ।  
 अ० २ श० २ उ० ॥  
 ( अस्तिकायानां विषयेऽभ्ययुधिक्केः सह विप्रतिपत्तयः ‘अयणु-  
 त्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे ४५६ पृष्ठे दर्शितः )  
 मध्यप्रदेशाः-

कइ णं जंते ! धम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता !  
 गोयमा ! अइधम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता ।  
 कइ णं जंते ! अइधम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता ।  
 गोयमा ! एवं केव । कइ णं जंते ! आगामत्थिकायस्स मज्झ-  
 प्पदेसा पत्थत्ता ! गोयमा ! एवं चव । कइ णं जंते ! जीवत्थि-  
 कायस्स मज्झप्पदेसा पत्थत्ता ! गोयमा ! अण्ध जीवत्थिकाय-  
 स्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता । एएसि णं जंते ! अइ जीव-  
 त्थिकायस्स मज्झप्पदेसा कइणु आगामपदेसेणु अंगोठा  
 हूँति ? गोयमा ! जइएणेणं एकंसि वा दोहिं वा तिहिं  
 वा चउहिं वा पंचहिं वा इहिं वा उकोसेणं अइणु णो  
 वेव णं मत्तसु । सेवं भंते ! भंते ! चि ॥

प्रत्येकं जीवानामित्यर्थः । ते च सर्वस्वामवगाहनायां मत्प-  
 ज्ञाग एव जन्वन्ति इत्यप्रदेशा उच्यन्ते । जहन्नेणं एकंसि वे-  
 य्यादि । सङ्घाविकाशधम्मत्थिकायत्तमा । ( उक्तासणं अइणु  
 चि ) एकैकस्मिन्नेव तेषामवगाहनात् । ( नो वेण एं सत्तसु ति )  
 वस्तुस्वभावाविति । अ० २ श० ४ उ० इत्या० । ( अस्तिका-  
 यविषये काशोदायिसंवादः ‘अणउत्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव मा-  
 वे ४५६ पृष्ठे दर्शितः )

अभित्यकायधम्म-अस्तिकायधर्म-पुं० । अस्तयः प्रदेशास्तेषां  
 कायो राशिरस्तिकायः । स एव ( संख्या ) धर्मो गतिपर्याये जीव-  
 पुद्गलयांशोरणादित्यस्तिकायधर्मः । स्या० १० ज्ञ० । गत्युप-  
 ग्रहमलक्षणधर्मास्तिकायनामके ह्यन्यधर्म, स्या० १० ज्ञ० २० ॥  
 अभित्यक्त-अस्तिकय-न० । अस्तित्वात् अतिरस्वेदगस्तिकाः ।  
 तस्य जावः कर्म वा भास्तिरयथा । तस्यामत्परवणःऽऽपि जिज्ञो-  
 क्तनस्तयविषये निराकाङ्क्षायं प्रतिपत्तौ, य० २ अधि० । अस्तिका-  
 यादिविषयस्तिकाअध्यायाम्, वरी० । सन्ति चणु जिणको-  
 पदिष्ठा अतीन्द्रिया जीवपरत्तोकाद्ययो जावा इति । परिणामे,  
 य० २ अधि० । संधा० ।

अभित्यक्त ( न ) तिथिपचाय-अस्तित्वास्तिप्रवाद-न० । यद्यो-  
 के यथाऽस्ति यथा वा नास्ति; अथवा स्यात्वाजानिमायत-  
 स्तदेवास्ति, तदेव नास्तीत्येवं प्रवदतीति । स० । यइस्तु लो-  
 केऽस्ति धर्मास्तिकायादि, यथा नास्ति अरुणुइदि, तत्रवदती-  
 ति । अथवा सर्वं यस्तु स्वकल्पेनास्ति, परकल्पेन नास्तीति प्रव-  
 दतीति, अस्तित्वास्तिप्रवादम् । चतुर्थे पृष्ठे तु, न० । तस्य पदपरि-  
 भाणं पश्चिपद्यत्तसहस्राणि । स० । “अभित्यक्तियत्पचायपुण-  
 स्स णं अणरत्त वत्थुत्त वत्थुविया वत्थुपत्थत्ता” । न० ।  
 अभित्यक्त-अस्तित्त्व-न० । अस्ति-अथात्त्व । विद्यमानत्वे, दशा०  
 १ अ० । अर्थोपक्रयाकारित्ये, “वदेवाधिकाकारि तदेव परमाद्यं

सत्" इति बध्नात् । आ० म० छि० । [ 'क्षणियबाह' शब्देऽस्य उपपत्तिरुच्यते ] गुणभेदे, "तथाऽस्तित्वं परिक्रयं, सद्भूतत्व-गुणः पुनः" । तत्र इदं परिक्रय-सन्ततया यो जघत्त यस्मात्सद्भूततया व्यवहारो जायते, स चास्तित्वगुणः । उच्यते ०११ अथा० । धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्भूतस्तुति, अ० ।

बस्य बस्तुनो यथैवास्तित्वं तथैव ज्ञापयता तथैकरेण प्रकृत-मिति विश्वेद्येषुर्थावद् बस्तुपरिणामं दर्शयन्नाह—

से पूर्णं भंते । अस्थियं अस्थियं परिणमद्, एतस्थिं च एतस्थिं परिणमद् । इहा गोयमा ।० जाव परिणमद् ॥

( से पूर्णमित्यादि ) [ अस्थियं अस्थियं परिणमद् स्ति ] अस्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुल्यादिज्ञानेन सत्त्वम् । उक्तं च— "स-धर्मसिन् स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्वया सर्वभावात्ता-मेकरत्वं संग्रसज्यते" ॥ १ ॥ तत्रेह ऋतुव्यादिपर्यायरूपमव-सेवेत्तः, अङ्गुल्यादिकृत्यास्तित्वस्य कथं विदुःश्रुत्यादिपर्यायाव-तिरिक्तत्वात् । अस्तित्वेऽङ्गुल्यादेर्याङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वं ब्रह्मत्वादिपर्याय इत्यर्थः । परिणामात्-तथा भवति । इदमुक्तं भवति—द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां व-र्तते । यथा—सूक्ष्मस्य पित्तप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्ताया-मिति । ( नित्यत्वं नित्यत्वे परिणमद् स्ति ) नास्तित्वमङ्गु-ल्यादेरङ्गुल्यादिज्ञानेनासत्त्वम्, तच्चाङ्गुल्यादिज्ञान एव । तत-श्चाङ्गुल्यादीनांस्तित्वमङ्गुल्यादिस्वरूपमङ्गुल्यादीनांस्तित्वेऽङ्गु-ल्यादेः पर्यायान्तरेणास्तित्वरूपे परिणमति । यथा—शूद्रो नास्तित्वे तन्वापिकरं शूद्रास्तित्वरूपे वटे इति, अथवा अस्तित्वमिति धर्मधर्मिणोरभेदास्तित्वरूपे वटे इति, परिणमति । सत्त्वेदेव भवति, नात्यम्भं विनाश स्यात् । विनाशस्य पर्यायान्तरत्-मनाशकत्वात् । इति पादि विनाशस्यैव तमिच्छादिकृततया परिणामात् । तथा नास्तित्वमन्वयान्तरतां जातीयत्वं च स्वरविधा-यादि, तत्रास्तित्वेऽन्वयान्तरा एव वर्तते । नात्यन्तमसतः सत्त्वमस्ति, स्वरविषयस्येति । उक्तं च— "नासतो जायते भावो, नाजातो जायते सतः" । अथवा अस्तित्वमिति धर्मे-भेदास्तित्वे सत्त्वं वर्तते । यथा—पटः पटत्वं एव । नास्तित्वं चाह—नास्तित्वे सत्त्वं वर्तते, यथाऽपटोऽपटत्वं एवेति ।

अथ परिणामदेतद्दर्शनावाह—

जं तं भंते । अस्थियं अस्थियं परिणमद्, एतस्थिं च एतस्थि-त्वे परिणमद्, तं किं पद्मोगसा, वीससा । गोयमा । प-द्मोगसा वि तं वीससा वि तं ॥

( जं तमित्यादि ) ( अस्थियं अस्थियं परिणमद् स्ति ) पर्यायः पर्यायान्तरतां यातीयर्थः । ( एतस्थिं च एतस्थिं परिणमद् स्ति ) व-स्त्वन्तरत्वं पर्याय-तत्पर्यायान्तरतां यातीयर्थः । ( पद्मोगसा स्ति ) सकारस्याऽऽगमिकत्वात्प्रयोगेण जीवव्यापारेण । ( वीसस स्ति ) यद्यपि लोकं विस्मयान्शब्दोऽत्रापर्यायतया कृतसत्तायां ह्यस्मा-त्तापोऽदहः इह प्राकृतत्वाद् 'वीससा' इति वाच्ये धीसत्सेत्युक्त-मिति । अत्रोत्तरम्—(पद्मोगसा वि तं ति) प्रयोगेणापि तदस्ति-त्वादि, यथा—कुलालत्वापाराद् मृत्पिण्डो घटतया परिणमति, अङ्गुलिभङ्गुला वा वक्तव्येति । अपिः समुत्थयेति । ( वीससा स्ति-तं ति ) यथा—शूद्राश्चमशूद्राश्चनया । नास्तित्वस्यैव नास्तित्व-परिणामं प्रयोगविज्ञस्येति ताभ्यं बाहुरव्याजि । बस्यन्तरायेक-

या मृत्पिण्डादेरस्तित्वस्य नास्तित्वात् । सत्त्वेदेव स्यादिति व्या-ख्यानान्तरेऽप्येतान्येयोर्बाहुरव्याजि, पुनोत्तरावस्थयोः सद्भूतत्वा-दिति । यद्व्यवजावोऽजाव एव स्यादिति व्याख्यातम्, तथापि प्र-योगेणापि तथा विज्ञस्यत्वाऽपि अजावो भाव एव स्यात्, न प्र-योगादेः साफल्यमिति व्याचक्षेयमिति । ज० ।

अप्योक्तस्वरूपस्यैवायं सत्यत्वेन प्रज्ञापनीयतां दर्शयितुमाह— से पूर्णं जंते ! अस्थियं अस्थियं गमणिजं जहा परि-णमद् दो आलावगा, तद्वा गमणिजेण वि दा आलावगा ज्ञाणियत्वा, जाव तहा मे अस्थियं अस्थियं गमणिजं, जहा ते जंते ! एत्थं गमणिजं, तहा ते इह गमणिजं, जहा ते इह गमणिजं तहा ते इत्थं गमणिजं । इहा गोयमा ! जहा मे इत्थं गमणिजं तहा मे इह गमणिजं ॥

अस्तित्वमन्वये गमनीयं सद्भूतत्वेत्येव प्रज्ञापनीयमित्य-र्थः । ( दो आलावग स्ति ) से पूर्णं जंते । अस्थियं अस्थियं गमणि-जमित्यादि । 'पद्मोगसा वि तं वीससा वि तं' इत्येतदन्त एकः, परिणामभेदाभिधानात् । 'जहा ते जंते ! अस्थियं अस्थियं गमणियं गमणियमित्यादि' तथा 'मे अस्थियं अस्थियं गमणिजं' इत्येतदन्तस्तु द्वितीयोऽस्तित्वनास्तित्वपरिणामयोः समता-मिधाधीनि । एवं बस्तुप्रकृतविषयं समभाषणं प्रगतयोऽ-जिधायया प्रियविषयं तां दर्शयन्नाह—जहा ते इत्यादि यथा स्त्रियापरकीयताऽन्येषु तथा समवेन विहितमिति प्रकृत्या उप-पकारबुद्ध्या वा ते तत्र भवन्ति । [ एत्थं स्ति ] यत्स्मिन्म-यि सन्निहिते स्थित्ये गमनीयं बस्तुप्रज्ञापनीयम् । तथा तमेव समताज्ञहृत्प्रकारेण उपकारयित्वा वा [ इहं ति ] इहास्म-द् शूदिपात्काधिकारी जने गमनीयं बस्तुप्रकाराशुनीयमिति प्रक-ृत्या वा [ एत्थं ति ] स्वाभानि यथा गमनीयं सुलाभित्यादि, तथा इह परात्मनि । अथवा यथा प्रत्यक्षाधिकारकत्वात्तया एत्थमि-त्यतच्छब्दरूपमिति गमनीयम्, तथा इह इत्थमित्यतच्छब्दरू-पमिति, समानार्थत्वाच्चोदरपीति । ज० १ श० ३ उ० ॥

अस्थिभाव-अस्तिजाव-पुं० । विद्यमानभावे, "अस्थिभावा स्ति वा विद्यमानभावा स्ति वा यद्गद्" आ० शू० १ अ० ।

अस्थि (यि) र-अस्थिर-त्वि० । न० त० । प्राकृते— "सद्यश्च-भाम्" ङ । १ । ७७ । इति ध्वयं प्राप्तमपि इत्थं प्राथिकत्वाच्च जवति । प्रा० । अह्ने, श्रोत्रो अन्तरे, नि० शू० २ उ० । घृति स्तद्वनदीन्तरेन बलदांनि, व्यं २ उ० । बल्ले अ० २० अ० । अपरिचिन्ते, "अस्थिरस्तु पुत्र्यवहियस्तु वसन्ता जं इह धि-रीकरणं" पञ्जा० १२ वि०० । जर्षे, आवा० २ शू० ३ अ० २ उ० । अस्थास्तुद्रव्यं, ज० ।

अस्तिरं प्रकटति स्थिरं वा प्रकटति इति चिन्तयन्नाह—

से पूर्णं जंते ! अस्थिरे पत्तोद्द, नो थिरे पत्तोद्द, अ-स्थिरे जज्जद, नो थिरे जज्जद, सासए बासए बालियत्तं असासयं मासए पंडिह पंडियत्तं असासयं, सेवं जंते ! अस्थिरे पत्तोद्दयद् ० जाव पंडियत्तं असासयं, सेवं जंते ! ति० जाव विहरद् ।

( अस्थिरे स्ति ) अस्त्वस्तु द्रव्यं लोष्टादि, प्रकटति परिचयते, अ-

ध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तस्य जीवप्रदेशोऽयः प्रतिसमयव्य-  
 खनेनस्थिरत्वात् प्रबोधयति, बभोधयतिअर्जरादिपरिणामैः प-  
 रित्वेनैत, स्थिरं शिलादि । अर्थात्मचिन्तायां ह्यु-  
 स्थिरो जीवः, कर्मकृत्येऽपि तस्य अवस्थितत्वात्सौली प्रबोधयति,  
 उपयोगप्रकृत्यास्वभावात् परिचयते । तथा अस्थिरं ज्ञानरत्नमात्रं  
 नृणादि प्रकल्पे विदलयति । अर्थात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म त-  
 ज्ञानत्वे स्थयति । तथा स्थिरमभङ्गुरमयःश्लाघादि ब प्रकल्पे,  
 काश्चात्मचिन्तायां स्थिरो जीवः, स च न भङ्गते, शाश्वतत्वादि-  
 ति । अथप्रस्ताभादिदमाह—( सासप बाहय वि ) बाह्यकं  
 व्यवहारतः शिष्टुः, निश्चयतोऽस्यतो जीवः, स च शाश्वतः, दृश्य-  
 त्वात् । ( बाहियश्च ति ) बहु कल्पयत्यस्यार्थिकात्शाश्वतत्वम्,  
 व्यवहारतः शिशुत्वम्, निश्चयतस्त्वस्यतत्त्वम् । तच्छाशाश्वतम्,  
 पर्यायत्वादिति । एवं परिकृतसूत्रमपि, नवरं परिकृतं व्यवहारैरेण  
 शास्त्रको जीवः, निश्चयतस्तु चयत इति । अ० १ हा० ए ७० ।  
 अन्त्ये च, स्थिरा नाम यत् तत्रैव गृहाण, अस्थिरा येनाम-  
 न्यत्र गृहाण । वृ० १ उ० ।

अस्थि ( वि ) रज्जु-अस्थिरश्चट्क-न० । अस्थिराश्चुभङ्गमेग-  
 दुःस्वराभावाद्वाऽयशःकारिणिकृपे नामकमेज्ज्चट्के, कर्म० १  
 कर्म० ।

अस्थि ( वि ) रराम ( ए )-अस्थियामन्-न० । यद्दया-  
 त्कण्ठेऽज्ञाद्यवयवा अस्थिराक्षयत्वा प्रवृत्ति, तस्मिन् नाम-  
 कमेज्ज्के, कर्म० १ कर्म० ।

अस्थि ( वि ) रतिग-अस्थिराश्चिक-न० । अस्थिराऽञ्जुजाऽ-  
 यशःकारित्संके कर्मधिके, कर्म० ४ कर्म० ।

अस्थि ( वि ) रदुग-अस्थिराश्चिक-न० । अस्थिराश्चुजाये  
 कर्मधिके, कर्म० २ कर्म० ।

अस्थि ( वि ) रव्य-अस्थिराश्चत-वि० । अस्थिराणि पृथीत-  
 मुक्तना चलानि प्रतापस्थेयोरस्थिरव्रतः । कदाश्चिद् व्रतं शु-  
 रइति कदाश्चिद् मुञ्चति । उच० २० श० ।

अस्थि ( वि ) नाय-अस्तिवाद्-पुं० । स्वतं वस्तुनां स्वका-  
 भ्युपगमं, यथा—“ अस्थि य शिषोः कुण्डे, कथं च येयद् अस्थि  
 जिगम्यते, अस्थि य मोक्षोवाभोः, सः सम्पत्स्येऽजानाह” ॥१२॥  
 प्र० १४४ हा० । एतमेवास्तिवाद्-सम्पत्स्येऽजानाह इत्यर्थेऽपि  
 आशयानि । शी० । लोकार्थानां वस्तुतः सतामस्तित्वमङ्गीकार्ये-  
 मेवाभ्युपगमात् स्वनाच्चार इति ।

संशय्यव्यादिप्रतिनासेन लोकार्थानांकोः प्रविभागोनास्तित्वं  
 प्रतिपादयितुमाह आह-

एति लोए अलोए वा, एवैं सभं निवेशए ।  
 अस्थि लोए अलोए वा, एवं सभं निवेशए ॥ १३ ॥  
 यदि वा सर्वत्र धीयमस्ति, नास्ति सर्वत्र धीयम्, इत्यनेन ल-  
 प्राप्तेन वस्तुस्तिवस्तुमुक्तम् । तथाहि-सर्वत्र वस्तुनो धीं श्रु-  
 र्थाक्रियासामर्थ्यं मनसः स्वविषयज्ञानोपादानम्, तथैकान्तना-  
 स्यताभावात्प्रकृत्यविभागेदरेरवस्तुत्वं संज्ञां न निवेशयते, स-  
 र्वत्र धीयं नास्तीति नो एवं संज्ञां निवेशयते इति । अनेनावाशिष्टं  
 वस्तुस्तिवत् प्रसाधितम् । पृथानं तस्यैव वस्तुन इवादिज्ञो-  
 वितत्वेन लोकार्थानांकोः प्रविभागोऽस्तित्वं प्रसाधयन्माह—( अस्थि लोए

अलोए इत्यादि ) लोकार्थानांकोः प्रविभागोऽस्तित्वं प्रसाधयन्माह—  
 अस्तिवात्सामको वा स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयते ।  
 तथाऽऽकार्यास्तिसामकोऽस्तित्वेऽपि, स च न विद्यते एवत्येवं  
 संज्ञां नो निवेशयते । तद्भावात्प्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम् । त-  
 यथा-प्रतिभासमानं वस्तुव्यवहारैरेण वा प्रतिभासते, प्रवृत्त-  
 विद्यारोषेण वा । तत्र न तावद्व्यवहारैरेण प्रतिभासन्नमुत्पद्यते, निरं-  
 शरपरमाणुनां प्रतिभासमानासंभासत्वात्पूर्वातीत्याजगत्स्य परमा-  
 एवात्मकत्वात्, तेषां च ह्युत्पत्त्यविज्ञानेन ह्युत्पत्त्यावस्थात्वात् । तथा  
 चोक्तम्—“यावत् इदं परस्ताव-ज्ञानं स एव न दृश्यते । निरंशस्य  
 च जागृत्य, नास्ति उपलब्धरीणम्” ॥१॥ इत्यादिः नाप्यव्यवहारैरेण  
 विकल्पमानस्यावयविन एवाभावात् । तथाहि-असौ स्वावयवेषु  
 प्रत्येकं सामस्येन वा वनेताम्, प्रशांशिभाषेन वा । सामस्येनाप्य-  
 यविवह्युत्पत्त्यसंज्ञात् । नाप्येतेन, पूर्वविकल्पानात्मकमानवस्थाप्र-  
 सङ्गात् । तस्मात्प्रतिपत्तिव्यवहारैरेण न कथंविद्यत्त्वात्मकं मानं लभते । त-  
 तस्तत्सर्वमेवैतन्मायास्वप्नेऽज्ञानलक्ष्मणरीचिकाविविज्ञानसदृशम् ।  
 तथा चोक्तम्—“यथा यथाऽर्थोऽभिप्रेत्यते, विद्विष्यते तथा तथा ।  
 यद्येते स्वयमर्थिन्यो, रोचन्ते तत्र के वयम् ?” ॥१॥ इत्यादि । त-  
 देव वस्तुत्वादे तद्विशेषलोकार्थानांकोः सिक एवत्येवं नो संज्ञां  
 निवेशयते, किन्त्यास्ति लोकार्थानांकोऽपि तस्यैवैवासाक्षात्प्रमाणसि-  
 त्कटित्यस्तकरुद्रुभयुत्पत्त्येऽपि, पञ्चास्तिसामकोऽनुपपत्ते-  
 रिति भावः । शुकिस्या-यदि सर्वे नास्ति, तत्र-सर्वान्तःपातित्वा-  
 त्प्रतिपत्तिव्यवहारैरेण नास्ति, इत्यतस्तद्भावात् प्रतिपत्तिभावाद्येव  
 सति परमायैतत् वस्तुनि मायास्वप्नेऽज्ञानादिव्यवहारः । अथ-  
 या किमाश्रित्य, को वा मायादिकं व्यवस्थापयतु ? इति । अथि-  
 च—“सर्वाज्ञावो यथाभीष्टे, पुन्यव्याजे न सिध्यति । सास्तिवित्से-  
 व नस्त ये, तस्मिन् सर्वेषु वस्तु सत्” ॥१॥ इत्यादि । यद्व्यवय-  
 वावयविभागकल्पनाया इष्टमपि धीयते, तद्व्याहृतमताजि-  
 वेन । तस्मत्तं चैव नूतम् । तद्यथा-भैकान्तेनावयव एव, नाप्य-  
 व्यवयेव वेत्यतः स्वाहात्वात्प्रमाणपूर्वोक्तविकल्पद्वेषानुपप-  
 त्तिरित्यतः कथंविद्येकोऽस्त्वैवमलोकोऽपि ति स्थितम् ॥१३॥

तद्वैवं लोकार्थानांकोः प्रविभागोऽस्तित्वं प्रसाधयन्माह—  
 जीवाजीवयोः रस्तित्वप्रतिपादान्माह-

एति लोए अलोए वा, एवैं सभं निवेशए ।  
 अस्थि जीवा अलोए वा, एवं सभं निवेशए ॥ १३ ॥  
 ( लुपि जीवा अलोए वेत्यादि ) जीवा उपयोगलक्षणाः  
 संसारिणो मुक्ता वा, तेन विद्यन्ते-तथा अजीवाश्च, धर्माधर्माका-  
 शपुद्गलकालात्मका गतिस्थित्यवस्थाइदंनस्युत्पाद्यतापिप्रातिप-  
 त्तैनालक्षणा न विद्यन्ते इत्येवं संज्ञां परिज्ञानं नो निवेशयते, ना-  
 स्तिव्यवहारैरेण त्विदम्, प्रत्यङ्गानुपलब्धमानत्वात् । जीवा न  
 विद्यन्ते, कायाकारपरिणयतानि ज्ञानाद्येव चावन्वयनानादिकर्माक्रियां  
 कुर्वन्तीति । तथाऽऽस्ताद्वैतवाद्यतताभिप्रायेण—“पुरुष एवेह सर्वं  
 यद्भूतं यच्च भाव्यम्” इत्यामगात् । तथा अजीवा न विद्यन्ते, सर्व-  
 द्यैव वेतनावेतनस्वाम्यमानविवर्तिव्यात्, नो एवं संज्ञां निवेशय-  
 त् । किं त्वस्ति जीवः सर्वस्यास्य सुखदुःखादेर्निबन्धनवृत्तः स्व-  
 र्वावयवसिद्धिः ॥१३॥ इत्यवयवाः ॥ तथा तद्वास्तिरिका धर्माधर्माका-  
 शपुद्गलाद्व्यवहारैः । सकलप्रमाणस्येष्टेन प्रत्यङ्गानुपलब्धमान-  
 त्वात् । तदुत्पत्तौ दूतकैः प्रमाणैः वाच्यः । किं त्वानि अजीवाश्च-  
 त्तेनास्ति नूतमभिप्रेत्यादि अस्तिव्याप्तिः । यदि किञ्चित्, तत्रोऽपि-

धृतानुप्राप्तधिरकस्वभावात्स्वयं कायाकारपरिणतेऽप्युपगमः । नापि प्रागधिष्यमानस्य चैतन्यमुत्पद्यते, आद्योद्विग्नविद्यमाने तावदधिष्यमाणम्, प्रतिप्रसङ्गात्, धन्युत्पादनागमनोपात्ता । अथ विद्यमानमेव सिद्धं तर्हि जीवत्वं तथाऽस्माद्धैतवाद्यपि वाच्यः । यदि तु कथमात्रमेवेदं सर्वम्, कथं यदपरमसिद्धु चैतन्यं नोपलभ्यते ? तथा तद्वैकल्पिककथनानां पक्षहेतुदृष्टान्तानामभावात्स्वायत्साक्षात्तत्वाभावः तस्मात्सैकान्तेन जीवार्थोपचारात्, अपि तु सर्वपदार्थानां स्वात्तन्त्र्याभावात्साक्षात्तः स्वाद्यजीवः अजीवोऽपि च स्वाक्षात्तः । इत्येतच्च स्वात्तन्त्र्याभावं जीवपदवृत्तयोरन्योन्यानुगतयोः शरीरस्य प्रत्यक्षतयाऽप्यस्यैवोपसम्पन्नब्रह्मस्यमिति ॥ १३ ॥

जीवास्तित्त्वे च सिद्धे न विद्यमानयोः स्वसत्कित्याहाराऽऽप्यतपोधर्मार्थमधर्मोपरस्तित्वप्रतिपादनात्—

गतिथि धर्मो अप्रथमे वा, ऐवं सन्नं निवेशए ।  
अतिथि धर्मो अप्रथमे वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ १४ ॥

( गतिथि धर्मो अप्रथमे वेत्यादि ) धर्मः श्रुतचारित्राख्यात्मको जीवस्वयामपरिणामः कर्मकृत्यकारणमात्मपरिणामः, एवमधर्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकथायोग्यरूपः कर्मबन्धकारण-मात्मपरिणाम एव । तावैर्भङ्गुतो धर्मोऽधर्मो कालस्वजावनियतो-भ्रारदिप्रतेन न विद्यते इत्येवं सन्नां नो निवेशयेत् । कालादय एवास्त्य सर्वस्य जगद्विषयस्य धर्मोऽधर्मव्यतिरेकेणकालतः कारणमित्येवमभिप्रायं कुर्यात्, यतः त एवैकका न करणम्, कारणतिसमुदितो एवेति । तथा चोक्तम्—“ न हि कालादीहितो, केवलेदितो जायए किंचि । इह समंभे भणान् चि, ता सन्ने समुदिया हेज् ” ॥१॥ इत्यादि । यतो धर्मोऽधर्मन्तरेण संसार-वैश्वस्यं न घटामियति, इत्येतोऽस्ति धर्मः सम्यग्दर्शनादिकः, अधर्मश्च मिथ्यात्वादिक इत्येव सन्नां नो निवेशयेदिति ॥१४॥

सतोश्च धर्मोऽधर्मयोर्बन्धमोक्षसद्भाव इत्येतद्वर्शयितुमाह—  
गतिथि बंधे च मोक्त्वे वा, ऐवं सन्नं निवेशए ।  
अतिथि बंधे च मोक्त्वे वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ १५ ॥

[ गतिथि बंधे च मोक्त्वे वा इत्यादि ] बन्धः प्रकृतिस्वियजुभावाप्र-दृशात्मकतया कर्मपदवृत्तानां जीवेन स्वव्यापारनः स्वीकरणम् । स चासूक्ष्मस्वात्मनो गगनस्थे च विद्यत इत्येवं नो सन्नां निवे-शयेत् । तथा तदभावाच्च मोक्षस्वाप्यभाव इत्येवमर्थं सन्नां नो निवेशयेत् । कथं तर्हि सन्नां निवेशयेत् ? इत्युक्तान्तं दर्शयति-अस्ति बन्धः कर्मपदवृत्तौ जीवस्य, इत्येवं सन्नां निवेशयेदिति । य-क्तव्यते—मूषेस्वाम्युर्ध्वमता संबन्धो न उपपत्त इति । तदुक्तम् । आकाशस्य सर्वम्यापितया पुद्गलैः संबन्धो नुनिवार्यः, तदभावे तज्ज्ञापित्येव न स्वाद्यः । अन्यथास्य विज्ञानस्य ह्यूपरमदिरा-दिता विकारः सनुपलभ्यते, न चासौ संबन्धमूते । अतो यत्कि-ञ्चिदत् । अपि च—संसारिणामसुमत्तं सदा तेजसजगन्नाश-रीरसज्जावादात्यन्तिकमसूक्ष्मत्वं न भवतीति । तथा तद् प्रतिप-क्षन्तो मोक्षोऽप्यस्ति, तज्ज्ञेय बन्धस्वव्याप्रावः स्वाद्य, इत्यतोऽशे-वन्धनापगमस्त्वभावां मोक्षोऽस्तित्वेवं सन्नां निवेशयेदिति ॥१५॥

बन्धसज्जावे चावश्यंभावी पुण्यपापसज्जाव इत्यतस्तज्ज्ञाव-निवेशयार्थाह—

गतिथि पुण्ये च पात्रे वा, ऐवं सन्नं निवेशए ।  
अतिथि पुण्ये च पात्रे वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ १६ ॥

नास्ति न विद्यते पुण्यं श्रुतकर्मप्रकृतिब्रह्मणम्, तथा पापं तद्वि-पर्ययलक्षणं नास्ति न विद्यते इत्येवं नो सन्नां निवेशयेत् । तदभा-वप्रतिपत्तिनिबन्धनं तिष्ठत्—तत्र केषां चिन्नास्ति पुण्यं, पापमेव श्रुतकर्मावत्वं सत्सुखदुःखान्तिबन्धनम् । तथा—परंवाचं पापं नास्ति, पुण्यमेव श्रुतकर्मावत्वं पापं कार्यं कुर्यादिति । अन्येवं तु मयमपि नास्ति । संसारवैश्वस्यं तु नियतिस्वभावादिप्रकृतम् । तदेवदुष्क-म् । यतः पुण्यपापश्री संबन्धिप्रशुद्धौ, संबन्धिप्रशुद्धानामेकस्य सत्ता परस्वसामान्तरियकतो, नेतरस्य सत्ता । तादृशनाभावः शक्यते बक्तुम्, निबन्धनस्य जगद्वैश्वस्यस्वभावात् । न हि कारणमन्तरेण क्वचित्कार्यस्यापत्तिदृष्टा । नियतिस्वभावादिवा-दस्तु नष्टोत्तराणां पादप्रसारिकाणां पादप्रसारिकाप्रायः । अपि च—तज्ज्ञेयऽप्युपगम्यमाने सकलकिमप्यवैयर्थ्यं, तत एव सकल-कार्योत्पत्तिः । इत्यतोऽस्ति पुण्यं पापं ज्ञेयं सन्नां निवेशयेत् । पुण्यपापे वैवं रूपः, तथाथा—“ पुद्गलकर्मज्ञानं च—तन्पुण्यमिति जिनशासनं दृष्टम् । यदनुगतम् तथापि—मिति भवति सर्वैक-निर्दिष्टम् ” इति ॥ १६ ॥

न कारणमन्तरेण कार्यस्योपपत्तरतः पुण्यपापयोः प्रायु-क्तयोः कारणभूताभावसंबन्धी तत्रप्रतिपक्षधरंश्च दर्शयितु-काम आह—

गतिथि आसवे संबन्धे वा, ऐवं सन्नं निवेशए ।  
अतिथि आसवे संबन्धे वा, एवं सन्नं निवेशए ॥१७॥

( गतिथि आसवे संबन्धे वेत्यादि ) आश्रयति प्रविशति कर्म येन स प्राणानिपातानादिकम् आश्रयः कर्मोपादानकारणम् । तथा-तन्निरोधः संवरः एतौ ज्ञापयि न स्त इत्येवं सन्नां नो निवेश-येत् । तदभावात्प्रतिपत्त्या शङ्कराकरणं तिष्ठत्, कायथाज्ञानकर्म-योगः स आश्रय इति श्रेयश्चतुःसं तथेदमप्युक्तम्—“ उच्चा-लियमि पाए इत्यादि ” ततश्च कार्यादित्यापारेण कर्मबन्धो न भवतीति । श्रुतिरपि—किमयमाश्रय आत्मनो भिषः उताऽमि-श्रः ? । यदि भिषो नामासावाश्रयो घटादिवद्भेदोऽपि नाश्र-वत्वम्, सिद्धात्मनामपि आश्रयप्रसङ्गात् । तदभावे च नश्रिरो-धलक्षणस्य संवरस्याप्यभावः सिद्ध एव । इत्येवमात्मकमप्यध-सायं न कुर्यात् । यतो यत्तदनैकान्तिकत्वं कायव्यापारस्य “ उच्चालयमि पाए ” इत्यादिनां क, तदस्माकमपि सम्मतमेव । यतोऽयमस्माभिरप्युपपृक्तकर्मबन्धोऽप्युपगम्यते । निरुपयुक्तस्य कर्मबन्धः, तथा भेदभिदात्मपक्षसमाश्रयणात्तदकर्मव्याधि-तदोपाभावः । इत्यस्याश्रयसज्जावः, तन्निरोधश्च संवर इति । उक्तं च—“ योगः श्रुत्यः पुण्या-ध्वस्तु पापस्य तद्विपर्यासः । वाङ्मायमेगुति-निराश्रयः संवररक्तुः ” ॥१॥ इत्यतोऽस्व्या-श्रवस्तथा संवरश्चेत्येवं सन्नां निवेशयेदिति ॥१७॥

आश्रयसंवरसद्भावे चावश्यंभावी वेदान्तिजैरासद्भावे इत्यतस्तं प्रतिपक्षयार्थाह—

गतिथि वेयणा णिज्जरा वा, ऐवं सन्नं निवेशए ।  
अतिथि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेशए ॥१८॥

( गतिथि वेयणेत्यादि ) वेदानां कर्मोत्पन्नलक्षणा, तथा-निजैरा क-र्मपुत्रशादानलक्षणा । एते द्वे अपि न विद्यते, इत्येवं नो सन्नां नि-वेशयेत् । तदभावं प्रत्याशङ्कारणमिदम् । तथाथा—“ पण्योपम-सागरोपमशतानुभवमर्थं कर्मोत्पन्नं नैवैव ह्ययमुपपाति ” इत्य-म्युपगमात् । तदुक्तम्—“ जं अशासी कम्मं, खेदं बहुर्यापि ” ह्य-

कोडीहि । तथाची तिदि शुभो, अवेद ऊसासमितेभं ॥ १ ॥ इत्यादि । तथा क्षपकभेष्यां कं ऋतित्देव कर्मणो अस्माकर-  
 खाद्य, यथाक्रमबद्धस्य आनुभवनाभावे वेदनाया अभावस्तद्-  
 मावाचक्ष निजेराया अप्रतीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । किमिति ?  
 यतः कस्याचिदेव कर्मण एवमनन्तोऽरकया मीत्या क्षपणास-  
 पत्या अवेदानुभवेन आपरपसा पुर्यादीरक्षाभ्यामुपवनमित्य-  
 त्यतोऽस्ति वेदना । यत आगमोऽप्येवंभूत एव । तद्यथा—“ पु-  
 षिब बुष्णिषाणं, पुष्पदिकनाण कम्पार्णं । वेष्टा मोक्षकां क्षुण्धि  
 अवेष्टा ॥ ” इत्यादि वेदनासिद्धौ कं निजेराऽपि सिद्धैत्य-  
 तोऽस्ति वेदना निजेरा वेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १८ ॥

वेदाननिजेरे कं क्रियाऽक्रियेत्ये ततस्तद्भावप्रतिषेधनिषेध-  
 र्थं इष्टयितुमाह—

एत्थि किरिया अक्रिरिया वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।  
 अत्थि किरिया अक्रिरिया वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ १९ ॥

( एत्थि किरिया अक्रिरिया वा इत्यादि ) क्रिया परिस्पन्-  
 लक्षणा , तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया , ते द्वे अप्रति न स्तो न विद्येते ।  
 तथाहि—सांस्थानां सर्वव्यापित्वादात्मन आकाशस्येव परि-  
 निस्पन्दिका क्रिया न विद्येते । शाक्यानां तु ज्ञापिकत्वा-  
 त्सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमन्यथा वाऽन्यथोत्पत्तेः पदार्थस-  
 नैव, न तद्धानिरिक्षा काबिक्रियाऽस्ति । तथा चोक्तम्—“ भू-  
 तिन्येषां क्रिया सैव, कारकस्यैव चोच्यते । ” इत्यादि । तथा  
 सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमन्यथाऽन्तरात्मनाऽक्रियात्वम्, अतो न  
 क्रिया विद्यते इत्येवं संज्ञा नो निवेशयेत् । किं तर्हि—अ-  
 स्ति क्रिया अक्रिया वेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि—शरी-  
 रात्मनोऽंशोऽंशोऽन्तरात्मानिमिमासा परिस्पन्द्यात्मिकः क्रिया प्र-  
 त्यक्षणेनोपमात्र्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वं चात्मनोऽनुपगम्यमा-  
 न गमनस्येव बन्धमाज्ञापयामः ; स च दृष्टेष्टबाधितः । तथा  
 शाक्यानामापि प्रत्यक्षणात्पक्षिच क्रियेत्यतः कथं क्रियाया अजा-  
 बः । अप्रतिषेधकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमाज्ञाभावः स्यात् ।  
 इत्यतोऽस्ति क्रिया , तद्विषयकृता चाक्रिया , इत्येवं संज्ञां  
 निवेशयेदिति ॥ १९ ॥

तदेवं सांक्रियात्मनि सति कौधादिसङ्गाव इत्येतद्वशीयितुमाह-

एत्थि कोहे व माणे वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।  
 अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २० ॥

स्वपरात्मनोऽप्रीतिरूपकः क्रोधः, स आत्मनातुभ्यन्धपत्याख्या-  
 नावयत्संवलनभेदेन चतुर्थोऽऽगम पश्यते । तथैतावज्ज्ञेद एव  
 मानो यथैः । एतौ ह्याधिप, न स्तो न विद्येते । तथाहि—क्रो-  
 धोविभ्रमेन मानांश एव, अप्रतिमानप्रदृष्टीतस्य तन्कृतावत्यन्त-  
 कोधोदयदोनात् । तथा क्रियात्मनोऽपि क्रोधोऽप्यनुपगमात् ।  
 तथा क्रियायामाश्रयः, आहोस्त्विभ्रमेण, उताप्यस्येति ? तथा-  
 त्पार्थमेत्ये सिद्धानामपि क्रोधोऽप्यनुपगमात् । अथ कर्मणः, ततस्तद्व-  
 न्यकारोऽर्थोऽपि न तु द्रव्यमसङ्गात् । मूर्तेत्याह कर्मणो हि घटस्ये-  
 व तदाकारोपलब्धिः स्यात् । अन्यधर्मेत्ये त्वांकिञ्चिद्व्यक्तस्य । अतो  
 नास्ति क्रोध इत्येवं मानाभावात्पि बाध्य इत्येवं संज्ञां नो निवे-  
 शयेत् । यतः कथायाः कर्मोदयवती दृष्टेष्टतन्मुकुटीनको रक्तव-  
 शो गमनस्येद्वि-बुसमाकुलः क्रोधाजातः समुपकृत्यते । न चा-  
 लो अनात्मा, तत्कारोऽप्यनुपगमात्, तथा परनिमित्तोत्पादितत्वात्वे-  
 ति । तथा जीवधर्मकर्मणोऽवधारण्येवं धर्मस्तद्धर्मत्वेन कं प्रत्ये-  
 १३१

कविचक्षुषोऽनुपगमात्, अमभ्युपगमात् । संसारात्समां कर्म-  
 ना सार्कं पृथग्भवनाभावात्सुबुभयस्य च न नरसिंहबद्धस्त्वन्तर-  
 त्वात् । इत्यतोऽस्ति क्रोधो मानाश्रयेवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २० ॥

साम्प्रतं मायाश्लोभयोरस्तित्वे दर्शयितुमाह-

एत्थि माया व शोने वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।  
 अत्थि माया व शोने वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २१ ॥

( एत्थि माया व शोभेत्यादि ) अत्रापि प्राग्भवनाभावात्श्लोभयोरजा-  
 बादीनां निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥  
 साम्प्रतं तेषां कं क्रोधादीनां समासनास्तित्वं प्रतिपादयत्प्राह-

एत्थि पेजे व दोने वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।  
 अत्थि पेजे व दोने वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २२ ॥

( एत्थि पेजेवत्यादि ) प्रीतिलक्षणं प्रेम पुत्रकस्रमधनधान्याघा-  
 त्नाद्येभु रामः, अत्थिपरीतस्वात्मियोपवायकारिण इत्यत्र, तावती  
 ह्याधिप न विद्येते । तथाहि—केशांश्चिद्विभ्रमायः । यद्यत्—मा-  
 याश्लोभावेवायथवी विद्येते, न तत्समुदायकोऽयमवस्थिति ।  
 तथा क्रोधमानावेव स्तः, न तत्समुदायकोऽयमवस्थिति इति ।  
 तथा ह्ययवन्त्यो यथाभिज्ञोऽयमवस्थिति तर्हि तद्वन्दास एव  
 नास्ती । अथ जिनः, पृथगुपग्रभः स्यात्, घटपटवत् । इती-  
 त्येवमसिद्धिदलपृष्टतायां नो संज्ञां निवेशयेत् । यतोऽवयवा-  
 यविनोः कर्मोऽज्ज्ञेद इत्येवं जेदां नदाकृत्यतीयपकसमाश्रय-  
 णाप्रत्येकपक्षाश्रित्यानुपगमात् । इत्येवं चास्ति प्रीतिलक्षणं  
 प्रेम, अप्रतीतिलक्षणं ह्य इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

साम्प्रतं कथायसङ्गावे सिक् सति तत्कार्यजृतेऽप्रवर्धमाधी  
 संसारसङ्गाव इत्येतत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण प्रतिपादयितुमाह—

एत्थि चाउरते संसारे, एवेवं सन्नं निवेशेप ।  
 अत्थि चाउरते संसारे, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २३ ॥

पाथि देवो व देवो वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।  
 अत्थि देवो व देवो वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २४ ॥

( एत्थि चाउरते संसारे ) अत्यारोऽन्ता गतिभवाः नरकतिथेः कुन-  
 रामरत्नकृणा यथे संसारस्यासौ चतुरतः संसार एव कान्ता-  
 रः, भयैकदेतुत्वात् । स च चतुर्विधोऽपि न विद्यते; अपि तु सर्वेषां  
 संसृतिरुपत्यात्सर्गमेव धात्मकतया च दुःखैकदेतुत्वात् । अथथा  
 नारकदेवयोरनुपलक्ष्यमानत्वात्संज्ञमनुप्योरेव सुखदुःखोः क-  
 र्थे तथा तद्व्यवस्थान्नात् । द्विविधः संसारः, पर्यायनश्रयापात्त्वं  
 कविधः, अतन्नातुर्विधं न कर्थांश्चिद घटत इत्येवं संज्ञां नो निवेशये-  
 त् । अपि त्वस्ति चतुरतः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । यत्क-  
 म्-एकविधः संसारः, तत्रोपपद्यते । यतोऽप्येव्यथैव तिर्येकमुप्ययो-  
 र्भेदः समुपलक्ष्यते । न चासायकविधोऽस्तः संसारस्य घटते । तथा  
 संभवानुमानेन नारकदेवानामप्यस्तित्वाभ्युपगमात् द्वैविध्यमपि  
 न विद्यते । संभवानुमानं तु पुत्रप्रापयोः प्रकृष्टकस्रमुजस्तम्भ-  
 च्यकस्रमुजा तिर्येकमुप्ययोः दर्शनात् । अतः संभाव्यते प्रकृ-  
 ष्टकस्रमुजा योऽतिथं कं प्रत्येकविधं दर्शनात् । अथ तद्विमान-  
 नामुपग्रभः, एवमपि तद्विद्यमानुपिः कैश्चिद्व्यवितयमित्यनुपमा-  
 नेन गम्यते । प्रदृष्टीतवत्प्रद्वान्नादित्वा च तद्वस्तिव्यनुमान-  
 मिति । तद्वस्तिव्यं तु प्रकृष्टपुत्रपुत्रजुज इव प्रकृष्टपापकस्र-  
 मिश्रपि अत्यमित्यतोऽस्ति चातुर्विधम् । संसारस्य पर्याय-  
 नयाश्रयेण तु यदेवैकविधमनुपगम्यते । तद्व्युक्तम् । यतः सत

पुत्रिभ्याश्चिताः अपि नारकाः समाजजातीयाभ्यप्यादेकप्रकारा  
 एव । तथा त्रिवेणोऽपि पृथिव्यायैः स्थावरा, तथा त्रिभिःपु-  
 ष्योन्मियाश्च त्रिविधोऽपि निरुक्तप्रमाणः सर्वेऽप्येकविधा एव ।  
 तथा मनुष्या अपि कर्मभूमिसाऽकर्मभूमिजातस्तद्विषयसंयुक्त-  
 मजात्यजन्मनाहृत्कैवलिधायकैर्नैवाश्रिताः । तथा देवा अपि न-  
 वनपतिव्यवहृतयोःतित्तकैवलिधायकैरेव मित्रा एकाविधयैवैव यु-  
 क्ताः । तदेवं सामान्यविशेषाभ्यप्यात्पुत्रिभिः संसारस्य व्य-  
 स्थितम्; तैकविधत्वम्, संसारवैक्यत्वम् इत्यादि । मायनेकविध-  
 त्वम्, सर्वेषां नारकादीनां स्वजात्यन्तिकमादिति ॥ २३ ॥ २५ ॥  
 सर्वेषामानां सप्रतिपक्षत्वान्सासदात्वात् सति प्रथमं त-  
 द्द्विभुक्तिरूपकत्वात् सिद्धत्वं इति ज्ञेयमित्यतोऽयुना सप्रति-  
 पक्षां सिद्धिं दर्शयितुमर्ह-

णत्थि सिद्धी अस्ति वा, एवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी अस्ति वा, एवं सन्नं निवेसए ॥२५॥

(णत्थि सिद्धीत्यदि) सिद्धिरशक्यमभ्युत्तिरक्षणं, तद्विषयेस्त-  
 चासिद्धिर्नोतीयेवं नो संशं । निवेशयेत्, अपि त्वसिद्धिः संसार-  
 विरक्ततायाश्चात्तुल्येयानन्तरमेव प्रसाधतया अविद्याने नास्ति  
 त्वसिद्धिः, तद्विषयेषु सिद्धेःप्यसिद्धिर्नानिवास्तमित्यतोऽ-  
 स्ति सिद्धिरसिद्धिवैद्येवं संशं निवेशयेदिति स्थितम् । इदमुक्तं  
 प्रवृत्ति-सत्यशैवज्ञानवादिभ्यामकस्य सोमसामैस्य सदायां-  
 कर्मयस्य च, पीडयामादिमाऽप्येकैव दर्शनात् । अतः कस्यचि-  
 द्द्विभुक्तकर्मदानसिद्धिरस्ति सिद्धिरिति । तथा चोक्तम्-“योया-  
 नुरज्योर्द्वौनि-निःशेषास्त्यतिहायिनी । क्वचिद्यथा स्वद्वेषुज्यो-  
 बहिरन्तमैकज्यम्” ॥११॥ इत्यादि । सर्वज्ञसंज्ञायोऽपि संनवानुमा-  
 नाद् दृष्टम्; तथा हि-अथैक्यमानायाः प्रज्ञाया व्याकरणदिग्धा  
 साःस्वसंस्कारोचरोत्तरबृद्धा प्रज्ञासंज्ञायाः दृष्टम् । तत्र क-  
 स्यैवदय्यमानातिशयोक्तैः सर्वज्ञत्वस्यादिति संभवानुमानेन चैत-  
 द्वाशङ्कनीयम् । तथाचा-ताप्यमानुषु कर्मयन्तोऽप्युत्तमियाप्रामि-  
 सात्तु च । तथा-“इश्वरहस्ताम्बरं ध्यामिन्, यो नामोत्प्लुत्य गच्छ-  
 ति । न योजनमसौ गन्तुं, सांकोऽप्या सशतैरपि” ॥११॥ इति दृष्टान्त-  
 दृष्टान्तिकयोरसाम्यात् । तथाहि-ताप्यमानं जडं प्रतिक्षणं सत्यं  
 गच्छेत्, प्रज्ञा तु विषयैः । यदि वा प्लोपोपलम्बेरव्याहृतमभि-  
 रम्भे । तथा पञ्चनाभियथेऽपि पूर्वमयानुया अन्तिकमाधोऽज-  
 जनोत्पन्ननात्रावस्तप्यरित्यायं चोत्तराचरो बृद्धाः प्रज्ञाकर्षणम-  
 नवधोऽजननाभयं गच्छेत्, इयतो दृष्टान्तदृष्टान्तिकयोरसा-  
 म्यात्तद्वं नाहाङ्कनीयमिति स्थितम् । इदं बृद्धेऽऽ बाधकप्रमा-  
 नानाभावादिति सर्वज्ञत्वमासिरेति । यदि वाऽजनसुतसमुत्प-  
 द्धमनेन जीवाकुलस्यजननां हिमात्वा दुर्नियारत्यासिद्धत्वात्-  
 । तथा चोक्तम्-“जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमा-  
 स्ति । जीवमाधोऽऽहोत्तं लोकं, कथं जिह्वारहितस्य ?” ॥१॥  
 इत्यादि । तदेवं सर्वस्यैव हिंसकत्वासिद्धत्वात् इति । तदेत-  
 युक्तम् । तथाहि-सद्बोधकस्य विहितशब्दरूपस्य पञ्चसामिति-  
 समितस्य जिह्वानुसृतस्य सधेया निरवस्थादुर्नियतां द्विकवा-  
 दिदद्वारदिर्नमिहायुज इवैवसमितस्य कदाचिद्भव्यतः प्राणि-  
 यवगणेषुऽपि सत्तत्त्वनामानः, सर्वेषां तस्यानवघटयत् ।  
 तथा चोक्तम्-“उवाचियस्मि पापं” इत्यपि प्रगतोऽन्त, तदेवं कर्म-  
 बन्धनाभावसिद्धेः संज्ञायोऽप्याहतः; सामान्यभावादसिद्धि-  
 र्ज्ञायोऽपि ॥ २५ ॥

साम्यं सिद्धानां स्थाननिरूपणत्वाद्-

णत्थि सिद्धी नियं ताणं, एवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी नियं ताणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६॥

सिद्धेरशक्यमभ्युत्तिरक्षणया निजं स्थानमीयमानायाश्च व्य-  
 वहृतरतः, निष्कृतस्तु तद्वपरि योजनकोशयद्वैवागतप्रतिपक्ष-  
 कप्रमाणाभावस्य नास्तीत्येवं संशं नो निवेशयेत्, यतो बाधक-  
 प्रमाणाभावसिद्धस्य बाधकस्य संज्ञायात् तत्सत्ता दुर्नियत-  
 । अपि च-अप्यनार्थकत्वमप्योऽपि सिद्धानां केनचिद्विशिष्ट-  
 स्थानेन भाव्यम्, तच्चतुरश्ररज्यात्मकस्य शोकस्यप्राप्तुत्वं दृष्ट-  
 व्यम् । न च बाधकत्वे बहुमाकाशत्वस्यैव्यापिनः (सद्वा इति ।  
 यतो शोकाशोकव्याप्याकारम् । मन्वांशकं परद्वय्यास्वाकाराम-  
 त्रकृत्वत्वात् शोकमात्रव्याप्यत्वमपि नास्ति, यिकस्यापुत्रपणः । त-  
 थादि-सिद्धावस्थायां तेषां व्यापित्वमप्युपगतम्; उत प्रागपि? न  
 तावद्विज्ञावस्थायात्, तद्व्यापित्वमवने निमित्ताभावात् । नापि  
 प्रागवस्थायात्, तद्भावे सर्वेसंसारिणं प्रति नियतसुखानुभा-  
 नप्रयो न स्यात् । न च परराश्राहृत्स्वद्विधनव्यवधानमस्ति, तस्य-  
 शान्तिव्यवधानप्रमाणस्याभावात् । अतः सर्वव्यापित्वं विचार्यमाणं  
 न कदाश्चिद् घटते । तदुपादेवं शोकाश्रमेव सिद्धानां स्थानम् । त-  
 द्दुर्नित्यं कर्मविमुक्तस्यैवैव गतिरिति । तथा चोक्तम्-“लाभो पर-  
 कल्पते, अग्रा धूमं चत्, धपुविमुक्तः । गश् पुत्रवभोगेण, एवं सि-  
 द्धाण वि गच्छेत्” ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवमास्ति सिद्धिः, तस्या-  
 निजं स्थानमित्येवं संशं निवेशयेदिति ॥ २६ ॥

साम्यं सिद्धेः साधकानां तत्रप्रतिपक्षभूतानामसाधुनां चारि-  
 त्वं प्रतिविपाद्यित्युः पूर्वप्रकृतम्-

णत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

नास्ति न विद्यते हावद्वैवाचारिक्रियोपेयो नो भोक्तागोच्यस्थि-  
 तः सायुःसंपूर्णस्य रत्नत्रयानुष्ठानस्याभावात्, तद्भावाच्च तत्र-  
 निपकनूनस्यासाधोरस्यभावः, परस्परारोक्तिभावात् । एतद्व्य-  
 स्थानस्यैकतरानाये द्वितीयावस्थाप्राप्तौ ततो निवेशये-  
 त्, अपि त्वस्ति सायुः, सिद्धेः प्राक्साधितत्वात् । सिद्धिसाधन-  
 साधुमन्त्रेण । अतः सायुसिद्धिस्तत्रानिपकनूनस्य वाऽसाधेरि-  
 ति । यच्च संपूर्णरत्नत्रयानुष्ठानमायः प्रागाशङ्कितः, स सिद्धान्ता-  
 भिद्रामभुत्तैव । तथाहि-सत्यमदृष्टकपुत्रक्याःकाद्विष्यस्य स-  
 र्वस्यमघतः कुनासारेणाऽऽहारदिकं सुखबुद्ध्या शुद्धतः क-  
 र्त्विह्नादानेनैकथयमदृष्टदृष्टसंज्ञेषु सत्तोऽप्युक्ततया संपूर्णमेव  
 रत्नत्रयानुष्ठानमिति । यच्च प्रथमिदं चाभयम्, गम्यसिद्धं चा-  
 नयम्, प्रासुकमेषापीयमिदं च विपरितीमित्येवं गच्छेत्संभ-  
 वेन समनम्बकस्य सामायिकस्याजावः कैश्चिद्वचोपेतं, तेषां च  
 बोधनम्बकस्य सामायिकस्याजावः कैश्चिद्वचोपेतं, तेषां च  
 सामायिकत्वात् साधुनां रामद्वेषतया प्रज्ञानानुप्रापित्विकोऽपि तु प्रथममो-  
 क्तस्य सन्नाशित्वस्य साधनार्थमपि चोपकाराकारयोः सम-  
 भावतया सामायिकम्, न पुनर्नद्व्यावृत्तयोः समभावन्ये-  
 ति ॥ २७ ॥

तदेवं मुक्तिर्गामभुत्तस्य साधुत्वम्, इतरस्य वासाधुत्वं, प्र-  
 थ्याधुना स सामान्येन कल्याणवापयतोः संज्ञां प्रतिषेधनिषे-  
 चशरीणाद्-

णत्थि कल्याणपाये वा, एवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि कल्याणपाये वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

(पत्वि कल्याणपापे वेत्यादि ) यथेष्टार्थफलसम्प्राप्तिः कल्याणः, तत्र विद्यते, सर्वाङ्गवित्तया निरात्मकत्वात् । सर्वपदार्थानां बीजात्मिभायेण, तथा तद्भावे कल्याणवर्द्धनं न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽनृतनृवाचाभिभायेण पुरुष एवेवं सर्वमिति हृत्वा पापं पाप-वाङ् वा न कश्चिद्विद्यते, तत्रैवमुभयोरन्यत्रावः । तथा चोक्तम्-  
 “ विधाविनयसंपन्न, ब्राह्मणे गात्रं हस्तिति । शुनि चैव ह्य-पाके च, परिदत्ताः समदर्शिनः ” ॥ १ ॥ इत्येवंमेव कल्याणपाप-काजावरणं संज्ञां नो निवेशयेत् । अपि त्वस्ति कल्याणं, कल्याण-बीजं विद्यते, तद्विपर्येतेन पापं तद्विपर्य-विद्यते, इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि-नैकात्मेन कल्याणान्नाद्यो यो बाँकैरभि-द्वितः, सर्वपदार्थानामङ्गवित्त्वासंभवात्, सर्वाऽङ्गवित्त्वे च बुद्ध-व्याप्यङ्गवित्त्वप्रतिः । मापि निरात्मनः स्वदुष्कृतकाज्ञानावेक्या सर्वपदार्थानां विधानमानव्याप्यरक्तव्याद्विद्वित्त्वं न विद्यते, सर्वस-हात्मकत्वाद्भ्रष्टतुनः । तदुक्तम्-स्वपरसत्सद्भ्युदासोपादानं तथाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वमिति । तथाऽऽमाद्वैतमायानायात्पापा-भावेऽपि नास्ति, प्रवृत्तभावे हि सुखी दुःखी सरागो नीरागः सुरुषः कुक्षोः दुर्भगः सुजगोऽर्थवान् दारुः, तथाऽप्यमन्तिकोऽपि तु दवांयाद् इत्येवमार्थिको जगदैः विषयभावाऽप्यङ्गवित्त्वेऽपि न स्थायः । यच्च समदर्शित्यमुच्यते ब्राह्मणचारुदालादिषु, तदपि स्वमानवीक्रियादानो द्रष्टव्यम्; न पुनः कर्मोपादि तथेऽप्यत्राजा-योऽपि तेषां ब्राह्मणचारुदालादीनामस्तीति । तदेवं कथञ्चित्कल्याण-मस्ति, तद्विपर्येतेन तु पापकर्मिति । न चिकान्तकल्याणमेव, यतः केवलानां प्रवृत्तौ घनघातिकात्मचतुष्टयानां सातासातोद्य-सङ्गत्वात् । तथा नाकल्याणमपि पक्षेऽद्वैत्यविशिष्टाज्ञानादिस-ज्ञावानैकान्तेन तेषां पापवन्त इति । तस्मात्कथञ्चित्कल्याणं कथं चिरपापमिति स्थितम् ॥ २८ ॥

तदेवं कल्याणपापयोरेकात्मतत्त्वपरं प्रसाधैकान्तं  
 दृश्यितुमाह—

कल्याणे पावप वा वि, ववहारो ण विज्झ ।

जं वेरं ते न जाणंति, समया बालपटिया ॥२९॥

( कल्याणे पावप इत्यादि ) कथं सुखमारोगं भोजनत्वं वा, तदणनीति कल्याणम्, तद्व्याप्यस्तीति कल्याणः “ अर्थे आ-दित्येऽब्ध ॥ ५ । २ । १२७ ॥ इत्यनेन परिणीतसुखेण सत्यधी-याऽऽनृतनृवाचः; कल्याणवर्द्धनिति यावत् । पापकत्वाद्भावेऽपि मन्वर्थायाऽऽनृतनृवाचो द्रष्टव्यः, तदेवं सर्वेषां कल्याणवा-नेवायम्, तथा पापवनिवापमित्येवमूतो भ्यवहारो न विद्यते । नद्वैकान्तनृतनृवाचस्यैवाज्ञानात् । तद्व्याप्यत्वं च सर्ववस्तुनामेक-तात्त्विकेन प्राक्प्रसाधितं विद्यति । एतच्च स्ववहारोभावा-भयं सर्वत्र प्रागपि योजनीयम् । तद्यथा-सर्वत्र धर्म्यमस्ति नास्ति वा सर्वत्र धर्म्यमित्येवमूत एकान्तिको व्यवहारो न विद्यते । तथा नास्ति सांकोऽलोको वा, तथा स्मित जीवा अजीवा इति वेत्येवंमूतो भ्यवहारो न विद्यते । तथा चैरं वज्रं तद्वैकर्म्यं वैरं, विरोधो वा वैरम्, तद्येन परोपातापादिकान्तपक्षसमाभयणेन वा भवति, तत्रैकमाया-स्तीयिका बाला इव बाला रागद्वेषकक्षिताः पविदतभिमानिनः क्षुत्तनकद्वेषाभ्याता न जानन्ति, परमाधैतूतस्वार्थिनालक्षणस्य धर्मस्थानिकात्पक्षस्य वाऽज्ञानव्यापादिति । यदि वा यद्वैरं तत्रैक-मया बालाः पविदता न जानन्तीत्येवं वाचं न निज्जेदित्यु-च्यते संभवः । किमिति न निज्जेत् ? । यतस्ते किञ्चिज्ज्ञान-

म्येव । अपि व-नेषां तस्मिन्सकालोपात्तौ चैवैवमूतं वचस्तत्र वाच्यम् । यत उक्तम्-“ अल्पसिद्धं जेण सिया, भासु कुप्पिञ्ज वा परो । सबसो ते ण भासेज्जा, ज्ञासं ब्राहियगामिणि ” ॥१॥ इत्यादि ॥ २९ ॥

अपरमपि बाहूंसंयममधिकृत्याऽऽह—

असेसं अकलवं वा वि, सन्वदुसल्ले ति वा पुणो ।  
 वञ्छा पाणा न वञ्छन्ति, इति वायं न नीसेत् ॥१०॥

(असेसमित्यादि) अथोपे कृत्स्नं तत्साहचर्याभिभायेण कृतं नित्यमित्येवं न भूयात्, प्रत्यर्थे प्रतिसमये चाग्यथाग्यथाभावदर्शनात् । स एवायमित्येवंभूतस्यैकत्वसाधकस्य प्रत्यभिज्ञानमस्य ह्येन पुन-जातेषु केचनसादृश्यापि प्रदर्शनात् । तथापि शब्दादिप्रकाशेन कृष्णकृष्णमित्येव वाचं न निज्जेत्, सर्वथा कृष्णकृष्णस्यैव सर्वथा विनद्वानुचरस्य मिदं तुक्त उच्यतेः स्यात् । तथा च सति “जगत्सं सत्यमसत्त्वं वा, हेतोरन्यामपेकृष्णात् ” इति । तथा च नित्यं जगत्सं सत्यमसत्त्वं न भूयात् । सुखात्मकस्यापि सत्यगदर्शनादिभावेन दर्शनात् । तथा चोक्तम्-“तणलंघार-निस्सत्थां, वि मुणिवरो प्रहृष्टारामयमोदो । जं पावह मुत्थि सुदं, कसो तं चञ्चवद्दी वि ” ॥ १ ॥ तथा-वध्याऽऽपरवारदारिकाद्यः, अथवा वा, तत्कर्ममतिप्रवृत्तनात्, इत्येवंमूतं वाचं स्वातुज्ज्ञान-परायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न निज्जेत् । तथाहि-सिंह-व्याभामाज्ञाः रादीन्परसद्व्यापात्प्रपरायणात् हृद्वा माप्येष्टव्य-वल्लभ्यत्वेत् । तथा चोक्तम्-“मैत्रीमूदकादयमाध्यस्थ्यावा-सिन्वगुणाधिकवित्तस्यमात्रविनयेषु ” इति । एवमयोऽपि वा-क्संयमो ऽऽह्यः । तद्यथा-अमी गवादयो बाह्या न बाह्याः, त-थाऽमी वृक्षाद्यन्त्रेणा न ह्येवा वेत्यादिकं वचो न वाच्यं साधु-मेति ॥ ३० ॥

अयमपरो बाहूंसंयमप्रकारोऽन्तःकरणवृद्धि—  
 समाहितः प्रदर्श्यते—

दीसंति समियाचारा, जिक्खुणा साहुजीविणो ।

ए ए मिच्छोवजीवंति, इति दिङ्गि न धारए ॥ ३१ ॥

इत्यनेन समुपलभ्यन्ते स्वशास्त्रोक्तेन विधिना नियतः संवत् श्राम्ता येषां ते निज्जुतात्मानः । कश्चित्पाठः- ( समियाचारं सि ) । सम्यक् स्वशास्त्रविधिनाऽनुष्ठानाद्विपरिणो श्रारारोऽनुष्ठानो येषां ते सम्यगाचाराः, सम्यग्वा चोऽप्यवस्थित भाषारो येषां ते समिताचाराः । के ते ?, भिक्षुणशिखा जिहाम्रात्रवृष्यः । तथा साधुना विधिना जीवितुं शीघ्रं येषां ते साधुजीविणः । तथाहि- ते न कस्यचित्परोपधिघातेन जीवन्ति । तथा ज्ञान्ता हतान् जितकोधाः सत्यसन्धा इहमता युगान्तरमात्रदृश्यः परिपूतो-कपायिनो मौनिनः सदा ताविना विविधैकान्तध्यानाध्यासि-नाऽऽलोक्युयाः, तातेष्वभूतानवधार्या अपि सरागा अपि बीतरा-गा इव वेधन्ते, इति मत्थेते मिथ्यात्वोपाजीविन इत्येवं इदं न धारयेष्वैवं जूतमन्वषवसायं कुर्व्यात्, नात्येवंभूतां वाचं निज्जेत्-येते मित्योपवापवृत्तया मायाविन इति, कृष्णस्येन ह्यार्वादीन्-नेज्जुतस्य मिश्रस्य कर्तुमशक्यः वादित्यभिप्रायः । ते च स्त-पृथ्या वा अवेद्युस्तीयात्तीया वा; साधुनाचोप न वक्तव्यी सा-धुता । यत उक्तम्-“ वाक्पत्यरगुणपदो-वकीतोने इवापूने मनो भवति । तावद्दरं विबुद्धो ध्याने इवमः कर्तुम् ” ॥ १ ॥ इत्यादि ॥ ३१ ॥



अभ्युगम्ह

विज्ञान्प्रत्यय-

दक्खिण्णाए पक्खीलंभो, अभ्यि वा ण्णिय वा पुण्णो ॥  
ए विद्यागरेज्ज वेदाधी, संति मग्गं च बूहए ॥ ३१ ॥

(दक्खिणाए इत्यादि) दानं वक्षिणा, तस्याः प्रतिलम्बः प्राप्तिः, स दानमज्ञोऽस्माकइत्यादिः सकाराद्यपि न्ति नास्ति वेत्येवं न व्यापृषीयात्, मेधाधी मयोदायव्यवहितः । यदि वा स्वयुधस्य तीर्थान्तरिष्य वा दानं प्रहृषं वा प्रतिलाम्बः स एकास्तेनास्ति संभवति, नास्ति वेत्येवं न हूयात्, एकान्तेन तद्दानप्रहणनिषेधे दोषोपाससंज्ञात् । तथा हि-तद्दाननिषेधेऽन्तरायसंज्ञः, तद्विषयं वा तद्दानानुमत्तावप्यधिकरणोद्भव इत्यन्तेऽस्ति दानं न येत्येवम- एकान्तेन न हूयात् । कथं तर्हि हूयात् ? इति दर्शयति-शान्तिमो- क्षः, तस्य प्रागेः सस्यम्बरीनाह्वानचारिभ्रातृभ्यः, तसुपपूर्वेष्वे- ष्वेत् । यथा मोक्षमार्गानिबुद्धिमेवति तथा द्रव्यादिभ्यः । पत- कुक्तं भवति-पृष्ठः केनाभिहितप्रतिषेधमन्तरेण देयप्रतिमाहक- विषयं निरवधमेवं हूयादित्येवमादिकमन्यदापि ॥ ३२ ॥

साम्प्रतमन्यवार्थमुपसंक्षिप्तञ्चुराह—

इषोरेहोँ ठाणेहोँ, जिणदिहोँहोँ संजए ।  
धारयंते उ अण्णाणं, आयाक्खाए पक्खिण्णज्ज ॥ ३३ ॥ चि वेमि ।

इत्येतेरेकान्तनिषेधहरेणानेकात्तविषयाधिभिः स्थाविर्वाक्यस्य- मप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तैः काण्वेपरहितेति नैरेदरेकपक्षेनैव स्म- र्मानैकिकेषोऽप्यापितैः संयतः सन् इत्यमथानाम्नां धारयन्नेभि- र्विषयधर्मदेशानावसरे वाच्यम् । तथा चोक्तम्—“सावज्जणव- ज्जाण, वयणाणं जां ण ज्जाणइ विवसें” इत्यादिस्थानेरात्मनां वते परममाक्र्याशोकमङ्गुवार्थं मोक्षं यात्यपरि सम्मानसंयमानु- ष्ठानं ब्रजः, गच्छेत्स्वमिति विधेयस्योपदेशः इति परिसमाप्त्य- यो । ब्रवीमांति पुषवत् ॥ ३३ ॥

अर्थीकरण—अर्थीकरण—न० । अर्थयते अर्थी वा करोति अ- र्थं जनयते इत्यर्थीकरणम् । राजादीनां प्राथमे, तैर्वाऽऽत्मनः प्राथमाकारणे, नि० चू० ।

जे जिक्खु रायं अर्थीकरेइ, अर्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥  
जे भिक्खु रायरक्खियं अर्थीकरेइ, अर्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥  
जे जिक्खु एगगरक्खियं अर्थीकरेइ, अर्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥  
जे जिक्खु गमराक्खियं अर्थीकरेइ, अर्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥  
जे जिक्खु देसरक्खियं अर्थीकरेइ, अर्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥  
जे जिक्खु संभारक्खियं अर्थीकरेइ, अर्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥  
जे जिक्खु विगमरक्खियं अर्थीकरेइ, अर्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥  
जे जिक्खु सम्भारक्खियं अर्थीकरेइ, अर्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

अर्थयते अर्थी वा, करेइ अर्थं च अण्णयते ञ्जम्हा ।  
अर्थीकराणं तम्हा, विज्जादिणिमिचमादीहिं ॥ ३४ ॥

साहू रायायं अर्थयति प्राथयते, साधू वा तदा करोति जडा षो राया तस्स साहूस्स अर्थीजनयति, प्राथयतीत्यर्थः । साधुर्वा

तस्य राहः अर्थं जनयति । जम्हा एवं करोति तम्हा अर्थीकर- णं जनयति । साधू रायाणं जणयति-मम अर्थि विज्ञा, निमित्तं वा तीतारण्यतं । ताहे सो राया अर्थीजनयति । आदिहसहाते रसायणादिज्ञोमा । इमे अर्थीकरणे ।

धातुनिपाणदरिसणे, जणयंतं तत्थ ह्वाति सट्ठाणं ।

अर्थी अर्थी अर्थे-ए संत-उसंतेण लहु लटुया ॥२३॥

धातुवादेण वा से अर्थं करोति, महाकालमेतेष वा से णिहिं हरिसेति । एवं अर्थं जनयते सट्ठाणपच्छिणं, उक्ताया चउत्तु लटुया । सोऽहावशोयणेण गतेऽन्त्यर्थः पुनरुच्यते-अर्थी, अर्थी, अर्थी, अर्थी, एतेसु मंतसु मासहं, असंतं चउलहु ।

एके एगगरेणं, अर्थीकरणेण जो तु रायाणं ।

अर्थीकरोति भिक्खु, सो पावति आणमादीणि ॥२४॥

राया भिक्खुस्स संजम अणुणेलख एनेहिं राया चउत्तरि माहाओ जाव एतेहिं । नि० चू० ४ उ० ।

अत्यु (त्योत्र) गहृ-अर्थीसमृद्ध-पुं० अर्थयते इत्यर्थः अर्थेस्या- वप्रहणमर्थावग्रहः । सकलरूपादिविशेषनिर्देशोपादानदेश्यसा- मान्यमात्ररूपायैप्रहणलक्षणं मतिज्ञानभेदाऽवग्रहभेदे, न० । स० कर्म० अ० स्था० प्रज्ञा० “सामप्रकारादिविषयस्यारहि- यस्स अनिदसस्स” अवग्रहणमवग्रह इति । न० प्रव० अर्थय- तेऽपिगम्यते, अर्थयते वाऽन्वियत इति अर्थः । तस्य सामान्य- रूपायैशेपरिनेत्तानिर्देश्य रूपादेशवग्रहणं प्रथमपरिच्छेद- नमर्थावग्रह इति निर्विकल्पक ज्ञानं दर्शनांमति यदुच्यते इत्य- थः । तैः अर्थीकारैः स सामायािकः यस्तु व्यावहारिकः शब्दोऽप्यमित्यापुच्छेखान्त्वं सोऽन्तर्माहृत्किं इति । अथैव प्रज्ञान्द- यमनःसंन्यतः पादा इति स्था० ३ उ० । (अर्थीसमृद्ध- स्य सोऽपिपत्तकः स्वरूपाववेकः उगह शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः ) स च मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्वा- दा । प्रव० २१६ इ० ।

तथा च सूत्रम्—

अर्थोवगमहे णं जंते । कनिविहे पमसे ? । गोयमा ।  
खन्दिहे पमसे । तं जट्टा—सोऽदीय अर्थोवगमहे ? । चाखिं-  
दिय अर्थोवगमहे ३, धाणिदिय अर्थोवगमहे ३, निजिज-  
दिय अर्थोवगमहे ४, फासिदिय अर्थोवगमहे ५, नोहिंदि-  
य अर्थोवगमहे ६ ॥ प्रज्ञा० १५ पद । स्था० ।

अथ कोऽयमर्थावग्रहः ? । सुरिराह-अर्थोवग्रहः बहिष्प-  
प्रकृतः । तद्यथा-ओत्रेन्द्रियाथोवग्रह इत्यादि । ओत्रेन्द्रि-  
येणोर्थावग्रहो ऽप्यत्रजावग्रहात्पुनरकालमेकसांमायिकम-  
निर्देश्यसामान्यरूपायैवग्रहणं ओत्रेन्द्रियाथोवग्रहः । एवं प्रा-  
णुजिह्वास्पर्शनेन्द्रियाथोवग्रहेष्वपि बाध्यम् । चतुर्मेनसोऽनु-  
व्यञ्जनावग्रहो न भवति । नतस्तयोः प्रथमेवैक रूपद्रव्यगुण-  
क्रियाविकल्पनऽतीतमनिर्देश्य सामान्यमात्ररूपायैवग्रह-  
मर्थावग्रहोऽवस्येव । तत्र- ( नोर्दिव अर्थोवगमहे स ) नो-  
इन्द्रिय मनः । तत्र जिह्वा-द्रव्यरूपं, बाध्यरूपं च । तत्र मनः-  
पर्याप्तिसामकर्म्योदयतो यन्मनःप्रायोग्यवर्गवास्तिकानादाव  
मनस्त्वेन परिष्यति, तद्रव्यरूपं मनः । तथाचाह ऋषिकृत्-

“मणुष्यस्य त्वि नामकम्भोदयस्यो जोगो मयोद्वये चेत्तु मणुष्येण परिणामिया दम्बमयो मयः” तथा द्रव्यमनोऽपचम्भेन जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः । तथा चाह श्रुतिकार एव “ जीवो युष्मणुष्यपरिणामकिरियापक्षो भावमयो । किं भवितुं होह ?-अणुदम्बाहंभयो जीवस्व मणवाचरो भावमयो भवत्यः । तत्रेह भावमनसा प्रयोजनम्, तदुद्ग्रहणे ह्यवश्यं दम्बमनसोऽपि ग्रहणं भवति ; द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसोऽसम्भवात् । भावमनो विनाऽपि च द्रव्यमनो भवति ; यथा भवत्येकेश्वरिनः ; तत उच्यते भावमनसह प्रयोजनम् । तत्र नोहन्दिष्ये भावमनसोऽर्थावग्रहो लब्धेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षो घटाद्यर्थलक्षपरिभाषनाऽभिमुखः प्रथममेकसामायिकी रूपयदाकाराद्विशेषविभक्त्याविकसो निर्देश्यसामान्यमात्रचिन्ताप्रमको बोधो नोहन्दिष्याथैवग्रहः । नं० । अयं च नैकविक एकसामायिकः । व्यावहारिकस्वात्मनोऽहृतिकः । स्यात् ०६ टा० अत्पु ( त्यो ) ग्राहण-अर्थवग्रहण-० । फलनिश्चय, म० ११ म० ११ उ० ।

अत्पुद-देशी-व्यौ, दे० ना० १ वगं ।

अत्पुत्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री० उत्पद्यते यस्मादिति उत्पत्तिः । अर्थस्योत्पत्तिव्यवहार उच्यते अर्थोत्पत्तिः । करणव्यवहार, व्य० १ उ० ।

अत्पेर-अस्त्यैर्य-न० । अस्तिरत्वे, अष्ट० ४ अष्ट० ।

अत्पेत्प्रापण-अर्थोत्पानन-० । लब्धाऽऽवर्जने, प्रव० २, ५, ६, ७ । अत्पेत्प्रापण-अस्तोजक-न० । न० ७० । स्तोत्रकथिते गुणवत्पूजे, अनु० । “यव व इकारो इति अ-कारणार्थं योजनया हुति” इति वै दऽऽदिप्रभृतीनामकारणग्रहणः स्तोत्रकथः । तद्रहितमस्तोत्रकम् । वृ० १ उ० । विरो० ।

अत्पेत्प्रापण-अर्थवर्ण-पुं० । अर्थवर्धने, “ जाव अद्यव्ययकुसलेया वि होत्या” विपा० १ पु० ५ अ० ।

अत्-अत्-अ० । आर्ध्वे, “ धियो सो नः प्रचोदयाऽन्” अदिति आर्ध्वे रूपलक्षणेऽनिकृत्वत्वात्, ततश्च हे अत् ! “ विरामे व” ॥ १ । ३ । ५ । १ इति इत्ये तः । साङ्ख्यार्थप्रमाणं गा० ध्या-व्या । जे० गा० । एतादृशाः प्रयोगाः प्राकृते न प्रयुज्यते ।

अत्द-अत्द-पुं० । प्रशस्तयोगप्रये, अदिसामाभे च । “ एगे अदरे” स० १ सप्त० ।

अत्दक (को) दंदिम-अददकदुदितदम-वि० । दृक्कल्पं द्रव्यं दृक् दृक् एव । कुवर्धनेन विवृणं द्रव्यं कुवर्धनम्, तत्रास्ति यत्र तस्यथा । दृक्कल्पददाम्यामशुक्लमागद्वये मगरादौ, तत्र दृक्को-ऽपराधानुसारेण राजप्राज्ञं द्रव्यम् ; कुदकस्तु-कारिषकानां प्रजापराधमहत्पराधिनाऽपराधेऽन्यं राजप्राज्ञं द्रव्यमिति । “ उद-पुत्रं उदरं उदके उदिकं अमेजं अमदन्पवेजं अदकको-द्विमे अघोरिमे गणियाचरनामदकालियं ” ( पुरीषर्षणः ) ज० ११ द्वा० ११ उ० । ज्ञा० । जे० । कद्व० ।

अदत्तवण-अदत्तवण-वि० । दत्तपाषाणरहिते, अदत्तपाषाणो धर्मो बोरमहापद्मयोस्तीऽनुज्ञातः । स्या० ७ ए० ।

अदत्तम-अदत्तक-वि० । बह्व्याऽनुगतवचनविहिते, व्य० ३ उ० । १३२

अदं (हे) सण-अददर्शन-न० । न० । प्राकृते-“समासे वा” ॥ ७ । २ । ७ । ७ । इति इत्ये वा द्विवचनं । प्रा० । साङ्ख्यज्ञानभावे, न विद्यते दर्शने इत् यत्सेव्यदर्शनः । अन्धे, स्वप्नदिनिद्रोदयवृत्तये च । ग० १ अ० । न विद्यते दर्शने सम्यक्त्वमस्येति व्युत्पत्तेः । अयं च दीकृतः सद् विकलतया यत्र तत्र वा संखरद् यद्वायाद् विरा-थये द्विचमकीलककण्टकादिषु च पतेत् । स्थानदिस्तु प्रविष्टो गृहिणां साधुनां च मारुत्यादि कुर्वते । प्रव० १०९ ज्ञा० ७० ।

“द्विदो अदंसणो अह्नु, ज्ञाति उवचततो य पाषव्यो । अघघातो पुण तिविहा, चाहीसवघादंजजणपाए ॥ १ ॥ संगेणं विय अघरो, धीणज्जीओ मुणयव्यो । एतेसि सो हे इमा, अहकमेणं सुणयव्यो ॥ २ ॥ उचियण्येणं तह से-सखसु धीणदितो तु कमसो तु । अणुक् चउरुक् चरिमे, दोसा तदिं दिण्णित्ते इणमो ॥ ३ ॥ उकायविरमणत्ता, अघवदंणं आणु कंटमादीसु । धम्मिअप्रपदिहेहा, अंघस्स न कप्पतीं विक्खा ॥ ४ ॥ अघवहति य महादोसं, दंसणकम्मोदण धीणज्जी । एगमेणय व से, जं काही तं तु आवजे ” ॥ ५ ॥ पं० मा० । वीर, दे० ना० १ वगं ।

अदक्सु-अदृष्ट-वि० । न० । अर्वाग्रदर्शने, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अदक्ष-वि० । अनिपुणे, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अपर्य-वि० । पश्यतीति पर्यः, न परयोऽपर्यः । अन्धे, सूत्र० १ सु० ३ अ० ३ उ० । आद्याङ्गीत् इत्यस्यापि ‘अदक्सु’ इति रूपम् । प्रति० । भ० ।

अदक्सुदंसण-अदसदर्शन-वि० । असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिनि, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अदष्टदर्शन-वि० । असर्वज्ञोक्तशासनाऽनुयायिनि, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अपश्यकदर्शन-वि० । अपश्यकस्यापि सर्वज्ञस्यानुपगतं दर्शनं येनाऽसावपश्यकदर्शनः । स्वतोऽर्वाग्दर्शिन, सूत्र० ।

अदक्सुव दक्सुवाह्रियं, सदहसु अदक्सुदंसणा । इदि ह्यु सुनिरुदंसणे, मोहणिज्जेण कमेण कम्पुणा ? ?

( अदक्सुचेत्यादि ) पश्यतीति पर्यः, न परयोऽपरयो-ऽयं ; तेन तुल्यं कार्याकार्याविवेकिवादापरहयत्त । तस्याऽऽमन्त्रणं हे अपश्यवत् । अन्धसदहा । अन्धकस्यैविकस्याऽऽनुपगमेन कार्याकार्यानिर्ज्ञा ! परयेन सर्वज्ञेन, व्याहृतनु-कं सर्वज्ञागमे, अदस्व प्रमाणकुक, प्रत्यक्स्यैविकस्याऽऽनुपगमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हंत ! इतोऽसि, पितुनिबन्धनस्याऽपि व्यवहारक्याऽस्तिरिति । तथाऽपश्यकस्याऽपि असर्वज्ञस्याऽऽनुपगतं दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनः ; तस्याऽऽमन्त्रणं वा हे अपश्यकदर्शनं । स्वतोऽर्वाग्दर्शी भर्षास्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च सद् कार्याकार्याविवेचितयाऽऽपश्यदं भविष्यत् यदि सर्वज्ञानुपगमेनाऽस्तिरिष्यत् । यदि वाऽदृष्टो वा अनिपुणो वा यादरा-स्तादृशो वाऽचक्षुर्दर्शनमस्यासावचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः सर्वज्ञस्तस्मादघद्याप्यते हितं तत् अदस्व । इदमुक्तं जवति-अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनात्कं हितं अज्ञातव्यम् । यदि वा हे अदृष्ट ! हे अर्वाग्दर्शन ! दृष्टाऽऽज्ञातव्यवहितसू-

ह्ययवर्धाईर्वासा यद्वाहूनमजिहितमागमः, तं अकस्व । हे अह-  
 एरसेन !, अदकसुवसं । इति वा, अस्वर्गलोकसासलानुवायिन् !  
 तन्मार्गो यमाग्रहं "रित्कस्य स्वर्गलोकं मार्गं अहानं कुर्वति ता-  
 न्ययोः । किमिति स्वर्गलोकं मार्गं अहानमनुभव करति ये-  
 नैवमुपदिश्यते । तस्मिन्मार्गाह-इत्यर्थेन शुद्धाण । दुःखान्दा वा-  
 कपालहारं, सुखं प्रतिशयेन निकरमावृत्तं श्येनं स्वयं अह-  
 वाभक्तं यस्य सः । केनेत्याह-मोहयतीति मोहनीयम्, मिथ्या-  
 दर्शनादि; हानावरणीयादिकं वा, तेन कृतेन कर्मणा निकरदर्शनं-  
 प्राणौ स्वर्गलोकं मार्गं न अकस्ते । अतस्तन्मार्गभ्रमार्त्तं प्रति चोद्यत  
 इति । सूत्रं १ सूत्रं २ अं २ उ० ।

अदकसुव-अपश्यवन्-वि० । अपश्योऽभ्यः, तेन तुल्यं काव्या-  
 कार्यावियेचिन्विस्वमुपश्यवत् । अभ्यसहो कार्याकार्यानिज्ञे,  
 सूत्रं १ सूत्रं २ अं ३ उ० ।

अदद-अदद-वि० । तुभ्ये, स्य० ङ उ० । आचा० ।

अददार्थि-अददश्रुति-वि० । धृतिरहिते, नि० चू० १ उ० । असम-  
 र्थं, नि० चू० १ उ० ।

अदण-अदन्-न० । अद-स्युद । नोजने, वृ० १ उ० ।

अदश-अदत्-वि० । आकुलीभूते, वृ० १ उ० । विवादिक्ते, "तेषु  
 वि य गिलाणेषु तं अदशा " नि० चू० १ उ० ।

अदत् ( दिशु )-अदत्त-वि० । न० तौ । अवितीर्णे, प्रश्न० ३ आ-  
 अ० द्वा० । अ० । अदत्तद्रव्यग्रहणकृते तृतीयं आश्रयभेदे, प्रश्न० १  
 आ० द्वा० । " हितामोसमदिशुभपरिम्ये " प्रश्न० १ द्वा० ।

अदत्त ( दिशु ) हारि ( शू )-अदत्तहारिन्-वि० । अदत्तमप-  
 ह्नुं शीलमस्याऽऽसाददत्तहारी । परद्रव्यापहारके, "जे लस्य  
 हार अदत्तहारी, ख सिक्कती से य वियस्स किचि" सूत्रं १  
 सूत्रं ३ अं १ उ० ।

अदत्ता ( दिशा ) दाण-अदत्तादान-न० । अदत्तस्य स्वा-  
 मिजीवतीथेकरगुरुभिरवितीर्णेस्थाननुद्धातस्य सचिन्ताचि-  
 र्त्तामभ्रभेदस्य वस्तुन आदानं प्रहणमदत्तादानम् । तच्च वि-  
 विधापाधिबशादनेकविधम् । " एग अदिशादाणुं " स्या० १  
 उ० १ उ० । सूत्रं १ । चौर इति व्यपदेशनिबन्धने, उपा० १  
 उ० । परस्वापहारं, अ० ६ अ० । आ० चू० ।

यथा च तददत्तादानं प्रश्न० ३ अधमं द्वारं यादक- र्थं शोभ-  
 २ यथा च कृते ३ यत्कलं द्वाति ४ ये च कुर्वन्ति ५ इति प-  
 २ यमिद्वारैः कर्मण प्रकल्पितं, तथैवह प्रकल्पितं-

- ( १ ) यादशमदत्तादानस्वरूपं तदप्रतिपादनम् ।
- ( २ ) अदत्तादानस्य नामानि ।
- ( ३ ) ( यथा च कृते ) ये वादत्तादानं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
- ( ४ ) अदत्तादानं यत्कलं द्वाति तन्निरूपणम् ।
- ( ५ ) आचार्योपाध्यायिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम् ।
- ( ६ ) लघुस्वरूपमदत्तं शृणाति ।
- ( ७ ) तपस्तेत्यादि न कुर्वीत ।

( १ ) तत्र यादशमदत्तादानस्वरूपं तदप्रतिपाद-  
 नं स्यात्तदवदाह-

जैवु ! तनियं च अदिशादाणं हृदहमरणजयकसुसता-  
 सणपरंतीनगिज्जोत्तजपूलकासावेमसंसितं अहोऽचिन्-  
 क्षतहृदपत्याणपत्वाइमयं अकित्तिकरं अणजं जिह-

यंतरविपुरवसणमगणुवस्समवपत्तपत्तुत्तवचणाऽऽसि-  
 वणपायणपरापिदुयपरिणापमकरजणबहुमयं अकलुणं रा-  
 यपुरिसरविसयं सया साहुगरहजिज्जं पियजणमित्तजयभे-  
 दविप्यातिकारकं रागदोसबहुलं पुणां य उणुरसमरसंगाव-  
 हमरकसिलकलहवहरकणं दुग्गतिविधिवायवहुणं जवपुत्त-  
 वकरं चिरपरिचितं अणुणायं दुर्तं तहयं अपभ्यदात्तं ॥

हे जन्मः ! तृतां पुनराश्रयद्वाराणां किमदस्य भगवदेरा-  
 दानं प्रहणमदत्तादानम् ? " हर वद " इत्येते हरणराहयोः पर-  
 प्रवनाथौ शब्दौ, हरणवदपर्यायो वा क्लृप्तसाविति । तौ च  
 मरणं च मृत्युः, अयं च भीतिरेता एव क्लृप्तं पातकं, तेन त्रा-  
 सनं त्रासजनकं च रूपं यत्तथा । तच्च तत् तथा ( परसंत-  
 गत्ति ) परसत्के धने यो शुक्लोभो तौद्रध्यानाभ्यां सृज्जं,  
 स मूलं नियन्धनं यस्यादत्तादानस्य तत्तथा । तच्चानि कर्मधार-  
 यः कालाभ्रंशं प्रतिविधयः, विषमकर्म पूर्वनादिभुगं, तैः संबन्ध-  
 ताः कालाभ्रंशं तैः हि प्रायः तत्कारिभिराश्रयत इति । अ-  
 होक्लिद्यतहृदपत्याणपत्वाइमयं ( ति ) अथः अधोगती, अ-  
 चिच्छ्रद्धाणां अश्रुतिवशाद्भ्रान्तं, यत् प्रस्थानं यात्रा, तत्र प्र-  
 स्तान्ती प्रस्ताविका प्रवर्तिता मनिर्दुष्टिर्धर्मस्तथा । अर्का-  
 तिकरणमनर्थम्; एते व्यक्ते । तथा छिद्रं प्रवेशद्वारम्, अन्तर-  
 मयसः, विपुरमपायः, व्यसनं राजादिदत्तापः, एतेषां  
 मार्गणम्; उत्सवेषु मत्तानां च प्रमत्तानां च प्रसुप्तानां च वञ्चनं  
 च प्रतारणम्, आश्रयणं च विचर्यप्रताऽऽस्मिदन्तम्, शान्तं च  
 मारणम्, इति द्वयः । तत्र एतदन्तरं एतान्निष्ठानां सुप-  
 शान्तः परिणामो यस्यामौ छिद्रान्तगच्छिष्यसममार्गात्स-  
 वममप्रमत्तप्रसुप्तानां शोभणशान्तपरांशुपरिणामः । स  
 वासौ तस्करजनः, तस्य बहुमतं यत्तथा । भ्रान्तानन्तरे त्विदं-  
 भं पञ्चने- " जिहविसमायगेयादि " जिहविसमायणं च तन्त्रे  
 जिहविसमयोः संबन्धं दा पापमित्यर्थः । अन्यथाऽऽहन्त्यायं  
 प्रायः कर्तुमशक्यमिति भावः अनिभूतपरिणामसंज्ञिं तस्कर-  
 जनबहुमते चेति । अकरणं निर्दय, राजपुत्ररक्षितम्, तैर्निवारि-  
 त्तमित्यर्थः । सदा साधुगृहेषु, प्रतीतम् । प्रियजनमिज्जतज्जं  
 नेदं विवोजनं विप्रंति विप्रंति करोति यत्तथा । रागद्वेषबु-  
 लं, प्रतीतम् । पुनश्च पुनरपि ( उपुरं सितं ) नभूयण प्रभुषण  
 स्वस्यो जनमकयुक्तो यः संश्रामो रणः स उणुरसमरसंश्रामः,  
 स च क्रूरं भोत्यापलायनं, कौलिकद्वेषः रादिकं, तैः, त-  
 रनिकलहः । यथाजनुदायः, एतेषां करणं कारणं यत्तथा ।  
 दुर्गेतिविनिपातवञ्चनं, प्रतीतम् । अयं संसारं, पुनर्भवान् पुनर-  
 त्पादानं करोतीत्यर्थं शोभं यत्तथा । चिरं परिव्रित्तम्, प्रमुग-  
 मन्वुच्छिन्नतयाऽऽवृत्तं, इति वृद्धवसानं विधाकाणत्वात्  
 तृतीयमधमं चारं पापोपाय इति

( १ ) अथ यथाभवेत्निधातुमाह-

तत्स य नामाणि गोणाए ण्णित्तिं तांसि । तं जहा- चोरिकं  
 १ परहदं २ अदत्तं ३ कुरिकं ४ परस्ताभो ५ असंभो  
 ६ परधम्मि मेहं ७ सोलिका ८ तकरत्तयं ९ त य  
 ऊवहारं १० इत्यल्लुत्तणं ११ पावकम्मकराणं १२ ते-  
 णिको १३ हरणविण्णसो १४ आदियया १५ सुंणपा  
 पणाम् १६ अप्पवमो १७ आदिको १८ अन्तेवो १९

कसेवो २० विकसेवो २? कृत्वा २२ कुसमसं । य २ कंसा  
 २४ लालाप्यपरषया २५ (अससयाव) बसपं २६ इच्छा  
 मुच्छा य २७ तलहा गेही य २८ नियदकर्म २९ अबरो-  
 च्छा चि विय ३० । तस्स एयाणि एवमादिणि नामधेयाणि  
 हुंति तानि अदिष्टादाणस्त पावकक्षिकसुसकम्पवदुसस्त  
 अणेगां ।

"तस्सेत्यादि" सुगमया तद्यथेत्युपदर्शयाम्यः (चोरिकं ति) चोर-  
 णं चोरिका, कैव वैतिक्यम् १, परस्मात् सकाशात् हुतं परहुतम्  
 २, अक्षयम्-अवियोर्यम् ३, (चुरिकं ति) चुरं चिचं, चुरं वा  
 पादजनां येषामस्ति ते चुरिणस्तैः हुतमनुष्ठितं यत्तद्यथा । क्वचित्तु  
 "कुण्डुकुलमिति" इत्येते । तत्र कुण्डुकाः काकटुकबीजप्रयाया  
 अत्रायाः सद्गुणानामिति ४, परलभः परलभः परलभः इत्यणामः ५,  
 अस्सयमः ६, परधने घृत्तिः ७, (लौकिकं ति) लौक्यम् ८, तस्कर-  
 न्यामिति ९, अपहारः १०, (इत्यलसत्तं ति) परधनहरणकुस्तिने  
 इहोने यस्यास्ति स हस्तस्तः, मज्जो हस्तलस्यम् । पाठास्तैरेण-  
 "इस्तस्युप्यामिति" ११, पापकर्मकरणं १२, (तेणिकं ति) स्तैरेण-  
 कस्येयम् १३, हरणेन भोग्येन विप्रणामः परद्वयस्य, हरणं  
 च तद् विप्रणामः १४, ( आदिष्यत् ति) आदानं, परधनस्येति  
 गम्यते १५, ज्ञेयेन अत्रच्येदनें धनानां द्रव्याणां, परस्येति ग-  
 म्यते १६, अत्रय्यकारणतयादप्रययः १७, अवधीनं परेषामि-  
 त्यवधीनः १८, भाक्षेपः, परद्वयस्येति गम्यते १९, क्षेपः परद-  
 स्ताद् इत्यस्य प्रणाम २०, एवं विक्रयेऽपि २१, कृत्वा तुला-  
 दीनामन्यथात्वेन २२, कुलमयी वा कुलमालिग्येहतिरिति ह्यथा  
 २३, काष्ठेण, परद्वय इति गम्यते २४, (आप्यणपत्यण ति)  
 लालपनस्य गार्हिनलालपनस्य प्राधेनेव प्राधनां लालपनमार्थानां,  
 श्रीयं हि कुर्वन् गार्हिनलपनानि तदपलापक्याणि, श्विनवचनरूपा-  
 णि वा प्राधेयति च, तत्र हि कृते तावद्वयं धकस्यानि प्रयन्ती-  
 ति भावः २५, व्यसनं व्यसनहेतुत्वात् । पाठास्तैरेण-"असा-  
 सणाय वसयं" आशंसनाय विनादाय व्यसनमिति २६,  
 प्रच्छा च परधनं प्रत्यभिलाषा, मूच्छां तत्रैव गाढानिच्छकृत्वा,  
 तदनुकृत्वाद्दत्तप्रदशस्येति इच्छा मूच्छां ननुच्यते २७, तु-  
 ष्या च प्रासद्वयस्याव्ययत्वात्, शुद्धिआप्राप्तस्य प्रातिषाब्दात्,  
 तदनुक्तं चादृष्टादानमिति तुष्या शुद्धिर्भावयति इति २८,  
 निवृत्तेर्भावायाः कर्म निवृत्तकर्म २९, अविष्टमानानि परे-  
 षामिच्छि च्युत्थयथा यत्र तदपरोक्षम्, अविष्टमानस्यैः । इतिः  
 रूपप्रदर्शनं, अपिचेति समुच्चये ३० । इह च कानिचित्पदानि  
 सुगमत्वात् व्याख्यातामि । (तस्म ति) यस्य स्वयं भावार्थितं  
 तस्माद्दत्तादानस्येति संबन्धः । यताम्यनन्तोलोचनानि त्रिश्रुयति  
 भोगः । व्यमाधिकानि पंचमकाराणि व्याज्येकानि ति सम्बन्धः ।  
 अनेकानि ति द्विवच इत्येते । नामधेयानि नामानि जवन्ति । किं  
 भूतस्य अदृष्टादानस्य १, पापमपुण्यकर्मरूपेण कलिना च युजेन  
 कलुषाणि मलीमसानि यानि क्रमाणि मित्रादादिव्यापाररूपा-  
 णि, वैभूतं प्रसुरं यस्मानि वा बहुलानि बहुलि यत्र तत्तथा, तस्य ।

( ३ ) अथ येऽत्रदत्तानं कुर्वन्ति तागाह—

तं पुण करेति चोरियं तस्मात् परद्वयहरा जेषा कपकरणस-  
 ष्टकससा साहसिया ह्युस्तसा अतिमहच्छलोजगम्याद्-  
 र आर्वालाका य मिक्षिया अहिमरा अणभञ्जका जगसंघि-  
 या रायकुञ्जारी य विसयनिच्छासकवक्त्रा उदहकाम-

पायकपुरयापकपथयाकथादीवकित्थजेया कहुद्वयसं-  
 पत्रया लूकया संवरकसत्वां चोरपुरितचोरसंघिच्छेया य मं-  
 त्रिजेदका परषयाहरणलोभायद्वाहारअस्सेवी इकारकानि-  
 म्मरगगुदचोरमोचोरअसचोरकदासिचोरा य एकचोरा य  
 ओकृष्टकसंपदायकओठिफसत्यपायकविलकोलीकारका य  
 निग्गाहविष्णुपुंगवा बट्टिनिहतेणिकृहराखुन्दी, एते अथं य  
 एवमादी परस्स दन्वाहिं जे अत्रिरया ॥

विपुलबलपरिगहा य बहुभो रायाणां परषणाम्मि गिच्छा  
 मए दव्ये असंतुद्धा परविसेए अदिहृणंति सुच्छा परषणस्य  
 कजे, चउरंगमयचलसमग्गा निच्छिबभरजोहुण्डस्यथा  
 य अहमहमिति दपिण्हिं सेनेहिं संपरिखुका पठमसगकमू-  
 ष्चकसागरमरुल्लभूरादिणि अणीएहिं उच्छरंता आभयुय  
 हरंति परषणां । अवरं रलसीलच्छलनत्वा संगामं अति-  
 वयंति, सयणच्छबच्छपरिहरताभियचिंधपदमहिद्याऽऽ-  
 उहपहरणा माडिवरम्म्युंभिया आविच्छालिका कवयकं-  
 दया उरिसमुहबदकंउतोणा, पाइयवरफलकावियपह-  
 करसरजसवरचाकरकरंचियनुसितसरविसवचकरकमु-  
 यंतयणचंरुवेगचारनिवायमग्गे अणेगप्रथुंमंढलगसंधि-  
 तउच्छ्रियमनिकिणगवापकरगहियसेडगनिम्मसनिक्कल-  
 म्गपहरंत कुंतोमोरचकमया परमुसुललोगसुललउमधि—  
 षिपालनस्यपट्टिमचमंइयपयोहिद्ययोवरवफसिंहजंतप-  
 स्वरउहणतोणकुवेपीपींदाकालि एलीपहरणमिस्मिधि-  
 लितसिपंतविजुज्जलविरचितसमपहनहतसे फुकुपहर-  
 ये महारणसंखेभिरत्रुपरपरुणहहादयनिनायगंभीरण-  
 दितपक्कुभियविपुलयोसे इयगयरजोहतिरियसतिरिय-  
 युच्छतमंभकारबहुसे कायरननयणद्वियथाउलकरे विलु-  
 लियकडवरमउमकिरिचकोमडोहुदायाऽऽभोवियकव-  
 ढागउच्छियपथवेजवंतिवाचपरचंततद्वचंउभकारांयं हि इय-  
 हेसियहतिरिगुलगुलाः परहृत्तपणयाइपपाः कहरहराइयअ-  
 फोदियसीहेनायच्छिखिविधुडुकुडकंउकमपजवं । भगविजए  
 सयरापहृत्तंसंतकसकसरे अमुणिययणरुहजं । भदस-  
 षाधरोडगाददसप्यहारकरणुज्जयकरे अमरिसवस. तन्वर-  
 षानिहारितऽच्छिचेरदिडिकुदधेडियतिवलीकुडिभगुडिक-  
 यससासे वषपरिणयनरसहसविक्रमविषंजियलवे वगंतु-  
 रंरहपहावियसमरभदावादिच्छेयसामावषपहारसाधितस-  
 भूरसवियपाहुणुयलकुच्छट्टासपुक्तंनोसवदुसे कलक-  
 ल्गाफलफलगावरधगुहियगयवरपर्यंतदियचमल्लपरां-  
 ष्यपसमगुच्छमविषयविडसितवरासिरोसुतुरियथअजिउत्थ-  
 हंततियणुकरिकरविमियकरे अयइडिउत्थजिषया-  
 शिषयगलियसिहिरकपयकर्मपाकेसल्लहो कुडिदलि-

यगच्छितनिज्जेलितंतकुरफुरंतविगममममहयविगयगाढदिस्र-  
 पहराद्रिभित्तकृतंतविज्जलविनायककुण्डे दुषजोहजमततु-  
 रगउदाभमचकुंजरपरिसंक्षिपजणत्थिम्मुक्यत्रिणद्वयथ—  
 मारहृषरनहसिरकरिकलेवराकियणपादेषादहरणविकिन्ना-  
 न्नरखजुमिजागे नम्बतकंभषपठरे भयंकरवायसपरिलिच-  
 गिष्कभेदलभमंतडांरडसकारगंभरे,बनुदुसुविकंपितव्व पक्-  
 कत्तपिउत्तर्ण परमरुवरीहृष्टांमं दुषवसतरं अजिवादि-  
 ति संग्गायसंककं पणपणमहंता, अचरे पाइकचोरसंया  
 सेणावदचोरचंदपागहिका य अचदिसेदुग्गवासी काहाह-  
 रितरत्तपितसुक्किअणेगसयचिषपट्वंभर परिबिसेप अभि-  
 हृष्टांति सुक्कां वणस कज्जे,रयणागरसागरं च उम्मीसहस्स-  
 मालाऽऽकुलविगपगतकज्ञतकलितं पातासकलससह-  
 स्सवायवसवेगससिलउष्कम्पमाणदगरपरयंरडसकारं वरफेय-  
 पवरभवसपुल्लपुल्लसुडियादृष्टांमं मारुयविकसुञ्जभाणपा-  
 णियजलमाजुप्पलहुलियं तं पि य समंतो वसुजियसुलि-  
 तत्तोऽनुभमाणपक्कसिपयचलिपविपुलजलचकवालमहान-  
 दीविगतुरियआपूरमाणा गभीरविपुलआवचचंचलजमयाण-  
 शुपणमाअब्भंसातपषोणियंतपाणियपधावितखरफरुसपयंदा-  
 जलियससिद्धफुटंतवीचिकडोअंमंतुलं महामगरमच्छकच्छ-  
 भोहारगहदितिमुसंसारसावयसमाहत्तसुष्कायमाणयपूरयो-  
 रपउरं कायजणद्विययकंगणं घोरमारसंतं महन्नयं भ-  
 यंकरं पतिजयं उतामणमं अणोरपरं अगासं चैव निरवज्ञं  
 उपाइयपवणपणियमोक्षिययववरुवितरंगदरियअतिवेगच-  
 क्सुपहमोच्छरंतं कथधं गंभीररत्तलगजिययुंजियनिग्याय-  
 रुयनिवतितसुदीहीहारिदूरसुधंतगंजीरखुगुगंतिमई पि-  
 पदहंमंतजक्करक्कमकहंरुपिसायरसिसयतज्जायउवमग्ग —  
 सहस्ससंतुलं बहूप्याइययं विरचितचलिदोमपूमउवचारदि-  
 हारहृषरअच्छाकराणपयतजोरापयचरियं परिंयतजुंजका-  
 सक्कापोवमं दूरंतमहानइवइमहज्जांमदरिसिणज्जें वुरणुचं  
 विममणवेसं दुक्कुषारं कुरामयं लवणससिलपुणं  
 अतिसासियससुच्चिययोगिं हत्थत्तरेकेहिं बाइणेहिं अतिवइ-  
 चा समुहमज्जे हृष्टांति, गंणु जणस्स पोचे परद-  
 व्वहरा नरा निरखुंका, निरवेक्खा गामागरनगरसे-  
 दकव्वदमंरदपोपहपट्टासासमणिगमजणवयं ते य धणस-  
 पिके हंथंति, धिरदियपच्चिअब्भज्जा वंदिगह गोसाहा य  
 मेणइंति,दाक्खमतिनिक्किवा णियं हंथंति छिंदिति गेहसंधि-  
 निक्खिवाणिय य हंरंति,पणधणदण्णआपाणिय जणवयजु-  
 लाणं निगियमदी परदव्वहिं जे अबिरया, तदेव केई  
 अदिखादायं गवेस्माणा कासाकालेसु संचरंता चित्तग-  
 पज्जलियसरसदरदहृकद्वियकळेवेरं रुदिरसिषवदणअकस्य-  
 खादियपीतमहाणिजमतजयकरं जंबुयाविसिक्खयंतं पूषकय-

घोरमदे वेयाल्लुडिपथिस्सुकहहंतेपहासितवीरण—  
 निरनिरामे अतिनिचउच्चुभिभंगंभदरिसिणज्जे सुसासे-  
 वणे सुधपरलेणअंतरावणगिरिकंदरविमसावयसमाकुल्लसु  
 वसादिमु किलिस्संता सीतातवमांसियसरीरा दहृच्छविनि-  
 रयातिरियजवसंककदुक्कसंजांरवदपिज्जाणिय पावकम्माश  
 संचिणंता तुल्लजत्तवणपाणभोयणपिवासाया कुंठिवा  
 किंज्ञंता मंमकुणिमकंदमूले जं किंचि कयाहारा उच्चिग्ग-  
 उणुया असरणा अरुवीवासं उवेति, बाससतसंकणीयं  
 अयसकरा तकरा जयंकरा कस्स द्दामांति अउज दव्वं इति  
 समापंतं करेति, गुज्जं बहुयस्स जणस्स कज्जकराणेषु  
 विग्घकरा मत्तपयत्तपुत्तवीसत्थिद्विघ्घाती वणणम्भुदपसु  
 हरणुष्कुत्ती विग्घव रुदिरमट्टिया परिततिनररत्तमज्जायय-  
 तिक्कंता सज्जणजणदुग्गंठिया सकम्मेहिं पावकम्मकारी अ-  
 सुजपरिणया य दुक्खभागी निचचाउलदुहमंतिव्णुउमणा इह  
 लोकेचैव किंलिस्संता परदव्वहरा नरा वसणसयमावसा ।

( तं पुण्येति ) तत् पुनः कुर्वन्ति चौर्यं तस्कराः, तदेव चौर्यं कुर्वन्तीरयेथेथीशाः तस्कराः परद्रव्यहराः, प्रतीति, उक्ता निपुणाः,कृतकरणा बहुशां विदितचौरानुष्ठानाः, ते च लब्धल-  
 काश्च अवसरहाः कृतकरणाश्चक्षेत्राः, सादृशिकाः धैर्यवन्तः, लघुस्यकाश्च तुच्छात्मानः,अतिमहद्व्याहं शोत्रप्रस्तांश्रैति समासः।  
 [ दहरं ओवीश्रया य कि ] दहरं पण गतददृष्टेण, वचनांशोनेत्यर्थः।  
 अयमोदयन्ति गोपायन्त्यामस्वकपं पं विलज्जीकुर्वन्ति य ते  
 दहरं परभौशिकाः, मुण्णति हि शताम्भानः-तथाविधं वचनां-  
 प्रकटितस्वभावं मुग्धजनमिति । अथवा-दहरं गोपायन्त्यन्ति  
 जातमन्वाथं कुर्वन्तीति दहरं गोपत्रीकाराः, ते च शुक्ति कुर्वन्ती-  
 ति शुक्तिकाः । अभिमुखाः परं मारयन्ति ये तऽजिमराः । श्रुणं  
 देवं कृत्यं भञ्जन्ति न ददति ये ते श्रुणज्जकाः । भन्नाः  
 शोपिताः सन्धयः विप्रतिपत्ती संस्था येस्ते भन्सन्धिक्काः ।  
 नतः पदद्वयस्य कर्मधारयः राजउत्तं कोशद्वाराधिकं कुर्वन्ति ये  
 ते तथा । विषयान्मण्डइसात् ( निच्छुद्धति) निर्द्वारिता ये ते,  
 तथा शोकबाधा जनबादिकृताः, ततः कर्मधारयः । सद्कोहो-  
 काश्च घातकाः, उहंहाकाश्च वा अठव्यादिवहाकाः, प्राग्घातका-  
 श्च पुराणकाश्च पथि धातकाश्च शुद्धपदिप्रदीपनकारकाः तीर्थ-  
 भेदाश्च तीर्थमोचका इति द्वन्द्वः । लघुहस्तेन हस्तस्राघवेन संग्रमु-  
 का ये ते । तथा ( ज्यकरे पि ) दूतकराः, कापमरकाः शुक्क-  
 पाशाः, कोह्याला वा, द्विधाः सकाशात् स्वभियं कावयन्ति,  
 कीरुपा वा ये चौरास्ते श्रीचौराः, अर्थात् चौराश्चकारा इति । सन्ध-  
 यद्वयाः क्षात्रभानकाः, अर्थात् द्वन्द्वः । ततस्त्वे च अग्निभेदका  
 इति वक्तव्यम् । परधने हरन्ति ये ते तथा परधमद्वारिणः । शो-  
 मान्यधरन्ति ये ते शोमाधरकाः । निःशुक्तया अयेन परप्रणा-  
 न्विनाशैश्च मुण्णन्ति ये ते शोमावहरा उच्यन्ते । आक्षिपन्ति  
 वशीकरणद्वारा ये ते ततो मुण्णन्ति ते आक्षेपिणः । अर्थात् द्व-  
 न्द्वः । [ हरकरा य कि ] हजेन कुर्वन्ति ये ते हउत्कारकाः । पानान्त-  
 रेण—परधनदारतादाहरचक्षेत्राविरुकारक पि” सर्वेऽप्ये-  
 ते चौरविशेषाः । निरुत्तरं मर्ययन्ति ये ते सिमेईकाः । शुचीचौराः  
 प्रच्छन्नचौराः, गौचीराः, अश्वचोरकाः, हासीचीराश्च प्रतीताः।

पतेषो इन्द्रः । अतस्ते ए एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो हरन्ती-  
ति । [ श्लोकदृष्टि ] अपकर्षका ये मेदाव् प्रहणं निष्कासय-  
न्ति चौरायाकायै परपुद्गाभि मोषयन्ति, चौरपुत्रुवहा वा । संप्र-  
धाकाभोरुषाणं जलकादि प्रयच्छन्ति । ( श्लोकदृष्टि ) अत्र-  
विद्यमानाभोरविशेषा एव । सार्येवाकाः । सार्येवाः । विलकोली-  
कारकाः परव्यामोहवाय विषसर्वरचनवादिनो, विषसर्वरच-  
नकारिणो वा । पतेषां इन्द्रः । ते च निप्रहाङ्गदाफिमिमाङ्ग रा-  
जादिवा पुद्गाता इत्यर्थः । ते चैते विप्रसोपकाभेति समासः ।  
बहुविधेन ( तेषिष्क षि ) स्तेन्येन इरण्ये बुद्धियैवं ते- 'बहुविह-  
तेषिष्कहरणबुद्धी' । पात्रान्तरेण-(बहुविधतहाऽवहरणबुद्धि-  
ति ) बहुविधा तथा तेन प्रकारेणापइरण्ये बुद्धियैवं ते तथा ।  
एते कर्कशास्तेः, कर्षाव-परस्य कर्षाये अवित्रता प्रनिवृत्ताः ॥  
इति ये अत्रसादानं कुर्वन्ति ते उक्ताः ॥

अधुना त एव यथा तन् कुर्वन्ति तदुच्यते-विपुलं बलं सा-  
मर्थ्ये परिग्रहश्च परिचारा येषां ते तथा । ते च बहवो रा-  
जानः पराधने युक्ताः । इदमर्थिकं वाचनात्परे परत्रयम् । तथा  
सकं इत्ये असंतुष्टाः परविषयान् परदेशानभिप्रन्ति सुष्वाः,  
धनस्य हन इत्यर्थः । अत्रमिरस्त्रैर्विक्रमसाते वा यद्दसै सैन्य-  
तेन समप्रा युक्ता ये ते तथा । निजिनिर्दिष्टयवज्ञिवरयोधिः  
स्य इत्यस्य संग्रामस्त्रश्च संजाता येषां ते तथा, त च ते  
अग्रहमियं च दीपताश्च इपवन्त इति समासः । तैरेवंविधैः भूत्यैः  
पदाभिः । काचसैन्धैरिति पठन्ते । संपरिवृताः समासाः, तथा  
पद्मशास्त्र्यैश्चकसागरकन्दम्युह्यते, तः इह म्युहशब्दः प्र-  
त्येक संवचनः । तत्र पद्मकारो म्युहः पद्मम्युहः, परवानमभि-  
भवनीयसैन्यविय्यासविशेषः । एवमन्येऽपि पद्मः । एते रवि-  
तानि यानि तानि तथा तैः कैः, अनौकैः सैन्यैः । अपघना-पघा-  
दिभ्योहा आदिषुषां गोमृषकायूहादीनां ते तथा । तैरुपकालितैः,  
कैः, अनौकैः । ( उच्छुरंत ति ) अकुर्यन्त आच्छाद्यन्तः, परा-  
नौकानिति गम्यम् । अग्निभूय ( जित्वा, तान्येव हरन्ति, परध-  
नानोति व्यकम् । अगरे सैन्यांतेभ्यो नृपेभ्योऽन्ये स्वयं यो-  
द्धारो राजानो रणशीर्षे संग्रामशिरसि प्रकराण्ये लघ्वं लक्ष्यं  
यस्ते तथा । ' संगमं ति ' द्वितीया सप्तम्यर्थेनिकृत्वा संग्रामे  
रण्ये अतिपतन्ति स्वयमेव प्रविशन्ति, न सैन्यमेव यो-  
धयन्ति । किभूताः । सखदाः सखदादिनां कृतसखाहाः, बहः प-  
रिचरः कवचः यैस्ते तथा । उपादिति गात्रबद्धश्चिह्नपदो ने-  
प्रादिचिवास्मको मस्तकं यैस्ते तथा । शूरीतान्यायुधानि श-  
स्त्राणि प्रहरानि यैस्ते तथा । अथवा-आयुप्रहरणानां स-  
व्यालेष्येन कृतो विशेषः ततः सखदादीनां कर्मधारयः पूर्वा-  
कमेव विशेषणं प्रयच्छन्नाह- 'आर्दी' तनुबाणविशेषः, तेन वरव-  
र्मणा च प्रधानतनुबाणविशेषणैव युज्यताः प्रेरिता ये ते  
मादीवरवर्मयुज्यताः । पाठान्तरेण- ( वामदिवस्मगुडिता )  
तत्र ' गुडा ' तनुबाणविशेष एव; अन्यत् तस्यैव । आभिद्धा परि-  
रिता आलिका साहकम्बुको यैस्ते तथा । कचवेन तनुबाण-  
विशेषणैव कपटकिताः कृतकचवा ये ते तथा । उरसा बलसा  
सह शिरामुक्ता ऊर्ध्वमुक्ता बद्धा यन्तिताः कपटे गले तोषा-  
स्त्रणीरा शरधयो यैस्ते उरःशिरौ बुरखश्चकवततोषाः ।  
तथा [ पातिय सति ] हस्तपाशितानि हस्तकानि प्रधानक-  
लकानि यैस्ते तथा । तेषां सक्तो रचितो रणोचितरचनाविशेष-  
श्च परप्रकृपहरणप्रहारप्रतिघाताय कृतः [ पृहक षि ] सयु-

वाधो यैस्ते तथा । ततः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः । अतस्तैः  
सरमसैः सहयैः अरवापकैः निवृण्णकोद्वहस्यैः धातुर्कैरि-  
त्यर्थः । ये करामित्यः कराहृष्टाः सुनिश्चिता अतिनिश्चिताः  
शरा बाणास्तेषां यो वर्षवदकरको बुद्धिद्विस्तारो ( सुयंत षि )  
मुख्यमानः स एव सस्य उपस्य अइवंगानां धारायां नि-  
पातः तस्य मार्गो यः स तथा । तत्र ' मते षि ' पाठान्तरं च । तत्र  
मत्प्रत्ययान्तत्वात्निपातवति संग्रामेऽतिपतन्तीति प्रकम् ।  
तथा अनेकानि धनुषि च मण्डलाप्राणिव च अङ्गविशेषाः, तथा  
सन्धिताः लोपणयोर्धर्षो वक्ष्यन्ति ऊर्ध्वगताः शूचविशेषाः, नि-  
शूलरुपाः, कनकाश्च बाणाः, तथा चाभकप्रयुहीतानि केट-  
कानि च फलकानि, निर्मला निकृष्टाः अङ्गाश्च उज्ज्वलवि-  
कोशीकृणकरवालाः । तथा वरपन्ति प्रहाप्रवृत्तानि कुन्तानि  
च शूकविशेषाः, तोमराश्च बाणविशेषाः, कर्पाणि च म्रारानि,  
गदाश्च दण्डविशेषाः, परशुश्च कुठाराः, मुशलानि च प्रती-  
तानि, लाङ्कलानि च हस्तानि, शूकानि च, सयुद्धाश्च प्रतीताः । नि-  
न्दिपालाश्च शूकविशेषाः । शबलाश्च भङ्गाः । पट्टिशास्त्राश्च  
विशेषाः, चर्मेषाश्च अर्धमण्डपावालाः, घनाश्च मुहुरविशेषाः, मि-  
ष्टिकाश्च मुष्टिप्रमाणापावालाः, मुहुराश्च प्रतीताः, वरपरिघाश्च  
प्रवलांगलाः, यन्त्रप्रस्ताश्च गोफणादिपावालाः, दुष्वाश्च  
कराः, तोणाश्च शरधयः, कुषेपयश्च रुदिगम्याः, पीठानि च  
आसनानीतिर्निष्कः । एभिः प्रतीताप्रतीतैः प्रहरणविशेषैः कलि-  
तो युक्तो यः स तथा । तत्र इतीभिः करवालाविशेषैः प्रहरणैश्च  
( मिलिमिश्रित षि ) चिकचिकार्याभिः ( क्षिपंत षि ) क्षिप्य-  
मायैः विद्यतः कृष्णप्रभाया उज्ज्वलाया निर्मलाया विरचिता वि-  
हिता समा स्फुटं प्रमा दीत्येवं तद तथा । तदेवंविधं न-  
भस्तलं यत्र स तथा ; तत्र संग्रामे तथा स्फुटप्रहरणे स्फुटानि  
ध्वनानि प्रहरणानि यत्र स तथा तत्र संग्रामे, तथा मद्दाराण्यैश्च  
संभन्थीनि यानि शूकानि, नेरी च दुन्दुभिः, वरुण्यै च लोकप्रत्यै-  
स्य, तेषां प्रसुराणां पदुनां स्फुटप्रतीनां पट्टानां च पट्टकानामा-  
हतानामास्फालितानां निनादेन ध्वनिना गम्भीरेण बहुक्षेपे न-  
न्दिताः हृष्टाः, अमुभिताश्च प्रीतास्तेषां विपुत्रो विस्तोर्नां घोषो  
यत्र स तथा तत्र । इयञ्जत्यर्थेऽन्यः सकाशात् स्वरितं शी-  
घ्रं प्रसृतं प्रसरमुपगतं यद्दजो धूलौ तदेवोद्धतमन्वका-  
रमतिदायं प्रबलं तमिच्छं तेन बहुलो यः स तथा तत्र, तथा का-  
तरनानां नयनयोर्द्वयस्य च ( वाश षि ) व्याकुलत्वं क्लानं  
करोतीत्येवंशीलो यः स तथा तत्र । विलुङ्गितानि शि-  
थिलत्वा च अङ्गानि यान्मुक्तवराण्युन्नतप्रवराणि मुकुटानि  
मस्तकाभरणविशेषाणि किरीटानि च सान्येव शिखरभयोपेता-  
नि, कुण्डलानि च कर्णाभरणानि, उदुद्गमानि च नक्षत्रमासाभि-  
धानानरणविशेषाः । तथासाद्योः स्फाता सा विघ्नं यत्र स  
विलुलितोक्तवरासुकटकिरीटकुण्डलोद्दुग्माद्योपेति इति । तथा  
प्रकटा याः पनाकाः, चञ्चिताश्च ऊर्ध्वकिना ये गजवाक्यादिव्यजाः,  
वैजयन्त्यश्च विजयसुचिकाः पताका एव चाभराणि चरन्ति उ-  
प्राणिव च तेषां सन्धिश्च यदधकारं तेन गम्भीरोऽलक्ष्यमर्थो  
यः स तथा कर्मधारयः, ततस्तत्र; हवानां यद्देवितं शब्दविशे-  
षः, हस्तानां यद् गुग्गुनायिनं शब्दविशेष एव, तथा रथानां यद्  
( वणध्वजाय षि ) वणध्वनेत्येवंकपस्य शब्दस्य करणम्, तथा ( पा-  
दक षि ) पदानीं यद् ( हरहराद्य षि ) हरहरतिशब्द-  
कानि, आस्फोटितं च कारस्फोटकं सिन्धनाश्च सिन्धस्यैव  
शब्दकरणम्, ( मिलिय षि ) सगटितं सौन्दकारकरणम्, विपुत्रं च

विक्रयघोषकरणे, उत्कृष्ट उक्तकृपणाद्, आनन्दमहाश्वनिरित्यर्थः ।  
 कणउक्तताम्बुध, तथाविधो गान्धर्व, त एव भीमराजितं  
 मेघध्वनिवैद्यं स तथा तत्र । एकल्लेया हस्तां कृपतां वा कनि-  
 लकृपतां यत्र यत्र स तथा तत्र । तथा अशुनितेनैतदशुश्रुतेन व-  
 द्मेनय ये रीशू प्रीयमाणस्ते तथा । तथा जौर्मं यथा जवतीत्येवं दश-  
 वैश्वरारोहो गाढं दृष्टी येः स तथा । ततः कर्मधारयःततस्तेषां जदानां  
 साहाय्येण सुसु प्रवृत्तकरणे उपनाः प्रयत्नप्रवृत्ताः करा यत्र स  
 तथा तत्र । तथा अमर्षवशेन कोपवशेन भीममन्यर्थं रक्त लाहिते  
 निवृत्तिते विस्फारिते, आग्निं खिन्वते यत्र स तथा । वैरप्रधाना  
 दधिर्वैरघाटः, नक्षत्रैर्दृष्टया वैरवृद्धे वैरजायेन ये क्रुद्धाभ-  
 विन्नाथ ये । विधवती कुटिला वलिषया वेका झुकुटिनंयनल-  
 हाव्यकारविशेषकृता ललाटे यत्र स तथा तत्र । तथा वध-  
 परिधानां भारणःस्वसाययतां नरसहस्राणां विक्रमेण पुन-  
 षाकारविशेषेण विवृण्मिन्ते विस्फुरितं बलं शरीरसामर्थ्यं यत्र  
 स तथा तत्र । तथा बह्वगनुरक्षः रथेभ्यः प्रधापिता वेगेन प्रवृत्ता  
 ये समरमद्याः संग्रामयोश्चास्ते तथा । आपतिता योऽनुमुयुनाः,  
 त्रैका दृक्तालामघमहारेण दृक्तामप्युक्त्यानेन साधिता निर्मिता  
 यैस्ते तथा ( समूरसधियं सि ) समुचित्तुं हर्षातिरेकादुद्धांकुं  
 बाहुयुगलं यत्र स तथा, तथाया भवतीत्येवं मुक्तादृहानाः कृत-  
 महदाहासध्वनयः । ( पुष्कन्तं सि ) पुष्कर्वेनः पुष्कारं कुर्वाणाः,  
 ततः कर्मधारयः । ततस्तेषां यो बालः कलकशः स बहुशो  
 यत्र स तथा तत्र । तथा ( फलगावरणगतिर्यं सि ) स्फाराद्य  
 फलकानि च आचरणानि च सघाटा गृहीतानि यैस्ते तथा  
 ( शयवपरपथेत् सि ) गजवग्नं रिपुमनङ्गजान् प्राशयेयमाना  
 हनुमानो वा अमिलवमानस्तत्र शकास्त्रेणाला वा ये ते त-  
 था । ततः कर्मधारयः । ततस्ते च ते हतमट्टललाभ द्यिनयो-  
 च्छुद्रा इति समासः । ते च ते परस्परप्रलम्बाद्य, अन्येभ्यो यो-  
 कुमररथा इत्यर्थः । ते च ते युद्धयोजनाद्योपनकलाविधान-  
 गर्विताः, ते च ते विकीर्णोत्तरासिभिः निष्कपित्वरकरवात्रैः, रा-  
 षेण कोपेन त्वरितं शीघ्रम्, अभिमुक्त्यानिमुष्येन प्रहरद्भिष्प्राः  
 करिकरा यैस्ते तथा । ते चेति समासः । तेषां [ विगियं सि ]  
 व्यकुमिताः क्षरिताः करा यत्र स तथा तत्र । तथा [ अयवदृ  
 सि ] अप्रविदास्मोभारिना सम्पन्निकाः निशुचमिषाः स्फाटि-  
 ताभ्यः श्वदारिता ये, तेषो यस्मिन्ने कश्चरं तेन कृतो नृमी  
 यः कर्मस्तेन चिषिष्ण्डा विज्ञानाः पन्थानां यत्र स तथा  
 तत्र । तथा कुक्षौ दारिताः कुक्षिरारिताः मालिनं कश्चरं क्ष्वन्ति  
 क्क्षन्ति वा नृमी लुण्ठितं, निम्बेल्लानि कुक्षितो बहिर्दृष्टानि अ-  
 न्धराण्य उदरमध्यावयवविशेषा येषां ते तथा । [ फुरकुरताविवल  
 सि ] फुरकुरायमाणोभ्यः विकलाभ्यः विकरन्दिच्यवृत्तयो ये ते ।  
 तथा मर्मणि हता मर्महानाः, विकृतो गाढो यत्र दक्षः प्रहारो येषां  
 ते तथा । अत एव मूर्च्छिताः स्फेनां नृमी लुण्ठनः विह्वलाभ्यः नि-  
 स्सहाङ्गाः ये ते तथा । तथा कुक्षिराशिरिदानां कर्मधारयः ।  
 ततस्तेषां विज्ञापः शब्दविशेषः करुणा दयाऽऽस्पृश्यं यत्र स तथा  
 तत्र, तथा हता विनाशिता योषाः श्रवणाराहादयो येषां ते तथा ।  
 तत्र ते वदहत्या संग्राममन्त्ररुग्नाद्यः उदात्मसकुञ्जराभ्यः परि-  
 शक्तिजनाभ्यः भीमजनाः ( निम्बुकुक्षिराशिरिदानो सि ) निम्बुलाः शिषाः  
 केतवां मन्ना दक्षिता दधवराभ्यः यत्र स तथा । नष्टशिराभि-  
 ष्टिभ्रमस्त्यैः करिकलेवैरैः दूनिशरं देराकाणां व्यासाः । पानित-  
 मरुत्वा दधवरायुवाः, विकीर्णवर्णा विलिताङ्गुः, रूमेभ्यो

देशा यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः तत्र । तथा नृम्यंति क-  
 वन्थानि शिगोरदितकक्षेत्राणि प्रचुराणि यत्र स तथा । जयंकर-  
 वायसानां [ परिशिखिगि लि ] परिशो वयाम्बुध्वाणां वनाकण्ठं  
 च कवालेभ्यः संकरतस्तस्य वा ग्राह्यो वयाम्बुध्वाणां वनाकण्ठं  
 रजनीयो यः स तथा । तत्र संग्रामे, शूरेण राजानः परध्वंशकाः, भ-  
 तितपन्तानि प्रकृतम् । अथ पूर्वोक्तमर्थार्थं संक्षिप्तरेण वाक्येनाह-  
 वसवो देवाः, वसुधा च पृथिवी, विक्रमिता यैस्ते तथा । इव रा-  
 जना इति प्रकृतः । प्रत्यक्षमिष साक्षाद्विष तद्वज्रयोगात् पितृव्येन  
 जमशानं प्रत्यक्षापिपुनवम् ( परमरुच्यो हसुगं ति ) अत्यर्थीकरणं भ-  
 यानकं दुष्यवेशतरं कप्रयुग्मशय्यं, सामान्यजनस्येति गम्यम् । भ-  
 तितपन्तं प्रविशन्ति संग्रामसंकटे संशामसगाहनं, परधनं परकृष्यं  
 ( महंतं सि ) इच्छन्त इति । तथा अपरे राजन्या अग्नये ( पादकृ-  
 रन्धेण ) पदातिक्रम्यैरसमूहाः, तथा सेनापतयः किं स्वकपाः, ।  
 चौरवृन्दप्रकषकाभ्यः, तत्रपतेषां इत्यर्थः । अष्टादिशो यानि दुर्गा-  
 णि जलस्थद्वन्द्वयुक्ताणि तेषु वसन्ति यं स तथा । कालहारेण-  
 कपीतशुष्काणः, पञ्चवर्णा इति यावत् । क्रमेकशतसंख्याविशेष-  
 द्वा बद्धा यैस्ते तथा । परविषयानिष्पन्निः, सुधा इति व्यक्त्वा ।  
 धनस्य कार्यं धनकृते इत्यर्थः । तथा अर्थाकरभूयो वाः सागरः,  
 तथा नं चानिपत्यानिष्पन्नि, जनस्यापानानि तं सम्बन्धः ।  
 उर्मयो वीच्यवस्तहस्राणां शालः पञ्चयस्ताभिराकुलो यः स  
 तथा । आकृला जराभानेन व्याकुलितस्त्रिषा च तेषोपाताः  
 विगतजलशयनपाताः सांयाभिकाः । कलकशन्तं सि ) कलक-  
 लायमाना इल्लेभालं कुर्वाणस्तेः कश्चितो यः स तथा । अनेता-  
 स्थायजलत्वमुक्तम् । अथवा-जामसहस्रमालानानिकुलोऽऽनि-  
 व्याकुलो यः स तथा । तथा विगतयोतिंगतसंस्वन्धनयोर्द्विभेदः  
 कलकलं कुञ्जिः कश्चितो यः स तथा । ततः कर्मधारयः तथा  
 तम् । तथा पाताश्राः पाताश्रकलशान्तेषां यानि सहस्राणि तेषां  
 वशाङ्गेन यत्संश्लिं जलविजयम् ( उदस्रमाणं ति ) जलप्राप्त्यां  
 तस्य यद्दकरजस्तोत्रेण्युत्सन्देव रजोऽपकारं धूलीलाया यत्र स  
 तथा तम् । वरः फेनां मिर्च्छीराः प्रचुरो धवशः ( पुत्रे लुण्ठि । अन-  
 वरते यः समुत्थितो जातः स पवाद्दृष्टाभ्यो यत्र । वरफेन एव वा  
 प्रचुरादिविशेषणोऽदृष्टाभ्यो यत्र स तथा तम् । मारुन्ते विक्रान्त्य-  
 माण पानीये यत्र स तथाः जलमाराणां जलकल्लोलायुगलेः  
 समूहः ( हृदियं सि ) दाशो यत्र स तथा, ततः कर्मधार-  
 योऽस्तप । अप्रियेति समुद्येय । तथा समन्ततः सर्वेनः क्षुमिषवा-  
 युग्मभूतंमन्यांकुलिनं सुहितं तीरमुद्येय लुण्ठितं ( शोषस्वम्माना-  
 सि ) महात्मन्यादिभिर्भूतं व्याकुलं । क्रयमाणं, प्रसक्तान्ध निम्ब-  
 ष्यन्तेतद्विस्खलितं, चरितं स्वस्थानगमनप्रपञ्चं, विपुलं विस्ती-  
 र्णं, जलचक्रवात्तं तीरमण्डलं यत्र स तथा । तथा महाभद्रवैभो-  
 क्त्वाऽऽदिभिन्मगाजवैः स्वरितं यथा जवतीत्येवमापूर्यमाणो यः स  
 तथा । मन्त्रीरा अन्नकषयान्याः, विपुला विन्तानाभ्यः ये भाषाणं  
 जलमणयान्मणयान्पुन्येषु चञ्चलं यथा भवतीत्येवं भ्रमन्ति  
 संवरन्ति, मुष्यन्ति व्याकुलोत्तवन्ति, ( उपतन्ति ) उच्छलन्ति वा  
 ऊर्ध्वमुक्षानि चञ्चन्ति प्रत्यर्थिन्युत्तानि याऽऽपयन्तिनाति पानीया  
 प्राप्तिनां वा यत्र स तथा । अथवा जलचक्रवात्तं नदीनां  
 विशेषणमापूर्यमाणेति चाचक्षोसाभिति । तथा यथाविता विना-  
 नगतयः स्वरपद्या आनिककक्षाः प्रशाकाः रीडाः व्याकुलिनस-  
 लिला विज्ञानितजनाः स्फुटितोऽनुदितो विद्वान्मोक्षो ये वीक्षितपा-  
 कल्लोराः, ननु वायुवृषाः कल्लोराः तैः सहूलो यः स तथा । त-  
 तः कर्मधारयोऽस्तस्यम् । तथा मारुत्करमन्यककृत्वाद्यश्च ( सहा-

र सि] जलजन्तुविशेषाः, ते च प्रादितिमिश्रमुमारावश्च ते । इन्द्रः ।  
 तेषां समाहृताश्च परस्परणेपहनाः [ समुद्रायमाण य सि ]  
 समुद्राकन्तश्च प्रहाराय समुत्पिष्टन्तो ये पुराः संघाः घोरा दौ-  
 कात्ते च प्रबुध पत्र स तथा तम् । कातनरद्वयकम्पमिति  
 प्रतीतम् । घोरे रौद्र्यथा भवतीत्येवमारभन्त शम्भारामान्, महाभ-  
 यतीश्वंकार्यानि । [अगोरेपारं सि] अनर्वाक्यपारमिष महत्त्वा-  
 दनर्वाक्यपारम, आकाशमिष निरालम्बम्, न हि तत्र पततन्द्रिः  
 किञ्चिदालम्बनमवाप्यत इति भावः । औत्प्रातिकपवनेनोत्पा-  
 तजनितायानुना [ प्राययि सि] अस्यर्थः, येन [ णोऽङ्गिय सि ] नोदिताः  
 प्रेरिता उपयुपरि निरन्तरं तरङ्गाः कङ्कोलास्ते, इत इव अति-  
 वेगोऽतिक्रान्तः शेषवेगं यो वेगस्तेन, लुप्तवृत्तिकचचनदर्शना-  
 त् । अणुःपथं दृष्टे मार्गे [ मोक्षुर्दन्ते क्यश्च सि ] कान्चिदेशे गम्भी-  
 रं विधुलगत्यन्ते मधस्त्वय ध्वनिमुग्धितं च, गुञ्जाललाणा-  
 तोयं च निर्घातश्च गगने ध्वन्तरङ्कतो महाध्वनिः, गुरुकनि-  
 पतितं च विधुदाविगुरुकद्रव्यनिपातजनिताध्वनियैश्च स तथा ।  
 सुवीर्यानिर्हादी अहस्वमतिरवो [ दूरसुचन्त सि ] दूरं भूय-  
 मणो गम्भीरो धुगाधुमित्येवकूपश्च शम्भो यश्च स तथा कर्म-  
 धारयः । ततस्तम् । पथि मार्गे [ रमन्त सि ] रुग्धानाः संच-  
 रिष्णुतां मार्गं स्वल्पयन्तां ये यस्तरासकृष्णारपिशाचव्य-  
 न्तरविशेषाः; तेषां यत्रगार्जितं, उपसर्गसहस्राणि च । पाठा-  
 न्तरेण्यु- [ रुसियत्तजायउवसमासहस्त सि ] तत्र यकादयश्च  
 रूप्यताः, तज्जातोपसर्गसहस्राणि, तैः सङ्कलो यः स तथा तम् ।  
 बह्वनि च औत्प्रातिकानि उत्पाताद् भूताः प्राप्ता यः स तथा । वा-  
 चनान्तरे-उपद्रवेणाम्भूतो यः स उपद्रवणाम्भूतः । ततः प्र-  
 तिप्राप्त्याना कर्मधारयः । अतस्तम् । तथा विरचितो बलिना  
 उपहारेण होमिनाम्रकारिकाया धूमन उपचारे देवतापूजा यै-  
 स्ते तथा । दत्तं वितर्णो कथितं यत्र तत्तथा, तच्च तद्वचनाक-  
 रणं च देवतापूजनं च तत्र प्रयत्ना ये ते तथा । योगेषु प्रब-  
 धञ्चितव्यापारेषु प्रयत्ना ये ते तथा । ततो विरचितव्यादीना  
 कर्मधारयः । अतस्तैः सांयात्रिकैरिति गम्यते । अरितः सेवि-  
 तो यः स तथा तम् । पर्यन्तयुगस्य सकलयुगात्तिमयुगस्य यो-  
 ऽन्यकालः ज्ञयकालस्तेन कल्पया कल्पना उपमा रौद्रत्या-  
 घस्य स तथा । दुरस्ते दुत्तवसानं महानदीनां गङ्गादीनां  
 जेतारासां पतिः प्रभुर्यः स तथा । महाभीमो इश्यते यः स  
 तथा । कर्मधारयः । अतस्तम् । दुःखेनानुबधेते सेव्यते यः स  
 तथा । विपमप्रवेशे दुःख्येयो, दुःखोत्सारमिति च प्रतीतम् ।  
 दुःखेनाभीम इति दुराश्रयसं, सचस्यस्यपूर्वमिति व्यकम् ।  
 अस्तिताः कृष्णाः, सिताः सितपटाः, सधुच्छिन्ना उर्द्धीकृता येषु  
 तान्यसितसितसमुच्छिन्नानि तैः; औत्पद्यदेषुषु कृष्णा एव  
 सितपटाः क्रियन्ते, दूराद्गुणलक्षणहोतोरित्यसितेत्युक्तम् ।  
 [ हयपतेकेहि सि ] सांयात्रिकयानपारम्यः सकाशाद्दकत-  
 रैर्वेगवद्विरित्यर्थः । बाहूतैः प्रयहरीरतिपत्य पूर्वोक्तविशेष-  
 यं सागरं प्रविश्य समुद्रमप्ये प्रानि, गत्वा जनस्य सांया-  
 त्रिकलोकस्य, पाताम् यानपात्रणि, परद्रम्यहरणे ये निरनु-  
 कम्पा निःशुकास्ते तथा । वाचनान्तरे-दूराद्गुणलक्षणा नरा निर-  
 नुकम्पाः [ निरयेक सि ] परलोकों प्रति निरयकाह्वना निर-  
 पेक्षाः । आरमो जनपदाभिः साक्षिण्यविशेषः; आक्रो लब्धयापु-  
 त्यसिष्णाम्, शक्रः अक्रयतिशोकाः अन्तर्धुशीप्रकारः, कर्षटं  
 कुनगरं, मण्डयं सर्वतोऽनासन्नसन्निवेशान्तरं, द्रोणेषु जल-  
 स्थलपधापेतं, पचनं जलपथयुक्तं, स्थलपथयुक्तं वा, रत्नभूमि-

रित्यन्तेः आश्रमस्तापस्यचिनिवासः; निगमो ब्रह्मिजननिवासः,  
 जनपदा देशः । इति इन्द्रः । अतस्तैश्च धनसमृद्धान् प्रान्ति । तथा  
 खिरद्वयाः तत्राप्ये निष्कल्लिचसाङ्गिभ्रलज्जाश्च ये ते तथा ।  
 वन्दिप्रहरोमदंश्च सुवृन्ति कुवेनीतयः । तथा-शरणमतयः  
 निष्कणा विप्रान्ति, निन्दन्ति गेहसन्धिप्रतिताम् । निक्षिप्तानि  
 स्वस्थावनक्यानि हरति, धनधान्यद्वयजानाम् चतुर्धनस्य-  
 प्रकारान् । केवाम् ? इत्याह-जनपदकुक्षानां लोकगृहाणां, निवृणम-  
 तयः परस्य द्रव्याद्यैरविरताः, तथा । तथैव पूर्वोक्तकारणेण  
 क्विद्वत्सादानमवतीर्णं क्वयं गवेषयन्तः काङ्क्षाकलयोः सञ्च-  
 रणस्योन्वितानुचितरूपयोः सञ्चरन्तो भ्रमन्तः, ( चियय सि )  
 चित्तियु प्रतीतासु प्रज्वलितानि बहिर्गीतानि सरसानि इन्ध-  
 नादियुक्तानि दरद्वस्त्रानि द्वेषद्वस्त्राणिकानि कृष्णानि कृष्णानि तथा  
 विधयप्रयोजनानिः क्लेशकराणि मृतशरीराणि यत्र तत्तथा, तत्र  
 इमशाने । क्रियमाना अटवीवाससुपयन्तीति संबन्धः । पुनः किं  
 द्युते ? कथितसिद्धवदनानि अक्रान्ति समप्राप्तिः, मुक्तकानि इति  
 गम्यते । आदितानि त्रिक्रितानि, पीतानि च शोणितापेक्षया, यका-  
 भिस्तास्तथा, नाभिश्च कान्भिः शाकानिः श्रमन्तीभिः श्रमन्तीभिः तत्र  
 सञ्चरन्तीभिः भयदूरं यत्र तं कथिरभिसवदनात्कृतआदितपीत-  
 काकिनीभ्रमद्भयदूरम् । क्विद्वत्कृत इत्येतस्य स्थाने-“ अद्वरत”  
 इति पठ्यते । तत्र आभिर्भयिभिरिति व्याख्येयम् । [ जंबुवसि-  
 क्लियंयं ति ] विक्रमः । तिसाध्यायमानः श्रमन्तः, ततः कर्मधारयः  
 अतस्तत्र । तथा धुकृतघोरशब्दे कौशिकविदितरौद्रध्वाने, वेता-  
 लेभ्यः विकृतविशोकेभ्य उचितं समुपजातं विशुक्तं शब्दोत्त-  
 रामिभं ( कदकवदिति सि ) कदकहायमानं यत्सहस्रं तेन ( यी-  
 हणमं ति ) भयवत्कम् । अत एव निरतिशयमा वा रम्भायं यत्र  
 तत्तथा । तथा तत्र, अतिबीजन्तसुरजिगन्धे इति व्यक्तम् । पाठा-  
 न्तरेण-प्रतिपुर्भिमगंधवीभ्रसदृशनीये इति । कस्मिन्नवेद्येते ? इ-  
 त्याह-इमशाने शिवुवने, तथा वने कानने यानि शून्यगृहाणि प्रतीतानि,  
 सयनानि पिशुवद्वयानि, अन्तरे आमादीनामपत्तये, आपणा  
 हृदाः गिरिकन्द्रारश्च गिरिगुहाः इति इन्द्रः । ताश्च ताः विपमहा-  
 पद्समाकुलान्धिति कर्मधारयः, अतस्तासु । कासु एवविधावि-  
 त्याह-वसतिषु वा स्थानेषु वा क्रियन्तः, शीतानपशोचितश-  
 रीरा इति व्यक्तम् । तथा इम्भचनवतुः शीतादिभिरुपहतवन्धः,  
 तथा निरयतियेग्नव एव यत्सङ्कटं गहनं तत्र यानि दुःखानि  
 निरन्तरदुःखानि तेषां च सन्मारां बाहूदयः, तेन वेद्यते अनुप-  
 त्तं यानि तानि तथा । तानि पापकर्मणि संविचन्तो बभ्रन्तः दु-  
 र्गमं दुःप्रायं भङ्गानां मोक्षदाकिनामशमनं, आदनातीनां पानानां  
 च मद्यजलादीनां भोजनं प्राशनं येषां ते तथा । अत एव पिपा-  
 सिता जानतुयः, ( कुंठिय सि ) बुद्धिक्रिताः क्लाम्ता म्लाना-  
 नुनाः, मांसं प्रतीतम् ( कुण्ठिं ति ) कुण्ठयः शवः; कन्धसूक्ष्मि-  
 प्रतीतानि, यतिक्रिञ्च यथावातवस्तु । इति इन्द्रः । अतस्तैः वि-  
 दित आदारां जोजनं यैस्ते तथा । उन्निना उन्नेगन्त उन्स्तुता उ-  
 स्तुकाः, अशरणाः अजाणाः । किस् ? इत्याह-अदवीबासमरस्यभ-  
 सनमुपयन्ति । किं नूतम् ? व्यालघातशङ्कान्ये भुञ्जगादिभिर्भय-  
 दूरमित्यर्थः । तथा अयशक्ताः तस्करा भयदूराः, एतानि पशानि  
 व्यक्तानि । कस्य हारामश्चोरवामः, इति इदं, विषङ्कितम् । भया-  
 स्मिन्नहनि, इत्येव विकथना, इति इदंरूपं, समासबन्ध कुवेन्ति, गुह्यं  
 रहस्यस्य, तथा बहुकस्य जनस्य, कार्यं करणेण प्रयोजनविधानेन,  
 विद्वन्ना अन्तरपथाकराः, मत्तप्रथमसुखविश्वरताम् जिद्वे  
 अक्षरते प्रन्तीत्येवंशीला ये ते तथा । व्यसनाच्युरदयेषु हरणबुद्ध



शति व्यक्तम् । किञ्च—(विगण्य वृत्ता इव नाकारविधेया इव, (वहिरुत्सर्गं ति) शोधितेन्द्रवः (परितः) परिपन्ति सत्यतो प्र-  
 मन्ति । पुनः कार्यभूताः, अरपतिमयोऽभासितिकात्वा इति प्रतीतम् ।  
 सञ्जनजनम विधिद्वलोकन, जुगुप्सिता निम्बिता ये तेषां, स्व-  
 कर्मनिहेतुभूतेः, पापकर्मकारिणः पापाजुगुप्सिना, अज्ञपरिण-  
 तात्प्राज्ञपरिणामात्, बुद्ध्याभिज्ञ इति प्रतीतम् । (निष्ठाविलस  
 [उल्ल] बुद्धमिच्छुद्मस्य (पि) नित्यं स्वरा भाविल्लगं सकाशुष्यमा-  
 कुलं वा दुःखं प्राणिनां दुःखहेतु, अस्मिन्नेवं स्वास्थ्यरहितं मनो  
 वेपथं ते तथा । इह लोक एव क्रिश्यमाना स्वसन्तुतसमापन्नाः,  
 यतानि पदानि व्यकनानि ।

(४) अथ तदेवेत्यर्थात् परचणहरणे कलहारासुष्यते-

येषु केऽपि पुरुषसु दुष्यं गवेसमाया गहिया य इता य बद्धा  
 क्त्वा य तेषु अतिभाविष्या पुरचरं समप्लिया चारमगह-  
 चारमगहचरुकरणा तेषु य कल्पकपहारनिरयाऽऽरविलय-  
 चारकससपयणतज्जगलगत्यत्थउत्थलाणां विषया चारग-  
 बसदिं पविषिया निरयवसदिहरिसं तद्य वि गोम्मिकप-  
 हाररुमुष्णा निजन्चणकुरुयसपणभेसण(जय)आभिज्ञया  
 अविस्वचसिचसणा मणिणदं कित्दवसणा, उकोनाभंचन-  
 पासुभगणपरयायोहिं गोम्मिमजनेहिं विविहेहिं बंधणेहिं,  
 किं ते इहिनियन्नालरज्जुपकुदंगवरत्तोहसंकलहत्थेद-  
 यबज्जपद्दामकणिकोदोहेहिं अयोहिं य एवमादिपेहिं गो-  
 म्मिकर्मकोवगरेणेहिं दुक्खसमुदररोहिं संकोदणमां मणेहिं  
 बज्जंति मंदपुष्पा संपुदकचादोहंपजरज्जुमियरिन्द्रोदकूव-  
 चारमकिलगज्जुपक्वकविततबंधणत्वं जाम्बेणउक्कचलराबंधण-  
 विदुंमणाहिं य विदेहिंयंता अहकोदगागडउरंसरबक्कउक्कपू-  
 रिय(येत)कुंरंतउरकेदगमोचणेहिं संबक्का य नीसंसेता सीसा-  
 बेदउरूयात्तबप्पदंसिबंधेणततसलागमूदआकोदगाणि त-  
 च्चणविमाणणाणि य स्वाकडुयतित्तनावणजायणकारण-  
 सयाणि बहुयाणि पाविंयंता, उरयोर्कादिष्णगदोष्णअ-  
 ङ्किरसंजग्गसंपुसुलिया गल्लकासक्येहदंबउरउदरवत्थिपि-  
 ङ्किपरिपिलिया मच्छंतेहिययसंशुसिंयुगुंणा अमासिकिकरे-  
 हिं, के य अविराहियेरेपेहिं जमपुसिसंनिभेहिं पदया ते तत्य  
 मंदपुष्पा चदंवेला बज्जपद्दपोरा इति वा कससत्तचरत्वेत्तप-  
 हसत्ततासिंयुगुंणा किंवाणा लंबंतवमवणवेयणविमुद्दिथम-  
 णा थणकोट्टिमनियसजुयलसंकोदियमोदिया य कीरंति, निरु-  
 च्चार एया अच्चा य एवमादीओ वेयणाओ पावा पावंति, अदंति  
 दिया बमद्दा बहुमोहमोहिंवा परणथिम बुद्धा फासिंदियविम-  
 यतिव्वनिष्का इत्थियमक्कवरसरसंघट्टरतिपाहियजोगतसहा-  
 द्धा य धणतोसमा गहिया य जे नरगात्ता पुणरवि ते कम्म-  
 दुब्बियव्वा उवणीया रायकिकराणं तेषिं बधसत्यमपादयाणं  
 विलउत्तीकारकाणं लंचसमगबह्वयाणं कूदकवडमायाणिय-  
 दिआपरणपणिदिबंधणविआराणं बहुविहआसियसपजंप-

काणं परलोकपरमुहाणं निरयगीतागमिणां तेषु य आप्यच-  
 जा(जी) यदंदा तुरियं उगधाटिया पुरवेरंहिं सिंघाभगतिवचउ-  
 क्चचरमहपहपहेसु वैचदं कसउमकल्लेहपत्थरपणालियय-  
 णोमिमुड्डित्तचपादपिदिहजाणोकोप्परपहारसंजग्गमथितगसा  
 अद्धारसकम्मकारिणा पाविंयुगुंणा कलुष्णा मुकोदंकेउग-  
 लताडुजिन्ना जायंता पाणिंयं विगयर्जीविआसा तएहइया  
 वरागा तं पिय न लहेति, वज्जपुरिसेहिं धांयितंता तथ्य य  
 खरफरसपदहपदितकूमग्गह्वादरुद्धनिसडपरामह्वज्जकर-  
 कुदियुयनिवसिया सुरत्तकखवीरगहिविमुकुलकंठेगुण-  
 वज्जदत्तआविष्कमह्मदायमरणजुयुप्पसंमयेमायतएहेउन्नु-  
 प्पियकलिखगता बुष्णुंमियसरंररयेणुभरियकेता कुमं-  
 नजुक्किमुक्कया जिञ्जंनिंविआसा धुणंता वज्जपाणयीया  
 तिलं तिलं चैव जिञ्जमाणा मरीरविकललोहिंआलिखक-  
 गणिसंसाणि स्वायितंता पावा खरकरमएहिं ताभिज्जमाण-  
 देहा वातिकरनारिसंपारिवुदा पिच्छज्जंता य नागरज-  
 णेण वक्खन्नेवत्थिया पणिज्जंति एगमउक्केण किंवाक-  
 सुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अंधवेणा संयुविपर्हिं-  
 णा विपिक्खंता दिसें दिंसिं भरएणजुपिक्खमा आधा-  
 यणपरिंदुवारसंपाविष्या अथएणा सुलगाविलगाजिभवेद्दा  
 ते य तथ्य कीरंति, परिकपियंयुगुंणा उग्गविज्जंति रुक्खसा-  
 दोहिं केद कलुष्णा विन्नवमाणा। अत्ररे चउरंगणीयबद्धा प-  
 व्वयकदगा पम्बुच्छेते दूपातबहुविंसपपत्थरसहा। असिं य ग-  
 यचलणपद्दणानिम्मदिआ कीरंति, पावकारं अद्धारसवंदिया  
 य कीरंति मुंरपरिसुहिं। केदं उक्खित्तकसोद्दनासा उप्पादि-  
 यनयएदसणवमणा जिञ्जिदियांचिया जिञ्जकखसारा प-  
 णिज्जंति जिञ्जंति य अमिणा निम्बिसया जिष्णहत्थपाया य  
 प्पुसुंति, जाव जीवबंधेणय कीरंति। केदं परद्वन्वरणमुद्दा  
 कारगलानियलजुयलरुक्का चारगाए इतमारा मयणविष्-  
 मुक्का मिचजणनिरक्या निरासा बहुजणभकारमरलजा-  
 द्या अलजा अणुपक्कहुत्तापरक्कसिउत्थएत्तएवेयाहु-  
 यद्वयदियविवमुद्दभिविआ विहलमल्लुव्वन्ना किलंता  
 कासंता बाहिया य आयाजिचयुगता पकूदन्नेकसमममु-  
 रोमा मल्लुचमिं णियगमिं सुवा तयेव मया अकामका  
 बंधिऊण पाए मुक्कहिंया स्वाइयाए क्खुदा, तथ्य य वगुणाय-  
 सियाउकोदमंजारवंदंसंमत्तुंमपकिवणणविबिहुमुहसय-  
 विलुत्तगता कयविदंता। केदं किमिणाइ कुधितेद्दा अणि-  
 द्वयणणेहिं सपमाणा सुहु कयं जंमओ पिंत्वावो तुहेण ज-  
 णेण इएमाणा अज्जावणका य हुंति सयणस्स वि य ही-  
 द्दकालं मया संता पुणो परदोमसमावच्चा नरो गच्छंति।  
 निरभिरामे अंगारपडिचककणअक्कयसीयवेयणाऽऽसा-

यपोदिषसततबुक्खसयसमजिजूए ततो वि उव्वट्टिया सया-  
णा पुणो वि पवज्जंति तिरियजोगिं, तहिं पि निरओवमं अ-  
णुजवंति वेयणं ते, अणंतकात्तेण जति एयम कट्ठिं वि मणुय-  
जावं ल्हिंति एगेहिं गिरियगतिगमणनिरियजवसयसहस्स-  
परियट्ठएहिं तत्थ वि य जवंताऽणारिया नीचकुल्लसमुपणा  
खोयवज्जा तिरिक्खजूया य अकुमला कामभोगतिंसिया  
जहिं निबंधंति निरयवत्तणि जवप्पवंचकरणपणोस्सि पुणो वि  
संसारवत्तणेममुत्ते धम्मसुहविवज्जिया अणज्जा कुरा मिच्छ-  
त्तमुत्तिपत्तया य हुंति, एगंतदरुहणो वेदंता कोसिकारकीमो  
व्व अप्पमं अट्टकम्मंतंतुपयबंधणं, एवं नरगतिरियनर अ-  
मरणमणपेरंतत्तकवात्तं जम्मजरापरणकरणजंजरिदुक्खप-  
क्खुभियपठरसन्नित्तं संजोगवियोगवं । विचिंत्तापसंगपसारिय  
वहबंधमट्ठएविपुलकट्ठोलकुणुणविज्ञावित्तोजनकलकलंत-  
बोलवहूत्तं अबमाणणफेणत्तिव्वत्तिस्सयाणुल्लपुत्तप्पत्तयरोगवे-  
याणपरभवविंणिवायकफसपरिसणसमावादिपकट्टिणकम्म-  
पत्थरतरंगरिं गंतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ठं कसायपायात्तसं-  
कुल्लं भवसयसहस्सज्जमचंयं अणंतं उव्वेजणयं अपोर-  
पारं मट्ठज्जयं जयंकरं पट्ठजं अपपरिमिपहिच्छककुसमति-  
वाउवेगउक्कम्मयाणाऽऽसापिवासापायात्तकामरतिरागदो-  
सबंधणवदुविहसंकपवि उल्लदगरययंऽपकारमोहभावत्त-  
भोगानममाणुपुपमाणुच्छलंतवहुहणज्जवासत्तच्छोणियत्तपा-  
णिपथावियवमायसमावरणकरणं चंरुमायसमाहयमणुसुव्व-  
त्त । वाकुल्लिंतजंगकुट्टंतनिट्टकट्ठोल्लं कुल्लज्जं पमादवहूत्तं वहु-  
हसावयममाहयउत्तयामाणपूरयो विदुस्सएत्थऽणत्थवहु-  
त्तं अण्णाण जयंतमत्तपरिदक्खअनिहुत्तिं दिपमहापमरतुरिय-  
चरियखोक्खुव्वभमाणं सताव निच्चयत्तलंतचवत्तचंत्त अत्ता-  
णासरणपुव्वकम्मसंचयोदिषवत्तवेदिज्जमाणवहुसयावि —  
वागघुणंतज्जसमूहं इहिरससायमारवोहारगहियकम्मपहि-  
द्वद्वसचकट्टिज्जमाणानियत्तत्तदुत्तसएणं विस्सघबहुत्त अरति-  
रतिभयवित्तायसोगमिच्छत्ततेल्लं संकमं अण्णत्संताणकम्मव-  
ंधणत्तेसचिक्खिच्छदुट्ठत्तारं अमरनरतिरियगतिगमणकुंदि-  
लपरियत्तविपुल्लवेत्तं हिंसाऽऽसियअदत्तादाणमहेणपरिग-  
हारं भकरणकारवणाणुभोयण अट्ठविहअणिट्टकम्मपिट्ठित्तु-  
ज्जचारकंतडुग्गजलोपदूरनिचोलिज्जमाणुत्तमग्गनिमग्गु-  
ल्लहत्तत्तं सरीरमणोपयाणि बुक्कत्ताणि उत्पणंत्ता सतासा-  
यपरितावणमयं उव्वुत्तुनिव्वुत्तयं करंति । चउरंतमहेतमपया-  
यं रुदं संसारसागरं अट्टियअणालंबणपट्ठिणपप्पमेयं  
चुल्लत्तंऽऽजोगिसवसहस्समुत्तित्तं अणत्तो कबंधकारं अणंत-  
कालं जाव गिच्छं उत्तत्थमुत्ताभयसएणसंपत्ता संसारसा-  
गरं वसंति उभिमग्गवासवत्तत्तं, जहिं जहिं आउयं निबंधंति  
पावकम्मकारिणो बंधवज्जणसयाणभियपरिवज्जिया अणि-

ट्टा जवंति । अण्णादिज्जुत्तव्विणीथा कुट्टाणासणसेज्जाकु-  
भोयणा असुयणो कुसंहयणकुप्पमाणुकुसंठिया कुक्खा  
बहुकांहमाणमायात्तोया बहुमोहा धम्मसस्यस्यत्तपत्तज्जा  
दारिद्रावदवाजिजूया निबंधं परकम्मकारिणो जं वणत्थरहि-  
या किवणा परिपिट्तकिका दुक्खलद्धाहारा रिद्विसक्कारभोयणविसेस-  
समुदयविहिं विदंता अप्पकं, कयंतं च परबयंता, एह य पुरे  
कटाईं कम्माईं पावगाईं विमणसो सोएण रुज्जमाण परि-  
ज्जा हुंति, सत्तपरिवज्जिया य टोया मिप्पकत्तासमदसत्तप-  
रिवज्जिया जहाजायपसुज्जा अविद्यत्ता निच्चं नीयकम्मोव-  
जीविणो सोयकुत्तज्जिज्जा मोहमाणोरहंनिरासबहुत्ता आसा-  
पासपीदवत्तपाणा अत्थोप्यायणकामसोक्खे य सोयसंर-  
हुंति । अफलत्तंता य सुट्ठु अवि अ उज्जवंत्ता तद्विचसुत्तु-  
त्तकम्मकयदुक्खसंतं वियसिंत्थापिदंसंचयपरा स्वीणदव्वसा-  
रा गिच्छं अपुवत्तणएणकोसपरिजोगविवज्जिया रहिय-  
कामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा परमिरिभोगोवभोगनस्सा-  
णमग्गणापरायणा वरागा अकामिकाए त्रिणियंति कुक्खं,  
एव सुहं, एव गिन्नुत्तिं, उवलंजंति, अयंतं विपुल्लुत्तवत्त-  
यसंपत्तिचा परद्वंविं हि अविरिया । एसो सो अदिखादाण-  
स्स फल्लिविवागो इहलोपर पठोए अ अपत्ततो बहुत्तखो  
मट्ठज्जयो बहुयणगादो दारुणो ककसो असाओ वास-  
सहस्सेहिं सुत्तति न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खे त्ति ए-  
वमाहंमु नायकुल्लंतदणो महया जिणो उव्वंरिनामभेयो क-  
हेसंयं अदिखादाणस्स फल्लिविवागं, एव तं ततियं पि अ-  
दिखादाणं हरदहमरणजयकट्टुमतासणपरसंतिकी-  
ज्जत्तोजमूत्तं, एवं जाव चिरपरिगयमणुग्गयं उरंतं ततियं  
अट्टम्मदारं समत्त त्ति वेमि ।

( तहवेत्थादि ) तथैव यथापुत्रेमाहितेताः, केचित्केचन, परस्य  
द्रव्यं गवेयन्त इति प्रतीतम् । गृहात्ताश्च राजपुत्रैः, हताश्च य-  
ष्टधादिभिः, बहो कृत्वा उज्जवादिभिः संयमितः, बाराकादिनि-  
कृत्वाश्च ( नुरियं ति ) त्वरितं शीघ्रं, अतिघ्राटिता अस्मिता क-  
तिवर्तिता वा, अस्मिता एव पुत्रवरं नगरं समर्पिता दौकित्याः, शौ-  
रग्राहाश्च चारमत्ताश्च चाटुकाराश्च ये ते तथा । तैश्च चौरग्राह-  
चारमत्ताचाटुकारैः, चारकवसातिं प्रयशिता इति सम्बन्धः । कपे-  
टप्रहाराश्च लकुटाकारवालितचौरैस्त्वानाः, निर्दया निष्कृष्णा  
ये चारकैः कास्तेषां संबन्धिनि यानि अत्तकवचवचानि अतिक-  
केशभणितानि, तज्जैनाश्च वचनविशेषाः ( गल्लत्थल्ल ( स )  
गल्लप्रहणं, तथा ( उत्तत्थल्ल ( ति ) अपवर्तेना, अपप्रेरणा इत्य-  
र्थः । तास्तथा, तानि चेति पदचतुष्टयस्य द्रव्यः । ताभिः विमत्तसो  
विषयकेनसः सन्तः चारकवसातिं मुत्तिगृहं प्रवेशिताः । किं यू-  
ताम् ?, निरयकसतिस्सहारत्तास्मिन् व्युत्तम् । तत्रापि चारकवसा-  
( गाम्मिक ( स ) ) गौत्तिकस्य मुत्तिपादस्य संबन्धिना ये प्र-  
हारा घाताः ( डुम्मण ( स ) ) दव्वानि उपतापानि, निर्भेत्संनानि



नि गात्रायि येषां ते तथा । अष्टादश कर्मकारणाः-अष्टादश चौरम-  
स्तुतिहेतवः । तत्र चौरस्य, तत्प्रस्वीनां च लक्षणमिवम्

“चौरः १ चौरपको २ मन्त्री, ३ जेन्द्रः ४ काणककयी ५ ।

अश्वः ६ स्थानदशैव, ७ चौरः सप्तविधः स्तुतः” ॥११॥

अत्र काणककयी बहुवचनमपि अवयवव्ययेन चौराकर्म काणकं  
हीनं कृत्वा क्रीयातीत्यर्थशीलः ।

“भूलनं १ कुशांशं ३ तज्जो ३, राजनागो ४ ऽवशोकनम् ५ ।

अमागं दर्शनं ६ शय्या ७, पद्मभङ्गस्तथैव च ८ ॥ १ ॥

विश्रामः ९ पादपतनं १०-मासनं ११ शोपनं तथा १२ ।

अपरुस्य आदनं चैव १३, तथाऽऽयन्मोहप्राजिकम् १४ ॥ २ ॥

पथा १५-मयु १६-दक १७ रज्जुनां, १८ प्रदानं हानपूर्वकम् ।

यथाः प्रस्तथा ज्ञेयाः, अष्टादश मनीषिभिः” ॥ ३ ॥

तत्र भूलनम्-न मेखमं नवता ५६मेव वृक्षद्विषये जलियामीत्या-  
दिवाक्यैश्चैवैविविषयं प्रोत्साहनम् १ । कुशांशम्-मितानां सुख-  
दुःखलक्षणार्थम् २ । तज्जो-हस्तादिना चौर्यं प्रति प्रवृत्तादिस्त्र-  
कणसम् ३ । राजनागो-राजभाष्यद्रव्यापहवः ४ । अवशोकनम्-हरतां

चौरानामुपेक्षाशुद्धां दर्शनम् ५ । अमागं दर्शनम्-चौरमार्गप्रच्छे-  
कानां मार्गान्तरकथनेन तदपहानम् ६ । शय्या-शयनीयसमंपणा-  
दि ७ । पद्मभङ्गः-पद्माभ्युपद्रवकारिद्वारेण च । विश्रामः-स्वयु-  
ह पत्र वासकायानुष्ठा ८ । पादपतनम्-प्रणामादौर्गोचरम् १० । प्रा-  
सनम्-विहरदानम् ११ । शोपनम्-चौरापहवम् १२ । अपरुस्य आ-  
दनम्-अपहृतादिजनकप्रयोगः १३ । मोहप्राजिकं शोभप्रसिद्धम् १४ ।

पथाऽऽयन्मोहप्राजिकम्-प्रदानं प्रज्ञानार्थम् १५ । मयु-  
पदं-मयुदकरज्जुनां प्रदानमित्येव प्रज्ञानार्थम् १६ । प्रदानं-  
मज्जिनश्रमणोपादानित्वेन पाद्विभ्यं हितं पद्यमुष्णजलेनादि तस्य  
१५, पाकाद्यर्थं चान्नः १६, पाकाद्यर्थं च शीतोदकस्य १७, चौर-  
ादनम्-तनुपद्मदिबन्धनार्थं च रज्जुवा १८, पतनं-विनरणम् । ज्ञा-  
नपूर्वकं नानि सर्वत्र यंत्यम्, अज्ञानपूर्वकम् निरपराधम्यादिनि ।

तथा पानिनाम्नोपाङ्गाः कर्धनिनाम्नोपाङ्गाः, तैः राहः किङ्करी-  
रिति प्रकृतम् । कथनाः, शुष्कोष्णकण्ठगदगतालुजिह्वाः, यच्चामानाः

पानीयम्, विगतजीविताशाः, नृणांर्दिताः, वराका इति स्फुटम् ।  
( तं पिय िं ) तदपि पानीयमपि न ज्ञानेन, वष्येभु नियुक्ता ये

पुरुषाः-ते वष्यपुरुषाः, तैर्वाष्यमानाः प्रेष्यमाणाः । तत्र च धानेन,  
अपरुस्यऽप्येवकठिनो यः पददकं शिपिक्रमकः, तेन प्रचक्ष्णार्थं

पुष्टदंशं घट्टिताः प्रेरिताः ये ते तथा । क्रूरग्रहः कटिग्रहः, तेन च  
मादच्छेनेऽस्त्रमथर्थं परामुष्णः शुद्धीनाः ये ते तथा । ततः कर्म-  
धारयः । वधानां सम्मिषि यत् करकुटोयुगं वक्ष्यविशेषपुगलं

तत्तथा, तन्निवसिताः परिदिताः । पादान्तर-व्याघ्रक कठच्छो-  
हस्तलक्षणः, तयोः युगं युगं, निपसिताश्च ये ते तथा । सुर-  
कैः कर्णवैरिः कुसुमविशयैः, प्रथिनं मुष्णितं, विपुकुलं विकसितं,

कण्ठे गुण इव कण्ठे गुणं, कण्ठवृक्षसदृशमित्यर्थः । बध्यदूत  
इव बध्यदूतः, बध्यविश्वमित्यर्थः । आश्विदं परिदितं, माध्यह्य-  
म कुसुममात्रा, येषां तं तथा, मरणभयादुपपन्नो यः स्वैः तेनायत-  
मायमद्वैतं यथा भवतीत्येवं खेहेन वपुषिपितामीव स्तनापिनामीव

हिंस्रानि चार्द्रैरुतानि गात्राणि येषां ते तथा । मूर्ध्नीनाङ्गारादी-  
नां मुष्णितं शरीरं, कुसुमजस्या बातोत्थातेन रेषुणा च धूर्त्वा-  
कृष्ण मरिताश्च ज्ञताः कथा येषां ते तथा । कुसुमकेन राम-  
विशेषेण उत्कीर्णं मुष्णितं मूर्द्धजा येषां ते तथा । जिअजीवि-  
ताशा इति प्रतीतम् । मूर्ध्नीमानाः, जयविक्रमवात् । वष्याश्च ह-  
स्तध्याः, प्राणप्रोताश्च चक्षुस्वादिप्राणप्रियाः, प्राणपीता वा त्रिकि-  
त्तमया ये ते तथा । पादान्तरण- ( वैजयण्ठीय िं ) वष्य-

केचन्यो प्रीता इत्यर्थः । ‘तिस्रं तिस्रं चैव शिञ्जामाणा’ इति श्वकम् ।  
शरीराद्विकृतानि जिह्वानि सोढितावसिप्तानि यानि काकणांमा-  
सानि ऋद्धणवपुषिपिशितानि तानि तथा, माध्यमानाः, पायाः  
पापिनः, अरकरशतैः ऋद्धणपाषाणजुतैः, चर्मकोष्णकविशेषशतैः,  
स्फुटिततंशशोः ताश्चामनादहाः, वातिकनत्कारिणंस्पर्शिवृताः  
बातो येवामस्ति ते वातिकानां, वातका इव वातिकाः, अत्रयन्ता  
इत्यर्थः । तैर्नैर्नारीनिष्ठ समन्वयपरिवृता ये ते तथा । प्रवृत्तमा-  
णाश्च, नागरजनेनेत व्यक्तम् । बध्यनेपथ्यं संजातं येषां ते वष्य-  
नेपथ्यताः । प्रणीयन्ते नीयन्ते नगरप्रभयेन सन्नित्तसाम्प्रभयानेन,  
कृपणानां मध्ये कथनाः कृपणकथनाः, अत्यन्तकथना इत्यर्थः । अ-  
श्रानाः, अनर्थप्रतिघातकाजानात् । अशरणाः, अर्थप्रापकाजानात् ।  
अनायाः, योगक्षेमकारिणैरहितत्वान् । अश्रान्प्रवाः, श्राव्यनाम-  
नर्थकत्वात् । अन्वयिप्रदोषाः, वाच्यैः परित्यक्तत्वात् । विप्रेक्षमा-  
णाः पश्यन्तः ( विस्तो विंस्ति ) यकस्या दिशोऽप्यां दिगं, पुनस्त-  
था अस्यां दिशमित्यर्थः । मरणभयेनेहिंस्रा ये ते तथा । ( आ-  
श्रायण िं ) आघातनं च धप्यचूमिमवदलस्य प्रतिज्ञानम् । द्वार-  
मेव संप्रपिता नीया ये ते तथा । अश्रान्याः, श्लोभे श्लक्ष्णा-  
न्ते विश्लोभस्थितो निश्रो विवारिणो देहो येषां ते तथा ।

ते च, तत्र आघातने, क्रियन्ते विधीयन्ते । तथा परिकल्पिता-  
ङ्गोपाङ्गाः जिह्वावयवाः, वल्लभ्यन्ते वृक्षशास्त्राभिः । केवि-  
त् कदलानि, वक्ष्मानीनि गम्भ्यः, विलसन् इति । तथा  
अपरे चतुर्भङ्गेषु हस्तपादलक्षणेषु ( घणियं ) गाढं बद्धा ये  
ते तथा । पर्वतकटकान्दु ग्नाः, प्रमुच्यन्ते क्षिप्यन्ते, दूरात्पातः  
पतनं च, बहुवियमप्रसरन्षु अत्यन्तासमपाषाणेषु, सहन्ते ये ते  
तथा । तथाऽप्ये वाऽपरे गजवस्त्रमलनेन निर्मादंता दलित्वा ये  
ते तथा । ते क्रियन्ते । कैः, इत्याह-सुपरुपरुशुनिः कुण्टकुण्टरैः ।  
तीक्ष्णैरि तैर्मात्यन्तं वेदन्तोद्यत इति विशेषणमिति । तथा  
केचिन् अन्ये, उत्क्रितकर्णोष्ठनासामिच्छन्नवर्षणदृशनच्छद्रा-  
णाः, वस्पादितनयमदृशनवृषणा इति प्रतीतम् । शिरः रसना,  
आश्रिता आङ्गह, जिभ्रौ कर्णी, शिरश्च, नयनाद्याः येषां ते  
तथा । प्रणीयन्ते, आघातस्थानमिति गम्यते । क्षिप्यन्ते च अरक्ष्य-  
न्ते, अस्तिना षङ्गेन, तथा निर्विषया देशाद् निष्कामिनाः । जिह्वा-  
हस्तपादाश्च, प्रमुच्यन्ते राजकिङ्कैःस्यज्यन्ते, मिहःहस्तपादा-  
देशाक्षिकास्यन्त इति भावः । तथा यावज्जीवबन्धनाश्च क्रि-  
यन्ते, केचिद्वदते, कैः, इत्याह-परकथ्यदरणसुव्या इति प्रती-  
तम् । काराग्रेया चारकपरिधेन, निगदयुगलेश्च कदा निश्वसिता  
ये ते तथा । ते कः, इत्याह-‘ चारमप िं’ चारकं गुणितं, किं  
विधाः स्मन्तः, इत्याह-हतसारा अषहृत्कथ्याः, स्वजनविप्रमुका  
मिषजननिराकुताः निराशाश्चेति प्रतीतम् । बहुजनाविषकारश-  
ब्धेन सञ्जायिताः प्राप्तसञ्जाः ये ते तथा । अन्नजना विगतलज्जाः,  
अनुबद्धेषुधा सततयुक्तया, प्रत्यर्थाभिज्ञता अपराधा वा ये ते  
तथा । शीतोष्णनृणाविवेदना दुर्घटया द्रुतच्छादयथा, घट्टिताः  
स्फुटा ये ते तथा । विषयं युष्कं, विकृषा च ङ्गिः शरीरवृक्ष, येषां  
ते विवर्णेमुष्णविकृषाश्च । ततोऽनुबद्धेय्यादिपदानां कर्मधार-  
यः । तथा विकृषा अत्रातिथितार्थाः, मग्निना मग्नीमत्ताः, दुर्घृषा-  
श्चासमर्था ये ते तथा । ज्ञानान् मग्निनाः, तथा कास्मना रोगवि-  
शेषात्कुत्सितशर्मं दुर्घृणाः, व्याधिताश्च सज्जातकुष्कारोरागाः,  
आग्नेयापकरसेनानिन्दनानि गात्राययङ्गानि येषां ते तथा । प्रक-  
ृद्धानि वृद्धियुगतानि, वृद्धत्वेनास्तस्काराद् नवकश्चरमभुराभाणि

येषां ते तथा । तत्र केचाः शिरोजा, इन्द्राणि कुर्वोमाणि, रोषा-  
 णि तु रोषाणीति । (मनुसूचमि सि) सुरीषयूष निजके, (खुल सि)  
 निम्नाः, तेष्व कारककथने खलु, अकामुकाः मरयेऽनिम्नायाः,  
 तत्र च वृत्ता पाठयोरुक्तः आतिकायां [ वृद्ध सि ] किताः,  
 तत्र तु आतिकायां, शत्रुपुनकपयागडकोपमजोरकुन्दस्य संशु-  
 कापदेः पकिणपुत्रे च विचिन्मयुक्तोतिष्ठितुस्तानि गात्राणि येषां  
 ते तथा । इति विदित्वा कथादिभिरेव [ विहंग सि ] विभागाः,  
 कथन्तु कृता इत्यर्थः । केचिद्वन्- [ किमिवा सि ] कुमि-  
 वाने, कुयितदेहा इति श्रुतम् । अग्निहवचनेः शय्यमाना  
 आकोशयमानाः । कथन्तु, इत्याह-सुतु कृतं, ततः कर्धनमि-  
 ति गम्यते । केचित्ति यस्मात् कर्धनमन्वृतः पाप इति । अथवा  
 सुतु कृतं इत्यस्यन्ते, बहुवृत्त एव पाप इति । तथा तुष्टेन जने-  
 न शय्यमानाः, इन्द्राणामपयन्ति प्रापयन्तीति इन्द्राणानास्त एव  
 कुस्तिताः सजापनकाः, सज्जाहवा इत्यर्थः । ते च जयन्ति जा-  
 नन्, न केचिद्वन्वेधां, स्वजनकान् च द्वौकालं यावदिति त-  
 दा श्रुताः सप्तः, पुनर्मर्याणन्तरं, परतोक्तसमापन्नाः जन्मात्त-  
 रसमापन्नाः, निरये गच्छन्ति, कथंयुते ? निरभिरामे । अङ्गाराह च  
 प्रतीताः प्रदीप्तं च प्रदीपनकं च तत्कल्पस्तुपमो योऽप्यर्थे शी-  
 तवेदेनासात्तेन कर्मणा उद्दीपनीं उद्दीरितानि, सततानि अ-  
 विच्छिन्नानि यानि दुःखशतानि तेः समभिजृता यः स तथा तत्र ।  
 ततस्ततोऽपि नरकात्तुच्छ्रयाः सन्तः पुनः सपद्यन्ते तिर्यग्योनि-  
 म्, तथापि निरयोपमाभामनुभविति बधनाम्, ते अनन्तोदिता-  
 द्वासाहियाः, अनन्तकालेन यदनि काम कश्चिन्मनुजभावं ज-  
 नन्ते इति व्यङ्ग्यम् । कथम् ? इत्याह-नैकेषु बहुषु, निरयगतौ यानि  
 मममानि तिरहकां च ये भवास्तेषां ये शस्तस्वहस्तस्ययापरिव-  
 तोस्तं तथा तेषु, अतिक्रान्तेषु सतिव्यति गम्यते । तत्रापि च, म-  
 नुजज्वलन्ते जन्वन्ति जायन्तेऽन्याः शक्यमनवपद्यः । किं  
 नृताः ? नीचकुलसमुत्पन्नाः, तथा कार्यजनेऽपि मगधादौ समु-  
 त्पन्ना इति शेषः । लोकाभागा जनवर्जनीयाः, भवन्तीति गम्यस् ति-  
 र्येभूताश्च, पण्डकत्या इत्यर्थः । कथम् ? इत्याह-अकुशलास्तत्पंच-  
 निषुणाः, काममोगे लुपिता इति व्यक्त्वा । [ जहि ति ] यत्र नरकादि-  
 प्रवृत्तौ, न तु मनुजवं जन्वन्ते, यत्र निष्पन्नति (निरयवत्तणि सि)  
 निरयवर्तिन्यां नरकमार्गे, जवप्रपन्नकरणेन जन्मप्राप्त्युपकरणेन,  
 [पणोक्तिं कि] प्रणोदीनि तत्पवर्नकाणि, तेषां जीवानामिति हृदयमा  
 यानि तानि तथा । अत्र द्वितीयावबहुचचनसोपा द्रष्टव्यः । पुन-  
 रिति आहृत्वा संसारां जवो ( केम सि ) शूलं येषां तथा, दुःखा-  
 वीरि प्रायुः । तेषां यानि मूलानि तानि तथा, कर्माणीत्यर्थः ।  
 तानि निष्पन्नतीति प्रकृतम् । इह च मूला इति वाच्ये मूल इ-  
 त्युक्तं प्राकृत्येन सिद्धव्यव्याधिति । कृतास्ते मनुजव्ये वन-  
 माना भवन्ति ? इत्याह-धर्मभुतिविवर्जिताः धर्मशास्त्राधिकारा  
 इत्यर्थः अनायां आर्यंतराः, मृताः, जीवोपघातोपदेशकत्वात् ।  
 कुत्राः, तथा मिथ्यात्वप्रधाना विपरितत्सोपदेशकाः श्रुतिसि-  
 कात्तत्वां प्रथमा अचरुपतामाः, तथा ते च भवन्तीति । एकात्त-  
 वरुद्रव्यः, सर्वथा हिसनभ्रका इत्यर्थः वेधयन्ते कोशिकाकार-  
 कित इव, आत्मानमिति प्रतीतम् । अष्टकनिष्पत्तेस्तनुभियेदं  
 बन्धनम् । तथा एवमनेन आत्मनः कर्मनिर्बन्धनकृष्णप्रकरणेन  
 नरकनियेद्वनरामेत्तु यद्गमनं तदेव पर्यन्तकत्वात् बाह्यपरि-  
 वेद्येव्य स तथा तत्र, संसारसंग्रहं वसन्तीति सम्बन्धः । किं नृ-  
 तम् ? इत्याह-जन्मजातमरणव्येव करणानि साधनानि तस्य  
 तद्यथा, तत्र गमर्तिरुक्तं च, तदेव प्रकृतितं सञ्जातितं प्रचुरं

सखिलं यत्र स तथा तम् । संयोगवियोगा एव बीजवस्तरङ्गा  
 यत्र स तथा । जितप्रसङ्गः विनास्वातन्त्र्यं, तदेव प्रकृतं प्रसरो  
 वयस्य स तथा । वधा हननाच्च विस्मरणतया, कष्टोहा महोर्मे-  
 हान्तो दीर्घतया, विदुलाश्च विस्मरणतया, कष्टोहा महोर्मे-  
 यो वयस्य स तथा; करणविशेषिते लोभ एव कलकषायमानो यो  
 बोलो ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा । ततः संयोगादिप्रदानं  
 कर्मधारयः अतस्तम् । अवमानमेवपुत्रजमेव, केनां यत्र स तथा ।  
 तीव्रसिनसं वाऽप्यर्थनिन्दा पुलुपुत्रप्रतृता अन्नवरोत्तृता वा  
 रोगवदनास्ताश्च परिभविनिपातश्च पराजिन्यस्यम्पके, प-  
 रधयेणानि च निद्रुवचननिर्भस्तितानि, समापातानि स माप-  
 प्राणि, येन्यस्तानि तथा तानि च तानि कश्चिन्नानि कर्कशाणि,  
 दुर्नेदान्तीत्यर्थः कर्माणि च हान्नाचरणादीनि, किंवा वा, ये प्रस्त-  
 राः पापानां, ते हृत्वा तदङ्कुरिङ्कुरं बीजविभङ्गसङ्गं, तिन्यं श्रुत्वं,  
 मृत्युश्च भयं केति त एव वा तोयपुत्रं जलोपरितनमागो यत्र  
 स तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा-अपमानेन फेनेन, केनामिति  
 तोयपुत्रश्च विशेषणम् । अतो बहुमीदरेव अतस्तम् । कथाया एव  
 पातालाः पातालकशास्तेः संकुलो यः स तथा तम् । जयसदका-  
 ष्येव जवसन्वयस्तोयसहो यत्र स तथा तम् । एवं जननादि-  
 जन्मदुःखस्य सखिलोक्तम्, इह तु जवानां जननादिधर्मवतां  
 जवविशेषसमुदायनोक्तं न पुनचकत्वम् । अन्तस्तप्रकृतं, उग्रज-  
 नकमुद्गकरणम्, अनवोक्तापरं, विस्तीर्णत्वकल्पम्, मदाजयादि-  
 शेषमभयमेकापेम् । अपरिमिता अपरिमिता ये महेच्छाभु-  
 द्दिलाभा लोकास्तेषां कष्टुषाऽविशुद्धा या मतिः सा एव  
 वायुगन्तेन ( उच्छ्रम्पणा सि ) उपात्तमानं यत्तत्तथा । इत्य  
 माशा अमसाथेयसम्भवायाः, पिपासाश्च प्रासाथकाङ्क्षाः, त एव  
 पातालाः पातालकशास्तेः, पातालां वा समुद्रजलतर्हं, तेभ्यस्तसा-  
 ष्येव जवसन्वयस्तोयसहो यत्र स तथा तम् । कष्टुषमवितानोऽऽ-  
 शादिपातालापुषाधमानकामरत्यायुक्तरजोरयोऽप्यकादभि-  
 न्यर्थः मोह एव महावर्णो मोहमहावर्तः, तत्र भोगा एव कामा  
 एव, सुभ्यन्तो मयमलेन सङ्गन्तो, गुण्यन्तो व्याकुलो भवन्त  
 उद्वलन्त उच्छ्रन्तो, बहवः प्रचुराः । गेनेवासे मयप्रजाग्विस्तरे,  
 प्रत्ययनिष्कृताश्च स्वत्यस निपातितः प्राणिनो, तत्र जलं तम् इत्यर्थः ।  
 तथा प्रधावितानि इतस्ततः प्रक्रेण गतानि यानि व्यसनानि तानि  
 समापन्नाः प्रासा ये तथा । पाठान्तर-भाषितानः पीभिता ये व्यसन-  
 समापन्ना व्यसनितः, तेषां हृदिये यत् प्रकृतितं तदेव अष्टमाकृत-  
 स्तेन समाहृतमनोर्मेः बीजिव्याकुलितं जवस्तस्वः, स्फुटद वि-  
 दलव, अग्निष्टैलेः कष्टोर्मेहोमीनिः संकुलं च जलं तोयं यत्र स  
 तथा । मोहापसेभोगरूपप्रमादादिविशेषकृष्णानि क व्यस-  
 नमापन्नदितलङ्कणदधमरुतसमाहतादिविशेषेण जलं यत्रेत्यर्थः ।  
 प्रमादा मयात्तम्, त एव बहवधरादा वीर्याः, सुधाः शुक्राः, म्हा-  
 पादा व्याघ्रादयः, तेः समाहता क्रान्तिता ये ( उच्छ्रायमाण सि )  
 उच्छ्रित्यन्तो ( विविचचेष्टास्तु ) समुद्रपके मस्त्यादयः, संसारपके  
 पुण्यादयः, तेषां यः पूरः समूहस्तस्य ये योरा रौद्रा विन्वसनायां  
 विनाशलङ्घना, अनयो अप्रयायाः, तेभ्युलो यत्र स तथा । अ-  
 नानान्येव ज्ञप्ततो मस्त्याः (परिवृत्त सि) दृक्का यत्र स तथा ते ।  
 अग्निभृतायुपशान्तानि यानिन्द्रियाणि, अग्निभृतेभ्यिवा वा ये  
 देहिन्स्ताभ्येव, तेषां यः पूरः समूहस्तस्य ये योरा रौद्रा विन्वसनायां  
 यानि श्रान्तिनिशां प्राणि, अरितानि चेष्टानि, तैरेव (ओक्त्वुभनमाण सि) शृंगशृङ्ग-

भाषो यः स तथा । सन्तापः, एकत्र शोकाविह्वलः, अन्वयं वाम-  
वाक्छिन्नो नित्यं यत्र स सन्तापनित्यकः तथा चलद् अप्रसन्न-  
द्वयः स तथा, अतिवपन्न इत्यर्थः । स च अत्राणाममशरणानां  
पूर्वकृतकर्मसंश्रयानां, प्राणिनामिति गम्यम् । यदुप्येण च अर्थे  
पापं तस्य यो यद्यमानो दुःखशतकुर्यो विपापः स च पूर्वोद्भव  
नम्रं जलसमुद्रो यत्र स तथा । ततोऽहानादिपदानां कर्मधार-  
यः । अतस्त्वंम् । अह्निरससातन्नरूपानि यानि गौरवाण्युभाभ्या-  
वसायाविशेषाः, त एवापहारा जलचरविशेषाः, तैर्दुर्हिता ये क-  
र्मसंनिबद्धाः सन्ताः, संसारपके ज्ञानावरणादिबद्धाः, समुद्रपके  
विचित्रचेष्टाप्रसक्ताः । ( कञ्जिजमाण स्ति ) आरुध्यमाणान् नरक  
एव तलं पातालं (दुर्लं ति) तदभिमुखं सन्ना इति सन्तकाः  
सिन्नाः, विपत्तौणाह्व शोकिताः, तैर्बहुशो यः स तथा । अरतिरगि-  
भयानि प्रतीतानि । विनाशो वैश्वं, शोकस्त्वेवै चक्राणवस्थम् । वि-  
ध्यायं विपयांसः, एतान्येव शैत्राः पर्वतस्तैः सङ्कोटो यः स तथा ।  
अनादिसन्तानो यस्य कर्मबन्धनस्य तत्तथा, तच्च त्रेशाब्ध रा-  
गाद्यस्तद्वृत्तानं यत् विचिन्तुं कर्तमस्तेन ऋषु दुरुत्तारो यः स  
तथा । ततः स ऋषीत्यादिपदानां कर्मधारयः, अतस्त्वंम् । अमर-  
नरनिर्घणायै यक्रमं सैव कुटिलपरिवर्तनं चक्रपरिवर्तनां, विपु-  
ला विस्तीर्णा, वेद्या जलवृत्तन्नरूपा, यत्र स तथा तम् । हिंसाऽहो-  
कादसादानं मेमुनपरिग्रहलक्षणा य आरम्भा व्यापाराः, तथा यानि  
करुणकारणानुमोदनानि तैरिष्टविधमनिष्टं यत्कर्म पिण्डितं सांख्य-  
त, तदेव मुक्तमरस्तेनाकाशनां ये तेषां, तद्गोपयत्येव्यसनाभ्यं य  
जं प्रोपसन्तं दूरमत्यर्थं, निचोत्समनैः निमग्नमनैः, (उत्समगनि-  
मगं ति ) उन्मग्नानिग्नैरुद्धं योजलकर्मगमानि कुर्वन्ति, दु-  
र्लं तलं प्रतिष्ठानं यस्य स तथा तम् । शरीरभ्रमसामयानि दु-  
स्त्वानि उरिपबन्धन आसाद्यन्तः, सातं च सुखम्, असातपरिणा-  
पन च दुःखजननोपतापः, एतन्वयमेतन्नरामकश्च, (उत्सुङ्गुनिवु-  
द्यं ति ) उन्मग्ननिमग्नत्वं कुर्वन्तः । तत्र सातमुन्मग्नत्वमिव,  
असातपरितापनं निमग्नत्वमिवेति । चतुरत्यं चतुर्विभागं दि-  
ग्भेदगतिभेदाभ्यां महान्तं प्रतीतम्, कर्मधारयगोत्र इत्यर्थः । अन-  
वदप्रमनन्तं, रुद्धं विस्तीर्णं, संसारसागरमिति प्रतीतम् । कि-  
भूतम् ? इत्याह-अस्थितानां संयमान्यवस्थितानामविद्यमान-  
मालम्बनं प्रतिष्ठानं च त्राणकारणं यत्र स तथा तम्, अग्रमेय-  
मसर्वादिनाऽपरिच्छेद्यं, चतुरशीतियोगिशतसहस्रमुपलम्बं,  
तत्र योनयो जीवानामुत्पत्तिस्थानानि, तेषां चासंख्यातस्येपि  
समवर्णगन्धरसस्पर्शानुभवकविवक्त्राणुत्सुकसंख्याया अवि-  
रोचितं ब्रूय्यम् । तत्र गाथा- "पुष्टि ७ द्रग ७ अगल ७  
मायु ७, एकेके सस जोशिलकषाओ ॥ बणपत्तेय १० अण्यं-  
त १५, दस जोहस जोशिलकषाओ ॥" विगादिपिपु द्वा दो,  
चउरो चउरो नारयसुरेसु । तिरिपसु ह्ति चउरो, जोहस ल-  
कषा स मणुपसु ॥ २ ॥ इति । अनालोकानामविद्यमानधकारो  
यः स तथा तम् । अनन्तकालमपर्यवसितकालं यावत्, नित्यं  
सर्वदा, उन्नस्ता उद्गतभासाः, शून्याः इतिकेव्यतामूढाः,  
भयनं संज्ञाभिन्न आहारभेद्युनपरिग्रहादिभिः, संप्रयुक्ता युक्ताः  
ततः कर्मधारयः । बसन्तं अत्र्यासते, संसारसागरमिति प्रह-  
तम् । इह च बसेर्निरुपसर्गस्यापि कर्मत्वं संसारस्य, ह्यन्वत्सदा-  
दिति । किं भूतं संसारम् ? उन्मग्नानां बासस्य वसनस्य वस-  
नस्थानं यः स तथा तम् । तथा यत्र यत्र मामकुलादीं अयुर्निव-  
धन्ति पापकारिण्युधोपविधाभावितः, तत्र तत्रति वसन्ति । वा-  
न्धवजनादिविचित्रिता भवन्तीति क्रियासम्बन्धः । बान्धवजनन  
१३५

ज्ञानादिना, स्वजनन पुत्रादिना, निश्चैह सुदृष्टिः परिवर्जिता  
ये ते तथा । अनिष्टाः, जनस्येति गम्यते, भवन्ति जायन्ते । अना-  
देयदुर्बिनीता इति प्रतीतम् । कुस्थानानसशय्याश्च ते, कुमोजन-  
श्चेति समासः । (असुरेषोपि ति) अशुचयोऽशुचयः, कुसहनाः  
कुसद्वयः सहननयुक्ताः, कुप्रमाणा अतिदीर्घा आतस्त्रया वा,  
कुसस्थिता हुएडादिशय्यानाः इति पदप्रत्यय कर्मधारयः । कु-  
रुपाः कुनिसनवर्णाः, बहुकोधमानानायासोभा इति प्रतीतम् ।  
बहुमोहा अतिकामा अत्यथाह्वाना वा, धर्मसंज्ञाया धर्मबुद्धेः,  
सम्यक्त्वाच्च ये परिच्छिद्यन्ते तथा । द्वारिद्रोषोपद्रवामिभूताः,  
नित्यं परकर्मकारिण इति प्रतीतम् । जीव्यन्ते येनाथेन ह्येयेण  
नद्रव्यरहिता ये ते तथा । कृपणा नृणाः, परपरिच्छिन्नाः पर-  
द्वेषभोजनगणवेषकाः, कुःखलव्याहारा इति व्यक्तम् । अरसेन  
हिक्क्यादिभिरसंस्कृतेन, विरसेन पुराणादिना, तुच्छं च क्लेषेन,  
भोजनेनेति गम्यते । कृतकुसिपूरा येस्तं तथा । तथा परस्य सं-  
बन्धिनं प्रत्ययमणोः । पश्यन्ति किम् ? इत्याह-श्रुतिः सम्भव,  
सत्कारः पूजा, भोजनमशनम्, एतेषां ये विशेषाः प्रकाराः, तेषां  
यः समुद्राः, उदयवर्तिन्यं तथा । द्वारिद्रोषोपद्रवामिभूताः,  
स तथा तम् । ततश्च निन्दन्ता जुगुप्समानाः, (अप्यकं ति) आ-  
त्मानं, कृतान्तं च वैवं, तथा परिवर्तनां निन्दन्तः, कानि ? इत्याह-  
इह यं पुरं कडाई कर्माई पावगाई ति । इहैवमत्तरघटना-  
पुराकृतानि च जन्मान्तरकृतानि कर्मोपि इह जन्मनि पाप-  
कान्यशुभानि । कञ्चिन्वापकारिण इति पाठः । विमनसो  
दीनाः, शोकन दृष्टमानाः, परिभूता भवन्तीति स्वेषु संबन्ध-  
नीयम् । तथा सत्यपरिवर्जिताश्च [ छोमं ति ] इति सहायाः  
सोमयोथा वा, शिल्पविद्यादिकला धनुर्वेदादिः, समयशास्त्र-  
म्-जैनबौद्धादिसिद्धान्तशास्त्रम्, एभिः परिवर्जिता ये ते  
तथा । यथाज्ञानपशुपुत्राः शिक्षाऽऽमरणास्त्वर्जितवर्षोवर्षादि-  
सदृशाः, निर्विज्ञानव्यवसाधर्म्यातः । (अविद्यज्ञ सि) अप्रती-  
त्युदाकाः, नित्यं सदा, नीचान्यधमजनास्त्वानि, कानि अयुजोव-  
न्ति तैर्वैसि कुर्वन्ति ये ते तथा । लोककुत्सनीया इति प्रतीतम् ।  
मोहाद् ये मनोधा अजिज्ञापाप्मेनां ये निरासाः कृपासर्तैर्बहुला  
ये ते तथा । अद्यथा-मोघमनोरथा निष्फलमनोरथाः, निराशु-  
बहुलाश्च आशऽप्राञ्चप्रभृत्ये ये ते तथा । आशा इच्छाविशेषः, सैव  
पाशो बन्धन तेन प्रतिबद्धाः संरुद्धाः, निर्यन्त इति गम्यम् । प्राणा  
येषां ते तथा । यथोपादानं ह्यत्याज्जनं, कामसौख्यं प्रतीतम्, तत्र  
च लोकसारे लोकप्रधानं भवन्ति जायन्तः, (अफलवन्तगा य सि)  
अफलवन्तः अप्रसता इत्यर्थः । लोकसारता च तथाः प्र-  
तीता । यथाहुः- "यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थस्तस्य बा-  
न्धवाः । यस्याः स पुर्मोहोके, यस्याः स च परिमत् ॥ १ ॥  
इति । तथा- "गण्डे सारं बहुशुभा, बहुशुभरायां पुरं पुरं सौघम् ।  
सौधं तदर्थं नदो, वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥ १ ॥ इति । किं कृताः ?  
अपत्याह-सुषुपि च (वज्रञ्चतं ति) अत्यर्थमपि च प्रयत्नमानाः ।  
उक्तं च- "यद्यथाजने कर्म, मरो दुष्कर्मसंभवात् । तत्तद्विक्रम-  
तां यानि, यथा बीजं महोपरं ॥ १ ॥ तद्विषयं प्रतिनिदुम्-  
पुसैरुधनैः सद्भिः कर्मणो व्यापारेण कृतेन यो दुःखेन कष्टेन सं-  
स्थापितो मीलितः सिक्कधानां पिण्डस्तस्यापि सन्धये पराः प्र-  
धाना ये ते तथा । कृपाण्डव्यसारा इति व्यक्तम् । नित्यं सदा  
अभूवा अस्थिराः, धनानामिगमादीनां, धान्यानां शाल्यादीनां,  
केशा आश्रया येषां निधिरत्यपि तयार्थभोगमं वञ्चिताश्च ये ते  
तथा । रहितं त्वत्वं कामयोः शब्दकर्मणोः गोत्राणां च गन्ध-र-

स्वयम्भोर्ना परिजोमे आस्वनेने यत्तत् सर्वस्वीक्यमानन्दो वैस्ते तथा । परेषां यौ श्रियाः भोगोपजोगौ तयोर्विभ्राशुं निभ्रा, तस्य आंगणपरयाथा गवेधपरयाः सि भोगो । तत्र भोगोपजोगोपरयोर्विभ्राशुः— " सप्त सुज्जह र्ति भोगो, सो पुण आहारपुष्कमाश्रयो । उवभोगो उ पुणो पुण, उवज्जह वधानिअयाह " ॥ १ ॥ इति । बराकास्त्रपदिस्व अकाशिकया इतिच्छया, विनयन्ति प्रेरयन्ति, अतिवाहयन्तीत्यर्थः । किं तस्य ? इत्याह—कु-क्षमसुभो, नैव सुभं, नैव मिश्रितं इवास्वस्थमुपज्ञान्य प्राप्नुवन्ति, प्रत्यन्तविपुलसुखमागतसंभ्रंशिताः परस्य इत्येवु ये आविरता भवन्ति, ते नैव सुभं अस्मत् इति प्रसृतम्, तदेव याहवा फलं द्वाति तादृशमिहितम् । अमुनाऽन्येनोपेसं हाराय धेमाह—(यसो सो) इत्यादि स्वैव भूयैवत । प्रसू० ३ आशु० आ० । ( पञ्चमं ये च कुक्षेन्तीति हारं तृतीयकारेण सहैवोक्तमिति न पृथगुक्तम् । )

(अद्वादादाशस्य इत्येकत्रयान्नामभेदाः "अद्वादाशवेरमण" शब्देऽनुपदमेव बह्वन्ते )

( ५ ) आभाषोपाध्यायादिज्योश्चत्वादाननिरूपणम्—

जे भिक्षु आयरियसवज्ज्जापट्ठिं अवादिणं गिरं आइयति, आइयंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

गिर स्ति वाणी वयनं, तं पुण सुत्ते चरणे वा जानं आयरियउय-ज्ज्जापट्ठिं अइयंतं गेहइति, तस्य सुत्ते एकं, आये दे, चरणमसुत्त-रगुत्ते सु अयेगविदं पच्छिंतं ।

द्विविधमद्वा उ गिरा, सत्ते आये तदेव चारिचे ।

सुत्तत्थेसु सुयम्भी, भासा दोसे चरिचामि ॥ १५ ॥

एति शियमारवेषं, बहुसुत्तमतेण अस्सतो वा वि ।

गंतं अणुच्छमाणां, उजयं अस्साइदेसेणं ॥ १६ ॥

जा सुत्ते गिरा, सा पुविषा-सुत्ते, प्राये वा । चरणे सा स्वायज्ज-दोससुत्ता प्रासा । कहे पुण सोइदिशं आयासि ? वचयंतं—एति गिये माहा । तस्स किंचि सुत्तयं संदिट्ठो, सो सव्यं एति णिउइति अस्सं । एते ण पुच्छति, सीसत्तं वा न करे, बहुसुत्तो निपुणाः, कामि-पुच्छिस्सं ? एवमादिगारवद्विंतो अस्सो प्रवृत्तो, न तु मनुजंत्वे क-विद्युत्तं न ककमाणे, नवविधेणैव अणु सुत्तं अस्थाणि वा आरयन्ते । एतेषां तत्त्ववर्तकानि, तेषां जीवार्थनिर्माण-कलेन वाइदं प्रणामि कइमि । किंवा सुत्तवत्तमहाणे इइत्यः । पुन-वि गु गच्छति, गतो वा न पुच्छति, एते वा अस्साइ-इइति तस्य विभिन्नविद्वुत्तकइतरिओ वा वि अवादिसेत्त-वा गतागतं करंतो सुत्तेति, उभयं वि अभाषवस्सण ।

एसा सुत्त अद्वात्ता, होति चरिचामि जा स सावजा ।

गारत्थियजासा वा, देइह पलिओ वि सा वा वि ॥१७॥

चारिचे इट्टरं ससरं करेति, आलोचयकाले पलिओ, सेति क-नाकते वा अत्थि पच्छिओ वि कि, संसं कं ॥

वितिओ वि व आइसो, तवतेणादसिण पंच तु पदाणि ।

जे जिकव्व आदिपती, सो सपओ आम भोगं वा ॥१८॥

तवतेने वचनेने रूपतेने व जे नरे आयरिभावनेने व कुज्ज-देवकिंभिसं, एतेहि इमा विभासा, (समभो) माहा-से नावजुज्ज-भो भिक्षुणागभो, अयाध वा पुच्छिओ सो-नुमं समभो णि-भेनं ! ताइ सो भणति-आमं, भोगण वा अर्यति । अहवा भणा-ति-को अनीसु समणं पुच्छवइ, तणे चि तुमं, सो भम्मकदीओ हणे मिच्छिओ गणी बायणो वा ।

पच्छ वि जणति आमं, तुयहीको वावि पुच्छति जतीणं । धम्मं कट्ठिवादिदयणे, रुवे पीयसु पदिमाए ॥१९०॥

भणति केवे-नुमं अइह सत्थोअसि, अहवा तुमं सो पडिमं पडिबसमासी, एवेथ तदेव तुएहकादि अर्यति ।

बाहिरउवाखवलिओ, परपच्चयकारणा उ आयारे ।

मातुक्काहरणं तहिं, सावे गोविधिपव्वजा ॥ १९१ ॥

आयारतेणे महुराकोदेइहा उवाहरसं, ते भावसुधा पक्य-त्तिगिमिंत्तं बाहिरकिरिया सुदुज्जका अते आवातेषा । भाव-तेणो जहा-गोविध्वायगं वादे णिज्जाओ, सिक्तंहरणचयाय पवयमज्जुवगतो पच्छा सम्मत्तं पडिबसणां । एवमादि गिराणं अदिच्छाणं णो महुरा कायसं, पच्छंता वयणमंसो कते भवति । मुसावादिद्या व दरमामंसदोसा-

एतेसापमद्यते, गिरं अद्दत्तं तु आदिद्या जे तु ।

सो आया अणवत्तं, मिच्छकवारिहाणं पावे ॥२११॥

कंथा । प्राषवसट्टाणं ण पच्छिंतं, ते अद्दत्तं पि आदिपज्ज ।

वितियपदमण्यजे, आदिपिं अवि को वि ते व अप्यजे ।

उद्दाइ संनमट्टा, वृद्धनदन्त्येणउजाणता ॥ १९२ ॥

जेत्तादिचित्तो वा आरपज्ज, सदेहो वा अजासतो (उद्दाइ णि) उवसंपणाण वि न देह, तस्स उवसंपणो अणुवसपणो वा अय्य सुणिए, वक्खणाणं वा, कस्स वि तस्य वृद्धतरिओ सुणेति, गयामयं वा करंतो संजमं हेउं वात् । अग्रितो कइमियादिद-नि, गुच्छभो विट्ठो वि न दिट्ठि, अणेजा अजय वा संजयनासा ते प्रासिज्जमाणा सागारिणा संजयमासांता गेहइया, तस्य अवि-दिद्या ते गारत्थिगभासाय भासेज्जा । आयरियससं णिगणस्स वा, सयपाणि वा, सहस्यपाणे वा बुद्धभवेध्दुव कज्ज तद्दा-णिमिंत्तं पउंजेज्ज । अयं वा किंचि संयववयसं जणेज्ज । तद्दावय तेणादि वा वेवयं अणेजा नि० ७० १६ उ० । "अदिक्षायां सुदुमं, भादरं च । तस्य सुदुमं तणनगसगामसुहादीणं गहणे । भादरं इरससुवथादि " । महा० ३ अ० ।

स्वाग्दमद्वादि—

स्वामिजीवतीधेकरगुधेदसभेदेनात्तं चतुर्विधम् । तत्र स्वाग्द-दत्तं नृणांपलकाष्टादिकम्, तत्र स्वामिना दक्षम् १ । जीवाद्दत्तं यास्वामिना दक्षमपि जीवैर्नादक्षम्, यथा प्रज्जयापरिणामविक-स्वामिणोऽपि नृणां वृत्तादिदुःखेषु दीयते ३ । तौषेकाद्दत्तं यदी-त्ताः प्रकृत्युत्तमिनाः तेषां हृदये ३ । गुधेदत्तं नाम स्वामि-दक्षमाधाकर्मोद्दिशेवर्हितं शुक्लननुज्ञाय यद्दु शृणुय ५ । इति चतुर्विधस्याय्य न परिहाः इत्युक्तं नृणां चतस्रः ७ अ० ।

चित्तमंतयाचितं वा, अण्यं वा जइ वा बहु ।

दंतसोहणमिंत्तं पि, उमहंमि अजाइया ॥१९॥

चित्तवद्विपदादि, अचित्तवकिरत्थिदिः अण्यं वा-सूदयतः, प्रमा-णतश्च । यदि वा बहु-सूदयमाणाऽन्वामेव । किं बहुना ?-वत्तयो-धनमात्रमपि तथाविधं नृणादि अमददस्य तत्तमवाचिक्वा न पृच्छन्ति साधवः, कदाचनेति नृनायः । इहा० ६ अ० ।

( ६ ) लघुस्वकमदत्तं शुक्ति—

जे भिक्षु लघुवयं अद्दत्तं आदिपति, आदिपितं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

साहू घोषं, अदत्तं तेन, आदित्यं ग्रहं, सारज्जया अ-  
शुभोत्थया, माससङ्गु पञ्चिनं ।

तं अदत्तं दम्बादि वडम्भिहं-

द्वेषे लोके काले, भावे लघुसंगं अदत्तं तु ।

एतेसिं खाण्यं, बोध्यादि अहाऽऽणुपुर्वी ॥ ७१ ॥

दम्बोत्तकालानं ग्रहं, सारज्जया अणुभोवत्सा, माससङ्ग  
पञ्चिनं, तं अदित्यं दम्बादिदि वडम्भिहं ।

दम्बोत्तकालायां इमं वक्ष्याम-

द्वेषे कनूसादिपुत्रु, लोके उच्चारणमिमादीनु ।

कासे इचरिचमवी, अन्धाऽ तु चिह्नमादीनु ॥ ७२ ॥

बहस्वस्तिभेभो इहनामदीनीं पसिन्धो, कटनो बंलो, आदि-  
दम्बाद्यो अक्षरैर्हविष्या, वारुणैर्हवापुत्रुण्यमादि, एते अण-  
युष्मते गेहहति । अंतभो अदित्यं गेहहति उच्चारणमि, आदि-  
दम्बाद्यो पासवणदायो अणुपुत्रुण्यदमीय अणुपुत्रुण्यया इ-  
च्छारादी आचरह । अिसभो अदित्यं गतं । काले इत्वरं एतोकं  
अणुपुत्रुण्यमिदुति । मिच्छादि हिन्दो जाय वासं वसति चितिकं  
वा पञ्चिनंति, अन्ध्यां या अणुपुत्रुण्येसा कन्धोहद्वारसु चिह्नति  
निसीयति, तुयइति वा, दम्बासु वि माससङ्गु ॥

इत्थानीं प्रावे अदत्तं-

भावे पात्रोगस्ता, अणुपुत्रुण्यया तु त्पदमतया ।

उपते लघुबन्धे, वासायां वुहवासे य ॥ ७३ ॥

उदुषके वासासु वा, वुहवासे वा, त्पदमयाय पात्रोगाऽ-  
णुपुत्रुण्यनायेण परिच्छयस्त दम्बादिषु लोभ भावभो लघु अद-  
त्तं, अत्रुवा सादु वुह्वेसु जं जेसु जं जोमां पात्रमं नयति ।

लघुसमदत्तं गेहहतेस्त को दोसो?, इतो-

पतेसापम्यतरं, लघुसमदत्तं तु जो तु आदिपय ।

सो आणा अणुवत्यं, मिच्छन्तिविराहणं पावे ॥ ७४ ॥

कारणतो गेहदत्तो अणुपञ्चिनी, अदोसो य ।

अन्धाण गेलोयो ओ-यऽल्लिसे गामाणुगामिमितिवेसा ।

तेषासावयममगा, सीतं वासं हुरहियासं ॥ ७५ ॥

अन्धाणाभो गिगता परिसंता गामं विचाले पसा, तादे अ-  
णुवचितं इहनादि गेहहेऽज । बसदीय वि अणुवचिवाय  
उपयज, आगाइगेलेके नुरियकउं विप्येव अणुवचितं  
गेहहेऽज, भोमांवरियाय जसादि अदित्यं लयमेव गेहहेऽज । अ-  
सिचवादिहयां य को वि हेइ, तादे अदित्यं संधारणादि गे-  
हहेऽज । गामाणुगामं हुरज्जमाणा विचाले गामं पसा । जय य  
बसदीय इममति, तादे बाहिं वसंतु, वा अदत्तं गेहहेतु । अह  
बादी दुबिहा-तेषासिवातिवासावायामसगेहि वा अिज्ज-  
ति, सीये वा हुरहियासं, जहा उलरायहे अणववतं वा सं  
पदति ।

एतेहिं कारणेहिं, पुत्रुयं घेत्तु पञ्चऽणुवणया ।

अन्धाण गिगतादीं, दिच्छमिहेइ इमं होति ॥ ७६ ॥

एतेहिं तेषादिकारणेहिं बसहिसामीय दिष्टे अणुवणयया, अ-  
दिष्टे अन्धाण गिगतादीं, लयणसमोसिगाहिं अणुवघेत्तु घरसा-

मिषा अदित्यं घेत्तु घरसामिपमणुवणयेति इमेव वि-  
हायेव-

पदिशेइणऽणुवणया, अणुभोषणफरसहा व अहियासो ।

अदित्येवविदायणणि-गमाये वा दुविभेदो य ॥७७॥

पदिशेइं ति । अस्व व्याख्या-

अन्नासत्यं गंतु-यु पच्छया हूरपचिमा जतया ।

तरिसमेवपदिच्छण-पचस्मि कहिति सन्नावं ॥ ७८ ॥

सो घरसामी अदि केचं अलतं वा गते जदि अन्नासतो  
गंतु अणुवणयिज्जति । अह हूरं गतो ताहे संधारभो नाम विघे-  
उत्ताहि । आगयेउं तं दिस्सं अदत्तं गंतु पञ्चिनंति आइ साहू समी-  
वं पसो ताहे अणुलोमवयणहिं पचयिज्जति ॥

अणुसासयं सजाती, म जाति मणुस्स सि तह वि तु अइते ।

अनिठग्गणिमिचं वा, बंधयणा से य बवहारां ॥७९॥

जहा गोजातिमेरुलघुयो गोजातिमेव जाति, आसये वि णो  
महिस्सादिसु तिति करंति । एवं वयं पि माणुसा माणुसमेव जा-  
मो । जदि तह वि ण देति, फरसाणि वा भणति, ताहे सो फरसं  
व भणति, अधियासिज्जह । जह तह वि पिच्छमेज, ततो विज्जाय,  
बुधेहिं वा बली कइति, भिमिसय वा आउंटाविज्जति । तस्स  
असति कन्धमादिसु बाहिं वसंतु, मा य तेण समाणं कइहेतु । अ-  
ह वाहिं दुविहमेभो-आयसंजमणं उ करणसरीरायं वा संज-  
मचरिणां वा पणवयं व अतिरिज्जन्, लहवत इमेये । तादे अ-  
द्यति-अन्धे सहामो, ज एस आगतमं सो एस राययुतो व  
साहस्सति, एस वा सहस्सजोषी, सो वि कयकरणां किंच कर-  
णं वपति, जहाति । जहा-विस्सन्तीया पुच्छिपूत्राणं संधम्मि  
कविदु पणिया एस हायसा, तह वि अद्ययमाणे बंधिउं उवेति,  
आव पजायं सो य जह रायकुसं गच्छति, तथ तेण समाणं व-  
वहारा कइति, कारयिवायं आगतं भयति-अन्धेहिं राययिं  
आविठतेहिं मुसिसा सावपहिं वा कइं वा, सो रधो अमिहिंयं-  
अयसो य भवंतो परकृतमिसयाअ तपस्विनः, रायरिक्खियाणि  
य तपोवणाणि, व दोसे ति । ( नि० मू० २ उ० ) लघुकाइत्तं  
पुनः-अननुकापितत्तुणेपुकारमइकालिकवुक्कादि क्कयायविअम-  
णादिविषयय । जित० ।

( ७ ) बृहादौ तपसैत्यादि न कुर्वीत-

तवतेयो वपतेयो, रुवतेयो अ जे नरे ।

आपारभावतेयो अ, कुर्वन् देवाकिन्विसं ॥ ८६ ॥

तपस्तेनः बाक्स्तेनः, रुपस्तेनस्तु यो नरः कश्चिद्, आचारभा-  
वस्तेनश्च पाशयपि कियं तथा भावदोषात्किन्विसं करोति  
किन्विंकिं कमे निवतेयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम रूपकक्षय-  
तुल्यः कश्चिकेनचित् पुष्टस्वयमी रूपक इति । स पूजाघर्षमा-  
ह-अहम् । अथवा क्लि-साभाव एव कृपाकाः तूर्णीं वाऽस्ते ।  
एवं बाक्स्तेनो धर्मकयकादितुल्यरूपः कश्चिकेनचित्पुष्ट इति ।  
एवं रुपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टा-  
चारवस्तुल्यरूप इति । भावस्तेनस्तु-परोपमेकितं कथञ्चित् कि-  
ञ्चित् भूत्वा स्वयमनुमेकितमपि मयेतत्पञ्चनं कश्चित्सन्नेहिते  
सुभार्थः ।

अयं वेद्यंनूनः-

सच्छ्रय दि देवचं, उवउभो देवकिन्विसे ।



**अदत्तादाय**

तथा वि से न जाणइ, किन्ने किबा इयं फलं ॥४७॥  
 लक्ष्मणापि देवत्वं तथ्यधिषक्रियापात्रनवनान उपपन्नो देवाकि-  
 द्विषे देवाकिद्विषकाये तन्नायसौ न जानात्यधिषुक्राधिघना  
 कि मम कृत्वा इदं फलं किद्विषाकिदेवत्वमिति सूत्राः ।

अथैव दोग्धातन्माह-

तत्तो वि से चत्ता णं, लखिन्ही एलमुय्यं ।

नगं तिरकलजोणिं वा, बोही जत्य सुदुग्गहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि दिवसोकादसौ व्युत्वा लप्यत पलसूक्तमजमा-  
 वाऽनुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं, तिर्यग्योनिं वा. पारउपयोग  
 लप्यते । बोधिरेव सुदुग्गैः । सकलसम्पत्तिबन्धना यत्र जिन-  
 धर्मप्राप्तिर्दुरापा । इह च प्रामाण्यलसूक्तमिति वाच्ये अस-  
 कृद्वाप्यप्राप्तिस्थापनाय लप्यत इति जचित्यत्कालनिर्देशः । इति  
 सूत्रार्थः । ४७० ५ अ० २ ७० । ( अदत्तादानस्य क्षयिका क-  
 ल्पिका च प्रतिस्था स्वस्थान पच वक्ष्यते ) (शुद्धादिविषयशुद्धी  
 अदत्तादानमापतितमिति उक्तं ३२ अभ्ययने दक्षितमन्त्र्यत्र  
 वक्ष्यते ) ( साधिकादित्स्वैयं " अग्रवचपय " शब्देऽस्मिन्नैव  
 भागे २७९ए पृष्ठे दर्शितम् )

अदत्ता ( दिष्टा ) दाणकिरिया-अदत्तादानक्रिया-स्त्री० ।  
 आत्माद्यधर्मदत्तग्रहणे, स्था० ४ ग० २ २० । स्वाभिजीवशुक्ती-  
 थंकरादत्तग्रहणे, ध० ३ अ० ३० ।

अदत्ता ( दिष्टा ) दाणवचित्य-अदत्तादानप्रत्ययिक-पुं० ।  
 न० । अदत्तस्य परकीयस्यादानं स्वकीयणमदत्तादानं स्तेयं,  
 तत्प्रत्ययिका दृष्टाः । एतच्च सप्तमे क्रियास्थाने, सूत्र० ।

आहावेर सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आ-  
 हिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आग्रहेहं वा० ( एणइहं  
 वा अमारहेहं वा ) जाव परिवारहेहं वा सयमेव अदिन्ने आदि-  
 यइ, अन्नेणं वि अदिन्नं आदियावेति, अदिन्ने आदियंते अन्नं  
 समणुजाणइ, एवं खलु तसपत्तचित्यं सवज्जं ति आहिज्जइ,  
 सत्तमे किरियागणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिइए ।

एतदपि प्राग्बद्धं हेयम् । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्तं  
 (कृतिनिमित्तम्, अगारनिमित्तं) यावत्परिवागनिमित्तं परद्रव्य-  
 मदत्तम्च शुद्धीयात्, अपरं च प्राग्रह्यत्, शुद्धनमप्यपरं समनु-  
 जानीयादित्येवं तस्यादत्तादानमप्यधिकं कर्म संबध्यते । इति  
 सप्तमं क्रियास्थानमाख्यातमिति । सूत्र० २ ४३ २ ३० । अ०  
 चू० । प्र० व० । स्था० ।

अदत्ता ( दिष्टा ) दाणविरइ-अदत्तादानविरति-स्त्री० । प-  
 रद्रव्यहरणविरतैः, महा० ७ अ० ।

अदत्ता ( दिष्टा ) दाणवरमाण-अदत्तादानविरमाण-न० ।  
 अदत्तादानाद् विरमणमदत्तादानविरमणम् । स्वाभ्याप्यउ-  
 क्तानं प्रत्याख्यामीति स्तेयविरतिकूपे मतभेदे, प्रश्न० ३ सम्भ०  
 ३० । तत्र स्थूलकाऽदत्तप्रत्याख्यानं तृतीयमख्यतं, सर्वाऽद-  
 त्तप्रत्याख्याने तृतीयं महाव्रतमिति ।

तत्र स्थूलकादत्तचित्तमणमित्यर्थम्-

" तदाऽनन्तरं च णं धूलगं अदिष्टादाणं उषक्खामां दुविहं ति-  
 विहेणं ण करंमि, ण कारवेमि मणुणा वयसा कायसा " ।  
 स्थूलकमदत्तादानं चौर इति व्यपदेशनिबन्धनम् । उपा० १ अ० ।

धूलगमदत्तादायं समणोवासओ पक्खवाइ,से अदिष्टादा-  
 णे दुविहे पण्णे तं जहा-सत्चित्तदात्तादाणे, अचित्ता-  
 दत्तादाणे अ ॥

अदत्तादानं द्विविधम्-स्थूलं, सूक्ष्मं च । तत्र परिस्थूल-  
 विषये चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्कृष्यवसायपूर्वकं  
 स्थूलम्, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं च तन्  
 अदत्तादानं चेति समासः । तच्छ्रमणोपासकः प्रत्याख्यानीति  
 पूर्ववत् । 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तच्छ्रुत्वाः ।  
 तच्चादत्तादानं चिचित्यं प्रहङ्गम्, तीर्थहरणप्रेरिद्धिप्रकारं प्रकृति-  
 मित्यर्थः । तद्यथेति पूर्ववत् । सह चित्तं सचित्तं-क्षिपदादिब-  
 ह्णं वस्तु, तस्य ज्ञेयादी सुव्यस्त-उच्यन्तस्त्वस्मिन्स्तस्य स्वाभिना  
 अदत्तस्य चौर्यबुद्ध्या आदानं सचित्तादत्तादानम् । आदानमिति  
 प्रहङ्गम् । अचित्तं बन्धनकरणादि, तस्यापि ज्ञेयादी सुव्यस्त-  
 दुव्यस्तचित्स्मृतस्य स्वाभिनादत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽदत्तादानमचित्ता-  
 दत्तादानमिति ।

अदत्तादाणे को दोमो ? अकज्जेते वा के गुणा ? एत्थ  
 इयं एगं चैव उदाहरणं । जहा-एगा गोद्धी सावगो जतीए  
 गोद्धीए एगत्यपगरणं वट्टइ, जाणगते मांदिद्वणइ घरं पेद्धि-  
 येरिंए पक्केको मोगपुत्तेण पाए पन्नीए अंकिआपनाए  
 य रत्तो निवड्यं । राया जणइ-कहं ते जाणियन्वा ? । येथी  
 जणइ-एते पादेसु अंकिया नगरसमागमे दिट्ठा, दो वि  
 तिस्सि चचारि सव्वा गोद्धिगहिया । एगं सावगो जणइ-न  
 हगमि, न झंझिओ । तहं वि जणियं । न एस ह्मइ । तेहिं वि-  
 मुक्को । इयरे सामिया अत्रि व सावगेण गांही न पविमि-  
 यव्वं । जइ कहं वि पओयोगेण पविमइ, ताओ हारगं हिं-  
 सादि न देइ, न य त्सेि आओगट्ठाणेसु ठां । आव० ६ अ० ।  
 तस्यानिवाराः-

तयाऽण्तरं च णं धूलगअदिष्टादाणस्म पंच अदयारा  
 जाणियन्वा, न समायरियन्वा । तं जहा-तेनाहडे, तकरप्य-  
 ओगं, विरुक्करजाडकं, कुरुकुत्ताकुक्रमणे, तपपिदरुवग-  
 ववट्ठारि । उपा० १ अ० ।

एतानि समाचरन्निमित्तं, तृतीयानुव्रत इति । " दोसा पुण-  
 तेनाहमगंइयं राया वि जणुजा, सामी वा पव्भजिणोज्जा,  
 ततो मारुज्ज वा, दंरुज्ज वा " इत्यादयः शेषेभ्योपि वक्तव्याः ।  
 उक्तं सात्त्विकं तृतीययाणुव्रतम् । अव० ६ अ० । पा० । ४०  
 र० । ४० ।

सर्वसमाददत्तादानाद् विरमणं तिव्यर्थम्-

आहावेर तथे जंते ! महव्वए अदिष्टादाणाओ वेरमाणं ।  
 सव्वं भंते ! अदिष्टादाणं पक्खवापि । से गामे वा नगरे वा रत्ते  
 वा अय्यं वा वट्ठु वा अणु वा धूलं वा चित्तमेतं वा अचित्त-  
 मंतं वा नवमं आदिन्नं गिण्हिज्जा, नेव उन्नेहिं अदिन्नं गि-  
 एहाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अश्रे नेव समणुजाणामि जाव-  
 ज्जीवाए ति विहंते ति विहेणं मणोणं वायाए काएणं न करेमि,  
 न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते !

पतिक्रमामि निंदासि गराहामि अप्याणं बोभिरामि, तच्चे जने । महव्वए उवच्चिओ मि सव्वाओ अदिआदाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

अथापरिस्मित्तीये भवन्त । महाभते अद्वादाणाद्विरमणम् । सर्वे भवन्त । अद्वादाणां प्रत्येक्यानां ति पूर्ववत् । तद्यथा-प्राप्त वा नगरे वा अरण्यां वेत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः । तत्र प्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति प्राप्तः तस्मिन् । नास्मिन् करों विद्यत इति नकरम् । अरण्यां काननादि । अरण्यं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा विस्तवद्वा अस्मिन् बह्व्यनेन तु ह्यवपरिग्रहः । तत्रानां सूक्ष्म परएककाष्ठादि, बहु-वञ्जदि । अणु प्रमाणतो वञ्जदि । सूक्ष्मरेतरकाष्ठादि । एतच्च विस्तवद्वाऽस्मिन् बह्व्यति, चेतनाजेतनामित्यर्थः । ( णव सयं अदिअं गिएहज्जा त्ति ) णव स्वयमर्थं शुद्धामि, त्रैयापिपदसं आइयामि, अदसं शुद्धोऽप्यन्यान् न समनुजानामि । येतथाव्यव्यावमित्यादि च नावाधेयमित्यत्र पूर्ववत् । विशेषस्वययम-अद्वादाणां चतुर्विधम-ह्ययतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । ह्ययतोऽह्ययतो, क्षेत्रतो प्रामादीं, कालतो राधयदीं, भावतो राधयिषाचयाम् । ह्ययदिचतुर्नेकीं त्वयम्-“द्वयश्चा नामेग अदिआदाणो भावश्चा ? । भावश्चा नामेग नो द्वयश्च । एगं द्वयश्चा वि भावश्चा वि ३ । एगे णो द्वयश्चा नो जावभो । तस्य अरस्तऽउ-ह्वस्व साधुणो कदि वि अणुणुयवेकण तणाइ गोइओ द्वयश्चा अदिआदाणं नो जावभो, हरामीत अणुहज्जयस्व तदसंपकीए भावश्चा नो द्वयश्चा । एवं चेष संपत्ताए जावभो द्वयश्चो वि चरिममंगो पुण सुखे । ” इशु ४ अ ० ।

अद्वावरं तच्चं महव्वये पच्चाइक्खामि सव्वं अदिआदाणं, से गामे वा खगरो वा अरम्ये वा अप्यं वा बहुं वा अणुं वा भूञ्जे वा चित्तमत्तं वा अचित्तमत्तं वा एव सयं अदिअं गिएहज्जा, एव उमाई अदिआणं गिएहज्जा, अणुं पि अदिआणं गिएहज्जे ण समणुजाणजा जावज्जावाए जाव बोभिरामि । तस्सिमाओ पंच जावणाओ जवन्ति-तत्थिमा पदमा जावणा-अणुवीइमि उमहं जाइ मे णिग्गंथ यो अणुणुवीइमि उमहं जाइ से णिग्गंथ । केवली ब्या-अण-एणुवीइमितेगहं जाति, मे णिग्गंथे अदिआणं गिएहज्जा, अणुवीइमि उमहं जाति से णिग्गंथे णो अणुवीइमितेगहं जाइ त्ति पदमा जावणा ॥ १ ॥ अद्वावरा दोच्चा जावणा-अणुएणविय पाणजोयणभोई से णिग्गंथे णो अणुएणविय पाणजोयणभोई । केवली ब्या-अणुएणविय पाणभोई से णिग्गंथे अदिआणं ज्जेज्जा । तम्हा अणुएणविय पाणजोयणभोई से णिग्गंथे णो अणुएणविय पाणजोयणभोई त्ति दोच्चा जावणा ॥ २ ॥ अद्वावरा तथा जावणा-णिग्गंथेणं उमहंमि उमहंमिंसे ए-त्तावता व उमहणसीलए सिया । केवली ब्या-णिग्गंथेणं उमहंमि उमहंमिंसे उमहंमिंसे एत्तावता व अणोमगहणसीले अदिअं उमिगएहेज्जा णिग्गंथेणं उमहंमि एत्तावता व उमहणसीलए सित्ति तथा जावणा ॥ ३ ॥

अद्वावरा चउत्था जावणा-णिग्गंथेणं उमहंमि उमहंमिंसे अमिक्खणं उ उमहणसीलेए सिया । केवली ब्या-णिग्गंथेणं उमहंमि उमहंमिंसे अजिक्खणं उ अणोमगहणसीले अदिआणं गिएहेज्जा, णिग्गंथे उमहंमि उमहंमिंसे अजिक्खणं उ उमहणसीलेए सित्ति चउत्था भावणा ॥ ४ ॥ अद्वावरा पंचमा जावणा-अणुवीइमितेगहं जाइ से णिग्गंथे साहम्मिपसु णो अणुणुवीइमि उमहं जाति । केवली ब्या-अणुवीइमि उमहं जाति से णिग्गंथे साहम्मिपसु अदिअं उमिगएहेज्जा । से अणुवीइमि उमहं जाति से णिग्गंथे साहम्मिपसु णो अणुणुवीइमि उमहं त्ति पंचमा भावणा ॥ ५ ॥ एत्तावता महव्वए सम्मं जाव आणाए आराहितं आविजवइ तच्चं जंते । महव्वए । आणा ३ अ ० ? अ ० ॥

तस्य जेमे अतीचाराः-

एवं तृतीयेऽस्तस्य, नृणादेर्ब्रह्मण्येऽणुः ।  
क्रोधादिभिर्बादरोऽन्य-मचित्ताद्यपहरतः ॥ ५० ॥

एवं पूर्वोक्तरीत्या सूक्ष्मबादरोन्देन द्विविध इत्यर्थः । तृतीयेऽन्तेयवने प्रकामादित्तिचारे भवतीति शेषः । तत्र अणुः सूक्ष्मः, अद्वास्वय स्वययादिनाऽणुह्येतत्स्व नृणादेर्ब्रह्मण्येऽणो-नाङ्किकर्णाद्भवति, तत्र नृणु अविद्यम् । आदिशब्दाद् रुगल-च्छाद्यमल्लक्ष्णं रूपादिमत्र । अनाभोगेन नृणादि शुद्धोऽतिचारे जयति, आभोगेन त्वनाचार इति शेषः । तथा-क्रोधादिभिः कषायैरन्येषां स्वाधिमकणां चरकादीनां गृहस्थानां वा संबन्धि सत्त्विकादि सत्त्विकात्त्वामिअभवन्तु, तस्यऽपहरतोऽपहरणपरिणामाद् बादरोऽतिचारे भवतीति संबन्धः । यतः “तद्व्यभिचि एमेव य, बुधितो अणु पस्य होइ विषेओ । नण्यनलगतारम-ह्यण, अविदिअं गिएहओ पदमं ” ॥ १ ॥ अनाभोगेनेति तत्त्वलि-लेहः । “ साहम्मि अणुसाह-मि अणुगिहि अणुकाहमा-हि । सत्त्वित्ताइ अवरहओ, परिणामो होइ चीओ ” ॥ २ ॥ साधमिकणां साधुसाध्वीनाम्, अणुसधमंणां चरकादीनामित्ति तत्त्वलिस्त्युक्तः । नृनीभवतात्तिचाराः । अ ० ३ अ ० ५ । एतदेव सयं समाद्वादाणां विरमणं दत्ताऽणुह्येतत्त्वनात्त्वा स्वरूपोप-दर्शनपूर्वकं सभावनाकं प्रअव्यकरणेण तृतीयसंबन्धारेऽभि-हितम् । तस्य चैवमादिमं सूत्रम्-

जेवुं । दृत्तमणुएणायमंबरो नाम होइ ततिथं, सुव्वप । महव्वंथं गुणव्वंथं परदव्वहरणपभिविरइकरणुत्तं अपरिमियमणं त-तहामणुयमणहिक्रमणव्ययकत्तुसआयाणुनिग्गहिथं सु-संजमियमणह्यत्थपायनिहूयं निग्गंथं निट्ठिकं निरुत्तं निरासवं निरुत्तयं विद्धुत्तं उत्तननरवभपवरव्वलग्गुविहितजणसम्भतं परमसाधुधम्मचरंणं जत्थ य गामागरनगरनिगमत्तेकव्वरु-मेरुवदोणमुहसेवापट्टणासमयं च किंचिद्वचं-मणिसुत्तसि-ह्यपवाअकंसदूसुरययवरकएणस्यणमादि पायिं परम्हं विप-ण्ठे न कप्पति करसति कहेवं वा, गेणेइहेत्तं वा, अदिरेष्य बुव-

अदत्तादायवेरमथ

एणकेण सपत्तकृत्वाणं अपरिमाहसुदेहे जोगमि बिह-  
रियम्बं, ण पि यं हाञ्जाहि दुक्वजात् खलगतं खलगतं रथ-  
पेतरायं च किंचि, पुष्पफलतयप्यवाहकं मूलतणकहसकं-  
खंइ अप्पं च बहुं च अप्पु वा सुवगं त्रं न कप्पयात्ति उग्गहे अदि-  
खय्मिम्बे गेहेदेठं, जे इहि एणि उग्गहे अणुमाविय गेहिह-  
यक्कं वज्जयक्कं य सक्वकासं अविद्यत्तपरप्यवेसो अवि-  
पत्तनचपार्थो अविद्यत्तपिहफलगसे जासंथारगवत्तयपायकं-  
बलदंमरपोहरणनिसेज्जकोसपइग्गहपुपांति यपादपुंछणा -  
दि भायएजंमोबोडिहक्कणं परपरिवाभो परस्स दोसो  
परक्कपसेण तं च गिएहेति परस्स नासेइ अं च सुक्कं दाए-  
स्स च अत्तराहं दाएस्स विषयासं पेणुएणं च व मन्ड-  
रिचं च । जे वि य पिहफळसंजासंथारगवत्तयपायकं बल-  
दंमरपोहरणनिसेज्जकोसपइग्गहपुपांति यपायपुंछणादि भा-  
यएजंमोबोडिहक्कणं अमंविजागी असंमहर्कं तववयतेणे  
य रुवतेणे य अप्पारो च व भावतेणे य सक्करे जेठकरे  
कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहितकारके सया अप्प-  
माएभोई सततं अणुवद्धेवं य निव्वरंतां, स तारिमए  
नाराहए वषमिणं ॥

(जबु इत्यादि) तत्र जम्बुद्वीपानामन्वयम् । (ब्रह्ममूलआयसंवेरो-  
नाम लि) दृष्टं च विनीतमसाधिक्यम्, अनुज्ञातं च प्रातिहा-  
रिकपीठककविप्राम्नामिति गम्यते । इत्येवंरूपः संवेरो वृत्ता-  
नुज्ञातवस्वर इत्येवं नामकं अर्थात् तृतीयं, सम्भरत्तारमिति ग-  
म्यते । हे सुवत ! जम्बुद्वीपानां महाविजयिने, तथा गुणानामिह-  
कासुधिकापकारार्थां कारणभूतं व्रतं गुणमन्तम् । कि स्वरूपमि-  
हम् ? इत्याह-परच्छस्यहरणप्रतिविरातकरणयुक्तम्, तथा अपरि-  
मिता अपरिमाहसुद्वयविषया, अनन्ता वाऽरूपा, या तुष्णा विघ-  
मानद्रव्यान्वययुक्ता, तथा यदनुगतं मदेच्छं वा अविद्यमानद-  
व्याविषये मदीभिस्तापं यमनो मानसं, वचनं च वाक्, ताभ्यां  
यत्कष्टुषं परचनविषयत्वेन पापकाम्नादितं प्रदणं तत्सुपु निगृही-  
तं नियमितं यत्र तद्यथा । तथा सुसयमितमनसा संवृत्तन चित्त-  
खा हेतुना हस्तौ च पादौ च निरनुी परधनादातव्यापारादुपर-  
तौ यत्र तव सुसंयमितमनोहस्तादिति नुमुम् । अनेन च विरो-  
धणद्वयेन मनोवाङ्मयनिरोधः परधनं प्रति दृशितः । तथा नि-  
र्ग्रन्थं निगेतथाऽन्यत्तरप्रथमः शौष्ठिकं सर्वधर्मपरकपर्यंतव-  
र्तिः ; निरनुमुक्तं सर्वहैरुपादेयतथेति निरुक्तम्, अव्यभिचारि-  
त्वं वा; निराश्रयं कामदानादित्येव ; निर्गमयति यमानराजादिभ्य-  
मन् ; विमुक्तं शोभनव्यवहकम् ; उत्तमनतवृषभाणां ( पवर्य  
सवग लि) प्रधानवज्रवतां च सुविहितजनस्य च सुसाधुताक-  
स्य सम्मतमनिमतं यत्तथा । परमसाधुनां धर्मचरणं धर्मानुष्ठानं  
वक्षतथा । यत्र च तृतीयं सम्भरे, प्रमाकनगरनिगमकष्टक-  
षेदपरपुष्पमूलसंवाहणस्यमन्तं च, यामादिव्याख्या पु-  
बैवत् । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वकषं उच्यं रिक्थम् । तद्वाह-मणिमौलि-  
कशिलासवास्तकाव्युत्पन्नवज्रवक्त्रकनकान्तादिप्रामाह्यह पति-  
तं श्रेष्ठं ( परहृदं ति) विस्तृतं, विषण्णं स्वामिकेगोवषयद्रिपति-  
तं प्रायं च कल्पते न युज्यते, कथञ्चित् अत्यन्तस्य संयनस्य वा,  
कथञ्चित् वा प्रति याद्विद्युत्, अथैवप्रहणप्रवचनं मा वृद्धितकरवा,

गृहीतुं वाऽऽशुतु, तन्निवृत्तत्वात् साश्रोः । यतः साशुर्नैवंजनेन वि-  
हतेष्वमित्यत्र आह-दिरव्यं रजतं, सुवर्णं च इमं, तं विघेते वष्य  
दिरव्यसुवर्णिकः, तन्निवेधनादिरव्यसुवर्णिकः, तेन, समं तुल्यं  
उपेक्षणयनया लेपकाचनेन वष्य स तथा । तेन अपरिप्रादो ध-  
नादिरहितः संवृतकान्दिष्यसंभरणं यः मोऽपरिग्रहसंभृतः । ते-  
न लोके विहतेष्वप्रमासितव्यं संवर्णितव्यं वा, साधुनाति गम्यते ।  
यदपि च जनेदं उच्यजातं उच्यप्रकारं, अलगतं धाम्यमलकस्था-  
नाभितं, केषुगतं कर्षणं निस्संभितं, ( रथमंतरायं च लि) अ-  
रथमन्वयनाम् । वावानान्तरं-जलयलगनं अलमंतरगन्धं च लि  
हरयते । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वकषं, पुष्पफलत्वकप्रयासकवृत्ततृण-  
काष्ठवर्कगदि प्रतीतम् । अलगं वा मूलयतां, बहु वा तथैव;  
अणु वा स्तोकां प्रमागतं; स्थूलकं वा तथैव; न कल्पते न यु-  
ज्यते । अथग्रहं ग्रहस्थिरुत्साहिकपे, अदत्तं स्वामिनाऽनुजुहोति,  
ग्रहीतुमाशुतुं, 'जे' इति निपातप्रदण्ये निवेधेयुः कः । अनुभा-  
तद्विग्रिमाह- ( इति हाणि लि) अहम्यहनि, प्रतिदिनमित्यर्थः ।  
अथग्रहमनुहाण्य, यथेह भवद्वयैवप्रदहं इवम्, ईहं च साधुप्र-  
योग्य इत्यं ग्रहीत्यामि इति पृष्टेन तत्स्वामिना एवं कुर्वते इत्य-  
नुमते सनीयर्थो गृहीतव्यमाशुतव्यं, वर्जयितव्यञ्च सर्वकार-  
( अविद्यत्त लि) साधुं प्राति अप्रतिनिमतो यद् गृहं तत्र यः  
प्रवेशः स तथा । (अविद्यत्त लि) अप्रतिकारिणः संबन्धि यद्-  
कथान तत्तथा, तद्वर्जयितव्यमिति प्रकृतम्; तथा-अविद्यत्तपिठ-  
ककत्रयान्मन्तारककत्रयवाकककत्रयदग्मकत्रोहंरामनिपथा-  
न्वोसपृष्टकमुल्लपोत्तिकावात्रोऽनुमादि प्रतीतमेव । किमर्थविध-  
नेदम् ? इत्याह-ज्ञानं पार्थ, सामर्थं च तद्वैव श्रमयत्वं, उपधि-  
ह च वरसादं, परे योपकरणगुणमिति समासतन्तद्वर्जयितव्यमिति  
प्रकृतम् । अदत्तमेतन् स्वामिनाऽनुज्ञानमिति श्रुता । तथा-पर-  
त्रिवाद्यो विक्रयन्तं वर्जयितव्यमिति । तथा-परस्य दोषो दुषणं,  
द्वेषः वा वर्जयितव्यः, परिश्रमयोनं दुष्प्रयोगं च तार्थिकशुभ-  
ज्यं तयोऽनुज्ञानेनानुदत्तकथयादिति । अदत्तश्रमण इदिस-  
'सामिर्जोवाद्दत्त, तित्यथेयं तदस्य य गुरु, हे' ति । तथा-पर-  
स्यान्वायभ्लानादेव्यंपदेशेन व्यञ्जनं च यच्च गृहदानी आदत्तं वै-  
यादुत्यकगदिग्नकष्यन्तं च वर्जयितव्यम्, आशुतव्यं ग्रहं वा-  
दत्तव्यादिति तथा-परस्य परमर्थो नाशुतव्यं अस्वगत्पह्नुन,  
यच्च सुकृतं सवर्णमूपकारं वा तत् सुकृतं तस्य नाशेन वर्जयितव्यं  
तथा-दानस्य आतराधिकं विज्ञःदानविप्रशोऽो दत्तापहापः, तथा  
विद्युत्तं चैव विद्युत्तकममस्तरित्ये च परगुणानामाग्रहणं, तार्थिकं च पी-  
ठककत्रयान्मन्तारककत्रयकत्रयमन्तारकाकारजोहरणनिपथा-  
न्वोसपृष्टकमुल्लपोत्तिकावात्रोऽनुमादि नाज्ञानमाश्रोवपुष्पकणं प्र-  
तीतिव्यं गम्यते । असंविभागी आन्वायभ्लानादिनाशयणगुणाव-  
हितव्यं सच्च विजज्ञे, अस्मै नाशयति अस्मिन्निमित्तं संकथः तथा  
[असंगहृदं लि] गन्धोपग्रहकरस्य पीठादिकस्योपकरणस्यैव-  
भादौपयिमुक्तस्य ज्ञयमानस्यात्मभरित्येन न विधेते संग्रहं व-  
चिंयस्यास्यसंग्रहकथिः । (तवयतेणय लि) तपश्च शाक्त्वं  
च संपायावी, तयोः स्तेनसचौरः-नपोषाकृत्स्तेनः । ततः स्वभावसो  
पुच्छताङ्गमनगरमवशोक्य कौऽपि कश्चन व्याकरोति । तथा ज्ञोः  
साधोऽसत्यम्, यः स्थितं तत्र गच्छं मासकृत्तया; एवं पृष्टं यो । विद्य-  
त्तनिक्कपकांमप्रकथ्याह-एवमेतत् । अथवा धृत्ततया कृते-भ्योः अ-  
थकाः साधवः कृपाका एव भवति । आद्यकस्य मन्तेत-कथं स्व-  
यमात्मानमनं जहारकः कृपकतया निस्तृहत्यात् प्रकाशयति ।

दतिहृदयैविधिभयमौक्त्यपरिहारपरं सकलसुखासुपाकरणं व-  
 चनसाधिविकरोति, इत्यतः स एवायं यो मया विचारितः । शेषं च  
 परसंबन्धि नप भ्राम्यन्ति परप्रतिपत्तिः सम्पाद्यैस्तपस्तेन उच्य-  
 ते । एवं प्रगवद् ! स त्वं याम्यी, इत्यादिभाषयत्या परसंबन्धिनीं  
 चास्मान्मनि तथैव सम्पाद्यन्तु शक्यन्तेन उच्यते । तथा (कवते-  
 लेष व लि) एवं रूपवत्तमुपपन्नस्य स त्वं कृपायानित्यादि भाषय-  
 त्या रूपस्तेनः रूपं च त्रिधा-शारीरसुन्दरता, सुविहितलक्षणे-  
 पथं च । तत्र साधुनपथं यथा- "वृहदागम-सम्भ, जलित जल्ले न  
 कासिपं अंगं । मणिना य चोत्तरपद्म, शौचि य पाया समकक्षाया" ॥१॥  
 तत्र सुविहिताकाररजनीं च जनमुपजीवितुकामः सुविहितः,  
 सुविहिताकाराचारः रूपस्तेनः (आचारं चेत्य लि/आचारं साधु-  
 सामाचार्योद्विषिये स्तेनां यथा-स त्वं यः क्रियाकर्मः शूयते, इ-  
 श्यादिभाषका । तं च [भाषणेण य लि] ज्ञानस्य बुतलानादि-  
 वृद्धेश्च स्तेनां प्रायस्तेनः । यथा-कर्मणि कस्यापि कृतांविशेषस्य  
 व्याख्यानविशेषमन्यते । बहुश्रुतायुक्त्यु प्रतिपाद्यति, यथा. ५५  
 मया पूर्वश्रुतयोः ५५ इत्यादिना नाम्य एवमभ्युदितुं प्रवृत्तिरिति ।  
 तथा-शब्दकरो रात्री महता शब्देनोद्गायः स्वाध्यायादिकारको-  
 वृद्धेश्च स्वात्मार्थका वा । तथा-कर्मणाकरो येन येन गणस्य भेदो  
 प्रबलि तत्तत्कारो, येन गणस्य मनोऽःखमुपपद्ये तद्गारी ।  
 तथा-कलहकः कलहहेतुतुक्ततन्वयकारो । तथा-चैरकरः, प्र-  
 लीनः । विकथकारो-सत्यादिकथाकारो । असमाधिकारकाञ्चि-  
 स्त्वास्यास्यकर्ता स्वस्य, परस्य वा । तथा-सदा अग्रमाणभोजी-  
 द्विश्रायकयलाधिकारहाजोका । सतनमनुष्यचैरथ सततम-  
 नुष्यं सदाप्यभित्यर्थं, चैरं चैरिक्तमं येन स तथा । नित्य-  
 योः प्रादुर्भावः ( से तासिसे लि ) स ताश्याः पूर्वोक्तव्यस्य ।  
 ( नाराहण वयमिणं लि ) नाराधयनि न निरतिशयो करोति, प्रसं-  
 महातमम्, इदम्-अद्वैतादाश्वेरितस्वरूपं, स्वाध्यायानिर्गन्तु-  
 ज्ञानकारित्वात्सत्येति ।

अद्व केरिसए पुणार्द आराहए वयमिणं, जे से उर्वहिं  
 भत्तपाण्णादाणसंगहणकुमले अन्वेतवालदुव्वज्जगिण्णाण-  
 नुदुमसासखवणे पवत्तिआपरियउत्तवज्जाए सेहे साहम्मिए  
 तववित्त कुल्लणसंपयच्छेयपे य निजार्दो वयावचं चण्णि-  
 स्सियं दसविदं बहुविहं करेद, न य अविद्यत्तस्स घरं पवि-  
 सद्द, न य अविद्यत्तस्स भत्तपाणं गिएहद्द, न य अविद्यत्त-  
 स्स सेवद्द पीढफज्जमसंजासंधारगवत्तपायकंबलदेहगरओ-  
 द्दएणनिसेज्जचोद्वपट्टहुदुपोत्तियपायपुण्णार्द भायणभंदोव-  
 हिउत्तपाणं, न य पारिवायं परस्स जंपति, न यावि दोसे प-  
 रस्स गेएहति, परववपसेए वि न किंचि गेएहति, ए य वि-  
 परिणामेति कंचि जणं, ख याचि णामेति दिएणसुकयं  
 दाऊण य काऊण य ए होइ पच्चाताविते, संविभाग-  
 सीझे संगहोक्कगहकुसले, से तारिसए आराहति वयमिणं ॥

अथ प्रश्नार्थः कीदृशः पुनः, "आर्हं" इति अज्ञहृते, आराधयति  
 प्रतमिदम् ? इह प्रश्नोक्तमहाह-(जे से इत्यादि) यः साधुवप-  
 धिवत्तपानादानं च मंत्रप्रदणं च तयोः कुशलो विधिहो यः स  
 न तथा । आहोक्तेयानि समाहाराहृक्तः । ततोऽन्यन्तं यद्वाप्तुं च्छ्रवण-  
 नकुशलावज्ञाकं न तथा । तत्र विषयं धैर्यावत्तं करंतिनि योराः ।  
 तथा-प्रवृत्त्याचार्योपाध्याये, इह हृदयैकवात् प्रवृत्त्यादिषु । तत्र

प्रवृत्तिसत्तकृष्णमिदम् "तत्संजमभोगेणु, ओ ओगा ज्ञत्ये तं  
 पवसेह । अससुं व नित्येधै, गणतसिद्धा यवसेह" ॥१॥ इतरी प्र-  
 तीती । तथा-(संहे लि) शैले अजिनप्रप्रजिते, साधर्मिके समा-  
 नधर्मिके, लिङ्गप्रवचनाभ्यां तपरिविति वतुपेजकादिकारिणि,  
 तथा कुलं गच्छसमुदायकपं चम्पादिकं, गणः कुलसमुदायः  
 कोटिकादिकः, सङ्कस्तन्समुदायकप, कैत्यानि ज्ञिप्रमतिता, ए-  
 तासां योऽर्थः प्रयोजनं स तथा । तत्र च जिज्ञारथाः कर्मकृषकामा,  
 धैर्यावृत्तं इयानुत्तकर्मरूपमुपपन्नमित्यर्थः । अविश्रितं कीर्त्या-  
 दिनिरपेकं, दृशविषं दशप्रकारम् । आह च—

" वेयाचं वाक्-भावो इह धम्मसाहणगिंसिं ।  
 अन्नाइयाण धिदिणा, संपायणमेस भावयोः ॥ १ ॥

आपरिय १ उचज्जाप २, धेर ३ तवस्स ४ गिण्णाण ५ सेहाण ६  
 साहम्मिय ७ कुल ८ गण ९ सं-व १० संगयं तमिह कायच्यं" ॥२॥  
 इति । बहुविधं ज्ञकपानादिदानभेदेनात्मिकप्रकारं, करोतीति ।  
 तथा-न च नैव च ( अविद्यत्तस्स लि ) अम्रितिकारिणे  
 शूदं प्रविशति । न च नैव च [ अविद्यत्तस्स लि ] अम्रिति-  
 कारिणः सत्कं शुक्यति यद् ज्ञकपानम् । न वा [अविद्यत्तस्स लि]  
 अम्रितिकर्तुः सत्कं सेवते भजते, पीठफळश्रव्यासंस्तारकवत्त-  
 पात्रकम्भ इत्येदकरजोहरणनिययाचोहपद्मकुसुमोत्तिकापाद-  
 योऽन्वनादि प्राजनमाद्योपपुष्पकरणम् । तथा-न च परिवायं  
 परस्य जल्पति, न चापि दीप्याद् परस्य शुक्यति । तथा-परव्य-  
 प्देशेनापि यस्मान्निर्गद्यजानापि, न किञ्चिद् शुक्यति, न च विपरि-  
 णमयति दानादिधर्मोद्दिष्टोर्त्तीकरोति, किञ्चिदपि जनम् । न  
 चापि नाशपति अग्रहव्यवहारपु वृत्तसुहृते वितरणकपं सुचरितं  
 परसंबन्धि, तथा-इत्या च देयं, कृत्या धैर्यावृत्त्यादिकार्यं, न  
 भवति पश्चात्तवात् । तथा-सविभागशालः लघुभक्त्यादिसं-  
 विभागकारो । तथा संग्रहे शिष्यादिसंग्रहणे, उपग्रहे च तेषामिव  
 ज्ञकपानादिदानेनोपपन्नमे नः कुशलः स तथा । ( से तारिसे  
 लि ) स ताश्या आराधयति प्रतमिदमद्वैतादानविरतिलक्षणम् ।

इमं च परद्वन्द्वहरणवेरमएपरित्कणएद्वयाए पवयणं  
 जगत्तया मुकटियं अचलियं पेष्वात्ताविकं आगमेसिं भद्  
 सुक्कं नयाउयं अकुडिंसं अनुत्तरं सत्त्ववृत्तवपात्राणं विउ-  
 समणं ॥

( इमं चेत्यादि ) इमं च प्रत्यक् प्रवचनमिति संबन्धः । परद्व-  
 यद्वहरणविरमणस्य परित्करणं पालनं स एवार्थः, तज्जायस्वत् ।  
 तस्यैव प्रवचनं शास्त्रनामित्यादि व्यक्तम् ।

अथ पञ्च भावना—

तस्स इमा पंच जावणाओ तातियस्स वयस्स हुंति परद्वन्द्व-  
 हरणवेरमएपरित्कणएद्वयाए । पदमं देवकुससभापवाऽऽसस-  
 दुत्कस्समूलआरामकंदराऽऽनगरागिरिगुहकम्पंतुजाणजाण-  
 साअकुवियसालमंदवसुस्यवरसुपाणलेण आत्रणे अशुम्भिय व  
 एवमादियस्सिम् दगमद्विषयीजहुरिततसपाणअसंसचे अहा-  
 कने फासुए त्रिजिते पसचे उवस्सए होइ विद्विरियं ।  
 आहाकम्भवद्वेजे य जे से आसियसम्पज्जओसित्तोसोदिय-  
 छाएदुमएक्षिपणअणुत्तिपाणजलएणंनचालणं अंतोवादिं  
 मजे च अंतंजमो जत्थ दट्टिते संजयाणं अद्वा वजेयव्वे हु

उपस्सए से शरिसए सुचपरिकुडे । एवं विचित्तवासवसहि-  
समित्तियोगेण जावितो भवति अंतरपपा निचं अहिकरण-  
करणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुष्पायउमगहकुर्ये ॥ १ ॥

( पठमं ति ) प्रथमं भावनावस्तु विविकवसतिवासे नाम ।  
तथाऽऽह-देवकुलं प्रतीतम्, सन्म महाजनस्थानम्, प्रया जल-  
दानस्थानम्, आयस्यधः परित्राजकरस्थानम्, वृकसूत्रं प्रतीतम्,  
आरासां माधवीलतापुत्रेणो दम्पतिरमणाश्रयोः धनविशेषः,  
कन्वरा दूरी, आकरो होहापुत्रसिस्थानम्, गिरिशुद्धा प्रतीतः ।  
कर्मांतो यत्र सुधादि परिकर्म्यन्ते, उद्यानं पुष्पादिमदृक्संकुल-  
मुत्सवादी बहुजननोद्यम, यानशाशा रथादिगृहम्, कुपितशासा  
तुल्यादिगृहोपरस्करशाशा, मरणं यथादिमरणम्; श्वस्यगृहं,  
श्रमशानं च प्रतीतम् । अयनं तैलगृहम्, आपणः पायस्थानस,  
एतेषां समाहारः क्लृप्ततस्तत्र, अन्यस्मिंश्चैवमादिकं एवप्रकार,  
उपाश्रयं, जवति विहसंयमिति संबन्धः । किंचूतः?, इकमुहकम्,  
सृष्टिका पुथिबीकायः, बीजानि शय्यादीनि, हरितं दूर्वादिचन-  
स्वतिः, वसप्रणा इन्द्रियादयः, नैऋसंस्का यः स तथा, तत्र । त-  
थाकृते गृहसंन स्वार्थे निर्वाहिनं, ( फासुर एत् ) पुष्पोक्तगुणयोगादेय  
प्राप्तुके निर्वाधि, विविके रुपादिदोषगदिते, अत एव प्रशस्ते, उपा-  
श्रयं वसती, अर्वाति विहृत्संयमासितव्यम् । यादृशे पुनर्वासितव्यं  
तथाऽसावुच्यते- ( आहाकम्मवहुते य सि ) आधया साधुनां स-  
कस्याधानेन साधुनाश्रित्येत्थम्, यत्कमं पृथिव्याश्रामभूमिकया,  
तदाधकम् । आह च- " हियमिमा समाहंर, परमणमं च गार्हमं  
जं । वडुणं करइ द्याया, कायाण तमाहकम्मं तु ॥ १ ॥ " नेन वडुणं  
प्रसुतः, तद् वा बहुसं यत्र स तथा । [ जे से सि ] य एवंविधः स व-  
जीयन्त्य एषोपाश्रय इति संबन्धः । अनेन सल्लगुणाः शुच्यस्य  
परिहार उपदिष्टाः स तथा [ आसिय सि ] आसिकमासदन-  
मीपदुक्कच्छट्टक इत्यर्थः । [ सम्मज्जिय सि ] सम्मज्जेन शशाका-  
दस्तेन कचवरशोऽधनम्, उत्सिकमायधे जलामिपंचनम्, [ सोहिय  
सि ] शोभने वन्दनमालाचतुष्करणदिना शोभाकरणम्, [ छाद-  
ण सि ] गार्हं दनोदिपदलकरणम्, [ दुमण सि ] संहिकया धव-  
लनम्, [ सिपण सि ] उगणादिना जूमः प्रथमतो जेपनम्, [ अणु-  
हियण सि ] सङ्गतिमाया भुमः पुग्लेपनम्, [ जलण सि ]  
शैत्यापनोद्वाय वैश्वानरस्य उपवनम्, शोऽधनं या प्रकाशकरण-  
या वा शीपप्रबोधनम् । ( अणुचालण सि ) भाणकादीनां पिउर-  
कादीनां, पण्णादीनां वा तत्र गृहस्थमतिपातानां सावर्धं चालनं  
स्थानाभ्यन्तरस्थापनम् । एतथां समाहारः क्लृप्तः, विचक्रितोपलब्ध इत्यर्थः ॥  
तथा आसिकाद्रिकः अन्तर्बहिष्क पापधायस्य, मध्वं मध्वं च,  
असंयमो जीवयिराधना, यत्र यस्मिन्-नुपाश्रये, वसने जवति,  
सयतानां साधुनाम्, अर्थोय इत्येव, [ वज्जप्रवेह वृ सि ] वज्जयित-  
इय एव उपाश्रयो वसतिः, स तादशः, सूत्रप्रतिपद्यः-आगमनिय-  
ञ्जः प्रथमतावनानिगमनायाऽऽह-प वसुकेनाउष्ठानकारेण, विवि-  
कां लोकाव्याभ्रतदोषपरिजितः, विविकानां वा निर्दोषाणां वा-  
सो निवासो यस्यां सा विविकयासयसतिः, तद्विषया या स-  
मितिः सम्बन्धप्रसूतिः, तथा यो यानाः संबन्धः, तेन जावितो जव-  
स्यन्तरात्मा । किंविधः?, इत्याह- निज्जे सदा, अभिकियन्तेऽधि-  
कारिकियते, दुर्गतावात्सा येन तद् उचित्करणं दूरउष्ठानं, तस्य  
यत्करणं कारापणं च तदेव पापकर्म पापोपादानमिकया, ततो वि-  
रतो यः स तथा । इत्थोऽनुष्ठानत्वं योऽयप्रहोऽयप्रहणीयं वस्तु  
तत्र कश्चित्स्य स तथेति ।

वितियं आरामुज्जाणकाणवणपदेसजागे मे किंचि इ-  
कमं वा कदियमं वा जंतुमं वा परमेरुकुत्तकुसइमण्यला-  
लसूयमवद्वयपुफफलतयपालकदमूलतणकइसकरां मे-  
एद्वति सेज्जावादिस्स अट्ठा न कप्पए, उमगहे अदिस्सिम्प  
गेएद्वठं जे द्वाण्णि द्वाण्णि उमगहं अणुणावियि गेएद्वठत्वं ।  
एवं उमगहसमित्तियोगेण जावितो जवति अंतरपपा णिचं  
अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुष्पायउमगह-  
कुर्ये ॥ २ ॥

( वितियं ति ) द्वितीयं ज्ञानावस्तु अनुष्ठानसंस्कारग्रहणं नाम ।  
तथैवस-आरामो दम्पतिरमणाभूतमाधवीलतागृहादियुक्तः,  
उद्यानं पुष्पमदृक्संकुलमुत्सवादी बहुजननोद्यम, काननं सा-  
मान्यवृक्षोपेतं, नारासरो चः वनं नगरादियद्वहृष्टस्य, पंचमे व-  
देशकयो या जगः स तथा तत्र । यतिकञ्चिदिति सामान्येनाव-  
प्रदर्शनीय वस्तु । तदेव विशेषणह- " इकमं वा " इदमस्यसत्त्वं तुष्प-  
विशेष एव । कठिनकं जन्तुकं च जलाशयजं विशेषतुमणव, प-  
र्णामिषयः । तथा परा तुष्पाविशेष, मेरा तु मुञ्जसिरका, कुचो यंन  
तुष्पाविशेषेण कुचिन्द्राः कुच कुचैन्ति, कुदादनेयाराकारकृतो विशेष-  
यः, पलालं कक्ष्यादीनाम्, सूयकां मेदुप्राप्तसकृन्तुष्पाविशेषः ।  
वल्लजः तुष्पाविशेषः, पुष्पफलत्वं कुप्रबालकम्पुमूलतणकाट-  
शर्कराः प्रतीताः; ततः परादीनां द्रव्यः पुनस्ता आदिष्यत्य तत्त-  
था । तद् गृह्णाति आद्विदि विकर्मधम् ?, शय्यापधः संस्मारकरूप-  
स्यापधः अधया संस्मारकस्यापधोऽर्थाद्यो हेतव इह तदिदं शोभा  
इत्यर्थः, तनस्ते, न कल्पन्ते न युज्यन्ते । आधयेद उपाश्रयान्निर्वाहिनं  
नि अयप्रबोधं वस्तुनि, अदत्तजन्तुज्ञाने शय्यादादिना [ गितिहं  
जे सि ] गृहीतमादात्तं, 'जे' इति निपातः । अयमभिप्रायः-उपा-  
श्रयमनुष्ठाय नन्मथयगतं तुष्पाद्यपि तु हायनीयम्, अन्व-  
था तदप्राह स्वादिति । एतदेवाह- इणि हण्णि सि ] अण-  
नि अहनि प्रतिविषयम् । अयमभिप्रायः-उपाश्रयतुष्पाद्युष्पा-  
दिने उपशुद्धानि अयप्रबोधमिहकाराः अनुष्पाय प्रहीतव्यमिति ।  
एषमित्यादिनिगमन प्रथमभावनावदवस्यम्, नवरमवप्रह-  
समितियोगेन अयप्रहणीयतुष्पादिविषयसम्बन्धप्रवृत्तिसत्त्व-  
धिनेत्यर्थः ।

ततियं पीउफलगसेज्जामंधारगहयाए स्वक्खमा न च्चिदि-  
यव्वा, न य छेयणजेयणेण य सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव  
उवस्सए वसेज्जा, मेज्जे तरेव्य गवेसेज्जा, न य विममे क-  
रेज्जा, न य नित्तायपपायउस्सुगुचं, न रंसपसगेसु क्खुभि-  
यव्वं, अग्गिभूमा य न कायव्वो, एव्वं मेजववहुदं मेवव-  
हुदं मेतुक्कवहुल समाहिववहुदं धीरो काएण फासयंते सययं  
अज्जप्पज्जाणुजे सदीए, एवं एमे चरेज्ज धम्मं, एवं सि-  
ज्जासमित्तियोगेण जावितो भवेद अंतरपपा णिचं अहिकर-  
णकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुष्पायउमगहकुर्ये । ३३ ।

इदं तु तृतीयं भावनावस्तु शुद्ध्यापत्तकर्मवर्जनं नाम । तथैवस-  
पीउफलगशय्यासंस्कारकार्यमायै बुद्धा स कुत्तस्याः । स च इ-  
दनेन तद्भूम्याश्रितवृत्तादीनां कर्त्तनं, भेदनेन च, तेषां पापा-  
दादीनां वा शय्या शयनीयं कारयितव्यम् । तथा-यस्यैव गृह-

पतेरुपाधये निक्षेये बलेत-निवासं करोति, शय्यां शयनीयं तत्र गन्धपयस्त्रुणयत् । न च विषयं सतीं समीं कुपोति । न वि-  
 र्वातप्रघातेस्तु कत्वं, कुर्वाविति वर्सते । न च दंशप्रशकपु विष-  
 येषु कुमिन्धयम्-सोमः कार्यः । अतश्च दंशापपनयनार्थमग्नि-  
 र्धुमेो वा न कर्तव्यः । एषमुक्तप्रकारेण संयमबहुलः पृथिव्यादि-  
 संरक्षणप्रभुरः । संवरबहुलः प्राणितयानायाश्चक्रवाहनिरोध-  
 प्रभुरः । संवृतबहुलः कषायैर्निग्रयसंवृतप्रभुरः । समाधिब-  
 हुलमित्तस्वास्थ्यप्रभुरः । धीरो बुद्धिमानसोमो वा, परीचेष्टे  
 कायेन स्पृश्य न मनोरथमाश्रेष्ठे मृतीयसंवरमिति प्रकम-  
 गम्यथ । सततमध्यात्मनि आत्मानमाधिकृत्य आत्मात्मन्नेन,  
 ध्यानं चित्तनिरोधक्षेपेन युक्तो यः स तथा । तत्रात्मध्यानं  
 'अमुगधेह, अमुगकुले, अमुगसिस्ते, अमुगस्मद्यालुचिप,  
 न अतश्चिराद्देह' इत्यादिक्रमः । (समीर्यं) समितः समि-  
 ति, एकः ससहायोऽपि रागाधमाभात् । चरदनुमिष्टः,  
 धर्मं चारित्र्यम् । अथ मृतीयभावनानिगमनायाह-एवमन्तरो-  
 दितन्यायेन शय्यासमितियोगेन शयनीयविषयसम्यक्प्रवृ-  
 त्तियोगेन, शेषं पूर्ववत् ।

चठर्थं साहारणपिडवायलजे सइ भोक्तव्यं संजर्ण समि-  
 तं, न सायसूपादिकं, न रक्षु धनं, न वीर्यं, न तुरियं, न चबले,  
 न सादसं, न य परस्म पीलाकरं सावर्जं, तद्द भोक्तव्यं अइ  
 से ततिथं वयं न सीयति साहारणपिडवायलजे सुदुभे अ-  
 दिष्टादाखनयनियमेवरमणे, एवं साहारणपिडवायलजे स-  
 मितिनिगेण जाविओ जवति अंतरप्या णिच्चं अइकरण-  
 करणकारावणपावकम्भविरेते दत्तमणुष्पायजग्महर्क्ये ॥४॥

इह चतुर्थे भायनावस्तु अनुभवातभकारिभोजनलक्षणम् । तच्चै-  
 व-साधारण्यः सङ्गादिसाधार्मिकस्य सामान्यो यः पिपडः, त-  
 स्य भकादेः, पात्रस्य पतदुप्रहलक्षणेय, उपलक्षणाव्युपपन्नत्-  
 रथ च, पात्रे वाऽधिकरण, सामो हायकात्सकाश्यात् प्राप्तिः स  
 साधारण्येणैवात्राप्रलाभः, तत्र सति, भोक्तव्यमभ्यवहतेत्ययम् ।  
 परिभोक्तव्यं च केन कथम् ? इत्याह-संयतेन साधुना, (सामि-  
 ति) सम्यक्, यथाऽज्ञानानं भवतीत्यर्थः । साधुसम्यग्मेवाऽऽह-  
 नशाकृत्याधिकारो, साधारण्यस्य विरुद्धस्य शाकृत्याधिके भोगे  
 भुञ्जमानेन सङ्गादिके साधोरमीतिरूपयते । नतस्तद्वचं भवति ।  
 तथा-न खलु धनं प्रभुरः, प्रभुरभोजनेऽप्यमीतिरेव, प्रभुरभोज-  
 नता च साधारण्ये विरुडे भोजकान्तरापेक्षया भोगेन भुञ्जमाने  
 भवतीति । तच्छिष्यायाह-न वेगितं, प्रासस्य गिलने वेगवत् ।  
 न त्वरितं मुखकृपेः, न चपसं हस्वपीयादिव्यकथयत्सलनवत् । न सा-  
 हस्यवितर्कितम्, अत एव न च परस्य पीमाकरं च तत्सावधं  
 चेति परस्य पीमाकरं सावधम्, किं बहुनाचमनं, तथा भोक्तव्यं सं-  
 यतेन नित्यं यथा (सि) तस्य संयतस्य, तद्वा, मृतीयवत् न स्वी-  
 दति प्रवृत्ति । उपीकं वेधं, सूचमत्वाद । इत्यत आह-साधार-  
 ण्यविपदानेन ज्ञाने विषयभूते सुखं सुनिजुजमितिरकृणीयत्वा-  
 द्बहुकामपि तद्वित्याह-अज्ञादाणविरमणस्य लक्षणं भवेन यथिय-  
 ममप्रसन्नो नियन्त्रणं तत्तथा । पात्रांशरेण-अज्ञादाणाद् अत-  
 मितं बुद्ध्या नियमेनाबधयतवा यदित्यमं निबुद्धिस्तत्तथा ।  
 यतकिमयशाह-एवमुक्त्यायेन साधारण्यविपदानाप्रज्ञानं वि-  
 षयचतुते समितियोगेन सम्यक्प्रवृत्तयैरुत्सव्यं भाविते प्र-  
 त्वत्तरामा । किभूतः ? इत्याह-'निष्कमित्यादि' तथैव ।

पंचमं साहस्रिण्यु विणओ पंजजियव्णो । उचपरख-  
 पारणासु विणओ पंजजियव्णो, वायणपरियेहणासु विण-  
 ओ पंजजियव्णो, दाणमहाइयुष्णणासु विणओ पंजजिय-  
 व्णो, निक्खमएणपसेसणासु विणओ पंजजियव्णो, अएणेसु  
 य एवमाइसु बहुसु कारखतसेसु विणओ पंजजियव्णो, विण-  
 ओ वि तवो, तवो वि धम्मो, तम्हा विणओ पंजजियव्णो  
 गुस्तु साहुसु तवस्सीसु य, एवं विणएण जाविओ जवति  
 अंतरप्या निबं अइकरणकरणकारावणपावकम्भविरेते द-  
 त्तमणुष्पायजग्महर्क्ये ॥५॥

[पंचमं नि] पञ्चमं ज्ञाववस्तु । किं तद्वित्याह-साधार्मिकेण  
 विनयः प्रयोक्तव्यः । एतद्वच विषयभेदेनाह-(अचपरखपारणासु  
 षि) आत्मनोऽप्यस्य वा उपकरणं ग्लानाघवस्यायामन्येनोपका-  
 रकरणम्, तत्र चारणे ये तुलस्तत्त्वादिभूतस्य पारामर्शम्, उप-  
 करणपारण्यं, तयोः विनयः प्रयोक्तव्यो, विनयश्चेष्टाकारादिदानेन  
 बहान्कारपरिहारादिहण एवत्र, अन्वय च गुर्वनुकथा भोजना-  
 दिहृष्यकरणलक्षणः । तथा-वाचन सूत्रप्रहणं, परिचर्यैवा तस्यैव  
 गुणमत्र, तयोर्धिनयः प्रयोक्तव्यो वन्दनादिदानलक्षणः । तथा-दानं  
 ह्यवस्थान्नादिभोजनविनयं विस्तरणं, प्रहणं तु तस्यैव परेण हीय-  
 मानस्यादानम्, प्रवृत्तान विस्मृतसूत्रार्थप्रश्नः, एतासु विनयः प्रयो-  
 क्तव्यः । तत्र दानप्रहणयोर्गुर्वनुकूलतयाः । प्रवृत्तार्थं वा वन्द-  
 नादिविनयः । तथा-निष्कमणप्रशशनायसु भावद्वियकीचिष्या-  
 दिकरणम् । अथवा इत्सप्रसारणपूर्वकं प्रसाजनामन्तरं पाद्वि-  
 क्षेपलक्षणः । किं बहुना प्रत्येक विषयभयनेत्येतत् आह-अन्य-  
 यैवभादिषुषु कारखयतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । कस्मादधिक-  
 त्स्याह-(विनयोऽपि) न केवलममशनादितयः, अपि तु विनयोऽपि  
 तयो वनेते, आरुप्यन्तरयोर्भेदेषु पठितव्याक्तयो । यद्येवं ततः  
 किम् ? अत आह-तपेऽपि धर्मः, न केवलं संयमो धर्मः, नपेऽपि  
 धर्मो धनेते, चारिचोशात्सास्यः । यत एवं तस्माद्द्विनयः प्रयोक्त-  
 व्यः । केणु ? इत्याह-गुरुषु साधुषु नपस्वेषु च अहमदिका-  
 रिषु ; विनयप्रयोगे हि तीर्थेकराणुत्सवकात्सादात्सा (नविदमं  
 परिपालितं जवतीति पञ्चमभावनानिगमनार्थमाह-एवमुक्त्या-  
 येन जाविते प्रवश्यन्तराम् ॥ किभूतः ? -'नित्यामित्यादि' पूर्ववत् ॥

एवमिणं संबस्स दारं समं चारियं होइ सुपण्हियं इ-  
 मेहिं पंचादि वि कारणेहि मणवणणकापरिविस्सएहिं निबं  
 आमरणंतं च एस जोगो नेवयो धिइमया मइमया अणा-  
 सवो अकल्लसो अच्छिरो अपपरिस्साइ असंकिन्निहो सुप्पो  
 सव्वजिणमणुष्पाओ, एवं तदयं संबददरं फासियं पाडियं  
 साहियं तिरियं किटियं समं आराहियं आयाए अणुष्पाडियं  
 भवति, एवं नायपुण्णणा भगवया पण्हियं परवियं तसिच्छं  
 सिक्खिरसासणमिणं आचवियं सुदेसियं पस्सं च इतियं  
 संबददरं सम्यं षि वेमि ।

इदं च निगमनसूत्रं पुस्तकेषु किञ्चित् साक्षादेव यावत्करभेन  
 च दृष्टितम् । व्याख्या चास्य प्रथमसम्भारोप्यनवद्वचसेयेति  
 समाप्तमहाऽप्ययनविबरणम् । प्रश्न ३ संख ० ह्य ०  
 अद्वा ( दिव्या ) लोपण-अद्वालोचन-५० । अद्वा

तथापि नेवमभ्यन्तरे लेख्यः समुत्थितमते न तैरिहाधिकारः। कि-  
न्वाहिककुमारानिवागारासमुत्थितमतेतैरिहाधिकार इ-  
ति क्त्वा तद्वक्तव्यताऽभिधीयते । एतदेव नियुक्तिहृदाह— [ अ-  
द्भुतर इत्यादि ] अस्याः समालोचनायै— आर्द्रकपुरे नगरे आ-  
र्द्रको नाम राजा , तस्मिन् ५५५ आर्द्रकाजिनामः कुमारः, तद्वंशजाः  
किन्तु सर्वेऽप्याहिकाजिनामा एव जयन्तीति क्त्वा । स खानगारः  
संभूतः । तस्य च श्रीमत्सहाधिरार्यैकमान्स्वामिसमस्रये गो-  
शालकेन सार्द्धं हस्तितपसैश्च वादोऽभूत् । तेन च ते एत-  
दध्ययनाद्योपन्यासेन पराजिताः, अत इदमभिधीयते । ततस्त-  
स्मादाहिकासमुत्थितमिदमध्ययनमार्द्रकाजिनामि गाथासमा-  
सायैः । असायै तु स्वत एव नियुक्तिहृदाहिकपूर्वमधोपन्यासं-  
मोक्षरश्च कथयिष्यतीति ।

ननु च शास्त्रमिदं द्वादशशतं, गणपिचक्रमार्द्रकधानकं तु  
अर्धवर्षमात्रतीर्थोत्सवे, तत्कथमस्य शाश्वतत्वमित्याशङ्क्याह-

कं दुवालसंयं, जिणुवयं सारसं महाजगं ।

तत्पञ्चयुगाहं तदा, सप्तनक्षत्रसांभवाञ्च य ॥ १ ॥

(काममित्यादि) काममित्येतद्व्युत्पन्नम्, इष्टमेतदस्माकम् ।  
तथाशा—द्वादशाक्षमपि जिनवचनं शाश्वतं नित्यं महाभागं महा-  
नुभावमामर्याप्यादिभ्यस्त्वमित्यत्र केवलमिदं, सर्वोप-  
प्यप्यन्यायैव ज्ञाता, तथा सर्वोत्तरस्वामिपितात्म्यं भेदापका  
द्व्यर्थोदेशा नित्या एवेति ॥ ५ ॥

ननु च मताजुहा नाम निम्नदक्षानं भवत इत्याशङ्क्याह-  
तु विय य कोरि अत्यो, उणपञ्जति तमि समयमि ।

खुब्बमणिश्रो अणुणुतं, इति इसिजासि ए जहा । ६ ।  
(तु विय इत्यादि) यद्यपि सर्वमपौरुष्यार्थतः शाश्वतं, तथा-  
पि कोऽप्यथेस्तस्मिन्समये तथा क्लेशे च कुलभित्त्वाहिकादिः सका-  
शाद्विभिन्नमभ्यासकृत्स्नि, स तेन व्यपदिश्यते । तथा—एवमप्य-  
सावयोऽप्यमुद्दिश्येकोऽनुमतश्च ज्ञातः, अविभाजितेभूत्सरा-  
प्ययमादिषु यथेति ।

साम्रते विशिष्टरमभ्ययोग्यान्ममाह-

अज्जदृष्टण गोसा—लनिषुखुञ्जवतिदिदमीणं ।

जह हत्थितावसाणं, कद्धियं इणुमो तदा षोचं ॥ ७ ॥

( अज्जदृष्टयोदि ) आर्द्रांशकेण समवसरणामिषुखमुच्छलि-  
नेन गोशासकजिहोस्त्वया अग्रमनिनां त्रिद्विदिनां यथा इ-  
दित्तातासाम्नां च कथितमिदमध्यनार्थजानं तथा वक्ष्ये मृगै-  
ति । सूत्रं २ अ० ६ अ० ।

अद्भु—आर्द्रक—न० अर्धेयति रोगान् । अर्धे—अन्तर्गत्यर्थे रक्त,  
दीर्घे, संसारां कन् । आर्द्रायां जूमीं जानं वा बुज् । आर्द्रय-  
ति जिह्वाय, आर्द्रि—मिच्छन्नुद वा । मूलप्रधाने वृक्षजने, आर्द्रि-  
काऽप्यत्र । क्ली० । वाच० । शुद्धवेदे, आचा० २ अ० १ अ० ३० ।  
(आर्द्रकशब्दाद्यो नगरभेदादिकं च 'अर्ध' शब्दे समुक्तम्) ।

अद्भु ( य ) कुमार—आर्द्रककुमार—पु० । आर्द्रकनामधेये कु-  
मारे, स्था० २ अ० ६ अ० ।

अथाहिककुमारस्य निरवशेषा वक्तव्यता-

- ( १ ) नियुक्तिहृदमताभिमाणे संक्षिप्तमार्द्रककुमारकथानकम् ।
- ( २ ) आर्द्रककुमारेण सद्य विषयमात्मस्य गोशासकस्य तीर्थ-  
कृत्विषयेऽस्त्याऽऽधिकारकम् ।

- ( ३ ) तत्रार्द्रककुमारस्य समाधानम् ।
- ( ४ ) अग्रतःरागद्वेषस्य प्रत्यक्षमात्रस्यापि दोषाभावः ।
- ( ५ ) बीजाशुपयोगिनां न भ्रमणव्यपदेशमात्रः ।
- ( ६ ) समवसरणानुपयोगवशतोऽपि अग्रवचनां न कर्मवन्धः ।
- ( ७ ) केवलं भावशुक्तिभ्यः मध्यमानस्य बौद्धस्य काण्डनम् ।
- ( ८ ) हित्यामनराऽपि मित्तो न प्रकृषीयः ।
- ( ९ ) आर्द्रककुमारेण सद्य ज्ञानाणानां विधातः ।
- ( १० ) एकदशदिभिः सहाहिककुमारस्योत्सवप्रत्युत्सराणि ।
- ( ११ ) तथा हस्तितपसैः सहाहिकप्रत्युत्सवः यः ।

( १ ) तत्र तावत्पूर्वमवसरमन्त्रिण आर्द्रककथानकं  
गाथाभिरेव नियुक्तिहृदाह-

गामे वसंतपुरये, सामयिओ वरणिस्सद्धिओ निक्खंती ।  
जिक्खाऽऽपरिया दिट्ठा, ओहासिय जचयेहंसां ॥ ८ ॥

संगेममावसे, मां जचं चन्नु दिगलो ॥

चउळणं अरपुरे, अहमुओ अस्सओ नाञ्जां ॥ ९ ॥

पीती य दोहण वतो, पुच्छणमजयस पच्छ वेसो उ ।

तेणावि सम्पादिद्धि—सि होज्ज पदिमाऽरहम्मि गमो ॥ १० ॥

दुहं सवुच्छो र—किवओ य रायाण वाहणपलाओ ।

पव्वावंतो धारतो, रज्जं न करेति को अओ ॥ ११ ॥

अग्रणिओ निक्खंती, विरह पदिमा दारिमा च्छओ ।

सुवरणवमुहाराओ, रओ कहणं च देवो ॥ १२ ॥

वरआइ पिता तंसे, पुच्छण कहणं च वरण दोवारं ।

जाणइ पावविवं, अग्रमणं कहण निग्गमणं ॥ १३ ॥

पदिमागए समंवे, सपरिवारा वि जिक्खुणवचयणं ।

जोग सुतो पुच्छण सु—चंषंष पुत्तं वि निग्गमणं ॥ १४ ॥

रायं, गह्वाणम चोरा, रायचया कहण तेसि दिक्खया ।

मांसालजिक्खुवंषं—सिदं कियतावसेहं सहावा ॥ १५ ॥

बादे पराइयचे, सव्हे वि य समणमणुवगुताओ ।

अद्भुसइया सव्हे, जिणुवीरवामिनिक्खंता ॥ १६ ॥

( गामे इत्यादि गाथाश्रुतम् ) आसां आर्थः कथानकाद्वक्ष्येयः ।  
तद्वदस—मगपजनयदे वसन्तपुरमामः तत्र सामयिको नाम कुटु-  
म्बी प्रतिवसति स्म । स च संसारभयोद्देशो धर्मयोगाचारान्तिक  
धर्मं श्रुत्वा सप्तर्षीकः प्रव्रजितः । स च सदाचारतः संक्षिप्तः  
सायुजिः सार्द्धं विहरति स्म, इतरा सार्वभूमिः सदेति । कदाचि-  
न्वासायिक्स्मिन्नगरे जिह्वाधर्मदर्शनं दृष्ट्वा तामसी तथाविधक-  
र्मोदयापूर्वैरानुस्मरणेन तस्यामप्युपपन्नः, तेन आत्मीयोऽस्मि-  
नया पितृनीवस्य साधोर्नवेदितः, मेनापि चैतत् प्रवर्तितया, त-  
थाऽपि चाजिहिनम—न मम देशात्तरं एकाकिन्या गमनं युज्यते । न  
वासो तत्राप्यनुबन्धं त्यजन्तीत्यतो ममास्मिन्नवसरे अग्रवस्था-  
कथानमेव श्रेयः, न पुनश्चेति ज्ञानोपनम् । इत्यतस्तया अग्रवस्था-  
कथानपूर्वकाम्बोद्वयमकारि, मृता साऽगाच्छ वंषलोकात् ।  
दुःखं चैनं ध्वनितकर्मसी संवगनुपगतः । चिन्तितं च तेन—तथा  
प्रतमद्भुवादिदमनुष्ठानम्, मम स्वसो संजात एवेत्यतोऽद्भु-  
पि अग्रवस्थाकथानं करोमीत्याचार्यदस्मानिचिदेषु मत्प्राथी, पर-  
मसेवगापन्नोऽसायि जने प्रयाश्रयय दिवं गतः । ततोऽपि च

प्रत्यागत्याऽऽशुभे नगरे आर्द्रककुल आर्द्रकभिधानो जातः साऽ-  
 ऽपि च देवशोकाच्चतुःशतानां वस्तुनूपुरे नगरे भेष्टिकुत्रे वारिका जा-  
 ता । इतरोऽपि च परमप्रसङ्गको यौवनस्थः संवृत्तः । अन्वदाऽ-  
 सावार्द्रकपिता राजपुत्रनगरे भेष्टिकस्य राक्षः स्नेहाविष्करणाद्यै  
 परमप्राभुत्वेत्येतं महत्समं प्रेषयति स्म । आर्द्रककुमारेणासौ वृष्टः-  
 धा-कस्तानि महाहृदयव्युत्थानि प्राभुत्तानि मन्वित्रा प्रेषयतिना  
 वास्थन्तीति । असायकपयत्-यथा-आर्द्रदेशे तव पितुः परमामित्रं  
 भेषिको महाराजः, तस्यैतानीति । आर्द्रककुमारेणाम्याथि-किं  
 तस्यादित कश्चिद्योग्यः पुत्रः ? । अस्तीत्याह । यद्येवं, प्रमहत्तानि  
 प्राभुत्तानि जवता तस्य समेषु यामीति ज्ञपिष्या, महाहृदि प्राभु-  
 तानि समर्थोऽस्ति नम-कः योऽसौ महत्तनाद्याऽऽर्द्रककुमार-  
 कस्यै सिद्धान्तीति । स च महत्समो गृहो तोत्रयवानुतो राजपुत्र-  
 मयात् । गन्धा च राजद्राग्यानिवेषितो राक्षसकुलं प्रविष्टः । इष्टञ्च  
 भेषिकः । प्रणामपूर्वं निवेशितानि प्राभुत्तानि । कथितं च यथा  
 स्तंदिष्टम् । तेनाप्यासाशानताम्यूलादिना यथाहं प्रतिपत्त्या सं-  
 मानितः । द्वितीयं चाण्डार्द्रककुमारस्तस्मिन् प्राभुत्तान्यमयकुमा-  
 रस्य समर्पितानि; कथितानि च तपोऽभ्युत्पादकानि तन्संदिष्ट-  
 यचनानि । अत्रयकुमारेणापि परिणामिकयवुद्ध्या परिणामिनम-  
 नुत्तमसौ श्रव्यः समासप्रसूतियोगमनञ्च, तेन मया सार्द्धं प्रति-  
 निवृत्तंतीति । तदिदमत्र प्राप्तकालम्-यदादिनोर्धेकरप्रतिकरप्र-  
 निमासं दर्शनेन नक्षत्रनुप्रदः कथिते, इति मन्वा तपैव कृतम् ।  
 महाहृदि च प्रेषितानि प्राभुत्तानि । उक्तञ्च महत्समः-यथा-  
 मप्रदेवप्राभुत्तमेतदकान्ते निरूपणीयम् । तेनापि तथैव प्रति-  
 यप्रम । गन्धासावार्द्रकपुरम् । समर्पितं च प्राभुत्तं राक्षः, द्विती-  
 यं चाण्डार्द्रककुमारस्येति । कथितं च यथासंदिष्टम् । तेनाप्ये-  
 कान्ते स्थित्वा निरूपिता प्रतिमा । तां च निरूपयत् कदाऽ-  
 पादिविदर्शनेन समुत्पन्नं ज्ञानिसमस्यम् । चिन्तितं च तेन-यथा-  
 मयनयकुमारेण महानुपकारोऽकारि स र्द्धमप्रतिबोधत इति । त-  
 तोऽसावार्द्रकः संजातजातिस्मिन्पुत्रोऽस्ति न्ययत् । अयम् अम देवशो-  
 कभोगैर्दशोपसन्नं मंयद्यमानैस्तुसिर्नाचुत्तस्यामीस्तुष्टौमोनुषैः  
 स्वल्पकाशानिः काममोषैस्तुतिर्निर्विषयीति कुतस्त्यम् ? इत्ये-  
 तपरिगणय निर्विषयकाममोषा यथाचिन्तोगमकुर्वन् राक्षः संजा-  
 तमयन स कश्चिद्यायादित्यतः पञ्चमिः शतैः राजपुत्राणां रक्षयि-  
 तुमारेजे । आर्द्रककुमारोऽप्यश्ववाहनिका विनिर्गतः, प्रधाना-  
 श्वेन प्रपलायितः । ततश्च प्रमयां गृहद्वर्ष देवतया संपासयेज्ज-  
 तोऽद्यापि भगिष्या निवारितोऽप्यसावार्द्रको राज्यं ताश्च क-  
 रति स्म । कोऽप्यो मां विहाय प्रमयां प्रहरीष्यतीत्यजिज्ञासायां तो  
 देवतामवाचयत्ययं प्रमजिनः । विहरञ्चन्यदऽप्यतस्मात्प्रतिपत्तः  
 कायोःसर्गव्यवस्थितो वस्तनूपुरे तथा देवलोकामुत्तया भेष्टिपु-  
 द्विन्ना पददरिकाभयगतया 'भारतमोषमभतौ' इत्येभ्यस्तुके-  
 स्तन्यनुरमेव नरसिंहिलदेव तथाऽर्द्धचयोर्दशकोटिप्रतिमाया 'शो-  
 अभं ज्ञातमवधति' भणित्वा हिरयवपुष्टिमुक्ता । तां च हिरयवपुष्टिं  
 राजा गृहद्वर्ष देवतया सर्पोद्युत्थानतो विधुतः । अस्मिन्निर्तं च तथा-  
 वयेतद्विदित्ययं ज्ञातमवधा दारिकायाः, नान्यस्य कस्यचिदित्य-  
 तस्तत्पिष्या सर्वै संगोपितम् । आर्द्रककुमारोऽप्यनुकूलोपसर्ग इति  
 मन्वाऽभ्यनान्यत्र गतः । गच्छति च काले दारिकायाः वरकाः समा-  
 वच्छन्ति स्म । वृष्टौ च विनरी तथा-किमेवाणामगमनप्रयोजनम् ? । क-  
 थितं च तापुत्राध-पयैते तव वरका इति । ततस्तपोऽकम्-तात !  
 सख्यन्त्याः प्रदीयन्ते मानेकशः । दत्ता आहं तस्मै यस्मन्बन्धि द्वि-  
 दययजानं जवजिर्षुर्हीतम् । ततः सा पित्राऽजापि-किञ्च तं जनी-

ये ? तयोक्तम्-तथादगतानि हितानुतो ज्ञानामाति । तत्रेवमसौ  
 तत्परिहाराद्यै स्वपेक्ष मिच्छादीनां निर्णौं दायपितुं निरूपिता ।  
 ततो ब्राह्मणशिक्षेर्गतेः कदाचिच्छासौ प्रचितव्यतामियोगेन तत्रै-  
 व विहरस्त्यायातः; प्रत्यभिज्ञातश्च तथा तपादाच्छुद्धश्रुतः ।  
 ततोऽसौ दारिका सपरिवारा तत्पुत्रो जगाम । आर्द्रककुमारो-  
 ऽपि देवतामन्त्रं स्मरन्स्तथाविधानो कस्योपयुक्तवर्षं प्रतिव्यतानि-  
 योगेन च प्रतिभजस्तथा सार्द्धं हृत्कस्मिन् नोगात् । पुत्रभोत्प-  
 नः । पुनरार्द्रककुमारेणासावभित्ता-साभ्रतं ते पुत्रां द्वितीयः,  
 आर्द्र स्वकार्यमनुलिष्टामि । तथा सुतव्युत्पादनाद्यै कार्यासकस्य  
 नमारभ्यम् । पुत्रा चासौ बालकेन-किमम्ब ? एतन्न्यस्तया प्र-  
 ष्थमितरजनाभरितम् ? ततोऽसावेषोवद्-यथा तव पिता प्रम-  
 जितुकामः, त्वं आद्यापि शिष्यरसमर्थोऽर्थांजेन, ततोऽहमना-  
 या श्रीजनेनचित्तेनानिन्देन विहितऽऽत्मानं जन्मत् । किञ्च पा-  
 लीयप्यामीत्येनदाशोच्येदमारभ्यमिति । तेनापि शास्त्रकंगोत्पन्न-  
 तिमया नत्कतितसुषेणिव 'कायं महद्वैद्यो वास्यतीति' तन्मनोऽनुकूल-  
 भाषिणापिष्टि प्वासी पिता परिषेधितः । तेनापि चिन्तितम्-या-  
 चनोऽस्मिं बाष्ककृतबेधनतन्वस्तवस्तवत्येव वर्षाणि मया गृहं स्था-  
 तव्यमिति । निरूपिताश्च तततो यावद्भद्राश्च, नान्येव वर्षाण्य-  
 सौः गृहवास्यै व्यवस्थितः । पुण्यं पुत्राश्च शसु संवत्सरेषु गृहाश्रितगतः,  
 प्रमजिनश्चेति । ततोऽसौ सुचार्यनिष्पन्न एकाकिविहराणं विह-  
 रं राजगृहामिभुत्तं प्रस्थितः । तदन्वराज्ञे च तद्रक्षणायै यानि  
 प्राक् पित्रा कथितानि पञ्च राजपुत्रशान्ति, तस्मिन्मन्त्रे सृष्टे  
 राजभयाद्विलयद्याय न राजानिकं जन्म । मन्त्राटवीऽनुर्गो वीर्यसु  
 वृष्टि कल्पितवन्तः । तैश्चासौ वृष्टः प्रत्यजिज्ञानश्च । तं च तेन वृ-  
 ष्टः-किमिति निर्दिष्टं त्वं कर्माश्रितम् ? । तैश्च सर्वै राजभयाद्विल-  
 कथितम् । आर्द्रककुमारवचनाञ्च संशुक्ताः प्रमजिताश्च । तथा राज-  
 गृहनगरप्रवेशे गोशालका, हस्तिनापसा, ब्राह्मणाश्च वादे परा-  
 जिताः । तथाऽर्द्रककुमारदर्शनादेव हस्तौ चण्डनाशिनः । ते  
 च हस्तितापसाद्यै चिन्तितानि । स्नेहलतन्वत् । स्नेहलतन्वत्-  
 यसरणे निष्कन्ताः । राज्ञा च विदिनवृत्तानेन महाकुटुहलापु-  
 रिमहद्वयेन वृष्टः-अगवन् । कथं त्वद्दर्शनातो इस्तीं निरीको-  
 लः ? इति महाद्व जगवतः प्रभाव इति । एवमभित्तः स-  
 ष्टार्द्रककुमारोऽप्यभिव्रमगायथास्तर-  
 ण दुकरं वारणपासमोयणं, गयसस मत्सस वणमि रायं ! ।  
 जहा उ तत्यावनिष्पृण संतुणा, सुदुकरं मे परिहाइ मोयणं । ? ।  
 ( न दुक्कमियादं ) न दुक्कमेतत्तपशीरैश्चमत्तपवारण्य वि-  
 मोचनं वने, राजन् । एतन्म मे प्रतिभानि दुक्कम-यञ्च तत्रावलि-  
 तेन तन्तुना बहस्य मम प्रतिभोचनमिति । स्नेहलतन्वत् द्वि जन्-  
 नो दुक्कच्छेदा मवन्तीनि भावः । गतमार्द्रककथानकम् । इति  
 दृष्टीं समासतो नियुक्तिरुताऽऽर्द्रककथानकम् । अथ तद्व  
 सुषुद्धं ह्यासनं दर्शयन्नाह—  
 ( १ ) यथा च गोशालकेन सार्द्धं यानोऽनुदार्द्रककुमारस्य  
 तथाऽनेनाप्ययनेनोपदिश्यते—  
 पुरा कर्त्तुं अह ! इमं सुषुद्धे-  
 मन्तयारी समये पुराऽऽसी ।  
 से भिनसुणो उवणेत्ता अण्येगे,  
 आइकसति ह्यै पुढो वित्थरेण ॥ १ ॥  
 सा जीविया पड्विताऽ. चरेणं, यम



सत्रागमो गणभो जिक्वमुपजे ।

आद्दकवभाणो बहुजनमप्यं ,  
न संघपाती अत्ररेण पुवं ॥ १ ॥

संघराजपुत्रकर्मार्ककुकुमारं प्रत्येकबुद्धं भगवन्मर्मपमागच्छन्तं  
गोशालकःऽऽसीत्-यथा ह आद्दकः । यद्दं ब्रवीमि तन्बुधु ।  
पुरा पूव, यद्दनेन जघर्षीधकृता कृतं तेष्वभिमितं दशोयति-  
कामते जनरहिते प्रदेशे चरिषु शीलमस्येत्येकान्तःपुरी, तथा  
आम्यतीति अमगः, पुराऽऽसीत्पद्भरतोपुकः, सान्निभं दूषितप-  
द्भरणविशेषैर्मिर्मितितो मां विहाय देवादिप्रभयगतोऽसौ धर्मं  
किल कथयति, तथा भिक्षुः बहुतुर्भय प्रतनशिष्यपरिकरं  
कृत्वा भवद्विधानां मुण्डजनामिमांसां पुच्छकं पृथग्, विस्तरणाचष्टे  
धर्ममिति शेषः ॥ १ ॥ पुनरपि गोशालक एव 'सा जीविया'  
इत्याद्याह-धेय बहुजनमभ्यगतेन धर्मदेशना युष्मद्गुणा-  
ऽऽस्था सा जीविका प्रकृतैश्च स्थापिता प्रस्थापिता, एका-  
की विहरत् लौकिकैः परिचर्युयन इति मन्वा लोकपङ्क्तिनि-  
मित्तं सद्वाह परिकरः कृतः । तथा चोच्यते- "छत्रं ज्ञानं पात्रं,  
वस्त्रं यष्टि च चचेयति जिह्वः । येपेण परिकरेण च । किय-  
ताऽपि विना न जिहाऽपि " ॥१॥ तद्दनेन दूधनप्रदानेन जीवि-  
काधर्मिद्वयमारब्धय । किं दूनेन ? अस्मिद्रेण, एवं ह्ययं मया सात्-  
क्येकच्यन्तप्रान्ताशोनेन शून्याराभेदयकुलादौ वृत्ति कल्पितवान् ;  
नच तथाज्ञानमनुष्ठानं (नकनाकयज्ञांभिरस्वाहं यावज्जीवं  
कमुं नम, अनां मां विहायायं बहुव शिष्यन् प्रनयैवंज्ञेन रुकु-  
टादोपेन विहरन्तीत्यतः कस्येव्येऽस्मिन्नभ्यस्यः, एवंचयोपरित्या-  
गोनापरकवपसमाभयत् । एतेदेव दशोयति-समायां गतः  
सन्धेदमनुजपयैद्दं व्यवास्थितो ( गणकां चि ) गणशो बहुरां,  
अनकश इति यावत् । भिक्षुणां मयो गतो व्यवास्थितः, आचक्रा-  
वो बहुजनय्यो हितो बहुजनयोऽप्येस्तमयं बहुजनहितं कथयति  
विहरन् । एतन्वास्मानुष्ठानं पुत्रोपगणे न संघेसे न क्षणाद्-यद्दि  
सांमयीयं वृत्तं प्राकारथयं सिहासनाशोकबुक्कजामाकलसाम-  
रादिकं मोक्षाकृतमभिव्यक्तनां या प्राचम्येकचर्यां क्रुदायहुला  
ना कृता ना कलशाय केवलमस्येति, अथ कर्मनिर्करणहेतुका  
परमार्थोनुना सतः साप्रनारवस्था परप्रनारकन्वाद्दं वृम्भकद्वे-  
स्यतः पूजोत्तरयोरनुष्ठानयोर्मौनव्रतिकधर्मदेशनारूपयोः परस्पर-  
रतो विरोध इति ॥ २ ॥

भाष च —

एगंतमेवं अद्दश वि इपिद्द,  
दोद्दगमन्ने न संघति जम्हा ।

( पणतमित्यादि ) यद्येकान्तचारित्र्यमेव शोभनं, पुर्वमाश्रितत्वा-  
पत्तः सन्धेद्दप्रयतिरः, सैल्लदेव कसत्तयध । अथ च संघस्यतं महा-  
परिवारवृत्तं सायु मन्थने, तत्तन्धेद्दवाद्दव्यवाचरणं याम्नात् ।  
अपि च-चे अन्थेत्त दोद्याऽऽतपवद्दयः-तांभरौचर्यां वृत्तं नैकं स-  
मायं गच्छन्तः तथादि-यद्दि मौनेन धर्मस्ततः किमपि महता प्र-  
सन्धेन धर्मदेशना ? अथः नथेव धर्मस्ततः किमपि पुंश्च मौनव्रत-  
माललाप ? यस्मादेवं तस्मात्पुर्वोत्तरव्याहतिः ।

( ३ ) तदेवं गोशालकेन पठेनुयुक्त आर्ककुकुमारः बहुधा-  
आर्ककोत्तरदानायाह —

पुर्वि च इभि च अत्रागतं वा,  
एगंतमेवं पदि संघपाति ॥ ३ ॥

( पुर्वि चेत्यादि ) पुर्वं पूर्वस्मिन्काले, यस्मिन्काले, या  
वैकचर्या, तच्छास्त्रस्थावाद् धानिकमन्वयव्युत्पत्तयार्थम् । सान्निभं  
यमहा जनपरिवृतस्य धर्मदेशनाधिधानं, तत् प्राग्बद्धभाषा-  
दि कर्मचतुष्टयकृपागतस्य विशयनस्तोषंकरामागो यद्वनायंय,  
अपरासां चोक्षेणोत्रश्रुत्यानुनामादीनां श्रुयप्रकृतौ भाविति । यदि  
चा पुर्वं स्यात्सन्धमनागतं च कालरागद्वेषरहितव्यादेकत्वभावनाऽ-  
नतिकमस्यच्छेककथमेवायुपचारितं भगवानशुभजनहितं धर्म-  
कथयन् प्रतिस्थापति । न तस्य पुर्वोत्तरयोरव्यवधारोत्तरास्यरहित-  
त्वाद्भेदोऽस्ति, अतो यदुच्यते भयना पूजोत्तरयोरव्यवधारोत्साह-  
त्यं, तत् प्लवत इति ॥ ३ ॥

एतकर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो  
भवत्युत नति ? भवतीत्याह —

समिच्च लोमं तसयावराणं,  
खेमंकर समोणे माहणे वा ।  
आद्दकवभाणो वि महस्समपणे,  
एगंतवं सारयतो तद्दुब्धं ॥ ४ ॥

सम्ययथावधिगतं लोकं परद्वन्द्यात्मकं मत्वाऽवगम्य केचन-  
लोकेन परिचिद्य, प्रत्यन्तति तत्रास्मत्सनामकमोद्यत्, इति श्रुत्या  
द्वयः, तथा निष्ठुम्निति स्यावरा, स्यावरा नामकमोद्यत्, स्यावराः  
पृथिव्यादयः, तथा मुग्धेयापि जन्मन्, कर्म शान्तिः-रक्षा, तत्कर-  
णशीलः क्रमकः । अन्धमतीति अमगः-आद्दशप्रकाशपानिपुण-  
देवः । तथा- 'मा इण' इति प्रयुक्तं यस्यासौ माहक, ब्राह्मणा-  
वा, स एवमुक्तो निर्ममो रागद्वेषरहितः, प्राणिहितार्थं न ला-  
भपूजाकात्यायं धर्ममाचक्षणापेति, प्राग्बन्धु कुक्ष्यावस्थायां  
मौनव्रतिक इव वाक्पस्यत उत्पन्नविद्यमानवान्याद्ग्राह्यु-  
दापाविवेकज्ञतया भाषणेनैव गुणावाते, अनुपन्नविद्यमानस्य तु  
मौनव्रतिकत्वेनति । तथा- 'यथासुरानरनित्येकमहकमन्धेऽपि-  
वस्थितः, पद्माङ्गारपद्मजवत्, तदावस्थात्तद्गुणभाषा' इति मन्वा-  
रंहाद्दोत्तरावाचकलान्वादेकान्तमेवार्थो साद्दयति-प्रक्याति  
नयति, साधयतीति यावत् । ननु चैकार्कपरिकरोपेतावस्थया-  
रस्ति विशेषः, प्रत्यंतसेवेपलस्यमानवत् । तस्यमतिः । विशेषो  
बाह्यतो, तत्त्वान्तरतोऽपि तं दशोयति-तथा प्राच्यन्, अनां लेश्या  
शुक्लध्यानाख्या यस्य स तथाचः योद्द वाऽको शरतः, तच्च प्राग्ब-  
धस्य स तथाचः-तायाह-इत्सवायशोकधर्मातिहायोपेतापि मो-  
त्सेकं यानि, नापि शरीरं संस्काराय स विदुध्याति । स हि अन्वा-  
नात्यन्तिकरागद्वेषप्रहाणादेकाक्यपि जनपरिवृतो, जनपरि-  
वृतोऽप्येकाको, न तस्य तयारवस्थाः कश्चिद्देशोऽस्ति । तथा चो-  
क्तम्- "रागद्वेषो विनिश्चित्य, किमरणं करिष्यति ? इत्यतो नि-  
र्जिनायनौ, किमरणं करिष्यति ॥" ॥१॥ इत्यतो बाह्यतः गम-  
नान्तरमेव कथयज्यादिकं प्रधानं कारणाति विद्यतम् ॥ ४ ॥

( ५ ) अगणतरागद्वेषस्य प्रभाषमाणस्यापि दोषायां  
दशोयितुमाह —

धम्मं कहेतस उ पत्थि दोसा,  
खंतस्स देतस्स जित्तिद्विपस ।  
भायाय दोसे य विवज्जसस,  
गुणे य भायाय पिसेवगस ॥ ५ ॥

तस्य भगवतोऽपगतघनव्रतिकलहस्योत्पन्नसकलपदार्थो-

विभोब्रह्मणस्य जगद्भ्युदरस्यकृत्स्नस्यैकान्तपरहितमबुक्तस्य  
 क्कार्येतिरेषस्य धर्मैकव्यतोऽपि, तुशुभस्य अपिशुभाथैत्याद-  
 नास्ति कश्चिदोषः किञ्चनस्य, इत्याह-ज्ञानसिंपन्नस्य, अनेन  
 को धनिरासमाह । तथा-ज्ञानस्योपशान्तस्य, अनेन मनस्युदा-  
 समाह । तथा-ज्ञितानि स्वविययप्रवृत्तितिवेधेनेन्द्रियाण्यु येन  
 स जितन्द्रियः, अनेन तु लोभनिरासमाच्छेदः । मायायास्तु लोभ-  
 निरासायेव निरासो द्रष्टव्यः, तन्मूलत्वात्तस्याः । भाषादोषाः-  
 अस्त्यस्त्याभ्युपकेशोऽस्तभ्यशाब्दात्कारणाद्यः; तद्विषयकस्य  
 तत्परिहर्तुः । तथा-भाषाया वे शुक्ला-हितमितदेशकालासंदि-  
 ग्धभाषणाद्यः । तद्विषयकस्य सतां भुवतोऽपि नास्ति दोषः ।  
 उच्यते हि बाहुल्येन मौनप्रवृत्तये भयः, समुत्पन्नकेवलस्य तु  
 भाषणमपि शुष्यायेति ॥ ५ ॥

किञ्चतं धर्ममसौ कथयति । इत्याह-

यद्वन्व पंच अणुवन्व य,  
 तद्वै पंचासन संचरे य ।  
 विरतिं इह सामाण्यमि पजे,  
 लवावसर्पणं समये चि भवि ॥ ६ ॥

महाति च तानि व्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि, तानि च  
 साधुनां प्रक्षापितवान् पञ्चायि । तद्वेषस्यऽणुनि लघूनि व्रतानि  
 पञ्चैव, तानि भावकानुद्दिश्य प्रक्षापितवान् । तथैव पञ्चाभवात्  
 प्राणातिपातादिकृपात् कर्मणः प्रवेशद्वारभूतान्; तत्संबन्धे च स-  
 मदशप्रकारं संयमं प्रतिपादितवान् । संबन्धतो हि विरतिमेष-  
 त्यतो विरानि च प्रतिपादितवान् । चशब्दात्कल्पभूतौ निजैरासो-  
 कौ च । इदमित्त्वं प्रवचने, सोके वा, अमणस्य प्रावः भ्रमपद-सं-  
 पूर्णः संयमः, तस्मिन् वा विधेये शुभशुणान् महाव्रताणुत्तकृपात्,  
 नपा-वन्तरगुणान्, महाव्रताणुत्तकृपात्, कृत्स्ने संयमे विधानस्ये ।  
 प्राक् ऽपि कश्चित्पाठः । प्रकाने तत्प्रतिपादितयानिति । किञ्चो-  
 ऽसौ ।, सव कर्म, तस्मात् (अवसर्पणी ति) अवसर्पणशीलोऽवस-  
 र्पणं, भ्रमवतीति भ्रमणः तपश्चरणयुक्तः, स्येतत्त्वं ब्रवीमि । स्वय-  
 मेव च भगवानप्यज्जमदाशतोपपन्न इन्द्रियमोहन्द्रियगुतो विरत-  
 आसौ ब्रह्मावसर्पी सन् स्वतोऽन्येषामपि तथान्तमुपदेशं दत्त-  
 वान्, एतेषु ब्रवीमि । यदि चाऽऽनककुमारवचनमाकषयो-  
 ऽसौ गोशासकस्तप्रतिपकञ्चतं वक्तुकाम इदमाह-इत्येतद्दृश्य-  
 माद्यं यद्वदं ब्रवीमि तच्चणुत्य त्वम, इति ॥ ६ ॥

यद्यप्रातिहातमवाह गोशासकः-

सीमोदगं सेवञ्च बीयकायं,  
 आहायकर्मं तद्द इत्यियाओ ।  
 एतंतवारिस्सिद्धं ब्रह्मं धर्मं,  
 तत्सिमण्यो णाजिसमेति पवं ॥ ७ ॥

अनेनदुष्प्रसाहेनम-परार्थं प्रवृत्तस्यावाकोद्देशितहायपरि-  
 ग्रहः, तथा शिक्वादिपरिकरा, धर्मदेशना च, न बोधायति यथा,  
 तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते भवेत्तद्व्ययमायं, तन्म बोधायति ।  
 शीतं च तद्वृद्धं च शीमोदकमप्राप्तुकोद्धकः; तत्सत्त्वेन परि-  
 भोगं करंतु, तथा-बीजकायोपनामम्, भाषकर्मणिपयं, शीघ्र-  
 सङ्घं च विद्वेषात्, अनेन च स्वपरोपकारः कृतो जयतीति ।  
 अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य एकान्तचारिण आराधोधानादि-  
 ष्वेकाकिंवाद्योद्यतस्य वपस्वित्तो नाभिसमेति-नाभिसंभष्यु-

पयाति; पापमशुभकर्मैति । इदमुक्तं जवति-एतानि शीतोदकादी-  
 नि यद्यपीत्तकर्मवन्वाय, तथापि धर्मोधारं शरीरं प्रतिपास्यत  
 एकान्तचारिणस्तपस्विभनो ब्रह्मचय न भवन्तीति ॥ ७ ॥

( ५ ) बीजाणुपयोगिनो न अन्नपच्यत्पद्माभाजः-

सीतोदगं वा तद् बीयकायं,  
 आहायकर्मं तद्द इत्यियाओ ।  
 एयाई जाणं पद्विभयाणा,  
 अगारिणो अस्समया भवति ॥ ८ ॥

एतत्परिहर्तुकाम आह-एतानि प्राणुपचरतानि अमाह्लाकोद्-  
 कपरिभोगादीनि प्रतिसेवयन्तोऽगारिणो शुद्धस्थास्ते अन्नव्यभ-  
 मयाभ्याममजिताश्चैव जानीहि । यतः-“अहिंसा सत्यमस्ते-  
 ये, अह्मरूपमवस्थता ” इत्येतत्कर्ममन्त्रस्यैव शीतोदक-  
 बीजाणुकर्मक्षीपरिभोगवतां नास्तीत्यतस्ते मामाकाराचर्यां  
 भ्रमणाः, न परमाद्योद्धानत इति ॥ ८ ॥

पुनरप्याद्रेक एवेतद्बृचपथाह-

सिया य बीमोदगइत्थियाओ,  
 पदिमवमयाणा समया भवंतु ।  
 अगारिणो वि य समया जवंतु,  
 सेवंति कंतं वि तद्वपगारं ॥ ९ ॥

स्यादेतन्नवर्द्धं यत्, यथा ते एकान्तचारिणः क्षुत्तिपासाह्निप्र-  
 धानतपश्चरणप्रातिहात्क नर्धते न तपस्विनः ।, इत्येतद्वान्-  
 कृपाऽऽनक ( बीजोद्देश ) यदि बीजाणुपयोगिना-  
 ऽपि भ्रमणा इत्येवं प्रवताऽभ्युपगम्यते, एवं तद्व्यागारिणोऽपि  
 शुद्धाः भ्रमणा भवन्तु, तथापि वैशिक्षकाव्यायामांसावता-  
 माप निष्क्रान्ततयैकाकिंवाहित्वं, क्षुत्तिपासाह्निपदनं च  
 संभाव्यते । अत आह-(सेवंति क) तुरवधारणं, सेवस्थं, ते-  
 ऽपि शुद्धस्थाः । तथाप्रकारमेकाकिंवाहाहिकमिति ॥ ९ ॥

पुनरप्याद्रेको बीजोद्देशोभिजिनो शोषानिजिससयाऽऽह-

जे यावि बीमोदगजोति निक्खु,  
 भिक्वं वि हिंदोति य जीवियर्द्ध ।  
 ते णातिसंजोगमनिष्पदाय,  
 कायोवगाऽणंतकरा भवंति ॥ १० ॥

वे चापि निक्खुः प्रव्रजिताः, बीजोद्देशोभिजिनः सन्तो कृत्यतो अ-  
 चारिणाऽपि भिक्वाऽऽनक्ति जिवितार्थिनः, ते तथातूताः, ज्ञानसं-  
 योगं स्वजनसंबन्धं, विप्रहाय त्यक्त्वा कायाकांयेषु शोपगच्छ-  
 न्तीति कायोपगाः, तदुपमर्हकारम्प्रवृत्तत्वात्, संसारस्यात्मना-  
 कर भवन्तीति । इदमुक्तं भवति-कथंशं क्षीपरिभोग एव तैः परि-  
 त्यक्तोऽसावपि कृत्यतः । शोषण तु बीजोद्देशोपयोगम शुद्धस्य  
 कृत्य एव ते । यत् जिज्ञाऽऽनक्ति कुमुपचरते तेषां, तद् शुद्ध-  
 स्थानामपि केषांचित्संभाव्यते, नैतावता अमहज्जाइ इति ॥ १० ॥  
 अणुनिवृत्तकपयं गोशासकोऽपरमुदरं दातुमवसयोऽवतीति-  
 कास्तहायत्वं विद्याय सोद्धारजमसारं बकुकाय आह-

इमं वयं तुं तुम पाउकुच्चं,  
 पाचारणो गरिहसि सव्व एव ।

पाषाण्यो बुद्धो किद्वयंता,

सयं सयं दिदि किंरति पाठ ॥ ११ ॥

इमां पृथोचं, वाचय । तुशब्दे विशेषणार्थः, त्वं प्रादुक्पूर्व-  
प्रकाशयन्, सर्वानपि ग्राह्यकान्, गृह्णति जुगुप्सते, यस्मात्सर्वेऽपि  
पि तीर्थिका बीजोद्भवकादिजिज्ञोऽपि संसारादिषु सये प्रवर्तन्ते, ते तु  
भूता भाग्युपगम्यन्ते । ते तु प्राधातुकाः पृथक् स्व र्वाणां  
स्वीयां द्विष्टिं प्रत्येकं स्वर्वाणं क्रीतेयन्ते, प्रादुक्पूर्ववन्ति प्रकाश-  
यन्ति । यदि वा श्लोकपञ्चाङ्गमाहङ्कुरमार आह-सर्वे प्राधातुका य-  
न्ते स्वदर्शनं प्रादुक्पूर्ववन्ति, तन्नामाहयाच्च यथमपि स्वद-  
र्शनं पुनः कुर्मः । तद्यथा-अप्रादुक्त्वे बीजोद्भवकादिपरिजोगि-  
तमित्येव एव केवलं, न संसारादौ चोद्भवतीत्यस्मद्दर्शनं दर्शनम् ।  
यत्वं स्वभाविते काऽत्र परकिंदा? !, को भाऽभ्यस्तोक्त्यः? इति ॥११॥

किञ्च—

ते अन्नपन्नस्त विगर्हमाणानां,

अकस्मिन् उ सतमा माहणा य ।

सयो य अत्थो अस्ततो य एत्थी,

गर्हणम दिदि ण गर्हणम किञ्च ॥ १२ ॥

ते प्राधातुकाः, अ-यो-न्य-ए-य-परस्परं तु, स्वदर्शनप्रतिष्ठाऽप्राशया पर-  
दर्शनं गर्हमाणानां स्वदर्शनगुणानाच्च कृते । तुदाभ्यापरस्परतो व्या-  
हृतमनुष्ठानं चानुतिष्ठति । ते च अमणानि निम्नधाद्योः, प्राहणा द्वि-  
ज्ञातयाः, सर्वेऽप्येते स्वकं पक्वं समर्थयन्ति, परकीयं च दूषयन्ति ।  
तदेव पञ्चाङ्गेन दर्शयति- ( सतो षि ) स्वत इति स्वकीयं पक्वं  
स्वाभ्युपगमप्रतिष्ठं पुण्यं, तत्कार्यं च स्वगोपयगौदिकमास्ति । अस्व-  
तः पराभ्युपगममाह नास्ति पुण्यदिक्कमित्येवं सर्वेऽपि तीर्थिकाः  
परस्परव्याघातेन प्रवृत्ताः; अतो यथमपि यथावच्छिन्नतत्प्रकृ-  
ष्यतो मुक्तिविकलत्वादेकान्तदर्शि गार्होमे जुगुप्सामः, नहस्रावे-  
कान्तो यथावच्छिन्नतत्त्वाविभाषको भवतीत्येवं व्ययदिष्टेन त-  
त्स्वरूपकं यथमाचक्षाणा न किञ्चिद्गर्हामः, काणकुण्डोद्भवहानादि-  
प्रकारेण केवलं स्वपरस्वरूपाविभाषनं कुर्मः; न च अस्तुस्वरूपा-  
विभाषने परापवादः । तथा चोक्तम्—

“ नैवेतिरोह्य विषकण्टककोटसर्पाञ्ज,

सम्यक् पथा प्रज्जत ताण्णरिह्वं सर्वान् ।

कुहानकुभित्तकुमारंगकुहदिशोपायं,

सम्यगिबचारयति कोऽत्र परापवादः ? ” ॥ ११ ॥ इत्यादि ।

बहि वैकान्तवादिनामेवास्त्येव नाक-येव वाऽभ्युपगमवतामयं पर-  
स्परगर्हाण्यो दोषो नास्माकमेकान्तवादिनां, सर्वेऽप्यापि  
सन्तः कथञ्चिदभ्युपगमात् । एतदेव श्लोकपञ्चाङ्गेन दर्श-  
यति—(स्वत इति) स्वद्रव्येषुत्रकालभावैरिति । तथा—(परत  
इति) परद्रव्यादिभिर्नास्तोत्येवं पराभ्युपगमं दूषयन्तो गार्हा-  
भ्योऽप्यनैकान्तवादिनः । तत्स्वरूपनिर्णयणतस्तु रागद्वेषवि-  
रहाच्च किञ्चिद्गर्हाम इति सिद्धयम् ॥१२॥

एतदेव स्पष्टतरमाह—

ए किञ्चि रुवेणऽनिधारयायो,

सादिद्विमगं तु करेमि पावं ।

मगं इमं किद्विष्टं आरिण्दि,

अणुणरे मणुरितेहिं अञ्ज ॥१३॥

न कञ्चन अमयं, ब्राह्मणं वा; स्वरूपेण ह्युपल्लिताङ्गावयवो-

दूषद्वेनेन आत्मा तद्विज्ञप्रहणोद्भवद्वेनेन वाऽभिधारयायो गर्ह-  
णात्सोद्भवद्वेनामः, केवलं स्वदर्शिमार्गं तदभ्युपगतं दर्शनं  
प्रादुक्पूर्वः प्रकाशयामः । तद्यथा—

“ ब्रह्मा लूणशिरा दिशिर्दृष्टिं सरुण व्यालुप्तशिखो हरः ;  
स्योऽप्युज्ज्वलितोऽनलोऽप्यज्ज्वलितुक्तामः कलङ्काङ्कितः ।  
स्वनांघोऽपि विस्संशुलः क्वलु धपुःस्वरुधैरपरश्चैः क्लतः ;  
सन्मार्गस्वर्गलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ” ॥ ११ ॥

इत्यादि । एतच्च तैरेव स्वगमने पठ्यते, चयं तु भोतातः केष-  
लमिति । आर्देककुमार एष परपत्वं दूषयित्वा स्वषकसाध-  
नार्थं श्लोकपञ्चाङ्गेनाह—( मगो षि ) अयं मार्गः पन्थाः सम्य-  
दर्शनादिकः कीर्तितो व्यावर्णितः । केऽः, आर्यैः, सर्वैरेव स्व्या-  
द्यधर्मदूरयतिभिः । किभूतो धर्मः? नासाहुत्तरः प्रधानो वि-  
द्वान इत्यनुत्तरः, पूर्वापरव्याहृतत्वाद्, यथावच्छिन्नतत्त्वादिप-  
दायंस्वरूपनिर्णयणात्च । किभूतैरयिः? सन्तश्च ते पुरुषाश्च  
सन्तुकास्तेऽस्तुशिशवदतिशयोपैतैराविभूतसमस्तपदार्थाधि-  
भाषकदिव्यवृत्तयः किभूतो मोगः?, अञ्जु व्यक्तः-निर्दिष्टत्वा-  
त्प्रकटः, अणुर्वा; वक्त्रकान्तपरित्यागाद्कुटिल इति ॥१३॥

पुनरपि स्वस्वधर्मस्वरूपनिरूपणात्पात्वाऽह—

उहं अह्वेवं तिरियं दिसासु,

तसा य जं धान्न जं य पाणा ।

ज्यादिसिंकाजितुगुंमुंभाणा,

णो गरहती बुसिमं किञ्चि लोण ॥ १४ ॥

उर्ध्वमधस्तिर्येत्वेवं सर्वोस्वपि दिक्षु प्रकारापेक्षया, भावदि-  
गोपसया वा, तासु ये त्रसाः, ये च श्यावराः प्राणिनः । चशम्यै  
स्वगतानेकमदसंस्पर्शो । भूने सद्गते तथ्यं, तन्नाशिशुद्धया  
तथ्यनिर्णयेन प्राणानिपातादिकं पातकं जुगुप्समानो गर्हमाणः ;  
यदि वा भूतामिशुद्धया सर्वसंशयमनुष्ठानं जुगुप्समानो नैव पर-  
लोका कञ्चन गर्हति निन्दति (सुसिमं ति) सयमघर्णितः । तदेव  
रागद्वेषविषयुक्तस्वधनुस्वरूपाविभाषने, न कर्तव्यं इति । अथ  
तन्नापि गर्हा भवति, तर्हि न ह्यण्योऽर्थः; शीतमनुक्च-विषं मारुण  
त्मकमित्येवमादि किञ्चिदस्तुस्वरूपमाविभोवनीयमिति ॥१४॥  
स एवं गोत्रालकमिजानुत्तमारी शैराशिको निराकृतोऽपि  
पुनरन्येन प्रकारेणऽह—

अगर्तगारे आरामगारे,

ममणे उ जंते ण उवेति वासं ।

द्वत्वा तु संते बहो मणुस्सा,

उणा-ऽतिरिषा य लत्वा-ऽत्ता य ॥ १५ ॥

स विप्रतिपक्षः सत्कार्देकमेवाह—योऽसौ अमत्सर्ववन्धी तीर्थ-  
करः स रागद्वेषभययुक्तः । तथादि-अलावाम्नुकानां कर्पटि-  
कार्दीनामागारमागन्तगारं, तथाऽऽरामेऽगारमागारमाह-त-  
न्नासौ अमणो भवर्थाधिकरः । तुशब्द एवकारार्थः । भीत एवासौ  
तपोध्वंसनमयात्तन्नाग-त्तागारी न वासमुपैत, न तन्नासन्नन्वा-  
नहायादिकाः क्रियाः कुर्वते । किं तत्र त्रयकारणम्?, इति चेत्-  
दाह—दक्षा निपुणाः प्रभूतशास्त्रविशारदाः । दृश्यां यथाहा-  
यै । यस्माद्दहवः सन्ति मनुष्याः, तस्माद्दसौ तर्ज्जितो न वासं त-  
न समुपैत न तत्र समातिष्ठत । किञ्चुताः, म्यूनाः स्वतोऽवभा

हीनाः, ज्ञान्याद्यनिरिका वा, ताज्यां पराजितस्य महोभिक्षयाघ्नश्च इति । तानव विशिभ्ये-ल्लपन्तीति लपा वाबाह्नाः, धोपितान-कतकीवचिन्नदण्डकाः । तथा न लपा मौलम्रतिका निष्ठितयोगाः, गुटिकादियुका वा, यद्वाहादभिधेयविषया योग्य न प्रवचते । त-तस्तत्रयन्मासौ पुष्पार्थीरुद्रादगतागारादौ नैव प्रजतीति ॥१५॥

पुनरपि गोशालक यवाऽऽह-

मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमता ,  
सुषोहोँ अत्थोहोँ य णिच्छयन्ना ।  
पुच्छिसुमाणे अणगार अण्ण,  
इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १६ ॥

मेघा विघते येयांते मेघाविनो प्रहृष्यधारस्यसमर्थाः, तथाऽऽचा-  
र्यादेः समीपे शिक्षां प्राहिताः शिक्षिताः, तथाप्यसिक्खादिबलतुवि-  
बलुत्तुपुनः। बुद्धिमन्तः, तथा-सुखेऽपि सुखविषयऽप्ये विनिश्चयज्ञाः,  
यथावास्थतसुवार्थेवादिन इत्यर्थः । ते खेचभूताः सुवार्थेविषयं मां  
प्रश्नमाचरेतुः, अन्वयेऽगारा एकेः कंचन, इत्येवमसौ शङ्कमानस्तेषां  
विषयश्च तत्र तन्मध्ये उपैत्युपगच्छतीति । ततश्च न अन्नुमार्ग  
इति, अययुक्तत्वात्तस्य । तथा-संलक्ष्यविषयं गत्या न कदाचि-  
रुर्मदेशनां च करोति, आर्ये देशेऽपि न सर्वत्र । अपि तु कुत्र-  
चिद्विद्वत्तयो विषयमर्हतिवाक्त्रागद्वेषवत्येसाविति ॥ १६ ॥

एतद् गोशालकमनं परिदत्तुकाम आर्द्रक आह-

एोऽकामकिच्चा ण य बालकिच्चा ,  
रायाभिन्नोगेण कुओ जएणं ? ।  
विवागरेज्जा पसिणं न वा वि,  
सकापिकिच्चं णिह्द आरियाणं ॥ १७ ॥

स हि अगवाभ्रेङ्गापुत्रैकारितया नाकामहयो भवति, कमनं  
काम इच्छा; न कामोऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं यस्यासावकामहृ-  
त्यः, स एवेततो न भवति, अग्निच्छाकारो न भवतीत्यर्थः । यो हृ-  
न्मेषापुत्रैकारितया बतते, सोऽग्निहृषयि स्वपरात्मनो निरर्थक-  
मपि कृत्यं कुर्वीत । अगवास्तु-सर्वेऽहः सर्वेदशीं परहितैरकतः कथं  
स्वपरात्मनोऽनिरूपकारकमयं कुर्यात् ? । तथा च-बालस्येव कृत्यं  
यस्य स बालहृद्यः, न चासौ बालवदनांशोविक्रमो, न परानु-  
रोधाप्रापि गौरवाकर्मदेशनादिकं विधत्ते । अपि तु यदि कस्यचि-  
द्भद्रसत्सत्स्योपकाराय तद्भाषितं भवति, ततः प्रवृत्तिर्भवति, नात्य-  
या । न राजाभियोगेमासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चिप्रवर्तते, ततः  
कुनस्तस्य नयेन प्रवृत्तिः स्यादित्येवं व्यवहसते कर्माचित्कवित्संश-  
यकृते प्रश्नं व्याशुणीयाद्, यदि तस्योपकारो नवत्युपकारमन्तरेण  
न च नैव व्याशुणीयाद्, यदि वाऽनुत्तरसुराणां मनःपर्यायज्ञानिनां  
च कल्पमनसैव तस्मिन्नेवसंभावाद्यतो न व्याशुणीयादित्युच्यते ।  
यद्युच्यते भवता-यदि धीतराणोऽसौ किमिति धर्मैकां क-  
रानाति चेदित्याशङ्क्याह-स्यकामहृत्पेन स्वेच्छाचारितयाऽसा-  
धपि तीर्थेच्छाकामकर्मणः कृपणाय न यथाकथञ्चिदतोऽसावग्नामाः,  
इहास्मिंसंसारं आर्यैकैत्रे चोपकारयोभ्ये आर्याणां हि सर्वेदेष-  
धर्मदूरबीचनानं तदुपकाराय धर्मदेशानां व्याशुणीयादस्त्विति ।

किष्काऽन्यत्-

गंता च तस्या अदुवा अगंता ,  
विवागरेज्जा समियाऽऽसुपणं ।  
११६

अरारिया दंसणओ परिचा,  
इति संकमाणा ण उवेति तत्थ ॥ १८ ॥

स हि जगत्वा परहितैरकरोतो गत्याऽपि विनयासकम्, अथवा-  
ऽप्यगत्वा यथा भव्यसत्सोपकारो नवति तथा भगवन्तोऽर्हन्तो  
धर्मदेशानां विद्वत्सि । उपकारो इति अन्वयःपि कथयन्ति, अस्मि  
तु स्थिता अपि न कथयन्ति । अतो न तथां रागद्वेषसंज्ञय इति ।  
केवलमाद्युग्रः सर्वैकः समतया समदृष्टितया चकचसिद्धमका-  
दित्तु पृष्टो वा धर्मं व्याशुणीयात्; “ जहा पुष्पस्स कथं च तदा  
तुच्छस्स कत्थं” इति वचनात् । इत्यतो न रागद्वेषसंज्ञावस्तस्ये-  
ति । यदुनरनार्थदेशमसौ न प्रजति तत्रेदमाह-अनायाः क्वत्रभा-  
षाकर्मनिर्बद्धेच्छताः, दर्शनतोऽपि परि समन्तादिता गताः, प्रश्ना  
इति यावत् । नद्वयमसौ न गवागमित्येतत् तेषु सत्यर्थानामत्रनपि  
कथञ्चिन्न जवति इत्याशङ्कामनस्तत्र न प्रजतीति । यदि वा विप-  
रीतवशंनिनां भवत्यनयोः शक्यवनाद्युः, ते हि वृतेमानसु-  
कमेवैकमङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते न पारलौकिकमङ्गीकुर्वन्त्यतः स-  
कमेपरास्सुषुषु तेषु भगवाण्ण याति, न पुनस्तत्रैवाद्युद्भूति । य-  
दप्युच्यते त्वया-यथाऽनेकशास्त्रविशारदशुटिकासिद्धविद्यासि-  
काद्वितीर्थिकपराभवमयं न तत्समाजे गच्छतीति । एतदपि बाह-  
प्रलपिनप्रायम् । यतः सर्वेऽहस्य जगवतः समस्तैरपि प्रावाङ्क-  
सुंक्षमप्यवशोकयितुं न शक्यते, यादस्तु दुरोत्सारिणं एषेत्यतः  
कुनस्तस्य पराजयः ? भगवोस्तु केवलज्ञानेन येष्वेव स्वपरोपका-  
रं पश्यति तत्रैव अन्वयऽपि धर्मदेशानां विषय इति ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह-

पणं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगेरि संगं ।  
तओवेमे समणे नायपुत्ते, इवेव न होति मत्तां वियक्कां ॥ १९ ॥

यथा वणिक् कश्चिद्दश्यायां पापं व्यवहारयोऽस्यं जातं कर्प-  
रागदकस्मृतिअम्भरादिकं देशान्तरं गत्वा विक्रीणानि, तथा  
आयस्य लाजस्य हेतोः कारत्यामहाजतसङ्गं विधत्ते, तदुपमोऽन्य-  
मपि भवत्यर्थेकरः अमणो ज्ञातपुत्र इत्येवं मे प्रम मतिर्भवति,  
वितर्को मीमांसा वेति ॥ १९ ॥

पयमुक्तो गोशालकेनार्द्रक आह-

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं,  
विच्चाऽमदं ताई स आह एव ।  
पन्नावया बंनवंति ति बुत्ता,  
तस्मोदयट्ठीं । समणे ति बेमि ॥ २० ॥

योऽयं नवता दृष्टान्तः प्रदर्शितः, स किं सर्वेसाधर्म्येण, तत दे-  
शतः ?; यदि देशतन्तो न नः ज्ञातिर्भावहनि । यतो वणिक्त्वं  
यथैवोपचवं पश्यति । तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चि-  
दित्यतावता साधर्म्येभ्यस्येव । अथ सर्वेसाधर्म्येणिति । तत्र  
युज्यते । यतो भगवाद् विदित्वेवेततया सावद्यानुष्ठानरहितो नवं  
प्रत्यग्रं कर्म न कुर्यात् । तथा-विद्युनवत्यपनयति पुरातनं यत्र-  
चोपप्रादिकर्म भवत् । तथा-त्यक्त्वा अस्मति विमति, आर्यां जग-  
वान् सर्वेस्य परित्राणशीलः, विमतिपरित्यागेन चैवंचूत एव न-  
वतीति भावः । तावी वा मोक्षं प्रति । अन्व-अप-अप-अप-अप-तप-  
णय गतावित्यस्य रूपम् । स एव भगवानेकाऽऽह-यथा विमति-  
परित्यागेन चैवंभूत एव भवतीत्येतावता च सर्वेनेण ब्रह्मणो  
मोक्षस्य, अतं ब्रह्मवनामित्येतदुक्तम् । तस्मिंश्चोके, तदर्थं वाऽनु-

अहङ्कमार

ज्ञाने कियमाणे तस्याद्याधी क्षणम् इति ब्रवीत्यहमिति ॥२॥  
 नचैवं नृता बणिज इत्येतदार्कङ्कमारो दशैवितुमाह—  
 समारंजंते बणिजा च्युपगमं,  
 परिग्रहं चैव ममायमाणं ।  
 ते एषातिसंजोगमाविष्यन्त,  
 आयस्ये ह्येवं परंरिति संगं ॥ १? ॥

ते हि बणिजः, चतुर्दशमकारमपि चतुस्रमं जन्तुसमूहं, समार-  
 मन्ते तदुपमार्कः कियाः प्रवतेयन्ति, कचविक्रयार्थं शकटया-  
 नवाहूनोद्गमएदलिकादिभिरनुष्ठानैरिति । तथा-परिग्रहं चिपद्-  
 चतुस्रपदधनधान्यादिकं मन्त्राकुर्वन्ति अमेदमित्येवं व्यवस्था-  
 पयन्ति । ते हि बणिजो ज्ञानिजिः स्वजनैः सहयः संयोगस्त्वम-  
 विप्रहायापरिग्रहः, आयस्ये लाभस्य हेतोर्निभिसादृश्येण सार्कं  
 सङ्घं संवर्धं प्रकुर्वन्ति । भगवान्स्तु बहूनां बरहाणोऽपरिग्रहस्य-  
 कस्तज्जनपङ्कः सर्वप्रभ्रातिषक्तो धर्मार्थमन्येषथय गवाऽपि धर्म-  
 देशानां विधेयं, अतो भगवतो बणिगिभिः सार्कं न सर्वसाध-  
 र्थ्यमस्तीति ॥२॥

पुनरपि बणिजां शंषयुक्तावयवशाह-

विशेषिणो मेऽस्यसेपगाढा,  
 ते ज्ञोपपट्टा बणिजा वयंति ।  
 बयं तु कामेसु अञ्जावबन्धा,  
 अणारिया पेमरसेसु गिक्के ॥ २१ ॥

विशं प्रपद्ये तदन्वेषं शोऽं येनां ते विश्लेषिणः । तथा-मैथुने श्लि-  
 संपकं, सम्यगदा अष्टुपपक्षाः । तथा-ने ते योतनार्थमाहारार्थं, व-  
 णिज इतश्चेतश्च मज्जन्ति, यदन्ति वा । तांस्तु बणिजां चयमेवं सम-  
 बधेते कामेषुच्युपपक्षा युक्ताः, अनायकमेकारित्वादानार्थं रसेषु  
 च सातागौरवादिषु घृष्टा मुञ्चन्तः, नन्येवंभूता भगवन्तोऽहे-  
 न्यः, कथं तेषां तेः सह साधर्म्यमिति ?, इत्येत एव निरस्तेषां  
 कथेति ॥ २२ ॥

किञ्चान्यत्-

आरंभं चैव परिग्रहं च,  
 अविउ. स्नया णिस्सिय आयदंदा ।  
 तेसिं च से उदए च वपास ।  
 चउरंतऽणताय लुहाय छेह ॥१३॥

आरंभं साधयानुष्ठानं च, तथा-परिग्रहं चाऽऽयुक्त्यापरिहस्य,  
 तस्मिन्प्रकारेण कचविक्रयपचनगवाचनादिकं, तथा-परिग्रहे च  
 चत्तुस्रपदधिरत्यसुवर्गोद्गमचतुस्रपदादिकं, निश्चयेन अन्ता बद्धा  
 निमित्ताः, बणिजः अमन्ति, तथाऽऽमैव धर्माः, दृश्यन्तीति  
 बाकोः, येषां ते जयत्याम्बद्वन्दाः, असहायाप्रवृत्तेरिति । ज्ञाये-  
 र्पि चैवां बणिजां परिग्रहार्कजननां स उदयां साभो यदर्थं ते  
 प्रवृत्ताः, यं च त्वं लामं यदसि, स तेषां चतुस्त्वन्धनुर्गतिः। यः  
 संसाराऽमन्तस्त्वस्मै तदर्थं नवतीति । न च दासावेकाम्नेन तत्र-  
 ह्यस्त्वापि नवतीति ॥ २३ ॥

पतेवश् दशैवितुमाह—

पोगंत एऽवसंतिप उदएवं, वयंति ते दो वि गुणोदयस्मि ।  
 से उदए मादि म ५ न पत, तदुदवं मादयः ताऽ णार्ह ॥२४॥

एकाम्नेन नवतीत्यैकान्तिकः, तथा ननुत्ताभार्थं प्रवृत्तस्य विपथे-  
 यस्वापि दर्शनात् । तथा-नात्यात्यन्तिकः सर्वैकालजायं, तत्रयद-  
 शानात्, स तेषामुदयां लामो नैकान्तिको नात्यन्तिकश्चेत्येवं तद्विदो  
 वर्दन्ति । तौ च ह्यपि ज्ञावी विगतगुणोद्गमो भवतः । एतदुक्तं  
 भवति-किं तेनोदयेन ज्ञानरूपेण यो नैकान्तिकः, नात्यन्तिकश्च,  
 पश्चात्तथापि । यच्च भगवतः ( से ) तस्य द्वियज्ञानप्राप्तिल-  
 क्कण उदयां साभो यो वा धर्मदेशनाऽयामविज्ञेरासङ्कणः, स च  
 सादिरन्तश्च । तमेवंभूतमुदयां प्रातो भगवानन्येषामपि तथा-  
 नुत्तमेवोदयं साधयति कथयति, श्लाघते वा । किभूतो भगवा-  
 न्?, तयो । अय-वय-मय-पथ-व्यव-तय-णय-गताबिन्त्यस्य  
 वारकधातोर्लिनिप्रथये रूपय, मोक्तं प्रति गमनशील इत्यर्थः ।  
 प्रावी वा, प्रासन्नजन्यानां प्राणकरणान् । तथा-ज्ञाती, ज्ञानां कश्चि-  
 वा, ज्ञान वा चस्तुज्ञाने विद्यते यस्य स ज्ञाती; विदितसमस्तयेष  
 इत्यर्थः । तदेवंभूतं भगवता तेषां बणिजां निर्विवेकिनां कथं  
 सर्वैसाधर्म्यमिति ? ॥ २४ ॥

(६) अंतं कृतदेवसमवसरणपचायश्रीदेवचन्द्रकसिंहासनापु-  
 वनेगं कुर्वन्त्याध्याकर्मज्ञवसन्तिनेषकसायुधकथं तदनुम-  
 तिहृजेन कर्मणाऽतो न सिध्यते?, इत्येतदोशाकर्मतमाहृषाऽऽह-

अद्विसयं सव्यपयाणुकपी,  
 धम्मे त्रिपे कम्मविवेगेदुं ।  
 तमायदेदंहें ममायरेता,  
 अत्रोद्दिह-ते पदिरुसमेयं ॥ २५ ॥

अतौ भगवान् समवसरणापुत्रभोगं कुर्वन्त्याऽऽमकः सन्पु-  
 भोगं करोति । एतदुक्तं भवति-नहि तत्र भगवतां मनागव्या-  
 शंसा, प्रतिबन्धो वा विद्यते, समनुममाणुमुकालैकैकाञ्चनतया  
 तदुपजेगं प्रति प्रवृत्तेशेवानामपि प्रवचनोद्दिभाविषयिणां कथं  
 नु नाम ज्ञ्यानां धर्माभिमुखं प्रवृत्तिं यथा स्वार्थान्येवमर्थमा-  
 लाभाभ्यं च प्रवर्तनात्, अतो जगवामहिसकः । तथा-सर्वेषां  
 प्रजायन् इति प्रजा जनयः, तदनुकम्पी च, तान्संसारं पर्यट-  
 तोऽनुकम्पयेते तच्छुंलश्च । तमेवंकथं धर्मपरमार्थेकूपे इयव-  
 स्यितं कर्मविवेकहेतुभूतं जर्षात्रिया आत्मदपरैः समाचरन्त  
 आत्मकल्पं कुर्वन्ति, यणिगादिभिस्तरदारणैः । एनभाषोवर्तज्ञान-  
 स्य प्रतिकथं वर्तेते । एकं तावद्विद्वज्जनां यस्त्वयः कुमारोप्रवर्तनम् ।  
 द्वितीयं चैतत्प्रतिकथमज्ञाने यद्भवनामपि जगद्व्यानां सर्वोत्ति-  
 श्यनिधानतृतानामितैः समत्यापाद्वर्तितैः ॥ २६ ॥

साभ्रतमारुककुमारमपहस्तिनगोशालकं ततोभगवदजिमुक्तं  
 गच्छन्ते इह्वाऽयानराते प्राःक्यपुत्रीया निज्जव इदमुच्युर्देनद्विज-  
 न्द्वान्तद्वेषुपेन बाह्यननुष्ठानं सुविनं, तच्छोऽनने कृते जवताः यतोः  
 प्रतिकथमुप्रायं बाह्यननुष्ठानम्, आन्तरमेव त्वनुष्ठानं ससामोऽन्योः  
 प्रधानाङ्गम्, अस्मत्सिक्तान्ते नैतदेव व्यावर्तते । इत्येतदार्कङ्क-  
 मार । जो राजपुत्र । त्यमवहितः श्रुणु, श्रुत्या वाच्यकरयति भणि-  
 त्या ते निज्जुका आन्तरानुष्ठानसमर्थेकरामोयसिक्तान्ताऽऽविर्जा-  
 यनायदमाहः-

पिक्वामपिंमिावि विष्कसुले,  
 केरिं पएज्जा पुरिने रेमे सि ।  
 अन्नायं वा वि कुमारए सि,  
 स त्तिपती पाणिविहेण अम्हं ॥ २६ ॥

पिष्याकः कालः, तस्य पिबिद्वाज्ञिसकं, तद्बन्धेनमपि सत् कस्मिं-  
 क्षित्संज्ञमे सूक्ष्मादिषिष्ये केनविचारात्ता प्रावरणं क्लोपरि क्लितं,  
 तत्र सूक्ष्मेनात्वेष्टं प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति त्वा, अन्नपिष्टया सह  
 गृहीतव, ततोऽस्ती भवेच्छं वक्ष्यतेतयां तां क्लपिषयीं पुरुषबु-  
 द्धा श्लेष्मोतां पाषकेऽपचत् । तथा-अस्मात्पुत्रं तुम्भकं कुमारोऽ-  
 धमिति मन्वाऽप्रावेच पपाच, स वैचं पि सत्स्य बुद्ध्याथाविष-  
 यजनितेन पातकेन युज्यते, अस्मिन्सिद्धान्ते विचमूलस्यत्वानुभा-  
 युजनस्यत्व, इत्येवं तावद्कुशलविश्रामायात्कृत्वैवपि प्राणा-  
 तिवानपतघातफलेन युज्यते ॥ २६ ॥

अनुमेघ इच्छान्तं वैपरित्येनाऽऽह-

अह्ना वि विच्छूण मिलवतु सुमे,  
 पिन्नागबुद्धीर्न नरं पज्ञा ।  
 कुमारं वा वि अलाबुयं नि ,  
 न लिप्सर् पाणिवरेण अम् ॥१७७॥

अथवाऽपि सत्यपुरुषं क्लबुद्ध्या कश्चित्मलेच्छः श्लेष्मोतमग्नौ  
 पचत्, तथा-कुमारकं धानं, तुम्भकबुद्ध्याऽप्रावेच पचत् । निवम-  
 बासी प्राणवधजनितेन पातकेन लिप्यतेऽस्माकमिति ॥ २७ ॥  
 किञ्चाऽभ्यत-

पुरिमं च विच्छूण कुमारं वा,  
 सूक्ष्मि केर्दे पज्ञायतेप ।

पिन्नायपिर्की सतीभारदेष्टा,  
 बुद्ध्या तं कपति पारणाप ॥१७८॥

पुरुषं वा, कुमारं वा, विद्धा श्लेष् कश्चित्पेज्जानतजम्पन्नाका-  
 रण क्लापिष्टोपमिति मन्वा सती शोभनां तदेतद्बुद्धानामपि  
 पारणाप भोजनाय कल्पते योग्यं भवति ; किमुनापरेषाम् ? ।  
 एवं सर्वोत्सवस्वास्वित्तिन्तं मन्वाऽसंस्कलितं कर्मन्वयं नाग-  
 कन्दुरसस्तिऽदान्ते । तदुक्तम् - 'अविज्ञानोपचितं विपरिज्ञानोप-  
 चिनमीयोपपिच्छं स्वप्नान्तिकं जेति कर्मोपचयं न याति' ॥२८॥

पुररपि शाक्य एव दानफलमधिकृत्याऽह-

सिष्ठापगायां तु दुवे सहस्ते,  
 जे जोयप गितिए भिक्खुयाणं ।  
 ते पुअत्तं सुमहं जिणिया ,  
 जवंति आरोप्य महंसत्ता ॥१७९॥

स्मातका बोधिसत्वाः । तुशब्दात्पञ्चशिखापदिकादिपरिग्रहः।  
 तेषां भिक्षुकाणः सहस्राह्वयं, ये निजे शाक्यपुत्रोये धर्मं व्यवस्थिताः  
 केचिदुपासकाः पचनपाचनापि कृत्वा भोजयेयुः समासमुच्-  
 वृत्तिमेनेधेन भोजनेन, ते पुरुषा महासत्वाः अजालाः पुरय-  
 स्कन्धं महान्तं समावर्ज्यं, तेन च पुरयस्कन्धेनारोप्याख्या देवा  
 भवन्त्याकाशोपगाः, सर्वोत्समां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥१९६॥

( ७ ) तदेवं बुद्धेन दानमूलः, शीलमूलश्च धर्मः प्रवेक्षितः, त-  
 देज्ञागच्छ, बोधसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्वेत्येवं भिक्षुकैरभिहितः  
 सत्पार्दकोऽमाकुलया दृष्टया तान्बोधोवाचोर्दे वक्ष्यमाण-  
 मित्वाह-

अजोगरूवं इह संजयार्ण,  
 पावं तु पाशाण पसञ्ज कानं ।  
 आरोहिप दोहए वि तं अमाहु,

वयति जे पावि पडिस्सुपंति ॥ ३० ॥

इहासिम्भवद्दीये शाक्यमतने, संयतानां भिक्षुणां, यदुक्तं प्राक्,  
 तदत्यन्तेनायोयत्त्वपचमचदमानकम् । तथादि-अर्हिसार्यमथितस्य  
 त्रियुगितुस्यत्व पञ्चसमितिसमितस्य सतः प्रव्रजितस्य सम्भग-  
 नानपूर्विकां किंयां कुर्वतो भावद्युतिः फलवती भवति, तद्विषय-  
 स्तमतेत्त्वहानाबुनस्य महाभोहाकुलीकृतातरात्मतया अष्टु-  
 कयोर्विक्रमजानतः कुतसत्या भावद्युतिः । अत्यन्तसमाप्तमने-  
 तद् बुद्धमतानुसारिणाव, यत्कलबुद्ध्या पुरुषस्य श्लेष्मोतनप-  
 चनादिकम् । तथा बुद्धस्येवाअबुद्ध्या पिशितमभ्यासानुमत्यादिक-  
 मिति । एतदेवं श्योयानि-प्राणानामिन्द्रियाणामपगमेन तुशब्ध-  
 ल्यैवकारार्थत्वात् पापमेव कृत्वा भावसातीवार्थविद्युद्वास्तद्-  
 भावं व्यावर्णयति । एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णनमभोक्ष्ये अर्था-  
 धिन्नाभायै तयोर्द्वयोरेपि संपद्यते, अतोऽसाचनत् । कायोर्द्वयोः,  
 इत्याह-ये वदन्ति विष्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि पातकाज्ञावं, ये  
 च तेन्यः शृष्टवन्त्येतयोर्द्वयोरेपि भावद्युतिः । इयपि च-  
 नाज्ञानावृतमूढजनजावद्युक्ता युञ्जि भवति । र्वादि च स्वात, संसा-  
 रमोचकाद्वानामपि तर्हि कर्मविभोक्तः स्यात् । तथा-अभद्युष्टिमेव  
 केवज्ञानमुपगच्छन्तां भवतां शिरस्तुपदमुपनयिरुपातादिकं,  
 कैत्यकर्मादिकं- वानुष्ठानमनयेव कर्मापद्यते, तस्माद्वैश्ववधया जा-  
 वद्युद्ध्या कुत्किरुपजायन इति स्थितम् ॥३०॥

परपक्कं वृषविद्याऽऽद्रेकः क्लपजाऽचिन्नेवनायाऽह-

उहं अहेयं तिरियं दिमासु,  
 विन्नाय द्विगं तसयावराणं ।  
 चुयाजिस्काइ तुगच्छमाणा,  
 वदं करेजाव कुभो विहऽरियि ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वमधश्चिन्त्यंशु या दिशः प्रहापनादिकास्तासु सर्वास्त्वपि  
 दिक्षु, वसतां, स्थावराणां च जन्तूनां यक्षसंस्थावरत्नेन जीव-  
 सिद्धं चक्षनस्पन्दनाङ्कुरोद्धवच्छेदमानादिकं, तद्विज्ञाय चूताभि-  
 शङ्क्या जीवोपमदोऽत्र भविष्यतीत्येवंबुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगु-  
 प्तमानस्तदुपमर्षं परिहरन् वदेत् । (कुनाऽपि) अतः कुतोऽस्तीहा-  
 स्लिष्वेवं नृतेऽनुष्ठाने कियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्म्यपेक्षे बुध्वादा-  
 दितो दोष इति ? ॥ ३१ ॥

अपुना पिषयाके पुरुषबुद्ध्यासमजवमेव र्वायितुमाह-

पुरितं पि विषत्ति न एवमत्थि ,  
 अणारिए से सुरिसि तदा हु ।  
 को संजवो पिन्नागपिन्धियाए ? ,  
 वाया वि एसा बुद्धया असत्ता ॥ ३२ ॥

तस्यां पिष्याकबुद्ध्यां पुरुषोऽयमित्येवमत्यन्तजडस्यापि विज्ञप्ति-  
 रेव नास्ति, तस्माद्य एवं बलि संऽप्यन्तोऽपुरुषः । तथाऽभ्युपगमेन,  
 बुद्धस्यैवकारार्थत्वेऽन्या एवासी यः पुरुषमेव क्लोऽयमिति  
 मन्वा इतऽपि नास्ति दोष इत्येवं वदेत् । तथादि-कः संभवः  
 पिएष्यां पुरुषबुद्धेः ?, इत्यतो यागपीयमीदृगसत्येति, स्वोपग-  
 नत्वात् । तन्मन्निःशङ्कमहायेनानोचको निर्वियेकतया बद्धयते,  
 तस्मात् पिष्याककाष्ठान्यापि प्रवर्गमानेन जीवोपमर्षं नोक्त्वा  
 साशङ्केन पचत्तत्पवमिति ॥ ३२ ॥

किञ्चिन्त्या-

बायायिनयोगेण अयावहेजा,  
यो तारिमं बायमुदाहरिजा ।  
अह्याणमेयं वयाणं गुणाणं,  
यो दिक्स्वपं वृषं ऽनुदाहमेयं ॥ ३३ ॥

बाबाऽभियोगो बाग्नियोगः, तेनापि यद्यस्मात्, अयहेतु पापं कर्म, ततो विवेकी प्राणगुणदोषज्ञो, न तार्दवीं प्राणामु-  
दाहरेन्नाभिदृश्यात् । यत एवं ततोऽस्याभेतद्वचनं गुणानाम्,  
नहि प्रमजितो यथावस्थितानां निश्चास्येतदुदारमस्तुष्टु परिरूपं  
निःसारं निरुपपत्तिकं वचनं ब्रूयात् । तद्यथा-पिययाकाऽपि  
पुरुषः; पुरुषोऽपि पिण्याकः । तथाऽस्लाबुकमेव बालकः, बायक  
पुत्राऽस्लाबुकमिति ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्कककुमार ३३ तं भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्तं

सोऽस्युतं विभणिपुराह-

लक्षे अहे अहो एव तुभ्यं,  
जोवाणुभागे सुविचिंति प ।  
पुवं समुद्दे अवरं च पुद्दे,  
ओलोऽप पाणितले त्रिप वा ॥ ३४ ॥

अहो ! पुत्रान्निःश्रयानन्तये वा, एवंजुताऽप्युपगमे सति लब्धा-  
धो विज्ञाने यथावस्थितं तस्मिन्मिति तथायगतः सुविचिन्तितो भव-  
न्निज्ञानामनुभागेः कर्मविपाकफलप्रेक्षिते, तथैवजुनेन विज्ञानेन  
भवतां यदाः पूर्वसमुद्रमपरं च पुद्दे गतमित्यर्थः तथा भवन्नि-  
रेवविचिन्तितानावशोकनेनावशोकितः पाणितलस्य इवायं लोक  
इति; अहो ! जगतो विज्ञानानिश्चयः, यदुत प्रवन्तः पिण्याक-  
पुरुषयोर्बालाऽस्लाबुकयोर्वा विधोषानभिज्ञया पापस्य कर्मणो  
यथेतद्ग्रायाभायं प्राक्कल्पितवन्त इति ॥ ३४ ॥

तदेवं परपरकं दूषयित्वा स्वपञ्जकथापानायाऽऽह-

जोवाणुजागं सुविचिंतयेता,  
आहारिया अन्नविद्दे य साहिं ।  
न वियागरे लन्नपओपजीवी,  
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥

सौनीऽऽशासनप्रतिपत्ताः सर्वेऽहङ्गकुमारोऽनुसुरिको जीवात्मा-  
मनुजागवयस्याविशेषं, तदुपमर्द्धेन पीनो वा, सुष्टु विचिन्तयन्तः  
पर्यलोचयन्तोऽप्रविधौ शुक्तिमाहृतवन्तः स्वीकृतवन्तः, द्विषन्त-  
विशदोषरहितेन, शुंकेनाहारेणाहारं कृतवन्तो न तु यथा भवतां  
पिशितानपि पात्रपतिनं न दद्यायन्ति । तथा-उन्नप्रापजीवी सा-  
सुत्त्वानोपजीवी सन् न दद्यात्कुर्यात् । एषोऽन्नतरंको, अन्न पञ्चा-  
खमोऽनुपमर्द्धेनोऽप्रविधौ शुक्तिमाहृतवन्तः जवतीत्यमुना विद्याप्यते ।  
इहास्मिन् जगति, प्रवचने वा, साम्ययतानां सन्साधूनां न तु पुन-  
रेवंविधविभिक्षामिति । यथा भयन्निर्दारादेरेव प्राणयज्ञस-  
मानया हेतुजन्तया मांसादिसाहस्यं चो धत्ते, तद्विज्ञाय शो-  
कीर्थांतरांयमतम् । तथाहि-प्राणयज्ञत्वेन तुल्येऽपि किञ्चिन्मांसं  
किञ्चिन्चामांसमित्येवं व्यवहितं । तथा-गोऽङ्गीरकधिरादेर्न-  
जानयजवयवस्थितिः, तथा-समानेऽपि स्त्रीत्ये जायंइवश्राद्धौ ग-  
व्यागस्यवयवस्थितिर्मिति । तथा-शुष्कनकपथा यो प्राणयज्ञा-  
दिति हेतुर्भयतोऽप्यस्यते । तद्यथा-“नक्राण्यं भवेन्मांसं, प्रा-

णयज्ञत्वेन हेतुना । ओदनदिद्यदित्येवं, कश्चिदादेति तार्किकः”  
॥ १ ॥ साऽस्मिन्नात्मैकान्तिकविकरुदोषदुष्टासाहपकर्मणीयः ।  
तथाहि-निरश्वत्वाद् यस्तुनस्तद्व्यसं, तद्व्येव च प्राण्याङ्ग-  
मिति प्रतिज्ञार्थकदेशादसिक्तः । तद्यथा-नित्यः शश्वो नित्यस्या-  
त् । अथ भिक्षं प्राणयज्ञं, ततः सुतरामसिक्तः, व्यधिकरस्यत्वात् ।  
यथा-येवदस्य गृहं, काकस्य कापर्यं । तथा-जैकान्तिकार्थपि,  
श्रादिमांसस्याभक्ष्यत्वात् । अथ तदपि क्वचित्कर्थाधिकर्षोप-  
ङ्गव्यमिति चेत्, एवं च सायन्नादेरभक्ष्यत्वाद्वादेकान्तिकत्वम् ।  
तथा-विकरुद्व्यभिचार्यपि, यथाऽयं हेतुर्मांसस्य महत्त्वयं साधय-  
ति, एवं बुद्धानामपूजयमपि । तथा-लोकाधिराधिनो च्येयं प्रति-  
ज्ञा । मांसोदनयोरेवसाय्याद्दृष्टान्नाधिराधेभ्येयं व्यवस्थितं युक्तं  
प्राण-यथा बुद्धानामपि पारणाय कल्पत एतदिति, तदसाध्विति  
स्थितम् ॥ ३५ ॥

अयदपि निष्कौकल्यार्कककुमारोऽनुद्य दूषयितुमाह-

सियापयाणं तु दुवे सदहमे,  
जे जोयप णितिए निक्खुयाणं ।  
असंजए लोहितपणिणे से ऊ,  
णियच्छते गरिहम्मिहेव लोणं ॥ ३६ ॥

स्वःनकानां बोधिसत्वकल्पानां निष्कणां नित्यं यः सदस्यत्रयं  
नेजयतिऽयुक्तं प्राक् । तद् दूषयति-अस्यतः मन् कथंकिञ्चिन्प्रा-  
णिरनायं इव गहो नित्यं जुगुप्सापद्ययी सापुजनानामिह लोक  
एव निश्चयन गच्छति, परशोकं वाऽनार्यगम्यां गतिं यतीति ।  
एवं तावन्सावद्योऽनुष्ठानानुमन्तृणामप्राप्तानां यद्गानं तत्क-  
र्मैकधायेत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

किञ्चिन्त्या-

धुंनं उररुजं इह मारिया णं,  
उदिह्मसं च पणपडना ।  
तं ज्ञाणतेल्लेण उवकवडेत्ता,  
सपिप्पज्जायं पगरंति मेसं ॥ ३७ ॥

शार्द्रककुमार एव तमत्तमायिष्कुर्येभिदमाह-रुधुलं वृहत्काय-  
मुपचितमांसशोणितम्, उन्नमुपगम्यम्, इह शाक्यशासनं,  
भिक्षुकसंशोधेरेण व्यापाद्य घातयित्वा, तथोदिहभक्तं च प्रक-  
ल्पयित्वा, तदुत्तमांसं लवणतैलाभ्यामुपसस्कृत्य पाच-  
यित्वा, सपिप्पलीकमपरच्छ्वसमव्यितं प्रकुर्येण भक्षययांयं  
मांसं कुर्वन्तीति ॥ ३७ ॥

संस्कृत्य च धक्कुर्वन्ति तर्हाशयितुमाह-

त जुंजमाणा पिमितं वयं,  
ण आंभसिपामो पयं रएणं ।  
इवेवमाहं सु अण्णजधम्मं,  
अणारिया वासं रेमेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

तन्पशितं शुक्रशोणितसंभूतमनार्या इव सुहृजाना अपि प्र-  
भूते तद्गजसा पापेन कर्मणा न वयमुपलिय्यामः, इत्येवं धा-  
एषोपेणाः प्राबुःअनार्याणामिह धमैः स्वभावो येषां तं तथाऽ-  
नार्थकैर्मांसविद्यादनायोः, बाला इव बाला विवेकरहितत्वाद्-  
सेषु च मांसादिकेषु रूक्षा अणुपपन्नाः ॥ ३८ ॥

पतञ्च तेषां महतेऽर्जायेति दर्शयति—

जे यावि भुंजति तद्दृग्गारं ,  
सेवेति वे पावप्रजाणमाशा ।  
यथां न एषं कुसला करेदी ,  
बाया वि एता बुध्या व भिष्वा ॥ ३९ ॥

ये चापि रसयोरवधुःशाः शक्योपदेशचरिणः, तथाप्रकारं  
बुध्लोरग्रं संस्कृतं घृतलवणमरिचवासंस्कृतं पिशितं च, शुद्ध-  
तन्मन्त्रित, तेऽनायोः, पापं कर्मणश्च, अज्ञानाना निर्विचिकिनः,  
सेवन्ते आददते । तथा चोक्तम्—

“हिंसाभूलभयभयमास्वपदमलं ध्यानस्य रौद्रस्य यद् ,  
धीमत्सं अधिराषिलं क्रमिष्टुं दुर्गन्धपूपाधिकम् ।  
शुक्राक्षयप्रमथं नितान्तमलिनं सार्जिः सदा निमित्तं ,  
को भुङ्क्ते नरकाय राक्षसमनो मांसं तदात्महृद्दः ? ” ॥ १ ॥

अपि च—

“मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहावृष्यहयम् ।  
पतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ” ॥ २ ॥

तथा—

“योऽस्ति यस्य च तन्मांस-मुषयोः पश्यतान्तरम् ।  
एकस्य स्यादिका नृत्ति-रम्यः प्राक्षेर्विजुज्यते ” ॥ ३ ॥  
तदर्थं महादोषं मांसादानमिति मत्वा यत्रिधेयं तदहरयति-  
प्लतेदेवंतुं मांसादानमिहाकूपं मनोऽन्तःकरणं, कुशला नि-  
पुशा मांसाश्लेषविपाकवेदिनस्नानिबुत्सिगुणामिहाक्ष, न कु-  
शन्ति, तदमिलापादात्मनो निवर्तयन्तीत्यर्थः । अस्मात् तावद्भ-  
क्षणं, बागप्येवा यथा मांसमस्योऽदोष इत्यादिका भारत्यमि-  
हितोक्ता भिष्या । तुशब्दान्मनोऽपि तदनुमत्यादौ न विधेय-  
मिति । तन्निवृत्तौ वेदियानुपमा स्थाया, अमुत्र च स्वर्गोपवर्ग-  
गमनमिति । तथा चोक्तम्—

“भुत्वा तुःअपरस्परमतिपुष्पां मांसाशिनानं दुर्गतिं,  
वे कुर्वन्ति शुभोद्भयेन विरतिं मांसाद्य दानस्यादरात् ।  
तदीर्घायुरद्वयितं गदकजा संभाव्य दानस्यन्ति ते,  
मस्यैवद्भ्रष्टमोगधर्ममतिपु स्वर्गोपवर्गेषु च ” ॥ ३३ ॥ इत्यादि ।  
न केवलं मांसादानमेव परिहास्यमम्यदपि समुच्चर्णां परि-  
हस्यन्मिति दर्शयितुमाह—

सन्वेमि जीवाण दृग्दृष्याए ,  
सावज्जदोसं परिवर्जयति ।  
तस्मांकिणो इमिणो नायपुना ,  
चद्विद्वज्जवं परिवर्जयति ॥ ४० ॥

सर्वेषां जीवानां प्राणार्थिनां, न केवलं पक्षेन्द्रियाणामेवेति स-  
र्वेभ्यश्च । दयार्थतया दयानिमित्तं सावधमारम्भं महानयं दोष  
इत्यर्थं मत्वा तत्परिवर्जयन्तः सावधः । तच्छब्दो दोषशब्देन  
अन्वयो महासुनयो ज्ञातपुत्रीयाः श्रीमन्महाधीरवर्द्धमानशिष्याः,  
चद्विद्वज्जनाय परिकल्पितं यद्वक्तव्यानि, तत्परिवर्जयन्ति । ४०।

किञ्च—

पूयानिसंकारं पुर्णद्वमाणा ,  
सन्वेसि पाणान विहाय दंर्कं ॥  
तन्मा ए नृजति तद्दृग्गारं,  
१४०

एसोऽणुधम्मो इह संजायं ॥ ४१ ॥

भूतानां जीवानाम्, उपमर्दाद्वासा सावधमनुष्ठानं जुगुप्समाना  
परिहरन्तः, तथा-सर्वेषां प्राणिनां दृष्टव्यतीति दृष्टवः समुपता-  
पस्त, विहाय परित्यज्य, सस्यगुत्थिताः सससाधवो यतस्ततो न  
दृष्टन्ते, तथाप्रकारमाहारमशुद्धजातीयमेषोऽनुधर्मः, इहात्मिभ्यव-  
क्षे, संयतानां यतीनां तार्थक्यचरणान्त्, अतुपक्षावर्धत इत्यनुना  
विशेष्यते । यदि चात्रोपति स्तोत्रोपतिचारेण वा बाध्यते  
शिरोधनुषमिव सुकुमार इत्यतोऽणुना विशेष्यत इति ॥ ४१ ॥

किञ्चाप्यत्र—

निगम्यधम्ममि इमं समाहिं ,  
अस्सिं सुट्ठिवा अण्णिहो चरेजा ।  
बुद्धे पुणों सीलगुणोवेषे ,  
अश्चत्थं पाउण्णती सि भोगे ॥ ४२ ॥

अस्मिन्मौनीन्धर्मं बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति नि-  
ग्रन्थः, स चालौ धर्मश्च निग्रन्थधर्मः, स च भुतचारिप्राक्थः,  
कान्यादिको वा सर्वज्ञोक्तः, नस्मिन्मन्त्रधर्मो धर्मो व्यवहिते, इमं पुर्वो-  
क्तं समाधिमुपप्राप्तः, अस्मिन्भाष्येऽहोपरिहाररूपे समाधौ, सुदृ-  
श्वितिशयेन स्थित्वा, अर्नहोऽसायः अभया-निहृष्यत इति निहः,  
न निहोऽनिहः, परीर्षेहरयांश्चितः । यदि वा-निहृष्यते, स्मिह  
इति स्नेहकूपधनरदितः संयममनुष्ठानं खरेव । तथा-बु-  
द्धोऽवगततत्त्वः, मुनिः कोलभयवेदी, शीलान कोपाधुपशमक-  
पेण, शुभेक्ष म्भोऽस्वरगुणतृतेत्येतो युक्त इत्येवंगुणकलि-  
तोऽस्यथेनां स्वैशुगुणतिशार्थिनां स्वैशुश्लोपरमकृपां संतोषारि-  
कां श्लघां प्रशंसां लोके लोकोत्तरे वाऽऽप्नोति ।

तथा चोक्तम्—

“राजानं तूणतुल्यमेव मनुते शकेऽपि वेदादरेः ,  
यित्तोपाजैनरक्षणव्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः ।  
संसारान्तरव्यस्यपीड लभते संसृक्त्वभिर्नेयः ,  
संतोपातपुत्रोऽमृतत्वमचिराद्यास्तुरेन्द्रार्चितं ” ॥ १ ॥ इत्यादि ।

( ६ ) तद्व्यमार्ककुमारं निराकृतगोशालकाजीवकबौद्धमतम-  
भिसर्माव्य साम्प्रतं द्विजातयः प्रोबुः । तच्छया-जो आर्द्धकुमार ।  
शोभनमकारि भवता, यदेतं वेदवाङ्मोक्षे अपि मते निरन्ते,  
तस्मात्प्रतमप्याहंते वेदवाङ्मोक्षे, अतस्तदपि नाभ्ययणाहं भवद्वि-  
धानाम् । तथाहि-नवाहं कृत्रियवरः, कृत्रियाणां च सर्वेषणोत्तमा  
ब्राह्मणा एवोपास्थाः, न शुद्धाः, अतोऽथागादिधिना ब्राह्मणसे-  
वैव युक्तिमतीत्येतत्प्रतिपादनायाऽह—

सिणायगार्णां तु छुवे सहस्से ,  
जे जोयए णित्तिए माहणार्णां ।  
ते पुणत्वेण सुमहज्जणिता ,  
जवंति देवा इति वेयवाञ्छो ॥ ४३ ॥

तुशब्दो विशेषार्थः । पदकर्मभिरता वेदाप्यापकाः शौचासा-  
रपरतया नित्यं स्नानिनां ब्राह्मचारिणः स्नातकाः, तेषां सहस्रद्वयं  
नित्यं ये भोजयेयुः कामिकाहारेण ते समुपाजितपुत्र्यस्कन्धाः  
सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो प्रवन्तीत्येवंभूतो वेदवाह इति ॥ ४३ ॥

अधुनाऽऽर्द्धकुमार पतञ्च दृषयितुमाह—  
सिणायगार्णां तु छुवे सहस्से ,



जे नोपए णितिए कुलासपायां ।

से गच्छती सोडुवसपमादे,  
तिन्वाभितारं अरगानिसेवे ॥ ४४ ॥

जातकानां सहस्रद्वयमपि नित्यं ये भोजयन्ति । किञ्चूतानाम् १, कुलानि पृथगपि, प्रामिषान्धेयपापिभो नित्यं येऽस्ति ते कुलाटा भार्ज्याः, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः । यद्ये वा-कुञ्जानि कृषि-यादिपृथापि तानि नित्यं विहरयतान्केषिणां परतकुलाणामाद्यो येषां ते कुलाण्यस्ते । निष्पञ्जिविभापयतानामिषं चूतानां यो सहस्रद्वयं भोजयेत्सः सत्याश्रितिक्रियदानो गच्छति बहुयेदनापु मतिषु । किञ्चूतः सद् १, सोडुपेरामिषपरिः पुष्टेः रससागामिरचापु-पपथेः । जिह्मिद्वयवशातेः संमगदोऽभ्यासः । यद्ये वा-किञ्चूते नरके याति, सोडुपेरामिषपुञ्जभिरसुमज्जिष्यांसे यो नरकस्तास्मिभि-ति । किञ्चूतध्यासी वाता १, नरकानिषासी प्रवति । तदशीयति-तीक्ष्णोऽसह्यो योऽस्तितापः कृकचपाटनकुञ्जयापालतसत्रपुण्यशा-रमद्वयतिङ्गनादिकपः, स विद्यते यस्यासी योऽस्मिन्नापी । इषंयंन्-तवेदनामितसस्यविश्वशास्त्रगोपमानि यावद्प्रतिष्ठाननरकाधि-वासी प्रवर्तति ॥ ४४ ॥

दयावरं धम्मं बुद्धं रामाणा,

बहावर्हं धम्मं परं समाप्ता ।

एगं वि जे नोययती असीलं,

खिम्भो णिसं जाति कुम्भोऽपुरोहिं ॥ ४५ ॥

दया प्राणिषु कृपा, तथा वरः प्रयानो यो धर्मस्तेष्वेव धर्मैः, जुगुप्स-मानो निन्दद्, तथा-यथं प्राणयुग्मदं मावदनाति वधावहस्तं त-थाजुते धर्मैः, प्रशंसन् स्तुयन्, एकमन्वयशीलं निवृत्तं, यज्जिहासा-यापमर्देन यो नोऽब्रयेत्, किं पुनः प्रज्ञातः । नृपो राज्ञो वा वाः कश्चिन्मृतमिथार्थिकमात्मानं मन्थमानः स वराको विशेषे-नित्यान्धकारत्वाशिरा नरकज्ज्मिस्तां याति, कुतस्तस्यासुरेष्वप्य-धमदेष्वपि प्राप्तिरिति ॥ तथा-कर्मवदप्रसूतानां विविचजाणि-गमनाजानिरेदाभ्यतन्वम, अतो न जातिमर्हा विषये इति । यदपि कैश्चिदुच्यते यथा-ब्राह्मणा ब्रह्मणो मुक्ताज्जिमेताः, बाहुभ्यां कृषि-याः, ऊकभ्यां वैश्याः, पञ्चर्षां शूद्राः, इति । एतदप्यप्रमाणत्वादति-फलमायम । तद्वच्यमाने च न विशेषो वर्णानां स्यात् । एकस्मात्प्र-सूतेषु प्रयाणाप्रतिष्ठात्काप्रनूतनसोऽस्यारहादकलवद् ब्राह्मणो वा मुक्तादेरवयवानां चातुषेर्ष्यायाः स्यात्, न चैतद्विष्यते भवज्जिः । तथा-यदि ब्राह्मणार्हानां ब्रह्मणो मुक्तादेरवयवः, सास्मत्तं किं न जायते । अथ युगादपेतेतिव्यंसे सति, दृष्टानिरेदृष्टकल्पना स्या-दिति । तथा यदि कैश्चिदप्यथापि स्वर्गज्ञानियवसंनं, तद्यथा-स्वर्गरहितोऽनीतः कालः, कालत्वात्तमेतानकाश्रयन् । एवं च सत्ये-तदापि राक्षसे वक्तुमुद्य-यथा नार्तः कालो ब्रह्ममुक्तादिविनिगे-न-सर्वैर्यससन्वितः, कालत्वात्तमेतानकाश्रयन् । भवति च विशेषे-यान्ते, इहामन्वे हेतुरित्यतः प्रतिज्ञार्थं कदेशासिद्धना माशु-पङ्कतेन सति, एतन्वयं पुष्पान्स्कात एवाजिहितम् । तद्यथा-नीयति । जालकः, एतन्वयः स पुरीषो दृष्टते इत्यादिना । तथा-शूनाशां वा एव जनि, शूनाशां श्रवणन च । अथैव शूनीयव-ति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ॥ १ ॥ इत्यादिलोके श्राव्यस्वामी जातिपातः । यत् लकनः ॥ काव्यैः कर्मणां दौघे-याति स्या-द्वर्तनां नः । धाचकैः पाङ्कशुभान, न तस्यैरस्यजातिताम् ॥ १ ॥ इत्यादिगुणैरप्येवंविधैरेव ब्राह्मण्यं युज्यते । तद्यथा- १ ' ए-

द शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मज्जमेऽइति । अथमथेष्व ल-चनान, स्युषानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥ इत्यादि वेदोक्त्यान्नायं होप इति चेत् । नमिदमभिरहितमेव- १ न हि त्वत्सत्त्वां प्र-ताभि ॥ इत्यतः पूर्वोत्तरविशेषः । तथा- ॥ आततायिनमाया-स्त-मपि वेदान्तं रणे । जिघासन्तं जिघासोऽपि-अ तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ १ ॥ तथा- ॥ शूद्रं इत्या प्राणायामं अपेद, अप्रदसितं वा कुप्यति, यत्किञ्चिद्वा द्याय, तथा- ॥ नादिपञ्चतानां शुकटमरं मारयित्वा ब्राह्मणं नोऽजयेत् ॥ इत्येवमादिका देशना विद्वज्जन-मर्षांसि न रक्षयन्तीत्यतोऽत्यर्थमस्मत्समिप सहस्रतं पुष्प-दृशेनमिति ॥ ४४ ॥

( १० ) तदेवमार्दककुमारं निराकृतब्राह्मणयिवावं भगवदमित-कं गच्छन्तं दृष्ट्वा एकद्विगमन-रतासे वधेषुषुः । तद्यथा-नो-मार्दककुमार । शोभनं कृतं भवता यद्ये तं सर्वान्ममशुभा पूरस्थाः शम्भुादिविषयपरायणाः विशिताचनेन राजसकल्या ङ्जिजातो निराकृताः नसांमत्प्रसालिपातं शूषु, मुखा वाव-धारय । तथा-सत्वरजस्तमसां साम्भवास्या प्रकृतिः, 'प्रकृतेर्मे-होस्ततोऽहःशुद्ध-स्तस्याऽणभ्य बोधराकः । तस्मादपि बोधशुक्ला-त्पञ्च- ( तन्माशांसे ते ) ज्यः पञ्च चूतानि ॥ १ ॥ तथा चैतन्यं पुरुषस्य सत्कर्मिति । एतत्साई तैरप्याभ्रतमः पञ्चविंशतितत्स-परिहानानेव मोक्षायातिव्यतोऽस्मत्सिद्धात एव भेदाद्यापर इति । तथा न युष्मासिद्धान्तोऽतिदूरण मियंते इति ।

एतदशीयनुमाह-

उहओ वि धम्माम्मं समुट्ठियापो,  
अस्सिं सुट्ठिच्चा तह एसकात् ।  
आयारसंसे वुट्ठएऽह नारं,  
ए संपरायम्मि विसंतपयि ॥ ४६ ॥

योऽयमस्मत्कर्म, भवदीयाकाहान्तः, स उतरकपोऽपि कश्चिन्स-मानः । तथाहि-पुष्पाकर्मपि जीवास्तिव्ये सति पुष्यपापक-ध-मोक्तस्तद्भावः, न लोकायतिकानामिव तदनावे प्रशुक्तिः, नापि बौ-द्धानामिव सर्वोधारभूतस्यान्याराम्य एवाभावात्तथाऽस्माकम-पि पञ्च पद्मा अहिंसादयः जयन्तं च त एव पञ्च महाभूतकपा-न तथेन्द्रियानोऽन्दिनियमोऽप्यवयोस्तुल्य एव । तदेवमुज्ज्वलि-श्रपि धर्मं बहुसमानं सस्ययुष्मात्तांथानां युदं, वयं च, तस्मादास्मि-न् धर्मं सुष्टु सिधताः, पूर्वैस्मिन् काले जनेमाने, एष्ये च, यथापृष्टीत-प्रतिज्ञानिर्वादाः न पुनरप्ये यथा श्रेष्ठ्यवयवाधिधानेन प्रव्रज्यां मुक्तयतोः, मुञ्चन्ति, मोक्षयन्ति चेति । तथाऽऽचरप्रधानं हीलसुष्मां यमिनमसकृष्णं न फलमुद्यत् कुदकार्ज्यवनकपद, अथानस्तर-ज्ञानं च मोक्षाकृतयामिदिति, तच्च बुद्धज्ञाने, केवलत्वाच्च, यथा-स्वभावार्थोऽशीने प्रसिद्धम् । तथा-संपर्यन्ते स्वकर्मनिष्ठांशु-सिने प्राणिनां यस्मिन्स संपरायः संसारः, तस्मिन्ब्रह्मकाशेन विशेषोऽस्ति । तथाहि-यथा जवतां कारणे कार्ये हेतौतेनास्तुपुपधने, अस्मा-कमपि तथैव, इत्यतस्तथा नित्यत्वं भवज्जिरेव्याक्लिनेभः । तथा-त्पादविनाशायापि पुष्पजिन्मते, आर्धमोषवितोऽप्यवयवा-दस्माकमर्पति ॥ ४६ ॥

पुनरापि तथैवैकद्विगमः सांसारिकजी-  
वपदाथेसाभ्यापादयत्ताऽऽहुः-

अभ्वत्करुं पुणिसं पदंते,

सथागतं अत्रस्वयमभ्यर्षं च ।

सव्येसु वृतेषु वि सन्वतो ते ,

चंदो ष्व ताराहोँ समत्पत्ये ॥ ४९ ॥

पुरि शयनात्पुरुषो जीवाः, तं यथा भवन्तोऽज्युपगतवस्तथा बधमपि । तत्रेव विगिनति-असृष्टत्वाद्यकं कृपमस्यासाध्यककृपः, तथा करब्रह्मशिरोप्रीतिवाद्यवयवतया स्वतोऽवस्थानात् । तथा-महात्मं शोकव्यापिनं, तथा-सनातनं शाश्वतं, कृपायंतया निर्वं, ज्ञानाविषयगतिस्संभवेऽपि वैत्थल्यकृपाःमन्त्ररूपस्यामभ्युत्थेः । तथा-अज्ञं केनचित्प्रदेशानां अणुशः कर्तुमशक्यत्वात् । तथा-अव्ययम्, अनन्तेनापि काहेनेकस्यापि तत्रप्रदेशस्य व्ययाभावात् । तथा-सर्वेष्वपि वृतेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं सर्वतः सामस्यान्निराशत्वाद् साक्षात्सा भवति । क इव !, अन्धः इव शशीव, ताराशिरश्चिन्त्यादिनिर्दिशैकैर्धेया समलतपः संपूर्णैः संकल्पमुपयात्वेवमसापि आत्मा प्रत्येकं शरीरैः सह संपूर्णैः संबन्धमुपयाति, तत्रैवम इत्तिनिर्दिशैसाम्पायादनं सामबादपुर्बैकं स्वदेशीनारायणाधोमद्रुकुम्भारोपभित्तः, यत्रैतानि संपूर्णानि निरुपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंसारोर्विद्यन्ते, स एव पक्षः समुत्तितेन समाभ्यवित्तयो जयति । एतानि चास्मद्गीय एव दर्शने यद्योक्तानि सन्ति नादृते, अतो जयताऽप्यस्मद्गीयनेमवाश्चमुपगतस्यमित्ति ॥ ४९ ॥

तदेवमभिहितः सक्काककुमारस्तदुत्तरदानायाऽह—

एवं ष मिज्जति ए संसरति ,

न माहृणा स्वचित्तं वसपेस्ता ।

कीदा य पक्खीं य सरीसिवा य,

नरा य सर्वं तह देवलोए ॥ ५० ॥

यद्वि वा प्राकनयेकः “अप्यनरुषः” इत्यादिको वेदग्नवाद्या-स्मादिनमनेन व्याख्यातय । तथाहि-ते एकमेवाप्येकं पुरुषमात्मानं महात्माकाशमिव सर्वव्यापिनं सनातनमनन्तमक्षयमव्ययं सर्वेष्वपि भूतेषु चेतनाचेतनेषु सर्वतः सर्वात्मतयाऽस्ती व्यव-दिद्यत इत्येवमज्युपगतवन्तः । यथा-सर्वोत्थपि तारास्वेक एव अन्धः संबन्धमुपयात्येवं चासापि, इत्यस्य चोत्तरदानाबाह-एव-मित्यादि एवमिति । तथा-अवतां दर्शने एकात्मैव नित्योऽवि-कार्यात्माऽज्युपगम्यते इत्येवं पदार्थोः सर्वेऽपि नित्याः । तथा च सति कुतो बधमोक्तसद्भावः ! बधनाज्ञात्वात् न नारकतियं कुनरा-मरल कृणभ्युपगतैकः संसारः । मोक्षाज्ञात्वात् निरर्थकं मतप्रहणं जयतां, एवब्रह्मोपदिष्टमभिनियमप्रतिपत्तिभ्योऽपि च यदुच्यते जयता यथाऽऽवयोऽस्तुधो धर्म इति । तद्व्युक्तमुक्तम् । तथा-सं-सारान्तर्गततां च पदार्थानां न साम्यम् । तथाहि-अवतां द्रव्यैकत्ववादिनां सर्वस्य प्रधानादिनिष्पत्ताकारणमेवास्ति, कार्यं च कारणानिष्पत्तासर्वोत्तमा न विद्यते । अस्माकं च द्रव्यपयायो-जयवादिनां कारणे कार्यं द्रव्यात्मतया विद्यते, न पर्यायात्मकतया । अपि च-अस्माकमुपादेव्ययब्रौव्यययुक्तमेव सत्त्वित्युच्यते; जयतां तु ध्रौव्यं युक्तमेव सत्त्वित् । बावन्वाविर्भावितरोभावौ भवन्तोऽवन्ते, तावपि नोत्पाद्विनाशवन्तरेषु अविद्युत्सदेते । तद्व्यमैहिकामुष्मकचिन्तायामाचर्योमं कथञ्चिन्सास्यम् । किंच सर्वव्यापित्वे सर्वामनामभिकारित्वे चास्माहेते चाभ्युपगम्य-माने नारकतियं कुनराऽमरेन्देन बालकुमारकृष्णभृङ्गभंगाऽऽ-कृष्टरिक्तादिन्देन वा न प्रीत्येव परिच्छेदेत्, नापि स्थकमं चो-

दित्ता नामागतिषु संस्रान्ति, सर्वव्यापित्वेदेकत्वाद्वा । तथा-न ब्राह्मणाः, न कृत्रियाः, न वैश्याः, न शूद्राः, न वेत्याः, न प्रेत्याः नापि कीटपक्षि-सरीसृपाश्च भवेयुः । तथा-नराश्च सर्वेऽपि देवलोकास्त्रेत्येवं जना-गतिभेदेनो जिधेरन् । अतो न सर्वव्यापी आत्मा, नाप्यास्माहेतवा-दोऽव्यायति, अतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलज्यते । तथा-शरीरत्वकृपयन्तस्तत्र एवात्मा, तत्रैव तदुत्पाद्विधानोपलम्भरिति स्थितम् ॥ ४८ ॥

तदेवं व्यवस्थिते युष्मदागमो यथार्थानिधायी न भवति, अ-सर्वैरुपगतीत्यात्, असर्वैरुपगतीत्यर्थं वैकान्तपक्षसमाभ्युपयादि-त्येवमसर्वैरुप्य मार्गोद्भावनें दोषमाविर्भावयन्नाह—

होयं अयाणित्चिद् केवलेषं ,

कहंति ते धम्मपण्ड्यामाणा ।

यांसिंति अयाए परं च एह्ता ,

संसारधोरम्मि अणोरपरं ॥ ५१ ॥

लोकं अर्जुंशरज्ज्वात्मकं, चराचरं वा शोकम्, अज्ञात्वा केवलेन दिव्यज्ञानायमानेनेहस्मिन् जगति, ये तीर्थिका भजजाना अवि-ज्ञासो धर्मं दुर्गतितममममार्गस्मारंज्ञानं, कथयन्ति प्रतिपाद्यन्ति, ते स्वतो मूढ अणोरनपि नो ज्ञान्ये । कः, धोरं प्रयानकं संसार-सागरं (अणोरपरं चि) अयाणुमागपरजागव्यजित्तंऽनाद्यनन्त इत्ये-वं जूते संसारार्थेव आत्मानं प्रकृष्यन्तीति यावत् ॥ ४९ ॥ साम्प्रते सम्यक्ज्ञानवतोऽमुपदेष्टुणां शुणानाविर्भावयन्नाह—

होयं विजाणित्चिद् केवलेषं ,

पुष्णेण नारेण समाहितुता ।

धम्मं समत्तं च कहंति जे ऊ,

तारंति अयाण परं च तिसा ॥ ५० ॥

लोकं अर्जुंशरज्ज्वात्मकं केवलालोकेन केवलितो विविच-मनेकप्रकारं जानन्ति विद्वन्तीहास्मिन् जगति प्रकषेण जाना-ति प्रज्ञः, पुरयदेतुन्धात् पुष्पम् । तेन तथाज्ज्ञेन ज्ञानेन स्वमा-धिना च युक्ताः, समस्तं धर्मं बुनचारिब्रह्मं, ये तु पराहेतैषिणः, कथयन्ति प्रतिपाद्यन्ति, ते महापुरुषास्ततः संसारसागरं तीर्णाः, च तारयन्ति सतुपदेशदानत इति कथयन्तां शोकं जानन्ती-त्युक् यत्तुनहानेनैत्युक्तं तद् बीडमतोच्छेदेन ज्ञानाधार आत्मा अस्तीति प्रतिपादनार्थमिति । एतदुक्तं प्रवति-यथाऽऽदेशिकः सम्यक्मार्गं आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिनं महाकात्ताराद्वि-बक्तिदेशप्रमाणेन निस्तारयत्येवं केवलितोऽप्यात्मानं परं च संसारकात्तारात्निस्तारयन्तीति ॥ ५० ॥

पुनरप्यार्कककुमार एवाह—

जे गरहियं उणमिहावसंति ,

जे यावि होए चरणोववेया ।

उदाहदंते तु समं यदए ,

अहाउसो ! विपरियासमेव ॥ ५१ ॥

असर्वैरुपगमनेवं जूतं भवति । तथा-ये केचिंसंसारान्-धेर्तिनोऽसुभकर्मणेपेता समन्वितस्वद्विषाकहाथाः, गौर्हिते नि-न्दितं सुमुपसितं निर्विधेकजनाचरितं, स्थानं परं कर्ममुद्धानकप-मिहास्मिन् जगति, आसवन्ते जीविकां न तुमाभ्यवन्ति, तथा च-ये सतुपदेशवर्तिनो लोकेऽस्मिन् चरन्तेन विरतिपारिणामकर्मणेपेताः सन्निवृत्ताः, तेषामनुपेयामपि, यदुद्धानं शोभनाशोभनस्वकवस-

पि सद्यः तद्वत्सङ्घैरवैश्वर्धेभिः समं सद्यः तुल्यमुदाहृतमुष्ण-  
स्वत्, स्वभवा स्थाभिप्रायेण, न पुनर्वैधावस्थितपर्यायैर्निरूपणेन ।  
अथवा-आयुष्मद् । हे एकदशदिग्दः । विपरीतमेव विपरीतमेवो-  
दाहद्वैतसङ्घो यद्युद्योभनं तन्कोमनत्वेन; इतरस्थितरथेति ।  
यदि का(विपयस्य इति)मपेक्षामस्यमप्रायवित्युक्तं प्रवर्ततीति ॥१॥

( ११ ) तदेवमेकदशदिग्दो निराहृत्यायुष्मदकुमारो यावद् ब्र-  
गवदन्तिकं ब्रजति तावद् इस्तितापसाः परिहृत्य तस्युरिदं च  
प्रोक्तुरित्याह—

संवत्सरेखात्रि य एगमेभं,  
बाणेण मारंत्तं महाभयं तु ।  
सेसाण जीवाण दृश्यपाप,  
दासं वयं विधि पक्वपयसो ॥ १२ ॥

इस्तिनं व्यापाद्यात्मनो वृष्टि कल्पयन्तीति इस्तितापसाः, तेषां  
अप्ये कभिद्भङ्गस्तम प्लतनुवाचा । तथा-ओ आग्नेककुमारः । सद्गु-  
तिकेन सदाऽऽन्यवदुल्लभमालोचनीयम्, तत्र ये अग्नी तापसाः  
कन्दमूलकलाशिमस्ते बहूनां सत्त्वानां स्थावरानां तदाभितानां  
बोद्धुम्भरादिषु जङ्गमानामुपघाते वर्तन्ते । येऽपि च भैरवेणेत्यात्मनं  
वर्तयन्ति तेऽप्यायंसाद्योपवृष्टिता इतश्चेतश्चाटाष्टरमानाः पिपी-  
लिकादिजन्तूनां उपघाते वर्तन्ते । वयं तु संवत्सरेणापि, अपि-  
शब्दात् एगमासेन वैकैके इस्तिनं महाकायं बाणप्रदरंशु  
व्यापाद्य शेषसत्त्वानां द्रव्यायैमात्मनो वृष्टिं वर्तनं तदाभिमेष वयै-  
मेकं यावत्कल्पयामः । तदेवं वयमेकसत्त्वोपघातेन प्रजृततर-  
सत्त्वानां रक्षां कुर्म इति ॥ १२ ॥

साम्प्रतमेतदेवाऽऽग्नेककुमारो इस्तितापसमतं  
दृषयितुमाह—

संवत्सरेखात्रि य एगमेभं,  
पाणं हृणंता अण्णियचदासा ।  
सेसाण जीवाण वहेऽस्रगा य,  
सिया य थोवं गिदिशो वि तम्हा ॥ १३ ॥

संवत्सरेखैकैकं प्राणिनं प्रतोऽपि प्राणातिपातादभिवृत्तदोषा-  
स्तं भवति । आशंसाद्योपश्च भवतां पञ्चान्द्रियमहाकायसत्त्व-  
धधपरायणानामतिदुष्टो भवति । साधूनां तु-सूर्यरश्मिप्रका-  
शितबीजेषु युगमात्रच्छेद्या गच्छतामीयांसमितिसिद्धानां  
द्विचत्वारिंशदोषपरहितमाहारमन्वेद्ययतां लाभालाभसमवृ-  
त्तीनां कुतस्त्व आशंसाद्योः ? । पिपीलिकादिसत्त्वोपघातो  
वेत्यर्थः । स्तोकासत्त्वोपघातेनैवभूतेन दोषाभाषो भवताऽभ्युप-  
गम्यते, तथा च सति गृहस्था अपि स्वारम्भदेशवर्तिन एव प्रा-  
णिनो प्रवर्तन्ति शूराणां च जन्तूनां श्रेयकालम्यवहितानां भव-  
दभिप्रायेण वधेन प्रवृत्ता यन एवं तस्मान्कारणास्थान्यादेवं स्तो-  
कमतिस्वयं यस्माद् ज्ञानित ततस्तेऽपि दोषरहितता इति ॥१३॥

साम्प्रतमार्ककुमारो इस्तितापसान्द्रुषयित्वा  
तदुपदेशं दृषयितुमाह—

संवत्सरेखात्रि य एगमेभं,  
सत्त्व-न्ता समणज्वयेषु ।  
पाणं हृणंते पुरिसे अण्णे,  
आयाऽहिरि-मो नर्तते ॥ १४ ॥  
छ तारिने केवलो

अमणानां यतीनां व्रतानि अमणव्रतानि, तेष्वपि ध्ववस्थि-  
ताः सन्त एकैकं संवत्सरेणापि ये ज्ञानि, ये चोपविशन्ति,  
तेऽप्यायः, अस्तकामोऽप्यित्वात् । तथा-आत्मानं परेषां चा-  
हितास्ते पुरुषाः । बहुवचनमात्रेणात् । न तादृशः केवलिनो भ-  
वन्ति । तथादि-यत्स्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽप्ये पि-  
शिताभितास्तसंस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनाश-  
मुपयान्ति, ते ते प्राणिवधोपदेष्टृभिर्न दृष्टाः । न च तैरिदं-  
घोषायां मानुषक्यां हृत्या यो भवति स दृष्टः, अतस्तेन केवल-  
मेकेषलिनो विशिष्टवियेकरहितास्तेति ।

तदेवं इस्तितापसाभिराहृत्य अगवदन्तिकं गच्छन्तमार्क-  
कुमारं महना कलकलेन लोकनाभिभूयमानं तं समु-  
पलभ्य अभिनवयुहीतः संपूर्णलक्षणसंपूर्णो हस्ती ससु-  
त्यस्त्वयाविधिवियेकचित्तं यद् यथाऽऽग्नेककुमारोऽयमवक-  
ताशेषतीर्थिको निष्पत्युद् संवत्सरेणात्पञ्चान्तिकं चन्दनाय  
व्रजति, तथाऽहमपि यद्यप्यपगतशेषवन्दनः स्यां तत एनं  
महागुरुषुमार्ककुमारं प्रतिबुद्धतरकरपञ्चशतोपेतं, तथा-  
प्रतिषाधितानेकवादिगणसमर्पितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं  
गन्वा चन्द्रार्मोत्येवं यावत्सौ हस्ती कुतस्तकल्पस्तावद्भट-  
द्वदिति नृदितसमस्तबन्धनः सन्नाग्नेककुमाराभिमुखं प्रद-  
सकण्ठलास्तयोर्धर्मसारिनदीर्घकरः प्रधाधितः, तदनन्तरं  
लोकेन कृतहाहारवगमंकलकलेन पृच्छतम् । यथा- । शिष्ट  
कष्टं हनोऽयमार्ककुमारो महापिंमहागुरुयः । तदेवं प्रलप-  
न्तो लोका इतश्चेतश्च प्रपलायमानाः, अस्वर्षापि वनहस्ती स-  
मागत्याऽऽग्नेककुमारसमीपं भिक्षुसंघमननानामग्राह्यसमाहं  
निवृत्तकरीतलः विः प्रक्षिप्तकीरुण्येतिहितधरणीतस्वद्व्याभ-  
भागः स्पृष्टकराप्रतश्चरणयुगलः सुप्रसिंहतमनाः प्रसिणपत्य म-  
हर्षियनाभिमुखं ययाधिति । तदेवमार्ककुमारतपांभवा-  
द्व्यधनमुक्तं महागजमुपलभ्य स पौरजजनपदः भ्रंणकरास्त-  
मार्ककुमारं महर्षि तपःप्रभावं चाभिनन्दनाभ्यन्तं च प्रा-  
धाच-भगवन् । आश्चर्यमिदं, यदसौ वनहस्ती तावद्गविधाच्छ-  
क्रोच्छेधाच्छुद्धावधनानुष्पत्तपःप्रजावाग्युक्त इत्येतद्विदुष्क-  
रमित्येवमभिहित, मार्ककुमारः प्रत्याह-ओः भ्रंणकः महाराज !  
नैतदुष्करं यदसौ वनहस्ती बन्धनानुक्तः । प्रापि त्येतदुष्करं य-  
त्त्वेहपाशमोचनं, एतच्च प्राङ्मुक्तिमाधया प्रदर्शितम् । सा. वेद्यम-  
"शुद्धं वारणपासमोयणं, गयस्व मत्सस्व वणमि रायं ॥ जहा  
उ तत्याऽऽभिलिपण तंतुणा, सुदुष्करं मे परिहाह भोयस्य" ॥१॥  
एवमार्ककुमारोप राजानं प्रक्षिप्तं यतीर्थेकरान्तिकं गत्वाऽ-  
प्रिवन्ध च जगवन् अकिभरनिर्भर आसाञ्जक । भगवानपि  
तानि पञ्चापि शान्ति प्रजाञ्च तच्छिष्यत्वंनोपानित्य इति ॥१४॥

साम्प्रतं समस्ताप्यवनाशोपसंहाराधर्ममाह—

बुष्स्त आणार्पे इमं समाहिं,  
अस्सिं सुटिच्चा तिर्विहेण तादं ।  
तरिउं समुहं च महाभयोवं,  
आयाणवंतं समुदाहरेज्जा ॥ १५ ॥ स्ति वेमि ।

बुकोऽवगततस्तः सर्वेहो वीर्यदीमानस्वामी, तस्य, आहूया तदा  
ऽऽगमेन, इमं समाधिं स्वकर्मावितिलक्षणमवाप्यास्मिन्न समाधी  
सुष्ठु श्लिवा मनोबाक्याथैश्च प्रणिहितेन्द्रियैः न मिथ्यावद्विमुमु-  
न्धत, केवलं तदाचरणजुगुप्सां शिविधेनापि करणेन न विषेन ।  
स एवंजुत आत्मनः परेषां च भाणद्वीः, ताद्यै वा गमनशीलो

भेदकं प्रति, स एव भूतस्तरतीरुमतिद्वयस्य समुद्रमयि दुस्तरं महाभयैव मोक्षार्थंमार्गंयान इत्यादाने सम्यक्शोभज्ञानधारित्ररूपं तन्निघते यस्यासावादानादौ सासु; स च सम्यग्दर्शनेन स्तथा परतार्थिकतयाःसम्यक्साद्दर्शनेन मौनीःस्वादिशोभा प्रकथयन्; समस्तप्रज्ञानेन तु यथावस्थितवस्तुप्रकथनतः समस्तप्रज्ञा-  
 ङ्ककवादिनिराकरणेनापरेण यथावस्थितमोक्षमार्गमाधिर्भावय-  
 तांति;सम्यक्चारित्र्येण तु समस्तनूतनमार्गनिर्देशना निरुक्तभाव-  
 ह्यारः सन् तपोविशेषाच्चानेकभावोपार्जितं कर्म निजैरयति । स्व-  
 तोऽप्यर्थं वैशंप्रकारमेवैवमुपाहरेच्छाशुणीयादित्यर्थः । इतिः  
 परिसामान्यव्यर्थं, श्रवीमाति ॥ ४५ ॥ सूत्र० २ श्ल० ७ अ० ॥

अद्ग ( य ) पुर-आर्द्धकपुर-न० । नगरनेद्रे, यत्र आर्द्धककु-  
 मार वसतः । सूत्र० २ श्ल० ६ अ० ।

अद्बेदण-आर्द्धचन्दन-न० । सरसचन्दने , औ० । " अ-  
 द्बेदणणुसित्तगता इति(सिंघिषुपुष्पद्वयसादां सुहृमाहं  
 कंसकिलिटाद् अत्राहं पश्यरविदिया " इति । आर्द्धेण सरसे-  
 न चन्दनेनाऽऽश्रितं मार्गं येषां ते आर्द्धचन्दनानुसितगताः ।  
 ( सुपुरुषवर्णकः ) औ० ।

अद्ग-अर्द्ध-३० । अर्द्धे-लुद्ध । यतौ, पीडायां, बधे, याचने  
 च । याच० । स्थनामकृताने राजनि च, येन पञ्चावर्तां प्राधेयित्वा  
 माणिक्यदेवप्रतिमाऽऽनीता । त० ४ : कल्प ।

अद्गो ( एणो )-दश-४ कुत्रे , दे० ना० १ दशं ।

अ व अद्ब-त्रि० । निगालितं, आच० ६ अ० ।

अद्ब-अद्ब-न० । कृपापुचित्तप्याभाये, पञ्च० ३ विष० ।

अद्ब-आद्ब-न० । आ-कह-मांघे । युद् । वक्राधने, करणे  
 न्युद् । त्रयपाकायानाहुत्ताप्यमाने उद्कृतंसादौ, उपा० ३ अ ।

अद्ब-आर्द्ध-त्रि० । कन्दर्वचनं नकत्रवदति, अत्रु० । " हो अ-  
 द्बो " स्था० २ डा० ३ उ० । " अद्बो क्लृत् नक्वन्ते " सू०  
 प्र० १० पाठु० । " अद्बो णक्वन्ते पयनारे " पं० सं० १ श्लार ।

अद्ब-आर्द्ध-न० । आर्द्धशोभेन पवित्रीकृते, सू० १ उ० ।

अद्बो-दश-वर्षेण, दे० ना० १ वर्गं ।

अद्बो-आर्द्ध-पु० । दपणे, स० ।

अर्द्धाये पेटभाये माणुसं किं अर्द्धाये पेटहि, अर्द्धायां  
 पेटहि, पल्लिजागं पेटहि ? गोयमा । एां अर्द्धाये पेटहि,  
 एां अर्द्धायां, पल्लिजागं पेटहि । एवं पेटये अर्द्धिजागं  
 अर्द्धि माणं वृत्त्वं पाणं तेषां फणियरसं ।

( अर्द्धामिति ) आर्द्धं ( पेटभाये सि ) प्रेक्ष्यमाणो मनुष्यः  
 किमार्द्धं प्रेक्षते? आर्द्धोऽस्वहासमानयः । अर्द्धात्प्राग्भेदं शरीर-  
 मभिरुच्छते । उन पल्लिजागमिति ? प्रतिजागं प्रतिबिम्बम् । भगवा-  
 नाद्-आर्द्धो तावयं कृतं पय, तस्य स्फुटस्वकपस्य यथायास्थि-  
 ततया तेनोपलभ्यते । आर्द्धानं आरमशरीरं पुनर्न पश्य न, त-  
 स्य तत्राभावाद् । स्वशरीरं हि आरमि इयवस्थितं नादर्द्धं,  
 ततः कथमरमशरीरं तत्र च पश्येत् इति ? प्रतिजागं स्वशरीर-  
 रय प्रतिबिम्बं पश्यति । अथ किमात्मकः प्रतिबिम्बः ? उच्यते-छा-  
 या पुत्रमहात्मकम् । तथाहि-सर्वमैत्रियकं वस्तु स्वयं चयापचय-  
 १५१

धर्मकं, रश्मिबन्धः रश्मय इति त्रयापुत्रगता व्यवहितम् । ते च  
 त्रयापुत्रगताः प्रत्यङ्गत एव सिद्धाः । सर्वेस्वर्गापि स्फुल्लवस्तुन-  
 श्चायाथा श्रव्यः । प्रतिप्राप्तिप्रतीतिः । अन्वयच-यद् स्फुल्लव-  
 स्तु व्यवहिततया, बृहत्सिततया वा नादर्शोद्विष्वगवाहारश्मिर्भ-  
 वति, ततो न तस्मात्तद् दृश्यते, तस्मात्तद्वर्षयते-सति त्र-  
 यापुत्रगता इति । ते च त्रयापुत्रगतास्वस्तसामर्थ्याद्विष्वि-  
 परिणममस्वभावाः । तथाहि-ने त्रयापुत्रगता दिवा वस्तु-य-  
 प्रास्वरप्रतीतगताः समस्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमा विज्ञानाः इया-  
 मरूपतया परिणमन्ते, निशि तु कृष्णाः; पतञ्च प्रसरति  
 दिवसे सूर्यकरनिकरम्, निशि तु कच्छोद्योतं प्रम्यङ्गत एव  
 सिद्धः । त एव त्रयापरमाणव आदर्शादिभास्वरद्रव्यप्रतिभा-  
 ताः मन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमाधधाना यादृशगुणाः स्वसं-  
 बन्धि द्रव्ये कृष्णो, नीलो, सितो वा, सितो वा, सितो वा; परिणमन्ते ।  
 एतद्रव्यादर्शादिविष्वङ्गतः सिद्धम् । ततोऽधिकृतसुत्रेऽपि ये म-  
 नुष्यस्य त्रयापरमाणव आदर्शादिकमुपसंक्रम्य स्वदेहगत-  
 भतया, स्वदेहाकारतया च परिणमन्ते, तेषां तत्रोपलभ्यते श-  
 रीरस्य, ते च प्रतिबिम्बश्चद्वयाः । अत्र उच्यं न शरीरं पश्य-  
 ति, किन्तु प्रतिभागमिति । नैवैतस्वमनीयिकाविकृतिभूतम् ।  
 यत उक्तं आगम-  
 " भासा उ दिवा छाया, अभासुरगता निशि तु कालाभा ।  
 सा चैव भासुरगया, मनेहवशा मृण्यथा ॥ १ ॥  
 जे आदर्शे स तसां, देहावयवा हृद्यन्तं संकता ।  
 तसि तस्य प्रत्यस्य, एतास्येता म हृद्यन्तं ॥ २ ॥

एतन्मूर्तीकाकारोऽप्याह-यस्मान्मनसंयन्धि हे षिन्द्रिक्य कृष्-  
 णं द्रव्यं चयापचयधर्मकं, रश्मिबन्ध भवति, यतश्चादर्शोद्विषु  
 त्रया स्फुल्लस्य दृश्यतेऽवगाहारश्मिनः । न चादर्शं अनवगाह-  
 रश्मिनः स्फुल्लस्यस्य कस्यार्थदर्शने भवति । नचास्तरितं दृश्यते  
 किञ्चित्, अतिदूरस्थं वा इति ।

पल्लिजागं प्रतिभागं ( पेटहि ) पश्यति । एवमसि मस्याद्विषय-  
 याप्यपि यद् सूत्राप्यपि भावनीयानि । सूत्रपाठोऽप्येवम्-" अ-  
 सिं देहमाण मणुसं किं असिं देहद्, अर्द्धाणं देहद्, पल्लिजागं  
 देहद् " इत्यादि । प्रश्न० १५ पद् १ स्था० । स्फाटिकविमलौ,  
 नि० सू० १३ उ० । " अणायार " हाद्वेऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठ  
 आदर्शं मुखप्रक्षोकनप्रस्तावेऽप्येतदुक्तम् )

अर्द्धाणां न ( न )-आर्द्धशशभ-पुं० । प्रअधिचाभेद, यथा आ-  
 दर्शो देवनाञ्जनारः क्रियते । एतद्वचकस्यतामिबन्धे प्रअध्याकर-  
 णानामष्टमेऽप्ययने च । परमिदानीं प्रअध्याकरणेषु एतदप्ययनं  
 न दृश्यते । स्था० १० डा० ।

अर्द्धाणामिजा-आर्द्धश वया-स्त्री० । विधाविशेषे, यथाऽऽतुर  
 आर्द्धं प्रतिबिम्बितोपमृज्यमानः प्रगुणो जायते । द्य० ५ उ० ।

अर्द्धाणामिजा-आर्द्धशमान-पुं० । आर्द्धशोभे समानस्फुल्ल इति  
 अर्द्धाणामिजासंज्ञे, स्था० । यो हि सापुःभिः प्रकृष्यमानानुत्तमनीय-  
 यादादीनागामिकात् भावाद् यथावत्प्रतिपद्यते सति हतायोनाद्-  
 शक्यत, स आर्द्धशोभमानः । स्था० ४ डा० ३ उ० ।

अर्द्धामलगा-आर्द्धामलगा-न० । पशुवृत्तसंभन्धिनि मधुरे, ( इति  
 संप्रदाये ) च० २ अर्थ० । पञ्च० । " अर्द्धामलगाण्यमान स-  
 ङ्खिषुपुडविकायां गार्द्धति " नि० सू० १ उ० । शशवृत्तसंभन्धिनि  
 मधुरे, प्रश्न० ४ डा० ।

अप्राहित-आर्द्रातिष्ठ-पुं० । कोमलकाके, भा० म० प्र० ।  
 अद्विप-अद्विर्ते-त्रि० । पीडिते, ४०० १० उ० ।  
 अदोहि ( वृ )-अदोहिन्-त्रि० । कस्याप्यवञ्चके, ४० ३ अघि० ।  
 अद्व-अद्व-न० । "अद्वर्षिसूर्याऽप्येते वा" । ८। २। ४१ । इति  
 सूत्रेण संयुक्तस्य इत्ववि कल्पनाकारः इः प्रा० । समप्रविनागे, एक-  
 देशे वा । विधेः० । "अद्वऽगुलसोविष्ठां जेदुष्पमायां असी भवि-  
 ष्यो" । जं० ३ वृह० ।  
 अद्वतो-दशी-पर्यन्ते , दे० ना० १ वगै ।  
 अद्व ( द्वा ) ए-अद्वन्-पुं० । प्राकृते- "पुंस्यन प्राणो राज-  
 वध" । ८। ३। ४६ । इति सूत्रेण अनः स्थाने वा प्राक् इत्यादेशः ।  
 प्रा० । परि, को० । मार्गे, हा० १४ अ० । नि० चू० ।  
 अद्वर्षणं पि य द्वाविहं, पंथो भगो य होइ नायव्यो ॥  
 अद्या द्विविधाः, सद्यथा-अन्याः, मार्गश्च । अन्या नाम य प्रासन-  
 मरपट्टीमजिकानां किञ्चिदकतरमपि नास्ति । यत्र पुनर्मामानुप्रा-  
 मरपर्यादाऽवसितं भवति स प्रामे मार्ग उच्यते । ४० १ उ० ।  
 प्रयाणके, विपा० १ सु० ३ अ० ।  
 अद्व ( द्वाण ) कण्-अध्वकण्-पुं० । अध्वनि शुद्धमाणे  
 कल्पे कर्मनाये आहारि, ४० १ उ० । ( 'विदार' शब्दे पतद्वि-  
 धिद्वयः )  
 अद्वकृरिस-अद्वकृष-पुं० । पक्षस्याऽऽहमां, अनु० ।  
 अद्वकृविह-अद्वकृपरिथ-पुं० । अद्वकृपरिथकारवति, " अ-  
 द्वकृविहृत्संघाणसंज्ञयं " वसानीकृतमर्मात्रं कपरिथस्यैव यन्  
 संस्थानं तेन संस्थितमर्कपरिथसंस्थानसंस्थितम् । सु० प्र०  
 १८ पाठु० ।  
 अद्वकुल ( द ) व-अद्वकुल ( द ) व-पुं० । मगधदेशमासिके  
 धान्यमानविशेषे, रा० ।  
 अद्वकौस-अद्वकौश-पुं० । धनुःसहस्रे, जं० ४ वृह० ।  
 अद्वकखण-देश-अर्वाकणे, दे० ना० १ वगै ।  
 अद्वकिलअं-देशी-सकारणं, दे० ना० १ वगै ।  
 अद्वकिल(चि)कदवस-अर्द्धाक्षिकाद्व-न० । अद्वे तिर्यग्-  
 क्षिप्तमक्षि येषु कटाक्षकंपेयु चोदियन्ते । अद्वकटाक्षे, "अद्व-  
 ऽद्वकद्वकवित्ठियाइं लुसेमाणा उच्यते" जी० ३ प्रति ।  
 अद्व कखय-अद्वकृद्वि-त्रि० । अद्वे विहृतलोचने, महा० ३ अ० ।  
 अद्वकलद्वा-अद्वकलद्वा-स्त्री० । अर्धजङ्गलं गव्यमन्यासुपानदि,  
 ४० ३ उ० ।  
 अद्वचंद-अद्वचन्द-पुं० । अद्वे चन्दाकारे सोपाने, हा० १ अ० ।  
 स० । सौधमेकत्वोऽद्वे चन्दसंस्थामसंस्थितः । रा० ।  
 अद्वककाल-अद्वककाल-न० । गतिःशेषे, स्था० ७ उ० ।  
 अद्वककाला-अद्वककाला-स्त्री० । अद्वे कलाकारायां अ-  
 यौ, स्था० ७ उ० ।  
 अद्वकद्व-अद्वकद्व-त्रि० । सार्केषु पञ्चसु, भा० म० प्र० ।  
 अद्वकन्या-देश-सोचकाभ्यपद्याणे, दे० ना० १ वगै ।

अद्वजिष्ण-अद्वजिष्ण-त्रि० । जीर्णोऽजीर्णे, भा० म० द्वि० ।  
 अद्वजोयण-अद्वजोयन-न० । योजनस्थानेऽर्कयोयनय ।  
 गम्यते, ४० ४ उ० ।  
 अद्वकद्व-अद्वकद्व-त्रि० । अद्वे मद्यमे येषां तान्यर्कद्वमामि । सा-  
 द्देससु, हा० १ अ० । "अद्वकमण य रात्रिविषाणं व विद्वेकतायं" ।  
 स्था० १ उ० । सार्कसताहारात्राधिक्येऽनु-अतोत्पे, कर्म० १ कर्म० ।  
 अद्वकणाराय-अद्वकणाराय-न० । अद्वे नाराचमुनयो मर्कटव-  
 न्धो यत्र तद्वर्धनाराचम् । अद्वकैकेदशबन्धुद्वितीयपार्थकी-  
 ल्लिकासंबन्धकेषु चतुर्थसंज्ञने, स० । यत्र हि एकपार्थे मर्कट-  
 कण्यो द्वितीयं च पार्थे कालिका भवति । जी० १ प्रति० । कल्प० ।  
 पं० सं० । कर्म० । तं० । स्व० ।  
 अद्वकुला-अद्वकुला-स्त्री० । तुलाप्रमाणस्वादे, अनु० ।  
 अद्वकृ-अद्वकृद्वि-न० । चतुर्तां, ४० ३ उ० ।  
 अद्वकृ-अद्वकृद्वि-स्त्री० । अद्याया अद्या अद्याया । द्वि-  
 सस्य रजत्या वा एकदेशे प्रहरादौ , स्था० १० उ० ।  
 अद्वकामास्य-अद्वकामास्य-न० । अद्याकाविवयं मिश्रकं स-  
 त्याऽस्यमकाकामिभ्रकम् । सत्यम्याभेदे, यथा कालिकास्मि-  
 श्रिप्रयोजने प्रहृत्प्रहर एव भवत्याहमित्वाह । स्था० १० उ० ।  
 अद्वपंचमपुहुत्-अर्धपञ्चमपुहुत्-पुं० । अद्वे पञ्चमाश्व ते सु-  
 हृतांश्च अर्धपञ्चममूर्धाः । नवसु घटिकासु अर्धपञ्चमा मुर्तौ  
 यस्य । ६ व० । नवघटिकापरिमिते, "जयायं मने । उक्ता-  
 सिया अद्वपचमपुहुता दिवससु रादये वा पारिखी जयर्" ।  
 म० ११ श० ११ उ० ।  
 अद्वपल-अर्धपल-न० । कर्षद्वये, अनु० ।  
 अद्वपपतिअंका-अर्धपपति(न्य)ङ्का-स्त्री० । ऊरुपेकपाद्विषे-  
 शानलेकणयां लक्षणायां, स्था० ५ उ० । ७ उ० ।  
 अद्वपेडा-अर्धपेडा-स्त्री० । पेडाया अर्धमर्धेडा । पेडायाः  
 समलाने । अर्धपेडाकारेडा । पेडासंस्थानमगमनङ्गणे गांभर-  
 जेदे, पञ्चा० १८ विव० । दृशा० । "अद्वपेडा कर्माय सेव अद्व-  
 संज्ञिया घरपरिवादी" पं० व० २ उ० । अर्धपेडाऽप्येवमेव, नव-  
 रमर्धेडासदृशं स्थानयोर्द्विगुणं सवचयोर्द्विअधयोरेव पयेट-  
 ति, ४० १ उ० । स्था० । वृत्त० । ध० । म० ।  
 अद्वपरद्व-अर्धपरद्व-पुं० । जतस्यैकमर्धपरतम् । भरगादौ,  
 "अद्वपरद्वस्य सामिका धीराकिति पुरिसा" प्रञ्ज० ४ अ० ३ उ० ।  
 अद्वपरद्वपरद्वप्राणमेत-अर्धपरद्वप्राणमात्र-त्रि० । अद्वे जत-  
 स्य यद्वप्राणं तदेव मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । सातिरेकवि-  
 षट्पाधिकयोऽनयातद्वप्राणं । "अद्वजतद्वप्राणमेषं यौर्वि-  
 विसेणं विसपरिणयं विसद्वमार्गि करेण" ( शुद्धिक आशी-  
 विषो वा ) स्था० ४ उ० ४ उ० ।  
 अद्वप्रागद्व-अर्धप्रागद्व-न० । मगथाऽविषयमाभानिबद्धे, क-  
 ष्टदशदेशांजाभानियते च । नि० चू० ११ उ० ।  
 अद्वप्रागद्वी-अर्धप्रागद्वी-स्त्री० । "रसोसंघौ" ( ८। ५। २५० )  
 मागथामित्यादिमागधीभाषाङ्गणेनापरिवृत्तायां प्राकृतभाषा-

अक्षयवहुषार्थां भाषायाम्, औ० । प्राकृतादीनां चषणां भाषाविशेषार्थां मध्ये वा भाषावी नाम भाषा " रसालेशो " भागवत्यामिवादिषु चषायती, सा असमाहितस्वकीयसमप्रलक्षणाऽऽभागाधीत्युच्यते । "अभयं च यं अब्जमागहीय भासाय चम्पमादपच्यते " इति शाबिषो बुवाहितयः । स० ३५ सम० । विप० ३५ भा० । रा० । आ० । आ० म० । "अब्जमागही भासा भाषित्वाभाषी चित्सिद्ध " भाषा किल षड्विधा भवति, यद्वाह- "प्राकृतसंस्कृतमागच-पिशाचभाषा च घोरसेवी च । चडोऽत्र मूरिमेवां, देशविशेषादपसंशः " ॥१॥ म० ५ श० ५ उ० ।

अब्जमास-अर्कमास-पुं० । अर्कं मासस्य । एकदे० त० स० । पञ्च-दश्याहामकं मासव्याजैकेषु पलायके काले, प्र० १ सं० १० द्वा० ।  
अब्जमासिय-अर्धमासि, क-नि० । पाणिने, " अब्जमासिय कचरिमुंके सि " यदि कर्त्तव्यां कारयति तदा पक्षे पक्षे शुभं कारणीयम्, शुक्रकर्त्तव्यांश्च लोके प्रायश्चित्तम् । कट्य० ।

अब्जप्रचक्रासमय-अर्धरात्रकालसमय-पुं० । समयः समा-भारोऽपि भवतीति कालेन विशेषितः । कालरूपः समयः कालसमयः । स चाऽअर्धरात्ररूपोऽपि भवतीत्यतोऽर्धरात्र-कालसमयः । निशेधे रात्रेमेध्यकाले, " अब्जप्रचक्रासम-यसि सुचक्रागरा श्रीहीरमायी श्रीहीरमायी " इत्यादि । म० ११ श० ११ उ० ।

अब्जप्रज्ञ-अर्धप्रज्ञ-पुं० । लवस्य समेऽधे, ज्ये० १ पापु० ।  
अब्जप्रवित्रारं-दशो-मण्डने, दे० ना० १ वर्ग ।

अब्जप्रवेयाली-अर्धवैताली-स्त्री० । वैतालन्या विद्याया उप-धामकविद्यायाम्, सूत्र० २ श० २ अ० ।

अब्जप्रवृत्तासिया-अर्धमाङ्गादियुक्ता-स्त्री० । देवलसुतराजस्य प्रजावितस्य प्रवृत्तासियामेव देव्यासुतप्रभाषां पृथ्याम्, आ० ५ अ० । आ० षू० ( 'सर्वकामविरचया' शब्दे कथा वक्ष्यते )

अब्जप्रसम-अर्धसम-म० । एकतरसमे बृते, यत्र पादा अल-राणि वा समासि, अथवा यत्र प्रथमश्रुतीययोर्वितीयचतुर्थयोश्च समत्वम् । ( न सर्वत्र ) स्या० ७ डा० ।

अब्जप्रहार-अर्धप्रहार-पुं० । नवसरिकं कषठाभरणमेव, रा० । द्वा० । जी० । वि० । जं० । जीवा० । आ० । म० । औ० ।  
स्वनामक्याते द्वीपे, समुद्रे च । जी० ३ प्रति० । तत्रार्द्धहारद्वी-पे, अर्द्धहारभद्रार्द्धहारमहाद्वीपे देवी अर्द्धहारसमुद्रे अर्द्ध-हारवार्द्धहारमहाद्वीपे " जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारजद-अर्धप्रहारजद-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारमहाभ-अर्धप्रहारमहाभ-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधि-पती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारमहाद्वार-अर्धप्रहारमहाद्वार-पुं० । अर्द्धहारसमुद्राधि-पता देवे, अर्द्धहारवत्समुद्राधिपती देवे च । जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारवर-अर्धप्रहारवर-पुं० । स्वनामक्याते द्वीपमेदे, समु-द्रेमेव च । तत्र अर्द्धहारवार्द्धहारवत्समुद्राधारी च देवी वसतः । जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारवरभ-अर्धप्रहारवरभ-पुं० । अर्द्धहारवत्द्वीपाधि-पती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारवरमहाद्वार-अर्धप्रहारवरमहाद्वार-पुं० । अर्द्धहारसमु-द्राधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारवरसमुद्राधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारवास-अर्धप्रहारावभास-पुं० । स्वनामक्याते द्वीप-मेदे, समुद्रेमेव च । तत्र अर्द्धहारवत्समे द्वीपे अर्द्धहारवत्समा-सम्राजैहारावभासमहाद्वीपे, अर्द्धहारवत्समे समुद्रे अर्द्धहारवत्सम्राजैहारावभासमहाद्वीपे देवी वसतः । जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारीभासजद-अर्धप्रहारावभासजद-पुं० । अर्द्धहारव-भासद्वीपाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारीभानमहाभद-अर्धप्रहारावभासमहाद्वार-पुं० । अ-र्द्धहारवत्सम्राजैहारावभासद्वीपाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारीभासमहाद्वार-अर्धप्रहारावभासमहाद्वार-पुं० । अर्द्ध-हारावभाससमुद्राधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जप्रहारीभासवर-अर्धप्रहारावभासवर-पुं० । अर्द्धहारवत्समा-समुद्राधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जधा-अर्धधा-स्त्री० । समयादिषु कालमेयेषु, संकेतादिष्वच-कोऽप्यस्ति । ज० ११ श० ११ उ० । अनु० । अब्जविज्ञानाऽव्यव-हारायशामलामरुपायां लक्ष्मी, विदे० । अर्द्धा विधिष्व-अती-ताश्च, वर्तमानाश्च, अनगनाश्च च । कर्म० ५ कर्म० ।

अब्जधातय-अर्धधातुषु-न० । अर्द्धा कालस्तत्प्रधानायाः कर्म-विशेषोऽद्यायुः । मवायथेऽपि काशात्पथेऽपि कालान्तराणुगा-मिनि, स्या० ३ जा० ३ उ० । कायस्थितिकेपे आयुष्कर्ममेदे, स्या० ३ डा० ५ उ० । यथा-मनुष्यायुः कस्याऽपि जन्मायथ एव नागच्छति । "दोषं अद्या उप वक्षते । तं जडा-मनुस्साथं चैव पविदियतिरिक्कजोणियाथं चैव " स्या० २ डा० ३ उ० ।

अब्जधाकाल-अर्धधाकाल-पुं० । अर्द्धासमयादेव विशेषाः, तद्व-धाकाऽऽकालः । अर्द्धसुव्यायैदिक्याविशिष्टेऽर्द्धनीयसमुद्रा-स्तर्धनि समयादौः कालमेदे, ज० ११ श० ११ उ० । विदे० । आ० म० । आ० षू० ।

अब्जधाकालरूपोपदर्शनाय विशेषावश्यकाम्याये  
आह-

सूरकिरिया विसिधो, गोदोहाइकिरिया मु निरेवकवो ।  
अब्जधाकाशो भर्षडे, समयक्लेचन्मि सभायार्थे ॥ ४ ॥

सूत्रो भास्करः, तस्य क्रिया मंत्रोद्भवतुष्वपि विदुः प्रदक्षिण-तोऽत्रसं नुमणभक्षया; सूत्रोपलक्षणं यथाऽऽकमहनक्षत्राता-पामर्षाः चतुसा क्रिया गृह्णते, तथा सुव्यादिक्रियया विशिष्टो वि-शेषितो ध्यक्ताः कृतोऽर्द्धनीयद्वीपसमुद्रलक्षणं समयमेवे चः सम-यावाक्षकान्दिक्यैः प्रवर्तते, न परतः, सुव्यादिक्रियाऽऽभावाद्, सोऽ-र्द्धाकाशो ज्ञाप्यते । किंचेप परिचामवती काशोऽभावाद् इति च कालमनुभवते, तमतस्यवच्छेदायार्द्धा-गोदोहादिक्रियासु निर-

पेक्षः, न कालु यथोक्तद्वाराकालः क्रियां गोत्रोद्धार्यात्मिकामपेक्ष्य प्रवर्त्तते, किं तु सूर्योदितम । तथाहि-यावदावःक्रेञ्चं स्वकि-  
 र्शेदिनकारभ्रमर घातयते तद् दिवस उच्यते, परतस्तु रात्रिः ।  
 तस्य च दिवसस्य परमनिष्ठोऽपेक्ष्यमेव जागः समयः । ते  
 कासंभयेथा आबलिका इत्यादि । एवं च प्रवृत्तस्यास्य कासस्य  
 सूर्योदितिक्रियां विद्युत् काऽस्य गोत्रोद्धारिक्रियापेक्षेति । के  
 पुनस्तु समयार्थोऽब्जाकालभेदा इत्याह नियुक्तिकारः-“सम-  
 यावतियमुष्णता, दिवससमोत्पत्तपक्वमासा य । सवच्छरगुण-  
 क्षिपा, सागरवस्सपिपरियद्वा ॥” विरोः ।

पतदेव सूत्रकदाह—

से किं तं अब्जाकाले ?। अब्जाकाले अणोर्गाविते पण्येते । तं  
 जडा-समयद्वयाए आबलियद्वयाए जाव उस्सपिण्णिय-  
 याए । एस खं सुदंसणा अब्जादोहारच्छेयणेणं सिज्जिमा-  
 णा जाहे विभागं णो हव्वमागच्छेद,सेत्तं समए । समयद्व-  
 याए असंखेज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमणं एगा  
 आबलिय ति वुच्चद, संखेज्जाओ आबलियाओ जडा सा-  
 द्विउदसए जाव तं सगरोवमस एगसस भवे परिमाणं ॥

( से किं तं अब्जाकाले इत्यादि। अब्जाकालोऽनेकविध प्रकृतः ।  
 तद् यथा- ( समयद्वयाए नि ) समयद्वयाऽथः समयार्थस्मद्भाव-  
 स्तत्ता , तथा, समयज्ञानेन इत्यर्थः । एवमत्र्यापि । यावत् कर-  
 णान् 'सुष्ठुलद्वयाए' इत्यादि दृश्यमिति । अधानन्तरेःकस्य स-  
 यादिकासस्य स्वरूपमभिधानुमाह- एस णमियादि) एषाऽ-  
 नन्तरोक्तोत्सर्पिण्यादिका ( अब्जादोहारच्छेयणेण नि ) द्वौ हा-  
 रौ भागी यत्र च्छेदने, द्विधा वा कारः करणं यत्र तद्, द्विद्वारं द्वि-  
 धाकारं वा, तेन । (जाहं सि) । यदा, समय इति शेषः । "संख-  
 मित्यादि" निगमनम् । ( असंखेज्जाणमित्यादि ) असंख्यातानां  
 समयानां संबन्धनां ये समुदया वृत्तानि तेषां यः समितया  
 मूलनानि तासां यः समागमः सयोगः समुदयसमितिसमागम-  
 स्तेन, यत्कालमामं भवतीति गम्यते; यैकालिकेति गोच्यत ।  
 (साद्विउदसए ति) षष्ठशतस्य सप्तमोदेशकः ॥०१११११०११३०॥

अब्जाखिएण-अध्वरखिन्न-वि० । पधि बहुचलनेन परिभास्ते,  
 “ जो पुण अब्जाखिन्न, आत्तिहि पूयहं तं दान् ।” वि०

अव्जाप्रेय-अव्जाप्रेय-पुं० । अव्जाविक्रिके, क०म०।पं०सं० ।

अव्जाप्रेय-अव्जाप्रेय-पुं० । मगधदेशस्य संबन्धि मानविशेषे, श्री०।

अव्जाप्रेय-अध्वन-पुं० । पधि, “ पुंस्येन आणो राजवचच ”  
 ॥ ८ । ३ । ५६ । इत्यनः स्थाने आणेत्यादेशः । प्रा० ।

अध्वान-न० । प्रयाणकं, “ अब्जाणं हि सुदेहिं पातरासंदि जेणव  
 मालानवो चोरपल्ली तेणव उवागच्छ ” विवा० १ शु०३ अ० ।

अव्जाणकण्य-अव्जाणकण्य-पुं० । मार्गविहरणविधौ, (स च यथा  
 वद् विहार' शब्दे दर्शयिष्यत ) लशतस्वत्र-

.....अद्गुणा अब्जाणकण्य बोच्छामि ।  
 जेहिं च कारणेहिं, अब्जा धो गमस्ते एणमो ॥ १ ॥  
 असिबे ओमोदरिए, रायदुहे जए व आगादे ।  
 देसुहाये अपर-कमे य ऊसाएतां पणमं ॥ २ ॥

उद्दरे सु भक्ते, अब्जाण पवज्जणं च दण्यणं ।  
 दिवसादा च त लहुगा, च त गुग्गा कालगा होति ॥३॥  
 ठममउपादणए-सणाए जे खलु विराहिते ठाणे ।  
 तं पिण्यएणं तस्स उ, पायच्छिन्नं तु दायव्वं ॥ ४ ॥  
 पुदवं आऊ तेऊ, वाऊ वयास्सत तसा य आणंता ।  
 इयेसु परिसेमु य, जं जौहं आरोवणा जणित्ता ॥५॥  
 लहुआं गुरुओ हाहु गुरु, चत्तारि उच्च लहुया य ।  
 छगुरु वेदो मूलं, अणवट्टणोवपारं च ॥ ६ ॥  
 असिबे ओमोदरिए, रायदुहे जए व आगादे ।  
 गीयत्या मज्झत्या, सत्थस्स गवेसणं कुज्जा ॥ ७ ॥  
 कालमकालं जेतुं, एणाण य उद्विचिते अणुएणवणा ।  
 जिच्चू मिच्छादिहं, धम्मकहा एणमेत्ते य ॥ ८ ॥  
 सत्थयसमिपे खंनि-परिच्छेण खलु त्तेव पोम्मलिए ।  
 धम्मकहणमित्तणं, वमहं पुण दव्वल्लिगेण ॥ ९ ॥  
 संघे पंघे तेणे, पंचविहो उग्गहो य दव्वयाणं ।  
 सुणामागे दव्व-ग्गहणं जयणाए गीयत्या ॥ १० ॥  
 तुयं फले य पंचे, मां महिसं सुचरा य दव्वथी य ।  
 अणवमणात्ते वि य, जयणाए जाणगे गहणं ॥ ११ ॥  
 पिण्यद्वगमूति आरिग-एकववणतद्विय पुदगपत्ते य ।  
 कत्तिय कत्तिय मिकग-मंविदुं लाउ चैव वात्ती य ॥ १२ ॥  
 पत्तिय सेंजिय गुग्गिगा-अं अणमदमत्थकंसि य ।  
 जं चाहु व गूदकरं, गेहहइ अब्जाणकण्यमि ॥ १३ ॥  
 सीहाणुणा य पुरतो, वसजाणुमग्गतां समएणेति ।  
 पंघे तं पि य जेता, पंरंति जा अप्पज्जत्ती ॥ १४ ॥  
 दंरिय मिच्छदिहं, ममुदाण णिवारणं चणिविसए ।  
 मारुविसएण जद्द-वमजा पुण दव्वल्लिगेण ॥ १५ ॥  
 उवकरणचरित्ताणं, विदोयणा सरंरदोयणागादे ।  
 धम्मकहणमित्तणं, पुद्दागकज्जेण आगादे ॥ १६ ॥  
 अस्मिवादिकारणेहिं, अब्जाण पवज्जणं अणुएणाते ।  
 उवकरणपुव्वपणिले-दिएण मत्थेण गंतव्वं ॥ १७ ॥  
 वचंताणं अमह, को तांए तरेज्ज गंधपादेहिं ? ।  
 अवरकमो तु तादे, तदिहं तु इमे वि भग्गेज्जा ॥ १८ ॥  
 एगखुरए दुवत्तरं, दुपिण अणुवंधि तह य अणुरंगा ।  
 अह जएवा वि जायति, अमतं । अणुसट्टिमादिहं ॥ १९ ॥  
 एगखुरा आसादी, हुखुरा उदादि हुपिय जह्जादी ।  
 अणुबंधो सकमादी, अणुरंगपिसी तु बांधववा ॥ २० ॥  
 एएमु पुव्ववट्ट-वखुरादिजाति तु सिक्खुत्तादी ।  
 अमतं । य खुहुआ वा, सिंगावनेगए कहुति तु ॥ २१ ॥  
 आवासियम्मि सत्थे, तस्सं व तं पि अण्णिणंति पुणो ।  
 अह जणाति गता संता, अणेज्जाह वि ममं एयं ॥ २२ ॥  
 तादे य उक्कदादी, चारेदी । तेनि असतिपे सुखो ॥

लिंगविशेषं कांडं, चारंती जा गताद्यापं ॥ २३ ॥  
 एवं दुसुरादीसु वि, जयणा जा ज्यथ सा तु कायव्या ।  
 सुष्ठवजाणयणं, अष्टाषवहुयं तु सायव्यं ॥ २४ ॥  
 एतेसामएणतरं, अत्रवादा षो गिसेवेज्जा ।  
 तद्वाणवावराहे, संबट्टियमाऽवरादाणं ॥ २५ ॥  
 संबट्टियाऽवराहे, तवोवत्थ दो त्तेव मूलं वा ।  
 आयावदकप्यं जं, पमाणणिम्मालुचरिमम्मि ॥ २६ ॥  
 अष्टाणकप्य एसा, ..... ॥ ५० जा० ।

अस्य शृणुः—अष्टाणकप्यामि तिष्ठि परिसाओ कीरित, सीह-  
 परिसा पुत्रअं, वसतपरिसा मज्जंमा मिगा य मज्जे, वसजा भं-  
 ने । जाहे उंत्तत्ता अष्टाणं ताध न परिउवैत्त; अष्टाणकप्यं जाध  
 अष्टपञ्चत्तं, सो पुण सत्थवाहो मिच्छादिठो समुवाणं वा नि-  
 चारेजा धम्मकहाइ पणवणा, साठवियसत्तमएहि वा पक-  
 येत्ति । अह वसमा दववलिंगं काकण पणयेत्ति वा णं । गाहा-  
 (उचकरणेति)सो पुण मिच्छादिठिओ उवचारणं वा विलोवेज्जा,  
 चांसससारमाहं वा पक्खा धम्मकहाइ पुलाकाज्जं करंति, आ-  
 गाहे कंठं पुण गन्धसंयंदि विरे, अह कांठं न तरहं बहिं च अत-  
 रंता । गाहा-(पराश्वरसि) पक्खा वहुसुरं ममात्ति, सिद्धपुत्तसा-  
 वंशे वा णं कहुइ, अससं खुहुओ लिंगविशेषेणं आवासिप पथा-  
 व्विपणंति । अह भणज्जा-तत्थ गथा पक्कविण्णउज्जाह, ताहे लिंग-  
 विशेषेणं खुहुं उचारंइ । एवं गोशोऽपि दुत्पियेना नाम वरथी-  
 अयुरंता, सकरंअसुवंधी, पयंसरा, एवं अष्टाषवहुयं नाठण ।  
 गाहा सिद्धं जाव पमाणणिम्मालुचरिमम्मि । एस अष्टाण-  
 कप्या । ५० वृ० ॥

अष्टाषाणमणु—अष्टधमन-न० । पथि विहरणे, "गणत्थ अ-  
 ष्टाणमणेणो कप्वह, सयमं वा जाव संदमणिंयं वा दुक्कहि-  
 ताणं गच्छिस्तए " ओ० । २५० ।

अष्टाषाणमिगमय—अष्टचनिर्गत-त्रि० । मार्गनिगते, व्य० ८ उ० ।

अष्टाषाणमिदवन्न—अष्टप्रतिपन्न-त्रि० । मार्गप्रतिपन्ने, ज० २ श०  
 १ उ० (अन्तरापथे वर्तमाने) विहारं वा कुर्वन्ति, वृ० । अस्य प्रथो  
 भेदाः तद्यथा— "वृणादिरेविहारी, तं विं यं हीती सपट्टि-  
 वक्खा " वृ० ४ उ० ।

अष्टाषाणवाणया—अष्टववाचना—स्त्री० । अष्टनि मार्गे सूचार्थ-  
 प्रदानं, व्य० १ उ० ।

अष्टाषाणसिय—अष्टशीर्षिक—न० । कालापादिनिर्गमरूपे प्र-  
 वेशरूपे, पि० । ततः परं समुदायेन साधकेन सह गन्तव्यम् ।  
 तस्मिन्, व्य० ४ उ० । विंयमार्गान्ते, वृ० ३ उ० ।

अष्टाषाणिय—आपचिक—त्रि० । पथिके, वृ० ४ उ० ।

अष्टाषाणपञ्चकत्वाण—अष्टाष्टप्रत्याख्यान-न० । कालाख्यामका-  
 माभिल्य वारुण्यदिकालमणे, आष० ६ अ० ।

पतञ्ज दशमं प्राथमिकमित्यं प्रतिपादितम्—

अष्टाषाणकत्वाणं, जं तं कालापमागुणेषणं ।  
 पुरिमकपोरिसीए, मुहुत्तमासऽवसासिहिं ॥ १० ॥

अष्टाकाले प्रत्याख्यानं यद्, तत्कालप्रमाणेन्द्रेण भवति पुरि-  
 १५२

मान्द्यैषाख्यैःश्यां मुहुत्तमासासकालैरिति गाथासंज्ञेयाः ॥१०॥  
 आ० वृ० ६ अ० ।

भवयवार्थः पुनः—

अष्टया कालो तस्य य, पमाणवप्यं तु जं जवे तमिह ।  
 अष्टयापञ्चकत्वाणं, दसम तं पुण इमे जाणियं ॥१॥

अष्टाशब्देन कालस्तावदभिधीयते, तस्य च कालस्य मुहुत्तपौ-  
 क्यार्थिकं प्रमाणमप्युपकारात् । ( अर्थं ति ) अष्टां बद्दन्तीति  
 शेषः । मुहुत्तया अप्यर्थो भिन्नकमत्र यथास्थानं योजित एव ।  
 ततो ऽष्टापरिमाणपरिकल्पेन यत्प्रत्याख्याने जनेत् तद्विह कदा-  
 प्रत्याख्यानं दशमं पूर्वोक्तानवयान्प्रत्याख्यानाद्भिर्नां चरयामि-  
 त्यर्थः । तस्पुरनिरिद्धं वक्ष्यमाणं भणितं गणयैरिति ॥ १ ॥

तद्वाह—

नवकारपोरिसीए, पुरिमदुत्तमानपगठाणे च ।  
 आर्यविलुडनपट्टे, चरिमे य क्रमिगट्टे विमिहं ॥ २ ॥

अत्र भीमसेनन्यायेन नमस्कारशब्दात् परतः सहितशब्दो  
 दुष्टव्यः । ततो नमस्कारश्च, कौशेयैः-नमस्कारसहितं च पौठयो  
 च नमस्कारपौठयो, तस्मिन्-नमस्कारविषये, पौठ्याविषये चेत्य-  
 र्थः । पूर्वोक्तं च, एकत्वात् न च, एकत्वात् न चेति समाहारे कृतस्य-  
 कवचने, पूर्वोक्तविषये एकासनाविषये एकस्थानविषये च । तथा  
 आचामासं च अत्रकार्येण आचामासलाभ्यस्तथै, तत्र आचामा-  
 स्तविषये उपपासविषये च । तथा-चरिमे चरमविषये । तथा-  
 अजिप्रहं अजिप्रहविषये । तथा-(विगहं) विहृतिविषये; सस-  
 न्येकवचने कुममत्र दुष्टव्यमिति । दशमं द्वादशकाप्रत्याख्यानम् ।  
 नयेकालसप्तविंशत्याख्याने कथमकाप्रत्याख्यानम्, तत्र का-  
 लनियमः श्रूयते ? । सत्यम् । अष्टाप्रत्याख्यानपूर्वाणि प्राथम्येण काल-  
 सनादीनि किञ्चनै इत्यष्टाप्रत्याख्याननेन भ्रमयन्त इति ॥ २ ॥  
 प्रथ० ४ अ० ।

अष्टाषाणजाय—अष्टाषापर्याय—दु० । कालहृतयमं, स्या० ७ उ० ।

अष्टाषापरिविचि—अष्टाषापरिवृत्ति—स्त्री० । कालपरावृत्तौ, "अ-  
 ष्टापरिविचिओ, पमत्त इयंरं सहस्सतो किञ्चा । " क० प्र० ।  
 अष्टाषामीभय—अष्टाषामिश्रक—न० । काशविषये सत्यसुवाजेदं,  
 यथा कस्मिंश्चित्प्रयोजने सहार्थीभ्यवर्यद् परिणतप्राये वासर  
 एव रजनी वर्तन् इति प्रच्योतीति । २५० । १० उ० ।

अष्टाषामीसिया—अष्टाषामिश्रिता—स्त्री० । अष्टा कालः, स वेह  
 प्रत्यावाद् द्विवसो रात्रिवो परिशुभो, संमिभित्तो यया साऽका-  
 मिभित्तः । सत्यसुवाजाजानेदं, यथा-द्विवसे वर्तमाने एव यदति-  
 उल्लिख रात्रिजोतिरि, रात्रौ वा वर्तमानायामुल्लिखोद्वतः सुव्यं  
 इति । प्रह्ण० ११ वद ।

अष्टाषारूपं—अष्टाषारूपं—त्रि० । अष्टा कालः, सैव रूपं सजाचो  
 यस्य तदकापरूपं । काशसमाये, पञ्च० ५ विष० ।

अष्टाषाणकति—अष्टाषाणकान्ति—स्त्री० । अष्टस्य समप्रविजागरु-  
 स्य एकदेशस्य वा एकादिपद्दत्तकस्यापकमणमवस्थानं, शेष-  
 स्य तु द्विदिपद्दत्तस्यैकदेशस्यैवैर्गमनं यस्यां रचनायां  
 साऽकाप्रकान्तिः । (समयपरिजातया) पद्वयमवयवैर्कदेशाऽ-  
 पकान्तां, विश० ।

अष्टासमय—अष्टासमय—पुं० । अष्टा कालः, तन्नृकणः समयः  
 कृणोऽकासमयः ३०२ श० १० उ० । अष्टायाः समयो निर्विभाषो





सावधानुष्ठानेनैव ब्रह्मनाङ्गननिर्माद्विनादिना कर्मणा कृत्स्नवैतनं कस्यचिद् कुर्वीको विहरति, हा० १८ प्र० १। रा० विपा० । ४० । आश्व० । बोधो योषाऽप्राज्ञायै च, तस्याऽनारिक्तपन्थात् । प्र४० ५ अध० ४। ० ।

अध ( इ ) म्पक्खाइ-अधर्मस्याति-नि० । अधर्मण क्याति-वैस्व । रा० । न धर्मोद् कयातिवैस्वयेति च । म० १३ श० २ उ० । अविद्यमानधर्मोऽप्यसिद्धं प्रसिद्धिक, विपा० १ शृ० १ इ० ।

अध ( इ ) म्पक्खाइ ( ए ) -अधर्मोऽस्त्याय यन्-नि० । अधर्ममाक्यात्तु शीलं यस्व स तथा । हा० १८ प्र० । न धर्ममाक्यात्तु शीलं शोभते । ज० ३ शृ० ७ उ० । अधर्मप्रतिपादके, विपा० १ शृ० १ प्र० ।

अध ( इ ) म्पक्खाइ-अधर्मयुक्त-न० । ३ तौ पापसंबन्धे सहोषोदाहरणनेदं, स्या० । पादं उदाहरणं कस्यचिदर्थस्य साधनायोपादी-यने केवलं पायाऽज्ञानकरणं, येन चोक्तेन प्रतिपाद्यधर्ममुद्दिश्य ज्ञापयेत्, न तदधर्मयुक्ततायाः उपायेन कार्याणि कुर्यात्, कालिकनलदासवचनं । तथाहि-पुत्रलादकमर्कटकमार्गणेपनद्वयि-शानामाशेषमर्कटकानां तस्यजलस्य विश्वं प्रकृपणतो मारणशून्येन रोज्ञानाचक्षुसाणकथावस्थापितेन चौरप्रादे नलदासा-भियानुपदेन्द्रेण चौर्यसदकारितात्सल्लगोपायेन विद्यवासिना निर्मिताश्रीणा विषयभ्रमोज्ञानदानेनः सर्वे स्थापयिता इति । आहरणं ह्यथात्वा चास्याधर्मयुक्तत्वात्तद्विधधेनुपधर्मयुक्तजनकन्याशोर्न, अनयनेवविधधेनुपराहनेनैव यतिनिति । स्या० ४ ज० ३ उ० । इदं च नलद. म. दु. वि. नि. दा. इ. त. न. शौकिकम् । तथैव-  
“ चाणकेण णेदं उच्चापय चतुसुषुप रासायणं उचिष्य एवं स्व-  
स्वं चाणक्या जहा सिक्कणाय, तेषां पदंमतिपरिहं मयुस्सेहिं सह चोरमाहो भिल्लो भणरं मुसह । चाणको वि ब्रह्मं चोर-  
माहं च उचिउकामो तिदं नं गदऊण परिवायगवेसेण णयं पविट्टो, गभो ण लदामकोलियसासं, उचविट्टो बण्यसालाय भरर, तस्स दारओ मक्कोदपरिहं आहमे, तेषु कालेण्य विश्वं चाणका दृष्टा । ताहं चाणकेण जयद-किं एव रुहसि ?, कोल्लिओ भणुद-उह एव समुत्तज्जाण ण उच्छादञ्चनि, नो पुरां वि आहससनि । ताहं चाणकेण चिनिप-एस्स मय लदे चोरमाहो, एस्स णंदनेणया समुत्तया उच्छरिस्सिद्धि । चोर-  
माहो को, नेण तिदंदिवा विश्वंभिया-अग्गेहं समिंलिया धुसामो सि । तेहिं ब्रह्मे वि ब्रह्मकाया-ने तस्य मुलगा बहुया, सुहदरगं मुसामो सि । तेहिं ब्रह्मे वि ब्रह्मकाया । ताहं ते तेषु चोरमाहये भिल्लिऊण सव्वे वि मारिया । एवं अहम्मज्जुं च भाविषयव्वं, एव कायव्वं ति । इदं ताव्वल्लिककम् । अनेन लोका-  
त्तरमि वि बरणकरणाणुयोगं कुर्यानुयोगं चाधिहृत्य सुचित्तम-  
गतस्य, एक्कप्रहणाच्छान्तिधमदणमिति श्यायत् । तस्य, एक्ककरणाणुयोगे-” एषं अहम्मज्जुं, कायव्वं किं वि ज्ञापय-  
वं वा । योग्युणं बहुदोसं, विसेस्सओ उणपसेणं ॥ १ ॥ त-  
म्हा सो ब्रह्मेसि पि आलंभयं होहं ” कुर्याणुयोगो तु-” वाद-  
स्मि तथा उच्ये, विज्ञाय बणेण पवथणत्तर । कुत्ता साजजं वि-  
ट्टु, उह मोरीण उल्लिमादीसु ॥ १ ॥ सो परिवायगो भिल्लिकी-  
कमो सि” । औदाहरणद्रोपता चास्याधर्मयुक्तत्वाद्येव भावनी-  
तेति । गतमधर्मयुक्तत्वात् । द्वा० १ उ० ४ ।

अध ( इ ) म्पक्खाइ-अधर्मसिद्धिकाय-पुं० । न कस्यचित्

गतिपरिणताद्यपि जीवपुद्गलस्तत्त्वस्वभावात्तया नाऽवस्थापय-  
ति, स्थित्युपपन्नकथाः सस्येति अधर्माः, स चासौ अस्तिकाय-  
श्च । उल० ३५ प्र० कर्म० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणाम-  
परिणतानां तत्परिणामोपपन्नकःऽस्तुतेऽसत्त्वस्वभावात्तद्वेदशसः प्रा-  
तामकं द्रव्यविशेषे, प्रज्ञा० पदं । अनु० । स्वा । सात् । १ ।  
द्रव्या० । ( सिद्धिरस्य ‘ अस्तिकाय ’ शब्दे अस्तिशेषे नाम  
५१३ पृष्ठं दृष्टिता )

तस्य च—

अहम्मत्थिकाए णं जंतं । जीवाणं किं पवत्त ? गो-  
यमा । अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं उणणिसीयणुयुद्धण,  
मणुस्स य पगो भावकरं यः जे यावेषं तदुप्पमारा थि-  
रसजावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तं उणल्लव-  
णं अहम्मत्थिकाए ।

( उणणिसीयणुयुद्धण सि ) कायोन्मगोसनशुचयानि, प्रथ-  
माहवृत्तनलोपदेशनात् । तथा मनस्य अन्तःस्थकृत्यस्य  
मयनमकथोनायस्तस्य यत्करणं तस्यथा । ज० १३ श० ४ उ० ।  
अधम्मत्थिकाय वनाति—

अहम्मत्थिकायस्स णं जंतं । केवया अज्ञिवयणा पण-  
त्ता ? गोयमा । अणोया अज्ञिवयणा पणत्ता । जंटा-  
अधम्मंति वा अधम्मत्थिकाएति वा, पाणातिवाय० ज्ञा-  
दिच्छादेससङ्घोति वा उरिया अमति वा ॥ जवा उच्चापा-  
सव्वण० जाव पाट्टिडावगिया अस्समंत्तिं । ता वा मगअमुचो-  
ति वा वदं अगतं ति वा काय अमुचंति वा, जे यावेषं तदु-  
प्पमारा सव्वे ते अहम्मत्थिकाएस्स अज्ञिवयणा । ज०  
१० श० १ उ० ।

‘ अहं अहम्मत्थिकायमज्जकयपत्ता पणत्ता’ । ते च रुचकदुषा इति । स्या० ८ उ० ।

अधर्मोऽस्तिकायनिः-अधर्मोऽस्तिकायः, स्थितिः स्याधं  
गतिनिवृत्तिरित्यर्थः । तल्लक्षणमस्येति स्थानलक्षणः । स हि स्थि-  
तिपरिजननां ज्ञाप्युत्तमानां स्थितिस्तु लक्षणकार्यं प्रत्येकाकारण-  
त्वेन श्याप्रियतं शनं, नैवेह ह्येतत् इत्युच्यते । अनेनः प्यनुमान-  
मेव सूचितम् । तद्वदस्य-यत्कार्यं तद्वद्वत्कारणत्वत्वात्, यथा-  
घटादि कार्यम् । तथा चासौ स्थितिः, यथा नदपक्काकारणं तदधर्मो-  
स्तिकाय इति । अथ च भैयायिकायाः लोमानो वा वदत्त-नास्य-  
धर्मोस्तिकायः, अनुपसभ्यमानात्, शशविषाणवत् । नत्र यदि  
भैयायिकः, तदाऽसौ वाक्यः-कथं जवनंऽपि दिगाद्यः सति ?,  
अथ दिगादिप्रत्ययसङ्गणकार्यदर्शनाद्भवति हि कार्याकारणानु-  
मानम्, एवं सति स्थितिसङ्गणकार्यदर्शनाद्यवयवत्वात् । किं न  
गम्यते ? । अथ तत्र दिगादिप्रत्ययकार्यस्याः यतोऽसंभवात्कार-  
णभूतात् दिगादीन् अनुमीमहे इति भित्तिरिहाप्याकार्यादीना-  
मवगाहमादिस्वरूपकार्यस्यापुनत्येन ततोऽसंज्ञानात्, अधर्मा-  
स्तिकायस्यैव स्थितिसङ्गणं कार्यमिति किं नानुमीयते ? । अथा-  
सां न कदाचिद् दृष्टः, एतद्दिगादिपि समानम् । अथ सौमनः,  
साध्यैवं चकनम्, यथा-यथाः कथं वाक्कायैस्संविदि ?, नदि  
कराचिदसौ प्रत्यङ्गोचरत्, साकारज्ञानादिभिः सदा तदाकार-  
स्यैव संवेदनात् । तथा च तस्याप्यनुत्पन्नत्वान्वाद्भाव-  
अवाकारसंबन्धेऽपि तत्कारिणमथ परिकल्पते, धूमज्ञान इवा-

भिः । एवं स्थितिदृशोनेऽपि किं न तत्कारणस्याधर्मोस्तिकायः स्व निश्चयः । अध्यायमप्यभिप्रेतान-न कदाचिदसौ तत्कारण-त्वेनेकेन इति । मनु बाह्यार्थेऽपि तुल्यमेव न । हे सोऽपि त-दाकारतया कदाचिद्वचनोक्तिः । अध मनुस्कारस्य चित्रवना-धर्मस्य व्यापारः, न तु नियन्ताकारस्य, अन्तस्तथा- कारणं क-रुयते, एवं तर्हि जीवपुद्गलपरिणाममात्र एव कारणं, स्थितिप-रिणते पुनरधर्मास्तिकायापेक्षाकारणत्वं व्याप्तियत इ-न किं न कल्पते ? । अध्यासौ सर्वदा सर्वस्य स्मिहित इत्यनियमेन स्थितिकारणं भवत् । मनु एवमर्थोऽपि किं न स्मिहित इत्यं-व स्थाकारमप्येवति ? । अय चकुरादिव्यापारमयमेकते, अधर्म-स्तिकायाऽपि तर्हि स्वपरगतौ विश्रसाप्रयोगानपेकन इति नाम-कोविशेषमुपस्थापामः तथा-ज्ञानमन्यायः लब्धव्यार्थो जीवादी-नां नभ भाकाशय, अन्वगाहोऽवकाशास्तद्गुणमस्येव-वगाहप्रक-शम्, तद्भव्यगाहं प्रवृत्तानामाह-वनाभवति, अन्वगाह-इकारण-स्वमाकाशस्योक्तम् । न चास्य तत्कारणव्यभिचय, यतो यद-दन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत् कार्याय, यथा-नकुराद्य-व्यव-प्र-तिरेकानुविधायि कृपादिबिज्ञानम्, आकाशाव्यव्यतिरेकानुवि-धायी चावगाहः । तथादि-सुपरिपक्वमाकाशं, तेषु चावगा-हः, न तु तद्विपरिते पुञ्जलादी । अथैवमज्ञोकाकाशांशोप कथं नावगाह ?, उच्यते-ऽयादर्थं यदि काल्पद्वेग-दिना भवेत् । तत्र तु धर्मोस्तिकायस्य जीवादीनां चामस्येन तस्यैवाभाय-धृति-हस्ताणे, समस्तु-ही-लम्बधमपान न तिसिक्तिके, देहाणसिक्तत्वात्, तदसिक्तञ्चान्यथायात् ; सति हि तस्मिन् भवत्यन्वयः । न च नतस्वस्तिरिस्तित्, अन्वयानाव च व्यतिरेकस्याप्यासिद्धिरस्ती-ति । वस्तु २० अ० ।

अध ( ह ) इन्द्राण-अधर्मदान-न० अधर्मकारणञ्चासौ दानं च-अधर्मोपपत्तः वा दानमधर्मदानम् । दानमेवे, यथा-“ हिंसाजन-चार्योद्यत-परपरिग्रहप्रसक्त्यः । यद्येति हि देवां, तज्ज्ञान-यादधर्माय ” ॥ २ ॥ इति । स्थाः १० ज्ञा० ।

अध ( ह ) इन्द्राण-अधर्मदान-न० । आश्रयहार, “पदमं अहम्-दाहं सम्मत्तं ति वेमि ” प्रश्न १ आश्र ८० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मपद-३० । अनुपदान्मस्याने, “अ-मपकवस्स चित्रगे पधमाहिप; तस्स पे इमाहं तिखि तेवदाह पावदुयसयाहं जवनेति माक्खाह । ते जहा-किरियावाहं, अकिरियावाहं, अजाणिययाहं, वेणइयवाहं, ” सूत्र २ भु० २ अ० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मप्रजनन-त्रि० अधर्मं जनयतीति अ-धर्मप्रजननः । लोकानामप्यधर्मोपादकं, १० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मप्रतिष्ठा-स्त्री० अधर्मविषया प्रतिष्ठा । अध्वनारिवाविषयायां प्रतिष्ठायाम्, अधर्मप्रधाना वा प्रतिष्ठा अधर्मप्रतिष्ठा । अधर्मप्रधाने शरीरे, “ यथा अय ( ह ) इन्द्राण-मा, जे सि ( से ) आया परिकिलेस ति ” एका अधर्मप्रतिष्ठा, सर्वस्य पतिङ्गुदाकारणतयैकरूपत्वात् । अत एवाह- ( जे से इत्या-दि ) यद्यस्मात्, से तस्याः । स्थाप्यात्मा जीवः अधर्वा- ( सि ( से ) पाङ्गनर । सोऽधर्मप्रतिष्ठामानायात्मा परिच्छिद्यते । ततश्च माहृतत्वेन लिङ्गव्यययाद् यस्यामधर्मप्रतिष्ठायां सरवात्माया परिच्छिद्यते सा एकेति । स्थाः ०१ ज्ञा १ ८० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मप्रजन-त्रि० । न धर्मं प्रजनयते अन्वज्जमित्थे ने । ज्ञाः २२ ग २ उ० अधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रक-

वैण रज्यते इत्यधर्मप्रजनः । रहस्येतिव्यमित्थे एवाह रेफस्थाणे ह्यकारः । ज्ञा० १ अ० । अधर्मरागिण, विपा० १ भु० १ अ० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण ( ङ ) अधर्मप्रतिष्ठा-त्रि० । न धर्ममुपये-यतया प्रकृतयति यः सोऽधर्मप्रज्ञोक् । ज्ञा० १२ श २ उ० । अध-र्ममेव प्रज्ञोक्तयितुं शीलं यस्यासाधधर्मप्रज्ञोक् । ज्ञा० १८ अ० अधर्मस्यैव अयादेयतया प्रज्ञोक् [परिज्ञाचके], विपा० १ भु० १ अ० । अध ( ङ ) इन्द्राण ( ङ ) अधर्मरागिण-त्रि० । अधर्मं एव रागो यस्य सोऽधर्मरागी । दृश० १६ अ० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मरुच-त्रि० । न विद्यते धर्मं कश्चिद्यथा ते अधर्मोच्यतः । दृश० १ अ० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मसमुदाचार-त्रि० । न धर्मैकव्य-रिचात्मकः समुदाचारः समाचारः सममार्गो वाऽऽद्योक्तः यस्य स तथा । ज्ञा० १२ श २ उ० । वारिच्यकल दुराचारं, विपा० १ भु० १ अ० ।

अध ( ह ) इन्द्राण-अधर्मशालसमुदाचार-त्रि० । अधर्मं एव शालं स्वनाथः समुदाचारश्च यतिक्रमणुष्ठानं यस्य स तथा । स्वभावतश्चेद्यथा चाऽधर्मिके, ज्ञा० १८ अ० । विपा० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मोपानुग-त्रि० । धर्मं भुनक्तुमनुगत्, नै-ति धर्मोपानुगः, न धर्मोपानुगऽधर्मोपानुगः । अ० १२ श २ उ० । भुनक्तुमनुगानुगते, विपा० १ भु० १ अ० । अधर्मं कर्त्तव्ये-ऽनुगानुगोपानुगं यस्यासाधधर्मोपानुगः । ज्ञा० १८ अ० । अधर्मोपानु-ज्ञायके, विपा० १ भु० १ अ० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मोपानुग-पुं० । निमित्तवशीकर-यादिप्रयोगेन, स० ३० सम० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मिष्ठ-त्रि० । अतिशयेन धर्मो धर्मिष्ठः, न धर्मिष्ठोऽधर्मिष्ठः । अ० १२ श २ उ० । अतिशयेन नि-धर्मं निश्चिकर्माकारित्वादिशयेन धर्मवजिते, ज्ञा० १८ अ० । विपा० । रा० । स्व० ।

अधर्मिष्ठ-त्रि० । अधर्मिष्ठां वल्लभे, अ० १२ श २ उ० ।

अधर्मिष्ठ-त्रि० । धर्मः भुतचारिप्रकयः एवेष्टः पूजितो वा यस्य स धर्मिष्ठः । न धर्मोऽधर्मिष्ठः । अधर्मं एव इष्टो वल्लभः पू-जितो वा यस्य स तथा । अधर्मिष्ठके, अधर्मसमाजके च । अ० १२ श २ उ० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मिष्ठ-त्रि० । न धार्मिकोऽधर्मिष्ठः । धर्म-ण भुनक्तुमनुगतेन चरतीति धार्मिकः ( तथा न ) अ० १२ श २ उ० । अधर्मण चरतीति अधार्मिकः । ज्ञा० १८ अ० । पाणिनि, विपा० १ भु० ३ अ० । अस्मयते, अन्तः धर्मं भवे, धर्मो वा प्रयोगजनमस्येति धार्मिकम्, ( तथा न ) न० । धार्मिकवपयस्येत्, अ० ४७ अ० । अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्म-पुं० । न भ्रियते । घृह-अन्व । न० १० । वाच० । अधस्तनदृशन्वच्छेदे, जं० २ वृत्त० । न० । उपा० । प्रश्न० । आत्यन्तिके कारणे, वृ० ३ उ० ।

अध ( ङ ) इन्द्राण-अधर्मगमन-न० । अधोगतियमनकारणे, “ तदा गवातीकं च गदयं भणति अध ( ह ) रगमणं ” प्रश्न १ आश्र ४० ।

अध [ इ ] रिम-अधरिम-त्रि० । अधिघमानं धरिमसूय-  
द्रव्यं यद्विस्सक्तथा । ज्ञा० १ अ० । विपा० । उत्तमशोधमशोध्यां  
परस्परं तद्व्याप्यं न विषवनीयं, किन्तु अस्मत्पार्श्वं पुत्रं शु-  
हीत्वा श्रुणुमुक्त्वालीनयमिति राजाज्ञाविशिष्टे नगरादौ, जं० ३  
ब० । विपा० ।

अध [ इ ] री-अधरी-स्त्री० । पेषयशिलायाम्, “ अध-  
( ह ) रीसंटाणसंठिया दो वि तस्स पाया ” उपा० १ अ० ।

अध [ इ ] रीसोड-अधरीसोड-पुं० । शिलायुक्ते, “ अध-  
रीसोडसंटाणसंठिआओ पायसु अंगुलीओ ” उपा० १ अ० ।

अध [ इ ] रुड-अधरोड-न० । इ० स० । इव्यः संयोगे दी-  
र्घस्य” । ॥ १ । ८४ । इति वृत्तेण भ्रोतो इव्यः प्रा० । उपरि-  
स्थावः श्लोडुयुमे, प्रस० ३ प्रा० ३० । अधस्तनन्तच्छ-  
दे, “ ओयवियसिल्लपलाविषफलसधियाअपचटा ” न० ।

अध [ इ ] व [ वा ]-अधवा-अव्य० । विकल्पे, नि० वृ०  
१० उ० ।

अधाराणिज-अधाराणीय-त्रि० । अधिघमानो धारणीयोऽध-  
मणौ यस्मिंस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । अधिघमानाधमणौ पुरादे,   
विपा० १ वृ० ३ अ० । आत्मनो धारवितुमशक्ये, अ० उ  
श० ६ उ० । अयापनीये, यापनां कर्तुमात्मनोऽशक्ये च । ज्ञा०  
८ अ० । विपा० । जं० ।

अधि [ हि ]-अधि-अव्य० । आधिक्ये, अ० १ श० १ उ० ।

अधि [ हि ] इ-अधृति-स्त्री० । धृतेरभावे, “ तो तुमे पिया एवं  
बसणं पाविओ तस्स अधिइ जाया सुणित्तओ खेव उद्धाया-  
लंहइइइग्गाहा य वियहाणि भंजमि ” भाव० ४ अ० ।

अधि [ हि ] ग-अधिक-त्रि० । अत्यर्थे, वृ० १ उ० ।

अधि ( हि ) गय-अधिगम-पुं० । अधिगम्यते परिच्छिद्यन्ते  
पदार्था येन स्वोऽधिगमः । भाव० ३ अ० । गुरुपदेशजे यथा-  
ऽवस्थितपदार्थेपरिच्छेदे, एव सम्यक्त्वस्य हेतुविशेषः । नि-  
सर्गादौ ऽधिगमनो जायते । तच्च पञ्चाना-श्रौचशमिकं १ सायिकं  
२ क्रायोपशमिकं ३ वेदकं ४ सास्वादानं च ५ । ध० २ अधि० ।  
“ जुगयं वि समुपपन्नं, सम्मत्तं अधिगमं विसोदेइ ” भाव० ३ अ० ।  
“ गुरुपदेशमालम्ब्य, सर्वेषामपि देदिनात् । यत्तु सम्यक् भद्-  
धानं तव, स्यादधिगमजं परम् ” १ । “ जीवादीणमधि-  
गमां, निच्छस्स खअंवावसमभाषे । अधिगमसम्मं जीवो,  
वावेइ विसुक्कपरिणामो ” ॥ ध० २ अधि० ।

अधि [ भि ] [ हि ] गमरुइ-अधि [ भि ] गमरुचि-पुं० स्त्री० ।  
अधितमो विशिष्टं परिक्रान्तं, तेन रुचिः जिनप्रणीतस्तन्नाजिमावकथा  
यस्यासावधिगमरुचिः । प्रव० १४४ ज्ञा० । सरागदर्शनार्थभेदे,  
प्रज्ञा० १ पद ।

तत्स्वरूपं च-

सो होइ अजिगमरुइ, सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।  
एक्कारस अंगाई, पइअगा दिट्ठिआओ य ॥

यस्य मुनहानमयतो इष्टं, किमुक्तं सद्यति?, येन मुनहानस्वा-  
धोऽधिगतो जवतीति । किं पुनस्तच्छुनहानम्? इत्याह-( पञ्जा-  
रस अंगारं ति ) एकादशाङ्गानि आचारान्नादीनि, प्रकीर्णकान्यु-  
१४३

सराययननन्वाध्वनादीनि, इष्टिषादः परिकर्मसूत्राचक्रवृषि  
पृथगुपादानमस्य आधाव्यवस्थापनायंश्च । अहाहातुपाङ्गानि शी-  
पपातिकादीनि, स त्रवत्याधिगमरुचिः । प्रव० १४९ ज्ञा० १ स्था०  
अर्हतेः सकलसूत्रविधियेषां रुचौ, ध० २ अधि० ।

अधि [ भि ] गमसम्पदसण-अधिगमसम्पददर्शन-न० । इत० ।  
गुरुपदेशजिज्ज्ये सम्यदर्शनभेदे, यथा भरतस्य । “ अनिगम-  
सम्पदसणे, दुविहे पणुत्तं । प्रमिवाई खेव, अपदिवाई खेव । ”  
प्रतिपत्तनं शिंशं प्रतिपत्तितं, सम्यदर्शनमैश्वर्याभिकं, ज्ञायोपशमि-  
कं वा । अप्रतिपत्तिं ज्ञायिकम् । स्था० २ ज्ञा० १ उ० ।

अधि ( हि ) गय-अधिकृत-न० । अधि-इ-नांव-क । अधि-  
कारे, इश० १ अ० ।

अधिगत-त्रि० । प्राप्ते, उच० १० अ० । विज्ञाते, व्य०  
३ उ० । पञ्जा० ।

अधि ( हि ) गरण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽस्मिन्नि-  
ति अधिकरणम् । आधारे, यथा चक्रमस्तके घटः । नि० वृ०  
१ उ० । अधिक्रियते नरकगतियोग्यतां प्राप्यते आत्माऽनेनेत्य-  
धिकरणम् । कलहं, प्राभृते च । वृ० १ उ० । स० ।

- ( १ ) अधिकरणनिरुक्तानि समानार्थकानि च ।
- ( २ ) अधिकरणनिक्रियेः ।
- ( ३ ) अधिकरणं न करणीयम् ।
- ( ४ ) कृत्वा तु व्युत्पद्यमनीयम् ।
- ( ५ ) अधिकरणार्थात्कारणानि ।
- ( ६ ) उत्पन्ने च व्युत्पद्यमनीयमेव नोपेक्षणीयम् ।
- ( ७ ) प्रायनिक्रियेः ।
- ( ८ ) अधिकरणं कृत्वाऽप्यगन्तव्यं कर्तव्या ।
- ( ९ ) गच्छादनिर्गतस्याधिकरणे समुपपन्नं विधिः ।
- ( १० ) अरपरुषाणि मणित्वा गच्छादनिर्गतो विधिः ।
- ( ११ ) गृहस्थैः सह अधिकरणं कृत्वाऽप्यपशमम्य विद्वज्ज-  
णादि न कारयेत् ।
- ( १२ ) अनुरपन्नमधिकरणमुत्पादयति ।
- ( १३ ) कारणे सन्मुत्पादयति ।
- ( १४ ) पुराणाव्यधिकरणानि क्वात्तव्युत्पद्यमानितानि पुनरुद्दि-  
रणम् ।
- ( १५ ) निर्गन्धैर्व्यतिक्रममधिकरणं नोपशमनीयम् ।
- ( १६ ) निर्गन्धां निर्गन्धैर्विक्रममधिकरणं व्युत्पद्यमनीयम् ।
- ( १७ ) साधिकरणेनाकृतप्रायश्चित्तेन सह न संयोगः कर्तव्यः ।
- ( १८ ) अधिकरणव्यधिकरणनिरूपणम् ।

( १ ) इमे अधिकरणनिरुक्ता, यानि य-  
अधिकरणमहोकरणं, अहरगतीं गार्हं अहोतरंश्च ।  
अधिकरणं च तदा, अहीकरणं च अधिकरणं ॥ १६९ ॥

आधाधिकरणं कर्म बन्धकारणमित्यर्थः अधथा-अधिकं अति-  
रिक्तं तत्सूत्रं करणं अधिकरणम् । अधो अधस्तात् आत्मनः क-  
रणम् । अधरा अधस्ता जघन्या गतिस्तामात्मानं प्राहयतीति । अ-  
धो अधस्ताद्वनारुत्सिं वृहतिधेयानि वा । न धृतिरतरतिरित्यर्थः,  
अस्याः करणम् । अधोऽस्त्व असत्त्वतः करणं अधिकरणम् ।  
अधथा-अधीः अङ्गुक्तिमाह पुरुषः स तं कराति, इत्यधिकरणम् ।  
सो अधिकरणो दुविधो, सपक्वपरपक्वतो य नापच्यो ।

एकेको वि य दुविधो, गच्छगतो गिगगतो चैव ॥ १६६ ॥  
 साधिकरणे साधु दुविधेन अधिकरणेन जवति, न चिमं दुविध-  
 र्थ-सपक्वसाधिकरण, परपक्वसाधिकरणं च । सपक्वसाधिकरण-  
 कारी गच्छगतो, गच्छगिगगतो वा , एवं परपक्वसाधिकरणे  
 वि दुविधं ॥ नू० १० व० ॥

( २ ) अथ नित्केपसिक्वस्थं निर्घृतेकद्रहाह-

नामं उववाा द्विषे, भावे य चउव्विहं तु अहिगरणं ।  
 द्वव्वम्मि जंतमादौ , जावे उद्वओ कसायाणं ॥

नामाधिकरणं, स्थापनाधिकरणं, उववााधिकरणं, न्यायाधिकरणं  
 चेति चतुष्षधिकरणम् । तत्र नामस्थापने गताये, उववााधिकर-  
 णम्-आगमते, नो आगमतेत्य । आगमते-अधिकरणशब्दार्थं  
 निकृष्यस्तु प्रयुक्तं यत्ना, नो आगमते इत्यारोपणस्य गीरुद्वयनिरि-  
 क्तम् । उववााधिकरणे यन्त्रादिकं उद्वव्वम्, यन्त्रं नाम दलनयन्त्रा-  
 दि । भावे जावााधिकरणे कषयाणां कंसादीनां उद्वये विहेयः ।

तत्र उववााधिकरणं व्याख्यानयति-

द्वव्वम्मि उ अधिकरणं, चउव्विहं होइ आणुपुक्कीए ।  
 नित्वत्तथ निक्खरणे, मंजोयण निसिरणे य तद्दा ॥

उव्वे उववााधिकरणं चउव्विधे त्रयानुपुर्व्या परिपा-  
 टिका । तद्यथा-निर्यसनाधिकरणं, नित्केपसाधिकरणं, सयोजना-  
 धिकरणं, निसजनाधिकरणं च ॥ नू० १० ॥

गिण्वत्तणे अधिकरणं दुविधं-मूलकरणं, उत्तरकरणं च ।  
 तथ मूलशिष्यवत्तणाधिकरणं अर्थाहं भगानि-  
 पदमे पंच सरीरा, मंयादणसाराणे य उज्जणं वा ।

पदिद्वेहणा पमज्जाण, अरुणण अविधी य गिणिव्वरणा ॥ २३५  
 ( पदमे ति ) गिण्वत्तणाधिकरणं पंच सरीरा ओगात्रयादि  
 संघानकरणं साङ्गनकरणं च । एवं अद्विविहं मूलकरणं ॥ २३५ ॥

पुनः शिष्यवत्तणाधिकरणसकृदं जमनि-

गिण्वत्तणा य दुविहा, मूलगुणं वा वि उज्जग्गुणे य ।  
 मूले पंच सरीरा, दोसु ते संघानणा एणियि ॥ २३७ ॥

गिण्वत्तणाधिकरणं दुविधं-मूलगुणगिण्वत्तणाधिकरणं, उत्त-  
 रगुणगिण्वत्तणाधिकरणं च । मूले ओगात्रयादि पंच सरीरा  
 दृश्यते । दोसु य तेषकमपसु सव्ये काले संघानणा णियि,  
 अनाद्यरवाव ॥ २३७ ॥

मंघानणा य पारिसा-दहणा य उजयं व जाव आहारं ।  
 उजयसस आणियत्तिनी, आदीं अंते य समअं तु ॥ २३८ ॥

त्रिकं त्रिधंयि संबधति, उभयं संघानपरिसादी, तस्स तिनो  
 भणियता, त्रिकादिस्मयसंभवत् । संघानं आयाताए सव-  
 पारिसादी, अंतं पये पयसमयता ॥ २३८ ॥

सर्वसंघानप्रदशोधार्थमाह-

द्विपुओ कम्मगारं, द्विट्ठा हांति तिसु सरिरेसु ।  
 करणे य स्वधकरणे, उत्तरकरणं तु संघहणा ॥ २३९ ॥

हविषितं, तस्य चो एतो पव्वानि सां द्विपुओ सां य ययपुमो ज-  
 ष्यति । संघायसंधंते पक्वित्ते पदमसमप पयानेण प्रयमहण क-  
 रति, बितिआदिसमपसु गद्दणं मुंचति य, कम्मकारं शोधकारो,

नेण जहा तेषितमायसं जले पक्वित्तं, पदमसमप पयानेण आ-  
 लातयं करोति, बितिआदिसमपसु गद्दणं मुंचयि य । एवं तिसु  
 ओरालियदिस्सारेसु पदमसमप गहणमेव करोति, बितिआदि-  
 समपसु सघानपरिसादी, तेषकमपसु सव्यकारो न सघानप-  
 रिसादी, अनाद्यरवाव ॥ पंचसहं विज्जेते सव्यकारो । अथवा ति-  
 ष्ठ ओरालियविउव्विआहारगामं मूलांकरणणा अ-उ-सिरो, उरं,  
 उदरं, पुटी, दां बाहाओ, दाणिं य ऊक, सेसं उत्तरकरणं । अथवा  
 तिसु आद्विहसु ओरालादी, उत्तरकरणं उज्जेण, स्वधकरणं त्रि-  
 क-सादिपुनादिना वधकरणं । अथवा इमं चउव्विहं सव्यकरणं  
 संघायकरणं परिसाङ्गणकरणं ॥ २३९ ॥

संघाय परिसाङ्गणा, य पोसे तदे व पदिस्सेह ।  
 पदसंखणएणादौ, उट्टनि गिठ्याणुकरणं तु ॥ २४० ॥

परिसाङ्गणकरणं, तस्य ओरालिय एमीदियादि पंचविधं, त-  
 ज्जोएा पाहुदादिणा । जहा तिसुस्सेणाचारियणे उव्वस प कता,  
 जहा एवण आचारियणे सोसस्स उव्विद्वो जोगो जहा महि-  
 सो भवति, तं च सुयं आचारियस्स माधुणियेण, मां य गिठस्सा  
 उ णिक्खंते मरिहं उव्वदिं च सोचारियण हस्यं विक्कणं । आ-  
 रियण सुय, तस्य गतो भणानि-किं ते पयं १, अहं ते रयणजोगं  
 पयच्छामि । द्वये आहारहा । ते य आहरिणा आचारियण सजो-  
 नित्ता, एवमेणिदिव्वत्ता भणितो-गात्तण कालेण ओक्खणं जादि,  
 अहं गच्छामि । तेण उक्कल्लो त्तिट्ठाविसे मंयो जानो । मां तेण  
 मांसो, अधिकरणच्छंओ, मां वि सप्यो अतो मुदुत्तंण मअं ।  
 एवं जो गिण्वत्तं सरीरं तं अधिकरणं ३. हं जतो सुत्ते भणियं-  
 'जायिं जेने । ओरालियसरीरं गिण्वत्तं मां किं अधिकरणं । अ-  
 धिकरणं जावा, अधिकरणी सरीरं, अधिकरणं शिष्यवत्तणाधि-  
 करणं ॥ गिण्वत्तणाधिकरणं गत ॥ नू० १० ॥

नित्केपणाधिकरणं द्विधा-लौकिकं, लोकोत्तरिकं च । तत्र यस्म-  
 न्म्यप्रहणार्थं गलनामा शोधकण्टकां कृत्वा वा सुव्याप्तानां प्र-  
 णाय जालं वा, लावकादीनामर्थंयं निज्जायते शब्दप्रादीनि धर-  
 ष्टादीनि वा यन्त्राणि स्थाप्यन्ते, तदेतल्लौकिकं नित्केपणाधि-  
 करणम् । यस्तु लोकोत्तरिकं तत्र पदावधम-यत्र पायाणुपकरणं  
 निकृपति तत्र न प्रत्युपेक्षते न प्रमाजयति १, न प्रत्युपेक्षत प्रमाज-  
 यति २, प्रत्युपेक्षते न प्रमाजयति ३, यस्तु प्रत्युपेक्षते प्रमाजयति  
 तद्-प्रत्युपेक्षते ४, उ प्रत्युपेक्षितं सुप्रमाजितम् ५, सुप्रत्यु-  
 पेक्षितं सुप्रमाजितं ६ करोति । एवमेते पक्वद्वा नित्केपणाधि-  
 करणम् । यस्तु सप्तमो भङ्गः सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमाजितं कर्तव्यं  
 लक्षणं, न नाधिकरणं शुच्यत्वात् । यद्वा-यद् नुक्तं पानकं वा  
 अयावुत्तं स्थापयति तत्रिकृपणाधिकरणम् ॥ नू० १० ॥

एषाणि सजोयणा, मां दुविहा-शोदया, सोउत्तरिया य ।  
 शोदया अनेकविदा-

विसमगमादीं लोण, लोउत्तरं भवोविधिपादिमि ।  
 अंनो वहि आहारे, विदियविद्या सिखणा उव्वी ॥ २४१ ॥  
 कंदादिलोअणिसरण-ओत्तरणा पमादणा जोगे ।  
 मूलादि जाव चरिमं, अथवा वी जं जहि कपति ॥ २४२ ॥  
 नि० नू० १० ॥

सयोजनाधिकरणमपि द्विधम्-लौकिकं, लोकोत्तरिकं भे-  
 दान् । तत्र लौकिकं रोगाणुपान्तकारणं; विषयशास्त्रि-  
 णत्तिनिवन्धनं वा उद्वयं संयोजनम् । लोकोत्तरिकं तु

भक्तोपदिशय्याधिषयसंयोजनम् । ७० १ उ० ।  
 इयाणि गिसिरणा ड्रविधा-ओरया, सोउररिया, ( लोइया )  
 गिसिरण्ये ति विधा-सदसा पमापण; अणानेगेण य, पुव्या-  
 ड्रेण जोगेण । किंचि सदसा गिसरिहा पंचविधपमापणनरेण  
 पमसंगिसरति, एतं विस्सति अणामंगो तेण गिसरति ।  
 ति० ७० ५ उ० ।

निस जेनाधिकरणमपि लौकिकम्-शरशक्तिचक्रपापाणीनां  
 निसजेनम् । लोकाकारिकं तु सदसाकारिना यत्कटककह-  
 रादीनां भकपानान्तःपतितानां निसजेनम् । ७० १ उ० ।

इयाणि गिन्वत्तणारिसु पाठञ्जं, तथा गिन्वत्तणे मूलदि-  
 पठञ्जं । एगिदियादी गिन्वत्तं तस्स अभिक्खमयं दूषणं पढमवा-  
 राए मूळं, विनियवाराए अमायं गिसरिहाए पार्मच्चं, अथवा  
 जं आह कमति संघट्टादिक्कं आचिरिहाएणादिगिण्यं वा ।

एगिदियमार्दीसु तु, मूलं अपथा वि होति सट्ठाणं ।

कुमिरंतरनिपप्यं, उत्तरकरणमि पुवुञ्चं ॥ २४४ ॥

एगिदियं जाव पंचिदियं गिन्वत्ते, तस्स मूळं, अहया वि होति  
 सट्ठं ति "उक्कायचउसु" गाहा । परिसे गिन्वत्तं चउसुद्धं,  
 अणने चउसुद्धं, वेदंदिपदी उ लहुं,नेदंदिप उमूह, च उरिदियहि  
 देदां, पनेदिय मूलं, उत्तरकरणं कुमिराकुसमिण्यं पुवुञ्च,  
 इहय पठमुद्धंय पढममुत्तं गिक्खवसजोगणिसिरणेसु इम  
 पाठञ्जं-

निय मासिय निग पाण, गिक्खिवत्तं जोगगुरुलहणा वा ।

कुसिरंतरनेतरगिरं-तरं य वुत्तं गिररणमि ॥ २४५ ॥

स तजंगाए पढमवोनियततिएण भंगेसु मासलहुं, चउथयंन-  
 मञ्जमु पणायं, चारंमां मुद्धं । तथकाअनिसिंतां कायवां । आ-  
 हाए उवकरणं वा एगे चउसुद्धं, दोसु चउसुद्धं । अहवा-सा-  
 मभेणेण आहाए चउसुद्धा, उवकरणं लहुंवा, गिसिरणं कुमिरा  
 अउकुमिरं य गंतरिहारंतरं वुत्तं पाठञ्जं पढममुत्तं । दव्यादि-  
 करणं गयं । ति० ७० ५ उ० ।

अथ भावाधिकरणमाह-

अह्ठ निरिय उह्ठकरणं, वंथाण निवत्तणा य निक्खिवणं ।

उवमयवएण उह्ठं, उदपण भवे अदीगरणं ॥

इह कांपादीनामुदयो भावाधिकरणमित्युक्तम् । अतस्तेषामेवा-  
 धलत्तयंप्रदूढकरणं अयोगानिनयनं ति यमंभानिनयने ऊद्धंभानिनयने  
 च स्वूप घक्तयम् । ७० १ उ० ।

( ३ ) अधिकरणं च न करणं यम-

अहिमरणकडस्स निक्खुण्णो, वयपाणस्स पसज्ज दाण्णं ।

अह्ठे परिहायतीं बहू, अट्टिारणं न करिज्ज पदिए ॥ १९ ॥

अधिकरणं कडहः, तत्करोति तच्छब्दलक्ष्यधिकरणकरः । त-  
 दर्थयं तु तस्य विहीः, तथाऽधिकरणकरं दाण्णं नयानक्तं वा प्र-  
 सहा प्रकटनेय, वाचं भुवनः सतांशोऽभोज्ञः, तत्कारणतने वा सं-  
 यमः । स बाहु परिहीयते भ्यंसमुपयाति । इदमुक्तं भवति-अह्ठना  
 कालेन यदाजितं विप्रकट्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कडहं कुर्वतः प-  
 रोपघामिनी च वाचं भुवनस्तत्कालमेव भ्यंसमुपयाति । तथाहि-  
 " जं आजियं समोक्ख-सुत्तपिहं तवजियमेवममरपिहं । माणुनयं  
 कज्जहंन, कुह्ठं अह सागयपिदि " इत्येवं मत्वा मनागयाधिकरणं  
 न कुर्वान् परिहतः सदसिद्धिंवेकोति । सूत्र० १ अ० २ अ० १ उ० ।

( ४ ) कृत्वा तु व्युपशमनीयम्-

जिक्खु व अहिगिरणं कडुत्तं अहिगिरणं विवसमिन्ना वि  
 ओसइयपाहुने; इच्छाए परं आहाइज्जा, [ इच्छाए परं नो  
 आहाइज्जा, ] इच्छाए परं अक्खुद्धेज्जा, [ इच्छाए परं नो अ-  
 क्खुद्धेज्जा, ] इच्छाए परं वंदिजा, इच्छाए परं नो वंदि-  
 जा, इच्छाए परं संजुंजेज्जा, इच्छाए परं नो संजुंजेज्जा,  
 इच्छाए परं संवसिज्जा, इच्छाए परं नो संवसिज्जा,  
 इच्छाए परं उवमिज्जा; ओ उवसमइ तस्स आरिय आराइणां,  
 जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराइणां । तम्हा अप्पणां सेव  
 उवसमियेवं स किपाहु-जंते ! ; उवसमसारं सामभं ॥

भिक्खुः सामान्यः साधुः । अशुद्धस्यानुकूलमुद्योगधैर्यादाचार्यो-  
 पाध्यायावपि गृह्यते । अर्थिकयत्ने नरकगतिसमनयोत्थतां प्रा-  
 प्यते आत्मा अनेनैत्यधिकरणम्, कडहः प्राज्ञुतमित्येकार्थीः त-  
 त्तया तथापि तस्यैवैवादि साविब्यापणं प्रवृत्तकथायाः मोहनी-  
 योदयो द्वितीयसाधुना सह विधायः ततः स्वयमन्योपदेशेन वा  
 परिभिद्येन तस्यैहिकामुप्यकाभयबहुलं तां तदधिकरणं विवि-  
 धमनैः प्रकारैः स्थापयप्रतिपात्तपुरुस्सरं मिथ्याउच्छ्रुतप्रदानं-  
 न तां व्युपशमस्य उपशमं नित्या नतो विधेयेणैवसाधितमन-  
 यमानं नीते प्राज्ञते कज्जहा येनाप्यवसाधितप्रभूतो व्युत्पृक्क-  
 ह्ना प्रषभं । किमुक्तं अर्थानः गुरुमकाशं स्वउच्चरितमालोक्य,  
 ननुप्रस्तप्रार्थयन्ति च यथावदप्रतिपद्य, न्युवसकणयापनु-  
 सिष्ठेन । आह-येन सह तदधिकरणमुत्पत्तं स व्युत्पृक्कमनो-  
 ऽपि नोपशम्यति ततः का विधिः, इत्याह-"इच्छाए परं आहा-  
 इज्जा" इत्यादि सूत्रम् । इच्छाया यथा स्वकृपयापारमाश्रित्यं,  
 प्रागेव संभाषणादिभिरादरं कुर्याद्वा न वेति भावः । एवमिच्छ-  
 या परस्तमप्युत्पत्तेः । इच्छया परं न साधुना सह संजुंजेति,  
 एकमण्डल्या भोजनं दातुं प्रहृणसंभोगं वा कुर्यात् । इच्छया परं  
 न संजुंजेति । इच्छया परस्तेन साधुना सह संवसेत्, समेकी-  
 ल्यैकत्रोपाश्रये वसेत्, इच्छया परं न संवसेत् । इच्छया परं  
 उपशम्येत् । परं य उपशम्यति कथयतयापागमेन निवृत्तो  
 भवति तस्यास्ति सम्पत्शरीनादीनामारोचना, यस्तु नोपशम्य-  
 ति तस्य नास्ति नेवामारोचना, तस्मादेवं विचिन्त्यात्मनैवोप-  
 शान्तव्यमुपशमः कर्तव्यः । शिष्यः प्राह-[ स किमाहु-भंते ! ]  
 अथ किमत्र कारणमाहु-भेदन्तं । परमकथययोगिनस्तस्मिन्वीक-  
 रादयः ? । सूत्रिवाह-उपशमसारं ध्यामयं, तद्विहीनस्य निष्फ-  
 लतयाभिधानात् । उक्तं च दशवैकालिकनिवृत्तौ-"सामभम-  
 चुचरत-स्म कलाया जस्स उकडा होति । मग्गाभि उच्छुपुक्कं,  
 च निष्कलं तस्स सामभं " १ ॥ इति सूत्रार्थः ।

अथ विवमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति-

पेपंति चसईणं, आयरिया जिक्खुणीओ अ ।  
 अहया जिक्खुगाहणा, गहाणं सत्तु हाइ सव्वेसिं ॥

इह सूत्रे भिक्खुश्चैति यच्छब्दः, नेन गणी, उपाध्यायः, तथा  
 आचार्यो, भिक्खुप्यस्य गृह्यन्ते । अथवा-भिक्खुपदोपादानात् स्व-  
 चामप्याचार्योदीनां प्रहृणं तज्जातीयानां सर्वेषां प्रहृणमिति  
 वचनात् ।

स्वामिय विनासिय विणा-सियं च स्ववियं च होइ एगडा ।  
 पाहुण पदेण पाणयण, एगडा ते उ निरयस्ता ॥

शामितं विनाशमितं, विनाशितं सपितमिति च एकार्थानि पवन्ति । तथा-प्राभृतं प्रहेणकं प्रयेणनमिति वा श्रीरय-वेकाधीनि । तानि तु प्राभृतानीनि नरकस्य मन्थव्यानि । यत एतदधिकरणं नरकस्य सामन्तकादेशप्राभृतमुच्यते । एवं प्र-हेणकप्रयेणनपदे अभिज्ञावनीये ।

इच्छा न गिण्णदिमो, आदा उ ए आदरो जहापुञ्जि ।  
जुंजण बास मणुषे, सेस मणुषे च इतरे वा ॥

इच्छा नाम जिनादेशस्तीर्थकृततामुपदेशोऽयमिति कृत्वा नाद-रादीनि पदानि करोति, किं त्वसच्छब्धेन । तथा आदा नाम आदरकं यथा पूर्वमुचितालापादिभिः कृतवस्तथा कुयोद्वा न वा; शेषाणि त्वमुत्थानादीनि सुगमानीति कृत्वा भाष्यकृता न व्याख्यातानि । अत्र च संभोजनसंवासनपदे मनोबिषु संभो-गिकेषु भवतः, शेषाणि त्वाद्राभ्युत्थानवन्दनोपशमनपदानि मनोबिषु वा संभोगिकेषु, इतरेषु वा असंभोगिकेषु भवेयुः । कृता भाष्यकृता विषमपदव्याख्या । ६० १ उ० ।

( k ) अधिकरणोपसिद्धिकारणानि—

अथ कथं तदुत्पद्यते ? इत्याशङ्क्याकाशमलोक्य तदु-त्थानकारणानि दर्शयति—

सच्चित्ते य अचिच्चे, मीसवभोगयपरिहारदेसकहा ।  
सम्मं खाउट्टच्चे, अदिहारणमभो समुपपज्जे ॥

सच्चित्ते शैशादौ, अचिच्चे वक्ष्णाप्रादौ, मित्रके खमाण्डमा-त्रकोपकरौः शिखादौ, अनासत्त्वं अपरंणं गृहमाणं, तथा वचोंगतं व्यत्याग्रेडितादि । तत्र चाविधीयमाने परिहारः स्था-पना, तदुपलक्षितानि यानि कुर्वन्ति तेषु प्रवेशे क्रियमाणे दे-शकथायां वा विधीयमानायां एतेषु आनेषु प्रतिनोदितो यदि स्वम्यह मावर्तते न प्रतिपद्यते; अतोऽधिकरणमुत्पद्यत इति नियुक्तिगाथासमासायः ।

अधेनामेव विबुधोति—

आजव्वमदेमाणे, गिण्णदिं तहव मग्गमाये य ।  
सच्चित्तेतरमीसे, वितहपभिवत्तिओ कलहो ॥

आभाव्यं नाम शौचं, शैतः कस्याप्याचार्यस्योपेतस्ये, प्रमज्यां गृह्यमिति । तमुपस्थितं मत्वा विपरिणम्य पर-कश्चाद्वाच्यो गृह्यति । ततो मूलाच्चायो प्रधीति-किमिति मशीयमाभाव्यं गृ-ह्णासि ? पूर्वगृह्योतं वा शैशादिकं यचित्तो मदीयमाभाव्यं कि-न प्रयच्छुवतीति ? । एधमाभाव्यं सचित्तमचित्तं मिश्रं वा तत्का-लगृह्यमाणं पूर्वगृहीतं वा मार्थ्यमणमपि यदा चित्तधर्मातिप-सितो न ददाति तदा सकलहो भवति । चित्तधर्मातिपसितोम परस्याभाव्यमपि शैशादिकमनाभाव्यतया प्रतिपद्यते ।

वचोगतद्वारमाह—

वेश्मालेण सुत्ते, देसोभासा पर्वचणे चेव ।  
अरम्मि य वचव्वे, हीणाहियअकररे चेव ॥

सूत्रं सूत्रविषये, व्यत्याग्रेरना अपरापरोदेशकाप्ययनभूतस्क-न्धेषु ध्वस्तोऽऽसापकन्धोकादीनां योजना । यथा—“सर्वे ज्ञीवा वि इच्छति, जीविउं न मरिञ्जिउं ” इत्यग्रेदमालापकपदं घटते-“ सर्वे पाण्यिया उ ” इत्यादि । तथाभूतं सूत्रं परावर्तयद् किमेवं सूत्रं व्यत्याग्रेरयमीति प्रतिनोदितो यदि न प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणं भवति । देशीभाषा नाम मन्थान्नमदाराद्वादिदे-

शानां प्रापातोऽन्यत्र देशान्तरे भाषमाण उपहस्यते, उपहस्यमा-नश्च संखदं करोति । यद्वा-प्रपञ्चनं वचनामुपकरणे वा करोति, ततः प्रपञ्च्यमानः साधुना सहाधिकरणमुत्पद्यते । अन्वयस्मिन्न वा बलव्यं कोऽन्यथ्यङ्किः । यद्वा-हीनाकरमथिकाकरं वा पदं व-क्ति । तत्र हीनाकारं आस्कर इति वक्तव्यं भास्कर इति वक्ति । अ-थिकाकरं सुवर्णमिति वक्तव्यं सुसुवर्णमिति प्रधीति ।

परिहारकहारमाह—

परिहारियमउचित्ते, ठवियमण्डापे णिविसंते वा ।  
कुञ्जयकुले य पविसइ, वा जइ णाउट्टणे कसहो ।

गुहलानबाशानीनां यत्र प्रायेभ्यं लभ्यते तानि कुशानि परि-हारिकायुच्यन्ते, एकं गीताधंसपाटकं मुकुत्था शेषसंघाट-कानां परिहारमन्थीनि व्युत्पत्तेः । तानि यदि न स्थापयन्ति, स्थापितानि वा अनर्थे निष्कारणं निश्चिन्ति, प्रविशन्तीत्यर्थः । यद्वा-पारिहारिकाणि नाम कुसितानि जासादिस्तुमुसितानि भावः । तेषु कुत्रेषु प्रविशन्ति । एतेषु स्थानेषु यदि नावसन्ते न वा तेषु प्रवेशादुपरमते ततः कसहो भवति ।

देशकथा—

देसकहा परिक्कहणे, एके एके व देसरगम्मि ।  
सोरद्धेदेस एंगं, दादिण वीयम्मि अदिहारणं ।

न वचनं साधुनामीदृशी कथां कथायनुमु । स प्राह-कोऽसि त्वं ? येनेव मां वारयसि । तथाऽन्यस्थिते अनुपरने सत्यधिक-रणं भवति । यथा-एकैकं व देसरगम्मि स्ति) एकः साधुः सु-राष्ट्रं वधयति, यथा रमणोः सुराष्ट्रं विषयः । द्वितीयेः प्राह-कृपमगदुक ! त्वं किं जानासि ?, रक्षिणायप एव प्रबानो देशः । पूर्वमेकदेशरागणोत्तराष्ट्रसत्तिकं कुवाण्योरधिकरणं भवति । ६० १ उ० । नि० ५० ।

( ६ ) उपर्ये च न्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम्—

एवमपर्ये अधिकरणं किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—  
जो जम्म उ उवसभर्दे, विउम्भवणं तम्म तेण कायच्यं ।  
जो उ उवेहं कुज्जा, आरवज्जइ मासियं लहुगं ॥

यः साधुभ्येव साधोः प्रहापनया उपशाम्यति तस्य तेन सा-धुना विध्यापनं नोपागमिनोर्वापनं कर्त्तव्यम् । यः पुनः साधुभ्ये-कां कुर्यात् स आपद्यते मासिकं स्रुचकम् ।

लहुओ उ उवेहाए, गुक्का सो चेव उवहसत्तसस ।  
उत्तुयमाणो सहुग, महायगणे सरिसदोसा ॥

उपेकां कुवाण्य लघुकां नामः; उपहसत एकं गल्लो सुह-कः । अथ उपाधव्येन तुल्य-व्यवहारं करोति, विशुधत उ-त्तेजयतीत्यर्थः । ततश्चम्यो लघुकाः । अथ कसहं कुवन्तेः सहा-यकत्वं साहाय्यं करोति, ततोऽसावधिकरणकृता सह सहश-दोष इति कृत्वा सहशं प्रायाश्चत्तमापद्यते, चतुर्गुरुमित्यर्थः ।

तथा चाऽह—

चउरो चउगुरु अहुथा, विमंसिया होति भिक्कुपार्हाणं ।  
अहुथा चउगुस्मादी, हवन्ति उच्छदंनिहुवण ॥

जिबुव्वभोपाध्यायवाक्याणामधिकरणं कुवन्तो प्रयेकं चतुर्गु-रुकम्, ततश्चात्वारभ्युत्पृरुका भवन्ति । अथवा त एव चतुर्गुरुकाः,

सप्तकाशविशेषिता भवन्ति । तद्यथा-जिज्ञोष्यन्तुमुक्तं तपसा, कल्पे च ज्ञानमुक्तम् । वृषभस्य तदेव कालतुष्टकम् । उपाध्यायस्य तपोमुक्तम् । आचार्यस्य तपसा काशेन च मुक्तम् । भयथा वतुमुक्तकारण्ये देहं निष्ठापना कसंत्वा । तद्यथा-जिज्ञोष्यधिकरणं करोति चेत् वतुमुक्तम् । वृषभस्य पदलघुमुक्तम् । उपाध्यायस्य पदमुक्तम् । आचार्यस्याधिकरणं कुशाणस्य देहं इति । यथा वाऽधिकरणकरणे आदेशश्लेषे प्रायश्चित्तमुक्तम्, तथा साहाय्यकरणेऽपि कष्टव्यम्; समानदेशवत्वात् ।

अधोपेक्षाव्याख्यानमाह-

परपत्न्या न किरिया, मोक्ष परद्वं च जयम् आयुष्टे ।  
अवि य उवंहा वुत्ता, गुणो वि दोसो ह्वरि एवं ॥

इहाधिकरणं कुर्यते दृष्ट्वा मध्यस्थमायेन निष्ठितं, नान्येषामप्युपदेशं प्रयच्छति । यतः परप्रत्यया वा क्रिया कर्मसंबन्धः सा अस्माकं न ज्ञवति, परकृतस्य कर्मण आत्मानं संकमाभावात् । तथा यद्येतावधिकरणानुपश्रयंते, ततः पराधेहतां जवति । तं च परार्थं मुक्ता यदि मोक्षाधिस्तत आरमाधं पथ स्वाध्यायदिके यतध्वं यत्नं कृतम् ; अपि चेत्पुन्युत्थयं । आध्यायिकेन्द्राः सुपेक्षा संयमाङ्गनया प्रोक्ता-“ उवेदा संजमो वुत्ता ” इति वचनान् । यदा-त्रैयंप्रमोदकारणमाध्यस्थ्यानि सस्वर्णणाधिकारिः इयमात्राविनेषु अभ्ये स्वापयन् या उपेक्षा प्रोक्ता ततः तेषु साधुनां कर्ममुचितेति ज्ञावः । अत्र सुरिराह- (गुणो वि दोसो ह्वरि ) यद्विदमविनेषु माध्यस्थ्यमुपदिष्टं तत् संयतापेक्षया, न पुनः संयतानुहित्यः, यस्मात्संयतं चियमुपेक्षा क्रियमाणा युक्तः, संयतं चियं क्रियमानं महान्, दोषो तस्य विति । उक्तं चौचनियुक्तार्थाप-“ संजयमिदचोयथाचोयणं य वावार उवेहा ।

अथ 'परपत्न्या न किरिय त्त' एवं भाषयति-

जद परो पदिसेविका, पाविंयं पदिसेवणं ।  
मज्ज मोणं चरंतसम्, के अष्टे परिहायई ॥

यदि पर आत्मव्यतिरिक्तः पापिकामकशासकर्मोपाधिकरणार्थिका प्रतिसेवनां प्रतिसेवते ततो मम औनमाचरतः कां नाम ज्ञानार्थिनां सध्यादर्थः परिहीयते ? न कोऽपीत्यर्थः ॥

अथ 'मोक्ष परद्वं च जयम् आयुष्टे' इति पदं व्याचष्टे-

आयुष्टे उवउत्ता, मा परयद वावमा होह ।  
इदि परद्वोत्ता, आयुष्टविणासगा होति ॥

आरमाधो नाम ज्ञानदर्शनचारिस्वरूपं पारमार्थिकं स्वकार्यम्, तत्राप्युक्ता जयति । मा परकार्ये आधिकरणोपशमनार्थं व्याधुता जयति । इंदीनि हेतुपददर्शने, यस्मात्परार्थायुक्त आरमाधे-विनाशाकाः स्वाध्यायध्यानाद्यत्मकार्यपरिमथकारिणां भवन्ति ।

अधोपेक्षमोक्षेजनाद्वारे युगार्थं व्याचष्टे-

एसो वि ताव दमयतु, इसह च तसोमयायार् ओहमणा ।  
तनरददाणं तह मो-सरादि अह होह उक्तअणा ॥

द्वयोरधिकरणं कुर्यतेतरेकमिदं सोदिति सति आचार्योऽप्यो वा ज्ञवति-एवंप्रियं तावद्वान्तपुष्टं; इत्यसामिदानीमनेन, यदि वा तत्रावयमनायाः, पश्चात्कथमे इत्यर्थः ; स्वयमहोसंकेपहसति, वतदुपसहसममुच्यते । तथा तयोर्भेदाद्यः सीदति तस्मोचरदा-

नय-अमुक्तममुक्तं च ह्येव शिक्शापणय, यद्वा-मा अमुक्त्वा-पस्यरत्वं, इदीपुय तया ह्यग यथा न तेन परार्थोपसे । अथैवा उक्तेजनाऽजिर्षयते ॥

अथ साहाय्यकरणं व्याख्यानमिति-

चायाए ह्युवेदि, पाएदि हं दंतउक्तमादीदि ।  
जो कुण्ड सहायसं, समालादोसं तयं वंति ॥

द्वयोः कलहायमानयोर्भेदाधिकार्ये पक्षे तूत्वा यः कोऽपि वाचा हस्नाज्यां वा पदयो वा दम्बोऽं लघुमादिभिर्वा साहाय्यं करोति, तं तेनाधिकरणकारिणा सह समानदोषं तीर्थकरादयो भवन्ते ।

अथाचार्याणामुपेक्षां कुर्वानां सामान्येन वा अधिकरणे अनुपश्रयमानं द्वायद्वेदानीभिर्मनुहाह्वणमुच्यते-

अरसमज्जे एगं सवतो वणमंदमोहयं महंतं सरं अत्थि ।  
तत्य य बहुएि जलचरयत्नचरखद्वचरसाणि अन्धंति ।  
तत्य एगं मट्ठं ह्तिज्जुहं परिवसह, अक्षया य गिएहकाले  
तं ह्तिज्जुहं पाणियं पाठं शहाउत्तिसं मज्जएहदेसकाले  
संयजस्वखलायाए सुहं सुहेणं चिह्दं । तत्य य अदूदेसे  
दो सरका भोऽउमारसह । वणदेवयाए अदि ह्दुं सव्वेसि  
सजासाए आयोसियं-

“नागाः वा जलवासीयाः । सुण्हेह तसयावरा ! ।  
सरका जत्य भेदंति, अजातो पाणियत्त” ॥ १ ॥

ता मा एतं सरदे उवेवखद, वारंह तुम्भे । एवं जणिया वि वे जलचरा ऽणो चित्तैति-किं अन्धं एतं सरका जेदंता काहिति? तत्य य एगो सरदो तो पिष्ठितो सो धारिज्जंतो सुहयमुत्तस एगसम जूहाह्विसम विलं ति काउं नासापुदं पविट्ठो । विद्वो वि तस्स पिष्ठो चो वपविट्ठो; तिसरकपाले लुक्कं संपलग्गा । तस्स इत्यिस्स महती अरई जाया । तअओ वेयण्हे मट्ठए अ-समाहः ए व्हमाणा उट्टेत्ता तं वणमंदं चूदं । बहवे तत्य वि-संतां याइया, जलं च आदोहित्तेण जसचरा पाइया, तस्मा-पाल्ता य जंइया, तदागं विण्णं, ताहं जसचरा मच्चे वि एट्ठा । ज्ञो नागा हस्तिनः ! जलवासिनो मत्स्यकच्छपाद्यः । अपरे च ये त्रसाः सुगणवृषपक्षिप्रभृतयोः श्यावराक्ष सहकारादयो वृक्षाः, एते सर्वेऽपि युयं शृणुत मदीये वचनम्-यत्र सरसि सरदो भागनः-कनहं कुकुरः; तस्याजावः परिवर्तते, विनाशः संभाव्यत इति भाष्यः ।

अमुमेवार्थमाह-

वाणसंदमरे जलथल-खद्वचरईमिणए देवयाकहयं ।  
वारंह सरदुवेवखण, धारण गयनास चरणया ॥

वनजएरमिते सरसि जलवसजलचरणां विभ्रमणं, तत्र सरदजल-मं दृष्ट्वा वनदेवनाया, नागा वा जलवासिः । इत्यपि श्लोककथनं कृत्वा वारयत सरदो कलहायमानावित्युपदिष्टम् । तत्रच तैनागार्थिभिः सरदयोर्भेदकण कृतम्, एकस्य च सरदस्य द्वितीयं धारतं दृष्टं, ततोऽप्यो पाठ्यमानो गजनासापुदं प्राचक्षवाद्य । तत्पुष्टोऽहतीयोऽ-



पि प्रविष्टः, तयोश्च युक्ते लक्ष्णेऽसद्व्येदनात्सैनं हस्तिना वनचरस्य  
 पूर्णं कृतमिति, एव ह्यहम्तः । अयमर्थोपनयः—यथा तेषामुपेक्ष-  
 माणानां तत्पक्षतरः सर्वेषामप्याश्रयभूतं विनष्टं, तस्मिंश्च विन-  
 द्यमाने तेषां विनष्टाः, एवमप्याश्रयार्थादानामुपेक्षमाणाणां  
 महान् दोष उपजायते । कथमिति चेत्, उच्यते—इदं तावधि-  
 करणकारिणाषुपेक्षितौ परस्परं सुप्तमुष्टि वा दण्डादधिक वा  
 मुष्येतां, तत्रश्च परस्परया राजकुले ज्ञाते सति महान् दोषः, यतः  
 स राजादिस्तेषां साधूनां वन्दनं वा, प्रामन्यपदादिनिष्कासनं  
 वा, कष्टकमर्दनं वा कुर्यात् ।

किञ्चान्यत्—  
 तावो भेदो अयसो, हाणी दंसलचरित्तनाणाणं ।  
 साधुपदासो संवा-रवङ्गो साहिकरगस्त ॥

तापां, भेदो, अयसो, हाणिदंशैर्नहानचरित्राणां, तथा-साधुप-  
 द्वेषः संसारवर्द्धनो जयति, एते साधिकरणस्य दोषा भवन्तांति  
 समासाधेः ।

अथैनमिव गाथां विवृणोति—  
 अग्निशयि अजगिण ए वा, तावो जेदो उ जीवचरणाम् ।  
 रुवसरिसं न सोसं, जिम्हं मषे अयम एव ॥

तापो द्विधा—प्रशस्तेऽप्रशस्तश्च । तत्रानिर्गणितं सति चिन्त्य-  
 नि-धिक्त्वा मां येन तदानीं स साधुर्गृह्णतिपरसद्व्यवस्थावर्धनभ्या-  
 चयात्-रक्षयित्वां चाकष्टः, एव प्रशस्तस्ताप उच्यते । अथाभगिने  
 न यथाविधि तस्य मुक्ते जगिने, तत्रजिन्त्ययति—हा । मन्त्रनाम्यो  
 विस्मरन्त्यगोत्राऽहं कर्मया तद्व्यं ज्ञात्वादिर्ममानिकुरन्थं न प्रका-  
 शितं, एव अप्रशस्तस्तापो मनस्यः । तथा कलदं कृत्वा जीवि-  
 तनेदं चरन्तेनं वा कुर्युः, पञ्चानापासवचतसो विहायभार्त-  
 मरणमभ्युपगच्छेयुः, अशिक्षमण वा कुर्युरिति ज्ञावः । सोकाऽपि  
 भ्रष्टात्-अहो ! अर्मांषां धमणाणां रूपसदृशो वादः प्रशान्तकारं रूप-  
 मवसोऽक्यते, तादृशं शोभं मनःप्रानधिधानं नास्ति । यद्वा-रकच ?  
 मय्ये जिह्वा लज्जनीयं किमप्यनेन कृतं, येनैव प्रशान्तवदनां ह-  
 द्यते, एवमादिकमयशः समुच्चञ्जति ।

आकुट्ट तातिण वा, पक्वोपकिक्व कज्जहम्मि गणभेदो ।  
 अगानर स्युएण्हिं व, रायादि सिद्धे महण्णार्हा ॥

जकारमकारादि(जिब्वचनैराकृते, तास्मिने वा च्येदाटादण्कादि-  
 भिरादने सति, पक्षापकि परस्परपक्षपरिभेदण साधूनां कलदं  
 जाते सति गणजनेो जयति, तथा-तयोः पक्षधर्मव्यापकतस्यकृण  
 राजकुलं गत्या शिष्टे कथिने सति, सुचकेदां राजपुत्रव्यवधेः  
 राजादीनां ज्ञापिते प्रहणाणकर्यणादयो दोषा जयन्ति ।

वचकलुहो वि न पडो-हा वचजलत्तं यदंणो हाणो ।  
 जह कोहाडविवही, त्ठ हाणो होए चरणे वि ॥

वृत्तकलदाऽपि कज्जहकणोत्तरकलायपि कपायकमुषिनः प-  
 ष्चासापतसमाननो वा यत्रपत्रति, तेन ज्ञानपरिहाणः, साधौ प्रवे-  
 शिते साधार्मिकवात्सल्यं विगर्षितं भवति, अयत्सत्यं च दशान-  
 परिहायो, यथा च कथादादीनां कथायां बुद्धिस्तथा चरणे-  
 ऽपि चारिभस्य परिहाणोभवति, विष्कलसंयमस्थानप्रति-  
 ष्ठातेनानिष्कलसंयमस्थायोपु गमनं भवतीत्यर्थः । एतच्च व्य-  
 हापमाभित्योक्तम् ।

निश्चयतस्तु—  
 अकसायं लु चरिंत्, कसायसहितो न संजओ होइ ।  
 सादुए पदेसेण य, संसारं सो विवहेट ।  
 लुशस्वस्यैवकारार्थेऽयादकपायमेव कथायपिरहितमेव चारिभं  
 भवतिः प्रकृतम्, अतो निश्चययानिमायेण कथायसहितः संयत  
 एव न भवति, चारिभशून्यत्वात् । तथा साधूनामुपरि यः प्रवे-  
 षतेनास्मीं संसारं बद्धयति, दीधेतरं करोति । यत एते दोषा-  
 स्तत उपेक्षा न विधेया ।

किं पुनस्तदि कर्तव्यम् ? इत्याह—  
 आगादे अदिगणणे, उवसम अवकण्णहा य सुखवणं ।  
 उवममहं कुणह जायं, जइण्णया सायपणेहि ॥  
 आगादे कर्त्तव्ये, अघिकरणे उत्पन्ने इत्युपपशमः कर्त्तव्यः ।  
 कथमिहाह-कसहायमानयोस्तयोः पार्श्वादिधैतैः साधुजिणप-  
 कर्षणप्रसाराण कर्त्तव्यम्, गुरुभिक्षोपशमनाद्यर्थं वचनमाश्रि-  
 धातव्यम्-आयोः । उपशास्यतापशास्यत । अमुपशासनात्नां कुणः  
 संयमः ? कुनो वा स्वाध्यायः ? तस्मादुपपदां कृत्वा स्वाध्यायं  
 कुरुत । किमं क्कमकयत् कनकरसस्य शाकपेयः कुदेना परित्यागं  
 कुरुथ ? । कः पुनरय इमकः ? उच्यते—

जरा-एगो परिव्वायगो दमपुगुरिंमं विताभोगसागराव-  
 गादं पासति । पुच्छति य-किमेवं वितापरो ? । तेण स सज्जा-  
 वो कहित्तो, दासिहाजिज्जतो मि सि । तेण जइहो सो-इस्सरं  
 तुपं करमि, जतो मीतातववातपरिससंमं अगणंतेहिं  
 तिमाम्भुवोवयणं सहंतेहिं वंनचारीहिं अचिचकटंमूलपत्त-  
 पुफफकझाहारीहिं समीपणुपुएण्हिं जायतो अरुसमाण-  
 हिं धंत्तव्वो । एम मे उवचारा । तेण दमणेण सो कएणरसो  
 उवचारंण गहिंते, तुंवर्यं भरितं । ततो णिमगतो तेण परि-  
 व्वायगेण भणियं-गुरुच्छेण वि तुंमे एस सागपत्तेण ण छां-  
 यव्वो । ततो सो पारंस्वायगो गच्छंत्तो दमपुगुरिंमं पुणो २  
 भणति-मम पजाविण ईसरो जाविम्मसि । सं य पुणो २  
 वज्जमाणो रुट्ठो भणति-जंतुंभं पमाएण इस्सरचरं, तेण  
 मे न कज्जं । तं कएणरसं सागपत्तेण उच्छेति । ताह परिस्वा-  
 यगेण जणियं-हा हा दुगत्पन । किमियं तुमे कयं ? ।

जं अज्जियं ममीव-अण्हिं तवानियमबंजमइण्हिं ।  
 तं दाणिं पच्च नादिहं, उठ्ठंत्तो सागपत्तेहिं ॥

यद्विजं शमोसवर्त्तयमिः अल्लकैः पत्रपुट्टेस्तापानियमस्र-  
 युक्तैः तदिदानीं शाकपेयैः परित्यजन् पञ्चात्परित्यागकाला-  
 दूर्द्धमुपरि तं ज्ञायामि, यथा-दुग्ध मया कृतं, यच्चिरसंविनः  
 कनकरसः शाकपेयैरुत्सिद्यत्य परित्यक्तः । एवं परिस्वाजकेण  
 द्रमक उपास्ये । अथाचार्यस्तावधिकरणकारिणलुपास्यते ।  
 अथां यच्चारिभं कनकरसस्थानीयं तपोनियमस्रश्चर्यमयैः श-  
 र्माअल्लकैरजितं परिपहोसागपदिधमं न गणयति, विस्तरकथं  
 कथमाप मोक्षितं तदिदानीं शाकपत्रसदृशैः कषायैः परित्यजन्तः  
 पञ्चात्परित्ययानमाननोः स्वयमेव ज्ञानविति । यथा-हा । बहुक-  
 हापानिनेन संयमजनकव्येन मुद्रकस्थानीयं स्वजांयवधुर्ण्यै

कृत्वा पश्चात्कलहायमानैः शाकवृत्तपत्रस्थानीयैः कषायेरु-  
 ल्लिख्योऽसिक्त्यायामसोऽरोऽतः, शिरस्तुण्डमुण्डनादिवश्च प्रव-  
 न्धाप्रयासो मुखैश्च विहित इति ।

आह—कथमेकमुद्रुत्संभावितानिऽपि क्रोधोदिना चिरसंचितं  
 चारित्र्यं क्षयमुपनीयते ? उच्यते—

जं अज्जियं चरिचं, देवूणाए वि पुण्वकीमीए ।  
 तं पिय कसयमेत्तो, नांसेइ नरो मुहुत्तेण ॥

यद्भ्रितं चारित्र्यं देशोनयाज्येष्वर्थाङ्गमयाऽपि पूर्वकोट्या तद्-  
 पित्तोऽस्मत्प्रवृत्तकालोप्राप्तिमित्यपिशब्दः। तदपि कषायि-  
 तमात्रं, उदीर्घमात्रकोधादिकषाय इत्यर्थः। नाशयति हारयति,  
 नरः पुरुषो. मुहुत्सेन, अन्त्यमुहुत्सेनित भावः। यथा—प्रभूतकाल-  
 संचितोऽपि महावृत्तुणःराशिः सकृत्प्रज्वलितेनापि अग्निना  
 सकोलोऽपि भस्मनाद्भ्रवतिः एवं क्रोधानलैनापि सकृदुदीरितेन  
 चिरसंचितं चारित्र्यमपि भस्मीभवतीति हृद्यम् । एवमाचा-  
 र्येण सामान्यतस्तपोरनुशिष्टदीतव्या, नत्येकमेव कञ्चन वि-  
 शिष्य भवतीत्यम् ।

यत आह—

आयरिए न जणे आह, एग निवारेइ मासियं लहुगं ।  
 गगदोसविमुक्को, सोयघरमोउ आयरिएणो ॥

आचार्यो नैकमधिकरणकारिणं भणति अनुशास्ति । अथा-  
 चार्यै एकमेव निवारयति अनुशास्ति न द्वितीयम्, ततो मा-  
 न्त्रिकं लघुमुसमापद्यते, असामान्योऽपि निष्पन्नमिति भावः । त-  
 स्मादाचार्यो रागवृत्तविमुक्तः शीतवृत्तसमो भवेत् । शीतवृत्तं  
 नाम शब्दोक्तस्तीर्णितं चकर्ममिहोद्यमः तत्र वर्णाश्रयितात-  
 ग्रान्तमः शीतकाले सोष्ममः प्रोष्णकाले शीतलमः यथा च तत्र-  
 कदाचित् न स्ववेत्ते तम् तथा समकारिणं प्राकृतपुरुषस्य तत्सर्व-  
 तुल्यममेव भवति । एवमाचार्यैरपि निविशेषैर्भविन्नव्यम् ।

अथ विशेषं करोति, तत रमे दोषाः—

वारोइ एम एवं, मयं न वारोइ पक्खरगणेणं ।  
 वार्होइभावं गाइतरं—गं तुपं च पेक्खससी एक्कं ॥

एव आचार्यै आत्मनोऽप्यामेति बुद्ध्या अमुं वारयतिः एवं प-  
 क्षरागेण क्रियमाणेन अननुशिष्यमाणैः साधुबाह्यभावं गच्छ-  
 ति । यथा—स अननुशिष्यमाणोऽपि गाइतरमधिकरणं कुर्यात् । अ-  
 धवा-तमाचार्यै परिक्रुद्धमेव श्रूयान्-त्यं मामेवैकं बालनया  
 प्रत्यने, तत्रास्मानमुद्दिष्य यदि मांसयति, तत आचार्यस्य पा-  
 राङ्गिकमः अथो निःशामति ततो भूलम् । तस्माद् हावण्यनुशा-  
 सनीयो, अनुशिष्टो च यद्युपशान्तौ ततः सुन्दरम् । अथैक  
 उपशान्तो न द्वितीयः, तेन चापशान्तेन गत्या स स्वापराधप्र-  
 त्तिपत्तिरनुपस्वरं क्षामिनः, परमसौ नोपशान्त्याति । आह—कथ-  
 मन्तदसौ जानाति यथाऽयं नोपशान्तः?, उच्यते—यद्वा वन्द्यमा-  
 नोऽपि न वन्दनकं प्रतीच्छाति । यदि वाऽवमरत्नकोऽसौ ततस्तं  
 रत्नाधिक न वन्दते, आश्रियमाणोऽपि वा नाङ्गियते ।

एवं तमनुपशान्तमुपलभ्य ततोऽसौ किं करोतीत्याह—  
 उदसंतोऽणुवसंतं, पासिज्जा निएणवेइ आयरियं ।  
 तत्स उ पञ्चण्ण्डा, निस्सेवो परोऽमो होइ ॥  
 उपशान्तः साधुरनुपशान्तमपरं उद्ध्वा आचार्यै विक्रमयति—

कामाभ्रमणाः । उपशान्तोऽहं, परमेव ज्येष्ठ्याऽपि मुक्तो वा नोप-  
 शान्त्याति । तत आचार्यैरनुस्य प्रह्लापनार्थं परनिक्षेपं कुरुयति ।  
 वृ० १ उ० । ( स च परानिक्षेपः ' पर ' शब्द एव कारिष्यते )  
 ( १ ) अथ भावपरो व्याख्यायते, जायः कृपोपशामादिः, तद-  
 पक्षया परो ज्ञायान्तरवर्ती, ज्ञायान्तः स वेदोदधिक्रान्त्व-  
 सिगृह्यते । तथा चाऽऽह—

आइणममुद्रुद्धारणं, वंदए संजुजया य संवासो ।  
 एयाई जो कुणार्हं, आराहुण अक्रुणामो नदिय ।  
 अकसायं निव्वाणं, सन्वाइं वि जिणवरोइं पत्तत् ।  
 सो लब्जइ भावपरो, जो उवपते अणुवसतो ॥

आदर्ः, अम्बुस्थानं, वन्दने, संभोजने, संवासाभ्येत्येवानीपदानि  
 य एषशान्तो नृत्वा करोति तस्याऽऽराधना अस्ति, यस्त्वेतानि  
 न करोति तस्याऽऽराधना नास्ति । एतेन "जो उवसमह तस्स  
 आथि आराहुणं" इत्यादिकः सूत्रायययो व्याख्यातः । अथ  
 किमर्थमादरादिपदानामकरणे आराधना नास्ति?, इत्याह—अ-  
 कषायं कषयाभावसंभवि निष्पद्यते सकलकर्मकृत्यलक्षणं सर्वैरपि  
 जिनवैरः प्रकृतम् । अतो यः कः अणुपशान्तोऽपि साधावणुपशान्त-  
 आदरादिपदानामकरणेन सकषायः स भावपरो लभ्यते, औद्-  
 यिकभाववर्तित्याह ।

अथाचार्यैस्तमुपशान्तं साधु प्रह्लापयन् प्रस्तुतयोजनो कुर्यात् आह—  
 मां वद्धे उदरं, भावे तुं पुण्णं त्वज्जोवसामियम्मि ।  
 जह सो तुह जावपरो, परमेव य संजमतवाणं ॥

जो भइ । द्वितीयः साधुरचापौद्रिकिके भावे चर्ततेः त्वं पुनः  
 ज्ञायोपशान्तिके ज्ञायं चर्तसे । अतो यथाऽसौ तद्वर्णय्या  
 भावपरस्तथा संयमनोपशान्त्यर्थं परः पुण्यम् इत्यतस्त्वया  
 न कान्तिच्छेद्यां विन्ता विषेया । वृ० १ उ० । ( नो च्छू० )

( ८ ) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसंस्कृतानि कर्तव्या—

निकलुय अइदिगरणं अवि ओसमिहा इच्छिज्जा अच्चं गणं  
 उनसंपज्जिजा णं विहरित्तए, कण्पइ तस्स पंचराइदियं उयं  
 कटुं, परिनिव्वणिय इ होइं पि तमेव गणं परिनेवअन्नं  
 सिया, जइ वा तस्स गणुएन तट्ठा सिया ॥

भिष्णुः, चण्डदाहार्थोपाध्यायो वा, अधिकरणं कृत्वा तदधि-  
 करणमप्यवशमस्य, इच्छेदव्यगणमुपसंपद्य विहर्तुम्, ततः कल्पते  
 तस्य अन्त्यगणसंस्कृतस्य पञ्चरादियिं क्लृप्तं कर्तुम्, ततः परि-  
 निवृत्तये २ कामलवचःसालिलसेकेन कषायाप्रिसंततं सर्वे  
 शान्तलोकित्य, चितीयमपि वारं तमेव गणं संघ प्रतिनियतः  
 स्यात् । यथा वा तस्य गणस्य, तथा कसंघमेवमेति सूत्रार्थः ।  
 वृ० ४ उ० ॥

( ९ ) गच्छाद्भिर्गतितस्याऽधिकरणे उपपन्ने विधिः—

गच्छा अणियागयसता, आणुवसमंतं सिसमो विधी होइ ।  
 सउज्जायनिकवल्लत्त—इ पाओमए च चउर एक्केके ।

गच्छाद्भिर्गतितस्याऽधिकरणे उपपन्ने विधिः तत्रैव विधीयते—सुगंधयकाले यः  
 स्वाध्यायः क्रियते तत्रैव तत्रैव प्रथमसौ भोज्यते, द्वितीयं नि-  
 ज्ञावतरणैश्चार्थो, तृतीयं भक्तार्थमाकाले, चतुर्थं प्रादोषिका-

व्ययकवेज्ञायाम् । एवं चतुरो वारानैकैकस्मिद् दिने मोदते, तच्चाधिकरणं प्रभाते प्रतिक्रान्तात् स्वाध्याये प्रस्थापिते ।

एवमादौ कारणे तदुत्पत्तेः-

सुष्यद्विज्ञोहियमादिषु, नोदिरे सभ्यं अप्रतिवज्जचे ।

एष नि पट्टवेति उवसम-काशो ए सुष्वाञ्जियं वाऽस्ती ॥

दुष्पत्थुपेक्षितं कुर्वद्, आदिसंभारप्रत्येक्षमाणः, अस्माकाचार्यो वा प्रत्युपेक्षमाणो नोदितः सभ्यम् यदि न प्रतिपद्यते, ततो अधिकरणं भवेत् । उवसे चाधिकरणे यदि स्वाध्यायेऽप्रस्थापिते स्वयमेवापशान्तस्ततः सुन्दरम् । अथ नोपशान्तस्ततो यः प्रस्थापनाद्युपनिष्ठते स चारणायः । यथा-तद्वदु तावद् यावद् स-वे वि नो मिलिताः, तत्र आगन्तव्यं सर्वेषु सूर्यां भुवने-प्रायाः ! पश्यत इमे साधयः स्वाध्यायं न प्रस्थापयन्ति । ते चेटोस्तरं प्रवृत्तञ्जयवर्ष-कालो न शुक्रः, पराजितं तेषां साधुनां सुभ-ज्जत, ततो न स्थापयन्ति । एवं भणतो मासगुरु, साधवश्च स-वेऽपि प्रस्थापयन्ति स्वाध्यायं च कुर्वन्ति ।

काले प्रतिक्रान्ते जिज्ञासुंलायां जातयामिदमाचार्या प्रणयन्ते-

द्योतरण अजतद्वी, ण व वेज्ञा अनेज्जाऽजिष्ये ॥

ण य पदिकर्मति उवसम, थिरतायारा तु पच्छाऽसुह ॥

अथ । साधवभ्यर्चयित्वातुपशामनेन भिक्षां नायचरन्ति, तत्र उपशमं कुरु । स चेटोस्तरं प्राह-नूयमभक्तार्थिनो, न वा जिज्ञा-वेज्ञा, एवमुक्ते सर्वेऽप्यवतरन्ति, नस्यामुपशान्तस्य जिज्ञायां मास-गुरुः । जिज्ञानिष्ठेषु साधुषु गुरुषां जर्णान्त-प्रायं ! साधुषां न सुज्जना । स प्राह-नूनं साधुनां न जर्णाम् । एवमुक्ते सर्वेऽपि समु-दिता सुज्जने, नस्य पुनस्तुनां यं मासगुरु । ज्ञयेऽपि प्रतिक्रमणवे-लायां भणन्ति-प्रायं ! साधुषां न प्रतिक्रामन्ति, उपशमं कुरु । स चेटोस्तरं प्रत्याह-तुरिति विनये, संभावयाम्यहं निरताचारः कर्माणस्तत्र न प्रतिक्रामिन्, एवमुक्ते सर्वेऽपि प्रतिक्रामन्ति । नस्य पुनश्चतुर्गुरुकम् । एवं प्रभातकाले अधिकरणं उत्पन्नं विधिरुक्तः ।

अत्राम्बि वि काशम्ये, पदंतं हिदंतं मंदेहाऽवस्मे ।

तिभि वि दोगिषि व मामा, ह्योति पदिक्कंतं गुरुगा उ ॥

अध्याप्यस्मिद् काले अधिकरणमुत्पन्नम्, कदत्याह-पठनां इतिना-धिकारिपठने, भिक्षां दिष्टममानामां, मरुत्तयां वा समुद्दिशानामा-भयके वा । तत्र यदि द्वितीयावेज्ञायामधिकरणमुत्पन्नं तदा कपो गुरुमासाः, चतुर्थवेज्ञायामुत्पन्नं अष्टगुरुमासं द्वौ गुरुमा-सौ, एवं विज्ञाया कसंख्या । अथ प्रतिक्रान्ते प्रतिक्रमणे हुने-ऽपि नोपशान्तस्ततश्चतुर्गुरुकाः ।

एवं दिवसे दिवसे, चाउकाले तु सारणा तसम ।

नति बारे ण सारेति, गुरुण गुरुगो तु तति बारे ॥

एवमनुपशान्तस्य दिवसे दिवसे चतुर्काले स्वाध्यायप्रस्था-पनादिसमयकूपे, नस्य सारणा कसंख्या । यदि यायतो वारद् आचार्यो न सारयति तावतो वारद् मासगुरुकाणि भवन्ति ।

एवं तु अगीतत्पे, गीतत्पे सारिरे गुरु सुद्धो ।

नति तं गुरु ण सारं, आबवी होइ दीएहं वि ।

एवं दिने दिने सारणाविधिनाताधैर्यं कर्तव्यं; यस्तु गीताधैः द्विं स स्वाध्यायनिकाजकार्यनाभयककक्षेषु चतुषु स यथा-  
यदा परतस्तमसारयति गुरुः सुद्धः, यदि पुन-  
स्थानेषु सारयति-

स्नमगीताधै गीताधै वा गुरुं सारयति ततो द्वयोःस्वाध्याय-स्यानुपशाम्यतश्च प्रायश्चित्तस्थापितः । अन्ये भुवने-अगीताधै-स्यानुपशाम्यताऽपि नास्ति प्रायश्चित्तं, यस्तु गुरुगीताधै न नोदयति, तस्य प्रायश्चित्तम् ।

गच्छो य दोगिषि मासे, पक्खे पक्खे इयं परिहृवइ ।

जत्तचणसज्जायं, वंदणं खावं ततो परंए ॥

एवमनुपशाम्यन्ते गच्छो द्वौ मासौ सारयन्ति, एवं पुनः पक्के पक्के परिहापयति । तथाच-अनुपशान्तस्य पक्के गते गच्छे तेन सार्द्धं भक्तापेनं न करोति, न गृह्णाति वा, न वा किमपि तस्य ददातीत्यर्थः । द्वितीये पक्के गते स्वाध्यायं तेन समं न करोति, तृतीये पक्के गते वन्दनं न करोति, चतुर्थोऽपि पक्का यदा गतो भ-वति ततः परमाज्ञापयति तेन सार्द्धं पर्यजयति ।

आयारिय चउर मामे, सेज्जुजति चउर देइ सज्जायं ।

वंदाणंखावे चउरो, तथा परं मूलनिच्छुज्जणा ॥

आचार्यः पुनश्चतुरां मामाद् सर्वेरापि प्रकरीस्तेन समं संहृ-ञ्जे, ततः परं चतुरां मामाद् जकापेनं वर्जयति, स्वाध्यायं तु ददाति । तत्रश्चतुरां मामाद् स्वाध्यायं परिहृत्य वन्दनालापी द-दाति, ततः परं वर्षे पूर्णं सांख्यसंस्कारिके प्रतिक्रान्तेऽनुपशान्तस्य गणाः प्रष्कासने कर्तव्यम् ।

एवं वारसमासे, दोमु तवां सेसए जेव वेदो ।

परिहोयमाण ताव्-से तव मूलं पदिक्कंते ॥

एवं द्वादशमास्यामप्यनुपशाम्यतेद्विंशोऽधिकमासये, वर्षाद्य-च्छेज्जं विसर्जितस्तनाद्यप्यः प्रायश्चित्तस्यैव, शेषेषु दशसु मासेषु उपचाराधिदिषु वेदो यावत्सांख्यसंस्कारिकम्, एवं प्राप्तं भवति-पट्ट-पणारासौ प्रतिक्रान्ताधिकरणं उत्पन्नं पश्च विधिरुक्तः । (प-रिहोयमाण नदिवस स) पशुपणाराणकदान्द्रैकदाद्रैकदिवसेन परिहोयता, तावत्पश्चं यावत्तदिवसे, पशुपणारादिवसे एषाधिकरण-उत्पन्नं तत्र तपो मूलं वा भवति नच्छेदः । अथ प्रतिक्रमणं कु-र्वन्तामुत्पन्नं ततः सांख्यसंस्कारिके कार्यात्मने हुते मूलं च कवच-भवति ।

एतदेव सुव्यकमाह-

एवं एकैकदिणे, हुवेतु उवणादिषे वि एमेव ।

चेऽयवंदणसारं, तम्मि वि कासे तिमाणगुरु ॥

भाद्रपदशुक्लपञ्चम्यामनुदिते आदित्ये यथाधिकरणमुत्पद्यते ततः पशुपणारायामप्यनुपशान्ते संवत्सरो जयति । बहुधासुपपन्नं एकदिवसे न संवत्सरः । सप्तम्यां दिवसत्रयम् । एवमेकैकं दिनं हापयित्वा तावत्पश्चं यावत् प्रस्थापनादिवसं पशुपणारादिवसः तत्र वाऽनुदिते रवौ कसंखे उत्पन्नं एवमेव नोदता कर्तव्या । प्रथमं स्वाध्यायप्रस्थापणं कर्तुं कामिः सारणीयम्, तत्रैतत्पश्चन्मार्गं गन्तुकामाः सारयन्तः । तत्राप्यनुपशान्ते प्रतिक्रमणवेलायां सार-यन्ति । एवं तस्मिन्नेपि पशुपणाराकालदिवसे त्रिषु स्वाध्यायप्रस्था-पनादिषु स्थानेषु नोदितस्वाध्यायप्रस्थस्य त्रीणि मासगुरु-काणि भवन्ति ।

पदिक्कंते पुण मूलं, पदिक्रमेते व होज्ज अधिकरणं ।

संवच्छरमुस्समगे, कयम्मि मूलं न सेसाइ ॥

पशुपणारादिने सर्वेवामाधिकरणानां व्यवच्छिन्नैः कर्तव्यमित्थ-

त्वा प्रतिष्ठाते समाते प्राथम्यके यदि भोगद्यान्तः, ततो मूढत्व । (परिक्रमते च सि)अथ प्रतिष्ठाप्ये प्राथम्ये यावत् सांख्यस्वरिको मङ्गल्योत्सर्गः, तावत्प्रतिकरणे कृते मूढमेव कथयन्, न शोचापि प्रायश्चित्तापि ।

संवच्छरं च रुद्धं, आयरिमो रक्तए पयणेणं ।

जदि एणम उवत्तपेज्जा, पन्वपरादसरिसरातो ।।

एवमन्वार्थस्त्वं रुद्धं संक्रन्तरं यावत् प्रयत्नेन रक्षति । किमर्थम् ? इत्याह-यदि माम कथञ्चिदुपशाम्येत । अथ संवत्सरेणापि भोग्यस्यास्ति, ततः पर्वतराजीसदृशरोपः स मन्वस्यः ।

तस्य वर्षोत्पूर्व को विधिः ? इत्याह-

अथ दो आयरिया, एकेकं बरिसमुपेयस ।

बेण वरं गिदिए सो, बितियपदे रायपव्वइए ।।

तं वर्षोत्पूर्वं मूढाचार्यसमीपानिगतमन्वी ह्यावाचार्यौ क्रमेणैकैकं वर्षमतेषु च विधिया प्रवर्त्तन्तः, तन्मन्वाद्येभोपशामित-स्तस्थितासौ शिष्याः । ततः परं वर्षथावत्पूर्वमेव घृष्टीक्रियते, सङ्क-स्तदीयं लिङ्गमपाकरोतीत्यर्थः । इतीत्यपदे राजप्रमजितस्य लिङ्गं प्रस्तारदोपनयाच ह्वियते । एवं निष्कोपकम् ।

एवम गणायरिए, गच्छिमि तवो उ तिमि पकसाइं ।

दो पक्त्वा आयरिए, पुच्छइ व कुभारदिदुतो ।।

एवमेव गणित आचार्येभ्य च मन्वस्यते । नवरमुपाध्यायस्यानुपशाम्यततो गच्छे वसतस्त्रीत्यर्क्षेऽस्तवः प्रायश्चित्तम्, परतस्त्रे-दः । आचार्येभ्यः अनुपशाम्यतो दो पक्ते तपः, परतस्त्रेदः । शिष्यः पृच्छति-किं सदृशपरापरे विषयं प्रायश्चित्तं प्रयच्छथ ? इ, रागद्वे-पञ्चात्तौ वृथथ । आचार्यः । पञ्च-कुमारदृष्टान्तेऽत्र प्रवर्त्त । स बोधरत्नाभिधास्यते । ह्यपध्यायस्य अयः पक्तास्ते दिवसीकृताः पञ्चन्वार्शिशिवसा जवन्ति ।।

ततः-

पणयासदिए गणियो, चठहा काऊल साहिएक्कारो ।

नचठण-सज्जाए, बंदणालो य हाबेति ।।

गणितः संवत्प्रथमः पञ्चन्वार्शिशिवसाः ऋतुर्द्धा क्रियन्ते । च-तुर्मासं च, साधिकः सप्ताहा एकादश दिवसा जवन्ति । तत्र गच्छे उपपायान् सममेकादश दिनानि अकथनं करोति । एवं स्वाध्यायवन्दनाहापनापि प्रत्येकमेकादश दिनानि यथाक्रमं करो-ति, परतस्तु परिह्रायवति । पञ्चन्वार्शिशिवसाभन्तरं बोपाध्यायस्य दशकच्छेदः । आचार्येभ्यस्यैवापध्यायमपि चतु-रिंशत्प्रतिमसिर्भेकथायदादिनि परिह्रायपदं संवत्सरं सारयति । आचार्येभ्य द्वौ पक्षौ दिवसीकृती विश्राह्वसा जवन्ति ।।

ततः-

दीसदिणा आयरिए, अरुद्धदिणा उ हावया तस्य ।

गच्छेय चउपदेहिं, गिच्छेय लुगती छेदे ।।

शिश्रिविवासाभ्युद्योगेन चित्रका अर्द्धाष्टमदिवसा भवन्ति । तत्र गच्छे आचार्येण सदाह्रादिना दिवसानि अकथनं करोति । एवं स्वाध्यायवन्दनाहापनमपि यथाक्रममर्द्धमैर्दिवसैः प्रत्येकं ह्राययति । ततः परं गच्छेन ऋत्विगिरेपि प्रकाथनादिभिः पक्षैर्नि-ष्कालित आचार्यः पञ्चदशके जेदे लगति ।।

ततः-

संकतो अणणगणं, सणणेण पवजितो चउपदेहिं ।।

आयरिमो पुण्य वरित्तं, बंदणालोवेहि सारेइ ।।

स्वधनेन जकथनैनादिभिश्चतुर्भिः वर्षैश्चा बर्जितः, लदा अन्व-गणं संक्रान्तः, पुनरन्वगणस्यावधारो केवचं कल्पनाहापाच्यं ह्यण्यो वद्वाच्यं संछुद्रागमः सारयति यावद्द्वर्षम् ।

सज्जायमाइएहिं, दिणे दिणे सारणा परणणे वि ।

नवरं पुण नाणत्तं, तवो गुल्लसेपरं वेदो ।।

परणणेऽपि संक्रान्तस्य आचार्यस्य स्वाध्यायादिभिः पक्षैर्दि-दिने सारणा क्रियते । नवरं परणणोपसंक्रान्तस्येवं गानात्वं विना-यः । अन्वगणसकलस्य गुणेरसारयतस्तपः प्रायश्चित्तम्, इतरस्य पुनरधिकरणकारित्य आचार्येभ्यःस्तुप्राप्तस्य जेवः । अथ परः ग्राह-रागद्वेषिणो वृथथ-आचार्ये शीर्षं जेदं जेदं गणयन्, उपाध्यायं बहुरतरेण, मिच्छं ततोऽपि चिन्तरेण । एवं निष्कृताध्यायैर्भवेवर्ता रागः, आचार्यं वेचः । अत्र सूचिः आगुहिदं कुमारदृष्टान्तमहा-

सरिसावराधरदो, जुवरभो भोगहरण्यधादी ।

मज्जिम बंधवहादी, अन्वचे कण्ठसि स चि ।।

“यसास्स रथो तिचि पुत्ता-जेठो, मज्जिमो, कण्ठिमो । तेहि च तिदिं हि समन्थियं-पितरं मारिसा रथं तिहा चिप्रमाणं, तं च ताहा रायं, तथ जेठो जुवरया, तुमं पमाण्ठुभो कीस एव-सि सि ?, तस्स भोगहरण्यंधवतामनादिया सव्वे बंदणपगारा कया । मज्जिमो रायपहाणो । सि काठं तस्स भोगहरणं न कयं, बंधवहादिया कया । अन्वसो कण्ठेयो एतेहिं विचारिमो सि काठं तस्स कण्ठियमो कण्ठेदो । सिसा इंदं च कथं, न भोगहरणाइयं” अङ्गरामनिका-सदृशेऽन्यपराधे जुवरराजस्य भोगहरण्यंधना-दिको महाद्वद्वदः कृतः । मध्यमस्य बन्धवधादिको, न भोग-रणम्, अशकः कनिष्ठस्तस्य कर्णामेटनादिकः, सिसा च कृता । अयमर्थोपनयः । यथा-संकेतोकाचरंऽप्युक्तमध्यमजघन्येषु पुरुषवस्तुषु वृद्धस्यो लघुसंपुतरश्च यथाक्रमं दृश्यः क्रियते । प्रमाणभूतं च पुरुषे अक्रियातु वर्तमानं येते हांयाः-

अप्यन्वय वीसत्थ-त्तणं च ह्योगे गरहा दुरिगमो ।

आणाय य परिभुवो, खंभ भयं तो तिहा दंदो ।।

एत एवाचार्यो जगन्नि, अकथायं चारित्रं भवति, स्वयं पुनरि-त्तं रुच्यन्ति । एवं सर्वेषु शोधप्रत्ययो भवति । शेषसाधुनाम-पि कथायकरणे विभ्रान्तता भवति, लोको वा गहीं कुर्यात् । प्र-धान यवामीयं कथं करोतीति, रोषणश्च युक्तः शिष्यायं प्रती-च्छकानां च दुरधिगमो भवति, रोषणस्य चाहो शिष्याः परिज-वन्ति, न च अयं तेषां भवति, अतो वस्तुविशेषेण विधा दृश्यः कृतः ।

गच्छमि प हृवए, जम्मि पदे निगतो वितियं ।।

जिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणवड-पारं चो ।।

गच्छे यस्मिन् पदे प्रकापिते निगंतस्ततो ह्रितौयं पदं परणणे संक्रान्तः प्रामोति, तद् यथा-तपसि प्रकापिते यद्वि निगंतस्त-त्तद् प्रामोति, जेदे प्रकापिते निगंतस्ततो मूढत्व, एवं जिक्कोक-गणाच्येदकस्यानवस्थाप्ये आचार्येभ्य वारञ्चिके पंथंभवति ।।

अधिवाराय

अथवा येन प्रकाशयन्नादिना पदेन गच्छाभिर्गतः, ततो द्वितीयपद-  
मन्वगण्ये गतस्य प्रारब्धवत्ते । यथा-गच्छाङ्गकार्येन पदेन निर्गतः,  
ततोऽन्ये गण्यं गतेन तेन सप्तम्यां न घृहे, स्वाध्यायं युगः करो-  
ति । एवं स्वाध्यायपदेन विगतस्य घृष्टम् करोति । घृष्टमपदेन  
निर्गतस्याक्षराणं करोति । आक्षरपपदेन निर्गतस्य पराच-  
ञ्चतुर्भिरपि पदैः परिहारं करोति । ' भिस्सुगणायारियानि ' इत्यादिना तु  
अध्यायमन्वस्यस्वप्रायश्चित्तानि शुद्धानि ॥ ५० ॥ ५० । नि० ५० । ( द्वितीयपदं कार्यं सत्युपवाद्मन्दिय-  
कारेऽनुपदेमेव चक्षते )

( १० ) अरपरुपाणि भयित्वा गच्छाभिर्गच्छतो विधिः—  
यद्यधिकरूपं कृत्वा प्रश्नापितोऽपि नोपशाम्यति,  
स किं करोति ? इत्याह—

स्वरकृत्सनिर्द्दुग्धं, अहं सो भणितं अत्राणियव्वाङं ।  
निगमण्य कल्लुसद्विषयं, सगणे अह्ना परगणे य ॥

अथौषी अरपरुपनिष्ठुरापदिनि अभ्युत्तवधानि घञ्चमानि अ-  
णित्वा कल्लुनितद्दुग्धया स्वगच्छाभिर्गमनं करोति, ततोनिगतस्य  
तस्य स्वगणे परगणे च प्रत्येकमष्टौ स्पर्शकानि घञ्चमाणा-  
नि भवन्ति ।

अरपरुपनिष्ठुरपदिनि व्याख्याति—

उर्द्धं सरोसं अणियं, द्विसंग-मन्मवयणं त्वरं तं तु ।  
अक्कोसं शिकवचारिं, तमसच्चं गिहुरं ह्येति ॥

उर्द्धं महताः अयेन सरोपं यद्गङ्गानि-दिसकं प्रमद्यद्गहनचचनं  
वा, तेषु अरं मन्तव्यम् । जकप्यमकारादिकं यदाक्कोशचचनं यथा  
निरुपचारि विनयोपचारिदरं तस्यरुपम् । यदस्यसं समाया अ-  
धोमयं, कस्तवमित्यादिकं त्वं निष्ठुरं भययते ।

इहशानि भणित्वा गच्छाभिर्गतस्याचार्यः प्रायश्चित्तवि-  
भागं दर्शयितुकाम इदमाह—

अद्दुःखं अक्कमासा, मासा ह्यौतद्दुःखं अद्दुःखं पयारो ।

वासामु अ संचरन्, ण चेव इपरे वि पेसंति ॥

ये गणे यास्याचार्यस्तत्काल्यष्टौ स्पर्शकानि, तेषु पक्षे अरपरा-  
परस्मिन् स्पर्शके संबन्धतो अष्टावर्द्धमासा भवन्ति । परगण-  
मन्वोऽप्यष्टसु स्पर्शकेषु पक्षे पक्षे संबन्धतो अष्टावर्द्धमासाः ।  
पवमुभयेऽपि मौलितानि अष्टौ मासा भवन्ति, अष्टसु च अतु-  
बज्जमासेषु साधूनां प्रचारो विहारो भवतीति कृत्वा अष्टप्रहस्य  
कृतम् । येषामु चतुरो मासान् तत्पथिकरक्षकारिणः साधोः  
संभरणं नास्ति यथोकाल इति कृत्वा इतरऽपि येनां स्पर्शकेषु  
संक्रान्तस्तेऽपि ते प्रश्नाप्यवर्धावास्त इति कृत्वा यतो गच्छादात्त-  
स्तत्र न प्रेषयन्ति, तत्र यानि स्वगणे अष्टौ स्पर्शकानि, तेषु  
संक्रान्तस्यैतैः स्वाध्यायभिक्षाभोजनप्रतिष्ठापणेष्वेतेषु प्रत्येकं  
सारया कर्तव्या । ' आर्यैः । उपशमं कुर्व' यद्येवं सारयन्ति  
ततो मासशुद्धकम् ।

तस्य पुनरनुपशाम्यत इदं प्रायश्चित्तम्—

सगणमि पंच राई-दिशायि दस परगणे मणुओसुं ।  
अओसुं होई पधरस, वीसा तु गयस ओमसा ॥

स्वगणे स्पर्शकेषु संक्रान्तस्यानुपशाम्यतो विचक्षे दिवसे प-  
ञ्चरात्रिदिवस्त्र्येदं, परगणे मनोभोगे सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य  
दशरात्रिदिवः; अन्वसांभोगिकेषु संक्रान्तस्य दशरात्रिदिवः,  
अन्वसांभोगेषु पञ्चदशरात्रिदिवः । अत्रसंज्ञेषु गतस्य विभ-  
तिरात्रिदिवस्त्र्येदं : एवं भिक्षोकृतम् ।

अधोपाध्यायान्वायेयोऽन्वस्यते—

एवमेव ङोइ गणो, दसदिवसादी भिष्मासांते ।  
पधरसादी तु गुरु, चरसु वि ठाणेषु मासंते ॥

एवमेव गणिन उपाध्यायस्यापि आधिकरूपं कृत्वा परगण-  
संक्रान्तस्य मन्तव्यम् । नवरं दशरात्रिदिवसादी कृत्वा भिक्ष-  
मासान्तस्तस्य च्छेदः । एवमेव शुरोऽप्याचार्येणैव चतुषु स्व-  
व्यपराणे सांभोगिकाम्बसांभोगिकावसंज्ञेषु पञ्चदशरात्रि-  
दिविको मासिकान्तश्चेदः । एतत्पुत्रवाणां स्वगणादिविधान-  
विभागेन प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

अथ तथैव स्थानेषु पुनरविभागेन प्रायश्चित्तमाह—

सगणमि पंचराई-दिशायि जिकसुस तदिवेम ठेदो ।  
दस होई अहोरत्ता, गणिआयरीए व पधरसा ॥

स्वगणे संक्रान्तस्य भिक्षान्तदिवसादारभ्य दिने दिने पञ्च-  
रात्रिदिवस्त्र्येदः । गणिन उपाध्यायस्य दशरात्रिदिवः । आचा-  
र्यस्य पञ्चदशरात्रिदिवः ।

अष्टगणे भिक्षुसुस य, दस राईदिया जवे ठेदो ।  
पधरस अहोरत्ता, गणिआयरीए भवे वीसा ॥

अन्वसाणे सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य भिक्षादशरात्रिदिवस्त्र्येदः ।  
उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिदिवः । आचार्यस्य विशतिरात्रिदिवः ।  
एवमन्वसांभोगिकेषु अत्रसंज्ञेषु च प्रागुक्तात्पराणैर् नयम् ।  
५० ५ ३० ।

एवं एकैकदिनां, ह्वेषुनु उवणा दिणे वि एमेव ।  
चेइयवेदणसारिरे, तमि व काले तिमासगुरु ॥ १२ ० ८ ॥  
पासत्यादिगयसस य, वोसं राईदियाई जिकसुसम् ।

एगवीस उवज्जाए, गणिआयरीए जवे मासो ॥ १२ ० ९ ॥  
गणस्य गणे वा आचार्यः, अथवा-गणित्वमाचार्यस्यं च  
यस्यास्तस्यो गणेश्चारायः । नि० ५० । १० ३० ।

आधैवं प्रतिदिनें विद्यमाने पर्यायं पक्षेण कियन्तो मासा अ-  
मीयां विद्यन्ते ? इति जिज्ञासार्थां छेदसंज्ञपनामाह—

अद्दुःखाज्जा मासा, अद्दुःहि मासा इवांति वीमं त् ।  
पंच उ मासा पक्खे, अद्दुःहि चत्ता उ जिकसुसत् ॥

स्वगणसंक्रान्तस्य भिक्षोः प्रतिदिनें पञ्चकच्छेदेन वि-  
धमानस्य पर्यायस्य पक्षेणाद्वैतनीया मासाः विद्यन्ते ।  
तथाहि-पक्षे पञ्चदश दिनानि भवन्ति, तैः पञ्च पशुष्यन्ते,  
जाता पञ्चसन्तानः ; तस्य मासान्तयनाय विश्रान्ता जाते  
हन्ते अर्चतुनीयमासा लभ्यन्ते, स्वगणे चाष्टौ स्पर्शकानि, तेषु  
पक्षे पक्षे मन्वरेणः पञ्चकच्छेदेन विशानिमासांभियन्ते । तथाहि-  
पञ्चदशपनिर्मुणितानि ज्ञाने विशोचरं शनम् । तदपि पञ्चमि-  
मुणितं ज्ञानानि यदशानि । तेषां विशाना माते हन्ते विशानिमासा-

लक्ष्यते । एवमुत्तराभिः शुणकारमाहारप्रयोगेषु स्वबुद्ध्याप-  
सुप्त्य भासा आनतव्याः । परगणे संक्रान्तस्य जिहोर्देशकन जे-  
देन जिघमानस्य पर्यायस्य पक्षेण पञ्च माससिद्धयन्ते, दशकै-  
श्च द्वेदनाभिः पक्षैश्चत्वारिंशत्माससिद्धयन्ते, एव भिन्नोक्तम् ।

उपस्थाप्यस्य पुनरिदम्-

पंच ठ मासा पक्वते, अष्टाद्विं मासा हवंति चत्वारः ।

अष्टोऽष्टमास पक्वते, अष्टाद्विं सद्धी जवे गण्डिणो ।।

उपस्थाप्यस्यापि स्वगणे दशकेन जेदेन पक्षेण पञ्च मासाः,  
अष्टाद्विंशतिमासैश्चत्वारिंशत्मासाः सिध्यन्ते, तस्यैव परगणेषु प-  
ञ्चदशकेन जेदेनाष्टममासाः पक्षेण सिध्यन्ते । परगणे त-  
पवाद्यभिः पक्षेर्गुणिताः षष्टिर्मासा गणितसिद्धयन्ते ।

अष्टोऽष्टमास पक्वते, अष्टाद्विं मासा हवंति सद्धी तु ।

दस मासा पक्वते, अष्टाद्विंशतीति च आयरिपे ।।

आचार्यस्य स्वगणे संक्रान्तस्य पञ्चदशकेन जेदेन जिघमाने प-  
र्याये पक्षेणाष्टममासा अष्टभिः पक्षेर्गुणिताः षष्टिर्मासासिद्धय-  
न्ते । तस्यैव परगणसंक्रान्तस्य विशेन जेदेन पक्षेण दश मासा  
अष्टभिः पक्षेर्गुणितासिद्धयन्ते । एवं स्वगणे परगण च सां-  
ज्ञानिकेषु संक्रान्तस्य जेदसंबलनाभिर्भेदिता । अन्यसंज्ञानिकेषु  
श्रवसंश्लेषु च संक्रान्तस्य जिहोर्देशापास्याचार्यस्य वाऽन्यैव  
दिशा जेदसंकलना कर्तव्या ।

एता विद्वांसो न निगम्ये, सगणे चत्वारि मास उक्तासौ ।

चत्वारि परगणम्भी, तेष परं मूल निच्युजणं ।।

एष विपंगच्छाभिर्गतस्योक्तः । अथ च स्वगणे अष्टसु स्पर्क-  
केषु पक्षे पक्षे संचरनश्चत्वारो मासा उक्तयन्तो भवन्ति । परग-  
णस्यैव चत्वारो मासाः । एवमप्येवमपि चत्वारो मासाः । ततः  
परं यद्युपशान्तस्वतो मूलम् । अथ नोपशान्तस्वदा निष्कासने  
कनेव्यम्, लिङ्गमपुढरणी यमियर्थः ।

चोपुद् रागदोमे, सगणे थोवं इमं तु नाणत्तं ।

पंतावण निच्युजणं, परकुञ्जयोरपि त्वा गया ।।

शिव्यः प्रेरयति-गमद्वेषिणो यूय, यत् स्वगणे स्नोकं छेदप्र-  
श्चिनं दक्षम्, परगणे तु प्रभूयम् । एवं स्वगणे प्रथमां रागः, पर-  
गणे द्वेषः । गुरुदाह-दं जेदनाभावत् कुतस्तां वयं न रागद्वेषिणः ।

तथा जात्र दृष्टान्तः-

एगस्त गिदिणो चठरो भञ्जाओ । ततो य ते ग कम्भि एगे  
सरिसे अवराहे कते पंतैतां पांइधम गिदाओ चि निच्यु-  
हा, तस्येगा कम्भि इयरधरम्प गया, विद्या कुञ्जवरं, ततिया  
जसुत्ता एगसररो धोदिओ चि वयंसो, तस्य घरं गया,  
चठरथी निच्युभंती वि बारसहाए ङगाहस्यमाया वि न  
गन्जइ, जणइ य-कतो एं वच्योभि ?, नरिय ये अओ  
गद्विसओ, जइ वि मारिइ तदा वि तुयं चैव गतो सरणं  
चि तस्येव त्रिया ।

केनापि शुदिगा चतसृणां भार्याणां प्रनापनं कुडनं कृत्वा  
शुदाभिनकासनं कृतं तत्रैकापरपृथक्, द्वितीया कुलपृथक्,

द्वितीया धोटिको भिन्नं, तद्वदं गता, चतुर्थी तु न कापि गता ।

तत्रो वृद्धेण चठरथी परसामिणी कया । तस्याय धोर्भिय-  
धरं जंतो ए सो चैव अणुवचितो विगतरोसेण खरंठिता, आ-  
धीता य । वितियाए कुञ्जवरं जंतीए जं पिजिगहवजं गहिंभं  
गादतरं रुद्धेण अओहिं जणिएरिं वि गतररोसेण खरंठिता, दं-  
दिया य । पदमा दूरे एण्डेचि न ताए किंवि पओगणं, महंते-  
ण वा पच्छिपदंहेण दंडिंठे अणिउजइ । एवं परसंज्ञाणिगया  
ओसन्ना, कुञ्जवरसंज्ञाणिगया अन्नसंज्ञोऽया, धोदियसमा  
संज्ञोऽया, अनिगमे सधरसमा गच्छे जाव दूरंतरं ताव  
महत्तरा रंभो जवइ । वृ० ५३० ।

( ११ ) गृहस्थैः सदाधिकरणं कृत्वाऽन्यवशमव्यम विपश्च-

प्रहणानि न कार्थ्यम्-

विष्कलू य अदिकरणं कहुत्तं अदिगरणं अविओस-  
मिता ना से कण्ठे गाहावइकुञ्जं नचाए वा पाणाए वा  
निक्खमिचए वा पविसिचए वा, बहिया विचारज्जिं वा  
विहारज्जिं वा निक्खमिचए वा, पविसिचए वा, गामाण-  
गामं वा दूइज्जत्तए गगानां वा गोकं समिचत्तए वा, वासा-  
गामं वा वत्थुं, जत्थे व अण्णयाऽऽपरियजवभङ्गायं पा-  
सेजा, वहुसुयं वज्जागमं तस्संतिए अलोइजा, पक्कमि-  
जा, निदिजा, गरदिजा, विगुड्ढजा, विसेंइजा, अकरणयाए  
अन्धुदेजा, अडांरिं ततोऽकं पायं चिचत्तं पक्कवज्जेजा, से  
य सुएण पडविए आदिइत्तव्णे मिया, से य सुएण नो पड-  
विए नो आदिइत्तव्णे सिया, से य सुएण पड्वेज्जपाए  
नो आद्या स निच्युद्वियव्वं सिया ।।

अस्य संबन्धमाह-

केण कयं कीस कयं, निच्युजओ एसं किं इहाणोति ? ।  
एसो वि गिहं तुदितो, करेज्ज कदाहं असहमाणां ।।

केनेवं बहनें काण्णनयनें कृतं, कसादेतत्त कृतं, निष्कासितोऽ-  
प्येव किमर्थमिहानयति, एवमादिभिर्बोभिरुदिहा तुदितो  
व्यथितः कश्चिदसहमानः कलहं कुर्वीत । अत इदमधिकरणयु-  
त्प्रदास्यते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्याः सिद्धः प्रागु-  
क्तः, अशब्दाद्युपाध्यायविपरिग्रहः । अधिकरणं कलहं कृत्वा  
नो कल्पते तस्य तदधिकरणमध्यवशमव्य गृहपतिकुलं भ-  
क्ताय वा पानाय वा निष्कसितुं वा, प्रवेष्टे वा, प्रामादप्रामं वा  
गन्तुं विहर्तुं, गणाद्वारा गोकं समितुं, वप्यावासं वा वत्थुं, किंतु  
यथैवात्मन आचार्यायाप्यायं परम्येत् कथं भूतम्, बहुसुतं छेदप्र-  
स्थादिकुशलम् । बह्मण्यं अथेतः भभूतागमम्, तत्र तस्यान्तिके  
आस्नात्तव्यत्स्वपराधं वधसा प्रकटयेत् । प्रतिफलं नि-  
ध्यादुःकृतं तद्विषये दद्यात् । निष्काः आत्मसात्तिकं सुगु-  
प्येत, महंतं गुरुसात्तिकं निन्द्यात् । इह व निन्दनं गर्हणं वा  
तात्तिकं तदा भवति यदा तत्कारणम् प्रतिनिवर्तते । तत-  
आह-व्यायतेन तस्मादपराधपराश्रित्वेन, ध्यात्वाचार्य कृता-

अभिधारणं

त्यापचदा मुच्यते, यदात्यन्तो विशेष्येति । तत आह—आ-  
त्मानं विशेष्येत् पापमसस्फोटनतो निमेलीकुर्यात् । विद्युः  
पुनः पुनः कर्णुतायास्तुपपद्यते । ततस्त्वामि. ५. ५४—अकरुणता  
अकरीयता, तथा अन्त्युत्थित । पुनरकरुणतया अन्त्युत्था-  
नेऽपि विशेष्येतिः प्रायश्चित्तप्रार्थनया भवति । तत आह—य-  
थाहं यथायोग्यं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते । तच्च प्रायश्चि-  
तमाचार्येण भुतेन भुतातुसार्येण यदि प्रस्थापितं प्रदत्तं तदा  
आदातव्यं प्राज्ञं स्यान्नयेत् । अथ भुतेन न प्रस्थापितं तदा  
मादातव्यं स्याद । स आऽऽलोचको यदि भुतेन प्रस्थाप्यमान-  
मपि तस्याप्रायश्चित्तं मादाति न प्रतिपद्यते ततः स निच्छु-  
तव्यः, अन्यत्र शोधं कुरुष्येति निषेधनीयः स्यात् । इति  
सुभार्यः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

अविद्य च कुम्भपनेते, अङ्गुमि अणेसपिण्डपडिसेहे ।

अवहारमंगलुत्तर—सत्तावअविद्यचामिच्छते ॥

अविद्यितभूमिस्थाने कथमधिकरणमुत्पन्नम् ? इत्यस्यां जिज्ञा-  
सायामविधीयते—कस्मिंश्चित् कुम्भे साधवः प्रपिण्डतोऽप्रीतिक-  
रास्तत्राजानतमनाजोगाहा प्रवेष्टो यदपि राकोबोह, वा हन्यात्, वा  
साधुर्यसहमानः प्रत्याक्रोशेद; ततोऽधिकरणमुत्पद्यते । ए-  
वमतिभूमिं प्रविष्टे अनेकणीयभिक्षाया वा प्रतिषेधे, शौकस्य वा  
सङ्गतकस्यापहारे, यात्राप्रस्थितस्य वा गृहेणः साधुं दृष्ट्वा  
अमकजमिति प्रतिपत्तौ समर्थविचारं वा प्रत्युत्तरं दातुमस-  
मर्थो गृहस्थस्यमाचन वा कृपि साधौ ( अविद्यसे ) अनिष्टे  
दृष्टे अभिप्रदमिष्यादृष्टेर्था सामान्यतः साधावयलोकिते प्राय-  
श्चरणमुत्पद्यते ।

पडिसेधे पडिसेधो, भिक्वुवियारे विहार गमे व ।  
दोसा मा हांज बहु, तम्हा आलोयणा मोर्षी ॥

अभयजिः प्रतिषिद्धं न वर्तते साधुनामधिकरणं कर्तुम्, एवं  
विधिप्रातरेषु भूयः प्रतिषेधः क्रियते । कदाचित्सादधिकरणेण  
गृहिणा समं कृतं जनेषु, कृत्वा च तस्मिन्पुनश्चाग्निं भिक्षायां न  
द्विवदनीयम्, विचारजुमो विहारभूमौ वा न गमनव्यम्, प्रामानु-  
प्रामं न विदुस्तव्यम् । कुतः ? इत्याह—मा बहवो अन्धनकण्टक-  
प्रवेवाद्वांशो दोषा भवेयुः । तस्मान्नं गृहस्थमुपशम्य गुरुणाम-  
स्तिके आलोचना दातव्या । ततः शोधः प्रतीच्छनीया ।

इदमेव भाषयति—

अदिकरण गिदत्येहिं, ओसारण कण्ठया व चागमार्थं ।  
आलोयण पत्यवर्णं, अप्रेसणे होंति चठ सहुगा ॥

गृहस्थैः सममधिकरणे उच्यते द्वितीयेन साधुना तस्य साधोरप-  
सारणे कष्टव्यम् । अथ नापसरति ततो बाहो गृहीत्या आक-  
र्षणीयः । इदं च अचक्षुमन्—न वर्तते मम त्वया साधिकरणेन  
समं भिक्षामदितुम् । अतिप्रतिषेधे परिनिधनोमहे । पद्यमुज्जुका  
प्रतिष्ठायागस्य गुरुणामालोचनीयम् । ततो शुक्रभिरुपशमार्थं  
द्वेषमास्तव्यं गृहस्थस्य मूले प्रेषणीयाः । यदि न प्रेषयति त-  
दा वतुल्लेषु ।

आचादिषो य दोसा, वंधणपिच्छुभणकरुणमादाय ।  
गुग्गाहय सत्वेणं, अगुग्गावकरणं विसं वरं ॥

आहायव्यक्ष दोषाः । स च गृहस्थो येन साधुना सहाधिक-  
रणं कृतं तस्यानेकेषां वा साधुनां कथं निष्कासनं वा कुर्यात् ।  
कटकमादाय सर्वानपि साधुन् कौऽपि व्यपरपयेत् । म्युदुमाह-  
र्थं वा लोकस्य कुर्यात् । नास्त्यमीषां दृष्टे परलोकफलम्, व-  
द्वाऽमी संहां म्युत्सुज्य विकिरन्ति, न च तिमिंपयन्ति, अद्वादिना  
वा शक्येण साधुना दद्यात् । अतिक्रियेन वा प्रतिभ्रयं ददेत् ।  
उपकरणं वा अपदरेद, विषं गरुदिकं वा दद्यात्, भिक्षां वा  
धारयेत् ।

तच्च वारयमेतेषु स्थानेषु कारयेद-

रज्जे देसे गामे, शिखेसणे गिद्वे निवारणं कुणाति ।

जा तेण विणा हार्णी, कुलाणसंधे य पच्छारो ॥

राज्ये सकलेऽपि निवारणं कारयेत् । एतेषां भक्त्युपधि वस-  
ति वा मा दद्यात् । एवं देगे, ग्रामे, निवेशने, गृहे वा, निवारणं  
करोति । ततो वा तेन मकरदिना विना परिहाणन्तं बुधनामने-  
षयम् गुरुः प्रार्थति । अथवा यः प्रभवति स कुलस्य गणस्य सङ्घ-  
स्य वा प्रस्तारं विस्तरंण विनाशं कुर्यात् ।

एयस्य एत्थि दोसो, अपरिक्खय दिक्खणसस अइ दोसो ।  
पनु कुज्जा पच्छारं, अपपुत्त वा कारणे पणुणा ॥

गृहस्थः जित्तयति—एतस्य साधोनांस्ति दोषः, किं तु य एत-  
मपरीक्ष्य दीक्षितवान् तस्याऽयं दोषः । अतस्तमेव धानयामी-  
ति विचिन्त्यः प्रष्टुः स्वयमेव प्रस्तारं कुर्यात् । अग्रहृद्यं द-  
म्यं राजकुले दत्त्वा प्रष्टुणा कारयेत् ।

यत एते दोषाः—

तम्हा खलु पट्टवणं, पुर्विं वसजा समं च वसजेहिं ।

अणुलोमण पेच्छामो, गिंति अण्णिच्छंति ते वसजा ॥

तस्माच्चूषणाशं तत्र स्थापनं कर्तव्यम् । (पुर्विंति) येन साधुना  
अधिकरणं कृतं तावत् प्रेषयन्ति यायचूषणात् पूर्वं प्रहापयन्ति ।  
किं कारणम् ? उच्यते—स गृहस्थः तं दृष्ट्वा कदाचिदाहस्यात् ।  
अथ ज्ञायते न हनिष्यति ततो वृषभैः समं तत्रपि प्रेषयन्ति । तत्र  
गताश्चानुकृश्वचोभिरनुलेमं प्रणुणोकरिं तस्य कुर्वन्ति । अ-  
थासौ गृहस्थो ज्ञेयान्—अनयत तावत् कलहकारिणं येनैकवारं  
पश्यामः, पश्चात् क्र मयेत् । नच ततो वृषजान्मन्मिप्रमय ज्ञात्वा  
तं साधुं गृहिणः समीपमानयति । अथासौ साधुनेच्छति ततो  
बलादिपि वृषजालं तत्र नयति ।

ते च वृषमा ईदृशगुणकणः प्रस्थाप्यन्ते—

तस्संबंधिं सुही वा, पणया ओयस्सिणां गहियवक्का ।  
तस्संब सुहीसहिया, गमेति वसभा तगं पुच्चं ॥

तस्य गृहिणः, संयतस्य वा संबन्धिः सुहृदो वा ते अथेषुः प्र-  
गता लोकप्रसिद्धाः, श्रोत्रस्थिनो बहोर्वासिः, गृहीतवाक्या आ-  
देयवचसः, ईदृशा वृषजा, तस्यैव गृहिणः सुहृदिः सदितः तर्क  
गृहसं पूर्वं गमयन्ति ।

कथम् ? इत्याह—

सो निच्छुम्भति साह, आयरिए तं च जुज्जसि गमेत्तुं ।  
नाऊण वत्थुजावं, तस्स जदी गिंति गिहिसहिया ।  
येन साधुना त्वया सह कसदितं स साधुचार्थैः साम्ब्रं

निष्कास्थते, अस्मदीयं च वक्तो गुरवो न सुदुष्ट भूयन्ति; अत आचार्याणां गर्भयितुं त्वं पुत्रस्य-पुत्रो भवसि । एवमुक्ते यथा-चार्यं गमयति-कामयति ततो बहवः । अथ कृते-पश्यामस्तावचं कलहकारिणम् । ततो ज्ञात्वा बहवो गुरुरस्थस्य भावं किमयं हन्तुकामस्तमानाययति, उत कामयितुकामः ? एवमभिप्रायं ज्ञात्वा तस्याचं सुदुष्ट, अतस्ते असाहिता एव तं साधुं तत्र नयन्ति ।

अथासौ गृही तीक्ष्णकषायतया मोपशाम्यति ततस्तस्य साधोर्गच्छस्य च रक्षार्थमयं विधिः-

बीजं उबस्सए वा, उवैति पेसेति कङ्कपतिणो वा ।  
देति सहाए सञ्जे, वि षोति गिद्विणो अणुवसंते ॥

विष्णवग्न्यदिग्गन्धुपाश्रये तं साधुं स्थापयति, अग्न्यग्नौ वा याः स्पर्शकपतिस्तस्यार्तितके प्रेषयति, निष्कण्डूच्छन्न तस्य सहायात् वदति । अय मासकल्पः पूर्यस्ततः सर्वेऽपि नियान्ति निर्गच्छन्ति । एष गृहस्थेऽनुपशान्ते विधिः ।

अथ गृहस्थ उपशाम्यति न साधुस्तदा तस्येवं प्रायश्चित्तम्-  
अविओसियमि लहुगा, भिस्सविचारो य वसहिगामे य ।  
गणसंक्रमणे भएणति, इहं पि तत्थेव वच्चाहि ॥

अधिकरणे अथवशमिते यदि भिक्षां हिरकन्ते, विचारज्जमि वा गच्छति, वसतेमिगत्यापरसाधुसति गच्छति; प्रामातुप्राम विदरति; सर्वेषु अतुल्लेषु । अथापरं णमं संक्रामति, ततस्तेरभ्यगणसाधुभिर्भेषयते-इहापि गृहिणः कोधना- संत, ततस्तत्रैव व्रज ।

इदमेव सुव्यकमाह-

इह वि गिहं अवि सहाणा, ण य वोच्छिखा इहं तुह कसाया ।  
अओसि अयापामं, जणइस्ससि वच्च तत्थेव ॥

इहापि प्राप्ते गृहिणो अविषदणः कोधनाः, न चेह समागतस्थ नव कषया भ्यवाञ्छनाः अतोऽन्येषामन्यस्मद्दार्दीनामायासं जनयिष्येत्स, तस्मात्तत्रैव व्रज ।

सिद्धिमि न संगिज्जति, संकेतमि उ अप्रेसओ लहुगा ।  
गुरुगा अजयणकहणे, एणतरदोसतो जं वा ॥

अनुपशान्ते साधो गणान्तरं संक्रान्ते मूलाचार्येण साधुसंघाटकस्तत्र प्रेषणीयः, तेन च संघाटकेन विष्टे कथिते सति द्वितीयाचार्यो न संशुद्धीयात्, अथ मूलाचार्यः संघाटकं न प्रेषयति, तदा अतुल्लेषु । संघाटको यद्यतनया कथयति ततश्चतुर्गुहं । अयनकथयं नाम-बुद्धजनमध्ये गच्छे गत्वा भूयति-एष निर्धर्मो गृहिमिः सममधिकरणं कृत्वा समायातः, सकलेनापि गच्छेन मोपशान्तः । एवमथतनया कथितेन साधुरे-कतरस्थ गृहिणः साधुसंघाटकस्य मूलाचार्यस्य वा प्रेषयते वात्करिष्यति तत्रिष्यञ्च प्रायश्चित्तम् ।

तस्माच्चं विधिः-

उवसामितो गिहत्थो, तुमं पि त्थामेहि एहि वच्चापो ।  
दोसा ह्नु अणुवसंते, ण य सुज्झइ तुज्ज सामय्यं ॥

पूर्वं युक्त्यामेकान्ते कथयित्वा ततः स्वयमेकान्तेन अयत्ते, उपशामितः स गृहस्थः, एहि व्रजाम, त्वमपि तं गृहस्थं क्वा-

अथ, अनुपशान्तस्येह परत्र च बहवो दोषाः, समभायः सामायिकम् । तत्रैवं सकषायस्य भवतो न शुद्धं भवति न शुद्धं भवति । एषमेकान्ते भणितो यदि मोपशाम्यति ततो गणमध्येष्वेवमेव भवन्तीयः । ततोऽपि अत्रोपशाम्यति अत्युन वेतसि चिन्तयेत्-तस्य गृहिणो निमित्तेनहायवकार्यं न लभे ।

ततः-

तमभिरपफलज्जुतो, पावं चित्ते दीहसंसारी ।  
पावं ववसिउकामो, पच्छिचे वग्गणा हाति ॥

कृष्णचतुर्दशीरजन्त्यां प्रव्याभावस्तम उच्यते । तस्यामेव च रात्रौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमस्तिमिरं भवत्येते । यदा पुनस्तस्यामेव रजन्त्यां रजःप्रभुनयो मेघदुर्दिनें च भवति तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रैवान्धकारं पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति, एवं यस्मिन्मनोमनस्तेन कषयादीयनाभिभूतो भवत्येते, तमःशब्दस्येहोपमार्थवाचकत्वात् । एवं भूतशब्दपरवाच हे तमपश्यन् दीर्घसंसारी तस्य गृहस्थस्योपरि पापमैश्वर्यो जीवितान्ना भ्रष्टाण्यथाम्रीति रूपं चिन्तयति । एवं च पाप कर्तुं व्यवसिते तस्मिन्निचं प्रायश्चित्ते मा-गीया भवति ।

वच्चापि वच्चमाणो, चउरो लहुगा य हाँति गुरुगा य ।

उगिगच्छमि य छेदो, पहरण मूलं च जं तत्थ ॥

व्रजामि तं गृहस्थं अवरुपेयामीनि संकल्पे अतुल्लेषवः । पद्भेदावारभ्य पथि व्रजतअतुगुरवः । यदि यदिलोष्टाधिकं प्रहरणं मार्गेयति तदा यत्तुल्लेषवः । प्रहरणे लभ्ये गृहीते च परशुवचः । उच्यते प्रहारि छेदः । प्रहारि पतिते यदि न विद्यते ततः छेद एव । अथ मृतस्ततो मूलम् । यत् स्वयं परितापनादिकं संभवति तत्तत्र वक्तव्यम् ।

एते वापरे दोषाः-

तं चेव णिद्वेते, वंषणणिच्चुजणकरुगमरो य ।  
आयारिए गच्छम्मि य, कुलगणेषु ये पत्थरे ॥

स गृहस्थस्तं संयतं वधार्थमागतं दह्या कदाचिच्चैव निष्ठापयति-व्यापाद्ययति, तं प्रामनगरदिषो निहोत्ययति; कटकमदैनं वा शुद्धयति । अथवा कटकमदो रुष्ट एतस्य सर्वमपि गच्छं व्यापाद्ययति; यथा-पालकसकन्धकाचार्यगच्छम् । अथवा बन्धननिष्कासनादिकाचार्यस्य अवरुगच्छस्य वा करोति । तथा कुलसमवायं कृत्वा कुलस्य बन्धादिकं कुर्वीत । एवं गणस्य वा, संघस्य वा एष प्रस्तारः । एवमेकाकिनो व्रजत आरोपणा दोषाश्च भणितः ।

अथ सहायसहितस्याऽऽरोपणमाह-

संजतगणो गिहगणो, गामे नगरे व देसरज्जे य ।  
अद्विषतिरायकुलम्मि य, जा जीहं आरोवणा जणिया ॥

बहवः संयताः संयतगणः, तं सहायं शुद्धयति, एवं गृहगणं वा सहायं शुद्धयति । स च गृहगणो प्रामं वा नगरे वा देशं वा राज्यं वा अवेह; प्रामादिवास्तव्यजनसुवरा इत्यर्थः । एतेषां चासंयतादीनां, येऽपिपतयः तान् वा सहायत्वेन शुद्धयति । अग्न्याह राजकुलं गृहीत्वा गच्छति । यथा-कालिकाचार्येण त्रिकराजवृन्दम्; तत्र कैकाकिनो या यत्र सकषयादिवारोपणं भणितं सा वच्चापि द्रव्या ।



एतदेव व्याचष्टे-

संभयगणो तदधिषो, मिही तु गामपुरदेसरजे वा ।  
एतेति चिप अहिना, एगतरसुभो उभयता वा ॥

संयतगणः प्रतीतः; तेषां संयतनामधिपस्त्वदधिपः, प्राचार्य इत्यर्थः । ये सृष्टिणः स्वामामुदेशराजवास्तव्याः, एतेषामधिपतया वा भवेयुः, तत्र प्रामाधिपतिः, त्रेणिकाधिपतिः, पुराधिपतिः, भद्रः, कौटुपासो, देशाधिपतिदेशरजका देशव्यापृतका वा, राज्याधिपतिमहामन्त्राः, राजा वा; एतेषामिकतरणोत्थयेन वा युक्तो भवति, तत्रैव प्राथञ्चित्तमार्गवा-

सहि बर्षेव गुरुणा, दोसु तु उद्धुग गहन उगुरुणा ।

उगिण्यपहरण उदेति, मूलं जं जस्य वा पथं ॥

संयतगणैः तदधिपेन वा उन्नयेन वा सहाहं भद्राभीति संकल्पे चतुर्गुणैः । पदेन्द्रमादी कृत्वा तत्र भवतश्चतुर्गुणः, प्रहरणस्य मार्गणायां दशेने च उधारायि चतुर्गुणः, प्रहरणस्य प्रदने चतुर्गुणः । उक्तोऽपि प्रहरणं नेत्रः । प्रहारे चतुर्गुणम् । यद्वा-परितप-सादिकं पृथिव्यादिबिनाशानं यत्र पथं प्रामे वा करेति तत्रिष्य-कामपि मन्तव्यम् । तथा गृहस्वयंसेपि प्रामेण वा, प्रामाधिपतिना वायद् रात्रयेन वा, राज्याधिपतिना वा, उभयेन वा, सह भद्राभीति संकल्पे चतुर्गुणः । पथि गच्छन् प्रहरणं च गच्छन्तः चतुर्गुणः, पृष्टेति चतुर्गुणः, शेषं प्रायश्च । एवं सिद्धोः प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

एसंव गमो नियमा, गणियायारिये य होड गायव्वा ।

एवरें पुख एणणत्तं, अणवदुण्णो य पारंभी ॥

एष एष गमो नियमाक्रिण उपाध्यायस्याचार्यस्य, चक्षुराः क्रियाचोदिकस्य वा मन्तव्यः । एवरें पुनरथनान्यत्रमपलादेवै-कपरहासनेन यत्र भिक्षोर्मूलं, तत्रोपाध्यायस्याऽनघस्थाप्यम्, आचार्यस्य पाराश्रित्यम् ।

तपोऽहं च प्रायश्चित्तमित्थं विरोधवित्तव्यम्-

जिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणबच्छं गुरुम एगमेणं ।

उवजाए आरारिए, दोहि च गुरुमं च गाणत्तं ॥

भिक्षोरेतानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यामपि तपःकालान्यां अणुका-नि, गणावच्छेदिकस्यैकतरण-तपसा कालेन वा गुरुकानि, उपा-ध्यायस्याचार्यस्य च द्वाभ्यामपि-तपःकालान्यां गुरुकानि, एत-न्नानास्यं विशेषः ।

काठ्या अकाठ्ठण च, उवमंत उवविद्यस्स पच्छिचं ।

सुच्छेण उ पट्ठणा, अमुत्त रगो व दोमो वा ॥

गृहस्वस्य प्रहारादिकमपकारं कृत्याऽऽहुवा वा यद्युपशान्तो निवृ-त्तः प्रायश्चित्तप्रतिपत्तये वाऽऽसलां चनासि धानपूषकमभुनःकरण-मोर्वादिहतत्तदा प्रायश्चित्तं दातव्यम् । कथम्? इत्याह-सुच्छेण प्राय-श्चित्तं प्रस्थापनीयम्, अमुत्तपरिणेन तु प्रस्थापयतो रगो वा द्वेषो वा भवतु । प्रवृत्तमापश्यस्य स्वल्पदानं रागः । स्तोत्रमापश्यस्य प्रभूतयोः द्वेषः ।

एवं तान्दोषाभ्यां प्रायश्चित्तद्वेने दोषमात्रे-

धोयं वात आयसो, अतरिगें दांत तस्स तं होति ।

सुच्छेण उ पट्ठणा, सुच्छपःएण्ठंति निज्जुद्धणा ॥

स्तोत्रं प्रायश्चित्तमापश्यस्य यावद् व्यतिरिक्तं ददाति, ततो

यावता अधिचं तावत्स्य प्रायश्चित्तदातुः प्रायश्चित्तस्य, आहा-दयञ्च दोषाः । अधोऽं ददाति ततो यावता न पुन्ये तस्यदात्म-ना प्राप्तिः । ज्ञानः सृष्टेण प्रस्थापना कर्त्तव्या । यस्तु सुभोक्तं प्रायश्चित्तं नेच्छति, स चकल्पः-अन्वयं शोधि कुकृत्य । एषा नि-सृष्टणा जग्यते ।

अस्या एव पुवारिं व्याचष्टे-

जेगऽहियं ऊणं वा, ददाति तावतिपमप्पो वा पे ।

अद्वा सुत्तादेना, पावति चउरो अणुग्घाया ।

यत् यावता अधिचकृत्यं ददाति तावदात्मना प्राप्नोति । अथवा स्वयदेशाद्वैतारिक्तं ददान्छतुराभ्युद्गताभ्यासाहं प्राप्नोति ।

तथेवं विभोषदशमोदेसाकार्गंतसुत्र-

जे जिक्खु उग्घाए अणुग्घाएयं देद, अणुग्घाए उग्घाएयं वा देद, देते वा साज्जइ ॥१६॥

( तस्य चतुर्गुणं प्रायश्चित्तमित्यर्थः )

अथ द्वितीयपदमाह-

वितियं उप्पाएत्तं, सामएपेते अत्तज्ज पंच पया ।

आगाहे कारणम्भी, रायसंसारिए जतथा ॥

द्वितीयपदं नाम अधिचकरणमुत्पाद्येदपि शास्त्रव्यातः प्रयत्न-प्रयत्नीकोऽसाध्यञ्च न यथा, तथा शास्त्रसु शक्यते; नतलेन सम-भधिकरणमुत्पादा शिक्कणं कर्त्तव्यम् । तत्र च स्वयमसामर्थ्यः सं-यतप्रामनगरदेशराज्यलक्षणानि एवञ्चपि पदानि सदायतया गृह्णीयात् । आगाहे कारणं राजा-संसारिका राजा-प्रस्थापना, तमापि यतनया कुर्यात् । तथाहि-अदि राजा अतीव प्रथमप्रमा-त्तोऽनुशोष्यादिभिरनुक्कलोपायेनं अथार्थसिद्धि, ततस्ते राजानं स्फेटयित्वा तद्दहाजत्रमवश्यंशजं वा भद्रकं राजानं स्थापयेत् ।

यच्च तं स्फेटयति स ईदृशयुयुक्तो जयति-

विज्जाओरस्सवली, तेपमलत्तं । सहापलदी वा ।

उप्पादेत्तं सासति, अतिपेतं कात्तगज्जो व्व ॥

यो विद्याभजेन युक्तः, यथा-आर्यस्सपुत्रः । औरसेन वा बहने युक्तः, यथा-बाहुयसो । तज्जेऽस्सव्या वा ससन्धिक्कः, यथा-भ्रष्टदक् । स्-सूतमये सहायस्सिधियुक्तः, यथा-हरिकेशवणः । ईहसोऽधिकरव-मुत्पादानिप्रान्तमतीवप्रयत्नप्रयत्नीको शास्त्रिनः, काश्चिकाचार्य इव । यथा कालिकाचार्यो गर्दभिल्लराजानं शास्त्रितवात् । ७५७-८० ।

कथानकं चेत्यम्-

को व गद्दभिल्लो ? को वा कात्तगज्जो ? कम्मि काहे सासित्तो ? । प्रपणति-उत्तणेणं । गाम खुरगं, तस्य य गद्दभिल्लो गाम राया, तस्य कालगज्जा गाम आधरिया जोतिसाणं । मन्वयिया, गाम त्रिणिणं । कपवत्तं । पदेन ययसि चट्टमण गद्दभिल्लं ग मद्दया, अंतपुरे नूढा, अज्जकालगा विण्णेतं; संघेण य विण्णत्तं ग मच्चति । ताहं रुद्धो अज्जकाम्रगो पदस्यं करेति-अहं गद्दभिल्लं रायाणं च-ज्जाओण उम्मूलंति मे । पवयणसंजसोवधायागणं तुमुवक्कगण-ण य गतिं गच्छामि । ताहे कालगज्जो कयणेण उम्मत्तलीज्जेना तिगच्च उक्कचरमहाजणं ताणं सु इमे पल्लवतो दिरुति-अहं गद्दभि-ल्लो राया. तो किमत. परम् । जह वा अंतपुरे रम्मे. तो किमतः परम् । विम्वया जह वा रम्मे. तो किमतः परम् । सुणिवेत्ता पुणं जह, तो किमतः परम् । जह वा जणो सुवेनो. तो किमतः परम् । जह वा दि-रामि वा । मक्कवं. तो किमतः परम् । जह सुय्ये देवकुत्तं व सामि. तो

किमतः परम्? एवं ज्ञानेव सो कास्रगज्जो वारसकुञ्जं मनो, तस्य  
यसो साहिं त्ति राया नश्रति, तं समझ्णोणो णिमिसादिर्पिह दिवं  
भाउत्तं, अथवा तस्स साहाय्यसाहिणा परमसाहिणा कम्मि वि  
कारणे भट्टेण कटारिणा सहदेवं पेलिया, सीस जिदिदिं त्ति । तं  
आकापपणं अयातं पच्छिउण सो य विमणो संजातो, अण्पा-  
नं मारिउं ववसिओं । ताह कास्रगज्जेण भण्णो-मा अण्पा-  
नं मारोह । साहिणा जणियं-परमसाहिणा कट्टेणपथ अथिउं ण  
तीरह । कालगज्जेण जणियं-पहि हिदुगदेस वधामो । रवणा  
बन्धिसुवं । तसुवत्तणं य अण्पासि पि पंचाण संतीए साहिणा  
सुभं, केण कटारियाओ सहदेव पेलियाओं । तेण पुव्विद्वलेण  
दुया पेलिया, मा अण्पाणं मारोह । एहि वधामो हिदुगदेसं । ते  
अण्पां पि सुउत्तमागया, कासो य खयपाउसो वट्टह । तारिसे  
कासे ज तीरह गंतु तस्य भंजसाहं कया वि विमिच्छणं अं कास्रग-  
ज्जो समझ्णोणो सो तस्य अथिवा राया उठियो, ताह सगवंसो  
उण्पां, वसे य वरिसाकाले कास्रगज्जेण जणिया-गदंजिउं रा-  
बाण रोदेसो , ताह लाका रायाणो अ गदंजिउण अयमाणिता  
ते मेल्लिआ अथे य, ननो उच्छेणं । रोहितानस्स य गदंजिउस्स प-  
क्का विउत्ता गदंजिउ-धारिणो अणि, सा य परामं अट्टासणे पर-  
बलाभिमुहा उठिया, ताह परमे अयकण्णे गदंजिओ राया अउम-  
नसोयवासी तं अवयारेह, ताह सा गदंजी भंजणे सहदेव ण-  
दि । निरिसो मत्तुओ वा जो परबअट्टिओ सह सुणेति स लब्धो  
कहिरे वमनो अयविभल्लो णउमेयो धरणिनसे णिवदह । कालग-  
ज्जो य गदंजिउं अउमनसोवसासिणं सयविधाउक्कणं  
अउमनं आणण णिकुंति, आह पल गदंजी मुह विदंसेनि  
जाव य सइ ण करंति ताव जमयसमपणण मुहं पुउत्ता ।  
तेहि पुरिसोहिं सहेव कयं, ताह सा वाणमंतरो तस्स गद-  
मिह्णस्स उदरं हंगरं मुत्तं बभइयो कयं, तादे सो वि गद-  
मिह्णो अथओ उम्मुंअओ, गदिथा उज्जेणो, भगिणो पुणरवि सं-  
जम उठिया । नि० अ० उ० ॥

( १२ ) अनुपकमधिकरणमुत्पादयति -

जे जिक्खु ण्वाडं अणुण्ण्ण्णं अट्टिगरणां उण्पाएदं,  
उण्पायंते वा साउज्जहं ॥ २७ ॥

नवं यत्पुगतमं भवति, अणुण्ण्ण्णं संपयकाशे अविउज्जमाणा  
आधिकं कर्तव्यं, संयमयोगातिरिक्तमित्यर्थः । नि० अ० ५ उ० ।

( १३ ) कारणे सत्पुपादयत् -

वितियपदमणुण्ण्ण्णो, उण्पादे वि काविते व अणुण्णो ।  
नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचण्ण्णं य उण्पाए ॥ २८ ॥

अणुण्ण्णो अकावितो वा रोहो वा अण्णरिहो कारणे पक्का-  
चित्तं कनो, कारणे सो अधिकरणं कां विगिंचयथो ॥ नि०  
अ० ५ उ० ।

कारणान्तरमाह -

सेचादिउक्कोविओ वा, अनवाविनेगहया व णाणं पि ।  
अट्टिगरणं तु करेत्ता, करेज्ज सव्वाणि पि पयाणि ॥

किंसाचित्तः, आदिशब्दाद् दमचित्तो, यद्वाविओ वा, अनाम-  
कथनादधिकरणं कुर्यात् । अकाविदो वा अथाप्यपरिणामजिन-  
वचनः शीका, स अहत्याधिकरणं विद्वन्माह । यद्वा-ज्ञानज-  
पि गीतापौर्णोत्थर्थः अनलस्य-प्रकथयथा अयोप्यस्य जपुस-

कादेः कारणे दीक्षितस्य तत्कारणपरिसमाप्ते विवेचनायै  
परिगृह्यमाय तेन सहाधिकरणं करति, कृत्वा आधिकरणं  
सर्वाण्यप्यनाराद्रीतिं पदानि कुर्यात् ।  
एषद्वारं भावयति -

कारणे अनले दिक्खा, सम्पसे उणुसट्ठि तेण कलहो वि ।  
कारणे सट्ठिता णं, कलहो अओष्ठ तेषं वा ॥

कारणे अनलस्यायंभ्यस्य दीक्षा दत्ता, समते च तस्मिन्  
कारणे तस्यानुसिद्धिः कियते । तथाऽप्यतिगच्छता तेन स्व-  
कलहोऽपि कर्तव्यः कारणे वा शब्दप्रतिबन्धायां वसने किंताः,  
ततोऽप्येव तेन शब्दकारिणा स्व-कलहः कियते चेत्त-  
द्वदो न श्रूयते । श्लो ५ उ० ।

( १४ ) पुराणाम्यधिकरणानि ज्ञानतत्पुण्यमितानि-

पुनरुदीरयति -

जे जिक्खु पोराणां अट्टिगरणां सामियविउसमियाहं  
पुणो उदीरेदं, उदीरंते वा साउज्जहं ॥ २८ ॥

पोराणा पूर्वं उण्पा, अधिकरणं पूर्ववत् । दोसावगमो ज्ञाना,  
तं च सामियं भवति । विधिं अस्मिं विउसमियं मिच्छा-  
उक्कपयाण । अहवा-आमियं वायाए, मणसा विउसमियं, न्यु-  
त्थेदं, ताणि ओं पुणो उदीरेदं उण्पायति तस्स मासलहं ।

सामियविउसमियां, अधिकरणां तु जे य उण्पाए ।  
पावाणं तस्य विंसे, तुउज्जुत्तं पक्खया इणमो ॥ २९ ॥

पावाणा, साधुधर्मं व्यवधिता इत्यर्थः । कदा उण्पायति?, कति  
साधुषो पुण्यं कलाहिता, तामं य सामियायिसमते तत्पेगो भ-  
णानि-अदं णाम पुंम तदा एवं भणितो, आसी ण तुण तुज्ज; वयरो  
पदिनजातं-अहं पि ते किं जणितो? । इतरो जयाति-इयाधि  
किं ते सुयामि, वदं उण्पायति ।

स उण्पायगो -

उण्पादगमुण्णं, संबधो कस्सदे य पाह्यं ।  
आविहणा य पुच्छण, समुयतोऽति धायणे वेवा ॥ ३० ॥

पुणो ते वि कलुसिया उण्पायगा, जेहि उण्णं, संबधं णाम-वा-  
थाए परोप्परं संमउमारुत्ता, कक्कदं णाम, पासठितेहि वि ओ-  
समिउज्जमाणा वि णोयसमति, (पाहुअं ति) रोसवत्तेण बडेअले  
उज्जं लम्मा, आणवट्टणा-यगो णिओ, जो सो णिहितो सो पु-  
च्छितो । मारणं तियसमुयवायण समाहृतं, अतिधायणा मारहं ।  
एतेसु णवसु गणेषु उण्पायगस्स इमं पच्छि-  
लनुओ लहुमा गुरुमा, उम्मासा होति लहुगुरुमा य ।  
उदो मूलं च तहा, अणवट्टणो य पारंवी ॥ २५ ॥

वितियादिसु अरलहुगादी पच्छिन्ना, उण्पादवपरं ण भवति  
चित् कां ।

तावो भेदो अयसो, हाणो दंसणवचित्तणायाणं ।  
साधुपदोसो संसा-रवहणादी उदीरंते ॥ ३१ ॥  
वितियपदमणुण्ण्णो, ओदरिं वि काविते व अणुणो ।  
नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचण्ण्णं उदीरेत्ता ॥ ३२ ॥  
पूर्ववत् । नि० अ० ५ उ० ।

आधिगणय

( १५ ) निर्भे-शैवेतिक्रमचिकरणं गोपशाम्नायम्-  
नो कप्यद निम्नांथाणं धितिविगिद्धाई पाहुणार्दं विडसमि-  
चप ॥ १० ॥

अस्य संकल्पमाह-

विविगिद्धा समयानां, अन्विनिगिष्टा य होइ समयीथीं ।  
या पाहुणं वि एव, संबज्ज सुचस्स आरंजेत्त ॥

व्यतिक्रष्ट अमकामां दिग्मयति, अत्यतिक्रष्ट अमथीनामिग्म-  
न्वत्सुवृथयेमंशितिनयं । तच्चाकपयं मा प्राभुत्तमप्येवं भवे-  
दित्येवदधिक्रुत्तसुवृथारम्भः । अस्व व्याक्यानां कल्पते निर्भे-  
न्यानां व्यतिक्रष्टानि क्रमविक्रष्टानि, प्राजुत्वानि कलहानित्य-  
यः । विडसमित्तुपशामयित्तुम्, किं तु यमोत्पन्नं न तमोपशाम-  
यित्तुं कल्पते । इत्येष सुवाक्यारथः ।

अथ प्राथम्यप्रश्नः-

सेज्जासखातिरिचे, हत्यादीं घट् भायणाभेदे ।

बंदंतयबंदंतै, उप्पज्जद पाहुणं एवे ॥

शुक्वासनातिरिक्ते, किमुक्तं नवति-अतिरिक्तां शय्यामतिरिक्ता-  
नि आऽऽसनानि, परिग्रहे कुर्वति धार्यमाणे, यदि या इत्यादि ह-  
स्तगदावादि क पादेन संघट्ट्याऽऽकम्प्य क्रमवित्था प्रजति, यद्वा  
कथमप्यनुपयोगतो जाजन्मजेदं, अथवा पूर्व बन्धमाने पञ्चाह-  
बन्धने प्राभुत्तं नाम कलहस्तदेवमुत्पदते ।

आधिगणयमुत्पत्ती, जा वुत्ता पारिहारियकुलम्भि ।

सम्मयणाउट्टंतै, अधिक्कख ततो समुत्पज्जेत्त ॥

उत्पत्तिर्नमंभं सति ततः सम्भगनायमनो भधिकरणं समु-  
त्पद्यते ।

आधिगणये उप्पन्नं, अवितांगवियम्भि निग्गयं मग्गयं ।

अेऽऽसाइज्जदं जुंज्ज, मासा चत्तारिं जारिया ॥

आधिकरणं उत्पन्नं सति यैः स्वहादिकरणमव्याधि, तस्मिन्न-  
चित्तोचिते नियतं श्रमणं च आमादयति प्रतिशुद्धाति स्सत्सत्ता-  
मांथेय, यद्य तेन खड्गं चूडुत्तं तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः  
मारिका गुरवः ।

समयं परगायां वा वि, संकंतमवित्तोसिते ।

वेदादि वणिया सोही, नाणत्तं तु इमं भवे ॥

येन सहाधिकरणजुपज्जातं तस्मिन्नचित्तोचिते स्वगणं परगणं वा,  
संक्रान्तमधिकृत्य वा वेदादिका शोधिः पूर्वं कल्पाप्यनेन क-  
र्षिता साऽप्रापि तथैव दकम्पया; नवरमय वक्षानात्वं तदेवं य-  
ज्यमाणं प्रवति ।

तदेवाऽह-  
मा देहं हाणमेयस्स, पत्तणं जइ तौ गुरु ।

चत्तारु ततो तस्स, कट्ठंतै वि चत्तारु ॥

अप्यत्र गतस्य यथाकार्यैः साधुसंघातैः, संश्रयं वा प्रेषयति, य-  
थेवाधिकरणं कृत्वा समागतो भवते, तस्मादेतस्य स्थानं मा  
वेदिं प्रति; तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्तुमुत्तं । ततः श्रवणात्मन्तरं  
अस्य पार्श्वे सोऽप्यत्र गतस्तस्य स प्रेषितो यदि कथयति तदा  
तस्मिन्नपि प्रायश्चित्तं चत्तुमुत्तं ।

यतस्त्वममं दोषाः-

आहोवार्थं व बेहानं, पदोना जं तु कार्हाति ।

मूलं आहोवार्थं होइ, वेहाते चरमं एवे ॥  
यद् यस्मान्प्रयेण, कथने चा; प्रवेद्यावचवाचनं करिष्यति । वेहा-  
वसं वा, वेहावसं नामोक्तं दनम् । तथायथापने तेन कृते  
सति प्रेषांगतुः कथयितुं सूनं प्रायश्चित्तम्; वेहावसे चरमं  
पाराऽऽकर्मति ।

अन्वयः-

तन्वऽऽन्वयं न वा मं-पदेति मे न वि य नंदभाणं ।  
नंदंति ते खलु मए, इति कलुसऽप्या करे पावं ॥

मम तत्रात्म्यसमीपे अन्यैवेहागतस्य जग्मात्स्वरैराह्ला स  
न संवदति, नापि च मयि नन्दति ते नन्दति, महाप्रवेष्टानोऽप्युक्त-  
मायात् । ततो न जग्मान्स्वरैरिहः ते मम दृष्टं सुखान्तंति वि-  
चिन्त्य कलुषात्मा पापं कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

आदीवेज्ज व वराहिं, गुरुणां अन्नससं घाय मण्यं वा ।  
कंरुच्चारिउं हस्यप-सहितो सय्युरस्स बल्लवं तु ॥

कपूरुच्चारिओ नाम प्राप्नो, प्राभाधिपतिवै; लूका वा सहाया-  
स्तेन सहितः, स्वयं वा शौरसो बलवान्, वसतिमादीपयन्तः  
गुरोरप्यस्य वा घातं, मारणं वा कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

जट् जामइ गणमउज्जे, अवपयोगा व तत्थ गंतुण ।  
अवितांगमिप एत्था-गतां चित्तं येयं ते दोसा ॥

यः प्रेषितो, यद्वा-अवपयोगात् अन्येन कार्येण तथ गत्वा गण-  
मध्ये सकलगणसमूहे यदि प्राप्नो, यथा-गणोऽधिकरणं कृत्वा  
येन सहाधिकरणमागुत्संस्कारोपादेन आगत्य भवति, ते इति) त-  
स्यापि त एव प्राक्कृतं दोषाः ।

जग्गा एए दोसा, अविद्धां पेमणे य कट्ठंयं य ।  
तद्वा इमेज्ज विहाणा, पत्तणं कट्ठणं तु कापज्ज्वं ॥

यस्मादधिधना प्रेषणे, कथने च एतेऽन्तरोदिता दोषाः, तस्मा-  
दनेन वक्ष्यमाणं विधिना प्रेषणे कथनं च कथञ्चम् ।

तमेव विधिमाह-

गणिणो अथिे निग्गयेयं, गट्ठंतै विक्कंपित्तो ।  
गमांति तं र्हं वेचं, नेक्कं महम्मइं खु त्तो ॥

अन्येन प्रयोजनतः प्रेषितः सस्वरहिते विधिके प्रवेशे, अथ  
निर्भेदं तदाधिकरणरहस्यं गणिन आचार्यस्य समयति कथयति  
क्रमणाचार्यस्तं कृत्वाधिकरणं रहस्येव गमयति । यथा-तथमित्य-  
मित्यमधिकरणं कृत्वाऽत्र समागतं, न च न उपसमित इति ।  
पद्युक्तं यदि स नेक्कं यथा-अहं नाधिकरणं कृत्वा समागतः,  
वास्वियं इते तेन सहादं (सु) नांश्चतमिति ।

गुरुसमकथं गमितो, तथापि जइ नेक्कइ ।  
ताहं वि गणपज्जाम्भि, जासितं मत्तिंनिट्ठं ॥

एवं तस्याधिकृत्यायै स्त प्रवेष्टानात्स्वरैराह्ला प्रेषितो रहति  
गुरुसमकथमधिकरणं कथञ्चमपि तदासमजुप्रविश्य कथय-  
ति, यथा रोपं न विवधति । तथा-निर्मतोऽपि यदि वेक्कति

ततः प्रहरद्विसाप्तातिक्रमेण प्रस्तावा-तरमारभ्य गद्यमध्ये तं भाषते, परं नातिनिवृत्तम् ।

कथं तं ज्ञापते ? इत्याह—

गणस्य गणिकां चैव, सुप्रसूमी निगते तया ।

अभिधी मद्गती आसी, सो विवक्षस्ये य तद्विजतो ॥

तदा तस्मिन्कासे त्वयि अधिकरणं कृत्वा निगते समस्तव्यापि गणस्य, गणिनश्चाचार्यस्य मद्गतीं अमुक्तिरासीत् । येन च सह लबाधिकरणमप्युक्तं सोऽपि विपक्षो गणिना गणेन च तर्जितः ।

गणेषु गणिका चैव, सारेऽत्र मन्वर्तयिणी ।

साहि अत्रावदेतेण, विवेको से विद्विज्जइ ॥

एवमुक्त्वानन्तरं तत्रायैव गणेन गणिना च सह सम्बद्धं सारणी-  
यः शिखण्डियाः, येन स्वद्वारे प्रतिवच्य तत्र गन्वा विपक्षं क्रमय-  
ति । अथ सह तया सार्यमाधोऽप्युक्तमित्येव नोपशमनं नीतोऽहः स्वना-  
कस्वात्ततोऽप्यापदेशेन तस्य विवेकः परित्यागो विधीयते ।

केनोपदेशेन ? इत्याह—

मद्गजघातो इमो अग्निं, खेवं पि न वृत्पति ।

वर्द्धी संक्षरुच्छा वा, वयपत्ता नि नृत्तिय षो ॥

अयं साधुसाधोऽलङ्कारो महान् जनाऽस्मकमेतावतां न चैतत्  
कृतं अभवति, संकीर्णोऽसात् । यदि वा वसतिः सखिरुद्धा सं-  
कटा वर्तेते, तत एतावन्तः साधवोऽत्र न मास्ति, अथवा ब्रह्म-  
पात्राद्यस्माकं संगति न सस्ति । अपिशुभ्रंश्चात्र तथाविधः  
शुभोऽप्यस्ति, साधवोऽप्येतेऽतीबासइमाः, नस्मात् युयमन्यत्र  
कापि गच्छतः । यदि पुनः सह सांभोग्ये उपशममधिगच्छन्ति, ततः  
स बद्धयमाग्नेन विधीनोपशमयितव्यः ।

तत्र प्रथमतोऽधिकरणोपशमनस्थानमाह—

सर्गाणपरगणिका, समपुच्छेपरंश्च वा ।

रहस्तादि च उप्युच्छं, जं जिहं तं तदि खेवं ॥

स्वगणसत्वेन परगणसत्वेन वा नेनापि समनोहेन सांभोगिकेने-  
तरणे वा सह रहसि वा, आदिशाब्दाद्वहसि वा; यतो यथाधि-  
करणमुत्पन्नं तत्सत्र रूपयेऽपशमयेत् ।

तथापशमनविधिमाह—

एको वा दो व निगम, उप्युच्छं मत्थ तस्य बोधमणं ।

गामे गच्छ दु गच्छे, कुलगगसंये य विद्वपयं ॥

एको वा, द्वौ वा, याः साधुवाच्यो वा, चत्वारो वा, येऽधिकरणं कृ-  
त्वा निगतास्ते यत्र प्रथमं अगरे वाऽधिकरणमुत्पन्नं तत्राकीर्यते,  
आग्नीयं यैः सदाधिकरणमनुसृतैः सह व्युपशमनं क्रामणं कार्यं-  
य । तदुत्पन्नधिकरणमेकस्मिन् गच्छे, यदि वा चयोर्गच्छंवां, अ-  
थवा कुले, यदि वा गणे, यदि वा संघे, समुत्पन्नं स्यात्, (विद-  
वप्यमिति) अत्रापि द्वितीयव्यवस्थावप्यम् । ततो बह्व्यमा-  
याकारोर्बिहृदमपि प्राचूतं वितापयेत् । ततश्च वितोऽप्यगमं  
प्रावयिष्यते ।

सागप्रतमधिकरणमुत्पन्नं यथोपशमयितव्यं तथा चाऽऽह—

तं ज्ञात्परिहं दिदं, तेषिपमेवाण मलाणं काठं ।

नि ह्याग व साहूय व, पुरगोऽजिय दोवि स्वादिनि ॥

तदाधिकरणमुत्पन्नं यावद्विहृदस्यैः संवर्तैर्वा हृदं ताचम्यावा-

यां गृहस्थानां साधूनां च मीलनं कृत्वा तेषां पुरतोऽत्राधिपि पर-  
स्परं क्रमयतः । कुलादिसमवाये यद्युत्पन्नं ततः कुलादिसमवायं  
कृत्वा क्रमयतः । किं कारणम् ? । यायम्यात्रियुक्तिः संघतैर्वा हृदं  
तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं क्रमयतः, तत्राऽऽह—

नवषीयतुद्विहयया, साहू एवं गिदिणो उ नादिनि ।

न व ्रुदजया साहू, कादिनि तस्य बोधमणं ॥

नवमीतनुद्वयद्वयाः साधवः, एवं गृहिणः, तुशुभ्राद्भिनवशै-  
काद्वयश्च हास्यनि । न च दृष्टद्वयसाधवोऽधिकरणं स-  
मुत्पन्नं व्युपशमनं करिष्यन्ति, किं तु कर्मरूपणाय, एवं हास्य-  
न्ति, एवंकथा च प्रतिपात्तः शुभोदयपरम्पर्यादितुः; अतस्तावतां  
मीलनं कृत्वा परस्परं तौ क्रमयतः ।

संगतिं वक्तुं 'विद्वयपयामाते' तद्व्याख्यानाद्यैव इ—

वि तयपदे त्रितिगिद्रे, वितोऽस्येऽजा उच्यते बहसो ।

विद्वतो जइ न उवसमे, गतो य तो अग्निदेसेतु ॥

द्वितीयपदे स्यतिहृदयवि प्राभूत्वानि वितोऽप्येदुपशमयेत् ।  
कथम् ? इत्याह—नेन सदाधिकरणं बहुशो बहून्वकारात् कृतं, त-  
स्योपदिष्टतन्त्रं क्रमयति, स च क्रम्यमाणा द्वितीय उपशम्यति ।  
यदि नोपशमत् अमुपशम्यन्त्य गतोऽप्ये देशं ततः—

कासेण च उवसतो, वज्जिज्जतो व अग्रपन्नेहि ।

खीरादिमलकोण व, देवय गेहन्न पुदो वा ॥

तस्याःयदेशं नमस्य बहूनां कासेन गनेन तस्य कथायाः प्र-  
सन्नोऽभवन्, तन उपशमनः । अथवा-अयोम्यैः साधुभिः कृता-  
धिकरणं यत्र हनि स्थानविषयमेवान् एवं स्वधेतुनि संकथयति-  
यथा कथावदेषेणाहं स्थाने स्थाने विवर्णयमानः, नस्माद्दं कथा-  
योरानु पुनराचूतः, अथवा खीरादिसलपानीं खीराशुभादि-  
लपनीनामुपदेशतः समदुपगनवान् इवतया शिक्ताः, यदि वा  
शान्तयेन पृष्टस्तनश्च्यतयति—यदि कथमपि साधारणोऽग्नि-  
योऽहं ततः सापराधिको भवामि, तस्मात्तं गावोपशमयामि ।

एवं ज्ञातपुनराचूतिना यत्कर्तव्यं तदाह—

गंतुं स्वापेयन्तो, अहव न गच्छेज्जोमोहं दोलाहे ।

नीयद्गम उवसगो, तादृषं वा तस्स होज्जंतं ॥

नेन ज्ञातपुनराचूतिना यथोत्पन्नधिकरणं तत्र गन्वा शुभसि-  
तव्यः । अथवा—यदेवैद्यमायोर्दोषेस्तत्र न गच्छेद्यथाप्यथमधि-  
करणम् । केदोषैः ? इत्यत आह—निजकाः स्वजनाः तस्य तत्र  
विद्यन्त, ततस्तत्र गतस्य तैरुपसर्गः क्रियत ।

तथा—

गामो ढडिउ हुजा, अंतर वा जणवतो नियहवगण्यी ।

अन्नं गतो न तरहं, अहवा गेल्लण पांचरहं ॥

यत्र प्रथमोऽधिकरणमुत्पन्नं स प्रथमं अर्चितं उद्गशीभूतं, अथवा  
अन्तराज्जनादुत्थितं, यदि वा येन समग्रधिकरणमजायत स  
निहृयगणं प्रविष्टवान् । अन्यत्र गन इतरो वा यस्मान् ज्ञातस्त-  
तो गच्छुं न शक्नोति । अथवा ग्लानं प्रतिवर्तत ।

अउत्तजय पन्निवच, भिक्खादि अल्लं अंतरं तदिहं वा ।

अभिगण्य

रायपुत्रं शोभं, आसवं वा अंतरं तद्धिं वा ॥

अथवा सोऽधिकृतः सम्ययितुमथा मरुत्पुत्रं विहारं प्रतिपत्तु-  
कामो ह्यस्य प्रत्यासम्भं ततो गन्तुं न शक्नोति । अथवा-अन्ते-  
पत्ते तत्र वा यथाधिकरणमुत्पन्नं, भिक्षाया अज्ञानो, यदि याऽन्य-  
रत्नान् वा राजाह्वयमवमौर्ध्वमशियं वा ।

सबरपुलिंदादिभयं, अंतरं तद्धिं च अद्भं तुज्जाहिं ।

एषणं कारणेण, वधं च कपिं अप्पाहे ॥

अन्तरं तत्र वा शबरमयं पुलिन्दभयम्, अदिशम्पात् स्तेनस्ते-  
ष्याविजयपरिग्रहः । अथेत, न एतैः कारणैस्तत्र गन्तुमशक्नुवद्  
वा कोऽप्यन्यः आचको वा, सिक्पुत्रो वा, मिथ्यादिषोः, तत्र जन्-  
को ज्ञाति, तं संदेशयति । यथाऽहमयुनोपशान्तं यैश्च कारुण्ये-  
रागमुमशकः, तस्मान्स्वभ्रातृस्य भया सह क्रमणं कुरु ।

ततः संदेशे कथितेऽनेन यत्कृतं च तदा—

मंतुषो सो वि तद्धिं, सपत्न्यपरपत्न्यमेव भेलिचा ।

सामेदो सो वि कर्जं, व दीहए अगतो जेण ॥

यस्य संदेशः कथापितः स तत्र गत्वा यैस्त्वंदधिकरणं ज्ञातं  
स्वपक्षं परपक्षं च भेलयिष्या तं क्रमयति; सोऽपि च ह्यन्यमाणां  
येन कारणेनागतस्तत्कारणं तस्य साहाय्यं कुर्याति कथयति ।

अहं नरियको वि वधंतो, ताहे उवसमाति अण्णाया ।

सामेदं जत्य मिलतो, अदिहेदं गुणयति कांउं ॥

अथ नास्तिकोऽपि तत्र मज्जदं यस्य संदेशः कथंते तर्हि आ-  
त्मना स्वयमुपशाम्यति, सर्वथा मनसोऽधिकरणमुपशमयण-  
तया संकटयति, ततो यत्र मिलति तत्र क्रमयति । इध न काम-  
पि मिश्रति, तत्समाप्त्यनन्तरं तु गुरुणात्मनिकं कुर्या वा नानसि  
कृत्य क्रामणं करोति । ३५० ७ ३० । ( 'वसहो' शब्दे साधुसा-  
ध्वीकलहे यतना 'पकथगमा' प्रस्तावे प्रष्टव्या )

( १९ ) निर्गम्योभिर्व्यतिरुहपमव्यधिकरणं-  
भ्युपशामनीयम्—

कृप्यं निर्गम्यीणं वितीगुहार्हं गारुहार्हं वितोसऽक्षप ॥  
कल्पते निर्गम्यीणां व्यतिक्रानि कलहार्हं वितोषवितुमुपशम-  
वितुमित्येव सूत्राकाराः ।

संमतिं माध्यमपञ्चः—

निर्गम्यीणं पाहुद, वितोसवितुषं वितिगुहं ।  
किह पुण होअ ठप्पसं । चेइयपरंदपाणीणं ॥  
चेइयपुतीण जणये, उाहे उ अगतो वदि अच्चांति ।  
परितावियाय धारियं, काइलसदाहं तुभाहे ॥

निर्गम्यीणां प्राप्नून् वितोषवितुषमुपशमयितव्यं भवति व्यतिक्र-  
ान् । शिरयः प्राह-कथं केन प्रकारेण पुनस्तास्माधिकरणमुत्पन्नं  
स्यात् । सुराह-काश्चनाऽऽयिकारणयत्कलाय चैत्यगृहं ग-  
ताः, नस्मिन् चैत्यगृहे षड्भिर्भुजमशरुपादिषु न समास्ति; ततश्च-  
रवशुहमभवत्किताश्चैत्यानि वन्दन्ते, तासां च वन्दमानानां प्र-  
थमस्तुतेराऽप्याऽप्याः काश्चन संयत्यः समागतोः, ताश्च मध्ये  
अवकाशां नास्तीति बहिरुपे स्थिताः । ततो विस्त्रंण वे-  
त्यस्तुनीनां नपन्ते ता बहिः स्थिताऽप्येव परिताप्यमाना बद्-

न्ति-युष्मिनिः कौंकलाशास्त्राभिर्धनियमतिशयेन वयं परित्ता-  
वितः । तथा—

नमंत्रोति नाडनारं, कलंऽपि कलाभाण्णीए तुम्हाण ।  
विष्पगते जत्तौंए, जायंते जयं नरवत्तोतो ॥

युष्माकं कलनामानानां तु स्वस्तेनाज्ञानानां पुरतः कलाभयि  
मनागपि नाटकानि नाहन्ति, ततो भवतीनां विप्रकृते कारणम-  
जानानामास्माकं जयं नरपतितो यद् यूयं नाटकं प्रकल्पेभ्यः ।

इति असद्वय उच्यते-मञ्जुभत्या तौ समंति तत्त्वेव ।  
अमुगुणाम सत्त्वगण्जं-कथे व गुरुसिद्धिमा मेरा ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेणासहनाभियो बभोजिताः कोपं अ-  
हिदानां मद्यस्थाः सत्यस्तत्तैव शमयन्ति । न च तास्तेऽपि भा-  
रुदन्तं कस्यापि ध्यावितवत्याः । अथ कस्यो वा द्वी गणधरो तदधि-  
वतो वेलावशाहा सर्वगणस्य भयदहनभूतं तादौ सर्वगणमपह-  
ने स्वस्वगुणशेषं कल्पेभ्यः । ततस्तत्पुण्यमयतः । अथ लज्जानो  
जयतो वा न स्वस्वगुणेभिर्बद्धितं तद्धिं तत्रेयं मर्यादा ।

पतदेवऽह—

गणहरगमणं एग-ऽऽयिरियसं दोषि वा वग्गा ।

आसभागम दूरे, च पेसगां तं च विजितपर्यं ॥

समस्तस्यापि गणस्य जगत्सने गते आग्नीवत्यस्य समोप गमनम्,  
अथवा एकस्याचार्यस्य संबन्धिनां तौ द्वावपि संयतवौ, तत्र  
पक्षस्य समीपं गच्छतः, ततः स पक्षतो वा द्वी गणधरो तदधि-  
करणं यत्र चैत्यगृहस्य चोत्पन्नं तत्र द्वावपि धर्मो नीत्या उप-  
शमयतः । अथ लज्जानो स्वस्वगुणैर्निर्बद्धितेकेतरपक्षं पक्षो  
निर्गतः, तत्र आह- ( आसभेयार्थे ) यथासंज्ञं मनोऽनन्तराद्यं  
च निर्नयं ततः स आनाश्रयेत, अथ सायायं तर्हि तानां  
गणपर आगच्छति, आगत्य क्रमणं करोति । अथ दूरे गतस्तर्हि  
वृषजानां प्रयेण कल्पेभ्यः, ततो वृषभाः समेय ताः संयन्तिः  
कथयन्ति । अथ द्वितीयपक्षो नोपशान्तस्तनः पुनरागतौ जाना-  
यां पुनोक्तवदेवं प्रागुक्तं द्वितीयं पदमवसातव्यम्; यत्र मिश्रन्ति  
तथैव क्रमयन्ति । अस्मिन्नेन गुरुणामतिकं इति ।

एतदेव सूत्रतः सावस्तरं वितानवययिपुरिद्वमाह-

चेइयपरं नऽत्ता, जत्तुप्पणं च तथं विञ्जक्कणं ॥

सज्ज भया व आसिद्धं, दुवेगतरनिगम इयं तु ॥

स्वस्वगुणैर्बद्धे ह्येते तौ द्वावपि गुरुसंयतोयगं ह्ययमपि चै-  
त्यगृहं नीत्या, अथवा यत्रायथोपपन्नमधिकरणं तत्र नीत्याऽधि-  
करणस्य विन्यायनं कुरुतः । अथ लज्जया जयाहा गुरुणागपि-  
एवमजयत । इत्येव पक्षयोर्मध्ये एकतरस्य पक्षस्य निर्गम-  
स्तत इदं कल्पेभ्यः—

आसन्नमणायए, अग्रावणं वा से गणहरा गमम् ।

ज गनाय अनिवसामल, आणाविञ्जऽह्मीहि वा वि !

यथासन्नं निर्मेयं च ततस्त्वा निर्मेताः संवत्यः स्वगण्येन सह  
आनाश्रयेत । अथ सायायं नतस्त्वासां गणधर आगच्छति, तत-  
स्ताः संयत्य आनीता, गणधरो वा एकः आगतो यत्र ज्ञानात्  
नयदहनमुत्, तत्रानाश्रयेत । अन्यथा वा आगत्य परस्परस-  
न्निक्रमणं कार्भम् । अथ दूरे गतास्त्वाहं वृषजाः समागत्य संयन्तीः  
कथयन्ति । ३५० ७ ३० ।

व्यय-

साहिगरण्यं निगम्यं निगम्यं गिरहमाद्ये वा अधिगण्यमाद्ये वा नातिक्रमः ॥

अस्य व्याख्या प्राग्बन्धु ।

अत्र भाष्यम्—

उपपत्तेः अहिगणने, औसमर्थां सुबिहऽतिक्यं ददुं ।

अणुसासणभासनिर्ण-जना य जो तौर्णं पकिन्नकस्यो ॥

संख्या गृहस्थेन समप्रधिकरणे उपपत्तेः द्विविधमतिक्रमं दृष्ट्वा तद्व्याधिकरणस्य व्यवसायमं कर्तव्यम् । किमुक्तं प्रवर्ति ।-स गृहस्थोऽनुपशासनः सन् तस्याः संख्यायाः संयमभेदं, जीवित-भेदं चति द्विविधमतिक्रमं कुर्यात् । तत उपशमित्यमधिकरण-कम् । कथम् ? इत्यह-यस्तस्याः संख्यायाः प्रतिपक्षो गृहस्थस्तस्य प्रथमः, कायत्वचनैःतुशासनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठति प्रापयं तापयं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठति नित्यमभं, यस्य वा कश्चित्तेन तथा विचारणं कर्तव्यम् । ६० ६ उ० ।

( १७ ) साधिकरणेनाऽऽहृतप्रायश्चित्तेन सह न संयोगः काव्ये-जे भिक्खु सादिगरण्यं अविओसमिपपाहुदं अकदप-च्छित्तं परं तिरायाओ विष्कासियं अविष्कासियं संद्धंजह, संजुंजंतं वा साऽज्जह । १५ ।

अदि गिरहे, भिक्खु पुत्रवर्धितो सहाधिकरणः कथायाभा-बधुमभावाधिकरणसहित इत्यर्थः । विविधं विविधैर्हि वा पगा-रैर्हि विवस्वमित्यं उवसासियं । किं तं ? पाहुदं, कलहमित्यर्थः । य विओसासियं अविओसमित्यं, पाहुदं, तस्मि पाहुदकरणे जं प-किउत्तं जेण सां करुपाकच्छतो । " अमानोनाः प्रतिषेधे " न कृतं प्रायश्चित्तं अकृतप्रायश्चित्तं, जो तं संजुंजणसंभोएण सं-च्छुजति, एगमंभोए, संजुंजह । ( सि तुत्तं जयति, अहवादायमादेव संभोएण भुंजति तस्स चउगुणगा भाणादिणा व हांसा । नि० ६० ४ उ० ।

( १८ ) अप ध्यमककमेणाऽधिकरण्यधिकरणद्वयनिरूप-णायाऽऽह—

जीवे षं भंते ! अदिगरणी, अदिगरणं ? । गोयमा ! जीवे अधिगणनं वि, अधिगणनं वि । से केणुडं भंते ! एवं बु-बह-जंवि अधिगणनं वि, अधिगणनं वि ? । गोयमा ! अ-विरतिं पदुच्च से तेणुडं जंन अधिगणनं वि अधिगणनं वि । खेरुए षं भंते ! किं अधिगणनं, अधिगणनं ? । गोयमा ! अधिगणनं वि, अधिगणनं वि । एवं जडुंन जीवं तदेव एरुए वि, एवं खिररंरं जंन वेमाणिए ।

( जीवं नमित्थादि ) । ( अदिगरणीं वि सि ) अधिकरणं दुर्गतिनिमित्तं बन्तु, तथा विवहृवा शरीरनिष्ठियाणि च, त-था बाह्यो हलगन्धवादिपारिहः, तद्व्यस्त्यातीत्यधिकरणो जीवः । ( अदिगरणं वि सि ) शरीराद्यधिकरणेभ्यः कथञ्चिद्व्यतिरि-क्तत्वादधिकरणं जीवः । एतच्च ह्यं जीवस्याविरतिं प्रती-त्योच्यते, तेन जो विरतिमानसः शरीरादिस्वाभेदं वि नाधिकर-णं, नाप्यधिकरणम्, अविरतितुक्तवैधे शरीरादेरधिकरणत्वा-दि । एतच्च चतुष्विधमित्थं कथं विरति- ( नेरह्य इत्यादि ) अधिकरणं जीव इति प्रागुक्तम् । स च दूरवर्तिनाऽप्यधिकर-णेन खान्, यथा-गोमाद् । स्थानः पुच्छति-

जीवे षं भंते ! किं सादिगरणी, गिरहमाद्ये ? । गोयमा ! सादिगरणी, गो गिरहमाद्ये । से केणुडं बुच्छा ? । गोय-मा ! अविरतिं पदुच्च से तेणुडं जंन अधिगणनं वि अधिगणनं वि । खेरुए षं भंते ! किं अधिगणनं, अधिगणनं ? । गोयमा ! अधिगणनं वि, अधिगणनं वि । एवं जडुंन जीवं तदेव एरुए वि, एवं खिररंरं जंन वेमाणिए ।

( सादिगरण्यं सि ) सह सहभाषिनाधिकरणेन शरीरादिना बन्धत इति सासासन्तद्विधेः साधिकरणी । संसारिजीवस्य शरीरनिष्ठ्यरूपाधिकरणस्य सर्वेद्वे सहचरितत्वात्साधिकरणा-त्वमुपदिश्यते । शुक्लाद्यधिकरणेषु च तु स्वस्वामिमावस्थ तद्विरातकल्पस्य सह वर्तित्वात्तत्रैव साधिकरणीत्युच्यते । अत एव बह्व्यति-(अविरतं पदुच्च सि) अत एव संयतामां शरीरा-दिसङ्गाधेऽप्यविरतंजावासा साधिकरणीत्वम् । ( निरदिगरण्यं सि ) निर्गममधिकरणमस्मादिति निरदिगण्यं । सासासन्तविधे-रधिकरणदूरवर्तीत्यर्थः । स च न भवति, अविरतेरधिकरणे-पूतया अदूरवर्तीत्यादिति । अथवा-सहाधिकरणीभिः पुत्रमि-त्रादिभिरितेत इति साधिकरणी । कस्यापि जीवस्य पुत्रादीनाम-भावेऽपि तद्विधयविरतेरजावासाधिकरणमित्यवश्यम् । अत एव नो निरदिगण्यतीत्यपि अस्त्यप्यिति ।

अधिगणनाधिकारादेवेदमाह-

जीवे षं भंते ! किं आयादिगरणी, परादिगरणी, तदु-जयादिगरणं ? । गोयमा ! आयादिगरणं वि, परादिगरणीं वि, तदुजयादिगरणं वि । से केणुडं भंते ! एवं बुबह-जंन तदुजयादिगरणीं वि ? । गोयमा ! अविरतिं पदुच्च से तेणुडं जंन तदुजयादिगरणीं वि । एवं जंन वेमा-णिए ।

( आयादिगरण्यं सि ) अधिकरण्यो कृष्णादिमान्, आत्मनाऽधि-करण्यो आत्माधिकरण्यो । ननु यस्य कृष्णादिनास्तं स कथमधि-करण्यो ? इत्यत्रोच्यते-अविरत्ययं कथा, इत्यत एवाऽविरतिं प्रतीत्ये-ति बह्व्यति । ( परादिगरण्यं सि ) परतः परेषामधिकरणं प्रवर्तने-नधिकरण्यो पराधिकरण्यो । ( तदुजयादिगरण्यं सि ) तयोपाराम-परयोक्तव्यं तदुजयं, ततोऽधिकरण्यो यः स तथेति ।

अथाधिकरणत्वेव हेतुप्रकृत्याऽऽह-

जीवे षं भंते ! अधिगणने किं आपपभोगणिव्यञ्चिए, परपभोगणिव्यञ्चिए, तदुजयपभोगणिव्यञ्चिए ? । गोयमा ! आपपभोगणिव्यञ्चिए वि, परपभोगणिव्यञ्चिए वि, तदु-जयपभोगणिव्यञ्चिए वि । से केणुडं भंते ! एवं बुबह-जंन तदुजयपभोगणिव्यञ्चिए वि । एवं जंन वेमाणियाणं ।

( आपपभोगणिव्यञ्चिए सि ) आत्मनः प्रयोगेण मनःप्रवृत्ति-व्यापारेण निर्देशितं निष्पादितं यत्तथा । एवमन्वयं वि द्रव्यम् । न-नु यस्य कथमादियपरमवर्त्तनवस्तु नास्तं तस्य कथं परपभोगि-नैर्तितादि भवित्यति । इत्याह-तदुजयपभोगणिव्यञ्चिए (से केण-मित्यादि ) अधिगणन्येकथा (आपपभोगणिव्यञ्चिए) आत्मनीयमिति । अथ शरीराद्यभिनिर्गम्याणां योगानां च निर्देशितार्थां जीवादे-रधिकरणत्वादिप्रकृत्याऽऽह-

जीवे षं भंते ! आरोलियसरिंरं गिण्वचित्तमापे किं अधि-

अधिगण्य

करणी, अधिगण्यः? गोयमा । अधिगण्यं पि, अधिगण्यं पि ।  
 से केण्डेणं भंते । एवं पुबुध-अधिगण्यी वि, अधिगण्यं पि ।  
 गोयमा । अधिगण्यं पदुबुध से तेण्डेणं जाव अधिगण्यी वि, अधि-  
 गण्यं पि । पुदुवीकाऽए एं चंते । आरोरामियसरीरं शिब्व-  
 गिण्यभाये किं अधिगण्यी, अधिगण्यं । एवं चेव, एवं जाव  
 मणुस्ते । एवं वेउठियसरीरं पि, एववं जस्स अत्थि । जीवे एं  
 भंते । आहारगसरीरं गिब्वन्तिपमाणे किं अधिगण्यी पुबुध्वा ।  
 गोयमा । अधिगण्यी वि, अधिगण्यं पि । से केण्डेणं जाव  
 अधिगण्यं पि ? गोयमा । पमादं पदुबुध से तेण्डेणं जाव  
 अधिगण्यं पि । एवं मणुस्ते पि । तेया सरीरं जहा आरोरामियं ;  
 एववं सञ्जवीवाणं जाणियच्चं । एवं कम्मगसरीरं पि ।

( अधिगण्यी वि अधिगण्यं पि चि ) पुबुध्वं । ( एवं चेव चि )  
 अनेन जीवसुखानिलायः पृथिवीकायिकत्वेन समस्तो वाच्य इति  
 दृष्टितम् । ( एवं वेउठ्याप्यादि ) व्यक्तम् । ( नवरं जस्स अधिग-  
 ण्यं चि ) इह तस्य जीवपदस्य वाच्यमिति शेषः । तत्र नारकदेया-  
 नां बायोः पञ्चेन्द्रियतयंअनुपचयानां च तदस्ताति हेयम् ।  
 ( पमादं पदुबुध चि ) इहाहारकशरीरं संयमवनामिव भ-  
 वति । तत्र खाचित्तरूपेणऽपि प्रमादादधिकरणित्वमवसे-  
 वति । इण्डकचित्तरायां आहारकं मनुष्यस्यैव भवतीत्यत  
 उक्तम्- ( एवं मणुस्ते वि चि ) ।

जीवे एं भंते । सोऽद्विंयं शिब्वन्तिपमाणे किं अधिगण-  
 यी, अधिगण्यं । एवं जहं आरोरामियसरीरं तदेव सांदिदियं  
 पि जाणियच्चं, एववं जस्स अत्थि सोऽद्विंयं । एवं सोऽद्विं-  
 यं चर्वित्तिदियं घाण्णिदियञ्जिडेनदियफांसिदिया.ए वि  
 जाणियच्चं; जस्स न अत्थि । जीवे एं भंते । मणुजे.गे  
 शिब्वन्तेमा.गे किं अधिगण्यं, अधिगण्यं ? एवं जहं सां-  
 दिदियं तदेव शिब्वन्तेसे । वदंजां एवं चेव, एववं एगिदिय-  
 वदंजाणं । एवं कायजोगे वि, एववं सञ्जवीवाणं जाव वे-  
 याणिए । सेवं जंते ! भंते ! चि । ज० २६ श० १ उ० ॥  
 अधिगण्यते प्राणियुगन्तावनेनेति अधिगण्यम् । दानिना-  
 उसंयतस्य सामर्थ्येवापणतः पावारम्भप्रयत्ने, हा० २७  
 अ० ॥ आधारे, व्याकरणाशुभा- “ कर्तृकर्मव्यवहृता-म-  
 वात्तात्कारधत्तुं क्रियायाम् । उपकुर्वन् क्रियासिद्धौ, शाब्द-  
 धिक्कर्तृकं स्मृतम् ” ॥ १ ॥ इति हरिपरिभाषिते अधिग-  
 ण्यसंज्ञके कर्तृकर्मद्वाराः क्रियाभये कारकं, यथा-महं स्वात्या-  
 मन्नं पचतीत्यादौ गृहस्य कर्तृद्वारा, स्थाल्याश्च कर्मद्वारा,  
 परस्परया पाकक्रियाभयत्वाद् गृहद्वारः । वाच० ।

अधि ( द्वि ) गण्यकारिण्या-अधिकरणक्रिया-की० । अधि-  
 करणविययिका क्रिया अधिकरणक्रिया । कलहविषयके व्या-  
 पारे, अधिकरणक्रिया द्विबिधा-निर्वेत्तनाधिकरणक्रिया, सं-  
 योजननाधिकरणक्रिया च । तत्राद्या-अज्ञानां तन्मुद्रादादीनां  
 निर्वेत्तनसत्त्व्या । द्वितीया तु-तथाभाव तत्त्वज्ञानां संयोजनसत्त्व-  
 येति । अथवा प्राणिनां दुर्भ्रष्ट्यधिकारित्यकारणे, क्रियाभाम् च ।  
 “ अधिगण्यकारिण्यापचत्वा बह्विधं अन्तर्धं अचमदं  
 अणुपणं परस्स य करंति ” प्रश्न० २ आश० ३० ॥

अ ( आ ) धि ( द्वि ) गरणिया-अधिपरणिकी-की० ।  
 अधिगण्यते स्थाप्यते नरकादिध्यामानं येन तदधिकरणमु-  
 द्दानविशेषो बाह्यं वस्तु चकलङ्कारितं, तत्र भवा, तेन वा नि-  
 बृंसा, अधिगण्यकी । प्रश्न० २० ॥ १ ॥ बह्वादानिर्वेत्तन-  
 सत्त्वे क्रियाभेदं, स० ७ सम० २५ ॥

अथवा भेदाः—

अधिगण्यिया एं जंते । किरिया कविहा पचत्वा ।  
 मंदिपयत्ता । वुट्टिटा पचत्वा । तं जहा-संजोययाहिरण्य-  
 किरिया य, निब्वत्तणाहिरण्यकिरिया य ॥

( संजोयणाहिरण्यकिरिया य चि ) संजोयनं हलगण्यविष-  
 कृत्यन्नाद्य ज्ञानां पूर्वनिर्वेत्तनानां मूलनं, तदेवाधिकरणक्रियाया  
 संयोजनाधिकरणक्रिया । शिब्वत्तत्वाहिरण्यकिरिया य चि )  
 निर्वेत्तनमलिशक्तिनामरादीनां निष्पादां, तदेवाधिकरणक्रिया  
 निर्वेत्तनाधिकरणक्रिया । अ० ३ श० ३ उ० । अधिगण्यक्रिया  
 द्विधा-अधिकरणप्रयत्नेना, अधिकरणनिर्वेत्तना च । तत्र निर्वे-  
 त्तेनाधिकरणक्रिया द्विबिधा-मूलगुणनिर्वेत्तनाधिकरणक्रि-  
 या, उत्तरगुणनिर्वेत्तनाधिकरणक्रिया च । तत्र मूलगुणनिर्वे-  
 त्तेनाधिकरणक्रिया-पञ्चानां शरीरकार्यां निर्वेत्तनम् । उत्तरगु-  
 णनिर्वेत्तनाधिकरणक्रिया-हस्तपादाङ्गोपाङ्गानां निर्वेत्तनम् ।  
 अथवा मूलगुणनिर्वेत्तनाधिकरणक्रिया-अस्सशक्तिविधि-  
 पालादीनां निर्वेत्तनम् । संयोजननाधिकरणक्रिया-तेषां यिगु-  
 ङ्गानां संयोजनमिति । अथवा संयोगः विषयहलकूटध-  
 युत्पन्नादीनां, निर्वेत्तनाधिकरणक्रिया शरीरकेण कालकृतमु-  
 द्धरादीनाम् । कृत्याशानिर्वृत्तं क्रियाभेदं च । आ० चू० ७ अ०

अधि ( द्वि ) गण्यी-अधिकरणकी-की० । कमांगपरकणधियोष,  
 यत्र सोऽकारा अयोयनेन सोऽनि कुट्टयन्त । अ० ६ श० १ उ० ॥

तेषां कालेषां तेषां सपपूर्णं रायमिदं जाव पञ्जुयासमाणं  
 एवं वयानी-अत्थिय एं जंते । अधिकरणमि वाउयाए बह-  
 कम्ह ? इवा अत्थिय । से जंते । किं पुडे उदाइ, अणुडे उ-  
 दाइ ? गोयमा । पुडे उदाइ, गो अणुडे उदाइ । से जंते ।  
 किं स-रतीरं शिब्वत्तम्, असरीरं शिब्वत्तम् ? एवं जहा  
 खंदए जाव से तेण्डेणं जाव गो असरीरं । शिब्वत्तम् ।

( अधि चि ) अस्सयं पक्कं; ( अधिगण्यमिति ) आधिगण-  
 यं, ( वाउयाए चि ) वायुकायः, ( यदंअणुदे चि ) व्युत्क्रामति  
 अयोघनाभिघातेनाप्युत्पन्ने, अयञ्चक्रान्तसजयवेनादावपचनेन-  
 तयाप्यभाऽपि पक्काव स चेतनीजयतीति संसायत इति । उच्य-  
 त्तव सव जियत इति प्रश्नयथाह-“से भंते” इत्यादि । ( पुठे चि )  
 स्पृष्टः स्वकायशक्तादिना सशरीरश्च कलेवराशिक्षामासि काम-  
 भाण्यं कृया औदृत्तिकाद्येक्या त्थशरीराति । अ० ६ श० १ उ० ॥

अधि ( द्वि ) गार-अधिकार-गुं० । अधि-ह-घ-त्तुं । अंधतः  
 प्रअणुप्रसनाच्च, “ अधिगारो पुञ्जुत्तो, चरविदो विदयच्छुलिय-  
 उभयण ” दश० १ अ० । प्रयाजने, “ अधिगारो इह मुमे पणं ”  
 ध्य० ९ उ० । नि० चू० । व्यापारे, “ अचत्तारो तस्स वि-  
 जयणं ” आवा० १ सु० २ अ० १ उ० ।

अधि ( द्वि ) द्वैत-अधिपितृत्व-वि० । निवसति, नि० चू० १ उ० ॥

अधि ( हि ) द्वावण-अधिस्थापन-न० । संनिघद्यावेहित एव राजोदरमार्गकपयशानं, " अं निष्कृत् खयहरणं अहिच्छेत्, अहिच्छंतं वा साहस्रम् " नि० चू० ४ ३० ।

अधि ( हि ) द्वेष्टा-अधिष्ठाप-अव्य० । ममेदमिति पृथी-लन्त्यर्थे, नि० चू० १२ ४० ।

अधि ( हि ) मासग-अधिमासक-पुं० । अविर्वदितवर्षद्वा-वशाभागे, " यस्य अनियक्षियचरिसवारसमागो अधिमासगो । जो पुण्य संसिद्गतिविसैलनिष्पद्यो अधिमासगो अ वणतलंसं विष्णा विसितमागो व वसींसं भवति " नि० चू० २० ३० ।

अधि ( हि ) मुञ्चि-अधिमुक्ति-अ० । शास्त्रभ्रष्टावति, द्वा० २३ द्वा० ।

अधि ( हि ) वद ( ति )-अधिपति-पुं० । प्रजागामतीव सु-रक्षके, एव० १ ३० ।

अधीमहि-अधीमहि-अव्य० । अस्थापत्य इ-कामः । तस्य मन्त्रः कामिन्यः, ता अधिभूय-अधीमहि । शिष्याधिभूयत्यर्थे, " भगो दे वस्यधीमहि " गायत्री । वलनीनि वसां चिन्प्रत्यये रूपम् । कु वसिं, इत्याकाङ्क्षायामाह-अधीमहि, अ० । तद्ग्र-मानं कुर्यायसात्मनोत्याशयः । ३० गा० ।

अधीरपुरिस-अधीरपुर-पुं० । अमुद्धिमिति पुरुषे, उच० ९ अ० ।

अधुव-अधुव-पुं० । यः पुनरापत्यं कदाचिद्भवत्येवं प्राप्य-नि स भवत्यसंबन्धी वा कथः स अधुवन्धः । क० ४ कर्म० ।

अधे ( इ ) कम्प-अधधामन-न० । अधोगतिनिबन्धनं कर्म अधःकर्म । अधाधकर्मणि, तथादि-भवति साधुनामाधकर्ममु-ञ्जानानामधोगतिः, तन्नबन्धनमप्राप्त्यातिपातादाश्रयेषु प्रवृत्तेः । अस्य निरूपण-अधःकर्म अमुक्तं । तथाया-नामाधःकर्म, स्था-पनाधःकर्म, उच्चाधःकर्म, नाधाधःकर्म च । एतन्नाधाधकर्म-वशाद्यद्वयं यावन्नोन्नागमतो भव्यशरीररूपं उच्चाधःकर्म । शरीरभयशरीरव्यतिरिक्तं तु उच्चाधःकर्म निशुकिहृदाह- जं दन्वं उदगाइतु, वृद्धये वयं जं च जारेण । ईरिरे रज्जुपृथ व, श्रोत्रेणं दन्व-उ-कर्म ॥ ९६ ॥

यतिकर्मणि कल्पमुपलदिकमुद्रकादिषु उद्कद्रुधादिषु मध्ये स्थितं सत् भारेण स्वस्य मुक्तया अधो ब्रजति तथा ( जं वेति ) क्लं ( सीरिपि ) मिश्रेण्य उच्चा वा अथतर्णं पुरुषादेः कृपा-दौ, मालादेर्वां नृचि, तद् अधोऽधोव्रजनमवतरणं वा उच्चाधःकर्म । दृष्टस्थोपलदेव उ-उ-स्ताऽकर्मरूपमवतरणरूपं वा कर्म द्रव्याधःकर्मैति व्युत्पत्तेः ।

संप्रति ज्ञावाधःकर्मणोऽवसरः, तच्च द्विधा-भागमतो, नोभाग-मतश्च । तत्र भागमतोऽधःकर्मं शब्दाहंशान्तात् । तत्र बोप-सुचो नोभागमत आह-

संजमप्राणार्ण कं-दगाण्य लेसाउर्द्विनेसाणं ।  
जावं अहे करेई, तद्गता तं भाव-उहेकर्म ॥ ९७ ॥  
संयमस्थानानां वक्ष्यमाणानां कण्टकानां संख्यातीतसंयम-स्थानवृद्धयकृपाणां, उपलक्ष्यमेतत्पदस्थानकानां संयमशु-भेक्ष । तथा श्रेयसानां, तथा सातवेदनीयादिकपुत्रप्रकृतीनां १४५

संबन्धनां स्थितिविशेषाणां च संबन्धिषु विद्युक्तेषु विशुक्त-रेषु स्थानेषु वर्तमानं सन्तं मित्रं आभयप्रथमसायं धरमादाधा-कर्म मुञ्जानः साधुधः करोति, इतिषु दीनतरेषु स्थानेषु चि-धत्ते । तस्मात्प्रधाकर्म भाशाःकर्म प्रावश्य परिणास्य सं-यमादिसंबन्धिषु शुभेषु शुजनरेषु स्थानेषु वर्तमानस्य; अथः अ-धस्तनेषु इतिषु हानतरेषु स्थानेषु कर्मं क्रिया यस्मात्प्रधा-धःकर्मैति व्युत्पत्तेः ।

एतामेव शाचां भाष्यरूढं गाथात्रयेण व्याख्यातयति-  
तथाएतां चारि-चापउजवा ह्येति संयमद्वानं ।  
संसाःयाणि उ ता-णि कंरगं होइ नायकं ॥ ९८ ॥  
संसाईयाणि उ कं-दगाणि उदगाण्यं विधिद्विदं ।  
द्वद्गाणा उ अदंसा, संयमदंवां मुणोपन्वा ॥ ९९ ॥  
किंएइया उ लेमा, उकोसविमुच्छ्रिड्विसंसा उ ।  
एपसि वि मुच्छ्राणं, अप्यं तगागो कुणइ ॥ १०० ॥

इह सर्वोक्तद्वयदि देशविरतिविद्युक्त्वात् उच्यतेऽपि सं-वेविरतिविद्युक्त्वात्तन्मत्तमुणता च सर्वेत्रापि पदस्थानकवि-स्तायां सर्वेजोबाजन्तकप्रमाणेन गुणकारेण रूपेण । इयं वात्र प्रावना-उच्यतेऽपि सर्वेविरतिविद्युक्त्वात् केवलप्रकाशकृद्दे-केन द्विधेन, क्षिप्या च निर्विनागा भागाः सर्वसंकलनया परिव्राव्यमानाः सर्वोक्तदेशविरतिविद्युक्त्वात्तन्मत्तानि नि-र्विनागा भागाः सर्वेजोबाजन्तकप्रमाणेन गुणकारेण गुणयमाना यामनो जायन्ते तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते । अत्राप्यर्थे भावार्थः-इह किल अयमकल्पनया सर्वोक्तद्वयस्य देशविरतिविद्युक्त्वात्तन्मत्तस्य निर्विनागा प्रागाः १००० दशसंख्याणं, सर्वेजो-बाजन्तकप्रमाणेन चारिः शतम् । तन्मत्तं शतसंख्येन स-वेजोवान्तकप्रमाणेन राशिना दशसदंशसंख्याः सर्वोक्त-देशविरतिविद्युक्त्वात्तन्मत्तानि निर्विनागा जागा गुणयन्ते, जा-तानि १००००० दशलक्षानि । एतावन्तः किल सर्वेजघन्य-स्थापि सर्वेविरतिविद्युक्त्वात्तन्मत्तं निर्विनागा जागा जवन्ति । संप्रति सूत्रमनुष्यते-तत्र तेषु संयमस्थानादिषु वक्तव्येषु, प्रथ-मतः संयमस्थानमुच्यते इति शयः प्रकन्ता अतन्संख्याः पाश्चा-त्यसंकल्पनया दशलक्षप्रमाणाः, ये चारित्रयोःवाः सर्वेजघन्यथा-रित्रसंकल्पविद्युक्त्वात्तन्मत्तानि निर्विनागा भागास्ते समुदितिः सं-यमस्थानम्, अर्थात्सर्वेजघन्यप्रावं प्राप्नुवन्ति । तस्मात्तन्मत्तं यद् द्वितीयं संयमस्थानं तत् पृथक्प्रावन्तभागवृत्तम् । किमुक्तं अ-वति ?-प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विनागाभागपक्षया चिन्तिसंयम-स्थाने निर्विनागा भागा अतन्मत्तमेव भागेनाधिक भावन्तीति । तस्मादपि यद् अतन्तं नृनीयं तत्ततोऽतन्मत्तभागवृत्तम् । एवं पृथ-क्स्मात्परोक्षचारिण अतन्तमेव ज्ञानेन वृद्धानि निरन्तरं संय-मस्थानानि तादृशकल्पानि यावद्दुःखमात्रकेशासंख्येयजगत्त-प्रदेशरीतिप्रमाणानि भवन्ति । एतावन्ति च समुदितिनि स्था-नानि कण्टकमित्युच्यन्ते । तथा चाऽऽह-संख्यातीतानि असंख्ये-यानि । तुः पुनरर्थः । तानि संयमस्थानानि, कण्टकं ज्ञानि ज्ञान-व्यम् । कण्टकं नाम समयपरिभाषया अद्भुलमात्रकेशासंख्येय-भागगतप्रदेशरीतिप्रमाणानि संख्या विधायते ।

तथा च भाष्ये उक्तम्-  
" कंवेति हय अन्नर, अं-स्तमागो वसंवेजो " ।



अस्माकं कण्ठकापरतो यद्भव्यदन्तरे संयमस्थानं जयति तत् पूर्वस्मात्संख्येयमागाधिकम् । एतच्च भवति-पाश्चात्यकण्ठका-स्फरकचरमसंयमस्थानमनिर्विभागाग्राये कण्ठकादन्तरे संयमस्थानं निर्विजना भागा असंख्येयतममत्रागाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि यद्योत्तरमन्तत्रागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरेकसंख्येयमागा-धि कं संयमस्थानं, ततो ज्यूयाऽपि, ततः पराणि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि यद्योत्तरमन्तत्रागवृद्धानि जयन्ति । ततः पुन-रप्येकमसंख्येयमागाधिकं संयमस्थानम् ; एवमन्तत्रागाधिकैः कण्ठकमात्राणिः संयमस्थानिर्द्यवद्विनानि असंख्येयमागाधिकानि संयमस्थानानि तावच्छब्धानि यावत्पुनरपि कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततश्चादन्तरेयमागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यद्योत्तरमन्तत्रागवृद्धानि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति । ततः परमेकं संख्येयमागाधिकं संयमस्थानम्, ततो ज्यूयादरभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणानिर्वाय पुनरप्येक संख्येयमागाधिकं संयमस्थानं वक्रव्यम् । इदं द्वितीयं संख्येयमागाधिकं संयम-स्थानम् । ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वक्रव्यम् । अमुनि चतु-संख्येयमागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्रव्यनि यावत्क-ण्ठकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तमेव भूयोऽपि संख्येयमा-गाधिकसंयमस्थानप्रसंगे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्रव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकान्तानि नाथातं भूयोऽपि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुन-रप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्रव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति जयन्ति संयमस्थानानि तावन्ति तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्रव्यम् । अमुपपत्त्ये संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्धकव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तमेव पुनरपि संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अन्तरेयगुणा-धि कं संयमस्थानं वक्रव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य या-वन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकान्तानि तावन्ति तेनैव क्र-मेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्रव्यम् । ततो ज्यूयाभि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणा-धिकसंयमस्थानं वक्रव्यम् । यावन्ति अमुनि चैव संख्येयगुणा-धिकसंयमस्थानानि तावन्त्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थाना-नि तावद्धकव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । तत-पूर्वपरिपाठ्या पुनरप्येकसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अ-मन्तत्रागाधिकं संयमस्थानं वक्रव्यम् । ततः पुनरपि मूलादा-रभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकान्तानि तावन्ति त-थैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमन्तत्रागा-धिकं संयमस्थानं वक्रव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य ताव-न्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमन्त-त्रागाधिकं संयमस्थानं वक्रव्यम् । एवमन्तत्रागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्धकव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि जयन्ति । ततो ज्यूयाऽपि तेनामुपपि पञ्चवृत्तान्तानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्तव्यानि । यद्यन्तत्रागाधिकस्य तत्र प्राप्यन्ते, षट्स्थानस्य परिसमाप्तय्यात् । इत्यंजुनात्यसंख्ये-यानि कृतं नानं समुचितानि षट्स्थानकं जयति ।

तथा चऽऽह नाप्यहृत्—

“संख्यायाम् उक्तं-द्वानि लुटानाम् विणिङि” गुणमस्य । अस्मिन् षट्स्थानके षोडश उच्यते । तद्यथा-अन्तत्रागा-वृत्तिः, असंख्येयतत्रागाधिकः, संख्यातत्रागाधिकः, संख्येयगु-णवृत्तिः ; असंख्येयगुणवृत्तिः, अन्तत्रगुणवृत्तिः । तत्र यादृशोऽ-मन्तत्रागाधिकसंख्येयतमः संख्येयतमो वा गृह्यते ; यादृशस्तु संख्येयोऽसंख्येयोऽन्तरो वा गुणकारः स निरूप्यते-तत्र यद्य-प्येकया अन्तत्रागाधिकता तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो द्वियते, इतं च प्राग्वह्यः सोऽमन्तत्रागाधिकः । तत्राधि-कमुत्तरं संयमस्थानम् । किमुक्तं जयति ?-प्रथमस्य संयमस्था-नस्य ये निर्विजना प्रागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो द्वयते इतं सति ये अन्तत्रागाधिकं निर्विभागं निर्वि-जनां संयमस्थानं निर्विजनागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागान्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन रा-शिनो भागो द्वयते इतं सति यावन्तो अन्तरे तावत्प्रमाणेनिर्विभागं राशि-रत्रिकास्तृतीयं संयमस्थानं निर्विजनागा भागाः प्राप्यन्ते । एवं यद् यत् संयमस्थानमन्तत्रागवृत्तमुपपत्त्ये तत्तत् पाश्चात्य-संयमस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे इतं सति यद् यद्धव्यन्ते तावत्प्रमाणान्मन्तत्रागेन भागेनात्रिकप्रवगन्तव्यम् । असंख्येयमागाधिकानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसं-यमस्थानस्य सत्कान्तानि निर्विभागानात्तावत्संयमस्थानं काशा-प्रदेशप्रमाणेन राशिना प्रागे इतं सति यद् यद्धव्यन्ते सोऽसं-ख्येयतमो भागः, अन्तरेयमागाधिकसंख्येयतमेन तानानाधिकानि अत्य-संख्येयमागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयमागाधि-कानि चैवम्-पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य उक्तं इतं संख्येयत-त्रागे इतं सति यद् यद्धव्यन्ते स संख्येयतमो भागः । ततस्त-नेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि संख्येयमागाधिकानि स्थान-ानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृत्तानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसंयमस्थानस्य ये निर्विजनागा प्रागान्ते त उक्तं इतं संख्येयप्रमाणेन राशिना गुण्यन्ते ; गुणितं च सति यावन्तो यावन्तो जयन्ति तावत्संख्याप्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि श्ला-नानि वक्तव्यानि । एवमसंख्येयगुणवृत्तानि, अन्तत्रगुणवृत्तानि च भावनीयानि ; नवरससंख्येयगुणवृत्तौ पाश्चात्यस्य पाश्चात्य-स्य संयमस्थानस्य निर्विजनागा भागा असंख्येयशोकाकाशा-प्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गुण्यन्ते । अन्तत्रगुणवृत्तौ तु सर्वजीव-प्रमाणानन्तेन । इत्थं च तत्रागाधिकगुणकारकत्वनां सन्मन्ती-पिकशित्यकलित मस्या । यत् उक्तं कामप्रकृतिसंश्लेष्यां षट्स्थानकगतत्रागाधिकगुणाधिकमागाधिकाः ।” सत्यज-यानमसं-जा त्रागसंश्लेष्यस्य जेदुस्य । आगो तिस्र गु-णा नित्यु, ... ..” इति । प्रथमस्य षट्-स्थानकादृश्येमुक्तमेव द्वितीयं षट्स्थानकमुनिष्ठानि, एवमेव तृतीयं । एवं षट्स्थानकान्यापि तावद्द्वानि यादृशसंख्येयलो-काकाशाप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च-“उद्गाणमश्रवसां, अश्रं उद्गाणं पुणो अश्रं । एवमसंशा लोगा, उद्गाण्यं मुण्य-व्या” । इत्युक्तानि च संख्येयलोकाकाशाप्रदेशप्रमाणानि षट्-स्थानकानि संयमश्रित्यप्येते । तथा चऽऽह-“उद्गाण्यं च शस-सं, अश्रं संसेवी मुण्यव्या” । तथा (क्षेपं त्रि) कृष्णार्थो वेष्ट्याः स्थितिर्विशोभा, उक्तं नानं सत्योक्तं एतानां सातवेत्तानां यमश्रुता-नां विजुद्धप्रतीनां संबन्धितो विजुद्धाः स्थितिर्विशोभा वेदि-

तस्याः । तत एतेषां संयमस्थाभादीनां संबन्धिषु शुभेषु स्थानेषु बर्तमानस्त्वृषादक आधाकरमाहवः । अस्मान्मतेषां लब्धमस्येवासादीनां विशुद्धानामप्रोऽप्यस्तात्प्रकरोति ।

यदि नाम संयमस्थाभादीनामधस्तात्प्रान्तानामाधार्कमसादी-  
करोति ततः किं कृष्यं तस्यापठितम् ? अत आह-  
भावावधारमाह-उपपत्ते किति नूनपरणमां ।  
आहाकर्ममगाही, अहो अहो नेद अप्पाणं ? ॥

प्रधानां संयमस्थाभादीकृपाणां विशुद्धानामधस्ताद् हीनेषु ही-  
नतरेषु अप्यवसायेष्ववसारमसत्तत्कामतस्याधाय कृत्वा किञ्चि-  
न्यूनचरणम इति । इह चरयेनामः प्रथमस्वरूपाः स च नि-  
म्बबनमनापेक्षया कृणिकवावादिरेकायाचारितः परिग्रहते । न  
च ननुव प्रमाद्विद्वसंभवापि शीघ्रवत्, एकस्मिन् क्षोभपिमादनी-  
स्य विनाशात् । ततो न तस्याधार्कमप्रदबलंभवः, इति किञ्चि-  
न्यूनपरणम । किञ्चिन्यून चरयेनामः प्रथमः किञ्चिन्यूनचर-  
णाः । स च परमार्थत उपश्राममोह उच्यते । प्रतिशुषयधा-  
पमायै नैवदुकम् । ततोऽयमर्थे-किञ्चिन्यूनचरणमोऽपि याच-  
त, आस्तां प्रमससंयमादिरिति । अथार्कमसादी भयोऽथो रज-  
जान्दिनेरकद्दी नयत्यात्मनः । एतद्व्यनमाधार्कमसादियः ॥  
एतदेव जावयति-

बंघे अहेभाउं, पकेदे अहोमुहोइं कमाइं ।

यगुरणं तिवेगण, उ, न्नेण च आंभवः अय व ॥ १॥

आधार्कमसादी विशुद्धेभ्यः संयमसादिव्येनेनेऽस्मनीये अ-  
थोऽथानासिः हीनेषु हीनतरेषु प्रत्येषु बर्तमानेषु धोजवस्य  
रत्नप्रमादिनारककस्य प्रथस्य संबन्धिषु आशुकेनानि । शेषा-  
वधि कर्माणि गप्यादीनि आधोमुखानि आधोमुखानि, आ-  
धोगात्तिनयनदीनालीकथयः । प्रकरांत प्रकरेण दुस्सहकडु-  
कीमातुनाचकृत्तवा करोति बधानि । बधानो च सतामाधा-  
कर्मविवचवतिचोमासादवत्युक्तितो निस्तरमुपजायमानेन ती-  
क्षेण तीक्ष्णतरेभ भावेन परिणामिन घनकरणे यथायोगं विभक्त-  
कृतवा निकासनाकपतथा वा व्यवस्थापनम् । तथा प्रतिजृह-  
मप्याम्युफुलप्रहणेन चय उपचयम् । तत्र स्तोकरता बुद्धि-  
धयः, प्रभून्तरा वादुहवचयः । एतेन च ध्याकवाप्रहासस्य-  
माचार्येणानुवासेनम् । तथा च ध्याकवाप्रहासताहापकः—  
" आहाकर्मोऽलं चुज्यायं समये निगमंयं अहकर्मपमदीशो  
वेधः ; अदे वंचउ, अदे विजद, अदे बर्धचणद " इत्यादि ।  
तत एवं सति,—

वेसि गुरुणमुदए—ए अपयं दुमईरं पवडेतं ।

न वए विधारेउं, अहरगतिं मिति कमाइं ॥ ३ ॥

तेषामधोजनयामुगतानां कर्मणां गुरुणामधोजनयाननस्यभावा-  
तया गुरुणीव गुरुणि तेषामुद्रयं विपाकवेदमानुजकपेण, विपा-  
कवेदमानुजकपाद्यवशादित्यर्थः । बुधेती प्रपतस्तमात्मानं वि-  
धारेतुं निधारयितुमाधार्कमसादी न शक्नोति । यतः कर्माणि  
अधोधायागुरादीनि उच्चप्रसात्तनि बलात्परयति नरकादिकृतं न-  
यतिन । न च कर्मणः कोऽपि बलीयात्, अयथा न कोऽपि नरकं  
वापान, न वा कोऽपि दुःखानुभवत् । तस्मादाधार्कमसादी  
आधोगतिनिचरभिसिःययःकर्मस्तरुपयेत । तदेवमुक्तमधार्कमसादी  
नाम । सि० ।

अप्रो (हो) द्वि-अप्रोऽप्यधि-पुं० । परमाबधेरेषोचत्यैवविषयस्य  
साऽथोऽप्यधिः । परमाबधेरेषोचत्यैवविषयके जीवे, "अप्रोदि  
मनोहयं खेव अप्रपणेणं आया अहेहंमां जायद् " इथा० २  
ज्ञा० ३ इ० ।

अन्तर-अन्तर-न० । "वर्गेऽन्यो वा" पार० ३० । इति सुत्रेणानु-  
स्वारवैकल्पिकत्वम् । इययधाने, प्रा० ।

अन्तर्नी-स्त्री०-अन्तर्-न० । उक्त्वस्यावयवे, "वाह विसर्गा  
अन्तर्नी तिस्रदहसिउं संधस्तु " प्रा० ॥

अनाइस-अन्यादृश-वि० । "अन्यादोऽप्राहसावराइसौ" व ।  
शाह० ३ इति अन्त्यादृशस्य अनाइसत्यादृशः । अन्त्यसदृशो,  
अन्त्यप्रकारे च । प्रा० ।

अप-आप-स्त्री० । व० व० । जले, " पुत्र्यापोचवा नक्तले कि  
देवयाए पचसे । अपदेवयाए " सू० प्रा० १० वाहु० ।

अप, प्ये दृष्ट्याप-अप्रतिष्ठान-पुं० । न विद्यते प्रतिष्ठानमौदा-  
रिकशरीरादेः कर्मणो या यत्र सोऽप्रतिष्ठानः । मोक्षे, आचा०  
१ श्रु० ३ अ० ६ च० । स्वस्त्यन्तः नरकसुविशेषां पञ्चानां काशादीनां  
नरकापालानां मध्यवर्तिनि नरकापालं, इथा० ४ ठा० ३ इ० ।  
सूत्र० । तस्येन्दे च । ज्ञि० ३ प्रणि० । "अप्यदृष्टानं नरे एते  
जायणसदसहस्त्रं आयावविवचमंयं " व० सं० १ इथा० ॥

अप (प्ये)दृष्टियाप-अप्रतिष्ठान-वि० । न० न० । प्रतिष्ठानरहिते, आ०  
४ ठा० १ इ० । क्विद्वदप्रतिवदे, अशरीरिणि च । आचा० २ कु०

अप (प्ये) इष्टपसरित्यस-अप्रकीर्णप्रस्तुतत्त्व-न० । सुसंयम-  
स्य सतः प्रसरणे, अन्त्यदेव्याधिपकारित्यावित्सारयोर्मध्ये  
सम्यवचनतातिशये, स० ३५ म० ॥ औ० ।

अपपद्ध-अपक-वि० । अस्तिना संस्कृते, पञ्चा० १ विच० ।

अपपस-अप्रदेश-वि० । न० । प्रदेशरहितत्वे, कथा० १०  
अप्या० । अयववाभावाद निरते, म० २० शो० ३ इ० । निर-  
म्वये, विशे० । इथा० । तत्रः कुतनाथैर्वाद्भ्रातृणिकत्वेनाधि-  
ष्टानाकार्येणेत वा कुस्तिने प्रदेशे, पञ्चा० ७ विच० । ( जी-  
घानां समप्रदेशत्वात्प्रदेशत्वमिना 'पपस' शब्दं बद्धते )

अपप्रांस-अपट्टय-पुं० । अन्त्यस्तरे माध्यस्थे, पञ्चा० ३ विच० ।

अपपदिप-अपएकत-पुं० । सद्बुक्किरहिते, वृ० १ इ० ।

अपय-अपय-पुं० । अशक्त्वापहतपृथिव्याम, शृ० १ इ० ।

अपक-अपक-वि० । अन्त्यादिनाऽसंस्कृते शालिगोधूमौषधयोः,  
प्रच० ७ श्रा० । वाकमप्रापिते, प्रश्न० ५ सम्ब० श्रा० ।

अपकोसद्विनवत्तणया-अपकोषधिमल्लणपा-कृ० । अपकाव,  
अस्तिनाऽसंस्कृताया बोधः शाल्यादिकाया भक्षणता भोजनम-  
पकौषधिनकृणता । भोजनत उपभोगपरिभोगप्रतासिचारेदे,  
उपा० १ इ० ।

अपपसंगाहि (ए)-अपकृप्राहिन्-वि० । न पूर्वं शुद्धानीभव-  
कृप्राही । शास्त्रावधितपकाप्रहणशाले, इथा० २ ज्ञा० ।

अपमंद-अपपाए-अपमं-गदं । बोधो यस्मात्तदनयद्वत् ।  
विद्योपे, उक्कफेते च । सूत्र० १ शृ० ६ अ० ।



मा.मरणं प्राणत्यागलक्षणम्, इह यद्यदि प्रतिक्षणमात्रेणोमीरणम-  
स्ति तथापि न तदु युक्तम्, किं यदि ई, विषयित्तसंयुक्तक-  
लक्षणमिति । मरणमेवात्रो मरणान्, तत्र नवा मारणान्ति-  
की, संक्षिप्यते इत्यादिप्रत्ययशरीरकथायादिति स्तलेखना,  
तपोविशेषकलक्षण, ततः कामेधारयादपश्चिममाराणान्तिकसंज्ञे-  
खना । तथा ज्ञापना सेवा, अपश्चिममाराणान्तिकसंज्ञेखनाज्ञो-  
पणा । मरुतकाज्ञे स्तलेखनात्वात् तपसा शरीरस्य कथायादी-  
नां च कर्त्ताकरणं, न० उ श्रु० २ उ० । क२५० । स० ।

अपञ्चिममाराणतियसंलेहणाभूसणाभूसिय-अपश्चिममार-  
णान्तिकसंज्ञेखनाज्ञोपणाज्ञो(सत् [भूसन्ति]-वि०) । अपश्चिम-  
माराणान्तिकसंज्ञेखनाज्ञोपणा ज्ञापितः स्यितस्तथा । अप-  
श्चिममाराणान्तिकसंज्ञेखनाभूसणे, अपश्चिममाराणान्तिकसंज्ञेखना-  
ज्ञोपणया भूसितः क्वपि हति । अपश्चिममाराणान्तिककहापि  
तद्वेदं, स्या० ३ उा० २ उ० ।

अपञ्चिममाराणतियसंज्ञेहणाभूसणाराहणता-अपश्चिममार-  
णान्तिकसंज्ञेखनाज्ञोपणाराधनता-की० । अपश्चिममाराणा-  
न्तिकसंज्ञेखनाज्ञोपणाऽस्य आराधनमखण्डकालकरणं तदु-  
प्राप्तोऽपश्चिममाराणान्तिकज्ञोपणाराधनता । देवोऽस्यराज्यप्र-  
त्याख्यानभेदं, " एष सामायासी आसोविद्यमिहधम्मंण कसि  
भारोवणं पच्छा निक्खामियत्वं, एवं सावणधम्मं उज्जमिमो हो-  
इ न सकेइ तांइ प्रत्तपव्वकषणाकाले संघारसम्मणं होय-  
त्वं इति विनासा अद्वांत्तं " अपश्चिममाराणान्तिकसंज्ञेखनाज्ञो-  
पणाराधना स्वातिचाररदिता सन्धकपालनीर्यात् वाक्यशेषः ।  
भाव० ६ अ० । औ० ।

अस्या अतिवाराः—

तयाणंरं च णं अपञ्चिममाराणतियसंज्ञेहणाभूसणारा-  
हणाए पंच अद्वारा जाणियन्वा, न समायरियन्वा । तं  
जहाःइहलोगासंन्यपत्रोगे १ परलोगामंसप्यभोगे २ जी-  
वियासंसप्यभोगे ३ मरणासंसप्यभोगे ४ कामजोगामंसप्य-  
भोगे ५ । उपा० १ अ० । भाव० । क२५० । ४० ।

( 'इहलोगासंसप्यभोगे' इत्यादिशब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या  
द्वितीयविभागेषु कृत्वा )

अपञ्च त्-अपर्याप्त-वि० । परि-आप्-क । न० त० । असमर्थे,  
असंपूर्णे स्वकार्योऽङ्गमे च । वाच० । अपर्याप्तयो विद्यन्ते यस्य  
सोऽपर्याप्तः " अप्राप्तियथः " । उ० ४६ । इति हेमचन्द्राचार्यव्ययः ।  
अपर्याप्तकर्मोऽपानिर्भूते, स्या० २ उा० १ उ० । तत्र हेभा अप-  
प्राप्तः-अध्या करणैश्च । तत्र ये अपर्याप्तका एव सन्तो ज्ञियन्ते  
न पुनः स्वव्योमपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ति ते लभ्यपर्याप्ताः,  
ये च पुनः करणाणि शरीररिन्धियाद्वानि च तार्थान्वितयन्ति,  
अथ चाऽपर्ययं पुरस्तात् शिष्यैस्तैर्यथ्यन्ति ते करणापयोताः इह च  
यथागमः-अभ्यपयोता अपि नियमाद्(इतराशरीररिन्धियपर्या-  
प्तिपरिसमाप्तायेव ज्ञियन्ते, नार्थकं । यस्माद्गामिनवायुषे-  
ष्वा ज्ञियन्ते सर्वे एव देहिणः, तच्चाद्दाराशरीररिन्धियपर्याप्तियपो-  
शातामैव ज्ञियत इति । कर्म० २ कर्म० ५० सं० न० । प्रभ० स० ।

अपञ्जसप्त-अपर्याप्तक-पुं० । " दुविदा येष पक्षसा । सं  
जहा-पञ्जसप्ता चेष, अपरजसप्ता चेष, आव येमाणिया " ।  
स्या० ३ उा० २ उ० ।  
१५५

अपञ्जसप्तम-अपर्याप्तानाम्-न० । अपर्याप्तयो विद्यन्ते  
येषां ते अपर्याप्ता इति कृत्वा तेष्वप्यन्तं नाम अपर्याप्तानाम् ।  
यदुद्वाद् अन्तः स्वव्योमपर्याप्ति- ( परिस्मात् ) समर्थोः न  
भवति, तस्मिन्सामर्थ्याणि, कर्म० १ कर्म० । स० ।

अपञ्जसि-अपर्याप्तः-स्त्री० । पर्याप्तप्रत्ययेऽप्ये, जी० १  
प्रति० ।

अपञ्जवसिय-अपर्याप्तसि-त्रि० । न० त० । अन्ते, " एष  
णं सिद्धा मगवन्ते सादिया अपञ्जवसिया चिदिति " अपर्य-  
प्तसिना रागःशमयेन प्रतिपातासंमथात् । प्रहा० ३ पद ।

अपञ्जुवासणा-अपर्याप्ताना-स्त्री० । न० त० । असंख्यमाया-  
य, हा० १३ अ० ।

अपञ्जोसणा-अपर्याप्तणा-स्त्री० । अत्रात्तामतीतार्था वा  
पर्याप्तमायाय, नि० सू० १० उ० ।

अपञ्चविय-अपर्यापित-त्रि० अङ्गप्रस्थाने, " पुष्यवहमपद-  
चिते अवरपदे उचितेसु य " नि० सू० ४ उ० ।

अप ( प्य ) द्विकर्म-अप्रतिकर्म-न० । प्रतिकर्मरहिते, " सु-  
भातारं व अप्रतिकर्मम् " प्रअ० ५ सम्ब० हा० । शरीरप्रति-  
क्रियावर्जयादपोपगमने, स्या० २ उा० ४ उ० ।

अप ( प्य ) द्विकृत-अप्रतिक्रान्त-त्रि० । शोषादनिवृत्ते, औ० ।

अप ( प्य ) द्विकृत-अप्रतिक्रान्त-त्रि० । न विद्यते प्रति अनु-  
रूपं समानं चकं यस्य तदप्रतिक्रमः । परचक्रसमाने, " अ-  
प्रातिक्रमस्तु अत्रो होइ सया संघचक्रस्त " अप्रतिक्रमस्य  
चरकादि च तैरसमानस्य । न० ।

अपदिच्छिद्रो-देवा-जडमनो, दे० ना० १ वधे ।

अप ( प्य ) द्विस-अप्रतिज्ञा-त्रि० । नास्य भेदप्रसवदपि समर्थ-  
नीयमित्येवंप्रतिज्ञा विद्यतेऽस्यप्रतिज्ञाः । रागचरहिते, " त-  
स्येणं अशुंसिद्यते, अप्रतिज्ञेण जाणया " सूत्र० १ सु० ३ अ० ३  
उ० । आचा० । नाऽस्य प्रतिज्ञा इदंशोकपरलोकशासनी वि-  
द्यत इत्यप्रतिज्ञाः । ऐहिककामुपमकाङ्क्षाराहित्येन तपोऽनुष्ठान-  
तरि, सूत्र० १ सु० १० अ० । " गंधेषु वा चंद्रणामाहु सेहं, एयं मु-  
क्षिणीं अप्रतिज्ञाम् " सूत्र० १ सु० ६ अ० । न विद्यते प्रतिज्ञा  
निदानकथा यस्य सोऽप्रातिज्ञः । सूत्र० १ सु० २ अ० २ उ० ।  
अनिदाने, यो हि वसुभ्यवतस्वस्यमाशुनो कुवेत् निदानं न क-  
रोति प्रतिज्ञा च कयायेदयाद्वावरीति । तद्यथा-क्रोधाद्वाया-  
स्कृत्काचायण स्वशिष्ययन्त्रपान्दमन्वतिकरमवलोक्य सब्रवा-  
इतरा जधानीमन्वित्यनुरोहितोपरि विनाशप्रतिज्ञां कर्त्वा, त-  
था-मानोदयाद् बाहुबलिना प्रतिज्ञा व्यधापि, यथा-कथमहं शि-  
शून् स्वशत्रून् तप्यन्नानि यत्परणङ्गानान् उच्यतेः सन् प्रहयामिति,  
तथा-मायादयाःसंक्षिप्त्यामिजोवेन यथाऽपर्याप्तियमसंभो भ-  
वति तथा प्रत्याख्यातमार्गं जगृह । तथा-लोभोदयाद्वाऽवि-  
दितपरमार्थाः साम्प्रतेक्षिणा यथाऽभासा मासञ्ज्यादिका अपि  
प्रतिज्ञाः कुर्वते । आचा० १ सु० ६ अ० ४ उ० । प्रतिज्ञारहिते,  
आचा० १ सु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० ।

अपदिपुसु-अप्रतिपूसु-त्रि० । शुभशुभ्यादितिस्तुच्छे इतरपु-  
रुवाचीनेऽवात् सद्गुणविरहाऽनुच्छे, सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अपदिपोगस-अप्रतिपुराल-न० शारिकेषु, नि० सू० ५ उ० ।

अपडिवाइभक्त

अप ( ए ) दिव्यभक्त-अप्रतिष्यमान-त्रि० । कर्मकर्तृत्वस्य प्रयोगः । क्वचिदपि प्रतिबन्धमुत्सृज्य, २० २ उ० ।

अप ( ए ) दिव्यभक्त-अप्रतिष्यक्त-त्रि० । प्रतिबन्धपरहिते, अप्रतिष्यक्करहिते, प्रय० १०४ डा० । " अप्रतिष्यक्तो जनलो व्य " प्रश्न० ५ सख्य० द्वा० महा० । पञ्चा० । अप्रतिष्यक्तहितेऽनुपहृते, पा० ६ विथ० ।

अप ( ए ) दिव्यक्या-अप्रतिष्यक्ता-स्त्री० । मनसि निरतिष्यक्तायाम्, मीरोगावे, उक्त० ३० अ० । तत्फलम्—

अप्यदिव्यक्याए णं जंते ! जंवि किं जगयइ ? । अप्यदिव्यक्याए णं निस्संगत्तं जणयइ, निस्संगत्तेणं जीवे एणे एगमाचिचे दिया य राओ य अस्सज्जायाणं अप्यदिव्यकं यावि विहरइ ।

अप्रतिष्यक्ततया मनसि निरतिष्यक्ताया निमङ्गलं बहिः सङ्गामावं जगयति, निःसङ्गमेन जीव एकां रागादिबिक्लततया तन एवैकाग्रचित्तो धर्मैकतात्मना एकाग्रतानिबन्ध रहत्यभावं दिवा च रात्रौ वाऽसज्ज, कोऽर्थः?—सर्वदा बहिः सङ्गं त्यजन् अप्रतिष्यक्त्वापि विहरति । कांऽभिप्रायः?—विशेषतः प्रतिबन्धविकलो मासकल्पादिनोपनिविहारेण पथेति । उक्त० २९ अ० ।

अप ( ए ) दिव्यक्यःविहर-अप्रतिष्यक्तविहर-पु० । अप्रतिष्यक्तस्य विदारोऽप्रतिष्यक्तविदारः । उच्यतेपि सर्वभावेषु अभिषेकहरहितैरेकसाधनस्थाने, प्रय० । अप्रतिष्यक्तं सदा सर्वकालमभिषेकहरहित इत्यर्थः शुक्लपदेशन हेतुभूतेन । कः ? इत्याह-सर्वभावेषु उच्यतेपि । तत्र कस्यै भावकादौ, क्वेने निर्वातवस-त्यादौ, काले शरदौ, भावे शरीरपरिव्यादौ, अप्रतिष्यक्तः । किंमित्याह-मासादि विहारेण सिद्धान्तप्रसङ्गेन विहारेद्विहारकुर्यात् । यद्योचितं संहननाद्यौचित्येन नियमावश्यभावा इति । एतन्नक्तं प्रवाति-उच्यतेपिप्रतिष्यक्तः सुखलिप्सुनया तावदेकत्र न तिष्ठेत्, किं तर्हि, पुणालम्बनेन मासकल्पादिना, विहारोऽपि च प्रव्याप्यप्रतिष्यक्तस्यैव सफलः । यदि पुनरमुक्तं नगरादिकं गत्वा तत्र महर्षिकान् भाष्यकानुपाज्जयामि, तथा च करोमि, यथा मां विहायापरस्य ते प्रजा न भवन्तीत्यादिद्वयप्रतिबन्धेन, तथा-निवातवसत्यादिजनितरस्युपादिकममुक्तं क्वचिद्विदुं तु न तथाविधमित्यादि क्लृप्तप्रतिबन्धेन, तथा-परिपक्वतुरजसाल्यादिसत्यश्रीनादिरक्षणोपायोऽयं विहरता शरत्कालादिरित्यादिका-ल्लिबन्धेन, तथा-स्निग्धमधुरादाहादादिलाभेन तत्र गतस्य मम शरीरपृष्ठपादिसुक्तं भविष्यत्यथ न तत्र संपद्यते । अपरं कै-वलयुक्तविहारं च विहरन् मामेवोपनिवेत्ता माण्ड्यन्यममुक्तं तु शिशिमिन्त्यादिनावप्रतिबन्धेन च मासकल्पादिना विहरति, तदाऽस्मीं विहागोऽपि कार्यासाध्यक एव । तस्मादवस्थान विदारो वा उच्यतेअप्रतिष्यक्तस्यैव साधक इति । प्रय० १०४ डा० ।

अप ( ए ) दिव्यभक्तान-अप्रतिष्यमान-त्रि० । शब्दान्तराण्यनवधारयति, अ० ६ श्र० ३३ उ० ।

अप्रतिष्यमान-त्रि० । वैरागतात्मनसाद्यात्नवह्विद्यमानात्मने, ज० ६ श्र० ३३ उ० । ओ० ।

अप ( ए ) नियार-अमतोकार-पुं० । व्यसनापरिधाणे, प-ञ्चा० २ विथ० । आ० ।

अप ( ए ) दिव्य-अप्रतिरूप-त्रि० । अपराणुवृत्त्यात्मके वि-

नये, दश० ६ अ० १ व० ।  
अप ( ए ) दिव्य-अप्रतिबन्ध-त्रि० । न० त० । असंजाते, हा० १ अ० ।

अप ( ए ) क्लृप्तसमस्तरयणपहिलंज-अप्रतिबन्धसम्यक्त्वरत्नप्रतिलम्भ-त्रि० । असंजातं पुनरुत्पन्नमुद्भवे, हा० १ अ० ।

अप ( ए ) दिलेस्म-अप्रतिस्तरय-त्रि० । अतुल्यमनादृष्टिषु, " अल्पदिलेस्मासु सामगणरया द्वाता ह्यनेव शिवाभं पाथयणं पुरभां काउ विहरति " श्री० ।

अप ( ए ) दिलेहण-अप्रत्युपेक्षण-न० । न प्रत्युपेक्षणप्रत्युपेक्ष-णम् । गोचरापस्य शय्यादेः चक्षुषाऽनिराङ्गण, भाष० ६ अ० ।

अप ( ए ) दिसेहणसिल-अप्रतिसेखनाज्ञ-त्रि० । दृष्टया प्रमाज्जनशीले, कल्प० ।

अप ( ए ) दिलिहिय-अप्रतिजोवि-( प्रत्युपेक्षि ) त-त्रि० । ज्वरहायं चक्षुषाऽनिराङ्गिते, उपा० १ अ० ।

अप ( ए ) दिलेहियदुप्यदिलेहियेति ज्ञासंघारय-अप्रत्युपेक्षि-प्रत्युपेक्षितदुप्युपेक्षितोच्चारणश्रवणानुमि-स्त्री० । अप्रत्युपेक्षिता जीवरत्नं चक्षुषा न निराङ्गिता दुप्युपेक्षिताऽस-म्यग् निराङ्गिता उच्चारः पुरीयः प्रभवणं सूत्रं तयोर्निमित्तं भूमिः स्थगि इतमप्रत्युपेक्षितदुप्युपेक्षितोच्चारणश्रवणभूमिः । पापघोषवासस्य तुन्यानिचारभेद, उपा० १ अ० । घ० । आ० चू० ।

अप ( ए ) दिलेहियदुप्यदिलेहियेति ज्ञासंघारय-अप्रत्युपेक्षि-तदुप्युपेक्षितशय्यामस्तारक-पुं० । अप्रत्युपेक्षितो जीवरत्नं चक्षुषा न निराङ्गित उद्ग्रान्तवेतोवृत्तितयाऽसम्यग् निराङ्गितः शय्या शयनं तदर्थं सस्मारकः । कुशकम्बलफल-कादिः शय्यामस्तारकः । ततः पदत्रयस्य कर्मधारयं भवत्य-प्रत्युपेक्षितदुप्युपेक्षितशय्यामस्तारक । पापघोषवासस्य प्रथमातिचारभेद, अतिचारत्वं चास्य उपभोगस्यातिचारहे-तुत्वात् । उपा० १ अ० । आ० चू० । पञ्चा० ।

अप ( ए ) दिलेहियपण्य-अप्रतिसेखितपञ्चक-न० । दू-ली ? आलिङ्गनिका २ मस्तकोपधानं ३ गल्लमस्तरका ४ आस-नक्रिया ५ पञ्चकं, जित० ।

अप ( ए ) दिज्ञोमया-अप्रतिज्ञोमता स्त्री० । आनुकूले, अ० २४ श्र० ७ उ० । आ० ।

अप ( ए ) दिवाइ ( ए )-अप्रतिपाति-त्रि० । प्रतिपन्नशोभं प्र-तिपाति, तं प्रतिपाति अप्रतिपाति । सदाऽव्यभायिनि, न० । अतुप-रत्नसभा, घ० ३ आ० । आरणात्मन्भाविनि, आ० म० प्र० । आकिलोपत्तेः चिरे, कल्प० । म्या० । केवलज्ञानादवागं प्र-शममुपयाति अवावैश्वानविशेषे, न० । विश० । आ० म० ।

से किं तं अपादिनाः नं औदिनाणं । अपाडिवाइ औदिना-णं जेणं अन्नोसस्य एगमावि आगासपपमं जाणइ, पामइ, तेणे परं अपाडिवाइ औदिनाणं । सेत्तं अपडिवाइए ओ-दिनाणं ॥६॥

( ईरुचिः नमिन्त्यादि ) अथ किं तदप्रतिपात्यवशिष्टानाम् । सूचि-

राह-अप्रतिपात्यवधिज्ञानं, येनावधिज्ञानेनालोकास्य संबन्धि-  
 ममकमप्याकाशप्रदेशम्, आस्तां बहूनाकाशप्रदेशानित्यपि श-  
 ब्दायः । यथयेत् । एतच्च सामर्थ्यमात्रमुपवर्णयते नत्सलोके कि-  
 श्चिदप्यवधिज्ञानस्य द्रष्टव्यमस्ति, एतच्च प्राग्वोक्तम् । तत आ-  
 रब्ध्याऽऽप्रतिपात्या केवलप्रसिद्धविज्ञानम् । अयमत्र भावार्थः-  
 एतावति ज्ञेयोपशमे संप्राप्ते सत्यात्मा विनिहितप्रधानप्रतिपक्ष-  
 बोधसंघातपरनपरिचय न भूयः कर्मशुभ्रुषा परिभूयते, किन्तु  
 समासादितैतावदशक्तो ज्ञेयामतिनिवृत्तः शेषमपि कर्मशुभ्रु-  
 संघातं विनिर्जित्य प्राप्नोति केवलराज्यअभ्यमिति, तदेतदप्रति-  
 पात्यवधिज्ञानम् । तदेवमुक्ताः षडप्यवधिज्ञानस्य भेदाः ।

सम्प्रति ङव्याद्यपेक्षयाऽवधिज्ञानस्य भेदात् विन्ययति-

तं समासञ्चो च शब्द्विद्ं पक्षं तं जहा-द्व्यञ्चो, खचञ्चो,  
 काज्ञञ्चो, भावञ्चो । तस्य द्व्यञ्चो एं ओहिनाणं । जह-  
 ञ्चोऽं अणंताई रुविद्वन्वाई जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं सव्वाई  
 ङ्चोद्वन्वाई जाणइ, पासइ । खचञ्चो णं ओहिनाणी जह-  
 ञ्चोऽं अणुद्वस्स अस्संखिज्जइ भागं जाणइ, पासइ । उक्को-  
 सेणं अस्संखिज्जाई अल्लोगे लोगप्यमाणिसिचाई खंकाई जा-  
 णइ, पासइ । काज्ञञ्चो एं ओहिनाणीं जहञ्चोऽं आवसि-  
 याए अस्सखिज्जइ भागं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं अस्संखि-  
 ज्जाओ उस्सपण्णाओ अस्सपण्णाओ अइयमणाययं च  
 कालं जाणइ पासइ । भावञ्चो एं ओहिनाणं । जहञ्चोऽं  
 अण्णंते ज्ञावे जाणइ पासइ । उक्कोसेणं वि अण्णंते भावे  
 जाणइ, पासइ । सव्वभावाणमणंतेजागं जाणइ, पासइ ॥

“ओहीजवपक्वइओ, गुणपक्वइओ य वणिसुं उविदो ।

तस्स य बहू विगप्पा, द्वव्वं खंचे य काओ य ॥१॥

नेरइय-तिरइयकारा, ओहिस्स बाहिइरा हुंति ।

पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ” ॥ २ ॥

मेत्तं ओहिनाणं ॥ नं ।

( टीकाचास्य ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे अवधि-  
 ज्ञेयप्रकरणेन गतायां सुगमा च नेहाप्यस्येति )

अप ( प्य ) सिंसंज्ञीए-अप्रतिसंलीन-त्रिं० । अकुरालेन्द्र-  
 षकपायाद्यनिरोधके, २५० ।

तस्य च बाणि सुत्राणि-

चचारि अपदिमंलीया पसुत्ता । तं जहा-कोहअपदिसं-  
 ङीणे, माणअपदिसंङीणे, मायाअपदिसंङीणे, लोभ-  
 अपदिमंसंलीणि ॥

पुनः-

चचारि अपदिमंलीया पसुत्ता । तं जहा-माणअपदिमं-  
 ङीणे, बइअपदिमंलीणे, कायअपदिमंलीणे, इदिय-  
 अपदिमंसंलीणि ॥ २५० ४ ठा० २ ठ० ।

( टीकाचास्य प्रतिसंलीनस्येव भावनीया )

पंच अपदिमंलीया षण्णचा । तं जहा-सोईदियअपाकि-

संलीणे, जाव फासिंदियअपदिमंसंलीणे । २५० ५ ठा० २ ठ० ।

अप ( प्य ) दिगुणेचा-अप्रतिश्रुत्य-अव्य० । प्रतिअध्वणमक-  
 स्येत्यर्थं, आ० ४ अ० ।

अपदिसेट्ट-अप्रतिपध-पुं० । अनिचारणे, पञ्चा० ६ वि० ० ।

अपदिस्सावि ( ण् )-अप्रतिस्साविन-त्रिं० । पाषाणायोमयभा-  
 ज्जं च प्रतिस्सवति । प्रतिस्सवणरहिते, ६४० ।

अप ( प्य ) दिदुरु-अप्रतिदुर्य-अव्य० । मर्षणमकृत्येत्यर्थं, ६० ३० ० ।

अप ( प्य ) दिदुणंत-अप्रतिदुण-त्रिं० । तद्वचनमभिकुट्टयति,  
 ६० १ ठ० ।

अप ( प्य ) दिहण-अप्रतिहत-त्रिं० । अप्रतिघातरहिते अकृष्टितने,  
 ६० १६ अ० । कटुकुष्पायंतादिभिरस्खलिते, स० १ स० ० ।  
 अविस्वादेके, अंता० अ० । केमतिप अनिवाते, उच० ११ अ० ।  
 अन्येच्च अकृष्टितुमशक्ये, उच० ११ अ० ।

अप ( प्य ) दिदुणयइ-अप्रतिहतमति-त्रिं० । अप्रतिहताविहारे,  
 “अपदिहययई गामे गामे य यदरायं णगरे णगरे पंचरायं  
 वृञ्जेने य जिइदिप” प्रअ० ५ स० ० ६० । संयमे गतिः प्रवृ-  
 त्तिर्न इत्येतेऽस्य कर्थाच्छब्दित् भावः । २५० ६ ठा० ।

अप ( प्य ) दिदुणयसंलायाप-वकम-अप्रतिहृतमयाऽप्यातापा-  
 पकृमैतु-त्रिं० । प्रतिहने निगकृतमर्तातकालकृते, निन्द्यादिकर-  
 णेन प्रत्याख्यातं च वर्जितमनागतकालविषयं पापकर्म प्राणान्ति-  
 पानादि येन स प्रतिहृतमयाऽप्यातापापकर्म, तस्मिन्पादाप्रति-  
 हृतप्रत्याख्यातपापकर्म । अनिपदिताः। तानागतपापकर्मणि, ज०  
 १ श० १ उ० ।

अप ( प्य ) दिदुणयवल-अप्रतिहृतवल-त्रिं० । अप्रतिहतं केना-  
 प्यनिवारितं बंधं यस्य स अप्रतिहतबलः ( उच० ) अप्रतिह-  
 तमन्वैच्च लकृष्टितुमशक्ये बलं सामर्थ्यमस्येति अप्रतिहृतबलम् ॥  
 सहजसामर्थ्यवति, उच० ११ अ० ।

अप ( प्य ) डिदुयवरणाणदंमणयरे-अप्रतिहृतवरहानदर्शनपर-  
 पुं० । अप्रतिहिते कटुकुष्पादिभिरस्खलिते, अविस्वादेके वा । अन  
 एव क्वायिकत्वाद्वा यरे प्रधाने ज्ञानदर्शनं केवलस्य विशेष-  
 सामान्यधोपात्मके धारयति यः स तथा । ज्ञेयज्ञानदर्शनाप-  
 पयुक्ते जिने, अ० १ श० १ उ० । स० । औ० ।

अप ( प्य ) दिदुयसासण-अप्रतिहृतशासन-त्रिं० । ६ ब० । अक-  
 रिताङ्के, “अपदिहयसासणे अ इजेवई” ज्ञा० १६ अ० ।

अप ( प्य ) दिदुरय-अप्रतिहारक-पुं० । न० । प्रत्यपेणायोग्ये  
 शक्यासंस्तरके, आका० २ छु० २ अ० ३ ठ० ।

अप ( प्य ) डंकार-अप्रतीकार-त्रिं० । स्विकर्मादिरहिते, “किं ते  
 सं। त्वहृतपहसुहवेयणअपदं। कारअभविजम्मया षिञ्जअउ-  
 विहमावात्सजगणं” प्रअ० १ अ० ३ ठा० ।

अप ( प्य ) कृपुप-अप्रत्युत्पन्न-त्रिं० । अनागमिके प्रतिपत्त्यकुश-  
 ले, “अपकुपुपयं य तदि, कहेइ तल्लुद्धितो मयं” । २५० ६  
 उ० । नि० ७० ।

अपठन-अप्रथम-त्रिं० । न० त० । प्रथमताधर्मरहिते प्रनावी,

अपटम

अ० १८ वा० १ व० । ( जीवादीनामधैर्नां प्रथमत्वादिचिचार्ः 'षडम' शब्दे इतीचिचत्वे )

अपटमसवद्-अप्रथमसवति-स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ , कर्म० ५ कर्म० ।

अपटमसमय-अप्रथमसमय-पुं० । द्वितीयादिके समये, स्था० २ ग्रा० ३ व० ।

अपटमसमयउववणण-अप्रथमसमयोववणक-पुं० । न० त० । प्रथमसमयोववणक्यतिरिक्तेषु नैरन्यकारिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, "येरइया दुविहा पणणत्ताः । तं जहा-पटमसमयोववणणगा वेव, अपटमसमयोववणगा वेव० जाव वेमाणिया" स्था० ३ ग्रा० २ व० ।

अपटममयउवसंतकसायवीरारागसंजम-अप्रथमसमयोपशा-न्तकसायवीरारागसंयम-पुं० । क०स० । न प्रथमः समयः प्रातो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकसायवीरारागसंयमश्च तथा । उपशामभ्रैणप्रतिपन्नवीरारागसंयमभेदे, स्था० ७ ग्रा० ।

अपटमसमयएगिदिद्य-अप्रथमसमयैकेन्द्रिय-पुं० । प्रथमसमयैकेन्द्रियजिज्ञे, यस्यैकेन्द्रियस्यैकेन्द्रियत्वे प्रथमः समयो ना-दस्ति । स्था० १० ग्रा० ।

अपटममयकसीएकसायवीरारागसंजम-अप्रथमसमयकृष्ण-कायवीरारागसंयम-पुं० । न प्रथमः समयः प्रातो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकसायवीरारागसंयमश्च तथा । उपशामभ्रैणप्रतिपन्नवीरारागसंयमभेदे, स्था० ७ ग्रा० ।

अपटमसमयसजोगिजन्त्य-अप्रथमसमयसयोगिभवस्थ-पं० । अप्रथमो ज्ञादिः समयो यस्य सयोगित्वे स तथा, स चासौ भवस्थेति अप्रथमसमयसयोगिभवस्थः । सयोगिजन्त्यभेदे, स्था० २ ग्रा० १ व० ।

अपटमसमयसिद्ध-अप्रथमसमयसिद्ध-पुं० । न प्रथमसमयसिद्धोऽप्रथमसमयसिद्धः । परप्रवासिकविशेषणप्रथमसमयवर्ति-नि, सिद्धत्वसमयाद् द्वितीयसमयवर्तिनि सिद्धविशेष, प्रज्ञा० १ पद । ध्रा० । स्था० ।

अपटमसमयसुहुमसंपर्यसंजम-अप्रथमसमयसुहुमसंपर्यासं-यम-पुं० । न प्रथमः समयः प्रातो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ सुहुमः किट्टकृतः संपरायः कषायः संज्वसनशोभनकृणो वेणुमानो यस्मिन्स तथा । सरागसंयमभेदे, स्था० ७ ग्रा० ।

अपत्-अपत्तापित-त्रि० । प्रज्ञापनामप्रापिते, "सो य से-ज्ञानरो अपत्तयिञ्जा पन्तविशो वा घरे भणाति" नि० चू० ३ व० ।

अपत्-अपत्त्रि-त्रि० । अयोधे, वृ० १ व० । अभाजने, नि० चू० १ ए व० ।

अप्राप्त-त्रि० । परयोयणोपस्थापनाभूमिमनधिगते, ध० ३ अर्थि० । अनधिगते, व्य० ४ उ० । वि० । पुष्येभूते, द्रा० १५ व० ।

अपत्तजात अपत्तजात-त्रि० । न विद्येते पत्रजातं पत्रोद्ग-रो यस्यासावपत्रजातः । अत्रातपत्रोद्गरे पत्रिजाते, "जहा द्विया पोत्तमपत्तजातं, सायासगा पांबउ मन्नामणं" सूत्र० १ वृ० १४ व० ॥

अपत्तजातरा-अप्राप्तयौवना-स्त्री० । यौवनावस्थाप्रसायाय, सा च वर्गे न धरति प्राय ज्ञादाद्यशय्यकादातवाभावात् । स्था० ५ टा० २ व० ।

अपत्तजमिग- ( य )-अप्राप्तजमिक-पुं० । न प्राप्ता भूमिका येन सोऽप्राप्तभूमिकः । दूरस्थत्वेनदूरस्थानमप्राप्ते " जंयणमवि अपत्तभूमिआ वारसआ जाव " ( नि० चू० ) " जे जो-यणमादीसु जणेषु जाव वारस जोयणा ते सब्बे अपत्तभूमिया भवति " नि० चू० १ उ० ।

अपत्तविसय-अप्राप्तविषय-त्रि० । अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंक्रिष्टो विषयो ग्राह्यस्तुक्रुपां यस्य तदप्राप्तविषयं लोचनम् । अप्राप्तकारिणि इन्द्रियजाते, " लोचनमपत्तविसयं, मनो व्व जमः सुभ-हाह सुर्णाति " वि० १ शृ० २ व० ।

अपत्तिय-अपत्तिक-त्रि० । अविद्यमानाधरो, भ० १६ शृ० ३ व० । अपत्तिका-स्त्री० । अप्रमिष्ट, पञ्चा० ७ वि० ० ।

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, " अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्यप्या-अप्राप्तयेन-न० । अनिलायस्थाऽकरणे, वच० ३२ व० । अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । क्रमनोरधगोचरिक्ते, ज० ३ व० ० ।

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्यप्या-अप्राप्तयेन-न० । अनिलायस्थाऽकरणे, वच० ३२ व० । अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । क्रमनोरधगोचरिक्ते, ज० ३ व० ० ।

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-त्रि० । अर्थित-त्रि० । अपत्त्यं ऊग्य सुष्वा, राया रज्जे तु हारए " वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अप (प) मज्जिय-अपमार्जित-त्रि० । रजोहरणयस्त्राञ्जलादि-  
नाऽविकोचिते, प्र० ६ द्वा० ।

अप (प) मज्जियचारि(ण्)-अपमार्जितचारि(ण्)-पुं० । अपमा-  
ज्जिते, अपस्थाननिर्षोद्धनशान्तिनकारणनिकेपाचारोद्विपरिष्ठापनं  
च कुर्वति, "अपमज्जियचारोया वि नवद्," इति षष्ठे समाधि-  
स्थानम् । द्वा० १ । प्र० १ । अं०

अप (प) मज्जियदुष्पमज्जियउत्थारपासवण्णुमि-अपमार्जित-  
दुष्पमार्जितोत्थारप्रवण्णुमि-स्त्री० । पोषधोषयासत्स्वाति-  
चारभेदे, उपा० १ अ० । द्वा० १ ।

अप (प) मज्जियदुष्पमज्जियसिजासंस्थार-अपमार्जितदुष्पमा-  
र्जितशुश्यान्संस्थार-पुं० । पोषधोषयासत्स्वातिचारै, इदं प्रमाज-  
नं शुश्यात् सैषनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति दुष्प्रमभिधिना प्रमाज-  
नं दुष्प्रमाजैश्च । द्वा० ६ अ० । उपा० १ ।

अप (प) मत्-अपमत्-त्रि० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः । यद्वा-नास्ति  
प्रमत्तस्येत्यप्रमत्तः । पं० सं० १८० । आ० १० । अज्ञानानि-  
द्याविकथादिवद्यप्रमादरहितं, ग० २ आधि० । द्वा० १ । ते च  
प्रायः त्रिनकलिक-परिहारोद्युक्तिक-यथालम्बकलिक-प्रति-  
माप्रतिपन्नाः, तेषां सन्तोषोपयोगसम्भवात् । नं० । स० । न वि-  
द्यते प्रमत्तः प्रमादो मधविययकषायविक्रमाप्रमादाक्यां यस्य ।  
अप्रमादिति, "अदो य राश्रा य अप्पमत्तञ्चु इति" प्र० १  
५ सम्भ० द्वा० । निद्रादिप्रमादरहितं, "अप्यमत्तं समाहिण  
ज्जाह" आ० १ श्लो ९ अ० २ उ० । "अप्यमत्तं सया  
परिक्रमजा" आ० १ श्लो ४ अ० १ उ० । "अप्यमत्तं जय  
थिञ्च" (दश०) । "सुस्तस्य आयरियमप्यमत्तं" (दश०)  
प्रत्ययवाचि च । "अप्यमत्तो अहिंसत्रे" । दश० १ अ० ।

अप (प) मत्संज्ञय-अप्रमत्संज्ञयत-पुं० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः,  
नास्ति वा प्रमत्तस्यासाद्यप्रमत्तः; स चासौ संज्ञयत्प्रमत्त-  
संज्ञयतः । कर्म० ३ कर्म० प्रव० । सवंप्रमादरहितं सप्तमगुणस्था-  
नकवर्तिनि, स० १४ सम्भ० ।

स च-

अप्यमत्तो बुविहो-कसायअप्यमत्तो य, जोगअप्यमत्तो  
य । तस्य कनायअप्यमत्तो बुविहो-त्वं।णकसाओ, निग्मह-  
परो य । एत्य निग्महपरेण अहिगारो कइं तस्य अप्य-  
मत्तञ्च भवति । कोहोद्वयनिरोहो वा, उदयपत्तस वा विफ-  
लीकरणं, एवं जाव लोभो चि । जोगअप्यमत्तो मणवयण्णुका-  
यजोगेदं तिहिं व गुचे । अइवा अकुसलमणनिरोहो,  
कुसलमणउदरिणं वा मणसो वा पयसोजावकरणं ।  
एवं वइए वि, एवं काए वि, तइा इदिणसु सोरंदिविसिय-  
पयारनिरोहो वा । सोरंदिविसियए तेषु वा अत्येसु  
रागदांसविण्णमहो, एस अप्यमत्तो । द्वा० १५ अ० ।

तस्य कासः-

अप्यमत्तमंजयसस एं भंते । अप्यमत्तसंज्ञमे वट्टमाणसस  
सम्भावि यं अप्यमत्तक्कात्ताओ केव विरं होइ । मंदिवा ।

एगं जीवंपहुञ्च जहएणेणं भंता मुहुञ्चं उकोमोयं पुव्वकोटो  
देसुणा पाणा जीवंपहुञ्च सव्वच्चं; सेवं जेतं । जेतं । ति ।

( अहंकेणं भंता मुहुञ्चं ति ) किलाप्रमत्ताक्यां नतमान-  
स्थानमुहुञ्चस्य स्युने भवतीति; चूर्णिकारमते तु प्रमत्तसं-  
यतवजः सर्वोऽपि सवेतिरनेऽप्रमत्तं उच्यते, प्रमादाभावात् ।  
स बोधशमभेणीं प्रतिपद्यमानो मुहुञ्चोऽन्यन्तरे कासं कुञ्चन जघ-  
म्यकासो लज्जय इति; देशानपुयकोटो तु केवशिनमाभोयेति ।  
( नाणा जीवंपहुञ्च सव्वच्चं ) इत्युक्तम् । अथ सर्वोक्ताभावि-  
भायान्तरप्रकृपायाऽऽह-भंते । भंते । ति इत्यादि । अ० ३ श्लो ३  
उ० । पञ्जा० । नं० ।

अप (प) मत्संज्ञयगुणुद्वाण-अप्रमत्संज्ञयतगुणस्थान-न० ।  
सप्तमे गुणस्थानके, प्रव० १२४ द्वा० ।

अप (प) माय-अप्रमाण-न० । प्रमाणतिरिक्ते, षु० ३ उ० । यथा  
सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उकोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात् स्वादु  
शेभिन अथिकमाहारं करोति, तदाऽप्रमाणां द्वितीयं भादारदोषः।  
उच० २४ अ० । ( 'पमाणं शब्दोऽस्य विवृतिः ) प्रामाण्यविरक्ते, रक्षा० ।  
प्रसङ्गायानमप्रमाणायकपमणिय धर्मं प्रकटयन्ति-

सदितरत्रवामायमिति ।। ११॥

तस्मात्प्रमेयाव्यभिचारित्वादितरत् प्रमेयव्यभिचारित्वमप्रा-  
मायं प्रत्येयम् । प्रमेयव्यभिचारित्वं च ज्ञानस्य स्वभावातिरि-  
क-प्राणापेक्षेय लक्षणोपेयम्, स्वस्थान व्यभिचारस्यासंज्ञात् ।  
तेन सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् ।  
बहिरर्थोपेक्षया तु किञ्चित्प्रमाणमेव, किञ्चित्प्रमाणाभासम् ।  
रत्ना० १ परि० ।

अप (प) माणजोड (ण्)-अप्रमाणभोजिन्-त्रि० । आभियत्त-  
कषलायिकाहारजोकारि, प्र० ३ सम्भ० द्वा० ।

अप (प) माय-अप्रमाद-पुं० । न प्रमादोऽप्रमादः । प्रमाद-  
वर्जनलक्षणे षड्दशयोगसंप्रहं, स० ३२ सम्भ० ।

तत्र दशहरणम्-

रायगिह मगहुंदरि-मगदुमिरं कुमुमसत्यपक्त्वेभो ।  
परिहरिअ अप्रमत्ता, नट्टंणी अन्नवीं जुक्का ।। १ ।।  
पुरे राजगुहंज्जस्ती-अरासन्धो महात्तुपः ।  
गाथक्यौ तस्य मगध-सुंदरोमगधभियौ ।। १ ।।  
वेआवीं स्वात्तवेकाऽहं, राजा च स्वाद्वेशे मम ।  
मगधभोत्तानो जुद्धा, तस्या नाठ्यस्य आसंर ।। २ ।।  
विषभाविनसीवणं कसरायित्तुत्तिनिः ।  
संचलितैः कणिंकारिः, रक्कोत्सुहमपुजयत् ।। ३ ।।  
अक्का मगधसुन्द्यां, विभोक्त्वाभ्युहने स्य तात् ।।  
किमिपु कणिंकारु, न लीयन्ते मधुसूत्राः ।। ४ ।।  
सदोषाणि रुक्कंठु पुष्पा-प्येतान्पत्र च वेदहृद्य ।  
द्रुह्ये योग्यांन नाचोया, भाविताभि विषेण वा ।। ५ ।।  
प्राण्यता स्यान्म तन-स्तदुपायेन बोधेण ।  
अत्रान्तरेऽवतीर्णां च, रक्के मगधसुन्दरीः ।। ६ ।।  
मङ्कडे गीयमानेऽक्का, प्राणायत्तान्तिक्कामिमास- ।  
पत्तं वसंतपासे, एक्काओ अपमोइअम्मि वुद्धम्मि ।  
मूत्तुण कप्पिआरुपं, भमरा सेवतिं च्चुअकुसुमाइं ।। १ ।।  
शुवा गीतियपूर्वां तं, जहे मगधसुन्दरी ।



कर्णिकाराणि वुष्टानि, तन्परीहारतस्तया ॥ ७ ॥

गतिं नृत्तं च साङ्केपे, छिन्नता नामप्रमादतः ।

कर्तव्या साधुनाऽप्येव, सर्वदाऽप्रमादादिता ॥ ८ ॥

अतो कः० आत्वः० आ० चू० । प्रश्नः० प्रमादाजने, आवा० १ श्रु० कः० अ० ४ ३० । अपटु स्थानेषु अप्रमादत्वतो अचित्तव्यम् ।

प्रमादां न कार्थ्यैः—

अद्रुहिं ताणोहिं सम्यं संयाप्त्यन्वं जड्यन्वं परकर्मियन्वं, अस्ति च अं अद्रु ने पयाएवं जवड, असुयाणां धम्पाणां सम्यं सुणणयाए अञ्जुऽप्यन्वं, सुयाणं धम्पाणां आगिएहयाए आंवेइराणयाए अञ्जुऽप्यन्वं जवड, तयाणां कम्पाणां संज-मेणां अकराणयाए अञ्जुऽप्यन्वं जवड, पोराणाणां कम्पाणां तवमा विगिचणयाए विभोहणयाए अञ्जुऽप्यन्वं जवड, असंगिहियपरिजणसत् संगिएहयाए अञ्जुऽप्यन्वं जवड, सेहं आयागोयर् गहणयाए अञ्जुऽप्यन्वं जवड, गिलाण-स्स अगिज्ञाप वेयाववं करणयाए अञ्जुऽप्यन्वं भवड, साहम्पियाणां अहिगराणसि उपपक्षेति तस्य अणिसिआं-सिपे अपक्खवागाही मज्जन्त्यजावचूए कट्टामु साहम्मिया अपपसाह अपयत्तका अपत्तुमत्तुमा उवसाणयाए अञ्जुऽप्यन्वं भवड ।

कावज्यम् । नवरमरासु स्थानेषु यस्तुषु सम्यग्यतिव्यम्-अप्रमित्तु योनः कार्याः यतितत्पथ-प्राप्तेषु तद् (विधेयाण्यं यतः कार्याः) पराक-मित्तव्यम्—शक्तिजेषुपि तत्पालने परात्मज्ञानयत्नः अनातिरंकेन विभं-यः किं बहुना ?—एतत्सिद्धिस्थानकलकृत्ये वड्ढयसागोऽयं न प्रमाद-नीयम्-न प्रमादः कार्यो भवति । अथुनाताताकार्णितानां धर्माणां भुतभेदानां सम्यक् अवनतये वाऽऽनुयातव्यमप्यगन्तव्यं ज-यति । एवं भुनानां ओभेदिपविययोक्तानामवग्रहसायेभिः मनो-विषयीकरणतयोरपधारणतये अचित्तुनिस्तुतिवाम्नानाविपयी-करणयित्त्वर्थैः । ( विगिचणयाए सि ) विवेचना निज्जेण्य-र्थैः तस्यै । अत एव आत्मनो विबुक्तिविशोधना, अकल-ल्वम्; तस्यै इति । अस्यैशुहीतस्यानाभितस्य, परिजनस्य शिष्यवर्गस्येति । ( सेहं ) विमकिपरिणामाच्छैकज्ञ-स्यानिनघप्रज्ञितस्य, ( आयागोयर्पे ति ) आचारः साधुप-माहवस्तस्य गोचरो विषया प्रवषदकारिवाच्यारगोचरः । अ-थवा—आचारश्च ज्ञानादिविययः पञ्चथा, गोचरश्च जिज्ञा-चयेयाचारगोचरम् । इह विनक्तिपरिणामाचारगोचर-स्य प्रहणेतयां शिष्टेण शैक्यमाचारगोचरं प्रादिवितुमित्त्वर्थैः । ( अगिज्ञाप सि ) अज्ञात्पया अश्वेदेत्यर्थः । वि-द्यार्थुवं प्रतीतिः एव । ( अचित्तव्यमसि सि ) वि-रोधः, तत्र साधर्मिकेषु निमित्तं गगः, उपाश्रितं द्वेषः । अथवा-ति आत्माहारादिलिप्सा, उपाश्रितं शिष्यकुलाद्यपेक्षा । नद्रुहितो यः सोऽनिधितोपाश्रितः । न परं शास्त्राधिष्ठं शुद्धानात्यपेक्षप्राही । अत एव मध्यस्थतावं भूतः विनाशः यः स तथा । स भवेदिति शेषः । तेन च तथाभूतेन कथं तु केन प्रकारेण साधर्मिकः साचरः, अरुपशब्दा विगतराहो महाज्ञानयः, अरुपज्जा विगत-तथाविधप्रकीर्णवचनाः, अरुपयुतुमा विगतकौपना वि-कारविशेषाः नविष्यन्तीति ज्ञायव्युत्पत्तमतायाधिकरणस्था-भ्युदात्तस्य ज्ञेयता । इत्थो० ८ ज्ञ० ।

किञ्च—

अणप्राप्तये नाणी, धो पयाए कयाऽ वि ।  
आययुचे सया धीरे, जायमायाएँ जावए ।  
“अणप्राप्तये” इत्याद्यनुष्ठुप । न विद्यते अन्त्यः परमः प्रधा-नोऽस्मादित्यनन्तपूरः संयमः; तं ज्ञानं परमाधिवर्तितो प्रमाद-येत्, तस्य प्रमादं न कुर्यात्कदाचिदपि । यथा आप्रमादयत्ता भवति तथा दर्शयितुमाह— ( आययुष्ण इत्यादि ) इन्द्रियमेव—न्द्रियात्मना गुप्त आसमुगतः । सदा सर्वकालम्, यथा स्वयम-यात्रा, तस्यां मात्रा यात्रामात्रा । मात्रा च—“अव्याहारी सु सहै” इत्यादि, तथाऽऽत्मनं यापयेत्, यथा विषयानुद्वीरणेन दांशकाल-तं संयमाचारदेहप्रतिपात्रने भवति तथा कुर्यात् । आवा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अपरं च—

उदाहू वीरे अप्रमादो महामोहे अत्तं कुलस्स पया-एणं सति मरणं संपेहाए जिअरधम्मं संपेहाए ॥

(उदाहू इत्यादि) अन्त्याव्ययं आहोवात् । काऽसौ ? घोरः, अप्रगतसंसारभयः, तीर्थेकृदित्यर्थः । किमुक्याव ?, तदेव, पुयो-कं वा दर्शयति—अप्रमादः कःस्यः । कः, महामोहं भङ्गनाभि-ष्यङ्क एव महामोहकारणत्वान्महामोहः तत्र, प्रमादवृत्ता न जाव्यम्; आह—(अत्रमित्यादि) अत्रं पर्याप्तम् । कस्य ?, कुशु-स्य विपुणस्य—सुष्ठुमङ्गणः । केनालम् ?, मद्याविषयकथायनिदा-विकथारूपेण पञ्जांश्वेदापि प्रमाद्रेण, यतः प्रमादोऽङ्गुल/मि-गनायोक इति व्यातः । किमप्यन्त्यं प्रमादेनालम् ?, इत्युच्यते । (संति इत्यादि ?) शमनं शान्तिप्रयोगकर्मापरामर्शः कर्तो सांस्कृ-दाशान्तियति । श्रियते प्राणितः पौनःपुन्येन यत्र चतुर्गतिक सं-सारे स मरणः संसारः शान्तिश्च मरणश्च शान्तिमरणं, समा-हारश्च शान्तिसंश्रय पर्यालोच्य, प्रमादवत्तः संसारानुपगमस्तय-श्रित्यामात्रं मोक्ष इत्यन्याञ्चार्थेति इदमर्थः । स चाकुशुलः प्र-कृत्य विषयरूपायप्रमादं न विद्वेषात् । अथ च सामन्या उपश-मेन मरणं मरणावधिः, यावत्सिद्धतेः यत्फलं भवति तत्पर्यालो-च्य प्रमादं न कुर्यादिति । किञ्च—( भिअर इत्यादि ) प्रमादे । इ-द्विषयाभिष्यङ्कतयः शरीराधिष्ठितस्य च शरीरं भिद्रुधर्मं रच-त एव तिष्ठत इति । निद्रुं स एव धर्मः स्वभाधो रच्य तद्द्र-तुधर्मः । एतन्मूर्खतयः पयाञ्चोक प्रमादं न कुर्यादिति संयमश्च-आवा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । प्रमाद्वृत्तौ प्रमादोऽहं गो-प्रा-हिसायाम्, प्रश्नः ? मन्म० ज्ञो० यन्नातिशयः, ए० व० १ ९ । ० । उपयोगपुत्रेणकारणव्याधाम्, तं० चू० ? १ ० ।

सर्वकियासप्रमादं धति वत्तुं साधुकिञ्चम्—  
सुगइनिमित्तं चरणं, तं पुण उक्तायंजमो चेव ।

सो पाश्रिडं न रोरइ, विगहाइपयायनुजोहे ॥ १ ? ० ॥

शोभना गतिः सुगतिः सिद्धिरेव, तस्या निमित्तं कारणं, चर-णं याति धर्मः । तदुक्तम्—“नो ब्रह्म वि सिद्धी, पाविउज्जइ अं तन्नं इमाए वि ॥ एसां चेव उवायो, आरंजावदुममाणं उ ” ॥ १ ॥

नथा—

“ विहिततरकायम् बाहूद्वैरैः प्रचारं, कथमपि जलगाशौ धीधृता लङ्घयन्ति । न तु कथमपि सिद्धिः साप्यने शीलहृदिभिः, एदधति यतिधर्मं चित्तमेवं विरिद्याम् ” ॥ १ ॥ इति ।

तत्पुनश्चरणे षड्नायसंयम एव, पृथ्वीसहज्यसमपवनवनस्पति-  
प्रसक्त्यजीवरक्षेव । किमुक्तं भवति? एतेषु पदजीवनिकायभेदक-  
मपि जीवनिकायं विराधयन् जगद्भूतं राक्षाविहोपकारित्वाद्वा-  
रिञ्चं संसारपरिषद्कथम् ॥

तथाऽहोः प्रतिदत्तसकलश्रमाभोदतमिन्नाः भीमभेदासगणि-  
मिन्नाः-

“सन्ध्याभोगे जह को-इ भ्रमभो नरवहस्स चिन्त्य ।  
आणाहरणे पावह, वहबंधणे दग्धहरणे वा ॥ १ ॥  
वह ङ्गणायमइवय-सन्ध्याविचिञ्चिष विधिद्विगुण जहै ।  
योगवि विराहंतो, भ्रमचरन्तो इहह वै होहि ॥ २ ॥  
तो इयधोही पञ्चा, कयावराहणुस्सरिस्सिममियं ।  
पुण वि जयोहदिपकिभो, भमह जरामरणडुमामि ॥ ३ ॥

किञ्च-

अग्नीषत्विकायमह-व्ययाप्य परिपालयाह जहधमो ।  
जह पुण ताहै न रक्कह, जगहि को नाम धो धम्मो ? ॥ ४ ॥  
अग्नीवतिकायदया-विद्यञ्जिभो नेव दिषिक्कभो न गिहो ।  
जहधमभो पुक्को, बुक्कह गिहिदाणधम्मभो” ॥५॥ इत्यादि ।  
स पुनः संयमः पालयितुं वर्धयितुं ( न तीरहं सि ) न शक्यते;  
विकथा विरुद्धाः कथा राजकथाया रोहिणीकथायां सप्रपञ्चं  
प्रकृतिनाः; आदिशुद्धाद्विषयकवायद्विपरिग्रहः, तल्लक्षणः प्रमा-  
दा विकथादिप्रमादाः तल्लक्षणां संयमः प्रतिपालयितुं न शक्यते ।  
अतः सुसाधुनिर्गमो न विषय इति ।

प्रमादस्यैव विशेषतोऽप्यावहेतुतामाह-

पव्वञ्जं विञ्जं वि व, साहंतो होइ जो पमाइळो ।  
तस्म न सिज्जइ एसा, करेइ गरुयं च भवयरं ॥ १ ? १ ॥

प्रयज्यां जिनदीक्षां विद्यामिव स्वीदेवताधिष्ठितामिव साध-  
यन् नयति यः ( पमाइळुं सि ) प्रमादवान् । “आलिवेलीएलाल-  
बंन-मंतंत्तमणाः मनोः” ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति ( दैम-  
ध्नाम् ) वचनात् । तस्य प्रमादवतो न सिद्धाति-न फल-  
दानाय संपद्यते, एषा पारमेष्ठरी हीक्षा, विधेयः; स्वकारस्य  
मिन्नकमत्वात् । करोति च गुणं महान्तमपकारमनर्थमिति ।  
भावायः पुनरयम्-यथा अत्र प्रमादवतः साधकस्य विद्या  
फलदा न भवति, प्रहंसकमात्रिकमनर्थं च संपदायति, तथा  
शान्तलविहारिणो जिनदीक्षाऽपि न केवलं सुगतिस्संपद्ये  
न भवति, किन्तु दुर्गमनिर्दिष्टेभ्यस्समग्रापायं च विदधाति,  
आर्यमङ्गारिव । उक्तं च-

“ स्तीयलविहारओ बलु, भगवतोसायणा-निओरण ।  
तत्तो भवो सुदोहो, किलेसवहुजो जम्मा भणियं ॥ १ ॥

निव्ययरपवयणसुमं, आयरियं गणहं महिद्धियं ।  
आलायंतो बहुसो, प्रणंतसंसारिभो भणिओ” ॥२॥ सि ।  
तस्मात्प्रमादिना साधुना भवितव्यमिति । ४० २० । (आ-  
र्यमङ्गकथा च “अज्जमग्ग्” शब्देऽस्मिन्नेव जागे २११ पृष्ठे  
दृशिता ) सत्यकःपराक्रमाद्ये एकोनत्रिंशो उच्यारथ्यते,  
सं ३५ सप्तमं ।

अप ( १५ ) मायपदिनेहा-अप्रमादप्रत्युपेक्षणा-स्त्री० । प-  
द्विधा अप्रमादेन प्रमादविषयेष्वप्येव प्रत्युपेक्षणा अप्रमादप्रत्यु-

पेक्षणा । अप्रमादेन प्रत्युपेक्षायाम्, “ कृषिवाहा अप्रमाद्यपरि-  
हेहा पयत्ता । तं जहा-” अप्रकृच्छावियं अचलितं, अग्राह्य-  
बंधीममोर्त्साक्षं खेव । ङ् पुग्निमा णव कोडा, पाशीपाय्पुत्ति-  
हणी” ॥ २४० ६ टा० । ( ‘ अप्रकृच्छावियं ’ शब्दादीनां  
व्याख्याऽस्मिन् भागे ४-२६ पृष्ठे ‘ अप्रकृच्छावियं ’ शब्धे, तथा  
च स्वस्वशब्देषु ङ्ठव्या )

अप ( १६ ) मायजावणा-अप्रमादजावना-स्त्री० । मघादि-  
प्रमादानामनासेचने, आचा० २ भू० १५ अ० ।

अप ( १७ ) माषुष्ठिषण्णगत्तण-अप्रमादशुद्धिजनकत्व-ने० ।  
अप्रमत्तताप्रकर्षोत्पादकत्वे, पञ्चा० ५ विच० ।

अप ( १८ ) मायपदिसेवणा-अप्रमादप्रतिसेवना-स्त्री० । अप्रम-  
त्तकल्पप्रतिसेवायाम्, नि० चू० १ ङ० ।

अप ( १९ ) मेय-अप्रमेय-त्रि० । न० त० । प्रमाणनपरिच्छे-  
दे, प्रश्न० ४ आश्र० ६॥० । “अत्यन्तप्यमेयमविययन्मत्तचरत-  
चकवही नमोऽथु ते अरहंतो सि कहुं बंधं” अप्रमयः, तद्व-  
शुणानां परैरप्रमेयत्वात् । आ० म० ३० । प्राकृतजनापरिच्छेपे  
मेहि, ४० १ अधि० । अशरीरजीवस्वरूपस्य कृष्यस्यैहङ्ग-  
कुमशक्यत्वादिति । पा० ।

अप्रयमाण-अप्रचमान-पुं० । न विद्यते पचमानाः पावका  
यवासी अप्रचमानः । पाककामिनिवर्तकाऽप्येविते, पचते इति  
पचमानः न पचमानोऽपचमानः । पाकमकुर्वति, “ जं मए द-  
मस्स धम्मस्स कवलपञ्चनस्स ( इत्याह ) अप्रयमाणस्स  
( इत्यादि ) पंचमहव्ययलुत्तस्स ” ४० ३ अधि० ।

अप्रया-अप्रजा-स्त्री० । अपत्यविकलायां स्त्रियाम्, वृ० १ ङ० ।

अपर-अपर-पुं० । न विद्यते परः प्रधानोऽस्मादित्यपरः ।  
संयमे, आचा० १ भू० ३ अ० ३ उ० । पूर्वोक्तान्यस्मिन्, “अ-  
परा खाम जा सा पुत्ति भणित्ता ततो जा अण्णा सा अपरा”  
नि० चू० २० उ० ।

अपरक्रम-अपराक्रम-त्रि० । न विद्यते पराक्रमः सामर्थ्यम-  
स्मिन्नित्यपराक्रमम् । जहावलपरिक्षीणे, आचा० १ भू० ८  
अ० १ ङ० ।

अपरक्रमपरण-अपराक्रमपरण-न० । न विद्यते पराक्रमः  
सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमम् । सामर्थ्ये नष्टे मरणे, किं तन्म-  
रणम् ?, तच्च यथा-जहावलपरिक्षीणानमुद्यतानामुद्यतानामप्येत-  
मुद्राणामपराक्रमं मरणमभूत् । अयमदेशाद् उच्यते, बुद्ध-  
वादादायता इति । आचा० १ भू० ८ अ० १ ङ० । ( आस्मिन्ने-  
व जागे २१६ पृष्ठे “ अज्जसमुह ” शब्धे विशेषतोऽस्य ङ्ठव्यः )

अपरपरिमाहिय-अपरपरिगृहीत-त्रि० । अनर्थवत्त्वामिना परि-  
गृहीते अन्वयकृते, न पराऽपरस्तेन परिगृहीतमपरपरिगृहीतम् ।  
द्वितीयैरपरैः साधुभिः परिगृहीते, “अव्योगइसु अपरपरिमा-  
हेसु० अपरपरिमाहियसु” वृ० ३ उ० । “उत्तमा” शब्धे द्वितीय-  
भागे ७०८ पृष्ठे चतुर्विधा व्यत्यासास्य बहयते )

अपराइत् ( १५ ) -अपराजित-त्रि० । न० त० । पराजयमप्रोते,  
वाच० । अन्याजिते, सुत्र० १ भू० २ अ० २ उ० । अपरिच्युते, प्रश्न०  
४ आश्र० ६॥० । इत्सतितमे महाप्रहे, पु० । “ अपराजिता ?

स्था० २ ग्रा० ३ व०। (पतञ्जल्यु पवाऽयमुपलज्जते। चन्द्रप्रकृती  
 ध्रुवसंभ्रमगाथासु तु न हस्यते ।) अपरिच्छेदभ्युद्वयविभ्रंशु-  
 भिरजिता भ्रमिन्नुना अपराजिताः । उच० ३६ अ० । अनुस-  
 रोपपतिकर्तव्यविशेषेषु, प्रका० १ पृ० । तद्विमाने च, ज्योति० ३  
 प्रति० । स्था० । सप्तमे प्रतिवास्तुदेव, ती० १ कल्प० । जम्बू-  
 द्वीपस्य चतुर्थे, लघुस्यसमुद्रस्य घातकीचक्रस्य पुष्करांश-  
 कस्युत्स्य काशोदस्य समुद्रस्य च चरे, ज्योति० ३ प्रति० ॥  
 ( जम्बूद्वीपादिशब्देषु विद्युत्तरस्य ह्रदय्या ) अश्रुपमस्यमि-  
 तीं विधातमे पुत्र, कल्प० । स्वनामक्याते चतुर्दशपृथेधरे  
 आचार्ये च, नन्दिनः नन्दिमित्राः अपराजितः गोवर्धनो जह-  
 बाहुभ्रंति पञ्च शतकथाः । ज्योति० ३० । मेरोरुत्तरे दचकपर्व-  
 तस्य कूटभेदे, म० । स्था० २ ग्रा० ।

अपराहृत्या—अपरा(जता-की०) । महावासानिधानविजयकेत्रे  
 वर्तमाने पुराणुभे, “ दोअपराहृत्प्रभा० ” ( स्था० ) वक्रकाव-  
 तीविजयकेत्रे वर्तमाने पुराणुगले च “ दो अपराहृत्याश्रो ”  
 स्था० २ ग्रा० ३ व० । अपराजिता राजधानी, धैर्यमणकूटो  
 शीम वक्रस्काराद्रिः । जं० पृथक् । दशमराश्री, जं० ७ वक्र० ।  
 कपरो० अजनाडी, उत्तरदिक्स्थयां पुष्करिण्याम्, ती० ३ कल्प० ।  
 द्वि० । अङ्गारस्य महाप्रहस्याममहिष्याम्, स्था० ४ ग्रा० २ उ० । प-  
 र्थ संवेधो महादानीं चतुर्थी अग्रमदीया अपराजिता । जी० ३ प्रति० ।  
 कथकवा/सिन्यामध्यां दिक्कुमारीमहेश्वरिकायाम्, जं० ५ वक्र० ।  
 भा० म० । स्था० । आ० ७ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ ।  
 अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ ।

अपराहृत्यविधेयं—अपराहृत्यविधेयं (श-न०) । स्वनामक्याते  
 अनुमानवर्षे, अपराहृत्यविधेयं यथा । अन्तियशाब्दः कृतक-  
 त्वादिति । अत्र हि शब्दस्यान्तियत्ये सार्धं, प्राधान्यात् पृथ-  
 क्निर्देशयम्, न तु समासे गुणु । प्राच्यकाम्यकल्लमिति । पृथक्-  
 निर्देशोऽपि पूर्वमनुष्यापराहृत्यस्य निर्देशः शस्यतरः, समाप्ताधि-  
 करणतायां तदनुविधेयस्यान्तियत्वस्याऽलक्ष्यत्वात् तस्य  
 विधातुमशक्यत्वात् । रत्ना० २ प० । ति० ।

अपरिभादत्त—अपर्वदाय—अभ्य० । अनुवर्तित्वेयर्थे, म० २५  
 श० ७ उ० ।

अपरिभाविष—अपरितापित्—वि० । स्वतः परतो वाऽनुपजात-  
 कायमनःपरितापे, भाव० ।

अपरिक्रम—अपरिकर्मन्—वि० । साधुनिमित्तमाक्षेपनादपरि-  
 कर्मवर्जितं, पं० प० ४ श्र० । ति० ७ ।

अपरिक्रम—अपराक्रम—वि० । न० तं । पराक्रमरहिते, “ नयं शं  
 तुमं मेदाहृत्ये ( इत्यादि ) अग्र्यामे अक्षरे अपरिक्रमे ” अपरा-  
 क्रमा निष्पादितत्वकप्रतिनिमानविशेषादित्यात्, अचङ्गमपता  
 वा । श्र० १ श्र० ।

अपरिकल्प—द्वि—अपरिद्वयदृष्ट—वि० । अविमृश्यांके, “ अप-  
 रिकल्पदं ग तु यत् सिद्धां ” लघु० १ श्रु० ८ श्र० ।

अपरिचित्तव—अपरिचित्त—वि० । अकृतपरोक्षे उपस्थापनायोग्ये,  
 पं० ३ भाष्य० । “ अपरिचित्तं मास्रय नित्येवमागं इति अपरि-  
 चित्तं ” पं० ३ भाष्य० । अपरिचित्तं मास्रय अपरिचित्तं ” अना-

लोच्य भाष्ये शास्त्रः प्रतिभिरत्यर्थे । व्ययो ह्यव्ययत्वात् । ते च  
 भावकथं अनाशोक्तं परित्यज्यमानस्य अपरिचित्तमित्येवमा  
 नवतीत्यर्थः । अपरिच्छ ( ति गते । ति० ७ श्रु० १ उ० ।  
 अपरिच्छय—अव्य० । अनाशोच्येत्यर्थे, ति० ७ श्रु० १ उ० ।

अपरिच्छेदित्त—अपरिच्छेदित्त—न० । अनायाससम्भवात्के  
 चतुर्विधो बुद्धयन्तान्तरिये, मी० ।

अपरिग्रह—अपरिग्रह—पुं० । न विद्यते धर्मोपकरणत्वात् शरी-  
 रानुपयोग्य स्वल्पेऽपि परिग्रहो यस्य स तथा । प्रत्याख्यातपरि-  
 ग्रहे स्वार्थे, लघु० १ श्रु० १ श्रु० ४ उ० । “ अपरिग्रहा अणारण-  
 प्रा, भिक्षुं नाथे परित्यज्य ” लघु० १ श्रु० १ श्रु० ४ उ० । अनायास  
 न विद्यते परिग्रहस्त्यात् स्वार्थे गृह्णात इति परिग्रहः यस्यास्त्या-  
 चपरिग्रहः । लघु० १ श्रु० ४ उ० २ उ० । घनादिरहितं, प्रश्न० ३  
 सम्ब० श्र० ।

अपरिग्रहमंशुं—अपरिग्रहमंशुं—वि० । क० स० । घनादिर-  
 हिते इन्द्रियसंबन्धे च संयुते, प्रश्न० ३ सम्ब० श्र० ।

अपरिग्रहा—अपरिग्रहा—की० । न विद्यते परिग्रहः कस्यापि य-  
 स्यः साऽपरिग्रहा । श्रु० ६ उ० । साधारणक्रियायाम्, “ अपरिग्रहा  
 गियाय, सेवगपुरिसो उ कांरं कालसो । ” व्य० ३ श्र० ।

अपरिग्रहा—अपरिग्रहा—की० । वेद्यायामन्यसत्कार्यां गृही-  
 तमाधिकुलाङ्गनायाम्, अनायायाम्, भा० । प० २० । उच्य० ।  
 भाव० । विषयायाम्, प० २ भाष्य० । देवपुत्रिकायां, घटदा-  
 स्यां च । “ अपरिग्रहाद्या नाम ज्ञे माताद्विंशति परिग्रहाद्या,  
 अवि कुलदा य सा । अथे पुण्य भगति-देवपुत्रिया घटदासी  
 वा-यवमादि,सो पुण्य भादीय वा अमादीय गच्छति, ज्ञे ज्ञादीय  
 गच्छति, तस्व ज्ञे अरण्ये पदमे भादी दिक्षो सा च घट-  
 ति परनियतस्व गंतुं, जा पुण्य अमादीय गच्छति, सा जह  
 अथेथे जणिष्ठां-अज्ञ अदं तुमय समं सुविस्सामि ; ताप च  
 पुच्छिषं तस्व न च ति अंतराद्वरं काउं ” आ० ७ श्रु० ५ उ० ।

अपरिग्रहायामस्य—अपरिग्रहायामस्य—न० । अपरिग्रही-  
 तायां ग्राममपरिग्रहीताग्रामस्य । अपरिग्रहीतया सह श्रेष्ठुन-  
 कस्यस्वक्ये अस्वदारसत्तोषाव्यचतुषांशुमतातिचारजेदे, अ-  
 तिचारताऽस्य अतिक्रमादिति । उपा० १ श्र० । परदारत्वेन  
 कृत्वात् । घ० २० । भाव० ।

अपरिच्छकामनोग—अपरिच्छकामनोग—पुं० । न परित्यक्ताः  
 कामनोगा येन । श्रुहीतकामनोगे, कामी च शब्दक्ये, श्रोगा  
 गन्धरसस्वयोः, कामनोगाः । अथवा-काम्यत्वे इति कामाः,  
 मनोहा इत्यर्थः । ते च ते हृद्यन्त इति भोगाश्च शब्दादय इति  
 कामनोगाः । न परित्यक्ताः कामनोगा येन स तथा । स्था० २  
 ग्रा० ५ उ० ।

अपरिच्छ—अपरिच्छ—वि० । परित्यक्तव्ये, व्य० ३ उ० ।  
 परिचाररहिते, व्य० १ उ० ।

अपरिच्छय—अपरिच्छय—वि० । उत्सर्गापवाद्योरव्यव्याह-  
 नासोच्य प्रतिसेवमानं, अति० ।

अपरिणय—अपरिणत—वि० । न परिणतं कृपात्तरमापन्नमपरिणतम् । स्वरूपेणावस्थिते परिणाममप्राप्ते, यथा बुधं बुधजाय पश्चादवस्थितं दधिमावमनापन्नमपरिणतम् । पि० । देयं इत्यं मिश्रमन्वितत्वेन परिणमनादपरिणतम् । ध० ३ अत्रि० । अम्रासुकभीरुं देयइत्यं, तदानीं द्यापतति सप्तमे एषणादोषे च, न० । ध० ३ अत्रि० । प्रब० । अपरिणतमिति यद्वयं न स्वयमन्विसीभूतं दातुमाह्वयिष्ये न स्वयमन्वयोपेतम् । आका० २ बु० । ३०७ उ० । यदा इत्येवमपरिणतमाहारं ज्ञायेन्नम, इभयोः पुरुषयोरहारं वनेते, तन्मन्वे एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति, एकस्य च नास्ति, तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्यात्, अपरिणतदोष—आहारः ।

तच्छापरिणतहारमाह—

अपरिणयं पि य दुर्विहं, दत्त्वे ज्ञावे य दुर्विहमिकेकं ।

द्वन्मि होइ ठकं, भावमि य होइ सङ्गलगा ॥

अपरिणतमपि चिच्चिं, तद्यथा—इत्ये इत्यविविधं, भाषे जाविविधं, इत्येकमपरिणतं, भावइकमपरिणतं चेत्यर्थः । पुनरप्येकैकं दातुगृहीतसंभवाद् द्विधा । तद्यथा—द्रव्यापरिणतं, दातुः सत्कं च । एवं ज्ञावापरिणतमपि ।

तद् द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह—

जीवनन्मि अविगए, अपरिणयं गए जीत दिह्ठते ।

दुद्धदह्दइ अमचं, अपरिणयं परिणयं जचं ॥

जीवत्ये सचेतनत्वे अविगते अस्येष्टे पृथिवीकायादिकं इत्यमपरिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदहन् । यथा हि—दुग्धात्पात्रपुच्छं दधिभावमापन्नं परिणतमुच्यते, दुग्धजावे चाऽस्तिनं अपरिणतम्, एवं पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वापरिणतमपरिणतमुच्यते । जीवेन च विद्यमुक्तं परिणतमिति । तच्च यदा दातुः सत्कार्यां वनेते तदा दातुसत्कम्, यदा तु गृहीतुः सत्कार्यां तदा गृहीतुसत्कमिति ॥

संमति दालुविविधं भावापरिणतवत्—

दुग्माईसाममे, जइ परिणमइ उ तत्य एगसस ।

देमि चि न सेसाणं, अपरिणयं जावओ एयं ।

एवं द्विकादिसामान्ये अत्राद्विद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यद्वैकस्य कस्यचिद् ददामीत्येवंभावः परिणमति, शेषाणामेतद् प्रावतोऽपरिणतम्, न आवाविकेया देयतया परिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिद्रुष्टस्य दातुमावापरिणतस्य च कः परस्परं प्रति विशेषः ? । उच्यते—साधारणानिद्रुष्टं दायकपरोऽहत्वे, दातुमावापरिणतं तु दायकसमकृते इति ।

संमति गृहीतुविविधं भावापरिणतमाह—

एगेण वा वि तेसिं, मममि परिणाधियं न इयरेण ।

तं पि हु होइ अगेज्जमं, सज्जलगा सामि—साह वा ॥

एकेनापि केनचित् अनेतेन पात्रात्प्रेन वा एषधीयमिति मनसि परिणमति, न इतरेण द्वितीयेन, स्वपि भावतोऽपरिणतमपि कृत्वा साधुनाममाह्वयं, शकितत्वात्, कलहादिविदोषसंभवाच्च । संमति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विधयमाह— ( सज्जल-

गेत्यादि ) तत्र दालुविविधं प्रावापरिणतं आलुविविधं स्वाभिविधं च । गृहीतुविविधं ज्ञावापरिणतं साधुविविधम् । उक्तमपरिणतहारम् । पि० । एतच्च साधुनामकल्पम्, शकितत्वात्, कलहादिविदोषसंभवाच्च । ध० ३ प्रति० । ग० । “ अपरिणय इत्ये मासल्लुद्धउल्लहं अह सद्गुणपच्छिच्छं ” यं चू० ( अपरिणतमहाणमिधेयः ‘ पायग ’ शब्धे बह्व्यते )

अपरिणतकालीयधिग्रहणम्—

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव पविसमाणे से आगं—तारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुझेसु वा परियाब—सहेसु वा अम्यगंधाणि वा पायगंधाणि वा सुरजिगंधाणि वा अग्याय से तत्य आसायवदियाए मुच्छिए गिच्छे ग—दिए अज्जोववसे अहो ! गंधो अहो ! गंधो णो गंधमाया—एज्जा । से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पु—ण जाणेज्जा, मात्तुयं वा विरालियं वा सासवणासियं वा अम्यतरं वा तहृप्पगारं आमं अमत्यपरिणयं अफामुयं जाव लाभे संते णो पटिगाहेज्जा ।

( से भिक्खु वेत्यादि ) ( आगतारेसु वे ति ) परनावु बहिष्ठेरेसु तेपु आगत्यागत्य पथिकाद्यस्तिष्ठन्तीति । तथाऽऽगत्यगृहेषु वा पर्यावसथेष्विति, भिक्षुकादिमठेषु चेत्येवमादिष्वन्यपानगत्याद् सुरभीनाश्राय स भिक्षुस्तेष्वस्वादान्नप्रतिग्या सूचित्तोऽप्युप—पन्नः सन् अहो ! गन्धः, अहो ! गन्ध इत्येवमाह्वरवाह गन्धं जि—घृक्षेदिति । पुनरप्याहारमधिकृत्याह—से भिक्खु वेत्यादि सुगमम् । साधुकमिति कण्डुको जलजः । वराक्षियमिति कन्द एव स्थ—लजः । ( सासवनासियं ) ति सत्येकमन्वय इति ।

किञ्च—

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, पिप्पलिं वा पिप्पल्लिचुच्छं वा मिरियं वा भि—रियचुच्छं वा सिंगवेरं वा सिंगवेरचुच्छं वा अम्यतरं वा तह—प्पगारं आमं अमत्यपरिणयं अफामुयं लाभे संते जाव णो पटिगाहेज्जा । से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण पल्लंगजातं जाणेज्जा । तं जहा—अंबपल्लंभं वा अंबादगपल्लंभं वा तालपल्लंभं वा किञ्जिरिपल्लंभं वा सु—रभिपल्लंभं वा सद्दइपल्लंभं वा अम्यतरं वा तहृप्पगारं पल्लं—बजातं आगं अमत्यपरिणयं अफामुयं अणोसणिज्जं जाव ह्याभे संते णो पटिगाहेज्जा । से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण पवालंजातं जाणेज्जा । तं जहा—आसो—त्यपवालं वा एग्गोहपवालं वा पिलकपुवालं वा पीरुप—वालं वा सद्दइपवालं वा अणणयरं वा तहृप्पगारं पवालं—जायं आगं अमत्यपरिणयं अफामुयं अणोसणिज्जं० जाव णो पटिगाहेज्जा । से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण सरकुयजायं जाणेज्जा । तं जहा—अंबसरकुयं वा कविद्धसरकुयं वा दालिसरकुयं वा विद्धमरकुयं वा अम्यतरं वा तहृप्पगारं सरकुयजायं आमं

असत्यपरिणयं अफासुयं० जाव णो पदिगाहेजा । से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे सेजं पुण मंपुजायं जाणेजा । तं जहा-उंवरयंयुं वा णग्गोहयंयुं वा पिलकसुयंयुं वा आसोत्तयंयुं वा अणणयरं वा तह-प्पगारं मंपुजायं आययं दुक्कं सासुणीयं अफासुयं जाव णो पदिगाहेजा ।

“ से भिक्खु वेत्थादि ) एवम, णवरं ( मंशु णि ) लुणंय । ( डुक्कं ति ) ईशत्थिद्यम । ( सासुणीयं ति ) अपविच्छनयानिर्वाजमिति ॥

से भिक्खु वा भिक्खुणी । वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, आयमदागं वा प्रतिपिण्णायं वा महं वा मज्जं वा सत्थिं वा खोलं वा पुरायं एत्थ पाणा अणुप्पमया एत्थ पाणा भाया एत्थ पाणा संतुद्धा एत्थ पाणा अमुक्कंता एत्थ पाणा अपरिणया एत्थ पाणा अविच्छत्ता णो पदिगाहेजा ॥

( से भिक्खु वेत्थादि ) से भिणुयंयुं पुनरेवं जानीयात्तच्छाया- (आमयानं वे णि) आमयपं अरणिक्कतदुडीयकादि । तन्नाअप-कमपकं वा, (सुतिपिण्णायं ति) कथितसन्नम । मधुमये प्रतीते, स-त्थिपुंत्तम, आलं मद्याधःकरंम; एताभि पुराणानि न प्राहा-सि । यत् एनेषु प्राणिने भ्रतुमसूता जाता, संवृक्षाः, अयुक्ता-न्ताः, अपरिणताः, अविच्छस्ता नानादेशाजिनेयानुग्रहायंमका-धिक्कान्धैवैतानि, किञ्चिन्नराहा भेदः ।

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, उच्छुमेरगं वा अंककरेलुयं वा कसेरुगं वा ति-यादगं वा पुतिआलुगं वा अशयरं वा तहप्पगारं आयमं असत्यपरिणयं जाव णो पदिगाहेजा ॥

( से भिक्खु वेत्थादि ) ( उच्छुमेरगं वे णि ) अपनीमत्थिण्णुग-गिरुका (अंककरेलुयं वे णि) एवमाम्दान्वनस्पतिविशेषाद् जलजा-द् । अयन्ना तथाप्रकारमात्ममशक्नोपदं नं प्रतिशुद्धीयादिति ॥

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा सेजं पुण जाणेजा, उप्प-लं वा उप्पन्नगालं वा जिसें वा जिसमणालं वा पोक्खलं वा पोक्खलविजामं वा अशयरं वा तहप्पगारं जाव णो पदिगाहेजा ॥

( से भिक्खु वेत्थादि ) से भिणुयंयुं पुनरेवं जानीयात्तच्छाया- उत्पलं मीक्षोत्पल्लादि, कलं लस्येवावाः । भिमं पथकन्धमूलं, जिसमणालं पथकन्धपरिचालिनी वता, पोक्खलं पथकेसरं, पो-क्खविजामं पथकम् । अयन्ना तथाप्रकारमात्ममशक्नोपदं नो प्रतिशुद्धीयादिति ॥

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, अगमबीयाणि वा मूलबीयाणि वा खंभबीयाणि वा पोखबीयाणि वा अगमजायाणि वा मूलजायाणि वा खंभजा-याणि वा पोखजायाणि वा यथस्य तक्कालंमत्थएण वा तक्क-सिसंसेण वा णासिण्णमत्थएण वा लज्जूरमत्थएण वा ता-हममत्थएण वा अणणयरं वा तहप्पगारं आयमं असत्यपरि-णयं जाव णो पदिगाहेजा ।

( से भिक्खु वेत्थादि ) से जिणुयंयुं पुनरेवं जानीयात्तच्छाया- अग-मबीजानि अयाकुसुमादीनि, मूलबीजानि आयादीनि, स्कन्धचं-जानि शङ्खफवादीनि, पदबीजानि इहवादीनि । तथा अगम-जानि मूलजानानि स्कन्धजातानि पदजातानीनि । (सुखस्य णि ) नान्यस्साहम्रादेरानीयात्थयत्र प्रसदितानि, किन्तु तत्रैवाभासो जा-तानि, तथा (तक्कालंमत्थएण वा) तक्कबी णमिति वाक्क्याहकारे । तस्मस्तकं तस्यप्यवर्ती गर्भः । तथा कन्धबीयोक्कन्धीस्तथ-कः । एवं नासिकेरादेरपि च्छम्भमिति । अथवा कन्धस्यादिम-स्तकेन सद्यश्मन्धच्छिन्धाऽमनतमेव च्छंससुपयाति, तद् तथाप्रकारमन्धव्यममशक्नपरिणयं न प्रतिशुद्धीयादिति ॥

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, उच्छुं वा काणं अंगारियं सम्भिसं विपद्दिसं वेचमं वा कंदत्तोळसुयं वा अशयरं वा तहप्पगारं आयं असत्यपरिणयं जाव णो पदिगाहेजा ॥

( से भिक्खु वेत्थादि ) से जिणुयंयुं पुनरेवं जानीयात्, तच्छाया- उ-च्छुं वा (काणमं ति) व्याधिविशेषान्भिसिद्धं, तथा-अङ्गारिकं वि-षणीयुतं, तथा-सम्भिसं स्फुटितत्वकं (विपद्दिसं ति) वृक्षैः शृ-गाविसीं ईषज्जितं, न शोनावता रम्भापुपच्छेण तस्यासुकं जयती-नि सूत्रेपन्यासाः तथा वेध्रात्रं (कन्धोळसुयं वे णि) कन्धली-मयं तथाऽन्यदप्येवंप्रकारमात्ममशक्नोपदं न प्रतिशुद्धीयादिति ॥

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, उच्छुणं वा लसुणपत्तं वा लसुणणालं वा लसुणकं-दं वा लसुणचोयं वा अणणयरं वा तहप्पगारं आयं असत्यपरिणयं जाव णो पदिगाहेजा ॥

अशुनसुं च सुगमम् । णवरं (वेयंयं ति) केशककारा अशुन-स्य बाहावकः । सा च यावत्सार्दा तावत्संभिते ॥

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, अत्थियं वा कुंजिपकं तिंत्तुं वा वेसुयं वा प-ल्लं वा कासवणासियं वा अशयरं वा आयं असत्यपरि-णयं जाव णो पदिगाहेजा ॥ से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, कणं वा कणकुंदं वा कणपूयं वा चाठलं वा चाउल्लापत्तं वा तिसं वा तिलपिट्ठं वा तिसपपदगं वा अशयरं वा तहप्पगारं आयं असत्यपरिणयं जाव णो पदिगाहेजा ॥

( से भिक्खु वेत्थादि ) ( अत्थियं ति ) वृक्षविशेषफलम् । ( तेतुअं ति ) टेम्बकयम, ( विल्लुयं णि ) विल्लं, ( कासवणसियं ) अं पिणीकलं, कुज्जं पकशब्दः प्रायेकमजिसंभयते । एतदुक्कं न-धतियद/स्यकफलादि गर्तोदावप्रासपकालमेव वदतायाक-भानीयते तन्नाममपरिणतं न प्रतिशुद्धीयादिति ( से इत्यादि ) कणमिति शाब्दार्थः कणिकास्तत्र कदाचिन्नाभिः संभवेत् । कण-ककुएडं कणिकाभिर्मिथः कुक्कुसाः, ( कणपूयं लयं ति ) क-णिकाभिः पूषलिका, अत्रापि मन्धवकादी नानिः संजाव्यते । शेष सुगमम् । आका० २ लो० १ ब्र० ० ३ । स्वभायवर्गे, नि० लो० १७ उ० । रसकधिरादिधातुत्वेन परिणाममयमे, पञ्चा० ३ विष० ।

( से भिक्खु वेत्थादि ) ( अत्थियं ति ) वृक्षविशेषफलम् । ( तेतुअं ति ) टेम्बकयम, ( विल्लुयं णि ) विल्लं, ( कासवणसियं ) अं पिणीकलं, कुज्जं पकशब्दः प्रायेकमजिसंभयते । एतदुक्कं न-धतियद/स्यकफलादि गर्तोदावप्रासपकालमेव वदतायाक-भानीयते तन्नाममपरिणतं न प्रतिशुद्धीयादिति ( से इत्यादि ) कणमिति शाब्दार्थः कणिकास्तत्र कदाचिन्नाभिः संभवेत् । कण-ककुएडं कणिकाभिर्मिथः कुक्कुसाः, ( कणपूयं लयं ति ) क-णिकाभिः पूषलिका, अत्रापि मन्धवकादी नानिः संजाव्यते । शेष सुगमम् । आका० २ लो० १ ब्र० ० ३ । स्वभायवर्गे, नि० लो० १७ उ० । रसकधिरादिधातुत्वेन परिणाममयमे, पञ्चा० ३ विष० ।

अपरिणाम-अपरिणामक-पुं० । न विद्यते परिणामो यद्-  
कथयपरिणामं वक्ष्ये स तथा । व्य० १ ड० । अस्तसैकवचो पुंल्यं,  
मं० । जी० १ प्रलित० ।

अपरिणामकमाह—

मो दम्बस्त्रिककयका-अज्ञातमं अं जहा जिणकस्त्रायं ।  
तं तद् अस्तदहंतं, जाण अपरिणामयं साहुं ॥

यो प्रथमकालजायकृतं तद् न अद्भ्यथिति तं तथा अद्भ्यथतं  
जानीहि अपरिणामकं साधुम् । वृ० १ ड० । पं० व० ।  
( ' परिणाम ' शब्दव्याख्यानायसुरे इतिपरिणामकव्यापि  
वाक्याऽन्यथावि, तथैवास्यापि शब्दस्य व्याख्या दृष्टान्तश्च  
कल्प्यः )

अपरिणित्वाण-अपरिनिर्वाण-न० । परि समन्ताद् निर्बाणं सु-  
खं परिनिर्वाणं, न परिनिर्वाणपरिनिर्वाणम् । समन्तात् शरीर-  
मनःपीडाकरे, " सम्बन्धि सत्ताणं अस्ताणं अपरिनिर्वाणं  
महम्मयं बुक्खं " आवा० १ सु० १ अ० ६ व० ।

अपरिणित्त-अपरिज्ञप्त-त्रि० । अज्ञापिते, कल्प० ।

अपरिणाय-अपरिज्ञात-त्रि० । ऋषिरूपया स्वपनोऽनवगते,  
प्रत्याकपालपरिज्ञया चाप्रत्याकपाले, आ० ५ अ० २७० । आवा० १

अपरित्त-अपरितान्त-त्रि० । अपरितान्ते परिधममगच्छति,  
ने० । प्रश्न० । पं० मा० । "अपरितान्ते सुसत्य-तत्तुमपस्तु" पं० वृ० ।

अपरित्तजोगि ( ए )-अपरितान्तयोगिन-त्रि० । अपरिता-  
न्तोऽविद्यान्तो योगः समाधिष्यस्य सोऽपरितान्तयोगः । स्वायं-  
कभन्तत्वाभापरितान्तयोगी । अन्त० ७ वर्ग । परिअन्तसमा-  
धौ, आ० ५ ३ वर्ग । अपरितान्त आत्माना योगा मनःप्रभूयः स-  
त्रुच्छानेषु यच्च स तथा ; तत अपरिअन्तसंयमे प्रव्यते, प्रश्न०  
१ सख्य० द्वा० ।

अपरितावलाया-अपरितापनता-स्त्री० । शरीरपरितापातु-  
त्यादने, म० ५ श० ए ३० । परितापातुत्यादने, व० ३ अधि० ।  
समन्ताच्छरीरसन्तापपरिहारे, वा० ।

अपरिताविय-अपरितावित-त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुजात-  
कायमनःपरिताव, जी० ३ प्रलित० ।

अपरिच-अपरिच-पुं० । न० त० । साधारणशरीरे, स्था० ३  
ज० २ उ० । अनन्तसंसारो वा जीवो, म० ६ श० ३ ड० ।

अपरिचे बुविहे पक्षचे । तं जहा-कायअपरिचे थ, संसा-  
रअपरिते थ ॥

कायापरीतोऽनन्तकायिकः ; संसारापरीतः सम्बुद्धत्वादिनाऽ  
कृतपरिमितसंसारः । प्रश्न० १ ड० पद् । कायापरीतः साधारणः,  
संसारापरीतः कृष्णवाहिकः । जी० ३ प्रलित० ।

तत्र—

संसारअपरिचे बुविहे पण्णचे । तं जहा-अण्णादिप अ-  
पञ्जबसिप, अण्णाऽप सपञ्जबसिप ॥

संसारापरीतो द्विधा-अनाद्यपर्यवसितो यो न कदाचन्यापि  
संसारव्यवच्छेदं करिष्यति, यस्तु करिष्यति सोऽनादिसपर्य-

वसितः । प्रश्न० १ न पद् । अन्यादिकोऽपर्यवसितो येन आनु-  
चिदपि सिद्धिं गन्ता, अन्यादिको वा सापर्यवसितो भवविशेषः ।  
जी० २ प्रलित० । ( कायापरीतादिवाक्यानां ' अंतर ' शब्देऽ-  
स्मिन्नैव भागे ७७ पृष्ठे दृश्यते )

अपरिचय-अपरिचय-त्रि० । अपरिचयवचने, स्था० ७ ज० ।  
अपरिचय-अपरिचय-पुं० । परिचयभावात्, स्था० क डा० २  
ड० । नि० वृ० ।

अपरिमाण-अपरिमाण-त्रि० । न विद्यते परिमाणं वक्ष्ये स/  
तथा । क्षेत्रतः कालतो वा इत्यन्तारहिते, "अपरिमाणं वि आ-  
णाह, इहमेगस्तमादिचं" सूत्र० १ सु० १ अ० ४ ड० । नि० वृ० ।

अपरिमिय-अपरिमित-त्रि० । अपरिमाणे, न परिमितोऽपरि-  
मितः । अणु० । परिमाखरहिते । "अपरिमियमदिच्छककुलसम-  
तिवाञ्छेवगच्छम्ममाणं" अपरिमिता अपरिमाणा ये महेश्चा  
बृहद्भिन्नाया अविता शोकास्तेषां कथुकाऽविद्युक्ता मतिः स-  
पव वायुवेगस्तेन उत्पाद्यमानं वसत्तथा । प्रश्न० ३ सख्य०  
द्वा० । आवा० । "अपरिमियनाणदसखधरदि" ( तांथेच्छुभिः )  
प्रश्न० १ सख्य० द्वा० । वृ० । दृशे० । अनन्ते, औ० । बृहति,  
"अपरिमियं स वसत्ते, कथं गच्छति नायव्यं" दृश० २ अ० ।

अपरिमियपरिग्रह-अपरिमितपरिग्रह-पुं० । अपरिमितज्ञा-  
सौ परिग्रहणं परिग्रहः । परिमाणरहितपरिग्रहे, आवा० ६ अ० ।  
अपरिमियत्र-अपरिमितवृद्ध-त्रि० । अपरिमितं बलं वक्ष्ये  
सोऽपरिमितवृद्धः । निर्विद्येवचोयान्तरायकृपादम्बबलशालि-  
नि, "ततो बला बलमद्भ, अपरिमियवला जिणवरिदा" वि-  
शे० । सूत्र० । "अपरिमियवबलरिययुक्तं" अपरिमितानि  
बलात्नि, तैवुको यः स तथा । उपा० ३ अ० ।

अपरिमियमणततपट्टा-अपरिमितान्ततृष्णा-स्त्री० । अपरि-  
माणरूपविषया अनन्ता वाऽकृपा या तृष्णाऽविद्यमानकृष्णाऽऽ-  
वेच्छा । अपरिमितवाञ्छावाच, प्रश्न० ३ सख्य० द्वा० ।

अपरिमियसचजुक्त-अपरिमितमचजुक्त-त्रि० । अपरिमित-  
मियन्तारहितं यस्सर्वं भूतिबलं तेन युक्तः । अपरिमितैतैर्व्यै,  
वृ० ३ उ० ।

अपरियचमाणा-अपरावर्तमाना-स्त्री० । न परावर्तमाना अप-  
रावर्तमाना, पं० सं० ३ द्वा० । परावर्तमानप्रकृतिभिन्नासु कर्म-  
प्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० । ( सूत्रअच्छानां कथादिप्रस्तावो  
' कम्म ' शब्दे तुनीचभागे २११ पृष्ठे दृशोविष्यन्त पताः )

अपरियाइचा-अपर्यादाय-अव्य० । परितः समन्ताद्दृष्टीत्ये-  
त्यर्थे, आ० २ टा० १ ड० । सामस्येनापुद्दृते, आ० १ टा० १ ड० ।

अपरियाणिचा-अपरिज्ञाय-अव्य० । ऋषिरूपयाऽज्ञात्वा प्रत्या-  
कपालपरिज्ञया चाप्रत्याकपालयत्यर्थे, स्था० २ टा० १ ड० ।

अपरियार-अपरिचार-त्रि० । न० व० । प्रविच्छन्नमायुनोप-  
संवारदिते, अमविचारे, प्रश्न० ३६ पद् ।

अपरिविडिय-अमतिपतित-त्रि० । स्थिरे, पञ्चा० ७ विव० ।  
अपरिसा ( रसा ) इ ( वि ) ( ए )-अपरिज्जाविन्-पुं० ।  
परिज्जाविन् शीलमस्य परिज्जावी । न परिज्जावी अपरिज्जावी ।  
द्वयतः स्वावदिते तुष्यकादौ, भावतः भुवायंहरणाकारकऽ-  
नुयोगदानयोग्ये, वृ० ।

एतत्स्वरूपं सप्रतिपक्षं निष्केपद्वयानुपदर्शनपूर्वकमुच्यते-  
अपरिसाहविज्ञानसाह—

परिसाह अपरिसाहं, द्रव्ये जावे य लोम-उत्तरि ए ।  
एकेको वि य दुविहो, अयश्च-ननुर्षे दिहो ॥

परिसाहितं शीलमस्येति परिसाहः । तद्विपरितोऽपरिसाही ।  
अभाषिणं शिविधौ-द्रव्ये, भावे च । तत्र च्यतः परिसाही घ-  
टाविः, अपरिसाही तुम्बकादिः । भावतः परिसाही । एकै-  
कोऽपि शिविधः, तद्यथा- ( लोम सि ) लौकिकः । ( उत्तरि ए )  
पैकदेशे पदसमुदायोपचारो लोकात्तरिकः । तत्र लौकिकं  
भावतः परिसाहिविधिं अमात्यद्वयतः ।

स चायम—

“ एगो राया, तस्स कन्ना गहनस्स जाहिसा, सो निचवं को-  
त्ताए अमुक्कियाए अरुध । सो अग्रया अमक्केण एगंते  
पुच्छिओ-किं तुम्बे ज्जाहारयपादा सोत्ताए आबटियाए अ-  
क्कह, न कस्सह सीमं कन्ना य परिस्सह ? । एत्ता सग्गोयो कहि-  
ओ; भाणियं च-मा एहस्समअयं काहिसि ति । तेण अगंभीर-  
याए तं एहस्सं अप्पहियासमाणेण अरुधियं गंतुं कक्ककोरुंरे मुहं  
होवुण्ण भाणियं-वाहनकन्तो राया । राया तं कक्क अन्नेण कण-  
ह उंणुं वादिसं कयं, जयियय्ययावेसण य तं रघयो पुरओ  
एवमं आयंतवज्जं तं भणइ-गहनकन्तो राया । एत्ता अम-  
क्को पुच्छिओ-तुंमं परं एयं एहस्सं नाय, कस्स ते कहियं ? ।  
अमक्केण जहावचं सिट्ठुं । एत्त सोइओ परिस्सवाही । सोऽत्तरिओ  
अप्यहियासमाणो पुच्छिओ वा अप्पुच्छिओ वा अपरिणयाणं  
अववायपयाणि कहेइ ” ।

ईदृशस्य परिसाहिविधुः स्वयं यो द्वाति तस्य चत्वारो लघवः ।  
अर्थं द्वाति तस्य चत्वारो गुरुवः । यत् एवं ततो अपरिस्मानिणा  
शतव्यम् । सोऽपि द्विधा-शौकिकं, लोकात्तरिकम् । तत्र शौ-  
किकं परिसाहिविधं बटुक्याः दृष्टव्यः ।

स चायम—

“ राया सिठी अमक्को आरविसओ मूलदेवो य एकाए  
पुरोहियजजाए वडुवणीए अरुवकवंसिणीए अज्जोववन्ना । ताए  
सम्भेसि संकेअओऽजितो, ते आगया तुवारे जिया । ताए अमंति-  
जइ महिलारहस्सं जाणेह तो पविसह । ते जणंति-ए जाणामो,  
मूलदेवण भाणियं-अहं जाणामि । ताए भाणियं-पविमहं कि, पविट्ठो  
पुच्छिओ-किं महिलारहस्सं? । तेण भाणियं-मारजितो हे वि अरुस्स  
न कयवण्ण । ” एवं विदग्धः कासुकः ” इति तुदाए सव्वरतिं रामिओ ।  
पनाए एत्ता पुच्छिओ मूलदेवो-किं महिलारहस्सो? मूलदेवो जगइ-  
अदं एयं उअशां वि न जाणामि । एत्ताणं अयवज्जइ ति वज्जो  
आगइ-तइ वि न कहेइ, ताहे थिज्जावणीए आगंतुं रन्नेपुत्तो  
कहियं-जहा एयं वेव महिलारहस्सं, जं सरीरच्छाए वि न क-  
स्सह मीइ ति । एत्त सोइओ अपरिस्सवाही । सोऽत्तरिओ पुण  
ओ जेअसुअस्स रहस्सियाणि अपवायपयाणि सुणिता उ-  
ट्ठिओ, तओ जइ कोइ अपरिणओ पुच्छइ-किं एयं कहिज्जइ ? ।  
अणइ-अणककरणं साणुणं वनिज्जइ ” । ईदृशास्यापरिसाहिविधो  
विदुं सत्रं न द्वाति तदा अतुअं पु । अर्थं न द्वाति तदा अतुअं ।  
५० ३ उ० । परिस्सवति आश्रयति कर्म वज्जानातीत्ययं शीलः  
परिसाही, तन्निषेधात्परिसाही । अयन्बकं निरुक्त्यांगे, अ-  
यं च पञ्चमः क्वातकभेदः । उत्तरावयनेषु त्वेदं द्विजिनः केव-  
लीत्ययं पञ्चमो भेद उक्तः; अपरिसाहीवति तु नाधीतम् । ज० २५

श० ६ उ० । स्थानं । न परिस्सवति नाशोचकदोषानुपसृत्या-  
न्यस्मै प्रतिपाद्यति य एवं दालिः सोऽपरिसाही । आशोचक-  
दोषाऽप्रक्यापते अलोचनार्थं प्रयोक्तव्यं, “ ओ अन्वयस्स उ  
दोस्से न कहेइ अपरिस्साहं सो होइ ” अ० ८ उ० । पञ्चानं ।  
५० । अ० । यो न परिस्सवति परिकथितामनुशजसमित्ययं  
शीलाऽपरिसाही । आशोचनाभाशित्य आचाराङ्गाकमृगोयम-  
ङ्गतुदय इत्ययं । श० १ अ० ।

अपरिसादि-अपरिसादि-पुं० । परिशाटियाजैते, प्रश्न० १ आ-  
श० ३ उ० । शय्यासंस्तारके, नि० चू० २ उ० । फलकारिमये,  
वृ० ३ उ० । अन्वयवर्षाज्जते च, “ अपरिसादि अक्कसायंजप-  
वणाणुलवणभूयं ति ” भ० ७ श० १ उ० ।

अपरिसादिप-अपरिसादिप-<sup>त्रि०</sup> । परिशाटरहिते, उत्त०  
१ अ० ।

अपरिसुच्छ-अपरिसुच्छ-<sup>त्रि०</sup> । सदापे, पञ्चानं ३ विष० । अयु-  
क्तियुक्ते, अय० ४ अ० ।

अपरिसेस-अपरिशेष-<sup>त्रि०</sup> । निशेषे, प्रश्न० २ आश० ३ उ० ।

अपरिहारिय-अपरिहारिक-<sup>पुं०</sup> । न परिहारिकोऽपरिहारिकः ।  
पार्थस्थावस-नकुवां।ससकयथाच्छन्दरूपे, आचा० १ भु० १  
अ० १ उ० । मूशोत्तरगुणदोषाणामपरिहारिक, मूशोत्तरगुणानां  
वाऽपारके, अन्यन्तार्थिकगृह्येवे वा । नि० चू० २ उ० ।

अप्रोवताव-अप्रोपताप-<sup>पुं०</sup> । अपरिप्राप्तादिहारिक, पं०सु० २ सु० ।  
अप्रोवतावि ( न )-अप्रोपतापिन् पुं० । साधुनां वषंवादि-  
नि, पं० चू० ।

अपलिअ-अपक्-<sup>त्रि०</sup> । अग्निनाऽसंस्कृते, घ० २ अ० ।

अपलिंउंचाए-अपतिकुञ्चयत्-<sup>त्रि०</sup> । अगोपयति, आचा० २  
भु० ५ अ० १ उ० ।

अपलिंउंचि-अपरिकुञ्चिन-<sup>त्रि०</sup> । अभाषाविनि, अ० १ उ० ।

अपलिउंचिय-अप्रनि ( परि ) कुञ्चय-<sup>त्रि०</sup> । न परिक्-  
ञ्चयमपरिकुञ्चयम् । अकौटिल्यं, अ० १ उ० ।

अप्रति ( परि )-कुञ्चय-<sup>अप्य०</sup> । मायामन्वेत्यर्थं, अ० १  
उ० । नि० चू० ।

अपलिच्छन्न-अपरिच्छन्न-<sup>त्रि०</sup> । परिकुञ्जदहिते, अ० ३ उ० ।

अपलिंमंथ-अपरिमन्थ-<sup>पुं०</sup> । परिमन्थः स्वाध्यायादिक्रितिलेस्त्-  
नार्थोऽपरिमन्थः ( उच० ) स्वाध्यायादौ निरालस्ये, उच० २ अ० ।

अप ( ए ) लीण-अपहीन-<sup>त्रि०</sup> । असंबके, सूत्र० १ भु०  
१ अ० ।

अपवगम-अपवर्ग-<sup>पुं०</sup> । जन्ममरणप्रबन्धोच्चेत्तया सर्वैःकुः-  
प्रहाणलक्षणं मोक्षं, सूत्र० १ भु० २ अ० संघा० । “अवर्णवप-  
वर्गं इति” तस्य रागादिकृष्यस्य भावे सकललोकात्मोक्तिलोका-  
त्तोलिनीः केवलज्ञानदशैयंनयंलक्ष्यौ सत्यां निस्तर्षमशरण-  
वस्य सतो जन्तोःपरवर्ग उक्ते निरुक्तं उच्यतेति । किं लक्षणं?,  
इत्याह- “ स आश्रयति को दुःखविमम इतीति ” सं०ऽपवर्गः,  
अन्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन भवतीति आश्रयति

दुःखविगमः । सर्वशरीरमानसाशर्मविरहः, सर्वजीवलोकासाधारणानन्दानुभवश्चेति । अ० १ अधि० ।

अपव्रगवीच-अपव्रगवीज-न० । मोक्षस्य कारणे, यो० ६ विष० ।

अप (प) वचण-अपवर्तन-न० । अपवृत्तौ, पञ्च० ४ विष० ।

अपवाय-अपवाद-पुं० । द्वितीयपदे, नि० सू० २० उ० ।

अप (प) विच-अपवृत्त-त्रि० । तत्त्वतो ध्यायते, पञ्च० १४ विष० ।

अप (प) विसि-अपवृत्ति-स्त्री० । गाढं मनोवाक्कायानामनवतारे, अ० १ अधि० ।

अप (प) संसाणजि-अप्रशंसनीय-त्रि० । सायुजैः प्रशंसं कर्तुमयोग्यं, न० ।

अप (प) सवर्द्ध-अप्रसङ्ग-त्रि० । अप्रभृष्ये, व्य० ७ उ० ।

अप (प) सज्जपुरिसाणुग-अप्रसङ्गपुरुषानुग-त्रि० । अमृष्टदुःखानुसारिणी, (व्य०) "गणिणी गुणसंपन्नाऽपसज्जपुरिसाणुगा ।" व्य० ३ उ० ।

अप (प) सत्य-अप्रशस्त-त्रि० । न० त० । अशोभने, "अपसत्ये संज्ञमे चयह" आब० ४ अ० । विश० । अ० । व्य० । अभ्यर्ष्य, अनादेयं, स्था० ३ उ० ३ उ० । बलवर्णादिनिमित्तं प्रतिसेविनि, व्य० १० उ० ।

अप (प) सत्यरेच-अप्रशस्तकेच-न० । शरीरादिद्वेषे, नि० सू० १० उ० ।

अपसत्यदन्व-अप्रशस्तदन्व-न० । अस्वध्यादि । अशोभनदन्वे, नि० सू० ११ उ० ।

अपमत्यक्षेप्सा-अप्रशस्तलेख्या-स्त्री० । कृष्णनीलकापोतास्तु तिसृषु लेख्यास्तु, वच० ३४ अ० ।

अपसत्यविद्वगगतिनाम-अप्रशस्तविद्वगगतिनामन्-न० । विद्वयोगतिनामनेदे, यदुदयात्पुनरप्रशस्ता गतिर्भवति, यथा खदि-रादीनां तदप्रशस्तविहायोगतिनाम । कर्म० ६ कर्म० ।

अपसारिया-अपसारिका-स्त्री० । पटासिकायाम्, वृ० २ उ० ।

अपस्यु-अपस्यु-पुं० । न० ब० । द्विपदचतुष्पदादि (परिमह) र-हितं, "समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपस्यु पदस्सजेगं" आबा० ३ सू० ७ अ० १ उ० ॥

अपसमण-अपर्यत्-त्रि० । अनौक्यमाणे, "अपस्समाणे प-स्सामि, देवे जकंभे य गुज्जेगे" स० ३० सम० ।

अपहिडि-अमहृष्ट-त्रि० । अहसति, दशा० ५ अ० १ उ० ।

अपहृ-अप्रतु-पुं० । भूतकादौ, अ० ३ अधि० ।

अपहृन्वत्-अप्रतुवत्-त्रि० । अप्रभाषवति, व्य० १० उ० ।

अपाद्या-अपात्रिका-स्त्री० । पात्ररहितायास् (निर्ग्रन्थ्याम्), निर्ग्रन्था पात्ररहितया न भवितव्यम्-

नो कस्यि निगंथीए अपाद्याए हंतए ।

नो कस्येते निर्ग्रन्था अपात्रायाः पात्ररहिताया भवितुमिति सूत्राथः ।

अथ ज्ञापयम्-

गोणे साणे व्व वने, ओभावाए विंसणा कुम्भये र ।  
पासइ खइय लज्जा, सुहाए होति दिट्ठेती ॥

पात्रकमन्तरेण यथ तत्र समुद्देशनीयम् । ततो लोका इत्यादयथा-गायत्रेव चारि प्राप्तिं तत्रैवाशेषा चरति । यथा वा भ्रान्ति यत्रैव स्वल्पमप्याहारं लज्जेत तत्रैव निरुपायं भुङ्क्ते । एवमेता अपि गोभान-सदृश्या यत्रैव प्राप्नुवन्ति तत्रैव भुङ्क्ते । तथा शोकस्य पुरतः समुद्दिशन्ति-अहो ! अभिगोत्रतं भ्रान्तयत वा प्रतिपत्तं, एवं न प्रव्रजना जवति । ( क्लिप्ता कुलघरे य स्ति ) तास्तथा लज्जना इष्ट्वा तदीयकुलपदे गत्वा लोकः क्लिंसां कुप्यात् । यथा-सुष्मदीया दुहितरः स्तुया वा याः पूर्वं च-रुत्सर्गैरैतैर्यस्पृष्टाशास्त्राः साम्प्रतं सर्वैलोकपुरतो गाव इव चरन्त्यां ह्यारुन्ते । एवमुक्ते ते नृत्यस्तः स्वगृहमावयन्ति । 'नासद्वं' अस्त्ये च खादिति भक्षणं लोकस्य पुरतः सर्वास्तु कुर्वतीषु लोका इत्यात्-अहो ! बहुभङ्गकाः, अस्ति स्त्रीणां च लज्जा विपुर्णा, सा वैतानासीं नास्तीति । अथ च लज्जायां स्तुया इष्टान्तो जवति । स च द्विधा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । प्रशस्ते तावदाह-

उष्वासणम्मि सुहाए, ए शिसीयइ णावि जासए उब्भं ।  
णावि पमासे जुंजइ, गिाहइ वि य ण पाम अप्पाणं ॥

यथा-स्तुया वधुर्केश्वरास्ते न निर्धादति, नाप्येव मदता श-ब्देन भाषते, न च प्रकाशे नृभागे लुक्ते, आत्मीयं च नाम न शुद्धानि न प्रकटयति, एव संयत्नानिराधं भवितव्यम् ।

अप्रशस्तस्तुपादष्टान्तः पुनरयम्-

अद्ववा महापायाणि, सुहाइ समुरे य इक्केक्कस ।

दलपाणेण विणामं, लज्जानानेण पावंति ॥

अथवा प्रकारान्तरं स्तुपादष्टान्तः कियते-महापदानि वि-कृष्टतराणि पदानि, स्तुया इव शूरशैकेकस्य, परस्परं प्रयच्छन्तो, यथा लज्जानादान विनाशं प्राप्नुवन्, तथा संयत्यां पतितं लज्जा विनश्यतीत्युक्तराशः । नावायेस्त्वयथ-परास्व पिञ्जाइयसस भ-ञ्जाए मयाए पुत्तेण मे अट्टिया शिमायंसिका अंगेगनीया-ण्यु इयेगेदि सुहाइभसुरेदि हासविशुद्धयं करेतेदि निल्लज्जण-अं निस्संणिणा खरिहाता अनिघायपुत्तवणं विगिहतरादि पयाइ देतेदि पक्केक्कसस सामाणियं पटुण्णाय हां वि विणणाण, एवं निल्लज्जए विणासे दुज्जा ।

द्वितीयपदमाह-

पायसस वि तेणहिए, भाणियेणं वुडे व सावयभए वा ।

बोहिभए तित्ता इव, अपाद्या हुज्जा विट्ठपए ॥

पात्रस्याभावे स्तेनकतया हन्ते अग्निभावाद् भ्रामितं दकपू-रेण क्लिप्तपात्रे श्वापदज्ञेयं बोधिकभये वा शीघ्रं पात्राणि परिर्य-ज्य नष्टा सर्तां क्लिप्तिला या, आदिशब्दाद्यस्त्राविष्टा वा अपा-त्रिका पात्ररहिता द्वितीयपदे जवते । वृ० ४ उ० ।

अपात्रम्-अप्रावृत्-त्रि० । न विद्यते प्रावृत्तं प्राचरणं यस्ते-त्यप्रावृत्तः । स्था० ६ उ० १ उ० । औपत्रिकाद्युपरिततोपक-रणरहिते, वृ० ५ उ० ।

अपाणय-अपानक-त्रि० । जालवजिते, जं० २ वक्र० । चतु-



अपाययः

विधाहाररहिते, पञ्चा० १८ विध० ॥ " लुचणं भक्षणं अपाय-  
रणं " अ० २ वक्र० । पानकसंश्लेषेण शीतलत्वेन दाहोपशमने-  
स्तुष्टु स्थालीपाणकादिषु, शोलाकसम्पत्तपदाधेयुः क । म० १५  
श० १ उ० । (नम्रदंशेन गोस्ताहक शब्दे करिष्यामि) पानकाहार-  
वर्जिते, ज० ४ वक्र० । पानीयपानपरिहारवति, स्या० ६ ग्रा० ।  
पकान्तरपचाने, ध० ३ अर्थ० ।

अपाय-अपाद-त्रि० । विशिष्टवृन्दोत्तनायोगोत्पादवर्जिते,  
दश० १ म० । लुच० ।

अपायचिह्न-अपादचिह्न-त्रि० । अचिह्नचरणे, नि० वृ०  
१४ उ० ।

अपार-अपार-त्रि० । अनन्ते, स० ।

अपारंगम-अपारङ्गम-त्रि० । पारस्तः परकूलं तद् गच्छती-  
ति पारङ्गमः, न पारङ्गमोऽपारङ्गमः । पारगतोपदेशाभावाद्-  
पारंगमे, "अपारंगमा एत, ण च पारंगमित्ये" । एते कुनीयिका  
व्यः अपारङ्गमा स्यादि । पारस्तटः परकूलं तद् गच्छतीति पार-  
रङ्गमः, न पारङ्गमा अपारङ्गमा; एत इति पूर्वोक्तः । पारगतोप-  
देशाभावाद् पारङ्गता इति भावनीयम् । न च ते पारगतोपदेश-  
भूते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमसम । अथवा गमनं  
पमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रं त्वनुस्वारोऽस्लात्त-  
णिकः, न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमाय । अस्मयंस-  
सावोऽप्यम् । तेनाथयथैः पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भ-  
वति । ततश्चानन्तमपि संसारात्प्राप्तं चिन्तयित्वा । यथापि पार-  
गमनायोद्यमथिते तथापि ते स्वसंज्ञोपदेशविकलाः स्वकार्त्वाव-  
रचितनाशकवृत्तयो मैव संसारपारे गन्तुमसम । आच्चा० १  
शु० २ अ० ३ उ० ।

अपारग-अपारग-त्रि० । अतीरं गामिनः, सूत्र० १ शु० ३ अ० ३ उ० ।  
अपारगमो-देशी-निश्चामे, दे० ना० १ वगं ।

अपाव-अपाव-त्रि० । अपगतोऽपकमकलेहं, सूत्र० १ शु० १ अ०  
३ उ० ।

अपावभाव-अपावजाव-त्रि० । सव्याद्यपेक्षारहिततया शुद्ध-  
चित्ते, दश० ६ अ० १ उ० ।

अपावमाण-अपावभू-त्रि० । अनासादयति, श्लोच० ।

अपाव्य-अपावक-पुं० । शुभचिन्ताकूपे प्रयत्नमनोविनये, स्वा०  
७ टा० । अपावकप्रवृत्तनरूपे वाग्भिनये, ज० २५ श० ७ उ० ।

अपावा-अपावा-स्त्री० । अपापाऽनराभ्यां पुर्व्याम्, वध भीम-  
दावीरः स्वामी निर्वृत्तः । स्वा० ।

अपास-अपास-पुं० । अकथने, आच्चा० १ शु० १ अ० ३ उ० ।

अपास्तथा-अपार्वस्थता-स्त्री० । न पार्वस्थोऽपार्वस्थ-  
स्तस्य भावस्तथा । पार्वस्थतापरिहारे, अथवा चागमिथ्यद्भ्र-  
ताकारणानं कुर्वता आशासिप्रयागं न विषये । स्या० १० टा० ।

अपासित्वा-अपट्ट-अर्थ० । अनालोचनेत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अपि ( वि )-अपि-सम्ब० । सम्भावने, उक्त० ४ उ० । स्या० ।  
वाद्यते, रा० ।

अपिष्टुणया-अपिष्टुना-स्त्री० । यद्यदितामनपरिहारे, म० ७  
श० ६ उ० ।

अपिय-अपिय-त्रि० । अप्रतिकरे, ज० ६ श० ३ उ० । अपि-  
यदशने, जी० १ प्रति० । अप्रतिक्ते, "अपियत्तं वि वा अपिय-  
त्तं नि वा पगट्टं" एव १ उ० ।

अपिविजोदक-अपानीयोदक-पुं० । अपातव्यजले भेदे, ज०  
७ श० ६ उ० ।

अपिसुण-अपिसुन-त्रि० । छेदनमेदनयोरकर्तारि, दश० ११ अ०  
३ उ० ।

अपीकार-अपीतिकारक-त्रि० । अमनोहे, स्या० ३ टा० १ उ० ।

अपीडगराडिय-अपीतिकरहित-त्रि० । अप्रीतिवर्जिते, पञ्चा०  
७ विव० ।

अपीडतर-अपीतितर-त्रि० । अमनोहते, विपा० १ शु० १ अ० ।

अपीडाल-अपीडमना-स्त्री० । पादाद्यनवाहने, पा० ४० ।

अपीडिय-अपीडित-त्रि० । संवत्तप्राक्तियया आश्विनरोघाऽ-  
नशान्तिरूपतया पीमयाऽदुःखिते, पं० सू० ४ सू० ।

अपुच्छिय-अपुष्ट-त्रि० । पुच्छामगने, " अपुच्छिप्रो न भासि-  
य्जा, नासम्रणस्त अंतरा । पिट्टिमंसं न खाद्वजा, मायामोसं  
विवज्जप ॥ " दश० ८ अ० ।

अपुज्ज-अपुज्ज-त्रि० । न० त० । अथवर्णये, प्राव० ३ अ० ।

अपुष्ट-अपुष्ट-त्रि० । दुर्बले, वृ० ३ उ० । अपुष्कले, सूत्र० १  
शु० १४ अ० ।

अपुष्ट-त्रि० । अहीमन्ति, म० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टधम्म-अपुष्टधर्म-पुं० । अपुष्टपुष्कलेः सम्मगपरिहाणे  
धम्मः अनचादिश्राव्यां दुग्गतिप्रसूतजन्तुपणस्वभावेः येनासाव-  
पुष्टधर्मा । अगनाथे, "एवं नु लेहं वि अपुष्टधम्मं, धम्मं न जा-  
याद् अपुष्कलाय" सम्मगपरिणतधर्मपरिधे, सूत्र० १ शु०  
१४ अ० ।

अपुष्टज्ञापेय-अपुष्टज्ञापिक-पं० । न पृथलानिकोऽपुष्टज्ञापि-  
कः । हे माधो ! किं ते दीपने ? इत्यादिप्रश्नमन्त्रेण भिक्षां लभ-  
माने भिक्षावरकभेदे, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारार्थं भिक्षावर्या  
भेदे च । स्त्री० ।  
अपुष्टवागारण-अपुष्टवाकरण-न० । अपुष्ट मति प्रतिपादने,  
" एवं स्वर्थं अपुष्टवागारणं नेवर्थ " म० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टज्ञापेय-अपुष्टज्ञापिक-न० । अरदापादाकारणे, प्रथ०  
५ टा० ।

अपुष्टाकरणसंगय-अपुनःकरणसंगत-त्रि० । पुनरिदं मिथ्याचर-  
णं न करिष्यामिष्येति निश्चयान्विते, पञ्चा० ११ विव० ।

अपुष्टचव-अपुनःचव-पुं० । न पुनश्च्यवने चवयोऽपुनश्चवः,  
देवभ्यश्च्युत्या निर्व्यगादिभूत्पत्यभाये, उक्त० ३ अ० ।

अपुनर्बन्धय-अपुनर्बन्धक-पुं० । न पुनरपि बन्धो मोहनीय-  
कर्मोच्छिन्निवन्धनं यस्य स अपुनर्बन्धकः । पञ्चा० ३ विव० ।  
भाष्यसरे चमोषिकारभेदे, यं० वि० । यस्तु तां तेषु क्लृप-  
यद् प्रस्थिभदेशामागतः पुनने तां भङ्गति जेत्यति च प्रस्थि

साऽपुनर्बंधक इच्यते । " पावं ण तिष्यन्नावा कुण्ड " इति बचनत् । अ० ३ ब्रध्नि० ।

एतद्वक्तव्यं यथा—

पावं ण तिष्यन्नावा, कुण्ड ए बहुमर्द्ध भवं धोरं ।  
उचिभर्द्धिं च सेवद, सन्नरथ इ अपुण्यबंधो षि ॥

पापयुक्तं कर्म, तत्कारणत्वात्किंसाऽऽपि पापम् । तद् नैव तीव्रतायाद् गाढसंक्रियपरिणामाकरेति । प्रस्थन्तोत्कट- निष्ठ्यात्वादि क्रयोपश्रमेन ब्रह्माऽऽभ्रमेनेत्यथविशेषत्वात्सौमिति वि- शेषणाद्पापबन्ध- अतीवभावत्कारणत्वात्, तथा विषयकर्मशोभात् । त- यन्न न बहु मन्येन न बहुमानविषयोकरेति, प्रयं संसारं, धोरं रौद्रं, धोरंशयामात् । तथा—उचिभर्द्धिं तन्नुपक्रमप्रतिपात्तं, च द्वाभ्यः समुच्चये । सेवते भजेते । कर्मसाधनासंश्रयात्, आस्थानिक- प्रद्वेषकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृमभृ- तित्पु मार्गानुसारितान्निमुक्तयेन मयूरशिखरदृष्टान्तादपुनर्बंधकः, उक्तनिर्वचनो जीव इत्यर्थविषयकिपात्किंसा भवतीत्यलं प्रस- क्रान्तं । अ० ३ ब्रध्नि० ॥ ३० ।

प्रकारान्तरेष-

जवानिचन्द्रिदोषाणां, प्रतिपङ्कगुणैर्युतैः ।  
वर्द्धमानगुणप्रायो, अपुनर्बंधको मतः ॥ १७० ॥

भवाभिनन्दिदोषाणां बुद्धो लोभरनिर्दोषो मन्सरी इत्यादिना प्रयोगात्कामां, प्रतिपङ्कगुणैर्युतानि लोभान्दिभियुतानं, वर्द्धमान- गुणप्रायो वर्द्धमानाः शुक्रपञ्जकपापनिमग्नकालमिच प्रतिपङ्क- मुक्तनन्तो गुणा श्रीदार्थाद्विजायाद्यः, प्रायो बाहुदन्त्येन यद्य स तथा । अपुनर्बंधको धर्माधिकारी मतोऽस्तिप्रतः ।

अस्यैवा मुखवरूपा स्वात्, पूर्वमेवा यथोदित ।  
कस्याणाशययोगेन, शेषस्यापुनर्पचारतः ॥ १७६ ॥

अस्यापुनर्बंधकस्यैवा प्रागुक्तमुच्यरूपा निरुपचरिता, स्याद्भ- वेत् । पूर्वमेवा देवादिपञ्जरूपा, यथोदितान् यत्रकारा निरूपिता प्राक् । कस्याणाशययोगेन अगु, मुख्यनुकूलशुभभावसंबन्धेन, शेषस्यापुनर्बंधकपक्षया प्रमागु, मुख्यनुकूलशुभभावसंबन्धेन, उपचारत को, पवारिकी पूर्वमेवा स्यात्, अद्यापि तथाविधभववैराग्या- भावात्सत्य ॥ १७६ ॥

इह क्विंमार्गपतितमार्गोभिमुक्त्वावपि शेषश्रद्धेनाहुः । तन्न न युज्यते, अपुनर्बंधकत्वस्थाविशेषकपत्वात्तथापुनर्बंधकप्र- हर्षनिध गतत्वात् । यतो ललितविस्तरायां मार्गलक्षणमित्यमु- क्तम्—इह मार्गोक्ततत्त्वात्पञ्चमं, तु अङ्गमालिकाऽऽयामनुक्तयो विशिष्टगुणस्थानातिप्रगुणः स्वस्वभावाद् क्रयोपश्रमविशेष इति । तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः मार्गप्रवेशशयम्भ्रभापापको मार्गा- भिमुक्तः, एवं च नैतावपुनर्बंधकत्वस्थायाः परपरततावस्था- भाजो वक्तुमुचितौ, प्रगवद्विज्ञावगमयोग्यताय पञ्चवृत्तकवृत्ताव- नयाकर्त्तव्या । यथाक्त तत्र—इयं च भागवती सदाहा सर्वथा- ऽपुनर्बंधकादिगम्या । अपुनर्बंधकाद्यो य सस्या उक्तं क- र्मसिधितिं तथाऽपुनर्बंधकत्वेन कृपायन्ति ते क्वचपुनर्बंधकाः । आदिशुभ्रामार्गापतितमार्गोभिमुक्त्वाद्यः परि शुक्लते, दृढप्रति- काशोचनद्विगम्यलिङ्गाः । एतद्वृत्त्यं न संसाराग्निमन्दिगम्येति । संसाराऽग्निमन्दिगम्यपुनर्बंधकप्रगवस्थानाजो जीवा इति ।

नपुनरितं वस्येव न भवति, तत् कथमुपचारतः शेषस्य पू- र्वमेवा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

कृतवास्या उपन्यासः, शेषापसोऽपि कार्यतः ।  
नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्या—दन्वयैतत्पददर्शकः ॥ १७० ॥

कृतञ्च कृतः पुनरिह अस्याः पूर्वमेवास्याः उपन्यासः प्रहाय- नाकयः शेषापसोऽपि अपुनर्बंधकतावासन्नजीवानाभित्य, कार्यतो भाषितीं प्राचरूपां पूर्वमेवामोक्ष्य नहुलोदकं पाट- रोग इत्यादिदृष्टान्तात् । यतः, न नेवाऽऽपि समापवत्यैव, जीवोऽस्यापुनर्बंधकभावस्य, किं पुनरयमेवेत्यपिशङ्कायाः । बा- हुदवास्यापुनर्बंधकताऽपुनर्बंधकाजोविलक्षणो वर्तते इत्येतस्या- र्थस्य प्रदर्शको व्यापकः । न हि सुस्वरादिदिक्काल कार्यवृ- थडादेवोक्त्येन वैलक्षण्यमनुभवद् दृश्यते, किन्तु कथञ्चित्पु- स्यकपतामिति ।

भ्रमेवाधिकृत्याह—

शुश्रुद्धोके यथा रत्नं, ज्ञाप्यं काञ्चनमेव वा ।

गुणैः संयुज्यते चित्रै—स्तद्दृष्टान्ताऽपि दृश्यताम् ॥ १७१ ॥  
शुश्रुद्धोक्तिसमुत्पन्नं त्वास्तुमुत्पत्तादिसंयोगेन, लोके स्थ- वहाराहेजनमध्ये यथा रत्नं पद्मरागादि, जात्यमकृत्रिमं, का- ञ्चनमेव वा चार्त्ताकरं वा, गुणैः कल्प्यादिभिः, संयुज्यते सं- क्रियन्ति, चित्रैर्नानाविधैस्तदुच्यते; तद्वद् रत्नकाञ्चनवत्, आ- र्त्ताऽपि जीवः शुश्रुद्धोके पुना रत्नकाञ्चने । इत्यपिशङ्कायाः । इत्यताम्—कहापांश्च लुषाऽवलोकयन्तमिति ।

अत्रैव मत्तान्तरमाह—

तत्पुण्यैव शेषस्य, केचिदत्रो मपक्षते ।

आलोचनाद्यज्ञानेन, तथाऽनाज्ञोगसङ्गताम् ॥ १८२ ॥

ना बह्व्यमाणविशेषणलुक्पा या मकृतिः स्वभावतया शेषस्य सहद्वन्द्वकादेः, केचिन् शान्धकारा एनां पूर्वमेवा, प्रचक्षते व्या- कुर्वते, न पुनः सर्वे । कोदरोमै, इत्याह— आशोचनतायभावेन आलोचनस्योदस्य, आदिशुभ्रद्व्यापांश्च, निर्णयस्य, मार्गविषय- स्याभावेन, तथाऽनाभोगसंगतां, तथा तत्रकारः, कथञ्चिदपि अस्वरूपाऽग्निपायोको योऽनाज्ञोग उपयोगाभावेनसंगतां पूर्वकारणभावेनोपचारितत्वमुक्तमत्र ज्ञानाभोगाद्वारेणिति ॥

एतदेव समर्थयमान आह—

युज्यते चैतदप्येवं, तत्रैव मत्तविषे न यत् ।

तदावेगो भवासङ्ग—स्तस्यार्बौर्निवर्तते ॥ १८३ ॥

युज्यते च घटन प्येतदप्यनन्तरं क्व वस्तु, किं पुनः परस्परोक्त- म् ? इत्यपिशङ्कायाः । एवं यथा केचिन्नप्रचक्षते, मत्र हेतुः—निःस्थ- न्तमुक्ते, मत्तविषे कर्मबन्धयोग्यतासङ्गणे, न नैव, यद्यस्याह, तदावेगो मत्तविषयायोः । किंपदः ? इत्याह—जवासङ्गः संसार- प्रतिबन्धः, तस्य शेषजीवस्य, उच्चैरन्यत्नं, विलिखन्ते, मनागपि हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्बंधकत्वमेव स्यात् इत्यपिपचारिकयैव; शेषस्य पूर्वस्यैवेति स्थितम् ॥

अथ यां प्रकृतिभाषित्य पूर्वमेवा स्यात्तां, तत्रिपर्ययं चाऽह- संक्रियायोगतो ज्ञाप, कस्याप्याङ्कतया च यत् ।

तास्विकी प्रकृतिज्ञेया, तदस्या त्पचारतः ॥ १८४ ॥

संज्ञकाऽयोगतो भूयः पुनरपि, तीव्रसंज्ञाप्रयोगेन कल्याणा-  
 कृतया च उत्तरोत्तरमववैराग्यादिकद्वयाननिमित्तभावेन वा ।  
 यद्यस्याद् वर्तते वा सा तस्यासात्त्विकी वास्तवरूपा, प्रकृतिः  
 स्वभावलक्षणं धर्माऽऽजीवस्य ज्ञेया; तदन्या तु तस्या भ-  
 न्याः पुनः प्रकृतिरूपधारत उपचारैतरूपा तात्त्विकप्रकृति-  
 विभक्त्युत्पात्तस्याः ।

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु, व्यवहारः प्रवर्तते ।

ततश्चाधिकृते वस्तु, नान्यथेति द्वायतं श्लोकः ॥ १८५ ॥

एनां चैनामिष तात्त्विकीं प्रकृतिं चाभिव्यापेह्य, शास्त्रेषु यो-  
 गप्रतिबद्धेषु, व्यवहारः पूर्वसंवादिः, प्रवर्तते प्रह्लापभोयनामिति ।  
 ततश्च तस्मादेव हेतोर्नाधिकृतं पूर्वसंवादात्कृतं वस्तु तात्त्विकं,  
 नान्यथा पुनर्बन्धकं व्यतिरिच्य इति स्थिते प्रतिष्ठितं, हि स्फु-  
 टम्, श्लोक एतत् ।

तथा-

शान्तोदात्तत्वमप्रैव, शुक्रानुष्ठानसाधनम् ।

सूत्रमज्ञावाहसंयुक्तं, तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥ १८६ ॥

शान्तस्तथाविधेन्द्रियकषायविकारविकलं, उदात्त लघोः-  
 तराद्याचक्षुस्थितिवद्विचित्रः । ततः शान्तश्चासावुदात्तश्च  
 शान्तोदात्तः, तस्य ज्ञावस्तत्त्वम् । अथैव प्रोक्तप्रकृतौ सत्यां, जा-  
 येतं शुक्राऽनुष्ठानसाधनं निरवघातचरस्यकारणम् । तथा-सूत्रम-  
 ज्ञावाहसंयुक्तं अथमाज्ञादिनिपुणभाषयथासौचनयुतम् । अत  
 एव तत्त्वसंवेदनानुगं तत्त्वसंवेदनासंज्ञितज्ञानविशेषसमन्वितस्य  
 ततः-

शान्तोदात्तः प्रकृतेर्ह, शुभ्रजावाभ्रयो मतः ।

धन्यो जोगमुखस्यैव, विज्ञातव्यो रूपवान् पुत्रा ॥ १८७ ॥

शान्तोदात्त उक्तः रूपः, प्रकृत्या स्वभावेनेदं जने, शुभ्रभाषाश्रयः  
 परिशुद्धचित्तपरिणामस्थानं, मनो जन्तुः । अत्र दृष्टान्तमाह-  
 धन्यः सौभाग्यादेवतादिना धनार्हो भोगसुखसंयुक्तं शब्दरूपरस-  
 गंधधराशंसवालक्षणस्य यथाऽऽभव्यः, विज्ञातव्यो विभवनयायकः,  
 रूपवान् शुभ्रशरीरसंस्थानः, युवा तदवशः पुमाद् ।

एतदेव व्यतिरेकत आह-

अनीदृश्यस्य च यथा, न भोगमुखसुखस्यम् ।

अशान्तोदात्तस्या शुष्कं, नानुष्ठानं कदाचन ॥ १८८ ॥

अनीदृश्यस्य च धन्यादिविशेषणविकलस्य पुनर्यथा न जोगसु-  
 खं शब्दादिविषयानुभवलक्षणम्, उक्तं प्रकृतम्, अशान्तोदृश्या-  
 तस्तस्यादात्तस्य च । तथा जोगसुखवत्, शुष्कं निर्वाणवन्त्यबो-  
 जकरूपं नानुष्ठानं देशपुत्रमादि, कदाचन कदाचपि काले ।

तर्हि किं स्यात् १, इत्याशङ्क्याऽऽह-

पिप्याविकरूपरूपं तु, द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।

स्वबुक्तिकल्पनाशिदिव-निर्मितं न तु तत्त्वतः ॥ १८९ ॥

पिप्याविकरूपरूपं तु मरुत्तरीचिकादिषु मुग्धस्यगादीनां जला-  
 दिप्रतिभासाकारं, पुनर्द्वयोक्तविभक्त्युत्पात्तयोर्भोगधामिकयोर्द्वय-  
 भावि भोगसुखानुष्ठानरूपं, किं पुनरैकैकमित्यपिशब्दार्थः । स्थितं

प्रतिष्ठितम् । किमुक्तं प्रथति ?-स्वबुद्धिकल्पनाशिविपनिर्मितम् ।  
 स्वबुक्तिकल्पना स्वबुद्धमतिविकल्पकत्वात्, सैव शिदरी वैज्ञानि-  
 कस्तन निर्मितं घटितम् ; न तु न पुनस्तत्त्वतः परमार्थतत्त्व-  
 ज्ञोगसुखं धर्मानुष्ठानं चेति ।

तद्वाच्यमाऽर्थमाह-

जोगाङ्गशक्तिवैकल्यं, दरिद्रायौवनस्थयोः ।

सुरूपरागाशङ्के च, कुरुपस्य स्वयंपिति ॥ १९० ॥

इह जोगाङ्गनि रूपादीनि । यदाद वास्तव्यानः-“ रूपवयोवि-  
 ष्वङ्गवसौजायमाधुर्विभ्रयोणि भोगसाधनम् ” इति । तत्रापि कृपा-  
 यवोविताङ्गव्यतिनि प्रधानांति । एतदेव अतयमपेह्याऽऽह-  
 “ भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं ” भोगाङ्गानां रूपादीनां, शक्येभोगासं-  
 नलक्षणाया वैकल्यमत्रावः, दरिद्राद्यौवनस्थयोर्दरिद्रस्य भोगा-  
 ङ्गविरदोऽसौवनस्थस्य त्वशक्तिरिति । सुरूपरागाशङ्के च सुरूपं  
 प्रांतुमारब्धे स्वर्गिते सुन्दरं संस्थानं रागाऽभिप्रेक्ष्यतिरेकः,  
 आशङ्का च स्त्रीगतानुरागवदेहकृपा तस्मिन्, ततः सुरूपरागाश्चा-  
 शङ्का च सुरूपरागाशङ्के, पुनः कुरुपस्य तु पुंसः स्वयंपिति  
 स्वस्त्रियमिति ।

ततश्च-

अजिमानमुत्वाभावे, तथा क्रिष्टानुन्तरात्मनः ।

अप्रायशक्तियोगाच्च, नहीन्यं भोगिनः सुखम् ॥ १९१ ॥

अजिमानमुत्वाभावे अदं सुखीत्येव चित्तप्रतिपात्तरूपलक्षण-  
 स्थाजिमानसुखस्याभावे स्मिन्, तथेति विशेषणसमुच्चये । क्रिष्टा-  
 न्तरात्मनोऽप्युपयोगेऽप्येन साध्याश्रित्यस्याप्रायशक्तिः योगाभा-  
 वाप्यस्य निवाहशरीरव्यवच्छेदकस्य वांङ्कार्यौवनस्थयोः कुरु-  
 पस्य वा रुचिमत्स्त्रीकृतेःषाटनार्थो शक्तिर्भोग्या, तस्या या-  
 गसंभ्रम्यात्, चः समुच्चयः । कियं, इत्याह-वदि नैवेधमनाश्र-  
 वादिशिशिष्टस्य भोगिनः सुखं जोगज यद्विचक्षणं सुभ्रयत् घटि ।  
 यथा च तद्भोगसुखमनुष्ठानं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन  
 स्यातां तथाऽऽह-

अतोऽन्यस्य तु धन्यादे-रिदमन्यनसुखस्यम् ।

यथा तथैव शान्तोदः, शुक्रानुष्ठानमित्यपि ॥ १९२ ॥

अतः प्रायुकाङ्क्षागिनः सकाशात्, अन्यस्य तु भन्यप्रकार-  
 भाजः, पुनः धन्यादेरुक्तकस्य भोगिन इदं भोगसुखमन्यन-  
 सुखम्, शेषजोगसुखान्तराशिवि यथा स्यात्तथैव, शान्तोदः शान्तो-  
 दात्तप्रकृतेरनुष्ठानं प्रस्तुर्नमित्यपेर्द्वयमपि ज्ञेयम् ।

एवं सति यन्मत्सदाहा-

क्रोधाद्यबाधिनः शान्तः, उदात्तस्तु महाशयः ।

शुभ्रानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टप्राप्तिसंगतः ॥ १९३ ॥

क्रोधाद्यबाधिनः शान्तः, उदात्तस्तु उदात्तः, पुनर्महाशयो  
 गाम्भीर्योर्विशुणोपेतोवेन महाचतुः । शुभ्रानुबन्धिपुण्याच्च पु-  
 ण्यानुबन्धिनः पुण्यतत्त्वकाश्यायुनर्विशिष्टमित्यस्यतो मार्गा-  
 नुत्सारप्रौढप्रह्लातुगतः मन ।

किमित्याह-

ऊढतेऽयमतः प्रायो, नवर्षीनादिगोचरम् ।

कान्ताऽऽदितगतयोऽऽदि, तथा भोगीव सुन्दरम् ॥ १९४ ॥

ऊहते वितर्कयति, अयमपुनर्बन्धकः, अतो विशिष्टमतिसा-  
गत्यात् प्रायो बहुल्येन । कथम् ? इत्याह—भवषीजादिगोचरं भ-  
वषीजं भवकारणम्; आदिशब्दाद्भवस्वरूपं भवफलं च पृच्छते ।  
यथा—“एस जे अणाइजिबे अणाइजिबस्स भव फलं च पृच्छते अस्स-  
संयोगानिब्बत्तिपे तुक्ककवे तुक्कफले तुक्कआणुपधिंति ” ततो  
भवषीजादिगोचरं यत्र तत्तथा, किंवाविशेषणमतत् । अथवा  
भवषीजादिगोचरो विषय ऊहरीयतया भवषीजादिगोचरत्त्वम् ।  
अत्र दृष्टान्तः—कान्तादिगतगोयादि । कान्ता वट्टमा, आदिश-  
ब्दात्तद्व्यग्यायनादिप्रदः । तत्रतं तत्प्रतिबन्धं यद् गेयं गीतम् ।  
आदिशब्दाद्गुरुसादिशेषेन्द्रियविषयप्रदः । तथा तत्प्रकारो गे-  
यादृशयोग्यां जोगी, स इव सुन्दरं मनोहरदीन्द्रियविषयस्थान-  
मागतमिति । यथा विचक्षणो जोगी सुन्दरं कान्तादिगतगोयादि  
ऊहते तथाऽयं भवषीजादिफलमिति भावः ।

यद्योहते तर्थाऽऽह—

प्रकृतेर्भेदयोगेन, नामयो नाम आत्मनः ।

हेत्वजेदादिदं चारु, न्यायमुच्चाऽनुसारतः ॥ १९५ ॥

प्रकृतेः परपरिकल्पितायाः स्वस्वरूपमोक्षोपायाः, स्वप्रक्रिया-  
याश्च ज्ञानाश्चरणादिलक्षणायाः, भेदयोगेनैकान्तेनैव भेदेनत्यर्थः ।  
न भेदात्समो विसदृशो, नामः परिणामश्चेतन्यक्षानोमीलनादि-  
कः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानः, आत्मनो जीवस्य स्यात्, किन्तु स-  
र्वजीवानां सर्वदैव सम एव प्राप्नोति । कुतः ? इत्याह—हेत्यंभे-  
दात् । हेतोः प्रकृतिभेदलक्षणस्याभेदाद् नानात्वात् । नह्य-  
भिर्भेदो ही क्वचिदपि फलभेद उपपद्यत इति कृत्वा इदमेकान्-  
तेनैव प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामवैधेर्यासाङ्ग्यलक्षणं  
वस्तु चारु संगतं वर्तते । कुतः ? इत्याह—न्यायमुच्चाऽनुसा-  
रतः, न्यायस्य मुद्रा कृतप्रत्येरेपि परैरनुलक्षणीयत्वाद् राजा-  
दिमुद्रावत्, नस्या अनुसारनेऽनुवर्तनात् । तथाहि—यदि प्रकृ-  
तिभेदे सत्यापि परिणामनानात्वमात्मन इत्येत, तथा मुक्ताना-  
मपि प्राप्नोति, संसारीणां मुक्तानामपि च प्रकृतिभेदाविशेषात् ।

एवं च सर्वस्तथांगा—द्रयमात्मा तथा तथा ।

भवे भवेदतः सर्वे—पास्त्रिस्यारविरोधिनी ॥ १९६ ॥

एवं च प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामनानात्वसाङ्ग्ये सति पुनः  
किं स्यादित्याह—सर्वेः निरव्येष्टेप, तद्योगाप्रकृतिभेदात्गातकथ-  
ञ्जिदेक्यापत्तिलक्षणात्, अथय—अपुण्यबंधकथावस्थामा-  
भात्सा जीव, तथा तथा नरनरकादिपरिभाषाकृतेन भवे सं-  
सारे, भवेत्स्यात् । अतस्तथा तथा भवेत्सा सर्वप्राप्तिः संसार-  
यवर्गभावस्यालाभक्याऽस्यात्मनोविरोधिनी अविद्यतमाना सं-  
पद्यते । प्रकृतियोगात्सर्व संसारावस्था, विप्रयोगाच्च मुक्ता-  
वस्थेति भावः ।

सांतिक्किमल्लाह यद्वा, न हेतोस्ति सिक्कता ।

तच्चिन्नं पदभेदेऽपि, तत्कामादिभिर्भेदतः ॥ १९७ ॥

सांतिक्किमल्लाह आत्मनः परिणामनानात्वसाङ्ग्ये सति पुनः  
सांतिक्किमल्लं परिहृत्येत्यर्थः । यदेति ऊहस्यैव पदान्तरसू-  
चकः । 'न' नैव, हेतोस्त्वस्त्वेश्चरानुप्रदः परिणामविभ्रतायां  
सांत्वायां सिक्कता प्रमाणप्रतिष्ठिता । ईश्वरं हि अतिस्वकलित-  
त्वेरामयान् । यतः पठ्यते—“ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जग-  
त्पतेः । येभ्यश्चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ” ॥ १ ॥

ततः कथमसौ कञ्चानुपुण्यं याश्चिपुण्यं याश्चा? किञ्चासौ योग्याना-  
मपेक्ष्य प्रवर्तते, इतरथा वेति द्वयी गतिः । किं चातः? । यदि  
प्रथमः पक्षः, तथा सैव योग्याता हेतुः किञ्चिद्व्यभिचारप्रद-  
भ्याम् ? । अथेतरथा, तदा सार्वभौमिकवाचानुप्रदनिग्रहौ स्यातां  
न तु विभोगेन, न वा क्वचित्, निमित्तसाभावात् । यतः पठ्यते—  
“नित्यं सत्प्रससत्वं वा, हेतोर्गत्यानपेक्षणात् ॥

अपेक्षानो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंसर्गः ” ॥ १ ॥ इति ॥

सांतिक्किमल्लमेवात्मनो परिणामवैधेर्यश्च हेतुः ।  
तत्सांतिक्किमल्लं, निश्चिं नानारूपम्, यद्यस्मात्कारणात् ।  
अभेदेऽपि कथञ्चित्सांतिक्किमल्लरूपतया । एतदपि कुतः ? इत्याह—  
तत्कालादिविभेदतः ते शास्त्रान्तरप्रसिद्धा ये कालादयः काल-  
स्वभावानियतिपूर्वकतुरुपकारलक्षणा इतवः सर्वजनाकार्यजन-  
नकाः, तेषां विभेदतो वैसदृशात् । इदमुक्तं भवति—कादाचित्के-  
दात्सांतिक्किं मल्लमात्मना सह जेदाभेदवृत्तिं सद्यतो ना-  
नावृत्तं रूपं वर्तते, ततस्तद्वशादेव परिणामवैधिर्यमात्मना-  
नुपचरितमेवोपपद्यते, न पुनरीश्वरानुभावात् । प्रागुक्तमुक्तथा  
तस्य निराकृतत्वात्; इति वा विन्त्येत्यासाविति ॥

इदमेव समर्थयति—

विरोधिण्यापि चैवं स्या—तथा लोकेऽपि दृश्यते ।

स्वरूपेतरहेतुत्वात्, भेदादेः फलचित्रता ॥ १९८ ॥

विरोधिण्यापि च विद्यतमानैव च सर्वार्थपरिमित्तियनुवर्तते, न  
पुनः कथञ्चिदपि विरोधिनाः एवं सांतिक्किमल्लादित्येव हेत्वनु-  
पगमे सति, स्याद्भवेत् । यथा च विरोधिनी सर्वे प्राप्तिः, तथाऽ-  
नन्तरमेव दृश्येति । तथैतं हेतुधन्यत्वात् लोकेऽपि, शास्त्रे  
तावद्दृश्येतेषां पश्यादर्थः । दृश्यते विज्ञेयत्वेन । स्वरूपेतरहेतु-  
त्वात् स्वरूपेतरहेतुः परिणामिकारणम् । यथा—सुदृग्घटस्य, इतः  
पुनर्निमित्तसहेतुत्वात् तस्यैव चकचीवरादि, ताभ्यां तावाश्रित्येत्य-  
र्थः । जेदादेभेदात्, यथायोगं कथंसांतिक्किमल्लं पदं द्या-  
जेदात्, इतरापेक्षया च भेदात् । किमित्याह—फलचित्रता कार्या-  
णां नानारूपता । यदि हि मृगमात्रक एव घटः स्यात्तदा सर्वैष-  
यानां मृगमत्याविशेषादेकाकारत्वे स्यात् । तथा बाह्यमात्र-  
निमित्तत्वं परिणामिकारणविरुद्धं कुर्मोमादिर्न च कस्यचित्-  
त्कार्यास्यापत्तिः स्यादिति । स्वरूपेतरहेतु समाश्रित्याभेदवृ-  
त्त्या भेदवृत्त्या च कार्यमुपपद्यमानं चित्ररूपतां प्रतिपद्यते । एवं  
च सांतिक्किं मल्ले सर्वजीवानां परिणामिकारणे सति तत्का-  
लादिबाह्यकारणस्यैव प्रकृत्यायां चित्रकर्मव्यक्त्यानां नानापरि-  
णामप्राप्त्या सर्वो लोकः शास्त्रप्रसिद्धो नरनरकादिपर्यायः,  
तदुपप्रासात् पुनरनुपबन्धकत्वादि यावत्सर्वैकलेशप्रदापित्तलक्षणा  
मुक्तिरिति सर्वमनुपचरितमुपपद्यत इत्युच्यते इति ॥

ततः किमित्याह—

एवमूहप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः ।

एतद्वियोगविषयोऽप्येव सम्पक् प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

एवमुक्तकरणेन ऊहप्रधानस्य वितर्कसारस्य, प्रायो बहुल्येन,  
मार्गानुसारिणो निर्वाणेषुनाकुलस्यापुनर्बन्धकत्वेन क्वचि-  
न्यथाऽपि प्रवृत्तिस्य स्यादिति प्रायो प्रह्वमम् । एतद्वियो-  
गविषयोऽपि आत्मना सह प्रकृतिविद्यतनोचकः, किं पुनर्भे-  
दवर्षीजादिगोचर इत्यपिशब्दाः । एव ऊहः, सत्यगूहनाथार्था-

## अपुण्यबंधय

अभिचारः, प्रवर्तते समुन्मीलति । इदमुक्तं भवति-यथा भवथी-  
आदिगोचरमतिनिपुणमुदने, तथा कर्मणोत्तमः कर्मणा वियो-  
गो घटते एवमन्यूहते इति ।

एवं सति यत्सिद्धं तदाह-

एवंलक्षणयुक्तस्य, प्रारम्भादेव चापरेः ।

योग लुक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥३००॥

एवंलक्षणयुक्तस्य पूर्वोक्तोह्युणसमन्वितस्य, प्रारम्भादेव प्रा-  
रम्भमेव, पूर्वसेवाभक्षणमाश्रित्य, अपरेऽस्तीर्थांतररथियोगो व-  
ह्यमाननिरुक्तः, उक्तोऽस्यापुनर्वन्धकस्य, विद्वद्विधिचक्षणैः,  
गोपेन्द्रेण योगशास्त्रकृता, यथादितं यत्प्रकारमिदं वस्तु, तथो-  
दितमिति । योऽविं० ॥

पुनरपि—

शुद्धप्रप्रेन्दुवत्प्रायो, वर्द्धमानगुणः स्मृतः ।

जवाभिनन्दितोषाणा-मपुनर्वन्धको व्यये ॥ १ ॥

अस्यैव पूर्वस्यैवोक्ता, मुख्योऽन्यस्योपचारतः ।

अस्यावशान्तरं मार्ग-पतितामिमुन्मी पुनः ॥ ३ ॥

( शुक्लेति ) शुक्लपत्रेन्दुवत्पुत्रदुज्ज्वलप्रकचन्द्रवत्, प्रायो बाहुल्येन,  
वर्द्धमानाः प्रतिकलमुल्लसन्तो, गुणा श्रीदार्पदाङ्गियादयो य-  
स्य भवामिनन्दितोषाणां प्रागुक्तानां सुदुःखादीनां व्ययऽपगमे  
सत्यपुनर्वन्धकः स्मृतः ॥ १ ॥ ( अस्यैवति ) अस्यैवापुनर्वन्धक-  
स्यैवाक्ता शुर्वविपुत्रालक्षणया पूर्वसेवा, मुख्य कल्याणशाययो-  
गेन विनयव्रतिता, अन्यस्यापुनर्वन्धकानिरुक्तस्य सकृदन्धका-  
देः, पुनरुपचारतः सा, तथा विप्रव्यवैराद्याभावात् । मार्गपति-  
तमार्गामिमुन्मी पुनरस्यापुनर्वन्धकस्य, अवशान्तरं दशाविशो-  
रूपतः, मार्गो हि चेतसोऽन्यकर्ममनं नृजङ्गमनङ्गिःकः।ऽऽप्यामनुष्यो  
विशिष्टगुणस्थानावामिमुणः स्वस्ववादी कृत्योपशमविशेषः  
तत्र प्रविष्टो मार्गपतिनेः मार्गप्रवेशयोग्यभवत्प्रापन्नञ्च मार्ग-  
निमुक्त इति । नक्षयमेतावपुनर्वन्धकावस्थयाः परन्तवावस्थाजो,  
भवदाहावगमयोग्यतया पञ्चत्वकृत्वात्वनयोःरुक्तात्वात् ।

अपुनर्वन्धकस्यैवापुण्यं युक्तम्—

योग्यत्वेऽपि व्यवहितौ, परे त्वेतौ पुण्यं जगुः ।

अपुनत्राप्युपचारस्तु, सामीप्ये वहजेदतः ॥ ३ ॥

[ योग्यत्वेऽपीति ] परे त्वेतौ मार्गपतितामार्गामिमुन्मी योग्यत्वेऽ  
पि अर्वाह्नितावपुनर्वन्धकाङ्गया दूरभावयित्वा, पुण्यगुणबन्ध-  
काङ्गिजौ जगुः । अन्यत्रापि सकृदन्धकादावपि उपचारस्तु पु-  
नर्वन्धकायाः सामीप्येऽपुनर्वन्धकस्थिधानरक्षणं सति, बह्वभेदानाऽ  
तिनेदाभावात् ॥ ३ ॥ द्वा० १४ द्वा० १० सू० । बीजाधाना-  
मेव अन्धबन्धकस्य । नञ्वास्यापि फुल्लपरायनेः संसारः ( त्र० ) न  
ह्येवं प्रवर्तमानो महत्साध्यक इति अभ्योऽप्येतद्वालङ्कारोऽपुनर्वन्धक  
इति तं प्रमुण्येऽसाफल्येनानिबृत्ताधिकारायां प्रकृत्यावेवभूत  
इति कापिलाः । न तथा पुनर्वन्धकाङ्गया इति च सीमताः । अपुन-  
र्वन्धकास्त्येवैवन्तु इति जैनाः । तच्चोऽन्यमेतद्दार्द्रेण परिभा-  
वनीयम् ॥ ल० ॥

अपुण्यजन्य-अपुनर्जय-त्रि० । न० ब० । पुनर्नवसम्प्रवर्तते,  
यतः पुनर्जन्म न जवति, “सिद्धिप्राप्तौ नैव सास्य-भवत्वाहा-  
रप्रभवं पस्यं सोमं” ( अन्नचर्ये ), ततः पुनर्नवसम्प्रवा-  
जायात् । प्रभ० १ आभ० ८० ।

अपुण्यभाव-अपुनर्जय-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, “अपु-  
नस्तथाय सिया” अपुनर्जावं स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽन्धकत्वेन ।  
पं० सं० १ द्वा० ।

अपुण्यरागम-अपुन्यरागम-त्रि० । नित्ये, जन्मादरहिते चादश० १ सू० ।

अपुण्यरागम-अपुन्यरागम-पुं० । न० ब० । अविद्यमानपुन-  
र्भावावरात, ( सिद्धिगत्याव्यऽप्ये, पुनर्नवबीजकर्मभावात्, ताम्रा-  
सानां पुनरजननात् । सं० १ सम० । श्री० । “अपुनरावस्यं  
सिद्धिगत्याव्यं यथा संपाविउकामेणं” ज० १ श० १ उ० ॥

अपुण्यरागमि-अपुन्यरागमि-पुं० । न० । न पुनरावृत्तिः संसार-  
ऽवतारो यस्मात् तथा । सिद्ध्याव्यऽप्ये, ध० २ अवि० । रा० ।  
पुनरावृत्त्यभावे, पं० सू० ।

“अतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः, क्षयं प्रयातः पुनरोति च मृत्युः ।  
गतं गतं नैव तु संनिवर्तते, जलं बर्तमानं च नृणां च जीवितम् ॥ १ ॥  
पं० सू० ४ सू० ।

“दग्धे बीजे यथा-ऽप्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः  
कर्मबीजं तथा दग्धे, न रोइति भवाङ्कुरः” ॥ १ ॥ ल० ॥

अपुण्यरुत्त-अपुन्यरुत्त-त्रि० । न० तं । पुनरुत्तःशोधरहिते,

“अपुण्यरुत्तेर्हि महाविच्छेदो हि संसृष्टौ ॥ १ ॥ रा० । जं० । भा० म० ।

“अनुदानादरवीत्मा-भृशार्थविनिर्माणेदं त्वस्य्यासु ।

ईपसंभ्रमविस्मय-गणानास्तरणेष्वपुनरुत्तम् ॥ १ ॥ दृशं० ।

अपुण्य-अपुण्य-त्रि० । न० ब० । अविद्यमानपुण्ये, विपा० १

धु० ७ अ० । तीव्रसानोदये वर्तमाने, “सामा णेरुद्याण, प-

वस्यतीतं अपुण्यं ॥ सूत्र० १ धु० ४ अ० १ उ० । अनार्ये

पापाचारं, भाञ्च० १ धु० ६ अ० १ उ० ।

अपुर्ण-त्रि० । पूर्णव्यतिरिक्ते, “अदृढं अध्याभा अपुर्णा”

अपुर्णाः, अपुर्णानोरथावात् । विपा० १ धु० ७ अ० ।

अपुण्यकल्प-अपुर्णकल्प-पुं० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यकल्पिय-अपुर्णकल्पिय-पुं० । गीतार्थे असहाये,

व्य० १० उ० ।

अपुत्त-अपुत्त-त्रि० । न० ब० । स्तनरहिते, “अपुत्रस्य न सति

लौकाः । ( शैवागया ) शब्देऽप्ये ऋगडनं वक्षते ॥ स्वजनव्यधुर-

हिते, निमेषं च । भाञ्च० २ धु० ६ अ० २ उ० ।

अपुम्प-अपुम्प-पुं० । नपुंसके, अपा० १ वृ० । “अदमेसिप

अपुम्पं जतिश्रोत्रं परिसेवामि” ति० सू० १ उ० ।

अपुरकार-अपुरस्कार-पुं० । पुरस्करणं पुरस्कारः । गुणवा-

नयमिति गौरवाभ्यापारः, न तथाऽपुरस्कारः । अचक्षास्पदत्वे,

“गरुडणया अपुरस्कारं जणयइ” उ० २६ अ० ।

अपुरकारगय-अपुरस्कारगत-त्रि० । अपुरस्कारं गतः प्राप्तेऽ-

पुरस्कारगतः । सर्वथावञ्चाऽऽस्पदं ज्ञाने, उ० २६ अ० ।

अपुरव-अपूर्वे-त्रि० । पूर्वमदृष्टभूते, ‘पूर्वस्य पुरवः’ । भा० १३ उ० ॥

इति शौरसेन्यां पुर्वशब्दस्य पुनरेयादेशः । “अपुरवं नाडवं ।

अपुरवागदं । पक्ते-अपुर्वं पदं । अपुर्व्यागदं” ॥ प्रा० ॥

अपुरिस-अपुरिस-पुं० । न पुरुषः । न० तं । नपुंसके, व्या० ६ ज० ।

अपुरिसङ्कारपरकम-अपुरुषाकारपाङ्कम-त्रि० । न० ब० । पुरुषकाः पराकामक्य न विद्येते यस्य सोऽपुरुषकारपरकमः । अनिष्ठादितप्रयोजनन निष्ठादितप्रयोजनन वा पौषधामिमानेन रहितेन, विपा० १ भु० ३ अ० ३ । म० ।

अपुरिसवाय-अपुरुषवाद्-(ञ्)-पुं० । स्त्री० । अपुरुषो नपुंसक-स्तुद्धवाः; चाश्वा । वृ० ६ उ० । नपुंसकोऽप्यित्येवचालोपाम्, "अपुरिसवाये वयमाणे, दासवाये वयमाणे, इबेह कल्पस्त" द्वितीयः प्रस्तारः । ( व्याख्याऽप्यथ ) । स्या० ६ उ० ।

अपुरोहित्य-अपुरोहित-त्रि० । नास्ति पुरोहितो यत्र । शास्तिक-मंकारिरहिते, यत्र तथाधिप्रयोजनमाभावात् पुरोहितो नास्ति । मं० ३ हा० १ उ० ।

अपूर्व-अपूर्वे-त्रि० । न० । अजिनवे मन्यसदृशे, प्रव० ३२४ हा० । प्रति० । अपूर्वपूर्वे, आ० म० द्वि० । अपूर्वकरणे, आ० ब० ४ आ० हा० ॥

अपूर्वकरण-अपूर्वकरण-न० । अपूर्वोमपूर्वो कियं गच्छतीत्यपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघात-गुणभेदगुणसकमाः, अन्यच्च स्थितिकेचनः, इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपदेन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । आ० ब० १ भु० ७ आ० १ उ० । अप्राप्तं पूर्वमपूर्वम्, स्थितिघात-रसघातात्पूर्वार्थनिवर्तनं वा । अपूर्वत्वं तत्करणं च अपूर्वकरणम् । मथानां सस्यकृत्वाद्यनुगुणं विद्वद्भवत्परिणामविशेषे, आ० म० प्र० । पञ्चा० । वृ० । पो० । ('करण'शब्दे तृतीय-जागे ३५६ एव स्थित्यास्यते चैतत् ) अपूर्वमजिनवत् प्रथममित्यर्थः । करणे स्थितिघातरसघातगुणभेदगुणसंक्रमस्थिति-करणानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्मात्सात्पूर्वकरणः ।

अष्टमगुणस्थानकं प्रतिपक्षे जीवे, कर्म० । तथादि-बृहत्प्रमाणत्वात् ज्ञानावरणार्थादिकर्मस्थितेरपवर्तनाकरणेन खगमनमप्यकरणं स्थितिघात उच्यते । रमस्थायि प्रचुरीभूतस्य स्वनेऽपवर्तनाकरणेन खगमनमप्यकरणं रसघात उच्यते । एतेऽपि पूर्वगुणस्थानेषु विगुणेरल्पव्यादृग्वाये कृतवान् । अप्र-पुनर्विद्युत्-प्रकृत्याद् बृहत्प्रमाणत्वात् अपूर्वाविर्मा करति । तथा अपरितनस्थितेर्विगुण-विशुद्धात्पवर्तनाकरणेनावतरितस्य दलिकस्यान्तमुहूर्तप्रमाणमुदयस्येतादुपरि क्विप्रतरकृपणाय प्रतिक्षणमन्त्रं चयुगुणद्वया विरचनं गुणभोगः । स्थापना- \* एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविगुणस्थानात् काहतेऽद्याधिसीं दक्षिकर-चनमाभिख्याप्रधीयसीमन्यदलिकस्यापवर्तनाह्वितरचितवान् । इह तु तामेव विगुणस्थानेषु कालतो ह्रस्वतरां दलिकरचनमाभि-स्तु पुनः पुनरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा वद्यमानशुभप्रकृतिपञ्चव्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षण-मन्त्रं चयुगुणद्वया विद्युक्चिदशकषयं गुणसंक्रमः । तमप्यसा-विहापूर्वं करोति । तथा स्थितिं कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग्दधी-यसीं ब्रह्मवाद्, इह तु तामपूर्वां विगुणस्थाद्वेह हस्यिसीं ब-ध्नातीति ( स्थितिकेचनः ) । अयं चापूर्वकरणो विधा-कृपकाः, उपशमकक्ष । कृपणोपशमनाहंत्वाच्चैवमुच्यते, राज्याहं कुमा-राजचत् । न पुनरसौ कृपणपुन्यमथयति वा । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । पं० सं० । दश० । अष्ट० । आ० ब० ।

अपूर्वकरणगुणद्वयाणाम-अपूर्वकरणगुणस्थानक-न० । अपूर्-वकरणस्य गुणस्थानकमपूर्वकरणगुणस्थानकम् । अष्टमगुण-

स्थानके, प्रव० २२४ हा० । एतच्च गुणस्थानकं प्रपञ्चानां का-लत्रयवर्तिनो नानाजीवानोऽप्य सामान्यतोऽस्त्येवसांकाकाश-प्रदेशप्रमाणान्यप्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथं पुनस्तानि नचतीति विन्येजानुग्रहात् द्विशेषतोऽपि प्रकल्पते-इह ताव-दिदं गुणस्थानकमन्तुः इहैतकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथम-समयऽपि वे प्रपञ्चाः, प्रपच्छन्ते, प्रप्रस्थन्ते, च तदपेक्षया जघ-न्यादीन्सुकृष्टान्तास्यस्येयलोककाशप्रदेशप्रमाणायवसाय-स्थानानि लक्ष्यन्ते, प्रतिपक्षेषु च बृहत्त्वाद्ध्यवसायानां च विधि-त्रादिति भावनीयम् । ननु यदि कालत्रयापेक्षा कियते तदे-तद् गुणस्थानकं प्रतिपञ्चानमन्तान्यप्यवसायस्थानानि कस्माञ्च भवन्ति । अन्तर्जावैरस्य प्रतिपक्षत्वाद्दन्तैरेव च प्रतिपक्ष्यमा-नत्वादिति । सत्यम् । स्यादेवं यदि तदप्रतिपक्षणां सर्वेषां पृथक् पृथक् भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तत्र नास्ति, ब्रह्मानभिका-ध्यवसायस्थानवार्तितादापिति । ततो द्वितीयसमये तद्व्यान्-धिकतरापेक्ष्यवसायस्थानानि लक्ष्यन्ते । तृतीयसमये तद्व्यान्-न्यधिकतराणि । चतुर्थसमये तद्व्यान्धिकतराणीत्येवं तावन्ने-यं यावच्चरमसमयः । एतानि च स्थानानानि विषमचतुर्लकं क्षेत्रमभिध्यान्तुवन्ति । तद्यथा-४००००००० अत्र प्रथमसमयजघ-न्याध्यवसायस्थानात्प्रथमसमयोक्तदृष्टमध्यवसायस्थानमन्त-गुणविशुद्धम्, तस्माच्च द्वितीयसमयजघ-नमन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि त्रितीय-३०००००० समयजघन्यात्तदुक्तदृष्टमन्तगु-णविशुद्धम्, तस्माच्च-तृतीय-२००००० समयजघनमन्तगु-णविशुद्धम् । ततोऽपि तदुक्तदृष्ट-१०००० मन्तगुणविशुद्धमि-त्येवं तावन्नयं यावद्ब्रह्मचरमसमयतद्व्यात् चरमसमय-जघन्यमन्तगुणविशुद्धम् ; ततोऽपि तदुक्तदृष्टमन्तगुणविशुद्ध-मिति । एकसमयगतानि चास्युध्यवसायस्थानानि परस्परम-ननभागवृद्धसङ्घातभागवृक्चिद्व्यातजागवृक्चिद्व्येवगुणवृ-ष्ट्यास्यगुणवृद्धयन्तगुणवृक्चिदपदस्थानकपतितानि । युग-पदेनद् गुणवृद्धयन्तगुणवृक्चिदपदस्थानकपतितानि । युग-पदकृणा निवृत्तिरप्यस्तौति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येत उच्यते । अ-त एवोक्तं मुने-" निवृत्तिं अनियदृश्यादि" । कर्म० ३ कर्म० । प्रव० ।

अपूर्वज्ञानाणामगुण-अपूर्वज्ञानग्रहण-न० । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणम् । तत्राप्येदं तथैकरनामकर्म-बन्धकारणम् । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणे, आ० म० प्र० । प्रव० ।

अपु ( एषु ) प्रपु-अपुतोत्पु-त्रि० । अविमनसके, आ० ब० २ भु० ३ अ० २ उ० ।

अपुहत्त-अपुहत्त-त्रि० । अविद्यमानं पृथक्त्व-प्रस्तावात्सं-यमयोनेज्यो विमुक्तवत्स्वरूपं यस्मात्सावपुथकत्वः । सहा संयम-योगवति, ( सत्त्वं ) संयमयोनेज्योऽभिधे, ( सत्त्वं ) "अपुहत्ते तुप्यनिहिप विहरद्" उक्तं ३६ अ० ।

अपुहत्तापुत्राण-अपुहत्तानुयोग-पुं० । अनुयोगमन्दे, यत्रैकसि-धेयं सूत्रं सर्वं एव चरशाद्यः प्रकृत्यते, अन्तगतमपर्यायत्वात् सूत्रस्य । दश० १ अ० ।

अपूर्वा-अपूर्वा-स्त्री० । पूजाभावे, " पूवाऽपूर्वा विद्याऽऽहा " स्था० ४ उ० ३ उ० ।

अपूर्ते-अपूर्ते-त्रि० । अनाचरति, अ० म० द्वि० ।



आतिरिक्तं काष्ठं तिष्ठति ततः सा काष्ठान्तिकात्ता, या बाध्यते सा काष्ठान्तिकात्ता भवतीति ज्ञायम् । काष्ठान्तिकात्तामपि यदि प्रागजिहितस्वकां काष्ठमर्यादां द्विगुणां द्विगुणामपरीक्ष्योपासकच्छति, ततः सा उपखानया बाध्यते, उपखाना भवतीति भावः । एवं यथासंभवमुपयुज्य चकलयम् । ( पुष्पाण्डुश्च स्त्रिः ) आसौ सं नधानां शय्यानां मध्ये काष्ठान्तिकात्ता पूर्वा सा अनुज्ञाता, अल्पकियाया अज्ञाते सा आश्रयणीया इति ज्ञायः । तस्या अप्यभावे शेषार्थानां पूर्वा उपस्थाना सा अनुज्ञाता, एवं या या पूर्वा सा सा अनुज्ञाता तावद्वक्तव्या यावत् सावधायाः महासावधायाः पूर्वा सा अनुज्ञाता । एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या अज्ञाते उत्तरस्या उत्तरस्या अनुज्ञाता वेदितव्या । अग्निचं ( चरसु भयत्सि ) अतस्त्वु वसन्ति, अग्निचंति शोषः संशय्यते । अग्निचं वेद्यं नृज विकलय, कदाचिन्नवति कदाचिन्न भवतीति ज्ञानं । ईत्यर्थः । अत्रापीयं प्रावना-भवतिक्षात्तायामपीरुजुकेति कृत्या विरक्तनायामप्यग्निचंवेद्यो ज्ञयति । यद्यपिद्वि पुनर्यं अपरिजुक्तास्तासु नाग्निचंवेद्यः । एवा भजना परिष्मा । ( अग्निचं वत्सि ) परिष्मा नाम महासाव-धोपाध्यः, तस्मिन् अग्निचंवेद्ये वा विरक्तते वा अपरिजुके वा अग्निचंवेद्यो भवन्ति, एकपक्षनिर्देशेणाम् । एतैर्भूतगुणा-दिद्वैतैः परिदृष्टं जानाति, स प्रहृष्टं कल्पिकः ।

कथं पुनर्जानाति परिदृष्टं ? इति चेद्, आह—

उगमउप्यायणए-मणादिं सुदं गवेमए वसहिं ।

तिविहं तिहिं विमुक्कं, परिहर नत्रगेण जेदेणं ॥

उगमन, उप्यायनया, एषणया, शुद्धां वसतिं गवेययति । तत्र अयाणां पदानामप्यौ अज्ञाः । सेवु कोपरितनेषु ससुसु अहृष्टयुजां परिदृष्टं यो जानाति स प्रहृष्टः कल्पिकः । कथंभूतां वसन्तिमु-द्रादिद्विक्का गधेषयति ? इत्यत्र आह-त्रिविधां ज्ञातादिन्दन-स्त्रिप्रकाराम् । तथा-त्रिभिर्भेदसा वाचा कायेन च, विमुक्कां गवेययति । तथा-ज्ञातादं । स्त्रिस्तोत्रां वसन्ति । रुद्रमाद्युक्का नत्रकेन भेदेन परिदृष्टति । तद्यथा-मनसा न शुद्धाति, नापि प्राहयति, नापि शुद्धमनुजानाति । एवं वाचा कायेन च वक्तव्यमिति ।

पटियसुयगुणियधारिण, उवउचो जो जणो परिहरति ।

आज्ञोयणमारियए, आयरिउ निसोहिकारो से ॥

अस्या व्याख्या प्राग्बन्तुः । उक्तः शय्याकल्पिकः । वृ० १ उ० ।

इदानीमल्पकियाऽभिधानमधिकृत्याऽह—

इह स्वसु पाईयां वा धु जाव तं रोयमाणहिं अप्यणो मयचा-  
ह तस्य तस्य अगाराहिं अगाराइं चेइयाइं भवति, तं आ-  
एमणाणि वा० जाव गिहाणि वा मइया पुडविकायसमारं-  
जेणं जाव अगणिकाए वा उज्जालिपुण्ठेव जवति । जे जयं-  
तरो तहप्पमाराइं आपमणाणि वा० जाव गिहाणि वा उ-  
वागच्छंति, इतरा इतरेदिं पाहुदेहिं एगपक्कं ते कम्म सेवेति,  
अयमाउसो अप्यसावज्जा किरिया वि जवति । एवं स्वसु  
दसस भिक्खुसस वा जिक्खुणी वा सामगिर्यं ।

इहेत्यादि सुगममः नवरं अलशब्दोऽभावधावन्ति । एत-  
त्स्य निजोः स्वामय्यं संपूर्णो भिक्खुणश्च इति । " काहाइ-  
१५४

कुंतुवघाणा अभिकंता चेव अप्यभिकंता य वघा य महावज्जा  
सावउजमहृष्टकरिया य " एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नव-  
भिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः । आवाचं च अभिकंताऽल्पकिये  
योग्यं, शेषास्त्वयोग्या इति । भाषा० २ पु० २ अ० २ उ० ॥

वसतिपरिकर्मेऽन्यत्वेनैवापि—

से य णो सुदनेणे फासुए उंजे अइसेणिजे णो य स्वसु  
सुक्के इमंदिं पाहुदेहिं तं आअणओ सेवणओ, संयारउ-  
वारापिहुणाओ पिंदवतेसणओ ॥

इहानन्तरसूत्रे अल्पकिया अज्ञा वसतिरभिहितः, इहाप्यादि-  
सूत्रेण तत्रिपरीतां द्वायेतुमाह—( से इत्यादि ) अत्र च कदा-  
चिन्म कश्चित्सायुवेस्त्वन्वयणार्थे महापार्थे वा एदपतिकुंभं  
प्रथिपः सन् कश्चिन्कुम्बोत्थेयमभिधीयते । यद्यथा-प्रसूताप-  
पानोऽयं धामः, अतोऽत्र भवतो वसतिं प्रतिशुद्धं स्यात्तं युक्तम्  
इत्ययमितिदः सखवमाचक्रौत-न कवत्तं पिपदपातः प्रासुको  
कुर्भेत्सद्वामासावपि यथासौ भुज्यते स च प्रासुक आधाकम्माहि-  
रहितः प्रतिश्रयो दुर्लभः । ( उक्ते स्त्रि ) आहनापुत्तरगुणोपर-  
हितः । एतदेव द्वायेति—( अहसंणिज्ज स्त्रि ) यथाऽसौ मूलोत्तर-  
गुणोपरहितत्वेनैवर्णयो भवति, तथाऽसौ दुर्लभ इति ।

ते चासौ सूक्ष्मरगुणाः—

" पट्टी वेसो दो धा-रणाह चत्तारिं मूहेभहिओ ।

सुलमुणोर्दं विमुक्का, एसा य अरागडा वसहो ॥ १ ॥

वेसगकडणो कंएण-जयणंवेवणहुवाररूमि य ।

परिकम्मविप्यमुक्का, एसा सुलत्तरमुणु ॥ २ ॥

दुमियधुमियवासिय-उज्जविय वलि कडा अरवसा य ।

सिसा सम्मघा वि य, विसोहिकोमी गयी वसहो ॥ ३ ॥

अत्र च प्राशयः सर्वत्र संभवितापुत्तरगुणानाम्, तावैव दर्शो-  
यति । न चासौ शुद्धो भवत्यमोभिः कर्मोपादानकर्मभिः । त-  
द्यथा-जानतेो दर्शोदिना, ज्ञेयतेो गोमयादिना, संस्तारक-  
मपवर्तकमाभित्य, तथा द्वारमाभित्य वृहत्सुत्वापादनतः,  
तथा द्वारस्वगनं कपाटमाभित्य, तथा पिण्डपातैवणामाभित्य ।  
तथादि-कस्मिंश्चित्प्रतिश्रये प्रतिवसतः साधुत्वं शय्यान्तरपि—  
रग्नोपनिमन्त्रयेत्, तद्गृहं निर्धिकाचरणं, अग्रहं तत्रग्रेवादि सं-  
प्रवः । इत्यादिजिक्करगुणैः शुद्धः प्रतिश्रयो दुःपातः शुद्धे च प्रति-  
श्रये साधुना स्थानादि विधेयम् । यत् उक्तम्—" सुलत्तरगुणसुं,  
धीपसुंउज्जवियजंयं वसहिं । सेवज्ज सव्वकांभं, विवज्जए  
होति दाम्माओ ॥ १ ॥ सूक्ष्मरगुणमुक्कावासावपि स्वाध्या-  
यादिनुमिसमन्विता विविक्का दुःपात इति । भाषा० २ पु० २  
अ० ३ उ० ।

अप्यकिलंत-अल्पज्ज्ञान-त्रि० । अल्पं स्तोत्रं ज्ञानं ह्यमो येषां ते  
दृष्टपहान्ताः । अप्यवेवनेपु, य० २ अधि० । " अणवजो भे कतामो  
अप्यकिलंताणं बहुसुभेणं दिवसे वरकंठे ॥ आच० ३ अ० ।

अप्यकुक्कुट्ठय-अल्पकौकुच्य-त्रि० । ६ व० । अल्पसम्पन्ने,  
करादिनिरल्पमेव चक्षति, अल्पशब्दोऽनायवाची, अल्पमसत्,  
" कुक्कुट्ठं कौकुच्यं करवरणसूत्रमणादसत्प्राप्तमकस्येत्तल्पकौ-  
कुच्यः । हस्तपादशिरःप्रसूक्ष्मशरीराशययानपुन्यामं, " मिलि-  
एज्जऽप्यकुक्कुट्ठय " । उक्त० १ उ० ॥

अप्यकौउहृष्ट-अल्पकौउहृष्ट-त्रि० । ६ व० । स्त्रीरूपदर्शो-



नविषु अविद्यमानकौतूहले, अल्पशब्दस्यहाविद्यमानार्थेत्वात् । वृ० ३ उ० ।

अप्यकोह-अल्पकोध-पुं० । अविद्यमानकथायमेवे, प्राचाय-मोदरिकां प्रतिपन्न, औ० ।

अप्यकस्वर-अप्याकृ-न० । अत्याव्यङ्ग्याणि यस्मिन्सदस्या-कृष्य । औ० । मितार्क, गुणार्थात् स्व, यथा सामायिकसूत्रम् । अप्रनूनाकारे, विशेष० । औ० । अत्रु० । आ० म० । " अप्यकस्वरं महत्त्वं अणुभाहृत्यं सुविहिषाणं " ओष० ।

अप्यकस्वरं महत्त्वं, महकस्वरऽप्यस्य दोषु वि महत्त्वं । दोषु वि अप्यं च तथा, जणियं सत्यं चउत्रियण्यो?३॥

अत्र च चतुर्भङ्गिका-अप्यकस्वरं नि। अद्याव्यङ्ग्याणि यस्मिन् नद-स्याकरं, स्तोत्राकारमित्यर्थः । (महत्त्वं चि) महात्त्वं यस्मिन् नत महति, प्रनूनामित्यर्थः । तत्रैकं शास्त्रं अस्याकरं जवति महात्त्वं च, प्रथमो नङ्कः । अद्याव्यङ्ग्यकृतं भवति ? ( महकस्वरऽप्यस्य ) महाकरं, प्रनूनाकरं भवतीति इत्यर्थः । अद्याव्यं, स्वराद्य-मित्ति इत्ययं, चित्तीयो नङ्कः । अद्याव्यङ्ग्यकृतं भवति ? ( दोषु वि महत्त्वं ) इत्यारपीति अकारार्थयोः धनस्यादकारार्थो-प्रयं परिपुष्टाने । एतदुक्तं भवति-प्रनूनाकरं प्रनूनायं च, तुनी-यो नङ्कः । तथाऽप्यं किञ्चतं जवति ?, इत्याह- ( दोषु वि अप्यं च तथा ) इत्येवमि अप्यम, अकारार्थयोः । एतदुक्तं भवति-अप्याक-रमवर्थायै चेति । तथ्यति-तेन आगमोक्तप्रकारेण, जणितमुक्त, शास्त्रं, चतुर्विकल्पं चउत्रियधिमिष्यते ।

अधुना चतुर्णामपि जङ्गिकानामुदाहरणदर्शनाधीमियं गाथा-सामायारि। आह, शापयन्मया या दिष्टिवाश्रयं य । लोहय कथानादि अणु-कमाय पकरोति कारामा चउरो? ४।

अप्यनामाकारं प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति । ततः प्रनूना-कृतमन्वर्थायै चेति द्वितीयकर्मः । आनायनानादिप्राक् प्रथम-भुनक्तस्ये तेषु कथानकायुच्यते । ततः प्रनूनाकृतत्वमन्वार्थं चेति द्वितीयनङ्कके आनाययनानामुदाहरणम् । चशब्दादित्यथा यदस्यां कौटौ व्यवस्थितमहादित्यादश्च तुनीयभङ्गके उदाहरणम् । यतोऽसौ प्रनूनाकारः प्रनूनायंश्च, चशब्दात्तद्वेदशोऽपि । चतु-र्भङ्गादाहरणप्रतिपादनायमाह- ( लोहय कथानादि चि ) शौकिकं चतुर्भङ्गादाहरणम्, किञ्चतं ?, कथामपि । आदिशब्दाच्छिव-मद्वादिप्रहः । (अणुक्रम चि) अनुक्रमार्थेति । अनुक्रमेण परिपा-ठ्यं तुनीयायै पञ्चमी । कारकाणि कुर्वन्तीति कारकायुदाह-रानामुच्यते । चत्वारिती । यथासं-धेनैवेति । ओष० ।

अप्यम-आत्मनु-पुं० । स्वस्मिद्, " जह ह्यमं न साहयामि तो कर्हं अन्नं विणिमतां नगराश्रो " । आ० ४ अ० । आचा० । सूत्र० । प्रश्न० ।

अप्यगास-अप्रकाशा-पुं० । अन्धकारे, नि० चू० १ उ० । अप्यगुत्ता-देशी-कपकच्युताम, दे० ना० १ वर्मं ।

अप्यचित्त-आत्मचिन्तक-पुं० । अभ्युद्यतमार्गं वा प्रतिपत्तुं निश्चिते, स्व० १० उ० ।

अप्यउदय-अल्पचन्द्रमति-त्रि० । आत्मचन्द्रा अत्मावसा मानस्येस्य कायेष्वसायात्मचन्द्रमतिः । स्वानिप्रायकार्यकारिणि, "कस्ल न होहो। घमो, अणव्युद्यततो निरुवगरी । अप्यचन्द्र-दमई तो, पट्टियतो गुंतुकामो य " । आ० म० प्र० । विश० ।

अप्यउज-पू-आत्मक-त्रि० । आत्मानं जानतीति आत्मकः । "हो अः" ८। १८३ । इति सूत्रेण अस्य वा सुक्त । याथास्थान-तन्तत्त्वज्ञानति, प्रा० । अपरावचने, नि० चू० १ उ० ।

अप्यजोह-आत्मज्योतिष्-पुं० । आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमा-त्मज्योतिः । ज्ञानात्मके पुरुषे, वेदे ह्ययं पुरुष आत्मज्योतिष्कृता-भिधीयते ।

अत्यमिप आरात्रे, चदे संतासु अग्निवायासु । किं जोहरयं पुरिसां ?, अप्यजोह चि णिहोहो ॥

अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नी, शान्तार्थां वाचि याहवल्कथ- " किं ज्योतिरेवाय पुरुषः ?, आत्मज्योतिः सत्प्र-मिति होवाच " । ज्योतिरिति ज्ञानमाह, आदित्यास्तमयाह । किं ज्योतिः ? इत्याह-अयं पुरुष इति, पुरुष आत्मार्थः । अयं च कथंभूतः ? इत्याह- (अप्यजोह चि) आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽय-मात्मज्योतिः, ज्ञानात्मक इति इत्ययम् । निर्विष्टा वेदविद्वान्मः कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधमे इत्यर्थः । विशेष० ॥

अप्यजोह-देशी-आत्मवशे, दे० ना० १ वर्मं ॥

अप्यजोह-अप्यजोह-त्रि० । विगततथाविगमिप्रकर्णवचने, आ० ८ अ० । न० । आवायमोदरिकां प्रतिपन्न, रा० ।

अप्यकिन्तय-अप्रतिक्राटक-त्रि० । न विद्यते प्रतिमङ्कः कण्टको यत्र तदप्रतिकण्टकम् । अप्रतिमङ्क, रा० ॥

अप्यदिवरिय-अप्रतिवृत्त-पुं० । आशौचिके काले, "अप्यदिव-रियं कालं घेत्सुण य वयप " प्राशौचिककालं यथा साधवः प्र-तिज्ञागरितं शुक्लानि । वृ० १ उ० ।

अप्यण-आर्णाय-त्रि० । अपयज्ञे, " शीघ्रादीनां बहिष्ठाद्यः " ८ । ४ । ४२२ । इति सूत्रेण आर्णायस्य 'अप्यण' इत्यादेशः स्वकीयं, " फोर्मेति जोह अत्रु अप्यणं " । प्रा० । स्वस्मिन्, उक्तं १ अ० । प्रश्न० । च० प्र० । शरीरे, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

अप्यणान्द्र-आत्मचन्द्र-त्रि० । स्वतन्त्रे, " बहिष्णुते तं घरु क-हि किं च नदं जेत्सु कुटुंबतं अप्यण-ान्द्रं " । प्रा० ।

अप्यणाहु-आत्मार्थ-त्रि० । अनेन मे जीविका भविष्यतीति । स्वायं, दर्श० ।

अप्यणाय-आर्णाय-त्रि० । प्राहते- " इयस्मान्मे णयः " । ८ । २ । १५३ । इति सूत्रेण आत्मनः परस्य यस्य अय इत्यादेशः । स्वकीयं, प्रा० ।

अप्यणाण-आत्मज्ञान-न० । ६ त० । वादादिव्यापारकाले किमनु प्रतिवादिनं जेतुं मम शक्तिरस्ति नयेति आलाचनकपे प्रयोगमतिपञ्जरे, उच० १५ अ० । आत्मपरिज्ञानमित्यप्यत्रा ध० २० ।

अप्यणिज-आर्णाय-त्रि० । स्वकीये, "अप्यणिज्जिवाप महि-लाप " । आ० म० त्रि० । नि० चू० । दशा० ।

अप्यणो-स्वयम्-अण० । स्वयमित्यवयवार्थं, "स्वयमोऽयं अप्य-णो न या " । ८ । २ । २०६ । इति सूत्रेण स्वयमित्यवयवार्थं 'अ-प्यणो' इत्यस्य वा प्रयोगः " विसयं विज्जसंति अण्यणा कम-लसरा " । पञ्ज-सत्यं चैव मुणसि करणिजो " । प्रा० । "अप्यणो

सेसयाहं ति" आत्मन आत्मीयानि । विपा० १ सु० २ अ० ।  
अप्यतर-अन्यतर-त्रि० । अतिशयिते स्तोके, " अप्यतराय से  
पाये कर्मै कज्जह" । अ० १ अ० ६ उ० । आचा० । सु० ० ।

अप्यतरबंध-अप्यतरबन्ध-पुं० । अप्यत्वे कर्मणो बन्धे, यदा त्व-  
यधिधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि समविधात्परत्यतरबन्धको  
भवति स एव प्रथमसमय एवावदपरबन्धः ( कर्म० ) ।  
यदा तु प्रमुताः प्रकृतोबंधन परिणामविशेषतः स्तोकां बहुमा-  
रजते यथाऽष्टौ बन्धा सत बध्नन्ति; सत वा बन्धा पर वा बन्धा  
एकां, तदानीं स बन्धोऽप्यतरः । तथा आऽऽह-" एवावदपर-  
बिद्भा" एकान्दिभिरकस्त्रिधादिभिः प्रकृतिरूपाने बन्धे चित्ता-  
यप्रकारः, अवपनर इत्यर्थः । कर्म० ५ कर्म० ।

अप्यतुभन्तुम-अप्यतुभन्तुम-त्रि० । विगतक्रोधमनेविकाराविशेषे,  
आ० ८ ज० ।

अप्यत्-अप्यत्त्व-न० । तुच्छत्वे, पं० घ० ४ द्वा० ।

अप्यत्तिय-अप्रीतिक-न० । अप्यत्वान्तपाकपम । अप्रमिति, अ० ७  
दृ० १ उ० । घ० । आ० म० । दृश० । अप्रीतिस्त्वभावे, अ० १३  
दृ० १ उ० । मनसः पीडायात्, आचा० २ सु० ७ अ० २ उ० ।  
क्रोधे, सु० १ सु० १ अ० २ उ० । अपकरणे, नि० चू० १ उ० ।

अप्यत्थाम-अप्यत्थाम्-त्रि० । अल्पसामर्थ्ये, सु० १ सु० २  
अ० ३ उ० ।

अप्यधन-अप्यधन-त्रि० । अल्पमूल्ये, " महाधने अप्यधने  
व वत्ये, मुचिञ्जनी जो अविचिन्भावे" वृ० ३ उ० ।

अप्यपदेश-अप्यपदेश-त्रि० । अपयं स्तोकां प्रदेशाद् कर्म  
दक्षिणपरमाणं यन्त्यसः । स्तोकाप्रदेशात्प्रके कर्मणि, प्र० १  
श० १ उ० ।

अप्यपजवजाय-अप्यपत्र्यायजात-न० । अल्पे तुचादौ त्व-  
जनये, घ० ३ अचि० ।

अप्यपणियति-आत्मपरनिवृत्ति-स्त्री० । आत्मनः परेषां च प-  
रेभ्यो निवृत्तौ, आलोचनाप्रदानः स्वयमात्मनो दोषेभ्यो निवृ-  
त्तः, कृतानां तद् दृष्ट्वाऽप्यन्ते आलोचनामिमुखा भवन्तीत्यप्येवा-  
र्मपि दोषेभ्यो नियन्तमिति" अ० १ उ० ।

अप्यपरिग्रह-अप्यपरिग्रह-पुं० । अल्पधनधन्यादिस्वीकारे, स्त्री० ।

अप्यपरिस्त्राय-अप्यपरित्याग-पुं० । स्वदत्तरगुणपरिहारं,  
पञ्जा० १८ विव० ।

अप्यप्राण-अप्यप्राण-त्रि० । अल्पशब्दाऽभाषाभिधायी तथे-  
हापि, सूत्रेण न मन्वर्थायशेषान् प्राणः प्राणिनः, अल्पा अविद्य-  
मानाः प्राणिनो यस्मिन्स्वदृश्यप्राणके, अत्रस्थितागन्तुकर्त्त-  
विवरहिते उपाध्यायैर्, उक्त० १ अ० । अल्पः प्राणः प्राणन-  
क्रिया यस्मिन् । यद्येनेदं, यन्ध्याकारणे अल्पप्राणवायोव्यापारस्त-  
स्मिन्, त्वं स शिहावास्तुक्तः-"अयुष्मा वर्गयमगाः यथाश्वास्त-  
वः स्तुताः" इति । तथा च वर्गेषु प्रथममूर्तीयपञ्चमवर्गोः य-  
मगा बवर्लाम्ब अल्पासवः । नादशवर्णोच्चारणशास्त्रप्रत्यये,  
बाह्यवर्गस्तु एकदशधा-विचारः संवारः आसौ नादो घोषो-  
ऽयोर्वाऽप्यप्रयोगो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति ।  
अल्पः प्राणः प्राणहेतुर्न सलमस्य । अल्पवर्ग, त्रि० । वाच० ।

अप्यपापासि ( ष् )-अप्यपापासि-त्रि० । अल्पं पापमधि-

तुं शोभमस्यासावल्पपापासी । यत्किञ्चन पापपातरे, सु० १  
सु० ८ म० ।

अप्यपिदामि ( ष् )-अप्यपिएका शिन्-त्रि० । अल्पं स्तोके  
पिण्डमग्निषु शौलमस्यासावल्पपिदारी । यत्किञ्चनशिभि,  
तथा च आगमः-"हे जन्तवः! आसीय, अथ तस्य वसुधैवकु-  
र्यान्निहा । जेण व तेण व संतु-दु परिमुणिआ सिते अप्पा" ॥१॥  
सु० १ सु० ६ अ० ।

अप्यभक्तिव ( ष् )-अप्यभक्तिन्-त्रि० । स्तोकाहारकारित्ये,  
उक्त० १५ अ० ।

अप्यभव-अप्यभव-पुं० । परितर्सासारिकत्वे, प्रति० ।

अप्यन्नासि ( ष् )-अप्यन्नासिन्-त्रि० । कारणे परिमितव-  
र्कत्, दृश० ८ अ० । " अप्यं भासिञ्च सुख्यं" । तथा सुमनः  
साधुरत्वे परिमितं हितं च भावेन, स्वधेदा विकथारहितं भवे-  
दित्यर्थः । सु० १ सु० ९ अ० ।

अप्यन्य-अप्यन्य-त्रि० । अल्पसत्त्वे, स्था० ४ ज० १ उ० ।

अप्यपद-अप्यपद-त्रि० । अल्पवृत्तौ, क० प्र० ।

अप्यपद्व्याजरा-अप्यपद्व्याजरा-त्रि० । अल्पानि स्तोके-  
भारवन्ति महाधामभरानि बहुमूल्यवद्वृषणानि यस्यासौ तत्त-  
था । अल्पभारवद्वृषणान्युक्ते, " यदाप्य सुद्व्यप्येसाहं  
अप्यमहग्धानरणा सास्रो गिहास्रो पदिनिक्कमह" उपा० १ अ० ।

अप्यपर-अप्यपर-त्रि० । अल्पमिति अविद्यमानं रतमिति की-  
रितं मोहनीयकर्मोदयजनितमर्थेति अप्यपरः। कीर्त्ताविरहिते इ-  
वसतमादौ, उक्त० १ अ० । कथनपरित्यगे कथन्यनकथपर-  
दिते, दृश० ९ अ० १ उ० ।

अप्यपरज-अप्यपरज-त्रि० । रजोरहिते, उक्त० २ अ० । प्रत्युत्पन्नमानक-  
र्मणि, " सिक्के वा इवह सासय देवे वा अप्यपर महिद्विप"   
उक्त० १ अ० ।

अप्यलालिदि-अप्यलालिदि-पुं० । अल्पा तुच्चा वक्ष्यपा-  
त्रादिलानि लभियेस्य सोऽप्यलालिदिभिः । क्रोधेन वक्ष्यप्राप्ता-  
त्पदके, वृ० १ उ० ।

अप्यल्लिण-अप्यल्लिण-त्रि० । असंबन्धे तीर्थिकेषु गृहभेत्तु पाशं-  
खादियु संस्तेषमकुर्वन्ति, " अशुक्रस्ते अप्यल्लिणे, मज्जेण मुखि  
जावप" सु० १ सु० १ अ० ४ उ० ।

अप्यल्लियमाण-अप्यल्लियमान-त्रि० । कामेषु मातापित्रादिके  
वा लोके न प्रलीयमाना अमलीयमानाः । अनभिषेके, आचा०  
१ सु० ६ अ० २ उ० ।

अप्यल्लेव-अप्यल्लेव-त्रि० । ६ अ० । अल्पशब्दोऽत्राववाचकः ।  
पुषुकादौ निर्वेषे, आच० ४ अ० । वल्लचणकादौ नीरसे, घ०  
३ अचि० ।

अप्यदोवा-अप्यदोवा-स्त्री० । निर्वेषे पुषुकादि शूकतस्त्रुध्यां  
पिण्डेषणायाम्, आच० ४ अ० । घ० । आचा० । पञ्जा० । सु० ० ।  
" जस्स विज्जमाणुवस्सत्स गिप्पावचरुणगादिस्स लेयोण भव-  
ति सा अप्यलेवा" नि० चू० १६ उ० । आ० चू० । अल्पपरि-  
क्ताऽप्यत्र, स्था० ७ ज० । स्तोकोऽल्पः पञ्चादकर्मोद्विजनितः

अध्या

कर्मकर्मो यस्मां साध्यासेया । कर्मकर्मो विरैवणायाम, तथा  
साध्यासाध्या-“अस्ति कालु परिष्कारिणसि अध्ये पच्छाकर्म  
अप्यपञ्चजाय ” अ० ३ अधि० ।

अप्यवस-आत्मवशा-वि० । स्ववशे, ग० २ अधि० ।

अप्यवसा-आत्मवशा-स्त्री० । नाथस्य, तस्या निरुद्धात्वेन स-  
च्छब्दात्सात् । प्रा० को० ।

अप्यवसा ( ष )-आत्मवादिन्-पुं० । 'पुत्रव पवदं सधंमिवा-  
दि ' प्रतिपक्षे वादिनि, न० ।

अप्यवीय-अट्पवीज-त्रि० । अविद्यमानानि बीजानि शास्त्रा-  
दीनि बीजार्ज्यामाकादीनां यस्मिन्तत् अल्पबीजम् । बीजस्योप-  
लक्षणत्वात् एकैन्द्रियादिरहिते, उच्य० १ अ० । आचा० ।

अप्यवृद्धि-अल्पवृद्धि-स्त्री० । आसारे, प्रा० को० ।

अप्यवृत्तिकाय-अल्पवृत्तिकाय-पुं० । अल्पः स्तोकोऽविद्यमानो  
वा, वर्षणं वृष्टिप्रधानं वृष्टिप्रधानः कायाः निकायोऽप्यवृष्टि-  
कायः । वर्षणपरमयुक्तं च उक्तं वृष्टिः, तस्याः कायाः राशिवृष्टि-  
कायः । अल्पवृत्तिकायं वृष्टिकायश्चाव्यवृष्टिकायः । स्तोके न्योमानि  
पतत्पक्ष्ये, स्या० ।

अद्वयवृष्टश्च त्रीणि कारणाणि-

तिदिं ठाणेदिं अप्यवृद्धिकाय मिया । तं जहा-तेसि च एं  
देसंसि वा पएसंसि वा षो बहवे उदगजोणिया जीवा य  
पोगला य उदगत्ताए वकमति विउकमंति चयेति उवव-  
जंति देवा नागा जवला एो सम्ममाराडिया भवेति ।  
तत्थ समुद्धिये उदगपोगलं परिणये वासिउकामं अर्थं देसं  
साट्टरंति, अन्ननव्वलंगं च षं समुद्धिये परिणये वासिउ-  
कामं बाउयाए विह्वेयेऽ । इषेपदिं तिदिं ठाणेदिं अप्यवृ-  
द्धिकाय मिया ।

(तेसि ति)प्रगवादी, अशुद्धोऽप्यवृष्टिकारणात्तरसमुच्चयाथै।  
णमित्यलङ्कारे । देशे जनपदे, प्रदेशे तस्यै एकदेशरूपे, वाशब्दौ  
विकल्पार्थौ । उदकस्य योनयः परिणामकारणभूता उदकयोनयः  
त एवादकयैः तिका उदकजननस्थतावाः, व्युत्क्रामन्ति उत्पद्यन्ते,  
व्युत्क्रामन्ति, व्यवपन्ते, पतन्ते च यथासां पर्यायं आचष्टे-व्यवपन्ते,  
उत्पद्यन्ते, क्षेत्रव्यवभावादित्येकम् । तथा देवा धैमानिका ज्योति-  
ष्काः, नागा मागकुमारः, प्रथमपुरुषजकणभेतत् । यज्ञा भूता  
इति वयन्तरोपलक्षणम् । अथवा देवा इति सामान्यम् । नागादृ-  
ष्टो विशेषम्, पतद्भ्रमहणं च प्राय एषामर्वाच कर्मणः प्रवृत्तिरि-  
ति ज्ञापनाय; विचित्रत्वाच्चा सुवर्णवर्णिते; नोः सम्यगाराधना  
प्रवन्ति । अविनयकरणाज्ञानधैरिति गम्यते । ततश्च तत्र मग-  
वादी देशे प्रदेशे वा तस्यैव समुत्थितसुपुत्रम्-उदकप्रधानं पौ-  
त्रं पुत्रलसमूहो, मेघ इत्यर्थः । उदकपौत्रं तथा परिणतमुद-  
कद्वयकवस्थां प्राप्तम् । अत एव विपुद्गादिकाणात्तु वर्तितुकामं  
सदृश्यं देशं मगवादिक्,संहर्तन्त नवतीति द्वितीयम् । अत्रा-  
दि मेघास्तैर्बद्दलकं दुर्दिनम्, अत्रवर्तलकम् । ( बाउयाए ( ष )  
बायुकायः प्रचपडतातो विजुनाति विध्वंसयतीति तृतीयम् ।  
“ इच्छ ” इत्यादि निगमनमिति । स्या० ३ उ० ३ इ० । अल्प-  
वृष्ट्यानावयचनव्याह मयिद्यमानवर्षे, “ अथवा कयाहं पदमं

सरदकालसमयसि अप्यवृष्टिकायंसि ” प्र० १५ श० १ उ० ।  
अप्यसंतचित्त-अग्रशान्तचित्त-त्रि० । उक्तकोषाधिद्वैपित-  
प्राव, पञ्जा० २ विव० ।

अप्यसंतमद्-अग्रशान्तमति-त्रि० । अपरिणतशिष्ये, “ अग्र-  
शान्तमती शास्त्र-सुदभावप्रतिपादनम् । शोषायाभिनवोद्दीर्घ-  
शर्मनोयमिव उवरे ” ॥ १ ॥ सुत्र० १ सु० १४ अ० ।

अप्यस-वित्य-आत्मसाहिक-न० । आत्मा स्वजायैः, स स्व-  
संविद्यत्युक्तविरतिपरिणामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्मसाहिक-  
कम् । स्वच्छुक्तेऽनुष्ठाने, “ साहुसकिस्त्रयं देवसकिस्त्रयं अप्य-  
सकिस्त्रयं ” पा० ।

अप्यसत्तचित्त-अट्पसवचित्त-वि० । आपत्स्ववैक्यकरम-  
प्यवसानकरं च सत्समुक्तम् । ततश्चात्पत्तुच्छं सत्त्वं यत्र तद्-  
न्यसत्त्वं, तस्मिन् यस्य सोऽल्पसत्त्वचित्तः । चेतसा विकल्पे,  
“ य इ अप्यसत्त्वचित्तो धम्महिगारो जसो होह ” । पञ्जा०  
२ विव० ।

अप्यसत्तम-आत्मसत्तम-त्रि० । आत्मना सममः । सत्तानां पू-  
रणः । आत्मा वा सत्तमो यस्यासावात्मसत्तमः । अन्वैः परमिः  
सह विद्यमानः, “ मल्लींयं अरहा अप्यसत्तमं मुंने भविता ”  
स्या० ७ उ० ।

अप्यसत्तिय-अल्पसत्तिय-त्रि० । निसारे, “सुसम्पथा वऽस्त-  
मथा, करीरि अप्यसत्तिया पुरिमा । इमंमिं सुरवादी,णारी-  
वलगा य त् वृत्ता ” ॥ १ ॥ सुत्र० १ सु० ४ अ० १ उ० ।

अप्यसद्-अल्पशब्द-पुं० । विगनराट्यां ध्वनी, स्या० ८  
उ० । राट्यादावत्ययनजागरणमयम् । न० २५ श० ७ उ० ।  
अट्पकन्नदं, कलटक्रोधकायं, औ० ।

अप्यनरपक्ष-अल्पसरजस्क-न० । अल्पे तृणादौ, आचा० २  
शु० १ अ० ५ उ० ।

अप्यसार-अल्पमार-न० । अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारम् ।  
प्रमाणतोऽल्पे वस्तुनः सारं, ज्ञा० १ अ० । “ अप्यसारं तुर्यं-  
ति जीवा बंधणे ” आ० म० प्र० । “अप्यसारिये श्वेवं उषधर-  
ति ” नि० चू० १ उ० ।

अप्यसावजिकिरिया-अट्पसावध कया-स्त्री० । शृङ्गायां वसती,  
आचा० २ शु० २ अ० २ उ० । (‘वसही’ शब्देऽस्याः सुत्रम् )

अप्यसुय-अल्पसुत्र त्रि० । अनधीनागमे, ज्ञा० १६ ज्ञा० ।

अप्यसुह-अल्पसुख-वि० । ए० ५ उ० । प्रागसुखलवसम्पा-  
दकं, अविद्यमानसुखे च । प्रश्न० १ अभा० ज्ञा० ।

अप्यहोरेय-अल्पहरित-त्रि० । अल्पानि हरितानि दूर्वाप्रवासा-  
दीनि यत्र तत्तथा । दूर्वादिरहितं, आचा० २ शु० १ अ०  
६ उ० ।

अप्यर्हिंसा-अट्पर्हिंसा-स्त्री० । अल्पशब्दोऽज्ञावधाच्ची । अ-  
ल्पानामेव प्राणिनां हिंसायाय, अ० १ उ० ॥

अप्या-आत्मन्-पुं० । अनति सातन्त्रेण गच्छन्नि नैस्ताह ज्ञान-  
दर्शनसुखादिपर्यायानियात्प्राप्तादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंनधा-  
त् । आ० म० जि० । जीव, उच्य० २ अ० । (आत्मसिद्ध्यादि-  
कल्पता ‘आना’ शब्दे द्वितीयजाग० १९७ पृष्ठ ऊपर्य )

अप्पाइय-अप्पायित-वि०। मनोहाहारेः स्वस्थीभूते, इ० १७०।  
 अप्पाउअ-अल्पायुष्क-वि०। स्तोत्रकीर्तिते, प्र३०१ आ३०३।  
 अप्पाउअत्ता-अल्पायुष्कता-श्री०। अल्पमायुर्भवेत्यावयवा-  
 युष्कः, तद्भावस्तथा। अल्पायुष्कताभावः, म० ५ शृ० ६ इ०।  
 अल्पमायुर्जीवितं यद् तद्व्यायुः, तद् भावस्तथा। जघन्यायुष्के-  
 स्थाने ३ डा० १ इ०। (अल्पायुः कारणं 'आठ' शब्दे द्वि-  
 तीयभागे ११ पृष्ठे बह्यते)

अप्पाउअ-अमाहृत-पुं०। प्रावरणवर्जके अभिमहविशेषमाहके,  
 सूत्र० २ धृ० ३ अ०।

अप्पाउअण-अमावरण-न०। प्रावरणनिषेधाच्छिषयोऽभि-  
 ङ्गोऽप्यप्रवचणम्। पञ्जा० ६ वि००। प्रावरणत्यागकपेऽभि-  
 ङ्गप्रत्याख्याननेदे, प्रव० ४ धृ०। अत्र पञ्ज आकाराः— "अ-  
 भिगगरेसु अल्पाउरणं कोइ पक्कञ्जाइ, तस्स पंच (आगारा)  
 अक्षत्तपडणाभोगं, सइसानारे, चोत्तपट्टागारे, महत्तरागारे सव्व-  
 समाहिबत्तियागारे य" ।

तथा च सूत्रम्—

अप्पाउरणं पक्किञ्जति अकत्त्येऽण्णाजोगेणं, सहसाराणं,  
 चोत्तपट्टागारं, महत्तरागारं, सव्वसमाहिबत्तियागार-  
 णं चोत्तरि चि । आउ० ६ अ०।

चोत्तपट्टकादन्त्यत्र सागारिकप्रदर्शने चोत्तपट्टके शृङ्खामाणेऽपि  
 न भङ्ग इत्यर्थः। प्रव० ४ डा०।

अप्पाउअ-आत्मन-पुं०। स्वहिन्दु, प्र३०२ आ३०३ डा०। "पुं-  
 स्थान भागो राजवच्च" । ०। ३। ५६। पुंश्चिङ्गे वर्तमानस्यानन्तस्य  
 स्थाने भाग इत्यादेशो वा भवति; पक्षे यथादर्शने राजवत्कारे  
 प्रवतिः आणानदेशे च "अतः सर्वैः" (८। ३। २) इत्यादेशः प्रवसं-  
 ते । पक्षे तु राजः "जस्-शस्-ऊसि-ऊसां यो" (८। ३। ५०)  
 "टो णा" (८। ३। २४) "इणममामा" (८। ३। ५३) इति प्रवर्तते। अप्पा-  
 यो । अप्पाणा । अप्पाणं । अप्पाणे । अप्पाणेण । अप्पाणेहिं ।  
 अप्पाणाञ्च । अप्पाणासुन्तो । अप्पाणस्स । अप्पाणाण । अप्पा-  
 णम्मि । अप्पाणेसु । अप्पाण-कं । पक्षे राजवत् । अप्पा ।  
 अप्पो । हे अप्पा । हे अप्प । अप्पाणो च्छुट्ति । अप्पाणो  
 पेच्च । अप्पाणा । अप्पेहिं । अप्पाणोः । अप्पाञ्च । अप्पाउ । अ-  
 प्पाहिं । अप्पाहिन्ते । अप्पा । अप्पासुन्तो । अप्पाणो धणं । अ-  
 प्पाण । अप्पे । अप्पेसु । प्रा० । (य आत्मानमाद्ग्राही पश्यति  
 इति 'अयायार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे दर्शितम् )  
 ल्लान्ने, न० । इथा० ३ डा० ३ इ०।

अप्पाणारक्खि ( ष् )-आत्परक्खिन्-वि०। आत्मानं रक्षति  
 पापेभ्यः कुमतिगमनादिभ्य इत्येवंशील आत्पररक्षी । आत्मनः  
 पापेभ्यो निवारके, उच० ४ अ०।

अप्पाधार-अट्पाधार-पुं०। अल्पस्य सूत्रस्य अर्थस्य वा आधा-  
 रोऽट्पाधारः । सूत्रार्थनैपुण्यवचिके, इय० १ इ०।

अप्पावहुय(ग)-अल्पबहुत्व-न०। अल्पं च स्तोत्रं बहु च प्र-  
 चुरतमल्पबहु, तद्भावोऽल्पबहुत्वम् । दीर्घत्वात्संयुक्त्वे च प्रा-  
 कृतत्वात्तिति । इथा० ४ डा० २ उ० । मत्स्यविक्रमपानीयास्था-  
 भादीनां परस्परस्तोत्रचयस्त्वे, कर्म० ४ कर्म० ।

- ( १ ) अल्पबहुत्वस्य चातुर्विधमिदं रूपम् ।
- ( २ ) द्वारसंघः ।
- ( ३ ) पूर्वप्राकायादीनां जघन्याद्यवाहनाहनाऽल्पबहुत्वम् ।
- ( ४ ) कल्पस्थानाद्यायुष्मत्कल्पबहुत्वम् ।
- ( ५ ) आहारद्वारे आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम् ।
- ( ६ ) सेन्द्रिकाणां परस्परमल्पबहुत्वम् ।
- ( ७ ) उर्वर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्वम् ।
- ( ८ ) उपयोगदारे साकारानाकारोपयुक्तानामल्पबहुत्वम् ।
- ( ९ ) कपायद्वारे कोषकपायादीनामल्पबहुत्वम् ।
- ( १० ) कायिकदारे सकाशिकानामल्पबहुत्वम् ।
- ( ११ ) क्षेत्रदारे जीवाः कस्मिन् क्षेत्रे स्तोकाः कस्मिन् बहु  
 इत्यादिनिरूपणम् ।
- ( १२ ) गतिद्वारे चतुःपञ्चाष्टयतिसमासेनाल्पबहुत्वम् ।
- ( १३ ) चरमद्वारे चरमाचरमाणामल्पबहुत्वम् ।
- ( १४ ) जीवद्वारे जीवपुत्रत्वादीनामल्पबहुत्वम् ।
- ( १५ ) ज्ञानद्वारे ज्ञानिप्रमुक्ताणामल्पबहुत्वम् ।
- ( १६ ) दर्शनद्वारे दर्शनिनामल्पबहुत्वम् ।
- ( १७ ) विश्वद्वारे दिग्गजुपातेन जीवानामल्पबहुत्वम् ।
- ( १८ ) परीतद्वारे परीतापरीतनोपरितानामल्पबहुत्वम् ।
- ( १९ ) पर्याप्तद्वारे पर्याप्तापरोप्तनोपर्याप्तानामल्पबहुत्वम् ।
- ( २० ) पुष्कलद्वारम् ।
- ( २१ ) बन्धद्वारे आयुःकर्मबन्धकादीनामल्पबहुत्वम् ।
- ( २२ ) भवसिक्तिकद्वारम् ।
- ( २३ ) भाषकद्वारम् ।
- ( २४ ) महादण्डकद्वारम् ।
- ( २५ ) योगद्वारे चतुर्देशविधस्य संसारसमापन्नजीवस्य यो-  
 गानामल्पबहुत्वम् ।
- ( २६ ) योनिद्वारम् ।
- ( २७ ) लेखयादारे सलेख्यानामल्पबहुत्वम् ।
- ( २८ ) वेदद्वारम् ।
- ( २९ ) शरीरद्वारे आहारकादिशरीरियामल्पबहुत्वम् ।

( १ ) तच्चतुर्विधम्—

चउत्त्रिह्वे अप्पावहुए पप्पतेत्तं तं जहा-पगइ-अप्पावहुए,  
 तिइ-आण्णान-पप्स-अप्पावहुए ।

प्रकृतविवयमल्पबहुत्वं बन्धापेक्षया, यथा-सर्वस्तोकप्रकृतिब-  
 न्धक उपशान्तिमोहादिकेविधबन्धकः, उपशमकादिस्त्रुमसं-  
 परायः यद्बन्धबन्धकः, बहुतरबन्धकः सप्तविधबन्धकः, त-  
 तोऽष्टविधबन्धक इति । स्थितिविषयमल्पबहुत्वं यथा— "स-  
 म्यत्वोयोः संजयस्त अहञ्जो त्रिप्रबंधो एगिदियवायरपज्जन-  
 गस्त जहञ्जो त्रिप्रबंधो असंखिञ्जणो" इत्यादि । अनुज्ञाणं  
 प्रत्यल्पबहुत्वं यथा— "सव्वत्थानारे अणंतगुणकुट्टिणाणि  
 असंखेज्जगुणकुट्टिणाणि, असंखिज्जगुणाणि संखिज्जगुणकु-  
 ट्टिणाणि असंखिज्जगुणांरे जाव अणंतभागुणकुट्टिणाणि  
 असंखिज्जगुणाणि" । प्रदेशाल्पबहुत्वं यथा- अट्टविहबधगस्स

ब आबपभागे योयो नामयोग्यां तुको विसैसाहिभो नाण-  
इंसाणावरणंतरायाणं तुको विसैसाहिभो मोहस्स विसैसाहि-  
भो वेयाणिअस्स विसैसाहिवा ति" । स्या० ४ जा० २ व० ।

( १ ) तत्र आरत्तप्रदगाथाचयस्—

दिसिगाईदिपकाए, जोए वेए कसापञ्जेसाभो ।

सम्पचणाणुदंसण-संजमववआगआहारे ॥ १ ॥

भायणपरिचपज्ज-त्तिसुहुमसणो जवडत्थि से चरिये ।

जीवयँ सेवचं बंधे, पुगअ-महददए वेव ॥ २ ॥

प्रथमं विश्वारम्भ १, तदनन्तरं गतिद्वारम्भ ४, तत इन्द्रियद्वारम्भ  
३, ततः कायद्वारम्भ ४, ततो योगद्वारम्भ ५, तदनन्तरं धैर्यद्वारम्भ  
६, ततः कर्माद्यद्वारम्भ ७, ततो श्रेयसाद्यद्वारम्भ ८, ततः सत्यकथ्यद्वार-  
म्भ ९, तदनन्तरं ज्ञानद्वारम्भ १०, ततो दशमद्वारम्भ ११, ततः  
संयमद्वारम्भ १२, तत उपयोगद्वारम्भ १३, तत आहारद्वारम्भ १४,  
ततो नासकद्वारम्भ १५, ततः (परिचर इति) परीताः प्रत्येकशरी-  
रिणः द्युक्तापक्रिकाश्च; तद्वारम्भ १६, तदनन्तरं पर्याप्तिसिद्धारम्भ १७,  
ततः सुहृद्द्वारम्भ १८, तदनन्तरं संक्षिप्तद्वारम्भ १९, ततो (अव-  
लम्बिता) अवलम्बितद्वारम्भ २०, ततोऽस्तित्ति-अस्तित्कायद्वारम्भ २१,  
ततश्चन्द्रद्वारम्भ २२, तदनन्तरं जीवद्वारम्भ २३, ततः क्लेशद्वारम्भ  
२४, ततोऽन्धद्वारम्भ २५, ततः पुत्रलद्वारम्भ २६, ततो मदादयस्क  
२७, इति सर्वसंभवया सप्तविंशतिद्वार्याणि । प्रका० ३ पृ० ।

( तत्र गायोपन्यस्तकममनाद्यप्युक्तानुक्रमतो द्वाराणि निरूप-  
यिष्यन्ते, तथा मध्येऽन्वतः क्विञ्चिद् संसृहीतं प्रक्षिप्य प्रक-  
पयिष्यतेऽप्यबहुत्वम् ) (अनुजागम्यवस्थापानामप्यबहुत्वं 'बध'  
शब्दे द्रष्टव्यम् )

( ३ ) [ अवनगाहना ] पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहन-  
याऽप्यबहुत्वम्—

एषमि णं जेते । पुढवीकाइयाणं आऊ-तेऊ-बाऊ-  
बणास्सइ-काइयाणं सुहुमाणं बादराखं पज्जत्तगाणं अप-  
ज्जत्तगाणं जहुमुकोमिया ओगाहणाए कयरे कयरेहिती०  
जाव विमैसाहिवा वा ? । गोपमा ! सन्नय्योवा सुहुमणिगो-  
यस्स अपज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा ? । सुहुपवा-  
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा अ-  
संसेल्लेजगुणा २ । सुहुमतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहसिया ओ-  
गाहणा असंसेल्लेजगुणा ३ । सुहुआऊ० अपज्जत्तगस्स जह-  
सिया ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ४ । सुहुपुढवी० अपज्ज-  
त्तगस्स जहसिया ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ५ । बादरवा-  
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा असंसे-  
ल्लेजगुणा ६ । बादरतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा  
असंसेल्लेजगुणा ७ । बादरआऊ० अपज्जत्तगस्स जहसिया  
ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ८ । बादरपुढवी० अपज्जत्तगस्स  
जहसिया ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ९ । पत्तेयसरीरबा-  
दरचयस्सइकाइयस्स बादरनि भोयस्स, एषसि णं अपज्ज-

त्तगाणं जहसिया ओगाहणा दोएइ वि तुआ असंसेल्लेज-  
गुणा १० । ? । सुहुपनिभोयस्स पज्जत्तगस्स जहसिया  
ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ११ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स  
उकोसिया ओगाहणा विमैसाहिवा ? । तस्स चेव पज्जत्तग-  
स्स उकोसिया ओगाहणा विसैसाहिवा ? ४ । सुहुपवाउकाइ-  
यस्स पज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा १५ ।  
तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उकोमिया विसैसाहिवा ? ६ । तस्स  
चेव पज्जत्तगस्स उकोसिया ओगाहणा विसैसाहिवा १७ ।  
एवं सुहुमतेऊकाइयस्स वि ? ८ । १६ । १७ । एवं सुहुप-  
आउकाइयस्स वि ११ । १२ । १३ । एवं सुहुपुढविकाइ-  
यस्स वि । १४ । १५ । १६ । एवं बादरवाउकाइयस्स  
वि २७ । २८ । २९ । एवं बादरतेऊकाइयस्स वि ३० ।  
३१ । ३२ । एवं बादरआउकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । ३९ ।  
एवं बादरपुढविकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । सर्वोसिं  
तिविहेणं गमेणं भाणियच्चं बादरनिभोयस्स जहसिया  
ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ३९ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स  
उकोसिया ओगाहणा विसैसाहिवा ४० । तस्स चेव प-  
ज्जत्तगस्स उकोसिया ओगाहणा विसैसाहिवा ४१ ।  
पत्तेयसरीरबादरचयस्सइकाइयस्स जहसिया ओगाहणा  
असंसेल्लेजगुणा ४२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उकोसिया  
ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ४३ । तस्स चेव पज्जत्तगस्स  
उकोसिया असंसेल्लेजगुणा ४४ ।

इह किल पृथिव्यतेजोवासुनिर्गोदाः ५ प्रत्येकं सूक्ष्मबादर-  
भेदाः । पवमेते दश; एकादश च प्रत्येकं वनस्पतिः । एते च प्रत्येकं  
पर्योताकापर्योतकभेदाः २२ । तेषां जघन्याऊकाइयावगाहनाः, इत्येषं  
चतुश्चत्वारिंशत्तत्रोच्यतेपु स्तोकादिपदव्यासेनावगाहना इवा-  
क्येया । स्थापना चैवम्—पृथ्वीकायस्याऽथः सूक्ष्मबादरपदे,  
तयोरथः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तपदे, तेषामथः प्रत्येकं ऊघन्याऊ-  
काइयावगाहनेति । एवमप्यायादयोऽपि स्थाप्याः । अथकत्तन-  
स्पतेश्चाथः पर्याप्तापर्याप्तपदद्वयम्, तयोरथः प्रत्येकं ऊघन्या-  
ऊकाइयावगाहनेति । इह च पृथिव्यादीनाममूलासंस्थेयज्ञा-  
गमात्तावगाहनत्वेऽप्यसंस्थेयज्ञत्वात्तुल्लासंस्थेयभोगस्येतेर-  
नपारकथाऽसंस्थेयगुणत्वं न विरुध्यते, प्रत्येकशरीरवतनस्पती-  
नां चातुष्टयगः ना योजनसहस्रं समधिकमेव गन्तव्येति । प्र०  
११ शृ० ३ ७० ।

( अस्तित्कायद्वारे धर्मोस्तित्कायादीनां उभयार्थताप्यबहु-  
त्वम् ' अस्थिकाय ' शब्दस्मिन्नैव भागे १२४ पृष्ठे समुक्तम् )

( अस्मान्मदप्यबहुत्वम् ' आता ' शब्दे द्वितीयत्रगे १७० पृष्ठे  
वक्ष्यते )

( ४ ) [ आयुः ] द्रव्यस्थानाद्यायुसामप्यबहुत्वम्—

एयस्स यं जेतेःदवड्ढाणाउयस्स लेत्तडाणाउयस्स ओ-

गाहण्ड्याण्ययस्स जावहाण्ययस्स कयरे कयरेहितोप  
आव विसेमादिषा । गोपा । सपत्थावे वेचट्टाणाणए  
आगाहण्णटाणाणए असंसेज्जगुणे, दव्वट्टाणाणए असंसे-  
ज्जगुणे भावट्टाणाणए असंसेज्जगुणे, “ खोत्तागाहण्णदव्वे,  
जावहाण्ययस्स व अप्याबहुं । खेवे सव्वत्थावे, सेसट्टाणा  
असंसेज्जा ” ॥ १ ॥

( एयस्स थं अंते । दव्वट्टाणाण्ययस्स वि ) इत्थं पुक्कलद्रव्यं,  
तस्य स्थानं भेदः परमाणुद्विप्रदेशकादि, तस्यायुः स्थितिः ।  
अथवा द्रव्यस्याणुत्वादिनामेव यत् स्थानमथस्थानं, तद्रूपमायुः,  
द्रव्यस्थानाद्यः, तस्य; ( खेचट्टाणाण्ययस्स वि ) खेचट्टाणाण्यय-  
स्यायुः, स्थानं भेदः पुक्कलावगाहण्णः, तस्यायुः-स्थितिः । अथवा  
खेचट्टे एकप्रदेशादौ, स्थानं यत्पुक्कलानामथस्थानं, तद्रूपमायुः, खेच-  
ट्टाणाण्ययुः । एवमथवाहनास्थानायुःमांथस्थानायुधः, नवरमथवाह-  
नानियतपरिमाणेषुभावागाहित्वं पुक्कलानाम् । भावस्तु काह-  
त्वादिः । ननु खेचट्टाणाण्ययस्याहनायासो भेदः ? उच्यते-सैत्रम-  
वगाहमेव । अथवाहना तु-विचलितसोत्राद्यन्वापि पुक्कलानां  
सर्परिमाणवगाहत्विर्भाति । “ कथरे ” इत्यादि कण्ठ्यम् । एषां  
च परस्परिमाणवद्वत्त्वव्याख्या गाथाऽनुसारेण कार्या । तास्मेमा-  
“ खेचट्टाणाण्ययस्स, भावट्टाणाण्ययस्स अप्याबहुयस्स च ।

धावा असंजगुणिया, निजि व सेसा कइ मेया । ॥ १ ॥  
केसाऽमुत्तसाधो, तेण समं बंधयण्णवाभावा ।  
तो पांमालाण धावो, केसावट्टाणकालो उ ॥ २ ॥  
अयर्थः-केचट्टाणाण्ययस्सत्वेन केचण सद् पुक्कलानां विशिष्ट-  
धर्मप्रत्ययस्य स्नेहादेरजाबाहिकस्य ते चिरं तिष्ठन्तीति शेषः । य-  
स्मादर्थं तत् इत्यादि व्युत्पत्त्यम् ।

प्रधावगाहनायुषो बहुत्वं भाव्यते-  
“ अत्रं केचगयस्स वि, तं चियमयणं चिरं वि संधरइ ।  
आगाहणनासे पुण, केसऽअसं कुमं होइ ” ॥ ३ ॥  
इदं पृथोर्धेन केचट्टाणाण्ययस्य भविकाऽवगाहनाकेत्युक्तम् । उक्त-  
वर्धेन तु अथवाहनाकारतो नापिका केचट्टाण्येति ।

कथमेतद्वचसः ? इत्युच्यते-  
“ आगाहणावचयत्ता, केसट्टा अक्रिया व भदा य ।  
न उ आगाहण्णकालो, केसट्टामसंसेज्जको ” ॥ ४ ॥  
अथवाहनायामगमनक्रियायां च नियता केचट्टा विधाकृता,  
अथवाहनासंज्ञाय एवाकियासंज्ञायः । एषं च तस्या-भावाद्भू-  
त्वात्किं चानावात् । अथवाहना तु-न केचमात्रनियता, केच-  
ट्टाया अभावेऽपि तस्या अभावादिति ।

अथ निगमनम्-  
“ जग्हा तत्थऽअत्थ व, सव्वे आगाहणा जवे केसे ।  
तग्हा केसट्टाअो-ऽअवाहण्णट्टा असंजगुणा ” ॥ ५ ॥

अथ द्रव्यायुषो बहुत्वं भाव्यते-  
“ संकोयविकोपण व, उवरमियापऽअवाहणाए वि ।  
तत्थियमेत्तायं चिय, चिरं वि दव्वणऽअस्थानं ” ॥ ६ ॥  
संकोपणं, विकोपेन वा उपरतायामप्यवगाहनायां यावन्ति  
रूपयापि पृथंमासंस्तावतामेव चिरमपि तेषामवस्थानं संभवति ।  
अनेनाथवाहनानिधुत्वावपि इत्थं न निवर्तत इत्युक्तम् ।  
अथ द्रव्यनिवृत्तिविशेषऽअवाहना नियतं पवेत्युच्यते-

“ संघायमेयसो वा, दव्वोचरमे पुणाइ सक्खिसे ।  
नियमा तदव्वोगा-इयाइ मासो न सव्वेहो ” ॥ ७ ॥  
सङ्घातनं, पुक्कलानां भेदेन वा तेषामेव वः संकृतः स्तोकाव-  
गाहनः स्फःथो न तु प्राक्तनावगाहनः, तत्र यो इत्योपरमेो क-  
व्याप्त्यात्, तत्र सति, न च सङ्घातनं न संकृतः स्फःथो भवति,  
तत्र सति पुक्कलतरत्वेनापि तस्परिणतेः अथवाह् नियमात्तेषां  
द्रव्याणामवगाहनायाः नाशो भवति ।

कस्यादेवमः ? इत्यत उच्यते-

“ आगाहटा दव्वे, संकोयविकोपयो व अथवटा ।  
न उ दव्वं संकोयण-विकोपयमेत्तमि संवच्च ” ॥ ८ ॥  
अथवाहनात् इत्येवमवच्छेदः नियतत्वेन संबधः । कथम् ? सङ्को-  
पादिकावाच्यं, सङ्कोपादि परिहृत्येयं । अथवाहनादिदव्वे  
सङ्कोपविकोपयोभावे सति भवति, तत्संज्ञाये च न प्रवर्ती-  
त्येवं इत्थंऽअवाहना नियतत्वेन संबधेऽप्युच्यते । इत्येव चदिर-  
त्वाभिवेति । उच्यतियथैवमाह-न पुनद्रव्यं सङ्कोपविकोपयमांथे  
सत्यप्यवगाहनायां नियतत्वेन संबधं सङ्कोपविकोपयान्वाव-  
गाहनानिबृत्तावपि द्रव्यं न निवैरत इत्यवगाहनायां तत्त्वित-  
त्वेनासंबधमित्युच्यते, अदिरत्वे इत्येवमवच्छेदित ।

अथ निगमनम्-  
“ जग्हा तत्थऽअत्थ व, दव्वं आगाहणाइ तं चेष ।  
इत्थट्टा संजगुणा, तग्हा आगाहण्णट्टाअो ” ॥ ९ ॥

अथ भावायुषेर्बहुत्वं भाव्यते-  
“ संघायमेयसो वा, दव्वोचरमे वि पज्जवा संति ।  
तं कसिल्लगुणविरामे, पुणाइ दव्वं न आगाहो ” ॥ १० ॥  
सङ्घातादिना उक्तोपरमेऽपि पर्यथाः सन्ति, यथा-चुष्टुटे च-  
ट्टादिगुणाः । सत्कलगुणापरमे तु न तद्रव्यं, न भावागाहनाऽनु-  
चरते । अनेन पर्यथायां चिरं स्थानं, इत्यस्य स्वचिरमित्युक्तम् ।

अथ कस्यादेवमः ? इत्युच्यते-  
“ संघायमेयबंधा-पुणविसिणी णिचयमेव दव्वटा ।  
न उ गुणकालो संघा-यमेयमत्तऽअसंबधो ” ॥ ११ ॥

सङ्घातमेदं लक्षणार्थां धर्मोर्धयो यो बन्धः संबधस्तदनु-  
सिनी तदनुसारिणी, सङ्घाताद्यभावे एव उच्यतायाः सङ्घातान्,  
तद्भावं चानावात् ; नपुनगुणकालः, सङ्घातमेदमात्रकालसंबधः  
सङ्घातादिनावेऽपि गुणानामनुवर्त्तनादिति ।

अथ निगमनम्-  
“ जग्हा तत्थऽअत्थ व, दव्वे केसावहाण्णसुं व ।  
तं चेष पज्जवा सं-ति वा तद्वटा असंजगुणा ” ॥ १२ ॥  
“ आह अणंगतो थं, दव्वोचरमे गुणाण उवत्थायं ।  
गुणविपरिणाममि व, दव्वविसेसो व उणंगतो ” ॥ १३ ॥

इत्यवशिष्टेषो इत्यपरिणामः ।  
“ विपरिणयमि दव्वे, कसिल्लगुणपरिणइ अथे ज्ञानं ।  
कमि विपुत्तदवधंथे, वि होइ गुणविपरिणामो ” ॥ १४ ॥  
“ जग्ध सच्चं किं पुण, गुणावाह्णानं न सव्वण्णमासो ।  
दव्वस्स तद्वचसे, वि बहुत्तरायं गुणाण तिरे ” ॥ १५ ॥ सि ०  
५ श ० ७ ३० ।

( वैयक्तिकाद्युपसर्गमप्यबहुत्वम्—“ आक ” शब्दे द्वितीयभागे ११-१२ पृष्ठे दशैविधेते ) ( जातिनामनिष्पत्त्यापुरादीनां त्रैधाः ' आउबन्ध ' शब्दे द्वितीयभागे ३३ पृष्ठे वचनेते )

(४) (आहारहारम्) आहारकानाहारकजीवानामप्यबहुत्वम्-एरसिंखं भंते ! जीवाणं आहारमाणं अणुहारमाणं य कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया ।

सर्वस्तोका जीवा अनाहारकाः, विप्रहागत्यापशादीनामेवानाहारकत्वात् । उक्तं च—“ विभाद्गामवासा, केवालियो समुद्रया अजोगी य। सिन्ध्या य अणुहार,सेसा आहारका जीवा”॥१॥ तेच्य आहारका असंख्येयगुणाः । ननु वनस्पतिकायिकानां सिन्धेयोऽप्यनन्तत्वात् तेषां चाहारकतयाऽपि लज्यमानत्वात् कथमनन्तगुणा न भवन्ति । तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिहानात् । इह सूत्रमभिगोदाः सर्वसंख्ययाऽप्यसंख्ययाः, तथाप्यस्तुदुर्घसमयराशितुल्याः सूत्रमभिगोदाः सर्वकालविगुंढ वसमाना लज्यन्ते । ततोऽनाहारका अव्यतिबहवः सकलजीवराश्यसंख्येयमागतुल्या इति तेच्य आहारका असंख्येयगुणाः, ते च नामस्तगुणाः । गतमाहारद्वारम् । प्रहा० ३ पृ. जी० कर्म० । ( इन्द्रियाणामवसादन्याऽप्यबहुत्वम्, तेषां कर्कशाविगुणाश्च ' ईन्धिया ' शब्दे द्वितीयभागे ४४४ पृष्ठे वचनेते )

(६) ( इन्धियाद्वारम् ) संख्येयानां परस्परमप्यबहुत्वम्-एरसिंखं जंते ! सईदियाणां एर्मिदियाणं बेईदियाणं तेईदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणोंदियाणं य कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया विसैसाहिया, तेईदिया विसैसाहिया, बेईदिया विसैसाहिया, अणुदिया अणंतगुणा, एर्मिदिया अणं० । सईदिया वि० ।

सर्वस्तोकाः पञ्चैन्द्रियाः संख्येयाः, दशयोजनकोटाकांदिप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रतिप्रतरसंख्येयभागवत्संख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेच्यबहुतरिन्द्रिया विशेषाधिकारः, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोजनकोटाकांदिप्रमाणत्वात् । तेच्योऽपि पंचैन्द्रिया विशेषाधिकारः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटाकांदिप्रमाणत्वात् । तेच्योऽपि इन्द्रिया विशेषाधिकारः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटाकांदिप्रमाणत्वात् । तेच्योऽपि पंचैन्द्रिया विशेषाधिकारः, वनस्पतिकायिकानां सिन्धेयोऽप्यनन्तगुणात् । तेच्योऽपि सिन्धिया विशेषाधिकारः, इन्द्रियादीनामपि तत्र प्रकृतेः । तद्वस्तुक्तमेकमौषिकानामप्यबहुत्वम् । प्रहा० ३ पृ. जी० । अर्थतत्त्वेत्यर्थ—“ पण १ चउ २ ति ३ दुय ४ अरिहिय ५, एर्मिदिय ६ सईदिया कमा हुंति । योवा १ तिखि य आहिया ४, दोणंतगुणा ६ विसैसाहिया ” ॥ १ ॥ अ० २५ अ० ३० । जी० ।

इदानीमेतेषामेवापर्यासानां द्वितीयमप्यबहुत्वमाह-

एरसिंखं भंते ! सईदियाणं एर्मिदियाणं बेईदियाणं तेईदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अपज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया अपज्जत्ता, चउरिंदिया

अपज्जत्ता विसैसाहिया, तेईदिया अपज्जत्ता विसैसाहिया, एर्मिदिया अपज्जत्ता अणंतगुणा, सईदिया अपज्जत्ता विसैसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पञ्चैन्द्रिया अपर्यासाः एकस्मिन्प्रतरे वाधन्यबहुलासंख्येयभागमात्राणि क्खत्ताति तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तस्यबहुतरिन्द्रिया अपर्यासा विशेषाधिकारः, प्रभूतबहुलासंख्येयभागवत्प्रमाणत्वात् । तेच्यकीन्द्रिया अपर्यासा विशेषाधिकारः, प्रभूततरप्रतराहुलासंख्येयभागवत्प्रमाणत्वात् । तेच्योऽपि इन्द्रिया अपर्यासा विशेषाधिकारः, प्रभूततमाहुलासंख्येयभागवत्प्रमाणत्वात् । तेच्य एकैन्द्रिया अपर्यासा अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपर्यासानामनन्ततया सदा प्राप्यमाणत्वात् । तेच्योऽपि सिन्धिया अपर्यासा विशेषाधिकारः, इन्द्रियाद्युपसर्गानामपि तत्र प्रकृतेः । गतं द्वितीयमप्यबहुत्वम् । प्रहा० ३ पृ. जी० ।

अधुनेतेषामिव पर्यासापर्यासगतमप्यबहुत्वमाह—

एरसिंखं जंते ! सईदियाणं एर्मिदियाणं बेईदियाणं तेईदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पज्जत्ता चउरिंदिया पंचिंदिया पज्जत्ता विसैसाहिया, तेईदिया पज्जत्ता विसैसाहिया, बेईदिया पज्जत्ता विसैसाहिया, एर्मिदिया पज्जत्ता अणंतगुणा, सईदिया पज्जत्ता सर्वज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाबहुतरिन्द्रियाः पर्यासाः, यतोऽप्यायुषबहुतरिन्द्रियाः, ततः प्रभूतकालमवस्थानाभावात् । पृच्छासमयं स्तोका अप्रिप्रतरे वाधन्यबहुलासंख्येयभागमात्राणि क्खत्ताति तावत्प्रमाणावेदितव्याः । तेभ्यः पञ्चैन्द्रियपर्यासा विशेषाधिकारः, प्रभूतबहुलासंख्येयभागवत्प्रमाणत्वात् । तेच्योऽपि इन्द्रियाः पर्यासा विशेषाधिकारः, प्रभूततरप्रतराहुलासंख्येयभागवत्प्रमाणत्वात् । तेच्य एकैन्द्रियाः पर्यासा अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां पर्यासानामनन्तत्वात् । तेच्यः सईदियाः पर्यासा विशेषाधिकारः, इन्द्रियादीनामपि पर्यासानां तत्र प्रकृतेः । गतं तृतीयमप्यबहुत्वम् । सम्प्रत्येषामिव संख्येयानां पर्यासापर्यासगतमप्यबहुत्वमाह—

एरसिंखं भंते ! सईदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सईदिया अपज्जत्ता पज्जत्ता सईदिया सव्वज्जगुणा । एरसिंखं भंते ! एर्मिदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एर्मिदिया पज्जत्ता एर्मिदिया अपज्जत्ता असं० । एरसिंखं भंते ! बेईदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बेईदिया पज्जत्ता अपज्जत्ता असं—

खेज्जगुणा । एरसि णं जंते ! तेइदियाणं पज्जत्तापज्जत्ता-  
 णं कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थो-  
 वा तेइदिया पज्जत्ता, तेइदिया अपज्जत्ता अस्सेखेज्जगु-  
 णा । एरसि णं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ता  
 कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ५ । गोयमा ! सव्वत्थोवा  
 चउरिंदिया पज्जत्ता, चउरिंदिया अपज्जत्ता अस्सेखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः सेन्द्रिया अपर्यासाः, इह सेन्द्रिया एव बहव-  
 सत्रापि सूहमाः, तेषां सर्वशोकापत्त्यादः । सूहमाभापर्यासाः  
 सर्वस्तोकाः पर्यासाः संबंधयगुणा इति । सेन्द्रिया अपर्यासाः स-  
 र्वस्तोकाः पर्यासाः संबंधयगुणाः । एवमेकेन्द्रिया अपर्यासाः  
 संबंधस्तोकाः पर्यासाः संबंधयगुणा भावनीयाः । तथा सर्वस्तो-  
 का इन्द्रियाः पर्यासाः, वाचनं प्रतेरऽङ्गुलस्य अस्संबंधयभाग-  
 माथाणि अरुदानी तावत्प्रमाणत्वात् तथा । तत्र्योऽपर्यासा  
 अस्संबंधयगुणाः, प्रतरगताङ्गुलासंबंधयभागखण्डमाश्रत्याद ।  
 एषं त्रित्तुरिन्द्रियात्पत्त्यान्यपि वक्ष्येति । गतं पठत्यवहु-  
 त्वात्मकं चतुर्थमवबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येतां सेन्द्रियादीनां समुदितानां पर्यासापर्यासानामव्य-  
 वहृत्वमाह—

एरसि णं भंते ! सइदियाणं एरिंदियाणं वेइदियाणं  
 तेइदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं  
 कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ५ । गोयमा ! सव्वत्थोवा  
 चउरिंदिया पज्जत्ता, पंचिंदिया पज्जत्ता विसेसाहिया,  
 वेइदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, तेइदिया पज्जत्ता विसे-  
 साहिया, पंचिंदिया अपज्जत्ता अस्सेखेज्जगुणा, चउरिं-  
 दिया अपज्जत्ता विसेसाहिया, तेइदिया अपज्जत्ता  
 विसेसाहिया, वेइदिया अपज्जत्ता विसेसाहिया, एरिं-  
 दिया अपज्जत्ता अणंत्तगुणा, सइदिया अपज्जत्ता विसे-  
 साहिया, एरिंदिया पज्जत्ता संखेज्जगुणा, मइदिया पज्ज-  
 त्ता विसेसाहिया, सइदिया विसेसाहिया ।

इदं प्रागुक्तद्वितीयमूलोपाख्यवहुत्वभाववानुसारिणा ख्यं ज्ञा-  
 वनीयम्, तत्रवते भाषितं न्यात् । गतमिन्द्रियद्वारम् ॥ प्रज्ञा० ३५४ ।  
 जी० ३४० । (इन्द्रियोपयोगाऽत्राविषयमवबहुत्वम्-ईदियव-  
 वभागत्वा' शब्दे द्वितीयभागे ४६८ पृष्ठं प्रकृत्यपिष्यते )

( ७ ) [ उद्वतेनाऽपवर्तनयोरव्यवहृत्यम् ] सम्प्रति ह्योरपि  
 उद्वतेनापवर्तनयोरव्यवहृत्यं सूत्रकृतं प्रतिपादयति-  
 योचं परपसुगुहाणि अत्रेते दुसु जहन्निनिकेसो ।  
 क्रमसो अग्रोत्तगुणिओ, दुसु वि अत्र्यावणा तुह्णा ॥२२२॥  
 बाधाएणऽणुभाग-कंडगमकाववगणाऽणं ।  
 १५६

ठकिडो निरुवेवो, ससंतबंधो य सविसेसो । ३३३ ॥

एकस्यां दिशि स्थित्यै यानि स्वर्णकानि तानि क्रमशः श्या-  
 प्यन्ते । तथावा-सर्वेज्जन्तं स्वस्वदेकमादौ, ततो विशेषाधि-  
 करसं द्वितीयम्, ततो विशेषाधिकरसं तृतीयम् । एवं तावत्स-  
 र्वोक्तपरसमन्ते । तथाऽऽविस्वर्णकः कादारं अयोक्तारोत्तरस्वर्णकानि  
 प्रदेशेषुस्य विशेषादीनां, अन्तिमस्वर्णकः कादारं अयुक्तारोऽयः  
 क्रमेण प्रदेशेषुस्य (विशेषाधिकारि, तेनां मध्ये एकस्मिन् द्विगु-  
 णवृद्धान्तरं द्विगुणाहान्यन्तरे वा यत्स्वर्णकं यति तत् सर्वस्तो-  
 कम् । मथवा ज्ञेहप्रत्ययस्य स्वर्णकस्य अनुभाग्द्विगुणवृद्धान्तरं,  
 द्विगुणाहान्यन्तरे वा यत्तुजागपटम् तस्यैस्तोकाभ्यं प्रप्यन्ते ।  
 अन्तिमस्थितेषु प्रप्यन्ति, इति स्वर्णकसंख्यापिकुशा ह्येतेरपि नि-  
 सेपस्तुल्यः । एवमतिरिच्यपनायामुक्तुष्टानिसेपेऽपि च भावनीयम् ।  
 क्रमश इति च सकलमाथाऽप्युक्त्या योजनीयम् । ततो ह्योरप्यति-  
 श्यापना व्याघातबाह्या भनन्तगुणा, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या ।  
 ततो 'बाधाएणयथादि' व्याघातं तत्र यत् उक्तं अनुभागादकडकम-  
 कया घर्गण्या एकसमयमाश्रित्यतिगतस्वर्णकसंहतिरूपया ऊ-  
 नय, एषा उक्तुष्टानुभागात्कडकस्य याऽतिश्यापना, सा भनन्तगुणा ।  
 तत उद्वतेनापवर्तनेयानुक्तुष्टे निक्षेपो विशेषाधिकः, स्वस्थाने तु  
 परस्परं तुल्यः । ततः (ससंतबंधो य सविसेसो ) पृथेबोक्तु-  
 ष्ठस्थितिकामोनुजागेन सह उक्तुष्टस्थित्यनुभागावन्धो विशेषा-  
 धिकः । क० प्र० ॥

( ८ ) [ उपयोगद्वारम् ] साकाराऽनाकारो-  
 पयुक्तानामवबहुत्वम्—

एरसि णं जंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अण्णागारोव-  
 उत्ताणं य कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थो-  
 वा जीवा अण्णागारोवउत्ता सागारोवउत्ता मंसिखज्जगुणा ।

इहानाकारोपयोगः कालः सर्वस्तोकाः, साकारोपयोगकालस्तु  
 संक्षुधयगुणाः । ततो जीवा अप्यनाकारोपयोगोपयुक्ताः सर्व-  
 स्तोकाः, पृच्छासमयं तेषां स्तोकाभिव्याप्यमानत्वात् ।  
 तेभ्यः साकारोपयोगोपयुक्ताः संक्षुधयगुणाः, साकारोपयोगका-  
 लस्य दीधेतया तेषां पृच्छासमयं बहुनां प्राप्यमाणत्वात् । गतसु-  
 पयोगद्वारम् । प्रज्ञा० ३५४ । जी० । कर्म० १० । सं० । क० प्र० ५० ।  
 ( कति सञ्चितानां कति असञ्चितानामवबहुत्वकसञ्चितानां पट-  
 कसमञ्जितानां यावन्नतुरर्हातिसमञ्जितानां, कर्मप्रदेशाः प्राप्या-  
 मव्यवहृत्यं 'बंध' शब्दे प्रदेशाव्यापयन्ते बह्व्यते )

( ९ ) [ कथायद्वारम् ] कोधकथायादीनामवबहुत्वम्—

एरसि णं जंते ! जीवाणं सकसाईणं कोडकसाईणं  
 माणकसाईणं मायाकसाईणं भोजकसाईणं अक्रमाईणं  
 य कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा  
 जीवा अक्रसाई, माणकसाई अणंत्तगुणा, कोडकसाई विसे-  
 साहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, भोजकसाई विसेसाहि-  
 या, सकसाई विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका अक्षयाधिः, सिद्धानां कतिपयानां च मनुष्याणाम-  
 कथायत्वात् । तेभ्यः मानकथायिणो मानकथायपरिणामावन्तोऽभन-  
 गुणाः, पटुस्यपि जीवनिर्कायेषु मानकथायपरिणामावन्तोऽभन-  
 गुणाः । तेभ्यः कोडकथायिणो विशेषाधिकः, तेभ्यो मायाकथायि-  
 षो विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि लोभकथायिणो विशेषाधिकाः, मा-



मकपायपरिणामकालपेक्षया क्रोधादिकपायपरिणामकालस्य  
 यथोत्तरं विशेषाधिकतया क्रोधादिकपायाणामपि यथोत्तरं  
 विशेषाधिकत्वभावात् । लोभकपायविद्मः सामान्यतः सकपाय-  
 विधां विशेषाधिकाः, मानादिकपायाणामपि तत्र प्रकेपात् ।  
 सकपायिणं प्रत्यक्षैव स्मृत्याऽपि-कपायशब्देन कपायोदयः परि-  
 पूर्यते, तथा च लोके व्यवहारः-सकपायोऽयं, कपायोदयवानि-  
 स्थयः । सह कपायेण कपायोदयेन वस्तेन सकपायोदयाः वि-  
 पाकावस्थायां प्राप्ताः स्वोदयमुपदेशयन्तः कपायकर्मपरिमाणव-  
 न्तस्तेषु सत्सु जीवस्वावयवैः कपायोदयसंभवात् । सकपाया वि-  
 घ्नन्ते येषां ते सकपायिणः, कपायोदयसंहिता इति तात्पर्यार्थः ।  
 यां कपायद्वारम् । प्रज्ञां ३ पदं । जी० । कर्म० । सकपायि-  
 षामकपायिणां चादृश्येदृश्यां चन्त्यां, सर्वस्तोका अकपायि-  
 षुः, सकपायिणांऽन्तगुणाः । जी० ८ प्रति० । ( काम-  
 भोगविवयमदृश्यदृश्यां 'कामभोगं' शब्दे बद्धयते )

( १० ) [ कायद्वारम् ] सकाधिकानामदृश्यदृश्यम्—

एस्मि णं जेते ! सकाद्याणं पुदविकाद्याणं आउकाइ-  
 याणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसका-  
 इयाणं अकाइयाणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोय-  
 मा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असंखेज्जगुणा,  
 पुदविकाइया विसेसाइया, आउकाइया विसेसाइया, वा-  
 उकाइया विसेसाइया, अउकाइया अणंतगुणा, वणस्सइ-  
 काइया अणंतगुणा, सकाइया विसेसाइया वा ॥

सर्वस्तोकाकामकपायिकाः, श्रद्धाधिकारानामेव प्रसकपायिका-  
 स्थायैः तेभ्यं च श्रेयकपायपेक्षया अयत्नवन्त्वात् । तेज्यसंज्ञसकपायि-  
 किका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । ते-  
 ज्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाका-  
 शप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्याऽकपायिका विशेषाधिकाः, प्रभू-  
 ततरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यां वायुकायिका  
 विशेषाधिकाः, प्रभूततमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्याऽकपायिका  
 अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेज्यां  
 वनस्पतिकपायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाण-  
 मन्वात् । तेज्यः सकपायिका विशेषाधिकाः, पृथिवीकायिकादी-  
 नामापि तत्र प्रकेपात् । सकपायिकानामदृश्यदृश्यम् । प्रज्ञां ३  
 पदं । जी० । अर्थतत्रैवम्—“तस-तेउ-पुदवि-जल-वा-उकाय-अ-  
 काः वणस्सइसकाया ८ । योवा ? ऽसखगुणाइयि २, तिउिउ  
 ६ होऽन्तगुणा ७ इरिय” स्ति । ज० २५ हा० ३ ङो० १०६० ।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमदृश्यदृश्यम्—

एस्मि णं जेते ! सकाद्याणं पुदविकाद्याणं आउकाइया-  
 णं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइ-  
 याणं य अपजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? ।  
 गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया अपजजत्ता, तेउकाइया अ-  
 पजजत्ता असंखेज्जगुणा, पुदविकाइया अपजजत्ता वि-  
 सेसाइया, आउकाइया अपजजत्ता विसेसाइया, वाउका-  
 इया अपजजत्ता विसेसाइया, वणस्सइकाइया अपजज-

त्ता अणंतगुणा । सकाइया अपजजत्ता विसेसाइया ।  
 प्रज्ञां ३ पदं । ( टीका चारुय सुगमाऽतां न प्रत्यन्ते )

साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमदृश्यदृश्यम्—

एस्मि णं जेते ! सकाद्याणं पुदविकाद्याणं आउकाइयाणं  
 तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं  
 य पजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !  
 सव्वत्थोवा तसकाइया पजजत्ता, तेउकाइया पजजत्ता  
 असंखेज्जगुणा, पुदविकाइया पजजत्ता विसेसाइया,  
 आउकाइया पजजत्ता विसेसाइया, वाउकाइया पजज-  
 त्ता विसेसाइया, वणस्सइकाइया पजजत्ता अणंतगुणा,  
 सकाइया पजजत्ता विसेसाइया । प्रज्ञां ३ पदं ।

( टीका सुगमा )

साम्प्रतमेतेषामेव सकाधिकारानां प्रत्येकं पर्याप्तपर्या-

प्तानामदृश्यदृश्यम्—

एस्मि णं जेते ! सकाद्याणं पजजत्तापजजत्ताणं कयरे  
 कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसाइया  
 वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सकाइया अपजजत्ता, सका-  
 इया पजजत्ता संखेज्जगुणा । एस्मि णं जेते ! पुदविकाइयाणं  
 पजजत्तापजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा  
 तुट्ठा वा विसेसाइया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पुद-  
 विकाइया अपजजत्ता, पुदविकाइया पजजत्ता संखिज्ज-  
 गुणा । एस्मि णं जेते ! आउकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं  
 कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा  
 आउकाइया अपजजत्ता, आउकाइया पजजत्ता संखि-  
 ज्जगुणा । एस्मि णं जेते ! तेउकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं  
 कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा  
 तेउकाइया अपजजत्ता, तेउकाइया पजजत्ता संखेज्जगुणा ।  
 एस्मि णं जेते ! वाउकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं कयरे कयरे-  
 हिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वाउकाइया  
 अपजजत्ता, वाउकाइया पजजत्ता संखेज्जगुणा । एस्मि णं  
 जेते ! वणस्सइकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते  
 अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया अप-  
 जजत्ता, वणस्सइकाइया पजजत्ता संखेज्जगुणा । एस्मि णं  
 जेते ! तसकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते  
 अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया पजजत्ता-  
 गा, तसकाइया अपजजत्ता असंखेज्जगुणा । प्रज्ञां ३ पदं ।

( टीका सुगमा )

साम्प्रतमेतेषामेव सकाधिकारानां समुचितानां  
 पर्याप्तपर्याप्तानामदृश्यदृश्यं पञ्चमम्—

एप्सि णं जेते ! सकाइयाणं पुडविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गो-यमा ! मन्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्ता, तसकाइया अपज्जत्ता अपसंखेज्जगुणा, तेउकाइया अपपज्जत्ता असंखेज्जगुणा, पुडविकाइया अपपज्जत्ता विसेसाहिया, आउकाइया अपपज्जत्ता विसेसाहिया, वाउकाइया अपपज्जत्ता विसेसाहिया, त्तेउकाइया पज्जत्ता संखेज्जगुणा, पुडविकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया, अप्पाकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया, वाउकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपपज्जत्ता अप्णंतगुणा, वणस्सइकाइया पज्जत्ता संखेज्जगुणा, सकाइया अपपज्जत्ता विसेसाहिया, सकाइया पज्जत्ता संखेज्जगुणा, सकाइया विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः स्वस्त्वस्त्वकायिकाः पर्यासाः, तेष्वस्त्वस्त्वकायिका एवाऽपर्यासाः असंख्येयगुणाः; द्विन्द्यादिनामपर्यासानां पर्यास-द्विन्द्यादिभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् । ततस्तेजस्त्वकायिका अपर्यासा असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । ततः पृथिव्यभूतवायवोऽपर्यासाः क्रमेण विशेषाधिकाराः ततस्तेजस्त्वकायिकाः पर्यासाः सङ्घेयगुणाः, स्वम्बन्धपर्यासिन्यः पर्यासानां स्वम्बन्धगुणत्वात् । ततः पृथिव्यव्यायवः पर्यासाः क्रमेण विशेषा-यिकाः ततो वनस्पतयोऽपर्यासा अनन्तगुणाः पर्यासाः सङ्घेयगुणाः । तदेवं कायज्ञारे सामान्येन पञ्चस्राणि प्रतिपादितानि ॥

सम्प्रत्यक्षमेव द्वारे सूक्ष्मभाद्रादिभेदेन पञ्चदश सूत्राण्यह—

एप्सि णं भेते ! मुहुमाणं सुहुमपुडविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमणियाओयाण य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मन्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया सुहुमपुडविकाइया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अप्णंतगुणा, सुहुमा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्त्वकायिकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाराः, प्रभूतासङ्घेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्माकायिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाराः, प्रभूततरासङ्घेयलोकाकाशप्रदेशराशिसामान्यत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा असंख्येयगुणाः । सुक्ष्मप्रहणं भाद्रव्यचन्द्रार्थम् । द्विधिधा दि निगोदाः—सूक्ष्माः, भाद्राश्च । तत्र भाद्राः सूर्यकन्द्यादिषु, सूक्ष्माः सर्वलोकापभाः, ते च प्रतिगोलकमसङ्घेया इति सूक्ष्मवायुकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यः सूक्ष्मवन्नपतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमन्तानां प्रावताः । तेभ्यः सामानिकाः सूक्ष्मजीवा विशेषाधिकाराः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रहेपात् । यतमी-चिकानामिदमवपबहुत्वम् ।

इदामितेषामेवाऽपर्यासानामह—

एप्सि णं भेते ! सुहुमअपज्जत्ताणं सुहुमपुडविकाइया अपज्जत्ताणं सुहुमआउकाइया अपज्जत्ताणं सुहुमतेउकाइया अपज्जत्ताणं सुहुमवाउकाइया अपज्जत्ताणं सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्ताणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्ताण य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मन्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपपज्जत्ता, सुहुमपुडविकाइया अपपज्जत्ता विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अपपज्जत्ता विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपपज्जत्ता विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा अपपज्जत्ता असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपपज्जत्ता अप्णंतगुणा, सुहुमा अपपज्जत्ता विसेसाहिया ॥

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव आबनीयम् ।

सम्प्रत्येषामेव पर्यासानां तृतीयमवपबहुत्वमाह—

एप्सि णं जेते ! सुहुमपज्जत्ताणं सुहुमपुडविकाइयपज्जत्ताणं सुहुमआउकाइयपज्जत्ताणं सुहुमतेउकाइयपज्जत्ताणं सुहुमवाउकाइयपज्जत्ताणं, सुहुमवणस्सइकाइयपज्जत्ताणं सुहुमनिगोदपज्जत्ताण य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मन्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया पज्जत्ता, सुहुमपुडविकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया । सुहुमआउकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्ता असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्ता अप्णंतगुणा, सुहुमा पज्जत्ता विसेसाहिया ।

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव आबनीयम् । प्रश्ना० ३ एव ।

पृथिव्यतेजोवायुवनस्पतिद्विन्द्याद्यत्रीन्द्रियचक्षुर्निद्रियपञ्चिन्द्रियाणां नवानामवपबहुत्वचिन्तयामाह—

अप्पाबहुयं मन्वत्थोवा पर्विंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तदेहिंदा विसेसाहिया, वेदंदिा विसेसाहिया, तेउकाइया असंखेज्जगुणा, पुदावि० आउ० वाउ० विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अप्णंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः पञ्चिन्द्रियाः, संख्येययोऽजनकोटीकोटिप्रमाणविष्कम्भसुधीप्रमितराद्यसंख्येयजागवत्ये संख्येययोगिताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः चक्षुर्निद्रिया विशेषाधिकाराः, विष्कम्भसु-ख्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोऽजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाराः, तेषां विष्कम्भसुच्याः प्रभूततरसंख्येय-योऽजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्विन्द्रिया विशेषाधि-काराः, तेषां विष्कम्भसुच्याः प्रभूततरसंख्येययोऽजनकोटीकोटि-प्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तेजस्त्वकायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाराः, प्रभूतासंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्युकायिका विशेषाधिकाराः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाण-

त्यात् । तेज्यो वायुकायिका विशेषाधिकारः, प्रजूलतमासंख्येय-  
लोकः काराशरंशुप्रमाणत्वात् । तेज्यो धनस्पतिकायिका धनस्त-  
गुणाः, अनन्तलोककाराशरंशुप्रमाणत्वात् । जी० ६ प्रलि० ।  
सम्प्रति पतेषामिवात्मिकियमहितानां दशानामदप्यवहृत्वमाह-  
एषसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं अप्पज्जाइयाणं तेउ०,  
वाउ०, वणफ्फत्ति०, वेइदियाणं तेइदियाणं चउरिदियाणं पंचि-  
दियाणं अण्णिदियाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० जाव  
विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचेदिया, चउरिदिया  
विसेसाहिया, तेइदिया विसेसाहिया, वेइदिया वि०, तेउकाइ-  
या अस्संखज्जगुणा । पुढविकाइया वि०, अप्पज्जाइया वि०,  
वाउकाइया वि०, अण्णिदिया अप्पत्तगुणा, वणफ्फत्तिइया  
अण्णेतगुणा ॥

सर्वस्नोकाः पञ्चन्द्रियाः, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकारः, त्रीन्दि-  
या विशेषाधिकारः, द्वीन्द्रिया विशेषाधिकारः, तेजस्क्यायिका  
असंख्येयगुणाः, पृथिवीकायिकाः विशेषाधिकारः, अक्कायिका  
विशेषाधिकारः, वायुकायिका विशेषाधिकारः, अनिन्द्रिया अन-  
न्तगुणाः, धनस्पतिकायिका धनस्तगुणाः । जी० १० प्रलि० ।

अप्युनाऽमीषामेव सूक्ष्मादीनां प्रत्येकं पर्यायगता—  
न्यव्यवहृत्वत्वात्माह—

एषिणं जंते ! सुहुमाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरे-  
हिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्ज-  
त्तगा, सुहुमा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषिणं भंते !  
सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो  
अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमपुढविकाइया  
अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

इह बाहरेषु पर्यायित्तयोऽपर्याया असंख्येयगुणाः, एकैकपर्या-  
यित्तियया असंख्येयानामपर्यायानामुत्पादात् । तथा चोक्तं प्राक्  
प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे—“ पज्जत्तगनिस्समाए अपज्जत्तगा  
वक्कमंति, जत्थ पर्यायं तत्थ नियमा असंखेज्ज ” इति । सूक्ष्मेषु  
गुणानां क्रमः । पर्यायाश्चापर्यायापेक्षया चिरकालावस्थायिन  
इति । सदैव ते बहवो लभ्यन्ते । तत्र उक्तम्—सर्वस्नोकाः सूक्ष्मा  
अपर्यायाः, तेज्यः सूक्ष्माः पर्यायिताः संख्येयगुणाः, एवं पृ-  
थिवीकायिकादिष्वपि प्रत्येकं आवर्तीयम् । गतं चतुर्थमख्यव-  
हृत्वम् ।

इदानीं सर्वेषां सत्पुटितानां पर्यायापर्यायगतं पञ्चममदप्यवहृ-  
त्वमाह—

एषिणं भंते ! सुहुमअप्पज्जाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं  
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा सु-  
हुमअप्पज्जाइया अपज्जत्तया, सुहुमअप्पज्जाइया पज्जत्तगा  
संखेज्जगुणा । एषिणं भंते ! सुहुमतउकाइयाणं पज्जत्ता-  
पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्व-  
त्थोवा सुहुमतउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमतउकाइया प-  
ज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषिणं जंते ! सुहुमवाउकाइयाणं

पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गो-  
यमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमवा-  
उकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषिणं जंते !  
सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरे-  
हिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहु-  
मवणस्सइकाइया अपज्जत्तया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्ज-  
त्तगा संखेज्जगुणा । एषिणं भंते ! सुहुमनिगोदाणं  
पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ।  
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया सुहुमनि-  
गोदा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषिणं भंते ! सुहुमाणं  
सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमअप्पज्जाइयाणं सुहुमतउकाइयाणं  
सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं  
य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ।  
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढ-  
विकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमअप्पज्जाइया अप-  
पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसे-  
साहिया, सुहुमतउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि-  
काइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमअप्पज्जाइया पज्जत्तगा  
विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुम-  
निगोदा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्त-  
गा संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया अण्णेतगुणा,  
सुहुमा अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमा वणस्सइकाइया  
पज्जत्तया संखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तया विसेसाहिया ॥

सर्वस्नोकाः सूक्ष्मास्तेजस्क्यायिका अपर्यायाः, कारणं प्रागेवा-  
क्तम् । तेभ्यः सूक्ष्माः पृथिवीकायिका अपर्याया विशेषाधिकारः ।  
तेज्यः सूक्ष्माक्कायिका अपर्याया विशेषाधिकारः । तेज्यः सूक्ष्मवा-  
युकायिका अपर्याया विशेषाधिकारः अत्रापि कारणं प्रागेवाक्तम् ।  
तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्क्यायिकाः पर्यायाः संख्येयगुणाः । अपर्यायि-  
भ्यां हि पर्यायाः संख्येयगुणाः । इत्यन्तरं भावितम् । तत्र  
सर्वस्नोकाः सूक्ष्मतेजस्क्यायिका अपर्याया उक्ताः । इतरे व सू-  
क्ष्मपर्यायाः पृथिवीकायिकाद्या विशेषाधिकारः विशेषाधिकारं च  
मनाभाविकत्वम्, न द्विगुणत्वं न त्रिगुणत्वं वा । तत्र सूक्ष्मते-  
जस्क्यायिकेभ्योऽपर्यायित्तयः पर्यायाः सूक्ष्मतेजस्क्यायिकाः संख्ये-  
यगुणाः स्मन्तः सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्यायित्तयोऽपि असंख्येयगु-  
णा अस्ति । तेज्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याया विशेषाधिकारः ।  
तेज्यः सूक्ष्माक्कायिकाः पर्यायाः विशेषाधिकारः । तेज्योऽपि सू-  
क्ष्मवायुकायिकाः पर्याया विशेषाधिकारः । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा  
अपर्याया असंख्येयगुणाः, तेषामनिगोदुच्युत् । तेज्यः सूक्ष्मनि-  
गोदाः पर्यायाः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मवणस्सइकाइयाः पर्यायाः  
संख्येयगुणाः । तेभ्यः सूक्ष्मवणस्सइकाइयाः अपर्याया  
अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमन्तानां तेषां भावात् । तेज्यः  
स्वामन्यतः सूक्ष्मा अपर्यायिताः विशेषाधिकारः, सूक्ष्मपृथिवी-  
कायिकादीनामपि तत्र प्रकोषाः । तेज्यः सूक्ष्मवणस्सइकाइया-

काः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । स्वैयुषं हि अपर्यतिन्यः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । यथापान्तरात्रे विशेषाधिकर्यं तदस्पमिति न संख्येयगुणत्वव्याघातः । तेन्यः स्वैयुषपर्याप्तका विशेषाधिककाः, स्वैयुषपर्याप्तकाहीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रकृष्यात् । तेभ्यः नृत्वा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रकृष्यात् ॥ १५ ॥ तद्वचमुक्तानि स्वैयुषाभितानि पञ्चसुधाणि ।

स्मरति बादराभितानि पञ्चोक्तक्रमेणानिधित्सुराह—

एरसि एं नंते । बादरगाणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? । गोयमा । स्वन्त्योवा बादरतसकाइया, बादरतेउकाइया असंखेजगुणा, पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइया असंखेजगुणा, बादरनिगोदा असंखेजगुणा, बादरपुढविकाइया असंखेजगुणा, बादरआउकाइया असंखेजगुणा, बादरवाउकाइया असंखेजगुणा, बादरवणस्सइकाइया अप्पत्तगुणा, बादरा विसैसाहिया ॥

स्वैयुषतोका बादरअसकाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव बादरअसत्वात्, तेषां च शेषकाधेयत्वात्प्रवृत्त्यात् । तेन्यो बादरतजन्काधिका असंखेययगुणाः, असंखेयलोकाकाशप्रदेश—प्रमाणत्वात् । तेन्योऽपि प्रत्येकशरीरबादरवणस्सविकाधिका असंखेययगुणाः, स्थानस्यासंखेययगुणात्वात् । बादरतजन्काधिका हि मनुष्येभ्य एव भवन्ति । तथा चोक्तं द्वितीयस्थानस्यै पदे—“कहिं एं नंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पक्खत्ता ? । गोयमा । सत्तणेणं अंतो मणुस्सखिप्पे अद्धान्जंसे ढीवस्सुदेसु निव्वाघाएणं पन्नस्सकम्मभूमिस्सु वाघाएणं पंचसु महाविदेहेसु पथं नं बायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पक्खत्ता, तत्थेव बायरतेउकाइयाणमपज्जत्तगाणं ठाणा पक्खत्ता ” इति । बादरवणस्सविकाधियेकेषु त्रिव्यपि लोकेषु भवनादिषु । तथा चोक्तं तस्सिअथ द्वितीये स्थानस्यै पदे—“कहिं एं नंते ! बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पक्खत्ता ? । गोयमा । सत्तणं सत्तसु घणोद्दंढेसु सत्तसु घणोद्दंढिवलपत्तु अद्दंढोप कप्यंसेसु अयंसेसु अणपपथंसेसु उद्धोप कप्यंसेसु विमाणेसु विमाणवलियासु विमाणपथंसेसु तिरेयलोप अगंसेसु तलापसु नर्दंसेसु द्दंसेसु वापीसु पुक्खत्तिणीसु ढीहियासु गुज्जालियासु सरंसेसु सरपत्तियासु सरसत्तपत्तियासु विलपत्तियासु उज्जंसेसु निज्जंसेसु विद्धंसेसु पत्तंसेसु विपिण्णसु ढीवसु समुहेसु सव्वेसु च्चव जत्तासपत्तु जलद्धान्णंसेसु, पथं नं बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पक्खत्ता ” तथा—“ जत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पक्खत्ता ” इति । ततः क्रमस्यासंखेययगुणत्वात्पुपचत्ते बादरतेज्जकाधियेभ्योऽसंखेययगुणाः प्रत्येकशरीरबादरवणस्सविकाधिकाः । तेन्यो बादरनिगोदा असंखेययगुणाः, तेभामत्यन्तस्वैयुषमावगाहनत्वात्, जलेषु स्वैयुषं च ज्ञात्वात् । पनकीवाशाद्यो हि जले अथयं भावित्तेव च बादरानन्तकाधिका इति । तेभ्योऽपि बादरपुढि-

धीकाधिका असंखेययगुणाः, अलसु पृथिवीषु सर्वेषु विमानभवनपर्येतादिषु भावात् । तेभ्योऽसंखेययगुणा बादरकाधिकाः, समुदेषु जलमामृत्यात् । तेन्यो बादरवायुकाधिका असंखेययगुणाः, सुधिरं सर्वत्र वायुसंजत्वात् । तेभ्यो बादरवणस्सविकाधिका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात् । तेन्यः सामान्यतो बादरा जीवा विशेषाधिकाः, बादरअसकाधिकादीनामपि तत्र प्रकृष्यात् । गतमेकमीधिकानां बादरानामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तेषामेवापयोप्तानां द्वितीयमाह—

एरसि एं नंते ! बादरा पज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरतेउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं पत्तेयसरिर्बावणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तगाणं बादरतसकाइया अपज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? । गोयमा । स्वन्त्योवा बादरतसकाइया अपज्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेजगुणा, पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अप्पत्तगुणा, बादरअपज्जत्तगा विसैसाहिया ॥ स्वैयुषतोका बादरअसकाधिका अपर्याप्तकाः, युक्तिरत्र प्रागुक्तैव । तेन्यो बादरतेज्जकाधिका अपर्याप्ता असंखेययगुणाः, असंखेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । इत्यं प्रागुक्तक्रमेणमप्यबहुत्वं भावनीयम् । गतं द्वितीयमप्यबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमप्यबहुत्वमाह—

एरसि एं नंते ! बादरपज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया पज्जत्तगाणं बादरआउकाइया पज्जत्तगाणं बादरतेउकाइया पज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया पज्जत्तगाणं बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगाणं पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगाणं बादरनिगोदपज्जत्तगाणं बादरतसकाइया पज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? । गोयमा । स्वन्त्योवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा, बादरतसकाइया पज्जत्तगा असंखेजगुणा, पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखेजगुणा, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अप्पत्तगुणा, बादरअपज्जत्तगा विसैसाहिया ॥ ३ ॥

सर्वस्वोका बादरतेजस्कायिकाः पर्यासाः, आधुनिकासमयव-  
 रोच्य कतिपयसमयान्यनैराधुनिकासमयैरुचितस्य यावाद्  
 समयराशिमिथैव तावत्प्रमाणत्वं वेद्यम् । उक्तं च—“ आधुनिक-  
 यो व कुणा-वलिप्य युष्मिन् इव यावरा तेजः ” इति । तेभ्यो  
 बादरतसकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहु-  
 सासंख्येयजागमावापि अण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् । ते-  
 भ्यः प्रत्येकशरीरबादरवमनस्पतिकायिकाः पर्यासा असंख्ये-  
 यगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहुसासंख्येयभागमात्राणि अण्डानि ता-  
 वत्प्रमाणत्वात्तेषाम् । उक्तं च—“ पत्तयेपञ्चवणका-इया उपवरं  
 हरति होमस्व । अंगुलमसंख्यमाने-ण आधुनिकिति ” । तेभ्यो  
 बादरनिगोदाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्माव-  
 गाहनत्वाद्, जलाशयेषु च सर्वत्र प्राधातः । तेभ्यो बादरपृ-  
 थिवीकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतसंख्येयप्र-  
 ताङ्गुलासंख्येयभागवदमानत्वात् । तेभ्योऽपि बादरपाका-  
 यिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततरसंख्येयप्रताङ्गु-  
 लासंख्येयभागवदसंख्यत्वात् । तेभ्यो बादरयायुकायिकाः  
 पर्यासा असंख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकास्यासंख्येषु प्र-  
 तेरेषु संख्याततमजागवात्तेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्ताधम-  
 माणत्वात्तेषाम् । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्यासा  
 अन्त्यगुणाः, प्रतिबादरेकैकनिगोदमन्तानां जीधानां भावात् ।  
 तेभ्यः सामान्यतो बादरपर्यासा विशेषायिकाः, बादरतेज-  
 स्कायिकानामपि पर्यासानां तत्र प्रक्षेपात् । गतं चतुर्थमल्पव-  
 हतुत्वम् । ३ ॥

इहानीमेतेषामेव पर्यासापर्यासानां चतुर्थमल्पवहृत्यमाह—

एषुसि णं जंते । बादराण्ये पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कय-  
 रेहितो अप्या वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा । गोय-  
 मा । सन्वत्थोवा बादरा पञ्जत्तगा, बादरा अपञ्जत्तगा असं-  
 ख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते । बादरपुढविकाइयाणं पञ्जत्ता-  
 पञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो अप्या वा ० ४ । गोयमा । सन्व-  
 त्थोवा बादरपुढविकाइया पञ्जत्तगा, बादरपुढविकाइया अ-  
 पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते । बादरआउकाइ-  
 याणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो अप्या वा ० ४ । गोय-  
 मा । सन्वत्थोवा बादरआउकाइया पञ्जत्तगा, बादर-  
 आउकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते ।  
 बादरतेउकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो  
 अप्या वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ।  
 सन्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तगा, बादरतेउकाइया  
 अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते । बादरवाउका-  
 इयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो अप्या वा ० ४ ।  
 गोयमा । सन्वत्थोवा बादरवाउकाइया पञ्जत्तगा, बादर-  
 वाउकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते ।  
 बादरवणस्सइकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो  
 अप्या वा ० ४ । गोयमा । सन्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया  
 पञ्जत्तगा, बादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा ।  
 एषुसि णं जंते । पत्तयेपञ्चरीरबादरवणस्सइकाइयाणं पञ्जत्ता-

पञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो अप्या वा ० ४ ? । गोयमा । सन्व-  
 त्थोवा पत्तयेपञ्चरीरबादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तगा, पत्तयेपञ्चरी-  
 रबादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि  
 णं जंते । बादरनिगोदाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो  
 अप्या वा ० ४ ? । गोयमा । सन्वत्थोवा बादरनिगोदा पञ्जत्तगा  
 बादरनिगोदा अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते ।  
 बादरतसकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो  
 अप्या वा ० ४ ? । गोयमा । सन्वत्थोवा बादरतसकाइया  
 पञ्जत्तगा, बादरतसकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा ॥ ४ ॥

इह बादरेकैकपर्यासनिभ्या असंख्येया बादरा अपयासा  
 उच्यथन्ते । “ पञ्जत्तगानिस्तोए अपञ्जत्तगा वक्कमति जत्थ  
 एगो तथ विषयका अण्डोउजा ” इति वचनात् । ततः संख्येय प-  
 र्यासिभ्योऽप्येतासा असंख्येयगुणा वक्कम्याः । प्रसर्गायकत्वं  
 प्रागुक्त्युक्त्या प्रावनीयम् । गतं चतुर्थमल्पवहृत्यम् । ४ ।

सम्प्रत्येतेषामेव समुद्धानां पर्यासापर्यासानां पञ्चममल्प-  
 वहृत्यमाह—

एषुसि णं जंते । बादराण्ये बादरपुढविकाइयाणं बादरआउ-  
 काइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवण-  
 स्सइकाइयाणं पत्तयेपञ्चरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनि-  
 गोदाणं बादरतसकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेहितो  
 अप्या वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ।  
 सन्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तगा, बादरतसकाइया  
 पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, बादरतसकाइया अपञ्ज-  
 त्ता असंख्येज्जगुणा, बादरपत्तयेपञ्चरीरबादरवणस्सइकाइया पञ्ज-  
 त्ता असंख्येज्जगुणा, बादरनिगोदा पञ्जत्तगा असंख्ये-  
 ज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा,  
 बादरआउकाइया पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, बादरवाउका-  
 इया पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, बादरतेउकाइया अप-  
 ज्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, पत्तयेपञ्चरीरबादरवणस्सइका-  
 इया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, बादरनिगोदा अपञ्जत्ता  
 असंख्येज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्ज-  
 गुणा, बादरआउकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा,  
 बादरवाउकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । बादर-  
 वणस्सइकाइया पञ्जत्तगा अणंतगुणा, बादरा पञ्जत्तगा  
 विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तगा असं-  
 ख्येज्जगुणा, बादरा अपञ्जत्तगा विसेसाहिया, बादरा  
 विसेसाहिया ॥

सर्वस्वोका बादरतेजस्कायिकाः पर्यासाः । तेभ्यो बादरवस-  
 कायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरवसकायिका  
 मपर्यासा असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरमत्तकवसस्तिका-  
 यिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्यासा  
 असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरपृथिवीकायिकाः पर्यासा

असंख्येयगुणाः । तेषां बाद्राप्याक्याः पर्यासा असंख्येयगुणाः । तेषां बाद्रवायुकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः । एतेषु प-  
 षेभ्यु युक्तिः प्रागुक्ता भ्रुतस्यपीया ॥ तेन्यो बाद्रतेजस्क्यायिका  
 अपर्यासा असंख्येयगुणाः, यतो बाद्रवायुकायिकाः पर्यासाः  
 संख्येयेषु प्रतरेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्प्रमाणाः, बाद्र-  
 तेजस्क्यायिकाश्च पर्यासा असंख्येययोः काशप्रदेशप्रमाणाः,  
 तयो अभन्वसंख्येयगुणाः । ततः प्रत्येकशरीरबाद्वरचनस्पतिकार-  
 यिकाः, बाद्रनिगोदाः, बाद्रपृथिवीकायिकाः, बाद्राप्याक्या-  
 यिकाः, बाद्रवायुकायिका अपर्यासा यद्योत्तरमसंख्येयगुणा व-  
 क्तव्याः । यद्यपि चैत प्रत्येकमसंख्येययोः काशप्रदेशप्रमाणास्त-  
 याऽप्यसंख्यातस्यासंख्यातभेदभिरभावादित्यं यद्योत्तरमसंख्ये-  
 यगुणान्वं न विरुध्यते । तेन्यो बाद्रचनस्पतिकायिका जिवानां  
 प्रायसा भ्रान्तगुणाः, प्रतिबाद्वैकैकनिगोद्भ्रान्तानां जीवानां  
 प्रायसा । तेन्यः सामान्यतो बाद्राः पर्यासा विशेषाधिकारः,  
 बाद्रतेजस्क्यायिकादीनामपि पर्यासां तत्र प्रहेषात् । तेषां  
 बाद्रचनस्पतिकायिका अपर्यासा असंख्येयगुणा एकैकपर्यासा-  
 बाद्रचनस्पतिकायिकनिगोद्भिन्नाः, असंख्येयानामप्योत्त-  
 बाद्रचनस्पतिकायिकनिगोद्धानामुप्यादात् । तेन्यः सामान्यतो  
 बाद्रा अपर्यासा विशेषाधिकारः, बाद्रतेजस्क्यायिकादीनामप्य-  
 पर्यासां तत्र प्रहेषात् । तेष्यः पर्यासापर्यासाविशेषणरहिताः  
 सामान्यतो बाद्रा विशेषाधिकारः, बाद्रपर्यासतेजस्क्यायिकादी-  
 नामपि तत्र प्रहेषात् । यतानि बाद्रावहितान्यपि पञ्च सूत्राणि ।

सम्प्रति सूत्रमबाद्वरचनगणतः पञ्चसूत्रीमितिष्ठः प्रथम  
 शौचिकं सूत्रमबाद्वरचनमाह-

एरसि णं भंते । सुहुमाणं सुहुमपुडविकाइषाणं सुहुम-  
 आठकाइषाणं सुहुमतेठकाइषाणं सुहुमवाउकाइषाणं सु-  
 हुमवणस्सइकाइषाणं सुहुमनिगोदायां बादरायां बादरपुडवि-  
 काइषाणं बादरवाउकाइषाणं बादरतेठकाइषाणं बादरवाउ-  
 काइषाणं बादरवणस्सइकाइषाणं पचेयसर्रीबाद्वरवणस्स-  
 इकाइषाणं बादरनिगोदायां बादरतसकाइषाणं य कपरे कय-  
 रेद्वितो अप्या वा०पु १ । गोयमा । सन्वयोवा बादरतसका-  
 इषा ?, बादरतेठकाइषा असंखेजगुणा २, पचेयसर्रीबाद्व-  
 रवणस्सइकाइषा असंखेजगुणा ३, बादरनिगोदा अ-  
 संखेजगुणा ४, बादरपुडविकाइषा असंखेजगुणा ५,  
 बादरवाउकाइषा असंखेजगुणा ६, बादरवाउकाइषा  
 असंखेजगुणा ७, सुहुमतेठकाइषा असंखेजगुणा ८,  
 सुहुमपुडविकाइषा विसैसाहिया ए, सुहुमआठकाइषा  
 विसैसाहिया ?०, सुहुमवाउकाइषा विसैसाहिया ??,  
 सुहुमनिगोदा असंखेजगुणा ?१, बादरवणस्सइकाइषा  
 णं०गुणा ?३, बादरा विसैसाहिया ?४, सुहुमवणस्स-  
 इकाइषा असंखेजगुणा ?५, सुहुमा विसैसाहिया ?६ ॥

( एरसि णं भंते । इत्यादि ) इह प्रथमं बाद्रगतमन्यबहुत्वं  
 बाद्रपुडव्यां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्प्रथमं वाद्यबाद्वरवायुकायिक-  
 पद्यम् । तदनन्तरं यत्सूत्रमगतमन्यबहुत्वं । ततः सूत्रमप-  
 ष्यसूत्रं यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्, तावथाप्यसूत्रमनिगोद्विभ्रान्तम् ।

तदनन्तरं बाद्रचनस्पतिकायिका भ्रान्तगुणाः, प्रतिबाद्व-  
 रनिगोद्भ्रान्तानां जीवानां प्रायसा । तेषां बाद्रा विशेषा-  
 यिकाः, बाद्रतेजस्क्यायिकादीनामपि तत्र प्रहेषात् । तेष्यः  
 सूत्रमचनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, बाद्रनिगोद्वेन्यः सू-  
 ह्रमनिगोदानामसंख्येयगुणत्वात् । तेन्यः सामान्यतः सूत्रमा  
 विशेषाधिकारः, सूत्रमतेजस्क्यायिकादीनामपि तत्र प्रहेषात् ।  
 गतमेकमदवबहुत्वं । प्रहा० ३ पद । जी० ।

इत्तान्मितेषामेवापर्यासां द्वितीयमाह-

एरसि णं जंते । सुहुमअपज्जत्तयाणं सुहुमपुडविकाइषाणं  
 अपज्जत्तयाणं सुहुमआठकाइषाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमते-  
 ठकाइषाणं अपपज्जत्तयाणं सुहुमवाउकाइषाणं अपज्जत्त-  
 याणं सुहुमवणस्सइकाइषाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमनिगोदा  
 अपज्जत्तयाणं बादरा अपज्जत्तयाणं बादरपुडविकाइषाया  
 अपज्जत्तयाणं बादरआठकाइषाया अपज्जत्तयाणं बादरतेठ-  
 काइषाया अपज्जत्तयाणं बादरवाउकाइषाया अपज्जत्तयाणं वा-  
 द्रवणस्सइकाइषाया अपज्जत्तयाणं पचेयसर्रीबाद्वरवणस्स-  
 इकाइषाया अपज्जत्तयाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादर-  
 तसकाइषाया अपज्जत्तयाणं य कपरे कपरेद्वितो अप्या वा०  
 पु १ । गोयमा । सन्वयोवा बादरतसकाइषा अपज्जत्तया ?,  
 बादरतेठकाइषा अपज्जत्तया असंखेजगुणा २, पचेयस-  
 र्रीबाद्वरवणस्सइकाइषाया अपज्जत्तया असंखेजगुणा ३,  
 बादरनिगोदा अपज्जत्तया असंखेजगुणा ४, बादरपुड-  
 विकाइषाया अपज्जत्तया असंखेजगुणा ५, बादरआठका-  
 इषाया अपज्जत्तया असंखे ०, बादरवाउकाइषाया अपज्ज-  
 तया असंखेजगुणा ७, सुहुमतेठकाइषाया अपज्जत्तया  
 असंखेजगुणा ८, सुहुमपुडविकाइषाया अपज्जत्तया विसैसा-  
 हिया ए, सुहुमआठकाइषाया अपज्जत्तया विसैसाहिया ?  
 ०, सुहुमवाउकाइषाया अपज्जत्तया विसैसाहिया ??,  
 सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया असंखेजगुणा ?१, बादरव-  
 णस्सइकाइषाया अपज्जत्तया अणं०गुणा ?३, बादरा अप-  
 ज्जत्तया विसैसाहिया ?४, सुहुमवणस्सइकाइषाया अपज्जत्तया  
 असंखेजगुणा ?५, सुहुमा अपज्जत्तया विसैसाहिया ?६ ।

सर्वेस्तोका बाद्ररचनकायिका अपर्यासाः ततो बाद्रतेजस्क्या-  
 यिका बाद्रप्रत्येकचनस्पतिकायिकाबाद्वरनिगोद्बाद्वरपृथिवी-  
 कायिकबाद्राप्याक्यायिकबाद्वरवायुकायिका अपर्यासाः क्रमेण य-  
 थोत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र भावना बाद्रपञ्चसूत्र्यां यद् द्विती-  
 यमप्याप्तकसूत्रं तद्वत्कथंयम् । ततो बाद्रवायुकायिकेभ्योऽ-  
 संख्येयगुणाः सूत्रमतेजस्क्यायिका अपर्यासाः, अतिसमूहतासंख्ये-  
 ययोः काशप्रदेशप्रमाणात्वात् । तेन्यः सूत्रमपृथिवीकायिकाः  
 सूत्रमाप्यायिकाः सूत्रमवायुकायिकाः सूत्रमनिगोदा अप-  
 र्यासा यद्योत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र प्रायसा सूत्रमपञ्चसूत्र्यां  
 यद् द्वितीयं सूत्रं तद्वत् । तेन्यः सूत्रमनिगोदाऽप्येतो वा-  
 द्रचनस्पतिकायिकार जीवा अपर्यासा भ्रान्तगुणाः, प्रति-

बादरैकैकनिगोदमनस्तानां सद्भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्थासका विशेषाधिकाराः, बादरत्रसकायिकापर्यासादीनामपि तत्र प्रकृतेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवचनस्पतिकायिका अपर्थासका असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्यासिभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्यासानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माअपर्यासता विशेषाधिकाराः, सूक्ष्मतेजस्कयायिकापर्यासादीनामपि तत्र प्रकृतेपात् । गतं द्वितीयमव्यवहृयम् ॥ प्रश्ना ३ पदं ३ जी० ।

अपुनितेषामिह पर्यासानां तृतीयमव्यवहृयमभार-

एषसि णं भंते ! सुहृमपञ्जत्तयाणं सुहृमपुढविकाइयपञ्जत्तयाणं सुहृमआठकाइयपञ्जत्तयाणं सुहृमतेउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहृमवाउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहृमवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं सुहृमनिगोदपञ्जत्तयाणं बादरपञ्जत्तयाणं बादरपुढविकाइयपञ्जत्तयाणं बादरआठकाइयपञ्जत्तयाणं बादरवाउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरतेउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरवाउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं पत्तयसरीरबादरवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं बादरनिगोदपञ्जत्तयाणं बादरतसकाइयपञ्जत्तयाणं य कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तया बादरतसकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, पत्तयसरीरबादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरनिगोदा पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पञ्जत्तया असं०, बादरआठकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमतेउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमपुढविकाइया पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहृमवाउकाइया पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहृमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया अणंतुणा, बादरा पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहृमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमा पञ्जत्तया विसेसाहिया ।

( सुहृमपञ्जत्तयाणमित्यादि ) । ससंस्तेका बादरतेजस्कयायिकाः पर्यासाः, तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः, बादरप्रत्येकवचनस्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकायिकाः, बादरवायुकायिकाः, बादरवायुकायिकाः पर्यासा यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र ज्ञातव्यं बादरपञ्जत्तयाणं षट् तृतीयं पर्याससूत्रं तत्रकृतं तस्य । बादरपर्यासायुकायिकेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कयायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, बादरवायुकायिका इ असंख्येयप्रतरप्रदेशराशिप्रमाणाः, सूक्ष्मतेजस्कयायिकास्तु पर्यासा असंख्येयलांकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, ततोऽसंख्येयगुणाः । ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः सूक्ष्मायुकायिका इ असंख्येयगुणाः, सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्यासाः क्रमेण यथोत्तरं विशेषाधिकाराः । ततः सूक्ष्मवायुकायिकेभ्यः पर्यासिभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्यासका असंख्येयगुणाः, तेषामिति प्रतुल्यता प्रतिगोचलं भावात् । तेभ्यो बादरवचनस्पतिकायिका जीवोः पर्यासका अनन्तराणां, अतिबादरैकैकनिगोदमनस्तानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्यासका विशेष-

ाधिकाराः, बादरतेजस्कयायिकादीनामपि पर्यासानां तत्र प्रकृतेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवचनस्पतिकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्यासिभ्यः सूक्ष्मनिगोदपर्यासानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्यासा विशेषाधिकाराः, सूक्ष्मतेजस्कयायिकादीनामपि पर्यासानां तत्र प्रकृतेपात् ॥ गतं तृतीयमव्यवहृयम् ॥ प्रश्ना ३ पदं ३ जी० ।

इदानीमेतेषामिह सुहृमबादरादीनां प्रत्येकं पर्यासापर्यासानां पृथक् २ अव्यवहृयमभार-

एषसि णं जंते ! सुहृमायं बादराणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरा पञ्जत्तया, बादरा अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमा अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमा पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा । एषसि णं जंते ! सुहृमपुढविकाइयाणं बादरपुढविकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पञ्जत्तया, बादरपुढविकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमपुढविकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, एषसि णं जंते ! सुहृमआठकाइयाणं बादरआठकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआठकाइया पञ्जत्तया, बादरआठकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमआठकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, एषसि णं जंते ! सुहृमतेउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तया, बादरतेउकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमतेउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, एषसि णं जंते ! सुहृमवाउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पञ्जत्तया, बादरवाउकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमवाउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, एषसि णं जंते ! सुहृमवणस्सइकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया, बादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहृमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, एषसि णं जंते ! सुहृमनिगोदाणं बादरनिगोदाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पञ्जत्तया, बादरनिगोदा अप-

वज्रतया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जतया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जतया संखेज्जगुणा ॥

सर्वथेयं आयत्ता-सर्वस्वोका बादराः पर्यासाः, परिमितक्रेववर्ति-त्वात् । तेषां बादरा अपयोसा असंख्येयगुणाः, एकैकबादरपर्यासिन्नधया असंख्येयानां बादरपर्यासानामुत्पात्वात् । तेषाः सु-ह्वासा अपयोसा असंख्येयगुणाः, सर्वस्वोकाप्योपचिता तेषां हेतु-क्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सुहमाः पर्यासकाः संख्येयगुणाः, अ-रकालावस्थायितया तेषां रुदैव संख्येयगुणतयाऽप्यव्यमानत्वा-त् । गते चतुर्थमदपबहुत्वम् ॥

इदानीमितेषामेव सुहमपृथिवीकायिकादीनां बादरपृथिवीका-यिकादीनां च प्रत्येकं पर्यासापर्यासाभां च ससुधायेन पञ्चममदप-बहुत्वमाह-

एपसिं चं जेतं । सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सहमआ-उकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवण-ससइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणससइकाइयाणं पत्तयसरिबादरवणससइकाइयाणं बादरानिगोदाणं बादरतलुकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्तायं कयरे कयरेत्ता अप्या वा ० ४ । गोयमा । सव्वद्वोवा बा-दरतेउकाइया पज्जतया १, बादरतलुकाइया पज्जत-या अर्थावज्जगुणा २, बादरतलुकाइया अपपज्जतया अ-संखिज्जगुणा ३, पत्तयसरिबादरवणससइकाइया पज्ज-तया असंखिज्जगुणा ४, बादरनिगोदा पज्जतया अ-संखिज्जगुणा ५, वायरपुढविकाइया पज्जतया असंखे-ज्जगुणा ६, बादरआउकाइया पज्जतया असंखेज्जगुणा ७, बादरवाउकाइया पज्जतया असंखेज्जगुणा ८, बादरते-उकाइया अपपज्जतया असंखिज्जगुणा ९, पत्तयसरिबा-दरवणससइकाइया अपपज्जतया असंखेज्जगुणा १०, बादर-निगोदा अपपज्जतया असंखे ११, बादरपुढविकाइया अपपज्जतया असंखे १२, बादरआउकाइया अपपज्जतया असंखे १३, बादरवाउकाइया अपपज्जतया असंखे १४, सुहुमतेउकाइया अपपज्जतया असंखेज्जगुणा १५, सु-हुमपुढविकाइया अपपज्जतया विससाहिया १६, सुहुम-आउकाइया अपपज्जतया विससाहिया १७, सुहुमवाउका-इया अपपज्जतया विससाहिया १८, सुहुमवणससइकाइया पज्ज-तया संखि १९, सुहुमपुढविकाइया पज्जतया विने-साहिया २०, सुहुमआउकाइया पज्जतया विससाहिया २१, सुहुमवाउकाइया पज्जतया विससाहिया २२, सुहु-मनिगोदा अपपज्जतया असंखे २३, सुहुमनिगोदा पज्जतया संखे २४, बादरवणससइकाइया पज्जतया अणंतगुणा २५, बादरा पज्जता विससाहिया २६, बादरवणससइकाइया अप-ज्जतया असंखिज्जगुणा २७, बादरा अपज्जतया विससाहिया २८, बादरा विससाहिया २९, सुहुमवणससइकाइया अपज्ज-

तया असंखि ३०, सुहुमा अपज्जतया विससाहिया ३१, सुहुमवणससइकाइया पज्जतया असंखे ३२, सु-हुमा पज्जतया विससाहिया ३३, सुहुमा विससाहिया ३४ ।

( एपसिं चं जेतं । सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणमित्या-दि ) सर्वस्वोका बादरतेज्जकायिकाः पर्यासाः, आचलिक-कासमयवर्गकतिपयसमयन्यूनैराचलिकासमयैर्गुणेने वावाह समयाश्रित्वावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् १ । तेज्यां बादरवसका-यिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, प्रतरे वाधम्यहुलासंख्येयभा-गमात्राणि अणदानि ताद्यप्रमाणात्वात्तेषाम् २ । तेज्यां बादरव-सकायिका अपयोसा असंख्येयगुणाः, प्रतरे वाधम्यहुलासं-ख्येयजगमात्राणि अणदानि ताद्यप्रमाणात्वात्तेषाम् ३ । ततः प्र-त्येकशरीरबादरवसवतिकायिका ६ बादरनिगोद ६ बादरपृथ्वी-कायिक ६ बादरप्यायिक ७ बादरवायुकायिकः ८ पर्यासा यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । यद्यप्यने प्रायिकं प्रतरे वाधम्यहुला-संख्येयभागमात्राणि अणदानि ताद्यप्रमाणात्वात्तेषाम् ॥ सर्वे-यभागास्त्यासंख्येयमद्भिन्नवार्धित्यं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्व-मभिधीयमानं न विदुष्यते । येनज्ये वादरतेज्जकायिका अपयो-सा असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणात् ॥ ततः प्रत्येकशरीरबादरवसवतिकायिक १० बादरनिगोद ११ बा-दरपृथिवीकायिक १२ बादरप्यायिक १३ बादरवायुकायिका अपयोसा यथोत्तरमसंख्येयगुणाः १४, ततः बादरवायुकायि-कभ्याऽपर्यासित्यः सुहमतेज्जकायिका अपयोसा असंख्येयगुणाः १५, ततः सुहमपृथिवीकायिक १६ सुहमप्यायिक १७ सुहमवायुका-यिका अपयोसा यथोत्तरं विशेषाधिकः १८ । ततः सुहमतेज-जकायिकाः पर्यासाः संख्यातगुणाः १९, सुहमव्यपयोसंख्याः पर्यासानामा-द्यत एव संख्येयगुणत्वात् २० । ततः सुहमपृथिवीकायिक-२० सुहमप्यायिक २१, सुहमवायुकायिकाः पर्यासा यथोत्तरं वि-शेषाधिकाः २२ । तेज्यः सुहमनिगोदा अपयोसा असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्राभूत्येन सर्वशोकेषु आभात् २३ । तेभ्यः सुहमनि-गोदाः पर्यासकाः संख्येयगुणाः, सुहमव्यपयोसित्यः पर्यासाना-माद्यत एव सदा संख्येयगुणत्वात् । एतं च बादरा पर्यासितेज्जका-यिकाइयः पर्याससुहमनिगोदपर्यवसानाः पौंडश बह्वीषो यद्य-प्यव्यविशेषेणसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणात्तया सङ्घीयते, तथाप्यसंख्येयस्यासंख्येयमद्भिन्नवार्धित्यमसंख्येयगुणत्वं वि-शेषाधिकत्वे संख्येयगुणत्वं प्रतिपादयान न विरोधाभासितं २४ । तेभ्यः पर्याससुहमनिगोदभ्यां बादरवसवतिकायिकाः पर्यासा अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदप्रमाणानां जावानां भावात् २५ । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्यासा विशेषाधिकाः, बादरव्यप-योसितेज्जकायिकादीनामप्यपर्यासानां तत्र प्रक्षेपात् २६ । तेज्यां बादरव-सवतिकायिका अपयोसका असंख्येयगुणाः, एकैकपर्यासाबा-दरनिगोदनिधया असंख्येयानां बादरनिगोदपर्यासानामुत्पात्वात् २७ । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपयोसा विशेषाधिकाः, बादर-तेज्जकायिकादीनामप्यपर्यासानां तत्र प्रक्षेपात् २८ । तेभ्यः साम-ान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्यासानामपि तत्र प्रक्षेपात् २९ । तेभ्यः सुहमवसवतिकायिका अपयोसा असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदभ्यः सुहमनिगोदानामप्यपर्यासानामप्यसंख्येयगु-णात्वात् ३० । ततः सामान्यतः सुहमा अपयोसका विशेषाधिकाः, सुहमपृथिवीकायिकादीनामप्यपर्यासानां तत्र प्रक्षेपात् ३१ । तेभ्यः सुहमवसवतिकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, सुहम-वसवतिकायिकापर्यासिभ्यो हि सुहमवसवतिकायिकपर्यासां-



कथ्येयगुणाः स्वयमेवोद्योतोऽप्यामिभ्यः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात् । ततः सूक्ष्माप्यामिभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः, विशेषाधिकत्वस्य संख्येयगुणत्वभाषणार्थोऽप्यात् ३२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाधिकानामपि तत्र प्रक्षेपात् ३३ । ततः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ताप्यामिशेषणरहिता विशेषाधिकाः, अप्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ३४ । गतं सूक्ष्मत्वात्परसमुदायागतं पञ्चसामल्यबहुत्वं, तत्रतो समर्थितानि पञ्चदशाऽपि स्त्राणि । इति गतं कायद्वारम् । प्रश्ना० ३ पद । नोसूक्ष्मनोवाद्वाद्यादानामपबहुत्वम् । जी० ३ प्रति० ३ ।

( आरम्भिकयाचिक्रिवाणामह्यबहुत्वं ' किरिबा' शब्दे बह्यते )

( ११ ) [ क्षेत्रद्वारम् ] कस्मिन्क्षेत्रे जीवाः स्तोकाः कस्मिन् वा बह्वः ?, इति चिन्त्यन्ते-

विचाण्णवापणं सन्वयोवा जीवा उह्लोपातिरियोलोए  
 अद्दोहोपतिरियोलोए विनेसाद्दिया, तिरियोलोए अमंखि-  
 गुणा, तेलुके अमंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखेज्जगुणा,  
 अद्दोहोहो विसंसादिया ।

क्षेत्रस्यानुयातोऽनुवारः क्षेत्रानुयातस्तेन, विचिन्त्यमाना जीवा सर्वस्तोका उह्ल्लोकातिरियग्लोके, इह उह्ल्लोकास्य यद्दृश्यन्तमाकाशप्रदेशप्रतरेण च सवैतियग्लोकेस्य संयोपरितनमाकाशप्रदेशप्रतरेण उह्ल्लोकेऽप्रतरे, तथा प्रवचने प्रसिक्तः । इयमेव भावना-इह सामस्येण चतुर्दशराज्यम्को लोकाः । स व त्रिधा भिद्यते । तद्यथा-ऊर्ध्वलोकः, तिर्यग्लोकः, अधोलोकश्च । रुचकासैतेषां विभागाः तथाहि-रुचकस्याधस्तात्प्रत्ययोजनशतानि, रुचकस्योपरिच्छाद्ययोजनशतानि ( तिर्यग्लोकाः, तिर्यग्लोकेस्याधस्तात्धोलोकाः, उपरिच्छाद्यूर्ध्वलोकः, देशानसम्पन्नुपमागण ऊर्ध्वलोकः, समधिकसम्पन्नुपमाणाऽधोलोकाः, मध्येऽद्दशयोजनशतोच्छ्रयस्तिर्यग्लोकाः । तत्र रुचकसमानाद् भूतस्त-भास्माद्ययोजनशतानि गत्वा यज्जयोऽतिष्ठकस्योपरितनं तिर्यग्लोकं निभन्धि यदक्रादेशिकमाकाशप्रतरे तत्तिर्यग्लोकप्रतरेण । तस्य चोपरि यदेकक्रादेशिकमाकाशप्रतरे तत्तूर्ध्वलोकप्रतरेण । एते च द्वे अपूर्ध्वलोकानिर्यग्लोके इति व्यवहियेते । तथाऽनादिप्रवचनपरिभाषाप्रसिक्तः । तत्र वर्तमाना जीवाः सर्वस्तोकाः । कथम् ?, इति चेत् । उच्यते-इह ये ऊर्ध्वलोकान्निधियग्लोके तिर्यग्लोकाद्दृष्टेभ्योऽसमुपघमाना विचक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ये च तत्रस्था एव केचन तत्रप्रतरद्वयाध्यासिन्ना वर्तन्ते ते किल विक्षितं प्रतरद्वयं वर्तन्ते नान्ये; ये पुनरुर्ध्वलोकोऽधोलोके समुपघमानास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति ते न गणयन्ते, तेषां सूक्ष्मरन्वियवत्त्वात् । ततः स्तोका एवाधिकृतप्रतरद्वयवर्तिनो जीवाः । ननुध्वलोकगतानामपि सर्वजीवानामसंख्येयभागोऽनवरतं क्षियमाणोऽप्याप्येते, ते च तिर्यग्लोके समुपघमाना विचक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्तीति कथमधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः स्तोकाः ? । तद्युक्तम्, बह्वस्तत्पारिभाषानात् । तथाहि-यद्यपि नाम उर्ध्वलोकगतानां सर्वजीवलोकानामसंख्येयो भागोऽनवरतं क्षियमाणोऽप्याप्येते तथापि न ते सर्वे एव तिर्यग्लोके समुपघयन्ते, प्रभूततराणामधोलोके ऊर्ध्वलोके च समुपघ्यात् । ततोऽधिकृतप्रतरद्वयवर्तिनः सर्वस्तोका एव । अस्त्वस्तोकातिरियग्लोके विशेषाधिकाः इह यद्दधोलोकेस्योपरितनमेकक्रादेशिकमाकाशाप्रदेश-

प्रतरेण यच्च तिर्यग्लोकेस्य सर्वाधस्तनमेकक्रादेशिकमाकाशप्रदेशप्रतरेणेतद्वह्यवत्याधोलोकातिर्यग्लोके इत्युच्यते, तथा प्रवचनप्रसिद्धेः । तत्र ये विप्रद्वयं प्रतरद्वयतया वा वर्तन्ते ते विशेषाधिकाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह ये अधोलोकातिर्यग्लोके तिर्यग्लोकाद्दधोलोके ईलिकागत्या समुपघमाना विचक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति; ये च तत्रस्था एव केचन तत्प्रतरद्वयमध्यासीना वर्तन्ते ते विक्षितं प्रतरद्वयवर्तिनः, ये पुनरधोलोकाद्दध्वलोकं समुपघमानास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ते न परिगृह्यन्ते, तेषां सूक्ष्मरन्वियवत्त्वात् । केवलमूर्ध्वलोकोऽधोलोको विशेषाधिकः, इत्यधोलोकातिर्यग्लोके ईलिकागत्या समुपघमाना ऊर्ध्वलोकातिर्यग्लोके विशेषाधिका भवाप्यन्ते; ततो विक्षितप्रतरद्वयलोकं क्षेत्रस्यासंख्येयगुणात् । ३ । तत्र्यसौशोक्ये विक्षोक्तसंख्यादीनोऽसंख्येयगुणाः, इह ये केवल ऊर्ध्वलोके अधोलोके तिर्यग्लोके वा वर्तन्ते, ये च विप्रद्वयतया उर्ध्वलोकानिर्यग्लोको स्पृशन्ति ते न गणयन्ते, किन्तु ये विप्रद्वयतया अधोलोकातिर्यग्लोकात् स्पृशन्ति ते परिगृह्याः, सूक्ष्म विशेषविषयत्वात् । ते च तिर्यग्लोकातिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणा एव । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह बहवः प्रतिस्मयसूच्यलोकं अधोलोके च सूक्ष्मनिर्गोदा उह्ल्लेने, ये तु तिर्यग्लोकातिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणा उह्ल्लेने, तेषां उर्ध्वलोकानि ऊर्ध्वलोके वा केचित्सास्मिन्नेव वा तिर्यग्लोके समुपघयन्ते, ततो न ते शोकक्षयसंस्पर्शिन इति नाधिकृतस्रविषयाः तत्रार्थलोकानोऽधोलोकात्तानां सूक्ष्मनिर्गोदानामुह्ल्लेनानानां मध्ये केचित्स्वस्थान एव ऊर्ध्वलोके अधोलोके वा समुपघयन्ते, केचित् तिर्यग्लोके, तेभ्योऽसंख्येयगुणा अधोलोकानुगतान ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकगतान अधोलोके समुपघयन्ते । ते च तयोपघमानास्तीतिर्यग्लोकात् स्पृशन्तीत्यसंख्येयगुणाः । कथं पुनरुह्ल्लेनानि यदुत एवप्रमाणा बहवो जीवाः सदा विप्रद्वयतया च लभ्यन्ते ?, इति चेत् । उच्यते-युक्तिवशात् । तयोऽहि-प्राणुकिद्वयसूत्रं पर्यायिधिका-“ स्वधधोवा जीवा नो पज्जसा नो अपज्जसा, अपज्जसा अनंतगुणा, पज्जसा सल्लेज्जगुणा ” इति । तत एवेनमाप्यासाः बहवो ये नेतव्यः पर्यासाः संख्येयगुणा एव नासंख्येयगुणाः; नाप्यनंतगुणास्ते चाप्यासा बहवोऽनन्तरगतौ वर्तमाना लभ्यन्ते इति तेन ऊर्ध्वलोक ऊर्ध्वलोकावस्थिता असंख्येयगुणाः; उपपातक्षेत्रस्यातिबहुत्वात् । असंख्येयानो च प्राणानामुह्ल्लेनानायाश्च संज्ञवान् । तेषां उर्ध्वलोकेऽधोलोकातिर्यग्लोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वलोकैकैवाधोलोकात्क्षेत्रस्य विशेषाधिकत्वात् । तदर्थं सामान्यनो जीवानां क्षेत्रानुपातनास्यबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं चतुर्निर्गतकक्रमेण तद्विधितुः प्रथमतो  
 नैरथिकाप्यामह-

स्वेत्ताण्णवाएणं सन्वयोवा नेरइया तेलुके अद्दोहोतोतिरियलोगे अमंखेज्ज०, अद्दोहोए भसंखेज्जगुणा ॥

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारं च नैरथिकाचिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः त्रैलोक्ये लोके कथयसंस्पर्शिनः । कथं लोके कथयसंस्पर्शिनो नैरथिकाः ? कथं वा ते सर्वस्तोकाः ? इति चेत्, उच्यते-इह ये मेरुशिखरं अज्जन्तदधिमुक्त्वापवेनाशिखरादिषु वा वापीषु वर्तमाना मन्स्याद्यां नारकेषुगिस्तव ईलिकागत्या प्रदेशाद् विक्रिपान्ति, ते किल त्रैलोक्यप्रति स्पृशन्ति, नारकेष्वपदेशं च लभ्यन्ते, त-

कारणमेष नरकेषुत्येष नारकायुक्तप्रतिसेवेदनात् । ते चेत्यनूताः कतिपय इति सर्वेस्तोकाः । अन्ये तु व्याचक्षते-नारका एष बधोक्तवधगणु तिर्यग्यपञ्चद्वित्रियतयोत्पद्यमानाः समुद्रात्तवधगणो विज्ञानिजानामप्रदेशद्वाराः परिगृह्यन्ते । ते हि किञ्च तदा नारका एष निवेद्याद् तदायुक्तप्रतिसेवेदनात् वैभोक्त्वात्संस्पर्शिनश्च यथोक्तवधोपीयां बदात्मप्रदेश एवस्य विक्रिसत्त्वादि । तेषाम्प्रोक्तोक्तानिजात्मप्रदेशात् प्रागुक्ततरद्वयस्य संस्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः, यतो बहवोऽसंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चद्वित्रियतिर्यग्यो निका नरकेषुत्पद्यमाना यथाकप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो भवन्ति पूर्वोक्तैः भयोऽसंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्यातगुणत्वात् । मन्दादिक्षेत्राद्संख्येयद्वीपसमुद्रात्मकं क्षेत्रमसंख्येयगुणमित्ययो भवत्यसंख्येयगुणाः । अन्ये त्वभिदधति-नारका एवासंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु तिर्यग्यपञ्चद्वित्रियतयोत्पद्यमाना मरणकालसमुद्रातेन विज्ञानिजात्मप्रदेशात् प्रागृह्यन्ते । ते हि नारकाःप्रतिसेवेदनात् नारका उद्धर्तमाना अन्यसंख्येयाः प्राप्यन्ते, इति प्रागुक्तैःभयोऽसंख्येयगुणाः, तेषाम्प्रोक्तोक्तैःसंख्येयगुणाः, तस्य तेषां स्वभावत्वात् । उक्तं नारकानिमधिकृत्य क्षेत्रानुपातेनाऽल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तिर्यगतिमभिप्रेक्ष्याऽऽह-

स्वेत्ताणुवापणं सन्नत्यथा तिरिकखनोणिया उहुल्लोय-  
तिरियलोए अद्दोलोयतिरियलोए विमसोऽहुया तिरियलोए  
असंखेजगुणा, तेषुके असंखेजगुणा, उहुल्लोए असंखि-  
ज्ज०, अद्दोलोए विमसाहिया ॥

इदं सर्वमपि सामान्यतां जीवस्यमिव भावनीयम् । तदपि  
तिरिच पद्य सूक्ष्मनिगोदानधिकृत्य भाषितम् ।

अधुना तिर्यग्योनिकस्त्रीविषयमप्यबह्वमहाह—

स्वेत्ताणुवापणं सन्नत्यथा तिरिकखनोणियांओ उहु-  
लोयतिरियलोए असंखेज०, तेषुके असंखेज्ज०, अद्दो-  
लोयतिरियलोए संखिज्जगुणाओ, अद्दोलोए संखेज्जगु-  
णाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ।

क्षेत्रानुपातेन तिर्यग्यो निकाः स्त्रियस्त्रियमानाः सर्वेस्तोका ऊर्ध्व-  
स्तोका, इह मन्दादिवापीप्रभृतिष्वपि हि पञ्चद्वित्रियतिर्यग्यो  
निकाः स्त्रियो भवन्ति, ताश्च क्षेत्रस्याऽप्यवयात् सर्वेस्तोकाः ।  
तास्य ऊर्ध्वलोकातिर्यग्योक्तोक्तैः प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येय-  
गुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-बावत्सहस्रारद्वेषलोक्ता-  
वद्वाः अपि गर्भेषुत्कान्तिकतिर्यग्यपञ्चद्वित्रियतयोत्पद्यन्ते, किं  
पुनः शेषकायाः ? ते हि यथासंभवमुपरिवर्तिनोऽपि तत्रो-  
त्पद्यन्ते ; ततो ये सहस्रारान्ना देवा अन्येऽपि च शेषकाया  
ऊर्ध्वलोकातिर्यग्यपञ्चद्वित्रियत्वीत्येन तदायुःप्रतिसेवेदयमाना  
उत्पद्यन्ते, याः तिर्यग्योक्तान्तिकतिर्यग्यपञ्चद्वित्रियतयोत्पद्यन्ते ऊर्ध्वलो-  
के देवत्वेन शेषकायत्वेन चोत्पद्यमाना भारुणान्तिकसमुद्रघाते-  
नात्पद्यन्ते निजनिजात्मप्रदेशद्वारात् विक्रियन्ति, ता यथाकप्र-  
तरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्यो निकाः स्त्रियश्च ताः ततोऽसंख्येयगु-  
णाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणात् । ताभ्युक्तोक्तैः संख्येयगुणाः,  
यस्यात्ततोऽपि कदाचननिवृत्त्यनारकाः शेषकाया अपि चो-  
र्ध्वलोकाऽपि तिर्यग्यपञ्चद्वित्रियत्वीत्येनोत्पद्यन्ते । ऊर्ध्वलोकादेवा-  
भयोऽप्यथोलोकाः च ते सम्यहता निजनिजात्मप्रदेशद्वारैस्त्री-  
मपि लोकात् स्पृशन्ति । प्रभूततदे तथा तिर्यग्योनिकरूपायुः-

प्रतिसेवेदनात् । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ताः संख्येयगुणाः । ३ ।  
ताभ्योऽधोलोकातिर्यग्योक्तोक्तैः प्रतरद्वये वर्तमानाः संख्येय-  
गुणाः, बहवो हि नारकादयः समुद्रघातमन्तराऽपि तिर्यग्यो-  
क्तोक्तैः तिर्यग्यपञ्चद्वित्रियत्वीत्येनोत्पद्यन्ते । तिर्यग्योक्तोक्तैः  
जावास्तिर्यग्योनिकोक्तोक्तान्नाऽधोलोकात्किंप्राप्तव्यपि च ते च  
तयोत्पद्यमाना यथाकं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकस्या-  
युःप्रतिसेवेदनात् तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽपि तथाऽधोलोकात्कि-  
ंप्राप्ता योजनसदक्षावाहाः पर्यन्तेऽर्वाक् कश्चिद्वदेव नवयोजन-  
शतावगाहा अपि तत्र काश्चित्तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽवस्थानेनाऽपि  
यथाकप्रतरद्वयाव्यासिन्धो वर्तन्ते, ततो भवन्ति पूर्वोक्तैः  
संख्येयगुणाः । ४ । ताभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, यतोऽधोलो-  
कात्प्राप्ताः सर्वेऽपि च समुद्रा योजनसदक्षावागाहाः, ततो  
नवयोजनशतानामप्रदेशाद् या वर्तन्ते मर्त्याः प्रभृतिःकाः तिर्य-  
ग्योनिकस्त्रियस्ताः स्वस्थानवात् प्रजुना इति संख्येयगुणाः,  
क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । ताभ्यस्तिर्यग्योक्तैः संख्येयगुणाः ।  
उक्तं तिर्यग्यतिमप्यधिकृत्याऽप्यबह्वमहाह ।

इदानीं मनुष्यगतिविषयमहाह—

स्वेत्ताणुवापणं सन्नत्यथा प्रागुप्ता तेषुके उहुलोयति-  
रियलोए असंखेज्जगुणा, अद्दोलोयतिरियलोए संखिज्ज  
गुणा, अद्दोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन मनुष्यास्त्रियमानाः वैभोक्त्वात्संस्पर्शिनः  
सर्वेस्तोकाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकात्तथाऽधोलोकात्प्राप्तव्योऽपि तिर्यग्यो-  
निकाः स्त्रियो भवन्ति, ताश्च क्षेत्रस्याऽप्यवयात् सर्वेस्तोकाः ।  
तास्य ऊर्ध्वलोकातिर्यग्योक्तोक्तैः प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येय-  
गुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-बावत्सहस्रारद्वेषलोक्ता-  
वद्वाः अपि गर्भेषुत्कान्तिकतिर्यग्यपञ्चद्वित्रियतयोत्पद्यन्ते, किं  
पुनः शेषकायाः ? ते हि यथासंभवमुपरिवर्तिनोऽपि तत्रो-  
त्पद्यन्ते ; ततो ये सहस्रारान्ना देवा अन्येऽपि च शेषकाया  
ऊर्ध्वलोकातिर्यग्यपञ्चद्वित्रियत्वीत्येन तदायुःप्रतिसेवेदयमाना  
उत्पद्यन्ते, याः तिर्यग्योक्तान्तिकतिर्यग्यपञ्चद्वित्रियतयोत्पद्यन्ते ऊर्ध्वलो-  
के देवत्वेन शेषकायत्वेन चोत्पद्यमाना भारुणान्तिकसमुद्रघाते-  
नात्पद्यन्ते निजनिजात्मप्रदेशद्वारात् विक्रियन्ति, ता यथाकप्र-  
तरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्यो निकाः स्त्रियश्च ताः ततोऽसंख्येयगु-  
णाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणात् । ताभ्युक्तोक्तैः संख्येयगुणाः,  
यस्यात्ततोऽपि कदाचननिवृत्त्यनारकाः शेषकाया अपि चो-  
र्ध्वलोकाऽपि तिर्यग्यपञ्चद्वित्रियत्वीत्येनोत्पद्यन्ते । ऊर्ध्वलोकादेवा-  
भयोऽप्यथोलोकाः च ते सम्यहता निजनिजात्मप्रदेशद्वारैस्त्री-  
मपि लोकात् स्पृशन्ति । प्रभूततदे तथा तिर्यग्योनिकरूपायुः-



पि मारुतियसमुष्णायणं समोद्वहन्ति, समोद्वहन्ति तत्रो पच्यन्ते च उद्वहन्ति ।" स्वभावायुःप्रतिसंघेदनात् तं भवन्मभिन पव लभ्यन्ते । ते इत्येभूता उर्यासदेशे विक्रिस्तामरये शङ्करास्नया ऊर्ध्वशोके प्रत्येकमगमनस्तत्प्रतद्व्यवस्थासकम् । इत्येवमत्र य- धोको प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ततः प्रागुक्तैः ज्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्य- लोकोत्पन्नैः त्रैशोकेयसंस्थाभिः संख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वशोके नियं कृपञ्जिनिया भवन्परित्येनोत्पन्नकाः, ये च स्वस्थाने वैकियसमुद्धानि मारुतान्तिकप्रथमसमुद्धानि वा तथाविधतां प्र- प्रयत्नविशेषण समवहतास्तैः त्रैशोकेयसंस्थाभिः इति संख्ये- यगुणाः, परस्थानसमवहतेभ्यः स्वस्थानसमवहतानां सं- ख्येयगुणवात् । ते ज्योऽधोशोकेति यैः शोकेः अधोशोकेति य- ग्नो कसंज्ञे प्रतरद्वयेऽसंख्येयगुणाः; स्वस्थानप्रत्यसन्नतया ति- यैः शोके गमनागमनभावतः स्वस्थानस्थितशोकाविस्मृदुद्घात- गमनतश्च बहुनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्थाभावात् । ते ज्यः ति- यैः शोकेऽसंख्येयगुणाः, समवसरणादौ वदन्निमित्त- क्तिप्राप्तौ च रमणीयेषु क्रीडाभिनिमित्तमागमसम्भवाद्गतानां च शिरकालम- प्यवस्थानात् । तेभ्योऽधोशोकेऽसंख्येयगुणाः, भवन्वासिनाम- धोलोकेय स्वस्थानत्वात् । एवं भवन्वासिद्वीगतमल्पवदुत्वं भावनीयम् ।

सम्प्रति व्यन्तरानमहणवदुत्वंमाह-

खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा जोडसिया देवा उह्लोए, उह्लो- यलोए तिरियलोए अमंखिज्ज०, तेषुके संखेज्जगुणा, अहोशो- यतिरियलोए अमंखिज्जगुणा, अहोशोए संखेज्जगुणा, ति- रियलोए अमंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा जो- डसियाओ देवीओ उह्लोए, उह्लोयतिरियलोए अमंखे- ज्जगुणाओ, तेषुके संखेज्जगुणाओ, अहोशोयतिरियलोए अमंखेज्ज०, अहोशोए संखि०, तिरियलोए अमंखे० ॥

केत्रानुवातेन उयोतिष्काश्चिन्त्यमानाः सर्वैस्तोकाः ऊर्ध्वशोके, केवाश्चिदे मन्दरे तीर्थेकरजन्महोसवनिमित्तम्, अञ्जनव- धिमूलैष्वप्रहिकानिमित्तम्, अपरेषां केपिष्वव मन्दरादिषु क्री- डाभिनिषं गमनसंभवात् । ते ज्य ऊर्ध्वशोकेति यैः शोकेः प्रत- रद्वयकेऽसंख्येयगुणाः, तर्हि प्रतरद्वयं केचित्स्वस्थान स्थिता अपि स्पृशन्ति, प्रत्यासन्नत्वात् । अतः वैकियसमुद्घातसमव- हताः, अथ ऊर्ध्वशोके गमनागमनभावस्ततोऽधिहतप्रतर- द्वयस्थानिः पुर्वाके ज्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यः शोकेत्पन्नैः त्रैशोकेय- संस्थाभिः संख्येयगुणाः । ये हि उद्योतिष्कास्तथाविधतां प्रय- त्तवैकियसमुद्धानि समवहतास्तानि लोकात् स्वस्थानेः स्पृश- न्ति, ते स्वभावात्सोऽप्यवहन्ति इति पुर्वाके ज्यः संख्येयगुणाः । ते- ज्योऽधोशोकेति यैः शोकेः प्रतरद्वयं वर्तमाना असंख्येयगुणाः, यतो बहवोऽधोशोकेति यैः शोकेः समवसरणादौ विनिमित्तम्, अधोशोके क्रीडाभिनिमित्तमागमनभावो बहवोऽधोशोका उयो- तिकेषु समुपचयाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो घटन्ते पुर्वोक्तैः ज्योऽसंख्येयगुणाः, ते ज्यः संख्येयगुणाः, अधो- शोके, बहुनामधोलोके क्रीडाभिनिमित्तमाधोशोके क्रमामेषु सम- वसरणादिषु शिरकासप्रथमस्थानात् । ते ज्योऽसंख्येयगुणा- स्तियैः शोके, निर्यैः शोके तेषां स्वस्थानत्वात् । एवं उयोति- ष्कादौ वदन्निमित्तं भावनीयम् ।

सम्प्रति वैमानिकेष्वियमल्पवदुत्वंमाह-

खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा वेमाणिया देवा उह्लोयतिरि- यलोए, तेषुके संखेज्ज०, अहोशोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोशोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्ज०, उह्लोए अमंखिज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवाओ वेमाणिया- ओ देवीओ उह्लोयतिरियलोए, तेषुके संखेज्जगुणाओ, अहोशोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोशोए संखेज्ज०, तिरियलोए अमंखेज्ज०, उह्लोए अमंखे० ॥

केत्रानुवातेन केत्रानुसारं चिन्त्यमाना वैमानिका देवाः सर्वै- स्तोका ऊर्ध्वशोकेति यैः शोकेः प्रतरद्वये, यतो ये अधो- शोके ति यैः शोके वा वर्तमाना जीवा वैमानिकेष्वप्यवहन्ते, ये च निर्यैः शोके वैमानिका गमनागमनं कुर्वन्ति, ये च विव- क्तिप्रतरद्वयाभ्यासिनः क्रीडास्थानं संस्थिताः, ये च निर्यैः शोके स्थिता एव वैकियसमुद्घातमारुतान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वो- ष्यास्तथाविधप्रयत्नविशेषणार्थं वैमानिकप्रदेशादौ विनिमित्तं, ते विवकितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ते चाप इति सर्वैस्तोकाः । तेभ्य- लोकोत्पन्नैः संख्येयगुणाः कथमिति चेत् ? उच्यते- इह येऽधोशो- के क्रमामेषु समवसरणादौ विनिमित्तमाधोलोके वा क्रीडाभिनिषं गताः सन्तो वैकियसमुद्घातं मारुतान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वोष्या- स्तथाविधप्रयत्नविशेषणार्थं दूरतरमूर्ध्वविक्षिस्तामरये शङ्कराः, ये च वैमानिकमार्धाङ्गिकारण्या उच्यमाना अधोशोके क्रमा- मेषु समुपचयन्ते, ते किल त्रीणि लोकात् स्पृशन्ति । बहवश्च पुर्वोक्तैः संख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि अधोशोकेति यैः शोकेः प्रतरद्वयसंज्ञे संख्येयगुणाः, अधोशोके क्रमामेषु समवसरणादौ गमनागमनभावात् । विवकितप्रतरद्वयाभ्यासिनः समवसरणादौ वाऽवस्थानतो बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्थाभावात् । ते- ज्योऽधोशोके संख्येयगुणाः, अधोशोके क्रमामेषु बहूनां सम- वसरणादाववस्थानाभावात् । तेभ्यस्तियैः शोके संख्येयगुणाः, बहुषु समवसरणेषु बहुषु च क्रीडास्थानेषु बहुनामवस्थाना- भावात् । ते ज्य ऊर्ध्वशोकेऽसंख्येयगुणाः, ऊर्ध्वशोकेय स्वस्था- नत्वात्, तत्र च शत्रेव बहून्तरभावात् । एवं वैमानिकेष्वविषय- स्त्रमपि भावनीयम् ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियादिगतमल्पवदुत्वंमाह-

खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा एग्दिद्या जीवा उह्लोय- तिरियलोए, अहोशोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरिय- लोए अमंखेज्जगुणा, तेषुके अमं०, उह्लोए अमंखेज्ज- गुणा, अहोशोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव- न्त्योवा एग्दिद्या जीवा अपजत्तगा उह्लोयतिरियलोए, अहोशोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखे- ज्जगुणा, तेषुके अमंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखिज्जगुणा, अहोशोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा ए- ग्दिद्या जीवा पजत्तगा उह्लोयतिरियलोए, अहोशोय- तिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखेज्जगुणा, तेषुके अमंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखेज्जगुणा, अहोशोए विसेसाहिया ॥

क्रेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना एकैन्द्रिया जीवाः सर्वस्तेका ऊर्ध्व-  
 लोकातिर्यङ्गोः ऊर्ध्वलोकातिर्यङ्गोःसङ्गे प्रतरद्भ्यः, यतो ये तत्र-  
 द्या पत्र केचन ये चोर्ध्वलोकातिर्यङ्गोः,तिर्यङ्गोःकाद्वा ऊर्ध्व-  
 लोके समुत्पिरसवः कृतमारणान्तिकसमुद्रात्तास्ते किल विद्य-  
 श्चिप्रतद्भ्यः स्पृशन्ति, स्व्यान्ति, स्व्यान्ति ते इति सर्वैस्तेकाः यतोऽ-  
 धोऽङ्गोःकतिर्यङ्गोः विशेषाधिकः, यतो ये अधोलोकातिर्यङ्गो-  
 के, तिर्यङ्गोःकाद्वाऽधोलोके ईदिकागत्या समुत्पद्यमाना विष-  
 क्षितप्रतरद्भ्यः स्पृशन्ति, तत्रस्थाश्च ऊर्ध्वलोकाधाधोलोको  
 विशेषाधिकः, ततो बहवोऽधोलोकातिर्यङ्गोः समुत्पद्यमाना  
 ब्रवाप्यन्ते, इति विशेषाधिकाः । तेष्वस्तिर्यङ्गोके असंख्ययु-  
 गाः, उक्तप्रतरद्विक्रेत्रातिर्यङ्गोःक्रेत्रस्याऽसंख्येयगुणात्वात् ।  
 तेष्वस्तीलोऽसंख्येययुगाः, बहवो हि ऊर्ध्वलोकाधोलोके अधो-  
 लोकाःकाद्वा ऊर्ध्वलोके समुत्पद्यन्ते । तथा च मध्ये बहवो मार-  
 णान्तिकसमुद्रात्तत्राशिक्षितामप्रदेशाद्एतदानीन्तं लोकात्  
 स्पृशन्ति,ततो भवन्त्यसंख्येययुगाः । तेष्व ऊर्ध्वलोके असंख्ये-  
 ययुगाः, उपपातक्षेत्रस्याऽतिबृहत्त्वात् । तेष्वोऽधोलोके विशे-  
 षाधिकाः, ऊर्ध्वलोकाद्वाधोलोकाद्वाऽतिबृहत्त्वात् । एवमपयोसविषयं पर्याप्तविषयं च सूत्रं जाययितव्यम् ।

अनुना द्विन्द्रियादिविषयमल्पबहुत्वमाह—

स्त्रेचाणुवाएणं सन्त्रयोवा वैदिया उह्लोए, उह्लोयातिरि-  
 यलोए असंखेजगुणा, तेलुके असं०, अह्रोलोयतिरि-  
 यलोए असंखेजगुणा, अह्रोलोए संखेजगुणा, तिरियलोए  
 संखेजगुणा । स्त्रेचाणुवाएणं सन्त्रयोवा वैदिया अपजज-  
 चया उह्लोए, उह्लोयातिरियलोए संखेजगुणा, तेलुके  
 असंखेजगुणा, अह्रोलोयतिरियलोए असंखेजगुणा,  
 अह्रोलोए संखे०, तिरियलोए संखे० । स्त्रेचाणुवाएणं  
 सन्त्रयोवा वैदिया पजजचया उह्लोए, उह्लोयातिरिय-  
 लोए असंखेजगुणा, तेलुके असंखेजगुणा,अह्रोलोयतिरि-  
 यलोए असंखेजगुणा, अह्रोलोए संखेजगुणा,तिरियलोए  
 संखेजगुणा । स्त्रेचाणुवाएणं सन्त्रयोवा वैदिया उह्लोए,  
 उह्लोयातिरियलोए असं०,तेलुके असंखेजगुणा,अधोलोए  
 संखेजगुणा,तिरियलोए संखेजगुणा । स्त्रेचाणुवाएणं सन्-  
 त्रयोवा वैदिया अपजजचया उह्लोए,उह्लोयातिरियलोए  
 असंखिजगुणा, तेलुके असंखेजगुणा, अह्रोलोयतिरिय-  
 लोए असंखिजगुणा, अह्रोलोए संखेजगुणा, तिरियलोए  
 संखेजगुणा । स्त्रेचाणुवाएणं सन्त्रयोवा वैदिया पजजचया  
 उह्लोए,उह्लोयातिरियलोए असंखिजगुणा,तेलुके असंखि-  
 जगुणा, अह्रोलोयतिरियलोए असंखिजगुणा, अह्रोलोए  
 संखिजगुणा, तिरियलोए संखिजगुणा । स्त्रेचाणुवाएणं  
 सन्त्रयोवा चउरिदिया जीवा उह्लोए,उह्लोयातिरिय-  
 लोए असंखिजगुणा, तेलुके असंखिजगुणा, अह्रोलो-  
 यतिरियलोए असंखिजगुणा, अह्रोलोए संखेजगुणा,  
 तिरियलोए संखेजगुणा । स्त्रेचाणुवाएणं सन्त्रयोवा चउ-  
 रिदिया जीवा अपजजचया उह्लोए, उह्लोयातिरियलो-

ए असंखेजगुणा, तेलुके असंखेजगुणा,अह्रोलोयतिरिय-  
 लोए असंखिजगुणा,अह्रोलोए संखेजगुणा, तिरियलोए  
 संखिजगुणा । स्त्रेचाणुवाएणं सन्त्रयोवा चउरिदिया  
 जीवा पजजचया उह्लोए, उह्लोयातिरियलोए असंखेज-  
 गुणा, तेलुके असंखेजगुणा, अह्रोलोयतिरियलोए असं-  
 खेजगुणा, अह्रोलोए संखेजगुणा, तिरियलोए संखे० ।

स्त्रेचाणुवातेन क्रेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना द्विन्द्रियाः सर्वैस्तेकाः  
 ऊर्ध्वलोके,ऊर्ध्वलोकात्केद्रेषु तेषां संभवत् । तेष्व ऊर्ध्व-  
 लोकातिर्यङ्गोः प्रतरद्भ्यः असंखेयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकात्  
 तिर्यङ्गोःकतिर्यङ्गोःकाद्वा ऊर्ध्वलोके द्विन्द्रियत्वेन समुत्पनुका-  
 मानदायुरनुभवन्त ईदिकागत्या समुत्पद्यन्ते । ये च द्विन्द्रिया  
 एव निधोलोकाद्वाधोलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा तिर्यङ्गोः द्विन्द्रियत्वे-  
 नान्यत्वेन वा समुत्पनुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्रात्ता-  
 स्ता स्त एव द्विन्द्रियायुःप्रतिसंबन्धयमानाः समुद्रात्तत्रवाश-  
 क्तदूरतविक्षिप्तमिजात्प्रदेशाद्दृश्याः, ये च प्रतरद्भ्योऽप्यासित-  
 क्षेत्रसमासीनास्ते यथाकप्रतरद्भ्यःपरिनिः बहवश्चेति पूर्बोके-  
 ञ्योऽसंखेयगुणाः । तेष्वस्तीलोःक्रेत्रोऽसंखेयगुणाः, यतो द्विन्द्रि-  
 याणां प्रासुर्येणान्यतिस्थानान्यधोलोके तस्मात्प्रतिप्रभृतनि  
 तिर्यङ्गोः, तत्र ये द्विन्द्रिया अधोलोकाद्वाधोलोके द्विन्द्रियत्वेना-  
 न्यत्वेन वा समुत्पनुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्रात्ताः  
 समुद्रात्तत्रवाशोत्पदिशं यथाद्वििक्षितामप्रदेशाद्दृश्याः तत्र द्वि-  
 ङ्दियायुःप्रतिसंबन्धयमानाः, ये चोर्ध्वलोकाद्वाधोलोके द्विन्द्रि-  
 याः शेषकया यावद् द्विन्द्रियत्वेन समुत्पद्यन्ते । द्विन्द्रियायुःनु-  
 भवन्ति, त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः ते च पूर्बोकेऽयोऽसंखेयगुणाः, त-  
 र्ज्योऽधोलोकातिर्यङ्गोःक्रेत्रोऽसंखेयगुणाः । यतो ये द्विन्द्रिया अ-  
 धोलोकातिर्यङ्गोःके ये च द्विन्द्रियाःकृतधोलोकाद्वाधोलोके द्वि-  
 ङ्दियत्वेन शेषकयात्वेनोन्मितसवः कृतप्रथममारणान्तिकसमु-  
 द्रात्ता द्विन्द्रियायुःनुभवन्तः समुद्रात्तत्रवशोऽन्योऽसंखेय-  
 यथाद्वििक्षितामप्रदेशाद्दृश्याः यथाकः प्रतरद्भ्यः स्पृशन्ति । प्रभूता-  
 श्चेति पूर्बोकेऽयोऽसंखेयगुणास्तेष्वोऽधोलोके संखेयगुणाः,  
 तत्रोत्पत्तिस्थानानामतिप्रचुराणां जायात् । तेष्वोऽप तिर्यङ्गो-  
 के संखेयगुणाः, अतिप्रचुरतराणां योनिस्थानानां तत्र भावात् ।  
 यद्यद्माधिकं द्विन्द्रियसूत्रं तथा पर्याप्तोऽप्यासंखेयसूत्रौचि-  
 कर्तव्यपयोऽप्यापर्याप्तौचिकर्तुरिन्द्रियपर्याप्तोऽप्यासंखेयसूत्र-  
 णि भावनीयाति ।

साम्प्रतमौघिकपञ्चेन्द्रियविषयमल्पबहुत्वमाह—

स्त्रेचाणुवाएणं सन्त्रयोवा पंचैदिया तेलुके, उह्लोयातिरि-  
 यलोए असंखेजगुणा, अह्रोलोयतिरियलोए संखेजगुणा,  
 उह्रोलोए संखेजगुणा, अह्रोलोए संखेजगुणा,तिरियलोए  
 असंखेजगुणा । स्त्रेचाणुवाएणं सन्त्रयोवा पंचैदिया अपजज-  
 चया तेलुके,उह्रोलोयातिरियलोए असंखेजगुणा,अह्रोलो-  
 यतिरियलोए संखेजगुणा, उह्रोलोए संखेजगुणा,अह्रोलो-  
 लोए संखेजगुणा, तिरियलोए संखेजगुणा,॥

स्त्रेचाणुवातेन चिन्त्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः सर्वैस्तेकाः त्रैलोक्ये  
 त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः, यतो येऽधोलोकाद्वाधोलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा-  
 अधोलोके शेषकयाः पञ्चेन्द्रियायुःनुभवन्त ईदिकागत्या समु-

त्यक्तये ये च पञ्चेन्द्रिया ऊर्ध्वशोकाद्घोलात्कं अघोलोका-  
 ऊर्ध्वशोके शेषकामयेन पञ्चेन्द्रिययत्नेन चोत्तिरस्यः कृतमार-  
 श्यान्तिकयमुद्रधानाः समुद्रान्तवशात्प्राप्तसिद्धं यावद् विक्रि-  
 सात्मप्रदेशपङ्कः पञ्चेन्द्रियायुक्ताप्यनुभवानि, ते श्लो-  
 काव्यसंस्थाश्चिनः, ते चाप्ये इति सर्वस्तोकाः । तत्र्य ऊर्ध्वशोका-  
 तियशोके प्रतरह्यरूपेऽसंख्ययगुणाः, प्रमुत्तरणामुपपातेन  
 समुद्रधातेन वा यथोक्तप्रतरह्यसंस्थासंभवात् । तेष्याऽधो-  
 लोकातियशोके संख्ययगुणाः, अतिप्रवृत्तरणामुपपातसमुद्र-  
 धानान्यामधोलोकातियशोके संक्रुप्रतरह्यसंस्थाभावात् । ते-  
 न्य ऊर्ध्वशोके संख्ययगुणाः, वैमानिकानामवस्थानभावात् ।  
 तेष्याऽधोलोके संख्ययगुणाः, वैमानिकवेद्येन्यः संख्ययगुणानां  
 नैरयिकाणां तत्र भावात् । तेष्यस्तियशोकेऽसंख्ययगुणाः, स-  
 मूच्छिप्रमज्जवस्वरादीनां व्यन्तरज्योतिष्काणां सम्बुद्धिप्रम-  
 नुचयाणां च तत्र भावात् । एवं पञ्चेन्द्रियायप्योत्तरह्यमपि भाव-  
 नोप्यम् ।

पञ्चेन्द्रियपर्याप्तत्वमिदं-

स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा पंचिदिया पञ्जत्ता उद्दहोए,  
 उद्दहोयतिरियज्ञोए असं०, तेषुके असं०, अहोहोयतिरि-  
 यलोए संखेज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए अमं-  
 खेज्जगुणा ।

कृत्रानुगतो न विन्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः सर्वस्तोकाः  
 ऊर्ध्वशोके, प्रायो वैमानिकानामेव तत्र प्रावात् । तेष्य ऊर्ध्वशोका-  
 तियशोके प्रतरह्यरूपेऽसंख्ययगुणाः, विवाकृतप्रतरह्यप्रत्या-  
 सत्रायोपपङ्काणां तद्व्यासिनः कृत्राभिनयन्तरतियेष्यः पञ्चेन्द्रिया-  
 णां वैमानिकयन्तरज्योतिष्काविधापरवारणमुनितियेष्यः पञ्चेन्द्रि-  
 या ऊर्ध्वशोके तियशोके च गमनागमने कृत्रानामधिप्रुत्तर-  
 ह्यरुपस्थात् । तेष्यश्लोकाव्यं त्रिशोकेसंस्थाश्चिनः असंख्ययगुणाः ।  
 कथमिति चेत् ? यतो ये भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका  
 विधाधरा वा अघोलोकाव्यः कृतवैकियसमुद्रधानास्तथाविधप्र-  
 यत्नविशेषादुर्ध्वशोकेऽविक्रिसात्मप्रदेशपङ्कस्य भ्रान्तिप-  
 शोकाद् व्युत्पन्नाति संख्ययगुणाः । तेष्याऽधोलोकातियशोके प्र-  
 तरह्यरूपे संख्ययगुणाः, बहवा हि व्यन्तरः स्वस्थानप्रत्यासक्त-  
 तथा भवनपत्यस्तिर्यग्लोके ऊर्ध्वशोके वा व्यन्तरज्योतिष्कवै-  
 मानिका देवा अघोलौकिकमामेषु समवसरणादावधोशोके  
 क्रीडादेतिनिमित्तं च गमनागमनकरणात्, तथा समुद्रेषु केचित्प-  
 तियेष्यः पञ्चेन्द्रियाः स्वस्थाऽप्रत्यासक्तताया, अपरे तद्व्यासि-  
 त्तत्राभिनयतया यथोक्तं प्रतरह्यं व्युत्पन्ति, ततः संख्ययगु-  
 णाः । तेष्याऽधोलोके संख्ययगुणाः, नैरयिकाणां भवनपतीनां च  
 तत्रावस्थानात् । तेष्यस्तियशोकेऽसंख्ययगुणाः, तियेष्यः पञ्चे-  
 न्द्रियमनुच्यव्यन्तरज्योतिष्काणामवस्थानात् । तद्वयमुक्तं पञ्चे-  
 न्द्रियाणामवपबहुत्वम् ।

इदानीमेकेन्द्रियजेदानीं पृथिवीकायिकादीनां पञ्चानामौषिक-  
 पर्याप्तायप्राप्तभेदेन प्रत्येकं त्रीणि श्रीरयत्पबहुत्वान्वाह-

स्वेचाणुवाएणं सन्वत्योवा पुदविकाइया उह्लोयतिरि-  
 यलोए, अहोहोयेतिरियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए  
 अमंखेज्जगुणा, तेषुके अमंसिखज्जगुणा, उह्लोए अमंखे-  
 ज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं सन्व-

त्योवा पुदविकाइया अपपञ्जचया उह्लोयतिरियलोए,  
 अहोलोयतिरियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखेज्ज-  
 गुणा, तेषुके अमंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखेज्जगुणा,  
 अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं सन्वत्योवा  
 पुदविकाइया पञ्जचया उह्लोयतिरियलोए, तिरियलोए  
 अमंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखेज्जगुणा,  
 तेषुके अमंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसा-  
 हिया । स्वेचाणुवाएणं सन्वत्योवा आउकाइया उह्लोयति-  
 रियलोए, अहोहोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए  
 अमंखेज्जगुणा, तेषुके अमंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखेज्ज-  
 गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं सन्वत्योवा  
 आउकाइया अपपञ्जचया उह्लोयतिरियलोए, अहो-  
 होयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखे-  
 ज्जगुणा, तेषुके अमंखेज्जगुणा, उद्दहोए अमंखेज्जगुणा,  
 अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं सन्वत्योवा आ-  
 उकाइया पञ्जचया उद्दहोयतिरियलोए, अहोहोयतिरि-  
 यज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखेज्जगुणा, तेषुके अ-  
 संखेज्जगुणा, उद्दहोए अमंखेज्जगुणा, अहोहोए विसे-  
 साहिया । स्वेचाणुवाएणं सन्वत्योवा तेषुकाइया उह्लोय-  
 तिरियज्ञोए, अहोलोयतिरियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए  
 अमंखेज्जगुणा, तेषुके अमंखेज्जगुणा, उद्दहोए अमंखेज्ज-  
 गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं सन्वत्योवा  
 तेषुकाइया अपपञ्जचया उद्दहोयतिरियलोए, अहोहोयति-  
 रियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखेज्जगुणा, तेषुके  
 अमंखेज्जगुणा, उद्दहोए अमंखेज्जगुणा, अहोहोए वि-  
 सेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं सन्वत्योवा तेषुकाइया पञ्ज-  
 चया उद्दहोयतिरियलोए, अहोहोयतिरियलोए विसेसा-  
 हिया, तिरियलोए अमंखेज्जगुणा, तेषुके अमंखेज्जगुणा,  
 उद्दहोए अमंखेज्जगुणा, अहोहोए विसेसाहिया । स्वेचाणु-  
 वाएणं सन्वत्योवा वगसइया उद्दहोयतिरियलोए,

अप्याबहुय (ग)

अप्याबहुय (ग)

अहोभोयतिरियलोए विसेसाहिया, तेलुके असंखेजगुणा, उरुदहोए असंखेजगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खे-  
 लायुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया अपजजचाया उरुद-  
 लोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, ति-  
 रियलोए असंखेजगुणा, तेलुके असंखेजगुणा, उरुद-  
 लोए असंखेजगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेलायु-  
 वाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया पजजचाया उरुदहोयति-  
 रियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए  
 असंखेजगुणा, तेलुके असंखेजगुणा, उरुदलोए असंखे-  
 जगुणा, अहोभोए विसेसाहिया ॥

इमानि पञ्चदवापि म्वाणि प्राणुकेकेनिकपवसुवद्वावनीयानि ।  
 सम्पत्तमौघिकसकपायणं प्नापर्योसकपायसूत्रायथाह —

खेलायुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया तेलुके, उरुदलोयति-  
 रियलोए असंखेजगुणा, अहोभोयतिरियलोए असंखे-  
 जगुणा, उरुदहोए संखेजगुणा, अहोलोए संखेजगुणा-  
 या, तिरियलोए असंखेजगुणा । खेलायुवाएणं सव्व-  
 त्थोवा तसकाइया अपजजचाया तेलुके, उरुदहोयतिरियलोए  
 अमंखेजगुणा, अहोभोयतिरियलोए अमंखेजगुणा, उरुद-  
 होए संखेजगुणा, अहोभोए संखेजगुणा, तिरियलोए  
 असंखेजगुणा । खेलायुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया प-  
 जजचाया तेलुके, उरुदलोयतिरियलोए अमंखेजगुणा, अ-  
 होभोयतिरियलोए असंखेजगुणा, उरुदलोए मंखेजगु-  
 णा, अहोभोए संखेजगुणा, तिरियलोए असंखेजगुणा ।

इमानि पञ्चेन्द्रियसुवद्वावनीयानि । गते क्लेशराम । प्रह्ला० ३२ पद ।  
 ( १२ ) [ गनिहारम् ] चतुर्गणिसमासेन पञ्चगणिसमासेनाण-  
 तिसमासेन धाऽप्यबहुवचम् —

पतेसि ञं जंतै । षेरइयाणं ० जाव देवाण य कपरे कपरेहितो ०  
 जाव विसेसाहिया ? । गोयया । सव्वत्थोवा मणुस्सा, ने-  
 रइया असंखेजगुणा, देवा असंखेज्जा, तिरिया अणंता ।  
 प्रवन्नसं पाठसिद्धम् । भगवानाह—गौतम । सर्वस्वोक्तः मनु-  
 ष्याः, अथसंख्येयजगवर्तिवज्रप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यो  
 नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रज्ञप्रदेशराशेर्यत् प्रथ-  
 मं वगमूलं तद् द्वितीयं वर्गमङ्गेन गुण्यते, गुणितं च  
 सति यावत्तद् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणात् अणुपु यावन्न  
 आकाशप्रदेशस्तावत्प्रमाणात्वात् । तेयाम् । तेभ्यो देवा असंख्ये-  
 यगुणाः, ध्यन्तराणां ज्योतिष्काणां नैरयिकेभ्योऽप्यसंख्येयगुण-  
 तया महादृषडके पठितत्वात् । तेज्योऽपि तिर्येज्जोऽमन्माः,  
 वनस्पतिजोधानामनन्तत्वात् । जी० ४ प्रति० । पं० सं० ।

पञ्चगणिसमासेनाप्यबहुवचमाह—

एस्सि ञं जंतै । षेरइयाणं निरिक्खजोगियाणं मनु-  
 सणां देवाणं सिक्खाए प पंचादसमासेणं कपरे कपरे—

हितो अप्या वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा । ।  
 गोयया । मव्वत्थोवा मणुस्सा, षेरइया असंखेजगुणा  
 देवा असंखेजगुणा, सिक्खा अणंतागुणा, तिरिक्खजोगिया  
 अणंतागुणा ।

सर्वस्वोक्ता मनुष्याः । षण्णवतिच्छेदनकच्छेधराशिप्रमाणत्वा-  
 त् । स्व व पणयतिच्छेदनकच्छेधराशिरत्रे ( 'सरिरे' शब्धे )  
 दर्शयिष्यते । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रज्ञ-  
 प्रदेशराशेः संख्येयगुणाः, ध्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रत्येकं  
 प्रनरासंख्येयमागवर्तिअणितानाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ते-  
 भ्यो देवा असंख्येयगुणाः, ध्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रत्येकं  
 प्रनरासंख्येयमागवर्तिअणितानाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ते-  
 भ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः, अन्तयेभ्योऽप्यनन्तगुत्वात् । तेभ्यो-  
 स्तियेभ्योनिक्का अनन्तगुणाः, वनस्पतिजयिकयिकानां सिद्धेभ्योऽ-  
 प्यनन्तगुणत्वात् । तदेवं नैरयिकतियेभ्योनिक्कामनुष्येदेवसिक्खे-  
 पाणां पञ्चानामनप्यबहुवचमुक्तम् । प्रह्ला० ३२ पद ।

एतच्चैवमर्थेनो गाथा—

“म-नेरइया देवा, सिद्धा तिरिया कम्मण इह हौति ।  
 थोय असंखे असंखा, अणंतागुणिया अणंतागुणा ॥” ११३२०५  
 श० ३ वे ० ।

साम्प्रतं नैरयिकतियेभ्योनिक्कतियेभ्योनिक्कामनुष्यमातुर्धरेद्व-  
 देवीद्वक्षणानां सप्तानामनप्यबहुवच्येनान्वात्माह—

अप्याबहुयं सव्वत्थोवा माणुस्सोआ, मणुस्सा असंखे ज-  
 गुणा, नेरइया असंखेजगुणा, तिरिक्खजोगियांओ असं-  
 खेजगुणाओ, देवा मंखेजगुणा, देवाओ संखेजगुणाओ,  
 तिरिक्खजोगिया अणंतागुणा ।

प्रअस्तं सुगमम् । जगयानाह—सर्वस्वोक्ता मनुष्यः कतिपयकाटी-  
 काऽतिप्रमाणत्वात् । ताप्यो मनुष्या असंख्येयगुणाः, संख्येयम-  
 नुष्याणां अणयसंख्येयजगप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यो नैरयि-  
 का असंख्येयगुणाः । तेभ्योस्तियेभ्योनिक्काः । स्वोऽसंख्येयगुणाः,  
 प्रनरासंख्येयमागवर्तिअणयकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो  
 देवाः संख्येयगुणाः, वायामन्तरज्योतिष्काणामिव जलखरतियेभ्यो  
 निक्काभ्यः संख्येयगुणतया महादृषडके पठितत्वात् । तेज्यो देव्यः  
 संख्येयगुणाः, आशिष्टाणन्त्वात् । “वचःसगुणा बहोसकृवभहिया  
 उ हौति देवाणं देवांश्च” इति वचनात् । ताज्यस्तरिभ्योनिक्का  
 अनन्तगुणाः, वनस्पतिजोधानामनन्तानन्तत्वात् । जी० ७ प्रति० ।

इदानीमंशुभामेव सिद्धसहितानामनप्यबहुवचमाह—

एस्सि ञं जंतै । षेरइयाणं तिरिक्खजोगियाणं तिरि-  
 क्वजोगियाणं मणुस्सां मणुस्सां देवाणं सिद्धाए प  
 अद्दगणिसमासेणं कपरे कपरेहितो रूप्या वा बहुया वा  
 तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयया । मव्वत्थोवा मणु-  
 स्सोआ, मणुस्सा असंखेजगुणा, षेरइया असंखेजगुणा,  
 तिरिक्खजोगियांओ असंखेजगुणाओ, देवा असंखेज-  
 गुणा, देवाओ संखेजगुणाओ, सिक्खा अणंतागुणा,  
 तिरिक्खजोगिया अणंतागुणा ।

सर्वस्तोकाः मनुष्यो मनुष्यस्त्रियाः, संख्येयकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । ताःचो मनुष्या असंख्येयगुणाः, इह मनुष्याः संसृ-  
जन्तान्ना इपि गृह्णन्ते, वेदस्त्वाविवहृत्पात् । त च संसृच्छू-  
नजाः बान्ताविवृणु मगरतिरेकमानत्वेषु जायमाना असंख्येयाः प्रा-  
त्ययैः । तेऽप्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, मनुष्या ह्युकृष्टपदेऽपि  
श्रेयससंख्येयजागमप्रदेशराशिप्रमाणा ह्यच्यन्ते । नैरयिकास्त्व-  
ह्युलमात्रेण प्रदेशराशिः कश्चित्तीयवर्गसूक्ष्मगुणप्रथमवर्गसू-  
लप्रमाणश्रेणितानाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । ततो भवन्त्यसंख्ये-  
यगुणाः, तेऽप्यस्तिर्यग्भ्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासं-  
ख्येयजागवत्येसंख्येयश्रेणितमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताऽप्या-  
ऽपि देवा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवत्येसंख्येयश्रेणित-  
मप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि देव्यः संख्येयगुणाः, ब्राह्मिहा-  
दुणत्वात् । ताऽप्योऽपि सिद्धा अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तिर्य-  
ग्भ्योनिका अनन्तगुणाः । अथ युक्तिः प्रागेवोक्ता । प्रका० ३ पृ ४ ।

अर्थतत्त्वैवं गाथा-

“ नारी नर नरइया, तिरिगिधु लुदे देवि सिद्ध तिरिया य ।  
योऽव असंखगुणा चड, संखगुणाऽणंतगुण वंति ॥ २ ॥  
अ० २४ शो ३ उ० ।

अथ (समासेन) प्रथमाप्रथमसमयविशेषेण गतिस्वरूपबहुत्वप्र-  
अप्याबहु-एतोसि णं भंते ! पदमसमयणेरुद्दयाणं० जाव पद-  
मसमयदेवाणं कयरे कयरेऽहितो० जाव विसेसाहिद्या वा ? ।  
गोयमा ! सन्वत्योवा पदमसमयमणुस्सा, पदमसमयणेरुद्दया  
असंखेजगुणा, पदमसमयदेवा असंखेजगुणा, पदमसमयति-  
रिक्त्वजोणिया असंखेजगुणा । एतसि णं भंते ! अपदमसम-  
यनरुद्दयाणं जाव० अपदमसमयदेवाणं कयरे कयरेऽहितो०  
जाव विसेसाहिद्या वा ? । गोयमा ! एवं चैव; नवरि अपदमस-  
मयतिरिक्त्वजोणिया अणंतगुणा । एतसि णं जंते ! पदमस-  
मयणेरुद्दयाणं अपदमसमयणेरुद्दयाणं कयरे कयरेऽहितो० जाव  
विसेसाहिद्या वा ? । गोयमा ! सन्वत्योवा पदमसमयणेरुद्दया,  
अपदमसमयणेरुद्दया असंखेजगुणा, एवं चैव तिरिक्त्व-  
जोणिया, नवरि अपदमसमयतिरिक्त्वजोणिया अणंत-  
गुणा । मणुयदेवाणं अप्याबहुयं जडा नरइया । एतसि णं  
भंते ! पदमसमयणेरुद्दयाणं० जाव अपदमसमयतिरिक्त्वजो-  
णियाणं कयरे कयरेऽहितो० जाव विसेसाहिद्या वा ? ।

गोयमा ! सन्वत्योवा पदमसमयमणुस्सा, अपदमसमयमणुस्सा  
असंखेजगुणा, पदमसमयणेरुद्दया असंखेजगुणा, पदमसमय-  
देवा असंखेजगुणा, पदमसमयतिरिक्त्वजोणिया असंखेज-  
गुणा, अपदमसमयणेरुद्दया असंखेजगुणा, अपदमसमयदेवा  
असंखेजगुणा, अपदमसमयतिरिक्त्वजोणिया अणंतगुणा ।  
प्रअसृषं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमय-  
मनुष्याः, श्रेयससंख्येयभागमाश्रत्वात् । तेऽप्यः प्रथमसमयनैरयि-  
का असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतानामेकस्मिन् समये उत्पादसंभ-  
वात् । तेऽप्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्का-  
णामतिप्रभूततराणामेकस्मिन् समये उत्पादसंभवात् । तेऽप्यः  
प्रथमसमयतिर्यग्भ्योऽसंख्येयगुणाः, इह ये नारकादिगति-  
प्रदायित्वं तिर्यग्प्रथमसमये वर्तन्ते ते प्रथमसमयतिर्यग्भ्योऽ, न  
शोभाः, ततो यद्यपि प्रतिनिगोदसंख्येयभागाः सद् विप्रहृगति-  
१६०

प्रथमसमयवर्षीं ह्यन्वते, तथापि निगोदानामपि तिर्यक्त्वात् न ते  
प्रथमसमयतिर्यग्भ्योः, एऽप्यः संख्येयगुणा एव । साऽस्मत्तमेतदेव  
चतुर्णामप्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमाह-“एतसि श्मिया-  
त्यादि” प्रअसृषं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वेस्तो-  
का अथमसमयमनुष्याः, श्रेयससंख्येयभागमाश्रत्वात् । ते-  
ऽप्योऽप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अहुलमात्रेण  
प्रदेशराशेः प्रथमवर्गसूक्ष्मे हितेयिने वरीमुल्लेन गुणिते यावान्  
प्रदेशराशिः तावत्प्रमाणासु श्रेणित्वावन्त आकाशप्रदेशस्ता-  
वत्प्रमाणात्वात् । तेऽप्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्य-  
न्तरज्योतिष्काणामतिप्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्भ्यो-  
निका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तत्वात् । साऽस्मत्तमेतदेव  
नैरयिकादीनां प्रत्येकं प्रथमसमयाप्रथमसमयगतमल्पबहुत्व-  
माह-“एतसि णं जंते !” इत्यादि प्रअसृषं सुगमम् । जगवा-  
नाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, एकस्मिन्  
समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामेवोत्पादात् । तेऽप्योऽप्रथ-  
मसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, चिकीडावस्त्रादीनां तेषाम-  
न्योऽन्योत्पादेनातिप्रभूतत्वात् । एवं तिर्यग्भ्योनिकमनुष्यदेव-  
सुश्रायपि वक्तव्यानि, नवरि तिर्यग्भ्योनिकत्वेऽप्रथमसमयति-  
र्यग्भ्योनिका अनन्तगुणा वक्तव्याः, वनस्पतिजीवानामनन्त-  
त्वात् । साऽस्मत्तमेतदेव प्रथमसमयप्रथमसमयानां समु-  
दायेन परस्परमल्पबहुत्वमाह-“ एतसि श्मियात्यादि” प्रअ-  
सृषं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमय-  
मनुष्याः, एकस्मिन् समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामे-  
वोत्पादात् । तेऽप्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, चिर-  
कालावस्थाश्रितया अतिप्रान्त्येन सत्यमाश्रत्वात् । तेऽप्यः प्रथ-  
मसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणामेकस्मिन्  
समये उत्पादसंभवात् । तेऽप्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः,  
व्यन्तरज्योतिष्काणामेकस्मिन् समये अतिप्रान्त्येण कदा-  
चिदुत्पादात् । तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यग्भ्योनिका असंख्येयगुणाः,  
नारकजैंगतित्रयादप्युत्पादसंभवात् । तेभ्योऽप्रथमसमयनैर-  
यिका असंख्येयगुणाः, अहुलमात्रेण प्रदेशराशेः प्रथमव-  
र्गसूक्ष्मे हितेयवर्गमुल्लेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमा-  
णासु श्रेणित्वावन्त आकाशप्रदेशस्तावत्प्रमाणात्वात् । तेऽप्योऽ-  
प्रथमसमयदेवाः असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवत्येतिश्रेया-  
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेऽप्योऽप्रथमसमयतिर्यग्भ्योनिका  
अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० - प्र० ।

अत्र (व्यासेन) सन्वत्येऽप्यबहुत्वानि, तथा --

सिद्धेणं जंते ! सिध्दि चि कालतो केव चिरं हाति ?  
गोयमा ! सादिप अपज्जवमिप । ( जी० )

तत्र प्रथममिदम् -

एतसि णं जंते ! पदमसमयणेरुद्दयाणं पदमसमयतिरिक्त्व-  
जोणियाणं पदमसमयमणुस्साणं पदमसमयदेवा ण कयरे०  
जाव विसेसाहिद्या ? । गोयमा ! सन्वत्योवा पदमसमयमणु-  
स्सा, पदमसमयणेरुद्दया असंखेजगुणा, पदमसमयदेवा अ-  
संखेजगुणा, पदमसमयतिरिक्त्वजोणिया असंखेजगुणा ।  
सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः । तेऽप्यः प्रथमसमयनैरयिका  
असंख्येयगुणाः । तेऽप्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः । तेभ्यः  
प्रथमसमयतिर्यग्भ्योनिका असंख्येयगुणा, नारकादिशपगतित्र-



वादागतानामेव प्रथमसमये यत्मानानां प्रथमसमयातिथ्यो-  
मिकत्वात् ।

द्वितीयमेवम्—

एस्मि णं जंते । अपढमसमयणेर्इयाणं अपढमसमय-  
तिरिक्त्वजोगियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवा-  
ण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा । गोयमा ।  
सम्बन्धोवा अपढमसमयमणूसा, अपढमसमयणेर्इया अ-  
संखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढम-  
मयतिरिक्त्वजोगिया अणंतगुणा ।

सर्वेस्तोकाः अप्रथमसमयमणूसाः, तेज्योऽप्रथमसमयनैरयिका  
असंखेयगुणाः, तेज्योऽप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, ते-  
भ्योऽप्रथमसमयतिथ्योमिका अन्तगुणाः, निगोदजीवानाम-  
नन्तत्वात् ।

तृतीयमेवम्—

एस्मि णं पढममयणेर्इयाणं अपढमसमयणेर्इयाणं कयरे  
कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया । गोयमा । सवन्धोवा पढ-  
मसमयणेर्इया, अपढमसमयणेर्इया असंखेज्जगुणा । ए-  
स्मि णं जंते । पढममयतिरिक्त्वजोगियाणं अपढमसमयति-  
रिक्त्वजोगियाणं कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया ।  
गोयमा । सवन्धोवा पढमसमयतिरिक्त्वजोगिया, अपढमस-  
मयतिरिक्त्वजोगिया अणंतगुणा । मणूयदेवाणं अप्याबहुयं  
जहा नेरइया ।

सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिका  
असंखेयगुणाः । तत्र प्रथमसमयतिथ्योमिकाः सर्वेस्तोकाः अ-  
प्रथमसमयतिथ्योमिका अन्तगुणाः, तथा सर्वेस्तोकाः प्रथम-  
समयमणूसा, अप्रथमसमयमणूसाः असंखेयगुणाः । तथा स-  
र्वेस्तोकाः प्रथमसमयदेवाः, अप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः ।  
सर्वसमुदायगतं चतुर्थमेवम्—

एस्मि णं जंते । पढममयणेर्इयाणं अपढमसमयणेर्इ-  
याणं पढममयतिरिक्त्वजोगियाणं अपढमसमयतिरिक्त्व-  
जोगियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढम-  
समयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं सिद्धाण य कयरे कयरेहिं-  
ते० जाव विसेसाहिया । गोयमा । सवन्धोवा पढमसमय-  
मणूसा, अपढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणे-  
इया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसम-  
यतिरिक्त्वजोगिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयनेर्इया  
असंखेज्जगुणा, अपढमसमयतिरिक्त्वजोगिया अणंतगुणा ।

सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयमणूसाः, अप्रथमसमयमणूसा असं-  
खेयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका असंखेयगुणाः, तेभ्यो  
ऽपि प्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमसमयति-  
थ्योऽसंखेयगुणाः, तेज्योऽपि प्रथमसमयनैरयिका असंखे-  
यगुणाः, तेज्योऽपि प्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेभ्यः सि-  
द्धा अन्तगुणाः । तेज्योऽप्रथमसमयतिथ्योमिका अन्तगु-  
णाः । जी० ६ प्रति० ।

प्रथमसमयाप्रथमसमयजेनेम भिन्नानां नैरयिकतिथ्योमिकम-  
नुष्यदेवसिद्धानां दृशानामप्यबहुत्याप्यत्रापि चत्वारि ।

तत्र प्रथममिदम्—

एतोसि णं भंते । पढममयणेर्इयाणं पढमसमयतिरिक्त्व-  
जोगियाणं पढममयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं पढमसमय-  
सिक्त्वाण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा ।  
गोयमा । सवन्धोवा पढममयतिरिक्त्वा पढमसमयमणूसा  
असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेर्इया असंखेज्जगुणा, पढम-  
समयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्त्वजोगिया अ-  
संखेज्जगुणा ॥

सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अष्टोत्तरशतावृत्तमभावात् ।  
तेभ्यः प्रथमसमयमणूसा असंखेयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयनै-  
रयिकाः असंखेयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयदेवाः असंखेय-  
गुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिथ्योऽसंखेयगुणाः ।

द्वितीयमिदम्—

एतोसि णं जंते । अपढमसमयणेर्इयाणं अपढममयति-  
रिक्त्वजोगियाणं अपढममयमणूसाणं अपढमसमयदेवाणं  
अपढमसमयसिक्त्वाण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसा-  
हिया वा । गोयमा । सवन्धोवा अपढमसमयमणूसा, अप-  
ढमसमयणेर्इया असंखेज्जगुणा, अपढममयदेवा असं-  
खेज्जगुणा, अपढममयतिरिक्त्वा अणंतगुणा, अपढमसमय-  
तिरिक्त्वजोगिया अणंतगुणा ।

सर्वेस्तोका अप्रथमसमयमणूसा, अप्रथमसमयनैरयिका अ-  
संखेयगुणाः, अप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, अप्रथमस-  
मयसिद्धा अन्तगुणाः, अप्रथमसमयतिथ्योऽनन्तगुणाः ।

तृतीयम्—

एस्मि णं जंते । पढममयणेर्इयाणं य अपढममयणेर्इ-  
याणं य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा । गोयमा ।  
सवन्धोवा पढममयणेर्इया, अपढममयणेर्इया असं-  
खेज्जगुणा । एतोसि णं जंते । पढममयतिरिक्त्वजोगि-  
याणं अपढमसमयतिरिक्त्वजोगियाणं य कयरे कयरेहिंते०  
जाव विसेसाहिया वा । गोयमा । सवन्धोवा पढम-  
मयतिरिक्त्वजोगिया, अपढमसमयतिरिक्त्वजोगिया अणं-  
तगुणा । एतोसि णं जंते । पढमसमयमणूसाणं अपढम-  
मयमणूसाणं य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा ।  
गोयमा । सवन्धोवा पढमसमयमणूसा, अपढममयमणूसा  
असंखेज्जगुणा । जहा मणूसा नटा देवा वि । एतोसि णं जं-  
ते । पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाणं य कयरे कयरे-  
हिंते० अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ।  
गोयमा । सवन्धोवा पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसि-  
द्धा अणंतगुणा ।

प्रत्येकमाविरैरयिकतिथ्यक्रममुष्यदेवानां पूर्ववत् । सिद्धानामेवं  
सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धा अन्त-  
गुणाः ।

समुदायगतं अतुयंमेषम्-

एप्सि णं भंते । पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्खजोगियाणं अपढमसमयतिरिक्खजोगियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं पढमसमयसिष्ठाणं अपढमसमयसिष्ठाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुड्ढा वा विसैसाहिया वा ? । गोयया । सव्वत्थोवा पढमसमयसिष्ठा, पढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, अपढमसमयमणूसा असंखिज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखिज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोगियाणं असंखिज्जगुणा, अपढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखिज्जगुणा, अपढमसमयसिष्ठा अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोगियाणं अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिष्ठाः, तेज्यः प्रथमसमयमनुष्ठा असंखेयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयमनुष्ठा असंखेयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयभेरिका असंखेयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिरिक्खजोगियाणं असंखेयगुणाः, तेज्योऽप्रथमसमयभेरिका अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिरिक्खजोगियाणं अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिरिक्खजोगियाणं अनन्तगुणाः । भायना सर्वत्रापि प्राग्वत् । नवरं सूत्रे संक्षेप इति । जी० १० प्रति० ।

संप्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामप्यवहृत्वमाह-  
(पण दो खीण दू जोगी, ऽणुदीरग अजोगीयोन उवसंता ।  
संखगुण खीण सुदुमा, नियहिअपुप्प सभा अहिया । ६३)

( योव उवसंत चि ) स्तोका उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवाः, यतस्तं प्रतिपद्यमाना उक्तेताऽपि अतुष्णश्चाश्रममाणा एव प्राप्यन्त इति । तेज्यः सकाशात् क्लीणमोहाः संखेयगुणाः, यतस्तं प्रतिपद्यमानका एकस्मिन् समयेऽप्योत्तरशतप्रमाणं अपि लज्यन्ते । यतश्चोत्कृष्टपदापेक्षयाकर्म । अन्यथा कदाचिद्विपर्ययोऽपि रूप्यः । स्तोकाः क्लीणमोहाः, बहवस्तु तेज्य उपशान्तमोहाः, तथा तेज्यः क्लीणमोहेभ्यः सकाशात् सुहृमत्संपर्याया निष्ठासिद्धात्पुष्पैकरका विशेषाधिकारः, स्वस्थाने पुनरेतं चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि समास्तुदया इति ॥ ६३ ॥

जोगि अपमच इयरे, संखगुणा देससासणा मीसा ।  
अविरय अजोगि मिच्छा, असंख चउमो दुवेऽणंता । ६३ ।

तेज्यः सुव्यादिज्यः सयोगिकेवलिनः संख्यातगुणाः, तेषां कोटिवृथक्त्वेन लज्यमानत्वात् । तेभ्योऽप्रमत्ताः संखेयगुणाः, काटिसहस्रपुष्पैण प्राग्प्रमाणत्वात् । तेभ्य ( इयर चि ) अप्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ताः संखेयगुणाः, प्रमाज्जयो हि बहुनां बहुकालं च लज्यन्ते, विपर्ययेण स्वप्रमाद इति न यथाकसंख्याव्याघातः । (देसेयादि) देशविरतासाध्यादनिष्ठाविरतलक्षणाश्चाथारो यथोत्तरमसंखेयगुणाः, सयोगिमिष्याहपिट्ठसखौ च द्वी यथोत्तरमन्तगुणी, तत्र प्रमत्तयो देशविरता असंखेयगुणाः, विरच्छामन्यसंख्यातानां देशविरतेनात्वात् ।

सास्वादान्तु कदाचित्सवैधेय न भवति, यदा भवति तदा उच्यतेनैको द्वी वा, उक्तेतस्तु देशविरतेभ्योऽप्यसंखेयगुणाः, तेज्यो मिशा असंखेयगुणाः, सास्वादाकाया उक्तेतैतोऽपि यदाभित्तिमात्रतया स्तोकात्वात् । मिशाकायाः पुनरन्तःसुहृत्प्रमाणतया प्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्यसंखेयगुणाः अविरतसम्यग्रहयः, तेषां गतिअतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालसंभवात् । तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवत्यामवधकमेद्विष्ठा अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मिष्याहयः, साध्याणवमन्तयोनीं सिधेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेषां च मिष्याहपिट्ठविति । तद्व्यमजिहिते गुणस्थानवर्तिनां जीवानामप्यवहृत्वम् । कर्म० ५ कर्म० । पं० खं० ।

( १३ ) [वरमहाारय] चरमाचमायामवहृत्वम्-

एप्सि णं जंते । जीवाणं चरिमाणं अचरिमाणं च कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा० ? । गोयया । सव्वत्थोवा जीवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा ।

इह येषां चरिमा अचरिमा चोद्यतयाप्रति ते चरमा उच्यन्ते । ते चाधोदु अयाः, इत्येभ्यश्चरमा अमप्याः सिद्धाश्च, उन्नेयचामपि चरमाचरमजावात् । तत्र सर्वस्तोका अचरमाः, अमप्यानां सिद्धानां च समुदितानामप्यज्ययोत्कृष्टगुणानन्तपरिमाणत्वात् । तेभ्योऽनन्तगुणाश्चरमाः, अज्यज्ययोः कृष्टानन्तानन्तपरिमाणत्वात् । गतं चरमाक्षरम् । प्रका० १ पद । ( रत्नप्रभादीनां चरमाश्चरगतमवहृत्वम्, सङ्घातप्रयश्चरम् सङ्घातपदेनाश्चरमाश्चरपरिभ्रुतादेश्चरमादिषियमवहृत्वम् च 'चरस' शब्दे एव दर्शयिष्यते )

( १४ ) [ जीवद्वारय ] जीवपुष्पलसमयद्रव्यप्रदेशार्थोवाया-  
मवहृत्वम्-

एप्सि णं जंते । जीवाणं पोग्गसाणं अक्कासमयाणं सव्वद्वन्नाए सव्वपएसाणं सव्वपजजाणं च कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ५ ? । गोयया । सव्वत्थोवा जीवा पोग्गसा अणंतगुणा, अक्कासमया अणंतगुणा, सव्वद्वन्ना विसेसाहिया, सव्वपदेसा अणंतगुणा, सव्वपजजा अणंतगुणा । प्रका० ३ पद ।

तद्व्यमर्षतः-

'जीवा १०गगल ३ समया ३, हव्वपपसा य ५ पज्जमा ६ खेव ।  
योवाऽणंताऽणता, विससअहिया कुवेऽणंता ॥ १ ॥  
इह भावना-यतो जीवाः प्रत्येकमनन्तान्तैः पुद्गलैर्बैकः प्रायो भवन्ति, पुद्गलास्तु जीवैः संबन्धा असंबन्धाश्च भवन्तीत्यतः स्तोकाः पुद्गलेभ्यो जीवाः ।

यदाह-

" अं पोग्गसावचका, जीवा पाएण हंति तो योवा ।  
जीवेहि विरहियाऽविर-हिया च पुण पोग्गसा संति " ॥ १ ॥  
जीवेभ्योऽनन्तगुणाः पुद्गलाः कथमं, यथैज्जसादिशरीरं येन जीवेन परिपृहीते तस्यतो जीवापुद्गलपरिणामाप्रमाणं अन्नन्तगुणं भवति, तथा-तैजसशरीरात्परिवृततोऽन्नन्तगुणं कामेजम्, एतं च ते जीवप्रतिबद्धेऽन्नन्तगुणे जीवचित्तयो जे ते साध्यामनन्तगुणं प्रबभम्, शेषशरीरचिन्ता त्विद न कृता, यस्मात्तानि मुक्काम्यपि के सं स्थाने तयोत्तरमन्तानं वतन्ते, तदेवमिदं तैजसशरीरपुद्ग-

ला भवि जीवेऽप्येऽनन्तगुणाः, किं पुनः कार्मण्यविपुलता-  
दिसंहिताः । तथा पञ्चदशविधप्रयोगपरिणताः पुत्रकृताः स्तो-  
काः, तेषां मिश्रपरिणताः अन्तगुणाः, तेषांऽपि विभ्रसाप-  
रिणता अनन्तगुणाः, त्रिविधा एव च पुत्रकृताः सर्व एव भव-  
न्ति । जीवाश्च सर्वेऽपि प्रयोगपरिणतपुत्रकृतां प्रत्युक्तेऽनन्त-  
भागे वर्तन्ते यस्मादेवं तस्माज्जीवियः सकाशात् पुत्रकृताः बहु-  
निरतस्याऽनन्तकैरुचिताः सिद्धा इति ।

आह च-

“ अ जेण परिभाहियं, तेयादिजिपण देहमेककं ।  
तसो तमखंतगुणं, पोमग्नपरिजामओ होरि ॥ १ ॥  
तेयाओ पुण कम्मग-मणंतगुणियं जओ विणिहइं ।  
एवं ता बद्धाई, तेयगकम्माइ जीवेहिं ॥ २ ॥  
एसोऽणंतगुणाई, तेसिं चिय जाणि होति मुक्काई ।  
इइ पुण धोवसाओ, अगमयं सेसदेवाणं ॥ ३ ॥  
अं तेसिं मुक्काई, पि होति सचाण णंतमगम्मि ।  
तेण तद्गगाइणमिहं, बक(बद्धा)ण होणइं पि ॥ ४ ॥  
इइ पुणतेयसरीरग-बद्धं चिय पोमला अणंतगुणा ।  
जीवेहिं तो किं पुण, सहिया अचससरासीइं ॥ ५ ॥  
धोवा भणिया सुत्तं, पन्नरसविइपोमग्नयाओमा ।  
तसो मीसपरिणया-ऽणंतगुणा पोमग्ला त्रणिया ॥ ६ ॥  
ते मीससा परिणया, तसो भणिया अणंतसंगुणिया ।  
एवं तिविहृपरिणया, सब्बे चि य पोमग्ला होए ॥ ७ ॥  
अं जीवा सब्बे चि य, पक्कमि पमोगपरिणयाय पि ।  
बहंति पोमगलाणं, अणंतमगम्मि तणुयम्मि ॥ ८ ॥  
बहुएइं अणंताणं, सइं तेषु सुणिया जिणंइतो ।  
सिद्धा भवंति सब्बे, चि पोमग्ला सब्बलोमम्मि ॥ ९ ॥

ननु पुत्रकृत्याऽनन्तगुणाः समया इति यदुक्तम् । तन्न संगतम् । ते-  
ष्वन्तेषां स्तोकात्वात् । स्तोकात्वं च मनुष्यैकत्रमात्रवर्तित्वात्सम-  
धानां पुत्रकृतानां च सकललोकवर्तित्वादिति । अत्रोच्यते-सम-  
यकृते य केचन द्रव्यपर्यायाः सन्ति, तेषामेकैकस्मिन् साग्रत-  
समया वर्तन्ते । एवं च साग्रत समयो यस्मात्समयकृतेऽद्रव्यपर्य-  
यगुणो भवति तस्मादनन्ताः समया एकैकस्मिन् समये  
प्रवर्तन्ति । आह च—

“ होति य अणंतगुणिया, अइदासमया उ पोमगेहितो ।  
नणु धोवा ते नरख-त्तमेसवत्तणाओ चि ॥ १ ॥  
जणणइ समयकत्त-म्मि सेति जे केइ इवपज्जाया ।  
बहइ संपयसमओ, तेसिं पेशेमेककं ॥ २ ॥  
एवं संपयसमओ, जे समयकेसपज्जवत्तणयो ।  
तेणणंता समया, भवंति एकैकसमयम्मि ॥ ३ ॥  
एवं च वर्तमानोऽपि समयः पुत्रकृत्याऽनन्तगुणो प्रवर्तित-  
एकद्रव्यस्याऽपि पर्यायात्सामन्तस्तादा । किं च । केवलमियं  
पुत्रकृत्याऽप्यनन्तगुणाः समयाः सर्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्याये-  
ऽप्यनन्तगुणास्ते संजवन्ति । तथाहि—यत्समस्तलोकद्र-  
व्यप्रदेशपर्यवरागोः समयकृतेऽद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिना भक्ता-  
व्यभूयते । एतद्भावना चैवं किल-असद्भावकल्पवत्कथाः सङ्गो  
लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराणां तस्य समयतेऽद्रव्यप्रदेशपर्यवराशि-  
ना कल्पवत्तया सहस्रमानेन भगि इते शनं ब्रह्मम्, तद्वच-  
किल तांश्विकसमयशते गते लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवत्कथा तु-  
द्दया समयकृतेऽद्रव्यप्रदेशपर्यवत्कल्पसमयसंख्या लज्यते । स-  
मयकृतापेक्षया असंख्यतगुणलोकस्य कल्पनया शतगुण-

त्वात् । तथाऽप्येष्वपि तावत्सु तांश्विकसमयेषु गतेषु ताव-  
त्त पर्योपचारिकसमया प्रवर्तनीयेष्वमसंख्यातेषु कल्पनया श-  
तमानेषु तांश्विकसमयेषु योःपुन्येन गतेष्वनन्तमायां कल्प-  
नया सहस्रतमानां वेषायां गता भवन्ति । तांश्विकसमया  
लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवरागोः कल्पनया सङ्गप्रमाणाः, एवं चैके-  
करिमेस्तांश्विकसमयेऽनन्तानामोपचारिकसमयानां भावात्स-  
र्वैलोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिरेपि समया अनन्तगुणाः प्रादुर्भवन्ति,  
किं पुनः पुत्रकृत्याः ? इति ।

यदाह-

“ अं जेसल्लोगद्वय-प्पएसपज्जवगएस्स प्रथयस्स ।  
अन्नइ समयकत्त-प्पएसपज्जावपिडेण ॥ १ ॥  
एवइसमएइं गएइं, लोणपज्जवसम्मा समयसंक्का ।  
लम्भइ अणेइं पि य, तणियमेसहिं तावदया ॥ २ ॥  
एवमसंखेऽजेइं, समएइं गणेहिता गयार्हिं ति ।  
समयाओ लोणद्वय-प्पएसपज्जायमेसओ ॥ ३ ॥  
इय सब्बलोगपज्जव-रासीओ चि समया अणंतगुणा ।  
पावंति गणोऽजंता, किं पुण ता पोमगेहितो ? ” ४ ॥

अयस्सु प्रेत्यति-उत्पद्यतेऽपि एणमासमात्रमेव सिद्धिगते-  
रन्तरं भवति. तेन च सत्स्यद्वयः सिद्धयोरपि च जीवेऽपि-  
ऽसंख्यातगुणा एव समया जवन्ति । किं पुनः ? सर्वजीवेऽप्य-  
ऽनन्तगुणा भवियन्तीति इहाऽप्योपचारिकसमयापेक्षया स-  
मानामानन्तगुण्येव वाच्यमिति । अथ समयेऽप्यो द्रव्याणि  
विशेषाधिकानीति कथम् ? । अत्रोच्यते-यस्मात्सर्वे समयाः प्र-  
त्येकं द्रव्याणि, शेषाणि च जीवपुत्रकृतधर्मास्तिकायादीनि ते-  
ष्वेव क्लृप्तानीत्यन-कथंज्ञेयः समयेऽप्यः सकाशात् समस्तद्रव्या-  
णि विशेषाधिकानी भवन्ति, न सख्यातगुणादीनि, समयद-  
व्यापेक्षया जीवादिद्रव्याणामवयवत्वादि ।

वक्तं च-

“ एसो समएइंते, होति विसेमाहिंयाईं दव्याईं ।  
अं भया सब्बे चिय, समया दव्याइं पसेय ॥ १ ॥  
सेसाईं जीवपोमगल-धम्माधम्म वराईं हुदाईं ।  
दव्यट्टयाएं समप-सु तेषु दव्या विसेसाहिंया ॥ २ ॥  
मन्वद्वासमयानां कस्माद्द्रव्यसंभवेऽप्येते ? समयस्कन्धापेक्षया  
प्रदेशांश्वस्यार्थापि तेषां युज्यमानत्वात् । तथाहि—यथा स्कन्धो  
द्रव्यं सिद्धं, स्कन्धापेक्षया अपि यथाप्रदेशाः सिद्धाः, एवं सम-  
यस्कन्धवर्तिनः समया भवन्ति, प्रदेशाश्च द्रव्यं चैति । अत्रोच्यते-  
परमाणुनाम्नोऽप्यसद्व्यपेक्षान्वेन स्कन्धस्य युक्तम्, अइदासम-  
यानां पुनरप्योऽप्यावपित्तिना नास्ति । यतः कालसमयाः प्रत्येक-  
न्ये च कालपरिक्रमस्कन्धजावे च वर्गमानाः प्रत्येककृत्तय एव, त-  
त्स्वभावेत्वात्समासेऽप्यनिरपेक्षाः, अन्योऽप्यनिरपेक्षत्वात्  
न ते वास्तवस्कन्धनिष्पादकाः, तद्वत्त्वं तेषां प्रदेशार्थतेति ।  
उक्तं चात्र आह—“अइदासमयाणं किंपुण दव्यद्वयव निधयेणं ।  
तेसिं पएसत्ता विहु, जुजइ चंथं समासज्ज ॥ १ ॥  
सिद्धं खंथो दव्यं, तद्वचयया चि जहा पएस सत्ति ।  
इय तव्वनी समया, होति पपसा य दव्यं च ॥ २ ॥  
भणणइ परमाणुणं, अणोऽणमेवक्क खंथया सिद्धा ।  
अइदासमयाणं पुण, अणोऽणोपेक्कया नयि च ॥ ३ ॥  
अइदासमया जम्मा, पत्तं पेशेयखंजावे च ।  
पशेयवत्तिणो चिय, ते तेषांअणनिरवेक्का ” ४ ॥

अथ इत्येभ्यः प्रदेशा अनन्तगुणा इति । एतत्कथम् ? इत्यने-  
 श्चासासत्य इत्येभ्यः आकाशप्रदेशानामनन्तगुणात्वात् । ननु कै-  
 प्रदेशानां काशसमयानां च समानेऽप्यनन्तत्वं किं कारणमा-  
 भित्त्वाकाशप्रदेशा अनन्तगुणाः, काशसमयथा कल्पन्तभाग-  
 वतिन इति ? इत्यने-कल्पनाभावात्पर्यवसितायामाकाशप्रदे-  
 शभेषामिकेकप्रदेशेऽनुसारत्विर्न्येगायतधेर्णानां कल्पनेन ता-  
 नुसोऽपि कैकप्रदेशानुसारत्वेणोपस्थापयतायतधेर्णविरचनेन  
 आकाशप्रदेशघने निष्पद्यते, काशसमयभेदेऽपि तु सैव भेदी  
 भवति, न पुनर्धनः, ततः काशसमयाः स्तोका भवन्तीति ।

इदं गथा-

“ एषो सत्यपयसा-ऽणेतगुणा स्वल्पसऽन्तत्वात् ।  
 स-यागसमयतः, जेण जिणंदिह पञ्चत्वं ॥ १ ॥  
 आह समेऽन्तत्वं—मिं खेतकात्ताणं किं पुण निमित्तं ? ।  
 भयिणं खमनतगुणं, काञ्चो-यमनतभागमिं ॥ २ ॥  
 भद्रद नभसेदीप, अणाहायप अपउज्जवसियाप ।  
 निष्कउज्ज खमिं घणो, न उ काले तेण सां धावो ॥ ३ ॥  
 प्रदेशोभ्योऽनन्तगुणाः कथाया इत्येतद्भाववर्त्यं गथा-  
 “ एषो य अनंतगुणा, पउजया जेण नहपपसमिं ।  
 एककमिं भणन्ता, अमुकउज्ज पउजवा भणिया ॥ १ ॥ इति ।  
 म० २४ श० ३ ३० । गतं जीवद्भारम् ।

( १५ ) [ ज्ञानद्वारम् ] ज्ञानिनामल्पवहृत्वम्-

एषमिं एं भंते ! जीवाणं आजिणिबोहियणार्णीणं सुय-  
 णार्णीणं ओहियाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणा-  
 णीण य कपरे कपरेहिंते अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! स-  
 व्वरयोवा मणपज्जवणाणीं, ओहियाणीं अमं०, आजिणि-  
 बोहियणार्णीं सुयणाणीं दोवि तुह्णा विसेसाहिया, केवल-  
 नार्णीं अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवहृत्तानिनः, संयतानमिधामनीपर्याविहृ-  
 त्तिप्राप्तानां मनःपर्यवहृत्तानसंज्ञात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अय-  
 विज्ञानिनः, नैरयिकतियेकपञ्चिन्द्रियमनुष्यद्वन्द्वानामप्यवधिज्ञान-  
 संज्ञात् । तेभ्य आर्त्तिनिबोधिहृत्तानिनः भुतज्ञानिनश्च विशे-  
 षाधिकाः, संकितियेकपञ्चिन्द्रियमनुष्याणामिधावाधिज्ञानविक्राना-  
 मार्षणं कयातिश्रुतिभित्तोधिहृत्तानिनसंज्ञात् । स्वस्थाने तुल्ये  
 ऽपि परस्परं तुल्याः । “ जय्यं मद्भनाथं तथ्यं सुथयन्तं, जय्यं सुय-  
 नाथं तथ्यं मद्भनाथं ” इति वचनात् । तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्त-  
 गुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । उक्तं हि ज्ञानिनामल्पवहृत्वम् ।

इदानीं प्रतिपक्षपूर्वानामहानिनामल्पवहृत्वमाह-

एषमिं एं भंते ! जीवाणं मद्भनाणीणं सुयअक्षाणीणं  
 विजंगनार्णीणं य कपरे कपरेहिंते अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा !  
 सव्वरयोवा जीवा विभंगनाणी, मद्भनाणीं सुयअक्षाणी  
 दोवि तुह्णा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका विभङ्गज्ञानिनः, कतिपयानामेव नैरयिकदेवतियेक-  
 पञ्चेन्द्रियमनुष्याणीं विभङ्गभावात् । तेभ्यो मल्लज्ञानिनः भुताज्ञा-  
 निनोऽनन्तगुणाः, अनस्वतीनामपि मल्लज्ञानिभुताज्ञानभावात् ।  
 स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । “ जय्यं मद्भनाथं तथ्यं सुथय-  
 णाय, जय्यं सुयअणाणं तथ्यं मद्भनाथं ” इति वचनात् ।

१६ ।

संप्रभुभयेयां ज्ञानाज्ञानिनामल्पवहृत्वमाह-

एषमिं एं भंते ! जीवाणं आजिनिबोहियणार्णीणं सु-  
 यणाणीणं ओहियाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणा-  
 णीणं मतिअक्षाणीणं सुयअक्षाणीणं विभंगनाणीणं य-  
 कपरे कपरेहिंते अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वरयोवा  
 जीवा मणपज्जवणाणीं, ओहियाणीं अंसंखिजगुणा,  
 आजिनिबोहियणार्णीं सुयणाणीं य दोवि तुह्णा विसेसाहि-  
 या, विजंगनार्णीं अमसंखजं०, केवलनाणीं अणंतगुणा,  
 मद्भनाणीं सुयअक्षाणी य दोवि तुह्णा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवहृत्तानिनः, संयतानमिधामनीपर्यावृद्धि-  
 प्राप्तानां मनःपर्यवहृत्तानसंज्ञात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अयविज्ञानि-  
 नः, तेभ्य आर्त्तिनिबोधिहृत्तानिनः भुतज्ञानिनश्च विशेषाधि-  
 काः, स्वस्थानं तु ह्यवयि परस्परं तुल्याः । अत्र ज्ञानना प्रागे-  
 धोक्ता । तेभ्योऽसंख्येयगुणा तथ्यं विभङ्गज्ञानिनः, स्वसाक्षुर्गती  
 निरयमती च सत्यवहृत्तित्थो मिथ्यावहृत्तयोऽसंख्येयगुणाः पठ्य-  
 न्त, देयवैरयिकाश्च सत्यवहृत्तयोऽधिधृत्तानिनो मिथ्यावहृत्तयो  
 विजङ्गज्ञानिन इत्यसंख्येयगुणाः, तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्तगु-  
 णाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो मल्लज्ञानिनः भुताज्ञानि-  
 नोऽनन्तगुणाः, अनस्वतिकाधिकारानां सिद्धोऽप्यनन्तत्वात् ;  
 तेषां च मल्लज्ञानिभुताज्ञानिभावात् । स्वस्थाने तु ह्यवयि परस्परं  
 तुल्याः । गते ज्ञानद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पदं । म० ३ । ज० । कर्म० ।

इदानीं चोतिष्कणामल्पवहृत्वमाह-

एतेमिं एं भंते ! चंदिमूर्त्तिअमहत्तवस्वत्तताराकूवाणं  
 कपरे कपरेहिंते अप्पा वा बहुणा वा तुम्हा वा विसे-  
 साहिया वा ? । गोयमा ! चंदिमूर्त्तिआ दूवे तुह्णा मच्च-  
 त्थोवा, एकत्वा सांख्येजगुणा, मद्भा संख्येजगुणा, ता-  
 रारूवा संख्येजगुणा ॥

( एतेमि णमित्थादि ) एतेषामनन्तरं सानां, प्रत्यक्षप्राप्तोच्चाराणां  
 वा, भदन्तं चन्द्रस्य प्रहनक्षत्रताराकूपाणां कतरे कतरेभ्योऽप्येवा  
 स्तोकाः । वाऽत्र विकल्पसमुच्चाराणं कतरे कतरेभ्यो बहुका वा  
 कतरेभ्यस्तुल्या वा, अत्र यमक्तिर्षणामेन तृतीया व्याख्याया ।  
 कतरे कतरेभ्यो विशेषाविति ? गोमते ! चन्द्रस्योपे एते द्वयं ऽपि  
 परस्परं तुल्याः, प्रतिज्ञोपे प्रतिसमुद्रे चन्द्रस्योपां समसंख्या-  
 कत्वात् । शेषेभ्यो प्रदाहित्रेयः सर्वं ऽपि स्तोकाः, तेभ्यो नक्षत्राणि  
 संख्येयगुणानि, अष्टाविंशतिगुणान्यत्वात् । तेभ्योऽपि ताराकूपाणि संख्ये-  
 यगुणाः, साक्षिरं कत्रियुक्तत्वात् । तेभ्योऽपि ताराकूपाणि संख्ये-  
 यगुणानि, प्रज्ञतकोटाकारं विगुणत्वात् इति । ज० ७ व स० । ज्ञानप-  
 र्यायानामल्पवहृत्वम् । ज० ७ श० ३ उ० । “ सव्वरयोवा नाणीं,  
 अणणाणीं अणंतगुणा ” । ज० १ प्रति० । तस्येधावरसोऽनसने-  
 स्थावरानामल्पवहृत्वम्-“ अय्याण्णु सव्वरयोवा तसा, सोतसा  
 सोथावरं अणंतगुणा ” । ज० १ प्रति० । ( निरंथ्यानां पुलाकादी-  
 नामल्पवहृत्वे ‘ जिग्मंथ ’ शब्दे वक्ष्यते )

( १६ ) [ दर्शनद्वारम् ] इशानिनामल्पवहृत्वम्-

एषमिं एं जंते ! जीवाणं चक्षुर्दृष्टेसणीणं अचक्षुर्दृष्टे-  
 णीणं ओहिट्टेसणीणं केवलदृष्टेसणीणं य कपरे कपरेहिं-

तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा । सवत्थोवा जीवा ओ-  
 इन्द्रर्मणा, चरकुन्दर्मणी असंख्यतगुणा, केवलर्मणा  
 अद्यतगुणा, अचकुन्दर्मणा अजयतगुणा ॥

सर्वस्तीका अद्यदिशैनिनः देवनेरधिकारां कतिपयानां च  
 संक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यगमुत्पाणामवधिर्दशानभावात् । तेष्वञ्चकु-  
 द्देशैनिनाऽसंख्येयगुणाः, सर्वान् देवनेरधिकार्येजसमुत्पाणां सं-  
 क्षिपिष्यञ्चेन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च असंक्षिपिष्यञ्चे-  
 ष्टिन्द्रियाणां चपुद्गैरीनभावात् । तेष्वः केवलदर्शनिनाऽनन्तगुणाः,  
 सिद्धानामन्तत्वात् । तेष्वञ्चकुन्दैरीनिनाऽनन्तगुणाः, वनस्प-  
 तिकाधिकारान् सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । गतं दर्शनद्वारम् । प्रहा०  
 ३ पदं । कर्म० । अ।० ।

( १७ ) [दिग्भारम्] दिग्गुणातेन जीवानामल्पबहुत्वम्—

दिग्गुणावाएणं सन्वत्थोवा जीवा पञ्चच्छ्रेण्ये, पुत्रच्छि-  
 मेणं विसेसाहिया, दाहिण्येणं विसेमाहिया, उत्तरंणं विसे-  
 साहिया ।

इह दिशः प्रथमे आचारस्थेऽङ्के अनेकप्रकारा व्यावर्णिताः,  
 नन्वेह क्षेत्रादिशः प्रतिपसध्याः, नासां नियतत्वात् । इतर्गमां च  
 प्रायां ननवन्धितत्वाद्गुणयोगित्वाच्च, क्षेत्रादिशां च प्रभवन्तिर्य-  
 श्लोकमध्यगतादृष्टप्रदेशकाद् रुचकारः । यन उक्तम्—“अहुपसपो  
 कियमां, तिरियल्लेयस्य दम्भियागरिमि । एस पमयो विसारां,  
 पसेव भवे अणुविसारां ” ॥ १ ॥ इति दिशामनुमानो दिग्गुणस-  
 रणं, तना दिशोऽपिहृदयैते तात्पर्यार्थेः । सर्वस्तीका ज्ञायाः  
 पश्चिमने पश्चिमायां दिशि । कथामिति चेत् ?, उच्यते—इद्ं ह्यव्य-  
 पञ्चत्वे आदराभिहित्वत्त्वं उच्यते, न सुद्वाराणां, सर्वश्लोकपञ्चानां  
 प्रायः सर्वत्राऽपि समयात् । आदरेखपि मध्ये सर्वेवहथो वन-  
 स्पतिकारिकाः, अजन्तसंख्यायात् तेषां प्राप्यमागतत्वात् । ततो  
 यत्र ते बहवः तत्र बहुत्वं जीवानां, यत्र त्वत्ते तत्राप्यस्य । वन-  
 स्पत्यस्य तत्र बहवो यत्र प्रच्युता आपः—“ज्यथ जज्ञं तथ वष”  
 इति वचनात् । तत्रावश्यं पनकरीवासादीनां भावात् । ते च  
 पनकरीवासाद्दो आदरनामकमोदये वनेमाना अपि अत्य-  
 तसुदुर्भावादाननवाद्यतिप्रभूतपिपयीभावाच्च सर्वत्र सन्तोऽपि  
 न चक्षुषा प्राहाः । तथा चोक्तमनुयोगाद्गोर्बु—“ तेषं बाल-  
 गा सुदुर्भयगजोवस्स सरीराणाणांदितो अयंसखजगुणा ”  
 इति । ततो यथापि भेदे दृश्यन्ते तत्रापि ते सन्तीति प्रतिप-  
 क्षय्याः प्राह च भूमट्टीकाराः—इह सर्वथायां वनस्प-  
 तय इतिकृत्या यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानां, तेषां च बहु-  
 त्वम् “ज्यथ आउओतो तथ नियमा वणससदकाया ” इति ।  
 “पणवसवत्सददोई बायग वि दीति, सुदुम्मा अणुगित्थो न-  
 चकखणा ” इति । उदकं च प्रचृतं समुद्रेषु पद्भिर्गुणवि-  
 ष्कम्भात् । तेषांपि च समुद्रेषु प्रत्येकं प्राचीं प्रतीचींदिशोयथा-  
 कर्म चन्द्रस्यैर्द्वीपाः, यावति च प्रदेशे चन्द्रस्यैर्द्वीपा अवगाढा-  
 स्तास्त्युदकाभावाः, उदकाभावाच्च वनस्पतिकारिकाभावाः, के-  
 वलं प्रतीच्यां दिशि लवणसमुद्राधिपस्फुल्लनामद्वेषावाचभूतो  
 गीतमद्द्वीपो लवणसमुद्राधिपकः कथंते, तत्र च उदकाभा-  
 वाद्वनस्पतिकारिकायकानामभावात् । सर्वस्तीका जीवाः पश्चिमायां  
 दिशि, तेषां विशेषारिकाः पूर्वस्थां दिशि, तत्र हि गीतमद्द्वीपो न  
 विद्यते, ततस्तत्वात् विशेषारिका अभवन्त्यातिरिच्यन्ते, ते  
 ष्योऽपि दक्षिणस्थां दिशि विशेषारिकाः, यत्तस्त्र चन्द्रस्यैर्द्वीपा

न विद्यन्ते, नद्भावात्तत्रोदकं प्रचृतं, तस्मात्प्रत्याच्च वनस्पतिका-  
 यिका अपि प्रच्युता इति विशेषारिकाः, तेषां प्रच्युतीक्यां दिशि  
 विशेषारिकाः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते—चदीच्यां ( इ  
 दिशि सख्येययोजनेषु द्वीपेषु मध्ये कश्चिद्विभेद् द्वीपे प्रायामवि-  
 ष्कम्भायां सर्वेयथयोजनकोटाकांतिप्रमाण आनसं नम सः स-  
 मन्वितः, ततो दक्षिणदिगेषुलया अस्यां प्रचृतमुदकम्, उदककाङ्-  
 ल्याच्च प्रच्युता वनस्पतयः, प्रच्युता द्वीन्द्रियाः साहाय्यः, प्रच्युता-  
 स्तत्प्रमद्गाहादिकलेखारभिताः शीतिश्याः ( पयोप्लिकादिश्याः, प्र-  
 च्युताः पञ्चादिषु चतुरिन्द्रिया प्रमदराद्यः, प्रच्युताः पञ्चेन्द्रिया  
 मत्स्यादयः, इति विशेषारिकाः ॥

इदानीं विशेषेण तदाह—

दिमाणुवाएणं सन्वत्थोवा पुढाविकाइया दाहिणेणं, उत्त-  
 रंणं विसेसाहिया, पुरिच्छिमेणं विसेसाहिया, पञ्चच्छिमेणं  
 विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं सन्वत्थोवा आउकाइया पञ्-  
 च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहि-  
 या, उत्तरंणं विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं सन्वत्थोवा तेउ-  
 काइया दाहिणुत्तरंणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पञ्चच्छिमेणं  
 विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं सन्वत्थोवा वाउकाइया पुर-  
 च्छिमेणं, पञ्चच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहि-  
 या, उत्तरंणं विसेसाहिया ॥

दिग्गुणातेन दिग्गुणसारेण, दिशोऽधिकृत्येण प्रच्युतः । पृथिवी-  
 कारिकाभिन्नमनाः सर्वस्तीकाः दक्षिणस्थां दिशि । कथमिति  
 चेत् ?, उच्यते—इह यत्र घने तत्र बहवः पृथिवीकारिकाः,  
 यत्र सुषिरं तत्र स्तीकाः दक्षिणस्थां दिशि बहूनि यवनपत्नीनां भ-  
 वनानि, बहवो नरकायास्तनतः सुषिरप्राप्त्यसंभवात्, सर्वे-  
 स्तीका दक्षिणस्थां दिशि पृथिवीकारिकाः । तत्र च उत्तरस्थां दि-  
 शि विशेषारिकाः, यत्र उत्तरस्थां दिशि दक्षिणदिगेषुलया  
 स्तीकानि जयनानि, स्तीका नरकायास्तनतो घनप्राचुर्यस-  
 भवाद् बहवः पृथिवीकारिका इति विशेषारिकाः । तेष्वोऽपि  
 पूर्वस्थां दिशि विशेषारिकाः, रश्मिशिष्टीपानां तत्र भावात् ।  
 तेष्वोऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषारिकाः । किं कारणमिति चेत् ?,  
 उच्यते—यावन्तं रश्मिशिष्टीपाः पूर्वस्थां दिशि तावन्तः पश्चि-  
 मायामिति, तत्र एव तावत् साक्ष्यम् । परं ह्यवसुसमुदके गीत-  
 मनामा द्वीपः पश्चिमायामधिकोऽस्ति, तेन विशेषारिकाः । अत्र  
 परं आह—तनु यथा पश्चिमायां दिशि गीतमद्द्वीपोऽध्यधिकः  
 समस्ति, तथा तस्यां पश्चिमायां दिशि अयोर्बालीककामया अपि  
 योजनसदृशवाग्राहाः स्तितः, ततः स्वातपुरितन्त्याने तस्युस्या  
 एव पृथिवीकारिकाः प्राच्युवन्ति, न विशेषारिकाः । नैतदेवम् ।  
 यनाऽधालीककामयावाग्राहो योजनसदृशं, गीतमद्द्वीपस्य पुनः  
 पदसत्यधिकं योजनसदृशमुत्सवं, निष्कम्पस्तस्य द्वादशां-  
 योजनसदृशवाग्राहः, यथा शरीरारच्यधालीककामयाऽधालीक-  
 हीनत्वं हीनतरत्वं तस्युत्सवामपि दिशि प्रभूतगतादिसंभवत्वात्  
 समाहम् । ततो यथाधालीककामयाऽधिकं बुद्ध्या गीतमद्द्वीपः  
 प्रतिपद्यते, तथापि समधिक एव प्राप्यते, न तुल्य इति । तेन स-  
 मधिकेन विशेषारिकाः पश्चिमायां दिशि पृथिवीकारिकाः । उक्तं  
 दिग्गुणातेन पृथिवीकारिकानामल्पबहुत्वम् । इदानीमप्यधिकारि-  
 कानामल्पबहुत्वमाह—दिमाणुवाएणं सन्वत्थोवा आउकाइया

हस्यादि) सर्वस्तोका अप्कायिकाः पश्चिमायां दिशि, गौ-  
तमश्रीपश्चान् तेषामभावात् । तेभ्योऽपि विशेषाधिकाः  
पूर्वस्थां दिशि, तेभ्योऽपि विशेषाधिका दक्षिणस्थां दिशि,  
चन्द्रसूर्यश्रीपालायात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्थां दिशि विदेशाधिकाः,  
मानसरःसद्भावात् । तेजस्कायिकानामल्पबहुत्वम्—( दिसा-  
ष्टुवाएणं सव्वरयोथा वेडकाइया इत्यादि) तथा दक्षिणस्यामुत्तर-  
स्थां च दिशि सर्वस्तोकाः तेजस्कायिकाः, यतो मनुष्यक्लेशे  
एव बाद्गगत्तेजस्कायिका नाम्प्रश्नः तथापि यत्र बहवो मनुष्याः  
तत्र ते बहवो बाहुल्येन पाकारम्मसम्भवात्, यत्र त्वल्पे तत्र  
स्तोकाः । तत्र दक्षिणस्थां दिशि पञ्चसु उत्तरस्थां, उत्तरस्थां दिशि  
पञ्चसवैरावतेषु क्लेशस्यास्फवात् स्तोका मनुष्याः । तेषां स्तो-  
कत्वेन तेजस्कायिका अपि स्तोकाः; अल्पपाकारम्मसम्भवात् ।  
तत्रः सर्वस्तोका दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः तेजस्कायिकाः; संधाने  
तु प्रायः समाः । तेभ्यः पूर्वस्थां दिशि सव्वरयुग्माः, क्लेशस्य  
संश्लेषयुगलत्वात् । ततोऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः,  
अधोऽधोऽधोऽधो मनुष्यबाहुल्यत्वात् । इदानीं यापुकायिकाना-  
मल्पबहुत्वम्—( दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा वाडकाइया पुर-  
च्छिमेणमित्यादि ) । इह यत्र श्रुतिर् तत्र वायुर्ग्रह च धनं तत्र  
चात्यभायः । तत्र पूर्वस्थां दिशि प्रजृप्तं धनमित्येव वायवः,  
पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोऽधोऽधोऽधो मनुष्यबाहु-  
ल्यत्वात् । ततोऽपि दक्षिणस्थां दिशि विशेषाधिकाः, उत्तर-  
दिगयुक्त्वा दक्षिणस्थां दिशि भवनानां नरकावासानां चाति-  
प्रजृप्तत्वात् ।

तथा यत्र प्रभूता आपस्त्र प्रभूताः पनकाद्योऽनन्तकायि-  
का यनस्त्रयाः, प्रभूताः शङ्खाद्योऽङ्गिप्रियाः, प्रभूताः पिषदि-  
भूतशेखलायाः प्रायः कुन्ध्याद्यः शोऽङ्गियाः, प्रभूताः पद्-  
मायाभिता जमराद्यश्चतुरिन्द्रिया इति ।

इदानीं वनस्पत्यादीनामल्पबहुत्वम्—

दिसाष्टुवाएणं मव्वरयोथा वणस्सकाइया पचच्छिमेणं,  
पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरे-  
णं विसेसाहिया । दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा वेडंदिद्या पच-  
च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,  
उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा वेडंदिद्या  
पचच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसा-  
हिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । एवं चउरिंदिया वि ॥

यनस्पत्यादिसृष्टानि चतुरिन्द्रियसर्वव्यन्तानि अप्कायिक-  
स्त्रवज्जावनीयानि ।

नैरयिकाणामल्पबहुत्वम्—

दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा वेरइया पुरच्छिमपचच्छिमेणं, उ-  
त्तरदाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा  
रयणुपजा पुडविनेरइया पुरच्छिमपचच्छिमेणं, उत्तरेणं  
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा सकर-  
पजा पुडविनेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं अ-  
संखेज्जगुणा । दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा वेरइया बाहुणपजा

पुडविपुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।  
दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा पंफपजा पुडविनेरइया पुरच्छिम-  
पचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाष्टुवाएणं  
सव्वरयोथा धूमपजा पुडविनेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं,  
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा तमपजा  
पुडविनेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखे-  
ज्जगुणा । दिसाष्टुवाएणं सव्वरयोथा अहेसत्तमा पुडविने-  
रइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

नैरयिकस्य सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्गिवाविनो नैर-  
यिकाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां वासाहयत्वात्, बहूनां प्रायः  
संश्लेषयुग्माः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां तत्र बाहुल्यम्, तेषां  
च प्रायोऽसंश्लेषयुग्मविसमुत्तत्वात्, कृष्णपाक्षिकाणां तस्यां  
दिशि प्राच्यैशोपादात्काः तथाहि—द्विविधा जन्तवः, शुक्रपा-  
क्षिकाः, कृष्णपाक्षिकाः । तेषां लक्षणमिदम्—किञ्चिदुत्तुल्लप-  
रायनोऽस्मात्संसारस्ते शुक्रपाक्षिकाः, अधिकतरसंसारजाजि-  
नस्तुकृष्णपाक्षिकाः उक्तञ्च—जेसिमवूडो पुमाल-परियटो सेस-  
ओ य संसारो । ते सुकृष्णिकायाः खलु, अर्थादि पुण करहपक्खी-  
ओ ॥ १ ॥ अथ एव स्तोकाः शुक्रपाक्षिकाः, अल्पसंसरि-  
णां स्तोकास्ताः । अथः कृष्णपाक्षिकाः, प्रजृप्तसंसरिणांमिप्र-  
चुरत्वात् । कृष्णपाक्षिकाश्च प्राच्यैशु दक्षिणस्थां दिशि समुत्प-  
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभावात् । तच्च तथास्वाभावं  
पूर्वोच्चार्यैशु किञ्चित्प्रपञ्चते । तथाधा—कृष्णपाक्षिका द्वांघतरसं-  
सारजाजिन उच्यन्ते । द्वांघतरसंसारजाजिनश्च बहुपापोद्या-  
ज्जयन्ति, बहुपापोद्याश्च क्रूरकर्मणः; क्रूरकर्मणश्च प्रायस्तथा-  
स्वान्नायात् । तत्रचसिद्धिका अपि दक्षिणस्थां दिशि समुत्प-  
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु । यन उक्तम्—“पायमिह क्रूरकम्मा, भवसि-  
द्धिया वि दाहिणहँसु । नेरइयतिरियमशुया, सुराइडाणसु  
गच्छंति ॥” ॥ ततो दक्षिणस्थां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिका-  
णामुत्पादसंभवात्, पूर्वोत्तराण्यथा च सम्भवन्ति पूर्वोत्तरप-  
श्चिमदिग्भाविभ्यो दाहिणान्या असंश्लेषयुग्माः । यथा च सा-  
मान्यतो नैरयिकाणां दिग्भिजागेनाल्पबहुत्वमुक्तम् प्रति-  
पृथिव्यपि वक्तव्यम्, युक्तः सर्वत्रापि समानयात् । तद्वं प्रति-  
पृथिव्यपि दिग्भिजागेनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं सप्तपि पृथिवीरधिष्ठत्य दिग्भिजागेनाल्पबहुत्वमाह—  
दाहिणेहितो अहेसत्तमा पुडविनेरइएहितो छ्दंए त-  
माए पुडवीए नेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं असंखे-  
ज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणहँदहितो तमा-  
पुडविनेरइएहितो पंचमा धूमपजाए पुडवीए नेरइया पुर-  
च्छिमपचच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असं-  
खेज्जगुणा । दाहिणहँदहितो धूमपजा पुडविनेरइहितो  
चउरिये पंफपजाए पुडवीए वेरइया पुरच्छिमपचच्छिम-  
उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।  
दाहिणहँदहितो पंफपजापुडवीवेरइएहितो तइयाए वा-  
लुणपजाए पुडविनेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं अ-

अप्यामहृत्य (ग)

संस्वेज्जगुणा, दाहिण्येणं असंस्वेज्जगुणा । दाहिण्येणं हितो बाह्यपपनापुदाविणेरदृष्टिंता बंध्याए रुक्करपजाए पु- हवीए खरदया पुरच्छिमपषाच्छिमउत्तरंणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिण्येणं असंस्वेज्जगुणा । दाहिण्येणं हितो रुक्करपभा पुदाविणेरदृष्टिंता इमी से रणपपजाए पुदवीए खरदया पुरच्छिमपषाच्छिमउत्तरंणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिण्येणं असंस्वेज्जगुणा ।

सप्तमपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिश्विभाविभ्यो ऋषिदिक्षयो ये मसमपृथिव्यामेव दक्षिणात्यान्तेऽसंस्वेयगुणाः। तेभ्यः पष्ठपृथिव्यां तमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिश्विभाविभ्योऽसंस्वेयगुणाः । कथमिति वेत् ? उच्यते-तेह सर्वोत्कृष्टपापकारिणः संक्षिप्तवेदिपतिथं कमनुष्याः, सप्तमनरकपृथिव्यामपारितः । किञ्चिदीनहीनतपपापकर्मकारिणश्च पष्ठपादिपृथिव्यां तु सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वेस्तेकाः बहवश्च यथोत्तरं किञ्चिदीनतरादिपापकर्मकारिणः, ततो युक्तमसंस्वेयगुणत्वं सप्तमपृथिव्यां। दक्षिणात्यान्तरापेक्षया पष्ठपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकाणां । एवमुत्तरोत्तरपृथिव्योऽप्यधिकृत्य भावयितव्यम् । तेभ्योऽपि तस्यामेव पष्ठपृथिव्यां दक्षिण्येणं दिशि नारका असंस्वेयगुणाः। युक्तिश्च प्राग्वोक्तः। तेभ्योऽपि पष्ठमपृथिव्यां प्रथमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिश्विभाविभ्योऽसंस्वेयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव पष्ठमपृथिव्यां दक्षिणात्या असंस्वेयगुणाः। एवं सर्वोत्थोपि क्रमेण वाच्यम् ।

पश्चिमदिश्विभाविभ्योऽसंस्वेयगुणाः—

दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा पंचिदियतिरिक्खमार्गेणया प- षाच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विमेसाहिद्या, दाहिणेणं विसेमा- हिद्या, उत्तरेणं विसेमाहिद्या ।

इदं च तित्थेकपञ्चिन्द्रियसुखमपकायसुखम् ।

मनुष्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा मणुस्सा दाहिणउत्तरंणं, पु- रच्छिमेणं संस्वेज्जगुणा, पषाच्छिमेणं विसेसाहिद्या । सर्वेस्तेका मनुष्या दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च, पञ्चानां नरनक्ष- त्राणां पञ्चानिमेगनक्षत्राणामव्यवहृत्यात् । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि संस्वेयगुणाः, क्षेत्रश्च संस्वेयगुणावात् । तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषपाषिकाः, स्वभावात् एवाधोलीकिकप्रामेपु मनुष्य- बाहुद्वयभावात् ।

अवनवासिनामल्पबहुत्वमाह—

दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा जवणवासी देवा पुरच्छिम- पषाच्छिमेणं, उत्तरेणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिणेणं असंस्वे- ज्जगुणा ॥

सर्वेस्तेका जवनवासिने देवाः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि तत्र अवननामल्पबहुत्वम् । तेभ्य उत्तरदिश्विभाविभ्योऽसंस्वेयगुणाः, स्वस्थानमया तत्र अवननां बाहुद्वयम् । तेभ्योऽपि दक्षिणदिश्वि- भाविभ्योऽसंस्वेयगुणास्तत्र अवननामतीव बाहुद्वयम् । तथाहि- निजोऽसंस्वेयगुणास्तत्र अवननामतीव बाहुद्वयम् । तथाहि- निजोऽसंस्वेयगुणास्तत्र अवननामतीव बाहुद्वयम् । तथाहि- निजोऽसंस्वेयगुणास्तत्र अवननामतीव बाहुद्वयम् ।

अवनवासिनामल्पबहुत्वमाह—

दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा वापमंतरा देवा पुरच्छिमंणं, पषाच्छिमंणं विसेसाहिद्या, उत्तरेणं विसेमाहिद्या, दाहिणेणं विसेसाहिद्या ।

अवनरसुखे ज्ञानवा-यत्र शुचिरे तत्र व्यनराः प्रचरन्ति, यत्र घन तत्र ना ततः पूर्वस्यां दिशि अवनत्वात् स्तेका व्यनराः। ते- ज्योऽपरस्यां दिशि विशेषपाषिकाः, अधोऽनौकिकप्रामेषु शुचिर- सन्नयात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषपाषिकाः, स्वस्था- नमया नगरावात्मबाहुद्वयात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि वि- शेषपाषिकाः, अग्निप्रभूतनगरावात्मबाहुद्वयात् ।

ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा जोऽभिया देवा पुरच्छिमपषा- च्छिमंणं, दाहिणेणं विसेमाहिद्या, उत्तरेणं विसेसाहिद्या ॥ तथा सर्वेस्तेका ज्योतिष्काः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि वन्द्यादित्यर्षीपुत्राणकल्पेषु कृतिपयामामेव तथा भावात् । ते- ज्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषपाषिकाः, विमानबाहुद्वयात्, कृ- ष्णपाषिकाणां दक्षिणदिश्विभाविभावात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषपाषिकाः, यतो मानसे सरसि बहवो ज्योतिष्काः क्रोधा- स्थानमिति क्रोडनव्यापुना नित्यमास्तने । मानसमरसि च ये म- स्त्याद्यां जलवहस्तने आसन्नाविमानदर्शननेः समुत्पन्नजातिकार- णम् किञ्चिद्भ्रमं प्रतिपत्वाऽनगमादि च कृत्वा कृतान्तद्वानास्तनो- त्पद्यन्ते । ततो जवन्योत्तराहा दक्षिणात्यामेव विशेषपाषिकाः ।

धैर्यानिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा देवा साहर्मम कल्पे पुरच्छिम- पषाच्छिमंणं, उत्तरेणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसा- हिद्या । दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा देवा ईसाणे कल्पे पु- रच्छिमपषाच्छिमंणं, उत्तरेणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिद्या । दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा देवा सणकुमारं कल्पे पुरच्छिमपषाच्छिमंणं, उत्तरेणं असंस्वेज्जगुणा, दाहि- णेणं विसेसाहिद्या । दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा देवा माहिदे कल्पे पुरच्छिमंणं पषाच्छिमंणं, उत्तरेणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिद्या । दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा बंज- लीए कल्पे देवा पुरच्छिमपषाच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं अ- संस्वेज्जगुणा । दिसापुवाएणं क्षेत्रे कल्पे देवा पुरच्छिमप- षाच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंस्वेज्जगुणा । दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा देवा महामुके कल्पे पुरच्छिमपषाच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंस्वेज्जगुणा । दिसापुवाएणं सवन्त्थोवा देवा सहस्मारे कल्पे पुरच्छिमपषाच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंस्वेज्जगुणा । तेषु च बहुमोक्षवक्त्रणा समपाउओ ।

तथा सौभमे कल्पे सर्वेस्तेकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि धैर्यानिष्का देवाः, यतो धैर्यावर्तिकाःप्रविष्टानि विमानानि तानि चतसृष्ठापि दिक्षु तुल्यानि, तानि पुनः पुष्पावर्तानि तानि प्रभूतानि असंस्वेयगुणास्तत्राविस्तृतानि, तानि च दक्षिणस्यामुत्त- रस्यां दिशि, नाच्यत, ततः सर्वेस्तेकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि । तेभ्य उत्तरस्यां दिशि असंस्वेयगुणाः, पुष्पावर्तिकाश्च-

मानानां बाहृदयात्संख्येयोजनविस्तृतत्वाच्च । तेष्व्याधिपि द-  
क्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, दृष्यपाक्षिकाणां प्राञ्चयेण तत्र  
गमनात् । एषमीशानसप्तकुमारमहिन्द्रकल्पसुत्रादपि भाष-  
याभ्याम् । अहलोककल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्नावि-  
मो देवाः, यनां बहवः कृष्णपाक्षिकास्तिर्यग्नामयो दक्षिणस्यां  
दिशि ससुपचन्ते । शुक्रपाक्षिकाः पुनः पूर्वोत्तरपश्चिमासु,  
शुक्रपाक्षिकाश्च स्तोका इति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनः सर्व-  
स्तोकाः । तेषां दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, कृष्णया-  
क्षिकाणां बहूनां तत्रोपादात् । एवं सातकशुक्रसहस्रारसुवा-  
स्यपि ज्ञावनीधामि । आनतादियु पुनर्मनुष्या एषोत्पद्यन्ते, तेन  
प्रतिकल्पे प्रतिप्रैष्यकं प्रत्यनुत्तरदिमानं चतसृषु दिक्षु  
प्रायो बहुसमा वेदितव्याः । तथा वा०५५६—“तद्य परं बहु-  
समावधमग्रा समणाउसो” इति ॥

इदानीं लिखानामल्पबहृत्वमह-

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सिक्का दाहिणउत्तरेणं, पुर-  
चिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चाचिमेणं विसेमाहिद्या ॥

सर्वस्तोकाः सिद्धाः दक्षिणस्यामुत्तरस्थां च दिशि । कथमि-  
ति चेत् ? उच्यते—इह मनुष्या एव सिद्धान्ति नाम्ने, मनुष्या  
अपि सिद्धान्तो येषांकाशप्रदेशोत्सिद्धं चरमसमये अचगादास्त-  
ष्वेवाकाशप्रदेशेषुर्ध्वमपि गच्छन्ति, तेष्वेव सोपयैर्धान्ते । न  
मनापि चकं गच्छन्ति, सिद्धान्ति च, तत्र दक्षिणस्यां दिशि  
पञ्चसु भरतेषुत्तरस्थां दिशि पञ्चसैरावर्तेषु मनुष्या अल्पाः,  
अल्पमत्पत्न्यात् । सुवमसुव्याह्वित्वा च सिद्धेराभावात् ।  
तरुहरासुखाः सर्वस्तोकाः, तेष्वः पूर्वस्थां दिशि संख्येयगुणाः,  
पूर्वादिदेशानां जगत्परावन्नेत्र्यः संख्येयगुणतया तद्गतमनु-  
ष्याणामपि संख्येयगुणत्वात्, तेषां च सर्वैकान्तिं सिद्धिजायात् ।  
तेष्वः पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अप्रयोक्षिकामप्युमनु-  
ष्यवाहृद्व्यात् । प्रज्ञा ० ३ पद ।

जय्येद्ववादीनाम—

एपमि णं भंते ! जवियदव्वेदेवाणं णरदेवाणं जाव जाव-  
द्वेवाणं य कयरे कयरेहिंते ० जाव विसेमाहिद्या वा ? गोयमा !  
सव्वत्थोवा णरदेवा, देवाहिदेवा संखेज्जगुणा, धम्मदेवा  
संखेज्जगुणा, जवियदव्वेदेवा असंखेज्जगुणा, भावदेवा  
असंखेज्जगुणा ॥

भरतेरवतेषु प्रत्येकं ह्यद्वैतानामेव तेषामुत्पत्तेर्विजयेषु च धातु-  
द्वेषसम्भवात्, सर्वेष्वेकाऽनुत्पत्तेरिति । ( देवाहिदेवा संखेज्ज-  
गुणं चि ) भरतादियु प्रत्येकं तेषां चकवार्तिष्ये द्विगुणतयोत्पत्ते-  
र्विजयेषु च धातुद्वेषोपेतेष्वुत्पत्तेरिति । ( धम्मदेवा संखेज्जगुण-  
सि ) साधुनामेकदापि कौटिसहस्रपृथक्त्वसज्जावाविति । ( भ-  
वियदव्वेदेवा असंखेज्जगुणं चि ) देशवित्तादीनां द्वेषगतिमा-  
मिनामसंख्यातव्यात् । ( भावदेवा असंखेज्जगुणं चि ) स्वकपे-  
ष्वेव तेषामतिबहुव्यादिति ।

अथ ज्ञावदेवविशेषाणां भवनत्वादीनामल्पबहृत्वप्रकृपणायाह-  
एपमि णं जंतं ! जावदेवाणं जवणवासिणं वाएणंमताएणं  
जोहसियाणं वेमाथियाणं सोहम्ममाणं, जाव अच्युयणाणं  
मेवेज्जाणं अणुत्तरोववाहाएणं य कयरे कयरेहिंते ० जाव  
विसेमाहिद्या वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाहायां जा-

वदेवा, उवरीमगेवेज्जा भावेदेवा संखेज्जगुणा, माज्जेमगेवे-  
ज्जा संखेज्जगुणा, हेहिंमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, अच्युय-  
कपे देवा संखेज्जगुणा, जाव अणुत्तकपे भावदेवा । एवं महा  
जीवाभिगमे तिविह देवपुरित्त्वाप्यावहृयं ० जाव जोहसिया  
जावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

( जहा जीवाभिगमे तिविहे इत्यादि ) इह च “तिविहे चि” त्रि-  
विधजीवाधिकार इत्यर्थः । देवपुरुषाणामल्पबहृत्वमुक्तं तथेहापि  
शाक्यम् । म० १२ श० ६ उ० । ( तत्र २८ अधिकारे वेवुहारे बहव-  
ते ) ( निगोद्वियकं ‘निगोद’ शब्दे दर्शयिष्यते ) ( कायादिपरि-  
वारकाणामल्पबहृत्वं ‘परिचारणा’ शब्दे निकपयिष्यते )  
( १० ) [ परीतज्जाए ] परीतापरीतनोपरीतानामल्पबहृत्वम्—  
एपमि णं जंतं ! जीवाणं परिचाणं अपरिचाणं नोप-  
रिचाणं नोअपरिचाणं य कयरे कयरेहिंते ० कृप्पा वा ० ध  
? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा परिचा, नोपरिचा नो-  
अपरिचा अणंतगुणा, अपरिचा अणंतगुणा ।

इह परीता द्विविधाः—मयपरीताः, कायपरीताश्च । तत्र मय-  
परीता येषां किञ्चिदुपायार्थं पुद्गलपरवावैतानसंसारः ; कायप-  
रिताः प्रत्येकशरीरिणः, तत्र उज्यर्था परीताः सर्वस्तोकाः,  
शुक्रपाक्षिकाणां प्रत्येकशरीरिणां च शेषजीवापेक्षयाऽतिरिक्तो-  
क्तव्यात् । तत्र नोपरीता नोअपरीता अनन्तगुणाः, उभयप्रति-  
षेधशुचाश्च सिद्धाः, ते चानन्ता इति । तेष्वऽपरीता अनन्तगुणाः,  
कृष्णपाक्षिकाणां साधारणजनस्वपतीनां वा सिद्धेभ्योऽप्यनन्त-  
गुणत्वात् । गतं परीतद्वारम् ।

( ११ ) [ पर्याप्तद्वारम् ] पर्याप्तपर्याप्तनोपर्याप्तानाम-  
ल्पबहृत्वम्—

एपमि णं जंतं जीवाणं पज्जाणं अपज्जाणं नोपज्ज-  
त्ताणं नोअपज्जाणं य कयरे कयरेहिंते ० अणं वा ० ध ?  
गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा नोपज्जाणं नोअपज्जाणं,  
अपज्जाणं अणंतगुणा, पज्जाणं संखेज्जगुणा ।  
सर्वस्तोका नोपर्याप्तका नोअपर्याप्तकाः, उभयप्रतिषेधवर्तिनां  
हि सिद्धाः, ते चापर्याप्तकादिभ्यः सर्वस्तोका इति । तेष्वऽ-  
पर्याप्तका अनन्तगुणाः, साधारणजनस्वपतिताकधिकानां सिद्धे-  
ज्याऽनन्तगुणानां सर्वैकालमपर्याप्तत्वेन ब्रह्मत्वान्वात् । तेष्वः  
पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इह सर्वैकद्वयो जीवाः सुहमाः, सुहमाश्च  
सर्वैकालमपर्याप्तित्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इति संख्येयगुणा  
उक्ताः । गतं पर्याप्तद्वारम् । प्रज्ञा ० ३ पद ।

( २० ) [ पुद्गलद्वारम् ] पुद्गलानां केषुत्तुपात्तादि-

भिरल्पबहृत्वम्—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गसा तेषुके, उह्ज्जोपातिरि-  
यलोए अणंतगुणा, अह्ज्जोयतिरियलोए विसेमाहिद्या,  
तिरियलोए असंखेज्जगुणा, उह्ज्जोए असंखेज्जगुणा, अह्ज्जो-  
लोए विसेमाहिद्या ॥

इदमल्पबहृत्वं पुद्गलानां कृष्णार्थवमज्ञीकृत्य व्याख्येयम्, तथा-  
सम्प्रदायात् । तत्र केन्द्रानुपातेन केन्द्रानुसारेण चिन्त्यमानाः पु-  
द्गलाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः सर्वस्तोकाः, सर्वस्तोकाश्च  
त्रैलोक्यव्यापीनि त पुद्गलद्रव्याणांति भावः । यस्मिन्महाहृत्वं  
पञ्चा एव त्रैलोक्यस्यापिपत्तं चाल्पा इति । तस्य ऊर्ध्वलोकति-



पश्लोके अन्नमन्तगुणाः, यत्सहितं यज्ञोक्तस्य यत्स्यवापरितममेकप्र-  
दक्षिकं प्रतरं यत्स्यार्थं यज्ञोक्तस्य सर्वोपशस्तममेकप्रदक्षिकं प्रतर-  
मेने दे अग्नि प्रतरं ऊर्ध्वशोक्तविश्लोक उच्यते । ते आऽऽन्ताः  
संक्षेपप्रदक्षिकाः, अन्नमन्ता असंक्षेपप्रदक्षिकाः, अन्नमन्ता अन्नमन्त-  
प्रदक्षिकाः, स्वस्थाः स्वगुणानांति द्वन्द्वमात्राः । अन्नमन्तगुणाः । ते-  
भ्योऽशोक्तोक्तविश्लोकं प्रागुक्तप्रकारेण प्रतरद्वयकेषु विशेषाधि-  
काः, क्षेत्रस्य आवासाविश्वकामार्ज्यां सम षु विशेषाधिकार्याः ।  
तेभ्यस्तिस्र्यशोक्तं असंक्षेपगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंक्षेपगुणत्वात् ।  
तेभ्य ऊर्ध्वशोक्तं असंक्षेपगुणाः, यत्सित्यशोक्तं क्रियाद्वयश्लोक-  
केषु असंक्षेपगुणमिति । तेभ्योऽशोक्तं विशेषाधिकाः, ऊर्ध्व-  
शोक्तप्रदक्षिकोक्तस्य विशेषाधिकार्यात् । देशेणसत्तरजप्र-  
माणां ह्यर्ध्वश्लोकः, समधिकसत्तरजप्रमाणां स्वश्लोकाः ।

संमति दिगनुपातेनादपवहृत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्स्वथोवा वागग्ना उद्दिसाए, अशोदि-  
साए विसेसाहिद्या, उत्तरपुरुच्छिमेणं दाहिणपृक्वच्छिमेण  
य दांवि तुश्र्वा असंखेजगुणां, दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तर-  
पृक्वच्छिमेणं य दांवि तुश्र्वा विसेसाहिद्या, पुरुच्छिमेणं अ-  
संखेजगुणा, पृक्वच्छिमेणं विमंसाहिद्या, दाहिणेण विमं-  
साहिद्या, उत्तरं विसेसाहिद्या ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण विन्मयमानाः ऋत्राः सर्वस्त्वोक्ता  
ऊर्ध्वदिशि, इह रत्नप्रसास्यमनुमिलमलेमस्य अक्षयविशिको  
रुचकस्तस्माद्दिनिर्मन्तःप्रदेशाः, ऊर्ध्वो दिक् यावद्व्योक्तान्तः ।  
तन्वत्तर सर्वस्त्वोक्ताः पुत्राणाः, तेभ्योऽशोक्तिं विशेषाधिकाः,  
अधोदिगपि रुचकाचैव प्रभवति । अतुःप्रदेश यावद्व्योक्तान्त-  
स्वस्तस्वस्याधिकार्याः । तत्र पुत्रानां विशेषाधिकाः, तेभ्य  
सत्तरपूर्वस्थां दक्षिणपश्चिमायां च प्रत्येकसंक्षेपगुणाः, स्व-  
स्थाने तु परस्परं तुल्याः समस्ते द्वे अग्नि दिशो रुचकादिनिर्गते  
मुक्तावलिस्त्विने तिर्यशोक्तान्तमधोशोक्तान्तमूर्ध्वश्लोकान्त पर्य-  
बसिते, तेन क्षेत्रस्याऽसंक्षेपगुणावासात्र पुत्राणां असंक्षेपगुणाः,  
क्षेत्रं तु स्वस्थाने सममिति । अन्वः पश्चिमाधिकाः तुल्याः, ते-  
भ्योऽपि दक्षिणपूर्वस्थानुत्तरपश्चिमायां च प्रत्येकं विशेषाधि-  
काः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । कथं विशेषाधिका इति चेत्, ?  
उच्यते—इह सौमनसगणध्यादनेतु सत स्वकूटानि, विद्युत्प्रभमा-  
दपवनेनैव नव, तेषु च कूटेषु धूमिकावधायविद्युत्प्रभपुत्राः  
प्रनृताः संभवन्ति, ततो विशेषाधिकाः । स्वस्थाने तु क्षेत्रस्य प-  
र्यन्तदक्ष समान्तावाप्तव्या तेषुः पूर्वस्थां दिशि असंक्षेपगुणाः,  
क्षेत्रस्यासंक्षेपगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकाः,  
अधोलौकिकप्रामेयुं शुचिर्भावतो बहूनां पुत्रानामवस्थान-  
प्राभात् । तेभ्यो दक्षिणस्थां विशेषाधिकाः, बहुभवनशुचिर्भा-  
वात् । तेभ्य उत्तरस्थां विशेषाधिकाः, यत् उत्तरस्थामाया-  
म-  
विश्वकामार्ज्यां संक्षेपयोजनकाटोक्तप्रमाणं मानसं सरः, तत्र  
ये जलवराः, पनक्तेशालादयश्च स्वस्थाने आनिरहव इति तेषां  
ये अन्नकामेणपुत्रान्तं अधिकाः प्रापन्ते, इति पुंश्लोकेभ्यो  
विशेषाधिकाः । तदर्थं पुत्रलक्षिणयमदपवहृत्वः यमुक्तम् ॥

इदानीं सामान्यतो द्व्यपवधियं क्षेत्रानुपातेनाऽऽह—

सेषाणुवाएणं मन्वथोवाई दन्वाई तेषुके, उकुलोयतिरि-  
ष्वोए अणंतगुणाई, अशोतोयतिरियज्ञोए विमंसाहिद्याई,

उकुलाए असत्सकज०, अशोतोए अणंतगुणाई, तिरियज्ञो-  
ए संखिजगुणाई ।

क्षेत्रानुपातेन विन्मयमानानि द्रव्याणि सर्वस्त्वोक्तानि त्रैलोक्यसं-  
क्षेपशीलि, यतो धर्मोस्तिकायाऽधर्मोस्तिकायाऽऽकाशास्तिकायाऽक-  
स्याणि पुत्रलस्तिकायाऽस्य महास्वकामार्ज्यास्तिकायाऽस्य भारणा-  
न्तिकसमुद्घातेनात् । वसमयदत्ता जीवास्तिकायाऽस्यवापिनः तेषु चक्षु-  
श्चित्तं सर्वस्त्वोक्तानि । तेभ्य ऊर्ध्वलोकातिर्यश्लोके प्रागुक्तस्यकथमस-  
त्सक्यामंके अनन्तगुणाणि, अनन्तैः पुत्रतद्रूपरत्नैर्नैर्जीवद्रव्यैः त-  
स्य संस्पर्शान्वातेभ्योऽशोक्तोक्तविश्लोकं विशेषाधिकाणि, ऊर्ध्व-  
श्लोक्तोक्तविश्लोकं अधोलोकातिर्यश्लोकस्य मन्वाऽस्य विशेषाधि-  
क्या-  
त् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंक्षेपगुणाणि, क्षेत्रस्याऽसंक्षेपगुणत्वात् ।  
तेभ्योऽधोलोके अनन्तगुणाणि । कथमिति चेत्, ? उच्यते—इ-  
हाधोलौकिकप्रामेयुं काशोऽस्ति, तस्य च कालस्य तत्सत्तरप्राणुं-  
संक्षेपाऽसंक्षेपान्नमन्तप्रदेशोक्तस्यकथं क्षेत्राण्यपर्यायसंक्षेप्य-  
शास्त्रप्रतिपरस्वादिद्व्यमन्नमन्ताः, ततो भवन्त्यधोलोकेऽन्नम-  
नुपातेन, तेभ्यस्तिस्र्यशोक्तंऽसंक्षेपगुणाणि, अधोलौकिकप्राम-  
मप्रमाणानां क्षणकानां मनुष्यश्लोकं काशद्वयवाचारुते संक्षे-  
पानामवाप्यमानत्वात् ।

मास्मते दिगनुपातेन सामान्यतो द्रव्याणामपवहृत्वमाह—  
दिसाणुवाए ऽ सव्स्वथोवाई दन्वाई अहेदिसाए, उकु-  
दिसाए अणंतगुणाई, उत्तरपुरुच्छिमेणं दाहिणपृक्वच्छि-  
मेणं दोव तुश्र्वा असंखेजगुणां, दाहिणपुरच्छिमेणं  
उत्तरपृक्वच्छिमेणं य दांवि तुश्र्वा विसेसाहिद्यां, पु-  
रच्छिमेणं असंखेजगुणां, पृक्वच्छिमेणं विसेसाहि-  
द्यां, दाहिणेणं विमंसाहिद्यां, उत्तरं विसेसाहिद्यां ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण विन्मयमानानि सामान्यतो द्रव्याणि  
सर्वस्त्वोक्तानि अर्धोदिशि प्राच्यायाणि तस्वकथायामान्तेभ्य ऊर्ध्व-  
दिशयन्नगुणाणि । किं कारणमिति चेत्, ? उच्यते—इह ऊर्ध्वश्लो-  
के मेराः पञ्चोन्नतशरत्के स्फटिकमयं कारणं, तत्र स्वर्गाद्व्यप्र-  
जाऽनुप्रवेशाद् द्रव्याणां क्षणदिक्कामप्रतिमागोऽस्ति, कालस्य च  
प्रागुक्तान्त्या प्रतिपरमाएवादिद्रव्यमानत्वात् । तेभ्योऽन्नगु-  
णाणि, तेभ्य उत्तरपूर्वस्थामांशायां, दक्षिणपश्चिमायां, नैऋतकां-  
शु द्रव्यैः । असंक्षेपानि, क्षेत्रस्यासंक्षेपगुणत्वात् । स्वस्थाने  
तु उवाच्यपि परस्परं तुल्यानि, समानेकत्वात् । तेभ्यो दक्षिण-  
पूर्वस्थामान्द्व्येवत्, उत्तरपश्चिमायां, वायव्यकाणे इति भाषः ।  
विशेषाधिकाणि, विद्युत्प्रभमादपवदन्तकूटाभितानां धूमिकावधाय-  
यादिद्वन्द्वपुत्रलद्रव्याणां बहूनां सन्भवतात् । तस्यः पूर्वस्थां  
दिशो असंक्षेपगुणाणि, क्षेत्रस्यासंक्षेपगुणत्वात् । तेभ्यः  
पश्चिमायां विशेषाधिकाणि, अधोलौकिकप्रामेयुं शुचिर्भावतो  
बहूनां पुत्रलद्रव्याणामवस्थानात् । ततो दक्षिणस्थां दिशि वि-  
शेषाधिकाणि, बहुभवनशुचिर्भावात् । तत् उत्तरस्थां विशेषा-  
धिकाणि, तत्र मानससत्ते जीवद्रव्याणां तद्दिक्षितानां तैः  
कामेणपुत्रलस्त्वप्युत्पाणां च नृपसां भावात् ।

सम्प्रति परमाणुपुत्रलानां संक्षेपप्रदेशानामसंक्षेपप्रदेशाना-  
मन्नमन्तप्रदेशानां परस्परमन्वहृत्वमाह—

एपति षंते । परमाणुगमलाणां संखेजपदेसियाणं  
असंखेजपदेसियाणं अणंतपदेसियाए य संधाणं दन्वाइ—

याए पदेसद्वयाए दब्बद्वपदेसद्वयाए कपरे कपरंहितो अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा दब्बद्वयाए, परमाणुपोग्गला दब्बद्वयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा दब्बद्वयाए संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जपदेसिया खंधा दब्बद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, पदेसद्वयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसद्वयाए परमाणुपोग्गला अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा पदेसद्वयाए संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जपदेसिया खंधा पदेसद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, दब्बद्वपदेसद्वयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, दब्बद्वयाए ते चेव, पदेसद्वयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दब्बद्वपदेसद्वयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा दब्बद्वयाए संखेज्जगुणा, ते चेव य पदेसद्वयाए संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जपदेसिया खंधा दब्बद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, ते चेव पदेसद्वयाए असंसिखेज्जगुणा ॥

व्याख्यालं पाठिसिद्धम् । नवरमत्रापदबहुत्वभावनायां सर्वत्र तथास्यानायं कारणं वाच्यम् ।

संश्रयेतेषामिव क्षेत्रप्राधान्येनाद्वयबहुत्वमहा—

एएसि णं जंते । एगएसोगादाणं संखेज्जपदेसोगादाणं असंसिखेज्जपदेसोगादाणं य पोग्गलाणं दब्बद्वयाए पदेसद्वयाए दब्बद्वपदेसद्वयाए कपरे कपरंहितो अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपदेसोवागादा पुग्गला दब्बद्वयाए, संखेज्जपदेसोवागादा पुग्गला दब्बद्वयाए संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जपदेसोवागादा पोग्गला दब्बद्वयाए असंसिखेज्जगुणा; पदेसद्वयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोवागादा पोग्गला, पदेसद्वयाए संखेज्जपदेसोवागादा पोग्गला, पदेसद्वयाए संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जपदेसोवागादा पोग्गला पदेसद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, दब्बद्वपदेसद्वयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोवागादा पोग्गला, दब्बद्वपदेसद्वयाए संखेज्जपदेसोवागादा पोग्गला दब्बद्वयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, असंसिखेज्जपदेसोवागादा पोग्गला दब्बद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, ते चेव पएसद्वयाए असंसिखेज्जगुणा । एएसि णं जंते । एगसमयद्वितीयाणं संखेज्जसमयद्वितीयाणं असंसिखेज्जसमयद्वितीयाणं य पोग्गलाणं दब्बद्वयाए पदेसद्वयाए दब्बद्वपदेसद्वयाए कपरे कपरंहितो अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगसमयद्वितीया पोग्गला दब्बद्वयाए, संखेज्जसमयद्वितीया पोग्गला दब्बद्वयाए संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जसमयद्वितीया पोग्गला दब्बद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, पदेसद्वयाए सव्वत्थोवा एगसमयद्वितीया पोग्गला, पदेसद्वयाए संखेज्जसमयद्वितीया पोग्गला, पदेसद्वयाए संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जसमयद्वितीया पोग्ग-

ला पदेसद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, दब्बद्वपदेसद्वयाए सव्वत्थोवा एगसमयद्वितीया पोग्गला, दब्बद्वपदेसद्वयाए संखेज्जसमयद्वितीया पोग्गला दब्बद्वयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसद्वयाए संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जसमयद्वितीया पोग्गला दब्बद्वयाए असंसिखेज्जगुणा, ते चेव पदेसद्वयाए असंसिखेज्जगुणा । एएसि णं जंते । एगगुणकालनायां संखेज्जगुणकालगाणं असंसिखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाणं य पोग्गलाणं दब्बद्वयाए पदेसद्वयाए दब्बद्वपदेसद्वयाए कपरे कपरंहितो अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! जए परमाणुपोग्गला तथा जाणियव्वा । एवं संखेज्जगुणकालनायाणं वि । एवं सेसाणं वि एएणसमंथा जाणियव्वा, फासाणं कवल्लमउपगुरुयल्लहुयाणं जहा एगपदेसोवागादाणं जणियं तथा जाणियव्वं, अवेसेसा फासा जहा वएणा भणिया तथा जाणियव्वा ॥

इह क्षेत्राधिकारतः क्षेत्रस्य प्राधान्यात्परमाणुकाद्यनन्ताणुकाः स्कन्धा अपि विचिन्तितकप्रदेशावगाढा आधायाधेययोरभेदोपकारादिकद्रव्यत्वेन व्यवहियन्ते । ते शब्दभूता एकप्रदेशावगाढाः पुद्गलाः पुद्गलद्रव्याणि सर्वलोकाणि,श्रोत्राकाशाप्रदेशप्रमाणान्तीत्यर्थः । नाहं स कश्चिदेवंभूत आकाशाप्रदेशोऽस्ति, य एकप्रदेशावगाहनपरिभासपरिणतानां परमाणुवाहानामवकाशप्रदानपरिणामेन परिणतो न वर्तते इति । तत्रयः संख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्वयाधेतया संख्येयगुणाः । कथमिति चेत्, उच्यते— इहापि क्षेत्रस्य प्राधान्याद् द्व्यणुकाद्यनन्ताणुकास्तथा हिमप्रदेशावगाढा एकद्रव्यत्वेन विवक्ष्यन्ते, तानि च तथाभूतानि पुद्गलद्रव्याणि पूर्वोक्तैः संख्येयगुणाः । तथापि-सर्वे लोकादेशावगाढास्तत्ततोऽसंख्येया अपि असंस्कल्पयन्त्या दश परिकल्पयन्ते, तेषां संख्येयगुणाः दशैविति दश एकप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि स्रष्टानि, तेष्वेव दशसु प्रदेशेष्वन्यत्रहणन्यमित्त्वणहारेण बहवो हिकसंयोगा लज्जयन्ते, इति भवत्येकप्रदेशावगाढेऽन्यो हिमप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि संख्येयगुणाः । एवं तथाऽपि हिमप्रदेशावगाढानि । एवमुत्तरात्तरं यावदुक्लृष्टसंख्येयप्रदेशावगाढानि । ततः स्थितमेतद-एकप्रदेशावगाढेऽन्यः संख्येयप्रदेशावगाढपुद्गला द्वयाधेतया संख्येयगुणा इति । एवं तेषां, असंख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्वयाधेतया असंख्येयगुणाः, असंख्येयगुणा इत्येव असंख्यातभेदभिन्नत्वात् । प्रदेशार्थतासुं द्वयाधेयपर्ययाधेतयासुं च सुगुणत्वात् स्वयं भावनीयम् । कालनायस्त्वप्यापि सुगुणत्वात्स्वयंजायतिव्ययानि, नवरं “ जहा परमाणुपोग्गला तथा भाणियव्वा ” इति । यथा प्राक् सामान्यतः पुग्गला उक्त्वा-स्तथा एकगुणकाशकादायोऽपि बह्वत्वाः । ते वैश्वम्— सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा एगगुणकालना परमाणुपोग्गला दब्बद्वयाए अणंतगुणा, संखेज्जगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा एगगुणकालना संखेज्जगुणा, असंसिखेज्जपदेसिया खंधा एगगुणकालना असंसिखेज्जगुणा, पदेसद्वयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा एगगुणकालना एगगुणकालना अणंतगुणा इत्यादि । एवं संख्येयगुणकालनायामन्यगुणकालनामपि वाच्यम् । एवं शेषसंख्येयगुणवत्सा अपि बह्वत्वाः । कर्क-शमृदुगुणवत्सवः स्वर्धा यथा एकप्रदेशावगाढा भवित्वास्तक

## अप्याबहुय ( ग )

बह्व्याः । ते वैषम्य-“सर्वव्योवा एवपदसोमादा एवगुणक-  
ककत्वपासा दन्वद्वयाए संखेजजपदेसोमादा एवगुणकककत्व-  
पासा दन्वद्वयाए संखेजजगुणा” इति । एवं संख्येवगुणकक-  
कत्वपासा अस्व्येवगुणकककत्वपासा इत्येव । एवं मूढगुणक-  
व्य अवशेषाभावात् : शीलत्वात् स्वयंशः, यथा वर्णादय उक्ता-  
स्त्वथा बह्व्याः । तत्र पाठोऽनुक्तानुसारेण सुगमत्वात् स्वयं  
भावनीयः । प्रश्नां ३ एव ।

एरसि णं जेतं । परमाणुपोगमलाणं दुपदेसियाण य खं-  
धाण य दन्वद्वयाए कयरे कयरेहितो अप्या वा बहुया वा  
तुष्ठा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! दुपदेसिएहितो खं-  
धेहितो परमाणुपोगमला दन्वद्वयाए बहुया । एरसि णं भंतं !  
दुपदेमियाणं तिवदेमियाण य खंधाणं दन्वद्वयाए कयरे  
कयरेहितो बहुया ० ! । गोयमा ! तिवदेसिएहितो खंधेहितो  
दुपदेसिया खंधा दन्वद्वयाए बहुया । एवं एणं गमणं जाव  
दसपदेसिएहितो एवपदेसिया खंधा दन्वद्वयाए बहुया ।  
एरसि णं जेतं ! दसपदेसा पुच्छा ! । गोयमा ! दसपदेमिए-  
हितो खंधेहितो संखेजजपदेसिया खंधा दन्वद्वयाए बहुया ।  
एरसि णं भंतं ! संखेजजा पुच्छा ! । गोयमा ! संखेजजप-  
देसिएहितो खंधेहितो अस्व्येजजपदेमिया खंधा दन्वद्वयाए  
बहुया । एरमि णं जेतं ! अस्व्येजजपदेमिया पुच्छा ! । गोयमा !  
अस्व्येजजपदेसिएहितो खंधेहितो अणंतपदेमिया खंधा द-  
न्वद्वयाए बहुया । एरसि णं भंतं ! परमाणुपोगमलाणं दुप-  
देसियाण य खंधाणं पदेसद्वयाए कयरे कयरेहितो बहुया ? ।  
गोयमा ! परमाणुपोगमलेहितो दुपदेमिया खंधा पदेसद्वयाए  
बहुया । एवं एणं गमणं जाव एवपदेसिएहितो खंधे-  
हितो दसपदेसिया खंधा पदेसद्वयाए बहुया । एवं सवत्य  
पुच्छिवन्व । दसपदेमिएहितो खंधेहितो संखेजजपदेसिया  
खंधा पदेसद्वयाए बहुया, संखेजजपदेसिएहितो खंधेहितो  
अस्व्येजजपदेसिया खंधा पदेसद्वयाए बहुया । एरमि णं भंतं !  
अस्व्येजजपदेसियाणं पुच्छा ! । गोयमा ! अणंतपदेमिएहितो  
खंधेहितो अस्व्येजजपदेमिया खंधा पदेसद्वयाए बहुया । ए-  
रसि णं जेतं ! एवपदेसोमादाणं दुपदेसोमादाण य पोम-  
ला य दन्वद्वयाए कयरे कयरेहितो विसेसाहिया वा ? । गो-  
यमा ! दुपदेसोमादेहितो पोमलेहितो एवपदेसोमादा पोम-  
ला दन्वद्वयाए विसेसाहिया । एवं एणं गमणं तिवदेसो-  
मादेहितो पोमलेहितो दुपदेसोमादा पोमला दन्वद्वयाए  
विसेसाहिया जाव दसपदेसोमादेहितो पोमलेहितो एव  
पदेसोमादा पोमला दन्वद्वयाए विसेसाहिया । एरसि  
णं जेतं ! दसपदेसा पुच्छा ! । गोयमा ! दसपदेसोमादेहितो  
पोमलेहितो संखेजजपदेसोमादा पोमला दन्वद्वयाए बहुया,  
अस्व्येजजपदेसोमादेहितो पोमलेहितो अस्व्येजजपदेसोमादा  
पोमला दन्वद्वयाए बहुया । एवं पुच्छा सवत्य जाणिवन्वा ।

## अप्याबहुय ( ग )

एरसि णं जेतं ! एवपदेसोमादाणं दुपदेसोमादाणं पोमलाणं  
पदेसद्वयाए कयरे कयरेहितो जाव विसेसाहिया वा ? ।  
गोयमा ! एवपदेसोमादेहितो पोमलेहितो दुपदेसोमादा  
पोमला पदेसद्वयाए विसेसाहिया । एवं जाव एवपदेसोमा-  
देहितो पोमलेहितो दसपदेसोमादा पोमला पदेसद्वया-  
ए विसेसाहिया । दसपदेसोमादेहितो पोमलेहितो संखेज-  
जपदेसोमादा पोमला पदेसद्वयाए बहुया । संखेजजपदेसोमा-  
देहितो पोमलेहितो अस्व्येजजपदेसोमादा पोमला पदेस-  
द्वयाए बहुया । एरसि णं जेतं ! एवपदेसद्वयाए दुस-  
मयद्वियेण य पोमलाणं दन्वद्वयाए जहा आंगह-  
णा वत्तन्वया, एवं तिवीए वि । एरसि णं जेतं ! एवगु-  
णकात्रयाणं तुगुणकात्रयाण य पोमलाणं दन्वद्वयाए ।  
एरसि णं जहा परमाणुपोगमलादीणं तदेव वत्तन्वया जि-  
रवमेसा, एवं सव्वेमि वरणगंधरसाणं । एरमि णं भंतं !  
एवगुणककत्वपासां तुगुणककत्वपासा य पोमलाणं दन्वद्व-  
याए कयरे कयरेहितो जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !  
एवगुणककत्वपासां पोमलेहितो तुगुणककत्वपासा पोमला  
दन्वद्वयाए विसेसाहिया, एवं जाव एवगुणककत्वपासां  
पोमलेहितो दसगुणककत्वपासा पोमला दन्वद्वयाए विसे-  
साहिया, दसगुणककत्वपासां पोमलेहितो संखेजजगुण-  
ककत्वपासा पोमला दन्वद्वयाए बहुया । संखेजजगुण-  
ककत्वपासां पोमलेहितो अस्व्येजजगुणककत्वपासा पो-  
मला दन्वद्वयाए बहुया । अस्व्येजजगुणककत्वपासां पो-  
मलेहितो अणंतगुणककत्वपासा पोमला दन्वद्वयाए बहुया ।  
एवं पदेसद्वयाए सवत्य पुच्छा भाणिवन्वा, जहा ककत्वपासा ।  
एवं मउयगुणककत्वपासा वि सोयसिणएद्वयुक्त्वा जहा  
वण्णा । एरमि णं भेतं ! परमाणुपोगमलाणं संखेजजप-  
देसियाणं अस्व्येजजपदेसियाणं अणंतपदेमियाणं खंधाणं द-  
न्वद्वयाए पदेसद्वयाए दन्वद्वयाए पदेसद्वयाए कयरे कयरेहितो ०  
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सवत्योवा अणंतप-  
देसिया खंधा पदेसद्वयाए, परमाणुपोगमला दन्वद्वयाए  
अणंतगुणा, संखेजजपदेसिया खंधा दन्वद्वयाए संखेजजगुणा,  
अस्व्येजजपदेसिया खंधा दन्वद्वयाए अस्व्येजजगुणा, पदे-  
सद्वयाए सवत्योवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसद्वयाए  
परमाणुपोगमला, अणंतगुणा, संखेजजपदे-  
सिया खंधा पदेसद्वयाए संखेजजगुणा, अस्व्येजजपदेसिया  
खंधा पदेसद्वयाए अस्व्येजजगुणा, दन्वद्वयाए पदेसद्वयाए स-  
वत्योवा अणंतपदेसिया, दन्वद्वयाए ते चेव, पदेसद्वयाए  
अणंतगुणा, परमाणुपोगमला दन्वद्वयाए अणंतगुणाए  
अणंतगुणा, संखेजजपदेसिया खंधा दन्वद्वयाए संखेजजगु-  
णा, ते चेव पदेसद्वयाए अस्व्येजजगुणा, अस्व्येजजपदेसिया

स्वधा दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । एएसिं णं भंते ! एगपदेसोगाढाणं संखेज्जपदेसोगाढाणं असंखेज्जपदेसोगाढाणं पोमगडाणं दन्वड्याए पएसड्याए दन्वड्यपएसड्याए कयरे कयरेहितो ज्ञाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सन्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोमगला दन्वड्याए, संखेज्जपदेसोगाढा पोमगला दन्वड्याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोगाढा पोमगला दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, पएसड्याए सन्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोमगला, पएसड्याए संखेज्जपदेसोगाढा पोमगला, पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोगाढा पोमगला पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, दन्वड्यपएसड्याए सन्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोमगला, दन्वड्यपएसड्याए संखेज्जपदेसोगाढा पोमगला, दन्वड्याए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए संखेज्जगुणा । असंखेज्जपदेसोगाढा पोमगला दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । एएसिं णं जंते ! एगसमयद्धित्तीयाणं संखेज्जसमयद्धित्तीयाणं असंखेज्जसमयद्धित्तीयाण य पोमगलाणं जहा ओगाहणाए तथा त्रित्तीए वि जाणियव्वं अप्पबहुणं । एएसिं णं जंते ! एगमुणकालगाणं संखेज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाणं य पोमगडाणं दन्वड्याए पदेसड्याए दन्वड्यपएसड्याए एएसिं जहा परमाणुपोमगलाणं अप्पाबहुणं तद्वा एएसिं पि अप्पाबहुणं । एवं संसाणं वि बहण्णंभरमाणं । एएसिं णं भंते ! एगगुणकस्वदाणं संखेज्जगुणकस्वदाणं असंखेज्जगुणकस्वदाणं अणंतगुणकस्वदाणं य पोमगडाणं य दन्वड्याए पदेसड्याए दन्वड्यपदेसड्याए कयरे कयरेहितो ज्ञाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सन्वत्थोवा एगगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए, संखेज्जगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए अणंतगुणा, पदेसड्याए एवं चेव । एवरं संखेज्जगुणकस्वदा पोमगला पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । सेमं तं चेव । दन्वड्यपदेसड्याए सन्वत्थोवा एगगुणकस्वदा पोमगला, दन्वड्यपदेसड्याए संखेज्जगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणकस्वदा दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणकस्वदा दन्वड्याए अणंतगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । एवं मउयगुणपल्लुया वि अप्पाबहुणं । सीयउसिणणिल्लुकस्वदाणं जहा बएणाणं त्हेव ॥

दीका सुग्गा मत्ताणयायेन गताधी चंति नेहोप-व्यत्थे ।

नं २५ हां ४ उं ।

(प्रयोगादिपरिणतानामस्यबहुत्वं 'परिणाम' शब्दे बह्व्यते) (आहारायाऽस्तुत्रयमानानामनास्वाद्यमानानां च पुत्रलानां परस्परमलयबहुत्वं- 'आहार' शब्दे द्वितीयभावे ५०? पृष्ठ प्रतिपाद्यिष्यते) (प्रत्याख्यानविषयमलयबहुत्वं 'पचबकस्वदा' शब्दे बह्व्यते) (प्रवेशनकमाश्रित्य 'पवसण' शब्दे निरूपयिष्यते) )

(२१) [ बन्धद्वार ] आयुःकर्मबन्धकादीनामलयबहुत्वं-

एएसिं णं जंते ! जीवाणं आउत्स कम्मस बंधगाणं अबंधगाणं अपज्जत्ताणं पज्जत्ताणं सुत्ताणं नागराणं समोहयाणं असमोहयाणं सातावेदगाणं अमातावेदगाणं इंदियउवउत्ताणं एओंदियउवउत्ताणं मागारावउत्ताणं अणगारावउत्ताणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुब्धा वा विमेसाहिया वा ? गोयमा ! सन्वत्थोवा जीवा आउत्स कम्मस बंधगा, अपज्जत्ताय संखिज्जगुणा, सुत्ता संखिज्जगुणा, समोहया संखिज्जगुणा, सातावेदगा संखिज्जगुणा, इंदियउवउत्ता संखिज्जगुणा, अणगारावउत्ता संखिज्जगुणा, मागारावउत्ता संखिज्जगुणा, नोदियउवउत्ता विसेसाहिया, अमातावेदगा विसेसाहिया, असमोहिया विसेसाहिया, जागरा विसेसाहिया, पज्जत्ता विसेसाहिया, आउत्स कम्मस अबंधगा विमेसाहिया ॥

इहायुःकर्मबन्धकाबन्धकानां पर्याप्तपर्याप्तानां सुजाप्रतानां समबहनासमबहतानां सातायेदकासातायेदकानाम, इन्द्रियोपयुक्तनोदियुक्तानां साकारोपयुक्तानां साकारोपयुक्तानां समुदायेनाऽल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । तत्र प्रत्येकं तावद् भ्रमः-येन समुदाये सुखेन तद्व्यगम्यते । तत्र सर्वेस्तोका आरुयां बन्धकाः, अबंधकाः संखेयगुणा, यतोऽनुभूयमानजवायुगपि त्रिभागावशेषपारमविक्रमयुजीवा बध्नन्ति, त्रिभागात्रभागावशेषोपेया, ततोऽत्रै त्रिभागावबन्धकाल एकं त्रिभागा बन्धकाल इति बन्धकेभ्यां बन्धकाः संखेयगुणाः । तथा सर्वेस्तोका अपर्याप्तकाः, पर्याप्तकाः संखेयगुणाः । एतच्च सूक्ष्मजीवानधिष्ठय वेदितव्यम् । सूक्ष्मेपि हि बाह्योऽप्यधातुः न भवति, ततस्तद्ग्रावाद्बहुनां निष्पत्तिः, स्तोकांनामेव चानिष्पत्तिः । तथा सर्वेस्तोकाः सुताः, जागराः संखेयगुणाः, पन्थापे सूक्ष्ममेकस्त्रियानधिष्ठय वेदितव्यम्, यस्मादपर्याप्ताः सुता एव लभ्यन्ते, जागरा अपि । उक्तं मूलटीकायाम्- 'जहा अपज्जत्ता सुत्ता लभन्ति केह अपज्जत्ता जोसिं संखिज्जा समय अतोता ते य थोवा, इयरं वि थोयगा वेव, संसा जागरा पज्जत्ता संखिज्जगुणा' इति । जागरा पर्याप्तास्तेन संखेयगुणा इति । तथा समबहताः सर्वेस्तोकाः, यत इह समबहता मारणान्तिकमुग्धातेन परिगृह्यन्ते, मारणान्तिके सुदुग्धातेन मरणकाले, न शोचकाले, तथाऽपि न सर्वेयामिति सर्वेस्तोकाः । तेभ्योऽसमबहताः संखेयगुणाः, जीवनकालस्यतिबहुत्वात् । तथा सर्वेस्तोकाः सातबंधकाः, यत इह बहयः साध, रणशरीरा अल्पे प्रत्येकशरीरिणः, साधारणशरीराश्च बहुयोऽसातबंधकाः, स्वल्पाः सातवेदिनः, प्रत्येकशरीरिणस्तु नृयांसः सातबंधकाः, स्तोका असतातवेदिनः, ततः स्तोकाः सातबंधकाः, तेभ्योऽसातबंधकाः

संख्येयगुणाः । तथा सर्वस्तोका इन्द्रियोपयुक्ताः । इन्द्रि-  
 योपयोगो हि प्रयुत्पन्नकाश्रियेयः; यतः तद्भुपयोगका-  
 लस्य स्तोत्रकत्वात् पुच्छुःसमये स्तोका अद्यप्यन्ते । यदा तु तंभ-  
 धार्थेन्द्रियेण हृद्यु विचारव्यस्य संकृपाऽपि तदा नोऽन्द्रिया-  
 पयुक्तः स व्यपदिश्यते । तत्रा नोऽन्द्रियापयोगस्थानेतितागत-  
 कालविषयतया बहुकालत्वान्तसंख्येयगुणा नोऽन्द्रियोपयुक्ताः,  
 तथा सर्वस्तोका अनाकारोपयुक्ताः, अनाकारोपयोगकालस्य  
 स्तोत्रकत्वात् । साकारोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, अनाकारोपयोग-  
 काश्रान्ताकारोपयोगस्य संख्येयगुणव्यात् । इदानीं समुदाय-  
 गते सूत्रोक्तमन्वयवदुर्वं भाव्यते, सर्वस्तोका जीवाः आयुष्क-  
 मंगो बन्धकाः, आयुर्बन्धकालस्य प्रतिनियतव्यात् । नेत्रयोऽपयो-  
 नाः संख्येयगुणाः, यस्मादुपयोना अनुत्पन्नमानभवविभागाद्यव-  
 शेपायुवः पारभाषिकमायुर्बन्धन्ति, ततो ङी त्रिभागायुव-  
 कालौ, एकाऽयुवकाल इति बन्धकालाद्यवधकालः संख्येय-  
 गुणः । तेन संख्येयगुणा एवाऽपयोना आयुर्बन्धकेत्यः, नेत्रयो-  
 ऽपयोतिभ्यः सुताः संख्येयगुणाः, यस्मादुपयोतिभु च पर्याप्तो  
 च सुता लभ्यन्ते । पर्याप्तोपयोतिभ्यः संख्येयगुणाः, इत्य-  
 पर्यातिभ्यः सुताः संख्येयगुणाः, तभ्यः समग्रहताः संख्ये-  
 यगुणाः, बहुना पर्यातिभ्यपर्याप्तो च मारणान्तकसमुद्धान्ते  
 समग्रहतानां सदा लभ्यमानव्यात् । तेभ्यः सातावदकाः  
 संख्येयगुणाः, आयुर्बन्धकापर्याप्तकसुप्रवधि सातावदकानां  
 लभ्यमानव्यात् । तेभ्य इन्द्रियोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, अमा-  
 नवदकानामपि इन्द्रियोपयोगेण लभ्यमानव्यात् । तेभ्योऽना-  
 कारोपयोगोपयुक्ताः, इन्द्रियोपयोगेण नोऽन्द्रियोपयोगेण वा  
 उनाकारोपयोगस्य लभ्यमानव्यात् । तेभ्यः साकारोपयुक्ताः  
 संख्येयगुणाः, इन्द्रियोपयोगेण नोऽन्द्रियोपयोगेण साकारोप-  
 योगकालस्य बहुत्वात् । तेभ्यो नोऽन्द्रियोपयुक्ता विशेषाधिकः,  
 नोऽन्द्रियानाकारोपयुक्तानामपि तत्र प्रकृपान्, साकारानाका-  
 रोपयुक्तानामपि तत्र प्रकृपान् । अत्र विनयेजनानुग्रहोऽयमसद-  
 वस्थापनया निदर्शनमुच्यते-इह यस्मादुपयोतिः किल साकारोप-  
 युक्ता द्विनयन्याधिक शनम् १२२ ते च किल त्रिया-इन्द्रियसाका-  
 रोपयुक्ताः, नोऽन्द्रियसाकारोपयुक्ताश्च । तत्रेन्द्रियसाकारोपयु-  
 काः किलाऽनोवस्तोका इति विधानिसरुष्याः कल्पनेः शेषे  
 द्विसप्तत्यत्तर शनम् १२२ । नोऽन्द्रियसाकारोपयुक्ता नोऽन्द्रिया-  
 नाकारोपयुक्ताश्च द्विपञ्चाशदकलाः । ततः सामान्यतः साकारो-  
 पयुकेभ्य इन्द्रियसाकारोपयुक्त्यु विशेषितत्वात्पत्पत्पत्पत्पत् द्वि-  
 पञ्चाशत्कल्पेण अनाकारोपयुक्त्यु तेषु मध्ये प्रकृतिप्रेते शनं चतु-  
 विशत्यधिक भवतः । ततः साकारोपयुकेभ्यो नोऽन्द्रियोपयु-  
 क्त्यु विशेषाधिकः । नेत्रयोऽसातावदका विशेषाधिकः, इन्द्रिया-  
 पयुक्तानामप्यसातावदकत्वात् १० । तेभ्योऽसमग्रहता विशेषा-  
 धिकाः सातावदकानामप्यसमग्रहन्त्वभावात् । तेभ्यो जागरा वि-  
 शेयाधिकः । समग्रहतानामपि कर्पाधिजागरव्यात् १२ । तेभ्यः प-  
 योना विदेशाधिकाः सुतानामपि कर्पाधिपत्पत्पत्पत्पत् । सुता हि  
 पर्याप्तोपयोना अपि भवति; जागरास्तु पर्याप्ता एवेति नियमः  
 १३ । नेत्रयोऽपि पर्याप्तोऽत्र आयुःकर्माऽयुवका विशेषाधिकाः,  
 अपयोनानामप्यायुःकर्मावन्धकभावात् १४ । इदमेवाव्यवहृदुर्वं  
 विनयेजनानुग्रहाय स्थापनागार्थशिरिकवदस्यते-इह द्वे पङ्क्तौ उ-  
 पर्ययोनायेतं न्यस्यते । तत्रोपयोतिर्न पङ्क्तौ आयुःकर्मावन्धका  
 अपर्याप्ताः सुताः समग्रहताः सातावदका इन्द्रियोपयुक्ता अनाका-  
 रोपयुक्ताः क्रमेण स्थाप्यन्ते, तस्या अद्यस्तन्यां पङ्क्तौ तेषामेव

पदानामधस्तादु यथासंख्येयमायुर्बन्धका पर्याप्ता जागरा अस-  
 मग्रहता असातावदका नोऽन्द्रियोपयुक्ताः साकारोपयुक्ताः स्थाप-  
 ना चेत्यम-आद्यधिति तपरिमाणं संख्यायामेकः स्थाप्यते । ततः  
 शेषपदानि किञ्च जयन्तेन संख्येयगुणानि त्रिगुणा त्रिगुणाहस्त-  
 युः स्थाप्यते । तद्यथा-ती चत्वार अष्टौ योऽत्र द्वाविंशति चतु-  
 षष्टिः; सर्वोऽपि जीवाशिरन्तान्तस्वर्षयोऽयसत्कल्पतया  
 वदपञ्चाशदधिकशास्त्रयपरिमाणः परिकल्प्यते । ततोऽस्मादाश-  
 रायुर्बन्धकादिगताः संख्याः शोषयित्वा यत् शेषमवतिष्ठते तदा-  
 युरबन्धकादीनां परिमाणं स्थापयितव्यम् । तद्यथा-आयुर्बन्धका-  
 दिवृत्ते शने पञ्चाशदाशदधिके, शेषेषु यथाऽऽकर्म द्वे शने, चतुष्प-  
 ञ्चाशदधिके द्वे शने, द्विपञ्चाशदाधिके द्वे शने, अष्टचत्वारिंशद-  
 धिके द्वे शने, चत्वारिंशदाधिके द्वे शने, चतुर्विंशत्यधिके चिन्-  
 वत्यधिके शतम् । एवं च सति उपरितनपङ्क्तिनाऽन्यनाकारो-  
 पयुक्तपर्यन्तानि पदानि संख्येयगुणानि, त्रिगुणादिगुणाधि-  
 कत्वात् । ततः पर साकारोपयुक्तपदमपि संख्येयगुणम्, त्रिगुण-  
 कत्वात् । शेपाधि तु नोऽन्द्रियोपयुक्तादीनां प्रतिबन्धो विशेषाधि-  
 कारानि, त्रिगुणव्यवस्थापि क्वचिदभावात् । प्रह्ला० ३ पद ।

( प्रकृतिबन्धादीनाम् )

सम्प्रति प्राक्चतुर्विधवन्धे योगस्थानानि कारणं, प्रकृतयः प्र-  
 शशक्तकार्यं वर्तन्ते । तथा स्थितिबन्धाऽप्यवस्थास्थानानि कार-  
 णं, स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्था-  
 नानि कारणम्, अनुज्ञागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्ते इति कृत्वा  
 सप्तानामप्येवां पदार्थानां परस्परमप्यवहृदुर्वमतिविशुसह-  
 संदिध्नर्नाविदजमे, जोगच्छाणिए पयकिउत्तयेवा ।

उत्तयेवा ॥

उत्तयेवा ॥

योगो वीर्यमजस्य स्थानानि वीर्याविभागात्प्रसङ्गान्तरायाः । कि-  
 यन्ति पुनस्तानि भवन्ति?, इत्याह- ( नोदिभ्रमेऽन्वेने नि ) श्रेण-  
 संख्येयार्थाः श्रेणसंख्येयार्थाः । अतदुक्तं प्रतिसिद्धेयद्वयमा-  
 ग्नस्यरुष्या अस्संख्येयमां यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति, ताव-  
 न्ति योगस्थानानि । एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानां नि-  
 शेषः । तत्र यथेतांनि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते-इह किल  
 सूक्ष्मनिर्गदस्थायी सवज्जघन्यार्थिऽस्थिभ्युक्त्यु प्रदेशाः क-  
 चिददर्यायैयुक्ताः कचित्तु बहुवहुनवहुनमर्थोयैःताः । तत्र  
 सवेज्जघन्ययुक्तवैयैयापि प्रदेशस्य संवांशं वीर्यं क्वालप्रवा-  
 ह्नेन त्रियमानसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान्  
 प्रयच्छति, तस्यैवात्पृथिवीयुक्तप्रदेश यद्दीर्घं तदेतज्ज्योऽसंख्ये-  
 यगुणाद भागान् प्रयच्छति ।

उक्तं च-

“ एषाण् त्रिज्जना, अमंखलोगाण् जसिषयपस्ता ।  
 तलियवीरियभागा, जीवपपसस्मि पङ्क्ते ॥ १ ॥  
 सवज्जहन्नगरिणः जीवपपसस्मि तसिया संख्या ।  
 ततो अस्संख्येयार्थाः, बहुविदिर् जियपपसस्मि ॥ २ ॥

भागा अविज्ञागपरिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । ततः सप-  
 स्तोका विज्ञागपरिच्छेदकालानां लोकसंख्येयभागवर्त्यसं-  
 ख्येयप्रतरेप्रदेशा(शसंख्येयानां जीववदशानां समानवीर्यपनि-  
 च्छदतया जयन्ती चर्गणा । तत एकल योगपरिच्छेदेनाधिकार-  
 नां तापनामेव जीवप्रदेशानां द्वितीया वर्गणा । एवमेककार्योप-  
 ना

रिच्छेद्रवृक्षा यज्ञानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा यनीकनशोकाकाराश्रेणरसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रभाया धर्मेणा वाच्यः ।

एताश्चैतावस्योऽप्यसकलपमया पद स्थाप्यन्ते—

१५	१५	१५
१५	१५	१५
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यधर्मेणार्था जीवप्रदेशा असंख्येयवीर्यनागान्विताः । अथ सकलपमया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते, एताश्चैतावत्यः समुदिता एक वीर्येस्पकैकमित्युच्यन्ते । अथ स्पष्टे इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—एकैकोत्तरवीर्ययोगवृक्षा परस्परं स्पष्टेनैव गणा यत्र तन् । तत्र ऊर्ध्वमेकन द्व्यादिभिर्वा वीर्यपरि-

कञ्चैरधिकका जीवप्रदेशान् प्राप्यन्ते । किं तर्हि ? प्रथमस्पष्टकान्तरमवर्षणार्था जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपरिच्छेदास्तेभ्योऽसंख्येयज्ञोकाकाराश्रेणप्रमाणैरेव वीर्यपरिच्छेदैरधिकका जीवप्रदेशाः, अनन्तयामपि समावर्तयामागानां समुदायो द्वितीयस्पष्टकस्याद्यवर्षणा । तत्र एकन वीर्यभागानधिकानां समुदायो द्वितीयवर्षेणा । एवमेकोत्तरवृक्षकर्मणैता अपि श्रेयसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्यः । एतासामपि समुदायो द्वितीय स्पष्टकम् । इत ऊर्ध्वे पुनरप्येकोत्तरवृक्षेनैव भवत्ये । किं तर्हि—असंख्येयज्ञोकाकाराश्रेणानुदैरेव वीर्यभागिकास्तप्रदेशाः प्राप्यन्ते, अनन्तैरेव क्रमेण तृतीयस्पष्टकमारभ्यन्ते । पुनन्तैरेव क्रमेण चतुर्थम्, पुनः पञ्चममित्येवमेतन्पि वीर्येस्पष्टकानि श्रेयसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाचयानि । एषां चैतावतां स्पष्टकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य स्पष्टमनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितं, तद्व्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोः, अनन्तैव क्रमेण द्वितीयं योगस्थानकमुत्पद्यते । तद्व्यस्य तु तैरेव क्रमेण तृतीयम्, तद्व्यस्य तु तैरेव क्रमेण चतुर्थम् । इत्येवम क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां काश्रमेदैर्नैकजातस्य वा श्रेणरसंख्येयभागवर्तिनम् प्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । ननु जीवानामन्तत्याश्रमेद्देशराशिप्रमाणान्यन्त्यानि कस्मान्न भवन्ति ? नैतद्वचमयत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा यन्ते, ब्रह्मस्वयैकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसंख्याता यन्ते, तेषां च तदेकैकमेव विवक्षितमते । विसदृशानि यद्योक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽप्येताः सर्वैकैकस्मिन् योगस्थानके एकसमयमवतिष्ठन्ते । ततः परमसंख्येयगुणवृद्धेषु प्रति समयमन्येययोगस्थानकेषु स्फुरामिन्, पर्यासास्तु सर्वेऽपि स्वरासायेव सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृष्टतश्चतुः समयेषु यावद्भवन्ते, ततः परमपयोगस्थानकमुपजायते, स्वराशयोक्त्युत्पयोगस्थानके तु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ, मायमेषु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु क्वचित् चतुरः, क्वचिपञ्च, क्वचित् षट्, क्वचित् सप्त, क्वचिद्विंशतिः । समयान् यावद्भवन्त इति । अयं चैतावानपि योगोः सप्तप्रभृतिवहकारिकाण्यवशात्सन्तिप्य सत्यमनोयोगः १, असत्यमृषामनोयोगः ३, असत्याधृषामनोयोगः ४, सत्यधार्मयोगः १, असत्यधार्मयोगः २, सत्यमृषाधार्मयोगः ३, असत्याधृषाधार्मयोगः ४ । औद्दरिककाययोगः १,

औद्दरिककामिकाययोगः २, वैक्रियकाययोगः ३, वैक्रियमिभकाययोगः ४, आहारककाययोगः ५, आहारकमिभकाययोगः ६, कामेणकाययोगजैदतः पञ्चदशधा श्रोक्त इत्यसं प्रसंगेन । एतेष्वप्यस्य योगमन्थेऽसंख्येयगुणाः असंख्यातगुणिताः । ( पयदि ति ) भेदशब्दस्य प्रत्येकं संख्यातप्रकृतिभेदात् स्थितिभेदाच्च ज्ञानावरणादीनां भेदाः । असंख्येयगुणं चि पदमुत्तरमागन्धस्यानां यावत्सर्वेषु योजनीयम् । इयमत्र भावना—इह तावदावश्यकादिष्वधिपिज्ञानदर्शनयोः लोपोपशमवैचित्र्यादसंख्यातास्तावद्देशा भवन्ति । ततश्च तदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणजैदाः संगच्छन्ते, वैचित्र्येण बन्धस्यैव विचित्रकृत्योपशमोपपत्तिरिति । कथं पुनः लोपोपशमवैचित्र्येऽप्यसंख्येयभेदात् प्रतीयेत ? इति चेत् । उच्यते—कृत्रतारतम्येनेति । तथाहि—विसमयादारकसूत्रमपनकस्येवगादानामानं जघन्यवमधिद्विकस्य क्षेत्रं परिच्छेद्येत्योक्तम् । यदाह सकलभुतपरदृश्या विष्णुतुष्टदृश्यानां यावत्सर्वेषु शशास्त्रसंभ्रं भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी—“ जावदस्य तिसमयाहा—रगस्य सुदुमस्य पणगजीवस्त । शोगाइणा इहष्ठा, श्रोही।सिक्तं जदधं तु ” ॥ १ ॥ उत्कण्ठं तु सर्वबहुतेजस्कादधिकजन्तूनां शुचिः सर्वतो भ्रमिना यावन्मात्रं क्षेत्रं दृश्याति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः श्रीरादारारुपपादाः—“सबभुमभिमजीवा, निरंतरं जसियं भरिउंजसु । सित्वं सव्यद्विसग, परमोही।सिक्तनिदिह्ता ” ॥ २ ॥ इति । तत्र जघन्यान् कृत्रादारान्य प्रदेशरुद्धां प्रवृद्धांरुद्धेकैवविषयवत् सत्यसंख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य कृत्रतारतम्येन जवति । अनन्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां लोभादिभेदात् बन्धवैचित्र्याद्युपयवैचित्र्यासांसंख्येयगुणवृद्धत्वम् । अयं नानाजीवानाभिर्य मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणामप्यावरणानां तथाऽप्यासामपि सत्रासां मूलप्रकृतानामुत्तरप्रकृतानां च लोभादिजैदेन बन्धवैचित्र्याद्युपयवैचित्र्याऽसंख्याता भेदाः संपद्यन्त इति ।

श्रुतं च—

“ जह्वा च ओहि।विसस्रं, उकोसे सवबहुयसिदिह्स्ई । अक्षिपमिक्तं कुसई, तसियमित्तप्यससम ॥ १ ॥ तत्तारतम्येभया, जेषु बहू हुति आहारजगिया । तेणसंख्यगुणं, पयदीणं जोगश्रो जाण ” ॥ २ ॥ चतस्रामानुपूर्वीणां बन्धोदयवैचित्र्येणासंख्याता जैदाः, ते च लोकस्यासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिगुणया इति बृहस्पतकच्युक्तिकारोक्ता विशेषाः । ननु जीवानामन्तत्यासेषां बन्धोदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिजैदाः कस्मान्न भवन्ति ? नैतद्वचम, सदृशानां बन्धोदयानामेकमेव विवक्षितयात्रिसदृशास्वेतावत् एव तद्देशा भवन्ति । ते च जैदाः प्रकृतिजैदव्याप्रकृतय इत्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेऽसंख्यातगुणाः प्रकृतयः, यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानेनानाजीवैः कालभेदादिकजीवेन वा सर्वा भ्रम्यन्तेः प्रकृतयोः धारयन्त इति । तथा तेन्यः प्रकृतिभेदेषुः स्थितिभेदाः स्थितिविशेषाः अन्तमुत्कृष्टसमयापिकान्तमैहूर्त्तिसमयापिकान्तमुत्कृष्टसंविश्लेषां विवक्षन्ता असंख्येयगुणा भवन्ति । एकैकस्यः प्रकृतेरसंख्यातैः स्थितिविशेषाव्यमानत्वादेकमेव हि प्रकृतिजैदं क्वचित्जोऽप्येव स्थितिविशेषेषुपभाति, स एव च तं कदाचिद्व्यन्येन, कदाचिद्व्यन्तरेण, कदाचिद्वन्वतमेत्येवमेकं प्रकृतिजैदमेकं जीवमाभ्यासिसंख्याताः स्थितिजै-

दा भवति, किं पुनः सर्वैककृतौः सर्वैर्जीवानाभिव्य प्रकृतिभेदे-  
ज्यः ? , स्थितिनिदानान्मन्व्यवसायान्मन्व्यः प्रकृतिभेदे-  
ज्यः स्थितिभेदाः असंख्यातगुणा भवन्तीति ; तथा स्थि-  
त्यभेदाः सकाशात् स्थितिव्यवसायव्यवसायाः एवैकदेशे एव-  
समुदायोपचारात् स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगु-  
णानि । तत्र स्थानं स्थितिः ? कर्मयोगोऽवस्थानं, तस्या बन्धः स्थि-  
तिबन्धः । अण्व्यवसानान्यव्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीव-  
परिणामविशेषाः तिष्ठन्ति जीवा पश्चित् स्थानानि, अण्व्यवसा-  
या एव स्थानान्यव्यवसायस्थानानि ; स्थितिबन्धस्य कारणभू-  
तान्यव्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि, तानि स्थि-  
तिभेदेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यतः सर्वैककृत्योऽपि स्थितिविशो-  
धोऽसंख्येयलोकाकाशाप्रदेशप्रमाणैरप्यवसायस्थानैर्जन्यते । उ-  
च्यते तु स्थितिविशेषास्तेरेव यद्योत्तरं विशेषबुद्धैर्जन्यन्ते ;  
अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यात-  
गुणानि सिद्धानि ज्ञवन्ति । तथा- ( अणुभागदणु सि ) एवै-  
कदेशे एव समुदायोपचारात्तु भागस्थानान्यतु भागबन्धाध्यव-  
सायस्थानानि । तत्रानु यथाह्योत्तरकालं भवत्यं सेव्यतेऽनुभू-  
यत इत्यनुजातो रसः, तस्य बन्धोऽनुजागमनः, अण्व्यवसानान्य-  
व्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः । ति-  
ष्ठन्ति जीवा पश्चेति स्थानानि, अण्व्यवसाया एव स्थानान्यव्य-  
वसायस्थानानि, अनुभागान्यस्य कारणतृताप्यव्यवसायस्था-  
नान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिबन्धाध्यवसायस्था-  
नान्यस्तान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं  
होवैकैकमनुष्ठितप्रमाणमुक्तम् । अनुजागबन्धाध्यवसायस्थानं  
सर्वैकं उच्यन्तेः सामांयिकम्, उक्तुदन्तस्त्वप्यसामांयिकान्तमेवो-  
क्तम् त एकस्मिन्नापि नारकक्षपे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने त-  
द्वन्तर्गा नगरान्तर्गतैर्भौमैश्चैरुपेक्ष्यताम् । नानाजीवान् काल-  
भेदैकजीवान् कालभेदैकजीवेषु वा समाभ्रयासंख्येयलो-  
काकाशाप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति ।  
तथापि-ज्ञघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्था-  
नानां मध्ये यदाहं सर्वैकगुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं  
तस्मिन्नापि देशक्षेत्रकालभावजीवभेदानसंख्येयलोकाकाशाप्र-  
देशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते । द्विती-  
यादिषु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि परमात्मनिष्ठिपक्षानज-  
घ्नान्तगुणानिद स्कन्धान् मिथ्यावादिभिर्हैतुनिः प्रतिसमर्थं जी-  
घां शुद्धातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाद्य-  
प्यसंख्येयलोकाकाशाप्रदेशप्रमाणान्यवसायस्थानानि, अतोऽनुभाग-  
बन्धाध्यवसायस्थानेषुः कर्मप्रदेश अनन्तगुणः सिद्धा भवन्ति ।  
तथा( तत्रो रसच्छेद सि ) तत्सत्त्वैः कर्मप्रदेशोऽयं, रसच्छेदा अन-  
न्तगुणा ज्ञयन्ति । तथाहि-इह क्षीरनिम्बरासद्यश्चिन्नयैरिवा-  
नुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तद्गुलपिच कर्मगुलैषु रसो ज-  
न्यते, स चैकस्थापि परमाणोः संख्येयो वैबहिरप्रज्ञया विद्यमानः

सर्वैर्जीवानन्तगुणानि भागपरिच्छेदान् प्रयच्छति । यथाज्ञागा-  
दपि सुसप्तताप्यो आगो नोत्तिष्ठति साऽपि भागपरिच्छेद उ-  
च्यते । एवं भूताज्ञानुभागस्यैव भागपरिच्छेदा रसपर्यायाः स-  
र्वैकैकैकभेषु प्रतिपरमाणुसर्वैर्जीवानन्तगुणः संख्यान्ते । यतः-

“गहनसत्यमि जीवो, उपापए ह गुणे सपक्षयश्चो ।  
सर्वजियाणंतगुणे, कर्मपपसेसु सर्वेषु ॥”

गुणाश्चेनेहाविभागपरिच्छेदा उच्यन्ते । होषं दुगमम् । क-  
र्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वैऽपि सिद्धानामप्यन्तभाग एव  
घटन्ते । अतः कर्मप्रदेशेषु रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भ-  
वन्तीति । कर्मोऽ कर्मोऽ । ( भौदरिकादिशरीरव्यवसायान्मन्व्य-  
द्वयं तु ' शरीर ' शब्द एव दृश्यम् )

( २२ ) [ भवसिद्धिकारणम् ] भवसिद्धिकारणमाह-

एप्सि एं जंते ! जीवाणं जवसिद्धियाणं अनवसिद्धि-  
याणं नोजवसिद्धियाणं नोअभवसिद्धियाणं य कयरे कयरे-  
दितो अण्वा वा ० धु । गोयमा । सन्वत्योवा अभवसिद्धिया,  
नोजवसिद्धिया नोअजवसिद्धिया अणंतगुणा, भवसिद्धिया  
अणंतगुणा ॥

सर्वेस्तोका अनवसिद्धिकाः अभव्याः, उच्यन्त्युक्तानन्तकपरि-  
माणान्वात् । उक्तं चानुयोगदण्डेषु-“ उक्तोस ए परिमाणतकवे  
एकिञ्चत्त जहन्नयुत्साणं तयं होह अभवसिद्धिया वि तत्तिया  
जेव कि ” तेषां नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणाः,  
यत उअयप्रतिषेधव्युत्थः सिद्धान्ते चाजघन्योऽप्युक्तानन्तक-  
परिमाणो इत्यन्तगुणः । तेषां भवसिद्धिका अनन्तगुणाः,  
यतो ज्ञयनिगादस्यैककस्यानन्तभागकल्याः सिद्धा ज्ञयन्तिवरा-  
निगोनाद्विधासस्येया लोका इति । यतं भवसिद्धिकारणम् ॥  
प्रहा ० ३ पद ॥

( २३ ) [ भापकण्डारम् ] भापकानायाकालपबहुत्वमाह-

एप्सि एं भंते ! जीवाणं जासगाणं अजासगाणं य  
कयरे कयरेदितो अण्वा वा बहुया वा तुद्धा वा विमैसा-  
दिया वा ० । गोयमा । सन्वत्योवा जीवा जासगा, अजासगा  
अणंतगुणा ॥

सर्वेस्तोका भापका भापालविधिसंप्रकाः, द्वीन्द्रियादीनामेवं  
भापकान्वात् । अभापका जायाल्लिख्यहीना अस्तगुणाः, वन-  
स्पतिकायिकानामनन्तवान् । प्रहा ० ३ पद । सत्यादिनंदन  
जागणामपबहुत्वम् । प्रहा ० ११ पद । ( जायाल्लिख्यं अण्डा-  
दिभिर्देभिद्यमानानामपबहुत्वं च ' नासा ' शब्दं बहवते )

( २४ ) [ महादवरकण्डारम् ] सर्वैर्जीवालपबहुत्वमाह-

अह भंते ! सर्वजोवपहुं महादंरुयं बत्तइस्सामि, सव्व-  
त्थोवा गन्ववकंतीयमाणुस्सा, मणुस्सीओ संसेजगुणाओ,  
वादरेतेउकाइया । पजत्तया असंसिजजगुणा, अणुत्तरोबवा-  
इया देवा असंसेजगुणा, उवरिमगेवजजा देवा संसेजगु-  
णा, मज्जिमगेवजजा देवा संसेजगुणा, हेइमिमगेवजजा,  
देवा संसेजगुणा, अणुत्त कप्पे देवा संसेजगुणा, आरुप्पे क-

ततो कर्मपपसा, अणंतगुणिया तत्रो रसच्छेया ।  
ततस्तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानैः ज्यः, कर्मप्रदेशाः कर्म-  
रूपज्ञा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः- प्रत्येकम-  
भ्रमान्मनुगुणैः सिद्धान्तजगवर्तिभिः परमात्मनिष्ठिपक्षानज-  
घ्नान्तगुणानिद स्कन्धान् मिथ्यावादिभिर्हैतुनिः प्रतिसमर्थं जी-  
घां शुद्धातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाद्य-  
प्यसंख्येयलोकाकाशाप्रदेशप्रमाणान्यवसायस्थानानि, अतोऽनुभाग-  
बन्धाध्यवसायस्थानेषुः कर्मप्रदेश अनन्तगुणः सिद्धा भवन्ति ।  
तथा( तत्रो रसच्छेद सि ) तत्सत्त्वैः कर्मप्रदेशोऽयं, रसच्छेदा अन-  
न्तगुणा ज्ञयन्ति । तथाहि-इह क्षीरनिम्बरासद्यश्चिन्नयैरिवा-  
नुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तद्गुलपिच कर्मगुलैषु रसो ज-  
न्यते, स चैकस्थापि परमाणोः संख्येयो वैबहिरप्रज्ञया विद्यमानः

प्ये देवा संखेज्जगुणा, पाणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा; अद्देसत्तमाए पुदवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, उट्ठीए तमाए पुदवीए नेरइया असं०, सहस्सारे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, पंचमाए धूमपमाए पुदवीए ऐरइया असं०, लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; चउत्थीए पंकपमाए पुदवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, बंधओए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, त्थाए बाणुयप्यजाए पुदवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, माहिं देवा असंखेज्जगुणा, सणकुमारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; दोबाए मकरपमाए पुदवीए ऐरइया असं०, संसुं च्चमणएस्सा असंखेज्ज०, ईसाणे कप्पे देवा असं०, ईसाणे कप्पे देवा असं०, सोहम्मे कप्पे देवा संखेज्ज०, सोहम्मे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा-असं०, जवणवासीदा असंखेज्जगुणा, जवणवासिणीअसं० देवा असंखेज्जगुणाअसं०, इभी से रयणप्यजाए पुदवीए ऐरइया असंखिज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणी-असं० संखिज्जगुणाओ, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणी-असं० संखिज्जगुणाअसं०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया पुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणीअसं० संखिज्जगुणाअसं०, बाणमंतग देवा संखेज्जगुणा, बाणमंतरी-असं० देवा असंखेज्ज०, जोइसिया देवा संखेज्जगुणा, जो-इसिणीअसं० देवा असंखेज्जगुणाअसं०, खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया नपुंसया संखिज्ज०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया नपुंसया संखेज्ज०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया नपुंसया संखे०, चउठरिंदिया पज्जत्तया संखेज्ज०, पंचिंदिया पज्जत्ता विससाहिया, बेइंदिया पज्जत्ता विसे०, पंचिंदिया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, चउठरिंदिया अपज्जत्तया विससाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तया विससाहिया, बेइंदिया अपज्जत्तया विससाहिया, पत्तेयसरीरबादरवणस्स-इकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरपुडविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरतउकाइ-या अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्स-इकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तया संखिज्जगुणा, बादरुडविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमुपुडवि-

काइया अपज्जत्तया विससाहिया; सुहुमआउकाइया अप-ज्जत्तया विससाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विस-साहिया, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तया असंखिज्ज०, सुहुम-पुडविकाइया पज्जत्तया विससाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तया विससाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया वि-सेसाहिया, सुहुमणिगोदा अपज्जत्ता असंखे०, सुहुमणिगो-दा पज्जत्तया संखिज्जगुणा, अन्नवसिक्खिया अणंतगु-णा, पटिवत्तियम्मदिहं अणंतगुणा, सिक्खा अणंतगुणा; बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा, बादरपज्जत्तया विससाहिया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरअपज्जत्तया विससाहिया, बादरा विससाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा अपज्जत्तया विससाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखेज्ज०, सुहुमपज्जत्तया विससाहिया, सुहुमा विससाहि-या, जवसिद्धिया विससाहिया, निगोदा जीवा विससाहि-या, वणस्सइजावा विससाहिया, एभिंदिया विससाहिया, ति-रिक्खजोगिणिया विससाहिया, पच्छदट्ठी विससाहिया, अ-विरया विससाहिया, छमत्तया विससाहिया, सजोगी विस-साहिया, संसारत्तया विससाहिया, सज्वजीवा विससाहिया ॥ इदानीं महाद्वारकं विषयं गुरुमापुच्छति—(अहं जीतं । इ-त्यादि) अथ जदन्त । सर्वे जीवा इत्येव बुद्धं सर्वे जीवा इत्येव बुद्ध-व्यक्त्यात्पत्तः महाद्वारकं वदन्ति । एतद्विषयाभिंति ता-त्पर्यार्थः । अनेन एतत् ज्ञापयति—नीचे करानुक्तामात्रसापेक्ष एव भगवद् गणधारः सूचकभानं प्रति प्रयतंत, न पुनः श्रुतध्याय-पुरस्सरमिति । यद्वैततज्ञापयति—कुशांशेऽपि कर्मण विनेयेन गुरु-मनापुच्छथ न प्रघातितव्यं, किन्तु तद्गुणपुरस्सरप, अन्यथा विनेयस्यायोगात् । विनेयस्य हि लक्षणमिदम्—“गुरोर्निर्वि-तात्मा यां, गुरुभावावुत्तकं । सुखवर्षं खण्टं नित्यं, स विनेयः प्रकीर्तितः” ॥ १ ॥ गुरुर्पि याः प्रकर्मिण्यः स एवं रूपः—“धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मप्रवर्तकः । सत्येभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-वेदा-कां गुरुच्यते” ॥ १ ॥ इति महाद्वारकं वदन्ति । एतद्विषयाभिंतिपुच्छति । ततः प्रतिज्ञातमेव निश्चययति—(सर्वत्रयो वा गम्भवंकृतियमणु-स्सत्यादि) सर्वस्वोका गम्भ्वुत्कान्तिका मनुष्याः, सर्वस्वको-टीकोटिप्रमाणत्वात् १ । तेभ्यो मानुष्यो मनुजस्त्रिया—संशय-यगुणा; ससविशासगुणात्वात् । उक्तं च—“सत्ताथोमगुणा पुण, मणुयाणं तद्विहा चैव” इति २ । तादृशो बादरनिज्जइकाइ-याः पर्याप्तं सर्वस्वयगुणाः, कतिपयवर्गान्युत्ताविकाजानसम-यप्रमाणत्वात् ३ । तेभ्योऽनुत्तरोपपत्तिनो देवा असस्वयगुणाः, क्षेत्रपदयोपमासंख्येयभागवतिनमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ४ । तेभ्य उचिततन्मैत्रेयकतिकदेवाः संखेयगुणाः, बृहत्तरत्वेत्तपदयो-पमासंख्येयभागवतिनमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । एतद्विपि कथ-मखसेयम्, इति चेत् । उच्यते—विमानवाहुत्तयात् । तथाहि—अनुत्त-रदेवानां पञ्च विमानानि विमानशतं तुर्यं रतन्मैत्रेयकतिकदेवानां प्रतिविमानं चाऽसंख्येया देवा यथा यथा चापोवर्षानि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण ब्रह्मन्ते, ततोऽवर्षाव्यते-अनुत्तरो-पत्तिदेवेभ्यो बृहत्तरक्षेत्रपदयोपमासंख्येयजागवत्योकाराप्रदेशरा-शिप्रमाणा उपरितन्मैत्रेयकतिकदेवाः । एवमुत्तरं अपि ज्ञानवा



कार्या, यावदान्तकल्पः ५ । तेष्वोऽप्युपरित्तमैवेयकत्रिकदे-  
 वेभ्यो मयमभैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ६ । तेष्वोऽप्य-  
 धस्तमैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ७ । तेष्वोऽप्युत्क-  
 ल्पदेवाः संख्येयगुणाः ८, तेष्वोऽप्यारणकल्पदेवाः संख्येय-  
 गुणाः । पद्यपारणाक्युत्कल्पयो समभेदौ, समाविमान-  
 संस्कारौ च, तथाऽपि कृष्णाप्राक्तित्वास्त्राभाभ्यात् प्रा-  
 नुयेण दक्षिणस्यां त्रिंशु समुपचन्ते, नोत्तरस्यां, बहवश्च  
 कृष्णाप्राक्तिकाः, स्तोत्राः शुक्रप्राक्तिकाः, ततोऽप्युत्कल्पदेवापे-  
 क्रया आरणकल्पे देवाः संख्येयगुणाः ९ । तेष्वोऽपि प्राणत-  
 कल्पे देवाः संख्येयगुणाः १० । तेष्वोऽप्यान्तकल्पे देवाः सं-  
 ख्येयगुणाः, भावना आरणकल्पवक्तृत्या ११ । तेष्वोऽधःस-  
 त्तमरत्कृषिध्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, श्रेयसंख्येयभा-  
 गवतमनःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १२ । तेष्वः पृथुपृथिव्यां  
 नैरयिका असंख्येयगुणाः, पतञ्जल प्रागेव विद्यमानेन नैरयिका-  
 रूपबहुत्वान्तिव्यां प्रावितम् १३ । तेष्वोऽपि सप्तसारकल्पदेवा  
 असंख्येयगुणाः, पृथुपृथिवीनैरयिकपरिणामहेतोः प्रथमसंख्येयजा-  
 गापेक्षया सप्तसारकल्पदेवपरिणामहेतोः श्रेयसंख्येयजाग-  
 र्वासंख्येयगुणत्वात् १४ । तेष्वो महागुरु कल्पे देवा असं-  
 ख्येयगुणाः, विमालबाहुत्वात् । तथापि परहस्त्राणि विमा-  
 लानां सप्तसारकल्पे, ज्वाराशिसप्तसारिणः महाशुक्रं, अत्यथ-  
 क्तयोविमालवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोत्रस्तोत्रात्ताराशोप-  
 रितनोपरितमविमालवासिनः, ततः सप्तसारदेवभ्यो महाशुक्र-  
 कल्पे देवा असंख्येयगुणाः १५ । तेष्वोऽपि पञ्चमधूमप्रजाभि-  
 धाननरत्कृषिध्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, बृहस्पतश्रेयसं-  
 ख्येयमागवर्तितनःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १६ । तेष्वोऽपि  
 झान्ते कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, अतिबृहस्पतश्रेयसंख्ये-  
 यमागवतमनःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १७ । तेष्वोऽपि च-  
 तुर्थ्यां बृहस्पतजां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, युकिः  
 प्रागुक्तैव भावनीया १८ । तेष्वोऽपि ब्रह्मलोके कल्पे देवा  
 असंख्येयगुणाः, युकिः प्रागुक्तैव १९ । तेष्वोऽपि तृतीयस्यां  
 बालुकप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाः संख्येयगुणाः २० । ते-  
 ष्वोऽपि प्राग्देवकल्पे देवा असंख्येयगुणाः २१ । तेष्वोऽपि सन-  
 त्कुमारकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युकिः सर्वत्रापि प्रागुक्तैव २२ ।  
 तेष्वो द्वितीयस्यां शंकरप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगु-  
 णाः । पते च सप्तमपृथिवीवाराकादयो द्वितीयपृथिवीनरत्कल्पयं-  
 न्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने विन्ययमानाः सर्वेऽपि घनीकुलनोक्तश्रेयस-  
 संख्येयमागवर्तितनःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् प्रकृष्टाः, केवलं श्रेयसं-  
 ख्येयमागोऽसंख्येयमेद्भिन्नः, तत इन्द्रमसंख्येयगुणतया अटप-  
 बृहस्पतमजिषीयमानान् च विरुध्यति २३ । तेष्वो द्वितीयनरक-  
 पृथिवीनरकल्पेः समृद्धिमन्त्रमुत्था असंख्येयगुणाः, ते दि अङ्ग-  
 लमाज्ञेप्रदेशराशेः संबन्धिनि तृतीयधर्ममूलेन गुणिते प्र-  
 थमधर्ममूले यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानि स्यदन्ति, या-  
 वन्त्येकस्यामेव प्राग्देविक्यां श्रेणी भवति तावत्प्रमाणाः २४ ।  
 तेभ्य ईशाने कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, यतोऽङ्गुलमाज्ञेप्र-  
 देशराशोः संबन्धिनि द्वितीये धर्ममूले तृतीयधर्ममूलेन गुणिते या-  
 वान् प्रदेशराशिमेवति तावत्प्रमाणास्तु घनीकुलस्य लोकेत्यै-  
 कप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमःप्रदेशास्तावत्प्रमाणो भवप-  
 त्तकल्पतो देवर्षीऽसमुदायस्तत्राक्तिकिञ्चिद्वनःप्राग्देशसमागक-  
 ष्या ईशानदेवाः, ततो देवाः समृद्धिमन्त्रमुत्थेऽसंख्येयगुणाः  
 २५ । तेष्व ईशानकल्पे देवोऽसंख्येयगुणाः, प्राग्देशगुण-

त्वात् । " बर्षीसगुणा बर्षीसकृचह्रियाद्यो हौति देवीभ्यो " इति  
 षष्चत्वात् २६ । ताभ्यः सौधर्मकल्पे देवाः संख्येयगुणाः,  
 तत्र विमानबाहुत्वात् । तथापि-तत्र प्राग्देशराशस्तसहस्राणि  
 विमानानामप्राग्देशराशस्तसहस्राणि ईशान कल्पे, अपि च-  
 क्षिणदिग्धर्षी सौधर्मकल्पे, ईशानकल्पस्तत्परिध्वर्षीः, दक्षिण-  
 स्यां च दिशि बहवः कृष्णाप्राक्तिकाः समुपचन्ते । ततः ईशा-  
 नदेवेभ्यः सौधर्मदेवाः संख्येयगुणाः । नन्विषं युकिःप्राग्देशस-  
 न्तकुमारकल्पयोऽरुण्युका, परं तत्र प्राग्देशकल्पपेक्षया सन-  
 त्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणा षष्काः, इह तु सौधर्मकल्पे सं-  
 ख्येयगुणाः । तदेव तत्कथम् ? उच्यते-यवनप्रामाण्यत्वात् । न चात्र  
 पाठग्रन्थः, यतोऽप्यत्राप्युक्तम् " ईशाने सवन्ध वि, बर्षीस-  
 गुणा षष्चि देवीभ्यो " । संखेऽज्ञा सोहम्ब, तन्नो असंका भवोत्था-  
 सी" ॥१॥ इति १७ । तेष्वोऽपि तस्मिन्नेव सौधर्मकल्पे देव्यः संख्ये-  
 यगुणाः, प्राग्देशगुणत्वात् । " सवन्ध वि बर्षीसगुणाश्चो हौ-  
 ति देवीभ्यो " इति षष्चत्वात् २७ । ताभ्योऽप्यसंख्येयगुणा  
 भवन्वासिनः । कथम् ? इति चेत् । इह अङ्गुलमाज्ञेप्रदेशरा-  
 शोः सम्बन्धिनि प्रथमे धर्ममूले तृतीयधर्ममूलेन गुणिते या-  
 वान् प्रदेशराशिमेवति तावत्प्रमाणानुघनीकुलस्य लोकेत्यै-  
 कप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमःप्रदेशास्तावत्प्रमाणो भवप-  
 त्तकल्पेयोऽसमुदायः, तत्राक्तिकिञ्चिद्वनःप्राग्देशराशस्तसहस्राणि भव-  
 न्पतयो देवाः, ततो घटन्ते सौधर्मदेवीभ्यस्तैःऽसंख्येयगुणाः २८ ।  
 तेष्वो भवन्तान्नो देव्यः संख्येयगुणाः, प्राग्देशगुणत्वात् २९ ।  
 ताभ्योऽप्यस्यां सप्तमजां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः,  
 ब्रह्मलमाज्ञेप्रदेशराशोः सम्बन्धिनि प्रथमधर्ममूले द्वितीयध-  
 र्ममूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानु श्रेणिषु  
 यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् ३१ । तेष्वोऽपि अ-  
 चरपञ्चिन्द्रियतियंभ्योनिकाः पुरुषाः असंख्येयगुणाः, अतारासंख्ये-  
 यमागवत्संख्येयश्रेणिषुनःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३२ । ते-  
 ष्वोऽपि अचरपञ्चिन्द्रियास्तियंभ्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः,  
 त्रिगुणत्वात् । " त्रिगुणा तिरुचभह्रिया, तिरियान् इत्थया  
 मुणयन्मा " इति षष्चत्वात् ३३ । ताभ्यः स्थलचरपञ्चिन्द्रियास्ति-  
 यंभ्योनिकाः पुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहस्पतरासंख्येयमागव-  
 त्संख्येयश्रेणिगतानाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३४ । तेष्वः स्थ-  
 लचरपञ्चिन्द्रियतियंभ्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात्  
 ३५ । ताभ्यो जलचरपञ्चिन्द्रियतियंभ्योनिकाः पुरुषाः संख्ये-  
 यगुणाः, बृहस्पतमरासंख्येयमागवत्संख्येयश्रेणिगतानाकाशप्र-  
 देशराशिप्रमाणत्वात् ३६ । तेष्वो जलचरपञ्चिन्द्रियतियंभ्यो-  
 निकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् ३७ । ताभ्यो व्यन्तरा-  
 देवाः पुवेदेदयिनः संख्येयगुणाः, यतः संख्येययान्तकोटा-  
 कोटिप्रमाणानि सूचीरूपाणि षष्चद्वानि यावन्त्येकस्मिन् प्रते-  
 भवन्ति तावन्तः सामान्येन व्यन्तराः, केवशमिष्ट पुरुषा विष-  
 क्तिता इति सकलसमुदायपेक्षया किञ्चिद्वनःप्राग्देशसमनागक-  
 ष्या वेदित्तयाः । ततो घटन्ते जलचरपञ्चिन्द्रियः संख्येयगुणाः  
 ३८ । तेष्वो व्यन्तरः संख्येयगुणाः, प्राग्देशगुणत्वात् ३९ ।  
 ताभ्यो य्पोत्कल्पदेवाः संख्येयगुणाः, ते हि सामान्यतः पद्यप्रा-  
 शदधिकशतश्रयाङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि षष्चद्वानि याव-  
 न्त्येकस्मिन् प्रते भवन्ति तावत्प्रमाणाः ; परमिष्ट पुरुषा विष-  
 क्तिता इति ते सकलसमुदायपेक्षया किञ्चिद्वनःप्राग्देशसमागक-  
 ष्याः प्रतिपत्तयाः, तत उपचन्ते व्यन्तरिण्यः संख्येयगु-  
 णाः ४० । तेष्वो य्पोत्कल्पदेव्यः संख्येयगुणाः, प्राग्देशगुण-  
 त्वात् ४१ । ताभ्यः अचरपञ्चिन्द्रियतियंभ्योनिका ननुसुक्तिः

संख्येयगुणाः। कश्चिद् 'असंख्येयगुणाः, इति पाठः; स न समी-  
चीनः, यत इत ऊर्ध्वे य पर्याप्तचतुरिन्द्रिया बह्व्यते तेऽपि ज्यो-  
तिष्कदेशेयैक्या संख्येयगुणा एवावपच्यन्ते । तथाहि-बदपञ्चा-  
शत्थिकशतद्वयाद्गुणप्रमाणाणि सूचीकृपाणि अएदानी यावन्त्येक-  
कस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्काः। अतः च-"अप्य-  
कशोऽसंख्युल सूत्रपरसिद्धे श्राद्धाया पयः"। ज्योतिर्किं हीरकः" इति।  
अद्गुलसंख्येयभागमात्राणि च सूचीकृपाणि अएदानी यावन्त्येक-  
स्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाः। अतुरिन्द्रियाः। उक्तं च-"पञ्चता-  
पञ्चत्वारिंशति च्छ्र असंखिणां अचहर्ति। अंगुलसंज्ञाऽसंख-  
प्य-एसमहयं पदो पयरे"। अद्गुलसंख्येयनागापेक्षया बद्पञ्चाशद-  
धिकमद्गुलशतद्वयं सङ्ख्येयगुणं, ततो ज्योतिष्कदेशेयैक्या परि-  
भाष्यमानाः। पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपि सङ्ख्येयगुणा एव घटन्ते,  
किं पुनः पर्याप्तचतुरिन्द्रियापेक्षया सङ्ख्येयभागमात्रावचरपञ्चे-  
न्द्रियमनुसंज्ञा इति ४२ । तेज्योऽपि स्थलचरपञ्चेन्द्रियमनु-  
संज्ञाः संख्येयगुणाः ४३ । तेज्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रियमनुसं-  
ज्ञाः संख्येयगुणाः ४४ । तेज्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः संख्ये-  
यगुणाः ४५ । तेज्योऽपि पर्याप्ताः संख्येयसंज्ञिभस्वादिष्यः पञ्चे-  
न्द्रिया विशेषाधिकाः ४६ । तेज्योऽपि पर्याप्ता द्विन्द्रिया त्रि-  
शेषाधिकाः ४७ । तेज्योऽपि पर्याप्ताः त्रिन्द्रिया विशेषाधिकाः  
४८ । यद्यपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनां पर्याप्तत्रिन्द्रियपर्यन्तानां  
प्रत्येकमद्गुलासंख्येयनागापेक्षया सूचीकृपाणि अएदानी याव-  
न्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणत्वमविशेषेणान्यत्र बह्व्यते,  
न तथाप्यद्गुलासंख्येयनागास्य संख्येयमेदंभिन्नस्वादिष्यं विशेषाधि-  
कत्वमुपयमानं न विरुद्धम् । उक्तं चेत्यमदपह्वसंख्येयत्राणि-"ततो  
नृत्सकश्चरसंज्ञे ज्ञा यश्वरजलचरपञ्चेन्द्रिया चतुरिन्द्रिया ततो  
पण्युषिति पञ्चत्ता किञ्चइहियत्सि" ४८ । तेज्योऽपि पर्याप्तत्रिन्द्रिये-  
भ्यांऽपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रिया असंख्येयगुणाः, अद्गुलासंख्येयनागा-  
मात्राणि अएदानी सूचीकृपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे ज्वन्ति  
तावत्प्रमाणत्वात् ४९ । तेज्यभ्युत्तुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधि-  
का ५० । तेज्योऽपि त्रिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५१ । तेज्यो  
द्विन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, यद्यपि चापर्याप्ताः अतुरिन्द्रि-  
यादयोऽपर्याप्तद्विन्द्रियपर्यन्ताः प्रत्येकमद्गुलासंख्येयनागापे-  
क्षया अपर्याप्ता सूचीकृपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्र-  
माणा अन्यत्राविशेषेणोक्ताः, तथाप्यद्गुलासंख्येयनागास्य विविच-  
नस्वादिष्यं विशेषाधिकत्वमुपयमानं न विरोधमास्तकस्मिन् ५२ ।  
तेज्योऽपि द्विन्द्रियापर्याप्तस्यः प्रत्येकमद्गुलचरस्पतिकाधिकाः  
पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, यद्यपि चापर्याप्तद्विन्द्रियाविष्यत् पर्या-  
प्तबाद्वरनस्पतिकाधिका अप्यद्गुलासंख्येयनागापेक्षया सूचीकृ-  
पाणि अएदानी यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे ज्वन्ति तावत्प्रमाणा  
अन्यत्रोक्ताः, तथाप्यद्गुलासंख्येयनागास्यसंख्येयमेदंभिन्नस्वाद् बा-  
द्वरपर्याप्तत्वकवनपरिदिमाणा जित्नायामद्गुलासंख्येयनागो-  
ऽसंख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न काश्चिद्द्वयोः ५३ । ते-  
ज्यो बाद्वरनिगोदा अनन्तकायिकशरीरकृपाः पर्याप्ता असंख्ये-  
यगुणाः ५४ । तेज्योऽपि बाद्वरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता असं-  
ख्येयगुणाः ५५ । तेज्योऽपि पर्याप्तबाद्वराकायिका असंख्येय-  
गुणाः, यद्यपि च पर्याप्तबाद्वरप्रत्येकवनस्पतिकाधिकाऽप्याधिकाः  
काः प्रत्येकमद्गुलासंख्येयनागापेक्षया सूचीकृपाणि अएदानी  
यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषेणो-  
क्ताः, तथाप्यद्गुलासंख्येयनागास्यसंख्येयमेदंभिन्नस्वादिष्यमसं-  
ख्येयगुणात्वादिष्यमनिवापे न काश्चिदोः ५६ । तेज्यो बाद्वरप-

पर्याप्ताकायिकेभ्यो बाद्वराकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः,  
घनीकृतलोकसंख्येयनागास्यसंख्येयप्रतरगतनजः। अद्दशराशि-  
प्रमाणत्वात् ५७ । तेज्यो बाद्वरज्जकायिका अपर्याप्ता असं-  
ख्येयगुणाः, असंख्येयलोककाशप्रदशराशिप्रमाणत्वात् ५८ ।  
तेज्यः प्रत्येकशरीरबाद्वरचनस्पतिकाधिका अपर्याप्ता असंख्ये-  
यगुणाः ५९ । तेज्योऽपि बाद्वरनिगोदा अपर्याप्ताका असंख्येय-  
गुणाः ६० । तेज्यो बाद्वरपृथिवीकायिका अपर्याप्ताका असंख्ये-  
यगुणाः ६१ । तेज्यो बाद्वराकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः  
६२ । तेज्यो बाद्वरवायुकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६३ ।  
तेज्यः सूक्ष्मतेज्जकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६४ ।  
तेज्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६५ ।  
तेज्यः सूक्ष्माकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६६ । तेज्यः  
सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६७ । तेज्यः सूक्ष्म-  
तेज्जकायिकाः पर्याप्ताका असंख्येयगुणाः, अपर्याप्तकसूक्ष्मेभ्यः  
पर्याप्तसूक्ष्माणानां स्वनामत्वं एव प्राप्नुयेण भावात् । तथा बाह  
अस्यामेव प्रह्लापनायां संग्रहणीकाः-" जीवाजमपञ्चत्ता, बहु-  
तरगा बाधराण विधेया । सुहुमाण य पञ्चत्ता, भोर्देण य केव-  
ली विति" । ६८ । तेज्योऽपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता  
विशेषाधिकाः ६९ । तेज्योऽपि सूक्ष्माकायिकाः पर्याप्ता विधे-  
षाधिकाः ७० । तेज्योऽपि सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विधे-  
षाधिकाः ७१ । तेज्योऽपि सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताका असंख्येय-  
गुणाः ७२ । तेज्योऽपि पर्याप्ताः सूक्ष्मनिगोदाः संख्येयगुणाः,  
यद्यपि च पर्याप्ततेज्जकायिकाः तस्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यन्ता  
अविशेषेणान्यत्राऽसंख्येयलोककाशप्रदशराशिप्रमाणता उक्ताः,  
तथाऽपि लोकसंख्येयत्वत्वाऽसंख्येयज्येदंभिन्नस्वादिष्यमप्य-  
बहुत्वमभिधीयमानमुपपन्नं द्रष्टव्यम् ७३ । तेज्योऽमबसि-  
द्धिका अनन्तगुणाः, जलचरपुङ्गवानन्तकमण्यत्वात् ७४ ।  
तेज्यः पतिपतिस्तस्मद्बह्व्योऽनन्तगुणाः ७५ । तेज्यः सिद्धा  
अनन्तगुणाः ७६ । तेज्योऽपि बाद्वरनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता  
अनन्तगुणाः ७७ । तेज्योऽपि सामान्यतो बाद्वरपर्याप्ता विधे-  
षाधिकाः, बाद्वरपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रह्लापात् ।  
७८ । तेज्यो बाद्वरपर्याप्तनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, ए  
कैकबाद्वरनिगोदपर्याप्तनिभयासंख्येयगुणानां बाद्वरपर्याप्तनिगो-  
दानां संभवात् ७९ । तेज्यः सामान्यतो बाद्वरपर्याप्ता विधे-  
षाधिकाः, बाद्वरपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रह्लापात् ८० ।  
तेज्यः सामान्यतो बाद्वर विशेषाधिकाः, पर्याप्तपर्याप्तानां तत्र  
प्रह्लापात् ८१ । तेज्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असं-  
ख्येयगुणाः ८२ । तेज्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विशेषा-  
धिकाः, सूक्ष्माऽपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रह्लापात्  
८३ । तेज्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताकाः संख्येयगुणाः,  
पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः स्वभावात् सवि संख्येय-  
गुणतया प्राप्यमाणत्वात्, तथा केवलबेहसोऽनुपलब्धेः ८४ ।  
तेज्योऽपि सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्त-  
सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रह्लापात् ८५ । तेज्यः  
पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणरहिताः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अप-  
र्याप्तसूक्ष्मपृथिव्यपृथेज्जायुवनस्पतिकायिकादीनामपि तत्र प्र-  
ह्लापात् ८६ । तेज्योऽपि अवासिद्धिका ' भवेसिद्धिर्वा ते भव-  
सिद्धिकाः ' भव्या विशेषाधिकाः, जलचरपुङ्गवानन्तकमात्राभ्य-  
गोद्विहारेण सर्वजीवानां भव्यत्वात् ८७ । तेज्यः सामान्यतो नि-  
गोद्वीजा विधेषाधिकाः, इह भव्याभयात्तातिप्राप्त्यर्थेण  
बाद्वरसूक्ष्मनिगोद्वीजावराण्येव प्राप्यते, नाम्नाच्च, इन्मेषां सूक्ष्-

भासमि मिलितानामसंख्येयशोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । अमभ्याश्च युक्तान्तकसंख्यामात्रपरिमाणस्ततो प्रत्यापिक्रया तै किञ्चिन्मात्रा भव्याश्च प्रागभ्यपरिदारेण खितिताः । इदानीं तु बादरसुहृमनिर्गोदाचित्वात् नोऽपि प्रक्रियन्त इति विशेषाधिकाः ८८ । तेभ्यः सामान्यतो वनस्पतिजोधा विशेषाधिकाः, अत्येकधारीरिणामपि वनस्पतिजिनानां तत्र प्रक्षेपात् ७९ । तेभ्यः सामान्यतः एकैन्द्रिया विशेषाधिकाः, बादरसुहृमपुधिषीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९० । तेभ्यः सामान्यतस्तिर्येभ्योनिकाः विशेषाधिकाः, पर्यासापर्यातद्विचतुःरिन्दियतिर्येकपञ्चेन्द्रियाणामपि तत्र प्रक्षेपात् ९१ । तेभ्यश्चतुर्गतिभाविनो मिथ्यादृष्टयो विशेषाधिकाः, इह कतिपयाविरतसम्पृष्टभाद्रिस्तैस्त्रिणांशेषाः शेषाः सर्वेऽपि तिर्येभ्यो मिथ्यादृष्टिभिन्नान्यां वाससंख्येयानाकाद्यस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते । ततस्तिर्येगुजोधाद्रापकेक्षया चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयभित्तमाना विशेषाधिकाः ९२ । तेभ्योऽप्यविरता विशेषाधिकाः, अविरतिसम्पृष्टभाद्रिका तत्र प्रक्षेपात् ९३ । तेभ्यः सकपाधिनो विशेषाधिकाः, देशविरतादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९४ । तेभ्योऽप्युष्ण्य विशेषाधिकाः, उपयान्तमोहादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९५ । तेभ्यः सयोगिनो विशेषाधिकाः, सयोगिकेवलिनानामपि तत्र प्रक्षेपात् ९६ । तेभ्यः संसाररूपा विशेषाधिकाः, अयोगिकेवलिनानामपि तत्र प्रक्षेपात् ९७ । तेभ्यः सर्वजीवा विशेषाधिकाः, सिक्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ९८ । गतं महादरण्यकाश्याम् । प्रश्नो ३ पदं । पं० सं० ।

( २५ ) [ योगद्वारम् ] चतुर्दशविधस्य संसारसामपन्न-  
जित्वस्य योगानामप्यबहुत्वम्—

एस्सि खं भंते ! चउदसविहाणं संमारममावण्णयाणं जीवाणं जट्ठाणुकोसगमस जोगस्स कयेरं कयेरंहितो जाव विसमाट्ठिया वा । १ । गोयमा ! सज्जथावा सुहुमस्स अपपज्जतगमस जट्ठाणए जोए १, बादरस्स अपपज्जतगमस जट्ठाणए जोए अपसंखेज्जगुणं २, बेइदियस्स अपपज्जतगमस जट्ठाणए जोए अपसंखे ३, एवं तेंइदियस्स ४, एवं चउरिंदियस्स ५, असएणपंचिंदियस्स अपपज्जतगमस जट्ठाणए जोए अपसंखेज्जगुणं ६, सएणपंचिंदियस्स अपपज्जतगमस जट्ठाणए जोए अपसंखे ७, बादरस्स पज्जतगमस जट्ठाणए जोए अपसंखेज्जगुणं ८, बादरस्स पज्जतगमस जट्ठाणए जोए अपसंखेज्जगुणं ९, सुहुमस्स अपपज्जतगमस उकोसए जोए अपसंखे १०, बादरस्स अपपज्जतगमस उकोसए जोए अपसंखे ११, सुहुमस्स पज्जतगमस उकोसए जोए अपसंखे १२, बादरस्स पज्जतगमस उकोसए जोए अपसंखे १३, बेइदियस्स पज्जतगमस जट्ठाणए जोए अपसंखे १४, एवं तेंइदियस्स वि १५, एवं जाव सण्णपंचिंदियस्स पज्जतगमस जट्ठाणए जोए अपसंखे १६, बेइदियस्स अपपज्जतगमस उकोसए जोए अपसंखे १७, एवं तेंइदियस्स वि १८, एवं चउरिंदियस्स वि १९, एवं जाव सण्णपंचिंदियस्स अपपज्जतगमस उकोसए जोए अपसंखे २०, एवं चउरिंदियस्स वि २१, एवं जाव सण्णपंचिंदियस्स पज्जतगमस उकोसए जोए अपसंखेज्जगुणं २२ ।

( जहन्नुकोसगसस जोगसस सि ) जघन्वो निकृष्टः काञ्चिद्विक्रमाभिव्यस एव च व्यक्त्वात्पर्ययोः कर्षे उक्तो जघन्वोत्कर्षः, तस्य योगस्य बीयां यन्नास्योपशमादिस्समुत्थाकायादिपरिस्पन्दस्य पतस्य च योगस्य चतुर्दशैर्गुणैर्यथासंख्येयानसम्बन्धाज्ञधर्योत्कर्षेनभावोऽप्राविशतिविषयत्वात्परत्वद्वय्यादिजीवस्थानकविशेषाद्भवति, तत्र ( सव्यःयोषेत्वादि ) सुहृमस्य पुधिष्यादिः सुहृमत्प्रादीरस्य तस्याप्यपर्यासकवेत्तानसंपूर्णत्वात्प्रापि जघन्वस्य विक्रितत्वात्सर्वेषां योष्यमाणेषु योगेभ्यः सकाशात् स्तोकाः सर्वस्तोका भवति, जघन्वो योगः स पुनर्वैदिककाम्बरीदारिकपुद्गलप्रहणप्रथमसमयवर्षां, तदन्तरञ्च समयवृत्त्याऽजघन्वोत्कृष्टो यावत्सर्वोत्कृष्ट न प्रयति । ( वायुरस्सेत्यादि ) बादरजोष्य पुधिष्यादीरपर्यासकजीवस्य जघन्वो योगः पूर्वोक्तपेक्षयाऽसकृत्प्रागुणोऽसंख्यातगुणवृत्तो बादरत्वाद्भवति । एवमुत्तराध्यायसंख्यातगुणेषु वृत्तयम् । इह च यदापि पर्यासकान्द्विन्दयोत्कृष्टायापेक्षया पर्यासकानां द्वैन्द्रियाणां सङ्घिनामसाक्षिनां च पञ्चेन्द्रियाणासकृष्टः कायः संख्यातगुणो प्रयति, संख्यातजोत्तमप्राणात्वात्, तथापीह योगस्य परिरिस्पन्दस्य विविक्रितत्वास्य च ज्ञाप्यपदाभविशेषसामर्थ्यादधोक्तमसंख्यातगुणस्य न विक्रियते, न शब्दकामस्यैवपि पक्षस्येभ्यो भवति, महाकायस्य वा महानिब, ध्यत्येभेनापि तस्य दशोनादिति । अ० २४ शू० १ उ० ।

पतस्वैष योगापबहुत्वस्य व्याख्यायिका गाथा—

सुहुमनिर्गोदाइरण—ऽपज्जोगवायविलल असएणमण्ण ।  
अपज्ज लहुपदमहुगुर, पज्जइस्सिरसो अमंसगुणो ॥ १ ३ ॥  
तत्र सुहृमनिर्गोदस्य सुहृमसाधारणस्य लक्ष्यपर्यासकस्य सर्वजघन्वोवीर्येस्तेति च स्तोत्रार्थोऽह वचयति । तस्यैव सर्वजघन्वयोगस्य प्राच्यमाणत्वादादिक्षणः प्रथमोऽप्यसि सभयः सुहृमनिर्गोदादिकृष्णः, तत्र सत्येकवचनलोपाद्य प्रकृतत्वात् । किम्, १, स्तोत्राह— ( अणजोग सि ) ब्रह्मणः सर्वस्तोका योगो वीर्यव्यापार इति यावत् । ततो बादरस्य विमल सि । तस्यैव सर्वजघन्वयोगः । ( असएण सि ) अस्मिन्निः ' अपज्ज सि ' प्रत्येकं सन्धघान्तसुहृमनिर्गोदाबादरङ्गकणस्य गुरुत्कृष्टो योगो सर्वपेयगुणां वाच्यः । ततः प्रथमद्विकस्य ( पज्जइस्सिरसो अमंसगुण सि ) पर्यासस्य इत्थो जघन्व इतर इत्कृष्टयोगो यथाक्रममसंख्येयगुणां वाच्य इति गाथाकारार्थः । भावार्थसंबन्धम्— नृहृमनिर्गोदस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्वो योगः सर्वस्तोकाः । ततो बादरैर्कोऽद्यस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः २ । ततो द्वैन्द्रियस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः ३ । ततश्चिन्द्रियस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः ४ । ततश्चिन्द्रियस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः ५ । ततोऽसंख्येयगुणः ६ । ततः सङ्घिपञ्चेन्द्रियस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः ७ । ततोऽसंख्येयगुणः ८ । ततो बादरैर्कोऽद्यस्य पर्यासकस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः ९ । ततोऽसंख्येयगुणः १० । ततो बादरैर्कोऽद्यस्य पर्यासकस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः ११ । ततो सुहृमनिर्गोदस्य लक्ष्यपर्यासकस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः १२ । ततो बादरैर्कोऽद्यस्य पर्यासकस्य जघन्वो योगोऽसंख्येयगुणः १३ ॥

असमतत्सुकृष्टो, पज्जजहृश्रियरि एव विट्ठाण्ण । ।

अपनेतर संखगुणा, परमजविप असंखगुणा ॥५४॥  
 असमासा अपयोस्तसे च ते प्रत्याक्ष द्वीन्द्रियाद्योऽसमासत्र-  
 षाः, अपयोऽसिप्रिचतुर्विन्द्रियाः, संख्यसौपन्नशुन्द्रियसाम्यमु-  
 क्तदोऽसमासत्रसोत्कृष्टाऽसंख्येयगुणो धाच्यः । अपमयो-पर्यासवा-  
 दरेकेन्द्रियात्कृतयोगाद् द्वीन्द्रियस्य स्रष्टवर्षयासकस्योत्कृष्टो यो-  
 गोऽसंख्येयगुणः १४ । ततस्त्रीन्द्रियस्य स्रष्टवर्षयासकस्योत्कृष्टो-  
 बांगोऽसंख्येयगुणः १५ । ततश्चतुर्विन्द्रियस्य स्रष्टवर्षयासक-  
 स्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १६ । ततोऽसंख्येयगुणस्य स्र-  
 ष्यवर्षयासकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १७ । ततः संखिप-  
 ञ्चिन्द्रियस्य स्रष्टवर्षयासकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १८ ।  
 ( पञ्जजडव सि ) ततश्चत्वारणां पर्यासाणां जघनयो योऽसंख्ये-  
 यगुणो धाच्यः १९ । ततोऽपि ( इपर सि ) प्रत्यानां पर्यासानामुत्कृष्टो  
 योगोऽसंख्येयगुणो धाच्यः २० । इत्युक्तार्षेः । प्रागर्थस्यव्यव-  
 रततः संखिपञ्चिन्द्रियस्य स्रष्टवर्षयासकस्योत्कृष्टयोग्यात्पर्यासद्वीन्द्रिय-  
 स्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २१ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्यासकस्य  
 जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २२ । ततश्चतुर्विन्द्रियस्य पर्यासकस्य  
 जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २३ । ततोऽसंखिपञ्चिन्द्रियस्य पर्या-  
 सकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २४ । ततः संखिपञ्चिन्द्रियस्य  
 पर्यासकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २५ । ततः पर्यासद्वीन्द्रि-  
 यस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २६ । ततः पर्यासत्रिन्द्रियस्यो-  
 त्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २७ । ततः पर्यासचतुर्विन्द्रियस्योत्कृ-  
 ष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २८ । ततः पर्याससंख्येयगुणोऽसंख्येयगुणोऽसं-  
 ष्यवर्षयासकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २९ । ततोऽसंख्येयकदा-  
 नास्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३० । ततो भाग्युर्मज्जानां तिर्य-  
 क्तमनुष्यानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३१ । ततोऽप्युत्तरकशरी-  
 रानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३२ । ततोऽप्युत्तरकशरीर-  
 त्रिभुवणार्णां यथोत्तरमुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३३ ।  
 अथ सुक्तावर्षाघायात्पञ्चदशवर्षाणां यन्त्रकमुपपन्नवैतं । तत्कदम्

गुणकारश्चात्रापि सुमन्त्रैश्चपत्सोपमासंख्येयभागकः प्रत्येकं  
 प्राप्नोति । तद्वन्न जघन्ययोर्गी उच्यते । कर्मसंज्ञेशाह्वं जघन्यस्य स्थिति  
 च विदुष्यति, योगवृद्धी च तदुत्क्रुचिरपीति स्थितमिति । ( एव  
 विदुष्यत्येति ) एवम्, मत्वात्स्य शोषः, प्राकृतत्वात् । पूर्वाकस्य-  
 योगप्रकृषणान्येव सुहृत्संखिपञ्चिन्द्रियादिजीवकमयैव स्थितानां  
 स्थानानि स्थित्याघानि, वाक्चान्निता शेषः । तत्र जघन्य-  
 स्थितेरात्स्य एकैकसमयवृक्षा सस्योत्कृष्टनिःस्थितिपर्ययसामा-  
 ये स्थितिभ्रद्वास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते । कथं गुरुरेतानि धा-  
 च्यानि ? इति, किपञ्चानि पुनरंतानि ? इत्याह—संख्यगु-  
 णानि । तत्र संख्यानां संख्या, तामरति संख्या : " इवदादिभ्यो  
 यः " ६ । ४ । १९७ । इति ( हेमचन्द्रेण ) यप्रत्ययः । ततः  
 संख्याः संख्येयः संख्यात इत्ययो गुरो गुणकारो येषां तानि  
 संख्यगुणानि, संख्यातगुणितानि स्युः । किं सखेष्टवृत् संख्यात-  
 गुणान्येव, ब्रह्मोत्तिष्ठति कस्मिंश्चित्पद विशेषः ? इत्याह—  
 ( परमजविप असंखगुण सि ) परं क्वचमम, अग्र्यासद्वीन्द्रि-  
 ये अपर्यासद्वीन्द्रियपदे, तानि स्थित्स्थानानि असंख्यातगुणानि  
 २ । ततः सुहृत्संखिन्द्रियस्य पर्यासकस्य स्थित्स्थानानि संख्या-  
 तगुणानि ३ । ततो बादरेकेन्द्रियस्य पर्यासकस्य स्थित्स्थानानि  
 संख्यातगुणानि ४ । पतानि च पदयोपमासंख्येयभागसमयु-  
 स्यानि स्थित्स्थानानि भवन्ति । यन एकन्द्रियाणां जघन्यो-  
 त्कृष्टस्थित्योर्स्तदासमेतावभाभ्रमेवेति, ततोऽपर्यासद्वीन्द्रियस्य  
 स्थित्स्थानान्यसंख्यातगुणितानि । पश्चात्परमसंख्येयभागमाभा-  
 षीति कृत्वा ५ । तनसंख्येय द्वीन्द्रियस्य पर्यासकस्य स्थित्-  
 स्थानानि संख्यातगुणितानि ६ । तत्स्त्रीन्द्रियाप्यासकस्य  
 स्थित्स्थानानि संख्यातगुणितानि ७ । ततश्चतुर्विन्द्रियस्य पर्या-  
 सकस्य स्थित्स्थानानि संख्यातगुणितानि ८ । ततश्चतुर्विन्द्रिय-  
 स्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २६ । ततः पर्यासत्रिन्द्रियस्यो-  
 त्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २७ । ततः पर्यासचतुर्विन्द्रियस्योत्कृ-  
 ष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २८ । ततः पर्याससंख्येयगुणोऽसंख्येयगुणोऽसं-  
 ष्यवर्षयासकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २९ । ततोऽसंख्येयकदा-  
 नास्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३० । ततो भाग्युर्मज्जानां तिर्य-  
 क्तमनुष्यानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३१ । ततोऽप्युत्तरकशरी-  
 रानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३२ । ततोऽप्युत्तरकशरीर-  
 त्रिभुवणार्णां यथोत्तरमुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३३ ।  
 अथ सुक्तावर्षाघायात्पञ्चदशवर्षाणां यन्त्रकमुपपन्नवैतं । तत्कदम्

सूत्रमि० अप० ज- घ० योग सर्वस्तो० । शांदि० अप० जघ० यो० असं० ४ संखि अप० जघ० यो० असं० ७ द्वीन्द्रि० पर्या० जघ० यो० असं० १० असंखि पर्या० जघ० यो० असं० १३ बादर अप० उत्कृ० यो० असं० १६ चतुर्विन्द्रि० अप० उ- त्कृ० यो० असं० १६ सूत्रमनि० पर्या० उ- त्कृ० यो० असं० २३ त्रिन्द्रि० व० उत्कृ० यो० असं० २५ संखि पर्या० उत्कृ० यो० असं० २८ प्रागदूमि० तिर्ये० च० यो० असं० ३१	बादर० अप० जघ० योग असं० २ चतुर्वि० अप० जघ० यो० असं० ५ सूत्रमनिगो० पर्या० ज० यो० असं० ८ त्रिन्द्रिय० व० जघ० यो० असं० ११ संखि पर्या० जघ० यो० असं० १४ द्वीन्द्रि० अप० उ- त्कृ० यो० असं० १७ असंखि पर्या० उत्कृ० यो० असं० २० बादर पर्या० उत्कृ० यो० असं० २३ चतुर्वि० व० उत्कृ० यो० असं० २६ अनुत्तरा० उत्कृ० यो० असं० २९ आहारक० उत्कृष्ट० यो० असं० ३३	द्वीन्द्रि० अप० उ- त्कृ० यो० असं० ३ असंखि० अप० ज- घ० असं० ६ बादर पर्या० जघ० यो० असं० ९ चतुर्वि० व० जघ० यो० असं० १२ सूत्रमनिगाव० अप० उ- त्कृ० यो० असं० १५ त्रिन्द्रि० अप० उत्कृ० यो० असं० १८ संखि अप० उत्कृष्ट० यो० असं० २१ द्वीन्द्रि० व० उत्कृ० यो० असं० २४ असंखि पर्या० उत्कृ० यो० असं० २७ श्रेयषकरेव० उत्कृ० यो० असं० ३० देवना० ति० मनु० उत्कृ० यो० असं० ३३
--	---	---

स्थापना-

सू० अप० प० सिध- स्थो० ति सं०	बादर० प० सिध- स्थो० ति सं०	द्वीन्द्रि० अप० सिध- स्थो० ति सं०	त्रीन्द्रि० अप० सिध- स्थो० ति सं०	चतुर्वि० अप० सिध- स्थो० ति सं०	असं० अप० सिध- स्थो० ति सं०	संखि० अप० सिध- स्थो० ति सं०
---------------------------------	-------------------------------	--------------------------------------	--------------------------------------	-----------------------------------	-------------------------------	--------------------------------

तद्वं निरूपितानि धारप्रसङ्गेन स्थित्स्थानानि । कर्म २५ कर्म ०  
 योगस्थेबाद्यप्यवहृत्य प्रकारान्तेरेणाऽऽह—  
 एयसन् भेति ! पश्चरसविदसत् जहृण्यकासगस्त  
 कपरं कपरेहितो जाह विससाहिया वा ? गोपदा !  
 स्रष्टवर्षोव कम्मगमरीरसस जहृण्य जोए ? अारासि-  
 यमीमगस्त जहृण्य जोए असंखेज्जगुणे २, वेउत्तिय-  
 धीसगस्त जहृण्य जोए असंखेज्जगुणे ३, आरोल्लि-  
 यमरीरसस जहृण्य जोए असंखेज्जगुणे ४, वेउत्तिय-

यसरीरस्स जइएणए जोए असंखेज्जगुणे ५, कम्मग-  
सरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ६, आहारग-  
भीसगस्स जइएणए जोमे असंखेज्जगुणे ७, आहा-  
रगपीसगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ८, ओरासि-  
यपीसगस्स वेउन्वियपीसगस्स । एएसिं एं उक्कोसए  
जोए दांएइ वि तुद्धं असंखेज्जगुणे ९, असंखामोस-  
एणजोगस्स जइएणए जोए असंखेज्जगुणे १०, आ-  
हारगस्स सररीरस्स जइएणए जोए असंखेज्जगुणे ११,  
तिविहस्स एणयांगस्स चउन्विहस्स वइजोगस्स एएमि  
एं सचएइ वि तुद्धं जइएणए जोए असंखेज्जगुणे १२,  
आहारगसरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १३,  
ओरासियसरीरस्स वेउन्वियसरीरस्स चउन्विहस्स य म-  
खजोगस्स चउन्विहस्स य वजोमास्स । एएसिं एं दस-  
एइ वि तुद्धं उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १४ ।  
टीका सुगमा । भ० २५ श० १ उ० ।

मनोयोण्यादीनामन्यबहुत्वम्-

एएसिं एं जंते । जीवाणं सजोगीणं मणजोगीणं वय-  
जोगिणं कायजोगीणं अजंगीण ए य कपरे कपरेहितो  
अप्या वा बहुया वा तुक्का वा विभेसाहिया वा ? । गो-  
यया ! सवन्त्योवा जीवा मणजोगी, वयजोगी असंखे-  
ज्जगुणा, अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा,  
सजोगी विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनोयोगिनः, संख्यसंक्षिपयिता एव हि मनोयोगि-  
नः, ते च स्तोका इति; तेषां चार्यागिनोऽसंख्येयगुणाः, द्वि-  
यादीनां चार्यागिनां संख्येयोऽसंख्यतगुणत्वात् । तेषांऽर्थागि-  
नोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेष्यः काययोगिनोऽनन्ताः,  
वनस्पतीनामनन्तत्वात् । यद्यपि निर्गोदजीवानामनन्तानामेकं  
शरीरं तथापि तेनैकेन शरीरेण सर्वेऽप्यारहादिप्रदणं कुर्वन्ती-  
नि सर्वेषामपि काययोगिभावान्नान्तगुणत्वव्याघातः । तेष्यः  
सामान्यतः सयोगिनो विशेषाधिकाः, द्विऽद्वियादीनामपि चार्यो-  
यादीनां तत्र प्रक्षेपात् । गते योगिचार्ये । प्रश्नो ३ पद । कर्मो  
जी० । १० सं० ।

(२६) [योगिद्वारम्] शीतान्तिकेनिकानाम्-

एतेसिं एं भंते । जीवाणं सीतजोगीणयाणं उसिणजोगीणयाणं  
सीतोसिणजोगीणयाणं अजोगीणयाण य कपरे कपरेहितो  
अप्या वा० ४ ? । गोयया ! सवन्त्योवा जीवा सीतोसिणजो-  
गियाण, उसिणजोगियाण असंखेज्जगुणा, अजोगियाण अणंत-  
गुणा, सीतजोगियाण अणंतगुणा ।

अन्यबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः शीतोष्णयोनयः शीतोष्णो-  
प्रययोनिकाः, प्रवनवासिगमैजातयेकपञ्चैन्द्रियगर्जमनुष्य-  
वन्तःउपोतैरूपवैमैकिकानामेवोऽनययोनिकत्वात् । तेषांऽसं-  
ख्येयगुणा उष्णयोनिकाः, सर्वेषां सूक्ष्मकारभेदविभक्तानां तैज-  
स्काधिकानां प्रभूततराणां तैरिकाणां कानिचयानां पृथिव्यव्या-  
पुप्रत्येकचनपटवतीनां चोऽर्थाधिकत्वात् । अर्थाधिकं अनन्तगुणाः

सिद्धानामनन्तत्वात् । तेष्यः शीतयोनिका अनन्तगुणाः, अनन्त-  
कायिकानां सर्वेषामपि शीतयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽ-  
प्यनन्तगुणत्वात् ।

सचिचत्तचित्तमिधयोनिकानाम्-

एतेसिं एं जंते । जीवाणं सचिचत्तजोगीणं अचिचत्तजो-  
जोगीणं मीसजोगीणं अजोर्णाण य कपरे कपरेहितो  
अप्या वा० ४ ? । गोयया ! सवन्त्योवा जीवा मीसजोगी-  
या, अचिचत्तजोगिया असंखिजगुणा, अजोर्णिया अणं-  
तगुणा, सचिचत्तजोगिया अणंतगुणा ।

अन्यबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका जीवा मिधयोनिका, गर्भेष्पु-  
त्कान्तिकतिर्यक्पञ्चैन्द्रियमनुष्याणामेव मिधयोनिकत्वात् । त-  
भ्योऽचिचत्तयोनिका असंखेयगुणाः, तैरैरिकादेवानां कानिचयानां च  
प्रत्येकं पृथिव्यप्लेजोवायुप्रत्येकचनस्पतिद्विचिचत्तुरिन्द्रियसंभू-  
त्विमतिर्यक्पञ्चैन्द्रियसंभूत्विमनुष्याणामचिचत्तयोनिकत्वात् ।  
तेज्योऽप्ययोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । त-  
ज्यः सचिचत्तयोनिका अनन्तगुणाः, निर्गोदजीवानां सचिचत्तयो-  
निकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

संभूतविवृतयोनिकानाम्-

एतेसिं एं जंते । जीवाणं संभूतजोगीणयाणं विवृतजोगीणयाण  
य संभूतविवृतजोगीणयाणं अजोगीणयाण य कपरे कपरेहितो  
अप्या वा० ४ ? । गोयया ! सवन्त्योवा संभूतविवृतजोगीणया,  
विवृतजोगिया असंखेज्जगुणा, अजोगिया अणंतगुणा,  
संभूतजोगिया अणंतगुणा ।

अन्यबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः संभूतविवृतयोनिकाः, गर्भेष्पु-  
त्कान्तिकतिर्यक्पञ्चैन्द्रियमनुष्याणामेव संभूतविवृतयोनिकत्वा-  
त् । तेज्यो विवृतयोनिकाः संखेयगुणाः, द्विऽद्वियादीनां चतुरिन्द्रि-  
यपर्यवसानानां संभूत्विमतिर्यक्पञ्चैन्द्रियसंभूत्विमनुष्याणां  
च विवृतयोनिकत्वात् । तेज्योऽयोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानाम-  
नन्तत्वात् । तेष्यः संभूतयोनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनां संभू-  
तयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रश्नो ८ पद ।

(२७) [अर्थाद्वारम्] सल्लययानामन्यबहुत्वम्-  
तत्र सल्लयाऽल्लयानामन्यबहुत्वचिन्तायां- "सवन्त्योवा  
अलेस्सा, सलेस्सा अणंतगुणा" इति १ प्रति० ।

सप्रति सल्लयदीनामन्यबहुत्वमाह-

एएमिं एं भंते । जीवाणं सलेसाणं कएइल्लेसाणं नील-  
लेसाणं काउलेसाणं तेउलेसाणं पम्हलेसाणं सुकलेसाणं  
अलेसाणं य कपरे कपरेहितो अप्या वा० ४ ? । गोयया !  
सवन्त्योवा जीवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, तेउ-  
लेस्सा संखिज्ज, अलेस्सा अणंतगुणा, काउलेस्सा अणंत-  
गुणा, नीललेस्सा विभेसाहिया, कएइल्लेस्सा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः शुक्लेश्याः, लालकाविष्वेवायुसरपर्यवसानेषु  
वैमानिकेषु रेवेयु कतिपयेषु च गर्भेष्पुत्कान्तिकेषु कर्मभूमिकेषु  
संख्येयवयंयुष्केषु मनुष्येषु तिर्यक्कृत्तियुष्केषु कतिपयेषु सं-  
ख्येयवयंयुष्केषु तस्याः संजन्ता । तेज्यः पण्णलेश्याकाः संखेय-  
गुणाः, सा हि सन्नुमारमादेन्द्रब्रह्मलोककल्पवर्षास्तिपु संवेयु-  
नथा प्रभूतेषु गर्भेष्पुत्कान्तिकेषु कर्मभूमिषु संख्येयवयंयुष्के-

पु मनुष्यस्त्रीपुनपुंसकेषु नया गर्भमुत्कान्तिकतिर्यम्योनिकस्त्री-  
पुनपुंसकेषु असंख्येयवर्षेषु कृष्णव्याप्यते, सनत्कुमारदिदेवाद्य-  
श्च समुद्रिना क्षान्तकादिदेवादिभ्यः संख्येयगुणाः, इति प्रवर्तिता  
शुद्धलेह्याकाः पञ्चलेह्याकाः संख्येयगुणाः, तेज्यस्तेजोऽह-  
श्वाकाः संख्येयगुणाः, सर्वेषां सौभ्रमंशान्ज्योतिष्कदेवानां क-  
तिपदानां च भवत्परतिपत्तराप्रमृत्कान्तिकतिर्यम्योन्दिभ्य-  
मनुष्याणां बादराऽपरातिकेन्द्रियाणां च तेजोऽहेश्यामावात् ।  
गन्धसंख्येयगुणाः कस्माच्च भवन्ति, कथं न भवन्ति इ, इति ।  
वेत् । उच्यते-इह ज्योतिष्का प्रवर्तमानास्तेऽप्यसंख्येयगुणाः,  
किं पुनः सनत्कुमारदिदेव्यः, ते च ज्योतिष्कास्तेजोऽहेश्याका-  
स्तथा सौभ्रमंशान्कल्पदेवाश्च ततः प्राप्नुवन्त्यसंख्येयगुणाः । तद-  
वुक्तम् । चस्तुतरवापरिहामात् । लेह्यापदे हि गर्भमुत्कान्तिकति-  
र्यम्योनिकानां संसृष्टिमपमन्दिभ्यतियम्योनिकानां च कृष्ण-  
लेह्याद्यन्ववद्भुत्वे स्वं वक्ष्यति-“सर्वशोभा गम्भवक्त्रितयतिरि-  
क्काजोषिया सुकलेस्सा, तिरिक्काजोषियाभिं संखेज्जगुणाभो, प-  
म्हलेस्सा गम्भवक्त्रितयतिरिक्काजोषिया संखेज्जगुणा, तिरिक्काजो-  
षियाभिं संखेज्जगुणाभो, तसलेस्सा गम्भवक्त्रितिरिक्काजोषिया  
संखेज्जगुणा, तसलेस्साभो तिरिक्काजोषियाभिं संखेज्जगुणाभो”  
इति मद्वादयम्के च तिर्यम्योनिकस्त्रीभ्यो व्यन्तरज्योतिष्काश्च  
संख्येयगुणा वक्ष्यन्ते । ततो यद्यपि भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणा  
ज्योतिष्काः, तथापि पञ्चलेह्याकेभ्यस्तेजोऽहेश्याकाः संख्येयगुणा  
एव । इदमत्र नाप्यर्थः-यदि केवलम्-देवानेव पञ्चलेह्यान-  
धिकृत्य देवा एव तेजोऽहेश्याकाः किन्तु ततो भवन्त्यसंख्येय-  
गुणाः, यावता तिर्यसंभिन्ना पञ्चलेह्याकेभ्यस्तिर्यसंभिन्ना  
एव तेजोऽहेश्याकाः भवन्त्यन्ते, तिर्यश्च पञ्चलेह्या अपि प्रति-  
बहवस्ततः संख्येयगुणा इति । तेभ्यः शब्देभ्यामा भ्रान्तगुणाः,  
सिद्धानामभ्रान्तत्वात् । तेभ्यः कापोतलेह्या भ्रान्तगुणाः, वनस्प-  
निकायिकानामपि कापोतलेह्यायाः संज्ञत्वात्, वनस्पतिकायिक-  
वानां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणात् । तेभ्योऽपि नीललेह्या  
विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां नीललेह्यासंभवात् । तेभ्योऽपि  
कृष्णलेह्याका विशेषाधिकाः, प्रभूतानां कृष्णलेह्याकत्वात् ।  
सामान्यतः सलेह्या विशेषाधिकाः, नीललेह्याकादीनामपि तत्र  
प्रहेणात् । प्रज्ञां ३ पदं जी० कर्म० ।

तद्वं सामान्यतोऽप्यवद्भुत्वं जितिततः संप्रति नैरपिकेषु  
तश्चित्तयच्चाह-

एतेसि णं भंते । नरैद्याणं कएहलेस्साणं नीललेस्साणं  
काउलेस्साण य कपरे कपरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुष्ठा  
वा विसंसाहिया वा ? । गोयमा । सन्वत्थोवा नरैद्या  
कएहलेस्सा, नीललेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-  
संखेज्जगुणा ।

नैरिकाणां हि तिको लेह्याः । तच्छा-कृष्णलेह्या, नीललेह्या,  
कापोतलेह्या । उक्तञ्च-“काउपदोस्तु तस्या-ए मोसिया नीलि-  
या चउत्थीए । पंचमियाए मिरस्सा, कएहा ततो पदमकएहा”  
॥ १ ॥ ततः त्रयाणामेव पदानां परस्परमव्यवहृत्यभित्ता, तत्र  
सर्वेस्तोकाः कृष्णलेह्या नैरिकाका, कतिपयपञ्चमपृथिवीगतन-  
रकावासेषु चतुर्णां समस्त्यां नैरिकाणां कएहलेह्यासंज्ञात्वात् ।  
ततोऽसंख्येयगुणा नीललेह्याः, कतिपयेषु स्त्रीयपृथिवीगतन-  
रकावासेषु चतुर्थ्यां समस्त्याणां पृथिव्यां कतिपयेषु पञ्चमपृथि-  
वीगतनरकावासेषु नैरिकाणां पूर्वोक्तयोऽसंख्येयगुणाणां नी-

ललेह्यामावात् । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतलेह्याः, प्रथम-  
द्वितीयपृथिव्योऽस्तोत्रयपृथिवीगतेषु च कतिपयेषु नरकावासेषु  
नारकायामनन्तरेकेभ्योऽसंख्येयगुणाणां कापोतलेह्यासंज्ञा-  
वात् ।

अधुना तिर्यम्योन्दिभ्योऽप्यवद्भुत्वमाह-

एसि णं भंते । तिरिक्कजोषियाणं कएहलेस्साणं ०  
जाव सुकलेस्साण य कपरे कपरेहितो अप्पा वा बहुया वा  
तुष्ठा वा विसंसाहिया वा ? । गोयमा । सन्वत्थोवा तिरिक्क-  
जोषिया सुकलेस्सा, एवं जहा भोहिया, नवरं अहेस्सज्जा ।

( एवं जहा भोहिया इति ) एवमुपरद्वितेन प्रकारेण प्राग्भूत  
श्रीधिकास्तथा चकम्पाः, नवरंमलेह्यावर्जोस्तिरिक्कामेहेश्यामा-  
मसंभवात् । ते चैवम-सर्वस्तोकास्तियम्योनािकाः शुद्धलेह्या-  
स्ते च अचन्यदेवं संख्याता ब्रह्मण्यः १, तेभ्योऽसंख्येयगुणाः प-  
ञ्चलेह्याः २, तेभ्योऽपि संख्येयगुणास्तेजोऽहेश्याः ३, तेभ्यो-  
ऽप्यनन्तगुणाः कापोतलेह्याः ४, तेभ्योऽपि नीललेह्या वि-  
शेषाधिकाः ५, तेभ्योऽपि कृष्णलेह्या विशेषाधिकाः ६, ते-  
भ्योऽपि सलेह्या विशेषाधिकाः ७ ।

साम्यतमेकन्दिभ्योऽप्यवद्भुत्वमाह-

एतेसि णं जंते । एमिदियाणं कएहलेस्साणं ० जाव तेउ-  
लेस्साण य कपरे कपरेहितो अप्पा वा ० ? । गोयमा । म-  
न्वत्थोवा एमिदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा,  
नीललेस्सा विसंसाहिया, कएहलेस्सा विसंसाहिया ॥

सर्वस्तोका एकन्दिभ्यास्तेजोऽहेश्याः, कतिपयेषु बादरपृथिव्य-  
प्रत्येकवनस्पतिकन्दिभ्योऽप्यसाकश्यायां तस्याः संज्ञात्वात् ।  
तेभ्यः कापोतलेह्या भ्रान्तगुणाः, भ्रान्तानां सुकमबादरनिगो-  
दजीवानां कापोतलेह्यासंज्ञात्वात् । तेभ्योऽपि नीललेह्या वि-  
शेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेह्या विशेषाधिकाः । अत्र भाव-  
ना प्रागेवोक्ता ।

सम्प्रति पृथिवीकायिकादिविषयमव्यवहृत्यं चकम्प्यम् । तत्र पृ-  
थिव्यव्यवहनस्पतिकायानां चतस्रो लेह्याः, तेजोवायुकायानां तिस्र  
इति तथैव सूत्रमाह-

एतेसि णं जंते । पुडवीकाइयाणं कएहलेस्साणं ० जाव  
तेउलेस्साण य कपरे कपरेहितो अप्पा वा ० ? । गोयमा ।  
जहा भोहिया एमिदिया, नवरं काउलेस्सा असंखिज्ज-  
गुणा, एवं अउकाइयाण वि । एतेसि णं जंते । तेउ-  
काइयाणं कएहलेस्साणं नीलकाउलेस्साण य कपरे कपरे-  
हितो अप्पा वा ० ? । गोयमा । सन्वत्थोवा तेउकाइया  
काउलेस्सा, नीललेस्सा विसंसाहिया, कएहलेस्सा विसं-  
साहिया, एवं बाउकाइयाण वि । एतेसि णं जंते । वणस्स-  
इकाइयाणं कएहलेस्साणं ० जाव तेउलेस्साण य जहा ए-

मिदियाणं वेदितियतेदियचउरिदियाणं जहा तेउकाइया-  
णं । एतेसि णं भंते । पंचिदियमिरिक्कजोषियाणं कएह-  
लेस्साणं ० जाव सुकलेस्साण य कपरे कपरेहितो अप्पा वा  
बहुया वा तुष्ठा वा विसंसाहिया वा ? । गोयमा । जहा भो-  
हियाणं तिरिक्कजोषियाणं, नवरं काउलेस्सा असंखि-  
ज्ज-

अनगुणा ? , संमुच्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं जहा ते-  
उकाइयाणं २ , गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं  
जहा क्रोःइयाणं , तिरिक्त्वजोषियाणं नवरं काउलेस्सा सं-  
खिज्जगुणा ३ , एवं तिरिक्त्वजोषियाणं वि ४ ।

‘पुब्वीकार्याणमित्यादि’ सुगमम् । द्विचिञ्चनुदिन्द्रियविषयमपि  
पञ्चिन्द्रियतियर्थानुभूतिकसूत्रे कापोतलेहया अस्संख्यानगुणा नव-  
नन्तगुणाः , पञ्चिन्द्रियतिरिक्त्वा सर्वसंख्यायाऽप्यसंख्यातत्वात् ।  
संमुखिञ्चमपञ्चिन्द्रियतिरिक्त्वा यथा तेजस्कायिकानामुक्तं तथा व-  
कस्यम् । तेजस्कायिकानामिह तेषामप्याद्यलेहयाययमात्रसङ्गा-  
त्वात् । गन्धव्युत्क्रान्तिकपञ्चिन्द्रियतियर्थानुभूतिकसूत्रम्-तेजोलेहया-  
प्यः कापोतलेहयाः संख्येयगुणा वकस्यम् , तावतामिह तेषां केव-  
लवैतन्तोपलभ्यत्वात् , शेषमौषधिकसूत्रं वकस्यम् । एवं तियर्थानु-  
भूतिकानामपि सूत्रं वकस्यम् । तथाचाऽऽह-( एवं तिरिक्त्व-  
जोषियाणं चि ) ।

अथुना संसूचिञ्चमगम्भेरुत्क्रान्तिकतियर्थकपञ्चिन्द्रियत्वीविषयं  
द्वेषमाह-

एतेसि खं भंते ! संमुच्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं  
गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणकएहलेस्साणं० जाव  
सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? ; गोयमा ।  
सम्बत्थोवा गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाण सुक-  
लेस्सा , पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा , तेउलेस्सा संखिज्जगुणा ,  
काउलेस्सा संखेज्जगुणा , नीललेस्सा विमसाहिया , क-  
एहलेस्सा विससाहिया , काउलेस्सा संमुच्छिन्नपंचिदियति-  
रिक्त्वजोषिया अस्संखिज्जगुणा , नीललेस्सा विससाहिया ,  
कएहलेस्सा विससाहिया । एतेसि पंचं भंते ! संमु-  
च्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं तिरिक्त्वजोषियाणं य  
कएहलेस्साणं० जाव सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अ-  
प्पा वा० ४ ? । गोयमा ! जद्देव पंचमं तद्दा इमं पि उट्ठं जा-  
णियव्वं ॥

एतच्च प्राग्वद्भावनीयम् । इदं किञ्च पञ्चिन्द्रियतियर्थानुभूतिकवि-  
कारे षष्ठ सूत्रम्,अनन्तरंके च षष्ठमम् । अत उक्तम्-( अदेव  
पंचमं तद्दा इमं उट्ठं भाणियव्वं )

अथुना गम्भेरुत्क्रान्तिकतियर्थकपञ्चिन्द्रियतियर्थकत्वीविषयं  
सप्तमं सूत्रमाह-

एतेसि पंचं भंते ! गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं  
तिरिक्त्वजोषियाणं य कएहलेस्साणः० जाव सुकलेस्साण य  
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा । सम्बत्थोवा गम्भ-  
वकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाण सुकलेस्सा , सुकलेस्सा-  
ओ तिरिक्त्वजोषियाणो संखेज्जगुणाओ , पम्हलेस्सा ग-  
म्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाण संखेज्जगुणा , पम्ह-  
लेस्साओ तिरिक्त्वजोषियाणोओ संखेज्जगुणाओ , तेउ-  
लेस्सा संखेज्जगुणा , तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ ,  
काउलेस्सा संखेज्जगुणा , नीललेस्सा विससाहिया ,

कएहलेस्सा विससाहिया , काउलेस्साओ संखिज्जगुणा-  
ओ , नीललेस्साओ विससाहियाओ , कएहलेस्साओ वि-  
सेसाहियाओ ॥

“ एतसि खं भंते ! ” इत्यादि सुगमम् । नवरं सर्वोत्त्वपि लेहया-  
सु खियः प्रवृत्ताः , सर्वसङ्ख्यायाऽपि च तियर्थकपुण्येन्यास्तियर्थक-  
खियसिगुणाः , “ तियुणाप्रतिकारिकाया , तिरियाओ इतियथा सुण-  
यव्वा ” इति वचनात् । ततः संख्यातगुणा उक्ताः , नपुंसका-  
स्तु गम्भेरुत्क्रान्तिकाः कतियथ इति न ते वयोक्तमद्वयबहुत्वं  
व्याच्यन्ति ॥

सम्प्रति संसूचिञ्चमपञ्चिन्द्रियतियर्थानुभूतिकगम्भेरुत्क्रान्तिकपञ्च-  
िन्द्रियतियर्थानुभूतिकतियर्थकत्वीविषयमद्यम् , तथा सामान्यतः पञ्च-  
िन्द्रियतियर्थानुभूतिकतियर्थकत्वीविषयं नवमं , तथाच सामान्यत-  
स्तियर्थानुभूतिकतियर्थकत्वीविषयं दशमं सूत्रमाह-

एतेसि खं भंते ! संमुच्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं  
गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं तिरिक्त्वजो-  
षियाणं य कएहलेस्साणं० जाव सुकलेस्साण य कयरे  
कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा । सम्बत्थोवा गम्भवक-  
तियतिरिक्त्वजोषियाण सुकलेस्सा , सुकलेस्साउ चि संखि-  
ज्जगुणाओ , पम्हलेस्साओ संखिज्जगुणाओ , तेउलेस्साओ  
गम्भ चि संखेज्जगुणा , तेउलेस्साउ चि संखेज्जगुणा , का-  
उलेस्साउ चि संखेज्जगुणा , नीललेस्सा विमसाहिया ,  
कएहलेस्सा विससाहिया , काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ ,  
नीललेस्साओ विससाहियाओ , कएहलेस्साओ विमसा-  
हियाओ , काउलेस्साओ संमुच्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजो-  
षिया अस्संखिज्जगुणा , नीललेस्सा विससाहिया , कएह-  
लेस्सा विससाहिया उ । एतसि पंचं भंते ! पंचिदियतिरि-  
क्त्वजोषियाणं तिरिक्त्वजोषियाणं य कएहलेस्साणं० जाव  
सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !  
सम्बत्थोवा पंचिदियतिरिक्त्वजोषियाण सुकलेस्सा , सुकले-  
स्साओ संखिज्जगुणाओ , पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा , पम्ह-  
लेस्साओ संखिज्जगुणाओ , तेउलेस्सा संखेज्जगुणा ,  
तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ , काउलेस्सा संखेज्जगुणा ,  
नीललेस्सा विमसाहिया , कएहलेस्सा विससाहिया ,  
काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ , नीललेस्साओ विससा-  
हियाओ , कएहलेस्साओ विससाहियाओ ए । एतेसि खं  
भंते ! तिरिक्त्वजोषियाणं तिरिक्त्वजोषियाणं य कएह-  
लेस्साणं० जाव सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा-  
वा० ४ ? । गोयमा ! जद्देव एवमं अप्पाबहुमं , तद्दा इमं पि ,  
नवरं काउलेस्सा तिरिक्त्वजोषियाण अणंमगुणा । एवं  
एते दस अप्पाबहुमा तिरिक्त्वजोषियाणं ० । एवं मणु-  
स्साणं वि अप्पाबहुमा जाणियव्वन्वा ; नवरं पञ्चिमं अ-  
प्पाबहुमं णत्थि ॥

आवना प्रागुक्तानुसारेण कर्षव्या । विष्वानिकविषयां सूत्र-  
सकलनामाह—“एवमेते वृक्ष अप्पावहृया तिरिक्कलजोषिया-  
पमिति” सुगमम्; नवररामहेमे पूर्वाचार्याप्रदर्शिते संग्रहशीगमय-  
“मोदिविषयान्दि १ संसु-स्त्रिया य २मम ३इतिरिक्कलरुधीओऽ।  
संमुकडगमभतिरिया, ४ मुकडतिरिक्कली य ६ गमनम् ७ ॥ १ ॥  
संमुकडगमभरुधी, ८ परिणितिनिगमिध्याओ ६ इत्यौ उ १० ।  
वृक्ष अप्पावहृगमेया, तिरियाणं हौति खायव्वा ॥ २ ॥  
यथा तिरिक्कामरुषवहृवाभ्युक्तानि तथा मनुष्याणामपि वक्-  
ष्यानि; नवरं पश्चिमे दशममन्वषवहृवत् नस्ति, मनुष्याणा-  
मनन्तराजावात्; तदभावं “काञ्चलसा अर्थात्तुणा” इति-  
पदार्थमवात् ।

अपुना देवविषयमन्वषवहृवमाह—

एतमि एं भेते । देवाणं कएह्लेस्साणं० जाव मुकलेस्सा-  
ण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ॥ गोयमा । मन्वत्थोवा  
देवा मुकलेस्सा, पम्हलेस्सा अमंसिखजगुणा, काउलेस्सा  
अमंसिखजगुणा, नीललेस्सा विसेमाहिया, कएह्लेस्सा  
विसेमाहिया, तेउलेस्सा मंसिखजगुणा ॥

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, लातकादिदेवद्वौकेष्वेव तेषां स-  
द्भावात् । तेज्य. पक्षमश्या अस्संख्येयगुणाः, जवनपतिव्यन्तरदे-  
वेषु सनन्नुमारादिदेवेष्वोस्संख्येयगुणेषु कापातलेश्यासद्भावा-  
त् । तेभ्योऽपि नीलेश्या विशेषाधिकाः, प्रजूनतराणां भवन-  
पतिव्यन्तराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या वि-  
शेषाधिकाः, प्रजूनतराणां तेषां कृष्णलेश्याकत्वात् । तेभ्योऽपि  
तेजोऽपि संख्येयगुणाः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तराणां स-  
मस्तानां ज्योतिष्कसौधमेशानदेवानां तेजोलेश्याजावात् ।

अपुना देवीविषयं सूत्रमाह—

एपमि एं भेते । देवीणं कएह्लेस्साणं० जाव तेउलेस्साण  
य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विने-  
साहिया वा १ । गोयमा । मन्वत्थोवाओ देवीओ काउलेस्सा-  
ओ, नीलेश्याओ विसेमाहियाओ, कएह्लेस्साओ विसे-  
माहियाओ, तेउलेस्साओ संखेजगुणाओ ।

( एपमि ण जंते । देवीणमित्यादि ) देव्यक्ष सौधमेशानान्ता  
एव न परत इति तासां चतस्र एव श्रेष्यास्तनस्तद्विषयमेया-  
द्वषद्वयमिति धत्तुना “जाव तेउलेस्साण य” इत्युक्तम् । सर्व-  
स्तोका देव्यः कापातलेश्याः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तरदेवा-  
नां कापातलेश्याभावात् । तेभ्यो विशेषाधिका नीलेश्याः, प्र-  
जूनानां भवनपतिव्यन्तरदेवानां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि  
कृष्णलेश्या विद्याधिकाः, प्रजूनानां तासां कृष्णलेश्याकत्वात् ।  
ताभ्यन्तरेजोश्रेष्याः संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कसौधमेशानदेवाना-  
मपि समस्तानां तेजोलेश्याकत्वात् ।

समर्थन देवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एतमि एं जंते । देवाणं देवीण य कएह्लेस्साणं० जाव  
मुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ॥ गोयमा ।  
मन्वत्थोवा देवा मुकलेस्सा, पम्हलेस्सा अमंसिखजगुणा,  
काउलेस्सा अमंसिखजगुणा, नीललेस्सा विसेमाहिया,  
कएह्लेस्सा विसेमाहिया, काउलेस्साओ देवीओ संखेज-  
१६६

गुणाओ, नीलेश्याओ विसेमाहियाओ, कएह्लेस्साओ  
विसेमाहियाओ, तेउलेस्सा देवा संखेजगुणा, तेउलेस्सा-  
ओ देवीओ संखेजगुणाओ ।

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, तेभ्योऽस्संख्येयगुणाः पक्षलेश्याः,  
तेभ्योऽप्यस्संख्येयगुणाः कापातलेश्याः, तेभ्यो नीलेश्या विशेष-  
ाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, पतासप्रागण  
भाविताम् । तेभ्योऽपि कापातलेश्याका देव्यः संख्येयगुणाः ताश्च  
भवनपतिव्यन्तरनिकापायान्तरां वेदितव्याः, अन्यत्र देवीनां का-  
पातलेश्याया मसम्भवात् । देव्यश्च देवभ्यः सामान्यतः प्रनिनि-  
कायं ह्यभिरदुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यां देवीभ्यः कापातलेश्याया  
असम्भवात् । देव्यश्च देवभ्यः सामान्यतः प्रनिकायं ह्यभिरा-  
दुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यां देवीभ्यः कापातलेश्या देव्यः संख्य-  
ेयगुणा अपि घटन्ते, ताभ्यां नीलेश्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः  
कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः अप्यपि प्राग्भूतं भावना । तेभ्योऽपि  
तेजोलेश्या देवाः संख्येयगुणाः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तरा-  
णां समस्तानां ज्योतिष्कसौधमेशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात् ।  
तेभ्योऽपि तेजोलेश्याका देव्यः संख्येयगुणाः, ह्यभिरदुणायात् ।

समर्थन भवनवासिणं देवाणं सूत्रमाह—

एतमि एं भेते । जवनवासिणं देवाणं कएह्लेस्साणं०  
जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ॥  
गोयमा । सन्वत्थोवा जवणवासी देवा तेउलेस्सा, काउ-  
लेस्सा अमंसिखेजगुणा, नीललेस्सा विसेमाहिया, कएह-  
लेस्सा विसेमाहिया ।

( एपमि णं भेते । इत्यादि ) सर्वस्तोकास्तेजोश्रेष्याः, महर्क-  
यो हि तेजोश्रेष्याका जवनानः महर्कयक्षादरे, इति सर्वस्तोकाः।  
तेभ्योऽस्संख्येयगुणाः कापातलेश्याः, अनिरयेन प्रभूतानां का-  
पातलेश्यासंज्ञवात् । तेभ्यो नीलेश्या विशेषाधिकाः, अनि-  
प्रभूतनराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषा-  
धिकाः, अनिप्रभूतनराणां कृष्णलेश्याजावात् । एवं जवनपति-  
देवीविषयमपि सूत्रं ज्ञानवीथम् ।

तच्च—

एतमि एं जंते । जवणवासिणं देवीणं कएह्लेस्सा-  
णं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ॥  
गोयमा । एवं चेत ।

अपुना भवनपतिदेवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एपमि णं जंते । भवणवासीणं देवाणं देवीण य कएह-  
लेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०  
४ ॥ गोयमा । । सन्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, भ-  
वणवासीणो तेउलेस्साओ संखेजगुणाओ, काउले-  
स्सा भवणवासी अमंसिखजगुणा, नीललेस्सा विसेमा-  
हिया, कएह्लेस्सा विसेमाहिया, काउलेस्साओ जवण-  
वासिणीओ संखेजगुणाओ, नीललेस्साओ विसेमाहिया-  
ओ, कएह्लेस्साओ विसेमाहियाओ, एवं वाणमंतराण वि-  
तिशेव अप्पावहृया जवणवासीणं तदिव भाणियवत् ।



( एपसि णमित्यादि ) सर्वस्तेका प्रजनवासिनो देवास्तेजो-  
 श्रेयाकाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्यस्तेजोश्रेयाका भवनवा-  
 सिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, देवयोः हि देव्यः सामान्यतः प्र-  
 तिनिकायं ह्यग्निशुद्धास्तपोपपद्यन्ते संख्येयगुणत्वमिति । ते-  
 ऽप्यः कापोतश्रेया भवनवासिनो देवा असंख्येयगुणाः, तेऽप्य-  
 पि नीलश्रेया विशेषाधिकाः, तेऽन्योऽपि कृष्णश्रेया विशेषा-  
 धिकाः । युक्तिरत्र प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेभ्यः कापोतश्रेया भव-  
 नवासिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, भावना प्रागुक्तभावनानुसरणेन  
 भावनीया । ताभ्यो नीलश्रेया विशेषाधिकाः, ताभ्यः कृष्णले-  
 श्या विशेषाधिकाः, एवं बाणमन्तरविषयमपि सूत्रत्रयं भाव-  
 नीयम् ।

उपोत्पिक्वविषयसूत्रम्—

एतेमि णं जंते । जोऽसियाणं देवाणं देवीण य तेउले-  
 स्साणं कपरे कपरेहिंतो अप्या वा० ५ । गोयमा । मन्वत्थो-  
 वा जोऽसियदेवा तेउलेस्सा, जोऽसिणीभ्यो देवीभ्यो तेउले-  
 स्साभ्यो संखिजगुणाभो ।

ज्योत्पिक्वविषयमेकमेव सूत्रं, तन्निकायतेजोश्रेयाकाश्चतिरेकेण  
 श्रेयायान्तरासम्भवात्, पृथग् देवदेवीविषयसूत्रद्वयासम्भवात् ।  
 वैमानिकदेवविषयं सूत्रमाह—

एतेसि णं जंते । वेमाणियाणं देवाणं तेउलेस्साणं पम्ह-  
 शेस्साणं सुकलेस्साण य कपरे कपरेहिंतो अप्या वा० ५ ।  
 गोयमा । सन्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा  
 असंखिजगुणा, तेउलेस्सा देवा असंखिजगुणा ॥

सर्वस्तेकाः शुक्लश्रेयाः, क्षान्तकादिदेवानामेव शुक्लश्रेयास-  
 म्भवात् । तेषां चोत्तरकर्षेणोऽपि भेदयसंख्येयभागगतप्रदेशाराशि-  
 मानत्वात् । तेभ्यः पम्हलेश्या असंख्येयगुणाः, सनत्कुमारभा-  
 र्हेन्द्राणां ककल्पवासिनो सर्वैर्यामपि देवानां पम्हलेश्यासंभ-  
 वात् । तेषां चातिपृथक्प्रभेदयसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशारा-  
 शिप्रमाशुत्वात् । क्षान्तकादिदेवपरिमाणहेतुभेदयसंख्येयभाग-  
 यकृया ह्यर्थाभि परिमाणहेतुभेदयसंख्येयभागोऽसंख्येयगुणः, ते-  
 ऽन्योऽपि तेजालेश्या असंख्येयगुणाः, तेजालेश्या हि सौधर्मेशा-  
 नदेवानाम्, ईशानदेवाभ्यां ह्युद्धामात्रैकप्रदेशाराशि सम्बन्धिनि  
 द्विनीयवर्गसूत्रे मूर्तौ यवर्गमूत्रेण गुणितं यावान् प्रदेशाराशिमैव-  
 ति तावत्प्रमाणात्सु घनीकृतस्य ह्योकस्य एकप्रदेशिकीषु भेदियु-  
 याचन्तो नभःप्रदेशाः तावत्प्रमाणाः, ईशानकल्पगतदक्षसमु-  
 दायस्तदगतकिंशुद्रवृद्धाभिशरास्रमनागकटपाः, तेभ्योऽपि सौध-  
 र्मेककपदेवाः संख्येयगुणाः स्वतो जयन्ति, पम्हलेश्वर्यस्तेजोश्रेया  
 असंख्येयगुणाः, हेव्यश्च सौधर्मेशानकल्पयोरेव, तत्र च कवहा ते-  
 जोश्रेया, तेजालेश्यान्तरासम्भवात् ; न तन्नियं पृथक्सूत्रमतः ।  
 सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एपसि णं जंते । वेमाणियाणं देवाणं देवीण य तेउले-  
 स्साणं पम्हलेस्साण य सुकलेस्साण य कपरे कपरेहिंतो  
 अप्या वा० ५ । गोयमा । मन्वत्थोवा वेमाणिया देवा सु-  
 कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखेजगुणा, तेउलेस्सा असंखिज-  
 गुणा, तेउलेस्साभ्यो वेमाणियांभ्यो देवीभ्यो संखेज्जाभ्यो ।  
 'एपसि णं जंते ।' इत्यादि ह्युगमम, नवरं 'तेउलेस्साभ्यो वेमाणि-  
 योभ्यो देवीभ्यो संखेज्जगुणाभ्यो देवीभ्यो देवीनां ह्यग्निशुद्धत्वात् ।

अधुना भवनपातिव्यवन्तरज्योत्पिक्ववैमानिकाविषयं सूत्रमाह—  
 एपसि णं जंते । भवणवासीणं देवाणं वाणमंतराणं जो-  
 इमियाणं वेमाणियाणं देवाण य कएह्लेस्साणं० जाव सु-  
 कलेस्साण य कपरे कपरेहिंतो अप्या वा० ५ । गोयमा । स-  
 न्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखि-  
 जगुणा, तेउलेस्सा अर्षसंखिजगुणा, तेउलेस्सा जवणवा-  
 सी देवा असंखिजगुणा, काउलेस्सा असंखिजगुणा,  
 नीलशेस्सा विसेसाहिया, कएह्लेस्सा विसेसाहिया,  
 तेउलेस्सा वाणमंतरा देवा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-  
 संखिजगुणा, नीलशेस्सा विसेसाहिया, कएह्लेस्सा वि-  
 सेसाहिया, तेउलेस्सा जोऽमिया देवा संखेज्जगुणा । एतेमि  
 णं जंते । जवणवामिणीणं वाणमंतराणं जोऽमिणीणं  
 वेमाणियाण य कएह्लेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कपरे  
 कपरेहिंतो अप्या वा० ? । गोयमा । सन्वत्थोवाभ्यो दे-  
 वीभ्यो वेमाणियाभ्यो तेउलेस्साभ्यो, जवणवासीणी-  
 भ्यो तेउलेस्साभ्यो असंखेज्जगुणाभ्यो, काउलेस्साभ्यो  
 असंखेज्जगुणाभ्यो, नीलशेस्साभ्यो विसेसाहियाभ्यो, कएह-  
 लेस्साभ्यो विसेसाहियाभ्यो, तेउलेस्साभ्यो वाणमंतरादेवी-  
 भ्यो अर्षसंखेज्जगुणाभ्यो, काउलेस्साभ्यो अर्षसंखेज्जगुणाभ्यो,  
 नीलशेस्साभ्यो विसेसाहियाभ्यो, कएह्लेस्साभ्यो विसेसाहिया-  
 भ्यो, तेउलेस्साभ्यो जोऽमिणीभ्यो देवीभ्यो संखेज्जगुणाभ्यो ।

( एपसि णं जंते । भवणवासीणमित्यादि ) तत्र सर्वस्तेका वैमा-  
 निका देवाः शुक्लश्रेयाः, पम्हलेश्या असंख्येयगुणाः, तेजालेश्या  
 असंख्येयगुणाः, इत्यत्र जावनाऽननमेव कृताः । तेभ्योऽपि भव-  
 नवासिनो देवास्तेजोश्रेयाका असंख्येयगुणाः कथमिति चेत् ?,  
 उच्यते—अहुत्तमात्रसप्तप्रदेशराजोः संखिजगुणाः प्रथमयधु-  
 सेन गुणिते यावान् प्रदेशाराशिमैवनि तावत्प्रमाणात्सु घनीकृ-  
 तस्य लोकस्य एकप्रदेशिकीषु भेदियु यावान् प्रदेशाराशिस्ता-  
 वत्प्रमाणां भवनपातिदेवीसमुदायः, तत्रतककिंशुद्रवृद्धाभिशरास्र-  
 मनागकटपाः भवनपातियो देवास्तत इमे प्रभूता इति ह्यनन्तं सौध-  
 र्मेशानन्देवेज्यस्तेजोश्रेयाका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः कापोत-  
 श्रेया प्रजनवासिन एवासंख्येयगुणाः, अर्षसंखिजगुणाः अर्षसंखिज-  
 गुणां कापोतश्रेयासम्भवात् । तेभ्योऽपि भवनवासिन एव  
 नालेश्या विशेषाधिकाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्योऽपि  
 बाणमन्तरास्तेजालेश्याका असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?,  
 उच्यते—इहासंख्येययाजनकटीकादिप्रमाणानि सूचीर्याणि क-  
 रानि यावन्त्येकस्मिन् प्रनरे भवन्ति तावान् व्यन्तरदेवदेवीसं-  
 मुदायः, तत्रतककिंशुद्रवृद्धाभिशरास्रमनागकटपा इत्यन्तरदेवाः, तत  
 इमे भवनपतिभ्योऽतिप्रभूतता इत्युपपद्यन्ते । कृष्णश्रेयभ्यो अ-  
 वणपतिभ्यो वाणमन्तरास्तेजालेश्याका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि  
 बाणमन्तरा एव कापोतश्रेयाका असंख्येयगुणाः, अर्षसंखिजगु-  
 णमपि कापोतश्रेय यानावात् । तेभ्योऽपि वाणमन्तरा नीलश्रेया वि-  
 शेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णश्रेया विशेषाधिकाः, अर्षापि युक्तिः  
 प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेजालेश्या उपानिका देवाः संख्येयगुणाः,  
 यतः पृथक्प्रदेशाधिकाहुत्तमन्तरप्रमाणानि सूचीर्याणि बाध-

लित् कएडाडि एकस्मिन् प्रनरे भवन्ति ताद्यप्रमाणां ज्योतिष्कदेवदेवीसमुदायः, तन्नगतिकञ्जिद्वुनञ्जिशसमजागकडया ज्योतिष्कदेवाः, ततः कृष्णक्षेत्र्येभ्यो वाणमन्तरेभ्यः संख्येयगुणा एव षट्पत्ते ज्योतिष्कदेवाः, न त्वसंख्येयगुणाः, सूचीरूपलखडप्रमाणहेतोः संख्येययोजनाकौटीकाद्यपेक्षया षट्पञ्चाशदधिकानुसंशतद्वयसंख्येयजागमाप्रवर्षित्वात् ।

सम्प्रति भवनवास्यादिदेवदेवीविषयं, तदनन्तरं जवनवास्यादिदेवदेवीसमुदायविषयं सूत्रमाह—

एतासि षं जंते । जवणवासीणं जाव वेमाणियाणं देवाण य देवीण य काहलेस्साणं जाव सुकलेस्साण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा०५ । गोयमा । सवत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउल्लेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउल्लेस्साओ देवीओ वेमाणियाओ संखेज्जगुणाओ, तेउल्लेस्सा भवणवादीदेवा असं०, तेउल्लेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, काउल्लेस्सा जवणवासी असं०, नीललेस्सा विसमाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउल्लेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउल्लेस्साओ वाणमंतरा असं०, तेउल्लेस्साओ वाणमंतराओ संखे०, काउल्लेस्सा वाणमंतरा असं०, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउल्लेस्साओ वाणमंतराओ संखे०, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्सा विसेसाहिया, तेउल्लेस्सा जोडसिया संखे०, तेउल्लेस्साओ जोडसियाओ संखेज्जगुणाओ ।

पलख सूत्रव्ययमाप प्रागुक्तभावनाऽनुसारेण भावनीयम् । प्रमाण १७ पद । (अथवाः स्थानानामल्पबहुत्वं तु 'लेस्सा' शब्द बध्वते ) ( बर्गणया अल्पबहुत्वं बन्धप्रकरणवाचसरे बध्वते )

( २८ ) इदानीं वेदद्वारमाह—

एषि षं जंते । जीवाणं सवेदगाणं इत्थीवेदगाणं पुरिसवेदगाणं नपुंसगवेदगाणं अवेदगाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा०५ । गोयमा । सवत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा, इत्थीवेदगा संखेज्जगुणा, अवेदगा अणंतगुणा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा, सवेदगा विसेसाहिया ।

सर्वेस्तोकाः पुरुषवेदाः, संहिनामेव तिर्यकमनुष्णाणां देवानां च पुरुषवेदभावात् । तेष्वः स्त्रीवेदाः संख्येयगुणाः, यत्र उक्तं जीवाभिगमे—'तिरिक्खजोणियपुरिसहितो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिमुणाओ तिरुवाहियाओ य तथा मणुस्सपुरिसहितो मणुस्सइत्थीओ सत्ताथीसगुणाओ सत्ताथीसरुक्कुराओ य तथा देवपुरिसहितो देवत्थीओ वत्तासगुणाओ वत्तासरुक्कुराओ च " इति । बुद्धाचार्यैरुक्तम्—

" तिमुणा तिरुवमहिया, तिरियाण इत्थिया मुणेयव्वा । सत्ताथीसगुणा पुण, मणुयाणं तदाहिया चेव ॥ १ ॥ वत्तासगुणा वत्ता—सरुवमहिया य तद व देवानं । देवाओ पण्णात्ता, जिणेहि जियराम्पोसेहि " ३ ॥

अवेदकाः अनन्तगुणाः, सिद्धानामानन्तत्वात् । तेष्वो नपुंसकवेदा अनन्तगुणाः, धनरूपतिकायिकानां सिद्धेऽप्यनन्तगुणत्वात् । सामान्यतः सवेदका विशेषाधिकाः, स्त्रीबेदकपुरुषवेदकानामपि तत्र प्रकृष्यात् । प्रमाण ३ पद ३।० ।  
सवेदकानामल्पबहुत्वविन्यायम्—

अप्यावहृद्यं—सवत्थोवा अवेदगा, सवेदगा अणंतगुणा । एवं सकमाती चेव अकसाती चेव जहा सवेया य तदेव जाणियव्वा । जी०? प्रति० । भ० ।

अथ वेदविशेषयतां स्त्रीपुंसपुंसकानां प्रात्येकमल्पबहुत्वम्—तत्र स्त्रीणां पञ्चान्पबहुत्वानि । तद्यथा—प्रथमं सामान्येनाल्पबहुत्वम्, विशेषविन्यायां द्वितीयं त्रिविधतयैकक्रीणाम्, तृतीयां त्रिविधमनुष्प्यस्त्रीणाम्, चतुर्थे चतुर्विधैकक्रीणाम्, पञ्चमं मिश्रस्त्रीणाम् । तत्र प्रथममल्पबहुत्वमभिधिसुराह—

एतासि षं भंते । तिरिक्खजोणित्थियाणं मणुस्मित्थियाणं देवित्थियाणं कयरा कयराहितो अप्पा वा बहुया वा तुष्ठा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा । सवत्थोवाओ मणुस्मित्थियाओ, तिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

( एतासि षं भंते । इत्यादि ) सर्वेस्तोका मनुष्प्यस्त्रियाः, संख्यातकाः कौटुम्बप्रमाणत्वात् । नत्प्राप्तिसंख्येयसिद्धिः स्त्रियाऽसंख्येयगुणाः, प्रतिज्ञापि प्रतिस्मृद्धं तिर्यकस्त्रीणामिति बहुतया संभवात्, द्वीपसमुद्राणां वाऽसंख्येयत्वात् । तत्ताभ्यांऽपि देवस्त्रियाऽसंख्येयगुणाः, भयनशालित्वमन्तरे ज्योतिष्कसौषधेशानदेवीनां प्रात्येकमसंख्येयगुणाकाशप्रदर्शनादिप्रमाणत्वात् । १ ।

द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एतासि षं भंते । तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं वक्षयरीणं खहयरीण य कयरा कयराहितो अप्पाओ वा बहुयाओ वा तुष्ठाओ वा विसेसाहियाओ वा ? गोयमा । सवत्थोवाओ खहयरतिरिक्खजोणियाओ, वक्षयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वेस्तोकाः लक्षरतिर्येथोनिकास्त्रियाः, ताम्बः स्थलचरतिर्येथोनिकास्त्रियाः संख्येयगुणाः, लक्षराभ्यः स्थलचराणां स्वभावत एव प्राचुर्येण जावात् । ताभ्यो जलचरस्त्रियाः संख्येयगुणाः, लवणे कालादि स्वयंनूरमणे च समुद्रे मत्स्यानामिति प्राचुर्येण जावात् । स्वयंनूरमणसमुद्रस्य च शेषसमस्तद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽतिप्रतृत्त्वात् ।

अधुना तृतीयमाह—

एतासि षं भंते । मणुस्सित्थियाणं कम्मचूमियाणं अकम्मचूमियाणं अंतरदीवियाण य कयरा कयराहितो अप्पा वा०५ । गोयमा । सवत्थोवाओ अतरदीवग अकम्मचूमगणुस्सित्थियाओ, देवकुलउत्तरकुलअकम्मचूमगणुस्सित्थियाओ दो वि तुष्ठाओ संखेज्जगुणाओ, हरिनाससम्मगवास अकम्मचूमगणुस्सित्थियाओ दो वि तुष्ठाओ संखेज्जगुणाओ, देववहिरएणवयवास अकम्मचूमगणुस्सित्थियाओ दो वि तुष्ठाओ

संखेजगुणाभो, जंहरवयवासकम्भूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुआओ संखेजगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्म-  
 जूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुआओ संखेजगुणाओ ।  
 सर्वेस्तोका अन्नरहीपकाऽकमंजूमकमनुष्यस्त्रियः, क्केत्रव्याएप-  
 त्वात्ताभ्यो देवकुक्कुरकुठोस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्केत्रस्य संख्ये-  
 यगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, समानप्रमाण-  
 क्षेत्रत्वात् । ताभ्यो हरिर्बर्षेऽप्यकवयां कर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः सं-  
 ख्येयगुणाः, देवकुक्कुरकुक्कुराणैक्या इति वर्षेऽप्यकक्केत्रस्यातिप्र-  
 चुरत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, क्केत्रस्य समानत्वा-  
 त् । ताभ्योऽपि हेमवतहेरस्य यथाकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः संख्ये-  
 यगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽपि अल्पस्तिर्यातकतया गृह्णां तत्र तासां  
 सम्भवात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि  
 भरतेरवतकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, कर्मरामिन-  
 या स्वभावत एव तत्र प्राणुयंणं संभवात् । स्वस्थानेऽपि द्वयो-  
 रपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकम्म-  
 जूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रभाहृदयादज्ञानस्वप्न-  
 काले ष्व ख स्वभावत एव तत्र प्राणुयंणं जायात् । स्वस्थानेऽपि  
 द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । उक्तं नृनीजमस्यबहुत्वम् ॥

एतासि णं जंते । देवनिग्रियाणं जवणवासीएणं वाणमंतीएणं  
 ओढियाणं वेमाणियाणं ए य कयरा कयराहिंतां अप्पा वा ० ४  
 ? । गोयमा । सच्चत्थोवाओ वेमाणियदं वित्थियाओ, जवणवा-  
 सीदं वित्थियाओ असंखेजगुणाओ, वाणमंतीदं वित्थियाओ  
 असंखेजगुणाओ, जोढिसियदं वित्थियाओ संखेजगुणाओ ।  
 सर्वेस्तोका वैमानिकदं विस्रयः, अङ्गुलमात्रेण प्रदेशराशयंद्  
 द्वितीयां वगंमूळं तस्मिन् नृनीयेन वगंमूळेन गुणिते यावत्  
 प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणसु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशि-  
 कीषु श्रेणियु यावन्तो नभःप्रदेशा द्वात्रिंशत्तमजागर्हानास्तावत्  
 प्रमाणात्वात् । प्रत्येकं सौधमेशान्देवस्त्रीणां ताभ्यो भवनवासि-  
 देवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रेण प्रदेशराशयंत् प्रथमं  
 वगंमूळं तस्मिन् द्वितीयेन वगंमूलेन गुणिते यावत्प्रदेशरा-  
 शितावत्प्रमाणसु श्रेणियु यावत् प्रदेशराशिर्द्वात्रिंशत्तमजाग-  
 र्हानस्तावत्प्रमाणात्वात् । ताभ्यो व्यनरदेशयिओऽसंख्येयगुणाः,  
 संख्येयोजनप्रमाणीकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खाकानि यावन्त्ये-  
 कस्मिन् प्रतरे जवन्ति, तेज्योऽपि द्वात्रिंशत्तमजागंऽपीनिते यज्ज-  
 यमवतिष्ठते तावत्प्रमाणात्वात् तासां । ताभ्यः संख्येयगुणा  
 ज्यातिष्कदं विस्रयः, यज्जयादधिकशतकान् अङ्गुलप्रमाणीकप्रा-  
 देशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति  
 ताभ्यो द्वात्रिंशत्तमं भागेऽप्यस्तिरितं यावत्प्रदेशराशिभेवति  
 तावत्प्रमाणात्वात् । उक्तं चतुर्थमस्यबहुत्वम् ॥

इदानीं समस्तस्त्रीविषयं पञ्चमस्यबहुत्वमाह-  
 एतासि णं जंते । तिरिक्खजोगियाएणं जज्यरीएणं ख-  
 लयरीएणं खहयरीएणं मणुस्सित्थियाएणं कम्मभूमियाणं  
 अकम्मजूमियाणं अन्नरहीविषयाणं देविस्त्रियाएणं जवणवा-  
 तिणीएणं वाणमंतीएणं जोढिसियाणं वेमाणियाएणं य क-  
 यरा कयराहिंतां अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा । सच्चत्थो-

वा अंतरदीवगअकम्मजूमगणुस्सित्थियाओ, देवकुक्क-  
 उचरकुक्कुरकम्मजूमगणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज-  
 गुणाओ, हरिवासरम्भवासअकम्मजूमगणुस्सित्थिया-  
 ओ दो वि संखेजगुणाओ, हेमवतहेरस्यवासअकम्मजूमग-  
 मणुस्सित्थियाओ दो वि असंखेजगुणाओ, जंहरवयवा-  
 सकम्मजूमगणुस्सित्थियाओ दो वि संखेजगुणाओ, पुव्व-  
 विदेहअवरविदेहवासकम्मजूमगणुस्सित्थियाओ दो वि सं-  
 खेजगुणाओ, वेमाणियदं वित्थियाओ असंखेजगुणाओ,  
 जवणवाभिदं वित्थियाओ असंखेजगुणाओ, खहयति-  
 रिक्वजोगित्थियाओ असंखेजगुणाओ, खज्यपरतिरि-  
 क्वजोगित्थियाओ संखेजगुणाओ, जज्यरतिरिक्खजो-  
 णित्थियाओ संखेजगुणाओ, वाणमंतीदं वित्थियाओ संखे-  
 जगुणाओ, जोढिसियदं वित्थियाओ संखेजगुणाओ ।  
 सर्वेस्तोका अन्नरहीपकाऽकमंजूमकमनुष्यस्त्रियः, ताभ्यो देवकु-  
 कुरकुक्कुरकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हरि-  
 वर्षेऽप्यकक्केत्रस्य संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हेमवतहेरस्य-  
 वतस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि भरतेरवतकर्मजूमकमनु-  
 ष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहमनु-  
 ष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । अत्र भावना प्राप्तवत् । ताभ्यो  
 वैमानिकदं विस्रयोऽसंख्येयगुणाः, अमस्येयश्रेण्यकाशप्रदे-  
 शराशिप्रमाणत्वात्तासां । ताभ्यो जवनवासिदं विस्रयोऽसं-  
 ख्येयगुणाः । अत्र व्यक्तं प्रागेवाक्ता । ताभ्यः स्वकारिण्ये-  
 म्योनिकस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रनरासंख्येयजागवत्येसंख्येय-  
 श्रेण्यगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासां । ताभ्यः स्वध-  
 वरतिरिण्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, बृहत्तरजागवत्येसंख्येयजाग-  
 वत्येसंख्येयश्रेण्यगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो जल-  
 वरतिरिण्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, बृहत्तरजागवत्येसंख्येयजाग-  
 वत्येसंख्येयश्रेण्यगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो वाण-  
 मन्तरदेशयिस्त्रियः संख्येयगुणाः, संख्येयोजनकाशिकाऽदिप्रमाणीक-  
 प्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खाकानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति ते-  
 ज्योऽपि द्वात्रिंशत्तमं भागेऽप्यहृते यावत् द्वात्रिंशत्तमं तावत्प्रमा-  
 णत्वात् । ताभ्यो व्यनरदेशयिस्त्रियः संख्येयगुणाः । एतन्न प्रा-  
 गेव भावितम् । उक्तं तिस्रिणीं पञ्चात्पत्तहृदयान् । जी० २० प्रति०  
 सायम्पते नपुंसकाणामुच्यते—

एतंसि णं भंते । नेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजोगियन-  
 पुंसकाणं मणुस्सनपुंसकाणं य कतरे कतरेहिंतां ० जाव विसं-  
 सारिया वा ? । गोयमा । सच्चत्थोवा मणुस्सनपुंसका, ने-  
 रइयनपुंसका असंखेजगुणा, तिरिक्खजोगियनपुंसका  
 अणंतगुणा ।

प्रथमं च सुगमम् । जगत्ताहा-मौतमः । सर्वेस्तोका मनुष्यन-  
 पुंसकाः, श्रेण्यसंख्येयजागवतिप्रदेशराशिप्रमाणात्वात् । तेभ्यो-  
 ऽपि निरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रेण प्रदेशरा-  
 शौ तद्वत्प्रथमवगंमूळगुणिते यावत् प्रदेशराशौ भवेति ता-  
 वत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकासु श्रेणियु  
 यावन्तो नजःप्रदेशस्तावत्प्रमाणात्वात्तासां । तेज्यस्तिरिण्यो-  
 निकनपुंसका अणंतगुणाः, निभादजीवाणामणन्तवत्वात् ।

सम्प्रति तैरियनपुंसकविषयमल्पवहृत्वमाह—

एतेसि णं जंते ! नेरइयनपुंसकाणं ० जाव अहेसत्तमपुद्द-  
विनेरइयनपुंसकाण य कयरे कयरेहिंते ० जाव विसेसाहिया  
वा ! गोयया ! सन्तयोवा अहेमत्तमपुद्दविनेरइयनपुंसका, व-  
हृदुपुद्दविणरइयनपुंसका असंखेजजगुणा ० जाव दांवा, पुद्दवि-  
नेरइयनपुंसका असंखेजजगुणा, इमो ! सेरयणुभाए पुद्दवीए  
नेरइयनपुंसका अमंखेजजगुणा ॥

( एयासि णमियादि ) सर्वस्तोका अप्पसत्तमपुद्दविनेरियक-  
नपुंसकाः, अल्पतरभेद्यसंखेयजासवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाण-  
त्वात् । तेभ्योऽपि षष्ठ्यपुद्दविनेरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, ते-  
भ्योऽपि प्रथमपुद्दविनेरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, ते-  
भ्योऽपि चतुर्थपुद्दविनेरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, तेभ्यो-  
ऽपि तृतीयपुद्दविनेरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, तेभ्योऽपि  
द्वितीयपुद्दविनेरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, सर्वेषामप्येतेषां  
पूर्वपूर्वैरियकपरिमाणे इतरेष्वयसंखेयजागोपक्या असंखेय-  
गुणाः, संखेयगुणश्रेयससंखेयजागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमा-  
णत्वात् । ितीयपुद्दविनेरियकनपुंसकभ्योऽभ्यो रत्नप्रभायां  
पुद्दविनां तैरियका असंखेयगुणाः, अद्भुतमात्रकप्रदेशराशौ  
नदृगप्रथमभयर्गमूलगुणिते यावात् प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।  
सु घनोक्तस्य लोकस्य एकप्रादेशिकेषु श्रेणिषु यावन्न श्रा-  
काशप्रदेशरत्नायत्नप्रमाणत्वात् । प्रतिपुद्दविनां च पूर्वोत्तरपश्चि-  
मदिग्माभिन्ना तैरियकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो दक्षिणदिग्माभिन्ना-  
संखेयगुणाः, पूर्वपूर्वपुद्दविनामदक्षिणदिग्मागवाविभ्योऽप्यु-  
त्तरस्यामुत्तरस्यां पृथग्व्याप्तसंखेयगुणाः पूर्वोत्तरपश्चिमदि-  
ग्माश्चिन इत्यादि ॥

सम्प्रति तिरयभ्योनिकनपुंसकविषयमल्पवहृत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं एर्मादिय-  
तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुद्दविक्काऽयएर्मादियपुंसका-  
णं ० जाव वनससइकाऽयएर्मादियतिरिक्खजोणियनपुंसका-  
णं बेइदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तंइदियचउरिदिय-  
पंचेदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलपरधजपरव्हय-  
राण य कयरे कयरेहिंते ० जाव विसेसाहिया वा ! गोयया !  
मवःत्थावा ख इयरातिरिक्खजोणियणपुंसका, धसयरातिरि-  
क्खजोणियनपुंसका संखेजजगुणा, जसयरातिरिक्खजोणि-  
यनपुंसका संखेजजगुणा, चतुरिदियतिरिक्खजोणियनपुंस-  
का विनेसाहिया, तेइदिया विनेसाहिया, बेइदिया विनेसा-  
हिया, तेउक्काऽयएर्मादियतिरिक्खा असंखेजजगुणा, पुद्द-  
विक्काऽयएर्मादियतिरिक्खजोणिया विनेसाहिया, एवं  
आउवाउ ०, वणससइकाऽयएर्मादियतिरिक्खजोणियणपुंस-  
का अणंतगुणा ॥

( एयासि णमियादि ) सर्वस्तोकाः लक्षरपञ्चद्वियतिर्यग्न-  
पुंसकाः, प्रतरासंखेयजागवर्त्यसंखेयभ्रैणिगताकाशप्रदेशरा-  
शिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः स्वलक्षरतिर्यग्नोन्निकनपुंसकाः संखे-  
यगुणाः, वृहत्तरप्रतरासंखेयजागवर्त्यसंखेयभ्रैणिगतामभःप्र-  
१६७

देशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि जलक्षरतिर्यग्नोन्निकनपुंसकाः  
संखेयगुणाः, वृहत्तरप्रतरासंखेयजागवर्त्यसंखेयभ्रैणिगताका-  
शप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि चतुरिदियतिर्यग्नोन्निकन-  
पुंसका विशेषाधिकः, असंखेयकोटीकोटिममाणकाशप्रदेशरा-  
शिप्रमाणागुणु घनोक्तस्य लोकस्य एकप्रादेशिकेषु श्रेणिषु  
यावन्नो नभःप्रदेशस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेज्यक्कीद्वियतिर्यग्नो-  
न्निकनपुंसका विशेषाधिकः, प्रभूततरभ्रैणिगताकाशप्रदेशराशि-  
प्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्वािद्वियतिर्यग्नोन्निकनपुंसका विशेषा-  
धिकः, प्रभूततरभ्रैणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः त-  
ज्यक्कार्यिकेन्द्रियतिर्यग्नोन्निकनपुंसका असंखेयगुणाः, वृहत्त-  
मात्रमंडलमिच्छानां तेषामसंखेयश्राकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ।  
तेभ्यः पृथिवीकायिकेन्द्रियतिर्यग्नोन्निकनपुंसका विशेषाधि-  
काः, प्रभूतसंखेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्य-  
कार्यिकेन्द्रियतिर्यग्नोन्निकनपुंसका विशेषाधिकः, प्रभूततर-  
रासंखेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि वायुकार्यिके-  
न्द्रियतिर्यग्नोन्निकनपुंसका विशेषाधिकः, प्रभूततरमासंखेय-  
लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि धनस्वतिकायिके-  
न्द्रियतिर्यग्नोन्निकनपुंसका असंखेयगुणाः, अनंतलोकाकाश-  
प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।

अधुना मनुष्यनपुंसकविषयमल्पवहृत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! मणुस्सणपुंसकाणं कम्मजुमिकाणं अकम्म-  
जुमिकाणपुंसकाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेहिंते ० इप्पा  
वा ० ! गोयया ! मवत्तयोवा अंतरदीवकाऽकम्मजुमणगु-  
स्सणपुंसका, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मजुमणा दां वि संखेज-  
जगुणा, एवं जाव पुद्दविदेइअरवदिदेइकम्मजुमणगुस्स-  
णपुंसका दां वि संखेजजगुणा ॥

सर्वेस्तोकाः अन्नरत्नीपजमनुष्यनपुंसकाः, एते च समुद्धैजजा  
द्रष्टव्याः, गर्भेश्युक्तामितकमनुष्यनपुंसकां तत्रासंभवतः,  
सहतासु कम्मजुमिजास्तरभवेयुरपि । तेभ्यो देवकुरुउत्तरकुरु-  
कम्मजुमणमनुष्यनपुंसकाः संखेयगुणाः, तद्व्यतयर्भजमनुष्या-  
का, अन्नरत्नीपजगर्भजमनुष्येभ्यः संखेयगुणत्वात् । गर्भजमनु-  
ष्याकाराद्याभ्रयण च समुद्धैजजमनुष्याणामुपादात् । स्वस्थाने  
तु द्वयसिप परस्परं तुल्याः । एवं तेभ्यो हरिवर्षैर्यकवर्षा-  
कम्मजुमणमनुष्यनपुंसकाः संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेसिप  
परस्परं तुल्याः । हैमवर्षेदेरायवतवर्षाकम्मजुमणमनुष्यनपुंसकाः  
संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयसिप परस्परं तुल्याः । तेभ्यो  
भरतैरवतवर्षाकम्मजुमणमनुष्यनपुंसकाः संखेयगुणाः, स्व-  
स्थाने तु द्वयेसिप परस्परं तुल्याः । तेभ्यः पूर्वविह्वपर-  
विदेइकम्मजुमणमनुष्यनपुंसकाः संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु  
द्वयसिप परस्परं तुल्याः युक्तिः सधत्रापि तथैवास्तसंध्या ॥

संप्रति तैरियकतिर्यग्नमनुष्यविषयमल्पवहृत्वमाह—

एतेसि णं जंते ! नेरइयनपुंसकाणं रयाणपुद्दविनेरइयनपुं-  
सकाणं ० जाव अहेसत्तमपुद्दविनेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजो-  
णियनपुंसकाणं एर्मादियतिरिक्खजोणियाण पुद्दविक्काऽय-  
एर्मादियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं ० जाव वणससइकाऽय-  
एर्मादियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं बेइदियतेउदियचउरिदियपंचेदियतिरि-

अप्यावहृय ( ग )

स्वजोशियणपुंसकाणं जलवराणं चलयराणं स्वडयराणं म-  
 च्छुस्मणपुंसकाणं कम्पन्नुमिकाणं अकम्पन्नुमिकाणं अंतर-  
 दीवकाणं य कयरे कयरेहेतो अप्या वा० ४ ?। गोयमा ।  
 सचवरयोःवा अहोसत्तयपुडविनरइयनपुंसका, उडुवुडविनरइ-  
 यनपुंसका असंखेज्जगुणा०जाव दोषा, पुडविनरइयनपुंसका  
 अमंखेज्जगुणा, अंतरदीवगणपुंसका असंखेज्जगु-  
 णा, देवकुलुत्तरकुलु अकम्पन्नुमिका दो वि मंखेज्जगुणा,०जाव  
 पुवविदेह अवराविदेहकम्पन्नुमिकापुंसका दो वि सं-  
 खेज्जगुणा, रयणपुमापुडविनरइयनपुंसका अमंखेज्जगुणा,  
 स्वडयराणं चैदियतिरिस्वजोशियणपुंसका असंखेज्जगुणा,  
 च्छाडयरा संखेज्जगुणा, जलवरा संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरि-  
 स्वजोशियणपुंसका विसेसाहिवा, तेदंदिनपुंसगा विसेसाहि-  
 वा, तेदंदिनपुंसगा विसेसाहिवा, तउकाइयाएगिंदियनपुंसगा  
 असंखेज्जगुणा, पुडविकाइयाएगिंदियनपुंसगा विसेसाहिवा,  
 आउकाइयनपुंसगा विसेसाहिवा, वाउकाइया विसेसाहिवा, व-  
 णस्सःकाइयाएगिंदियतिरिस्वजोशियणपुंसका अणंतगुणा।

सर्वेस्तोका अथःसतमपुधिवीनैरियिकनपुंसका; तेच्यः पणपञ्च-  
 मचतुर्थीयाद्विर्तायपुधिवीनैरियिकनपुंसका यथाःसतमसखे-  
 यगुणा; द्वितीयापुधिवीनैरियिकनपुंसकायःअंतराडीपजमनुप्यन-  
 पुंसका असंखेयगुणा; एतदसंखेयगुणान्वे संखेज्जमनुप्या-  
 प्के, तने नपुंसकाव्हा, एतावतां च तत्र सम्कुलंनसभनात् । तेभ्यो  
 देवकुलुत्तरकुवर्मजमकमनुप्यनपुंसका इमवतरेरएवव-  
 ताकर्मभूमकमनुप्यनपुंसका अनेरेवतकर्मजमकमनुप्यनपुंस-  
 काः पुर्वविदेहापरविदेहकर्मजमकमनुप्यनपुंसका यथाःसतं  
 संखेयगुणा; स्वध्यानाञ्जितार्थां तु कयरेःपरस्परं तुत्याः, पू-  
 विदेहापरविदेहकर्मजमकमनुप्यनपुंसकायः प्रत्येकत ए-  
 वप्रत्यभ्यानायां रतनप्रमायां पृथिव्यां नैरियिकनपुंसका असंखे-  
 यगुणा; तेभ्यः स्वचरपञ्चिन्द्रियतिरिस्वजोशियणपुंसकाः असंखे-  
 यगुणा; तेभ्यः स्थलचरपञ्चिन्द्रियतिरिस्वजोशियणपुंसका जल-  
 चरपञ्चिन्द्रियतिरिस्वजोशियणपुंसका यथाःसतं संखेयगुणा; ज-  
 लचरपञ्चिन्द्रियनपुंसकायःअतुरिन्दियन्त्वाञ्चिन्द्रियतिरिस्वजोशियणपुंस-  
 का यथाःसतं विशेषात्रिका; द्विन्द्रियतिरिस्वजोशियणपुंसका-  
 न्यसेज्जकायिकेन्द्रियतिरिस्वजोशियणपुंसका असंखेयगुणा;  
 तेच्यः पृथिव्येवजुवाशियणपुंसकायःअनपुंसका यथाःसतं विशेषा-  
 त्रिका; वायुकेन्द्रियतिरिस्वजोशियणपुंसकायः वनस्पतिकायि-  
 कैन्द्रियतिरिस्वजोशियणपुंसका अन्नगुणा; शुक्तिः सर्वेश-  
 ऽपि प्राक्कुलुत्तराणं स्वय भावनीया । इत्युक्तानि पञ्च तनुंस-  
 कानामपि अत्यवहृद्यन्ति । जा० ३ प्रति० ।

साम्प्रतं पुरुषानामुच्यन्ते-तानि च पञ्च । तद्यथा-प्रथमं सामा-  
 म्यात्पबहुत्वम् १, द्वितीयं शिविध्यानिर्णयकुर्यादथैवम् २, तृतीयं  
 श्रिविधमनुप्यपुरुषविषयम् ३, चतुर्थं चार्थविधेयपुरुषविषयम्  
 ४, पञ्चमं मिश्रपुरुषविषयम् ४ ।

तत्र प्रथमं तावदग्निचस्तुराह—

( एतमि यं जते । देवपुरिमाणं जगत्प्राचीणं वाणमंत-  
 राणं ओरिसियाणं वेमाशियाणं य कयरे कयरेहेतो अप्या

वा बहुया वा तुष्ठा वा विसेसाहिवा वा ?। गोयमा । सख-  
 त्वावा वेमाशियाणं देवपुरिमा, जगत्पबहुत्वपुंसका असंखे-  
 ज्जगुणा, वाणमंतरे देवपुरिमा असंखेज्जगुणा, जोशिया-  
 देवपुरिमा संखेज्जगुणा । )

( एपासि चं अते । इत्यादि ) सर्वेस्तोका मनुस्वरुपाः; संखेयको-  
 ट्रीकोटिप्रमाणवान् । तेभ्यः तिरियगुणानिकपुरुषा असंखेयगु-  
 णाः । प्रतरासंखेयभागवत्संखेयभंगिगताकादाप्रदेशराशि-  
 प्रमाणत्वात्संखेय । तेभ्यो देवपुरुषाः संखेयगुणाः; बृहत्तरप्रतरा-  
 संखेयभागवत्संखेयभंगिगताकादाप्रदेशराशितुल्यत्वात् ।  
 तिरियैरिनिकपुरुषाणां यथा तिरियैरिनिकक्षीणां मनुस्वरुषाणां  
 यथा मनुस्वरुषाणामप्यवत्संखेयवत्त्वम् । सम्प्रति देवपुरुषाणाम-  
 न्यवहृत्वमाह-सर्वेस्तोका अतुत्तरापातिकदेवपुरुषाः क्षेत्रप-  
 ष्योपमासंखेयभागवत्संखेयकादाप्रदेशराशाप्रमाणत्वात् । तेभ्य  
 उपरितनप्रेयकदेवपुरुषाः संखेयगुणाः; बृहत्तरसंखेयपुंसका-  
 संखेयभागवतिनभःप्रदेशराशाप्रमाणत्वात् । कथमंतद्वसंखे-  
 यमिति चेत् ? उच्यते-विमानत्वात्स्वत्वात् । तथाहि-बृहत्तरदेवानां  
 पञ्च विमानानि, विमानशतं तूपारितनप्रेयकप्रसन्ते, प्रतिविमानं  
 चासंखेया देवाः; यथाऽऽत्रऽप्योऽप्युच्यतेति विमानानि तथा  
 तथा देवा अपि प्राक्कुलुत्तरैः लभ्यन्ते; ततोऽवसंखेयते-अतुत्तरवि-  
 मानत्वात्सिद्धेयपुंसकात्त्वात् । बृहत्तरक्षेत्रपुंसकासंखेयभागव-  
 तिनभःप्रदेशराशाप्रमाणत्वात् उपरितनप्रेयकप्रसन्ते देवपुरुषाः;  
 एवमुत्तरत्रापि भावना विधेया । तेभ्यो मध्यमप्रेयकप्रसन्ते  
 देवपुरुषाः संखेयगुणाः; तेभ्योऽप्युच्यतेनप्रेयकप्रसन्ते देवपु-  
 रुषाः संखेयगुणाः; तेभ्योऽप्युच्यतेनप्रेयकप्रसन्ते देवपुरुषाः संखेयगुणाः;  
 यद्यप्यारण्यच्युतकृतयो ममश्रीणोको समप्रीतनसख्यको च,  
 तथापि कृष्णपात्रिकास्तथास्वाभाव्यान् प्राच्येण दक्षिणैर्वा  
 दिशि समुपपद्यते । अथ केते कृष्णपात्रिकाः ? उच्यन्ते-इह इ-  
 ये जीवाः; तथाया-कृष्णपात्रिकाः; शुक्लपात्रिकाश्च । तत्र यथा  
 किञ्चिद्दुर्गोपास्त्रुपुत्राणरावतः संसारंते शुक्लपात्रिकाः, इतरे  
 दीर्घसंसारमाजिनः कृष्णपात्रिकाः । उक्तं च-" एतिमपबहु  
 पोग्मत्र-परिच्छेदो संसर्थां य संसारो । ते सुकृपाकिमया जलु,  
 आहिए पुण कएपकम्भीओ" ॥१॥ अत एव स्तोकाः शुक्लपा-  
 त्रिकाः, अत्यसंसारार्थां स्तोकाणामेव भावात् । इदं च-  
 कृष्णपात्रिकाः दीर्घसंसारणामनन्तानां भावात् । अथ कथमेत-  
 द्द्वसमन्त्यं कृष्णपात्रिकाः प्राच्येण दक्षिणैर्वा दिशि समुप-  
 पद्यते ? उच्यन्ते-तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यमेव पू-  
 षोच्चैर्युक्तिरिदमपुर्दिशम्, कृष्णपात्रिकाः जलु दीर्घसंसारमा-  
 जिन उच्यन्ते, दीर्घसंसारमाजिनश्च बहुपात्राद्यात्, बहुपा-  
 त्राद्याश्च क्रूरकर्माणां; क्रूरकर्माणश्च प्राच्येणत्वात्स्वाभाव्यात् ।  
 तद्भवतिस्त्रिका अपि दक्षिणैर्वा दिशि समुपपद्यते, यत्र उक्तम्-  
 " प्राथमिदं क्रूरकर्मा, भावसिद्धिवा वि दक्षिणैर्वा दिशि । नेरि-  
 तिरियमशुषा, सुरा य गार्गुसु गच्छन्ति " ॥१॥ ततो दक्षिण-  
 र्वा दिशि प्राच्येण कृष्णपात्रिकाणां संभवत्पुपद्यतेऽच्यु-  
 तकल्पदेवपुरुषापेक्षया प्राणकल्पदेवपुरुषाः संखेयगुणाः; ते-  
 भ्योऽपि प्राणतकल्पदेवपुरुषाः संखेयगुणाः; तेभ्योऽप्युच्यतेन-  
 कल्पदेवपुरुषाः संखेयगुणाः; अत्रापि प्राणतकल्पपेक्षया सं-  
 खेयगुणान्वे, कृष्णपात्रिकाणां दक्षिणैर्वा दिशि प्राच्येण भा-  
 वात् । एते च सर्वेऽच्युतसंखेयविमानत्वात्स्वत्वात् इत्युच्यते-  
 सियपेन्ने देवपुरुषाः पर्येकं क्षेत्रपवर्षात्मसंखेयभागवतिनभः-

प्रदेशीराशिप्रमाणे कृष्ट्याः । "आणयपाणयमार्दं पञ्चस्साऽसं-  
 बभासा उ" इति वैचनीये । कयल्लमसंख्येषां भागां विचित्र-  
 इति परस्परं यथोक्तं संख्येयगुणत्वं न विरुध्यते । आनतकल्प-  
 देवपुरुषेभ्यः सहस्रकारकल्पवासिदेवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः ।  
 धनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशीकथाः भ्रगेणरसंख्येयतमे भागे  
 यान्तस्य आकाशप्रदेशात्प्रमाणत्वात्त्वात्प्रथमोऽपि महाशु-  
 क्रकल्पवासिदेवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, ह्यहत्तरभ्रयसंख्येयमा-  
 गाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । कथमेतत् प्रत्ययमिति चेत् ?,  
 उच्यते-विमानबाहुद्वयात् । तथाहि-बदसहस्राणि विमानानां  
 सहस्रकारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्र, अन्यथाधोवि-  
 मानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकरस्तोकरतरा उपरितनवि-  
 मानवासिनः, तत उपपद्यते सहस्रकारकल्पेदेवपुरुषेभ्यो महाशु-  
 क्रकल्पवासिदेवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि लान्तककल्प-  
 देवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, ह्यहत्तरभ्रयसंख्येयमागावात्तैमा-  
 गप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मलोककल्पवासिनो  
 देवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, द्वयोर्बृहत्सभ्रयसंख्येयजागवन्त्यो-  
 क्तागप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पेदेवपुरुषा  
 अस्संख्येयगुणाः, ज्येष्ठतरुहृत्सभ्रयसंख्येयमागाकाशप्रदे-  
 शमान्त्यात् । तेभ्यः सनत्कुमारकल्पेदेवा अस्संख्येयगुणाः, विमा-  
 नबाहुद्वयात् । तथाहि-द्वादशशतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे वि-  
 मानानाम्, अष्टौ शतसहस्राणि माहेन्द्रकल्पे, अन्यत्र दक्षिणदि-  
 श्यानासीं सनत्कुमारकल्पो, माहेन्द्रकल्पेऽप्येकैश्वर्यदिग्दर्श-  
 न्यां च दिशि बहवः समुत्पद्यन्ते कृष्णपार्श्विकाः, तत उपपद्यन्ते  
 माहेन्द्रकल्पान्तनत्कुमारकल्पेदेवा अस्संख्येयगुणाः । एते च सर्वेऽपि  
 सहस्रकारकल्पवासिदेवाद्यैः सनत्कुमारकल्पवासिदेवपुरुषाः  
 प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमाना यान्तिनन्त्रांकेनान्यसंख्येयमागा-  
 गनाकाशप्रदेशराशिप्रमाणे रुष्टव्याः । केवलं भ्रयसंख्येयमा-  
 गोऽसंख्येयभेदस्तत्र इत्यमसंख्येयगुणतया अल्पबहुत्वमनिधी-  
 यमानं न विरोधभाक् । सनत्कुमारकल्पेदेवपुरुषेभ्य इशानकल्प-  
 देवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, अक्रुल्लमजलेत्रप्रदेशराशोः संबन्धि-  
 नि द्वितीयवर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशि-  
 स्तावसंख्याकास्तु धनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशीकीस्तु धेनी-  
 यु यावन्तः नजः प्रदेशस्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्समो भागस्तावन्प्र-  
 माणात्त्वात् । तेभ्यः सौधमेकल्पवासिदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः,  
 विमानबाहुद्वयात् । तथाहि-अष्टादशशतः शतसहस्राणि विमाना-  
 नामीशानकल्पे, द्वात्रिंशच्च शतसहस्राणि सौधमेकल्पे, अर्धं च  
 वृत्तिदिग्दर्शनी सौधमेकल्पः, ईशानकल्पभोत्तरदिग्दर्शनी, दक्षिण-  
 स्यां च दिशि बहवः कृष्णपार्श्विका उत्पद्यन्ते । तत ईशानकल्प-  
 वासिदेवपुरुषेभ्यः सौधमेकल्पवासिदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः ।  
 नान्वयं युक्तिः सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पेदेवपुरुषा, परं तत्र माहे-  
 न्द्रकल्पपक्षेण सनत्कुमारकल्पेदेवा अस्संख्येयगुणा कथाः, ह्यह-  
 त्तु सौधमेकल्पे संख्येयगुणाः, तदन्तकथय ? उच्यते-तथावस्तु-  
 स्वाभाव्यात् । एतन्नावसिंयते प्रहापनादौ, सर्वत्र तथा भ्रयानात् ।  
 तेभ्योऽपि भवनवासिदेवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, अक्रुल्लमजले-  
 त्रप्रदेशराशोः संबन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गु-  
 णिते यावान् प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् तत सत्संख्याकास्तु धनीकृतस्य  
 लोकस्य एकप्रादेशीकीषु धेनिषु यावन्तः नभःप्रदेशस्तेषां या-  
 वान् द्वात्रिंशत्समो भागस्तावन्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो व्यन्तरदेवपु-  
 रुषाः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकांटाकाटिप्रमाणैकप्रादेशी-  
 कभेनिष्प्रमात्राणि ज्ञान्दिनि यावन्त्येकस्मिन् प्रत्ये न भवन्ति, तेषां

यावद् द्वात्रिंशत्समो भागस्तावन्प्रमाणत्वात् । तेभ्यः संख्येय-  
 गुणा ज्योतिष्का देवपुरुषाः, यदपञ्चाशच्चधिकशतद्वयमुक्तप्रमा-  
 नैकप्रादेशिकभेनिष्प्रमात्राणि ज्ञान्दिनि यावन्त्येकस्मिन् प्रत्ये अ-  
 नन्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्समो भागस्तावन्प्रमाणत्वात् । जी० २  
 प्रति० । इति कथायैवबहुत्वानुक्तानि । ( इति अप टीका-  
 कारस्यान्यादेशः पाठः सम्मत इदानीन्तनप्रति तु अन्याद्यश्च  
 इति शब्दार्थे नैव आभाति, अर्थवस्तु न ज्ञेयः )

सम्प्रति पञ्चममन्वपबहुत्वमाह—

एतेसि एं भंते । तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयराळं  
 यन्नयराणं खट्टयराणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मज्जुमगाणं अ-  
 कम्मज्जुमगाणं अंतरदीवाणां देवपुरिसाणं जवणवासीणं  
 वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोधम्माणं जव  
 सन्नद्धसिक्खाणां य कयरे कयरेहितं ज्ञा विसेसाहिया ?।  
 गोयमा ! सत्त्वय्योवा अंतरदीवाणमणुस्सपुरिसा, देवकुक्कउत्त-  
 रकुक्कअकम्मज्जुमगाणमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जुणा, इ-  
 रिवासरम्मवासअकम्मज्जुमगाणमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जु-  
 णा, हेमवत्तेहरेखवतवासअकम्मज्जुमगाणमणुस्सपुरिमा दो  
 वि संखेज्जुणा, जरहेरवयवासकम्मज्जुमगाणमणुस्सपुरि-  
 सा दो वि संखेज्जुणा, पुब्बविदेहअवरविदेहकम्मज्जु-  
 मगाणमणुस्सपुरिमा दो वि संखेज्जुणा, अपुत्तरोवावा-  
 तिदेवपुरिसा अस्संखेज्जुणा, उरिमगेवेज्जुमेवपुरिसा सं-  
 खेज्जुणा, मज्जिमगेवेज्जुदेवपुरिसा संखेज्जुणा, दि-  
 ह्दिमगेवेज्जुदेवपुरिसा संखेज्जुणा, अच्युत्ते कप्पे देवपु-  
 रिमा संखेज्जुणा, आरणकप्पे देवपुरिसा संखेज्जु-  
 णा, पाणयकप्पे देवपुरिसा संखेज्जुणा, आणतकप्पे  
 देवपुरिसा संखेज्जुणा, सहस्सारकप्पे देवपुरिसा अ-  
 संखेज्जुणा, महासुककप्पे देवपुरिसा असंखेज्जुणा  
 जाव माहिदे कप्पे देवपुरिसा अस्संखेज्जुणा, सण्ठकुमार-  
 कप्पे देवपुरिसा अस्संखेज्जुणा, ईसाणकप्पे देवपुरिसा अस्-  
 संखेज्जुणा, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जुणा,  
 भवणवासिदेवपुरिसा अस्संखेज्जुणा, खट्टयतिरिक्खजो-  
 णियपुरिसा अस्संखेज्जुणा, थलयतिरिक्खजोणियपु-  
 रिसा अस्संखेज्जुणा, जन्नयतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे-  
 ज्जुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जुणा, जोतिसिय-  
 देवपुरिसा संखेज्जुणा ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वापमणुप्यपुषाः, क्षेत्रस्य स्तोकेत्वात् ।  
 तेभ्यो देवकुक्कउत्तकम्मज्जुप्युषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य बाहु-  
 द्वयात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि दिग्-  
 यथैरभ्यकथनार्थं कर्ममणुप्युषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्या-  
 तिबहुत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य  
 समानत्वात् । तेभ्योऽपि हैमवत्तेहरेणवताकर्मभूमकम्मज्जु-  
 प्युषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यादपरत्वेऽप्यवस्थितिकतया प्रा-  
 कृत्येण लभ्यमानत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः ।

तेभ्योऽपि नरैरितवर्षकर्मन्नुक्रममुप्यवुरुषाः संख्येयगुणाः, अजितस्वामिकाश्च उक्त्युपदे स्वभावात् एव नरैरितवेषु च मनुष्यपुरुषाणामितप्रामुख्ये संभवात् । स्वस्थाने च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्लेशश्च मुख्यत्वात् । तेऽप्योऽपि पुत्रैर्विदेहापर-विदेहादिकर्मन्नुक्रममुप्यवुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षत्रबाहुद्वयात् । अजितस्वामिकाश्च इव स्वभावात् एव मनुष्यपुरुषाणां प्रासुख्येण संजगत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽप्यनु-सरोपपातिदेवपुरुषा अस्ख्येयगुणाः, क्षेत्रफलयापमानंख्येयनाग-बल्यांकाशुप्रदंशप्रमाणात्वात् । तदनुत्पत्तुपरिजननेयकप्रस्त-देवपुरुषा अच्युतकल्पदेवपुरुषा आरणकल्पदेवपुरुषाः प्रायत-कल्पदेवपुरुषा आनतकल्पदेवपुरुषा यद्योत्तरं संख्येयगुणाः । नाशना प्रागिय । तदनुत्तरं सख्यारकल्पदेवपुरुषा आनतकल्प-देवपुरुषा ब्रह्महोतकल्पदेवपुरुषा मोहोत्कल्पदेवपुरुषाः सनकु-मारकल्पदेवपुरुषा देशानकल्पदेवपुरुषा यद्योत्तरं संख्येयगु-णाः, सौधमकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, सौधमकल्पदेवपु-रुषेभ्यो भयनवासिदेवपुरुषा अस्ख्येयगुणाः । भावना संय-त्रापि प्रागिव । तेऽप्यः स्वधरतिर्येयोनिकपुरुषा अस्ख्येयगुणाः, प्रनरासंख्येयनागवर्षेसंख्येयश्रेणिगताकाशुप्रदंशप्रमाणात् । तेभ्यः स्थलधरतिर्येयोनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो-ऽपि जलधरतिर्येयोनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः युक्तित्वापि प्रा-गिव । तेभ्योऽपि वायुमन्तरं देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, संख्ये-योऽजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमन्त्राणि क्षात्रानि वायव्येकस्मिन् प्रनरे जवति तेषां यावान् द्विविश्रान्तो भाग-न्यातप्रमाणात्वात् । तेभ्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः युक्तिः प्रागेवोका । जी० २ प्रति० । इति प्रतिपादितानि खो-पुनपुंसकानां प्रत्येकमष्टवहृत्यानि ।

इदानीं समुदितानामुच्यन्ते-नामि चाष्ट । तत्र-प्रथमं सामान्येन तिर्यक्योपुंसकानुक्रमप्रतिबद्धं, परममन्तरे च मनुष्यप्रतिबद्धं द्वि-तीयं, देवलोपुंसकानुक्रमप्रतिबद्धं तृतीयं, सकलस-मिश्रं चतुर्थं, जलचर्यादिविजागतः पञ्चमं, कर्मन्मिजादि-मनुष्यादिविजागतः षष्ठं, जलचर्यादिविदेव्यादिविजागतः सप्तमं, जलचर्यादिविजातव्यवकृत्यापकमष्टमं ॥

तत्र प्रथममभिधन्तुराह—

एतेसि षं भंते ! तिरिक्खजोग्गित्थीणं तिरिक्खजोग्गि-यपुरिसाणं तिरिक्खजोग्गियणपुंसकाणं य कपरे कपरेहि-तो० जाव विमैसाहिवा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्ख-जोग्गियपुरिसा, तिरिक्खजोग्गियणपुंसकां संखेजजगुणाओ, तिरिक्खजोग्गियणपुंसका अणेतगुणा ।

सर्वेस्तोकास्तियेकपुरुषाः, तेभ्यरित्येकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्जस्तियेकपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजी-धानामनन्तत्वात् ।

संप्रति द्वितीयमष्टवहृत्यामह—

एतेसि षं भंते ! मणुस्मित्थीणं मणुस्सपुरिसाणं मणु-रनयपुंसकाणं कपरे कपरेहितो अप्पा ६० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेजजगुणा-ओ, मणुस्सयपुंसका अस्खेजजगुणा ।

सर्वेस्तोका मनुष्यपुरुषाः, कोटीकोटिप्रमाणात्वात् । तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणात्वात् । तेऽप्यो

मनुष्यपुंसकाश्च संख्येयगुणाः, अष्टयसंख्येयनागतमष्टद्वारा-श्रिप्रमाणात्वात् ।

संप्रति तृतीयमष्टवहृत्यामह—

एतेसि षं भंते ! देवित्थीणं देवपुरिसाणं नेरइयनपुंसकाणं य कपरे कपरेहितो० जाव विमैसाहिवा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइयनपुंसका, देवपुरिसा अस्खेजजगुणा, देवित्थीओ संखेजजगुणाओ ।

सर्वेस्तोका नैरयिकपुंसकाः, अहुत्तमात्रक्षेत्रप्रदेशशारी स्वप्र-थममूलने गुणिते यावान् प्रदेशशारीभवेति तावत्प्रमाणात्सु घनीकृतस्य होकस्य एकप्रादेशिकोऽपि श्रेणिषु यावन्तो नमःप्र-देशास्त्वावत्प्रमाणात्वात् । तेभ्यो देवपुरुषा अस्ख्येयगुणाः, अ-संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणायां शुक्रो यावन्तो नमःप्रदेश-स्तावत्प्रमाणात्सु घनीकृतस्य होकस्य एकप्रादेशिकोऽपि श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्त्वावत्प्रमाणात्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्विविशदगुणात्वात् ।

संप्रति सकलमभिधं चतुर्थमष्टवहृत्यामह—

एतेसि षं भंते ! तिरिक्खजोग्गित्थीणं तिरिक्खजोग्गियपुरि-साणं तिरिक्खजोग्गियनपुंसकाणं मणुस्मित्थीणं मणु-स्सपुरिसाणं मणुस्सनपुंसकाणं देवित्थीणं देवपुरिसाणं ने-रइयनपुंसकाणं य कपरे कपरेहितो० ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज-गुणाओ, मणुस्सयपुंसका अस्खेजजगुणा, नेरइयणपुं-सका अस्खेजजगुणा, तिरिक्खजोग्गियपुरिसा अस्-खेजजगुणा, तिरिक्खजोग्गित्थीयाओ संखेजजगुणाओ, देवपुरिसा अस्खेजजगुणा, देवित्थीयाओ संखेजजगुणाओ, तिरिक्खजोग्गियनपुंसका अणेतगुणा ।

सर्वेस्तोका मनुष्यपुरुषाः, तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । तेऽप्यो मनुष्यपुंसकाः अस्ख्येयगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागुक्ता । ते-भ्यो नैरयिकपुंसका अस्ख्येयगुणाः, अस्ख्येयधराकाशप्रदे-शश्रिप्रमाणात्वात् । नेष्वस्त्रियेयोनिकपुरुषा अस्ख्येयगुणाः, तेऽप्यस्त्रियेयोनिकस्त्रियः सख्यातगुणाः, त्रिगुणात्वात् । ताज्जो देवपुरुषाः संख्येयगुणाः प्रभुतत्प्रनरासंख्येयभागवर्षेसंख्ये-यश्रेणिगताकाशुप्रदंशप्रमाणात्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः सख्ये-यगुणाः, द्विविशदगुणात्वात् । ताज्जसंख्येयोनिकपुंसका अनन्त-गुणाः, निगोदजीधानामनन्तत्वात् ।

संप्रति जलचर्यादिविजागतः पञ्चममष्टवहृत्यामह—

एतामि षं भंते ! तिरिक्खजोग्गित्थीणं जलधरीणं थइ-धरीणं स्वधरीणं तिरिक्खजोग्गियपुरिसाणं जलधराणं थलधराणं स्वधराणं तिरिक्खजोग्गियणपुंसकाणं एग्गिदियतिरिक्खजो-ग्गियणपुंसकाणं पुटनिकाइयणपुंसकाणं एग्गिदियतिरिक्खजो-ग्गियणपुंसकाणं पुटनिकाइयणपुंसकाणं तैरिदियचत्तुरिदियप-च्चैदियतिरिक्खजोग्गियणपुंसकाणं जलधराणं थलधराणं स्व-धराणं कपरे कपरेहितो० जाव विमैसाहिवा वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा स्वधरीतिरिक्खजोग्गियपुरिसा, स्वधरीतिरि-

कल्पजाणित्यियाओ संखेज्जगुणाओ, थदयरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, थदयरतिरिक्खजाणित्थीओ संखेज्जगुणाओ, जदयरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, जदयरतिरिक्खजाणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, खदयरपंचेदियतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, थदयरपंचेदियतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, चउरिदियतिरिक्खजाणियपुसिसा विसेसाहिद्या, तेउदियणपुसिसा विसेसाहिद्या, बउदियणपुसिसा विसेसाहिद्या, तउकाइयपुसिसा विसेसाहिद्या, अउओ विसेसाहिद्या, बाउओ विसेसाहिद्या, वणकत्तिएदियणपुसिसा अणेतगुणा ।

संखेयुक्ताः खचरपञ्चिन्द्रियतिरिक्खजाणियपुसिसा । तेज्यः खचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयुक्ताः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः स्थलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयुक्ताः । तेज्यः स्थलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयुक्ताः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः जलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयुक्ताः । तेज्यः जलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयुक्ताः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः जलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयुक्ताः । तेज्यः स्थलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयुक्ताः । ततश्चतुर्दिश्विक्खजाणियपुसिसा यथोक्तं विशयाधिकारं । ततस्तेजस्कार्यायैकेन्द्रियतिरिक्खजाणियपुसिसा असंखेयुक्ताः । ततः पूर्वावधमनुवायुकार्यायैकेन्द्रियतिरिक्खजाणियपुसिसा यथोक्तं विशयाधिकारं । ततो वनस्पतिकायैकेन्द्रियतिरिक्खजाणियपुसिसा अन्नमगुणाः ।

संप्रति कर्मभूमिजादिमनुष्यरूपादिविभागतः पद्यम-  
लपचहृत्यमाह-

एयामि णं भंते ! मणुस्सत्थेणं कम्मज्जुमियाणं अकम्मज्जुमियाणं अंतरदीं वियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मज्जुमिकाणं अकम्मज्जुमिकाणं अंतरदीं विकाणं मणुस्सपुसिसाणं कम्मज्जुमिकाणं अकम्मज्जुमिकाणं अंतरदीं विकाणं य कयं कयंरहिंतां अप्पा वाओपुं। गोयमा। अंतरदीं वकअकम्मज्जुमकणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एतेसि णं दांमि वि तुब्बा सवत्थोवा, देवकुरु उचरकुरु अकम्मज्जुमकणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसाओ एतेणं दांमि वि तुब्बा संखेज्जगुणा; हरिबासरम्मकवासअकम्मभूमकणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एते णं दांमि वि तुब्बा संखेज्जगुणा, हेमवत हेराणवते अकम्मभूमकणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य दो वि तुब्बा संखेज्जगुणा, जरहेरवतकम्मज्जुमगणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, जरहेरवतकम्मज्जुमगणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमकणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मज्जुमगणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अंतरदीवकअकम्मज्जुमगणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, देवकुरु उचरकुरु अ-

कम्मज्जुमगणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, एवं तदेवओ जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मज्जुमकणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा ।

स्ववेत्तोका अतत्तद्वीपकमनुष्यत्थियाओ अन्तरद्वीपकमनुष्यपुरियाओ; पंत व द्वयडपि परस्परं तुल्याः । तत्रत्यत्थोपुसितां युगलपमोपेतत्वात् । तेज्या इधकुरुत्तरकुर्वकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ मनुष्यपुरियाः संखेयुक्ताः । युक्त्तर प्रागेवोका । स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । एवं हरिखरैरभ्यकमनुष्यपुरियाओ हेमवतहेरवतमनुष्यपुरियाओ यथोक्तं संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ततो जरतिरवतकम्मभूमकमनुष्या द्वय संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्या भरतिरवतकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ द्वयोऽपि संखेयुक्ताः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताज्यः पूर्वविदेहापरविदेहकम्मभूमकमनुष्यपुरिया द्वयोऽपि संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यः पूर्वविदेहापरविदेहाकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ द्वयोऽपि संखेयुक्ताः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताज्योऽन्तरद्वीपकमनुष्यत्थियाओ अस्संखेयुक्ताः, अण्यसंखेयुमागतकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्या देवकुरुत्तरकुर्वकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो हरिखरैरभ्यकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो हरिखरैरभ्यकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो देवकुरुत्तरकुर्वकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो जरतिरवतकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ द्वयोऽपि संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो जरतिरवतकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ द्वयोऽपि संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयुक्ताः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ।

संप्रति जयनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तममदपचहृत्यमाह-  
एतामि णं जंते ! देवित्थीणं जवणवामीणं वाणमंतरीणं जोइमीणं वेमाणिणीयं देवपुरिसाणं भवणवासीणंओ जाव वेमाणिणियाणं सोपममकाणंओ जाव गविज्जकाए अणुत्तरोवाइयाणं एरइयनपुसिसाणां रयणपभापुदविनेरइयनपुसिसाणंओ जाव अहेसत्तमापुदविनेरइयनपुसिसाणां कयं कयंरहितो जाव विमेसाहिद्या वा । गोयमा । सवत्थोवा अणुत्तरोवावाइया देवपुरिसा, उवरिमगेवओ देवपुरिसा संखेज्जगुणा, तदेवओ जाव आणतकप्यं देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमापुदवीए नेरइयनपुसिसा अस्संखेज्जगुणा, उट्टीए पुदवीए नेरइयनपुसिसा अस्संखेज्जगुणा, महत्सारे कप्यं देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, महासुकु कप्यं देवा अस्संखेज्जगुणा, पंचमाए पुदवीए नेरइयनपुसिसा अस्संखेज्जगुणा, लंतए कप्यं असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुदवीए नेरइया अस्संखेज्जगुणा, बंभलोए कप्यं देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, तथाए पुदवीए नेरइया अस्संखेज्जगुणा, माहिंदे कप्यं देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, सणहुंकारो कप्यं देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, दोच्चाए पुदवीए नेरइया अस्संखेज्जगुणा,



अप्यावहृय ( ग )

ईसाणे कल्पे देवपुरिसा असंखेजगुणा, ईसाणे कल्पे देवित्थियाओ संखेजगुणाओ, सोधम्मं कल्पे देवपुरिसा संखेज्जा, सोधम्मं कल्पे देवित्थियाओ संखे०, जवन-वासिदेवपुरिसा अमंखेज्जगुणा, जवणवासिदेवित्थियाओ संखे०, इमी मे रथणपज्जापुढवीनेरइया असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा. बाणमंतरदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ॥

सर्वस्माका अनुत्तरोपातिकदेवपुरियाः, तत उपरितनम्रैवेय-कल्पयत्थेयकाधस्तनम्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतकल्पदेवपुरिया यथोत्तरं संख्ययगुणाः । ततोऽथःसप्तमषष्ठपृथिवीनैर्यिकन-पुंसकसदञ्चारसहाश्रुककल्पदेवपुरियपञ्चमपृथिवीनैर्यिकनपुंसकलातककल्पदेवपुरियचतुर्थपृथिवीनैर्यिकनपुंसकसहाश्रुककल्पदेवपुरयुत्तीथपृथिवीनैर्यिकनपुंसकमादंष्ट्रसत्तकुमारकल्पदेवपुरयद्वितीयपृथिवीनैर्यिकनपुंसका यद्योऽस्रमसंख्येय-गुणाः । तत ईशानकल्पदेवपुरिया असंख्येयगुणाः, तेज्य ईशानकल्पदेवत्थियः संख्येयगुणाः, ज्ञात्रिदादुगुणत्वात् । ततः सोधम्मकल्पे देवपुरियाः संख्येयगुणाः, तेज्यः सोधम्मकल्पे देव-त्थियः संख्येयगुणाः, ज्ञात्रिदादुगुणत्वात् । ताभ्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैर-यिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो वाणमन्तरदेवपुरिया असंख्येयगुणाः, तेभ्यो वाणमन्तरदेवत्थियः संख्येयगुणाः, ताभ्यां ज्योतिष्कदेवपुरियाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो ज्योतिष्कदेवत्थियः संख्येयगुणाः, ज्ञात्रिदादुगुणत्वात् ॥

सम्प्रति विजातीयव्यक्तियपकमप्रममदवबहुत्वमाह—  
एवाणि एं भेते । तिरिक्खजोणित्थीयं जलयरीयं थलयरीयं खड्दयरीयं तिरिक्खजोणियपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुढवीकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं आठकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं जाव वणस्सकाइयएगिंदियातिरिक्खजोणियनपुंसकाणं बेदिदियातिरिक्खजोणियनपुंसकाणं तेदिदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं चउरिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं पंचेदिदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थड्यराणं खड्दयराणं मणुस्सपुंसकीयणं कम्मनुभियाणं अकम्मजूमि-याणं अंतरदीवयाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मनुभियाणं अकम्मभूतिकाणं अंतरदीविकाणं मणुस्सनपुंसकाणं कम्मजूमिकाणं अकम्मजूमिकाणं अंतरदीविकाणं देवित्थीयं भव-णवाग्निषीणं वाणमंतराणं जोतिसिणीयं वेमाणिणीयं देवपुरिसाणं भवणवाग्नीयं वाणमंतराणं जोतिसिणीयं वेमाणि-याणं सोधम्मकाणं जाव गेविज्जकाणं अणुत्तरावयायाणं नेरइयनपुंसकाणं रथण्यजपुढवीनेरइयनपुंसकाणं जाव अहेसत्तमापुढवीनेरइयनपुंसकाणं य करे कयोइहो अप्या

वा० ४१। गोपमा । सब्बत्थोवा अंतरदीवकअकम्मजूमिकम-णुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुट्ठा सब्ब-त्थोवा, देवकुरुत्तकुरुअकम्मजूममणुस्सित्थीओ मणु-स्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुट्ठा असंखेज्जगुणा; एवं हरिसास्सम्मासि, एवं हेमवते हेरएणवते, जरहेरवतवास-कम्मजूममणुस्सपुरिसा दो वि संखे०, जरहेरवकम्मजूम-मणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरवि-देहकम्मजूममणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेह-अवरविदेहकम्मजूममणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्ज-गुणाओ, अणुत्तरावयावित्थियेवपुरिसा असंखेज्जगुणा ; उवनिमोवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा० जाव आणतकल्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयनपुंस-का असंखेज्जगुणा, छट्ठीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, सद्दसाए कल्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महा-सुक्क कल्पे असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंस-का असंखेज्जगुणा, लंतए कल्पे देवपुरिसा असंखेज्जगु-णा, चउत्थीए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, बंधनोए कल्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तवाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिदे कल्पे अमंखेज्जगुणा, सणकुमार कल्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोषाए पु-ढवीए एणइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवकअक-म्मजूममणुस्सएपुंसका असंखेज्जगुणा । देवकुरुत्तकुरु-अकम्मजूममणुस्सएपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, एवं जाव विदेहो । चि । ईसाणकल्पे देवपुरिया असंखेज्जगुणा, ईसाण-कल्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मं कल्पे देवपु-रिसा संखेज्जगुणा, सोधम्मं कल्पे देवित्थियाओ संखेज्ज-गुणाओ, जवनवासिदेवपुरिसा असंखे०, भवणवासिदे-वित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ; इमी मे रथणपज्जा पुढ-वीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, खड्दयतिरिक्खजो-णियपुरिसा संखेज्जगुणा, खड्दयतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे-ज्ज०, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे०, जलयरतिरि-क्खजोणियपुरिसा संखेज्ज०, जलयरतिरिक्खजोणि-त्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगु-णा, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोइसिय-देवपुरिसा संखेज्ज०, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगु-णाओ । खड्दयपंचेदियतिरिक्खजोणियपुंसका असंखेज्ज-गुणा, थड्यरनपुंसका संखे०, जलयरनपुंसका संखे०, चतुरिंदियणपुंसका विममाइया, तेदिदिया विमसाइया, बे-दिदिया विमसाइया, तेठकाइयएगिंदियातिरिक्खजोणिय-नपुंसका असंखे०, पुढवी० विममाइया, आठ० विसाहि-

या, वा०० चित्सेसाद्विया, बणल्फ्काइयर्गिदियतिरि-  
कन्वो(गिययपुंसका अणंतगुणा ॥

सर्वेस्तोकाः अन्तरह्योपकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाश्च, स्व-  
स्थानं तु द्वयेऽपि तुल्याः, युक्तचर्मोपेतत्वात् । एवं देवकुक्क-  
रकृष्यकर्मज्ञमकदरिचर्षरम्यकवर्षाकर्मज्ञमकदमवतहैरपय-  
वनाकर्मज्ञमकमनुष्यस्त्रीपुण्या यथोत्तरं संक्षेपयोग्याः, स्व-  
स्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो अन्तैरवतकर्मज्ञमकमनुष्यपु-  
रुषा द्वयेऽपि संक्षेपयोग्याः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ते-  
ज्यो सरतैरवतकर्मज्ञमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संक्षेपयोग्याः,  
स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तान्यः पूर्वविदेहापरविदेहक-  
र्मज्ञमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि संक्षेपयोग्याः, स्वस्थानं तु पर-  
स्परं तुल्याः । तेज्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मज्ञमकमनु-  
ष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संक्षेपयोग्याः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्व-  
स्थाने तु परस्परं तुल्याः । तन्वा०ऽनुत्तरापोपातिकोपरितनश्रैवेव-  
कमभयमश्रैवेयकाधस्तनश्रैवेयकाःफुत्तराणाम्राणानामकदपदेषपु-  
रुषा यथोत्तरं संक्षेपयोग्याः; तनोऽधःसप्तमपष्टपुंधर्वाभैरिव-  
कलहभारकल्पदेषपुरुषा महाशुककल्पदेषपुरुषाः पञ्चमपुण्यि-  
यभैरायकालानकल्पदेषपुरुषाश्चतुर्थपुण्यिभैरियकनपुंसक-  
मश्रैवाकल्पदेषपुरुषतृतीयपुण्यिभैरियकनपुंसकमाहन्द्रकल्प-  
मन्त्रकमारकदरं देवपुरुषद्वितीयपुण्यिभैरियकनपुंसकान्तरह्यो-  
पनपुंसका यथोत्तरमसंक्षेपयोग्याः । ततो देवकुक्करकृष्यकर्म-  
ज्ञमकदरिचर्षरम्यकवर्षाकर्मज्ञमकहैमवतहैरपयवताकर्मज्ञमक-  
मरितवकर्मज्ञमकपुंड्रविभेदार्थविदेहकर्मज्ञमकमनुष्यनपुंस-  
का यथोत्तरं संक्षेपयोग्याः, स्वस्थाने तु द्वये परस्परं तुल्याः ।  
तत ईशानकन्दरं देवपुरुषा असंक्षेपयोग्याः, तत ईशानकल्प-  
देवपुरुषाः संक्षेपयोग्याः । तान्यः सौभ्रमैकल्पे देवपुरुषस्त्रियो संक्षेपयोग्याः । त-  
न्यो भयनवाभिमदेवपुरुषा असंक्षेपयोग्याः, तेज्यो जन्मवांसिद-  
वार्त्तव्यः संक्षेपयोग्याः । तान्योऽस्वर्गा रत्नप्रभायो पुण्ड्रियवां भैर-  
यिकनपुंसका असंक्षेपयोग्याः । ततः अचरतिथ्यभौतिकपुरुषाः  
अचरतिथ्यभौतिकस्त्रियोः स्थलचरतिथ्यभौतिकपुरुषाः स्थलचर-  
तिथ्यभौतिकस्त्रियोः जलचरतिथ्यभौतिकपुरुषाः जलचरतिथ्यभौ-  
तिकस्त्रियो वायुमन्तरं देवपुरुषाः वायुमन्तरं देवस्त्रियो ज्योति-  
रकदेषपुरुषाः ज्यातिरकदेषस्त्रियो यथोत्तरं संक्षेपयोग्याः ।  
ततः अचरपञ्चेन्द्रियतिथ्यभौतिकनपुंसका असंक्षेपयोग्याः ।  
ततः स्थलचरजलचरपञ्चेन्द्रियतिथ्यभौतिकनपुंसकाः कर्मण  
संक्षेपयोग्याः, ततश्चतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभौतिकनपुंसकानि-  
कनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततस्त्वंजस्काथिकैकेन्द्रिय-  
तिथ्यभौतिकनपुंसका असंक्षेपयोग्याः, ततः पुण्ड्रियव्यायुका-  
यिकतिथ्यभौतिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । घनस्प-  
तिकथौतिकैकेन्द्रियतिथ्यभौतिकनपुंसका अन्तगुणाः, निर्गो-  
द्विजानामनन्तत्वात् । जी० २ प्रति० ॥

शरीरमाश्रित्य सशरीरशरीराद्व्यवहृत्वव्यवस्थान्यायम्—

“ सव्यथोवा सलरीरी, असरीरी अणंतगुणा ”

( २५ ) [शरीरद्वारम्] आहारकादिसारीरिणाभ—

अप्पावहृ-सव्यथोवा आहारगसरीरी, वेडविचयसरीरी  
असंसेजेजगुणा, ओरासियसरीरी असंसेजेजगुणा, अ-  
सरीरी अणंतगुणा, तयाकम्मासरीरी दो वि तुल्ला अ-  
णंतगुणा ।

सर्वेस्तोकाः आहारकशरीरिणः, वक्तृर्षनोऽपि सहस्रपुण्यस्त्रेण  
प्राप्तमाणत्वात् । तेज्यो वैक्रियशरीरिणोऽसंक्षेपयोग्याः, देवना-  
काणां कतिपयमजैजतिर्युक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यवायुकायिकानां च वै-  
क्रियशरीरत्वात् । तेज्यो श्रौदारिकशरीरिणाः । संक्षेपयोग्याः, इहा-  
नन्तानामपि जीवानां यस्मादकर्मौदारिकं शरीरं ततः स एक-  
ौदारिकशरीरी परिगृह्यते, ततोऽसंक्षेपयोग्या एषौदारिकशरी-  
रिणां नानलगुणाः । आह व श्रुद्धीकाकारः श्रौदारिकशरीरिणोऽप्य-  
शरीरा अन्तगुणाः, सिदानामनन्तत्वात्, श्रौदारिकशरीरिणां  
च शरीरापेक्षया असंक्षेपयत्वादिनि । तेज्योऽशरीरिणां । अन्त-  
गुणाः, सिदानामनन्तत्वात् । तेज्यः तैजसशरीरिणः कर्मणश-  
रीरिणः अन्तगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तै-  
जसकर्मणयोः परस्परविनाजाविश्वत्वात्, इह तैजसशरीरं कर्म-  
णशरीरं च निर्गोद्वेषपि प्रतिजीवं विद्यते, इति सिद्ध्याऽप्य-  
नन्तगुणत्वम् । जी० ६ प्रति० ॥ (श्रौदारिकशरीरिणाणां बाल्यव-  
हुत्वं 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते ) (सकमविषयमल्पबहुत्व 'सकम'  
शब्दे द्रष्टव्यम् ) ( समुदातविषयमल्पबहुत्वं 'समुदाय' शब्दे  
प्रकपयिष्यते )

[संक्षिप्तरम्] संक्षेपसंक्षिनोसंक्षिनाअसंक्षिनामल्पबहुत्वम् -

एस्मि णं भेते । जीवाणं सन्धीणं असन्धीणं नोसन्धीणं  
नोअसन्धीण व कपरे कपरोहितो अप्पा वा० ४ ? । गोय-  
मा । सव्यथोवा सन्धी, नोसन्धी नोअसन्धी अणंतगुणा,  
असन्धी अणंतगुणा ।

सर्वेस्तोकाः संक्षिना, समनस्कानामेव संक्षित्वात् । तेज्यो नोसं-  
क्षिना नोऽसंक्षिनोऽनन्तगुणा, उभयप्रतिषेधकत्वा हि सिद्धाः, तेच  
संक्षिभ्योऽनन्तगुणा एवेति । तेज्योऽसंक्षिनोऽनन्तगुणा, घनस्पती-  
नां सिद्धेज्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रहो० ३ पद । (आहारविंशो-  
पयुक्तानां भैरियकादीनामल्पबहुत्वं 'सन्धी' शब्दे वक्ष्यते ) (सा-  
मायिकविदेस्यतविषयमल्पबहुत्वं 'संजय' शब्दे एव द्रष्टव्यम् )  
( संक्षेपस्थानामल्पबहुत्वं 'संजमट्टण' शब्दे भावयिष्यते )

[ संक्षेपमह्वारम् ] संक्षेपानामसंक्षेपानां नोसंक्षेप-  
नोअसंक्षेपानामल्पबहुत्वम्—

एस्मि णं जंते । जीवाणं संजयाणं असंजयाणं संजयासं-  
जयाणं नोसंजयाणं नोअसंजयाण व कपरे कपरोहितो अप्पा  
वा० ४ । गोयमा । सव्यथोवा जीवा संजया, संजयासंजया  
असंसेजेजगुणा, नोसंजया नोअसंजया अणंतगुणा, अ-  
संजया अणंतगुणा ।

सर्वेस्तोकाः संक्षेपताः, वक्तृरूपदेषेऽपि तेषां कोटिसहस्रपुण्यस्त्रेण-  
प्राणतया लज्जमन्तत्वात् । “कोटिसहस्रस्यपुंस्तु मण्डयल्लोच-  
संजयाणं” इति वचनात् । तेज्यः संक्षेपतां देवादेवता असं-  
क्षेपयोग्याः, तिथ्येकपञ्चेन्द्रियाणामसंक्षेपतातां देवावितरिसिद्धा-  
त्वात् । तेज्यो नोसंक्षेपता नोअसंक्षेपता अन्तगुणाः, प्रतिषेध-  
व्यवस्था हि सिद्धाः, ते चान्ता इति । तेज्योऽनन्तत्वात् अन्त-  
गुणाः, घनस्पतीनां सिद्धेज्योऽप्यनन्तत्वात् । प्रहो० ३ पद ।

संक्षेपानामल्पबहुत्वम्—

एस्मि णं जंते । परिमंल्लवदृचउरंतंसेज्जायत अणित्थंत्वा-  
यां संजायाणं दन्वडुपाय पदेसदुपाय दन्वडुपदेसदुपाय कय-

अप्यावहृय ( ग )

रे कपरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? । गोयपा ! सव्वत्थोवा परिमंढसमंठाणा दव्वहयाए, बढासंठाणा दव्वहयाए संखेज्जगुणा, चउरंसा संठाणा दव्वहयाए संखेज्जगुणा, तेसा संठाणा दव्वहयाए संखेज्जगुणा, अत्रयतसंठाणा दव्वहयाए संखेज्जगुणा, अणित्थंथा संठाणा दव्वहयाए अ-संखेज्जगुणा । पदेसहयाए सव्वत्थोवा परिमंढला संठाणा, बढासंठाणा पदेसहयाए संखेज्जगुणा । जहा दव्वहयाए तहा पदेसहयाए वि० जाव अणित्थंथा संठाणा पदेसहयाए असंखेज्जगुणा । दव्वहपदेसहयाए सव्वत्थोवा परिमंढ-संठाणा, दव्वहयाए सो वेव गमो भाणियब्बो० जाव अणित्थंथा संठाणा दव्वहयाए असंखेज्जगुणा, अयोत्थंथ्ये-हिंतो संठाणेहिंतो दव्वहयाएहिंतो परिमंढला पदेसहयाए असंखेज्जगुणा, बढासंठाणा पदेसहयाए असंखेज्जगुणा, सो वेव पदेसहयाए गमओ जाणियब्बो० जाव अणित्थंथा सं-ठाणापदेसहयाए असंखेज्जगुणा । ज० २५ श० ३० ।

( पदकसमर्जितानां यावच्चतुरशीतिसमर्जितानामप्यवहृत्यं 'वषयाय' शब्दे द्वितीयागम १६२ पृष्ठ निरूपयिष्यते )

[ सम्यक्त्वद्वारम् । सम्यग्मिथ्याहृष्टिसम्यक्मिथ्या-हृष्टीनामप्यवहृत्यम् -

एसिं सं भंते । जीवाणं सम्मादिह्दीणं मिच्छादिह्दीणं मग्गामिच्छादिह्दीणं च कपरे कपरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयपा ! सव्वत्थोवा जीवा सम्मामिच्छादिह्दी, सम्मादिह्दी अणंतगुणा, मिच्छादिह्दी अणंतगुणा ।

सर्वलोकाः सम्यग्मिथ्याहृष्टयः, सम्यग्मिथ्याहृष्टिपरिणाम-कालस्याप्तमुहूर्तप्रमासुतयातिस्त्वाकंवेन तेषां पुच्छासमये स्तो-कानामिव हृच्यन्त्यात् । तेभ्यः सम्यग्हृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धा-नामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्याहृष्टयोऽनन्तगुणाः, वनस्पति-कायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणात्वात्, तेषां च मिथ्याहृष्टि-त्वात्तिति । प्रहा० ३ पद ।

सम्यक्त्वद्वारं सात्त्वादनसम्यग्हृष्टयः स्तोकाः, औपशमिकस-म्यक्त्वात्कांशेदेव प्रचयवमानानां सात्त्वादनत्वात् । तेभ्य औ-पशमिकसम्यग्हृष्टयः सङ्घातगुणाः ।

मीसा संत्ला वेयग-असंखणण सइय मिच्छं तु अणंता । संनियर घोवडणंता-आहार घोवेयर असंत्ला ॥ ४४ ॥

तेभ्योऽप्यौपशमिकसम्यग्हृष्टयो मिश्राः संख्यातगुणाः, तेभ्यो ( वेयग ति ) क्षाद्योपशमिकसम्यग्हृष्टयोऽसंख्यातगुणाः । तेभ्यः क्षाधिकसम्यग्हृष्टयोऽनन्तगुणाः, क्षाधिकसम्यक्त्ववर्णां सिद्धा-नामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्याहृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽ-पि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणात्वात्, तेषां च मिथ्याहृष्टिवादि-ति । कर्म० ४ कर्म० ।

[ सिद्धिविषयकम् ] सिद्धासिद्धयोरेक्यवहृत्यम् -

एसिं सं भंते । सिद्धाणं असिक्काणं य कपरे कपरे-हिंतो जाव विसेसाहिया वा ? । गोयपा ! सव्वत्थोवा सिद्धा, असिक्का अणंतगुणा ।

“पपारिणमित्यादि” प्रअसूचं सुगमम् । जगवाताह-गीतम् ! सव्वेस्तेकाः सिक्काः, असिक्का अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामति-प्रभूतत्वात् ।

( सुक्काद्वारम् ) सुचमवादेनोसुचमनोवादराणामल्पबहुत्वम् - एसिं सं भंते ! सुहुमाणं बादराणं नोसुहुमाणं नोबा-दराणं य कपरे कपरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयपा ! सव्व-त्थोवा जीवा नोसुहुमा नोबादरा, बादरा अणंतगुणा, सु-हुमा असंखेज्जगुणा ।

सर्वेस्तेकाः जीवा नोसुहुमा नोबादराः, सिद्धा इत्यर्थः; तेषां सुचमजीवराशेर्बोद्धजीवराशेऽनन्तभागकल्यात्वात् । तेभ्यो ना-दरा अनन्तगुणाः, बादरनिगोदजीवानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणात्वा-त् । तेभ्यः सुहुमा असंखेयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सुहुमानिगो-दानामसंखेयगुणात्वात् । गानं सुहुसङ्घारम् । प्रहा० ३ पद । कर्म० क० प्र० । प० सं० । ( सिद्धिबन्धानामद्वयबहुत्वं 'वष' शब्दे कृष्टव्यम् )

अप्याभिणिवेस-आत्माजिनिवेश-पुं० । पुत्रावृत्तकलवादिव्या-त्सीयाभिनिवेशे, नैरात्मावगतौ आत्माजिनिवेशः । नं० ।

अप्यायंके-अप्यातङ्क-वि० । अनपशब्दोऽभावाच्चा । अल्पः सर्वथाऽविद्यमान भावद्वो उच्यतेऽस्याऽसावल्पात्तङ्कः । जी० ३ प्रति० । रा० । अनातङ्के जीरेण, प्र० १४ श० ? उ० । अरो-गिणं, आत्वा० २ भू० ३ अ० ६ उ० । पाण० । रांगमुत्तं, घ० ३ अघि० । आघ० ।

अप्यारंभे-अप्यारम्भ-वि० । कर्मादिकं पुष्टिव्यादिजीवोपम-द्वै एव कुवांण, औ० ।

अप्यावय-अप्यावृत्-वि० । अस्वगिते, सुच० १ भू० ५ अ० ३ उ० ।

अप्यावयवृत्तार-अप्यावृत्तार-पुं० । अप्यावृत्तमर्थगतं ह्यारं शूह-मुचं यस्य सोऽप्यावृत्तारः । हृदसम्यक्त्वे, यस्य दिष्टुं प्रविश्य परनांशिकोऽपि यद्यत् कथयति तदसौ कथयति, तस्य परिज-नोऽप्यन्यथा भावयितुं सम्यक्त्वाच्छयावयितुं शक्यते इति यावत् । सुच० २ भू० ६ अ० ।

अप्याह-संदिश-धा० । सम-विज्ञ-तुदा० । वार्ताकथने, प्राहने-“सदिशेरत्पादः” ॥ ८० ॥ इति सूत्रेण संपुष्टकस्य दिशेरत्पादादेव । प्रा० ४ पाद । अप्याहति संदिशति व्य० १ उ० । अप्याहति संदेशं कथयति, यथा-मया ह्येतोऽमुकस्य समापे कायात्सर्ग इति । व्य० ४ उ० ।

अप्याहृण-अप्राधान्य-न० । अप्राधान्ये, पञ्जा० १ विव० ।

अप्याहार-अप्याहृ- पुं० । अल्पभासौ आहारश्च अन्धा-हारः । स्तोकाहारं, अल्प आहारो यस्य सोऽप्याहारः । स्तो-कमाहारमाहार्यति साऽत्रै, अ० ।

अङ्ककुंभं अंगणपमाणं कवले आहारमाहारेमाणे अप्याहारं ।

कुक्कुटप्रकस्य यत्प्रमाणं माने तत्परिमार्णं मानं वेयं ते तथा । अथवा कुटीव कुटीरकमिष जीवस्याभयत्वात् कुटी शरीरं, कुटिनता अङ्गव्यायत्वात् कुटी कुकुटी, तथा अप्यङ्क-

मिवाएककुमुदरपुरकवादाहारः कुकुट्यपदकम, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्व्यभिशासमाश्रुया येषां ते कुकुट्यपदकप्रमाणमात्राः । अस्त्येनामस्यभिप्रायः-व्याता यस्य पुरुषस्याहारस्य द्वात्रिंशससो भागस्तत्पुरुषापेक्षया कवलः । इदमेव कवलमानमा-भिव्य प्रसिद्धकथञ्चनतुषष्टधादिमानाहारस्यापि पुरुषस्य द्वात्रिंशता कवः प्रमाणप्रसतोपपन्न स्यात्, नहि स्वनोजनस्या-ह्नू कवः प्रमाणासाहस्यमुपपन्नः । प्रथमस्याह्वान्यं तु प्रा-पिक्यक्रमवगतव्यमिति । (अप्याहारः सि) अल्पाहारः, साधु-भंशतीति गम्यम् । अथवाऽष्टौ कुकुट्यपदकप्रमाणमात्रान् कव-सानाहारमाहारयति कुर्वति साधौ अल्पाहारः स्तोकाहारः, आहारचतुर्धाकाकपन्थास्य । अ० ७ हा० १ उ० । व्या० । आचा० । (अल्पाहारस्य इन्द्रियाणि विषयेषु न वर्तन्त इति 'जिणक-प्यिय' शब्दे वचयन् )

अप्याहिरगण-अल्पाधिकरण-पुं० । अल्पमविद्यमानमधिक-रणां स्वपक्षरपक्षाविषयो यस्य तत्तथा । आ० ६ टा० १० उ० । निष्कसहे, स्था० ८ टा० ।

अपिपेचन्-अद्वेषेचन्-त्रि० । अल्पा स्तोका धर्मोपकरणप्राप्ति-मात्रविषयत्वेन, न तु सत्कारादिकामितया महती, अल्पशब्द-स्याभाववाचित्वेनाविद्यमाना दृष्टा वाग्ना व्यत्यल्पेच्छुः । उच० ३ अ० । अमदंष्ट्र, औ० । धर्मोपकरणमात्राधारण, उच० २ अ० । न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागिनि, दश० ८ अ० । अ-ल्पाः स्तोकाः परिग्रहार्थमेवियच्छुः। अन्तःकणप्रवृत्तयेषां ते तथा । सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । मणिकनकादिविषयप्रतिबन्धरहिते, जिते ३ प्रति० । न० । जं० ।

अपिप्य-अपिय-अ० । प्रियस्याभावोऽप्रियम् । चित्तदुःखासिका-याम, सूत्र० १ अ० ४ अ० १ उ० । न प्रियमप्रियम् । अर्पतिहे-ती, म० १ श० ५ उ० । चपा० । द्वेष्ये, स० । यद्धि दर्शनाया-तकात्रेऽपि न प्रियमुक्तिमुत्पादयति । जी० २ प्रति० । प्रमादवि-षये, स्था० ८ टा० । "अणिट्टा अकंता अपिया अमण्यसा अ-मणा एकटा" विपा० १ अ० १ अ० । "कोह असत्तं कुविज्जा, धारिज्जा (पयमप्यियं)" अप्रियमपि कण्ठकुकुतया तदनि-ष्टमपि, गुरुवचनमिति गम्यते । उच० १ अ० ।

अर्पित-त्रि० । प्राक्कृतसुदृष्टेन हार्तिकेन, उच० ३ अ० । प्रा-हिते, न० ५ हा० ७ उ० । दौर्गतिकेन, विपा० १ श्रु० २ अ० । विशेषिते, स्था० १० उ० । "अपियमयं विसेसो, सामग्रमण्य-वलयस्त्वं" विशेषे । "जहा इवियमप्यियं तं तदहं" यद् ह-व्यमर्पितं प्रतिपादयितुमर्भीयम् । सम्म० १ काण्ड ॥

अर्पित-त्रि० । अर्पणं कियते स्म, अर्पण-कृतार्थे णिच्, कर्मणि कः । अर्पणकृते, "शुभा न चकंसटिपकल्पपादापः" वाच० । अप्रियकारिण-अप्रियकारिण-औ० । ओतुष्टेननिवेदनादि-कृत्वाभावायाम्, "अप्रियकारिणं च भासं न ज्ञासिज्जा सया सपुज्जो" दश० ६ अ० ३ उ० ।

अर्पियण्य-अर्पितनय-पुं० । अर्प्यते विशेष्यते इत्यर्पितो वि-शेषः, तद्वाही नयोऽर्पितनयः । विशेष्यपदास्ति न सामा-न्यमिति समयप्रसिद्धे नये, विशेषे । अस्म० ।

अर्पियता-अर्पियता-औ० । अर्पमेहेतुतायाम्, म० ६ हा० ३ उ० ।

अर्पियववहार-अर्पितव्यवहार-पुं० । अर्पित इति व्यवहारो १६६

यस्मिन् सोऽव्यमर्पितव्यवहारः । मय्यव्यंसकादित्यात्, समासः । अर्पितानामस्त्याधिकविभवाः । स्वाधारे भाववर्ति, ज्ञाताऽव्य-मित्यादिकेण ज्ञानमस्त्यादिकेपेक्ष वचनव्यापारं वक्ष्या-स्थापिते व्यवहारे, उच० १ अ० ।

अर्पियवह-अर्पियवच-त्रि० । अर्पियं तुःश्चकारणं तद् प्रतीति-अर्पियवधाः । तुःकहेतुनिवारके, "सव्ये पाणापियाया सुह-साया दुष्कषयदिकूला अर्पियवहा" आचा० १ अ० २ अ० ३ उ० । अर्पियस्सर-अर्पियस्वर-त्रि० । प्रमादविषयस्वर, स्था० ८ टा० ।

अर्पियाण्यर्पिय-अर्पितानर्पित-न० । द्रव्यं ह्यर्पितं विशेषितं यथा जीवद्रव्यम्, किञ्चिदम्, संसारीति, संसारेयि असकृपं, त्र-सरूपमपि पञ्चैन्द्रियम्, तदपि नररूपमित्यादि । अनर्पितमविशे-षितमेव यथा जीवद्रव्यमिति । ततश्चार्पितं च तदनर्पितं चेत्य-र्पितानर्पितं रूपं त्रयतीति समाप्तविशेषकथनरूपं द्रव्यानुयो-गभेद, स्था० १० उ० ।

अर्पीक्य-आर्त्मीकृत-त्रि० । आत्मना गाढतरमाहृति, "पुहं रेणुं च तण्णुमि बद्धमण्यकयं" विशेषे । आत्मप्रदेशेस्तनुज्ञ-तोयवद् मिथीकृतम् । आ० म० १ टि० ।

अर्पुड्डा ( षु ) अर्पोत्थायिन्-त्रि० । अल्पमुच्यते शीतम-स्येयल्लोत्थायी । प्रयोजनार्थे अल्प-पुनरुत्थानशोभे, उच० १ अ० । "अपुड्डादि त्रिद्विदि निसीपञ्जस्यकृष्ण" उच० १ अ० ।

अर्पुत्तिगणगदगमट्टियामकसंताण-अर्पोत्तिरूपनकोदक-मृत्तिकापकटसन्नान-त्रि० । उत्तं रूपनकोदकमृत्तिकापकटस-न्नानगर्हिते, तत्रोत्तिः पिपिलिकासन्नानक, ननको ज्यम्यादा-वृत्तिविशेषः, उदकमृत्तिका अचिरात्पायाहृता मृत्तिका, म-कटसन्नानको वृत्तान्ततुजालम् । आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । अर्पुद्वय-अर्पोदक-त्रि० । मौलान्तरिकोदकरहिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अर्पुल्ल-आर्त्मीय-त्रि० । आत्मनि भवम् । "न्हस्वः संयोगे" ॥८।१।८५॥ "अस्मत्मानोः पो वा" ॥८।२।५७ ॥ इति तस्यपः । "अनादौ" ॥८।२।६॥ इति प्यः । "डिण्णुल्लो भवे" ॥८।२।६३॥ इति सूत्रेण "उल्ल" प्रत्ययः । आत्मनि नवे, प्रा० १ पाद ।

अर्पुस्त्युय-अर्पोस्त्युय-त्रि० । औत्सुक्यवर्जिते, औ० । न० । अनु-त्सुक्ये, हा० १ अ० । अप्रिमनस्के, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अर्पो-देशी-पुं० । पितरि, हं० ना० १ वगं ।

अर्पोल्लंभ-आर्त्तोपाह्वम्-पुं० । आत्मेन हितेन, गुरुण्यर्थः । उपाह्वमसो विनयेत्यादिहितविधायिन आर्त्तोपाह्वम् । अवि-धिप्रशुक्तस्य शिष्यस्य गुरुणा प्राणं स्थापनाय उपाह्वम्, ( तौपेहृता ) "अर्पोल्लंजनिमित्तं पदमस्त्वं जाणय्यणस्स अयमपे पण्णत्तं चिं भेमि" हा० १ अ० ।

अर्पोल्ल-देशी-त्रि० । हृदयवदनादुत्सरे, "अर्पोल्लं मिदुप-यहं च, पतिपुहं हत्यपूरिसं" श्रु० ३ उ० । नि० चू० ।

अर्पोवगण-अर्पोवगण-अल्पोपकृ-ए-सन्धारण-न० । अर्पमेवोप-करणे सन्धारणीये, पो० १ विव० ।

अर्पोवदित्त-अर्पोपाधित्व-न० । अनुस्वरणयुक्तस्तोकोपाधिस-वित्त्वे, दश० २ श्रु० ।

अर्पोप-अर्पोपवर्षाय-त्रि० । अश्वस्तनोपारितनाशवश्याधिमु-रुवाजिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अप्योसहिर्मंतवत्

अप्योसहिर्मंतवत्-अष्टपौषधिमन्त्रवत्-वि० । अल्पं स्नाकमी-  
पधिमन्त्रवत् यस्य स तथा । स्नाकेनौषधिमन्त्रवत्तत्र युते,  
‘अप्योसहिर्मंतवत्तां नहु अप्पाणं तिगिच्छिद्विदि’ आब-५ अ०  
अप्पालिण-आस्फालन-न० । हस्तेनाऽऽत्माने उल्लेखने,  
भौ० । दशा० । भग्नाहोरभ्याणं वादनमास्फालनमिति प्र-  
सिद्धम् । रा० । आ० श्लु० ।

अप्पालिजंत-आस्फालयमान-वि० । हस्तेनाऽऽत्मान्प्रयमाने,  
“ अप्पालिजंतानि भंभानां होरंभानां ” रा० ।

अप्फा ( फा ) लिय-आस्फालित-वि० । आ समन्तास्फारं  
प्रापिते, व्य० १ उ० ।

अप्फिङ्-अस्तुष्ट-वि० । स्पृहाविरहिते “ उपसर्गानिनिष्टेष्टा-  
न्नकोऽमीरस्पृहः क्षमेत ” आ० म० छि० ।

अप्फुदिय-अस्फुटित-वि० । अजजंरं, ज० २ वक्र० । “ अखं-  
डप्फुदिआ कायव्या ” अस्तुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन,  
दश० ६ अ० ।

अप्फुदियदंत-अस्फुटितदंत-वि० । अस्फुटिता अजजंरा ज-  
राहिता दन्ता येषां तेऽस्फुटितदन्ताः । जी० ३ प्रति० । अजजं-  
रदन्तेषु, ज० २ वक्र० भौ० राजिरहितदन्तेषु, तेषां न्य० कल्प० ।

अप्फुपु-आक्रान्त-वि० । आ-काम-क० । “ कनाप्फुसाद्यः ”  
८ । ४ । २५८ । इति कविशिष्टस्याऽऽन्तःशब्दाभ्यामुपादेशः ।  
अ० ४ पाद् । ध्याते, “ अप्फुष्या समाणः ” नि० । अप्फुष् स्रि,  
प्राप्फुष्या व्याता, आक्रान्ता इति यावत् । अ० । ज० । रा० ।

अप्फोआ ( या )-अप्फोया-स्त्री० । वनस्पतिविशेषं, जी० ३  
प्रति० । व्य० । ज० । महा० ।

अप्फोडिभ ( ड् )-आस्फोटित-न० करास्फोटे, ज० ३ वक्र० ।  
प्रश्र० । न० । ह्रा० । कल्प० ।

अप्फो ( फो ) व-अप्फोव-पुं० । वृक्षाकारिणं, अफोव इति  
किमुक्तं भवति-आस्तीणं वृक्षगुणगुणमन्त्रनासंज्ञक इत्यर्थः, इति  
बुधाः । उल० १८ अ० ।

अप्फोवर्मरुच-अप्फो ( फो ) वमरुच-पुं० । अप्फोवश्चासौ म-  
रुचयः । नागवह्नीक्षाहृदिभिर्यदि स्थानं, “ अप्फोवर्मरुचमि,  
ज्ज्याय रूचिवास्तवे ” उल० १ अ० ।

अप्फरुच-अप्फरुच-न० । अनिष्टुरं, मनःप्रवृद्धादकं, व्य० ३ उ० ।

अप्फरुमज्ञासि ( ष् )-अप्फरुमभा(पिन)-वि० । अप्फरुमनिष्पृ-  
तज्ञा(यनशोलेऽपृचभाभय) । वाग्भिनयिषोर्षं प्रतिअप्रे, व्य० ० उ० ।

अप्फरुवादि ( ष् )-अप्फरुवादि-पुं० । न विद्यते कस्यापि श-  
त् क्रियायाः फलमित्येवंवादिनि, सुश्र० १ श्रु० अ० ३ । अफ-  
लवादिनश्चाऽऽक्रियावादिन इति तत्रैवेतन्मन्त्रपुण्यस्य दूषितम् ।  
सौधांस्तीयाणामफलवादिशब्दम्—

अगारमावसंता वि, अरएणा वा वि पठव्या ।  
इमं दरिसाप्यामावसा, सन्वदुक्त्वा विमुच्ये ॥ १ ए ॥  
जे ते षावि संधिं षष्ठा एं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।  
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंटराहिया ॥ २ ० ॥  
ते णावि संधिं श्छवा एं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।  
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपाग्गा ॥ २ १ ॥

ते णावि संधिं श्छवा एं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।  
जे ते उ वाइणो एवं, न ते गन्धस्स पारग्गा ॥ २२ ॥  
ते णावि संधिं श्छवा एं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।  
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारग्गा ॥ २३ ॥  
ते णावि संधिं श्छवा एं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।  
जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारग्गा ॥ २४ ॥  
ते णावि संधिं श्छवा एं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।  
जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारग्गा ॥ २५ ॥

सामन्तं पञ्चानामाऽततज्जीवतच्छरीराकारकाम्यष्टकणि-  
कपञ्चस्कंधवादिनामफलवादिष्वं वजुक्कामः मृचकारस्तपं स-  
दशेनफत्राभ्युपगमं दशोयिनुमाह- ( अगारेत्वादि ) अगारं गृहं  
तदावसन्तस्तिस्तिस्ततो गृहस्था इत्यर्थः । आराधया वा ता-  
पसाद्यः, प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः । अप्रियः सम्भाषणे । इदं न  
संभावयन्ति-यथेदमसदीयं दशानमापन्ना आश्रिताः सव-  
दु-श्रेय्यो विमुच्यन्ते । आर्यत्वादेकवचने सूत्रे कृतम् । तथाहि-  
पञ्चान्तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः-यथेदमसदीयं दशो-  
नं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेऽन्यः शिरःशुग्गमगुग्गम-  
दृष्टकाजिनजटाकापायकीवारधारकशङ्खानुज्जमभान्यस्तपश्चर-  
ण्णयाकेशकण्ठेय्या दुःश्रेय्यो मुच्यन्ते । तथाहुः- “तपसां यत-  
नाभिधाः, सयमो जोगवज्जन्तम् । आश्रित्वादि कथं,पालकीमेव  
सच्यते ” १ ॥ इति । सांश्यादयस्तु-मोक्षवादिन एवं संभा-  
षयन्ति-यथा येऽसदीयं दशानमकं सर्वेभ्यो जन्मजरामरणभ-  
प्रस्पराऽनेकशारीरमात्मनाऽतन्निर्नराऽऽनातोदयकण्ठेय्या दु-  
श्रेय्यो विमुच्यन्ते । सकलजन्तुर्वादिनां कं मोक्षमास्फुटन्निन्सु-  
क्तं भवति । १६ ॥ इदानीं तेषामेवाऽफलवादिवादिपरिचरणा-  
याह-( ते णावोऽयादि ) ते पञ्चान्तवाद्याणाः, नापि नैव, सन्धि-  
विवरं, स च कल्पनावेदाद् श्रेया-तश्च कल्पमन्धिः  
कुक्ष्यादिः, त्रावमन्धिर्ज्ञानावरणादिवचनरूपः, तमहात्वा ते  
प्रवृत्ताः । गर्भनि वाक्यलक्षणे । यथा-आमकमंघोः स-  
न्धिर्दिष्टा भावयत्सुणो जवति, तथा अनुधा इव ते वराक  
दुःखसांघोमंमृचयुता इत्यर्थः । यथा न पंचनासाश्चा प्रति-  
पादिन्ते, लेशतः प्रतिपादयिष्यते च । यदि वा संघानां सन्धि-  
रुत्तरोत्तरपदोपरिज्ञानं, तदज्ञाया प्रवृत्ता इति । यतश्चेदम-  
तस्तं न समग्रधम्मपरिच्छेदं कर्तव्यं मत्सुखा निपुणाः, जनाः प-  
ञ्चान्तास्तित्वादिवादिनां शोका इति । तथाहि-काम्यादिकां द-  
शविधां धमेस्समहात्वेयान्यथा च धमं प्रतिपादयन्ति । अत्कत्वा-  
भावाच्च तेषामफलवादिष्वं तदुत्तरग्रन्थोद्देशकपरिचरणापर्य-  
वसानेन दर्शयति-ये ते विवादा । तुलाब्दइत्यर्थवादाः । ये इत्यस्या-  
नन्तरं प्रयुज्यन्ते । ये च ते एवमन्तन्नेरकप्रकारवादिनां नास्ति-  
कादयः, छांवा भवेद्यः संसारः, तत्तदपश्यातीस्ते न भवन्तीति  
श्लोकायः ॥ २० ॥ तथा न ते वादिनः ससागरमज्जन्तु-अभा-  
रादिपाग्गा भवन्तीति । २१ । २२ । २३ । २४ । २५ ।

नाणाविहदार्हं दुक्खवादि, अणुहंति पुणो पुणो ॥  
संसारचक्रालम्बि, मच्छुवादिजगत्कुले ॥ २६ ॥  
उच्चावयाणि गच्छंता, गच्छमेस्संति-अणुतमो ।  
नायपुत्ते महाविरे, एवमाह जिणाचये ॥ २७ ॥

बन्तुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्देश्यितुमाह- ( माण्यविदाहं हस्वादि )  
 नानाविधानि बहुप्रकारानि दुःखान्प्रसातोदयलक्षणम्पुन्यजयति  
 पुनः पुनः । तथाहि-नरकेषु करपत्रद्वाराण-कुम्भीपाक-तसाय-  
 शास्त्रमल्लसमालिङ्गनादीनि, तिर्यङ्कु न शीतोष्णविदमनाहृताह-  
 नातिस्वारारोपणकुसुमादीनि, मनुष्येषु हृद्यवियोगानिस्त्रयस्योण-  
 शोकाकन्दनादीनि, देवेषु बामियोगार्थोक्तिविकल्पव्यवना-  
 दीन्यनकप्रकारानि दुःखानि, ये एवंभूता वादिनस्ते पौनःपुन्येन  
 समनुभवन्ति । एतच्च श्लोकात् सर्वेषुनरश्लोकास्तेषु याज्यम् ।  
 शेषं सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥ २६ ॥ नवरमुष्णवचा-  
 नीनि-अधमोक्षमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति  
 गच्छन्तो भ्रमन्तो गतींभ्रमेभ्यस्ति वासस्थाननलशो निर्बिच्छेद-  
 मिति प्रवामीति । सुधर्मस्त्वामि जम्बूस्थामिन् प्रत्याह-प्रवामीत्यहं  
 नीधुङ्गाङ्गा न स्वधर्मीयिकया, स चाहं प्रवामी, येन मया ती-  
 थैरुसकाशाच्छ्रुतम् । एतेन च त्रिणिकादिनिवासो कृष्टयः ।  
 । २७ । सूत्र० १ भू० १ म० १ उ० ।

अफास-अस्पृशी-त्रि० । न विद्यते स्पर्शोऽष्टप्रकारो सूदुककै-  
 शादिरित्येत्यर्थः । शं० १६ विव० । अङ्गनस्पर्शे पक्वान्तेऽङ्गनी-  
 यं, सूत्र० १ भू० ५ अ० १ उ० ।

अफामुय-अमामुक-न० । न प्रगता असत्त्वोऽसुमन्तो यस्मात्त-  
 द्प्रामुकम् । सजोवे, म० ५ श० ६ उ० । सचिचे, आच्चा० १  
 भू० १ अ० १ उ० । सूत्र० ५ अ० १ उ० ।

अफामुयपादेसंबि ( र्ण )-अमामुकप्रतिसंबिन्-त्रि० । अमामु-  
 कं सचिचे प्रतिसंबितुं शीघ्रमस्य स अमयामुसुकप्रतिसंबी ।  
 सचेननजज्ञादिवस्तुप्रतिसंबनशीले, "अफामुयपदिसंबिय, णामं  
 लुञ्जो यं सीलयादीं यं ।" सूत्र० १ भू० ७ अ० ।

अफुन-अस्पृश्य-त्रि० । स्पृश्ययोग्यं, "अफुसं तुक्कं" अ-  
 स्पृश्य कर्माकृतत्वादेव । स्था० ३ उ० २ उ० ।

अफुनमागाद-अस्पृशद्गति-उ० । अस्पृशन्ती सिञ्चन्त-  
 गलप्रदेशान् गतिर्यस्य साऽस्पृशद्गतिः । अस्तारालप्रदेशाना-  
 मस्पर्शनैवेवोच्यं गच्छति सिञ्चे, औ० ।

लज्जुनदीपारिवने अफुसमागादौ उहं एकसमपरां अ-  
 विगमद्वेषं लहं गता सागारोवउचो सिञ्जिहं चि ।

अनगलप्रदेशस्पर्शो हि नैकेन समवेन सिञ्चिः, स्थिते च त-  
 त्रक एव समयः, य एव चापुष्पाधिकर्मणां क्षवसमयः स एव  
 निर्वाणसमयोऽतोऽनराले समयानिरस्याभावाद्दन्तरालप्र-  
 देशानामसंस्पर्शोनामिति सूत्रमभ्यायमर्थः कवलिंगम्यां प्रा-  
 वन इति । औ० ॥ "अफुसमागणानां निरसितं समथं न फुसति,  
 अदवा जसु अवगादो ज य फुसति लज्जुमविगच्छमाणो तसि ए  
 चैव आगासपदेने फुसमाणो गच्छति ।" आ० कू० ३ अ० ।

अपङ्क्तु-अद्वन्द्व-त्रि० । न द्वन्द्वसम्बन्धयम् । अवश्यकार्यकार-  
 रिति, सूत्र० । अवन्धमेकादेशं पूर्वम्, द्वन्द्वं नाम निष्फलं, न  
 विद्यते अन्वयं यत्र तद्वन्धयम्, सफलमित्यर्थः । तत्र हि-सर्वे-  
 ऽपि काननप-संयमयोगाः अमफलेन लक्ष्णा वधेयन्ते, अप्रशस्ता-  
 ङ्ग प्रमादादिकाः सर्वे अशुनफला वधेयन्तेऽतोऽद्वन्द्वयम्, तस्य  
 च परिमाणं यद्विशतिपदकोटयः । स० । "अवन्धमुत्पन्नस्य णं  
 वारस्य अन्व० पराण्त्वा" न० । स० । अवश्यकार्यकर्तारि, सूत्र०  
 २ भू० १ अ० ।

अवन्ध-अवन्ध-पुं० । बन्धाभावे, पं० सं० ५ अ० ।

अवन्धय-अवन्धक-पुं० । निरुक्तयोगे, म० २ श० ६ उ० । आ०  
 म० द्वि० ।

अवन्धय-अवान्धव-त्रि० । स्वजनसम्पाद्यकार्यरहिते, प्रश्न०  
 १ आ० ३ अ० ।

अवन्ज-अन्नखन-न० । अकृशसे कर्मणि, तच्च मैपुने विवक्षितम्,  
 अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । प्रश्न० ४ अ० ३ अ० ।

तत्त्वाद्यादशाध-

अष्टारसविहो अवन्जे ओरोदिङ्गं च दिव्यं, मणवयकाए-  
 ण जोएण अणुमाग्णकारावणकरणेणऽष्टारसा बंधे ॥

इह मूलतो द्विधा प्रह्ला जवति-श्रीदारिकं तिर्यक्मनुष्याणां, दि-  
 व्यं च जवतवास्यादीनां, खशाष्टस्य व्यवहितः संबन्धः । मनो-  
 वाह्यायाः कारणं, त्रिधा योगेन त्रिविधवेद्येनानुमेद्वनकारणकरणेन  
 निकृपितं, पञ्चासु पूर्वोपन्यासः अग्रहाराधवा प्रवति । इयं  
 प्राधान-श्रीदारिकं स्वयं न करति मनसा वाचा कायेन, मान्येन  
 कारयति मनसा वाचा कायेन, कुर्वन्ते नानुमेद्वते मनसा वाचा  
 कायेन । एवं वैकियमपि । आख० ४ अ० । एतच्च प्रश्नव्याकरणानां  
 चतुर्थेऽवयवे यथा यादशादिद्वारपञ्चकेन । द्वारपञ्चकं चेदम्-  
 "आरिश्वाभे १ जनामा २, जह य कश्चो ३ आरिस्ते फलं विंति ४ ।  
 जे वि य करंते पावा ५, पावयहं ते निसामिह" ॥ १ ॥  
 प्रश्न० ५ आ० ३ अ० ।

तत्र यादशमश्रवेति चारार्थप्रतिपादनायदं सूत्रम्-

जंबू । अवन्जे च चउत्यं सदेवमाणुयातरुस्र ह्योयसस प-  
 त्यणिजं पंकपाणपणामाज्जय्यं ऽत्थीपुसिसनेपुसगवेदाचि-  
 एहं तवमजयमवेभेरविग्यं भेदायपयवतुपुदामूलं कारणका-  
 पुसिससेवियं सुपराणएवज्जणिजं उहंनरयतिरियान्तो-  
 क्कपहृष्टाणं जरापरलरोमोगवहल्लं वधन्धविषयएद्विषयायं  
 दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिचयमाणययं दुरंतं  
 चउत्यं अहम्मदरं ॥

( जंबू । इत्यादि ) जम्बू । इति शिष्यामन्त्रणम् । अग्रह अकृशसं  
 कर्म, तच्चेह मैपुने विवक्षितम्, अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । आह च-  
 नो किंचि अणुश्रावं, पतिस्त्रिं वा वि जिगबर्दिहं । मुनें प्रह्ला-  
 ममेगं, न जं विणा रागदोसंही ॥ १ ॥ चकारः पुनरर्थः चतुर्थेऽवय-  
 वक्रमापेक्षया सहदेवमनुजसुरयो लोकाः स तथा, तस्य प्राथेनी-  
 यमनिज्ञषणीयम् यतः "हरिहरहरिपर्यगर्भे-प्रमुञ्जे भुवनेन को-  
 ऽत्यस्यो हुरः । कुसुमबेशिखस्य विशिखा-नस्वलययो जिनाह-  
 न्यः" ॥ १ ॥ पङ्क्तौ महाद कर्दमः, पनकः स एव प्रतलः, सुहमः  
 पारो बन्धनविशेषः, जाहं मत्स्यबन्धनम् । एतद्भूयतेमत्तुपमं  
 कश्चिनिमित्तत्वेन तुमोखनत्वेन च साधर्म्यात् । उक्तं च-

"सन्मगो तावद्वास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,  
 लज्जां तावद्विषये विनयमपि समात्मस्वते तावदेव ।  
 भ्रुवापाकृष्टमुक्ताः अवणपथजुषो नीलपङ्कमाण पते,  
 थावक्षीलावतीनां न हृदि धूमिसुषो हृष्टिषाणाः पतन्ति ॥ १ ॥  
 तथा स्त्रीपुरुषननुसकवेदानां चिह्नं लक्षणं यत्तत्तथा । तगः सं-  
 यमप्रह्लाचयेविप्रमिति व्यक्तम् । तथा भेदस्य चारित्र्योप-  
 विनाशस्थायतः मान्याभ्या य बहवः प्रमादा मद्यविकथाद्य-

अध्वज

स्तेषां मूलं कारणं यत्तत्तथा । आह च- "किं किं न कुण्ड किं किं, न भास्य चित्तं य किं किं । पुरिसे विसयासो, विह- लो घातिष्ठ स्व मञ्जेय" ॥ कातरः परिहृभीरवः, अत एव कापु- रुषाः कुस्तिनरास्तेः सेवितं यत्तत्तथा । सुजनातां सत्योपावि- रतामां वो जनसमुद्रस्तस्य बसनीयं परिदरणीयं यत्तत्तथा । उच्यते च ऋषभलोको नरकश्चाधोलोकस्तिर्यस्तोक्त यत्तत्तत्तथा यैस्तोक्तं तत्र प्रतिष्ठानं स्वय तत्तथा । जराभरस्यारंग- शोकबहुल, तत्रान्वय च जन्मति जराभरणदिकारणत्वात् । उच्यते च- "ओ सेवह किं स्वभद्र," इति ( गाथा ) यद्य- स्तान्नं, बन्धः संयमनं, विद्यातो आरण्यम्, परिश्रंय युष्करां विद्यातो यस्व तद्व्यवस्थविद्यातुविद्यातम् । गाढरोगाणां हि महापद्यव्यवस्था नोपाश्रम्यति । आह च-

"इयः कायः क्लृप्तः भवणरहितः पुच्छविक्रमः, सुधाहामो जीणः पितृककपालापित्तलक्षः । अयः पुष्यङ्गैः क्रुमिकुलचितैरावितननुः, गुणोन्मत्तं आ इतमपि च इत्येव मदनः" ॥ १ ॥ इशानचारित्रमोहस्य हेतुमूले तस्मिन्निष्ठः । ननु चारित्रमोह- स्य हेतुर्दमिति प्रतीतम् । यदाह-"तिव्यकामो बहुमो-द परिणमो रागदोससंजुषो । बंध चरित्तमोहं, युविदं पि चरित्र- गुणघाह" ॥ १ ॥ शिबिष्ये कथायनोक्तथायमोहनीयेद्रता । यत् पुन- र्दोसमोहस्य हेतुभूतमिदमिति, तत्र प्रतिपद्यामहे, तत्रेतुत्वानाम- पणनात् । तथाहि-लच्छतप्रतिपात्रिका गाथैवं अयते-"अरहतसिक्- वेद्य-तवसुयगुरुसांख्यधर्मदक्षीणां । बंध हं सयमोहं, अणत- संसाराको जय" ॥ १ ॥ भवतीह वाक्चरशेषः । सत्यम्, किन्तु स्व- पक्षाभ्यासुचनेन वा संघपरिग्रहोक्ति, तथा दशोन्मोहं बन्धतोऽ- रण्यवर्षे दशोन्मोहहेतुनां न व्यभिचरति । अयथेते च स्वपला- भसेवकस्य मिथ्यावचनम्, अन्यथा कथं कुलंनबाधिरसाव- मितिः ॥ आह च- "संज्ञाचउच्यते, वेद्यवद्वेयं य पव- यच्छुद्धे । रिसिघाये य चउच्ये, मूलगी बोहिलानरस" ॥ १ ॥ इति । चिरं परिचित्तमनादिकालासंविताम् । चिरपरिगतं वा पाठः । अनुगतं अनवच्छिन्नं दुस्तरं बुद्धकलं चतुर्थमधर्मद्वारमा- अथारमिति अरण्यवचनमुच्यते ।

अथ तदर्थकार्यकक्षारमाह-

तस्म य गामाणि गोपाणि इमाणि हुंति तीमं । तं जहा- अर्धं १ महुण २ चरतं ३ संमार्गि ४ सवणादिकारो ५ संकल्पो ६ बाहणा पदाणु ७ दण्डो ८ मोहो ९ मणसंलो- धो १० अष्टिगद्दो ११ विगद्दो १२ विधाओ १३ वि- धंगो १४ विवज्जगो १५ अहम्मो १६ असीमया १७ गाम- धम्मतत्ती १८ रती १९ रागविता २० कामजोगमारो २१ वरं २२ रदस २३ गुज्जं २४ बहुमाणा २५ बंजवर- विग्यो २६ वावति २७ विराह्या २८ पसंगो २९ का- मण्यो चि ३० वि य । तस्य प्याणि एवभादीणि नामधे- जाणि हुंति तीमं ॥

"तस्तेत्यादि" द्युगमम् । अरण्यकुशाज्ञानुष्ठानं १, मैथुनं मियुनस्य गुणस्य कर्म २, चतुर्थमाश्रयद्वारमिति गम्यते पाठान्तरम् । 'चरतं चि' चरत् विवर्षं ध्यानुवन् ३ संज्ञाः सत्यर्कः, ततः स्त्री- पुंससंमिशेषकपत्वात् संसर्गज्जासंसर्गाद्युच्यते । आह च- "गामाणि स्त्रीति संज्ञादि, विकारोवेय मानसम् । किं पुनर्दे-

शनं तस्याः, विलासोह्लासितसुख" ॥ १ ॥ ४ । सेवतां चोद्योवि- प्रतिसेवनाप्रधिकारो नियागः सेवनाधिकारः, अरण्यसुखो हि चोद्योचनयसेव्यास्वधिकृतो प्रवृत्ति । आह च- "सर्वेऽनयो विधीयन्ते, नरेरर्थकालासेः । अयेत्यु प्राप्येते प्रायः, प्रेषसां- प्रेमकामिमिः" ॥ १ ॥ इति ६ । संकल्पो विकल्पः, तत्रयथवत्त्वात्स्य संकल्प इत्युक्तम् । उक्तं च-"कामं जानामि ते रूपं, संकल्पा- त्किञ्च जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भवि- ष्यसि" ॥ १ ॥ इति ६ । बाधना बाधहेतुत्वात् । केचाम ? इत्या- ह-पदानां संयमस्थानानां प्रजानां वा लोकानाम् । आह च- "यच्छ लोकेष्वपरं नराणा-मुपपद्यते तुःस्वसंज्ञावगमम् । विकार- शिनीलौपल्लवान्नप्रायः, सुकथा स्थियस्तत्र न हेतुत्वात्" ॥ १ ॥ इति ७ । दूषो देहदृष्टता, तज्जन्मत्वाद्दृश्यं दृष्यं हेतुत्वात् । आह च-"रसा पयामं न निसोविद्यया, परं रसा द्विसिकरा हृषति । द्विच च कामा समनिहंति, दुर्मं जहा सावकलं तु पक्ष्मा" ॥ १ ॥ अथवा दृषं सौभाग्याअभिमानस्तस्य भवं चेदं न हि प्रशमाहै- म्याद्वा पुत्रवत्यात्र प्रवृत्तिः सम्भवतीति पूर्वाश्रयः । तदुक्तं- "प्रशान्तवाहिविचयस्य, संभवत्यविद्याः क्रियाः प्रैयुक्तव्यतिरेके- र्यो, यद्द्वि रागं न भेषुनम्" ॥ इति ८ । मोहो मोहंनं वेदकूपमोहनी- योद्यसंपाद्यत्वात्साज्ञानरूपत्वाद्वा मोह हेतुत्वात् । आह च- "इदं वस्तु परं न पश्यति जगत्तन्मः पूर्वाश्रयित्, रागात्तस्य वदति तत् परिदरन् यथास्त तत्पश्यति । कुन्द्विद्वारपुष्पचक्रकलशशोभमृतापल्लव,

रपो नोऽङ्गु चित्तशिषु प्रियतमवात्रपु जगाम्" ॥ १ ॥ ९ । मनःसंज्ञाः चित्तलक्षणं, तद्दिनेनं न जायते इति । उच्य- ते च-" तिक्कदकृष्णकद-प्यदारनिभजजगसप्राहा । ज- हर्वासि जो वा जुवई-ण ज निसेवति रागवज्जः" ॥ १ ॥ १० । अनिप्रदोऽनियेषो मनसो विषयेषु, प्रवर्तमानस्विति रागयेते । पतप्रभवत्वात्वात्स्वामिनाह हेतुत्वात् ११ । ( विद्युदो ( ष ) विग्रहः कलहः तत्तेनुवात्स्य विग्रह हेतुत्वात् । उक्तं च- " ये रामरावणादीनां, संग्रामप्रस्तमानवाः । भयन्ते क्तिनि- मिनेन तेषु कामो तिक्कधनम्" ॥ १ ॥ अथवा ( वगहो चि ) वि- ग्रहो विपरीतोऽभिविद्येस्तप्रभवत्वाद्दस्य तथैवंच्यते । यतः कामिनामिदं स्वरूपम्-"दुःखामकेषु विषयेषु सुखातिमानः, सौ- क्यतासकेषु नियमादिषु दुःखदुःखिः । अर्कान्गोपदपदार्कविरचा- न्यरूपं, साकृद्यमेति विपरीतमेतयोः" ॥ १ ॥ १२ । विद्यातो गुणानामिति रागयेते । यदाह-जय वा यो" गाथाद्वयम् १३ । वि- भङ्गा विराधना गुणानामेव १४ । विद्युदो भ्रान्तत्वमनुपादयेष्यति विषयेषु परमार्थदुःखा प्रवृत्तनाद्, विद्युदो मद्दन्विकाराणां भाभयत्वात्त्रिभ्रमा इति १५ । अर्थम्, अचारित्रकृत्वात् १६ । अशीलना चारित्रजित्तव्यम् १७ । प्रायधमाः शब्दद्वयः काम- गुणास्तेषां तस्मिन्विषयेषु पालनं च सामधर्ममिति, अरण्यपुरोहि- तं कुर्वन्तीति अरण्यपि तयोच्यते १८ । रतिः रतः, निष्पुनर्नि- त्यः १९ । रागो रामानुभूतिकृत्वात्स्य, क्विचद्गागचित्तंति पाठः २० । कामभोगेः सह मारो मद्दं मरयं वा कामभोग- मारः २१ । वैरं वैरहेतुत्वात् २२ । रदस्येकान्तकृत्यत्वात् २३ । गुह्य गोपनीयत्वात् २४ । बहुमानः बहुनां सतत्वात् २५ । अण- यो वै प्रेषुनभिरमणं, नस्य विद्यो व्यातातो वाः क तथा २६ । व्यापतिः ग्रंथो, गुणानामिति रागयेते २७ एवं विराधना २८ । प्र- संज्ञकामेषु प्रसजनामिषूः २९ । कामगुणो मकरहेतुकार्यः । ३० इती रूपप्रशने । अथिचेति सगुण्यो तस्यामण्यक पदा-

नि उपर्युक्तस्वरूपाणि, एवमादीनि एवंप्रकाराणि, नामधेया-  
नि त्रिशुद्धानि । काण्ड ५५यं प्रकारात्तरं पुनरन्यान्वयि  
भवन्तति भावः । उक्तं यन्नामेति द्वारम् ।

अथ ये तत्कुर्वन्ति तद् द्वारमुच्यते—

तं च पुण निसेविति सुरगणा अचक्रुरा मोहमोहित-  
मतीं द्वारम् ? नृपय २ गरुड ३ विज्जुजलखण्डावलद-  
द्विदिसिपवणथाणिय १० अणुपभियपणुपभियइसिबाइय  
नृपयादियकंदियमहाकंदियकूढं रूपयंगदेवा पिसायनृपयज-  
क्खरक्खलसकिण्णरकिण्णुरिसमहोरगगंधव्वितिरियजोइसवि-  
माणवासिमाणयगणा जलयरथलयरखदचरा य मोहं-  
पक्खिचच्चिता अचित्तहा कापजोगातिसिया गं तहाए  
बलवईए महईए समानिजूया गतिंया य अतिमुच्छिन्ना य  
अचंजे ओसएणा तामसेण भावेण अणुमुक्का दंसणचरिभ-  
मोहस्म पंजरं पि व कंति अस्मएणं सेवमाणा, जुज्जां २  
असुरसुरतिरियमणुयजोगरतिविहारमंपञ्चत्ता य चक्रवट्टी-  
सुरनरवतिसक्या सुरवर व्व देवलोए जरहनगणगरनिगम-  
जणवयपुरवरदोणमुहत्वेरकक्खरुमकंबवसावपट्टणसहस्समं-  
चियं थिमियमेयणियं एगच्छंत्तं मसागरं जुज्जुण वसुहं न-  
रसहा नरवतिनरिंदा नरवसहा मरुयवसजकप्पा अरुज-  
दियं रायतेयलच्छीए दीप्यमाणा सोमा रायवंमतिलगा र-  
विममितेखवरचक्रमोत्थियपफाग जवमच्छकुम्भरहरजग —  
भवणविमाणसुरगंतरागोपुरमणिरयणनेदियावत्तमुमल-  
लंगलसुरयवरकपस्सत्तमिगवतिभ्रामाणसुच्छुपुजवरमउ-  
रुमरियकुण्डलकुंजरवरवमपतीवर्मदरगरुलउभयईदकेउ-  
दप्पणअट्टावयचावत्ताणनक्खत्तमेहेमेल्लवीणाजुगच्छत्त-  
दापदामिणिकमंरुलुकमलघंटावरपोतत्तुचीसागरकुमुदागर-  
मगरहारगागरनेउरणगगरवइरकिण्णरमयूरवररायहंम-  
सास चक्रोरचक्रोवागमिहूणचामरत्वेरुगवव्वीमगविपंचि-  
वतालिपंटीमरियाभिसेयमेयणित्थगंमुमाविमज्जकलमार्जि-  
गारवक्काणगपसत्थउत्तमविज्जवपुरसलकम्बणधरा व-  
क्कीसरायवरसहस्साणुजायमग्गा चउसद्धिसहस्मपवरजु-  
तांणयणन्ता रत्ताभा पउमपमहकोरंटागमचंपगसुत्त-  
वरकणकनिकमवएणा सुजायमवंगसुंदरंगा महग्गवर-  
पट्टणुग्गयविचित्तरागपणीपणीनिन्मियदुग्गवरचीणप-  
ट्टकोसेज्जनाणासुत्तकविस्सुसियंगा वरदुरविभंगधवरसुएणया-  
सवरकुमुमजिरियमिरया कपिपंचेयायारियमुकयरइदमाल-  
करुमयणुक्कियवक्खुमणपिणच्छेद्देहा एकावलिंकेउरुइयव-  
उत्तपलंबपलंबमाणमुकयपमउत्तरिज्जुमिहियापिणगल्लुत्ति—  
या उज्जलनेवरण्यच्चिग्गविरायमाणया तेणए दिवाकरो  
व्व दिवा सारयनवरथणियमदुग्गवंभरिणिक्खोसा उण्णए-  
समत्तरयणक्कययणपट्टाया नवनिहिएणया समिक्कोसा

चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमानमग्गा तुरंग-  
पतीगयपतीरइपतीनरपतीविपुलकुञ्जवीसुयजसा सारयससि-  
सकलोस्मवयणा नुरा तिलोकिन्मगयपावलच्छसहा  
समत्तजरहाहिंवा हरिंदा ससेल्लवणकाणयं च द्विमवतुसा-  
गरंतं धीरा भोत्तृण जरहवांसं जियसत्त पवरयासीहा  
पुव्वकरुतवप्यजावा निविट्टसंचियमुहा अणंगवासासयमा-  
उव्वंता जजाहि य जणवयपट्टाणाहिं हाडियंता अतुलस-  
एरिरिसरसकूवंगंधे य अणुजविता ते वि उवणमंति मरणधम्मं  
अवितिचा कामाणं, जुज्जां बलदेवा वासुदेवा य, पवरपुरिसा  
महावत्तपक्कमा महाधणुवियहका महासत्तसागगा हुदुरा  
धणुधरा नरवत्तजा रामकेसा भायरो सपरिसा वसुदेवस-  
सुद्विजयमादिदमारारं पज्जुएणपवियसंबअनिरुक्कनिम-  
दठम्मयसारणयसुमुहत्तुमुहादिंणं जायवाणं अमुट्टाणं वि-  
कुमारकोदीणं हिययदइया देवीं ए रोहिणीं ए देवीं ए देवईए  
य ियाणंदीहयदोवनेदणकरा सोलसरायवरसहस्साणं जा-  
यमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययदइया णाणाभ-  
णिकणगरयणमोत्थियपवाह्मधणुधयसंचिया रिक्खिसिद्धिंकां-  
सा हयगवरहसहस्सामी गामागरणगरत्वेदकव्वमकंबवदो-  
णमुहपट्टणसमसंवाहसहस्साथिमियिन्नुयप्यसुदित्तजण-  
विविहमस्सेयनिप्यज्जमाणयेणं सरसरियतलागसेज्जका—  
णाणआरामुजाणमणाभिरामपरिमंडियस दाहिणह्वेवयह-  
गिरिविजत्तम्म ज्ञवणजलपरिगहस्म उव्वहकान्णगुणकम-  
जुत्तम्म अद्वजरहस्म मामिका धीरंकित्तिपुरिसा ओहवत्ता अ-  
तिवत्ता अनिहया अपराजियमत्तमणा रिउमहस्समानमहणा  
साणुकोसा अमच्छरिं अचवला अचंदा मियंमुज्जपट्टावा  
हसियगंभीरमहुरजणिया अरुजवगवच्चला सरसा ज-  
क्खणवंजणगुणोवंववा माणुम्माणपमाणापकिण्णएणुजायस-  
व्वंगमुदरंता ससिमोमाकारकंता पियदंसणा अमस्सजा प-  
यंरुदंरुप्यपारगंजीरदूरिसिजा ताड्यज्जयउव्विक्कगल्लकेउ-  
व्वन्नवगजंतदरितदप्यमुट्टियचाणुरचुरगा रिट्टवसमया-  
तं। केसरीमुहविष्काफगा दरियजागदप्पमहणा जमलउज्जुष्-  
धंजमा महामउणुयणुरिपु कंसमउरुमोहगा जरासंधमाण-  
महणा तदि य अविस्सत्तसमद्वियचंदंरुदलसमप्यजेहिं सु-  
रमरीयकवयचिणियुवेतेहिं सपपिदंरुदेहिं आयवत्तेहिं ध-  
रिज्जंतेहिं विगयंता ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणस-  
मुक्कियाहिं निरुवहयक्खमरिपिच्छमसरिंसांजायाहिं अम-  
इलसियकमत्तविमुकुलुज्जहितरयतिगिरिसहरविमज्जसासिक्कि-  
रणसिसकल्लहायिन्मल्लाहिं पवणाहयचवन्नचलिययसलि-  
लियनन्धियवींयिपमरियस्तीरोदुग्गपवरसागरूपूरचवत्ताहिं भा-  
णसमपरपरचियावात्तविसियावेसाहिं कणमगिरिबिहरसं-  
मियाहिं ओवाउण्णयचवत्तजियमिन्धवेगाहिं हंसवधुयाहिं



अव्यंज

चेव कश्चिदा नागामणिकलणमहरिद्वतवाणैज्जुज्जलविचित्त-  
 दंकाहिं सल्लिप्पियाहिं नरवदंसिरिसमुदणपकासणकराहिं  
 वरपट्टणयाहिं समिद्धरायकुलसेत्रियाहिं कासगुरुपवरकुंदुरु-  
 कगुरुकधुववासविमिट्टंगमुक्याजिगामाहिं चिण्डियाहिं उ-  
 ज्जयो पासं पि चामगाहिं उक्खलप्पमाणाहिं सुहसंसीयलवारय-  
 चीवियंगा अजिता अजियरहा इमसुसन्नकलणयाणी संखच-  
 कायसचिणंदगथरा पवरुज्जसमुकयविमसकोधुनकिरीद-  
 धारी कुंडलउज्जावियाणणा पुंरुदीयणया एगावसिकेउर-  
 यवच्छा मिरिवच्छमुल्लक्षणा वरजसा सव्वाउयसुरजिक्कु-  
 मुवरइयपलंबोमोहंतवियसेतविचित्तवणमालरइयवच्छा अ-  
 द्दामयविज्जत्तन्नकलणपमत्थसुंदराविरादंयंगुंगा मत्तगयव-  
 रिंदल्लियविक्रमविलसियगतं कदिमुत्तकनीलपीयकोमे-  
 ज्जावाससा पवरदिसेथेया सारयवथणियिमधुरमंतीरणि-  
 क्कयोसा नरसीहा सीहविक्रमणी अत्यमिषा-पवरराय-  
 सीहा सोम्मा वारवियुएणचंदा पुव्वकयतवप्पजावा नि-  
 विट्ठसचियसुहा अणेणवामसयमाउवंतो ज्जाहाइ य जण-  
 वयप्पहाणाहिं झान्नियंतो अतुलसकफरंमरसरूवग्ंधे य  
 अणुज्जचित्ता ते वि उवणमंति मरुल्लथम्मं अविंत्तता का-  
 माणं, जुज्जा मंदसियणवरवरिंदा मच्चडा मअंतेउरा मपरिसा  
 सधुरोदिया अमच्चंडणयाकसेणवतिमंतिणं।तिकुसला  
 खाणमणिरयणयिउल्लधखणणनंचयनिट्ठिसमिद्धकोमा र-  
 ज्जामिरेविपुल्लमणुजचित्ता विकोसंता वनेण मत्ता ते वि  
 उवणमंति मरणथम्मं अविंत्तता कामाणं, जुज्जा उत्तरकु-  
 रंदंवरुक्खणविरवारपायचारिणो नरगणा भोगुत्तमा जोगल-  
 क्खणथरा जांगमस्किरीया पसत्त्यसोमपडिउणरूवदरि-  
 मणिउत्ता मुजायमच्छंगमुंदरंगा रत्तुपलत्तकत्तकरचरण-  
 कोमलतन्ना सुपइट्ठियकुम्भवाचरुल्लणा आणुपुव्वमुसंडयंगु-  
 णीया उष्णतणुत्तेनिरुत्तत्ता मंतियमुत्तिसिद्धहमंठांका एणी-  
 कुलविंदावत्तवट्टापुपुव्वजंथा सउगामनिमगयवट्टजाणु गयगम-  
 णमुजायसेनि नोक्खवरारणमत्तुल्लविक्रमविद्यासियगनी व-  
 रतुरगमुजायमुउत्तदेसा आयणहयो व्व निरुक्खेवा पमुइयवत्तु-  
 रयसं इअइरगवट्टियकनी गंगावत्तमादाहियावत्तरंगजंगुर-  
 विकिरखावोहिंयविकोसायेतपम्हग्ंधो रविण्डनाभी साहयमा-  
 णंदमुससददप्पणनिगारियक्कणगउत्तरसिंसरवरवद्वसियम-  
 उत्ता उक्कमसममंइयज्जवत्तणुकसिण निच्छादिज्जलरहसु-  
 कुमालमउवपंमरायी ऊमविंदगमुजायपीणकुउत्तं भूभोद-  
 रा पम्हविपक्खणाभी संनयपासा संगतपासा सुंदरपासा मु-  
 जायपासा मितमाइयपीणरइयपासा अकरंमुवक्कणरुयगानि-  
 म्मसमुजायनिरुवहयदेहधारी कणमसिद्धातत्तपसत्त्यसमव-  
 द्धउवइयवित्तिप्रणविहुल्लवच्छा जुयमसिभा पीणउवइयपीव-  
 पउत्तंतिउयसुत्तिसिद्धविसिद्धसुत्तिसिचियणयिणमुवंधंथं

पुरवरफलिह्वद्वियजुजा नूप्पमरविपुल्लभोगआयाखफलि-  
 हउच्छूहदीहवाहरत्तलोवइयमउयमंसल्लमुजायसक्खलपस-  
 त्थअच्छिह्वाणयाणी पीवरमुजायकोमसवंगुली तंवनल्लण-  
 सुइरुद्धानिदणत्ता निद्धपाणिल्लेहा चंटापाणिल्लेहा सूयपाणि-  
 लेहा संवणयाणिल्लेहा चक्काणिल्लेहा दिसामोवत्थियपाणिल्लेहा  
 रविससिसंखवरचकादिसामोवत्थियविभत्तसुरइयपाणिल्लेहा व-  
 रमहिंसवगाइसीहसद्वल्लरिमहनगावरपादिपुसाविउल्लंथा चउ-  
 रंगुलीप्पमाणकंशुवरसरिमगावा अवरद्वियमुविज्जचित्तचित्तसमं-  
 सुउवचियमंसल्लपमत्थसद्वल्लविपुल्लहणया उवचित्तिल्लप्प-  
 वादान्नविक्रमसिग्गनाउपरोद्धा पंदुरसमिमिकरुविमसंसखो-  
 खीरफेणकुंदनरयमुत्तालियावत्तलदंतमेदी अखंसदंता अ-  
 पुदिदयंता अरिउदंता सुणिद्धदंता मुजातदंता एगदंत-  
 सेदी व्व अणेगदंता हुतवहनिदं तथोनत्तततवाणज्जत्तत्त-  
 ताउत्तमीहा गरुत्तायतउत्ततुंगानामा अवरदलियपुंरुपीयण-  
 या विकोसियथवत्तत्तच्छा आणाणियचचारुयल्लकिणह-  
 वनरा यमंतिउयसंगायतमुजायज्जमगा अग्गणपमाणउत्त-  
 सवगा युस्मवणा पीणमंसल्लकवल्लेदसभागा अचिरुगय-  
 बाउचंदंतीयमट्टानिग्गदा उडुपतिपणपुमासोमवणया उ-  
 च्चागारुत्तमंतेसा घट्टनिचियसुवक्खकलणुणयक्कणगार-  
 निधिपिंधियमार्गसा हुतवहनिदंतायतत्ततवाणज्जत्तत्तकेसं-  
 तंकेमज्जीया सामग्गिणंनिययत्तलोकिर्यामउवियमयम-  
 त्थमुत्तपक्खणमुग्ंधमुंदर जुयमोयगभिनंत्तकज्जलपदि-  
 द्धभरणणनिरुजिनंरनिचियकुंठियपयाहोणवत्तमुद्धसि-  
 रया मुजायमुविभत्तमंयंगा झक्खणवज्जणमुत्तावेया पस-  
 त्थवचीसल्लक्खणथरा इंसस्सरा कोंचस्सरा बुंदुहस्सरा सीह-  
 स्सरा मेयस्सरा आयस्सरा मुस्सरा युस्सरनिग्गोमा वज्जि-  
 सभनारायसंयणणा समचउंससंठाणसंठिया णाया उज्जाव-  
 यंगमंगा पमत्थउवो निरातंका कंकगहाणा क्योत्तरिणाया  
 सउणिणामपिद्धतरुपरिणया पउमुपुल्लमरिसंभंभमसु-  
 रविभयथा अग्गोभाउवंगा अवत्तावत्तक्कदासा विग्ग-  
 इउष्णयकुच्छं अमयत्तफलाहारी निगउयममुच्छया तिप-  
 लिआवमट्टितीया तिणिय पत्तिआवमासं परमाउं पाइइत्ता ते  
 वि उवणमंति मरणथम्मं अविंत्तता कामाणं,पमदा वि येत्तंसे  
 हुंति सोमा मुजायसव्वंगमुंदरिओ पहाणमट्टिहागुणेहिं जुत्ता  
 अतिकंतिविसंणमणयउयसुकुमा उक्कममंतिउयसिल्लिहत्तलणा  
 उउज्जुपउयपीवरमुसंहुंतेपुत्तीओ अउनुत्तपरइयतत्तिल्लण-  
 वपुइरनिच्छत्ता रोमरइयवट्टसंतिउयअज्जसुपसत्थलक्ख-  
 णअक्कण्यंजयुत्तया सुणियमित्तमुनिग्गइजानुमंमलपसत्थ-  
 सुवक्कमंथी कयत्तंत्वंमाइरगमंतिउयनिव्वणसुकुमासमउयको-  
 मलअविरत्ता मससंहितवट्टपीवरनिंरंतेरोक्क अद्दावयवीतिपह  
 मंतिउयपसत्थविंत्थियवपिद्विसोमोणी वदणायामपमाणुउगु-

णियविनासमसंज्ञसुबद्धजहणवरधरीओ वज्राविराडयपस-  
 रथस्रच्छणनिरोद्रीओ तिवालिवसिततणुनमितमम्भभाओ  
 उज्जुयसमसद्वियजच्चतणुफामिणुनिष्ओदेजलरुहसुकुमा-  
 झमउच्युविभचरोभराई गंगावचनदाहिणावचत्तरंगभे-  
 नरविक्किराणतकणवेगद्वित्तत्रकोसातिवपउभमंजोरि वधनाभी  
 अणुज्जदपसत्यसुजायपणुणुक्की समतपासा सभयपासा  
 सुजायपासा मियमापिनपणरायियपासा अकरंहुयकणगरु-  
 यगनिम्मलसुजायनिरुवहयगयायलई कंचणकलसप्पमाण-  
 समसं हितलइजुचुयआमिन्नगजमललुयल्लवद्वियपओहरा सुयं-  
 गअणुपुण्वतणुयगोपुच्छवहसमसहितानिमियआदेजलरुह-  
 वाहा तंथनहा मंसलगाहट्ठया कोमल्लपीवंगुदीया णिष्-  
 पाणिलेहा ससिमूरसंखचकरंसांस्थियविभचसुविरइयपा-  
 णिलेहा पीणुण्ययकक्खवत्थियप्पेदसपकिपुण्णककपाला चउ-  
 रंमुलसुप्पमाणवंबुवरमरिमगीवा मंसलमंठियपसत्यहणुया  
 दासिमणुप्फणकासपीवरपेक्षेकौचियवरधरा सुंदरोचरुहा  
 दद्विदगयकुंदचंदवासंतिमउअअड्विद्विमल्लदसणा रत्तुप्प-  
 लरचउपपचसुकुमालतालुनींदा कणथीरमउअकुदिलअ-  
 र्नुणुण्यउज्जनुगनासा सारदननकमन्नकुमुपकुवलयदलनिग-  
 रमरिमलवखणपमत्थनिम्मन्नंतनयण आनामियचावरु-  
 लक्किरुहगःसंगयसुजायनणुकामिणुनिष्कूमगा अद्वीण-  
 पमाणजुत्तमवणा सुस्ववणा पीणमल्लगंरुहा चउरंमुल-  
 विसाझमनिदाला कोमुदिरयाणिकरविमल्लपकिपुण्णमांभव-  
 यणा उचुण्यउत्तमंगा अकविलसुमिणिष्कदीमिरया उ-  
 चउज्जयजुवभूजदामाणकमंरुकुअसवाविसोस्थियपढागज-  
 वमच्छउत्तमरहवरमयरज्जयअंकाथाअअकुमअहावरियमुपतिह-  
 अमरसिरिया भंसयतोरणमोपिणुणुद्विधवरपवरभवणगिरि-  
 बरवरापंसमुल्लिअियगयवसभंभाई चामपरमत्थवर्चासल्लवख-  
 णधरीओ हंससरिच्छगतीओ कोइलमहुपरिगिराओ  
 कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवदीपक्षियवंगवुवस्रवाहि-  
 दोजगमोयमुक्काओ उच्चोण य नरयोवृणमुसियाओ सि-  
 गारागारचारुवेना सुंदरयण नइणवयणकरचल्लणयणा सा-  
 वासुरुवजांज्वणुणुगोत्रवेया मंदणवणविवरचारिणीओ अ-  
 च्छराओ उचरकुसमाणसच्छराओ अच्चेरगयेच्छियया-  
 ओ तिण्ण पिलिओवमाई परमाउं पालविष्णाओ वि उवण-  
 मंति मरणधम्मं अतिचा कामाणं, मेहुणससणपगिदा य मोहभ-  
 रिया सरोधेई हणंति एकमेकं विसयं विमउदीरएई अचरे  
 परदरोई हणंति त्रिसुणिया धनगासं मयखाविष्णणामं च  
 पाउणंति, परस्स दाराओ इ अत्रियया मेहुणमसमंपगि-  
 ष्का य मोहभरिया अस्सा इदी गथा य महिता मिया य मा-  
 रिंति एकमेकं मणुयगणा बानरा य पक्खी य विरुक्कंति  
 मिचाणु सिख्यं जवंति, सणु समयधम्मगणे व जिंदंति

पारदारी धम्मणुणरया य बंजयारी सखेण उलाहयचरि-  
 चाओ जसमंतो सुव्वया य पावंति अयसकिचि रोमणा वाहि-  
 ता वृवंति रोयवाही, दुवे य होवदुराराहा जवंति, इहओए  
 चव परलोए परस्स दाराओ जे अत्रियया तदेव केइ परस्स  
 दारं गंवेसमाणो महिया य हया य वच्छरुद्धा य एवं जाव  
 गच्छंति विपुअमोहारांज्जयसस्य मेहुणपूर्वं स पुणोए तत्थ  
 तत्थ वचपुव्वा संगमाा जणक्खयकरा सीताए दोवतीए य  
 कए रूपिणीए पठमावतीए ताराए कंचणाए रत्तसुजदाए  
 अडिह्वायाए सुवसणुगुलियाए किअरिए य सुरुक्खविज्जमती-  
 ए रांदिणीए य अणुसु य एवमाऽसु नहवे महिलाकए  
 सुव्वाति अतिकंता संगमाा गामधम्मपूजा, इह लोए ताव  
 नडा परलोए य नडा महया मोहतिपरंयकारे धारे तस-  
 थावरसुहुमवायारंसु पज्ज चमपज्जचकसाहायणसरीरपणयसरी-  
 रंसु य अंरु नपोयजजराउजरस नसंसेइमसंमुच्छिमउच्चिज्जठ-  
 ववाऽएसु य नरगतितिरियदेवमाणुसेमु जरामरणरोगमोग-  
 हुले पडिअोवममागरोवमाई मणादीयं अणवदमं दीहमद-  
 चाउरंतंसारकंतां अणुपरियदंति जीना महाभोअवसर्पनि-  
 विह्वा; एसां सो अवंनस्स फल्लविवागो इह लोइओ परतोऽ-  
 ओ य अणुसुहो बहुदुक्खलो मदउजओ बहुरयप्पगादो दारुणो  
 ककमो अमाओ वासमहस्सेई सुवंति न य अवेयइत्ता  
 अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु नायकुन्नंतणो महप्पा  
 जिणो वरवीरनामधेजो कहेसी य अवंभस्स फल्लविवागो,  
 एयं तं अवेवं पि चउरंयं पि सदेवणुणुयामुस्स लोणस्स  
 पत्थाणज्जं एवं चिरपरिचिपणुणयं दूरं तं चउरंयं अहम्म-  
 दारं सम्मचं त्ति वेमि ।

( तं व पुण निसेविति च ) तत्त्व पुनरग्रह निवेवन्ते सु-  
 रगणा वैमानिकदेवसमुदाः सात्वरसः सदेवीकाः, देव्योऽपि  
 सेवन्त इत्यर्थः ( इत्यादि ) काऽनुपप्यांगिनी महती चेत्युपल्लिता  
 प्रश्न ० ४ आश्र ० ४ ।

शेषद्वारत्वं मध्य पद्यायतम् । अग्रह मेषुनमिति पर्यायै ।  
 ( मेषुनशब्देन चोद्यमानो विषयो ' मेहुण ' शब्द एव वक्ष्यते )  
 " अवंभचारिय चोरं, परमायं चुरहिदियं । ताचरंति मुग्गां होय,  
 भेवापणविबज्जणं " ॥१॥ द्वा ० ६ अ ० ।

अवंभउज्जण-अग्रहवर्जनं-न० । दिवा रात्रौ वा पत्न्याद्याभि-  
 त्य मेषुनत्यगकुर्यायां षड्वायुवासकप्रतिमायाव, तत्त्वरूपं  
 चैवम्- " एवोदियगुणजुत्तो, विससओ विजयमोहणिज्जा य " ॥  
 प्रश्न ० १ आश्र ० ४ । ( उवासपपदिमा ' शब्दं जित्तीयमगो  
 ११०५ पृष्ठे व्याख्याऽस्य द्रष्टव्या )

अवउज्ज-अवधु-वि० । वधमर्हति यत् । न० त० । वधानई,  
 " अवमाणयं वज्जानो " अकारलोपे ' वज्जणं ' इति भवति ।  
 तत्र अवचानां वधानहोलामपि विद्विषयवचनतो वधत्वेन स्था-  
 पितानां सुन्दरीसुज्जापदीनामिच देवनाभातिहरव्यतो निराकृत-  
 वधत्वदेवोपायम् । संथो १ ।

अवाध्य-वि० । पैर्बांधितुमशक्ये, स्यात् ।

अवज्जसिद्ध-अवाध्यसिद्धान्त-पुं० । अवाध्यः पैर्बांधितुमशक्यः सिद्धान्तः स्याद्वावभुतलक्षणोऽस्य तथा । कुतीर्थिकोपस्थलकुहेतुसमुहाशक्यबाधस्त्वाद्वाडरुपसिद्धान्तप्रणयनमण-नाद् वचनातिशयसंपन्नं तार्थिकं, " अवाध्यसिद्धान्तममर्थपूज्यम् " स्यात् ।

अवज्जा-अवाध्या-स्त्री० । अयोध्यायाम्, जं० ४ वक्र० १० । गन्धिलाख्यायिजयकेत्रयुगले पुरीयुगले, " दो अवभन्नामो " स्यात् २ आ० ३ उ० ।

अवच्छ-अवच्छ-न० । पदगद्यबन्धनरहिते ग्रन्थे, आ० म० ङि० ।

अवच्छद्वि-अवच्छाद्वि-क-न० । अवच्छद्वि यद्य तद्वच्छाद्विकम् । अनिष्पन्नं फलं, " जिने य बद्धि ए वि एव एमेव य ह्योनि बहुबाँए " विशे० । आ० म० । अवाप्यवद्वर्बाजे अनिष्पन्ने, सू० १ उ० ।

अवच्छस्य-अवच्छस्य-न० । गद्यरामके भुने, विशे० । आ० म० । ( ' करण ' शब्दे व्याख्या )

अवच्छिद्य-अवच्छिद्य-पुं० । स्पृष्टं जीवेन कर्म न स्काण्यबन्ध-कृतमवच्छिद्यं, तदेवामस्तीत्यवच्छिद्यः । " अतोऽनकस्वयान् " ३।२।६ इति दैमसूत्राय इक्षप्रत्ययः । स्पृष्टकर्मविपाकप्रकृतकेषु निह्वयभेदेषु, स्यात् ७ डा० । आ० म० । विशे० ।

यथा चावच्छिकानां दृष्टिगोष्ठ्यामहिलाहारापुरनगरं समुत्पन्ना  
तथार्थान्धित्सुपग-

पंचसया चुलनीया, तस्या मिच्छि गयस वीरस्य ।

तो अवच्छिद्यदिष्टी, दसउरनपरे समुत्पन्ना ॥

पञ्च वर्षशतानि चतुरशीत्यधिकानि ( ४०४ ) तदा निच्छि गनस्य महावीरस्य, ततोऽवच्छिकनिह्वयदृष्टिं शत्रुरनगरं समुत्पन्नेति ।

कथं पुनरियमुत्पन्ना १, इत्याह-

दसउरनगरकृच्छुरे, अज्जरकित्तयपूसमिचितियं क ।

गोष्ठादाहिलेनवम-चमेसु पुच्छा य विच्छिस्स ॥

( एतद्भावार्थस्तु आर्यरक्षितवक्यमतानोऽस्येवो यावद् गोष्ठादाहिलनिह्वयो जातः कथा च 'अज्जरकित्तय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २।५ पृष्ठ समुक्ता ) गोष्ठादाहिलो मधुरत भागस्य पृथ-गुणाश्रयः स्थितः । विशे० ।

दुर्बलिकापुष्पामिन्द्रोपवाद्द्विप्रदानदिना स्युत्प्राहयति साधुषु च स्युत्प्राहयितुं शक्नोति, दुर्बलिकापुष्पामिन्द्रः समापे चाभिमानतो न किञ्चिच्छुणोति, किन्तु व्याख्यानमसुरलिकापस्थितस्य स्थितिकां कुर्वन्त विन्ध्यस्यातिके समारकणयति । अत्र्यदा चापुत्रनवमपुत्रयोः कर्मस्य व्याख्यानविचारेऽजिनविशेऽद्विप्रप्रति-पन्नो वक्ष्यमाणनीत्या निह्वयो जात इति । अथ प्रकृत-("सो ज्ञाय कालधर्मं, गुरुणा गच्छन्नि पूयमित्त च" इत्यादि ) गुरुणाऽक्षरायोऽधुनीयते-कालो मरणं तज्जगुणा धर्मः पयोयः कालधर्मः, तं गुरुरार्यरक्षितस्य भ्रुवा तथा पुष्पामिन्द्रं च गच्छेऽधिपतिं स्थापयन्माकथं गोष्ठादाहिलः संजातमरसराध्यवसायः किलेद् चकार-

किमित्याह-

वीसुं वसहीँ टिअो, विरऽभेसणपरो य स कयाए ।

विंजस्स सुणइ पासे-ऽणुजासमाणस्स वक्खलाणं ॥

विद्यमस्यतो स्थितः छिद्रान्धयणपरः स गोष्ठादाहिलः कदा-चिच्छिद्यस्यानुभाषमाणस्य चिन्तनिकां कुर्वन्तः पाशैः व्याख्याने शृणोतीति । विशे० ।

( कर्मविषया विप्रतिपत्तिः ) ततः किम् ?, इत्याह-

कम्पपवायपुज्वे, बष्पं पुट्टं निकायं कम्मं ।

जीवपरपेहिँ समं, सूकक्षावोक्खमाणान् ॥

उन्वट्टणाक्रेरो, मंगेभो खवणमणुजो वा वि ।

अणिकायमि कम्मं, निकाडए पायमणुजवणं ।

सो ऊ जणइ सदांसं, वक्खलाणमिं ति पावइ जअो ने ।

मोक्खजाजां जीव-पपसकम्माविजामाणान् ॥

इह कर्मप्रदानाभ्यन्तरे पुत्रे कर्मनिचारे प्रस्तुते दुर्बलिकापुष्पमित्र एव व्याख्यानयति । तद्यथा-जीवप्रदेशैः सह बद्ध-मात्रमेव कर्म नवति । यथा-अक्रयावस्थयोऽपद्यप्रत्ययं कर्म, तच्च कालान्तरनिश्चयिप्रयाय्येव जीवप्रदेशोऽप्यो विघटने, शुक्लकृष्णापतितचूर्णमष्टिवादिति । अयत्सु ( पुष्टे ति ) बद्धमित्यत्रापि संबंधने, तत्रश्च बद्धं स्पृष्टं चेत्यर्थः । तत्र बद्धं जीवेन सह संयोगमात्रमात्रः स्पृष्ट तु जीवप्रदेशगामीकृतम् । एतच्चयं बद्धं सत्कालान्तरं विघटने ब्रह्मसंयुक्तं सत्कालचूर्णयति । ( निकायं ति ) बद्धं स्पृष्टं चेत्यत्रापि संबंधने । तत्रश्चापि कर्मिण कर्मं बद्धं स्पृष्टं निकाचितं भवतीत्यर्थः । तत्र संबंध-बद्धस्पृष्टं गाढनारध्यवसायेन बद्धव्यादपवनेनादिकरणायो-स्थतां नीत्तं निकाचितमुच्यते । इदं च कालान्तरंऽपि विपाक-तोऽनुभवमन्तरेषु प्रायेणापगच्छति, गाढतरबद्धव्याद्-बाहो-कुच्छनेऽपि न विविधभेदकाहस्तनकवृत्ति । अथ च त्रिविधाऽपि बन्धः सूचीकलापोपमानाद्भवतीत्यर्थः । तद्यथा-गुणावर्धितसूचीकलापोपमं बद्धमुच्यते, सोढपट्टबद्धसूचीसंघातमस्य तु बद्ध-स्पृष्टमभिधीयते, बद्धस्पृष्टनिकाचितं व्यक्षितसंघना निकादि-कृतसूचीनिचयसामिभं भावनीयमिति । नन्यानिकाचितस्य क-र्मणः का विशेषः ?, इत्याह-(उच्चरणेत्यादि) इह कर्मविषया-एयथै करणानि भवन्ति । उक्तं च-"बंधनं कमण्डलुव-ट्टणा य उच्चट्टणा उदरेण्या । उवसादणा निवर्त्ती, निकायासा वांसकरणाइ" ॥११॥ तत्र निकाचितं कर्मणि स्थित्याद्विग्नगुणरूपा ( उव-ट्टणत्ति ) उपवनेना प्रघर्षेते । तथा-(उक्करो ति)स्थित्याद्विग्नरूप उक्को च उदरेता । तथा-(संज्ञो भो ति) असाताऽः सातादौ केपणरूपः संक्रमः । तथा-( खवणो ति ) अकृत्यन्तरसंक्रामितस्य कर्मणः प्रदेशोऽयं विभ्रंरं कृणाम् । तथा-(अणुभवां ति) स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतां वेदनमनुभवः । इदं चोपलक्षणमुदाहरणादीनां, तदेताम्यपवनेनादीनि सधोऽप्यधि-काचित्ते कर्मणि प्रवर्त्तन्ते । निकाचिते तु प्राये विपाकतानु-भवमेव प्रघर्षेते, न पुनरपवनेनादीनां त्वनयोर्विशेषः । समाची-णिकृष्टतपसामुक्तारध्यवसायबद्धं ' तवना व निकायाणं पीति ' वचनात्निकाचितेऽपि कर्मस्यपवनेनादिकरणप्रवृत्ति-भवेतीति प्रायेप्रहणम् । तद्वद् व्याख्यानं क्षीरनीरवसायेन वृत्तित्वागोलेकसंयोगेन वा जीवप्रदेशैः सह कर्मं संबद्ध-

मिति पर्यवसितम् । विन्ध्यसमीपं युवा तथाविधकर्मोद्वाद्भि-  
निवेशेन विप्रतिपन्नो गोष्ठामाहितः प्रतिपाद्यति-ननु सदाप-  
मिहं व्याख्यातय-यस्मादेवं व्याख्यायमाने भवतां मोहाभावः  
प्रप्लोति, जीवप्रदेशैः सह कर्मणांमविभागेन तादात्म्येनाव-  
स्थानादिति ।

अमुनेवार्यं प्रमाणः साधयन्नाह-

न हि कर्म जीवाद्भो, अत्र अवधिभागो परसो न्व ।  
तद्व्यवसायप्रसङ्गो, लुप्तमिणं तेण वक्त्वाणं ॥

न हि नैव कर्म जीवादेवैतीति प्रतिज्ञा । अविभागो वद्व्यवयो-  
गोलक्षण्यायतो जीवेन सह तादात्म्यादित्यर्थः, एव हेतुः ।  
( परसो न्व चि ) जीवप्रदेशांशवदित्यर्थः, एव ह्यतः ।  
इह यद्येन सदाविभागेन व्यवस्थितं न तत्ततो विद्युज्यते, यथा  
जीवात्तत्प्रदेशानिहिकुरवन्म । इत्येते चाविभागो जीवकर्मणो-  
भेदमिरिति न तस्माद्विद्युज्यते, ततस्तदपगमात्सत्य कर्मणो-  
जादानपगमाद्विवांगान्त्वर्थदेव जीवानां सकर्मकत्वान्माहा-  
न्याः, तेन तस्माद्विदमिह मर्त्यां व्याख्यां न कर्तुं युक्तमिति ।

तदित्याह—

पुट्टो जहा अवधो, कञ्जुणं कञ्जुओ समभेइ ।  
एवं पुट्टमवधं, जीवं कर्मं समभेइ ॥

यथा स्पृष्टः स्वर्शेनमात्रेण संयुक्तोऽवधः कृत्रिण्ययायद्भोऽज्ञी-  
जुन एव कञ्जुको विषयपरनिर्माकः कञ्जुकितं विषयं समन्वति  
समनुगच्छति, एवं कर्मोपि स्पृष्टं संपकञ्जुकवस्वशेनमात्र-  
णैव संयुक्तमवधं वद्व्यवयःपिरहादिन्यायादल्लोभितमेव जीवं  
समन्वति, एवमेव मोक्षोपसंस्तरिति । विशे ॥ "यतो यज्ञस्त्य-  
तं तेन, स्पृष्टमात्रं तद्विध्यताम् । कञ्जुकी कञ्जुकनेध, कर्म  
मेवस्यति चात्मनः" ॥ १ ॥ प्रयोगः-यद्येन भविष्यत्पृथग्भावः,  
तत्तेन स्पृष्टमात्रं, यथा कञ्जुकः कञ्जुकिना, भविष्यत्पृथग्भावं  
व कर्म जीवेन । उक्तं ३ अ० ।

[ प्रत्याख्यानविषया विप्रतिपत्तिः ]

तद्वेवं कर्मविचारं विप्रतिपत्तिमुपपदयद्दानीं प्रत्याख्यानविष-  
यां विप्रतिपत्तिमुपपदयद्वाह-

सोऽज्ञ भ्रममाणं, पक्वत्वाणं पुणो नवमपुत्रे ।  
सो जावजीव विहियं, तिविहं तिविद्रेण सादृणं ॥

स गोष्ठामाहितः कर्मविचारं विप्रतिपन्नः ननुत्पद्यता नभम-  
पूर्वं " करमि भते । सामास्यं सर्वं सावजं जांग पक्वत्वाभि  
जावजीवाव " इत्यादि । यावज्जीवावधिर्क साधूनां संबन्ध-  
प्रत्याख्यानं सपथमानं विन्ध्यसमीपे विचार्यमाणं श्रुयति ।

तद्वेव कृत्वा किं करोति ? इत्याह-

अपइ पक्ववत्ताणं, अपरीमाणाइ होइ सेयं तु ।  
जेसि तु परीमाणं, तं दुट्टं भासैमा होइ ॥

गोष्ठामाहितो जल्पति-ननु प्रत्याख्यानं सर्वमपि अपरिमाण-  
तया अविचारहितमेव क्रियमाणं श्रेयोहेतुत्वाच्छ्रेयः शोभनं  
भवति, येनां तु व्याख्यानं प्रत्याख्यानस्य यावज्जीवावधिपरिमाण-  
अवधिर्विधीयते तेषामनेन तत्प्रत्याख्यानमात्रंसादावजुष्टवात्  
कृष्टं सदापं प्राप्नोति ।

अथ भाष्यम्-

आसंसा जा पुणे, सेविस्सामि ति दूसियं तीए ।

जेण सुयम्मि वि जणियं, परिणामाओ अमुत्तुं तु ॥

आशांसातः प्रत्याख्यानं दुष्टमित्युक्तम् । तत्राशांसा का ? इ-  
त्याह-(अक्षि)या एवंविधपरिणामरूपा । कथंभूतः परिणामः?,  
इत्याह-पूर्वं प्रत्याख्यानं देवलोकान्दी सुराङ्गनासंभोगादिभो-  
गानाहं सेविष्ये, इत्येवंभूतपरिणामरूपा च या आशांसा. तथा  
प्रत्याख्यानं दूषितं भवति । कुतः ? इत्याह-येन कुतःऽप्यागमे-  
ऽपि भणितं, दुष्टपरिणामाद्युक्तं प्रत्याख्यानमद्युक्तं भवति ।  
तथा चागमः-" सोऽही सहइणा जा-णणा व विणएऽण्णभा-  
सणा चेव । अण्णयासणा विसोही, भावविसोही भवे जण " ॥  
तत्र "पक्वत्वाणं तव्वसुदेसियं" इत्यादिना अज्ञानादिवृत्त्या  
व्याप्तेशु भावविद्युदेयं व्याख्यां न तत्रकुतोपायोगंति इत्येते ।  
"रागेण च दोसंणं, परिणामेण च न दूसियं जंतु । तं वद्वु पक्व-  
त्वाणं, भावविसुत्तं सुणेयव्वं" ॥१॥ इति । विशे ॥ (एते विप्र-  
तिपत्ती २६६ पृष्ठ 'कर्म' शब्दं, 'पक्वत्वाणं' शब्दं च वक्ष्येते)  
एवं युक्तिः प्रभाषितेऽपि यावद्दसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते ततः  
किं संजातम् ? इत्याह-

इय परणविओ वि न सो, जाहे सहइइ पुसापिणेण ।

अज्ञमणत्थेरोइ य, काउं तो संयप.सवायं ॥

आहूय देवयं वेइ जाणमाणो वि पक्वयणिमिअं ।

वच्च जिणंदिं पुच्छसु, गयागया सा परिकहेइ ॥

संगो सम्भावाइ, गुरुपुरोगां ति जिणवरो जणइ ।

इयो भिच्छावाइ, मत्तमओ निहइओऽयं ति ॥

एइम सामत्थं, कत्तां गुंतुं जिणंदिदुम्लात्ति ॥

वेइ कटपूयाणए, संयेण तत्रो कओ वउओ ॥

वत्सृणामन्यासामकरार्यः सुगम एव । ज्ञावार्थस्तु कथानक-  
शेवादवसेयः । तन्नेदम्-एवं युक्तिः प्रहायमानो यावद्दसौ न  
किमपि अरुक्तं तावत्पुष्पमिन्नाचार्यैरन्यगच्छगतभूतसंस्थावि-  
राणामनिकं नीतः, ततस्तेरप्युक्तोऽसौ-यादशो सूरयः प्रकपय-  
न्त्याधैरक्षितविरिपरि तादृशमेव प्रकपयन्, स हीमाधकम्,ततो  
गोष्ठामाहितेनोक्तम्-किं यूपश्रुयतां जानीध ? ,तीर्थकरेस्तादृशमेव  
प्रकपितं यादृशमेव प्रकपयामि । ततः स्थावरेरुक्तम्-मिध्यामि-  
निविष्टो मा कार्थिस्तीर्थकराशातनाम्, न किमपि त्वं जानासि ।  
ततः सर्वविप्रतिपत्तः तस्मिन् सर्वैरपि तैः संघसमावायः कृतः ।  
संघेणापि च संघेन देवताद्वानार्थं कायेश्वरगो विहितः । ततो ज-  
दिका काश्चिदेवता समागता । सा वदति स्म-संदिशथ किं क-  
रोमि ? । ततः संघः प्रस्तुतमर्थं जानन्नपि सर्वजन्मप्रयत्नमिच्छं  
प्रवृत्ति-महाविदेहं गत्वा तीर्थकरमापूज्यस्व, किं दुर्बलकपु-  
ष्पमिन्नप्रमुक्तः संघो यज्ञयति तस्सत्यमुत्त यज्ञेगोष्ठामाहितो वद-  
ति ? । ततस्तथा प्रोक्तम्-मम मदाविदेहं गमनागमनं कुर्वन्थाः  
प्रत्युहानुयातार्थमनुग्रहं कृत्वा कार्यासंगं कुतः, येनाह गच्छा-  
मि । ततस्तदेव कृतं संघेन । गता च सा । पुष्ट्वा च भगवन्तं प्र-  
स्यागता कथयति स्म-यदुन तीर्थकरः समादिशति-दुर्बलिका-  
पुष्पमिन्नपुष्पस्संघः सम्यग्वादी । गोष्ठामाहितस्तु मिथ्या-  
वादी ; सप्तमन्त्रायं निहव इति, तदन्तच्छ्रुत्वा गोष्ठामाहितो  
प्रवृत्ति-नन्ववपदिकेयं वराकां, का तमित्तयाः कटपुतना-

अवकिय

वास्तीर्थकरान्तिके गमनशक्तिर्येवमपि यावत्सौ न किञ्चिन्मन्यते तावत्संशयोद्भात्य बाह्यः कृतोऽनासोऽस्तिप्रतिकारतश्च कालं गतः ॥ ४४२ ॥ विशे० ॥

अवदन्तुञ्ज-अवदन्नाय-त्रि० । न० ब० । प्रागभ्यास-“ न्य-राय-क-र-आं ष्यः ” । ८ । ४ । २६३ ॥ इति सूत्रेण पयस्थाने डिकृतो ष्यः । प्रा० ४ पाठः । अहयपयस्थे, अर्थाऽऽ० अण्वयी०, त० वा । अहयपयाजाय, वाच० ।

अवल-अवल-न० । न बले सामर्थ्यमुक्तयो वा । अभावे न०त० बलाभावे, वाच० । शरीरबलवर्जिते, त्रि० । विपा० १ भू० ३ अ० । सूत्र० । अ० । विषमपादाद्गौ गन्तुमसमर्थे, जार वादुमसमर्थे च । सूत्र० १ भू० २ अ० ३ उ० । ज० । ज्ञा० ।

अवलत्व-अवदन्त्व-न० । अवलस्य जाय०ऽवलत्वम् । बलाभावे, वृ० ६ उ० ।

अवला-अवला-स्त्री० । महिलायाम्, को० । अकिञ्चित्करायाम्, वृ० १ उ० ।

अवदित्त-अवदित्य-न० । आकारगोपने, वाच० । मैथुने, सूत्र० १ भू० ६ अ० ।

अवदित्मण-अवदित्मनस-त्रि० । न विद्यते बहिर्मनो यस्यासावबहिर्मनाः । सर्वभौषदेशयतिनि, आचा० १ भू० ४ अ० ५ उ० ।

अवदित्तोस-अवदित्तोर्य-त्रि० । अविद्यमाना बहिः संयमाद् बहिस्ताल्लेभ्या मनोवृत्तिर्यस्यासावबहिल्लेभ्यः । अ० २ श० १ उ० । प्रअ० । स्त्री० ।

अवदुवादि ( ण )-अवदुवादिन्-त्रि० । असकृदव्याकुवाणे, आचा० १ भू० ६ अ० ४ उ० ।

अवदुस्सुय ( त )-अवदुश्नुत-पुं० । बहु भुंते यस्य स बहुभुजः, न बहुभुजोऽवदुश्नुतः । अनधीतनिशोधाभ्युपने, अशुनापधस्तन-भूते च । नि० चू० १ उ० । अवदुश्नुते नाम येनाचारप्रकल्पे निशोधाभ्युपननामकः सूत्रेणोऽर्थेनञ्च नाधीतः । व्य० ३ उ० । बहुभुजस्वरूपं च तद्विषयेपरिद्वानं तद्विचिकं सुखेनैव ज्ञायत इत्यवदुश्नुतस्वरूपमाह-

जे यावि होइ निचिउजे, यके जुदे अणिगढे ।  
अजिकखणं उल्लवड, आविणीए ऽवदुस्सुए ॥ ३ ॥

( जे यावि स्ति ) यः कश्चित्, चापिशय्दौ भिन्नकर्मत्वाद् उल्ल-रत्र योहयेते, भवति जायते, निर्मनो विधायाः सम्यक्शान्ता-वगमरूपया निर्विद्योऽपि यस्तत्तोऽहोहारी, लुब्धो रसादिपु-द्भिमान, न विद्यते विग्रह इन्विषयनियमनात्मकाऽस्यत्यनिमिहोऽधीचणं पुनःपुनरुप्राख्येनासंख्यं भाषितविक्रमेण ह्यर्थात् यक्रि उल्लुपति । अविनीतञ्च विनयविरहितो ( अवदुस्सुए स्ति ) य-पद्योर्निर्त्याजिसंख्यन्तात् सोऽवदुश्नुत उच्यते इति शेषः । सवि-षयस्याऽप्यवदुश्नुतम्, बहुभुजकत्वात्वादादिति भावनीयम् । एत-द्विपरितस्त्वयोद्बुद्ध्युत इति सूत्रार्थः ।

कृतः पुनरीदशमबहुभुतत्वं लभ्यते, इति तत्कारणमाह-  
अह पंवाहे गणोहिं, जेहिं सिक्त्वा न लभड ।

यंभा कोहा प्पाएणं, रोगेणालसएण य ॥ ३ ॥

अथेऽनुपयासार्थः । पञ्चभिः पञ्चसंख्यैस्तिष्ठत्येव कर्ममथशगा जन्तव इति स्थानानि तैः, वैरिति वक्ष्यमाणोर्हेतुभिः शिक्तं शि-क्ता, प्रहणसंयत्नात्मिका न लज्यते नावाप्यते, तैरीदशमबहुभु-तत्वमाप्यत इति शेषः । कैः पुनः सा न लभ्यते ? इत्याह- स्तम्भाद् मानात्, कोपात् कोपात्, प्रमादेन मप्रविषयादिना, रोगेण गलतकुट्टादिना, आलस्येनानुत्साहात्मना, शिक्षा न ल-ज्यत इति । कर्मञ्च समस्तानां स्वस्तानां च हेतुत्वमेवां चात-यतीति । उक्त० ११ अ० ।

अवालुया-अवालुका-स्त्री० । अथासुराश्चार्थे चिह्नएव-दार्थे, तं० ।

अवाहा-अवाधा-स्त्री० । बाधु-लोभने, बाधत इति बाधा, कर्मण उद्वयः । न बाधाऽवाधा । कर्मणा वपुष्योद्वयस्य चात्तरं, अ० ६ श० ३ उ० । स० । ज० । वाधा परस्पर संसृपतः पीडनं, न बाधाऽवाधा । अ० १४ श० ८ उ० । व्यवधानांपक्ष्याभ्यन्तरं, स० ४२ सम० । वि०० । आ० चू० । अबाधया अन्तरम्-‘अंतर’ शब्देऽस्मिन्नेव जगो ७८ पृष्ठ उक्तम् ।

मंदरस्स एं जंते । पन्थयस्स केवड्याए अवाहाए जोइसं चारं चरइ । गोयमा । इकारमेहिं इकवीमेहिं जेयणसएहिं अवाहाए जोइसं चारं चरइ । लोंगंताओ एं जंते । केवड्याए अवाहाए जोए जोइमे पसुत्ते । गोयमा । एकारमेहिं एकारमेहिं जो-अग्रामएहिं अवाहाए जोइमे पपत्ते । धरणपिलाओ एं जंते । सचहिं एणएहिं जोअणसएहिं जोइसं चारं चरइ । एवं सुरविमाणे अट्टहिं सएहिं चंदविमाणे अट्टहिं अ-संएहिं उवारेल्ले ताराकूवे खरहिं जोअग्रामएहिं चारं चरइ । जोइसम्म एं जंते । हेडिद्वाराओ तलाओ केवड्याए अवाहाए सुरविमाणे चारं चरइ । गोयमा । दमहिं जो-अणएहिं अवाहाए चारं चरइ । एवं चंदविमाणे णउणएहिं जोअणएहिं चारं चरइ । उवरिल्ले ताराकूवे दसुत्तरे जोअ-णसए चारं चरइ, सुरविमाणोओ चंदविमाणे अमीए जो-अणएहिं चारं चरइ, सुरविमाणोओ जोअणसए उवारेल्ले ताराकूवे चारं चरइ, चंदविमाणोओ वीसए जोअणएहिं उवारेल्ले ताराकूवे चारं चरइ ।

( मंदरस्स एं मंत ! इत्यादि ) मन्दरस्य भद्रन्त ! एवंतस्व कियत्या अबाधयाऽपान्तगलेन ज्योतिश्चकं चारं चरति ? । ज-गदानाह-गौतम ! जगत्स्यमायादेकादशानिर्कविशत्याधिके-यो जतशुनिरित्येवंरूपयाऽबाधया ज्योतिं चारं चरति । कि-मुक्तं ज्वरति-भेरुतश्चक्रवालेन एकविशत्यधिकस्यैकादशयाज-नशतानि मुकुटं चक्रं ज्योतिश्चकं ताराकूपं चारं चरति, प्र-कामाज्जसुट्टापगतमवसेयम् । अन्त्या लवणसमुद्रादिज्योति-श्चकस्य मेरुतो दूरवर्तिन्ये प्रमाणाभभवः । एवं तु सूयच-न्द्रवक्रवत्याऽपिचक्र अबाधाद्वारं सूयचन्द्रबोरं व मेरुतोऽबाधा बन्धा, साम्प्रते तारापट्टस्य, इति न पुर्यापरिबरेष इति । अथ स्थिरं ज्योतिश्चकमलोकनः कियत्या अबाधया ऋक्वैग् अवति-ष्ठत इति िष्णुचिद्वपुश्चटुश्च द्वारमाह- ( लोंगंताओ जामित्यादि )

सांकायतः भलोकादिदोऽर्थाकृ कियथा अथाधया प्रकमाद विधरं ज्योतिष्ककं प्रहस्यम् ? । भगवानाह—गौतम ! जगत्-स्वजावाद् एकादशभिरेकादशाधिकैर्भोजनशतैराधया ज्यो-  
 निवर् प्रहस्यं, प्रकमात् स्थिरं बोधयम्, चरज्योतिष्ककस्य नत्रा-  
 भावादिदि । अथ यश्चमदितं पृच्छति- 'धरज्योतिष्ककस्य यं जंते !  
 इत्यनेन तत्पृथक्केशरं प्रतिपृथं प्रहस्यन्तं बोधयम् । तत्पच-  
 'धरज्योतिष्ककस्य यं जंते ! उक्तं उच्यते का केचिदत्राप्य अथाहाप्य  
 दिदिष्टं जोहस्यं चारं चरति ? । गोयमा ! " इत्यनेन वरुवक-  
 हेरास्य वरुत्स्कन्धप्रसारकत्वनिर्णयत् । तत्रायमर्थः—धर-  
 णितहात् समयप्रसिद्धत्वं समभूत्सन्नागादूर्ध्वमुत्पत्य कि-  
 यत्याऽथाधया अघस्तनं ज्योतिषं तारापटलं चारं चरति ? । भ-  
 गवानाह—गौतम ! सप्तभिन्वदधधिकैर्भोजनशतैरित्येवंकपया  
 अथाधया अघस्तनं ज्योतिष्ककं चारं चरति । अथ सूर्यादिवि-  
 परभावात्सकं संक्षिप्य भगवाद् स्वयमेवाह—( एवं सूर-  
 विमाने भद्राई सपदि चंद० ) इत्यादि । एवमुक्त्यायेन  
 यथासमभूमिजागादृष्यन्तं ज्योतिष्ककं नवत्यधिकसप्तयोजन-  
 शतैस्तथा समभूमिजागादेव सूर्यविमानमभियोजनशतैश्च-  
 न्द्रविमानमभियोजनशतैश्चपरिभोजनशतैश्चपरितनं ताराकं नव-  
 मियोजनशतैश्च चरति । अथ ज्योतिष्ककवारंकेत्राण्येकया अ-  
 थायाप्रश्नमाह—( जोहस्यस्य णमित्यादि ) ज्योतिष्ककस्य द-  
 शांशरज्योतजनशतकं ह्युपस्थाधस्तनान् कियथा अथा-  
 धया सूर्यविमानं चारं चरति ? । गौतम ! दशानियोजनैरित्येवं-  
 रूपया अथाधया सूर्यविमानं चारं चरति । अत्र च सूर्यसमभू-  
 जनागार्ध्वं नवत्यधिकसप्तयोजनशतैश्च ज्योतिष्ककवाहृत्य-  
 मूलतः त्रिप आकाशप्रदेशप्रतरः सोऽप्यधिमन्तव्यः । एवं चन्द्रा-  
 र्दितुवंप्रति । एवं चन्द्रविमानं नवत्या योजनैरित्येवंरूपया  
 अथाधया चारं चरति । तथा चोपरितनं ताराकं दशाधिके  
 योजनगतं ज्योतिष्ककवाहृत्यप्रान्तं इत्यर्थः, चारं चरति ।  
 अथ गतार्थमापि शिष्यव्युत्पादनार्थमाह—सूर्यादीनां परस्पर-  
 भन्तरं स्वहृदाह—( सूर्यविमानाश्चो इत्यादि ) सूर्यविमानात्  
 चन्द्रविमानं अशीनियोजनैश्च चरति । सूर्यविमानात् योज-  
 नशतैश्चोत्तमान् उपरितनं तारापटलं चारं चरति । चन्द्रविमानात्  
 विशालया योजनैश्चपरितनं तारापटलं चारं चरति । अत्र सूचनामा-  
 त्रव्यात् सूत्रेणुक्ताऽपि प्रहाणां नक्षत्राणां च केत्राणां च क्षेत्रवि-  
 ज्ञानाभ्यवस्था भवान्तराभिरता संप्रद्विगृह्यत्यादी दक्षिता ह्यिह्यते-

“ शाननि सप्त गतोर्ध्वं, योजनानां छुवस्तलात् ।  
 नवनि च स्थितास्ताराः, सर्वाऽप्यस्ताचनस्तले ॥ १ ॥  
 तारकापटला इत्या, योजनानि दशोपरि ।  
 सुराणां पटलं तस्मा-दर्शयति शीतरोचिषः ॥ २ ॥  
 चत्वारि तु ततो गत्या, नक्षत्रपटलं स्थिनम् ।  
 गत्या ततोऽपि चत्वारि, बुधानां पटलं भवेत् ॥ ३ ॥  
 शुक्राणां च गुरुणां च, त्रीमानां भूदसंक्षिप्तम् ।  
 क्रोशि त्रीणि च गन्धोर्वं, क्रमेण पटलं स्थितम् ॥ ४ ॥ इति ।  
 जं० ७ वक्ष० ।

( मन्दरस्य णमित्यादि ) ता इति पूर्ववत् । मन्दरस्य  
 पर्वतस्य जम्बूद्वीपगतस्य सकृत्तित्येवशंकरकथनवर्तिनः कि-  
 योत्तं प्रमाधया सर्वतः कृत्वा चारं चरति ? । भगवानाह—  
 ( ता यद्वारंसेत्यादि ) ता इति पूर्ववत् । एकादश योजनचारात्  
 एकादशत्यधिकानि अथाधया कृत्वा चारं चरति । किमुकं भ-

वति?, मेराः सर्वतः एकादश योजनशतान्येकादशत्यधिकानि मुकु-  
 तनस्तं अथाधया ज्योतिष्ककं चारं चरति । ( ता कोयं-  
 ताश्चो णमित्यादि ) ता इति पूर्ववत् । सांकायताद्वर्षाकृ,  
 णमिति वाक्याद्वाहारे । किञ्चैत्रमथाधया कृत्वा ज्योतिष्क-  
 कं प्रहस्यम् ? । जगवानाह—( एकादसेत्यादि ) एकादश योजनशता-  
 नि एकादशत्यधिकानि अथाधया कृत्वा अथाधरात्तं विधा-  
 य ज्योतिष्कं प्रहस्यम् । ( ता जंबूद्वीपे णं द्वाधे कयरे नक्षत्र-  
 इत्यादि सुगमम् । नवरसमिञ्जिह्वकं सद्योऽप्यनरं नक्षत्र-  
 मयसमपेक्ष्य, एवं सूर्यादीन्पपि सर्ववाहादीनि वेदितव्यानि ।  
 ( ता चंद्रविमाने णमित्यादि ) संस्थानविषयं प्रहस्यत् सुगमम् ।  
 भगवानाह—( ता अद्वकषिदुगोत्यादि ) अद्वैतकपित्यमुक्तानोक्त-  
 मर्द्धमांशं कपित्यं तस्यैव यत् संस्थानं तदप्यः संस्थानमर्द्धकपि-  
 त्यसंस्थानसंस्थितम् । आह—यदि चन्द्रविमानमर्द्धमांशकपित्य-  
 णसंस्थानसंस्थितं न तद्दकषिणं कृत्स्नमकालं यदि वा  
 तिर्यक्परिभ्रमन्तं पौर्णमास्यां कलात्तद्वर्द्धकपित्यकारं नो-  
 पलभ्यते, काम शिरस उपरि वर्तमानं घटुलमुपसृज्यते अद्वैत-  
 कपित्यस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परजागदृशनतो  
 घटुलतथा इत्यथामान्वात् । उच्यते—इहाहं कपित्यः सुगम-  
 कारं चन्द्रविमानं न सामस्येन प्रतिपलभ्यते, किन्तु तस्य  
 चन्द्रविमानस्य पीठं, तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रवृत्तस्य ज्योति-  
 श्चक्राजस्य प्रासादः, तथा कथञ्चनपि व्यवस्थितो यथा पीठेन  
 सौ भूयात् वतुंश्च आकारो जयति, स च दूरवाहितः पकान-  
 रतः समभुलतया जनानां प्रतिभासते, ततो न कश्चिद्दृ वापः ।  
 नचैतत् स्वमनीषिकाया ज्ञेयमितम् । यदेतद्वे जिनजन्मगाणिक-  
 माभ्रमनेन विशेषणव्यामाकेणुप स्वरमुक्तम्—

“ अद्वैतविद्वद्गारा, उदयऽधमगमि कहां न दीसति ॥  
 ससिसूरा विमाना, तिरियकसंस्थित्याणं च ? ॥ १ ॥  
 उषाणऽकृकविधा-गारं पीठं तदुपरि पासाश्चो ।  
 यथा लेखेण तश्चो, समवदं दूरभावाश्चो ॥ २ ॥

तथा सर्वे निगदोषेणं स्फटिकमयं स्फटिकविशेषमणिमयं, तथा  
 अभ्युक्ता आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उन्मत्ता प्रथमतया  
 सर्वसु दिशु प्रसृता या प्रभा दीसन्तया सितं शुक्लमभ्युक्ता-  
 च्युतप्रभासितं, तथा विविधा मलंशकपाकारा मलंशककान्या-  
 द्या रत्नानि कूकनवादीनि तेषां भक्तयो विदिष्टाविशिष्टाः ता-  
 मिच्छन्नमेककूपवत्, आश्रयंयथा विविधमणिरत्नविश्रयः; तथा  
 वातोद्भूता वायुकुम्भिता विजयोऽप्युदयस्तसंसुचिका वैजय-  
 न्यमिधाना याः पताकाः । अथवा विजया इति वैजयन्तानां पा-  
 श्चकणिका उच्यते, तस्य धाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः पता-  
 कारता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, उत्रातिच्छत्राणि च उप-  
 र्धुपरि स्थितानपवाशि तैः कश्चित्, ततो यानोद्भूतविजयवैजयन्ती-  
 पताकाश्चत्रातिच्छत्रकश्चित्, तुङ्गपुष्पम्, धत एव ( गगनतसम-  
 क्षिप्तं सिद्धं ति ) गगनतसमभ्युदयतसमनुक्षिप्तं, प्रसिद्धकृष्णच्छि-  
 रंयस्य तद् गगनतलानुलक्षिच्छिखरम् । तथा जालानि जात्रका-  
 नि तानि च भवनभित्तुषु लोके प्रतीतानि, नदन्तरेषु विवि-  
 दशानिनिमित्तं रत्नानि यसद् जात्रान्तररत्नम्, सूत्रे आत्र प्रथमै-  
 कवचनलोपं उच्यते । तथा पञ्जराऽऽभीर्जिनसिच बहिष्कृतमिच  
 पञ्जरोन्मीक्षितमितम् । यथा हि किञ्च किमपि वस्तु पञ्जराद्  
 वेश्यादिमप्यञ्जराद्विशेषाद् बहिष्कृतमप्यन्तर्गतमिच्छान्पञ्जरा-  
 त् शोभते, एवं तदपि विमानमिति भावः । तथा—विजयकानानां

अबादा

संबन्धिनी क्तुयिका शिखरं यस्य तद् भविकनकस्तुयिकाकम् ।  
 तथा विकसितानि शतलतपत्राणि पुष्पद्वरीकाणि शारावौ प्रतिह-  
 तित्थाने स्थितानि तिष्ठकाश्च भिस्त्रादिषु कन्धाणि रत्नमयाश्चा-  
 द्भृच्छराराम्रादिषु तैश्चित्रं विकसितम् , अतपनपुष्पद्वरीक-  
 तिलकाकैचन्द्रचित्रम् । तथा-अनर्थादिश्च ऋषणं मण्यु-  
 मित्यर्थः । तथा-तपनीयं सुवर्णेशोषस्त-मय्या बालुकायाः  
 सिकतायाः प्रस्तः प्रतरः यत्र तस्यथा ; तपनीयंबालुका  
 प्रस्तदतया सुधर्मस्पर्शं ह्यभस्पर्शं वा । तथा सभ्रीकाणि  
 सशोभानि कृपाणि नरमुयार्दीनि कृपाणि तत्र तत् सभ्रीक-  
 रूपम् । प्रासादीयं मनःप्रसादहेतुः । अत एव दर्शनीयं द्रष्टुं यो-  
 र्थं, तद्दर्शनेन सुतरसंज्ञवात् । तथा-प्रतिपिशिष्टमसाधारणं रूपं  
 यदस्य तस्यथा । ( एषं सुरविमाने धीत्यादि ) यथा चन्द्रविमान-  
 स्वकपमुकमेवं सूर्यविमानं ताराविमानं च सकल्पं, प्रायः सर्व-  
 धामनि उपोनिविमानामेककल्पवात् । तथा चोक्तं समवायाङ्ग-  
 " केचइया णुं भंतं जोरसियायासा पञ्चत्ता ! गोयमा ! इमो-  
 ले रयणुणय्याय पुटवीय बहुसमरमणज्जाओ तुमिनागाओ स-  
 लनउयाई जौयणुसयाई उहुं उप्पइत्ता दसुत्तरजौयणुस-  
 लयाइहुं तिरियमसंभज्ज जोरसियाय सपुत्तइत्ता जौरसियाणं देवाणं  
 असंभेज्जा जोइसिया विमानावासा पञ्चत्ता ; तेणं जोइसि-  
 यविमानावासा अणुत्तमा पमुत्तियपहसिया विविहमणिय-  
 यज्जसिचित्ता तं केवढं जाव पासार्था दरिसाणज्जा पडिक्खा" ।  
 ७० प्र० १० पाठुाने न बाधा अबाधा । अनाकर्मणः, रा० । जी०  
 स्या० । ओ० ॥

अबाहिरिय-अबाहिरिक-त्रि० । बहिर्भवा बाहिरिका । " अ-  
 ध्यत्समादिभ्य इकण् " । ३ । ३ । ७ । इति हेमसूत्रेण इकण्प्रत्ययः ।  
 प्राकारभद्रिपतिनो गृहपक तिरियर्थः । न विद्यते बाहिरिका  
 यत्र तत्रबाहिरिकम् । यस्य प्राकाराद् बहिरुद्देशि न सन्ति  
 तस्मिन् स्थानि, वृ० १ उ० ॥  
 अबाद्-त्रि० । प्रामस्यात्यन्तबहिर्भूते, " अबाहिरप कण्पइ  
 हेमंतगिदालु मासं वक्ष्य" इय० १ उ० ।

अबाधिगिया-अबाधोनिका-स्त्री० । अबाधया उकलकणया  
 ऊनिका अबाधोनिका । न० ६ शृ० ३ उ० । अबाधाकालप-  
 रिहीनायाम्, "अबाधुणिया कम्मठिई पणत्ता" । जी० २ प्र० ।  
 अबिद्ध-अबिद्ध-त्रि० । बंधरहिते, व्य० ८ उ० । १० ।

अविष्कृत्वा-अविष्कृत्वा-पुं० । स्वनामक्यते तथिष्कमेते,  
 यत्रि गजनुरगस्यम्बदादिव्यतिरिक्तानिमित्तप्रजवः संख्याप्र-  
 त्ययः, गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वाद्, वरुचमेकम्बले नीलप्रत्य-  
 यवदति संख्याप्रसिद्धप्रत्यये अविष्कृत्वाकं प्रमाणम् । तद्ग्यु-  
 कम् । गजादिव्यतिरिक्तसकतादिप्रभवमेतेषांत्वात् सिद्धसाध-  
 नादौप्यातन्वात् । सख्म० ३ कापर ।

अवीय-अद्वितीय-त्रि० । केनचिदपरेण सहयत्तमेने, यथाहि  
 श्वनरहवनसहस्रकया राक्षां सार्द्धं, मल्लिपार्वी त्रिजिम्भिः  
 शतैः, बासुपुत्र्याः पद्मत्त्या, शोषाश्च सहस्रैः सह प्रयजितास्तथा  
 भगवता न केनाप्यताऽपिचतैः । कव्य० ।

अबुष्क-अबुद्-त्रि० । अविपरिचितं, दश० २ न० । अविषेकि-  
 नि, सूत्र० १ सु० ११ अ० ।

अबुद्धनिन्वा-

३ अबुद्धा महाभागा, बीराऽऽम्भक्तर्दसिणी ।

अमुष्कं तेसि परकीतं, सफसं होइ सव्वसा ॥ ३२ ॥

ये केचनाऽबुक्ता धर्मं प्रापयिहान्तपरमाथं व्याकरणद्व्युक्तकौ-  
 विपरिहानेन जातावलेपाः पारिस्तमामिनोऽपि परमाधरतु-  
 स्थानवधोपाद्बुक्ता इत्युक्तम् । नच व्याकरणपरिहानमात्रेण  
 सभ्यकष्यव्यतिरेकेण तस्यावधोयो भवतीति । तथा बोक्तव्य-  
 " शाखाव्यादाइ परमिज्जघनत्तत्परोऽपि,  
 वैवाऽपुधः समजायकति वस्तुतत्त्वम् ।  
 नानाप्रकाररसजावयताऽपि दर्धी,  
 स्वादं रसस्य सुविगादपि नैव बोक्ते " ॥ १ ॥

यदि वा अबुद्धा इव बलवीर्यवन्तः, तथा मदान्दहन् ने  
 भागाश्च मदान्ताः । भागश्चन्द्रः पूजावचनः । तत्तच्च म-  
 हापुत्र्या इत्यर्थः । शोकाविभूता इति । तथा वीरोः पराङ्गी-  
 कनेदिनः सुभटा इति । इदमुक्तं जयति-पणित्ता अपि त्या-  
 गादिनिगुणैककपुत्र्याः । अपि च-तथा सुभट्टवाद् वर-  
 न्तोऽपि सव्यकस्यपरिहानविकलाः केचन जन्मतीति दर्श-  
 यानि न सम्यग् असम्यक्, तद्भाषोऽसम्यकम् । तद् ऊर्ण  
 शीतं येषां तं तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः । तेषां च बालानां य-  
 किमापि तपोदानाध्ययनमनियमादिषु पराकान्तमुद्यम-  
 स्तद्बुद्धमविशुद्धकारि, प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वान्,  
 सनिदान्वाऽन्ति, कुतश्चिकित्सावद्विपरीताऽनुभवधीनि । तच्च  
 तेषां पराकान्तं सह फलेन कर्मबन्धेन यतेन इति संकल्पम् । सर्वेश  
 इति । सर्वाऽपि तर्किका तपोऽनुष्ठानार्थिका कर्मकथायैवेति  
 ॥ २२ ॥ सूत्र० १ सु० ८ अ० । बोधाविषयं, वाच० ।

अबुद्धजागरिया-अबुद्धजागरिका-स्त्री० । उग्रमथङ्गनवर्त  
 जागरिकायाम्, अ० । " अबुद्धा उग्रमथङ्गजागरिय जागरति चि "   
 अबुद्धाः केवलज्ञानाभावेन यथासंभवं शेषज्ञानसद्भावाच्च बु-  
 द्धसहस्राः ते च, अबुद्धानां उग्रमथङ्गज्ञानवन्तं या जागरिका सा  
 तथा तां जाग्रति । न० १२ शृ० १ उ० ।

अबुद्धसिरी-देशी-मनेरयाधिकफलमासी, दे० ना० १ वगं ।

अबुद्धिअ-अबुद्धिअ-त्रि० । तत्त्वज्ञानरहिते, ग० १ अ० । अ-  
 हानिनि, पं० सू० । बुद्धिरहिते, सूत्र० १ सु० २ अ० १ उ० ।  
 अबुद्ध-अबुध-पुं० । विरोधे, अमाराशयं वा । न० त० । बु-  
 धभिन्ने सुबलं, अणुवहने च । बाच० । अजानाने, सूत्र० १ सु० २  
 अ० १ उ० । बाशिरो, प्रह० १ अ० ० डा० । तत्त्वपरिहान-  
 यिकते, वृ० १ उ० ।

अबुद्धुजा-अबुधजन-त्रि० । अबुधोऽपिषिञ्जनः परिजनो व-  
 स्य न्न अबुधजनः । अकल्याणमित्रपरिजनं, " विसयसुहृत्सु प-  
 सत्थं, अबुद्धजसुकारागपारिबद्धं " दश० २ अ० ॥

अबोद्ध-अबोध-पुं० । न० त० । अनवगमे, घ० १ अ० ।

अबोहंत-अबोधयत्-त्रि० । अजागरयति, उच० २६ अ० ।

अबोधि-अबोधि-स्त्री० । न० त० । अज्ञाने, सूत्र० २ सु० ६ अ० ।  
 जिनधर्मनवारी, औत्पस्यदिदुष्टभावे च । अ० १ शृ० ६ उ० ।  
 मिथ्यात्वकार्यं ज्ञानं, "अबोधि ( हिं ) परिपर्यामि बोधिं उच-  
 संपज्जामि " भाव० ४ अ० ।

कस्याबोधिनैयति १, इति प्रश्नस्योत्तरमाह-  
 पिच्छादसंपरया, सनिदाया कियहत्सेसंभागा ।

इह जे मरति जीवा, तेसि छुसहा जवे बोही ॥

मिथ्यादर्शनं विपर्यस्तदर्शनं, मिथ्यात्वं तु मिथ्याक्रियाद्यभिलाषक-  
रूपं, तत्र रत्याः, तथा सह नित्यानेन देवत्व्यादिप्रार्थनारूपेण वर्तन्त  
इति सिद्धिर्नामः । तथा कृष्णां सखीयमैक्यां श्रेष्ठयां जीवपरिणाम-  
रूपामवगाढाः प्राप्ता इहास्मिन् जगति एवविधा ये जीवा  
त्रियन्ते तेषां दुःखेभ्यो भयंद् बोधिः । आनु ॥

अबोधिकलुप्त-अबोधिकलुप्त-प्रि० । मिथ्यादृष्टी, दश० ४ म० ।  
अबोदिवीज-अबोधिवीज-न० । अर्धधोर्जन्मान्तरे जिनधर्मोऽ-  
प्राप्तौ बांजमिय बांजं हेतुरबोधिबीजम् । पञ्चा० ४ विष० । स-  
म्यदर्शनाज्ञावहेतो, पञ्चा० ७ विष० ।

अबोधि-अबोधिक-न० । अर्धांजा० अव्ययी० स० । मिथ्यात्व-  
फले ( अज्ञाने ), दश० ६ अ० । न विद्यते बोधिर्यस्य साऽबो-  
धिः । बोधिरदंतः, " निष्प्रमथं न ज्ञायति, मिश्रकृत्वु व्य अ-  
बोधिः " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ व० । अविद्यमानबोधिक, औ० ।  
अविद्यमानो बोधोऽस्मात् । जवात्नराप्राप्तव्यजिनधर्मताप्राप्ति-  
जागरेणेह, " अण्येषां य अबोधिप, महामोहं पकुवइ " ।  
स० ३० सम० ।

अव्युय-अवुद्-पुं० । स्वनामख्यते ( आन् ) पर्यन्ते, ती० ।

नक्षत्रा वैषम-

अर्धनौ प्रतिपत्त्याऽहं, श्रीमन्नाशनैमिनौ ।  
महाँक्षरबुद्धाद्यस्य, कल्पं जन्मार्थं भसातः ॥ १ ॥  
देव्याः श्रीमान्कल्पसि-मादां वक्ष्ये यथाश्रमम् ।  
यदधिष्ठानतोः होष, प्रख्यातोः सुवि पर्यन्तः ॥ २ ॥

श्रीरत्नमन्त्रनगरं, राजाऽभूत्कनकेश्वरः ।  
श्रीऽनपयनया दूमः, प्रीथोक्तकुनिकान् बहिः ॥ ३ ॥  
शिरस्थां काष्ठमारिण्या-स्तं दुर्गां दुर्गतक्रियाः ।  
बोध्यं व्यज्जहपन् राक्षं, नाव्यस्यास्वयंपदे सुतः ॥ ४ ॥

राज्ञाऽऽदिधा मगमैव, सा हन्तु तन्नरैर्नीशः ।  
गर्भं क्षिप्ता कायचिन्ता-न्याजात् तस्माद् बहिनिरैत् ॥ ५ ॥  
साऽवृत्तं हनुमत्याऽऽर्त्ता, क्षात्रं वरानाम्नेरऽमुचत् ।  
गर्भं चाऽऽनीयं तदूत्ता-नमिहैस्मैरघानि सा ॥ ६ ॥

पुरापरितर्भं स्तन्यं चा-पीप्यत् सन्याह्वये मृगी ।  
प्रबुधैर्ऽसिद्धशाखा-महालक्ष्याः पुरोऽन्यदा ॥ ७ ॥  
मृग्याश्चतुर्णां पादाना-मथो नूतननाणकम् ।  
जानं श्रुत्वा शिशुरूपं, लोकं वातोऽप्यनुभूत ॥ ८ ॥

नभ्यो नृपोऽनृत्यं कोऽपीति, श्रुत्वा प्रीथिद् अटानुषः ।  
तद्व्यापाद्यं न दृष्ट्वा, सायं ते पुरागोपुरं ॥ ९ ॥  
बालदृष्ट्याजिन्याऽमुञ्चत्, गोमृग्यस्यायतः पथि ।  
नक्षत्रैव स्थिते भाष्या-देकस्मृत्का पुरोऽजयत् ॥ १० ॥

तम्रयं च चतुष्पादा-न्तराले तं शिशुं न्यधात् ।  
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिवाक्यात्, राजाऽमस्तोरसं मुदा ॥ ११ ॥  
श्रीपुत्रजायः क्रमात्सोऽनृद्, नृपस्तस्थाऽभवत्सुता ।  
श्रीमाता रूपसंपत्ता, केवलं ह्यवगानमा ॥ १२ ॥

तद्वैराव्यांनिधियया, जानु जालिस्मरा पितुः ।  
न्वैवद्यत् प्रागभवत् स्वं, यदाऽहं वानरी पुरा ॥ १३ ॥  
संचरन्त्युदं शाशि-शाखां तालुनि केनचित् ।  
यिक्षा वृक्षाश्च दधन् मे, कुण्डेऽपत्यत् तरोरथः ॥ १४ ॥

तस्य कामिनधीषस्य, माहात्म्याद् नूतनमैम ।  
मस्तकं तु तथैवास्ते-ऽध्याप्यतः कपिसुखहम् ॥ १५ ॥

श्रीपुत्रोऽप्येवश्रीर्षे, कुण्डे मेष्य निजान् नराह ।  
तनः सा नमुषी जहं, तपस्वी चाबुदे गिरी ॥ १६ ॥  
व्योमगामन्यदा योगी, दृष्ट्वा तां रूपमर्हितः ॥  
साऽपुत्तोर्यालपत् प्रेम्णा, मां कथं वृष्टुषं शुभे ? ॥ १७ ॥  
सांख्यस्यादाद्याधामो, राजस्तावतः परम् ।  
ताश्चक्षुःकृतान्वाकं, कथाचिद्विद्यया यद् ॥ १८ ॥  
शैलऽत्र कुण्डं हृष्टाः, पद्यां श्लाशं तर्हितः ।  
वरः स्या इति चैट्रैस्वै-र्द्वियाम्याऽवीकरस्त ताः ॥ १९ ॥  
स्वशक्या कुण्डरथे, कृतक कारिते तथा ।  
निषिक्तोऽपि विवाहाय, नास्पास्तकैतवं विद्म् ॥ २० ॥  
सरिर्षीरेऽथ तं स्वका, कृतवीवाहस्त्रुतिम् ।  
सांख्यं शिशुलमुत्सृज्य, विद्यां तु संनिधिं मे ॥ २१ ॥  
तथाहृत्योपागतस्य, पादयोर्विकृताद् धुनः ।  
नियोष्य साऽऽस्य शोभन, हृद्यक्षेत्रं वषं व्यधात् ॥ २२ ॥  
इत्याजन्माखण्डशालं, जन्म नीत्वा स्वराय सा ।  
श्रीपुत्रः शिखरं तत्र, तत्रासात्तमवीकरत् ॥ २३ ॥  
परमासात्सेऽशुद्धाव्योऽस्या-ऽधोभागेऽऽकलयत्स्थिः ।  
ततो विकल्पस्तावयः, प्रासादशिखरं विना ॥ २४ ॥

श्रीांकिकास्वाहुः-

तन्निवर्धनं कन्यामीत, प्राक् शैलाऽयं हिमाकिजः ।  
कात्वेनाभुदनाशधि-ष्ठानात्सुबुद् इत्यनृत् ॥ २५ ॥  
वसति श्लाशं प्रामाः, अथोपरि धनोत्पुत्राः ।  
तपस्थिनो गौमाक्षिकाः, राष्ट्रिकाश्च सहस्रशः ॥ २६ ॥  
न सः सुतो न सा वल्ली, न तत्पुत्रं न तत्फलम् ।  
न सः स्कन्धो न साशाखा, या नैवाप निरीकृत्यते ॥ २७ ॥

प्रदीपमहीनीधयो, जायन्नयत्र शत्रिभुः ॥  
सुरभीणि रसाक्ष्यान, यनानि विविधान्यापि ॥ २८ ॥  
स्वच्छन्दोऽक्षदृच्छार्मि-स्तैरप्रकृतुमाप्यिता ।  
पिपासुनताऽऽनन्दऽपि, प्राति मन्दाकिनी धुमि ॥ २९ ॥

वकासत्यस्य शिखरा-पयुक्तेक्षणि सहस्रशः ।  
परिस्खलन्ति सुषेस्य, येपु रथ्या अपि क्रणम् ॥ ३० ॥  
चरुक्षाशोवन्नैर्बभं-कन्दाद्याः कन्दजातयः ।  
दृश्यन्ते च प्रतिपदं, तत्सकार्यप्रसाधिकः ॥ ३१ ॥

प्रदेशाः पेशलाः कुसुद-स्तनदाभ्यंकारिभिः ।  
अस्य धानखनीजिञ्च, निरैरैश्चासुतोदकैः ॥ ३२ ॥  
काक्यिते कृते चोक्षे-र्द्रांकोक्यितकुपिहतः ।  
प्राडुर्भवति वाःपुरः, कुवेन् ललहलारयम् ॥ ३३ ॥

श्रीमाताऽऽच्छेत्स्वस्य, वशिष्ठान्म पथ च ।  
अत्रापि लौकिकास्तीर्थोः, मन्दाकिन्यादयोऽपि च ॥ ३४ ॥  
महाँक्षस्य नेतारः, परमारनेरहवराः ।  
पुरी चन्दावती तेषां, राजधानी निधिः श्रियाम् ॥ ३५ ॥

कलयन् विमलं बुक्तिं, विमलोऽं दूरनयकः ।  
चैत्यमभर्षेजस्थाधात, पैक्षसप्रतिमान्वितम् ॥ ३६ ॥  
शाराधवाभ्रं जगवती, पुत्रसंपदपस्पृहः ।  
तीर्थस्थापातनप्रत्यर्थ, चरुषकद्रुमसालिभौ ॥ ३७ ॥

पुण्यक्षन्नामकचिदं, दृष्ट्वा गोमयगोमुखम् ।  
तत्राप्रदीद् भुवं दण्डन्, श्रीमातुमेवनामिके ॥ ३८ ॥ (सुमम्)  
राजानकं धोधान्युके, कुक् ओमुजेरहवरम् ।  
प्रसाद भक्त्या तं चिञ्च-कूटारानाय तर्करा ॥ ३९ ॥

वैक्रमं वसुचस्वाशा १०००, मितेऽन्दे भूरिरेवधात् ।



अव्यय

सत्यासाद् सुविमल-वसत्याह व्यधापयत् ॥ ४० ॥  
 यात्रोपनम्रसंघस्या-निप्रविष्टविद्योतनम् ।  
 कुर्वतेऽप्राग्भिका वृषी, पूजिता बहुनिविधे ॥ ४१ ॥  
 युगादिद्वैतैस्त्वस्य, पुरस्तात् च चाहमनः ।  
 एकरात्रेण घटितः, शिल्पिना तुक्तोऽसमः ॥ ४२ ॥  
 वैक्रमे वसुवन्वक १२८, मित्रेऽप्ये नेमिसन्निभम् ।  
 विमर्मे लुण्णिगवस-त्याह्वयं सचिवेऽनुना ॥ ४३ ॥  
 कपोलमयं शिष्यं, श्रोतैःजःपालमन्त्रिराट् ।  
 तत्र न्यास्यत् स्वस्मतीधे, निष्पद्यं हृत्सुधाऽऽजनम् ॥ ४४ ॥  
 मूर्तीः स्वपूर्ववैद्यनां, हस्तिशालं च तत्र सः ।  
 म्यवीविशद्विश्रां पत्युः, श्रीसोमस्य निद्रेदानः ॥ ४५ ॥  
 आहो ! शोभनदेवस्य, सुधधाराशरोमणः ।  
 तक्ष्मयरञ्जनाशिरुषा-द्राम ह्येन यथाधेताम् ॥ ४६ ॥  
 वज्रानुशतः समुत्थेन, मैनाकाऽस्त्यनुशो गिरः ।  
 समुत्थान्तोऽप्यनेन, दूषेत्तु मन्त्रीहवरं भवान् ॥ ४७ ॥  
 तीर्थेऽपि तन्नेऽसिद्ध, दैवान् सुकृतेः प्रचक्रतुः ।  
 अस्यांशारं ह्यौ दाकाद्ये, यद्विषदाकंसमिते १२४३ ॥ ४८ ॥  
 तत्राद्यतीर्थस्यांघर्ता, लक्ष्मो महर्षिसिद्धयुः ।  
 पीथमस्त्वितरस्याभूदुक्तो, वषट्सांसिद्धजः ॥ ४९ ॥  
 कुमारपालभूपाल-धवीलुक्पकुलचन्द्रमाः ।  
 श्रीवीरवैत्म्यस्योक्तः, शिखरं निरमीमपत् ॥ ५० ॥  
 तसन्कौमुदलाकीर्ण, तसुहोपाविबभुरम् ।  
 अन्त्याः पश्यन्त्यशुर्वर्षि, नैकमोऽप्यविभ्रमम् ॥ ५१ ॥  
 हृष्यः श्रोत्रसुधाकल्पः, श्रीजिनमस्तस्त्रिभिः ।  
 औमदशुब्दकल्पोऽयं, चतुरः परिवीर्यताम् ॥ ५२ ॥  
 इति श्रीशबुद्धाचलकल्पः समाप्तः ॥ १०० ८ कल्प ।

अ०भू-अ०भू-न०। अ०यो विभर्त्सति अ०भूम् । मेघे, रा०। अ०पञ्च-  
 दो- " लिङ्गमनन्तम् " ॥ ८० ५। ४५४५ ॥ इति सूत्रेण पुंस्यय ।  
 "अभ्या लग्ना मीगरिर्हि, पहिह रुडनं च जाह । जो पहा गिरि-  
 गिरण-मपु, सो कि षणहि धनाह" ॥। प्रा० ४ पाद् । अ०प्राणि-  
 सन्त्यसिन्धियञ्चम् । "अभ्यादिभ्यः" । ७२।४६ इति हैमसूत्रेण म-  
 त्वर्थीयाऽप्रात्ययः । आकारो, " अ०भूवहलप विउरवह " । अ०  
 यानि बादेलकानि तानि विकुर्वन्ति, आकारं मेघान् विकुर्वन्ती-  
 त्यर्थः । रा०। स्वा०। आ० म० ।

अ०जंग-अ०च्यङ्-पुं० । अ०जि-अ०ञ्-भावे चञ् । कुन्त्यम् ।  
 स्तोकेन तैसादिना मर्दने, एकवारं तैसमर्दने च । नि०चू०३३०।

अ०जंगला-अ०च्यञ्जन-न० । घृतवशादिना ( प्रअ० ४ मन्व०  
 द्वा० ) सहजपाकतैलादिनिर्वा ( आचा० १ ध्रु० ६ आ० ४ उ० )  
 प्रकृते, कल्प० ३ कृण । स्वा० । नि०चू०। आ० म०। ३० । प्रव० ।  
 साधुनामच्यञ्जनं न कार्यम्—

नो कपटं निर्मांयाण वा निर्मांषीण वा परिव्रासिएण  
 तेक्ष्णेण वा पृष्ण वा नवर्णीएण वा वसाप वा गचं अ०नं-  
 गित्त्वा वा पक्वित्त्वा वा नभत्य आगादिर्हि रोगार्थकेर्हि ।

अभ्य सम्बन्धमाह—

मसिणेहो असिणेहो, दिज्जइ पक्वित्तु वा तगं दिंति ।  
 सन्नो वि वणो झिण्ण, दुहा वा म कवण्णा भूपा ॥

आलेपः सकेहोऽस्मिहो वा श्रीयते, ततो यथा कोऽनं प्रकृतं क्रियते,  
 नवा, तथाऽनेनाऽभिधीयते । यद्वाः प्रण प्रकृतिवा तक्रमनन्तस्योक्त  
 मात्रेपे प्रयच्छन्तिः त वा सद्योऽपि प्रण आहोष्यन्ते । शिधा वा अकृ-  
 णा भूयान्ः कृतो जणोऽपि प्रव्यते, आत्रेयोऽपि प्रकृतुं शीयत इति  
 ज्ञाप्यः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पने परिव्रासि-  
 तेन वा तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्रमच्य-  
 ङ्कितुं वा, यदुत्तरेन तैसादिना प्रकृतितुं वा स्वल्पेन तैसादिना, नात्यत्र  
 गाढगाढेभ्यो रोगान्कृष्ये, तान्मुक्तान् न कल्पते इत्यर्थः । दोषाश्चात्र  
 न एव स्वचयादयो मन्तव्याः ।

आह-यद्येवं परिव्रासितेन न कल्पते प्रकृतितुं, ततस्तस्मिन्वसानी-  
 तेन कल्पिष्यते ।

सुरिराह—

तद्विममकत्वणम्मी, लट्ठ्यां मासो उ ह्योऽपि बोधव्यो ।  
 आणायणा विराड्ण, धूलि सरक्तो य तसपाणा ॥

तद्विमसानीनेनापि यद्वि प्रकृतयति तदा लघुमासः, आह्लादयक  
 दोषाः, विराधना च संयतस्य भवति । तथाहि-अन्तते गात्र  
 धूलिभ्रमेतिः सरक्तो वा सचिस्तरजोऽरुपा वा तनोक्तो लग-  
 ति, तेन चौर्यगण मलिनीक्रियन्ते, तेषां धावने संयमविराधना,  
 स्नेहगन्धेन वा ये त्रसप्राणिनो भ्रमन्ति तेषां विराधना भवेत् ।

धुवणाधुवणं दोमा, निंसि भत्ते उऽपिप्रावणं चैव ।  
 चनसच म इड तलिया, उव्वट्टणमाड पडिमधो ॥

स्नेहेन मलिनीकृतानां चौर्याणां गात्राणां च धावनाधावनेयोर-  
 रुमयोऽपि दोषाः । तथाहि-यदि न धावत्येते तदा निशि भक्तम्,  
 अथ धावत्येते ततः प्राणिनामुत्प्राणना भवेत् । उपकरत्-  
 त्तरीरयोर्वा कृशत्ये च जवति । (न मइ लि)स एव हेवाक्को ल-  
 गति, प्रकृति च गात्राद्यदोषां शूबो लीगप्यति इति कृष्णं मलि-  
 काऽपि नह्यति, तत्र मयो निर्मादयेनगादयो दोषाः । यावन्त्य-  
 गात्रस्याङ्गनेनादिक करोति तावत्सुवार्थपरिमत्तो भवति ।

तद्विममकत्वणं उ, दिट्ठा टोमा जहा उ पक्वित्त्वा ।  
 अद्वाणिणुव्वाए-ऽपवाए अरुकुत्तुजयणांश्रं ॥

तद्विमसङ्कणेन जनिता एते दोषा इष्टाः । द्वितीयपदे यथा  
 प्रकृतये तथाऽभिधीयते-अव्यगमनेनाभारंऽहान्तः, परिव्रान्तां वा,  
 तेन वा कटी शुहीना, अकृषेण तद्धारणं जानं कच्चू पामा,  
 तथा वा कोऽपि गृहीतस्तने यतनया प्रस्येदपि ।

तामवाह—

मस्मिदक्यकज्जो, धुवितं परंयत् उ अत्ययं श्रंते ।  
 परिपीय गोपयां-उव्वट्टा धोवणं जयणा ॥

सङ्गा गमनम्, आदिशब्दात् गमनादिक च कायकृते कृतकार्यो, न  
 संपाद्यकृतकार्ये, स्वर्गाणो यदियंमनकार्याणि समाप्यत्यर्थः ।  
 स यावन्मात्रे प्रकृत्यायै तावन्मात्रेव प्राविश्या प्रकृत्या ततो  
 प्रकृतयति, प्रकृतियत्वा च प्रतिश्रयस्यान्तस्तावदास्ते यावत्सेन  
 गात्रेण तन् तैसात्कप्रकृत्य परिपीत भवति । ततो गोमया-  
 दिना तस्याङ्गनेन कृत्वा यतनया यथा प्राणिनां प्लावनन भव-  
 ति तथा धावन कार्यम् ।

जह कारण तद्विममं, तु कर्पणं नह जयेज्ज इयंरं पि ।  
 आयपरियावाहि वसभे-र्हिं पुष्पिअ वेज्ज संदेसो ॥  
 यथा कारणं तद्विमसानीतं प्रकृत्य कल्पते, न धेनरदपि परिव्रा-

सितं झक्तुं कारणे कल्पते । कथमिति चेत् ? अत आह—आम्ब-  
येस्य कोऽपि स्याद्विद्वत्प्रवृत्तते लुप्तमैः वैषः पृषोक्तविधिना  
प्रष्टव्यः, तेन च संदेश उपदेशो वृत्तो भवेत्, यथा—शतपा-  
कादीनि तैलानि यदि भवन्ति ततः श्लिक्तस्ता कियते ।

ततः किं कर्तव्यम् ? इत्याह—

सयपाग महस्सं वा, सयमाहस्सं व इंसमरुतेञ्च ।

वृत्ता उ र्णीय असर्दे, परिवामिजा जयं धीरे ॥

शतपाकं नाम तैलं तद्बुद्धये-यदीयधानां शतेन पच्यते । यद्वा-  
एकनाप्यौषधेन शतवार एकं परिवारस्येत् । एष सहस्रपाक  
शतसहस्रपाकं च मतव्यम् । इंसपाकं तागइंसन औषधस-  
मागम्भूतंनयं यदेतसैलं पच्यते । मरुतलं मरुदो पर्वतादुत्पद्यते ।  
एषांयधानि दुर्लभमिदध्यानि प्रथमं तद्वैषसिक्ता नि मागंणीया-  
नि, अथ दिने दिने न लभ्यन्ते ततः पच्यकरिहायया चतु-  
सुष्टुप्राप्तौ दुरादप्यात्तय धीरां गीतायो यतनया अत्यसामारि-  
के स्थाने अय्यं चोरेण वेष्टयित्वा परिवारस्येत् ।

इदमेव सुव्यकत्माह—

एपाणि मक्खवाट्टा, पाणट्टा पदिग्धिं ण लंभेजा ।

पणहाणीए जइत्तं, चउगुरु पत्तो अरोमोत्तं ॥

पतानि शतपाकादीनि झक्तुं यानाथै वा प्रतिदिने यदि न  
लभ्यन्ते ततः पञ्चकारिहागया यतित्वा चतुसुष्टुकं, यदा प्राप्तो  
भवति तदा परिवारस्येकप्यदरां न प्रायश्चित्तमाकं कृ० ख० उ०।  
स्व०० "मेने परा कायं तेल्लेण वा घण्ण वा यसाय वा मक्खेज्ज वा  
अभ्रभंगेज्ज वा णां तं सान्निए खां तं णियमे" आच० २  
अ० १३ अ० । "जे भिक्खुं अंगदासुं तेल्लेण वा घण्ण वा ण-  
धणाएण वा यसाय वा अभ्रभंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा अभ्रभंगं  
वा मंळंनं वा साइज्ज" नि० चू० १ उ० । ( 'अंगदाणं'  
शब्दोऽस्मिन्नेव भागं ३० पृष्ठे इत्यस्यातमेतत् ) अभ्रभंगण  
विहापरिमाण करं "उपा० १ अ० । ( 'आसुं' शब्दे द्वितीय-  
भागं १०९ पृष्ठे दर्शयिष्यते स्वयम् )

अभ्रभंगिगुल्लय-अच्यङ्कित-त्रि० । स्नेहाभ्यकशरीरे, वृ० १ उ०।  
पि० । आ० म० । ओघ० ।

अभ्रभंगि ( गे ) ता-अच्यङ्कित-अच्य० । तैलादिना अच्यङ्क  
कृत्येभ्यर्थे, ष्ठा० ३ उ० । १ उ० । आचान् ।

अभ्रभंगिय-अच्यङ्कित-त्रि० । स्नेहत मर्दितं, पि० ।

अभ्रभं ( भिं ) तर-अच्यङ्कित-त्रि० । पुत्रकलत्रादिवत्  
प्रत्यासन्नं, स्था० ८ उ० ।

आभ्रभन्तर-त्रि० । अभ्रभन्तरे भवमाभ्रभन्तरम् । मध्यस्थे, स्था०  
२ उ० । १ उ० । पि० । विपा० । ज्ञा० । अभ्रभन्तरभागवर्तिनि,  
रा० । जी० । "सत्रभ्रभन्तराण्तरं मंजलं जयसंकिम्पता चारं  
चरदं" जं० ७ वक्त्त० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरओसचित्तकम्प-अच्यङ्कित-त्रि० । मध्ये  
चित्रकमेरुमणयो, कर्म० २ कर्म० । कल्प० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरकरण-अच्यङ्कितकरण-न० । भावसंप्रसह-  
भेद, अ० । नञ्-अभ्रभन्तरकरणं नाम ह्रस्वः । साध्वोर्गण्डमेढ्रीभूत-  
योरभ्रभन्तरे कुलादिकार्यनिमित्तं परस्परमुष्णपतोस्तृतीयस्या-

पशुश्रुगोर्बहिःकरणे, अथवाऽपवृष्टिः सन्नभ्रभन्तरे गत्वा तद् ग-  
च्छादितप्रयोजनं भवेत्, एतदभ्रभन्तरकरणम् । यदि वा तेन सह  
ये बाह्यभावं मध्यन्ते तानपि तथाऽनुवृत्तसंयति यथा तं तेजस्विन-  
मभिमम्यन्ते, एतदभ्रभन्तरकरणम् ( अ० ) ।

पृष्ण जहा गुरूणं, अभ्रभंतर दोएहमुष्णवंतारणं ।

तयं कुण्ठी बह्दिद्या, वेद गुरूणं च तं पिच्छे ॥

पूजनं यथाक्रमं गुरूणामभ्रभन्तरकरणं यद्भ्रभन्तरे ह्रयोऽरुष्णपतो-  
स्तृतीयमुष्णभूयं बहिः करोति, यदि वा तद् गच्छादितप्रयोजनं  
पृष्ठः सन्नभ्रभन्तरे गत्वा गुरूणां श्लेते कथयति । अ० ३ उ० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरत-आच्यङ्कित-त्रि० । आसन्नमन्त्रिप्रभृती,  
विपा० १ भू० ३ अ० । स्था० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरग्राणिज्ज-अच्यङ्कितस्यानीय-पुं० । आ-  
भ्रभन्तरनामसु प्रेष्यवुपेयुः, "अभिभतरग्राणिज्जं वुरिसे सहा-  
वेह" ज्ञा० १३ अ० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरतव-अच्यङ्कितरत्पस्-न० । अभ्रभन्तरमन्-  
रस्यैव शरीरस्य तापनात्मस्य गृह्णिरेव तत्पत्तया प्रतीयमान-  
स्याच्च, नञ् तत्पञ्चोनि अच्यङ्कितरत्पः । औ० । शौकिरैरनविज्ञ-  
ह्यस्याच्च तन्प्रान्तराथैश्च परमार्थतोऽनासेव्यमानस्यात् मो-  
क्षुप्राप्यन्तररङ्गवात्तच्यङ्कितरत्पः । स्था० ६ उ० । १ उ० । १०  
व० । पञ्जा० । ग० । म० । उ० । अभ्रभन्तरस्यैव शरीरस्य  
कामेशुभ्रक्षणस्य तापकत्वाद् अच्यङ्कितरत्पः । प्रश्न० ५ सत्पत्र० ज्ञा० ।  
प्रायश्चित्तादीं तयोर्भेदे, औ० । "प्रायश्चित्तं ध्यानं, वैयानुषं  
विनयमध्यातसौ" । स्वाध्याय इति तपः षट्-प्रकारमाभ्रभन्तरे  
नवति ॥ १ ॥ ४० १ अचि० । ग० । उ० । "कुड्विहे अभ्रभं-  
तरिए तये पणसे । तं जहा-पायचित्तं विगुओ वेयायथं स-  
उक्काओ भाणं वि उस्सग्गा" स्था० ६ उ० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरतो-अच्यङ्कितरत्पस्-अच्य० । सत्पत्रयर्थे त-  
सिद्धे । अभ्रभन्तरे मध्ये इत्यर्थे, "सत्पत्रहं पयमीणं, अभ्रभन्तर-  
तो च कोकिकोडीए" । आ० म० प्र० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरदेवसिय-अच्यङ्कितरदेवभिक-ग० । दिव-  
साभ्रभन्तरसम्भवेऽनिकारं, "अस्तुत्तिओमि अभ्रभं-तरदेवसियं  
वा खामेत्तं" इति । घ० २ अचि० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरपरिस-अच्यङ्कितरपरिषत्-पुं० । स्त्री० । य-  
स्यमनाकलीस्थानीयायां परममित्रसहचर्यां समित्यपरनिमि-  
कायां देवेन्द्राणां पथेदि, रा० । स्था० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरपाणीय-अच्यङ्कितरपाणीय-वि० । अभ्रभन्तरे  
पानीयं यस्य स तथा । मध्यस्थजलयुक्तं चौरपहत्यादायर्थं,  
ज्ञा० १८ अ० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरपुष्करक-अच्यङ्कितपुष्करादि-न० । मा-  
नुषोत्तरपर्वतादीर्वाग्भवे पुष्करवद्भोगस्थार्थं, जी० ३ प्रति० । सु०  
प्र० । ( नामनिर्गमन्यादि 'पुष्करवर्दीव' शब्दे इत्यस्यास्यते )

अभ्रभं ( भिं ) तरपुष्कफल-अच्यङ्कितरपुष्कफला-त्रि० । अ-  
भ्रभन्तराणि अभ्रभन्तरभागवर्तिनि पुष्पाणि च फलानि च पु-  
ष्पफलानि येषाम् । पञ्चाक्षरत्वाद् बहिरदस्यपुष्पफलके वृत्तं, रा० ।

अभ्रभं ( भिं ) तरबाहिरिय-अच्यङ्कितबाहिरिक-त्रि० । सहा-

## अभ्यन्तरवाहिरय

पयस्त्रेण नगरमध्यभागेन बाहिरिका नगरबहिर्भागे यत्र त-  
सथा । नगरमध्ये बाहिरिकाया विद्यमानत्वे, दशा० १० अ० ।

अवजं ( विजं ) तरय- अत्रयन्तरक-पुं० । राजानमतिप्रत्या-  
सञ्जीभूयाचलगतं, द्य० १ ७० ।

अवभं ( विजं ) तरहृत्-अत्रयन्तरलधि-स्त्री० । अत्रयन्त-  
राधेः प्राप्ती, तथास्योक्तं 'सूर्णी'- तथ्य अवभंतरलक्ष्मी नाम  
जयस्य त्रियस्स भ्राह्मिणाणं समुपपद्यं ततो ढाणाश्चा शार-  
रञ्च सा भ्राह्मिणाणी निरंतरसंबद्धं संखेज्ज वा असंखेज्ज  
वा खिल्लश्चा भ्राह्मिणा जाणं पालस्य एस्स अभिन्तरलक्षि ति "   
विशे० । "अभिन्तरलक्ष्मी सा, जयस्य पश्यन्पञ्च व्व सव्वसो । सं-  
खस्सोहिनाणं, अभिन्तरश्चाऽवहोनाणं" ॥७५३॥ विशे० ।

अवभं ( विजं ) तरसंबुक्ता-अत्रयन्तरशम्बुक्ता-स्त्री० । अव्यन्त-  
राद्धं मध्यजगात् शम्बुत्तगत्या जिह्मामस्य बहिर्निस्सरणे  
अवन्त्यां गोचरयुती, १० ३ अधि० । यस्यां क्षेत्रबाहर्भागाच्छ-  
म्बुत्तगत्याऽऽत्त क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽव्यन्तरशम्बुक्ता ।  
स्था० ६ ज्ञा० ।

अवभं ( विजं ) तरमगद्धुक्त्वा-अत्रयन्तरशकटोक्त्वा-स्त्री० ।  
अगद्धुत्तो मालयित्वा विस्तार्ये पाष्णीं तु बाह्यार्निस्तच्छयुत्सर्गं,  
एष भूमिःताऽव्यन्तरशकटोक्त्वादीय इति । कायोत्सर्गस्यो-  
क्त्वादीयनेद्, प्र० ५ द्वा० । आ० १ ।

अवन्नं ( विभं ) तरोहि-अत्रयन्तरावधि-पुं० । अवधिभेदे, अयं  
अत्रयन्तरावधिः प्रदीपप्रभापटलवद्भवतिमाना जयेन सद् सव-  
नां नैरन्येयं सम्बद्धोऽस्माद्धं देशरहितं एकस्वकोऽत एवा-  
यं स्वयच्छाविर्देशावधिश्चाद्येयं । विशे० ।

अवन्नं ( विन्नं ) तरिया-अत्रयन्तरिकी-स्त्री० । अव्यन्तरभाग-  
वर्तिन्यां ज्वलिकायाम्, ज्ञा० १ अ० ।

अवभक्वज्ज-अत्रयारुयात्तव्य-त्रि० । ( अव्यारुपानाद्ये, )  
अव्यारुपानं नामाऽसदभियोगः, यथा चौरं चौरमित्याह । आचा०  
१ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अवभक्खण-देशी-अकौर्ती, दे० ना० १ रगं ।

अवभक्खण-अत्रयारुपान-न० । आभिमुख्येन आरुपानं दो-  
षाधिकरुपान्त्रयारुपानम् । ज० ५ द्वा० ६ उ० । श्रौ० प्रक-  
टमसदावारोपणे, प्रज्ञा० २२ पदं । प्रअ० । आव० । अस-  
दुत्तारुपानियाने, प्रअ० २ आश्र० ७० । अभियस्यन्ते, असद्व्या-  
रोपणे च । आव० ५ अ० । परस्याभिसुक्तं दुबलवचने, प्रअ० २  
आश्र० ७० । प्रव० । असदभियोगे, यथा चौरं चौरमित्याह ।  
आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । श्रौ० । सु० । " एगं अव्यन्-  
रक्षाणं " स्था० १ ज्ञा० १ उ० ।

अधिकरक्षाधिकमवमरत्ताधिकोऽत्रयारुपान-  
दोषाधिकरत्ताधिकमवमरत्ताधिकोऽत्रयारुपान-

दो साहम्पिया एगतो विहरति, तर्हि एगो तथ्य असायं  
आकचद्वाणं पकिसेवीचा अस्सोऽज्जा-अहं एं भंते !  
अमुणं साहुणा सकिं इमियम्म कारणम्म मेहुणप-  
किसेवी । पव्वयट्टेवं च सयं पकिसेवियं ज्ञाणुति । तथ्य  
पुच्छियव्वे-किं पकिसेवी ?, अपकिसेवी ? । से य वण्ण-

पकिसेवी परिहारपत्ते । ने य वण्णज्जा-णो पकिसेवी, णो  
परिहारपत्ते । जे से पमाणं वदति से य पमाणउ घेतव्वं  
मिया । से किमाहु भंते !, सच्चपड्ढा ववहारा ॥ २३ ॥

द्वी साधर्मिकौ सांभोगिकौ, एकत एकन संघाटकेन विहरतः, तत्र  
तयोर्द्वयोर्मध्ये एक इतरसाध्याख्यासप्रदानानिमित्तमयत्तरद्  
'अवियस्यं' अव्युपगच्छति, न परस्वैव क्वचस्यभ्याख्यानां  
द्वानि, तत आह- (पचय्येद उ चेत्वादि ) परेषामाचार्याणां-  
मन्येषां च साधुनामैव सवर्दानं, अन्यथा को नामान्तरं प्रति सं-  
वितमभियन्वत इति प्रत्ययां विश्वासः स्यादिति देताः स्वयमपि  
च प्रतिसेवितमिति भगति । एवमुक्त्वा यस्याभ्याख्यानमदायि  
स प्रव्यथा-किं वा प्रवान् प्रतिसेवी, न वा ? । तत्र यदि स  
वदेत्-प्रतिसेवी, ततः स परिहारपत्राभाक् क्रियते, उपलक्ष-  
णमेतव । छुद्वदिप्रार्थित्तभागप क्रियते इति द्रष्टव्यः । अथ स  
वदेत्-नाह प्रतिसेवीः तर्हि परिहारः प्राप्नः स्यात् । न परिहार-  
तः प्रभृति प्रायश्चित्तभाक् क्रियते इति भयः । स च प्रतिसेवी  
वा यद्द्वयार्थान्वदाताः " से " तस्य प्रतिसेवनायं प्रमाणं चर-  
कादि वक्तिः तस्मात्प्रमाणानु शृतिन्यां निश्चिन्त्यः सः । अथ किं  
कस्मात्कारणान्देनमाहृदयन्तः ? इ जदन्तः ! स्मिं राह-सत्यप्रति-  
ज्ञय्यवद्दारास्मीधकैर्देहितास्तेन न यथाकथंश्च प्रतिसे-  
वि अतिसेवी वा क्रियते । एव स्वाकृतायः ।

अधुना विभुक्तिभाष्योक्ततरः । तत्र भिक्त्वाचार्याव्यारुपान-  
गमनां वहरादिषु यो रत्नाधिकरतः कुनश्चिदोपादयमानः जातः  
स तमवधिरुपानोक्तः शैः कारणैरव्यारुपानेन कृष्यति तानि  
प्रतिपाद्यविषुगह-

रयाणुट्टिययायणं, खलियामिन्नियपेष्णणार्पं उदणं ।

देव उल्ल मेहुणम्मिय य, अवभक्खणं कुर्मेगम्म ॥

रत्नाधिकवानेन रत्नाधिकोऽइति गयेण अव्यारुपानाधिकं द-  
शावधचक्रवाहसामाचार्यामरक्षितमपि कषयाद्येन तर्जय-  
ति । यथा-हे छुट ! देत ! स्खलितोऽस्मीति । तथा पर्यायिकी  
प्रतिज्ञस्य प्रथममेव परावर्तयन्ते, यदि वा अभिमतपदं पदेन  
विच्छिन्नं स्वमुच्चारयन्ते हा छुट ! शैक ! मिहितमुच्चारय-  
स्तीति नयेयति । तथा (पेल्लण वि ) अन्यैः साधुभिर्व्येमा-  
णोऽपि कषयाद्येन स्वहस्तेन प्रेरयति तर्जयति । ततः सां-  
व्यारुपानाधिकः कषायिनः सन् विन्ययानि-परं रत्नाधिक-  
वानेनेत्यं बहुजनसमूहं तर्जयति, अथैव सामाचार्यो, रत्ना-  
धिकस्य स्वैर् अन्वयमिति, ततस्त्वा कर्णमि यथंयं मम  
सुघुको भवति । एव चिन्तयित्वा तौ त्रायपि भिक्त्वाचार्यायै ग-  
तौ, तत्र च तृपितौ बुद्धुत्तानि चेत्येवं चिन्तयन्ती-आस्मिन्प्राया-  
देवकुले बुद्धुत्तानि यथा प्रथमाभिराकां हत्वा पानोयं पारुयाम हानि,  
एव चिन्तयित्वा तौ तदभिसुक्तं प्रस्थितौ, अत्रान्तरं अव्यारुपान-  
धिकः परिप्राजिकामेकां तदभिसुक्तं गच्छन्तीं इच्छा स्थितः,  
उपलभ्य एष इदानीमिति चिन्तयित्वा न रत्नाधिकं वदति-अ-  
हो ! अथ ज्येष्ठयैः कुरु त्वं प्रथमाभिराकां, पानोयं वा पिब, अहं  
पुनः संहां व्युत्सृज्यामि, एवमुक्त्वा त्वारितं मेपुनं अव्यारुपानं  
दातुं वसतावातत्वात्तच्छयति ।

तथा दशयति-

नेह्दुऽज्जेण अकज्जं, सज्जे अजाधरे कयं अज्जं ।

उव्वज्जाविनोऽज्ज नंते !, मप वि संसङ्कक्यो व्व ॥

ज्येष्ठार्येण सद्य इदानीमार्येण ह्येतमकार्यं मैत्रुनाजिसे-  
षाङ्गकृतं, ततो अन्तः । तत्संस्मृतौ मयाऽपि संसृष्टकृत्यो मै-  
त्रुमनसितेया, अत्रास्मिन्प्रस्तावे उपजीवितः ॥

अइवा उच्चारगतो, कुर्णगार्हाङ्कित्वादेसमि ।

वेती कयं अकर्मं, जेड्ज्जं सह एष वि ॥

अथवेत्यभ्याक्यानस्य प्रकारान्तरप्रदर्शने । कुर्णह्रादी कवित्वये-  
शे महानप्रदेशे उच्चारणय वनस्तत्र च ज्येष्ठार्येण सह मयापि कु-  
तमकार्यमिति । तस्माद् व्रतानि मम सास्त्रप्रभारापयत ।  
पद्यमुक्तं सुरिनिः स एव वक्तव्यः—

तस्मागते वयार्ई, दाहामो देति वाऽऽउरतस्स ।

ज्युत्ये पुण नाए, कालियनिमित्तं न मूले ढु ॥

योऽसौ त्वया अत्र्याक्यातः स यदा आगतो भविष्यति तदा  
तस्मिन्नागते व्रतानि दास्यामः । अथ स स्वप्राणो भूत-भग-  
वन् । कुशाग्रस्थितवाताहतजलविन्दुरिवातिवज्रसं जीवितमि-  
ति न शक्यते क्षणमात्रमप्यनतेन भ्रातुषु, इत्यनुवैद्यमराराज्यतां  
व्रतार्थानिति । तस्यैव स्वरमाणस्य इदं व्रतानि, याज्ञवल्क्यो  
धिकट्टपायः । तत्र पुनर्देतायां गवेषणीयः, किमयं सत्यं भूत,  
उनात्राकम ? तत्र यथा ज्ञतायां गवेषणीयस्तथाऽनन्तरमेव व-  
क्तव्यं । ज्ञतार्थं च ज्ञानं इति सत्यं, तथा ह्येवार्थं सूत्रं दीयते ।  
अध्यात्मिकम, ततो योऽन्याक्यातः स मूकः, इतरस्य स्वभ्या-  
क्यातुमुत्रं न दीयते, किन्तुश्लोकानिमित्तं स्यावावृत्त्यर्थं अतु-  
मुक्तं प्रायश्चित्तमिति ।

सम्प्रति यथा ज्ञतायां ज्ञायते तथा प्रतिपिपाद्य-  
विषुष्टांगगाधामाह—

चरियापुच्छणोपमाण, कावाज्ञिय तवसंघो य जं जगुइ ।

चउजंय निरिक्खता देव्याय तहियं विट्ठी एसां ॥

तत्र ज्ञतार्थं ज्ञानमेव एष विधिः—चरिका पात्राजिकता, तस्याः  
प्रच्छन्नाय वृथभासो प्रेषणं स चेत्सत्यवादी न मग्यते तनस्तौ  
ऽावपि पृथगाभये प्रदय तत्र वृथभाः तत्तत्स्वरूपगोपयेणाय का-  
पात्रिकरूपेण प्रेष्यन्ते । कापात्रिकप्रदणमुपसङ्गणय, तेन सरज-  
कादिरूपेणापीत्यपि द्रष्टव्यम् । एवमपि ज्ञतार्थानिषेधे ( तयो  
श्च ) तथाः स्वकार्योत्सर्गेण देवतामाकल्प्य पृच्छति । एतस्यापि  
प्रकारस्थानाये संघो मेलन्यावा प्रच्छनीयः, तेन च निरीक्षणो  
निरीक्षणमधिकृत्य अनुभङ्गी—कथितथाज्ञतं तथाज्ञानेन पश्य-  
न्तीत्यादिकथा पश्यन्त्याणा प्रकल्पते । गाथायां पुंसर्वं प्राकृतया-  
त् । सा च अनुभङ्गी नद्रप्रान्तदेवता आभिनय संभवति । एष  
एतस्यावासासंज्ञायाः ।

सास्त्रनमेनामेध गाथां विवरिपुराह—

आज्ञोऽयमि तउणो, कज्जे मे सीसए तयं सव्वं ।

पदिसिक्खिमि य इयरो, भणोइ वीयं पि ने नात्ये ॥

अभ्याक्यातः साधुरागतः सद् आलोचयति—प्रथमार्हाङ्कं या-  
धमन ज्ञानानि द्वितीयः संघाटकः कापि गत इति कवसोऽहमा-  
गतोऽस्मि । तत आचार्यां भूयते—सम्यगालोचय । ततः स स्मृ-  
त्वा आलोचयति, यावत्सम्मिप्रापि मृतीयं वारे तदास्त्रोचितम् ।  
नतस्मिगुणं ( अःकृत्य आलोचितं यदि न प्रतिस्वितमित्या होचय-  
ति, ततो येन कारणेन त्रिंश वाराङ्क आलोचायितस्तत्कार्यं कारणं  
सर्वं तस्य विषयत कथ्यते, यथा-स एष तव संघाटकस्यथा सह

किञ्चिन्नात्रं हि विरुन्वा समागतो भूते-ज्येष्ठार्येण आर्याय गृहे वृत्त-  
विषये च कविप्रदेशे इतप्रकाशयं, तत्संस्मृतौ मयाऽपि सं-  
सृष्टकृत्य उपजीवित इति । ततोऽभ्याक्यातसाधुर्चदिति-  
न मया प्रतिस्वितम् । एवं तेन प्रतिस्वितं प्रतिस्वयेन इतरोऽभ्या-  
क्यानप्रवृत्ता भवति—अहो ! ज्येष्ठार्य ! त्वं द्वितीयमपि मत्तं  
नास्ति, आस्तां चतुर्थमित्यपिपद्यार्थः ।

दोएइ पि अणुमुच्छं, चरिया वसहे पुच्छणपमाण ।

अभन्य वसह तुव्भे, जा कुणिमां देव उस्समं ॥

एवं ह्योरपि विषयक्षेत्रेवमुच्यते—चरिका पृच्छन्तार्थं यस्त  
वदथति तत्प्रमाणयिष्यते । पद्यमुक्ते यदि तौ ह्याक्यपुत्रमन्यते,  
ततो ह्योरनुमतेन, संमत्या इत्यर्थः । वृथभाङ्गरिकं प्रदुं प्रेष्य-  
न्ते, ते च तत्र गताः प्रथमनाङ्गरिकां प्रह्लापयति, प्रह्लाप्य पुच्छ-  
न्ति—किमत्र सत्यम्, अस्मीकं वा ? एवं वृथभाङ्गरिका पृष्टा सती  
यद् भूते तत्प्रमाणं कथयन्ति । तत्र अरिक्खताकम्-भगवन् ! अभ्य-  
क्यानं तेन द्वितीयं तस्यै इत्थमिति । एतन्नोक्तं वृथभा वस-  
ताथागत्य गुरवं निवेद्यति । यथावस्थितं निवेद्यति यद्यन्य-  
तरो वदति—यद्यथि चरिका न सम्यक्प्रथयति । तदा गुरवो  
ह्यापि भवते युयमन्यत्र वसति याचयित्वा तत्र वसथ, या-  
वद्य रात्रौ देवताराधनाय कार्यात्सर्गं कुर्मः । किमुक्तं प्रव-  
ति ?—कार्यात्सर्गेण देवतामाकल्प्य पृच्छामः—कोऽत्र सत्य-  
वादी, को वाऽस्मीकवादी ? इति ।

पद्यमुक्तं तौ ह्यापि वसत्यन्तरे गते यद्

भवति तदभिधित्तुराह—

आट्टिगमादो वसभा, पुच्छिं पच्छा वज्जति निमि सुण्णा ।

आवस्सग आउट्टण, सवभावे वा अस्सवभावे ॥

अस्थिकाः कापालिकाः, आदिशस्त्रास्त्रजस्त्रादिपरिग्रहः, त-  
द्वाः मन्तः । किमुक्तं जवति ?—कापालिकं वंशं सरजकवेषं  
कृत्वा यस्यां वसती ह्यापि जनीं तिष्ठन्तत्र पूर्वं वृथभा गच्छ-  
न्ति । यदि वा तयोर्गतेयोः पश्चात्तत्र च गन्वा रात्रौ मातृस्थान  
सुप्ता इव तिष्ठन्ति, तथापि तयोः परस्परमुल्लाषं शूरवन्ति ।  
तयोऽभ्यावश्यं कर्तुंमाययोगोऽसाववमरजाधिकोऽभ्याक्यान-  
दातः, स इतरं प्रति मिथ्यादुच्छ्रितानोपस्थित एतद्वदति—त्वं मया  
असता अभ्याक्यानेनाभ्याक्यातोऽनेन मिथ्यादुच्छ्रितमिति ।  
ततो रत्याधिको द्वेन—किं नाम तवोपसर्गं मया, यनासदाऽन्या-  
क्यानं मे दत्तमिति ? । अथमरनाधिको भावते—त्वं नित्य-  
मेव यत्र तत्र वा कार्यं सत्यम् प्रवक्ष्यमानमपि हे छुट् ! शैल-  
कः इति तज्जयसि, तेन मया त्वमसत्त्वभ्याक्यानेनान्याक्यातः ।  
एवमावश्यकं आवश्यकतेलायाभावत्वेन भावप्रत्याख्येण अ-  
स्मीकभ्याक्यानं सद्भायो ज्ञायते । अथ न परस्परसंभाषणतः  
सद्भावो ज्ञायते, तदा सद्भावपरिभाषाभावे तपस्वो प्रष्टव्य  
इति शेषः ।

तथाचाऽऽह—

सदो त्तिं मे ज्ञासमि निचचयेव,

वहूण मउक्कमि म त्थो कहेमि ।

अभासमाणाए परोप्परं वा,

देवाण—मुस्समं तवस्सि कुज्जा ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव यद् हे शत्रो ! वीक्षक ! इति मां भाष-  
से, तेन त्वमसताऽभ्याक्यानेनाभ्याक्यातः । अथ स रत्नाधिक-

अभ्रमन्त्राण्य

हस्तमधमरत्नाधिकं श्रुत्वा—यदि मया कदापि युवत्या सह कृत-  
 मकार्यं ततः किं स्वया बहुना मध्ये अहमेवमनुष्ठाक्यातः—अनेन  
 कृता प्रतिसेवनेति । किन्त्वहमेवैकान्ते वक्तव्यो भवामि । यथा  
 ङ्गु कृतमालोचनानं युष्ठाणु शुक्लामनितक इति । मम रंशेण स्वयाः  
 पदावता । एतन्मिमांसा ।  
 “ आहस्वग आउद्गुण, सभावेयं ” इति व्याख्यातम् । इदा-  
 नीमसद्भावे इति व्याख्यानयति—“ अभासमाणाण परापरं  
 वा ” इति । अथ कदाचिस्त्री रोपतः परस्परं न संलपतः, तदा  
 तयोः परस्परमभासमाणयोर्भूताद्यैरिहानानात्रावे तपस्वी रूपको  
 वधताप्यानाथ कायोत्सवी कुर्वीत । कायोत्सवेण च देवतामाक-  
 ष्य च्छति—कोऽनयोर्द्वयोर्मध्ये सत्यग्वार्या, का वा मिथ्या-  
 वार्तिता ? । तत्र यद्वेचता श्ले तत्प्रमाणम् । तेन तप इति द्वारं  
 व्याख्यातम् ।

अधुना सङ्गहार्थं व्याखियासुरिद्विद्मह—

किंचि तद्वाऽतद्द दीसद्, चउभगे पंत देवया जदा ।  
 असीकरेइ मूलं, इयरे सख्यपतिष्ठाआं ॥

सर्वप्रकारेणाहायमानं भूतोयं संघसमवायं कृत्वा तस्मै आये-  
 षते—रत्नाधिकां वदति नाहं कृतवाग्प्रतिसेवनायः । इतरां श्ले  
 द्वावपि प्रतिसेवितवन्ताविति, तत्र किं कसेव्यमिति ? । एवमा-  
 दिना कृते ये संघमध्ये गोतापोस्ते वदन्ति—किञ्चित्थाभावं तथा  
 भावेन दृश्यते; किञ्चित्थाभासमन्वथाभावेनः किञ्चिद्व्यथाभा-  
 वं तथाभास्यै; किञ्चिद्व्यथाभासमन्वथाभावेनः एवा चतुर्भङ्गः ।  
 अस्यां चतुर्भङ्गायं प्रथमो भङ्गः प्रतीतः । द्वितीयभङ्गभावना त्व-  
 वध—कोऽपि क्वापि वनप्रदेशे गच्छति । तत्र केचिद्विरासुकाः अ-  
 पगतकृमा अस्मिन्प्रदृष्टता वलगन्ति । ततः कदाचिद्वेचता भि-  
 क्तस्वामिनिदृश्यते पुरुष इति तं दूरात्प्रतिवं दशयति । लुनीच-  
 भङ्गः—अगवतो वक्ष्यमानस्वामिनः सागारिकमकवायिते सङ्-  
 ग्रहः कथायितं दशयति । चतुर्थभङ्गः—कस्याञ्चिद्विद्विदासं  
 राज्ञा कारितराजनेपथ्ये विनश्यन्तं दृष्ट्वा कदाचिद्वेचता  
 तदनुकम्पया श्लिषं दशयति । एवं प्रान्ता भङ्गा च देवता  
 अन्वथाभूतं यद्वस्तु अन्वथा करोति—अन्वथा भूतं दशयति,  
 ततो दृष्ट्वापि तावदप्रमाणमत्र । ननु ज्ञायते—किमपि दृष्टमवम-  
 रत्नाधिकं, अथ च सत्यप्रतिज्ञां व्यवहारास्तीपेङ्गाङ्गरुपदिष्टा-  
 स्तस्माद्यद् रत्नाधिकां श्लेन न मया प्रतिसेवितमिति तत्र-  
 प्रागतः शुद्ध एव न प्रायश्चित्तभागिति । यदपि चावमरत्नाधि-  
 कां भिक्त—मया प्रतिसेवितमिति, तदपि प्रमाणमतस्तस्य मूलं  
 प्रायश्चित्तमिति । श्लो २. उ० ।

अञ्जकङ्कण—अञ्जकङ्कण—वि० । मेधावृत्ते, वृ० १ उ० ।

अञ्जकङ्कण—देशी—प्रसिद्धशब्दः । अनुवजने, “ अश्रमवंधिउ वे  
 पर्यहं, पेम्मु निश्रवऽ जायं । सव्यासण—रिच—संभव—हो, कर  
 परिश्रवा तावै ” । प्रा० । प्रेमशब्देन प्रिया वाच्यता, अनेदोप-  
 चासतः । यथा प्रेमयनाऽव्युत्थने, तथा प्रेमापीत्युच्यते । प्रिया  
 प्रियामिति शेषः । प्रियम्, ( अश्रमवंधिउ इति ) अनुवज्य  
 मुक्तालाव्य यावद् द्वौ पादौ निवर्तते तावत् सर्वोशनरिपु-  
 संसवस्य चन्द्रस्य कनाः किण्ठाः परिवृताः, प्रसूता इत्यर्थः ।  
 सर्वमश्रीनीति ‘नन्द्यादि०’ ॥ ५ । ॥ ५२ ॥ इत्यनः प्रत्ययः ।  
 सर्वशानोऽभिः, तस्य रिपुऽश्ले, तसंभवशब्दः । अनुवजने रते  
 ‘अश्रमः’ इति ‘बंध कस्याप्र०’ बंधयने लोकात् ‘स्वराणां०’  
 ॥ ७ । ॥ २३६ ॥ अश्रमवंधिउ ॥ दु० ५ पाद ॥

अञ्जणुष्ठा—अन्यनुष्ठा—खी० । कसेव्यानुमतिदाने, स्या० ।

अथात्र अगवतो महावीरस्याऽन्यनुष्ठातानि प्रवक्ष्यन्ते—

पंच ठाणाईं समणेणं भगवया महावीरेणं समणार्णे नि-  
 भंयाणं णिबं वधिषयाईं शिबं किंचियाईं णिचं बुधयाईं  
 णिबं पत्तयाईं निचमभणुष्ठायाईं भवंति । तं जहा—खंतं ।  
 पांचां अज्जेव मदेवं लायिंवे । पंच ठाणाईं समणार्णे० जाव  
 अन्भणुष्ठायाईं भवंति । तं जहा—सबे संजये तवे चियाए  
 वंभेचरवामे । पंच ठाणाईं समणार्णे० जाव अन्भणुष्ठायाईं  
 जवंति । तं जहा—उकिखचरए णिक्खिचरए अंतचरए  
 पंतचरए सुहचरए । पंच ठाणाईं० जाव अञ्जणुष्ठायाईं भवं-  
 ति । तं जहा—अजायचरए अज्जेवल्लचरए मोणचरए संमहक-  
 णिपे तज्जायमंमहकणिपे । पंच ठाणाईं० जाव अन्भणुष्ठायाईं  
 जवंति । तं जहा—उवनिहिए सुदेसणिपे संस्वादत्तिपे दिट्ठसा-  
 भिए पुट्ठाभिए । पंच ठाणाईं० जाव अञ्जणुष्ठायाईं ज-  
 वंति । तं जहा—आयंविन्नए निव्विए पुरिमहिपे परिमिय-  
 पिंरुवाइए जिअपिंरुवाइए । पंच ठाणाईं० जाव अन्भणुष्ठा-  
 याईं जवंति । तं जहा—अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे  
 पंताहारे बुधाहारे । पंच ठाणाईं० जाव भवंति । तं जहा—  
 अरसजीवी विरसजीवी अंतजीवी पंतजीवी सहजीवी । पंच  
 ठाणाईं० जाव भवंति । तं जहा—ठाणाइए उक्कुमुआमणिपे  
 पदिमट्ठाइवीरामणिपे ऐसजिए । पंच ठाणाईं० जाव ज-  
 वंति । तं जहा—दंडावए लंगदसाईं आयावए अवाउडए  
 अकंकेयए ॥

नित्यं सदा वर्णितानि फलनः कीर्तितानि संश्रुतानि, ना-  
 मतः ( बुद्ध्याइ ति ) व्यक्तावाक्कानि, स्वरूपतः प्रशान्तानि  
 प्रशान्तानि स्थापितानि, शंशु स्तुतानि वचनात् । अत्यनु-  
 क्तानि कर्तव्यतया अनुमतानि भवन्ति । अथ च सुश्रावणैः  
 प्रतिस्वये धैर्यावृत्त्यै च यावत् दृश्यते इति । स्या० ५. उ० ।  
 ( स्तान्वादीनां व्याख्या स्वस्थाने वक्ष्यते )

अस्तयाऽन्यथाख्यानं कुर्वतः क्रिया—

जे णं जेतै ! परं अक्षिणं अमन्नुएणं अम्भकवाणेणं  
 अञ्जकवाइ, तस्य णं कट्ठप्पगारा कम्मा कज्जातिं ! गोयमा !  
 जे णं परं अक्षिणं अमन्तएणं अम्भकवाणेणं अञ्जकवाइ,  
 तस्य णं तहप्पगारा चं व कम्मा कज्जातिं, जत्थेव णं अग्नि-  
 म्मागच्छइ तन्थेव णं पदिमंवेदइ । तस्से पे च्छा वेदइ  
 सेवं जेतै ! भंते ! चि !

अश्रीकेन जूतनिह्वरूपेण पाणितप्रह्वरूपस्य साविषयेऽपि  
 नानेन ब्रह्मचर्यमनुपालितमित्यादिष्वेषु ( असंभूयणं ति )  
 अमूर्तोद्भवत्वेन अश्रीरेऽपि बौरोऽपि स्थापिता । अथवा  
 अश्रीकेन अस्त्येन तच्च द्रव्यतोऽपि भवति, बुधकादिना युगा-  
 दीन्वृषस्य ज्ञानतोऽपि नाहं ज्ञानमि द्यायि । अत आह—अस्-

अज्ञेन बुधमिसिन्धिष्व्वादेशोभनकपोषोरिषि चौराड्यमित्था-  
दिना ( अन्नप्रकाशेण नि ) आग्निमुच्येनाश्यान् देवायिष्कर-  
णमभ्रभास्यन्, तेन अभ्रभास्यति श्वेत् । ( कहेत्पगार स्ति )  
कथंप्रकाराणि ? किंप्रकाराणीत्यर्थः । ( तदल्पगार स्ति ) अभ्रभा-  
सयानफलाणीत्यर्थः । ( जन्थेव णमित्यादि ) यत्रैव मानुषवादा-  
यमिसमागच्छति तद्यत्पते तत्रैव प्रान्तसंबेदयभ्रभासयानफलं  
कर्म, ततः पश्चाद्द्वयति निश्चर्यतीत्यर्थः ॥ ज० ५ श्र० ७ उ० ।  
अभ्रभासुष्णाय-अन्यनुज्ञात-त्रि० । कतंभव्यतयाऽनुमते, स्या० ५  
ज० १ उ० ।

अभ्रभ्रत्य-अन्यस्त-त्रि० । अभ्रि-अस्-कः । पौनःपुन्यैतिकजा-  
नीयकियाकर्मणि पुनःपुनराश्रितेन . " शैशवेऽन्यस्तविद्यानां  
यौवने विद्यधौषणम् " । " उभे अज्यस्तम् " ॥ ६ । १ । ५ ॥ उ-  
कथयः कृत्वाऽन्ययोःकनयोः धातुभागायोः । " नाम्यस्ताच्-  
नुः " ॥ ७ । १ । ७० ॥ "अभ्रभ्रस्तस्य च" ॥ १ । १ । ३ ॥ वाच० ।  
शुणिते, विशे० । आ० म० । पं० च० ।

अन्नजन्तुणा-अन्यर्थाना-स्त्री० । परस्परप्रवर्तनार्थां 'त्वं ममेदं  
कार्यममुष्य वा कुरु' इत्येवं कृपायाम्, पश्चा० ११ विव० । " जह  
अनर्थश्च अत्र, कारणज्ञानं कर्तुं त्वां को वि । नथ वि इच्छा-  
कारेण, न कल्पे इ वज्ञाभिभोगांशे " ॥ १ ॥ आ० म० । इह० । (अभ्र-  
धृतायां मरुकदृष्टान्तः " इच्छकार " शब्दे द्वितीयाभागे ५७५  
पृष्ठे दर्शयिष्यते )

अभ्रभ्रपटल-अन्नपटल-न० । मेघवृन्दे, पृथिवीकायपरिणाम-  
निर्देशे च । ( अन्नक-तत्त्वकः ) । "अन्नपटलपिण्डमुज्जङ्गम्" ( उत्रे-  
ण ) अन्नपटलमिव मेघवृन्दमिव बुद्बुदव्यादाहेतुत्वात् अन्नप-  
टलं, पिण्डं च कपिशं सुवर्णकण्डिकाभिमित्तत्वात् उज्ज्वलं नि-  
मित्तं यत्तथा । अथवा अन्नप्रसृजक पृथिवीकायपरिणामविशेष-  
स्तपटलमिव पिण्डं चोऽज्यलं च तत्तथा । तेन । औ० । सूत्र० ।  
जि० । प्रहा० ।

अभ्रभ्रपिसाय-देश-राहो, दे० ना० १ वर्ग ।

अभ्रभ्रवायुया-अन्नवायुका-स्त्री० । अन्नपटलमिभ्रवायुकाकूपे क-  
रवाद्दर्पुथिवीकायते, प्रहा० १ पद । जि० । सूत्र० ।

अन्नरहिय-अन्ययहित-त्रि० । राजात्माद्यिषुषे गौरविके,  
( वृ० ) राजमान्यं, वृ० १ उ० । जि० चू० ।

अभ्रभ्रगार-अभ्रगार-पुं० । सायं सूर्यंकरयोगाद् मेघानां नात-  
वणं मेघं, प्रहा० १ उ० पद ।

अभ्रभ्ररत्न-अभ्रनुस-पुं० । अभ्ररत्नको घृष्टोऽन्नशुक्रः । म० ३  
श० ६ उ० । वृक्षाकारेण परिणतेऽन्ने, जी० ३ प्रति० । अत्रु० ।  
अभ्रभ्रदल्य-अन्नवादीक्षक-न० । अन्नरूपं वारो जलस्य दलकं  
कारणमन्नवादीक्षकम् । मेघे, म० १५ श० १ उ० । अन्ने आकाश-  
वर्षादीक्षकमन्नवादीक्षकम् । ननोगतमेघे, " अभ्रभ्रदलयादि वि-  
उज्ज्वह" आ० म० प्र० । अत्राग्नि मेघास्त्वैवादीक्षकम् । मेघैः कृते,  
स्या० ३ ज० ३ उ० । रा० ।

अन्नजसंभ्र-अन्नप्रणया-स्त्री० । सन्ध्याकाले बीजाद्यन्नपरिण-  
तो, जी० ३ प्रति० ।

अभ्रभ्रलंथक-अन्नसंसृत्त-न० । नैवेद्यकाराच्छादने, स्या० ४  
ज० ५ उ० ।

अन्नसप्त-अन्यसन-न० । अग्नि-अस्-त्युद् । अस्यास्ते, पौनः  
पुन्यैककियाकरणे पुनःपुनराश्रिते, वाच० । " अभ्रभ्रसनं ति  
वा गुणं ति वा परगा " इति० १ श्र० १ ।

अन्नसिय-अन्यस्य-अय० । अन्नयासिःकृत्येस्यर्थे, इत्या०  
६ अध्या० ।

अभ्रभ्रहिय-अन्यधिक-त्रि० । अत्यर्थे, प्रथ० ५ आश० इा० ।  
ज० । " अभ्रहियसोमभेरवपगारेण " । अन्यधिकं यथा भ-  
वत्येवं त्रीमभेरवोऽतिभो रश्मिकारो यस्य स तथा तेन  
( वन्द्वेन ) इा० १ श्र० । प्रहा० । " अभ्रहियं सोमिनु-  
मादत्ता " इा० म० प्र० । " अभ्रभ्रहियारयतेयलच्छीप-  
कवपे ३ इत्ये ।

अन्नद्वियतरग-अन्यधिकतम्क-त्रि० । विपुलतरे ( बिस्ती-  
र्णे, ) न० ।

अभ्रभाग्य-अन्ययागम-पुं० । आग्निमुच्येनागम्यतेऽन्न । अग्नि-  
आ-गम्-क-अप । युक्ते, कर्मणि अप् । अतिके, कर्तुरे अप् । विरो-  
धे, भावे अप् । अभ्युत्थानं, अभ्रिघाते च अभिमुखगमने, वाच० ।  
प्रा० । भासन्नवासं, ति० चू० १ श्र० १ ।

अभ्रभाग्यपि-अन्ययागमिक-पुं० । आगन्तुकेषु, सूत्र० १ श्र० २  
श्र० ३ उ० ।

अभ्रभाग्य-अन्ययागत-पुं० । अभ्रि-आ-गम्-कः । जिह्वाम्रांणे  
शूलं गतेऽतिथौ, वाच० । " तिथिव्योऽसवाः सर्वे, येन त्यक्ता  
महात्मना । अतिथिं ते विजानीया-ऽन्वभ्रमज्यागते विदुः " ॥ १ ॥  
इत्यनयोर्भेदोऽस्य । आत्मा० १ श्रु० २ श्रु० २ उ० ।

अन्नानागामि-अन्नवाकांशिक-न० । सहकारादेर्भूमाधोमा-  
गवर्तिनि प्रतिश्रये, वृ० २ उ० ।

अभ्रभा-अन्ययाम ( श् )-पुं० । अन्यसनमज्यासः । अशुक्-  
द्वयावित्यश्वानिपुंस्वय घञ् । कर्म० ५ कर्म० । हेवाके,  
स्या० ५ ज० ४ उ० । परिचये, वा० १ विव० । गुणने,  
अनु० । जावनायाम्, " अभ्रभास स्ति वा भावण स्ति वा " ( प-  
कार्थम् ) वृ० १ उ० । अथवासाधे हि सर्वकियासु सुखा-  
शलमुन्मीलति, अनुजर्वासु च दे लिखनपटनसंख्यानगा-  
ननुयादिसंकेलानिषङ्गानेषु सर्वेषाम् । उक्तमपि- " अभ्रभा-  
सेन कियाः सर्वाः, अत्रयासास्कक्षाः कक्षाः । अभ्रभासाऽऽत्मा-  
नमौनादि, किमन्यसस्य दुष्करम् ? " ॥ १ ॥ इत्यन्तरं विर-  
तिपरिणामाज्यासे च प्रत्यापि तदनुश्रुतिः स्यात् । यत उक्तम्-  
" अन्नं अभ्रभासाद् जायो, गुणं च दासं च पथं जन्ममिदम् । तं वा-  
वद् परलोपे, तेषु य अभ्रभासजापेणम् " । घ० २ अधि० । अन्नदृष्ट-  
नः-कश्चिन्नपदसद्दृजोतं न्यकमुत्किप्य गवातिकं नपस्यान-  
यति वा ततोऽत्याखनेनैव क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि घस्तमु-  
त्तिपन्नभासस्यथाद् द्विहायव त्रिहायणमप्युत्किप्येण सापु-  
प्यज्यासात् शनैः शनैः परीवहोपसंगमये विघ्न इति । स्र० १  
१ श्रु० ११ श्रु० । प्यानं, एकाग्रलम्बनेन मनःसंरथेयं च । विशे० ।

" तत्राज्यासः स्थितौ भ्रमः " तत्राज्यासः स्थितौ वृत्तरहित-  
स्य विस्तस्य स्वकृपनिष्ठ परिणामे भ्रमो यतः पुनःपुनस्तथा-  
त्वेन चेतसि निवेशनकृपः । तदाह- " तत्र स्थितौ यतःऽन्य-  
स इति । " स च चिरं चिरकालं नैरन्तरेणादरेण आश्रितो ह-  
दभूमिः स्थितो भवति । तदाह- " स तु द्वापैकालनैरन्तरेयस-  
त्कारसंश्रितो हदभूमिरिति " । इा० ११ श्र० ।

अभ्यास

शुकोऽप्यासः-

अप्यासोऽपि प्रायः, प्रचूतजनमानुगो जवति शुक्रः ।  
कुलयोग्यादीनामिह, तन्पुत्राधानयुक्तानाम् ॥ १३ ॥

( अभ्यासोऽपीत्यादि ) अभ्यासोऽपि परिचयोऽपि, प्रायो वा-  
द्वयने, प्रभूतजनमानुगोऽनेकजन्मानुगते, भवति जायते. शुद्धो  
निर्घोषः, कुलयोग्यादीनां गोत्रयोगविगतिकानां कुलयोगिप्र-  
कृतचक्रप्रभृतीनामिह प्रक्रमे, तासां शिष्यादीनां मुलाधानं मू-  
लस्थायनं बीजप्यासस्तत्पुक्तानाम् । कुलयोगिसङ्गं वेदम् - "य-  
योगिनां कुलं जाता-स्तद्वर्गमानुगतान्भवते । कुलयोगिन उच्यन्ते,  
गोत्रवर्णोऽपि नापरे" ॥ १ ॥ गोत्रयोगिनश्च - "सामान्येनोत्तमा  
जप्याः, सर्वशक्तिविशेषश्च ते । दयालवो विनीताश्च, बोधवन्तो जि-  
नेन्द्रियाः" ॥ १ ॥ इत्याद्याभिधानम् ॥ १३ ॥

कस्य पुनरयमभ्यासः शुको भवति ? इत्याह-

अविराधनया यतते, यस्तस्यायामिह सिद्धिमुपयाति ।  
गुरुविनयः धृतगर्भो, मूलं चास्या अपि हेयः ॥ १४ ॥

( अविराधनयेत्यादि ) विराधना अर्वाध्यासेन, तक्षिणेषाद्-  
विगधनया हेतुचूतया, यतते प्रयत्नं विधेयं, यः पुरुषस्तस्य  
प्रयतमानस्यायमभ्यासः, इह प्रस्तुते. सिद्धिमुपयाति सिद्धिभाग  
जवति । गुरुविनयः प्रागुक्तः, धृतगर्भे आगमगर्भो, मूलं च का-  
रण चास्या अर्वाध्याधनया. हेयो ज्ञातव्यः । पां० १२ वि० ॥

अथाऽप्यासजोः-

अग्ने जएति त्तिविदं, सययविसयनावजोगत्रो एवरं ।  
अग्नेमि अणुद्वारणं, जहृत्तरपदाणुरुचं तु ॥ १ ॥  
अग्ने च ए जचित्समं, एिच्छयएयजोगत्रो जओ विसए ।  
भावेण य परिद्वारिणं, धम्माणुद्वारणो किदृशु ॥ २ ॥  
ववद्वारओ ठ जुजद, नदा तहा अप्रुएबंभगार्सु ॥ इति ॥

पतदधो यथा-अग्ने आचार्यां भुचते-विधिषं त्रिप्रकारं सतत-  
विषयद्रावयोगतः, योगशुद्धस्य प्रत्येकमभिसंभवात् सतता-  
द्विपदानां सतताऽप्यासादीं लाक्षणिकत्वात्सतताऽप्यास-विषया-  
भ्यास-भावाऽप्यासयोगादित्यर्थः । नवरं केषलं धर्मोऽनुष्ठानं य-  
थास्तरं प्रधानरूपम्, तुरंभकाराद्यः । यदुत्तरं तदेव सततं प्राधान-  
मित्यर्थः । तत्र सतताऽप्यासो-नियमेव मातापितृविनयादिवृत्तिः ।  
विषयाभ्यासो-मोक्षमार्गनायकंऽहंशुक्रणं पौनःपुन्येन पूजना-  
दिप्रवृत्तिः । प्राथाभ्यासो-भाषाणां सम्यग्दर्शनादीनां भयोद्वेगन  
भूयोभूयः परिशीलनम् । घतश्च द्विविधमनुष्ठानं न युक्तिक्रमं ना-  
पर्पास्तसहं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयाप्रियायेण, यतो-माना-  
पित्रादिविनयस्त्वनादौ सतताभ्यासे सम्यग्दर्शनादानराधनाकृपे  
धर्मोऽनुष्ठानं दूरापास्तमेव । विषय इत्यनन्तरमपिर्मध्यः विषय-  
ऽपि अहंदादिपूजालक्षणं विषयाभ्यासेऽपि । भावेन भवेयैरास्या-  
दिना परिद्वारिणं धर्मोऽनुष्ठानं कथं नुन कथाश्चिदित्यर्थः । आकारः  
प्राकृतत्वात् । परमार्थो योगरूपस्याहंमोऽनुष्ठानस्य निश्चयनयम-  
ने भावाऽप्यास एव धर्मोऽनुष्ठानम्, नान्यद्दर्शयामिति नित्यं । व्य-  
हारात्तु व्यबहारनायादेशानु युज्यते इयमपि तथा तथा नेन  
नेन प्रकारेण अपुनर्बन्धकादिषु अपुनर्बन्धकप्रवृत्तिषु । तथापुनर्ब-  
न्धकः भाषं न तीव्रतायाःकर्तव्यतायात्सङ्गः । आदिशुद्धादुप-  
लब्धेयकस्यैव विशिष्टोत्तरावस्थाविशेषप्राज्ञी सामान्निमुख्यमागं-  
पतिवो, अचित्तसम्पदकष्याद्यश्च शूद्रतः इति । अ-१ अधि० ।

अभ्यासकरण-अप्यासकरण-न० । पार्थस्येति धर्माद्व्युत्-  
स्य पुनस्त्रैव संस्थानलक्षणे संयोगभेदे, स० ए० सम० १५० ।  
ये अभ्यासगतास्तेषामात्मसमीपवर्तिवकरणे, व्य० ३ उ० ।

अभ्यासग-अप्यासक-पुं० लिकोप, " शिष्यकथां व्यापनाभ्या-  
सक इत्यनर्थान्तरम् " आ० सू० १ अ० ।

अज्ञासगुण-अप्यासगुण-पुं० । गुणभेदं, स च भोजनादि-  
विषयः । तथा-नद्वहजोतबाह्यकाऽपि प्रजात्तराप्यासात् स-  
नादिकं मुख एव प्रक्षिपति, उपरतद्वितश्च भवति । यदि वाऽ-  
भ्यासश्चरागतसमस्येपि कथलादेस्तुष्टिविपरप्रकेपाद् व्याकुलित-  
चेतसोऽपि च तुदकावकहृदयनमिति । आचा० १५० २ अ० १ उ० ।  
अज्ञासजगियपस-अप्यासजनिपस-त्रि० । आस्येनाद-  
भूतवेगो, पं० च० १ द्वा० ।

अभ्यासत्य-अप्याशस्य-त्रि० । निकटार्थोऽस्ति, व्य० ६ उ० ।

अभ्यासवृत्तिअ-अप्याशवृत्तित्व-न० । अभ्यासो गौरव्यस्य  
समीपं तत्र वर्तितुं शीलमस्येव्याप्याशवृत्ती, तद्भावाऽभ्याशवृत्ति-  
त्वम् । अ० २५ श० ७ उ० । गुरुपादुपाठिकाप्रत्यासन्नवृत्तित्व-  
लक्षणे लोकोपचारविनयः, व्य० १ उ० । अं० । स्था० । ग० ।

अप्यासप्रत्यय-पुं० । अभ्यासो देवाका वर्णनीयासद्यता या  
प्रत्ययो निर्मितं यत्र दीयते तदप्यासप्रत्ययम् । देवाकेन  
वर्णनीयासश्रतया या प्राकाशनादौ, पनेन सनां गुणाद् दा-  
पयानि । इदयन्ते हास्यासांश्रिविषयाऽपि निष्कणाऽपि च प्र-  
वृत्तिः, सांनिदस्य च प्रायेण गुणानामेव प्रदणमिति । स्था०  
४ उ० ४ उ० । नि० चू० ।

अप्यासमीतिक-न० । अप्यासे प्राक्तिकं प्रेम अस्यासमीति-  
कम् । लोकोपचारविनयभेदे, भ० २ श० ५ उ० ।

अभ्यामविति-अप्याशवृत्ति-त्री० । नरेऽदीनां समीपऽव-  
स्थानं, दश० ६ अ० १ उ० ।

अभ्यासाऽसय-अप्यासातिशय-पुं० । अभ्यासप्रकये, पां०  
१० वि० ० ।

अज्ञासासण-अप्याशासन-न० । उपवर्णोयस्यातिकेऽध-  
स्थाने, स० २१ सम० ।

अज्ञासिय-अज्ञासित-त्रि० । अविदादिदशोद्भवे, वृ० ३ उ० ।

अभिभग-अप्यश्र-पुं० । स्नेहेन, हा० १० अ० । पञ्चाऽनुमन्ने-  
दशा० ६ अ० ।

अञ्जिगिय-अप्याङ्गित-त्रि० । अयम्कः क्रियते स्य बन्ध ।  
तस्मिन्, हा० १ अ० ।

अञ्जिन-सम-गाम-धातुः । मेनेन, " समा अभिभः " । उ ।  
५ । १६धा इति लुङेन समा युक्तस्य गमेरभिभद् आदेशः । अ-  
भिभद-संगच्छन् । प्रा० ४ पाद् ।

अञ्जिञ-अञ्जिञ-त्रि० । अविद्यते, च० २ अञि० ।

अनुपुक्वणीया-अप्युक्वणीया-त्री० । पवनेपरितासु उदकक-  
णिकासु, वृ० १ उ० ।  
अनुगुगम-अदयुगम-पुं० । इदये, द्वा० १ वृ० १५ अ० ।

अभ्युगम्य-अप्रयुक्त-त्रि० । अभिसुखमुद्रतोऽप्युक्तः । उत्पा-  
दिने, श्री० । अभिसुखयेन सर्वतो विनिर्गते, चं० श० ११ पा० ३० ।  
अभ्युक्तुपुत्रेण वार्द्धिं प्रवृत्ते, उक्ते च । शा० १ अ० । जं० ।  
विषा० । अभिमभागे मनागुक्ते, रा० । जं० । अभ्युक्ते, रा० ।  
जी० । भूद्वयमप्यता विनिर्गते, जं० २ वक्त्र० । अति-  
रमणीयतया द्रष्टव्यं प्रत्यभिमुखमुद्रावस्थेन स्थिते, रा० ।  
अभ्युद्गायम उलमल्लिख्यार्थमत्राधवल्लवत् । अभ्युद्गायतमु-  
कुञ्जा आयतकुम्भहा ये मल्लिकाविचकिलास्तद्वत् विमलौ व-  
नौ यस्य । अथवा प्राकृत्यात् मदिञ्जकामुकुञ्जवद्भ्युद्गायता-  
वृक्षौ विमलश्ववहदन्तौ यस्य तदप्रयुक्तामुकुञ्जमल्लिकावि-  
मलश्ववहदन्तम् ( इतिनाम् ) । उपा० २ अ० । "अभ्युगम्यमव-  
लमल्लिखाधवलसरिससंग्रणे" अभ्युद्गायतावृक्षतानि मुकुञ्जम-  
ल्लिकेय कोरकावस्थाविकिलकुमुभवद् धवलाणि तथा स-  
दृशं सप्त संस्थासु येषां तानि । जं० ७ वक्त्र० । "अभ्युगम्य-  
सुकयवद्वेरेयनोरणवररश्म्यस्रीसद्वियसालिभंजियागं" अ-  
प्रयुद्गतं अचिन्ते सुकृतवज्रवैदिकायाः सम्बन्धिनि तोरणवरे  
रचिता शैलास्थिताः शालत्रिजका यस्यां सा तथा, ताम् ।  
( शिबिकायम् ) म० १ श० ३३ उ० । श्रा० म० । इ० । १२० । १२० ।  
अहुरवज्रपत्रे च, ज्ञा० १ अ० ।

अप्रोद्गत-त्रि० । उक्ते, म० १ श० ५ उ० ।

अभ्युगम्यभिगार-अप्रयुक्तनुद्गार-अभ्युक्ताऽभिमुखमुक्त उत्पा-  
दितां भूक्षारां यस्य स तथा । तथाप्येते महाभागे, श्री० । म० दशा० ।  
अभ्युगम्यमुसिय-अप्रयुक्तो । क्रोत् । च्छ्रुत-त्रि० । अभ्युद्गतश्चासा-  
वृत्ततश्चेत्यभ्युद्गतोऽच्युतः । अथयैमुक्ते, म० । "अभ्युगम्यमुसि-  
यपरसिया" अभ्युद्गततमप्रोद्गायतं वा यथा अथयैवमुच्चि-  
रन्तेत्यभ्युद्गतोऽच्युतः । अथयैमुक्ते इत्यपि । प्रथमिकवच-  
नसंज्ञापश्चात् दृश्यः । तथा प्रदक्षिण इव प्रापञ्चलपरिगततया  
प्रदक्षिणः । प्रभया वा सितः शुक्लः, संयद्धो वा प्रभासित  
इति । म० २ श० ८ उ० । स० । जं० । जी० ।

अभ्युज्जय-अप्रयुद्यत-त्रि० । वार्द्धिं प्रवृत्ते, " अभ्युगम्यसु  
अभ्युज्जयसु अभ्युर्दिपसु " ( मेघेषु ) शा० १ अ० । सोधमे,  
ज्ञा० ५ अ० । रघवतविहारिणि, व्यं० ४ उ० । "अभ्युज्जयं वृषि-  
अभ्युज्जयमरणेण, अभ्युज्जयविहारेण वा " । नि० चू० १६ उ० ।

अप्रयुद्यतविहारमरणयोः स्वरूपमाह—

मिण-मुद्द-जहासंदे, तिविदो अभ्युज्जयो अह विहारो ।  
अभ्युज्जयमरणं पुण, पाठवगमर्षाणिगणपरिशा ॥  
त्रिनकरपः, शुक्रपरिहारकलेषु, यथालम्बकरभेदे त्रिविधो-  
ऽप्युद्यतः । अथैष विहारो मतव्यः । अभ्युद्यतमरणं पुनस्त्रि-  
विधम्-पादयोपगमनाभिङ्गनामरणं, परिक्रिते अल्पकथाव्यानम्,  
बुद्धिभ्याऽप्येतेषु अभ्युद्यतरूपतया भवेत्सौ ।

अतः कतरन्तयोः प्रतिपत्तव्यम् ? उच्यते—

मयमेव आउकालं, नाउं पेञ्चि वा बहुं सेसं ।  
सुबहुमुण्डानिकरं, विहारमभ्युज्जयं जवइ ॥  
स्वयमेवायुःकालं सातिशयभुतोपायोगाह्नुद् द्विषं शेषमवशि-  
ष्यमाणं ज्ञात्वा दृष्ट्वा वाऽप्यं अताद्यतिशययुक्तमात्रायां बहु शेष-  
१७४

मवबुध्यः ततः सुबहुगुणलामकाः सुखं विहारमभ्युद्यते भवति,  
प्रतिपद्यत इत्यर्थः । वृ० १ उ० । ( जिणकपिव्यं शब्देऽप्ये विधिः )  
अभ्युज्जयमरण-अभ्युद्यतमरण-न० । अभ्युद्यतस्य मरणे, तलि-  
पिदमिति अनन्तरमुक्तम् । वृ० १ उ० । नि० चू० । पं० व० ।  
संथा० । ( पादयोपगमनादिव्यवकथाऽप्ये )

अभ्युज्जयविहार-अप्रयुद्यतविहार-पुं० । अभ्युद्यतानां जिन-  
कल्पिकादीनां विहारः, पं० व० ४ श्रा० । वृ० । ( स च त्रिविध  
इति 'अष्टश्लेष' शब्दे उक्तम् )

अभ्युद्गाय-अप्रयुत्थान-न० । अभिसुखेनोत्थानमुद्गमन-  
मभ्युत्थानम् । ग० २ अर्थि० । उक्तं । तदुचितस्यात्यन्तस्य अ-  
भिसुखमुत्थाने, पश्चा० १७ विष० । दश० । श्रा० । विनयाहि-  
स्य दर्शनादेवाऽऽसन्नजनने, स्था० ७ डा० । ससन्नममासन-  
माचने, उक्तं ३ अ० । व्यं० । प्रव० ।  
एष दर्शनविनयभेद इत्येव समाचरणीयाः-

अभ्युद्गाये लक्षुगा, पातस्थादक्षतिथ्यां ।  
मंजइयां पुणं तह, संजइवगे य गुरुगा छ ॥  
साधुभिः साधूनामवाप्युत्थानं विधेयं न गृहस्थादीनां, त-  
न्नापि संविज्ञानामेव न पाहर्वस्थादीनाम् । अथ पाहर्वस्थादीना-  
मन्यतोऽधिकानां गृहस्थां वाऽभ्युत्थानं करोति तदा चत्वारो ल-  
घवः । तथा संस्थादीनामन्यतोऽधिकानां संयतधर्मस्य अभ्यु-  
त्थाने चतुर्गुणवः ।

अथात्रैव दोषानुपदर्शयति-

उद्वेद इत्थि जह एम चिति, धम्मं त्रिआं नाम न एस साहू ।  
दक्खिन्नपन्ना वसमेइ चेवं, मिच्छत्तदोसा य कुल्लिगिणं सु ॥  
संयतं कत्था अपि त्थिया अच्युत्तिष्ठत्तं दृष्ट्वा अथावदिद्विच-  
न्तयेत्-यथैष साधुः स्त्रियमायान्तं दृष्ट्वा अच्युत्तिष्ठति । तथा  
नामेति संभावनायाम् । संभावयाद्दह नप सम्भयधम्मं सुतत्त-  
रिआत्तमे स्थितः, अन्यथा किमेव एनामभ्युत्तिष्ठत् । अपि  
च-एवं त्थिया अच्युत्तिष्ठत् दांसिण्यञ्चान् जवति । दांसिण्यप-  
एयत्वे तस्या यशमायत्ततामुपैति । ततश्च ब्रह्मचर्यविराचनाद्-  
यो दोषाः । यास्तु कुलिङ्गमस्तः परिआज्जकाप्रभृतयः, तास्तु  
अच्युत्थीयमानास्तु यथा भद्रकादीनां मिथ्यात्वगमनादयो  
दोषा भवन्ति ।

अन्यतोऽधिकेषु पुनरिमे दोषाः-

अज्ञातवाणा एवयणे, कृतित्यउत्पात्तवा अज्ञोही य ।  
स्विसिज्जति य तत्प-क्वित्वाएइ गिदिसुव्वया वलियं ॥  
भो भागवत ! सौगतदीनामन्यतोऽधिकानामच्युत्थाने प्रथम-  
चरममहती अपप्राजना भवति-अहो ! निस्सारं प्रवचनमर्मा-  
पां यदेवमन्यदर्शनेनामभ्युत्थानं विद्धान्ति, तदीयस्य च  
कुर्नास्येन्द्रावचना प्रभावना जवति-एतेदेव दर्शने शोभन्तत्त  
यदेवं जैना अत्यंतप्रतिपत्तश्चानच्युत्तिष्ठन्ति । ( अज्ञोही य-  
त् ) प्रवचनलाघवप्रत्ययं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्मोपाचित्य भ-  
वाद्यौ परिस्रमन बोधिभलां मासादयन्ति । ये च गृहिणः सु-  
प्रनाः शोभनाद्युत्तधारकाः, सुभावका इत्यर्थः, तेषांप्रकैकेः  
शुक्ल्याद्विपक्षपातिभिरुपासकैः, धित्कमत्यर्थं लिख्यन्त-अस्मा-  
कमेव दर्शने सर्वोत्तमं, भवदीयमुक्तामपि गौरवाद्देवत्वात् ।  
एष चैव य दोसा, सविसेसरउच्चित्तिवगीं पुि ।



लाघवमप्युज्जययत्, तद्गमयाणं अग्रवणो य ॥

एते एव दोषाः प्रवक्ष्यामि। अज्ञानदोषोऽन्तरीयिकीष्वपि प्रव-  
न्ति, नवरं सविशेषतराः शब्दादिभिर्दोषैः समधिकतरा मन्त्र-  
व्याः । शुद्धिणामन्तरीयिकादीनां वाज्युत्थाने सामान्यत इमं  
दोषाः । तद्यथा-लाघवमेतेन्याऽप्ययं हीन इत्येवं लघुणो लघु-  
भाय उपजायते । अन्तरीयिके वराकक्षप्रवर्तिने भवति ।  
तथाहि-लोकं ह्येतद् अहो । अज्ञानादानाः श्वान इव वरा-  
का अमी यदेवमाहारादिभिन्निमित्तमवितरकाणामपि आहूनि  
कुर्वन्ति । तथा तेन यथावस्थिततपसाप्यौषधसाम्प्रदानेन प्रकारेण  
गतं हानमर्था तथायाताः, सद्गतायैवेदिनस्तीर्थेकरा गणधरा इ  
त्यर्थः । तेनाभवणंवादा भवति । यथा-नामी सम्पत्प्रोहमार्गं  
दृश्यन्तः ।

अथ संयतीनामज्युत्थाने दोषाद् विशेषतो दर्शयन्नाह—  
पायं तवस्मिण्। ओ, करंति किङ्कमो म् मुविहिषाणं ।  
एमुत्तिहृष्टं वतिभिः, जयिष्यन् कारणेणेत्य ॥  
संयतीमज्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा कश्चिद्विभिनवधर्मो विन्तयेत्-प्राय-  
स्नपन्तिभ्यः संयत्यः स्तुवहितानां कृत्तिकम् कुर्वन्ति । 'मो'  
इति पादपूर्णे । एष पुनर्मतिर्नोमुत्तिष्ठति, तद्भवितव्यमत्र का-  
रोणेति । एवं शब्दायां चतुर्गुरु, निशङ्कितं सूत्रम्, यत एते  
दोषास्ततो नैषामज्युत्थानं विषयम् ॥

अथ येवामज्युत्थानव्यं तदज्युत्थानाकरणे प्रायश्चि-  
त्तमिभोधस्तुराह—

आचारिणं अभिसंगे, जिक्तुभिर्म तद्देव ह्यो सुष्टे य ।  
गुरुगा सद्गुगा लद्गुगो, जिभे पन्तिभोमवितिणं ॥

आचार्ये अभिषेके भिक्षो तथैव सुक्ष्मः आचार्यादीन् प्राप्नु-  
यित्वा यथाकाममनज्युत्तिष्ठति । गुरुका लघुका लघुका भि-  
क्षमासांभति प्रायश्चित्तानि । जिनोयादेशेन इदमेव प्रायश्चित्तं  
प्रतिशोभं प्रतीपकमेषाचार्यादीनां वक्तव्यम् । आचार्यस्य  
त्रिभ्रमासः, अभिषेकस्य लघुमासः, भिक्षोः चतुर्लघवः, कु-  
क्षकस्य चतुर्गुरुव इति भावः । एवं संप्रहाराधासमासायः ।

अथेनामेव विवृणोति—  
आचारियस्सापरिये, अणुद्वयंतस्स चउगुरु ह्योति ।  
वसने जिक्तुक्तुष्टु, सद्गुगा सद्गुगो य भिक्षो य ॥  
आचार्यस्य आचार्ये प्रापूर्णकमायान्तमज्युत्तिष्ठत्तुर्गुरवो भ-  
वन्ति, वृषभमज्युत्तिष्ठतः चतुर्लघुकाः, सुक्ष्ममज्युत्तिष्ठतं लघुका,  
त्रिभ्रमज्युत्तिष्ठतो जिभयासः । एवमआचार्यस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

शेषाणामतिदिशति—  
सद्गाणपरहाणो, एमेव वसजजिक्तुस्तुष्टाणं ।  
जं परताणो पाण्ड, तं चैव य सोवि सद्गाणो ॥  
एवमेव वृषभमिच्छुष्टुकाणामपि स्थानपरस्थाने प्रायश्चित्तं  
वक्तव्यम्, स्थानं नाम वृषजस्य वृषभस्थानं, वृषजस्थाचार्यो भि-  
क्षस्थानम् । एवं भिक्षुकुक्षकयोरपि स्वस्थानपरस्थानभावना कर्त-  
व्या । अत्र च यत्परस्थाने आचार्यैः प्राप्नोति तदस्वावपि वृषभादिः  
स्वस्थाने प्राप्नोति । किमुक्तं भवति-वृषजस्य प्रापूर्णकमाचार्यम-  
नज्युत्तिष्ठत्तुर्गुरवः, वृषभस्थानमज्युत्थाने चतुर्लघवः, भिक्षो-  
रनज्युत्थाने मासलघु, कुक्षकस्थानमज्युत्थाने त्रिभ्रमासः । एवं

भिक्षुकुक्षकयोरपि मन्त्रव्यम् । अत्र परस्थानमाचार्यस्य वृषभा-  
द्यः, तेनामज्युत्थानं यथाऽन्तो अणुर्लघुकादिकमापचवान् तथा  
वृषभाद्योऽपि स्वस्थानमनज्युत्तिष्ठन्तस्तेव प्राप्नुवन्ति ।

अथतदेव प्रायश्चित्तं तपःकालाभ्यां विशेषयन्नाह—  
दोर्दोर्दं वि गुरुगा एते, आचारियस्य तवेक्ष कालेण ।  
तवगुरुगा कान्तगुरु, दोर्दोर्दं वि सद्गुगा य सुष्टुस्त ॥

आचार्यस्यैतानि चतुर्गुरकादीनि प्रायश्चित्तानि, ज्ञानप्राप्तपि  
गुरुकार्ण कर्तव्यानि । तद्यथा-तपसा, कालेन च वृषभस्य तपो-  
गुरुकार्णः । भिक्षोः कालगुरुकार्णः, कुक्षकस्य ज्ञान्याप्रापि तपः  
कालाभ्यां लघुकार्णः ।

अद्वा आविसिट्टं चिय, पाहुणयागंतुए गुरुगाम्दी ।  
पावेत्त अणुष्टिता, चउगुरु लघुगा सद्गुगजिचं ॥

अथवेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तरताद्योक्तः । आचार्यैः प्रथमा-  
चार्यादिभिर्दोषैर्विरहितं प्रापूर्णकमागन्तुकमज्युत्तिष्ठतो गुभा-  
द्य आचार्यप्रभृत्यां यथाकामं चतुर्गुरुकमज्युत्तिष्ठतो लघुमास-  
त्रिभ्रमासात् प्राप्नुवन्ति । तद्यथा-आचार्यस्य यं वा तं वा प्रापूर्णक-  
मागतमनज्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, वृषभस्य चतुर्लघु, भिक्षोर्लघुमा-  
सः, कुक्षकस्य त्रिभ्रमास इति ।

अद्वा जं वा तं वा, पाहुणगे गुरुमणुष्टिहं पावे ।  
जिचं वसजो मुक्तं, जिक्तु लद् लुष्टु चउगुरुगा ॥

अथवा यं वा तं वा प्रापूर्णकमज्युत्तिष्ठतं गुरुगाचार्यो त्रिभ्रमासं  
प्राप्नोति, वृषभः वृक्षमासं, लघुमासमित्यर्थः । भिक्षुश्चतुर्लघुकाम,  
कुक्षकः चतुर्गुरुकश्च । एतेन " पांडिभोमवितिणं ति " एवं  
व्याख्यातम् ।

अथ किमर्थमयं चितीयादेशः प्रवृत्तः ?, इत्याह—

वायणवापराणुध-मम्हणुणुत्तपचित्तलात् ॥  
वाउहिए आचारिणं, विद्यादेशो ल जिभ्राइ ॥

इहाचार्यस्थानेकथा व्याक्षेपकः । तद्यथा-आचानामनुयोगः ।  
सा विनियामां हातव्या । व्यापारणे साधुनां वैद्यावृष्यादिषु यथा-  
योग्यं विचिन्त्यम् । आज्ञानां धर्मकथनं विधातव्यम् । भूयस्स्त्रा-  
यं बोधिशिन्तनाउपेक्षाः कर्तव्याः । एवमादिषु कार्येषु निरन्तरमा-  
चार्यो व्याकुशितो भवति । वृषभत्रयस्तु न तथा व्याकुशिता इ-  
त्यतोऽहं त्रिभ्रमासादिर्द्वितीय आदेशः प्रवृत्तः । इयमत्र भाव-  
ना-आचार्यां बहुव्याकुशिताया प्रायुणकमागच्छन्तं दृष्ट्वाऽपि ना-  
भ्युत्थाने पारयेत् ; अतस्तस्य स्वल्पतरं प्रायश्चित्तम् । वृषभ-  
मिच्छुष्टुकास्तु यथाकाममहापत्यतरापत्यतमव्यापेणाः, ततो लघु-  
मासादीनि प्रभृतप्रभृततरप्रभृततन्नानि तेषां प्रायश्चित्तानांति ।  
अथ कुक्षकस्य गुरुतमप्रायश्चित्तदाने विशेषकारणमाह—

वेसइए लद्गुमुष्टु, धूर्ध्रमवधलो असंफुको सुष्टो ।  
इति तस्स हीति गुरुगा, पाण्डेइ हु चंचलं द्दो ॥

कुक्षको बालः स लघुशरीरनथा सुखेन उपविशति, उत्ति-  
ष्ठति वा; कीदन्तपीलतया च प्रायेण धूर्ध्रमवधलो रजोगुरिह-  
तदेह; असंस्कृतहवासंभूतोऽस्ती भवति । अतो यद्यसावपि  
प्रायुणकमागतं मोत्तिष्ठति महद्वेषामप्राप्नोति । अत एतस्य चतु-  
र्गुरुकः प्रायश्चित्तम् । किञ्च-यद्वक्ष्यते स्वमावाचयणोऽपि

अन् गुवादीनां माभ्युत्थितिः, तं द्रव्यः प्रायश्चित्तवृत्तयोर् दीप-  
मानः प्राप्तयति, चञ्चलत्वमपनयतीत्यर्थः ।

अपि च—

अइ ता दंरुत्याणं, पावइ बालो वि पयकुए दोसे ।

इणु दाणि अक्खसंणं, पपाइरं रक्खसा सेसे ॥

बालत्वेऽपि गुरुके प्रायश्चित्तके इत्येवमित्येव शेषसाधुविरचयत्येवु-  
वाइ तावदर्थं बालोऽपि प्राचूर्णेकं अनन्युत्थानमात्रं कृत्वा प्रभु-  
के स्वल्पेऽप्यपराधे एवैव द्रव्यस्थानं प्राप्नोति । (इणु दाणे ति)  
तत इदानीमस्माकं प्रभुमन्युत्थाने प्रसार्धं कर्तुमकमनुचित-  
मिति शेषसाधुचर्मण्यापि रक्षयं कर्म भवति । आइ—अन्युत्थान-  
मकुर्वन्ताम्रात्मसंयमयोस्तावत्कश्चिदपि विराधना नास्ति  
ततः किकारणमेवमेव प्रायश्चित्तं दीयते ।

उच्यते—

दिहंठो बुवत्तरए, अभ्युत्थितोहं अह गुणो पचो ।

तन्हा उहंठय्वां, पाणुण्णो गच्छ आयरिओ ॥

इह प्राचूर्णं कर्माचार्यमनुत्थितं भगवतामाह्वयति । तथा-  
चारं द्वैतकुर्येव दासेन दृष्टान्तः—“ एषां राया, से केणइ तुअ-  
क्खसंणं आरादिओ । रखा से पइ बांधउ पहानं रज्जं विणं । तथ  
इरंरुदभोइयाइणो अ उअकरंत्तं लि कांरं परिजावेत्तं तस्स ग-  
इहउणाइयंन करंति । ताहे तेषु ते अणुत्थितो दंरुत्याणं, मादिवा  
य । जे विणीया ते अणुत्थितं, तेसि तेषु परिनुत्थेण रज्जसंवि-  
भागे दिओ ” । अथाद्योपनयः—यथा तेऽभ्युत्थितश्चिदहं लोके  
गुहः परतः तथा साधवोऽपि प्राचूर्णं कर्माचार्यमनुत्थितं  
इह प्रपन्नं च गुणानासाद्यमिति, तस्मात्प्राचूर्णकं आचार्यैः सक-  
त्वेनापि गच्छेनान्युत्थातव्यः ।

अमुमेव अत्रारदृष्टान्तं व्याख्यानयति—

आरादितां रज्जं सपट्टबंधं, कासीं य राया उ च्चुवत्तरस्स ।

पसासमाणं मुकुटं । णुमादीं, नार्दति तं तेषु य ते विणो । या ॥

आराधितः केनापि गुणविशेषेण परितोषं प्रापितः सन् राजा  
अत्रारकस्य सपट्टबंधं राज्यकार्येभ्यः, पट्टबंधमुपति तं चिदि-  
तवाग्निं भावः । ततः तं द्वैतकराजं राज्यं प्रशासतं कु-  
लानाद्यो नाश्नित्ये, बयं कुलानाः, अयं तु हीनकुलोत्पन्नः ।  
आदिशब्दात् बयं प्रधानपुरुषाः, अयं पुनः कर्मकर इत्यादि  
परिभवबुद्ध्या नान्युत्थानादिकमादरं तस्य कुर्वन्ति, ततः ते तेन  
राजा विनोताः शिष्टां प्रापिताः, ‘ विनयः शिष्टाप्रणयोः ’  
इति वचनात् ।

कयं शिकिताः ?, इत्याह—

सव्वसं हाऊणं, निज्जुहा मारिया य विवदंता ।

जेगेहोई संविज्जाचा, अणुत्थंअणुत्थणा जे उ ॥

सर्वस्वमपहृत्य ते स्वभगवत्पुत्रैश्च निष्काशिताः, ये च तत्र  
निष्काश्यमावा विवदन्ति—किमस्माभिरपराबंधं यो द्वैतकर्म  
मभियन्ति तस्य तस्य किं वयमन्युत्थानं करिष्यामः ?, इत्यादि  
कथंशयन्ते, ते विवदन्त्या मारियाः । ये तु तत्रानुकूला अभ्यु-  
त्थानादिकारिणोऽनुत्थना अर्गाथितास्ते भोगैः संविभक्ताः, रा-  
ज्यभोगसंविभागस्तोषं कृतः । एव दृष्टान्तः ।

अथमर्थोपनयः—

अहिराया तित्थयरो, इयरो उ गुरु उ होइ नायव्वो ।

साहू जहा व दंरिय, पसत्थपसत्त्वगा होति ॥

यथा अहिराजो मौलपृथिवीपतिः, तथा तीर्थंकरः, यथा इतरो  
हृष्यकराकराजः, तथा तीर्थंकराधिराजेनैवात्तुजाताचार्यः पदपट्ट-  
बंधमहिततणमभिव्यपराधेयं गुरुराचार्यो ज्ञातव्यो प्रवर्तितः ।  
यथा च ते प्रकृष्टतमप्रकृष्टकथा इतिप्रकृष्टता साधवोऽप्यनुत्थ-  
नजाचा भवन्ति ।

तत्र—

अह ते अणुत्थितंता, दियसव्वस्सा उ च्चुवत्तमाजागी ।

इय छाणे आयरियं, अणुत्थितंताण बोच्छेदो ॥

यथा ते द्रव्यजन्तमोजिकादयो द्वैतकर्मवृत्तिमनुत्थित्तुतो ह-  
तसंबंधा येहिकस्य दुःखस्याभागिनः संजाताः । इत्येवमा-  
चार्यमन्युत्थितानां दुर्निर्नितासाधुनां कर्म, उपलक्ष्यत्वाद्देशक-  
रिचयोश्च स्वबन्धुदो भवति । ततश्चान्येकेषां जन्मजन्मरणा-  
दिदुःखानामाज्ञानिगन्ते संजायन्ते, एषोऽप्रशस्तोपनयः ।

अथ प्रशस्तोपनयः—

उट्टासिज्जासणमाएहं, गुरुस्स जे होति सयाऽणुक्का ।

नारं विणोए अह ते गुरु उ, सणिएहं देइ य तोसिं सुच्चं ॥

उत्थानं—गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा कर्ष्यं भयनं, शय्या सुन्दराव-  
कायो गुरुणां संस्तारकरचनय, आसनमुपवेशनयोभ्यनियठा-  
दिरचनय । यद्वा—(संज्ञासर्णं ति) गुरुणां शय्याया आसनाश्च  
नीचतरशय्यासनयोरभयणय । आदिशब्दाद्भक्तिप्रदणोदि  
परिग्रहः । एवमादिभिर्बिम्बिजनेर्यै शिष्याः सदैव गुरोरनुकूला  
प्रवर्तितं तान् विनीतान् ज्ञात्वा, प्रधानन्तरं गुरुः सपृष्ठानं ।  
मयैते सम्यक्पालनीया इत्येवं संग्रहबुद्ध्या स्वीकरोति, स्वै च  
तेषां प्रयच्छति, ततश्च ते इह परत्र च कल्याणपरम्परानाज-  
नं जायन्ते ।

अथ प्रशस्तोपनयं विशेषतो प्राचयन्त्याह—

पज्जायजार्इसुतत्रो य वुद्धा, जचभिया सीसिसमिक्किमंता ।

कुव्वंतंउज्जं अह ते गणाउ, निज्जुहो नो य ददाइ सुत्तं ॥

पर्यायोते ये बुद्धास्ते अथमराशिकाशयमिति बुद्ध्या, जातिम-  
धिकृत्य ये बुद्धाः, परिश्रेयजन्मपर्याया इत्यर्थः, तं बालकोऽथमि-  
ति बुद्ध्या, भुततश्च तस्यधिकृत्य ये बुद्धास्तेऽप्यभुततोऽयमिति ह-  
त्वा, जात्याश्रिता विशिष्टजातिसंज्ञता हीनजात्युद्भवोऽयमिति  
मत्या, शिष्यसमृद्धिमन्तः परिवारसंपदुपेता अश्रयापरिचारकोऽय-  
मिति बुद्ध्या, गुरोरवज्ञानमन्युत्थानसङ्घर्षं कुर्वन्ति । अथैवमच-  
ज्ञाकरणानन्तरं गुरुस्तान् स्वगच्छन्मगराशिश्रेयति । ये च ब-  
हुगणिकत्वादिभिः कारणैर्निर्वृत्तं न शक्यन्ते, तेषां भोग-  
संविज्ञानागकल्पस्वयं भूतं न प्रयच्छति । एवं तावत्प्राचूर्णकमा-  
र्यमङ्गीकृत्याभ्युत्थानानन्युत्थानयोर्गुणदोषा उपयन्तिनाः ।

अथ सामान्यतो गच्छन्मये स्थितस्यैवाचार्यस्थानन्युत्थाने

द्वोषमाह—

मउरुत्थ येरिसीए, लेवे पमिहेह आइयण पम्मे ।

पयत्तं गिलाणे तह उ—चपट्ट सव्वेसिं उट्टाणं ॥

आचार्यमागच्छन्तं दृष्ट्वा गच्छसाधवो मयस्थितिस्तुष्टिन्, ततः

पूर्वोक्तमेव प्रायश्चित्तम् । सुत्रार्थवीरुषी लेपप्रदानं प्रतिबन्धनम् (आद्यर्थेति) 'आदानं' समुद्रमानं धर्मैकधा वा विधयानाः प्र-  
बलगायमाना वा नान्युत्तिष्ठन्ति । अत्रापि तदेव ह्युभयविधयम्  
प्रायश्चित्तम् । ग्लानो वा उच्यतेऽप्यत्रापौ वा शक्नोति सत्यां यदि  
नास्ति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः सर्वेषामन्यु-  
त्तानं भवति । इदमत्र हृदयम-आचार्याणां मनश्चरुथाने सुत्रवी-  
रुषीकरणादीनि कदाचलम्भवानि, यथा समाप्तमात्रापाकऽङ्ग-  
पत्रितो वतते, ज्ञेयो वा पात्रके नाद्यापि परिपूर्णं दत्तः, प्रति-  
बन्धनादिकं वा सम्प्रति कुर्वीणोऽस्मि; ग्लानो वा कृतभक्तप्रत्या-  
क्ष्यानो वा इहमस्मात्, किन्तु सर्वैरपि सुत्राध्ययनादिव्या-  
पारं परिहृत्याऽन्युत्थातव्यम्, एवं तावदुपाश्रयं विधिपरिमितम् ।

अथाप्यत्र गृहादौ रथ्यादिषु वा यत्र इत्येते तत्राय विधिः-  
द्रागयमुद्वेदं, अग्निनिर्गन्तुं नमति एं सत्वे ।  
दंडमहृषं च मोक्षुं, दिष्टे उड्ढाणमप्रत्ये ।  
दुरादाचार्यमागतं दृष्ट्वा आभिमुख्येन निर्गये सर्वेऽपि साधवो  
(श्रुति) एतमाचार्ये नमन्ति शिरसा यन्दने, यदा च गुरव  
उपाश्रयं प्रयिच्छन्ति तदा द्वाडकप्रहणमपि कर्षयन्म, अन्यत्र तु  
गृहादौ दृष्टे गुरौ द्वाडकप्रहणं मुक्त्वा अन्युत्थानमेव कर्षयन्म ।  
एवमभ्युत्थाने के गुणाः ? इत्याह--

परपक्वो य सपक्वो, होइ अजमत्तारं च उड्ढाणै ।  
सुयपुयणा थिरत्तं, पभावाव तु निर्गता चैव ॥  
परपक्वः परपाक्वादिजनः, स्वपक्वः पाश्वर्यथादिवर्गः, नयोः रगम्य-  
त्यमनभिवचनाया गुरोरन्युत्थानं भवति, तथा गुरवो ब-  
हुभूता भवन्तीति श्रुतपुत्रनमपि कृतं स्यात् । अन्येषामभ्यु-  
त्थानादौ विनये सीदतां थिरत्वमनुष्ठितं भवति । प्रभावना च  
शासनस्यैव कृता भवन्-अर्थाः । शोभनमित्येवं मन्वन्तं यथैवविधौ  
विनये विधीयन्ते, निर्जेरा कर्मकुर्यरूपा विपुला जवति,  
विनयस्याभ्यन्तरनपामेद्व्यात् तस्य च निर्जेरानिबन्धन-  
तया सुप्रतीतस्यात् ।

आह-यः प्रमज्जनः सर्वेषांपरतरतस्य किं नाम  
विनयंनं कार्यम् ? इति उच्यते--  
अकारणा नित्यह कज्जामिच्छं,  
नयाऽणुवाएण उ वैति तएणा ।  
द्वयायवं कारणसंपपत्तो,  
कज्जाणि साट्टे पपत्तवं च ॥  
अकारणा कार्यस्य सिद्धिरिहास्मिन् जगति नास्ति, यद्यस्य  
कार्यस्योपादानं कारणं तत्तत्र विना न सिध्यतीत्यर्थः । यथा  
मृत्पारकं विना घट इति । कारणसन्नाधेऽपि नच मैव, अनु-  
पाधेन उपाध्यामवेन कार्यं भवतीति तज्ज्ञः कार्यसिद्धिदिना  
वदन्ति । यथा मृत्पारकसन्नाधेऽपि चक्रचीवरोदकाणुपाया-  
मन्त्रेण घटो न सिद्धति; यः पुनः उपायवान् कारणसंयुक्त-  
प्रयत्नवान् भवति स साधयति, यथा कुम्भकारो मृत्पिण्डमासा-  
द्य चक्रचीवरोपायासासिद्धयजनितापद्यः स्यदस्तव्यापार-  
णरूपं प्रयत्नं कुर्वन् घटं निर्माति ।

आह-यथेवमुपायकारणस्युक्तः कार्यणि साधयति  
ततस्तु न किमायातम् ? इत्याह--  
धम्मस्स मूडं विण्णं वयंति,

धम्मो य मूडं खलु सोगईए ।  
सा सोगई जत्य अवाहाया उ,  
तम्हा निसेवो विण्णयो तदद्दा ॥

धर्मस्य अनुचारित्रकणस्य मूडं प्रथममुत्पत्तिकारणं विनयम-  
भ्युत्थानादिकं वदन्ति, तीर्थकरादय इति गम्यते । स च धर्मः,  
अधुरवधारणः सुगनेमूलं कारणं मनस्यम् । दुर्गतौ प्रपत्तम्  
प्राणिनं धारयति सुगतौ च स्वायतीति निश्चितसिद्धिः स्यात्,  
तस्येति भावः । अथ सुगतिः कीदृशी गृह्यते ? इत्याह--सा  
सुगतिरभिधीयते-यत्राभाधना, क्षुत्पिपासांरोगशोकादीनां श-  
रीरमानसानां बाधानामत्रावसिद्धिरित्यर्थः । यत एतं तस्मात्तदर्थं  
सुगतिनिमित्तं विनयेन निर्वच्यः । इदमत्र हृदयम-इह कार्यं  
तावद्व्यावायुसुखलक्षणो मोक्षः, तस्य च कारणं सुतचारित्र्य-  
पः सर्वैकभाषितो धर्मः सद्गुणैरन्युत्थानवन्नादिविनयमङ्ग-  
णमुपायमन्त्रेण न साध्यति शक्यते । अतः परमत्रया मोक्ष-  
कारणमेवाधायमिति मन्वा तदर्थं विनये आसन्वत इति ।  
आह-युक्तं पौरुषीज्ञेपप्रदानादिकारणाद्भ्युत्थानम्, ग्लान-  
नोत्सर्गप्रतिपक्षव्यस्तु किमर्थमन्युत्थानम् ? उच्यते-  
मंगलसञ्ज्ञाजणम्, विरियायारो न हासिआं चैव ।  
एषाँहं कारखटिं, अतन्तपरिषुड्डाणं ॥

अतस्मिन् ग्लानः (परिःन स) मनुप्रययलोपांम् परिहावाक्  
मनश्नो, एतया गुरुणामभ्युत्थाने मङ्गलं जवति, ततश्च ग्लान-  
स्याचिरादेव प्रशुभोभवन्, कृतभक्तप्रार्थनाभ्यन्तस्य तु निबन्ध-  
मुत्समाधेसाधनं स्यात् । यथा ग्लानपरिहा भवति तथा गुरुम-  
भ्युत्तिष्ठति, शोषाणामन्युत्थानं अद्याजाननं विहितं, यद्योऽप्येव  
गुरुमन्युत्तिष्ठति, ततोऽस्मात्तः सुतरामभ्युत्थानव्यम् । अपि  
च-एव कुर्वेता ग्लानेन परिहायारो च वीर्याचारो न हासिता  
भवति, अत एतैः कारणैरनोत्थानमनुत्थानव्यम् ।

(अन्युत्थानाकरणं प्रायश्चित्तम्)  
प्रकारान्तरं प्रायश्चित्तमुपदेश्य आह-  
चंक्रमणे पासवणे, वीयारे साहु संजेई सच्चं ।  
सन्धिणि नाइ अमत्तचे, संपे वा रायमहिप वा ॥  
एणमं च भिन्नमासो, मासो लहुगो य होइ गुरुगो य ।  
चत्तारि उट्ट लहु गुरु, वेदो मूडं तह णुं च ॥

इह प्रथमगाथायाः द्वितीयगाथायाश्च पदानां यथासंभवेन  
योजना । तद्यथा-आचार्यं चक्रक्रमणं कुर्वणं दृष्ट्वा नार्युत्तिष्ठति  
पञ्चकं पञ्च रार्थिदयानि प्रायश्चित्तम्, प्रथममभ्युत्थानागतं ना-  
न्युत्तिष्ठति भिन्नमासः-विचारसंज्ञां कृत्वा समागतस्यान्युत्थान-  
ने मासगुरु, मयनीनिः सार्कमागतस्यानुत्थाने मनुज्ञेषु, सङ्गि-  
नः श्रावकाः, तैः समागत्यातमनुत्तिष्ठतभ्युत्तुं, असंज्ञिभिः  
समागत्यातमन्युत्थाने परलक्ष्यु, संज्ञिनोऽनिरसंज्ञिनोऽभि-  
संज्ञिभिः समागत्यातमन्युत्तिष्ठतः परगुरुः । वादिना सार्कमा-  
याने अनभ्युत्थानं कृतं, अस्मात्थेन सार्कमागते मूलम्, संघेन  
साडे समागतं अनुत्थानं अतवस्थाप्यम्, राज्ञा सहितं सू-  
रमागतमनुत्तिष्ठतः पाराञ्चिकमा ।

अथ किमर्थं सन्धिः समागत्याने गुरुतं प्रायश्चित्तम् ?  
उच्यते-  
पूर्वनि पूड्यं इ-इत्याद्यं पापणं ताउ लहुमत्ता ।

एषण कारणेणं, पुरिसेणं इत्येया एत्ये ॥

इह क्रियः प्रायेण पुजितं एज्यन्ति, येमेवात्वार्यदिकं साधु-  
भाषकादिभिरभ्युत्थायित्वा पुर्यमानं पश्यन्ति तस्यैव पूजां वि-  
धत्ति, ताश्च क्रियः प्रायेण लघुसत्त्वाच्छाया भावन्ति । ततः  
साधुभिरन्युत्थीयमानान्त्वार्यं गाढतरं परिज्वरयुद्धा पश्य-  
न्ति, न किमप्यत्र आचार्यो जानाति, न भाष्यं विशिष्टगुणवान्-  
सप्रायेण, अन्यथा किमेते साधवो नाभ्युत्तिष्ठन्ति, पश्यन्तेन कार-  
णेन पुरुषेषु साधुभाषकादिविषु पूर्व लघुतरप्रायश्चित्तमुक्त्वा  
पश्चात् क्रियेऽधिष्ठस्य गुरुतरमुक्तम् ।

अथ राक्षा सार्कं समागतस्थानभ्युत्थाने किं कारणं  
पाराञ्चिकम् ? इत्याह-

पारुणिकदा रंति महायोगेण समं कार्तिं दोसो गच्छइ एपसु  
साधु वि गज्जं वकं होज्ज कं वा परिज्जं वेदुज्जं वा कु-  
न्धियनेसम्मि मणुस्ते वहा ॥

राजाश्रय आक्रिमन्तः प्रायेण बाहुल्येन महाजनेन सामन्तमन्त्रिम-  
द्वसमादीनां महत्त्वा समवायेन समं समागच्छन्ति, तत एतेषु तनु-  
राप स्वस्वोऽपि अनन्युत्थानमात्रसङ्कणो दोषः स्फूर्ति गच्छति,  
सर्वत्र विलसन्तीति भावः । अपि च-साधुभिरनन्युत्थीयमानं आ-  
चार्यः परिभूतो भवति, परिभवपदमुपगच्छतीत्यर्थः । परिभूत-  
स्य च वाक्य सूचन कथं नाम राजादीनां प्राज्ञमुपादेयं भवेत्?,  
वेदुयमिव रत्नं कुत्सितवेषं कार्पाटकवेषधारिणं मनुष्यं वर्तेमानं  
यथा तदर्थेऽपि हुन्ते स्थितं सन्तुष्टमपि तत्र जनस्वोपादेयम्, एवं  
गुरुणामपि धर्म कथावाक्यं गात्रजीर्याभाषुर्गुणैरनर्थमपि परिभू-  
ततया न राजादीनानुपादेयं भवति । तदनुपादेयतायां च तेषां  
सम्बन्धशून्यादिप्रतिपत्तिरपि न प्रयति, अतो राक्षा सार्कं समा-  
गते अनन्युत्थीयमानं पाराञ्चिकम् ।

परः प्राह-युक्तं प्रश्रवणभ्युत्थादेरागतस्याभ्युत्थानम्, यत्तु च-  
ङ्कमण कुर्वतोऽभ्युत्थानं तत्रास्माकं युक्तित्तमं प्रतिभाति ।  
यतः-

अवस्सकिरियामोमं, वट्ठंते साहुपूजया ।  
परिफग्गं तु पामामो, संकमेतं वि उट्ठाणं ॥

विचारविहारादिको योऽवस्यतेत्यर्थः क्रियायोगस्तरत्र वने-  
मानो वहा समागच्छति तदा साध्वी अयसी तस्य पूजया ।  
यथा तु चङ्कमणं करोति तदा निरर्थको योगो वर्तते । अतश्च-  
ङ्कमण्यपि शुभो यदुत्थानं तत्परिफग्गं निम्भुसमेव पश्यामः । यत-  
उक्तं जगत्प्रवचनम्-“ जायं च णं सं जीये आरंजे वट्ठे सरंमे वट्ठ-  
इ तांश्च णं तस्स जीवस्स अंतकिरिया न जवइ ” ॥

अथ सुप्रतिविधानमाह-

कामं तु एषमाणो, अरंजईसु वट्ठं जीवो ।  
सो उ अणट्ठो णट्ठो, अवि बाहणं पि उक्खोवे ॥

काममनुमते यदेष जीव एज्जमान अरन्तमादिविषु कर्मबन्धकार-  
णेणु वर्तते, स तु स पुनः परस्परद्वेषाद्वर्षी निष्कारणं नेट्ठो नाभि-  
मन्ति । अपि बाह्णोत्तरेषु बाहुरत्नेषुमात्रेऽपि, किं पुनः चङ्कमण-  
गारिदित्तिपिषध्दार्थः । अथोदाहरणं-यः सार्थकः चङ्कमण-  
दिश्यापारः स इष्ट एवेति ।

अथ सार्थकोऽपि व्यापारः कथमिष्टः?, इत्यर्था जिह्वासायां यथा  
१७५

योगत्रयेऽपि व्यापार्यमात्रे दोषा यथा च गुणा भवन्ति तदेतत् प्र-  
तिपादयति-

मणो य वाया काभो अ, ति विट्ठो जोगसंगहो ।  
ते अनुत्तस्स दोसाय, अनुत्तस्स य गुणावट्ठो ॥

मनोयोगो वायुयोगः काययोगश्चैति त्रिविधो योगसंग्रहो मव-  
ति, संक्षेपतस्त्रिधायोगो जयतीत्यर्थः । ते मनोवाकाययोगा  
अनुत्तस्स अनुत्तस्स दोषाय कर्मबन्धाय प्रवर्ति, युक्तस्य तु  
त एव गुणावट्ठकर्मनिर्जकारिणः संपन्नते ।

इदमेव ज्ञापयति-

जह् गुत्तरियई, न होंति दोसा त्ठेव समियस्स ।  
गुत्तीडियप्पमायं, रंभइ समिई सचेट्ठस्स ॥

यथा किञ्च मनोवाकायगुप्तस्य ईयादिप्रत्यया अनुत्तस्सगम-  
नादिक्रिया समुत्था दोषा न भवन्ति, तथैव समित्तस्यापि च-  
ङ्कमणं कुर्वत ईयादिप्रत्यया दोषा न प्रभवन्त्येव । किं कारणम्?,  
इत्याह-यदा किञ्च गुत्तिषु मनोगुप्त्यादिविषु स्थितो जयति तदा  
योऽगुत्तिप्रत्ययः प्रमादस्ते निरुणक्ति, तस्मिन्प्रायश्चित्तप्रत्ययकर्मपि  
न भवति, यस्तु समित्तैः स्थितः सचेष्टस्य यः प्रमादा यश्च तत्प्र-  
त्ययः कर्मबन्धस्त्वोत्तिरोधिं विधादति ।  
परः प्राह-यो गुप्तः स समित्तो जवत्युत्त नेति ?, यो वा समित्तः  
स गुप्तो भवत्युत्त नेति ?, ।

अशुच्यते-

समित्तो नियमा गुत्तो, गुत्तं समियत्तणमि भइअण्वो ।  
कुमलवट्ठमुदीरंती, जं वट्ठसमित्तो वि गुत्तो वि ॥

इह समित्तयः प्रतीत्यारूपा इत्यन्ते, गुप्तस्य तु प्रतीत्यारूप-  
तीत्यारोमयकरुणाः प्रतीत्यारो नाम कार्यको वाचको व्यापारः,  
तो वाः समित्तः सम्यग्गमनज्ञापनादिच्छेद्यो प्रवृत्तः, स नि-  
यमाद् गुप्तो गुप्तियुक्तो मन्तव्यः । यत्र गुप्तः समित्तव भक्तव्यो  
विकल्पनाय, तत्र समित्तः कथं नियमाद् गुप्तः?, इत्याह-कुशलो  
निरवद्यतादिगुणोपेतं वाचमुदीरयन् वस्माद्वाक्यसमित्तोऽपि गु-  
प्तोऽपि । किमुक्तं भवति?-यः सम्यग्गुत्तिविकल्प निरवद्यतां भाषां  
जायते स ज्ञाप्यासमित्तोऽपि वाग्गुप्तोऽपि च भवति, गुप्तस्य  
तीत्यारूपतयाऽप्यभिधानानात् । अतः समित्तो नियमाद् गुप्त इति ।

गुप्तः समित्तव कथं प्रजनीतः?, इत्याह-

जो पुण कायवईओ, निरुज्ज कुसलं मण उदीरिइ ।  
विट्ठइ एक्कमण्णा, सो खलु गुत्तो न समित्तो उ ॥

यः पुनः कायवाची निरुद्य कुशलं गुत्तं मन उदीरयन् एका-  
ग्रमना धर्मध्यानपुण्ययुक्तचित्तः तिष्ठति स खलु गुप्त उच्यते, न  
समित्तः, प्रतीत्यारूपतयात् । यस्तु कायवाची सम्यक् प्रयुक्ते  
स गुप्तोऽपि समित्तोऽपि मन्तव्यः ।

अथ समित्तगुप्तीनां परस्परमवतारं दर्शयन्नाह-

वायगसमिई विट्ठया, तइया पुण माणुमी भूने समिई ।  
सेसा उ काइया उ, मणो उ सव्वासु अविहक्को ।

वाचिकसमित्तो, सा क्षीलाया वाग्गुप्तीमन्तव्या । यदा किल  
भाषासमित्तो भवति तदा यथा यथा भाषाया असमित्तप्र-  
त्ययकर्मवत्वं निरुणक्ति तथा वाग्गुत्तिप्रत्ययमपि कर्मबन्ध नि-  
रुणक्ति, एवं भाषासमित्तवाग्गुप्तीनां कत्वम् । तुतीयां पुनरेष-

शाक्या समितिर्मानसी मानसिकापयोशानिष्यका । किमुक्तं भवति ? यदा साधुप्रेषणासमितिः भवति, तदा श्रोत्रादिभिर्मिन्द्रियैस्त्वामकथाधानादिस्वस्थेषु शब्दादिस्वयुज्यते । अत एवास्या मनोगुप्तैकत्वम्, शेषास्तु समितय ईयांश्चादानिके-पांश्चादिपारिष्ठापनिकाश्याः काविकथः-कायचष्टानिष्यकाः । अत एवासां तिसृणामपि कायगुप्त्या सहैकत्वम् । (मनो उ स-वाधुः अथिकञ्चोत्ति) मानसिक उपधायाः सधोसु पञ्चैवापि स-मितिष्वविरुद्धः, समितिष्वप्येकस्यस्तीति भावः । अत एवम-नोगुप्तस्य सर्वासां समितिनां मनोगुप्त्या सहैकत्वम्-मन्तव्यम् । आह-मिन्नाथे गुरुद्वारे स्थितस्य तत्राद्यादीनि कल्पनीया-नि मार्गयतः श्रोत्रादिकरूपयुक्तस्य भाषासमितिमनोगुप्त्य-पणासमितिनां तिसृणामपि समयो दृश्यते । अतः किमासा-मकल्पमुत्तान्त्वयम् ? इत्याशङ्क्याऽह-

व्यनमितो ब्रिय जायद, आहारादीणि कर्षणजागि ।  
एनायाउवश्रोगे पुण, सोयति मागर्सी जवइ ॥

शुद्धितस्त्रिजिनादिवशशोपरदिने मया प्राहामित्येषणामसमिति-भावस्युक्तो यदा साधुप्रेषणादीनि कल्पनीयानि मार्गयति तदा वाक्कर्मनि एवासां जायते, न पुनमनोगुप्तः इत्येवकारा-यः । यदा तु श्रोत्रादिभिरपेणयामुपयोग करानि तदा मानसी नाम गुप्तिर्भवति, मनोगुप्तिरित्यर्थः । न पुनयोगभाषासमितिः । इदमेव तापर्थम्-आपासमितिः, मनोगुप्तस्येति द्वे समित्युत्तरी युगात्प्र भवतः । किन्तु भिन्नकाले, यथापि च "लणो य सव्यासु अविश्वेत्तोत्ति" वचनाद् भाषासमित्यापि मानसिकोपयोगः समित्ये, तथापि गौणत्वात्सां समिति न विवक्ष्यते इति ।

अपि च-

जो वि य उरियस चेट्टा, इत्यादीनां तु भोग्यासां ।  
सो वि य इरियासमिती, न कवइ चैकमेतस ॥

न केवलं चक्षुरमत्तश्चक्षुःकर्मण कुर्वते एव ईयांसमितिः किन्तु स्मितस्य गमनागमनक्रियामकुर्वते आङ्गकारिद्वेषु जङ्घवह्लसगम-सहलुद्विश्रुतेषु परावनेमानेषु जङ्गकारिश्चमा यथाऽपि हस्तादी-नां चेष्टा साऽपि परिस्पन्दरूपत्वाद् ईयांसमितिः प्रतिपत्सव्या । यच्च परेषु प्राणुक्तं चक्षुःकर्मण निरर्थकमित्यादि तत्परहराराय चक्षुःकर्मणुष्णानुपदर्थवति-

वायाइ सट्टाएणं, वयंति कुविद्या उ मंनिरौहेणं ।  
लापवमिगपकुचुं, परिस्समजश्रो अचैकमेतो ॥

अनुयोगदानादिनिमित्त यन्निर्गमेकरूपानोपवेशनलक्षणः सं-प्रिरोधः तेन कुपितः स्वस्थानावास्तितो ये वातादये धातवस्ते चक्षुःमनो नृपः स्वस्थाने प्रजतिः । लापव शरीरं त्रुष्णाय उपजायते । आङ्गिपटुत्वं जाड्यगतत्वात्प्राप्य च भवति । यस्तु व्याख्याना-दिजनितः परिश्रमः तस्य जयः कृतो भवति । एते चक्षुःकर्मनो गु-णा प्रवर्तन्ति, श्रोतौ न निरर्थकं चक्षुःकर्मणम् ।

आह यथेवं ततः किमवश्यं तत्राभ्युत्थानं कर्तव्यमुन न ?  
इत्यथोच्यते—

चंक्रमणे पुण जयइ, मा पलिमयो गुरुवितिश्रमिम् ।  
पणियावचदंणं पुण, काऊण सइं जहाजगं ॥  
पुनःशब्दो विशेषणे । स चैतद्दिशिनष्टि-प्रभवणविचाररूप्यान्दे-रागतस्य गुरोः कर्तव्यमेवाभ्युत्थानम् । चक्षुःकर्मण पुनमंके वि-

कल्पितम् । कथम् ? इत्यत आह-मा सूषार्थपरवर्तनायाः परिम-न्यो भ्याघातो भवतिवति कृत्वा यदि गुरुवो नभ्युत्थानव्यम् । अत एव गुरुभक्तिर्नीची सति सहदेक-धारमन्युत्थान विधाय प्रतिपालनम्तःशिरःप्रणामसङ्गणं कृत्वा भगवद् अनुज्ञानात्प्रवृत्तिर् भणित्वा यथायोगं यथैचित्तं सूषा-र्धगुणानादिकं ज्ञानार्थं कुर्यात् । अथवा गुरुवो न धारयन्ति ततो नियमाद्भ्युत्थानव्यम् ।

पुनर्गाप परः प्रेरयति-यदि चक्षुःकर्मणाभ्युत्थाने सूषार्धपरिम-न्यदोषो भवति तत इदमस्माभिरुच्यते-

अट्टमुट्टमिदं वुचइ, जं चंक्रमणे वि होइ उट्टाणं ।  
एवमकारिज्जंतो, जहमभोइ व मा कुट्टा ॥

अत्रिसुपुतीव मुकुट्टे, नोअन्तमिदं भवतिउच्यते-यच्चकुट्टमनेऽ-व्युत्थानं कर्तव्यं भवति । सुरिराह-एवं चक्षुःकर्मण्यविषयमन्यु-त्थानमकार्यमाणा भद्रकर्मोत्तकस्यैव प्रसङ्गतो मा होपमर्थाव-नय कार्पुर्गतिरुत्त्वा चक्षुःकर्मणोऽपि अभ्युत्थानं कार्यते । अथ का-ऽय भद्रकर्मोत्तकः, इत्युच्यते । "जहा-पो भोइहो तस्स रक्षा तुघेण गाममरुत्तं पमामणे दिक्कं सो तस्य गतो, ताहे ते गाभि-ल्लया तदा भइमां सामी बजेत्ति (अनुत्तरित्यर्थः) तत्रां ते जो-इय विवर्धेते-अहे तव पुनात्तुत्तस्य तिवा जाया, ना अम्हे चित्तणज्ज क्त काठ कर पुणपरिमाणांशो भोयत्तं करेहि, ज्ञा-इएण अट्टमुवयइ । अत्रया ज ज ते विवर्धेति नो त सो भइ-श्रो नेत्ति गाभिल्लयाण अट्टमुगह करइ । अत्रांशोत्तकस्येण ल-इवसरा ते जहाइरहे गिणय भिनउमाइत्ता । ततो भोइएण रुडेण क्कामोत्तुत्तया दत्तिया, कइ उइविया" एते विद्वन्तो । अ-यमाथोवश्रोभां-कस्येण अणुत्तुत्तुणं, मसं पि विताय प-रिद्विउज्ज, ततो कटो अथोरयो पाच्छकं दट्टिउज्जा, ज य तस्य अंबंतायराह्णिणे ते गच्छन्तो निरुत्तुत्तुत्तुणं, तिणयमकारिज्जता य ते इह लोए पारंशोए य परिच्यत्ता जयंति । अथारिश्चोय-स्यगामुवमयाण नेत्ति न मरेद्वणकारो भवइ, भइमा चंके-मणे वि ते अश्रुत्तुत्तुणं कारिज्जति" ।

अपि च-

वसजाण होति इहुगा, असाएणे मारणे अपचिच्छता ।  
ते वि य पुरिमा तुविदा, पेनरजगा अजिमुट्टा य ॥

ये ते गुरुचक्षुःकर्मणादिपुनान्यासिर्घातनाय यदि वृषभा न मार-यन्ति-कस्मादाचार्योन्मात्रुसिष्टथ । ततो वृषजाणां चतुल्लेघयः । अथ वृषभैः प्रतिनोदिताः पर ते न प्रतिश्रुयन्ति, ततः सारण कुंते सति वृषभा अप्रायश्चित्ताः, इतरे प्रायश्चित्तमापद्यन्ते । अ-नभ्युत्थाने असारणार्थां चामो दोषा जवन्ति-ये प्रतिपच्छका उ-पसंप्रतिपत्स्यंभोयाताः ते द्विविधा पुरुषा भवन्ति-पञ्जर-जज्ञाः, स्वयमाजिमुवाश्च । तत्र गच्छं वसन्तं यदाचार्योपाया-यवचंके, त्वयिगामावच्छुदिकाक्यपदस्यपञ्चकस्य पारतस्यं यावत् परम्परं प्रतिनादताः, एतत् पञ्जरमस्यते, एतस्मात् प-ञ्जराश्च निन्दन्ताः । पञ्जरमज्ञाः स्वयमाजिमुवास्तु-पाश्वस्था-उचयवमश्राविरागिगच्छाचारिभ्रान्तिलपानात्संविभ्रगच्छं प्रोपु-कामाः तत्र ये पञ्जरभना भ्रान्तान्भेयानामभ्युत्थानविषयाः । मुत्पस्यतु पाश्वस्थ्यायप्रतिनोदतो ह्युा चिन्तयति-जगा कटो अट्टुटा-पोरा देट् अट्टुट्टाणं सोही । अनिगोट्टुट्टो वानो, होइणे ण इत्थं चिट्ठापो ॥

अस्माकं पूर्वस्मिन् गच्छे वसनामाचार्यस्य चक्रकमलादिषु वारं वारं अभ्युत्थानेन कदा जग्मा, आचार्यो नाप्युत्थीयते तदा शार्ङ्गि प्रायश्चित्तं प्रयच्छति, गाढं च खरपरशैः खरपटयति, अस्मिन्तु गच्छे न प्रायश्चित्तं, न च खरपटना, अतोऽनिराधोऽसिन्- यन्त्रणा, तेन सुखं सुखदायी वासोऽयं 'य' अस्माकं त्रिविध्यति, तिष्ठामो वयमत्रति कृत्वा तत्रैव तिष्ठेयुः, न भूयः स्वगच्छं गच्छेयुः।

जे पुण उज्जयचरणा, पंजरभगो न रोपए ते उ ।  
अत्रत्य वि सद्दरत्तं, न लम्भई एति तत्त्वेव ॥

ये पुनरुत्थनचरणाः स्वल्पेऽप्यनप्युत्थानादावपराधे सम्यक्-प्रतिनादमाकारिणः तान् पञ्जरजग्मा न रोचयन्ते, न क्विपथं प्रापयति । विन्ययति च-अन्यत्रापि गच्छन्तरे स्वैरिव स्वातन्त्र्यं न लम्भयति इति विचिन्त्य तत्रैव स्वगच्छे एति समागच्छति । अत्र संयमानिमुखोऽसौ समागतस्ततः किम् ? इत्याह-  
चरणोदासीणे पुण, जो विपज्जहाय आगतो मणो ।  
सो तेसु पावेममाणो, सद्दं वहेइ आंजअं वि ॥

यः पुनः भ्रमणक्षरणोदासीनान् पार्श्वस्वादीन् सुखदालिशिहारिणां विप्रहाय संयमानिमुखः समागतः स तेषु गच्छान्तरैः येषु साधुषु प्रविशद् उभयपार्ष्णि साधूनां श्रुतं वर्कयति । तथाह-यत्र गच्छे असौ प्रविशति तद्द्वीयाः साधवः चिन्तयन्ति-एयं 'सुन्दरा अमी' इति परित्रायास्माकं मध्ये प्रविशति, अतः सुन्दरतरं कुमेते । यस्मादपि गच्छादायातः लदीया अपि विन्ययन्ति-अस्माद् सुखश्रानिर्मानं विश्वायैव गच्छान्तरं गच्छन्ति, अत्र वयमुत्थना भवाम इति ।

अथासौ संयमानिसुखस्त्रापि सामाख्यारोहापने प्रतिनोदना-बा अत्रायं च पश्यति, तत्रश्चिन्तयति-

एव्य वि मंगाहाणी, एते वि ह् सारवारणायुक्ता ।  
अन्ने वयः अतिमुद्दो, तपच्चयनिजराहाणी ॥

अत्रापि गच्छे, न केवलं पूर्वस्मिन्प्रायश्चित्तार्थाय । भयादाया अभ्युत्थानादिसामाख्यार्यो हानिरवलोभयते, एतेऽपि च साधवः सारणवारणया युक्ताः परिरुद्धे प्राक्तनगच्छमाश्रय इव निरगताः समीच्यन्ते, अतः कां नामामीयां समीपे स्थास्यतीति मया स संयमानिमुखः साधुरभ्याद् गच्छान्तरियाद् साधून् ब्रजति प्रविशति । प्रविशतु नाम गच्छान्तरं, का नो हानिरिति चेत् ? अत आह-तत्रप्रत्यया-तस्य साधोः संयमानुपलभो-पष्टम्भकारणहेतुका या निजरा, नया हानिः प्राप्नोति, सा न भवतीत्यर्थः ।

आह-किं कारणमसौ तेषु तत्र विशति ? इत्याह-  
जहि नतिय सारणा वा-रणा य पहिवायणा य गच्छम्मि ।  
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तवो ॥

विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये भवतेत् न कृतमित्येवंप्रकारा स्मारणा स्मरणे, अकर्तव्यनिषेधो वारणा, उपलक्षणत्वादप्यथा कर्तव्य-प्रनामेणादिना अप्यथा कुर्वतः सम्यक् कृत्वेना प्रेरणा, चारित-स्याप पुनः पुनः प्रवर्तमानस्य आरपठवोक्तिभिः शिक्लुषं प्रति-नोदनाः एताः सारणाद्वयो यत्र गच्छे न सन्ति स गच्छो गच्छ-कायिकरणादिगच्छो मन्तव्यः । अत एव संयमकाशिना संयमा-

भिमुखेन साधुना मोक्तव्योऽसौ, नाश्रयणीय इति भावः । गा-धारां प्राकृतत्वाविकारस्य दीनेत्यम् ।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमभिधित्तुः प्रस्तावनामाह—  
अयमपरो उ विकल्पे, पुष्वावरवाहय चि ते बुद्धी ।  
लोए वि अणोएगविई, नणु भेसज मां रुजोवसमे ॥

अयमनेनमाधारायै बह्वयमणोऽपरः प्रायश्चित्तस्य विकल्पः प्र-कारः । अत्र परः प्राह-पूर्वापरव्याहतिमिदम्, पूर्वमन्याहशं प्राय-श्चित्तमुक्त्वा यदिदानीमन्याहशमभिधीयते तदेतत् पूर्वापरवि-रुद्धमिति ते तव बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते-ननु लोकेऽपि रजोपश-मे विधातव्ये यथा त्रिकोणत्रिकोणिकादिभेदादनेकविधे त्रिपद्यं, 'मा' इति पादपूर्वः । प्रयुज्यमाने हृद्येव, एवमत्राप्येकस्यै-वानभ्युत्थानस्य तथा क्लृप्तमाजनादिजन्मानेकविधं प्रायश्चित्त-मभिधीयमानं न विकल्प्यते ।

इयं परानिजुत्तं परिहृत्य प्रायश्चित्तमाह—  
वीर्यारमाहुमंजङ्-निगमपदसंघरायसहित्ति ए तु ।  
सहगो लहुगा गुरुगा, उम्भामा छेदमूत्तुमे ॥

आचार्यै विचारभूमैरागत नाभ्युत्तिष्ठन्ति मासलघु, साधुभिः सममायानमनन्युत्तिष्ठतां चतुलेषवः, संयतीनिः समं चतुष्टय-वः, निगमैः पौरवाण्यविशेषैः समं परलघवः, घटया महतरा-दिगोष्ठीपुरुषसमवायविक्रान्त्या समं क्लृप्तः, मधेन समं मलम्, राक्षस समप्रभवस्थाप्यम् । ( सहिए स्थि ) संघमहितेन राक्षस समायानमनभ्युत्तिष्ठतां पराश्रिकम् । गतमन्युत्थानम् । ६० ३ उ० । ( यत्रावसंरे यैतो काणैरभ्युत्थानं त कर्तव्यं तदे-तम् सर्वं 'अदसेस' शब्देऽस्मिन्नय भागे ५४ पृष्ठे दर्शितम् ) पुनरैतन्करिष्यामीत्यन्युत्थानम्, स्था० ३ जा० ३ उ० । प्रयत्नं, स्था० २ जा० १ उ० । आसन्त्यागप्ये, संभोगासंभोगस्थाने यथा पाहवेस्थादिरेव्युत्थानं कुर्वन्सङ्गमभाष्यः स० १२ स० । प्रव० । आ० । आ० च्चु० । गुरुनागतान् दृष्ट्वा स्वकीय-स्थानादूर्ध्वभयने, उ० ३३ अ० । ( अभ्युत्थाने दृष्टकः 'सङ्कार' शब्दे दर्शयिष्यते ) ( त्रिभिः स्थानैरेवा अभ्युत्तिष्ठ-युरिति 'मणुस्सल्लय' शब्दे दर्शयिष्यते । )

अभ्युत्तिष्ठत्-अभ्युत्थातुम्-अव्य० । अभ्युपगन्तुमित्यर्थे, स्था० २ टा० १ उ० ।

अभ्युत्तिष्ठ-अभ्युत्थित्ये-त्रि० । कृतोद्यमे, 'अभ्युत्थियं गद्यरि-क्षि, पयञ्जातागमुत्तमे' उ० १ अ० । "अभ्युत्थियसु मेरेसु" प्रवेष्टवणाय कृतोद्यमेषु, ज्ञा० १ अ० । प्रारब्धे, ध० ३ अधि० । अभ्युत्तिष्ठे, उ० ६ अ० । सं० ।

अभ्युत्तिष्ठता-अभ्युत्थात्-त्रि० । अभ्युपगन्तव्यं, स्था० ५ टा० १ उ० ।

अभ्युत्तिष्ठेपञ्च-अभ्युत्थातव्यं-त्रि० । अभ्युपगन्तव्ये, स्था० ०८ जा० ।

अभ्युत्थाय-अभ्युत्थानं-त्रि० । उन्नतिमति, ज्ञा० १ अ० ।  
"अभ्युत्थय रथयनीलनेलनसुदनिजन्मना" अभ्युत्थता रतिदाः सुखदाः, अथवा पवित्रा इव रजिताः, तसिनाः प्रजन्ताः, ताप्रा आरक्ताः शुचयः पवित्राः, क्षिभाः कान्ताः, लक्षा यथां त तथा । प्रश्न० ४ आश्व० ब्रा० । "अभ्युत्थयणीण्यदस्यसंघियपसोहर" अभ्युत्थनावुषो पानौ स्थूलौ रतिदौ सुखप्रदौ संस्थितौ विशिष्ट-

संस्थानकन्तौ पयोऽपरी स्तनौ यस्याः सा तथा । (चरतल्पी )  
आ० ३ प्रति० । हा० । अत्युत्कटे, आ० म० प्र० । ज० । रा० ।

अनुसूत्-स्ना-धा०, पर०, षदा० । शौके, " स्नातेरनुसूत्ः "  
। ऽ । ४ । १४ । इति सूत्रेण धातोः ' अनुसूत् ' इत्यादेशः ।  
अनुसूत्-स्नाति । आ० ४ धा० । प्र-दीर्घ-धा०, दिवा० ।  
आत्मप्रकारो, " प्रदीपस्तेअव-संक्रमसंयुक्ताः स्नाः " ८ । ४ ।  
। १२ । इति सूत्रेण प्रदीप्यतेः ' अनुसूत् ' आदेशः । अनुसूत्-  
त्-प्रदीप्यते । आ० ४ धा० ।

अनुसूद्य-अनुसूद्य-पुं० । राजलक्ष्यादिलाभे, हा० २ अ० । अ-  
नुसूद्यो यद्येह राज्यानिषेकादिशीतये भवति तथा स्वर्गोपवर्गे-  
प्राप्तिहेतुत्वाद्यस्य संस्कारकस्य, अत एवऽनुसूद्युदयः । संघा० ।

अनुसूद्यफल-अनुसूद्यफल-त्रि० । अनुसूद्यनिवर्तके, पां०  
९ वि० ।

अनुसूद्यहेह-अनुसूद्यहेतु-पुं० । कल्याणनिमित्ते, पञ्जा० ८  
वि० ।

अनुसूद्यावृत्ति-अनुसूद्यावृत्ति-स्त्री० । स्वर्गोदरव्य-  
वच्छेदे सन्ततौ, पां० ६ वि० ।

अनुसूय-अनुसूत्-त्रि० । सकलवृत्तनातिशयिनि भुतशिल्प-  
त्यागपदशौचकामादिकेः अपूर्वे वस्तुनि, उपचारात् तद्दर्श-  
नअवधारित्यो जाते विस्मयरूपे रसविशेषे, पुं० अनु० ।  
अनुसूतरसं स्वरूपतोऽज्ञेयतश्चाऽऽह-

विम्हयकरो अनुसूयो, अनुसूतुअनुसूयो च उभो रमो होइ ।  
हरिसविमोऽप्युत्पत्नी-ज्ञकत्वपा उ अनुसूओ नाम ॥ ६ ॥

अनुसूओ रसो जहा-

अनुसूअतरमिह एतो, अन्नं किं अत्यि जीवलोगम्यि ।  
जं निणवयणे अत्या, निकालजुत्ता मुणिज्जंति ।

कस्मिंश्चिदनुसूते वस्तुनि दृष्टे विस्मयं करोति, विस्मयोत्कर्ष-  
रूपो वा रसो नवति साऽनुसूतो नामेति संज्ञः । कथंभूतः ? ,  
अपूर्वोऽनुसूतपूर्वो वा । अनुसूतपूर्वः किञ्चक्षणः ? , इत्याह-  
दर्थविषयादावप्यसिद्धक्षणः, अन्नं वस्तुम्यद्वृत्ते दृष्टे हर्षजननल-  
क्षणः, अनुसूते तु विषादजननलक्षण इत्यर्थः । उदाहरणमाह "अ-  
नुसूत"-गाथा । इह जीवलोकेऽनुसूततरं इतो जिनवचनत्वं कि-  
मन्यद्विदित, नास्तीत्यर्थः । कुतः ? , इत्याह-यद्यस्मान्जिनवचने-  
नाथां जीवाद्यः सूक्ष्मव्यवहिततिराहिताऽऽनन्दिष्यामूर्ताद्वि-  
स्वरूपा अनीनामाततवर्तमानरूपाः त्रिकालयुक्ता अपि ज्ञायन्त  
इति । अनु० । " अनुसूप नापि अनुसूत वापर अनुसूप नष्टे " अ-  
नुसूतमाश्चर्यकारि । रा० ।

अनुसूवगम-अनुसूवगम-पुं० । अङ्गीकरणे, स्था० २ ज्ञा० ४ अ० ।

अनुसूवगमसिद्धत-अनुसूवगमसिद्धत-पुं० । सिक्कतभेदे, हा०

स च-

जं अनुसूविषय कीरुह, मेच्छापे कहा स अनुसूवगमो उ ।  
सीतो बन्दी गयजू-ह तगमो मगुत्तरसिमा ॥

यत् अनुसूयेत्येवच्छेद्या अनुसूवगमस्य वादकथा क्रियते । यथा-  
शोनां यन्दिह, राजसूयं तुषामे, मन्त्रेजलकाकस्य, अरस्य च शुक्ल-

य, इत्येवोऽनुसूवगमसिद्धतः । हा० १ उ० । अपरीकितार्थोऽनुसू-  
वगमसिद्धोऽपरीक्षणोऽनुसूवगमसिद्धतः । तद्यथा-किशब्दः ? ,  
इति विचारो किञ्चिदाह-अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽ-  
द्यानित्य इत्येवं विचारः । सूत्र० १ सु० १२ अ० ।

अनुसूवगम-अनुसूवगम-त्रि० । अजि आभिमुख्येनोपगतः ।  
आवा० २ सु० ३ हा० १ उ० । अनुसूवगमवति, स्व० ७ उ० ।  
संप्राप्ते, पा० । अतसंपदोपसंपन्न, आ० म० प्र० । अङ्गीकृते,  
पां० ७ १ शार ।

अनुसूवगमिया-अनुसूवगमिकी-स्त्री० । अनुसूवगमेनाङ्गीक-  
रणेन निवृत्ता तत्र अवा वाऽऽनुसूवगमिकी । स्वयमनुसूवगमतायां  
(वेदनायाम्) । स्था० २ ज्ञा० ४ अ० । या हि स्वयमनुसूवगमन्येन  
यथा-सायुजिः प्रवृत्त्याप्रतिपत्तिनोऽज्ञानचर्येऽनुसूवगमकतो-  
ऽनुसूवगमतापनादितिः शरीरपीडाऽनुसूवगममम । ज० १ हा० ४  
अ० । " तुविहा वेदना पशुता । न जहा-अनुसूवगमिया य  
उवक्कमिया य " प्रहा० ३४ पद ।

अभगम-अभगम-त्रि० । न भग्नाऽऽनमः । सर्वथाप्रविनाशिते,  
" यवमादिपहि आगारोदे भग्नामोऽविवाराहिओ हुक्क मे काड-  
स्समां " । आध० ५ अ० । घ० । ल० । आ० च० ।

अभगसेण-अभगमेन-पुं० । विजयाजिघ्रसन्चौरसेनापति-  
पुत्रे, विषा० । तत्कथानकं चंद्रम-

तत्सम उक्त्वेवो एवं खलु-जंजू । तेणं कालेणं तेणं  
समएणं पुरिमतालगामं एयरं होन्त्या, रिच्छि० तस्म एं  
पुरिमतालस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ एं अ-  
मोहदंसी उज्जाणे, तत्थ एं अमोहदंमिस्स जक्खस्स  
जक्खायतणे होन्त्या, तत्थ एं पुरिमताले मट्ठन्वले  
णामं राया होन्त्या, तत्थ एं पुरिमतालस्स एयरस्स  
उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए देसपंते अरुवीं संसया । एत्थ  
एं सालाढवीं एणं चोरपट्ठीं होन्त्या, विसमगिरिं-  
दरकोलंबमणिएविहा वंसीकल्लेकपागपरिक्खिता त्रि-  
एणंसेवाविमपवपायफरिहोवयूहा अग्नितरपाएया सु-  
दुद्धभजनेपरेता अणेगखंडं । विदितजगएिएणनिगम-  
पपेसाया मुक्खद्वयस्स विकविजयस्स जएस्स दुप्पवेसाया  
वि होन्त्या । तत्थ एं सालाढवीं चोरपट्ठीं विजए  
णामं चोरसेणावद परिचरद, अहम्मिणं जाव हो-  
हियपाणं बहुणयरएग्गमजसे सूरे ददपट्टारे साहस्सिणए  
सरवेही अस्सिक्खिणममट्ठे, सं एं तत्थ सालाढवीं चोर-  
पट्ठीं ए पंचएहं चोरसेयाणं आदिहवंबं जाव विहरइ । तए एं  
से विजए चोरसेणावद बहुणं चोराण य पारदारियाण  
य गंतिच्छेयाण य संविज्जेयाण य संवपट्टाण य अएणे-  
सिं च बहुणं त्रिएणभिएणवाहिराऽहियाणं कुर्केया वि  
होन्त्या । तएणं विजयचोरसेणावदपुरिमतालस्स एयरस्स  
उत्तरपुरच्छिभिणं जएवयं बहुहिं गामपाएहि य एयर-

घाएहि य गोमगहणेहि य बंदिग्गहणेहि य पंयकोट्टेहि य खलखणणेहि य उर्वाक्षेमाणे उर्वालेमाणे विद्धंसेमाणे विद्धंसेमाणे तज्जमाणे तज्जमाणे ताक्षेमाणे तालेमाणे णित्थाणे निच्छणे णिच्छणे करेमाणे विहरइ, मह-  
 ब्वल्लस रएणो अजिक्खणं २ कप्पाइ गिएहइ, तत्थ एं विजयस्स चोरसेणावडस्स खंभसिरी णामं जारिया होत्था । अहीणं तत्थ एं विजयचोरसेणावडस्स पुत्ते खंभसिरीए भारियाए अचए अजग्गसेणं णामं दारए होत्था अही-  
 णं । तेणं काक्षेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरं पुरिमतालणामं एणेरं जेएव अपोहदंती लज्जाणे तेणेव समोसंठे परिसा राया निग्गओ,धम्मो कहिओ, परिसा राया विग्गओ, तेणं काक्षेणं तेणं समएणं समणस्स जगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी गोयंमं जाव रायभग्गं सभो-  
 वगाइ तत्थ एं बहवे इत्थं पासइ, तए एं तं पुरिसं राया पुरिसा पदमंसि चच्चरंमि णिसियाविंति, णिसियाविंतित्ता अट्ठच्चुद्धविउए अग्गउयाएइ कसप्पहारिहिं ताक्षेमाणे २ कट्ठुणं काकणिमंसई खावइ,खावइत्ता रुहरिपाणं च पाय-  
 ति । तयाएतंरं च एं दोंबं पि चच्चरंसि अट्ठसहुमाउयाओ अग्गमा घाएयति, घाएयतित्ता एवं तथेच अट्ठमहापिउए, चउत्थेच अट्ठमहामाठए, पंचं पुत्ता, छट्ठे सुएहा, सत्तमं जामाउया, अट्ठमं धूयाओ, नवमं नत्तुया,दसमं एत्तुयओ, एकारसे णत्तुयावइ, बारसमे णइसीओ,तेयारसमे उस्सिय-  
 पतिया, चउहसमे पिठस्सियाओ, पण्णारसमे मासियाओ पइ-  
 याओ, मोहसमे मासियाओ ०,सचरसमे मासियाओ,अट्ठार-  
 समे अवसेसं मिचणार्इणयगसयणसंबंधिपरिजणं अग्ग-  
 ओ धार्यति,प्रार्थत्तत्ता कसप्पहारिहिं ताक्षेमाणे ३ कट्ठुणं का-  
 कणिमंसई खावेइ रुहरिपाणं च पाएइ । तए एं से भगवं गो-  
 यंमे तं पुरिसं पासइ, पासइत्ता अयंमेयारूवे अज्जवत्थिये ५ समुपयसं जाव तंहेव णिग्गए एवं वयासी-एवं खलु अहं  
 अंतं ।स एं जंते । पुरिसे पुव्वभवे क आसीं जाव विहरइ । एवं खलु गोयमा ! तयं कालणं तयं समएणं इहेव जंजुइ वि  
 जारहेवासे पुरिमतासे णामं णयेइ तात्था,रिच्छिं ३ तत्थ एं पुरिमताले उदये णामं राया होत्था,मट्टया तत्थ एं पुरिमताले  
 निजए णामं अंरुयवाणियए होत्था,अहं जाव अपरिभूए अहंमिअए जाव तुप्पकियाएउंदे तस्स एं णिएणियस्स अं-  
 टपवाणियस्स बहवे पुरिसा दिग्गजजिज्जवेयणा कल्लाकल्लि कोहालियाओ य पत्थियाए पकिए गेएहइ, गेएहइत्ता पुरि-  
 मताहस्स एयरस्स परिपेरंतं सुबहुकाकअंरुए य धूतिअंरु-  
 ए य पारेवडेट्टेहिंजन्मभूमिपुकिकुडिअंरुए य अएणेसिं  
 चेव बहूणं जलपरयल्लपरत्सद्वयमारिणं अंरुइ गेएह-

इ, गेएहइत्ता पत्थियपकिणइं जरेइ, जरेइत्ता जेणं व  
 निएणए अंरुवाणियए तेयेव उवागअंरुइ, उवागअंरुइत्ता  
 णिएणयस्स अंरुवाणियस्स उवणेइ, तए एं तस्स  
 णिएणयस्स अंरुवाणियस्स बहवे पुरिसा दिएणअए  
 बहवे कायअंरुए यं जाव कुकुअंरुए य अएणेसिं च बहूणं  
 जस्यअस्सवेचरमारिणं अंरुए तएपसु य कंरुएसु य जज्ज-  
 णएसु य इंगाक्षेसु य तल्लिति जज्जति सोल्लिति, तल्लित्ता  
 जज्जंता सोल्लित्ता य रायभग्गं अंतरावणंसि अंरुवपणियणं  
 विंति कल्पेमाणे विहरइ, अएणो वि य एं से निएणए  
 अंरुवाणियए तेमिं बहुहिं कायअंरुएहि यं जाव कुकुडि-  
 अंरुएहि य सोल्लितिं तल्लि भज्जे सुखं च ५ आसाए ५  
 विहरइ, तए एं से णिएणए अंरुए एयकम्मं ६ सुबहुपायं  
 समाज्जिता एणं वासहस्सं परमां ठं पालइ,पालइत्ता कालमासे  
 कालं वत्ताए पुडवीए उक्कोसमत्तसागरोवमट्ठितीएसु एरइ-  
 एसु एरइवत्ताए उववसे, से एं ताओ अणंतरं उव्वट्ठिता  
 इहेव साल्लादवीए चोरपट्ठीए विजयस्स चोरसेणावडस्स खं-  
 दसिरीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तए उववसे, तए एं से  
 खंदसिरीजारियाए अल्लया कयाइं तिएई मासाणं बहुपकि-  
 पुसाणं इमेयारूवे दोहसे पाउअंरुए-धम्माओ एं ताओ अम्म-  
 याओ ५ जाणं बहुहिं मिच्छाईणियगसयणसंबंधिपरियण-  
 माहिसाएहिं अमोहि य चोरमाहिसाईं सच्छिं संपेरिउक्का  
 एहायां जाव पायच्छित्ता सव्वाअंकारत्तुसिया विउलं  
 असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणे ५ विह-  
 रइ । निमियच्चुत्तरागयाओ पुरिमसेवत्थिया समाइ ० जाव  
 पट्टरणावरणाभरिएहि य फलएहिं णिच्छिइहिं असीहिं  
 अंसागएहिं तोणेहिं सज्जिं वेहिं थणुहिं समुक्खिचेहिं सरोहिं  
 समुद्धान्वेलियाहिं य दामाहिं लंविपाहिं उसायाहिं  
 उरुपट्टाहिं डिप्पत्तरेणं विज्जमाणं विज्जमाणे महया २  
 उक्किं ० जाव समुत्तरवचूयं विव करेमाणीओ सासाइ-  
 वीए चोरपट्ठीए सव्वओ समंताओ सोएमाणीओ ३ अ-  
 हिंरुमाणीओ ३, दोहलं वि णिति-तं जइ अइं अहं पि  
 बहुहिं णाईणियगसयणसंबंधिपरियणमाहिसाईं असेहिं सा-  
 साइवीए चोरपट्ठीए सव्वओ समंताओ सोएमाणीओ ३  
 आहिंरुमाणीओ ३ दोहलं विण्णजामिं चि कडु तंसि  
 दोहलंसि अविण्णजामांसिं जाव जिज्यामिं तए एं से  
 विजए चोरसेणावइ खंदसिरीजारियं ऊहयं जाव पासइ  
 एवं वयासी-कियहं तुमं देवा ऊहयं जाव जिज्यासिं,  
 तए एं सा खंदसिरी भारिया विजयं एवं वयासी-एवं  
 खलु देवाणुप्पिया ! मं तिएई मासाणं ० जाव जिज्यामिं, तए  
 एं से विजये चोरसेणावइ खंदसिरीजारियाए अंतियं  
 एयमइ मोच्चा णिसम्म खंदसिरीभारियं एवं वयासी-



अहासुहं देवाणुपिप । एयमहं पकिमुण्डे, पदिणेइत्ता तया-  
 णंरत्तं सा खंदेसिरी जारिया विजयणं चोरसेणावइत्ता अन्न-  
 सुष्वाया समाणी हट्टुहवहुहिं विषाणं जाव अषेहि यवहुहिं  
 चोरपदिज्ञाहिं सद्धिं परिवुका एहाया० जाव विपुसिया विपुसं  
 असणं पाणं स्वाइमं साइमं सुरं च ५ आमाएमाणी ४ विहरइ ।  
 जिमियजुचुरागया पुरिसणवइत्ता सख्खच्छेणं जाव आ-  
 हिंदिमाणं । दोहलं वि विंति, तए णं सा खंदेसिरी जारिया  
 संपुष्पदोहइत्ता समाणीयदोहइत्ता विणियदोहइत्ता बोच्चि-  
 एणदोहइत्ता संपुएणदोहइत्ता तं गम्भं सुहं सुहणं परिवहरइ,  
 तए णं सा खंदेसिरी चोरसेणावइत्ता एतएहं मासाणं व-  
 हुपभिसुष्माणं दारयं पयाया । तए णं से विजयचोरसेणा-  
 वइ तस्स दारगस्स इद्धिसकारसमुदएण दसरत्ताइइपदिंयं  
 करइ, तए णं से विजयचोरसेणावइ तस्स दारगस्स ए-  
 कारसमे दिवसे विपुलं असणं पाणं स्वाइमं साइमं उवक्ख-  
 णावेइ, उवक्खणविता भित्तएणं आभं तएइ, आमं तएत्ता०  
 जाव तस्सेव मित्ताणपुरआए एवं वयासी-जम्हा णं अम्मं  
 इमांसि दारांसि गम्भयंमि ममाणंसि इमेया रुचे दोहइत्ते  
 पाठञ्जए तम्हा णं होउं मयं दारए अमंगसेणणामेणं,  
 तए णं से अजंगसेणकुमारे पंचवाइ० जाव परिचायइ, तए  
 णं से अजंगसेणे णामं कुमारे उम्मुकुत्तालू जावं यावि हो-  
 र्वा, अइ दारियाओ० जाव अइआं दाआ उप्पिं लुंजइ ।  
 तए णं से विजए चोरसेणावइ अएणया कयाइ कात्तवम्मु-  
 षा संजुचे, तए णं से अजंगसेणकुमारे पंचहिं चोरसएहिं  
 सद्धिं संपरिवुमे रोयमाणे विजयस्स चोरसेणावइस्स महाया  
 इद्धिसकारसमुदएणं एहिइरणं करइ, करइत्ता वहुहिं होइयाइं  
 मयकिवाइं करइ, करइत्ता कात्तेणं अप्पए जाए यावि होत्था,  
 तए णं से अजंगसेणकुमारे चोरसेणावइ जाए अहम्मिए०,  
 जाव कएयाइं गेएहइ, गेएहइत्ता तए णं ते जाणवया पुरिसा  
 अजंगसेणचोरसेणावइत्ता बहुगाम्भयावणहिं ताविया स-  
 माणा अक्षमसं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु  
 देवाणुपिपया । अजंगसेणचोरसेणावइत्ता पुरिमताजे णयरे  
 पुरिमताज्ञाणयस्स उत्तरिद्धं जणवयं वहुहिं मामयापहिं०  
 जाव गिच्छणं करमाणे विहरइ, तं मयं खलु देवाणुपिपया ।  
 महक्खस्स रस्से एयमहं विएणुवित्तए तए णं जाणवया  
 पुरिसा एयमहं अएणमएणं पमिसुणं, पमिसुणेइत्ता महत्तं  
 महत्तं महरिहं रायरिहं पाहुं गिएहइ, गेएहइत्ता जेणव पु-  
 रिमताजे णयरे तेषव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता जेणव म-  
 हक्खले राया तेषव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता महक्खलस्स  
 एणो तं महत्तं० जाव पाहुं उवसेइं करयस्सअज-  
 ङ्गिं कहु महक्खलं रायं एवं वयासी-तुवुं बाहुच्छा-  
 या परिमदिया निजया विरावेगा सुहं सुहणं प-

रिबसित्तए मालादवीचोरपद्धिए अजंगसेणे चोरसेणा-  
 वइ अम्मं बहुहिं मामयापहिं ५० जाव पिदुणे करं-  
 माणे विहरइ, तं इच्छापि णं सार्वा ! तुवुं बाहुच्छाया परि-  
 ग्गहिया पिठनया निक्खिग्गा सुहं सुहणं परिवसित्तए णि  
 कहु पायवनीया पंजसिउत्ता मइम्महरायं एयमहं विएणवत्ता  
 तए णं से महक्खले राया तसिं जणवयाणं पुरिसाणं अं-  
 तिए एयमहं साक्षा एिसम्म आरुसुणे० जाव मिसिमिसे-  
 माणे ति बलियं भिज्जामिं पिज्जामे साहइ दंढं सदावेइ, सदा-  
 वेइत्ता एवं वयासी-गच्छइ णं तुवुं देवाणुपिपया । सास-  
 कविचोरपद्धिं विपुलपहिं अमंगसेणचोरसेणावइं जीवग्गाहिं  
 गिएइत्ता मयं उमणंहिं, तए णं से दंढं ते दहं चि  
 एयमहं पमिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता तए णं से दंढं बहुहिं पुरि-  
 सेहिं सख्खच्छेणं जाव पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुमे मगाइपहिं  
 कएणमि० जाव पिपत्तेरिं वज्जमाणं महया ठाकिट्टणायं  
 करमाणे पुरिमताजे णयरे मउकं मउक्केणं निग्गच्छइ, नि-  
 गच्छइत्ता जेणव सालादवी चोरपद्धिं तेषव पट्टारत्त्यग-  
 मणाए तए णं तस्स अमंगसेणावइस्स चोरपुरिसे इधी ने  
 कटाए सक्खे म्माणे जेणव सान्नादवी चोरपद्धिं जेणव अ-  
 मंगसेणावइ तेषव उवागया करयल० जाव एवं वयासी-  
 एवं खलु देवाणुपिपया । पुरिमताजे णयरे महक्खलेणे ग-  
 षा महया भक्खकरणं परिवारेणं दंढं आणए-गच्छइ णं  
 तुमं देवाणुपिपया । सालादवीचोरपद्धिं विपुलपहिं, अमं-  
 गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहिं गिएइहिं, गिएइइत्ता मयं  
 उवमोहं । तए णं से दंढं महया भक्खकरणं जेणव सा-  
 लादवी चोरपद्धिं तेषव पट्टारत्त्य गमणाए तए णं से अजं-  
 गसेणचोरसेणावइ तसिं चोरपुरिसाणं अंतिए एयमहं मोक्षा  
 एिसम्म पंचचोरसयाइं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-एवं  
 खलु देवाणुपिपया । पुरिमताजे णयरे महक्खले० जाव तेषव  
 पट्टारत्त्य गमणाए आणए, तए णं से अमंगसेणे ताइं पंच  
 चोरसयाइं एवं वयासी-तं मे च खलु देवाणुपिपया । अम्मं  
 तं दंढं मालाकवि चोरपद्धिं अमं पचं अंतरा चैव पमिनेहि-  
 चए, तए णं ताइं पंच चोरसयाइं अजंगमंगस्स तहं लि०  
 जाव पमिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता तए णं से अमंगसेणे चोर-  
 सेणावइं विपुलं असणं पाणं स्वाइमं साइमं उवक्खवावेइ, उ-  
 वक्खवावेत्ता पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं एहाए० जाव पायपि-  
 ङ्गे ज्ञायणमं ववत्तिं तं विपुलं असणं पाणं स्वाइमं साइमं सुरं  
 च ५, आमाएमाणं ४ विहरइ । जिमियजुचुरागए वि य  
 णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइए पंचहिं चोरसएहिं  
 सद्धिं अलं चमं उरुइइ, उरुइइत्ता सख्खं० जाव पहरणे  
 मगाइ तंदिं० जाव रवेणं पञ्चावरइत्ता कालसमयांसि साला-  
 दवी चोरपद्धिया ओ पिग्गच्छइ, पिग्गच्छइत्ता विसम-

मगहणं त्रिप गद्वियजचपाणिए तं दंके पकिन्नासेमाणे चि-  
 छइ, तए णं से दंके जेणव अभंगसेणे चोरसेणावइए तेणेव  
 व उवागच्छइ, उवागच्छइया अजंगसेणेणं चोरसेणावइइया  
 सदिं संपल्लगेया वि शेत्या । तए णं से अजंगसेणे चोर-  
 सेणावइ तं दंके स्वियमेव हयमाहियं जाव पकिंतंइति,  
 तए णं से दंके अभंगसेणे चोरसेणावइ हयं जाव प-  
 किनेहिए समाणे अत्यामे अचले अवीरिए अपुरिसका-  
 रपरकमे आधाराणिएमि ति कइ जेणव पुरिमतासे ण-  
 थरे जेणव महब्बसे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइया  
 करयलं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! अभंगसेणचोरसे-  
 णावइ विभमदुग्गमगदणं त्रिप गद्वियजचपाणिए एणे ख-  
 लु से सक्का केणइ सुवहुएण वि आमवलेण वा इतियवले  
 स बा जेहवसेण वा रहवसेण वा बाठारंगिणं पि उरं  
 उरे ए गिएहचए, ताडे सामेण य भेदेण य उवपदाणेण य  
 चींनजमाणे उपत्तेयावि हेत्या । जे दंकेण य वियसे अ-  
 ण्ठितरगा सीमगममाभित्ताइणियसयणसंभियपरियणं च  
 विपुल्लेणं धणकणगरयणसंतसारमाचए अणं भिदइ अज-  
 गसेणसय चोरसेणावइ अनिकलणं अनिकलणं महत्याइं  
 महग्गाइं महरिदाइं पाहुदाइं पेनेत्ता अजंगसेणं च चोरसे-  
 णावइ वीसंजमाणे, तए णं से महब्बसे राया अण्णया  
 कयाइ पुरिमतासे णथरे एगं महं महइ महालियं कूढागार-  
 मालं करइ, अणेगसंभयपाता थ, तए णं महब्बले राया  
 अण्णया पुरिमताले णथरे उस्सुकें जाव दसरचं पमोयं उ-  
 म्पासावेइ, उन्पोसावेइत्ता कोकुंविपपुरिसे सहावेइ, सहावेइत्ता  
 एवं वयासी-गच्छइ णं तुभं देवाणुप्पिया ! सान्नाकवीए  
 चोरपक्षीए तए णं तुभे अजंगसेणं चोरसेणावइणं कर-  
 यलं जाव वयइ-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमतां  
 महब्बसस रखां उस्सुकें जाव दसरचं पमोउन्पोसिए  
 तं किंशं देवाणुप्पिया ! विपुलं अमणं पाणं स्वाइं साइं  
 पुक्कवत्थंगमपल्लालंकारं य इइं हव्वमाणिज्ज उदाहु सयमेव  
 गच्छिन्ना तए णं कोकुंविपपुरिसे महब्बलसस रखां करयलं  
 जाव पकिन्ने, पकिन्नेत्ता पुरिमतालाओ णथराओ  
 पकिं पकिं एाडविकडेइं अक्खाणेइं सुहेइ पातरासेहिं  
 जेणव सान्नाकवी चोरपक्षी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइया  
 अजंगसेणं करयलं जाव एवं वयासी-एवं खलु देवा-  
 णुप्पिया ! पुरिमतालं महब्बलसस रखां उस्सुकें जाव  
 उदाहु सममेव गच्छिन्ना, तए णं से अभंगसेणे ते कोह-  
 वियपुरिते एवं वयासी-अहं णं देवाणुप्पिया ! पुरि-  
 मतां सयमेव गच्छामिए कोकुंविपपुरिते सकारे, सकार-  
 इत्ता पकिंविस्सेइ । तए णं से अजंगसें बहुइं मिचं  
 जाव परिउके, एहाएणं जाव पायच्छिणे सवालंकारविज्-

सिए सालाकवी चोरपक्षीओ पकिणिकल्लव, पकिणिकल-  
 मात्ता जेणव पुरिमतां जेणव महब्बसे राया तेणेव  
 करयलपरिग्गाहियं महब्बलं रायं जएणं विजएणं बदावेइ,  
 व चोवेइत्ता महत्थं जाव पाहुइं उवसेइ, तए णं से महं  
 अजंगसेणसस चोरसस तं महत्थं जाव पकिच्छइ, अजग्ग-  
 सेणचोरसें सकारे संमाणे, संमाणेत्ता विस्सेइ कू-  
 ढागारसान्नावणे आवासएहिं दल्लयइ । तए णं से अजग्ग-  
 सेणे चोरसेणावइ महब्बलेणं रखा विस्सेइ समाणे जेणव  
 कूढागारसान्ना तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइया तए णं से  
 महं कोकुंविपपुरिसे सहावेइ, सहावेइत्ता एवं वयासी-ग-  
 च्छइ णं तुभे देवाणुप्पिया ! विपुलं अमणं पाणं स्वाइं  
 साइं उवक्कवावेइ, उवक्कवावेइत्ता तं विपुलं अमणं पाणं  
 स्वाइं साइं मुरं च पुवहुपुक्कगंधमपल्लालंकारं च अभं-  
 गसेणसस चोरसें कूढागारसान्नाए उवसेइ । तए णं ते  
 कोकुंविपपुरिसा करयलं जाव उवसेइ, तए णं से अजग्ग-  
 सेणं बहुइं मिचसिं संपारिउके एहाएणं जाव सवालंकार-  
 विज्जिएणं तं विपुलं अमणं पाणं स्वाइं साइं मुरं च आ-  
 साएमाणे च पमत्ते विहरइ । तए णं से महं कोकुंविपपुरिसे  
 सहावेइ, सहावेइत्ता एवं वयासी-गच्छइ णं तुभे देवाणु-  
 प्पिया ! पुरिमतालसस णयसस दुवारारं पिहिंति, पिहिंतिचा  
 अजंगसेण चोरसेणावइ जीक्काइं गएइति, गेहइतिचा मह-  
 ब्बसस रखां ते उवसेइ, तए णं महं अभंगसेण चोरो एते  
 णं विहाणेणं वज्जं आणवेइ, एवं खलु गोयमा ! अभंगसेण  
 चोणं पुरा जाव विहरइ । अहं गच्छिणं जेते ! चोरसे-  
 णावइ कालमासे काइं किन्ना कइं गच्छिणं कइं उवव-  
 जिइति ? गोयमा ! अभंगसेणचोरसें सचावीसं वासाइं  
 परमाइं पाणिचा अजेव तिभागावसेसे दिवसे सुली जिष्ण-  
 कए समाणे कालमासे काइं किन्ना इभीसे रयणप्पभाउ उक्का-  
 सेणं गेरइएमु उववजिइति, स णं ताओ अण्णतं उवहिंत्ता  
 एवं संसारो जहा पदमे जाव पुटवीं, तओ उवहिंत्ता वाणा-  
 रसीए णथरीए सुयरात्ताए पक्खाहिंति, से णं मच्छसंयारि-  
 एहिं जीवियाओ विवरोविए समाणे उ तरेव वाणारसीए  
 णथरीए सेहकुलंसे पुचत्ताए पक्खाहिंति, से णं तए उम्मुक्क-  
 बाह्नाजेए एवं जहा पदमे जाव अंतकाहिं ति णिकसेवो ।

( एवं खलु ति ) एवं वयमाणप्रकारेणार्थः प्रकृतः खलु वाक्या-  
 लङ्कारे । ( अंभु ति ) आत्मन्ने, ( देसप्ये ति ) मयउलप्रान्तं  
 ( विसमगिरिकंदरे कालंबसंनिविद्धा ) विषयं यंकरे कन्धं  
 कुहरं तस्य यः कालम्बः प्रान्तः तस्य सन्निविष्टा सन्निविष्टता  
 या सा तथा । कोलम्बो हि लोके प्रथमतः बृहशशाकप्रमुच्यते ।  
 इहोपचारतः कन्धं प्रासः कालम्बो व्यक्त्यातः । विषाणं ३ लु  
 ३ अ० । ( स्वयधिक्रीका सुयमेति न युदीता ) चारतपुरराजनि,  
 आ० वू० ६ अ० ।

अजजिजय-अभय-वि० । अभयविते अभिराधिते, आचा० १ शु० १ अ० १ उ० ।

अजदप्येसा-अभयप्रवेशा-क्री० । अविद्यमानो भटानां राजा-हादयानां पुरुषाणां प्रवेशः कुटुम्बिषुहेषु यस्यां सा तथा । यत्र राजाणां दत्तु भटाः प्रवेशः न शक्नुवन्ति तादृशानां पुरुषांश्च, अ० १२ शु० ४ अ० १ ज० । आ० । वि० ।

अजतद्व-अभयकार्य-पुं० । भकेन भोजननार्थः प्रयोजनं भका-र्थः, न भकाथोऽनकार्यः । अथवा न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे साऽभक्तार्थः । उपवासे, ध० २ अ० १० ।

अत्र पञ्चाकाराः, तथा च सूत्रम्—

सुरे उगए अभयतद्वं पक्वत्वाद्, चत्स्विहं पि आहारं अभयं पाणं स्वादिं माहं अभयत्वाभागेणं सहसागारेणं पारिष्ठावधियामारेणं महत्तरामारेणं सर्वसमाहिविधियामा-रेणं वीसिरहं ।

अस्यार्थः—(सुरे उगए) सूत्रोक्तमाहारज्य, अनेन भोजनानन्तरं प्रत्याख्यानस्य निषेध इति कृतं । भकेन भोजननार्थः प्रयोजनं भकार्थः, न भकाथोऽभकार्यः । अथवा-न विद्यते भकाथो य-स्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे साऽभक्तार्थः, उपवास इत्यर्थः । आका-राः पूर्ववत् । नवरं पारिष्ठावधियामारेणं विशेषः, यदि अविधा-हारस्य प्रत्याख्याति तदा पारिष्ठावधियामारेणं कल्प्यते, यदि तु चतु-र्विधाहारस्य प्रत्याख्याति पानकं च नास्ति तदा न कल्प्यते, पानकं च नृत्तरिते कल्प्यते एव । (वीसिरहं) भकार्थमशनादि वस्तु व्युत्पन्नति । प्रब० ४ द्वार । ध० । भाव० । आ० चू० । ल० प्र० । पंचा० ।

अजतद्विय-अभयकार्य-पुं० । उपवासिके, शोष० । द्वितीयेऽ-ङ्गि भोक्ति, पं० अ० २ द्वार ।

अभयपाण-अभयपान-न० । प्रकपानालाजे, अ० ७ उ० ।

अजय-अभय-न० । न० त० । विशिष्टे आत्मनः स्वास्थ्ये निभे-यस्यभ्रमृमिकानिबन्धनजृतायां भूतो, ल० । रा० । “ अभयं परिधया सुखं, अजयदाया भवाहं च ” । अ० १८ अ० । प्रा-णिरस्तायाम्, सूत्र० १ शु० ६ अ० । अविद्यमानं जयमस्मिन् स-त्वानामिजयः । ससद्वशाधिषे संयमे, आचा० १ शु० १ अ० ५ उ० । ससकारकभयरहिते, वि० । सूत्र० १ शु० ६ अ० । श्रेणि-कपुत्रे अभयकुमारे, पुं० । आ० चू० १ अ० । आ० म० । ध० । अभयकर-अजयकर-वि० । अजयं प्राणिनां माणुरहाकर-अज-तः परतस्वसुपदेशदानाद् करोतीत्यजयकरः । स्वतो हिंसानि-वृत्तत्वेन परतस्व हिंसां मा कार्षीत्युपदेशदानेन प्राणिनामनु-कल्पकं, “ अभयंकरे वीरक्षणतचकम् ” सूत्र० १ शु० ६ अ० । निभेयकरे, तं० ।

अभयकरण-अभयकरण-न० । जीवानामभयकरणे, (पं० व०)

मुत्तूण अभयकरणं, परोवयारो वि नत्थि अद्यो ति । इमिगितेणगद्यारं, न य गिहिवसे अविगतं तं । ११ ॥

मुक्त्वाऽजयकरणमिहलोकपरबोक्तयोः परोपकारोऽपि नास्व-म्य इति । अत्र हृद्यन्महा-मद्वैकस्तेनकहात्मत्र हृद्य-म । न च पृथ्वसे अभिक्ते तद्व-अभयकरणमिति गाथार्थः ॥ पं० व० १ द्वार ।

अभयकुमार-अजयकुमार-पुं० । श्रेणिकस्य राहः नन्दादेव्यासु-त्यत्र पुत्र, हा० ।

तद्वचनव्यता-

पदमस्य य तां भंते । अज्जयणस्य के अद्भ्ये पद्यते ? । एवं खसु जन्व ! तेणं कालेणं तेणं समपणं इहव जम्बुदी-वे दीवें जारद्वेवास दादिह्युह्वरद्वे रायगिहे णामं नभरे ह्दत्था । वद्युओ-गुणसिलए चेदए वद्युओ-तत्प ए रायगिहे णयरे सेणए णामं राया होत्था । महिमाहिव-तवणओ-तत्स णं सेणियस्य रओ नंदा नामं देवं होत्था, सुकुभासाणियापाया वणएओ-तत्स णं सेणियस्य पुचा नंदाए देवीए अत्तए अक्क नामं कुपारं होत्था । अ० ण० जाव सुक्खे सामजयेदं कउवपणएणं । तिलुप्पठ च-नयविहिन्नुं ह्दएणः मगएणवेससं अत्यसत्यमई विसारए उण चयाए वेणइयाए कमयाए परिणामियाए चउत्तिहए सुक्खि ए उववए, सेणियस्य गणां बहुसु कउजेसु य कुटुंबे-सु य मंतेसु य गुडभेसु य रहस्मएसु य निच्छएसु य आ-पुच्छियजे पमिपुच्छियजे मदीपमाणे आहारं आलंभणे चक्खुमेदीजए पमाणए आहारजए आहंवेणजए चक्खु-सवकजेसु मन्वत्तमियासु झएकपवण विदएणावियारे २ रउजपुनचिते यावि होत्था, सणियमस गणां इजं च रदं च कामं च कोट्टिगां च वदं च वाहाणं च पुंरं च अ-तेउरं च समयेव समुपेक्खमाणं समुपेक्खमाणं विहरति । एवमित्यादि सुगमं, नवरभ-वर्चमिति वद्यमाणप्रकाशं । प्रह म इति प्रकमः । अलु नाक्यालदुरं । जम्बूद्वीत्यामरणं । इहंवेति । देशतः प्रत्यासनेन पुनरमंभ्ययत्वात् जम्बूद्वीपानामभ्यर्त्तन-भावः । ( इत्यादिटीका सुगमा नापक्वस्येने ) हा० १ अ० न० । नि० स्था० विशेष० आ० म० ध० २० । ( 'मिहकुमार' शब्द-ऽपूर्वसाङ्केतिकदेवमनेन वदयन् )

अभयकुमारकथा जेयम्-

अस्ति स्वस्तिकवत् पुत्र्याः, पुत्र्याः संपद मापदम् । सुचङ्गमङ्गलव्यास, पुर राजगृहामिभयम् ॥ १ ॥ प्रकटप्रौढमिष्यात्व-काननेकपरभयः । सुधोऽज्वलसुगणः श्रेणिकस्तत्र पार्थिवः ॥ २ ॥ आगमार्थपरिज्ञान-विरफूजदुत्तुकिचकपुत्रः । तस्याजयकुमारार्थो, नन्दनो विश्वनन्दनः ॥ ३ ॥ आगच्छद्वन्द्या तत्र, सुनिपञ्चरशीमुतः । प्रकटीकृतसद्वर्मा, सुयमो गणभृशरः ॥ ४ ॥ र्वावतु तत्पदमन्त्रं, सर्वद्व्यो श्रेणिको नृपः । शासनासर्पणामिच्छ-प्रगच्छसपरिच्छदः ॥ ५ ॥ नानायानसमाकट-स्तथाऽन्याऽपि पुरीजतः । त्रिकसंभारसंजात-रोमाञ्जसुसिन्ता गतः ॥ ६ ॥ एवं प्रजावनां प्रेष्य, तत्रैकः काष्ठभारिकः । गत्वा प्रकथा शुक्रकथा-ऽभीर्षदमिमं वथा ॥ ७ ॥ जन्तुघातो भृषाऽस्त्येय-मम्रश्च परिभ्रष्टः । भो भो जप्याः ! विमुच्यन्तां, पञ्चैते पापहेनवः ॥ ८ ॥

इत्याकथं नरेन्द्राद्या, पर्यक्त्या गृहेऽगमत् ।  
 कर्मकः स तु तत्रैव, स्वाध्यायी तस्मिन्निधाय स्थिरः ॥ १४ ॥  
 गुरुस्तमूचे विसन्न-भ्रितितं ब्रूहि । सोऽप्रधीत् ।  
 आनामि यद्दि वः पाद्व्यं, बन्दिस्वयामि सर्वदा ॥ १० ॥  
 ततः प्रमाज्य ते सद्यो, गुरवः कृतयोनिगम ।  
 अर्पयामसुराचारं, शिष्ययामसुराशु ते ॥ ११ ॥  
 तं गीताधेयुतं भिक्त्वा-अर्पयामस्यदा गतम् ।  
 प्रागवस्थाविद् पीराः, प्रेष्य प्राहुरहंयवः ॥ १२ ॥  
 अहो ! महकैस्वकाऽयं, महासस्यं महामुनिः ।  
 इति यकोक्तिः विद्वै-परहास्यत सोऽवहम् ॥ १३ ॥  
 ततोऽसौ शैककत्वात्, वरीपहमसासदिः ।  
 सुप्रमस्वामिना प्रोचे-ऽनुचानेन वचस्विना ॥ १४ ॥  
 संयमे किं समधान-मस्ति तं सुपु सोऽभ्यधात् ।  
 भस्तिन युष्मत्प्रसादेन, बिहारीऽप्यत्र चेद् भवेत् ॥ १५ ॥  
 विधास्यते समाभित्तेन, धत्सेत्युक्त्या गुरुस्ततः ।  
 अभयस्वागतस्याख्या-द्विदारी नो भविष्यति ॥ १६ ॥  
 अभयः स्माह नः कस्मा-दकस्मादीहवाः प्रजो ! ।  
 अग्रसाहोऽथ तेऽश्रो-मुनेरस्य परीपहम् ॥ १७ ॥  
 अत्रोप्यभ्यधादकं, विवस्व स्थायतां प्रभो ! ।  
 निवसेत न चेदेव, न स्थातस्य ततः परम् ॥ १८ ॥  
 भोमिरत्युके, मुनीन्द्रेण, निस्त्रन्दः शासनोन्नतो ।  
 जगाम धाम सद्दम्-धामधामाऽभयस्ततः ॥ १९ ॥  
 रत्नानामसपत्नानां, रत्नानार्जिषोऽङ्गणे ।  
 कांठित्रीयां समाकृत्य, राशिप्रथमवीकण्ड ॥ २० ॥  
 तुष्टो राजा दद्यान्त्यथै-रत्नकांठित्रीयां जनाः ! ।  
 गृह्णतैनां यथेष्ट हि, पदं तैस्त्वघोषयत् ॥ २१ ॥  
 ततोऽमिलद् नृतं सोकां, सोऽनुपः सोऽभयेन तु ।  
 बभार्षे गृह्णानामेषा, रत्नकांठित्रीयां मुधा ॥ २२ ॥  
 बुष्पाभिः स्वगृहं गन्वा-ऽनया किन्तु गृहीतया ।  
 यावज्जीवं विमोक्तस्य, जलमोनि त्रियस्तथा ॥ २३ ॥  
 इत्याकथयं जनास्त्वृण-सुकर्णांस्तस्मिन्निष्कृत्यः ।  
 बिच्यतेन निश्चलास्तस्युः, सिंहनादं गृगा इव ॥ २४ ॥  
 अजयः प्राह भोः ! कस्मा-चिन्नभस्तेऽप्यदोऽवहम् ।  
 लोकोत्तरमिव लोकः, किं भिक्त्वाकुतुमीश्वरः ? ॥ २५ ॥  
 सोऽशार्दी-मुनिना तेन, तस्यैव प्रथमप्यदः ।  
 तत्कुतो हसतेवं त-मतिवृष्कारकारकम् ? ॥ २६ ॥  
 न जानामी वयं स्वार्थि-स्तस्यवयः सवर्माह्वम् ।  
 तस्मिन्मचायिष्याम-स्तदिदार्मी महामते ॥ २७ ॥  
 अभयेन समं गत्वा, भीमनस्ते प्रणम्य तम् ।  
 महायं क्लामयामासुः, स्वापरार्थं सुदुर्मुहुः ॥ २८ ॥  
 इत्येवमजयो जैन-शासनाधीविशारदः ।  
 अतिष्ठिपज्जनेन मुग्धं, चिरं धर्मं जिनादिते ॥ २९ ॥  
 इत्यथैव हतपापकर्मज्ञं,  
 सज्जना अभयवृत्तमन्वहम् ।  
 शिकृपन्तु कृतधर्ममङ्गलं,  
 संततं प्रवचनार्थकौशलम् ॥ ३० ॥ ४० २० ॥

अभयघोष-अभयघोष-पुं० । स्वनामस्वाते वैद्ये, ४० २० ।

अजयघोषकथा वेद्यम्-

भासीन् पूर्वविदेहेषु, शशुसंहतिवुञ्जे ।

१७७

वत्सावत्याकथयिजेय, प्रवर पूः प्रभङ्करा ॥ १ ॥  
 तस्यां सुविधिवैधस्य, सुतुः सत्कर्मकर्मतः ।  
 आभीदभयघोषाकथं, वैचविद्यार्थशारदः ॥ २ ॥  
 नरेन्द्रमन्दिस्वार्थेश-नगरअभित्तानं सुताः ।  
 प्रशस्याः सद्गुणुभययो, वयस्वसास्त्य जीहोरे ॥ ३ ॥  
 मिलितानामयामिवा-मन्यपूर्वैद्यमन्दिः ।  
 बागादनगरवृत्तः, साधुमार्गुचरी चरत् ॥ ४ ॥  
 तं पूर्वपालभूपाल-पुत्रे नाम्ना गुणाकरम् ।  
 निहृष्टकुष्ठं ते वृष्टा, मोचिरे वैधानन्यम् ॥ ५ ॥  
 सदाऽप्येधमिधैवधावद्, भवद्भिर्नयते जनः ।  
 न कस्यचित्तपस्याद्-भित्कत्वा कियते किल ॥ ६ ॥  
 जगाद् वैधजन्माऽपि, चिकित्सेयोऽयं मुनिमेवा ।  
 भो मद्राः ! निश्चितं किन्तु, भेषजानि न सन्ति मे ॥ ७ ॥  
 तेऽप्युत्तुर्ब्रूहे मृत्यं, शाधि सावौषधानि नः ।  
 वचाय सोऽपि गोशीर्षे-चन्दनं रत्नकम्बलम् ॥ ८ ॥  
 सङ्कल्पेन तव क्रेयं, तृतीयं तु मवोकसि ।  
 विद्यतं लक्ष्मणाकथं, तैलं तद् गृह्णतां द्रुतम् ॥ ९ ॥  
 सचन्द्रयं गृहीत्वाऽपि, गन्वा ते कृषिकापणम् ।  
 अयाचन्तौषधे तौत्तु, भेषुषुचि किं प्रयेजन्म ? ॥ १० ॥  
 तेऽवोचन् कृष्टिनः साधो-भित्कत्वाऽऽप्यां विधास्वते ।  
 आकर्षयं तद्वचः श्रेष्ठो, जेतस्वैवमचित्तयत् ॥ ११ ॥  
 ध्वेषां प्रमादशुद्धि-काननं शीघ्रं ह्यदः ।  
 विवेकबभुरा बुद्धिः, क्व चयेय वापिकोचिता ? ॥ १२ ॥  
 मादृशार्मीहश्च योग्यं, जराजरेरवर्षमाम् ।  
 यद् कुर्वन्त्यापि तद्दो !, धन्येभोरोऽप्यमुञ्जेते ॥ १३ ॥  
 पदं विचिन्त्य स श्रेष्ठो, ते समर्प्यैष मुधा ।  
 भावितारमा प्रवमाज, वमाज च महोदयम् ॥ १४ ॥  
 कृत्वा समप्रसामर्षां, तस्मिन्ना ज्ञानिकुशालिनाम् ।  
 समं वैद्ययंरेण्येन, प्रयसुः साधुसचिषो ॥ १५ ॥  
 नवाऽनुकाप्यै तैसेन, सर्वज्ञं प्रकृतितः स तैः ।  
 वेष्टिनः कम्बलेनाथ, निरीयुः कृमयस्ततः ॥ १६ ॥  
 शीतत्वापत्र ते लग्नाः, निर्यङ्गिस्तेः प्रपङ्कितः ।  
 लिप्तश्च चन्दनेनाशु, स्वास्वयमाप मुनिः कृणात् ॥ १७ ॥  
 त्रिरेवमाद्यवलायां, निर्ययुः कृमयस्त्वचः ।  
 मांसगास्तु द्वितीयाकथं, तृतीयाकथं च तेऽस्थिगाः ॥ १८ ॥  
 तान् कर्मास्ते द्यावन्त-शिविषिपुगोकसेवरे ।  
 संरोहया च ते साधुः, सद्यः सद्यः प्रवाचिरे ॥ १९ ॥  
 कृमयित्वा च नवा च, गत्वाऽन्तनगरं ततः ।  
 चैत्यं चकृरच विक्रीय, तेऽर्द्धमूचनेन कम्बलम् ॥ २० ॥  
 गृहीत्या गृहिधर्मं च, परचात् कृत्वा च संयमम् ।  
 तं पञ्चाप्यव्युत्तुऽभूच-किन्द्रसामानिकाः सुराः ॥ २१ ॥  
 तत्रश्चपुस्वा विदेहेषु, नृत्वा पञ्चापि साहराः ।  
 ते प्रमज्य च सर्वार्थे-सिक्तेऽनूचं सुरोत्तमाः ॥ २२ ॥  
 ततोऽप्यभयघोषस्य, जीवश्चपुस्वाऽत्र भारते ।  
 बहव जन्त्यसंदाह-बाधनः प्रथमो जिनः ॥ २३ ॥  
 शोषस्तु भरतो बाहु-बलिमार्द्धी च सुन्दरी ।  
 अङ्किरे तत्पत्नानि, प्रापुस्त्व परमं पद्मम् ॥ २४ ॥

पवं निशम्याऽभयघोषवृत्तं,

मुद्रा मुक्तां गुणराजिनाजाम् ।

इति सदाऽप्यौषधप्रपञ्चादेः,

कृतोद्यमा भवजना भवन्तु ॥ २५ ॥ ४० २० ।

अजयपदा—अभयनन्दा—खी० । बुद्धिनिधाने, अष्ट० १ वर्ग ।  
 अभयपद—अभयद(क)य—पुं० । अभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्व-  
 यः, निःश्रेयस्पर्षनीयकचमभूता परमा कृतिरितिज्ञावः । तत अभयं  
 द्वातीति अजयः । जी० ३ प्रति० । ख० । तद्विजयन्तमभयं  
 शुभप्रकषेयोगाद्विभक्त्यशक्तिकृत्वात् संबन्धा परार्थकारित्वा-  
 द्वा नगवत् एव द्वातीति ॥ घ० १ अचि० । रा० । न जयं व-  
 यते द्वाति प्रायापरपरालेकेऽप्युपसर्गकारिप्राणिनीत्यजय-  
 यः । अथवा-सर्वप्राणिजयपरिहारवती द्वाऽनुकम्पा यस्य सो-  
 ऽभयदयः । अदिसाया निवृत्ते, उपदेशदानतो नियतेकं च ।  
 अ० १ श० । १ ङ० । औ० । घ० । भवानभिमानकं जयस्याजयो  
 ऽभयं, तद्वाचकः । तीर्थकरे, कष्ट० १ ख० ।

अजयपदा—अजयपदान—न० । दानमेव, ग० ।  
 “यः स्वधानास्तुषेविन्दो, दूतेषु कृतं सदा ।  
 अभयं दुःखभीतेभ्यो—ऽभयवत् तदुच्यते” ॥ १ ॥ ग० १ अचि० ।  
 नदि नृपस्तमो धर्म-स्तस्मात्सोऽस्ति नृपते ।  
 प्राणिनां मखनीताना—मजयं यत्प्रदीयते ॥ ५१ ॥  
 इन्द्रप्रेतुधरादीनां, दातारः सुलना ऋषिः ।  
 तूर्जेनः पुत्रो लोके, यः प्राश्निष्वजयप्रदः ॥ ५२ ॥  
 महतामपि दानानां, कावेन कृतं यत्फलम् ।  
 भीतानजयदानस्य, ह्यय एव न फलम् ॥ ५३ ॥  
 इन्द्रमिदं तपस्तप्तं, तीर्थेभ्य तया भूयम् ।  
 सर्वाेष्वजयपालस्य, कर्ता नदिति वांछदीप ॥ ५४ ॥  
 एकतः कृतवः सर्वे, समग्रपरदक्षिणाः ।  
 एकतो अभयवत्स्य, प्राणिनः प्राणस्त्वय ॥ ५५ ॥  
 सर्वे वदा न तत्कुप्ये, सर्वे यथा यथैद्विताः ।  
 सर्वे तीर्थोभिषेकाश्च, तत्कुपोऽप्राणिनां द्या ॥ ५६ ॥ घ० १० ।  
 अभयदेव—अजयदेव—पुं० । नवाङ्गुष्ठचिकारकं स्वनामक्यान्त  
 आचार्यं, स्थान० ।

( १ ) तत्परिचं त्वेवमास्थान्यि—

धारापुच्छां नगरीं महो धरस्व श्रेष्ठो धनदेव्यां नाम भार्याया-  
 मजयकुमारो नाम पुत्ररत्नं उद्धे । स च धारार्यामेव समवसुत-  
 स्व वद्धमानसुरिशिष्यजिनेश्वररुरिणोऽस्तिकं प्रवभाज । ततः प्र-  
 क्रातिशयात्कुरुश्वपेजम्पर्योयः कुमारारवध एव धर्मानसुरि-  
 रियाऽप्यनुज्ञातो विक्रमायसं० १०८८ मिते वर्षे आचार्यपदम-  
 ध्यतिष्ठत् । तदानीं बुधकासादिभिस्त्रयन्नेलेखनादिषु विद्याया-  
 नामानां वृत्तयो व्युत्कृष्टप्राया आसन्, इत्येकदा निशि सुप्रधान-  
 आऽवस्थितं तमजयदेवसुरि शासनदंबताऽवांचव-भगवन् !  
 पुष्योच्चैरिकादृशस्यैषु टिकाः कृताः, तास्तु द्वे एवावशिष्टे,  
 शेषा व्युत्कृष्टाश्च संति प्रतः ताः पुनरुज्जीव्य सहोऽनुप्राज्ञं रति ।  
 आचार्योक्तम्—शासनाऽधोऽभारः मातः ! अल्पबुद्धिरहमवदु-  
 गहमं कर्दं कर्तुं कथं शक्नुयाम् १, यत्तत्तत्र यदि किञ्चिदप्यु-  
 स्मन्ं स्वासन्महेऽनधर्याय संसारं तावत् भवेदिति । ततो देव-  
 तपोकम्—भगवन् ! त्वामहं सममेव भवाऽवोचम् । यश्च च  
 त्वं संशयस्यसे तत्र तत्त्वज्ञमेवाहं स्वसंज्या, अहं च महावि-  
 द्वाहं गत्वा तत्र श्रीमत्परस्वामिने पुष्टा त्वं । यद्वायोमीत न कि-  
 ञ्चिदनुपपन्नं जयिष्यति, इति प्रवचनदेव्याःसादिस्तत्कार्यं प्रा-  
 हरम् । समाप्तः पूर्वमेव भावामात्मतपसा निशि जागरणीय  
 धानुप्रकाशं विकृतसंघिनः समजायत । तदा छिद्यलोकैः सह-  
 र्षं प्रावाचत—यद्यमभयदेव उत्सुंं व्याख्याति स्मेति, कुपिता

शासनदेवीं शस्य त्वरीरे कुशरोगमुदपावयत् । तमपवाद्यमा-  
 कुर्यं दुःखितमाचार्ये रात्रावागत्य धरत्येकस्त्वं रुधिररंगं  
 व्यासायवत् । प्रकथयस्व—स्वभवनमायपार्श्वे सेवितामाघास्ते  
 पूमिभक्त्ये श्रीपार्श्वनाथप्रतिमाऽस्ति, यस्याः प्रसादात् नारा-  
 युनेन रससिद्धिरासाः, तां प्रकटय तत्र महातीर्थं प्रवर्षय, ततस्त्वं  
 विभूताऽपकृष्टिर्मिथ्यास्व । ततस्तथाऽनयदेवसुरिया  
 ‘जय तितुअश’ इत्यादि इतिशुद्धायात्मकं स्तोत्रमुद्गीर्णं  
 सहस्रसहस्रं सा प्रतिमा प्रकटायिता, तस्मात्तस्याचार्यस्य महद-  
 शः सवेव प्रोद्भवत् । पश्चात्तस्मैऽवचसा तस्य स्तोत्रस्य द्वे  
 गाथे विद्योप्य विशुद्धाघात्मकमेव प्राचीकटय, तदृशमेवाघापि  
 वपलभ्यते । सा च प्रतिमा ‘जम्मात्’ नगरेऽप्यापि पुण्यमाना  
 यत्परिचयः । अनेन चायम्भूतप्रवर्षेभ्यं स्वपरिचयोऽपि—

श्रीमजयदेवसुरिनाम्ना मया महावीरजनराराजसन्तानवर्षि-  
 ना महाराजवंशजन्मनेव सेविमस्तुनिवर्षप्रश्रीमान्निगन्दा-  
 चार्यानेवासिद्यसोऽवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाधकस्येव वि-  
 द्याकियाप्रधानस्य साहाय्येन समाप्यतम्, तदेवं सिद्धमहाधि-  
 धानस्येव समापिताधिकृतानुयोगस्य मम मङ्गलायै पुण्यपूजा-  
 नामः भवेत् वर्तमानतीर्थनाथाय श्रीममहर्षीधाराय, नमः प्रति-  
 पन्थिस्तोत्रप्रमथनाय श्रीपार्श्वनाथाय, नमः प्रवचनप्रवाधिकार्यै  
 श्रीप्रवचनदेवतायै । नमः प्रस्तुतानुयोगशाधिकार्यै श्रीदोणा-  
 चार्यप्रमुखापिडतपर्थे, नमस्तुवर्षाय श्रीमभक्त्यसहस्रमहाप्रा-  
 येति । एवं च निजवंशेश्वरसाराजसन्तानस्येव ममासना-  
 भिममायासमानिसफलतां नयतो राजवंश्या इव ब्रह्मना-  
 जिनसन्तानवर्तिनः स्थितुसंनु, यथाचित्तोऽपिऽपेजातमनुति-  
 ष्टानु सुपूचितपुरुषार्थसिद्धियुगपुत्रतां च योग्येय इति ।

किञ्च—

सेत्सम्प्रदायहीनवा—त्सदृहस्य विद्योगतः ।  
 सर्वस्वपरशास्त्राणा—महोत्सम्तेक्ष मे ॥ १ ॥  
 पाचनानामनकम्पाय, पुस्तकानामसुद्धितम् ॥  
 युवाभाप्रतिमाभ्यो—मतिभेदाच्च कुञ्चिन्तु ॥ २ ॥  
 कृष्णानि संजवन्तीह, क्वचनं सुविषेकिसिः ।  
 सिद्धानानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद्भ्रान्तो न चेतः ॥ ३ ॥  
 शोथं चेतऽजने तत्रै—मांसपर्णद्वेयार्थः ।  
 संसारकारणाद् योरा—दृष्याद्विस्तरेदेशनात् ॥ ४ ॥  
 कार्यां न वा स्माऽस्मात्तु, यतोऽस्माभिरनर्प्रदः ॥  
 एनङ्गमनिकामात्र—मुपकारेति शब्धितम् ॥ ५ ॥  
 तथा सोमार्थं सिद्धान्ताद्, बाधं मध्यस्थया विषया ।  
 द्रोणाचार्यार्थिभिः प्राक्—रत्नेकेदारत्नं यतः ॥ ६ ॥  
 जैनप्रचार्याशुभ्रमवनाऽधिकृत्य ग्राहभ्रमं,  
 सद्वात्थानकयायुर्नि मयकाः स्थानाङ्गसद्भाजने ।  
 संस्थाप्यापदितानि दुर्गतनप्रप्रायेषु ह्यव्यर्थिना,  
 श्रीप्रसङ्गविज्ञेयैः परमसावेव प्रमाप्यहृताः ॥ ७ ॥  
 श्रीधिक्रमादिसमोत्कृष्टाङ्गा-  
 च्छनेन विशयाधिकेन युक्तं ।  
 समासद्वेषऽतिगते । ( वि० सं० ११२० ) विवक्ष-  
 स्थानाङ्गटीकाऽप्यविशोऽपि गम्या ॥ ८ ॥ स्थान० १० ज्ञ० ।

तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मन्वन्वद्विप्रतिस्पर्दिनः ,  
 तद्वचन्योरपि बुद्धिसागर इति क्वातस्य सूत्रेषुपि ।  
 उन्वोऽभयनिबन्धवन्पुरुषचःशुद्धादिसङ्गमणः,  
 श्रीसिंहप्रविहारिणः भुतनिधेश्वारचक्रामिषः ॥ ८ ॥  
 शिष्येणाभयदेवाय-सूरिणा विबुधितः कृता ।  
 क्राताधर्मकथाकृत्य, भुतभक्षणा समासतः ॥ ९ ॥ (युग्मय)  
 निवृत्तिककुलनभस्तत्र-चन्द्रगुणायक्यसूरियुक्तेन ।  
 परिहृतगणने गुणव-तिष्येण संशोधिता विषयः ॥ १० ॥  
 एकादशसु शतेष्वय,विद्वान्धिकेषु विक्रमसमानाम् (सं०११२०)  
 अर्णाद्विषपाटकनगर,विजयवशाभ्यां च सिद्धयम् ।११। का०२ भु०  
 यस्मिन्नतीते भुतसंयमभिया-  
 वप्रान्दुवत्यय परं तथाविधम् ।  
 कृपयाभ्यं संवस्रतोभित्तुकिंते,  
 भौवकमानः स वतीश्वराभयवत् ॥ १ ॥  
 शिष्योऽभयस्यस्य जिनश्वराः,सूरिः कृत्वा निष्पविचित्रशास्त्रः ।  
 स्या निरात्मविहारवती, चन्द्रप्रभञ्जद्रकुलाम्बरस्य ॥ २ ॥  
 अन्वोऽपि विद्वां भुवि बुद्धिसागरः,पाणिद्वयत्पारिभ्रगुणैरनुपमैः ।  
 शम्भुदिलक्षप्रतिपादान्कानध-प्रथप्रयोगतो प्रवरः क्वावताम् ॥ ३ ॥  
 तयोरेभौ शिष्यवस्व चाक्यादु,  
 बुधि व्यधात् श्रीजिनचक्रसूरः ।  
 शिष्यस्तयोरेषु विमुग्धबुद्धि-  
 र्भ-शार्धभोधेऽभयदेवसूरिः ॥ ४ ॥  
 बांधो न शास्त्रार्थगतोऽस्मि नादशो,  
 न तादृशो वाक्पटुतास्ति मे तथा ।  
 न चास्ति टीके न वृत्तनिर्मिता,  
 हेतुः परं मेऽत्र हतो विमोक्षकः ॥ ५ ॥  
 योऽहं किमपि हन्मं बुद्धिमान्दादु विवर्द्धे,  
 मयि विहितरुपास्तच्छाभताः शोधयन्तु ।  
 त्रिपुलमनिमनोऽपि प्रायशः सानुतेः स्या-  
 न्नाहं न मतिविमोहः किं पुनःतुदृशस्य ॥ ६ ॥  
 चतुर्गधिकविशतियुते,वर्षसहस्रे शते (सं०११२४) च सिद्धयम् ।  
 धवलकपुर् प्रसत्ये, धनपस्यांबकुलचन्द्रिकयोः ॥ ७ ॥  
 अर्णाहिलपाटकनगर. संघचरैरेतेमानुषुभुसुधैः ।  
 श्रीद्रोणाचार्याथै-विद्विज्ञिः शोधिता चेति ॥८॥ पञ्जा०१.६बिच०  
 “ अविस्सं दे तयवयो, जिणुनाहो पणसयाद वरिसाणं ।  
 तस्यं धरणादनिमिअ-सत्तिज्जो विअसुअुअसां ॥ ५५ ॥  
 त्रिपुलमनयदेवसूरि, दूरकवर्द्धिअरोमसधो ।  
 पयदं तिरथं काही, अहीणमाहोप्यदियंत्तं ॥ ५६ ॥ ती०६ कणप ।  
 ( २ ) राजगच्छीये प्रमुन्नसूरिदिशिये. येन वाहमहाणो नाम  
 प्रन्थो विरचितः, 'न्यायवमसिंह' इति च विवर्द्धे लेजे । वि०सं०  
 १२७६ वर्षे पाश्चात्थचरित्रनाम्ने । ग्रन्थस्य कर्ता माणिक्यचन्द्रसू-  
 रिणा तत्र सिद्धिनम-यद् वादमहाणवकुलोऽनयदेवसुरेरेतं नवमो-  
 ऽस्मीति । अभयदेवसूरं च शिष्यः धनेश्वरसूरिमुज्जराजस्य मायां  
 गुरगार्सिदिति तस्मयमोऽनुमातुं शक्यते । अनेनैव अभयदेवसुरि  
 णा तत्रैवोपविधायिनो नाम सम्मतिटीका विरचितेति । जै०२०।  
 एतच्च स्फुटमेव प्रतिज्ञाति ग्रन्थसमाप्तौ-  
 "इति कतिपयसुत्रभाष्यया यन्मयाऽस्मै,  
 कुशलमनुलमसाःसम्पतेनेत्रयसाः ॥ १ ॥  
 प्रथममज्जिभूय प्राप्यतां हानगर्भे,  
 विमलमज्जयदेवस्थानमानन्दसारम् ॥ १ ॥  
 पुण्यद्वान्मनयाद्विद्विदघनचक्राकुत्तधीकुम्भपीठ-

प्रथमोद् नृतमुकाफस्यविशयद्वोराशिनिधैष्य नृणम् ।  
 गन्तुं दिव्यन्तिदन्तच्छानिदितपदं ध्येयं पर्येतन्नागान्,  
 स्ववपमहापद्भारारोदरनिविडतरोपिदिरितैः संप्रत्यक्ष ॥२॥  
 प्रमुन्नसूरः शिष्यश्च, तत्त्वभाषविधायिनो ।  
 तस्वैषाभयदेवेन, सम्पतेनेत्रिदितिः कृता ॥३॥ सम्म०३ काय६ ।  
 इत्ययं द्वितीयाभयदेवसूरिः ॥  
 ( ३ ) हर्षपुरीयगच्छोद्भव मल्लधारीत्वपरनामके सूरौ, स च  
 कोटिकगणस्य मध्यमशाखायां प्रभवादनकुलसंभूतः स्फुल्लजक-  
 स्वामिनो वंशः । एकादा हर्षपुराद् विहरन् अर्णाद्विज्ञपट्टननगर  
 बहिःप्रदेशे सपरिवारः स्थितः, अन्वदा श्रीजबसिंहदेवेनने-  
 न्द्रेण गजस्कन्धाकडेन राजवाटिकाऽऽगतेन दृष्टो मल्लजिनवल्क-  
 देहः, राधा च गजस्कन्धाध्वतीर्य दुष्करकारक इति दत्तं तस्य  
 “ मल्लधारी ” इति नामेति । जै० ६० ।  
 तथा च विविधतीर्थकल्पे जिनप्रमसुरिः--  
 “सिरिपण्णवाडणकुलसंनृषो हरिसुपुण्यगच्छाङ्कारसूरि-  
 षो अभयदेवसुरी हरिसम्भो रामो एगया गामाकुण्णामं विहरं-  
 तो सिरिअर्णाद्विज्ञवाडवपट्टणमागमो, तिमो बादिं पण्ये सप-  
 रिवारो,अण्वया सिरिजयीनिहदेवेनरिदेषु गयक्काकडेण रायवा-  
 डियागपण दिठो मल्लमल्लियकन्धेहो, रापणु गयक्काधामो अ-  
 रिऊणु दुष्करकारो षि दिणं 'मल्लधारी' षि नामं, अग्निविक्रण  
 नयरमज्जे नीमो रथा, दिषो उवक्कसो चयवसहीसरीरै, तथ  
 डिमा सूरियो" ती०४० कल्प । अस्य शुभकवसिंहसूरिनामाऽस्तिव,  
 हेमचन्द्रसूरिनामा च शिष्योऽभयवत् । येन विसं० ११७० वर्षे 'ज-  
 वभावना ' नाम ग्रन्थो व्यरचि, येनैकसहस्रं ब्राह्मणा जैनीकृताः,  
 यदुपदेशद्वयमेकनगरादुत्पत्तिनि ' मेरुता ' ग्रामं प्रसिद्धं  
 तजिनमन्दिरे कारितम् । किञ्च-अस्यैव अभयदेवसुरेरेषददेशाद्  
 पुत्रवनालराजेन जिनमन्दिरे पुत्राङ्कनूदयैः कर्ता मीरितः । अ-  
 जयमेरुराजेन अयसिदेनापि तदुपदेशान्मासस्य द्व्योरधर्म्योर्द-  
 योऽभ्यतुर्दशोः कृष्णपञ्चम्यां च स्वराज्ये प्राणिसाधयथो निवा-  
 रितः । शाकम्भरीराजेन पृथ्वीराजेन च तदुपदेशाद् रणस्तम्भ-  
 पूरे स्वर्णकनशोपयमितं जिनमन्दिरे कारितम् । यदा च सो-  
 ऽभयदेवसूरिनशननेन देवलोके गनस्तदा तस्य शवं चन्दनमय-  
 रथं निधायानिप्रसकारः कृतः, तस्य च शवरस्य पश्चात् सखे  
 चय नागरो लोको जयसिंहराजश्च पृष्ठतोऽनुजगाम । इयं च  
 तदुजस्य रोगोपचक्रनाशकमिति मत्वा सर्वलोका वसिष्ठुः ।  
 इत्येतत्सर्वं रणस्तम्भपुरीयजिनमन्दिरे शिलायां सिद्धितमुपल-  
 भ्यते । इत्ययं तृतीयाभयदेवसूरिः । जै० ६० ।  
 ( ४ ) जट्टेश्वरसूरिशिष्ये सं० १२४८ वर्षे विवेकमञ्जल्याः  
 कारकस्य आसस्यस्य गुरौ, अनेन च अरुवाहुकृतसामुद्रिकशा-  
 ङ्गापरि टीका कृता । कंचिदेन श्रीशान्त्याचार्यशिष्यं मन्यन्ते ।  
 इत्ययं चतुर्थोऽनयदेवसूरिः । जै० ६० ।  
 ( ५ ) रुद्रपाणीयगच्छोद्भवे विजयेन्द्रसूरिशिष्ये देवजङ्गसुरि-  
 गुरौ, अनेन काशिराजाद् ' धादिंसिंह ' इति विवर्द्धे लेजे । ' ज-  
 यन्तविजय ' नाम महाकाव्यं च वि०सं० १२७८ वर्षे निर्ममे ।  
 इत्ययं पञ्चमोऽनयदेवसूरिः । जै० ६० ।  
 ( ६ ) गुणाकरसूरिसहवासिनि, येन वि०सं० १३४६ वर्षे  
 सरस्वतीपाटननगरे जन्मकस्मोऽष्टौका कृतान्, १४५१ वर्षे 'तिज-  
 यदुत्स ' नामकं स्तोत्रं च निर्मितम् । जै० ६० ।

अभयपदाद्य

अभयपदाद्य-अभयप्रदान-न० । दानभेदे, " दानाण स्रष्टे अ  
भयपदाद्यं " तथा स्वपरानुग्रहाधर्मिणे क्षीयते इति दानम-  
नेकजा. तेषां मध्ये जीवानी जीवितार्थिनं प्राणकारित्वादन-  
दानं भेद्यम् । तदुक्तम्- " दीनते प्रियमाणस्व, काटि जीवित-  
मेव वा । घनकोटि न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति " ॥१॥  
गोपालकान्नादीनां दद्यात्पचारेषां कृषीं सुखनाराहतीति ।  
अतोऽभयप्रदानप्राधान्यक्यापनायं कथानकप्रदम्-

" बसन्तपुरे नगरे अरिद्रमनां नाम राजा । स च कदाचिन्तुर्बु-  
धूसमतेः बातावनस्थः क्रीडावमानस्तिष्ठति । तेन कदाचिन्तुरो  
रककबीरकृतमुष्मन्नाभो रक्तपरिधानो रक्तचन्द्रनोपलिसस्र  
प्रहतवर्षादिधरुमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन हृष्टः ।  
हृष्टा च तस्मिन् पृष्टम्-किमनेनाकारिती ? तासांकेन राज-  
पुरुषेणऽऽवेदितम्-यथा-पद्मद्वयपारण राजविरुक्तमिति ।  
तत एकया राजा लिङ्गस-बधा यो भवता मम प्राग् वरः प्रति-  
पन्नः सोऽपुना दीयताम, यथाऽमस्त्यपकारोमि किञ्चित् । रा-  
ष्ट्रायि प्रतिपद्यं, ततस्तया स्नानादिहृपुरःसरमलङ्कारेणाऽऽकृते  
दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चाविधान शम्भार्थं विषयान्कमद- प्रा-  
पितः । पुनर्द्वितीयाऽपि तेष्व द्वितीयमदोः दीनारशतसहस्र-  
व्ययेन लालितः । ततस्तृतीयाय तृतीयमदोः दीनारकोटिव्ययेन  
सत्कारितः । चतुर्थ्यां तु राजानुमत्या मरणाद्विज्ञतोऽभयप्रदा-  
नेन । ततोऽसावन्याभिर्दक्षिता, नास्व त्वया किञ्चिद्वृत्तमिति ।  
तदेवं तासां परस्परं बहूपकारविषये विवादो जाते राजाऽसा-  
वेव चौरः समाहूय पृष्टः, यथा केन तव बहूपकृतमिति ? । तेना  
ऽप्यर्भाण-यथा न मया मरणमदाभयभोगेन किञ्चित् स्नाना-  
दिकं सुखं विश्रायति । अभयप्रदानाकर्णेनेन पुनर्जन्मानसिवा-  
त्मानमवेमिति । अनः सर्वदानानामभयप्रदानं भेद्यमिति स्मि-  
त् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ० ।

अभयसेण-अभयसेन-पुं० । वारतकपुरराजिन, पि० । जाय० ।

अभया-अभया-स्त्री० । दधिवादननृपस्य स्वनामक्यातायां  
राश्याम, ती० ३५ कदप । तं० । इरीतक्याय, नि० क्यू० १५  
उ० । घ० । आचा० ।

अनयारिष्ट-अनयारिष्ट-न० । स्वनामक्याते मयविशेषे, सूत्र०  
१ श्रु० ८ अ० ।

अनवसिक्तिय-अनवसिक्तिक-पुं० । न भवसिक्तिकोऽभव-  
सिक्तिकः । अनव्ये, स्था० १ टा० १ उ० । न० । " जेहया द्र-  
विहा पयसा । तं जहा-भवसिक्तिया चेष, अनवसिक्तिया चेष०  
जाव येमाणिया " स्था० २ टा० २ उ० ।

अनविय ( व्व )-अनव्य-पुं० । न० १० । तथाविधानाःदिपा-  
रिणामिकभावात् ( कदाचान्नाऽपि ) सिद्धिगमनामयो जीव,  
कर्म० ३ कर्म० । कुतो नात्रयः सिद्धिं गच्छति । आद-ननु  
जीवस्वसाक्षेऽप्यर्थे अभयः, अयं चात्रव्य इति किं ह्यतोऽप्यविशे-  
षः ? । नच वक्तव्यं यथा जीवेषु समानेऽपि नारकनिर्वाहको  
विशेषास्तथा जन्मोऽभयव्यविशेषोऽपि भविष्यतीति, यतः  
कर्मजज्ञातः एव नारकादिविशेषाः, न तु स्वानाविकाः ; जन्मो-  
ऽभयव्यविशेषोऽपि यदि कर्मजनितस्तदः प्रवृत्त, को निवा-  
रयिता ?, न चिद्वम् । इत्यतर्थाऽऽह-

होतु ब जइ कम्मकम्मो, न विरोहो नारागइजेद व्व ।  
जइह भव्वाजव्वा, सजावभो तेण संदेहो ॥  
प्रवतु वा यदि कर्मकृतो नभयानव्यविशेषो जीवानामिच्छते,

नात्र कश्चिद्विरोधः, नारकादिनेवषव । नचैतद्वस्ति, यतो भव्याऽ-  
भव्याः स्वभावत एव जीवाः, न तु कर्मत इति ययं जगद्यः, त-  
नासाकं संदेह इति, परंप्रेषयुक्तं सतीत्याह-

द्व्वाऽचे तुह्मं, जीवनहाणं सहावभो भयो ।  
जीवाजीवाइगम्मो, जह तह जन्व्येपरविससो ॥

यथा जीवनजसोकेऽभयत्वसन्प्रमेयत्वहेतव्यादौ तुल्येऽपि जी-  
वाजीवव्यवेतनाचननःवादिस्वभावाभेदेः, तथा जीवानामपि  
जीवत्वसाश्चेऽपि यदि भव्याऽजन्वकृतो विशेषः स्वात्तर्हि को  
दोषः ?, इति ।

इत्थं संबोधितो भव्यत्वादिविशेषमन्युपगम्य ह्यथात्तरमाह-  
एवं पि जन्वजाभ्यो, जीवेषु पि न सभावजाभ्यो  
पावदो तस्म य, तदन्त्ये न्तिय निव्वणं ॥

नान्वयमपि जन्वभावो निव्योऽविनाशी प्राप्नोति, स्वभावजाती-  
यत्वात्स्वाभाविकत्वात्जीवत्ववत् । भवत्येवमिति चेत्तदनुसुक्तम् ।  
यतस्त्वस्मिन् प्रत्यभावं तद्वस्थं नित्यावस्थांमिति नास्ति ( नि-  
र्वाणम्, 'सिको न भव्भो नाप्यभयः' इति वचनादिति ।

नैवम, कुतः ?, इत्याह-  
जह पदपुव्वाजावो-ऽनाऽसहावो वि संनिहाणेषं ।  
जइ भव्वाभावां, जवेज्ज किरियाएँ को दोसो ॥

यथा घटस्य प्रागनावोऽनादिस्वभावजातोऽपि घटोत्पत्तेः स-  
प्रधानं विनश्चरो हृष्टः, एव भव्यत्वस्यापि ज्ञानतः सञ्चल्यत्वात्  
क्रियापायतोऽभावः स्वात्तर्हि को दाप्यः संपपते ?, त कश्चिदिति ।

आज्ञेपयदिगौ प्राऽऽह-  
अणुदाहरणमभावो, सरसिगं पि व मई न तं जम्हा ।  
भावो चिचय स विंसेट्ठो, कुंजाणुपाण्चमेपेणं ॥

स्यामितिः परस्य तत्तु-अनुदाहरणमसौ प्रागभावः, ज्ञास्वरूप-  
वैवावस्तुत्वात्, अराव्याणवत् । तत्र, यस्मान्नाव एवासौ घटप्रा-  
गभावस्तत्कारणभूतानादिकान्मवृत्तपुद्गलसंघातकयः, केवलं  
घटानुत्पत्तिमात्रेव विधाष्ट इति, भवतु तर्हि घटप्रागभाववृत्त्य-  
त्वस्य विनाशः केवलतः, इत्थं सति द्वावनेन प्रसज्जाति, किम्, ?  
इत्याह-

एवं भव्वुच्छेओ, कोट्टागारसम अचचउत्तव ति ।

तं नाणेतत्तण्णो-ऽणागयकोट्टेगाराणं व ॥

नन्वेव सति जन्मोच्छेदो भव्यजिज्ञेः ससारः धुव्यः प्राप्नोति,  
अपवसात् । कस्य यथा समुच्छेदः ?, इत्याह-स्तोकलोकाऽऽहृष्य-  
माणुधान्यस्य ज्ञानकोट्टागारस्य । इदमुक्तं अथनि-काजस्वान-  
नन्वात्यगमासपयेने चावश्यमकस्य प्रत्यस्य जीवस्य सिक्तिय-  
मनात्कोमेणायजीयमानस्य धाम्यकोट्टागारस्यैव सर्वस्यापि  
मन्वराशकच्छेदः प्राप्नोतीति । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न, अनन्त-  
त्वाद्भव्यराशेः, भनागतकाज्ञाकाशवदिनि । इह बहू बहुदन्तकेना-  
ऽनन्तलोकास्तोकापयाऽप्यजीयमानमपि नाच्छेद्यन्ते, यथा-प्रतिस्स-  
मबंधं वनेमानतास्ताऽप्यजीयमानोऽप्यनगतकाज्ञसमयराशिः,  
प्रतिस्समयं बुद्ध्या प्रदेशपहारंणापचोऽयमानः खवनमःश्वेदशरा-  
शिर्वा, इति न प्रत्यच्छेदः ।

कुतः?, इत्याह-

जं वातीयाणगय-काला तुह्मा जम्भो य संसिच्छो ।

एकौ अणंतभागो, जन्वाणमर्धयकालेषु ॥  
एस्सेण तत्तिन्नो च्चिय, जुत्तो जंतो वि सव्वजन्वाण ।  
जुत्तो न समुच्छेन्नो, होज्ज मई कट्ठमिणं तिष्णं ।  
जन्वाणमणंतत्तण-मणंतजगो व कट्ठ विमुक्कोसि ।  
कालादन्नो व मंभिय !, मह वयणाओ वि पक्विज्जा ।

यस्माच्चारीतानागतकालीं तुन्यवेव, यत्तन्नातीतेनानन्तेनापि का-  
शेनैक एव निगोदान्ततमो भागोऽद्यापि ज्ञव्यानां सिद्धः, एष्यता-  
ऽपि भविष्यत्कालेन तावन्मात्र एव भव्यानन्तभागः सिद्धिं गच्छन्  
युक्तो घटमानको न ईनाधिकः, भविष्यतोऽपि कालस्याती-  
ततुन्यथात् । तत एवमापि सति न सर्वभव्यानामुच्छेदा युक्तः,  
सर्वेषामपि काशेन तदनन्तभागस्यैव सिद्धिगमनसंभवांपददर्शना-  
त् । अथ एरस्य मतिभेदतु-कथामिदं ससंबन्धम्-यदुतानमता  
ज्ञव्याः, तदनन्तभागश्च सर्वेषुव कालेन सत्यति ? इति ।  
अभयत्न-कालाकारादय इवान्तकालसाधद्वय्याः, तदनन्तभा-  
गस्य च मुक्तिगमनात्कालाकाशयोरेव न सर्वेषामुच्छेद इति  
प्रतिपद्यते । प्रद्वचनाद्वा मरिदकः सर्वमेतच्छुद्धेतीति । विद्यो ।  
पञ्चा० । हा० कर्म० । आ० । न० । वृ० । दशा० ।

अज्ञारिय-अभाये-पुं० । अयजोके, कल्प० ।

“ पश्चावती च समुवाच विना वधुतीं,  
शोभा न काचन नरस्य भवाय्यवश्यम् ।  
नो कथलस्य पुरुषस्य करांत कोऽपि,  
विश्वासमेव विद एव जवेदभायः ” ॥ १ ॥ कल्प० १ कृ० ।

अभावा-अभावा-पुं० । अद्यभावाये, उच० १ अ० । जीवाद्यः  
पदार्था अन्त्यापेक्षया अभावाः । निषेधे, भ० ४२ श० १ उ० ।  
विनाश, वृ० १ उ० । असम्भवे, दृश० १ उ० । असत्तायात्,  
पञ्चा० २ विव० । स० ( अभावप्रामाण्यम् ) यदपि—

“ प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणभाव उच्यते ।  
साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञान वाप्यव्यवस्तुनि ” ॥ १ ॥

( सति ) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः, आत्मनो घटादिप्राहकनया परिणा-  
मानायाः प्रसज्यपक्षे, पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घटविचिकीत्ये  
वस्तुनि अभावे घटो नास्तीति विज्ञानम्, इत्यभावप्रमाण-  
मभिधीयते । तदपि, यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव । तथा हि—

“ गृहीत्वा वस्तुसङ्गाव, स्तृत्वा च प्रतियोगिनम् ।  
मानसं नास्तित्वा ज्ञानं, जायतेऽङ्गानपेक्षया ” ॥ १ ॥

इयमभावप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतलादिकं वस्तु  
प्रत्यक्षेण घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टम्, असंसृष्टं वा गृह्ये-  
त ? । नायः पक्षः । प्रतियोगिसंसृष्टस्य भूतलादिवस्तुनः  
प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावप्राहकत्वेनाज्ञावप्रमास्य-  
स्य प्रवृत्तयोर्थात् । प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगि-  
नः सत्त्वंऽपि तत्प्रवृत्तौ । द्वितीयपक्षे तु-अभावप्रमाणवैयर्थ्यं,  
प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामज्ञावप्रतिपत्तेः । अथ न  
संसृष्टे मायसंसृष्टे प्रतियोगिभिर्भूतलादि वस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते,  
चस्तुप्राप्तस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत् । तदपि बुद्धम् ।  
संसृष्टत्वांसंसृष्टत्वयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधे-  
ऽपराधिधानस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्, इति सत्त्वसृष्टवस्तुप्र-  
माणवत् प्रत्यक्षेणैवापि वेद्यते । क्वचिन्तु-तदघटं चूतलमिति  
स्मरणेन, तद्वेद्यमघटं भूतलमिति प्रत्याभिधानेन, योऽभिधात  
१७८

अथति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमो नाग्निरित्यनुमानेन,  
गृहे गगो नास्तीत्यागमेनाभावस्य प्रतीतेः क्वाऽभावप्रमाणं प्रव-  
र्तताम् ? । रत्ना० २ परि० ।

अस्यैव प्रकारानाह—

स चतुर्ष्वा-प्रागभावः प्रध्वंसाज्ञाव इतरेतराभावोऽप्य-  
न्ताज्ञावश्च ॥ ५८ ॥

प्राक् पूर्वं वस्तुपक्षेतरभावः, प्रध्वंसश्चासावभावश्च, इतरस्ये-  
तरस्मिन्नभावः, अस्यन्तं सर्वदाऽभावः । विधिप्रकारास्तु प्रा-  
कैर्नोचिरे । अतः सूत्रकृद्भिरपि नाभिधचिरे ॥ ५८ ॥

तत्र प्रागभावभावविर्भाववन्ति—

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागजा-  
वः ॥ ५९ ॥

यस्य पदार्थस्य निवृत्तावेव सत्यां, न पुनरनिवृत्तावपि ; अ-  
तिव्याप्तिप्रसक्तेः । अन्धकारस्यापि निवृत्तौ कर्थावद् ज्ञानोत्प-  
त्तिदर्शनादन्धकारस्यापि ज्ञानप्रागभावत्वप्रसङ्गात् । नैवेवमपि  
रूपज्ञानं तन्निरवृत्तावेवोत्पद्यत इति तत्रापि तस्य तत्त्वप्रसक्ति-  
रिति याच्यम् । अतीन्द्रियदर्शिनि मर्कटकारदौ च तद्भावोऽपि  
तद्भावात् । ( स इति ) पदार्थः, ( अस्येति ) कार्यस्य ॥ ५९ ॥

अत्रोदाहरति—

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पि-  
ण्डः ॥ ६० ॥

प्रध्वंसाभावं प्राहुः—

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावरयं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाज्ञा-  
वः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रागुत्पन्नकार्यस्यावश्यं नियमेन,  
अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । विपत्तिविघटने, साऽस्य कार्यस्य प्रध्वं-  
साज्ञावाऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

बदाहरति—

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य क-  
लशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

इतरेतराभावं वर्णयन्ति—

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराज्ञावः ॥ ६३ ॥  
स्वभावान्तरात् पुनः स्वस्वकपादेव तस्याभावप्रसक्तेः, स्व-  
रूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावोऽप्यावधानमा  
निगद्यते ॥ ६३ ॥

बदाहरणमाहुः—

यथा स्तम्भस्वजावाल्कुम्भस्वजावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥  
अन्यन्ताभावमुपदिशन्ति—

कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ता-  
भावः ॥ ६५ ॥

अतीतानागतवर्तमानकृपाक्षत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरि-  
णामनिवृत्तिरकत्वपरिणितिव्यावृत्तिः, सोऽप्यन्ताज्ञावाऽभिधी-  
यते ॥ ६५ ॥



अज्ञाव

निदर्शयन्ति-

यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥

न खलु चेतनमात्मतत्त्वमचेतनपुरुषात्मकतामचकलय, कल-  
यति, कलयिष्यति वा; तच्चैतन्यविरोधात् । नाप्यचेतनं पुरु-  
षतत्त्वं चेतनस्वरूपताम्; अचेतनव्यविरोधात् ॥ रक्षा० ३  
परि० । नं० । सस्म० । अज्ञावचातुर्विधं चावश्यमाभ्यवर्णीयम् ।  
तदुक्तम्- " कार्यद्रव्यमानादिः स्यात्, प्राग्ज्ञावस्य निह्वे ।  
प्रध्वंसस्य त्वभाषस्य, प्रध्वयेऽनन्ततां श्रेष्ठे ॥ १ ॥ सर्वानकं  
तदेकं स्या-द्व्याप्योहृदयतिक्रमे " इत्यादि । सूत्र० १०० ॥ अ० १  
उ० । (सम्भव्यादिप्रन्थभ्यो विशेषोऽवगन्तव्यः) परिचाराज्ञावो  
द्विविधः-विद्यमानाज्ञावोऽविद्यमानाभाषकः । विद्यमानः सन्  
अज्ञावोऽसन् वैवाक्यादेरकरणाद् विद्यमानाज्ञावः । अवि-  
द्यमानः सन्नभाषोऽविद्यमानाभाषः । श्य० २ उ० ।

अज्ञानिय-अज्ञानित-त्रि० । असंसर्गप्रसे प्राप्तसंसर्गं वा व-  
ज्जन-दुःखकल्पे, अयोग्ये च । " अज्ञानिय-अज्ञानित-  
अज्ञानिय-अज्ञानित-त्रि० । असंसर्गप्रसे प्राप्तसंसर्गं वा व-  
ज्जन-दुःखकल्पे, अयोग्ये च । " अज्ञानिय-अज्ञानित-  
अज्ञानिय-अज्ञानित-त्रि० । असंसर्गप्रसे प्राप्तसंसर्गं वा व-  
ज्जन-दुःखकल्पे, अयोग्ये च । " अज्ञानिय-अज्ञानित-

अज्ञानियत्वेत्त-अज्ञानितत्वेत्त-न० । क० स० । संविद्यमानु-  
विषयश्रद्धाविकल्पे, पार्श्वस्थादिभाषिते च क्लेशे, वृ० ३ उ० ।  
अज्ञानिय-अज्ञानित-न० । न० । न० । वेल्लुकादिरूपभानुकरवि-  
भक्षणं चक्षनादीं, पं० व० ३ उ० । श्राव० ।

अभासग-अज्ञापक-पुं० । ज्ञावाऽप्यर्थोऽपि अयोगिसिद्धे, एके-  
न्द्रिये च । श्या० २ उ० ४ उ० । अज्ञा० चं० प्र० । " भासग "  
शब्दे इत्येकाऽस्य वक्ष्यते )

अज्ञासा-अज्ञापा-स्त्री० । शृत्रामाणयाम्, सत्यामृतायां च ।  
म० १५ श० ३ उ० ।

अभासिय-अभासिक-त्रि० । अदीप्सिमति भूय्यादिके इत्ये,  
नि० चू० १३ उ० ।

अभि-अभि-अभ्य० । अभिमुष्ये, अमु० । आचा० । विपा० ।  
संभूषे, मं० । विकल्पे, पदार्थसंज्ञान्वये च । नि० चू० १ उ० । क-  
ञ्चिप्रकारं प्राप्तस्य द्योतेन, अभिमुष्ये, अभिमुष्ये, अभिमुष्ये, अपीत्यायां,  
लक्षणं, सप्रस्तादर्थे च । बाच० ।

अभिभावस-अज्ञापक-त्रि० । अग्निमुखं समापके, सूत्र० १  
शु० ४ अ० ३ उ० ।

अभि ( भी )-अभिमिन्तु-न० । अष्टदेवताके नक्षत्रभेदे, श्या०  
२ उ० ३ उ० । अमु० । " दो अभिर्भे " श्या० २ उ० ३ उ० ।  
ज० । तच्च उत्तराषाढानक्षत्रस्य शेषचतुर्थ्यांशसहितअवधननक्ष-  
त्राटकज्ञाचतुष्कल्पम् । शब्द० । " अग्नीष्टणकश्चत तितारं "  
पं० सं० २ श्राव० । नक्षत्रस्य सहाऽस्य योगस्तत्रैव । ज्यो० ६ पाहु० ।  
वीनमयनगराजस्योदायनस्य प्रजावर्त्यां देव्यामुत्पन्नं पुत्रं, अ०  
स च प्रव्रजता स्वपिशा तद्भ्रागित्ये किञ्चिदुत्तराश्रमण राज्यम्  
धिष्ठापिते द्विष्टः सन् संश्लेषनया सृष्टः सखसुरकुमारदेवत्वैनेने-  
तपः । म० १३ श० ६ उ० । श्या० ।

तर् पं तस्य अज्ञोऽकुमारस्य अक्षया कथां पुञ्जरत्ना-  
वत्तकालसमर्पसि कुटुंबनगरिणं जागरमाणस्य अभ्येया-

ख्ये अज्ञचित्तप जाव समुप्यजित्या, एवं खलु अहं उदा-  
यखस्य पुत्रे पञ्चावदृष देवीष अज्ञच । तर् पं से उदायणे  
राया मयं अत्रहाय शियगं भाषयिञ्जं कसीकुमारं रज्जे ठा-  
वेत्ता समखस्य भगवभो महावीरस्य जाव पञ्चइत्तए । इ-  
मेणं पयारूवेणं महता अपचित्तपणं मणोमाणसीएणं दुक्खेणं  
अजिन्तए समाणे अतेउरपरियाहससंपरितुके सज्जनमचोव-  
रणमायाय वीइभयाओ गयराओ गिगच्छइ, गिगच्छ-  
इत्ता पुञ्जाणुपुत्तिं चरमाणे गापाणुगायं दूइजमाणे जेणोव  
वृणा णमपे, जेणोव कूणिए राया,तेणव उवागच्छइ, उवा-  
गच्छणं कूणिए एतेण उवसंपजिक्का णं विहरइ । तत्थ वि-  
णं से विठलभोगसमितिसमपेणुणए यावि होएत्था । तर् पं  
से अग्नीकुमारं समणोवासए यावि होएत्थिः । अग्निगय० जाव  
विहरइ । उदायणम्मि रायरिसिग्मि समणुवच्छरे यावि हो-  
एत्थिः । तेषं काक्षेणं तेषं समपणं इमीसे रयणपञ्जाए पुदवीए  
णिएपरिसामंतेसु चोपइअसुरकुमारावाससयसपुत्ता प-  
सुत्ता एणं से अग्नीकुमारे बहुइं वामां सणणोवासगं  
परियायं पाठणइ, वीइत्ता अद्दमासियाए संश्लेखणए  
तीसं भूचाइं अणसणं ३ तस्सोणस्य अणाहोइयपानकेते  
कात्तमाने कात्तं किञ्चा इमीसे रयणभाए पुदवीए णिए-  
यपरिसामंतेसु चोपइए आतावा० जाक्खंसेसु अणय-  
रंसे आयावा असुरकुमारावामंसे आतावासे असुर-  
कुमारदेवत्ताए उववसो, तत्थ णं अत्थेगइयापं असुरसु-  
राणं एगं पणिअोवमइइं पसत्ता । तस णं अग्नीइसम देवसस  
एगं पलिअोवमं विइं पसत्ता । मे णं अग्नीइदेवे ताओ देव-  
लोगाओ आउक्खएणं ३ अण्येतरं उच्चइत्ता कइं मच्चि-  
इति, कइं उववज्जिइति । गोयमा । महाविदेहे वामं  
मिज्जिइइति० जाव अंतं काइइति, सेवं जंते । जंतं ! ति ॥  
( अणुचित्तपणं मणोमाणसिपणं दुक्खेणं ति ) अग्नीतिकेना-  
ग्नीतिस्वभावेन मनसो विकारो मानसिकं, मनसं मानसिकं, न  
वहिरूपसदृशमाणविकारं यत्तन्मनोमानसिकं, तेन केनैवाविचि-  
न ? , इत्याह-दुःखेन । ( सभनप्रसाववरणमायाय ति ) स्वयं  
स्वकीयां भारुमात्रं माजनरूपपरिच्छेदमुपकरणं च शय्या-  
दि, गृहीत्येत्यर्थः । अथवा-सह माधुमात्रया यतुपकरणं त-  
सया, तदावाय (समणुवच्छेरेरिति) अणुवच्छिच्छेरेरजावः ।  
( निरयपरिसामंतेसु ति ) नरकपरियाश्रयः ( वासहाए आ-  
यावा असुरकुमारावासेसु ति ) इह " आयाव ति " असुर-  
कुमारविशेषाः, विशेषतस्तु नावगम्यन्त इति । म० १३ श० ६ उ० ।  
लोकोत्तरदीत्या शब्दो दिवसे, कल्प० ६ क्ल० । अेलिकस्य धारितया  
जाते पुत्रे, अणु० । स च वीर्यान्तिके प्रमथ्ये पञ्च वर्षाणि आभयं  
परिपाय्ये विजये विमाने उत्पन्न इति अनुत्तरपयातिकदशा-  
नां १ वर्षे ० अथयने सुचिन्त । अणु० १ वर्गं । अभि-  
मुखीचूय जयति शत्रुं, अभि-त्रि-क्विव । शत्रुअभि-  
नि, यात्रानुकूलसमभेदे, पञ्चदशयाम् विभक्तविवस्थाभेदे भा-  
ग, स्मृतिप्रसक्तं कुतपकालं च । बाच० । १० प० ।

अभिभंजिय-अभियुज्य-अभ्य० । सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्पर्द्धे, स्थाने ३ ज्ञा०४ ड० । वशीकृत्यास्त्रिष्व वा इत्येतेषामर्थे, वशा० १० झ० ।

अभिभोग-अभियोग-पूर्व० । अभियुज्यमानतायाश्च, स द्विविधो-द्वैवो मालुपिकश्च । व्य० उ ङ० । (स च 'उवसमापत्' शब्दे द्वितीययोगे १०२६ पृष्ठे व्याख्यास्यते ) अभियोजनमभियोगः । राजाजिनयोगादिकं अनिच्छतोऽपि व्यापारणे, घ० २ अघि० । आदेशकर्मणि, झी० । प्रश्न० । आज्ञायाम्, स्थाने १० डा० । वशीकरणे, नि० चू० २ ङ० । अभिनये, आघ० ५ झ० । वृ० । सूत्र० । गर्वे, आघ० ५ झ० । अभियोजनं विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणयारित्रियोगः । स च च्छि० । यदाह-

दुविहो खलु अभिभोगो, दम्बे भावे य होइ नायव्वो ।  
दम्बम्मि होति जोगा, विजामंताइ भावम्मि ॥

इदानीम् (अभिभोगोऽपि) व्याख्यानयन्नाह-(दुविहो खलु अभिभोगोऽपि) इह द्विविधो अभियोगः-प्रव्याजिनयोगः, जावाजिनयोगश्च ज्ञातव्यः । तत्र द्रव्ये योगो ह्यव्ययोगश्चूर्णम्, तन्मिश्रः पिरदो द्रव्याभियोगपिरदः, स च परित्यजनीयः भावाभियोगश्च विद्यया मन्त्रेण वा पिरदं द्वाति स च भावाभियोगः पिरदः । स च परिष्ठापनीय इति । अत्र अगार्यां दृष्टान्तः—  
“यगा अवरिइया, सा अणिछा पइयो, ताए परिव्याइया अ-  
भ्यतिथ्या-किंवि मंतेण अभिमंतिऊण मम देहि, जेण पई मे वसां होइ, ताहे ताए अभिमंतिऊण कुरो दिअं । अवि-  
रइयाए अितिय-मा पसां दिअो मरेअ, तअो ताए अणुके-  
पाए उअइउइयाए अइइओ, सो गइणेण आअअओ, सो रसिं  
अइउं खोदिअमारको, ताए निग्गयाणि ज्ञाअ पच्छंति ग-  
इहेण खोदिअंनं, सा अवरिइया प्रअइ-किमयि थि ? , ताए स-  
म्भायो काइओ, ताईं वि सा चरिया दंदाविया, पए दासां,  
एवं ताव जइ तिरियाणं पसा अइया होइ, माणुसस्स पुण  
सुइयं होइ, अअओ एरिसो पिअो न घेअव्वो ॥”

अमुमेवार्थं गाथानिरुपसंहरन्नाह-

विजाएँ हो अगारी, अविचया सा य पुच्छए चरियं ।  
आभिमंतणोदणसम उ,अणुकपत्तणयुससंघं च खरे ॥६०४॥

विद्याजिमन्त्रेण पिरदे अगारीदृष्टान्तः-सा अमूर्तरस्वायत्ता न रो-  
चते । सा च चरिकां पात्रमाजिकां पुच्छति पर्युवशीकरणाथम् । नया  
अजिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्तं, तथाऽपि अगार्यां पर्युमे-  
रणानुकरण्या न दत्तः स आंदनः, किन्तु उत्सन्नः, परित्यागः  
कृतः । स च खरेण मज्जित इति ।

वारसस पिट्टणम्मि य, पुच्छण कइणं च हो अगारीण् ।  
मेहे चरिआ दंरु, एवं दोमा इहिं पि सया ॥

स च गर्देन अगाल्य ह्यरं पिद्वति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेषं  
सुगमम् । एवं भावाभियोगे दृष्टान्त उक्तः ।

इदानीं द्रव्याभियोगे सूक्ष्मवशीकरणपिरदः, स उच्यते-  
“यगा अवरिइया, सा य गुरुस्स जिक्खुणो अण्णोववया  
अणुएता, ताहे सा तं परयेइ, अणिच्छंतस्स सुअभियोगेण  
संजोएउ भिक्खं पइवेसिय घरे काऊए द्वाविये ताए, जअो  
वेव तस्स साहुस्स पदिमाहे पडियं तअो वेव तस्स साहुस्स  
तअो मणो हीरइ, तेण य णायं, ताईं गियइति, सिअिअो आय-

रियाणं पइम्मइं काउं काइयभूमिं वचवइ, जाव आयरियाणं  
पि तत्तो हुत्तो ज्ञाओ हीरति, ताहे सो वीसो आगंतुं अण्णोएउ,  
मम पि अविध भावो, न एत्थं संजोगकुण्णे कअो पिको अत्थि,  
ताहे परिच्छजइइ, जा विहिं परिच्छइ, जा गुरुअं सा उअरं अग्घाहिं  
सि” । एवमेव विसयं पि । “यगा अगारी । साहुणो अण्णोव-  
वया, सो य णो इच्छति, ताए उणुए विसेण मिस्सा जिक्खा  
दिअ । तस्स य दिअमंसाणं वेव सिरोवेयणा जाया, परिण-  
यट्ठा गुरुणो सम्मपेऊण काण्णे परिच्छइ, जा गुरुअं वि स्वी-  
सवेयणा जाया, तं च गुरुणा गंघण णायं, जहा इमं विसमि-  
स्सं, अहवा तय लवकया जिक्खा पडिया, ताईं तं विसं  
अपिसइ । एवं णाते परिट्ठविज्जाति” ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथानिरुपसंहरन्नाह-

जोगम्मि उ अवरिइया, अण्णोवया सुवजिक्खुम्मि ।  
करुणेगिमणिच्छंत्त-स्स देइ जिक्खं अमुहजावो ॥६०६॥  
योगे अवरितिकागुरुस्सुधैदृष्टान्तः-अभ्युपपत्ता रक्ता सुकूपं भि-  
क्षौ, अणिच्छित्तस्वत्कर्मकरुणः कृतयोगो भिक्षां, भिक्षापित्तं  
ददाति । पुनश्च तस्य साधोर्भ्रंशानन्तरमेव अग्रहभावां जातः ।

तदजिमुक्तं चिन्तयति-

संकाए स नियट्ठो, दाऊण गुरुस्स काइयं विसरे ।  
तेसिं पि अमुहजावो, पुच्छा य ममं पि उस्सयणा ॥६०७॥  
नया च शङ्कया योगकृतभिक्षाशङ्कया निवृत्तः निष्ठापरिष्क्रम-  
णात् । शेषं सुगमम् ।

एवैव संकियम्मि वि, दाऊण गुरुस्स काइए विमरे ।  
गंधाई विअए, उस्सअसविहो सियालवहे ॥ ए ॥

एवमेव विषयकृतोऽपि दृष्टान्तः-गुरोर्देव्या समर्थयित्वा कायिकं  
व्युत्पन्नति, तेन गुरुणा गन्धादिना विद्यातमः । आदिप्रदणत्  
तत्तस्य उत्सर्जनं परित्यागः कियते, तत्र विधिना परिष्ठापने  
कस्त्वैव, नानाविधिना अविधिपरिष्ठापने सति शृगालादिवधो  
भवति । श्रौ० । वृ० ॥

अजिभोगी-अजिनयोगी-खी० । आ समन्तादाजिमुष्येन यु-  
ज्यन्ते प्रप्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः किङ्करस्थानी-  
या देवविशेषास्तेषामभियोगाभियोगी । जावनायाम्, वृ० ।

अथाभियोगीमाह-

कोउअ-चूई-पसिण्णे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।  
रिहिरससायगुरुअं, अजिभोगो भावणं कुणइ ॥

अकिरससायगुरुकः सन्, कौतुकाजीवी भूतिकर्माजीवी,  
प्रभाजीवी, अश्राप्रभाजीवी, निमित्ताजीवी च ऋचति एवविध  
आजिनयोगाभावानं करोतीति ॥ ( वृ० )

अथ अकिरससातगुरुक इति पदव्याख्यानाथमाह-

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो अजिभोगियं वंधए ।

वीथं गारवरिहो, कुव्वं आराह गुत्तं च ।

एतानि कौतुकादीनि अकिरससातगौरवार्थं कुर्वाणः प्रयुज्या-  
नः सजानियोगिकं देवादिप्रप्यकर्मव्यापारफलं कर्म भजानि ।  
द्वितीयमपवादपदम् अर्वात-गौरवारहितः सज्जितसयज्ञाने  
सति निस्पृहदृष्ट्या प्रयत्नमभावनाधेनप्रदाने कौतुकादीनि कु-  
र्व्वेसाराधको जयति, उच्चैर्गत्रं च कर्म भजति, तीर्थोत्थित-

करणादिति । गता अभिव्यंगिकी भावना । ह्र० १ ङ० ।  
अ० । स्थान० । श्रौ० ।

अभिभोग्येण—अभियोजन—न० । परेषां विद्यामन्त्रादिभिर्भोगी-  
करणे, प्रह्ला० १० पद । आच० ।

अभिकंठमाण—अभिकाङ्क्ष—त्रि० । कर्तुमिच्छति, दश० ६  
अ० ३ उ० ।

अभिकंठा—अभिकाङ्क्षा—स्त्री० । अभिलाष, सूत्र० १ श्रु० २  
अ० २ उ० । आच० ।

अभिकेन—अभिक्रान्त—त्रि० । अतिशक्ति, आचा० १ श्रु० ४  
अ० ५ उ० । भाव निष्ठाप्रत्ययः । अभिक्रमणे, दश० ४ अ० ।

अभिकेतिकिरिया—अभिक्रान्तक्रिया—स्त्री० । चरकादिभिर-  
नवसंतिपूर्वायां वसन्तै, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ॥

अभिकेतकूरकम्म—अभिक्रान्तकूरकम्म—त्रि० । हिंसादिक्रिया-  
प्रवृत्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आच० ।

अभिकेतवय—अभिक्रान्तवयस्—न० । जराप्रतिमृत्युं वाप्तिक्रान-  
न्त, आद्यवयोऽथानि क्रमं जरानिमुक्ते चयानि, बालादीनां स्वयोप-  
चयव्यवस्था—तामभिसुखमाक्रान्त, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अभिक्रमाण—अभिक्रमण—न० । अभिमुक्त क्रमणे, आचा० १  
श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

अभिक्रममाण—अभिक्रममाण—त्रि० । गच्छति, आचा० १ श्रु०  
१ अ० २ उ० ।

अभिक्रम्य—अभिक्रम्य—अव्य० । अभिमुक्तेन कान्वेत्यर्थे, सूत्र०  
१ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अभिकवर्ण—अज्ञीक्षणम्—अव्य० । अनवस्ते, आ० म० प्र० ।  
ज्ञ० । प्रअ० । विशेषेण सूत्र० । आचा० । पुनःशब्दार्थे, स्थान० ५  
ग्रा० १ उ० । "एगं समुपप्लेज्जा अभिषक्षणं अभिषक्खण इतिथ-  
कहं भलकहं" स्थान० २ ग्रा० ४ उ० । अर्भीदृष्टं पुनःपुनः विशेषेण  
ह्र० । नि० चू० । दश० । स० । जूवाभूयः । दश० १० अ० ।  
रा० । धारंवारम् । कल्प० ६ श्रु० उक्त० । असकृत् । दश० २  
अ० । भूशम् । स० ३० सम० । "अभिषक्खणमोधारणं भा-  
सह" आच० ४ अ० १ ।

अभिकवणसेवण—अज्ञीक्षणनिषेवण—न० । अभिषेणप्रतिसे-  
वने, व्य० ३ उ० ।

अभिकवमाइण—अज्ञीक्षणमायिन—त्रि० । बहुरो मायादिनि,  
व्य० ३ उ० ।

अभिकवसेवा—अभीक्षणसेवा—स्त्री० । प्रमाणाधिकसेवायाम्,  
नि० चू० १ उ० ।

अभिकवाज्ञाभिय—अभिज्ञाज्ञाजिक—पुं० । अनुच्छानवन्धानप्रा-  
हकं भिन्नावर्थाविषयकानिप्रहविशेषधारकं स्त्रीषी, श्रौ०सूत्र० ।

अभिकवासेवणा—अभीक्ष्णासेवना—स्त्री० । असहृदासेवना-  
याम्, नि० चू० १ उ० ।

अभिकजंन—अभिकर्तृ—न० । घनध्वनिमुञ्जने, उपा० २ अ० ।  
अभिकम—अभिकम—पुं० । सम्यग्धर्मप्रतिपत्तौ, पा० ५० दश० ।

अभिगमाः—

धेरे भगवते पंचविदेष्टेण अभिगमेण अभिगच्छति । तं जहा-  
सचित्ताणं दन्वाणं विउसरयाए, अभिचित्ताणं दन्वाणं  
अविउसरयाए, एगमादिष्टेण उत्तरसंगकरणेण, चक्खु-  
प्यामिअंनिद्विपगहेण, मणसा एगशीकरणेण ॥

( अभिगमेण ति ) प्रतिपत्त्या अभिगच्छन्ति समीपं गच्छन्ति ।  
( सचित्ताणं ति ) पुपुताम्बुलादीनां ( विउसरणयाए ति )  
व्यवसजेनया त्यागेन, ( सचित्ताणं ति ) वक्खमुत्तिहादीनां, (अ-  
विउसरणयाए ति ) अत्यागेन, ( एगमादिष्टेण ति ) अनेका-  
क्षरीयशाटकानां निषेधाधेमुक्तम् । ( उत्तरसंगकरणेण ति )  
उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः, चक्खुःस्पष्टं दृष्टिपानं,  
( एगशीकरणेण ति ) अनेकत्वस्यानेकालम्बनत्वस्य एकत्वं  
करणं एकात्मबन्धकरणं एकत्वोकरणं, तेन । अ० २ श्रु० ५ उ० ।  
दश० । सूत्र० । वस्तुनः परिच्छेदे प्राप्ते अभिगम्यतेऽस्मिन्नित्य-  
भिगमः, इति व्युत्पत्त्या वस्तुपरिच्छेदाधिकरणे, दश० ४ अ० ।

अभिगमाण—अभिगमण—न० । अभिमुक्तगमने, दश० १० अ० ।  
घ० । ज्ञा० । नि० । सूत्र० । सर्वबाह्यमागल्लदभ्यन्तरप्रियंशेन,  
सू० प्र० १३ पाठु० । " अभिगमणत्थाय " अवगमनज्ञायाया-  
र्थावित्यर्थः । ज्ञा० १२ अ० ।

अभिगमाणजोग—अभिगमनयोग—त्रि० । अभिमुक्तगमानयो-  
चिते, रा० ।

अभिगमरूढ—अभिगमरूढि—पुं० । अभिगमे विशिष्टं परिज्ञानं,  
तेन रुचिर्व्यस्तौ अभिगमरूढिः । सम्यक्त्वभेदं, तद्वति च ।  
प्रव० १४ए द्वार ।

सो होइ अनिगमरूढिं, सुयनाणं अस्स अत्यत्रो दिट्ठं ।  
एकारस अंग्गां, पदमगा दिट्ठिवाअं य ।

यस्य भूतज्ञानमर्थतो हृष्टमेकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकमित्यत्र जा-  
तावेकवचनम् । ततोऽयमर्थ-प्रकीर्णानि उत्तराध्ययनादीनि,  
दृष्टिवादः, अशब्दादुपाङ्गानि च, स भवत्यधिगमरूढिः । प्रह्ला०  
१ पद । उक्त० ।

अभिगमसह—अभिगमभ्रातृ—पुं० । प्रतिपञ्चाणमते, घ० ३ अधि० ।

अभिगमसम्मत—अभिगमसम्यक्त्व—न० । जीवाजीवपुष्यपा-  
पाश्र्वसम्भारनिर्जराव-धर्मोक्तुषु परीक्षितनवपदार्थाभिगमप्रत्य-  
यिके सम्यक्त्वभेदे, आ० सू० ४ अ० । " अभिगमसम्मत्संज्ञेण  
पुचिहे पञ्चत्तं । तं जहा—पदिवादि चेष, अपदिवादि चेष " ।  
स्थान० २ ग्रा० ३ उ० ।

अभिगय—अभिगत—पुं० । न० । अभिमुक्तेन गतः । प्राचिष्टे,  
ह्र० १ उ० ।

अभिगवभू—अभिगृह्ण—अव्य० । अङ्गीकृत्य अभिमुक्तीन्त्यर्थे,  
स्थान० २ ग्रा० १ उ० ।

अभिगिज्जत—अभिगृह्यत्—त्रि० । अभिमुक्तेन लुञ्ज्यमानं  
लौभचशर्माभवेन, सूत्र० २ श्रु० ५ उ० ।

अभिगमद—अभिग्रह—पुं० । अभिमुक्तेन प्रहोऽनिग्रहः । नि० चू०  
२ उ० । अभिश्रुतं द्यामिग्रहः । प्रतिज्ञावशेषे, आच० ६ अ० ।

साध्याचारविशेषे, यद्येत्साहाय्यदिकममीयां कल्पते, इत्थं च  
न कल्पते । ६० १ उ० । स च द्रव्याविशेषवभेदात्समुत्थिषः ।  
५० ३ अधि० । तत्र कल्याभिप्रदो लेपकृदादिकल्पविषयः,  
केशाभिप्रदः स्वभाषपरमादिविषयः, कालाभिप्रदः पुर्वा-  
परादिविषयः, भावाभिप्रदस्तु गानहसनादिप्रवृत्तपुरुषादि-  
विषयः । श्लो० । प्रव० ।

द्विरिति तत्रो पच्छ, अद्भुच्छिया एसाणैर् उवत्था ।  
द्व्यादभिगम्हजुआ, भोक्कट्टा सव्वजावेणं ॥ ६७ ॥

द्विरिति अदन्ति ततः पश्चाद्, विधिनिर्णयमानान्तरमित्यर्थः ।  
अमूर्तिना आदारादौ मूर्त्तान्कुर्वन्तः, एषणायां प्रहणविषया-  
यात्, उपयुक्तास्तवपराः, उच्यन्त्याभिप्रदयुता यथ्यमाणद्रव्याप-  
भिप्रदावेनाः, मोक्षार्थं तदर्थं विहितानुष्ठानत्याद्य, भिक्कान्तस्य  
सर्वभावेन सर्वभावाभिप्रदधिना तद्वैद्यावृत्त्यादिरपि मोक्षार्थ-  
त्वाद्दिति गाधार्यः ।

तत्र कल्याभिप्रदानाह—

लेवमनेवजुअं वा, अमुगं दव्वं व अज्ज यिच्छामि ।  
अमुगं च दव्वेणं, अइ दव्वाभिगम्हो चेव ॥ ६८ ॥

लेपवजुगार्थादि, तन्मिथं वा, अलेपवद्वा तद्विपरितम, अमुकं  
द्रव्यं वा मरुत्कारि, अथ प्रहोप्यामि अमुकं वा उच्येण दर्वो-  
क्तानदिना, अथायं कल्याभिप्रदां नाम साध्याचरणविशेष  
इति गाधार्यः ।

क्षेत्राभिप्रदमाह—

अट्टउ गोअरज्ज्मिं, एतुगाविवखंभपेचगहणं व ।  
मग्गामपरग्गामे, एवइअ गिहाण खेतम्मि ॥ ६९ ॥

अष्टौ गोअरज्ज्मया वक्ष्यमाणसङ्क्रान्ता, तथा एतुक्विष्कम्भ-  
मात्रप्रदं च, यथाकथं-पशुक्विष्कम्भइत्यादि । तथा स्वभाषपर-  
मापर्यन्तान्यामि च गृहण क्लेश इति; स क्लेशविषयाऽभिप्रद  
इति गाधार्यः । ५० व० २ इतर ।

कालाभिप्रदमाह—

कात्ते अभिगम्हो पुण, आई मज्जे तद्वेव अवसाणे ।  
अप्पत्ते सइ कात्ते, आई विइओ अ चरिमम्मि ॥

काले कालविषयोऽभिप्रदः पुनरयम-आदौ मध्ये तथैवावसाने  
निष्पत्त्याद्याः, एतदेव व्याचष्टे-असांति भिक्काकाले यत्पर्यटति  
स प्रथमोऽभिप्रदः । यस्तु सति प्राप्ते भिक्काकाले चरति स  
द्वितीयो मध्यविषयोऽभिप्रदः । यस्तु कालरमैऽतिक्रान्ते भिक्काकाले  
पर्यटति सोऽवसानार्थवषयोऽभिप्रदः ।

कालवषेऽपि तु गुणदोषाभाह—

द्वित्तगपदिच्छगणं, द्विजिज सुहुमं पि भा हु अवियत्तं ।  
इय अप्पत्ते अइय, पवत्तणं मा ततो मज्जे ॥

द्विप्रतीच्छक्योरिति-भिक्कादातुस्मरिणो भिक्काप्रतीच्छकस्य  
च वर्नीपकादमीं जल सुहममप्याययसमप्रीतिकम, इत्यस्माकंते-  
दप्रसङ्गोति च-भिक्काकालेऽन्ते भेष इति गम्यते । (पवत्तणं मा  
ततो मज्जेति) इमास्ते अतीते वा पर्यटतः प्रवर्त्तनं पुःकर्मपश्चा-  
त्कर्मोदमीं मूत्, तत पर्यटतुना मध्येनते भिक्काकाले पर्यटति॥

अथ भावाभिप्रदमाह—

ठविस्सत्ताभाचरगा, भावजुया खलु अभिगम्हा होति ।  
१७६

गायीतो व रूदती, जं देइ निमग्घमादीया ॥

उत्क्रिप्तं पाकपितृत्वात्पूर्वमेव दायकेनोद्भूतं तद्दे चरानि गवे-  
यन्ति ते उत्क्रिप्तचरकाः आदिशशदाह निजिप्तचरकाः, संख्या-  
दत्तिकाः, इष्टलाभिकाः, पृष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते । त एते  
शुणगुणिनोः कथंविद्भेदाद्भावायुताः क्लवभिप्रदा प्रथिनं,  
भावाभिप्रदा इति प्रायः । यद्वा-मायत् यद्वि द्वास्थ्यति तदा मया  
प्रहीतव्यम, एवं कन्द वा, निवशादिषो, आदिप्रहणादुत्थितः, सं-  
प्रस्थितश्च यद्वाति तद्विषयो योऽभिप्रदः स सर्वोऽपि जावा-  
भिप्रद उच्यते ।

तथा-

ओस्मकणअट्टिसकण, परंमूहालंकिप य इयोरो वा ।  
जावऽअयरोणु जुओ, अइ जावाभिगम्हा नाम ॥

अवष्वकनपसरणं कुर्वन्, अजिष्वक्कन् संसुक्कमागच्छन्, परा-  
रुमुक्कः प्रतीतः, अरुहकृतः कटककपूरादिभिः, इतरा वा अरुहक-  
कृतः पुरुषो यदि दास्थ्यति तदा प्राह्मामित्येतेषां भावानामन्यत-  
रणं भावेन युतः, अथायं भावाभिप्रदा नामिति । ६० १ उ० ।  
आचा० । “तए णं समणे जगव्यं महाद्योरे गम्भत्येचव धमेवा  
रुवे अभिगम्हा अजिण्यहह-नो खलु मे कल्पइ अम्मापिउडिं  
जीवेंतेडिं मुंमे प्रविशा अगाराभो अणुगारियं पव्वइसए ” ।

कल्प० ५ कृ० । आचार्यः पश्चाभिप्रदानंभिरुष्ठास्थिकप्रामं प्रति  
प्रस्थितः । अभिप्रदाभैते-प्राप्तीतिमदृष्टे वासः १, स्थेयं प्रतिम-  
या सदा २ । नोहिविनयः कार्यः ३, मोन ४ पाणी व भोजनम् ५ ॥  
॥॥ कल्प० ५ कृ० । प्रत्याख्यानभेदे, “पंच चउरो अभिगम्हा ” ।

पञ्च चत्वारोऽभिप्रदे आकाराः-“अभिगम्हाहेतु अण्वाउरणं कोइ  
पच्चक्काइ, तस्स पंच (आगारा, अण्णयउगामेणो सहसा-  
गारे चोलपट्टागारे मरुत्तरागारे सेसेसु चोलपट्टागारे वेणिय  
विगएण अट्ट मय व भागारा” आण० ६ ब्र० । ५० । ल० प्र० ।  
इदंमव दशैने शोभनं नाम्यदित्येवंरूपे कुमतरपरिग्रहे, स्था० २  
उ० । १ उ० । मुक्तनियोगकरणाजिसत्तौ, हा० २ ए ॥ ॥ । एव  
कायिकविनयभेदः व्य० १ उ० । दश० । ५० सं० प्रकाशकरणं,  
अभियोगं, अभिमुख्येनोद्यमे गौरवान्विते च । वाच० ।

अभिगम्हियसिज्जासाणिय-अभिपट्टीतशश्यासनिक-पुं० ।  
शश्यासनाभिप्रदयुते साध्याचारे, कल्प० ।

नो कल्पइ निर्गंथाण वा निर्गंथीण वा अणनिगम्हिय-  
सिज्जासाणियण हुत्तप ॥

नां कल्पने साधुनां, साधुनां च (अभिगम्हियसि) न  
अभिपट्टीते शश्यासनं येन स अत्राभिपट्टीतशश्यासनः, अत्र-  
भिरुद्गीतशश्यासन एव अत्राभिपट्टीतशश्यासनिकः । स्वाद्यो-  
इकण प्रत्ययः । तथाविधेन साधुना (हुत्तप सि) जवितुं न क-  
ल्पते । यथासौ मणिकुट्टिमे पीठफलकादिप्रहणवैभवे प्राच्यम्,  
अन्यथा शीतलायां भूमौ शयने उपवेशने च कुण्ड्यादिचिराथ-  
नोत्पत्तेः । कल्प० ९ ल० ।

अभिगम्हिया-अभिपट्टीता-स्त्री० । अत्रिप्रहवत्याभेपणायाव,  
प्रव० । अत्रिप्रहवेष्यव-तासां सत्तानामरणानां मध्ये आद्ययो-  
रुद्योतरप्रदं, पञ्चसु प्रदं, पुनरपि विवक्षितदिवसे अन्त्यानां  
पञ्चानां मध्ये इत्योरभिप्रदः प्र० ६ हा० । “अभिमाहरहिया प-  
त्तणा जिणुकुत्तियणं” ति० क्लृ० ४ उ० । प्रतिनियतवधारणं,  
यथा इदमिदानीं कर्तव्यमिदं नति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अभिघट्टिञ्जमाण-अभिघट्टयमान-वि० । बेगेन गच्छति, रा० ।

अभिघाय-अभिघात-पुं० । अभिहनने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।  
लकुटादिग्रहारे, जीत० । नि० चू० । " गोकपधलुमा-  
दिश्रमिघातो " गोकपा च द्वरकमयी प्रसिद्धा-तथा, धनुषत्रु-  
तिनिर्वां श्लुकमुपलं वा शरमिघति, एषाऽअभिघात उच्यते ।

अपथा-

विद्वन्वण्यंतकुसादी-सिण्णैरुदगादि आवीरसणं तु ।

काश्मां तु विषसत्ये, खारो तु कल्लिवादीर्हि ॥

विशुचनं बीजनकं, खनकं वरुं, कुशो दर्मस्तप्रभृतिभिर्बाज-  
यन् यस्त्राणिनां अभिहितं, एष वा अभिघात उच्यते, खरौ नाम  
उदकेन, आदिशब्दाद् घृतेन तैलेन वा, आवर्षणं करति । कायां  
नाम श्लिषदादीनां विष्मन्, प्रतिक्रमिष्यत्येव । शृ० ४ उ० ।

अभिचंद-अभिचन्द-पुं० । अचसर्पिलयां भरतक्रेत्रे जाते प-  
ञ्चदशानां दशमे, सप्तानां चतुर्थे वा कुलकरे, जं० २ बङ्ग० ।  
" अभिचंदेण कुलकरे ऋष्यकुलसयाह उद्धु उच्यतेस्य होषा "।  
स्था० २ रा० १ उ० । आ० क० । आ० म० । कल्प० । (पत्या-  
दयः 'कुलकर' शब्दे वक्ष्यन्ते ) दशार्हपुरुषभेदे, अन्त० १  
वर्गं । दिवसस्य षष्ठे सुहृते, चन्द० १० पाहु० । स० । ज्यो० ।

अभिजत्रप-अभिजत्रप-पुं० । शब्दार्थैकिकरणे, सन्म० । अन्ये तु (सौ-  
नाविशेषाः) शब्द एवाभिजत्रपव्यमागतः शब्दार्थ इति । स आ-  
भिजत्रपः शब्द एवार्थ इत्येव शब्देऽपेक्ष्य निवेशनम्, सोऽय-  
मित्यभि संबन्धः । तस्माच्छा शब्दस्यार्थेन सहैकात्वं रूपं जवति  
तथा तं स्वीकृताधोकारं शब्दमभिजत्रपमित्याहुः । सम्म० १ का-  
एकः । (एषां अयमन्म' आगम' शब्दे द्वितीयाभागे ७४ पुंषु वक्ष्यते)

अभिजाइ-अभिजाति-स्त्री० । कुलीनतायाम्, उच्य० ११ अ० ।

अभिजाणमाख-अभिजानत-त्रि० । आसेवनापरिक्रयाऽऽसे-  
वमाने, भाचा० १ शृ० २ अ० ४ उ० ।

अभिजाय-अभिजात-त्रि० । अभि प्रशस्तं जातं जन्म यस्य  
सः कुलीने, वाच० । जं० । कुलीनलक्षणम्-

" प्रदानं प्रकृष्ये गृहमुपगते संभ्रमविधिः ।  
मिथं कृत्वा मीनं सदास्ति कथनं चाप्युपहृतैः ।  
अनुवसेको लक्ष्म्या निरजिनवसाराः परकथाः,  
भुने चासन्तोषः कथमनाभिजात निवसन्ति" । १ । अ० १ अ० ६ ।

लोकोत्तरतीत्या दिवसनेत्रे, चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अभिजायत-अभिजातत्-न० । चक्रुः प्रणिवाचस्यैव त्रि-  
कानुसारितायां सत्यवचनातिशयकषायाम्, स० ३५ सम्म० ।

अभिजायमह-अभिजातश्रक-त्रि० । उत्पन्नतत्त्वचौ, उच्य०  
१४ अ० ।

अभिजुंजिता-अभिनयोक्तुम्-अव्य० । विधादिसामर्थ्यतस्तेद-  
नुप्रवेशना व्यापारयितुम् । अ० ३ शृ० ५ उ० ।

अभिजुंजिय-अभियुजय-अव्य० । बशीरुत्य, आनिरुष्य, अ० २  
शृ० ५ उ० । व्यापार्य, स्मारयित्वा-एषामर्थे, सूत्र० १ शृ० ५  
अ० २ उ० ।

अभिनयोक्तुम्-अव्य० । विधादिसामर्थ्यतस्त्वनुप्रवेशने व्या-  
पारयितुमित्यर्थे, प्रति० ।

अभिजुत्-अभियुक्त-त्रि० । परिहते, नं० । संपादितवृषणे, हा०  
१४ अ० । स्या० ।

अभिज्जा-अभिध्या-स्त्री० । अभिध्यानमजिष्या । स० ५२ सम्म० ।  
धनादिध्वस्तोषे परिग्रहे, हा० १३ अ० ६ द्वा० । तद्व्याप्तके गौ-  
खमोहनोपकर्मणि, स० ५२ सम्म० ।

अभिद्वेष-अभिद्वेष-त्रि० । अभिमिषुष्येन स्तुतोऽभिद्वेषः । आ-  
व० २ अ० । स्वनामजिः कतिरिते, ल० । अत्रु० ।

अभिद्वेष-अभिद्वेष-त्रि० । अथवसायरूपेण ध्याते, गर्जाघा-  
नादिदुःखैः पीडिते, सूत्र० १ शृ० २ अ० ३ उ० ।

अभिणंद-अभिनिन्द-पुं० । अस्यामवसर्पिययां जाते भरत-  
क्षेत्रीये चतुर्थे तीर्थकरे, (आ० म०) तथा अभिनन्दन्ते देवेऽद्वात्रि-  
भितित्यभिनिन्दन् । सर्वे एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्येतौ  
विशेषेदेतुमतिवादान्याह-"अभिनेष्ट अभिनेदात्वात्" शक्रो  
गर्जादिरभ्यार्भापेण प्रतिकृणुं यमभिचन्दितवार्नाति अभिमन्दन् ।  
इह दुःखमिति वचनात् कर्मण्ययत् । तथा च बृहस्पतिः-  
"यमभ्यनिदि अभिमन्तुं सकेण अभिचन्दित्वा इतो तेषां सां  
अभिनेदोति नामं यत्" आ० म० टि० । अ० । स० । आ०  
वृ० । आ० क० । "अभिनेदो अ भरहे, परयप संदिसेजजिण-  
चंदे" । (सं समकालमुपपत्तौ) ती० ६ कल्प । स्या० । प्रथ० ।  
लोकोत्तरतीत्या श्रावणमासे, सू० प्र० १० पाहु० ।

अभिणंदत-अभिनिन्दयत्-त्रि० । राजानं समृद्धिमन्तमाचक्रा-  
ण, आं० । जय जीवेत्यादिजननतोऽभिभूद्विमाचक्राण, अ० ८  
शृ० ८ उ० । प्रीति कुर्वति, संधा० ।

अभिणंदमाख-अभिनिन्दयत्-त्रि० । समृद्धिमन्तमाचक्राण,  
कल्प० ५ उ० ।

अभिणंदिजमाण-अभिनिन्दयमान-त्रि० । जनमनःसमृद्धैः स-  
मृक्तमुपनीयमाने जय जीव नन्देत्यादिपर्याहोचनान्त् । औ० ।  
सस्तुयमाने, स्या० ११ पा० ।

अभिणंदिय-अभिनिन्दत-पुं० । लोकोत्तरतीत्या श्रावणे मासि,  
ज्यो० ४ पाहु० ।

अभिणय-अभिनय-पुं० । अभि-नी-करणे अञ्च । इह्रतभाव-  
व्यञ्जक शरीरचेशदौ, भावे अञ्चि-अभिनेयपदार्थस्य शरीरचं-  
ष्टाभायणादिभिरनुकरणे, अभिनयति बोधव्यर्थमत्र-आयारे  
अञ्च । शरीरचार्थाभिर्हश्यपदार्थज्ञापके रूपकादौ दृश्यकाव्यं,  
वाच० । "च उच्यते अभिणये एषोऽत् । तं जहा-दिद्वृत्तिप, पाकसुप,  
सामंतोषणिप, लोणमज्जवासिप" स्या० ४ पा० ४ उ० । अन्व-  
ककाक्षनुर्वैधमभिनयमभिनयति । तथा-वार्थान्तिक, याति-  
भुक्ति, सामान्यतो चिनिपातिकं, लोकाक्षयवसातिकमिति । एते  
नाट्यविधयाऽभिनेयविधयश्च प्रस्तावि सङ्गीततथास्वराच्योऽव-  
सेयाः । आ० म० प्र० । रा० ।

अभिणय-अभिनय-त्रि० । प्रथमे अजीर्णे, पो० ५ विद्य० ।  
विशिष्टवर्णादियुगोपेन, जी० ३ प्रति० ।

अभिणयधम्-अभिनयधर्म-पुं० । अधुनैव गृहीतप्रमज्ज्ये, ४७४ उ० ।

अभिणिक्कंत-अभिनिक्कान्त-वि० । अधीनाचार्यादिशास्त्रे, तदर्थभाषणेपसंहितचणपरिणामे च । आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० ।

अभिणिगिग्ग-अभिनिगुष्प-अव्य० । अवरुध्येत्यर्थे, आचा० १ भु० ३ अ० ३ उ० ।

अभिणिवारिका-अभिनिवारिका-स्त्री० । अभिमुख्येन नियता चरिका; सुभाषदेशेन बहुमज्जिकादिषु दुर्बलानामाध्यायानिमित्तं पुर्यांङ्क काले समुत्कृष्टसमुदाने ह्युपगमेने, व्य० ४ उ० ।

अभिणियया-अभिनिमजा-स्त्री० । अभि प्रत्येकं नियता विविका प्रजा अभिनप्रजा । प्रत्येकं विविकार्यां प्रजायाय, व्य० ६ उ० ।

अभिणिवोद्द-अभिनिवोध-पुं० । अर्थाभिनिमुक्को नियतः प्रनियतस्वरूपो बोधो बोधविशेषोऽभिनिबोधः । अभिनिबुध्यतेऽनेनास्वर्दिस्मृत् वेति । प्रतिज्ञाने, तदावरणकृत्यापशमे च । आ० म० प्र० । सम्म० । नं० । आवा० । स्या० । अभिमुख्येन निश्चित्येन च बुध्यते संवेद्यते आत्मा तदित्यभिनिबोधः । भयप्रहादिकानि, अभिनिबुधते वस्त्ववगच्छतीति अभिनिबोधः । मनिज्ञानात्मनि, विशे० ॥

अभिणियट्टण-अभिनिवर्त्तेन-न० । न्यायतेन, आचा० १ भु० ३ अ० ४ उ० ।

अभिणिविद्ध-अभिनिविट्ट-वि० । बह्वाऽऽदरे, उक्त० १४ अ० । बह्वाऽऽदरे, उक्त० १४ अ० । अभिवाधिना निविट्टम् । ज० १२ श० ३ उ० । जीवप्रदेशेषु अभिग्याप्त्या निविट्टे अतिगाढतां गते, म० १३ श० ७ उ० ।

अभिणिवेस-अभिनिवेश-पुं० । अतस्वाग्रहे, पञ्जा० १४ विव० । विचत्वावष्टने, आंघ० । तद्वे योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, आ० ।

विदुषोऽपि तथाकूढः, सदा स्वरसमृत्तिकः ।

शरंरात्रिवियोगस्या-भिनिवेशोऽजिलापतः ॥ १० ॥

( विदुषोऽपीति ) विदुषोऽपि पठितस्तस्यापि, तथाकूढः पूर्वंजन्मानुभूतमण्डुःखामात्रवासनाबलाद् भूयः समुपजायमानः, शरीरादीनामवियोगस्याजिलापतः शरंरात्रिवियोगो मां भूयःशरंयं लक्षणवद्, अभिनिवेशो जयति, सदा निरन्तर, स्वरसमृत्तिकोऽनिरुद्धाधीनप्रवृत्तिकः । तदुक्तम्—“स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाकूढोऽभिनिवेशः” इति । २० । आ० २५ आ० । “कहं बडो पय्य धिचारे सोऽभिणिवेसण अग्रहा कम्मं वज्जह” आ० म० ह्रि० ।

अभिणिवेह-अभिनिवेध-वि० । वेधेने, वाच० । उन्माने, आ० म० प्र० ।

अभिणिवग्गदा-अभिनिवगदा-स्त्री० । अभि प्रत्येकं नियतो वगडः परिक्रमो यस्यां सा अभिनिवगडा । पृथक्परिक्रम्यायाम्, व्य० ६ उ० ।

अभिणिव्यक्कता-स्त्री० । पृथग्भिक्षिकद्वारायां वसती, व्य० १ उ० ।

अभिणिव्वट्ट-अभिनिर्वृत्त-वि० । साज्ञोपाकृष्णायुशिरारोमादिकमाजिनिर्वेषेनात्संपादिते, आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० ।

अभिणिव्वट्टिता-अभिनिर्वृत्य-अव्य० । समाकृत्येत्यर्थे, “अभिणिव्वट्टिता ण उवदंसज्जा” सूत्र० २ भु० १ अ० । विषायेत्यर्थे, “ इत्तसहस्सं अभिणिव्वट्टिता ण उवदंसत्तए” म० ४ श० ४ उ० ।

अभिणिव्वट्ट-अभिनिर्वृत्त-वि० । क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूते, मुक्ते, सूत्र० १ भु० २ अ० १ उ० । विषयकषयाद्युपशमाच्चीतीभूते, आचा० १ भु० ६ अ० ४ उ० । ज्ञानादिअर्थाभिरातुरं, “खतंऽभिनिव्वट्टे दंते, वीतगिकी सदा जए” । क्रोधादिपरित्यागाच्चीतीभूते, सूत्र० १ भु० ७ अ० । “पाचाओ विरतेऽभिनिव्वट्टे” सूत्र० १ भु० २ अ० १ उ० । “अभिनिव्वट्टे अमाई” अभिनिवृत्तप्रदंशं संसारमहातरुक्कोच्चेद्यविप्रतिपत्त्या । आचा० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अभिणिसज्जा-अभिनिषद्या-स्त्री० । अभि रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायानिमित्तमागता निषीदन्त्यस्यामित्यभिनिषद्या । अभिनिषेधिक्यां स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्वा प्रत्यूप प्रतियातायां वसती, व्य० १ उ० ।

बह्वे परिहारियाऽपरिहारिया इच्छेज्जा-एगंतओ अभिनिसिज्जं वा अभिनिऽहियं वा चेतितए णो कप्यति थेरे आणुपुच्चिवा एगंतओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिऽहियं वा चेट्त्तए । कप्यइ एहं थेरे आणुपुच्चिवा ते एगंतओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिऽहियं वा चेट्त्तए; थेरा य एहं से ( ते ) विरारिजा-एवं एहं कप्यइ अभिनिसेज्जं वा अभिनिऽहियं वा चेतितए । थेरा एहं नो विनेरज्जा-एवं एहं णो कप्यइ एगंतओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिऽहियं वा चेतितए । जो णो थरेहिं आवचित्तेहं अभिनिऽहियं वा अभिनिऽहियं वा चेतिते, से संतरा छेदे वा परिहारे वा ॥ ११ ॥

बहवस्त्रिप्रभृतयोऽनेके पारिहारिका उक्रशब्दायां, बहवोऽपारिहारिका इच्छेयुरेकान्ते विधिके प्रदेशान्तरे वसत्यन्तरे वा अभिनिषद्याम्, अभि रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायानिमित्तमागता निषीदन्त्यस्यामित्यभिनिषद्या, तां वा, तथा निषेध-स्वाध्यायव्यतिरेकेण सकृत्स्वापारप्रतिषेधः तत्र निवृत्त्या नैवधिकः । अभि आत्रिमुन्मथन संवतप्रयोग्यतया नैवधिकः । अभिनैवधिकी, तां वा । इयमत्र भाषना-तत्र दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ वसतिमेव साधयः प्रतिन्यति, सा अभिनैवधिकी । अभिनैवधिक्यामेव स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्वा प्रत्यूप वसतिमुपागच्छन्ति सा अभिनिषद्यति । तः अभिनिषद्यामभिनिषेधिका वा (चेति न उ हति) गन्तुं, तत्र, नो नैव, से’ तेषां पारिहारिकाणामपारिहारिकाणां च कल्पते, अविदारू आचार्यादीन् व्रतापुच्छ्य (एकात्मतः) एकान्ते विधिके प्रदेशे, वसत्यन्तरे वा अभिनिषद्यामभिनिषेधिकां वा गन्तुम्, उच्छुसनिश्वासव्यतिरेकेण शेषसाधुव्यापाराणां समस्तानामपि गुरुपुच्छाऽधीनत्वात् । तदेवं प्रतिषेधस्तत्रमभिधाय समप्रति त्रिषुस्रमाह—( कप्यति एहं थेरे आणुपुच्चिवा ) इत्यादि सुगमम् । इह पारिहारिका नाम अप्रप्रपरिहारतपसोऽभिधीयन्ते ।

तत्र चोदकं प्राह -

पुर्व्वेति अप्यमत्रो, भिक्षव उववसिधितो जयतेहिं ।

एको व दुबे होजा, बहुया उ कं समावथा ॥

पृथ्विमन् कल्पे नाक्षि अथ्येयं भिक्करप्रमत्तो जन्तैः परमक-  
ल्याणयोगिभिर्हृषवर्णितः, ततः कथं परिहारतपःप्रायश्चित्ताऽऽप-  
त्त्येनः परिहारिका ज्ञेष्युः? अपि च-एको द्वौ वा परिहारत-  
प आपद्यताम, एकस्य एकाकिर्णानां द्वयोस्तस्मात्कल्पयता-  
पानां संभवात् । ये च बहुवस्ते च समासकल्पकल्पयता-  
परस्परं रक्षयपरायणाः कथं परिहारिकत्व समापन्ना इति ?  
अत्राचार्ये ब्राह्म—

चोपग । बहुउत्पत्ती, जोहा व जहा तहा समणजोहा ।

द्व्वच्छन्नणे जोहा, भावच्छलणे समणजोहा ॥

हे चोत्क ! परीवहागामसहनेन श्रेत्रेन्द्रियादिविषयोधिष्टानि-  
धेषु रागद्वेषादिमानेन परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानापन्ना बहु-  
र्ना परिहारिकाणामुत्पत्तिं विरुद्धा । अथवा-यथा योधाः स-  
स्रज्वद्वक्त्रवचा अपि रणे प्रविष्टाः प्रतिपद्युत्सैस्तथाविधं  
कल्प्यवस्त्रमाप्य देवातः, सर्वतो वा क्लृप्यन्ते, तथा अमण-  
योधा अपि मूलगुणोत्तरगुणव्यत्यन्तमप्रमत्ततया यतमाना अपि  
छलनामाप्नुयन्ति । सा च छद्मना द्विधा-द्वयन्ते, भावत-  
इव । द्वायनच्छलना स्त्रादिभिः । भावनः परीपदोपसर्गैः ।  
तत्र द्वायनच्छलने द्वायनमद्वयनवियथा, योधा रणे प्रविष्टा भटाः,  
भायच्छन्नने प्रायच्छलनवियथाः अमणयोधाः ॥

सम्प्रति यदुक्तं यथा योधास्तथा अमणयोधा इति तद् व्याख्या-  
नयति-

आवरिया वि रणमुद्रे, जहा उद्विज्जति अल्पमत्ता वि ।

उन्नण वि होइ दुविद्व, जीवंतकरी य इयरी य ॥

यथा योधा आवृत्ता अपि स्रज्वद्वक्त्रवचा अपि अमणसा अपि  
च रणमुद्रे प्रविष्टाः प्रतिनिद्वैष्टव्यन्ते । सा च छद्मना द्विधा-  
जीवितान्तकरी, इतरा च ॥ तत्र यथा जीवनाद् व्यपरोप्यते  
सा जीवनान्तकरी, यथा तु परितपनाऽऽपद्यते नापञ्चवणं  
सा इतरा ।

मूलगुणउत्तरगुणे, जयमाण वि हु तहा उद्विज्जति ।

भावच्छन्नणा य पुणो, सा वि य देमे य मन्वे य ॥

तथा यतयो रागादिप्रतिपङ्कभायनासहास्रस्रज्वा यथा-  
गमं मूलगुणोत्तरगुणेषु चात्यप्रमत्ततया यतमाना अपि 'हु'  
निधित, भायच्छलनया परीषहापसर्गादिभिः समागच्छायन-  
पया क्लृप्यन्ते । साऽपि च प्रायच्छन्नना द्विधा-देवता, सर्वतश्च  
तत्र यथा तयोऽहं प्रायश्चित्तमाद्यते-सा देशतो जावच्छन्नन ।  
यथा मूलमार्गेत-सा सर्वतः ॥

एवं परिहारीया-ऽपरिहारीया व होजा बहुया तो ।

ते एगंत निसीहिय-मजिसिजं वा वि चेएजा ॥

यतो रणे प्रविष्टा योधा इव अमणयोधा अपि परीषहादि-  
निम्बुल्यन्ते, तत एवमुक्तेन प्रकारेण, बहुवः परिहारिका अया-  
रिहारिकाश्च ज्ञेष्युः । तदेवं परिहारिकापरिहारिकश्चन्द्रव्युत्प-  
पाचायुना स्वाभावयथाद् ध्याविमयासुराह-ते एगंत इत्यादि) ते  
बहुवः परिहारिका अपरिहारिका वा एकाःतत एकान्ते विवि-  
क्ते प्रदेशे प्रत्यासन्न इतरतः वा नैर्घिकीमिशरयो वाऽपि अग्नि-  
निषद्यामापि चेत्येगुणोत्तरे, गन्तुमिच्छन्त्येः ।  
तत्र का नैर्घिकी, का वा अग्निशय्या इ, इति व्याख्यानयति-  
द्राणं निसीहि य ति य, एगदं जय ठाणमेवेगं ।

चेतेति निमि दिया वा, सुतय निसीहिया सा ठ ॥

सउभायं काऊणं, निसीहिया तो निसिं विष्य उवेति ।

अग्निवसिउं जय निसिं, उवेति पातो तदं सेजा ॥

तिष्ठन्ति स्वाध्यायध्यायुताः अस्मिन्निति स्थानम् । निषेधेन  
स्वाध्यायव्यतिरिक्तश्रेयस्यापावप्रतिषेधेन निष्ठुता नैर्घिकी ।  
ततः स्थानमिति वा, नैर्घिकीति वा ( एगदुक्ति) एकार्थम् ;  
द्राव्येतेता तुल्यार्थविति भावः । व्युत्पन्नस्यैश्च द्वेषोरव्यभिष्ट-  
त्वात् । यत्र स्थानमेवं स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु ऊर्ध्वस्थानं  
अभावकेनस्थानं वा चेतयन्ति । निशि रात्री दिवा वा सा  
स्वार्थहेतुत्वात् नैर्घिकी । एतेनास्मिन् या नैर्घिक्यु-  
का सा सूत्रार्थेप्रायणा नैर्घिकी प्रतिपत्तया, तनु काल-  
करणप्रायेया नैर्घिकी प्रतिपत्तया । किमुक्तं भवति ?  
यस्यां नैर्घिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवेन, यदि वा  
निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निशेव निशायामवश्यं नैर्घिक्यु-  
का घसन्तिमुपयन्ति सा अभिनिषेधिका । यस्यां पुनर्नैर्घिक्यु-  
का निशार्थं वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्या प्राप्तवसन्तिमु-  
पयन्ति ( तदं इति ) तदा अग्निशय्या अभिनिषेधयति जायः ।

अथ स्थविरा अपुष्टा अपि यदा न भ्रुवन्ति, तदा किं  
कल्पेन, न वा ? इत्याशुश्रायाम्भ— ( येरा गृहमित्यादि )  
स्थविरा आचार्यादियः, चशब्दो वाक्यभेदः, एहमिति  
वाक्यालङ्कारः, सतेयो परिहारिकाणामप्यपरिहारिकाणां वा वि-  
तन्त्युरनुजानीनैर्घिकीमात्रशयो वा गन्तुं, एवममुना प्रका-  
रेण, एहमिति पुष्यन्तु, कल्पते आश्रयार्थमात्रनिषेधयो वा  
( चेत तए इति ) गन्तुम् । ( येरा एहमित्यादि ) स्थविराः, एह-  
मिति प्राभवत् । नो नैव, तेषां वितन्त्युरेवममुना प्रकाणे नो  
कल्पते एकाःततोऽभिनिषेधामभिनैर्घिकी वा गन्तुम् । ( जे ल-  
मित्यादि ) यः पुनर्भूमिति वाक्यालङ्कारो, स्थविरावैतौपाऽनु-  
जनाः सन् एकान्ततो अभिनिषेधामभिनैर्घिकी वा ( चेतः )  
गच्छन्ति, ततः ( से ) तस्य स्वान्तगत स्वकृतमन्तर स्वान्तरं  
तस्मान्, यावत् मिलति यावद्वा स्वाध्यायभूमिर्गोच्छ्रित ता-  
वद् यद् विचारं तन् अन्तर तस्मात्स्वहृतादनन्तत् वेदो वा  
पञ्चरात्रिन्द्यादिकः, परिहारे वा परिहारता वा मासलशु-  
कादिः । एष सुवारः ॥

अधुना निर्गुणकविसतरः—

निकारणमि गुरुमा, कजे लहुया अणुच्छणे ह्युओ ।

परिसेहमि य ह्युया, गुरुमणे हौतऽणुच्छणेया ॥

यदि निकारणे कारणाभावे अग्निशय्यामभिनैर्घिकीं वा  
गच्छन्ति, ततस्तेषां प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चारां गुरुमासाः । अथ  
कार्यं समुपग्रे गच्छन्ति, तत्र प्रायश्चित्तं लघुकाश्चारां लघु-  
मासाः । कार्यमुपदिष्टाद् वर्णयिष्यते । यदि पुनः कार्यं समुपग्रे  
अनापुच्छय गच्छन्ति, तदा अणुच्छन्ते लघुको मानलघुः ।  
पुच्छायामपि कृत्यायं यदि स्थावरेः प्रतिषेधे गच्छन्ति ततो  
लघुकाश्चारां लघुमासाः । ( गुरुमणो इत्यादि ) गुरुकाचार्यः  
स यदि गच्छन्त्यभिशाश्यामभिनैर्घिकीं वा ततस्तस्य भवन्त्य-  
दुद्घान्तगुयकाश्चारां गुरुमासाः ॥

ये पुनर्भूमितिपासाः ससर्थां निष्कल्पते यदीच्छन्ति ततस्तेषामि-  
मे दोषाः—

ते गाऽऽदेमगिलाणे, कामणस्तीनपुंसमुच्छा वा

ऊणषणोष दोसा, ह्वंति एष उ बहदीए ।

ये वसतिपात्रासैर्वसतेःकन्येव हीनस्ये एते गाथापूर्वाच्छोक्ता दोषा भवन्ति । तद्यथा-स्तोत्राशोचते । गताः साधवां वसतेः । इति ज्ञात्वा वसतावापतेषु; आदेशा आर्षुणकास्ते वा समागच्छेयुः, तेषां च समागतानामविश्रामाद्यदिस्वस्तिः, सम्यक्साधनावा-  
वात् । ( गिज्ञाने चि ) म्लानो वा, तेषामाभावे व्याधिपीडितो समाधिप्राप्तोऽप्युवात् । ( कामचि ) दाहो वा प्रदीपनकेन वस-  
तेऽप्युवात् । तथा स्तोकाः साधवो वसतो तिष्ठन्तीति श्रियो नपुंसका वा कामविद्वलाः समागच्छेयुः । तथापरमोभयस-  
मुन्या दायाः । तथा मूर्धो कस्यापि पिशाचविश्रमो भूयात् । तदेवं यतो वसतिपात्रानामिमं विनिर्गमं दोषास्त्वस्माच्चैरपि श्रय्यादियु न गन्तव्यमित्येष द्वारगाथासंक्षेपायैः ।

व्यासार्थं तु भाष्यकृदाह-

द्विद्वाऽनहार सोही, एषणधातो व जा य परिहाणी ।

आएसर्मावस्सापण-परितावणया य एकतेरे ॥

स्तैरपहारे द्विधः । तद्यथा-साध्वपहारः, उपप्यपहारश्च। तस्मिन् द्विविधेऽप्यपहारे शोधिः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-यद्येकं साधुमपहरति स्तेनास्तदा वसतिपालानां प्रायश्चित्तं मूलम् । अथ द्वापपहरेन्नित ततोऽप्यवस्थाप्यम् । त्रिप्रभृतीनामपहरणे पारा-  
श्चित्तम् । तथा अधन्योपपहारे पश्चात्तन्निवृत्त्यम् । मध्यमो-  
पपहारे मासलघु । उक्तशेषोपपहारे चतुर्मुक्तम् । तथा एष-  
णया घ्रातः प्रेरणमेषणघ्रातः, स च स्वात् । तथादि-भवत्यु-  
पधिपात्रादिकमन्तरेण एषणाघ्रातः, तत एषणाप्रेरणे यस्माय-  
श्चित्तं नदापद्यते तेषां वसतिपालानामिति । तथा ( जा य परि-  
हाणि चि ) या च परिहाणित्येति विभक्त्येन हीनादिवाधित-  
स्य, तद्वेषणप्रयतमानस्य वा, सुभाष्यस्य च श्रेशः, तन्निमित्तकम-  
पि समापद्यते प्रायश्चित्तम् । तत्र सूचीरुष्या अकरणे मासलघु । अर्धपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अर्धनाशने चतुर्गुरु । तथा तेषु वसतिपात्रेषु साधुष्वभिध्यादिगतेषु आदेशानामार्षुणकानां समागतानामप्यपरिभ्रातानामविश्रामेण वा अनागादा परि-  
रितापनेपजायते, तन्निष्कमपि नेषामापद्यते प्रायश्चित्तम् । ( एकत्तरे चि ) तेषु वसतिपालेष्वभिध्यादिगतेषु यो मुक्त एकतरो वसतिपालः, स एको द्वौ बहवो वा, 'यथागच्छन्ति प्रादुर्गैकाः ते सर्वेऽपि नियततो विश्रमयितव्याः' इति जिनप्रवच-  
नमुद्रकात् । बहून्प्राणैकां विभ्रामयन्त्युपनागादमागच्छं वा परि-  
रितापनामप्राप्तिं तन्निमित्तकमपि समापद्यति तेषां प्रायश्चित्तम् ।  
साम्प्रतमस्था एष गाथायाः पञ्चार्थं व्याख्यायति-

आदेशमविस्मापण-परितावण तेऽऽवच्छल्लर्ष च ।

गुरुकरणे षि य दोसा, ह्वंति परितावण्णादीया ॥

आदेशानां प्राणैकानामविश्रामेण, 'गाथायां मकारोऽप्राणिक-  
कः' एषमन्यथापि कथ्यम् । अर्धोऽप्यपरिभ्रमते यदनागादमा-  
गादं वा परितापनं; तथा तेष्वदेशेषु समागतेषु अस्त्वस्त्वम-  
वास्तम्यकत्वं तन्निष्कमं तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्वयश्च वसति-  
पालेष्वपि श्रय्यादिगतेषु प्राणैकानां समागतानामन्यथाभावे  
गुरुः स्वयं वास्तव्यं करोति, गुरुकरणेऽपि च दोषा ज्वलति परि-  
रितापनाद्यः । तथाहि-गुरोः स्वयं करणे लुक्कारुत्या अनागादमा-  
गादं वा परितापनं स्वात्, परितापनाच्च रंगसमागमः, रोगसमा-  
१८०

गमे च बहूनां स्वगच्छपरगच्छीयानां स्वार्थेऽहानि, आधकार्थीनां धर्मदेशनाभयव्यापारः, शोके चाद्यर्थवादः । यथा-दुष्प्रिणीता एते शिष्या इति । गतामदश्वद्वारम् ।

अधुना म्लानद्वारमाह-

सयकरणमकरणे वा, गिज्ञापपरितावणया यद्विद्वो वि ।

बालोवहीण दाहो, तदृचमधो व आदिषे ॥

वसतिपालेष्वभिध्यादिगतेषु, द्विधा ज्ञाप्यमपि प्रकाराभ्यां म्लानस्य परितापना । तद्यथा--स्वयंकरणे, अकरणे वा । तथाहि-म्लानो यदि स्वयमुद्धतनादिकं करोति, तदापि तस्याऽ-  
नागादादिपरितापनासंभवः । अथ न करोति, तथापि परित-  
ापनासंभवः, ततस्तन्निमित्त आपद्यते तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्वयश्च यः पञ्चाम्युक्तो वसतिपालः स यथा प्रपद्यते म्लानस्य ज्ञानानां वा कर्तव्यं करोति, तदा सोऽपि परितापनमनागादमागादं वा-  
ऽऽपद्यते ; ततस्तद्विषयकमपि प्रायश्चित्तम् । गतं म्लानद्वारम् । अधुना कामणद्वारमाह- बालोवहीणमित्यादि । तेषु समर्थेषु वसतिपालेषु बाहं वसतिपालं मुक्त्वा अभिध्यायामिनेषेधि-  
कीं वा गतेषु अन्विकीयेन प्रदीपे उपाश्वये बालानामुपधीनां च दाहो भवेत् । तत्र यद्येकोऽपि साधुःश्रियते तदा चरमं पाराश्रि-  
कं प्रायश्चित्तम् । अथ न श्रियते किन्तु दाहमागादमनागादं वा परितापनमप्राप्तिं तदा तन्निष्कमं प्रायश्चित्तम् । अद्योपधिर्गो-  
न्यां मध्यम उक्तशेषा वा दह्यते ततस्तन्निष्कमं प्रायश्चित्तम् । ( तदृचमधो व चि ) तदर्थं बालमिस्तारणाधर्म, उपधिस्तारणा-  
र्थे वा अन्वयः प्रविशेत्, तदा कदाचित्सोऽपि बालो दह्येत अन्वयश्च प्रविशेत्; ततस्तदुभयमिति समापद्यते प्रायश्चित्तम्, शोके च महान् अवयववादः । गतमभिध्यादम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारमाह--

इत्थीनपुंसगा वि य, भ्रामपत्तणभ्रो तिद्वा भवे दोसा ।

अर्जघाय पिप्ततो वा, पुच्छा अंतो व वादिं च ॥

श्रियो नपुंसकां वा, अवमत्वेन हीनत्वेन, 'स्तोकाः साधवो वसतो तिष्ठन्ति, परित्यक्तमताःशान्त्यत्र गता वसन्ते' इति ज्ञात्वा समागच्छेयुस्तद्गामने च त्रिधा आत्मपरित्यजनमुच्यन्ते दोषाः स्युः । तथादि-यत् रुष्यादिकमुपलभ्य स्वयं कोममुप-  
न्ति साधवः, एष आत्मसमुद्यो दोषः । यत्पुनः स्वयममुच्यतेः साधून् बलात् रुष्यादिकं क्षोभयति, एष परसमुद्यः । यदा तु स्वयमपि बुज्यन्ति, रुष्यादिकमपि च क्षोभयति, तदा अत्रय-  
समुद्य इति ॥ मूर्धोद्वारमाह-( अर्जघातेत्यादि ) वस-  
तेरतःस्थितस्य वसतिपालस्य कथमपि अराजर्जित्वादिना पत्नन्यां वसतो काष्ठादिभिः शरीरस्थोपरि निपतन्निर्ब-  
हिषो वसतेः स्थितस्य कथमपि घातादिना पाप्यमानेन तदथा, तदथाकाया वा अग्निघातेन मूर्धो भवेत् । उ-  
पश्लगमेतत्-अनागादा आगादा वा परितापना स्यात् । यदि वा वसतेरन्वेषेहिषो व्यवस्थितस्यापि ततः पिप्तप्रकोपतो मूर्-  
धो नयेत् । तत एकस्याः सतस्तस्य कां मूर्धोऽप्युपश्लगयेत् । ततस्तन्निष्कमप्रायश्चित्तसंभवः, प्रमृत्तञ्जनापवादः । तदेवं प-  
ञ्चाम्युक्तानां वसतिपालानां दोषा अभिधिताः ।

सम्प्रति ये अभिध्यादिगतास्तेषां दोषानमिधित्पुंरिदमाह-  
जय वि य ते वयंति, अभिसेजं वा निरसिंहियं वा वि ।



तत्त्व वि य इमे दोसा, द्वौनि गयाणं मुणेषव्वा ॥

यत्रापि च विधिके अंशे ते निष्कारणगामिनो अभिशय्या-  
मभिधैषेधिकी वा ज्ञानिन्, तत्रापि तेषां गतनामिमे चक्षमा-  
णा दोषा भवन्ति ज्ञातव्याः ।

तानेवाऽभिधिसुद्धारणाध्यामाह-

वीर्यारतेण आर- किञ्चित्तिरिक्त्वा इत्यिन्द्रो ननुसा य ।  
सविसंसतरा दोसा, दम्पयाणं ह्यवैते ॥

कथमप्यकालगमने विचारे विचारभ्रमावप्रत्युपेक्षितायां,  
तथा स्तेनाशङ्कायां । [ आर/किञ्चित् ] आर/कृत्वाशङ्कायां वा, तथा  
तिरिक्त्यां चतुष्पदादीनां संज्ञे, तथा स्त्रियां वा दत्तसंकेतास्तत्र  
तिष्ठन्ति, ननुसका वा दत्तसंकेतास्तत्र तिष्ठन्ति-इत्याद्याशङ्का-  
सामिने बह्व्यमाणाः सविशेषतरा दोषा दृष्टगतानां निष्कारण-  
गतानां प्रवृत्तिः ।

तदेव सविशेषतरस्य दोषाणां प्रतिचारमभिधिसुः प्रथमतो  
विचारद्वारमाधिकृत्याऽह-

अप्यफिलेह्रियदोसा, अविदिष्ये वा हृत्ति उजयन्मि ।  
वसद्दीवाघाएण य, एतमणंते य दोसा उ ॥

यदि नाम तं दर्पहताः कथमप्यचक्षुर्विषयवैलायां गता भव-  
येयुः, ततः संस्कारकोषारप्रभवणादिषु भूमिष्वप्रत्युपेक्षितासु ये  
दोषा अभिधिसुद्धौ सविस्तरमाख्यातास्ते सव्यप्यत्रापि य-  
क्तव्याः । तथा विकलावैलायां गमने यदि कथमपि शय्यातर उ  
ष्यारप्रभणप्रायगमचकारां न विनिर्ये ततोऽप्यतिरिक्तप्रत्युपेक्षितं  
अवकाशे उजयन्मिन् उष्यारप्रभणसङ्गणेन जयन्ति दोषाः तथादि-  
यि अमनुकृते अवकाशे उच्चारं प्रभवणं वा कुर्वन्ति तदा कदा-  
चिद् शय्यातरस्तेषामेव वसत्यादित्यवच्छेदं कुर्यात्, यदि वा  
स्तेनामप्येन दर्शनस्योपरि विक्षेपतः सर्वेषामपि साधुनामिनि अथ-  
वा कथमप्यशङ्कणिकतया वस्तुतश्चिन्तय्याकृपाया व्याघाताः प्र-  
भवन्ति, ततो राशिं मूढवसन्तिमानाञ्चनानां तेषां श्वापद्विभिरात्मवि-  
राधना । अथ नायान्ति वसन्ति तदा अभिशय्यायाः समीपे अप-  
स्युपेक्षितस्थानाश्रयणतः संयमविराधना । गतं विचारद्वारम् ।

अथुना स्तेनद्वारमारक्षिकद्वारं च युगपदभिधिसुद्धारह-

सुष्पाईं गेहाईं उवैति तेषां,  
आरक्षितया ताणि य संचरन्ति ।  
तेषां चि एसो पुररक्षित्तो वा,  
अशोभसंकार्णंतिवैवापजा ॥

शुश्रूषाणि शुद्धाणि, स्तेनाः विधत्तान्त्ये प्रवेशनाय वेलां प्रती-  
कनामाः, आरक्षिकदिभ्यतो वा उपयन्ति । तानि च शुश्रूषाणि  
शुश्रूषाणि आरक्षिकाः पुररक्षिकाः 'मा कार्ष्णिहत्र प्रविष्टरक्षीरो जू-  
वाण' इति संबन्धेन प्रविशन्ति । एवमुपयेषां प्रवेशसंभवे अन्या-  
ऽन्याशङ्काया आरक्षिकाः अभिशय्यायासमै प्रविष्टं साधुमुपभय  
स्तेन एष व्यवतिष्ठन् इति, स्तेना अंशे प्रविष्टास्तत्र प्रविशन्तं  
साधुं हृष्टं पुररक्षक एष प्रविशतीत्येवंप्रकारं, स्तेना आरक्षिका  
वा अतिपातयेयुः व्यापादयेयुः । गतं स्तेनारक्षिकद्वारम् ।

सम्प्रति तिर्यग्शुद्धारमाह-

दुग्मुञ्जिया वा अदुग्मुञ्जिया वा,

दिवा अदिक्त्वा व तद्धिं तिरिक्त्वा ॥  
चतुष्पिया बालसरीसिवा वा,  
एगो व दो तिष्ठि व जय्य दोसा ॥

तत्र अभिशय्यायामभिधैषेधिक्यां वा चतुष्पदाः तिर्यग्शु द्विधा  
भवेयुः । तद्यथा-जुगुप्सिता नाम निन्दिताः, ते च गर्वधी/प्रवृत्तयः  
तद्विपरीता अजुगुप्सिताः, गोमहिष्यादयः । एकैके द्विधाः, तद्य-  
था-हस्ताश्च द्रुपञ्जानाः, तद्विपरीता अहस्ताः, न केवलमित्य-  
भूताश्चतुष्पदा भवेयुः, किंतु व्याधा लुजङ्गादयः, सरीसृषा वा-  
शुहगांधिकादयः, इत्यमनुतेषु च तिर्यग्शु चतुष्पदेषु व्याहसरी-  
नुपेषु, एको द्वौ त्रयो वा दोषा भवेयुः । तत्र एकः-आत्माविरा-  
धनादीनामन्यतमः, द्वौ साधुत्वेदेनामाविराधनासंयमविराधने,  
त्रयः-कस्याप्यामाविराधना, कस्यापि संयमविराधना, कस्या-  
प्युस्यविराधनेति । अत्र चतुर्भङ्गी-कस्याप्यामाविराधना, न  
संयमविराधना १, कस्यापि संयमविराधना, नामविराधना २,  
कस्याप्यामाविराधनाऽपि संयमविराधना ३, कस्यापि ना-  
भयविराधनेति ४ । उपलक्षणमेतत्-जुगुप्सितान्तिर्यक्चतुष्पदसं-  
भवे विरुपाऽशङ्कासंभवतः प्रवचनोद्गाराऽपि स्यादिति ।  
गतं तिर्यग्द्वारम् ।

अथुना खीनपुंसकद्वारे युगपदभिधिसुद्धारह-

संगारादिद्रा व उवैति तत्त्व,  
ओहा पदिच्छन्ति निलिच्छमाणा ।  
इत्यौ ननुसा व करेज दोसें,  
तस्सेवण्डाएँ उवैति जे उ ॥

सकतः सकतः स दतो धैस्ते संगारद्वारा, निष्ठानस्य धर-  
निपातः प्राकृतत्वात्, सुखदिदर्शनाच्चा । दत्तसंकेता इत्यर्थः ।  
इत्यभूताः सन्तस्तत्राभिधय्यादिषु उपयन्ति गच्छन्ति, एवं  
लोकानामाशङ्का भवेत् । अथवा तत्र गतेषु ज्ञानामेव-  
माहाङ्क समुपजायते । तथा स्त्रियां नपुंसका वा ओषा इति ।  
तन्मुखान् निरीक्षमाणः प्रतीकन्ते, ततोऽस्मी गताः । यदि वा  
तासां खीणां ननुसकानां वा सेवनार्थं ये तत्रोपयन्ति पुरुषास्ते  
'अस्मत्कृपादिसंयमार्थमेतदुच संयताः समागताः' इति दोषान्  
अभिधानाऽवर्णवदादीन् कुर्युः ।

तदेवं यस्मादकारणे निगनानामिमे दोषास्तस्माच्च निष्कारणे  
गन्तव्यं, कारणे पुनर्गतव्यम् । तथाचाऽह-

कप्ये उ कारणाई, अजिमेजन्तं गुंतुमजिनिसाईं वा ।  
लहुणा उ अगमएण्मां, ताणि य कज्जाशिमिाईं तु ॥

कल्पने पुनः कारणेस्वाध्यायदिब्रह्मणैर्वैषयमार्गेणभिशय्या-  
माभैषेधिकी वा प्रमुक्तशब्दायां गन्तुं, यदि पुनर्मे चच्छन्ति  
ततो लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चक्षुम् । तानि पुनः  
कार्याणो कारणाणि इमानि यद्व्ययमाणाणि ॥ तान्येवाऽह-

अमजाऽयपाटुणए, संसडे बुद्धिकाययुग्रहसे ।

पटमचरमे षुं तू, सेमेसु य होई अभिसेजा ॥

यस्यनावस्थाध्यायः, प्राश्रुणका वा बहवः समागताः, वसतिश्च  
संकटा, ततः स्वाध्यायैः, प्राश्रुणैकसमागतां, तथा संसत्ते प्रा-  
णिजानिभिरुपाधये, तथा बुद्धिकार्ये निपतति गलन्त्यां वसन्तौ,  
तथा भुतरहस्ये उवथुतादीं व्याख्यातुषुपकान्ते, अभिशय्या,

अभिनैषधिकी वा गन्तव्या । तत्र (पदमचरने दुर्गतं इति) प्रथमे सूत्रक्रमप्रामाण्यादस्वाध्याये, चरने अन्तरहस्ये, द्विक्रमभिशब्द्याभिनैषधिकीलक्षणं यथावयवैर्गन्तव्यं, तेषु च प्रापूर्णेकसंस्कृष्टिकायकेषु, भवत्यज्ञिशब्द्या गन्तव्या ।

तत्रास्थानानुपूर्व्येति व्याख्याया इति व्याख्यापनार्थं प्रथमतः अन्तरहस्यमिति चरमद्वारं विवरणपुरिदमाह-

वेषमुयविव्रजमता, पाहुन्नि अक्षयी पट्टिमिदृष्टिता ।  
इदं दोसा चरमप, पदमप पोरिसिंभोता ॥

उद्देशनामि प्रकल्पव्यवहारादीनि, तानि वसतो अपरिणामकांतिपरिणामको वा शुद्धयात्, तथा विद्यामन्त्राश्च वसतौ कस्यापि दीयमानान् अभिगीतो निजैर्मनोऽष्टुयात्, प्रातृतं वा यानि प्रातृतदिकूपं वसतो व्याख्यायमानम्, अभिगीतः कथमपि शुभुयात् । तच्छ्रवणे च महात् दोषः । तथाचान् महिषद्वेषः-“क्याह जोगियेपाहुने वषवाणैज्जमाणे एणेण आयरियाइये अदिस्समाणेण निरुप्पेण सुयं । जहा-अयमद्वेषसंजोगे महिसंसा संमुच्छदः नं सोउं सो उत्थायिओ गतो अणमिं गाणे, तस्य महिसं दव्वसंजोगेयुं समुच्छवित्ता सागारियइत्ये स विंक्कण्ठ, नं आयरिया कहुमविं जाणिसिंता तस्य आगया, उदंतां से पुंक्कण्ठो, तेण सज्जावो कदिंभो । आयरिया भणंति-अण सुदरुवुवणरयणजुत्तादिं गेणह । तेण अज्जुणगयं । ततो आयरियादं भणियं-अमुगाणिं दव्वयाणं य तिरिक्कसंजोपज्जासिं ततो पणुयणं सुवणरयणाणं भणिसंति । तेण तहा कथं, समुयितो दिट्ठाविंसां सणो, तेण विट्ठो मतो” । ततोऽज्ञिशब्द्याऽभिनैषिकी वा गन्तव्या । तथा प्रथमपदमस्वाध्यायवसतुम्, तत्र दोषः पौरुषाभङ्गः । इयमत्र जावना-अस्वाध्याये वसतानुपूर्वजांति स्वाध्यायकरणार्थमवश्यमज्ञिशब्द्याभिनैषधिकीया वा गन्तव्यम्, अन्यथा सूत्रवीरुष्या अर्थपौरुष्या वा भङ्गः । तद्वद्भुं च तत्रिणप्रप्रायश्चित्तापत्तिः । गतं चरमद्वारमस्वाध्याययज्ञार्थं च ।

सम्प्रति प्रापूर्णेकादिद्वारत्रिनयमाह—

अभिसंयते दृत्था-दियट्टणं जगणे अज्जस्युदादि ।  
दोसु अंसंजमदोसा, जगण अद्वोवर्हया वा ॥

कदाचिद्व्यस्यथाविषयसत्यालाभे नापचः संकटायां वसतौ वियता जयेयुः, प्रापूर्णेकाश्च साधवो भूयसिः समागताः, तत्र दिवसें यथा तथा वा तिष्ठन्ति, रात्रौ सुषुप्तु अपूर्वमाणासु यथामिश्रयां न व्रजन्ति तदा तस्मिन्नुपाश्रये अतिशयेन संघट्टः परस्परं संहननाभिसंकटतया सांभिसंसघट्टः, तस्मिन्नेव स्थितानां परस्परं इहन्तपादादीनां घट्टने जयेय, तज्जावै च कलहासमाध्यादिदोषसंजवः । अथेतद्दोषजयार्थविषया एव तिष्ठन्ति, ततो जागरणे रात्रौ जाग्रतामजाणीदिदोषसंजवः । अज्जीसो-माहारस्याजरणं, तज्जावै च रोगोत्पत्तिः । रोगे च चिकित्साया अकरणे अस्समाधिः, क्रियमाणयां च चिकित्सायां पदकायव्यापत्तिः । इति गतं प्रापूर्णेकद्वारम् ॥ अमुना संसकद्वारं चाह- (दोसु अंसंजमेत्यादि) धनो-संसके उपाश्रये वृष्टिकाये च निपत्यति, अंसंयमाविराधनाकपीं शोषी । तथादि-संसकत्वं दुष्पत्युपेक्षणीया वसतिरिति, तत्रावस्थाने स्फुटा संयमविराधना । तथा वृष्टिकायेष्वपि निपतितेषु क्वचिद्व्यस्येषु वसतिम-

लतीति तत्रापि संयमविराधना, अस्वाध्यायविराधनासंभवात् । अन्यथ वृष्टिकाये निपत्यति उपशिका येन स्त्रीभ्यते, स्त्रीस्मितेन चोपाधिता शरीरसम्भेन रात्रौ तिष्ठा नात्याति, तिष्ठाया अजाव च अजीर्णदोषः । तस्मात् संसकतायां वसतौ वृष्टिकाये च निपत्यति नियमनो गन्तव्या अज्ञिशब्द्यति । तदेवमुक्तं गन्तव्यकारणम् । तथा चाऽऽह-

दिष्टे कारणमगं, जइ यं गुरु वचच प तत्रो गुगुगा ।  
आराल्हाइत्येपेण, सफा पथीथिया दोसा ॥

दृष्टमुपसम्भं जगवच्छ्रुपदेशतः पूर्वसुरिभिः, कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणेऽभिशब्द्यायां गमने, तत्र यद्येव दृष्टे कारणमगमे गुरुरभिशब्द्याभिनैषधिकी वा मज्जेत् ततस्तस्य प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चव्यारो गुरुमासाः । को दोषो गुगुगामे इति चेत्, अत आह-( आरालेत्यादि) आचार्यः प्राय उदारशरीरेरभवेत्, सहाया अपि च कथमपि तस्य स्तोका अभ्युदयः । तत्र काश्चन स्त्रियः सहायार्थं स्वप्रापिव्याऽस्य इहयादिना प्रत्येयुः । अन्यच्च-अस्थितारदीनां शब्दा समुपजायते, तथादि-किं वसता-याचार्यो नोपिनः, नृममगरीं प्रतिसेविषुं गत इति । यदि वा प्रत्यर्थिका प्रत्यर्नोकाः प्रतिवाद्याद्योऽप्यसहायमुपसम्भं विना-श्यायाऽऽयुः । तत् एवमाचार्ये गमने दोषाः, तस्मात्तत्र न गन्तव्यमिति, न केवलमाचार्येण न गन्तव्यं किन्त्येतैरपि न गन्तव्यम् ।

के ते एते ?, इत्याह-

गुरुकरणे पडियारी, भएण बलवं करेज्ज जे रक्कं ।  
कंदपविग्गह्ठी वा, अभियतो गालुट्ठो वा ॥

गुरोराचार्योदोः करणे करणविषये ये प्रतिचारिणः प्रतिचारकाः कार्याक्रमत्रादिसमर्पका विश्रामकाश्च, तेन गन्तव्यं, तेषां गमने गुरोः सीदनात् । तथा भयेन पश्चात्सत्ताया-तराले-ऽभिशब्द्यायां वा तस्कारादिभयेन समुत्पद्यतेन सर्वैरपि साधुभिर्न गन्तव्यम्, आरामसंयमविराधनादौ प्रसङ्गात् । तथा यो ब्रह्मर्षि गुरोर्दीनां तस्कारादिभ्यो रक्तां करानि, तेनापि न गन्तव्यं, तन्मने शूरोदीनामपायसंभवात् । तथा यः कल्पः कन्दपेशीलः, यश्च विप्रहो, तथाचाऽऽराटिकरणशीलः, यो वा यत्र गम्यते तत्र शब्दानरादीनां कौश्ल्येण कारणेः पूर्वैरपिऽभिः (अवियत्तांति अप्रोतां, यश्च स्थानदुष्टः, पुरादिदुष्टः, पतैरपि सर्वैर्न गन्तव्यम्, प्रवचनोद्गातामत्सविधापनादिदोषप्रसङ्गात् । यदि कथमपि ते गच्छन्ति ततो बलादाचार्यादिभिर्भोगयितव्या इति ।

अथ कारणे समुपसंभे तेषां गच्छतां कौनायकः प्रवर्तयितव्यः ?, उच्यते-

गंतुं गणावच्छेद-दुषवतीसंयगीयभिकसू य ।  
एपसि असतीए, अगीयए मेरकहणं तु ॥

कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणे समुपसंभे सति शेषसाधुभिर्न-तन्वयमभिशब्द्यादि, तेषां च गच्छतां नायकः प्रवर्तनीयां गणावच्छेदको वक्ष्यमाणस्वरूपः । तदभावे प्रवर्तनी, सोऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपः, तदभावे स्थविरः, तस्याप्यभावे गीतभिक्षुगीताथः सामायवर्तनी । एतेषामसति अभावेऽपीनायोर्धर्मि माध्यस्थ्येऽदि-शुण्युक्तः प्रवर्तनी । केवलं तस्मिन्मताथे ( मेरकहणं तु इति) मर्यादायाः सामाचार्योः कथनम्-यथा साधुनामावश्यकं आलेखनार्थां प्रायश्चित्तं दयिते, तन्मस्कारपौरुष्यादिकं च

प्रत्याख्यायने यस्यै दातव्यमित्येवमादि सर्वं कथ्यते इति भाषः ।  
कथं किंस्वरूपः सोऽप्रीताथो नायकः स्थायीयः?, इत्यत आह-

मरुज्जोष्कदप्पी, जो दोमे लिहइ सेहओ चव ।  
केसु उ ते सीएज्जा, दोसेसु ते एमे गुणसु ॥

मरुज्जोष्क-रागद्वेषविरहितः, अकन्दर्पा-कन्दर्पोद्दीपनभाषिता-  
दिविषयः, एवंभूतो नायकः स्थायीयः । तेन च साध्याऽ  
समाचारी समाचरन्तः शिक्कणीयाः, शिक्कमाणश्च यदि कथ-  
येयुः, यथा-यदि वयमेवं कुर्मस्ततस्तव किम् ?, कस्त्वय ?,  
इत्यादि, तथा स ( लेहओ चव णि ) लोचकवत् तेषां सर्वेषां  
साधुनां हांवाह अविस्मरणनिमित्तं मनसि लिखति, सम्पगव-  
धारयतीत्यर्थः । अथ कसु ते साधवः सीवेषु, याद् स स्व-  
चंगलं धारयति ? । सुरिराह—तान्द्यायानिमाद् बहयमाणा-  
न् शृणुत ।

तत्र यदुक्तं “एपलं असतीव” इत्यादि, तद्व्याख्यानाथमाह-  
थेरपिचिगीया-उत्तरं। ए मेरकहंतदसं।वत्ये ।

भयगोरवं च जस्स उ, करंति सयसुज्जतो जो य ॥

स्वविरस्य, प्रवर्तिनः, उपसङ्गमेतत्-गणावच्छेदस्य च, तथा  
गीतस्य गीताथेय मिहोरसति अभावे अगीताथोऽपि प्रेषणी-  
यः, तस्मिन्नागीताथे प्रेष्यमाणं ( मेर णि ) मर्यादां सामाचारी  
यथाकस्वरूपं कथयन्ति, किमिशिष्टः सोऽप्रीताथः प्रेष्यः ?,  
आह-( भयगीरवमित्यादि ) यस्य भयं साधवः कुर्वन्ति, यस्य  
वानुवर्तना गुणतो भयतो गौरवं यथोक्तिं कुर्वन्ति । यश्च स्व-  
भारामान सयसुकोऽप्रमादी, सोऽप्रीताथो नायकः प्रवर्तनीयः ।  
किं कारणात्तस्मिन् चेत ? , उच्यते-असमाचारीरूपदोषप्रतिषे-  
धनायम् ।

अथ के ते असमाचारीरुपा होवाः ?, अत आह—

पफिलेहणुसउभाए, आबस्सगदंरुविसायाइत्थी ।  
तेरिच्छवाणमंतर-पेहा नहवीणकंदप्पे ॥

प्रतिशेखनायामस्थाप्याये आबहयकदएदं, उपसङ्गमेतत्-द्वय-  
कादौ विषये, तथा विनये वन्दनकादौ, तथा रात्रि, स्त्रियां, तिर्येषु  
हस्त्यादिषु, बाणमन्तरे वाणमन्तरप्रतिमार्थानां विपांशुषु रथेन ग-  
द्वयन्यां प्रेक्षणं काऽप्रमाणादौ, (नहवीण णि) जन्मशीलकायां, क्र-  
वेषं वा समाचारीरुपाः दोषाः । एष चारणाप्यालंकापयः । एतेन  
यदुक्तं प्रागुक्तानिमाद् दोषान् शृणुतेति तद्वाक्यानुपकात-  
मिति ऊच्यतेम् ।

तत्र प्रतिशेखनाद्वारमस्याप्यायद्वारं वा विवरीवुवाह—

पफिलेहणुसउभाए, न करंति हीण्णाहियं च विवरीयं ।  
सेजोवहिंसंथारय-दंइउभाएदीसु ॥

प्रतिशेखनां स्वापयायं वा मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा ही-  
नमधिकं विपरीतं वा विपरेस्तकर्मं कुर्वन्ति । तत्र येषु स्थानेषु  
प्रतिशेखना संभवति, तानि स्थानेषु पदसंघति-शब्दोपधिस्त-  
स्तारकदएककाश्चारादिषु । इयमत्र भावना-शुश्र्या वसतिः, त-  
स्याः प्रत्युपकरणं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं  
वा कुर्वन्ति, अपयायः शब्दायः । प्रत्युपसङ्गाकालस्त्वस्मिद् न  
कुर्वन्ति, किन्तु कालानतिक्रमेण । एवमुपपन्नः संस्तराकथय, दृष्टका-  
देष्य भावनीयम् । तथा उभाएदिभूमिं न प्रत्युपकृतं, हीनम-  
धिकं वा, यदि वा कालानतिक्रमेण प्रत्युपकृतं इति । स्वापयाय-

मपि मूलत एव न कुर्वन्ति । यदि वा अग्रस्थापिति कुर्वन्ति ।  
यदि वाऽकालिकेत्साम्यामुत्कालिकेत्साम्यां वा कुर्वन्ति ।

सम्प्रति आबश्यकादिद्वारप्रतिथमाह-

न करंती आबस्मं, हीण्णाहियनिविट्टपाउपयतिस्सभा ।  
दंइगहणादि विणयं, रायणियादो न करंति ॥

आबश्यकं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं वा, कायो-  
त्सर्गाणां हीनकरणतः कुर्वन्ति, अधिकं वाऽप्युपेक्षार्थं कायोत्सर्गा-  
णामेव विरकाकरणतः कुर्वन्ति । यदि वा निविष्टा उपविष्टाः,  
प्राश्रुताः शीतादिभयतः, कल्यादिकप्रार्थनप्राश्रुता निप-  
द्यास्त्वयवश्वत्सेन निपातताः प्रकथन्ति । गतमावश्यकद्वारम् ।  
(दंइगहणादि णि) दयदप्रहादौ, दृष्टप्रदणं आरममात्रकादी-  
नामुपसङ्गम्, दयदकादीनां प्रहादौ प्रहण्ये, निक्षेपे च, न प्रत्युपक-  
णं, नापि प्रमाज्जेन, दुष्प्रत्युपेक्षादि वा कुर्वन्ति । गतं दयदका-  
रम् । विनयद्वारमाह-( विणयं णि ) विनयं रत्नाधिकारीनामा-  
चार्यादीनां यथा रत्नाधिकं न कुर्वन्ति । गतं विनयद्वारम् ।

राजादिद्वारकदम्बकमाह-

रायं इत्थि तह अ-स्समादि वंतर रहे य पेहंति ।  
तह नखखवीणिपादां, कंदप्पादी वि कुर्वन्ति ॥

राजानं निर्गच्छन्तं वा, स्त्रियं वा सुकृपांमिति विशिष्टाभरण-  
लङ्कनामागच्छन्ती वा, तथा “ निगच्छ ” इत्यस्य व्याख्यानम-  
प्रश्नादिकमर्थं वा हस्तितं वा राजवाहनमतिप्रभूतगुणाकार्णं,  
व्यन्तरं तथात्सविद्युत्वा विपणिमांशु गच्छतः प्रत्यागच्छतो वा  
प्रेसन्ते । एतेन राजस्त्रान्तिर्यग्याणमन्तरद्वाराणि द्वाक्यातामि ।  
तथात्सयुक्तसमुपधायाः, स चेदमुक्तं सम्मोचोति-कदम्बप्रत्यु-  
पेक्षणं न कुर्वन्ति, न वा काष्ठं प्रतिजागरति । गतं प्रेक्षाद्वारम् ।  
तथा नखवीणिकादिकं नखवीणावादनम् । आदिशब्दाद् नखानां  
परस्परं घर्षणमित्यादिविरादः । तथा कदर्पादि कदम्पकौ-  
कुचवकायुकादि कुर्वन्ति ॥

एपसु बट्टमाणे, अट्टिएं पफिसहए इमा मेरा ।  
हियए करेइ दोसे, गुस्सए कइणं स देइ ते सोहिं ॥

एतेष्वनन्तरदिनेषु दोषेषु वर्तमानाद्, चारयतीति कियाप्या-  
हारः । शोतेऽपि चारणे यदि ते न तिष्ठन्ति, प्रतिषेधयन्ति वा-यद्  
वयमेवं कुर्मस्त्वनः किं त्वं ?, को वा त्वम् ?, इत्यादि । ततो-  
ऽस्थिते, प्रतिषेधिते वा नायक इयमन्तरमुच्यमाना ( मेर णि )  
मर्यादा सामाचारी । तामेवाह-इदये तान् दोषान् करंति, कृत्वा  
च गुण्ये कथयति, स च गुण्येददति तेषां शोषं प्राय-  
श्चित्तमिति ।

सम्प्रति वष्यमाणार्थसंग्रहय द्वारणाथाहमाह—

अतिबहुयं पच्छिउत्तं, आदिण वाहे य रायकजा य ।  
उणाऽसति पाहुणण, न उ गमणं मास कक्करणे ॥

खेदकवचनम्-अतिबहुकं प्रायश्चित्तं गुह्यमासादि न दातव्यम्,  
तद्दानं व्रतपरिपालनमस्यापि हानिप्रसक्तः । अत्र गुह्यवचनम्-“ जो  
अत्तिपण सुउक्कर ” इत्यादि वक्ष्यमाणं, यः पुनरातोनाप्र-  
दानेन प्रायश्चित्तलक्षणं दात्ये नोद्धरति-तस्मिन्नदत्तं अदत्ता-  
लोचने व्याधो हृष्टमनः । यः पुनराप्यायः शिष्यस्य प्रायश्चित्त-  
स्थानापापं जानन्नापि न शोषं ददाति, तस्मिन्नदत्तं अदत्तप्र-

यश्चित् सुरो दृष्टान्तो राजकन्या । पैकदेशेन राजकन्याऽन्त-  
पुरयात्कः । तथा—“डायाऽसति” इत्यादि । स्कटायां वसती  
प्रापूर्णेक समागते सति स्थानस्थ योग्यभूमिप्रदेशस्थ असति-  
(भावप्रधानाऽपि निर्देशः) अविधमानत्वे, उस्सगतो नतु नैव  
गमनं, किन्तु यतना वक्ष्यमाणा कार्या, तस्यां च यतनार्था  
कर्तुमशक्यमानायांमभिधायवित्तु प्रक्यमाणा यदि केचन  
करकारयन्ते—यथा—अस्रक्षयाय प्रापूर्णेकाः समागताः, यद् गन्त-  
व्यमस्माभिरभिशक्यादित्तु, कृत्यं च रामो जागरणमिति,  
तदा तेषां कर्करेण प्रायश्चित्तं मासलत्तु देवमिति द्वारगाथा-  
संक्षेपार्थः ।

साभ्रतमेनामेव गाथां विवरीतुः प्रथमतोऽतिवहुकं प्रा-  
यश्चित्तमिति व्याख्यानयति—

अतिवहुयं वेदिज्जइ, भंते । मा हू दुस्वेदओ भवेज्ज ।

पच्छत्तद्धि अयंके, निहयदिमिहं जज्जेजा ॥

जन्तः परकल्याणयोगिन् । सुरोर्थादि प्रलूतं युक्तमासादि प्रा-  
यश्चित्तं पदं द्वायते, ततः सा प्रायश्चित्तं सः समनतोऽतिशयेन  
वेद्यन्ते अतिवेद्यन्तेः सन्, मा निवेधे, ‘हु’ निश्चितं, दुस्वेदको न्या-  
यान्-ऽन्वयनस्य प्रायश्चित्तं-भ्य उद्वेष्टनं स्यात्, अतिप्रलूतं तु हि  
गुरुयु प्रायश्चित्तंसेषु पदे द्वायमानेषु कदाऽऽमानमुद्वेष्टयिष्यतीति  
भावः । अर्पि च-अकार्यं यत् तत्र चापदे पदे निर्देयैः साङ्गु-  
ष्पामिर्दत्तैः प्रायश्चित्तैः स जयेत-भनपरिणामो भूयति ।  
तथा च सति महती इतिः ।

तस्मात्—

तं दिज्जउ पच्छत्तं, जं सती सा य कीरउ भेरा ।

जा तीरइ परिहरिउं, मोसादि अपच्चओ इहरा ॥

तप्रायश्चित्तं द्वायनां यस्मिन् शक्नोति कर्तुं, सा च क्रियतां  
‘मरा’ मर्यादा या परिहर्तुं शक्यते । पाठान्तरं वा-‘परिवहउभि-  
ति’ तत्र या पवित्रोद्दु शक्यते इति व्याख्येयम् । उन्नयन्नाय्यं  
भावाध्या-पे परिपालयितुं शक्यते इति । मासादि (अपच-  
ओ इहरा इति) इतरथा प्रलूतं प्रायश्चित्तं दत्ते श्रुषादाय उन्न-  
योरपि समुपजायते । तत्र गुरोर्मात्राधिककप्रायश्चित्तदानान्,  
इतरस्य तु ज्ञानपरिणामतया तथा परिपालनायोगान् । अन्य-  
च्च-अनिमात्रे प्रायश्चित्तं दत्ते युष्माभिरपि पूर्वमाशानमादाय  
उज्जायितः । अत्रत्ययत्नं शिष्यस्योपजायते, यथा-अतिप्रलूतमा-  
चार्पाः प्रायश्चित्तं द्वायते, त्वैवेरूपं प्रायश्चित्तं जिनाः प्रक-  
रिष्यन्तः । सकलजगज्जन्तुर्द्विषिततया तेषामतिकंशप्राय-  
श्चित्तोपदेशदानायोगात् । तस्मात्, स्वमिदं स्वमतिपरिकल्पि-  
तमसदिति । एवं बोद्धकनोके सुवराह—

जो जत्तिपण सुज्जइ, अमराहो तस्म तत्तियं देह ।

पुण्वपियं परिकरियं, पमपदगाइपिहं नाएहि ॥

बोद्धक आह—नया सर्वमिदमयुक्तमुच्यते, यतो देशकालसं-  
हनतापेक्षया योऽपराधो यावन्मात्रेण प्रायश्चित्तं शुद्धयति त-  
स्यापराधस्य शोधानाय तावन्मात्रमेव सूरिः प्रायश्चित्तं द्वायति,  
नाधिकं, नापि हीनम्, एतच्च पूर्वमेव घटपटादिभिर्भोक्तृदा-  
हरणैः “जज्ञनिष्ठेवणकुम्प” इत्यादिना ग्रन्थेन परिकथितं,  
तस्मात्क्ष द्वायः ॥

साभ्रतमदत्तालोचने ये व्याघ्रदृष्टान्त

उपम्यस्तसत् भावयति—

कंटगमादिपविडे, नोच्छरई सयं न भोइए कइइ ।

१८१

कमठीजूए वणगए, आगलणं खोजिया मरणं ॥

इह किल व्याघ्रा घने संचरन्त उपानहौ पादेषु नोपनहन्ति,  
मा हस्तिन उपानहः शब्दानश्लेषुरिति । तत्रैकस्य व्याघ्रस्या-  
न्यदा घने उपानहौ विना परिष्मनो द्वयोरपि पादयोः कण्ट-  
काद्यः प्रविष्टाः, आदिशब्दात् श्लक्ष्णकिलञ्जादिपरिप्रदः । ता-  
न्प्रविष्टान् कण्टकादीन् स्वयं नोच्छरति, नापि नोञ्जिकायै निज-  
भार्यायै व्याघ्रै कथयति । ततः स तैः पादतलमर्षिः कण्टका-  
दिभिः परिहितः सन् वनगतो हस्तिना पृष्ठतो धावता प्रयेगणा  
धावन् कमठीभूतः—स्थले कमठ इव मन्दगतिरन्तु । ततः प्रा-  
प्तो हस्ती प्रत्यासन्नं देशम्” इति जानन् लुब्धवा क्रोानं गन्वा, (आ-  
गलणमिति) वैकल्ये प्राप्तः ततो मरणम् । एष गाथाऽङ्गराजः ।  
जावायंस्वयम्—“पयो वाहो” उवाहृणाणां विष्णा वणे गतो, तस्स  
पायतला कंटगादिणं भरिया, ते कंटगाद्या नो स्वयमुकरिया,  
नो पि य वाहीए उद्धारविधा, अत्रया वणे संचरतो हस्तिणा  
दिष्टो, तां तस्स धावतस्स कंटगाद्या दूरतरं मसे पविट्टा, ता-  
हे अतिबुद्धेण अर्चितः महापायवो इयं विष्णुमूला हस्तिजप-  
ण वेद्येणभूतो पंडितो, हस्तिणा विष्णासितो” ।

वित्तिपे सयमुक्करती, आणुट्टिए जोडयाएँ नीहरइ ।

परिमद्दणदंतमझा—दिग्गएँ वणगपपडातो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याघ्र उपानहौ विना घने गतः, तस्य घने  
संचरतः कण्टकाद्यः पादतले प्रविष्टान्तां स्वयमुकरति, ये  
च स्वयमुद्धर्तुं न शक्यास्तान् अनुज्जतात् नोञ्जिकया निजभार्यायै  
व्याघ्रा नीहरयति—निष्काशयति, तदन्तरं तेषां कण्टका-  
दिवधस्थानानामहृष्टादिना परिमर्दनं, तदनन्तरं दन्तमलादि-  
ना-आदिशब्दात् कर्ममलादिपरिप्रदः । पूरणे कण्टकादिब-  
धानाम् । ततोऽन्यदा घनं गतः स हस्तिना हृष्टोऽपि पहा-  
यितो जायति तस्युत्खानामाज्जायि । एष पाठः ।

साभ्रतं दार्ष्टान्तिकोऽयनामाह—

वाहृत्थाणी साहू, वाहिगुरु कंटकादि अवराराहा ।

सोहं य आमहाइ, पसत्यनाएणुवणओ जो ॥

व्याघ्रस्थानीयाः साधवः, व्याघ्रस्थानीयो गुरुः, कण्टकादिस्था-  
नीया अमराहा, औपधनि दन्तमलादिनि, तस्सधानीया शोधिः  
अत्र हौ व्याघ्रदृष्टान्तो, तत्र प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । आधोऽप्रशस्तो,  
द्वितीयः प्रशस्तः । तत्र प्रशस्तेन ज्ञानेन दृष्टान्तोपनयः कर्त-  
व्यः । आच्छायांऽपि यदि तान् उपसते, ततः कण्टकादीनामुप-  
सक्तो व्याघ्र इव सेऽपि दुस्तरामापदमाग्रेति ॥

तथाचाऽऽह—

पडिमवेत उवेकवइ, न य एँ ओवीइए अकुवन्तो ।

संसारहस्तिहृत्स्थं, पावइ विवरीयमिपरो वि ॥

इतरोऽपि आच्छायांऽपि, तुशब्धांशोऽपिशब्दांश्च, यः प्रतिसेव-  
मानान् उपेक्षते, न तु निषेधति; न वाऽकुर्वन्तोऽकुर्वानान् प्राय-  
श्चित्तमुत्प्रेक्षयति-न भूयः प्रायश्चित्तदानदृष्टेन ताडयन् (प्रा-  
यश्चित्तं) कारयति, स विवरीतय, आचार्यपदस्य हि यथाक-  
नीत्या परिपालनफलमित्रात्त मोकृगमनं, तद्विपरीतं संसार  
एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति, हुस्तरं संसारमागच्छतीति जावः ।

उपसंहारमाह—

आलोयमाहोयण, गुणा य दोसा य वक्षिया एए ।

अयमप्यो दिद्वेत्तो, सोहिमदिते य दिते य ॥

एते मनस्वरोद्दिता प्रातोश्चनार्या गुणाः, अनाशोचनार्या देव्या वर्णिताः । सम्प्रति यः प्रायश्चित्तं व्रतति तस्मिन् शोधिमद्दाने, इवनेन च, अथं बहयमाणो राजकन्यान्तःपुरपालककृत्योपयोग्यो दृष्टान्तः ।

तमेवाह—

निज्जूहादिपक्षोयण, अवारण पसंगभ्रमदारादि ।

सुचपलायण निवकह—ए ददणं अन्नतवणं च ॥

“एगो कर्त्तव्येऽरपाह्नो, सो गोखलपण कन्धाषो पलोपंनीषो न वारेह, ततो नाभो भ्रमदारेण निफिडिउमडसा, ततो वि न वारेह, तादे ततो अग्निवारिज्जमाणीषो कयाह धुषोदि समं पलायाभं, एवं सव्वमवारणादि केणइ रभो कहियं, ततो रया तस्स सव्वस्वहरणं कयं, विणासितो य, अथा कथंतेऽरपाहो दविने” । अङ्गरगमनिका-निर्दुषो गवाणः । गोखलक इत्यर्थः । आदिशब्दात्तद्व्ययथाविधिमद्रशपरिग्रहः । तेन निर्दुहादिना प्रक्षोकेन अवारणं कृतवान्, ततोऽप्रहारादिध्विप प्रसङ्गः, अग्र-हारे अयत्र वा यथास्वेच्छं तासां कन्यानां प्रसङ्गः । ततोऽप्यदा धूर्तैः सह पलायनम् । एतस्य च स्वदेश्यापि वृत्तान्तस्य नृपस्य पुरतः कथने, ततो राजा तस्य कन्यान्तःपुरपालकस्य दण्ड-नक्ष, अन्यस्य कन्यान्तःपुरपालकस्य ध्यापानं चाकार्षीत् ।

निज्जूहगयं ददुं, वि तिमो कभाठ बाहरिचा णं ।  
विणयं करेइ तीसे, मेसभयं पुण्या रत्ता ॥

अग्नौ द्वितीयः कन्यान्तःपुरपालको निर्दुहगतो गवाङ्गतामै-  
कां कन्यां दृष्ट्वा (बाहरिचा णं सि) एतां व्याहृत्य आचार्ये विनयं  
शिक्षां तस्याः करोति, ततः शेषाणां कन्यानामुत्पादि भयं,  
तेनैव काऽपि शुद्धारादित्तु नावतिष्ठते, न च धूर्तरपहरणम्,  
ततः सम्यक्कन्यान्तःपुरपालकेन कृतवानिति राज्ञा पृजना  
कृता । एव दृष्टान्तः ।

अयमर्धोपनयः—

राया इव तित्यपरा, महतरय गुरु उ साहु कणाओ ।

आलोयण अवाहा, अपसन्त्यपसत्यगोवन्त्रो ॥

राजा इव राजस्थानीयास्त्रीयंकराः, महत्तरः कन्यान्तःपुरपालकः, तदस्थानीया गुरुवः, साधवः कन्यास्थानीयाः, अचलोकन-  
मपराधः । अन्नप्रशस्तेन कन्यान्तःपुरपालकेन, प्रशस्तेन चोप-  
नयः कर्त्तव्यः । तद्यथा—आचार्यः प्रमादिनः शिष्यान् न धारय-  
ति, न च प्रायश्चित्तं व्रतति, स विनव्रतति, यथा प्रथमः कन्या-  
न्तःपुरपालकः । यस्तु प्रमाद्यतः शिष्यान् धारयति, प्रायश्चित्तं  
च यथाधराधं प्रयच्छति, स इह होके प्रशंसदित्तुजां प्राप्नोति,  
परलोके च सम्यक्शिष्यमिस्तराणतो निधोमविचारादनुया-  
दिति ।

सम्प्रति यदुक्तं प्राचुर्यकसमागमे रंसके उपाश्रये वृष्टिकाये  
च निपतति अग्निशय्या गन्तव्येति तद्विषयमपवादं क्रमेण-  
जिघ्रिस्तुराह—

असक्कार्ण असेते, ठाणाऽनति पाहुणागमे वेव ।

अक्षत्य न गंतवन्, गमणे गुरुगा उ पुञ्जुता ॥

अस्वाध्यायिके असति अविद्यमाने, प्राचुर्यकानामगमे वाऽ-

सति स्थानस्य—संस्तरकार्योप्यभूमिलक्षणस्य मसति, अपि-  
शब्दोऽत्र सामर्थ्यादिवगम्यते । असत्यपि, भावप्रधानोऽयं निर्दे-  
शाः । इत्यजायेऽपि, अन्यत्राग्निशय्यादेौ न गन्तव्यम्, किन्तु यतना  
कर्त्तव्या । यदि तथा अन्यत्र गमनं कुर्वति, ततो गमने पूर्वोक्ता  
शुक्काश्वत्थार्याः गुरुमासाः प्रायश्चित्तम् ।

का पुनर्यतना ? , तामाह—

वत्यन्वा वारंवा—रण जगंतु माय वचंतु ।

एमेव य पाहुणए, जग्गाए गादं अणुच्चाए ॥

वास्तव्या वारवारं ए जाग्रतु । जयमत्र भावना-वास्तव्यानां मध्ये  
यो थावन्मात्रमर्क्यामादिकं जागरितुं शक्नोति, तावन्मात्रं जाग-  
रति, तदन्तरं जागरितुमशक्नुवन्न अयं सापुत्रमुत्पाद्यति, सोऽ-  
पि सज्जामरणवेलातिक्रमोऽप्ययम्, एवं वारंवा वारंण जाग्रतु । यदि  
पुनर्यास्तव्याः समस्ता अपि रात्रिं वारंण जागरितुं न शक्नुवन्-  
न्ति, ततो यदि गादं न परिभ्रान्ताः प्राचुर्यकाः, ततः प्राचुर्यके  
( अणुच्चाए इति ) अपरिभ्रान्ते, एवमेव—वारंण जागरणं स-  
मर्पणं, मा पुनः, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, प्रसन्नव्यभिश्चाम्याय-  
दि पुनर्वस्तव्याः प्राचुर्यकाश्च न वारंण जागरितुं शक्नुवन्ति,  
तदाऽग्निशय्या गन्तव्येति ।

एमेव असंसचे, देसे अगदंतए प मन्वत्यथ ।

अश्वदवा पाहुणगा, उवेति रिक्त्वा उ ककरणा ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, संसके उपाश्रये यो देवाः प्रदंशोऽ-  
संसकस्तस्मिन्नसंसके देशे, तथा वृष्टिकाये निपतति यः प्रदं-  
शो न गलति तस्मिन् प्रदेशे, यतना कर्त्तव्या । तद्यथा—संसका-  
यो वसती येष्वाकाशेषु संसक्तित्वाद् परिहृत्य शेषेष्वकाशेषु  
संसक्तिरहितेषु पूर्वप्रकारेण जागरणयतना कर्त्तव्या । ततो  
वृष्टिकायेऽपि निपतति येष्वाकाशेषु यन्तिः निर्मलति ततव-  
काशान्परिहृत्य शेषेष्वगलत्स्वकाशेषु यतना पूर्ववत्कर्त्तव्येति ।  
( सव्वत्यथ सि ) यदि पुनः संसक्त्वं संसकाः, सधेत्र वा गर्तानि,  
तदाऽग्निहारया गन्तव्येति । यदुक्तं “मासो उ ककरणे” इति, तत्र  
ककरणं व्याख्यानयति—एते रिक्ताः प्राचुर्यका अस्वदवाद्य  
उपयन्ति समागच्छन्ति । एवमादिमात्रेण ककरणेति ।

सम्प्रति यद्वार्त्ता-आचार्येण न गन्तव्यम्, अनापुच्छया वा  
( साधुनिः ) न गन्तव्यमिति, तद्विषयमपवादमाह—

वितियपयं आचारिण, निर्दोमे द्रुगमाणऽणापुच्छा ।

पदिसेदियगमणममं, तो तं वसजा बलं नेति ॥

द्वितीयमपवादपदमाचार्यविषये, कः सति ? इत्यत आह—निर्दे-  
श्यादिदोषाणामभावे, यदि वा निर्गतो दोषा यस्मात्सह निर्दो-  
क्षेन, तस्मिन्, तथा हरे अग्निशय्या, ततस्तत्र द्रुगगमे अनापुच्छाः  
तथा प्रतिवेधिनस्य गमने द्वितीयपदमिदम्—( तो सि ) तस्मादिदं  
संज्ञादिस्थानात्परतो यदा धुवना बहस्यभयति, तदा प्रतिवेधितः  
प्रतिपुच्छामन्तरेणापि गच्छतीति । एव गत्यासंकेपार्थः ।

साम्प्रतमानभव गाथां विवरीषुः प्रथमतः “आचारिण  
निर्दोसं” इति व्याख्यायति—

जत्य गणी न वि नज्जइ, जहेसु प जय नस्थि ते दोसा ।

तत्य वयेतो सुच्छे, इयरे वि वयति जयणाए ॥

यत्र गणी आचार्यो न ज्ञायते, अपिशुष्वाश्च च तथाविधो-  
दारशरीरो, तापि केनचिदपि सह वादोऽनजवत् । यत्र स्वभावश्च

एव भद्रेष्वनुकटरागद्वेषेषु लोकेषु प्रागुक्ताः रुधादिसमुत्था  
दोषा न सन्ति, तत्राभिषिषायांमपि गच्छन्नाचार्याः शुद्धः, इतरे-  
ऽपि वै भनापुच्छया गच्छन्ति, येऽपि च प्रतिषिधितास्तेऽपि च  
यननया गच्छन्ति ।

का यतना ? इति चेदत आह—

वसतीर्षं असज्जाप, सन्नादिगतां य पाहुषो दुर्द्धु ।  
सोऽं व असज्जाय, वमर्द्धि उर्वेति जगद् अमे ॥

वसतावस्वाध्यायो जातो, गुरुवक्ष संज्ञानुस्यविबु गताः, ततोऽ-  
स्वाध्याये, तथा स्वयं (संज्ञादिगतः) संज्ञानुमिम, प्राविशद्वादन्य-  
द्वा स्थानं प्रयोजनेन गतः सन् प्राघूषणकान् समागच्छतो ष्टु  
नूनमस्मां वसतिः संकटा प्राघूषणकश्च बहवः समागताः, तता  
न सव्यां संस्कारकयोऽभ्युत्थिरवाप्यते इति विचिन्त्य, तथा पूर्वं  
वसतावस्वाध्यायो नाज्ञूत् संज्ञादिगतेन च तेन भुतं, यथा-जा-  
तो वसतावस्वाध्यायस्ततोऽस्वाध्यायं च श्रुत्वा यावद् गुरुणां  
प्रपुं वसतावागच्छन्ति तावद् रात्रिः समापयति, दूरे खाजि-  
शय्या, रात्रौ च गच्छतामारकभयं, ततोऽनुपुच्छयैव ततः  
स्थानाद्भिषय्यां गच्छन्ति, केवलं येऽन्वे साधवो वसतिमुप-  
यन्ति, ताद् भयति-प्रतिपादयति, संदिशतीत्यर्थः ।

किं तद् ? इत्याह—

द्विवेह गुरुण इमं, दूरे वसही इमो विकालो य ।  
संधारकाज्ञकाइय-जूमिपेहृह एमेव ॥

दीपयत प्रकाशयत-कथयत्येति यावत् । गुरुणां, यथा-दूरे वस-  
निरभिषय्याः । अयं च प्रत्यक्ष उच्यमानो विकालः समा-  
पयितः, तत एवमेव भनापुच्छयैव गुप्तान्, संस्कारकभूमेः काल-  
ज्ञानानां कायिकीज्ञानानां (कायिकां संज्ञा) अथलक्षणमेतत्-प्र-  
थमज्ञानानां च प्रेक्षाधेमभिषय्यां गत इति । एवमनापुच्छायाम-  
नपवाद उक्तः ।

सम्प्रति प्रतिषिद्धेऽपवादमाह—

एमेव य पदिभिद्धे, सध्यादिगयस कंचि पदिपुच्छे ।  
तं पि य द्वादो असमि-विखऊण पदिमेहितो जम्हो ॥

कस्यापि साधोरभिषय्यादिगमने गुरुणा प्रतिषिद्धे, संज्ञादिग-  
तस्य कायिक्यादिगतस्य कायिक्यादिज्ञानमिगतस्य सत एवमेव-  
मनन्तरोक्तं प्रकारेण, गुरुन् प्रति संदेशकधनं ज्ञातव्यम् । कथ-  
म् ? इत्याह— ( कंचि पदिपुच्छे ति ) कमपि वृषमं प्रतिपुच्छे-  
त्-यथा न मम किमपि गमनप्रतिषेधकारणमज्ञूत्, केवल-  
मेवमेव गुरुणां प्रसिद्धः, अथ च अथा स्वाध्यायः कर्तव्यः,  
वसतो वा स्वाध्यायादिकमुपजातमतः किं करोमि?, यामि वस-  
ति, मतिपुच्छामि गुरुमिति । एवमुक्ते तं वृषमाद्यैः जिशय्यां गनु-  
क्तामाः कालस्य स्तोकात्वाद् यावद् वसतो गत्वा गुरुन् प्रतिपु-  
च्छे प्रत्येव गच्छन्ति तावद् रात्रिः पततीति तं प्रत्येवमुद्दी-  
रन्ति । ( तं पि येत्यादि ) तदपि गुरुणां प्रतिपुच्छनं ( होवा  
इति ) देशीपदमेतत् । दृष्टमेव, कृतमेवत्यर्थः । यस्माद्समी-  
ज्यापर्यलोच्य, भनाभोगत एवेत्यर्थः । त्वं प्रतिषेधितः, ततो य-  
त्न किमपि गुरुणां वचयन्ते तत्र वयं प्रत्याख्यामा-यथैव न  
किमपि गमनप्रतिषेधकारणं कृतवान्, प्रतिपुच्छायै चागच्छन्  
अस्मान्निर्धारितः, तावकालस्य प्राप्यमाणात्वात् । एवमुक्त्वा ब-  
ह्नादपि तं वृषमा नयति. सोऽपि च बह्नाजीयमानत्विन्त्यति-  
बध्ना नास्ति मम कश्चिदोषः ? किं न गच्छामिति । स च तत्र ग-

च्छद्, वृषमाक्ष येऽन्वे साधवो वसतिमुपयान्ति, तेषां संदेशं  
प्रयच्छन्ति ।

अथासमीक्ष्य प्रतिषिद्ध इति वृषमाः कथं जानन्तीत्यत आह—

जाणति व तं वसजा, अहवा वसजाण तेण सज्जावो ।  
कहिणो न मेऽप्यि दोसो, तो एं वसजा बद्दा निति ॥  
जानन्ति स्वयमेव तं वृषजाः, यथा-निर्दोष एवाऽकारणे गुण्णा  
प्रतिषिद्धः, अस्मत्समकमेवास्या प्रायोऽवस्थानान् । अथथा तेन  
वृषजाणां सज्जावः कथितः-यथा न मे कश्चन दोष इति । तत  
एतद् ज्ञात्वा गुरुनापुच्छयैव यथोक्तप्रकारेण वृषजा बह्नाभय-  
न्ति । योऽपि ज्ञात्वायैव्य प्रतिबलायैव्य प्रतिबारी पूर्वं प्रतिषिद्धः  
सोऽपि, तत्कतैव्यं यद् वृषमैः सम्पादितं भवति? इति ज्ञात्वा  
ततो गच्छत्यभिषय्यामिति न कश्चिदोषः ।

संप्रति अभिषय्याया नैषधिकाया जेदनाहाह—

अभिसेजमजिनिसीहिय, एकैका दुविह होऽ नापय्वा ।  
एगवगडाए अंतो, बहिया संवक्ष्.ऽसंबद्धा ॥

या गन्तव्या अभिषय्या, अभिनेपेधिका वा, सा एकैका द्विवि-  
धा भवति । तद्यथा—सापुषसतेः (एगवगडाए इति) एककुत्ति-  
परिक्रोपायान्तर्बहिष्ठा । इयमत्र जावना—द्विविधा अभिषय्या,  
एका वसन्तरेककुत्तिपरिक्रोपाया अन्तः, अपरा बहिः । एवं नैपे-  
धिकापि द्विविधा भावनीया । तत्र एकैकाऽभिषय्या द्विविधा ।  
तद्यथा—संबद्धा, असंबद्धा च । तत्र यस्या अभिषय्याया वसन्ते-  
क्ष एव पृष्ठंशः सा संबद्धा । यस्याः पुनः पृथक् पृष्ठंशः  
सा असंबद्धा । अथैककुत्तिपरिक्रोपायान्तरभिषय्या द्विविधाऽपि  
यथोक्तप्रकारा घटते, या संवक्ष्परिक्रोपस्य बहिः सा नूनम-  
संबद्धा स्यात्, तस्याः सुप्रतीत्यात् । या पुनः संबद्धा, सा  
कथमुपपद्यते ?, उच्यते—यस्या अभिषय्याया कुत्तिपरिक्र-  
ोपस्य बहिर्भूतायाः, वसन्तेक्ष तद्वन्नायाः पृष्ठंशोऽपान्तरालं च  
भित्तिः, सा बहिर्भूताऽपि संबद्धाति । नैषधिका पुनरन्तर्बोह-  
र्वा नियमादसंबद्धै च । हस्तशतश्याच्यन्तरतोऽस्वाध्यायिके  
समुत्पन्ने स्वाध्यायासंभवात् ।

तथा चाऽऽह—

जा सा उ अभिनेसीहिय, सा नियमा होऽ ऊ अंसंबद्धा ।  
संवक्ष्.संबद्धा, अभिसेज्जा होति नायव्वा ॥

अत्र येति-अवगते, तेति-यदुक्तं तदोपायावोपक्रमप्रदर्शनाद्यै-  
त्यदुष्टम् । याऽस्य अभिनेपेधिका, सा नियमानुबन्धसंबद्धा ।  
कारणमनन्तरमेवोक्तम्, या त्वजिषय्या सा संबद्धा असंबद्धा  
च भवति ज्ञातव्या ।

अथ कस्यां वेलायां तत्र गन्तव्यम् ?, तत्र आह—

धरमाण चिचय सूरै, संधाराचचारकाज्ञजूमिंभां ।  
पदिलेहियऽणुसुविष, वसहोर्द्धि वयंतिमं वेलं ॥

योऽसावभिषय्यायाः शय्यातत्सं वृषमा अनुज्ञापयन्ति, यथा-  
स्वाध्यायमिच्छं वयमत्र वस्त्वम इति । तत एव वृषभैरनुज्ञा-  
पिते शय्यातरे, धरमाण एव अनस्तांमरे एव सूर्ये, तथाजि-  
शय्यायां संस्कारकोत्तारकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य सूर्यो वसतावाम्  
इमां वेलांमिति “ कावाच्यमेवार्थेति ” ॥ १. २. २४ ॥ इति  
( हैम ) सप्तम्यं द्वितीया । अस्यामनन्तरं वच्यमानायां  
वेलायां व्रजन्ति ।

कस्यां वेलायात् ? इत्यत आह—

आवस्सयं तु काठं, निष्वापाएण ढोइ गंतव्वं ।  
वापाएण उ भयणा, देसं सव्वं अकाऊराण ॥

व्याघातस्य स्नेनादिप्रतिबन्धस्याभावात् निर्व्याघातः, तेन निर्व्याघातेन भवति गन्तव्यं वसन्तराचार्यैः समभावव्यक्तं कृत्या । व्याघ्रातेन पुनर्दुर्जुतेन भजना विकल्पना । सर्वं भजना ? इत्यत आह—देशं वा आवश्यकस्याह्नात् । का वाऽवश्यकमकृत्या ।

सम्प्रति यैः कारणैः प्रतिबन्धस्ताद्युपदर्शयन्ति—

तेषां सावय—वाला, गुम्भियआरक्खित्तवणपक्खिणीए ।  
इत्थिनपुंसगसंम—त्तवासचिक्खिल्लकंटे य ॥

स्नेनाद्योरास्ने संव्यासमये अन्धकारकल्पिते संचरन्ति, इवापदानि वा दुष्टानि भूयांसि तदा उद्धर्मानि हिररुन्ते; व्याला वा ह्युद्धर्मादयो वातदिपानाय भूयांसि सचरन्ति; तथा गुम्भेन समुद्रायेन संचरन्ति। ति गौक्षिका आरक्षिकाणामनुप्युरि स्थायिनो द्विष्टकाः, आरक्षकाः पुररक्षकाः, ते अकाले द्विष्टकामान् युद्धन्ति । तथा (उद्यण चि) क्वचिद्देशे एवका स्थापना क्रियते । यथा—अस्तमिते सूर्ये रथ्यादियु स्वस्था न संचरणायामिति ; प्रत्यनीका वा काऽप्यन्तरादिघातकरणाद्यं निष्पन्नं यत्नेतः स्त्रियों नपुंसका वा कामवहुलास्तदा उपसंगेययुः, संसक्तो वा प्राणनाशिनिरपान्तराले मागेः, ततोऽप्यकारणेषांपाथिका न युक्तवन्ति । सर्वे वा पतन्तु संभाव्यते, ( चिक्खिल्लं लि ) कर्दमो वा पथि नृवानसि, ततो रात्रौ पादवस्त्राः कर्दमः कथं क्रियते ? ( कंटे लि ) कण्टका वा मागेऽतिवहाराः, ते रात्रौ परिहर्तुं न शक्यन्ते । पतैर्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः संवेतो वाऽऽवश्यकमकृत्या गच्छन्ति ।

तत्र देशतः कथमकृत्येव्यत आह—

पुतिमंगल कितिकम्मं, काउस्समगे यं तिविहं कियिक्कम्मं ।  
ततो यं पक्खिण्णं, आलोपयाणोएँ कितिकम्मो ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्या, स्तुतिमङ्गलकारणे चायं विधिः—आवश्यकं समाप्तं च स्तुती उपायं तृतीयं स्तुतिमकृत्या अभिशय्यां गच्छन्ति । तत्र च गत्या पर्योपाथिकां प्रतिक्रम्य तृतीयं स्तुतिं ददाति । अथवा आवश्यकं समाप्तं एकां स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनाश्चरन्ति । अथवा समाप्तं आवश्यकं अभिशय्यां गत्वा तत्र निश्चः स्तुतीर्ददति । अथवा स्तुतिन्यायं यद् वक्ति, तद् कृतिकम्मं, तस्मिन्नकृते तेषु अभिशय्यां गत्वा तत्रेयोपाथिकां प्रतिक्रम्य मुववास्त्रिकां च प्रमुपयुज्य कृतिकम्मं कृत्वा स्तुतीर्ददति । ( काउस्समगे यं तिविहं लि ) त्रिविधं कार्यासंगं क्रमेणाकृते, तद्यथा—संमकार्यासंगमकृत्या अभिशय्यां गत्वा तत्र चरमकार्यासंगदिकं कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कार्यासंगौ चरमावकृत्या, यदि वा त्रीनपि कार्यासंगानि अकृत्या, अथवा कार्यासंगोऽव्यावृत्तं यद् कृतिकम्मं तस्मिन्नकृतेः उपलक्षणमतत्ततोऽप्यव्याकंते क्षामणं, यदि वा ततोऽप्यव्याकंते कृतिकम्मं कियि अकृते, अथवा ततोऽप्यव्याकंते प्रतिक्रमणं अकृते, यदि वा ततोऽप्यव्याकंते आशोचनं अकृते, अथवा ततोऽप्यव्याकंते कृतिकर्मणं अकृते, अतिशय्यामुपगम्य तत्र तदाद्यावश्यकं कर्तव्यमिति । एवमाद्यवश्यकस्य देशतोऽकरणासुकरम् ।

इदानीं सर्वस्याऽकरणमाह—

काउस्सग्गमकाठं, कितिकम्माडोयणं जह्णेषीं ।  
गमग्गम्मी एस विहं, आगमणम्मी विहं वोच्छं ॥

यो वैयसिकानि वाराजुपेक्षायां प्रथमः कार्यासंगीः, तमप्यकृत्या । किमुक्तं भवति—सर्वमावश्यकमकृत्याऽभिशय्यां गच्छन्ति, किमवश्यं गच्छन्ति, उतास्ति कश्चन विधिः ? उच्यते—अस्तीति ब्रूमः । तथा वाऽऽह— ( कितिकम्माडोयणं जह्णेषीं ति ) जघ्येन जघ्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्या, सर्वे गुरुकृत्या वन्दनकृत्या, यद्भव सर्वोत्तमो ज्येष्ठः स आलोच्य, तदनन्तरमतिशय्यां गत्वा सर्वमावश्यकमहानि कुर्वन्ति । एषांऽभिशय्यायां गमने । अभिशय्यातः प्रत्यागमने पुनर्यो विधिस्तमिदानीं बध्धे ।

प्रतिज्ञानमथ निषाहयन्ति—

आवस्सगं अकाठं, निष्वापाएण ढोइ आगमणं ।  
वापायंभम्म उ जयणा, देसं सव्वं च काऊणं ॥

यदि कश्चनपि व्याघ्रानो न भवति ततो निर्व्याघातेन व्याघ्रातानायेनाऽऽवश्यकमकृत्याऽभिशय्यातो वसन्तथागमने भवति । आगत्य च गुरुभिः सहायश्यकं कुर्वन्ति । व्याघ्रातं तु भजना । का पुनर्भजना ? इत्यत आह—देशमावश्यकस्य कृत्या, सर्वे वा आवश्यकं कृत्या ।

तत्र देशतः आवश्यकस्य करणमाह—

काउस्समगं काठं, कितिकम्माडोयणं पक्खिण्णं ।  
क्कंक्कम्मं तिविहं वा, काउस्समगं परिणा य ॥

कार्यासंगमाद्यं कृत्या वसन्तथागत्य शेषे गुरुभिः सह कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कार्यासंगौ कृत्या, यदि वा त्रीन् कार्यासंगान् कृत्या, अथवा कार्यासंगेभ्यामनन्तरं यत् कृतिकम्मं नकृत्या, अथवा तदनन्तरमाशोचनामपि कृत्या, यदि वा तत्परं यद्यत्प्रतिक्रमणं तदपि कृत्या, अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकम्मं चिन्दि, तत् क्षामणादव्याकंते, परं चेत्पथः, तदपि कृत्या । वाताग्नयम्—“ तिविहं ने वि ” मूलकृतिकम्मोपयथा त्रिविधं वा कृतिकम्मं कृत्या । अथवा कार्यासंगे चरमे पागमासिकं कृत्या, परिज्ञा प्रत्यागमनं, तामपि वा कृत्या । अत्रायं विधिः—सर्वे माधवअरमकार्यासंगी वसन्तथागत्य गुरुसमीपे वन्दनं कृत्या, सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठ आलोच्य, सर्वे प्रत्यागमनं गच्छन्ति । अथवा—सर्वे माधवअरमकार्यासंगी वसन्तथागत्य गुरुसमीपे वन्दनं कृत्या, शेषे गुरुसकाठं कुर्वन्ति । तद्वयुक्तं देशतः आवश्यकस्य करणम् ।

अनुशासनाः कारणमाह—

एति मंगलं च काठं, आगमणं होति आर्षानिनिजातो ।  
विधियपदे जयाणा ऊ, गिज्ञाणमादं उ काव्यत्ता ॥

अथवा प्रत्यागमनं, तदनन्तरं स्तुति, मङ्गलं च स्तुतित्रयाकार्पणकरं तत्र कृत्या अभिशय्यात आगमनं जयति । तत्रेयं सामाचारो—गुरुसमीपे ज्येष्ठ एक आलोचयति, आलोच्य प्रत्यागमनं गच्छन्ति, शेषेः ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना । प्रत्यागमनं च कृतं, वन्दनं च सर्वे ददाति, क्षामणं च । द्वितीयपदे अपवाद्यपदे ग्लानादिषु प्रयाजनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति—ग्लानादिकं प्रयाजनमुद्दिश्य वसन्तो नागच्छन्तुपरीति ।

ग्लानादीयेषु प्रयाजनात्त्याह—

ग्लाना वाप पट्टिआ, पट्टु अंतरेरे निवे अगणी ।

अद्दिगरहृत्पिञ्जम-नेद्रेण निवेयणा नवरि ॥

भानन्वमेकस्य बहूनां वा स्वाधूनो तत्राभिव्यतः सर्वेऽपि स्वाधवस्तत्र व्यापृतोभूता इति न वसस्तावागमनम् । अधवा बर्हि पतिनुमापचम । अधिका वा पतिनुं लान्ना । यज्ञा- ( पशुदृष्टि ) प्रक्षिष्टः कोऽभ्यन्तरा विक्रयकरणात् तिष्ठति । भान्तुःपुरं वा तदानीं निर्गन्तुमारब्धं, तत्र च राज्ञा बहवोपितम्-यथा पुरुषेण न केनापि रूपेण संचारितव्यम् । राजा वा तदा निर्गच्छति, तत्र इत्यजपुरुषादीनां संसर्गः । अधिकायो वाऽपास्तराले महान् इत्येतः । अधिकरयं वा शुद्धस्येन सभं कथयति जातं शुद्धं, शुभनास्तदुपयमयितुं लगनाः । इत्तिसंज्ञमो वा जातः । किमुकं भवति ? -हस्ती कथमप्यालानस्तम्भं भक्त्वा शय्यासनः खेच्छया तदा परिश्रमति । एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिम् । नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये भानन्वे विशेषः ; यदि भानन्त्वमागाद्युपजातमेकस्य बहूनां वा, तदा शुद्धाणां निवेदना कस्यच्यति । समाप्ता प्राकृतनस्त्रस्य निवेशेया व्याख्या । व्यं १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अभिविधना निर्गताः सटास्तद्वयवक्रपाः, केशारिस्कण्डसटा वा यस्य तदभिनिस्तम् । बहिरभिनिगतावयवे, अ० १४ हा० १ उ० ।  
अभिनिष्ठि-अभिनिष्ठि-त्रि० । बहिर्मांगानिमुखं निष्ठे, जा० ३ प्रति० । रा० ।

अभिनिष्ठि-अभिनिष्ठि-अभिनिष्ठि-अभि० । निषेधः-स्वाध्याय-व्यतिरेकेण सक्रमण्यापरप्रतिषेधः ; तेन निर्दूषा नैवेधिका । अभि अभिमुख्येन संयतप्रायोभ्यतया नैवेधिकी अभिनिष्ठि-अभिनिष्ठि । दिधा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ प्रतिगन्तव्यायां वसतौ, व्यं १ उ० । ( नक्षत्रभक्ष्यताऽमन्तरमेव 'अभिनिष्ठिसिद्ध' शब्दे ७५५ पुष्टं दर्शिता )

अभिनिष्ठिसट-अभिनिस्त-त्रि० । बहिर्घातिर्गते, " बहिः अग्निश्चेत्सत्त्वं पमासेति" । अ० १४ हा० १ उ० ।

अभिनिष्ठा-अभिनिष्ठ-त्रि० । आभिमुख्येन कर्मणा मायया वा कृते, " अभिमुख्येन कर्मणि मुञ्चिष्य, तिष्ठत्से कर्मणे किञ्चतौ" । सूत्र० १ सु० २ हा० १ उ० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । अविशिष्टं, सपा० २ हा० । भिन्नशब्दार्थविरुद्धे, सू० ३ उ० । नि० चू० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । अकिञ्चन्य-अभिनिष्ठ-त्रि० । सहृदय्येन वास्तसम्पद्शोने, पञ्चा० ११ विव० ।

अभिनिष्ठुदो-देधी-रिक्तपुष्टे, शिशुजिः क्षीरया जनप्रशोमार्थं विपश्चिमागं रिक्ता पुष्टिका वा क्रियते सैचमुच्यते । दे० ना० १ बर्ग ।

अभिनिष्ठा-अभिनिष्ठ-त्रि० । आभिमुख्येन, आचा० १ सु० १ उ० । कुन्तुत्यर्थे, आचा० १ सु० ६ हा० ६ उ० । आभिमुख्येन परिवेच्छद्य इत्येतेषां शब्दानामपर्यु, आचा० १ सु० ३ हा० १ उ० ।

अभिनिष्ठा-अभिनिष्ठ-त्रि० । सम्पत्कभावनाया प्राचते, आचा० १ सु० १ उ० ।

अभिनिष्ठा-अभिनिष्ठ-त्रि० । न भिक्षो न केनचिद्व्यती-कारवशेन चण्डित आचारो हानाचारदिको यस्यसाध-१२३

भिन्नाचारः । ( व्यं० ) जावोपजीवनादिपरिहरति, व्यं ३ उ० ।  
अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । अभिनिष्ठ आभिमुख्येन सन्तापिते, सूत्र० १ सु० ४ हा० १ उ० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । कदर्थ्यमाने, सूत्र० १ सु० ४ हा० १ उ० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । तापनिष्ठ, आचा० १ सु० ६ अ० ४ उ० । कुरुकपादानकुम्भपाकतत्रप्रदानशालाम्यालि-ङ्गनादिरूपे सन्तापे, सूत्र० २ सु० ६ अ० ६ । दादि, सूत्र० १ सु० ४ हा० १ उ० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । विशिष्टयुक्तोक्तौतनेन ध्यायंयिते, संघा० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । संस्तुचति, स्या० ६ हा० ।  
अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । अभिनिष्ठमाने संस्तुचताने, स्या० ६ हा० । कल्प० । हा० म० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । कुर्मोशात्मव्याधौ, ( सूत्र० ) कति-विषयं, सूत्र० १ सु० ४ हा० २ उ० । अभिनिष्ठाने, सूत्र० १ सु० ५ हा० १ उ० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । अप्यवसायरूपेण ध्याते, सूत्र० १ सु० ३ हा० ३ उ० । गर्मोक्षानादिऽः षोडशिते, सूत्र० १ सु० ३ हा० ३ उ० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । प्रख्यातमाचार्यादेर्भ्रानसा संकल्पने, तत्र द्विधा-अभिनिष्ठं, निर्दिष्टं च । अभिनिष्ठं नाम अभिधारयत् कर्मण्याचार्यं विशेषतः न निर्दिष्टं । स च अभिधारको द्विधा-संज्ञो, अस्त्री च । पुनरैकेको द्विधा-पृढात-लिङ्गः, अपृढात-लिङ्गः । (सु०) मनसि करणे, सु० ३ उ० । व्यं० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । अर्थे शब्दार्थाच्च, यथा घटशब्देन घटोऽभिधीयते । विशेष० । नि० चू० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । कृतवर्षे, " वासावासे अभि-पवुंते बहवे पाणा " । आचा० २ सु० ३ हा० १ उ० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । अभिमायिकनाम्न-० । अभिमायतः क्रियमाणे नामनि, अत्रु० ।

से किं तं अभिनिष्ठायाम् ? अभिनिष्ठायाम् अत्रं व ए निवु ए वहुल ए पलात ए सिया ए पीलु ए करीर ए । सेचं अभिनिष्ठायाम् ॥

इह यद्वृत्तादियु प्रसिद्धम् 'अम्बक-निम्बक' इत्यादि नाम देश-कृत्वा स्वाभिप्रायानुरोधेन गुणानिरपेक्षं पुरुषेषु व्यवस्थाप्यते, तदभिप्रायिकं स्थापनानामिति । प्रावार्थः-तदतस्त्थापनाप्र-माणनिष्पन्नं ससविधं नामिति । अत्रु० ।

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । मनोविकल्पे, विशेष० । बुद्धिवि-पर्यये, आ० म० हिं० । बुद्धव्यवसाये, आ० म० प्र० । चेतः-प्रवृत्तौ, आचा० १ सु० ४ अ० १ उ० । अभिप्रायभ्रान्तिविधः-श्रौ-त्यसिद्धौ, वैतथिकी, कर्मजा, पारिधामिकीत्यादिना । आ० चू० । संबिज्ञानमवगतो प्रावोऽभिप्राय इत्यन्योन्तरम् । आ० म० प्र० । ( अस्व च ' बुद्धि' शब्दे व्याख्या कृष्टया )

अभिनिष्ठ-अभिनिष्ठ-त्रि० । बुद्धिसिद्धे, आ० म० ।



साभ्यतमत्रिमासिद्धं प्रतिपाद्यथाह—

विपुला विपला सुद्रुमा, जस्य यद्दं जो चउन्विदाह वा ।  
बुद्धीए संपभो, स बुद्धिसिद्धो इमा सा य ॥

विपुला विस्तारवती, एकपदेनानेकपदानुसारिणीति भावः ।  
विपला संशयविपर्ययाप्यवसायमलरहिता, सुभवा अगिदुरव-  
शेषसङ्घमव्यवहितार्थपरिच्छेदसमर्था, यस्य मतिः स बु-  
द्धिसिद्धः । यदि वा—यत्रतुष्यथा श्रौतपितृक्यादिभेदभिन्नया  
बुद्ध्या संपन्नः स बुद्धिसिद्धः । ब्रा० म० द्वि० । ब्रा० चू०  
(शस्य कथा 'अप्यसिद्धा' शब्दे द्वितीयभागे ८२५ पृष्ठे कृष्टव्या)

अभिप्रेय-अभिप्रेत-वि० । मनोविकल्पिते, विशेषे । आचा०  
कामयति, दृश० ६ अ० । अत्रिभिप्रतिविष्ये, संयोगे च । उल्ल० १  
श्र० । ( 'संयोग' शब्दे अत्रिभिप्रतिविष्ये )

अभिप्रय-अभिप्रय-पुं० । अभिप्रये, आच० ५ अ० । पराजये,  
आचा० १ सु० २ अ० २ उ० । ब्रा० चू० । अभिप्रयं नामादिभेद-  
तश्चेष्टया । प्रख्यातिप्रभो रिपुसिमादिपराजयः, अहित्येनेत्रया  
वा सन्नुद्वेगदहकवादिभेदोऽभिप्रयः । भावाजिनवस्तु-परीपदो-  
पसर्गानीकज्याय हान्यदर्शनावरणमोहात्तरायकर्मनिर्द्वन्द्वेन, प-  
रीपदोपसर्गादिसिन्वायिजयाजिमेले चरणे, चरणयुद्धेर्भावावर-  
णविकर्मण्येव, तत्कृत्वाधिरावरणमहितप्रतयेषुऽप्राह केच  
समुपजायते । इदमुक्तं अचति-परीपदोपसर्गादिसिन्वावरणविय-  
मोहात्तरायवियभिप्रय केचलमुपाय तैरुपलभ्यमिति । आचा०  
१ सु० १ अ० ४ उ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-अव्य० । जित्वेत्यर्थे, अ० १ श० ३३ उ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-अव्य० । अभिमुख्येन वान्तित्येत्यर्थे,  
सूत्र० २ सु० १ अ० । जित्वेत्यर्थे, प्रथ० २ अ० ३ उ० । परा-  
जित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ सु० ६ अ० । दृश० । तिरस्कृत्येत्यर्थे च । आ-  
चा० १ सु० ४ अ० ६ उ० ।

अभिप्राय-वि० । स्थिते, जं० २ वक्त० । तिराहितव्यभ्यापारे  
च । आचा० १ सु० ३ अ० १ उ० ।

अभिप्रायणाधि ( ए )-अभिप्रायणाधिनि-पुं० । अभिप्रय  
पराजित्य भ्रम्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानमिति यद्भनेन ज्ञानं केवला-  
रूपं तेन ज्ञानेन ज्ञानी । केवलिन, सूत्र० १ सु० ६ उ० ।

अभिप्रायिणीकाल-अभिप्रायिणी-अभिप्राय-अव्य० । मन्त्र-  
पाठेन संस्कृत्येत्यर्थे, "रायणो जं संज्ञा, अच्यति ते अभिप्रा-  
यिणीकालेन उपाय्या" ब्रा० म० द्वि० । नि० चू० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-अव्य० । "व्ययोजैः" ८ । ४ । ३०५ ।  
इति वैशाख्यां न्ययैः स्थाने ऽजो जातः । अतुनस्य सुभद्रायां  
जाते पुत्रे, प्रा० ४ पाद ।

अभिप्राय-अभिप्राय-वि० । दृष्टे, सूत्र० २ सु० ४ अ० । विज्ञे० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-पुं० । प्रवधारितार्थे, ब्रा० १ अ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-पुं० । अत्रि-मन्त्र-भावे घञ् । आत्मन्-  
स्वपरीरोपे, मिथ्यागर्भे, अर्थादिद्वये, ज्ञाने, प्रकथे, हिंसायां च ।  
आच० । "अभिप्रायो मायां प्रणयति" । नि० चू० १ उ० ।  
( 'इन्द्र' शब्दे, द्वितीयभागे '४५ पृष्ठे तदभिप्रायो कृष्टव्यः )

अभिप्रायवृत्-अभिप्रायवृत्-वि० । अभिमानावस्थे, सूत्र० १  
सु० १३ उ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-पुं० । विशेषतोऽभिजनके वृक्कविशेषे,  
बला० ३ उ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-वि० । अभि भगवते मन्वीकृत्य सुक-  
मर्थ्यति अभिमुखः । भगवतः सुमुखे, रा० । कृतोच्यते, प्रा० ।  
जं० प्र० । ह्य० । स्था० । अन्त्य० । सु० प्र० । श्री० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-पुं० । महाबलस्य राज्ञः स्वनामक्याते  
प्रियवयस्ये, ह्य० ८ अ० ।

अभिप्रायवृत्-अभिप्रायवृत्-वि० । अभिमुख्येन नागतुकृत्ये-  
नाऽऽपन्नं व्यवस्थितः । सावधानुष्ठानेयु प्रतिषेधे, सूत्र० १ सु०  
४ अ० २ उ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-वि० । लोकेऽर्थादिष्व आदिमुख्येन रती,  
विशे० ।

अभिप्राय-अभिप्रायवृत्-वि० । अभिप्रो रतिं कुवांभाने-  
रममाणा तुहा" प्रथ० १ आश्र० ह्य० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-वि० । रम्येति ह्य० १३ अ० । अभिप्र-  
मण्येति, सं० प्र० २० पाठु० । विपा० । रतिं अ० १ म० । सं० ।  
मनोहृ, ह्य० १७ अ० । मनोहरे, कथ० १ अ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-वि० । स्वादुनावाभिप्रायेते, म० ६  
श० ३३ उ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-वि० । अभि अभिमुख्येन सदावस्थितानि  
कुर्याण राजहंसचक्रवाकसारसदादीनि गजमहासमुपार्थानि  
वा जलात्मनीमानी करिष्यकारादीनि वा अस्मैस्त्वदभिरुपमिति ।  
सूत्र० २ सु० १ अ० । अभिप्रायं प्रति प्रत्येकमभिमुख्येनानि  
चतुर्हादिवार् रूपमाकारा यस्य स अभिरुपः । रा० । अभि  
सर्वेषां कृष्णां मनःप्रसादानुकूलनया अभिमुख्येन रूपं यस्य तन्  
अभिरुपः । अत्यन्तकमनीयं, तं० । जी० । प्रज्ञा० । स्था० ।  
अभिमतकपे, विपा० १ सु० २ अ० । जं० । छष्टारं छष्टारं प्र-  
त्यभिमुखं न कस्यचिद्विरागहेतुरुपमाकारा यस्य सोऽभिरुपः ।  
रा० । अभिमुख्येनानिवाकं रूपमाकारा यस्य सः । सु० प्र० १  
पाठु० । मनोहृकपे, ह्य० १ अ० । उपा० श्री० । अ० । अभि  
प्रतिपन्नं नवं नवमित्ये रूपं यस्य तदभिरुपः । ब्रा० म० प्र० ।  
अनुसमयमहायमानकपे, सं० । "अभिरुपे अभिरुपे पदिकं  
पदिकं पासादीयं पासादीयं" ब्रा० म० १ सु० ४ अ० २ उ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-वि० । कथनयोगे, प्रज्ञापयोगे,  
आ० म० प्र० । सूत्र० । "जे पुण अभिलपाते तुंविहा भवे-  
ति । तं जहा-पणवणिज्जा, अणवणवणिज्जा य । तस्य जे ते  
अणवणवणिज्जा तेसु वि तु चेव अहिताने अणवणवणि । जे पुण  
पणवणिज्जा भावा ते केवलणणणेण पासिकण तित्थयणे ति-  
रथकरनामकम्मोपपण सव्वसत्ताणं अणुण्णमहिमिअं नानति" ।  
आ० चू० १ अ० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-पुं० । अभिप्रायते अभिमुख्येन ध्वक्-  
मुख्येन क्रमेणैव इत्यभिप्रायः । वाचकं शब्दे, तद्विषये संयोगे  
च । उल्ल० १ अ० । आ० म० । विधे० । प्रज्ञा० ॥

अजिलाषावपाविद्युद्-अभिलाषावपाविद्युत्-पुं० । शब्दसंस्कृष्टये, कर्म० ६ कर्म० ।

अजिलाषावपुरिम-अभिलाषावपुरि-पुं० । अभिलष्यतेऽनेनेति अभिलाषः शब्दः, स एव पुरुषः पुलिङ्गतयाऽभिधानात् । पुरुषत्वम्, यथा-घटः कुटे वेति । आह च-“अजिलाषा पुलिङ्गानिहायमेतं घटो ऽयं” । स्या० ३ डा० १ उ० । आ० चू० । बिश० । आ० म० ।

अभिलास-अभिलाष-पुं० । इच्छायाम्, स्या० ५ डा० २ उ० । इच्छेऽप्यधिकतरस्य वाच्यतायाम्, स्या० ४ डा० ३ उ० । यदि-दमं प्रामोमि ततो ज्वयं भवतीत्याद्यस्यराजुबिद्युत्वायां प्रार्थना-याम्, न० । ममेवैरूपं वस्तु पुष्टिकारि, तद्यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं जवतीत्येवं शब्दाद्योद्ध्वानुत्पत्त्येके स्वरूपनिमित्तज्ञत-प्रतियनयवस्तुप्राप्त्यप्यवस्थायां, न० । आ० म० । इष्टेषु शब्दादिषु जोगेच्छायाम्, हा० ए आ० ।

अजिवाङ्घ्रि-अभिवाङ्घ्रि-त्रि० । मासजेदे, संवत्सरजेदे च । स्या० । तत्र एकत्रिंशद्दिनानि, एकत्रिंशत्पुत्रशतं चतुर्विंशत्पुत्रशत-प्रमाणानामिदं किंमासः । पंचाधिकेन मासेन द्वादशप्रमाणोऽ-निवर्द्धितसंवत्सरः । स च प्रमाणेन त्रीणि शतान्याहं श्यशी-त्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च त्रिंशद्विंशत्-३६३ । ४४ । ६३ । स्या० ५ डा० ३ उ० । वृ० कल्प० । स० । चं० प्र० । अ० । यस्मिन् संवत्सरे अधिकमाससंभवेन त्रयोदश ऋतुमासा भवन्ति, सोऽ-निवर्द्धितसंवत्सरः । उक्तं च-“तेरस य च्छमासा, एतो अमिवाङ्घ्रिश्चो न जयन्वा” जं० २ बक० ।

ता एषि पंच पंचदशं संवत्सराणं पंचमस अभिवद्घि-यमंचच्छरस अभिवद्घिप्रासे तिमतीमुदुत्तेणं अद्दोरत्तेणं गणित्जगाम केवद्वयराइदिगमेणं आदिहृ । ता एकतीसं राइदिपाइं एगुपतीसं च मुहुत्सा सत्सरसवावद्दिगो मुहुत्सस राइदियमेणं आदिहेति वदेजा । ता से णं केवद्व ए मुहुत्सग-णं आदिता ? ता णव एगुणसठे मुहुत्ससते सत्सरस यवाव-द्विजागे मुहुत्सस मुहुत्सगणं आदिता । ता एतेसि णं अच्चा दुवालमसुत्तकडा अजिवद्घीए संवत्सरे । ता से णं केवद्व राइदियगंणं आदिता ति वदेजा ? ता तिधि तेसं ए रा-इंदियमते एकवीसं च मुहुत्से अद्दारसवावद्दिगो मुहुत्स-स राइदियगंणं आदिहा ति वदेजा । ता से णं केव-तियमुहुत्सगंणं आदिता ति वदेजा ? । ता एकारमुहुत्सग-हत्सा पंचए एकारे मुहुत्से सते अद्दारस य वावद्दिजागे मुहुत्सस मुहुत्सगंणं आदिता ति वदेजा ॥

\* ता एषि णं, इत्यादि पञ्चमानिवर्द्धितसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवतानाह—( एकतीसमित्यादि ) ता इति पूर्ववत् । एकत्रिंशद् रात्रिन्दिवानि, एकान्त्रिंशच्च मुहुत्तां, एकस्य च मुहुत्सस्य सप्तदश द्वापद्यिगा रात्रिन्दि-वाप्रेणाक्यता इति वदेत् । तथाहि—त्रयोदशत्रिंशद्भमासै-रनिवर्द्धितसंवत्सरः । ऋतुमासस्य च परिमाणेनकान्त्रि-ंशद् रात्रिन्दिवानि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वात्रिंशद् द्वा-पद्यिमाणाः । २६ । ३ । पतत त्रयोदशत्रिंशद्व्ययते, ततो यथा-संज्ञं च द्वापद्यिमागे रात्रिन्दिवेषु कृतेषु जातमिदं त्रीण्येहो-

रात्रशतानि श्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वापद्यिमाणा अद्दारावस्य-३७ । ३ । ४४ । पतदभिवर्द्धितसंवत्सरपरिमाणा-म् । तत्र प्रयाणं अद्दारात्रशतानां श्यशीत्यधिकानां द्वात्रिंशदि-मागे हतं सत्सा एकत्रिंशद्द्वयोत्रायाः शेषास्तिष्ठत्येकादश । ते मुहुत्सकरणार्थं ६२ त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि ३३० । येऽपि च चतुश्चत्वारिंशद्दवापद्यिमाणा रात्रिन्दिवस्य, तेऽपि मुहुत्सकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदशशतानि त्रिंशत्त्यधिकानि १३२० । तेषां द्वापद्येवा, जातानि द्वियते, अथा एकत्रिंशदिमुहुत्ताः शेषास्तिष्ठत्येकादश । तत्रै-कत्रिंशदिमुहुत्तां मुहुत्सरात्रो प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहुत्सतां त्रीणि शतान्येकत्रिंशदधिकानि ३६३ । एतेषां द्वादश-भिमांगो द्वियते, सत्सा एकान्त्रिंशदमुहुत्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयः । ते द्वापद्यिगाकरणार्थं द्वापद्येवा गुण्यन्ते, जातं पन्नीत्यधिकं शतम् १६६ । ततः प्रागुक्ताः शेषीभूता मु-हुत्स्वाद्यादश द्वापद्यिमाणाः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शतं चतु-रुत्तरं २०४ । तयोद्द्विंशदिमांगो द्वियते, अथा मुहुत्सस्य सप्तदश द्वापद्यिमाणाः । ( ता से णमित्यादि ) ता इति पूर्ववत् । सोऽनिवर्द्धितमासः कियद्द मुहुत्तां त्रिंशदाक्यता इति वदेत् । भगवतानाह—( ता नैवत्यादि ) नव मुहुत्सशतानि एकान्त्रिंशदधि-कानि ९५६ । सप्तदश च मुहुत्सस्य द्वापद्यिमाणाः । तथाहि—एकत्रिंशद्व्यहोत्रायाः त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि त्रिंशदधिकानि मुहुत्तां नाम । तत उपरितना एकान्त्रिंशत्सु-तोस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहुत्तां नामेकान्त्रिंशदधिकानि नव-शतानि । ( ता एषि णमित्यादि ) प्राग्द्व्यव्याख्येयम् । ( ता से णमित्यादि ) रात्रिन्दिवचप्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवतानाह—( ता तिष्णित्यादि ) त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि श्यशीत्यधिकानि एक-त्रिंशदिमुहुत्तां एकस्य च मुहुत्सस्याद्यादश द्वापद्यिमाणा रात्रि-न्दिवामेणाक्यता इति वदेत् । तथाहि—एकत्रिंशद् अद्दाराया द्वा-दशत्रिंशद्व्ययते, जातमि त्रीणि शतानि द्विसप्तत्यधिकानि रा-त्रिन्दिवानाम् ३७२ । तत एकान्त्रिंशत् मुहुत्तां द्वादशत्रिंशद्व्ययते, जातानि त्रीणि शतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ३४७ । तेषा-मद्दाराकरणार्थं त्रिंशता भागां द्वियते, अथा एकदश अद्दारा-याः, अष्टादश तिष्ठन्ति । येऽपि च सप्तदश द्वापद्यिमाणाः मुहुत्स-स्य, तेऽपि द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शतं चतुरसरे ३०४ । ततो द्वापद्येवा भागां द्वियते, अथास्येषो मुहुत्ताः, ते प्राक्तेषु अष्टादशसु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकत्रिंशदिमुहुत्ताः । शेषा-स्तिष्ठत्येकादश द्वापद्यिमाणा मुहुत्सस्य । ( ता से णमित्यादि ) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवतानाह—( एकारसत्यादि ) एकादश मुहुत्ससहस्राणि पञ्च मुहुत्सशतानि एकादशाधिकानि अष्टा-दश च द्वापद्यिमाणा मुहुत्सस्येति मुहुत्तां त्रिंशदनिवर्द्धितसंवत्सर आक्यता इति वदेत् । तथाहि—अभिवर्द्धितसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीण्यहोत्रशतानि श्यशीत्यधिकानि एकत्रिंशदिमुहुत्ताः, एक-स्य च मुहुत्सस्याद्यादश द्वापद्यिमाणास्तत्र एकैकस्मिन् रात्रि-न्दिवे त्रिंशद् मुहुत्सं इति त्रीण्यहोत्रात्रशतानि श्यशीत्यधिकानि त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितना एकत्रिंशदिमुहुत्ता-स्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो यथोक्ता मुहुत्ससंख्या भवतीति । चं० प्र० १२ पाठु० । नि० चू० । ज्यो० । जं० । ( अथशेषा व-कन्यता “मास ” संवत्सर’ शब्दयोः कतिरप्यते )

अभिवद्भेमाण-अभिवर्द्धयत्-त्रि० अभिवर्द्धयत् कुर्वीत, चं० ७७ बक० ।

अजिवापण-अजिवादन-न० । बाह्यनस्कारे, दशा० २ सू० । उक्त० । पादयोः प्रणिपतने, तं० । कायेन प्रणिपाते, संधा० । आच्चा० ।

अजिवायमाण-अजिवादयत्-वि० । अजिवादनं कुवाणे, मा-च्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अजिवाहुरा-अभिवाहुरा-की० । संशब्दानाम्, पञ्चा० २ विष० ।

अजिवाहार-अजिव्याहार-पुं० । अजिव्याहरणमजिव्याहारः । कालिकादिभूतविषये षडैशस्तमुद्देशादौ, आहोचनादियु अष्टमे नये, विद्ये० । आ० म०

अधुना चरमद्वारं व्याख्यासुराह-

अभिवाहारो कालिय-सुपस्स सुतत्पतदुजर्णं ति । दन्वगुणपज्जवोहँ य, दिघीवायमि बांधवने ॥

अजिव्याहरणं शिष्याचार्ययोः बचनप्रतिबचनं अजिव्याहारः । स च कालिकभूते जाचारादौ, ( सुत्तधतदुभयणं ति ) सुत्रतो ऽधेतः, तदुभयतश्च । इयमत्र भावना-शिष्येण इच्चाकारेणुदम-क्काणुदिसास्त्वयुके स्तिति इच्चापुस्सरमाचार्यबचनम्-“अहमस्य साधारित्वमङ्गमध्ययनमुद्देशं वा उद्दिशामि” वदातीत्यर्थः । आसौ-पदेशपारस्पर्यक्यापनाथं क्रमाश्रमणानां हस्तेन स्यात्क्रया सुत्र-तोऽधेतस्तदुभयतो वाशिसुत्त कासिकभूते । अथोक्त्यासिके हृदिवाद् कथमयं । इत्यत आह-द्रव्यगुणपर्यायेष्व हृदिवादे बोधव्योऽजि-व्याहारः । एतदुक्तं भवति-शिष्यबचनानन्तरमाचार्यबचनम्-“ह-दुसुद्दिशामि सुत्रतोऽधेतस्तदुभयतो द्रव्यगुणपर्यायेरनन्तरम-ङ्गस्तदितैरिति” । एवं गुरुणा समादिष्टमजिव्याहारे शिष्याजिव्या-हारः । शिष्यो ब्रवीति-“उद्दिशस्त्वयं मम, इच्चाभ्यनुशासनं क्रि-यमाणं पूज्येरिति । एवमजिव्याहारद्वारमहत्तमं नीतिविशेषनये । आ० म० प्र० ।

अजिविहि-अभिविधि-पुं० । सामरूप्ये, पञ्चा० १५ विव० । आ० म० ।

अभिवृद्धि-अभिवृद्धि-पुं० । अहिवृद्ध्यापरनामके उत्तरभाद्रप-दनक्षेत्रे, जं० ७ बङ्ग० ।

अभिवृद्धिचा-अभिवर्धय-अव्य० । अभिवृद्धि कारयित्वेत्यर्थे, सू० प्र० १ पाठ० ।

अजिर्वज्ज-अभिविज्जन-न० । स्वरूपतः प्रकाशने, सूत्र० १ भू० १ अ० १ उ० ॥

अभिसंका-अजिशङ्का-की० । तथ्यानिर्णये, सूत्र० २ भू० ६ अ० । श्या० । “भूयाभिसंकाहं कुर्वन्नुमाणे, ण निव्वडे मत्प-वेण गेयं” जूनेषु प्राणेषु अभिशङ्का उपसर्गशङ्का, तथाऽऽशो-वाद् सावर्त्तं, जुगुप्सां वा न भूवात् । सूत्र० १ भू० १४ अ० ।

अजिसंकि ( ण् )-अजिशङ्किन्-ति० । “उज्ज माराभिशं-की मरणा पमुच्चति” । मरणं मारः, तदजिशङ्की मरणा-दुद्विगन्तस्तर्कराति येन मरणात् प्रमुच्चति । आच्चा० १ भू० ३ अ० १ उ० ।

अभिसं ( स्सं ) ग-अभिवृद्ध-पुं० । भावरागे, विद्ये० । अण्यु-पपत्तो, श्या० ३ उ० ४ उ० ।

अजिसंजाय-अजिसंजात-वि० । पर्यौ वायुत्पत्ते, आच्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंधारण-अजिसंधारण-न० । पर्याहोचने, आच्चा० १ भू० १ अ० १ उ० ।

अजिसंधिय-अजिसंधित-वि० । शृष्टीते, माच्चा० १ भू० ४ अ० २ उ० ।

अजिसंनृय-अजिसंनृत-वि० । यावत्कलं तावदभिसंनृताः । आच्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० । प्रादुर्भूते, आच्चा० २ भू० ३ अ० १ उ० ।

अजिसंवह-अजिसंवह-वि० । धर्मभयणयोग्यावस्थायां वर्तमाने, आच्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अजिसंवुह-अजिसंवुह-वि० । धर्मकथादिकं निमित्तमासाद्यो-पल्लव्युष्यावापतया कृते, आच्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अजिसमागय-अभिसमवागत-वि० । अभिरानिसुष्येन स-म्यगिष्टानिष्टावधारणतया अन्विति शब्दादिवृक्क्यापगमात् प-द्मादागतो ज्ञातः परिच्छिन्नः । आच्चा० १ भू० ३ अ० १ उ० । प्रज्ञा० । अभिसुष्येन व्यवहारितं, सूत्र० २ भू० १ अ० । आच्चा० । परिभा-गत उपजोगं प्राप्ते, ज्ञा० २ भू० । विशेषतः परिच्छिन्नं, भ० १ श० ४ उ० । मिश्रिते, ज० १५ भू० १ उ० । अभिविधिना, सर्वासांत्त्य-र्थे । समन्वागमनि संज्ञासामि अंधेन रसानुज्ञं समाश्रिय ( ज० १२ श० ४ उ० ) उदावर्तकालकामागतये, ज० १३ श० ७ उ० । अंग्यावस्थां तांते, श्या० ६ उ० ३ उ० ॥

अभिसमागय-अभिसमागय-पुं० । अत्रार्थोऽभिसुष्येन न तु विपय्यास्वरूपतया समिति सम्यक् न संशयतया धा आ-म-व्याद्वा गमनमभिसमागमः । वस्तुपारच्छेदः, तथा ।

तिविहे अभिसमागमे पञ्चते । तं जटा-उहं अहं तिरिये । जया एं तदा रूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अइस्से णाणदंसणे समुपज्जइ, से णं तपपदमयाए उह्मजिसमेद, तत्रा तिरियं, तत्रा पच्चा, अहं अहाल्लोणं हुर-जिगमे पञ्चते समणउसो ! ॥

( अइस्सेस सि ) शेषाणि उपासकानात्यतिक्रान्तमित्येषं ज्ञान दर्शनं, तच्च परमावधिकर्मात् समभाव्यते, केवलस्य न क्रमे-णोपयोगः ; येन-तत्रप्रथमतयेत्यादि सूत्रमनवधं स्वादिति । तस्य ज्ञानादिक्यादस्य प्रथमता तत्रप्रथमता, तस्याः ( उक्तं ति ) कर्त्त-लोकमभिसमेति-समभिवृद्धति जागति । तस्मिन्स्वर्गमिति ति-येयांक्तं, तत्स्मृत्यै स्थानि अथ इत्यधोऽङ्गकमभिसमेति । एषं च सामर्थ्यात्सामधोलोको दुरभिमगः, कमण पर्यन्ताधिगम्यत्या-दिति । इह अमणानुपन्न ! इति गीतमाम्भणमिति । श्या० ३ उ० ४ उ० ।

अजिसमागम-अजिसमागम्य-अव्य० । अभिरानिसुष्ये, स-मेकीजाये, आह-मयादाभिविध्याः । गल्ल-वृत्ल्ल-गती, सत्त्वं एव गत्यर्थां ज्ञानार्थी हेयाः । अभिसुष्ये सम्यग्ज्ञात्वैत्यर्थे, “ एषं अभिसमागम-चित्तमादाय आउसां” दशा० ५ अथाच्चा० । आच्चा० ॥

अभिसमेध-अजिसमेत्य-अव्य० । अजिसुष्येन सम्यगित्वा ज्ञात्वा । आच्चा० १ भू० ३ अ० ३ उ० । अजिसुष्येन सम्यक्

परिविष्टद्युधकप्रवेदितं वा । आत्वा० १ भु० ४ अ० २ उ० ।  
अवगम्यत्यर्थं, स्था० ७४ ग० । आत्वा० । समधिगम्य अवबु-  
ध्यन्त्यर्थं, अभिसमेष्ट धर्म यावत्केवलमित्युपाद्यन्ते । “धर्मोपा-  
द्यन्तं ज्ञात्वा, संजातेच्छोऽत्र भावतः । इदं स्वशक्तिमात्रोच्य,  
प्रहृष्टं संप्रवर्तते ” ॥११॥ स्था० २ ग० १ उ० ।

अभिसरण-अभिसरण-ज० । आपत्किकसंयुक्ताभिगमने, प्रहृ०  
१ आ० ३ ग० ।

अभिसरित-अजिसरित-वि० । रत्यर्थं सङ्केतस्थलं प्रापिते,  
आत्वा० १ भु० ३ अ० ५ उ० ॥

अभिसव-अभिषव-पुं० । अनेककृत्यसन्ध्यागतिपञ्चसुरासौबी-  
रकादौ मांसप्रकारकण्ठादौ सुराम्प्याद्यभिष्यन्दिद्रव्ये, कृत्यो-  
पयोगे च । अयं च सावधानाहारवैकल्यानाभोगातिक्रमादि-  
माऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

अभिसिक्त-अभिसिक्त-वि० । कृतान्निषेके जातान्निषेके, “अ-  
ण्येण अमयकक्षसेण अजिसिक्तो अन्धमहिद्यं सोमिनुमादत्ता”  
आ० ४ प्र० ।

अभिसिग-अभिसिग-पुं० । शुक्रशोणितानिषेकादिक्रमे, आत्वा०  
१ भु० ६ अ० १ उ० । सर्वौषधिसमुपस्कृततीर्थोदकेः राज्याधिष्ठा-  
तृवादिप्रान्त्यर्थं मन्त्राभ्यारणपूर्वकं तद्योग्यशिरसाऽभ्युक्ष्णम् ।  
स्था० ।

तत्रेन्द्राणामभिषेक इत्यर्थः-

जणामेव अभिषेयसभा तेषामेव उवागच्छति, उवागच्छि-  
त्ता अभिषेयमत्रं अणुपयाहिणं करेमाणे पुरच्छिभिष्णेण  
दारिणं अणुपविसति, अणुपविसिता ज्येष्ठे सहासणे तेषे-  
व उवागच्छति, तेषव उवागच्छिता सीहासणवर्गते पुर-  
च्छाभिमुद्दे सारिणसण्ये । तए खं तस्म विजयस्स देवस्म  
सामाणियपरिसोवबाणया देवा आभिआंमं । देवे सदावे-  
ति, सदावेत्ता एवं वयामी-रित्पामेव जो देवाणुपिया । तुम्भे  
विजयस्स देवस्म मइत्यं महग्गं महरिहं विपुलं इंदाजिसेव  
उवइवेह । तए णं ते आजिआंगिया देवा सामाणियपरिसो-  
वववएहिं देवेहिं एवं उता समया इहं जा मयिया कर-  
तत्तपरिंमग्गहिंयं सिरसावचं मत्थए । आजाहिं कटुं ‘एवं देवा तह  
हिं’ आणाए विणएणं वयणं परिसुण्णेति, परिसुणेत्ता उच-  
रपुरच्छिंयं दिसीजागं अवकमंति, अवकामिता वेउव्वियसमु-  
ग्घाएणं समोहणंति, समोहणोत्ता संखिज्जाइं जयण्णाइं कं-  
णिसंरति, णिसरित्ता तावइयाइं पोम्लाइं गेहइ । तं जहा-  
रणाए० जाव रिट्ठाएणं अहा बायंरे पोम्ले परिसाकेति, परि-  
सादिता अहा मुहमे पोम्ले परिचार्यंति, परिचार्यत्ता दीवं पि  
विउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणिया अइसयं सोव-  
सियाणं कलसाणं, अइसतं रूपमयाणं कलसाणं, अइसयं  
मणिमयाणं कलसाणं, अइसयं सुवस्ररूपमयाणं कलसाणं,  
अइसयं सुवस्ररूपमयाणं कलसाणं, अइसयं सुवस्ररूपमयाणं  
कलसाणं, अइसयं सुवस्ररूपमयाणं कलसाणं, अइ-  
१८३

सयं रूमिपाणं कलसाणं, अइसयं जिगाराणं कलसाणं,  
एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चि-  
त्ताणं रयणकरंहाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमह-  
त्यचंगेरीणं पुप्फपदङ्गाणं० जाव लोमहट्यपदङ्गाणं अ-  
इसयं सीहासण्यणं उवाणं चामराणं अश्वपदगाणं वट्ट-  
काणं सिप्पीणं खोरकाणं पीणगाणं तेहससुगकाणं अइस-  
हस्सं धूवककुत्त्यकाणं विउव्वंति । तेमा भावियए विउव्विए  
य कलसे य जाव धूवककुत्त्यए य गेहइंति, गेहिहत्ता विज-  
याओ रायहाणीओ पकिनिकमंति, पकिनिकमत्ता ताए  
उकिट्ठाए० जाव उक्त्ताए दिव्वाए देवमतीए तिरियमसेखे-  
जाएणं दीवमसुहाएणं मज्जं मज्जेणं वीर्यावयमाणा वीर्याव-  
यमाणा जेणव खीरोदे समुदे तेणव उवागच्छंति, तेणव उवा-  
गच्छत्ता खीरोदं गेहइंति, खीरोदं गेहिहत्ता जाइं तत्थ  
उप्पल्लाइं जाव सयसहस्सपचाइं गेहइंति, ताइं गेहिहत्ता  
जेणव पुक्खरादे समुदे तेषव उवागच्छंति, उवागच्छत्ता  
पुक्खरादे गेहइंति, पुक्खरादे गेहिहत्ता जाइं तत्थ  
उप्पल्लाइं जाव सतसहस्सपचाइं गेहइंति, ताइं गेहिहत्ता  
जेणव समयस्सेते जेणव भरेहेरवयाइवासाइं जेणव मा-  
गववरदामप्पमासाइं तित्थाइं तेषव उवागच्छंति, तेषव  
उवागच्छत्ता तित्थादं गेहइंति, तित्थादं गेहिहत्ता ति-  
त्थमहिद्यं गेहइंति, तित्थमहिद्यं गेहिहत्ता जेणव गंगाभिगुर-  
चवतीओ सखिल्लामो तेषव उवागच्छंति, तेषव उवाग-  
च्छत्ता सरितोदं गेहइंति, सरितोदं गेहिहत्ता उचयो  
तटमहिद्यं गेहइंति, तटमहिद्यं गेहिहत्ता जेणव खुल्लहिमवत-  
सिहरिवासपव्वत्ता तेषव उवागच्छंति, तेषव उवागच्छत्ता  
सव्वतुवरं य सव्वपुप्फं य सव्वमंथं य सव्वमद्वं य सव्वंसाहिं  
सिक्खत्थए य गेहइंति, गेहिहत्ता जेणव पउमहइं पुरुरियइहा  
तेणव उवागच्छंति, उवागच्छत्ता दहोदं गेहइंति, दहो-  
दं गेहिहत्ता जाइं तत्थ उप्पल्लाइं जाव सतसहस्सपचाइं  
गेहइंति, ताइं गेहिहत्ता जेणव हेमवतेरत्तवयाइं वासाइं जेणव  
रोहिंया रोहिंयातेसा मुवस्रकूडरूपकल्लामो तेषव उवाग-  
च्छंति, तेषव उवागच्छत्ता सखिल्लोदं गेहइंति, सखिल्लोदं  
गेहिहत्ता उभयो तटमहिद्यं गेहइंति, उभयो तटमहिद्यं गे-  
हिहत्ता जेणव सदावतिवियमावतिमालवंतपरियागवट्ट-  
वेयवृपव्वत्ता तेषव उवागच्छंति, तेषव उवागच्छत्ता सव्वतु-  
वरं य जाव सव्वंसाहिंसिद्धत्थए य गेहइंति, सिक्खत्थए  
गेहिहत्ता जेणव महाहिमवंतरूपपवासहपव्वत्ते तेषव उवाग-  
च्छंति, तेषव उवागच्छत्ता सव्वपुप्फं तं चव० जेणव महापउ-  
महइमहापुंरुरियइहा तेषव उवागच्छंति, तेषव उवागच्छत्ता  
जाइं तत्थ उप्पल्लाइं तं चव० जेणव हरिवासरम्मगवासाइं जे-  
णव हरिकानाओ मखिल्लामो नरगतंओ तेषव उवागच्छंति,

तेष्वेव उवागच्छिता सल्लोदोगं गेहंति, सल्लोदोगं गे-  
हितिहत्ता तं चैव० जेषेव वियडावतिगेषावति० वृद्धेयवृष्टपव्यया  
तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वपुष्पं य तं चैव०  
जेषेव णिसद्वगं। सव्वतवासाद्वरपव्वत्ता तेष्वेव उवागच्छति,  
तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं य तं चैव० जेषेव तिगिच्छि-  
हदं केमरिहदं तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता द-  
हादमं गेहंति, दहादमं गेहिहत्ता तं चैव० जेषेव पुव्ववि-  
देहअवरविदेहवासाणि जेषेव सीयाम्। ओयामहानदंओ  
जहा नईसु जेषेव सव्वक्कवद्विजया जेषेव विदेहावरवि-  
देहवासाई जेषेव सव्वक्कवद्वरदापमासाई नित्याई जेषेव  
सव्वनरणदीओ० सल्लोदोगं गेहंति, सल्लोदोगं गेहिहत्ता  
तं चैव० जेषेव सव्वक्कवद्वरपव्वत्ता० सव्वतुवरं य तं चैव०  
जेषेव मंदरं पव्वर जेषेव जहमात्तनेषे तेष्वेव उवागच्छति,  
तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं य० जाव सव्वोसाहिभिद्धत्यए  
य गेहंति, गेहिहत्ता जेषेव नंदणवणे तेष्वेव उवागच्छति,  
तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं य० जाव सव्वोसाहिभिद्धत्यए  
य सरमं च गोमीसचंदणं गेहंति, गेहिहत्ता जेषेव संपण-  
सव्वणे तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं  
य० जाव सव्वोसाहिभिद्धत्यए य सरमं च गोमीसचंदणं दिव्वं  
च सुमणदामं गेहंति, सुमणदामं गेहिहत्ता जेषेव पंगुवणे  
तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं य० जाव  
सव्वोसाहिभिद्धत्यए य सरमं च गोमीसचंदणं दिव्वं च  
सुमणदामं दहममज्जयसुगंणिगधिए य गंधे गेहंति, गेहिहत्ता  
पगतो भिलंति, पगतो भिल्लिता जंबूदीवस्स पुरच्छिभिन्नेणं  
दारिणं णिगच्छति, पुरच्छिभिन्नेणं दारिणं णिगच्छिता  
ताए उकिट्टाप० जाव दिव्वाप देवगतीए तिरियममंलंजाणं  
दीवससुहाणे मज्जं मज्जेणं वीतीवयमाणा जेषेव विजया  
रायहाणी तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता विजयं रा-  
यहाणि अणुपययादिणं करेमाणे करेमाणे जेषेव अभिसंयस-  
जा जेषेव विजयदेवे तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छि-  
त्ता करयत्तपरिगाहिणं सिरसावचं मत्तए अंजलि कट्ट जण-  
णं विजएणं बद्धावेति, बद्धाविता विजयस्स देवस्स तं  
महयं महयं महरिहं विपुलं अभिसंय उव्वंति ।।

टीका पाठसद्धा। ज० ३ प्रति० । रा० ज० १० । अवा-  
येणदंअजिक्को यः सोऽजिक्कः । नि० सू० १९ उ० । सुचार्य-  
तदुभयोपेने आचार्ये, ३०० १ उ० । आचार्यंयत्तुस्फापनाई, ७०  
३ उ० । अणवपायं, जीत० । गणावच्छेदकं, नि० सू० १५ उ० ।

अभिनेगजलपूयप ( ण ) -अभिषेकजलपूयाम्-पु० । अ-  
भिषेकतो जनेन पवित्रित भाभा येस्तं तथा । तथाविधज-  
लचोत्पन्नं यानमस्पृश्ये, श्री० ।

अभिसेमपदे -अभिषेकपीठ -पु०। न० । अभिषेकमयदयात्तमेते  
अभिषेकसिंहास्तनाधिष्ठाने पीठे, जं ३ ब३० ।

अभिसेग ( य ) भं-अभिषेकभाएद-न० । अभिषेकयोमे  
उपस्करं, रा० ज० १० ॥

अभिसेग ( य ) सभा-अभिषेकसभा-श्री० । अभिषेका-  
र्थेनभायाम्, यस्यां राज्याभिषेकेणाभिषिच्यते । श्या० ५  
उ० ३ उ० ।

अभिसेगभिला-अभिषेकशिला-श्री० । तीर्थकराणामभिषे-  
कार्यशिलायाम्, श्या० ।

जंबु । मंदरपव्वयपंगुवणे चचारि अभिसेगसिद्धाओ  
पएणत्ताओ । तं जहा-पंगुकेवलसिद्धा, अतिपंगुकेवलसिद्धा,  
रत्तकेवलसिद्धा, अतिरत्तकेवलसिद्धा ।

अभिषेकशिला चूलिकायाः पूर्वदक्षिणपश्चिमदिक्षु क्रमे-  
णवामन्या इति । श्या० ४ उ० २ उ० ।

अभिसेगा-अभिषेका-श्री० । गच्छमहत्तरिकायाव, नि० सू० ३  
उ० । प्रवर्तिनी आगमपरिभाषयाऽभिषेकयुच्यते, ४० ३ अधि० ।  
जिह्वक्यां च । नि० सू० १५ उ० ।

अभिसेजा-अभिषेकजा-श्री० । अभिषेकजायाम्, ७० १  
उ० । यस्यां नैवेद्यक्यां दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा  
रात्रिसुषुप्त्वा प्रातस्वस्तिसुषुप्तिम् । ७० १ उ० ।

अभिसेसंग-अभिषेकङ्क-पु० । गेहादिष्वभिषेके, ५० व० ।

जो एत्य अभिसेसंगो, संतासंनेसु पावेहोत्ति ।।  
अट्टच्छाणविक्षापो, ..... ।।

श्लोकऽभिषेकज्ञो मूर्च्छलक्षणः सद्यस्सु गेहादिषु पापहेतुरि-  
ति पापकारणमात्पथानविक्रमः । अक्रुद्धयथानभेदाऽभिषेकः ।  
पं० न० १ उ० । पञ्जा० ।

अभिसेट्ट-अभिसेहृत्-अव्य० बलात्कृत्येण्ये, “ सेवं वदंत-  
स्स परो अभिसेहृद् अतो पकिमाईसि बहुअचिंयं मसं पारिभाए-  
त्ता गिट्टु दलपज्जा ” आच्य० २ श्रु० १ श्रु० १० उ० ॥

अभिसेद-अभिसेहृत्-न० । अभि-सावजिमुक्क हतमातीतं श्या-  
नात्तरादभिसेहृत् । अज्याहृत्, पञ्जा० २ ३ विष० । साधुदानाय  
स्वप्राप्त्यात्परिप्राप्त्या वा समतीते यथादशोत्तमशब्दुट्टे, ५० ।

अथाव्याहृतत्तरमाह-

आइस्रमणाइस्रं, निसेहीमनिमं।हयं अभिसेदं वा ।  
तत्य निसेहीदानीयं, उणं बोच्छामि नोनिसेहीं तु ॥

अथाहृतं द्विविधम् । तथा-आकोणं, अनाकीणं च । तत्राना-  
कीणं द्विधा । तथा-निशीथाज्याहृतं, नोनिशीथाज्याहृतं च । तत्र  
निशीथमदरात्रं, तत्रानीतं किल प्रचयं नवति, यत्र साधुना-  
मपि यद्विदितमन्याहृतं तत्रनिशीथाज्याहृतम् । तद्विपरीतं नो-  
निशीथाज्याहृतम्-यत्साधुनामन्याहृतमिति विदितं भवति ।  
तत्र निशीथाज्याहृतं श्याप्यम् । अत्रैववत् इति भावः । सं-  
व्रति पुनर्वक्ष्यामि नोनिशीथाज्याहृतमिति ।

प्रतिज्ञातमेव निवाह्यति-

सगामपरगामे, संदेमपरदेसमेव बोधयं ।  
दुहिदं तु परगामे, जलयत्त नावोद्भयंश्याए ॥

मोनिशीथाभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वप्राप्ते स्वप्राप्तविययं, परप्राप्ते परप्राप्तविययम् । तत्र यस्मिन् प्राप्ते साधुनिवसति स क्लृप्त स्वप्राप्तः । शिवस्तु परप्राप्तः । तत्र परप्राप्ते परप्राप्तविय-यमन्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वदेशं परदेशं च । स्वदेशं स्व-प्राप्ताभ्याहृतं, परदेशं परप्राप्ताभ्याहृतं चेति । तत्र स्वदेशो य-त्र देशमयत्नले साधुवर्तते, शिवस्तु परदेशः । एतद् द्विविधम-पि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-(जलध्वज सि) सुचनान्त्वृषिमिति कृ-त्वा जलपथेनाभ्याहृतं, स्थलपथेनाभ्याहृतं च । तत्र जलपथे-नाभ्याहृतं द्विधा-नाया, उदुपेन च । उपलक्षणमेतत् । तेन स्नोक्जलसंभाषनायां जह्नायामपि । तत्र नीस्तारिका, उडुपं तरणकाष्ठम् । नुम्बकादि बाहुपरिग्रहणेन गृहीतं कृष्यम् । स्थलपथेनाभ्याहृतं द्विधा । तद्यथा-जह्नाय, पञ्चन्याम् । उप-लक्षणमेतत् । तेन गन्ध्यादिना च ।

तत्रामूनेव जलस्थलान्याहृतमेवान् समग्रं विज्ञावयन्  
दोषान् प्रदर्शयति-

जंघाबाहुरीए, जले थले खंधअरसुरनिबद्धा ।  
संज्ञमत्रायविराहण, तदियं पुण संज्ञमे काया ॥  
अत्र्याह्ण ग्राहणंका, मगराहारा जले अवायाओ ।  
कंठाहितेणसावय, थलम्मि एए जवे दोसा ॥

तत्र जज्ञमार्गे स्नोक्संभाषनायां जह्नायाम्, अस्नोक्संज्ञावनायां याडृन्याम्, यदि वा तरिकया । उपलक्षणमेतत् । उदुपेन याडृन्या-हृत संभवति । स्थलमार्गे तु रुक्स्थेन, यद्वा (अरसुरनिबद्ध सि) अत्र तुर्नायाथे प्रथमा । ततोऽयमर्थः-अरकनिबद्धा गन्त्री, तथा । सुरनिपदा रासजबलीवदोद्यः, नैः। क्त्र च दोषः संयमविरा-धना, आरामविराधना च । तत्र संयमात्मविराधनामध्ये संयम-वियया विराधना जज्ञमार्गे स्थलमार्गे च-काया अत्कायादयो विराध्यमाना कृष्टयाः । जज्ञमार्गे आरामविराधनामाह-(अत्र्या-हण्यादि) अत्र प्राकृतत्वात् कर्भावत् विभक्तिद्वारेण, क्वचित् वि-भक्तिविराधनामश्च । ततोऽयमर्थः-अस्ताथे पादादिभिरज्ञभ्य-मानेऽधोभूमौ च अधोनिमज्जनसंज्ञायां भवति । तथा प्राहेन्यां जलचरविशेषेभ्यः, यद्वा पङ्क्तः कर्दमरूपायः ; अ-थवा मकन्त्यैः, यद्वा-( उदारे सि ) कच्छपेभ्यः । उ-पलक्षणमेतत्-अन्येभ्यश्च पादबन्धकजन्वादिभ्योऽप्याया विना-शाद्यो दोषाः संभवन्ति । स्थलमार्गे आरामविराधनामाह-(अथेत्यादि) कण्ठकेभ्यो, यदि वा अङ्गिभ्यो, यद्वा स्तेनेभ्यः, कन्धयाभ्योपदेश्यः । उपलक्षणमेतत्-उदाराशुभ्यादकपरिभ्रमेभ्यश्च स्थले स्थलमार्गे, एतेऽप्यायकया दोषाः प्रतिपत्तव्याः । उक्त-मनाचीर्णे परप्राप्ताभ्याहृतं मोनिशीथम् ।

संप्रति तदेव स्वप्राप्ताभ्याहृतं मोनिशीथं गाथाद्वयेनाह-

सगामे वि य दुविहं, धरंतरं नोधरंतरं चैव ।  
तिधरतरा परेणं, धरंतरं तणु नायव्वं ॥  
नोधरतरऽगेगविहं, बाहगसाहं।निवसेणणित्तेसु ।  
कापोयखंयमिम्पय-कैसेण व तं तु आणेजा ॥

स्वप्राप्तविययमप्यन्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-गृहान्तरं, नो-गृहान्तरं च । तत्र गृहान्तरात्परेषु-श्रीणि गृहान्तरान्तरं कृत्वा परतो यदानीतं तद् गृहान्तरम् । एवं च सति किमुक्तं भवति । यद् गृहयवमप्यादानीयते, उपयोश्च तत्र संभवति, तद् अचीर्णसं-

धस्यम् । नोगृहान्तरमेनकावियम्, तच्च वाटकादिविययम् । तत्र वाटका-प्रतिक्रमः प्रतिनियतः सन्नियतः । साही-वर्तेनी, सैव-का अपान्तराले विधाते, न तु गृहान्तरमित्येधेः । निवशानम्-एक-निष्क्रमप्रवेशानि आदिगृहानि । गृहं-केवलं मन्दिरम् । एतच्च सकलमपि वाटकादिविययमनाचीर्णमनुपयोग्यमेतन्नवेदितव्यम् । तदपि च गृहान्तरात्परं च मोनिशीथं स्वप्राप्ताभ्याहृतं प्रतिसामयितुमीप्सितस्य साधोरुपाध्ययनमेव-कापोत्वा, यदि वा रुक्स्थेन । उपलक्षणमेतत्-तेन करादिना च, यदि वा गृह्यमेन प्राजनेन, यद्वा कान्स्थेन ।

संप्रत्यस्यैव स्वप्राप्तविययिणो मोनिशीथाभ्याहृतस्य संभवमाह-

सुभं च अमसकासो, पगयं च परेणं च पायुसा ।

इय एइ काय पेत्तुं, दवेइ य कारणं तं तु ॥

इह साधुभिक्षामदन् क्वापि गृहे प्रविष्टः, परं तदानीं गृह-यं बहिनर्गितमानुषमासीत् । यद्वा-अर्थापि तत्र राध्यते, इत्यस्य अ-विद्यमानो भिक्षाकाशः । यदि वा तत्र प्रकृतं गौरवादिस्वजनना-जनादिकं धनंते, ततो न तदानीं साधवे भिक्षा दातुं प्रपरिता, यदि वा विहृत्य साधोगतस्य पश्चात्प्रदेणकं सदेणकमागतं, त-थोक्तुष्टवात् किल साधवे दातव्यम् । अथवा तदा आदिक्वा प्रसुधा-शयिता आसीत्, ततः साधवे भिक्षा न दत्ता । इति एतेः कारणैः, क्वचित् आदिक्वा तद्गृहाद् गृहीत्वा साधोरुपाध्यय-नमेव, तन्वाजनयस्य कारणं 'तदा शूच्यं गृहमासीत्' इत्यादिकं-पि दीपयति प्रकाशयति । तत् एवं मोनिशीथस्वप्राप्ताभ्याहृतसं-ज्ञवः । नदेवमुक्तं स्वप्राप्तपरप्राप्तभेदमिन्न मोनिशीथाभ्याहृतम् ।

अथ स्वप्राप्तपरप्राप्तभेदमिन्नमोनिशीथाभ्याहृतमपि देशेनाह-  
एवम कपो नियमा, निसे।हमभिहूटे वि होइ णायव्वो ।  
अविइयदापगजावं, निसे।ह्णअजिहूटं तु नायव्वं ॥

य एव क्रमः स्वप्राप्तपरप्राप्तादिको मोनिशीथाभ्याहृते उक्तः, स एव निशीथाभ्याहृते नियमाद् ज्ञातव्यः । संप्रति निशीथा-भ्याहृतस्वरूपे कथयति-"अविइय" इत्यादितः । यतिना त वि-ह्नातो दायकस्याभ्याहृतदानपरिणामो यत्र, तेन अविइयत्तदाय-कभावं निशीथाभ्याहृतमवगतव्यम् । किमुक्तं भवति ।-संबंधा साधुना अभ्याहृतत्वेन यद् अपरिहृतं तन्नशिशाभ्याहृतमिति परप्राप्ताभ्याहृत उक्तः ।

स एव निशीथस्याभिदेमो गाथाचतुष्टयेनोच्यते-

अहूर जज्ञंतरिया, कम्मासंकाएं ठान पच्छंति ।  
आणंति संसहीओ, सट्ठा सट्ठा व पच्छंति ।  
निग्गम देहस दाणं, दियाएं सक्काइनिग्गए दाणं ।  
सिट्ठम्मि सेसगमणं, दित्तञ्जे वारयत्तञ्जे ।  
जुंजण अजोरपुव्व-हृगाइ अच्चंति चुचसेसं वा ॥  
आगम निसे।हिगाई, न भुंजेइ सावगासंका ।  
ठविस्वत्तं निक्खित्तं, आगमयं सट्ठगम्मि पासमका ।  
स्वामिणु गया सट्ठा, ते वि य मुह्हा अमदभावा ॥

क्वचित् प्राप्ते धनावदममुक्ता बहवः आधिकाः, धनवर्णमभूत-यश्च आधिकाः, एते वाप्येककुटुम्बकीर्तनः । अन्यथा तेषामासस्ये विवाहः समर्पणं, बुधे च तस्मिन् प्रसूत्स्मादि काशुद्धरितम्, तत-स्तैरखन्ति-यथैतत् साधुचर्यो दीपतां, येन महत्पुण्यमस्माकं

जायते । अथ च केचित् साधवोऽनिरूपेऽवतिष्ठन्ते, केचित् पुनः प्रत्यासन्नाः, परमत्परास्ते नदी विद्यन्ते, ततस्तेष्वकस्यैषु विराधनाभावयन्तो नागमिष्यन्ति, अगता अपि च प्रचुरभोः कादिकमवधेयस्य कथयमानमपि शुद्धमाध्याकर्मशुद्धया न प्रदीप्यन्ति । ततो यत्र प्राप्ते साधवो निवसन्ति तेषामप्रचण्डं शुद्धीत्वा व्रजामहति । तथैव च कृतम् । नतो भूयोऽपि चिन्तयन्ति—यदि साधूनाह्वय द्वास्थामस्मत्तोऽप्युक्तमाहाह्वयं ते न प्रदीप्यन्ति । तस्मात् तद् द्विजादिभ्योऽपि किमपि वृष्याः, तच्च तथादीयमानमपि यदि साधवो न प्रेषयन्ते ततस्त्वंदवस्थैव तेषामशुद्धाऽऽशुद्धा जनिष्यति । ततो यत्रोच्चारदिकार्यार्थं निर्गताः सन्तः साधवः प्रेषयन्ते तत्र दक्ष इति । एवं च चिन्तयित्वा विवर्कितं कर्मभिन्नं प्रदशं कस्याचिद्देवकुलस्य बदिर्भोगे द्विजादिभ्यः स्नोकं स्नोकं शत्रुमारम्भम्, तत उक्त्वादिकार्यार्थं चिन्तयेत् । कचन साधवो वृष्टाः, ततस्ते नमिष्यन्ति । यथा भोः साधवः ! अस्माकमुखात्ते मोदकादिकं प्रचुरमवाप्सिष्ठं ततो यदि युष्माकं किमप्युत्कर्षति तर्हि तत् प्रतिशुद्धयामिति । साधवोऽपि शुद्धमित्यवगम्य प्रत्यशुद्धम् । तेषां साधुभिः शेषाणामपि साधूनाम् श्रेयसां—यथाऽऽकस्मिन् प्रदेशे प्रचुरमेव शीयमशानाद् लभ्यत । ततस्तेऽपि तद्दृष्ट्वाय समाजः समुः । तत्र तेषां आवकाः प्रचुरमादकादिकं प्रयच्छन्ति । अथ च मातृस्थानतो ( मायाविशयान् ) निवारयन्ति—यथैव तावहीयानां मासधिकं, शयनस्माकं भोजनाय भविवर्धनम् । अन्ये पुनस्मानेव निवारयन्तः प्रतिप्रेषयन्तः । यथा—न कऽप्यस्माकं भावयन्तः, सर्वेऽपि प्रायो लुकाः, ततः स्नोकमात्रेण किञ्चिद्द्वारंतेन प्रयेजन्ते, तस्माद् यथच्छं साधुभ्यो दीयन्तमिति । साधवश्च ये नमस्कृत्य नदिप्रत्यावत्मानं लुकाः, ये चापौरुषीप्रत्यावत्मानं लुक्जाना वर्तन्ते । ये चाज्ञोर्णवन्तः पुत्रोद्धारिणी-व्यमाणा वर्तन्ते ते नाद्यापि व्रजन्ते । आवकाश्च चिन्तयामसु—यद्यदानीं साधवो लुका जनिष्यन्ति, ततो वन्दित्वा निजस्थानं व्रजाम ईत । एवं च चिन्तयित्वा समाधिकप्रहृत्स्वलायां साधुभ्यो वसन्त्यागत्य नैर्वायक्यादिकां सक्त्वामपि आवकाः कुर्यान् कृतवन्तः । ततो ज्ञानं यथाऽस्मि आवकाः परमविचारिणो ज्ञातारश्च परम्परया विवर्कितप्रामाण्यस्त्वयाः, ततः सख्यधिमहयोद्भाविनम्-जूनमस्माकमिस्मत्तन् स्वप्रामाण्यह्वयमिति, ततो ये लुका नैर्लुकेभ्यः, ये त्वयापि पुत्रोद्धारिणीर्वाह्यमाणा न लुकेत, तेन लुक्, येषां च भुजङ्गाना अचतिष्ठन्ते, तैरपि यः कथल उक्तिमः स भाजने मुच्यते, येषु मुखे प्रकृष्यं नाद्यापि मिसितं, तद् मुखद्द निःसायं समापस्थापितम् । श्रावकश्राविकावगोश्च सर्वोऽपि क्षमायित्वा स्वस्थानं जगाम । तत्र ये भुक्ता ये वार्त्तलुकास्तेऽपि सर्वेऽप्यशुभवा इति शुद्धाः । सर्वे सुगमम् । कवत्रं ( अच्यूरं जज्ञैरियं लि ) केचित् आंतदूरं, केचित् न चत्तारिताः । उक्तं परप्रामाण्याहृतं निशुधयम् ।

अथ स्वप्रामाण्याहृतं तदेव गाथाह्वयनाह—  
 लक्षं पहेणगं मे, अमुमात्यगयाएँ संखदी ए वा ।  
 बंदृणगहृपविह्वा, देदं तयं पड्डिय-नियसा ॥  
 नौपं पदृणगं मे, नियगयाएँ नचिउपं च तं तेहि ।  
 सागरियसज्जिभया वा, पारिकुट्टा संखमे रुडा ॥  
 हृ कचिद्वयान्वाशुद्धानिबुध्दर्थं किमपि शुद्धं प्रति प्रसिक्ता-त-

तो निबुद्धा सती साधोः प्रतिज्ञामनायोपाभयं प्रविष्य सधुसंभु-  
 कमेयमाह-जगधन । प्रहृणकमिदमुकसिद्धं शुद्धं गतया हृष्यम् ।  
 यथा-वर्षापि संयथस्वस्रप्रति यन्मनाथेमहं भवित्वा, तत्राद्ये प्रतिष्टं,  
 ततो यदि युष्माकमिदमुपकरोति तर्हि प्रतिशुद्धतामिति तत् ज्ञानो-  
 तं ददाति । यद्वा यथमाह-निजकर्मानं स्वजनानामर्थाय प्रहृ-  
 णकं मया स्वशुद्धाकीर्तनं, परं तैर्नोच्छ्रुतं ततस्त्वंशुद्धतां प्रतिनि-  
 षुक्तं वन्दन्मनाभ्यागतं, ततस्त्वंशुद्धतां । यद्यपि साधवो का-  
 चिद्व्यग्राहृतमानीय सागारिकां शय्यानरीं, यद्वा—सज्जितं '   
 वसतिप्रतिवेशनीं पुत्रशुद्धीतसंकरां, यथा साधवः शृण्वन्ति तथा प्रयच्छन्तु—शुद्धेणंद् प्रहृणकमिति । तथा च मातृस्थानतः  
 प्रतिपिच्छम् । यथा-त्वयाऽप्यमुकस्मिन् दिने मदीयं प्रदेशकं न  
 जशुहं, ततोऽहमपि त्वदीयं न शुद्धीष्यामीत्येवं निषिद्धम् । नतः  
 साऽपि मातृस्थानतः किञ्चिदपरं प्रत्युत्कर्षन् । द्वितीयोऽपि तथै-  
 व भावित्, न एवं परम्परं सख्यं कलेहं सति सा प्रदेशकनेत्री  
 रुद्रा शयवन्ती यन्मदीयं वन्दयति, ततोऽनन्तरं लुके वृ-  
 न्तानं कथयित्वा तदानींतं ददाति । उक्तं स्वप्रामाण्याहृतमपि  
 निशुधयम् ।

संप्रत्यनार्त्तार्थं निगमयज्ञानोर्णव्यं जेदाहाह—

एयं तु अज्ञास्ते, दुविदं पि य अहाइं समक्त्वायं ।  
 आइन्न पि य दुविदं, देने तह दसदेये य ॥

एतत् एतेन मन्वाहृतं निशुधय-नोनिशुधयभेदाद्, यदवा-स्व-  
 प्राणपरशमभेदाद् द्विविधमव्याख्यातानार्त्तार्थं मकल्पनीयम् ।  
 सप्रयाचीर्णं वदये । नदीपि द्विविधम्, तद्यथा—देश, देशदेशं च ।

संप्रति देशश्च देशदेशश्च च स्वल्पमाह—

इत्यसयं खदु देसां, आरंशं होइ देसदेसां य ।  
 आइन्ने तिन्नि गिहा, ते वि य उवभापुव्वग्गा ॥

हस्तशने हस्तशतप्रामेने जेभो देसाः । हस्तशतादारात् हस्त-  
 शतमर्थं इत्यर्थः, देशदेशः । अथ हस्तशतप्रमाणं आर्त्तार्थं यदि  
 शुद्धाणि प्राणि जवन्ति, नाधिकानि, ततः कल्पन्ते । तावन्पि खदु  
 शुद्धाणि उपयोगपूर्वकाराणि जवन्ति । उपयोगस्तत्र दातुं शक्यते  
 इत्यर्थः । ततः कल्पन्ते, नाव्यर्थंति ।

सप्रति शुद्धव्यव्यतिरेकेण हस्तशतादिंसंभवं  
 तद्विषयं कल्पयति चाऽऽह—

परिसवणपतीणं, दूरपएमे य धेयमालागिहे ।  
 इत्यसया आइन्ने, गहएँ परओ उ पदिक्कुरे ॥

परिविष्यते ततो भोजनं दीयते येभ्यस्ते परिवेषणा लुजानाः  
 पुरुषाः, तेषां पाङ्कः अर्थः, तस्यां तत्र, यस्मिन् एतेन साधुसंघा-  
 टको वर्तते, द्वितीयं तु द्वयं निष्ठति । तत्र च रूपशुद्धयुद्धव्यापारना  
 गन्तुं शक्यते । एवमुत्तरयोरेपि पदयोर्भावनीयम् । ततः परि-  
 वेषणपहक्यम् । यद्वा—दूरप्रदेशं प्रलम्भगमनमार्गं त्रिदिकानदी,  
 यदि वा घण्टालालाशुद्धे, दस्तशतादानोत्प्रे प्रहृणमर्चाचीर्णं कल्प-  
 त इत्यर्थः । परतस्त्वानीतस्व प्रहृणं प्रतिशुद्ध-निराहृतं तैः शक-  
 तदार्भिः ।

संप्रत्यस्यैवाचीर्णस्य जेदाह प्रहृशयति—  
 उक्तोसमज्जिमजह-न्नगं तु तिविहं तु होइ आइन्ने ।  
 करपरियत्त जहन्ने, सयमुक्तोस मज्जमे सेसं ॥

त्रिविधमावीर्यमभ्याहृतम् । तद्यथा-उत्कृष्टमभ्यसं, अश्रम्यं च । तत्र यथा ऊर्ध्वोच्चपरिहात् । कथमपि हस्तयोगेन मुष्टिगृहीतेन वा मरुतकादिना, यदि वा स्वपस्यादिपरिवेषणाद्यंमोदभूतशकारोटिकयोगेनादितया व्यवतिष्ठते । अत्रान्तरं च कथमपि साधुपुराणकृतिभिर्भाव्यै, तस्यै च यदि करस्थं द्वाति तथा करप्रवेष्टनमात्रं जघन्यमभ्याहृतमावीर्यम् । इतश्शतादभ्याहृतभुक्तकथम् । शृंगं तु इतश्शतमभ्यवर्ति मध्यमम् । इत्येवमुक्तमभ्याहृतम् । पि० ७०। आचा०। २। आ०। २००। सू०। २००। नि०। २००। "गिहिणो अभिहनं सेयं, हंजीश्रोण व भिक्खुणो" शृदिणो शूदस्थानां यदज्याहृतं तयतेनोक्तं श्रेयः श्रेयस्कर, न तु भिक्खुणां संबन्धीति ( प्रश्नः ) । अत्र तनुत्वं खास्या वाच एवं द्रष्टव्यम-यथा शूदस्थाज्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां नृक्रमदिदीपारहितमिति । सूत्र० १ श्रु० ३ श्रु० । " अत्र प्रायः स्वप्रायामिहृदे मासल्लु, परमाभिहृदे निष्कृत्वाप चउरुद्धं, सपञ्चवाए चउरुद्धं" । पि० ७० ।

अभिहृतवाध्वयाख्या-

जे जिक्खु गाहावकुद्धं पिंदवायपादिपए अणुपविद्धं समाणे परं तिघरंताओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आभिहटं आहटु दिज्जमायं पडिगाहंइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

"जे भिक्खु गाहावति कुद्धं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं तिघरंताओ" इत्यादि । तिषि गिहाणि तिघरं, तिघरंमय अंतरं तिघरंनरं । किमुत् नवति २-शूद त्रयुपवरत इत्यर्थः । अइथा तिषि दा अंतरावरत इत्यर्थः । आयारा शूहीत्वा किंचित् असणादी अभिहट्टदोसेण जुत्तं आहटु सा-हुत्स देज्ज, जो अणाइमं तिघरंतरापरेणं, आइमं वा अणुव-उत्तो अहंमि, तस्स मासल्लु । किमु ३ उ०. (अन्यपुथिकैः सहाभिहृतग्रहणव्याख्या 'अएणउत्थिय' शब्दे ४६६ पृष्ठे उक्ता) ।

जे भिक्खु परं अरुक्कोजायणैराओ सपञ्चवायंसि अभिहट्ट-माहटु दिज्जमायं पडिगाहंइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ । १ । अइजोयणाओ परओ सपञ्चवाएण पदेण अभिहनं-अभिरा-मिसुखे, इअ-हरणे, अभिसुखं इतम, आनीतमित्यर्थः । तं पडिगाहंमि जो जिक्खु, सो आणादी पावति, चउरुद्धं च से पाक्कंअ । एसां वेव अथो इमे-

परमरुक्कोयणाओ, सपञ्चवायंसि अभिहट्टाणीयं । तं जे भिक्खु पायं, पडिक्कते आणामादीणि ॥ १७ ॥ कंजा । इमेहं वा साकायो पदे-

सावय तेणा जुविहा, सन्वाजजसा महानदी पुआ । वणहत्थिदुट्टसप्पा, पडिणीया चैव तु आवाया ॥ १७ ॥ सीहादिया सावया । तेणा जुविहा-सरीतोवगरणे । जले गाहम-गराद्वहिं सन्वाला महागदी वा अगाथा पुआ, वणहत्थी वा जुटो पदे । कुर्माणसादिसप्पा वा पदे विज्जति, गिहीण वा वेरिया-द्विपरिणीया संति, यस्मादिआ-उवायिंइ इमे दोसा ॥ १७ ॥ तेणादिसु जं पावति, विराहए अंतरा काया । बद्धहियमारिते वा, उड्ढापदीसवोच्येदो ॥ १९ ॥ सो गिहत्थो आणसो तेषणसमांजातो अं धातादि पावति । १७४

आदिसहाणो सिहवग्गादियाण वा समीधातो जं पावति, सो वा गिहत्थो आणसो अं कमाइए तेणादिवहारे पावति, अंतरा वा पुदवादीए काए विराइसा, यदियादे तेणहिं वा बद्धो दिभा वा जु-ज्जंतो वा मारितो वा, तादे सयणादिजणो भासति-संजयाण वा-दे तेतो सावयो मारिओ ति । एवं उड्ढाहो । तस्स वा सयणिज्जा पदेासं गच्छेज्जा, नहव्यवस्स वा धोच्छेदं करेज्जा । सो वा पदेा-सं गच्छे वाच्छेदं वा करेज्जा, उम्हा एवमादि, तमहा आहहनयो गेहेज्जा, अण्णया गवेसेज्जा । वितियपदेण गिहत्थाणीते पि गे-रहेज्जा ॥ १९ ॥

असिंवे ओमोपरिए, रायदुट्टे जए व गेअषे । सेहे चरित्तसावय-जए य जयया इमा तत्थ ॥ २० ॥

सक्खेसे पादाए असतीए दुट्टेसेसु वा, असिवाहंते वा गंतुमस-मत्थो, अइथा पायनुमीए अंतरा वा आसवं ओमं वा, एवं राय-उट्टवाहिगभयं वा, सयं गिज्ञाणं कावकं वा, सेइस्स वा तथ सा-गरियं मा सीहेज्जा । चरित्तसावा वा, तथ अणेषणादिया दोसा, सावयमयं वा, तथ एवमादिकारोहंइ इमं जययं करेति ।

अण्णार्हिंति पुराणा-दि पादस्त्येण आणयह पायं । तेहिं च सयमाणीए, गट्ठयं गीतेतरे जयण ॥ २१ ॥

अण्णहणं संदेसो, पुराणस्स संदिंसति । आदिगाहणेणं गिही-ताणुव्वयसावयस्स वा, सम्मदिदिणो वा संदिंसति । पादस्त्ये-ण आणयथ, तेहिं वा अणीता अदि सुव्वं गीयत्था तो गेपहंति, इतरा अगीयत्था तेसु जययं करंति, पुण्यं पडिसेदिता जिंभे भावे तेहिं तेहिं य जदा अचट्टिया तदा गेहंति ।

एसेव कपो गियया, आहारे सेसए य उवकरेओ । पुव्व अवरे य एए, सपज्जवा पत्तं लहुगा ॥ २२ ॥

जो पादे विही भणितो एसेव विधी आहारे, सेसोवगयणे य दट्ठ्यो । सपज्जवा ते, इतरे पुण निपज्जवा, ते अण्यसत्था च-उलहुगा । नि० चू० ११ उ० ।

अभिहणण-अभिहनन-० । वेदनीदरणे, प्रन० १ आअ० द्वा० । पादभ्यामामिसुखेण हनने, प्र० ८ श० ७ उ० । अजि-सुखमागच्छतो हनने, म० ५ श० ६ उ० । आचा० ।

अभिहनणमाण-अभिघ्नन्-वि० । पादभ्यामभिघातं कुर्वति, "खु रचलणचंचु पुनेहिं धरणिअलं अभिहणमायं" जं० ३ बह० ।

अभिहय-अभिहत-त्रि० । आगिसुखेण हतोऽभिहतः । चरखेण घट्टिते, " चउरिंहिया अभिहया वषिथा व्हेंसिया " भाष० ४ अ० । ४० । आचा० ।

अभिहाण-अभिधान-० । अभिधीयते येन तदभिधानम् । नि० चू० १ उ० । संहायाम, विशेष० । शब्दे, विशेष० । नामनि, वि-शे० । अर्थोभिधानप्रत्ययाश्च लोके सर्वत्र तुल्यनामधेयाः वि-शे० । भावे ल्युट् । उच्चारणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । इह त्रिविध-मभिधानं भवति-सत्तामसतां च । सतां यथा जीवाहीनाय, असतां यथा दाशविषाणादीनाम् । आ० चू० १ अ० ।

अभिहाणनेय-अभिधानजेद्-पुं० । काचकप्यनिभेद, विशेष० । अभिहाणहेउकुसल-अभिधानहेतुकुशल-पुं० । अभिधानेषु



शब्धेषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो वक्रोऽभिधानहेतुकुशलः । शब्द-  
मार्गे वातीव सुष्ठु, ४०० ए उ० । ४०० ॥

अभिहित ( य )-अभिहित-त्रि० । वक्रे, आचा० १ सु० =  
अ० ५ उ० ।

अचरि-अचरी-त्रि० । भी-रक्तु । न० त० । शतसूत्राय, अ-  
संकुचितप्रश्नात्तस्या अचरीत्वम् । आच० । सप्तप्रकारभय-  
हिते, आचा० २ अ० १५ अ० १ उ० ३ सु० । सत्यसंपन्ने, आ० १० ।  
वत्येव महत्येपि कार्येऽभिच्यति, ४०० १ उ० । अमीरुनीम कु-  
सम्बिप्य स्तेनोद्ग्रामकादेर्विधां विभीषिकां दर्शयते न वि-  
भेति । ४०० १ उ० । मध्यमाग्रमस्य सूत्रेणानेदे, ४०० ७ उ० ।

अच्युतिर्जि-अच्युक्त्वा-अच्य० । अननुभूयत्यर्थे, आ० ॥

अच्युजंत-अच्युजयमान-त्रि० । अच्युजयत्यर्थे, ४०० २ उ० ।

अच्युक्तजोग-अच्युक्तजोग-त्रि० । न भुक्त्वा जोगा येन स अच्युक्त-  
भोगः । पं० व० १ अ० । अज्ञानगानहृक्त्वा प्रमाजिते कौमार-  
कभाषातिसंबन्धे, नि० ४०० १ उ० ॥

अच्युत्तजाव-अच्युत्तिजाव-पुं० । अच्युतेर्भावेऽभूतिभावः । असंप-  
दभावे, ४०० २ अ० १ उ० ।

अच्युत्तभाषण-अच्युत्तभाषण-न० । अलीकनेदे, यथाऽऽत्मा इवा-  
माकनगुहमात्रः । अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि । घ० २ अचि० ।  
अच्युत्तजिर्मकण-अच्युत्तजिर्मकण-पुं० । न चूनान्यमिश्रकृते  
विद्यते यस्मात्स तथा । प्रसात्सवाविनवभेदे, ४०० ७ उ० । ज० ।

अच्युतेज-अच्युतेज-त्रि० । मेषाः स्युषादिना चर्मवत्, तन्निवे-  
धात्मेघः । म० २ श० ५ उ० । स्युषादिना नेसुमशक्ये, “ त-  
स्यो अमेघा पथका । तं जहा-समप पयसे परमाणु ” ४००  
३ अ० २ उ० ॥

अच्युतेजकवय-अच्युतेजकवय-पुं० । परप्रहरणाभेदावरणे, ज०  
७ श० ए उ० ।

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । सामान्ये अविशेषे, आ० म० द्वि० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अच्युतेज-अच्युतेज-पुं० । अच्युत्तपारणे संयमोपबृहणाधेत्सत्सत्ता-  
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अभारिप्रदाने, प्राणिसातनिवारणे च । पञ्चा० ए विष० । उपा० ।  
४०० । प्रथम० ॥

अभय-अभात्य-पुं० । सहजन्माने मन्त्रिणि, कल्प० ३ क० ।  
संथा० । नि० ४०० । राज्यचिन्तक, मध्य० ५ आश्र० ४०० । नि० ४००  
राज्याधिष्ठायाके, औ० । ज० । ४०० । अष्टादश्यानां प्रकृतीनां म-  
हत्तरे, ४०० ३ उ० ।

अभात्यसङ्क्षयमाह-

सज्जणवपुं पुरवरं, चिंततो अत्येई नरवति च ।

ववद्दरानैतिकुसलो-समथो एयारिसो अहवा ॥

योव्यवहारकुशलो, नीतिकुशलश्च सन् सजनपदं पुत्रवरं नरवति  
च चिन्तयन्नवतिष्ठते, स एतदृशो नवति अभ्यात्यः । अथवा-यो  
राक्षसिपि शिक्षां प्रयच्छति स अभात्यः ॥

तथा चैतदेव स्वसितरं विभाषयिपुराह-

राया पुरोहितो वा, संधिष्ठा उ नगराम्भि दो वि जणा ।

अंतोरे धारिसिया-उमथेयो त्विसिया दो वि ॥

राजा पुरोहितश्च । बाशब्दः समुच्चये । एतौ चाद्यपि जगौ  
(संधिष्ठा उ त्) संघातवन्तौ, परस्परं मरुकावित्यर्थः । नगरे वने-  
ते । तौ च तद्यथावर्तमानावन्तः पुराज्यां निजनिजकलत्रेण धर्षिनी,  
अभात्येन-बद्धाद्यपि क्षिसितौ, निन्द्यपुरस्सरं दारिकृतावित्यर्थः ।  
एव गाथाश्रयाः । ज्ञावार्थः कथामकादशसंभः । तच्छेदश्च-

“ एयो राया, तस्स पुराहितो, तसि दोएई वि जज्जासो परो-  
प्परं जगिणीसो । अथया तसि समुच्चयां जातो । रायभज्जा  
अणइ-मम वस्सो राया । पुरोहित्यभज्जा अणइ-मम वस्सो  
भंजणो । तो पच्छामो कययाप वस्सो पत्तो । ततो पुरोहित्यभ-  
ज्जाए जत्तं उवसाहिया रथो जज्जा जगिणी निमं-  
तिया । रत्ति पुरोहितो भगिसो-नय अंवाइयं कयं,  
जइ मम बरो अमुगो समिज्जइ सि-म, ततो जगिणीए समं  
तव सिरं प्रायण कां उमंति । सो य मे वरो संप्रसो । स-  
एयं तव मूलातो पसायं मग्गामि । पुरोहितो जणइ-अणुग्गमहो  
मेय सि । रायभज्जाए रासो भगिसो-अज्ज रत्ति तव पिट्ठीए विल-  
गितं पुरोहित्यघरं वच्चासि । एया अणइ-अणुग्गमहो मे, तांइ  
सा रायं पछाणिष्ठा पिट्ठीए विलगिता पुरोहित्यघरं गुंतुं पट्ठि-  
या । पुरोहितो वाहणो त्ति कां उमंजे बवो । तासो दो वि जणा-  
सो पुरोहित्यस्स उवरि मयपि भायणं कां उं पुरोहित्यण धरिज्ज-  
माण भायणं भुंजंति । राजा अंजे बवो हयंइसियं करइ । सो-  
सुं गथा रायभज्जा । ततो रथा पुरोहित्यण धरिसियासो सि  
तस्स सिरं मुंथाविया । अमभणं तं सव्वं नायं, वभाए राया पुरो-  
हित्यो य क्षिसितो ॥ ”

अभयवार्थमाह-

छंदाणुवचि तुन्नं, मज्झं पीमंसणा निवे खल्लिणं ।

निंसि गमण मरुग थालं, धरंति जुंजंति तो दो वि ॥

तत्र वा पतिर्मम वा पतिभ्यः प्राणवर्तिन विमशोऽन्यरिंकेण  
जातुं शक्यते । ततो मीमांसापरा सा परीक्षां कर्तुमारब्धा ।  
तत्र राजप्रायया नृपे खलीनमारांयितं, ततो निंसि राक्षी पुरो-  
हित्युदे गमनं, ततो मरुको ब्राह्मणः पुरोहितः शिरसा स्थालं  
धरति । तत्र च इ प्रापि लुज्जाते । एषा गाथाश्रयोऽज्ञान ।  
भावाथोऽन्यतरमेव कथितः ।

अथ कथममायां हावपि नौ शिक्षितवान् १, तत आह-

पदिनेसियरापाणो, मोउमिणं परिज्जेण ह्मिहिं ति ।

धीनिजितो पयसो, नृचा रजं पि प्लेजा ॥

प्रातिवेशिका नाम स्त्रीयान्तर्वर्तिनः प्रत्यर्थिनो राजान इदं भुजा परिमबन् परिमबोत्पादनबुद्ध्या हसिष्यन्ति, न केवलं हसिष्यन्ति किंतु क्षीनिर्जितः प्रमत्त एव इति ज्ञात्वा राज्य-मपि प्रेरयिष्यन्ति, युद्धीयुरित्यर्थः ।

धिं तसि गामनगरा-ण जेसि इत्थीं पणायिगा ते थ ।

धिद्विक्रया य पुरिसा, जे इत्थीं वसं जाया ॥

धिद्विनिश्चयाम्, तेषां ग्रामनगराणां, येषां स्त्री प्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया गायिका । अत्र धियोगे द्वितीया प्राप्ताऽपि बली, प्राकृतत्वात् । तथा तऽपि पुरुषाः धिद्विक्रयाः धिद्विक्रयं प्राप्तवन्तो ये स्त्रीणां वशमायत्ततां जाताः ।

तथा-

इत्थींन्नो बलवं जत्थ, गामेषु नगरेसु वा ।

सो गामो नगरं वा वि, त्विष्यमव विणससइ ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः स ग्रामो नगरं वा क्षि-ग्रमेव विनश्यति । बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकवचनं प्रवर्तति ज्ञापनायः ।

पयसुके राजा पुरोध्या वा पयं मनसि संप्रधारयेत् । यथा-  
'नस्तकं भ्रमिषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः' इति, तत्र आह-

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति सामंतनज्जेसु ॥

तस्यामात्यस्य पुरुषाः कृतवृत्तयः कृताजोविकाः, चतस्रसु दि-  
ष्टु चरा ज्ञानार्थं सामन्तराज्येषु प्रातिवेशिकराज्येषु वसन्ति । त-  
था-सूचकाः, अनुसूचकाः, प्रतिसूचकाः सर्वसूचकाश्च । सूचकाः-  
सामन्तराज्येषु गत्वा अन्तःपुरपालकैः सह मैत्रीं कृत्वा यत्नत्र रहस्यं  
तत्सर्वं जानन्ति । अनुसूचकाः-नगराध्यक्षतरे चारमुपसज्जन्ते ।  
प्रतिसूचकाः-नगरद्वारसमीपे अल्पव्यापारा अवतिष्ठन्ते । सर्व-  
सूचकाः-स्वनगरं पुनरागच्छन्ति, पुनर्यान्ति । तत्र ये सूच-  
कास्ते भूतं दृष्टं वा सर्वमनुसूचकैः कथयन्ति । अनुसूचकाः  
सूचककथितं स्वयमुपसज्जन्तं च प्रतिसूचकैः । प्रतिसूचका  
अनुसूचककथितं स्वयमुपसज्जन्तं च सर्वसूचकैः । सर्वसूचका  
अमात्यस्य कथयन्ति । यथा तस्यामात्यस्य चतुर्विधाः पुरुषाः  
सामन्तराज्येषु वसन्ति, तथा अत्रेहा अपि ।

तथा चाऽऽह-

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

महिद्धा कयविचीया, वसंति सामंतनज्जेसु ॥

अस्या व्याख्या प्राक्वच । यथा च पुरुषाः स्त्रियश्च सामन्तराज्येषु  
समस्तेषु वसन्ति तथा सामन्तनगरेष्वपि राजधानीरूपेषु ।

तथा चाऽऽह-

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति सामंतनगरेसु ।

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ॥

महिला कयविचीया, वसंति सामंतनगरेसु ॥

इदं गायत्र्यमपि पूर्ववत् । यथा च परराज्येषु परनगरेषु च  
पुढयाः स्त्रियश्च वसन्ति, तथा निजराज्ये निजनगरे अन्तःपुरे ।

तथा चाऽऽह-

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

महिद्धा कयविचीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ॥

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ॥

महिद्धा कयविचीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ।

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ॥

पुरिसा कयविचीया, वसंति अंतेउरे रण्णो ॥

स्युग तद्दाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

महिद्धा कयविचीया, वसंति अंतेउरे रण्णो ॥

गाथापदद्वयापि व्याख्या पूर्ववत् । तत्र एवं निजचारपुरुषैः  
महिलाभ्यां राज्ञः पुरोधसश्च निशि वृत्तममास्ये ज्ञातवात् ।  
तदेवं राज्ञोऽपि यः शिक्ताप्रदानेऽधिकारी सोऽमात्य इति । उ-  
कममात्यस्य स्वकृपम् । व्य० १ उ० ।

अभ्युच्च-पुं० । देव, स्या० ।

अमच्छपुञ्ज-अभ्युच्चपुञ्ज-त्रि० । देवाराज्ये तीर्थहृद्वाहै, स्या० ।

अमच्छरि (ए)-अभ्युच्चसर्नि-त्रि० । परसंपद्विधेयिणि, दश० १

चू० । परगुणमादिणि, प्रथ० ४ आश्र० द्वि० ।

अमच्छरिपया-अभ्युच्चरिपया-स्त्री० । मत्सरिकाः परगुणाना-

मसोदा, तज्जावनिषेधोऽमत्सरिकता । भ० ष० १९ उ० ।

परगुणमादितायाम्, औ० ।

अभ्युच्चसर्सांशि (ए)-अभ्युच्चसर्सांशि-त्रि० । मद्यमालसन-

इति, सुत्र० २ सु० २ अ० । अभ्युच्च, अभ्यांसांशि च ।

दश० २ चू० ।

अभ्युच्चद्वि-अभ्युच्चद्वि-पुं० । "मज्जाया स्त्रीमावस्था, न मज्जा-

या अभ्युच्चया, तीर्थ जो वहति सो अभ्युच्चरहो" नि० चू० १

उ० । मर्यादाया अवसारे प्रवर्तकं आचार्ये च । नि० चू० ४ उ० ।

अभ्युच्च-अभ्युच्च-त्रि० । न० ब० । विज्ञानाद्यर्थं कर्तृमशक्ये, "त-

ओ अभ्युच्चो पश्यत् । तं जहा-समय, परसत्, परमाणु" । स्या०

३ उ० ४ उ० । विषयसंख्यावयवाभावात् क्षेत्रपरमाहौ, भ०

२० श० ६ उ० ।

अभ्युच्च-अभ्युच्च-न० । अविद्यमाने, अन्तःपरिच्छेदे च । स्या० ३

उ० ४ उ० ।

अभ्युच्च-न० । मनोविज्ञेयिष्यर्थे, "तिविद्मे अभ्येव पश्ये । तं

जहा-भोतम्येणे णोतयन्नमणे अभ्येणे" । स्या० ३ उ० ३ उ० ।

अविद्यमानान्तःकरणे, दश० । "आयश्च सुणिष्पकम्यां, आयश्च

अभ्येणे जिणे होश्च" अयत्नविशेषात् अन्तःअपनीय अमना अ-

विद्यमानान्तःकरणो जितो भवति । आय० ४ ब० ४ ज० । अ-

संज्ञिनि च, क० प्र० ।

अभ्युच्च-अभ्युच्च-अव्य० । न मनागमनात् । नितरार्थं शब्दार्थे,

सुत्र० २ सु० १ अ० ।

अमयाम

अमयाम-अमनत्राप-त्रि० । न जातुचिदपि भोज्यतया जन्तुनां मनांसि आश्रयति । जी० १ प्रति० । न मनसा आप्यते प्राप्यते चिन्तया यत्तत्तथा । उपा० ८ अ० ।

अमनोऽम-त्रि० । न मनसा अम्यते गम्यते पुनःपुनः स्मरणतो यत्तदमनोऽमम् । अत्यर्थं मनोऽनित्थे, भ० १ श० ५ व० ।

अवनाम-त्रि० । अवनामयतीति अवनामः । पीडाविशेषकारिणि, " अमणुकाशो अमणामशो दुष्काशो " सूत्र० ७ अ० १ अ० ।

अमणुष-अमनोह-त्रि० । मनसाऽनुकूलं मनोहः । न मनोहः मनोहः । आच० ४ अ० । न मनसा हायते सुन्दरतया इत्यमनाहम् । अ० ६ श० ३३ व० । स्वकृपाऽऽशोभने, ( कर्षणादां ) स्या० ३ डा० १ व० । मनःप्रतिकूलं, सूत्र० १ अ० ६ अ० । असुन्दरे, प्रश्न० ५ सम्ब० डा० । आनित्थे, म० १ अ० । स्या० । अशुभस्वभावं, स्या० ८ डा० । विपा० । अमनःप्रहासहेतौ विपाकना दुःखजनकं, जी० १ प्रति० । " अमणुषऽकचमुत्तपूर्यपुरीषा " अमनोहाश्च ते दुकृपयुञ्जन् पृथिकपूर्येषु च पूर्णाश्रिति विग्रहः । इह च दूरुपं विकृपं, पृथिकं च कुथितम् । ( कामयोगाः ) अ० ६ श० ३३ व० । " अमणुसंयुक्तागसंपद्यते तस्स विप्यभोगसदसमहागप या विजयति " अमनोहोऽनित्थे यः शब्दादित्यस्य यः संप्रयोगो योगस्तेन संप्रयुक्तो यः स तथा; स च तथाविधः सद्, तस्यामनोहस्य शब्दादाविश्रयान्शस्त्वन्निस्समवागतश्चापि जयति । विश्रयार्थाविश्रयानुगतः स्यात् । वापीत्युत्तराक्यापेक्षया समुच्चयार्थः । असावातंभ्यानं स्यादिति शेषः, धर्मधर्मिणोरभेदादिति । अ० २५ श० ७ व० । ग० । निरुत्सासाचारौचित्यं संक्षिपे, पं० ७ व० २ डा० । असास्नेयिकं, वृ० ३ उ० । नि० वृ० ।

अमणुषतर-अमनोहतर-त्रि० । अकान्ततरे, अशीततरे च । विपा० १ श० १ अ० ।

अमणुषसमुप्याय-अमनोहसमुत्पाद-त्रि० । न मनोहःमनोहसत्समुत्पन्नम् । तस्मात्तुत्पादः प्राडुभावां यस्य दुःखस्य तदमनोहसमुत्पादम् । स्वकृतासदनुष्ठानाज्जाते दुःखे, सूत्र० १ श० १ अ० ३ उ० ।

अमणुस्स-अमनुष्य-पुं० । देवादी, नं० । रक्षःपिशाचादौ, ( सिक्तान्तकौमुदी ) । ननुसकं, नि० वृ० १ उ० ।

अमन्-अमत्र-न० । ज्ञानते, सूत्र० १ अ० ७ अ० ।

अमम-अमम-त्रि० । अममत्वाहते, कल्प० ६ क० । वृत्त० । पं० सू० । दशा० । निज्ञोऽन्वाह- ( श्री० ) निरभिष्यङ्गाद् अविद्यमानममेत्यभिप्रायः, स्या० ६ डा० । युगविक्रममुपजातिनेदं, ज० ४ वृत्त० । उत्सापरिण्यां भविष्यति द्वादशे तीर्थंकरे, अन्त० ५ वर्गं । प्रव० । ति० । स० । अक्षसंपर्पण्यां जातो नचमो वासुदेवः कृष्णो भारते वर्षे पुष्येऽपु जनपदेऽपु शतशतं नगरं द्वादशसतीर्थंकरो भविष्यति । स्या० ८ डा० । ती० । पञ्चविंशतितमं दिवससुरते च । चं० प्र० १० पाठु० । ज्यो० ।

अममत्सय-अममत्सय-त्रि० । न विद्यते ममत्वं मूर्खो यस्य स अममत्सयः । " दवाहा " । ७ । ३ । ७५ । इति ( हैम ) खेचन कच प्रत्ययः । मूर्खोऽदिति, वृ० १ उ० । निममनाकं, " अममता परिक्लमा, वातरिभ्यमंजोगपरिदीया " पं० ७ व० ४ डा० ।

अमयायागा-अमयीकुर्वति-त्रि० । अस्वीकुर्वति मनसाऽप्यनाद्वयानं, आच० १ श० २ अ० ५ उ० ।

अममणा-अममना-स्त्री० । अनवरतवञ्जमानायां वाचि, उपा० २ अ० । रा० ।

अम्य-अमृत-न० । सुधायाम्, पञ्चा० ३ बिष० । क्षीरोदधि-मयित्, आ० म० प्र० । " अमयमदियेफणजुससकिगासं " अमृतस्य क्षीरोदधिजलस्य मयितस्य यः फेनपुञ्जा विण्कारपूरस्त्वशिक्षाशं नत्समप्रजम् । रा० । न-सू-क। न० त० । मोक्षं, होमावशिष्टं, जले, घृते, अयाचितं वस्तुनि च । परब्राह्मण, न० । मरत्यश्च, त्रि० । विभीतके, स्त्री० । वाच० ।

अम्य-त्रि० । अविहृतौ, " अमशो य होह जीवो, कार्णविवहा जहेव आगासं । समयं च हो मयिचं, मिम्यघडतंनुमाईयं " अमयश्च भवति जीवः । विशेष० । चन्द्रे, देना० १ वर्गं ।

अम्यकदास-अमृतकदाश-पुं० । अमृतपुण्यघटे, " अमयकलसेन अमिसिसे " । आ० म० प्र० ।

अम्यधीस-अमृतधोप-पुं० । काकन्या नगर्याः स्वनामस्थाने राजनि, स च स्वपुत्रं राज्ये स्थापयित्वा धर्मेनशनं प्रतिपन्न इति । संधा० ।

अम्यपिण्दि-अमृतनीपि-पुं० । काञ्चनबाहलकं प्रतिष्ठिते भगवति, ती० ४५ कल्प ।

अम्यतरंगिणी-अमृततरङ्गिणी-स्त्री० । महोपाध्यायश्चीकल्याणविजयगणेशिष्य-सुख्यपण्डितश्चीलाभिविजयगणेशिष्यावन्तस-पण्डितश्चीलाभिविजयगणसन् । ध्यानत्रकपरिगतश्चीनयविजयगणेशचरणकमलसेविना पाण्डितश्रीपद्मविजयगणेशमहोदरेणापाध्याय-श्रीयशोविजयगणसान् विरचितायां नयोपदेशटीकायाम्, नयो० ।

अम्यनिगम-देशी-चर्कं, दे० ना० १ वर्गं ।

अम्यप( ण )-अमृतात्मन-पुं० । धर्ममेघसामथी, डा० २० डा० ।

अम्यफल-अमृतफल-न० । अमृतोपमफले, डा० ९ अ० ।

अम्यवद्वी-अमृतवद्वी-स्त्री० । बर्वाविशेषं, प्रव० ४ डा० । ध० । गुरुच्याय, वाच० ।

अम्यनृप-अमृतनृत्-त्रि० । मातुर्यादिभिर्गुणैः सुधासहोदरे, वृ० २ उ० ।

अम्यरसायाणु-अमृतरसास्वादक-त्रि० । अमृतरसस्यास्वाद्गन्ते जानाति इति अमृतरसास्वादकः । अमृतरसास्वादेवेति, " अमृतरसाऽऽस्वादकः, कुजकरसलक्षितोऽपि बहुकालम् " । पं० ३ विव० ।

अम्यवास-अमृतवर्ष-पुं० । तीर्थेऽङ्गमादौ देवैः कृतायाम-मृतवृष्टौ, प्राच० २ अ० १५ अ० ।

अम्यसाय-अमृतस्नाद-पुं० । अमृतवत् स्वाचोते इत्यमृतस्नादम् । अमृततुल्यं, सम्म० ३ काण्ड ।

अम्यसार-अमृतसार-न० । न विद्यते मृतं मरणं याममृतसावन्तुनां मोक्षः । ते सारयति प्रापयतीति वा । मोक्षप्रतिपादकं, सम्म० ३ काण्ड ।

अमर-अमर-पुं० । देवे, कर्म० ५ कर्म० । आच० । को० । आ० म० । त्रयोदशे श्रावणभेद्युक्ते, कण्ठ० ७ क० । भविष्यत्स्त्रयोविंशत्यानन्तरीयतीर्थंकरस्य पूर्वमञ्जवी, ती० २१ कल्प । सि-

केषु च, तेषामायुषोऽभावात् । औ० ॥ " इमस्स वेव पडिव्ह-  
ण्णाय अमरायइ महासह्नी " ( अमरायइ इत्यादि ) अमरा-  
यते-न मरः सत् इत्ययौवनमयुष्यरूपाऽवसक्तोऽमर इवा-  
चरति अमरायते । आचा० १ श्लो २ अ० ५ उ० ।

अमरकेउ-अमरकेतु-पुं० । विजय ( क्षेत्रे ) तमालहतानामनगयी  
रामः समरन्वन्स्य मन्दावरमज्ज्यां उद्वरसंभवे पुत्रे, वयो० ।

अमरचंद-अमरचन्द्र-पुं० । नागेन्द्रगच्छीये महेन्द्रसुरिशिष्य-  
शाम्भिसुरिशिष्ये, येन गुर्जरदेशाधिपतिसिद्धराजसकाशाह्  
व्यामिशिशुक इति पत्नी लेभ, सिद्धान्तायंवनामा प्रत्यश्च  
व्यरचि । इत्येकोऽमरचन्द्रसुरिः । ( १ )

( २ ) चायटीयगच्छीये जिनदत्तसुरिशिष्ये, येन चतुर्विंशति-  
जिनचरित्रं पश्चान्दायुद्वयपरनामकं महाकाव्यं, बाहभारतं,  
काव्यकल्पलता, काव्यकल्पलतापरिमलः, उन्दारनावली, का-  
लाकलापरच्येयमाद्रये ग्रन्था विद्वच्छिन्तचमत्कृतिकृतो निर-  
मायित्वा । पतस्य शीवकवित्शक्तंमुमुषुः शीललदेवो नाम  
गुर्जरधरत्रीहवरःऽस्मै बहुमानमादात् । अयं च वैकर्मियसंव-  
त्सराणां त्रयोदशशतकेऽवतत । ऊ० इ० ।

अमररा-अमररा-न० । म्यौरभंभे, ध० १ अधि० ।

अमरराधम्म-अमरराधम्म-वि० । तीर्थकरे, पं० व० ४ द्वा० ।

अमरदत्त-अमरदत्त-पुं० । जयधोपशेष्ठिपुत्रे, ध० २० ।

कथानकं पुनरेवम्—

" विद्वत्समसिरिपरकाम्रियं, अत्रकियं बहुसमिद्धलोपरहिं ।  
रथसायरमज्जं पि व, रथणपुरं अरिय वरनयव ॥ १ ॥  
क्यसुगयमयपोसां, पुरसिठी अरिय तथ जयघोसां ।  
जियमुणिविहियपभांसां, सुजसा नमिण से भञ्जा ॥ २ ॥  
अमरानिहाणकुलदे-चयायै दिन्नुं सि तां अमरदत्तां ।  
नागेण ताण पुत्तां, पसञ्चिक्खो सदावेण ॥ ३ ॥  
आजम्मं तर्थाअय-मथवा विस्सिहिययइमववरकुत्तं ।  
पियरेहिं पदमज्जुवण-मरम्म परिणविओ सो उ ॥ ४ ॥  
अह महुसमयम्मि कया-वि अमरदत्तां समिणसंजुत्तो ।  
पुक्ककरं कुञ्जाणं, कीसाहकप समणुत्तो ॥ ५ ॥  
सां कीलता तदियं, तस्स हिट्ठा निपइ मुणिमं ।  
तस्स य पासे परं, रुयमाणं पहियपुरिसं व ॥ ६ ॥  
तो कांसणेण अमरो, आसच्छं तस्स हाउ पुच्छइ ।  
किं जइ ॥ रायसि तुमं १, सगमयं सो वि इय भणइ ॥ ७ ॥  
कणिण्णपुरं सिचुर-सिहिसि बसुपुत्तं इइयाय ।  
आवाइयलक्खेहिं, पयो पुत्तां अइं जाओ ॥ ८ ॥  
सेणुं सि विहियनाम-स्स अइयथा जाव मज्ज उम्मासा ।  
ता सयलविहवसइया, अम्मापियरो गया निहणं ॥ ९ ॥  
तत्पमिइ पालिओऽइं, अहिं सयणेहिं गच्छकरोणेहिं ।  
मम कुञ्जयज्जमविहया, पंचत्तं ते वि संपत्ता ॥ १० ॥  
बहुलोयायं संता-वकारणं विसतइ व्व कमसोऽइं ।  
देइय तुच्चरेण य, पयुक्किमां इभिरं काळं ॥ ११ ॥  
संपइ पुण द्धोवदि, पिडगसमाणा अमायुक्कक्ककरा ।  
मइ देइं जरपमुहा, रोमा बइवे ससुण्णका ॥ १२ ॥  
किं च पिसाओ भूओ, व कांवि मइ अंतरतरा अंगं ।  
पोइइ तइ अरिओ, अइं संं पुणं पि न तरेमि ॥ १३ ॥  
तो जीवियव्यमगो, मगोहसउस्सि जाव अत्ताणं ।  
अत्ताणं आंचंभे-मि ताव पासो वि लहु तुहा ॥ १४ ॥

१५५

इहिं वेरमगाओ, पुरा मप किं कयं ति पुच्छेउं ।

मुणिणां इमस्स पासे, नो मइ ॥ इहं अहं पसां ॥ १५ ॥

जम्माउ वि निययुद्धं, सुमरिय रोपमि इय भणेणुण ।

तेणं पहियनरेणं, नियकुत्तं मुणी पुत्तां ॥ १६ ॥

अह विमहपरसपुआ, किं तु कहिस्सइ इमां सुहासु हि ? ।

सो अमरदत्तपमुहो, एकम्मगणे जणो जाओ ॥ १७ ॥

अइ वज्जियं मुणिणां, भो पहिय । तुमं इमां भवे तइय ।

मगहे गुच्चरगामे, वेधिननामाऽऽसि कुलपुत्तां ॥ १८ ॥

अयादिणं रायगिहं, तुह गच्छंत्तस्स कोवि मग्गमि ॥

मिलिओ पधिआं कमसो, तप घणइत्तु सि सो नाओ ॥ १९ ॥

तं वीसंसिउं रयपोयं, हणिय गहिक्कणं तत्थं सव्वं ।

जा जासि तुमं पुरओ, इरिणा इहियण ताव इओ ॥ २० ॥

पदमं नरप, असरिसिद्धक्खांहे इहिय बह्णुयां ।

तो उव्वट्ठिय इइयं, सो एसां सेण संजाओ ॥ २१ ॥

आं सेणं । तप सइया, पधिआं पधआं मग्गमि सो एसां ।

अणाय तवं काउं, असुरनिकाप सुरा जाओ ॥ २२ ॥

संभरिय पुच्छवइरे-ण तेण हणिया तुहम्मपिउसयणा ।

निपयं पणं च एणियं, जणिया रोंगा तुह सरीरे ॥ २३ ॥

जिआं तइव पासां, पसो सुत्तरे तुहा इवेउं सि ।

सो कुणइ अंतरा अं-तरा य वियं परमघोरं ॥ २४ ॥

तं सां भवभीओ, पधिओ ऽणसां गहिणुं मुणिपासे ।

सुमरंनो नवकारं, जाओ वेमाणियसु सुरो ॥ २५ ॥

इय सुणिय पहियचरियं, अमरो संवेगपरिगओ अइयिं ।

नमिउं विप्रवइ मुणिं, भययं ॥ मइ कइसुं जिणधम्मं ॥ २६ ॥

ध० २० ।

इच्छामि समणुसिद्धिं, ति मणिय नमिउं च सुगुरुचलणवुगं ।

तत्तां समिणुत्तां, गइं पसां अमरदत्तां ॥ एउ ॥

सो पिउणा संलसां, किं वच्छ । विराइयं तप तथ्य ।

तो मित्तेहिं कुत्तां, पुत्तां तस्स सयओ पि ॥ एउए ॥

अइ कुविओ जयघोसां, भणइ उच्छुपु ॥ किं अरे ॥ तुमए ।

मृचु कुलागय सममं, धम्मं धम्मतरं गइयं ॥ १०० ॥

ता मूंच इमं धम्मं, सियभिक्षणं करेसुं निक्कवृणं ।

अणइ तप सव्वं मम, संभासां वि हुं नुत्तुं सि ॥ १०१ ॥

जणइ य कुमरो हे ता-य । एस सुपरिक्खिउण विसुव्वो ।

धम्मा वरकणं पि व, न कुलागयसंभत्ताओ वेव ॥ १०२ ॥

पाणिबहासियचोरि-कुरिइपरजुवइवज्जणपइहाणो ।

पुवावरमविको, धम्मो एसां कइसुत्तां ॥ १०३ ॥

अइ गिपइतो उत्ताम-पणिणं वणिओ जंवे वयणिउओ ।

पडिव्वत्तमभणिणो, न हीसिउज्जो तहाऽइं पि ॥ १०४ ॥

तं सुणिय अग्निणिविओ, सिद्धिं जेपइ रे डुरायार ॥

अं रोयइ कणुसु तवं, न इओ तं भासिउं उखिओ ॥ १०५ ॥

एयं निसामिक्कणं, ससुरेण अणुविओ इमां एयं ।

अइ मइ सुयायै कज्ज, ता जिणधम्मं वयसुं सिक्खं ॥ १०६ ॥

सुत्तुं जिणधम्ममिं, ससं सव्वमवऽणुत्तां पसां ।

एयं चितिय अमरो, विसउज्जप पिउगिह भज्जं ॥ १०७ ॥

अणदिणं जणणीय, भणिओ एसां अइा तुमं वच्छ ॥

ओ रोयइ तुह धम्मो, तं कुणसु वयं व विणवओ ॥ १०८ ॥

किंनु अमरासिंहिणो, कुहवेहिं निक्खिय अणुत्तेसु ।

एयपसायपजवो, तुह जम्मां तो इमां आह ॥ १०९ ॥

अव ! न संपइ कपइ, जिणसुणिवरिणत्तवेधेसि ॥

अमरद्वय

देवगुरु षि मई मे, अष्टौ तद्द पणमण्यपुहा ॥ ११० ॥  
 नो मद्दे तेषु पमोसो, मणयं पि न भिषिषिषमवि किनु ।  
 देवगुरुगुणविभोगा, तेषु उदासत्तणं मं ॥ १११ ॥  
 गयरागदासमोह-सणण देवस्स होह देवत्तं ।  
 तच्चरिधामपदिग्गा-ण दंसणा देवत्तं ॥ ११२ ॥  
 सिषसाहगुणगणनग-खेण सत्थयत्तस्मग्गिरेणेषु ।  
 इह गुरुणां वि गुरुत्तं, होह जहत्तं पसत्तं च ॥ ११३ ॥  
 ता अंच । पणमिष जिणं, ममिउज्जय तिहुवणे वि कह अणो ॥ ११४ ॥  
 नहु रोयह लवणजलं, पीय कीरोहियजलमि ॥ ११५ ॥  
 इय तेषं पदिभणिया, जणणी मोणं अकासि सविसाया ।  
 अह कुविया कुज्जधी, से दंसह मीसण्यसायां ॥ ११६ ॥  
 न य तस्स कि पि पदवह, सत्थिक्कषण्यस्स धम्मनिरयस्स ।  
 वदह पमोसं अहिंयं, तो अमरा अमरदत्तमि ॥ ११७ ॥  
 पच्चक्कीहीउ कया-वि तीरं सो निजुरं इमं अणियां ।  
 रे कूहधम्मगव्विय !, न पणामं मज्ज वि करेसि ॥ ११७ ॥  
 ता इविह हणेमि तुमं, दूढधम्मोसं जणेह अमरो वि ।  
 जह अउयं पि बलत्तं-तो मारिउज्जह न को वि तप ॥ ११८ ॥  
 अह कह विं तं पि तुद्धं, मरियब्बं इहरहा वि ता जाण ।  
 को सद्दंसणममसं, मरलह नवकोसिस्सवतुलहं ॥ ११९ ॥  
 तो अमरा सामरिसा, तस्स सरीरे विउव्वय पावा ।  
 सीसत्थिल्लसवणउदरं-तमिसियाया वेयया तिब्बा ॥ १२० ॥  
 आ इक्का वि ऊ जियं, इरेह नियमेषु इयरपुरिसस्स ।  
 वदसत्तो तद्द वि इमो, पयं चित्ते सिंघित्तं ॥ १२१ ॥  
 रे जीव ! तप पत्तो, सिवगुरुरहपतिष्ण प सत्थाहो ।  
 देवो सिरिअरिदतो, अपत्तपुत्तवो ज्वअमरे ॥ १२२ ॥  
 ता इमिण च्चिय इयिय-द्वियण मरणं पि तुज्जह ज्हकरं ।  
 अउज्जप्यंणिय विमुक्के होसि जियतो वि तमणाहो ॥ १२३ ॥  
 किचित्थिमत्तं च इमं, उक्कसं तुह दंसणे अपत्तमि ।  
 पाविष अणत्तपुग्गल-परियदुहुहस्स नरपसु ॥ १२४ ॥

किञ्च—

पदिक्कूला हवठ सुरा, मायापियरो परंमुहा इंतु ।  
 पीरंतु सरीरं वा-हिणे वि खिलंतु सयणा य ॥ १२५ ॥  
 निवडंतु अवायाओ, गच्छत्तं अत्थं वि केवत्तं इक्का ।  
 मा जाठ जिणे अष्टौ, तनुत्तत्तत्तु तिच्छा य ॥ १२६ ॥  
 इपनिच्छयप्पाहो, तप्पिच्छं नाउ आहिणा अमरा ।  
 तस्सत्त-रंजियमणा, अणेह संहरिय उवसमो ॥ १२७ ॥  
 धमोसि तं महासयं, तं चिय सत्थिउज्जसे तिहुवणमि ।  
 सिरिबीयरायवचणे-जुस्स तुह इय द्वाअसत्ती ॥ १२८ ॥  
 अउज्जप्यंनिई मज्ज वि, सुत्थिचय देवो गुरु वि सो चय ।  
 तत्तं पि तं पमात्तं, अं पत्तिवत्तं तप धीरं ॥ १२९ ॥  
 इय मणिरोय तीप, मुक्का अमरस्स उवरि तुपाय ।  
 परिमहमिंशिय अशिसला, दंसकववा कुणमवुडी ॥ १३० ॥  
 तं दद्ध महच्छरियं, तपियरो पुरज्जो सो सलुत्तवमो ।  
 अमराय वयणेण, जाओ जिण्यसत्तणे जत्तो ॥ १३१ ॥  
 अल्लुरेण पदिद्वेणं, तं धूवा पेसिया पवणहत्तमि ।  
 तपमिह अमरदत्तो, सक्कडंवा कुणह जिणधम्मं ॥ १३२ ॥  
 सुखिरे निम्महदंसणे-सारं पालिय गिहत्थधम्ममिमो ।  
 जाओ पाणयं अमरो, महाविदेहमि सिज्जिदिह ॥ १३३ ॥  
 अमरदत्तचरिचमिदं मुदा,  
 गतमत्तं परिभाषय विचकिनः ।

अजत वर्येणशुकिमुत्तरां,  
 अजत येन महोदयशाशिनः ॥ १३४ ॥ ध० २० ।  
 अमरपरिगहिय-अमरपरिगृहीत-त्रि० । देवैः स्वकीते, इ०३८०  
 अमरप्यभ-अमरप्रभ-पुं० । विक्रमसंस्वसराणां चतुर्दशरातके  
 विद्यमाने प्रकाशरस्तोत्रटीकाकारके कन्याशुभन्धिरस्तोत्रटीका-  
 कारकगुणसागर-गुरु-सामरचन्द्रस्य मुदी, जै० इ० ।  
 अमरवद्-अमरपति-पुं० । देवेन्दे, " अमरवद् माणिज्जे " भ०  
 ३ श० ८ व० । प्रहा० । मल्लिनाथेनाहंता सहानुप्रमजिते हात-  
 कुमारे, हा० ८ अ० ।  
 अमरवर-अमरवर-पुं० । महामहर्षिकदेवैः, तं० ।  
 अमरसागर-अमरसागर-पुं० । अञ्जलगण्डीये कन्याशुसागर-  
 सुरशिष्ये, अयं च उदयपुरनगरे वैकुण्ठीये १६६ वर्षे  
 जन्म लब्ध्वा १७०५ वर्षे प्रव्रज्य १७१४ वर्षे आभ्यतननगरे  
 आचार्यपदवीं प्राप्तः । ततः १७१८ वर्षे अजन्तगरे गच्छेत्तपद्देभे ।  
 ततः सं० १७६२ मिते धवलकपुरे स्वर्गं गतः । जै० इ० ।  
 अमरसुह-अमरसुस-न० । देवसुत्ते, आय० ४ अ० ।  
 अमरसेण-अमरसेन-पुं० । मल्लिनाथेनाहंता सहानुप्रमजिते  
 स्वनामभ्याते हातकुमारे, हा० ८ अ० । स्वनामभ्याते राजा-  
 न्तरे च । दर्श० ।  
 अमरिस-अमरि-पुं० । न-मृ-घञ् । " श्यंतेतसवजे वा " । ८ ।  
 २ । ५ । इति संयुक्तस्यन्त्यञ्जनस्यकारः । प्रा० २ पाद ।  
 मत्स्यविशेषे, आ० म० छि० । महाकदाप्रदे, तस० ३४ अ० ।  
 कल्पे, प्रश्न० ३ आ० छि० ।  
 अमरिमण-अमरिण-त्रि० । अपराधाऽसिद्धिषु, प्रश्न० ४  
 आ० छि० । अपराधिष्णकृतकमे, सं० ।  
 अमसृण-पुं० । प्रयोजनेष्वनलसे, सं० ।  
 अमरिसिय-अमरिपित-त्रि० । अमरिः संजातोऽस्यामरिपितः ।  
 संजातमत्सरविशेषे, आ० म० छि० ।  
 अमल-अमल-पुं० । न विद्यते मल इव मलो निरसर्गनिर्मल-  
 जीवमाश्रिन्यापादनेतुवाद्यप्रकारकं कर्म येषां ते अमलाः ।  
 सिंहेतु, प्रव० ११४ द्वार । निमेलमात्रे, त्रि० । आ० म० प्र० ।  
 अणनदेवस्य सत्तमे पुत्रे, कल्प० ७ हा० ।  
 अमलचंद-अमलचन्द-पुं० । वैकुण्ठीये ११४ वषे जृगृकच्छे  
 विहरति स्वनामभ्याते माणिज्जे, जै० इ० ।  
 अमलावाहण-अमलवाहण-पुं० । विमलवाहने महापद्मतीर्थ-  
 करे, ती० ११ कल्प ।  
 अमला-अमला-स्त्री० । स्वनामभ्यातायां शुकाश्रमहिव्याम,  
 ज० १० श० ५ व० । ती० । स्या० । ( ' अम्याहिसि' ) शब्देऽ-  
 स्मिन्भव भागे १७३ पृष्ठे तपुत्र्यांपरजवावुक्तौ )  
 अमरद्वय-अमरद्वयक-त्रि० । मदीनी अर्थावयव स महार्षिः,  
 महार्षे एव महाधर्कः, न महाधर्कोऽमहाधर्कः । अश्वद्वयस्ये,  
 उच्य० २० अ० ।

अमहद्वय-अमहाधन-त्रि० । अमहद्वय, पञ्च ० १७ विव० ।

अमाइ ( ष् )-अमायिन्-त्रि० । माया अस्यास्तीति मायी । न मायी अमायी । अयं १ उ० । शाब्दपरिहते, प्रथ० ६४ द्वार । कौटिल्यशुष्ये, दश० ७ अ० ३ उ० । सर्वत्र विश्वास्ये, स आलोचनपरिहते । आत्मा० १ अ० १ उ० । " नो पलि-उच्येमाई " स्थाने १० डा० । अयं ० । " आव राया अयं रज्जं, न य बुभारियं कहे तदा माई " । अयं १६ विव० ।

अमाइरूप-अमायिरूप-त्रि० । अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपः । अशेषपञ्चपरिहते, सूत्र० १ अ० १३ अ० ।

अमाइष्ठ-अमायाविन्-त्रि० । मायापरिहते, आत्मा० १ अ० १ अ० ४ उ० ।

अमाइया-अमायाविना-त्रि० । माइयो मायावैस्तदभाव-सत्ता । ( मायात्यग्रे ), निरस्तुक्तताया, स्थाने १० प्रा० ।

अमाणिय-अमान्य-त्रि० । अशुभ्यनाहाकरणादित्येकं, " जथा य माणियो होइ, पञ्च होइ अमाणियो । सिद्धी व कव्येइ लुटो, स पञ्च परिहर्षे " । दश० १ अ० ।

अमाव ( वा ) सा-अमाव ( वा ) स्या-त्रि० । अमा-सह वसतश्चन्द्राकीं यत्र । वस-यत्, एयत् वा । कृष्णपक्षशुद्धिने, तदिने चन्द्राकीं एकराशिष्ठीं ज्वनतः । वाच० ।

एकस्मिन् वर्षे द्वादश अमावस्याः । तद् यथा-

वारस अमावमात्रो पञ्चत्ताओ । तं जहा-सावित्री, पोचव-ती, अस्सोती, कत्तिया, मगमिरी, पोमी, माट्टी, फ-गुणी, चेत्ती, विसाही, जेहामुली, आसाही ।

द्वादश एव अमावस्याः प्रकृताः । तद्यथा-आविष्ठी, प्रौष्ठप-दी इत्यादि । तत्र अविष्ठा अतिष्ठा, तस्यां भवा आविष्ठी-अव-षमासनाविनी । प्रौष्ठपदा उत्तरमात्रपदा, तस्यां जवा प्रौष्ठपदी-भाद्रपदमासनाविनी । अश्वयुजि भवा आश्वयुजी-अश्वयु-ष्मासनाविनी । एवं मासक्रमेण तत्तत्तमासकृपनक्षत्रयोर्याद शोया अपि वक्तव्याः । चं० प्र० १० पाठ० । सू० प्र० ।

सम्प्रानि ( नक्षत्रयोगम् ) अमावश्यावकव्यतायामाह-

द्वान्मास अमावाताओ पञ्चत्ताओ । तं जहा-सावडी पोचव-ती० जाव आसाही । ता सावडीं अमावासा कति एक्ख-चा जोएंति ? ता दोगिण एक्खत्ता जोएंति ? तं जहा-असिलेसा ? महा ३ य । एवं एपरं अभिलावेणं णे-यव्वं । ता पोचिवतीं नोदोषि एक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वफगुणी ? उत्तरा ३ य । असोतिं दोषि । तं जहा-हत्थो ? विचा ३ य । कत्तियं दोषि । तं जहा-साति ? विमाहा ३ य । मगमिरीं तिगिण । तं जहा-अणुरा-हा ? जेहा ३, सूतो ३ य । पोमिं च दोमि । तं जहा-पुव्वासदा ? उत्तरासादा ३ य । माहिं तिषि । तं जहा-अभिर्दे ? समणो ३, धणिट्टा ३ य । फगुणिं दोषि । तं जहा-सतजिमया ? पुव्वपोचवती ३ य । चोणिं तिषि । तं जहा-उत्तरभद्वदा ? रेवती ३, अस्सिती ३ य । वि-

साहिं दोषि । तं जहा-भरणी ? कत्तिया २ य । जेहामुलिं दोषि । तं जहा-रोहिणी ?, मगमिरी ३ य । ता आसा-दी णं अमावासां कति एक्खत्ता जोएंति ? ता तिषि न-क्खत्ता जोएंति । तं जहा-अहा ? पुणव्वसू, सूतो ३ य ।

( उवाचस्येत्यादि ) द्वादश अमावास्याः प्रकृताः । तद्यथा-आविष्ठी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र मासपरिसमापकेन आविष्ठा-नक्षत्रेणोपलक्षितो यः आश्वणो मासः, सोऽप्युपकारात् अविष्ठा-तस्यां भवा आविष्ठी । किमुक्तं भवति ?-आविष्ठी नक्षत्रपरिस-माप्यमानभावणमासभाविनी इति । प्रौष्ठपदी नक्षत्रपरिसमाप्य-मानभाद्रपदमासभाविनी । एवं सर्वेषां ऽपि वाक्याथो प्राधानी-यः ( ता सावित्री यमित्यादि ) ता इति पूर्णवत् । आविष्ठीम-मावास्यां कति नक्षत्राणि युज्यन्ति, कति नक्षत्राणि यथाभागं चन्द्रेण सह संयुज्य आविष्ठीममावास्यां परिसमापयन्ति ? । भगवानाह-(ता दोगिणमित्यादि) ता इति पूर्णवत् । द्वे नक्षत्रे यु-क्तः । तद्यथा-अश्लेषा, मघा च । इह व्यवहृत्यनक्षत्रेण यस्मिन् न-क्षत्रे पूर्णमासी प्रचलति तत आरभ्य अर्धरात्रेण पञ्चदशे नक्षत्रे अमावास्या । तत आरभ्य पञ्चदशे नक्षत्रे पूर्णमासी । ततः आविष्ठी पूर्णमासी किल अत्रेण अविष्ठायां चोक्ता । ततोऽमाव-स्यायामवस्थां आविष्ठाधामश्लेषा मघा चोक्ता । लोके च तिथिगणितानुसारतो नानामास्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि यस्मिन्नहोरात्रे प्रथमतोऽमावस्याऽप्युत् स सकृदो-ऽप्यहोरात्रोऽमावास्यांति व्यवहितयः । ततो मघानक्षत्रमध्ये च व्यव-हारतोऽमावास्यायां आरभ्य, इति नक्षत्रविचाराः । परमार्थतः पुनरिमासमावास्यां आविष्ठीमिमामित्री नक्षत्राणि प्रथमतः परिस-मापयन्ति । तद्यथा-पुनर्वसु, पुष्योऽश्लेषा च । तथाहि-अमावास्या चन्द्रयोगपरिहानार्थं करणं प्रागैवोक्तम् । तत्र नक्षत्रानामा कियन्ते । कोऽपि पुनर्वसु-युगस्यादी प्रथमा आविष्ठाधाममावास्या केन च-न्द्रयुक्तेन नक्षत्रेणोपेता सती समाप्तिमुपयाति ? । तत्र पूर्वाहित-स्वरूपोऽवधार्यराशिः पदपरिमुदूर्ताः, एकस्य च मुदूर्तस्य पञ्च द्वापरिभागः, एकस्य च द्वापरिभागस्य एकः सप्तपरिभाग इतिप्रमाणो भिद्यते । तत एकेन गुरुयने, प्रथमाया अ-मावास्यायाः स्पृष्टत्वात् । एकेन च शुणितं तदेव ज्वलतीति रा-शिस्तावानेव जातः । तनस्तस्माद् द्वापरिभागदूर्ताः, एकस्य च मुदूर्-तस्य पद-व्यवधारिणोऽपि द्वापरिभागः, इत्येवपरिमाणं पुनर्वसु-शोधनकं शोष्यते । ततः पदपरिमुदूर्ताः ततो द्वापरिभागदूर्ताः शुद्धाः, स्थिताः पञ्चात् चतुरश्रव्यारिशात् ४४ । तेन्य एकं मुदूर्-तैमपकृत्य तस्य षापरिभागः कियन्ते, कृत्वा च ते द्वापरि-भागराशिभ्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तपरिः । तेन्यः पद-व्यवधा-रिशात् शुद्धाः, शेषान्तिष्ठन्त्येकपरिभागः । त्रिवावधारितो मु-दूर्तैभ्यः विश्रुता मुदूर्ताः पुष्यः शुद्धः, स्थिताः पश्चात् त्रयोदश मुदूर्ताः । अश्लेषा नक्षत्रं चापार्कक्षेत्रमिति पञ्चदशमुदूर्तममाणं, तत इदमागतमश्लेषानक्षत्रमेकस्मिन् मुदूर्ते, एकस्य च मु-दूर्तस्य चत्वारिंशति षापरिभागेषु, एकस्य च द्वापरिभागस्य सप्तपरिधा त्रिजस्य पदपरिमुदूर्तं भागेषु शेषेषु प्रथमाऽमा-वास्या समाप्तिपण्युक्तति । तथा च बह्व्यति- " ता एपरि णं पंचराहं संवत्कारणं पदमं अमावासां चदे केणं नक्षत्रेषणं जो-एह ? । ता असिलेसाहि असिलेसाणं एको मुदूर्तो चत्तारोसां च वाधद्विभाग, मुदूर्तस्य वाधद्विभागं च सप्तद्विधा वृत्ता सुवचि शुषिया भागा सेसा " इति । यदा तु द्वितीयाऽमावास्या

अभावसौ

चिन्त्यते, तदा सा युगावस्थिति आरभ्य त्रयोदशी । ततः स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ त्रयोदशभिर्मुद्यते । जानानि मुहूर्त्तानामष्टौ शतानि अष्टाव्यंशिकाधिकानि ५५८ । एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चवर्षिणामाः २९ । एकस्य च द्वापदि भागस्य ६२ सत्काः त्रयोदश १३ सप्तपदि ६७ प्राणाः । तत्र—“वसारि व याव्याता, अहं सोऽजा उत्तरासादा” इति वचनात् । चतुर्भिर्होत्रव्याहारिदर्धिकैर्मुहूर्त्तैः— वरव्यवारिशाता द्वापदिभागैकसरापादापर्यन्तानि नक्षत्राणि बुद्धानि, स्थितानि पश्चात् मुहूर्त्तानां चत्वारि शतानि पौरुषोत्तराणि, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशान्चापदिभागः । एकस्य च द्वापदिभागस्य सत्काःषोडश सप्तपदिभागः । ४१६ १३ १३ । तत एतस्मात्त्रिंशि शतानि नवनव्याधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशान्चापदिभागः, एकस्य च द्वापदिभागस्य पद्विंशतिः सप्तपदिभाग ३२९ ३३ ३३ इति शोचनीयम् । ततः षोडशोत्तरं चतुःशतं चतुःशतं चतुर्भिर्नवनव्याधिकानि बुद्धानि, स्थिताः पञ्चाद सप्तदश मुहूर्त्तः । तस्य एकं मुहूर्त्तं शुद्धीत्या द्वापदिभागः कियन्ते । इत्या च द्वापदिभागाराशीं प्रतिचिन्त्यते, जाता एकाशीतिः । तस्याश्चतुर्विंशतिः शुद्धा, स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत् । तस्या रूपैकमादाय सप्तपदिभागः कियन्ते, तस्यः पद्विंशतिः शुद्धा, पश्चादेकोऽर्थावर्त्ते, सप्तपदिभागाराशीं प्रतिचिन्त्यते, जाताहचतुर्दशसप्तपदिभागानि । आगतं पुन्यनक्षत्रम् । षोडशस्य मुहूर्त्तस्यैकस्य च मुहूर्त्तस्य पद्व्यंशानि द्वापदिभागस्यैकस्य च द्वापदिभागस्य चतुर्दशस्य सप्तपदिभागेष्वनिकानेषु द्वितीयां आष्टौममावास्यां वरिसमापयति । यदा तु तृतीया आष्टौममावास्या चिन्त्यते, तदा सा युगादिन आरभ्य पञ्चविंशतिभिर्नक्षत्रैः ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ पञ्चविंशत्या युग्यते, जानानि षोडश शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चविंशदुत्तराते द्वापदिभागः, एकस्य च द्वापदिभागस्य पञ्चविंशतिः सप्तपदिभागः १६५० १३ ३३ । तत्र चतुर्भिर्होत्रव्याहारिदर्धिकैर्मुहूर्त्तैर्नक्षत्रैकस्य च मुहूर्त्तस्य वरव्यवारिशाता द्वापदिभागः प्रथममुत्तरापादापर्यन्तं शोचनकं शब्दम्, स्थितानि पश्चात्मुहूर्त्तानां द्वादशानन्व्यष्टोत्तराणि १२०८; द्वापदिभागैश्च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिः ७९, एकस्य द्वापदिभागस्य पञ्चविंशतिसप्तपदिभागः ३३ । ततोऽष्टमिः नक्षत्रैकोनविंशत्याधिकैः ८१९ मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चविंशत्या द्वापदिभागैः, एकस्य च द्वापदिभागस्य सप्तपदिभागस्य पद्व्यंशानि नक्षत्रपयोयः शुद्धानि । सिंघानि पश्चात्त्रिंशि शतानि नव्यादिव्यधिकानि मुहूर्त्तानाम् ३८९ । एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुष्पञ्चाशद् द्वापदिभागः ३३, एकस्य च द्वापदिभागस्य पञ्चविंशतिसप्तपदिभागः ३३ । ततो भूयास्त्रिभिर्नवनव्याष्टौमुहूर्त्तैः— एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापदिभागैः, एकस्य च द्वापदिभागस्य पद्व्यंशानि सप्तपदिभागैर्निज्जिदाह्वानि रोहिणिफायनानि शुद्धानि स्थितानि, पश्चात् मुहूर्त्तानि अश्रिणीति, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशद् द्वापदिभागानि, एकस्य द्वापदिभागस्य सप्तविंशति सप्तपदिभागः ६० ३३ ३३ । ततोऽश्रिणा मुहूर्त्तैर्भूगणितः शुक्तः, स्थिताः पञ्चाशद् मुहूर्त्तः ५० । ततः पञ्चदशान्नक्षत्रां शुद्धा, स्थिताः पञ्चविंशत् ३५ । आगतं पुनर्वसु नक्षत्रम् । पञ्चविंशति मुहूर्त्तस्यैक-

स्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशति द्वापदिभागस्यैकस्य च द्वापदिभागस्य सप्तविंशति सप्तपदिभागेषु तृतीयां आष्टौममावास्यां परिसमापयति ॥ एवं चतुर्थी आष्टौममावास्यामन्वेषानकृत्वं प्रथमस्य मुहूर्त्तस्य सप्तस्य द्वापदिभागस्यैकस्य च द्वापदिभागस्य एकव्यवारिशाति सप्तपदिभागेषु गतेषु ७ । ४१ । पञ्चमीं आष्टौममावास्यां पुन्यनक्षत्रं त्रिषु मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्विव्यवारिशाति द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तपदिभागेषु गतेषु ३ । ४२ । ४४ परिसमापयति । एकमुहूर्त्तं प्रकर्य एतेनानन्व्यर्थावर्त्तनाभि-  
 भाषेन, शेषमप्यमावास्याजातं नेनव्यम् । विशेषमाह— ( पण्डित्यैर्द्विषा । तं जहा-पुत्र्याकमुणी, उत्तराय वृत्ति ) तत्रैवं सूत्रपाठः—“ता पाठवयं न अभावस्यै कश्चि नक्षत्रता ज्ञापति ? ता दोषिण नक्षत्रता ज्ञापति । तं जहा-पुत्र्याकमुणी, उत्तरायकमुणी च;” इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थः पुनर्दक्षिण-नक्षत्राणि प्रौढपदीममावास्यां वरिसमापयति । तथामा-मत्रा, पुत्र्याकमुणी, उत्तरफाल्गुनी च । तत्र प्रथमीं प्रौढपदीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं चतुर्षु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च द्वापदिभागेषु षोडशस्यै द्वापदिभागेषु एकस्य द्वापदिभागस्य द्वयोः सप्तपदिभागयोः ४ । २६ । २ क्तिङ्कानयोः, द्वितीयां प्रौढपदीममावास्यां पुत्र्याकमुणीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्त्तस्यैकस्य च मुहूर्त्तस्य एकपदं द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य पञ्चदशस्य सप्तपदिभागेषु ७ । ६१ । १५ गतेषु; तृतीयां प्रौढपदीममावास्यां ममामकृत्त्रमकादशस्य मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्दशस्य द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्यावशिष्टानि सप्तपदिभागेषु ११ । ३४ । २८ गतेषु; चतुर्थीं प्रौढपदीममावास्यां पुत्र्याकमुणीनक्षत्रमकविशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वादशस्य द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वाव्यवारिशाति सप्तपदिभागेषु २१ । १२ । ४२ गतेषु; पञ्चमीं प्रौढपदीममावास्यां मघानक्षत्रं चतुर्विंशतिं मुहूर्त्तेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य सप्तव्यवारिशाति द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य पञ्चपञ्चाशति सप्तपदिभागेष्वनिकानेषु २४ । ४७ । १५ परिसमापयति । ( आसौर्द्वि दोगिता । तं जहा-हत्या, चिन्ता वृत्ति ) । अत्रावयवसूत्रपाठः—“ता आसौर्द्वि न अभावस्यै कश्चि नक्षत्रता ज्ञापति ? । ता दोगिण नक्षत्रता ज्ञापति । तं जहा-हत्या, चिन्ता वृत्ति ” एतदपि व्यवहारतः निश्चयतः पुनराहवयुजीममावास्यां च नक्षत्रे परिसमापयतः । तथामा-उत्तरफाल्गुनी, हनवन्वा । तत्र प्रथमामा-मघवयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं पञ्चविंशतिं मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकविंशति द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य त्रिषु सप्तपदिभागेषु २५ । ३१ । ३; द्वितीयां माहवयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं चतुष्पञ्चारिशाति मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्षु द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य षोडशस्य सप्तपदिभागेषु ४४ । ४ । १६ गतेषु; तृतीयां माहवयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तदशमुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनव्यवारिशाति द्वापदिभागस्यैकस्य च द्वापदिभागस्य एकोनविंशति सप्तपदिभागेषु १७ । ३३ । २६; चतुर्थीं माहवयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं द्वादशमुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तदशस्य द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य त्रिव्यवारिशाति सप्तपदिभागेषु १२ । १७ । ४३ गतेषु; पञ्चमीं माहवयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं विंशति मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्विपञ्चाशति द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य पद-

पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३० । ५१ । ५६ गतेषु परिसमापयति ।  
 ( कश्चिन्नं दोग्धि । तं जहा-सार्द्रं, विसादा य स्ति ) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-  
 "ता कश्चिन्नं च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता दोग्धि नक्कत्ता जायेति । तं जहा-सार्द्रं, विसादा य स्ति" एतद्वि  
 ष्यवहारजनयतेन । निश्चयतः पुनर्क्रीणि नक्कत्ताणि कार्ति  
 कीममावास्यां परिसमापयति । तद्यथा-चित्रा, स्वातिविशाखा  
 च । तत्र प्रथमां कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं पौषदशमसु  
 तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य पद्विंशति षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्य  
 षष्टिभागस्य चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु १६ । ३६ । ४ गतेषु; द्वितीयां कार्  
 तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चासु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 नवसु षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य सप्तदशसु षष्टिभा  
 गेषु ५ । ९ । १७ गतेषु; तृतीयां कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्र  
 मष्टसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य चतुरध्वारिंशति षष्ठाष्टिभा  
 गेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ८ । ४४ ।  
 ३०; चतुर्थी कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रयोदशसु सुदूर्त  
 षु, एकस्य च सुदूर्तस्य द्व्यषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य  
 चतुरध्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १३ । २२ । ४४ गतेषु; पञ्चमी कार्ति  
 कीममावास्यां चित्रानक्षत्रमेकादशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागेषु २१ ।  
 ११ । १७ गतेषु; षष्ठी सप्तषष्टिभागेषु ( अमगसिरी तिषि । तं  
 जहा-सप्रदारा, वेदा, सूत्रा य स्ति ) अत्रापि सूत्रालापक एवम्-  
 "ता अमगसिरी च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता तिषि  
 नक्कत्ता जायेति । तं जहा-सप्रदारा, जेत, सूत्रा य स्ति" इति । एतद्वि  
 ष्यवहारतः । निश्चयतः पुनर्क्रीणि त्रीणि नक्कत्ताणि मार्गशीर्षीममावास्यां  
 परिसमापयति । तद्यथा-विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावा  
 स्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्यैकचत्वारिंश  
 ति षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य पञ्चासु सप्तषष्टिभागेषु  
 ७ । ४१ । ५; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमे  
 कादशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य चतुर्दशसु षष्ठाष्टिभागेषु,  
 एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य षष्ठाष्टिभागेषु ११ । १४ । १८; तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां  
 विशाखानक्षत्रमेकादशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 पञ्चाष्टिभागेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य पञ्चाष्टिभागेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 सप्तषष्टिभागेषु २६ । ४९ । १९ गतेषु; चतुर्थी मार्ग  
 शीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशति सुदूर्तेषु, एकस्य च  
 सुदूर्तस्य सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य  
 पञ्चाध्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु २४ । २७ । ४५ गतेषु; पञ्चमी मार्ग  
 शीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति सुदूर्तेषु, एकस्य  
 च सुदूर्तस्य सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य सप्तषष्टि  
 भागेषु ४३ । ० । ५८ परिसमापयति । ( पोसि च दोग्धि । तं जहा-पुष्पासादा य,  
 उचरसादा य स्ति ) तत्रैवं सूत्राला  
 पकः-"ता पोसी च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता दोग्धि  
 नक्कत्ता जायेति । तं जहा-पुष्पासादा य, उचरसादा य स्ति" एतद्वि  
 ष्यवहारतः उक्तम् । निश्चयतः पुनर्क्रीणि नक्कत्ताणि परिसमापयति । तद्यथा-सूर्यं,  
 पूर्वाषाढा, उचरसादा च । तद्यथा-प्रथमां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रमष्टाविंश  
 ती सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य षट्चत्वारिंशति षष्ठाष्टिभागेषु,  
 एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु २८ । ४६ । १६ गतेषु;  
 द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्दशसु सुदूर्तेषु

कस्य च सुदूर्तस्य पञ्चोदविंशती षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष  
 ष्टिभागस्य पञ्चोदविंशती सप्तषष्टिभागेषु २ । १६ । १७; तृतीया  
 यां षष्ठाष्टिभागस्य पूर्वाषाढानक्षत्रमेकादशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 पञ्चोदविंशती सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य त्रयोविंशति सप्तषष्टिभागेषु ११ । ५६ ।  
 ३३ गतेषु; चतुर्थी पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं षट्चदशसु सुदूर्तेषु,  
 एकस्य च सुदूर्तस्य षट्चदशसु षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य  
 षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १५ । ४६ । ४६; पञ्चमी पौषीममावास्यां  
 मूलनक्षत्रमेकादशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य पञ्चाशदु  
 षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य पञ्चोदविंशती सप्तषष्टिभागेषु १६ । ५६  
 अतिक्रान्तेषु परिसमापयति । ( माहि तिषिण । तं जहा-अग्निर्भे, सवषां, धनिजा य स्ति )  
 अत्राप्येवं सूत्रालापकः-"ता माही च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता तिषिण  
 नक्कत्ता जायेति । तं जहा-अग्निर्भे, सवषां, धनिजा य स्ति" एतद्वि  
 ष्यवहारतः । निश्चयतः पुनर्क्रीणि त्रीणि नक्कत्ताणि मार्गशीर्षीममावास्यां  
 परिसमापयति । तद्यथा-उचरसादा, अग्निर्भे, भ्रवणक्ष । तद्यथा-प्रथमां मार्गशी  
 र्षीममावास्यां भ्रवणनक्षत्रं दशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य षष्टि  
 भागेषु १० । १६ । ८ गतेषु; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामजिज्ञक्षत्रं त्रिषु  
 सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य षष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य  
 सप्तषष्टिभागेषु ३ । २६ । २० गतेषु; तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां  
 भ्रवणनक्षत्रं त्रयोविंशति सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्यैकचत्वारिंशति  
 षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य पञ्चाष्टिभागेषु ३३ । ३३ । ३३;  
 चतुर्थी मार्गशीर्षीममावास्यामजिज्ञक्षत्रं षट्सु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागेषु ६ । ३७ । ४७  
 गतेषु; पञ्चमी मार्गशीर्षीममावास्यामुचरसादाक्षत्रं पञ्चविंशती सुदूर्तेषु,  
 एकस्य च सुदूर्तस्य दशसु षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य षष्ठी  
 सप्तषष्टिभागेषु २५ । १० । १६ अतिक्रान्तेषु परिसमापयति । ( फल्गुणी दोग्धि ।  
 तं जहा-सवभिसया, पुनर्क्रीण्वया य स्ति ) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-"ता  
 फल्गुणी च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता दोग्धि नक्कत्ता जायेति । तं  
 जहा-सवभिसया, पुनर्क्रीण्वया य स्ति" एतद्वि ष्यवहारतः । निश्चयतः पुनर्क्रीणि  
 त्रीणि नक्कत्ताणि फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयति । तद्यथा-धनिष्ठा,  
 शर्भनक्षत्रं, पूर्वाषाढा च । तत्र प्रथमां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषाढपदा  
 एकस्मिन् सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य एकत्रिंशति षष्ठाष्टिभागेषु,  
 एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागेषु १ । ३१ । ६ गतेषु; द्वितीयां  
 फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विशती सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 चतुर्दशसु षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य द्व्यषष्टिभागेषु  
 २० । ४ । २२; तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं चतुर्दशसु  
 सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य चतुरध्वारिंशति षष्ठाष्टिभागेषु, एकस्य  
 च द्व्यषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु, १४ । ४४ । ३६;  
 चतुर्थी फाल्गुनीममावास्यां शतषष्टिभागेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य  
 सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागेषु ३ । १७ । ४७;  
 पञ्चमी फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं षट्सु सुदूर्तेषु, एकस्य  
 च सुदूर्तस्य द्व्यषष्टिभागेषु



अभावसा

वापिभागु, एकस्य च दापिभागस्य सत्केतुं द्वापि सप्तप-  
 टिभागु ६ । ४२ । ६२ गंतपु परिस्मापयति । ( चेत्सो-  
 टिगिणु । तं जहा—उत्तरभद्रवाय, रेवई, अस्सिणो य  
 त्ति ) अत्राप्येवं सूत्रालापकः—“ ता विस्तीं पं अभावसां कइ  
 नक्खत्ता जांपति ? । ता तियिणु नक्खत्ता जांपति । तं जहा-  
 उत्तरभद्रवाय, रेवई, अस्सिणो य त्ति” । एतदपि व्यवहारनयम-  
 त् । निश्चयनयमतेन पुनरुक्तिं प्राणिं नक्षत्राणि वैश्रीममावा-  
 स्यां समापयन्ति । तद्यथा—पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रवेली  
 च । तत्र प्रथमां वैश्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्षत्रं समाधि-  
 शन्मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य पद्विंशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च  
 दापिभागस्य दशसु सप्तपटिभागुषु, ३१ । ३६ । १० ;  
 द्वितीयां वैश्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्षत्रं कादशसु मुहूर्ते-  
 षु, एकस्य च मुहूर्तेस्य नवसु द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापि-  
 भागस्य त्रयोविंशतीं सप्तपटिभागुषु ११ । ६१ । २३ ; तृतीयां च-  
 वैश्रीममावास्यां रवेलीं नक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्ते-  
 स्य एकानपञ्चाशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य सप्तत्रिं-  
 शतिं सप्तपटिभागुषु ५ । ४६ । ३७ ; चतुर्थीं वैश्रीममावास्यामुत्-  
 तरभाद्रपदा नक्षत्रं चतुर्विंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य द्वा-  
 विंशतीं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य पञ्चाशतिं सप्त-  
 पटिभागुषु २४ । २१ । ७० ; पञ्चमीं वैश्रीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा  
 नक्षत्रं सप्तविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य सप्तपटिभागु-  
 षु २१ । ४१ । ६३ अतिक्रान्तेषु परिस्मापयन्ति । ( निस्मादि भरणी  
 कलिया इति अत्राप्येवं सूत्रालापः—“ ता विस्तीं पं अभावसां  
 कइ नक्खत्ता जांपति ? । ता दोहिणु नक्खत्ता जांपति । तं जहा-  
 भरणी, कलिया य ” इति । एतच्च व्यवहारतः । नि-  
 श्चयनः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि वैश्रीममावास्यां परिस्मापय-  
 न्ति । तानि चामूनि । नक्षत्रा—रवेली, अश्विनी, भरणी च । तत्र  
 प्रथमां वैशाखीममावास्यामश्विनीं नक्षत्रमश्विंशतीं मुहूर्तेषु, ए-  
 कस्य च मुहूर्तेस्य चत्वारिंशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापि-  
 भागस्य एकादशसु सप्तपटिभागुषु १८ । ४० । ११ ; द्वि-  
 तीयां वैशाखीममावास्यामश्विनीं नक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्तेषोर्येकस्य च  
 मुहूर्तेस्य एकानचत्वारिंशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापि-  
 भागस्य त्रयोविंशतीं सप्तपटिभागुषु २ । ३६ । २३ ; तृतीयां  
 वैशाखीममावास्यां भरणीं नक्षत्रं कादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च  
 मुहूर्तेस्य चतुर्णांशसु द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य  
 अष्टत्रिंशतिं सप्तपटिभागुषु ११ । ५५ । ३० गंतपु; चतुर्थीं वै-  
 शाखीममावास्यामश्विनीं नक्षत्रं पञ्चदशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्-  
 तेस्य सप्तविंशतीं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य एक-  
 पञ्चाशतिं सप्तपटिभागुषु १५ । २७ । ५१ ; पञ्चमीं वैशाखीममा-  
 वास्यां रवेलीं नक्षत्रं मेकांविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य सं-  
 बन्धिने द्वापिभागस्य सत्केतुं चतुष्पटीं सप्तपटिभागुषु १६ । ०  
 ६४ परिस्मापयति । ( जहासूली रोहिणी मिगंसरं कति ) अत्रा-  
 प्येवं सूत्रालापकः—“ ता जहासूलीं पं अभावसां कइ नक्ख-  
 त्ता जांपति ? । ता दोहिणु नक्खत्ता जांपति । तं जहा—रोहिणी, मि-  
 गंसरं च ” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयनः पुनरिति ७ न-  
 क्षत्रं ज्येष्ठासूलीममावास्यां परिस्मापयतः । तद्यथा—रोहिणी,  
 कृत्तिका च । तत्र प्रथमां ज्येष्ठासूलीममावास्यां रोहिणीं नक्षत्र-  
 मेकांविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य पञ्चत्वारिंशतिं द्वापि-  
 भागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य द्वादशसु सप्तपटिभागुषु

१६ । ४६ । १२ गंतपु; द्वितीयां ज्येष्ठासूलीममावास्यां कृत्तिका  
 नक्षत्रं त्रयोविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्यैकांविंशतीं  
 द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य पञ्चविंशतीं सप्तपटिभा-  
 गुषु २३ । १६ । १५ अतिक्रान्तेषु; तृतीयां ज्येष्ठासूलीममावास्यां  
 रोहिणीं नक्षत्रं द्वाविंशतिं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्यैकांविंशतीं  
 द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य एकानचत्वारिंशतिं  
 सप्तपटिभागुषु ३२ । ५५ । ३६ ; चतुर्थीं ज्येष्ठासूलीममावा-  
 स्यां रोहिणीं नक्षत्रं पदसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य द्वाविंशतिं  
 द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य द्विपञ्चाशतिं सप्तपटि-  
 भागुषु ६ । ३२ । ५२ ; पञ्चमीं ज्येष्ठासूलीममावास्यां कृत्ति-  
 का नक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य पञ्चसु द्वापि-  
 भागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य सप्तपटिभागुषु  
 १० । ५ । २५ गंतपु परिस्मापयति । ( ता आसादीं णमित्था-  
 दि ) ता इति पूर्ववत् । आसादीं, णमित्ति वाप्यालद्वारे । कति  
 नक्षत्राणि युज्जन्ति ? । जगवानाह— ( ता इत्यादि ) ता इति  
 पूर्ववत् । प्राणिं युज्जन्ति । तद्यथा—आर्षादीं, पुनर्वसु, पुष्यश्च ।  
 एतदपि व्यवहारतः उक्तम् । परमाधेतः पुनरस्मिन् प्राणिं नक्षत्राणि  
 आसादींममावास्यां परिस्मापयन्ति । तद्यथा—सृगशिरः, आर्षादीं, पुन-  
 र्वसुश्च । तत्र प्रथमांमाघादींममावास्यामार्षादीं नक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु,  
 एकस्य च मुहूर्तेस्य एकपञ्चाशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापि-  
 भागस्य त्रयोदशसु सप्तपटिभागुषु १० । १६ । ३१ ; द्वितीयांमाघादीं-  
 ममावास्यां सूर्यादां नक्षत्रं सप्तविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्-  
 तेस्य चतुर्विंशतीं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य द्वाविं-  
 शतीं सप्तपटिभागुषु २७ । १४ । २६ ; तृतीयांमाघादींममावा-  
 स्यां पुनर्वसुं नक्षत्रं नवसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य द्वयोर्द्वापि-  
 भागुषोर्येकस्य च दापिभागस्य चत्वारिंशतिं सप्तपटिभागुषु  
 ६ । २ । ४० ; चतुर्थीमाघादींममावास्यां सूर्यादां नक्षत्रं सप्तविं-  
 शतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य सप्तविंशतिं द्वापिभागुषु, ए-  
 कस्य च द्वापिभागस्य त्रिपञ्चाशतिं सप्तपटिभागुषु १७ । ३७ ।  
 ५३ गंतपु; पञ्चमीमाघादींममावास्यां पुनर्वसुं नक्षत्रं द्वाविंशतीं  
 मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य पौनश्वासु द्वापिभागुषु २१ । १६ । ०  
 गंतपु परिस्मापयति इति । तदेवं द्वादशानाम्यममावास्यानां  
 चन्द्रयोर्गोपनक्षत्रविधिकरः । सं ० प्र ० पाहु ० उयां ० ।  
 संप्रत्येत्सामिं च कुलादिर्वज्जनामाह—  
 ता सावित्रीं ए अभावसां किं कुलं जांपति, उक्कुलं  
 जांपति, कुडोवकुलं वा जांपति पुच्छा ? । ता कुलं वा जो  
 पति, उक्कुलं वा जांपति, षो लज्ज कुलोक्कुलं, कुडं  
 जांपमाणं महाएकवक्त्रं जांपति, उक्कुलं जांपमाणं अस्मि-  
 ल्त्सा एकवक्त्रं जांपति । ता सावित्रीं ए अभावसां कुडं  
 जांपति, उक्कुलं वा जांपति, कुलेण वा जुत्ता उक्कुलेण  
 वा जुत्ता मार्जिदं अभावसां जुत्तं चि वक्त्रवं सिया, एवं  
 एणव्वं । मगसिरीए ? माहीए २ फग्गुणीए ३ आमा-  
 हीए ४ कुलोवकुलं जाणियव्वं । सेसाणं कुडोवकुलाए-  
 न्णियं जाव कुलोवकुलेण वा जुत्ता आमाही अभावसां  
 जुत्तं चि वक्त्रवं सिया ॥  
 ( ता सावित्रीं समित्थादि ) ता इति पूर्ववत् । आषाढीं आषण-  
 मासजातिनीममावास्यां किं कुलं युनाकि, उक्कुलं युनाकि, कु-  
 लोवकुलं वा युनाकि ? । अगवानाह— ( ता कुलं वैष्यादीं )

कुलमपि युनक्ति, 'वाशशब्दोऽपिशशब्दार्थः' उपकूलं वा युनक्ति । न लभते योगमधिकृत्य कुलोपकुत्रम् । तत्र कूलं कुलसङ्घं नल्लभं भाविष्ठाममावास्यां युञ्जन्मघानकृत्रं युनक्ति । एतच्च व्यवहारत इत्येव । इयवहारदो हि गतायामप्यमावास्यायां बर्तमाना-  
 धामपि च प्रतिपदि योऽशोरात्रो म्ने भ्रमावास्यायां संबन्धः स सकलोऽप्यशोरात्रोऽमावास्यायै व्यवहित्यते । तत्र एव व्यवहारतः भाविष्ठधाममावास्यायां मघानलक्षत्रसंज्ञबाहुकम्-कुलं युञ्जन् मघानकृत्रं युनक्तौति । परमाधेतः पुनः कुलं युञ्जन् पु-  
 धनकृत्रं युनक्तौति प्रतिपत्तव्यम्, तस्यैव कुलप्रसिद्ध्या प्रसि-  
 दस्य भाविष्ठधाममावास्यायां संज्ञवात् । एतच्च प्रागेव भावितम् । एवमुत्पलस्युधमपि व्यवहारनयमनेन युनक्तोऽपि परिभाबनीयम् । उपकूलं युञ्जन् अश्लेषानकृत्रं घातौति । संत्युपसंहारमाह-  
 ( ता सार्वावर्धौ णमित्यादि ) यत उक्तप्रकारेण द्वाभ्यां कुलोप-  
 कुत्राभ्यां भाविष्ठधाममावास्यायां चन्द्रयोगः सम्भ्रितः, न कुलो-  
 पकुले, न ततः भाविष्ठधाममावास्यायां कृत्रमपि 'वाशशब्दोऽपिश-  
 शब्दार्थः' युनक्ति; उपकूलं वा युनक्ति इति वक्तव्यं स्यात् । य-  
 दि वा कुलेन वा युक्ता, उपकुलेन वा युक्ता सती भाविष्ठध-  
 मावास्या युकेति वक्तव्यं स्यात् । ( एव नैयव्यमिति ) एवमु-  
 क्तेन प्रकारेण शेषमप्यमावास्यायाज्ज्ञानेनैवव्यम् । नवरं मार्गशी-  
 र्थ्यां माध्यां फाल्गुण्यामाषाढ्यां च कुलोपकुलं जगत्तव्यम्, वा-  
 षाढ्यां त्वमावास्यानां कुलोपकुलं नास्ति, ततो न वक्तव्यम् । सं-  
 प्रति पाठकुमुद्रहाय सुभासपाका दर्थ्यते- "ता पौट्टुर्धं एं अमा-  
 वासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ ? ।  
 ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं  
 जोएमाणं उवकुलं नो जोएइ, उवकुलं जोएमाणं पुववाकण्णुणी  
 जोएइ । ता पौट्टुर्धं एं भ्रमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं  
 वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता पौट्टुवया भ्रमा-  
 वासा जुत्त सि वत्तव्यं सिया । ता आसोर्धं एं भ्रमावासं किं  
 कुलं जोएइ, उवकुलं जोएइ, कुलोवकुलं जोएइ ? । ता क्कं वा  
 जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं जोएमा-  
 णं वित्ता नक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणं इधनक्खत्ते जो-  
 एइ । ता आसोर्धं एं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जो-  
 एइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता आसोर्धं भ्रमावासा  
 जुत्त सि वत्तव्यं सिया । ता कथियं एं भ्रमावासं किं कुलं जोए-  
 इ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ ? । ता कुलं  
 वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, नो लभइ कुलोवकुलं । कुलं जोएमा-  
 णं वित्ता नक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणं सातिनक्खत्ते  
 जोएइ । ता कथियं एं भ्रमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा  
 जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कथिर्धं भ्रमावा-  
 सा जुत्त सि वत्तव्यं सिया । ता मग्गसिर्धं एं भ्रमावासं किं  
 कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ ? । ता  
 क्कं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ, कुलं  
 जोएमाणं मूलनक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणं इजानक्खत्ते  
 जोएइ, कुलोवकुलं जोएमाणं भणुराहानक्खत्ते जोएइ । ता मग्-  
 गसिर्धं एं भ्रमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलो-  
 वकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कुलोवकु-  
 लेण वा जुत्ता जुत्त सि वत्तव्यं सिया " इत्यादि । निश्चयतः पुनः  
 कुह्लादिद्योजना प्रागुक्तचन्द्रेण योगमधिकृत्य स्वयं परिज्ञानी-  
 या । सं ० प्र ० १० पाठो । " पंच संवत्परिचयं युगे वावर्द्धि भ्र-  
 मावासाभो " युगे पञ्च संवत्सराः, तत्र त्रयञ्चान्द्राः, तेषु पद्विंशद्

भ्रमावास्या भवन्ति, द्वौ वाजिचर्कितौ संवत्सरो, तत्र पद्विं-  
 शतिर्भ्रमावास्याः । सं ० १३ सम् ० ।

अथैवंप्रकृत्योः कियन्त्योऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्णमास्याः ?-  
 इति युगे तद्व्यवसर्गव्याप्ताह-

तस्य खलु इमाभो वावर्द्धि पुष्पिमाभो, वावर्द्धि भ्रमावा-  
 साभो पञ्चमाभो । एए कसिणा रागा वावर्द्धि, एए कसि-  
 णा विरागा वावर्द्धि, एए चठ्वीसे पव्वसते, एवं चठ्वीसे  
 कमिणारागविरागसए । ता जावइयाए पंचवइ संवत्तराए  
 समयया एएए चठ्वीसिणं सतेणं ऊणगा एवतिया एं  
 परिमिता अमंसेज्जा देसरागविरागसमया जवंतीति जत्थ  
 चठ्वीसे समयसए तस्य वावर्द्धिसमए कमिणो रागो, वावर्द्धि-  
 समए कसिणो विरागो, तव्वं उज्जयपक्खया ।

( तथा खलु इत्यादि ) युगे युगे खलित्वा एवैवंप्रकृत्या द्वाव-  
 ष्टिः पौर्णमास्याः, द्वावष्टिश्चामावास्याः प्रकृताः । तथा युगे चन्द्रम-  
 स एते अनन्तरोदितस्वकथाः कृत्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वावष्टिः,  
 अमायास्थानां युगे द्वावष्टिसंख्याप्रमाणत्वात्, तास्वैव चन्द्रमसः  
 परिपूर्णरागसंभवात् । एते अनन्तरोदितस्वकथा युगे चन्द्रमसः  
 कृत्स्ना विरागा सर्वोत्पन्ना रागाजाया द्वावष्टिः, युगे पौर्णमासी-  
 नां द्वावष्टिसंख्यात्मकत्वात्, तास्वैव चन्द्रमसः परिपूर्णविराग-  
 संभवात् । तथा युगे सर्वसंख्यया एकं चतुर्विंशत्याधिकं पव्वसत-  
 म् ; अमावास्यापौर्णमासीनामेव पवंशव्यस्य चाच्यत्तव्यम् ; तासां  
 च पृथक् पृथक् द्वावष्टिसंख्यानामेकत्र भौल्लेने चतुर्विंशत्याधि-  
 क्यतत्वात् । एवमेव युगमध्ये सर्वसंख्ययया चतुर्विंशत्याधिकं  
 कृत्स्नरागविरागसुशब्दम् । ( ता जावइयाणमित्यादि ) यावन्नः  
 पञ्चानां चन्द्राभिर्चर्कितकथाणां संवत्सराणां समयया एकेन चतु-  
 र्विंशत्याधिकेन समययानेन ऊनका एवावन्तः परिमिता असंख्या-  
 ता देशरागविरागसमया भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमशांतं, तत्र  
 द्वावष्टिसमयेषु कृत्स्नो रागः ऽप्यष्टिसमयेषु कृत्स्नो विरागः,  
 तेन तच्चर्जनमित्याख्यातम्, मयति गम्यते । जगद्वचनमेतत्सस्य-  
 क्क श्रक्येम् । सं ० प्र ० १३ पाठो ।

सम्प्रत्यमावास्याविषयं चन्द्रक्षत्रयोगं सूर्यनक्षत्रयोगं च  
 प्रतिपिपादयिषुः प्रथमामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतसि एं पंचवइ संवत्तराणां पदमं भ्रमावासं चंदे  
 केणं एक्खत्तेणं जोएति ? । ता असिलेसाहिं, असिलेसाणं ए-  
 क्को मुहुत्तो, चचाइसिं च वावर्द्धिभागा मुहुत्तस, वावर्द्धिजागं  
 च सत्तद्धिदां द्वेत्ता द्वावर्द्धि बुधिणया जागा सेसा । तं समयं  
 च एं मूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? । ता असिलेसाहिं चैव,  
 असिलेसाणं एक्को मुहुत्तो, चचाइसिं वावर्द्धिजागा मुहुत्तस,  
 वावर्द्धिजागं च सत्तद्धिदां वेत्ता द्वावर्द्धि बुधिणया जागा सेसा ।

" ता एतसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह- ( ता  
 असिलेसाहिं इत्यादि ) ता इति पूर्ववत् । ता अश्लेषाभिः सह सं-  
 युक्तचन्द्रः प्रथमामावास्यां परिसमापयति, अश्लेषानकृत्रस्य  
 च पदतारकत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम् । तदानीं च प्रथमामा-  
 वास्यापरिसमाप्तिबेलायामश्लेषानकृत्रस्य एको मुहुत्तः, चवार्ति-  
 शब्द द्वावष्टिभागा मुहुत्तस्य, द्वावष्टिजागं च सप्तपष्टिधा क्षिप्त-  
 पदपष्टिचूर्णिका भागाः शेषाः । तथाहि-स एव भुवराशिः

६६ । ५ । १ प्रथमाऽभावास्या किल संप्रति चिन्त्यमाना वर्तते, इत्येकेन गुणयते, एकं च गुणितं तदेव भवतीति तावन्निरुद्धाः जातः । तत एतस्माद्—“ वाचीसं च मुहुत्वा,नवालीसं वि स-  
विभागा य । एवं युगणस्यस्य ए, सादृश्यं हृषह पुष्प ॥११॥  
इति वचनाद्वाद्वादिशतिसुहृताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशद्वादिभागा इत्येवं प्रमाणं शोधनकं शोच्यते । तत्र षट्च-  
ष्टिसुहृत्संभ्यां द्वाविंशतिसुहृताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् षतुष्व-  
त्वारिंशत् ४७ । तेभ्य एकं मुहूर्त्तमाकृष्य तस्य द्वाविंशतिभागाः  
कुताः, ते द्वाविंशतिभागाश्चिन्त्ये प्रकल्प्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिः ।  
तेज्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः, शेषास्तिस्रस्यैकविंशतिः । त्रिच-  
त्वारिंशतौ मुहूर्त्तज्यस्त्रिंशत्ता पुन्यः शुद्धः, स्थिताः पश्चात् षयो-  
द्श सुहृत्ताः, अनेष्टपानकृत्रं चार्द्धक्रेत्रमिति पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाण-  
म् । तत इदमागतम्—अनेष्टपानकृत्रस्य एकस्मिन्सुहृते चत्वारिं-  
शतिसुहृत्संभ्यं द्वाविंशतिभागेषु, एकस्य च द्वाविंशतिभागेस्य सप्तषष्टि-  
धा त्रिभ्रस्य षट्पष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमाभावास्यां परिसमाप्ति-  
सिमुपगच्छति । संप्रत्यस्यामेव प्रथमाभावाभावास्यायां स्यंन-  
कृत्रं पुच्छति—( तं समयं च णमित्यादि ) सुगमम् । प्रगवा-  
नाह—(ता अस्मिलेसाह्मि चैव इत्यादि ) इह य एवामाभावास्या-  
चन्द्रनक्षत्रयोगविषयं भ्रूषराशिः, यदेव शोधनकं, स एव  
स्यंनकृत्रयोगाभ्रूषराशिः, तदेव शोधनकमिति । तदेव स्यंन-  
कृत्रयोगेऽपि नकृत्रं, तदेव च तस्य नकृत्रस्य नकृत्रशेषमिति ।  
तदेवाह—अनेष्टपानियुक्तः स्यः प्रथमाभावास्यां परिसमापयति ।  
तस्यां च परिसमाप्तिवेलायां अनेष्टपानांको मुहूर्त्तः, एकस्य  
च मुहूर्त्तस्य चत्वारिंशद्वादिभागाः, एकस्य च द्वाविंशतिभा-  
गस्य सप्तषष्टिधा कृत्वा षट्पष्टिष्णित्वा भागाः शेषाः ।

द्वितीयामावास्याविषयं सूत्रमाह—

ता एतेसि यं पंचण्डै संबच्छराणं तेषं अभावसां चं-  
दे केणं यखलचेणं जोएति । ता उत्तरार्द्धे फगुणी-  
दिं, उचरानं फगुणीं यं चत्वालीसं मुहुत्वा, पणतीसं च  
बावद्विजागा मुहुत्तस्य, बावद्विभागं च सचद्विहा षेत्ता  
पणण्टि च्चुणिया जागा सेसा । तं समयं च यं सुरे के-  
णं यखलचेणं जोएद् पुच्छा ? । ता उत्तरार्द्धे चैव  
फगुणीदिं, उचरानं फगुणीं चत्वालीसं मुहुत्वा तं चैव ०  
जाव पणण्टि च्चुणिया जागा सेसा ॥

(ता एतस्मि णमित्यादि ) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्तरार्ह-  
मित्यादि ) उचरान्यां फाल्गुनीन्यां युक्तान्तरं द्वितीयामावा-  
स्यां परिसमापयति । तदानीं च द्वितीयामावास्यापरिसमाप्तिवे-  
लायामुत्तरयोः फाल्गुन्योऽन्येत्वारिंशद् मुहुत्ताः, पञ्चदशद्वाविं-  
शतिभागा मुहूर्त्तस्य, द्वाविंशतिभागे च सप्तषष्टिधा त्रिधा तस्य  
सप्तषष्टिषाः द्वाविंशतिभागाः शेषाः । तथादि—स एव भ्रूष-  
राशिः ६६ । ५ । १ द्वाभ्यां गुणयते, जातं द्वाविंशदधिकं मुहुत्तौ-  
नं शतम् । एकस्य मुहूर्त्तस्य च्चविंशतिभागा दश, एकस्य च  
द्वाविंशतिभागेस्य सप्तषष्टिधा त्रिभ्रस्य श्रौ श्रौंशकान्जौ १३२ ।  
१० । २ । तत्र प्रथमतः पुनर्वसुशोधनकं शोच्यते—द्वाविंशदधि-  
कमुहूर्त्ततात्वाद् द्वाविंशतिसुहृताः शुद्धाः, स्थितां पश्चात्चोत्तर-  
कृत्वा च ते द्वाविंशतिभागा द्वाविंशतिभागाश्चिन्त्यन्ते, जाता  
द्विसप्ततद्वाविंशतिभागाः । तेभ्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः । स्थिताः

पश्चात्षट्चत्वारिंशतिः नवोत्तराद्यं मुहुत्तंशतात् विश्रुता पुन्यः शुद्धः,  
स्थिताः पश्चादेकोनाशीतिः । ततोऽपि षट्चदशभिर्मुहुत्तैरुत्तरैषा  
शुद्धा, स्थिताः पश्चात्षुःषष्टिः, ततोऽपि विश्रुता मया शुद्धा, स्थि-  
ताः अष्टविंशतिः । ततोऽपि विश्रुता पूर्वोफाल्गुनी शुद्धा, स्थिताः  
पश्चात्षट्चत्वारः, उत्तरफाल्गुनीनकृत्रं च चार्द्धक्रेत्रमिति पञ्च-  
त्वारिंशत् मुहुत्तप्रमाणम् । तत इदमागतमुत्तरफाल्गुनीनकृत्रस्य  
चन्द्रयोगमुपागतस्य चत्वारिंशति मुहुत्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य  
पञ्चदशति द्वाविंशतिभागेषु, एकस्य च द्वाविंशतिभागेस्य सप्तषष्टिधा-  
त्रिभ्रस्य षट्चषष्टौ श्रौणिकाभागेषु शेषेषु द्वितीयामावास्या-  
समाप्तिं याति । संप्रत्यस्याममावास्यायां स्यंनकृत्रं पुच्छति—  
( तं समयं च णमित्यादि ) सुगमम् । भगवानाह—(ता उच-  
रार्द्धे इत्यादि ) ता इति पूर्वैवत् । उचरान्यामेव फाल्गुनीन्यां  
युक्तः स्योः द्वितीयामावास्यायां परिसमापयति । तदानीं च  
द्वितीयामावास्यापरिसमाप्तिवेलायामुत्तरयोः फाल्गुन्योऽन्येत्वारिं-  
शद् मुहूर्त्ताः । “ नं चैव जाव ति ” वचनादेकस्य च मुहूर्त्तस्य  
पञ्चदशद्वाविंशतिभागाः, एकस्य च द्वाविंशतिभागेस्य (पण्टि च्चु-  
णिया भागा सेस ति ) एतच्छोभयोरपि चन्द्रस्यैवेन्नक्षत्रयोग-  
परिहानदेतोः करणस्य समानतयावसेयम् ।

तृतीयामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एतेसि यं पंचण्डै संबच्छराणं तेषं अभावसां चं-  
दे पुच्छा ? । ता इत्येणं, इत्यस्य चत्वारि मुहुत्ता, तीसं बाव-  
द्विभागामुहुत्तस्य, बावद्विजागं च सचद्विहा षेत्ता चउसद्वि-  
चुणिया जागा सेसा । तं समयं च यं सुरे केणं यखलचेणं  
जोएति पुच्छा ? । ता इत्येणं चैव । इत्यस्य णं तं चैव चंदस्त-  
( ता एतस्मि णमित्यादि ) सुगमम् । भगवानाह—( ता इत्येण-  
मित्यादि ) इस्तेन युक्तान्तरं नृतुतीयामावास्यां परिसमापयति ।  
तदानीं च इस्तेनक्षत्रस्य चत्वारो मुहुत्ताः, मिश्रश्च द्वाविंशतिभागा  
मुहूर्त्तस्य, द्वाविंशतिभागे चैकं सप्तषष्टिधा त्रिधा तस्य सत्काः  
तुषष्टिष्णित्वा भागाः शेषाः । तथादि—स एव भ्रूषराशिः  
६६ । ५ । १ तृतीयेत्या अभावसास्याः संप्रति चिन्त्येति त्रि-  
जिगुणयते, जातमहनक्षत्राधिकं मुहूर्त्तानां शतम् । एकस्य च मु-  
हूर्त्तस्य पञ्चदश द्वाविंशतिभागाः, एकस्य च द्वाविंशतिभागेस्य त्रयः  
सप्तषष्टिभागाः । १७८ । १५ । ३ । तत एतस्माद्द्विसप्तषष्टि-  
केन मुहूर्त्तशतेन षट्चत्वारिंशता च मुहूर्त्तस्य द्वाविंशतिभागेः पुनर्व-  
स्वादीयुत्तरफाल्गुनीन्यां चिन्त्येति नक्षत्राणि शुद्धाणि, पश्चात्षट्च-  
त्वारिंशत् पञ्चदशतिमुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकविंशत्द्वाविंश-  
तिभागाः, एकस्य च द्वाविंशतिभागेस्य त्रयः सप्तषष्टिषाः २५ । ३ ।  
३ । तत प्रागतं इस्तेनकृत्रस्य चन्द्रेण सह योगमुपागतस्य  
चतुर्षु मुहुत्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य विश्रुतां द्वाविंशतिभागेषु, एक-  
स्य च द्वाविंशतिभागेस्य षतुषष्टिषा, सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीयामा-  
वास्यायां परिसमापयति । अश्वेव स्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह—  
( तं समयं च णमित्यादि ) सुगमम् । भगवानाह—( ता इत्ये-  
णं चैव ति ) इस्तेनैव नक्षत्रेण युक्तः स्योऽपि तृतीयामावासा-  
यां परिसमापयति । एतच्छोभयोरपि करणस्य समानतयाव-  
सेयम् । एवमुत्तरस्योयोरपि ऋष्यम् । तथैव—“ इत्यस्य चत्वारि  
मुहुत्ता, तीसं च बावद्विभागामुहुत्तस्य, बावद्विजागं च सप्त-  
द्विहा षेत्ता चउसद्विचुणिया भागा सेसा ” इति ॥

संप्रति द्वादशामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतसि षं पंचाहं संवच्छराणं पुवालसमं अभावामं चंदे केणं नक्खलेणं जेएति पुच्छा ? । ता अदाहिं, अदाणं चत्तारिं मुहुत्ता,दस च वावट्टिभागा मुहुत्तस,वावट्टिजागं च सत्तच्छिहा वेत्ता चउपणं चुणिया जागा सेसा । तं समयं च णं सरे केणं एकखलेणं जेएति पुच्छा ? । ता अदाए चव । अदाए जं चव चंदस्म, तं चव ॥

( ता एतसि षमिन्धादि ) सुगमम् । जगवानाह-( ता अदाह-दिमियादि ) आर्द्धयुक्तवन्दो द्वादशीममावास्यां परिसमापयति । तस्मात् आर्द्धायाश्चत्वारो मुहुर्ताः, दश च मुहुर्तस्य द्वापदिभागाः, द्वापदिभागं च सप्तपदिधा क्तिवा चतुष्पञ्चाशत्कृणिकामागाः शयाः । तस्मादि-स एव प्रचरणादिः ६६ । ४ । १ इत्ययमावास्या चिन्त्यमाना वर्तते इति द्वादशमिगुण्यते, जातानि सप्तपदिनां दिनव्ययधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षड्द्विपदिभागाः, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वादश सप्तपदिभागाः ७६२ । ६० । १२ । एतस्माच्चतुर्भिः शनैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षड्चत्वारिंशत् द्वापदिभागैः पुनर्वस्वादिभ्योसरायादापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पञ्चात्त्रिंशत्तानि पञ्चाशदधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य चतुर्दश द्वापदिभागाः, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वादश सप्तपदिभागाः ३५० । १४ । १३ । तन्स्मिन् शनैर्नवोत्तरे मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापदिभागैः, एकस्य च द्वापदिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तपदिभागेर्जिज्जदादिनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थिताः पञ्चाच्चत्वारिंशत्मुहुर्ताः, एकस्य च मुहुर्तस्य एकचत्वारिंशद् द्वापदिभागाः, एकस्य च द्वापदिभागस्य त्रयोदश सप्तपदिभागाः ४० । ५१ । १३ । तन्निश्चयता मुहुर्तमैगुणशर-शुद्धं, स्थिताः पञ्चादश मुहुर्ताः, शेषं तथैव १०४ ? । १३ । तत आगतमार्दानसत्रस्य चन्द्रेण सह संयुक्तस्य चतुर्षु मुहुर्तेषु, एकस्य च दशसु द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तपदिभागेषु ४ । १० । ५४ द्वादशी अभावस्था परिसमाप्तिर्भयति । संप्रति सूर्यविषयं प्रश्नमाह-( तं समयं च षमिन्धादि ) सुगमम् । जगवानाह-( ता अदाए चव ) आर्द्धयैव युक्तः सूर्योऽपि द्वादशीममावास्यां परिसमापयति । शेषपाठावयवेषु अतिद्वादशाह- अदाए जं चव चंदस्म, तं चव च चन्द्रस्य विषये आर्द्धायाः शेषयुक्तम्, तदेव सूर्यविषयेऽपि व्यक्यम् ॥ अदाए चत्तारिं मुहुत्ता, दश वा वावट्टिभागा मुहुत्तस, वावट्टिजागं च सत्तच्छिहा वेत्ता चउपणं चुणिया भागा सेसा " इति ।

चरमचापदिनमामावास्याविषयं प्रश्नमाह-

ता एतसि षं पंचाहं संवच्छराणं चरिमं वावट्टि अभावामं चंदे केणं एकखलेणं जेएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस षं बावीसं मुहुत्ता, गायालीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस सेसा । तं समयं च षं सरे केणं एकखलेणं जेएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा चरे, पुणव्वसुस षं बावीसं मुहुत्ता, गायालीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस सेसा ।

( ता एतसि षमिन्धादि ) सुगमम् । जगवानाह-( ता पुणव्वसु-

या इत्यादि ) ता इति पूर्वेषु । पुनर्वसुना युक्तवन्दोश्चरमां द्वापदिनमामावास्यां परिसमापयति । तस्मात् च चरमद्वापदिनमामावास्यापरिसमाप्तिवशात् पुनर्वसुनकृतस्य द्वाविंशतिमुहुर्ताः, षड्चत्वारिंशच्च द्वापदिभागाः मुहुर्तस्य शेषाः । तथाहि- स एव प्रचरणादिः ६६ । ५ । १ इत्ययथा शक्यते, जातानि मुहुर्तानां चत्वारिंशच्चत्वारिंशत्तानि दिनव्ययधिकानि, एकस्य च मुहुर्तस्य द्वापदिभागानां त्रिणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वापदिसप्तपदिभागाः ४०६६ । ३२० । १३ तन एतस्माच्चतुर्भिः शनैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षड्चत्वारिंशत् द्वापदिभागैः प्रथमशतानकं शुद्धम् ; जातानि षड्चत्वारिंशत्तानि पञ्चाशदधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य द्वे शते चतुष्पदिपरिके द्वापदिभागानाम्, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वापदिसप्तपदिभागाः ३६४० । २६४ । ६३ । तन्नेऽजिज्जदादिपञ्चाशत्तानि सत्तच्छिहापर्यायविषयं शोधनकम् । अष्टौ शतानि एकानिदशत्यधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य चतुर्विंशतिद्विपदिभागाः, एकस्य च द्वापदिभागस्य षट्षष्टिसप्तपदिभागाः ०१० । ३४ । ६६ इत्येवं प्रमाणं चतुर्निर्गुण्यित्या शोच्यते । स्थितानि पञ्चात्त्रिंशत्तानि चतुःसप्तत्यधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य चतुष्पदिपरिके शते द्वापदिभागानाम्, एकस्य च द्वापदिभागस्य षट्षष्टिसप्तपदिभागाः ३७४ । १६४ । ६६ । तता भूयस्मिन् शनैर्मुहुर्तानां नवोत्तरेः, एकस्य च मुहुर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापदिभागैः, एकस्य च द्वापदिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तपदिभागैः ३०६ । ३४ । ६६ अजिज्जदादिनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थितानि पञ्चात्सप्तपदिमुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षोडश-द्वापदिभागैः ६७ । १६ । तन्निश्चयता मुहुर्तमैगुणशरः, पञ्चदश-भिराष्टौ शुद्धा, स्थिताः पञ्चात्त्रिंशत्तानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षोडश द्वापदिभागाः २५ । १६ । तत आगतं चन्द्रेण सह संयुक्तं पुनर्वसुनकृतं द्वाविंशतौ मुहुर्तेषु, एकस्य च मुहुर्तस्य षड्चत्वारिंशत्तानि द्वापदिभागेषु, शेषेषु चरमां द्वापदिनमामावास्यां परिसमापयति । सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह-( तं समयं च षमिन्धादि ) सुगमम् । जगवानाह-( ता पुणव्वसुणा चवत्ति ) सूर्यः पुनर्वसुना चैव सह योगमुपागतश्चरमां द्वापदिनमामावास्यां परिणमति । शेषे आर्द्धशामाह-( पुणव्वसुस षं बावीसं मुहुत्ता इत्यादि ) एतच्च प्राग्ब्रह्मचरिणम् । चन्द्रमसः सूर्यस्य अभावस्थाविषये नक्षत्रयोगपरिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वात् । च० प्र० १० पादु० ।

संप्रति कियन्तु मुहुर्तेषु गतेषु अभावस्थातोऽनन्तरा पौर्णमासी, कियन्तु वा मुहुर्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावास्या ? इत्यादि निरूपयति-

ता अभावामात्रो षं पुषिणमासिणी चत्तारिं वायाले मुहुत्तसते, गायालीसं वावट्टिजागं मुहुत्तस अहिताति व-देजा ; ता अभावामात्रो षं अभावामात्रो अद्दा पंचासति मुहुत्तसते, तीसं च वावट्टिजागं मुहुत्तस अहिताति व-देजा ; ता पुषिणमासिणीत्रो षं अभावामा चत्तारिं वायाले मुहुत्तसते तं चव, ता पुषिणमासिणीत्रो षं पुषिणमासिणीं अ-द्दा पंचासति मुहुत्तसते, तीसं च वावट्टिजागं मुहुत्तस अहि-ता० एत षं एवए चंदे मासे; एत षं एवए समदो जुगे ॥

( ता अमरावासाभ्रो शुभित्वादि ) सुगमम् । नवरं अमरावा-  
 स्यावा अनन्तरं चन्द्रमासस्यार्द्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अन-  
 नतरं तस्मात्सलेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमरावास्यायाश्च अ-  
 मावास्या परिपूर्णेन चन्द्रमासेन, यौगमास्या अपि पौर्णमासी  
 परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति येषांका मूदृसंसंख्या । उपसं-  
 हारमाह—( एस गमित्यादि ) एष ऋषी मूदृत्तशतानि पञ्चाशी-  
 त्यधिकानि विशाख शार्पदिभामा मूदृसंसंख्येति, एतावान् एता-  
 वत्प्रमाणश्चन्द्रमासः । तत एतावत्प्रमाणं शकलं खपरुपं युगं ;  
 चन्द्रमासप्रमितं युगं शकलमेतदित्यर्थः । अं ३० १३ पाहु० ।

पूर्णिमानक्षत्राद् अमरावास्यायाम्, अमरावास्यानक्षत्राच्च  
 पूर्णिमायां नक्षत्रस्य नियमेन संक्षम्यमाह—

जया एं भेते । सावित्री पुषिमा जवइ तथा एं माह्री  
 अमरावासा भवइ, जया एं भेते । माह्री पुषिमा जवइ तथा  
 एं सावित्री अमरावासा जवइ ? । हुंता, गोयमा । जया  
 एं सावित्री ० तं वेच वलत्तं । जया एं भेते । पोहवई पुणिए-  
 मा जवइ तथा एं फग्गुणी अमरावासा जवइ, जया एं  
 फग्गुणी पुषिमा भवइ तथा एं पोहवई अमरावासा जवइ ? ।  
 हुंता, गोयमा । तं वेच एवं । एतेषां अजिल्लावेण्णं इमाओ  
 पुषिमाओ अमरावासाओ णेअव्वाओ । अस्सिणी पुषिमा  
 वेत्ती अमरावासा, कसिगी पुषिमा विसाही अमरावासा,  
 मगसिरी पुषिमा जेह्मावली अमरावासा, पोसी पुषिमा  
 आसाही अमरावासा ।

( जया एं भेते । इत्यादि ) यदा भदन्त । आविष्टी अविष्टानक्षत्र-  
 युका पूर्णिमा भवति तदा तस्या अर्धार्धकनी अमरावास्या मार्धा  
 मघानक्षत्रयुका भवति । यदा तु मार्धा मघानक्षत्रयुका पूर्णिमा  
 भवति तदा पाश्चात्या अमरावास्या आविष्टी अविष्टानक्षत्र-  
 युका भवतीति काश्च प्रश्नः ? । भयवान्माह—( हुंतेति ) जय-  
 नि । तत्र गौतम । यदा आविष्टीत्यादि, तदेव वक्तव्यं, प्रश्नेन समा-  
 नोत्तरत्वात् । अयमर्थो—इह व्यचहारनयमनेन यस्मिन्नक्षत्रे पौर्ण-  
 मासी भवति तत आरज्य अर्धार्कने पञ्चदशं चतुरदशं वा नक्षत्रे  
 नियमतोऽमरावास्या, ततो यदा आविष्टी अविष्टानक्षत्रयुका  
 पौर्णमासी भवति तदा अर्धार्कनी अमरावास्या मार्धा मघानक्ष-  
 त्रयुका जयति, अविष्टानक्षत्रादारज्यं मघानक्षत्रस्य पूर्वं चतुर्द-  
 शत्वात् । अत्र सर्वप्रकृतिचन्द्रप्रकृतिवृत्तयस्तु मघानक्षत्रादारज्य  
 अविष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वादिति पाठः, तेनात्र विचार्यम् ।  
 एतच्च आयुषामसमधिकृत्य भावनीयम् । यदा भदन्त । मा-  
 र्धा मघानक्षत्रयुका पूर्णिमा भवति तदा आविष्टी अविष्टानक्ष-  
 त्रयुका पाश्चात्या अमरावास्या भवति, मघानक्षत्रादारज्यं पूर्वं  
 अविष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । इदं च माघमासमधिकृत्य  
 भावनीयम् । यदा भदन्त । श्रौष्ठप्रदी उत्तरभाद्रपदायुका पौर्ण-  
 मासी भवति तदा पाश्चात्या अमरावास्या उत्तरफाल्गुनीनक्षत्र-  
 युका जयति, उत्तरभाद्रपदादारज्यं पूर्वैमुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य  
 पञ्चदशत्वात् । एतच्च भाद्रपदमासमधिकृत्य अत्रसंयम् । यदा  
 चोत्तरफाल्गुनीनक्षत्रयुका पौर्णमासी भवति तदा अमरावास्या  
 श्रौष्ठप्रदी उत्तरभाद्रपदपदेना जयति, उत्तरफाल्गुनीमारज्यं पूर्वै-  
 मुत्तरभाद्रपदानक्षत्रस्य चतुर्दशत्वात् । इदं च फाल्गुनमासमधि-  
 कृतयोक्तम् । एवंभूतेनाजिल्लावेण्णं इमाः पूर्णिमा अमरावास्याश्च न-

तथ्याः । यदा आविष्टीपूर्णिमा अविष्टीनक्षत्रोपेता भवति तदा  
 पाश्चात्यानन्तरा अमरावास्या चैत्री विष्टानक्षत्रयुका भवति, अ-  
 विष्टया आरज्यं पूर्वं विष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । एतच्च व्यच-  
 हारनयमधिकृत्योक्तमवसेयम् ; निश्चयत एकस्यामप्याश्रयुगमा-  
 सत्प्रभिव्यामरावास्यायां विष्टानक्षत्रासंभवात् । एतच्च प्रमेय  
 दर्शितम् । यदा च चैत्री विष्टानक्षत्रोपेता पौर्णमासी भवति  
 तदा पाश्चात्या अमरावास्या आविष्टीनी अविष्टीनक्षत्रयुका  
 भवति, एतदपि व्यचहारतः । निश्चयत एकस्यामपि चैत्रमास-  
 भावित्यामरावास्यायामविष्टीनक्षत्रस्यासंजवात् । एतदपि सूत्र-  
 माश्विनचैत्रमासावधिकृत्य प्रबुद्धम् । यदा च कार्तिकी कृत्त-  
 कानक्षत्रयुका पौर्णमासी भवति तदा वैशाकी विद्याखानक्षत्र-  
 युका अमरावास्या भवति, कृत्तिकातोऽर्धार्कं विशाखायाः पञ्च-  
 दशत्वात् । यदा वैशाकी विद्याखानक्षत्रयुका पौर्णमासी जव-  
 ति तदा ततोऽनन्तरा पाश्चात्याऽमरावास्या कार्तिकी कृत्तकान-  
 क्षत्रोपेता जयति, विद्याखानः पूर्वं कृत्तिकायाः चतुर्दशत्वात् ।  
 एतच्च कार्तिकवैशाखमासावधिकृत्योक्तम् । यदा च मार्गशीर्षी  
 मृगशिरांयुका पौर्णमासी भवति तदा ज्येष्ठावली ज्येष्ठामूलन-  
 क्षत्रोपेता अमरावास्या, यदा ज्येष्ठामूली पौर्णमासी तदा मार्ग-  
 शीर्षी अमरावास्या । एतच्च मार्गशीर्षज्येष्ठामासावधिकृत्य भाव-  
 नीयम् । यदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुका पौर्णमासी तदा आषाढी  
 पूर्वाषाढानक्षत्रयुका अमरावास्या जयति, यदा पूर्वाषाढानक्षत्रयुका  
 पौर्णमासी भवति तदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुका अमरावास्या जय-  
 ति । एतच्च पूर्वाषाढामासावधिकृत्योक्तमितं । अन्तर्नि मासा-  
 देमासपरिसमापकानि नक्षत्राणि । अं ७ वक्त्वा० ।

अभि ( मे ) ज्ञ-अभेय-त्रि० । अभिताम्नेकवस्तुयोगात् क्रय-  
 विक्रयनिषेधाद् वा ( कल्प० ४ क्त्वा० ) अविष्टामन्वदात्तये मगरा-  
 हौ, अं ३ वक्त्वा० । अविष्टामानमात्ये, अं ११ हा० ११ उ० ।

अभि ( मे ) उज्ज-अभेय-न० । न० त० । अगुविष्टये, स्था०  
 १० ग० । विष्टायाम्, तं० । " अभिज्येण शिचोस्ति न जाणह  
 कण विसिक्तो " । अं ३० द्वि० ।

अभि ( मे ) उभृपुष्प-अभेयपूर्वपुष्प-त्रि० । विष्टावृत्ते, तं० ।

अभि ( मे ) जगम्य-अभेयम्य-त्रि० । अभेयं प्रचुरमासिञ्चि-  
 ति । गुधामके, तं० ।

अभि ( मे ) जगरस-अभेयपरस-पु० । विष्टारसे, तं० ।

अभि ( मे ) जगसंजय-अभेयसंभृत-त्रि० । विष्टासंभवे, तं० ।

अभि ( मे ) उज्जुकर-अभेय्योकर-पुं० । उच्चावानिकरकल्पे, षो०  
 १ विब० ।

अभित्त-अभित्त-न० । महितसायके, स्था० ४ ग० ४ उ० ।  
 आचा० । ( ' पुरिसजाय ' शब्देऽस्य अनुभेदो दृष्टव्यः )

अभिय-अभुत्त-त्रि० । अमरधर्मिणि, विभो० । मरणभावे, आ०  
 म० द्वि० । तपस्ये, आ० ४ अ० । " वर्षास्तु लवणममृतं, शारदं  
 जलं गोपयञ्च ह्रमेन । शिशिरं चामलकरसेन, पूतं वसन्ते  
 शुद्धमान्ते " ॥ १ ॥ सू० १ कु० १ अ० १ उ० ।

अभित्त-त्रि० । परिमाणरहिते, अं ३ अधि० । अपरिदोषे, आ०  
 चू० १ अ० । अनन्ते, असंख्येयं वनस्पतिवृत्तियर्वाजीवकृष्णार्दी च

“केवली पुरचिमेणं नियं पि जायह, अभियं पि जायह ” । म० ४०० ४ ७० । केवलज्ञाने च । विशे० ।

अभियगङ्-अभितनति-पुं० । द्राक्षिणायो विष्णुमारुक्के, प्र० ३ श० ७ ७० । स० । प्रज्ञा० । स्वनामक्याते मापुत्रसंघीये माघचसनाकार्यशिक्षे दिगम्बरजैनाचार्ये, स च वैश्वमीये १०५० वर्षे अजयत् । येन धर्मपरीक्षा-सुभाषितरत्नसंदोहना-मानां च मन्थौ निमित्तौ । जै० ६० ॥

अभियपद्-अमृतचन्द्र-पुं० । कुन्दकुन्दाचार्यकृतसमयसारप्र-  
न्योपरि 'आत्मक्याति' नाम्न्याः टीकायाः, तथा प्रबन्धसार  
टीका-पञ्चल्लिकायाः-तत्त्वाध्याय-पुरुषार्थसङ्गुपाय-स-  
स्वश्रीपिकादिग्रन्थानां च कारके वैश्वमीये द्वाषष्टपुत्ररत्नमरा-  
तके ( ६६२ ) विद्यमाने आचाये, जै० ६० ।

अभियणायि( ण )-अभितज्ञानिन्-पुं० । अभितं च तद् ज्ञानं  
चाभितज्ञानम्, तद्यस्यास्ति सां०ऽभितज्ञानि० । आ०म०प्र० । सचञ्च, स० ।  
अपरिशेषज्ञानिनि, अनन्तज्ञानिनि च । आ० चू० १ अ० ।  
केवलिनि, पं० चू० ।

अभियपणंते नाम्, तं तेसि अभियणाणियो तो ते ।

तं जेण ज्येयमाणं, तं चाणंते जज्जो नेयं ॥ १०१० ॥

अनन्तत्वाभिमानुमशक्यममितं केषज्ञानसङ्गणं ज्ञानं, तत्पद्यं  
विद्यते, ततोऽभितज्ञानिनस्ते । कथं पुनः केवलज्ञानस्थानन्यम् ? ।  
इत्याह-तत्केवलज्ञानं, येन कारणेन ज्येयमानं भवते, ज्ञानय-  
ज्ञेयानुवर्तित्वात् । तच्च ज्ञेयं सर्वमपि यतोऽनन्तमतः केव-  
ज्ञानस्थानन्यमिति ॥ वि० १० ॥

अभियतेयसूरि-अभितेजःसुरि-पुं० । स्वनामक्याते सुरिजेदे,  
“ पर्यासि अभियतेयसुरीणं अंतिय सहजायय पव्वहञं दयं वि  
सेसकारणं तेण भाणयं ” । दृशे० ।

अभियय्य-अमृतजृत्-न० । जृतशब्द उपमायैः । परमपदहेतु-  
त्वाज्जराभरणविधिघ्नोक्तत्वेनाऽमृतनुष्ये जितवचने, “जिण-  
वयणसुभासियं अभियय्यं ” । आतु० ।

अभियमेह-अमृतमेय-पुं० । दुष्पददुष्प्रमाते बर्षिणि चतुर्थे  
महाभेदे, जं० ।

चतुर्थमिधककल्पतामाह-

तसि च एं घयमेहुंसि सचरत्तं णिवातितांसि समाणं-  
सि एत्थ एं अभियमेहे णामं महामेहे पाउज्जाविस्सह,  
भरह्पमाणमिसे आयायेणं जाव वासं वासिस्सह, जे एं  
भरहे वासे रुक्खगुच्छगुम्मलयवङ्घिततणपव्वगदरितगओ-  
सहिपवालंजुरमारुपे तणवणफइए जणइसह ॥

( तसि इत्यादि ) तस्मिन् घृतमेधे सतराजं निपतति सति, अथ  
प्रस्तावेऽमृतमेधो नाम यथायेनाम महाभेदेः प्रादुर्भविष्यति  
बर्षिष्यति इति पर्यन्तं पूर्ववत् । यो मेधो प्ररते वर्षे वृक्षगुच्छ-  
गुहमलतावल्लयः, तुष्यानि प्रतीतानि, पर्वणा इष्यादयः, हरि-  
तगिनि दुर्वादीनि, शौषधः शात्यादयः, प्रवासाः पक्ष्याः, अहू-  
राः शायादिर्वाजसूच्य इत्यादीनि तुष्यवन्त्यतिफायिकान्  
बाधवन्त्यतिफायिकान् जनविष्यतीति । जं० ३ वङ्ग० ।

अभियसरसोवम-अमृतसरसोपम-वि० । अमृतसेन रसस्यो-  
पमा यत्र तदमृतसरसोपमम् । सुधाऽऽस्वाद्यमसुरे, “लेसाणं  
( तीयेकत्ताम ) अभियसरसोवमं आसि ” । आ० म० प्र० ।

अभियवाहण-अभितवाहन-पुं० । श्रीचाराहदिष्णुमारुक्के,  
स्था० २ ग्रा० ३ स० । म० । प्रज्ञा० । स० ।

अभियासणिय-अभितासनिक्-पुं० । अचञ्जालने, सुदुष्टुङ्कः  
स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, अनेकान्यासनानि संवमाने,  
कटप० ६ श० ।

अभिल-अभिलि-न० । ऊर्णायके, ध० २ अधि० । दृश० । नि०  
चू० । भाषा० ।

अभिलकनु-अम्लेच्छ-पुं० । आर्ये म्लेच्छभाषाऽनभिज्ञे, सूत्र० १  
श्रु० १ अ० २ उ० ।

अभिला-अभिला-खी० । अनेमिनायस्य प्रथमशिष्यायाम,  
स० । पत्निकायां द्रुस्वमहिष्यायाम्, श्रु० १ उ० ।

अभिक्षाण-अम्हान-वि० । अमक्षिने, औ० । नि० चू० ।

अभिलाय-अस्तान-वि० । न स्थायते शीघ्रं तदिति । चिर-  
ममक्षिने, नि० चू० २ उ० ।

अभिक्षायमहदाय-अम्हानमाप्यदापन-न० । अम्हानपुष्प-  
दामनि, म० ११ श० ११ उ० । विपा० ।

अभिक्षिय-अभिक्षित-वि० । असंसक्ते, विशे० । अनेकराख-  
संबन्धीनि सूत्राययेकत्र मीलवित्वा यत्र पठति तन्मिलितम् ।  
असदृशधाम्यमेलकवत् । अथवा परावर्तनामस्य यत्र एदादि-  
विच्छेदां न प्रतीयते तन्मिलितम्, न तथा अभिलितम् । मिलित-  
द्वेषविमुक्ते सूत्रयुते, अतु० । पं० चू० । ग० । आमीलितं यद् प्र-  
थान्तरवर्तिभिः पदैरभिहितं, यथा-सामायिकसूत्रे दृशयैकालि-  
कोत्तराध्ययनादिपदानि न द्विपिती । श्रु० १ उ० ।

अमुद्-अमोचिन्-वि० । अमोचनशक्ति, श्रु० ४ उ० । “ अमुद्  
समुत्ते वि जोण सुए ” पं० भा० । पं० चू० ।

अमुक्कुरणाय-अमुक्कुर्यते-वि० । अमुक्ता पूर्णता येन तत्र  
अमुक्कुर्यते । पूर्णे, ध० २ अधि० ।

अमुग-अमुक्-वि० । अदृश-अकच् । उत्त्वाम्बे कस्य गः ।  
ग्रा० १ पाद । अदृशव्यार्थे अज्ञातनामकत्वे विवक्षितेऽर्थे,  
“ अमुगंदि ओठं ” अमुकस्मिन् भवतु । प्रश्न० २ आश्च० ग्रा० ।  
“ अमुयं गामं पञ्चामो, तद्य द्वां तिषिं वा विदसो अन्धिस्सामो-  
मो ” । आ० म० द्वि० । प्रब० ।

अमुगम-अमुक्-वि० । अविद्यमानमुक्ते, अतु० ।

अमुक्चिय-अमूर्च्छित-वि० । न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः । सुत्र० १  
श्रु० १० अ० । दृश० । आहारादौ मूर्च्छामकुर्वति, पं०व० २ द्वार ।  
पिपरेने शब्दाविषु वा वृद्धे, दृश० ५ अ० १ उ० । आवा० ।

अमुगा-अहृद्-पुं० । अहं, मूलं च । श्रु० १ उ० ।

अमुणिय-अज्ञात-न० । नास्ति मुणितं ज्ञातं यत्र तदमुणित-  
म् । ज्ञानविकले, महत् २ आश्च० ग्रा० ।

अमुक्-अमुक्-वि० । सांकेत्यापारप्रवृत्ते सकर्मणि, स्था० १० ज० ।  
अमूर्त्त-वि० । अकपिषि, आव० ४ अ० ।

अमुत्त-अमूर्त्त-न० । मूर्त्तत्वाभायसमाभियतत्वे, क्तव्या० २  
बन्धा० । “ मूर्त्तिं दधाति मूर्त्तत्वं-ममूर्त्तत्वं विपर्यदयात् । ”

अमुत्सव

मर्षिः कपरसगन्धस्पर्शादिसन्निवेशता, तस्या धारणस्वभावात्  
मृष्टत्वं, मृष्टस्वभावाः, तस्माद्यदिपरीतं तदमृष्टत्वं, अमृष्ट-  
स्वभावाः । इत्या० १३ अध्या० ।

अमुत्सि-अमुत्सि-स्त्री० । अमुत्सिमांसागतः, न सुकिरमुत्सिः । संसार-  
सुखाभिज्ञाये, आतु० । सन्नोभतायां बहिःश्रे गौणपरिग्रहे, प्रअ०  
५ आ३० ह्रा० ।

अमुत्सिपगम्—अमुत्सिमार्गं—न० । न विद्यते सुकरशेषकर्मप्रच्यु-  
तिरङ्गणया मार्गः सम्यग्ज्ञानज्ञानचारित्र्यात्मको यस्मिस्तदमु-  
त्सिमार्गम् । अथमंपके विभङ्गस्थाने, सूत्र० ३ सू० १ अ० ।

अमुय-अस्मृत-त्रि० । मनोऽपेक्षया स्मृतिमनागतं, प्र० ३  
हा० ६ उ० ।

अमुयग-अमुतक-त्रि० । अवाह्याभ्यन्तरपुत्रलरचितावयवशरी-  
रिणि जीवे, स्या० । "अमुयगा जीवेन" देवानां बाह्याभ्यन्तर-  
पुत्रसादानविरहेण वैकियवतां दर्शनात् बाह्याभ्यन्तरपुत्रलर-  
चितावयवशरीरो जीव इत्यभ्यवसायवत् पञ्चमं विभङ्गज्ञा-  
नम् । स्या० ७ उ० ।

अमुसा-अमुषा-अव्य० । सत्ये, सूत्र० १ सू० १० अ० ।

अमुह-अमुस्त्र-त्रि० । निरुत्तरं, व्य० ९ उ० ।

अमुहरि ( ण )—अमुस्वरिन्-त्रि० । अवाचाले, उक्त० १ अ० ।

अमुद-अमुद-त्रि० । आविद्युते, दश० १० अ० । सन्मांसे,  
सूत्र० १ सू० १४ अ० । तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

अमुदगाण-अमुदज्ञान-त्रि० । यथास्थितकोने, आ० म० ह्रि० ।

अमुददृष्टि-अमुददृष्टि-स्त्री० । अमुदा तपोविद्याविद्यादिकु-  
त्तारिकदृष्टंशेनऽप्यमोहव्यभवावादावचलिता, सा च दृष्टश्च  
सम्यग्ज्ञानममुददृष्टिः । प्रव० ६ उ० । बुद्धिमत्कृतार्थिकदृ-  
शेनऽप्यव्यगतमेवास्मदृष्टंशेनमिति मोहविरहिततायं बुद्धेः, उक्त०  
२ अ० । अमुदबुद्धिसंपेक्षे, मृष्टाने स्र आस्माभिनि मुदः । न  
मूढाऽमुदस्तस्य दृष्टिः । याथातथ्यदृष्टेः, नि० चू० १ उ० । बाल-  
तपस्वितपोविद्याऽनित्यवदृशेनैने मूढा स्वकपात्र चलिता दृष्टिः  
सम्यग्ज्ञानरूपेण यस्याऽस्ती अमुददृष्टिः । ग० १ अवि० । अ० ।  
पञ्चा० । दश० ।

इदानीं अमुददृष्टि ति दारं—

मृष्टाने स्म मस्मिन्निति मुदः, न मूढाऽमुदः । अमुददृष्टि,  
याथातथ्यदृष्टिरित्यर्थः ॥

अहा सा भवति तदा जपणति-

योगविहा इह्मि०, पूयं परवादिणं च ददृष्टं ।  
जस्य यः सुखदं दिदं, अमुददृष्टिं तगं वैति ॥ २६ ॥  
(योगविहं त्ति) साणव्यगारा, का ता । (दक्षिं त्ति) इह्मि०-द-  
स्वोमं, नै पुण विज्जामं ततोमं तं वा विज्जामं आसासगण-  
विमंगणसादि येभ्यंभ । (पूयं त्ति) असणपाणसादिमसादिमव-  
त्थकंभसादी-अस्स वा अं पाडयं तेषु सं पाडित्तान्ण पूया ।  
केसि सा ? (परवादिणं त्ति) जणसासणवदत्तपरा, ने य परि-  
व्वाययत्तपन्निवादीं पासन्त्या, चसदाओ मिदत्था धीवरादि ।  
अदधा चसदाओ ससाम्भे वि ज्जमे पासन्त्या, ते पूयासक्कारा-  
दुं, दहुं, च अनुक्करिसण, पायपूरणे वा ददुंभो । (ददृष्टं त्ति) ददुं  
अहा तस्सि परवादिणं पूया सक्कारिदिद्विसेसा श्रींसति, ण तहा  
अहं । माणसप वेध मोकम्मभा विंसत्ततो जयेउज्जा अतो

जयति—(अस्स णि) अस्स पुरिसस्स, 'ण इति पडिस्सेह' मो-  
दो विषणायाविवक्खासो, दिदं दारिसण, स एवेयुणाचिसिद्धो  
अमुददृष्टिं दारिसणं अरथति । जगादइत्थस्स तगराणं सिद्धंसां  
कारिन् (तगं त्ति) । (वैति) म्रुचति आचायाः, कथयन्तीत्यर्थः ।  
अमुददृष्टि ति दारं गयं । नि० चू० १ उ० ।

इयानिं दिदंतो-

सुलसा अमुददृष्टि, .....  
सुलसा साविगा अमुददृष्टिसे उवाहरणं भवति-प्रगावं चंपाय  
एवरंए समोसरिओ । भगवया य भविपाधिकरणत्थं अचढो  
परिव्यावगो रायगिहं गच्छंतो भाणिओ-सुलसं मम वयणा सायं  
पुच्छेअसिं । सो चिनेति-पुच्छंमतिया सा, अ अरदा पुच्छति । तेषु  
परिक्रमणामिहे जलं मांसता, अलमासाण बहूण क्कामि  
काऊण मग्गिता । अं दिक्षं । जयति य-परं अणुक्कपाए वेमि, ण ते  
पत्तबुक्कीए । तेण भग्गियं-अदि पत्तबुक्कीए वेहिं । सा अणति-य  
वेमि । पुणे पडमासण विउठियं । सा अणति-अद वि सिक्का  
भंमणां तदा वि ते ण वेमि पत्तबुक्कीए । तओ तेण उवसधारियं  
सभावं च से कहियं । ण दिदिसाहं सुलसाए जाअं । एवं अ-  
मुददृष्टिणा होयव्वं" । नि०चू० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ११२  
पृष्ठे "अचढ" शब्देऽपि कथयम )

अमुदलकत्व-अमुदलक-त्रि० । अमुदः सुनिर्णयो लको बोध-  
विशयो यस्य सोऽमुदलकः । पञ्चा० १४ वि०० । अष्ट० । ब-  
धावस्थितवस्तुवर्धनि, सू० १ उ० । समस्ततत्त्वाविपरीतवद-  
ने, आ० म० ह्रि० ।

अमत्तशाण-अमादज्ञान-न० । मात्रा मानं, तेन रहितममात्रम्,  
अमात्रं च तज्ज्ञानं च अमात्रज्ञानम् । अप्रामते कयलक्षानिनि,  
अष्ट० ११ अष्ट० ।

अमट्टा-अमेषा-स्त्री० । मेधोपकाते, नि० चू० १ उ० ।

अपीमलि-अमुशालि-न० । न मुशाली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपे-  
क्षणं तदमुशालि । सुप्रत्युपेक्षणनेदं, श्राघं ।

अणधाविष अचलियं, अणगाणुष्यं अणोसलि चेत ।

अणुरिमा ण च खोदा, पाणी पाणे पमज्जणया ॥ २५ ॥  
(अमोसलि ति) न मुशाली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणं त-  
दमुशालि प्रत्युपेक्षणम् । यथा मुशालं कुट्टने ऊर्ध्वं गतानि,  
अधोऽनयेत्तत् । एवं न प्रत्युपेक्षणं कर्तव्यम् । किंतु यथा  
प्रत्युपेक्षणस्य ऊर्ध्वं परिष्ठुत्तं न गतानि, न च तिर्यक्त्तु येन  
जूमो, तथा कर्त्तव्यम् । बोध० । अ० । स्या० । उक्त० । नि० चू० ।

अमोह-अमोघ-त्रि० । अथेयत्ताऽप्यातत्वेनाविफले, अमिध्य-  
क, विश० । अवन्ये, दश० ८ अ० । अमोहोऽस्मिन् अस्ससम-  
योरादित्यकिरणकारजनितेषु आताम्रेषु कृष्णेषु इयामेषु वा  
शकटाङ्गसंस्थितेषु (सूर्यविम्बस्याधःस्थेषु कदाचित्तुपस्य-  
मानेषु रेखाकण्डेषु) दशेषु, म० ३ श० ६ उ० । जी० । अतु० ।  
अमोह-त्रि० । मोहने मोहां विनयप्राहः, न मोहोऽमोहः । अ-  
विनयप्राहं, विश० । मोहरदिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । जम्भूमन्त्रस्व  
रुक्चकरो परवैते कुट्टनेदं, स्या० ८ उ० । ह्रि० । शोभाज्जम्भ  
नगर्थ्या उत्तरपौरुष्ये दिग्मार्गे चैत्यं पूष्यमाने यक्षे, विश० ॥

अमोहशाधिरि ( ण )—अमोहनाधारिन्-पुं० । अमोहने मो-  
हरहितं समस्तमा समन्तद् धारयतीत्येषश्लोऽमोहनाधारी ।  
सुधादिर्नोमोहं धारक, व्य० १ उ० ।

अभोहृदंसि ( ष )—अभोपदशित्तु-पुं० । अभोचं पश्यति यथावत्पश्यति, दृश० ६ अ० ।

अभोहृदवयव—अभोहृदवचन-न० । धर्मदेशनाकरूपेऽव्यर्थवचने, स्थानं ४ ग्रा० ३ उ० ।

अभोहृत्—अभोया—स्त्री० । जम्बवाः सुदर्शनाया नामिन्, ( मांघं निष्कलम् ) न मांघा अभोयाः । अनिष्कला इत्यर्थः । तथादि-नाशवन्निष्कालावन् प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यमुज्जयन्ति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिनावस्यैवायोगात्, ततोऽ-निष्कलेति । जी० ३ प्रति० । जं० । उच्यतेऽत्रनाकैरेक्षित्वादि-भ्यामवर्तिन्यां पुष्कारिष्याम्, द्वी० । स्थानं० । जी० ।

अभ्रम्—आभ्र-पुं० । " तत्राभ्रे भ्रः " । ॥ २ । १६ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य मयुक्तो 'भ्रः' । सूत्र-( आँष ) वृक्ते, तत्फले च । प्रा० २ पाद ।

अभ्रम्भूजुगमद्वयमय—आभ्रफलहस्तगत-वि० । स्वकीयतपस्तेजोऽजितहादोपशमनायैमासादित्यक्तं जूषति, ज० १५ श० १ उ० ।

अभ्रम्भ—अभ्रम्भ-पुं० । स्वनामख्याते परित्राजके, भ० १४ श० ८ उ० । श्री० । स्थानं० । ( तद्वचक्यता अनुस्वारप्रकारत्वे 'अं-ब ( म ) ड' शब्दऽस्मिन्नेव भागे ११० पृष्ठं निकृतिता )

अभ्रम्या—अभ्रम्बा—स्त्री० । पुत्रमातरि, हा० १ अ० । प्रभ० । भ० । नि० ।

अभ्रम्भृत्—अभ्रम्भृ-अव्य० । हर्षे, " अभ्रम्भे हर्षे " ॥ ४ । २८४ । इति शौरसेन्यम् ' अभ्रम्भे ' इति निपातो हर्षे प्रयोक्तव्यः । " अभ्रम्भे एत्राप्य सुमिन्नाप्य सुपक्षिगणित्तो भवं " । प्रा० ४ पाद ।

अभ्रमापित्तिसमाण—अभ्रमापित्तुसमान-पुं० । मातापितृभ्यां समाने पितृषु मातापित्रोश्च व्यवहाराद्विष्विषयमश्रिणि, व्य० ३ उ० । उपचारं विनाऽपि साधुषु पकान्तेनैव वस्तुने भ्रमणोपासके, स्थानं ४ ग्रा० ३ उ० ।

अभ्रमापिपर—अभ्रमापितु-पुं० । द्वि० व० । मातापित्रोः, स्थानं ३ ग्रा० १ उ० ।

अभ्रमापेऽय—अभ्रमापितुक्त-न० । मातापितृसम्बन्धिनि, भ० ।

अभ्रमापेऽय एं भंते ! सरौरए केवयं काळं संचिह्णइ ? । गोयमा ! जावडयं काळं से जवधारणिके सरौरए अन्वावणे जवइ, एवडयं काळं संचिह्णइ । अइ एं समए समए बोयसिजमाण चरियकालसमयंसि वोच्छिणएणं जवइ ।

( अभ्रमापेऽय एं ति ) अभ्रमापितुक्तं शरीरावयवेषु शरीरोपचारात्, उक्तवृत्तानि मातापित्रकृतीत्यर्थः । ( जावडयं ति ) जाव-भनं काळं, ( से सि ) तलस्य वा जीवस्य, भवधारणीयं भवधारणप्रयोजनं, मनुष्यादिजन्तोपप्राहकमित्यर्थः । ( अन्वावणेषु ति ) अविनष्टम्, ( अइ एं ति ) उपचर्यान्तिसमस्यादन्तरमेतत् अभ्रमापितुक्तं शरीरम् ( बोयसिजमाणं सि ) व्यवहृत्यमाणं हीयमानमिति । भ० १ श० ७ उ० ।

अभ्रमि—अभ्रम्—अस्मद्-प्रथमेकवचनान्तस्य " अस्मदो मि अभ्रमि अभ्रिह् इं अहं अहयं सिमा " । ॥ ३ । १०५ । इत्यनेन 'अभ्रमि' इत्यादेशः । " उच्यते न अभ्रमि कुचिन्ना " प्रा० ३ पाद ।

अभ्रमो-अव्य० । " अभ्रमो आभ्रम्ये " । ॥ १ । २०८ । इति सूत्रेण अभ्रमो इत्याभ्रस्यै प्रयोक्तव्यम् । " अभ्रमो कइ पाटिउजइ " ॥ प्रा० २ पाद ॥

अभ्रम्ह—अस्माकम्—अस्मद् आमा सहितस्य " ने णो मज्ज अम्ह अम्हं " । ॥ १ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणाम्हादेशः प्रा० ३ पाद ॥ वयम्-अस्मदो जसा सहितस्य " अभ्रम्ह अम्हे अम्हो वो भयं भे जसा " । ॥ ३ । १०६ । इति सूत्रेण अभ्रम्हादेशः । प्रा० ३ पाद । " अभ्रम्ह चोक्त्वा चोक्त्वायारा " श्री० ॥

अभ्रम्हई—वयम्-अस्मान्—"अश्रसोरन्ते अभ्रम्हई" । ॥ ४ । ३७६ । इत्यपत्रोरे जोशि दावि च प्रत्येकमम्हं अभ्रम्हं इत्यादेशौ । " अवस न सुअहिं सुअच्छमहिं, जिअं अभ्रम्हं तिअं वे वि " । " अभ्रम्हं वेक्त्वाह " प्रा० ४ पाद ।

अभ्रम्हं—अस्माकम्—"ने णो मज्ज अम्ह अम्हं" । ॥ ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणामा सहितस्वस्मदोऽम्हमदेशः । प्रा० ३ पाद । 'अम्हं धूया णो आढाह' विपा० १ भू० ६ उ० ।

अभ्रम्हकैर—अस्मदीय-वि० । " इदमर्थस्य केरः " । ॥ २ । १४७ । इति दमर्थस्य प्रत्ययस्य 'केर' इत्यादेशः । " सेवादी वा " । ॥ १ । ६५ । इति काटिन्वयः । अस्मत्सत्के, प्रा० ३ पाद ।

अभ्रम्हत्तो—अस्मज्यम्—"ममाग्दी भ्यसि" । ॥ ३ । ११३ । इति सूत्रेण ज्यसि 'अम्ह' इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

अभ्रम्हाण—अस्माकम्—अस्मद् आमा सहितस्य " ने णो मज्ज अम्हं " । ॥ ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेण अभ्रम्हादेशः । प्रा० ३ पाद ।

अभ्रम्हातिम—अस्मादृश-वि० । " यादृशादेर्दुःसिः " ॥ ४ । ३१७ । इति पैशाकर्ण्यं 'ह' इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद ।

अभ्रम्हारि-मम-पैशाकर्ण्यं " वष्टयाः " ॥ ४ । ३५५ । इति सूत्रेण व-ष्टया लुक् । " संगर-सर्पाहं सुविअग्रिअ, देक्खु अम्हारा कंतु " प्रा० ४ पाद ॥

अभ्रम्हारिसि-अस्मादृश-वि० । " दृशः क्तिप-टक्त्सकः " । ॥ १ । १४२ । इति सूत्रेण क्तिवाचनस्य श्रुतो रितादेशः । " पद्धम-रम-प्प-रम-ह्मां इहः " ॥ २ । १७४ । इति संयुक्तस्य स्वभागास्य मकाराक्रान्तो हक्ताः । प्रा० २ पाद । " अम्हारिसो " अस्मत्सदृशेषु, प्रा० १ पाद ।

अभ्रम्हासुन्तो-अम्हादित्तो-अस्मज्यम्—"ममाग्दी भ्यसि" । ॥ ३ । ११३ । इत्यस्मदो भ्यसि अभ्रम्हादेशः । " ज्यसस्स षो णो दु हि दिन्तो सुन्तो " । ॥ ३ । ६ । इति सूत्रेण ज्यसस् " सुन्तो, हि-न्तो " इत्यादेशौ । प्रा० ३ पाद ॥

अभ्रम्हि-अभ्रम्—"अस्मदो मि अभ्रमि अभ्रिह् इं अहं अहयं सि-मा " ॥ ३ । १०५ । इति सूत्रेण सिमा सह 'अभ्रिह्' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ॥

अभ्रिह्या—अस्मिता-स्त्री० । अहङ्काराऽनुगमे, हा० २६ हा० । व-चान्तश्रुतयथा प्रतिलोमतापरिणामेन प्रकृतिहीने चेतसि स-त्तामात्रमेव भाति सास्मिता । हा० २० हा० । अस्मिता इत्य-शैकता; इत्यर्थेनयोः पुरुषरजसमोऽर्थात्तत्तात्त्विकपरिणा-



मयोः भोक्तृजोषयवेनावस्थितयोरेकता अस्मिता । तदुक्तम्-“ह-  
भ्यदीनशक्तयोरेकास्मतेवासिताम्” ॥३० २५ ॥३०।

अग्नेर्ह-वयम्-अस्मान्-“जवशसोरग्ने अग्नेर्हं” ॥ ७ । ४ । ३७६।  
इत्यपभ्रंशे अस्मदो जाति शक्ति च ‘अग्नेर्हं’ इत्यादेशः प्राकृतेऽप्य-  
वम्-‘अग्नेर्हं’ धोवा रिउ बहुभू, क्कारय एव्य भवति । प्रा० ४ पाद ॥

अग्नेर्हव्य-आस्माक-नि० । अस्माकमिदम् । “युष्मदस्मदोऽप्य  
एव्यः” ॥ २ । १७५ । इत्यस्मदः परस्मैदमर्थस्याव्यः ‘एव्यय’  
इत्यादेशः । अस्मदीयं, प्रा० ४ पाद ॥

अग्नेर्हो-अस्माकम्-“णे यो मज्ज अग्ने अग्ने अग्ने अग्ने”  
॥ ३ । ११४ । इत्यामा सहितस्यास्मद् ‘अग्नेर्हो’ इत्यादेशः ।  
प्रा० ३ पाद ।

अग्र-अग्र-पुं० । अग्रैकपादे, स च पूर्वाजान्प्रधानकृतस्य  
देवता । ज्योः ६ पादु० । ‘दो अया’ स्था० २ ग्रा० ३ उ० ।  
अनु० । सूर्यवंशीये रघुपुत्रे, बाच० ।

अग्र-पुं० । अग्रनमयः । इण गतौ इति धातोः “एरञ्” ३ । ३ ।  
। ५६ । इति [पाणि०] सूत्रेण अञ् प्रत्ययः, आ० म० छि० । वदने,  
साम्भ, प्राप्ते च । विशे० । आ० म० । आवा० । इष्टकले, न० । स्था०  
१ ग्रा० १ उ० । ब्रुभे, आ० १० ग्रा० ।

अग्रम्-न० । लोहं, नि० चू० ५ उ० । जी० । प्रञ्ज० । सत्त० ।

अग्रअगर-अग्रअकर-पुं० । लोहाऽऽकरे, यत्र लोहमुत्पद्यते ।  
नि० चू० ५ उ० । यत्र वा लोहकारो लोहं आपयति । स्था० ७ ग्रा० ।

अग्र्यं-अग्र्यम्-पुं० । “पुंसिग्रोनेवाऽग्र्यमिभिश्चात्” ॥ ३ । ३७ । ३ ॥  
इति इदमशब्दस्य सौ अग्रयोश्च अग्र्ये । प्रा० ३ पाद ॥ “अग्र्यं परमत्ते  
संसे अग्रदत्” अग्र्यमिति प्राकृतम्वादिष्य । औ० ।

अग्र्यं-अग्र्यत्-नि० । आगच्छति प्रविशति, “जाव अग्र्यंते  
निस्तीरिष्यं कुण्ड” आ० म० छि० ।

अग्र्यपुल-अग्र्यपुल-पुं० । अजोविभोपासके गोसाहकक्षिष्ये,  
म० ८ श० ५ उ० ।

अग्र्यंभि-अग्र्यसन्धि-वि० । “अग्र्यं संधीति” अग्र्यमिति प्रत्य-  
कृगोच्चारणः, आग्र्यंकेलसुकुलोत्पत्तौन्दिष्यनिर्घृतिअद्वासंभेग-  
लक्षणः सन्धिः । आच्चा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ‘अग्र्यं स-  
न्धीति’ सन्धानं (सन्धिः) सन्धीयते वाऽभाषाविति सन्धिः ।  
अग्र्यं सन्धीयस्य साधोर्भावयंमन्धिः । छान्दस्यत्वाद् वि-  
भक्त्युक्तं । यथाकालमनुष्ठानविधायनि, यो यस्य वृत्त-  
मानः कालः कर्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया नमेय संधयते ।  
एतदुक्तं जयति-सर्वाः क्रियाः प्रत्युपेक्षणोपयोगस्वाध्याय-  
मिहाचर्याप्रतिक्रमणादिका अग्रसंपन्ना अग्र्योऽप्यावाधवाऽऽ-  
त्मीयकर्तव्यकासे करानोत्तर्य इति आच्चा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

अग्र्यकृत-अग्र्यस्कान्त-पुं० । अग्र्यसां मध्ये कान्तः रमणीयः ।  
कस्कादित्वात् सत्यम् । कान्तिर्लोह इति कथाने लोहभेदे,  
वाच० । सन्धिभिर्मात्रेण लोहात्कृतम्, [सुभृक्] इति कथाने प्रस्-  
रभेदे च । अग्र्यसां प्रियत्वात् सत्पाठवम् । आ० म० प्र० ।

अग्र्यककरनोड ( ण )-अग्रककरैरौजिन-वि० । अग्रस्य ङा-  
गादेः कर्कस्यतिष्ठर्ष यत्कणकवद् सूत्रयत्नं कर्करायते तन्मेदो-  
हन्तुरं पक्षं शूद्राकर्म मांसं, नद् भुङ्क्ते इत्येवंशीलोऽजककरैरौजो ।  
अजादेः कर्करायितमांसुज, “अयककरभरं य, तुम्बि

विय संश्लिप । आद्यं नरप कर्के, अहा एत्वं व पलाय” ॥ ७ ॥  
उत्त० ७ अ० ।

अग्र्यकदिशु-अग्र्यकदिशु-न० । अग्र्यो लोहं तन्मयं यत्कदिशुं  
तत् । लोहकटाह, आग्र्य० ।

अग्र्यकरय-अग्र्यकरक-पुं० । सप्तशे महाप्रभे, सू० प्र० २० पादु० ।  
कल्प० । अं० प्र० । जं० । “दो अग्र्यकरया” स्था० २ ग्रा० २ उ० ।

अग्र्यकोट्टय-अग्र्यकोट्टक-न० । होहप्रतपनायं कुशले, म० १६  
श० १ उ० । उपा० । जी० ।

अग्र्यकखंत-अग्र्यस्कान्त-पुं० । लोहाकर्पके सुभ्यके मणौ, आ०  
म० प्र० ।

अग्र्यगर-अग्र्यगर-पुं० । शयुःपर्याये, उरःपरिसरपेक्षिते, म०  
१ भाष० ॥ महाकायस्यै, जं० २ वत्त० । “से किं तं अ-  
यगरा ? अग्र्यगरा यगारा पञ्चता, सेत्तं अयगरा” । प्रज्ञा०  
१ पद । जी० ।

अग्र्यगोत्रय-अग्र्यगोत्रक-पुं० । अग्र्यो लोहं, तस्य गोलः पिपकोऽ-  
योगोलः । नि० चू० १ उ० । अग्र्यःपरिके, दशा० ७ अ० । सुत्र० ।

अग्र्यदृज-कृष्-धा०-विशेकन, “कृष्ः कृष्-सामञ्जाङ्गाणकृष्-  
यञ्जाङ्गाः” ॥ ७ । ४ । १८१ । इति सूत्रेण कृष्ः अग्र्यञ्जादेशः ।  
अग्र्यदृज-कृष्-इति । प्रा० ४ पाद ।

अग्र्यण-अग्र्यन-न० । गमने, आ० म० छि० । उत्त० । आ० । ज्ञा० ।  
प्रापणे, अनु० । परिच्छेदे, नं० । श्रुतुप्रयमाने, कर्म० ४ कर्म० ।  
परुमासात्मके काले, तं० । जं० । म० । अनु० । अग्रमानि वासमा-  
सिकानि दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणानि । कल्प० ५ कृ० ।

साप्रतमयनपरिमाणं वक्तुकाम आह-

उद्दिं मामेदं द्विणयरा, तेसौर्यं चरद् मंदम  
अग्र्यण्मि उत्तरे दा-दिणे य एतो विद्दि होड

वर्हिमांसैर्दिनकरः सूर्यः स्वशीत्यधिकं मयदलशतं  
तथाहि-सर्वोऽन्यत्परमन्नेरे द्वितीयमयदलं यदा सूर्यं उपर-  
चारं चरति तदा स नवस्य सूर्यसंबन्धरस्य प्रथमोऽहोर्  
द्वितीयं च्वाहोरात्रेण सर्वोऽन्यन्तरात् तृतीयमयदलं चरति  
वर्हिमांसैरुत्तरशीत्यधिकं मयदलशतं नृतीयं जयति । एष द्वि-  
तीयमयदलं यदा सूर्यः स्वशीत्यधिकं पर्यन्तः । ततः सर्वेऽहोरात्रे  
मादयान्तरे द्वितीयं मयदलं यदा सूर्यः स्वशीत्यधिकं पर्यन्तः  
ततः स चत्वारयणस्य प्रथमो दिवसः । सर्वेऽहोरात्रे मयदलादय-  
त्तं नृतीयं मयदलं द्वितीयमाहोरात्रेण चरति, एवं वर्हिमांसै-  
रुत्तरशीत्यधिकं मयदलशतं सर्वोऽन्यन्तरमयदलपर्यन्तमायम् ।  
एष दक्षिणैस्मिन् उत्तरैस्मिन् वा अग्र्येन विधिः प्रकारो भवति ।  
अत्रार्थं च करणं विधुषुः प्रथमतः तदुपलयेपमाह-

तेसौर्यं दिवससयं, अग्र्यणे सूरस्स होड पडिपुर्णं ।  
सुण तस्स कारगविद्दिं, पुञ्जायरिओवर्षयणं ॥

सूर्यस्यायनं दक्षिणमुत्तरं वा भवति परिपुणे स्वशीत्यधिकं  
दिवसज्ञानम् । कथंमनवर्षस्यैते इति चेत् ? उच्यते-इह  
युगमध्ये दश सूर्यस्यायनानि भवन्ति, युगे च दिवसानामष्टात्र-  
शशतानि त्रिंशद्दधिकानि १८० । तत्तत्कारणिकमथनात्पर्य-  
याद् दश भिरवर्षैराष्टादशदिवसशतानि त्रिंशद्दधिकानि भवन्त्येते,

तत एकनायनेन किं सम्भ्यम् ? । आह-राशिप्रयस्थापना १०+१८  
३०+१ । अत्रान्येन राशिना एकशकृतेन मध्यमस्य राशेरगुणने-  
पकेन च युजितं तदेव भवतीति, जातायष्टादशशतानि त्रिंशदधि-  
कानि, तेनाप्यष्टानेन राशिना दशकलत्वेन भागा द्वितये, ऋष्यं इय-  
शीत्यधिकं द्विसप्तशतम् । एतावदेकस्य दक्षिणस्योत्तरस्य परि-  
माणम् । सम्प्रति तस्य दक्षिणस्यैवायमस्य परिमाणस्यैव कार-  
कविधिं करणरूपं प्रकारं पूर्वाचार्योद्देशेन प्रतिपाद्यमानं शृणु ।

तत्र करणमाह-

सूरस्स अयणकराणं, पवने पक्षरससंगुणं नियमा ।  
तिट्टिसंखितं संते, बावडीजागपरिहीणं ॥  
तेसीयसयविभक्त-म्भ तम्भि लळत् तु रूवमाएजा ।  
जइ लळत् होइ समं, नायचनें उत्तरं अयणं ॥  
अह्द हवइ जागलळत्, विसमं नाणाहिं दक्खिणं अयणं ॥  
जे अंसा ने दिवसा, होति पवचस्स अयणस्स ॥

सूर्यस्यायनपरिज्ञानविषये करणमिदं, बह्व्यमाणमिति शेषः ।  
तदेवाह-पवने पवनेसंख्याने पञ्चदशगुणं नियमात् कर्त्तव्यम् । कि-  
मुक्तं भवति?--युगमध्ये विचलितान्नात् प्राग् भानि पवाणि अ-  
तिक्रान्तिं तत्संख्या पञ्चदशगुणा कर्त्तव्येति । ततः पर्वणा-  
मुपरि यास्तिद्ययोऽतिक्रान्तास्तास्तत्र संश्लिष्यन्ते । ततो ( बाव-  
डी)भागपरिमाणमिति प्रत्यहोरात्रम्-एकेकेन द्वाषष्टिभागेन परि-  
हीणान्तेन ये निष्पञ्च अथमत्राशान्तेऽप्युपचारात् द्वाषष्टिभागा  
इत्युच्यन्ते, ते परिहीने विधेयम् । ततस्त्विदं इयशीत्यधिकेन शतेन  
विभक्तं सन्ति यल्लब्धं रूपमेकद्व्यादिकं तत् आदेयात्, पुष्ट्यात्;  
पुष्ट्युक्त्तं स्थाने स्थापयेदित्यर्थः । तत्र यदि ऋष्यं समं च्चिचतुरा-  
दिकम् ज्ञायति, तथा उत्तरमयनमनन्तरमतीतं ज्ञातव्यम् । अथ  
भवति भागं ऋष्यं विषमं, तदा जानीहि दक्षिणमयनमनन्तरम-  
नोमम् । ये तु शेषाः पञ्चाद्विपत्तन्ते तत्कालं प्रवृत्तस्या-  
यनस्य दिवसस्य द्विसप्तशतं भवति ज्ञातव्याः । तथाहि-युगमध्ये  
नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां केनापि पृष्टम्-किमयनमनन्तरमतीतम्?,  
किं वा साम्प्रतमयनं वर्तते?, इति । तत्र नवसु मासेषु अष्टादश  
पवाणि, ततोऽष्टादश पञ्चदशानि गृह्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तस्यधिके  
२५० । नवमासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्टमिति पञ्च तत्र प्रसि-  
ष्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तस्यधिके २७५, नवसु मासेषु ख-  
स्वार्त्तुऽवमत्राश जन्वति, तथा ते चतुर्विहीनाः कियन्ते, जाते  
द्वे शते एकसप्तस्यधिकं २७१ । अस्य राशेरस्थवशीत्यधिकेन श-  
तेन भागा द्वितये, लक्ष्यमेक रूपम्, शोशस्तिष्टयाशीतीति ।  
तत आगतमिदं किमयनमतीतं, नवयि च दक्षिणायनम् ।  
साम्प्रतमुत्तरायणं वर्त्तते, तस्य चाष्टाशीत्यां दिवसो ब्रजतीति,  
तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्टम्-  
किमयनमतीतं गतामि?, किं वाऽनन्तरमयनमतीतं?, किं वा सा-  
म्प्रतमयनं वर्त्तते? इति । तत्र पञ्चविंशतिसप्तसु पञ्चाशत्यर्था-  
णि, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तसप्तानि पञ्चदश-  
स्यधिकानि ७५० । तत उपरितमा दश प्रकियन्ते, जातानि सप्त-  
शतानि षष्ट्यधिकानि ७६० । पञ्चविंशतिसप्तसु वाऽ-  
वमत्राशा अनवत् द्वाद्दश, ते ततोऽप्युच्यन्ते, जातानि  
सप्तशतानि अष्टसप्तस्यधिकानि ७७५ । एतेषां इय-  
शीत्यधिकं शतेन भागं द्वितये, लक्ष्याध्वत्वारः,  
शेषास्तिष्टानि चोदश, आगतानि लक्ष्याध्वमास्त्यतिक्रान्तानि,  
चतुर्षु वाऽयनमनन्तरमतीतमुत्तरायणम् । सम्प्रति दक्षिणाय-

नस्यापवर्तमानस्य चोदशो दिवसो वर्त्तते इति । एवमन्य-  
दपि भावनीयम् ।

साम्प्रते चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वाऽयनस्य परिमाणमाह-  
तेरस्य ये मंदलार्हं, चरुचत्ता सत्तत्तद्विभागा य ।

अप्येषां चरुं सांभो, नक्त्येषे अरुपासेणं ॥

इह नक्षत्रमासात्परिमाणं चन्द्रायणम् । तत आह-नक्षत्र-  
विषये योऽर्द्धमासस्तत्सावत्परिमाणेनायनेन सोमश्चरति  
तत्र त्रयोदश मण्डलानि चतुर्ध्वत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागम् । किमुक्तं  
ज्वति?--त्रयोदश अहोरात्राः, एकस्य च अहोरात्रस्य सप्तका-  
तुर्ध्वत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा दक्षिणस्योत्तरस्य वा चन्द्रायण-  
स्य परिमाणमिति । कथंमत्तद्वस्यीत्ये इति चेत् ? । उच्यते-  
इह नक्षत्रमासस्य परिमाणं सप्तविंशतिदिनानि, एकस्य च  
दिनस्य सप्तका एकविंशतिः सप्तविंशतिभागाः । तत पक्ष्याद-  
यथांके चन्द्रायणपरिमाणं ज्वति । मधवा-युगे चन्द्रायणानां  
चतुस्त्रिंशदधिकं शतं भवति; अहोरात्राणां च युगे अष्टादश  
शतानि त्रिंशदधिकानि । ततोऽत्र त्रैराशीककर्मावकाशः । यदि  
चतुस्त्रिंशतेन शतेन अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि  
प्राप्यन्ते, तत एकेन चन्द्रायणेन किं प्राप्नुमः ? । राशिप्रयस्थाप-  
ना-१५४ + १८३० + १ । अत्र मध्यस्य राशेरन्त्येन राशिमा-  
गुणने, एकेन च युजितं तदेव ज्वतीति जातायष्टादशशतानि  
त्रिंशदधिकानि १८३० । तेनाप्यष्टानेन राशिना चतुस्त्रिंश-  
दधिकशतकेषु भागो द्वितये, ऋष्याध्वत्वारः; शेषास्तिष्टान्य-  
ष्टाशुतिः । तत आद्यस्य राशेरस्य अष्टाध्वत्वारिंशता गुणेने जातानि अ-  
ष्टपञ्चाशत् पञ्चणवत्यधिकानि ५८६६ । तेषां चतुस्त्रिंशतधिकेन  
शतेन भागो द्वितये चन्द्रायणपरिमाणमाह-

चंद्रायणकराणं, पवने पक्षरससंगुणं नियमा ।  
तिट्टिसंखितं संते, बावडीभागपरिहीणं ॥

नक्त्येषे अरुपासे-ण भागलळत् तु रूवमाएजा ।  
जइ लळत् हवइ समं, नायचनें दक्खिणं अयणं ॥

अह्द हवइ जागलळत्, विसमं नाणाहिं उत्तरं अयणं  
सेसाणं अंसाणं, आसिस्सइ सो भवे करणं ॥

सप्तार्होर्णे विजने, जे हवइ तइ हवति दिवसाभो ।  
अंसा य दिवसभागा, पवचमाणस्स अयणस्सो ॥

चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वा प्रथमस्य परिमाणाय कर-  
णमिदम्-यानि युगमध्ये पवाण्यतिक्रान्तानि तत्पर्वसंख्याने प-  
ञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, ततः पर्वणांमुपरि यास्तिद्ययोऽतिक्रान्तास्ता-  
स्तत्र प्रकियन्ते, ततो द्वाषष्टिभागपरिहीनमवमत्रात्रपरिहीने  
कियन्ते, ततो नक्षत्रस्यार्द्धमासेन तस्मिन् अर्धे संति यद् लक्ष्य-  
मेकद्व्यादिकं तत् आदेयात्, पुष्ट्युक्त्तं स्थाने स्थापयेदित्यर्थः ।  
तत्र यदि ऋष्यं भवति समं तदा दक्षिणं चन्द्रायणमनन्त-  
रमतीतमवसेयम् । अथ भवति भागलक्ष्यं विषमं तदा उत्तरं  
चन्द्रायणमनन्तरमतीतं जानीहि । इदं युगस्यार्द्धे मधमः च-  
न्द्रायणमुत्तरं, ततो दक्षिणायनमतीतं सप्त भागं दक्षिणायनमन-  
न्तरमतीतमवसेयम् । विषमं ऋष्यं उत्तरायणमिति शेषास्तु मध्या  
ये उद्वरितास्तोऽवमत्राणां सप्तपञ्चा विभक्तं संति यद् लक्ष्यं  
तत् प्रथमैमासस्यायनस्य ज्वति दिवसाः, तथाऽप्युच्यते अष्टा  
दिवसभागा ज्ञातव्याः । तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां

केनापि पृथक्-किं चन्दायणमनन्तरमतीते ? किं वा साप्रतमनन्तरं दक्षिणं वा वक्षते ? । तत्र नवसु मासेषु पर्वणि अष्टादश, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। नवानां च मासानामुपरि पञ्चम्यां पृथगिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके ७७७ । नवसु च मासेषु चत्वारोऽधमरात्राः, ते ततोऽपनीयन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१ । एतस्य राशेर्नक्षत्रे मासादेन जागहरणं, तत्र नक्षत्रादेमासां न परिपूर्णं, किन्तु कतिपयसप्तपथिभागधिकः, तत एव सर्वोऽप्यधमरात्र्युक्तः सप्तपथ्या गृह्यते, जातान्यष्टादशशतानि शतमेकं पञ्चाशदधिकम् १८१५०। नक्षत्रादेमासस्य च दिवसपरिमाणं त्रयोदशदिवसाः १३, एकस्य च दिवसस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तपथिभागः १११। तत्र त्रयोदश दिनानि सप्तपथिद्विभागकरणाद्यैः सप्तपथ्या गृह्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि एकसप्तत्यधिकानि, तत्र सपरितनाभ्युत्थावृत्तिश्च सप्तपथिभागः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नवपञ्चाशदधिकानि ११५। नतेः पूर्वराशेर्मासे द्वे सप्तपथ्येकांशविंशतिः ११ । शेषमुत्तरति सप्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि ७७७ । तेषां दिवसाऽऽनयनाय सप्तपथ्या भागो द्वियते, तस्यां एकादश दिवसाः, शेषास्त्रिंशत् पञ्चत्रिंशत् सप्तपथिभागः आगतमेकांशविंशतिश्चत्वारिंशत्पथ्यतिक्रान्ति, अनन्तरं चन्द्रायणमतिक्रान्तमुत्तरायणम्, दक्षिणस्य चन्दायणस्य सम्प्रति प्रसक्तस्यैकादश दिवसाः गताः, प्रादशस्य च दिवसस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तपथिभागः, पञ्चम्यां समाप्तयोः नवियन्तीति ॥ तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासमितमेकं दशम्यां केनापि पृथक्-कतिपयं चन्दायणं प्यतिक्रान्तिः ? किं वा साप्रतमनन्तरमतीते चन्दायणं, किं वा सम्प्रति वर्धते चन्द्रायणं, दक्षिणमुत्तरं वेति ? । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पर्वणि पञ्चदाशत्, तानि पञ्चदशनिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५०। तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चदशिकां ७६०। पञ्चविंशतिमासेषु चाधमरात्रा अष्टादशदशदशते पूर्वराशेरपनीयन्ते, जातानि सप्तशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ७६८। तानि सपरिनागकरणाद्यैः सप्तपथ्या गृह्यन्ते, जातानि पञ्चाशत्सप्तपथ्याद्यैः सप्तपथ्याद्यैः ५००। तेषां दिवसानयनाय सप्तपथ्या जागहरणं, तस्यां राश्यां चन्द्रायणानि अतिक्रान्तिः । अनन्तरं चातिक्रान्ते चन्द्रायणं दक्षिणं, सम्प्रति वर्धते उत्तरं चन्दायणम्, एतस्य च त्रयोदश दिवसाभ्युत्थावृत्तस्य च दिवसस्य पञ्चदश सप्तपथिभाग दशम्यां समाप्तयोः नवियन्तीति । एवमन्यदपि आयनीयमिति ॥ ज्यो० ११ पाठु० ॥ च० प्र० ॥ सू० प्र० ।

अथपादा ( य ) -अयःपात्र-न० । लोहपात्रे, " अथपादाणि वा तथपादाणि वा " आख्या० २ भु० ६ अ० ६ उ० ।

अथमग-अजमार्ग-पुं० । प्रथमार्गमेदं यत्र वस्येनाजेन गम्यते । तद्यथा-सुवर्णभूयर्थां चाखदुक्तं गतः ॥ सूत्र० १ भु० ११ अ० ॥

अथवीहि-अजवीहि-क्री० । हस्तविधास्वतीविशाखाऽजुतराधापञ्चकूपमहाप्रह्वारविशेषार्गो, स्या० ७९ ज्ञा० ।

अयसी-अतसी-क्री० । माहकप्रसिद्धे धान्यविशेषे, ( तीसी-अहसी ) इति ५ अ० । प्रय० । प्रज्ञा० । आ० म० । क्री० । अन्त० ।

अं० । रा० । उत्त० । को० । भङ्गधाम, ज० ६ शृ० ७ उ० । अयसीकुसुमपुण्यास-अतसीकुसुमप्रकाश-वि० । मीले, इा० १ अ० । अन्त० । उपा० । रा० ।

अयसीपुष्प-अतसीपुष्प-न० । धान्यविशेषस्य प्रसूने, उत्त० ३५ अ० ।

अयसी ( सि ) वाण-अतसीवर्ण-वि० । अतसीकुसुमवर्णे इयामवर्णे, उत्त० ११ अ० ।

अयहारि ( ष् ) -अयोहारिन्-वि० । लोहस्याहर्तरि, स्य० १ शृ० ३ अ० ४ ठ० ।

अयाकिवाणिज-अजाकुशीपायी-न० । ममोपरि कृपायं पति-प्यतीत्यजा न वेत्ति, तथा सति अजागले कृपाणपतरुके अ-तर्कितोपस्थिते, आख्या० १ शृ० १ अ० १ उ० ।

अयाकुञ्चि-अजाकुञ्चि-वि० । अजायाः कुञ्चिरिव कुञ्चिरस्य तदजाकुञ्चि । उपा० २ अ० ।

अयामर ( न ) -अय आकर-पुं० । मरुतत्वाद् अयसकल्पम् । लोहाकरे, येषु निरन्तरं महासूपास्त्वयोदलं प्रक्षिप्य्वाऽय उपाद्यते । ज्ञा० ३ प्रति० ।

अयाणेत-अजानन्-वि० । अविदुषि, " पावस्स फजाविषाणं अयाणमाणा वर्हति " । प्रज्ञ० १ सम्भ० द्वा० ।

अयावय-अजग्रज-पुं० । अजावाटकः, " कंह पुरिसे अयासय-स्स एगं महं अयावयं करेज्जा " । अ० १९९ द्वा० ३ उ० ।

अयावयद्व-अयावद्वय-पुं० । न यावद्वयः । अपरिसमाप्तं, दशा० ५ अ० २ उ० ।

अय्य-अय्यै-पुं० । " न वा यो द्यः " । उ० । २६६ । इति 'यै' जागस्य स्यः । [ अस्याप्यस्तु ' अज ' शब्देऽत्रैव भागं २०० पृष्ठ कल्प्यते ] " अय्य ! एषो तु कुमारे भ्रम्यकेहू " । अय्यं । एष खलु कुमारां मलयकतुः । प्रा० ४ पाद ।

अय्युत्त-अय्यपुत्र-पुं० । " न वा यो द्यः " । उ० । २६६ । इति शौरसेन्यां यैभ्य स्थानं स्यः । अथपुत्रे, माटकसंबोत्थे नाय-कादौ, " अय्युत्त ! पर्याकुलीकदादिह " आर्यपुत्र ! पर्याकुली-कृताऽस्मि । प्रा० ४ पाद ।

अय्युष्ण-अय्युष्ण-पुं० । " जघयां यः " । उ० । २६२ । इति मागध्यां जस्य स्थानं यः । ( ' अय्युष्ण ' शब्दे २२४ पृष्ठेऽत्रैवासाध्याः ) प्रा० ४ पाद ।

अर-अर-पुं० । न० । अ-अ- । चकनानिभयोर्भिवस्ये कष्टे, श्रिंशे च । वाच० । न० । सर्वोत्तमं महासत्व-कुलेय उपाजयते । तस्याभिवृद्धये वृद्धै-रसावर उदाहृतः ॥१॥ इति वचनादु-अरः । तथा गजैस्त्वैरस्मद् जनन्या स्वधने स्वर्गत्तमयोऽरौ हृष्ट इति अरः । अ० २ अथि० । जम्बूद्वीपे जरतसेत्रे वर्त्तमानायावसर्पि-र्यां जाते सप्तमे चक्रांतोनि, स० । अष्टादशं तीर्थकरं, स० । आवा० । ति० । अथा० । प्रय० ।

सुमिणो अरं महारिं, पासड जगणी अरो तम्हा ॥४६॥ तस्य सव्ये वि सव्युत्तमे कुले सुविधिकरा एव जायति, विसेसा पुण्यां ( सुमिणो अरं महारिं ) माहापञ्चमः । गन्धर्वात्तं मानाए सुमिणे सव्यरथकुमयो अरसुंदरो अरपमाणो अम्हा अरो दिटो त्हा अरो । तिस पाणं कतं ति माघायः ॥४६॥ आवा० २ अ० । आ० नू० ।



अरइपरि ( री ) सह

तससदनापायमेवाऽऽह-

अरइं पिडुष्मो किषा, विरए आयरक्सिप ।

धम्मारामे निरारंभे, उवसंते सुणी चरं ॥ १५ ॥

अरति पृष्ठतः कृत्वा विरतो हिंसाद्यः, आत्मा रक्षितो दुर्गति-हेतोःपच्यन्नादेरनेत्यात्मरक्षितः, आध्याय वा हानादिलाभा र-क्षितोऽनेनेत्यायारक्षितः, धर्मे आरमते रतिमात्रं स्यात् इति ध-र्मारामः । यज्ञा-धर्मे पचानन्दहेतुतया पादयनया वाऽऽरामो ध-र्मारामः, तत्र स्थितः, निरारम्भ उपशान्त एवेधिषो मुनिभरेत् संयथाप्यति, न पुनरन्यभारतिरपच्यनेच्छुः स्याद ॥ १५ ॥

अत्र पुरोहितराजपुत्रयोः कथा । यथा-अचक्षुरे जिनशत्रुपुत्रः अपराजितनाभा रोहाचार्यपाठ्ये दीक्षितः, अन्यथा विद्वान्, तग-रां नगरीं गतः, तावता उरजयिन्या आर्योदाचार्यशिष्यास्तत्रा-यनाः । पृष्ठं साधुना तेन उज्जयिन्याः स्वकर्म-सर्वे तत्र चरन्, परं नृपपुत्राभात्यपुत्री साधुपुत्रेजयतः। ततो गुरुनापृच्छथ स्वप्राप्तुष्येध्यायं श्रमिणञ्जयिन्यां गतः,तत्र भिक्षावशायां सोऽै-धार्थ्यप्राप्तयेषि वादस्वरूप 'धमेलाभ' इति पत्रं राजकुले प्र-दिशः, राजपुत्राभ्रात्यपुत्राभ्यां सोपहासमाकारितः । अत्राग-च्छत, वन्दते । ततः स गतः । ताभ्यां उक्तम्-वेत्सि नति-तुम् ? । तेनोक्तम्-वादम्, परं पुषां वाद्यतः, तौ तादृशं वाद-यितुं न जीमंतः ततस्तेन तथा तौ कण्ट्रीतो पृथक्कृत-हस्तपादादिसन्धिबन्धनौ, यथा अत्यन्तमृदुः कुरुतः । तौ तादृशावय मुक्त्वा साधुपुत्राभये मन्माशानः ततो राज्ञा सर्व-हन्ते तत्राऽऽयातः,तमुपपन्नय प्रसादनाय तस्य पादयोः पापाः । उवाच-स्वामिन् ! सापराधायि इमौ स्वस्रीकार्यौ, अतः परम-पराधं न करिष्यतः । साधुनोक्तम्-यदाँमौ प्रमज्जनस्तदा मुञ्जा-मि । राज्ञोक्तम्- एवमव्यक्तम् । तस्मात् प्रथमं सोचं कृत्वा प्रमा-जितौ, तत्र राजपुत्रो निःशङ्कितो धर्मं करति, इतरस्तु अमयं वहति, अहं बलेन प्रमाजिन इति चेतस्याद्वेगं वहति । पर पाश-दिव्या द्वायेषि चारिभं शुद्धं मृत्वा तौ दिवं गतौ । अस्मिन्नवस्त्रे कौशाभ्यां तापसश्रेष्ठं मृत्वा सगृहे शुकरो जातः,तत्र जातिस्मर-णं प्राप्तवान्, सर्वे स्मृतानादिकृष्टम् प्रत्यभिजानानि परं वक्तुं न किञ्चित् शक्नोति स्म । अन्यदा सुनिर्णय शुकरो मारिनः, ततः स-शुद्ध एव सर्पो जातः । तत्रापि जातिस्मरणमाप, पुनस्त्वेवं मारितः, ततः पुत्रपुत्रो जातः। तत्रापि जातिस्मरणमाप । स एवं चिन्तयति-कथमंतो पूर्वजन्मवत्प्रसन्नमदहस्युपाभिः, कथं चेत्तं पूर्वभवपुत्र पि-तरमहस्युपाभिः,इति विचार्य मैनम्रांश्रतो मूकजनमात्रं जातः। अन्यदा कनाचिन्तं चतुर्भोजिना तदोषं ज्ञात्वा स्वाशिष्यायमुखात् गद्या प्रेषित- "तावस ! किमिषा मूत्र-व्यएण पडिवज्ज जाणिअं धम्मो! मरिउण सुमरंरगा-जाभो पुत्रस्तं पुत्र सि" ॥१॥"। ततो गथां भुत्वा प्रतिबुद्धो गुरुणां सुआवकोऽभूत् । पतस्मिन्नवयसरे सोऽ-मात्यपुत्रञ्च देवो महावंदेह तौ धेइर समोप पुचुजति-जगयन् । किमहं सुलभयोधिउं उं जनाधिवां ? इति प्रश्ने प्राकं तौ धेइरे-ण- "त्वं बुद्धेभोधिः कौशाभ्यां मूकज्ञाना भावी" इति लघोःसः स हुरां गतो मूकपाठ्ये । तस्य बहु उच्यं दत्त्वा प्राकनवान्-यदाऽहं स्वम्मातुद्धरे अयत्स्ये तदा तस्या आद्यदोहदां भविष्यति, स दाहदः साम्नं महाशयः सदाफडाभ्रफलेस्ववया तदानीं तस्याः पूर्णोकार्यः । पुनस्ववया तथाधिधेयं यथा तदानीं मम धर्मेप्राप्तिः स्याद, एवमुक्त्वा गतो देवः । अन्यदा देवशोकात् ऋदुरवा स देवस्तस्या गमं समुपचर, तस्या-

आप्रदोहदः समुपचरे शुकं पूर्णोकरित्या पूरितः। पुत्रो जातः मू-कस्तु तं बालं लघुमपि करे कृत्वा देवान् साधुं कृत्वा भवत्यपि, परं स बुद्धेभोधिचिन्तं तात् दृष्ट्वा रटति । एवमाभासकाहावपि भृशं प्रतिबोधितोऽपि स न बुध्यते । ततो मूकः प्रमाजितो गतः स्वर्गम् । अथ देवीभूतंन मूकजीवेन स बुद्धेभोधिर्भासः प्रति-बोधिःकृतं जज्ञादस्वध्यावा कृतः वैधक्यं कृत्वा देवेन उक्तः-अइं सर्वरोगोपशमं करोमि । जज्ञादरी वाकि-मम जज्ञादरोपशा-न्तिं कुरु । वैद्यनोक्तम्-तवासाधुऽयं दोगः, तथाऽय्यइं प्रतीकारं करोमि,यदि मम पृष्ठे औषधकांथशकं समुपाठ्य भवेव सहगामि-मिष्यसि । तेनोक्तम्-एवं भवतु । ततो वैद्येन स जोशोदरी सञ्जी-कृतः समाधिभाग् जातः। ततस्त्वयोपाटनाय औषधकांथशक-स्तेन दत्तः । स तपुष्टे प्रमदं तं कांथशकमुपाटयति । देवमाय-या स कांथकः। इति नारवान् जातः, तत्तान्नारं वहन् स स्थितिः, परं तमुत्सृज्य पञ्चाङ्गुत् न शक्नोति, मा दूष्यञ्चाकृत-स्य मे पुनर्जोशोदरत्ययति विमर्शं कुर्वन् वैद्यस्यैव पृष्ठे कांथ-शकं वहन् प्रमति । एकदा एकस्मिन् देशे स्वाध्यायं कुर्वन्तः सा-धवो दद्याः । तत्र तौ गतौ । वैद्यनोक्तम्-त्वं दीक्षां यदा गृहीष्यसि, तदा त्वां मुञ्जामि । स प्रारजम्नो यक्षि-गृहीष्याम्येव । ततो वै-द्येन अस्य दीक्षा दापिता । देवं च स्वस्वानं गते तेन दीक्षा परित्यक्ता । देवेन पुनरपि तथैव जज्ञादरं कृत्वा वैधक्यपधरेण पु-नरसौ दीक्षां प्राहितः । पुनरीत च देवं तेन दीक्षा त्यक्ता । तु-तीयवारं दीक्षां दापयित्वा वैधक्या देवः सार्कं तिष्ठति (स्मि-रणायाः)। एकदा तुभारं गृहीत्वा स देवः प्रज्ज्वाङ्गामे प्रवि-शति । ततस्तेन साधुनोक्तम्-ज्ज्वाशति प्राप्तिं कथं प्रविशसि ? । देवेनोक्तम्-त्वमपि कौषामनामापारोऽसि । प्रज्ज्वाशं गृह्णा-से धार्यमाणोऽपि पुनः पुनः कथं प्रविशसि ? । वैधक्येण देवेनैवमूकोऽपि स न बुध्यते । अन्यदा तौ अदृष्टां गतौ । देवः कण्टकाकुले मार्गे वरति । स प्राह-कस्मादुन्मार्गेण यासि ? । देवेनोक्तम्-एवंमपि विशुद्धं निर्मलं संयममाणं परित्यज्य आधि-व्याधिकपे कण्टकाकारिणं संसारमार्गं कस्माद् यासि ? । एवं देवे-नोकोऽपि स न बुध्यते । पुनरेकस्मिन् देवकुले गतौ । तत्र यज्ञे ईहिततपुत्रापुत्रमार्गोऽपि पुनः पुनर्धोमुक्त्वा पतति । स कथयति-अहो ! यक्षस्य अश्रमत्वं, यत्पुत्रमार्गोऽप्ययमधोमुक्त्वा पतति । दे-येनोक्तम्-स्वमन्यतादृशोऽधमः, यद्गन्धमानः पूत्रमार्गोऽपि स्वत्वं पुनः पुनः पतसि । स साधुर्वाकि-कस्वमं । देवेनोक्तम्-कस्वत्वं दृ-शितं, पूर्वभववत्प्रसन्नमदहस्युपाभिः । स वाकि-अत्र कः प्रत्ययः ? । ततो वैताळ्यं चैत्यवन्दनार्थं देवेनाऽसौ प्रापितः । तत्रैकस्मिन् सिंहायतनकाणं बुद्धेभोधिदेवं स्वधोपाय मूकविदितं स्व-कुगम्लयुगलं व्यापितमज्जत् । तत्सदानीं दर्शितं, ततस्तस्य जातिस्मरणं जातः, तेनाऽयं चारिच दृष्टताऽस्तुत् । अस्य पुत्रे-मरतिः, पञ्चाद् रतिः । उक्तं २ अ० ।

अरइपरि(री)सहविजय-अरतिपरि ( री ) सहविजय-पुं० अर-तिपरिजनेन, पं० सं० । सुभोपदेशतो विहरतस्मिष्ठतो वा क-दाचनपि यद्यतितल्पघटे तदाऽपि स्वाध्यायप्याननावनावप-धर्मारमरत्वेन यदरतिपरिजनेन सोऽरतिपरिचइविजयः । पं० सं० ४ ह्यार ।

अरइमोहणिउज-अरतिमोहनीय-म० । नोकषायभेदे, यदुत्था-त्सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य बाह्याप्यन्तरेण वस्तुत्वप्रति-नेवति । कर्म० । कर्म० ।

भरद्वाह-अरतिरिति-स्त्री० । मांहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगोऽरतिः, रतिः मोहनीयोदयाच्चित्तप्रसासः । इति वृहत् । कल्प० ६ कृ० । रत्यरत्योर्द्वन्द्वे, “ वाण अरतिरत्तम् ” । अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजम्बिचविकार उद्वेगसङ्कल्पः, रतिश्च तथाविधामन्वक्याः; अरतिरानि इत्येकमेव विधासितम्, यतः क्वचन विषये या रतिस्तामेव विषयाम्बरपोक्या अरतिं ध्यपदिशति, एवमरतिमेव रतिम्, इत्यौपचारिकमेकत्वमन्योरस्तीति । (समा० स० न०) । रत्यरत्योरेकतायाव, स्था० १ ग० १ उ० ।

भरद्वाहसह-अरतिरतिसह-पुं० । अरतिरती सहते इत्यरतिरतिसहः । रत्यरत्योर्ह्यविधादावकुर्वाणे, कल्प० ५ कृ० ।

भरद्वाहमावणुचिच-अरतिमापभाचिच-त्रि० । संयमे उद्वेगगताभिप्राये, दश० १ सू० ।

भरद्वाह-अरद्वाह-न० । लज्जरमिति प्रसिद्धे उदककुम्भे, स्था० ६ ग० ।

अरक्खरी-(अरक्षापुरी)-स्त्री० । चन्द्रध्वजनुपपन्निते स्वनामक्याते प्रयन्तनगरे, “ततः प्रयन्तनगरे, अरक्खरीति नामनि । अस्ति मास्यलौकिकस्तत्र, जिनवन्द्यव्यजाभिः” ॥ १४ ॥ आ० क० । आ० सू० । आ० ।

अग्गाउत्त-अरकायुक्त-त्रि० । अरकैरभिधिघिनाऽन्विते, म० ३ श० १ उ० ।

अग्गाउत्तसासिय-अरकौत्रासित-त्रि० । अरका उत्रासिता अस्फालिता यत्र । आस्फालिनाऽरके, म० ३ श० १ उ० ।

अरज्जुपपास-अरज्जुकपाश-पुं० । रज्जुकं विना बन्धने, तं० ।

अरज्जिय-अरहित-त्रि० । निरन्तरे, “ अरज्जियमितावा नह बी तर्धिति ” अरहितो निरन्तरोऽजितापो दाहो येषां तेऽरहितमितापाः । सूत्र० १ श्रु० ५ आ० १ उ० ।

अरणि-अराणि-पुं० । अन्वर्थे निर्मेधनीयकाष्ठे, नि० ३ वर्ग । विघ्नो० । आ० । ज्ञा० । “ अरणि महिऊण आग्नि पादेह ” आ० म० द्वि० । “ अथि णं घणसहमया अरणिसहगया ” । अरणिर्मन्थर्थे निर्मेधनीयकाष्ठे तेन सह गतो यः स तथा । म० २५ श० ८ उ० ।

अरणिाया-अरणिाका-स्त्री० । स्कण्पथीजवनरूपतिभेदे, आ० १ श्रु० १ म० ५ उ० ।

अरस-अराय-न० । कान्तारे, स्था० १ ग० १ उ० । उच्य० । आ० । निर्जने, अष्ट० ४ अष्ट० । वने, उच्य० १५ म० ।

अरसवर्दिसग-अरायावर्तसक-न० । एकादशदेवसोकाविमाननेदे, स० ३२ सम० ।

अरत्त-अरत्त-त्रि० । रागरहिते, आ० १ श्रु० ३ म० २ उ० ।

अरत्तुद्ध-अरत्तुद्ध-न० । रागद्वेषरहिते, दश० । ध० २० ।

अरय-अरक-पुं० । अवसर्पिण्युसर्पिणीसङ्कणस्य कासकस्य सुषमसुषमाऽऽदिके दादधे जगो, ति० । अरहाभ्यां, आ० म० द्वि० । अरकाणां परस्परसाहचर्यं यथा—“ कुञ्जुणि हरिर्मन्थयुति, हेमवदरवडुगि विदेहे । कमसो सयाऽवसर्पिणि, अरय-वडुकाह समकाभे ” ॥ १०८ ॥ लघुहेमसमासमकरणे ।

अरज्जु-त्रि० । स्वाभाविकरजोरहिते, स० । कल्प० । प्रज्ञा० । रजोगुणकामक्रोधद्विशुद्धये, धूर्तशुद्धये च । वाच० । त्रयःसप्ततितम महाप्रह, “ दा अरया ” स्था० २ ग० ३ उ० । च० प्र० । कल्प० । सू० प्र० । ब्रह्मलोकस्त्विमानप्रस्तटभेदे, न० । स्था० ६ ग० । कुसुदाविजयस्वराजधाम्याय, “ कुसुदे विजये अरजा राजधानी ” । जं० ४ वक्त्र० । रजसोऽभावे (अथ० न०) उच्य० १८ म० ।

अरत्-त्रि० । आरम्भनिवृत्ते, निर्मित्वे च । आ० १ श्रु० ५ म० ३ उ० । सूत्र० ।

अरयंवरवत्थपर-अरजोऽम्बरवक्त्रपर-त्रि० । अरजोऽसि रजो-रहितानि च तानि अम्बरवक्त्राणि स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पव-सनाभ्यरजोऽम्बरवक्त्राणि, तानि धारयतीति यः स तथा । तथाविधवक्त्रधारके देवादी, म० ६ श्रु० २ उ० । उच्य० । प्र-ज्ञा० । जं० ।

अरयण-अरणि-पुं० । वितताङ्गुलैः करे, स्था० ४ ग० ४ उ० ।

अरविन्द-अरविन्द-न० । पद्मविशेषे [ कमले, ] आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । “पुष्पेक्षु वा अरविन्दं पहायु” । सूत्र० १ श्रु० ६ म० स्था० ।

अरस-अरस-न० । अविद्यमानाहार्यरेसे दिङ्स्वादिभिरसं-स्कृते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । अमातरसे, द० ५ म० २ उ० । ज्ञा० । म० । औ० ।

अरसजीवि ( ए )-अरसजीविन-पुं० । अरसेन जीवितुं शी-लमाजन्माऽपि यत्स तथा । अरसाऽऽहारे, स्था० ५ ग० १ उ० ।

अरसाल-अरसास-त्रि० । विरसे, ‘अरसासं पि मोयणं सुतं गंधसुतं’ । नि० सू० २ उ० ।

अरसाहार-अरसाहार-पुं० । अरसं दिङ्स्वादिभिरसंस्कृतमाहा-रयन्तीति; अरसो वाऽऽहारे यस्यासावरसाहारः । तथाविधा-भिप्रहविशेषधारके, स्था० ५ द्वा० १ उ० । ज्ञा० । औ० ।

अरह-अरहम्-पुं० । न विद्यते रह पकान्तो गोप्यमस्य, सकल-संनिहितव्यवाहितस्फुल्लसूचमपदाथैसाक्षात्कारत्वात्, इत्य-रहाः । स्था० ६ ग० १ उ० । न विद्यते रहां विजने यस्य सर्व-कृत्वात्सावरहाः । स्था० ६ द्वा० ।

अर्हत्-पुं० । अशोकाच्छमहामातिहार्यदिकुपं पूजामर्हतीत्य-हन् । पा० । कल्प० । आ० । उच्य० । अशोकादिमातिहार्यपूजा-योग्ये, कल्प० ६ म० । सूत्र० । इष्कादिभिः पुत्र्ये, उच्य० ६ म० । तीर्थकृति, सूत्र० १ श्रु० ६ म० । जिने, स्था० ३ द्वा० ४ उ० । “ तन्नो अरहा पश्यता । तं जहा-भाहिनाणअरहा, मणुपञ्चव-णाणअरहा, कथलणाणअरहा ” । स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अरहंत-अर ( र ) हत्-पुं० । अर्हन्ति देवादिकृतं पूजा-मित्यहन्तः । अथवा मास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यङ्गान्निव्वासेऽरहन्तः शेषं प्राभवत् । एते च सल्लसया अपि भवन्तीति । स्था० ३ ग० ४ उ० । अमरवचनिर्मिताऽशोकादि-महामातिहार्यकृपां पूजामर्हन्तीत्यहन्तः । अविद्यमानरहस्येपु, अत्रु० । दश० १ म० । पं० सू० ।

अरहंते सिद्धे आपरिष उवज्जाए साहवे जत्य । एपसि  
चेव गञ्जत्थसम्भावो इमो । तं जहा-तनराप्पामुरस्स एं  
अणस्सेव जगस्स अट्टमहापादिहराप पूयाए समोवह्मवियं  
अण्णसरिसमवेत्तमाहपं केवलाद्धिपिं पवकत्तमत्तं ॥

(अरहंते चि) अरहंता अस्तेसकम्पकपणं भिह्नुवकेरु-  
प्तासो न पुणे हि जंविनि, जम्मंति, उववज्जंति वा, अरहंता  
वा गिम्मादिणियहनिह्मिह्लियवित्तुयानिह्लियवियसुपुज्जा-  
या ॥ महा० ३ अ० ॥ अा० प्रव० १ दश० ॥ त्रिभुवनपूजा-  
योम्येषु तीर्थकरेषु अथभाविषु, कल्प० १ स्० । आर्जोवि-  
ककल्पनया गोशालकाऽप्यहं, अत एव तेऽहंइवताका इत्युच्य-  
न्ते । “अरहंतदेवयामा” गोशालकस्य तत्कल्पनयाऽहंत्वात् ।

अ० दश० ५ उ० । “जो जाणइ अरहंते, दग्धत्तणुणत्तपज्जव-  
णेहि । सो जाणइ अप्पानं, मोहो अल्लु जाइ तस्स लयं” ॥१॥ न० ।  
अरहोऽन्तर-न० । अविद्यमान रह पकान्तरुपा देशोऽन्त-  
रक्ष मध्यं गिरिगुहादीनां सर्वचरितया समस्तवस्तुस्तोमगतम-  
च्छन्तस्वस्याभावेन येषां ते अरहोन्तरः । अहंत्सु जिनेषु,  
अ० २ श० १ उ० ।

अरह्यान्त-पुं० । अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिमहो-  
पलक्षणभूतः, अन्तःश्च विनाशो जरापुलक्षणभूतो येषां तेऽर-  
ह्यान्ताः । अ० १ श० १ उ० ।

अरहृत्य-पुं० । कविद्वय्यासक्तिमगच्छत्सु क्षीणरागवान्तु प्रहृष्ट-  
रागादिहेतुत्तमनोहेतुरावियस्येषुऽपि वीतरागत्यादिक स्व-  
भावभावयत्सु जिनेषु, अ० १ श० १ उ० ।

अरहंतमगमाभि ( भू )-अहंन्यागीमाभि-त्ति० । अहंउपदि-  
ष्टेन मार्गेण गन्तुं शीलं यस्य । जैन साधौ, “अरहंनभागा-  
मी, दिष्ठेनो साधुषो वि समविता । पागरपसु गिरहांसु । पसंते  
अवहमाणा उ” ॥ १४१ ॥ दश० १ अ० ।

अरहंतज्ञादि-अहंज्ञात्त्वि-अं० । ज्ञविप्रदे, ययाऽहंत्वं ल-  
मवाप्नेति । प्रव० २७० द्वा ।

अरहट्ट-अरपट्ट-पुं० । घटीयज्ञे, “अम्मणमरणइह्हे,  
जिण्ण भवा विमुच्छिदिस्सि” । आत्त० । भाव० ॥

अरहस्य-अरहन्नत-पुं० । अहंनिमप्रज्ञाति, ग० ।

तद्वृत्तं चेत्यम-

खिनिप्रतिष्ठितं नाम, पुरं गौ तत्र सोदरैः ।

अहंज्ञतोऽहंनिमप्रक्ष, ज्येष्ठभार्या लघ्वी रता ॥ १ ॥

लघुनिश्चति तां चाऽऽह, ज्ञातव मे न पश्यसि ।

पति ध्यापाद्य सा भूय-स्तभूचे न त्वमंस्त सः ॥ १ ॥

निवेदेनाऽथ तनैव, स लघुमेतमाह्वे ।

तद्रक्षा साऽपि मृत्वाऽभूत्, प्राप्ते क्राण्यसितः श्रुनि ॥ ३ ॥

साचवेऽपि ययुस्तत्र, भुन्याऽहंति मुनिः स च ।

तद्रैवाऽऽप्यास्य स्या ऋष, मुहुर्भर्तुरियाऽऽकरोत् ॥ ४ ॥

नष्टः साधुमुक्त्वा साऽथ, आनाऽऽप्यां च मर्कटी ।

तस्या एव च मध्येना-ऽऽप्या यानां कथञ्चन ॥ ५ ॥

अतन्मैनीनां तं योऽथ, प्रेरणा शिश्नेय मर्कटी ।

तां विमोक्षयाऽथ कश्चि, स कथञ्चिपस्सावितः ॥ ६ ॥

द्वत्वा तत्रापि सा अञ्ज, यक्षी तं प्रेरय साऽप्यधेः ।

वैचञ्जामेव मच्चिक्रा-णीकृते न त्वथिवात् ॥ ७ ॥  
समानवयसोऽयोचद्, इत्यस्तसं च साधवः ।  
त्वमहंमिन्न ! धन्याऽसि, यत्तुभीमकेटीभियः ॥ ८ ॥  
अन्यादा क्रमणाऽक्षुषं अलवाहं विलाङ्गितुम् ।  
प्रमादाकानिदेन, पदं प्रासारयन्मुनिः ॥ ९ ॥  
तस्य तच्छिक्रमासाद्य, सा चिञ्जेष्वाकुप्युतः ।  
स मिथ्याऽऽकृतं जल्प-कपतज्जडाद्बहिः ॥ १० ॥  
सम्यग्बहिः क्षुरी तां च, मिथ्यात्वं तं मुनेः क्रमम् ।  
तथैवास्तवयद् भूयां, देवताऽतिशयेन च ॥११॥ ग० २ अचि० ।  
आ० म० । आ० श्र० ॥

अरहंज्ञक-पुं० । तारागव्यामहंनिभाचार्यपाठ्ये प्रब्रजितया  
दृक्चयिग्याभार्या सह प्रब्रजिते पुत्रे, उच० २ अ० । (स चोष्णपरी-  
यहमसहमान उगमजित इति उग्रहपरीसह) शब्दे द्वितीयाभागे  
७५४ पृष्ठे वक्ष्यते ) अग्यामरीवासिनि देवक्षत्रकुलस्यपुत्रेण  
महीनाथाय समर्थं स्वनामख्याते सांयात्रिकवशिष्टि, ज्ञा० ।

अहंज्ञकथा-

तस्य णं चंपाए लयरीए अरहस्यपायोक्त्वा बहवे संजता  
एवावाणियाणा परिवर्तंति अट्टा जाव अपरिभूया । तए  
थं मे अरहएणेण समाणोवापमं याविवि द्वान्था अभिमथ-  
जीवाजीवे । अएणभो-तए णं तस्सि अरहस्यपायोक्त्वाए  
संजतानावावाणियाणयाणं अएणया कयाई एगअोसद्विया-  
एणं इमेया खेवे मिट्ठो क्कहांलावे समुण्यंजेत्ता । सेयं वल्लु  
अम्हं गलिणं च परिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च जंनरी  
गहाय ज्ञअणममुद्धं पोयवहणेण उवागाहितए पि कट्ठे अण-  
मएणस्स एयमहं पीयसुणेति, परिमुणेइत्ता गलिमं च ष्ट  
गिएहेइ, गिएहेइत्ता सगदी-सागमं सज्जेति, मज्जेतिता  
गलिमस्स ष्ट भंरुस्स सगदी-सागदिपं जरेति, भंरुत्ता  
सोहएणं तिट्ठिकरएणकल्लतमुहुत्तंसि विउळं अमणं पाणं  
खाइमं साइमं उवक्खवावेइ, उवक्खवावेइत्ता मिचणाइजो-  
अणवेलाए जुजावेति० जाव आपुच्छेति, आपुच्छेइत्ता ग-  
णिमस्स ष्ट जाव सगदी-सागदिपं जायेति, जायेतिता चं-  
पाए लयरीए मज्जं मज्जेणं गिण्यंजेति, गिण्यंजेइत्ता  
जेणेव गंजीरपोयपट्ठाए, तेणव उवागच्छति, उवागच्छ-  
इत्ता सगदी-सागदिपं मोयेति, पोयवहणं सज्जेति, सज्जे-  
इत्ता गलिमस्स ष्ट जाव चउविहस्स भंरुस्स जरेति, तं-  
दुसाए य समियसव य तेणस्स व धयस्स य गुहस्स य  
गोरसस्स य उदगस्स य भायणाणं य अ्रोमहाएणं येसजा-  
णं य तणस्स य कट्टस्स य आवरणाणं य पट्टरणाणं य  
अएणेसिं च बहुएणं पोयवहणपाउगाणं दब्बाणं पोयवहणं  
भरेति, जरेइत्ता सोहएणं तिट्ठिकरएणकल्लतमुहुत्तंसि वि-  
उळं अमणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खवावेति, मिचणाइं  
आपुच्छंति, जेणेव पोयघाएणं, तेणव उवागच्छति, उवाग-  
च्छतिता तए थं तस्सि अरहस्यपायोक्त्वाए वाणियाणां

ते परियणो जाव ताहिं इडाहिं कंताहिं जाव वग्गहिं अ-  
 भियंदंता य अभिमंयुयमाणा य एवं वयासी-अज्ज । ताय । ताप । माउल । जाइणेज्ज । जगवया समुदेणं अभिरत्तिल-  
 ज्जमाणा किरं नीहइ, भवं च ने; पुणरवि लक्खं कय-  
 ज्जे अणइसमग्गे णियं घरं इन्वमाणए पासामो त्ति  
 कट्ट ताहिं सोमाहिं णिक्खाहिं दीहाहिं सपिवासाहिं  
 प्पयुवाहिं दिट्ठीहिं णिरिक्खमाणा मुहुत्तमेवं संचिदंति,  
 तत्रो समाणिएसु पुप्फबलिकम्मसु दिस्सो सु सरसरचंद-  
 एददहरपंचं गुलित्तोसु अणुत्तिलचंसि धूवंसि पुइएसु समु-  
 द्वाएसु संतारियासु वसयवाहासु ऊत्तिएसु सिएसु ऊ-  
 यग्गेसु पनुप्पवाइएसु त्रेसु जइएसु मन्वसउय्येसु गहिएसु  
 रायवरसातणेषु माहिया उक्किंसीहखायं जाव रवेणं  
 पक्खुत्तिययमहासमुदरवत्तयं पि व मेइणिं करेमाणा एगदिसिं  
 जाव वाणियागा पोयणेसु उरुदा तत्रो पुत्समाणवे वकं मयु-  
 दाहु । इंभो ! सव्वेसाभाव मे अत्थासिक्खो उवट्टियाइं कडा-  
 णाइं, पट्टिएयाइं मन्वपात्रांइं, लुतो पुत्तो विजयमुहुत्तो अयं  
 देसक्कासो, तत्रो पुत्समाणए एं वकं उदाहरिए इडुतु-  
 ट्ठे कथधारकुच्छिधारग्गिज्जमत्तत्ताणावावाणियया वाव-  
 रिंसु तं एवां पुप्पुच्छं पुरणमुहिं बंधणाहिंतो मुचंति ।  
 तए एं सा एवा किमुक्कबंधणा पणववत्तसाहाया ऊत्ति-  
 यसियपदा विततपक्खा इव गच्छुत्तुवइं गंगासलिलति-  
 क्लमोयवेगेहिं संसुक्कभाणी संसुक्कभाणी उम्मीतरंगमाहा-  
 सएत्ताइं समइकमाणं । समइकमाणं कइवएहिं अट्ठारचेहिं  
 इवएसमुइं अणेगाइं जोयएसयाइं भोगादा । तए एं  
 तेसिं अरहएणगपामोक्खाणं वाणियगाणं लवणस-  
 मुइं अणेगाइं जोयएसयाइं भोगादाणं समाणाणं बहूइं  
 उप्पाइयसयाइं पाठवत्तुयाइं । तं जहा-अक्कासे गाजिए  
 अक्कासे विजुए अकाले धाणियसइं अभिकसणं अज्जि-  
 कसणं अगासं देवतथा एच्छंति । एयं च एं मइं पिसायरूवं  
 पामंति-तालजंयं दिवंगयाइं बाहाहिं मसिंसुगमहिंसका-  
 ह्मं भरियमेहवषं संबोइं णिग्गवग्गदंति जिग्गासिग्गमज्ज-  
 लुअलजीहं आऊत्तिसियवणग्गददेसं चीणचिविदनासिं वि-  
 गयजुग्गमभ्याहिं खजोयगदिचक्कुराणं उचासणं विसा-  
 लवचं जिगालकुप्पिक्क पलंबकुप्पिक्क पहवियपयलियपव-  
 दियगंतं पणचचमाणं अप्फोदंतं अभिबग्गंतं अजिग्गज्जंतं  
 बहुसो बहुसो अट्टहासो विणिमुयंतं नीलुप्पलगवल्लुलि-  
 यअयसिक्कुमुपपगासं खुरधारं असिं गहाय अज्जि-  
 मुहमाणदंतं पासंति । तए एं ते अरहखगवजा संजचा-  
 णावावाणियागा एणं च एं मइं तासपिसासं पासंति । ता-  
 लजंयं दिवंगयाइं बाहाहिं पुट्टसिरं जमरएणवरवरमास-  
 हासिमाहिसकालां भरियमेहवषं सुप्पएइं फाससुरिसणं ।

लंबोइं धवत्तवट्टअसिं झिट्ठित्तकत्थिरपीणकु भिलदाहावसू-  
 दवयणं बिकोसियधारासिजुयत्तममसरिंत्ताएयचंचलग-  
 लंतरसन्नोत्तवत्तसफुरंतं निग्गालियग्गज्जं अवयत्तियं  
 मट्टहुत्तविग्गयचं । भच्छडालापगत्तंतरत्तात्ताहुयं हिग्गुत्तसम-  
 भ्मकंदरविदं च भंजणगिरिस्स अरिगजातुग्गिग्गत्तवयणं  
 आउत्तिएअक्खवम्भोह्मंइदं देसं चीणचिविदं च कभाणासं  
 रोसागयधमधंतामरुयनिरुत्तरफरुत्तुसिरउत्तुग्गणासियपु-  
 इं घाहुत्तजहएयभीनपमुइं उह्महुत्तकस्यसकृत्तियमंतं  
 विग्गयत्तोमसंखागत्तंवेत्तकत्तियकणं पिंगलदिप्पंतोअणं  
 भिउत्तित्तिदिनत्तं एरसिरमात्तपरिएद्दविंयं विविचत्तो-  
 णसुत्तवत्तपरिकरं अवहोत्तं पुप्पुत्तं तसप्पिवत्तुग्गोत्तं-  
 दरएत्तमररदविरइयविचित्तयेत्तमालियागं जंगकूरक-  
 खत्तपपधमधंतंत्तंवेत्तकत्तुत्तं मज्जारत्तियात्तल्लगियत्तं दिवं  
 पुत्तुत्तं तपूयकयत्तुं भलत्तंरं पट्टारवेण ज्जिभजंयंकरं कायरज-  
 णदिययकोत्तं दित्तमट्टहासं विणिमुयंतं वसाहिरपूयमं-  
 समल्लिएपोषदत्तणं उच्चामणयं विसालवत्तं पेत्तंताजि-  
 णएहमुट्टएयत्तकत्तुववग्गचित्तकित्तीणवसणं सरसरु-  
 द्विरगयत्तमत्तितत्तत्तसवियवाहुत्तुत्तं ताहियं खरकत्तसअ-  
 सिणद्धित्तअट्टअत्तुमअत्तप्यअकंतवग्गहिं य तज्ज-  
 यंतं पामंति । तं तासपिसायरूवं एज्जमाणं पासति, पासत्ता  
 भीया संजातजया अत्तमएणत्तस कायं समतुंगेमाणा ब-  
 हूणं इंदाए य खंदाए य रुहसिं वसं सणखाराणं जूयाणं  
 जत्तएण य अज्जकोट्टकौरियाण य बहूण उवावाइययाइं णि  
 उवचीयमाणा चिट्ठिंति ॥ तए एं ते अरहएण समयावासए  
 तं दित्तं पिसायरूवं एज्जमाणं पामइ, पासत्ता अभीए अत्तये  
 अचलिए अंसंजंते अणाउत्ते अणुत्तग्गे अभिष्णुत्तुरागणय-  
 णवषे अदीयाधिपणमाणसे पोयवाहएत्तस एगदंमंसि वत्तं  
 तेणं नूमिं पमज्जेति, पमज्जत्ता ठाणं ठायति, ठायत्ता कत्त-  
 यं जाव त्ति कट्ट एवं वयासी-णोमोत्तुणं अरिहताणं जाव  
 ठाणं संपत्ताणं जइ णं अइं एत्तो उवसग्गो सुंचामि तो मे क-  
 प्पइ पारेत्तए, अह एं एत्तो उवसग्गतो ण मुंचामि, तो मे तहा प-  
 ब्बक्कएएत्तं ति कट्ट सागारात्तं पक्कत्ताइं । तए एं से  
 पिसायरूवे जेणव अरहएण समयावासए तेणए उवा-  
 गच्छइ, उवागच्छत्ता अरहएणं समयावासयं एवं व-  
 यासी-इंभो अरहएणगा । अपत्तियपत्तियाणं । जाव  
 एरिवजिया नो खत्तु कप्पइ तवसीलव्वयगुएवरमणप-  
 च्चक्कत्ताएपोसहोववासइं चाञ्चित्तए वा एवं खोच्चिचए  
 वा खंत्तिचए वा भंजिचए वा उच्चिचए वा परिचत्तए  
 वा तं जइ णं तुमं सीलव्वयं ण परिचचयसि, तो मे अहं  
 पोयवहणं दोहिं अग्गुत्तियाहिं गिएहामि, गेहिहत्ता सत्त-  
 इत्तलपमाएणमेचाइं उइं वेहासं उच्चिचए । अत्रो जलंति



पिच्छोमेमि जेषं तुमं अहृत्तुहृदवसे अकाले चैव जीवि-  
याओ बबरोविज्जसि । तए णं से अरहस्यए समणोवासए  
तं देवं मणसा चैव एवं वयासी-अहं णं देवाण्णिया । अर-  
हस्यए णामं समणोवासए अहियजिवाजीवे नो खलु अहं स-  
का केणइ देवेण वा दाणवेण वा० जाव गिग्गंथाओ  
पावयणाओ चात्तिए वा खोजिए वा विपरिणामिए वा  
तुमं ज्ञा सहा तं करोहिं ति कहुं अजीए० जाव अ-  
जिएणमुहरागनयणवएणे अदीणवियणमाणसे शिचल्ले  
णिच्छेदे तुमिणीए धम्मञ्जाणोवगए विहरइ । तए णं से  
दिब्बे पिसायरूवे अरहस्यं समणोवासं दोब्बं पि तच्चं  
पि एवं वयासी-इंओ अरहस्यगा ।० जाव धम्मञ्जाणोव-  
गए विहरइ । तए णं से दिब्बे पिसायरूवे अरहस्यं सम-  
णोवासं धम्मञ्जाणोवगए पासइ, पासइत्ता बलियतरां  
आसुरचे तं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाइं गिएहइ, गिएह-  
इत्ता सत्तइत्तल० जाव अरहस्यं एवं वयासी-इंओ अरह-  
स्यगा । अपत्तियपत्तिया । नो खलु कप्पइ तवसीन्नवय गृण-  
वेरमणं, तेव० जाव धम्मञ्जाणोवगए विहरइ । तए णं से पि-  
सायरूवे अरहस्यं जाहे नो संचाएइ, निग्गंथाओ चात्ति-  
ए वा तहं वंते० जाव शिचल्ले तं पोयवहणं साण्यं स-  
णियं उवरि जंजे संजेइ । संजेइत्ता तं दिव्वं पिसायरूवं प-  
त्तिसाहरइ । पत्तिसाहरित्ता दिव्वं देवरूवं विउव्वंति, अंतस्सि-  
क्खपडिक्खे तस्सिखणियं० जाव परिहिए अरहएणं सम-  
णोवासं एवं वयासी-इंओ अरहएणगा । पणोमि णं तुमं  
देवाण्णिया ।० जाव जीवियफत्ते जस्स णं तव निग्गये पाव-  
यणे इमेयारूवे पत्तिवचीं ह्हात्ता पत्ता अजिसमसागाए, एवं  
खलु देवाण्णिया । सके देविंदे देवराया सोहम्मे कप्यं सोह-  
म्मावत्तिसए वियाणे सजाए सुहुम्माए बहूणं देवाणं मज्जगए  
महया सदेणं आइक्खइ भासइ पणवेइ अरहइ । एवं खलु  
जंहुदीवे दीने जाइदे भासे चंपाए णयरीए पक्खइए सम-  
णोवासए अहियजिवाजीवे नो खलु सका केणइ देवेण वा०  
जाव निग्गंथाओ पावयणाओ० जाव परिणामिए वा । तए  
णं अहं देवा सक्कम देविंदस्स एयमं नो सहामि नो पत्ति-  
यामि नो रोचयामि । तए णं मम इमेयारूवे अब्भत्थिए०  
जाव ममुप्पजित्ता गच्छामि णं अहं अरहस्यगस्स समणो-  
वासयस्स अंतियं पाउन्नवामि जाणामि ताव अटं अरह-  
स्यं किं पियधम्मे नो पियधम्मे ददधम्मे सीस्सन्नवयगुणे किं  
चात्तेति० जाव परिच्छइ नो परिचय ति कहुं एवं मंपेहेमि  
मंपेहिन्ता ओहिं पउंजेमि, देवाण्णिया । ओरिया आओ-  
एमि उचरपुरच्छिंमं दिसीजांमि उचरपुरच्छिंमं विउव्वियं म-  
सुम्याति, ताए उक्किाए० जाव जेषेव लवणसस्ये जेषेव  
तुम्हे तेणेव उवागच्छामि, तुम्हाणं उवसमं करेमि । नो चैव

णं तुम्हे जीया वार्तं जसं सके देविंदे देवराया एवं वयंति-  
सखंणं एसमहे तं दिहेणं देवाण्णिया णं इह्ही जुइं जसे भले  
वीरिए पुरिसकारे परिक्खे लक्खे पचे अजिसमसागाए तं  
खामेमि णं देवाण्णिया तुज्जां सुज्जो० जाव णो एवं करण-  
याए ति कहुं पंजसिउके पावयवियाए एयमं वियए-  
णं सुज्जां सुज्जां खामेइ, खामेत्तित्ता अरहस्यगस्स सुवे कुं-  
रुलजुयलं दलइ, दलइत्ता जामेव दिसि पाउन्नवयं तामं  
दिसि पटिगए । तए णं से अरहएणए समणोवासए  
निरुवसग्गे ति कहुं पटिंमं परोति । तए णं अरहएण-  
गपामोक्खा० जाव बाणियगा दक्खिण्णाणुकुसेणं वा-  
एणं जेषेव गंभीरपोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छइ, उवा-  
गच्छइत्ता पोयं उवेइ । पोयं उवेइत्ता सगदी-सागदं स-  
ज्जेइ । सज्जेइत्ता गणियं च ४ सगदिं संकामेइ,  
सगदी सागदं जोवेति जेषेव मिहिला रायहाणीं तेणेव  
उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मिहिलाए रायहाणीए बहि-  
या अग्गुज्जाणं सगदी-सागदिं जोएइ । तए णं अरह-  
एणगे समणोवासए तं महत्थं विउव्वं० जाव रायगंहुं  
पाहुं कुंरुलजुयलं गिएइ, गिएइत्ता मिहिलाए रायहा-  
णीए अण्णियाविसइ । अण्णियाविसइत्ता जेषेव कुंजए राया  
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव कहुं तं  
महत्थं रायारिं पाहुं दिव्वं कुंरुलजुयलं च पुत्ताओ उवे-  
इ । तए णं से कुंभए राया तेमि संजसगाणं० जाव एदि-  
च्छइ, पच्छिच्छइत्ता मग्गिं विदेहरायवकणए सहावेइ । सहा-  
वेइत्ता तं दिव्वं कुंरुलजुयलं मग्गीए विदेहरायवकणगाए  
पिण्णइ । पिण्णइत्ता पटिक्कमज्जेइ । तए णं से कुंजए  
राया ते अरहस्यगपामोक्खे० जाव बाणियए विउव्वेणं  
वत्थं गंधमालंकारेणं जाव उस्तुक्क विपरइ । रायमगे मोगा-  
दे य आवासे वियरइ पटिक्कमज्जेइ । पत्तिविसज्जेइत्ता तए  
णं अरहएणमंजराया बाणियगा जेषेव रायमगे मोगा-  
दे आवासे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता मंगववहर-  
णं करोति पत्तिमं दे गिएइ । गिएइत्ता सगदी-सागदं भरे-  
ति; जेषेव गंभीरपोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइ-  
त्ता पोयवहणं सज्जेइ जंजं संकामेइ, दक्खिण्णाणुकुसेणं  
वाएणं जेषेव चंपा णयरीं तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता  
पोयपट्ठाणे तेणेव पोयलंवेइ । पोयलंवेइत्ता सगदी-सागदिं  
सज्जेइ । तं गणियं ४ सगदिं संकामेइ० जाव महत्थं  
पाहुं दिव्वं कुंरुलजुयलं गिएइ । गिएइत्ता जेषेव चं-  
दच्छाए अंगराया तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तं  
महत्थं कुंरुलजुयलं च उव्वेइ । तए णं चंदच्छाए अंग-  
राया तं दिव्वं महत्थं च कुंरुलजुयलं पच्छिच्छइ । पच्छिच्छ-  
इत्ता ते अरहस्यगपामोक्खे एवं वयासी-तुम्हे णं देवाण्ण-

पिया ! बहूणि गामाग्रं जाव आदिहृद लवणसमुद्ं च  
 आभिकलणं अभिकलणं पोयवहणेहि उगहेह, तं अत्रिय-  
 यादिं ते केइ काहिं वि अचरेइ दिहुमुत्तं । तए णं ते अरहस्य-  
 गपामोक्त्वा चंदच्छायं अंगरायं एवं वयासी-एवं खलु  
 सामी ! अम्हेइ इहेव चंपाए नयरीए अरहस्यगपामोक्त्वा  
 बहवे संनचानावावाणियगा परिवसामो, तए खं अम्हे  
 अद्यया कयाइं गणिंमे च ४ तहेव अहीणं अतिरिचं  
 जाव कुंजगसस रथो ठवणमां, तए णं से कुंभए राया  
 मल्लीए विदेहरायवरकषाए तं दिव्वं कुंजसुयुधं पिण्हे-  
 इ । पिण्हेइत्ता पवित्रिसज्जइ । तए खं सामी ! अम्हेइं  
 कुंजगरायभवणंसि मल्लीए विदेहरायवरकषाए अचरेए  
 दिडे एको खलु अद्या कावि तारिसिया देवकषणां  
 जाव जारिसिया णं मल्ली विदेहकणाए, तए णं चंदज्जाए  
 राया अरहएणगपामोक्त्वे सकारेइ सम्माणेइ । सम्माणेइत्ता  
 उस्सुकं विपरइ पदिनिसज्जेइ । तए णं चंदच्छाए राया  
 वाणियगजणियहामे द्यं सदावेइ । सदावेइसां जाव जइ  
 वि यं सासयं रज्जुमुक्त्वा तए णं से दूए द्दुत्तुडे पदि-  
 णुणंइ, जेषेव सए गेइ जेषेव चाउपेदे आसरहे दुस्सेउ  
 जाव पट्टारेत्यगमणाए ॥

( संज्ञानानावाणिवर्ण ) संज्ञता यात्रा देशान्तरगमनं  
 संज्ञात्र, तत्प्रधाना नीवाणिजकाः पोतवणिकः, संज्ञात्रानीवाणि-  
 जकाः । ( अरहस्ये समणोवासो यो वि होरथ सि ) न केवत्त-  
 मन्नादिपुण्युकः, अण्णापासकश्चाप्ययुत् । ( गणिंमे चंपा-  
 दि ) गणिंमे-नालिकेपुगकणादि, यइसितं सव्यवहारे प्रविश-  
 ति । अरिंमे-यत्तुलाभूते सव्यवहिते । मेयं- यत्सतिपकसादिना  
 मीयते । परिच्छेद्य-यद्गुणतः परिच्छिद्यते परीइयते वक्ष-  
 मयथादि । ( लमियस्स य सि ) कणियकायाश्च, (ओसइण य ति )  
 त्रिकटुकादीनाम् । ( मेसजाण य सि ) पथ्यानामाहारविशे-  
 षणाम् । अथवा शीयथानामेकद्वयरूपानां, अथजानां द्वयसंघा-  
 गरूपानाम् । आवरणानामरत्नकारिणां, बोधिस्यप्रकरणानां च  
 ( अज्जयादि ) आर्ये !-इ पितामह !, हे तात !-हे पितः !, हे  
 भ्रान्तः !, हे मातुल !, हे भागिये !, अगवता समुत्तुकाभिरकमा-  
 णाभिरं द्यं जीवन्, अम्हे च अमर्षानां सिगण्ये । पुनएरि  
 लब्धायांइ कृतकार्यान्, अनद्यममप्रां, अनद्ययं निर्दूषणतया,  
 सममन्वभदीअनपरिवारतया, मिजकं वृद्धं, 'हव्यं' शीप्रमाणता-  
 न् पहर्यामि इतिहृत्त्वन्विधाय, ( सोमाहिं ति ) निर्विकार-  
 थात् । ( निकाहिं ति ) सञ्जहत्यात् । ( बीहाहिं ति ) दूरं या-  
 वयवसोक्तानाम् । ( सपिनासाहिं ति ) सपिनासाभिः पुनर्वशी-  
 नाकाङ्गावशीभिः, दर्शनात्सामिभिः । ( पण्युयाहिं ति ) प्रण्युता-  
 निष्पृञ्जान्प्रीतिः, ( समाणएसु सि ) समाणितेषु इत्सेषु,  
 नाधीति गम्यते । सरसरकल्मषमन्त्र दर्दरेण चपेटाप्रकरणेण प-  
 ञ्चाङ्गुलितेषु तलेषु, हस्तकल्पितार्थः । ( अण्णुक्खिचंसीति ) अ-  
 न्णुत्तिते पश्चादुत्पादिते धूपे, पुत्रितेषु समुद्रवातेषु, नीसांवाभिक-  
 काविकार्यां समुद्राधिपवैश्यायेषु वा ( संसारिआसु बह्वया-  
 हासु सि ) स्थानातरादुचितस्थाननिवेशितेषु दीयकाण्डसज्ज-  
 णवाहुषु, आबहकंथिति संभाव्यते । तथा-उत्कृष्टवर्षीकृतेषु

सितेषु ध्वजामेषु पताकामेषु पट्टभिः पुरुषैः, पट्ट वा यथा भव-  
 तीत्येवं प्रवादितेषु तृपेषु अथिकेषु जयावहेषु, सर्वशक्येषु वा-  
 यसाविषु, गृहीतेषु राजवरशासनेषु आङ्गासु गृहकेषु वा, प्रखु-  
 जितमहासमुद्रवृक्षत्वामि तदात्मकमित्येतद् प्रदेशांमिति गम्यते ।  
 ( तत्रो पुस्समाणवो वक्खं समुत्ताइं ति ) ततोऽन्तरं भागधो म-  
 ङ्गवचनं प्रथीति स्मैत्येषु । तदेवाह-सर्वेषामिन् प्रवतामप्यसि-  
 खिमेषुत्त, उचस्थितानि कल्याणानि, प्रतिहतानि सर्वेषापानि,  
 सर्वेविघ्नाः । ( सुतो सि ) युक्तः पुष्यो मन्त्रविशेषः चन्द्रप्रसा, इ-  
 दावसरं इति स्मृत्यते । पुष्यमङ्गलं हि यावान्नां सिक्किरस्स । यदाहु-  
 ' अपि द्वादशमे चन्दे, पुष्यः सर्वायेसायनः ' इति, मागधेन तदु-  
 पन्यस्तम् । विजयो मुदुसंविशयो मुदुत्तामां मयात्त मयं देश-  
 काश्चः एष प्रमावाः गमनस्येति गम्यते । ( वक्खे वदाहिण सि )  
 वाक्पे उदाहृत, इष्टतुहाः, कर्णधारा नियामकाः, कुलिधारा नौ  
 पाभ्निपुलका आबिन्नकवाहकादयः, गर्भे भवा गमजाः ,  
 मीमयं उचवावचनकारिणः, संज्ञात्रानीवाणिकृताः, भारद्-  
 पतयः, एतेषां इन्द्रः । ( वावसुसि सि ) ध्यावुत्तवन्तः स्वस्वव्या-  
 पारिष्विति । तस्मात् नावं पूर्णास्सङ्गां विविधभाएइजुतमय्यां,  
 पुष्यमध्यां वा, मध्यभागनिवेशितमङ्गवचन्यस्तुत्वात् । पूर्णमुक्तीं,  
 पुष्यमुक्तीं वा । तथैव बन्धनेन्यां मुञ्चन्ति विसज्यन्ति पवनवल-  
 समहाता वा वातन्वाम्यात्प्रैरिताः । ( कसियसिय सि ) उक्खि-  
 तसितपटाः, यानपथे हि वायुसंप्रदायं यथा माहाः समूहाः तस्यह-  
 क्रियते । एवं वासासुपुर्मयतं-विततपक्षेव गरइसुचति । ग-  
 ङ्गासलिलस्य तीइया ये कोतोवेनाः प्रवाहवेगास्तैः संभ्रुम्ये-  
 न्ती संक्रुभ्यन्ती प्रथंमाण प्रथंमाण, समुद्रं प्रतीति । कस्यो  
 महाकुडालाः, तच्छा हस्वकण्ठाः, तेषां माहाः समूहाः तस्यह-  
 काणि, ( समतिक्रमाणि सि ) समतिक्रमन्ती । ( भोगाह सि )  
 प्रविष्टा । ( तालजयसिखादि ) तालो वृद्धविशेषः, स च दीर्घ-  
 स्कन्धो जयति । ततस्तालवच्छेदय यस्य तत्तथा । ( सिवं गयाहिं  
 बाहाहिं ति ) आकाशाप्रास्ताभ्यामतिदीर्घांश्यां भुज्यासु युक्ति-  
 स्थयः । ( मसिमुसगमदिसकाहंम ति ) मयो कज्जलं, मूषक उ-  
 ङ्कारविशेषः अथवा मर्थप्रधाना मूषा ताम्रादिधातुप्रलापनजाज-  
 नं मर्थीमूषा, मदिहपक प्रतीत एव । तद्वत्कालकं यत्तत्तथा ( अ-  
 रियमेहवधं ति ) जलजृतमेघवर्षमित्यर्थः । तथा अम्भोष्ठम्,  
 [ निमागमार्त्तं सि ] निर्गमानि मुखादप्राणि येषां ते तथा, नि-  
 गेनाप्रान्ता वन्ता वस्य तत्तथा । [ निष्ठासियजमलजुयलजीहं ति ]  
 निर्लासितं निष्ठासुम्नासिस्सारातिं यमलं ससं युगलं इयं जि-  
 ह्वोय्येनं तत्तथा । [ आऊसियवयणगंडडेसं ति ] " आऊ-  
 सिय सि , आासिय सि वा " प्रविष्टी चदने गण्डदेशी क-  
 पोसज्जागी यस्य तत्तथा । [ चीणचिदिनसासिं ति ] चीना  
 हस्ता, चिदिना च निम्ना, नासिका यस्य तत्तथा । [ विगय-  
 पुग्गमजुहिं ति ] विकृते विकारवत्यौ, भुजे, ग्रमे इत्यर्थः । पा-  
 णात्तरेण-भुमज्जमे भतीवचकं सुधी यस्य तत्तथा । [ खउजोय-  
 गदिचच्चकुरागं ति ] खद्योताको ज्योतिरिङ्गाः, तच्छादिस्तच्छ-  
 रागो लोचनरक्तवं यस्य स तथा । अज्ञानसंकमयङ्गलं । वि-  
 शालवक्त्रो विस्तीर्णोऽस्त्वम्य, विशालकुक्कि विस्तीर्णोऽरदेशम् ।  
 एवं प्रसन्नवक्त्रुक्कि [ विहासियपयलियविवाहियगत्तं ति ] प्रहसिता-  
 नि प्रहसितुमारपदानि, प्रवक्षितानि च खलपदा, प्रवक्षितानि वा-  
 प्रजातवक्षीकानि, प्रप्रतितानि च प्रकल्पेन प्रहलीभूतानि, गा-  
 ब्राणि यस्य तत्तथा । वाचनान्तरे- " विगयसुग्गमजुयपहासि-  
 यपयलियपदिहयकुलिसगञ्जोयदिचच्चकुरागं ति " पाठः । तत्र

अथरहस्य

विहते चुरेण सुवौ प्रदक्षिते प्रचक्षिते प्रपतिते च यस्य स्कु-  
 लिक्रवत् ज्योतिरकवच्च द्वा। तन्मन्त्रागम्य यस्य तत्तथा । " पशु-  
 च्चमासि " इत्यादि विशेषणपञ्चकं प्रतिनाम । ( नीलुपुलोत्या-  
 दि ) गवलं महिषशृङ्गम् । अतस्ती मासवकदेशाप्रसिद्धां धाव्य-  
 विशेषः । [ खुट्टहारं ति ] खुट्टयेव धारा यथैव स तथा तम-  
 सित, अहं, चुरो ह्यतितीक्ष्णधाराो भवति, अथयथा केशानाममु-  
 यननादिति खुट्टाशापमा अहधधरायाः कृतेति । अग्निमुखमाप-  
 तपरयन्ति । सर्वेऽपि सांयात्रिकाः, तथाईशकवज्रौ यत्कुर्वन्ति  
 तद्दशैवितुमुकमधंपिशाचस्वरूपं सविशेषम् । तेषां तद्दर्शनेचानु-  
 वदश्रिदमाह— [ तप णमित्यादि ] ततस्तत इहैशकवज्राः सां-  
 यात्रिकाः पिशाचरूपं अक्षयमाणाविशेषणं पश्यन्ति, यद्वा च अह-  
 नाभिन्कादीनां अहनुपुष्याचिततानुपुष्याचिन्वन्तस्तेषुहन्तीति स-  
 मुदायार्थः । अथवा— "तप खं ते अरदहस्यगम्य" इत्यादि गमान्तर-  
 व— "आमास देवयाधो न्चवन्ति " एतेऽनन्तरं उदहस्यम् । अत  
 एव वाचनान्तरं नेदमुपपन्नम् । उपपन्नत्वे चैवम्— " अग्निमुहं  
 आववृथासं पासंति, तप णं ते अरदहस्यगम्य नावावाणियगा  
 भीय " इत्यादि । [ तप तालापसायं ति ] तालवृक्षाकारोऽति-  
 र्दशैवेन पिशाचस्तालापिशाचः, नम । विशेषणशृङ्गं प्रागिष ।  
 [ कुट्टसिरं ति ] स्फुटितमदधनत्वेन विकीर्णो शिर इति शि-  
 रोजातन्वाकशा यस्य स तथा तम् । अमरनिकरवत् वरमाच-  
 राशिवत् महिषवच्च कालको वः स तथा तम्, भूतमेघघणम्,  
 तेषु शूर्पावन् धान्यशोधकनाजनिविशेषवत्सम्भवा यस्य स शू-  
 र्पावन्सम्भवा । काञ्चनदशजिह्वामिति— "पासं त्रिजिह्वाशतपलप्रमा-  
 णंशोभयते व्यस्यति, तेषु वृद्धिप्रतापिनमिह ब्राह्मण, तस्मा-  
 धर्म्यं इह जिह्वाया वणेषु। तिर्दुर्ध्वान्वादिभिरिति । लम्बांशुं प्रती-  
 तम् । धवज्ञानिर्वृत्तानिग्नैश्चिदाग्निविशेषत्वेन तीक्ष्णामिः, स्थि-  
 राभिर्निहन्नत्वेन, पीनाभिरुपचितत्वेन, कृटिशान्निध्यं चकृतया,  
 द्वेषुभिर्नवगृहं व्याप्तं वन्दं न यस्य स तथा, तम् । विंशतिशतस्य-  
 पीनीकाशकस्य, निगारवर्णमात्रं प्रकर्म निर्वाहोत्तुम् । अथवा—  
 कृवोयंद् युगल द्वितयं तेन समसदृशावयन्तनुव्ये तनुके प्रत-  
 लं, चञ्चलं, विमुक्तस्थेयं यथाभवत्यविभक्तमित्यर्थः । गलन्त्यौ  
 रसानिर्नैल्याद् बालां विमुक्त्यन्यौ रसलोहे ज्ञञ्चरसस्रग्भेदे  
 चपसे चञ्चलं कुण्डुरायमाणं प्रकर्म निर्वाहोत्तुम् । अथवा—  
 अग्निजिह्वं जिह्वामे इत्यर्थः, येन स तथा, तम् । ( अग्रथियं  
 ति ) प्रसारितमित्येकं । इत्ये तु यकारस्वाहास्तत्वात् । 'अग्रथिय-  
 ष' प्रसारितनुक्त्वात्वेन दृष्टं दृश्यमानमित्येकः । ( महच्छं ति ) महद्  
 विकृतं भीमस्तं लालामिः अगलत्वेन स तथा, तम् । कर्मयोग्येवैव  
 स तथा तम् । तथा हिङ्गुलकेन वणकद्रव्यविशेषेण सगमकन्दरत्न-  
 कर्णं विभं यस्य स तथा, तमिव । ( अंजणमितिरस्ति ) विभ-  
 कविपरिशाामादन्जणमिते कृष्णवर्णपर्वतविशेषम् । अथवा  
 'अवतिथय्यादि' 'हिंशुमुदत्यादि' च कर्मयोग्येवैव इत्यमा-  
 णवदनपदस्य विशेषणं कार्यम् । यस्य तमित्येवंप्रकृष्य वाक्यशेषो  
 रूप्यः । तथा अग्निज्वाला उक्ता द्रवने यस्य स तथा तम् ।  
 ( अरहस्यं ति ) संकुचने यद् अहं कर्म जलापकषेणकाशस्तद्वत् ।  
 ( अहस्यं ति ) अपकृष्टापकषेवन्ती संकुचिती गण इदंयौ यस्य स  
 तथा, तम् । अन्ये त्वाः— 'आवृणोतानि संकुचितानि अक्षाली-  
 ग्निद्वयानि कर्मं च आग्नें च गलमंदरीं च यस्य स तथा तम् ।  
 की ना इहवा ( सिदिदं ति ) सिदिदं निम्ना 'वंका' वक्ता मनेव  
 प्रज्ञा, अघोचनकुट्टितेवैष्यं, नासिका यस्य स तथा, तम् ।  
 वाधादागतः ( धममत्तं ति ) मत्ततया धमममेति शब्दं कुर्वाणो

माहते चाग्निमुहुरो निभेर, अरपरहोऽप्यन्तकेशः, ह्यु-  
 र्योरन्धयोऽयत्र तत्तथा । तदेवविषयमवहृष्टं च वक्तं नासिका-  
 पुटं यस्य स तथा तम् । इह च पदानामन्यथानिर्वातः प्राकृत-  
 त्वादिति । अताय पुरुषादिवधाप, घाटाभ्यां वा मस्तकावध-  
 विशेयाभ्याम्, चञ्जटं विकरालं रचितम्, अत एव भीषणं मुहं  
 यस्य स तथा, तम् । ऊर्ध्वमुखं कर्णशृङ्गकुर्वी कर्णविययौ ययां-  
 स्ती तथा तौ च महातिर्दुर्घोषि विकृतानि शोमानि यथास्ती  
 तथा तौ च ( संखालगं सि ) शङ्खयन्तौ च शङ्खधारकप्रत्यास-  
 नावधयाविशेषयोरालम्बो संबन्धावित्येकं, लम्बमानौ च प्रलम्बौ,  
 चक्षितौ च चक्षन्तौ कर्णौ यस्य स तथा, तम् । पिङ्गले कपिसे  
 दीप्यमाने प्रास्वरे शोचने यस्य स तथा तम् । शुकुटिः काप-  
 कृतपुत्रिकारः, सैव तन्निद्रुपुष्यासिस्तत्तथा, तथाविधम् । पाञ्च-  
 न्दरेण— शुकुटितं कृतपुत्रितं लहटं पश्य स तथा, तम् । नर-  
 शिरोमांश्या परिच्छेदं वादितं विह्वं पिशाचकतुष्टयम् स तथा,  
 तम् । अथवा— नरशिरोमांश्या यपरिच्छेदं परिणद्धं तत्रेव विह्वं  
 यस्य स तथा तम् । विविचैर्बहुविधोऽनितः सतीरुपरिवेशोऽपि  
 सुबद्धः परिकुरः सन्नाहो येन स तथा तम् । ( अथवाहं सं ति )  
 अथवा— अन्ते शोलायमानाः, [ गुण्युक्तं ति ] कृष्णवर्तं ये सर्पा  
 वृद्धिका गोधा वञ्जुरा नकुलाः सन्गटाश्च तैर्विरचिता विविशा वि-  
 विधरूपवती वैकृत्तणोसरासङ्गेन कर्कटवन्धनेन स्कन्धसम्भ्रमा-  
 प्रतया वा मालिका माला यस्य स तथा तम् । ज्ञोणः फणः  
 स कुरो रौद्रो यथास्ती, तथा तौ च कृष्णवर्णं च तौ च नीलधम-  
 मायमानौ च तावैव लम्बमानौ कर्णपूरौ कर्णान्तराण्यविशेषो य-  
 स्य स तथा तम् । मार्जारशृगालौ भगितौ नियोजितौ स्कन्ध-  
 योयंन स तथा तम् । द्वापि हीनस्थेरे यथा भवत्येव च ( चुपुध-  
 यं ति ) घृत्कारशब्दं कुर्वाणो यो घृत्कः कौशिकः स कृतेना ह्यितः  
 ( कुंजलं ति ) शंखरकः शिरसि येन स तथा तम् । घण्टाटानं र-  
 वः शब्दस्तेन भीमो यः स तथा स चासौ जयंकरश्चेति, तं, का-  
 तरजनानां इदंयं स्फोटयति यः स तथा, तम् । भीममदृष्टासं  
 घण्टारवेण भीमादिविशेषणविशेषं विमुञ्चन्तं वसार्थि-  
 रपुयमांसमैर्मैलना ( पाञ्चलं ति ) विलीना च तनुः शरारं य-  
 स्य स तथा तम्; उक्तासनकं विशालचक्रं स प्रतीते । ( पञ्चं  
 ति ) प्रेक्ष्यमाणा दृश्यमानाः, अग्निश्च अखण्डः नखाश्च मुहं च  
 नयने च कर्णौ च यस्यां सा तथा, सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा  
 कर्तुवा कृत्स्नश्च चर्मेति सा तथा, सैव निवसने परिचायं य-  
 स्य स तथा तम् । सरसे र्धधरप्रदं यत्रजन्मं तद्वित्तं वि-  
 स्तारितं यत्र तत्तथा । तदेवैवैव ( ऊसविधं ति ) चण्डितमूर्द्ध-  
 कृतं बाहुयुगलं येन स तथा तम् । तामिन्न तथाविधाग्निः, अ-  
 रपरुषा अतिकेशः, अस्तिग्ना स्नेहादिदीनाः, दीता ज्वल-  
 न्शुष्काद्योत्पापेनुत्वात् । अग्निश्च अग्निभाषाविषयभूता, अ-  
 नुशुनाः स्फुटयः, अग्निश्च अग्नीतिकरत्वेन, अकाताहाव च विस्वर-  
 त्येन या वाचस्ताग्निश्चस्ताद् कुर्वाणं प्रत्येतं तर्जयन्तं वा च-  
 इयति स्म । पुनस्तालापिशाचकर्म ( पञ्चमाणां ति ) नायं प्रत्यागच्छ-  
 नं पश्यति । ( समनुरोगामार्णां ) आग्निधन्तः स्कन्धः कार्तिके-  
 यः, रुद्रः प्रतीतः, शिवो महादेवः, वैश्वशो यज्ञनायकः, नागो  
 भवनपतिविशेषः, नृतयज्ञा व्यस्तरभेदाः, आर्षो प्रशालकपायः,  
 दुर्गा कौटुकिया, सैव सिद्धवाक्यदत्ता पूजाऽऽयुगामपुत्रकपाणि प्रा-  
 धेननामि उपयाचिनान्युपचित्वन्ते । उपयन्तिवन्तो विदधन्तिस्त-  
 ति स्मैति । अहंशकवज्रोनामियमितिकरत्वेत्योक्तं । अयुष्माह-  
 शकस्य तामाह— " तप णमित्यादि " । ( अग्रथियपरिषय

चि ) अग्रार्थिते बन्केनापि न प्रार्थते तत्प्राथम्यं इव वाः स तथा, तदात्मनश्च । पात्रान्तेण-अग्रमितः सन् यः प्रस्थित इव मुमुक्षुरित्यर्थः । स तथाच्यते, तदात्मनश्च-डे अग्रस्थितमस्त्वय ! यावत्करणात् ( तुरन्तपतलकक्षण चि ) दुरन्तानि दुष्टपथस्यानि प्रान्तात्पयसदानि ह्यङ्गानि बन्ध स तथा, तस्यात्मनश्चस । ( ईशुपुष्पावहृती इति ) हीना अस्मत्प्रभु पुण्या पवित्रा यन्तुर्देही तिथियैस्त्वय्यन्तानि स तथा । यन्तुर्देहीजातो हि किञ्च प्राभ्यान्व भवतीति । आ-क्रोशे तदाभाषे इतीति इति । [ सिरिहिरितीकाचिचवङ्गिय-रि ] प्रतीतम् । ( तबलीलभ्यव्यादि ) तपः, हीलव्रतान्यङ्ग-व्रतानि, गुणव्रतानि, विरमणानि रागादिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितदीनि, पोषधोषवासोऽष्टादि-कावित्तु, पथैदिनेपृथक्सनमाहारशरीरस्वकाराभ्यापरिपरि-पञ्चनमित्यर्थः । एतेषां ब्रह्मः [ आभिरिच चि ] नङ्कान्तर-गृहीतान् भङ्गकान्तेषां कर्तुं, सोमयित्तुमेतानेवं परिपालयामि । [ आभिरिच प ] कौञ्जिविषयान् कर्तुं, आभिरित्तुं देवताः, नङ्क-स-यानः, 'उक्ति' सर्वस्यादेश्विरतेस्त्यागेन परित्यक्तुं, सम्यक्त्व-स्यापि स्वागत इति । [ दोहै अंगुलयार्थि ति ] अङ्गुष्ठकान्तोर्ना-प्याय, अथवा-तज्जनीमध्यमाभ्यामित्ति । [ सचउतलप्यमाणमे-त्तार्थं ति ] ततो हस्ततलाजिघामो वाऽतिदीर्घो वृक्षाविशेषः, स एव प्रमाणं मानं तत्रप्रमाणं, सप्तष्टौ वा सप्ताष्टानि तत्रप्रमा-णानि परिमाणं येषां ते सप्ताष्टतत्रप्रमाणमात्राः, तान् गगनमा-गान् यावदिति गम्यते । [ उक्तुं वेहासं ति ] उक्तुं विद्यासि गगने । [ उक्त्वहामि चि ] नयामि, [ जेषु तुमे ति ] येन त्वं [ अहदुहद्वदस्ते ति ] आतस्य ध्यानाविशेषस्य यो [ बुहदु ति ] बुधेः दुःस्वयां दुर्निराधां, वशः पारतन्त्र्यं, तेन हतः पीडितः, आर्तेबुधेयवशातः । किमञ्जं नचाति ?-अस्माभिःप्रमाः [ विषयोऽभि-ज्जसि ति ] व्यपरिपथ्यस्व अपेतीभविष्यसीत्यर्थः । [ आभिरि-च प चि ] इह बलनमन्यायात्वरत्, अत्रिच । [ आभिरिच प चि ] क्रोमयित्तुं संशयोत्पादतः, तथा [ विपरिणामिच प चि ] विपरिणामयित्तुं विपरीतावषवासोत्पादत इति । 'स्ते' इति यावत्करणात् । 'तते परितेते' इति ब्रह्मस्य । तत्र भ्रान्ताः शान्तो वा मनसा, तन्तः कायेन खेदवात्, परितान्तः सर्वतः सिंघः, निर्बिघ्नस्तस्मात्पुसर्गकरणवुपरिच । [ लजेत्यादि ] तत्र लब्धो वपाज्जैतः, प्राज्ञा तत्प्रातेः, अनिसमन्वगत त सन्यासासेवतः [ आहङ्गक इत्यादि ] आख्याति सामान्येण, ज्ञाते विधेयतः । एतदेव द्वयं क्रमेण पर्यायशब्दाभ्यामुच्यते-प्रज्ञापयति, प्रकथयति । 'देवण वा दानेण वा' इत्याद्याविद् ब्रह्मस्यम् । अप-रं " किनरेण वा किपुस्तेय वा महोरगण वा गंधध्वजे च चि " तत्र देवा वैमानिको, उपोत्सको वा । दानेयं अथपतिः, ग्रेहा व्यन्तरभेदाः । 'सो लहहामिायादि' न अहधे प्रत्ययं न करांमि । [ नो पत्सयामि चि ] तत्र प्रीतिं कर्तुं प्रीतिं न करांमि, [ नो दोबयामि ] अस्माकमप्येवंभूता गुणप्राप्तिनैवेत्येवं न दक्षिणैष-यीकरांमि । [ पियधमे चि ] धर्मप्रियो, ब्रह्मधर्मो आपद्यापि ध-र्मोद्विचक्षः, यावत्करणात्पुञ्जादिविषयानि इत्ययामि । तत्र [ इक्षि-चि ] गुणद्विः, पुतिरान्तरं तेजः, वशः क्वातिः, बसं शरीरं, बीर्यं जीवमवध, पुष्टयकारोऽग्निमागविशेषः, पराक्रमः स एव नि-व्यादितस्वविषयः, लब्धादिपदानि तथैव । [ उक्तुञ्जं विषये चि ] पुञ्जमाधममजानातीत्यर्थः । ज्ञा० न अ० । स्या० ।

अरहमित्त-अर्द्धमित्त-पुं० । अर्द्धमत्तलपुञ्जातिर, यस्मिन्नासक- १६१

या प्रावृत्तयायाऽहंज्ञतो मरितः । ग० २ अ० १० । [ अर्य क- वा ' अरहस्य ' ह्यव्यपेक्ष ] इत्येतत्प्रास्तम्ये कणायै वै- धोपविद्धं मंसं निबन्धेऽप्यकादितकथा अतुक्तयोः पठ्योः पठ्य० ५० ४ अ० । प्राव० । [ ' अर्यसोऽसंहार ' शब्देऽस्मिन्नेव प्राये १०३ पुष्टेऽप्य कथा समुक्ता ]

अरह्या-अर्हता-ज्ञी० । तीर्थकरत्वे, पञ्चा० = विष० ।

अरहस्सधारक-अरहस्यधारक-पुं० । नास्ति अपरं (रहस्यं)रह- स्यान्तरं यस्मात्तद्वरहस्यम् । अत एव रहस्यं वेदशास्त्रार्थतत्त्व- मित्यर्थः । तयो धारयति अपायेन्त्यां न प्रयच्छति सोऽरहस्यधा- रकः । योग्यायैव वेदतत्त्वदायके, हृ० ६ उ० ।

अरहस्यभाभि ( ण् )-अरहस्यभाभिन्-पुं० । रहस्यस्य प्र- ष्णभस्याभावेऽरहस्यं, तद्व भजते इत्यरहस्यभाभि । अर्हति, स्या० ५ अ० । कण्व० ।

अरहस्सर-अरहःस्वर-णि० । अग्रकटस्वरे महाशब्दे, सूत्र० १ श्लो ५ अ० १ उ० । बुहदाकन्दाशब्दे, सूत्र० १ पु० ५ अ० २ उ० ।

आरुद-अरारि-पुं० । यथा०, आ० म० ङि० । आचा० । विरो० । आ० क० । श्रौ०, वाच० ।

अरि-अरि-पुं० । द्विपत्रत्यर्थिचिपुपार्थः । निर्देय रिचो, तं० । सामान्यतः शब्दो, जं० २ वृक्त० । ज्ञा० । जी० । आ० म० । आच० । जन्मान्तरवैरिणि, सूत्र० १ श्लो ५ अ० २ उ० । रयाङ्के चके, चिद्वचिदरे, वटशु कामादिषु, वाच० ४ ।

अरिजय-अरिञ्जय-पुं० । श्रीञ्जयमदेवस्य ज्ञाशतितमे पुत्रे, कटप० ७ श्लो० ।

अरिःपुत्रग-अरिचरुर्ग-पुं० । यथा० वर्गः समुदायः बहुव्री० । अरीणां बहुव्री० । वाच० । कामकोधलोत्तमानामोदमदाथे आ- न्तरशुभ्रद्वे, सूत्र० १ श्लो १ अ० ४ उ० । तथा अरयः शत्रु- बन्धेष्वां बहुव्री०, अयुक्तिः प्रयुक्तः, कामकोधलोत्तमानामवहृषोः यतस्ते शिशुपुहस्यानामन्तरङ्कारिकार्थे कुर्षन्ति । तत्र परपरि- गृहीतास्वनुदासु वा स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः, अविचल्यं पर- स्याऽस्मनो वाऽप्यायैतुरन्तवैरिणां स्फुरताऽऽस्मा क्रोधः, दानार्हेषु स्वधनाप्रदानम्-आकाण परचनप्रहणं च सोमः, दुरभिसन्धिः शरो- दो युक्तोकाशदणं वा मानः, कुलबलैश्चैविद्याकपादिनिरदङ्कार- करणं, परप्रपथंनिबन्धनं वा मरुः, निर्मोक्षमन्यस्य दुःकोत्पाद- नेन स्वस्य पृतपापार्थोचनयसंश्लेषेण वा मनःप्रमोदो इर्थः, ततोऽध्यायिषुःकर्मस्य त्यजन्मनासंवनम्, एतेषां च स्यजनीयत्त्व- मपार्थहेतुत्वात् । वदाह-- ' रादकृष्यो नाम ज्ञोः कामाद् ब्राह्मणकन्यामजिमन्वमानः सचपुत्राष्टौ विननाथ, करात्तत्र वै- देहः ॥१॥ क्रोधाज्जनेमन्त्रयो ब्राह्मणपुत्रं विकान्तः, तांजङ्गम श्रु- त् ॥२॥ सोऽदिबन्धातुर्देयमभ्याहारयमाणः, सौवरीकाजविन्दुः ॥३॥ मानाद्रवणः परदारान् प्राथयद्, बुयोऽनो राज्यादांसां च ॥४॥ मदादमन्त्रयो चूतवामानी, हेहयभाञ्जिनः ॥५॥ हर्षोऽतापिरग- स्वस्यभ्यासादयद्, बुध्मिन्सङ्गोऽहोऽर्थायनमितं ॥६॥ च० १ अ० १० ।

अरिः-अरिः-पुं० । रिः-हिंसायाम्-क० । न० । लङ्- णे, वाच० । पिबुमन्दे, प्रज्ञा० १ पद् । काके, फलविशेषे च । औ० । रुचकङ्गीपस्थे रुचकपर्वतस्य पीरस्ये पञ्चमं कूटं, द्वी० । पञ्चदशस्य तीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । प्रशस्तं, आ०

५० ५ ५० । वृषत्रासुरे, कष्टपक्षिणि, कष्टे [ रीता ] इति  
 क्वाते फेनिलफलकपुके च । पुं० । अङ्गुले मरुष्विह्ने, तमे,  
 चतुर्भुजे, सुतिकाराते, मधे च । म० । बाब० । ल० प्र० ।  
 अरिहृकुमार-अरिहृकुमार-पुं० । कौमार्ये चर्चमानेऽरिहृनेमौ,  
 " भृगुमरिहृकुमार । विचारय " कथय ७ इ० ।

अरिहृनेमि-अरिहृनेमि-पुं० । धर्मचक्रस्य नेमिष्वेनेमिः, गर्भ-  
 स्थे मात्वाऽरिहृरलमयनेमेत्पतनदशानावरिहृनेमिः । अथसर्वि-  
 र्थां भरतहोत्रजे ह्यविशेषे तीर्थंकरे, अमु० । धर्मचक्रस्य नेमिष्व-  
 नेमिः । " सत्ये धम्मचक्रस्य नेमीत्यु चि साम्बं; विलेसो ग-  
 भ्मगतं तस्स माथाय अरिहृरर्चस्यमयो [मह ति] महाइयो नेमी  
 षण्णिअमाणो सुमिण्णं विठो चि तेण्णं सोऽरिहृनेमि चि" । आच०  
 २ अ० । आ० चू० ॥

अथारिहृनेमिचरितम्—

तेणं कालेणं तेणं सम्पणं अरहा अरिहृनेमी पंच विचे  
 होत्वा । तं अहा—विचाहिं चुप, चइवा गम्भं वक्केत, त-  
 देव उक्खेवो० जाव चिचाहिं परिनिष्पुए ॥ १७० ॥

[ तेणं कालेणं इत्यादि ] तस्मिन्काले तस्मिन् समये अर्हन्  
 अरिहृनेमिः पञ्च-कल्याणकानि चिन्तायामभवत् । तद्यथा-चिन्तायां  
 च्युतः, च्युत्वा गर्भे ह्यपन्नः, तथैव चिन्ताभिज्ञापेन पूर्वोक्ताद्यो  
 वक्तव्य इत्यर्थः । यावत् चिन्तायां निर्वानं प्राप्तः ॥ १७० ॥

अथारिहृनेमिभ्यवनम्—

तेणं कालेणं तेणं सम्पणं अरहा अरिहृनेमी, जे से वा-  
 साणं चउत्थे मासे सचमे पक्खे क्वाअपहुले, तस्स णं  
 कत्तियवत्तुल्लस्य बारसीदिवसेणं अपराजिअमाओ महावि-  
 भायाओ बत्तीसं सागरोवमद्दिअमाओ अण्णंतरं चयं चइ-  
 चा इहेव जम्बूद्वीपे दांवि भारे वासे सोरियपुरे नयरे स-  
 मुद्विजयस्स रभेः भारिआए सिवाए देवीए पुव्वरत्ता-  
 वरत्ताकालसमयंसे जाव चिचाहिं गन्वत्ताए वक्केत स-  
 व्वं तदेव सुमिण्णदंसणदविण्यसेहरणाणं पत्थ जाणि-  
 यव्वं ॥ १७१ ॥

[ तेणं कालेणं इत्यादि ] तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन्  
 अरिहृनेमिः, योऽसौ वर्षाकालस्य चतुर्थो मासः सप्तमः पक्षः  
 कर्तिकस्य चतुर्दशकः, तस्य कार्तिकचतुर्दशस्य ऋद्धादिचरितस्य अ-  
 पराजितनामकाद् महाविमानाद् आभिशातसागरोपरमाणि स्थि-  
 त्तियत्र इहेशदत्त-अनन्तरं स्वयने कृत्वा अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे  
 द्वीपे भरतहोत्रे सौर्यपुरे नगरे समुद्रविजयस्य राज्ञः आर्यायाः  
 सिधाया देव्याः कुक्षीं पूर्वापरत्रास्रसमये मध्यरात्री यावत्  
 चिन्तायां गर्भतया उत्पन्नः सर्वं तथैव स्वल्पदशानकस्यसंहरणा-  
 दिवर्षेणमत्र प्रजितव्यम् ॥ १७१ ॥

अथ भगवतो अन्न, अपरिणयनं च—

तेणं कालेणं तेणं सम्पणं अरहा अरिहृनेमी, जे से  
 बासाणं पडेमे मासे दुक्खे पक्खे सावाणसुक्खे, तस्स णं  
 सावणसुद्धस्स पंचमीद्विचसेणं नवअहे मासाणं बहुपादिपुष्पाणं  
 जाव चिचाहिं नक्खसेणं चंदयोगमुवागणं आरोगेगाऽऽ-  
 रोगं दारयं पयाया, अन्न्यां समुद्विजयाजिहायेणं नेपव्वं०

जाव तं होक्क णं कुमारे अरिहृनेमी नामेणं ॥

[ तेणं कालेणं इत्यादि ] तस्मिन्काले तस्मिन्समये अर्हन्  
 अरिहृनेमिः, योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासः, द्वितीयः पक्षः  
 भावणशुद्धा, तस्य भावणशुद्धस्य पञ्चमीद्विचसे नवभु मासेषु  
 बहुपरिपूर्णेषु सत्सु भावविमानक्षेत्रे चन्द्रयोगानुपाकते सति अ-  
 रोगा शिवा अरोगेन दारकं प्रजाता । अत्रोत्सवः समुद्रविजया-  
 निधानेन ज्ञातव्यः, यावत् तस्माद्भवतु कुमारोऽरिहृनेमिर्नाम्ना  
 कृत्वा, वसमाद् भगवति गर्भस्थे माताऽरिहृरलमयं नेमिं चक्र-  
 चारं स्वनेऽदाह्वीत्, ततोऽरिहृनेमिः, अक्राराय्येन अमङ्गल-  
 परिहाराद्येत्वाच्च अरिहृनेमिरिति । रिहृशब्दे हि अमङ्गलथा-  
 विति । कुमारस्तु अपरिणीतत्वात् । कथय० ७ इ० । उच० ॥

अपरिणयनं तु एवम्—एकदा यौवनाभिमुखं नेमिं निरीक्ष्य  
 शिवा देवीं समवदत्—वत्स ! अमुन्मथस्य पाणिग्रहणं, पूर्य  
 चास्मन्मनोरथम् । स्वामी तु योग्यां कन्यां प्राप्य पारिण्यथामिति  
 प्रत्युत्तरं ददौ । ततः पुनरेकदा कौतुककारितोऽपि जगवान्  
 मिश्रमेरितः संकीर्तमानः कृष्णापुच्छशाशायामुपागमत् । तत्र कौतु-  
 कास्तु कैमिर्भ्रैविहृताऽदुःखस्य कुलासक्तकथक्चक्रं आमितधान्,  
 शाङ्गे धनुर्गुणालवक्रामितवान्, कौमोदकीं गर्दां पृथिव्युपाटि-  
 तवाद्, पाञ्चजन्यं शङ्खं च मुने धृत्वा आपूरितवान् । तदा च—

“निर्भूत्वाऽऽनामसूले प्रजाति गजगणः अएजयत् वेधममालां,  
 धावन्पुण्ड्रित्ये बन्धान् सपदि हरिदया मन्त्रुरायाः प्रणष्टः ।  
 शम्भुद्वैतं समस्तं बधिरितमनवत् तत्पुंरं व्यग्रमुग्रं,  
 श्रीनेमेवैक्वथपप्रकटितपवनेः पूरिते पाञ्चजन्ये ” ॥ १ ॥

तं तादृशं च शब्दं निशम्योत्पन्नः कोऽपि वैरीतिव्याकुलचित्तः  
 केशवस्त्वितिमेषुधाराशालास्तु, दृष्ट्वा च नेमिं कचित्तो  
 निजजुज्वलतुलनाय 'आवाच्यां बलपरीक्षा क्रियते' इति  
 नेमिं वदंस्तेन सह मद्भाकाटकं जगाम । श्रीनिमिराद—  
 “अनुचितं ननु भूयुऽनादिकं, सपदि बान्धवयुक्तमिहाययोः ।  
 बलपरीक्षणं कुरु भुजबासनं, भवतु नाथ्यरक्षः अह्य युज्यते ” ॥ १ ॥

ज्ञान्यां तथैव स्वीकृतम्—

“ कृष्णप्रसारितं बाहुं, नेमिर्नेत्रहतामिव ।  
 शृणालदएवचक्षुःश्रं, वाङ्मयासास लीङ्गया ” ॥ १ ॥  
 श्याकानि नेमित्तिजस्य बाहौ, ततः स श्याकासृगवक्षिन्नः ।  
 चक्रं निजं नाम हरियेधार्थे—सुघृष्टिवाद्द्विगुणसितास्यः ॥ २ ॥  
 ततो महताश्रपे पराक्रमेण नेमित्तुजेऽव्यक्तिते सति विषहृचित्तः  
 कृष्णो मम राज्यमेव मुनेन गृह्णीष्यतीति चिन्ताऽऽनुरः स्वक्षिप्ते  
 चिन्तायामास—

“ क्लिश्यन्ते केवलं स्मृताः, सुघ्रीस्तु फलमभ्युते ।  
 ममन्व शङ्करः सिन्धुं, रत्नान्यापुर्दिबौकसः ” ॥ १ ॥

अथवा—

“ क्लिश्यन्ते केवलं स्मृताः, सुघ्रीस्तु फलमभ्युते ।  
 वन्ता वलन्ति कष्टेन, जिह्वा मिलति जीवाया ” ॥ १ ॥

ततो बलमकेण सहऽऽप्लोचयानि-किं विधास्ये, नेमित्तु राज्य-  
 विपुर्बलवाञ्छे ? तत आकाशवाणी प्राञ्जुरभूत्—अहो इरे ! पुरा  
 नेमिनाथेन कथितमानीद्—यद्यत् ह्यविश्वस्तोर्धेकरो नेमिनाया  
 कुमार एव प्रमाजिष्यतीति कृत्वा निष्क्रान्तो निष्वाद्यर्थे नेमिना  
 सह जलक्रीडां कर्तुमन्तःपुरीपरितः सरोऽन्तरे प्रविष्टः । तत्र  
 च—“ प्रणयतः पुरिञ्ज करे जिने, हरिरेवशयदाह सरोऽन्तरे ।

तदनु शीमलासिञ्जत मेमिन्, कनकगुण्डलैस्तुल्यगाधिः ॥ १ ॥  
 तथा इत्थिषीप्रमुखागापिका अपि हापितवाद् , यद्यं मेमिमि-  
 शूङ्गं कीदृश्या पाणिप्रहाभिसुकीकार्यैः । ततश्च ता अवि-  
 "काश्चिद् केसरसारदीनरिक्तेराचोदयन्ति प्रभुं,  
 काश्चिद् वन्धुपुत्र्यकन्दुकनरैर्निर्गन्ति बह्वःस्थलः ।  
 काश्चिद्वीच्यकदाकृशयविशिरीकैर्विद्वन्ति नमोक्तिभिः,  
 काश्चित्कामकाशिलासकुशला विश्वापयाञ्जकिरे ॥ १ ॥

ततश्च-

"तावन्व्यः प्रमदाः सुगन्धिपयसा स्वर्णदिग्दर्शयुगं ,  
 न्यूया तज्जलमिर्करैः पूषुतरेः कर्तुं प्रभुं श्वाकुसुम् ।  
 प्राथसन्त मिथो इस्मित सततं कीदृशसन्मानसा-  
 स्तायद्योमनि देवगीरिति समुद्रता भूता चार्कलैः ॥ १ ॥  
 मृधाः ह्य प्रमदाः । यतोऽमरगीता पीर्षाणनाथैश्चतु-  
 ष्षष्ट्या योजनमानवकण्डुरैः कुम्भैः सहसाधिकैः ।  
 बाल्येऽपि स्नपितो य एव भगवान्नाभूमनामकुसुमः,  
 कर्तुं तस्य सुयज्ञतोऽपि किमहो ! गुप्ताभिरिशिष्यते ? ॥ ३ ॥  
 ततो मेमिरपि हरिं ताञ्च सर्वान् जलैराच्छोद्यति स्म , कमल-  
 पुष्पकानुकैस्ताडयति स्म , इत्यादि स्वविस्तरं जलकीडां कृत्वा  
 तटमागत्य मेमिं स्वर्णसने निवेश्य सर्वान् अपि गोप्यः परिवे-  
 द्य स्थिताः । तत्र कश्मिणी जयी -  
 " निवाहकातरतयोच्छेदसं न यस्य,  
 कन्यां तदेतद्विचारितमेव मेमे ।  
 भ्राता तवास्ति विवितः सुतारं समर्थो,  
 द्वाभिशतुन्मिनसहस्रवधुर्विषोडा ॥ १ ॥  
 तथा सत्यमाऽप्युवाच -

"श्वेनमुष्याजिनाः कारपीडनं,  
 विदधिरै दधिरै च महीशाम्भ ।  
 बुधुजिरे विषयोञ्च बहून् सुताद,  
 सुबुधिरै शिवप्रपद्य जेमिरे ॥ २ ॥  
 त्वमसि किन्तु नयोऽथ शिवंगमी,  
 नृशमरिष्टकुमार ! विचारय ।  
 कलय देवर ! चाकगृहस्थतां,  
 रचय बन्धुमनःसु च सुस्थताम् ॥ ३ ॥  
 अथ जगाद् च जाम्बवती जवात् ,  
 शूद्र पुरा हरिवंशविनूषण्य ।  
 स मुनिमुत्पततीर्षपतिरुच्यम् ।  
 शिवमगाविह जातसुतोऽपि हि ॥ ४ ॥  
 पञ्चावतीति समुवाच विना बधुटीं,  
 शोभा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।  
 नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,  
 चिम्बासमेव विट एव भवेद्भायः ॥ ५ ॥

गांधारी जयी-

"सज्जन्ध्यात्राद्यज्ञसकृत्कार्य-  
 पर्वोत्सवा वैशमविवाहकृत्यम् ॥  
 वटागिकापुंक्षुपपर्येदश्च ,  
 शोभन्त यतानि विनाऽङ्गानां नो ॥ ६ ॥  
 गौर्षुवाच-

"अज्ञानमाजः किञ्च पक्षिणोऽपि,  
 क्तिता परिभ्रम्य वसन्ति सायम् ।  
 भीनै स्वकाम्नासहिताः सुखेन,

ततोऽपि किं देवर ! मूढबद्ध त्वम् ॥ ७ ॥

सहमाप्याव्यथोवाच-  
 "स्नानादिस्वर्षाङ्कपरिक्रियायां,  
 विचक्षणः प्रीतिरस्माभिरामः,  
 सुकल्पमात्रं विदुरैः सहायः,  
 कोऽप्यो प्रवेष्टनमृतं प्रियायाः ॥ ८ ॥

सुनीमाऽप्यवतीर-  
 "विना प्रियां को मूढमागतानां,  
 प्रापुर्णकानां मुनिस्सत्समाग्य ॥  
 करोति पूजाप्रतिपत्तिमन्यः,  
 कथं च शोभां लभते मनुजः ? ॥ ९ ॥

एवमप्यास्तामपि गोपाङ्गानां बाष्पोपुष्या यदुनामप्राहाण  
 मौनबलम्भितमपि स्मितनानं जिने निरीच्य , "भानिचिकमनुम-  
 तम्" इति न्यायात् मेमिना पाणिप्रहायं स्वीकृतमिति तामिवाह-  
 मुद्घोपितम् , तथैव जनोक्तिरिति । ततः कृष्णोऽप्रसेनपुत्री रा-  
 जीमती मर्गिता , लग्नं पृष्टं , कोष्टिकनामा ज्योतिर्विद्यं प्राह-  
 "वर्षासु गुणकायोनि, नाभ्यान्वपि समाचरेत् ॥  
 युहिणां मुक्ककार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा ? ॥ १ ॥  
 समुद्रस्ते बभाषेऽथ , कालक्षेपोऽथ नादिति ।  
 नेमिः कथञ्चित् कृष्णेन, विवाहाय वर्धसितः ॥ २ ॥  
 मा भूत्त्रिवाहप्रत्यहो, नेदीयस्तहिनं वदं ॥  
 आवणे मसि तेनोका, ततः पृथी समुज्जस्य ॥ ३ ॥

वसितश्च भीमिङ्कुमारः स्फारगुह्यारः प्रजाप्रमोहकरो रथा-  
 कटो धृतऽसतप्रसरः श्रीसमुद्रविजयादिदर्शाहंकेशयवसन्नभ्रा-  
 दिविशिष्टपरिवारः शिवादेवंप्रमुखममराजगीरिमानधममङ्गल-  
 विस्तरः पाणिप्रहायणं भ्रततो गच्छेच्च वीच्य सारार्थिं प्रति-  
 कस्येदं कृतमङ्गलमरं धवसमदिदम् , इति पुष्टवान् । ततः सोऽभू-  
 द्ब्रह्मण्ये द्रयन्द इति जगाद् - "अप्रसेननृपस्य तव श्वशुरस्यायं  
 प्रासाद् इति, इमे च तव भाषायां राजीमत्याः सख्यौ चन्द्रान-  
 ना-सुगलाञ्चनानिधोने मिथो वात्स्यतः । तत्र सुगलाञ्चना वि-  
 श्लोक्य चन्द्राननां प्राऽह-ह चन्द्राननः । श्रीवर्गे एका राजीमत्य-  
 च वर्षणीया, यस्या प्रथमेताश्चो वरः पाण्डि ब्रह्मिष्यति । चन्द्र-  
 वदनाऽपि सुगलाञ्चनामाह-

"राजीमतीमद्वुतकपरम्यां, निमोय धाताऽपि यदीहरोम ॥  
 वरेण नो योजयति प्रतिष्ठां, भ्रमेत विज्ञानविचक्षणः कायः ? ॥ १ ॥  
 इतश्च नृपेश्वर्यमाकर्ष्य तामुद्घाद् राजीमती सर्वात्म्ये प्राहा  
 हे सख्यौ ! अथतीभ्यामेव सामम्बरमागच्छापि वरो विश्लोक्य-  
 तः, ब्रह्मपतिं विज्ञोकापितुं न लभेयमिति बलात्तदन्तरे स्थित्वा  
 नेमिसालोक्य सास्वयं विन्तयति स्म-

"किं पातालकुमारः ? किं वा अकरवञ्चः सुरेन्द्रः किम् ? ॥  
 किं वा मम पुण्यानां, प्राभारो मूर्त्तिमानेव ? ॥ १ ॥  
 तस्य विधातुः करयो-रामानं सुपुङ्गवं करोमि मुदा ।  
 येनैव वरो विदितः , सौभाग्यप्रभृतिगुणराशिः ॥ २ ॥  
 सुगलाञ्चना राजीमत्यभिरागं परिज्ञाय स्वपीतिहासं-  
 हे सखि ! चन्द्रानने ! समप्रगुणसम्पुर्णपि अस्मिन् वरे एकं वृष्यं  
 ब्रह्मस्येव, परं वटाधिपत्यां राजीमत्यां श्रुतवत्यां वक्तुं न शक्य-  
 ते । चन्द्राननाऽपि-हे सखि ! सुगलाञ्चने ! मयाऽपि तद् इदं,  
 परं साम्प्रतं मौनेववाचशीर्यीयम् । राजीमत्यपि वृष्या मज्ज-  
 तां दर्शयन्ती-हे सख्यौ ! यस्याः कस्या भवि सुवनादुत्तमा-  
 भ्यधन्यायाः कन्याया इयं वरो व्रतु, परं सर्वैषुगुणैरेऽस्मि-

न वरं दूषणे तु दुग्धमप्यात् पूतरकर्षणप्रयामसम्भवाव्यमेव ।  
नदनु ताभ्यां सविनादं कथितम्-भो राजीमति ! वरः प्रथमं  
गौरा विनाशयेत्, अपरं गुणरत्नु परिचये सति ज्ञायते । तस्मात्त्वे  
तु कञ्जलानुकारामेवासिम्हं द्रव्यते । राजीमती सर्वे सख्यौ प्र-  
त्याह-अथ यावत् युवांस्तुरे इति मम प्रभोऽप्यवत्, साम्प्रतं तु स  
ममः । पत् सकलगुणकारणं इयामत्वं दूयसामपि दूयत्यनवा  
प्रकृतितम्, गुणतु तावत् साधवाभीपूय भवत्यौ इयामत्वं इया-  
मवस्वाश्रयणे च गुणान्, केवलगीरत्वे दोषाश्च । तथाहि-  
“नू? चित्तवहिर अगुरु ३, कयुरी ४ घण ५ कर्णोविगाद केसा ७,  
कसवट ८ मती ए रथ्यौ १०, कसिपा एप अणम्यफला ॥” ११ ॥  
इति कृष्णत्वं गुणाः ।

“कपूरं अंगारं १, चंदे चिषं ३ कर्णोविगाद कषणं ३,  
वृक्षं मरिय ४ चित्तं, रेहा ५ कसिपा वि गुणहेतु ॥” १२ ॥  
इति कृष्णवस्वाश्रयणे गुणाः ।

“क्षारं सवणं १ दहिणं, द्विमं च २ अहगौरविगाहो रोगी ३ ।  
परवसगुणो अशुभो, केवलगौरवत्त्वेऽवशुभा ॥” ४ ॥

एवं परस्परं तासां जल्पे जावमाने भीनेमिः पशुनामालंस्वर  
भुवा साकेपम-दे सारथे । कोऽयं दारुणः स्वरः? सारथः प्राह-  
युष्माकं विवादे भोजनहृते समुदायैरुतपशुनामयं स्वरः, इत्युक्तं  
स्वामी चिन्तयति स्म । चिन्विवादाहेरवत्, यत्रानुसवोऽर्थाप्रां जी-  
वानाम् । इतश्च-“ इहो! सविधो ! कि मे दहिण चकसु  
परिकुड्ड १ चि” बद्धसौ राजीमतीं प्रात सख्यौ प्रतिहतमम-  
कूलम्, इत्युक्त्वा श्रुत्युक्तारं कुर्याः नेमिस्तु हे सारथे । रथिनेना  
निवर्षये । अत्रान्तरे नेमि पश्यन्को दहिणः स्वप्रोवाय हरिणो-  
र्थापि पिपाया स्थितः । “ अत्र कविघटना ”-स्वामिने निरीक्ष्य  
हरिणो हृते-

“ मा पहरसु मा पहरसु, पुं मह हिययहगिर्गि हरिणि ।  
सामी ! अहं मरणं, वि तुस्सहो पियतमाविरहा ” १ ॥ १ ॥  
हरिणी नेमिमुखां निमाप्य हरिणं प्रति हृते-  
“पसो वसन्नवयसो, तिदुयणसामी अकारणं बंधु ।  
तथिवषणंधसु बल्लहं, रक्षत्यं सव्यजीवाणं ॥” २ ॥

हरिणोऽपि पत्नीप्रेरितो नेमि हृते-

“ निरुद्धरणीरप्याणं, अररगततणमकृष्णं च वणयासे ।  
अम्हाणु निरवराहा-ण जीवियं रक्षस् रक्ष पदेः ॥” ३ ॥

एवं सर्वेऽपि पशवः स्वामिने विरूपयन्ति । तावत्स्वामी वभाये-  
भोः पशुरङ्गकाः । मुञ्चन् मुञ्चन् इमान् पशून्, नाहं विवादां क-  
रिष्ये । पशुरङ्गकाः भीनेमेववसा पशुमुञ्चन्ति स्म । सारथिरपि  
इदं निवर्षयति स्म । अत्र कविः-

“ हेतुरिन्दोः कलङ्के यो, विरेदे रामसीतयोः ।  
नेमे राजीमतीरयगे, कुरङ्कः सत्यमेव सः ॥” १ ॥ इति ।  
समुद्रविजयशिषाचिजयशिषादेविसुष्माजनास्तु शीघ्रमेव  
इदं स्मलयति स्म । शिवा च सथाप्य हृते-

“ परथेमि जणपिबद्ध-वच्छु ! तुमे पदमपत्यं किपि ।  
काऊख पाणिमहणं, मह वंसे निअवधुवययो ॥” १ ॥ १ ॥  
नेमिराह-

“मुञ्चाग्रहसिमं मात !-मांतुषीषु न मे मनः ।  
मुकिष्ठीसङ्गोत्करह-मकुण्डमवतिहते ॥” १ ॥ १ ॥

यतः-  
“था रागिणि विरागिण्य-स्ताः स्त्रियः को निवर्षते ? ।

अतोऽहं कामये मुक्तिं, या विरागिणि रागिणी ” १ १ ॥

ह्लादि ।  
राजीमती-हा देव ! किमुपस्थितमित्युक्त्वा मुक्तीं प्राप्ता, स-  
खीभ्यां बन्धनक्षेत्राभ्यासिता कथमपि लक्ष्यसंज्ञा सखायं  
गाढस्वरेण प्राह-

“ हा आयकुलदियणरं, हा निचमनाणु ! हा अगसरण ! ।  
हा करुणावर ! सामी !, मं मुण्णं कहं बलिभो ? ” १ १ ॥  
“ हा हिअय थिठ ! विट्टु !, अज्ज वि विलुज्ज ! जीविभं वहस्सि ।  
अअथ बट्टारभो, जह माहो अलसो आणो ” १ २ ॥

पुनर्निःहवस्व स्तोपासन्नं जगाद-

“ जह सयलसिअच्छा-ह मुत्थिगणिप्राह घुच । रत्तोऽसि ।  
-ठा एवं परिणयणा-रंमेण विरंविआ किमदं ? १ ३ ॥

सप्यापै.मरोवध-

“ लोअपसिखी वधमी, सविप इक्क सुणुणंज । ”  
सरत्तं विरले सामल्लं, खुक्किम विदो करिउज्ज ॥ १ ॥  
पिमरहिअम्मि पिअसहि ! पअम्मि वि किं करेसि पिअभायं ? ।  
पिमपरं कि पि वरं, अअपरं ते करिस्सामो ” १ २ ॥  
राजीमती कर्णो पिपाय हा ! अभायं किं भावयथ-  
“ जह कह वि पच्छिमाय, उदयं पावह दिणयरो तह वि ॥  
मुण्ण नेमिनादं, करेमि नाहं वरं अणं ” १ १ ॥

पुनरपि नेमिने प्रति-

“मन्नुत्तिरुक्काधिकमेव दत्तं, त्वं थावकभ्यो गृहमगतभ्यः ।  
मयाऽथयन्मया जगतामधीशु, इहस्तोऽपि हस्तोऽपि नैव लक्ष्यः २ ॥

अथ विरका राजीमतीं प्राह-

“ जह वि हु एअस्स करो, मज्ज करे नेो भास्सि परिणयसे ।  
तह वि सिरे मह सुअिअ, विक्कामसमप करो होहो ” १ ३ ॥  
अथ नेमिने सपरिकरः समुद्रविजयो जगै-  
“ नानेबायाः हतोऽहोः, सुक्तिं जन्मुज्जिनभ्याः ।  
ततोऽप्युक्थेः पदं ते स्यात्, कुमारअक्ष बाहिणः ॥ १ ॥  
नेमिराह-हे तात ! कीणभोगकामोऽहमस्मि । किञ्च-  
“ पकळीसंभ्रदं ऽनन्त-जन्तुसंघातघातके ।  
जवतां जवता-तेऽस्मिन्, विवादे कोऽयमाग्रहः ? ” १ १ ॥

अत्र कविः-

“ मन्येऽङ्गनाविरकाः, परिणयनेभिणेण नेमिरागय ।  
राजीमतीं पूर्वमेव-प्रम्या समकेतयमुक्त्वा ” १ १ ॥

कुमारवस्थायास-

अरहा अरिष्टनेमि ! द्रवत्वे० जाव तिसि वाससया-  
ई कुमारे अगानवासमज्जे वसित्ता पुणरवि भोगंतिपहिं  
सव्वं ते चेव भाणियव्वं० जाव दाणं दाइयाणं परि-  
भाइत्ता ॥

अहं अरिष्टनेमिः दृष्टः, यावत् त्रीणि वर्षशतानि कुमारः सन्  
गृहस्थावस्थामभ्ये उपात्वा पुनरपि लोकान्तिकिरित्यादि सर्वे  
नदेव पुत्रोक्तं भणितव्यम् । लोकान्तिका देवा यथा-“ जय नि-  
जितकन्दर्प !, जन्तुजातामयप्रद ! । नित्योत्सवाश्रयतारायै, माध !  
तीर्थ प्रवर्षय ” १ १ ॥ इति स्वामिने प्रोच्य स्वामी धार्मि-  
कदानानन्तरं त्रिसुवनमानन्दविष्यतीति सुसुहादिविजयादीन् प्रो-  
त्साहयति स्म । ततः सर्वेऽपि सन्तुष्टाः दानविधिस्तु श्रीधो-  
रवद्वं ह्यः । १२२ ॥ कल्प० ७ क्तः । १० ।

अथ निष्कमणश्च-

जे से वासाणं पदमे माने वुषे पक्वले सावणमुष्के, तस्स णं सावणमुष्कस्स उट्ठीपक्वलेणं पुण्णएहकासममयांसं उ-  
त्तरकुराप सियाए तदेवमणुआसुराप परिसाए समाणुग-  
म्यमाणेजाव वारवईए पयजं पय्ज्जेणं विनाएच्छइ । निगा-  
च्छइत्ता जेषेव रेवपए उज्जाए तेणेव उवागच्छइ । उ-  
वागच्छइत्ता असोणवरपायवस्स अद्दे सीयं उवेइ । उवेइत्ता  
सीयाओ पक्वोरुइइ । पक्वोरुइत्ता सयमेव आभरणमहालं-  
कारं भोगुयइ । ओमुयइत्ता सपमेव पंचमुट्ठियं सोयं करेइ । क-  
रेइत्ता उट्ठयं जचेणं अपाणएणं विच्चाहिं नक्वत्तेणं जोग-  
मुवागएणं एणं देवदूसमादाय एणेणं पुरिससहस्सेणं स-  
दिं मुंइ भविता आगाराओ आणगारियं पव्वइए ॥ १७३ ॥  
( जे से वासाणं पदमे इत्यादि ) योऽसौ बर्षाकालस्य प्रथमो मासो  
द्वितीयः पक्षः-आवणस्य शुक्लः पक्षः तस्य आवणशुक्लस्य षष्ठीदि-  
वसे पूर्वाह्नकालसमये उत्तरकुरायां शिविकायां स्थितो देवम-  
नुष्यासुरसंहतिस्तथा पर्वदा समनुगम्यमानो यावद् द्वारवत्या  
नगर्यां मध्यभागे निगच्छति । निगत्य यत्रैव देवतकमुधानं तथैव  
उपागच्छति । उपागम्य अशोकनामवृक्षस्य अश्वस्तान् शिविकां  
स्थापर्याताः संस्थाप्य शिविकातः प्रत्यवतरति । प्रत्यवतीत्यं स्वयमे-  
व आभरणमालयाङ्गान् न अवमुञ्चति, अवमुञ्च्य स्वयमेव पञ्चमै-  
ष्टिकं लोचं करोति । कृत्वा च पश्चेन भंकेन अपानकेन जलरहितं  
चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागतं सति एकं देवदृष्यं शूरीत्वा  
पकेन पुरुगणां सहस्रेण सार्द्धं मुग्धो ज्ञावा प्रहृत्पाराभिष्क-  
म्य सायुतां प्रतिपन्नः ॥ १७३ ॥ कल्प० ७ क० । स० ।

अथ केवलशोपादः-

अरहा अरिष्टनेमी चउपपन्नं राइंदिययाइं निच्चं वोसट्टकाए  
तं चेव सव्वंजाव पणपन्नसस राइंदियसस अंतरा वट्टमा-  
णस्स जे से वासाणं तवे माने पंचमे पक्वले आसांसयवहु-  
ले, तस्स णं आसांसयवहुलसस पन्नसीपक्वलेणं दिवससस  
पच्चिमे ज्ञाप उट्ठिंजतसेजानिहंई वेपसस पायवस्स अद्दे  
अट्टमेणं जचेणं अपाणएणं विच्चाहिं नक्वत्तेणं जोगमु-  
वागएणं जाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते० जाव जाण-  
माणे पासमाणे निहुरइ ॥ १७४ ॥

( अरहा अरिष्टनेमी इत्यादि ) गहंन् अरिष्टनेमिः अनु-  
षण्डात्तान् अहोरात्रान् यावद् नित्यं व्युत्सृष्टकायः तदेव-पूर्वांक  
सर्वं वाच्यं यावत् पञ्चपञ्चाशत्समस्य अहोरात्रस्य अन्तरा  
वर्तमानस्य योऽसौ बर्षाकालस्य द्वितीयो मासः, पक्षमः पक्षः-  
आश्विनस्य कृष्णपक्षः, तस्य आश्विनवदुलस्य पञ्चदशे दि-  
वसे दिवसस्य पश्चिमे भागे उज्जयन्तनामशैलस्य शिख-  
रे वेतसनामवृक्षस्य अश्वस्तात् अट्टमेन भंकेन अपानकेन ज-  
लरहितं चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति शुक्ल-  
ध्यानस्य मध्यभागे वक्ष्यमानस्य प्रनोरनन्तं केवलज्ञानं तत्र  
मुग्धपन्नं यावत् सर्वज्ञावाद् जानन्न पश्यंश्च विहरति, तत्र  
केवलज्ञानं देवतकस्यै सहस्राब्जवयं समुत्पद्ये, तत उपाग-  
यालको विष्णोर्भ्यजिह्वपत् । विष्णुप्राप्य महर्ष्यां जगव-  
१६२

त्वं बन्दिनुमाययी । राजीमत्यपि तवागता । अथ प्रमोदंश-  
नां निशम्य वरहचतुः सहस्राद्यनुगमुयुतो व्रतमावह । इ-  
रिणा च राजीमत्याः स्नेहकारणं पृष्ट प्रहृष्टधनवतीजवादा-  
रम्य तथा सह स्वस्य नवभवसन्त-धमाचोह । तथाहि-प्रथ-  
मे भवेऽहं धननामा राजपुत्रः, तदेयं धनवती नाम्नी म-  
त्यक्षी अमृत १ । ततो द्वितीये भवे प्रथमे देवबलीं आर्षां  
देवदेव्यी २ । ततस्तृतीये भवेऽहं विजयतिनामा विद्याधरः,  
तदेयं रत्नवती मत्यक्षी ३ । ततश्चतुर्थे प्रथे चतुर्थे कट्ठे द्रा-  
वापि देवी ४ । पञ्चमे भवेऽहं अपराजितराजा, एषा भ्रुव-  
तमा राक्षी ५ । षष्ठे एकादशे कट्ठे द्रावापि देवी ६ । स-  
प्तमेऽहं शङ्खो नाम राजा, एषा तु यशोमती राक्षी ७ । अ-  
ष्टमेऽपराजिते द्रावापि देवी ८ । नवमेऽहमयम्, एषा राजीम-  
ती ९ । ततः प्रहृष्टस्वयं विहृत्य क्रमात्पुनरपि देवतके सम-  
वासरत् । अनेकराजकन्यपरिचुला राजीमती तदा रथनेमि-  
श्च प्रलुपाथ्यै शोकां जहदुतः । अमृता च राजीमतीं प्रहृष्टं न-  
स्तुं प्रतिमज्जतीं मार्गं वृष्टया बाधिता । एकां च मुहं प्राविशत् ।  
तस्यां च मुहारां पृथे प्रविष्टे रथनेमिमज्जानती सा किलक्षानि  
वक्ष्याणि शोषयितुं परितन्त्रिक्षेपे । ततश्च तामपहसितत्रिदश-  
तरुणीरामणीयकां साक्षात् कामरमणीमिव रमणीयां तथा  
विवसानां निरीक्ष्य आतुर्वैरादिं वदन्नेन मर्मैश्च हतः कुलस्त-  
ज्जासुमुञ्च्य धीरतामवधाय रथनेमिस्तां अगाद-

“ अयि ! मुन्दिरि ! किं देहः, शोष्यते तपसा त्वया ? ।  
सर्वोङ्गसोपसंयोग-योग्यः सौभाग्यशोषिणः ॥ १ ॥  
आगच्छ स्वच्छेद्यया भद्रे ! कुण्डं सहस्रं जनुः ।  
आवाप्तुमावपि प्राप्ते, चाख्यावत्सर्पावधिभम् ॥ २ ॥  
ततश्च महासती । तवाकपये तं दृष्ट्वा च भूतान्तर्धेयां तं प्रत्युवाच-  
‘ महातुमाव ! कोऽयं ते-ऽजिलाणो नरकाध्वनि ।  
सर्वे सायद्यमुमुञ्च्य, पुनवाञ्छन् लज्जसन् ॥ १ ॥  
अग्नयनकुले जाता-स्तिर्यङ्गो ये वृजङ्गमाः ।  
तेऽपि ना यातमिच्छन्ति, त्वं नीचः किं ततोऽप्यसि ? ” ॥ २ ॥  
इत्यादिवाच्यैः प्रतिबोधितः धीमेमिपाथं तद्वदुक्षीर्षमाशोच्य  
तपस्तप्या मुक्तिं जगाम । राजीमत्यपि दोग्धामारावप शिवश्च-  
ध्यामाकृदा, धिरपार्थितं शास्त्रनिकं धीमेमिसंयोगवपार । यदाह-  
“ जगत्त्रया वस्तरं स्थित्वा, गेहे वर्षचतुःशतीम् ।  
पञ्चवर्षशतीं राजी, ययौ केवलिनी शिवम् ॥ १ ॥ १७४ ॥  
( कृष्णप्रमहिषीप्रमाजन्मम् ‘ अग्नमहिषी ’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे  
१७४ पृष्ठे उक्तम् )

अथ गण्यदिसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स अट्टारस गणा  
अट्टारस गणहरा हुत्वा ॥ १७५ ॥  
( अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स सि ) अहंतोऽरिष्टनेमेः अरहत्त-  
गणाः, अष्टादश गणधराश्च अभवन् ॥ १७५ ॥ कल्प० ७ क० ।

अथ अमणअमणीसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स वरदत्तपामुक्खाओ अट्टारस  
समणसाहस्तीओ उक्कोमिया समणसंपया हुत्वा । १७६ ॥  
( अरहओ णं अरिष्टनेमिस्सत्वादि ) अहंतोऽरिष्टनेमेः अरहत्त-  
मुक्खाणि अष्टादश अमणानां सत्त्वानि, सत्त्वदा पतावती अम-  
णसम्पदा अभवन् ॥ १७६ ॥



अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स अज्जजक्खिसणीयासुक्खत्वाओ वत्तालासं अज्जिजयासाहस्तीभ्यो उक्कोसिया अज्जिजया संपया हुत्वा ॥ १७७ ॥

( अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स ) अर्हतोऽरिष्टनेमिः, आर्ययक्षिणीप्रमुखाणि अत्थारिष्टात् आर्योसहस्राणि उत्कृष्टा एतावती आर्योसम्पदा अजभवत् ॥ १७७ ॥ कल्प० ७ कृ० । अ० । स० ।

अथ भावकसंपत्—

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स नंदपासुक्खत्वाणं समणोवासगाणं पगासयसाहस्तीं अ ऊणचरिं च सहस्सा ठक्कोसिया सपणोवासगाणं संपया हुत्वा ॥ १७८ ॥

( अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्सत्यादि ) अर्हतोऽरिष्टनेमिः, नन्दप्रमुखाणं आषकाणामेको लक्ष एकानस्रसतिश्च सहस्राः, उत्कृष्टा एतावती आषकाणां सम्पदा अजभवत् ॥ १७८ ॥

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स महासुव्वयापासुक्खत्वाणं समणोवासियाणं तिष्णि सयताहस्तीभ्यो उच्चोसं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियाणं संपया हुत्वा ॥ १७९ ॥

( अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स ) अर्हतोऽरिष्टनेमिः महासुव्वताप्रमुखाणां आषिकाणां त्रयो वक्त्राः पदत्रिंशत्सहस्रा उत्कृष्टा एतावती आषिकाणां सम्पदा अजभवत् ॥ १७९ ॥

अथ चतुर्दशपूर्विणाम्—

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स चचारि सया चउदससुव्वरीणं अज्जिणाराणं जिणसंकासाणं जाव संपया हुत्वा ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमिस्सत्यादि शतानि चतुर्दशपूर्विणाम्, अक्षयस्त्रिनामपि केवलितुल्यानां यावत् सम्पदा अजभवत् । कल्प० ७ कृ० ।

अथार्थविज्ञानादि—

पञ्चरसया ओहिनाणीणं पञ्चरसया केवलनाणीणं पञ्चरसया वेउज्वियाणं दससया त्रिउलमईणं ॥  
पञ्चदश शतानि अर्थविज्ञानिनां सम्पदा अजभवत्, पञ्चदश शतानि केवलज्ञानिनां संपदा अजभवत्, पञ्चदश शतानि वैक्रीयसिधमनां संपदा अजभवत्, दश शतानि विपुलमतीनां संपदा अजभवत् । कल्प० ७ कृ० ।

“ अरहो णं अरिष्टनेमिस्स अउत्तया बाईणं सदेवमणुपासुराय परिसाय चाप अपरजियाय उक्कोसिया वाइसंपया होरथा ” । स्था० ८ ग० । स० ।

अनुत्तरोपपातिकामम्—

सोलससया अणुत्तरोववाइयाणं, पञ्चरस सपणसया मिद्धा, तीसं अज्जियासयाइं सिद्धाईं ॥ १८० ॥  
योऽशशतानि अनुत्तरोपपातिको संपदा अजभवत्, पञ्चदश अशमनां शतानि सिद्धानि, त्रिंशत् आर्योशतानि सिद्धानि ॥ १८० ॥ कल्प० ७ कृ० ।

अथान्तकृद्भूमिः—

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स दुविहा अंतगज्जूमी हुत्वा । तं जहा—जुगंतगदज्जूमी य, परियायंतगदज्जूमी य० जाव अहमभाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगदज्जूमी, दुवासपरिआए अंतमकासी ॥ १८१ ॥

( अरहभ्यो अरिष्टनेमिस्सत्यादि ) अर्हतोऽरिष्टनेमिः त्रिविधा अन्तकृद्भूम्यां अजभवत् । तथाथा—युगात्कृद्भूमिः, पयोधात्कृद्भूमिश्च । यावत्; इदमत्र योऽयम्—अहमं पुरुषयुगं पृथ्वरं युगात्कृद्भूमिरासीत्, त्रिविधैर्पयोधै जाते कोऽपि अन्तमकार्योत् ॥ १८१ ॥ कल्प० ७ कृ० । स्था० ।

अथ भगवत् प्रायुः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरह्हा आरिष्टनेमी तिन्नि वाससयाइं कुमारवासमय्जे वसित्ता, चउप्पन्नं राई—दियाइं उउमत्थपरिआयं पाउणिता, देसणाइं सत्तवाससयाइं केवलिपरिआयं पाउणिता, पईउण्णाइं सत्तवाससयाइं सामन्तपरिआयं पाउणिता, मयं वाससहस्सं सव्वा—उअं पालाइत्ता, खीणे वेयण्णिज्जा उपनामणुवे इपीसे आंमपिणणीए दसमसुसमाए वदुविइकंताए, जे से मिग्घाए चउत्थे मासे अउमे पक्खे आसाइउदुडे, तस्स णं आसाइउदुदुस्स अहमीपक्खेणं उण्णि उडिजंतल्लविहरंसि पंचई उच्चोसिद्धिं अणुमारसएईं सत्थिं भासिएणं जत्तं अपाएणं चित्तानस्रत्तं जोगमुवाएणं पुव्वरत्तावत्तकाइसमयंसि नसजिए काइगए० जाव सउव्वदुक्खपदीणे ॥ १८२ ॥

[ तेषां कालेणं इत्यादि ] तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन् अरिष्टनेमिः त्रिणि वयंशतानि कुमारवस्थायां स्थित्वा चतुष्पञ्चाशद्दंडगत्राद् उच्यस्थाययां पाशायित्वा, किञ्चिद्दूरानि सप्तवयंशतानि केवलियथायां पाशायित्वा, प्रतिपूर्णाणि सप्तवयंशतानि चारिअपयां पाशायित्वा, एकं वयंसहस्रं सर्वायुः पाशायित्वा, क्षीणायुः सन्तु वेदनीयायुःतानामात्रेषु कस्सु अस्यामेव अषसंप्रिययां दुष्प्रसमुषमनामेकं चतुर्दशकं बहुव्यतिक्रान्ते स्तनि, योऽसौ उष्णकालस्य चतुर्थं मासः अष्टमः पञ्च—आषाढशुक्लः, तस्य आषाढशुक्लस्य अष्टमीदिवसे उपरि उज्जयन्तनामरीशिशिरस्य पञ्चभिः पद्भिराशुनैरनगरशतैः सार्धं मासिकेन अनशनेन अपानकेन जलरहितेन, विआनकृत्रे चन्द्रयोगमुपागतं स्तति पूर्वोपरारिषिसमयं मध्यवार्त्रो निषद्यः सन् कालगतः, यावत् सयंयुःअग्रहीणः ॥ १८२ ॥ इति ॥ कल्प० ७ कृ० । स० ।

अथ नेमिनिर्वाणात् कियता कालेन ( प्रवृत्त ) पुस्तकलिखनादि जातमित्यादि—

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स कालगतस्य जाव सव्वदुक्खत्पदीणस्स चउरासीइं वाससहस्साइं विइकंताइं पंचासीइमस वाससयस्य नववाससयाइं विइकंताइं दसमसस य वाससयसस अयं असीइमे संवच्चरे काइे गच्छइं ॥ १८३ ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमिः कालगतस्य यावत् सव्वदुःखप्रवृत्तिस्य चतुर्दशतिथयसहस्राणि व्यतिक्रान्ताणि, पञ्चाशतितमस्य वर्षसहस्रस्यापि नव वर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि, दशमस्य च वर्षशतस्य अयं अशतितमः संवत्सरः कालो गच्छति ॥ १८३ ॥ अर्धनेमिनिर्वाणात् चतुर्दशतिथया वर्षसहस्रैः अर्धनेमिनिर्वाणमजुत्, आषाढनिर्वाणं तु वर्षाणां अशीत्यै सहस्रैः सार्धैः सप्तसिद्धं शतैरभूदिति सुधिया हेयम् । कल्प० ७ कृ० । ली० ।

“ उग्रजतसेलासिहदे, विष्णो नामं नितीहिषा जस्त ।  
 तं धम्मचक्रवर्तिं, अरिहतेनेमिं नमंस्सामि ॥१॥ ध० ३ अथि०  
 ( अरिहतेनेमिना राज्ञीमतीपरित्यागः, तथा प्रज्जिततया कामा-  
 सेरधनेमिप्रतिबोधश्च । इहनेमिः शब्दे बभूवते )  
 अथहिलपद्धने पुत्र्यमाने भीमरिहतेनेमिदेव, ती० ।  
 तत् कथा चयम्—

पणमिय अरिहतेनेमिं, अणहिसिद्धपुरपट्टणावयंस्सस ।  
 वेजाणगच्छनिरिसय-अरिहतेनेमिस्स किंचिमां कप्पं ॥१॥

“पुत्रं किर सिरिकन्नरज्जमयंर जक्कसा नाम भद्रद्विसेपसा नेगमो  
 हांत्था । सो अश्रया वाणिज्जकज्जे मइया बहल्लसत्थेण कयाण-  
 गाणि गाणजण कन्नरज्जपडिच्चं कन्नरज्जाहिवसुआए महरि-  
 षाय कंबुल्लआसांबाधरिंयं गुञ्जरदेसं पडिठ्ठो, आवासिभो अ ।  
 कमेण लक्खन्नारिं सस्सस्संभवेत्थं पुत्रिं अणहिसिद्धवाडयपट्ट-  
 णनियेसंनूण कारितं आसी । तथ सत्थं निवेसिंसा अत्थंतस्स  
 तस्स नेगमस्स पत्तां वासारसो । वरिसिंउं पवसा जलहरा ।  
 अश्रया भइययमांस सो बहल्लसत्थो सत्थो विक्कथं विगमो, को  
 वि न आणइ, सव्वत्थं गवेसाविच्चो न लद्धो । तन्नो सव्वस्स ना-  
 से इव अत्थंविताउरस्स तस्स रत्तीए आगया सुमिणंति  
 भगवई अथा देवी । ज्ञायं च तीए-वत्थं । जगसिं, सुवसिंति वाः ।  
 जक्खेण तुत्थं-अम्मो । कथां दे निहाइ, जस्स बहल्लसत्थो सव-  
 वस्संनूणो विण्णणो । देवीए साहंइयं-भइ । एयंमि लक्खन्नारंमं भं-  
 थिलिआणस्स हिट्ठे पडिमातिं वट्टए । पुरिसतिंयं खणांवि-  
 तां तं गइयव्वं । एया पडिमा अरिहतेनेमिसामिणो, अवर  
 सिरिपासनाइस्स, अथा य अविद्यादेवीए । जक्खेण वायरिं-  
 त्थ य अविंथिआपूणाणं बाहुल्लो सो पपसेा कइं नायथो ? दे-  
 वीए जपिचं-धोउमयं मंरलं पुणकप्पयंर ज्जथ पासिंति, तं चैव नां  
 पडिमातिगस्स जाणिंजासिं । तस्मिं पडिमातिगे पयदीए प-  
 ड्ढंतं अनुज्ज बहल्ला सयमेव आगच्छिंइहिंति । पहाए तण उट्ठु-  
 ष्ठं वसिंथिइणपुत्रं तहाकप पयदी । इड्ढायां तिथिं वि पडिमाअ ।  
 पूहयाथो विडिपुत्रं । खणांमिसेण अत्थकिंयमेव आगया बहल्ला ।  
 संतुठो नेगमो । कमेण कारिंयो तथ पासामो । नांविआमं  
 पडिमाअं ॥ अश्रया अरिहिसिद्धं वासारसं भगवदारगामाभो  
 अट्टारससयपट्टमासिधयरअंकिंयाओ बंजाणत्थमंइणसिरि-  
 योसंभइत्तुरिंयो अंभाउतनयंरधरिं विहंता तत्थं आगया । सो-  
 गोहिं विज्जविच्चं-भगवं । तिउं उल्लेखिंउं गंतुं न कप्पइ । पुरओ  
 तथो तेहिं सुंरिंइं तथ ताभो पडिमाअं भग्गासिरिपुत्थिमाए ध-  
 यारोथो महल्लसवुत्थं कथं । अज्जथ एए वरिसं तस्मि चैव  
 दिट्ठो धयारोथो कीर । सो य धयारोवमहुत्थं विक्कमाइआओ  
 पंचसु सणसु दुउत्तरं ( २०२ ) वरिसाणं अरहंतेसु संवुत्तो । तन्नो  
 अट्टसपसु दुउत्तरंसु विक्कमवासंतु ( २०२ ) अणहिसिद्धवाडयपट्ट-  
 णरिक्कयपयसे लक्खन्नारामघाणे पट्ठं चारुत्तइत्थंसुमाहलेण  
 वणारयारइया निवेसिंयं । तथ वणराया अमरायत्तअन्नय-  
 रसीइयण्णइआसांमंतसीइनामाणो सत्त चारुत्तइत्थं सरायणो  
 आआओ । तथेव पुए बालुकुत्थंसे सुंभरायचामुंभरायवज्जनायपु-  
 ष्ठभरायभीमदेवकवजयसिहदेवकुमारपालदेवजयदेवबालु-  
 लारायभीमदेवविहाणा पगारस नरिंदा । तन्नो वाचलाअसए  
 लुण्णत्थयावीरधमलधीसंभवेवअज्जुण्णदेवसारंगदेवकसुदेवा न-  
 रिंदा संजाया । ततो अण्णवदीणसुरकारणाणं गुञ्जरधरिंसीए  
 आणा पयइ । सो अरिहतेनेमिसामी काइंभीयपामिहारो अज्ज-  
 वि तदेव पुरज्जर तिं ॥

अरिहतेनेमिकल्पेयं, लिखितः भवेत्सऽस्तु वः ।  
 मुखात् पुरा विदं भुत्वा, भीमजिनप्रजसूरिभिः ॥ १ ॥ ती० २६  
 कल्प० ॥ “दो तिथधरा नीहुण्णलसमा वधंणं पवसा । तं जहा-  
 सुणिसुवधए चैव, अरिहतेनेमी चैव ॥ स्था० २ ज्ञा० ४ उ० ।

अरिहता-अरिहता-की० । कन्धविजयकूत्रवर्तिराजधानीपुराणे,  
 जं० ४ वक्क० । “दो अरिहताओ” । स्था० २ ज्ञा० ३ उ० ।

अरिहत्तारि-अरिहत्तारि-पुं० । अरिहत्तयवृषभासुरमर्दके भी-  
 रुषे, “अथुत्तिं देवकीं वके, वृष्टारिहत्तारिणा कृणात्” । भा० क० ।

अरिहता-अरिता-की० । सामान्यतः शत्रुनावे, ज० १ ए श०  
 ५ उ० ।

अरिदमण-अरिदमन-पुं० । सतिंतिमे भीश्रृयजपुत्रे, कल्प० ७  
 स० । वसन्तपुरराजनि, यव्य पत्न्याऽभयं देव्या चौरो मोक्षितः  
 सुव० १ श्रु० ६ अ० । (अव कथा- ‘अभयप्यथाण’ इहंइ-  
 स्मिंशेव भा० ७३० वृष्टे दर्शिता ) भीमभनूपोपचावके नृपे,  
 ध० २० ।

अरिहो-अव्य० । पादपूजे, प्रा० २ पाद ।

अरिस-अश्रीमन्-० । ‘हरस’ इति शोकप्रसिद्धे गुदाङ्कुरे  
 रोगे, तं० । जी० । जं० । हा० । विपा० । उपा० । यद्बलेन वायु-  
 र्मुंघं पुरीषं च प्रवस्यंतं तासां गुदप्रविष्टाणां शिराणां विघात-  
 ऽश्यां रोमो जयति । प्रव० ३५२ इति ।

अरिसिद्ध-अशीस-त्रि० । अशीरुणे, “ अरिसिद्धस्स व अरि-  
 स, मा खुम्भं नेण बंधए कम्मणि ” । नि० खु० १ उ० । अशी-  
 सतः पादतलद्वैवेद्यादर्शांसि मा लुम्भयंति हन्ति क्कमाणं  
 असीं बध्नाति । वृ० ३ उ० ।

अरिह-अहं-धा०-पूजने, सक० । योग्येत्, अक० न्चावि०  
 पर० सेट् । वाच० । “ हं-धी-ही-हस्स-क्रिया-दिष्टासिचत् ”  
 ऽ । २ । १०४ । इति सूत्रेण संयुक्तस्यान्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः ।  
 अरिहइ-अहंति । प्रा० २ पाद ।

अर्हु-त्रि० । योग्ये, सुत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । स्था० । लज्ज-  
 णोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्ये, व्य० १० उ० । पुत्र्ये, वि०० । प्रहा-  
 स्ततया पुत्र्ये, स० ।

अरिहंत-अहंत-पुं० । अहंन्त्यशोकाद्यप्रकारां परमभक्तिरसु-  
 रासुराविसरविर्वाचितं जन्मतदारसत्त्वात्सत्त्विकद्वानवधवास-  
 नाजालाभिकपुत्रयमहातृकव्याणफलकल्यां महाप्रातिहार्य-  
 रुपां मिलितमतीतपन्नप्रकाशा सिद्धिस्त्रीधनिसरारोहणं चय-  
 ईत्सः । स्था० २ डा० १ उ० । आच० । जं० । सुत्र० । अनु० ।  
 आ० म० । जी० । आ० चू० । वि०० । आच० । तीर्थकस्तु,  
 आ० म० छि० ।

सम्प्रति प्राकृतशैल्या अनेकधाऽहंछन्प्रतिरुक्तसंज्ञ  
 इति दर्शयन्नाह—

इंदियविसयकसाए, परीसहदेवणाए उवसगे ।  
 एए अरिणो हुंता, अरिहंता तेण बुद्धंति ॥

इन्द्रियादयः प्रवैवद । वेदना विधिवा-शरीरौ, मानसौ, उभ-  
 यरूपा यः ‘एए अरिणो हुंता’ इत्यत्र प्राकृतशैल्या क्कान्वसत्या-  
 च विभक्तिव्यत्ययः । ततोऽवयवैः-पतेषामपीणां हन्तारोऽहंन्

इति पृथोदरादिव्यादिद्वैष्टरूपनिष्पत्तिः । स्यादेतत्, अनन्तरगाथा-  
भांसेत एषोक्ताः, पुनरप्यमीषामेषहोपन्यासो न युक्तः । उच्यते-  
अनन्तरगाथायां नमस्काराहंत्व्यहेतुत्वेनोक्ताः, इह पुनरभिधा-  
निकल्पप्रतिपादनाय उपन्यासः ।

साम्प्रतं प्रकारान्तरतोऽप्य आश्यायन्ते, ते चाष्टौ ज्ञानावर-  
णादिसंज्ञाः संवसत्वानामेव । तथाचाऽऽह-

अट्टविहं पि य कर्म, अरिचूर्णं होऽ सव्यजीवाणं ।  
ते-कम्मपरीहंता, अरिहंता तेष बुच्यंति ॥

अष्टविचमष्टप्रकारम्, अपिशब्दानुत्तरप्रकृत्यपेक्षया अनेकप्र-  
कारम् । चशब्दां भिन्नक्रमः, स चावधारयते । ज्ञानावरणादि कर्म-  
व अरिभूतं शुकुभूतं भवति सव्यजीवानां सत्वानाम्, अनवस्थाधा-  
दिदुःखहेतुत्वात् । तत्कर्मोपरिहन्तारो यतः, तेनाहन्त उच्य-  
न्ते । रूपानिष्पत्तिः प्राग्वत् ।

अथवा-

अरिहंति वंदनार्थं-सणाणिव अरिहंति पूरसाकारं ।  
सिक्किगमयं च अरिहा, अरिहंता तेष बुवंति ॥

अहं-पूजायाव । अहंति चन्दननमस्करणे, तत्र चन्दं शिर-  
सा, नमस्करणे वाचा । तथा-अहंति पूजासत्कारं, तत्र वस्त्र-  
माल्यादिजप्या पूजा, अयुधानादिसंस्त्रमः सत्कारः । तथा-  
सिधयन्ति निष्ठिनाथो भवन्मयस्यां प्राणिनः सिक्किः लोकात्तन्त्र-  
लक्षणा । अथयति-“यह बोदि चक्षत्तायं, तथयन्तुय सिञ्ज्जह”  
तत्क्रमं प्रति अहंन्तीत्यर्हाः योग्याः । “अञ्” । ५ । ४७ । इत्यञ् ।  
तेन कारणेनाहंन्त उच्यन्ते । अहंन्तीत्यहन्तः ।

तथा-

देवासुरमणुपसुय, अरिहा पूषा सुरुत्तमा जम्हा ।  
अरिणो हंताऽरिहंता, अरिहंता तेष बुवंति ॥

देवासुरमनुजैः-“सूत्रे पञ्चम्यर्थे सप्तमो, प्राकृतत्वात्” पूजाम-  
हंन्ति प्राप्नुवन्ति । कुत इति चेत् ? अत आह-यस्मात्सुरोत्त-  
मो उपचितसकलजनासाधारणपुण्यप्राप्ताभारतया समस्तदेवा-  
सुरमनुजोत्तमाः; ततः पूजामष्टमहाप्रतिहार्यालक्षणमहंन्तीत्य-  
हंन्तः । इत्यमनेकधा स्वर्थमभिधाय पुनः सामान्यविशेषाभ्यामु-  
पसंहारआह-(अरिणो हंता इत्यादि) यतोऽपीनां हन्तारः, तथा-  
रजो बध्यमानेक कर्म, तस्य रजसो यतो हन्तारः, तेनाहंन्त उ-  
च्यन्ते । “अरिहन्तारः” इति वा स्थितस्य अहंन्त इति निष्पत्तिः  
प्राग्वत् । आ० २० । ४० । ४० । आ० । सू० २० । आवा०  
अहंन्तेनानां परमपुत्र्यः । यो० वि० ।

“अवचीर्ये देसियञ्च, तहेव जिज्जामया समुहम्मि ।  
ज्जायक्कण्णट्ठा, महगोवा तेष बुच्चवन्ति” ॥ विद्यो० ।  
रागहासकसाय, य देसियाणिय य पंचवि परीसाहं ।  
उवसम्मो नामयंता, नमोऽरिहा तेष बुच्चति” ॥ विद्ये० ।

अ० सू० १० । (‘नामोकार’ शब्देऽस्य व्याख्या यथास्थानं च)  
‘णमो अरिहंतानं प्रयवंतारं’ । अहंन्तो नामादिजिदाधनेकजिदा-  
, नाम-स्थापना-उच्य-भावतस्त्वान्यासः” इति वचनात् । तत्र  
भावोपकारित्वेन भावाहंत्संपरिग्रहाद्येमाह-भगवद्भवाः । हं  
प्र० । “अरिहंताणमवचं वदमाणे अरहंतपपणुत्तस्स च.  
मत्तस्स अचचं वदमाणे” इत्यादि-अवधवाय’ शब्देऽ-  
प्यैव जागेऽपि बह्यते) (अहंदायातना ‘आसायाणा’ शब्दे

द्वितीयजने ४४३ पुष्टे उच्यते) “अरिहंता सोयुत्तमा अ-  
रिहंते सरथं पवज्जामि” । आवा० ४ अ० । (अहंन्तो  
लोकासमा इति ‘बुद्धरणागमण’ शब्दे वक्ष्यते) (उ-  
च्यतेऽपीन्द्रियमयं न जानाति, तमेवाहंन्ते जानातीति बह्यते  
“उचमथ’ शब्दे” (अहंन्त एव सर्वज्ञा इति “सव्यपणु”  
शब्दे निरूपयिष्यते) )

जम्बूद्वीपे दीपे जररेवरपसु वासेसु एगसमप एगजुणे दो  
अरिहंतंसा उपपज्जिमु वा, उपपज्जिति, उपपज्जिस्संति वा ॥

पञ्चादिकः काशविशेषो गुणं, तत्रैकस्मिन्, तस्याप्येकस्मिन्समयः;  
“एगसमप एगजुणे” इत्येवंपाठेऽपि व्याक्योक्तकर्मणैव, इत्यमे-  
वार्थसम्बन्धात्, अन्यथा वा जावन्थेति । अहंन्तं च श्री प्र-  
वाही-एको अन्तप्रभवः, अन्य पंचवतप्रभव इति । इथा० ३  
उ० ३ ७० ।

एकस्मिन् क्षेत्रे एकसमये चावहन्ती नोपयेते इति कपिल-  
वासुदेवं प्रति मुनिसुवतांकिः । ह्यो० १६ अ० । जम्बूद्वीपे मन्-  
रपौरस्थे शीनाया महागथा उत्तरे दक्षिणे च उत्तरपेण अष्टौ  
अष्टौः जम्बूद्वीपे मन्वरपश्चिमेन शीतोदाया महागथा उत्तरे  
दक्षिणे च उत्तरपेण अष्टपद्ये । प्रतिकच्छादिविजयलोमैकैक-  
स्मिन् चाग्निशस्त्रीयंकरा इति । इथा० ७ उ० । (अहंन्त्युत्पथमाने-  
लोकात्प्रकारोद्योतायिति “अंधयार” शब्देऽस्मिन्सर्वे जागे १०७  
पुष्टे समुक्तम्, तथा ‘निरथय’ शब्दे सर्वो वक्ष्यता उच्यते)  
“सनिधवला अरिहंता” इति माध्यायामहंन्तरीनां श्वेता-  
चारोपः किहेतुः ? इति प्रश्ने, अहंन्तः पञ्चवर्णाः, सिद्धास्त्व-  
वर्णाः शाल्लुषु व्यक्तयेवाकाः सन्ति, आचार्यादयोऽपि कवल-  
पीनादिवर्णा एव भवन्ति, तेनेतेषु पूर्वाचार्यवैश्वक्येण ध्याय-  
मानेषु श्वेतायैकेकवर्णारोपणपूर्वकमेयां भ्यानं सिक्किदुत्त ज-  
न्तति, ते तु सर्वास्वार्थे क्रियासु द्रव्यक्षेत्रकालावादिदाममप्रीयि-  
भिन्नासु प्रवर्तन्ते इति न काऽप्यनुपपत्तिः । १५५० । सैन० २ उ० १० ।

अरिहंतकर्मभोयभव-अहंन्तकाम्भोजभव-त्रि० । अहंतां श्री-  
तीर्थकराणां कमाधरणताः त एवाम्भोजानि कम्मजानि, तेज्यो  
भव उपपत्तियस्य तद्दहंत्काम्भोजभवम् । जितेश्वरचरण-  
पङ्कजसन्धेव, द्रव्या० ५ अथ्या० ।

अरिहंतकर्मभोयसमासिय-अहंन्तकाम्भोजमाश्रित-त्रि० ।  
अहंतां वीतरागणां कमाधरणस्त एवाम्भोजानि कम्मजानि तत्र  
समाश्रितः । अहंन्तकाम्भोजमाश्रितपुत्र, द्रव्या० १३ अथ्या० ।

अरिहंतचेइय-अहंन्तैत्य-म० । अशोकाद्यष्टमहाप्रतिहार्यादि-  
रूपां पूजामहंन्तीनि अहंन्तः तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रति-  
मालक्षणाणि अहंन्तैत्यानि । इहमत्र भावना-चित्तमन्तःकरणं,  
तस्य भावे कर्मणि वा ( “वर्णदहादित्रयच्छ्पण्ण च वा”  
७ । १ । ५६ । इति हैमसूत्रेण उच्यते ) ह्ये चैत्यम् ।  
तत्राहंतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादकत्वाद् अहंन्तै-  
त्यानि मण्यन्ते । अहंन्तैतिमासु, “अरिहंतचवर्णानां करमि  
काहस्समग्गं” आवा० ५ अ० । आ० सू० । प्रति० । ४० ।

अरिहंततासिय-अहंन्तायित-त्रि० । अहंन्तैः सम्प्रदायवा-  
ते, सूत्र० १ सु० ६ अ० ।

अरिहंतमणुष्पाय-अहंन्तं नुक्ता-त्रि० । अहंन्तैः कर्त्तव्यतवा-  
ऽनुक्ताते, प्रहा० १२ पद ।

अरिहंतसंक्षिप्त-अर्हत्साक्षिक-न० । अर्हन्तस्तीर्थंकरास्ते  
 साक्षिणः समकामाचरितेन यत्र तत् । " शेषाद्वा " ७ । ३ ।  
 १७५ । इति [ हेम ] सुत्रेण कप्रत्ययविधानार्हत्साक्षिकम् ।  
 अर्हत्सिः कृतसाक्षिणः, पा० ।  
 अरिहंतसमपासिजा-अर्हच्छ्रुपणशृत्या-श्री० । अर्हतां भ्रम-  
 णानां च शक्त्याऽर्हन्मसृशशक्त्या । कैत्यात्तयोपाभ्यरूपासु शृ-  
 त्व्यासु, जीत० ।

अरिहंतसासन-अर्हच्छासन-न० । जिनागमे, प्रश्न० ५ सन्ध-  
 ङा० ।

अरिहंतसिजा-अर्हच्छ्रुत्या-श्री० । चैत्रपद्ये, अ० २ अधि० ।  
 अरिहद्दत्त-अर्हद्दत्त-पु० । आर्षस्तुस्थित-सुप्रतिबुद्धयोः पञ्चमे  
 शिष्ये, कल्प० ८ क० ।

अरिहद्दिस-अर्हद्दत्त-पु० । सिंहगिरेस्तुतये शिष्ये, कल्प० ८ क० ।  
 अरुउवसग-अरुगुपसर्ग-पु० । रोगरहिते उपसर्गे, तं० ।  
 अरुगुपसर्ग-पु० । आर्येत्वाद् वकारलोपः । कपरहिते उत्या-  
 ते, तं० ।

अरुग-अरुक्त-न० । प्रणे, " अरुगं इहारा कुप्यथ " । पु० ३ क० ।

अरुग-अरुण-पु० । नन्दीअरुणस्तमुक्तस्य परतोऽरुणात्स-  
 मुद्रपरिवेष्टिते चीपभेदे, स च वृत्तचलयाकारसंस्थानसंस्थि-  
 तः । तत्र अशोकशोभाशोकी देवी । सू० प्र० १६ पाठ० । अरु० ।  
 ङी० । जी० । प्रज्ञा० । नं० । स्या० । " रुयगा ष समुद्राश्रय,  
 दीवसमुद्रा भवे अर्संज्ञिका । गंगुण दोह अरुणो, अरुणा हीयो  
 ततो उदहं " । ६४ ॥ ङी० । हरिवर्षनामाऽकर्मसृष्टिवृत्तैता-  
 श्चर्यवैतस्याधिपतौ देवे, स्या० ४ प्र० ३ क० । अरुणोपापात-  
 प्रथमप्रतिपाद्ये देवे, स्या० १० ग० । उपा० । सू० प्र० । वि-  
 माननेदे, अरुणादीनि दश विमानानि- " अरुणे १ अरुणामे २  
 खसु, अरुणप्यडे अरुणकंत ४ सिद्धेय ५ । अरुणज्जय ५ छन्दे  
 ६, जय ७ चन्दसे ८ गव ९ कीले १० " ५ ॥ शिष्टादिनामा-  
 न्यरुणपदपुर्याणि हृद्यानि । उपा० ६ अ० । अ-उनन । सूर्ये,  
 सूर्येसारथी, शुद्धे, सन्ध्यारागे, निःशब्दे, दानचभेदे, कुण्डनेदे,  
 पुष्पागवृत्ते, अद्यकरागे, कृष्णमिश्रितरक्तवर्णे च । तद्व्रति, वि० ।  
 कुकुमे, सिन्दूरं च । न० मन्त्रिप्रथायां, श्यामाकाश्याम्, अतिवि-  
 धायां, नदीभेदे, कदम्बपुर्यायां च । ङी० । वाच० ।

अरुणगंगा-अरुणगङ्गा-श्री० । महाराष्ट्रजनपदद्रोमी वहति  
 नदीभेदे, ती० ३८ कल्प० ।

अरुणपुत्र-अरुणपुत्र-पु० । अतुयेऽप्येत्नधरनागाराजे, तदा-  
 वासपत्ने च । जी० ३ प्रति० । स्या० । विमाननेदे, उपा० ६  
 अ० । राहोऽर्हन्त् शुद्धतो दशमे कल्पपुरुषे, चं० प्र० २० पाठ० ।

अरुणपुत्रा-अरुणपुत्रा-श्री० । नवमस्य तीर्थंकरस्य निष्क-  
 मणशिक्षिकायाम्, स० ।

अरुणवर-अरुणवर-पु० । स्वनामकथाते ङीये, सप्तमे च । तत्र  
 अरुणवरे ङीये अरुणवरमद्रारुणवरमहाभौ, अरुणवरे समुद्रे  
 अरुणमद्रारुणमहानदी देवी । सू० प्र० १५ पाठ० । जी० ।  
 अरु० । ४० पा० ।

अरुणवरोभास-अरुणवरावजास-पु० । स्वनामकथाते ङीयेवि-  
 शेषे, सप्तमविशेषे च । तत्रारुणवरावभासे ङीये अरुणवराव-  
 भासमद्रारुणवरावभासमहाभौ, अरुणवरावभाससप्तमे  
 १६३

अरुणवरावभासवरावभासमहावरी देवी । सू० प्र०  
 १६ पाठ० । जी० । चं० प्र० ।

अरुणपाम-अरुणपाम-पु० । अरुणकान्ती, चन्द्रं शुद्धतो राहोर्दशमे  
 कल्पपुरुषे, सू० प्र० २० पाठ० । विमाननेदे, स० ५ सम० । ङी० ।  
 अरुणपुत्रविशेष-अरुणोत्तरावतंसक-न० । विमाननेदे, स०  
 ८ सम० ।

अरुणोदग-अरुणोदक-पु० । अरुणङ्गीपत्य परितः प्रवृत्ते  
 समुक्ते, अरुणोदे समुक्ते सुभक्तमनोभ्रौ देवी । सू० प्र० १६  
 पाठ० । चं० प्र० । ङी० । ज० ।

अरुणोववाय-अरुणोपापात-पु० । अरुणो नाम देवस्तस्त्वमव-  
 निष्कते प्रथस्तदुपापातहेतुररुणोपापातः । संक्षेपिकानां दशानां  
 षष्ठऽप्ययने, स्या० ।

नक्षत्रयनटीकायां चूर्णिकारो मावबति-

जाहे तमज्जयती उवउते समाणे अणुगारे परिवहइ ताहे  
 से अरुणे देवे समसयनिष्कत्तणओ चलिपासणे संभमु-  
 भंतज्ञायणा पञ्चावहं । विष्णाय हइपहडे चलचलकुं-  
 फलधरे दिव्वाप जुईए दिव्वाप विजुईए दिव्वाप गईए  
 जेणापेव से जगवे समणे निर्गधे अज्जयणे परिपेहमाणे  
 अत्येइ तेणामेव उवागच्छइ । उवागच्छिजा भक्षिभरोणयव-  
 यणे विमुक्कवरकुसुमपथसे उवडे । उवयइता ताहे से सम-  
 एसम पुरतो त्रिता अंतदिप कयंजलीओ उवउते संवेम-  
 विसुज्जमपाणउज्जवसाणे तमज्जयणे सुणमाणे चिहं । स-  
 म्मत्ते अज्जयणे भयडे-जयवं । सुसज्जाइयं सुस-  
 ज्जाइयं वरं वरेहिं त्ति, ताहे से इहलॉयनिष्पिवाते  
 समतण्णसिमुत्तासुत्तमेहुं कचणे सिक्खवरमण्णिपदिक्कनि-  
 भराणुरागे समणे पदिक्कणडे-न मे भो । वरेयं अट्ठो त्ति ।  
 ततो सं अरुणदेवे अह्निगयरजायमंवेगे प्पाहिणं करेसा  
 वंदे, नमंसे, वेदिंता नमंसिचा पदिक्कणडे ॥ नं० टी० ॥

यदा तद्व्ययनमुपसृक्तः सन् धमणः परिवर्तयति, तदाऽ-  
 सावरुणे देवः स्वसमयनिषद्व्याचलिततासनः संभ्रमोक्ता-  
 न्तलोचनः प्रयुक्तायिस्तत्रिधाया हृष्टमहद्वलचपलकुसुमसौ-  
 भरो दिव्यया पुन्या दिव्यया विभूत्या दिव्यया गत्या यथैवासी  
 भगवान् धमणं परिचरयति तथैवागच्छति । उपा-  
 गत्य च भक्तिजरावनतवदनो विमुक्तवरकुसुमवृष्टिरवपसति ।  
 अत्रपत्य च तदा तस्य भ्रमणस्य पुरतः स्थित्वाऽन्तर्हितः कृता-  
 ज्ञलिक उच्युक्तः संवेगविह्वलमानाच्छवसानः तमभ्ययं  
 शूयैस्तिष्ठति । समासे च अणति-सुस्वाभ्यायितं सुस्वाभ्यायित-  
 मिति वरं वृषिषति । ततोऽसाविहसोऽकनिष्पिपासः समतण्णमणि-  
 पुक्तासोष्टकाज्जलः सिक्खवरकधूमिभंराजुगतचित्तः भ्रमणः प्रति  
 प्रणति-न मे वरेयार्थे इति । ततोऽसावरुणे देवोऽप्यिकतरजातसं-  
 वेगः प्रदक्षिणां कृत्वा धन्वते, नमस्यति । धन्वित्वा नमंसित्वा प्र-  
 तिधच्छति । एवं षडणोपापातादिष्वपि भणित्वयमिति । स्या०  
 १० ग० । नं० । पा० । ह्रादशवधैपर्यायस्य भ्रमणस्य कल्पतेऽ-  
 रुणोपापातः । इयं १ क० ।

अरुच्य-अरुच्य-न० । प्रणे, " नातिकं हूर्यं सेयं, अरुच्यस्सावरज्ज-  
 ति " । अरुचो भ्रणस्यातिकं हूर्यं न चैर्विज्ञेयं न भेधो न

शोभने भवति, अपि त्वपराधयति, तत्कण्ठयने प्रणस्ये ॥ ४  
 वहति । सूत्र० १ भु० ३ अ० ३ अ० ।  
 अरुज्-वि० । आधिष्ठाधिचकारहिते, ध० २ अघि० । शरी-  
 रमनसोरनावाद् अघिचमारगेणे सिद्धिस्थाने, स० १ सम० ।  
 जी० जी० । कल्प० ।

अरुह-अरुह-पुं० । " उवाचहिते " । = । २ । १११ । इति  
 सूत्रेण संयुक्तस्यास्यप्रयत्ननात् पूर्वं उद्, अघिती च मयतः ।  
 अरुहो, अरुहो, अरिहो । प्रा० २ पाद् । योम्ये, तीर्थ-  
 करे च । प्रब० १५५ ह्यार ।

अरुह-पुं० । न रोहति भूयः संसारे समुपघते इत्यरुहः, संसा-  
 रकारणानां कर्मणां निर्मूलकायं कथितत्वात् । अजन्मनि सिद्धे,  
 प्रब० २५५ ह्यार । स्त्रीकर्मबीजत्वात् ( अरुदः ) । आह च-  
 " दग्धे बीजे यथाऽप्यन्ते, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजं तथा दग्धे,  
 न रोहति मवाङ्कुरः " ॥१॥ म० १ श० १ उ० । आब० दश० ।  
 अरुव-अरुव-वि० । न विद्यते कपं स्वभावां यस्यासावकपः ।  
 अतस्त्वभावे, अने० ४ अघि० ।

अरुवकाय-अरुवकाय-पुं० । अमूर्त्तं धर्मास्तिकायादौ, ज०  
 ७ श० १० उ० ।

अरुवि ( ए )-अरुवि-वि० । कपं मूर्तिर्विर्णादिमवर्तः, तदस्या-  
 स्ताति कपी । न कपी अरुपी । अमूर्त्ते, स्या० ६ दा० ३ उ० ।  
 धर्मास्तिकायादौ, प्रहा० १ पद् । म० । आब० ।

" धम्मन्थिकाए तद्वेसे, तत्पलेसे य आहिय ।  
 अहम्मे तस्स देसे य, तत्पलेसे य आहिय ॥ ५ ॥  
 आयासे तस्स देसे य, तत्पलेसे य आहिय ।  
 अदासमयए च्च, अरुवी द्दसहा भवे" ॥ ६ ॥ उ० ३६ अ० ।  
 (टीकाऽनयोः " अजीव " शब्दप्रसिद्धे भागे २०३ पृष्ठे दर्शिता)  
 क्पातिवत् अमूर्त्तं आत्मनि, म० १७ श० २ उ० । दश० । कर्मरहितं  
 सिद्धे, आ० म० द्वि० । मुक्ते, आ० २ गा० १ उ० । " अरुवीं  
 सत्ता, अप्रयस्स पयं नदिथ, सेणं सद्देण क्वेण गंधेण रसेण  
 फासे ष्चेतावतिं चि वेमि " । ( अरुवीं सत्तं चि ) तेषां मुक्ता-  
 स्मनां या सत्ता साऽरुविणि । अरुपित्वं च दार्घ्यादिप्रतिपेधेन  
 प्रतिपादितम् । आच० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अरुविअजीवपणएवण-अरुपूजिवप्रहापान-खी० । कप-  
 व्यतिरेकेणाकारिणे धर्मास्तिकायाद्यः, तं च ते अजीवाश्च अरु-  
 प्यजीवाः ; तेषां प्रहापाना अरुपूजिवप्रहापाने । अजीवप्रहा-  
 पनाभेदं, प्रहा० १ पद् ।

अरे-अरे-अव्य० । रतिकलदे, " अरे । मप समं मा करेसु उव-  
 हासं " । प्रा० २ पाद् । रोषाह्वाने, नीचसंबोधने, अपकृतौ, अ-  
 सूयथां च । वाच० ।

अरोग-अरोग-वि० । निष्पीडे, म० १८ श० १ उ० । अशेष-  
 ङ्करुहिते सिद्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अल-अल-न० । अल-अल् । वृत्तिकपुच्छस्थं कष्टकाकारे  
 पार्थ्वे, इरिताले च । वाच० । अर्थाकार्यसमर्थे, आचा० २  
 बु० ५ अ० १ उ० । अलादेश्याः सिद्धासने, आ० २ श्रु० ।

अल-अल-अव्य० । पर्याये, नि० ७ १ उ० । आचा० । म० ।  
 आ० । दश० । समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । अव्यर्थे, श्रौ० ।  
 प्रतिषेधे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । ज्ञापणे, सामर्थ्ये, निवारणे, नि-  
 षेधे, निरर्थक्ये, अस्यर्थे, अवधारणे च । वाच० ।

शेषमा-

अलंकरण-अलङ्करण-न० । शांभाकारके, कल्प० ३ श्रु० ।  
 अलंकार-अलङ्कार-पुं० । अलङ्कारित्ये नृप्यतेऽनेनेत्यङ्कारः ।  
 कृ-करणे कृत्कयूरादिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । श्रौ० । प्रब० ।  
 बध्देषमुणप्रतिषेधे । आभरणविशेषे । भा० म० । श्रु० । अलं-  
 येषुणेषु-उपमादौ च । कां प्रजायाम् । हारादीं रूपणे, साहित्यवि-  
 ज्ञां-कलासंस्कारे धातुसंस्कारे मल्लादि-अनुभासादी, शब्दा-  
 स्या० ४ दा० ४ उ० । आ० श्रु० ॥

अलंकारचूलामशि-अलङ्कारचदमाणि-पुं० । लघु, परणासंस्कारे । तं  
 लङ्कारप्रथे, यस्य वृत्तिः प्रतिमाशुतक-नयोपदेशकृता ।  
 नयो० । प्रति० ।

अलंकारिय-अलङ्कारिक-पुं० नापिते, आ० १३ अ० ।

अलंकारिकम्-अलङ्कारिककर्म-न० । नलक्ष [ म ] यन्- ।  
 नादौ, आ० २ म० । चुरकर्मणि, विषा० १ श्रु० ४ अ० ।

अलंकारियसहा-अलङ्कारिकसजा-खी० । नापितकर्मशाला-  
 याम्, आ० १३ अ० । अलङ्कारिकसभा यस्यामलङ्कारित्ये । स्या०  
 ४ गा० ३ उ० ।

अलंकारिय-अलङ्कृत-वि० । मुकुटादिभिः [ प्रहा० ५ सत्र०  
 द्वि० ] विभूषिते, दश० १० अ० । श्रौ० । आ० । कृमाङ्कारे,  
 ज० ६ श० ३३ उ० । उभेष्वादिनिरलङ्कारेर्विभूषिते, विश० ।  
 अतु० । उपमादिभिः काव्यालङ्काररूपेण, आ० म० द्वि० । स्या० ।  
 उक्त० । अमन्यस्फुटसुनस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । स्या०  
 ७ गा० । अतु० । अमन्यस्वरविशेषकरणालङ्कृतमित्ये गो-  
 यमाने गीतमुणभेदं, जी० ३ प्रति० ।

अलंकारियसहा-अलङ्कारिकसजा-खी० । " अलं-  
 चपक्षवादी, परिसया क्वयजक्वाशो " । न कस्यापि लङ्का-  
 मुक्तां च शुद्धितं, नाप्यात्मियोऽप्यमितं कृत्वा पक्षं शुद्धितं, ते  
 पतादशा अलङ्कारिकसजाः रूपेण मूर्त्यां यक्ता एव रूपयन्ताः,  
 मूर्तिमन्तो धर्मैकनिष्ठा देवा इत्यर्थः । कृत्यं शुद्धित्वाऽस्मीयत्वेन  
 पक्षपरिभादकेषु रूपयन्तेषु, इत्य० १ उ० ।

अलंकारिय-अलङ्कारिक-पुं० । अत्यन्तमसिने, अष्ट० ३ अष्ट० ।

अलंकारिय-अलङ्कारिक-पुं० । उत्तरदिग्भागवत्सिद्धकवचासिन्धां  
 दिक्कुमार्याम्, म० ५ वङ्ग० । आ० म० । द्वि० । आ० क० ।  
 स्या० । आ० श्रु० ।

अलंकारिय-अलङ्कारिक-पुं० । अत्यर्थं भोगानुजननस-  
 मर्थे, श्रौ० ।

अलङ्कार-अलङ्कार-पुं० । वाराणसीनयन्यां राजजेदं, अन्त० । तत्कथा-  
 नकं तु अलङ्कारशानां षष्ठ्यगंशे षोडशस्थयेन प्रतिपादितम् ।  
 तद्यथा-"तेषुं काशेण तेषुं समर्थेण वाणारसोऽपि शयरीए काभम-  
 हावणे चेतिये । तद्य नं वाणारसोऽपि शयरीए अलङ्कारे नामं राव  
 हाथा । तेषुं काशेण तेषुं समर्थेण समने अयथां महावीर० जाव  
 विहरद, परिसा निमग्या । तेषुं अलङ्कारे राया इमी से कहाए लब्ध०  
 हनु० ७ जहा कुणिय नगवर्षा महावीरस्स० जाव पञ्जुवासति,  
 धम्मकहातं से अलङ्कारे राया समणस्स जहा उवाण्ये राया तहा  
 निक्खंतो, नवरं जेजुपुंरं रत्ते अनिसिचति० जाव एहए स अंगान्  
 बहुदि वासां धरियातो० जाव विपुसे सिद्धे" । प्रस० ७३० १० ॥

अज्ञवर्णया-अज्ञस्यता-स्त्री० । असमस्तजानिधयिताया-  
य, विदोः ।

अज्ञागपुरी-अज्ञापुरी-स्त्री० । वैश्वययस्यपुत्र्यां, अन्त० १७र्ग० ।

अज्ञस्यपुर-अज्ञस्यपुर-न० । "अबलपुरे च-लोः" । ॥ १२ । १२८ ।

इति सुत्रेण अज्ञस्यपुराभेदं चकारत्साकार्योत्प्लवः । कृष्णाद्ये-  
नानयोः समीपस्थनगरे, प्रा० २ पा० ।

अज्ञाच-अज्ञाक्त-पुं० । साकारसे, अतु० ।

अज्ञाचय-अज्ञाक्त-पुं० । साकारसेन रके, "जे रत्तये त अज्ञाच-  
य" । यो रको साकारसेन-[ प्राकृतशैल्यां कद् प्रत्ययः ] स एव  
रक्षेत्तुभ्या अलक्षक उच्यते । अतु० ।

अज्ञाच-अज्ञाच-त्रि० । अतुपाते, स्था० १ पा० २ उ० । अत्रा-  
ते च , सूत्र० १ भू० २ अ० ३ उ० ।

अज्ञाकि, तुच-अलक्षियुक्त-त्रि० । स्वकीयलाभविहीने, पञ्जा०  
१८ विव० ।

अज्ञाच्य-अलक्ष्य-त्रि० । अज्ञाच्यमति अक्षिरहिते, मोष० ।

अज्ञाभिरि-अज्ञाच्य-स्त्री० । अज्ञादेव्या मातरि, का० २ अ० ।

अज्ञाभ्यु-देवी-पुं० । समग्रभाषया समर्थ, स्था० ४ पा० २ उ० ।

अज्ञाभ्यु-अज्ञाभ्यु-त्रि० । अज्ञाभ्युत्तु निषेधो मयत्तु, य एवमा-  
ह सांज्ञमस्त्वियुच्यते । निषेधक, स्था० ४ पा० २ उ० ।

अज्ञाय-अज्ञाक्त-पुं० । कृषिककण्टक, " अज्ञाभ भंजावह " इति  
कृषिककण्टकाद् शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः ॥ विपा० १ भू० ६ अ० ।

अज्ञायभदा-अज्ञाक्त-स्त्री० । कैलासस्य पूर्वतः पुत्र्यां, की० ।

अज्ञाया-अज्ञाका-स्त्री० । वैश्वययस्यपुत्र्यां, प्रा० ४ अ० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-त्रि० । लपतीति अया वायासाः । योषितानेकनकै-  
थिश्चन्द्राकाः, तथा न अया अयाः । मौनमतिकेभु निष्ठितयोगेषु  
गुटिकादियुकेषु, यद्गशाद् अभिधायविषया यांगव न निस्सरति ।  
सूत्र० २ भू० ६ अ० ।

अज्ञायसक्य-अज्ञायसक्य-त्रि० । विशिष्टसंस्काररहिते,  
व्य० ४ अ० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-त्रि० । निरघम, वृ० १ उ० । मन्दे, जीवा० । असमर्थे  
च । सूत्र० २ भू० २ अ० । स्था० । गण्डोलके, पु० । " अज्ञसो  
सि वा गण्डसो सि वा सुसुणागो सि वा पगद् " । नि० ७० । १३० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-पुं० । " नाव्ये ब्रजति नावस्ता-दाहादो न  
च पच्यते । आमाशयेऽलसीजून-स्तेन सोऽज्ञसकः स्मृतः  
॥ १ ॥ इत्युक्तकृष्ण विशाचिकाविशेषलक्षणे, उपा० ८ अ० ।

हस्तपादादिस्तन्ये श्वयथौ, आवा० १ भू० २ अ० १ उ० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-त्रि० । अज्ञायसोऽलसो भवतीति  
अज्ञसायते, अज्ञसायत इति अज्ञसायमानः । अत्र " नाच्  
लोहितविभक्तः पितृ " । ३ । ४ । ३० । इति हेमसुत्रेण लोहित-  
देवकृतिगणत्याद व्यर्थे क्यप्रत्ययः, स च पितृ । अज्ञस्यं  
मन्त्राने, ग० १ अघि० ।

अज्ञायसच-अज्ञायसच-न० । कापुत्र्ये, वृ० १ उ० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-स्त्री० । "असती-सातवाहने लः" । ॥ १ । ११ ।

इति सुत्रेण तस्य लः । प्रा० १ पा० । धाम्यभेदे, आवा० १ भू०  
१ अ० ५ उ० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-न० । अत्यन्तस्ये, स्था० १० पा० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-स्त्री० । विपुकुमारीमहत्कारिकाभेदे, स्था० ६ पा० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-स्त्री० । शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३० पृष्ठेऽस्याः पूर्वापरभावबुक्ती

अज्ञाय-अज्ञाय-न० । तुम्बके, भी० । अतु० । सूत्र० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-पुं० । अज्ञायुक्तेऽपि-न० । अज्ञायुक्तं क्षिप्रते येन तदज्ञायु-  
क्तेर्दम् । तुम्बकेर्दके पिप्लवादिशके, सूत्र० १ भू० ४ अ० २ उ० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-पुं० । तुम्बकभाजेने, भी० । आवा० । ११० ।

अज्ञाय-अज्ञाय-स्त्री० । अविद्यमानं लाघवं लघुता  
यस्य स तथा; तद्ग्राह्याघवता । आघवाभवे, वृ० ।

अथाज्ञायवतां व्याचष्टे-

उचिह-सरीरमज्ञायव, देहे गिदाइद्वयसरिरो ।

संयंसासासभया, ए विहरद् विहारकामो वि ॥

अज्ञायवं गौरवम् । तथा द्विधा-उपधौ, शरीरे च । तत्र देहे देह-

विषयमज्ञायवमिदम्-क्षिप्रं घृतादि, तेन; आदिशब्दाद् शुद्धश-

कैरादिमयुक्तस्यैः अतिदिनमस्य च द्वियमाशुर्वृष्टरीः सन्  
मार्गे गच्छन् शरीरजाभ्यसमुत्थो यो गात्रसंघयो, यन्न श्वास-

स्तद्वाह्निद्वारणकामोऽपि न विहरति ।

अथोपकरणेऽज्ञायवमाह-

सागारि पुत्रभात्रग-एतदहं दाए अविमह्यं जारजया ।

ए विहरति श्रोम सावय, नियद्विअगणिए भाण एज्जो सि ॥

सागारिकेण शय्यातरेण, तदाऽऽरी स्वपुत्रैर्भ्रातृनिर्नपुत्रिभ्यो यैः  
कस्यापि साधोराविवहस्यातीवप्रभूतस्य कल्पन्याद्युपकरणस्य

दानमकारि । स च साधुस्तद्गारजया विहरति । अयदातत्रा-

समं पुत्रिणं संजायति । स च तथा न विहरति [ सावय [ सि ]  
भावकेण चिन्तितम्-एष साधुः किमयापि न विहरति? जूनं बहुप-

करणप्रतिबन्धोऽयम् । ततस्तंन आवकेण तस्य संयतस्य निष्काद्य-  
र्थे विनिर्गतस्य सर्वमप्युपकरणं निष्काशयाम्यत्र संगोप्य निरु-

त्या मायया तदीय उपाभयः सर्वोऽपि [ अगणि सि ] अग्निना  
प्रदीपितः । ततः समायातः, दृष्टः प्रतिबन्धो दग्धः । कृतवाक्  
हा ! कष्टं, हाहा ! कष्टं, बहुपकरणं दग्धमिति । परिक्षेदं

पुष्टं भवकारः-किञ्चित्पुकरणं निष्काशितं न वेति ? ।  
स प्राह-न शकं किमपि निष्काशयितुं, परं [ भाण सि ]

भाजनद्वयं महता कष्टेन निष्काशितम् । ततः साधुना भयितम्-  
विहारमि संजायते कस्यां दिशि सुनिश्चितम् । भावकः प्राह-[ एज्ज  
सि ] सुभकीर्णते भूयोऽप्यायच्छेदः । ततः प्रतिपन्नं साधुना

तद्वचनम् । समागतः कालान्तरेण पुनरपि तत्रैवासी । निवेदितः  
आवकेण यथाकथितो व्यवहाराः, कृतमिच्छा च दत्तं सर्वमपि त

दीपमुपकरणम् । एषमाद्यो दोषा उपकरणात्ताद्ये भवन्ति ।  
वृ० २ अ० । पञ्जा० । नि० ७० ।

अज्ञाय ( ह )-अज्ञाय-पुं० । लभनं लाभः, न लाभोऽज्ञा-

भः । अज्ञायवित्तविषयाप्राप्ती, वक्त० २ अ० ।

अज्ञाय ( ह ) परि ( री ) सह-अज्ञायपरिपह-पुं० ।

अज्ञायः प्रतीतः, तत्परिपहणं च तत्र दैव्यभाष्यः । अ० ८ पा०  
८ उ० । प्रव० । प्र० । प्र० । नानादेशविहारयोः विभव-

भयस्य बहुपुत्र्यनीचैर्गुह्येषु मिज्ञानवात्याऽप्यसंक्रियेत्तसं दा-

सुविशेषपरीक्षानिरस्तुकस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधिक-  
कृपुणमलाजं मन्यमानस्याऽज्ञानप्रीडासहने, पं० सं० ४ त्तर ।  
स वैश्व-याचिनालाभे सति प्रसन्नचेनेसैवाधिकृतवदनेन प्र-  
वित्तितया म् । आश० ४ अ० । तज्जुक्तम्-

“ परात्परायै स्थायि वा, ज्ञेतेऽऽसादिनाऽपि वा ।  
मायेन लाभाद् नालाभाद्, निन्देत्स्वमथवा परम् ” । ख० ३ अ० ।  
“ परकीं च परायै च, लज्येताऽऽसादिनेषु वा ।  
लभे च मायेषु निन्देत् वा, स्वपराद् नाप्यज्ञातः ” ॥ २ ॥  
आ० मं० छि० ।

प्रवृत्तश्च कदाचिद् ज्ञामान्तरायेद्योषतो न ज्ञेतेऽपीत्य-  
लाभपरिग्रहमाह—

परेषु घासमेसेजा, भाषये परिनिष्ठिए ।  
अके पिंने अलके वा, आशुतपेज संजए ॥ १ ॥  
अजेवाहं न लज्जामि, अत्रि लामो मुए सिया ।  
जो एवं पदिंसंचिकरे, अलाभो तं न तजए ॥ ५ ॥  
आ० चू० ४ अ० ।

( परेषु इत्यादि ) परेष्विति शूद्रस्वेषु प्राप्तं कथञ्चन, अनेन  
च मनुकरशुचिमाह । एषयद्रवेयेत्, जुन्यत इति भोजनमो-  
दनादि, तस्मिन्परिनिष्ठिते सिद्धे मा लूप्रमगमनासुर्वर्ष पा-  
कादिप्रशुचिः, तन्मन्त्रं ज्ञेयं शूद्रिभ्यः प्राप्तं, पिरंनं आहारेऽलक्ष-  
वाऽप्राप्तं नातुन्येत संयतः । तद्यथा-अहो ! ममाधयता, यदहं  
न किञ्चित्कामं । उपलक्षणात्वाद्-वर्षे वा लक्षिमानहमितं न  
हृष्येत् । यद्वा-लभ्येऽप्यल्लेऽनिष्ठे वा संभवयेवानुताप इति सु-  
श्रावः । किमाहस्यननालभ्यं नातुन्येत । इत्याह- (अज्ञेयेत्यादि) ।  
अथैवास्मिन्नवहाहम्यहं न लजे न प्राप्नोमि । अथ- (संभा-  
वने-तत्प्रभाः प्रातिभ्यः आगामिनि दिने, स्वार्थं जनेत् । उपल-  
क्षणात्वात् इव इत्यन्येपुत्रयत्तरेषुवां मां स्यादित्यनास्थाऽमाह । य  
एवमुक्तप्रकारेण (पदिंसंचिकरे) प्रतिस्वमीकृते अहीनमनाः स-  
अलाभमाश्रित्यालाचयति, अलाभोऽज्ञानपरीषहः तं न तर्जयति  
माभिजवति, अन्यथा नूतस्वविज्जयत इति ज्ञावः ॥ उच० ३ अ० ॥  
अथ \* नाशुतपेज संजये सि \* सूत्रावयवमथतः

स्युवागुदाहरणमाह—

जायणपरीसहर्माम्, बसेद्वो इत्य होइ आहुरणं ।  
किसिपारासर देंदो, अलाभए हो उदाहरणं ॥ ५० ॥  
उच० नि० १ खएइ ।

याऽज्ञानपरीषहं बसेद्वोऽत्र भवत्यारहणमुवाहरणम् । कृपिप्रधा-  
मः पाराशरः कृषिपाराशरो, ऊमात्तरं ( देह इति ) दण्डणकु-  
मारोऽज्ञानकऽज्ञानपरीषहं भवत्युदाहरणमिति गाथाऽङ्कार्थः ।  
भावायैस्तु संप्रदायादवसेयः । उच० ३ अ० ।

अत्र अलाभपरिषहे कथाद्वयम्-लौकिकं ? , लोकोत्तरं च २ ।  
तत्र प्रथमं लौकिकं कथानकं कथ्यते-एकदा कृष्णः १, बलदेवः  
२, सात्यकिः ३, दारुकः ४, एते चत्वारोऽप्यभ्यापृताः अटव्यां  
बटवृक्षाभो रात्रौ सुप्ताः, आद्ये प्रहरे दारुको यामिको जातः,  
अन्ये त्रयः सुप्ताः; तदानीं कौचपिशाचः तत्रायतो दारुकं प्रत्या-  
ह-अहमेतान् सुप्तां सात्प्रतं भक्षयामि, यदि तेषां रक्तणे श-  
क्तिरसि तदा युक्तं कुडः । दारुकोक्तम्-बाहम् । ततो लग्नं युक्तम् ।  
यथा यथा दारुकस्तं पिशाचं हन्तुं न शक्नोति तथा तथा तस्य  
क्रोधो वर्द्धते । तथा च दारुकस्य न युक्तं ज्ञानो जातः, पराभूत एव  
दारुकः सुप्तः । द्वितीये प्रहरे सात्यकिरस्यति । कौचपिशाचो

तथैव जितः । तृतीये प्रहरे बलदेवः । सोऽपि तथैव जितः,  
तुयं प्रहरे उचितं कृष्णं कौचपिशाचस्तथैव प्राक्तवान् । कृष्णः  
प्राह-मां जित्वा मत्सहाय्यं भक्षय । तथा यथा कौच-  
पिशाचो युयति तथा तथा कृष्णः-अहो ! बलवान् एव म-  
ह्यः इति तुष्यति । यथा यथा कृष्णस्तोषवाद् भवति तथा यथा  
पिशाचः क्षीयते । एवं कृष्णेन पिशाचः सर्वथा क्षीयः स्वबल-  
मभ्ये क्षिप्तः प्रभाते तद्दृष्ट्वा इदृशा कृष्णेनोक्तम्-किमेतज्जवतो जा-  
तय । ते सर्वेऽपि रात्रिभूतास्तं प्राहः । कृष्णेन स्वबलकाम्यादा-  
कृष्णं दक्षितः । एवं कृष्णवद् यस्तोषवाद् भवति सोऽज्ञानपरी-  
षहं जेतुं शक्नोति ।

अथ द्वितीयं लोकोत्तरं दण्डणकुमारकथानकं कथ्यते-कस्मिं-  
श्चिद् प्राप्ते कोऽपि कृष्णशरीरं कुडुम्भं (पाराशरो विप्रः) बसति  
स्म । अन्वेषयि बहदसत्तम कुडुम्भेनो बसति स्म । वारकेण ते राज-  
वेष्टि कुर्षेति स्म । राजसत्पुत्रश्चातदज्ञानि वाद्ययति स्म । एक-  
दा तस्य कृष्णशरीरिणः पञ्चशतदण्डानवतनराजः सत्प्रातः, तेन  
च वादिता वृषजाः भक्षुपानं च लायामप्येकोऽधिककक्षायां दायितः ।  
तदाभूतरायं कर्म बहव्यं, नतो मृत्याऽतो बहुकालमितस्ततः संसा-  
रे परिभ्रम्य कस्मिंश्चिज्जवे कृतसुकृतवधेन श्रारिकायां कृष्णवा-  
सुदेवस्य पुत्रत्वेन समुत्पन्नः दण्डणगतिं तस्य नाम प्रतिष्ठितम् ।  
स दण्डणकुमारः आनेमिषाभ्यं अन्वदा प्रव्रजितः । लाजान्-  
रायवशात्प्रहत्यामपि श्रारिकायां द्विष्टमानो न किञ्चिद्वादि  
जनेन, यदि कदाचिन्नते तदा सद्यथाऽसारंभव । ततस्तेन  
स्वामी पुष्टः स्वामिना नु सकलः सुर्वभक्तुः सारतः सत्प्रातः ।  
तेन चाऽयमज्ञिप्रहो शूरीतः-परज्ञामो मया न प्राहः । अन्यथा  
वास्तुदेवेन स्वामिना इति पृष्टम्-अगवद् । एतावत्सु अगणस-  
हस्रेषु को दुष्करकारकः ? । स्वामिना दण्डणगतिरिच दुष्करका-  
रक इति उक्तम् । कृष्णेनोक्तम्-स इदानीं क्षातिः । स्वामी  
प्राह-स्यं नगरं प्रविशान् नं कृत्यसि । इष्टः कृष्णः श्रीनेमिज्ञेन  
प्रणम्य स्थित्यतः पुरद्वारे प्रविशन् तं साधु दृष्टवान्, हस्तिस्क-  
न्धातुकीं कृष्णस्तं वधन्ते । तेन वन्धनातोऽयं साधुरेकंनेयंन  
दृष्टः । चिन्तितं च तेन-अहो ! एव महामां कृष्णेन वप्यते । एवं  
चिन्तयत एव तस्य शूद्र दण्डणार्थिः प्रविष्टः तेन मोक्षकैः प्रति-  
लाभितः । ततः स्वामिममपि गत्वा पृच्छति- मम लाभान्तरायः  
क्षीणः । स्वामिना उक्तम्-एव वास्तुदेवलाजः । मम परज्ञामो न  
कथने इत्युक्त्वा नगराद् बहिर्गत्वा उचितस्थिरित्ते मोक्षकात्  
विधिना परिष्ठापयन् वृत्तध्यातारोहणं केवलं जातः । एवमन्धे-  
रपि भलाजपरीषहः सोऽदृश्यः । अलाभाद् अनिष्टाहरणमात्,  
अन्याद्वारप्रान्नाहारमोजनात् शरीरे रागा उत्पन्नं, अतो रा-  
गपरीषहोऽपि सोऽदृश्यः ॥ उच० २ अ० ।

अलाय-अज्ञान-न० । उक्तुके, शू० ५ उ० । ज्ञा० । जी० ।  
प्रज्ञा० । दश० । स्या० । अज्ञानं उवलत्काष्ठे, न० ।  
अलायानिसक-अज्ञानवैसक-न० । अलादेव्या यधने, ज्ञा० २ अ० ।  
अलायु-अलायु-न० । “ बा वः ” टा २ । २३७ । इति सुत्रेण  
बन्ध वः । प्रा० १ पाद् । तुभ्ये, जं ३ वक्त० । “ अलायुना ज  
परिउजति ” नि० चू० १ उ० ।  
अज्ञाहि-अव्य० । “ अलाहि इति निवारणे ” ॥ २ । १७६ ।  
अज्ञाहि इति निवारणं प्रयोक्तव्यम् । “ अलाहि किं वापय  
हे जेण ” प्रा० २ पाद् ।  
अलाम्-अव्य० । पथ्यती, अलामस्यर्थं पथ्यातः शुकः । अ० १६  
श० १ अ० ।

अलिउल

अलियवयण

असिउल-असिकुल-न० । अमरसूत्रे, " क्लीबे अहशसारे " । ८ । ४ । ३५३ । इति अहशसोः 'इ' इत्यादेशः "कमलसंभेद्विचि अलिवलसं, करि-गंढाई महति" । प्रा० ४ पाद ।

असिग-असिङ्ग-न० । अथाने, ( साङ्ख्यपरिकल्पितप्रकृतौ, ) हा० २० हा० ।

असिज-असिज-न० । महदुद्दकभाजनविशेषे, उपा० ७ अ० । अद्ककुम्भे, स्था० ४ हा० २ उ० ।

असिदग-असिन्दक-पुं० । यथाहृदिहोराप्रवर्तिनरिडिकायाम्, नृ० २ उ० । नि० अ० ।

असिदुग-असिन्दुक-न० । ज्यमत्से, अणु० ॥

असिच-असिच-त्रि० । अकृतलेपे, अलिसस्य तत्त्वसमाधिर्न-वति, पूर्णानन्दवृत्तिरपि । अणु० ११ अणु० ।

असिच-न० । नौकेपणकाष्टोपकरणभेदे, आचा० २ अणु० ३ अणु० १ उ० ।

असिपच-असिपच-न० । युद्धिकपुष्पाकृतौ, विपा० १ अणु० ६ अणु०

असिय-अलीक-न० । पुं० । " पानोवादिचित्त " । ॥ ११०१ ।

इति सूत्रेण ईकारस्य इत्वम् । प्रा० १ पाद । कयावशाम्भिया-भाषणे, अकृतभाषणे, उक्त० १ अ० । मृगवादे, प्रथ० २३७ हा० । अणु० । प्रथ० । दर्श० । द्विधा अलीकम्-अनृतो-ज्ञानेन, नृतनिहवम् । यथा- ' ईश्वरकर्मैकं जगत् ' इत्याद्यन्त-तोद्भावनेन । नास्त्यात्मा ' इत्यादिस्तु नृतनिहवः । विश० । हा० ०० । नि० अ० । अणु० ॥ अ० । अलीकवादेजनितकमाश्री, प्रथ० १ आश्र० हा० । " अलियनियडिसागिजोयबहुल " अलीकः श्रुतपलापेक्षया निष्कटो यो निकृन्तनचनप्रकाशनाय-चचनस्य [सादृ [त्] अविभ्रामस्य च अविभ्रामस्यचनस्य यो-गो व्यापारस्तेन बहजं प्रचुरं यत् तत्तथा । प्रथ० २ आश्र० हा० । " अलियं न भासियत्वं, अतिथुं सत्त्वं [पि अं न वत्त्वं । सत्त्वं चि होह अलियं, जं परपीमाकरं वयणं " ॥११ दर्श० ।

असियणिमित्त-अलीकनिमित्त-न० । मृगवाद्प्रत्यये, अणु० २ उ० ।

असियजीरु-अलीकजीरु-पुं० । सत्यवादिनि, अणु० ७ उ० ।

असियवयण-अलीकवचन-न० । वितथभाषणे, प्रथ० ७४१ हा० । यथा-किं विधा प्रचलायसि ? इत्यादिप्रश्ने-न प्रचलायाम्वादि-अणने, प्रथ० २३५ हा० । उक्त० । अणु० । ( पञ्चालीकानि ) अथ चिन्तौयमप्रप्राप्तं दर्शयति-

द्वितीयं कन्यागोचर्य-लोकानि न्यासनिहवः । कदासङ्घं चेति पञ्चा-सत्येज्यो विरतिर्भूतम् ॥ ३६ ॥

इत्यन्ते भूमयामाश्लोकशब्दस्य प्रत्येकं संयोजनात् कन्या-श्लोकं, गवाश्लोकं, सूर्यश्लोकं चेति, तानि । तथा-म्यासनिहवः, कदासङ्घं चेति; पञ्च पञ्चसंख्याकानि, अथौत् क्रियाशयसमु-त्थाव स्यात्सासत्यानि, नभ्यो विरतिर्विरमत्वं, द्वितीयं अधिकारा-व प्रप्राप्तं भवेत्, जिनैरिति शेषः । तत्र कन्याविषयमश्लोकं कन्याश्लो-कं शेषादिभिरविषयकन्यां विषयकन्यां, विषयकन्यामविषयकन्यां वा, सूर्यश्लो वा डःशीलां, सुःशीलां वा सूर्यानाम्, इत्यादि वचनो-भयति । इदं च सर्वस्य कुमारादिद्विपदविषयस्याश्लोककस्यापञ्च-क्षणम् १ । गवाश्लोकम्-अवयवश्लोकं बहुश्लोकं, बहुश्लोकं वा अणु- १६४

रामित्यादि वदतः । इदमपि सर्वेषुचतुष्वविषयश्लोककस्यापञ्च-क्षणम् २ । सूर्यश्लोकं परसकामप्यात्मदिसकाम्, आत्मादिस्-कम् वा परसकामं, कथं वा तत्रमन्तरम्, अन्तरं योरभिमत्या-दि वदतः । इदं चाशेषऽपदद्वयविषयाश्लोककस्यापञ्चक्षणम् । यथाह-" कथागहं प्रुपया-सुसुभं लवपाया शोचयत । अपयाणं इच्छायं, सन्धानं सृमिवयणं तु " ॥ १ ॥ ननु य-पायं तर्हि द्विपदचतुषुपदप्रथमं सर्वसंसाहकं कृतो न कृ-तम् ? । सत्यम् । कन्याश्लोकानां लोकेऽतिगर्हितत्वेन उद-त्याद्विशेषणं वजनार्थमुपादातम् । कन्याऽश्लोकादे च भोगान्म-रायद्वेषवृद्धादयो दोषाः स्फुटा एव । यत आवश्यकचूर्णी- " मुसावापे कं दोसा, अकज्जते वा क गुणा ? । तस्य दोसा कथामं जेव अकथामं भणते भोगंतराः यदोसा; पट्टा या आ-तघातं करेज्ज, कारवेज्ज वा; पेपे सेसितु माणिअग्घा " इत्या-दि । तथाऽन्यस्य ते रक्षणायान्यस्मि समप्येते इति ३ । न्यासः सुवर्णादिः, तस्य निहवोऽपसापस्तत्त्वचनं स्पृलमृगवादाः । इदं चानेव विशेषेण पूर्वोक्तोच्ये । जिदोपात्तम् । अस्य चा-स्तादाने सत्यपि च तस्यैव प्राधान्यविवक्षणांमृगवादात्प्रव ४ । कूटसाङ्घं स्रभयेदयिषे प्रमाणीकृतस्य लज्जामसरदिना कटं वदतः । यथा-" अदमन्न सान्ति " अस्य च परकीयपापसमर्थ-कवलक्षणविशेषमाश्रित्य पूर्वज्यो भेदोपा-यासः ५ इति । अ-श्रायं भावार्थः-मृगवाद्ः कंधमानमानयालोभमिधिविरागद्वेष-हास्यभयदीनाकांडारसुरतिदाङ्गिण्यमाःस्यविधादादिभिः सं-भयति । पीडादेतुश्च सत्यवादाऽपि मृगवादाः । सन्नयो हितं स-त्यमिति स्पृलस्य । परपीमाकरसमस्यमेव । यतः-" अलिसं न त्रा-सिअव्यं, अतिथुं सत्त्वं [पि अं न वत्त्वं । सत्त्वं [पि तं न सत्त्वं, जं परपीमाकरं वयणं " ॥ १ ॥ स च द्विविधः-स्पृलः, स्पृलमथ । तत्र परस्पृलवस्तुविषयोऽतिवृत्त्येकासमस्यश्च स्पृलः, त-द्विपरीतः स्पृलः । आह हि-" तुर्वादे अमुसायुजं, सुदुमं धूलो अतथ इद सुदुमं । परिहासादणभयो, धूलो पुण तिव्यसकेसा " ॥ १ ॥ आवकस्य स्पृलममृगवादादे यतना, स्पृलस्तु परिहार्य एव । तथाऽऽप्येकस्य-धूलममृगवादादे समणोऽससो पञ्चस्र्वाह, सं अमुसावापे पंचावहे परणत्तं । तं जहा-कषालिपे १, गवालिपे २, जेमासिपे ३, नासावद्वारे ४, कूरुसफं अ ५ इति । तच्चतुर्णांविप-" जेण भासिपेण अण्योना परसस वा अ-तीय याव । अहंसकिलसो य जायते, तं अट्टाप वाऽणुपाह वा श एवज्ज ति " । एतच्चासत्य चतुर्क-नृतनिहवः १, अभूतोद्भवने २, अर्थान्तरे ३, गर्हा च ४ । तत्र भूतनिहवो यथा नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि १ । अभू-तोद्धानेन यथा-आत्मा इयामाकतऽदुलमात्रं, अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि २ । अर्थान्तरे यथा-गामभ्रमभिवदतः ३ । गर्हा तु त्रिधा-एका सावदव्यापारवर्धातेनि, यथा-क्रेषं हृष्यत्यादि १ । द्वितीया अग्रिया-कारुं कारुं वदतः २ । तृतीया आको-शाकृपा, यथा-अरे ? आचकित्तये ? इत्यादि । च २ अवि० । दर्श० । पञ्चा० । आ० ।

अलीकवचनप्रकरण-

जे निवसुं स्रहृत्यं मुसं वयद, वदंते वा साइज्ज ॥ १॥ मुसं अलियं, लहृत्यं अण्यं, ते वदंते भासल्लु । तं पुण मुस चरनिदं- दध्वे सेवे काले, जावे लहृत्यं मुसं होति ।



एतेसि णाणसं, वोचङ्कामि अहाणुपुञ्जीए । ६० ।

माणसे विससे, आणुपुञ्जीए द्वाविउवआसकमेण ष-  
क्काणं ।

इमे द्वावि उवहरणा—

दब्बे बत्थपयादिमु, खेचे संघारवसट्ठिमादीमु ।

कालेअतीतमणागा, जावे भेदा इमे हांति ॥ ६१ ॥

पढमपादस्स वक्काणं—

मज्ज पुणो एोस तुटं,णयावि सो तस्स दब्बतो अलियं ।

गोरस्सं च जणेतं, दब्बंजुते व जं भणति ॥ ६२ ॥

वत्थं पायं च सहसा भयेज्जा-मज्ज एसण तुज्जं, सहसा  
गोरद्वं झूते, द्रव्यज्ञतो वा अनुपपुक्क इत्यर्थः ।

अहवा द्वालियं इमं—

वत्थं वा पायं वा, अस्सेणुपाइयं तु सो पुट्ठो ।

भणति मए उपाइय, द्वावा अलियं जवे अट्ठवा ॥६३॥

वत्थपासादि अस्से उपायिया, अस्सो जणइ-मए उपाइया ।  
द्वयस्रो अलियं गयं ।

खेसस्रो ( संघारवसतिमादीसु इत्यादि ) अस्स व्याख्या-

णिसिमादीसंमूढो, परसंधारं भणति मज्जे खं ।

सो खेचनमइो व अस्से-उणुगमिया वेति तु मए चि ॥६४॥

( णिसि चि ) राएए अंधकारसंमूढो परसंधारज्जमि अ-  
प्यणो भणइ । मासकपपाउग्गं वा वासावासापउग्गं वा खि-  
सं वसही रिउअमा अस्सेउणुगमिया भणति-मए चि । खिचअ  
वा मुसावाओ गभो ।

'कालातीतमणागए चि' अस्स व्याख्या-

केणुवसमितो सट्ठो, मए चि उवसामितो उणयाउतीए ।

को ए हु तं उवसमि, अण्णातिससो अइ एस ॥६५॥

एको अभिग्गहिच्छो एणेण सामिणा वससामिओ । अओ साहु  
पुच्छिओ-केणस सट्ठो उवसामिओ ? अओया विहरंतेण मए  
चि । अयंतीए एणो अभिग्गहिच्छो अरिहतसाहुपडिओआ ।  
साहुण य समुज्जावो-को एण तं उवसामेज्ज ? तत्थ एणो साहु  
अण्णातिससो भणति-सो य अवस्सं मया उवसामियव्वं । एव  
दत्थकालं प्रति मूयावाः ।

अथवा कालं पडुक्क इमो मुसावादो-

तीतस्मि य अट्ठम्मो, पच्छुप्पमे य उणागतं चेव ।

विधिसुजे जणितं, भण्णाति णिस्संकिंतं जावे ॥६६॥

तीतमणागतपडुप्पेसु कालेसु जं अपरिआयं तं निस्संकिंतं  
भासेनस्स मुसावाओ भवति । विधिसुजं दसचेयालियं, तत्थ वि  
वक्कुसुकी । तत्थ ये कालं पडुक्क मुसावायसुरए त इह दट्ठवा ॥  
प्राये मेओ इमो चि । नि० न्हु० २ उ० ।

तेवां च वण्णामपि यथाकममियं प्रकपणा, तामेव प्रकपणां  
चिकापुंरलीकवचनविषयां हारणायात्मा-

वत्था वपण्णो जा, जेसु य उणेसु जा विसोही य ।

जे य जणओ अवाया, सपनीपक्खा उ एयेव्या ॥

यो वक्ता अलीकवचनप्रापकः, यच्च वचनीयः-अलीकवचनं  
यमुद्दिश्य अयते, येषु च स्थानिष्वलीकं संजयति, यादृशी च  
तत्र शोषिः प्रायश्चित्तम्, ये चाऽलीकं भणन्ते अवाया दोषाः, ते  
सप्रतिपक्ताः सापवादा अत्र भवन्तीत्यतया ज्ञातव्याः । इति ज्ञा-  
रवाथासमासार्थः ।

साम्प्रतं तामेव विधुणोति-

अयारिए अजिसेगे, जिक्खुम्मि य थेएए य सुट्ठे य ।

गुरुगा लहुगा गुरुलहु-जिएणे पन्निस्सोम विइएणं ॥

इडाचार्यादिवेका, वचनीयोऽपि एकैकतरः । तत इदमुच्यते-  
आचार्यमलीकं भणति चतुर्गुक, अभिषेकं भणति चतुर्लघु,  
भिण्णुं भणति मासगुरु,स्थविरं भणति मासलघु, कुल्लकं जणति  
जिण्णमासः । ( पांडिलोम विहरणं ) द्वितीयदाशेनैतवच  
प्रायश्चित्तं प्रतिस्सोमं वक्तव्यम् । तद्यथा-आचार्यमलीकं भणति  
भिण्णमासः, अभिषेकं जणति मासलघु, एवं यावत् कुल्लकं  
जणतन्नतुर्गुक, एवमभिषेकादीनामप्यलीकं भणतां स्वस्थाने  
परस्थाने च प्रायश्चित्तमिदमेव मन्तव्यम् । अभिषेकपश्चर्यं  
कलेश्यः-अभिषेकमाचार्यं अलीकं जणति चतुर्लघु इत्यादि ॥

तत्पत्नीकवचनं येषु स्थानेषु संभवति, तानि सप्रायश्चित्त-  
नि दर्शयितुकामां हारणायाद्वयमाह-

पयला उट्ठे मए, पच्छक्खाणा य गमण परियाए ।

समुदेससंखमीओ, खुडुगपरिट्ठागियमट्ठीओ ।

आवस्समगणं दिसा-सु एगकुत्ते चेव एगदब्बे य ॥

परियासिच्चामणं, पारियासिच्चायजुंजणयं ॥

प्रचलापदमार्कपदं मरुकपदं प्रत्याख्यानपदं गमनपदं पर्थोय-  
पदं समदंशपदं खखडीपदं क्षुल्लकपदं परिदारिकपदं [ मुही-  
ओ चि ] पदैकदेशा पदसमुदायापचारम् । घोटकसूक्ष्मीपदम्, अ-  
वश्यं गमनपदं दिग्गमपयपदं, एककुल्लगमनपदं, एकद्रव्यप्रदण-  
पदं, प्रत्याख्याय गमनपदं, प्रत्याख्याय भोजनपदं चति हारणा-  
याद्वयसमासायः ।

अथेतद्वेव प्रतिद्वारं विधुणोति-

पयलासि किं दिवा? ण य,पयस्सामिं लहु दुइ णिएहेवु गुरुगा ।

अन्नदरसितनेहएव, लहुगा गुरुगा बहुतराणं ।

कोऽपि साधुर्दिव प्रचलायते, स चान्येन साधुना जणित-  
कामेवं दिवा प्रचलायसे ? । स प्रत्याह-न प्रचलायः; एवं प्रथम-  
वारं निह्वानयेत् मासलघु, ततो भूयोऽप्यसौ प्रचलायितुं  
प्रवृत्तः । तेन साधुना जणितः-मा प्रचलायिष्ठाः । स प्रत्याह-  
न प्रचलायं । एवं द्वितीयवारं निह्वेवं मासगुरु । ततस्त्वैथेव  
प्रचलायितुं प्रवृत्तः; तेन च साधुना अन्यस्य साधोर्द्वि-  
यथेवं प्रचलायते, परं न मन्थने ततस्तेनामन्येन साधुना भणितो-  
ऽपि यदि निह्वेवं तदा चतुर्लघु । अथ तेन साधुना बहुतराणं  
द्विध्यादीनां साधूनां दर्शितः, तैश्च भाणितोऽपि यदि निह्वेवं तदा  
चतुर्गुक ।

निहएवणे निहएवणे, पच्छिच्चं बहएए उ जा सपयं ।

लघुगुरुमासो लघुगो, लघुगदादी बापरे हुंति ॥

एवं निह्वने निह्वने प्रायश्चित्तं चरते यावत् स्वपदम्; पारा-  
श्रिकं तत्राश्रिकम् । तथायाः पञ्चमं चारं निह्वानस्य परुषधु, षष्ठं  
चारं परुषुह, सप्तमं मूलम् , नवममनवस्थाप्यं, दशमं चारं  
निह्वानस्य पाराश्रिकम् । अथ च प्रखलादिषु सर्वेष्वपि  
द्वारेषु यत्र यत्र लघुगुमासो वा प्रथितं तत्र तत्र सूदमो मृषाबा-  
हः, यत्र तु चतुर्लघुकादिकं भवति तत्र बाहोरो मृषाबादो भवति ।  
गतं प्रचलद्धारम् ।

अथाहंश्रारमाह—

किं षीमि वासमाह, य षींति ण्णु वासविद्वो एए ।  
भुंजंति हीण मरुगा, कर्हिं ति नणु ससंगेइडु ॥

कोऽपि साधुर्धैर्यं पतति प्रथितः, स चापरेण भणितः—किं 'वा  
समाणे' धैर्यंति निर्गच्छामि ? एवं जणित्वा तथैव प्रथितः । तत  
इतरेण साधुना भणितम्—कथं न निर्गच्छामीति जणित्वा निर्ग-  
च्छामि ? स प्राह—वासु—शम्भे इति धानुपात्राद् वासति श-  
म्भप्रमाणे यो गच्छति स वासति निर्गच्छामीत्यभिधीयते ।  
अथ तु न कश्चिद् वासति, किन्तु धैर्येभिर्यत्र यते, तेषु गच्छा-  
मि । एवं जलवादनं प्रत्युत्तरं द्दानस्य तथैव प्रथमवारिदिषु  
मासलघुकादिकं प्रायश्चित्तम् ॥ अथ मरुकद्वारम् । कोऽपि सा-  
धुः कारणे विनिर्गते उपाश्रयमागत्य साधुन् भणति—साध-  
वो यान, हृज्जेत मरुकाः । पयमुके ते साधव उद्गाहितभा-  
जना भणन्ति—( कर्हि ति सि ) क ते मरुका हृज्जेत ? । इतरः  
प्राह—ननु सर्वे आत्मीयगुरुषु, एवं हृज्जेतोत्तरं प्रयच्छति ॥

अथ प्रत्याख्यानद्वारमाह—

हृज्जमु पवकसातं, मए ति तक्खण पत्तुंनओ पुट्ठो ।  
किं व ण मे पंचविट्ठा, पक्खवाया अविरेड्ढो ॥

कोऽपि साधुना भोजनयत्नायां जणितः—भुक्त्वा समुद्रिय । स  
प्राह—प्रत्याख्यातं मयति । पयमुक्त्वा मयद्वल्यां तत्कृणादेव  
प्रहृत्को—नेकु प्रहृत्तः । ततो जित्वायेन साधुना पुष्टः—आर्ये ! त्व-  
येधे भणितम्—मया प्रत्याख्यातम् । स प्राह—किं वा मया प्रा-  
णातिपातादिका पञ्चविधा भवितरतिषं प्रत्याख्याता, येन प्रत्या-  
ख्यातं न घटते ? ।

अथ गमनद्वारमाह—

वचसि नाहं वचचे, तक्खण वचचे पुच्छिओ भणइ ।  
सिच्छंतं न वि जाणसि, नणु गम्मइ गम्ममाणं तु ॥

केनापि साधुना चैत्यवन्दनादिप्रयोजने व्रजता कोऽपि साधु-  
रुक्तः—किं त्वमपि व्रजसि ? गच्छसीत्यर्थः । स प्राह—नाहं व्रजा-  
मि । पयमुक्त्वा तत्कृणादेव व्रजितुं प्रहृत्तः—तेन पूर्वेप्रस्थितसा-  
धुना पुष्टः—कथं न व्रजामीति भणित्वा व्रजसि ? स भणति—सि-  
च्छंतं न जानीमि त्वम् । नत्विद्याक्लेशे । ओ सुग्ध ! गम्यमान-  
मेव गम्यते, नागम्यमानम्, यस्मिन्न समये त्वयाऽहं पुष्टस्मिन्नाहं  
गच्छामि ? इति ॥

अथ पर्योयद्वारमाह—

दस एयस्स य मरुक्क य, पुच्छिय परिपाय वेइ उ क्खेण ।  
मम नवप वेदि अम्मि, पण्णाइ वे पंचगा दसओ ॥  
कोऽपि साधुरात्मज्ञिनीयः केनापि साधुना बन्दिनुकामेन पू-

ष्टः—कति वर्षाणि भवतां वर्षीयाः ? इति । स एवं पृष्टो भणति-  
एतस्य साधोर्मम इ वद्वा वर्षाणि वर्षीय इति । एवं क्लृप्तं ने-  
नोके, स प्रच्छकः साधु-मम म वर्षाणि पर्याय इत्युक्त्वा प्रबन्धि-  
तो बन्दिनु लम्नः । इतरज्जलवादी भणति—उपविशत, भवन्तः  
स्वयमेव वन्दनीया इति । कथं पुनरहं वन्दनीया ? इति तेनोक्ते, उ-  
ल्लावादी भणति—मम पञ्च वर्षाणि पर्यायः, एतस्पर्णापि साधोः  
पञ्च । एवं द्वे पञ्चके मीक्षिते दश भवति । ततो मृषामयायंजन-  
योरापि वन्दनीया इति भणति ।

अथ समुद्रेशद्वारमाह—

वट्ठइ उ समुद्रेसो, किं अत्तयु क्कत्थ एस गणणम्मि ।  
वट्ठोते संखलोओ, परेसु नणु आठखंडणया ॥

कोऽपि साधुः कायादिभूयो निर्गम्य आदिश्यं राहुणा प्रथममा-  
नामं वट्ठु साधुन् खल्लकं मौलानं जणति—आर्य्यः ! समुद्रेशो  
वर्तते किमेवमुपविष्टास्तिद्वय ? ततस्ते साधवो मायमहीकं भूते  
इति कृत्वा वट्ठो तत्राजानमुपस्थिताः पुच्छन्ति । कुत्रस्यो समुद्र-  
शो भवति ? स प्राह—नन्वेव गगनमार्गे सूर्यस्य राहुणा समुद्रशः  
प्रयक्त्वमेव इत्यते ॥ अथ संखहोद्वारम् । कोऽपि साधुः प्रथमाश्रि-  
कापानकादिनिमित्तं विनिर्गतेः प्रत्यागतो भणति—प्रभुराः संख-  
डयो वर्तन्ते, किमेवं तिष्ठथ ? ततस्ते साधवो मनुकामाः पुच्छन्ति-  
भूत ताः संखरुपाः । स क्लृप्तवादी भणति—तेषु तेषु वट्ठेसु संखडयो  
वर्तन्त एव । साधवो भणन्ति—कथं ता अप्रासिद्धाः संखडव व-  
च्यन्ते ? क्लृप्तवादी भणति—नणु आठखंडणय [ सि ] नत्विद्या-  
क्लेशे । पृथग्यादिजीवानामार्युषि वट्ठे वट्ठे रज्जवादिमिरा-  
ग्नेः संखरुपन्ते, ताः कथं न संखडयो भवन्ति ? ।

अथ कुल्लकाद्वारमाह—

खुट्ठुगु ! जणणी ते मिया, खए जं वइ ति अस्स भणित्तम्मि ।  
माइसा सव्वजिया, जनेसु तेणेतं ते माता ॥

कोऽपि साधुरुपाश्रयसमीपे मृतां शुनीं वट्ठु कुल्लकमपि भ-  
णति—कुल्लक ! जननी तव मृता । ततः कुल्लकः प्ररुदितो—रं-  
दितुं सम्मः तमेवं वदन्तं वट्ठु स साधुराह—मा खविहि, जीवति  
ते जननी । पयमुके कुल्लकोऽपरे च साधवो जणन्ति—कथं पू-  
र्यं मृतेत्युक्त्वा सप्रति जीवतीति जणन्ति ? स प्राह—एषा या  
शुनीं मृता सा तव माता भवति । कुल्लको भूते—कथमया मम  
माता ? मृषावादी साधुराह—सर्वेऽपि जीवा भतीते काले तव  
मातृत्वेन बभूवुः । तथा च प्रजासिद्धम्—“एगमेगस्स णं जीस्स  
सव्वजिया माइसाए पिह्साए भायसाए पुत्तसाए धुयसाए  
भूतपुत्तवा ” । हंता गोयथा ! एगमेगस्स जीवस्स जीवा तथा  
चूतपुत्तवा ” । तेनैव कारणेनेषा शुनी त्वरीया मातेति ॥

अथ परिहारिकद्वारमाह—

उज्जाणे दहूणं, दिट्ठा परिहारिग ति झडु करणे ।  
कट्ठयुज्जाणे गुरुपं, वर्यति दिट्ठेसु लघुगुम्मा ॥  
उल्लहणा ग ति उठ्ठे, आत्तोइए तम्मि उग्गुरू होंति ।  
परिहरमाणा वि कदं, अप्परिहारिं जवे खेत्तो ॥ २ ॥  
किं परिहरंति खणु था-णुकेटए मूल तुज्ज सव्वे य ।  
अहभेगो अणवर्डे, वरिं पवपयसात्तं पारंची ॥ ३ ॥

कोऽपि साधुरुपाश्रयं स्थितानवसन्नात् वट्ठु प्रतिश्रयमागत्य  
भवति—मया परिहारिका इष्टा इति । साधवो जानते, यथा-

पुष्परिहारिकाः समागताः । एवं जलाभिप्रायेण कथयत एव मासज्ञानम् । न्युस्ते साधवः परिहारिकसाधुशोभोत्सुकाः पुष्प-  
नि-कुञ्ज तः दद्याः ? । स प्राह-उद्याने, एवं भगवतो मासगुरुः ।  
ततः साधवः परिहारिकदर्शनायै चलिताः, यजन्तो यावत्प-  
श्यन्ति तावत्तस्य कथयतश्चतुर्भुजः । तत्र गतैर्दृष्टव्यवसन्तु क-  
थयतश्चतुर्भुजः । प्रवसन्ना भर्मा इति कृत्वा निवृत्तुषु कथयतः  
बद्धसाधवः । ते साधव ईश्वरचित्तं प्रतिरुच्य गुरुणामालोच-  
यन्ति-विप्रतारिता वयमनेन साधुनेति, एवं भुवाणेषु तस्य  
परगुरुः । आचार्यैरुक्तम्-किमेवं विप्रतारयसि ? । स चोद्योत्तरं  
दातुमारम्भः-परिहरन्तोऽपि कथमपरिहारिणो भवन्ति ?, एवं  
भुवतश्चेहः । साधवो भवन्ति-किं ते परिहरन्ति येन प-  
रिहारिका उच्यन्ते ? । इतरः प्राह-स्थाणुकपटकादिकं तेषु  
परिहरन्ति, एवमुक्तं ददतो मूलम् । ततस्तेः सर्वैरपि सा-  
धुनिरुक्तो दृष्टोऽपि श्वेदगतोऽप्युत्तरं दद्यात्सीति । ततः स  
प्राह-सर्वेषु अपि सूयमेकीभूताः, अहं पुनरेकोऽसहायोऽन-  
पराजयि, न परिफलसु मनीयै ऊचियन्तम्, एवं भगवतोऽनवस्था-  
प्यम् । अथ ज्ञानमदाबलितस्य एवं प्रवीति-सर्वेषु अपि सूयं प्रवचन-  
स्य बाह्याः, एवं सर्वानधिकल्पितः पाराञ्चिकं भवति ।

इदमेवान्वयपदं व्याचष्टे-

किं जगत्प्रेण जंपह, किं मं कोपह एवऽजाणंते ।  
बहुपर्द्धे को विरोद्धो, सत्सर्द्धे वं नागर्पायस्स ? ॥

किमेवं जगत्प्रेण न्यवनेन जल्पय, लोकद्वन्द्वमूर्च्छयता किमेवमेवं  
प्रलयप्रेयसः । किञ्च-मामिषाज्ञानतोऽपि (कोपह) गले धृत्वा  
प्रेरयथ । अथवा-एवमपि बहुनिः सद्य को विरोधः ?, शस्त्रमे-  
रिच नागपोतस्येति ।

अथ चोटकमुक्तीद्वारमाह-

जण्ड य इद्वि नियचे, अल्लोप आमंति योऽनगमुह्रीओ ।  
पुरुस सन्वे परं, सन्वे बार्हि वयणुस्स ॥  
मासां सद्दुओ गुरुओ, चउरो माओ दवंति सद्दुगुरुगा ।  
उम्मासा लद्दुगुरुगा, उओ मूळं तह दुगं च ॥ १ ॥

एकः साधुर्विचारभूमौ गतः, उद्यानोद्देशे वरुवाभरन्तीरवलो-  
क्य प्रतिभ्रयमागतः, साधून् विस्मितमुखः कथयति-शृणुत, य-  
द्य भया यादृशमाश्चर्यं दृष्टम् । साधव-पुण्ड्रि-कीदृशम् ? । स  
प्राह-चोटकमुख्यः स्त्रियै दद्याः ? एवं भणतो मासगुरुः । ते सा-  
धव ऋजुत्वमायाभित्तयन्ति-यथा चोटकाकारमुखमनुष्यस्त्रि-  
योऽनेन दद्या इति । ततस्ते पुष्पनि-कुञ्ज तावत्पथा दद्याः ? ।  
स प्राह-उद्याने, एवं भुवतो मासगुरुः । साधवो दृष्टव्यास्ता इ-  
त्यभिप्रायेण प्रजन्ति, तदानीं कथयतश्चतुर्भुजः । दृष्टानु वरुवाणु  
चतुर्भुजः । प्रतिनिवृत्तुषु साधुषु बद्धसु । गुरुणामालोचिते वरुगु-  
रुः । ततो गुरुभिः पृष्टो यदि जगति भामं, चोटकमुख्य एवेता यतो  
दीर्घमधोमुखं प्रयुक्तं पञ्चवर्णां भवतीत्येवं प्रवीति तथा श्लेः ।  
ततः साधुनिर्मिता-कथं ताः स्त्रिय उच्यन्ते ? । इतरः प्रत्याह-  
यदि न स्त्रियस्तीर्हि किं पुरुषाः ?, एवं भुवाणस्य सूयम् । सर्वे य-  
यमेकत्र भिक्षिता अहं पुनरेक एव, एवं जगतोऽनवस्थाप्यम् ।  
सर्वेषु अपि प्रवचनस्य बाह्या इति भणतः पाराञ्चिकम् ।

अथान्यत्रप्रायश्चित्तं प्रकारान्तरेण प्राह-

सन्वेगत्या मूणं, अद्दुगं एकद्वामो य अणुपेद्धं ।  
सन्वे बर्हिभावा पव-वणुस्स वयणया चरिमं तु ॥

सूयं सर्वेष्वेकत्र मिलिता इति भणतो मूलम् । अहमेकाकी किं  
करामीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेषु अपि सूयं प्रवचनस्य  
बाह्या इति वदति पाराञ्चिकम् ।

इदमेवान्वयपदं व्याख्यायति-

किं जगत्प्रेण जंपह, किं मं कुपेह एव जाणंता ।  
बहुपर्द्धे को विरोद्धो, सत्सर्द्धे वं नागर्पायस्स ? ॥  
गतायां ।

अथान्वयं गमनद्वारमाह-

गच्छसि ए ताव गच्छं, किं तु ए जासि सि पुच्छितो भणति ।  
वेला ए ताव जायति, परतोर्गं वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्टः-आयं ? गच्छसि जिज्ञाचर्या-  
म् । स प्राह-अवश्यं गमिष्यामि । इतरेण साधुना भणितम्-यथे-  
वं तत उचिष्ट, ब्रजामः स प्राह-न तावद्वर्षापि गच्छामि । इतरे-  
ण भणितम्-किं लुरिति विनकीं न यारिं गच्छसि, त्वया हि ज-  
णितम्-अवश्यं गमिष्यामि ? । एवं पृष्टो भणति-न तावद्वर्षापि प-  
रलोकां गन्तुं वेला जायते, अतो न गच्छामि । यद्वा-मोक्षं गन्तुं  
नाद्यापि वेला, अतो न गच्छामि । अयिः संभावने । किं संभा-  
वयति-अवश्यं परलोकां मोक्षं वा गमिष्यामीति ।

अथ 'दिसासु सि' पदं व्याख्यायति-

कतरि दिसि गमिस्समि, पुञ्जे अवरं गतो जणिति पुञ्जे ।  
किं वा ए हांति पुञ्जा, द्वा दिसा अवरगमिस्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आयं ? कतरो दिशं भिक्षाचर्या  
गमिष्यामि ? । स एवं पृष्टो प्रवीति-पूर्वां गमिष्यामि । ततः प्रच्छकः  
साधुः पात्रकाण्युत्ताराऽपरं दिशं गतः । इतरोऽपि पूर्वदिग्गमना-  
प्रतिज्ञानां नामिवापरं दिशं गतः तेन साधुना पृष्टम्-पूर्वां गमि-  
ष्यामीति भणत्या कश्चात्पराभाष्यतः ? । स प्राह-किं वा अत्र-  
पस्य प्रामस्येयं दिक् पूर्वां न भवति, येन मदीयं वचन निरुध्यते ।

अथैककुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वचह बहुकुलपमेणो पुष्टो ।  
जणिति क्हं दोम्मि कुलं, एगमरीरेण पविमिस्सं ॥

कश्चिकनचित्तज्ज्ञाकीं समपुञ्जा तनोकम्-आयं ! ण्हि ब्रजामो  
भिक्षाम् । स प्राह-ब्रजन सूयमहमेकमेव कुलं गच्छामि । एवम्-  
कत्वा बद्धु कुलेषु प्रवेत्तुं लभनः ततोऽपरं ततोऽपरं सूय-कथ-  
मेकं कुलं गमिष्यामीति जणित्या बहूनि कुलानि प्रविशामि ? ।  
स एवं पृष्टो भणति-हे कुले एकं एकं शरीरंण युगपत् कथं प्रवे-  
क्ष्यामि ? । एकमेव कुलमेकस्मिन् काले प्रवेत्तुं शक्यम्, न बहु-  
नीति भावः ॥

अथैकद्वन्द्वप्रहरद्वारमाह-

वच्चह परं दवं, पेत्वं पेगगहे पुच्छितो जणति ।  
गहणं तु सक्खणं पो-गगलाण गेणंमं तेणुद्धं परं ॥

कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं गच्छन् कमपि साधुं भणति-ब्रजामो  
निजायाम् । स प्राह-ब्रजत सूयमहमेकं उच्यं प्रवीष्यामि । एव-  
मुक्त्वा जिज्ञां पर्यटनेकनामानोदनिजिनीयाऽद्यादीनां बहूनां इ-  
व्याणां प्रहणं कुर्वन् साधुभिः पृष्टो जणति-गहणं तु इत्यादि)  
गतिस्सण्णो धमोस्सिक्काय, स्थितिसङ्गोऽधमोस्सित्तकायः,

अथवाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवा-  
स्तिकायः, प्रहृषलक्षणः पुत्रलक्षणिकायः । एषां च पञ्चा-  
नीं उच्यते। प्रत्यासृष्टलानामेव प्रणयणं लक्षणं, नाभ्यां  
धर्मास्तिकायादीनाम, तेन इदमेकमेव रूपं वृद्धामि न बह-  
नीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारमाध्यायाः पूर्वार्कम् । अथ “ प-  
रियाइकिताय भुञ्जस्य सि ” पञ्चार्कं व्याख्यायते-प्रत्यासृष-  
य ‘माह गच्छामांति प्रमियेष्व’ गमनं करोति । प्रत्यासृषाय  
च ‘माह लुञ्जे इति भणिया’ भुञ्जे । अपरणं च साधुना पृथो  
ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम् ; भुञ्जमानमेव लुञ्जते  
नाभुञ्जमानम् । अनेन पञ्चार्कं गमनद्वारप्रत्यासृष्यानद्वारे व्या-  
ख्यातं इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं जणतो  
मासस्यु । अथाभिनयेशन यद्दृष्टान्ति काचयति तदा पूर्वार्कनीत्या  
पाराञ्चिकं यावद्ब्रह्मव्यम् । तद्वं येयु स्थानेष्वलीकं संभवति या-  
दृष्टी च यत्र शीघ्रः तदभिहितम् । सप्रति ये अप्रत्यायस्ते सापवा-  
दा इति द्वारम् । नत्रासृषरोक्ताम्यलीकानि जणतो द्वितीयसाधुना  
सहामं च आशुत्पतिः संयमात्मविराधनारुपा सप्रपञ्चं सुखिया  
वक्तव्या । अपवादापदं तु पुत्रस्ताद् नपिष्यते । २०६ उ० जीत० ।

अलीकवचनारुपाधर्मद्वारस्थ व्याख्या-

जंबू । विनियं च अश्लियवयणो ह्यनुसंगहृषचलजणियं  
जयपरवृद्धकरअयमकरेवरकरगं अरतिरतिरागदोमणमंकि-  
लेसवियरणं आज्ञापनियदिसाइजोयवद्वं एणियजणुणिस-  
वियं निमसे अप्पवयकारं परमसाहुगरहणिजं परंपीला-  
कारकं परमकाहसेससद्वियं दुग्गमिनिणुणियाववहणं जवपुण-  
नवकरं चिपरिरीचतमणुणियं वुरंतं किचियं विनियं अह-  
मद्वारं ।

‘जम्बू’ इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । द्वितीयं च-द्वितीयं पुनरा-  
श्वद्वारम्, अलीकवचनं मृगवादाः । इदमपि पञ्चजियादशका-  
द्विज्ञाः प्रकल्पते । नत्र यादृशमिति द्वारमाश्रयालीकवचनस्य  
स्वरूपमाह-अधुगुणगौरवर्गादतः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्व-  
काः, तेभ्योऽपि यं लघवस्ते लघुस्वकलघवः, ते च ते चपलाश्च,  
कायादिभिरिति कर्मधारयः । तेरेव अणितं यत्तत्तथा । तथा-  
भयकरं दुःखकरमयशःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरति-  
रागद्वयलक्षणं मनःसंज्ञं विनियं यत्तत्तथा । अलीकः ह्यभ-  
कापेक्षया निष्फलो यो निरुतेर्बन्धनप्रज्ञादानार्थवचनस्य, ( सा  
द ति ) अविधर्मस्य च अविधर्मवचनस्य योर्नां व्यापारस्तेन  
बद्धं प्रसुरं यत्तत्तथा । नौबैर्जाययादिहैः प्राय इदं निषेचितं  
तत्तथा । नृणंसं सुकावर्जितं, भिःशंसं वा इत्याधारहितम्, अ-  
प्रत्ययकारकं विहवासाविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कलत्रम् ।  
तथा-भवे संसारं पुनर्नवे पुनःपुनर्जन्म करोतीति, नच पुनर्भवे-  
करम्, विपरिचितमनादिंसंसारेऽप्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छे-  
देनाशुभ्रुतं, दुर्गतं विपाकदारुणं, द्वितीयधर्मद्वारं कर्तितम् ।  
यनेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यज्ञामेत्यभिधातुकाम आह-

तस्स प षामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-अलि-  
यं ? सत् १ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतं ५ कू-  
कवदमवर्थुं ६ निरत्थयमवत्थं च ७ विदेसगरद्विजं  
८ आणुत्तं ९ ककतकारणा य १० वंचणा व ?? मिच्छा-  
१६५

पञ्चाकरं च ? ११ माती ? १ उच्छवं ? १४ उक्कूलं च १५  
अट्टं ? १६ अज्जववाणं च ? १७ किंत्विंसं ? १८ वलयं ? १९  
गहणं च २० मम्मणं च ? २१ नुं २१ नियतीं २२ अ-  
पच्चओ २३ असमओ २४ असत्त्वमधत्तं २५ विव-  
क्खो २६ अवहीयं २७ उवद्विअमुक्कं २८ अवलतोवो  
त्ति अत्रिय ३० ; तस्स एयाणि एवमाईणि षामपेज्जाणि  
हुंति तीसं सावज्जस्स अश्लियस्स वड्जोमस्स अपणेगाइ ।

“तस्स” इत्यादि सुगमं यावत्तद्यथा । अलीकं १, शः, शः  
मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वाद्नार्यः ३, मायालक्षण-  
षायानुगतत्वात्, मृगारूपत्वाच्च मायामृगो ४, ( असंतं गं ति )  
असत्प्रतिनिधानरूपत्वाद्सत्यम् ५, ( कूककवमवर्थुं ति ) कूटं  
परवञ्चनार्थं न्यूनार्थिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अ-  
विद्यमानवस्तुविशेषोऽर्थो यत्र तदवस्तुः पदत्रयस्याप्येतस्य  
कथञ्चित् समानार्थत्वेनेकमस्यैव गणनादिदिकं नाम ६, ( नि-  
रत्थयमवत्थं चेति ) निरर्थकं सायाधीनिकागतम्, अपार्थक्य-  
अपगतसत्यार्थम्, इहापि द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव ग-  
णनादिकत्वम् ७, ( विदेसगरद्विजं ति ) विद्वेषो मत्सरस्त-  
स्साद् गहति निन्दति येन, अथवा-तत्रैव विद्वेषाद् गहतेत साधु-  
नियत्तद्विद्वेषगर्हणीयमिति ८, अनुक्तं वक्तव्यमर्थः ९, कप-  
कपां माया वा, तत्कारणं कदकं माया पापं च १०, वचनार्थं ११,  
( मिच्छापञ्चाकरं च ति ) मिष्येति कृत्वा पञ्चाकृतं निरुद्धं न्या-  
यवादिनिषत्तथा १२, ( सानी नि ) अविधर्मः १३, ( उक्कूलं  
ति ) अपसवं विक्रपं उचं स्वदोषाणां परमुखाणां चाऽऽपराधमप-  
च्छुद्रम्, उच्छवं च यूनवम् १४, ( उक्कूलं च ति ) उक्कूलयति  
सम्भोगादप्येस्यति, कुलाह्ला न्यायसहितप्रवाहत्वाद्दृक्त्वं यत्तु-  
क्तम् । पात्राकरणे-उक्कूलं-ऊर्ध्वं धर्मेकलाया यत्तत्तथा १५,  
आर्तम्-श्रुतस्य पंडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अज्याक्या-  
नं चोद्घाटनम्-असतो दोषाणामित्यर्थः १७, किंत्विंसं-  
पश्यस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयं, वक्तव्यात् १९,  
गहनमिव गहनं, दुर्लभत्वात्तत्त्वात् २०, मम्मनमिध मम्मं  
च, असकुटत्वात् २१, ( नूतं ति ) प्रच्छादनम् २२, निष्कृतिर्मा-  
यायाः प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, ( अस्तयः प्रत्यायाजः २४,  
असमयोऽसम्यगवाचारः २५, असत्यमहीकं संघाति करो-  
तीति असत्यमन्धस्तज्ञावोऽसत्यमन्धत्वम् २६, विपत्तः-स-  
त्यस्य, सुकृतस्य चेति भावः २७, ( अवहीयं ति ) अपसदा  
निष्ठा धीर्दक्षिणस्तदपधीकम् । पात्राकरणे-‘ अणामाण-’  
आज्ञां जिनादेशमतिगच्छत्यतिक्रामति यत्तदाज्ञापितम् १८ ।  
( उवाहअसुद्धं नि ) उपधिना मायया अद्भुतं सावधमुपपद्यु-  
द्धम् २९, अवलोपो वस्तुसज्ञावप्रच्छादनम्, इयंयंप्रकारणः ।  
अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । ( अस्तय एयाणि एवमाईणि  
नामपेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अश्लियस्स वड्जोमस्स  
अपणेगाइ ति ) इह वाक्ये एवमकूटचटना कार्या-तत्त्वात्वा-  
कस्य सावधस्व धार्योगस्य पतायनन्तरंदितानि भिदात् य-  
मादीन्येयंप्रकाराणि आमेकानि नामपेथानि नामानि भवन्ती-  
ति । यज्ञामेति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा वार्त्तिकं वदन्ति तैस्त्था चाऽह-

तं च पुण वदंति केइ अत्रियं पावा असंजया अत्रियया  
कवदकुंनिलकडुयचइलजावा कुष्ठा लुष्ठा जया-य हस्स-

स्तिया य सक्त्वीचोरा चारभमा खंडरक्त्वा जियपूडकरा य गदित्तगहणा ककगुरुगकारिका कुलिंगा उवहिया वाणियया य कूटनुला कूटमाणा कूटकाहावणोवजीवी पनकारककज्ञायकारहृजा वंचणपर चारियचटुयारनगर-गुणियपरिचारकदुडुवाडसूयकअणवन्नअणिया य पुव्व-कालियवयणदच्छा सहस्रिका लहुत्तमा असवा गार-विया अमन्त्वावणादिचिचा उवचंद्रा अणिग्गाह अणियाया उदेण मुकवादी भवति । अग्नियाहिं जे अवरिया अवरे एत्थिकवादिणो वामलोकावदी भवति ॥

( तं केत्वादि ) तत्पुन्यधन्यश्लोकम् । ( कश्चि ) केचिच्च सर्वेऽपि, सुसाधूनामश्लोकवन्निवृत्तत्वात् । किंविशिष्टाः ?; पापाः पापालमानः, असंयता असंयमवन्तः, अविरता अविवृत्ताः । तथा—( कवचकुम्भिलकइयचटुवभावसि ) कपटन हेतुना कुटिलो वक्रः कटुकाश्च विपाकदारुणत्वात्, वटुलश्च विविधवस्तुषु कृण कृण्य अकाङ्क्षादिप्रवृत्तेः, भावश्चित् येषां ते तथा । 'कुडा, सुडा' इति सुगमम् । ( भया-य सि ) परेषां भयोलपादनाय, अथवा-नयाश्च ( हस्तस्थिया-य सि ) हासाधिक्येन हासार्थिनः । पात्रन्तरेण-हासायैव ( सक्त्वा सि ) साक्त्विणः सौराः । चारभमाश्च प्रतीनाः । ( खंडरक्त्वा सि ) शुष्कपालाः । ( जियपूडकरा य सि ) जिताश्च ते पूनिकारश्चेति समासः । ( गहियगहण सि ) गृहीतानि ग्रहणकालि यैस्ते तथा । ( ककगुरुगकारा सि ) ककगुरुकं माया, तत्कारकाः । ( कुलिग सि ) कुलिङ्गणः कुलीयिकाः । ( उवहिया वाणियया सि ) उपोषका मायावाणियः, वाणिजका वणिजः । किंनुताः ? कूटनुलाः, कूटमानिनः, कूटकार्याणोपजीवन इति पदत्रयं व्यपन्नः; नवरं कार्याणो ऽन्वयः । ( पटकारकलायकारहृज सि ) पटकारकास्तन्नुवायाः, कलादाः सुवर्णकाराः, कारुकेषु वटुदक्षिण्यकारिषु भवाः कारकाः । किंविचा एते अश्लोक वदन्ति?, इत्याह-चञ्जनपराः, तथा-चारिका हरिकाः, वटुकाराः सुखमङ्गलकाराः, नगरगुप्तिकाः काष्ठपालाः, परिचारका ये परिचारकां मेषुमानिचकृद्गन्ति, कामुका इत्यर्थः । दुष्टवादिनोऽण्यकृपादिणः, सूचकाः पिशुनाः, ( अणयलभणियाय सि ) अण्यसूदित्यर्थं बलं यस्याश्च अण्यबला-बलवानुत्तमार्थः, तेन जगिता अस्मद् इत्यर्थे देहीत्येवमाभेदिता ये अघमणीस्ते तथा । नतञ्चारकादीनां द्रष्टव्यः । ( पुव्वकालियवयणदच्छा सि ) वक्तुकामस्य वचनाद् यत्पूर्वतरमभिधीयते पराजितो बह्विय्या, तत्पूर्वकालिकं वचनं, तत्र वक्तव्ये दृक्तास्ते तथा, अथवा पूर्वकालिकानामर्थानां वचने बह्वङ्गा निरतिशय-निरागमास्ते तथा । सहसा अघितकर्मण्येव ये वर्तन्ते ते सारथिकाः, लघुस्वकाः सपुत्रकामानः, असत्याः सङ्गरोऽहिताः, गौरविकाः श्लथ्यादिगौरवत्रयेण चरन्ति ये असत्यानामसङ्गना-नामर्थानां स्थापनं प्रतिगुण्यमिच्छन्ति येषां ते असत्यस्थापना-च्छिन्नाः । सर्वान् महानामोत्कर्षणप्रणयः गन्धेऽतिप्रायो येषां ते उक्ताऽङ्गदाः । अग्निग्रहाः स्वैराः । अग्निना अभियमवन्तोऽनवस्थिता इत्यर्थः । अग्निजका वा अघियमामस्यजनाः, अलीकं वदन्तीति प्रहृणम् । तथा गन्धेन स्वाग्निप्रायेण मुकवाचः प्रयुक्त-बचनाः, अथवा गन्धेन मुकवादिनः सिद्धवादिनस्ते ज्ञवन्ति । के । इत्याह-अलीकाश्च ये अवरिताः, तथाऽपर उकेम्पाऽये ना-

स्तिकवादिनो श्लोकयातिकाः, वामं प्रतीपं लोकं वदन्ति ये स्तां लोकवन्तुनामस्तस्य प्रतिपादनात् वामलोकावादिनः, प्रणयन्ति प्रकृपयन्ति । प्रश्नो २ आश्रमो ह्यो ।

तथा किमन्यद्वन्तीत्याह-

तन्हा दाणवयपोमहाएवं तवसंयमवंचजेरकङ्गाणमादि-याणं नत्थि फलं, न वि य पाणवह्वअभिलियवयणं, न चैव चोरक्करणं, परदारसिचयं वा, सपरिगहपावकम्माऽकर-णं पि नत्थि किंचि, न नेरइयतिरक्त्वाण्यजोणी, न देवज्ञोको वा अत्थि, न य अत्थि सिद्धिगण्यं, अम्मपिय-योरो वि नत्थि, न वि य अत्थि पुरिसकारो, पक्कत्वाण-मवि नत्थि, न वि यऽत्थि कासमच्च, अरिहंतकक्कवट्टी वल-देवा वामुदेवा नत्थि, नेवऽत्थि केऽ रिसञ्चो, धम्माधम्मफले वि न अत्थि किंचि बहुयं व धोवं व; तन्हा एवं जा-णियण्यं जहा सुवहुऽदियाएकुलेसु सव्वविनपेसु वट्टः; नत्थि काऽ किरिया वा, एवं जणंति नत्थिकवादिणो; इमं पि वित्थियं कुदंसणं असञ्जानं वादिणो पण्वेति म्हा, संजुअो अंनकाओ लोको, सयंजुणा सयं च निम्मिअो, एवं एतं अत्थियं, पयावहणा इस्सरेण य कय चि केऽ, एवं विगट्टुमं जयाण सयं च निम्मिअो कसिणमेव य जगदिति केऽ, एवमेके वदंति मोसं-एको आया, अकारको वेदको य मुकयस्स य दुक्कयस्स य करणानि कारणाणि य सव्वहा मव्वदिं च, णिच्चो य, णिकिओ, निग्गुणो य, अणुवले-वओ चि अत्रि य । एवमाहंभु असम्भारं जं पि एहिं किंचि जी-वञ्चोके दंमंति मुकयं वा दुक्कयं वा-एयं जदिच्छा ए वा, सहावि-ण वा पि, दयिवपपपभावओ वा वि भवति, नऽत्थि तत्थ किंचि कयके तत्ते, सक्त्वाएविहाणं नियतिकागिया एवं केऽ जंपंति, इह्वरिसमायगारवपरा बहवे करणाञ्जसा पृच्छेति धम्मवी-मंमएण मोमं, अवरे अहम्माओ रायदुद्धं अञ्जनत्वाणं ज-णंति अत्थियं, चोरो ति अचोरियं कर्तेतं । रमपराओ चि वि य एमं व उदासीणं, दुमीलो चि य परदारं गच्छंति चि मइलंति सीजकलियं अयं पि गुरुत्पपओ चि अत्थये ए-वमेव जणंति, उवहणंति, मिचकलत्ताइं सेवंति अयं पि तुत्तधम्मा, इमो वि वीमंजयायओ पात्रकम्मकारी, अकम्म-कारी अगम्ममापी अयं दुरपा बहुएसु य पातंगसु जुचो ति एवं जणंति मच्छरी जहके वा गुणाकिचिनेह्वपरलोगनि-प्पिवापा; एवं एते अभिलियवयणदक्त्वा परदोत्पुपायणसं-सा वेदंति, अक्त्वावियवीरणं अप्पाणं कम्मवंधेण सुहुरि असमिक्खियपल्लावी निकवेवे अवहरंति, परस्स अ-त्थम्मि गदिपागिच्छा, अग्निजुंजंति य परं अमंतएहिं लुद्धा य करंति कूटसक्त्वाचणं, असवा अत्थालियं च, कसालियं च, जेमासिये च, तथा गवासियं च, गयं थ-

एषति, अहरगतियमर्णं, अएणं पि य जाइरूवकुलसीन्नप-  
 र्चवमायानिगुणं, चवन्ना पिसुणं परमउजेदकपसंतकं वि-  
 हेसमपरथकारकं पावकम्ममूत्रं दुइदं दुसुयं अमुणियं  
 निलजं लोगगरहइज्जं वदंभपरिकित्तेसचहुलं जराम-  
 रणउत्तखसोगेनं अमुक्कपरिणामसंकिद्धं भयति ॥

यस्मात्परीरं सादिकमियादि, तस्माहानमनवौषधानां वितर-  
 णनियमयोपवासानां, तथा-तपोऽनदानादि, स्वयमः ह-  
 स्यादिरक्ता, ब्रह्मचर्यं प्रतीतम् । एतान्येय कल्याणं कल्याणहेनु-  
 त्वात्सादादियेषां ते ज्ञानश्रद्धादीनां तानि तथा, तेषां, नास्ति फल-  
 मन्तं ह्ययमुगतियमनादिक, नापि च प्राणिव्यक्तीश्रीकचवनमशु-  
 भफलसाधनतयति मयम् । तथैव नैव च चौरीकरणं, परदार-  
 सेवनं वाऽऽयशुभफलसाधनम्, तथैव सह परिग्रहणं यद्भस्ते  
 तत्सपरिग्रहं, तच्च तत्प्रायश्चित्तकरणं च पातकक्रियासंबन्धं तदपि  
 नास्ति किञ्चित्, कोधमानादासेवनरुपा नारकादिका च जगतो  
 विशिन्नता स्वभावादेव न कमेजितता । तदुक्तम्-“ कण्टकस्य  
 च तीक्ष्णस्य, मयूरस्य च चित्रता । घर्णाक्ष तास्रचूडानां, स्व-  
 प्रावेने भवन्ति हि ” ॥१॥ इति । मृषावादिता चैवमेतेषाम्-स्वभावो  
 हि जीवाद्यनर्थात्परभूतः, तदा प्राणातिपात्यादिजनितकर्मैक-  
 कचकारोऽसायनधाम्परभूतः, ततो जीव एवासौ, तदव्यतिरेका-  
 सात्स्वरूपवत् ; ततो निर्हेतुका नारकादिविशिन्नता स्यात् । नच  
 निर्हेतुकं किमपि भवति, अतिप्रसङ्गादिति । तथा-न नैरयिक्रिय-  
 यं ह्यनुभवंतां योनिदण्डमित्थानं पापुष्यकर्मफलत्वात् । ऽस्तीति  
 प्रकृतम् । न द्वेषोको वाऽस्तीति पुण्यकर्मफलत्वं, नैवास्ति सि-  
 ङ्गियमेतः (सिद्धः, सिद्धस्य वाऽऽज्ञात्वात्) । अस्मापिनराद्यपि न तत्,  
 उच्यते । अत्रानिबन्धनवादात् प्रातिपुण्यस्य । नचोर्णसमात्रनिबन्ध-  
 नस्यैव प्रातिपुण्यत्वात् विशेषो युक्तः ; यतः कुतोऽपि किञ्चिदु-  
 त्पयन एव । यथा-सचेतनाच्चेतनं यूकामकुण्डादि, अचेतनं च  
 मूत्रपुरीषादि । अचेतनाच्च चेतनं, यथा-काष्ठाद् घुणकी-  
 टकादि, अचेतनं च चूर्णादि । तस्माज्जयजनकजावमात्रमर्था-  
 नामस्ति नान्यो मातापितृवादिशेषो युक्तः । तद्वामात्रज्जोग-  
 विनाशापमाननादिषु न दोष इति भावः । मृषावादिता चैषां-  
 ब्रह्मस्तरस्य विशेषः स्वजनकस्य समानेऽपि तयोरल्पमहिततया  
 विशेषवाचने सत्त्वात् । इतिवत् च तयोः प्रतीतमेव । आह च-  
 नुषप्रतीकारावित्यादि । नापस्ति पुष्यकारः, न विभेद नियतितः  
 सर्वयोर्जावनानां सिद्धः । उच्यते च-“ प्रातश्चो नियनिब्रह्मधयेण  
 सोऽर्थः, संऽवश्यं भवति नृणां गुनाऽश्नुते वा । भूतानां महति कृते-  
 ऽपि हि प्रथमे, नामार्थं ज्ञातिं न भाविनाऽस्ति नाशः ” ॥ १ ॥  
 मृषाभाषिता चैवमयाम्-सकल लोकप्रतीतपुष्यकारापलापेन  
 प्रमाणातीत्यतिमताऽप्युपगमादिति । तथा-प्रत्याख्यामपि नास्ति,  
 धर्मसाधनतया धर्मस्यैवाभावादादिति । अस्य च सर्वज्ञस्व-  
 च्छाप्रामाण्येनास्तित्वात् तद्वदित्वात्सत्यत्वात् । तथा-नैवास्ति  
 कालमृत्युः, तत्र कालो नास्ति, अनुपपन्नमात् । यच्च वनस्यति-  
 कुलुमादिकालस्य रूपमाचक्षणं, तत्सयामेव स्वकल्पमिति अल्पवयम् ।  
 असत्यं तथापि-स्वकल्पस्य वस्तुतोऽनतिरेकात् कुलुमादिकर-  
 मणस्ये तर्कणां स्यात् । तथा-मृत्युः परलोकप्रवाणस्य रूपः,  
 असावपि नास्ति, जीवात्रावेन परलोकगमनाज्जात्वात् । अथवा  
 कालकल्पेण विभक्तितापुष्कमेवः सामस्यगतिजैराऽवस्तरं मृत्युः  
 कालमृत्युः, तदभावश्च; भाष्य एवाभावात् । तथा-ब्रह्मैवाद्योऽपि

[ नापि स्ति ] न सति, प्रमाणाविषयत्वात् । [ नेवऽपि केद रि-  
 सन्नो स्ति ] नैव सति केचिदपि श्रुययो गौतमादिमुनयः, प्रमा-  
 णाविषयवादेव, वतमानकाले वा श्रुतित्वस्य साध्यनुष्ठानस्या-  
 सत्त्वात्, सतोऽपि वा निष्कलस्यादिति । अत्र च शिक्षाऽऽदि-  
 बाहानुमेयत्वाद्देहाद्यसत्त्वस्यानन्तरोक्तमादिनामसत्यताः ; श्रु-  
 पित्वस्यापि सर्वज्ञवचनप्रामाण्येन सर्वथा भावादित्येवमाहाप्रा-  
 ह्यार्थोऽपलापिनां सर्वत्रासत्यवादिता भावनीयति । तथा-धर्मा-  
 धर्मफलमापि नास्ति किञ्चिद् बहुकं वा स्तोकां वा, धर्मधर्मयो-  
 रदृष्टत्वेन नास्तिनास्तिता । “ नापि फलो सुकप ” इत्यादि यदुक्तं  
 प्राक् तत्सामान्यजीवापेक्षया, यच्च “ धर्मधाधर्म ” इत्यादि, तद्व-  
 विशेषोपेक्षेयति न पुनरुक्तनेति । [ तम्ह स्ति ] यस्मादेवं तस्माद्-  
 वसुकप्रकारं वस्तु विज्ञाय [ जदा सुबहुइदियाणुकूलु सु स्ति ]  
 यथा यत्रकारा सुबहुया अयर्थमिन्द्रियानुकूलता ये तेषां, तेषु  
 सर्वेषु विशेषेषु धातिव्ययम् । नास्ति काचित् क्रिया वा-अनि-  
 न्यक्रिया वा वापक्रिया वा, उभयक्रिययोरास्तिकल्पितत्वेना-  
 परमाधिष्ठात्वात् । अर्थात् च-

“ पिब स्वाद् च चारुलोचने । यदतीतं वरगात्रि । तच्च ते ।  
 नहि ज्रीर । गते निवतेते, सुमद्युमात्रमिदं कलेवरम् ” ॥१॥

एवमित्यादिनिगमनम् । तथा-इदमपि द्वितीयं नास्तिकद-  
 शनापेक्षया कुदशमं कुदशमस्यार्थं वादिनः प्रहापयति  
 मूढाः न्यामोहवशः । कुदशमता च वक्ष्यमाणस्यार्थस्याप्रा-  
 माणिकत्वाद् वादिप्रोक्तमाणस्य प्रमाणाभासत्वाद् प्राव-  
 नीया । किमुतं कुदशमम् ? इत्याह-सम्भूतो जातोऽहकदा  
 जन्नुयोनिविशवाद् लोकः कितिजलानलानिलनरनारकिनाकि-  
 नित्यमृगः । तथा स्वयंमुवा प्रक्षणा स्वयं चात्मना निर्मितो  
 विदितः । तत्राहकप्रनृतलुवनवादिनो मतमित्यमाचक्षते-

“ पुत्रं आसि जगमिणं, पंचमहभूयवजिय गमीरं ।  
 एगस्यं जलेण, महप्पमारणं तदि अंढं ॥ १ ॥  
 वाईरंपरेणं, घोलेतं अथि उ सुरकराळं ।  
 कुइं दुभागजायं अजां लूमिं य सङ्कुं ॥ २ ॥  
 तथं सुरासुरनारग-समणुय सचउपयं जगं सर्वं ।  
 उपयं अणियमिणं, बंभंउपुराणसयमिमि ” ॥ ३ ॥

तथा स्वयंनिर्मितजगद्वादिनो जगत्सि-

“ आसीदिदं तमोज्ज-ममइतमलक्षणम् ।  
 अवि तन्मयमिच्छेयं, प्रसुसमिव सर्वतः ॥ १ ॥  
 तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्ट स्थायजजम् ।  
 नशमरन्तं चैव, प्रनरोरराज्जसं ॥ २ ॥  
 केवसं गह्वरीरुं, महारुतविवाजिने ।  
 अचिन्त्यामा विभुस्तर, शयानस्तत्येते तपः ॥ ३ ॥  
 तत्र तस्य शयानस्य, नाजेः पञ्च विनिर्गमम् ।  
 तत्पुत्रपिमण्डलनिनं, इत्वं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥  
 तस्मिन् पक्षे स जगवात्, इदमी यकोपवीतसंयुक्तः ।  
 ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगमन्तः सृष्टाः ॥ ५ ॥  
 अदितिः सुरसंघानां, दिगिरसुराणां भुमोन्मुष्वाणाम् ।  
 विनता विहङ्गमानां, माता सर्वप्रकाराणाम् ” ॥ ६ ॥

नकुलवादिनामित्यर्थः ।

“ कदुः सरीसृपाणां, सुहसा माता च नागजातीनाम् ।  
 सुरनिश्चतुष्पदाना-मिला पुनः सर्वबीजानाम् ” ॥ ७ ॥ इति ।

एषमुक्तमेव पतनन्तरं विंति वस्तु श्रुतीकं, भ्रान्तज्ञानिभिः प्रकृतित्वात् । तथा-भ्रान्तपतिना लोकप्रयुषा ईद्वरेण च भद्र-  
 श्वरेण कृतं विहितमिति केवलज्ञानिना, वदन्तीति प्रकृतम् । भ्रण-  
 तिति बह्वर्थात् । "बुद्धिभ्र-कारणपूर्वकं जगत्, संस्थावाशि-  
 योक्तुवाद् घटादिव्यति । कुशरोनता चास्य-वस्मीकबुद्धिदुर्गा-  
 भित्तोरनैकान्तिकत्वात् । कृष्णाद्यादिव्यस्य बुद्धिमत्कारणस्य  
 साधनेन बह्विधात्वात्कारित्वादिति । तथा-एवं यथोच्यते तथा  
 विष्णुमयं विष्णुधामकं कृष्णमेव च जगति, केचिदन्वन्तीति  
 प्रकृतम् । भ्रणन्ति च पतन्मतावलम्बिनः-

" जज्ञे विष्णुः स्वप्ने विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके ।  
 ज्याश्रमात्कृष्णे विष्णुः, सर्वे विष्णुमयं जगत् ॥ १ ॥  
 तथा- " भद्रं च पृथिवी पार्थं, वातवनिजलमप्यहम् ।  
 धनस्पतिगतभद्राद्, सर्वभूतगतोऽप्यहम् ॥ २ ॥  
 " सो किल जज्ञेयसमुत्थ-पुद्गलणगायत्रिभ्यं लागमिम् ।  
 बीहपरंपरेणं, घोषंता उदयमज्जमिम् ॥ ३ ॥

स किञ्च मार्केण्डेय ऋषिः-  
 " मिच्छह सो तसमाधत्-पण्डितुरनन्तरिकृष्णकोपीयां ।  
 पार्थिवं जगमिणं, महद्भयविबाहयिं गहर् ॥ २ ॥  
 एवोद्ये जगम्मी, पिच्छह नमोहापयत्रं सहसा ।  
 मंदरगिरिं च तूंम, महासमुद्रं चऽविच्छिन्नं ॥ ३ ॥  
 चंभमि तस्स सयणं, मरुच्छह तह बालोम मणुभिगमो ॥  
 संविद्यो सुहृद्भिर्भा, मित्रकोमलकुचियुक्तैःसां । विष्णुरित्यथो  
 इत्यो पसारिभ्रो से, महरिसियो पहि वच्छुः । त्रयिभ्रा य ।  
 चंभं यमं मिलज्जसु, मामरिहिसि उदयुद्धिपरं ॥ ५ ॥  
 तेण य घेणुं हत्ये, मिलिभ्रो सो रिस्ती तत्रो तस्स ।  
 पिच्छह उदरमि जये, सस्सेववकाणेषुं सव्यं ॥ ६ ॥ ति ॥  
 पुनः सुष्टिकावे विष्णुना सुष्टम् । कुशरोनता चास्य प्रतीतिवाच-  
 यत्वात् । तथा-एवं बह्व्यमाणयानि एव केचन आग्राहेतवा-  
 द्वाद्यो वदन्ति-मृषा श्रुतीकं, वदत एव क्त्वात् । नदुकम्-

" एक एव हि ज्ञेयतात्मा, भूते ष्टे स्वधस्थितः । एकधा बहुधा  
 चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥ तथा- " पुरुष एवेदं सर्वं  
 भूतं भूतं यच्च भाव्यम् ॥ इत्यादि । कुशरोनता चास्य सकललो-  
 कविशोष्यमानेर्दान्निबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रकृष्टात् । तथा-अ-  
 कारकः हुक्कदेनूनां पुष्यपापकामाणकानोऽऽप्तमेत्येव वदन्ति,  
 असूतित्वमित्यन्वाश्रयं कर्तृत्वानुपपन्निरिति । कुशरोनता चास्य  
 संस्थावाशिभक्तो सृतेत्वेन परिणामित्वेन च कर्तृत्वोपपन्नः, अक-  
 र्तृत्वे वाहताभ्यागमप्रसङ्गात् । तथा-वेदकश्च प्रकृतजनितस्य  
 सुतनुदुष्कृतस्य च प्रतिविम्बोदकत्वात्वेन भोक्ता । असृतेत्वे हि  
 कदाचिदपि वेदकता न युक्ता, आकाशस्थेयति कुशरोनता चा-  
 स्यो तथा सुकृतदुष्कृतस्य च कर्मणः करणानौत्तियाणि कारणा-  
 नि हेतवः सर्वेषां सर्वप्रकारैः सर्वत्र च देशे काले च, न वस्तु-  
 तन्त्रं कारणमिति भावः । करणाभ्यांकादश-त्रयं तत्रकापाणिपाद-  
 पात्युपस्थलक्षणाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, स्थानादीनि तु पञ्च  
 बुद्धिःप्रियाणि, एकदशो च मन इति । एषां चांचेतनावस्थाया-  
 मकारकत्वापुरुषस्यैव कारकत्वेन कुशरोनत्वमस्य । तथा-नि-  
 रव्याश्रुती । यदाह- " नैनं गिन्वन्ति शक्राणि, नैनं वहन्ति भुवङ्कः ।  
 नचैनं कृशयन्त्यापो, न शोषयति माकलः ॥ १ ॥ अच्योऽप्यमभे-  
 योऽप-अमृतोऽप्ये सनातनः ॥ इति । असत्त्वं, एकान्तानिचयं  
 हि सुखः-अच्योऽप्योक्तौघमात्रप्रसङ्गात् । तथा-निष्कयः सर्व-  
 व्यापित्वेनावकाशाभावाद् गमनागमनादिक्रियावञ्जितः । अस-  
 त्वत्-देहमात्रोपशब्दमयानुपस्थेन तन्मित्वात् । तथा-नि-

गुणश्च, स्वस्वरजसामोदकृष्णगुणैर्बध्यातिरिक्तत्वात् ; प्रकृतेरेव  
 भूते गुणा इति । यदाह- " अकर्तो निर्गुणो भोक्ता,भ्रामा कपि-  
 ल्लरुशेन ॥ इति । प्रसिद्धता चास्य सर्वव्यापिगुणत्वे, चैतन्यं पुरु-  
 षस्य स्वकर्मित्यनुपगमनात् । तथा- (आपृष्टवेषवो ि) अमुपह-  
 पकः कर्मबन्धनरहितः । प्रायं च- " अक्षराच्च बध्प्यते नापि,पुष्य-  
 ते नापि संसरत् ॥ " संसरति बध्प्यते सु-च्यते च नापि,अभ्या  
 प्रकृतिः " इति । असत्त्वेतत्-मुक्तामुक्तयोरयमविशेषप्रसङ्गा-  
 त् । पागान्तरम्- (अश्रावणेश्वभो ि) अत्र अन्वयधारां शेषेण ;  
 कर्मबन्धनरहितः । एतदप्यसत्-कथञ्चिदितिशाब्दानुपादानात् ।  
 इत्यपि च-इती रूपप्रदर्शने, अविचेति-अलीकवादान्तरसमुच्च-  
 यायोः । तथा-एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण ( आहंस्तु ि) उच्यते  
 स्म असत्त्वमवस्तमर्थे, यदुत यदपि यदेव सामान्यं, सर्व-  
 मित्यथः ; इहामिदम्, किञ्चिद्विचक्षितविशेषं, जंविद्योके अर्थ-  
 लोके, दृश्यते सुकृतं वा आस्तिककर्मतेन सुकृतफलं, सुख-  
 मित्यथः । दुष्कृतं वा दुष्कृतफलं, दुःखमित्यथः । पतन्-  
 ( जहच्छाप ए चि) यदच्छया वा, स्वभावनेन वाऽपि,द्वैवकप्रजा-  
 वतां वाऽपि विधिसामर्थ्येनां वाऽपि जगति, न पुरुषकारः कर्म वा  
 हिताहितनिमित्तमिति भावः । तत्र-भ्रान्तिसर्वाधपृक्षाऽप्येमासिः  
 यदच्छा । एतत्तं च- " अनर्कितापस्थिनमेव सर्वे, चिन्नं ज-  
 नानां सुखदुःखज्ञातम् । काकस्य तांभेन यथार्थमिधातो, न कु-  
 र्वोऽत्र वृथाऽनिमानः ॥ १ ॥ तथा- " सत्यं पिशाचस्य वने  
 वसामो, भेरीं करोरपि न स्पृशामः । यदच्छया सिद्धानि लो-  
 का-यत्रा, भेरीं पिशाचाः परितारयन्ति ॥ १ ॥ निःस्वभावः पुनर्वस्तु-  
 नः स्वत एव तथा परिणमति इति भावः । उक्तं च- " कः कः-  
 कानां प्रकरोति तैवत्यं, विचित्रभायं मृगपक्षिणां च । स्वभावतः  
 सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुः प्रवृत्तः ॥ २ ॥ इति ।  
 दैवं तु विधिरिति लौकिकी भाषा । नभोक्त्वा- " प्रायश्चित्तं लभने  
 मनुष्याः, किं कारणं दैवमश्नुमीत्यम् । तस्मात्प्रशंसायै न वि-  
 सस्यो मे, यदसदीयं नहि तत्परयाम् ॥ १ ॥ तथा- " श्लोपादव्यस्मा-  
 दपि, मध्यादपि ज्ञानिचेद्रीशोऽप्यनाना । आनीय कटिनि घट-  
 यति, विधिरभिमन्तमामुखीभूतः ॥ १ ॥ इति । असद्भूतावाच्य  
 प्रायकमेयां जिनमनप्रतिबुद्धयत्वात् । तथाहि- " कालो भूतव नि-  
 यदं, पुष्यकयं पुरिसकारणेता । मिच्छत नै चैव उ, समासभो  
 हुति समस्तः ॥ १ ॥ इति । तथा-नास्ति न विद्यते तत्र लोके, कि-  
 ञ्चिच्छुभ्रमशुभ्रं वा, हुतं कथं पुरुषकारनिष्पन्नं च कार्यं, प्रयो-  
 जनमित्यर्थः । पागान्तरम्- " नरिथ किंचि कयक तत्तं " । तत्र  
 तस्य वस्तुत्वकर्मपाति । तथा-लक्षणानि वस्तुत्वकर्मपाणि विवि-  
 धाश्च भेदा षड्गुणधियास्तासां सत्प्राणविधानां, नियतित्वं स्वभाव-  
 विशेषक्यं कारिका कर्त्री, सा च सत्प्रयानामवश्यतया । तथा-  
 भवने प्रयोऽविधौ, जिवितव्यतेत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-यतः मुञ्जा-  
 दीनां राक्षिस्वभावत्वमिरिक्तात्त्वजात्वान्नयम् । यच्च इन्द्रविधि  
 निवतसत्यं, न शाल्याऽस्ति, सा विस्तिरिति । " नहि जवति  
 यन भाव्यं, भवति च भाव्येतिनाऽपि यत्नः । करतश्चतस्रस्य  
 नद्युक्ति-वैद्यं तु भवेत्तद्व्यता नास्ति ॥ १ ॥ असत्यता चास्य  
 पूर्ववत् । एवामुक्तप्रकारेण, केचिन्नास्तिकाद्यो जगन्तः ।  
 अद्विस्ससतानगौरवपराः, अच्युदादिषु गौरवमादरतत्त्वभाना  
 इत्यथः । बहवः प्रयुताः करणासत्त्वाभ्यन्तलासा धर्मं प्रत्यु-  
 च्यामः, स्वस्य परेषां च चित्ताभ्यासनिमित्तमिति भावः ; तथा  
 प्रकृत्यानि । धर्माभिमतशेकेण धर्मविचारणेन, ( भोर्लं ति ) कृषा  
 पारमार्थिकधर्ममपि स्वबुद्धिदुर्बिलसितेनाधर्मं दद्यापयति ।

पतत्रिष्येयं चेति भावः । इह च संसारमेव काव्यो निर्देशन-  
 मिति । तथा-अपरे केचन, अथमेतोऽभेदमङ्गलकृत्य राजपुत्रं नृ-  
 पविक्रम-अभिमतोऽयमित्यदिक्म-अभ्याख्याने परस्याजिसुखं  
 वृणुष्वचन, भणति इत्यन्ते, अत्रोक्तमसत्यम् । अभ्याख्यानेव द्वा-  
 यितुमाह-सौर इति जगन्तीति प्रकृतम् । के प्रति?, इत्याह-अचौर्य-  
 कुण्ठेन चौरनामकुण्ठाणमित्यर्थः । तथा-डामरिकां विग्रहकार-  
 रीति । अविचेति समुच्चये । जलन्तीति प्रकृतमेव । (पमेव सि)  
 एवमेव चौरादिकं प्रयाजनं विभेद, कथंभूतं पुरुषं प्रति?, इत्याह-  
 उदासीनं डामरादीनामकारणम् । तथा दुःशील इति च हेतोः पर-  
 दागन् गच्छन्तीत्येवमभ्याख्यानेन मलिनयन्ति नाशयन्ति, शील-  
 कश्चित्तं सुतोऽसत्या परिहारविरतम्, तथा-अयमपि न केवलं स एव  
 गुरुनष्टक इति दुर्बिनीत इति; अन्त्ये केचन, मृषावादिनः, एवमेव  
 निष्पद्यन्तीति भणन्ति; उपपन्नतः विषयस्य तद्दृष्टिकीर्त्या-  
 दिकमिति गम्यते । तथार्थमत्रकलत्राणि सेवते सुहृदारान् भ-  
 जते; अयमपि न केवलमनी, पुनर्लुप्तयमां विगतधर्म इति ।  
 (हमे वि सि) अयमपि विश्वम्भजनकः पापकर्मकारोति  
 यकस्यम् । अकर्मकारी स्वयुमिकाऽनुचिन्तकर्मकारी, अगम्यमा-  
 मी भगिन्याद्याजिगन्ता, अयं डुरात्मा ( बहुपसु य वातगेषु  
 सि) बहुभिन्नं पानकैर्युक्त इत्यर्थं जल्पन्ति, असन्निवृत्त इति  
 व्यक्तम् । अद्रकं वा निर्दोषं विनयादिगुणयुक्तं पुरुषं वा,  
 शब्दजद्रकं वा, एवं जल्पन्तीति प्रकृतम् । किभूतास्ते ?,  
 इत्याह-गुण उपकारः, कीर्तिः प्रसिद्धा, स्नेहः प्रीतिः, परलोको  
 जन्मान्तरः, एतेषु निष्पयास्ता निराकङ्क्षा एते । तथा-एवम-  
 कर्मणाम्, एतेऽलीकचवनदङ्गाः, परदोषोपवादनप्रसक्तः, बेष्टय-  
 न्तीति परत्रयं व्यक्तम् । अकृतिक्वीञ्चन अकृत्येण डःअनुने-  
 त्यर्थः । आत्मानं स्वैःकर्मैश्चयेन प्रतीतेन, [सुहरि सि] मुखमेव  
 अरिः शत्रुनर्धकारित्राद्योपांते तं मुखारोपोऽस्तमीकृतिप्रवापिनः  
 अपयोमोक्षतानर्थकवादिनः, नित्याम्यापकानपहर्षितः, परस्य  
 संबन्धिते अर्थे द्रव्यं प्रथितशुद्धाः अत्यन्तशुद्धिमन्तः । तथा-  
 अभियाजयन्ति च परमसद्भिः, दूषणैरिति गम्यम् । तथा-  
 सुधाराश्च कुर्वन्ति कूटस्वाक्रियमिति व्यक्तम् । तथा-जीवानाम-  
 हिनकारिणः अर्थान्तोक्तं च उच्यार्थमसत्यं, भणन्तीति योगः ।  
 कन्याश्लोकं च कुमारीविययमसत्यं, द्रव्यश्लोकं च प्रतीतम् ।  
 तथा-मवालीकं च प्रतीते, गुरुकं बादरं स्वस्य जिह्वाच्छेदाद्यन-  
 र्थकरं परेवाञ्च गाढोपतापादिहेतु, भणन्ति भाषन्ते । इह कन्याऽऽ-  
 दिभिः पदैर्द्विधापदचतुष्टयद्वजातय उल्लङ्घनत्वेन संयुहीता  
 द्रष्टव्याः । कथंभूते तत?, इत्याह-अधरगतिसमन्वय-अधोगतिग-  
 मनकारणम्, अयदपि चोक्तव्यतिरिक्तं, जातिपकुशलात्मानि  
 प्रत्ययकारणं यस्य तत्तथा, तच्च मायया निगुणं निहतगुणं  
 इति समासः । तत्र जातिकुलं यत्नातिपिबुद्धः, तजेतुक्तं  
 च प्रायोऽलीकं संनचति, यतो जात्यादिदोषांरकेचिद्दोषी-  
 क्वादिनो भवन्ति । रूपमाकृतिः, शीलं स्वजायः, तत्रययस्तु जव-  
 त्येव, प्रशंसानिन्दाविषयत्वेन वा जात्यादीनामस्त्रीकप्रत्ययना ज्ञा-  
 नीनीयति । कथंभूतास्ते?, चण्डाः अमहत्वापय्यादिना । किभूतं तथ?,  
 पिबुने परदोषाविष्करणरूपम्, परमाभेदकं मोक्षप्रतिघातकम् ।  
 [असेतमं ति] असत्कर्मविद्यमानाथेव, असत्यमित्यर्थः । असत्य-  
 कं वा स्वयद्दीनं, विद्वेषमप्रियस्व, अनर्धकारकं पुत्रवायोपघातकं,  
 पापकर्मणं क्रिष्टक्षानावरणादिर्बन्धं, दुष्टमसत्यकं इहं द्रव्यं यत्र  
 तद्दुष्टैश्च, दुष्टं नूनं अचणं यत्र तद्दुःभूतं, मास्ति सुमितं ज्ञानं यत्र  
 तदसुमितम्, निलसं जलज्जार्हितं, लोकगर्हणीयं प्रतीतम्, बध-

बन्धपरिक्रेश्वावहृत्तं, तत्र-बधो यद्यथादिनिस्ताडनं, बन्धः संख-  
 मने, पारकभेदयमुत्पायः, ते बहुलाः प्रभुरा यत्र तत्तथा । भ-  
 वन्ति चेत असत्यवादिनामिति । जराभरणदुःखशोकानेवम्-जरा-  
 दीनां मूलमित्यर्थः । अयुद्धपरिणामेन संविद्यते संक्षयशवत्त-  
 था भणति ।

के ते भणन्ति? :-

अक्षियाहसिंधिनिर्विद्धा असंगुणुदीरगा य संतगुण-  
 नासका य द्विसाचूतोवधातिर्यं अक्षियसंपुञ्जा वययं  
 सावज्जपकुसुमं साहृगरहणिज्जं अथम्भजणं जयति  
 अणजिगहदियपुल्लावा पुणो य अद्रिकरणकिरियावचकका  
 बहुविहं अनत्यं अवमेव अप्पणो परस्स य करंति एवमेव  
 जंपमाण, महिसं सूकरे य साहंति धायकां, ससपसेरो-  
 द्विप य साहंति वागुरीणं, तिथिरवष्टकलावके य कविज-  
 लकावके य साहंति सजणीणं, जमभगरकच्छुजे य सा-  
 हंति पच्छियाणं, संत्वके लुल्लप य साहंति मकराणं,  
 अयगरगोणसर्मिलिद्वीकरमउली य साहंति बालि-  
 पाणं, गोहा सेहा य सल्लगसरकके य साहंति लुक्का-  
 णं, गयकुलवानरकुले य साहंति पासियाणं, सुक-  
 बरहिणमयणसालकोइइहंसकुसे सारसे य साहंति पोस-  
 गाणं, वधवधजायाणं च साहंति गोम्मियाणं, धणधन्न-  
 गवेल्ले य साहंति तकराणं, गाये नगरपट्टे य साहंति  
 चोरियाणं, पारयातिपपंचयातिथाभो साहंति गंधिसेया-  
 णं, कयं च चोरियं अगर्गुत्थायणं साहंति, सेखणनि-  
 ल्लंछणधमणवृणणपोसणवणुदुवणवाहणादियाइं साहं-  
 ति बहुणि गोमियाणं, धाउमणितिलपवाअरणगरे य  
 साहंति आगरीणं, पुप्फाविहं च फलाविहं च साहंति  
 माक्षियाणं, अत्यमहुकोमप य साहंति वणचराणं, जेताइं,  
 विसाइं, मूझकम्पआहेवणआभिओगजणणाणि चोरियाए  
 परदारगयणसंम बहुपावकम्पकरणो अवकंदेण गावया-  
 तिए वणदहणतमागभेयणए बुच्चिसिए वसीकरणो  
 भयमरणकिसेयुवेगजणिआइं जावबहुसंकिलिहपसि-  
 णाणि चूययाओवयाइयाइं सच्चाणि वि ताइं हिंसकाइं  
 वयणाइं उदाहरंति पुट्टा वा अणुट्टा वा, परतचिवाववा य  
 असमिकित्त्वयासाणि उवदिसंति-सहसा उट्टा गोणा ग-  
 या दभंतु, परिणयथया अससा हत्थीगवेडककुका य कि-  
 जंतु, किणावेध य, बिकेह, पचहं, सयणस्स देह, पीपह  
 दासंदासजयकभाइल्लगा य मिससा य पेसकजणो कम्म-  
 करा किक्का य एए सयणपरिजणे य कीस अत्थेति भारि-  
 या जे कतेतु कम्मं, गरणाइं वणाइं विचखिल्लुभिवल्लराइं  
 उल्लणमणसंक्रमाइं इज्जंतु य मूढिज्जंतु य रुक्खा भिज्जंतु  
 जंतं जंटाइंस्स उवहिस्स कारणाए, बहुविहस्स य अट्टाए  
 उच्छु उज्जंतु, पिलियतु य तिसा, पचावेह इड्काओ मप



परदृष्ट्याप, खेचा य कसत, कसावेह वा, झड्डं गामनगरखे-  
रुकव्वर्न संनिवेशेह अरुदीदेसेसु विपुलसर्म, पुष्पाणि  
कंदमूलाई कालपचाई गिरह, करेह सचयं परिजणस्सऽड-  
धयं य, लाडूवीहीहंजा य लुचंचंतु मज्झिंजंतु उणू-  
पंत य, सल्लं य पविंसंतु कोट्टगारं, अण्पमहकां-  
सगा य हंणंतु पोतसत्था, सेणा थिज्जाउ, जाउ रुमरं,  
पोरा वटंतु, जयंतु य संगामा, पवहंतु य सगरुवाहणाई.  
उवणयणं चोलंगं विवाहां जन्नो अमगम्म होउ दिवसे  
सुकरणे सुमुमुके संनकवचं सुतिहिंम्य य थज्ज होउ एह-  
वणं, मुदिनं बहुलज्जपेज्जकलियं कोउकविण्टावणमांतक-  
म्माणि कुणह, ससिरविगहोवरामाविसमेयु, सज्जस्स  
परिजणस्स य निययस्स य निययस्स परिक्खणदृष्ट्याप  
परिसीसकाई च देह, देह य सीसोवहरं विहिंहांसहंभज-  
मंसजक्खअमपाएणमप्राप्त्येवणपर्दं। वजलिउअडा सुगंध-  
भूवांवायारपुष्पकलसमिच्छे, पायच्छिच्छे करेह, पाणातिवाय-  
करणेन बहुविदेण विवरीउण्याउसुविणपावमउणअसो-  
मगहचरियअमंगलानिमिचपफियापधेउं चित्तिच्छेयं करेह  
या देह किंचिं दारणं, सुदु हण ष, सुदु उिष्ठां भिष्ठां ति उव-  
दिंसंता, एवविहं करंतु अभिलियं माणं वायाए कम्मणा य ।

अश्लोकं यां उजिस्सिधरिअप्रायस्तरं मिच्छिथा अश्लोकजिस्सिध-  
रिच्छिथा, असदुगुणंदारिकाशब्दं चित्तं व्यक्कम् । सद्दुगुणाशशक्यं,  
तत्पलापका इत्यर्थः । तथा—हिंसया नूनोपघातो यथास्ति  
तद् हिंसाभूतोपघातिकं, घचनं ज्ञानन्तीति शेषः । अश्लो-  
कप्रमुखाः संप्रयुक्तालौकाः, कथंचनं वचनम्, सावचं गार्हि-  
तं गार्हिकमर्थयुक्तम् । अकुशलं, जीवानामकुशलकारिण्यत्,  
अकुशलनप्रयुक्तत्वात् । प्रतएव साधुगृहणीयम्, अयमंजननं,  
अणन्तीति पदत्रयं प्रतीतम् । कथंचनः, इत्याह—अनधिगत-  
पुण्यपापाः—अविदितपुण्यपापकर्मदेव इत्यर्थः । तदधिगतं हि  
नार्त्तिकवाचे प्रवृत्तिः संभवति । पुनश्च—अज्ञानोत्तरकालम्, अधि-  
करणविषया या क्रिया व्यापारस्तःप्रवृत्तिकाः । तयाधिकरणक्रि-  
या द्विविधा—नियन्ताधिकरणाक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया  
च । तथाचा—अङ्गद्वीतानं तन्मुद्रुवार्थानां तन्मन्त्रनलक्षणं, र्त्तिया  
तु तेषामेव निदानां संयोगजनलक्षणंति । अथवा—दुर्गनां यकारिभ-  
रधिक्रियते प्राणी, ताः सर्वाः अधिकरणक्रिया इति; बहुविधम-  
नर्थमनर्थहेतुत्वाद् अपमर्दसुपवर्तनम्, आत्मनः परस्य च कुर्व-  
न्ति, एवमेव अनुद्विपूर्वकं, जल्पतो भावमाणाः एतद्वाह-महि-  
पान् शूकरांश्च प्रतीताद, साधयन्ति प्रतिपाद्यन्ति, घातकानां  
तद्धिंसकानाम्, शशप्रशयोरोदित्वांश्च साधयन्ति वारुणिकानां, श-  
शाद्यं अटव्याश्चतुष्पदविशेषाः; वागुरा मृगबन्धनं, सा एषाम-  
स्ति ते वागुरियः । तिसिरवत्कलावकांश्च कपिउज्जकपोतकांश्च  
पक्षिविशेषान् साधयन्ति, शकुनेन द्येनादिना मृगयां कुर्वन्तीति  
शाकुनिकास्तेषाम्, सउणीणं इति च प्राकृतत्वात् । भयमकरान्  
कचउपकांश्च अरुचरविशेषान् सारथिन्ति, मत्स्याः परस्य येषां ते  
मारिसकास्तेषाम्, (संज्ञं क ति) शक्याः प्रतीताः अश्लकांश्च रु-  
दिगम्याः, अतस्ताव, सुल्लुकांश्च कपर्दकान्, साधयन्ति मकरा इव  
मकरा जलविहारित्वाकीयताः, तेषाम् । पात्रान्तरं—भगिययणं

मार्गयतां तत्रैषियाम् । अजगरगोनसमपइडिबिबीकमुकुलिन-  
श्च साधयन्ति, तत्र अजगराद्यः अरगविशेषाः, श्वीकराः कणा-  
नूताः, मुकुलिनस्तदितरे, व्याघ्रान्, कुल्लज्जं पान्तीति व्यालपा-  
स्ते विद्यन्ते येषां ते व्याघ्रपिनः, तेषाम् । अथवा—व्यालपानामत्र  
प्राकृतत्वेन “वालयोति” प्रतिपादितम् । वाघनान्तरं—वागिययणं  
ति इत्यन्ते । तत्र व्यालेश्वरन्तीति; वैश्यालिकानामिति । अथ-  
गोधाः सहाश्च शल्पकशरटकांश्च साधयन्तीति लुधुकानां,  
गोधाद्यो लुजपरिसविशेषाः, शरटकाः कृकत्तासाः । गजकु-  
ब्यानरकलानि च साधयन्ति पासिकानां कुलं कुडुम्भं, यूपमित्य-  
र्थः । पाशेन बन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम् । तथा-  
शुकाः कीराः, बहिणो मयूराः, मदनशालाः शूरिकाः, काकिलाः  
परनूतः, ईसाः प्रतीताः, तेषां यानि कुलानि कृदाति तानि, तथा-  
सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षपोषकाणामित्यर्थः । तथा-  
वधन्तारानं, वन्यः संयथानं, याननं च कथयन्मिति समाहारद्वयः ।  
तच्च साधयन्ति गौतमिकानां सुतिपाशानाम् । तथा—अन्यान्व्यग-  
वेषकांश्च साधयन्ति, तत्कारणातिप्रतीतम् । किं तु नावां बहो-  
बईसुरभयः, एलकाः अरुन्नाः । तथा—आमनगरपत्तनानि साधय-  
न्ति चौरिकाणां, नकरं करवजितम्; पत्तनं द्विविधम्—जलपत्तनं,  
स्थलपत्तनं च । यत्र जलपथेन भाएरुनामामगमस्तदाद्यम्, यत्र च  
स्थलपथेन तदित्त्वात् । चौरिकाणां प्रणिधिगुरुष्वाणाम् । तथा पारं  
पथेनं मामं घातिका गन्तुणां हननं पारघातिकाः (पंथाद्याइ-  
यि) पथि मार्गं, अद्वेषेण इत्यर्थः । घातिका गन्तुणां वननं, प-  
थिघातिकाः, अनयोद्वेष्टोद्वेष्टस्ते साधयन्ति च प्रमथियदानीं चौरि-  
विशेषाणां, कृतां च चौरिकां चोत्रेण, नगरगुप्तिकानां नगर-  
क्रिकाणां, साधयन्तीति वचन्ते । तथा—लाडूचनं कर्णादिकसंता-  
ङ्कनादिभिः, निशान्छनं यदित्तकरणं, (धमय ति) आन  
वायुपूरणं, दाहनं प्रतीतिं मदिध्यादितम्, पोषणं यस्सदादित्तः  
पुष्टीकरणं, वननं वनस्था-यमातरि योजनं, (दुणय ति) दुःख-  
नमुत्पादनमित्यर्थः । वाहनं शुकटाद्याकरिणम्, एतद्ददिकानि  
अनुष्ठानानि साधयन्ति बह्वनि, गौमिकानां गोमनाम् । तथा—धानु-  
गैरिकं, धानयो रोहाद्यन्तः, मणयन्तकान्नाद्याः, शिला हृदपः,  
प्रवालानि विष्टमार्गिण, रत्नानि कर्कतनादीनि, तेषामाकराः खन-  
यस्ताः साधयन्ति, आकरिणाम् आकरवनाम् । पुण्यत्यादिवाक्यं  
प्रतीतम्, नवरं विधिः प्रकारे तत्र । अर्थश्च मृत्युवनां, मधुकोटा-  
काश्च कोट्टावपत्तनयानम्—अर्थमधुकाशकाः, तान् साधयन्ति,  
वनवनाद्यं पुलित्तम् । तथा—यन्त्राणि तच्छाटनार्थं प्रकले-  
नपकारान्, जलशरमात्रियन्त्राणि वा, उदाहरन्तीति शेषः ।  
विषाणि स्थावरजडमभेदानि हाहाहलानि, मूलकमं मूलादि-  
प्रयोगानां मरिचापानादि (आहियेण ति) आहियेणं पुरकोभादि-  
करणम् । पाटान्तरं—(आहियेणं ति) आहियेणं आहिनत्वं शू-  
त्रायम्, पाटान्तरं (अधियेणं ति) अधियेणं मन्त्रादेशमनित्य-  
र्थः । आभियेयं वशीकरणं, तच्च इत्यन्ते इत्यन्तं योगज-  
नितं, ज्ञानो विद्यामन्त्रादिजनितं, बलाकारो वा मन्यैविधिप्र-  
योगाज्ञानाप्रयोगेण तु तद्व्यापारानां ति इच्छः, नात् । तथा—चो-  
रिकायाः परदारगमनस्य बहुपापस्य च कर्मणां व्यापारस्य  
यस्करणं तत्तथा; अवस्कन्दनाः कुलेन परबलमर्दनानि, प्राम-  
घातिकाः प्रतीताः, वनदहनतडागभेदानि च प्रतीतामर्थ्य-  
कुट्टनियस्य च यानि च तानि । तथा—वशीकरणदिकानि  
प्रतीतानि, जयमरणद्वयोरेगजनितानि, कर्तुरिति मत्स्यं । भा-  
वेनाप्यवसायनं बहुसंक्रियेन मरिचानि कलुषानि यानि, तथा—भू-  
तानां प्राणिनां घातञ्च हननम्, उषघातञ्च परपरघातानं, तौ विघ्ने

येषु तानि भूतकाः तोषघातकानि, सत्यान्वयि प्रवृत्तवस्त्वानि ति यानि पुरुषमुपदेशितानि हिंसकानि हिंसाणि वचनानुदाहृतानि तथा-  
 पूषा वा अशुता वा प्रतीताः, परत्विष्टापूषाश्च परकृत्यखिल-  
 नाशकाणि कः, आसमीकृतभाषिणः अयोर्लोचनवकारः, उपदि-  
 श्रुति अनुशासति, सहसा आकस्माद्-चतुत उद्याः करजाः, गो-  
 वेदो गावो, गवया अष्टयाः पशुविशेषाः, दम्यान्तं विनीयन्ताम् ।  
 लषा-परितन्वयस्सः संपदाश्वाश्वाशेषाः, तदणा इत्यर्थः ।  
 आम्बाः, हस्तिनः प्रनीताः, गवेलककुक्कुटाश्च उरुतताम्रचूडाश्च  
 क्रापयन्तं मृदुपन शूद्रानां, क्रापयन् च पतान्धश्च प्रादयत च,  
 विकीर्णेषु विकृतव्यम् । तथा-पचत पचनीयं, स्वजनय च दत्त,  
 पिबत च पान्त्यं म्भिरादि । वाचनान्तरण-आद्यं पिबत दत्त  
 च । तथा-शस्त्रश्रेटिकाः, वासाश्चेटकाः, भूतका भक्तानानिदिना  
 पापिनः, (माहस्त्या सि) यं लामभ्य भागं चतुर्भागादिकं लभ-  
 नन्, एतेषां वृद्धः ततस्ते च, शिश्याश्च विनयाः, प्रेक्षकजनः  
 प्रयोजनेषु प्रेषणार्थोक्तः, कर्मकराणि निधतकास्तमाद्शकारिणः, किं-  
 करकश्च आदेशसमाप्तावपि पुनः पुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः,  
 स्वजनपरिजनं च कसादासते अवस्थानं कुर्वन्ति? (सारिया जेक-  
 रिउ कर्मन् ति)कृत्वा विधाय, कर्म कृत्यं, तस्मात्सी यतो भार-  
 का दुर्निर्वाहाः । 'भे' नवनां ' करंतु सि' कश्चित्पारः । तत्र  
 (भाय सि) भायो 'जे' अयतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु ।  
 अभ्यान्वयि पाठान्तराणि वानि, तानि च स्वयं गमनीयानि ।  
 तथा-गहनानि गह्वराणि, खनिति यनखरडानि, केश्राणि च धान्य-  
 चपन दुमयः, खिलभूमयश्च हलैररुहाः, यच्चराणि च क्षेत्रविशेषाः,  
 तनस्नानि उच्चैरेकाग्रनैस्तुभेः, घनमयैर्ध, संकटाणि संकी-  
 र्णाणि यानि तानि तथा, तानि दृष्टवन्ताम् । पाठान्तरण-गहनानि  
 विना नि युष्मन्तः, खिलयुष्मिगह्वराणि उच्चैरुष्मन्संकटाणि  
 दृष्टवन्ताम् । (सृष्टिंजंतु य सि) सृष्टयन्तां च वृक्षाः, जिन्दन्तां जि-  
 म्दन्तां वा यन्त्राणि च तिष्ठयन्त्रादिकाणि, भाषाज्ञानि च प्राजना-  
 नि कुण्डादीनि, भागडी वा गन्त्री, एतन्त्यादिर्यस्य तुत । तथा-उप-  
 धिरुपरन्तं तस्य कारणाए सि) कारणया हतव्ये । वाचनान्तर-  
 नु-त्रय प्राप्तकथ्यं तस्य कारणया इतोः । तथा-बहुविधस्य च,  
 कार्यसमूहस्य नि गम्यम् । अथोय इत्येते ( उज्जंतु सि ) दृ-  
 यन्तं लुपन्तामिति, धातुनामनेकार्थत्वात् । तथा-पीडयन्तां च  
 निन्तां, पाषयन् चेटकाः शुद्धायम् । तथा-केश्राणि कृष्णं कर्पूनां  
 वा । तथा-लघु शरीरं, प्रामादीनि निवेशयत, तत्र प्रामो जनपद-  
 प्रायजनाभितः, नगरमर्वाषमाणकार्वादि, कषटं कुनगरम् । क?,  
 अष्टयोर्वेदेषु । किंभूतानि प्रामादीनि?, विवुडस्त्वामानि । तथा-पुष्पा-  
 दीनि प्रनीतानि । [ कालयथा इ ति ] अवसरप्रामानि शूहीत,  
 कुकुर संचयं परिजनायम् । तथा-शाश्वयः प्रतीताः, लृष्यन्तां, मह्य-  
 न्तास्त, उत्ययतां च, येषु च प्रविशन्तु कौष्ठायाम् । [अप्रमहृको-  
 खया य सि] अद्या लघयो, महान्तरतवेषुषा, मध्यमा इत्यर्थः ।  
 उन्तडा उष्यमाश्च, हृष्यन्तां पोतकार्वाः-बोहदिर्यस्यमुदायाः,  
 शावकसमूहा वा । तथा-सेना सैय्यं, निर्धातु निर्गच्छन्तु । निर्गत्य  
 च यातु गच्छन्तु डगरं विद्वृष्टयथानम् । तथा-घोरा रौद्रा वर्तेन्तां  
 च, जयन्तां संग्रामा रणाः । तथा-प्रवदन्तु च प्रवर्तेन्तां शकटवा-  
 हनानि-गन्तयो यानपत्राणि च । तथा-उपनयन्तं बालानां क-  
 शाभरणं, [चोसर्गं ति] ब्रूयापनयन्तं बालकप्रथममुपनयनम्, विवाहः  
 प्राणिप्रहणं, यज्ञो यागः, अनुष्मिन् भवतु दिवसे । तथा-सु-  
 पारिषदं, ब्वादिफलानिमैकादशानामन्यतरानिमित्तं, सुमुहूर्तां रौ-  
 द्रादीनां शिशुना-यतरोपभिमतो यः, एतयोः समाह्वानच्छुः, स-

तस्तव । तथा-सुनकेशेषु पुष्पादी, सुतियो च पञ्चानां मन्दाः-  
 नामन्यतरस्यामनिमतायोः । 'अउज' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपन्तं  
 सौजात्यपुष्पाद्यं बन्धादिमोक्षयं, मुदितं प्रमोदयन्, इहसाध-  
 पेयकश्चित् प्रभृतमालमद्योपेतम् । तथा-कौतुक रक्तादिकं (वि-  
 एहायण सि) विविधमन्त्रासामिः संस्कृतजज्ञैः स्नापनकं वि-  
 स्नापनकं, शान्तिकर्मं च/भ्राकारिकादिकादिभिः इन्द्रः। तनस्ते क-  
 । केतुः । इत्याह-शस्त्रश्रेणोः/अ-उत्सवोयमित्तं इन्द्रः। तन्वयन उ-  
 पराग उपररुजन्तं, प्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरानम् । स च वि-  
 थमाणि च विबुराणि दुःस्वजाशिवार्त्तानि, तेषु किमर्थम्?, इत्याह-  
 स्पजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य प-  
 रितरणार्थमित् व्यक्तम् । प्रतिशीर्षेकाणि च दत्त स्वशिरः। प्रति-  
 रूपाणि पिशाचिभयशिरांसि आमशिरोरस्ताथै यच्छत, अ-  
 गिडकादिभ्य इत्यर्थः । तथा दत्त च शीर्षोपहारान् परवादि-  
 शिरोबलीन्, इत्याह-शस्त्रश्रेणोः/अ-उत्सवोयमित्तं इन्द्रः। तन्वयन उ-  
 पराग उपररुजन्तं, प्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरानम् । स च वि-  
 थमाणि च विबुराणि दुःस्वजाशिवार्त्तानि, तेषु किमर्थम्?, इत्याह-  
 स्पजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य प-  
 रितरणार्थमित् व्यक्तम् । प्रतिशीर्षेकाणि च दत्त स्वशिरः। प्रति-  
 रूपाणि पिशाचिभयशिरांसि आमशिरोरस्ताथै यच्छत, अ-  
 गिडकादिभ्य इत्यर्थः । तथा दत्त च शीर्षोपहारान् परवादि-  
 शिरोबलीन्, इत्याह-शस्त्रश्रेणोः/अ-उत्सवोयमित्तं इन्द्रः। तन्वयन उ-  
 पराग उपररुजन्तं, प्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरानम् । स च वि-  
 थमाणि च विबुराणि दुःस्वजाशिवार्त्तानि, तेषु किमर्थम्?, इत्याह-  
 स्पजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य प-  
 रितरणार्थमित् व्यक्तम् । प्रतिशीर्षेकाणि च दत्त स्वशिरः। प्रति-  
 रूपाणि पिशाचिभयशिरांसि आमशिरोरस्ताथै यच्छत, अ-  
 गिडकादिभ्य इत्यर्थः । तथा दत्त च शीर्षोपहारान् परवादि-  
 शिरोबलीन्, इत्याह-शस्त्रश्रेणोः/अ-उत्सवोयमित्तं इन्द्रः। तन्वयन उ-  
 पराग उपररुजन्तं, प्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरानम् । स च वि-

अथ ये तान् कुर्वन्ति तान् भेदाना-

अकुसला अणुजा अभिलियऽष्टा अभिलियधम्मनिरया  
 अभिलिया कट्टाम् अभिरमिता तुद्धा अभिये कंउ हंति  
 य वट्टुपगारं, तस्य य अभियेस फलसस विवागं अ-  
 याणामाणा बह्वेति महत्तयं अवस्सामवेण्यं दीहका-  
 सवहृदुखलसंकरं एरयतिरियजोणिं, तेण य अलि-  
 एण समणुव्वत्ता आह्ता पुण्णमवंचकारे जयति, थंमे  
 दुग्गाव्वसद्धिमुवगया ते थ दीमांति इह दुग्गया उरंता पर-  
 वमा अत्यभोगपरिवज्जिया अमुहिता फुदितत्तञ्ची-बीप-  
 च्चविवरणा, खरफरुनाविरत्तञ्चफुण्डुसिरा निच्छाया स-  
 ह्वाविवफत्तया अत्तकयमसक्कया अगंथा अचेयणा दुम्भया  
 अकंता काकसंतरा हीणभियाग्वा विदिशा जन्वाहुरयूया  
 य मम्मया अकंतविकंतकरणा एीया णीयणणामेविग्गालो  
 लोगगरहिणिजा जिब्बा असरिसजणसस पेसा दुम्मेहा सो-  
 वेदअउत्तप्पसमयसुतित्वज्जिया नरा धम्मबुक्किविजला अ-  
 लिपण य तेण य रज्जमाया अत्तंतएणं अवमाणएणिदि-

अश्लेषवयण

मंसाद्विक्रयविपणुणभेयणगुरुकंधवसयणमित्तववत्स्वाराणाऽऽ  
 दियाई अन्धकवाणाई बहुविहाई पार्वति अग्रपारमाई हि-  
 ययमएदुसगाई जावनीव हुदुच्छराई अण्टिउत्तररुसवयण-  
 तजगर्णाएरुनत्याणदौवयणविमणा कुजोयणा कुवास-  
 सा कुवसईमु किशिरंसाता नेव सुई नव निवुई उवसजं-  
 ति, अच्चंतविपुसहुकखमयसंपलिना, एसां सा अश्लेषवय-  
 णस्स फल्लविवाओ इझाईओ परझाईओ अप्पसुहां ब-  
 हुदुक्खो महम्मओ बहुपगादो दरुणो कक्को असाओ  
 वामसहस्सेई मुच्चतो ण य अवेदयिता अय्यि हु मां-  
 कलो चि, एवयाईसु नायकुसुनंदणो महया जिणो उ वी-  
 रवरनामपेज्जो कहेसांई अश्लेषवयणस्स फल्लविवाओ; एयं  
 नं वितिये वि अश्लेषवयणं लहुदुसगल्लुवयणलभणियं भ-  
 यकरहुइकरअपयकरवेकरणं अरतिरतिरागुदांसमणसांकि-  
 षेमवियरणं अश्लेषनियमिसातिजोगबहुलं नीयजणनिसे-  
 वियं निसंसं अप्पण्णयकारकं परममाहुगरहाभिजं परपी-  
 णाकारकं परमाकिइझेसमहिइं दुग्गतिविशियवयवृहणं  
 जवपुणुअजवकरं चिरपरिचियमणुगयवुतं ति वेमि ॥

अकुराला वक्रव्याचकव्यविभागीविपुला अनार्याः पापकर्मणो  
 बुरमयाताः [अश्लेषसि] अलीका आझा आगमां येयां  
 ते तथा, त एवालीकधर्मनिरताः, अलीकासु कथास्वयि-  
 रममाणः । तथा- [ तुचा अश्लियं करेउ कुंति य बहुपगायं ति ]  
 अत्र-तुष्टा भवन्ति चालीकं बहुपकारं कृत्वा उद्वृत्तमज्जघटना  
 कार्थिनि । तथा उलीकविपाकप्रतिपादनावाह- [ तस्स सि ] द्वि-  
 तीयाऽऽअवन्तेऽच्यते-तस्यापत्नीकस्य फल्लस्य कर्मणा वि-  
 पाक उदयं, साप्यमित्यर्थः । तत्रजानन्तो वदन्त्येन महाजयम-  
 विआमवेदंतां, दीर्घकाशबहुतुःखसंकटां, नरकान्तयेथानि, तत्रो-  
 त्पादनामित्यर्थः । तेन चालीकेन, तपोजानितकर्मणोऽर्थेः ।  
 समनुष्यका अविश्रिताः, आदिष्टा आशिङ्गिताः, पुनरेवात्रकारं  
 आत्यन्ति, भीमे दुर्गेतिवसन्तिमुपगतास्ते च दृश्यन्ते इह जी-  
 वशांके । किन्ताः ? इत्याह-तुर्गता दुःस्थाः, डुरस्ताः दुष्पयं-  
 वसताः, परवशा अस्वतःशाः, अर्थभोगपापवर्जिताः इत्येण  
 भौगैश्च रहिताः । [ असुद्वियसि ] असुखिताः, अविद्यमान-  
 सुहृदो वा, स्फुटितच्छब्दः विवादिक्काविचरिक्कादिभिः विकृत-  
 त्वचः, धीजस्ता विकृतकृपाः, विषणो विकृपवर्णा इति पदत्रय-  
 स्य कर्मधारयः । तथा-अपश्यवा अतिकेशरुपशाः, विरस्ता  
 रति क्वचिद्व्यग्राशाः, ध्यामा अनुञ्जस्रच्छायाः, कुबिरा असार-  
 काया इति पदत्रयकस्य कर्मधारयः । तिग्गयाः विशाजाः,  
 लज्जा अश्लेषका विक्रमा फलासावनी सायेयां नितथा । [ अस-  
 कथमसज्जयसि ] न विद्यत सस्कृते संस्कारो येषां ते अस्-  
 कृता एतादृशा अस्सकृता अविद्यमानसंस्काराः, ततः कर्मधा-  
 रयः । मकारश्च साहायिकः । अयन्तं वा अस्सकृताः । अत एवा-  
 गन्थाः, अस्वतःशाः, विशाईवन्त्याप्रावाह । कुजंगा अलिष्टाः, अ-  
 कान्ता अकसनीयाः, काकस्वैव स्वरो येषां ते काकस्वराः,  
 हांनो इहसोतिअश्रु इहसो इतिनां चोयो येषां न तथा । (विहसि  
 विहिसाः, जराश्च सुखाः, वधिराश्रुका ये ते तथा । पाणान्ते-  
 ष-अनश्चधिरा मुकाश्च, ममनां अण्यत्वाचः, अकान्तानि अक-

मनीयानि विकृतानि च करणानोन्निवृत्तानि कृत्यानि वा येषां  
 ते तथा । वाचनान्तेरे-अकृतानि न कृतानि विकृतानि च  
 विरूपतया कृतानि कृत्यानि वैस्ते तथा । नीचा ज्ञान्या-  
 दिभिः, नीचजननिवेधियो, लोकगर्हणीया इति पदत्रयं व्य-  
 क्तम् । भृत्वा भर्त्सत्या पयः । तथा-असदृशजन्स्य अस्-  
 मानशीललोकस्य त्रेण्या त्रेषस्थानं, प्रेम्था वा आदेइथाः, दुर्मेध-  
 सो दुर्बुद्धयः [ लोणियादि ] बुनशब्दस्य प्रत्येकं संकषात-लौ-  
 कभूतिः लोकामितमे शास्त्रं नाराताइ; वेदभूतिः श्रुकसामादि  
 वेदशास्त्रम्; अच्यतभूतिः चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रं;  
 समयभूतिः आहृतबौद्धादिसिक्तान्तशास्त्रं, तामिर्वाजिता ये ते  
 तथा । क पते एवजुताः ? इत्याह-नरा मानवाः, धर्मशुद्धि-  
 कक्षाः प्रतीतम् । अलीकेन च अलीकवाद्यनितकर्मोभित्ता, तेन  
 कालान्तरकृतेन, दृष्टयानाः [ अश्रान्तपणं ति ] अश्रान्तकमा-  
 पशान्तेन असता वा अश्रान्तत्वेन रागादिप्रवर्तनेत्यर्थः । अप-  
 माननादि प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः । तत्रापमाननं च मानहरणं,  
 पुष्टमांसं च पराङ्मुख्यं दुष्प्राविष्करणम् । इयिङ्केष्वेकं मिन्दा-  
 विशेषः, श्लेतेजदं च-परस्परं प्रमत्सख्ययोः प्रेमच्छेदने, गु-  
 षाण्द्यश्चस्वजनमिश्रणां सत्कमपकारणं च अग्रपदं हाराय-  
 माणं वञ्चनपरानिजुतस्य वा एषामपकारणं, सानिध्याकरण-  
 मित्यर्थः । एतानि आदिषोषां तानि तदाहिकानि । तथा-अ-  
 भ्याख्यानानि असद्वृत्तपणाजिधानानि बहुविधानि, प्राध्वानि  
 लभन्ते इति । अनुपमानि । पाणान्तरेण-अमानमारिणः, इहदयस्य  
 उरसो, मनसश्च चेतसो, [ दुग्गा इति ] दावकास्त्युपनापकानि  
 तानि तथा । यावज्जीवं दुष्टेराणं भाजनमाप्यनुद्वर्गणीयानि,  
 अनिष्टेन अरपरुणेण चानिककारेण वचनेन वसज्जनम-रे ! दा-  
 सपुरुषस्य भावितव्यमित्यादि । निमंसंमन-अंउ दुष्टकर्मकारिण !  
 अपसर श्टिमादिदिव्यादिकृपं, नात्र्यां दीने वदन्, [ विमणसि ]  
 विगतं मनो येषां ते तथा । कुजंगानाः, कुवाससः, कुवसन्तिषु  
 क्रिश्यन्तो, नैव सुखं शारीरं, नैव निर्दुष्टं मनःस्वास्थ्यम्, उ-  
 पलभन्ते प्राप्नुवन्ति; अन्यन्तेविपुसदुःखशतसं प्रदीताः, तदि-  
 वता अलीकस्य फलमुक्तम् । 'एसां' इत्यादिना त्वधिकृतत्वा-  
 रनिगमनमिति । व्याख्या त्वस्य प्रथमाप्ययनपञ्चमद्वारनिगम-  
 नयत् । ( एय ते वितियं पि ) इत्यादिनाऽप्ययननिगमनम् ।  
 प्रअ०१ आअ० द्वा० भवपावपदे-“पदम विगिणचण्टा” आधम-  
 अलीकचचनम्, अयोभ्येशकस्य विधेयत्वायं वदंउ । हु० ६ उ० ।  
 अलुक्वि ( ण् )-अरुक्विन्-त्रि० । अरुक्विन्सदृभावाद-  
 कि । स्मिपश्चसंश्रवति, प्र० ११ भा० ४ उ० ।  
 अलुक्-अलुठय-त्रि० । अलमपेट लोभरहितं, प्रअ० ५ सख०  
 द्वा० । “आरादुकोसं जो, सदुपुणं तयं न अस्ते । एस अलु-  
 द्वां दारं, ” ..... ” ॥ १० भा० । पञ्चा० ।  
 अश्ले-अश्ले-अव्य० । नीचसंघोषणं, “अलं कि एशे महेइ क-  
 शल्ले ” प्रा० ४ पा० ।  
 अश्लेव-अश्लेष-पु० । अश्लितनायाच, प्रअ० ४ द्वार । अश्लेषमप्ये  
 मोक्षणा नी राटी आकारादिकं कल्पते नवेति प्रअ०-बहुपु भयंषु  
 अश्लेषशब्देन वल्लचणकादिकं व्याख्यातमास्ति, हुहकल्पमाश्व-  
 सितमध्यं तु-“मोक्षणादिरोटीकाराकरासाधुउआडु ” इत्यादि-  
 कर्मसमेपमध्यं कल्पते इति व्याख्यातमस्ति ४६ । सन०२ ब्रह्मा० ।  
 अश्लेषकट-अश्लेषकट-न० । वल्लचणकादावपिच्छिजे छप्ये,  
 पि० । पञ्चा० ।

तत्रालेपकृतानि तावदाह—

कंजुसिणचाउदोदे, संसङ्घामकडमूररसे ।  
कंजियकडिप ह्योणे, कुट्टा पिज्जा य निरुप्पा ॥  
कंजियउदगविलेनी, ओदणकुम्माससपुए पिट्टो ।  
धंढगसामिपोतिणे, कंजियपचे अलोवकन ॥

काञ्चिकमारनामय, उणोवकमुत्तुय निव्वडय, (चाउदोदंनं ति) तन्मुत्तुयवाचनय, संसुहं नाम गोरससंखे भोजने प्रसिद्धं सव्व यपु-  
बकं गोरसेन परिणामितय, आयाममवअयणम्, (कट्टमुत्तरसे सि) काष्ठमूर्त्तं अणकयच्चक्रादिद्विदलं, तदीयेन रसेन यत्परिणामितं नत्काष्ठमूर्त्तं नाम पानकय । तथा-यत्काञ्चिककथितं, [ शोणे सि ] सभ्रवणं यावत् । कुट्टाः सिञ्चिञ्चिका, पेया च प्रतीता, निरुप्पा-  
अचं-पट्टा अचय्यारिता वा । तथा-विदोषिका द्विविधा—एका काञ्चिकविदोषिका, द्वितीया उरुक्विदोषिका । ओदणस्तन्मुत्तु-  
वादिभक्तम्, कुत्तमाया उददाः, राजमाया वा । सक्को भूएययहोव-  
कयाः, पणं मुक्काविचूणे, मण्डकाः सक्कणिकामयाः, समितय-अद-  
क, उन्निव्वणं मुक्करादि, काञ्चिकपत्रं काञ्चिकेन वाष्पितम्-अराणि-  
कादिशकय, पनाणि काञ्चिकादीन्धलेपकृतानि मन्तव्यानि । ७० १ उ० । ४० । अश्लेषकृत्वाप्रत्यय स्वयवर्धनं कल्पये दातव्यः । ४० ३ अधि० ।

अश्लोसी—अश्लोशियन्-पुं० । श्लेश्यारहिते अयोगिनि, सिखे च ।  
स्या० ३ ज्ञा० ४ उ० ।

अश्लोम ( य )—अश्लोक-पुं० । न० त० । धर्मादीनां अश्लोमाणां  
वृत्तिभेदेति यत्र तत्, ताश्रयक्रेत्रप्रियहं लोकः; तद्विपरीतं श्लो-  
काव्यं क्षेत्रम् । अश्लो ५ २४० । श्लोकविक्रमे अनन्ताकाशास्तिक-  
कायाम्, सुत्र० १ ४७० २ अ० । आ० ३० । प्रथ० । यत्र क्षेत्र  
समवगाढौ धर्मास्तिकार्याधर्मास्तिकार्यौ, तावत्प्रमाणां श्लोकः,  
श्लेषस्वश्लोकः । जी० १ प्रति० । “पणे अश्लोए” एकाऽश्लोकाऽमन्त-  
प्रदेशोऽपि द्रव्याधेनया । स० १ स०० । सु० प्र० ।

लोगस्स ऽस्यि विवक्खो, मुच्छत्तणओ धरुस्स अयदो व्व ।  
स यमाडि वेव मई, न निसेहाओ तदुक्खो ॥

अस्ति लोकस्य विपक्कः, न्युत्पत्तिमककुत्तपदाभिधेयत्वात् । इ-  
ह यद् व्युत्पत्तिता श्लेषकृतानिधीयते तस्य विपक्कं हट्टे, यथा-  
घटस्याघटः । यच्च लोकस्य विपक्कः सोऽश्लोकः । अथ स्थानमतिर्न  
श्लोकाऽश्लोक इति । योऽश्लोकस्य विपक्कः स घटादिपदाधानामन्यतम  
एव अभियन्ति, किमिह वस्त्वन्तरपरिकल्पनया ? तत्रैतन्न । पर्यु-  
दासव्याज्या निव्वरान्निव्वरस्थीरानुक्खोत्तव विपक्कोऽन्विषणीयः । न-  
श्लोकोऽश्लोक इत्यत्र च श्लोको निवेष्यः, स चाकाशविशेषः, प्रनोऽ-  
श्लोकनापि तदनुक्खेषु अभितव्यम् । यथाहपण्डित इत्युक्ते विशि-  
ष्टकालविक्रमभवेत एव पुरुषविशेषो गम्यते, नात्रेततो घटादिः,  
एवमिहापि श्लोकानुक्ख एवाऽश्लोको मन्तव्यः । उक्तं च—“नन्यु-  
कमिषयुक्तं वा, यत्किं कार्यं विधीयते । तुत्थाधिकरणेऽन्यस्मिन्-  
स्रोकोऽप्यर्थगतितया” ॥ १ ॥ “नञ्चियुक्तमन्यसदृशधिकरणे  
तथा धर्मेतानिः” । तल्लोकविशेषो गम्यते, नात्रेततो घटादिः । प्रे-  
रकः प्राह—“स घटादे वेव मती, ” युवः प्राह—“न निसेहाओ  
तदनुक्खो” । एथा० १ ज्ञा० १ उ० । “सिक्का निगोयसीवा, वणस्सदे  
कालपुगला वेव । सव्वमलोगागालं, उणेऽणेतवा जेवा” प्रब०  
२ ४६ आर । (अश्लोकं अश्लेषककालनावाः सन्ति नवन्ति ‘अणुकोना’  
१९७

शब्दे ऽस्मिन्नेव ज्ञाने ३४३ पृष्ठे दशमधिकारे समुक्तम् । कि-  
यानश्लोक इति तु ‘श्लोम’ शब्दे बध्वते )

अश्लोभया—अश्लोभवा—स्त्री० । श्लोमत्यागकृतेऽष्टमे योगसंप्रदे,  
स० ३१ स०० । प्रथ० । अश्लो० ।

अश्लोभतामाह—

साएए पुंढरिए, कंढरिए वेव देवि जसज्जा ।  
सावत्यि अजिअसोणे, किमिहं तुग्गुगुमारो ॥ १ ॥  
जसज्जे सिरिकंता, जयसिपो वेव कणभासे अ ।  
नट्टविहीपरिअसे, दाणं पुच्छाइ पव्वज्जा ॥ २ ॥  
सुहु वाइअं सुहु गाइअं, सुहु नविअं सामसुंदरि ! ।  
अणुयात्तिअ दं ह्राइया—ओ सुमिपिते मा पयाएए ॥ ३ ॥

अर्थः कथातो ज्ञेयः—

“ साकेतं नाम नगरं, पुरन्दरीको नरेश्वरः ।  
युधराजः कथरुद्रीको, यशोमन्त्रा च तत्प्रिया ॥ १ ॥  
रक्ततो वीह्य दृत्योवे, सा नैकज्ज मारितोऽतुजः ।  
नण्डा सार्धेन तत्पत्नी, आवहस्तीं नगरां यवी ॥ २ ॥  
तथाऽऽवायोऽजितसन्, कर्तिमतीं महत्तरा ।  
तत्र साऽपि प्रवव्राज, धारिणीवसुधन्तिक ॥ ३ ॥  
परं न साऽप्यजसुत्र, किन्तु धुञ्जमवीकरत् ।  
स वयःस्थो व्रतं कर्तुं-महत्तमो जवनीं जगी ॥ ४ ॥  
यार्थीति स्थापितो भात्रो-परपोय ह्यदशशुद्धिकाम ।  
एवं महत्तराऽऽवायो—पायाधैरपि स व्रजन् ॥ ४ ॥  
स्थापितोऽस्यादितेः सुहोतो-ऽष्टावत्वारिंशद्विद्विका ॥  
तथाऽप्यतिष्ठन् प्रैवि मा-जोचं त्वं माऽप्यतो नामः ॥ ६ ॥  
साकेते पुरन्दरीकस्ते, पितृव्याऽस्ति नृपस्ततः ॥  
मुक्तां कम्बलरत्नं वा-ऽऽदाय तत्र व्रजः सुत ! ॥ ७ ॥  
ततोऽस्याद् यानशलायां, राक्षः श्वो नृपमीकितुस् ।  
प्रेषथाभ्यतत्प्रायां स, प्रैकृत प्रेसुणं मिशि ॥ ८ ॥  
नसेको तत्र नतित्वा, रक्षेण सकलां निशाम ।  
विभातार्यां विभार्यां, निनिद्रासुरचुस्ततः ॥ ९ ॥  
तन्मानाऽन्वितवत्यर्थ-चोपिता तद्धनं बहु ।  
वेप्रमादोऽस्या मुष्टाः स्म-स्ततो गतितिममां जगी ॥ १० ॥  
“ सुहु वायं सुहु गाइअं, सुहु नविअं सामसुंदरि ! ” इत्यादि ।  
अत्रान्तरे स च कुल्ल-कुमारो रत्नकम्बलम् ।  
युधराजो यशोऽश्रित, निमलं रत्नकुराडकम् ॥ ११ ॥  
साधेवाडो निजं हारं, राजेमाऽऽरोहकोऽकुशम् ।  
मन्त्री च कटकं लस-भूत्स्यानि मिञ्जिलायपि ॥ १२ ॥  
त्यागं यस्तत्र वृत्ते स्म, स समस्तोऽप्यतिक्रम्यत ।  
ज्ञावाया प्रागे क्लेते राक्ष-स्तोषो रोषोऽप्यथा पुनः ॥ १३ ॥  
सवैऽपि त्यागोऽश्रितः, धुञ्जः पृष्टाऽववीदिदम् ।  
यावत्सम्बलमायातो, राज्यलक्ष्मीसमीहया ॥ १४ ॥  
पृष्टाश्च राज्यं राक्षोच, स नैक्यदिदसुचिवात् ।  
व्रतं निचोदविध्यामि, बुको गीत्याऽनयाऽस्त्वहम् ॥ १५ ॥  
युधराजोऽवदद्वाजा, बुको राज्यं वदति न ।  
मारयित्वा तदाहासे, इनि चिन्ताऽववन्तम् ॥ १६ ॥  
क्लृचे राजाऽपुनाऽप्येतद्, वृष्टान्तं सोऽपि नैहत् ।  
सायंवाडो जगी पत्यु-गतस्य ह्यदशाधत्स ॥ १७ ॥

अश्लोभया

ततोऽप्याऽऽनयनेच्छताः । भूत्वा भीतिमिमां स्थिता ।  
 मन्पूर्वेष्वन्यैः सार्धं, घटनतः स्थितोऽधुना ॥ १८ ॥  
 प्रत्यन्तराजमिषयः, मोको इक्षिनमानय ।  
 यद्वा मारय तन्मेने, निवृत्तं गीतिकाश्रुतः ॥ १९ ॥  
 अस्मत्कृतेऽनवा मातं, किञ्चिदपि प्रतिबोधतः ।  
 वृत्तोऽस्मानिः प्रजोः त्याग-स्तुष्टेः सर्वेषु नृपतिः ॥ २० ॥  
 सर्वे बुद्धकुमारस्य, मार्गलक्षाः प्रवचनतः ।  
 अज्ञोतैव कस्येवा, सर्वैरपि महामाभिः ॥ २१ ॥ आ० क० ।  
 असोल-अज्ञोभि-वि० । अज्ञुषेति, नि० वृ० १० ड० । अत्रास-  
 प्रायेनाऽनस्यरे, दृश० १० अ० ।  
 अश्लोत्रुप-अश्लोत्रुप-सुं० । सरत्वाहारदिलाम्प्यरहिते, वच०  
 ३ अ० ।  
 अल्ल-आर्द्ध-त्रि० । जलसंपूके, "अल्लं वम्मं दुकुरह" । आर्द्धि  
 कर्माधिरोहति । ज्ञा० १२ अ० ।  
 अरमर्दकुसुप-अरमर्दकुसुप-न० । पीतवर्णे लोकप्रसिद्धे  
 शुच्छविशेषपुष्पे, प्रज्ञा० १ पद । अं० १ रा० ।  
 अल्लकचूर-आर्द्रिकचूर-सुं० । तिकच्छयविशेषे, प्रच० ४ द्वार ।  
 अल्लग-आर्द्धक-न० । शूद्रवेदे, ( आर्द्धा इति क्यते ) घ० २  
 अधि० । प्रच० । अं० ।  
 अल्लत्य-उत्-क्षिप्-धा० । ऊर्ध्वदेहे, " अतिक्रमेणुलशुद्धोऽप्यङ्गा-  
 ङ्गयोन्मृष्टोऽस्मिन्न-हन्तुवाः" । उ । ष । १४३ । अल्लत्य-उत्-  
 क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।  
 अल्लमुत्यां-आर्द्धमुत्यां-त्री० । ( नागरमोधा इति क्यते )  
 आर्द्धोऽवश्यं गन्धप्रधानं वनस्पतिमूले, प्रच० ४ द्वार । घ० ।  
 अल्लापूर-न० । अल्लबुद्धीनिवासिते स्लेच्छदृशस्ये नगरभेदे,  
 यत्र गत्वा भीजिनप्रभूरिभिस्तेऽऽः प्रतिबोधिताः । " पत्ता  
 रावभूमिमंडणं सिंरिअल्लापुवुत्तम्" । ती० ४५ कदप ।  
 अल्लबुद्धीपुसुरपाण-अल्लबुद्धीनमुसतान-पर० घा० । वैक-  
 भवस्तराणां ज्ञादृशगतकादीं शुर्जंरथिस्तुपत्वाकं तत्कामिक-  
 राजजेतवि यचनराजं, ती० २६ कदप ।  
 अल्लिअ-उप-स्य-धा० । समोपगमने, " उपसर्पैरल्लिअः" ।  
 उ । ष । १३६ । उपपूर्वस्य स्येः कृतगुणस्य ' अल्लिअ ' इत्यादे-  
 शः । अल्लिअ-उपसर्पति । प्रा० ४ पाद । " तस्स सरणमल्लि-  
 य्ह" । व्हा० १ उ० ।  
 अल्लियावणबंध-अल्लायनवन्द-सुं० । द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण  
 श्लेषादिनाऽऽसीनकरणरूपे बन्धे, " से किं तं अल्लियावणबंधे ? ।  
 अल्लियावणबंधे चरन्निवर्धे पस्ये । तं जहा-सेसाणाबंधे, उच्य-  
 बंधे, समुच्यबंधे, साहस्यणाबंधे" । अ० ८ पा ५ ए ७० ।  
 ( चतुर्णामिषं व्याख्या स्वस्वस्थाने प्रदर्शयिष्यते )  
 अल्लियावणबंधाय-अल्लायनवन्दनक-न० । प्राचायांदिनामा-  
 अणयाय प्रतिक्रमणान्ते व्येष्टात्रुकमणं बन्धने, आध० ४ अ० ।  
 अल्लिव-अर्पि-श्व-भिन्-पुक् । प्रदाने, " अर्पेऽल्लिवचच्छुप्य-  
 यणामाः" । ८ । ४ । ३५ । इत्यपेथ्यंतस्य अल्लिवादेशः । अ-  
 ल्लिव-अर्पयति । प्रा० ४ पाद ।  
 अल्ली-आ-ली-धा० । आश० य० । आशयस्य, " आलीकोऽ-

ली" । उ । ४ । ३५ । इत्यालीयतेरलीत्यादेशः । अल्लिअ-  
 आहीयते । प्रा० ४ पाद ।  
 अल्लिउं-आस्रीतुम्-अव्य० । आशयितुमित्यर्थे, वृ० ६ ड० ।  
 अल्लिण-आलीन-वि० । आ-ईवद् ङीभः । अति० । आभिते,  
 आतु० । कदप० । प्रिति० ज्ञा० । शुकभमाभिते संलीने, आ सभ-  
 न्तात्सवांसु क्रियासु लीनो गुप्तः । अनुत्पन्नच्छेकारिणि, अी० ३  
 प्रति । तं० । शुकजनमाभितेऽनुत्प्रासनेऽपि न गुशु इवमापद्यमा-  
 ने, अं० २ वक्त्र० । ज्ञा० । ज्ञानादिध्वासमस्ताङ्गिने, अ्य० १० ड० ।  
 अल्लिणपलीणशुभ-आलीनलिनेनगुप्त-वि० । अल्लिपाङ्गानि  
 सम्यक्संयमयति, दृश० ८ अ० ।  
 अय-अय-अव्य० । आधिक्ये, स० १ स० । अयःशब्दाद्ये,  
 प्रच० २१६ द्वार । विशे० । आ० म० । प्रज्ञा० । ने० । अवनमयः  
 " तुवादिभ्यां न क्ति" इत्यधिकारे " अकितो वा" ( उणा० ) इत्य-  
 नेन औष्वादिर्कोऽकारप्रत्ययः । गमने वेदने, आ० म० प्र० ।  
 विशे० । इथा० ।  
 अयअकल-एण-धा० । प्रेक्षे, " दृशो निभच्छ-पेच्छवयच्छा-  
 यच्छ-वच्छ-सञ्चव-वेचकौभक्त्वायक्त्वाऽश्चक्रक-पुलांश-पु-  
 लथ-निष्ठाऽवक्रास-पासाः" । उ । ष । १८१ । इतिस्त्रेण दृशः  
 ' अयअकल' आदेशः । अयअकल-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।  
 अयअकिलअ-देशी-निवापितमुक्ते, दे० मा० १ वर्ग ।  
 अयअकल-देशी-कलायक्ते, दे० ना० १ वर्ग ।  
 अयअकल-हादि-धा० । आहादोत्पादने, " हादेवअकलः" ८ ।  
 ४ । १२२ । हादतेऽर्धन्तस्यायन्तस्य च " अयअकल" इत्यादे-  
 शः । अयअकल-हादयति । प्रा० ४ पाद ।  
 अयअकलअ-देशी-निवापितमुक्ते, दे० ना० १ वर्ग ।  
 अयअकलअ-देशी-असंघाटिते, दे० ना० १ वर्ग ।  
 अयअस-एण-धा० । " दृशो निभच्छ" ८ । ४ । १८१ ।  
 इत्यादिना स्त्रेण दृशेः ' अयअस' इत्यादेशः । अयअस-  
 पश्यति । प्रा० ४ पाद ।  
 अयअ-अत्रित्-सुं० । अत्रितसम्पृच्छे, वृ० १ ड० ।  
 अयअजिय-अवकुच्छय-अव्य० । अयोऽवनन्त्येवार्थे, आचा० २  
 अ० १ अ० उ उ० ।  
 अयअजिकृष्ण-अपोष्ण-अव्य० । परिवर्त्येवार्थे, " अयअजि-  
 कृष्ण इही" । वृ० ३ ड० ।  
 अयअरुग-अवकोटक-न० । कृकाटिकाया अघोनयने, विपा०  
 १ वृ० २ अ० । प्रज्ञ० ।  
 अयअरुगबंधण-अवकोटकवन्दन-वि० । अयअकोटेन कृका-  
 टिकाया अघोनयनेन बन्धने यस्य स तथा । प्रीवायाः पक्वान्ना-  
 गानयनेन बद्धे, विपा० १ वृ० २ अ० । बाहुगिरसां वृष्टदेशे ब-  
 न्धने, प्रज्ञ० १ आश० ज्ञा० ।  
 अयअसणग-अयवसनक-अयवशोष्णक-न० । तपोविशेषसे-  
 वायाम्, पञ्चा० १६ विष० ।  
 अयवक-अवक-सुं० । वक्रोऽसंयतः, न वक्रोऽवकः । संयते विर-  
 ते, अ्य० १ ड० । सवोपाधिद्वये श्रुतौ, आचा० १ वृ० ३ अ० १ वृ०

अर्थवंग-अपारङ्ग-पुं० । नयमेवाप्यन्ते, अं० १ वङ्ग० ॥१०॥ आच्चा० ।  
 अर्थवंगुयञ्जुवार-अपानुत्तवार-त्रि० । कपाटादिभिरस्वधितयुह-  
 द्वारे, "अर्थवंगुयञ्जुवार" सद्देशीनस्त्रान् कुतोऽपि पाष्णदिकृदावृ-  
 च्छिद्यति शोऽननमार्गपरिग्रहेणोद्गाढोरसस्तिष्ठतीति प्राञ्च  
 इति वृद्धस्याप्या । अर्थमेत्वाद्-जिह्वुकामेशाधेर्मौढाद्योर्व्य-  
 गितलुहद्वारा इत्यर्थः । अ० २ श० ५ उ० । दृशा० । मी० ।  
 उच्चादितद्वारे, न० । वृ० । इ० । रा० ।

अर्थवचक-अर्थवचक-त्रि० । पराश्रयसमन्वैती, " अर्थवचिगा कि-  
 रिया" । अर्थवचिका पराश्रयसमन्वैतुः क्रिया मनोवाक्कायव्यापार-  
 कपति द्वितीयशुभ्युत्पहारलक्षणम् । ध० १० । ध० ।

अर्थवचकयोग-अर्थवचकयोग-पुं० । अर्थवचकत्वविकले योगे,  
 यो० । अर्थवचकयोगाश्च त्रयः । तद्यथा-सद्योगाऽर्थवचकः, क्रिया-  
 ऽर्थवचकः, फलावचकः । तदर्थवचकं चेत्तु-  
 "सङ्गः कृत्याद्यसंपन्ने-देशेनादृषि पाठ्येन ।  
 तद्यदर्शतनो योगः, आद्योऽर्थवचक उच्यते ॥ १ ॥  
 तेयामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलस ।  
 क्रियाऽर्थवचकयोगः स्या-स्महापापकृत्याद्येव ॥ २ ॥  
 फलावचकयोगस्तु, सङ्गेषु एव निवृत्तः ।  
 सातुव्यधफलावाप्ति-धर्मसिद्धौ सतां मता ॥ ३ ॥ यो०  
 ८ विव० ।

अर्थवज्जगज्जाय-अर्थवज्जगज्जाय-त्रि० । व्यज्जगान्मुपस्थरोमा-  
 णि जातानि यस्य स तथा । अजातापस्थरोमणि, व्य०  
 १० ३० ।

अर्थवज्जगज्जा-अर्थवज्जग-त्रि० । निष्कारणे वन्दनार्हे, यथा-  
 " पास्यो आसन्नो, होह कुसिलो तदेव संलसो । अहंभो वि  
 य एव, अर्थवज्जगजा जगमयसिम् " । ध० २ अर्थ० ।

अर्थवतरसामञ्ज-अर्थवतरसामान्य-न० । उच्यत्वकमन्त्वैदी-स-  
 चाघटकापरसत्तायास, आ० म० छि० ।

अर्थवतिवृद्धण-अर्थवतिवर्कन-पुं० । अवन्तिराजप्रद्योतात्मजपाह-  
 काजस्य पुत्रे, आ० ४ ध० । आ० क० । आ० मू० ।

अर्थवतिवृद्धण-अर्थवतिवृद्धण-पुं० । प्रजाभेदनीपुत्रे, दृशो० ।  
 " उज्जणीया मयरीय जीवन्तमामिदिमिदाय अज्जुद्धृष्टियमाणेण  
 स्वरिवरा पज्जुवाससुत्थं उज्जाणे समोसहे । भणिया व  
 साहुणो-जहा बसहिं अगह । ततो साहुणो विहरमाणा गया  
 भद्राय केड्ढिशीए धरे । तीए वि वेदिकण पुच्छिया-जहा कम्मो  
 भयवन्ताए आरुण्णं ॥" । तेषि सिद्धं-हेसंतरासो अज्जुद्धृष्टियस्-  
 रिसिवा वसाहिं जायसो । ताए वि हट्टुनुद्वए जाणसाहा वरि-  
 सिया । अज्या आयादिया म्भुरवाणीए भांसियुम्मं नास अज्ज-  
 यणं परिचरंति । तीस पुत्तोऽवन्तिवृद्धणो नाम । सो वि दे-  
 वकुमारोवसो सत्तत्ते पासायवकगो वण्णसाए अज्जाहिं समं  
 दोगुद्धुणो व्व देवो लसह । तेण वि मुत्तियिठ्ठेण निस्सुत्तं । अिति-  
 वं च-न एवं नाडयस्सरत्तं सि सत्तभं उपरिभूमिं भूमिं संप-  
 हारं, कथमन्थे गए परिस्स सुयमणुभूयवुत्तं । एवं हेहापोह-  
 मगोवुं म्भवेसणं कुणानस्स मयियव्वयावसेण तथाऽऽवरियिज्ज-  
 कम्मकम्मभावसेमणं जाहसरणं संपत्तो । तसो य आयादियाणं  
 पावसुं धंठिकण मणियं-अयधं । एवं सव्वं अज्ज चरियं-अहं  
 ण्यं देवो आसि, ता संपयं देहि वयं, उस्सुगोअं ति वि वास-

स्स । स्त्रीहिं अमह-वेठ ताव जाव एमाए मयारं तेपुक्कामो ।  
 ततो तेण सयमेव शोभं काठं पयहो । स्त्रीहिं अिति-व-आ पस  
 सयं गिहीयसिगो होउ सि कच्चिंसे से समप्यिओ वसो, विहा  
 दिक्का । ततो विभमिठ्ठण वलणसु भणितो-असमथाऽहं दी-  
 षड्पञ्चापरियापरियासणस्स, ता संपयं वेव वणसयणं का-  
 उण इमिणि करेमि । ततो एवण अणुजाणविसो नीहरिउ  
 सद्यामां पसो कंयारिकुर्नगिसमिं, इमियं वर काउण  
 ठिमो काउस्समेणं । अहसुक्कमारयाए सरीरस्स धराणतल-  
 फाससंजायवहरिप्पवाहेण समागया सियाही सह सत्ताहिं  
 पिल्लयाहिं । ततो एगं अयं सियाहीए काश्चं; वीयं पिल्लयाहिं  
 पडमजामं, एवं ऊरु विहयजामं, तदयजामे पेहं, एवं सो जय-  
 वं तं वयणं सममाहियासिउण तदयजामे समाहीए कालं  
 काउण गतो तम्मि कुच धिमाणं । ततो समागया पच्छासन्नि-  
 देया, सुक्कं संघोरं वुत्तुमवरिलं, आहयासो देवडुडुदीओ,  
 उण्डुत्तं व हरिसभरविन्नोरहिं-अहो ! एल महाकालो । धरे व  
 सं अज्जाणं परापरं समासोभो जाभा, तेषि विट्ठं-उठो काय  
 वि माओ । ततो व से प्रहा पुच्छिया । तीए वि समासलमणाए  
 स्त्रीहिं सव्वं साहिं । ततो एमायाए रवणोए सविट्ठीए नीह-  
 रिया अहा, सह सव्वसुक्कामो सुलालं वसा । हिं व कुर्नगो  
 नेरयाहेसाए आसकठिं कलवरं । ततो शोषभरविउदिया उ-  
 म्मुककंते अनेणपत्तावगेणं तहा रोहं जहा वसीणं वि य तुज्जं-  
 ति हिवाहा । ततो क्कम्मवि संडविथा सयववभणं, गया व  
 सिप्याए मईए मेरे, कवं सव्व संकुटरणं, पच्छालोहयाकिरियाणि,  
 आचयत्थाणिय व काराविउण अहाए अह संवेगओ सह सुरहाहिं  
 गदिवा वण्णः । एता वण गुत्थिणि सि काउण उयासे । आतो  
 पुत्तो । तेण पिडमरणजाणे काराविया पिउपमिमा, समुत्तोसि-  
 वं महाकाओ सि नामेण आचयणं । तं व संपयं सोहयाहिं प-  
 रिग्गाहिं महाकालो सि विक्काणं । अवनिसुक्कमारकथानकं  
 समासमिति ॥ वरं० ॥ संधा० ॥

अर्थवतिसेण-अर्थवन्तिसेन-पुं० । चारुप्रद्योतपैत्रे पाहकस्य राहः  
 पुत्रे, आ० क० । ( ' असायवा ' शब्देऽस्तिमत्तव भागे ४५४  
 वृष्टस्य कथोका )

अर्थवती-अर्थवन्ती-स्त्री० । उज्जयिनीनगरीप्रतिबद्धे जनप-  
 वंशेव, आ० म० छि० ।

अर्थवतीगंगा-अर्थवतीगङ्गा-स्त्री० । गोरालकमतप्रसिद्धे कार्लवि-  
 शेव, " एगा अर्थवतीगंगा सत्त अर्थवतीगंगाभो, सा एया परमाऽर्थ-  
 वतीगंगा " । अ० २४ श० १ इ० ।

अर्थवदिय-अर्थवदय-त्रि० । वन्दनार्हे, " पच्छा होह अर्थ-  
 वदिसो " । वरं० १ मू० ।

अर्थवकलमाण-अर्थवकल्लुव-त्रि० । पञ्चादमागमवतोऽकथित,  
 आ० ६ म० ।

अर्थवकला-अर्थवकला-स्त्री० । अमिताये, आच्चा० १ वृ० ३३०  
 २ उ० । सूत्र० । मौलुक्ये, स्या० ४ ज० ३ इ० ।

अर्थवकारि ( वृ )-अर्थवकारिन-त्रि० । अर्थवकारकप्रणालि, हा०  
 २६ अर्थ० ।

अर्थवकिरण-अर्थवकिरण-न० । वससं, आ० ५ ध० ।

अर्थवकिरियञ्च-अर्थवकिरणीय-न० । विक्षेपणीयं त्याजे, प्रश्न०  
 ५ आ० ३० ।

अवकृत-अपक्रान्त-त्रि० । सर्वज्ञांशुभोवच्योऽपगतं त्रुष्टे, तद-  
न्येन्याऽतिनिहृष्टे अपक्रमणीये, " जंशुर्वीये द्विषे मंदरस्स पव-  
वस्स दाहिण्ये । इमीस्स रथपज्जाप पुडवीपे उ अवकंतमहाति-  
रथा पण्यत्ता । तं जहा-भांते, लाडुप, उद्धे, निहद्धे, अरप, प-  
अरप । अउत्थीपे मं पंकप्यमप पुडवीपे उ अवकंतमहातिरथा  
पण्यत्ता । तं जहा-भांते, धारं, मारं, रारं, रारप, काडण्णुं " ।  
स्था० ६ गा० ।

अभ्युत्क्रान्त-त्रि० । न व्युत्क्रान्तमव्युत्क्रान्तम् । संचतेने, मिश्र  
च । ति० वृ० १७ उ० ।

अवकीर्ति-अपक्रान्ति-स्त्री० । गमने, आवा० १ सु० ८ अ० ६  
ब० । परित्यागे, हा० ८ अ० ।

अवकर्मण-अपक्रमण-न० । विनिर्गमे, स्था० ७ गा० आवा०  
अपसर्पणे, दश० १ अ० । अपसरणे, अ० १५ श० १ उ० । हा० ।  
" निगमयमवकर्मणं, निस्सरण पलायणं य पगात् " । द्य०  
१० उ० ।

अवकामिता-अवकाम्य-अव्य० । गत्वैर्यथे, दश० ५ अ० १ उ० ।

अवकम्म-अवकम्य-अव्य० । विनिर्गतेर्यथे, द्य० १ उ० । वृ०

अवकय-अवकय-पुं० । भाटकप्रदाने, वृ० १ उ० ।

अवकाश-अप ( व ) कर्षे-पुं० । अपकर्षणमवकर्षणं वा अप-  
[ व ] कर्षे । अभिमानादात्मनेः परस्व वा क्रियारम्भात्कुतोऽ-  
पि व्यावर्त्तने, ज० १२ श० ५ उ० ।

अप्रकाश-पुं० । अभिमानादात्म्ये, अ० १२ श० ५ उ० । त-  
दात्मक मोहनीयकर्मिणे, स० १२ सम० ।

अवकर्वद-अवकर्वद-पुं० । अवन-कर्व-आधारे घञ् । त्रिगीपृ-  
थां सैन्यनिवेशस्थाने शिबारे, आक्रमणे, भावे घञ् । शच० ।  
" कर्कयानांश्चि " । म० । ४ । इति कर्कस्य खः । प्रा० २ पाद०

अवकलकण-अवप्नरकण-न० । पञ्चाव् गमने, प्रथ० २ अ० ४ ।

अवकसारण-अपद्वारण-न० । अपशब्दकारणे, प्रथ० २ अ० ४ ।  
अपसरण-न० । साञ्जिष्यकरणे, प्रथ० २ अ० ४ ।

अवकलेवण-अवज्ञेपण-न० । अवन-ज्ञिप-धा०-ल्युट् । अघःस्थान-  
संयोगदेतौ, भिःयाविशेषे अघःपातने च । आ० म० १८० ।

अवगमसुक-अपगारसुक-त्रि० । अपगतं गण्डमपद्रव्यं यस्य  
तदपगतगण्डम्, तद्रञ्जुक्तम् । निर्दोषानुसुयसंयुक्तम्, यदि  
हा गण्डमुदकफेनसं, तद्रञ्जुक्तम् । उदकफेनतुल्यमुद्रं, सुव्र०  
१ सु० ६ अ० ॥

अवगमिजवदं-अपकथितजवदं-त्रि० । अघघोरितसं-  
सारप्रये, जीवा० १ अ० ।

अवगप-अपगप-पुं० । विनाशे, विघ्ने० ।  
अवगप-पुं० । विनिहृष्टये, विघ्ने० ।

अवगप-अवगत-त्रि० । " अवापाने च " । ८ । १ । १७२ । इत्य-  
स्य कश्चिदप्रवृत्तौ भ्रातृ । प्रा० १ पाद० । अघधारिते, आवा०  
१ सु० १ अ० १ उ० । सम्यगवपुङ्गे, " अवगपपलसकवे " ।  
अवगतं सम्यगवपुङ्गे पात्रस्य आगणीयस्य प्राणिनेः स्वरूपमात्रं  
येन सांभगतप्राप्तस्वरूपः । घ० २० ।

अवगपयेव-अपगतयेद-त्रि० । क्षिप्तयेवे, प्रथ० २६१ अ० ।

अवगाढ-अवगाढ-त्रि० । आश्रिते, स्था० १ गा० १ उ० ।

अवगाढगाढ-गाढावगाढ-त्रि० । अघोन्मते, " अघगाढगाढसि-  
रीप असीव उवसंजिमाणा उवसंजिमाणा चिर्चिते " । गाढं  
वाढमगाढास्त्रैरेव सकलक्रीडास्थानपरिभोगनिहितमतोभि-  
रघोऽपि व्यासाः, गाढावगाढा शति वाक्ये, प्राकृतस्वाध्वगाढगा-  
ढाः । इह च देवत्वयोग्यस्य जीवस्याभिधानेन तदयोग्यः साम-  
र्थ्यादवसीयत पवेति । ज० १ श० १ उ० ।

अवगार-अपकार-पुं० । विरुपाक्षरेणे, " अपकारसमेन कर्मणा, न  
नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमात्रं । अघिकां कुठेते हि यातर्नां, द्विषतां  
यातमशेषमुद्धरेत् " । १ ॥ सु० १ ४ उ० ८ अ० ।

अवगास-अवकाश-पुं० । गमनादिचेष्टास्थाने, आवा० ६ अ० ।  
" ततो लकावासां सयं बुद्धो मण्ड " । आ० म० प्र० । अ-  
ह्यस्थाने, स्था० ४ गा० ३ उ० । उपपत्तस्थाने, सु० २ ४ उ० ३ अ० ।

अवगाढ-अवगाह पु० अघकाशे, उच्य० २ अ० ४ ।

अवगाहणा-अवगाहना-स्त्री० । जीवादीमाश्रये, देहे च ।  
स्था० ४ गा० ३ उ० । ( कस्य कीदृशवगाहनेति ' आगाहना ' शब्द-  
व्यं सुनीवभागे ७६ पृष्ठे द्रष्टव्यम् )

अवगाहणगुण-अवगाहनागुण-पुं० । अवगाहना जीवादीना-  
माश्रयो गुणः कार्य यस्य सः । तस्या वा गुण उपकारो यस्मात्  
सांभवाद्गमगुणः । स्था० ५ गा० ३ उ० । जीवादीनामवकाशा-  
हेतौ बदरणां कुवद् इवाकाशास्तिकायं, अ० २ श० १ उ० ।

अवगाह्य-अवगाह्य-अव्य० । उद्दिश्यत्यर्थे, कल्य० ५ क० ।

अवगुण-अवगुण-पुं० । उगुणे, " अवगुण कवण मुण्ण " । प्रा०  
४ पाद० मू० ३७५ ॥

अवगुण-अवगुण-त्रि० । अपावृणवति, अ० १५ श० १ उ० ।

अवगृह-अवगृह-त्रि० । व्याप्ते, हा० ८ अ० ।

अवगवोह-अपप्रवोह-पुं० । समोपगतयोर्घो सुखमयोर्घो, प्रति० ।

अवगह-अवग्रह-त्रि० । अवग्रहणमवग्रहः । इन्द्रियाभिन्दि-  
य-निषधने सांख्यवह्नैःकप्रत्यक्षकारचतुष्टयान्तमे, रत्ना० ।

विषयविषयिणसिन्धिपातानन्तरसमुद्भूतमत्तामात्रगोचरद-  
शीनां ज्ञातमात्रमवान्तरसामान्याकारविशिशुष्टप्रदहणमव-  
ग्रहः ॥ ७ ॥

विषयः सामान्याविशेषात्मकोऽर्थः, विषयी चक्रुषादिः, तयोः  
समीचीनो ज्ञानाद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातो योग्यदेशाद्य-  
वस्थाने, तस्माद्वानन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सामान्यागोचरं  
निःशेषविशेषैर्युक्तं सन्मात्रविषयं इतीति निराकारं बोधः,  
तस्माज्ज्ञातमात्रं सत्त्वसामान्याद्व्याप्तैः सामान्याकारैर्मनु-  
ष्यत्वादिनिर्जातिविशेषैर्विशिशुष्टं वस्तुनो यद् ग्रहणं ज्ञानं त-  
द्व्यग्रह इति नाम्ना गीयते । रत्ना० २ परि० । आवा० । प्रहा० ।  
स्था० । योग्यज्ञारे, प्रथ० ३ उ० । अवगृह्णाति इति अवग्रहः ।  
उपघो, बोध० । ( अवग्रहभेदादिः ' अगह ' शब्दे द्वितीयजागे  
६५८ पृष्ठे वक्ष्यते )

अथचय-अपचय-पुं० । अपचये, अयु० । दश० । दृष० । देशतो-  
ऽपगमे, म० ११ श० ११ इ० । कृयापगमे, सूत्र० १, सु० २ अ०  
३ इ० ।

अथचित्त-अपचित्त-त्रि० । शोषिते, इत्त० २५ अ० । जीवप्रदेशै-  
र्विरहिते, अयु० ।

अथचिपमससोषिय-अपचित्तमांसशोषित-न० । शोषितमां-  
सकषिरे, इत्त० २५ अ० ।

अथचुष्ठी-अवचुष्ठी-स्त्री० । चुष्ण्या अथ पक्वाद् अवचुष्ठी ।  
राजदन्तादित्वाद्दशरथस्य पूर्वनिपातः । अवहृक्, पि० ।

अवच्य-अपच्य-न० । न पतन्ति यस्मिन्पुत्रे दुर्गती अथशः-  
पक्ष वा पुत्रं जानन्दपयमा । पुत्रादी, कल्प० ७ स० । पुत्र, पुत्र्यां  
५ । आच० १ अ० । संयन्तः अपच्ये जानिने आजन्वन्पवहारः  
व्य० ।

सांप्रतमन्व्ये व्यवहारमुपदर्शयति-

अहवा अग्रभक्तुला, पदिभजितुकाम समणसपाणीओ ।  
अणुमट्टा पर ण त्रिया, केणि वार्यति-ववहारं ॥

अथचेति व्यवहारस्य प्रकारानुरूपदर्शने । अथयाः अमणी  
चेति ऋषयःप्यान्यकुलौ; अन्यकुलः अमणः, अन्त्यकुला अमणी,  
प्रतिभक्तुकामौ प्रतिपत्तितुकामौ, स्वस्वासांषण च तौ प्रभूतम-  
नुशिष्टौ, परं न स्थिनी स्वस्वकुलमन्वयेन यागान्मिकव्यवहारं  
वांगयन्तिः परिमत्तावर्तमानः, तत्र तयो वागान्तिकः; स चासी  
व्यवहारश्च, तं कुरुतः । तद्यथा-यानि अस्माकमपर्यायिनि जनि-  
ष्यन्ते तेषां मध्ये ये पुरुषास्ते सर्वे मम, याः स्त्रियस्ताः सर्वा-  
स्त्वव । अथयाऽअमणीभूते ये पुरुषास्ते सर्वे मम, स्त्रियः सर्वा-  
स्त्वव । यदि चेद् अणुनि-सर्वाण्यपर्यायिनि तव, प्रथया-सर्वाण्यप-  
र्यायिनि ममेति, तयोः संसारे स्थिष्या पुनः प्रव्रज्यां प्रमुपस्थिनयो-  
र्यदेव वागान्तिकेन व्यवहारेण निश्चितं तदेव तयोः भंजयति ।

अह न कतो तो पच्छा, तेभिं अणुत्तियाण ववहारी ।  
गोणीं आमुञ्जामिग-कुहुंवि खरए ये खरिया या ॥

अथ न कृतः पूर्वं वागान्तिको व्यवहारः, पक्षास्तयोः प्रव्रज्या-  
यामप्यर्थितयोः स्वस्वकुलमन्वयेन व्यवहारो जगद्वनमभूत् । तत्र  
संबन्तीकुलसक्ताः गोदृष्टान्तमुद्गामिकादृष्टान्तं करकक्षारकाद-  
ृष्टान्तं चात्तणऽन्तरेपर्यायसन्ति । संयतकुलसक्ताः-अभ्वदृष्टान्तं,  
कौटुम्बिकदृष्टान्तं च ।

अथ संयतमन्या दृष्टान्तपरियाटी-

गोणीं संगिह्णे, उञ्जापडत्ता य नीयपरदेसं ।  
ततो खेत्ते देवी, रघो अभिसंयेणो वेव ॥

संयतीसमानकुलकाः गवां संगिह्णं समुदायं दृष्टान्तीकुर्वन्ति ।  
तद्वन्तश्च संयतसकुलकाः या उञ्जाभिह्णा परदेश नीया नो दृष्टान्त-  
नीकुर्वन्ति । ततः पुनरपि संयतीसकुलकाः क्षेत्र बीजम् । ततः  
संयतकुलकाः देवीं राक्षोऽभिषेचनं चैवेति ।  
तत्र अणुने जात यथा संयतीसकुलका गोदृष्टान्तं कुर्वन्ति  
तथा प्रतिपादयति-

संजइत्त जणैती, संसे अणसस जं तु गोणीए ।  
जायति तं गोणिवद्-स्स होति एवइत्त एयाइं ॥

(संजइत्ता) संयतीसक्ताः समानकुलकाः भुवने-अन्यस्य सरकेन  
१५८

पाठेन यद् गोर्जायितेऽप्यस्यं तत् सर्वं गोपतेर्गोस्वामिनो भवति,  
न पाठस्वामिनः । एवमेतेनैव दृष्टान्तेनास्माकमप्येतान्यपर्यायान्वा-  
भवति, न युष्माकमिति ।

एवमुक्ते-

वैतियरे अम्हं तु, जह वदवाए अ अणुआसेणं ।  
जं जायति मोह्णं ना, दिणं तं अस्सियस्सेव ॥

इतरे संयतसमानकुलका भुवने-अस्माकमता-न्यपर्यायिनि अथ-  
न्ति, यथा-मूल्ये प्रक्षत् यदन्वेना-यस्येकनाहंवेन वदवाया जावते-  
ऽप्यस्यं तद् अम्भिकस्यैव-अथस्वस्वामिन एव; अथाहारिकैरेषमेव  
स्ववहारनिष्वात् । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते-

जस्स माहिहाए जायति, उञ्जापडत्ताए तस्स तं होइ ।  
संजइत्त जणैती, इयरा वंती इमं सुणसु ॥

यस्य महेशया जार्याया; उदुष्णामिलायाः स्वैरिषया; जायते  
सुतः परतश्च तस्य तत्सर्वमाभवति; एवमस्माकमपि, इति  
(संजइत्ता) संयतीसक्ताः समानकुलका भवन्ति । इतरे  
भुवने-इहं वक्ष्यमाणमुद्गामिककौटुम्बिककृतं शृणुत-  
तेषां कुहुंविषणं, उञ्जापडत्तेण दोग्द वी देवो ।  
दिहो सा वि य तस्सा, जाया एवइत्त एयाइं ॥

येन स्वैरिष्या अपर्यायिनि जनिमानि तेन कौटुम्बिकेन उदुष्णामि-  
नेन राजकुले गत्या कथितय-यथाऽहं देव ! तस्याः सर्वं भोगभरं  
बहामि स्म, सोऽपि च तपयित्वाऽप्येन भोगनरेण निर्युद्धवात्,  
तस्मात्प्रसादं कृत्वा मदीयान्यपर्यायिनि दापयतेति । तत एवमुक्त-  
राजा कुपितः, तथा-भोगभरसंसाददर्शनं तेषामिवावपत्याय कार-  
णाविति ऋषिपि सर्वस्वापहरणतो दृग्दृढवात् । तथा चाह-  
इयारपि इदमा दक्षी, दापित इति ॥ सा चाप्यापहरणतोऽ-  
नन्यगतिका सती तस्य जाता । एवमस्माकमता-न्यपरि ।

पुणरवि य भंजइत्ता, वैति खरियाए अणुखरएण ।  
जं जायति खरियाहिव-तस्स ह्वाति एवइत्त एयाइं ॥

पुनरपि संयतीसक्ता भुवने-अरिकायां गदेष्वात्मन्यकरकक्ष  
अन्यसत्केन गदेनेन, यद् जायते तत्सर्वं अरिकाधिपतेर्जायते, एव-  
मस्माकमप्येतान्ती । तदेवं प्रथमदृष्टान्तपरियाटी नर्त्तिका ॥  
संप्रति चितीयां विभाषयिषुः प्रथमतो गोवर्ग-  
दृष्टान्तं भाषयति-

गोणीं संगिह्णा, नह्ण अदवीए अणुगोणेणं ।  
जायाइं वच्चागाइं, गोणादिविनीओ गेरहंति ॥

गवां स्त्रीगवानां संगिह्णः समुदायो नष्टोऽट्यवां पतिनः, तत्र च  
तस्यान्यगवैनामन्यसत्केन पुत्रवन्, ज्ञानानि वत्सकानि वत्सकपाणि  
तानि, गवेणुनः कथमपि गवां लाभे गवाधिपतयः स्त्रीगवां-  
स्वामिनो गृह्णन्ति, न पुत्रवत्स्वामिनः । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते संयतसक्ता उदुष्णामिकादृष्टान्तं पूर्वाक्लु-  
पन्यस्यन्ति, तथा चाऽऽह-

उञ्जापि पुण्वुत्ता, अहवा नीया ज जा परविदेसं ।  
तस्सेव मा अभावनी, एवं अम्हं तु आभवति ॥  
उदुष्णामिका पूर्वमुक्ता । यथा-सापत्या तस्य जाता । अथवा या



परं विदेशं नीता सा तस्थैवानवति, पश्चादपि नान्यस्य । एवमे-  
तान्धपवात्येषा चाऽस्माकमानवतीति ।

एवमुक्ते-

इयरे जणति बीयं, तुभं तं नीयमभवेत्वं तु ।  
तं होइ खेत्तियस्सा, एवं अम्हं तु एयाइं ॥

इतरे संयतीसत्का भग्ननि-बीजं युष्मदीयं तत्कालक्रेत्रसादृश्य-  
विप्रसन्नतः कथमपि चापेक्षस्यत् क्षेत्रं नीतम्; अन्यत्र क्षेत्रे उत-  
मित्यर्थः । तद् लोके क्षेत्रिकस्य भवति; एवमेतान्यपत्यान्यस्मा-  
कमिति ।

संयतसत्का अत्र प्रत्युत्तरमाह-

रामो धृयाओ खलु, न माउउंदाउ ताउ दिज्जंति ।  
न वि पुत्तो अजिसिज्जइ, तासिं व्हेण एवऽम्हं ॥

न खलु, या राहो दुदितः, ता मातृच्छुद्धनो मातृणामिन्द्रायेण,  
दीयन्ते, नापि पुत्रोऽभिपच्यते तासं मातृणां उन्वेतानिप्रायेण ।  
किन्तु राहः स्वामिन्द्रायेण । ततो यथा-राजा प्रधानमिति सर्वे  
राह मायसम्, एवमत्रापि पुरुषः प्रधानमिति सर्वे पुरुषस्याय-  
समनः सर्वमस्माकमानवति ।

एवं एकैकस्यै वसंताने श्रुतधर आचार्यो व्यवहारं

एमादिष्ठचरोचर-दिष्ट्वा बहुविहा न उ पमाणं ।  
पुरिसोत्तरिओ भम्मो, होइ पमाणं पवयणं तु ॥

एवमाद्य उचरोचरद्वयान्ता बहुविधा अभिधीयमाना न प्रमा-  
ण्य, किन्तु प्रवचने पुरुषोचरिको धर्म इति पुरुषः प्रमाणम् ।  
अतः सर्वे पुरुषा भगवन्ते, नेतरं इति । व्य० ४ उ० ।

अवबामेतिथ-अन्यत्याभ्रंभित-न० । एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्या-  
न्यस्यानिबद्धाभ्येकार्थो मूत्रायथेकः सन्मानीय पठनो  
व्यत्याभ्रंभितम् । अथवा-आचारादिस्मृत्यभ्ये मतिचिंतितानि न-  
त्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रलिपतो व्यत्याभ्रंभितम् । अस्थान-  
बिरतिकं वा व्यत्याभ्रंभितं, न तथाऽन्यत्याभ्रंभितम् । व्यत्याभ्रंभि-  
तसोचरं इति सूत्रगुणे, अतु० १० । वि० १० । प० चू० ।

अवच्छलत्-अवत्सलत्-न० अवात्सल्यकरणे, व्य० १ उ० ।

अवच्छेय-अवच्छेद-पुं० । विभा० २ श्रे, स्या० ३ टा० ३ उ० ।

अवजाणमाण-अवजानान-वि० । अपलपति, सूत्र० १ श्रु०  
४ अ० ४ उ० ।

अवजाय-अपजा-पुं० । अप इत्यपस्यो हीनः पितुः सम्पदो  
जातोऽपजातः । पितुः सत्काशादीवहीनगुणे पुत्रनेदं, यथाऽऽदि-  
त्ययथा, भरतापेक्षया तस्य हीनस्यातः । स्या० ४ टा० १ उ० ॥

अवजुय-अवजुत-वि० । पृथग्भूते, व्य० ७ उ० पृथग्भावे, वि०  
चू० ११ उ० ।

अवज्ज-अवध-न० "अवधपणय०" । ३१ । १०१ । इत्यादिना  
(पाणि०) सूत्रेण निपातः "अवधयोः" । २ । २६ । इति धस्य  
उजः प्रा० ३ पा० । पापे, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।  
सुत्र० । वि० १० । आचार्यो । निर्दोष, उल० ६ टा० १० । मंथा० ।  
मिथ्यात्कथायत्तत्वे, आ० म० । गाँ, सूत्र० १ श्रु० १ अ०

२ उ० । वि० १० । "कम्ममवज्जं जं गर-हियं ति कोहाइणो व ख-  
चारि" । कम्मोऽनुष्ठानमवधं जययते । किमाविशेषणं ? । नेत्याह-यद्  
गहितं निन्द्यम्, अथवा कोषाद्यव्यञ्जितोऽर्थः, तेषां सर्वोच-  
यहेतुतया कारणे कार्षोपचारात् । आ० म० द्वि० । अ० ॥

अवज्जकर-अवधकर-पुं० । अवधं पापं तत्करणाद्यैः । पापि-  
नि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अवज्जभीक्ष-अवज्जभीक्ष-वि० । पापनीरो, शोच० । पापाच्छकि-  
ते, श्रु० ३ उ० ।

अवज्जमाण-अपध्यान-न० । अप्रथस्तं न्ययनमपध्यानम् । आ-  
र्त्तादिध्यानं, औ० । पापकर्मोपदेशे हिंसकार्पणं, ध० २ अधि० । इह  
देवदभ्रायककोऽप्यसाऽपुत्रभृत्य उदाहरणानि । आ० ६ अ०  
अवज्जमाणया-अपध्यानता-स्त्री० । भार्त्तरीद्रादिध्यायित्वे,  
स्या० ३ टा० ३ उ० ॥

अवज्जमायाशरिय-अपध्यानाचरित-पुं० । अपध्यानमासौर्लो-  
रूपं तेनाचरित आसौर्लोते योऽप्रथदृष्टः स तथा । अनर्थदृष्ट-  
भेदं, उल० ३ अ० । ध० ।

अवज्जाय-अपध्यात-वि० । दुर्भानविषयिकृते, उल० ६ अ०  
उद्यच्चिन्तावति, आ० १४ अ० ॥

अवटु-अवटु-पुं० । कृकाटिकायाम्, अ० १४ श० १ उ० । विपा०  
अवट्टेभ-अवट्टम्-पुं० । स्तम्भाचवलने, ध० ३ अधि० ।

इदानीमवष्टम्भारं प्रातिपादयिष्याह-

अन्वोच्छिन्ना तसा पाणा, पकिवेहा न मुज्जइ ।  
तम्हा इहसमत्यस्स, अवष्टम्भो न कपइ ॥ ५०७ ॥

अवष्टम्भः स्तम्भादौ न कर्त्तव्यः, यस्मान्प्रत्युत्थितेऽपि तन्मि-  
त्रपश्चादपि अन्यवच्छिन्ना अनवरतं त्रसः प्राणा जवन्ति, न तत्र नत्र  
प्रत्युपज्ञाना न श्रुयन्ति । [तम्हा इहसमत्यस्वेति] तस्माद् इष्टं  
निर्वाणः, समर्थस्तरुणः, तस्य एवविद्यस्य, साधोचरष्टम्भो न क-  
ल्पते नोक्तः ।

इदानीं के ते त्रसाः प्राणिनः ? इत्येतत् प्रदर्शनायाह-  
संचरकुंयुंदिहिय-लुआ वा होइ दाली य ।  
एवं परकोइलिया, सप्ये वीसंजरे सररे ॥ ५०८ ॥

तत्रावष्टम्भे स्तम्भादौ, संचरति प्रसर्पतिः के ते ? कुन्युस्तथाः  
उददिकाकृत्वा कोलियकः, तत्कृतो नेदः अलसं भवति,  
तथा च दाली रात्रिर्भवति, तस्यां च वृक्षिकादंशभयो भवति,  
तथा च-यूहकोलिया घरोलिका, इत्यमुपरिस्था मूत्रयति,  
नमूत्रेण चोपघातलक्ष्णयो भवति । सर्पो वा तत्राभिर्तो भ-  
वति, वीसप्ररो जीर्वावेशेयः, उन्तुरो वा भवेत्, सरटः कृ-  
कलासः, स वा दशनदि करीति ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयिष्याह-

संचारगा चउदिमि, पुवं पामिहोए वि अस्सेति ।  
उदेही मूल पुणा, विराइणा तडुअप भेओ ॥ ५०९ ॥

संचारकाः कुन्त्याद्यः पूर्वोक्तान्तस्त्वपि दिक्षु तस्मिन्ववष्टम्भे  
परिभ्रमन्ति, पूर्वप्रत्युत्थितेऽपि तस्मिन् स्तम्भाचरष्टम्भे अन्ये  
आगच्छन्ति । [उदेहि ति] कदाचिदौ स्तम्भादिचष्टम्भः मूलं

वहिकविज्ञासतः, ततश्च भवद्वैभं कुर्वत उपरि पतति, पु-  
नश्च विराधना तदुन्नयं भवति, आत्मनि संयमं च भवति, अ-  
क्षयं पञ्चकक्ष भवति ॥

लूआइ य मणये सं-जमसि आयाइ विचुगुमाईया ।

एवं धरकोइलिया-अट्टिउंदसरदमाईसु ॥ ५१० ॥

लूआदी च मढने भवेने संयमाविषया विराधना भवति, आत्म-  
विराधना च बुद्धिकादिभिः क्रियते, एवं गृहकांकिकादिदि-  
उत्तरसरादिविषया संयमाविराधना, आत्मविराधना च भव-  
तीत्युक्तं उत्तरमः ॥

इदानीमपवाद उच्यते-

अतरंतस च पासा, गादं लुक्खंति तेण-उवद्वंभो ।

संजयापिठे धंजे, सेल्लुवाहुहुवेटीए ॥ ५११ ॥

अतरन्तस्य च तिष्ठणे ग्लानादिः पाश्चान्ति गादमत्यर्थं दुःख-  
न्ति, तेन कारणेन अवष्टमं कुर्वति । क १, अत आद-संयत-  
पृष्ठे स्वस्ये वा [ सेल चि ] पाषाणमयं स्तम्भेन, सुधाडजिते कुक्षे  
एव अवष्टमं कुर्वति । अवधिकार्यां वेष्टिकार्यां वा कुष्पादी  
हृत्वा ततोऽवष्टमं करोति । उक्तमवष्टमं चारम् । आंघ ० । घ ० ।

अवष्टम-अपार्थक-त्रि० । अपगतपरमार्थप्रयोजने, द्वौ १६ द्वार ।

अवष्टगा-अवस्थान-न० । व्यवस्थायाम्, व्यवस्था संस्थितिः  
स्थितरवस्थानमवस्था चैताम्येकार्थिकानि पदानि । इ ० ५  
उ ० । स्थिति, आव ० ४ अ ० । ( तत्र साधोः किमवस्थानं भेदः  
सताटनमिति ' आवस्थिसया ' शब्दे द्वितीयभागे ४६३ पृष्ठे  
वक्तव्ये; अवधिधानस्याऽवस्थानं प्रथमविभ्रननिशमिति ' अप-  
ठियाइ ( ए ) ' शब्दे अथैव जागे ५५६ पृष्ठे, ' ओदि ' शब्दे  
तृतीयभागे १५१ पृष्ठे च छ ० म्य ० ।

अवष्टिइ-अवस्थिति-स्त्री० । मर्मोदायाम्, स्या ० ३ गा ० ४  
उ ० । अवस्थाने निष्पकप्रत्यया वृत्तौ, आव ० ४ अ ० ।

अवष्टिय-अवस्थित-त्रि० । शाभ्येन, स्या ० ३ गा ० ३ उ ० ।  
नियं, हा ० ५ अ ० । ' तिज्ञायरपिठे य १, चाउज्जाने य २  
पुरिसंज्ञेय य ३ । किरकमस्स य करणे ४, चसारी अवष्टिया  
कपा ' ॥ १ । स्या ० ३ गा ० निश्चलं, स्या ० ५ गा ० ३ उ ० ।  
अवधिप्रौढी, जी ० ३ प्रति ० । यन् हीयमानं न वा वर्धमानम् ।  
तं । स ० । ' अवष्टियसुविमत्तविचिषमम् ' । अवस्थितायव-  
रिष्णुनि सुविमत्तानि विचिकानि विचिषाणि अतिरम्यतया-  
ऽसुनुतानि इमथुणि कुवेकशा येमां तेऽवस्थितवसुनुतानिचि-  
षममभवः । जी ० ३ प्रति ० । अनन्तपर्यायात्मकं वस्तुनि, तत्र  
पर्यायागामान्त्येन सविरहाइ उच्यवस्थितवत्स । ज ० २ श ०  
१ उ ० । स्वप्रमाणे स्थिते, जी ० ३ प्रति ० । अमस्थितविलक्षणं  
अनुयोगदानयोम्यं स्वलिङ्गावस्थिते, संविभ्रविहारावस्थिते च ।  
बु ० १ उ ० । [ ' असुपट्टिय ' शब्देऽथैव भागे ३०१ पृष्ठे स्या-  
क्यात एवः ] स्थिया रक्षिते, ' अवष्टिय भाणुए आराइए  
याचि प्रवइ ' । भाआ ० २ धु ० १५ अ ० ३ न्यु ० ।

अवष्टियवत्-अवस्थितवत्-पुं० । यथा तु याषोतीः प्रथमसम-  
यं वत्सवाइ तावतीरेव द्वितीयादिष्वपि समयेषु बध्नाति, तथा  
स बन्धोऽवस्थितवत्सवाइ इति ० पुं ० सं ० ५ द्वार । प्रकृ-  
तित्त्वधनेदं, क ० प्र ० । यथाऽष्टौ बध्नाति सप्त बध्नाति सप्त वा बध्ना  
वद् वद् बध्ना एकां बध्नाति तथा स एव रूपस्कारोऽप्यततो वा

द्वितीयादिसमयेषु तन्मात्रस्तावन्मात्रतया प्रवर्त्तमानोऽवस्थि-  
तवन्धो भवति । कर्म ० ५ क ० ० ।

अवद-अवट-पुं० । कूपे, स्या ० २ गा ० ४ उ ० । अनु ० । प्रहा ० ।  
आ ० म ० ।

अवद्व-अवट-न० । अपगतमर्कं यस्य तदपार्थक्यं । अर्द्धमात्रे,  
सू ० प्र ० १० पाहु ० । चं ० प्र ० । अर्द्धदिवसे, अं ० १६ श ० ३ उ ० ।

अवद्वृत्त-अपार्थक्य-न० । अपगतमर्कं यस्य तदपार्थक्य-  
र्द्धमात्रम् । अपार्थक्यमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं येषां चन्द्रयोग-  
स्यादिसिद्धयस्तान्यपार्थक्येषु । चं ० प्र ० १० पाहु ० । सू ०  
प्र ० । समयक्षेत्रेषु कया पञ्चदशमुहूर्तेषु, स्या ० ६ गा ० ।

अवद्वृत्तगोलच्छाया-अपार्थक्यगोलगोलच्छाया-स्त्री० । गो  
लैर्बुद्धिधैर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलः स गोलगोलस्य  
छाया गोलगोलच्छाया, अपार्थक्यमात्रस्य गोलगोलस्य छाया  
अपार्थक्यगोलगोलच्छाया । अर्द्धमात्रमिलितानेकगोलच्छायाया-  
म, चं ० प्र ० ६ पाहु ० ।

अवद्वृत्तगोलच्छाया-अपार्थक्यगोलगोलच्छाया-स्त्री० । अपार्थक्यमात्रस्य  
गोलस्य ज्ञाययाम्, स ० प्र ० ६ पाहु ० । चं ० प्र ० ।

अवद्वृत्तगोलपुञ्जच्छाया-अपार्थक्यगोलपुञ्जच्छाया-स्त्री० । गो-  
लानां पुञ्जां गोलैस्त्वर इत्यर्थः । तस्य ज्ञया गोलपुञ्जच्छाया;  
अपार्थक्यस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्थक्यगोलपुञ्जच्छाया । अपार्-  
थक्यमात्रगोलपुञ्जच्छायायाम्, चं ० प्र ० ६ पाहु ० । सू ० प्र ० ।

अवद्वृत्तगोलार्थलच्छाया-अपार्थक्यगोलार्थलच्छाया-स्त्री० । गोला-  
नामावलिगोलावलिस्तस्याभाया गोलार्थलच्छाया; अपार्थक्यं या  
गोलार्थलच्छाया अपार्थक्यगोलार्थलच्छाया । अपार्थक्यमात्रगोला-  
वलिच्छायायाम्, चं ० प्र ० पाहु ० । स्या ० ॥

अवद्वृत्तदंसाण-अपार्थक्यदंसाण-न० । अपकृष्टमर्कं चन्द्र-  
स्यपार्थक्यचन्द्रः, तस्य यत्संस्थानमाकारः । गजदन्ताकृता,  
स्या ० २ गा ० ३ उ ० ।

अवद्वृत्तभाग-अपार्थक्यभाग-पुं० । अतुर्थभागे, आआ ० २ बु ० १  
अ ० १ उ ० ।

अवद्वृत्तभोगिरिया-अपार्थक्यभोगिरिया-स्त्री० । अवमस्योनस्यो-  
नस्य करणमभोगिरिका, अपकृष्टं किञ्चिदनुमर्कं यस्यां स्याऽपार्थक्यं,  
द्वित्रिंशत्कवलापञ्ज्या इवशास्त्रापार्थक्यवत्त्वात् । अपार्थक्यं च  
स्याऽभोगिरिका चेति । अवमैदिरिकान्दं, ' तुधाइस कुकुडिभं-  
रुगपपमानंमेस कवले आहारमाहारमाणे अवद्वृत्तभोगिरिया ' ॥ हा-  
दशाकुक्रुदाएरुक्रमणमात्राःकवलाइरामाहारयति अपार्थक्यऽ-  
भोगिरिका उक्ताःकार्या भवतीत्येवं सप्तम्यन्तव्याक्यानं नेयम् ।  
प्रथमाःकवलाक्यानं तु धर्मधर्मिणोरभेदादपार्थक्यभोगिरिका सा-  
धुर्भवतीत्येवं नेतव्यम् । ज ० ७ श ० १ उ ० । व्य ० ।

अवद्वृत्त-अवन-न० । गमने, वेदने च । नं ० ॥

अवद्वृत्त-अवनयत्-त्रि० । अशकनुवति, नि ० न्यु ० १ उ ० ।

अवद्वृत्त-अवनयत्-त्रि० । नीचीभवति, रा ० ॥

अवद्वृत्त-अवनयत्-पुं० । पुञ्जासत्कारोऽवद्वृत्तवन्धो, स्या ० ३ गा ० ।  
दोषजातये, निम्नार्थां च । प्रव ० १४३ इ द्वार । आ ० म ० ।

अवनत्-त्रि० । उच्यते नीचकाये, भावतोऽर्द्धेन, दश ० ५ अ ० ।

अवयवयय

अवयवयय

अवयवयय-अपनयन-न० । निषेधने, विद्ये० ।

अवर्णीयवयवीययय-अपनीतापनीतवचन-न० । अकृपवनी  
स्त्री कृति लक्ष्मणस्यैव शोभशयचनानां द्वादेशं, आका० २  
बु० ६ अ० १ उ० ३ प्र० ३० ।

अवर्णीयवयव्य-अपनीतवचर-पुं० । अपनीतं वैश्वरूपमप्याह-  
पसारितय, अन्वयं स्थानगतमित्यर्थः । तदर्थमभिमतहृत्कारित  
तद्वगर्थेचप्याह गच्छतीति अपनीतवचरः । अजिप्रहविद्योपधा-  
रके, स्त्री० ।

अवर्णीयवयव्य-अपनीतवचन-न० । कृपया स्त्रीतिचचनभेदे,  
प्रथ० १५० द्वार ।

अवर्ण्य-अवर्ण-त्रि० । न विद्यते वर्णः पञ्चविधःसितारिख्येत्-  
वर्णम् । वर्णरहिते अमूल्यवर्ण, शो० ११ वि० ० अस्त्राधायाम्, पं०  
ब० ६ द्वार । स्थान० । अथशस्त्रि अकतीर्ण, नि० बृ० १० उ० ० । वर्ण-  
नाया अकरणे, स्त्री० । एकदिव्याप्यसाधुवाद्वाहै, ग० २ अ० ३० ।

अवर्ण्यवन्त-अवर्ण्यवन्त-त्रि० । अस्त्राधकारिण, स० ३० सम० ।

अवर्ण्यवद् ( वृ )-अवर्ण्यवदिन्-पुं० । अवर्ण्यं वदितुं शीलम-  
स्यत्वर्यवर्णवद् । अकारिंकर, " नागस्य केशलोथ, अन्मा-  
वरिषाथ सवसाहृणं । माई अवर्ण्यवद्, किंत्विसिचं भावयं  
कुण्डह" ॥ १ ॥ ग० २ अ० ३० । इ० ।

अवर्ण्यवयव-अवर्ण्यवद्-पुं० । अस्त्राधायाम्, अ० २ अ० ३० । अ-  
स्त्राधवादे, इश० । " अवर्ण्यवयं परंमुहस्य, पञ्चकम्बो " ( मासिज् ) अवर्ण्यवद् वास्त्राधवाद् पञ्चकम्बुस्य पृष्ठतः प्रत्य-  
सप्तद्व्यः न भाषत इत्यर्थः । इश० ९९ अ० ३ उ० ।

अहंकारिप्रकावर्णं वदन्, दुर्लभभाषि-

पंचदिं त्राणेहि जीवा ह्युद्धमोद्वियत्ताए कम्मं पकरेति ।  
तं जह्वा-अरहंताणमवन्नं वदमाणं, अरहंतपद्यत्तस्य ध-  
म्मस्य अवन्नं वदमाणे, आयरियत्तज्जायाणमवन्नं वदमा-  
णे, चाउवन्नमंयस्य अवन्नं वयमाणे, विविकतवन्नंभेराणं  
देवाणं अवन्नं वदमाणे ।

"पंचदिं" इत्यादि सुगमम्, नवरं दुर्लभं वा बोधिसिद्धिमो यस्य स  
तथा, तद्वत्प्रवृत्तता । तथा दुर्लभभाषिजन्यता, तस्यैव वा कम्मं मो-  
हनीयाद्, प्रकृष्यति वदन्ति, अहंताणमस्त्राधां वदन् । यथा-  
"नथा" अरहंतस्त्री, ज्ञानेनां कांसं भुञ्जत ज्ञाप । पादुङ्घ्रिय उवज्जी-  
वह, स समवसरणं दकपार । एमद्द जिज्ञाण अवधेत्" । न च ते  
नाद्वैद्, तद्वर्णतप्रवचनेपलक्षणेः नापि भोगानुभवानुभवः, अव-  
द्वयवधायान् । तस्य । तेषुकरनामदिकमित्युद्ध निजशोयाय-  
त्वालस्य । तथा-वीतरागत्वेन समवसरणादिषु प्रतिबन्धाभावा-  
दिति । तथा-अहंत्वप्रकृतस्य धर्मस्य भुज्जाविरिधकपस्य । प्रकृत-  
भाषानिबन्धनेन, तथा-निकारिणेण, ज्ञानमव श्रेय इत्यादिकमव-  
णं वदन् । अन्तरं चात्र-प्रकृतभाषायां भुज्जस्य न बुद्धे, कालादीनां  
सुखाश्वयेत्वेनोपकारित्वात् । तथा-चारिभवे भयेत्, निवारण्युत्था-  
नन्तरदन्त्यादिति । आत्मानोपायानामपणं वदन् । यथा-वा-  
सोऽपमित्यादि । न च वासत्वादि शेष, बुद्ध्यादिभिर्बुद्ध्यादिति ।  
तथा-अन्वयो वर्णोः प्रकारः अन्वयार्थो वर्णस्य स तथा । स एव  
स्वार्थिकाऽऽश्विधानाद्यानुवर्णैः, तस्य संयमाद्येण वदन् । यथा-

कोऽयं संभः?, वः समवाचयत्वेन पद्मसंघ इव अमार्गमपि मार्गी-  
करोतीति । न चैतत्, साधुज्ञानादिशुभसमुदायत्वात्कथात्तस्यानेन  
च मार्गस्यैव मार्गीकरणं दिति । तथा-विषयक सुपरिशीलन, प्रक-  
र्येणैतन्मुपगतमित्यर्थः । तपश्च ब्रह्मचर्यं च अशान्तेः वैश्याम्, वि-  
पक्ष वा उद्यागते तपो ब्रह्मचर्यं तद्वैतुक्तं देवायुधकारि कम्मं वेत्तां  
ते तथा; तेषामवर्णं वदन् । न सन्त्येव देवाः, कथावनाप्यनुपयञ्च-  
मानत्वात् । किञ्च-तेषुद्विदिव कामासनमनेत्रिबिरतेस्त्वथा नि-  
र्मिषैरेवेदिक विद्यमाणैरिव प्रवचनकार्यानुपयोगिभिराहंकारि-  
कम् । इहोत्तरम्-स्वति देवाः, तत्कृताऽनुभवेपश्चात्तार्हर्क-  
नाम् । कामसत्कृता च मोहसातकर्मोद्वाहाः । इत्यादि । स्थान० ४  
उ० ४ ० ।

अथ ( ज्ञानादीनां ) व्यासार्थमाह-  
काया वया य ते चिच्य, य ते चैव पमाय अम्पमाया य ।  
मोक्त्वाहं गारियाणं, जोऽसजोणीहिं किंच पुणे ।

इह कांचिद्विद्वेदधाः प्रवचनाशातनापातकमगणयन् इयं भुज-  
स्यावर्णं भुवन् । यथा-परंजीविकायामपि वृद्ध्याः प्रकृष्यन्ते, शा-  
स्त्रार्थोद्घायापि न एव, अन्वयव्ययनेषु बहुशुस्त एषोपवर्णने ।  
एव व्रतान्यपि पुनः पुनस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते । तथा-न एव  
प्रमादप्रमादाः पुनः पुनर्बर्णयन्ते । यथोत्तराध्वनेन आचारोक्ते  
च । एवं च पुनस्तदोपः । किञ्च-यदि केवलस्यैव मोक्षस्य सा-  
धनार्थमय प्रयासकर्मि मांकायिकारिणां साधूनां सूर्यप्रहोत्सा-  
दिना स्यातिःशास्त्रेण, योनिभूतेन वा किं पुनः कर्मोऽन किञ्चि-  
द्विद्येयं; तेषामित्यं भ्रवानानामिदमुत्तरम्-इह प्रवचने यत् न एव  
कायादया भूयो भूय, प्रकृष्यन्ते, तस्यहा प्रयत्नानां परिपा-  
लनीयाः, इदमेव धर्मरहस्यामिदयादरातिशयकथापानोपेत्वाच्च पु-  
नःकम् । " अनुवादाऽऽरजीवस्य-नृशाश्विनिसोमोपे च्युत्साह ।  
इयंस्त्रुमविक्रम्य-गणनास्मर्येष्वपुनःकम् " ॥ १ ॥ ज्ञानोः  
शास्त्रैरेव विषयप्रमाजानादिषु शुभकार्योपयोगफलत्वापरम्प-  
रया मुक्तिफलमेवेति न कांचिदोपः । गतो ज्ञानावर्ण्यवद् ।

अथ केवलवर्ण्यवद्माह-  
एगंतमुष्पाए, अन्नोन्नावरणया दुवेहं इ पि ।  
केवलदमण्णणायं, एगे काले त एगत्तं ॥

इह केवलानामवर्ण्यवद् । यथा-किंमत्तं ज्ञानदर्शनापेयोती कमेक  
भवतः, उत युगपत्तं । यथायः पक्कः-ननेव च समय आनाति ते स-  
मयं न एवयति, च समयं परयति ते अमत्तं न आनातीत्येवमेका-  
न्तरिते ज्ञान्यादे उयोरापि केवलज्ञानदर्शनयोरेवाप्यवर्णना जनेभ्यः  
ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः समसकामं कथितत्वात् । अत्रएव्य चा-  
धारकस्याभावात्परस्परवारकत्वेनार्थोः प्राप्नोतीति भावः । अथ  
सुगर्पादिति द्वितीयः पक्षः कर्त्तव्यत्वे, सोऽपि न चाहकम् । कुतः?,  
इत्याह-एककाले युगपदुपयोग्यं अङ्गीक्रियमाणः वाशब्दः पक्का-  
त्तरांतानार्थः । इत्योपपत्त्याकारानाकारोपयोग्योपयोग्यं प्राप्नोति,  
तुल्यकालभावितादिति । अत्रोत्तरम्-इह यथा जीवत्वाभावादेः  
सर्वस्यापि केवलज्ञान एकैकमेव समयं पश्यत एषोपयोगी प्रव-  
ति, न ह्यैः " सवस्येव केवलस्येवा, युगवद् वा मयि उववश्रोगा " इति  
वचनत्वात् । यथा चाभेदैकसमये उपयोग्यं अत्रपद्यन्, तथा  
विशेषावधकार्यादिषु भीजानामङ्गीकृत्य, अन्वयकार्यादितिः पूर्वसुरितिः  
संप्रकृत्युपदर्शित इति नेदोपदर्शितः, प्रथमैकवर्ण्यवत् । त्रि-  
तीयपक्षाणुपपत्तिनोदनात् त्वमभ्युपगतोपासकत्वात्कारांतरित्यन्व-  
यमिदं केवलं भवतः प्रयासकारिणीति ।

अथ धर्माचार्याऽवर्णवादाद्—

जबर्द्धिर्द्धिं अथर्षं, भासद् वदद् न यावि उववाए ।

आहितो द्विद्वेषी, पगासवादी अणुणुकुले ॥

जात्या, भादिशब्दात् कुलादिभिश्च द्वैवैरवर्णो भावते । यथा नैते विद्युच्चक्रानिकोत्पन्नाः, न वा श्लोकस्यैवहारकुर्यात्तः, नाप्येते श्री-चित्तं विवर्तन्तीत्यादि । नचापि वधते उपपत्तेः गुरुणा संवाचुषी, अहितोऽनुचितविचार्या, निद्रप्रवृत्ती-मस्तरितया गुरोर्दोषस्थाननि-रीक्षणशीलः, प्रकाशवादी-सर्वसमग्रं गुरुदोषभावी, अननुकुलो-गुरुणामेव प्रत्यानीकः, क्रूरबालकवत् । एष धर्माचार्यावर्णवाद् ॥

अथ सर्वसाधुनामर्थवादमाद्—

अविसेहणाऽनुरियर्गद्, अणुणागुवन्ती य अवि गुरुण पि ।  
खणामिच्छपीयरासा, गिहिवच्छक्राऽऽसंत्तद् ॥

अहो ! अमी साधवोऽविषहणा न कस्यापि पराभवं सहन्ते, अपि तु स्वपक्षपरपक्षपानने संज्ञाने सति देशान्तरं गच्छन्ति । (तुरियर्गद् इति) अकारप्रत्येयादृत्वविरतगत्या मायया लोकाय-जैनाय सर्वव्याप्तमाने । अननुवर्तिनः प्रकृत्येव निद्रया, गुरुणामपि महतामपि, आत्मानं सामान्यलोकस्येव पिशाचार्थैः । त्रितीयोऽपि-शब्दः संज्ञावनायाम् । संभाव्यन्त एवंबिधा अपि साधव इति । क्रणमात्रप्रतिरोधाः-तदैव कथाः तदैव च तुष्टाः, अनवस्थितचि-त्ता इत्यर्थः । गृहिवत्सङ्गाः-नैद्वैतश्रुतवर्चनैरात्मनो गृहस्थस्य र्गव्ययति । अनिसंवायिनः-सुखदुःखलक्ष्यशब्दिसंग्रहशीलाः, श्लेषवत्सङ्गा इति भावः ॥ अत्र निवृत्तमानि-इह साधवः स्वपक्षा-द्यपमाने यद्देशान्तरं गच्छन्ति तद्प्रातिकरोपांतपाविभक्तिया, न पराजनासहिष्णुतया । अत्रविरिणतयाऽपि स्वाधारसजन्तु-पोडापरिहायार्थे, न तु लोकरुद्रजनायाम् । अननुवर्तिनोऽपि संयम-भाचारविधायितया अनुवर्तनाया अकरण्यात्, न प्रकृतिनिष्ठत-या । क्षणमात्रप्रतिरोधा अपि प्रत्युत्क्रपायतया न निर्वर्षस्थित-चित्ततया । गृहवत्सङ्गा अपि कथं नु नामामो धर्मदेशनादिना यथायुक्तोपायिन धर्मं प्रतिपद्येरन्ति बुद्ध्या, न पुनश्चात्का-रितया । संव्यवन्तोऽपि मा भूदुकरणानां च संयमाऽऽत्मवि-राधनेतिबुद्ध्या, न तु लोचनबलसत्येन्युत्तरम् ॥ ७० १ ७० ।

( अहंतामर्थं वदन्, अहंशुभ्रस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, भाचा-र्याणांवाधानामर्थं वदन्, चातुर्येणस्य सङ्गस्य चाऽवर्णं वदन् इत्यादि प्राप्नुयादिति ' उन्माद्' शब्धे त्रितीयाभागे षष्ठं पृष्ठे षड्यने ) इत्यावर्णवादेन ज्ञानावरणार्थं कर्म षड्यते । कर्म १ कर्म ० ।

अथ आयश्चित्तमाद्—

ने भिक्वर्षं धर्मस्य अवर्षं वदद्, अवर्षं वदंतं वा साऽ-  
ज्जद् ॥ १ १ २ ॥

धूष धारणे, धारयतीति धर्मः । एष वषो अवर्षो षाम-अयसो, अकारतिरित्यर्थः । वद् व्यक्त्यायं वाचि ।

दुविहो य द्दोऽ धर्मो, सुयधर्मो समणधर्मो य ।  
सुयधर्मो खलु दुविहो, सुते अत्ये य होति णायव्वा ॥१३॥  
दुविहो य चरणधर्मो, अगारमणगारियं चैव ।  
दुविहो तस्स अवर्षो, देसे सव्वे य द्दोति नायव्वा ॥२४॥  
मूलगुणुत्तरगुणे, देसे सव्वे य चरणधर्मो उ ।

अहं देस एत्थ लहुगा, सुते अत्येम्मि गुरुमादी ॥१३॥  
सव्वम्मि तु सुयणाणे, नृपा वा ते य निचसुणो मूलं ।  
गणि आयरिए सपदं, उ दाणमावज्जणा चरिमं ॥१६॥  
गिहियं मूलगुणेयु, देमे गुम्मा तु सव्वहिं मूलं ।  
उत्तरगुणुमु देसे, लहुगा गुम्मा तु सव्वंमि ॥१७॥  
मूलगुणुत्तरगुणे, गुरुगा देसम्मि द्दोति साहूणं ।  
सुयणिवतो देमे, ते सेवतंस आणादी ॥१८॥  
सामादियमादी उं, सुयधम्मो जाव पुव्वगतं ।  
सामादियरोई प-कारममा उ जाव अंगा तो ॥२६॥

पंचविदो सङ्गाभो सुयधम्मो । सो पुणे जुविदो-सुते, प्राये य । चरिचधम्मो दुविहा-अगारधम्मो, अणुणाधम्मो य । पक्केको दुविहो-मूलुत्तरगुणुसु देसे सव्वे वा सुयधम्मो अ-वर्षं वदति । एवं चरिसे दुविहो अवर्षो । सुत्तस्स देसे च-उलहुगा, आयस्स देसे चउगुरुगा; सव्वसुयस्स भयसं नि-कसुणो मूलं; भमिसेयस्स अणुयणु; गुरुणा चरिमं । एवं द्वाणपच्छिणे । अणुज्जणाए निवह वि सव्वे सुते अणुं वा पर-विद्ये । गिही मूलगुणुसु अद्दि देसे अवर्षं वदति तो चउगुरुं, सव्वहिं मूलं, गिही उत्तरगुणुसु अद्दि देसे अवर्षं वदति तो चउलहुगा । गिहीणं सव्वुत्तरगुणुसु गुम्मा । साहूणं मूलगुणुसु वा अद्दि देसे अवर्षं वयति तो चउगुरुगा । दोसु वि सव्वेसु मूलं । एत्थ अयस्स देसे गिहीण य मूलगुणुदेसे । साहूण य उत्तरगुणुदेसे सुत्ताणिवतो भवति । एवं अवर्षवर्षं सेव-तस्स आणादिया दोसा ज्वति । पुव्वकं गणावत्साकंत्तं, सु-यस्स सामादियादि जाव पक्कारस्स अंगा ताव देसे, एव चैव सह पुव्वगणए सव्वसुणं ॥

कहं पुण वदंतो आसादिते ?-

जीव विरट्टिए पेद्दा, जीवात्तल्लुगुगदंरता मायं ।

दोसो य परकनेसु, चरखे एमादिया देसे ॥३०॥

काया वया य ते ब्बिय, ते चैव एपायअणुमाया य ।

जातिमज्जाइणामिचे-दिहं कि व वेरणपवणायां ॥३१॥

( जीवविरट्टिए वि ) जीववि विरहिते जाव पमिहेहणा कज्जति, सा विरट्ठिया, जीवात्तल्ले वा लोणे चकमणादिकिनियं करंतो कहं निहोसो ? परिसेगिदियाण य संघट्ठेण मासल्लु, द्वाणे एवं, अणुवारदि उगमदंरया अनुत्ता । अं च वितियपदेण माया यमयं मणियं, ते पि अनुत्ते, माहाकम्मादिपसु परकंडसु को दो-सो ? एवमादि चरणस्य देसे अवर्षो । सर्वे यमनियमात्मकं चारिं कुशलपरिकल्पितमा । एष सर्वावर्णवाद् । हेमरिससुते अवर्षं वदति-(काया वया) अनुत्ते पुणा कायचयाण वचनं, एमा-यापमादाण य, कि वा वेरणपवणाणं जातिसेण, जेणपीपाहुनेण वा, णिमिसेण वा सव्वे वा वदेत्त त्रासाणियंक्कं । एवमादिसु वा आसायणा । एवं अवर्षं वदंतं आणादिया य दोसा, सुयदेवया वा क्षिप्पादिविचिंतं करेज्ज; अजेय वा साहूणा सह संखं भवे-की-स अवर्षं भाससि ति । जग्गद् । एते दोसा तद्गद् णो अवर्षं वदं ।

कारणे वदेज्जा वि-

वितियपदमणुपज्जे, वपज्ज आवि कांविते व अणुज्जे ।

जाणंते वा वि पुणो, जयऽवत्तव्वादिसु चैव ॥३२॥

अगुण्यजो वा अवि कवितो, सो वा बपञ्ज अवत्तव्यदितु वि, जो अवत्तवावपञ्जगद्वयं करेति, सो य जे रायदिवसवन्तो त-  
म्भवा बधेउज, जो सोस । नि० सू० ११ उ० । (मधमस्यावर्णवाधः  
'अधम' शब्धे अत्रैव भांगरेष बधते । रात्रिजोनस्यावर्णवाधो  
'राह भोग्य' शब्धे प्रेक्षणीयः )

अवध्या-अवज्ञा-अ० । आश्वदे, अ० । यो० ॥

अवधहृदय-अपहवन-० । शूबादपडे, आचा० १ सु० ५  
अ० १ उ० ।

अवहाण-अपज्ञान-० । तथाविधसंस्कृतजलेन स्नाने, वि-  
पा० १ सु० १ अ० । ब्रह्मापनयनहेतुः कल्पसंस्कृतजलेन स्नाने, आ०  
१ ३ अ० ॥

अवतह-अवतष्ट-दि० । तनुकृते, सूत्र० १ सु० ५ अ० २ उ० ।

अवत्-अव्यक्त-पुं० । अथाप्यपरिणतवयसि, इ० १ उ० । श-  
ब्दोऽयं रूपादिवो श्यादिना प्रकारेणानिर्देश्ये, विशेषे । उगण-  
क्षिप्तनादिना संस्कृते, अ० ३ अ० । अथा० । अवत्ता नाम  
बसति-उगणमूषिकाभ्यां जलेन चोपलिसभूमितला अत्यकल्या-  
नयुक्ता वा, निर्वृता वा । ग० १ अ० । नि० सू० । अग्नीताये,  
नि० सू० २ उ० ।

अवत्त-अवत्कल्प-वि० । अनुचार्यीये, दश० ७ अ० । आ-  
नुपूर्वनानुपूर्वीप्रकाराचार्यां वलुमशक्ये च्यते, अनु० । द्विमदेशि-  
ककल्पोऽयकल्पमित्याख्यायते । अनु० ॥

अवत्तव्यगोर्षिचिप-अवत्कल्पकसिञ्चित-वि० । यः परिणामविशेषो  
न कति नात्यकतीति शक्यते बहुं सोऽवत्कल्पकः, स चैक इति,  
तत्सञ्ज्ञिता अवत्कल्पकसञ्ज्ञिताः । समये समये एकतयोत्पन्नेषु  
त्रैविधिकसिपु, उत्पद्यन्ते हि नारका एकसमये एकद्वयोऽसं-  
ख्येयानाः । उक्तं च-“यद्ये व दो व तित्ति व, संख्यमसंज्ञा य  
पगसमापणं । उववञ्जते च्छया, उव्वंहुता वि पमेव” ॥ १ ॥  
स्या० ३ इ० १ उ० ।

अवत्तवर्ष-अवत्कल्पवर्ष-पुं० । बन्धभेदे, यत्र तु सर्वथाऽ.  
बन्धको चूत्या पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमये अव-  
कल्पवर्षः, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामयं भवति न मूलप्रकृतीनाम,  
तासां सर्वथाऽबन्धकस्याभ्योगिकेवलिनः सिक्त्य वा प्रतिपाता-  
भावेन पुनर्बन्धानावात् । कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० ।

अवत्तव्या-अवत्कल्या-अ० । अनुव स्थिता पञ्ज्ञाति कौशिक-  
भाषावत्-सावधत्वेनानुचारणीयायां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।  
अवत्तसत्यकोटि-अवाप्तसाध्यकोटि-पुं० । अवासा लब्धा  
साध्यकोटिरेतनावाधताप्रकरोपर्यन्तो येस्ते तथा । सिद्धेयु, हा०  
३१ अ० ।

अवत्तासद्य-अवत्तासन-० । बाहुज्यां त्रिधा निष्पीडने कामा-  
ङ्गे, नि० सू० १ उ० ।

अवत्तयन्त्र-अवस्थान्त्र-० । दशाविशेषे, हा० ११ द्वार ।  
पट्योधान्त्रे, पञ्जा० १ २ वि० ।

अवद्वयग-अपार्थक्य-० । पौर्वापर्ययोगाद्द्वयप्रतिषेधकार्ये सूत्रदोषे,  
बध्या-दश द्वानिमित्त, परंपूजा, कुण्डं बद्धराशि । आ० म० द्वि० ।  
प्रज्ञ० । विशेषे । बस्यावयवेष्वर्थो विधत्ते न समुदाये; असंबद्ध-

मित्यर्थः । यथा-शब्दः कदम्बा; कन्दली भेर्याव । अथवा-“बहु-  
सपुष्पुम्मीसा, उंबरकदकुसुममालिवा सुतरां । वरतुरमस्त-  
वि रायव, मोलइया अग्निसिंहेसु ॥ १ ॥ सु० १ उ० ।

अवत्थव-अवास्तव-वि० । वस्तु पदार्थः; तस्येवं वास्तव्य । न  
वास्तवमवास्तवम् । परस्वसंगोद्वमेष, अष्ट० १ अष्ट० ।

अवत्या-अवस्था-अ० । भूमिकाव्याप्त, हा० २ ६ अष्ट० ।

अवत्यातिग-अवस्थान्त्रिक-० । दशाविशेषत्रये-कन्दमस्थाव-  
वस्थाकवन्ववस्थासिक्तावस्थास्वभावे जिनानां सुष्टयकेवञ्जि-  
सिक्तत्वे, दश० ।

अवत्यापरिणाम-अवस्थापरिणाम-पुं० । घटस्य प्रथमद्विती-  
ययोः कृणयोः सहदायोरन्वयित्वेनेव परिणामे, हा० १५ हा० ।

अवत्याभरण-अवस्थाभरण-० । अवस्थान्वित्त आभरणे,  
स्या० ८ अ० ।

अवत्यिय-अवमनुत्-वि० । प्रसारिते, हा० ८ अ० ।

अवत्यु-अवस्तु-० । असति, आ० म० द्वि० । अविद्यमानं व-  
स्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु । अनर्थक, प्रज्ञ० २ आश्र० हा० ॥

अवत्योचिप-अवस्थोचित-वि० । भूमिकाऽनुकूपे, पञ्जा० १ २ वि० ।

अवदग-अवदग्र-० । पर्यन्ते, सूत्र० २ सु० २ अ० । अवसाने,  
सूत्र० २ सु० ५ अ० ॥

अवदग्न-अप वदल-पुं० । अपवलमपसवं द्रव्यं कारणभूतं मृ-  
त्तिकादि यस्याऽसौ अपदलः । अवदलति वा द्योते इत्यव-  
दलः । आभयकतया असरि, स्या० ४ टा० ५ अ० ।

अवदाय-अवदात-पुं० । गौरि, प्रज्ञ० ४ आश्र० हा० ।

अवदाक्षिप-अवदारि(क्षि)त-वि० । विकारिणे निवृत्तीकृते, उपा०  
२ अ० । “अवदाक्षिपुंररीयवयणा (नयणा) ” अवदादिनं रवि-  
किरणैर्विकारिणं यत्पुणरीकं सितपथं तद्वद्वनं मुक्तं, नयने  
वा येषां ते तथा । ज० २ अ० ।

अवदार-अपदार-० । द्वारिकायास, हा० २ अ० । “तेषा अव-  
दारं, सो अगितो असो गवणियाय ” । आ० म० द्वि० ॥  
अवदाहण-अपदाहन-० । तथाविधदम्भने, विपा० १ सु० १ अ० ।

अवदंस-अपधंस-पुं० । अपधंसनमपधंसः चारित्र्यस्य तत्क-  
स्य चाऽसुरादिभावनाजनिते निवासे, स्या० ।

चउन्विदे अवदंसं पद्यसे । तं जहा-आसुरे, अग्निथोमे,  
संमोहे, देवकिल्बिसे ॥

तत्रासुरजानावजनित आसरां येषु वानुष्ठानेषु वर्त्तमानोऽसुरत्व-  
मर्जयति तैरात्मनो वासनमासुरभावना । एवं भावनाऽन्तर्यामि ।  
अनियोगभावनाजनितः अत्रियोगः, संमोहभावनाजनितः  
संमोहः, देवकिल्बिषभावनाजनितो देवकिल्बिष इति । इह च  
कन्दर्पभावनाजनितः कन्दर्पोऽपधंसः पञ्जामोऽस्ति, स च सन्नधि  
नोकः, चतुःस्थानकानुरोधान् । भावना हि पञ्जाऽऽग्नेऽग्निदिताः ।  
आह च-“कन्दर्पे देवकिल्बिसे ३, अत्रियोगा ३ आसुरा य ५  
संमोहा ५ । पसा च संकलिता, पंचविधा आवक्षा अविधा ” ॥  
१ ॥ आसां च मध्ये यो यस्यां भावनायां वर्त्तते, स तद्विषय-  
ष्वेव देवेषु गच्छति, चारित्र्यलोभाप्रभावात् । उक्तं च-“जो संजभो

वि पया-सु अल्पसत्यासु वृद्धे कर्हि चि । सो तन्विहंस्तु गच्छे,  
सुरेसु भवन्ना चरन्तीनां ॥ १ ॥ इति । ७५० ४ ७० ४ ७० ।

अवधारियन्-अवधारयितव्य-न० । संप्रधारणीये, पञ्च० ३  
विब० ।

अवधीरिय-अवधीरित-त्रि० । अपमानिते, वृ० ४ ३० ।

अवधूय-अवधूत-पुं० । अव-धू-क । अनिदृते, निवर्तिते,  
आसिते, घनाहते च । "यो विलङ्घ्याऽऽधमाद् धर्णाव्, आत्मन्वेष  
स्थितः पुमान् । अतिवर्णाश्रमी धांगी, अवधूतः स उच्यते ॥ १ ॥  
इत्युक्तवृत्ते परमहंसे, वाच० । स्वनामधेयते लौकिके अध्या-  
त्मचिन्तके आचार्ये, यदाहावधूताचार्ये-न प्रत्ययानुप्रदमन्त-  
रेण तव्यबुध्यादायः, उक्ते पयाऽभूतकल्पहानाजनकत्यात् ।  
ल० । विक्रिते, भाव० ४ ७० ।

अवप्यद्भाग-अवप्ययोग-पुं० । विरुद्धौषधियोगे, वृ० १ ७० ।

अवबद्ध-अवबद्ध-त्रि० । अर्थप्रहणपूर्वकं विद्याऽऽदिप्रदणनि-  
मित्तं विचक्रितकालपरायत्ते, ध० ३ अचि० । ग० ।

अवबुद्ध-अवबुद्ध-त्रि० । अवगते, अने० २ अधि० ।

अवबोध-अवबोध-पुं० । निष्कारिहरारे, ध० २ अचि० । ज्ञानि-  
त्वे, विशेषे० । संज्ञायाम्, स्मृती, संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्था-  
न्तरम् । भावा० १ भू० १ अ० १ उ० ।

अवबोधण-अवबोधन-न० । प्रतारणे, अज्ञाने, शिक्षणे च ।  
रूपा० ८ अध्या० ।

अवबोधि-अवबोधि-पुं० । निश्चयार्थप्रतिपत्तौ, आ० चू० १ अ०

अवबन्धेस-अवबन्धा-पुं० । अपबन्धयते इत्यपबन्धः । संस्कृतभाषा-  
विह्वले, "पद्येऽत्र भूरिभेदे देशविशेषादपबन्धाः" तत्परिज्ञान-  
मेकान्विशः कलाभेदः । कल्प० ७ ल० ।

अवज्ञास-अवज्ञास-पुं० । तेजसां हानस्य च प्रतिभासे, सू० २०  
३ पाद० ।

अवभासिय-अवज्ञासित-त्रि० । प्रकाशिते, विशेषे० ।

अपभाषित-त्रि० । उद्यमस्थिते, ध्य० १ ७० ॥

अवमस्यंत-अवमन्यमान-त्रि० । परिहरति, "मा एयं अवमकंता,  
अप्येण लुपहा बद्धुं" । सूत्र० १ भू० ३ अ० ४ ३० ।

अवमह-अवमह-पुं० । अपवसने, "अवमहं अप्यगो परस्व य  
करंति" । अ० २ आश० द्वार ।

अवमाण-अवमान-न० । अनानदे, उच० १ ए० अ० । विनयज्ञेसे,  
प्र० ४ आश० द्वार ।

अवमान-न० । हस्तादौ उच्यप्रमाणे, स्या० ४ ७० १ ७० ।

अवमाण्य-अवमानन-न० । व्युत्पत्त्यादिवाच्ये स्वमित्यादिक-  
रे अप्युजाचचने, प्र० ४ स० ७० द्वार । अनभ्युत्थानादिनिः-  
अपूजने, धी० । प्र० ४ ॥

अवमाणिय-अवमानित-त्रि० । अपमानं प्राहिते, "अवमा-  
णिनो नरिव्यं" । ध्य० १ उ० । वृ० ॥

अवमाणियदोहला-अवमानितदोहला-स्त्री० । सणमपि ले-  
क्षणापि च अनापुममनोरथायाच, न० ११ हा० ११ उ० ।

अवमार-अपस्मार-पुं० । चित्तविकृतिर्ज्ञे गदे, स च वातपित्त-  
भेप्रसंतिगाजजन्वाच्यतुर्था । तदुक्तम्-"अत्रमाऽऽशेषः ससं-  
म्भो-द्वेषांकेना हतस्त्विति । अपस्मार इति ज्ञेयो, गदां घोरध-  
तुर्विधः" ॥ १ ॥ भावा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अवमारिय-अपस्मारित-त्रि० । अपस्मारः संज्ञातोऽस्य । अप-  
स्माररोगघाते-अपगतसदसां द्वेषकसमपूर्णादिकाभावस्थामनु-  
भवति, आचा० १ भू० ६ अ० १ उ० ॥

अवमिय-अवमित-त्रि० । अस्थिते, वृ० ३ ७० ॥

अवमय-अवपद-न० । वृक्षादौ, सूत्र० १ भू० ११ अ० । गोशीर्षचन्-  
नप्रभृती, सूत्र० १ भू० ८ अ० । आ० चू० । पदहीने, वाच० ।  
अच्य-न० पक्षे, प्र० १ पद ।

अवच-त्रि० । अनुच्ये, उच० ३ अ० । जघन्ये, सूत्र० १ भू०  
१० अ० ।

अवयकवंत-अवयेकृमाण-त्रि० । वृष्टतोऽभिमुखं निरूपयति, भोष० ।

अवयकवमाण-अवेकृमाण-त्रि० । अपेकमाणे, अवकाङ्क्षति च ।  
"मगं क्वाहं अवयकवमाणस्त" अवकाङ्क्षतोऽपेकृमाणस्य  
वा । भ० १० श० २ उ० ।

अवयग-देशी-न० । पर्यन्ते, ७५० २ ७० १ उ० । "अवयगम्"  
इति देशीवचनोऽन्तवाचकः । भ० १ श० १ उ० ।

अवयगभ-दृङ्-धा० । "देशो निअञ्च० ७ । ४ । १२१ । इत्यादिना  
दृशवयगदेशः । अवयगभ-पठयति । प्रा० ४ पाद ।

अवयण-अवचन-न० । नमः कुस्थाथेत्वात् कुरितेते वचने,  
७५० ६ ७० ।

अवचनानि-

नो कल्पे निगम्याण वा निगम्येण वा इमां उ अवयणा-  
ई वृत्तः । तं जहा-अलियवयणे, हीलियवयणे, सिमिय-  
वयणे, फरसवयणे, गारलियवयणे, विउवसमियं वा पुणो  
उदीरित्तः ॥

[ नो कल्पे सि ] वचनव्यथायाद् नो कल्पते निर्ग्रथानां नि-  
ग्रथानां वा इमानि प्रत्यक्षासजानि, षडिति षट्संख्याकानि,  
अवचनानि-नमः कुस्थाथेत्वात्प्रशस्तानि वचनानि, षडितुं भा-  
षितुम् । तद्यथा-अलीकवचने, हीलितवचने, सिमित्तवचने, प-  
रुषवचने, अगारस्थिता शुद्धिलक्ष्णैर्वा वचने, व्यवशमितं वा  
उपशमितकण्ठः पुनः भूयोऽपि, उदीरयितुं न कल्पत इति क्रमः ।  
अनेन व्यवशमितस्य पुनरुदीरणवचने नाम षष्ठमवचनमुक्तमिति  
सुखसंज्ञेपाथः ।

अथ भाष्यकारो वित्तरार्थमिधित्तराह-

उच्येव अवचन्वा, अस्मिगे हीलीय-सिस-फरसे य ।

गारत्य-वि ज्ञोसमिपे, तेसि च परुवणा एणो ॥

षडेवावचनान्यवचनानि साधुनां वक्तुमयोग्यानि । तद्यथा-अ-  
लीकवचने, हीलितवचने, सिमित्तवचने, परुषवचने, शुद्धवचन-  
वचने, व्यवशमितोदीरणवचने, तेषां च वक्षामपि यथाक्रमनि-  
यं प्रकृष्या ॥ वृ० ६ ७० । (अलीकवचनस्याख्याऽसिमेव भागे  
'अस्मिगवयण' शब्दे ७७४ पृष्ठे निरूपिता )

अवयव

अथ प्रायश्चित्तम्-

एमेव य हीलाप, सिंसा फरुसवयणं च वदामो ।  
 गारुत्य-वि ओममिप, इमं च जं तेभि गण्यत् ॥  
 पवमेव हीलितवचनं, सिंसावचनं, परुषवचनमगारुत्यवचनं,  
 व्यश्रमितीदीरिणवचनं च वदतः प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् । यथै-  
 तयो नानातद तद्विदं भवति-  
 आदिद्वन्द्वं चउत्तुं, विसोहि गुरुगदि जिन्नमासतो ।  
 पाण्णीसत्रो विज्ञात्रो, विनेसितो वितिय परिलोमं ॥

आदिभ्यु चतुर्भेपि हीलितकिसितपरुषगृहस्वचनेषु शोधि-  
 त्तुगुरुकादिका जिन्मासास्ता आचार्यादीनां प्राश्वद् मन्तव्या ।  
 तद्यथा-आचार्यं आचार्यं हीलयति चतुर्षु १, उपाध्यायं हीलयति  
 चतुर्षु २, भिक्षुं हीलयति मासगुं ३, स्थविरं हीलयति  
 मासलपु ४, कुलुकं हीलयति निम्मासः ५। एतन्म्याचार्यस्य त-  
 पःकालाभ्यां गुरुकणि भवति-न, एते आचार्यस्य पञ्च संयोगा उ-  
 काः । उपाध्यायादीनामपि चतुर्णामिवमेव पञ्च पञ्च संयोगा भव-  
 ितः। सवसङ्ख्याया त पञ्चविंशतिभ्यन्ति । अन एवाह-पञ्चविंश-  
 तिकः पञ्चविंशमङ्कपांस्मालो विभामोऽत्र भवति । स च तप-  
 कात्राभ्यां विशेषितः कर्तव्यः । द्वितीयादेशेन चैतदेव प्रायश्चि-  
 त्तं प्रतिशालं विभयम्; जिन्नमासाश्च चतुर्गुरुकाःतमित्यर्थः ।  
 एवं कित्सितपरुषगृहस्वचनेभ्यश्चि शोधिभं-तव्या । ६० ६ उ० ।

अथ द्वितीयपदमाह-

पदमं विगिचणहटा, उवलेनविगिचणया य दोमु जवे ।  
 आगुमासणा य देमी, छष्टे य विगिचणा जगिता ॥  
 प्रथममलाकवचनमयोग्यदीक्ष्य विवेचनार्थं वदत्, द्वयोस्तु  
 हीलितकिसितवचनयोश्चाक्रममुपास्रभमधिचवने कारणे भव-  
 त-शिक्षात्नम, अयोग्यशिक्षाकारुत्यगच्छत्यर्थः । परुषवचनं  
 तु परुषवचनानुशासनं कुर्वन्, गृहस्वचनं पुनर्देशीं दशभा-  
 वामाश्रित्य भवेत् । षष्ठं च व्यवश्रमितीदीरिणवचनं, दीक्षस्य  
 विवचनं कारणं भणितम् । गाथार्थं स्वीत्यनिवेशः प्राकृतस्वात् ।  
 हत इरागाथासमासायः ।

अर्थानं विचरीशुराह-

कारणिए दिक्वंता, नरियमि कजे जहति अणले तु ।  
 संजमनमरकवहटा, होट्टं दाऊण य पझाई ॥

कारणे अशिवादावनत्रोऽयोग्यः शैको दीक्षितः, ततस्तरिने स-  
 मापिते तस्मिन् कार्ये तमनञ्ज हति। कथम्? इत्याह-संयमय-  
 शोरकृत्त-संयमस्य, प्रवचनयशःप्रवाशस्य च रक्षणार्थं, ' होट्टं'  
 गाढमलाक दम्बा पलायनः शोभमन्यत्र गच्छन्तीत्यर्थः ।

यः पुनर्नचायः समाचार्यी, साराणादिप्रदाने वा सीदति तमु-  
 द्विश्रयर्थं हीलितवचनं वदन्-

केस स गणि चि कतो, अहोःगणो जगति या गणि अगणि ।  
 एव तु सीयमाण-सस कुणति गणिणो उवालोमं ॥  
 केनासमीक्षितकारिणाऽयं गणोक्तः । यथा-अहो! अय गणी,  
 अथवा गणिनमय्यजिनं भवति । एवं गणिनः सामाचार्या शि-  
 क्षादाने वा विधीवने उपास्रमञ्चं कराति ।

अगणि च जगति गणि, जदि नाम पेजेज गारवेण वितं ।  
 एवेव सेसपु सि, बायगमादीमु जोएजा ॥  
 यदि कोऽपि बहुशोऽपि मय्यमानो न पठति ततस्तमगणिन-

मपि गणिनं भणति; यदि नाम गौरवेणपि पठेत् । एवमेव शेषे-  
 ष्वपि धाचकादिषु पठेत् द्वितीयपदं योजयेद्-योजनं कुर्यात् ।  
 सिंसावयणविहाणा, जे श्विय जार्तकुन्नादिया वुत्ता ।  
 कारणियदिकित्स्वयाणं, तं श्वे विगिचणोवाया ॥

सिंसावचनविधानानि बान्धेव जातिकुन्नादीनि पूर्वमुक्तानि, त  
 एव कारणिकुन्नादीनामभ्यध्यानां कारणप्रज्ञितानां विवेचने  
 परिष्ठापने उपाया मन्तव्याः ।

खरसज्जं मउपवयं, अगणोमाणं जणति फरुसं च ।  
 दव्वओ फरुमवयणं, वयति देमि समासज्ज ॥

इह यः कजेरवचनमणनमन्तेरए शिक्कां न प्रतिपठते स अर-  
 साध्य उच्यते । तं अरसाध्यं म्रुदुवाचमगणयन्तं परुषमपि भण-  
 ित्सि। देशीं देशानायां समासाद्य उच्यतेः परुषवचनमपि वदंति;  
 उच्यते नाम न ह्यभावनाया परुषं भणन्ति, किन्तु नरुवात्राव्याप्तं,  
 यथा-मालवास्त्रीमणितःअथवा यथा यथा लोका भवति, तथा  
 तथा देशी देशभाषामाश्रित्य साध्याऽपि जगन्ति ।

खामियदोमवियादं, उपाएऊण दव्वतो रुटो ।  
 कारणदिकित्स्वय अन्नदं, असंखदांओ चि धाकेति ॥

यः कारणे अन्नलो दीक्षितस्तेन समं समापिते कार्ये पुनः क्षामि-  
 त्तुमुत्प्राथम्यधिकारणानुत्पयाद्य उच्यतेः। उपाएभावं विना रुटो कु-  
 पितो यदिः कृत्रिमान् कार्याकारान् दर्शयन्त्यर्थः । असंखदा-  
 काऽयमिति दोषमुत्पयाद्य तमनञ्ज शैलं धाटयति-गच्छाक्षिप्तस-  
 यति । ६० ६ उ० ।

अवयव-अवयव-पुं० । अवयवित एकदेशे, अन्तु० । अनुमित्तिव-  
 फ्येकदेशेषु, ते च पञ्च-प्रानहोहेतुत्साहरणेपयनिगमनान्यव-  
 यवाः । दश० १ अ० । सूत्र० । दशावयवा वा-प्रानहता प्रतिज्ञा-  
 विद्युक्ताः हेतुहेतुविद्युक्ताः, दृष्टान्तुविद्युक्ताः, उपसंहार  
 उपसंहारविद्युक्ताः, निगमनं निगमनविद्युक्ताः । दश० १ अ० ।

मे किं तं अवयवेषां ? । अवयवेषां-  
 निगी सिहो विमाणी, दादी पक्खी खरी नही बाली ।  
 टुपय चउपय बहुपप, लंगली केमगी कउही ॥?॥  
 परिअरबंधणभरु जा-णिज्जा मडिहिलि अं निनसेणेणं ।  
 सित्येण दोणवायं, कविं च एकाएँ गाहाए ॥ ३ ॥  
 सत्तं अवयवेषां ।

(सं किं तं अवयवेषामित्यादि) अवयवोऽवयवनि एकदेशस्ते-  
 न नाम यथा-निगी सिहियादि'गाया। शृङ्गमस्यास्तांति शुद्धि-  
 न्यादीन्यवयवप्रधानानि सर्वोपयोगि मुगमानि, नवरं त्रिपदं दृश्या-  
 दि, चतुष्पदं गवादि, बहुपदं कर्णशृङ्गाद्यादि । अथापि बहुल्लङ्का-  
 वयवप्रधानता भावनीया। [कउही] [नि] कउहृ कन्त्याऽऽसलाअन-  
 देहाव्यवयवकणमस्यास्तीति कउदुर्दा वृत्तं इति । 'परिअर' गाया ।  
 पारकरबन्धेन विशिष्टमपथयचनाङ्गणेन, भद्रे शूरपुत्रं, जानी-  
 याङ्गुत्तयन्ताना-निवसेनन विशिष्टरचनारचितपरिहितपरिधान-  
 लङ्गणेन साहला स्त्रीत्वं, जानीयादिति सर्वत्र संबध्यते । धान्यानां  
 कोणम्य पाकः सिन्ननाकयः, तं च तन्मध्याद् गृहीत्वा निरीक्षिते-  
 नेकेन सिक्थेन जानीयात् । एकया च गाथया लालित्यादिका-  
 व्यधयोर्मेनेया मुनया कवि जानीयात् । एवमत्राभिप्रायः-यथा स  
 नेपथयपुत्रयाद्यवयवपरिकरवन्धादिदर्शनेनारिण भदमादिहा-

पाकविशेषप्रयोगं करोति तदा मट्वाढ्यवि नामान्यवयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वाद्भवयवनामानुच्यन्ते इति इह तदुपन्यास इति । इदं चावयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वात्सामान्यरूपतया प्रवृत्तान्नानाम्ना निघत इति ॥ अत्रु० ॥

अवयवि ( ष ) -अवयविन्-त्रि० । प्रदेशिग्रन्थे, स्था० रखा० ।

नव्यवयविद्वयमेव नास्ति, विकल्पद्वयेन तस्याऽयुज्यमानत्वात्, चरविधाणवत् । तथाहि-अवयविद्वयमवयवयज्यो मिश्रम्, अत्रिन् वा स्यात् ? । न तावद्विन्मिष । मनेदे हि अवयविद्वयव्यवयवनामेकत्वं स्यात्, अवयववद्वाऽवयविद्वयव्यवयवमेकत्वं स्यात्, अन्यथा जद् एव स्यात्, विरुद्धधर्माभासस्य भेदनिबन्धनत्वादिति । निम्नं चेत् तत् न भव्य, तदा किमवयविद्वयं प्रत्येकमवयवेषु सर्वात्मना समवेति, देशतो वेति ? । यदि सर्वात्मना तदाऽवयवसंभयमवयविद्वयं स्यात्, कथमेकत्वं तस्य ? । अथ देशोः समवेति, ततो येदेशोरवयवेषु तदुच्यते तेष्वपि देशेषु तदकथं प्रवर्तते-देशान्, सर्वतो वा ? । सर्वमेवेत्, तदेव द्युपमात् । देशान्नेष्वेतेष्वपि देशेषु कथम्? । इत्यादिरेवमस्या स्यादिति । अत्रोच्यते-यदुक्तं विकल्पद्वयेन तस्याऽयुज्यमानत्वादिति । तद्युक्तम् । एकात्तेन भेदाभेदयोरन्युपगमात् । अवयवा एव हि तथोविधैकपरिणामतया अवयवविद्वयतया स्वपदिद्वयमेव; त एव च तथोविधौचप्रतिष्ठापनापेक्षया अवयवा इति । अवयविद्वयव्याभाये तु षते घटावयवया एते च घटावयवया इत्येवमसङ्कोचोविधयवयवश्च न स्यात् । तथा च प्रतिनियतकार्याणि प्रतिनियतवस्तुप्राधानं न स्यात्, अत्र सर्वमसमसमापनोपघातः । सर्वनिवेशविशेषाद्घटावयवयवानां प्रतिनियतना भवियतीति चेत् ? । नन्यम्, केवलं स एव सर्वनिवेशविशेषऽवयवविद्वयमिति । यस्कोच्यते-विरुद्धधर्माभासो निबन्धनत्वात् । तदपि न सूक्तम् । अन्यहसंवेदनस्य परमार्थोपेक्षया भ्रान्तत्वेन संशयवहारापेक्षया त्वभ्रान्तत्वेनाऽनुपगमादिति । यदि नाम भ्रान्तत्वमभ्रान्तत्वं कथमिति ? , एवमत्रापि वक्तुं शक्यत्वादिति । किञ्च-विद्येने अवयविद्वयमभ, अवयविन्वारितया तथैव प्रतिभासमानत्वात्, अवयववन्नीलवद्वा । नचायमसंकोच हेतुः, तथाप्रतिज्ञासस्यानुनयमानत्वात् । नाप्यनेकानि कत्वाविरुक्तत्वं, सर्वेषुतुल्यवस्थायाः प्रतिभासाशङ्कित्वात् । अग्रथा न किञ्चानपि वक्तुं सिद्धेदिति । स्था० १ डा० १ उ० । रत्ना० । आषा० । सम्म० ।

अवयवामण-अवयवसन्-न० । वृक्षादीनां प्रभावेन चालने, पं० व० ४ द्वार ।

श्लेषण-न० । वृक्षादीनामालिङ्गापने, वृ० १ स० ।

अवयवासाविप-आश्लेषित-त्रि० । आलिङ्गिते, विपा० १ बु० ४ अ० ।

अवयवसंज्ञण-अवकार-प्रव० । प्रकाश्य प्रकटीकृत्येत्पर्यन्तं ।

अवर-अपर-त्रि० । अन्वस्मिन्, सूत्र० २ सू० २ अ० प्रश्ना० नि० ७० । सू० प्र० ३० । "अवरं वाक्कां" अपरमिति उक्तावन्वद् वृक्ष्यामि । सूत्र० १ बु० ३ अ० २ उ० । द्वितीयस्मिन्, सं० प्र० ३ पाठु० । पश्चात्कालभाविनि, आषा० १ बु० ३ अ० ३ उ० । आषा० ३० । पश्चिमे, "अवरं पत्रासं ताहे सिन्धुदेवि बोधेर" । आ० ३० प्र० । न परोऽपरः । अस्मिन्, वृ० ३ उ० ।

अवरकंका-अपरकंका-स्त्री० । घातकिल्लजभरतकैवराजधान्याद्य, आ० १ अ० । ( तत्र हृताया द्वैपथा अत्रयनाय हृणस्य २००

गमने 'दुवर्धे' इत्येव वक्ष्यते ) एतद्व्यप्रतिपादकं ज्ञाताधर्मकथायाः वांकोऽवयवे, स० १८ सम्म० । प्रश्ना० । आ० । अ० १ । स्था० । "कहस्यऽवरकंका" हृणस्य नवमवास्तुदेवस्य द्वौ-पदीनिमित्तमपरककंकागमनाभ्येयम् । कल्प० २ ज० ॥

अवरच्छ-अपरोक्ष-न० । अविद्यमानानि परेयामकीणि द्रष्टव्यतया यत्र तदपरोक्षम् । असमकं, विद्यमानं गीणकौषेयं च । प्रश्ना० ३ अ० ३ द्वार ।

अवरज्ज-अपराध-न० । दोषमाघहति, सूत्र० १ बु० ३ अ० ३ उ० । रजसा श्लिष्यमाणे, सूत्र० १ बु० ३ अ० ३ उ० । नश्यति, उक्तं ७ अ० ।

अवररुद्र-अपराह-पुं० । दिनस्य चरमग्रहते, स्था० ४ डा० २ उ० । "पुष्पावररुद्रकालसमयसि" । पाश्चात्यापराहकालसमयो दिनस्य चतुर्थग्रहलक्षणः । नि० ३ वगे ॥

अवररुद्रकाल-अपराहकाल-पुं० । सूर्यस्य गतिपरिणतस्य पश्चिमे न गमने, आ० सू० १ अ० ।

अवरत्त-अपररात्र-पुं० । रात्ररपरे प्रागे, स्था० ४ डा० २ उ० । "पुष्पावरसकालसमयसि" । विपा० १ बु० ३ अ० ।

अवरदारि-अपरदारिक-न० । पश्चिमद्वारिकेषु नक्षत्रेषु, स० ७ सम्म० । "पुष्पावरायां संसृष्टा कृत्वा अवरदारिया पश्चात् । तं जहा-पुस्तं, अग्निहेसा, मधा, पुष्पाफगुणी, उत्तराफगुणी, हन्था, चित्ता" । स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अवरदाहिण-अपरदक्षिण-पुं० । अपरदक्षिणदिग्भागे, पश्चा० २ विव० ।

अवरदाहिणा-अपरदक्षिणा-स्त्री० । नैऋत्यां दिशि, अ० ७ उ० ।

अवरद-अपरद-न० । अपराधनमपराकम् । पीडाजनकतायाम्, पि० । विनाशिते, वि० । आ० १ अ० ।

अवरक्षि-अपरद्वि-पुं० । अपराधनमपरादम्-पीडाजनकता; तदस्यास्तीति अपराद्विकः । लूतास्फोटे, सर्पादिदेशे च । पि० ।

अवरफाण-अपरफाण-स्त्री० । पाणकथायाम्, अ० ८ उ० ।

अवरममवेहित-अपरमवेहित-न० । परमानुवृष्टहनस्वरूपत्वे विशातितमे सत्यवचनातिशय, स० ३३ सम्म० ।

अवरराय-अपररात्र-पुं० । रात्रेः पाश्चात्ये यामग्रहे, आषा० १ बु० ४ अ० ३ उ० ।

अवरविदेह-अपरविदेह-पुं० । अपरश्चासौ विदेहश्च । स्था० २ डा० ३ उ० । जम्बुद्वीपे पश्चिमतो महाविदेहराजो, स्था० १० डा० । तत्र सदा दुष्पन्नस्तुपेमात्पदिः । स्था० २ डा० ३ उ० । जं० । "दो अवरविदेहर्हि" स्था० २ डा० ३ उ० ।

अवरविदेहकू-अपरविदेहकू-न० । निषयस्य वर्षधरपर्वतस्य नीलवर्षधरपर्वतस्य च स्वनामक्याते कूटे, जं० ४ वृ० ॥ स्था० ॥

अवरसामण-अपरसामान्य-न० । उच्यतादी-सामान्यव्याप्यसामान्ये, स्था० ।

अवरहा-अपरथा-अन्य० । अन्यथाऽप्ये, पश्चा० १ विव० ॥

अवराड्या-अपरजिता-स्त्री० । महावसस्विजयकेसय रा-



अवराह्या

अथानीयुगले, जं० ४ वक्ष० । स्थान० । शङ्खविजयकेतयुगले  
राजधानीयुगले, स्थान० २ ग्रा० ३ उ० । जं० । उक्त० ।

अवराह—अपराध—पुं० । शुक्रविजयलङ्घने, भाव० १ श्र० ।

“एतयं अवराहं मरिचहं ।” आ० म० द्वि० । (अपराधमार्गणे  
वधुदृष्टान्तोऽप्यत्र ) “अवराहसहस्रघण्टीनां ।” अप-  
राधसहस्रदृष्टान्तरूपाः ( श्रियः ), ब्रह्मदत्तमातुल्युत्तनीवत् । त० ।

अवराहपय—अपराधपद—न० । मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थानं, वश० ।

अपराधपदमाह-

इन्द्रियविषयकसाया, पराहोऽत्र वेद्यया य उच्यते ॥१८॥  
एष अवराहपथा, ज्ञेय विस्वीयति दुष्महा ॥१८॥

इन्द्रियाणि स्पर्शतादीनि, विषयाः स्पर्शादयः, कथायाः क्रोधा-  
दयः इन्द्रियाणां चेत्यादि ब्रह्मः । परावहाः कृतिपथासादयः, वे-  
दना अथागतुभवलङ्घनाः, उपसर्गं दिव्यादयः । एतान्यपराधप-  
दानि मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थानानि । यत्र येषांन्द्रियादिषु सन्सु  
विषादन्ति आश्चर्यन्ते । किं सर्वं एव ? नेत्याह—दुष्मेषसः, श्रुतल-  
कवत् । कृतिनस्तु एभिरेव कारणं नूनं सत्साराकान्तारं तन्मूर्ति  
गाथाऽर्थः । कृद्व्यकस्तु पदे पदे विषादितुं संकल्पस्य वशं गतः ।

कोऽसीं लुलकः ? । कथानकम—“कुंकणमो जडा एगो खेतो  
सपुत्रमो पवर्गमो । सो य खल्लमो तस्स अइव द्ढो सोयमाणो य  
भणइ—खता ! ण सक्कोमि अणुवाहणेणो हिंइउत्तं । अणुकरंणए सं-  
तेण दिग्गामो उवाहणमो । ताइं भणइ उवरिनला सीएण कुं-  
हुंति । बाल्लिता सं कयाओ । पुणो भणइस्तीमं नं अइव रुज्जइ । ताहं  
स्तीमुत्तुवारि सं अणुवाहो । ताहं भणइ—न सक्कोमि भि-  
क्खं हिंइउत्तं । तो मे पांडुसए विज्जसं आसोइ । एवं ण तरा-  
मि खत । भूमिए सुविउत्तं । ताहं संधारो सं अणुणमो । एणो-  
भणइ—या तरामि खंत । लोय काउत्तं । तो खुत्तए पांडुउत्तं । ताहं  
भणति—अद्दहाणंयं न सक्कोमि । तमो सं फासुयपाणएण कय्यो  
दिक्खं । आयरियपाउत्तं नं खुत्तलं छिप्यति । एवं जं जं भणति  
तं तं सो खंतो गेहपभिवडो तस्स अणुजाणति । एवं कावे गच्छमा-  
णं पमणिमो—न तरामि आवरइयाए विणा अक्खत्तं खंत । सि ।  
ताहं खंतो नणइ—सदो अजोमोत्ति काऊण पमिसयाओं लिक्के-  
दिओ । कम्मं काउत्तं ण याणइ । अयणंतो लुणसंखडीए  
धणिं काउत्तं अजिग्गंण मओ । विसयविसट्ठो मरिउ मदिमो  
आमाओ याहिक्खं । सो य खंतो सामएणोपांयणो पालेऊण  
आउक्कएण काह्वमओ द्देषु उववमो, भाइं उवजइ । आंहाणा  
आमाएऊण ते च्छेत्यं तेण पुव्वगेहंणं तेसि गाहाणं हथमो  
किणह । वेउवियमेडीए जोएए वाइइ य गरमं तं । अतरतो  
घोडुं तोत्तएण विधेउत्तं भणइ—ण तरामि खंत । निक्खं हिंइउत्तं । प-  
वं भूमिए सयणं भोयं काउत्तं । एव ताणं वयणाणि सव्वाणं उ-  
चचारिंत, जाव आवरइयाए विणा न तरामि खंत । सि । ताहं  
एवं भणत्तस्स तस्स महिसस्स इमं चित्तं जायं—कइं परिंसे  
वक्खं सुंभं ति ? ताहं इहापुहमग्गणवधेसणं करइ । एव चित्तयं-  
तस्स तस्स जातिसरणं समुपपन्नं । देवणं आंहां पउत्ता । संवु-  
द्धो पच्छा भत्तं पच्चकणइत्ता देवल्लोयं गमो । ” एवं एष एष  
विसीदंतो संकएस्स वसं गच्छति । जम्हा एसों हांसो तमहा  
अद्दाराससीहेगसइस्साणं सारणाणिसिंत्तं एष अवराहपय  
उपजज्ज । तथात्थाइ-

अद्दारास उ सदस्सा, सीलंगाणं जिणेहिं पन्नत्ता ।

तेमि पदिक्कलणद्धा, अवराहपए ल वजेज्जा ॥१८२॥

अष्टादशसहस्राणि; तुत्तधारेण; अष्टादशैव, शीलं भावसमा-  
धिलक्षणं, तस्याङ्गानि जेदाः, करणानि वा शीलाङ्गानि, जिन्यां जिनेः  
प्राङ्गिकयित्तवाग्दार्थैः प्रकृतानि प्रकृतिपतानि । तेषां शीलाङ्गानां,  
परिक्कसाधं परिरेत्तणानिमित्तं, अपराधपदानि प्रागाभेदितस्व-  
रूपाणि, वज्येयं दु जहादिति गाथायः । दश० २ श्र० । आ० चू० ।

अवराहसल्लपजव—अपराधशब्दयप्रजव—त्रि० । पृथ्वीसंघट्टा-  
त्तिचारूपशब्दानिमित्तं, पञ्च० १९ विव० ।

अवराहुत्त—अपराधुत्त—पुं० । पञ्चाम्बुके, “अवराहुत्तो जा-  
यति ।” भाव० ४ श्र० ।

अवरिं—उपरि—अव्य० । “बोपरौ ” ८ । १ । १०८ । इति उतोऽ-  
त्यम् । “वक्रादावत्यः ।” ॥ २ । १२६ । इत्युत्तरवारगामः । प्रा० १  
पाद । प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तोर्युक्तेरुप्यशब्दस्यार्थे, वाच० ।

अवरिन्न—(न०)उपरि—अव्य० । प्रावरणे, “उपरः संव्याने ।”  
॥ १ । १६६ । इति संव्यानेऽर्थे वर्तमानाऽउपरिश्चात् स्वाद्ये  
ल्लविधानात् । प्रा० २ पाद ।

अवरिमण—अवर्षण—न० । अपानीयपाते, दर्श० ।

अवरुत्तर—अपरोत्तर—पुं० । अपरोत्तरस्यार्थं दिशि, पञ्च० २ विव० ।

अवरुत्तरा—अपरोत्तरा—स्त्री० । वायव्यं दिशि, व्य० ७ उ० ।

अवरोपर—अपरस्पर—न० । “परस्परस्योदिरः ।” ॥ २ । ४ । ४०६ ।  
इति अपभ्रंशं परस्परशब्दस्योदिरकारः । अप्योऽप्यशब्दार्थे,  
“अवरोपरं जोहंतोहं, सामिउ गंजिउ जाहं ।” प्रा० ४ पाद ।

अवरोट्ट—अवरोध—पुं० । अन्तःपुरे, श्रौ० । परचक्रंणाघेष्टेन,  
नि० चू० ८ उ० । (तत्र भित्तात्तनाऽऽदिव्यवस्था ‘उवरोट्ट’ शब्दे  
चिन्तायनागं ९०७ पृष्ठे उच्यते )

अवलंब—अवलम्ब—त्रि० । अधोमुखतयाऽवलम्बयन्ते, श्रौ० ।

अवलंबवग—अवलम्बक—न० । दृगडके, व्य० ४ उ० ।

अवलंबण—अवलम्बन्—न० । अवलम्बयन् इति अवलम्बनम् । इद-  
बहुलमिति वचनात्कर्मण्यन्त । विशेषसामान्याध्यायब्रह्म, न० । क-  
यं विशेषसामान्याध्यायब्रह्मोऽवलम्बनम्, इति चेत् । उच्यते । इहा  
शब्दोऽध्यायमित्यपि ज्ञानं विशेषाद्यवगमकथनार्थव्याख्यानम् । तथा-  
हि—शब्दोऽर्थः, नाशब्दो रूपोदिरिति शब्दस्वरूपावधारणं वि-  
शेषावगमः, ततोऽस्मात् यत्पूर्वमनिर्देश्यसामान्यमात्रमवग्रहण-  
मेकसामाधिकं स पारम्यधिकोऽध्यायवर्णः । तत ऊर्ध्वं तु यत्किं-  
मिदमिति विशेषंन सा ईहा, तदन्तरं तु शब्दस्वरूपावधारणं  
शब्दोऽध्यायमिति तद्व्याख्यानम् । तत्रापि यदा उक्तं अधर्मजिज्ञासा  
भवति—किमयं शब्दः शाब्दः किं वा शब्दः ? इति; तदा पाश्चात्त्यं  
शब्द इति ज्ञानमुत्तरविशेषावगमव्याख्या सामान्यमात्रमवग्रहण-  
मित्यवग्रह इत्युपचरते । स च परमार्थतः सामान्यविशेषरूपावधार-  
णत्वम् इति विशेषसामान्याध्यायब्रह्म इत्युच्यते । इहमेव क श-  
ब्द इति ज्ञानमालम्ब्य किमयं शाब्दः, किं वा शब्दः ? इति ज्ञान-  
मुच्यते । ततो विशेषसामान्याध्यायब्रह्मोऽवलम्बनम् । न० । अवल-  
म्बयन् इत्यवलम्बनम् । अवगन्तामुत्तरतो वायलम्बनं हुंते प्र-  
वल्बनवादानो विनिर्गतस्ययथे, ज० १ वक्त्वा० । १० । ३० ।

अवलंबण

आ० म० । अवलम्बयते इत्यवलम्बनम् । वेदिकायाम्, मस्तकाधलम्बे च । नि० चू० ।

अवलंबणं तु दुविदं, नृपीप संकमे य एण्यत्वं ।  
तुडतो व एगतो वा, विवेदिया सा तु एण्यत्वा ॥

अवलंबणं दुविदं-भूमि एषा, संकमे वा जवति । भूमि एषा विस्रमे लग्नाणामिंसं कञ्जति । संकमे वि लग्नाणामिंसं कञ्जति । सोऽपि तुडभो एगशो य भवति । सा पुण (वेद्य एत) अतावलंबो, नि० चू० १ उ० । भाव ह्युद, करण बाह्वादि शृहीत्वा धारणे, "सम्बन्धि तु गहर्ण, करण अवलंबने तु देसाम्" (स । स्थः०५ उ० २ उ० । ( पर्वतद्वौ पतन्त्या निरन्ध्या अवलम्बने ' गहर्ण ' शब्दे वक्ष्यते )

अवलंबणया-अवलम्बनता-स्त्री० । अवलम्बनस्य भावोऽवलम्बनता, अवग्रहे, सं० ।

अवलंबणवादा-अवलम्बनवादा-स्त्री० । उभयोः पारम्प्येतरवलम्बनानामाश्रयभूतार्थां भिन्नौ, आ० म० प्र० । जं० जी० ॥

अवलंबिष्ठाण-अवलम्बय-अभ्य० । आश्रित्येत्यर्थे, पं० व० १ द्वार । ग० । विपथीकृत्येत्यर्थे, आ० ५ अ० ।

अवलंबित्प-अवलम्बित्तुम्-अभ्य० । आकर्षयित्तुमित्यर्थे, दशा० ७ अ० ।

अवलंबिय-अवलम्बित-त्रि० । अविकल्लेखे, ज्ञा० १ अ० ।

अवलम्बय-अभ्य० । लग्नित्येत्यर्थे, "यो गाहावतिकुलस्य दुवारसादं अवलंबिय अवलंबिय चिट्टिआ" । आ० ११२०१ अ० ६ उ० ।

अवलम्ब-अपलम्ब-त्रि० । म्यकारपूर्वतया लम्बे, स्था० ए उ० । " परवर्ण्येस लङ्गावल्बहं " । अस्त० ५ वर्ग ।

अवलम्बि-अपलम्बि-पुं० । निह्वये, नि० चू० । यथा कस्य सकाशोऽधीतम ?, इति प्रश्ने अभ्यसकाशोऽधीतमस्यस्यै कथयति । नि० चू० १ उ० । आ० ५ ।

अवलम्बि-अवलम्बि-पुं० । देशविशेषे, स्था० २ उ० ४ उ० ।

अवलम्बिण्या-अवलेखनिका-स्त्री० । अवलिख्यमानस्य धंशशलाकादेशां प्रतन्त्यां त्वाच, स्था० ४ उ० २ उ० । वर्षावासकदम्भफटानिकायां पादलम्बनिकायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अवल्लेहिणा-अवल्लेहिका-स्त्री० । तदुद्भूतकूर्णकसिद्धे दुग्धे, सिक्के श्लेषविशेषे, प्रय० ४ द्वार ।

अवल्लोअण-अवल्लोकन-न० । दशने, रक्षाधिकादौ मृते कृपणमन्वन्ध्यायश्च कार्यः । ततोऽप्यदिने परिहानावावल्लोकनं कार्यम् । आ० ४ अ० ।

अवल्लोपणसिहरमिदा-अवल्लोकनशिखरशिला-स्त्री० । उज्जयिनपर्वतशिलाविशेषः, उज्जयिन्ते- "अवल्लोअणसिहरसिलता, अवर्णं तस्य वरसो सवश्च । सुअपकसससिखरसो, करश्च सुख्वरहं " ॥१७॥ तौ ० कल्प ।

अवल्लोप-अवल्लोप-पुं० । वस्तुसज्जाधमच्छादने विशिष्टमे गौणाश्रीक, प्रश्न० २ आ० ४ द्वार ।

अवल्लय-अवल्लय-न० । मौकश्लेषणोपकरणभेदे, आ० ३ अ० ३ उ० ।

अवन्-अवन्-न० । सङ्ख्याविशेषे, ऋतुरशीतिरवङ्कशतसहस्राणि एकमवचयम् । जी० ३ प्रति० । अ० कर्म० जं० । अतु० । स्था० ।

अवन्ग-अवन्ग-न० । संख्याविशेषे, ऋतुरशीतिरवङ्कशतसहस्राणि एकमवचयम् । जी० ३ प्रति० । कर्म० । अतु० । स्था० ।

अवन्का-अवन्काया-स्त्री० । तापिकायाम्, अ० ११ श० ११ उ० ।

अवन्ग-अवन्ग-पुं० । मौके, आ० म० द्वि० ।

अववट्टण-अववत्तन-न० । कर्मपरमाद्युतां दीर्घस्थितिकालतामपगमस्य ह्रस्वस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं० ५ द्वार ।

अववट्टणा-अववर्तना-स्त्री० । अपवर्त्यते ह्यस्वीक्रियते स्थित्यादि यथा साऽपवर्तना । स्थित्यनुज्ञायांह्रस्वीकरणे, क० प्र० । तत्र तावत् स्थितिविषयाऽपवर्तनामाह-

ओवट्टे तो विट्, उदयावलिवाहिरा उड्विसेसा ।  
निक्खवड् से तिनगो, समयोड्डिणं सेमवड् दे य ॥११॥  
वड्ढे ततो अतित्या-वणा य जावाडिगा इवड् पुसा ।  
तन्निक्खवेवो समयो-डिगाडिगुणकम्मउड्डिणा ॥११॥

स्थितिमपवर्त्येय उदयावलिवाहान् स्थितिविशेषात् स्थितिनेनाद् अपवर्त्येयति । के ते स्थितिविशेषाः ?, इति चेत् । उच्यते-उदयावलिवाहा उपरि समयमात्रा स्थितिः त्रिसमयमात्रा स्थितिः, एवं तावद्भक्त्यं यावद् कथावलिवाहाऽवलिवाहा हीना सर्वा कर्मस्थितिः । एते स्थितिविशेषाः । उदयावलिवाहा ना च स्थितिः सक्कलकरणयोग्येति ह्येषा तां नापवर्त्येयति । तत्र उक्तम्-उदयावलिवाहाद्यानि । कुत्र निक्खपतीति चेत् ? । उच्यते । अत आह-निक्खपति-आवलिवाहास्त्रिभागे मूर्तयो जागे समयधिकं शोपे समयं न मुञ्चन्नुपरितनं त्रिभागव्यवर्तितकस्य । इयमत्र भावना-उदयावलिवाहा उपरितनो या स्थितिस्तस्या दक्षिणमपवर्त्येय उदयावलिवाहा उपरितनो ह्यौ त्रिभागौ समयोनावानिक्रम्याधस्तने समयधिकं मूर्तयो जागे निक्खपति; एष जघन्धो निक्खेपा, जघन्धा चातिस्थापना । यदा उदयावलिवाहा उपरितनो ह्यौ त्रिभागौ द्वितीया स्थितिरपवर्त्येयते तदा अतिस्थापना प्रागुक्तप्रमाणे त्रिसमयाधिका भवति । निक्खेपस्तु नावन्मात्र एव । एवमतिस्थापना प्रति समयं तावद्दुद्धिमुपनेतव्या यावदावलिवाहा परिपूर्णं भवति । ततः परमतिस्थापना सर्वेभ्यो तावन्मात्रैश्च भवति; निक्खेपस्तु वर्द्धते । स च तावद् यावद् कथावलिवाहाऽतिस्थापनाऽऽवलिवाहाऽतिस्थापनाऽधि कर्मस्थितिः उक्तं च-"समयादि अदध्वपना, बंधावलिवाहा य मोसु निक्खेवो । कम्मउड्डि बंधोदय-अवल्लिखं मुसु ओवड्ढे" ॥१॥ कर्मस्थितिबन्धावलिवाहासुदयावलिवाहा च मुक्कना शेषां सर्वांमपि अपवर्त्येयति इत्यर्थः । तद्वसुदयावलिवाहा उपरितने समयमात्रं स्थितिर्यने प्रतीयं वर्त्तमानामपवर्तनायां समयाधिकं आवलिवाहाः त्रिजागो निक्खेपा प्राप्यते । स च सर्वजघन्धः । सर्वोपरितने च स्थितिस्थापने प्रतीयं प्रवर्त्तमानायामपवर्त्तनायां यथोक्तकप उक्तयो निक्खेपा । वक्तं च-"उदयावलि उपरित्यं, ठायं अदधिकं होइ अइदीपो । निक्खेवो सम्बोपरि, उड्डिणावसा मधे परमो" ॥ १ ॥ एष निष्पाद्यते अपवर्तनाऽधि-कारविधिः ।

संप्रति व्याघाते तमाह-

वापाए समऊणं, कंदगमुकसिआ अइश्यवणा ।

कायडिं किचुणा, डिइ कंडुकसमपाणां ॥ २२० ॥

अथ व्याघातो नाम स्थितिघातः तस्मिन् सति तं कुर्वंत इत्यर्थः । समयानं कथं कथमात्रमुक्त्वा अतिस्थापना । कथं समयो नामिति चेत् ? उच्यते-उपरतनेन समयमात्रेण स्थितिस्थापनापवर्तमानेन सह अथस्तावत् कण्डकमतिक्रम्यते । ततस्तेन विना कण्डकं समयानंभव जयति । कण्डकसमाप्ताह-“ डाय-डिइ इत्यादि ” । यस्याः स्थितेरारभ्य तस्या एव प्रकृतेरुक्ते स्थितिकथमाधत्ते, ततः प्रकृति सर्वो साऽपि स्थितिर्वाप्यस्थितिरिति उच्यते । उक्तं च पञ्चमसूत्रेण कथाया-भ्यस्या यस्याः स्थितेरारभ्य उक्ते स्थितिवर्धे विधत्ते नि-मोपयति तस्या आरभ्य उपरितनानि सर्वापयति स्थितिस्थापानेन कायस्थितिसञ्चानं जयति, सा कायस्थातिः किञ्चिदनादिनस्थित्युक्ते प्रमाणम् । पञ्चमसूत्रे पुनरेवं सूत्रेण काव्याभ्या-कृतान-“सा कायस्थितिरुच्यतेः किञ्चिदनादिनस्थितिकर्मस्थिति-प्रमाणा वेदितव्या । तथा हि-अतः कंटीकादीप्रमाणं स्थितिवर्ध-मायाय पर्याप्तसंक्षिपञ्चन्द्र्य उक्तेरसंस्कृतावदाऽऽकृष्टं स्थिति-विषये इति सा इत्यस्थितिरुच्यतेः किञ्चिदुक्तमप्रमाण-स्थितिप्रमायेति, सा चोक्ते कण्डकमुच्यते । इयमुक्तेव्याघा-तः स्थितिस्थापना । एतच्चोक्ते कण्डकं समयमात्रेणापि न्यूनं क-ण्डकमुच्यते । एवं समयद्वयन, समयवधेण, एवं तावद् न्यूनं वाच्यं यावद् तत्र पर्येषामासंभ्यनागमार्गं प्रमाणं त्रयति, तच्च जघन्य कण्डकम्, इयं च समयानं जघन्या व्याघातऽतिस्थापना । संप्रत्य-दस्यद्वयमुच्यते-तत्रापवर्तनार्थं जघन्ये निक्षेपः सर्वस्तोकां, तस्य समययाधिकवास्तिकाभिगममात्रत्वात् । ततोऽपि जघन्या-तिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना, कथं त्रिसमयोने द्विगुण्यमिति चेत् ? उच्यते-व्याघातमन्तर्गणं जघन्या अतिस्थापना आवास्तिका-त्रिगमाग्नयं समयानं जयति, आवास्तिका साऽस्तत्कल्पनया नवस-मथप्रमाणा कल्प्यते, तत्रस्त्रिगमाग्नयं समयानं पञ्चसमथप्रमाण-मवगतव्यम् । निक्षेपोऽपि जघन्यः समययाधिकवास्तिकात्रिमा-गरूपोऽस्तत्कल्पनया चतुःसमथप्रमाणा द्विगुणीकृतास्त्रिसमयोनाः सन् तानानव भवतीति । ततोऽपि व्याघातं विना उक्त्वा अतिस्था-पना विशेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावस्थिकामप्रमाणत्वात् । ततो व्याघा-ते उक्त्वा अतिस्थापना असंबन्धगुणा, तस्या उक्तेरुक्तव्यस्थिति-प्रमाणत्वात् । ततोऽप्युक्तेषु निक्षेपो विशेषाधिकः, तस्य समयया-धिकवास्तिका त्रिकोनसकलकर्मस्थितिप्रमाणत्वात्, ततः सर्वा-कर्मस्थितिर्विशेषाधिका । संप्रत्युक्तसैनापवर्तनयोः संयोगनालप-बहुत्वमुच्यते-तत्रोक्तसैनायां व्याघातं जघन्यावर्तनास्थापनानि क्षे-पो सर्वस्तोकां, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यै, आवास्तिकासंबन्धेय-भागमात्रत्वात् । ततोऽपवर्तनार्थं जघन्ये निक्षेपोऽसंबन्धगुणात्, तस्य समययाधिकवास्तिकात्रिगममात्रत्वात् । ततोऽपवर्तनार्थं जघन्यातिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना । अत्र भावना प्रागेव कृता-तिः ततोऽप्यपवर्तनार्थं व्याघातं विना उक्त्वा अतिस्थापना वि-शेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावस्थिकामप्रमाणत्वात् । तत उक्तसैना-यामुक्त्वातिस्थापना संबन्धगुणा, तस्या उक्तेरुक्तव्यस्थिति-प्रमाणत्वात् । ततोऽप्यपवर्तनार्थं व्याघाते उक्त्वा अतिस्थापना असंबन्धगुणा, तस्या उक्तेरुक्तव्यस्थितिप्रमाणत्वात् । तत उक्तसैनाया उक्तेषु निक्षेपो विशेषाधिकः, ततोऽप्यपवर्तनार्थं कण्डके निक्षेपो विशेषा-धिकः, ततोऽपि सर्वा स्थितिर्विशेषाधिका । कण्डकोऽपि सं ।

संप्रत्यमुभागापवर्तनानामतिदेशोनाह-

..... एवं ओवट्टणा उ ॥ ११? ॥

एवमुक्तसैनाप्रकारेणापवर्तनोऽप्युत्तमाविषया वक्तव्या, केव-लमादित आरभ्य स्थित्यपवर्तनावत् । तद्यथा-प्रथमं स्वर्धकं समयवर्धते, नापि द्वितीयं, नापि तृतीयं, एवं तावत्कथं याव-त्वास्तिकामात्रस्थितिगतानि स्वर्धकानि भवति । तेच्य उप-रितनानि तु स्वर्धकान्यपवर्धन्ते । तत्र यदा उद्यावस्तिकाया उपरि समयमात्रास्थितिगतानि स्वर्धकानि अपवर्धयति तदा समयानावास्तिकात्रिगमाग्नयगर्तानि स्वर्धकानि अनिक्रम्यापस्तनेषु आवास्तिकस्तत्कसमयाधिकत्रिगमाग्नयतु स्वर्धकेषु निक्षिप्यते । यदा त्द्यावस्तिकाया उपरि न द्वितीयसमयात्रास्थितिगतानि स्वर्धकान्यपवर्तयति, तदा प्रायुक्ता अतिस्थापना समयो-नावस्तिकात्रिगमाग्नयप्रमाणा समयमात्रस्थितिगतैः स्वर्धकेर-धिकाऽवगतव्या । निक्षेपस्तु तावन्मात्र एव, एवं समय-सूत्रा अतिस्थापना तावच्चक्षुस्मपतन्तया यावदावस्तिका प-रिपूर्णं भवति, ततः परमतिस्थापना सर्वत्रापि तावन्मात्रेण नि-क्षेपस्तु वर्धते, एवं निर्वाघाते सति उच्यते । व्याघाते पुनरनुजा-गकारकं समयमात्रस्थितिगतस्वर्धकान्युत्तमतिस्थापना इष्टव्या । कण्डकमानं समयमात्रन्यूनत्वं च यथा प्राक् स्थित्यपवर्तनार्थमु-क्तं तथाऽत्रापि उच्यते । अत्रापवर्तनमुच्यते-सर्वस्तोकां ज-घन्यनिक्षेपः, ततो जघन्यातिस्थापना अनन्तगुणाः ततो व्याघातं अतिस्थापना अनन्तगुणा, तत उक्तेप्रमुत्तमागणउक्तं विशया-धिकम्, तस्य एकसमयगतैः स्वर्धकेरतिस्थापनानोऽपि कत्वा-त् । तत उच्यते निक्षेपो विशेषाधिकः, ततोऽपि सर्वोऽनुभापो विशेषाधिकः । कं प्रो । पं सं ।

अववट्टणापंकम्-अपवर्तनार्थं कम्-पुं । प्रमृतस्य सतो रम-स्य स्तोकीकरणं, पं सं । अपवर्तनासंकमस्तु बन्धेऽस्येय या प्रवर्तते । “ सवर्थाऽववट्टणा त्तिरसाणं ” इति वक्ष्यमाण-चनान् । पं सं ४ द्वार । अववपमाण-अववतत्-त्रिं । मृषावाद्मकुर्वति, आचां १ अं ४ अं २ उ ॥

अववर्षविचा-अवव्यरोपयिता-कीं । अत्राशकनायाम्, “ जि-न्मायाम्रो सोक्त्वाभ्रो अववर्षविचा भवत् ” । स्थां ६ नां । अववाय-अववाद-पुं । परद्वयणाभिधानं, प्रअं २ सभं द्वार । द्वितीयवादाश्रयणं, दर्शो षो । विशयोविधिषो, यथा-“ पु-ढवास्तु आसेवा, उपस्ये कारणमि जयणाए । मिशरंहियस्स त्रियस्सा, अववायो होइ नायव्ये ” ॥१॥ दर्शो ५ । पञ्चां ५ प्रतिं । निं चू । उत्सर्गस्य प्रतिषेपे, सुं १ उ । (विशेषवकल्प-ना ‘सुच’ शब्दे ब्रूया ) तथाविद्यद्व्यंक्षेत्रकालभावाप्यम् च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकार्यव्यतयाम्पेर्णयादिप्रहणं, स्थां ० । अनुहायाम्, निं चू १ उ ॥ निक्षयकथायाम्, निं चू ५ उ ॥

अववपाकरिं ( ण )-अवपातकरिन्-पुं । आहाकारिणि, पं सं १ द्वार ।

अववपापुत्र-अवपादसूत्र-नं । अपवर्षाधिकार्थं प्रकृते सूच-मेव, सुं १ उं । (‘सुच’ शब्दे विष्णुतिरस्य उच्यते ) अवविह-अवविध-पुं । स्वाम्यस्याते आर्जविको- (गोशाङ्क-कमतां- ) पास्तकं, स ८ शं ३ उ ॥

अवशाल-अवसर-पुं० । मागध्याय "रसोलंशौ" ॥८।४।२०८॥  
इत्यनेन रूपनिर्घातः । प्रस्तावे, "णं अवशालोपसम्पर्णया ला-  
भाणो" । प्रा० ४ पाद २०३ सूत्र ।

अवस-अवश-पुं० । कर्मपरशय, लसत् ०६ अ० । परवशो, सूत्र० १  
श्रु० ३ अ० १ उ० । उल० । प्रञ्ज० ।

अवश्यम्-अव्य० । "अवश्यमो वै-नै" । ८ । ४ । ४२७ । इत्य-  
पञ्च स्वार्थे ङः निश्चय, अवश्यनिधारणे च । "अवस न सु-  
अहि सुअच्छिअहि" । प्रा० ४ पाद ।

अवसतण-अवशकुन-न० । अशुजल्वकं निमित्तभेदे, वृ० ।

तानि च—

मलिणकुचैले अन्ने-गियक्षप मागःसुजल्वभये य ।

एए तु अप्पसत्था, इवांति खिचाउ ग्गितस्स ॥

मलिनः शरीरेण वल्लैर्वा मलीनः कुचलो जीर्णोद्विषम्यपरि-  
धानः अशक्नोतः स्नेहाभ्यक्तशरीरः, श्वः वामपाश्वर्द्धिण्यपा-  
श्वैर्वाभ्यः, कुञ्जो यक्षशरीरः । वरुभो वामनः । एते मलिनाद-  
योऽप्रशस्ता जयन्ति तत्राभ्रिगच्छतः ॥

तथा—

रत्तपदचरगतावम-रोगियविमत्ता य आउए विउजा ।

कापायवत्तयउ-द्विया य जत्ते न साहंति ॥

रक्तपदाः सौगता, चरकाः काणादाः, घाटीवाहकावा; तापसा  
स्वरजस्काः; रोगिणः कुष्ठार्दरेगाकान्ताः, विकलाः पाणिवादाद्य-  
व्यवस्थाङ्गनाः, आनुरा विविधदुःखापदुताः, वैद्याः प्रसिद्धाः,  
कापायवन्नाः कापायवस्त्रपरिधानाः, उद्बुधलता प्रसम्भ्रान्ति-  
मालाः धूलिधूमरा वा । एते क्लेशाभ्रिगच्छन्तिऽऽः सन्तो यात्रा  
गमने, तत्रप्रवर्तकं कार्यमप्युपचारात् यात्रा, तां न साधयन्ति ।  
उक्ता अपशकुनाः । वृ० १ उ० ।

अवसकण-अवपदकण-न० । साध्वर्थायावसर्पणे, पञ्च० १३  
विव० । आचा० । पश्चाद्गमने, प्रव० २ द्वार ।

अवमकि ( ण )-अवप-ङ्कन-त्रि० । अवसर्पणशीले, सूत्र० २  
श्रु० ६ अ० २ उ० । दूरगमनशीले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ॥

अवसज्ज-गम्-धा० । " गमेरङ्-अश्वाणुवज्जावसज्जसोऽकुं  
। ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना गमेरवसज्जाऽऽदेशः । अवसज्ज-  
गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसर्पि [ ण ] अवसर्पित्-त्रि० । परिहारिणि, सूत्र० १ श्रु० २  
अ० २ उ० ॥

अवसय-अपसद्-त्रि० । तुच्छे, स्या० ४ उ० ४ उ० ॥

अवसर-अवसर-पुं० । प्रस्ताव, विज्ञाने च । दश० १ अ० ।  
"अहुणावससो णिसींश्चुलाए" । नि० चू० १ उ० ।

अवसराण-अवसराण-न० । समवसरणे, प्रव० ६२ द्वार । अ० ।

अवसवस-अपस्ववश-त्रि० । अपगतामतन्त्रत्वे, ङा० १६ अ० ।

अवसव-अवसप-पुं० । युधे, लस० ३२ अ० ॥

अवसावण-अवशावण-न० । काञ्जिके, " अवसावणं लाडाणं  
कञ्जिअं भज्ज " ति । इह लाटदेवोऽवशावणकं काञ्जिकं भ-  
स्यते । वृ० १ उ० ।

अवसिकृत-अपसिक्तान्त-पुं० । सिकान्तादपकान्ते, " संसार-  
कारणाद् घोरा-वृत्सिकान्तदेशनात् " । स्या० १० उ० ॥

अवसे-अवश्यम्-अव्य० । " अवश्यमो नै-डौ" । ८ । ४ । ४२७ ।  
इत्यपञ्चोऽवश्यमः स्वार्थे 'नै' प्रत्ययः । " अवसे सुकदि पणई"  
प्रा० ४ पाद ॥

अवसेस-अवशोप-पुं० । अवशिष्टे, स्या० ७ उ० । आनु० । तद्-  
तिरिक्ते, उपा० १ अ० ॥

अवसेह-गम्-धा० । " गमेरङ्-अश्वाणुवज्जा" ० । ४ । १६१  
इति सूत्रेण गमेरवसेहादेशः । अवसेहङ्-गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसेह-नज्-धा० । अर्द्धेन, " नशोणिरपास-णिवहावसे-  
ह" ० । ८ । ४ । १७८ । इत्यादिसूत्रेणावसेहादेशः । अवसेहङ्-  
नश्चति । प्रा० ४ पाद ।

अवसोग-अपशोक-पुं० । वीतराके, जम्बूद्वीपाकेषु वा द्वादश-  
होपाधिपतौ देवे, द्वीप० ।

अवस्स-अवश्य-त्रि० । अवश्यं पर्यायोऽवश्यशब्दोऽकारा-  
न्तोऽप्यस्ति । अ० म० द्वि० । अ० । नियते, आद्य० ४ उ० ।

अवस्मकम्म-अवश्यकर्पुन-न० । अवश्यक्रियायाम्, आ०  
चू० १ अ० ॥

अवस्सकरिण्ज-अवश्यकरणीय-न० । मुमुक्षुभिरवश्यं  
क्रियते इति अवश्यंकरणीयम् । विशेष० । अवश्यके,  
मुमुक्षुनिर्णयमानुष्ठयवत्त्वम् । अत्रु० । अवश्यकरणमिति  
प्रश्न प्रश्नर्थे—अवश्यंवावश्यकरणसंज्ञायाः, भास्करव-  
त्, अवश्यकरणीयत्वाद्भवश्यकरणं कुर्वतीति । कथमिदमव-  
श्यकरणं, कथमियमन्वर्थेति । दृश्यते-द्रष्टव्यमनुगता या संज्ञा  
साऽवर्था; अर्थमङ्गीकृत्य प्रवर्तते इत्यर्थः । कथमिह? यथा-भा-  
स्करमंज्ञा अन्वर्थ्या; कथमन्वर्थ्या?, ज्ञासं करोतीति प्रास्कर इति  
यं भासनार्थे; तमङ्गीकृत्य प्रवर्तते इत्यन्वर्थ्या । तथाऽवश्यकरण-  
मिति इयं संज्ञा अन्वर्थ्या । कथमिति चेत्? सम्यह-अवश्यं क्रियते  
इत्यवश्यकरणमिति योऽवश्यकरणोऽवश्यकर्तव्यतया तमङ्गी-  
कृत्य प्रवर्तते यस्मान्मस्मात्सर्वेकालिभिः सिद्धाद्भिरवश्यंक्रि-  
यमाणत्वाद्भवश्यकरणमित्यन्वर्थसंज्ञासिक्तः । आ० चू० २ अ० ।

अवस्मकिरिया-अवश्यक्रिया-स्त्री० । पापकर्मनिषेधे, " अ-  
वस्सकम्मं ति वा अवस्सकिरियं ति वा पण्डा " । आ० चू०  
१ अ० ।

अवह-कृप्-धा० । सामर्थ्ये, " कृतोऽवहो णिः" । ८ । ४ । १५१ ।  
इति कृतः 'अवह' इत्यादेशो एतन्तो भवति । अवहार्हङ्-कल्पते ।  
उ० ४ पाद ।

अवह-रच्-धा० । प्रतिपत्ते, " रच्येगमाहावह-वडविशः"  
। ८ । ४ । १५४ । इति रच्येर्धातोः 'अवह' आदेशः । अवहर्ह-रच-  
यति । प्रा० ४ पाद ।

अवहङ्-अपहति-स्त्री० । विनाशे, विशेष० । आ० म० ।

अवहङ्-अपहृत्य-अव्य० । परिहृत्य, ( सौ० ) परिहृत्य,  
( सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । दश० । दश० ) निरूप्येत्सर्वेषु,  
आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अवहृद-अवहृत्-त्रि० । " प्रत्यादौ हः " । ८ । १ । २०६ । इति  
लहृद हः । प्रा० १ पाद । परिहृते, नि० चू० १० उ० । आच० ।

अवहृत्

"बालम् अवहाय० अवहमे विसृष्टं भवद्" । निःशेषबालामले-  
पायदावान् । म० ६ श० ७ उ० । नि० चू० । आ० । देशान्तरं  
नति, प्रथ० १ श्र० ।

अवहृत्त्रिय-अपहृत्सित-त्रि० । निराकृते, न० ॥

अवहृत्संज्ञम-अपहृत्संज्ञम-पुं० । अवधिनांकारादीनां परि-  
ष्ठापनतः कियमाणं, स० १७ सप्त० ।

अवहृत्त्र-अवहृत्नन-न० । उद्बले, इ० १ उ० ।

अवहृत्प्रमाण-अप्रत्-त्रि० । न इत् न् अप्रत् । आरम्भाऽकरणेन पी-  
कामकुर्वति, " एतन् अवहृत्प्रमाण उ " । दश० १ श्र० ॥

अवहृत्-गम्-धा० । "गमेरुऽअच्छा०" = । ४ । १६२ । इत्यादिना  
गमेरुवहरादेशः । अवहृत्-गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नञ्-धा-दिवा० । अदर्शनं, "नशेषिरेणाम-जिहवावसेह-प-  
डिस्वा-वमेहावहराः" । = । ४ । १७९ । इति नोऽवहरादेशः ।  
अवहृत्-नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अप-हृ-धा० । चोरणे, स्या० ५ श्र० १ उ० । स्वीकरणे, मूत्र०  
१ श्रु० ६ श्र० । प्रथ० । उपा० । मूत्रे तु- अवहृत्सु । अपहृ-  
त्तवार । स्या० १० उ० ।

अवहाय-अपहाय-अव्य० । त्यक्तव्यर्थे, म० १५ श० १  
उ० । मूत्र० ॥

अवहार-अपहार-पुं० । अपहरणमपहारः । आ० म० द्वि० ॥  
गन्तव्यविहकरणे, नि० चू० ।

वमणविरगादीर्हि, अन्तेतरपोगलाण अवहारां ।  
तेल्लुवट्टणजलपु-एच्छणणामादिर्हि वडभारां ॥

अन्तःप्राण वृषिय संनिर्वायत्सर्वाहरादियण वमणविरवणगादी-  
र्हि अवहाराः भारिहरेः स्वरागतो पूयसोऽण्यथसिञ्चणमलात्रयन्-  
मस्रादि तेल्लुवट्टणगादिर्हि अन्तं अवहरति । नि० चू० ७ उ० ।  
चौथे, उल्ला० ४ अ० । प्रथ० । जडचरविशेषे, प्रथ० २ आशु०कार ।

अवहारां-अवधारयत्-पुं० । अवधारणावति, स्या० १० उ० ।

अवहि-अवधि-पुं० । अवश्याऽप्राःशब्दार्थः । अव अथो वि-  
स्तृते वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः । यद्वा-अवधिर्म-  
यादा रूपेष्वव धस्तुषु इत्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तरूपतया,  
तदुत्पत्तिक्रितं होमन्यथाऽथः । प्रथ० कथोऽनभेदे, प्रथ० १८ ४६ ।  
( "आहि" शब्दे तुऽवधामो १३० पृष्ठ व्याकथयत्ये )

अवहेह-मुञ्च-धा० । मोचने, " मुचश्शुभ्रव्यहेह-भेदोऽस्मिन्न-  
अद-गिहृत्प्र-धंसाडः" । = । ४ । ६१ । इति मुञ्चन्तरयहेद्वादे-  
शः । अवहेह-मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

अवधेदिय-अवाधकृत-अवधोदित-त्रि० । प्राकृत्यात्तया-  
कृतम् । अवस्तादात्मोदितं, " अवधेदियपाट्टिसत्तममे " । उल्ला०  
१५ अ० ।

अवद्वोल्लेख-अवदोल्लेख-त्रि० । दोषायमाने, इ० ८ अ० ।

अवाहसंगया-अवाद्यमङ्गना-स्त्री० । जगदिनाऽप्रतिकृता-  
याम्, इ० ।

" सप्तमस्य जवादासो-दानस्यावाद्यसङ्गना " । उदानस्य

कृत्वादिवादेशाद्देशिरोत्सृज्यादितरेषां धातूनां निरोधाद्-  
ध्वगित्यसिद्धत्वादिना जगदिनाऽस्यमाऽप्रतिकृता । जि-  
तोदानो हि योगी जले महानद्यादौ महति वा कदम्बे त्रीक्षणेषु  
वा कण्ठकेषु न सजति, किन्तु लघुव्यात्सपिण्डव्यञ्जनादा-  
नितमञ्जुत्परि तेन गच्छन्तीत्यर्थः । लज्जुके- " उदानजयाञ्जलप-  
ङ्कण्टकादिष्वसङ्ग उक्तान्निब" । इ० २६ इ० ।

अवाहण-अवातीन-त्रि० । धानीनानि धानोपहृतानि, न वाती-  
नानि अवातीनानि । वानेनापतितेषु, रा० । ज० । इ० ।

अवाहण-अप्राप्तुन-त्रि० । प्रावरणरहिते, इशा० ३ अ० । प्राव-  
रणाभावे, न० । न० १ श० १ उ० ।

अवागिष्ठ-अवागिम्बु-त्रि० । अवाचासै, व्य० ७ उ० ।

अवागिष्ठज-अवापनीय-न० । संसर्गजं शुण्णं देयं वा संसर्गा-  
न्तरणाऽवमिति इत्ये, स्या० १० उ० ।

अवाय-अपा(वा)य-पुं० । अप-अञ् । गगदिजनिनेषु प्राणिना-  
मैहिकामुष्मिकेष्वनपेषु, स्या० १ श्र० १ उ० । अपायाऽनर्थः स यत्र  
द्रव्यादिषु अमिषीयते यथा-पनेषु द्रव्यादिविशेषेषु अस्यपायः,  
विवक्तिनद्रव्यादिविशेषेषु, हेतुना चाऽस्य यथाभिधीयते नदा-  
हरणमपाय इति । उदाहरणभेदे, स्या० ४ श्र० ३ उ० । विना-  
शे, य० १ श्र० । चिन्ते, न० । तत्रापायश्चातुःप्रकारः । तत्र-  
धा-इत्यापायः, क्लेशापायः, कालापायः, भावापायश्चेति ।  
तत्र इत्यापायाः इत्यापायः । अपायेऽतिप्रधानः । इत्य-  
मेव वाऽपाया इत्यापायः, अपायेहेतुत्वादित्यर्थः । एव क्लेश-  
दिर्थाय साधनीयम् ।

साप्रन्तं द्रव्य पायप्रतिपादनायाऽऽह—

दन्वत्वाए दाधि उ, त्राणयमा ज्ञापये धर्मानमिचं ।  
वडपरिणएकमेकं, ददामि मच्छेण निवेओ ॥ ५५ ॥

द्रव्यापाये उदाहरणम-ज्ञे । (तुशब्दादन्वानि च) । वणिजो प्रा-  
तरी धननिमित्तं धनार्थे, यत्रपरिणतो एकैकमर्थेभ्यं ददं मर्ये-  
न निवेदं इति मायाऽह्वारार्थः । त्रावार्थस्तु कथानकाद्वयनयः ।  
तच्छेद- " एतन्मि संनिर्वसे दो मायरो द्वाहृत्पायाः, तर्हि सोऽरुं  
गोन्नु साहसिसो गल्लसो कवयाण विद्विसो । ते अ मथ  
गाम सपरिथया, जेना ते णऽजये वारणण वदति । जसा एतस्स  
हथे तदा इयरो चित्तेह- " मारिमे णवरमेए कवया ममं हेतु ।  
एयं बीसो चित्तेह- " जहाऽऽ एयं मारिमे । ते पराएरे वहर-  
णिथा अज्जस्सवति । तसो जाहं सग्गामसमोवे पत्ता, तथ नं-  
तडे तिंअरस्स पुण्यवत्ती जाया । धियरुयु ममं, जेण मए ह-  
वस्स कए मावत्तिणासो चित्तिओ । परुसो म इयरो पुच्छोओ ।  
कहिए णजह-मम एप एयरिस्स चित्तं हेतु । ताहं एयस्स द्रोम-  
ण अमेहे एयं चित्तिय ति क, उं नेहि भो नउत्तसो दहे कुट्ठां ।  
तेथ घरं मया । सो अ णउत्तसो तथ पदंनो मच्छएण गिल्लोओ ।  
सो अ मच्छो मेणण मारिओ, वोहाए ओयाारिओ । तेसि च  
भाउणो मंगिलो मायाए बीहि पडविता, जहा-मच्छं अण्णं ।  
जे ताउगाणं निज्जे ति । ताए असमावत्तीए सो वेव मच्छओ  
आणीओ । केरिणं फालिणीए, णउत्तसो दिट्ठो । वेदीए चित्ति-  
एयस्स गउत्तसो मम वेव भविस्सए ति चच्छेण कसो । ठावज्जेनो  
यथेरीए विट्ठो, णाओओ अ । तीए भाणय-कियं तुम चच्छेणं कयि ।  
साऽपि लोह गया ण साहह । ताओ दो वि पोएरे पहरंते । सय

धेरी ताए जेहीए, तारिले मम्मपपयले आद्याए, जेण तज्जणमेव  
 जाविपाम्भो वधरोविद्या । तेहि दु क्खप्यहिं सो कइहवइयरो  
 पाभो । स खउलभो विट्ठो । धेरी गाढपदाहा पाणविमुक्का गि-  
 ससुध धरिणिअभे पडिआ विट्ठो । चिंथिये ख पेहिं—इभो सो  
 भवावइहभो आद्यो अग्रथो सि । एवं दवे अथायइहं सि ।  
 लौकिका अथायहुः—

“अथांनमजेम दुःख-मज्झिंताणं व रक्षणे ।  
 आथे दुःखं व्यये दुःखं, धिस्सुं व्यये दुःखवर्द्धनम् ॥ १ ॥  
 अथायधुल्लं पापं, ये पारित्यज्य संसृताः ।

तपोवनं महासत्त्वा-स्तेन धन्यास्ते मनस्विनः ॥ २ ॥ इत्यादि ।  
 पतावप्रकृत्योपयोगि ॥ “तयो तेमि तमथायं पिच्छऊण गिच्छे-  
 षो जाओ । तओ ते दारिये कस्सइ दाऊण निविअकामभोओ  
 पवइय सि” गाथार्थः ।

इदानीं क्षेत्राद्यप्राथम्यप्रतिपादनायाऽऽह—

नेत्तमि अयकमाणं, दमारवगससं हौइ अवरेणं ।

दोवायणो अ कासे, जाये मंडुक्कियाववओ ॥६६ ॥

तत्र क्षेत्र इति शारवराभयोः तत्रक्षेत्राद्यपयः, क्षेत्रमेव वा, त-  
 त्कारणत्वादिति । तत्रोदाहरणम्-अप्रक्रमणमपवयेणं दशारवग-  
 स्य दशारवमुदायस्य भवति । अवरणाऽपरत इत्यर्थः । प्रावार्थः  
 कथानतदवबन्धयः । तत्रच चक्षयामः । त्रैपायनक्ष कासे । त्रैपायन  
 श्रुतिः काल इत्यत्रापि कालादपयः, काल एव वा, तत्कारण-  
 त्वादिति । अत्रापि प्रावार्थः कथानकगम्य एव । तत्रच वक्षयामः  
 भावे मगधुक्किकाकयक इति । अथापि आवाद्यपार्थो भावपयः, स-  
 एव वा, तत्कारणत्वादिति । अथापि च भावार्थः कथानकदवबन्धे-  
 यः । तत्रच वक्षयामः इति भावार्थः । जावये उच्यते—“खिसा-  
 या योडाहरणं-दमार इरियेसरयाणां । पथ्य महइ कडा-इहा  
 हरिचम उवओमाये चैव जणस-कंसामि विणिवाएय स्वायं  
 वेकमेण नि काऊण जरासंधगयमएण दमारवगसं महुगओ अ-  
 वाकनऊण बारवइ गओ । सि ॥ प्रकृत्याजुर्न पुनानेयुक्कार  
 एव कारियति किमकारम एव नः प्रयासेन ?” कात्रायाए उदाहर-  
 ण पुण-कगहपुच्छरण भगवयाऽरिदुणमिणा धामपरियं-वारसहिं  
 सयच्छुर्गेहिं दीवायणाओ वारवदनयरोविणासो । उज्जात-  
 रायणगरोए परपरएण सुणिऊण दीवायणपरिस्वायओ मा ग-  
 गरि विणासंहामि सि कालावाधिमसओ गोमेमि सि उत्तरावहं  
 गओ । समं कालमाहमपाणिऊण य बारसं चैव संवच्छेदं  
 आगओ । कुमारहिं खलीऊण कयगिणीयां कोवो उवओषा । त-  
 थो य णगरीए अओओ जाओ सि; णऽसाहा जिण जासयं ति” ।  
 “भावावाए उदाहरणं अमओ-पयो अमओ वेदलएण समं भि-  
 क्खापरियं गओ । तेण तथं मंडुक्कियाय मारिता । जेअ-  
 ण जणिये-मंडुक्कियाय तए सारुओ । अमओ जणतिरे दुओ-  
 सेह विरमइया चैव एसा । त गओ । पच्छा रसिं स्वावसए अ-  
 लोऽत्तान अमगेण सा मंडुक्कियाय नाओइया । ताहं जएण  
 भणियं-अमगा ! त मंडुक्कियं अओइयति । अमओ रुठो तस्स  
 वेत्तयस्स अलमदइय धएण उडाहओ । असायलए अंभ  
 आवाइओ वेगेण । इतो मओ य जोइसएसु उवओषो । तओ  
 चइसा [दृष्टीविसाणं कुले दिट्ठियिसो सप्यो जाओ । तथं पयो-  
 ण परिट्ठिंतेण नगरे रायपुत्तो सप्येण अइओ । आहिउड-  
 एण बिउजाओ सव्वे सप्यो आवाइया मइडे पयेसिआ भ-  
 गिया-ओष सव्वे गच्छंठु, जेण पुण रायपुत्तो अइओ सो अ-  
 रथउ । सव्वे गता । पयो उओषो । सो भणिओ-अइया विसं आ-

वियह,अइवा परध भग्निग्मि णियडाइहि । सो अ अग्रयणो । स-  
 प्याणं किंम दो जाओओ-गंधणा, अग्रयणा य । ते अग्रयणा माणि-  
 णो । ताहे सो अग्निग्मि पविट्ठो, ण य तेण सं वंथं पच्छाविइयं ।  
 रायपुत्तो वि मओ । पच्छा एथा रुडेण घोसाविणं-उज्ज जो मम  
 सप्यसीसं आणए तस्साहं दीणारं देमि । पच्छा लोओ दीणार-  
 लोणेण सप्यं मारंइ आइओ । तं व दुअं, जय्य सो अमओ  
 उवओषो, तं जाइस्तरं रसिं हिइइ, रिपवओ न हिइइ, मा जीव  
 इहहामि (सि काउं) । अग्रया आहिंदिग्मिहं सप्यं मग्गेहिं रसिं च-  
 रेण परिमणेण तस्स अमगसप्येण सिधं दिट्ठि सि । दारं स उओओ  
 ओसदिओ आवाहंइ । सो चित्ते-दिट्ठो मे कोवस्स विवाओ ।  
 तो जइ अइ अमिमुहो णिगच्छामि तो इदिहामि, ताहे पुच्छेण  
 आइओ । णिफिडिंठं जलिय णिफेदरे तावइयमेव आहिं-  
 दिओ सिद्धिं, जाव सोसं डिग्मं । मओ य सो सप्यो देवया-  
 परिग्मिओ । देवयाए रओ सुमिणए इरिसणं दिअं । जहा-  
 मा सप्यं मारंइ, पुत्तो ते नागकुलाओ उववट्ठिऊण भविस्सइ;  
 तस्स दारयस्स नागदत्तनामं करंआहि । सो य अमगसप्यो  
 मारिआ तेण पाणपरिआएण तस्सव रओ पुत्तो जाओ, याए  
 दारए णामं कयं खागदओ । खुदलओ चैव सो पवइओ । सो  
 अ किर तेण तिरियाणुभावेण अनीव दुहाइओ दांसणवेलाए  
 चैव भादवेइ हौंजजं जाय सुत्थयमणवेइ उवमंता धम्मसाइओ य  
 । तस्मि अ गच्छं चकारि अमगा तं वाउममासिओ तमांसिओ  
 दोमामिओ परामामिओ सि । रसिं च देवया वंदिउं भागया ।  
 चाअमामिओ पदमदिओ । तस्स पुरओ तमांसिओ । तस्स पुर-  
 ओ दोमामिओ । तस्स पुरओ परामामिओ । ताण य पुरओ खु-  
 ओ । सव्वे अमगं अतिक्रिया ताए देवयाए खुओओ वंदिओ, प-  
 च्छा ते अमगा रुडा निगच्छति य गइया वाउममासिअअ-  
 मएण पांसे भणिया च अणेण-कउपुयणि । अइडे तवसिणोण  
 वंदिस्सि, एयं कुरमायणं वंदि सि । सा देवया जणइ-अइं भा-  
 वअमयं वदामि, ण पुवामअगरे माणिणो अ वंदामि । पच्छा ते  
 चैअयं तेण अमरिसं वंहंति । देवया चित्ते-मा पांते चैअयं करि-  
 टेहि ति, तां सविइया चैव अथायि, ताऽऽ पडिवोहइया । वि-  
 तियदिवेसं अ चैअओ सांस्वावेऊण गओ । दोसोणस्स पडि-  
 आगओ आओइता वाउममासियअमग णिमंतेइ । तेण पडिगहं  
 से अंभे णिच्छूदं । चैअओ भणइ-मिच्छा मे पुच्छइ, जं तुभं मए  
 अलमअओ ण पणामिसि. त तेण उपरराओ चैव फरिसां अलम-  
 अए दूदं । एवं जाव तिमोसएण जाव पणामिसिणं पिच्छूदं ।  
 तं तेण तदा चैव फेदियं अहुवायिणसालंबेण गिगहामि सि काउं  
 अमएण चैअओ बाहं गइया । तं तेण तस्स चैअगस्स अरीय-  
 मणसस्स विसुअपरिणामस्स हेस्साहिं विसुऊणामाणिं तदाऽऽ-  
 वरणिऊणं कमाणं अएण केवलनाणं समुपपंअं । ताहे सा देव-  
 ता भणति-किह तुभं वंदिअओ ? जेणं कोहाभिभूया अथ-  
 इ । ताहे ते अमगा स्वंगेमावओषे मिच्छा मे तुअकं ति, अओ ?  
 बालो उवसतचिओ अइहिं पाउकम्मोइ आसाइओ । एवं  
 तेमि पि सुइउअवसाणेणं केवलनाणं समुपपंअं । एवं पसंगओ  
 काइयं कहाणयं । उवओषो पुण-काहाइदाओ मयसत्थभा-  
 वाओ दुमोइए अवाओ सि” ॥

परलोकाचित्तार्थं प्रकृतोपयोगितां दर्शयन्नाह-

सिक्खगमसिक्खमाणं, संवेगथिरुट्ठायं दोएदं पि ।  
 दव्वाइया एवं, दीसज्जे अथावाओ ॥ ६७ ॥

अत्रया

शिक्षकाशिक्षकयोः अभिनवप्रजाजितचित्तप्रजाजितयोः, अभिनव-  
 प्रजाजितयुद्धस्थयोर्वा, संवेगस्थेयौ द्वयोरेव च उच्यते; पञ्चसूक्तेन  
 प्रकारेण, बह्व्यमाणेन वा दृश्यन्ते अत्रया इति । तत्र संवेगो  
 मांक्षुष्काभिहायः; स्थेयं पुनरुच्युपगतपरित्यागः । ततश्च कथं  
 तु नाम दुःखनिवृत्तयुद्धव्याघ्रवगमास्थोः संवेगस्थेयैः स्यातां,  
 उच्यतेऽपि वा प्रतिबन्ध इति गाथायाः । तथा चाऽऽहु-  
 दविषं कारणगद्विषं, विमिषिअन्ववसिवाऽप्येवं च ।  
 वासदह्नि एक-काशो, कौहाद्विवेगभावस्मि ॥१५८॥

इहोत्सर्गतो मुमुक्षुणा उच्येमेव-अधिकं यत्प्रायाद्वि, अन्वद्वा कन-  
 कद्वि, न प्राहम् । शिकृदाहिसंद्धान्दिकारणयुद्धे। तमपि तपस्विस्-  
 मासौ परित्याज्यम् । अत एवाह-द्रव्यं कारणयुद्धे। तं विकिञ्चित्तव्यं  
 परित्याज्यम्, अनेकेहिकासुम्भिकापायहेतुः। युष्माप्रहाद्य-  
 पायहेतुः। युष्माप्रहाद्यपायहेतुता च मध्यस्थेः साधया भाव-  
 नीयेति । एवमशिवदिक्षेत्रं च, परिस्वाऽप्यमिति वतते । अशिव-  
 दिग्धानं क्षेत्रमशिवदिक्षेत्रम् । आदिशब्दात्-उक्तोदरता-राजः।  
 ह्वादिपरिग्रहः । परित्याज्यं चेदम्, अनेकेहिकासुम्भिकापायसंजया-  
 दिति । तथा-शुद्धशक्तिर्धैर्यैर्यत्कालः, परिस्वाऽय इति वचंते ।  
 तत एवापायसंजयादिति भावना । एतदुक्तं भवति-अशिवदि-  
 दुष्ट एष्यत्कालो ह्वाद्शक्तिर्धैर्यनामान एवाऽऽह्वय इति । उक्तं  
 च-“संवत्सरवारसर-ए होहि असिचिते ते तत्रा गिति । सु-  
 चर्यं कृत्वंता, असिचयमादिह नाकणं” ॥१॥ इत्यादि। तथा-क्रो-  
 धादिविषकाभाव इति । क्रोधाद्योऽप्रशस्तता जायाः, तेषां वि-  
 वेकः नरकपातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः। भाव इति जायापाय  
 कार्य इत्ययं गाथायाः । एवं नावद्विस्तुनक्षरणकरणयोगमाधि-  
 कृत्यायाः प्रदर्शितः। दृशाः १ अ० । ( उच्यतेऽयोगसंबन्ध-  
 यस्तु ' अता ' शब्दे द्वितीययोगे १८८ पृष्ठे समुक्तः )

अथप्रदोतस्य इति तस्य चाधेभ्यः त्रिणैर्युक्तेषु अत्रयस्यो-शाङ्क-  
 वषाय शाङ्गे एवायमित्यादिकेपु अत्रयशब्दात्मके मानेनैदकेपु  
 प्रत्ययं, अ० म० प्र० । प्रकान्तकाजावना। स्तत्त्वनिश्चयसत्त्वात् ।  
 इत्या० ४ ता० ४ उ० । इत्या० १ ग० । दृशा० । म० । इति तस्यैव वस्तुन । इत्या-  
 एवयमित्यादिनिश्चयात्मके बोधाविशेषः, प्रथ० २१६ द्वार । न० ।  
 सम्म० । विश० ।

ईहितविशेषनिर्णयोऽत्रयाः ॥ १ ॥

ईहितस्य ईहया विषयीकृतस्य विशेषस्य कर्णाटशब्दादेर्नि-  
 र्णयो याथात्येनावधारणमत्रया इति । इत्या० २ परि० ।

अथ मतिज्ञानवृत्तीयमेदृशपायास्य स्वकषमाह—

महुराऽगुणत्तत्रो, संस्वस्मैवेति जं न मगसह—  
 विमार्गो मांस्वात्रो, अगुणमवस्वर्गजावात्रो ॥१५८०॥  
 मधुरस्मिन्पाद्विगुणत्वात् शक्यस्त्वैश्वर्यं वाग्दं न शृङ्खस्यत्यादि  
 यद् विशेषवद्धानं सोऽवायो निश्चयज्ञानरूपः । कुनः, इत्याह-गु-  
 णवर्त्यधर्ममांगमनुगमजावात्-अस्तत्त्वनिश्चयसत्त्वात् । तथाऽ-  
 विद्यमानार्थधर्माणां तु धर्मैरेकाजावना। स्तत्त्वनिश्चयसत्त्वात् ।  
 अयं च व्यवहारार्थोऽप्रदानन्तरभावो अत्रया उक्तः । निश्चया-  
 द्वाप्रदानन्तरजावो तु स्वभाषणं उच्यते । तद् यथा-भोतुर्माह-  
 स्वाहियुष्मत् । शब्द एवायं, न कर्णाटिति ईहापायविषयाश्च  
 विप्रतिपत्तयः प्राग्पि निराकृता इति नेहोकाः । इति गाथायाः  
 ॥२८०॥ शिको। “वषसायस्मि अवात्रो,” म० । विशिष्टोऽवसायो  
 व्यवसायः निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्येवार्थान्तरम् । तं व्यव-  
 सायम्, षयोनामिति वतते, अत्रायं भुवत इति संसर्गः । एत-

दुक्तं प्रथित-शाङ्कस्य एवाऽयं शाङ्गे एवायमित्याद्यवधारणात्मकः  
 प्रत्ययोऽत्रया इति । व्यवसायमेवात्रायं भुवत इति । आ० म० प्र० ।  
 मेदृशतस्य—

से किं तं अत्राय । अत्राय उच्यते एएएए । तं जहा-सो-  
 इन्द्रियअत्राय, चकिंत्वादिअत्राय, धारिण्दिअत्राय, जि-  
 ष्ठिर्भादिअत्राय, फार्मिदिअत्राय, नोदिअत्राय । तस्स  
 एं इमे एगद्विद्या नाणापोसा नाणावेजजा पंच नामभिजा  
 जनेति । तं जहा-आउट्टएया एवाउट्टएया अत्राय बुद्धी  
 विस्माए । सेचं अत्राय ।

‘से किं नम्रियादि’ । अत्र ओत्रेन्द्रियणावायः ओत्रेन्द्रियावायः ओत्रे-  
 न्द्रियनिमित्तमर्थावग्रहमाश्रित्य यः प्रवृत्तोऽत्रयाः स ओत्रेन्द्रिया-  
 वाय इत्ययोः एव बोधा अर्थ जावनीयाः । तस्स गमित्यादि भावत्वात्  
 अत्रापि सामान्येन एकार्थिकानि, विशेषविन्यायो पुनर्नानार्थानि ।  
 तत्र आवर्तन-ईहाता निवृत्त्याऽवाजावप्रतिपत्तिरितिमुक्त्वा वचनेते येन  
 बोधपरिणामेन स अत्रयत्नः, तत्राय अत्रयत्नता । तथा-भावत्नं  
 प्रति ये गता अर्थाविशेषवृत्तौ चरेषु विचिन्विताऽवायप्रत्यासन्नतरा  
 बोधविशेषास्ते प्रत्यावर्तनाः, तत्रायः प्रत्यावर्तनता । तथा-अत्रा-  
 या निश्चयः सर्वथा इहाऽभावोऽहिनित्यसत्त्वात्तथाऽवापरित-  
 मधर्ममगच्छतो बोधविशेषः सोऽत्रया इत्यर्थः । ततस्तेमेवादधा-  
 रितमर्थे तेषांयथाविशेषान् स्मिरतया पुनः पुनः स्पष्टतरमव-  
 बुध्यमानस्य या बोधपरिणतिः सा बुक्तिः । तथा-गिरिर्षोऽहं ज्ञानं  
 विज्ञानं तेषांपशमांविशेषादेवावधारितव्यविय एव तीव्रवर्णा-  
 रणहेतुर्बोधिबोधः । “सत्तं अत्राय” इति निगमनम् । न० ।

अत्रायदा-अत्रयाकुता-अ० । सम्भोत्रेन्द्रियात्पायात्, अत्रिमा-  
 वितार्थत्वात् अत्रयत्नस्यैवकार्यात्वात् । अत्रयत्नः, अ० २ अत्रि० ।

अत्रायएज्ज-अत्रायनीय-पुं० । वाचनाया अत्रयोः, इथा० १  
 ता० ४ उ० । “प्रकान्तकाजावना। स्तत्त्वनिश्चयसत्त्वात् । इत्या० ४ ता० ४ उ० ।

अत्रायदसि ( ए )-अत्रायदर्शिन-पुं० । अत्रायान् दुर्मिज्ञदुर्बल-  
 त्यादिकान् एहिकाननर्थान् पश्यति । अत्रया-दुर्बलबोधिकत्या-  
 दिकान् सात्तचारानां तान् दर्शयन्त्येवशीलऽत्रायदर्शो । अ० २ अत्रि० ।

अत्रायाननर्थान् निश्चनञ्ज । अनिश्चयदर्शो, दुर्मिज्ञदुर्ब-  
 ल्यादिकान् पश्यन्त्येवशीलः । सत्रयानलोकनायां च दुर्बल-  
 बोधिचत्वारो नपायान् शिष्यस्य दर्शयन्तीति अत्रायदर्शीति । इथा० १  
 ना० । इहलोकापायदर्शनदोषे आशोचनार्हनेदं, इथा० १  
 उ० । यः सत्रयानलोचयति कुञ्जं च अमरमार्गादिकं त्वया प्रभूतम-  
 नुभविष्यं, दुर्बलबोधिता च तेषां प्रविष्यतीत्येवं पर-  
 लोकापायाश्च दर्शयति, सोऽत्रायदर्शीति भावः । इथा० १  
 उ० । “दुर्मिज्ञदुर्बलः, इहलोकापायं दर्शयति अत्रायदर्शो ।  
 दर्शय य परलोप, दुर्बलदर्शितसं संसार ” ॥ १ ॥ इथा० १  
 ना० । इदी० । पञ्जा० ।

अत्रयाविजय-अत्रायविच ( ज ) य-न० । अत्रयात्गादि-  
 अनितः प्राणिनभिराकासुम्भिका अत्रयार्थः । (विधीयते निर्णय-

ने पर्याप्तोक्तयन्ते वा यस्मिंस्तद्वायविक्रयम् ) प्राकृतयेन विजयमिति । अत्रायवा वा विजयौने अग्रिममद्वारेण परिविनी- क्रियन्ते यस्मिन्नियवायविक्रयम् ॥ २५०० ४ टा ३ ३० । ग० । सम्म० । रागद्वेषकषयाध्रवादिक्रियासु प्रवर्त्तमानानामि- दपरशोक्तयारपायानां ध्यान, ४० २ अथि० । दुष्टमनेवा- ह्मण्यवापारविशेषाणामपायः कथं तु मे न स्यादित्येवंभूते संक- लवप्रसङ्गं, दीवपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्यात् । सम्म० १ काण्ड । धर्मध्यानस्य प्रथमं भेदं, अत्राव० ४ अ० । आ० चू० । ( विस्तर- तोऽस्य स्वरूपं ' धम्मज्झाण ' शब्दं वक्ष्यते )

अत्रायसत्त्वामित्तिसु-अत्रायसत्त्वामित्तिसु-न० । नरकाद्यपाय- शक्तिमलिनत्वे, द्वा० २२ द्वा० ।

अत्रायदेउत्तदेमणा-अत्रायदेउत्तदेमणा-स्त्री० । असदाचारान- र्थमज्ञतादेशनायाम्, ४० । अत्रायदेउत्तदेमणेति । अत्रायाना- मनर्थोनाम् । इहलोकपरशोक्तयारपाणं हेतुयं प्रस्तावादसदा- चारस्य यो हेतुनावनस्य देशना विधेया । यथा- "यत्र प्रथान्ति पुटुषाः, स्वर्गं यच्च प्रथान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्त- मनार्थः प्रमाद इति निश्चिन्तमिदं मे" ॥१॥ प्रमादश्चासदाचार इति । ४० १ अथि० ।

अत्रायान-अत्रायान-न० । अत्रायानयेते विवृज्यते यस्मात्सिद्धि- युज्यमानावधिच्युतम्-अत्रायानम् । अत्र० । द्वाऽवखरुमने । दाने खरुडनम् । अपस्तृय आ मर्यादया दाने खरुडने विद्योक्तं यस्मात्सदादानम् । विशेषं । आ० चू० । अत्रायानयेते अत्राय- यतां विवेकयन्ते आ मर्यादया दीयन्ते द्वाऽवखरुडने इति वच- नान् खरुडने भिद्यन्ते, अत्रायानयेते वा गृह्यन्ते यस्मात्सदापा- दानम् । अत्रायानयेते तत्र प्रार्थना भवति । यथा-अत्रायय गृ- हाद् धान्यम्, इतो वा कुशुलाद् गृहाणति ॥ २५०० ८ टा० ।

अत्रायानुपे ( वे ) हा-अत्रायानुपेक्षा-स्त्री० । अत्रायानां प्रा- णानियताद्याभ्यचारजन्यानर्थानामनुपेक्षाऽनुचिन्तनमपायानु- प्रेक्षा । ग० १ अथि० । अ० । शुक्लध्यानऽनुपेक्षाभेदं, यथा- "कोदां य माणां य अण्णमाहीया, माया य लोभां य पवहुमाणा । चकारि पते कसिणा कसाया, सिञ्चिन्ति मूलाइं पुण्णभवस्स" ॥२॥ इह माथा- "आसवद्वारावाप, तह संसारो सुहाणुभावं च । भवसंताणमनेनं, वरुण्य विपरिणामं च" ॥१॥ इति । २५०० ४ टा० १ उ० ।

अत्रारिय-अत्रारित-त्रि० । अनिवारिते, अकृत्यं कुर्वति तत्र- वर्ततेकमानियिजे, निरकुशं, "अजा अत्रारियाश्चो, इधोरज्जं न तं गच्छुं" । ग० २ अथि० ।

अत्रार्य-अत्रार्य-न० । अत्रार्यैर्यथै, द्वा० ५ अ० २ टा० । अत्रार्यकहा-अत्रार्यकहा-स्त्री० । शाक्युनादीन्येतावति नस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्ते इत्येवंकथायां कथावाम्, २५०० ४ टा० २ उ० ।

अत्रि-अत्रि-अत्रि० । सम्भावने, उत्त० ३ अ० । २५०० । आवा० । मू३० । द्य० । नि० चू० । दृश० । आ० म० द्वि० । वद्दार्थसंज्ञाने, नि० चू० ४ उ० । समुच्चये, अ० १ द्वा० ३ उ० । अष्ट० । दृश० । अत्रार्यारणायाम्, नि० चू० १ टा० । आवा० । वाक्योगस्यास्य, आवा० १ द्य० ६ अ० १ उ० । प्रेरणा- याम्, निर्णयभवनेहेतौ च । दृश० । अत्रार्यं, द्य० १ टा० । अत्रिअ-अत्रिच-अत्रि० । समुच्चये, अ० ४ वत्त० ।

अत्रिअकसंत-अत्रिअकसंत-त्रि० । पृष्टतो निरुपयति, ४० ३ अथि० । अत्रिअय-अत्रिअय-त्रि० । द्वितीयरहिते, द्वितीयनिष्पे च । अ० ३ ग० २ उ० ।

अत्रिअट्टमाण-अत्रिअट्टमाण-त्रि० । पीडयमाने, सूत्र० २ सु० २ अ० । अत्रिअट्टमाण-अत्रिअट्टमाण-स्त्री० । न विशेषतः उत्प्राणवत्य- तश्च प्रकटा अत्रिअट्टमाण । विशेषतोऽप्रकटायाम्, अ० ७ श० १ उ० ।

अत्रिअट्टमाण-अत्रिअट्टमाण-स्त्री० । अत्रिअट्टरणजानिः प्रकृता प्रस्तुता वा अत्रिअट्टप्रकृता । अ० १ टा० ७ उ० । अत्रिअट्टप्रकृत्याम्, अ० १ श० १ उ० । "अहं इमा कदा अत्रिअट्टप्रकृता" । अ० १ टा० ७ उ० । "अत्रिअट्टप्रकृते सि" अत्रिअट्टः सम्भावनार्थः । उत्प्राणवत्येन प्रस्तुता प्रकटा वारुणिकोऽप्रकटा वा, अत्रिअट्टप्रकृताऽत्रिअट्टप्रकृता प्रस्तुता वा अत्रिअट्टप्रकृता । अ० १ टा० ७ उ० ।

अत्रिअउत्तरण-अत्रिअउत्तरण-स्त्री० । अत्रिअउत्तरण, अ० १ श० ५ उ० ।

अत्रिअउत्तरण-अत्रिअउत्तरण-पुं० । अत्रिअउत्तरणे, द्य० १ उ० । अत्रिअउत्तरण-अत्रिअउत्तरण-पुं० । अत्रिअउत्तरणविरहे, त० ।

अत्रिअओसिय-अत्रिअओसिय-त्रि० । अत्रिअओसिय, अ० ४ उ० । अ- नुपशान्ते इति । "अत्रिअओसिय वासन्ति पायकम्भी" सूत्र० १ अ० ३ उ० ।

अत्रिअओसियपाहुद-अत्रिअओसियपाहुद-त्रि० । अत्रिअओसियपाहुद- पशानं प्राभून्निमित्तं प्राभून्ते (नरकपालकोशद्विकं) तीव्रक्रोधल- क्षणं यस्यास्तावत्प्राभून्तिप्रप्राभून्ते । अ० ४ उ० । अत्रिअओसियपाहु- द, २५०० ४ टा० ३ उ० । "अत्रिअओसिय पाहुदो, अवरादं वयं ह स्था- मियन्त च । बहुमां उदोरियताः अत्रिअओसियपाहुदो । स खरुं" ॥ १॥ पारमार्थि परमक्रोधसमूहात्तं व्रजनीति भावः । २५०० ३ टा० ४ उ० । ( 'वायसा' शब्देऽस्याऽवाचनीयत्वम् )

अत्रिअदमाण-अत्रिअदमाण-त्रि० । अत्रिअदमाण, अ० १ श० २ अ० ।

अत्रिअकेप-अत्रिअकेप-त्रि० । मनःशरीराभ्यामचले, एवञ्च० १ वि० । अत्रिअकेप-त्रि० । अत्रिअकेप-त्रि० । अत्रिअकेप-त्रि० ।

अत्रिअकेपमाण-अत्रिअकेपमाण-त्रि० । अत्रिअकेपमाण-त्रि० । अत्रिअकेपमाण-त्रि० । अत्रिअकेपमाण-त्रि० । अत्रिअकेपमाण-त्रि० ।

अत्रिअकृत्यण-अत्रिअकृत्यण-पुं० । नातिबहुभाषिणि, स्वल्पेऽपि केनचिद्वरपरे पुनः पुनस्तद्व्यक्तिनेन रहिते गुणवस्तुने, प्रव० ६४ द्वार । ग० । हितामनभाषिणि, आवा० १ श० १ अ० १ उ० ।

अत्रिअकरण-अत्रिअकरण-न० । पुर्वगृहीतवस्तुनां यथास्थानम- प्रज्ञेयं, "संधारय आयाप, अत्रिअकरण कनुय संयञ्चइत्ताय" । अत्रिअ- करणं कृत्वा, अत्रिअकरणं नाम यस्याधुना करणं कृन्तुं स्थानां प्र- स्तरण, कर्मिककामां बन्धनं, फलकस्य स्थापनं तदपनीय सम्प्र- जित्तुं विद्वैतम् । अ० ३ उ० ।

अत्रिअकार-अत्रिअकार-त्रि० । गीतादिविकाररहिते, अ० १ उ० ।



अधिकारि ( गु )-अधिकारिन्-पुं० । अनुद्वन्द्वये, अकन्दर्प-  
श्लोच । ३० ३ उ० ।

अधिकारिवपपरमर्थ-अधिकारोपितपरमार्थ-त्रि० । अविज्ञापित-  
नमयस्त्वाव, पं० व० १ द्वा० ।

अविगद्य-अविकृतिक-त्रि० । निर्विकृतिके घृताविकृतित्या-  
गिनि, लृष० २ अ० ७ अ० ।

अविगमिय-अविकटित-त्रि० । अनालोचिते, व्य० १ उ० ।

अविगप्प-अविकल्प-पुं० । निश्चय, आ० म० द्वि० । निभेदे च ।  
सम्म० १ काण्ड ।

अविगय-अविगत-त्रि० । अग्रद, १०० ।

अविगल-अविकल-त्रि० । परिपूर्णं, पं० १ विव० । पञ्चा० ।  
अकण्ठं, पं० १ विव० ।

अविगलकुल-अविकलकुल-त्रि० । अविपरिपूर्णकुले, त्र० ८  
श० ३३ उ० ।

अविगिट-अविकृष्ट-त्रि० । विहृष्टजिज्ञे अविहृष्टपःकर्मका-  
रिण-पश्चान्तपःकारिण, पञ्चा० १२ विव० ।

अविगियवयण-अविकृतवचन-त्रि० । अनल्पनिर्वाहन्तमुक्ते,  
आध० ।

अविगीय-अविगीत-पुं० । विशिष्टगीताथंरहिते, व्य० ३ उ० ।  
निर्धेयनि, व्य० १ उ० ।

अविगद्-अविग्रद-पुं० । वक्ररहिते, धौ० ।

अविगद्गडसमावण-अविग्रद्गतसमापण-पुं० । कल्पलिके-  
भ्रांपणे, अ० १४ श० ४ उ० । अविग्रहगतनिषेधाद् अहृद्ग-  
तिके अवस्थिते, अ० २४ श० ३ उ० ।

अविग्य-अविघ्न-न० । विघ्नभावे, कल्प० ५ क० । औ० । नि-  
घ्नस्य, वृ० १ उ० । इश० । कारण एवाहृष्टसामर्थ्यावपाया-  
नाव, द्वा० २३ द्वा० ।

अविघृष्ट-अविघुष्ट-न० । विक्रोशनमिथ वद्विस्वरं न भवति  
तदविघुष्टम्, अनु० । विक्रोशन इवाविस्वरं, ग० । स्या० । जी० ।

अविचित-अविचित्र-त्रि० । रोहिते, "अविचितो लोहद्विमि-  
त्यर्थः । नि० वृ० १६ उ० ।

अविचुष्ट-अविच्युति-स्त्री० । तदुपयोगाद्बिच्यवनमविच्यु-  
तिः । धारणानंदे, न० । आ० म० ।

अविच्छिद्य-अविच्छिन्न-त्रि० । विच्छेदाननुबन्धे, स्या० ४  
ग० १ उ० ।

अविजाण-अजानत्-त्रि० । क्षुप्तप्रभे, अपगतार्थाविषयेके,  
"जंसी गुहाय जल्लग्नितुष्टे, अविजाणभ्रो उम्हइ लुत्पथो ।  
सृष्टे ? सु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

अविजमाणजाव-अविद्यमानजाव-पुं० । नास्तिजाव, "असं-  
पञ्चयत्ति क्षा क्षीयजावोत्ति वा अविजमाणजावोत्ति वा पग-  
डा " आ० वृ० १ उ० ।

अविज्जा-अविद्या-स्त्री० । कर्मणि, "अथं तमः प्रविजान्ति येऽ-  
विद्यामुगासते विद्यया " इति तत्त्वा विद्ययाऽऽमृतमश्नुते " न० ।

अनवमने, अग्रहणे, अतत्त्वग्रहणे च । सम्म० २ काण्ड । अविद्या  
वदानिमां क्रेश् । द्वा० १६ द्वा० । योगशास्त्रासिद्धे क्रेशभेदे, द्वा०  
१५ द्वा० । "नित्यशुच्यायततास्यानि-रनित्याशुच्यायततासु । अ-  
विद्या " । अष्ट० १४ अष्ट० । अविद्योपप्लुवाद्बिद्यमानमपि द-  
इयते । यत उक्तम्-"कामस्यजन्मयोर्भावे-रविद्योपप्लुवात्सा ।  
पश्यत्यसन्नमप्यथं जनः कोशोऽनुकारिवत् " इति । विशो० ।

अविद्याय-अविनय-पुं० । कुशास्त्रे, उक्त० ३४ अ० । विशो० न-  
यो विनयः प्रतिपत्तिविशेषः, तत्प्रतिपत्तोऽविनयः मप्रतिपत्तिवि-  
शेष, स्यात् ।

अविद्युत्तिविहे पञ्चे । तं जहा-देमर्षाई, शिरा-  
ज्ञेवण्या, णाणपेम्मदोसे ॥

(अन्येषां सर्वेषां शब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या) नवरमियमत्र  
भावना-आराध्यविषयमारारथ्यसम्मतविषयं वा प्रेम, तथाऽऽ-  
राध्यसम्मतविषयं द्वेष इत्येव नियतावर्ति विनयः स्यात् । उक्तं  
च-"सर्वापि नित्यनुतिवचन, तद्भिन्ने प्रेम तद्वाङ्मि द्वेषः ।  
दानमुपकारक्रीतेन-ममन्वमूलं वशीकरुषम् " ॥ १ ॥ इति  
नानाप्रकारे च तावाप्य तन्मन्वतेनरत्नरूपविशेषानपेक्षवे-  
नानियतावप्यविनय इति । स्यात् ३ ग० ३ उ० ।

अविद्यामि ( ष )-अविनाशिन-त्रि० । कृष्णोपप्लुवाऽपि अनि-  
रन्ययताशयमिणि, दृश० ४ अ० । पा० ।

अविद्याच्छय-अविनिश्चय-पुं० । प्रमाणभावे, पं० व०४ द्वा० ।  
प्रति० ।

अविणीय-अविनीत-त्रि० । अविनयवति, उक्त० १ अ० । विनय-  
विरहिते, उक्त० ११ अ० । अविनीतलक्षणमाह-

अह चउदमग्राणिहं, वृत्तमाणे सं जने ।

अविणीए० वृष्टं मोउ, निष्वाए० च न गच्छइ ॥

अदेव्यावि सूत्राएकम् । अद्योति प्राक्चतुस्त्रिंशदिकः दश चतु-  
र्दशःतेषु चतुर्दशसंख्येषु स्थानेषु सूत्रे तु सुबन्धव्यत्येन सप्तम्यर्थे  
तृतीया । वर्तमानस्तद्वृत्तः पूरणः स्यतस्तपसा । अविनीत उ-  
च्यते । स तु इति । अविनीतः । पुनः किम् १, इत्याह-निर्वाणं च मोक्षं,  
अशब्दाद्देवैः ज्ञानाद्वास्व न गच्छति न प्राप्नोति । उक्त० ११ अ० ।

कानि पुनश्चतुर्दश स्थानानि १, इत्याह-

अजिक्खणं कोह्ठी इवइ, पबंभं च पकुव्वइ ।

मित्तज्जमाणो वमइ, सुयं द्वाक्खण मज्जइ ॥ ७ ॥

अवि पावपरिस्वर्वा, अवि मिन्नेसु कुप्पइ ।

सुपियस्मावि मित्तम, रट्ठे ज्ञासइ पावगं ॥ ८ ॥

पट्ठवार्दं दुट्ठिइ, थक्के लुक्के अण्णिगंइ ।

अमविज्जाणि अविद्यत्ते, अविणीए० ति बुद्धइ ॥ ११ ॥

अजिक्खणं पुनः पुनः, यथा-कृष्णं कृष्णमभि अमिक्खणमनवरत्तं, क्रा-  
धी क्राधेना जयति-नमित्तमत्तमित्तमि च कुप्पिक्खशक्तेः प्रवर्धं  
च प्राकृतत्वात् कोपस्येवाविच्छेदात्मकं (पकुव्वइ इति) प्रकल्पेन  
कुर्वते, कुपितः सन् सान्त्वयेनैरनेकेरपि नोपशम्यति; विक्रधादिषु  
वा अविच्छेदेन प्रवर्तते प्रवन्धः, तं च प्रकुर्वते । तथा-(मित्तज्जमा-  
णो इति) मित्राद्यमाणोऽपि मित्रं ममायमस्विति दृश्यमाणोऽपि,  
अपेक्षाद्वयसुखनिर्दिष्टत्वात्, यमिति त्यजति, प्रस्तावाद् (मित्रीयि-

तारं मेवौ वा । किमुक्तं भवति? यदि कश्चिदकार्मिकतया वक्ति, यथा-  
 त्त्वं न वेत्सि त्यदं तव पात्रं ज्ञेयमिति । ततोऽन्यौ प्रत्युपकारभीकृतया  
 प्रातर्वाक्त-ममाद्यभवेन । कृतमापि वा कृतप्रत्यया न मयत इति वम-  
 नोऽप्युच्यते । तथा (सुयति) अयं प्रथमस्तान्वात्, भुनमपि आगममापि,  
 सन्ध्याः प्राथ्यं माद्यति वृषे पाति । किमुक्तं भवति? भुन हि मदाप-  
 हारहेतुः, स तु नेनापि हस्यति । तथा-अपिः स भावनायाम् । संभा-  
 स्यत एतन्-वधा-असौ पापिः कथञ्चित्समित्यादिषु स्थासितवच-  
 नैः परिगृह्यति निरस्कृतान् इत्येवंशरीरः पापपारंकेषु, आचार्यादी-  
 नानामिति गम्यते । तथा-आपिनिश्चयः, नतः मित्रभ्यांऽपि सुहृद्व्या-  
 ऽपि, आस्नामभ्येभ्यः कृष्यति कृष्यति । सुंघं चतुर्विधं मसमी ।  
 “कृषद्वेष्यासुयाधानां यं प्रातर्कापः । १।४।३।७। इत्यनेन (पाणिं-  
 ०) सूत्रेण चतुर्थाविधानत् । तथा-सुप्रस्यत्प्रातिवह्नन्स्यापि  
 मित्रस्य, रहस्यकान्तं, भाषते बालं, पापमेव पापकम् । किमुक्तं  
 भवति?-अग्रतः प्रियं वाकि, वृष्टस्तु प्रतिस्ववकोऽयमिम्यादि-  
 कमान्वात्प्रवृत्तिष्करान् । तथा-प्रकीर्णमनस्वानां विक्रिय, अ-  
 सन्ध्वत्स्वित्यर्थः । वदति जलनाभ्येवशरीरः प्रकीर्णवाद् । व-  
 स्तुनन्ध्वत्स्वरऽपि यत्किञ्चनवादीयते । अथवा-वः पात्र-  
 म्ब्रमपात्रमिति चाऽपरीह्वयेव कथाऽन्वेषिगतं भुनरहस्यं वद-  
 तीत्येवंशरीरः प्रकीर्णवादीति । प्रतिज्ञया वदतीममर्थमेवैकान्ताभ्यु-  
 पगमरूपया वदन्शालः प्रमिज्ञावादी । तथा-दुर्हलत्ति) द्रोहण-  
 शोको द्रोह्या, न मित्रमत्यन्तमिदृशास्ते । तथा-स्तनव्याः तपस्व्य-  
 हामिप्याद्यहंक्रान्तिमान् । तथा-सुभ्यःऽप्यारब्ध्यां बालकान्वाद् । तथा-  
 मानिप्रहः प्राग्बन् । तथा-अस्यमिजनशरीरांशोऽसिवाभ्यां, नाह-  
 रारिकमन्वाप्यानिगर्दनांऽयस्यै स्वहृत्तमपि यच्चति, किन्वात्मा-  
 नमेव पोषयति । तथा-अविद्यत्ति) अदीतिकरा, हृदयमानः सं-  
 ज्ञाप्यमाणो वा स्ववैश्याप्रतिनिर्वाहोपाययति । एवमिधद्वेष्यावितो-  
 ऽविनीत इत्युच्यत इति निगमनम् । उ० १०१? अ) ('विणय' शब्दं  
 सर्वमधिकारं व्याख्यास्यामि) स्वार्थानुवेन्दनाशिवनयरादित्, वृ०  
 ४ उ० ॥ अविनीता नाम ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमा-  
 दान्ति । इ० १ उ० । स्वार्थेदानुवेन्दनाशिवनयरादित्, स्या० १  
 उ० ४ उ० । (अस्यावाचनोपत्यं 'वायणा' शब्दे वक्ष्यते )  
 अविषीयत् ( ण )-अविन्तत्तम्-पुं० । विनयराहिते अना-  
 त्मके, प्रह्ला० ३ पद । दश० ।  
 अविष्ठा-अविष्ठा-स्त्री० प्रावक्षानमविष्ठा । अनाभोगकृते, सूत्र०  
 वृ० १ अ० १ उ० ।  
 अविष्ठाप-अविष्ठात-त्रि० । अविदिते, आचा० १ वृ० १ अ०  
 १ उ० ॥  
 अविष्ठापकम्म ( ण )-अविष्ठातकर्त्तृन्-न० । अविष्ठातमविदित-  
 तं कर्म क्रिया व्यापारो मनावाकाविलक्षणो यस्य । अज्ञानमन  
 आदिव्यापारं, आचा० १ वृ० १ अ० १ उ० ।  
 अविष्ठापधम्म-अविष्ठातधर्मेन्-त्रि० । पापादिबन्धुषु प्रहातध-  
 र्मेण, अविस्तरमन्वष्टरो च । ज० ८ श० १० उ० ।  
 अविष्ठावदय-अविष्ठापचित्-न० । अविज्ञानमविष्ठा, तथोपचि-  
 तम् । अनाभोगकृतं कर्मणि, सूत्र० । तन्न भाषते शाक्यसमये ।  
 यथा-मातुः स्तनाद्याकर्मणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनाभोगात् कर्मो-  
 पचयते । सूत्र० १ वृ० १ अ० १ उ० । केवलकामक्रियाच्छेदं क-  
 र्मणि, सूत्र० १ वृ० १ अ० १ उ० ।  
 अविषतक-अविषतकं-पुं० । न विद्यते वितकोऽभ्रधानक्रियाफलं

देहकपो यस्य (निष्कोः) सोऽविनकः । कुतकरहिते, "सुसमाह-  
 तलसस्स अविताकस्स निष्कुण्ठां" । दशा० ४ अध्या० ।  
 अविताह-अविताह-त्रि० । न वितधर्मवितधम्-सत्यम् । आवा० ४ अ०  
 अत्यभिचारिण, पञ्चा० १५ वि० । "पणमंथं पावदंथुं अविताह-  
 मंथं" । पूर्वमजिनमप्रकाररुत्तमपि सद्मन्यदा (विगतभिम-  
 नप्रकारमपि किञ्चित्कथात् । अत उच्यते-अविताथमेतत्, न  
 काशान्तरऽपि विगताभिमनप्रकारमिति । अ० १० श० ५ उ० ।  
 प्रश्न० । आवा० । तथेव, आ० सू० ४ अ० । यथावद्यते, कल्प०  
 १ क० । याथातथेन व्यवस्थिते, सूत्र० १ वृ० १३ अ० । व-  
 यावदननुष्ठिते, सूत्र० १ वृ० ३ अ० २ उ० । यथाऽवस्थितपि-  
 पिडताथेवचने, सूत्र० १ वृ० १६ अ० । सद्दृताथे, स्त्री०  
 अवितासु-अवितीर्थ-त्रि० । तितीर्थो पारमगतो, सूत्र० १ वृ० २  
 अ० १ उ० ।  
 अविदिस्-अवितीर्थ-त्रि० । अदत्ते, वृ० ३ उ० । आ० म० नि० सू० ।  
 अविदिय-अविदित-त्रि० । न विदितमविदितम् । वस्तुतोऽव-  
 रिक्तो, "संवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत् ।" संवेदनमात्रं वस्तु-  
 स्वरूपपरमशेक्यमविदितं त्वन्यत्, कथाऽन्वेषस्तुप्राहित्वेऽपि न  
 (विदितं वस्तु तादित्यविदितमुच्यते । षो० १२ वि० ० ।  
 अविद्यु-अविद्रुत्-त्रि० । उपद्रवराहिते अनुपपत्ते, षो० १२ वि० ०  
 अविद्युत्थ-अविद्युत्-त्रि० । अत्युत्कान्ते, अपरिणते, आचा०  
 २ वृ० १ अ० ७ उ० । अयासुके, आचा० २ वृ० १ अ० ७ उ० ।  
 प्रोहसमर्थे षोऽजादी, दश० ४ अ० ।  
 अविधि-अविधि-पुं० । असमावाच्याम्, वृ० ३ उ० ॥  
 अविधिपरिहारि ( ण )-अविधिपरिहारिन्-पुं० । संवमार्थं आ-  
 युक्तं, "संजमदुपति वा आउत्ते ति वा अविधिपरिहारि ति वा  
 पगदुत् । आ० सू० १ अ० ।  
 अविष्योग-अविष्योग-पुं० । रक्षायाम्, "सुक्कायां अविष्य-  
 ष्योगे" स्या० ४ उ० ४ उ० ।  
 अविष्यक-अविष्यक-त्रि० । न विष्यकं हृत् । आसत्, वृ०  
 १ अ० ।  
 अविष्यगाम-अविष्यगाम-पुं० । शाश्वतत्वं, विद्ये० ।  
 अविष्युक्त-अविष्युक्त-त्रि० । भावसुते, वृ० ३ उ० ।  
 अविष्यज-अविज्ञाज-त्रि० । विनकमशक्ये, स्या० ३ उ०  
 २ उ० । ज्ये० ।  
 अविष्यज-अविष्यज-त्रि० । अज्ञानविभागं, वृ० । तत्र यावाद्  
 सगारिकदीनां साधारणवैज्ञक्यं उपस्मृत्तत्वात्तन्वाप्यक्षयः  
 पुत्रज एव अद्यस्तनाजामादिबन्धका कृता सा आशिका अवि-  
 जनेत्युच्यते । वृ० ३ उ० ।  
 अविष्यज-अविज्ञाज-स्त्री० । विभागभावे, वृ० ३ उ० ।  
 अविज्ञ-अविज्ञ-पुं० । अदार्द्रिषे, वृ० ६ उ० ।  
 अविज्ञादम्-अविज्ञादिम्-त्रि० । अविभागं निर्णुतोऽविभागि-  
 मः । एककृषे, अ० १० श० ५ उ० । विभागं निर्णुतो वि-  
 जगिमः, तन्निधेयधात्विभागिमः । जगश्च, स्या० ३ उ० २ उ० ।

अविज्ञाड्य

अविज्ञाड्य-अविज्ञाड्य-त्रि० । विभक्तुमशक्ये, " तन्नो अवि-  
भाया पण्णत्तात्तं जहा-समप, पप्ले, परमाणु " । स्या० ३  
टा० २ उ० ।

अविभाग-अविजाग-पुं० । संबद्धो विभागो नैरन्तर्थाभाव,  
तदज्ञायाऽविभागः । नैरन्त्ये, पि० ॥

अविभागपलिक्रये-अविभागपरिक्रये-पुं० । परिक्रियन्त  
इति परिक्रया शशाः, ते च सविभागा भवस्यतां विशेष्यन्ते । अ-  
विभागाश्च ते परिक्रयाश्चेत्याविभागपरिक्रयेः । निरदेषु अशे-  
षु, न० ८ श० १ उ० । कपालिप्रकृत्या द्वियमानां यः परम-  
निकृष्टाऽनुभावांशोऽभिन्मुदमनयाऽर्कं न दृष्टान् संज्ञाविजागप-  
रिक्रये उच्यते । उक्त्वं च " बुद्धिर् विज्जमानां, अणुजागं संज्ञं  
न देहं ज्ञां अर्कं । अविजागपांस्तुच्छेदां, सां इह अणुभागबंध-  
मि " ॥ १ ॥ कर्म० ५ कर्म० ५ उ० ।

अविभाशुत्तरिय-अविभागोत्तर-त्रि० । एकैकस्नेहाविजागेषु,  
क० प्र० ।

अविभाव-अविज्ञाव्य-त्रि० । अविभावनीयरूपे, प्रश्न० १  
आश्र० द्वार ।

अविज्ञप्तिय-अविज्ञप्ति-त्रि० । विज्ञुपारहिते, वृ० १ उ० ।

अविज्ञप्तियप ( ए )-अविज्ञप्तियान्मन्-त्रि० । विज्ञुपायिर-  
हितदेह, प्रव० ७२ द्वार । भाव० ।

अविमण-अविमनस-त्रि० । अविगतचेतसि, अनु० । अशुभ्यचि-  
त्त, अन्त० ७ वर्गे । प्रश्न० । असाभादिदोषात् अविगनमानसे,  
प्रश्न० १ सव्य० द्वार ।

अविमुच्यता-अविमुक्तता-स्त्री० । सपरिग्रहनायाम्, स्या० ४  
गा० ४ उ० ।

अविमुक्ति-अविमुक्ति-स्त्री० । सलोजनायाम्, पञ्चा० १७ विव०  
युष्ठी, नि० चू० २ उ० ।

अविमुक्तिद्वारमाह-

दृढे भावेऽविमुच्यते, दृढे वीरद्वारेहाउच्येयता ।

सउलगादृढे कर्मेण, पदञ्च मुचो वि आणेऽ ॥

अविमुक्तिर्हिधा-उच्यते, भावतश्च । कृत्याविमुक्तौ- 'वीरद्वारो'  
शायकः यद्वीरद्वारान्तः स च स्नायुस्तान्तावधयन्तं पादे बद्धो यत्र  
निस्तरिप्रशुक्तः पङ्क्तिः इत्यनेन तत्र मुच्यते, ततस्तेन यदा तस्य  
शक्तस्य प्रहर्षं कृतं स्यात्तदा भूयाऽपि तथैव तं शर्यातनस्य  
कर्षणं क्रियते, तत आगतस्य हस्तनालमांसं हीयते ततो मांसं  
प्रमुञ्च्य आसक्तः सन् मुक्तोऽपि स्नायुधनमन्तरणापिशकुनिमा-  
नयाति, आनीय च तत्रैवावतिष्ठते । एषा द्रव्याविमुक्तिः ।

अथ जावेविमुक्तमाह-

जावे उक्कोमपयी-यगिफिता तं कुलं न उड्डेति ।

एहाणादीकजेमु व, गते वि दूरं पुष्यां एति ॥

आशो भावाविमुक्तिः पुनरयम्-उक्तेद्रुष्यं शाल्योदनादि, प्रणीतं  
घृतादि, तयोर्वा शुक्रीतिर्न ततस्तत्कृत्वा शय्यातिसंबन्धि, न परि-  
त्यजति । अथवा-अमानस्ययात्रादौ पर्वणि कार्येषु च गणसङ्घ-  
प्रयोजनेषु, दूरमथि गता भूयस्तत्रैव समागच्छति । वृ० २ उ० ।

अविमोयणया-अविमोचनता-स्त्री० । बह्वादीनामत्याम्, भ०  
६ श० ३३ उ० ।

अविय-अपिच-अथ० । अन्वुष्ये, तं० । भ० ।

अविक-पुं० । मये, आचा० १ श्रु० १ श्रु० ६ उ० ।

अवियत्त-अव्यक्त-त्रि० । अपरिस्तुटे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २

उ० । सुष्ये, सहजविकथिकले च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अवियत्त-देशी-ना० अप्रतिक्, आ० प्र० १० स्या० । ग० ।

अप्रतीकारणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । प्रति० ।

दश० । स्या० ।

अवियत्तर्जजग-अव्यक्तजृम्भक-त्रि० । अज्ञाद्यविभोगेन जृम्भ-  
के, भ० १४ श० ८ उ० ।

अवियत्तविशोधि-अवियत्तविशोधि-पुं० । अवियत्तस्थाप्रीति-  
कस्याविशोधि, तत्रियत्ततादीवियत्तविशोधिः । विशोधिभेदे,  
स्या० १० गा० ।

अवियत्तोवधया-अवियत्तोपपात-पुं० । अप्रीतिकेन धिनयादे-  
रुपघाते, स्या० १० गा० ।

अवियाडरी-अविजनित्री-स्त्री० । अपत्यानामविजननशील-  
यां स्त्रियात्, ज्ञा० २ अ० । " तस्स बंधुमहे जज्ञा, आवया-  
उर्या " । आ० प्र० १० ।

अवियाणय-अविज्ञायक-त्रि० । विशोषावधोधरहिते, आचा०  
१ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अवियार-अविचार-न० । न विद्यते विचारोऽर्थव्यजनयोर्निर-  
स्मादित्रय, तथा-मनःप्रभूर्नामामन्यतरस्मादित्रय, यस्य तद-  
विचार इति । ग० १ अ० ३० । अर्थव्यजनयोरान्तरताऽसकमणे,  
आव० ४ अ० । भ० १० । " एतत्तद्विक्रं अवियारं " बुद्ध्यायान-  
भेदे, स्या० ४ गा० १ उ० ।

अवियारमाणवयणकायवक्त्र-अविचारमनोवचनकायवाक्य-  
त्रि० । अविचारणयविवारितरमणीयानि परमाधिविचारगुणतया  
युक्त्या वा विघटमानानि मनेवाकायवाक्यानि यस्य स तथा ।  
अविचारणयविवारणीयानि श्रोत्रोभनतया निरूपणीयानि अय-  
यालोचनीयानि मनेवाकायवाक्यानि यस्य स तथा । अविचा-  
रयुगलःकरणयार्थेहवाक्ये, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

अवियारसोदण्ट-अविचारशोषनाथ-पुं० । सयमस्त्वलित-  
विशुक्तिनिमित्त, प० व० २ द्वार ।

अविरट्-अविरति-स्त्री० । सावधयोग्ये निवृत्त्यजावे, कर्म० । ह्य-  
दशप्रकाशाऽविरतिः । कथम् १, इत्याह-मनः स्वान्तं, कृष्णानीन्द्रि-  
याणि पञ्च, तेषां स्वस्वविषये प्रवृत्तमानानामनियमाऽनियन्त्र-  
णोः तथा घण्टां पुंथित्यसंज्ञावाच्यनस्फातिप्रसक्तुपाणां जायानां  
यथो हिंसीते । कर्म० ४ कर्म० । प्राणातिपातादीनामानियंथे, जी-  
न० । अत्राह्ये, स्या ६ टा० । " अविटं पदुच्छा बालं आदिउज्जं "  
यमविरतिरसंयमकृपा सम्यक्यानावाद्ध मिथ्याकृष्टेऽत्यतोऽ-  
विरतिरन्यविरतिरेव, तौ प्रादीत्याश्रित्य बालवद्ध बालोऽहः ।  
" तस्य यं जा सा सवनेन अविरट् एसद्वारेण आरं-  
प्रज्ञाणं " तत्र पूर्वांकोपु येयं सत्योमना सर्वस्माद् अविर-  
तिविरतिपरिणामाभावः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । " अविदो  
विषयांशदाद्, अयं दवितिः किल " विषयांशदाद् बाहोन्द्रि-  
याथंज्यांक्षेपलक्षणादभेदोऽनुपपत्तसत्तणः क्लिष्टाविरतिभेदवत् ।

॥०१६ ॥०। अविरत्तमेपु, प्र००५ सम्ब० ॥०। अग्रप्रत्याख्याने, स्था० १० ना०। "जद्वि अ न जाड सव्य-रथ कोर देहेण माणयां पथ । अविरह् अव्ययबंधा, तदा वि निष्ठा भव तस्त" ॥१॥ ५० २ अधि०।

अविरह् (य) वाय-अविरति (क) वाद-पुं० अविरतिरब्रह्म, त-  
द्वादो धार्त्वा । मैथुनचर्चायांय, स्था० ६ डा०।

अविरह्या-अविरतिका-स्त्री० । न विद्यते विरतिर्यस्याः सा  
अविरतिका । स्थियाम्, स्था० ६ डा० । ५० ।

अविरत्-अविरत्त-त्रि० । अनुरक्त, श्री० ।

अविरय-अविरत-त्रि० । अविरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो नियते  
स्मृति । पं० सं० १ ॥०। सावद्यादविरते, स्था० २ डा० १ उ०।  
उत्त० । च० प्र० । पापस्थानभ्योऽनिवृत्ते, दृश० १० अ० प्र०।  
५० । प्राणातिपातादविरतरिते विशेषेण तपस्वरत. भ०  
१ श० २ उ० । गृहस्थे, सूत्र० १ अ० १ उ० । मिथ्याहृष्टी  
च । श्राव ५ अ० ।

अविरयवाइ (ण) -अविरतवादिन्-पुं० । घनशलो वादी; अवि-  
रतस्य वाद्यविरतयादां । परिग्रहवति, आच्० १ भू० ५ अ० १ उ०।  
अविरयममत्त-अविरतमम्यवत्त-पुं० । अविरतसम्यग्रहृष्टी,  
कर्म० ५ कर्म० ॥

अविरयममद्दिष्टि-अविरतमम्यग्रहृष्टि-पुं० । विरतिविरतम;  
ऋषो कप्रत्ययः। तपुनः सावद्ययोग प्रत्याख्याने, तन्न जानातीति  
नादपुपगच्छति, न तपापनाय च यतत दति त्रयाणां पदाना-  
मष्टौ भङ्गाः । स्थापना-

5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5

नव प्रथमेषु चतुषु भङ्गेषु मिथ्याहृष्टि, अज्ञानि-  
त्याम् । शेषेषु सग्रहृष्टि, ज्ञानित्याम् । सप्तसु  
भङ्गेषु नास्य विरतमस्तःपरिवरतः । " अस्माद्-  
भ्यः " । १ । २ । ७६ । इति अग्रप्रत्ययः । चरमभङ्ग-  
षु विरतिरस्तीति । यद्वा-विरमति स्म सावद्ययोगे-  
भ्यो (नयते स्मेति विरतः । " गम्यर्थाकर्मक-  
पिबलुजेः " । ५ । १ । ११ । इति कर्त्तरि कप्रत्यये  
विरतः । न विरतोऽविरतः, स चास्ती सस्य-  
ग्रहृष्टिश्चाविरतसम्यग्रहृष्टि । इदमुक्तं भवति-यः पूर्ववर्णि-  
तोपशांमिकसम्यग्रहृष्टिः शुद्धदर्शनमंडुशुद्धवर्ती क्वायपशा-  
मिकसम्यग्रहृष्टिः क्वायदर्शनसत्तमः वा साविकसम्यग्रहृष्टि-  
यां परमपुनःप्रणीनां सावद्ययोगविरति (संस्कृतीयाधारो-  
द्गणनिष्पन्निकर्णां ज्ञानप्रत्याख्यानाकायां दयापिनित्याः प्रा-  
दृश्यते ॥ कर्म० २ कर्म० । देशविरते आवकं, सं० १५ सम० ।  
आव० । प्रब० । प० सं० । दृश० ।

अविरयममद्दिष्टिगुणद्वान-अविरतसम्यग्रहृष्टिगुणस्थान-  
न० । अविरतसम्यग्रहृष्टेः गुणस्थानमविरतसम्यग्रहृष्टिगुणस्था-  
नम् । चतुर्थे गुणस्थाने, कर्म० ।

उक्तं च-

" संघे अविरहृष्टे, जालने रागदोऽसुखं च ।  
विरहसुदं ३५५नां, विरहे काउं च अममत्पा ॥ १ ॥  
एस असंजय सम्भो, निदंते पावकममकरणं च ।  
आदीयजोधाजीवो, अवालिपदिष्टो बलिपयोदो ॥ २ ॥  
कर्म० २ कर्म० । पं० सं० ।

अविरत्त-अविरत्त-त्रि० । घने, श्री० । "अविरत्तसमसाद्य-  
चंद्रमंडलसमपमेहि" । अविरत्तानि घनशलाकावघने समानि  
तुष्यशलाकातया सहितानि संहतानि अनिम्नाऽनुब्रतशला-  
कायोगान् चन्द्रमण्डलसमप्रमाणं च शशिधरविश्ववत् प्रमा-  
न्ति वृत्ततया शोभन्ते यानि तानि तथा तैः (छुत्रैः) प्र००५  
आश्र० ॥०।

अविरत्तदत्त-अविरत्तदन्त-त्रि० । अविरत्ता दन्ता यस्य । घन-  
रदने, श्री० । यस्य हि यथा अनेकदन्ता अपि सन्त एका-  
कारदन्तपङ्क्तय इव लक्ष्यन्ते । तं० ।

अविरत्तपत्त-अविरत्तपत्र-त्रि० । घनपत्र, "अविरत्तपत्ता  
महिद्वेषा" । अत्र हेतो प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यतोऽविरत्तपत्रा  
अतोऽपिच्छपत्राः । जी० ६ प्रति० । १० ।

अविरह्-अविरह्-पुं० । विरहागोच, द्य० १ ७० । सातत्ये-  
नावस्थाने, आच्० १ भू० १ अ० ६ उ० ।

अविरह्यि-अविरहित-त्रि० । सन्तते, पञ्च० १० चि० ।

अविराहृक्छण-अविराह्य-अव्य० । अक्षरमनुप्राप्त्येत्ये, यै,  
पा० । सम्यक्प्राप्त्येत्येयं, घ० ३ अधि० ।

अविराह्यि-अविराहित-त्रि० । न विराधितोऽविराधितः ।  
दशभक्त, ल० । अपराद्धे, प्र०० ३ आश्र० ॥०।

अविराह्यिसंयम-अविराधितसंयम-पुं० । प्रमृज्याकालादा-  
रभ्याऽभभन्तारत्रिप्राणैः संवलनकपायसामर्थ्यात् प्रसक्त-  
गुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वतन्मायाऽऽदिष्टांपसम्भवंऽप्यानाच-  
रितचरणापघाते, भ० १ श० २ उ० ।

अविराह्यिसामाणा-अविराधितश्रापाय-त्रि० । आराधि-  
तचरणे, भ० १५ श० १ उ० । अत्यगिदन्तकसस्युत्तिसमाचारे,  
दृश० । ( अस्योपपातः 'बववाय' शब्दे द्वितीयभाग ए०१  
पृष्ठ छः )

अविरिक-अविरिक-त्रि० । अविमकीकृते, द्य० ११ उ० ।

अविरिकृष-त्रि० । अविभक्तारिकये, द्य० १ उ० ।

अविरिय-अवीर्यि-त्रि० । वीर्यरहिते, विपा० १ भू० ३ अ० ।

अविरुद्ध-अविरुद्ध-त्रि० । सङ्गते, पञ्च० १६ वि० । युक्ते, पञ्च०  
१७ वि० । पूर्वयुक्तमर्थ्यादाऽपत्तिक्रमेणाऽविरोधभाजि, द्य० १  
उ० । वैनायिके, उक्तं च-"अविरुद्धो विषयकारो, द्वैवीर्येण पर-  
पार्ये भसीप । जद वेसियायणसुभ्रो, एवं अन्न वि नायवा" ॥ १ ॥  
॥ १ ॥ ॥० । १५ अ० । श्री० । घर्मोद्यप्रतिपत्तिनिधि, "अविरुद्धकु-  
लाचार-पातने मितभाषिता" । (अविरुद्धस्येति) धर्माद्यप्रतिप-  
त्तिनिधेः कुलाचारस्य पालनमनुवसनम् । ॥० ११ ॥० । विरु-  
द्धाऽविरहिते प्रामादी, द्य० १ उ० ।

अविरुद्धवेगद्वय-अविरुद्धवैनायिक-पुं० । चित्तिशमतापितृ-  
गुरुणामविरोधेन विनयकारिण, अनु० ।

अविरत्तवप-अविरत्तवित-त्रि० । नातिमथ्यदे, भ० १ श० ७  
उ० । कदप० ।

अविरत्ता-अवी-स्त्री० । ऊरुस्थाम, पि० ।

अविरत्त-अविरत्त-त्रि० । संसृतराज्ये, द्य० ७ उ० ।

## अविषज्जय

अविषज्जय—अविषयेय—पुं० । अतस्मिंस्तद्वृत्तिर्विषयेयः, न वि-  
षयेयोऽविषयेयः । तस्यान्वयसाये सत्यकथे, विशे० ।  
अविषेग—अविषेक—पुं० । असदुपयोगे, अष्ट० १५ अष्ट० ।  
अविषेगपरिच्छाग—अविषेकपरित्याग—पुं० । प्रायतोऽज्ञानपरि-  
त्यागे, पं० ष० १ द्वार ।  
अविषेति—अविसेन्धि—पुं० । अव्ययच्छिद्ये, आच० ५ अ० ।  
आ० चू० । ध० ।  
अविसेवाइ ( ए )—अविसेवादिन्—त्रि० । श्लेषाऽविरोधिनि, पा० ।  
अविसेवाइय—अविसेवादिन्—त्रि० । सद्वृत्तप्रमाणभाषिते, पा० ।  
अविसेवाइ—अविसेवादिन्—त्रि० । सत्प्रातिनिमित्तं प्रवृ-  
त्तिहेतुभूतार्थोक्त्याप्रसाधकापेक्षप्रदर्शनम् । सम्म १ काण्ड ।  
अविसेवायाण ( ए ) जोग—अविसेवादिन् ( न ) योग—पुं० । विसे-  
वादनमन्यथाप्रतिपत्तस्यान्यथाकरणे, तदुपो योगो व्यापारः, तेन  
वा योगः संबन्धो विसेवादनयोगः, तत्रिप्रपोऽविसेवादनयोगः  
भ० ५ श० ६ उ० । अनाभोगादिना गवादिकमश्वार्थिक यत्पदति,  
कस्मैचित् किञ्चिदनुपगम्य वा यत्र क्रान्ति सा विसेवादाना,  
तत्रिप्रकृते योगः सम्बन्धोऽविसेवादानायागः । संवादानासं-  
बन्धे, स्या० ४ उ० १ उ० ।  
अविसेम—अविसेम—त्रि० । समतले, तं० ।  
अविसेमय—अविसेपय—न० । बाह्यार्थाभावेन निर्गोचरं, पञ्चा०  
५ विष० ।  
अविसेमहण—अविसेमहन—त्रि० । कस्यापि पराजवाऽसादरि,  
शृ० १ उ० ।  
अविसेमइ ( ए )—अविसेवादिन्—त्रि० । विषादवर्जिते, अणु० ३  
वर्ग० । ध० । अदीने, प्रश्न० १ सम्भ० द्वार । खेदरहिते, ध० ३ अत्रि० ।  
किं मे जीवितेनेत्यादिचित्तादिरहिते, अन्त० ७ वर्ग० । परीपहा-  
यमित्तत्वेन कायभरं कृणादौ दैन्यमनुपुयाते, पं० न० १ द्वार ।  
अविसेमारय—अविसेमारद—त्रि० । अचतुर्द, उच० १८ अ० ।  
अविसेमक—अविसेमुद्—त्रि० । विद्युत्प्रकाशोदिरहिते, स्या० ३  
ग० ४ उ० ।  
अविसेमुक्तेसेस—अविसेमुक्तेश्य—त्रि० । कृष्णादिलेहये, जी० ३  
प्रति० । चित्रकृष्णानिनि, भ० ६ श० ६ उ० । ( तत्र अविसेमुक्तेश्यो  
देवो विद्युत्प्रकाशेयं देवं पश्यतीति ' वित्रेण ' शब्दे वक्ष्यते )  
अविसेस—अविसेष—त्रि० । निविशेषे, पञ्चा० १३ विष० । नग-  
नगरनाद्यादिभूतविशेषरहिते अविशेषलक्षणे जुनामादौ, स्या०  
२ उ० ३ उ० ।  
अविसेसिय—अविसेषित—त्रि० । विभागरहिते, शृ० ३ उ० ।  
अनपिनि, स्या० १० उ० ।  
अविसेसियरसपगड—अविसेषितरसप्रकृति—स्त्री० । रसः स्ने-  
होऽनुभाग इत्येकार्यः; नस्य प्रकृतिः स्वभावः । अविशेषिता अवि-  
भक्तिता रसप्रकृतिः, उपलक्षणत्वात् स्थिन्याद्यो यस्मिन्नसत्त्वा-  
विशेषितरसप्रकृतिः । अविभक्तिताभ्यां, क० प्र० ।  
अविसेमोहि—अविसेमोधि—पुं० । उपयाते, शबलोकरणे च ।  
श्लेषः । अविसेमो, आ० चू० १ अ० ।

अविसेमोहि—अविसेमोधि—स्त्री० । आयाकर्मविद्युतेऽ  
विद्युत्प्रकाशे, ताम्बु यन्मिना—स्वतो हन्ति घातयति भ्रन्तमनु-  
जानोते । तथा—पचन्ति, पाचयति, पचन्तमनुजानोते इति ।  
आचा० १ धृ० ६ अ० १ उ० ।  
अविसेस—अविसेम—न० । मांसकथिरे, प्रश्न० ४० द्वार ।  
अविसेससिजिज—अविसेमसनी—त्रि० । विश्वासकतुंमयोग्ये, तं० ।  
अविसेसामनेयणा—अविसेमामनेदना—स्त्री० । विश्वात्तरहिततात्वा-  
मसातवेदनायाम्, प्रश्न० १ आश्न० द्वार ।  
अविसेमडा—देशी—पुं० । बालकं, "सांहा पालेइ गुहा, अविसेमं तेष  
सा मदङ्गु य" । शृ० १ उ० ।  
अविसेमामाण—अविसेमामान—त्रि० । न विसेमामानोऽविसेम्य-  
मानः । विविधपरिप्रेषणसमैरहन्त्यमाने, "अविसेमामाणो फ-  
भगवतः" । विघातमक्रियमाणे, आचा० १ धृ० ६ अ० ५ उ० ।  
अविसेमवद्—अविसेमवद्—स्त्री० । जीवपतिकन्यायाम्, भ० १२  
श० २ उ० ।  
अविसेमद—अविसेमद—स्त्री० । अविसेमदवत्, व्य० ७ उ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—त्रि० । न विष्यते विसेसा येयां तेऽविसेमि-  
साः । विविधेरुपायैरहितेकेतु, आचा० १ धृ० ६ अ० ४ उ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—स्त्री० । विविधा हिंसा विहितानि विसेमि-  
सा अविसेमि । विविधप्रणालिपतयजने, "अविसेमिसमि पच-  
प, अणुप्रममां मुणिणा पवेदिने" । सूत्र० १ अ० २ अ० १ उ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—त्रि० । अविसेमि कृन्मविसेमि कृत्तम् ।  
अशक्यादिना न्यूनधिककरणे, दर्श० ।  
अविसेमि—अविसेमि—त्रि० । न्यायमार्गोऽप्रवेदिनि, दर्श० १ अ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—त्रि० । "कागमियालयलुत्तं दवि-  
यरसं सव्वशो परामुत्तं । पसोऽ उहवे अविसेमि" । इत्युक्तलक्षण  
काकपुत्रादिभोजने, आच० ।  
अविसेमि—अविसेमि—स्त्री० । अविसेमिधविषयेयस्य सेव्या  
सेवनम्—अविसेमि—त्रि० । निविसेमन्, पं० ५ विष० ।  
अविसेमि—अविसेमि—पुं० । न काविसेमिभूत आदरश्ये, "अ-  
विसेमि जे स भिसेम" । दर्श० १० अ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—न० । न काविसेमिभूत अविसेमि । स-  
म्पुणे आहारद्रव्ये, सर्वोत्कृष्टायामाहारवर्गणायां च । ज० १३  
श० ६ उ० । ( 'वीहद्वय' शब्देऽस्य व्याख्या )  
अविसेमि—अविसेमि—त्रि० । अकयापसंबन्धवति, ज० १० श०  
२ उ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—अव्य० । अपृथग्युक्त्यर्थे, भ० १० श० २ उ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—अव्य० । अविसेमिभूत, ज० १० श० २ उ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—त्रि० । न० व० । एकाकिनि, कटप० ६ श्ल०  
असहाय्ये, विषा० १ धृ० २ अ० ।  
अविसेमि—अविसेमि—पुं० । मानसशक्तियार्जिते, भ० ७ श० ६ उ० ।

अथीसंभ-अविश्रम्भ-पुं० । अविश्रम्भसे, गौणे नृतीये प्राणालिपाते च । प्रश्न० । प्राणवधप्रपुत्रो हि जीवानाभिव्रम्भर्णयोः प्रवर्तते । प्राणवधस्याविश्रम्भकारणत्वाद्विश्रम्भस्यपदेशः । प्रश्न० १ । आश्र० द्वार ॥

अवीसत्य-अविश्रस्त-त्रि० । विश्र्वासरहिते, ग० १ अत्रि० ।

अबुगमहाद्य-अविग्रहस्थान-न० । कलहादाभयै, स्था० । 'आयरियउवज्जायस्स खं गणुंसि पंच अबुगमहाद्या पससा । तं जडा-आयरियउवज्जायणं गणुंसि आणं वा धारुं वा सम्मं पउज्जिता भवइ १, एवं महाराजणियाय सम्म० २, आयरियउवज्जायणं गणुंसि जसु पज्जवजाप धारुं ते कालं सम्म० ३, एवं गिलाणसेहयेयावच्चं सम्म० ४, आयरियउवज्जायणं गणुंसि आपुण्डियचारं यांथं भवइ, यो अण्णापुण्डियचारो ।" स्था० ५ ग० १ स० ।

अवुत्त-अनुक्त-वि० । केनात्येति, स्था० ८ टा० ।

अबुसराइय-अबसुराज-पुं० । रत्नश्रेते, तद्वह्नीसिमति पदाध्याम-ने, नि० चू० ।

बसुराजमबसुराजं भणति-

जे भिक्खु बुसराइयं अनुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

वसूणं रयणाणं, तेसु रामो बसुगमो । अथवा-गदं दीसिमाद, राजते शोभत इत्यर्थः । ते विवरीये जां जणति, तस्स चउत्तइ ।

इमा णिउत्तुत्ती-

वसुमं ति वा वि वसिमं, वसतिरातिणिओ पज्जया चरणे ।  
तेसु रतो बुसराइ, अबुमिमि ततो अबुसराइ ॥ १३० ॥

ते दुविधा-द्वये, प्राये य । द्वयं मणिरयणादिद्या, भावे साणा-दिद्या । इह भाववपुहिं अत्रिकारो । ताणि जस्स अर्थिं सो वसु-मं ति जस्यति । अहवा-ईदियाणि जस्स वसे वट्टंति, सो वसिमं भस-ति । अहवा-णाणंदेसणुवरिसेसु जो वसति णिक्काल सो वस-तिरातिणिओ जस्यति । अहवा-व्युत्सुजति पापम-अयपदायाक्या-न, चारित्र वा वसुमं ति बुधति । वसति वा चारित्रे वसुरातो-भस्यति । अहवा- (पज्जयाचरणं ति) एते चारित्रिद्यस्स पज्जया, पण्डिया इत्यर्थः । एसु बुसराइ जस्यति । पतिपक्खे अबुसराइ ।  
अहवा-

बुसि संविगो भणितो, अनुसि अरंसंविगो ते तु बोद्धंत्यं ।  
जे भिक्खु उ वण्णा, सो पावति आणमादीणि ॥ १३१ ॥  
कंठा । ' बोद्धंत्यं ति ' बुसराइयं अबुसिराइयं, अबुसिराइयं बुसिराइयं भणति ।

पद्य पदमं बुसिराइयं अबुसिराइयं जस्यति इमोहिं कारणेहिं-

नेसेण पणिणिवसे-ण वा वि अक्रयंत मिच्छभावेणं ।

संतग पोच्छाएत्ता, भासति अणुणिसाणे ते उ ॥ १३३ ॥

कोह कस्स वि कारणे अकारणे वा रुठो पणिणियेसणु 'सं-पू-इज्जति, अहंण पुज्जामि' । एवमादिविभासा अकयपुयाए । ' एतेण तस्स उवधारां कथो, ताहो मा पयस्स पड्डिउवधारां कायव्वो हांहि' णि मिच्छभावेणं मिच्छसेणं उविधेणं । सेसं कंठे ।

असंविग्गा संविग्गज्जं इमेण अरंसंभणेण हीसंति-

धीरपुरिसपरिहाए, नाऊणं मंदथमिया केइ ।

हीसंति विहरमाणं, संविग्गज्जं असंविगो ॥ १३१ ॥

कंठा । के पुण धीरपुरिसा ? इमे-

केवल्लयादि हि चोइस, एवबुव्वीहिं विरहिए परिहं ।

सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणति कस्स भावं च ? ॥ १३२ ॥

बाहिरकरणेण समं, अग्नितरयं करेति अमुणे चा ।

एगंतेणं च जवे, विवज्जिओ दिस्सते जेष ॥ १३३ ॥

एते संपदं एण्णि, जदि एते हीता तो जायंता, असंविंताणं चरणं सुद्धं, इयरेसिं अस्सुं । केवल्लयादिणो पाणं पदिचोयंता पच्छिंत्तं च जडारुहं देतो वित्तिं, अग्नितरगो वि एरिसो चैव भावं । न य एगंतरेण बाहिरकरणजुत्तो अग्नेतरकरण-युक्तो जवति । कहं ? । उच्यते-जेण विवज्जितो दीसति-जहा-उदाहरणस्स पसखच्छेदस्स य बाहिरं अबिसुक्को, प्ररदो विसुक्को चैव ।

जइ दाणि णिरतिचारा, हवेज तव्वज्जिओ व सुहिज्जजा ।

न य हुंति निरतिचारा, संपयणधित्तीए दाम्भज्जा ॥ १३४ ॥

संपयकाहं जदि णिरतिचारा हवेज, अहवा-तदवज्जयाणम आदिणाणादिवाज्जिया जइ चरिसुक्को हवेज, तं जुत्तं वसु-इमे अबिसुक्कचरणा संशयणाधित्तीण बुद्धमत्तणजे य पच्छिंत्तं करेति । संशयणाधित्तीणुत्तलत्तणो चैव इमं च आससा भणति-  
को हा ! तद्दा समत्थो, जं तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं ।  
जहसची पुण कीरति, ददा पइणाण हवइ एवं ॥ १३५ ॥  
धीरपुरिसा तित्थकपादीं जडासत्तिप कीरति एवं अणुणाणं ददा पइणाण भवति जो एवं भणति, जो पुण अपणहा वदति, अणुहा य करेति, तस्स सत्था पइणाण भवति ।

आयरिओ जण्णति-

सत्वेसिं एव चरणं, पुण्यं य मयावयुं दुइसयाणं ।

मा रामदोसवसमा, अप्पण सरणं पत्तीवइ ॥ १३६ ॥

सत्वेसिं भवसिद्धियाणं, चरणं-सरीरमाणसाणं दुक्खण वि-मोक्खणकरं, ते तुज्जेसं सयं वीरयाणो अप्पणं चरिसेण रामा-णुगता उअण्यचरणणं दोसमावक्का मा भणइ-चरणं णत्थि, मा तंथेव वसइ, तं वेव सरणं पत्तीवइ, जो सहेत्थयं ।

किंच-

संतगुणणामणा खलु, परपरिवाओ व होति अलियं वा ।

धम्मं य अबहुमाणा, साहुपदेसि य संसारो ॥ १३७ ॥

चरणं एण्णि णि एवं भणंतेहिं साधुणं संतगुणणां कतो भवति; पश्यणस्स य परिज्जो कतो भवति; अलियवयणं च भवति । चरणधम्मं पत्तोचिउत्ते, चरणधम्मं य अणुहुमाणो कतो जवति, साधुणं य पदांसा कतो भवति, साधुपदांसण य संसारो वदित्तो जवति ।

किंच-

सय-उवसम-भीसं पि अजिणकासे वि तिचिदं भवे चरणं ।

मिस्सातो चिप पावति, सयउवसमं च णाणत्ता ॥ १३८ ॥

तित्यकरकात्रे वि निविहं चारिभं-आइयं, उवसमिषं, लाइश्रोव-  
क्षामियं च । तस्मि वि तित्यकरकात्रे मिस्साभो चैव चारिसाभो  
क्षामियं उवसामियं वा चारित् पावति, नात्यस्मात् । बहुतरा य  
चारित्तियेसा अश्रोवसमभावे भवति ।

किंच तीर्थेकरकात्रे वि—

अइयारो वि हु चरणे, त्रितस्स मिस्सेण दोस इतरेमु ।  
वच्छानुरदिद्वंता, पच्छित्तणं स तु विमुञ्ज्भो ॥ ३३६ ॥

(इयरेत्तु स्ति) लाइए उवसमिषं वा । जहा-वच्छं सारादीहिं  
सुज्जति, आतुरस्स वा रोगो वमणविरयेणश्रोसहपत्रांगोहिं सो-  
दिज्जति, तथा सापुस्स चरणोद्दइयारो पच्छित्तणं सुज्जति ।  
जे च भाणियं-आतिसयरेदरिहाहिं सुजासुक्कवरण ण सुज्जति-  
दुविहं चैव पपाणं, पवक्कं चैव तह परोक्कं च ।  
चउ वा निविह्ता पदमं, आगुपाणंपम्मामुत्तरं ॥३३७॥

आहिं-मणपजव-केवलं च-पयं तिविषं पवक्कं, धुमादिमिहान-  
मनुमानम्, यथा गौः तथा गवय औपम्यं, सुत्तमित् आगमः,  
इयरे ति पयं तिविषं परोक्कं ।

सुक्कमुद्धं चरणं, जहा उ जाणंति ओदिहाणीभो ।

आगारेदि मणं पि व, जाणंति तदेतराभावं ॥३३८॥

पुव्यदं कंठे । जहा परक्कमुद्दणे ति बाहिरागारेहिं अंतर-  
गतो मणे णज्जति, तथा इयरे स्ति परोक्कणाणी आलोयणाविहाणं  
सोदं पुडाअरबाडियाहिं गिराहिं आचरणेहिं य जाणंति चारित्त  
भावं च सुद्धं, सुद्धेतरं च ।

चादग आह-जइ आगारेण भावो सज्जति तो उवाइमर-  
गादाणं कि ण भावो ? आचाव्ये आह-

कामं जिणपवक्कला, गुदावाराण दुम्मणो जावो ।

तह वि य परोक्कमुद्धं, जुत्तम्मं प सव्वीभाए ॥३३९॥

काममित् अनुमनाये । जइ वि जे उदासारादिगुदायारा,  
तेसि छुउमयेणं दुक्कं उवल्लभति, भावो सां जिणाण पुण  
पवक्कलो, तहा वि परोक्कणाणी आगामाणुसारंण चरित्तसुक्क  
करेति चैव । कहे ? उच्यते-( जुत्तस्स वात् ) जहा सुत्ताव-  
उत्ता मीसजायजोयरो रामो स्ति पअस्स उगमदोसा, दुम पस्स-  
णा दोसा, एतं पणवीसं जहा सुत्ताणुसारंण सोहेत्तां चरणं सोहिं-  
ति, तथा सुत्ताणुसारंण पच्छित्तं देतां करेत्तां य चरित्तं सोधेति ।

आज्जतचरणो इमेहिं कओहिं होजा-

होज्ज हु वसणुप्पात्तां, सररीदोवन्नप्राणं असमरया ।

चरणकरणे अमुच्छेत्, सुक्कं ममं परूवेजा ॥३४०॥

व्यसन्तं आवती, मउजगीनादियं वा, तस्मि उउजमति, अदवा-  
सररीदुवन्नलणभो असमरयां सउज्जवयादिलहगादि किरिय  
कात्, अकपिय्यादियसिंहणं च । अथवा-सररीदोवन्नोत्तां, अस-  
मरयां व, अददधम्मा, पवमादिकारणेहिं चरणकरणं मे अवि-  
सुक्कं । तथा वि अणपणं गरिहेत्तां सुक्कं सट्टुममं परूवेत्ता आ-  
रायणो चैव भवति ।

इमे चैव अरथो भणति-

ओसएणादिनिहारे, कम्मं सिदिलेति मुलजभोदीए ।

चरणकरणं णिगुहति, न य बांदिं वुद्धं जणै ॥३४४॥

कट्ठ्या । जो पुण ओसत्थो होउं ओसत्थं ममं उववूहव, सुद्धं

चरणममं गदति, इमेहिं कारणोहिं इमं चसे छुद्धभवोदी (अरथे)  
फलं । अदवा-

गुणसयसहस्सकलियं, गुणंतेरं वा अभिलसंताणं ।

चरणकरणंजिहासो, गुणुत्तरंतेरं सो लहू ॥३४५॥

गुणां सयं गुणसयं, गुणसयाणं साहस्सं, उदोऽंगमथा सकार-  
स्स हस्सता कता, ते य अट्टारस्स सीडंगसहस्सा, तेहिं कवियं जु-  
त्तं संखियं वा । कि न ? चारित्तं, ते जो य पसंसति । किंच-गुणभा-  
सी उत्तरं च गुणोत्तरम् । अथवा-अयेऽप गुणाः सन्ति क्षमाव-  
यः, तथा गुणुत्तरं च गुणुत्तरं साराचारित्तं । गुणुत्तरं पुण अह-  
क्कयाचारित्तं भवति, तं च जे अभिलसंति ते च उज्जतचरणो  
इत्यर्थः । ते य उववूहेते जो आसणो अण्णया य उज्जयचरणो  
होइ ति चरणकरकाभिलासो भवति, स पयंवादी गुणुत्तरंतेरं  
भवति, अहक्कयाचारित्तमित्यर्थः । अथवा-गुणुत्तरंतेरं पुण  
मोक्कसुद्धं भरणति, तं लभति ।

जो पुण ओसएणो-

जिणवयणजावितेण तु, गुणुत्तरं सो वि जाणत्ता ।

चरणकरणंजिहासी, गुणुत्तरंतेरं तु मो हएणि ॥३४६॥

गुणुत्तरंतेरं चारित्तं, साधु वाःअण्णया य चरणकरणंवाघाते वट्ट-  
ति, अहवा-चरणकरणम्मु ज्जुत्त, ण वा निदा परोवघातं करइ, स  
पयंवादी गुणुत्तरं-चारित्त, मोक्कसुद्धं वा, इणंति ण लभतिऽज्जेण  
सो दीहसंमारित्तमं णिवत्तंति ।

जो ओसमं ओसणममं वा उववूहेति-

सो होतो परिणतो, पंचागं अण्णो अट्ठित्तो य ।

सुयमीलित्तियाणं, नाणे चरणे य मोक्कये य ॥३४७॥

पंचपामत्यादिम्यमीलो विहारलगाओ चाडओ कामा, अ-  
वियत्ता अगंयथा णाणचरणमोक्कस्स य एतंस मव्योसं परि-  
णतो जयति ।

इमेहिं पुण कारणेहिं ओसमं ओसणममं वा उववूहेज्जा-

वित्तियपदमणप्यज्भो, वण्ण अतिकोपिते व अण्णज्भो ।

जाणंते वा वि पुणो, जययातव्वादिगच्छत्ता ॥३४८॥

रायासि य ओसणणुवित्तोअ भया भणंज्जात्तवाड स्ति ।  
कथिद्वादी इयात्-तपरिवन्मनपरिवेधन वयतः पापं भवतीति नः  
प्रतिज्ञा । तत्रप्रतिघातकरणं वुत्तरिइय अनुसराइय मंगउज,  
दुभिअक्कयिदिसु वा ओसणणवविणुसु खत्तसु अर्थतो आस-  
णाणुवत्तींओ गच्छुवरिपालणत्ता भणज्ज ॥

जे जिक्खु अनुसराइयं तुमराइयं वदं, वदंते वा साइ-

उज्जइ ॥ ३४ ॥

एमेव वित्तियमुत्ते, तुमराइयं अनुसराइ व ।

जो पुण वण्णज भिक्खु, अनुसिमिगं तु तुमिराइ ॥३४९॥

कण्ठ्या ।

ऐगचारियं जणंता, सयं व तेसु य पदेसु वदंते ॥

सगदोमश्रायणत्ता, केड पसंमंति गिक्कम्मे ॥ ३५० ॥

कोइ पालस्यदीणं पगचारियं भवति-पस सुदुरं, पयस्स व-  
गाणिणो ण केणइ सह रागदोसा उण्णज्जति । सो वि अण्णया  
गण्णपंजउभयो तस्मि चैव णणं वट्टति । सां य अण्णवियज्जदोसे  
नादिकामो ते पासत्थादियं पगचारि जिद्धम्मं पसंसति ।

इमं च भणति-

कुक्कयं खु जहुत्ता, चाइडिया विसीदंति ।

एसो निविउयमगा, जस्त जवतो व चरणमुष्ठी ३५ ॥

एवं जयने इमे दोसा-

अभकखानं गिस्मं-कयाइ असंसजपस्य व थिरचं ।

अप्या उम्मगतिओ, अनएणवादो व तिरयस्म ॥ ३५३ ॥

असंजतभाहुउम्मायं अउन्नकखायं अणुसिरातिथं भणति । सो ए पसंसिअमाणो गिस्मंको भवति । मंधुअमाण वि अमेजम (यिरिकरुणं) करोति । अयं च उम्मगपसंसणए अणपया व उम्मग-  
ट्टियो, ततो तिरयस्स व अण्यपदाथेन अयण्येवादः कृतो जवति ।

किंच-

जो जत्य होइ मगो, ओयासं सो परस्स भविदो ।

गंतु तत्य वणंते, इमं पढाणं ति घोसंति ॥ ३५३ ॥

अकाणिगदिट्टेणेण आस्सपणो उवसयांरयअं । सेसं कंठं ।

किंच-

पुव्वगयकालियसुय-संवातंसंतिहे केइ खोअंति ।

ओस्सएणचरणकरणा, इमं पढाणं ति घोसंति ॥ ३५४ ॥

पुव्वगयकालियसुयणिबंधपण्यतो दीसंति । तथ कालियसुये  
अमोरसो आलावगो-“बहुमाहो वि यणं पुव्वं षिइरिस्ता पच्छा  
सुवेत्तं कालं करजा कि आराइए, शिराइए ? गोयमा! आराहए,  
खो विगहए” । एवं पुव्वगदिए वि जे के वि आलावगते उअ-  
रिस्ता परं आंमिनि; अणपया वा खुअंति । सीदंतीत्यर्थः । ते य  
ओसएणचरणकरणा इमं ति अप्पणो चरियं पहणं घोसंति ।

इमंति पुरतो-

अबहुस्सुण अगीयत्थे, तरुणे मंदपम्मिणो ।

परियारपूःयाहेउं, संमोहेउ निरंजाति ॥ ३५५ ॥

जेण आयाएपगणो सण्णइतो एस अबहुस्सुतो; जेण आव-  
स्समादियाणं अथां वा सुअो सो अगीयत्थो, सोअसवस्सियाण  
आदवेणु जाव चत्ताश्रीसवस्सो एस तरुणो, असंवेगी मंधपम्मो।  
एते पुंसिस्स विपरियामिनि अप्पणो परिचारहेउं, एतेहि थ परि-  
चारितो सोगस्स पुयाणज्जा होउं, कालियं दिट्टियाथे भणितेहि  
अहवा अभाणतोहि वा समोहेउ अप्पणो पासं गिरंभति, प-  
रतोत्यर्थः । अहवा-अं एतं पभावेति एतं अबहुस्सुओ  
अगीयत्थो तरुणो वा मंधपम्मो वा । सेसं कंठं ।

जत्यांविओ विहारो, तं चेव परंमए सुलजजोही ।

ओमसाविहारं पुण, पसंसए दीहुमंसारो ॥ ३५६ ॥

जो संबिभाविहाराओ जुओ तं पसंसति जो सो सुअमबोही ।  
जो पुण ओससाविहारं पसंसति सो असुअमबोही दीहसं-  
सारो भवति ॥

वितियपदमणप्पओ, वएज्ज अविकोविए व अण्यओ।

जो जाणंता वि पुणो, जयसातव्वादिगच्छडा ॥३६७॥

पूर्ववच ।

जे जिकवु सुवराइयाओ गणाओ अबुसराइयं गणं सं-  
कपड, सकमंतं वा साइज्ज ॥ १ ॥

बुसिराइयाणाओ, जे थिकवु संकमे अबुसिराइ ।

पदमवितियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥३५८॥

तो बुसिरातिथं चउओमो कायव्यो । चउत्थमेण अवत्थुं, त-  
तियमेण अणुणे, पदमवितियलु संकमो पडिसिको । पदमे सं-  
कमंतस्स मासलहु, वितिए चउअहु । चोदगाइ-उत्थ वितिए प-  
डिसो, पदममेण कि पडिसोहो ? । आचार्योइ-तथ सिक्कार-  
णे पडिसहो, कारणे पुण पदममेण उवसंपदं करोति ।

सा य उवसंपया कासं पणुअ तिविहा इमा-

उम्मासे उवसंपद, जएण वारसममा उ मज्जिमिया ।

आवकइा उकोसा, पदिच्छसंसि तु आजीवं ॥ ३५९ ॥

उवसंपदा निविहा-जहया, मउिअमा, उकोसा य । जहया उ-  
म्मासे, मउिमा वारसवरिसे, उकोसा जावउजीवं । एवं पदि-  
च्छगस्स एगविहा चेव जावउजीवं आयरिअं ण मोसव्यो ।

अम्मासेपूरतो, गुरुगा वारससपामु चउलट्टमा ।

तेण पर मासियसे, भणितं पुण आरेते कज्जे ॥३६० ॥

जेण पदिच्छगणं लुम्मासिआ उवसंपया कया, सां जहि उम्मासे  
अपुरिस्ता जानि, तस्स चउगुरुगाजेण वारस धरिस्ता कया, ते अ-  
पुरिस्ता जाओ तो चउअहु । जेण जावउजीवं उवसंपदा कता, तस्स  
मासलहु । उम्मासासं परेण सिक्कारणे गच्छुतस्स मासअहु । जेण  
वारससमा उवसंपया कया, तस्स वि उम्मासे अपूरतस्स चउ-  
गुरुगा च्छे, तस्सेव वारससमाअं अपूरतस्स चउअहुगा । पस  
साह । गच्छतो गितस्स जगिता ॥ नि० खू० १६ उ० ॥

अवेकत्वमाण-अपेक्षमाण-वि० । निर्गोक्रमाण, हा० ३ अ० ।

अवेज्ज-अवेधे-वि० । स्वसमानाधिकरणसमानकाश्रीनसाहा-  
काराऽविषये, हा० ३० हा० ।

अवेज्जसंवेज्जपय-अवेधसंवेधपद-न० । महाभिध्यात्वनिबन्धने  
पशुवादिशब्दवाच्ये, हा० २३ हा० ।

अवेधे-अवेद-पु० । पुरुषवेदादिवेदरहिते, प्रहा० २ पद । सि-  
खादीं, स्थानं २ शान् १ उ० ।

अवेयदत्ता-अवेदयित्वा-अव्य० । वेदमकत्वत्यर्थे, प्रश्न० १  
आध० द्वार ।

अवेयेण-अवेदेन-वि० । न विद्यते वेदेना यस्य स अवेदेनः ।  
अदपवेदेन वेदेनारहित, उक्त० १६ अ० । सातापसातवेदेनामा-  
वात् सिक् च । प्रहा० २ पद ।

अवेपवच-अपेतवाच्य-वि० । वचनीयतारहिते, वृ० १ उ० ।

अवेरमाणजाण-अवेरमाणध्यान-न० । न विग्मणमविरमणम;  
तस्य ध्यानमे । वा जृत् पुत्रयोर्विर्तबुद्धिरित्यस्यैकतामपि देश-  
विरतिं परित्यज्य प्राप्नोषामसमाभिनयः । एते साधवो मांसा-  
शिने राज्ञसाः इत्यतस्तथाश्रं न गन्मत्यमिति तनयविदित्विप्र-  
तारणयोर्भृशुपुत्रयोर्वि, जयवेदेन प्रतिबोद्धमानस्यापि मुहुर्मुहु-  
र्विर्गति त्यजतस्तत्कानुरिच, मेतार्थस्येव वा दुर्धन्येन, आनु० ।

अवोग्रा-अव्याकृता-स्त्री० । अतिभन्नीरशब्दाद्योयास-अव्य-  
काकप्रत्युकार्या वा अविभाषिताभेत्वाद् जाषायास, प्रश्न० १  
सम्ब० द्वार । “अवोच्छिन्नप्र अवोग्राइए” । स० ६ ससम० । अव्य-  
कृता, यथा-वालकादीनां धर्षानका । दश० ७ अ० ।



अत्रोच्छिन्नम्-अव्युच्छिन्नम्-वि० । उत्तरात्तरानुवृत्त्या व्यवच्छेद-  
यन्त्ये, आच्चा० १ श्रु० ४ आ० ४ उ० ।

अत्रोच्छिन्नित्णय-अव्यवच्छिन्नित्णय-पुं० । अतस्य कालान्तरप्रा-  
पण्ये, स्था० ५ डा० ३ उ० । अव्यवच्छिन्नप्रतिपादपरं नयो-  
ऽव्यवच्छिन्नितयः । उच्यवस्तिकनये, न० ।

अत्रोच्छिन्नित्णयद्व-अव्यवच्छिन्नित्णयार्थ-पुं० । ६ न० । उच्ये, न० ।

अत्रोच्छिन्नित्णयद्वया-अव्यवच्छिन्नित्णयार्थान्-स्त्री० । अव्यवच्छि-  
न्नित्णयार्थस्य भावोऽव्यवच्छिन्नित्णयार्थतः । द्रव्यपङ्क्यायाम्, न० ।

अत्रोत्तराण-अव्युत्सर्जन-न० । अपरित्याग, दशा० १० अध्या० ।

अत्रोह-अपोह-पुं० । अपोहनमपोहः । निश्चये, न० । आ० म० ।

प्रासार्थे " ततो अत्रोहय वा " ततः पर्यालोचनात्तरम-  
पोहने । आ० म० प्र० । अपोहान्ते स्वाकारात्पर्यन्त आकारा-  
ऽन्येनोच्यते । स्वाकारविपरिगताकारान्मूलकं, स्वल्ग० ४ पवि० ।  
अभ्यापोदपदार्थाधिगणितस्वात्पोह इत्युच्यते । सम० १ का-  
राड । (अपोहः शब्दार्थः प्रासिद्ध इति 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे  
६४ पृष्ठे द्रष्टव्यः) अप्रगत ऊर्दा वादिस्मृदुनाविनसकां य-  
स्मान् 'अबहु० । वादिस्मृदुनाविनतर्कान्साधयं प्रतिवादिस्मृ-  
दुनाविने तद्विच्छेदे तर्कभेदे, वाच० । ( 'अपोह' शब्दोऽस्मिन्नेव  
भागं ६३२ पृष्ठे संक्षेपतोऽर्थं निरूपितः, विस्तरतस्तु 'सहृद्य'  
शब्दे वदयते )

अत्रोद्गारिण-अव्यवहरणीय-वि० । जाले, नि० चू० १ उ० ।

अत्रोद्गर्जाव-अव्ययीजाव-पुं० । अनव्ययमव्ययं भवत्यनेन ।  
अव्यय-विच-भू-करणे घञ् । व्यकरणप्रासिद्धे समासभेदे,  
वाच० । अनु० ।

स किं न अत्रोद्गर्जावे ? अत्रोद्गर्भावे आगुमाभा, आगुण-  
इया, आगुफरिडा, आगुचरिगा । संचं अत्रोद्गर्जावे समासे ॥  
पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, तत्र प्रामस्य यन् नमोरेण मध्येन  
वाऽशानिर्निगता अनुग्रामम् । एवं नद्याः समीपेन मध्येन वा नि-  
र्गता अनुनदि, इत्याद्यापि ज्ञानवीयम् । अनु० ।

अत्रोर्ग-अत्रोर्ग्य-न० । अङ्गने, यस्य ङ्गने कृते न विद्यते । व्य०-  
७ उ० ।

अत्रोर्विलत्त-अत्रोर्वासिप्त-वि० । स्थिते, 'अत्रोर्विलत्तय चेतसा'  
अव्याङ्गितेन स्थितेण चेतसा । उक्त० २० अ० । कल्पयोगोऽय-  
मगच्छतेत्यर्थः । दशा० ५ आ० १ उ० । पं० १० । व्याङ्ग्यमकृत्यनि,  
प्रतीच्छुनायोभ्ये, " वक्त्रवचना दुसच्छु, दिवसएषु लीलाज्ञे ।  
दुग्मादौ जाय पठे-तो न कर्णने विकल्पे ॥ १ ॥ अत्रोर्विलत्तो  
पसा, आउत्सो ङणएहमस्तो उ ॥ " पं० भा० ।

अत्रोर्गमण-अव्युत्पन्नम्-वि० । अव्यवचनाकुत्रितमममज्जस-  
च्चित्तोपरमनो मतश्चित्तमस्येव्यव्यवममनः । अनुकूलचित्तं, वच०  
१५ अ० ।

अत्रोत्त-अव्युत्त-न० । न व्यक्तमव्यक्तम् । अनिर्दिश्ये स्वस्व-  
रूपमाज्ञात्यादिकद्वयानादिहेतु । न० । सर्वप्रकृतौ साङ्ख्यपरिक-  
ल्पिते प्रथाने, आ० म० प्र० । अव्यक्तमव्यक्तं प्रथयति,  
ततः पश्चित्तं ज्ञानम् । आ० म० प्र० । ध्रुनवयोर्न्यां लघौ,  
भावा० २ श्रु० ४ अ० ३ उ० । व्यसत्ता लघौ ध्रुनवयोपर्यन्ते, जाल० ।  
व्य० । यावत्कङ्गादिदु रोमसभयो न भवति तावदव्यक्तो भव-

ति । नि० चू० १ उ० । व्य० । अव्यक्तोऽष्टानां वर्णानां मध्ये  
वास्तः । आ० ५ । अशीनाथं, नि० चू० २ उ० । अनवयानप्रे-  
द्वन्प्रहरहस्ये, घ० २ अ० ५ । अव्यक्तोऽगतांशेन स्वाऽव्यक्तस्य  
गुरोः पुरतो यदपराशांत्वात्च न तदव्यक्तम् । आलोचनादिभि, व्य० १  
उ० । स्था० । " जाय अशीयन्त्यस्वा, आशोप तं तु हांद्  
अव्यक्तं " सत्या सत्यत्रामतिदव्यक्तवादी । सयताऽभ्युपगमे  
संदिग्धवृत्तौ निहये, आ० म० द्वि० ।

अव्यक्तगम-अव्यक्तगम-वि० । गमनाभावे, नेष्टुमसमर्थं च । सूत्र०  
१ श्रु० १४ अ० ।

अव्यक्तवत्त्वगमचिय-अव्यक्तव्यक्तमचित्त-पुं० । द्वादिः संख्या-  
व्यवहायतः शीघ्रमेहेलिकायाः परतोऽसंख्यायाश्च संख्यायैनासं-  
ख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाव्यक्तव्यक्तः स च एककस्तेनाऽव्यक्त-  
व्येन एककते एकव्यक्तव्यक्तं संख्याता अव्यक्तव्यक्तस्येतिना ।  
कतिपयेनाऽकतिपयेन चानिर्वचनीयोत्यादेषु, नि० २ श० १ उ० ।  
( अत्र दशक 'अवधाय' शब्दे द्वितीयभागे ६२१ पृष्ठे वदयते )

अव्यक्तदर्शन-अव्यक्तदर्शन-पुं० । अव्यक्तमव्यक्तं दर्शनमनुभ-  
वः स्वभावेन यत्र साव्यक्तदर्शनः । स्वप्रदर्शनभेदे, म० १६  
शा० ६ उ० ।

अव्यक्तमय-अव्यक्तमय-पुं० । न हाप्येतेऽत्र कोऽपि संयतः को-  
ऽव्यस्यत इत्यव्यक्तस्यैव सर्वस्याभ्युपगमाच्च व्यक्तमस्कृष्टमव्यक्तं  
मते येनां तेऽव्यक्तमताः । संयताद्यवगमे संदिग्धवृत्तियु निह-  
येत्, विश० । आ० म० । आ० चू० ।

अव्यक्तस्वरूप-अव्यक्तस्वरूप-वि० । अमूर्तेनाऽव्यक्तं रूपमस्याऽ-  
साव्यक्तस्वरूपः । तथा-कश्चरुणुशिरोध्रीवाद्यनवययनया स्वतोऽ-  
व्यस्थानाज्जाये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अव्यक्तिय-अव्यक्तिय-पुं० । अव्यक्तमस्कृष्टं वस्तु अभ्युप-  
गमतो विद्यते येभ्योऽव्यक्तिकाः । संयताद्यवगमे संदिग्धवृत्तियु-  
त्तु, स्था० ७ डा० । वच० । अं० ।

तदुत्पत्तिमते वेधम्-तुर्नायनिहववक्तव्यनामाह-

चोदा दो वामभया, तया सिद्धि गयसम वीरसस ।  
तो अव्यक्तियदिद्री, मेयवियाप समुपन्ना ॥

चतुर्दशांशकं वपेराशयं तथा श्रीमन्महाशिवोऽस्य सिद्धि गत-  
स्याऽऽसीत्, ततोऽव्यक्तानां पातनिहववतानां हाट्टदर्शनकया श्वेतवि-  
कायां नगर्था समुपपन्नं ।

कथय ? इत्याह-

मेयवियपोलमादे, जोगे तदिद्वसहिययमूडे य ।  
सोदृम्भिनलिगिगुम्भे, रायागिडे मुगियवज्ञाने ॥

इह श्वेतविकारायां नगर्थापोलापादभैरवे आयां पादनामान आच्चा-  
याः स्थिताः । तेषां च वदवः शिष्या आगच्छयां प्रपन्नाः अपरवा-  
चनाचार्यासंख्ये च त एवाऽऽचार्यापादसुरयस्तेषां वाचनाचा-  
येष्वं प्रतिपन्नाः । तथाविधकर्मविपाकतश्च ते तेष्व दिवसे राज-  
न्ये । इत्ययंनेन काश्च ह्यवा सौधमे देवकोके नान्निगुत्तिल्लमधामनि  
देवधेनोत्पन्नाः । स च विज्ञानाः कृतापि गच्छमर्थे । नतोऽवधिना  
माकनव्यतिकरं विहाय स्वाध्यायकम्पया समागत्य तदेव शरीरम-  
प्रिष्टायोत्पाद्य च प्रांतास्तेन साधयः । यथा-धराशिककाला यु-  
द्धातः । ततः कृतं स/धुभिस्संधय, ध्रुनवेदोहाससमुद्देशानुहाश्च तद-

प्रतः कृताः । एष दिव्यप्रभासतस्तेन द्येन तेषां साधूनां कालभङ्गादिभिन्धन रक्ता शीघ्रमेव विस्तराग्निना यागाः । ततोऽनेन तच्छरीरं मुक्त्वा विवे गच्छता प्रोक्ताः साधवः । यथा-  
 'कर्मयोगे भद्रं ते यद्विद्यं संयतन सता मया आत्मनो वन्दनादौ न वारिताः । चारित्रिणां युयम् । अह ह्यमुकदिन कालं कृत्वा दिव्यं गतो युष्मद्भुक्तस्यवाऽप्रागतः । निस्कारिताश्च भवतामागाधयोः । । इत्याद्युक्त्वा क्रमधित्वा च स्वस्थानं गतः । ततस्ते साधवस्तच्छरीरकं परिस्थाप्य चिन्तयन्ति-अहो ! असंयतो बहुकालं चन्दितः तद्विद्यमन्यथापि शङ्का-को जानाति कोऽपि संयतः, कोऽप्यसंयतो देव इति ? ततः सर्वस्याप्यवन्दनमेव श्रेयः, अन्यथा ह्यसंयतवन्दनं, मृषावाद्बन्ध स्यात् । इत्यथ तथाविचगुरुकर्मोद्घासात्परिणामतयः साधवोऽप्यक्तवाद् प्रतिपन्नाः परस्परं न वन्दन्त । ततः स्थायिरेस्तऽजिदिनाः-यदि परस्मिन् सर्वे च त्रयानां संदेहस्तां देवकं देवाऽहमिति' तत्रापि भयतां कथं न संदेहः, किं स देवा वाऽदेवो वाः, इति । अथ तेन स्वयमेव कथितम्-अहं देवः, तथा देवकं च प्रत्यक्ष एव हृष्टमिति न तत्र संदेहः । हन्त ! यद्येवं तर्हि य एव कथयन्ति वयं साधवः, तथा साधुरूपां प्रत्यक्षत एव हृश्यन्ते, नेषु कः साधुत्वसंदेहः, येन परस्परं युयं न वन्दन्ते ? नच देववचनादेव वचन सत्यमिति शक्यते वक्तुम्, देववचनं हि श्रीमहाद्ययमेवमथाऽपि संभाव्यते । नच तथा साधुवचन, नद्विरतन्यासे-पामिति । एवं च युगं कनियोवन्न प्रहाप्यते तावदुक्त्वा बह्याः कृताः पर्यटनञ्च राजसुहृदं नगरं गताः । तत्र च मौर्ध्वंशसभूतो बलजन्तु नाम राजा, स च आदः । ततः तेन विहायाना यथा-अयं कर्वादिनां निद्वया इह समायाता गुणशिशुर्कवेत्ये तिष्ठन्ति, ततः स्वपुर्याव प्रथम राजकुल आनायिताः । ततः ते कटकर्मनेन मारणार्थं आह्वानाः । ततो हस्तनिर्कटेषु च तस्मैर्दानार्थं मानीनेषु तैः प्रोक्तम्-राजन् ! वयं जानामः-आयकस्त्वं, तत्कथं श्रमणानस्मान्तिथ्य भावयामि ? ततो राजा प्रोक्तम्-युष्मत्सिद्धान्तेनैव का जानाति आयकंऽहं, न वा ? भवतोऽपि किं वीरारक्षारिका अभिमरा वेत्यापि का वेति ? तैः प्रोक्तम्-साधवो वयम् । यद्येवमव्यक्तवादितया किमिति परस्परमपि यथाऽप्येष्टं वन्दनादिकं न कुरुषु ? इत्यादिनिर्गुरैस्तुभिश्च वचनैः प्रोक्तस्ते नरपतिना । ततः संबुद्धा लज्जिताश्च निःशङ्कताः सम्मार्गं प्रतिपन्नाः । ततो राजा प्रोक्तम्-भवतां सर्वधनार्थमिदं मया सर्वमपि विदहतिमिति क्रमणोपरिमितं ।

अनुभवार्थं भाष्यकारः प्राह—

गुरुणा देवोर्नृप, समाणरूपेण वाऽया सीसा ।

सन्नावपरो कदित्रो, अध्वत्तियदिष्टिणां जाया ॥

गतार्थो ।

कथमव्यक्तदृष्टयो ज्ञाताः, इत्याह—

को जाणतु किं साह, देवो वा तं वंदिषिजो चि ।

हो ज्ञाऽयं जयनमण, हो ज्ञा मुसावायममगो चि ॥

को जानाति किमयं साधुवेषधारी साधुर्देवो वा ? नास्त्येवात्र निश्चय इति । अत्र नच वक्तव्यं साधुरेवार्थं तत्रैव समाचारदर्शनाद्भवाविविधः आर्योपाद्वेदेषुपि साधुवेषसमाचारदर्शनेनैकान्तिकतायाः । तस्मात्त्र कोऽपि वन्दनीयः संशयविषयत्वात् । यदि पुनर्वन्देते, तदा आर्योपाद्वेवन्दन इवासंयतवन्दनं स्यात्, अनुको प्रवीतीति भाषणं च मृषावाद्ः स्यादिति ।

अथ प्रतिविधानमाह—

धरवयणं जइ परं, संदेहो किं मुरो ति साहू चि ? ।  
 देवं कहे न संका, किं सो देवो न देवो चि ? ॥  
 तेण कहियं ति च मई, देवोऽहं रूवदरिसाणो भो य ।  
 साहू चि अहं कदिए, समाणरूवमि किं संका ? ॥  
 देवस्स च किं वयणं, सत्त्वं ति न साहूरूवधारिसम ।  
 न परोप्परं पि वंदेह, जं जाणंता वि साहू चि ॥

तिस्रोऽप्युक्तार्थो ।

किञ्च-यदि प्रायःकेश्यपि यतिषु भवतां शङ्का, तर्हि परोक्षेण जीवादिषु सुतरामसौ प्राप्नोति, ततः सम्यक्त्वस्याप्यभाष इति दर्शयन्माह—

जो वाऽप्यथेषुं सुहु-मव्ववद्विपविगिह्ठरूवेसुं ।  
 अचंतपरोक्खेसुं य, किह न जिणैऽसुं जे संका ? ॥  
 गतार्थो ।

अथ जिनवचनाजीवादिषु न शङ्का, तद्वेदादिहापि मानमित्याह—  
 नव्वयाणामो व मई, नणु त्त्तयथे सुमाहुवित्तो ति ।  
 आलायविहारममिज्जो, समणोऽयं वंदणिज्जो चि ॥

अथ तद्वचनाजिनवचनाजीवाद्येषु न शङ्का । ननु स्येषं, तद्वचनं इदमप्यस्ति-यदुत शोभनं साधुवृत्तं श्रमणशीलं यस्यासौ सुमाधुवुत्त इति हेतोः श्रमणोऽयमिति निश्चयाद्वन्दनीयः । सुसाधुवृत्तोऽपि स कथं ज्ञायते ? इत्याह-आशयविहारमिति इति कृत्वा । उक्तं च—  
 "अप्रलयं विहारंण, जणा वेकमण्ण ण य । सक्का सुविहियं नां, प्रासा वणइएणयं" ॥ १ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह—

जह वा जिणिदपनिमं, जिणमुगारहिप नि जाणमाणा वि ।  
 परिणामविमुक्तयं, वंदेह तह किं न साहूं पि ? ।

हो ज्ञं न वा साहूत्तं, जइरूवे नत्थि चेव पदिमार्ण ।  
 सा कोस वंदणिज्जो, जइरूवे कोस पदिमेहो ? ॥

सुगमे । नवरं प्रथममाधार्थां प्रतिमायाः साधुरूपेण सह वन्दनीयं साम्यमुक्तम् । द्वितीयमाधार्थां तु साधुरूपे विशेषं दर्शयन्ति-यतिरूपे प्राणिनि साधुवेषं जेवद् न वेति संदिग्धमेव, प्रतिमायां तु जिनवेषं नास्त्येविति निश्चयः । ततः किमिति स वन्दनीया, यतिरूपं च किमिति वन्दनप्रतिषेधः ? ।

अत्रोत्तरमाह—

अस्संजइजइरूवे, पावाणुमई मई न पदिमार्ण ।  
 नणु देवाणुगयाए, पदिमार्ण वि हो ज्ञो सौ दोसो ॥

अथैवंज्ञाना मतिः परस्य जनेन-असंयतेऽधिष्ठितयतिरूपे वन्दमाने तद्गतसंयमरूपपापाऽनुमानंभवति, न स्वसौ प्रतिमाया-म् । अत्रोच्यते-ननु देवताऽधिष्ठितप्रतिमायामप्ययमनुमितिलक्षणां दोषो भवदिति ।

अथैवं मृषात्परः—

अह पदिमार्णं न दोसो, जिणुक्कीए नमिउ विमुक्कस्स ।  
 तो जइरूवे नमिउं, जइरूक्कीए कइं दोसो ? ॥  
 अथ प्रतिमायां तानुमितिलक्षणे दोषः, किं कुर्वतः ?, नमस्यतः,

कयाः, जिनमुद्धा, कथंभूतस्य, विद्युत्काव्यवसायस्य । बधेवं ततो यातिकुद्धा यतिकपं विद्युत्कस्य नमस्यतः को दोषो येन भवत्यः परस्परं न चन्ते ? । अत्रपरः कश्चिदाह—बधेवं, सिद्धमात्रधारिणं पार्थिव्यादिकमपि बन्तिबुद्ध्याऽविद्युत्कस्य नमस्यतो न दोषः । तद्व्युक्तमः, पार्थिव्यादीनां सम्प्रत्यतिकपस्याप्यत्रावात् । तदज्ञाबधे 'आलयास्तु विहारयेण' इत्यादिर्व्यतिङ्गित्यनुपलम्भात् । ततः प्रत्यङ्कदोषवतः पार्थिव्यादीन्वदमानस्य तत्सावधानुद्धानलक्षणो दोष एव । उक्तं च—'जह चलेवगलिगे, जाणंतस्स नमित्तं हवह दोसां । निवंधसे पि नाउं, ए वंदमाणं पुवो दोसां' ॥१॥ इत्यादि । प्रतियोग्यस्तु दोषाभावात्तद्वन्दने सावधानुद्धानावतो न दोष इति ।

अत्र पुनरापि पराजिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

अहं पदिमं पि न बंधहं, देवसंकापै तो न येतन्वा ।

आहारोवाहिसेजा—आो देवकया भवे जं नु ॥

अथ प्रतिमामपि न चन्द्ये व्ययम् । इति । यथैव शङ्काचारो प्रवान्, तर्हि—मा देवकृता भवेत्पुरित्याहारोपधिषाभ्यादयोऽपि न प्राप्ता इति ।

किञ्चेत्यमतिशङ्कालुतायां स्वस्तव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः, कुतः ? , इत्याह—

को जाणइ किं भत्तं, किमओ किं पाणयं ज्ञं पवजं ।

किमलावुं गाणिकं, किं सपपां चीवरं हारो ? ॥

को जाणइ किं सुच्छं, किममुद्धं किं सजीवनिजीवं ।

किं जकस्सं किमनवस्सं, पत्तमभकस्सं तथो सव्वं ? ॥

को जानाति किमिदं अत्तं, कुमया वन्यायाशङ्कायां जकादावपि कस्यादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभक्तेव प्राप्ते भवतः । तथा—श्रुतावुचीवरादौ माणमाणिक्यसंपादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमनेम्यं च प्राप्तिमिति ।

तथा—

जइणा वि न संवापो, सेओ पपया कुमंतिवसंका वा ।

होज गिट्ठो व जइ ति य, तस्साऽऽसीमा न दायव्वा ॥

न य सो दिक्खयस्सं, भव्वंऽऽभव्वो ति जेण को मुणइ ? ।

चोरो ति चारिओ ति य, होज्ज य परदारगामि ति ॥

को जाणइ को सीमां, को वा गुरुओ न तव्विसंमां वि ।

गज्जा न वोवणमा, को जाणइ मव्वमलियं पि ॥

किं बहणा सव्वं चिय, संदिच्छं जियमयं जिणिद्रा य ।

परत्तोयसग्गमोक्त्वा, दिच्छाण किमत्य आरंभो ? ॥

अहं संति जिणुवारंदा, तव्वयाणाओ य सव्वपन्निवत्तं ।

तव्वयणाओ चिय जइ—वंदणयं वि ते कहं न मनं ? ॥

सर्वा अपि प्रकटार्थाः । नवर " जइणा वि न संवासां " इत्यादिनाऽऽनुपगमविरोधो दर्शितः । ( अहं सर्वाभ्यादि ) अथ सन्ति जिनवरच्छाः, तद्वचनसिद्धत्वात् नैयाम । तद्वचनार्थे च सर्वस्यापि परलोकास्त्येवमोक्षादः प्राप्तपत्तिर्भवेति । एवं तर्हि तद्वचनार्थे यतिवन्दनमपि कस्मात् सम्यग्मिति ? ।

अपि च—

जइ जियमयं पमाणं, मुणि ति तो वज्जकरणपरिसुच्छं ।

देवं पि वंदमाणो, विमुद्धजावो विमुक्तो ति ॥

यदि जिनमतं नवतो प्रमाणं तर्हि मुनिरित्यनया बुद्ध्या आनयविहारोदिबाह्यकरणपरिसुच्छं देवमप्यभरमपि वन्दमानो विद्युत्कभाधो भवेदोपरहंनो विद्युत्क एव । उक्तं चागमं—' परगहस्समिसीणं, संमत्तगणियस्सराभसाराणं । परिणामिंश्च पमाणं, निच्छयमवलंबमाणणं " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

जइ वा मो जइरुथो, दिट्ठो तह केत्थिया सुरा अणे ।

तुणेहेहिं, दिट्ठपुव्वा, सव्वत्यापच्चओ जं जे ॥

चा इति अथवा, यथा आर्यायाददेवो यतिरूपधरोऽत्र दृष्टः, तथा किञ्चतः सुरास्ततोऽन्ये भवन्तिरेष्टपूर्वाः, यथातानुन्मात्रणापि सर्वेभ्रातृव्ययो ( भे ) भवन्ती नदि कदाचित्कथञ्चित् क्विदाभ्येकत्वे कस्मिंश्चित्थाभावाशङ्का युज्यत इति भावः । तस्मात्प्रवहारनयमाश्रित्य युक्तं भवतिसाम्योऽन्यवन्दनादिकम् । उक्तं च—' निच्छयउ तुञ्चिकं, आवि काम्म वट्ठए समणो । संवहारको य जुज्झइ, जे पुव्वतिओ चरितमि " ॥१॥ इत्यादि ।

पदद्वय समर्थ्याह—

उउमत्यसमयवजा, ववहारनयाणुसारिणी सव्वा ।

तं तह समायरंतां, सुउभइ सव्वो विमुक्क.सणां ॥

संववदहारो वि वट्ठो, जममुद्धं पि गहिंयं मुयविहंण ।

कांवेइ न सव्वाणु, वंदइयस्स जाइ उउमथं ॥

निच्छयववट्ठानओ—वणीयामिह सामणं जिणिदाणां ।

एगयररिच्छाओ, मिच्छं संकाटओ जे य ॥

जइ जिणमयं पवज्जह, तां मा ववट्ठाननययं मुयइ ।

ववट्ठारपरिच्छाए, तिच्छुओओ जवेऽवम्मं ॥

चनओऽपि सुगमाः । नवर ( कांवेइ इत्यादि ) न कोपयति-साप्रमाणिकरानि न परिहरति, त्वं इत्यर्थः । ( संकाटओ इत्यादि )

येऽपि शङ्काह्लादयस्ते हि मिथ्यास्वप्निति संशयः ।

एतावन्तुके तत् किं तत्र संजातम् ? , इत्याह—

इय ते नामग्गाहं, मुयंति जाहे बहं पि जण्ठाता ।

ता संयपरिच्छता, रायगिहे निवइणा नाउं ।

वलनदेण पपया, भण्णति सावयं तवस्सि चि ।

मा कुक्क संकसंका-रुंदसु जणिण पणइ राया ॥

को जाणइ के तुप्पे, किं चोगा चागिया आभिमेवं व ति ? ।

संजयस्वच्छाता, अज्जमहं भे वि वाएमि ॥

नाएचरियाहिं नज्ज, समणाऽसमणां व कीस जाणंते ।

तं सावयमंदेहं, करेमि भणिण निवो जणइ ॥

तुज्जे चिय न परापर-वसिंसां साहसो चि किह मज्जे ।

नाणचरियाहिं ता जइ, चोराण व किं न ता संति ॥

उवठलित्तो भयाउ य, पन्निवत्ता उ ते समयसग्गाहं ।

निवव्वाभियाऽजिणंत्तं, गुच्छंत्तं ते पक्कंता ॥

सर्वेऽनुकार्याः सुगमाश्च, नवरं नृपतिना बलभरुण 'ते आगताः' इति ज्ञात्वा आगताः आहूताः, 'के युयम्', इति पृष्ट्वाश्च भूणन्ति—'दे आवके' इत्यादि । ( नाणचरियाहिं ति ) हात्किञ्चाभ्यां यो जयतामपि साधव इति विश्रम्भः परस्परं नास्ति, स ताभ्यां कथं

मे जायते । अपि च किं ते ह्यत्रिमे ज्ञानक्रिये चोराणामपि न स्तः, न भवत इति अत्रिभिरुपस्थाप्यैः ॥३५१॥ इति तृतीयोऽव्यवसियानिच्छवः समाप्तः । विंशो । श्रां ५० । श्रां ५० ॥

अव्यवसिय-अव्यवसिय-पुं । न० १० । अक्षरकने, कथमव्यात्मनोऽव्यवसियत् ॥ श्रां ५० ॥ कियतामप्यव्यवसियत् ५५भावात् ॥ श्रां ५० ५ श्रां ५० सदाऽवस्थापिनि, विंशो ॥ श्रां ५० ॥ " पुत्रं णियय सासप अक्षयप अव्यव" अव्यवः, तत्र प्रेक्षानामव्यवत्वात् । भ० २ श० १ उ० । द्वादशाक्षं प्रवचनमव्यव, मानुषोत्तरदा बहिः-समुद्रव्यवस्थाप्ये । न० । ननु 'यत्काकिलः किल मयी' इत्यत्र यच्छब्दात्प्रो का विभक्तिः, तच्चाकचतकलिका' इत्यत्र तच्छब्दात्प्रो च का विभक्तिः ? अत्र यत्तच्छब्दावव्ययी वा, अव्यवययी वेति प्रश्न-यच्छब्दात्प्रो कियविशेषणत्वे द्वितीया विभक्तिः वाक्यार्थमादाय, अव्यवयवे तु प्रथमाऽपि संभवेति । तच्छब्दात्प्रो तु तस्य पूर्वपराभिहित्वेन प्रथमा विभक्तिः, व्याख्यातान्तेषु सप्तम्यपीनि यत्तच्छब्दावव्यवयवानव्यव च वतेते इति सर्वे सुस्थितिः । सन० २ उल्ला० १५३ प्रथ० १ ।

अव्यवसिय-अव्यवसित-त्रि० । अनिच्छयवति, पराक्रमयति च । श्या० ।

तत्रोत्तराणा अव्यवसिप्रसन्न इति याए अमुहाए अकलमाए अत्रिस्मेसाए अणालुगाभियत्ताए जवति । तं जहा-मे एं मुंने भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिगमंथे पावयणे संकिए कंसिए वित्तिगिच्छए भेदसमापने कट्टुमसमापने छिगमंथं पावयणं णो सदहइ, णो पत्तियए, णो रोपइ; तं परीमहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवति । नो से परीमहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ । से एं मुंने जवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए पंचइ महव्वएहिं संकिए ० जाव कट्टुमसमापने; पंच महव्वयाइं णो सदहइ ० जाव नो से परीमहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अजिजवइ । से एं मुंने भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए इहिं जीविकिएहिं ० जाव अजिजवइ ॥

त्रिंशो स्थानानि प्रवचनमहाव्रतजीविकियायलक्षणानि अव्यवसितस्थानिच्छयवतोऽपराक्रमयतो वाऽहितयाऽपव्याय, अमुखाय उच्छ्रयाय, अस्तमाय असंगतत्वाय, अविशेषसाय अमोहाय, अननुगामिकत्वाय-अधुनाउच्छ्रयाय भवन्ति । ( से णं ) ति यस्व त्रिंशो स्थानानि अहितवित्वाय भवन्ति, स शङ्किणो-देशतः स्वर्गेतो वा संशयवान्, काङ्क्षितः तथैव मतात्तरस्यापि साधुत्वेन मते । विचिंकिस्तितः फलमप्रति शङ्कोपेतः, अत एव भेदसमापको द्वेषीभावमापन्नः-परामिदं न वैभविमि अतिकः, कलुपसमापन्नो भेददेशमितिप्रतिपात्तकः । ततश्च निप्रश्नानामिदं भैरैश्वर्यकं प्रशस्तं प्रगतं प्रथमं वा यत्नमिति प्रवचनम्-आगमः । इति श्वेत्वं प्राकृतत्वात् । न अश्च से सामान्यतः, न प्रत्येति न प्रीति-विषयोकोत्तिः, न रोचयति न चिकीर्षोविषयीकोत्तिः । तस्मिन्ति, य एवमभूतस्तं प्रवृत्तित्वाभास्तं, परिपहन्ते इति परीषदाः बुधादयः, अनियुज्य अनियुज्य सम्भ्रष्टपागव्य प्रतिस्पृश्यं वा अजिमवन्ति न्यक् कुर्वन्ति इति । शेषं सुगमम् । श्या० ३ उ० ५ उ० ।

अव्यवसिय-अव्यवसिय-पुं । लोकोत्तररीत्या द्वादशे दिवसे, जं ७ वक्त्र० ।

अव्यवह-अव्यवह-न० । देवाव्यवसिर्जनितं जयं चहन्नं वा व्यथा, तदज्ञावाऽव्यथा । व्यथाऽभावे शुक्रध्यानाभ्रवने, जं २५ श० ७ उ० । श्या० । ग० श्रौ० ॥

अव्यवहिय-अव्यवहित-त्रि० । परेणामादिननुच्छे, जी० ३ प्रति० । पं० सु० । अनामिति, जं ३ श० ३ उ० । अदीनमनासि, दश० ५ श्र० । अपीडिते, पञ्चा० ५ विव० । निष्कम्पमाने धीरे, नृ० १ उ० ।

अव्यवहिय-अव्यवहित-न० । स्वगुणभेदे, अव्यवहियं यत्स्य स्वप्रत्यापस्तमपदमुपरितमम्, उपरितममथो न क्रियते । नृ० १ उ० ।

अव्यवहिय-अव्यवहित-न० । विपर्यस्तनन्माला-गनरत्नानि इव व्याविकानि विपर्यस्तानि अकराणि यत्र तद् व्याविकाकृतं न तथाऽव्याविद्धात्तरष । व्याविकाकृतवदोपरहिते सुत्रगुणं, ग० २ अधि० । श्रां ५० । अत्रु० ॥

अव्यवहिय-अव्यवहित-वि० । अव्यवेऽपरिस्फुटं, आचा १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अव्यावाह-अव्यावाह-न० । न विद्यते व्यावाधा यत्र तदव्यावाधम । द्रव्यतः खड्गाद्यभिघातकृत्या, मायतो मिथ्यात्वादिकृत्या, छिद्ररूपयाऽपि व्यावाधया रहिते चन्द्रे, प्रव० २ द्वार । "अव्यावाहं द्रुविहं-दृवे, भावे च" उच्यते, खड्गाद्यभिघातव्यावाधाकारणविकले, भावतः सस्यगृहोत्तरिचवनां यन्त्रे, श्रां ५ श्र० । शरीरव्याधानामभावे, " किं न जनं ! अव्यावाहं ? । सोमिला ! जं मे बाधित्यपि सत्यमियसां प्रवाद्यप्यविहोरागायंका सरीरगया दोसा उपसना णा उदरिति । सन्तं अव्यावाहं " । भ० १८ श० १० उ० । विधिषा आवाधा व्यावाधा; तन्निषेधात् । श्री० । व्यावाधावर्जितसुखं, श्री० । "अव्यावाहमुचयणम्" । श्रां ५० म० १० । "अव्यावाहमव्यावाधेत्" । अव्यावाधमव्यावाधेत्, सुखं सुखेनेत्यर्थः । न० ५ श० ५ उ० । कल्प० । अमूल्यत्वात् ( १० ) अकर्मकत्वात् ( ५० २ अधि० ) परेणामपीडाकारित्वात् ( ज० १ श० १ उ० ) केनापि व्यावाधायितुमशक्यत्वात् ( जी० ३ प्रति० ) व्यावाधापरहिते सिद्धिस्थाने, रागादयो हि न तद् बाधितुं प्रमथिष्यन्तः प्रह्ला० ३६ पद । कल्प० । रा० । बुधादिवाधापरहितत्वात् ( प्रह्ला० ३६ पद ) प्रश्र० ५ सम्भ० द्वार । गन्धर्वदिलङ्गाय-भावव्यावाधाविकला ( ध्यानदेशः ) अव्यावाधाशब्देन विधिष्यते । श्राव० ५ श्र० । व्य. वाधन्ते परं पीडयन्तीति व्यावाधाः; तन्निषेधाद्दव्यावाधाः । त्रि० । भ० १५ श्रां ८ उ० । उत्तरयोः कृष्णराज्योस्तेगंतुप्रतिष्ठाभाविमानवार्तिभोकात्मिकदेवेषु, श्या० ८ उ० । भ० । "अव्यावाहाद्देवाणां नव देवा नव देवसाय पयश्वत्सा; एवं अगिच्छा वि, एवं रिद्धा वि ।" श्या० ८ उ० ।

अत्यि एं जंते ! अव्यावाहा देवा ? । हंता अत्यि । से केणह्येणं जंते ! एवं बुद्धं अव्यावाहा देवा ? । अव्यावाहा देवा गोयमा ! पतूयं एगमं अव्यावाहा देवे एगमं-सम पुरिससन् एगमं गंसि अचिद्धपत्तंसि दिव्वं देवकिं दिव्वं देवजुंति दिव्वं देवाणुजावं दिव्वं बत्तीमइविं नइविंदिं उ, वदंमत्तए णो चेव एं तसत् पुरिससत् किंचि अवाहां वा

पवाहं वा वावाहं वा उप्पाएऽ, ऋविच्छेदं वा कोऽ, ए सुहुमं च णं उवदंसजाः; से तेणट्टेणं जाव अव्यावाहा ॥१॥

( अक्षिपुषोमि लि ) अक्षिपेते अक्षिपमक्षि ( आवाहं च लि ) हेपद्वाधां ( पवाहं व लि ) प्रकृषवाधां ( वावाहं लि ) क्यचित्, तत्र तु व्यावाधां विगणशामाधां ( क्विच्छेयं लि ) शरीरच्छेदं ( ए सुहुमं च णं लि ) सुप्रममेव सुभमं यथा भवत्येवमुपदेशयेत्; नाट्याविधिमिति प्रकृतम् । ज० १४ श० ८ उ० ।

अव्यावाह-अव्यापृत-त्रि० । व्यापारवर्जितं, "सद्विषयपट्टयं न कीरह, जहियं अव्यागमं तयं वन्धु" । यन् शब्दितपतिते यत्र व्यापारः कोऽपि न क्रियते तद्वास्तु अव्यापृतमुच्यते । इति लक्षित-स्वरूपे वास्तुभेदे, वृ० ३ उ० ।

अव्यावक्ष-अव्यापक्ष-त्रि० । अविभिक्षे, व्य० १ उ० । अविनष्टे, भ० १ श० ७ उ० ।

अव्यावारपोमह-अव्यावारपोष-पुं० । व्यापारप्रत्याख्यान-पूर्वकं क्रियमाणं पोषधोषवासव्रतं, "अव्यावारपोसहो दुर्बिहा-हेले, सखे य । देसे अमुमे वावारं करंम, सव्वे ववहारं से बल-सगडधरपरिकम्मादायां न कीरह" । आच० ६ अ० ।

अव्यावारसुद्धिय-अव्यावारसुखित-त्रि० । तथाविधव्यापार-हिततया सुखिति, वृ० ३ उ० ।

अव्याहय-अव्याहृत-त्रि० । अप्रपहते, पो० १४ विव० । स्वरा-विरोधनि, व्य० १ श० । अव्याधिते, न० ।

अव्याहयपुत्रवाररत्त-अव्याहयपूर्वापरस्व-न० । पूर्वापरवा-क्याऽविरोधरूपे सत्यवचनातिशये, रा० । स० ॥

अव्याहिय-अव्याहाकृ तु-त्रि० । अनाहृते, जी० ३ प्रति० । अ-कथिते, "अव्याहिते कसाहिया" आचा० १ श्रु० ए अ० २ उ० । अव्युक्तं-अव्युक्तान्त-त्रि० । अपारिणतविध्वंसनप्राप्त्ये, ग० । २ अधि० ।

अव्यो-अव्यो-अव्य० । संबोधनादौ, व्य० ७ उ० ।

अव्यो मचना-दुःख-संभाषागपराध-विस्मयानन्दादर-जय-खेद-विषाद-पश्चात्तापे ट, श्र० १२ ७ ४ ॥

"अव्यो" इति सूचनादिषु प्रयोजकम् । सूचनायाम्- "अव्यो हुकरयारअ" । दुःख- "अव्यो दलेमि हिअअ" । संभाषण- "अव्यो किमिणं किमिणं ?" । अपराधविस्मययोः-

"अव्यो इरंति हिअअ, तइ वि न वेसा हव्यंति जुवइण । अव्यो किं पि रहस्से, मुण्णंति घुत्ता जणअहिआ" ॥ १ ॥

आनन्दादरनेयप-

"अव्यो सुपहायमिणं, अव्यो अजजम्ह सक्कलं जीअं ।

अव्यो अरअम्मि तुमे, नवरं जइ सा न जुविदिइ" ॥

खेद- "अव्यो न जाभि लेलं" । विषाद-

"अव्यो नासंति दिदि, पुअयं वहुंति देति रणरणयं ।

परिह तस्सेव मुण्ण, मे णिअ अव्यो कह णु पअं ?" ॥ १ ॥

पश्चात्तापे-"अव्यो तइ तेण कवा,अअअं जइ कस्से साहेमि?"

प्रा० २ पाद ।

अव्योगह-अव्याकृत-त्रि० । अविशेषिते, वृ० २ उ० । "अव्यो-वाहमविनक्ष" । अव्याकृतं नाम यदायादैरविनक्षमिति वास्तुने-

दे; वृ० ३ उ० । ( अथ हृद्यन्तः ' उग्गह ' शब्दे द्वितीय-भागे ७०६ पृष्ठे छन्दः ) अविशंसुत्, दशा० ३ अ० ।

अव्योच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । स्वर्णशस्य परम्परया समा-गतः, व्य० ७ उ० ।

अव्योच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । "अमानोताः प्रतिषेधे" न व्युच्छित्तिव्युच्छित्तः । प्रतिषेधो, यः स्वयं कृताधोऽनुत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति । पं० सू० । अव्यवच्छिन्नाया अन्त वाचयेत्, भूतस्य शिष्यप्रशिष्यपरम्परागततयाऽव्यवच्छिन्नसूत्र्यादिति प-ञ्चममव्यवच्छिन्तः कारणम् । आ० म० प्र० ॥

अव्योच्छिन्निगुण-अव्यवच्छिन्नितनपार्य-पुं० । अव्यवच्छि-न्तिप्रधानं नयाऽव्यवच्छिन्नचयनः, तस्यार्थः । कल्पे, भ० ७ श० ३ उ० ।

अव्योपका-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दाध्यायां मन्वना-क्षरप्रयुक्तार्थां वा अभाषिताध्यायां वा प्राणायाम, भ० १० श० ४ उ० ।

असद-असृति-स्त्री० । असृते तत्रभवेन समस्तध्यायमानानि व्याप्रीति इत्यसृतिः । अथाहमुषहस्यतलकपे, तत्परिच्छिन्ने ध्यायेत् वा । असृ० । प्रसृतेरई, ज्ञा० ७ अ० । "दा असईस्रा पमई" । आद्य० ।

असृति-स्त्री० । असृणने, घ० २ अधि० ।

असई-असकृत्-अव्य० । अमेकश इत्यर्थे, पञ्जा० १० विव० । आवा० । भ० । "असई तु मणुस्सेहि, मिच्छादको पजुजअ" अ-सकृत् इति वारंवार । उता० ९, अ० । प० व० । जी० । पा० । "असई वासकृत्तत्तेदो" । न सकृत्सकृत्, सत्येदर्थेऽर्थः । दश० १० अ० ।

असई-असर्त-स्त्री० । दुःशीलायाम्, घ० २ आधि० । दास्याम्, भ० ट श० ६ उ० । प्रव० ।

असईनणपोमणया-(स्त्री०)असर्तजनपोषण-न० । असनीज-नस्य दासीजनस्य पोषणं तद्गाइकापजीवनाथे यत् तक्षथा । एवमन्यदपि कूरकर्मकारिणः प्राणिनः पोषणमसर्तजनपोषण-मेवेति । दासीजनस्य कूरकर्मकारिणो वा पोषणे, उपा० १ अ० ।

असईपास-असर्तीपाप-पुं० । असर्तो दुःशीलास्तासां दासी-सारिकादीनां पोषणं पोषोऽसर्तीपापः । तत्र लिङ्गसन्ध्याय, नेन शुकभवादीनामपि पुंसो पोषणमसर्तीपापः । यववाचि-"प्रञ्ज-रभोरमकड-शुकनसारीयशुकनुरारणं । कुट्टिन्धिनपुंसाई-ण पोसणं असईपासणयं" ॥ १ ॥ प्रव० ६ शार । दुःशी-लाणां शुकसारिकामयूरमार्जारिमकटशुककुडशुककुर्याकादिति-रक्षां पोषणं, भाटीप्रहणार्थं दास्याः ऋ पोष, गोक्षदो प्रसिद्धो-ऽयं व्यवहारः । पयां च दुःशीलाणां पोषणं पापइतुरेवति दोषः । पञ्जदोः कर्मादानमेतत् । घ० २ अधि० । आ० । भ० । घ० १० । ( असर्तीपापयं तु ह्युजानेन साधुना कर्मकथां न देयमिति ' ज्ञेयण ' शब्दे बह्यते )

असटण-अशकृत्-पुं० । न० त० । आकन्दध्वनिप्रतिषेधवच-नप्रत्यूनी शकुनिविपरीते अभिधार्थसंस्वके, पञ्जा० ७ विव० । पं० घ० । घ० ।

असक-अशकृत्-न० । न विद्यते शक्यं यस्य मनसस्तदशक्यम् । निःशक्यं, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकपियञ्ज-अशङ्कुनीय-त्रि० । कूटपाशादिरहिते अशङ्काहे  
श्वाने, सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

असंकपिय-असङ्कुलित-त्रि० । स्वार्थे संस्कृता साधयेत्या  
मन्साऽप्यकल्पिते, भ० ७ श० १ उ० ।

असंकपय-असङ्कप-पुं० । परस्परमीलेने, अष्ट० १४ अष्ट० ।

असंक्रमण-अशङ्कमानस्-त्रि० । अशङ्कं मनो यस्यासौ अशङ्क-  
मनाः । नपोदमनियमफलत्वाऽशङ्कादिरहिते आस्तिक्यमन्युप-  
पेते, आचा० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

असंकि ( ष )-अशङ्कुन्-त्रि० । शङ्कामकूर्वाणे, सूत्र० १ भु०  
१ अ० २ उ० ।

असंक्रिय-अशङ्कित-त्रि० । अशङ्कनीये, “ असंक्रियाइं संक्र-  
ति, संक्रियाइ असंक्रियो । ” सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

असंक्रिलिङ्ग-असंक्रिष्ट-त्रि० । विशुद्धावयवसाये, आनु० ।  
निर्दोषणे, “ असंक्रिलिङ्गाय धृष्याइ ” श्रौ० । विशुध्यमान-  
पारिणामयति, प्रथ० १ सत्र० ३ार ।

असंक्रिलिङ्गाय-असंक्रिष्टाचार-पुं० । असंक्रिष्ट इहपर-  
लोकस्यानारूपसंक्रुष्टाविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्रिष्टाचा-  
रः । व्य० ३ उ० । सकलदावपरिहारिण्ये, व्य० ३ उ० ।

असंक्रिलोस-असंक्रेश-पुं० । विशुद्धमानपरिणामहेतुके सं-  
क्रेशभावे, “ तिबिहे असंक्रिलेसे-षाणसंक्रिलेसे, द्रलणसं-  
क्रिलेसे, चरितसंक्रिलेसे । ” स्या० २ उ० ४ उ० । “ दसविहे असं-  
क्रिलेसे परणसे । तं जडा-उचविहअसंक्रिलेसे जाव चरितस-  
क्रिलेसे ” स्या० १० उ० । ( अस्य संक्रिलेसं शब्दे व्याख्या )

असंखल-असङ्ख्य-त्रि० । भविष्यमानसङ्ख्ये, उक्त० ५ अ० । भवि-  
ष्यमानपरिमाणे च । हा० २६ अष्ट० ।

असंखलुगुर्वीरिय-असंखलुगुर्वीर्ये-त्रि० । असंख्यातगुणयो-  
गं, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

असंखलन-असंखलन-न० । वाचिके कलहे, नि० पू० १ उ० ।  
ग० १ उ० ।

असंखलिय-असंखलिक-पुं० । कलदशोले, भृ० १ उ० ।

असंखय-असंस्कृत-त्रि० । उत्तरकरणेनानुदिने पदादिवत्सं-  
धानुमशक्ये, उक्त० ।

असंस्कृतं जीवितमित्युक्तमततद्व्याचिख्यासुराह नियुक्तिहृत्-  
उत्तरकरणेण कर्णे, जं किं वी संखयं तु छायाव्वं ।  
तेमं असंखयं खनु, असंखयस्सेस गिञ्जुवी ।।  
उक्त० नि० १ खलन ।

भूलतः स्वहेतुत उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषध्यानात्मकं  
कालमुत्तरकरणं, तेन कृतं निर्घर्तितं यत् किञ्चिदित्यविकृतप-  
टादि, ( यत्तद्विनीत्यमसिंशब्धध्यात् ) तत् संस्कृतम् । तुरवधा-  
रणं । सचैवं योग्यते-यत्तत्तरकरणकृतं तदेव संस्कृतं ज्ञातव्यम् ।  
शेषमतोऽप्यत् संस्कारानुचितं विद्विगैशुकाफलापरमसंस्कृत-  
मेव, ललुताद्यस्यैवकाराणांभ्याम् । असंस्कृतमित्यस्य सुत्राव-  
यवस्यैवा बह्वयमागलक्षणा नियुक्तिरिति निक्षेपनियुक्तिः । बहुव-  
कस्यता च प्रतिज्ञातम् । अथवा-यथाऽऽचारप्रसङ्गाभ्ययनस्य

‘मावती’ इत्यादिना पदेन नाम, तथाऽऽप्यप्यसंस्कृतमिति नाम ।  
तन्त्रासंस्कृतान्मोऽस्यैवाभ्ययनस्यैवा नामनिष्पन्नानिक्लिपनियु-  
क्तिः, तद्यस्ताव एव व्याख्यातव्यंति साधाऽप्यैः । उक्त० ४ अ० ।

येन करणेनात्र प्रकृतं तदाह-  
कम्मगमरीकरणं, आशुयकरणं असंखयं तं तु ।  
तेषाडिगारो तस्मा, उ अप्पमादो इह चरिचामि ॥

कर्मकारोत्तरकरणं कार्मण्येदहनिसंवेनं, तस्यि ज्ञानावधेयादि-  
नेदतोऽनेकविधमित्याह-आयुष्करणमिति । आयुषः पञ्चमक-  
र्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं निर्वर्तनमायुष्करणम् । तत्किम् ? इत्याह ।  
( असंखयं तं तु षि ) तत्पुनरायुष्करणमसंस्कृतमुत्तरकरणेन नु-  
दितमपि पदादिवत्संधानुं न शक्यम् । यतः-“ फटा तुष्टा च इह,  
पडमादी संज्वंति नयानुजणा । सा का वि न्धि नती, संधिञ्जइ  
जीवियं जीए ” ॥१॥ एवं च स्वरूपतो हेतुनो विषयतश्च व्याख्य-  
तः । स्वकपतो हेतुतश्च ‘ उत्तरकरणेन कर्त्तव्यं ’ इत्यादिना प्रत्येन  
व्याख्यातम् । अनेन त्वायुष्करणस्यासंस्कृतत्वाद्योपदर्शनेन विष-  
यतः । इदानीं तुपसंहारमाह- ( तेण आडिगारो षि ) तेंनेयायु-  
ष्कमेया संस्कृतेनाधिकारः । ( तस्मा उ षि ) तस्मात् । तुशब्दाऽऽ-  
वधारणार्थः, तस्य च ध्यार्थात् । ततोऽधमार्थः-यस्मा-  
दसंस्कृतमायुष्कमे तस्माद्रूपमाद एव-प्रमादोभाव एव, चरिषे  
इति चरिषविषयः कस्त्वय इति साधारणः । उक्त० ४ अ० ॥  
संप्रति सूत्रालापकानिष्पन्निक्रियवसरः स च सूत्रे सति  
भवति । तच्छब्दम्-

असंखयं जीविय मा पमापप, नतोवणीयस्स ह नुत्ति ताणं ।  
एवं विद्याणादि जणो पयसे, कस्यं विद्विंसा अजया मिद्विंति ॥

संस्कृत्यत इति संस्कृतं, न तथा असंस्कृतम् । शक्यतरै-  
पि लतो षर्द्धितुं नुदितस्य वा कर्णेणाशुचदस्य संधानुमस-  
क्यत्वात् । किं तत् ? जीवितं प्राणधारणरूपम् । ततः किमि-  
त्याह-सा प्रमादीः । किमुक्तं भवति ?-यदीदं कथञ्चित् संस्क-  
र्तुं शक्यं स्यात्तत्तु प्रकृतो धर्मोऽपि प्रमादो दौष्यायैव स्यात् ;  
यदा त्विदमसंस्कृतं तदत्परिष्कारं प्रादिमस्तदात्तद्विभ्रमिति  
प्रमादं मा कृथाः । कुतः पुनरसंस्कृतम् ? जराया वयोहानिरू-  
पया, उपनीतरश्च प्रकृमन्स्युत्पत्तौ प्रापितस्य, यथा जराऽन-  
तरमेव मृत्युरित्येवमुपदिश्यते । हुवैतो, यस्माच्छास्त्रि न विद्यते  
प्राणं शरणं, येन स्युत्पत्ता स्यात् । उक्तं च वाचकैः-“ मङ्गलैः  
कौतुक्यैर्नै-विद्यानामैस्तैषोपैषः न शक्ता मरणत्त आतु, सेन्द्रा  
द्वेवगाहा अत्रि ” ॥ १ ॥ यद्वा-स्योदेतत् । वार्धक्ये धर्मे विधा-  
स्यामीत्याशकक्याह-जरापुनीतः प्रापितो गम्यमावत्तत्तस्य-  
कर्मनिर्जोषणीतः, तस्य नास्ति प्राणं, पुत्राद्योऽपि हि न तदा  
पालयन्ति, तथा चात्यन्तवधोपेक्षा स्यात्-अस्य न धर्मे इति  
शक्तिः, अन्दा वा भवना । यद्वा-प्राणं येनासावपनीयते पुनर्यौ-  
वनामीयते न तादृकरणमास्ति, ततो यावदसौ गम्यमावत्तत्तस्य ता-  
वद्धर्मे मा प्रमादीः । उक्तं हि-“ तथावदिक्रियवशं, जराया रोगेन  
बाधयेत् प्रसमम् । तावच्छरीरमुच्छेद्य विदप्य धर्मे कुर्वन् मात-  
व ॥१॥ उक्त० ४ अ० । ( जरापनीतस्य च प्राणं नास्तीत्येव दृष्टा-  
न्तोऽहममज्ञः, तत्कथा च ‘ अदृष्ट ’ शब्दे भ्रूयेव भागे ३३० पृष्ठ  
उक्ता ) उत्तराऽप्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तत्र प्रमादाप्रमादाऽभि-  
धायकमप्यादानपदेनासंस्कृतमित्युच्यते । सूत्र० १ भु० १ अ० ।  
असंखलोगसम-असंखलुगुर्वीर्ये-त्रि० । असंखयलोकाऽऽ-  
काशप्रदेशप्रमाणे, कर्म० ५ कर्म० ।

असंखेज्ज-असंखयेय-वि०। संख्यास्ताते, अ० १ श० ५ उ० । गणनामतिक्रान्तिं, आ० ७० १ अ० ।

असंखेज्जकालसमयाड्डिइ-अमत्थेयकालसमपरिचित-पुं० । पत्न्योपमाससंखेयभागादिभित्तिषु नैरिक्कादिषु एकंन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जं दैमानिकपर्यवेत्तय, स्या० । " बुविहा णेरप्या पएणत्ता । तं जहा-संखेज्जकालसमपट्टिया चेव, असंखेज्जकालसमपट्टिया चेव । एवं एगण्ठियविगत्तेद्वियवज्जा० जाव वाएमंनरा" । स्या० २ उ० २ उ० ॥

असंखेज्जगुणपरिहीण-असंखेरुत्था, गुणपरिहीण-वि० । असंख्यातगुणेन परिहीणो यः स तथा । असंखेयभागमात्रे, औ० । असंखेज्जजीविय-असंखेरुत्थातज्जित-पुं० । असंखेयजीवात्मकेषु बुद्धेषु, अ० । " सं किं तं असंखज्जजीविया ० । असंखज्जजीविया बुविहा पएणत्ता । तं जहा-एगट्ठिया, षड्ढट्टिया य ०" । अ० ८ श० ३ उ० ।

असंखेज्जय-असंखयेयक-..० । गणनासंख्याभेदे, अनु० ।

से किं तं असंखेज्जए ? । असंखेज्जए तिविहे पणत्ते । तं जहा-परिचासंखेज्जए, जुत्तासंखेज्जए, अमंखेज्जासंखेज्जए । से किं तं परिचासंखेज्जए ? । परिचासंखेज्जए तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोसए, अनहणमणुक्कोसए । से किं तं जुत्तासंखेज्जए ? । जुत्तासंखेज्जए तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोसए, अनहणमणुक्कोसए । से किं तं अमंखेज्जासंखेज्जए ? । अमंखेज्जासंखेज्जए तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोसए, अनहणमणुक्कोसए ॥

असंखेयकं तु-परीतासंखेयकं, युक्तासंखेयकं, असंखेयासंखेयकम् । पुनरकंके जघन्यादिभदान् प्राविधमिति सर्वमपि नवविधम् ॥

अथ नवविधमसंखेयकं प्रागुद्धिं निरूपयितुमाह-  
एवामेव उक्कोसए संखेज्जए रूवे पविखत्ते जहण्यं परिचासंखेज्जयं भवइ । तेण परं अजहणमणुक्कोमयाइं उाण्णइं जाव उक्कोमयं परिचासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं परिचासंखेज्जयं केवइअं होइ । जहण्यं परिनासंखेज्जयं, जहण्यपरिचासंखेज्जयंत्ताणं रासीणं अन्नमणुब्भासो रूवूणां उक्कोमं परिचासंखेज्जयं होइ ।

( एवामेव खि ) असंखेयकंऽपि निरूप्यमाणे पर्यमेवानवस्थितपट्यादिनिरूपणा क्रियन् इत्यर्थः । तावथावतुक्कएसंखेयकमाननीतं, तस्मिंश्च यावदेकं रूपं पूर्वमधिकं दृशिन् तद्यदा तत्रैव राशीं प्रकृष्यते तदा जघन्यं परीतासंखेयकं भवति । ( तेण परमित्यादि ) ततः परं परीतासंखेयकस्यैवाजघन्योत्कृष्टानि स्थानानि भवन्ति यावदुत्कृष्टं परीतासंखेयकं न प्राप्नोति । शिष्यः पृच्छन्ति-कियत्तुनरुद्धं परीतासंखेयकं भवति ? । अत्रोत्तरम्- ( जहण्यं परिचासंखेज्जयं ति ) जघन्यपरीतासंखेयकं यावत्प्रमाणं भवतीति शेषः, तावत्प्रमाणानां जघन्यपरीतासंखेयकमात्राणां, जघन्यपरीतासंखेयकगतरूप-

संख्यानामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमन्यासः परस्परं गुणनास्वरूप एकन रूपेणेन उक्तं परीतासंखेयकं भवतीति । इदमत्र इत्यम-प्रत्येकं जघन्यपरीतासंखेयस्वरूपा जघन्यपरीतासंखेयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तः पुञ्जा व्यवस्थाप्यन्ते । तेभ्य परस्परं गुणितयो राशिर्भवति स एकन रूपेण हीनमुत्कृष्टं परीतासंखेयकं मन्तव्यम् । अत्र सुखप्रति-पसधमुत्तराहरणं दृश्यते-जघन्यपरीतासंखेयकं किलासकल्पनया पञ्च रूपाणि संप्रधार्यन्ते । ततः पञ्चैव धाराः पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । तथादि-५ । ५ । ५ । ५ । ५ । अत्र पञ्चानिः पञ्च गुणिताः पञ्चविंशतिः । सा च पञ्चमिराहता जातं पञ्चविंशतमित्यादिकमंशामीषां राशीनां परस्परान्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्यं क्रियन्तानि । एतत्प्रकल्पनया एतावन्मानः । सजावतस्वसंखेयरूपां राशिरेकन रूपेण गुणहीन उक्तं परीतासंखेयमित्याद्यनन्तराकाराद्भिद्युक्तासंखेयकादिकमिदं रूपं समाकर्षिते उक्तं परीतासंखेयकं निष्पद्यते इति प्रतीयत एव । इत्युक्तं जघन्यादिभ्रमंश्चि विविधं परीतासंखेयकम् ॥  
अथ तावद्भेदभिन्नस्यैव युक्तासंखेयकस्य निरूपणाधमाह-

जहण्यं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहण्यं जुत्तासंखेज्जयं जहण्यपरिचासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अन्नमणुब्भासो पान्पुष्पो जहण्यं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा उक्कोसए परिचासंखेज्जए रूवं पविखत्ते जहण्यं जुत्तासंखेज्जयं होइ । आवडिअ वि त्ति च आ चेव । तेण परं अनहणमणुक्कोसयाइं उाण्णइं जाव उक्कोमयं जुत्तासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहण्यं जुत्तासंखेज्जयं आवडिअ गुणिअ अन्नमणुब्भासो रूवूणां उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा जहण्यं असंखेज्जनामंखेज्जयं रूवूणं उक्कोमयं जुत्तासंखेज्जयं होइ ॥

( जहण्यं जुत्तासंखेज्जयं केवइअमित्यादि ) । अत्रोत्तरम्- ( जहण्यं परिचासंखेज्जमित्यादि ) व्याख्या पूर्ववदेव । नवर- ( अन्नमणुब्भासो पान्पुष्पो खि ) अन्त्याभ्यस्तः स परिपूर्णं एव राशिर्दि गृह्यते, नतु रूपं पात्यत इति ज्ञायः । ( अहवा उक्कोसए परिचासंखेज्जए इत्यादि ) प्राविधमथैव । ( आर्वीयया तत्ति-या चेव खि ) यावन्ति जघन्ययुक्तासंखेयके सर्वपरुपाणि प्राप्यन्ते प्रावृत्तिकापामपि तावन्तः समया जघनीत्यर्थः । ततः एव यथावत्तिका गृह्यते तत्र जघन्ययुक्तासंखेयकेतुल्यसमय-राशिमाना सा रुद्धया । ( तेण परमित्यादि ) ततो जघन्ययुक्तासंखेयकात्परत एकोत्तरया वृद्ध्या असंखेयायजघन्योत्कृष्टानि युक्तासंखेयस्थानानि भवन्ति, यावदुत्कृष्टं युक्तासंखेयकं न प्राप्नोति । अत्र शिष्यः पृच्छति- ( उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयमित्यादि ) अत्र प्रतिवचनम्- ( जहण्यणमित्यादि ) जघन्यन युक्तासंखेयकेनापि तिका समथराशिमुत्तरयते । किमुक्तं भवति- अन्त्याभ्यमन्यासः क्रियन्, जघन्ययुक्तासंखेयराशिस्तेनैव राशिना गणयत इति तापयेम । एवं न कृते यो राशिर्भवति स एव एकन रूपेणेन उक्तं एतुक्तासंखेयकं भवति । यदि पुनस्तद्वत् तद्वत् एव तदा जघन्यनसंखेयासंखेयकं जायते । अत एवाह- ( अहवा जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयं रूवूणमित्यादि ) गताधमं । उक्तं युक्तासंखेयकं विविधम् ॥

इदानीमसंखेयासंख्येयकं त्रिविधं विभिनपुराह-

जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयं केवद्वयं होइ ? । जहन्नयं एणं ठाणाइं जुत्तासंखेज्जयणं आवलिअ गण्णिअ अस्सममा-  
वभासो पद्धिपुष्ठां जहन्नायं अमसंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।  
अइत्ता उक्कोसप उक्कोसप उक्कोसप रुव्वं पक्खित्तं जहन्नायं अ-  
संखेज्जासंखेज्जयं होइ । तेण परं अजहन्नायं उक्कोसयाइं ०  
जाव उक्कोसयं अमसंखेज्जासंखेज्जयं ए णावइ । उक्कोसयं  
अमसंखेजासंखेज्जयं केवद्वयं होइ ? । जहन्नयं असंखेज्जासं-  
खेज्जयपेचाणं रासाणं अस्सममावभासो रुव्वणां उक्कोसयं  
अमसंखेजासंखेज्जयं होइ ॥

( जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि ) इदं तु सूत्रं भा-  
वितार्थमेव । नवरं ( परिपुष्ठां ) परिपुष्ठां रूपं न पा-  
रयत् इत्यर्थः । 'अहवा' इत्याद्यादि गताद्यर्थः । (तेण परमादि-  
ततः परं ( असंखेज्जासंखेज्जकं केषियमित्यादि ) अत्रो-  
त्तरम्—( जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयित्यादि ) जघन्यमसंखेय-  
कं यावद्भवतीति शेषः । तावत्प्रमाणानां जघन्यासंखेयकरूपं  
संस्थानमित्यर्थः । राशानामन्योन्यमन्यसाः परस्परं गुण-  
नास्वरूपः, एकं रूपं तत्र उच्छ्रमसंखेयासंखेयकं भवति ।  
अयमत्र त्रयाथोऽप्रत्येकं जघन्यासंखेयासंखेयकरूपा जघन्या-  
संखेयाऽसंखेयका एव यावन्ति रूपानि भवन्ति तावन्ती रा-  
शयो व्यवस्थाप्यन्ते । तेषु परस्परगुणितेभ्यो राशिभवनित्वात्  
एकं रूपं हीनं उच्छ्रमसंखेयासंखेयकं प्रतिपत्तव्यम् ।  
उदाहरणं चात्राप्युच्छ्रमपरीतान्तकसंखेयकान्तसारंश्च बाध्यम् ।  
अनु० ॥

साम्प्रतमसंखेयानान्तकस्वरूपमाह—

इय मुत्तुत्तं अन्ने, वगियमेकंनि चउत्थयमसंसे ।  
होइ असंभामंखे, लहु रुजुयं तु तं मज्जे । ० ॥

( अन्ने वगियमित्यादि ) रूपे अन्नाथो एकं सूत्रय एवमाहुः चधा-  
चतुर्थकमसंसेन जघन्ययुक्तासंखेयात्करूपं, वगितं नायैतव राशिना  
गुणितं सव, (एकमिति) एकवारं, भवति जायते संपद्यतेऽसं-  
ख्यासंख्ये, त्रयु जघन्यं, जघन्यासंख्यातासंख्यातकं भवतीत्यर्थः ।  
अत्रापि तदंतसंखेयात्कमुद्दिश्य मध्यमासंखेयप्रकारणुणा पूर्वाकै-  
र्वातं दर्शयन्नाह— (रुजुयं तु तं मज्जेति) रूपेण संपपल-  
त्तनं युते रूपयुतम् । तुरवधारणे, इववहितसमन्वयः । त-  
द्विहित-तद्वयान्तरामिहितं जघन्यासंखेयासंखेयादिकम् । किं  
भवतीत्याह—मध्यं मध्यमासंखेयासंखेयादिकं भवति ॥ ८० ॥  
रुजुयमाइं म गुरु, तिवगिण्ठं तं इमं दसकसेवे ।

शोणामामपपसा, धम्माधम्मगेज्जिवदेसा य ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासंखेयासंखेयादिकं रूपान्मेकेन रूपेण रहितं  
सत्त्वं, आदिमं तदपेक्षयाऽऽश्वस्य राशेः संबन्धि गुरु उच्छ्रमं प्रव-  
सीति । अयमत्राशयः—जघन्यासंखेयासंखेयकं रूपानं सद् युक्ता-  
संख्यातकमुत्कृष्टं भवति, जघन्यपरीतान्तकं रूपानमसंखेया-  
संखेयकमुत्कृष्टं भवति, जघन्ययुक्तान्तकं तु रूपानमुत्कृष्टं प-  
रीतान्तकं भवति, जघन्यप्रतीतान्तकं तु रूपानमुत्कृष्टं युक्ता-  
न्तकं भवतीति । अपुना जघन्यपरीतान्तकं प्रतान्तरंण  
प्ररूपयन्नाह—( तिवगिण्ठं तं इत्यादि ) तद्विहितं प्रागभिहितं ज-

घन्यासंखेयासंखेयकं त्रिवर्गयित्वा सदशादिराशी, परस्परं  
श्रीद्वं वारान्त्वस्येत्यर्थः । अयमत्राशयः—जघन्यासंखेयासं-  
खेयकराशेः सदशादिराशिगुणनलक्षणो वर्गो विधीयते, तस्या-  
पि वरीराशेः पुनर्वर्गः क्रियते, तस्यापि वरीराशेः पुनर्वर्गं वर्गो  
निष्पाद्यते इति । ततः किमित्याह—इमान् चक्षुमाशुस्वरूपान्,  
(वृत्सति) दृशासंखेयात् क्रियन्ते इति । "कमेणि घञि" लोपाः—प्र-  
कृतेणोपरान्तस्येति । क्रियन्ते निधेहीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः ।  
तथाहि—शोकाकाशस्य प्रदशाः, धर्मश्चाप्यधर्मकजावत्त्वधर्मो-  
र्मेकजावत्त्वः, तेषां दशाः प्रदशाः । अयमत्राशयः—धर्मास्तिकाय-  
प्रदशाः, अधर्मास्तिकायप्रदशाः, एकजीवप्रदशाश्च ॥ ८१ ॥

तथा—

टिक्वेणज्जवसाया, अणुभागा जोग्गेषपत्तिजाना ।

जुएह्य य समाणसमया, पत्तेयनिगोयए खिससु ॥ ८२ ॥

स्थितिवचनस्य कारणभूतान्त्वध्वसयास्थानानि कार्याद्य-  
रूपाण्यध्वसयशब्देनोच्यन्ते, तान्यसंखेयाण्येव । तथाहि—  
ज्ञानावरणस्य जघन्यान्मुहुत्तंप्रमाणः स्थितिवचनः, उच्छ्रम-  
स्तु विश्वासागरोपमकोटाकाटिप्रमाणः, मध्यमपदं स्वेकद्वित्रि-  
चतुरादिसमयाधिकान्तमुद्गादिकांसेसंखेयजदः । एषां स्थि-  
तिवचनानां निर्वाहकान्यध्वसयास्थानानि प्रत्येकमसंखेयलो-  
काकाशप्रदेशप्रमाणानि विभाष्यते । एवं च सत्येकस्मिन्पक्षे  
ज्ञानावरणऽसंखेयानि स्थितिवचन्याध्वसयस्थानानि लज्यन्ते ।  
एवं दृशानावरणादिव्यपि वाच्यम् । ( अणुभागा इति )  
अनुभागा ज्ञानावरणादिकमेतानि जघन्यमध्यमादिभेदाभिन्ना रस-  
विशयाः, एतेषां चानुभावाविशयाणां निर्वैकान्यसंखेयलोका-  
काशप्रदेशप्रमाणान्यध्वसयस्थानानि भवन्त्यतोऽनुभावावि-  
शेया अथेतावन्त एव द्रष्टव्याः, कारणजद्विधितवाक्यान्भेदा-  
नाम् । ( जोग्गेषपत्तिजाना इति ) योगो मनोवाक्कायचित्पय शी-  
र्थे, तस्य केवद्विभ्रक्षेत्रेण प्रतिविश्यात् इत्यादि निर्विज्ञाना भागा यो-  
गच्छुदपरिभवाः । ते च निगोदाद्विनां संक्षिपञ्चैन्द्रियपर्यन्तानां  
जीवानामभिन्ना जघन्यादिदम्भिका असंखेया मन्तव्याः ।  
( दृशह्य य समाणसमया इति ) इत्येव समयोक्तसंपिणवस-  
पिणोकास्वरूपयोः समया असंखेयस्वरूपाः । ( पत्तेयनि-  
गोयए इति ) अनन्तकार्यात्कारु वज्रियिवा श्रुवाः पृथिव्यपत्तजो-  
वायुवन्स्पतित्रयाः प्रत्येकशरीरिणः, सैषेऽप जीवा इत्यर्थः, ते  
चासंखेया प्रवृत्ति । निगोदाः मूत्रमूषां चात्राणां चान्तकता-  
यिकवन्स्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः, ते चासंख्याताः । एव-  
मेते प्रत्येकमसंखेयस्वरूपा दशा ज्ञेयास्ताद क्रियन्ते ॥ ८२ ॥

अथ राशिदशकप्रत्तपानन्तरं तस्यैव राशयोस्सुव विहिते  
यज्जवति तदाह—

पुणरपि तस्मि तिवगिण्ठं, परिउसणंते लहु तस्स रासीणं ।

अन्नामं ह्यहु मुत्तुत्तं—एतं अमुत्तवजिअमाणं ॥ ८३ ॥

पुनरपि ( तस्मि इति ) तस्मिन्ननन्तरादिते प्रकृतेमन्त्रेप-  
दशके, त्रिवर्गितं श्रीद्वं वाराद्वं वर्गितं सति, परीतान्तकं लघु  
जघन्यं भवति । इदमुक्तं भवति—जघन्यासंखेयासंखेयक-  
स्वरूपं वारत्तं वर्गितं राशौ ते कुपोः सित्यन्ते । तत इत्थं  
पिथित्तं यो राशिः संपद्यते स जघन्यपि वारत्तं वर्गितं ।  
ततो जघन्यं परीतान्तकं भवतीति । इदमिदानीं जघन्ययुक्तान-  
न्तकनिर्कणणायाह—( तस्स रासीणयादि ) तस्य जघन्यपरी-



तानन्तकस्य, संबन्धिनो राश्रीनाम्न्योन्यमन्यासे सति, सधु अ-  
ध्वन्यं युक्तानन्तकमध्यजीवमानं भवति । इयमत्र भावना-अध-  
व्यवर्गीतानन्तके ये राशयः सर्वपरुषाः, ते पृथक् पृथक् व्यव-  
स्थाप्यन्ते, तेषां तथाव्यवस्थागतानां अध्व्यवर्गीतानन्तकमा-  
नामां राश्रीनाम्न्योऽन्याऽन्यासे सति युक्तानन्तकं जघयं प्र-  
वर्ति । तथा अध्व्ययुक्तानन्तके यावन्ति रूपानि वर्तन्ते, अभ-  
व्यसिद्धिकाः अप्रिय जीवाः केशलिना तावन्त एव यथा इति ॥८३॥

अथ प्रसङ्गो जघन्यनान्तककप्रकरणमप्याह-

तवगो पुण जायद, णंताणंत्तं ब्रह्म ते च तिकरुत्तुं च ।  
वग्गमु तद्द वि न तं हो-इ णंत्तंवेच विववुत्तु इमं ॥८४॥

तस्य अध्व्ययुक्तानन्तकराशेयं सद्ब्रह्मन्यासे-तद्वर्गे कृते स-  
ति, पुनर्भूयाऽपि, जायते संपद्यतेऽनन्तानन्तं सधु अध्वन्यं, अध-  
व्यनान्तकं जवतीत्यर्थः । उक्तुणानान्तककप्रकरणयाह- ( तं-  
च तिकरुत्तुं इत्यादि ) तच्च तत्पुनर्जघन्यनान्तकानन्तं त्रिकुटाया  
श्रीनं वारान्द वर्गस्य-तावतैव राशियानु गुणय । अथमन्त्राद्यः-  
अध्वनान्तानन्तकराशेस्तावतैव राशियानु गुणनव्यरूपे वर्गः  
क्रियते, ततस्त्वस्य वर्गितराशेः पुनर्वर्गः, तस्यापि वर्गितराशेर्भू-  
योऽपि वर्ग इति । तथाऽपि-एवमपि, वारत्रयं वर्गं कृतेऽपिः त-  
दुक्तुणमनन्तानन्तकं, न भवति न जायते । नतः किं कायम् ? इ-  
त्याह-अनन्तज्ञेयानिमाह । वक्ष्यमाणस्वरूपान्द पद् पद् संख्यान्  
क्षिपस्व निधेदिति ॥ ८४ ॥

तानव चरन्तक्रेपानाह-

सिद्धा निगोयजीवा, वणस्मई काल पुग्गज्ञा चैव ।  
सव्वमसोगनहं पुण, तिवग्गिउं केवसमुग्गम्मि ॥ ८५ ॥

सर्व एव सिद्धा निष्ठितानिऽपेकमाणाः, निगोदजीवाः सम-  
स्ता अपि सुखवाद्देभेदभिन्ना अनन्तकायिकसत्त्वाः, वनस्पतयः  
प्रत्येकानन्ताः सर्वेऽपि वनस्पतिजीवाः । काल इति-सर्वोऽप्य-  
दीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः, पुग्गज्ञाः समस्तपुद्गलरा-  
शेः परमाणवः । सर्वे समस्तम्, अलोक्तमोऽलोकाकाशमितिः  
उपसन्नतात्वात् । सर्वोऽपि लोकालोकाप्रदेशराशिः, इत्येतदाशि-  
षुद्रुमक्षेपानन्तरं यस्मिन् कृते यद्भवति तदाह-पुनः पुनरपि त्रिव्यं-  
गैवित्था श्रीनं वारोस्तावतैव राशियानु गुणयित्वा, केवलद्विके क-  
ेषज्ञानकेवलदर्शनमुग्गञ्जे क्लिप्ते सति ॥ ८५ ॥

सित्तेऽणंताणंत्तं, इवई जिहं तु ववहरद मज्जं ।

इय सुहमत्थवियारो, लिहिओ देविदसूरीहिं ॥ ८६ ॥

क्षिप्ते न्यस्ते सति, अनन्तानन्तकं भवति जायते, ज्येष्ठमुक्तुणम् ।  
तुः पुनरप्येव, व्यवहितसम्बन्धश्च । व्यवहरति व्यवहारकारि मध्यं  
तुः मध्यं पुनः । इयमत्र भावना-इह केवलज्ञानकेवलदर्शनश-  
ब्धेन तत्पर्याया उच्यन्ते, ततः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः पर्या-  
येष्वनन्तेषु क्षिप्तेषु सन्तिव्यति च्छेद्यम् । नवरं क्षेपयोऽयाणा-  
नान्तान्याङ्कानपर्यायाणांमन्यानन्यं वेदितव्यम् । एवमनन्तानन्तं  
ज्येष्ठं भवति, सर्वस्यैव चरन्तुजातस्यात्र संगृहीतत्वात् । अतः प-  
र चरन्तुसर्वस्यैव संख्यान्वेषस्याज्ञावादिव्यभिप्रायः । सुभाभि-  
प्रायतस्त्रिव्यवधमन्यनान्तान्तकमुक्तुणं न मार्यन्ते, अनन्तकस्यापि-  
व्यवस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । तथाचोक्तमुक्तुणमुक्तुणद्वारेषु-  
“ एवमुक्तांसयं अणानागतयं नत्थि ” । तदत्र तस्यं केशलिना  
विदन्ति । सूत्रे तु यत्र केशविदन्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्रापि-

अध्वन्योक्तुणद्वारवाक्यमनन्तानन्तकं ब्रह्मव्यम् । कर्म०४ कर्म० ।  
( यद्यपीदं पूर्वं ‘ अणुतंग ’ शब्देऽस्मिन्केव भागे १६१ पृष्ठे ज्ञावि-  
तं, तथापि मनातन्तरेणोपपत्त्यस्तम् )

असंख्येज्जित्थद-असंख्येयविस्तृत-वि० । असंख्येयानि यो-  
जनसहस्राणि ब्राह्मणविष्कन्धेण, असंख्येयानि योजनसहस्राणि  
परिक्रमेण च विस्तृतं, जी० ३ प्रति० ।

असंग-असङ्ग-वि० । बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहिते, प्रहा० १ पद ।  
आच० । प्रव० । न विद्यते सङ्गोऽसुखत्वाद् व्यस्य स तथा ।  
आच० १ भ्रु० ५ अ० ९ उ० । आत्मनि सङ्गविकले, षो० ८  
विच० । अभिष्वङ्गाभाषयति, षो० १५ विच० । मोज्जि, प० १०  
३ द्वार । सकसकलेशाऽनाषात् ( औ० ) सिद्धे, तन्मुक्त्यावक्षे,  
च । “ अथे च ह्येवं च मनरेविकाया, सुखेऽपि दुःखेऽपि च नि-  
विकारता । स्तुनौ च निन्द्यासु च तुल्यशीलता, वर्धन्ति तां त-  
त्त्वविदाऽऽश्वासकताम् ” ॥ १ ॥ षो० ११ विच० ।

असंगह-असंग्रह-पुं० । असंग्रहशीले, व्य० ४ उ० ।

असंग्रहदृ-असंग्रहश्चि-पुं० । न विद्यते संग्रहे रुचिरस्य सः ।  
गच्छेद्योग्यहकरस्य पीडादिकस्योपकरणस्यैवणादोषविमुक्तस्य  
लज्जमानस्यात्मभरत्वेन संग्रहे रुचिमनादधानं, प्रश्न० ३  
सम्ब० द्वार ।

असंग्रहिय-असंग्रहिक-पुं० । व्यवहारनयमतानुसारिणं वि-  
शेषवादिनि नैगमे, विश० ।

असंगृहीत-वि० । अनाश्रितं, स्था० ८ ग० ।

असंगाणुहाण-असङ्गानुष्ठान-न० । निर्विकल्पस्वरसबाहि-  
प्रवृत्तौ, घ० १ अचि० । अष्ट० ।

ध्यानं च विभले बोधे, सदैव हि महात्मनाम् ।  
सदा प्रश्नमरोऽनन्तं, प्रकाशो गगने विभोः ॥ १ ॥

( ध्यानं चेति ) विभले बोधे च सति प्रात्मनो सदैव हि  
ध्यानं भवति, तस्य तत्राप्यनन्तत्वात् । दृष्टान्तमाह-अनन्तंऽभ्रगृहं  
गगने विभोः कदितस्य प्रकाशः सदा प्रश्नमरो जवति, तथाऽ-  
वस्थास्यानायात् ॥ २० ॥

सत्प्रवृत्तिपदं चेत्ता-मङ्गानुष्ठानसंज्ञितम् ।

संस्कारतः स्वरसनः, मष्टया भोज्जकारणम् ॥ १ ॥

( सविति ) सत्प्रवृत्तिपदं चेद् प्रमायामसङ्गानुष्ठानसंज्ञितं  
भवति, संस्कारतः प्राच्यप्रत्यक्षान्, स्वरसन इच्छानैरपेक्षेण,  
प्रवृत्त्या प्रकृतवृत्त्या, मोक्षकारणम् । यथा-दृढदर्शनोदनादन-  
न्तरमुत्तरश्च, प्रतिसेतानन्तःसंस्कारानुबोधोऽव भवति, तथा  
प्रथमाभ्यासाद् ध्यानानन्तरं तत्संस्कारानुबोधोऽव तत्सत्-  
शरीरणांमप्रवाहोऽसङ्गानुष्ठानसंज्ञां लभत इति प्राचार्यैः ॥ ११ ॥

प्रशान्तवादिनासंज्ञं, विसर्गागपरिहृत्यः ।

शिववर्त्ते भ्रुवाञ्चेत्तं, योगिर्जगिर्गते हृदः ॥ १२ ॥

( प्रशान्तेति ) प्रशान्तवादिनासंज्ञं साक्षर्यानां, विसर्गागपरिहृ-  
यो बौकानाम्, शिववर्त्ते शैवानां, भ्रुवाञ्चेत् महाप्रतिनामानाम्, द्यं-  
वेहि योगिभिरसङ्गानुष्ठानं शीते ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥ षो० १५  
असंघयण-असंहनन-न० । अर्थाकारिः सहननैवोचितं, वि०  
सू० २० उ० ।

असंवाद्यम्-असंप्राप्तियम्-त्रि० । त्रिकाधिककणेषु कपाटवदसं-  
घातेन निर्वृत्तेषु, नि० सू० २ उ० ।

असंसृष्टय-असांख्यिक-पु० । बहुकालं रक्षितुमशक्ये दुग्ध-  
धिषकाभादी, कल्प० ९, ल० ।

असंसृष्टय-त्रि० । असंजातसंख्ये, मत्सिकैर्मासिककान्तुर्मासि-  
क्याश्रमासिकपाण्मासिके वा प्रायश्चित्तं वर्तमाने, व्य० १ उ० ।

असंसृष्टय-असंसृष्टय-स्त्री० । अविरक्तिकायास, वृ० १ उ० ।

असंसृष्टय-असंसृष्टय-न० । असंज्ञे, अगुचै व । नि० सू० १ उ० ।

असंसृष्टय-असंसृष्टय-पुं० । न संयमेऽसंयमः । प्रतिषिद्धकरणे,  
आ० सू० ४ अ० । पं० सं० । सावधानुष्ठाने, सूत्र० १ श्लो३ अ० ।

प्राणानिवातादी, "असंसृष्टयं परिणामि, संजमं त्वसंप्रज्ञानि"  
ध० ३ अधि० प्रश्ना० आ० सू० । बालमात्रं, आचा० १ वृ० २ अ० ।

असंसृष्टय-असंसृष्टय-पुं० । "असंसृष्टयमेषां, निष्कृत्तं सत्वमेव य ममत्" असं-  
यमे विराधनास्वजावमेकविधम् । आनु० सूत्र० । "पिमिदियाणं

जावा समारंभमाणस्त पंचविदे असंजमे कज्जइ । तं जहा-  
पुदविकाइयअसंसृष्टयं जाव वणस्सइइयअसंसृष्टयं " । स्या०

५ उ० २ उ० । असंसृष्टयः- " तद्विदिया णं जीवा समारंभमाणस्त  
उविदे असंसृष्टयं कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ ध-

वरोवत्ता प्रवइ, घाणामएणं दुक्खेणं संजोपत्ता भवइ ० जाय  
फालसमएणं दुक्खेणं संजोपत्ता भवइ " । इह चाव्यपरोपण-

मयोजेने च संयमेऽनाश्रयकृपादितरदसंयम इति । स्या०  
६ उ० । " चउरिदिया ण जावा समारंभमाणस्त अचविदे

असंसृष्टयं कज्जइ । तं जहा-चक्रनुपामो सोक्खाओ धवरोव-  
त्ता प्रवइ, चक्रनुपएणं दुक्खेणं संजोपत्ता भवइ " । स्या० ८

उ० । " पंचिदिया णं जावा समारंभमाणस्त पंचविदे असं-  
जमे कज्जइ । तं जहा-सोउरिदियअसंसृष्टयं जाव फालसिदियअसं-

जमे " । स्या० । " सववणभूयजीवसत्ता णं समारंभमाणस्त  
पंचविदे असंसृष्टयं कज्जइ । तं जहा-एपेदिदियअसंसृष्टयं जाव पं-

चैदियअसंसृष्टयं " । स्या० ५ उ० २ उ० । पं० सं० । " सत्तावेद  
असंसृष्टयं पणत्ते । तं जहा-पुदविकाइयअसंसृष्टयं जाव तस-

काइयअसंसृष्टयं अजीवकाइयअसंसृष्टयं " । स्या० ७ उ० । " दस-  
विदे अमजमे पणत्ते । तं जहा-पुदविकाइयअसंसृष्टयं अजी-

वकाइयअसंसृष्टयं " । स्या० १० उ० ।

सत्तरसविदे असंसृष्टयं पणत्ते । तं जहा-पुदविकाइयअसंसृष्टयं,  
आउकाइयअसंसृष्टयं, तेउकाइयअसंसृष्टयं, वाउकाइयअसंसृष्टयं, व-

णस्सइकाइयअसंसृष्टयं, वेदिदियअसंसृष्टयं, तंदिदियअसंसृष्टयं, च-  
उरिदियअसंसृष्टयं, पंचिदियअसंसृष्टयं, अजीवकायअसंसृष्टयं,

पेहाअसंसृष्टयं, उपेहाअसंसृष्टयं, अवट्टुअसंसृष्टयं अप्पमज-  
णाअसंसृष्टयं, मणअसंसृष्टयं, वइअसंसृष्टयं, कायअसंसृष्टयं ।

अजीवकायासंयमे विकटसुषणं बहुसुष्यवस्त्रपात्रे पुस्तकादि-  
प्रहणम् । प्रेक्षायासंयमो यः स तथा । स च स्थानोपकरण-  
ादिनि अग्रयुपकृणमविधिप्रयुपेकं वा । उपेक्षाऽसंयमयोगेषु  
व्यापारणं, संयमयोगेष्वव्यापारणं वा । तथाऽप्रहृत्यसंयमः-अ-

असंसृष्टयम्-असंसृष्टयम्-त्रि० । साधुनिमित्तसंयमकरणश्रीभि, पि० ।

असंसृष्टयम्-असंसृष्टयम्-न० । असमाधिस्थानादिषु, व्य० ।

असमाधिहाणा खलु, सवला य परीमहा य मोहम्मि ।  
पत्ति आवयसागोरोवम्-परमायु ततो असंसृष्टयजा ॥

एष प्रायश्चित्ताराशिः । कुतः ? उच्यते-यानि खल्वसमाधि-  
स्थानानि विश्रान्तिः । खलुशब्दः संज्ञावचः । स श्रान्तसंसाध्यति-

असंभवातानि देशकानुपुरुषजैदतोऽसमाधिस्थानानि; एवमेक-  
विश्रान्तिः श्रवणानि; ह्राविश्रान्तिः परोपदाः । तथा-भेदे मोहनीये  
कर्मणि ये अष्टाविश्रान्तिभेदाः, अथवा मोहविषयानि विश्रव-

स्थानानि, परोपदाऽसंयमस्थानेभ्य एष प्रायश्चित्ताराशिरूप-  
यते । व्य० १ उ० ।

असंसृष्टयमभेदाः-

से जयवं ! केवइए असंसृष्टयम्हाणे एएणत्ते ? गोयमा !  
अएणे असंसृष्टयम्हाणे एएणत्ते ० जाव एं कायामंसृष्टयम्हाणे ।

से जयवं ! कयरे कायामंसृष्टयम्हाणा ? । गोयमा ! काया-  
संसृष्टयम्हाणे अएणेगहा एएणत्ते । तं जहा-

" पुदवइगामणिवाठ, वणफ्फनी तह तसएण विविहाणं ।  
इत्थेण वि फारिसणयं, वज्जउजा जावर्जिं वे पि ॥

साउएणस्वारत्थिने, अग्गं । दोणुमअंविदोणाहे ।  
पुदवीदीएण परोपवर, स्वयंकरे वज्जसत्थेए ॥

एहाएणुम्मइएल्लोभण-इत्थं गुत्ति अक्खिसायकरणेणं ।  
आवीपंते अणत्ते, आऊर्जिं वे स्वयं गति ॥

संधुकगणुणएणाहिं, एवं उज्जोयकरणमादीहिं ।  
वीणणुक्कुमएउज्जना-वणेहिं मिहिजीवसंयमं ॥

जाइ स्वयं अणे वि य, उज्जीवानिकायपइएणं ।  
जीवे जण्णां सुट्टु इ-उ वि हु संभक्खइ दस दिमाएणं च ॥

ओवीएणगतास्त्रियं-टयचामरओक्खेहत्थतास्त्रिहिं ।  
धोवणमेवणल्लंएण-ऊसाईहिं च वाऊणं ॥

अंकुरकुहरकिसंयय-एववालुप्पफालकंदलार्द्धं ।  
इत्थफारिसेण बहवे, जांते स्वयं वणफ्फई जीवे ॥

गमणागमणनिसीयएण-एयएणुएणअणुवउत्तययमत्तो ।  
वियल्लेदियवितांउत्तएणं-वेदिआण गोयम ! स्वयं नियमा ॥

पाणाइयविरई, सेयफत्तया गिरिइउण ता धीमं ! ।  
भरणावयम्मि पत्ते, भेज्ज विरई न त्वंदिज्जा ॥

अक्षियवयणस्त विरई, सावज्जं सन्वमवि न ज्ञासिआ ।  
परदव्वहुरएविरई, करेज्ज दिसे वि मा लोउं ॥

धरणं दुक्खरत्तं-व्वयसस काउं परिग्गहन्वायं ।  
राईजोयणविरई, पंचिदियनिग्गहं विदिहाण ॥ "

महा० ७ अ० ।

असंसृष्टयम्-असंसृष्टयम्-पुं० । पृथिव्याचपमईकरेमे, इ० १ उ० ।

असंसृष्टयम्-असंसृष्टयम्-त्रि० । न विरतोऽसंयतः । अविरत्ते, आच० ४

असंजय

अ० । स्था० । मिव्याहृष्टपादौ, म० ६ श० ३ उ० । अविरत-  
स्यवाहृष्टियस्येत, आतु० । न० । कुनश्चिद्व्यनित्त्वे, सूत्र० १  
शु० १० अ० । दश० । गृहस्थे, आचा० २ शु० २ अ० १ उ० ।  
नि० चू० । स च आचकः, प्रकृतिमदका वा स्यात् । आचा० २  
शु० २ अ० २ उ० । गृहकर्मकारिण प्रव्रजिते, सूत्र० १ शु० ५  
अ० । असाधो सयमरहिते, म० १ श० १ उ० । अ० । प्रश्न० ।  
हा० । असंयमवति आश्रमभरिप्रदप्रमत्त अग्रप्रचारिण, स्या०  
१० ग्रा० । पार्श्वेष्वादी, ध० २ अधि० । ( असंयतानां कृत्तिकर्म  
न कर्त्तव्यमिति 'किरकम्म' शब्दे वक्ष्यते ) ( असंयतानां  
पञ्च जागराः 'जागर' शब्दे वक्ष्यते )

असंजयपुत्रा-असंयतपुत्रा-स्त्री० । असंयमवतामारम्भपरिप्रद-  
प्रस्तकानां ब्राह्मणादीनां पुत्रायाम्, कल्प० १ सू० । स्या० ।  
( सा च नवमदशमजिनयोगान्तरे प्रवृत्तौति 'अरुञ्जर' शब्द-  
उत्सिम्बेव भागे २०० पुष्टे उक्तं ) जिनामतन्तरेषु साधुषु वि-  
च्छेद्रे सति प्रत्येकबुद्धादिः केषुलो ज्वलति, न वा ? । यदि भ-  
वति, तर्हि अन्येषां धर्म कथयति, नवेति ? प्रश्न, उत्तरमती-  
थोच्छेद प्रत्येकबुद्धादिः केवलित्वजनने साक्षादङ्गराणि प्रवच-  
नसाराकारबुध्यादौ दृश्यते, परं परेषां धर्मकथने च निषेधा-  
ङ्गराणि ग्रन्थे दृष्टानि न स्मर्यन्ते । सेन० १ वल्ल० २९, प्र० ॥

असंजज्ञ-असंज्वल-पुं० । अननजिनममकालीने परवर्ताजिने,  
" भरहे अग्रतर्दे जिगो, परवर्दे असंजले जिगवरीदं " ।  
ति० । स० ।

असंजोपचा-असंयोगधितु-त्रि० । संयोगमकारयति, " सं-  
यामपणं उक्कसें असंजोपचा भवइ " । स्या० १० ग्रा० ।

असंजोगि ( ण )-असंयोगिन्-पुं० । संयोगरहिते, सिद्धे च ।  
स्या० २ ग्रा० १ उ० ॥

असंजविय-असंस्थापित-त्रि० । असंस्कृते, न० ।

असंणि (संनि) हिंसंचय-अमञ्जिधिसंचय-पुं० । न विद्यत  
संनिभेमादिकोदकखञ्जरैरोरनक्यादेः पयुरिपितस्य संचयो धारणं  
यत्रसायसञ्जिधिसंचयः । सञ्जिधिसंचयः, "इमस्स धम्मस्स०  
पंचमहवययुत्तस्स असञ्जिहंसंचयस्स" । पा० ।

असंत-अमतु-त्रि० । अविद्यमाने, नि० चू० १ उ० । अशोभने,  
सूत्र० १ शु० ९ अ० । प्रश्न० ।

अशान्त-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असंतह-असन्ताति-स्त्री० । शिष्यमशियादिसन्तानानुपजने,  
शु० १ उ० ।

असंतग-अमत्य-न० । असदर्थानिधानकृष्यात् पञ्चमे गौणगद्दी-  
क, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अविद्यमानार्थक असत्य, प्रश्न० २  
आश्र० द्वार । असदभूते वचने अशोभने, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।  
अशान्तक-न० । अनुपशामप्रधाने, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।

असंतय-असान्तत-न० । रागादिप्रवर्त्तने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असंताचेल-असदचेल-पुं० । अविद्यमानेषु चेलेषु, अवास्तसि  
तीर्थेकरे, देवदृष्यापगमनान्तरे तथाभावात् । पञ्जा० १७ विव० ।

असंति-अशान्ति-स्त्री० । शान्त्यभावे, अनिर्वाणे, संस्तुती च ।  
सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० ।

असंथर-असंस्तुत-त्रि० । शकट इव विशारतया संचरितुम-  
शक्नुवति, व्य० ७ उ० । शू० । असमर्थे, आचा० २ शु० १ अ० ।

तवगेद्वन्नदद्यात्, तिविहो तु असंथदो तिहे तिविहो ।  
नवसंथर्याससना, मासादारोवणा इणमो ॥

असंस्तुते नाम षष्ठाष्टमदिना तपसा क्लृप्ते ग्लानत्वेन असम-  
र्थे ईसांध्यानि वा गच्छन्तु पर्याप्तं न सन्तं, एव त्रिविधाऽसंस्तु-  
तः । ( तिहे तिविहो ) त्रिविधे अप्वनि योऽसंस्तुतः स त्रिविधः ।  
तद्यथा-अप्वप्रवेश, अप्वमधे, आभांसारं च । तत्र तपोऽसंस्तु-  
तस्य निर्विवाकतस्य मासांश्चा इह समाहारोवणा जव-  
ति । शू० ५ उ० ।

असंथरण-असंस्तरण-न० । अनिवाहे, शू० १ उ० । बुद्धिक्लेश-  
नाद्यवस्थायाम्, ध्रु० ३ अधि० । अपयामलाभे, पं० व० ३ द्वार ।  
" संथरामि मथुं दुगंधं पि गिहंतंदिनयाणु हियं । आउर-  
दिछेणेणं, तं चेव हियं असंथरणे " । नि० चू० १ उ० ।

असंथरमाण-(असंथरंत)-असंस्तरतु-त्रि० । गवेषणामयकुर्व-  
ति, व्य० ४ उ० ।

असंयुय-असंस्तुत-त्रि० । असंबन्धे, सूत्र० १ शु० १ अ० २ अ० ।

असंदिद्ध-असंदिग्ध-त्रि० । संदेहवर्जिते, दशा० ४ अ० । कल्प० ।  
निश्चिने सकलमशयादिदोषरहिते, स्या० ६ ग्रा० ।

असंदिग्ध-असंदिग्ध-न० । असंशयकारितायाम्, षष्ठांशे  
सत्यवचनानि शेषे च । स० ३५ सम० । स्त्री० । रा० । सैषधवाश्वव-  
ल्लवणवसनुरागपुरुषाद्यनेकाशंशयकारित्वादीदमत्तं । सूत्रशुभं,  
विश० । अमु० । आ० म० ।

असंदिग्धवयणया-असंदिग्धवचनना-स्त्री० । परिस्फुटवचन-  
नारूप वचनसम्प्रेदं, उत्त० १ अ० । स्या० ।

असंदिग्धवचनमाह-

अवचं अफुद्धं, अत्यथहुत्ता व हंति संदिद्धं ।  
विवरियमसंदिद्धं, वयणे सा संपया चउहा ॥

अत्यन्तं-वाचा व्यक्तताया अभावः, अस्फुटार्थमत्तराणां स-  
ञ्चिदाशंशयः, विवर्तनायथेवहुत्वाद्वा भवति संदिग्धम् । त-  
द्विपरीतमसंदिग्धम्, तद्वचने यस्यासावसंदिग्धवचनम् । एषा  
वचने संपच्यनुर्द्धा चतुष्पकारा ॥ श्य० १ उ० ।

असंदीण-असंदीनि-त्रि० । पत्तमासाहुदकेनाप्लाव्यमाने सि-  
हलङ्कापादौ, आचा० १ शु० ६ अ० ३ उ० ।

असंधिम-असन्धिम-त्रि० । अपातराले सन्धिग्रहिते, शू०  
५ उ० ।

असंपउत्त-असंययुक्त-त्रि० । अयुक्ते, नि० चू० १ उ० ।

असंपओग-असंपयोग-पुं० । विप्रयोगे, ध० ३ अधि० । अयोगे,  
म० २५ हा० ५ उ० ॥

असंपगहियप ( ण )-असंपगृहीतात्पुन-त्रि० । असंपगृही-  
ताऽनुत्सिम्बकवातात्सा यस्य साऽसंपगृहीतात्सा । निरभिमाने, अ-  
हमाचायां बहुश्रुतः तपस्वी सामाचार्यकुशलो जात्वादिमाह  
वा इत्यादिमदरहिते, दशा० ३ अ० ॥

असंपगहियया-असंपगृहीतता-खी० । संप्रहरहितताक्ये भा-  
व्यायस्यदभेदे, व्य० । असंपग्रहीतता नाम जात्यादिमदैरनु-  
त्सिकता । तथाह-

आयिरत्रो बहुस्तुत्रो, तवसि अहं जाहृदि मयपहिं ।

जो होइ अणुसित्ता, असंपगहियां वि सो भवइ ॥

आचार्योऽहं बहुभूतोऽहं तपस्थयहमित्तमैः; जात्यादिनिर्वा म-  
दर्थो नवत्यनुत्सिकः स भवत्यसंपग्रहीतः, मदसंप्रग्रहित-  
त्वात् । ध्य० १० व० ।

असंपगहृ-असंपग्रहृ-पुं० । समन्तात् प्रकषेण जात्यादिप्रकृत-  
लक्षणं प्रहणमारमनोऽवधारणं संप्रग्रहः । तदभावाऽसंप्रग्रहः ।  
उत्त० १ अ० । आत्मनो जात्याद्युत्सिकरूपप्रहवजनं, याचनासंप-  
दुन्दे, रथा० ८ अ० ।

असंपत्त-असंपत्ता-त्रि० । असंसप्रे, रा० ।

असंपत्ति-असंपत्त-खी० । प्रायश्चित्तजारवहनासामर्थ्ये,  
" असंपत्तये मासलहु, संपत्तये मासगुरु " नि० चू० १ व० ।  
" असंपत्तियत्तान रयहरणं पक्षुपेहिउज्जा " । महा० ७ अ० ।

असंपदिष्ट-असंपग्रहृ-त्रि० । अहमिते, सत्त० १५ अ० । "प्रव-  
गमणे असंपदिष्टा जे से भिक्व् " । उत्त० १५ अ० ।

असंपुपु-असंपपुट-त्रि० । अथापुने, " मुहं वा असंपुपुं वा-  
नाऽऽरभंदांसिण अच्येउज " नि० चू० २० व० ।

असंपफुर-असंपसफुर-त्रि० । असंपुने, व० ३ व० ।

असंपबुद्ध-असंपबुद्ध-त्रि० । असंपिष्टे, " असंसबद्धो हविउजा ज-  
गतिस्सप " । पत्तिनीपत्रोदकद्वयं गृहस्थैः । दश० ८ अ० ।

संप्रत्यसंबुद्ध इति पञ्चदशे जेदं निरूपयितुमाह-

जावेतो अणवरयं, स्वागभंगुरयं समन्यवत्पूणं ।

मेवंधो वि धणाइमु, वज्जइ पत्तिवंधेपंधेवे ॥ ७४ ॥

जावयन पर्यालोचयन्न, अनयरते प्रतिक्षणं, कृणनहूरतां  
सततं विनश्चरतां, समस्तवस्तुतां ननुनस्वजनयोर्विनजी-  
विनप्रभृतिस्वभावानां, संघडोऽपि बाह्यवृथया प्रतिपालनवर्द्ध-  
नाऽप्येवा युक्तोऽपि, धनादिषु धनस्वजनकारिहरिप्रभृतिषु,  
वर्जयति न करानि वन्धो मूर्च्छां नदपं सवन्धं संयोगं, नरसु-  
न्दरनश्चर इव, यतो जावतो भावयत्येवं जावथावकः- " वि-  
त्ता दुपपयं च उउपयं च, खित्तं गिह धणयन्न च सव्वं । क-  
म्मपवीओ अस्सो पयाइ, पर भवे सुंदरपावयं व " ॥ १ ॥ इ-  
त्यादि । ध० २० । ( नरसुन्दरनरेअकथा ' सारसुंदर ' शब्दे  
वक्ष्यते )

असंपबुद्ध-असंपबुद्ध-त्रि० । अनवगततत्वे, उत्त० १ अ० ।

असंपंत-असंप्रान्त-त्रि० । अनयचित्ते, पं० व० १ इार । यथा-  
वदुपयोगादि कृत्वाऽनाकुले, दश० १ अ० । अमरहिते, विषा० १  
अ० १ अ० । रा० । अनुत्सुके, म० ११ श० ११ उ० ।

असंपजम-असंप्रम-पुं० । भयाऽकरणं, अंध० ।

असंपाविद्ध-असंपजावित-त्रि० । " तां होऽनादीं शौरसेन्यामयु-  
क्तस्य " । मा० १६० । इति तस्य दुः संभवमकारिते, मा० ७ पाद ।  
१०७

असंपोह-असंपोह-पुं० । देवादिद्विगतमायाजितित्यस्य, सुप्रपवा-  
र्धविषयस्य च संमोहस्य मृदाया निषेधे, औ० । ग० रथा० ।  
असंपोह्य-असंपोह्य-त्रि० । संलिपुनमशक्येषु प्रतिबहुषु, अनु० ।

असंसोय-असंसोक्त-पुं० । अग्रकाशे, भावा० । असंसोक्तवति,  
त्रि० । अनापातेऽसंसोक्तं स्थितिद्वये सुसुम्नैः । असंसोक्तं गर्वा-  
चारं प्रखणवं वा कुर्यात् । भावा० २ अ० १० अ० । ध० ।

असंसवर-असंसवर-पुं० । संबरणं संबरः, न संबरोऽसंसवरः ।  
पा० । भाष्ये, रथा० । " पेक्षविहे असंसवरे पक्षसे । तं जहा-  
सोर्द्वियअसंसवरे० जाव फासिद्वियअसंसवरे " । रथा० ५ ग्रा०  
२ उ० । " उर्विहे असंसवरे पक्षसे । तं जहा-सोर्द्वियअसंस-  
वरे० जाव फासिद्वियअसंसवरे सोर्द्वियअसंसवरे " । रथा० ५  
ग्रा० । " अट्टुर्विहे असंसवरे पक्षसे-तं जहा-सोर्द्वियअसंसवरे० जाव  
कायअसंसवरे " रथा० । " दसविहे असंसवरे पक्षसे । तं जहा-  
सोर्द्वियअसंसवरे जाव सुत्कुसुमगअसंसवरे " । रथा० ८ ग्रा० ।

असंसवसिप-असंसवसित-त्रि० । अश्वचित्ते, तं० ।  
असंसविग-असंसविग-त्रि० । न संविगोऽसंसविगः । पार्ष्णस्थादौ,  
नि० चू० १ व० । शीतलविहारिणि, पं० व० २२ इार । व्य० ।  
असंसविग्न अपि त्रिविधा-संसविग्नपाक्षिकाः, असंसविग्नपाक्षिका-  
श्च । संविग्नपाक्षिका निजानुष्ठाननिर्दिना यथोक्तसुसाधुसमा-  
चारप्ररूपका, असंसविग्नपाक्षिका निर्धर्मोः सुसाधुनुष्ठानकाः-  
वक्तव्य-

" न्यायायं दुविहं, सपकस्वरपकस्त्रयो य नायव्यं ।  
दुविहं होऽ सपकस्त्रं, संजय तद संजयं च ॥ १ ॥  
सविमामसंविगमा, संविमामगुण पयरा नेव ।  
असंसविगा वि य दुविहा, तपार्ष्णय पयरा नेव " ॥ २ ॥  
प्रय० ११ इार ।

असंसविगपविस्वय-असंसविग्नपाक्षिक-पुं० । निर्धर्मणि सुसाधुनु-  
ष्ठानक, प्रव० ११ इार ।

असंसविजाग-असंसविजाग-पुं० । संविभागाभावे, दश० १ अ० ।

असंसविभागि ( ण )-असंसविजागिन-पुं० । संविभजति भानी-  
ताहारमन्येऽप्य; साधुभ्यः प्रापयतीत्येवशीलः संविभागी, न सं-  
विभागी असंसविभागी । आहारेण स्वकीयमेव उदरं विभक्ति इत्य-  
र्थः । अन्यस्मै न ददाति । उत्त० ३३ अ० । आचार्यगणानादीनामप-  
णागुणविशुद्धिलक्ष्यमभिनजमानो, प्रश्न० ३ संव० इार । यत्र क-  
चन लाभोऽसंसविभागवति, " असंसविभागी न दु तस्स मोक्षलो " ।  
दश० ६ अ० ।

असंसवुद्ध-असंसवुद्ध-त्रि० । इन्द्रियनोऽन्द्रियैरसंसये, स्व० १ अ० १  
अ० ३ व० । हिंसतिस्थानत्रयो निवृत्ते असंसयेन्द्रिये, स्व० १  
अ० २ अ० १ उ० । अनिरुद्धाभवठारं, म० १ श० १ उ० । प्र-  
मत्ते, म० ७ श० ३ उ० । ( असंसवुत्स्थानगरस्य वल्लयता  
' असुयार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७३ पृष्ठे ममुक्ता ) ( स्वप्रश्न  
' सुविण ' शब्दे वक्ष्यते )

असंसद्वय-असंसद्वयित-त्रि० । निःसंशयिते, स्व० २ अ० २ अ० ।

असंसदु-असंसदु-त्रि० । अन्वयदीयापिष्टैः साहाऽमीलिते,  
वृ० २ उ० । अस्वरिष्टिते, औ० ।

असंसृष्टचरय-असंसृष्टचरक-पुं० । असंसृष्टेन इत्यादिना ही-  
यमानस्य प्राद्वे, स्त्री० ॥

असंसृष्टा-असंसृष्टा-स्त्री० । असंसृष्टेन इत्येनाऽसंसृष्टेन च  
पात्रकेण[सावशयं चरयं] जिज्ञां शुद्धतः साधोः प्रथमायां विपडै-  
षणायाम्, प्रथ० ६६ द्वार । स्या० । आ० चू० । नि० चू० ॥ अच० ॥  
आचा० सुच० । घ० पञ्चा० ( 'लित्त' शब्देऽसंसृष्टायाः प्रकृपणस्य )  
असंसृष्ट-असंसृष्ट-वि० । असंसृष्टिलिते, उच० २ अ० । विशे० ।  
अप्रतिबद्धे, वृश० ८ अ० । असंसृष्टे, उच० ३ अ० ।

असंसृष्टय-असंसृष्टय-न० । निमित्ते, द्वा० २० द्वा० । निःसंदेहे,  
दृ० १ उ० ।

असंसृष्टार-असंसृष्टार-पुं० । न संसारोऽसंसृष्टारः । संसारप्रति-  
पत्तचतुर्ते भांके, जी० १ प्रति० । संसारजाये, द्वा० ११ द्वा० ।

असंसृष्टारमावृष-असंसृष्टारमावृष-पुं० । न संसारोऽसंसृष्टारो  
मोक्षस्तं समापन्नः असंसृष्टारमावृषः । मुक्ते, प्रश्ना० १ यद ।  
सिद्धे, स्या० ३ डा० १ उ० । जी० ॥

असंसृष्ट-असंसृष्ट-वि० । कर्तुमपार्यमाणे, घ० । अशक्ये भाव-  
प्रतिपत्तिरिति । अशक्ये ज्ञानाचार्यादिविशेष एव कर्तुमपार्यमाणे  
कुतोऽपि धृतिमहनकालबलादिवैकल्याद्भावप्रतिपत्तिः-अवि-  
मान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुभवः । न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि; अ-  
कालौत्सुक्यस्य तावत् आतेभ्यान्त्यादिति । घ० १ अधि० ।

असंसृष्टय-असंसृष्टय-वि० । न विद्येन संस्कृतं संस्कारो यस्य  
सांऽसंसृष्टतः । अविद्यमानसंस्कारे, प्रश्न० १ आ० द्वार ।

असंसृष्टयमकस्य-असंसृष्टयामंसंसृष्टय-वि० । कर्मधारयः । सका-  
रोऽत्रालाङ्गिकः । अत्यन्तमसंसृष्टते, प्रश्न० ४ आ० द्वार ।

असंसृष्टहा-असंसृष्टहा-स्त्री० । अशोभनकथायाम्, तर्श० ।

असंसृष्टक्रिया-असंसृष्टक्रिया-स्त्री० । अशोभनायां चेष्टायाम्, प-  
ञ्चा० ६ विव० ।

असंसृष्टक्रियाद्वय-असंसृष्टक्रियाद्वय-वि० । अज्ञानपिदितादि-  
द्वारेण जीवोपमैरुपाप्रशस्तव्यापाररहिते, पञ्चा० १३ विव० ।  
असंसृष्टा-असंसृष्टा-स्त्री० । शक्यैरुपयं नीतव्यात्स्वनामक्या-  
ने आजीरकनारत्ने, वृश० ३ अ० । ( तद्वृत्ते ' उवहाण ' शब्दे  
क्षितीयभागे १०४६ श्रुंठे उवहाडिस्थिते )

असंसृष्टगद्-असंसृष्टगद्-पुं० । अशोभनाभिविद्येयो भाववचनबाधि-  
तायेकृपाते, पञ्चा० १ विव० । आरिज्वतोऽपि असंसृष्टः संभव-  
ति, मतिमोहमाहात्म्यादिति । घ० २० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-न० । सत्यविपरीते, नास्ति जीव एकांतसद्व्यो  
वेत्यादिकुविबल्यनपरे, यं सं० १ द्वार । उच० ॥ अलोके, प्रश्न० २  
आ० द्वार । असत्यं च महत्तमं पालकं यतो योगशास्त्रान्तर-  
रुद्धंके- " एकत्राऽसत्यं च पापं, पापं निःश्रेयसम्वतः । ह्येतोस्तु-  
त्त्वाविधृतयो-राद्यमेवातिरिच्यते" ॥१॥ इति । घ० २ अधि० ।  
प्रश्न० । आ० चू० ।

असंसृष्टयजोग-असंसृष्टयजोग-पुं० । कर्म० सं० । नास्ति जी-  
व एकांतसद्वृत्तेो विभ्रम्यापीत्यादिकुविकल्पविचिन्तनपरे म-  
नोयोगे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्टयजोग-असंसृष्टयजोग-पुं० । न विद्यते  
सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते श्रुया यत्र सोऽसृष्टः । अस-  
त्यत्वात्तो असृष्टः, " कं नवादिभिः" ॥ ३ । १ । १०५ । इति  
कर्मधारयः । असंसृष्टयजोगो मनोयोगात्सात्ययुग्मनोयो-  
गः । मनोयोगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्ट-असंसृष्ट-वि० । असत्ये श्रुयाभाषणे असत्येमे वा  
वचियंस्याऽसात्यसत्यवधिः । असत्यं रोचयमाने; ध्य० ३ उ० ।  
असंसृष्टयजोग-असंसृष्टयजोग-पुं० । धात्व्योगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्टयचरण-असंसृष्टयचरण-न० । असत्यमलंकिं संघा-  
ति करोतीति असत्यसन्धः, तद्वृत्तवाऽसत्यसन्धत्वम् । वद्वि-  
शे गौणालोके, प्रश्न० २ आ० द्वार ॥

असंसृष्टयोमा-असंसृष्टयोमा-स्त्री० । यत्र सत्यं नापि श्रुया, तत्र  
असत्यश्रुया । वस्तुप्रतिपद्यमन्तरेण स्वकृपयान्तरपर्यालोचनपरे-  
" अतो देवदत्त । धटमानय, गां देहि मयाव " इत्यादिचित्तनपरे भा-  
षाभेदे, इदं हि स्वकृपयान्तरपर्यालोचनपरत्वाद्यथोक्तं कृतं सत्यं,  
नापि श्रुया । यं सं० १ द्वार । " अं णेव सत्त्वं, येव मोक्षं, णेव  
सत्त्वमांसं-असत्त्वमांसं णाम, तं चरुणं भासज्जातं " अनु-  
र्थी ज्ञाषा-योच्यमाना न सत्या, नापि श्रुया, नापि असत्यश्रुया  
आमन्त्रणाऽऽज्ञापनादिका साऽत्रासत्यश्रुयति । आचा० २ अ०  
४ अ० १ उ० ।

सामंनसत्याश्रुयामाह—

आमंनसि आणवणी, जायणि तद्द पुञ्जणी अ पञ्चवर्णा ।।  
पञ्चवर्णाणि जासा, जासा इच्छाश्रुयोमा य ॥ ४५ ॥

आमन्त्रणी, यथा-दे देवदत्त । इत्यादि । एषा किलाप्रथमैकवात्  
सत्यादिभाषात्रयसङ्घातविद्योगतसत्याविधेयलोत्पत्तेरसत्याश्रुय-  
ति । एषमाज्ञापनी, यथा-इदं कुरु । इयमपि तस्य करणाकरण-  
भावः परमापेक्षेकजात्यनियमात्ताम्रनीतिः श्रुतुष्टिविज्ञापन-  
तत्त्वात्सत्याश्रुयति । एवं स्ववृत्ताऽन्यत्रापि जायना कार्यानि । याच-  
वनी, यथा-भिक्षां प्रयच्छति । तथा प्रच्छन्ती, यथा-कथमेतादि-  
ति ? । प्रश्नापनी, यथा-हिसादिप्रवृत्तं दुःखिनादिज्ञेवति । प्रत्या-  
ख्यानी भाषा, यथा-अदिसेति । भाषा इच्छानुज्ञोमा च, यथा-  
केनाचित् कश्चिदुक्तः-सायुसकायां गच्छाम इति । स प्राह-यो-  
पनमिदमिति साक्षात्शः ॥ ४२ ॥

आणजिगद्दिआ जासा, भासा अ अजिगद्दिग्मि बोधयन्वा ।  
संसयकरणी जासा, वायन अन्वयायमा चेव ॥ ४३ ॥

अनभिष्टुहीता भाषा-अर्थमनभिष्टुक्ष बोध्यते, इत्यादिवत् ।  
भाषा आभिष्टुदे बोधया-अर्थमजिगद्दि बोध्यते, घटादिवत् ।  
तथा संशयकरणी च भाषा-अनेकार्थसाधारणा बोध्यते, सैन्यव-  
मित्यादिवत् । व्याकृता-रुष्टा प्रकटायां-देवदत्तस्येव आतेत्यादि-  
वत् । अन्वयाहता चेव अन्वयऽप्रकाटायां-शालकादीनां यथानि-  
कत्यादिवदिति साक्षात्शः । उक्ताऽसत्याश्रुया । वृश० ३ अ० १ उ० ॥

असंसृष्टोवादिहसञ्च-असंसृष्टोवादिहसञ्च-न० । सशब्दार्थेनानास-  
त्या उपाचयो विशेषा वलयादुक्तीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्व-  
ज्ञेदानुयायिनः सुवर्णोदिसाम्यात्साम्यस्तत् सत्यमसत्योवाधि-  
शब्दप्रशुक्तिमित्तमभिधेयम् । सविशेषे सामान्ये, अन्वये त्याभु-  
यदसत्योवाधिसत्यं स शब्दार्थः इति । सम्प० १ काण्ड ॥

असज्जं—असज्जत्—वि० । सङ्गमकुर्वति, “असज्जमित्थीसु वपञ्च पुण्यं” आत्वा० १ सु० ५ अ० ४ अ० ।

असज्जमाण—असज्जह—वि० । सङ्गमकुर्वति, वच० १४ अ० । “ते कामजेसु असज्जमाणानां, माणुस्सपहं जे यावि दिव्वा” ॥१४॥ वच० १४ अ० । “असज्जमाणो ये परिउपज्जा” असज्जमाणः सङ्गमकुर्वन् एह पुण्णकव्वमादिपु परिउज्जेतुपुत्तविहारी । सुव० १ सु० १ अ० ।

असज्जक—असाध्य—वि० । अशक्ये, पि० । अनिवर्त्तनीयस्वप्नाये, आ० म० वि० ।

असज्जाइय—अस्वाध्यायिक—न० । आ मर्यादया सिद्धान्तोक्तग्यायेन पठनम्-आध्यायः, सुहृ शोभन आध्यायः स्वाध्यायः; स एव स्वाध्यायिकम् । नास्ति स्वाध्याया यत्र तदस्वाध्यायिकम् । क्विचिदादौ स्वाध्यायकारणदेतौ, प्रथ० २६८ द्वार । न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकम् । कारणं कार्यावधारद् क्विचिदादौ, अ० ३ अ० ।

अस्वाध्याये स्वाध्यायो न कर्तव्यः—

एो कपडं निगंथाणं वा निगंथीणं वा असज्जाइए सज्जायं करित्तए; कपडं निगंथाणं वा निगंथीणं वा सज्जाइए सज्जायं करित्तए ॥

अस्य स्वाध्यायान् न कल्पते निगन्धानां निगन्थीनां वा अस्वाध्यायिकं स्वाध्यायं कर्तुम्; कल्पते निगन्थानां वा निगन्थीनां वा स्वाध्यायिकं स्वाध्यायं कर्तुमिति सूत्राकरसंस्कारः ॥

अधुना भाष्यप्रपञ्चः—

असज्जाइयं च दुर्विदं, आयसमुत्थं परसमुत्थं च ।

अं तद्य परसमुत्थं, तं पंचविदं तु नायव्वं ॥

द्विविधं श्वस्वस्वाध्यायिकम् । तद् यथा—आयसमुत्थं, परसमुत्थम् । च श्वस्वस्वाध्यायिकतया तुद्वयकत्ततासंस्मृकः । तत्र यत् परसमुत्थं तत् पञ्चविदं ज्ञातव्यम् ।

तानि पञ्च प्रकारानुह—

संज्ञमयाउपपाए, सदेव वृग्गइ य सारिरे ।

एएसु करेमाणे, आणाइय मो उ दिठ्ठेतो ॥

संयमघाति संयमोपघानिकम्, औत्प्रातिकमुत्प्रातनिमित्तं, सदैवं देवताप्रयुक्तं, अयुद्मह, शरीरं च । परंतु पञ्चव्यस्वस्वाध्यायिकेषु स्वाध्यायं कुर्वन्त्याह्वयः आह्नामह्नाद्यो शोभाः, तथाऽऽहां तीर्थकराणां चो अञ्जति, तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुह । अनवस्थयाऽप्येऽपि तथा करिष्यन्तीति, तत्रापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुह, यथा वादी तथा कारी न जवर्तीति मिथ्यात्वं, तत्राप्यप्यनपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुह । विराधना द्विधा—संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमविराधना ज्ञानाकारविराधना । आत्मविराधनायामेवमुदाहरणम् ।

तदेवाह—

मेच्छजय घोसण निवे, दुग्गाणि अतीह मा विणस्सहिहा ।

फिदिपा जे उ अतिगया, इयरा इय सेस निव्वंको ॥

“कस्स वि रथो मेच्छजंधावारो विसयं आगंतुं इण्णिकामो, तं अयं आणिसा रथा सविषय सक्के वि घोसाविणियत्तं-मेच्छजंधावारो आगंतुं विसयं इण्णिकामो वट्टति, तुज्जे दुग्गाणि अतीह । तथ जेहि रथो आथा कया, ते मेच्छजंधातो फि-

दिथा, जेहि न कया आथा, ते मेच्छहि कुसिमा मारिया व, जे वि तथ केह परिमुक्का ते वि रथा इंदिया ” ।

अकारयोजना स्वयम्-मेच्छजनयमाकार्यं नृपेण ( गाथायां सप्तमीं तृतीयायां ) घोषणा कारिता । यथा-दुर्गापयतिगच्छय, मा विमङ्गुषय, तत्र ये अतिगतास्ते मेच्छजंधायाह विस्तरिताः इतरं हताः, कृतसर्वस्वापहाग्राहक ज्ञानाः । येऽपि श्रेयाः कथमपि मेच्छजंधायां प्रमुक्तास्तेषामाह्नामङ्गकरणतो नृपेण द्वाकः कृतः । इव० ७ उ० ।

“क्षितिप्रतिष्ठितेन, जितशत्रुनेराधिपः । स्वदेशे घोषितं तमा-गच्छति मेच्छजंधुपतौ ॥ १ ॥ त्यक्त्वा प्रामपुरादीनि, दुर्गेषु स्थायितं जनेः । ये राजवचसा दुर्गं-माकढास्ते सुखं स्थिताः ॥ २ ॥ नाकढा ये पुनर्दुर्गं, मेच्छजंधुपतेः शिल्पिताः । आह्नामङ्गान्नुपेयापि, गतशेषं च हृषिकृताः ॥ ३ ॥ अस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायाद्, वृषटः स्यादुभयादपि । देवतापञ्चसत्येकं, प्रायश्चित्तागमाऽपरः ॥ ४ ॥ इहलोकं परस्मिन्न, ज्ञानाद्यफलता भवेत् ॥ ५ ॥ क० ।

एव दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—

राया इव तित्थपरो, जाणवया साहु घोसणं सुत्तं ।

मेच्छा य अमज्जाअो, रयाणएणइ व नाणादी ॥

अत्र राजा इव तीर्थकरः, जानपदा इव साधवः, घोषणमिव सुत्तं, मेच्छा इव अस्वाध्यायः, रक्षधनानी च ज्ञानादीनि । तत्र ये साधवो जानपदस्यानीया राजस्थानीयस्य तीर्थकरस्याहां नानुपालयन्ति, ते प्राप्तदेवतया उद्वेगते, प्रायश्चित्तदण्डेन च हृषिकृताः । एव० ७ उ० । आ० क० ।

केन पुनः कारणेनाऽस्वाध्यायिकं स्वाध्यायं करोमि?,

तत्र आह—

योवावमेमपोरिसि, अऊणयणं वा वि जो कुणए सोरं ।

एाणाइमारहीण—स्स तस्स उल्लाना उ संसारे ॥

सोकावशेषायामपि पौरुष्यामभयनं पात्र उदेशांवाऽद्यापि समाप्ति न नीत इति कृत्वा उदाट्यायामपि पौरुष्यामस्तमिते वा सुये, अथवा अस्वाध्यायिकमिति कुत्वाऽपि योऽभ्ययनं पात्रम्, अयि-शब्दादुद्देशनं च करोति, तस्य आनादित्रिकं तस्वतोऽप्यतं, तीर्थकराऽह्नामङ्गकरणादिति । ज्ञानादित्रिकसारहीनस्य संसारे न-रकादिनवन्नमलक्षणं उल्लाना जघति; अपारधोरसंसार निपतनं प्रवर्तीति प्रायः ।

अथैव दृष्टान्तात्तरं समभिधित्सुराह—

अहवा दिठ्ठेतियरो, जइ रथो पंच केइ पुरिसा उ ।

दुग्गादी परितोमिउ, तेहि अ राया अइ कयाइं ॥

ता देति तस्स राया, नमरम्पी इच्छियं पयारं तु ।

गहिए य देइ मोस्से, जणस्स अहारवत्तादी ॥

एणेण तोसितयरो, गिहेऽगिहे तस्स सव्वहिं वि परे ।

रत्थाइसुं चणइए, एविह सज्जाए उवमा ॥

अथवेति दृष्टान्तस्य प्रकारान्तरसूचनम् । इतरो दृष्टान्तः । यथा-राजः केचित्पञ्च पुत्रयाः सेवकास्तेषु कदाचिद्दुःखादुर्गादिषु पतितो निस्तरितः, तत्रापि तेषां पञ्चानां मध्ये एकं केचित्पत्नरसत्ताप्यसमवलम्ब्य नृपस्तरं साहायिकमाकरि, ततस्तेषां

तेकेन जितानां चतुर्णां राजा परिमुष्टः सन् नगरे रथ्यादिषु शुद्धचर्यादिषु प्रचारमाप्सितं ददाति । यथा-यत्किमपि रथ्यामा-पणमादिषु, शिकञ्चतुष्कचक्रवादिषु वा यदेव बह्माहारादिकं प्राप्नुयात् युष्माकमेव । एवं प्रसादं कृते वस्त्राहारादीं नगरादितः स्वेच्छया शुद्ध्यति, राजा यस्व सत्कं यद् शुद्ध्यति, तस्य मूल्याय ददाति । येन चैकेन पुरुषेण भूयस्वरसादायिकं कृतवान् राजा तापिततरः, तस्य राजा शुद्धेऽग्रे वा सर्वत्र नगरमध्ये प्रचारमाप्सितं विर-त्यन्तराऽनुजानाति । तत्रापि यस्य सत्कं यत् शुद्ध्यते षष्ठाऽऽदि-रादि, तस्य मूल्याय राक्षा दीयते । इतरेषां चतुर्णां रथ्याऽऽदिष्वेव प्रचारमनुकृतवान्, न शुद्ध्यति । एवमुक्तेन प्रकारेण इह प्रस्तुतं ऽस्वाध्यायिके उपमाहृष्टान्तः । तद्वचमुक्तां हृष्टान्तः ।

सम्प्रति दार्शनिकयोजनामाह -

पदमभि सन्वेष्टा, सज्जात्रां वा जि वारितो नियमा ।  
सेमसु य सज्जात्रां, चेष्टा न निवारिता त्रयणा ॥  
प्रथमं ऽस्वाध्यायिकं संयमोपघानिकृते, सर्वा कायिका वा-  
चिका चेष्टा, स्वाध्यायिकं नियमाद्वारितः, नोपकतरपुरुषस्त्री-  
स्तथा तस्य सर्वत्र साधुव्यापारेषु प्रबुधैः । शेषेषु पुनः चतुर्णां-  
स्वाध्यायिकेषु, स्वाध्यायः, स्वाध्याय एव केषुको निवारितो, ना-  
स्या कायिका वाचिका वा प्रतिलक्षणादिका चेष्टा वारिता, तेषां  
शेषपुरुषचतुष्टयस्थानीयानां बहिः रथ्यादिविष्व स्वाध्यायमात्र  
एव व्यापारनावात् । तत्रैवं पञ्चस्वल् ऽस्वाध्यायिकेषु सामान्यतो  
विशेषतश्चाद्वारणमुक्तम् ।

इदानीं प्रथममस्वाध्यायिकं संयमोपघानि प्रकथयति—  
मद्विया य भिन्नवानो, सच्चित्तरण य संजमो निविहै ।  
द्वन्द्वे खेतं काद्रे, जायंती वा जविरं सन्द्वे ॥  
महिका गर्भमाप्ते पन-तो प्रसिद्धा, नस्यतः तथा-शुद्धादौ वयप-  
नति वयं तीदृशवर्षं, तस्मिन्, तथा सच्चित्तज्जास्य च, एवंविधे  
त्रिप्रकारे स्यमे-पदेकदेशे पदमनुदायोपचारात् संयमोपघा-  
नितिं अस्वाध्यायिकं निपतति, द्रव्यतः कृत्रतः कालतो भावत-  
श्च वर्जने जयति । तत्र द्रव्यतः-पतन्व च त्रिविधमस्वाध्यायिकं  
कृत्यम् । कृत्रतः-(जहियंति) यार्थान् कृत्र तन्पतति तावन् कृ-  
त्रस्य । कालतो-(यच्चिचरंति) यावन्तं कालं पतति तावन्तं काल-  
म् । प्रायतः-सर्ष कायिक्यादिचेष्टादिकं वयन्ते ।

एनामेव गाथां व्याख्यानयति—

मद्विया उ गन्नप्रामे, त्रामे पुण ह्यौति तिभि उ पगारा ।  
बुव्वुं तव फुनीए, सच्चित्तरो य त्रायंती ॥  
महिका गर्भमाप्ते प्रनीता । गर्भमाप्तां नाम कार्तिकादिर्वायव  
माघमासः । वर्षे पुनःकृत्यः प्रकारा भवन्ति । तानेवाह-( बुव्वुए  
त्ति ) यत्र वर्षे निपतति पानीयमन्धं बुद्धदस्तोयशलाकाकृपाः  
उत्तिष्ठन्ति, ततो वयंम्युपचाराद् बुद्धदंमिष्यत्येत । तद्वज्जुद्ध-  
वज्जितीयं वयंस, तूर्नायं (फुनीए ति) जलस्यशंशिकनिपतस्यः,  
तत्र बुद्धदं वार्थनिपतति यामाष्टकादध्वेय । अन्वेषु तु व्याख्येकते-  
त्रयार्णां दिनानां परतः, तद्वज्ज पञ्चानां दिनानां जलस्यशंशिका-  
रूपे सप्तानां परतः स्वमेवमुक्तायस्युष्टं जयति । ततस्तरण कृत्यतः  
कृत्रतः काज्ञतो जायन्तश्च वर्जने प्रायश्चर्यानीयेम, यावच्छायाका-  
थययं न भवति, यापद्रयाध्वयो निर्गमस्तत्र सर्वे स्वाध्यायप्रति-  
क्षेयनादि क्रियन्ते, बहिस्तु निर्गम्यन्ते ऽपि ' सच्चित्तरो ' नाम-  
व्यवहारसमाप्तिवता वातायता श्रद्धणुपूतिः, तत्रच सच्चित्तरो

वयन्ते, ततोऽस्यां गाथायां पुंस्यं प्राकृतत्वात् । तत्रच दिग्गन्तरेषु  
हृद्यन्ते, तदपि निरन्तरयाते त्रयाणां दिनानां परतः सर्वेषु-  
धिवीकायामांशितं करोति, तत्रापि पतितद्रव्यादितो वर्जने  
प्राप्स्यत् ।

तद्वेव व्याख्यातुमाह—

द्वन्द्वे तं चिय दव्वं, खेतं जहियं तु जच्चिरं काद्रे ।

गणादि जास जायं, मोचुं ऊमासठम्भेम् ॥

कृत्ये द्रव्यतः-तद्वेवास्वाध्यायिकं महिकं भिन्नवर्षे सच्चित्तरो  
वा वयन्ते । कृत्रतः-यत्र कृत्रे निपतति, कालतो-यायाश्चरं काद्रे  
पतति, भावतो-मुक्त्वा उच्छ्वासमुपगतं च, तद्वज्जने जीवितव्या-  
घातसंभवात् । शेषां स्थानादिकां, आदिशब्दाद् गमनागमनप्र-  
तिलक्षणादिपरिग्रहः । कायिकां चेष्टां भाषां च वर्जयति ॥

वासचाणाऽऽवरिया, निक्कारण उवांतं कज्ज जयणाए ।

इत्थगुलिसभाए, पोत्तावरिया व जासति ॥

निष्कारणे कारणाभावे वयंप्रयाणां कम्बलमयः कथपः, तेन सौ-  
त्रिककथपस्मरितेन सर्वोत्तमा आबुनास्तिष्ठन्ति, न कामपि केश-  
तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति । कायैतु समपतिन्ते यतनया इतस्संज्ञया  
ब्रह्मसिंहंज्ञया च व्याहरन्ति । पोत्ताऽऽवरिया वा ज्ञानमे स्थाना-  
दिप्रयोजनं वर्पाकत्वाऽऽबुत्ता गच्छन्ति । गत संयमोपघातऽ-  
स्वाध्यायिकम् ।

इदानींमौपतिक्माह—

पंसुपमस्यसिहरिं-केसमिसावुद्धे तह रओपाण ।

मंसरुट्टिरेऽहरत्तं, अवमेमे जविरं सुचं ॥

अत्र वृष्टिशब्दः प्रयत्नकमिसंख्येयते । पंसुवृष्टी, कथिरवृष्टी  
केशवृष्टी, शिलावृष्टी च । तत्र पांसुवृष्टीनाम यद्विरजो निपतति,  
मांसवृष्टीनामस्वल्पानिपतति, कथिरवृष्टीः-सिधिरादिशब्द-व-प-  
ति । केशवृष्टीयद्वारा केशाः पतन्ति, शिलावृष्टी-पापारु-  
निपतन्ते, करकादिशिलावर्षीयमर्थः । तथा-रजउत्घातं इ-  
जस्वलासु दिक्षु सूत्र न पञ्चतः शेषाः सर्वा अपि चेष्टाः  
क्रियन्ते । तत्र मांसं कथिरं च पतति अदोरात्र वयन्ते, अव-  
शेषं पांसुवृष्टीयो यावाश्चरं पांसुवृष्टीपतनकासं, तावन् सूत्रं  
नच्छादन्ते पञ्चतः, शेषकाल तु पञ्चतः ।

सम्प्रति पांशुरजउत्घातार्थाख्यानमाह—

पंसु अ अच्चित्तरो, रथोमलाओ दिसा रउम्याते ।

तत्थ सवाते निव्वा-यए य सुचं परिहरंति ॥

पांशो नाम भूमाकासमापाणदुस्तरमिच्छं रजः । रजउत्-  
घातो रजस्वला दिशः, यासु सर्वाषु समन्तोऽन्वकार इव  
हृद्यन्ते, तत्र पांसुवृष्टी, रजउत्घातं वा सवाते निधातं च  
पतति यावत्पतन्तं तावत्सूत्रं परिहरन्ति ॥

अत्रैवापायामाह—

साभाविएं तिभि दिणा. सुगिमट्टए निक्खिवंति जइ जोगं ।

गो तिम्मि पदंतम्मि, कुण्णिं संवट्टएऽज्जायं ॥

यदि सुगोष्मकाग्रपाम्भ उपागाम्भे, चैत्ररूपके कथ्यते । इ-  
शम्याः परतो यावत् पौर्णमासी, अग्रपाम्भे निरन्तरं त्रीणि दिनानि  
यावत् यदि योगं निक्खिपन्ति एकादश्यादिषु ऋषोदशोपर्यन्तेषु,  
यदि वा त्रयोदश्यादिषु पौर्णमासीपर्यन्तेषु अच्चित्तरोऽवहृद-

मार्थं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति, तदा तस्मिन् पशुवर्षे रजोदृशाने वा स्वा-  
भाधिके पतति, संवत्सरं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, इतरथा नेति ।  
४७० ७ ३० । "द्वसविदे भोरालिप असञ्जाइय पद्यते । तं जहा-  
दृष्टो मंसि सौमिप इत्सुइसामेनं प्रसायासामेनं चंदेवराप स्रो-  
बराप पदभे रायकुमाइ इवसव्यस्स भंसां भोरालिप सरांरे" ।  
( स्था० ) " द्वसविदे अंतर्द्विष्णव असञ्जाइय पद्यते । तं  
जहा-उक्तावाप दिस्तिदाहे गञ्जिए वडिजुप निग्घाप ज्यप  
जक्खालिपप धूमिप मरिहा रज्जुघाघप ।" स्था० १० ढा० ।  
भा० सू० । ४७० ।

इदानीं सदेवमाह-

गंधर्वदिमात्रिजुके-गञ्जितए जूतजक्खदिचे य ।

एक्कपोरिसि ग-जियं तु दो पोरिसि हणति ॥

गन्धर्वनगरं नाम यच्चकवर्षादिनगरं प्रायान्तुत्सुनाव संघ्या-  
स्ये तस्य नामस्योपरि द्वितीयं नगरं प्राकाराष्टालकादिस्-  
स्थितं दृश्यते (द्विस (चि) दिग्माहः, विद्युत्प्रतीता, उक्का संरखा,  
प्रकाशयुक्ता वा, गञ्जितं प्रतीतं, रूपको वयममाणलक्षणः, यत्-  
दीर्घं नाम एकस्यां दिशि अनगऽनगरा यद् दृश्यते विद्युत्सदृशः  
प्रकाशः । एतेषु मध्ये गन्धर्वनगरादिकमेकैकामिकां पौरुषीं च  
हन्ति, गञ्जितं पुनर्द्वै पौरुषी हन्ति ।

गंधर्वनगर नियमा, सदेवयं सेमगाणि भजिणीओ ।

जेण न नर्जति फुडं, तेण ये तेसि तु परिहारा ॥

आत्र गन्धर्वनगरादियु मध्ये गन्धर्वनगरं नियमात्सदेवकाम, अ-  
न्यथा तस्याजावात् । शपकाणि तु दिग्दारादीनि भक्तानि विकल्पि-  
तानि, कदाचित् स्वाभाविकानि भवन्ति, कदाचित् देवकृतानि ।  
तत्र स्वाभाविकेषु स्वाध्यायो न परिकल्पिते किन्तु देवकृतेषु परम् ।  
येन कारणात् स्फुटं वैभक्त्यन्त तानि न ज्ञायन्त, नत तेषामविदोष-  
परिहारः ।

सम्प्रति दिग्दारादिव्याख्यानमाह-

दिसि दाद्दि अभिमुलो, उक्क सरेद्दा पगासजुत्ता वा ।

संजज्जेयाऽऽवरणां, उ जूवओ सुक्कदिण विषि ॥

दिसि पूर्वादिक्कां जिष्णुओ दाहः प्रजवलनं दिग्दाहः ।  
किमुकं जवति ?—अन्यतमस्यां दिशि महानगरप्रदं।मि-  
वोपरि प्रकाशोऽधस्तादन्धकार इति दिग्दाहः । उक्का पृष्ठतः  
संरखा, प्रकाशयुक्ता वा । रूपो नाम बुद्धिः शुक्लपके त्रिणि  
दिनाति यावत् द्वितीयस्यां नृतीयस्यां चतुर्थी चैत्यथेः ।  
सध्याच्छेदः सध्याविभागः, स आश्रितये येन स सध्याच्छे-  
दावरणभङ्गः । इयमत्र भावना-शुक्लपकद्वितीयातृतीयाचतुर्थी-  
रूपेषु त्रिषु दिनेषु संभ्यागतभङ्ग इति क्त्वा संघ्या न विभाव्य-  
ते, ततस्तानि शुक्लपके त्रिणि दिनाति यावत् चन्द्रः सध्या-  
च्छेदावरणः स रूपक इति । एतेषु च त्रिषु दिवसेषु प्रदोषि-  
वी पौरुवी नास्ति, सध्याच्छेदादिभवनादाति ।

अत्रैव मलात्तरमाह--

केमिचि हौति भोद्धा, उ जूवओ ते तु हौति आइसा ।

केसि च अणाइसा, तसि खल्लु पोरिसि दोष्णि ॥

केवाञ्जिदाचार्याणां मनने ये भवन्ति शुक्लपके प्रतिपदा-  
दियु दिवसेषु भोग्याः शुभाशुभसूचनमिभिसा वितघोत्पादा  
आदित्यकिणविकारजातना आदित्यस्योदयसमये अस्तमय-  
समये वा आताम्राः, कृष्णश्यामा वा 'रूपक इति' ते भवन्ति

वर्तन्ते आर्क्षीणाः, नैतेषु स्वाध्यायः परिहितये इत्यर्थः । येषां  
स्वाचार्याणामनाचोर्णास्तेषां मनेषु रूपको द्वे पौरुषी हन्ति ।

न कथलममूणि सदेवामि, किन्त्वस्युप्यपि, तान्मेवाह-

चंदिमसूरपरगा, निग्घाप गुंजिते अहोरत्तं ।

चंद जहृषणऽइ उ, उक्कोसा पोरिसि विठ्ठके ॥

सुरां जहृषण वारस, उक्कोसं पोरिसिउ सोइसओ ।

समगह निच्चुव एषं, मूरादी जेणऽहोरत्ता ॥

चन्द्रोपरगे स्योपरगे च, तद्दिनापगते इति वाक्यशेषः । तथा-  
साञ्ज निग्घे वा न तानि व्यन्तरकृता महागञ्जितसमा ध्वनिर्निर्घो-  
तः । गञ्जितस्यैव विकारो गुञ्जजावत् गुञ्जमानो महाध्वनिर्गु-  
ञ्जित, तस्मिन् निर्घाते गुऽञ्जत च, प्रत्येकमहारात्रं यावत् स्वा-  
ध्यायपरिहारः । उक्का जघ्र-यत् उत्कर्षतश्च चन्द्रोपरगं स्यो-  
परगं वाऽधिभूय स्वाध्यायचित्तकालमानमाह-चन्द्रो जघ्र-यं  
माष्टौ पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः पौरुषीद्विपरकभः द्वादश पौरुषी-  
रित्यर्थः । कथामिति चेत् ? उच्यते-उत्कर्षत्त चन्द्रमा गृह्णा गृ-  
हीतस्ततश्चतस्रः पौरुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य,  
एवमष्टौ । चतस्र पुनरेवम्-प्रभातकाले चन्द्रमा, सप्रह एवास्त-  
मुपगतः-ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्येण  
रात्रिः, चतस्रो दितीयास्य दिवसस्य । अथवा-श्रौत्ययानिकप्रदरेण्येण  
सर्वरात्रिकं प्रदणं जानम्-सप्रह एव निप्रभः-ततः संदृष्टिरात्रे-  
श्चतस्र, पौरुषी-अथवा-आगामिः । अथवा-अप्रच्छन्नया विशेष-  
परिज्ञानाभावाच्च न ज्ञानं-कस्यां वलायां प्रहणं, प्रमानं च प्रहो-  
निमज्जन् दृष्टः, ततः समप्रातिः परिहृता, अन्यथाहाराश्रमिति ज्ञा-  
दश । स्यां जन्म्येन द्वादश पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः षोडश । कथ-  
मिति चेत् ? उच्यते-सस्यः सप्रह एवास्तमुपगतश्चतस्रः पौ-  
रुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य, चतस्रततः पर-  
स्या रात्रिः, एवं द्वादश । पौरुष पुनरेवम्-स्ये उक्कञ्ज राहणा गृही-  
तः सकसं च दिने समुपातयशाऽसप्रहः श्विष्टा सप्रह एवास्त-  
मुपगतः ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्य  
रात्रिः, ततश्चतस्रः परदिवसस्य, ततोऽपि चतस्रः परतरावा रात्रिः,  
एवं षोडश पौरुषीर्हन्ति, सप्रहनिमग्नः, सप्रह एवास्तिमते ।  
तथा चोक्तम्--"एष उगमच्छेषं गहिण सगमहनिच्चुव इदृश्य-  
मिति" । (सूरादी जेणऽहोरत्तं चि) स्यादयो येनाहारात्राः ।

ततः किमित्याह-

आइषं दिणमुक्के, सो श्विय दिवसो य राती य ।

निग्घायगुंजएम्, सो श्विय वेला उ जा पत्ता ॥

ततः स्याद्विहोरात्रः, ततो दिनमुक्ते स्ये-स एव दिवसः, सैव च  
रात्रिः स्वाध्यायिकतया परिहितये । चन्द्रे तु तस्यामेव रात्रौ  
मुक्ते यावत्परभक्तो नोर्दति, तावत्स्वाध्यायः, इति सैव  
रात्रिः, अपरं च दिनमिति, एवमहोरात्रमस्वाध्यायः । अये  
पुनराहोरात्राणिमिदम्-चन्द्रो रात्रौ गृहीतो रात्रावेव मुक्तः,  
तस्या एव रात्रिः शेषं वर्जनीयं यस्मादागामिभूयोदये समाधि-  
होरात्रस्य जाता । स्यादपि यदि दिवा गृहीतो दिवैव मुक्त-  
स्तस्यैव दिवसस्य द्यौः, रात्रिश्च वर्जनीया इति । तथा-निर्घो-  
तगुञ्जितयोः प्रत्येकभः, यस्यां वलायां निर्घाते गुञ्जिते वाऽधि-  
कृतं दिने भवेत्, द्वितीयेऽपि दिने यास्तस्य वेला प्राप्ता भवति  
तायद्स्वाध्याय एव । तयोत्पत्त्याध्यायस्यहोरात्रप्रमाणात्पत्ता ।



उक्तं च-निधोतो गुञ्जितं च लोकप्रतातो, "एए अदोरंत् उ-  
बहयंति सि" ।

तथा-

चउसंजासु न कीरर, पाकिवपसु मेहेव चउसुं पि ।

जो ज्ञत्य पूजतीं तं, सर्वेहि सुगिम्हृतो नियमा ॥

चतस्रः सन्धाः, तिष्ठो राशौ । तद्यथा-प्रस्थिते स्ये, अघेराशे,  
प्रभाते च; चतुर्थी दिवसस्य मध्यभागे । एतासु चतसृष्वपि स्वा-  
ध्यायो न क्रियते । शोचक्रियायां तु प्रतिद्वन्द्वानां ५५ दिनां न प्रति-  
बंधः । स्वाध्यायकरणे चात्रासंज्ञाद्वयोर्वाः । तथा-चतस्रः प्रति-  
पदः । तद्यथा-आषाढपूर्णिमासं प्रतिपदः, आश्वयुक्तपूर्णिमासं प्र-  
तिपदः, कार्तिकपूर्णिमासं प्रतिपदः, सुभाष्यप्रतिपदः, वैश्रवमासयो-  
र्धमासं प्रतिपदित्यर्थः ४ । एतासुचि चतसृष्वपि प्रतिपत्सु तथै-  
व-स्वाध्याय एव न क्रियते, न शोचक्रियायां प्रतिबंधः । ४६ प्रति-  
पदप्रदशनेन प्रतिपदयन्तान् आश्वत्थारा महांः सूचिता इति; एषां चतुर्थी  
महानां मध्ये यो महो यस्मिन् देशे यतो दिवसादारभ्य  
याचनं काशं पृथेते तस्मिन् देशे ततो दिवसादारभ्य तावन्तं  
काशं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति यत्सुतः सर्वेषां पर्यन्तः "सर्वेषां जाय  
पाकियतो" इति वचनात् । सुभाष्यकश्चैत्रमासजायो पुनर्महो-  
महः सर्वेषु देशेषु शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य चैत्रपूर्णिमासं प्र-  
तिपदयन्तौ यावद्दशमनागादौ योगो निकृष्यते, शेषेषु आगाडा-  
दिकेषु योगो न निकृष्यते, केवलं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । गते  
सदेवमस्वाध्यायिकद । २०० उ ७ ३ १० ।

"जो कण्ठे निगंधासु वा निगंधीशु वा चउहं महापादि-  
बयर्हि सज्जायं करेत्सप । ते जडा-आसादापाडिवय, इपाडिवय,  
कसिअपादिबय, सुगिम्हापादिबय । शो कण्ठे निगंधासु वा  
निगंधीशु वा चउहं सज्जायं करेत्सप । ते जडा-पद-  
माए पाडिमाए प्रज्जएहं अउरत्से । कण्ठे निगंधासु वा नि-  
गंधीशु वा चउज्जाल सज्जायं करेत्सप । पुव्वएहे अवरएहे  
पमोसं पक्खसे ।" २था० उ ७ उ ३० ।

इदानीं श्रुतद्रष्टृजमाह-

बुगाह दंकिपमादी, संखोभे दंदिहिए य कालगते ।

अणरापय य सजए, जविअनिदोहउदोरंत् ॥

श्रुतद्रष्टृ परस्परविग्रहे इति काशार्दनाम, प्रादिशुश्रांसनापत्या-  
दीनां च परस्परं विग्रहे अस्वाध्यायः इयमत्र भावना-श्री इति कौ-  
सरकथावारी परस्परं सप्रामं कर्तुं कामी यावन्नोपशाम्यत-  
स्तावत्स्वाध्यायः कर्तुं न कल्पते । किं कारणमिति चेत् ? , च-  
क्यते-तत्र वायुमन्तराः कौतुकं स्वस्वरपङ्कजं समागच्छन्ति, ते  
उलयन्तुः, भ्रूयसां च लोकानामप्रतिनिः-वयमेव भूता वर्तमाने,  
कामप्यापदं प्राप्सवामः, एते च अग्रमणां निर्दुःखं पठन्ति ।

आश्रु. ५.

तेपाहिबभोइयमह-परंपुसिस्थिए मल्लजुक्त् वा ।

सोडादिचंरुणे वा, गुडभगउडुहा अविद्यंत् ॥

इयोः सेनाधिपयोर्द्वयोर्वा तथाधिप्रसिद्धिप्राप्तयोः , तथाः  
परस्परं श्रुतद्रष्टृ वर्तमाने, अथवा मल्लजुक्त्, तथा-इयोः प्रामयोः

परस्परं सकलुपमाव बहवस्मरणाः परस्परं लोडुदुष्यन्ते, ततो  
यदिभिषो लोष्टादिभिषो परस्परं भयदने कश्चिद् यावन्नोपशामो  
भवति सेनाधिपयोर्द्वयोर्वा परस्परं नाश्वद्रस्वाध्यायः । अथ कार-  
णमाह-(गुञ्जानडुहा अविद्यंत्) गुण्डकाः कौतुकं मेघमाणा-  
भ्रूलयंयुः, तथा बहुजनो निर्दुःखा एते" इति मन्थमनो ५ प्रतीयो-  
भ्रुदं कुप्यात्-लोकोपचाराच्छा एते" इति । तथा-दुष्टिकं काश-  
गतं (अष्टरापत्ति) यावदभ्यो राजा नाभिकितो भवति तावत्प्र-  
जानां महान् संक्रामो भवति, तस्मिन्संक्रामे सति स्वाध्यायो न  
कल्पते । किमुक्तं भवति? यावत्सलोभलावदस्वाध्यायः । अत्रापि  
पुत्रांका द्वाभाः । सभयं श्लेष्वादिभयाकुलं, तस्मिन्नापि स्वाध्यायो  
न कर्तव्यः । एतेषु श्रुतद्रष्टृष्वध्यायविधिमाह-(जिह्वा-  
रमनिदाच्छोरत्) श्रुतद्रष्टृहाइषु बाणं यावन्तं काशम्, (अनिदाच्छ-  
ति) अनिद्रयमस्त्वस्त्वमर्थः । तावन्तं काशमाश्रयायः । स्वध्या-  
यनान्तरमप्येकमाहारात् परितरन्त स्वाध्यायः कर्तव्यः ।

उक्तं च-

"निहांसीभूते वि अ-दोरसमो परिहरिहा उ ।

सञ्जाश्रा कीरर इह, सर्वेषां दंदिहिए य कालगए" ॥

अननेनद्रुपि सूचितमस्ति ततस्तद्रुभिहितम् "संखोभे

दंदिहिए" इत्येतद्रुपि व्याख्यायति-

दंदिहिए कालगयम्मां, जा संखोभो न कीरते ताव ।

तद्विवस भोइमहतर-वारुगपातिमेज्जयपमादं ॥

दुष्टिकं कालगतं सति यावत्संखोभस्त्वाध्यायो न क्रियते,  
अप्यस्मिन्सु सुरादि स्वाध्यायदोरात्प्रतिक्रम्य क्रियते, एवं स्वर-  
भवनात् । तथा-भोजिके प्रामस्यामिनि, महस्वरिके प्रामप्रधाने, वा-  
दकपती वस्यथानुरते वाटकैकस्वार्थानि, तथा-उच्छारते, आदि-  
शब्दादन्यस्मिन्वा शरयत्तरसंश्लिथिनि मातुषे कालगतं, तद्वि-  
समस्वाध्यायः, एकमाहारात् यावत्स्वाध्यायपारहार इत्यर्थः ।

तथा--

पणं बहुपकिवए वा, सत्परंरत मने च तद्विवसं ।

निद्रुक्त्व चि य गरिदं, न पठंति सण्णियं वा वि ॥

अन्योऽपि यो नाम ग्रामे प्रकृन्धेऽधिकृतो महामनुष्यः । तस्मिन्;  
यदि वा-बहुपाकिं बहुस्वजनं कालगतं, अन्यस्मिन्वा शक्यं  
स्ववसत्यपत्या सतशुदायन्तरे कालगतं तद्विषयमेकमाहारा-  
न्नस्वाध्यायः । किं कारणमत आह-"निद्रुःखा आर्मा" इत्यप्याय  
गदंसेभवात्, ततो न पठन्ति । अथवा-तथा पठन्ति तथा न  
कोऽपि शृणोतीति । मदिशाश्रितस्यऽपि यावत् भूयते ता-  
वन्न पठन्ति ॥

हृत्पमयमहाहृत्मी, जइ सारियमादितो विमिचिज्जा ।

तो सुक्त् अविदिचे, अन्नं वमहिं वि यमांति ॥

कोऽप्यजायो हस्मशतान्यन्तरे मृतः, तस्मिन्नायो हस्तशताभ्य-  
न्तरे काशगतं स्वाध्यायो न क्रियते । तत्रत्ये यतना-शरयत्तरस्य  
वा, तथाविधस्य अथकस्य वा भद्रकस्य वासां कथयेत-यथा  
स्वाध्यायान्तरायमस्मत्कामनाधनुनकं कृतमस्ति, ततः सुखं  
भवति यद्दिद्रुक्त्वते । एवमन्योऽपि यदि शब्दान्तरात्विमिचिज्ज-  
येत् परित्थापयेत्, ततः शुक्तं भवतीति स्वाध्यायः कार्यः । अथ च  
शब्दान्तरादिं न कोऽपि परिच्छापितुमिच्छन्ति तथा तस्मिन्नायो  
मृतके आश्रितिके अपरित्थापिते अन्यां वसति भाग्यन्ति ।

अभयसहीरै असती, ताहे रत्ति वसभा विवेचति ।

विक्रिन्ने व समता, जं दिङ्ग अराएद सुष्का ॥

अस्यस्या वसन्तेरभासो यदि, ततो रात्रौ सागरिकासंशोके वृष-  
प्रासदनाद्यमुक्तं विविचन्ति, अन्वयं प्रकृष्यन्ति । अथ तत्कल-  
खरं च शुभाश्रादिभिः समन्ततो विकीर्णो, ततो विकीर्णं तस्मिन्स-  
मन्ततो निभालयन्ति, तत्र यद् दृष्टं तस्यैवमपि विविचन्ति । इतर-  
स्मिन्सु प्रथमं हतेऽप्यदृष्टं 'अराठा' इति कृत्वा शुक्याः स्वाध्यायं  
कुर्वन्तोऽपि न प्रार्थयन्त्यभगिन इति भावः । गते व्युद्ग्रहजपः ।

इदानीं शारीरकमाह—

सारीरं पि य लुचिहं, माणुसतेरिच्छियं समासेण ।

तेरिच्छं तथ तद्वा, जलयलसहजं पुणो चउद्वा ॥

शरीरं जवं शारीरं, नदपि समासेन संकेपतो द्विविधं जलप्र-  
कारम् । नद्यथा-मानुषं तैरक्षं च । तत्र तैरक्षं विधा-जलजं जलम-  
स्यादिनिर्गमनम्, एवं गवादीनां स्थलजं, खजं मयूरादी-  
नाम् । पुनरकैकं चतुर्द्धा-चतुःप्रकाराः ।

तानेव प्रकारानाह—

चम्म रहिरं च मंसं, अद्रिं पि य होइ चउविगपं तु ।

अहवा दव्वाईयं, चउचिहं होइ नायव्वं ॥

चर्मं शोणितं रुधिरं मांसमांश्च इत्येतेषां प्रतीकानि । एवमे-  
कैकं जलजादि चतुर्विकल्पं प्रजातं । अथवा-जलजादिकं प्रत्ये-  
कं चर्ममादिनेदनञ्चतुर्विकल्पं सत्पुनरुत्पादिकं इत्यादिनन्द-  
ञ्चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यम् ।

तानेव प्रत्येकं उच्यतेऽत्रैव चतुषो भेदानाह—

पंचिदियाण दव्वे, विवे सउद्दह्य पोगलाकिण्ये ।

तिक्कुरयंतरिणं वा, नयो व्वाहं तु गाप्तस ॥

द्वये-द्वयत. पञ्चेन्द्रियाणां जलजादीनां चतुष्टयमस्वाध्या-  
यिक. न विक्रमिन्द्रियाणां कृत्र-लेवनः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे परिह-  
रणांयं न परतः । अथ नस्थानं तैरक्षेण पौकलेन मांसेन समन्ततः  
काककुक्षुराऽऽदिनिर्व्यासितेनाऽऽकांशे व्याप्तं, तदा यदि संप्रा-  
मस्तर्हि तस्मिन् तिच्छुनिः कुरध्याभिरन्तरिते विकीर्णं पुद्गले  
स्वाध्यायः कियते । अथवा-नगरे, तदा तत्र यस्यां राजा सबल-  
वाहेनो गच्छन्ति, देवयानं, रथो वा, विविधानि वा संवाहनानि ग-  
च्छन्ति तदा महत्याऽप्येकया रथया अन्तरिते स्वाध्यायः कार्यः ।  
अथ स प्रामः समस्तोऽपि विकीर्णो पौद्गलेनाकीर्णो विद्यते, न  
तिच्छुनिः कुरध्याभिरन्तरितं तदा पौद्गलमनायते, तदा प्रामश्च  
बहिः स्वाध्यायो विधेयः । गता क्रेत्रतो मार्गणा ।

संप्रति काशतो भावन्त्य तामाह—

काशे तित्पारिसि अह्व व, जावे सुचं तु नदिमादीयं ।

बहिधोयरच्छपके, वूदे वा होति मुद्धं तु ॥

तत एकैकं जलजादि वर्तं चर्मादि कालतस्मिन्नेः पौकरीहेति ।  
(अह्व वति) यत्र महाकायपञ्चेन्द्रियस्य मूर्धिकादेशाननेन तथा-  
ष्टौ पौकरीयांश्चस्वाध्यायविद्यते । गता काशतोऽपि मारंग्या ।  
भावत आह-भावतो न-ध्यादिकं सुचं न पउति (बहिधोयस्यादि)  
बहि षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिः प्रकृष्येव मांसमानीनं, यदि वा  
रक्षा व्याप्ती पाकन, तदा तस्मिन् बहिर्धौ बहो राखे बहिः पके  
वा तजानोते शुद्ध, अस्वाध्यायिकं न भवतीति भावः । अथवा-

यत्र षष्टिहस्तान्यन्तरे पतितमस्वाध्यायिकं रुधिरं, तेनावकाशेन  
पानीयप्रवाह आगतः, तेन व्युद्धं, तदा पौकरीयाभ्यन्तरेऽपि  
द्वुक्तमस्वाध्यायिकमिति स्वाध्यायः कार्यः ।

अंतो पुण सट्ठीणं, धोयम्मी अययवा तद्धिं होति ।

तो तिच्छे पारिसिओ, परिहुरियव्वा तर्हि हुंति ॥

यदि पुनः षष्टिहस्तानामभ्यन्तरे मांसं प्रकृष्यति तदा तस्मिन्  
धौते यतस्तत्र निधमाद्ययवः पतितः भवति, तस्मिन्नेः पौ-  
क्याः स्वाध्यायमधिकृत्य तत्र परिहृतव्या भवति ।

'अह वा' इति यदुक्तं तद्विदानीं भावयति—

महकाये ऽहोरत्तं, मेजारादीण मूसगादिं दते ।

अविभिच्छे गिच्छे वा, पउंति एगे जइ पजाति ॥

महाकाये मूर्धिकाशौ मार्जारादिनां हते मारिते अहोरात्रमष्टौ  
पौकरीयांश्चऽस्वाध्यायः । अथैव मत्तान्तरमाह-(अविभिच्छे इ-  
त्यादि)एके प्रादो-यदि मार्जारादिना मूर्धिकादिर्बहिर्बिभ्र एव  
सन् मारितो मारयित्वा च गृहीत्वा, अथवा मिलित्वा ततः स्था-  
नात्प्रक्षायते, तदा पठति सायवः सूत्रं, न कश्चिदोषः श्रान्त्यं ने-  
च्छन्ति-यतः कस्ते जानाति अविभिन्नो भिन्नो वा मारित इति ।  
अपरे एवमाहुः-यत्र मार्जारादिः स्वयं मृतोऽन्येन वा केनाप्यवि-  
भिन्न एव सन् मारितस्तत्र यावत्कलेवरं न भिद्यते तावदाऽ-  
स्वाध्यायिकम्, विभिन्ने अस्वाध्यायिकमिति । तदेतद्वसमीचीन-  
म् । यतश्च कर्मादिभूतञ्चतुर्विधमस्वाध्यायिकं, तस्माद्विभि-  
न्नाऽप्यस्वाध्यायिकम्-तस्माद्विभिन्नोऽप्यस्वाध्याय एव ।

अंतो बहिं च भिन्ने, अंरुपविंद् तदा विघाताए ।

रायपरहृदमुद्धे, परवणणे साणपारीणि ॥

अन्तरुपाध्यमभ्यं, बहि घोषाअथातु बहिः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे  
अएडके पतितं यदि तदएडकमभिमघाष्यति, तदा तस्मिन्तु-  
गिभने स्वाध्यायः कल्पते । अथवा-पतितं सत् तदएडकं जि-  
भं-तस्य वाऽएडकस्य कललावि-तुर्भूयो पतितं, तदा निष्क अ-  
एडकं, चिन्द्री व भूमौ पतितं न कल्पते स्वाध्यायः अथ कललं  
पतितं सदएडकं जिभं कलिलावःशुद्धो तत्र लग्नः, तदा तस्मि-  
न् षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिर्मीत्वा धौते कल्पते । तथा-विजाता-  
यां प्रसूनार्यां तैरक्षामस्वाध्यायः पौकरीयांश्च यथाच ॥ तथा-  
ये राजपथे अस्वाध्यायिकचिन्द्री गच्छितास्ते न गयेयन्ते । तथा-  
ऽप्यत्र प्रतिपतित एवास्वाध्यायिकम्, ततो वर्षादकप्रवादेण त-  
स्मिन् व्युद्धं कल्पते । अत्र श्वादिकमांशित्य परस्य वचनं, तदपे  
भाविष्यते । इति माघासंज्ञापारः ।

साम्प्रतमेनामंश्च विवरौपुर्दिमाह—

अंयद्यमुज्जयकप्ये, न य त्प्राप्ति खणंति इह्रहा तिच्छि ।

असत्ताइयपरिमाणं, पाञ्चियपाया जहं हुपे ॥

यथाएडकमग्निश्रेयं पतितं, तदा तस्मिन्तुगिभने स्वाध्या-  
यः कल्पते, अथ जिभं तदा न कल्पते । न च भूमिं खन-  
न्ति, इतरथा भूमिखननेन यदि तदस्वाध्यायिकमपनयति त-  
थाऽपि तिच्छेः पौकरीयांश्चऽस्वाध्यायः । अएडकचिन्द्रीस्वाध्या-  
यिकस्य प्रमाणं, यत्र मङ्गिकापादा निमज्जन्ति । (कमुक्तं भव-  
ति?)-याम्नामं मङ्गिकापादा दुरुन्ति तावन्मात्रेऽप्यएडकवि-  
न्द्री भूमौ पतति सति अस्वाध्यायः ।

अधुना 'विधाताय' इति व्याख्यानाधेमाह-

अजराउ तिष्ठि पारिसि, जराउपणं जरे पारिणं तिष्ठि ।  
निजंतुवस्सपुरतो, गलियज्जाति निगमलं होज्जा ॥

अजरायुप्रस्तावित्तः पीरवीः स्वाध्यायं हन्ति अहोरात्र-  
च्येदं मुक्त्वा, महोरात्रे तु ङिने आसन्नायामपि प्रस्तायां  
कल्पते स्वाध्यायः, अजरायुजानां यावत्प्रयुक्तं तेषां तावदस्वा-  
ध्यायः, जरायौ प्रतितेऽपि सति तदन्तरं तिष्ठः पीरुपीयोव-  
दस्वाध्यायः । तथा-उपाध्यस्य पुरतो नीयमानं तदस्वाध्यायिकं  
गमिनं भवति, तदा पीरुपीयवदस्वाध्यायः । यदि पुनर्निर्गमं  
भवेत्तदा तस्मिन्नीते स्वाध्यायः ।

"रायपठे बूढे" इति व्याख्यानाधेमाह-

रायपठे न गलियज्जाति, अह पुण आमप्य पारिसी तिष्ठि ।  
अह पुण वूढे हूस्मा, वासोदेणं ततो मुच्छं ॥

राजपथे बधस्वाध्यायिकविन्द्वो गलितास्तदा तदस्वाध्यायि-  
कं न गणयते । किं कारणमिति चेद ? उच्यते-यतस्ततः स्वयो-  
ग्यत आगच्छन्तां गच्छन्तां च मनुष्यनिरन्ध्रां पदनिपातरंघोरिक्रमं  
भवति । जिनाश्चात्र प्रमाणमता न दोषः । अतः पुनस्तदस्वा-  
ध्यायिकं तैरन्ध्रं राजपथाद्यत्र पठित्तस्तान्यन्तरे पतति तदा  
निरः पीरुपीयोवदस्वाध्यायः । अथ तदपि यथोदकेन व्यूढं भ-  
वेत्, उच्यते । अतस्तदन्तरे-प्रदोषनकेन च दर्शयं, तदा मुच्छं तन्मान-  
मिति कल्पते स्वाध्यायः । ।

संप्रति " परचयणे साणमादीए " इति व्याख्यानयति-  
चोदति समुद्दिशितं, मा जो जइ पांगमलं तु पज्जाडि ।  
उदरगतणे चिट्ठे, जा ताव उ हां असज्जाभो ।

अत्र परच्छोदयति-श्वा यदि पौल्लं तैरन्ध्रं मांसं बहिः समुद्दि-  
श्य (निगमय) तत्रागच्छन्, तर्हि यावत्स तत्र तिष्ठति तावत्स-  
नोदरगतने पौल्लेन अस्वाध्यायः कस्माच्च भवति ? ।

सुरिराह-

भणति जइ ते एवं, मज्जाभो एव तो उ नतिय तुद्धं ।  
असभाइयसम जेणं, पुणोसि तुमं मयाकालं ॥

प्रलयन-अत्रासत्तं दायित-यदि ते एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मतिः,  
ततस्तव स्वाध्यायः कदाचनोपि नास्त्येव । एवकारो निजक्रमः,  
स च यथास्थानं योजितः । कस्माच्च स्वाध्यायः कदाचनोपि ?,  
अन आह-येन कारणेन सदाकालं सर्वेकालं त्वमस्वाध्यायि-  
कस्य पुणेः, शरीरस्य चिरादिवत्प्रवृत्त्यात्मकत्वात् ।

जइ कुसति ताहिं तुमं, जइ वा लेदिरिएण सीचिद्धे ।  
इइरा न होति चोयग, वंनं ते परिणयं जम्हा ॥

यदि इथा अरपटेन मुञ्जेन तत्रागत्यऽऽप्युद्युत्तुं क्वापि स्फु-  
शति । यदि वा अरपटेनैव मुञ्जेन स्निग्धत, तदा भवत्स्वा-  
ध्यायः, इतरथा यदि पुनर्बहिरेव मुञ्जे लोका समागच्छति तदा  
न भवति । तथा-यद्यप्यागन्वा वमति, तथापि चोदक ! ना-  
स्वाध्यायिकम्, यस्मात्तद् वान्तं पारेणम् । एवं माजोरदिकम-  
प्यधिष्ठय भावनीयम् । गतं तैरन्ध्रम् ।

अधुना मानुषमाह-

माणुस्समं चउक्त्वा, अहिं मुच्छं सयमहोरं चं ।  
परियावएणविवाभा, सेसे तिग सच वड्ढे वा ॥ '

मानुष्यकं मानुषमस्वाध्यायिकं चतुर्धा । तद् यथा-सर्ग, रक्षिरे,  
मांसमस्थि च । एतेष्वस्ति मुक्त्वा शेषेषु सत्सु केवत्रतो हस्तहाता-  
इत्यन्तरे न कल्पते स्वाध्यायः । कालतोऽहोरात्रम् । (पमिवावध-  
विषयसि) मानुषं तैरन्ध्रं वा बद्दु रक्षिरे तद् यदि पर्योपन्नं तेन  
स्वभाववर्षाद्विषयीयुतं भवति त्वादिस्वस्तमाससारादिकं-  
ह्यं, तदा स्वाध्यायिकं भवतीति क्रियते, तस्मिन् पतिनेऽपि स्वा-  
ध्यायः । (सिंस स्ति) पर्योपन्नं विषयी मुक्त्वा शेषे स्वाध्यायिकं  
प्रवति । (तिग सि) यत् अचिरताया मासे मासे आतैवमस्वा-  
ध्यायिकमागच्छति तस्वभाववत्स्वाधि दिनानि यावदस्वा-  
ध्यायः । त्रयाणां दिवसानां परतोऽपि कस्याश्चित् गमति, परे  
तदानं वं न भवति, किं तु तन्महारकं नियमारयोपन्नं विषयी  
भवतीति नाऽस्वाध्यायिकं गणयते । तथा-यदि प्रस्ताया दारकां  
जागस्ता सप्त दिनान्यस्वाध्यायिकम्, अद्यमे च दिवंसं स्वा-  
ध्यायः कल्प्यः । अथ दारिका जाता तर्हि सारकोत्कटं, तस्य  
नत्यां जानायामशौ दिनान्यस्वाध्यायः, नवमे दिने स्वा-  
ध्यायः कल्पते ।

पतमेव गाथाऽवयवं व्याखियासुराह-

रसुकुदए इथी, अद्ध दिणा तेण सत्त सुक्कऽइए ।  
तिएह दिणण परंणं, अणाउयंतं महरत्तं ॥

नियककाले यदि रकोत्कटना, तदा स्त्री इति, तस्यां जानायं  
दिनान्यष्टवस्वाध्यायः । दारकः शुक्राधिकः, तेन तस्मिन् जाते  
सप्त दिनान्यस्वाध्यायः । तथा-स्त्रीणां त्रयाणां दिनानां परतस्त-  
न्महा । कमनानवं प्रवति, ततो न गणनीयम् ।

दंतं दिट्ठे विगिंचण, सेमऽड्ठिम वारसे न वासां ।  
जामित वूढे सीया-ण पाणमादीए रुद्धेण ॥

यत्र हस्तशताभ्यन्तरे दारकादीनां हस्तः पतितो भवति तत्र नि-  
भालनीयं, यदि हृश्यते तदा परिष्ठायाः । अथ सप्तममनुष्यमासोर्गपि  
न हृष्टस्तदा शुक्रमिति कल्पते स्वाध्यायः । अथ्ये तु सुवने-तस्य  
अवहेरुनाथं कार्यासंगेः करणीयः । दन्तं मुक्त्वा शेषाङ्गाङ्गा-  
दिसंबन्धिष्यस्थिति हस्तशताभ्यन्तरे पतिते ह्यद्वाद वर्षाणि न  
कल्पते स्वाध्यायः । अथ तस्त्वानमाङ्गिकायनं ध्यामिते, पानीयेन  
वा व्युदं, तदा शुक्रमिति, ध्यामिने व्युदे वा स्वाध्यायः कल्पते ।  
तथा-(सीयाण सि) इमशाने यानि कलेवराणि क्वापि तान्य-  
स्वाध्यायिकानि न भवन्ति, यानि पुनस्तत्र अनाद्यकभेवराणि न  
दृश्यानि, निष्कारोक्तानि वा तानि ह्यद्वाद वर्षाणि स्वाध्याय-  
ध्यामि । यद्यपि च नाम इमशानं यथोदकेन प्रवृद्धं, तथापि तत्र  
न कल्पते स्वाध्यायः, मानुषास्थिबद्धत्वात् । (पाणमादीए सि)  
पाणनामाऽऽनम्भरे नाम यत्ना हिरामिच्छापरनामा दैवते, तस्या-  
ऽऽयतनस्याधस्ताद् मानुषास्थ्यस्वीनि निक्षिप्यन्ते-ततस्तत्र,  
तथा-मानुष्येह बानुएहायतने, रुद्धेह बाऽधस्ताद् मानुषं क-  
पांसं निक्षिप्यते । ततस्ततोर्गपि ह्यद्वाद वर्षाण्यस्वाध्यायः ।

अमुम्वं गाथाऽवयवं व्याखियासुराह-

सीयाणे जं दहं, न ते तु पुणुएऽणाहनिडयां ।  
आदंबरे रुद्धादी-परेसु देडऽड्ठिया वारा ॥

इमशाने यत् दृश्यमस्थिजातं तदस्वाध्यायिकं न प्रवति । तस्यु-  
क्त्वा, शेषाणि यानि न दृश्यानि, निष्कारानि वा, तानि ह्यद्वाद व-  
र्षाणि स्वाध्यायं प्रति । तथा-आऽनम्भरे आरुम्भरयज्ञायतने, कले

इन्द्रायतने भानुष्टरेषु आइम्बगादीनामधस्तादस्थानि सन्ति, तेन कारणेन तत्र इन्द्राय वर्षाण्युत्पन्नाः प्रायः ।

असिबोमयाणेषु, वारस अवबोदियम्मि न करैति ।  
जायिय वूडे करिइ, आवासियसोहिण्ण चैव ॥

यत्र ग्रामे समुत्पन्नेनाशितेन भूयान् जनः कालगतः, न च निष्काशितः, यदि वा-अथमौदयेण प्रयुतो जनां मृतो, न च निष्काशितः, अथवा-आघातस्थानेषु नृपान् जनो मारयित्वा निशितो यस्तैः । एतेष्वशिवाधर्मोदयायतनस्थानेषु पूर्वे विशेषेण कियते, विशेषेण च कियमाणं वदुं हए तपरियउत्थे । अइएविषये च देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा पठन्ति । अथ न कियते विशेषेण, ततस्तिस्मिन्निशोषिते इन्द्राद्यैर्वापि यावत् स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । अथ तत् अशिवादिस्थानमभिक्रान्तेन ध्यायित्वा, वर्षोदकेन वा ध्यायित्वा, तथा कियते तत्र स्वाध्यायः ( आवासियसो-हिण्ण चैव चि ) इमशानं यदि नृपोजैर्गवास्ति ततस्तिस्मिन्नावास्ति शोषेण कियते, यदुं हउयते तत् विविचयन्ते । एवं शोषिते तस्मिन् अइएषुपघाताय देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति ।

रहरगामयम्मी, न करैती जा न नीसियं होति ।  
पुरगामे च महंते, वारुअसादिं परिहरंति ॥

इदं कं लुब्धकं ग्रामे कोऽपि मृतः, तस्मिन् मृते तावत्स्वाध्यायो न कियते यावत् कळेबरे न निष्काशितं भवति । एवं पस्तेन महति वा ग्रामे घाटके साहां वा यदि मृतो ज्वलति तदा तं घाटके स्यादिति वा परिहरन्ति । किमुक्तं भवति ?, तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं यावत्सह्यत्कालं स्यादिति वा निष्काशितं नवति, घाटकालं स्यादितिऽप्यत्र मृते नास्वाध्यायः ।

जइ य उवसयपुरतो, नीइज्जइ तं महड्डयं ताहे ।  
हत्थसयतो जावउ, तावउ न करैति सज्जायं ॥

यदि तत् कळेबरे मृतकं नीयमानं संयतानामुपाभयस्य पुरतो इत्सशतान्यन्तरेण नीयते, ततो यावत् इत्सशतान्तो इत्सशतं व्यतिक्रम्यते, तावच्च कुर्वन्ति स्वाध्यायम्, इत्सशतं व्युत्क्रान्ते पठन्ति ।

अत्र पर आह-

कोवी तत्थ भणंजा, पुप्फादी जाव तत्थ परिमार्ही ।  
जा दीमंतं तावउ, न काए तत्थ सज्जाओ ॥

कोऽपि तत्र कृष्यान्-या तत्र मूलकं नीयमानं पुष्पादीनाम्, प्रादिश-न्दाद् जीर्णवीवरक्षवकादीनामुपाभयस्य पुरतो इत्सशतान्यन्तरे परिश्रांतिः सा यावत् इत्यनेन तावत्सत्रं न कियते स्वाध्यायः ।

अत्र सूरिराह-

भसइ न य तं तु तदिं, निज्जतो मौसुं हो असज्जायं ।  
जम्हा चउप्यारिं, सारीरमयो न जम्हांति ॥

जयते-अत्रोच्चरं हीयते-तत्र नीयमानं मूलकं मुक्त्वा अन्यत् क-नकपुष्पादिं पतितमस्वाध्यायिकं न भवति, यस्मात् घटीरमस्वाध्यायिकं चतुःप्रकारं कृषिरादिभूतमभ्युत्थिष्यति । पुष्पादिं च तद्वितरिक्तम्, अत्रानं न स्वाध्यायिकतया तत्र वज्रयन्ति । आत्स-सुत्थं त्वेत्थनसूत्रे व्याख्यास्यते । १५०७ उ० । 'ईदं' दिनेऽस्वाध्यायः ॥ यथा-महाहिंसावधेनाऽऽभिन्नवैश्वानरिणि सिक्कान्तवाचना-  
२०६

दिवि अस्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते, तद्वत् 'ईदं' दिनमपि, तेन हेतुना कथं न त्यज्यते ?, किञ्चित् यान्तस्तदिनं त्यजन्ति, आ-त्मनां का मर्यादा ?, इति प्रश्ने, अचरत्- 'ईदं' दिनास्वाध्यायविषये बुद्ध्याऽनाचरणमेव निमित्तमवसीयते । ही० ३ प्रका० ११ प्र० ।

जे भिक्खु असज्जाए सज्जायं करेइ, करंतं वा साइ-  
ज्जइ ॥ ११ ॥

जम्मि जम्मि कारणे सज्जाशोणे वा करिति तं सव्वं असज्जायं, ते च बहुदिहं वक्खमाणं; तथ जा करइ, तस्स चउल्लइ, आणाभं-  
गो, धणवत्था, भिच्छुत्तं, आयसंजमभिराइया य । नि० सू० १६ उ० । ( स्वाध्याये एव स्वाध्यायः कर्तव्य इति 'सज्जाय' शब्दे चतुर्थमागे वक्ष्यते )

णो कप्पइ गिग्गंयाणुं वा गिग्गंयाणुं वा अण्णो अ-  
सज्जाए सज्जायं करित्थए, कप्पति णं अण्णमण्णस्य वा-  
यणं दिलिइत्थए ॥

न कल्पने निग्रन्थानां निग्रन्थानां वाऽभिननः समुत्पेऽस्वाध्यायिके न स्वाध्याय कर्तुं, किन्तु कल्पने परस्परस्य वाचनार्थादायित्युत्पन्न । यदि वा प्रकृशानान्तरे गार्हपत्ये प्रश्ने सति तत्रापि स्वयम-  
पि वाचनार्थादाय कल्पते इति वाक्यशेषः ।

एतदेव भाष्यकारः सप्रपञ्चमाह-

आयसमुत्पयसज्जा-इयं तु एगविहं होइ दुविहं नो ।  
एगविहं ममणाणं, दुविहं पुण होइ समणीणं ॥

आत्मनः शरीरात्समुत्थं संयुतमात्मसमुत्थमस्वाध्यायिकमक-  
विधमानवति, इतिष्ये च । तत्र यत् एकविधम्-अथो भगवद्गा-  
दिविषयम्, तत् अग्रमानां भवति । अग्रणीनां पुनर्भवति द्वि-  
धम्-अथो प्रगव्दरादिसमुत्थम्, अतुत्सभवे च ।

तत्र यतनामाह--

धोयम्मि य नित्पमले, बंधा तिषेव होति उक्कोसा ।  
परिगललाये जयणा, दुविहम्मि होइ कायन्ना ॥

त्रणावौ निग्रन्थे धौनं वपरि सान्प्रकूपपुरस्करं त्रयो बन्धा इ-  
त्येते भवन्ति । तथाऽपि परिगलति इतिवधे त्रयोदावासोश्च  
च यतना वक्ष्यमाणा कर्तव्या ।

एतदेव सप्रपञ्चं प्रावयति-

समणो उ वणं च जगं-दरे व बंधेकओ व वाएति ।  
तइ गालंते ठारं, होइहो दो तिणिण बंधाओ ॥

अग्रणो मये वा, जगन्-दरे वा परिगलति इत्सशताद् बहिर्गत्वा नि-  
ग्रन्थं प्रकृशय्य वीचरं क्विप्वा उपरि अन्यत् वीचरं कृत्वा  
मये प्रगव्दरे वा बध्नाति, तत पथमेकं बन्धं कृत्वा वाचयति ।  
यदि तथापि परिगलत्यऽस्वाध्यायिकं, तत वपरि क्वारं निक्षिप्य  
द्वितीयं बन्धं इहाति, ततो वाचयति । तथाऽप्यतच्छ्रितं तुना-  
यं प बन्धप्रत्ययवतारं इहा वाचयति ।

जाहे तिषिय विजिन्ना, ताहे हत्थसययाहिरा धोउं ।  
बंधिउ पुणो त्रि वाए, गुंतुं अएणत्थ व पठंति ॥

यदा त्रयोऽपि बन्धास्तेनाऽस्वाध्यायिकेन विजिन्ना भवन्ति,  
तदा इत्सशताद् बहिर्गत्वा निग्रन्थं प्रकृशय्य, पुनः क्वारं निक्षिप्य-

परि वीधरेण बध्ना पुनरपि याचयति, अन्यत्र वा गन्तुं पठन्ति ।

एषेव च समाणीणं, वणम्मि इयरम्मि सच वंधा उ ।  
तह वि य अइयमाणे, धोळणं अइव अइत्थे ॥  
एवंमेव भ्रमणीनामपि व्रथाविवये यतना कर्मव्या भवति । इतर-  
स्मिन्नास्ये सस बन्धाः पूर्वप्रकारेण भवन्ति । तथापि व्रथे इतर-  
स्मिन् वाऽपिष्ठति इत्यंशानाद् बधिः प्रकृत्य तथैव बन्धाव इत्या-  
वाच्यवति, अन्यत्र वा गत्वा पठन्ति ।

एतेसामन्नयरे, अमज्जाए अण्यणो उ सज्जायं ।  
सो कुणइ अजयाणाए, सो पावइ आणमादीणि ॥  
एतेषामन्तरोदितानामन्तरेस्मिन्नास्योऽस्वाध्यायिके स्तनि-  
कः स्वाध्यायं करोति, तत्राप्यवयवत्वात्, स प्राग्गोयात्कादीनि तीर्थ-  
कराङ्गान्मादीनि वृत्तानि, आदिशब्दादवयवव्यापारप्रसङ्गः ।

न केवलमिमे शोभाः किं त्विमे-

सुयनाणम्मि अजनी, लोगविककं पमत्तल्ललाण च ।  
विज्जा माहणवेणु-अधम्मया एव मा कुणमु ॥

अस्वाध्यायिके पठने भुक्तानस्वाध्यायिकीर्विराधना कृता जयति, तद्विराधनायां ध्यानविराधना, चारित्रविराधना च, तद्भावे मोक्षसाधः । तथा-लोकविक्रमिदं ब्रह्मणोऽस्वाध्यायिकं पठन्-  
म् । तथा हि-लौकिका अपि व्रथे आनेवे च परिगलति परिवेषणं देवताध्वेनादिकं वा न कुर्वन्ति । तथा-प्रसर्त्तान्तरस्य प्रान्तदेवतायां कृतना स्यात् । तथा-बधा विधा अण्यकारमन्त्रेण साधुसाधनैरुपलभ्यन्ततथा न सिध्यति, तथा कुतङ्कानमपि । तस्माद् मैत्रं कारीः ।

अत्र परवकाशमाह—

चोयइ जइ एवं सो-णियमादीहि ढोइ सज्जाम्भो ।  
तो जरितो च्चिय देहो, एएम्मि किणहु कायव्वं ॥  
परच्छेदवनि-यद्येषमुकप्रकारेणास्वाध्यायो जयति । तत्र पतेषां शोणित्वादीनां देहो भूत इति तत्र कथं स्वध्यायः ? ।

अत्र सूत्रिगाह—

कामं भरितो तेस्मिं, दंतादी अत्रयुथा तह वि वज्जा ।  
अणववज्जा उ अत्रवज्जा, लोए तह उत्तरे चेव ॥  
कामं मन्थमदे पतन्-तेषां शोणित्वादीनां भूतो देहः, तथापि ये दन्तानां योऽत्रयुताः पृथग्जन्ताः, ते बन्धां वर्जनीयाः ये त्वनवयुताः अपृथग्जन्ता लोके बन्धे च अत्रय्यां अपरिहर्त्तव्याः ।

पतदेव भावयति-

अन्नंतरमल्लिप्तो, कुणामी देवाणमच्चणं लोए ।  
बाहिरमल्लिप्तो ङण, ण कुणइ अत्रणइ व ततो णं ॥  
आभ्यन्तरेमल्लिप्तोऽपि देवानामच्येनं लोकं करोति; बाह्यमल-  
लिप्तः पुनर्न करोति । अत्रययति वा महं ततः शरीरात् । एवमत्रापि प्रावर्त्तयाम् ।

आउट्टियावराहं, सभाइया न कत्वमेइ जह पदिमा ।  
इय परलोए दंको, पमत्तल्ललाण इह सिया उ ॥

उपेय कृतमपराधं सन्निहितसन्निहितप्रतिहायेप्रतिमा बधा न क्त्वमिति, इति एवमयुना प्रकारेण भुक्तानामपि कृतमपराधं न कृतम् । नत्र परलोकेषु गतिप्रपातो वयदः, इह लोके प्रान्तदेव-  
ताकृतना स्यात् ।

रागो दोसो मोहो, अससम्भाए जो करेइ सज्जायं ।  
आसायणा व का सा, को वा जणितो अणयायोरो ? ॥  
रागात् दोषात् मोहाद्वा योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति त-  
स्य का कीदृशी फलन आशानता ?, को वा कीदृशः फलद्वारंण-  
मणिनोऽनाचारः ? ।

तत्र रागद्वेषमोहाद् व्याख्यानयति-

गणिसदमाइमहितो, रागे दोसम्मि न सहते ससं ।  
सव्वमसज्जायणयं, पमादी होइ मोहो उ ॥

गणो आचार्यः, आदिशब्दाद्युपाध्यायां गणाबन्धेऽक इत्यादिपरि-  
ग्रहः । एवमादिभिः शब्दैर्महित उन्कर्त्तानां योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं  
करोति, स रागे द्रष्टव्यः । यस्यव्यस्य गणिशब्दमुपाध्यायशब्दं वा न  
सदने-अदमपि पाठत्वा गणो उपाध्यायो ज्ञेयध्यायि इति वि-  
चिन्त्य बन्धादपरतोऽस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायं विदधानि, स द्वेषेऽ-  
वसातव्यः । यस्तु स्वयमस्वाध्यायमयमित्येवमादि विचिन्त्या-  
स्वाध्यायं करोति, एष भवति मोह इति ।

सम्प्रत्याचार्यः फलद्वारंणाऽऽशानतामाह-

लम्पायं व ज्ञेज्जा, रोगायकं व पाउणे दीहं ।  
तित्यपरभासिआओ, भस्मइ सो संजमाओ वा ॥  
इहकोए फलमेयं, परलोए फलं न देति विज्जाओ ।  
अमायणा सुयसस य, कुञ्जइ दीहं तु मंसारं ॥  
अन्माद् वा लजेन, रोगाऽऽनङ्गं वा ह्येव प्राप्नुयात्, तीर्थकरमा-  
चिनाद्वा संयमाद् कुर्याति, इहलोकं विधा नङ्गभुक्कः चारित्र-  
क्षणः फलं, परलोके च मोक्षलक्षणं न इति न प्रय-  
च्छन्ति । न केषलं फलद्वानान्नायः, किं तु सुतस्याऽऽशानता हीनं  
संसारं करोति । तद्वेन फलन आशानताऽभिहितम् ।

आशानतानाचारं फलत आह-

नाणायार विराडिपं, दंसणयारो वि तह चरिचं च ।  
चरणविराहणयाए, मुक्खाभाभो मुखेयव्वो ॥  
अस्वाध्यायं स्वाध्यायं कुर्वता आनाचारो विराधितः, तद्विराध-  
नायां ध्यानचारधारिचं च विराधितम् । चरणविराधनतायां  
माङ्गाभावः ।

अत्रैवापवादमाह—

वितियागादे मागा-रियादि काङ्गय असति वुञ्जेए ।  
एएहि कारणेहिं, जयणाए कणए काउं ॥  
अस्य यथाक्या प्राग्वत् । एव० उ० । ध० ।  
जे जिक्खु अण्यणो असससम्भाइए सज्जायं करेइ, करंतं  
वा माइज्जइ ॥ १६ ॥  
अण्यणो सरीरे समुधे अससम्भाइए ति सज्जाओ अण्यणो ण  
कायव्वो । परस्व पुण ण वायणा हायव्वो महंतेसु गच्छेसु ।  
अन्वात्तलाण खिण्वो-दयाण व होज्जं ति सज्जाओ ।  
अरिसाभगंदलाहं, इति वायणमुत्संबंधो ॥ १३६ ॥

अथाइहसप्तश्रो समग्रिये ( शिष्योद्देश्यसंज्ञयो नाम सज्जाश्रो भविस्सति, तेण यावत्सुखे विद्दि भवति ॥ नि० ५०० १४ उ० । अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास श्राद्धोचना तपसि पति, न वा १ति पण्डितवर्यसागरगणितप्रशस्य हीरविजयसुरि- क्तनमुत्तर—अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास आलो- चना तपोसि नाशति ॥ १० २ प्रका० । वैश्राभिनमासचतु- र्मासकद्विकसत्का अस्वाध्यायाः पञ्चमीचतुर्दश्यामासद्वयान्तरं यद्युगन्ति तद्यामद्वयं तिथ्येमाणापेक्षया, किं वा औद्युधिकापे- क्षयति प्रश्ने, वैश्राभिनमासयोः पञ्चमितिथेरद्विदस्वाध्याया लगति, न तु सूर्योदयाद्यः एवं चतुर्मासकस्याऽस्वाध्यायोऽपि चतुर्दश्यातिथेरद्वौल्लगनात् न बुद्धसप्रदाय इति ( १५६ ) । तथा- तिरभ्योऽस्थि सरसं भवति, तस्यास्वाध्यायिकं कियतः प्रह- राब्ध यावद्भवतीति प्रश्ने, तिथेयस्थि अग्रदरानामुपरि याव- त्तरस तावद्ऽस्वाध्यायिकं ज्ञततीति ज्ञाप्यते ( २३३ ) । तथा- ऽऽभिनमासऽस्वाध्यायदिनेषु सिद्धात्तमायापञ्चकं पठन्ति, तस्य तपसोसं कल्पते नवती प्रश्ने, अस्वाध्यायदिनेषु सिद्धात्त- संवन्धेयकथापाठोऽपि न शुद्ध्यतीति ( २३५ ) । तथा-सूर्यप्रह- णं यद्भवति तदस्वाध्यायिकं कुन आरच्य कियद्यावद्भवति १, तथा-योगिकानां कियार्थं प्रवेदनानं न शुद्ध्यतीति प्रश्ने, यस्त्य- प्रहणं भवति तत्र आरभ्याऽदोतारं यावद्स्वाध्यायिकं, तदनु- सारेणैकं प्रवेदनमशुक्तं ज्ञायन इति ( २३० ) । ( सेन० ३ ब्रह्म० ) तथा ऽऽभिनमाऽस्वाध्यायिकदिनत्रयमुपरेशमालादिने गण्यते, तथा चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिकं तद्वयसं भवेति प्रश्ने, त- दस्वाध्यायिकं दिनत्रयमुपधानमप्ये, न तथा चतुर्मासकत्रये, तस्माच्चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिकं उपदेशमालादि गण्यते ( ५५ ) । सेन० ४ ब्रह्म० ।

असज्जाडय ( यिज्जुत्ति—अस्वाध्यायिकनिर्णयि—श्री० । अस्वा- ध्यायिकप्रतिपाद् काऽऽवश्यकान्तगतप्रतिक्रमणायवचनमध्यते मन्दाहावृत्तमिच्छते नियुक्तिप्रश्ने, अथ० ।  
 “असक्काइअनिज्जुत्ति, बुद्धमांभी धीरपुरिसपक्कां ।  
 ज नाळण सुविहिआ, पवयणसारं उवहाइति” ॥ १ ॥  
 “असक्काइअनिज्जुत्ती, कहिआ ये धीरपुरिसपक्का ।  
 संजमनवचगार्ण, निग्गयाणं मइरिसीणं ॥ २० ॥  
 असक्काइअनिज्जुत्ति, जुत्तं जं तथा चरुणकरुणमाउत्ता ।  
 साइ अवंति कम्म, अणमवसंसिअमणत्तं” ॥ १३ ॥  
 गाथाद्वयं निगदंस्त्रिद्वयं । प्रश्न० ४ अ० ।

असद—अशुट—उं० । शठमावरति, श्राघ० । रागद्वेषरहिते कालिकाचार्यादिवप्रमाणस्थे, ५० ३ उ० । अन्नान्ते, द्वा० २ द्वा० । अमायाविनि, जीत० । सरलात्मनि, जीत० । आ० म० । पराऽवञ्चकं, घ० १ आधि० । घ० २० । अनुष्ठानं प्रति अनाल- स्वर्वात्, दृश० । इत्क्यायिपयनिग्रहकारिणं, नि० ५०० १० उ० । सप्तमशुणवत्साधो, शठो हि यज्जानप्रपञ्चवृत्तरता सवस्थाव- विहवसनीभा भवति । प्रश्न० ३३६ द्वार ।

साम्प्रतमशुट इति सप्तमं स्पष्टवाहाइ—  
 असदो परं न वंचदं, बीससपिण्डो पसेसपिण्डो य ।  
 उज्जयद जावसारं, उचिआो चम्मस तेषोसो ॥ १४ ॥  
 शठो मावाची; तद्विपरितोऽशुटः परम्यं न वञ्चति नामि- संघपथाः पथ विम्बसनीवः, प्रत्यवधानं ज्ञवति । इतरः पुनः पुनः वञ्चवञ्चवि न विम्बसलारणय । यतुकम्—“मावाशीलः वृषयो,

वधापि न करोति किञ्चिदपराम् ॥ सर्प इवाऽविम्बास्यो, ज्ञवति तथाऽऽप्यमर्षादभयः” ॥ १॥ तथा-प्रशस्तनीवः क्वाजनीयश्च स्वात, अशुट इति प्रकमः यद्ऽजाचि—“यथा चिचं तथा वाचो, यथा वा- चस्तथा क्रियाः । धन्यान्ते भित्ते येयो, चिंसवादो न विद्य- ते” ॥ १॥ तथोद्यच्छकृत् प्रवर्तते, धर्मानुष्ठान इति शेषः । भावसा- रं सत्त्ववस्तुसुन्दरं स्वस्वित्तच्छानुगतं, न पुनः परऽज्जावाति; दु- ध्यायं च स्वस्वित्तरञ्जनय । तथाचोक्तम्—“भूवांसो मूरिहो- कस्य, चमत्कारकरा नराः । रज्जयन्ति स्वस्वित्तं ये, भूतसं तेऽथ पञ्चवाः” ॥ ११ ॥ तथा—“कृमिर्देहमरिश्चिने; शक्य- स्तोपयितुं परः । आत्मा तु मास्तवैरव, हतकः परितुष्य- ति” ॥ ११ ॥ इति । अजितो योग्यो, धर्मस्य पृथेय्यावर्णितस्त्वक- प्य, तेन कारणेनैवोऽशुटः; सार्यवाहपुत्रकद्वेषव्य ।

अकद्वेषवर्तितं स्वेव—  
 अथि विदेहे चंपा—ऽऽयासपुंरं पउरपउरपरिकलियं ।  
 तत्थाऽऽसि सत्थवादो, अइइदो इइदेवुत्ति ॥ १ ॥  
 तस्स य नञ्जा सोमा, सहावसोमा कयाइ गिहिधम्मं ।  
 सा पत्थिअइ गण्णिणी—ये बालच्चदारे पास्सम्मि ॥ २ ॥  
 तं किञ्चि विसयविमुदं, दद्दु पउठो मखेइ से मत्ता ।  
 मुंच पिय । धम्ममिंमं, भांमिं पिय व प्रोत्तियणकरं ॥ ३ ॥  
 सा साइइ जोगेहि, रोगेहि व मह कयं, इमां आह ।  
 किं अइइं विट्ठमिं—इकप्यं कुणसि तं सुद ॥ ४ ॥  
 सा अणइ इमं बिसवा, पणुगणसादारणा वि पणक्का ।  
 आसिस्सरिवाइफुत्तो, विक्किअम्मो समण्हो ते ॥ ५ ॥  
 उत्तरद्वाणअसत्तो, बिलक्काचिओ अइच स विररो ।  
 आलवणाइविरत्तो, सोयं समं वयइ सत्त्वतो ॥ ६ ॥  
 मज्जं मगइ करं, सोमा अथि प्ति इइह न य तोसो ।  
 तम्माराणहेउमहि, उवहं पिण्डो मइ विविउं ॥ ७ ॥  
 मणइ पिय । अरुमगइ—इ वाममाणेसु सा वि सरलमहा ।  
 आ विवइ कुम्भा, त उक्का कसियणुवगेण ॥ ८ ॥  
 उक्का अइं ति पारणे, सा साइइ सो वि गाइसडवाय ।  
 गासंभया गासडिया, इच्चाइ करेइ इलवाठं ॥ ९ ॥  
 सिन्ध से उज्जुडियं, विदेहेहि निअचियं च दसणहि ।  
 विसभीयहि व पाणे—हि इरवुरेण ओसरियं ॥ १० ॥  
 अचइय सोमा सांइ—मकप्यलीलावयंससुवमाणे ।  
 पल्लिमोचमिइर्या, सोमा सुउरुद्री जाथा ॥ ११ ॥  
 चदो स इइदो, नागसिंरि नागदत्तसिद्धियं ।  
 परिणीय नीइवाहा—इ ज्जुंजिउं पंचविहवसिय ॥ १२ ॥  
 इइज्जणापवाग्गो, नरथावासासिम्म परमपुदुवोप ।  
 आइक्कइमिहाणु, पलियाक नारजो जाभं ॥ १३ ॥  
 अइ सोमाजीचो, अविंशं सोइम्मआं विदेइम्मि ।  
 सेसम्मि सुंजुमार, जाभो वंती धवलकती ॥ १४ ॥  
 इयरो वि त्थान्वाव्हिय, जाभो कीरो नहिं विच गिरिम्मि ।  
 कीरीयं सह रमत्तो, नरत्तासाभासिरो मयइ ॥ १५ ॥  
 कइवा वि तं गइं, करेणुयानियरपरियं दद्दु ।  
 पुण्यत्रयमासाभो, बहुलीवहुलो विच्छियं ॥ १६ ॥  
 विसयसुहाइ इमाओ, किहं थु मय पंचियव्वभो एस ।  
 एवं उवाचचित्थ—पथभो पत्तो सत्प नीदो ॥ १७ ॥  
 सा तथं चंदल्लेहा—मिहाणअयरि हरिणु संघत्तो ।  
 डोलाइइ इति अयरो, मयजीओ जणइ तं कीरं ॥ १८ ॥  
 भो ! इय गिरिनिज्जे, चिआमेगो इहागमी अयरो ।

न भु से कहियवयोऽहं, गत्रोऽयमस्यो कहयवयो ॥ १६ ॥  
 तो कीर ! कीरमहुमहुर-बस्य ! मइ परमसुवकयं तुमप ।  
 तुज्ज वि अइं अचस्सं, करिस्समकुवकुवववारं ॥ २० ॥  
 अइं आगभो स जयरो, अइं दुइं झीलाइं पडियिणो ।  
 कहियं सुएण एये, इमस्स सो हरिसिओ दिवप ॥ २१ ॥  
 इयंतरेमि तथा-गयं गयं तं जहिदिक्खया भिरं ।  
 पासिनु वित्तइ सुओ, अइं अइं ! सुंदरोऽवसरो ॥ २२ ॥  
 तो निवडिनियदिनिडिआ, ठां कं करिसंनिहिमि प्रणइ पिपं ।  
 भणियं वसिहरिसिणा, कामियतिथं इमं क्खिं ॥ २३ ॥  
 जो इत्थं भिगुनिवायं, करइ सो लइइ कामियं खु फलं ।  
 इय भणिय पिपायं समं, तहिं वि पत्तो मिलुको य ॥ २४ ॥  
 तवयएणपेरिको पुण, झीतारत्तवरो पियासहिओ ।  
 वल्लववळकुलधरो, उएएओ मयणममाम्मि ॥ २५ ॥  
 तं वट्ठं वित्तइ करी, कामियतिथं इमं खु जं इइयं ।  
 खेरमिहुणं जायं, पयियं किर कीरमिहुणं पि ॥ २६ ॥  
 तो किं इमिया तिरिय-त्तणेण मज्जे तिं वित्तिनय गमाओ ।  
 जंपावइ सो तहियं, अइं इत्थियं कीरमिहुणं तं ॥ २७ ॥  
 संखुनियंमुवेगो, हत्थीं गइइइत्थिओ वि वियशाप ।  
 कुरिय सुइइअकयसाओ, जाओ वंतरसुरो पवरो ॥ २८ ॥  
 अइंसयकिनिडिचित्तं, विसयपत्तसो सुओ वि संपत्तो ।  
 रयणाइलोहयक्खं, नएए अत्थितक्खइइइइक्खं ॥ २९ ॥

## इतथ-

अत्थि विदेहं सिरिच-क्यासनयग्मि सत्थवाइवरो ।  
 अपारिहयचककसो, सुमंगला वणइणो तसो ॥ ३० ॥  
 अइं सो करिदुत्तीवो, चयिठणे तणु नेव्णो जाओ ।  
 नमिण चकदेवो, सया वि गुरुजणविहियंसवो ॥ ३१ ॥  
 उव्वंइवइ इयरो वि दु, जाओ तथेव जअदुषु सि ।  
 सोमपुरोहियपुत्तो, दुव वि तरुणत्तमसुपत्तो ॥ ३२ ॥  
 सभावकइयवहिं, जाया मिसीइ तंसमन्नां ।  
 पुव्वकयकम्मदांसा, कया वि वित्तइ पुरोहियसुओ ॥ ३३ ॥  
 कइ एस चकदेवो, इमाउ अनुत्तलत्तवियथरओ ।  
 पाविहिइ पुउं अंसं, दुं नार्यं अत्थि इइं बवाओ ॥ ३४ ॥  
 चंदणसत्थाहगिहं, मुसिंसं दविणं ख्वियसु एयगिहं,  
 कइउं निवस्स पुरओ, भंसिस्स सपयउं इम ॥ ३५ ॥  
 काउं तहव स प्रणइ, वयंस ! गोवसु मज्जे दविणमिणं ।  
 नियंइवो सि तयो, एवं विय कुणइ सरत्तमसो ॥ ३६ ॥  
 वत्ता पुरे पवत्ता, मुठं चंदणगिहं ति तो पुट्टे ।  
 सत्थाइसुएणसो, व्वियसिण कस्स भो मित्त ! ? ॥ ३७ ॥  
 सों माह मज्जे इव्वं, तायभया गोविय तुइ गइइमि ।  
 आसंका न मणागवि, कायज्जा चक्कओव ! तए ॥ ३८ ॥  
 इतो य चंदणेणं, अमुगं अमुगं जं मइं गयं इव्वं ।  
 कहियं निवस्स तेणं, नयेरं घोसाविषं एवं ॥ ३९ ॥  
 चंदणगिहं एमुठं, जेणं केण वि कइउं सों मज्जे ।  
 इगिहं न तस्स वडो, पच्छा सारिरीओ वडो ॥ ४० ॥  
 अइं दिणपणगमि गए, पुरोहियसुओ नियं अइं इव ! ।  
 जर वि न लुज्जइ विथि-त्तोऽसुकुमवियउणं काउं ॥ ४१ ॥  
 परमइविरुत्तमेयं, ति थारं उं पारिमां न इिययमि ।  
 चंदणधरं अचस्सं, अत्थि गिहं चकदेवस्स ॥ ४२ ॥  
 ( राजा ) नहु सो गरिडुपुरिसं, रायविरुत्तं इमं कइ करिओ ।  
 ( यकदेवः ) गदया वि सोहमोहिय-मरओ चट्टंति थाल व्वडं

( राजा ) सो संतोससुहाहरस-पाणप्यवयो सुणिज्जए सययं ।  
 ( यकदेवः ) अत्थि तरुणा व्वियसिणं, पाविय पापइ पसरंतिधइ  
 ( राजा ) नहु सो महाकुलोणो,  
 ( यकदेवः ) को दांता इइ कुलस्स विमइस्स ? ।  
 अइं अइं लपरिमलेसु वि,  
 कुतुमिनु न हुंति किं किमओ ? ॥ ४५ ॥  
 ( राजा ) जइ एवं ता किज्जउ, समंतओ गइसोहणं तस्स ।  
 ( यकदेवः ) एव किं देवस्स वि, पुरओ जंपिज्जए अए अत्थियइइ ॥  
 तो निवइणा तलारां, चंदणभंडारिएण सह भणिओ ।  
 ओ ! चकदेवगेहं, नट्टे व्वं ववेसिहिं ॥ ४७ ॥  
 सो वित्तइ नरवइणा, अइं इ ! अंसंभावणिज्जमाइं ।  
 किं कइया पाविज्जइ, रविंविं तिमिरपम्भारो ॥ ४८ ॥  
 अइंवा पइओ आणं, करंमि पत्तो नत्तो गिहं तस्स ।  
 पभणइ चंदणव्वं, नठं जाणसि भो अइं ! ॥ ४९ ॥  
 ( चकदेवः ) नहु नहु सुणामं किं वि वं,  
 ( तलवरः ) तो भो ! तुमए न कुणियव्वं म ।  
 जं रायसासणेणं, तुहं गहं किं जाइस्सं ॥ ५० ॥  
 ( चकदेवः ) कोवस्स को सु समभो,  
 सया पयापालणत्थमेव जओ ।

नयकुलहरस्स देव-स्स एव सयलो वि मंरंजो ॥ ५१ ॥  
 तो तइवरो गिहं, पविंभिय जा निज्जणं निहालंइ ।  
 ता कंचणवासणं, चंदणनामंके जओ ॥ ५२ ॥  
 तो भणइ सट्टकम्मिमं, कुओं तए चकदेव ! पत्तमिण ।  
 किहं मित्तत्थयणीयं, परंरमिं नियं तिं सो जणइ ॥ ५३ ॥

तलवरः-

कह चंदणनामंके, ( चक्र० ) नामविज्जसाओ कह वि जायं ।

तलवरः-

जइ एवं ता किंत्थि-मित्त इइं वासणे कणमं ॥ ५४ ॥

चकदेवः-

चिर गोथियं ति न तहा, सुमंगमिं अइं सयंचिय निपइ ।

तलवरः-

भंरारिय ! कित्थं, धणमिइ सों आह अनुत्थियं ॥ ५५ ॥

तो गेडाविय नउलं, नियंति सव्वं तंहेव तं मित्तियं ।

भणइ पुणो रक्खियदु, भो प्रइ ! कुडक्खरं कहसु ॥ ५६ ॥

अइं वासणं सहव, सुकीरियं कीलियं पविंभयमी ।

मित्तं वृत्संमिं कइं, तो चकदेवो पुणाहं नियं ॥ ५७ ॥

तलवरः-

किंत्थियमित्तं परसं-तियं धणं तुइ गिहंमि चिहंइ ।

चकदेवः-

नियं पि अत्थि बहूयं, पज्जतं मम परधणेणं ॥ ५८ ॥

तो तइवरेण सव्वं, गिहं नियंतेणं तं धणं पत्तं ।

कुवियण चकदेवो, हडेण नांओ निवसमीओ ॥ ५९ ॥

रत्ता भणियं नहु जइ, अपारिहयचकसत्थवाइसुए ।

नहु संनवइ इमं तो, कइसु को इत्थ परमत्थो ? ॥ ६० ॥

परदांसकहणविमुहो, न किंत्थि जा जंपइ पमां ताइं ।

अइं विभंविउणं, निव्विसओ कारिओ रग्गा ॥ ६१ ॥

बहु सो विसायावहुए, गुरुपिडनयवक्खण्णक्खसत्थवाइसरंओ ।

चित्तइ किं मम सपइ, पणट्टमाणस्स जीएण ? ॥ ६२ ॥

“ वरं प्राणपायिणां, मा मामपरिच्छेदना ।  
 प्राणत्यागे क्षणं दुःखं, मानभङ्गे दिने दिने ” ॥ ६३ ॥

इय कितिय पुरबार्हे, बद्धविभक्तिं जाव बंधय अप्यं ।  
 ता तमगुणगण्डरजिय-दियया पुरदेवया भक्ति ॥ ६४ ॥  
 जाउं निबजणियमुहं, निबवुभ्भां तां कइइ बुचुत्तं ।  
 उब्बंधयपरंतं, सो दुहिभो कितिय राया ॥ ६५ ॥  
 "उपकारिणं विश्वाप्तं, आर्यजनं यः समाचरति पापय ।  
 तं जनमसत्यबंधं, प्रणवति बन्धुः । कथं बहसि ?" ॥ ६६ ॥  
 इय परिजाविष रखा, पुरोहिपुत्रं चराविउं तुरियं ।  
 तत्थ गयणं दिओ, सत्थावस्तुभो तह कुण्योतं ॥ ६७ ॥  
 छिदिपुं उजि पासं, सो गयमारोअकथं डिट्टेण ।  
 मइया वि वित्थंनेणं, पवेसिभो नयरत्तमम्मि ॥ ६८ ॥  
 भणियो य भो महापास !, नुज्ज कुलीणस्स जुत्तमेव इमं ।  
 सह पुत्तिकुरस्स वि ममं, अं परदोसो न ते कहिभो ॥ ६९ ॥  
 रिकं तु नुहं कामवरत्तं, भ्रमणपमायसो इहइअहेदिं ।  
 तं भ्मियप्वं सव्वं, भ्मापपहाणां सु सत्पुत्तिसा ॥ ७० ॥  
 इत्थंतरे भनेदिं, बंधिय तथाऽऽशिश्रो पुरोहितुभो ।  
 रोसासकनयणणं, रखा वज्जो भ्रमायुत्तां ॥ ७१ ॥  
 तो भाणइ चक्रदेवो, वड्डुक्कहिययण पयाइसरत्तेण ।  
 मइमित्तेण इमेणं, किं नाम विदुक्कमावरियं ? ॥ ७२ ॥  
 पुरदेवयार्यं कहियं, कइइ भियो दुट्टुत्थिचियं तस्स ।  
 भन्नुज्जरजियसिओ, तो कितइ सत्थवइपुत्तो ॥ ७३ ॥  
 अमयरसाउं विसं पि व, ससहरविबाउं अग्गियुत्ति व्व ।  
 परिसमित्ताउं इमं, किमसममसमंजसं जायं ? ॥ ७४ ॥  
 पयं सो परिभाविष, गाढं निबडिपुं निबडिचच्चत्थसु ।  
 मोयावइ निर्यामित्तं, तो इह्दो भणइ नरनादो ॥ ७५ ॥  
 "उपकारिणि वीतमरत्तया, सत्थवत्तो यदि तत्र कोऽतिरेकः ?  
 अहिते सहसाऽपराधलब्धे, सद्युत्थे यस्य मनः सतां स बुधैः ७६।  
 अइ सत्थवाइपुत्तो, सत्थवत्तसुपणनिमग्नचरित्तो ।  
 जइवडगपरीयरित्तो, नियेइहो पेत्तसो रखा ॥ ७७ ॥  
 तेणवि जअंदेवो, आरिअत्तिओ पणयसावययणहिं ।  
 सक्कारिय संमाणिय, पट्टुविभो निययजवणम्मि ॥ ७८ ॥  
 जाओ जणप्यवाओ, धओ पत्तेव सत्थवाइसुभो ।  
 अवयारपरं वि नेरं, इय उत्तसं मई परिप्फुक्कइ ॥ ७९ ॥  
 बरग्गममगल्लो, कयावि सिरिअग्गियुत्तुरुपात्तं ।  
 गिण्हेइ चक्रदेवो, दिक्खं बुइक्कसइइवणसमं ॥ ८० ॥  
 बडुक्कालं परिपालिय, सामभं सों अणसत्तामभं ।  
 जाओ अग्गिभबंभो, नवअयराउं सुरो बंभो ॥ ८१ ॥  
 ततो चाविष विदेहे, आरिअत्तिपे मंगलावहंविजय ।  
 बडुरयसो रयणउरं, सत्थप्यवुत्तयणसरत्तस ॥ ८२ ॥  
 सिरिमइपियायं जाओ, चंद्रणसाउं पि नदणां तस्स ।  
 कंता य चंद्रकंता, दुवे वि जिणधम्मपरिकलिया ॥ ८३ ॥  
 मारिउं स जअंदेवो, वि उब्बधुवुधोयं नाराओ जाओ ।  
 पुण आहेइवत्तुणभो, मरिउं तथेव उववओ ॥ ८४ ॥  
 ततो त्रिभय बडुजं, जाओ सो रयणसारदासित्तुभो ।  
 अइणगनामा पीई, पुत्तुत्था तेसि संजाया ॥ ८५ ॥  
 अभादिये रयणउरं, विसि जत्ताण गयम्मि निवइम्मि ।  
 सत्थवत्तं विज्जकेउं, र्भजिय गिण्हेइ बडुं थंढं ॥ ८६ ॥  
 हरिया य चंद्रकंता, सेसजणो को वि कत्थं वि य नट्टो ।  
 आवासिभो य थसिउं, सत्थवत्तं जिणकूयनडे ॥ ८७ ॥  
 सोहीणे सयत्तविणे, निमावत्तेसे पयाणकालम्मि ।  
 अइइसथसपुरकत्तउं-नियनियकिंत्तु निबत्तु ॥ ८८ ॥

उत्तालकाहृत्तातर-सवइइसरवसरमदिवनइद्विचरे ।  
 अग्गाणीयसिथं थइं-तयसिथं क्षिणे षं बंदिजणे ॥ ८९ ॥  
 सा चंद्रयपाणपिया, सहीअनियसिअब्बंअणमयण ।  
 पंचनमुक्कारपरा, जंयावइ तम्मि कूयम्मि ॥ ९० ॥  
 जवियव्वयानिभोगा, पयिया नीरम्मि अविद्या तेण ।  
 पडिक्कययम्मि जाउं, गमेइ सा जअसरे कइ व ॥ ९१ ॥  
 इत्तो य गवा धानि-नि चंदणो नियपुरो समणुत्तो ।  
 इरुया इइ ति नाई, जाओ अइवइरइउइडुइओ ॥ ९२ ॥  
 तो तीरं मोयणत्थं, संबहयं इविणनठहयं गइयं ।  
 अइणगवीओ चत्तिभो, वारेण बहति तं भारं ॥ ९३ ॥  
 पत्ता कमण्यं तं जि-अक्कवदंत्तं तथा पुणं अत्थिय ।  
 धयणजायं पात्ते दा-सयस्स इयरस्स पाडेयं ॥ ९४ ॥  
 तो पुण्यजवज्जासा, दासो कितइ सुभुइअग्गिणं ।  
 अत्थमिभो गयणमणी, ओल्लसिभो गइयतिमिभरो ॥ ९५ ॥  
 ता इत्थं क्वकुहरे, सिंविउणं सत्थवाइसुत्तमेयं ।  
 धणजापण इमेणं, भवामि भोगाण आभागी ॥ ९६ ॥  
 तो जणइ निविडिययो, जिस्सं तिसा वाएव ममं सामि !  
 सोवि हु सहावसरओ, जा कूषे नियइ तत्थ जअं ॥ ९७ ॥  
 ता तेण पावपत्ता-रपिक्खिणसं पिण्णिओ अचंदं ।  
 तत्तो वि परसाओ, पाविओ अइणगो गट्ठो ॥ ९८ ॥  
 अइ चंदणो जल्लो, सिरिउत्थपय्यपुट्टलो पाडिओ ।  
 पन्निक्के षडु अग्गो, य चंद्रकंता कइ वि छिस्ता ॥ ९९ ॥  
 भयाविहत्ता अणइ ममो, आरिइत्ताणं ति तं सरणं पुड्डं ॥  
 उवअक्खियसि भाइ इमो, जिणधम्मणं अनयमजयं ॥ १०० ॥  
 तं सुत्तिय सुत्तिय इइय, वरेण रोएइ तारत्तारमिमा ।  
 तो भन्नुअ सुइउइ-वत्ताइ गमेति त रयणि ॥ १०१ ॥  
 उइए सइस्सकिरणं, तं पाडेयं दुवे वि अुजंति ।  
 कइवयदिण्णोसु पयं, पक्खीणं संबहं सव्वं ॥ १०२ ॥  
 अइ चंदणो पयंयव. इइए । एयाउं वियउअवड्डाओ ।  
 गंजीराउं जयाउं व, उत्तारो उउवरो नूणं ॥ १०३ ॥  
 तम्हा कुण्णिमेऽणत्तं, मा मणुयजवं निरत्थयं नेमो ।  
 इय जा कइइ ता स्स, दाहिणनययं विक्कुुरियं ॥ १०४ ॥  
 इयरीए वांमणं, सो आइ पिण्णं अंगकुण्णोहिं ।  
 पस्स किंत्तंसां न चिरे, होही अइदं ति तक्कम्मि ॥ १०५ ॥  
 इत्थंउत्तम्मि पत्तो, सत्थवत्तं नंदिवत्तणो तत्थ ।  
 रयणउरंनयरसाओ, उदयत्थं पेसय पुत्तिसं ॥ १०६ ॥  
 ते जा नियतिं कूयं, ता चंद्रयचंद्रकंतमजिइदुं ।  
 सादिपु सत्थवइणो, कइति य मंचियार्यं लहं ॥ १०७ ॥  
 पुट्टो य सत्थवइणो, बुत्तंत कइइ चंदणो सव्वं ।  
 संचत्तिओ नियनयरा-भिम्मं वूटो य दिणपणुं ॥ १०८ ॥  
 दिट्ठा तेण निवपरे, सुट्टुदिणो हरिंविदरिओ पुत्तिसो ।  
 नाउं धणोवइण्णा, इइ ! वराओ अइणगुं ति ॥ १०९ ॥  
 तं थवं गइउणं, पकामसुत्तिसुअमारापरिणामो ।  
 रयणउरं संपत्तो, पत्ते सुत्तिसंजंत्तं दव्वं ॥ ११० ॥  
 गिक्खिपुं विजयवत्तण-सुरिसीनेऽणयज्जयत्तजं ।  
 जाओ य सुक्ककत्तं, सोलसअयरदिं अमरो ॥ १११ ॥  
 तो चविउं इइ अरेइ, इइवीरपुत्ताभिणानवरम्मि ।  
 गइइअइंदिक्खण-सुत्तियपुत्तो इमो जाओ ॥ ११२ ॥  
 नामेणुऽणग्गयो, अणग्गंहुं इव बहलक्खेण ।  
 सिरिदिवत्तयगुक्को, पासें पदिवअग्गिहाइयम्मो ॥ ११३ ॥



अह अहस्यो वि हरिणा, हाणंभ्रां सेलाहनारथो जाभो ।  
 सीहो भविष्य तर्हिचिष्य, पुत्रो वि पत्नो बसुहाचिषो ॥ ११४ ॥  
 तो हिंदिष्य भूरिभवे, तत्थेय य सोमसत्पथाहस्त ।  
 नंदिमइनारियाए, जाभो धनदेवनामसुभो ॥ ११५ ॥  
 असदसदमाणसायं, तेसि वीर्यं परकुरं जाया ।  
 ते दक्षिणक्षणमणसे, कथा वि पत्नो रथगरोवे ॥ ११६ ॥  
 कइवयविशुहि बलिया, सपुत्रामिसुहं विदहबहुविता ।  
 अह धणुदेवो जाभो, निर्यमित्तपवेषणपवषणो ॥ ११७ ॥  
 कम्मि वि गामं इहं, करारविया मोयगा पुत्रे तेषं ।  
 इयकम्मि विसं लिचं, एयं मित्तस्स दाहं ति ॥ ११८ ॥  
 अउलमणस्स जाभो, मग्गे इंतस्स तस्स बघासां ।  
 सुवो सविणो दिणो, सयं नु विसमोययो वृत्तो ॥ ११९ ॥  
 अइससमविसिदिसिपिर-गुहवेयणपसरपरिगभो क्कत्ति ।  
 धणदेवोपरि चत्तो, धम्मंण व जीविणयावि ॥ १२० ॥  
 बहु सोइरण तस्स य, मयकिंभ काउणंगदेवो वि ।  
 पत्तो कमेण सपुत्रे, तलियमाणं कइह सत्थं ॥ १२१ ॥  
 तेसि पभूयदत्थं, दाउं पुत्तिउणु पिपरपुमइज्जणं ।  
 स्सो पुत्रवगुरुसमोवे, गिणहइ वयमुमयलोयहियं ॥ १२२ ॥  
 तुक्करनवचरणपरो, परोवधारिकमाणसां मरिउ ।  
 गुणवीससागराऊ, पायणकपं सुरो जाभो ॥ १२३ ॥  
 कालेण तभ्रो वि चभो, जयुहीवम्मि परवयवसां ।  
 गयपुननयरे इरिनं-दिसंतिणो पामसहुस्स ॥ १२४ ॥  
 लिच्छमइणइणोए, जाभो पुत्रो य वीरद्वेनु सि ।  
 सिरिमाणभंगसुदुगु-समीयकयगिहाइवउच्चरो ॥ १२५ ॥  
 धणदेवो वि हु तथया, उक्कविसवेगपपचत्तो ।  
 नवसागरोवमाऊ, उववओ पंकुपुटवीए ॥ १२६ ॥  
 पुणुरवि भविष्य सुयोगं, दारुणयणदावददुसत्थंगो ।  
 जाभो तर्हि वि किञ्च-नअपयत्समां नरेइभो ॥ १२७ ॥  
 निरिपसु जमिय सो ते-रथ गयपुरे इन्नागसिद्धिस्स ।  
 नंदिमइभजाए, दोगणनामा सुभो जाभो ॥ १२८ ॥  
 पुत्रुलपरोजोगा, इगहइ ववहरंति ते वंवि ।  
 चित्तं बहु विदहं, तो चित्तं दोगुणो पायो ॥ १२९ ॥  
 कइ एसो अंसइरो, इत्थियथो हुं करारविंइ इशिह ।  
 नवधवलहरं उच्च-सणेण महमण्णुलिहंनं व ॥ १३० ॥  
 तथुवारिं वृवि अणोमय-कीलगजाजानियंतिंयगवक्कं ।  
 भोयणकए निमित्तं-सु वीरदेवं कुडुवजुणु ॥ १३१ ॥  
 तो स न्दिस्सिमिं, मण्णोयत्ता सयं स अरुहहिहो ।  
 खइइडिक्कण निवडिही, पाणेहि वि जत्ति मुच्चिबहिहो ॥ १३२ ॥  
 अइ नित्थिवायमसो, विहवन्नरो मज्जं चैव किर होही ।  
 नय काइ जणचवाभ्रो, इय चितिय काइ तहव ॥ १३३ ॥  
 जा मुसुत्तरमप, बुवे वि धवलहरसिहरमाकटा ।  
 ससमइरहिंशो दोगं, अणुपसंकवपरियमणो ॥ १३४ ॥  
 भो मित्त ! एहि इहयं, निज्जुहे विससु जीपरो तथ ।  
 सयमाकटो इक्को, पाडिभो मुक्को य एण्णहि ॥ १३५ ॥  
 हाहाएवमुहलमुहां, सुरियं उत्तरिय वीरदेवो वि ।  
 जा नियइ ता पाडिहं, मित्तो पंचसमपुणो ॥ १३६ ॥  
 हा मित्त ! मित्तवच्छल !, उइसुत्तराहिय ! रहियनयमज्जो ।  
 इय बहुविहं पलिविउं, मयकिचं कुणइ सो तस्स ॥ १३७ ॥  
 जललधतरंते जीप, विज्जुलयाचंचलमिं तरुणसे ।  
 को नाम वेहवासां, पदिबंभं कुणइ सविदेवो ॥ १३८ ॥

इव चित्तिक्कण सत्थ-सदाइसुगुणसपसलामणो ।  
 वचचन्तो गेविउं, सो तइए भासुरो अमरो ॥ १३९ ॥  
 अग्निइ विदेइवासे, वासवदेहं व सज्जवज्जरं ।  
 अययसहस्सकणियं, चंगावासं ति वरनरो ॥ १४० ॥  
 तत्थाऽऽसिं माणियही, जइयउज्जणणो सया सिट्ठी ।  
 जिणुधम्मरम्मकमा, तस्स पिया हरिमां नामा ॥ १४१ ॥  
 सो वीरदेवजीभो, नसो गेविउज्जाउ बविकणु ।  
 नामेण पुनमइहं, तायं पुत्रो ससुपण्णो ॥ १४२ ॥  
 तेणं च पदणसमए, घोसं पदममाव उच्चरंतिण ।  
 अमरु ति ससुपुणियं, बुबइ अमरो वि तेणेसे ॥ १४३ ॥  
 दोणो वि मभो भूमा-यं अरअयराउ मारुओ जाभो ।  
 मक्को सयंउत्तरमण, जविउं तत्थेय उधधन्तो ॥ १४४ ॥  
 भमिय भवे तथ पुरे, नंदावसऽमिदसिद्धिइयाए ।  
 सिरिंदाए धूया, संजाया नंदावीति सि ॥ १४५ ॥  
 भवियव्यावासणं, परिणीया सा उ पुनजहेण ।  
 सा पुत्रकम्मवसभो, जाया पव्वणिज्जिणमा ॥ १४६ ॥  
 से परियेण कर्हिंयं, बसुत्तकडकवडानियडिक्की ।  
 सामिय ! पिया तुइसा, न य सइहियं पुणो तेणं ॥ १४७ ॥  
 कइया वि सज्जवासे, कुंरुज्जुलसे सयं अवहरिस्ता ।  
 आउलहियं च्च इमा, साहइ पशो पणं ति ॥ १४८ ॥  
 तेण वि नेहयसेणं, घन्नाविउं नवयमपियं तं से ।  
 इय इरियमम्मन्नें, तीए दिन्नं गुण इमेण ॥ १४९ ॥  
 न्हाणवासरे कइया, सुदारयणं समपियं तीसं ।  
 संक्राणं मग्गियं पुण, सा आह कर्हि वि नणु पाडियं ॥ १५० ॥  
 तसो अइस्संनंतो, निउणं एसो निहालइ विहरं ।  
 मज्जाभरणससुग्गे, नउं दवं निवइ सज्जे ॥ १५१ ॥  
 किं कुंरुहाइ इव्वे, गयं पि लक्कं मभीपं न मयं वा ।  
 करकलियइविणुजाभो, एसो चित्तइ सवियकं ॥ १५२ ॥  
 इयो य सा तीहि चिय, पत्ता इयरो य क्कत्ति मीहरिभो ।  
 जाइइ नंदथी, पुव्वीमंमिणा जाणिया म्हायं ॥ १५३ ॥  
 जा सयणण वि मज्जे, नो उपाएइ लाघयं मज्जे ।  
 सज्जो संजोइयक-म्मणेण मारोमि ताइ इमं ॥ १५४ ॥  
 काउं तयं सयंचिय, अणोगमरणवइहि द्धव्हेहि ।  
 तमिसम्मि संठघती, रक्का दुट्टेण सपेण ॥ १५५ ॥  
 पमिया भस ति धरणि, जाभो हाइरायो अइवहतो ।  
 तयागभो परं से, अइहया पवरणाकइया ॥ १५६ ॥  
 सव्वेसिं नियेताण वि, अणेण निइणं गया गया पाया ।  
 उट्ठीए पुट्टवीए, पुत्रभो जमिही अणुंतमं ॥ १५७ ॥  
 तं दइ पुत्रमइहं, सोयजुओ तीह का मयकिचंवे ।  
 वेरग्गाभाविणमणो, जाभो समणो विज्जियकरणो ॥ १५८ ॥  
 सुक्कज्जाणनइ-दुसयलकम्मिययो पुणियणयो ।  
 सो जयवं संपत्तो, लोयमासुसंठियट्ठणं ॥ १५९ ॥  
 निरुत्थिवयनिमित्तं, पकितिया पुरिमपच्छिमिक्कमवा ।  
 इहयं असददुपण्णमी, पणयं पुण चकइवेण ॥ १६० ॥  
 इनिं फलमनिरयं चकइयस्य सय्यक, प्रतिभवमापि आर्यं भवमाओ विमिणुत्थं ।  
 भवत भविकलोकाः स्पष्टसंतोषपोषाः, कथमपि हि परेषां वचननाचवचनो मा ॥ १६१ ॥

॥ इति चक्रदेवचरितं समाप्तम् ॥

असदकरण-असदकरण-पुं- । मायामवविमुक्तो भूया व-

धोकाविहातुछानकारके, ६० ६ ३० । " असदकरणो नाम स्वस्वध्यायानतां अर्पणं मायाय उति असदो होऊणं कलियं करोति । ( न धाञे यस्मादिति विग्रहाभिप्रायेण ) नि० सू० २० ३० ।

असदजाव-अशुतजाव-पुं० । अमायाविनि, व्य० ४ उ० । शु-  
द्विचोके, आब० ६ अ० । स्वधीव्यं प्रति मान्यं कुशाणे, नि० सू०  
२० ३० ।

असण-अशुन-न० । अशा भोजने, स्पृष्ट । भोजने, नि० सू० ११  
३० । अशा० लृण० । अश्रयते इत्यश्रमन् । अशा भोजने इत्यस्मात्  
स्पृष्ट । अ० २ अ० । एवं लाके, लोकाकारिके तु आशु सुधां शुभ-  
यति इति "वीरलयादिकलायि वा" आ० सू० ६ अ० । आश-  
नादिभके, प्रब० ४ द्वार । दशा० आश० । आब० । उच० । दश० ।

तत्र अशानमाह-

असणं श्रोअणसत्तुग-मुगजगाराइ स्वजगविद्दि० य ।  
खोराइ सुखारि, मंगमपरिहं उ विधेयं ॥

आदिशब्दः स्वगतानेकैरनुसूचकः सर्वत्र संघश्यते । तत ओ-  
दनादि, सक्तवादि, मुद्रादि, जगायांदि, जगारीशब्देन समयाभा-  
षया "रज्या" भाष्यते । तथा सज्जकविधिश्च-माद्यक-मण्डि-  
का-मोदक-सुकुमारिका-पूतपूर-लपनश्री-स्वयंयुताप्रभृति-  
पक्वाद्यादिभिः । तथा-कीरादि, आदिशब्दादि-पूत-तक-  
नामिन-रसाग्नादिपरिग्रहः । तथा-सृष्ट्यादि, आदिशब्दादौर्जा-  
कान्तिकलननस्पतिविकाराद्यज्ञपरिग्रहः । मप्रेकप्रभृति च-  
मरुकाः प्रभृतिर्यस्य त्रोटिका-कुम्भिका-च्यूरिका-रुदुरिका-  
प्रयुक्तवस्तुजातस्य तन्मापकप्रभृति, विहंयं हातव्यमरणम् ।  
प्रय० ४ द्वार । " असणायि च पञ्चसिद्धि" स० ।

असणं श्रोयण सत्तुग, मंगम पवत्र विद्म जगाराइ ।  
कंदवजाई सन्वा, सजसघिर्दा सच विगारं य ॥ ३५ ॥  
असणमिम सच विगारं, साहम गुल मद्रु सुरा य पाणमिम ।  
खारम पकत्र फल्ल-य उहेणय सववअसणममी ॥ ४० ॥  
चण ओद मसुर तुबर्दा, कुसग्य निष्पाय मुग्य मासा य ।  
चवल कजाया राई, पमुहं डदं व निशिह ॥ ४१ ॥  
नित्र अयसि सिभिद कंगु, दुद्व अणुयादवं सिणेइजं ।  
भाघति केह दुदलं, पायं धानु व्य तं सव्वं ॥ ४२ ॥  
कदूदलं पकत्रं, लकर दहि दुसपाय मीसं जं ।  
जमणंतकायजायं, पच फलं पुण्ण वीयं च ॥ ४३ ॥  
पुदपिकाक सन्वा, बल्लिक्रमपमिह सव्वजिण्णवन् ।  
हिगुलवयो ठंठं-पमिहं असणं वधुविहं इं" ॥ ४४ ॥ प्र० ।  
नीसवणं बीजकानिधाने वृत्ताविशेषे, आवा० २ शु० १० अ० ।  
प्रज्ञा० । रा० । ही० ।

असणग-अशुनक-पुं० । बीजकानिधाने वनस्पतिभेदे, श्रौ० ।

असणदान-अशानदान-न० । अश्रयत इत्यश्रमोदनादि, तस्य  
दायमशानदानम् । तस्मिन्शानदाने अशानशब्दः पानापुपल्ल-  
वाद्यः । आहारदानं, पं० व० २ द्वार । आब० ।

असणार्द्रिणमंतण-अशानादिनिमन्त्रण-न० । शुरोराहायनिम-  
न्त्रणं, अ० । अशानादिनिमन्त्रणमिति । अशानादिभिरन्धान-पान-आ-  
दिम-स्वादिम-वल्ग-पात्र-कम्प्य-पाद्व्योमन-मातिहाःरिक्की-  
उफल-शय्यासंस्कारकौषधमैषव्यादिभिः निमन्त्रणं, प्रस्तावाद्

शुरोरेव । तत्र शुरोः पाद्व्योर्लिंगत्वं "इच्छकारि भगवन् । पसा-  
शरीर फालुप्यं पल्लिखेण असणपाणक्वाइमसाम्रेणं दय-  
पञ्चिग्गहकन्वलयपायुछणंयं परिहारिअपीदकलगाइआसंधा-  
रणं अंसदभेसजेण य भयवं । अणुगहा कायव्यो वि" पात्रपू-  
र्यं भक्त्या कार्यम् । एतच्चोपलक्ष्यं शेषकृत्यप्रअस्थापि । यतोऽदि-  
नकृत्ये "पञ्चकलायं च काउण्यं,पृच्छुयं सेसकियं" । कायवं म-  
णसा काउं,आभणं च करं इमं" ति । "पृच्छुयं" इत्यादिना पृच्छुति  
साधुधर्मनिहोहररीरनिराबाधवासांशोपलक्षणकृत्यम् । यथा-निव-  
हति युष्माकं संयमयात्रा,सुखं रात्रिगतां भवतां,निराबाधाः श-  
रीरेण यूर्यं,नधायत वः कश्चिद्याधिः, न प्रयोजनं किञ्चिद्व्याधि-  
दिना, नायंः कश्चित् पथ्यादिन्यादि । एवं प्रअक्ष महानिजंरा-  
हेतुःयद्गुह्यम् "अभिगमणवेद्वणन-सणेणं पमिपुच्छुणेण साह-  
यं । विरसीचंअं पि कम्मं,खणेण विरल्लसणमुहं" । प्राग्बन्धना-  
वसरे च सामान्यतः "सुहराईसुइतपसरीरनिराबाध" इत्यादिप्र-  
अकरणेऽपि,विशेषेणान्प्रअः सत्यप्रवचक्यपक्वानामयं,तदुप-  
यकरणार्थेभेति प्रअपूर्वं निमन्त्रणं युक्तिभेदेति । संप्रति वि-  
निमन्त्रणं गुण्णं बुद्धद्वन्द्वानानन्तरं आवाः कुर्वन्ति, ये  
च प्रतिकमणं गुण्णिः सह कृतं,स स्योर्दयादनु यदा स्वगुहाइ  
याति, तदा तत्करोति; येन च प्रतिकमणं बुद्धद्वन्द्वकं चेत्तुज्ज-  
मपि न कृतं,तेनापि बन्धनारवसरे एवं निमन्त्रणं क्रियते; ततश्च  
यथाविधि तत्कालमिति । एव बहिर्दृष्टस्य विधिः । कारकविशेषे  
तु तत्र्यतिशयैऽपि गम्यते, तत्राप्येव एव विधिः, अमृततोर्मायं च ।

कारणान्याह-

परिआय-परिस-पुरिसं, खेचं कालं च आगमं नष्ठा ।

कारणजाए जाए, जहारिहं जससं च ओगं ॥ ४५ ॥

पर्यायो मन्त्रार्थं, तत् प्रभूतकालं येन पाठितं, परिषद्विनिता सा-  
धुसंहतिः, तत्र्यतिवक्तं पुत्रवं ह्याव्यः कथमः कुलशुणसङ्काकार्य-  
व्यस्याऽऽवस्थानाति; एवं तय धीनं कृत्रमिति; कालममप्रतिजाग-  
रणमस्य शुण इति, आगमं सूत्रार्थोऽन्यरूपमस्यास्तेति ज्ञात्येति ।

साप्रतमेतदकरणे दोयमाह-

एव्हाइ अकुण्वंतो, जहारिहं इतिहृदेसिए मगो ।

ए भवइ पवयणजर्चा, अभंतिमंतोआइ दोसा ॥ ५॥

तथा-

उपपन्नकारणममी, किइकम्मं जो न कुञ्ज दुविहं पि ।

पासत्थाई पीति, उग्याया तसस चचारि ॥ ६ ॥

( दुविहं पीति ) अन्त्युत्थानवन्दनसङ्गम, इत्यनं प्रसङ्गेन ।  
ध० २ अ० ।  
असणि-अशुनि-पुं० । पविरित्यस्य पर्यायः । है० । आकाशे  
पतयन्नियमे कण्ठे, प्रज्ञा० १ पद । विशेषे, सू० २० पाठु० ।  
तं० । विपुत्रजे, वाच० ।

असणिभेद-अशनिभेय-पुं० । करकादिनापतवति पर्वतादिदा-  
रणसमर्थजस्तवेन वा वज्रभेदे, अ० ७ श० ६ उ० ।

असणी-अशानी-स्त्री० । बलेः सोमस्य महाराजस्याग्रमहिप्या-  
म, अ० १० हा० ४ उ० । स्त्रा० ।

अससि ( ण )-असंज्ञिन-पुं० । संक्षिपिपरीतोऽसंज्ञः । विशि-  
ष्टसंख्यादिकपथमार्थिज्ञानविकले, कर्म० ४ कर्म० । "शैरइया कु-  
विहा पयसा । तं जहा-सासि जेव, अससि जेव । एवं पंचविद्या

अससि ( ण )

सव्ये विगामिद्वयकाः जाव वेमाणिवा" स्थ ० २ उा ० २ उा ० ।  
पं ० सं ० । असि कुविहा-अणागादमिच्छादिद्वी, आ-  
गादमिच्छादिद्वी च" नि ० चू ० ५ उ ० ।

अससिआउय-असंश्यायुपु-न० । असंक्षिना सता बन्ने परजव-  
प्रायोयं आयुषि, म० १ स० २ उा ० । ( "आउ" शब्दे द्वितीय-  
प्रागं १५ पृष्ठे १३ प्रथिकारे वैतत् व्याख्यास्वते )  
अससिचूय-असंज्ञितु-पुं० । मिथ्याघट्टो, म० १ श० २ उा ० ।

अससिमुय-असंज्ञिश्रुत-न० । मिथ्यावृद्धिभूते, तच्च कालिको-  
पदेशेन हेतुपदेशेन दृष्टिवाङ्मोपदेशेन च त्रिविधम् । नं० आ०  
च० ( ' साधिसुय ' शब्दे वैतत् वरयते ) ।

अससिहिसंचय-असंनिविसंचय-पुं० । न विद्यते संनिधेः प-  
रुषितभावाद्यैः सञ्चये धारणं वेधां ते तथा । संनिधिस्थेयुग-  
लिकमनुष्ये, ज० २ वक० । तं० जी० ।

असती-असती-स्त्री० । असंमती, नि० चू ० १२ उा ० । " प-  
माएण वा असती युक्कल्लिएण वा " महा० ५ अ० ।  
असत्त-अशुक्त-वि० । असमर्थे, दृश्यं० । पिं० ।

असक्त-वि० । अपाकृतमदनतया समनृणमणिलिपुकाञ्चने समता-  
पत्ते, आचा० । "जे असता पावेहिं कम्मदि" य अपाकृतमदनतया  
समनृणमणिलिपुकाञ्चनः सधनापन्नाः पापेषु कर्मस्वसक्ताः  
पापादानानुष्ठानरताः । आचा० १, पु० ५ अ० २ उा ० ।  
असन्-न० । नास्तित्ये, स्या० । परकल्पेणाविद्यमान्ये, नं० ।

असत्ति-अशक्ति-स्त्री० । असंयोगे, असंपर्के, प० ५ विव० ।

असत्य-अशश-न० । निरचयाउष्ठानरूपे संपद्ये, " से असत्य-  
स्स खेयं, जे असत्यस्स खेयं से पञ्चजातस्स खेयं " आ-  
चा० १ पु० ३ अ० १ उा ० ।

असत्यपरिणय-अशस्त्रपरिणत-वि० । अशस्त्रोपहते, आचा०  
२ पु० १ अ० ५ उा ० । ( ' अपरिणय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे  
६०? पृष्ठेऽस्य सूत्रायुक्तानि )

असदाचार-असदाचार-पुं० । सदाचारविलक्षणं हिंसाऽनु-  
त्तरी, ध० । असदाचारः सदाचारविलक्षणो हिंसाऽभूतादिवेश-  
निधः पापहेतुर्भेदरूपः । यथोक्तम्- " हिंसाऽभूताद्यः पञ्च,  
तस्याश्चानेयम् च । क्रोधाद्यव्यक्तत्वात्, इति पापस्य हे-  
तवः " ॥ १ ॥ तस्य गहो यथा-

" न मिथ्यात्वसमः शत्रु-नै मिथ्यात्वसमं विषयम् ।  
न मिथ्यात्वसमो रागो, न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ १ ॥  
द्विपद्विपत्तमोरोत्तुःखमकञ्च र्हायते ।  
मिथ्यात्वेन दुस्सन्ने, उन्तोऽस्मिन् उन्मनि ॥ २ ॥  
वरं ज्वालाकुलं क्षिप्तो, दहेहिनाऽस्मा दुताशनं ।  
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं, जीवितवयं कदाचन ॥ ३ ॥

इति तत्त्वाभ्यां गहोः, एवं हिंसाद्विधिषु गहोयोजना कार्या ।  
तथा-तस्याऽसदाचारस्य हिंसादेः स्वकथनं यथा-प्रमत्तयो-  
गात्प्रानिष्यपरोपण हिंसा, असदनिधानं सूधा, अदृष्टादानं  
स्तेयं, अशुभमन्त्र, मूर्खो परिग्रह इत्यादि । तथा-स्वयमाचार-  
कथनं परिहारोऽसदाचारस्य संपादनियः ; यतः स्वयम-  
सदाचारमपरिहरतो धर्मकथनं नद्वैराग्यकथनमिवाभाव्येयम् ।

स्यात्, न तु साधुसिद्धिकरमिति । तथा-अनुभावस्य कौडि-  
व्यत्यागरूपस्यासत्त्वमनुष्ठानं देशकैनेव कार्यम् । एवं हि त-  
स्मिन्निधित्वात्कारिणि संभाविते सति शिष्यस्तुपदेशात् कु-  
तोऽपि दूरवर्ती स्यादिति । ध० १ अधि० ।

असदारजन-असदारजन-पुं० । प्राणवधादौ, पं० व० ३ द्वार ।  
"बाश्रो ह्यसदारम्भः" बाश्रो हि पुत्रोक्तः, असन् अनुसृन् आरम्भो-  
ऽस्येयसदारम्भः, अविद्यमानं वा यदागमं व्यथित्पुत्रं, तदारभते  
इत्यसदारम्भः । न सदा सर्वथा स्वसिकालाद्यपेक्ष आरम्भोऽ-  
स्यति वा । " वृत्तं चारिणं च-स्वसदारम्भनिवृत्तिसमसक्तम् ।  
सदनुष्ठानम् " असदारम्भोऽशोभनारम्भः प्राणार्तिपाताथाश्रव-  
पञ्चकल्पः, ततो विनिवृत्तिम् हिंसादिनिवृत्तिकल्पमहिंसा धात्व-  
कम् । पं० १ विव० । पञ्च० ।

असह-अशब्द-पुं० । अद्वैतश्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि० ।  
व० सं० । शब्दवाजैते, वृ० ३ उा ० ।

असदहंत-अश्रद्ध-वि० । अकामकुर्वन्ति, "मरुअच्छे वाणि-  
भो असदहंतो उज्जणिय " वृ० ३ उा ० । "पकां देवो असदहंतो"  
नि० चू ० १ उा ० ।

असदहृत्-अश्रद्धधान-न० । निगोदादिविचारविप्रत्यये, ध० ।  
३ अधि० ।

असप्पाविचे-असत्प्रतिचे-स्त्री० । असुन्दरमवृत्तौ, प० १६ विव० ।

असप्पलावि ( ण )-असत्प्रदाविन्-वि० । असदभावप्रलावि-  
नि, नि० चू ० १६ उा ० ।

असवल-अशवल-पुं० । मालिन्यमाश्रयन्ति, प्रश्न० १ संव०  
द्वार । शवलेस्थानदूरवर्तिनि, आनु० । निरतिकारे, स्या० ५  
ग० ३ उा ० । अतिचारपङ्कामावात् एकान्तविशुद्धचरणं, म०  
२५ हा० ७ उा ० ।

असवलाचार-अशवलाचार-पुं० । विद्युत्कारे, अशवलः सिता-  
सितवर्णोपेतवर्णवद् इवाकतुर आचारो विमयशिक्षाज्ञावागो-  
बरादिको यस्य सोऽशवलाचारः । त्य० ३ उा ० ।

असञ्ज-असञ्चय-वि० । सजोपवेशनाऽग्नये क्लृते, औ० । आ-  
व० । स्या० । अगोत्रेण असञ्जज्ञावप्ररूपकऽसभ्ये, यथा-इवाभा-  
कतगडमयोऽप्यमात्मा' इतिवदन्तः परिद्वानाः नि० चू ० १३ उा ० ।  
अमकथयया-असञ्चयचन-वि० । अरककशादिकं दुष्यन्ते,  
"असञ्चययाणं हि य कलुषा विषयत्वात्" दहा० ३ उा ० ।

असञ्जाव-असञ्जाव-वि० । अविद्यमानार्थे, औ० । प्रश्न० ।  
हा० । अतथ्यभाये, आव० ५ अ० । सज्ञावस्याभाये, पिं० । अ-  
विद्यमानाः, सन्तः-परमाथसन्तः, भावा जीवाद्योऽनिधेयभूता  
यस्मिंस्तदसञ्जावम् । सर्वव्याप्यादिकृपात्मादिप्रतिपादकं कु-  
प्रवचने, उच० ३ उा ० ।

असम्भावदृष्टवणा-असदभावस्थापना-स्त्री० । अज्ञादिषु मुन्या-  
कारधयां स्थापनाय, साध्याकारस्य तत्रासदभावात् । अनु० ।  
असञ्जावदृष्टवणा-असञ्जावप्रस्थापना-स्त्री० । असदभूताथ-  
कल्पनायाम्, ज० ११ श० १० उा ० । जी० ।

असम्भावकुञ्जावणा-असदभावोद्भावना-स्त्री० । ६ त० । अवि-  
द्यमानार्थानामुपेक्षये, औ० । यथाऽस्त्यात्मा सर्वगतः, इत्यात्मा-

कनएदुहमात्रो वेत्यादि (दश० ४ ब्र०) अचौरऽपि चौरोऽयमि-  
त्यादि या । म० ५ श० ६ ब्र० ।

असन् नृप-असद् नृप-न० । न सद्भूतमसद्भूतम् । अनुते,  
श्राव० ४ ब्र० ।

असमंजस-असमञ्जस-त्रि० । अघटमानके, " असमंजसं केह  
जंपंति" । श्रा० । श्राचा० ।

असमं नमचेंद्विय-असमञ्जसचेति-न० । शास्त्रोक्तार्णमाभित-  
करणे (दश० १० ब्र०) प्राणिवधार्थे, पञ्चा० २ वि० ।

असमप-अश्रमप-पुं० । आमस्यादविच्युते, " गंतुं ताय पुणो  
गच्छे, ख य तेषासमणां सिया ।" सूत्र० १ श्रु० ३ ब्र० ५ उ० ।

असमपाया उमा-अश्रमप्रायोग्य-त्रि० । साधूनामनाचरणीय,  
ध० ३ श्रवि० ।

असमपात्र-असमनोद्गा-त्रि० । अनिष्टे, स्या० ४ ग० १ उ० ।  
शाक्यादौ, आचा० १ श्रु० ८ ब्र० १ उ० । त्रिपत्याधिके प्राक्क-  
शतत्रये, आचा० १ श्रु० ८ ब्र० १ उ० । असमनोक्तयस्तु दान-  
प्रदणं प्रति सर्वेतिषेय इति । आचा० १ श्रु० ८ ब्र० २ उ० ।

असमपाणुय-असमनुज्ञान-त्रि० । 'यदि भवान् कस्मैचिद्ददा-  
ति तदा ददातु' इत्येवमननुज्ञाने, आचा० १ श्रु० ८ ब्र० ८ उ० ।  
"असमपाणुयानस्स भदेतस्स" (नि० चू० १ उ०) ।

असमपत्त-असमाप्त-त्रि० । अपूर्णं, नि० चू० २ उ० । असमाप्तक-  
ल्पे, व्य० ४ उ० ।

असमपत्तकप-असमाप्तकल्प-पुं० । असमाप्तकल्पपरिपूर्णक क-  
ल्पः (अपरिपूर्णसहाये विपरिणे, ध० ३ अधि०) । "अनुबद्धे वा-  
सासु उ-सससमसा-नदुग्गो इत्यरो । असमसां जायानं, ओ-  
हण क णिक्वि आदस्व" ॥१॥ पञ्चा० ११ वि० । पं० व० ।

असमपत्तदसि ( ए )-असम्यक्त्वदर्शिन-पुं० । न सम्यगस-  
म्यक्, तस्य भावाऽसम्यक्त्वम्, तद् द्रष्टुं शीलमस्य स तथा ।  
(मध्याह्ने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०) ।

असमपत्य-असमर्थ-त्रि० । अशक्ते, पं० व० १ द्वार । अज्ञेपना-  
जनीरी, सूत्र० १ श्रु० ४ ब्र० १ उ० । हेतुरांशे, यथाऽयं हेतुने स्व-  
साध्यगमक इत्यर्थेनासां स्वसाध्यघातक इति । रत्ना० ७ परि० ।

असम्य-असम्य-पुं० । असम्यगाचारं पञ्चविंशे गौणालोक,  
प्रश्न० २ श्रा० द्वार । दुष्टकाले, अयोग्यकाले च । वाच० ।

असमिदसवेगमद्गृह-असदृशवेपथ्रहण-न० । आर्योदेनार्योदि-  
नेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार । स्वयमार्यैः सन् अनार्यैरेव करो-  
ति; पुरुषां वा स्वकर्ममन्तर्हितः सन् स्त्रीकं विधार्तात्यादि ।  
तंतदसदृशंवेपथ्रहणम् । वृ० २ उ० ।

असमवाहकारण-असमवायिकारण-न० । न समथैति, सम-  
अव-इण-णिनि । न० स्त० । समवायिकारणवर्तिनि कार-  
णभेदे, वाच० । यथा-ननुसंस्थायाः कारणरूपद्रव्यान्तरस्य  
नूत्वंनिस्वात्समवायिनः, त एव कारणमसमवायिकारणम् ।  
आ० म० द्वि० । प्रा० चू० ।

असमाण-असमान-पुं० । न विद्यते समानो यस्य सोऽसमानःपृह-  
स्यायती।धिकस्यः सर्वोक्ते, "असमाणे चरे जिष्णुः" ब्र० ।  
न विद्यते समानोऽस्य नृदिष्टाभयामुत्तित्थेनान्व्यती।धिकेषु  
३११

वा नियतविहारादिनाऽन्यसममानोऽसदृशः । यथा-समानः  
साहङ्गारो, न तथैत्यसमानः । अथवा- 'समाणो सि' प्राकृतत्वाद्-  
सन्निय यथाऽऽस्ते तथाप्यसन्निति इति । इद्वत्सन्नितो  
हि सर्वैः स्वाभ्यस्तोऽतमावहति, अयं तु न तथेति; एवंविधः  
स चरद्प्रतिषेधविदारितया विहरद्, भिक्षुर्धतिः । उक्त० ३ ब्र० ।

असमारंज-असमारंज-पुं० । समारम्भाऽभावः, "सत्तविहे  
असमारंभे पथ्ये । तं जहा पुढविकाइय असमारंभे० जाव अ-  
जीवकायअसमारंभे ।" स्या० ७ उ० ।

असमारंभाण-असमारंभमाण-त्रि० । अव्यापादयति, स्या०  
६ ग० । असमारंभमाणानां पञ्चविचार्दसंयमः-

एगिंदिया णं जीवा असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे  
कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसं-  
जमे । एगिंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स पंचविहे अमंजमे  
कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइय असंजमे० जाव वणस्सइकाइ-  
यअसंजमे । पंचिंदिया णं जीवा अं असमारंभमाणस्स पंच-  
विहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियमंजमे० जाव फा-  
सिंदियसंजमे । पंचिंदियाणं जीवा समारंजमाणस्स पंच-  
विहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियअमंजमे० जाव  
फासिंदियअसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं असमारं-  
जमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-  
संजमे पंचेदियसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं समारं-  
जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदियअ-  
संजमे० जाव पंचेदियअसंजमे ।

एगिंदिया णं जीव ति ) एकैन्द्रियान्, समिति वाक्याल-

द्वार । जीवान्, असमारंभमाणस्य संघट्टाद्दानामविषयोर्कुर्वतः,  
सनदृशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्यवपरमोऽ-

नाश्रयः, कियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः  
संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । पृथमव्याप्यपि पृथान् ।  
असंयमसुवे संयमसूत्रं शक्तिपण्येयमिति । (पंचिंदियाण-  
मित्यादि ) इह सनदृशप्रकारसंयममदृश्यं पञ्चिंदियसंयमल-

क्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविषयकृत्वात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रिया-  
नारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्यापारप्रारंभजन-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं  
चक्षुरिन्द्रियसंयमाद्याऽपि वाच्यः । असंयमसूत्रमन्तिपर्यो-

सन बोधव्यमिति । ( सऽवपारिण्यत्वादि ) पूर्वमेकैन्द्रियपञ्चिं-  
द्यजीवाश्रयेण संयमासंयमाहुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत  
एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणार्हानां चार्यं विशेषः-"प्राण  
श्चिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तत्रः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया  
श्चैवाः, शेषाः अस्मा हतीरतिः" ॥ १ ॥ स्या० ५ ग० २ उ० ।

तेंदिया णं जीवा अपमारंभाणस्स ठन्विहे संजमे क-  
ज्जइ । तं जहा-पाणाभाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ,  
पाणामपणं हुक्खेणं असंयोएत्ता अन्नइ, जिन्वामयाओ  
सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, एणं एव फामामयाओ वि ।  
तेंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स ढन्विहे अमंयमे कज्जइ ।  
तं जहा-पाणाभाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, पाणाम-

असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-  
संजमे पंचेदियसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं समारं-  
जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदियअ-  
संजमे० जाव पंचेदियअसंजमे ।

( एगिंदिया णं जीव ति ) एकैन्द्रियान्, समिति वाक्याल-

द्वार । जीवान्, असमारंभमाणस्य संघट्टाद्दानामविषयोर्कुर्वतः,  
सनदृशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्यवपरमोऽ-

नाश्रयः, कियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः  
संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । पृथमव्याप्यपि पृथान् ।  
असंयमसुवे संयमसूत्रं शक्तिपण्येयमिति । (पंचिंदियाण-  
मित्यादि ) इह सनदृशप्रकारसंयममदृश्यं पञ्चिंदियसंयमल-

क्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविषयकृत्वात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रिया-  
नारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्यापारप्रारंभजन-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं  
चक्षुरिन्द्रियसंयमाद्याऽपि वाच्यः । असंयमसूत्रमन्तिपर्यो-

सन बोधव्यमिति । ( सऽवपारिण्यत्वादि ) पूर्वमेकैन्द्रियपञ्चिं-  
द्यजीवाश्रयेण संयमासंयमाहुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत  
एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणार्हानां चार्यं विशेषः-"प्राण  
श्चिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तत्रः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया  
श्चैवाः, शेषाः अस्मा हतीरतिः" ॥ १ ॥ स्या० ५ ग० २ उ० ।

तेंदिया णं जीवा अपमारंभाणस्स ठन्विहे संजमे क-  
ज्जइ । तं जहा-पाणाभाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ,  
पाणामपणं हुक्खेणं असंयोएत्ता अन्नइ, जिन्वामयाओ  
सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, एणं एव फामामयाओ वि ।  
तेंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स ढन्विहे अमंयमे कज्जइ ।  
तं जहा-पाणाभाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, पाणाम-

असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-  
संजमे पंचेदियसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं समारं-  
जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदियअ-  
संजमे० जाव पंचेदियअसंजमे ।

( एगिंदिया णं जीव ति ) एकैन्द्रियान्, समिति वाक्याल-

द्वार । जीवान्, असमारंभमाणस्य संघट्टाद्दानामविषयोर्कुर्वतः,  
सनदृशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्यवपरमोऽ-

एषं दुक्खेणं संजोयेत्ता जव६०, जाव फासमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता जव६ ।

(तरेदिणमणियादि) कण्ठ्यं, नवरं (असमार्भमाणस्स सि) अस्वापादयत्तः । (धाणामाभो सि) आणमयात् सौक्खाद् गण्णपादानकपात् अण्यपरंपयिता अण्णकत्ता प्राणमयं नग्णोपालम्भाभावकूपेषु दुःखान्सास्योऽजियाना भवति । इह चाण्यपराणम-असयाजं च संयमः, अनाभवकपस्वात्, इतरदसंयम इति । स्या० ६ उ० ॥

“चउरिदिवा णं जीवा असमार्भमाणस्स अउविहे संजमे क-उजइ । त जहा-वक्खुमाभो सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, वक्खुमएणं दुक्खणं असंजोएत्ता जवइ, एवं जाव फासामाभो सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामएणं दुक्खणं असंजोएत्ता भवइ । चउरिदिवा णं जीवा समार्भमाणस्स अउविहे असंजमे कजइ । तं जहा-वक्खुमाभो सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, वक्खुमएणं दुक्खेणं अजोएत्ता भवइ । एवं जाव फासामाभो सोक्खाओ ” ॥ स्या० उ उ० ॥ “पच्चिदिवा णं जीवा णं असमार्भमाणस्स इसविहे संजमे कजइ । तं जहा-सोयामाभो सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, सोयामएणं दुक्खेणं असंजोइत्ता जवइ । एवं जाव फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ । एवं असंजमे वि भाणयन्ते ” ॥ स्या० १० उ० ॥

असमाहड-असमाहूत-त्रि० । असुके, “ विविचिच्चसमावेषेणं अण्णेषेणं असमाहडए अस्साए ” असुच्या लेखयोरामादि-दोषदुष्टमिदमित्येवं चिन्तविष्युत्वा । आचा० २ ध्रु० ३ अ० ३३ उ० ।

असमाहडमुकुलस्स-असमाहडमुकुलस्य-त्रि० । असमाह-डाऽनञ्जिह्वा शुद्धा शोभना श्रेयशा येन स तथा । आसंध्यानां-पहततयाऽशाननेत्येष, सूत्र० २ ध्रु० ३ अ० ।

असमाहि-असमाधि-मुं० । अपभ्याते, सूत्र० १ ध्रु० २ अ० २ उ० । समाधानं समाधिः-स्वास्थ्यं, न समाधिरसमाधिः । अस्वास्थ्यनिष्पन्नायां कायादिच्छायां, आ० म० हि० । स्या० । “दसविधा असमाहो पणत्ता । पाणाइवाए० जाव परिमाहेरिया असमिहं जाव उचारपासवणखंअस्सिहाणमपरिहावणिया असमिहं । ज्ञानादिभाष्यतेपेअप्रशस्ते जाव, इथा० १० उ० ।

असमाहिकर-असमाधिकर-त्रि० । असमाधिकरणशोभोऽस-माधिकरः । आ० म० हि० । चित्ताऽस्वास्थ्यकर्त्तार, प्रअ० ३ संव० द्वार । स्या० चू० । असमाधिरमणे च, एव० उ उ० ।

असमाहिद्वाण-असमाधिस्मान-न० । समाधिश्चेत्यतः स्वास्थ्यं, भोक्तृमांस्वास्थ्यतिरत्यर्थः । न समाधिरसमाधिः, तस्य स्था-न्याश्रयाः । अ० ३ आ० । असमाधिर्ज्ञानादिभाष्यतेपेअः, अप्रवा-स्तो भाव इत्यर्थः । तस्य स्थानानि पदानि असमाधिस्मानानि । स्या० १० उ० । चित्ताऽस्वास्थ्यश्रयण, प्रअ० ३ संव० द्वार । धेहिं आसन्वितैरात्मपरमभयानामिह परंअभय वाऽसमाधि-रूपयते । स्या० १० उ० ।

सुयं मे आठसतेणं जगवया एवमत्सायं-इह खलु धेरे-हि भगवतोहि वीसं असमाहिद्वाणा पणत्ता । कपरे खलु धेरेहिं भगवतोहि वीसं असमाहिद्वाणा पणत्ता । इमे खलु धेरेहिं भगवतोहि वीसं असमाहिद्वाणा पणत्ता । तं जहा-

द्वदवचारिया वि जवति १, अपमज्जियचारिया वि भवइ ३, दुपमाज्जिनयचारिया वि भवति ३, अतिरिचसंज्जासणिए ४, रायणियपरिभासी ए, धेरोव्यातिए ६, जूतोवेधा-तिए ७, संजलेणे ८, कोहणे ९, पिड्ढांमंसए यावि भवति १०, अतिरिक्खणं अतिरिक्खणं भोद्दाराए ११, एवाइं अतिकरणाइं अणुपपणाइं उप्पाइ वा जवति १२, पोरा-णाइं अधिकरणाइं खांमिचविडसमिताइं उदीरिणा जवति १३, अकाले सजजायकारिया वि जवति १४, ससरक्ख-पायिणाए १५ मइकरे १६ भेदकरे ऊंजकरे १७ कल-इकरे असमाहिकरे १८ मूरप्पमाणभोसए १९ एसणाए अपमपिने यावि जवति २० । एवं खलु धेरेहिं भगवतोहि वीसं असमाहिद्वाणा पणत्ता चि वेमि पदमा दसा सम्मत्ता ॥

ननु यथाकथञ्चिच्च शुकीवनयमीत्या गुरुपदं दुष्टिपेत्तयो वा सकाशात्, यथोच्यते—“ परिबुद्धियाणं पासं सुणेइ, सो विणयपरिभासि सि ” । यत्तुक्तं स्वधिरैः विशति-रसमाधिस्थानानि प्रवृत्तानि । तत्र किं स्वधिरैः अन्यतः पुरुष-विशेषात्, सर्पादिन्यागमात्, स्वतोऽर्थात्तत्रोच्यते-अगतः सका-शाद्वावागमस्य तैरिद्यमय प्रवृत्तः, धेरैरिहिं ति' कथनाद् ज्ञान-स्वधिरैरिस्थावेदितं भवति, न तु जातिपर्यायस्वधिरैः । जाति-पर्यायस्वधिरन्त्येऽपि धृत्स्वधिरा एव प्रजापत्युत्तु समर्था प्रव-न्ति, इति कृते प्रसक्त्यन । इत्युक्त उद्देशः । पृच्छामाह-(कथरे इत्यादि) कतराणि किमभिधानानि तन्मनन्तस्त्वर्थाद्वापि, खलु-वांक्थालङ्कारे । शेषं प्रावर्द्धति । निर्देशमाह-इमानि अनन्तर-वक्ष्यमाणेष्वाम्वाद् ह्यदि परिचक्षमानतया प्रत्यक्षाणि ताति इति, यानि न्वया पृष्ठानि शेषं पुत्रवत् । तद्यथेयुद्वाहरणोपन्यासायः । (द्वदवचारिया वि जवति) दुर्गता यो हि इत्तं हुत्तं प्रत्यात्म-धिराधनानिरपेक्षो ब्रह्मति-आत्मानं प्रपन्ननादिरिभरसमाधौ योज-यति; अन्त्यांश्च स्वान्त-निरसमाधौ योजयति, सत्त्ववधजनिनेन च कर्मणा परत्रोक्तोऽप्यात्मनानसमाधौ योजयति, अतो हुत्तं प्रत्यात्म-त्वसमाकुलतया चलाधिकरणेष्वाम्वाद्समाधिस्थानम्, एवमन्य-त्रापि यथायोगमनसम् । चशब्दाद् बुधानां ज्ञापमाणः प्रतिस्त्वनं च कुर्वन् आत्मविधानं संयमविधानं च प्रा-प्नोति । अपिब्रह्मणात् तिष्ठद् आकुञ्चप्रसाराणादिं क्व वा हुत्तं हुत्तं कुर्वन् पुनः पुनस्त्वलांकरभ्रमाजंयद् आत्मविधानं च प्राप्नोति । शब्दार्थस्तु भावित एव । ननु स्वानुशयनादिद् हुत्त्व-निपेक्षे सति किमयं गमनमेवोपन्यस्तस्य? उच्यते-यतः पूर्वमेवो-समितस्त्वानुश्रया, इति हेतोः पूर्व गमनमेव मुष्णत्वेनापानुत्ति-ति १ । तथा-( अपमज्जिय सि) अपमज्जिते अस्वस्थान-निपदिन-श्रवमोपकरण-निकोपचारार्थप्रतिष्ठानं च करोति २ । तथा- दुष्पमाज्जितत्तार ३ । तथा-(अतिरिचसंज्जासणिए सि) अतिरिक्का-अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च वीउकर्त्तानि यस्य सति सोऽतिरिक्कशय्यासनिक्कः स च-अतिरिक्कार्यं शय्यायं बह्वाहा-दिरुपायामन्येऽपि कार्पटिकाद् व आवासयन्तीति तैः सहाधिकर-णसंवादात्त्वपरावरासमाधौ योजयतीति । एवमासनाधिक्येऽपि चाच्यमिति ४ । तथा-( रायणियपरिभासि सि) धालिकपरि-भाषी आचार्यादिपुण्यगुरुपरिभक्ता, अन्त्या वा महान् कश्चि-ज्जातिधुनपर्यायाम्वा शिञ्जयति, तं परिभवति अवमन्यते, आत्यदि-

मिमेद्वस्मिन्ः अय वा- "महरो अकुलीणो (सि य, ड्रम्मेह) इमम-  
दुष्कुं सि । अवि अप्पझामलकी, सीसो परिजवनि आयरियं" १।  
इति । एवं च गुरुं परिभवन् आहोपपानं वा कुर्वन्, अस्मानमन्या-  
भाःसमाधी योजयत्येव । तथा-(परोववादि (सि) आन्वरा आ-  
चाप्यादिगुरुवः, तान् आन्वरादीयेण शो श्रोदोपेयाऽप्रज्ञादिभिर्योप-  
घातयेत् शीलः, स एषं चेति स्वविरोपघातकः ६। तथा-(पुलो-  
वघातिय (सि) भूताम्येकान्द्रयादीनि तानि उपरहितं भूतोप-  
घातकः; प्रयोजनमन्तरेण, अत्रिहसातगौरवैर्वा, विभूषानिमित्तं  
वा, आधाकमादिकं वा, पुद्यालम्बनेऽपि समादानः; अन्यथा ता-  
दृशं किञ्चित् ज्ञापते वा करोति, येन भूतोपघातो भवति । (।  
( संज्ञज्ञेण (सि) संज्वलतीति संज्वलनः-प्रतिकृणं रोपणः, अ  
ख तेन क्रोधनास्त्रीयं चारित्रं सम्यक्चं वा इत्ति, दृष्टि वा  
ज्वलनवन् २। तथा-( काहणे (सि) काधनः सकृन्कुड्वाप्र्यन्त-  
क्रुको भवति, अनुपशाम्यवैरपरिखाम इतिभावः ९। तथा-(पि-  
डुमिसिप (सि) पीडमानाशुकः, पराङ्मुखस्य परस्वाभेषाङ्का-  
री, अगुणजापांति भावः, सचैव कुर्वन् आत्मपरोऽनेयेवं च हृह  
प्रेर्य चासमाधी योजयत्येव । अपिशादाद् साङ्गाद् वा वक्ति इति  
श्लेषम् १०। तथा-(अग्निक्लषणं २ ओह्तिरिपि (सि) अग्नीक्लं अग्नीहं  
अवधारयिता शङ्किन्स्याप्यर्थस्य निःशङ्कनस्येव-एवमेवायमि-  
त्येवं वक्ता । अथ वा-अवहारयिता परगुणानामपहारकारी यथा  
तथा । हासादिकमपि पर प्रति तथा जगति दासञ्छोरस्त्वमित्या-  
दि ११ । तथा-( एवाहं इत्यादि ) नयानामनुपग्रामभधिकर-  
णानां कलहानामुत्पादयिता, ताञ्छोत्पादयन् आत्मानं परं वाऽ-  
समाधी योजयति । अथा-

"वादो भेदो अयमो, हाणी वस चरित्तणारणाणं ।  
साधुपदोमो संसा-रवज्जणो साधित्तणारणस ॥ १ ॥  
अनिमणिएं अमणिय वा, तावो भेदो चरित्तज्जाणानं ।  
रुवसरसिं ण सीलं, जिदंहे ति य सो चरति लोए ॥ २ ॥  
ज अजियं समीख-ल्लपहि तवजियमवममइपहि ।  
मा दु तयं जिज्जिदिह, वहुत्तसासागपसहि ॥ ३ ॥

अथवा नयानि अधिकरणानि यन्त्रादीनि नेषाम्-"नवा वल-  
कलहो विण, पढानि अवच्छलसत्संखे हीणो । जह कोयाहि वि-  
वुद्धो, तह हाणी हाति चरणे वि " ॥ १ ॥ नवोत्पादयिता १२ ।  
( पाराणादि ) पुरातनानां कलहानां क्रमिदव्यवशामितानां  
मतिरतिवेनापशान्तानां पुनश्चनानां अतिरति १३ । तथा-( अ-  
काले सङ्क्रामयेत्वादि ) अकालं स्वाध्यायकारकः । तत्र  
कालः-उत्कालिकस्वस्थस्य दृशवैकालिकादिकस्य संस्थावतुष्टयं  
त्येकाऽनवरतं भवन्मू, कालिकस्य पुनराचारङ्गादिक-  
स्योद्घाताधौर्णी भवन्प्रणवम् । अचसाध्यायं च दिवसिकं,  
निशावाभाध्यायं च त्यक्त्वा अपरस्वकाल एव । अकाल-  
स्वाध्यायकरणदृषणानि तु बुधकल्पवृत्तितोऽवसेयानि नेह  
विस्तरादुच्यन्ति १४ । तथा-( ससरक्खण्णाल्यादि )  
सरज्जकपाणिपादो-यः सचेतनादिरजोगुण्डितेन दीयमानो  
मिक्को युक्ताति । तथा-यो हि स्थण्डिलादीं संकामन् न पादौ  
प्रमाह १५ । अय वा-यस्तथाविधिकारणे सच्चित्तदिगुध्यायं  
कलादिनाऽनस्तरितायामासनादि करोति स सरज्जक-  
पाणिपाद् इति । स चैवं कुर्वन् संयमे असमाधिना आ-  
त्मानं संयोजयति १६ । तथा-( सद्धको (सि) शब्दकरः  
सुतेडु प्रहरमात्राङ्कुं रानी महता शब्देनोह्वापस्थाध्याया-  
दिकरानो घृहस्थभावाभावयो वा वैराधिकं वा कालमह-

यं कुर्वन् महता शब्देनोह्वायः; दोषाभ्योहोसराध्ययनकु-  
रवसंथाः १६ । तथा-( भेदकरे (सि) येन कृतेन गच्छस्य  
नेदो प्रवति तत्तदातिष्ठेने ( अक्करेरे वा ) तत्करोति येन  
गणय्य मनोऽक्षमुपघाते, नञ्कारे वा १७ । तथा-(कलह-  
करे (सि) आक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति; स चैवं  
गुणयुक्तो हि असमाधिस्थानं भवति इति वाच्यशेषः १८ ।  
तथा-( सूर्यप्रमाणोऽहं ) सूरप्रमाणोऽहो सूर्योदाद्यत्समस-  
यं यावद्दशनपानाद्यन्यवहारी; उचितकालं स्वाध्यायादि न क-  
रोति, प्रतिभोरतो रूप्यति, अज्ञोणे च बह्नाहारेऽसमाधिः संजाय-  
त इति शेषः १९ । तथा-( एषणासमिप असमिप यावि  
भवति (सि) एषणार्थं समित्तभापि संयुक्तोऽपि नलियेणां परि-  
हरति, प्रतिभोरतश्चासौ सानुयोः सङ् कलहायते । अनेपणी-  
यं मां परिहरन् जीवोपरोधि वृत्तने । एवं चात्मपरयोरस-  
माधिकरणादसमाधिस्थानमिदं विश्रान्तवममिति २० । ( एवं  
खलित्यादि ) एवमित्यनन्तरात्तत्र विधियाना, सप्तयुक्त्या-  
लक्ष्णैः । शेषं व्याख्यातार्थम् । ( इति वेमि (सि) इति परिसमा-  
प्तावेवमर्थो वा । एतानि असमाधिस्थानानि अनेन वा प्रकारेण  
प्रवीर्माति गणधरादिगुरुपदेशतो, ननु स्वोत्संखयेत्युक्तोऽनुगमः;  
न्यप्रस्तारस्त्वत्यतोऽवसेयः । दशा० १ अ० । स० । आ०  
चू० । आव० ॥

असमाहिद्वय-असमाधिभरण-न० । बालमरणे, आनु० ।

असमाधिभरणे दोषाः-

जे पुण अट्टमईया, पयलियसभा य वक्कभाया ।

असमाहिता भरति उन हु ते आराह्णा भणिया ॥ ११० ॥  
ये पुनर्जीवाः; अष्टौ मद्स्थानानि येयां तऽप्रमादिकाः । 'अत्तमई-  
आ' इति पाठे आते आत्तध्यानं मतिरयेयां त आत्तमतिकारः स्वा-  
द्रे इकप्रत्ययः, प्रचलित्वा विषयकवायादिभिः सन्मार्गात्-  
रिप्रश्रया संभा बुद्धियेयां त प्रचलितसंज्ञा । प्रगलितसंज्ञा वा,  
चः समुच्चये; वक्ष्यते संवहयते आमापरो वा ऐहिकपारत्रिक-  
लाभानेन स वक्रः, कुटिलो वा भावो येयां त तथा, यन एवंवि-  
धा शत एवाऽसमाधिना चित्तास्वास्थ्यरूपेण भ्रियन्ते । नहु नेव,  
हुरेवार्थे, ते आराधका उत्तमार्थसाधका भवन्तीत्यर्थः आनु० ।

असमाहिद्वयज्जाण-असमाधिभरणध्यान-न० । 'असमाधिना  
एव भ्रियताम्' इति विन्तनमसमाधिभरणध्यानम् । स्कन्दकाव्ये  
प्रतिकुर्षं प्रथमं, यत्ने पालयतो मय्यपात्कस्येवं दुष्प्रेतं, आनु० ।

असमाहिय-असमाहित-त्रि० । अशोभने बीजसे हृष्टे च ।  
सूत्र० १ श्लो० ३ अ० १ उ० । सत्तायुग्मं प्रित्वात् शुभाभ्यवसा-  
य रहितं, सूत्र० १ श्लो० ३ अ० ३ उ० । मोकृतागव्यादौ भावस-  
माधेरसंब्रवृताय दूरेण वर्तमाने, सूत्र० १ श्लो० ११ अ० ।

असमिक्खियकारि ( ण )-असमिक्खितकारि-त्रि० । अना-  
शोचिनकारिणि, दशा० ६ अ० ।

असमिक्खियपप्पवादि ( ण )-असमिक्खितप्रसापिन्-पुं० ।  
अपयोशोचितानेकवादिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । " अणु-  
हितं पुण्यावरं इहपरलोगगुणदोसं वा जो सहसा भणइ, सो  
असमिक्खियपप्पलायी " । नि० सू० ८ उ० । ( 'चंचल' शब्दे  
एतत्सक्यं बह्व्यते )

असमिक्खियजासि ( ण )-असमिक्खितभापिन्-पुं० । अपर्या-  
लोचितवक्त्रिक, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असमिथ-असमित्त-पुं० । समित्तित्तु प्रमत्ते, पञ्चा० १६ वि० ।  
 ईर्ष्यादिषु समित्तित्तु अनुपयुक्ते, कप० ६ कृ० । "एते समिधो  
 भग्निभ्रा, असो पुण असमित्तो इमां होह । सो कार्थभेमादी,  
 एकं नवर्षि पडिनेह ॥१॥ नव तिभि तिभि षेह, वेति किमर्थं  
 निविट्टाहं ।" भाष० ४ अ० ।

असम्यक्-त्रि० । असङ्गते, आचा० ।

असम्यंति ति मध्माणस एतदा ममिया होइ, समिथं  
 ति मध्माणस एतदा असमिया होइ ।

कस्याचिन्मिथ्यात्वलेखानुविद्यस्व-कथं पौल्लिकः शब्दः ?  
 इत्यादिकमसम्यगिति ग्रन्थमानस्येकवेति मिथ्यात्वपरिमाण-  
 शक्तया शब्दाचिन्मिथ्यात्वाऽऽद्यथाज्ज्वं शुभांशुपदेशतः सम्यगिति  
 भवति । आचा० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

असमोद्ग-असमवह-त्रि० । दृष्टानुपरते, अकृतसमुद्घाते  
 च । ज० १९ श० ३ उ० ।

असम्मत्त-असम्यक्त्व-न० । दर्शनादुत्पेने, भाष० ४ अ० ।

असम्मत्तपरीसह-असम्यक्त्वपरीसह-पुं० । असम्यक्त्वसहनका-  
 रिण, सर्वपापस्थानयो विरतः प्रकृत्यपोऽनुग्रहाय निरुमङ्गाहं,  
 नयास्य धर्माधर्माभेदेनारकादनावं नेह, प्रतो मृषा समस्तनेह-  
 दिति असम्यक्त्वपरीसहः । तत्रेवमाज्ञाप्य-धर्माधर्मापुष्टयपापत्र-  
 क्तयो यदि कमकरो पुत्रज्ञात्मको, तत्सत्यां कार्यशेनादनुमानस-  
 माधियाभ्यस्य । अथ ज्ञमाकाधादिकी धर्माधर्मा, ततः स्यानुव-  
 त्वाद्गाम्यपरिणामरूपत्वात्प्रत्यक्षविरोधः देवास्त्वयन्तसुखासकृ-  
 त्वाद्गाम्यशोके च कार्यानाथाद्गाम्यपवात्वाच्च न दर्शनगोचरमा-  
 यान्ति । नायकान्तु नोपेदनास्तः पूर्येकतर्कमार्थविगडबन्धनव-  
 शीकृत्वाद्दश्यन्त्राः कथमायान्तीत्यमालोचयतेऽसम्यक्त्वप-  
 रीषहजयो भवति । भाष० ४ अ० ।

असम्य-असव्यय-अव्य० । परत इत्यर्थे, ज० ६ श० ३२ उ० ।

असरण-अशरण-त्रि० । अत्राणे, स्या० ४ ज० १ उ० ।  
 स्वार्थप्रापकवर्जितं, प्र० १ अश्र० द्वार । शरणम-  
 नास्त्वमानं, आचा० शरणं शुद्धं, नात्र शरणमस्तीति अशरणः ।  
 संयमे, "सोमं अदकम्प एतदे साउल्लाहं मङ्कति पायपुसं  
 असरणाय" आचा० १ शु० ८ अ० १ उ० ।

असराणभावणा-अशरणभावना-त्री० । आत्मनोऽशरणत्व-  
 पर्यालोचनायाम्, प्र० १ सा च अशरणभावना-  
 " पितृमातुः प्रानुस्तेनसव्यतिनादेव पुरतः,  
 प्रभूताऽऽधियाधिमजनिर्माडताः कर्मचरतेः ।  
 रटन्तः क्षिप्यन्ते धममुक्कशुहान्स्तेनमुभूतः,  
 हहा ! कष्टे लोकः शरणरहितः स्वास्थिन कथम् ? ॥ १ ॥  
 ये जानन्ति विचित्रशास्त्रविस्तरं ये मन्त्रभाषिया-  
 प्रायैर्यं प्रथयन्ति ये च इधनि उर्वाणिः कलाकौशलम् ।  
 तेऽपि प्रेतपतरुमुष्य सकलशैलोः कथंविधेसन्-  
 व्यप्रस्य प्रतिकारकर्मणि न हि प्रागद्यस्यमांभ्रजति ॥ २ ॥  
 नानाशास्त्रपरिभ्रमोऽनैराधिपतिः सर्वतो,  
 गत्युहाममदाध्यासिभ्युश्रुतैः केनाप्यगम्यः क्वचित् ।  
 शुकभीपतिवक्रिणाऽपि सहसा कीनायार्सभिला-  
 बाकृष्टा यमवेशम यांन्ति हह हा ! निष्काण्ठा प्राणिनाम् ॥ ३ ॥  
 उद्दणं ननु एतस्मात्सुरगिरिं पृथ्वीं पृथुच्छत्रसात् ,

ये कर्तुं प्रनविष्णवः कृशार्माप क्लेशं विवैवात्मनः ।  
 निःसामान्यकसमप्रज्ञत्वतुरास्मीयेकरास्तेऽप्यहो !,  
 नैवाशेषजनीयचक्षरमापाकर्तुं कृतातं क्रमाः ॥ ४ ॥  
 कलत्रमित्रपुत्रादि-क्षोभहृदिनिवृत्तयः ।  
 इति बुद्धमतिः कुर्यान्शरणययवभायनाम् ॥३॥ प्र० ६५ उ० ।

अशरणभावना वैचर्म-  
 " इन्द्रोपेष्वाद्योऽप्येते, यन्मृत्योर्वापि गोचरम् ।  
 अहो ! तद्वनकादिह, कः शरणयः शरीरिणाम् ? " ॥ १ ॥  
 शरणं साधुः शरणयः । तथा-  
 " पितृमातुः स्वसुप्रानु-स्तेनयानो च पश्यताम् ।  
 अथापो नीयेते जतुः, कर्मभयंमसथांनि ॥ २ ॥  
 शोचन्ति स्वजनानुस्ते, नीयमानान् स्वकर्मजिनः ।  
 नश्यमानं न शोचन्ति, नामानं मृदुबुध्यः ॥ ३ ॥  
 संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलद्वासाकारालिनः ।  
 वने मृगभेकस्येव, शरणं नास्ति वेदिनः " ॥४॥ घ० ३ अथि० ।

असराणापुण्डेहा-अशरणापुण्डेहा-त्री० । जन्मजरामरणभ-  
 यैरभिननं व्याधिदेनाप्रस्ते जिनवरवचनाद्व्यभारित शरयुं  
 क्विच्छोक इत्यमशरणस्य ( अत्रापस्य ) अनुप्रज्ञायाम्, स्या०  
 ४ ज० १ उ० ।

असरित्-असहश-त्रि० । विसरते, "असतिसजणठह्वावा न-  
 तु सदियव्वा" भाष० ४ अ० ।

अससिनेगमगटण-असहशनेगमगटण-न० । आर्योदेवनार्यादि-  
 नेपथ्यकरणे, पं० घ० ५ उ० ।

असरीर-अशरीर-त्रि० । अविद्यमानशरीरोऽशरीरः । औहा-  
 रिकविश्रब्धविश्ररीररहिते, आ० म० उ० । सिके, "असरीरा  
 जीवघणा वसणनाशोवउत्ता" श्री० । स्या० ।

असरीरपरिवन्द-अशरीरप्रानवन्द-त्रि० । त्यक्तसर्वशरीरे, भ०  
 १८ श० ३ उ० ।

असहाहा-अरलाधा-त्री० । अकारिंसाधने असायुवादे,  
 य० २ अथि० ।

असलिलप्पत्वाव-असलिलप्पत्वाव-पुं० । अजस्रप्राथे, जलं वि-  
 ना रेक्षणित्यर्थः । न० ।

असलिलप्पत्वाव-अमल्लिप्पत्वाव-पुं० । अजलप्रवाहे, तं० ।

अमवृणया-अश्रवणत्वा-त्री० । अनाकर्णने, "इमस्स धम्मस्स  
 असवणयाए" घ० ३ अथि० ।

असव्वट्टकफण-असद्व्ययोज्जम-न० । पुरुषार्थानुपयोगिधि-  
 सन्धानयोग्यात्म, न सद्व्ययऽसद्व्यस्तत्र धनोऽकल्लह ।  
 उ० १२ उ० ।

असव्वगप-असव्वगप-न० । निघते सर्वेग्रयं तद्सर्वेषमम् । के-  
 वलज्ञानावरणकेशवशेनाशरणरहिते आवरणे, पं०सं०५ द्वार ।

अमव्वणयु-असवेक्क-त्रि० । कृष्यस्थे अवाग्दर्शिनं, "सर्वेक्षाऽ  
 साविनि छावत, तत्कालेऽपि बुभुक्षुभिः । नज्जानेक्यविज्ञान-  
 रहितैर्मग्येन कथम् ? " ॥ १ ॥ सु० १ कु० १ अ० २ उ० ।

असव्वदरिसि(ण्)-असवेदशिशु-त्रि० । कृष्यस्थे, उ० २३ उ० ।

असव्वय-अमद्वत्त-न० । असत्यं, "मिच्छंति वा, वित्तिह सि

असत्त्वय

वा, असत्त्वं ति वा, असत्त्वयं ति वा, अकरणीयं ति वा एगदा”  
आ० चू० १ अ० ।

असत्त्वयिंसि ( ष् )—असत्त्वयिन्—त्रि० । अल्पप्रोक्तिभिः, व्य०  
१ उ० ।

असत्ह—असह—त्रि० । असमर्थे, व्य० १ उ० । जीत० ।

असहाय—असहाय—त्रि० । एकाकिनि, व्य० ४ उ० । आ० अ० ।  
अविद्यमानसहाये, यः कुतश्चिकिरेति नोऽपि सम्यक्त्वादिबिचलनं  
प्रति परसाहाय्यमनपेक्षमाणस्तस्मिन्, दशा० २० अ० । आ० ।

असहद्विज—असाहाय्य—त्रि० । न विद्यते साहाय्योऽस्य । साहा-  
य्यमनपेक्षमाणं, उपा० १ अ० ( ‘आणद्’ शब्दे द्वितीयजागे  
११० पृष्ठेऽस्य सूत्रं वक्ष्यते )

असहानि—असहाधीन—त्रि० । अस्वयशः, “असहानिर्हि सारही-  
चाउरगोर्हि” । दश० ८ अ० ।

असहृ—असह—त्रि० । चरणकरणे अशक्ते, पं० भा० । सुकुमारो  
राजपुत्रादौ प्रजिते, स्या० ३ टा० ३ उ० । असमर्थे, श्लो० ।  
ग्लानि, नि० चू० १ उ० ।

असहिष्णु—त्रि० । राजादिदोषिते सुकुमारपदे, सू० ३ उ० ।

असहृवग—असहृवर्ग—पुं० । असमर्थे राजपुत्रादौ, घ० २ अ-  
धि० । पं० चू० ।

असहृज्ज—असाहाय्य—पुं० । अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिक-  
मन्यन्समर्थत्वाद् येषां तेषासाहाय्याः । अपर्यापि देवादिसाहा-  
य्यकानपेक्षेषु स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्येदानीमनोवृ-  
त्तिषु, अ० २ श० ५ उ० । ये पाक्षरिक्तभिः प्राक्शब्दः सम्य-  
कत्वाद् विचलनं प्रति, किन्तु न परसाहायिकमेकस्मै स्वयमेव  
तत्प्रतीघातसमर्थत्वाजिनशासनात्यन्तजातित्वात् तेषु तथा-  
विधेषु श्रावकेषु, भ० २ श० ५ उ० ।

असामारिय—असामारिक्—त्रि० । सागरिक्तसंपातरहिते प्रदेशा-  
दौ, व्य० ३ उ० । शुद्धस्थानादृश्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

असाथा ( हा ) राण—असाधारण—त्रि० । अनन्यसदृशे, दश० ।  
उपादानहेतौ, अन० २ अधि० ।

असाधारणयोग्येति—असाधारणनैकान्तिक—पुं० । नित्यः श-  
ब्दः, श्रावणत्वात् इत्यादिसंपर्कविपक्ष्यावृत्तत्वेन संशयजनके  
हेतव्यानासं, रत्ना० ६ परि० ।

असाय ( त )—असात—न० । न० । दुःस्मै, सूत्र० २ श्ल० १ अ०  
१५ उ० । असुक्ते, आचा० १ श्ल० २ अ० ३ उ० । आ० । असात-  
वेषकर्मणि-सविपाकजे, आचा० १ श्ल० ५ अ० ६ उ० । मनःप्रतिकुले  
दुःस्मै, आचा० १ श्ल० ५ अ० २ उ० । अप्रतिपुन्यादिके, अनु० । असा-  
तवेषकर्मनिर्घे, प्रअ० १ आ० द्वार । “अप्यिह आसाय पच-  
त्सत् जहा—मोर्द्विष्यअसाय० जाव नोर्द्विष्यअसाय” । स्या० ६  
उ० । असातवेषकर्मणि-कर्मणि, उक्त० ३ ३ अ० । असातात्त्वयवेषकर्म-  
वेषकर्मनिर्घे, प्रअ० १ आ० द्वार । दुःस्वकृपा-  
यां वेदनायद्, स्त्री० । प्रहा० ३ ५ पृ० ।

असायज्जण—अस्वादन—न० । अननुमने, व्य० २ उ० ।

असा ( ससा ) यण—आश्रायण—पुं० । अभयिंसन्ताने, जं० ७  
वक्त्र० ।

असायवद्गुण—असातवद्गुण—त्रि० । दुःस्वप्नरे, संथा० । “हृज्जो  
२३२

असाहृदिदि

असायवद्गुणा मणुस्सा” । दश० १ चू० । ( एतच्च तृतीयं स्थानम्  
‘अद्वादसद्गुण’ शब्देऽत्रैव भागे २५१ पृष्ठे व्याख्यातम् )

असाय ( या ) वेपण्णिज्ज—असातवेदनीय—न० । असातं दुः-  
खं, तद्रूपेण यद् वेद्यते, तदसातवेदनीयम् । कर्म० ६ कर्म० । पं०  
सं० । प्रहा० । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । स० ३७ सम० । वेदनीयक-  
र्मभेदे, स्या० ७ उ० ।

असार—असार—त्रि० । साररहिते तं० । “ उगमावुपायणसुद्धं,  
एसणादोसवज्जियं । साहारणं अयाणतो, साहू होह असार-  
ओ” ॥१॥ श्लो० ।

असारंभ—असारंभ—पुं० । प्राणिवधार्थमसंकल्पे, “ सप्तबिहे  
असारंभे पक्षसे । तं जहा—पुढविकाश्यअसारंजे० जाव अजी-  
वकाश्यअसारंभे” । स्या० ७ उ० ।

असावगपाउग—अश्रावकप्रायोग्य—त्रि० । न० त० । श्रावकानु-  
चिते, घ० २ अधि० ।

असावज्ज—असावद्य—त्रि० । अपापे, “ असावज्जमककसं”  
दश० ७ अ० । “अद्वा जिण्हे असावज्जा, विचो साहृण वेसि-  
या” । दश० ५ अ० । चौर्थादिगार्हितकमानालम्बने प्रशस्तमनोवि-  
नयनेदे, स्या० ७ उ० ।

असासय—असाश्वत्—त्रि० । तेन तेन रूपेणोदकधारावच्छब्द-  
भवतीति शाश्वते, ततोऽप्यश्वत्शाश्वतम् । आचा० १ श्ल० ५ अ०  
२ उ० । अश्वत्तद्वनस्वजाव, रा० । प्रतिवर्णं विशारणे, प्रअ० ५  
आश० द्वार । कृण कृण प्रति विनश्वरं, न० । आ० म० । आ० आचा० ।  
अपराऽपरपयोधमापने, स्या० १० उ० । उक्त० । स्वप्नदुःखा-  
सदृशे अनित्ये, सूत्र० १ श्ल० १ अ० ३ उ० । संसारिणः, स्या० २  
टा० १ उ० । “ अश्रावज्जमानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि वेह व ।  
देवानुरमन्नुप्याणा—मृच्छयश्च सुखानि च” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्ल० ८  
अ० । जन्ममरणानि साहितत्वात् संसारिणः, स्या० ४ टा० ४ उ० ।  
( नावप्राधान्येन तु ) विनाशः, प्रअ० ३ आ० द्वार । अविद्यमानं  
शाश्वतमस्मिन्श्रायशाश्वतः संसारः । अशाश्वतं हि सकल-  
मिह राज्यदि । तथा हारिलवाचकः—

“ चत्त्रं राज्येभ्यं घनकनकसारः परिजनेन,  
नृपत्वाद् यद्युभ्यं चलममरसीर्यं च विपुलम् ।  
चलं रूपारोग्यं चलमिह चलं जीवितमिदं,  
जनाः दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः” ॥१॥ उक्त० अ० ।

असाहीण—अस्वाधीन—त्रि० । परायणे, आचा० १ श्ल० २  
अ० १ उ० ।

असाहृ—असाधु—त्रि० । अमङ्गले, वृ० १ उ० । अशोभने, सूत्र० १  
श्ल० ५ अ० २ उ० । असद्वृत्ते, सूत्र० २ श्ल० २ अ० । अनर्थो-  
दपहेतौ, सूत्र० १ श्ल० २ अ० २ उ० । निर्वाणसाधकयोग्यापे-  
क्षया ( दश० ७ अ० ) आजीविकादौ कुश्लोनिनि, नि० ३ वर्गे ।  
असंयते, स्या० ७ उ० । यद्मृजीवनिकायवधाजनसुखं श्रीहशि-  
कादिप्रोक्तिभिः अग्रहृत्कारिणि, स्या० १० उ० । अविशिष्टकर्म-  
कारिणि, सूत्र० १ श्ल० १२ अ० ।

असाहृकर्म—असाधुकर्म—न० । कृत्कर्मणि, सूत्र० १ श्ल० ५  
अ० १ उ० । जन्मान्तरकृताऽनुभाणुष्ठाने, सूत्र० १ श्ल० ५  
अ० २ उ० ।

असाहृदिचि—अमाधुदृष्टि—पुं० । परतीर्थिकदृष्टौ, व्य० ४ उ० ।



असाह्यधम्म-असाधुधर्म-पुं० । वस्तुदानस्नानतर्पणादिके असंयतधर्मे, सूत्र० १ श्लो० १४ श्ल० ।

असाह्यया-असाधुता-स्त्री० । कुगतिमनादिकरूपायाश्च, सूत्र० १ श्लो० ४ श्लो० २ उ० । कोहस्वभाषतायाश्च, उक्त० ३ अ० ।

असाह्युर्व-असाधुवृत्-अर्थ० । असाधुमर्दान्ति येषां च सुकुटिम-क्रादियुक्तं तस्मिन्, असाधुना नुरुधं वर्तते, उक्त० ३ अ० ।

असि-असि-पुं० । अङ्गे, उपा० २ अ० । नि० चू० । जी० । रा० । श्य० । विपा० । सं० । श्री० । "असिमोग्गरसिक्कुतहत्था" । असिमुद्गरशक्तिकुन्ता हस्ते येषां ते असिमुद्गपरशक्तिकुन्तहस्ताः । "प्रहरणात्" ॥३१११५॥ इति सतम्यन्तस्य पालिकः परनिपातः जी० ३ प्रति० । अस्युपपलिते सेवकपुरुषे, "असिमयीकृपी-वाणित्यवजितनाः" तथासिनापलितनाः सेवकाः पुरुषाः असंयमाः मप्युपलक्षिता लेखनश्रीविनः मययः कृपिरिति-कृपिकर्मोपजीविनः, वाणिज्यमिति-वाणिज्जनां चित्तवाणिज्यकर्मोपजीविनः । तं० । असिना यो देवो नारकात् क्षिन्ति सोऽसिरेव । परमाधार्मिकनिकायं, अ० ३ श्लो० ६ अ० ।

हृत्ये पाए ऊरू, बाहु मिरा पाय अंगमंगाणि ।

त्रिदंति पगामं तू, असि ऐरङ्ग निरयपाला ॥ ७८ ॥

( हृत्यादि ) असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदयवर्तितो नारकानेव कथ्येयन्ति । तथा-इत्यादावृत्वाङ्गुशिरः-पाशोदीन्यङ्गुप्रत्यङ्गानि क्षिन्वन्ति प्रकाममत्सर्गं शरदयन्ति, तु-शब्देऽपरत्-कोत्यादन्विशेषणार्थं इति ॥ सूत्र० १ श्लो० ४ अ० १ उ० । काराणस्यारि सरिद्रेजे, ती० ३८ कल्प० ।

असिक्कुतित्य-असिक्कुतार्थि-न० । स्वनामथयते मथुरास्ये तीर्थं, ती० ९ कल्प० ।

अमिकलग-अशिक्षक-त्रि० । चिरप्रजिते, दश० १ श्ल० ।

असिखुरघार-अमिखुरघार-पुं० । कुरस्येव घारा यस्य अस्तेः अमिखुरके शङ्के, उपा० २ अ० ।

असिलेखग-असिलेदक-न० । असिना सह फलेके, प्रश्न० १ श्लो० ४ अ० ।

असिचम्मपाय-असिचर्मपात्र-न० । स्फुरके, अ० । "असिचम्मपायं गदाय" । असिचर्मपात्रं स्फुरकः । अथवा-असिश्च शङ्कः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, अङ्गकोशकं वा असिचर्मपात्रं, तद् शुद्धीत्या । "असिचम्मपायहृत्किष्वापरणं अर्पाणोणं ति" । असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा, कृत्यं संघादिप्रयोजनं गतः आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्मधारयः, अतस्तेन आगमना । अथा-असिचर्मपात्रं कृत्वा हस्तं कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्तकृत्वाकृतः, तेन । प्राहृत्याश्रितं समासः । अथवा-असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यं हस्तकरणं गतः प्राप्ते यः स तथा, तेन । अ० ३ श्लो० ५ उ० ।

असिद्ध-अशिद्ध-त्रि० । अनाक्याते, नि० चू० २ उ० । अकथिते, श्लो० २ उ० । आ० अ० ।

असिखाण-अस्नान-त्रि० । अविद्यमानकान्ते, पंचा० १० वि० श्लो० । "असिखाणविद्यमोर्दे" अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः । छपा० १ अ० । आवा० ।

"तद्वा तेण सिगायंति, सीएण उस्सिणोणं वा ।

आज्जीवं वयं घोरे, असिखाणमहिदिघा" ॥ ६३ ॥

दश० ६ अ० । श्ल० ।

असित्य-असिद्ध-न० । सिद्धयश्चिते पानकाहारे, पञ्जा० ४ विव० ।

असिद्ध-असिद्ध-पुं० संसारिणि, नं० जी० । रथा० । सूत्र० । हेत्वाभासजने, रत्ना० ।

तत्रासिद्धमनिर्दधीत-

यस्यान्याथाऽनुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥ ४८ ॥

अन्याथाऽनुपपत्तेर्विपरीतया अभिहितयाश्च विरुद्धनैकान्तिकत्वेन कीर्तयिष्यमाणत्वादिद् हेतुस्वरूपा प्रतीतिविरुद्धकान्यथाऽनुपपत्त्यप्रतीतिरवशिष्टा छद्म्याः हेतुस्वरूपा प्रतीतिश्रेयमज्ञानात्, सम्बद्धाद्, विषयेषाद् वा विज्ञेया ॥ ४८ ॥

अयानु भेदतो दर्शयति-

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयस्य यदिप्रतिवादिः असुदयस्यासिद्धः; अन्यतरस्य वादिनः प्रतिवादिनो वाऽसिद्धः ॥ ४९ ॥

तत्राद्यनेदं वदन्ति-

उजयामिद्धो यथा-परिणामी शब्दश्चात्तुपत्न्यात् ॥ ५० ॥

चक्षुषा शृण्वन् इति चात्तुपः, तस्य भावश्चात्तुपत्तयः, तस्मात् । अयं च वादिप्रतिवादिनां कर्मपरिणामसिद्धः, आद्यन्याथाऽन्यस्य ॥ ५० ॥

द्वितीयं भेदं वदन्ति-

अन्यतरासिद्धो यथा-अचेतनास्तरशो, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधप्रक्षुद्राणपरणरद्वितन्वात् ॥ ५१ ॥

ताधागतो हि तत्कामाभ्येतस्य साधयन् विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितस्यादिनि हेतुपन्यासं कृतवान् । स च जैनामां तरुवैतन्यवादिनामसिद्धः । तद्गामे दमेष्वपि विज्ञानेन्द्रियायुषां प्रमाणतः प्रतिष्ठितत्वात् । इदं च प्रतिवाद्यसिद्धोपलयादाहरणक । वाद्यसिद्धोपलया तु-अचेतनाः सुखादयः, उत्पत्तिमत्त्वादिनि । अत्र हि वादिनः साक्ष्यस्वभावात्प्रतिमत्त्वमप्रसिद्धयः, तेनाविर्भावमात्रस्यैव सर्वत्र स्वीकृतत्वात् ।

मन्विथमसिद्धप्रकारप्रकाशनं परैशङ्के-स्वरूपेणासिद्धः, स्वरूपं वाऽसिद्धं यस्य सोऽयं स्वरूपासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः, चात्तुपत्त्वारिति । ननु चात्तुपत्तयं कृपादावस्ति, तेनास्य व्यधिकरणासिद्धत्वं युक्तम् । न । कृपादाधिकरणत्वेनाप्रतिपादितत्वात् । शब्दधर्मिणि चापदिष्टं चात्तुपत्तयं न स्वरूपत्वेऽस्तीति स्वरूपासिद्धम् । विरुद्धमधिकरणं यस्य, स चासावांसिद्धोऽति व्यधिकरणासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, परस्य ह्यकत्वादिति । ननु शब्देऽपि कृतकत्वमस्ति, सत्यं, न तु तथा प्रतिपादितम् । ननुमन्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवति । श्रीमोक्षस्य वा कुर्वन् व्यधिकरणासिद्धम् । २ । विशेष्यमसिद्धं यस्यासौ विशेष्यासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति चात्तुपत्त्वात् । ३ । विशेषणासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, चात्तुपत्तयं सति सामान्यवत्त्वात् । ४ । पक्षे कदेशासिद्धयोः पक्षभागेऽसिद्धत्वात् भागासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । ननु च वायादिसमुद्यत्तानामपि श्वरयत्नपूर्वकत्वात् कथं भागासिद्धत्वम् ? नैतत् । प्रयत्नस्य तीव्रमद्विद्वान्नाशमन्तरं श-

धरूप तथाभावा हि प्रथमान्तरनिरूपकत्वं विवाङ्कितम् । नञ्शब्द-  
प्रयत्नस्य तीव्रादिनांभोऽस्ति, तिर्यक्त्वात् । धनभ्युपगमनेश्वर-  
प्रति वा प्राणासिद्धत्वम् । ॥ आश्रयासिद्धः यथा-अस्ति प्रधान-  
नं, सिम्बन्धस्य परिणामिकारणत्वात् । ६ । आश्रयैकदेशासिद्धः  
यथा-नित्याः प्रधानपुरुषधराः, अकृतकत्वात् । अथ जिनस्य  
पुरुषः सिद्धो, न प्रधानपुरुषः । ७ । सिद्धिधाश्रयासिद्धः यथा-  
गोत्वेन संदिग्धमाने गवये आरएयकोऽयं गौः, जनदृशीनांपक्ष-  
प्रासत्वात् । ८ । सिद्धिधाश्रयैकदेशासिद्धः यथा-गोत्वेन संदि-  
ग्धमाने गवये गवि च आरएयकावेतौ गौवा, जनदृशीनांपक्षप्रा-  
सत्वात् । ९ । आश्रयसिद्धिपञ्चस्यसिद्धः यथा-आश्रयदेवताः  
स्वकृपनिश्चये आश्रये हेतुवृत्तिसंशये मयूरयानयं प्रदेशः, के-  
कयित्नापेतत्वात् । १० । आश्रयैकदेशसिद्धिपञ्चस्यसिद्धः यथा-  
आश्रयहेतवः स्वकृपनिश्चये सत्यथाऽऽश्रयैकदेशो हेतुवृत्तिसंशये  
मयूरयानावेतौ सहकारकणिकारौ, तन एव । ११ । व्यधि-  
शेषणासिद्धः यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवचने सति कृतक-  
तत्वात् । १२ । व्यधिदेशेष्वासिद्धः यथा-अनित्यः शब्दः, कृत-  
कत्वे सति सामान्यवचनत् । १३ । सिद्धिधासिद्धः यथा-धू-  
मवापादिदिविचैकानिश्चये कश्चिद्वाह-वह्निमानयं प्रदेशः, धूमव-  
त्वात् । १४ । सिद्धिधेशेषणासिद्धः यथा-अघाति रागादियु-  
क्तः कपिलः, पुरुषत्वे सत्यथाप्यनुत्पन्नतन्वह्नानत्वात् । १५ ।  
सिद्धिधाशेषेष्वासिद्धः यथा-अघाति रागादियुक्तः कपिलः,  
सर्वदा तत्त्वज्ञानगहितत्वे सति पुरुषत्वात् । १६ । एकदेशा-  
सिद्धः यथा-प्रागभावां यन्तु, विनाशाप्यादयमेकत्वात् । १७ ।  
विशेषणैकदेशासिद्धः यथा-तिमिरमभावस्वभावम्, ऊच्यगुण-  
कर्मोक्तिरूपत्वे सति कार्यत्वात् । अथ जनाय प्रति तिमिरं क-  
व्यातिरेको न सिद्धः । १८ । विशेषैकदेशासिद्धः यथा-ति-  
मिरमभावस्वभावात्, कार्यत्वे सति द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वात् ।  
१९ । सिद्धिधैकदेशासिद्धः यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रागव-  
क्तृत्वापेतत्वात् । अत्र लिङ्गद्वानिश्चिते रागिण्ये संदेहः । २० ।  
सिद्धिधेशेषणैकदेशासिद्धः यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रा-  
गवक्तृत्वापेतत्वे सति पुरुषत्वात् । २१ । सिद्धिधेशेषणैकदेश-  
शासिद्धः यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, पुरुषत्वे सति रागवक्तृ-  
त्वापेतत्वात् । २२ । व्यधिैकदेशासिद्धः यथा-अग्निमानयं पर्यंत-  
प्रदेशः, प्रकाशधूमोपेतत्वात् । २३ । व्यधिेशेषणैकदेशासिद्धः  
यथा-गुणः शब्दः, प्रमेयत्वसामान्यवचने सति बाह्यैकैन्द्रियमा-  
हात्वात् । अथ बाह्यैकैन्द्रियमाहात्वात्पि रूपत्वादिसामान्यस्य  
गुणत्वाभावाद्यभिचारपरिहाराय सामान्यवचने सतीति साधे-  
यम्; प्रमेयत्वं तु व्यर्थम् । २४ । व्यधिेशेषणैकदेशासिद्धः यथा-  
गुणः शब्दः, बाह्यैकैन्द्रियप्राप्त्ये सति प्रमेयत्वसामान्यवचनत्वात् ।  
२५ । पक्षमन्येऽय्यैकदेशासिद्ध्यादिहारणं नृत्वांसिऽसिद्धिने-  
दाः स्वयमभ्यूह्य वाच्यताः । उदाहरणेषु चैतेषु द्वयान्तरस्य स-  
म्भवात्ऽप्यप्रकृतत्वानुपदर्शनम् । त एतं भेदा भवतिः कथं  
भासिहि ताः ? ॥

उच्यते—यतेषु ये हेतवान्तरासतां प्रजन्ते, ते यदेानयथाद्य-  
सिद्धये विषयङ्गत्वे, तदेानयसिद्धेऽन्तर्भवन्ति । यदा त्वय-  
तरासिद्धत्वेन तदाऽन्यतरासिद्ध इति । व्यधिकरणासिद्धरतु  
हेत्याभासां न भवन्त्येव । व्यधिकरणासिद्धे पित्रोत्राह्लाषया-  
त्तत्र आह्लाषयानुमानवशीलाय, नटनट्यादिनामपि आह्लाषयं क-  
स्मात्तत्रैव साध्यतीति चेत् ? । पक्षधर्मोऽपि पवनद्वयत्वात्; तत्र  
विषयानुं किंमिति नानुमापयति ? , इति समानम्; व्यजिन्वात्-

स्वत्, तदपि तुल्यम् । तन्पित्रोत्राह्लाषयं हि तद्रूपकम् । एवं  
तर्हि प्रयोजकसम्बन्धेन तस्यसम्बन्धो हेतुः कथं व्यधिकरणः ? इति  
चेत् । ननु यदि साध्याधिगमप्रयोजकसम्बन्धानावाद् वैयर्थि-  
करण्यमुच्यते, तदानीं समतमेवैतदस्माकं श्रेयः, किन्तु प्रमेय-  
त्वाद्योऽपि व्यधिकरणा एव वाच्यः स्तुने व्यभिचारयोऽर्थः ।  
तस्मात्प्राप्त्यधर्मत्वाभिधानादेव व्यधिकरणा हेत्याभासत्वे  
सम्मतः, न चागमक इति नियमं प्रत्याचक्षते । अथ प्रतिभो-  
हृशकस्याऽन्यथाभिधानेऽपि आह्लाणजन्त्यादित्येवं हेत्वर्थं प्रति-  
पद्य साध्यं प्रतिपद्ये इति चेत्, एवं तर्हि प्रतिभोहृशकस्यैव पदस्य  
कृतकत्वादित्यभिधानेऽपि पदस्य कृतकत्वादिनित्यत्वं दृष्टम् । एवं  
शब्दस्यापि तत एव तद्व्यतिरिक्तं प्रतिपत्तौ नायमपि व्यधि-  
करणः स्यात्; तस्माद्यथोपात्तो हेतुसत्यैव तद्रूपकत्वं चि-  
न्तनीयम् । नच स्व्यापदस्य कृतकत्वं तस्मात्सद्व्यनाप्य-  
नित्येन भवितव्यमित्यस्ति व्याप्तिः । अतोऽसौ व्यजिन्वारा-  
धेवागमकः । एवं काककाण्योद्विरपि । कथं वा व्यधिकर-  
णोऽपि जलचन्दो नञ्शब्दस्य, कृत्स्काद्यो वा शकटाद-  
स्य गमकः स्यात् ? , इति यास्ति व्यधिकरणो हेत्याजसाः ।  
आश्रयासिद्धताऽपि न युक्ता । अस्ति स्वयंज्ञः, चन्दोपरागादि-  
ज्ञानान्यथाऽनुपपत्तिरित्यादिपरि गमकत्वनिश्चयात् । कथमत्र  
सर्वज्ञधर्मणः सिद्धिः ? इति चेत्, आसिद्धिरपि कथमिति  
कथ्यताम् । प्रमाणयोग्यत्वात्सिद्धत्वं चेत्, एवं तर्हि त्वयापि  
तसिद्धिः कथं स्यात् ? । ननु को नाम सर्वज्ञधर्मिणमन्यधात्,  
यैवैप पर्यनुयोगः सोऽप्यनः स्यादिति चेत् ? । नेमम् । प्रमाणा-  
योग्यत्वात्सिद्धयः सर्वज्ञो धर्मो न भवतीति सिध्यापिप्रत्येत्वात् ।  
अन्यधर्मद्वयं प्रति निश्चित-तरव्यादिव्यापारप्रायं भवेत् ।  
एवं च-

“ आश्रयासिद्धताऽनुमाने न चेत्;  
साऽनुमाने भद्रीयं तदा किं भवेत् ? ।  
आश्रयासिद्धताऽनुमानेऽस्ति चेत्,  
साऽनुमाने भद्रीयं, तदा किं भवेत् ? ” ॥  
यदि त्वदीयानुमानेनाश्रयासिद्धिरस्ति, तदा प्रकृतेऽप्यसौ मा  
पुद्गः धर्मिण उच्यतेऽप्यस्यात्; अन्यस्यास्य प्रसूताप्योगि-  
त्वात् । अथास्ति तत्राश्रयासिद्धिः, तदा बाधकाभावात् एषा  
कथं भद्रीयंऽनुमाने स्यादिति भावः ।

तथा च--

“ विकल्पाद्धर्मिणः सिद्धिः; श्रियेऽपि निधिष्यते ।  
त्रिधाऽपि धर्मिणः सिद्धि-विकल्पात्स समागता ” ॥ १ ॥  
ह्यमपि नास्मि करामोत्यप्यनधिष्ययम्, विधिप्रातिषेधप्रयोज्य-  
पञ्चिधानस्य प्रतिषेधस्य चासंभवात् । यदि च ह्यमपि न करारि  
तदा व्यक्तमकृत्यकथी कथं नोपहासाय जायंसं; तथातयाभाश्र-  
यासिद्धेषुक्तावभाऽद्यतनात् । ननु यदि विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिण्य  
प्रमाणमन्येपणीयम्, तदा प्रमाणमिच्छेऽपि प्रमाणान्तरमन्येप-  
त्ताम् । अन्वयथा तु विकल्पसिद्धेऽपि पर्यायं प्रमाणाव्येषणेन, अ-  
हमदमिकाया प्रमाणलक्षणपरीक्षणं परीक्षणागमकक्षीकरणीयं  
च स्यात्; तावन्मात्रेणैव सर्वस्यापि सिद्धिः । तथा च चाकृत्वाद्य-  
द्विरपि शब्दानित्यत्वे साध्यं सत्यगहुरेव भवेदिति चेत् । तद-  
स्यत्पम् । विकल्पादौ सत्त्वात्सत्त्वाधारणं धर्मिमात्रं प्रतीयते,  
न तु तावन्मात्रेणैव तदसत्यस्यापि प्रतीतिरस्ति; यतोऽनुमाना-  
न्यधर्मो भवेत् । अन्वयथा पुत्रियीश्वरसाक्षात्कारं कृशानुसम्मासा-  
धनमन्यपार्थक्यं भवेत् । तस्यासिद्धताऽनसिद्धतां वा प्रत्यक्षैणैव प्रे-

ज्ञातः । अग्निमस्ताऽऽग्निमन्स्यविशेषपुण्यस्य शैलमस्तस्य प्रत्य-  
 क्रेष्य परिच्छेदाद् नानुमानानर्थक्यमिति चेत्; तच्छिस्तत्पना-  
 स्तिव्यविशेषपुण्यस्य सर्वज्ञप्रत्यक्ष विकल्पेनाऽऽकलनात् क-  
 थमत्राप्यनुमानानर्थक्यं स्यात् ? । अस्तिव्यनास्तिव्यव्यतिरेकेण  
 कीदृशीं सर्वज्ञमात्रासिद्धिरिति चेत् ? ; आग्नेस्तान्निमित्तव्यव-  
 द्दितरेकेण ज्ञेयाधिपरासिद्धिरपि कीदृशी ? इति वाच्यम् । ज्ञो-  
 शीचराऽऽग्निस्तथायमात्राङ्गत्पितरेवां चेत्, इतरत्रापि सर्वज्ञ इ-  
 त्येवान्नामत्राङ्गत्पितरेव साऽऽस्तु; केवलमेव का प्रमाणज्ञज्ञापपक्ष-  
 त्वात् प्रामाणिकी, तद्व्याप्तु तद्विषयव्याप्तिरूपिणीति । ननु कि-  
 मनेन दुर्मेनाऽऽभरणभारायमाणं विकल्पेन प्रामाणिकः कुर्वी-  
 दिति चेत् ? । तदुच्यते । यतः प्रामाणिकोऽपि पदतर्कीपारत-  
 कर्कशोऽपि विशेषसङ्ख्यापक्षत्रिाराजराजसभायां अरविषाण-  
 मस्ति नास्ति वेति केनापि प्रसङ्गेद्वेषदुराकरणेण सापेक्षं प्र-  
 त्त्यानेऽवश्यं पुरुषार्थिमानोः किञ्चिद् श्रयात्, न तृष्णीव्यव पु-  
 ष्णीयात्; अप्रकृतं च किमपि प्रकृतं सानकारं निस्सायेत; प्र-  
 कृतमाप्ये तु विकल्पसिद्धं धर्मिणं विधाय काऽप्या गतिरास्तेऽ  
 अप्रामाण्ये के वस्तुनि मूकवाचदुर्मेयोः कतरः भयानिति स्वय-  
 मेव विधेयवस्तु तादिकाः ? इति चेत् । ननु अत्रानु स्वोक्तमेव  
 तादात्म्यकचपत्तु, मूकत्वैव भयनीति च पूरकोति निष्प्रमाणके  
 वस्तुनीति विकल्पसिद्धं धर्मिणं विधाय मूकताधर्मं च विद्वा-  
 तीत्यनामद्वेषोः । तस्मात्प्रामाणिकेनापि स्वोक्तस्यैव क्वापि  
 विकल्पसिद्धिः । न च सैव सर्वत्रास्तु, कृतं प्रमाणेति वाच्यम् ।  
 तदन्तरेण नियतव्यवस्थाऽप्योगात् । एको विकल्पस्य अस्ति स-  
 र्वज्ञः; अन्यस्तु नास्तीति किमत्र प्रतिपद्यताम् ? । प्रमाणमु-  
 द्वायव्यवस्थापितं त्वन्तरस्मिन् धर्मं दुर्मेरोऽपि कः किं  
 कुर्यात् ? । प्रमाणसिद्ध्यानेह तु धर्मिणं सर्वज्ञवपुष्पादी  
 विकल्पसिद्धिरपि सावायसो; तादिकवचकवर्ति-  
 नामपि तथाप्यपराद्वेषोऽनात् । एवं शब्दे चाकृण्वन्मपि  
 सिद्धिरिति चेत् ? । सत्यम् । तद्विकल्पसिद्धे विधाय यदि त-  
 आस्तिस्य प्रमाणेन प्रसाधयितुं शक्यत, तदानामस्तु नाम तस्मि-  
 द्दिः न चैवम्; तत्र प्रवर्तमानस्य सर्वस्य हेतोः प्रत्यक्षप्रति-  
 क्षिप्तपक्षत्वेनाकङ्काकाराहत्वात्; ततः कथमस्तिव्यप्रसक्तौ  
 शब्दे चाप्यनुवर्तिसिद्धिरस्तु ? । एवं च तत्रायामिदो देव्याभासः  
 समन्तीति स्थितम् । न चैवं विश्वस्य परिणामिकारणत्वाद्-  
 स्यस्यापि गमकता प्रामोति; अस्य स्वरूपसिद्धत्वात् प्रधा-  
 नासिद्धौ विश्वस्य तत्परिणामसिद्धौ । एवमायकधेद्वेशसि-  
 द्धोऽपि न देव्याभासः । तर्हि प्रधानाभासो नित्यवकृतकत्वा-  
 दित्ययमप्यामनोच प्रधानोऽपि नित्यत्वं गमयेत् । तदसत्यम् ? ।  
 नित्यत्वं अल्पाद्यन्तराद्यसद्वृत्तयम्, आद्यतत्परिद्वेषात् वा वि-  
 च्युक्तम् ? । आद्योऽप्यन्तर्भावनेन व्यभिचारः, तस्याकृतकस्या-  
 प्यतद्वृत्तयत् । द्वितीयो सिद्धसाध्यात्; अन्यतत्मावकृतयत्  
 प्रधानस्याद्यन्तरहितत्वेन तदभाववादादितरेपि स्वोकारात् ।  
 तर्हि देवदत्तधर्मायै वक्तव्यो, वस्तुत्वादिदित्यं हेतुरस्तु ।  
 नैवम् । न बान्धेय्ये वा वक्तव्यात्, असत्साद्व्यनेन तद्विधानात् ।  
 तदसत्त्वं च साधकप्रमाणान्नाप्यात् सुप्रसिद्धम् । सदिग्धा-  
 श्रयासिद्धिरपि न हेतोःपरः हेतोः साधेयनाऽपिनात्रावसंभवात् ।  
 धर्म्यामिदस्तु पक्षद्वाराः स्यात् । साध्यपर्यायविशुद्धता प्रसिद्धौ  
 हि धर्मो पक्षः प्रोच्यते; न च संज्ञेहाप्रदीभूतस्यास्य प्रसि-  
 द्धिरस्मिन् पक्षद्वेषेणान्य गमनान्न हेतोर्वाद्ये । सं-  
 दिग्धाश्रयैकदेशासिद्धोऽपि नैव । आश्रयसंदिग्धवृत्त्यास-

कोऽपि न साध्यः; यतो यदि पक्षधर्मत्वं गमकत्वाङ्गमिच्छते  
 स्यात् तदा स्यादयं दोषः, न चैवम् । तस्मात्साध्यवृत्तिसिद्धयेऽपि  
 केकापितान्यितदेशाधिकरणमप्युपलक्षितं भवतु ? । नैवम् । के-  
 कापितमात्रं हि मनुष्यान्तरेणैवापि न निश्चितमिति तदेव ग-  
 मयति । देशविशेषविशिष्टमप्यसिद्धौ तु देशविशेषविशिष्टस्यै-  
 व केकापितस्यापिनाभावावसाय इति केकापितमात्रावसायत्वस्यै-  
 विचारसंभवाद्वागमकत्वम् । एवमाश्रयैकदेशसंदिग्धवृत्ति-  
 रप्यसिद्धो न प्रवर्तते । व्यधिविशेषणाविशेषणासिद्धावपि वा-  
 सिद्धन्तरी; वक्तुकौशलाप्रवादावचनवैयर्थ्येणोपस्य । एवं व्य-  
 धैकदेशासिद्धायाऽपि वाच्यः । ततः स्थितमेतद्-पतेष्वसि-  
 द्धंभेदेषु सनवन्त उच्यसिद्धान्तरासिद्धयोस्तत्रैवन्ति । न-  
 चव्यनरासिद्धा देव्याजास एव नास्ति । तथाहि-परेणासिद्ध  
 इत्युच्चारयति यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमा-  
 णाभावात्तु न पर्यायसिद्धः । अथाचक्षीत, तदा प्रमाणपक्ष-  
 पातित्वात्तु पर्यायसौ सिद्धः । अथवा-यावत् न पर प्रति प्रमा-  
 णेन प्रसाधयेत तावत् पर्यायसिद्ध इति चेत्; गौणं तद्व्यासिद्धस्य;  
 नहि रत्नादिपदार्थस्त्वनेतोऽप्रतीयमानस्तावन्मपि कालं मु-  
 ख्यत्वेनदाभासः । किञ्च-अन्यतरासिद्धो यदा देव्याभास-  
 स्तदा वादी निरुद्धोऽः स्यात्, न च निरुद्धीतस्य पक्षादिप्रवृ-  
 द्धि इति युक्तम्, नापि हेतुमयमर्थं पक्षाद् युक्तम्; निप्रदान्मात्राद्वा-  
 स्थेति । अत्रोच्यते-यदा वादी सत्यशहेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि  
 तत्समर्थनन्यायविसमणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकात् वा  
 प्रतिवाचयितुं न शक्नोत्यसिद्धकार्मापि नातुमयत्, तदाऽ-  
 न्यतरासिद्धत्वेनैव निरुद्धोऽः । तथा-स्वयमनभ्युपगतोऽपि प-  
 रस्य सिद्ध इत्येतान्येवोपपत्त्यो हेतुसम्यनरासिद्धो निर-  
 हाधिकरणम् । यथा-साध्यस्यैव त्रेन प्रत्ययेनानाः सुधादयः,  
 उत्पत्तिमत्त्वाद्दिव्यादिति । ननु कथं तर्हि प्रसङ्गसाधनेन सुप-  
 पाद् स्यात् ? ; तथा च प्रमाणप्रसक्त्यापितकं वाक्येन पर-  
 स्यानिष्ठावपादनाय प्रसज्जन प्रसङ्गः । यथा-यत्सर्वधैकं तत्रा-  
 नेकत्र वर्तते, यथाः परमाऽस्तथा च सामान्यमिते कथमने-  
 कत्र्यकवर्ति स्यात् ? ; अनेकव्यक्तिवर्तिनाभावो व्यापकमन्तरेण  
 सर्वधैक्यस्य व्याप्यस्यानुपपत्तेः । अत्र हि वादिनः स्यादादिनः  
 सर्वधैक्यमासिद्धमिति चेत् धर्मान्तरस्यानेकव्यक्तिवर्तिनाभा-  
 वस्य गमकं स्यादिति चेत् ? तदुच्यते । एकधर्ममेव ध-  
 र्मान्तरेपरमसंश्लेषेणभावनेपरव्यन्यास्य वस्तुनिश्चयकत्वभा-  
 वात्, प्रसङ्गवियथैक्यरूपस्यैव मौलहेतोःसाध्यावकत्वात् । प्र-  
 सङ्गः खरुद्रव्यैक्यरूपस्योपपत्तिरुक्तः । अनेकव्यक्तिवर्ति-  
 त्वस्य हि व्यापकमेकत्वम्, पक्षात्केकरूपस्यानेकव्यक्तिवर्ति-  
 त्वविरोधात् । एकात्केकरूपस्य सामान्यस्य प्रतिनियतपदार्था-  
 वयस्यत्वसावावपरस्य स्वजावस्याऽभावेनाऽप्यपदार्थाधेय-  
 त्वासंभवात् तद्वृत्तस्य तदभावस्य चाऽन्योन्यपरिहासिद्व्यतल-  
 लणत्वेन विरोधादिति सिद्धमेकत्र वृत्तरेकत्वं व्यापकस्य;  
 तद्विद्ध च सर्वधैक्य सामान्ये संभवं तेषां नाऽऽकवृत्त-  
 त्वं स्याद्विरोधैक्यसङ्गायेन व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्त्या व्या-  
 प्यस्यानेकवृत्तिसाध्याऽवश्यं निवृत्तेः । न च तत्रिहासिद्व्यतल-  
 लणनेन लक्षणावसरः प्रसङ्गवियथैक्यो विकल्पसाध्यावप्यव-  
 कृपाऽत्र मौलो हेतुः; यथा-यदनेकवृत्तं तदनेकम् । यथा-  
 ननेकजाजनगं तालफलम्, अनेकवृत्तं च सामान्यमिति एक-  
 त्वस्य विश्वमेकत्वम् । तेन व्यासनेकवृत्तित्वस्य तस्याप्यव-  
 धिरिति मौलस्य चाऽन्येदंपक्षेयं प्रसङ्गोपपत्त्याभात् । न चा-

यमुमयोरपि न सिद्धः; सामान्ये जैनयोग्यान् तदभ्युपगमात् ।  
 लताऽयमेव मौलौ हेतुरयमेव च वस्तुनिश्चायकः । ननु य-  
 धायाय बह्वुनिश्चायकः कर्त्तव्यमिति, तर्हि किं प्रसङ्गोपस्थानेन ?  
 प्रागेवाचमेवोपपन्नताम् । निश्चायकमेव हि श्रुषाणो बाधो बाधि-  
 नामवधेयवचनो भवतीति चेत् । मैवमा मौलहेतुपरिकरत्वात् ।  
 अययमेव हि प्रसङ्गं कुर्वतोऽर्थः कश्चिन्निश्चाययितुमिष्टो, निश्चा-  
 यकस्य सिद्धहेतुनिमित्तं इति यस्तत्र सिद्धं हेतुनिश्चायकस्य व्या-  
 व्यापकत्वावसाधने प्रकारान्तरमेवेतत् । यत्सर्वैकं तद्वानेकत्र  
 वर्तते इति ध्यासिदर्शनमात्रमपि हि बाधकं विद्वद्बर्माप्यास्-  
 माङ्किपतीत्यन्योऽयं साधनप्रकारः । एवं च ज्ञान्यतरासिद्धस्य  
 कस्यापि गमकत्वमिति ॥ ५१ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

असिध्पद्मग-असिध्कार्ग-न० । न विद्यते सिद्धेर्भौद्धस्य चिन्ति-  
 ष्ठान्तोपलक्षितस्य माणो यस्मिन्सिद्धसिद्धिर्मात्रम् । सिद्धहेतौ,  
 सूत्र० २ सू० २ अ० ।

असिध्धारव्य-असिध्धारव्रत-न० । असिध्धारवां संवरणीय-  
 मित्येवं रूपे नियमे, ज्ञा० १ अ० ।

असिध्धारग-असिध्धारक-न० । असिध्धारो यस्मिन् व्रते आक्रम-  
 णीयताया, तदसिध्धारकम् । असिध्धारवदनाक्रमणीये, अ० ।  
 “ असिध्धारगं वयं चरिष्वयं ” अस्मिन् व्रते आक्रम-  
 णीयताया तदसिध्धारकं, व्रतं नियमः, चरितव्यमासिध्धिव्ययम् ;  
 तद्व्रतप्रवचनानुयायनं तद्व्रतं दुष्करमित्यर्थः । अ० ६ श० ३३३० ।  
 असिध्धारगमय-असिध्धारगमन-न० । ७ त० । अङ्गधारयां  
 चमनं । उच० १६ अ० ।

असिध्पंजर-असिध्पञ्जर-न० । अङ्गशक्तिपञ्जरे, प्रअ० २ संव० द्वार ।

असिध्पंजरमय-असिध्पंजरगत-त्रि० । असिध्पंजरे शक्तिपञ्जरे  
 गतः । अङ्गशक्तिव्यप्रकरितपुण्यवर्षिते, प्रअ० २ संव० द्वार ।  
 असिध्पत्त-असिध्पत्त-न० । असिः अङ्गः, स एव पत्तम् । स्या० ४  
 ज्ञा० ४ त० । असिः अङ्गस्तस्य पत्तमसिध्पत्तम् । जी० ३ प्रति० ।  
 अस्याकारपत्रे, अ० ३ श० ६ उ० । अङ्गं, ज्ञा० १६ अ० । स० ।  
 असिः अङ्गस्तदाकारपत्रवद्भनं विकृत्यै वस्तुसमाभितनारकान-  
 सिध्पत्रघातनेन तिलशक्तिवन्ति स्या० असिध्पत्रः । पुं० । स० १५  
 स० ० । ज० । नवमे परमाध्यात्मिकं, प्रव० १८ द्वार ।

अत्र निरूपितः-

कसोष्ठोपसकरचरण-दमपट्टणफुगमऊरुवाहृणं ।  
 जेयण जेयण सादण, असिध्पत्तुण्णिहि पामति ॥ ७७ ॥

( कसोष्ठ इत्यादि ) असिध्प्रधानाः पत्रघनुर्नमानो नरकपाला  
 असिध्पत्रघनं बीभत्सं कृत्वा तत्र क्षुद्याऽर्धिनः समागतान् मारका-  
 र् चराकार् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा-कसोष्ठुपासिकाकर-  
 चरणदशनस्तनस्फिगुर्यवाह्रानं छेदनेभेदनाशान्तादीनि विकुर्वि-  
 ततावाहृतचालितरुपातितासिध्पत्रादिना कुर्वन्तीति । तदुक्त-  
 म- “ त्रिषपाद्दृजस्कन्धा-रिण्जककौष्ठुमासिकाः । मिनतालु-  
 शिरोमेदाः, जिन्नाकिह्वद्वयोदराः ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ सू० १ क० अ० १  
 उ० । आ० सू० ।

असिध्पज्जीवि ( ष् )-असिध्पज्जीविन्-पुं० । न शिष्यज्जीवी  
 असिध्पज्जीवी । चित्रकरणादिविज्ञानेनाऽऽजीविकात्मकुर्वति,  
 उच० १५ अ० । “असिध्पज्जीवे अगिहे अनेने” उच० १५ अ० ।  
 २१३

असिध्पसिसारिच-असिध्पसिद्धक-त्रि० । करवालकजलतु-  
 ल्ये, तं० ।

असिध्प ( त्त ) असिध्प-त्रि० । कृष्णे, प्रअ० ३ आश्र० द्वार ।  
 आ० अ० । इयामं, अ० १ वक्त० । अश्रुमे, विशेषे । अश्रु-  
 वधे मूर्च्छामकृवाणे पङ्कधारपङ्कजवत्कर्मणा दिद्यमाने, त्रि०  
 सूत्र० १ सू० २ अ० १ उ० । अस्तङ्गं कुर्वति, आचा० १ सू० ५  
 अ० ४ उ० ।

असिध्पकेस-असिध्पकेश-त्रि० । असिताः कृष्णाः केशाः  
 येषां ते असिध्पकेशाः । कृष्णकेशे (युगलिके), जी० ३ प्रति० ।

असिध्पग-असिध्पक-न० । दात्रे, अ० १४ श० ७ उ० । आ-  
 चा० ।

असिध्पगिरि-असिध्पगिरि-पुं० । स्वनामक्यते पर्वते, “ स-  
 व्याजि वि असिध्पगिरिस्मि तावसा समं तस्य गया ” आच० ४  
 अ० । आ० सू० ।

असिध्परय-असिध्परन्-न० । चक्रवर्तिनां रत्नोत्कृष्टे अङ्गे,  
 स्या० ७ ज्ञा० । स० ।

असिध्पवधि-असिध्पवननम-असिध्पवनि-असिध्पवननसम्-त्रि० ।  
 असिध्पवनि-असिध्पवननम-असिध्पवनि-असिध्पवननसम्, अत्रुदकप्रासिफलत्वात्,  
 तेन समम् । अविबलितफले, वा० १० विष० ।

असिध्पकखण्ड-असिध्पकखण्ड-न० । अङ्गलक्षणपरिच्छाने, अ० ।

तच्चैवम्-  
 “अङ्गशतोर्ध्वमुत्तम कनः स्यात् पञ्चविंशतिः खण्डः ॥  
 अङ्गलमानाद् द्वैतयो, अणोऽशुभो विषयपञ्चस्थः ॥ १ ॥  
 अङ्गलशतोर्ध्वमुत्तमः अङ्गः पञ्चविंशत्यङ्गुलैः कनः, अनयोः प्र-  
 माणयोर्ध्वोऽर्ध्वतः । प्रथमन्तुनीयपञ्चमसप्तमाद्विष्वङ्गुलेषु यः  
 स्थितो अणः स अङ्गः, अर्धोऽर्ध सत्माङ्गुलेषु त्रितीयचतुर्थप-  
 ष्ठाष्टमाद्विषु यः स्थितः स अङ्गः, मिश्रेषु समविषयमाङ्गुलेषु  
 मध्यम इत्यादि । अ० ३ वक्त० । ज्ञा० । जी० । असिध्पकखण्डप्रति-  
 पादक शास्त्रे, सूत्र० १ सू० १ उ० ।

असिध्पट्टि-असिध्पट्टि-त्री० । अङ्गलक्षणायां, विषा० १ सू० ३  
 अ० । ज्ञा० । जी० ।

असिध्पलाटा-असिध्पलाटा-त्री० । असिध्पलाटोदघटने, स्या० ४ अ०  
 १ उ० ।

असिध्पली-असिध्पली-न० । अमङ्गलजुगुप्साभीदाव्यञ्जके दोष-  
 विशेषे, यथा-नोदनाये चकारादिपद्यम् । रत्ना० ७ परि० ।

असिध्पलेसा-असिध्पलेसा-त्री० । स्तपेदघतां क नक्षत्रजदे, ज्योः  
 ६ पाठ० । सू० प्र० । “ असिध्पलेसापञ्चकेषु क्षुत्रां पयसे ” ।  
 स्या० ७ डा० ।

असिध्पली-असिध्पली-पुं० । अकीर्ती, स० ७ स० ० । अयधसि,  
 आच० ४ अ० । अश्रुशंसायां, आच० १ अ० । अश्रुषे, व्य० ६ उ० ।

असिध्पलोगजय-असिध्पलोगजय-न० । अश्रुकोऽश्रुधाऽश्रुकिं-  
 रित्यनर्थान्तरम् । स एव जयमश्रुकोऽयमयम् । अर्कात्मिये, यथा  
 केनचिदादिना श्लाघोपाजिता, पञ्चावपि तद्विनाशमाप्स्युः । अका-  
 म एव दानादेः भवसैत इति । अश्रु० । एवं हि क्षियमाणे  
 महदशरो भवतीति तद्व्याज्र प्रवर्षत इति । स्या० ७  
 ज्ञा० । आच० । स्या० ।

असिन्-अज्ञान-० । सुप्रवेद्यताऽतस्तत्प्राप्तये, व्य० २ अ० ।  
अ० ४ । व्यन्तरुते व्यसने, आव० ४ अ० । नि० वू० । मारी,  
व्य० ४ अ० ।

असिवाण-असिन्-० । सद्वाकारपत्रबन्धे, प्रअ० २ आश्र०द्वार ।

असिबन्धमपसी-अशिचमज्ञानी-स्त्री० । कृष्णवासुदेवस्य मे-  
श्याम, " सा तस्य तस्मिन् जस्य जन्मासे सख्योरोगा पसमं-  
ति जा तं सद्द सुणति । " वृ० १ उ० ।

असिवाइखेच-अशिवादिसेन-० । अशिवादिप्रधानकेच,  
" विगिचिष्यमसिवाइखेचं च । " दश० १ अ० ।

असिवावण-अशिवापन-० । विनाशाम्नी, व्य० ७ उ० ।

असिह-अज्ञान-पुं० । यः शिरसो मुषटनमात्रं कारयति न च  
रजोहृत्पदशकपात्रादिकं धारयति तस्मिन् गृहस्थभेदे,  
व्य० ४ उ० ।

असीइ-अज्ञीति-स्त्री० । विशत्यूनशतसंख्यायाम्, प्रह्ला० २  
पद । तं० ।

असीभरक-असीभरक-पुं० । सीभरो नाम बहूपत्न परं बाल-  
या सिञ्चति, तत्रतिपत्रादसीभरः । प्राकृतत्वात्साधिकाप्रत्ययवि-  
धानत्सीभरकः । लाहया परमसिञ्चति, व्य० ३ उ० ।

असीज्ञया-अज्ञाज्ञता-स्त्री० । चारित्र्यजित्त्वे, प्रअ० २ आश्र०द्वार ।

असीलपत-असीलवत्-वि० । सावययोगाविरते, अविरतमात्रे  
च । सूत्र० १ वृ० ७ अ० ।

अमुञ्च-अमुत्-वि० । अमुञ्चे, वृत्त० २ अ० ।

अमुआगिड-अस्वाकृति-स्त्री० । न्यमोपपरिमण्डलादिषु अम-  
शस्तसंस्थानेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

अमुइ-अशुचि-वि० । न० त० । अपवित्रे, आ० म० प्र० । प्रह्ला० ।  
अस्युयत्वात् (ज्ञ० ६ पद) आशीचवति, स्त्री० । विष्ठाऽसुकृद्दे-  
प्रधाने, सूत्र० २ ध्रु० २ उ० । दशा० । स्नानब्रह्मचर्याद्विवाजितत्वात्सा-  
धाविधे साधौ, अ० ७ श० ६ अ० । सद्वाऽशुचि, तं० । विष्ठायाय,  
दश० । पि० । अमेधे, स्था० ९ उ० । जी० । " जयं अन्ध किञ्चि  
असुई भवति, तयं उदपण्य य मद्दिश्रव अ पक्कालिभं सुरे भ-  
वति, पवं खसु अन्ध चोक्त्वा चोक्त्वायारा सुरसुसमायारा न-  
वेत्ता अमिसेत्रजलपुत्रापायो अविग्धेण सगं गमितस्मान्मा० ।

अशुः । तं० । " असुइविलीनावगयवी भञ्जादरिस्मिञ्चि । " ।  
अशुचिषु विलीनो मनसः कश्चि मलपरिणामहेतुः । (विगयं इति)  
विगयते तद्विमिश्रतया प्राणिनां गनं गमनं यस्मिन् स तद्यः,  
वीमत्सया निन्द्याऽदृशीयो धीजन्त्वाऽदृशीनीयः । तनो विशेणय-  
समासः । अशुः । विलीनवियतवीजन्त्वाऽदृशीनीयः । जी० ३ प्रति० ।

आहाराद्यभोज्यवहारिणि, व्य० ।

तमेवाशुचि इत्यत्राभेदः प्रकृत्यति-

दन्वे जावे अमुई, जावं आहारवन्दणादादि ।

कप्यं कुण्ड अकप्यं, विविदेहि रागदोमहि ।

अशुचिद्विधा-इत्यनो भावतत्त्व । तत्र योऽशुचिना शिसवात्रो यो  
वा पुत्रीपुत्रोऽन्य पुत्री न तिलेपयति स इत्यनोऽशुचिः । भाव  
भावतः पुनरशुचिगहाभ्यननादिभिर्विधेर्वा रागत्रयेः कल्प्य-  
मकल्प्यं करीति । किमुक भवति ? आहाराप्यशुच्यादिनिमित्तं

बन्धन्नीचिर्बुध्यादिना वा तोपिनः; यदि वा एव प्रम स्वगच्छ-  
संक्लेशं स्वकुलसंक्लेशी स्वगणसंबन्धीति रागतः, अथवा-न  
मात्रेण कन्ते, विरूपं वा भावितवान्तिवद्विषयतोऽयं बुधोपदेशे-  
नाभाव्यमनाभाव्यं करोति, अनात्राव्यमप्यभाव्यम्, स्तोऽव्यव-  
हारी भावतोऽशुचिः ।

पतवेव सुव्यक्तमाह-

दन्वे जावे अमुई, दन्वमी विदुभादीन्निपो उ ।

पाणऽतिवायादीहि, भावम्मी होइ अमुईआं ।

अशुचिद्विधा-इत्ये भावे च । तत्र इत्ये-विष्ठादिना लिप्तः,  
आदिशब्दान्स्वकल्पेभादिविरहः । प्राधे-प्राणतिपातादादिभ-  
भेद्यशुचिः । व्य० ३ उ० ।

अशुचि-वि० । शास्त्रार्जिते, म० ७ श० ६ उ० । प्रअ० ।

अमुइकुण्डिम-अशुचिकुण्डिम-० । अपवित्रमाले, तं० ।

अमुइजायकम्मकरण-अशुचिजातकर्मकरण-० । अशुचीनां  
जातकर्मणां करणे, अ० ११ श० ११ उ० । रा० । नालच्चेदादि-  
करणे, कल्प० ५ कृ० ।

अमुइट्टाण-अशुचिस्थान-० । विदुप्रधाने स्थाने, भाव० ३  
अ० । विष्ठास्थाने, दश० ।

अमुइचनानागा-अशुचित्वभावना-स्त्री० । देहस्याऽशुचित्वप-  
र्याहोचननायाम्, ध० ।

अशुचित्वभावनाऽपीत्यय-

रमास्यगर्भासमेदाऽस्थि-यज्जाशुकान्त्रवर्चसाय् ।

अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कृतः ? ।। ? ।।

नवस्रोतःस्रवच्छस-रसनिःस्पन्दपिच्छिले ।

देहेऽपि शुचिसंकेतयो, महम्मोहाविभुजित्तम् ।। ? ।।

नवज्यो नेत्र २ श्रोत्र २ नासा २ मुख १ पायुस्थेज्यः ? स्त्रो-  
तेभ्यो निर्गमश्रोत्रेभ्यः अयद विन्द आमगन्धियो रसः, तस्य निस्प-  
न्दो निर्यासः, नेत्रे पिच्छिले विच्छिले । शेषे सुगमम् । ध० ३ अ० ।

अशुचित्वभावना-

" लवणाकरे पदार्थाः, पतिता लवणं यथा भवन्तीह ।  
कायं तथा यथाः स्तु-स्तेदसावज्जित्वाः सदा कायः ॥ १ ॥  
कायः शोणितशुक्रमौलिनभयो गर्भं अचरितेति,  
मात्राऽऽस्वादिताऽक्षायपरसकैर्दुर्बिः कृमाम्प्रापति ।  
कित्तद्यक्तानुसमाकुतः कृमिदण्डगायकृपदायात्पदं,  
कैर्मन्येत् सुवृत्तिभिः शुचित्वा सर्वमैलेः संकुलः ? ।। ३ ॥  
सुस्वादं शुभमन्धि मोदकधिर्हीरेणुशास्त्रोद्व-  
दाक्लाप्यटिकाऽमृतानुपूरुस्वर्गक्युताऽऽस्त्रादिकम् ।  
धुकं यस्वहसैव यत्र मलसत्त्वपद्यते सवेतः,  
ते कायं सकलाशुचि शुचिभहो । मोहादिभ्यता मन्वते । ३ ॥  
अमःकुम्भशरीरेषुपुन सुदिभुग्धाः शुचित्वं कियत्-  
कालं लम्नयोऽसं परिमलं कस्तुरिकाधैस्तथा ।  
विष्ठाकृष्णकमेतद्वहकमहो । मन्वे तु शरीरं कयं-  
कारं नेपथ्यं मुञ्चयिष्यथ कथंकारं च तत्सौरजम् ? ।। ४ ॥  
दिव्याऽऽमोदससुखिआसितदिशुः श्रीशुभकस्तुरिका-  
कर्वुराभ्रुकुङ्कुमभ्रुभयो भावा यथाऽक्षेपतः ।  
द्वैगन्धं इत्यत सृणु मलतां चाविधत्त साऽप्यहो !

वेदः कैश्चन मन्यते शुचितया वैशेष्यतां पश्यत ॥ ५ ॥

इत्याशौचं शरीरस्थं, विभाष्य परमाधेतः ।

सुमतिर्ममतां तत्र, न कुर्वति कदाचन ॥ ६ ॥ प्रश्नः ६७ द्वार ।

असुरविज्ञ-अज्ञाविज्ञित-ज्ञः । परमाऽपवित्रविचरे, तं ।

असुरय-असुरविक-त्रिः । अपवित्रस्वरूपे, तं । ज्ञां । स्यात् ।  
अभेद्ये सूत्रपुरीपादौ, स्यात् १० ज्ञां ।

असुरसंकलिह-असुरविंसंक्रिह-नः । नत् । अभेद्येन युष्टे,  
भ ६ शब् ३३ उ० ।

असुरसमुत्पन्न-असुरविसमुत्पन्न-त्रिः । अपवित्रोत्पन्ने, तं ।

असुरसामन्त-अशुचिसामन्त-नः । अभेद्यानां सूत्रपुरीपादीनां  
समीपं, स्यात् १० ज्ञां ।

असुरसख-असुरसगति-स्त्रीः । अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५  
कर्म० ।

असुराज्ञ-असुरजाति-स्त्रीः । एकद्वित्रिचतुरिंशदप्रातिलक्षणा-  
सु अप्रशस्तपतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुरकृमाण-असुर्यन्त-त्रिः । अनपयच्छति, “असुरकृमाणे  
ह्येयविससा विसोर्हति” पञ्जा० १६ विव० । नि० च् ।

असुरक-असुरकृ-त्रिः । साधेत्, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अपि-  
शुक्रकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । “असुरकपरिणामसंकलितं  
अर्थं” । असुरकपरिणामेन संकलितं संकलितं संकलितं शब्दश्च  
अप-  
न्ति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुरकजाव-असुरकृजाव-पुं० । अगन्तानुबन्ध्यादिसङ्गतमात्-  
स्थानरूपे अप्रशस्ताऽप्यवसायं, पञ्जा० १८ विव० ।

असुरदसभाव-असुरकृदसभाव-पुं० । औपाधिके-अपात्रिजनि-  
तर्थादिजावपरिखमनयोप्ये, इत्या० १२ अथा० ।

असुभ ( ह )-असुभ-त्रिः । अशोभने, दर्श० । असुभरसगन्धस्व-  
शेयुके, जी० १ प्रति० । असुभकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १  
उ० । पापप्रकृतिरूपे कर्मणि, स्यात् ४ ज्ञां ४ उ० । आच० ।  
असुभयबन्धे, स्यात् ५ ज्ञां १ उ० । अशोभने, दशा० ८ अ० ।

असुभ ( ह ) कम्मवहुस-असुभकर्मवहुस-त्रिः । कलुष-  
कर्मप्रचुरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुभज ( ह ) किरियादिरहित्य-असुभक्रियादिरहित-त्रिः ।  
अप्रशस्तकायचण्डप्रभृतिविके, आदिशब्दादशकबुधप्रत्ययो-  
वविकलतापरिग्रहः । पञ्जा० १३ विव० ।

असुभज ( ह ) ऊजवमाण-असुभजाप्यवसान-नः । क्रिष्टप-  
रिणामे, पञ्जा० १६ विव० ।

असुभज ( ह ) एणम-असुभभानम-नः । असुभजानुषिषि नामकर्मभे-  
दे, उच्यते ३३ अ० । यदुदयाञ्जानेरेषः पादादीनामवययानामसुभ-  
जा भवति, तदसुभभानम् । पादादिना इति शब्दः परो रुच्यतीति ते-  
षामसुभजत्वम् । कामिनीव्ययहारेण व्यभिचार इति शब्दः । नैषम् ।  
तस्य मोहनिष्पन्नत्वत्वात् । वस्तुस्थितिः खिन्नमित्येति ततोऽ-  
शौचः । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । असुभभानकर्मणाः प्रकृतयो मध्यम-  
भेदविवक्षया चतुर्भिरज्जेदा भवति । तद्यथा-नरकगति १ ति-  
व्यंमति २ एकैन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुर्न्द्रियज्ञा-  
ति ६ असुभभानराज ७ नाराज ८ अर्हन्नाराज ९ कालिका १०

सेवार्तकसंहितायि ११ न्यप्रोचमण्डलसंस्थान १३ साधि १३  
वामन १४ कुञ्ज १५ हृण्डक १६ अप्रशस्तवर्णं १७ अप्रशस्त-  
गन्ध १८ अप्रशस्तस्तर १९ अप्रशस्तस्पर्श २० नरकाजुषुर्वी २१  
निर्देयानुषुर्वी २२ सपञ्चात २३ अप्रशस्तविहायोपति २४ स्या-  
वर २५ सुख २६ साधारण २७ अप्रशस्त २८ अक्षिर २९  
असुभ ३० दुर्मग ३१ दुःस्वर ३२ दुःस्वरा ३३ अप्रशस्तोऽङ्गि-  
३४ इति । उच्यते ३३ अ० । प्रश्न० । असुभमनादेयत्वादि । अपूज्ये  
च कर्मभेदे, स्यात् २ ज्ञां ४ उ० ।

असुभ ( ह ) तरङ्गतरणुपाय-असुभ ( असुस्त ) तरणदो-  
तरणुपाय-त्रिः । असुभमशोभने, कण्टकादियोगाद्बलुत्वं वा, तत  
एव दुःखहेतुत्वात् तच्च तरणं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं  
पारगमनं, तत्राप्यस्तकल्पयो यः स तथा । पञ्जा० ६ विव० ।  
कण्टकागत्यात्मलोत्तरणदोषतरणुत्पद्ये, “असुभतरङ्गतर-  
णुपायो दन्वन्धुश्चो असुभयोः” प्रति० ।

असुभ ( ह ) च-असुभजन्त-नः । अमहलतायाम्, भ० ६  
शब् ३३ उ० ।

असुभ ( ह ) दुःखभागि ( ण )-असुभदुःखभागिन्-त्रिः ।  
असुभानुषिषि यद् दुःखं, तदनुषिषिः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।  
ज्ञाः आनुषिषिः दुःखभागिषु, भ० ७ शब् ६ उ० ।

असुभ ( ह ) विवाग-असुभजिपाक-नः । असत्तादित्येनो-  
दयवति कर्मणि, स्यात् ४ ज्ञां ४ उ० ।

असुभजा ( हा )-असुभजा-स्त्रीः । न विद्यते शुभो विपाको या-  
सां ता असुभजाः । पं० सं० ३ द्वार । विपाकदारुणकटुकर-  
सासु पापकर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार । ( सचाञ्छेताः ‘कम्म’  
शब्दे तृतीयभागे २९२ पृष्ठे वक्ष्यन्ते )

असुभजा ( हा ) गुणपेहा-असुभजानुपेहा-स्त्रीः । संसाराऽसुभ-  
जानुचिन्तने, भ० २५ शब् ३० ग० । ‘कोहो व माणो य अपि-  
गहाया, माया य लोभो य पवहुमाणा । जसारा एते कसिणा  
कसाया, सिचति मूलात्तुणम्मवस्स” ॥ स्यात् ४ ज्ञां १ उ० ।

असुभय-असुभय-त्रिः । अनाकर्णिते, स्यात् ८ ज्ञां । अचा० ।  
प्रवचनहारेणानुपलक्ष्ये, भ० २ शब् ८ उ० ।

असुभयसिष्य-असुभयनिष्ठ-नः । सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहि-  
तस्य तथासाध्यावच्छेदोपायानुपायत प्रथमे यथास्थितव-  
स्तुसंस्पर्शमतिज्ञानरूपे बुद्धिचतुर्के, नः । (‘अभिनिवेशादियणा-  
ण’ शब्दे द्वितीयभागे २५६ पृष्ठस्य व्याख्या वक्ष्यते )

असुर-असुर-पुं० । भवतपतिव्यन्तरङ्गज्ञाने देवनेवद्वये, स्यात्  
३ ज्ञां १ उ० । पदैकदेशे पदसमुदायात्पञ्चारात्सुकुमारं, प्रश्न०  
१६४ द्वार । नः । प्रश्न० भ० । औ० । आ० म० । सुत्र० । स्यात् ० ।  
असुरस्यानोपलक्ष्ये नामकुमारादियु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।  
दानवे, असुर ।

असुरकुमार-असुरकुमार-पुं० । असुराश्च ते नववीचनतया कु-  
माराश्चेत्यसुरकुमाराः । स्यात् १ ज्ञां १ उ० । प्रवचनपतिनेद्वेपु,  
प्रज्ञा० १ पदं । स्यात् । ( ‘जग’ शब्दे तद्वासाः वक्ष्यन्ते )

नवरसिद्ध-

जगत्वं गोपमे समथे भगवं महावीरं वेदं नमसद्, नम-  
सद्वा एवं वयासी-अप्रत्यि एं भते । इमिसे रयण्यपञ्जाए

पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति? । एो इण्हे समहे, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव । अत्थि णं भंते! इंसिप्पजाए पुढवीए असुरकुमारा देवा परिवसंति? । एो इण्हे समहे । से काहिं खाइ णं भंते! असुरकुमारा देवा परिवसंति? । गोयमा ! इमीसे रयणप्पमाए पुढवीए अस्रीउत्तरजोयणसयसहस्सवाट्ठाए एवं असुरदेववत्तव्याए० जाव दिव्वाइं जोगभोगाईं जुंजमाणा विहरंति । अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए ? । हुंता अत्थि । केवइयाणं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविमए पप्पचे ? । गोयमा ! जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, तच्चं पुण पुढविं गया य गमिस्संति य । किं पत्तिं णं भंते ! असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य? । गोयमा ! पुव्ववेरियम्म वा वेयाणउदीरणायाए पुव्वसंगइयस्स वेदणउवसागमयाए एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य । अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियगातिविमए पप्पचे । हुंता अत्थि । केवइयाणं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियगइविसए पप्पचे ? । गोयमा ! जाव असंखेज्जा दीवसमुदा नंदिस्सरवरं पुण दीवं गया य गमिस्संति य । किं पत्तिं णं भंते ! असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य ? । गोयमा ! जे इमे अरहंता जगवंतो एएसिं णं जेणमहदेसु वा निक्समणमहेसु वा णाणुप्पायमहिमासु वा परिनिवाणमहिमासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य । अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उहुगइविसए ? । हुंता अत्थि । केवइयं चं णं भंते ! असुरकुमारा देवा णं उहुं गतिविसए ? । गोयमा ! जाव अच्चुए कप्पे सोहम्मं पुण कप्पं गया य गमिस्संति य । किं पत्तिं णं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य ? । गोयमा ! तेसिं देवाणं जवपवइवेरा-णुंघवें तेणं देवा विकुब्बेमाणा वा परिवारेमाणा वा आयरत्ते देवे विचाभंति, अट्टालहुस्सगाईं रयाणां गदाय आयाए एंगवमंतं अवकंभंति । अत्थि णं जंते ! तेसिं देवाणं अट्टालहुस्सगाईं रयाणां ? । हुंता अत्थि । से कइदिदाणिं पकरंति, तत्रो से पच्छा कायं पव्वहंति । पजू ! णं भंते ! तेमिं असुरकुमारा देवा तत्थ गया वेव समाणं ताहिं अच्चेराहिं सक्किं दिव्वाइं जोगभोगाईं जुंजमाणा विहरिचए ? । एो इण्हे समहे, तेणं तत्रो पकिंनियचति, पडि-नियत्तिचा इहमागच्छइ, इहमागच्छइत्ता जइ णं तात्रो अच्चेरात्रो आडायांति परियाणंति । पजू ! णं भंते ! असुरकुमारा देवा ताहिं अच्चेराहिं सक्किं दिव्वाइं भोगभोगाईं

जुंजमाणा विहरिचए, अहं णं तात्रो अच्चेरात्रो नो आदायांति नो परियाणंति, एो णं पजू ! ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्चेराहिं सक्किं दिव्वाइं जोगभोगाईं जुंजमाणा विहरिचए । एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य । केवइकालस्स णं भंते ! असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयंति० जाव सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य ? । गोयमा ! अणंताहिं असोसिप्पींहिं अणं-ताहिं अवसप्पिणींहिं सपइकंताहिं अत्थि णं पत्तचवं लो-यच्छेरयजए समुप्पजइ । जसं असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयंति० जाव सोहम्मं कप्पे ।

(एवं खलु असुरकुमारंत्थादि) एयमेनेन सूत्रक्रमणेतु । से वैश्वम-“अकारं एयं जोयणसहस्स आगाइत्ता इहा वेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्जे अट्ठइ चरं जोयणसयसहस्सं, पत्थं णं असुरकु-माराणं देवाणं चासदि जयणवावसयसहस्सता भवंतीति अक्खायमित्थादि” । (विउत्थेमाणा व ति) संरंभेण महदैकिय-शरीरं कुवंतः । (परियारेमाणा व ति) परिवारयन्तः परकीयं देवी-नां भोगं कर्तुकामा इत्यर्थः । (अट्टालहुस्सगाईं ति) यथेति यथोचितानि लघुस्वकानि अमहास्वकपाणि, महानां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा शक्यत्वादिति यथादातृणां कानि । अथवा-लघुनां महान्ति धरिष्ठाभीतिं च वृक्षाः । (आयाए ति) आगमना, स्वयमित्थयः ( एयंतं ति) विजानं ( अंतं ति ) देवां ( से कइमियाणिं पकरंति ति) अथ किमिदानीं रत्नप्रदशणान्तरमेकान्तायक्रम-णकाले प्रकुर्वन्ति वैमानिकाः रत्नादातृणां कानि । (तत्रो से पच्छा कायं पव्वइंति ति) ततो रत्नादानत् ( पच्छं ति) अन्-त्तरं ( से ति) एषां रत्नादातृणामसुराणां कायं देहं प्रव्यथन्ते प्रदरिः प्रजान्ति वैमानिका देवाः, तेषां च प्रव्यथतानां येदना भवति जघन्येनान्तमुहुर्चमं, उज्जट्टतः पयमासायं यावत् । ज० ३ ण० २ उ० ।

किं निस्साए णं जंते ! असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयंति० जाव सोहम्मं कप्पे ? । गोयमा ! से जहा नामए इहं सवराइ वा ववराइ वा टंकागाइ वा जूचुयाइ वा पएहायाइ वा पुत्तिं-दाइ वा एगं महं वणं वा गइं वा दुग्गं वा दरिं वा विसमं वा पव्वयं वा एंसाए सुमहम्मपि अस्सवलं वा इत्थिवइं वा जोहुवणं वा अणवइं वा आगिंत्तिं, एवाभेव असुरकु-मारा देवा खप्पत्थ अरहंते वा अरहंतेचइयाणां वा अण-गारे भावियप्पणो निस्साए उहुं उप्पयंति० जाव सोहम्मं कप्पे । सत्थे वि य णं भंते ! असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयंति० जाव सोहम्मं कप्पे । गोयमा ! एो इण्हे समहे । महिद्धियां णं असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयंति० जाव सोह-म्मं कप्पे ।

‘सवराय वा’ इत्यादौ शब्दाद्योऽर्थाव्यभिचारेणः । [ गहुं व ति ] गत्तोः, [ तुग्गं व ति ] जलजुगोदि, [ दरिं व ति ] दरिं पथेतकत्वरं, [ विसमं व ति ] विषमं गर्भतयोऽप्युक्तम् । भिक्खव । [ निस्साए प्ति ] निश्चयाऽऽभिव्यं [ अणुवणं व ति ] अतुट्ठरवणं [ आगिंत्तिं ति ] आकलयन्ति-जेष्णाम इत्यव्ययस्वन्तीति । [ नत्ताय ति ] ननु

निश्चितमत्र इहलोकं, अथवा ( अरिहते वा निस्सार उद्ध उ-  
प्ययंति ) नायत्र-तसिभ्या अयत्र न, तां विनेत्यर्थः ॥ न० ३  
श० २ उ० ।

किंपनिषं णं अंते । असुरकुमारा देवा उद्ध उप्ययंति०  
जाव सोहृम्मे कप्ये । गोपया । तोषि णं देवाणं अद्भुषावव-  
ष्ठागाण वा चरियजवत्याण वा इमेया रूपे अञ्जन्त्यिण्० जाव  
समुपज्झइ, अहो णं अम्हेहि दिव्वा देविहो इष्ठा पत्ता अत्ति-  
समष्ठागाया जारिमियाणं अम्हेहि दिव्वा देविहो ।  
० जाव अभिसमष्ठागाया तारिसियाणं सकेणं देविदेणं दे-  
वस्सा दिव्वा देविहो० जाव अजिसमष्ठागाया, जारिनि-  
याणं सकेणं देविदेणं० जाव अजिसमष्ठागाय तारिमियाणं  
अम्हेहि नि जाव अभिसमष्ठागाय, तं गच्छामो णं सकस्स  
देविदस्स देवस्सो अतियं पाठञ्जवापो पासामो, ताव सक-  
स्स देविदस्स देवस्सो दिव्वं देविहो जाव अजिसमष्ठा-  
गायं पामनु, ताव अम्हेहि वि सकं देविदे देवराया दिव्वं  
देविहो जाव अजिसमष्ठागाय तं जाणामो, ताव सकस्स दे-  
विदस्स देवस्सो दिव्वं देविहो जाव अभिसमष्ठागायं जा-  
णामो, ताव अम्हे वि सकं देविदे देवराया दिव्वं देविहो  
आभिसमष्ठागायं । एवं खलु गोपया । असुरकुमारा देवा  
उद्ध उप्ययंति० जाव सोहृम्मे कप्ये ॥

( किंपनिषं ति ) कः प्रत्ययो यत्र तत् किंप्रत्ययम् । ( अद्भु-  
षाववष्ठागाणं ति ) अयप्रमात्राणां ( चरियजवत्याणं व ति )  
अत्रचरमाशस्थानं, चयवनावस्थानं इत्यर्थः । अ० ३ श० ३ उ० ।  
असुरदार-असुरदार-न० । सिकुरवतानां दक्षिणदारेषु, यत्रा-  
सुरा वसन्ति । स्या० ४ धा० २ उ० ।

असुरसुर-असुरसुर-त्रि० । सुरसुरेत्यनुकुरशब्देऽप्यम् । न०  
७ श० १ उ० । न० ब० । सुरसुरेत्येवंचूतशब्दवर्जितं, प्रश्न०  
१ सव० शर ।

असुरिदं-असुरेन्द्र-पुं० । चमरे, बलिनि च । स० । ( 'इव' शब्दे  
द्वितीयत्रये ५३४ पृष्ठेऽस्य व्याख्याऽवसेया )  
आयुष्पवायस्स णं पुव्वस्स मांशम वत्थू पप्पात्ता । चमर-  
बलांणं उवारियालेण सोलस जोणयमहस्साइं आया-  
मविकल्पेणं पप्पात्ता ।

चमरबहोर्देहिशांस्तरयोरसुरकुमारराजयोः ( उवारियाले-  
ण ति ) चमरवज्रावलीचञ्चलऽभिधानराजधाम्येर्मधोभ्रता-  
ऽवतरणाम्बोर्गुरुपेऽवतारिकल्पेण योऽश योजनसहस्राप्या-  
यामविकल्पमायानं वृत्तत्वात्पर्योचति । स० १६ सप्त० ।

असुरिदंजिय-असुरेन्द्रजित-त्रि० । चमरबलिवाजिते, न०  
१४ श० १ उ० । अष्ट० ।

असुरलज-असुरभ-त्रि० । दुल्लजे, पो० ५ विव० ।

असुरवण-अस्वपन-न० । निष्ठाऽऽलस्यघाते, वृ० १ उ० ।

असुरवष्-असुरवर्ण-त्रि० । न सुवर्णमसुवर्णम् । अग्रशस्त्रवर्ण-  
अन्धस्त्रस्वर्णेषु, कर्म० ५ कर्म० ।  
२१५

असुरि-अस्वापिन-त्रि० । अनिष्ठासौ, नि० चू० १० उ० ॥

असुरसंघयण-असुमंहुन-न० । अयभनाराचादिषु अग्रशस्त-  
संहनेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुर-असुर-न० । दुःखे, स्या० ३ उ० ३ उ० ।

असुर-असुरि-त्रि० । असुरतीति तच्छ्रुत्वाऽऽसुरी । असुरधा-  
तंऋताच्छ्रांल्लिकणकप्रसावापि बाहुलकाद् गिन् । असुराऽस्त्य-  
स्येति असुरी । मत्वर्थाय इति । गुणेषु दोषाऽऽविष्कारिणि,  
स्या० १७ श्लो० ।

असुर-असुरि-त्रि० । व्यञ्जनादिरहिते, अकथयित्वा वा  
दत्तं जोजनादौ, दश० ५ अ० २ उ० ।

असुर-असुरि-त्रि० । मस्तरिणि, 'अहो । सुहृद्वत्सूयुवदम्'  
इतिपाठेन किञ्चिद्वचनम् । असुरशब्दस्योद्गतस्योपपत्तौऽप्य-  
तात्पर्यपरिच्छेदादी मस्तरिणि प्रयोगादिति । स्या० १७ श्लो० ।

असुर-असुरि-त्रि० । अवलवति, सूत्र० १ श्रु० ७ श्रु० ।

असुरा-असुरा-स्त्री० । न० तः० परस्य दांप्रतिपक्षेनात्मन-  
स्तादृशदोषभाषणे, "अप्येषो दांसं मासति ए परस्स, एसा अ-  
सुरा । यथा-" अम्हे मो षण्णीणा, आसि आगारम्म इद्धिमे  
तुम्भे । एस्स असुरा स्या, णवरं परवत्तुणिहसा " ॥ १ ॥ नि०  
चू० १० उ० । ( इत्यादि 'आगाहवयण' शब्दे द्वितीयभागे  
६२ पृष्ठे वचयते )

असुरा-स्त्री० । गुणेषु दोषाविष्कारे, "गुणेष्वसुर्यां दधतः प-  
रेऽमी, मा शिष्यवत्तम जवन्तमीशम ।" स्या० ३ श्लो० ।

असुराविय-असुरावचन-न० । अक्षमावचसि, दश० ।

असुरि-असुरि-पुं० । न विद्यते सुखं यस्मिन् सोऽसुर्यः ।  
बहुलाधिकारे कुम्भीपाकादृशौ, सर्वस्मिन् वा नरकावासे, "अ-  
सुरियं नाम महाभितावं, अश्वेतमं दुष्पतरं मर्दतं " । सूत्र० १  
श्रु० ५ श्रु० १ उ० ।

असुरवाय-असुरपाद-त्रि० । दुर्घटे, "अतोऽन्यथा सत्त्वमसुर-  
पादम् ।" स्या० २२ श्लो० ।

असेजायर-अश्रय्यतर-पुं० । वसतित्यागादिहेतुभिः शय्या-  
तरव्येनाव्यवहार्यं वसतिदातारि, नि० चू० २ उ० । ( तष्कार-  
णानि 'सगारियपिडं' शब्दे वक्ष्यन्ते )

असेय-अश्रेयस्-न० । अकल्याण, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

असेसेसिपिकवचन-अश्रेयशांप्रतिपन्नक-पुं० । शैलेशाना-  
माऽदांभवस्था, तां प्रतिपत्ताः शैलेशांप्रतिपत्ताः । स्वार्थिकः  
कप्रत्ययः । तदुच्यतिरिक्ताः अश्रेयशांप्रतिपत्तकाः । अयोम्य-  
वस्थामनापन्ने स्वयंभिनि संसारिणि, प्रज्ञा० २३ पद ।

असेम-अशेष-त्रि० । शेषरहिते कृत्स्ने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।  
सकज्ञे, प्रज्ञा० १५ विव० । सर्वस्मिन्, प्रज्ञा० १० विव० आवा० ।  
असेससत्तिहिय-अशेषसत्त्वहिते न० । समस्तप्रासुपकारके,  
"जिणंदवयण असंससत्तदिय " । प्रज्ञा० १६ विव० ।

असेहिय-असैष्टिक-न० । न० तः० । सांसारिके, क्पियासिद्धौ  
अज्ञाते आकस्मिके, सूत्र० ।

सुहं वा जइ वा दुवसं, सेहियं वा असेहियं ॥



सुखं सैद्धिकं-सौकी मोक्ष भवं सैद्धिकं, यदि वा दुःखमसैद्धिकं सासारिकम् । अथवा-सौद्धिकमसैद्धिकं च सुखम् । यथा-सुकुच-  
न्दनाङ्गनायुगेगोकियासिद्धी भवं सैद्धिकम्, आनन्दं सुखमान-  
वृत्तमसैद्धिकम् । तथा-सैद्धिकमसैद्धिकं च दुःखम् । यथा-कशा-  
ताङ्गनाङ्गनायुगेगोकियासिद्धी भवं सैद्धिकम्; उन्वाराशोऽतिशय-  
दिक्रमङ्गनायुगमसैद्धिकं दुःखम् । सुख० १ सु० १ अ० १ उ० ।  
असोसंग-अशोक-पुं० । कङ्कलीनामकं एकसाध्यकवृक्षभेदं, श्री० ।

प्रज्ञा० । कल्प० । स्थाम् । अशोकः पञ्च वर्णा भवन्ति ततो  
विशेषणम्, "किमहासोपद वा" रा० आवा० । अनु० । मल्लि-  
जिनस्य वैयवृक्षोऽप्राकः । स० । चम्पार्यां स्वनामक्याते पाम्भ-  
नाये, ती० १० कल्प० । पूर्वनेत्रे चतुर्थे लक्ष्मिदेवार्जे, स० । ति० । चतुः-  
सप्ततितमे महाभारे, "द्वा असोना ।" स्थाम् २ उ० ३ उ० च० प्र०  
म् ० । कल्प० । अशोककवनेदेवं च, ज० ३ प्रति० । वीतशोकं,  
त्रि० । वाच० ।

अमोगवन्द-अशोकचन्द्र-पुं० । अणिकपुत्रे कृणिके, स च पितुः  
अणिकस्य पूर्ववैरति द्वास्या अशोकवाटिकायामुज्जित इत्यशो-  
कचन्द्रनामाऽभवत् । आ० चू० ७ अ० । भाव० । ती० । 'कृण-  
ि' शब्दे 'अ' इदं दृश्यिष्यते । "राया तप असांगवन्देप वेसाङ्गि  
नगरि गहेत्थि" आ० म० प्र० । आ० चू० । 'गारिणामिया'  
'कुलबाकुल' शब्दयोश्चोदाहरिष्यते )

असोसंगजसव-अशोकचक्र-पुं० । विजयपुरे नगरे नन्दनवने उचा-  
ने स्वनामक्याते यक्षे, विप्रा० १ अ० ३ अ० ।

असोसगदत्त-अशोकदत्त पुं० । साकेतनगरे स्वनामक्याने इभ्ये, य-  
स्य समुदत्तसामारद स्वनामानौ भ्रातरौ । इश० ।

असोसगारा-अशोकराज-पुं० । चम्पार्यां वासुपुत्राजनेरुपुत्रम-  
घवन्पतिपुत्रीलक्ष्मीकृजितारोदिणीनाम्नया अष्टप्रातृभूमिन्याः  
स्वयंवेरं वृते पत्यौ, ती० ३५ कल्प० ।

असोसगद्वया-अशोकलता-स्त्री० । तिर्यक्शाभाप्रसरामावा-  
ह्यताङ्गनिष्यशाकवृक्षे, जं० १ चक्र० ।

असोसगवोदसग-अशोकावतंमक-न० । सौधमोदिविमानानां  
पूर्वस्थां दिश्यवन्सकः, रा० । प्रज्ञा० । जी० ।

असोसगवण-अशोकवन-न० । अशोकप्रधाने वने, अनु० ।

असोसगवणिया-अशोकवनिका-स्त्री० । अशोकप्रधाने लघुवने,  
आ० म० द्वि० ।

असोसगवपायव-अशोकवरपादप-पुं० । अत्युच्छेदे अशोकवृक्षे,  
" ईसि असोसगवपायवसमुवट्टिवा उ " जी० ३ प्रति० । रा० ।  
असोसगसिरि-अशोकर्थ-पुं० । ६ ७ । चन्द्रगुप्तस्य पौत्रे विन्दुसा-  
रस्य पुत्रे, पाटलिपुत्रे नगरे वीरमोक्षानन्दरं चन्द्रगुप्तो-विन्दुसा-  
रोऽशोकर्थः-सम्प्रति, राजानकेते उच्चगैसरे सख्युक्तभाजो महा-  
राजा अभवत् । कल्प० ८ क० । " चन्द्रगुप्तपुत्रो उ, विन्दुसा-  
रस्त नचुभ्रा । असोसगसिरिणो पुत्रो, अथो जायह कार्गणि "   
॥ ८६३ ॥ विशे० । वृ० । नि० चू० ।

असोसगा-अशोका-स्त्री० । धरन्वनागकुमारंरुसककाङ्गमहा-  
राजस्याऽप्रमहिष्याम्, स्थाम् ४ उ० १ उ० । श्रीशतलस्य  
शासनदेष्याम्, सा च नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाश-  
युक्तदक्षिणपाणिभ्या फलाङ्गशुकवामपाणिभ्या च । प्रब० २७

धार । मलिनविजयकेचपुरीयुगते, मलिनो विजयश्च दशोका  
पुः । जं० ४ वल्ग० । " द्वा असोनाम्ना ।" स्थाम् २ उ० ३ उ० ।  
असौबा-अभ्रभुवा-अभ्य० । प्राकृतधर्मांशुरागादेव धर्मफलादि-  
प्रतिपाद्यकवचनमनाकवयैत्यर्थे, म० ।

अथाभुवा केवलपर्यन्तं हन्ते न वा ? -

रायगिद्वे० जाव एवं वयासी-असौबा एं भंते । केवलस्तिस्स  
वा केवलसावगस्स वा केवलितावियाए वा केवलितवास-  
गस्स वा केवलितवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खि-  
यसावगस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउ-  
वासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिलस्यत्तं  
धम्मं लभेज्ज सवणयाए ? गोयमा ! असौबा एं केवलस्तिस्स  
वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलिलस्यत्तं  
धम्मं लजेज्ज सवणयाए, अत्येगइए केवलिलस्यत्तं धम्मं  
नो लजेज्ज सवणयाए । मे केणद्वं भंते ! एवं बुद्ध  
असौबा एं० जाव नो हजेज्ज सवणयाए ? । गो-  
यमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे  
कमे भवइ । से एं असौच्चा केवलस्तिस्स वा० जाव तप्पक्खि-  
यउवासियाए वा केवलिलस्यत्तं धम्मं हभेज्ज सवणया  
। जस्स एं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो  
कमे जवइ, से एं असौच्चा केवलस्तिस्स वा० जाव तप्पक्खिय-  
उवासियाए वा केवलिलएणत्तं धम्मं नो हजेज्ज सवण-  
याए । से तेणद्वं एं गोयमा ! एवं बुद्धे, नं चैव० जाव नो हभे-  
ज्ज सवणयाए । असौबा एं जंते । केवलस्तिस्स वा० जाव  
तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं बोदिं बुज्जेज्जा ? । गो-  
यमा ! असौबा एं केवलस्तिस्स वा० जाव अत्येगइए केवलं  
बोदिं बुज्जेज्जा, अत्येगइए केवलं बोदिं नो बुज्जेज्जा, से  
केणद्वं भंते ।० जाव नो बुज्जेज्जा । गोयमा ! जस्स एं  
दरिसिणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ, से एं  
असौच्चा केवलस्तिस्स वा० जाव केवलं बोदिं बुज्जेज्जा, जस्स  
एं दरिसिणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे ज-  
वइ, से एं असौच्चा केवलस्तिस्स वा० जाव केवलं बोदिं नो  
बुज्जेज्जा, से तेणद्वं० जाव नो बुज्जेज्जा । असौच्चा एं  
जंते । केवलस्तिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केव-  
लं मुंदे भविता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ? ।  
गोयमा ! असौच्चा णं केवलस्तिस्स वा० जाव उवासियाए  
वा अत्येगइए केवलं मुंदे जविता आगाराओ अणगा-  
रियं पव्वएज्जा, अत्येगइए केवलं मुंदे जविता आगारा-  
ओ अणगारियं नो पव्वएज्जा । से केणद्वं० जाव नो पव्व-  
एज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं धम्मंतरायाणं कम्माणं ख-  
ओवसमे कमे भवइ, से एं असौच्चा केवलस्तिस्स वा० जाव  
केवलं मुंदे भविता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ।

जस्स एं धम्मंतरादयाणं कम्माणं स्वभावसमे नो कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव मुंके भविष्ठा० जाव नो पव्वएज्जा, से तेणएणं गोयमा । ० जाव नो पव्वएज्जा । असोष्ठा णं भंते ! केवलिस्स० जाव उवासियाए वा केवलं बंधवेरवासं भावसेज्जा ? । गोयमा ! अत्येगए केवलं बंधवेरवासं भावसेज्जा, अत्येगए नो भावसेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव नो भावसेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव नो भावसेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव नो भावसेज्जा । असोष्ठा एं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवल्लेणं संजमेणं संजमेज्जा ? । गोयमा ! असोष्ठा णं केवलिस्स वा जाव० उवासियाए वा अत्येगए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्येगए केवल्लेणं संजमेणं नो संजमेज्जा । से केणट्ठेणं जाव नो संजमेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव नो संजमेज्जा, से तेणएणं गोयमा । ० जाव अत्येगए नो संजमेज्जा । असोष्ठा एं भंते ! केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ? । गोयमा ! असोष्ठा एं केवलिस्स वा० जाव अत्येगए केवल्लेणं संवरेणं संवरेज्जा, अत्येगए केवलेणं० जाव नो संवरेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो संवरेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं अज्जकवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, जस्स एं अज्जकवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे नो कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव नो संवरेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो संवरेज्जा । असोष्ठा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवल्लं आभिणिवोदियानाणं उपादेज्जा ? । गोयमा ! असोष्ठा एं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्येगए केवलं आभिणिवोदियानाणं उपादेज्जा, अत्येगए केवलं आभिनिवोदियानाणं नो उपादेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो उपादेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं आभिणिवोदियानाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिवोदियानाणं उपादेज्जा, जस्स एं आभिणिवोदियानाणावरणिज्जा एं कम्माणं स्वभावसमे नो कमे जवइ, से एं

असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिवोदियानाणं नो उपादेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो उपादेज्जा । असोष्ठा एं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवलं सुयणाणं उपादेज्जा ? । एवं जहा आभिणिवोदियानाणस्य वचनव्याभयिया, तद्वा सुयणाणस्य चि भाणियव्वा, नवरं सुयणाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे भाणियव्वो । एवं चैव केवलं ओदिनाणं जाणियव्वं, नवरं ओदिनाणावरणिज्जाणं स्वभावसमे भाणियव्वो । एवं केवलं मणपज्जवणाणं उपादेज्जा, नवरं मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे भाणियव्वं, असोष्ठा एं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तपक्खियउवासियाए वा केवलनाणं उपादेज्जा एवं चैव, नवरं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभाणियव्वं, तेसं तं चैव । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव केवल्लेणं नो उपादेज्जा ॥

बुद्धत्तोदेगइ इति उक्त्वाध्यायोः केवलधर्माज्जायन्ते, त-  
 आइअत्थाइय कोइय लभत इत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थमाह—( रा-  
 यगिदेत्यादि ) तत्र च ( असोष्ठा णं ) अशुक्ला धर्मफलादिप्र-  
 तिपादकवचनमनाकार्येण, प्राकृतधर्मानुरागव्यर्थः ( केव-  
 लिस्स वा णं ) केवलिनो जिनस्य । ( केवलिस्यावगमस्य ) के-  
 वल्लो येन स्वयमेव पुत्र, अथ वा येन तत्रचनससो क्वचित्भावे-  
 कः, तस्य ( केवलिस्यावगमस्य वा णं ) । केवलिन उवासनं  
 विदधानं केवलिनोवाचस्य कथयमानं भूतं येनासो के-  
 वल्युपासकः । ( तपक्खियस्स णं ) केवलिपाक्षिकस्य स्वयं  
 बुद्धस्य ( धम्मं ति ) केवलचारित्रकथय ( भवेज्ज णं ) प्राप्नु-  
 यात् । ( स्ववणयाए णं ) श्रवणतया श्रवणकृतया, भोतुमि-  
 त्यर्थः । ( माणावरणिज्जाणं ति ) बद्धवचनं हानावरणीयस्य  
 मतिहानावरणादिभेदेनावप्रमहस्यारवणादिभेदेन च बद्धत्वात् ।  
 इह च कथोपशमप्रहृष्टाव् प्रत्यावरणाद्येव तद् प्राधानं, न तु  
 केवलावरणस्य, तत्र कथयस्वैव भावात्, कानावरणीयस्य कथोपश-  
 मस्य गिरिसरित्पुल्लयोहान्यायानाणि कस्यचित्त्वात्, तत्सन्ना-  
 ये वाशुक्लादि धर्मं लभेत, भोतुं कथोपशमस्यैव तद्भावेन-  
 त्त्वरकारणत्वादिति । ( केवलं बोदिं ति ) बुद्धं सत्यमर्थं ( बु-  
 ज्जेज्ज णं ) बुद्धतातुमवधित्वर्थः । यथा प्रत्येकबुद्धादिरेवमुप-  
 प्राप्युदाहर्त्तव्यम् । ( हरिसजावपरिज्जाणं ति ) इह इत्येनावर-  
 णीयं इत्येनामाइनीधर्ममिच्छत बोधः, सत्यमर्थं लभयित्वा-  
 त् । तद्भावेन च तत्कथोपशमकथयत्वादिति । ( केवलं मुंके  
 भविष्ठा आगारानां आशुगारिणं ति ) केवलं बुद्धं सत्य-  
 मर्थं बोधयित्वा तस्मिन् बोधः । ( धम्मंतरादयाणं ति ) अ-  
 न्तर्गतयो विप्र, सोऽस्ति येषु तान्यन्तराधिकानि धर्मस्य  
 चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तराधिक्याणि धर्मान्तराधिक्याणि,  
 तेषां, श्रीपुन्यन्तराधिक्यमोदनीयभेदानामित्यर्थः । ( चरि-  
 तावरणिज्जाणं ति ) इह वेदलक्षणानि चारित्रावरणीयानि  
 विशेषतः आशुगारिणं, श्रेयुनाभिरतिरुद्धाण्यस्य प्रहृष्टवचनस्य  
 विशेषतस्तोभावात्कारणत्वात् । ( केवलं संजमेणं संजमे-  
 ज्जा णं ) इह संजमः प्रतिपन्नचारित्रस्य तदतिचारपरिहराय  
 बतनाविशेषः । ( जयणावरणिज्जाणं ति ) इह तु यतनावरणी-

यानि चारित्र्यविशेषविषययोस्तन्तरायज्ञप्तानि मन्तव्यानि ।  
(अञ्जवसाणावरणिजाणं ति) संवरशब्देन श्रुताप्यवसायवृत्ते-  
र्विज्ञप्तित्वात्सप्तम्याश्च प्राञ्चचारित्र्यरूपत्वेन तदावरणकृत्योपश-  
मस्यभवात्प्राञ्चवसानावर्णयशब्देनेह भावचारित्र्यावरणीयान्यु-  
क्तानीति ।

पूर्वोक्तान्वार्थान् पुनः समुदायेनाह-

असोच्चा णं जंते । केवलस्सिस्स वा० जाव तपक्खिस्सयत्तवासि-  
याए वा केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सबणयाए, केवलं बो-  
हिं बुज्जेज्जा, केवलं मुंढं भविचा आगाराओ अणगारि-  
यं पव्वएज्जा, केवलं वंजचेरं वासं आवसेज्जा, केवलेणं  
संजमेणं मंजमेज्जा, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, केवलं आ-  
भिणिवोहिंयनाणं उप्पादेज्जा० जाव केवलं मणपज्जवनाणं  
उप्पादेज्जा० जाव केवलनाणं उप्पादेज्जा ।। गोयमा । अ-  
सोच्चा णं केवलस्सिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्येगइए  
केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सबणयाए, अत्येगइए केवलिप-  
न्नत्तं धम्मं नो लजेज्ज सबणयाए, अत्येगइए केवलं बोहिं  
बुज्जेज्जा, अत्येगइए केवलं बोहिं नो बुज्जेज्जा, अत्येगइए  
केवलं मुंढं जविचा आगाराओ अणगारियं पव्वए-  
ज्जा, अत्येगइए० जाव नो पव्वएज्जा, अत्येगइए केव-  
लं वंजचेरवासं आवसेज्जा, अत्येगइए केवलं० जाव नो  
आवसेज्जा, अत्येगइए केवलेणं संजमेणं मंजमेज्जा,  
अत्येगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा, एवं संव-  
रेणं वि अत्येगइए केवलं आभिणिवोहिंयनाणं उप्पा-  
देज्जा, अत्येगइए० जाव नो उप्पादेज्जा, एवं० जाव  
मणपज्जवनाणं अत्येगइए केवलनाणं उप्पादेज्जा, अ-  
त्येगइए केवलनाणं नो उप्पादेज्जा । से कण्ठेणं जंते !  
एवं बुद्ध असोच्चा णं तं चेव० जाव अत्येगइए केव-  
लनाणं नो उप्पादेज्जा ।। गोयमा ! जस्स नाणावराणिज्जाणं  
कम्माणं खओवसमे नो कडे जवइ, जस्स णं देसणावराणि-  
ज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे जवइ, जस्स णं धम्म-  
तराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, एवं चरि-  
त्तावराणिज्जाणं जयाणावराणिज्जाणं अञ्जवसाणावरणि-  
ज्जाणं आभिणिवोहिंयनाणावराणिज्जाणं० जाव मणपज्जव-  
नाणावराणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे जवइ,  
जस्स णं केवलनाणावराणिज्जाणं० जाव खए नो कडे  
जवइ, से णं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केवलपिपन्नत्तं  
धम्मं नो लभेज्ज सबणयाए, केवलं बोहिं नो बुज्जेज्जा०  
जाव केवलनाणं नो उप्पादेज्जा, जस्स णं नाणावराणि-  
ज्जाणं खओवसमे कडे जवइ, जस्स णं दरिसणावराणि-  
ज्जाणं खओवसमे कडे जवइ, जस्स णं धम्मतराइयाणं  
एवं० जाव जस्स णं केवलनाणावराणिज्जाणं कम्माणं  
खए कडे जवइ, से णं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केव-

लिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सबणयाए, केवलं बोहिं बुज्जेज्जा  
केवलनाणं उप्पादेज्जा ।।

( असोच्च्चा णं जंते ! इत्यादि ) अथाश्रुत्वेव केवद्वयादिबन्धनं  
यथा कश्चिन्केवलज्ञानमुत्पादयत् तथा दूर्वायितुमाह-

तस्स णं जंते ! उटं छेदुं अणिकस्सिस्सेणं तनोकम्मेणं  
उट्ठं बाहाओ पणिज्जिय पणिज्जिय द्धराभिमुइस्स अया-  
वणचूर्मीए आयावेमाएस्स पगइभइयाए पगइवसंतयाए  
पगइपयणुकोहमाएमायालोभायाए मिजमइवसंपन्नायाए अ-  
ट्ठीणयाए भइयाए विणीययाए अन्नया कयाइ सुभेणं  
अञ्जवसाणाणं सुभेणं परिणामेणं देसाहिं विमुज्जमाणां हिं  
विमुज्जमाणीं हिं अट्ठीणयाए तथावरणिज्जाणं कम्माणं  
खओवसमेणं ईहापोहमणगवेसणं करेयाएस्स विजंजे  
नामं अन्नाणं समुत्पज्जइ, से णं तेणं विजंजनाणममुत्प-  
न्नेणं जइन्नाणं अंगुलस्स असंखेज्जज्जनाणं उक्कोभेणं असं-  
खेजाइं जेयणसहस्साइं जाणए पामइ, मे णं तणं विजंज-  
नाणाणं समुत्पन्नेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पा-  
मइत्ये सारंजे सपरिग्गेह संकिस्ससमाणे वि जाणइ, विमु-  
ज्जमाणे वि जाणइ, से णं पुत्तामेव सम्मत्तं पहिवज्जइ,  
समाणधम्मं रोएइ २ चरित्तं पहिवज्जइ, सिंणं पहिवज्जइ,  
तस्स णं तेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणां हिं सम्भरंण-  
पज्जवेहिं वट्ठमाणां हिं, से विजंजे अन्नाणं सम्मत्तपरिग्ग-  
हिंए खिप्पांम अट्ठी परावत्तइ ।।

( तस्स सि ) योऽश्रुत्वेव केवलज्ञानमुत्पादयेत् तस्य कस्या-  
पि “ उट्ठं उठेणमित्यादि ” च यत्कर्म, तथापि पव्वनप-  
श्चरणवना बालतपस्वनेना विभङ्गज्ञानविशेष उत्पद्यत इति  
ज्ञापनार्थमिति । ( पणिज्जिय सि ) प्रशुद्ध, घृत्वेत्यर्थः । “ पगइ-  
भइयाए ” इत्यादीनि तु प्राग्वत् । ( तथावराणं जाणं ति ) वि-  
जङ्गहानावरणीयानां ( ईहापोहमणगवेसणं करेयाणस्स सि )  
इहेहा स्वर्धर्मिमुक्ता ज्ञानचेष्टा, अपांइस्तु विपक्वनिरासो,  
मणिणं चाऽप्यवधर्मोत्थानं, गयवणं तु व्यतिरेकधर्माश्लेष-  
नमिति ( सेसं ति ) असौ बाह्यतपस्वी ( जीवे वि जाणइ सि )  
कथञ्चिद्वच न तु साक्षात्, मूर्तेर्गोचरत्वात्तस्य । ( पासंइत्येणं )  
व्रतस्थानं ( सारंजसपरिग्गहं सि ) सारम्भान् सपरिग्रहानन्वतः ।  
किंविधानं जानातीत्याह— ( संकिस्ससमाणे वि जाणए सि )  
महत्या संकिश्यमानतया संकिश्यमानानां वि जानाति ( विमु-  
ज्जमाणे वि जाणइ सि ) अट्ठीयस्या विमुज्जमानतया विमुज्ज-  
मानानां वि जानाति, आरम्भादिमतामवैस्वरूपत्वात् । ( सेसं ति )  
असौ विजङ्गहानो जीवाजीवस्वरूपत्वात्संकिश्यमान-  
तादिहापकः सन् ( पुत्तामेव सि ) चारित्र्यप्रतिपत्तेः पूर्वमेव,  
( सम्मत्तं ति ) सम्यग्भावं ( समाणधम्मं ति ) साधुधम्मं ( रोए-  
इ सि ) अरुचे चिकीर्षति वा । ( ओट्ठीपरावत्तइ सि ) अवधि-  
र्भवतीत्यर्थः । इह च यथापि चारित्र्यप्रतिपत्तिमादायतिशया  
सम्यक्त्वं परिग्रहीतं, विजङ्गज्ञानमवधिर्भवतीति पश्चादुक्तं,  
तथापि चारित्र्यप्रतिपत्तेः पूर्वं सम्यक्त्वं प्रतिपत्तिकाल एव भव-

हृत्तानस्याधिमात्रो हृदयः; सम्यक्त्वचारित्रभावे विभङ्गहान-  
स्वाजावाहिति ।

अथमेव खरयादिनिर्निकल्पकाह-

से एवं भंते ! कद्दु लोत्सामु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु  
विमुक्कल्लेस्सामु होज्जा ! नं जहा-तेउल्लेस्साए प्पहल्लेस्साए  
सुक्कल्लेस्साए । से एं जंते ! कद्दु नाणेसु होज्जा ? । गो-  
यमा ! तिसु आधिणिकोदियनाएसुयनाएआंहीनाणेसु  
होज्जा । से एवं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? ।  
गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा । जदि  
सजोगी होज्जा, किं यणजोगी होज्जा, बद्द जोगी कायजोगी  
वा होज्जा ? । गोयमा ! यणजोगी होज्जा, बजोगी होज्जा,  
कायजोगी वा होज्जा । से एवं जंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा,  
अण्णगारोवउत्ते वा होज्जा ? । गोयमा ! सागारोवउत्ते  
वा होज्जा, अण्णगारोवउत्ते वा होज्जा । से एवं जंते !  
कयरम्मि संययेणं होज्जा ? । गोयमा ! बहरंसहुनारायसंयय-  
णं होज्जा । से एवं भंते ! कयरम्मि संजाणे होज्जा ? । गोयमा !  
ब्रह्मं संजाणां अक्षयरे संजाणे होज्जा । से एवं भंते !  
कयरम्मि उच्चं होज्जा ? । जहुंअणं सचरणिए उक्का-  
मेणं पंचयणुमए होज्जा । से एवं जंते ! कयरम्मि आ-  
नए होज्जा ? । गोयमा ! जहुंअणं साहंरगइत्ताराउए उक्का-  
सेणं पुव्वकोट्ठाउए होज्जा । से एवं भंते ! किं सवेदए  
होज्जा, अवेदए होज्जा ? । गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो  
अवेदए होज्जा । जद्द सवेदए होज्जा, किं इत्थिवेदए  
होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए होज्जा, नपुंस-  
गवेदए होज्जा ? । गोयमा ! नो इत्थिवेदए होज्जा, पुरिस-  
वेदए वा होज्जा, नो नपुंसगवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए  
वा होज्जा । से एवं जंते ! किं सकसाई होज्जा, अकसाई  
होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई होज्जा, नो अकसाई होज्जा ? ।  
जद्द सकसाई होज्जा से एवं जंते ! कद्दु कसाएसु होज्जा ? ।  
गोयमा ! चउसु संजइणकोहमाएमायालोनेसु होज्जा । तस्स  
एवं भंते ! कद्दव्वा अउज्जवमाणा पण्णवा ? । गोयमा ! असंखेज्जा  
अउज्जवसाणा पण्णवा । ते एवं भंते ! किं पत्तया, अप्पमत्था ? ।  
गोयमा ! पत्तया, नो अप्पमत्था । से एवं जंते ! तेहिं पत्तये-  
हिं अउज्जवसाणेहिं बह्ममाणेहिं अणंतेहिं नेरइयजवगहणे-  
हिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिकलजोणियं  
जाव विसंजोएइ, अणंतेहिं मणुस्सभवगहणंहीतो अप्पाणं  
विसंजोएइ, अणंतेहिं देवजग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ,  
जाओ वि य मे इमाओ नेरइयतिरिक्कवओ । णयमणुस्सेदवग-  
नामाओ चत्तारि उचरएणमाओ य, तासिं च एं उवगएि  
अणंताणुबंधी कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइचा अपक्कवा-  
एकनाए कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइचा पक्कवाणा-

वरणे कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइचा संजलणे कोह-  
माणमायालोभे खवेइ, खवेइचा पंचविहं नाणावरणिज्जे  
नचविहं दरिमणावरणिज्जे पंचविहं अंतारार्यं तालमत्था-  
कदं च एवं मोहणिज्जे कद्दु कम्मरयविं कएणकरं अणुक्ककर-  
णं पविट्टस्स अणंते अणुत्तरं निन्वाघाए निरावरणे कसिये  
पंचिपुएणे केवइवरनाणदसणे समुपपजइ ॥

[स एवं भंते ! इत्यादि] तत्र [स एवं ति] एवो विभङ्गहानी मूत्वा-  
प्रवर्धनानं चारित्रं च प्रतिपन्नः [तिसु विमुक्कल्लेस्सामु होज्जा ति]  
यतो भावलेइयासु प्रशस्तास्येव सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, नावि-  
शुद्धास्त्विति । [तिसु आधिणिकांदिइयत्यादि] सम्यक्त्वमरित-  
भूताधिष्णानानां विभङ्गविभवसैनकाले तस्य युगपद्भवादा-  
ये हानत्रय एवास्ती तदा वसंत इति । [आं अजोगी होज्जा ति]  
अवधिष्णानकाले अयं गन्धर्व्याभावाद् [अजोगी] इत्यादि च  
एकतरयोगप्रधान्यपेक्षयाऽन्यत्त्वम् [सागारोवउत्ते वेत्त्यादि]  
तस्य हि विभङ्गहानान्निवर्तमानस्योपयोगद्वयेऽपि वर्त्तमानस्य  
सम्यक्त्वावधिष्णानप्रतिपत्तिरस्तीति । ननु-“सव्वाभ्रा लकीभ्रो  
सागारोवअंगोवउत्तस्स भवंति” इत्यामाम्नाकारोपयोगे स-  
म्यक्त्वावधिष्णानविरोधः ? नैवम् । प्रवर्त्तमानपरिणामजीवित्य-  
वत्यात्सव्यागमस्यावस्थितपरिणामापेक्षया खानाकारोपयोगेऽपि  
कन्धिलानस्य सम्भवोऽस्तीति । [बहरोसहुनारायसंययेणं होज्जा  
ति] प्रासव्येकवैश्वानरत्वात्सस्य, केशवहानप्रातिष्ठ प्रथमसंह-  
न एव जवन्तीति । एवमुत्तरवापीति । ननु-“प्रवर्त्तमाने होज्जा ति” विज-  
ङ्गस्यावधिज्ञाचक्राने न येदु क्रयोऽस्तौत्यसी सं । इ एव । [नो इत्थि-  
वेयए होज्जा ति] स्त्रिया एवविषयस्य व्यतिक्करस्य स्त्रान्वावत ए-  
वाभावात् । [पुरिसनपुंसगवेदए व ति] बहिंतकत्वादिद्वेन न-  
पुंसकः पुरुषनपुंसकः । [सकसाई होज्जा ति] विभङ्गवधिष्णाने  
कषायक्षयस्याभावात् । [ च उसु संजइणकोहमाणमायालोनेसु  
होज्जा ति] स ह्यवधिष्णानतापरिणतविभङ्गहानभरयं प्रतिपन्नं  
उक्तः, तस्य च तत्काले चरणुत्पत्त्यात्, संयवेना एव कोधादयो  
भवन्तीति [पत्तय ति] विभङ्गस्यावधिज्ञावे हि नाप्रशस्ताभ्य-  
वसानस्य भवतीत्यत उक्तम्-प्रशस्ताभ्यध्वंससायस्थानानांति ।  
[ अणतेहिं ति ] मननैररत्नतानागतकालभाविभिः । [ विसं-  
जोए ति ] विसंजोयति, तस्यांशियाणत्ताऽप्यनेद्विहिति ।  
( जाओ वि य ति ) या आपि च । ( नेरइयतिरिक्कजोणिय-  
मणुस्सेदवगणनामाओ ति ) एवमधिष्णानः । ( उचरएण-  
माओ य ति ) नामकर्मोधिष्णानया सुप्रकृतेरुत्तरभेदवृ-  
त्तीः । ( नासिं च एवं ति ) तासां । वैरिक्कणयाणुत्तरप्रह-  
रीनां, अउज्जवत्थासां च, ( उवगएि ति ) औप्रादिकान्  
उपएन्द्रप्रयोजनान् अनन्तानुबन्धिनः कोधमामनायालोभान् क-  
पयति । तथा प्रत्यक्ष्यानादींश्च तथाविधानं च क्षयतीति । ( पंच-  
विहं नाणावरणिज्जे ति ) मतिज्ञानावरणादिभेदान् ( नचविहं दुरि-  
साणावरणिज्जे ति ) चणुदौलोसावयणुत्तपुक्कस्य, निद्रापञ्चक-  
स्य च मीलनाश्रयविधत्वमस्य । ( पंचविहमतारायं ति ) हान-  
ल्लानभोगोपयोगी वैविशयितव्यात्, पञ्चविधत्वमन्तराश्रयस्य, त-  
त्कपयतीति संबन्धः । किं कृत्वेत्यत आह- ( तालमत्थाकदं च एवं  
मोहणिज्जे कद्दु ति ) मस्तकं मस्तकत्वं कृत्वं छिन्नं यथास्ती मस्तक-  
कृतस्तालमत्तो मस्तकस्य तालमस्तककृतः । अन्वदसत्यास्यैव नि-  
दंशः । तालमस्तककृत इत्यत तालमस्तककृतस्य भ. अयथेयं ।-छिन्न-  
मस्तकतालमस्तकत्वं च मोहनीयं कृत्वा । यथा हि-उग्रमस्तकस्तारः

कीर्णो भवति, एवं मोहनाय च कृत्वा कीर्णकृत्येति भावः । इदं कर्ममोहनीयभेदोपापसंज्ञा इत्युच्यते । अथ कस्माद्गन्तव्यमनुभवत्यदिस्वप्नश्च तत्र स्तिष्ठति सति ज्ञानावधारणायादि कृपयत्ये-  
 वेत्यत्र आह— तालमस्तकस्यादि तालमस्तकस्यैव इति क्रिया  
 यस्य तसालमस्तककृत्, तदेवंविधं च मोहनायम् । (कट्ट लि)  
 इति शब्दस्यैव गम्यमानत्वात्, इतिकृत्वा इति हेतोः, तत्र कृपिते  
 ज्ञानावधारणायादि कृपयत्येवात्, तालमस्तकमोहनीययाञ्च क्रि-  
 यासाधयेत्येव । यथा— तालमस्तकविनाशक्रियाऽप्यवश्यं भाविशेषक-  
 र्मविनाशेति । आह च— मस्तकसूचि विनाशो, नालस्य यथा  
 ध्रुवो भवति नाशः । तद्वत्कर्मविनाशोऽपि मोहनीयस्यैव नित्यम्”  
 ॥ १ ॥ ततश्च कर्मरजोविंशतिरणादि तद्विद्वत्कृपकर्मपुत्रकरण-अस-  
 दशापववसायविशेषमनुभविष्यत्याऽनन्तम्, विषयानन्त्यातः अनु-  
 चरं सर्वोत्तमत्वात्, निष्पाद्यते कुत्रादिनिर्ग्रामनदानवत्, निरा-  
 वारणं सर्वथा स्वावगणत्वात्, इत्यन्तं सकलार्थप्राहकत्वात्, प्र-  
 तियेषु सकलस्थानां कृत्यापेक्षयापेक्षया, केवलस्वरक्षानदर्शन-  
 केषुलम्बिभानतोऽवद्वानन्तर्यायिण्या, शानं च दर्शनं च ह्यानदर्श-  
 नम् । समाहारद्वन्द्वः । ततः केवलादीनां कर्मपरयः । इह च  
 कृपणकामः “अथमिच्छमीससम्, अद्भु नपुंसिन्धियेऽर्कं च ।  
 पुमन्वेयं च खरैर्, कोहार्हेप च मंजुस्रणम्” ॥१॥ इत्यादिग्रन्थान्तर-  
 प्रसिद्धो नवायमिहाश्रितः; यथा कथञ्चित्कृपणासाधनस्यैव वि-  
 चकित्तत्वादिति ।

से एणं भंते ! केवलिपण्ठं धम्मं आयेवज्ज वा पण्वेज्ज  
 वा पक्खेज्ज वा ?। पो इण्ठे समट्ठे । नस्यत्त एगणाएण  
 वा एगवागरेणोणं वा । से एणं भंते ! पक्खेवज्ज वा मुंदावेज्ज  
 वा ?। नो इण्ठे समट्ठे, उवदेसं पुण करेज्जा । मे एणं जंते !  
 किं सिउभङ्गं जाव अन्नं करेइ ?। इंता मिउभङ्गं जाव करेइ ।  
 से एणं जंते ! किं उहुं होज्जा, अहे होज्जा, तिरियं होज्जा ?।  
 गोयमा ! उहुं वा होज्जा, अहे वा होज्जा, तिरियं वा  
 होज्जा, उहुं होज्जमाणं सवावड विपडावड गंथावड माद्ववं-  
 तपरियाएसु वट्टेवण्णवण्णवण्ण होज्जा, साहरणं पडुब सं-  
 मणसवणे वा पंगवणे वा होज्जा, अहे होज्जमाणं गड्ढए  
 वा दर्रीए वा होज्जा, साहरणं पडुब पायासे वा भवणे वा  
 होज्जा, तिरियं होज्जमाणं पणस्ससु कम्मवृत्तीसु होज्जा,  
 माद्वरणं पडुब अदाइज्जदीवससुत्तदेकं देसभाए होज्जा ।  
 ते एणं भंते ! एगसमएणं केवडया होज्जा ?। गोयमा !  
 जइसणं एक्को वा दो वा तिमिि वा उक्कोसेणं दस, से तेण-  
 ङ्गं गोयमा ! एवं बुद्धे, असोबां एणं केवलिस्स वा० जाव  
 अत्येगए केवलिपण्ठं धम्मं जभेज्ज सवणयाए, अत्येग-  
 डए केवलि० जाव नो लजेज्ज मवणयाए० जाव अत्येगए  
 केवलिनाणं उपाडेज्जा, अत्येगए केवलिनाणं नो उपाडेज्जा ।  
 [ आद्यवज्ज लि ] आसाहयं चिच्छयानर्थापयेद्वा, प्रतिपादनतः  
 पुत्रां प्रापयेत् । [ पक्खेवज्ज लि ] प्रहोपयेत् अदभ्रमनतो बोधये-  
 द्वा । [ पकथंज्ज लि ] उपार्णसकधनतः [ णऽमन्थपगमापणु व  
 लि ] न इति यांस्य निषेधः, साऽप्यत्र एकज्ञानत्रकमुद्राहरणं  
 वर्यं (यावेत्यर्थः); तथाविधकल्पवत्त्वं इत्येति । [ एगवागरेणोणं व

लि ] एकव्याकरणत्वादेकोत्तरादित्यर्थः [ पक्खेवज्ज व लि ] प्रमाज-  
 येत् रजोहरणादि कल्पयित्वादानतः । [ मुंदावेज्ज व लि ] सुवृत्तयेव  
 शिरोस्तुब्धनतः [ उवपल्लं पुण करेज्ज लि ] अमुष्यं पार्थं प्रमेज्जत्या-  
 दिकमुपदेशं कुर्वन् । “सहायैरैत्यादि” शब्दापातिप्रज्ञतयो  
 यथाक्रमं जम्बुद्वीपप्रह्वयभिरायेण हैमवतहरिवरपर्यकरेणय-  
 बन्धु, क्षेत्रसमासाभिप्रायेण तु हैमवतैरयवतहरिवरपर्यकसु  
 जवन्ति, तेषु च तस्य भाव आकाशगमनवैधिसंयकस्य तत्र गा-  
 तस्य कथप्रज्ञानोपादि सज्जायै सति [ साहरणं पडुब लि ] द्वेष  
 नयनं प्रतीत्ये [ सोमणसवणे लि ] सौमनसवयं मेरी तृतीयं  
 [ पङ्कवणे लि ] मेरी अतुर्थं ( गड्ढए व लि ) गर्ते निक्षे भूजयं  
 आधोश्लोकप्रामादीं ( दर्रीए व लि ) तथैव निम्नतरप्रदेशे ( पा-  
 यावे व लि ) महापातालकलशे वसयामुसादी ( अन्वेषे व लि )  
 जयनयासिद्धयनिवासं ( पणस्ससु कम्मवृत्तःसु लि ) पञ्चभर-  
 तानि पञ्चैवतानि पञ्च महाविद्वा इत्येवञ्जगणसु कर्माणि  
 इत्यधिगणित्यादीनि तत्प्रधानाभूयस्य कर्मभूयस्यस्तासु ( आहूह  
 इत्यादि ) अर्कं तृतीयं येयां नऽपुंस्त्वृत्तीयाः, ते च ते द्वीपांश्विति  
 समासः, अर्धत्वृत्तीयाद्वीपाश्च समुद्रैः च तत्परिनिवावर्द्धत्वृत्तीयाद्वी-  
 पसमुद्राः, तेषां, स बासी विचक्षितो दशकपो भागोऽंशोऽर्ध-  
 तीयाद्वीपसमुद्रतद्वैकदेशभागः, तत्र ।

अनन्तर केवल्यादिचक्षुनाश्रवणे यस्यात्, तदुक्तम्, अथ  
 नच्छ्रवणे यस्यात्सादाह-

सोबाणं जंते ! केवलिस्स वा० जाव तपक्खिवणुवामियाए  
 वा केवलपण्ठं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ?। गोयमा ! सोबा  
 णं केवलिस्स वा० जाव अत्येगए केवलपण्ठं धम्मं  
 एवं जा चव असोबाए वचवया, मा चव सोबाए वि भा-  
 णियव्वा, नवरं अग्निश्रोतो सोसत्ति, सेसं ते चव णिरवसेसं०  
 जाव जसएणं मणपज्जवणणावराणज्जाणं कम्माएणं खओ-  
 वसेमं कमे भवइ, जसएणं केवलपाणावराणज्जाणं कम्मा-  
 णं खए कमे जवड, से एणं सांच्चा केवलस्स वा० जाव उवा-  
 मियाए वा केवलपण्ठं धम्मं जनेज्ज मवणयाए, केवलं  
 बाहिं बुजेज्जे० जाव केवलसाणं उपाडेज्जा, तसएणं अड्ढ-  
 मं अड्ढमेणं अग्निक्खिल्लं तरोकम्मएणं अण्णायं जाव-  
 माणस्स पगइभयाए तहव० जाव गंवेसणं करमाणस्स ओ-  
 दिणाणं समुपज्जइ, से एणं तेणं ओहिणाणं समुपपणं  
 अंगुल्लस असेखेज्जऽभाणं उक्कोसेणं अयंखेज्जाइ अहोए  
 सोअप्यमाणमेचाइं खेवाइं जाणइ पासइ । से एणं जंते ! क-  
 इसु देस्सासु होज्जा ?। गोयमा ! छुमु जेस्सासु होज्जा ।  
 तं जद्दा-कएह्लेस्साए० जाव मुक्कइस्साए । से एणं जंते !  
 कऽसु णाणेसु होज्जा ?। गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा,  
 तिसु होज्जमाणं तिसु आभिणिवांरिहियाणसुअण्णआ-  
 दिणाणंसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे आभिणिवांरिहियणाए-  
 सुअण्णआदिणाणसुपज्जवणणसु होज्जा । से एणं जंते !  
 किं सजागी होज्जा ?। एवं, जोगोवआगो संययासंजाणं  
 उचचत्तं आउयं व, एयाणं सव्वाणि न्हा असोक्काए तहव

भाणियव्वाणि । से एं जंतं ! किं सवेदए पुच्छा ? । गोयमा ! सवेदए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा । जइ अवेदए वा होज्जा, किं उयसंनवेदए, खीणवेदए होज्जा ? । गोयमा ! एो उवसंतवेदए होज्जा खीणवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा ? । गोयमा ! इत्थीवेदए वा होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, पुरिसएणुंसगवेदए वा होज्जा । से एं भंते ! सकसाई होज्जा, अकसाई होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई वा होज्जा, अकसाई वा होज्जा । जइ अकसाई होज्जा, किं उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा ? । गोयमा ! एो उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा । जइ सकसाई होज्जा से एं भंते ! कइसु कनाएसु होज्जा ? । गोयमा ! चउसु वा तिसु वा दोसु वा एकम्मि वा होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु संजलणकौट्टमाणपायालोजेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु संजलणमाणपायालोजेसु होज्जा, दोसु होज्जमाणे दोसु संजलणमाणपायालोजेसु होज्जा, एकम्मि होज्जमाणे एकम्मि संजलणलोजे होज्जा । तस्म णं जंतं ! केवइया अज्जवमाण पमत्ता ? । गोयमा ! । अस्संखेज्जा, एवं जइ। असोच्चाए तहव० जाव केवलणाणं समुप्पज्जइ । से एं जंतं ! केवलपमत्तं धम्मं अप्रावेज्ज वा पमवेज्ज वा परुवेज्ज वा ? । इंता गोयमा ! अप्रावेज्ज वा पमवेज्ज वा परुवेज्ज वा । से एं जंतं ! परुवेज्ज वा पुंकावेज्ज वा ? । इंता पकावेज्ज वा मुंकावेज्ज वा । से एं जंतं ! मिज्जइ बुज्झइ० जाव अंतं करइ । तस्म णं जंतं ! सिस्सा वि सिज्जंति० जाव अंतं करंति ? । इंता सिज्जंति० जाव अंतं करंति । अस्सं जंतं ! पसिस्सा वि मिज्जंति ? । एवं चव० जाव अंतं करंति । से एं जंतं ! किं उडं होज्जा, अहं वा ? । जइा असोच्चाए० जाव तदेकदेसभाए होज्जा । से णं जंतं ! एगसमएणं केवइया होज्जा ? । गोयमा ! जहसिणं एक्कां वा दो वा तिसिं वा, उकोमिणं अट्टसयं, से तण्णट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, सोच्चा णं केवलिसस वा० जाव केवलिसवासियाए वा० जाव अत्रेयगइया केवलणाणं उप्पामेज्जा, अत्रेयगइया केवलणाणं णो उप्पामेज्जा ॥

( सोच्चाणमित्यादि ) अथ यथैव केवलयादिवचनान्नाश्रयणावात-  
 बोधार्थः केवलज्ञानमुपपद्यते. न तथैव तन्नुक्तावातसोच्चादेः कि-  
 न्तु प्रकारान्तरेणैति द्रष्टव्यमुदाह० "तस्म णमित्यादि" [तस्स  
 लि] यः सुत्वा केवलज्ञानमुत्पादयेत्तस्य कस्यापि, अर्थात्तत्प्रप-  
 न्नायवृत्तान्तकारिप्रसिद्धस्य "अहमं अहमेणं" इत्यादि क यदु-  
 क्तं, तत्रार्थो विकृष्टतन्मकारणतः स्यात्प्रायश्चित्तज्ञानमुपपद्यत इति  
 ज्ञापनार्थमिति [लोचयप्पमाणमंसाई ति] लोकस्य यद्यमाणं प्रा-  
 ना, तद्वच परिमाणं यथां तानि तथा। अथेनमेव वेदयादिर्निर्दि-

पयकाह-[से णं भंते ! इत्यादि] नत्र [ से णं ति ] सोऽनन्तर-  
 कथिशेषणोऽर्थावधानी। छुसु तेसासु होज्ज [ लि ] यद्यपि भाव-  
 सेधयासु प्रशस्त्यास्येव तिसुत्थवधिज्ञानं ज्ञमते, तथापि द्रष्टव्यस-  
 द्या। प्रतीत्ये वदत्स्यपि श्रेयसासु ज्ञमते, सत्यकथ्यतवत् । यदाह-  
 "सम्मत्तसुं संख्यासु लजइ [ लि ] तज्ज्ञाने चासीं वदत्स्यपि जय-  
 तीत्युच्यत इति । [ तिसु व [ लि ] अथचिह्नानस्याऽऽप्यज्ञानस्यार्थावि-  
 नाश्रुतत्वादिचिह्नानार्थावधानी त्रिसु ज्ञानेषु भवेदिति । [ चउसु वा  
 होज्जा [ लि ] इतिभुतमनःपर्यवधानिनोऽवधिज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतु-  
 स्रयजावात्तुषु ज्ञानेस्त्वचिह्नानार्थावधानी जयति । [ सवेयए वे-  
 त्यादि ] अक्षाणवदस्यार्थावधानोत्पत्तौ संबद्कः सत्तर्थावधा-  
 नी भवेत्, क्तीयावदस्य वाऽवधिज्ञानोत्पत्तावयद्कः सत्तर्थावधा-  
 न् [ नो उवसंतवेदए होज्ज [ लि ] उवसंतवेदोऽयमवधिज्ञानी न  
 भवति, प्रासत्यकथंज्ञानस्यास्य विषयित्तत्वादिति । [ सकसाई  
 वेत्यादि ] यः कथायक्येव सत्यवधिं लजते स सकपायी सत्तर्थावि-  
 ज्ञानी भवेत्, यस्तु कथायक्येऽसावकपायीति [ चउसु वेत्या-  
 दि ] यत्तर्थावधिः सत्तर्थावधिं ज्ञते तदाऽयं चारित्र्यकत्वात्त-  
 तुषु संजलनकथं प्रपद्ये जयति । यदा तु सत्तर्थावधिं विवर्तित्वा-  
 न्जलनकथं क्रीणं ऽवधिं ज्ञमते, तदा त्रिसु संजलनमामादिषु,  
 यदा तु तथैव संजलनकथं प्रपद्यतेः क्रीणोत्पत्त्या इत्याः, एवम-  
 कथेति । म० ए० श० ३१, ३० ।

भगवतीनिवमयातकोनोऽशुक्लाकेशी धर्मोपदेशं दत्ते न वे-  
 त्यत्र एकं ज्ञानं एकं प्रश्नं च मुकुवा धर्मोपदेशं न दत्ते इति  
 तत्रैवोक्तमस्तीति । ही० २ प्रका० ।

असोखिय-अशोणित-वि० । अकथिरप्राते, पञ्चा० १६ वि० ।

असोम्मगहचरिय-असोम्यग्रहचरित-न० । हूरप्रहचारे, प्र-  
 अ० २ आश्र० द्वार ।

असोपथया-अशोचनता-खी० । शोकानुत्पादने, पा० ४० ज० ।

असोद्विष्टाण-अशोषित्याण-न० । कुशीलसंस्क्रम्योमं, अश० १० ।

अस्स-अश्व-पुं० । घोटके, दश० १ अ० । तं० । प्रक्षा० । अश्विनी-  
 नक्षत्रेवतायाव, ज्यो० १५ पाठु० । सु० प्र० । " द्वा अस्सा "   
 स्या० १ डा० १ उ० ।

अस्व-पुं० । न विद्यते स्वं उव्यमस्य सोऽयमस्वः । निग्गंथे,  
 प्राचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अस्मकस्य-अस्वकस्य-पुं० । अश्वमुजस्य परतोऽन्तर्हीय, नं० ।

अस्सकस्यी-अस्वकस्यी-खी० । कन्दभेदे, म० ७ श० २ उ० ।  
 जी० । प्रक्षा० ।

अस्सकरण-अस्वकरण-न० । यथाऽश्वानुदिस्य किञ्चित् क्रियते  
 तस्मिन् स्थाने, प्राचा० २ श्रु० १० अ० ।

अस्सचोरग-अस्वचोरक-पुं० । घोटकचौरं, प्रअ० ३ आश्र० द्वार ।

अस्सतर-अस्वतर-पुं० । एकसुर [ लच्छर ] भेदे, प्रक्षा० १ पद ।

अस्समुह-अश्वमुत्त-पुं० । आदशमुजस्य परतोऽन्तर्हीय, प्रक्षा०  
 १ पद । नं० । ( ' अंतरहीय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२ पुं० ऽ-  
 स्य वर्णक उक्तः ) अश्वकारमुत्तं पुत्रवाकारोऽप्याहं च कि-  
 षंते, वाच० ।

अस्तमेह—अत्रवमेध—पुं० । अशो मेष्यते हिंस्यते ऽत्र । मेध—घञ् । पञ्चमेधे, बाच० । "वद् सद्दृष्टानि युज्यन्ते, पश्यान् मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनाद्, न्यूनानि पशुमिच्छिभिः" ॥ १ ॥ अत्रु० । विशे० । स्या० ॥

अस्तसेण—अश्वसेन—पुं० । पार्श्वनाथस्य जिनस्य पितारि, प्रथ० ११ द्वारा । आच० । चतुर्थेऽपि महादामे, सं० प्र० २० पाठु० । सू० प्र० । स्या० ।

अस्ताउदिसु—असादीदीर्य—त्रि० । असादनेन कर्मणोदीरिते, प्रथ० ३ आश० द्वार ।

अस्ताएमाण—अस्तादपत्—त्रि० । ईषत्स्वादपति इच्छुजयडादेरिव बहु त्यजति, भ० १२ शृ० १ उ० । आवा० ।

अस्तात—अस्ताद—पुं० । रत्ननाऽऽह्लादके स्वादे, वृ० १ उ० । अस्तामित्त—अस्वामित्त्वं—न० । निःसङ्कतायाम्, पं० ब० ७ द्वारा ।

अस्तावोदितित्य—अस्तावोदित्यतीर्थ—न० । स्वनामक्यते तीर्थे, ती० ।

नमिऊण मुव्वयजिणं, परोवयायिक्करिसिअमसिअकं ।

अस्तावोदितित्य-स्त कप्पमपं भणामि अहं ॥ १ ॥

सिद्धिमुणिसुव्वयसामो उत्पन्नकेवलो विहरतो पणयाए इहपुराओ पणयाए ढाणगरवाणिए सच्चिआज्जाणि ज्ञेयिअ पार-रुअस्तमेहजण्ल जियसत्तुआद्या निअसेणा-तुरगमं सव्व-लत्तणसलपणं होमिउं मुअडुओ । इमो अट्टज्जाणओ तुगइं जादि चि पडिवाहंउं लादइंसमइणं नमय्यायिअंअओकिए अरुअकपनये कोरिटवणं पत्तो । समसत्तरेण पणो ज्ञेयाओ वेदिउं, राया विगयाकडो आगम्म भगवते पणमिओ । रुधरते सो हरी सिट्ठाए विहरतो नियसपुरिसिंहं समं तथयाओ सामिणो क-थमप्वडिऊवं पासित्तो निअओ संजाओ । सुआ य धम्मदंसणा । तेण जाणिअं अ सों पुव्वजयो भगवया । जहा पुव्वभवे इहेव जजु-हीवं अवरोविदेहं पुक्खअविजए वंपाए नयरीए सुरासिओ नाम राया अहमासि, मअरुपरमसिअं तुम मससरो नाम मंती बुरया । अइं नद्धुगुठपायमूडे दिक्खं पडिअजिय पत्तो पाणय-कण्व । तथ वीसं सागरोवमाइं आउं परिपणिसत्ता तओं सुओ इ तिथयरो जाओ । तुम क ववउजअ नराओ आदे वासे पडमि-जिउंसनयरे सागरदसो नाम सत्थवाहो अइंसि मिअवि-डु । विणोओ अ । अणया तुमए पारयणं त्थवायणं, तपुपण-रथं ज आरामो रोविओ । आणओ अ पणो तस्स चित्तकरणे निअओ, गुअआए से ण सत्थओ वि क्रियाओ सव्वावि-नें तुम कालं गमेसि, जिणअम्मनामपणं सावरणं सडु अया पवमा मिअं, तेण सच्चि पणया गओ तुम साहुसगास । तेहिं दे-सणंनेरं भाणियं-"जा कारवेइ पदिमं, जिणण अंगुटुपव्वमिस-सिम् । निरिनरयगइउवारे, नूणं नेणुअमला दिआ" । एवं सोऊण तुम गिहेमिअण्णु कारिआ इममरें जिणिंदपदिमा, पइडुविऊण तसंके पुइउमाडवो । तं अणइअइसंपसे माहमासे लिंगपूर-णपवं आराहेउं तुमं सिआवयण पत्तो । तओ जइधारीहिं वि रसं विअ घयं कुंभीओ उत्तरीओ लिंगपूरणयं । तेण लम्भाओ धयापणिलियाओ, जअपहिं निअं यपारिहिं माइज्जमाणओ द-दृशु विरं धूणिसत्ता सारिउं लम्भो तुमं । अहो ! एयसिं देसणीण वि निइयया । अइरारिसा निदिणो वराया कइं जीवदं पात्तइ-

स्तंति ? तओ निअकेलं बलाहिं ताओ पडमजिया कओ तुमं तेहिं निऊणियवरे धम्मसंकरकारयअरदेतपासंरीहिं व चिअंविअसि लि । तओ सो सव्वधम्ममाविहाराओ जाओ, परमंअकियाओ धम्मर-सिअं लोभं इंसंतो मायारं तेहिं तिरिआओ अर्धांधिता अवं म-मिऊण जाओ तुमं रायवाइणं तुगइमा । तुऊं षेव परिआहणयं अइमाणु वि मित्राणुअणमं ति । सामिणो धयणं सुआ तस्स आयं आइस्सरणं । गहिआ य सम्मसमूलदेसविअं, पक्कआयं सविअं फासुअं तेण नीरे क गिएइइ, कुम्मासे निव्वाहिअ सि अ सो मरिऊण सोहमो मरिइहिमा सुरो जाओ । सो अदिहा मुणिसु पुव्वजयं सामिसमोसरणुओण रयणमयं वेअइअकाले । तथ सुव्वयसामिणा पडिमं अण्णायं अ अस्तसकवं उविअ गमो सुराअयं । तथो अस्तावोदितित्य तं पालिं । सो हेवो उविअअसं-धयिअइरणेणं तित्थं पनाविता कालेण नरनेधे निअइइअ । काइंनरेण सउंअिआविहाइ त्ति तं तित्थं पालिं । कइं ? इहेव अ-बुहिं सिइअदीवं रयणदेसे सिरिपुननयरे वंदगुलो राया । तस्स चंदेइदा मरिआ । तीसे सत्तए पुणायं उवरो नररत्ता देवी आगइणं सुदेसणा नाम धूआ जाया; अइ । अस्तकलविज्जा पत्ता सुव्वणं । अणया अत्थाणु ए उअंगगराया तीसे धणेरो नाम नेगमो जरुअकडुओ भागते । विउजपासच्चिअनियतु अमंथे वा-णिअ य ह्यीयं । तेण नमो अरहेताणं ति पदिअं सोउं मुअिआ सा, सुइिओ अ धाणियओ, पत्त वेणयाए य जास्सरणमुणया ए-सा इहणु धम्मबंधुं त्ति मोइओ । रथा मुअुआकारेण पुअिअआए तीए भाणिअं-अइ । इइं पुव्वभवे जरुअअन्ने नमयातीरे कोरिटव-ये वरुपायवे सवलिआ आसो । पाउसे अ सत्तरेसं महाडुइं जा-या । अइमहिणं वुहाकिंनेता पुए जमंतो इइं बाहस्सपंगणाओ आमसं चित्तु उट्टीणा, वरुसिंहे निविअ य, अणुपयमाग-एण वादिण संयण विआ, मुआओ पडिअं पत्तं, सरं क गिएसिना गओ सोअट्टाणो । तथ कणुणं रसंतो उव्वसणपरिअणपरा दिट्टा पत्तेण सुंरिणा, सत्त वेणयाए य जलपत्तजलेण, विओ पंचनमुआओ स-इओ अ मए । मरिऊण अइ तुमइ धूआ जायं ति । तओ सा विस्-यविरत्ता महाअनिअणु पिअर आणुअण्ये तेणव संजातपण स-च्चि पडिआ वाइणाणं सत्तसएहिं अइअकडु, तथ पोअसवं व-त्थायं पोअस्ये इव्वनिवयायं, एव वंदणागसइहाअ अणसिअ-णाणं नागाविदपक्कअकलाउं, पहरणाणं एवं कुसया पोअणं प-आसं, सत्थधराणं पआसं पाहुआणं, एवं सत्तसयवाइणु-जुत्ता पत्ता समुहरीरे । तओ रथा तं वाइणवुं सिंदहे-सअअककंदसलया मज्झिआए सेणुए पुररुआमिआ-रणायंतुं पाहुउं वेदामो सुइंसणा आगमणेणं विअत्तो राया तेण सजासेपण । तओ सो पणोणीए निमाओ । पाहुडु हाइण पणमिओ । कणाए यवेसयहुसवो अ जाओ । विउं तं वे-इअं, विहिणा वंदिअं पूअसं अ, तित्थोववासो अ कओ, रथा दि-अ पासा पडिअमा रायणा य अट्टु वेलाउताइं अइसया माआणं अट्टुसया वण्णायं अट्टुसया पुरायं विणण, एयादिने अ इओअसं भूमिं तुगइमा अइ, तसिअं पुव्वविअए, अत्तिसव अ चिअं अ, तसिआ पडिअमाए दिणुओ । उवरोहेण सव्वं पमिअणं । अणया तस्सवायारियसत्त बासे निअपुव्वभवं पुव्वइ । जहा-अयवं ! केण कम्मणा अइं संउत्तिआ जाया, कइं व तेण थाइण अइं निइय-सि ? आयरिणिं भाणुअं-मं ! वअपुअवए उत्तरसेइए अइसया नाम नयरी । तथ विज्जाहरिं संखो नाम राया तम्म विज्जाया-भिहाया तुमं धूआ आसिं । य जलया वादिणसेहुंए महिसाण

वर्षतीयं तुमय नईतडे कुकुकुडसण्या दिठो । सो य रोसवसेणं  
 तप सारिओ । तथ नईय तीरे जिणावयणं द्दुल्लु वंदिअ भयव-  
 ओ विंषे परमत्तपिपरवसाय तुमय । जाओ परमणांढो । तओ  
 ओइयाओ निगच्छुतीयं तुमय दिट्ठा पया पिरस्समखिआ  
 साहुणी । तीय पाय वंदिता धम्मओहिआ अज्जाय तुमं । तुमय  
 विमीसे विस्सामणांहेहि सुस्ससा कया, चिरें गिहमागया । का-  
 भेण कालधम्मं पवथा अट्टअकणपराइया कोरंउयवणे सउणी  
 जायतुमं । सो अ द्दुकुडसण्या मरिक्खु बाहो संजाओ । तेण पुव-  
 वेरेण सवणीभवे तुम वाणेणं पइया । पुव्यभवकयाप जिणुअ-  
 सीय, गिलाणसुस्ससाय अ भंते बोहिं पत्तास तुमं । संपयं पि  
 कुणसु जिणप्यणीं भं दानाणधम्मं ति । पये तुकणं वययं सुखा  
 सव्ये ते द्दवं सत्तजिणीयं वि वेह । अइअस्स उकारं करेइ । अउ-  
 वीसं च देवकुणयाओ पांसइसाहा-दानासाहा-अज्जयणसाहा-  
 ओ कोरेइ । अओ ते नित्यं पुववभवनामेणं सउडिअविहाक ति  
 मइइ । अंता य संसेहणं द्दवमभावपिअं कोरं कयाणसा  
 सा वरसाहे सुदपंचमीय ईसायं हेवलोमं पत्ता । सिरिसुववयसा-  
 मिंसिदिगमणाणंतरें इकरसेहि लक्खेहि चुल्लसीअइस्सेहि च-  
 उलयसत्तरें हि च वासायं अइपीहि धिक्खसाहिय खं सवच्छरो  
 पइहा । जीवंतसुवयपसाभिअविककया पुण पयारसत्तलक्खेहि  
 अइवापिसुणपंचयवइसहस्सेहि च वासायं धिक्खो मारी ।  
 पया सउल्लिआवइारस्स उयसी । लोइअतिथाण अणेगाणि  
 मइअथं वइति । कमेण उदयपुअं वाहमद्वेवणं सित्तंजय-  
 पासायउत्तार कारिय, तदसुजेण अंबडेण पुणइय सउल्लिआवि-  
 हारस्स उइयां कारिओ । मिच्छदिठायं सिधवादिवांणं अंब-  
 डस्स पासायसिहरे नभंत्तस्स उवसग्गो कओ । सो उ  
 निगाओ विउजायलेण सिरिइमचंदसुरीहिं । "अस्सायवोहि-  
 तित्थ-स्स यम कणो समासओ रइओ । सिरिजिणपइसुरीहिं, अ-  
 नियादिं पडिउत्त तिकालं" ॥ १ ॥ अस्सायवोचकल्पः समाप्तः ॥  
 १० ॥ कइय ।

अस्सावि ( ण ) -आस्साविण्-त्रिं० आ समनतां स्रवति तच्छी-  
 ल आस्रात्री । सच्छिन्न, सूत्र० । "जहा अस्साविणि नायं, जाइ  
 अंधो दुक्कइय ।" सूत्र० १ सु० १ अ० २ उ० ।

अस्मि-अस्मि-पुं० । चतुर्द्विग्विभागोपलक्षितासु कोटिषु, इथा० ६  
 टा० ।

अस्मिन्-पुं० । अस्मिन्वया देवतायाम्, इथा० १ टा० १ उ० ।

अस्मिणी-अस्मिनी-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्र० । इथा० ।  
 अजु० । मखिवन्धा अरवो देवता । सू० प्र० १० पाहु० । "अस्मि-  
 नी नक्षत्रं तितारे पणत्त ।" स० ३ सस० ।

अस्सेमा-अस्सेया-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्र० । विंश० ।

अस्सोकंता-अश्वोकान्ता-स्त्री० । मध्यमप्रासस्य पञ्चम्यो  
 मूर्च्छनायाम्, इथा० ७ टा० ।

अस्सोती-आश्वयुज्जी-स्त्री० । अश्वयुजि अवाऽऽश्वयु जी । अ-  
 श्वयुक्कमासजाविन्ध्याममायां, पैणमास्यां च । सं० प्र० १ पइ० ।  
 सू० प्र० ।

अस्तवदि-अथेपति-पुं० । "स्थथेयोः स्तः" । १ । २९१ । इति  
 थंथ्य स्तः । "पो वः । ट । १ । २३१ । इति पस्थ यः । धनिनि,  
 प्रा० ४ पाद् । हुं० ।

अह-अय-अव्य० । आनन्तर्यं, प्रा० सू० ४ अ० । सूत्र० । नि०  
 सू० । दश० । प्रनु० । क्र० प्र० । उपत्यासं, नं० । वक्तव्यान्तरा-  
 पत्यासे, उक्त० ३ अ० । अयसानमङ्कलायं, सूत्र० १ सु० १६  
 अ० । वाक्योपपत्त्या, आवा० १ सु० ६ अ० १ टा० । सूत्र० । उप-  
 प्रदर्शने, आवा० १ सु० ८ अ० १ उ० । उक्त० । पदान्तरयोसने,  
 ज० ५ श० ६ उ० । विकल्पे, जी० १ प्रति० । विशेषे,  
 इथा० ७ टा० । प्रकियादिचयैषु, यत उक्तम्-अथ प्रकिया  
 प्रज्ञानन्तर्यमङ्कलापत्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु । सू० १ उ० ।  
 जी० । आ० प्र० । दश० । अजु० । इथा० । प्रअ० ।  
 यथार्थे, आ० म० प्र० । वाक्यालङ्कार, सूत्र० १ सु० ७ अ० ।  
 पादपूर्णे, पञ्चा० १ ए वि० ० ।

अप्यत्-न० । अथत्तदङ्गुदायं, आवा० १ सु० १ अ० ५ उ० । इथा० ।  
 सू० प्र० । जीवा० । अप्राप्तौ, "अहा चित्तुं" प्रअ० ३ आअ०  
 टार । अधोलोके, इथा० ३ टा० ४ उ० । दिग्भेदे, इथा० ६ टा० ।

अदं-अदस्य-असदः । सिता सहाऽऽमादेशः । प्रा० । "णे ण मि  
 अमिं०" ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ इत्यादिसूत्रेण अस्मदोऽस्मा सहाइ-  
 मादेशः । प्रा० ३ पाद् । आत्मनिदेशे, आ० म० प्र० । आवा० ० ।

अदकार-अदङ्कार-पुं० । अहोऽह, नमो मह्यमित्येवमदङ्करणम-  
 दङ्कारः । निश्छिन्नेषु बहुमाने, विशेष० । ऐश्वर्यव्याप्त्यादिमदज-  
 निते अस्मिमाने, सूत्र० १ सु० ८ अ० । सुकहं न दुःखित्येव-  
 मात्मनः प्रथय, सूत्र० १ सु० २ अ० । आ० म० ।  
 अहमित्ति स्वध्यायेनोन्मादपरे परमावकरणे कर्तुनाकूपे, अष्ट० ४  
 अष्ट० । सूत्र० । अहं शब्देऽहं शब्दोऽहं गणेऽहं रूपऽहं रूपेऽहं स्था-  
 मी अहमीश्वरोऽस्मी मया हतः, मसत्याऽसु हनिष्यामीत्यादिप्रत्य-  
 यरूपे, इथा० १५ इथा० । अस्मिमाने, आवा० ३ अ० । यथात्तःकरणप्र-  
 हमित्युक्ते खनविषयं वेदवते । ज्ञ० २० ज्ञा० । बुद्धिरेवदङ्कारव्या-  
 पारे जनयन्ती अदङ्कार इत्युत्पत्ते । ज्ञा० ११ ज्ञा० ।

अदकम्-यथाकम्-अव्य० । यथापरिपाट इत्यर्थे, दश० ४ अ० ।

अदकलाय-अथा(यथा)क्यात्-न० । अथशब्दो यथार्थे, आह  
 अर्थावयौ, याथातथ्येन, अनिधिधिना च यत् आक्याने, कथितम-  
 कयायं चारिप्रमिति । तदथाक्यातम् । यथा सर्वस्विन्न जीवलोक-  
 कयाते प्रसिद्धमकयायं भवति चारिप्रमिति तथैव यत् तद् य-  
 थाक्याते प्रसिद्धम् । अ० म० प्र० । आर्थे यकारलोपः । प्रा० २  
 पाद् । अकयायं चारिरे, आ० सू० १ अ० । पञ्चा० । पं०  
 सं० । विशेष० ।

अथ यथाक्याते विवृणुवन्नाह-

अदसरो जाइत्ये, आर्कोऽनिविहीणं कट्टियमकलायं ।  
 चरणमकनायमुदितं, तमहकलायं नदकलायं ॥ ११७७ ॥  
 अन्त्येत्यं यथायातय्यायं, आह अनिविधौ, तन्नञ्च याथातथ्येना-  
 जिधिधिना वाऽऽक्याते कथितं यदकयायं च चरणं तदथाक्या-  
 तम्, यथाक्याते वा उदितमिति ॥ १२७७ ॥

तच्च कतिविधिमियाह-

तं दुवियापं ल्लुम-त्येकवलिविहाणो भुणेकेकं ।  
 खयसपज-मजोगाजो-मिकेवलिविहाणो भुणेकेकं ।  
 तच्च यथाक्यातचारिरे अथाकवलिसामिनेदत्त द्विविधम् । लुप-  
 खसंबन्धि पुनरपि द्विविधम्-कोहकृपसमुत्थं तदुपशमप्रत्ये च ।



केवलिसंबन्धयति सयोग्ययोगिकवशिनैवेतो द्विविधमेवेति । १२२०।  
विद्यो । पञ्च । उच्च । आ० म० । अ० । तद्वि द्विविध-  
सुपधमककयकअंगिमेदात् । शेषं तथैवेति । ज० २ श० २ उ० ।

अहङ्कलायसंज्ञम-अथाख्यातसंज्ञम-पुं० । अथशब्दो यथाधं-  
यथाऽऽक्यायतत्यर्थः । अथात्मनिहितमथाक्यायत् । तदेव  
संज्ञमोऽथाक्यायतसंज्ञमः । अयं च लुप्तशब्दोपशान्तमोहस्य क्षी-  
णमाहस्य च स्यात् कवलिनः, सयोगस्याऽयंगस्य च स्या-  
दिति । अक्यायसंज्ञमः, स्या० ५ ग० २ उ० । कर्म० ।

अहङ्कलायसंज्ञय-अथाख्यातसंज्ञत-पुं० । अक्यायचार्त्तिजिणि,  
“अहङ्कलायसंज्ञय पुच्छा गीयसा । दुःखिहे पणसे । ते जटा-उड-  
मथं य केवली य ” । ज० २५ श० ७ उ० ।

अहङ्गाण-यथास्थान-न० । स्थानमनतिक्रम्यत्यर्थे, आ० १ ह्र० ।  
अहत ( य )-अहत-त्रि० । अकृते, अन्यथानीते च । चं० प्र०  
१९ पाहु० । म्० प्र० ।

अहत-अधस्त्व-न० । जघयतायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।  
अहत्य-यथास्थ-त्रि० । यथावस्थिते, स्या० ५ ग० ३ उ० ।  
यथार्थ-त्रि० । यथाप्रयोजने, यथाहृत्ये च । “ अहत्ये वा जाये  
जाणिस्सामि ” । स्या० ५ ग० ३ उ० ।

अहत्यच्छिन्न-अहस्तच्छिन्न-त्रि० । हस्तौ अच्छिन्नौ यस्य स  
तथा । अकृतकरे, नि० चू० १४ उ० ।

अहत्यवाय-यथार्थवाद-पुं० । यथाऽविविधवस्तुतत्त्वप्रख्यापने,  
स्या० १ श्लो० ।

अहत्याय-यथास्थाम्-न० । प्राकृतलक्षणं यकारस्य होपे केव-  
लं स्वरः । यथावत्ते, नि० चू० १ उ० ।

अहत्पदाण-यथाप्रधान-अव्य० । प्रधानमनुच्येत्यर्थे, यो वः  
प्रधानो जन इत्यर्थः । भ० १५ श० १ उ० ।

अहम-अधम-त्रि० । जघन्ये, अध० ४ प्र० । निन्दे, उक्त० १३  
अ० । निहृष्टे, “नरेदजाई अहमा नराणो” उक्त० १३ अ० । सुप्र० ।  
सुद्धे, स्या० ४ डा० ४ उ० । ( अधमपुरुषाणां मानस ‘अंगुष्ठ’  
शब्देऽत्रैव भागे ४४ पुष्टे उक्तम् )

अहमिति-अहमन्, जित्-पुं० । अहमेव जात्यादिभिरुक्तमत्या प-  
यन्ववर्तीत्यभिमानवति, स्या० ।

दमहिं ज्ञाणेहिं अहमतीति धेजेजा । ते जहा-जाहमएण  
वा कुलमएण वा० जाव इममियमएण वा नागमुवञ्जा वा  
मे अतित्रं हव्वमगच्छंति पुरिसभम्माओ वा मे उचरिण  
अहोवहिण नाणदंसण ममुएण ।

( दसहीनार्दि ) स्पष्ट, नवरं (अहमतीति) अहम, अम्नी इति ।  
अम्नो जात्यादिप्रकरणेऽप्यहोऽस्यास्तीत्यन्ती । अहमेव जात्यादि-  
निरुक्तमत्या पर्यन्तवती । अथवाऽनुस्वारः ऽकृततयेति । अहम-  
अति भतिशयचानिति । एवंविधोऽश्लेषेन (धमेजत्ति) स्तज्नीयान्  
स्तनभो भवेत्, माद्यदित्यर्थः । यावत्कारणात् बलमएण रूपमए-  
ण सुयमएण तथमएण लाममएण इति हृदयम् । तथा (नागमु-  
वञ्जा ति) नागकुमाराः सुयुक्तामात्राः । वा (विकदपार्थे) मे मम  
अन्तकं समीपे हृदये शीघ्रमागच्छन्तीति । पुरषाणां प्राकृतनु-

कषाणां धर्मो ज्ञानपर्यायलक्षणस्तस्माद्वा सकशाशुत्तरः प्रधा-  
नः स पवोत्तरिकः । (अहोवहिण ति) नियतकृत्वविषयोऽवधि-  
स्त्वन्पूर्व ज्ञानवर्तने प्रतीतमिति । स्या० १० डा० ।

अहमहिंमितिद्विपय-अहमहिमित्तिद्विपत्ति-त्रि० । अहमहित्येवं  
द्वेषति, मश० ३ आश० द्वार ।

अहम्म-अधर्म-पुं० । पापे, सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० । दशा०  
सावधानुष्ठाने, दशा० ६ अ० । अर्थमेव्ये वयं वदति, नि० चू० ।  
जे जिकस्व् अथम्मसत् वधं वदद्, वदंते वा साऽउजद् । १ १ ३ ।

हह अहम्नो नारहरामायणादि पावसुत्तं, चरगादियाण या-  
जपचम्मिनवादिद्या वयविसंसा, अहवा-पाणादिद्या मिच्छाद्-  
सणपज्जवसाणा अटारस पावडणा, एतेसि वन्मं वदतीत्यर्थः ।

एमेव गोमो नियमा, वोच्चत्ये टोति तं अहम्मे वि ।  
देसे सज्जे य तहा, पुब्जे अवरम्म प यदम्मि । ३ ३ ॥

वोच्चत्यो, विपक्खे वज्रवायं वदतीत्यर्थः । सेसं कटं ।  
इहरह वि ताव होए, मिच्छत्तं दिएण सहावेणं ।  
किं पुण जइ उव्वहति, माहू अजयाए मज्झम्मि । ३ ३ ॥

(इहरह वि ति) सहावेण प्रदीप्यते प्रज्वलते । किमिति निर्दोष,  
पुनर्विशेषणे । किं विशेषयति १, सुतरां दीप्यते इत्यर्थः । यदीत्यभ्यु-  
पगमे । “अजया अग्गो उव्वहति, ताहे थिरत्तरं तेसि मिच्छत्तं  
भवतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । नि० चू० ११ उ० । धर्मरहितं,  
विपा० १ श्लो० २ अ० ।

अहम्मओ-अधर्मत्स-अव्य० । अधर्ममहोहृत्येयं, प्रअ० २  
आश० द्वार ।

अहम्मकेउ-अधर्मकेतु-पुं० । केतुर्ग्रहविशेषः, स इव यः स तथा ।  
पापप्रधानं, हा० १८ अ० ।

अहम्मकरसाइ-अधर्मख्यायिन्-पुं० । न धर्ममाख्यातीत्येवं शोत्रो-  
ऽधर्माख्यायी । अथवान धर्माख्यायी अथमर्माख्यायी । धर्मकथ-  
नार्थिनि, दशा० ६ अ० ।

अधर्माख्याति-पुं० । अधर्माद्याख्यातिर्यस्य स अधर्माख्यातिः ।  
पापकर्मतया प्रसिद्धे, दशा० ६ अ० ।

अहम्मज्जिं(विण्)-अधर्मजिं(विन्-पुं० । अधर्मेण जीवति प्राणाद्  
धारयतीति अधर्मजीवि । अधर्मेण प्राणधारके, दशा० ६ अ० ।  
अहम्महाण-अधर्मस्थान-न० । पापस्थाने, सूत्र० २ भु० २  
अ० । त्रयोदशसु क्रियास्थानेषु, सूत्र० २ भु० २ अ० । धर्मोद्वेपते  
स्थाने, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अहम्मट्टिण्(ण्)-अधर्मोत्तिन्-पुं० । अयोऽस्थास्तीत्यर्थी, ऋध-  
म्मणार्थी अधमार्थी । अधर्मवयाजने, स्या० ६ श्लो ४ उ० ।  
अहम्मदाण-अधर्मदान-न० । अधर्मगोषकं दानमधर्मदानम् ।  
अधर्मप्रतिपादकत्वाद् वाऽअधर्म एव । वीरादिचयो दाने,  
स्या० १० ग० ।

अहम्मसेवि(ण्)-अधर्मोविन्-पुं० । कलबादिनिमित्तपट्टकयो-  
पमर्देकारिणं, “सुअसत् धम्माउ अहम्मसेविणो” । दशा० १ चू० ।  
अहम्मट्टिण्(ण्)-अहम्मनिन्-पुं० । अहमेव विहाणिति मानं  
गर्वोऽस्येति अहम्मान्नी । अहद्धारिणि, आ० म० द्वि० ।

अह्वय-अह्वत-नि० । अह्वते अह्वयद्ने, आ० म० प्र० । जी० ।  
नव, म० = श० ६ उ० । रा० । अह्वयविक्रिषे, कल्प० १ कृ० ।  
आह्वयिष्ठते, सूत्र० २ भु० २ अ० । मलमूपादिनिरनुपदृते प्राय-  
मे, हा० १ अ० ।

अह्वर-अध्वर-पुं० । अह्वस्तलाक्ये, आ० ३ अ० । अह्वस्तन-  
दन्तच्छ्वेदे, औ० । प्रहा० । तं ।

अह्वरगद्गमण-अध्वरगतिगमन-न० । अह्वेगतिगमनकारणे,  
प्रअ० २ आ० ३ अ० ।

अह्वरायाण्य-यध्वारत्नाधिक-अव्य० । यथाज्येष्ठ्यायत्येत्पर्यं,  
पं० व० २ अ० ।

अह्वर-अध्वर-स्त्री० । पेपणशिलायाम्, उ० ० ।

अह्वरौह-अध्वरौह-पुं० । "ह्रस्वः संयोगे" ॥८ । १ । उ० ॥  
इति द्वाँघ्र्ये ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । दंष्ट्रिकायाम्, कल्प १ कृ० ।

अह्व-अथवा-अव्य० । " वाऽथयोरुक्तादावदतः " ।  
८ । १ । ६७ । इत्यातोऽन्वभः । अह्व अहवा । विकल्पे, प्रा० १  
पाद । स० ।

अह्ववा-अथवा-अव्य० । "अथयत्ति" अथपडमव्ययपद-  
म् । अथयत्वस्यार्थे, ध्रु० १ उ० । विकल्पप्रदर्शने, नि० चू० १  
उ० । वाक्यालङ्कारे, अनु० ।

अह्ववा-अथवा-अव्य० । सन्धस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने, व्य० १  
०० । पूर्वोक्तप्रकारपङ्क्त्या प्रकारान्तरतोद्योतने, पञ्जा० ३ वि० ।  
नि० चू० । ध० । पं० सं० । ग० । म० । पञ्जान्तरे, सूत्र० १ ध्रु०  
१ ३ अ० । वाक्योप-न्यासे, सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अह्ववण-अध्ववण-पुं० । ऋग्वेदादीनां चतुर्थे षेदे, म० २ श०  
१ उ० । अनु० । औ० ।

अह्वस्त-अहास्य-न० । हास्यप्रतिशयो, आ० ३ अ० ।

अह्व-अह्व-अव्य० । अह्वं जहाति, अह्वम+हा-क-पु० । स-  
न्ध्यायने, आ० ३ अ० । खं, क्लेश, प्रकपे च । वाच० प्रा० २ पाद ।

अह्व-अध्वस्-अव्य० । दिग्भेदे, स्या० ६ उ० ।

अध्व-अव्य० । याथातथ्ये, विशे० । मानन्तये, "अहा पंडुरल्प-  
भाप" । रजनविघातानन्तरम् । द्वाँघ्र्यमार्पणत्वात् । कल्प० ३ कृ० ।

अह्वअव्य-यथाथ-अव्य० । नियुक्त्यादिव्याख्यानात्मिकमे,  
स्या० ७ उ० ।

अह्वउंघ्रिष्वत्तिकाज्ञ-यथायुक्तोपक्रमकाज्ञ-पुं० । यथा बह्वस्या-  
युक्तस्यापक्रमणं द्वाँघ्रकालभोग्यस्योपक्रमणं यथायुक्तोपक्रमः  
स चासां कालञ्च यथायुक्तोपक्रमकाज्ञः । कालभेदे, विशे० ।

अह्वउंघ्रिष्वत्तिकाज्ञ-यथायुक्तिवित्तिकाज्ञ-पुं० । कालभेदे,  
स्या० । यथा यन्प्रकारं नारकादिभेदेनायुः कर्मविशेषो यथाऽऽ-  
युः तथे रौद्रादिधामादिनां नियुक्तिर्बन्धनं, तस्याः सकाशात्  
युः काज्ञो नारकादिव्येन स्थितिर्जीवानां स यथायुक्तिवित्तिकाज्ञ-  
लः । अथवा-यथाऽऽयुक्तो नियुक्तिस्तथा यः कालो नारकादिन-  
ऽऽवस्थानं, स तथेति । अयमप्यकाकाल एवायुक्तकर्मोभय-  
विशेषः सत्यंसारजीवानां वर्तमानविकल्प इति । उक्तं च-  
" अह्वयमिच्छासिद्धो, स एव जीवाण वसणाऽऽदिमञ्जो ।

अह्वइ अहाउकाज्ञो, यत्तद्द जो जे चिर तेण " ॥ १ ॥ स्या० ७  
उ० । २० । "स किं अहाउण्डितिकालं?, अहाउण्डित्यस्य-  
काले जं णेणइएण वा तिरिक्खल्लोणएण वा मणुस्सेण वा  
द्वेषेण वा अहाउण्डित्यासंय सेत्तं पालमाणे अहाउण्डित्यस्य-  
काले " ॥ म० १ १ श० १ १ उ० ।

अहाउय-यथायुक्त-न० । देवायुक्तकाले कालभेदे, आ० म०  
उ० । "काल" शब्दे तुर्नायमगो चैतद्वाक्यास्यते । यथावच्छे-  
दनायुचि च । स्या० ।

दो अहाउयं पालेद । ते जहा-देवच्छेव नेगइयच्छेव ॥  
( दो इत्यादि ) यथावच्छेदनायुः, पालयन्मनुजवर्जिनो नापक-  
म्यने तदानीं यथावर्जिनः । "देवा नरद्वया वि य, अमखवासाउ-  
या तिरियमणुया । उक्तपुत्रिमा य तहा, चरममरंरानि तिरियक-  
मनी" ॥ १ ॥ इति वचने सत्यपि देवनारकायोरिवेह भगने, द्वि-  
स्थानकानुरोधादिति । स्या० २ उ० ३ उ० ।

अहाउ ( ग ) इ-यथायुक्त-त्रि० । आत्माधेयमिनिर्वर्तिते अहा-  
राशे, "अहागमेत्सुरीयति, पुण्येत्तु जमरो जहा" दश० १ अ० ।  
नि० चू० । वृ० ।

अहाकल्प-यथाकल्प-अव्य० । यथाऽऽतोक्तं तथाकरणे कल्पोऽ-  
न्यथा त्वकल्प इति यथाकल्पम् । कल्प० १ कृ० । प्रतिमाकल्प-  
नात्मिकमे तत्कल्पयस्वनात्मिकमे, दश० ७ अ० । स्या० । हा० । क-  
ल्पानात्मिकान्ते, स्थानिकत्वाच्चित्ते कल्पनाय च । न० । पा० । ध० ।  
अहाकल्प-यथाकर्म-अव्य० । कर्मानात्मिकमे, हा० १ ६ हा० ।

अहापडिगहिय-यथाप्रतिगृहीत-त्रि० । यथाप्रतिपक्षे पुनर्होस-  
मनीते, म० २ श० ५ उ० ।

अहाउंघ्रि-यथाउंघ्रि-पुं० । यथा उंघ्रिऽभिप्राय इच्छा, तथेवाऽऽ-  
गमनिरपेक्षं यो वर्तते स यथाउंघ्रिः । व्य० १ उ० । प्रव० । ध० ।  
नि० चू० । यथाकथञ्चित्नागमपरतन्त्रयथा उंघ्रिऽभिप्रायो बोधः  
प्रवचनार्थेषु यस्य स यथाउंघ्रिः । म० १ श० ७ उ० । स्वच्छन्द-  
मतिविकल्पिते, भाव० ३ अ० ।

जे निरुक्त्वा ग्रात्रा अवकम् अहाह्दं विहारं विहरेज्जा,  
से य इच्छेज्जा दोषं पि तंय गणं उवमंपजिज्जा णं विहृ-  
रत्तिए इच्छेया इच्छा से पुणो आतोपज्जा, पुणो पदि-  
क्कमेज्जा, पुणो लेयपरिहारस्स उवडाइआ ॥

यः भिच्छुर्गाणादपक्रम्य यथाउंघ्रिविहारेण विहरेत्स इच्छे-  
द्धितीयमपि वारं तंय गणमुपसंपद्य विहृच्छुम्, तत्र स पुनरा-  
लोचयेत्, पुनः प्रतिक्रामेत्, पुनश्चेदपरिहारस्यालोचयेत् ।  
व्य० अ० २ उ० ।

इदानीं यथाउंघ्रिःस्वरूपमुपवर्णयति-  
उत्सुत्तमायरोतो, उत्सुत्तं चैव पन्नममाणा ।  
एसां य अहाउंघ्रि, इच्छा छंदो य एगहा ॥

सत्रादूर्द्ध्वं-उत्तीर्णम् (परिच्छेदमित्यर्थः) उत्सुत्तं, तदाचरन् प्रति-  
सेवमानः, तदेव यः परेज्यः प्रज्ञापयन् वर्तते, एव यथाउंघ्रिऽ-  
भिधीयते । सम्प्राप्ते उंघ्रिःशब्दात् पर्योषणं व्याचष्टे-इच्छा उंघ्रि-  
इत्येकार्थः किमुक्तं भवति?-उंघ्रिः नाम इच्छेति । व्युत्पत्तिश्च यथा-  
उंघ्रिःशब्दस्य प्रागेवापदर्शितः ।

उत्सुत्तमित्युक्तम उत्सुत्तं व्याख्यानायति-  
उत्सुत्तमापवर्दिह, सच्छंदोवापिपिं अणुणुपाती ।

परातिष्ठियपावित्रं, मतितागुऽयं अष्टाहोदं ॥

उत्सृज्यं नाम यस्माद्धेहरादिभिरनुपदिष्टम्, तत्र या स्त्रिपरम्परा-  
गता सामान्यवारी, यथा-नागिन्द्रा रजोहरणसूत्रमुत्सृज्य क्वायो-  
त्सर्गं कुर्वन्ति । चारणानां चन्दनं कथमतीत्युच्यते इत्यादि, साऽप्यसूत्राङ्गु नोपादिष्टेष्वनुपदिष्टम् । सङ्केतानुपदिष्टमाह-  
स्वच्छन्दनं स्वामिप्रियं विकल्पितं, स्वच्छाकल्पितमित्यर्थः ।  
अत एवानुपति । सिद्धान्तं सहाघटनाकम् । न केवलसूत्र-  
त्रमात्रं प्रहापयंश्च यथाच्छन्दः, किन्तु यः परतृप्तिपु गृहस्थ-  
प्रयाजंनुप करणकारणानुमतिभिः प्रकृतः परतृप्तिप्रकृतः । तथा  
‘ममतिगो’ नाम यः स्वन्वयऽपि केन विसंसाधुनाऽपराकेऽनधरतं  
पुनस्तं रूपश्चास्ते, अथमेवेकेषु यथाच्छन्दः ।

तथा-

सच्छन्दमतिविगणिय, किञ्चि सुखसायविगइपादिबद्धौ ॥  
तिदि गारं वदि भजन्द, तं जाणुहौ अष्टाहोदं ॥

स्वच्छन्दमतिविकल्पितं किञ्चिच्छन्दं तस्मात्काय प्रहापयति, ततः  
प्रहापनगुणेन लोकाद्रिकृतीलेनेन, ताश्च विकृतीः परिच्छ्रानः  
स्वसुखमासादयति । नेन च सुखासादानेन तत्रैव रतिमातिष्ठति ।  
तथाचाह-सुखासादे सुखासादानविकृतौ च प्रतिबद्धः ।  
तथा-नेन स्वच्छन्दमतिविकल्पितप्रहापनेन लोकपुत्र्या जयति,  
अमीपरन्तश्चाहारान प्रनिलभने, वसन्त्यादिर्कं च विशिष्टमतः  
सन्नेय्यां बहु मन्यते । तथाचाह-त्रिभिः गौर्यैश्चन्द्रिसंसा-  
तलकृणोर्माद्यै य एषंभूतः न यथाच्छन्दो जानीहि ।

इह उम्सृज्यं प्रकृपयन् यथाच्छन्द उच्यते, तत उम्सृज्य-  
रूपगणिव भेदतः प्रकृपयति-

अष्टहोदं प्रकृवण, उस्सुचा दुविह होइ नायव्वा ॥  
चरणेषु गर्हसु जा, तस्य य चरणे इमा होति ॥

यथाच्छन्दसः प्रकृपणा उम्सृजा सूत्रादुक्ताणि त्रिधा भवन्ति ज्ञा-  
तव्या । तद्यथा-चरणेषु चरणविषया, गतिषु गतिविषया, तत्र  
या चरणविषया, सा इयं वक्ष्यमाणा भवति ।

तस्मिन्वाह-

परिलेहणं सुहोपात्तिय, रयहरणं निसेज्ज पायमत्तए पट्टे ।  
पदलाइ चाल उप्पा-दसिया पादिभेइहापात्ते ॥

या मुखपौत्तिका मुखवस्त्रिका, सैष प्रतिबन्धनी-पात्रप्रत्युपेक्षया  
पात्रक सारिका, किं द्वयोः परिग्रहेण, अतिरिक्तोपाधप्रहणेन सं-  
जवात् । तथा-(रयहरणंनिसेज्ज ण्) किं रजोहरणस्य ज्ञाय्यां  
नियथाभ्यां कर्त्तव्यम्, एका नियथाऽस्तु । (पायमत्तए ण्) यदेव  
पात्रं तदेव मात्रकं क्रियतां, मात्रकं वा पात्रमर्त्तं द्वयोः परिग्रहेण ।  
तथा-(पट्टे ण्) य एव पट्टोत्तः स एव राशौ संस्कारकसो-  
त्तरपट्टः क्रियतां, किं पृथगुत्तरपट्टपरिग्रहेण ? । तथा-(पदलां  
चाल ण्) पट्टज्ञानि किमिति पृथक् क्रियते, चालपट्ट एव सि-  
क्षाद्यै हियममानेन त्रिगुणास्त्रिगुणां वा कृत्वा पटलकृत्वा न नियेय-  
ताम् । (उप्पादसिय ण्) रजोहरणस्य दशाः किमित्यूर्णमयः  
क्रियन्ते ?, सैः त्रिकाः क्रियन्तां, ता हृष्यांमयीभ्यो वृदुतरा भव-  
न्ति । तथा-(परिलेहणापात्ते ण्) प्रतिबन्धनात्पलायमेकं पातं  
प्रस्तायं तस्योपरि समस्तवस्तुपे हणं कृत्वा तदनन्तरमुपाश्रया-  
त् तद् बहिः प्रत्युपेक्षणीयम् । एवं हि महती जीवयथा कृता इति ।  
दीर्घचित्तममिच्छं, हरियद्विय पमज्जया य णित्तसम् ।

अणुवाइ-अणुवाइ, परकृवा चरणमाईसुं ॥

इस्तगताः पादगता वा नखाः प्रकृवाः दूनैश्छेत्तव्याः, न नख-  
रदनं । नखरदनं हि त्रियमाणमधिकार्यं जयति । तथा-  
(अग्निमिति) पात्रमग्निं कतेव्यम्, न पात्रं लेपनीयमिति प्रायः ।  
पात्रलेपने बहुसंयमदोषस्तज्याव । (हरियद्विय ण्) हरितप्र-  
तिष्ठितं भक्तपानादि प्राज्ञं, तदुपहणे हि तेषां इरितकायजीवा-  
नां भारपदारः कृता भवति । (पमज्जया य नित्तस्स ण्) यदि  
कृष्णं जीवदवापरिपालनरूपस्य निमित्तस्योभयत्रापि संभवत् ।  
अक्षरघटना त्वेवम्-‘नित्तस्स’ निर्गच्छतः प्रमाजना भवतु,  
यथा वसंतरत्तरिति । एवं यथाच्छन्दं चरणेषु च प्रकृप-  
याऽनुपातिनी अनुसारिणी, अनुपातिनी च क्रियते ।

अथ किंस्वरूपाऽनुपातिनी ?, इत्यनुपातिन्यननुपातिन्योः  
स्वरूपमाह-

अणुवाइ ची नज्जइ, सुत्तीरठियं खु जासए एसो ।  
जे पुण सुचावेयं, तं हाति अणुणुवाति ण्ति ॥

यज्ञप्रमाणः सन् यथाच्छन्दो ज्ञायते-यथा ‘खु’ निश्चितं यु-  
क्तिसङ्गतमेव भाषेत, तदनुपातिप्रकृपणम् । यथा-यैव मुखपौत्तिका-  
सैव प्रतिबन्धनिका इत्यादि । यत्तु पुनर्नाप्यमाणं सूत्रापते  
सूत्रपरिष्पष्टं तद्वदन्त्यनुपाति । यथा-चालपट्टः पदलानि क्रि-  
यताम् । यद्युपाश्रयापतनसंभवतो युक्त्वसङ्गतताया प्रतिमास-  
मानत्वात् । तत्र चरणं प्रकृपणमनुपात्यननुपाति चोक्तमिदं  
वाच्यं च उच्यते ।

तदेवाह-

सागारियादिपलियं-कनिससेज्जसासेवणा य गिदिमत्ते ।  
निर्गोधिचेहणुपाई, सेहो वा मा मकृपम्म ॥

सागारिकः शय्यातस्तेन्द्रियेषु भूत-वशा शय्यातरपिषेते शु-  
द्धमाणे नास्ति दोषः, प्रत्युत गुणः, धर्मानदानतो भक्तपानादि-  
दानतद्वच प्रयुतननिर्जरासंभवात्, आदिशब्दादस्मात्पानकूल-  
ष्वपि प्रविशतो नास्ति दोषः । ( पलियं क ण्) यदेवादिषु प-  
रिच्छिज्यमानेषु न काऽपि दोषः, कथलं जुगामुपपश्यते शाधवा-  
द्यां बहुतरा द्याः । (निसिज्जसासेवण ण्) गृहीतनियथायामा-  
स्यमानायां, गृहणु नियथाःग्रहेण इत्यर्थः का नाम द्याः, अ-  
पि-त्वितिप्रभूतो गुणः, ते हि जननयो धमेकथाभवतः संबोध-  
मात्पवन्ति (गिदिमत्ते ण्) गृहीतमार्के भोजने कस्मात् क्रियते ?,  
एवं हि प्रवचनोपघातः परिहृतो भवति । तथा-( निर्गोधिचे-  
हणुपादि ण्) निर्गोधीनामुपाश्रये ष्वक्षणात्पानादौ का द्याः ?, स-  
च्छिद्यमनोनिरोधेन हस्तैर्कृतं तु मा विहारकम् कारुणिरि ।

चारे वेरज्जे वा, पदमसमांसरणं तद्दु व नितिपसु ।  
सुण्णे अकपपए वा, अश्राउंजे य संतोए ॥

चारः, चरणं, गमनमित्यकाऽर्थः । तद्विषये व्रतार्थे, तद्यथा-अनुषु-  
मासेषु मध्ये बहूषे गतति ताक्षन्ता विदारकम् कार्याः, यद्वा तु न  
पतति वर्षे, तदा का द्यायां हिण्कमानस्त्विति । तथा वैराज्येऽपि स्त्रे-  
यथा वैराज्येऽपि साधवो विहारकम् कुर्वन्तु, परित्यक्तं हि सा-  
धुभिः परमाथेत शरीरं, तथा हि तद्गृहीत्वन्ति किं कृष्णं साधू-  
नाम्, सांध्यताः अतु साधुभिरुपसर्गाः । ततो यद्वक्तव्यं-“ना क-  
प्यइ निमोधा-णं वेरज्जविहकरज्जसि । सज्जे गमणं सज्जमा-  
गमणं ति” । तदयुक्तिमिति । (पदमसमांसरणं ण्) प्रथमं स-

मन्वसरणे नाम प्रथमवर्षीकालः, तत्र ब्रह्म-यथा प्रथमसमवसरणे उक्त्वादिदोषपरिशुद्धं चर्कं पात्रं वा किं न कश्चन गृहीतुम् । द्वितीयसमवसरणेऽपि इषुक्रमादिदोषपरिशुद्धमित् कृत्वा गृह्यते ; सा च दोषशुद्धिर्मध्यमाप्यंविशुध्यति । (तद् य नितिपसु सित) तथा-नित्येषु नित्यमासेषु प्रकल्पयति-यथा-नित्यमासेऽपि यषुक्रमात्या-द्वैतेशुक्रं ग्रथयते नकपानादि, ततः को द्योः ? प्रत्युत काश्चं क्षीयेककश्चं वसतां सूत्राधदैवः प्रभूता भवन्ति । तथा- (सुख-सि) यषुप्रकरणं न केनापि हियन्त, ततः शून्यायां वसतो क्रिय-माणार्थां को द्योः ? । अर्थासंचद्वन्द्वनापहन्त्यत, तत्र चैतस्यैप-रिचक उपघातः (तथा अकल्पिय (सि) अकल्पिका नामागीतार्यः ; तद् विषये द्वेते-यथा-प्रकल्पिकं प्रथमशैःककल्पेण शुकमहा-तोऽम्बुं चक्षयात्राद्यानीतं किं न परिमुज्यते ? ; तस्य ज्ञातोऽप्रत-या विश्रयतः परिभोगाहर्हत्वात् । (संभोग इति) तथा संभोगे द्वेते-यथा-सर्वे पञ्च महाभूतधारिणः साधवः, सांभोगिका एव युक्त-सासांभोगिका इति ।

साप्रतमकल्पिकाचितं विवृणोति-

किंवा अकल्पिपणं, गार्ह्यं फालुषं तु हांड उ अर्भोजं ।  
अथाठंठं को वा, हांड गुणो कल्पिण गहिण ? ॥

किं वा केन वा करणेन अकल्पिकेन अर्गातोर्थेन गृहीतं प्रासु-कमहातोऽम्बुमपि अर्भोऽप्यमपरिभोक्तव्यं जयति । को वा कल्पि-कंन (अत्र गाथार्थां समसं) नृनीयाऽर्थे ) गृहीतो गुणो जयति; उजयत्रापि शुद्धत्वाविशेषात् ।

अनुना ( संभोग ) इति व्याख्यामयति -

पंचमद्वन्द्वयधारी, समणा सन्नेसि किं न ज्ञंजति ।

इय चरण-वितद्ववादी, एतो वोचं गतोऽमुं तु ॥

पञ्चमद्वन्द्वयधारीणः सर्वे अमणाः किं नैकत्र पुञ्जते ? किं ना-विशेषेण सर्वे सांभोगिका जयन्ति ? येनैक सांभोगिकाः, अपरे असांभोगिकाः कियन्ते इति । इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथा-चन्द्रोऽनामोर्चित्तगुणुदोषः, चरणं चरणविषये वितथयादी । अत ऊर्ध्वं तु गतिषु वितथवादिनं वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव क्रमेति—

मेवं गतो य अर्हति, एको भविद्यए तर्हि चैव ।

तित्यगरो सित य पियरो, रेवंतं पुण भावतो मिच्छं ॥

स यथाचन्द्रो गतिषु विषये एवं प्रकृपायां करोति—“यसो गह-घवी, तस्स तिसि पुत्ता, ते सव्वे छेत्तकम्मोवज्जीविणो पिय-रेण चित्तकम्मं नियांजया । तय्यो वा चित्तकम्मं जहाणत्तं करंइ । एसो अर्हति गतो; देवं देवणे हिड्डइ इत्ययं । एसो जिमत्ता जिमत्ता द्यवकुलादिषु अर्हति । कालंतेरण तेसि पिया मतो । तेर्हि इत्थं पितिसिन्ने ति कां सव्वं सव्वं विरिद्धं । एवं तेसि जं प्येण उवज्जियं तं सव्वेसिं सामंथं जावं । एवं अम्हं पिया तित्ययरो, तस्स वयोवदेवणे तं सव्वे समणा कायकिल्लं कु-ञ्जंति । अम्हे न करेमो, जं तुम्हंइ कयं । अम्हं सामंथं जहा तु-ष्मं देवलो तं कुल्लवव्वयां वा सिद्धि वा गच्छइ, तहा अम्हं इ गच्छिस्सामो” । एय गाथाभावाद्यः । अक्षरयोजना त्रियध-पकः पुनः कृतं गतः । एकाऽप्यर्थः, देशात्परिच परिच्रमनीत्यर्थः । अपर एकस्तत्रैव संनिष्ठः । पितरि च मृते धनं सर्वेषामपि स-मानम् । एवमत्रापि पित्त (विदुष्यानीयस्तार्थः) । क्षेत्रफलं धनं पुनर्विभागतः परमार्थतः सिद्धिः, तौ द्युमिषेव युष्मदुपार्जनं

वयमपि गमिष्यामः । उक्तं गतिष्वपि यथाचन्द्रस्य वितथ-प्रकृपायां ।

संप्रति तेषां यथाचन्द्रानामेवंवदतां द्योमुपदर्शयति—

जिणवयणं सव्वसारं, मूलं संसारदुक्कलमुक्कलस्सं ।

सम्मचं मल्लेत्ता, ते दोग्गइवक्का हुंति ।

ते यथाचन्द्रानुसारेणैव गतिषु वैवंशुयाणाः सम्मकथं सम्यग्दर्श-नम् । कथं नूनमित्याह-जिनानां सर्वज्ञानां वचनं जिनवचनं द्वा-शाङ्कं, तस्य सारं प्रभावं, प्रधानवचोऽप्ये तदनन्तरेण धृतस्य पवि-तस्याप्यनुत्तत्वात् । पुनः किं विशिष्टमित्याह-भूतं प्रथमं कारणं, सं-सारदुःखमोक्षस्य समस्तसांसारिककुःखावभाक्कमाक्षय, तदेवं-जुतं सम्यकथं मन्त्रिनयित्वा अत्रामो दुर्गतिवर्द्धका जयन्ति । दुर्गतिस्त्रयामेवंवदनां फलमित्यभावः । इदं पुवंसत्संचतुस्त-वे वा गृहीतस्य पार्श्वस्थस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

तत्र उत्सवप्रकृपायाम्हाह—

सकपट्टादीया पुण, पासत्थे ऊमवा सुणेयव्वा ।

अहउंठे ऊमवा पुण, जीए परिसाएँ उ कहेइ ॥

पार्श्वस्थे पार्श्वस्थस्य, उत्सवा ज्ञातव्याः शकमहादयः इन्द्र-महादयः । आदिशब्दान् स्फुटं रुद्रमहादिपरिग्रहः । यथाचन्द्र-स्य पुनरुत्सवयो यस्याः पददः पुरतो यथाचन्द्रः स्वच्छन्दविक-ल्पितं प्रकृपायति सा परं ज्ञातव्या । एतदपि च उक्तव्युत्ते-यः पदद्वि स्वकीयकुम्भप्ररूपेण चतुर्मासपरमासवर्षेषु कदा-चिच्चा करोति, अर्भोद्वेष वा, तत एतेषु वक्तव्यम्, तत्र पार्श्व-स्थाऽऽगमानुसारेण हेयम् ।

अत आह—

जिहँं अहगुतो तर्हिं अहगा, जीहँं अहगा चउगुरु तर्हिं ठाणे ।

जिहँं ठाणे चउगुरुगा, अम्मासं तत्थ ऊ जाणे ॥

जिहँं पुण छम्मासा तर्हिं, वेयं पुण छेयठाणए मूलं ।

पासत्थे जं जिणियं, अहउंठे विवहियं जाणे ॥

यत्र पार्श्वस्थस्य मासस्य प्रायश्चित्तमुक्तं तत्र यथाचन्द्रसि चत्वारो अनुकृताः यत्र चत्वारो अनुकृताः, तत्र स्थाने च चत्वारो गुरवः । यत्र च-त्वारो गुरुकास्त्र परमासांनं गुरुजं जानीहि । यत्र पुनः परमासा-स्त्र ज्ञातव्यः देवः, च्छेदस्थाने च मूलम् । तथा-यसुस्तवाभावे क-दाचिन्कथयति तत्र चत्वारो अनुकृता मासाः ; अथापीवर्णं कथयति तत्र चत्वारो गुरुकाः ; अथासव कदाचिद्विद्वे द्वे तत्र चत्वारो गुरु-काः ; अर्भोद्वेषकथने परमासाः गुरवः । परमासा यावद्जीवणक-थने मूलम् । अत्रोत्सवात्सवविषयपरिहृततया सामान्यतोऽभि-धानमुक्तमोघेन प्रायश्चित्तम् । अनुना विभागत उच्यते-चतुरो मा-साद् यावत्कदाचिदुत्सवाभावे प्रकृपायां चत्वारो लघुमासाः । परमासाद् यावच्चत्वारो गुरवः । वर्षे यावत्परमासा गुरवः । तथा-चतुरो गुरुमासाद् यावदुत्सवाभावेऽभीवणप्रकृपायाः चत्वारो गुरुकाः । परमासाद् यावदुत्सवमोर्वणप्रकृपायां परमासा गुर-वः । वर्षे यावदेवंप्रकृपायां द्वेदः । चत्वारो मासाद् यावदुत्सवे क-दाचिद्विषयान् चत्वारो मासाः गुरवः । परमासाद् यावदेवंप्रकृ-पायां परमासा गुरवः । वर्षे यावदपरकृपायां देवः । तथा-च-तुरो मासाद् यावदुत्सवेवर्षीवर्णं प्रकृपायां चतुर्गुरुकाः कुंढः । वर्षे यावदेवंप्रकृपायां मूर्धमिति । एतदेव सामान्यतो प्रहणम् । (पास्तथेत्वादि) पार्श्वस्थे यत्र स्थाने यद् भणितं प्रायश्चित्तं त-

स्मिन् स्थाने यथाच्छन्दो विवर्तितं-विशेषेण वर्तितं, जानीहि । तच्च तथैवानन्तरमुपदर्शितम् । कस्मात्किं वर्तितं जानीहि इति चेत् १, उच्यते-भ्रान्तिसंज्ञानात् प्रकृपणया बहुदोषत्वात्, इह पार्श्वस्थं च यथा-प्राप्तं संभवति । तथा-त्रिकोणीयापच्छेदिनः, आचार्यस्य च । यथाच्छन्दस्य पुनरिहोरेच । ततः पार्श्वस्थविषयं सूत्रं त्रिसुत्रात्मकं यथाच्छन्दविषयं त्यक्त्वाव्यपत्तिम् ।

सम्पत्ति कुसीशादीनां प्रायाश्चत्तविधिमतेदेशत आह-  
पासत्ये आरोग्ये, श्रोहविज्ञानेण वक्ष्याया पुर्वं ।  
सन्धे वि निरवसंसा, कुसीलादीण नापन्वा ॥

यैव पूर्व पार्श्वस्थे प्रायाश्चित्स्थाने, विज्ञानेन वाऽऽनेपणप्रदानमुपदर्शिता, सैव निरवशेषा श्रोघन, विज्ञानेन च ज्ञातव्या । यत्र तु विशेषः स तत्र तु वक्ष्यते । गतं यथाच्छन्दस्यैव । श्य० १ उ० । अ० ।

जे भिक्खु अहाउंदं पंसंस, पंसंसंतं वा साइज्जद ॥? ८८॥  
जे त्रिकखु अहाउंदं वंदद, वंदंतं वा साइज्जद ॥? ८९॥

अहच्छन्दं चित्तकाररूपव्यञ्जनलोपे कृते, स्वरे ध्यव्यस्यते च प्र-  
वर्तते । उन्माऽभिप्रायः, यथाऽस्याभिप्रेतं तथा प्रज्ञापयन् अ-  
हाउन्दो जवति । तं जो पंसंसति, वंदति वा तस्मिन् चउगुम्भं,  
आणार्थिया य दोसा । (नि०चू०) (इतोऽने ध्यव्यहारेण गतायः)

कारणे पुण पंसंसति वंदति वा-

वितियपदमणप्पज्जे, पंसंस अविक्कोविते व अप्पज्ज्को ।  
जोऽण्णं वावि पुणो, भयमा तत्त्वादि गच्छद्वा ॥१? ९॥  
अहाउन्दो कोह रावस्सिआ, तम्भया तं पंसंसति, वंदति वा  
(तत्त्वादि) कश्चिदेवं वादी प्रमाणं कुयांत-अहाउन्दो न जण्यो,  
मापि प्रसंथा, इति प्रसिद्धा कस्मात्कृतोः । उच्यते-कर्मव्य-  
कारणत्वात् । को एहान्तः १, अचिरतरमिथ्यावचनप्रशंसनवत् ।  
ईदृशममाणस्य दूषणत दोषमात्रहति प्रशंसनवन्दनप्रकृपणं कुयन्  
( गच्छति ) कोह अहाउंदो आमाइखु गच्छरक्खणं करति,  
तं वंदति पंसंसति वा, ण दोसा । नि० चू० ११ उ० । आचार्ये  
यथाच्छन्दे जातेऽप्यत्रापसंपत् । श्य० ४ उ० ।

अहाउंदविहारि ( ण )-यथाउन्दविहारिन्-पुं० । आजन्मापि  
यथाच्छन्दे, ज० १० श० ४ उ० ।

अहाजाय-यथाजात-न० । यथाजातं नाम यथा प्रथमतो जन-  
नं जन्तुराजिगंतो, यथा च भ्रमणो जातस्यैव जातत्वकमेण हीय-  
माने वन्दनके, श्य० ३ उ० । यथाजातं जन्म भ्रमणत्वमाश्रित्य, योगि-  
निक्रमणं च; तत्र रजोहरणमुखयत्निकात्त्रापट्टकमात्रया भ्रम-  
णो जातः; रचितकरपुट्टरुत्तु यान्या निगंतः; एवमूत एव वन्दति,  
तच्छान्तिरकाश्च यथाजातं भ्रमणतं कृतिकर्मवन्दनम् । श्राव० ३ अ० ।  
यथाजातं-जातं जन्म, तच्च देहा-प्रसवः प्रमज्ज्याग्रहणं च ।  
तत्र प्रसवकाले रचितकरसंपुटो जायते, प्रमज्ज्याकान्तं च शुद्धी-  
तरजोहरणमुखयत्नक इति । अत एव रजोहरखादीनां पञ्चानां  
शास्त्रे यथाजातत्वमुक्तम् । तथा च तथातः-“पंच अहाजायाई,  
सोअयपट्टो ई तहेव रयहरणं २) उडिअ ई सोमिअअ धनिस्सिन्-ज्ज-  
युअअ तह य मुहंपोत्ती” ॥१॥ यथा जातमस्य स यथाजातः; त-  
थायूत एव वन्दते, इति वन्दनमापि यथाजातम् । ष्य० २ अ० ।

अहाउणुवुव्वं-यथानुपूर्वी-स्त्री० । यथाक्रमे, उयो० २ पाठु० ।  
“अहाउणुवुव्वे स पत्थिया” । रा० ।

अहातन्त्र-यथातन्त्र-न० । अभिधानार्थानतिक्रमे, अन्वयस्थस्य-  
पत्ते च । स्था० ४ टा० १ उ० । दशा० । शब्दाध्यानतिक्रमे तत्साम-  
तिक्रमे च । अ० २ श० १ उ० । स्था० ।

यथातन्त्र-न० । सत्ये, कल्प० १ श्र० १ । एकांततः यथा  
येन प्रकारेण तथ्यं सत्यं, ‘तस्यं वा’ तेन यो वर्ततेऽस्ती यथा-  
तथ्या ‘ यथातस्यं ’ वा । दृष्टाध्यायिसवादिनि, फलाविसंवादिनि  
च स्वप्नदे, अ० । तत्र दृष्टाध्यायिसंवादी स्वप्नः, किल को-  
ऽपि स्वप्नं पश्यति-यथा-महां फलं हस्ते दत्तं, जागरितस्तस्य-  
धैव पश्यतीति । फलाविसंवादी तु किल कोऽपि गोकुपकुञ्ज-  
राद्याकडमात्मानं पश्यति, बुद्धश्च कालान्तरं सम्पदं लभत इ-  
ति । अ० १६ श० ६ उ० ।

अहापज्जच-यथापार्था-त्रि० । यथालक्ष्ये, अणु० ३ वर्ग० ।

अहापाठिरुव-यथापतिरूप-त्रि० । उचिते, शी० । नि० चू० ।  
येन प्रतिरूपेण साधुचितस्वरूपं तस्मिन्, विपा० १ श्र० १ अ० ।  
अहापण्हिय-यथामणिहृति-त्रि० । यथाऽव्यसितं, ‘अहाप-  
ण्हिपहिं गापहिं’ । अ० ३ श० २ उ० ।

अहापरिग्महि-यथापरिगृहीत-त्रि० । परिग्रहणानुरूपेण  
स्वीकृते, ‘अहापरिग्महियादं वथादं धारंजा’ । आचा० १ श्र०  
८ अ० ४ उ० ।

अहापरिधाय-यथापरिज्ञात-त्रि० । परिज्ञानानुरूपेणाभ्युपग-  
तं, आचा० २ श्र० ३ उ० । “ अहापरिधायं वसामो ”  
यथापरिज्ञातं यावन्मात्रं कृतमनुजानीतं भवान् तावत्क्रेत्रम् ।  
आचा० २ श्र० २ अ० ३ उ० ।

अहापवत्त-यथाप्रवृत्त-न० । येनैव प्रकारेणानादिक्रमेऽभ्यू-  
तैव प्रवृत्तवद् नामाप्रत्ययव्यभवांतरमात्रं, पञ्च० ३ विध० ।

अहापवित्तिकराण-यथाप्रवृत्तिकराण-न० । यथाप्रवृत्तस्य क-  
रणे सम्यक्कारणगुणे करणभेदे, कर्म० ४ कर्म० । अष्ट० ।

अहापवित्तिकर्म-यथाप्रवृत्तिकर्म-पुं० । यथा यथा जन्तव्य-  
मध्यमाकृष्टानां योगानां प्रवृत्तिसत्ता तथा सक्रमेण, पं० सं०  
५ द्वार । क० प्र० । ‘सकम’ शब्दं विवरिष्यते )

अहावायर-यथावाद्-त्रि० । असारे, अ० ३ श० १ उ० । शू-  
त्रप्रकारं, ‘ अहावायरादं कम्माई ’ अ० ६ श० १ उ० । क-  
ल्प० । यथाचित्तावाद्दे आहारपुक्कं, प्रति० ।

अहावीय-यथावीज-न० । यद् यस्यां पातकारणं, तस्मिन्, श्य०  
२ श्र० ३ अ० ।

अहावोह-यथावोय-श्र० । बोधानतिक्रमे, घ० १ अ० ।

अहाभदग-यथाभदक-पुं० । साध्यनुकूलं श्रावके, श्य० १ उ० ।  
अत्रि० । शासनबहुमानवृत्तिं, शू० १ उ० ।

अहाभाग-यथाजाग-अव्य० । यावद्विषये, श्य० ५ अ० ।

अहाज्जय-यथाज्ज-पुं० । तात्त्विके, स्था० १ टा० १ उ० ।

अहाभग-यथाभग-अव्य० । आनादिमालामागीनतिक्रमेण कुर्यो-  
पशमत्रावर्तनतिक्रमे, दशा० ७ अ० । आ० स्था० । औदधिकभा-  
वापगमे, स्था० ७ टा० १ उ० । कल्प० । अ० ।

अहारायणिय-यथाराजिक-अव्य० यथा यथा सैरधिको न-  
बेखनतिक्रमे, ४० ३ उ० । "अहारायण्यं गामाण्युगमं दु-  
रञ्जना" अत्राचारं २ श्रु० ३ श्रु० ३ उ० ।

अहारि ( ष ) -अहारिन्-वि० । मनसोऽनिष्टे, आचा० १ श्रु०  
६ श्रु० २ उ० ।

अहारिय-पयुजु-अव्य० श्रुतुनाऽनतिक्रमे, "अहारियं रिपञ्जा"  
यथा श्रुतु भवति तथा गच्छेद्, नार्दिवेर्द, विकारं वा कुर्वेद्  
गच्छेत् । आचा० २ श्रु० ३ श्रु० २ उ० ।

यथारीत-अव्य० । रीतं रीतिः, स्वभाव इत्यर्थः । तद्वनतिक्रमे-  
ण यथारीतम् । स्वभावानतिक्रमे, "अहारीयं गीयद्" यथारीतं  
रीयते गच्छति, यथा स्वाजाविकौदारिकशरीररगत्या गच्छतीत्य-  
र्थः । म० ४ श्रु० २ उ० ।

यथार्ह-वि० । यथोचिते, स्या० २ टा० १ उ० । यथार्हो या य-  
स्योचितो लोकयात्रा-लोकचितानुवृत्तिकरूपो व्यवहारः, सा  
विधेया । यथार्हलोकयात्राऽतिक्रमे हि लोकचित्वावधानेन तेषां  
मात्मान्यनादियतया परिणामापादनेन स्वलाघयमेवात्पादितं  
भवति । एवं चान्यस्यापि स्वगतस्य सम्प्रयोगाच्चरस्य अनुवृत्-  
तेवापनीतं स्यादिति । उक्तं च- "लोकः स्वदवाधाराः, सर्वेषां  
धर्मचारिणां यस्मात् । तस्मान्नैकविक्रमं, धर्मविक्रमं च संत्या-  
ज्यम्" ॥ ३३ ॥ अ० १ अ० १ । औचित्ये, पौ० १० वि० ० ।

अहलंद-अण ( यथा ) लृट्-उ० । यावन्मात्रे काले, आचा०  
२ श्रु० ७ अ० १ अ० । अथेत्यव्ययम्, अन्तराधनेन काल उच्यते ।  
तत्र यावता कालेनोद्कारः करः श्रुयति, जघ-यस्तत्तावति काले,  
कल्प० २ क० ।

भेदाः-

द्वंदं तु होइ कासो, सो पुण उकोसमग्भिज्जमज्झो ।  
उदउल्ल करो जाविह, सुकइ सो होइ उ जहओ ॥६१॥  
अन्वं तु भवति कारः । समयपरिजापया इन्द्रशब्देन कालो भ-  
षयत इत्यर्थः । स पुनः कालस्त्रिधा-उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च ।  
तत्र उत्कृष्टः करो यावता कांशन इह सामान्येन लोकेषु श्रु-  
यति, तावान् कालविशेषो जवति जघन्यः । अस्य च जघन्यस्य  
प्रत्याख्याननिमित्तविशेषादिषु विशेषत उपदेशगन्वात्, अन्यथाऽ-  
नित्यसंज्ञानस्यापि समयाद्भङ्गणस्य सिद्धान्तोक्तस्य कालस्य  
संज्ञानात् ।

उकोस पुव्वकोमि, मज्जे पुण हुंति ऐगताणां ।

इत्यु पुण पंचरत्तं, उकोमं होइ अहलंद ॥ ६२० ॥

उत्कृष्टः पूर्वंकोटीप्रमाणः; अथमापि चारित्रकाशनमाभित्य  
उत्कृष्टः कः, अन्यथा पद्योपमादिरूपस्यापि कालस्य समवात् ।  
मध्य पुननेवन्धनकानि स्थानानि वर्षादिभेदेन कासस्य । अत्र  
पुनयेथालन्दकस्य प्रक्रमे पञ्चरात्रं यथेयगामानातिक्रमेण इन्दं  
काल उत्कृष्टं भवति; तेनैवाधोपयोगात् ।

जम्हा उ पंचरत्तं, चरंति तम्हा उ हुंति अहलंद ॥

पंचव होइ गच्छो, तेमिं उकोसपरियाणं ॥ ६२१ ॥

यस्मात्पञ्चरात्रं चरन्ति पेटाकं, पेटाद्यन्वयमायां धीथ्यां भ्रुकुनि-  
मित्तं पञ्च रात्रिदिवान्दमित्तं, मन्माज्जवति यथालम्बिनः विव-  
क्तिथयथालन्दभावात् । तथा पञ्चवं पुरुषा भवन्ति गच्छे गण,

तेषां यथालम्बिकानां पञ्चको हि गणोऽप्यु कल्पे प्रतिपद्यते ।  
इति उत्कृष्टमेकस्य गणस्य पुरुषपरिमाणमेति ।

अथ बहुवक्तव्यत्वाच्चरितेषामभिधानं अन्तर्भावप्रसक्त्या  
यथालम्बिककल्पस्यातिदेशमाह-

जा चेव य जिणुकणे, भेरा सा चेव इंदियाणं पि ।  
नाएत्तं पुण सुत्ते, भिक्खापरि मासकणे य ॥६२१॥

धैव च जिनकलेपे जिनकल्पविषया "मेरा" मर्यादा पञ्चवि-  
धतुलनादिरूपा, सैव च यथालम्बिकानामपि प्रायशः, मानात्वं  
नेदाः पुनजिनकल्पिकेभ्यो यथालम्बिकानां सुत्रे त्वाविषये,  
तथा जिज्ञासार्थायां, मासकल्पे च । चकाराप्रमाणविषये चेति ।  
अथातिदेशपूर्वकमल्पवक्तव्यत्वात्तद्यमं मासकल्पनात्तमेवाह-

अहलंदियाणं गच्छे, अप्पन्निचद्धाण जह जिणाणं तु ।  
नवरं कासविसेसो, उउतासे पाणगचउत्तमां ॥६२१॥

यथाश्रमिका द्विधा-गच्छे प्रतिपद्य अप्रतिपद्यकाश्च गच्छे च प्रति-  
पद्योऽमीयां कारयन्तः; किञ्चिदभुनक्त्याधेस्य ध्रुवार्थमिति म-  
तव्यम् । ततो यथाश्रमिकानां गच्छे अप्रतिपद्यकानाम्, उपलक्षण-  
त्वात्प्रतिपद्यकानां च; तथेण सत्सङ्गं इत्यादिज्ञानाकरुपा सर्वोऽपि  
सामान्यरी यथा जिनकल्पिकानां पूर्वमुक्ता, तथैव समवसेयः ।  
"नवरं" केवत्रं द्विविधानामपि यथाश्रमिकानां जिनकल्पिकेभ्यः  
काले कालविषये विशेषो भेदा ज्ञातव्यः । तमेवाह- ( उउतासे  
पणगचउत्तमांसे ति) श्रुतेः श्रुतुषुत्कृष्टकाले, वर्षे वर्षीकाले च, य-  
थासंकेतं दिवसपञ्चकं मासचतुष्टयं चैकभावस्थानं भवति । इयम-  
त्र भावना-श्रुतुषुत्कृष्टे काले यथालम्बिकस्याधो यदि विस्तीर्णो  
प्रामादिभवेति, तदा तं शुद्धपञ्चकानिः पञ्चभिर्वर्षाभिः परि-  
कल्प्य एकैकस्यां धीथ्यां पञ्च दिवसानि जिज्ञामटन्ति, तथैव च  
भवन्ति । एवं पञ्चभिर्वर्षाभिरैकस्मिन् मासे मासः परिपूर्णो भव-  
ति । तथाविधविस्तीर्णप्रामाभाये तु निकटतमेषु पञ्चु प्रामेषु  
पञ्चपञ्चदिवसं भवन्ति । उक्तं च कल्पनात्-

एकेके पंचदिवं, पाण पण उ निट्ठो मासो । पंजा०  
पतच्छुण्णिक- "जह एमां च्च मासो सवियारो ति विक्कुञ्जो,  
तो उव्वीहीओ काउं एक्कणो पंच एव दिवसाणि हिंडति । विइ-  
याए वि पंचदिवसे० जाव उव्वीए वि पंचदिवसे । एवं पणमासे  
मासो भवइ । अह नत्थि एमां गामो सवियारो, तो हवं जहाइ दि-  
वाणु ळुगामत्ति सत्स परिपरेत्ते नेमि पक्ककेकं पंचदिवसाणि  
अरथंति । एवं मासो विक्किमाणो पण पण निट्ठो मां होइ ति" ॥

अथ यथाश्रमिकानामेव परस्परं जेममाह-

गच्छे पद्विचक्षाणं, अहलंदं।णं तु अह पुण विसेसो ।  
ओगह्ठ जो तेमिं तु, सो आयरियाण आयवइ ॥

गच्छप्रतिपद्यकानां पुनयेथालम्बिकानां गच्छप्रतिपद्यकैः जयाः सका-  
शाद् विशेषो भेदा भवति । तमेवाह-नेयां गच्छप्रतिपद्यकध्याश्र-  
मिकानां यत्कालोपपञ्चकलस्योत्तरावग्रहः, स आचार्याणामेव भ-  
वति । यस्याऽऽचार्यस्य निश्रया त विहरन्ति तस्मैव स क्षेत्रावग्रह-  
ो जवतीति भावः । गच्छप्रतिपद्यकानां तु जिनकल्पिकत्वं क्ष-  
त्रावग्रहो नास्तीति ।

अथ द्विविधानामपि यथालम्बिकानां जिज्ञासार्थानानात्वं  
विबभूराह-

एगवसदीर्घे पएणं, उव्वीहीओ य गामि कुवन्ति ।

दिवसे दिवसे अन्नं, अन्नंति वीहीसु नियमेण ॥६२५॥

अनुसूते काले एकस्यां वसती पञ्च पञ्च दिवसानि यावद्-  
वर्तित्यन्ते । वर्षीसु पुनश्चतुरां मासद् यावदेकस्यां वसती ति-  
ष्ठति । अथ वद् बोधीः कुर्वन्ति । अथ मर्षः-यथासक्तिं गुरुप-  
ञ्जिकृपाभिः वरुजिर्वीधीनिर्गमं परिकल्पयन्ति । एकैकस्यां च  
बोधीयां पञ्च पञ्च दिवसानि भिक्षां पर्यटन्ति । तथैव च बसन्ति  
विद्ययति । उक्तं च पञ्चकल्पचूर्णी-“अभ्यागे गामो फीरह, एगेगो  
एचदिवसं भिक्षुं हिंडति, तत्थेव वसन्ति वासासु एगत्थे वड-  
ममासो ति” । तासु च बोधीषु दिवसे दिवसे नियमतोऽन्यामन्यां  
भिक्षामर्हति; उच्छृणादिनिष्ठापञ्चकम्पादेकस्मिन् दिवसे यां  
निष्ठास्यति न पुनर्हितीयेऽपि विने तामवाटन्ति, किन्त्वन्यामन्या-  
मिति भावः । इत्थं तावद्स्मान्निर्व्याप्यते, सुधिषया तु समया-  
विरांभनामन्याऽपि व्याकम्पयति ।

अथ सूत्रनामात्वं निर्दिदिशुषेयालान्दिकजेदानेवाह-

पदिचन्दा इयरे वि य, इकिक्का ते जिणाय य थेरा य ।

अत्यस्त उ देनम्मिय य, अममत्ते तेसि पदिचन्धो ॥६२६॥

यथालान्दिका द्विविधाः-गच्छप्रतिषकाः, इतरे च गच्छा-  
प्रतिषकाः । ते पुनरेकेशो छिभेदाः-जिनकल्पिकाः स्थवि-  
रकल्पिकाश्च । तत्र यथालान्दिककल्पपरिसमाप्त्यनन्तरं ये जि-  
नकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनकल्पिकाः । तेषु च यं स्थविरकल्पमेवाध-  
रित्यन्ति ते स्थविरकल्पिकाः । इह च ये गच्छ प्रतिषक्कास्तैर्यं  
प्रतिषन्धो अनेन कारणेन भयनि-अग्रथस्सेत्यादि । अर्थस्यैव, न  
सुख्य, देश एकदेशोऽद्याप्यसमाप्तो, न शुद्धसमीपं परिपूर्णां शृ-  
हीत इति तदुद्गहणाय गच्छ प्रतिषन्धः, तेषां तस्यावश्यं गुरुसमी-  
पं ग्रहीष्यमाणत्वादिति ।

अथ परिपूर्णे सूत्राय गुरुसमीपं शृहीत्सैव कथं कल्पं न  
प्रतिषद्यन्त इत्याह-

लग्गासु भरते, तो पदिवाञ्जिषु खंचवाहिउत्त आ ।

गिहहंति जं अगहियं, तत्थ य गंतुण आयरिओ ॥६२७॥

तेमिं तयं पयच्छइ, खंचं इंताण तेमिमे दांसा ।

वंदंनमवंदंते, लोगममो होइ परिवाओ ॥ ६२८ ॥

न तरेज्ज जइं गंतुं, आयरिओ ताहिं एइ सो चेव ।

अंतरपडिं पंदचम-जगामवसहिं य वसहिं वा ॥६२९॥

तीप् य अपपरिजोगे, ते चंदंते न वंदइ सो उ ।

ते घेसुपपदिचन्दा, ताहिं जहिच्छापं विहरंति ॥६३०॥

सन्नादिषु त्वरमाणेषु शुभेषु सन्नयान्कल्पद्रव्यादिषु ऊर्गित्यागंतुषु  
स्तसु अन्येषु च लग्गासु दूरकालवर्तिषु न तथा भयंशु वा  
शृहीतपरिपूर्णसूत्रार्थां अपि सन्नादिजन्मनत्या कल्पं प्रतिषद्यन्ते ।  
ततः प्रतिषय त कल्पं गच्छाभिमयं गुर्वेष्टाष्टानाद् क्षेत्रग्रामनग-  
राश्चंदिदूरदेशे स्थिता विशिष्टतरनिपुर्नमिन्नसिन्नाजानुष्ठाननि-  
रस्ता गृह्णन्ति यद्गृहीतमनथोत्तममर्जतं तत्र चायं विधि-यदुत्त-  
भावायः स्तथं तत्र गत्वा तेषां सन्नादिजन्मनत्या कल्पं प्रतिषय-  
न्ते । तत्र प्रयच्छति ददाति । अथ त एवाचार्यसमीपमागत्य किमि-  
ति तमर्थशेषं न गृह्णतीत्याह-“सत्वं इतांतेत्यादि” । क्षेत्रमर्थं स-  
मागच्छन्तो तेषां यथासक्तिं कानाम्, एते वक्ष्यमाणा द्वापान्तथादि-  
वन्मनानेषु गच्छयांसिषु सात्तुषु, अथवन्मनानेषु च कल्पयन्तेषु स्त-  
कामर्थं परिवादाः निन्दा जयति । तथाहि-यथालान्दिकानां कल्प-

स्थित्यैव आचार्यं मुक्तया अत्यस्य साधोः प्रणामं कर्तुं न  
कल्पते; गच्छसाधवश्च महास्तोऽपि तान् वन्दन्ते, ततो लोकां  
वन्दन्-यथा दुष्टयोऽपि निगुणाश्च येन, येन अन्त्याद् साधुं वन्द-  
मानानपि न व्याहरन्ति, न वन्दन्ति वा । गच्छसंबन्धिसाधूनां वा  
अपरि अष्टयाऽऽज्ञा भवेत्-अत्यस्येते दु शाला निगुणाश्च, ये  
न स्यन्ते, आत्मारथिका वा येन, येन अतिवन्दमानानपि  
वन्दन्ते इति । अथ यदि जङ्गलक्षणीयता तत्सकारां गन्तुं (न स-  
रेज्ज सि) न शक्युयात् । आचार्यस्तदा पति आगच्छन्ति । केत्याह-  
अ-अंतरपडिं मूलत्तेरात्त साखेद्विगव्युत्तस्यं प्रामविशेषे, यद्वा,  
प्रतिषुवभ्रामाद् मूलक्षेत्राद् द्विगव्युत्तस्यात् भिक्षाचार्याप्रा-  
मान्, अथ वा बहिर्मूलक्षेत्राद् मूलक्षेत्र एव वा अग्रवसन्ति,  
वाशब्दाद् मूलवसन्तिथि । इयमत्र जावना-यथाचार्यां य-  
थाधान्दिकसमीपं गन्तुं न शक्यन्ते तदा यस्तेषां यथालान्दि-  
कानां मर्थे धारणकुसलोः, साअंतरपडिंमागच्छन्ति, आचार्य-  
स्तु तत्र गत्वा अर्थं कथयति । अथ पुनः सात्तुसंवाको मूल-  
क्षेत्राद्गच्छं पानं शृणुत्या आचार्याय दृशानि, स्वयमाचार्यः सं-  
न्यासमर्थे मूलक्षेत्रमायाति । अथअंतरपडिंमागन्तुं न शक्यन्ते  
तदा अंतरपडिं प्रतिषुवभ्रामार्थे रन्तरालं गत्वा अर्थं कथय-  
ति । तत्रापि गन्तुं शक्यमर्थं प्रतिषुवभ्रामार्थे, तत्रापि गन्तुमशक्यं  
प्रतिषुवभ्रामार्थं मूलक्षेत्रात्तः तत्रापि गन्तुमशक्यमर्थं मूल-  
क्षेत्रस्यैव कथिजिज्ञेनं प्रदोः; अथ तत्रापि गन्तुमशक्यमर्थं तदा  
मूलक्षेत्रमथ एवाचार्यस्यां वसती गत्वा; तत्रापि गन्तुमशक्यमर्थं  
मूलवसन्ततत्र प्रच्छन्नाचार्यास्तस्यै यथालान्दिकाचार्येणं प्रय-  
च्छन्तीति । उक्तं च कल्पचूर्णी-“आचार्यं सुगपोरिंसिं अर्थपो-  
रिंसिं य गच्छं निथाय दाउ अहासंदिपयाणं सगमं गंतुं, अर्थं सा-  
रेह । अह न तरह, द्वां वि पोरिंसिं आ दावं गंतुं तो सुसपोरिंसिं  
दावं वच्छह, अर्थपोरिंसिं सांसेण द्वावेह । अर्थसुसपोरिंसिं  
पि दातुं गंतुं न तरह, तो द्वां वि पोरिंसिं आ स्तिसण वा-  
यावह अल्पणा अहासंदिप वापइ । जइ न सकेइ आयरिओ  
केसवहिं अथासंदिपसंगासं गंतुं, ताहं जं तेसि अहासंदि-  
याणं धारणाकुसलो सो अंतरपडिंसासन्नं खंचवसहिं पति,  
आयरियो तस्सं गंतुं अर्थं कइति । एथ पुणं सत्तमो अत्त-  
पाणं गहाय आयरियस्स नेह, गुरु वेयालिय पडिअ इति । एवं  
पि असमर्थं गुरु अंतरपडिंयाणं पडिअवसभगामस्स य अंतर-  
यावइ ति । असति पडिअवसं द्याए, असति पडिअवसभस  
वासगामस्स य अंतरा वापति, असति वसभगामस्स बहिंयाणं  
धाएति । अतरंते सगामे अक्षरा एवसहीव, अतरंते एगवसही-  
ए वेव अपरिभोगं उवासं धाएति इत्यादि” ॥ (नीय य अपरभो-  
गो ति ) तस्यां च मूलवसन्तावपरिभोगं तथाविधजनाकीणं  
स्थानं, तेभ्योऽर्थशेषं प्रयच्छन्तीति योगः । तत्र च ये ग-  
च्छसाधवां महास्तोऽपि यथालान्दिकं वन्दन्ते, स पुनर्दथाल-  
न्दिकस्ताव वन्दन्त इति । एवं तमर्थशेषं शृहीत्वा पारिनिष्ठितन-  
योजनत्वाद् गच्छं अपरितावकाः सन्तो यथासंदिपका स्वच्छया  
स्वकल्पानुरूपं विहरन्त निजकल्पं परिपालयन्ति इति । परव ७  
७० द्वार । ७० । ७० । ७१० ।

अथ जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकभेद्विधानां परस्परं  
विशयमाह-

जिणकल्पिया य तहियं, किंवि तगच्छं पि ते न कारिंति ।  
निपुण्दिकम्मपरिंरा, अवि अच्छिपडं पि नऽवगोति । ६३१ ।  
जिनकल्पिकाश्च यथासंदिपकाः, तदा कल्पकाश्च मारणात्मिकः-

प्यानके समुद्रपत्रे, न कामपि विक्रिन्तां ते कारयन्ति, तथाक-  
ल्पस्थितेः । अपि च-निष्प्रतिभ्रमेशरीराः प्रतिकर्मरहितदेहास्तैः  
जगवन्तस्तन आस्नां तावदन्वय, भङ्गमलमपि नापनयन्ति, अ-  
प्रमादाविशयादिति ।

थेराणं नापचं, अतंरं अरिप्राणिं गच्छन्त ।  
ते वि य स फासुपणं, करिंति सचवं पि पदिक्कम्मं ॥६३॥

स्वार्कलिपकयथाह्निकानां जिनकलिपकयथाह्निकानां ना-  
नात्वं भवेत्, यथा अशक्यनुचरन् व्यधिष्यद्यन्ते सन्त स्वमाधु-  
मर्थयन्ति गच्छस्य गच्छयासिसाधुसमुहस्य स्वकायं पञ्चकग-  
णपरिपूरणार्थं च तस्य स्थाने विंशतिपञ्चसंज्ञननादिसमन्वित-  
मस्यं मुनिं स्वकल्पे प्रवेशयन्ति । तस्यै च गच्छवासिनः साध-  
वः ( स ति ) तस्य अशक्यनुचरः प्राशुकन निरवधेनाश्रवाणा-  
दिना कुर्वन्ति सर्वेर्मापं पारंक्रमं प्रतिजागरणमिति ।

किञ्च—

एकेकपरिगहगा, सपाउरणा हवंति थेराओ ।  
जे पुणं सि जिणकूपे, जावं नि वयपायाणि ॥६३॥

स्वार्कलिपकयथाह्निकानां अशक्यमेव एकैकपदग्रहकाः  
प्रत्येकैकैकपदग्रहधारिणः, तथा सप्रवरणस्य जयन्ति । ये  
पुनर्वा यथाह्निकानां जिनकल्पे अभिष्यन्ति, जिनकलिपक-  
यथाह्निकानां इत्यर्थः । जावं तेषां वस्त्राणां सप्रवरणाः प्राव-  
रणपदग्रहधारिण्यणिषाभेदमिष्यन्त्याविविजकल्पयन्त्या के-  
वाचिद्वस्त्रावभक्षणमुपकरणं जयन्ति, केषां च नैत्यर्थः । प्रव०  
७० द्वार । वृ० ।

अथ सामान्येन यथाह्निकप्रमाणमाह—

गणमाणओ जह्णा, तिभि गण मयगसो य उक्कोमा ।  
पुरिसपाणे पनरम, सहस्समां चव उक्कोमा ॥ ६३४ ॥  
गणमानतो गणमाधियं जघन्त्यत्तखयो गणाः प्रतिपद्यमान-  
का जयन्ति । शताप्रदशत शतपुत्रकवमुक्कृतां गणमानं, पुरुष-  
प्रमाणं त्वेतेषां प्रतिपद्यमानकानां जघन्त्यतः पञ्चदश, पञ्चको  
हि गणांऽमुं कल्पे प्रतिपद्यन्ते । गणश्च जघन्त्यत्तखयः, ततः  
पञ्चमिंशतिगणाः पञ्चदश, षड्दशतः पुनः पुरुषप्रमाणं सहस्रशः  
सहस्रपुत्रकवच ।

पुरुषप्रमाणमेवाधियं पुनर्विशेषमाह—

पडिव ज्ञमाणगा वा, इकाइ हनेज ऊणपक्खे वि ।  
होति नहन्ना एए, सयगसो चव उक्कोमा ॥ ६३४ ॥  
पुत्रपदिक्कगगाणं वि, उक्कोसजह्णसो परीमाणं ।  
कोरिपहुत्तं जणियं, होइ अह्णाइंदिपाणं तु ॥६३५॥

प्रतिपद्यमानका यत् जघन्त्यत एकादशो वा जघन्युन्मप्रक्षेपे स-  
ति, यथाह्निककल्पे हि पञ्चमुभिसयं गच्छः, तत्र च यदा ग्मान-  
त्वाधिकारणयशस्तं गच्छसमपणंदिना तेषां न्यूनाता भवति त-  
दै ग्मादिकः साधुस्तं कल्पे प्रवेशयन्ते, येन पञ्चको गच्छो भवति, एवं  
जघन्त्यतः प्रतिपद्यमानकस्तथा शताप्रश उक्कृताः प्रतिपद्य-  
मानका एवेति ॥६३४॥ पूर्वप्रतिपद्यानामपि सामान्येनोत्कृष्टानां ज-  
घन्त्यत्तख परिमाणं कांतिपुत्रकवचं जणितं भवति यथाह्निकानाम् ।  
उक्तं च कल्पपूर्वार्धे—“पडिवज्जमाणगा जह्णंते तिभि गणा, उक्को-  
सणं सयपुहसं गणाए पुरिसपमाणं पडिवज्जमाणगा, जह्णंते  
२१७

पन्नरस पुरिसा उक्कोसणं सहस्सपुहसं पुत्रपदिक्कगगाणं जह-  
णंते कोरिपुहसं, उक्कोसयि वि कोरिपुहसमिति” । केवसं जघ-  
न्याधुत्कृष्टे विशिष्टतरं ह्यभिमिति । प्रव० ७० द्वार । वृ० ।

अथ गच्छप्रतिषथयथाह्निककारमाह—

पडिवक्के को दोसां, अगमणेगागिण्यस वामासु ।  
सुयसंयपणादंओ, सो चव गमो निरवसेमा ॥

प्रतिषथन प्रतिषथय, गच्छप्रतिषथ इत्यर्थः । तत्र कारणे यथा-  
ह्निकानां च वक्तव्यं (को दोसंति) को नाम दोषो भवति य-  
सं यथाह्निकानां आचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे न तिष्ठन्ति । (अगमणेगा-  
गिण्यससंति) यथाचार्याः स्वयं क्षेत्रबाहिर्गन्तुं न शक्यन्ति तत  
एकानिमे यथाह्निकस्यागमन भवति ( वासासु ) (सि) यथासु  
उपयोगं दश्या यदि ज्ञानानि वषे न पतिष्यन्ति तत्र आगच्छतिः प्र-  
न्यथा तु नति । भुजसहननादिकस्तु गमः स एव निरवस्थायां व-  
क्तव्या यो जिनकलिपकानाम् । यस्तु विदोषः स प्रागेषोक्तः ।

अथ प्रतिषथपद व्याख्याति—

सुत्तरयमावसेमां, पदिबंधो तसिमां जने कप्पो ।  
आयरिं किड्कम्मं, अंतरे बहिया य वसहीए ॥

सुवार्धेस्तीरुद्द्वीतः परमथापि सावशेषो न संपूर्णः, एव तेषां ग-  
च्छविषयप्रतिषथः । तेषां चायं वक्ष्यमाणः कर्तव्यः, यथा-आचार्य-  
स्यैव कृतिकर्म बन्दनक दातव्यं, तथा-यथाचार्या न शक्नोति  
गन्तुं ततोऽन्तरा वा प्रामस्य, बहियां वसती, यथाह्निकस्य  
वाचनां द्वाति । यत्पुत्ररज भावविषयित् ।

अथ को दोष इति द्वारं शिष्यः पृच्छति । यथाऽद्याचार्योधि-  
ष्ठिते क्षेत्रे ते तिष्ठयुस्ततः को दोषः स्यात् ? उच्यते—  
नमणं पुत्रवभासा, अणमण दुस्सीलधपपासांका ।  
आपच कुकुदत्ति य दादो द्वोगे उडिं चव ॥

यथाह्निकानां न वसन्ते आचार्ये मुक्या अन्यस्य साधोः  
प्रणामं कर्तुं, तथाकल्पेवात् । ननरन्ते क्षेत्रान्नास्तिष्ठन्तः पूर्वोन्त्या-  
साक्षमन् प्रणामं साधुनां कुर्वे, गच्छवासिनश्च यथाह्निकान्  
बन्दन्ते ते पुनर्वाह्निकान्नास्मान् भूयां न प्रतिष्यन्तं, ततस्तेषा-  
मनमे द्वोको भ्रयात्-दुःशीला अशीलाः स्तम्भकल्पा अमी, य-  
तोऽन्येषामिन्द्रबन्दमानानामपि न प्रतिष्यन्तं प्रवच्छन्ति, न वा  
कल्प्यालापं कुर्वन्ति । गच्छवासिषु वा लोकस्य स्वयंयुक्तान्  
भवति-अवश्यं स्थाप्या दुःशीलत्वाद्बन्दनीयाः कृता अमी,  
अन्यथा कथं न प्रतिष्यन्ते । आमायंथेका वा अमी यदाप्रतिष्य-  
मानानां पबन्तं, कौकुडका वा माहस्थानकारिणांऽमी कोर-  
पङ्क्तिनिस्समिधं बन्दन्ते । एवं लोकं वाप उपजायन्त, कारोः  
क्षेत्रबाहिस्तिष्ठन्ति । अपि च स्थितिरैव कल्पे एवायममीयां, यत्  
क्षेत्रान्यन्तरे न तिष्ठन्ति ।

अमीयामेव कल्पमाह—

दोषि वि दांं धाणं, धाणकुसलसस देस्स बहि देइ ।  
कड्कम्मं चोत्तपट्ठे, ओवगहिया निंसज्जा य ॥

आचार्यः सुवार्धेपीठस्थो द्वे अपि गच्छवासिनां द्वावा यथाह्निक-  
कानां समीप गमनं करोति, गत्वा च तत्र तेषामर्थे कथयति । अ-  
थाचार्या न शक्नोति तत्र गन्तुं ततो यस्तेषां यथाह्निकानां मध्ये  
धारणाकुशासोऽप्रवर्णयान्तिमानं, क्षेत्रबाहिस्तिष्ठन्तः पक्षिकायाः प्र-  
त्यासक्तं भूतानां समायाति, तत्र च गत्वा आचार्यस्तस्यार्थे द्वा-



लि । स च भुजभक्तिहेतोरार्वाद्याणां कृतिकर्म वन्दनक इत्या चोल्-  
पट्टकाल्पयौ औपप्रोदक्यां निपद्यायानुपविष्टायां शृणोति ।

अथ "होषं हि हाउं गमणं" इत्येव द्वितीयसाह-

अर्थेयं हो च अदाउं, वषड् वायावए व अक्षेणं ।

एवं ता उउक्के वापानु य काउमुत्रओगं ॥

गद्याचार्यो हे आपो चौरुष्यो इत्या गन्तु न शक्नोति ततोऽधो-  
मदस्वा, तथाऽप्यदाकां हावपि सूत्रायावदस्वा व्रजति, अप्येन  
वा शिष्येण स्वशिष्यान् वाचयति वाचनान् दापयति । अद्याचार्य-  
स्तत्र गन्तुमशक्तस्तो यथाशक्तिः सूत्रसमीपमायाति, एव ता-  
वत् श्रुतुवन्दे उच्यते ॥ वर्षासु, व्यशथ, पुनरर्थे । वर्षासु पुनरर्थे वि-  
शेषा-उपयोगं कृत्वा किं चपे पतिष्यान् नवेति निरुद्ध्य यदि  
जानाति पतिष्याति ततो न आचार्याणां समीपमायाति ।

अथ गुरुवस्तत्र गताः कथं समुद्दिशन्तीत्याह-

संधाको मगणो, जत्रं पाणं च नैड उ गुरुणं ।

अरुचुएहं थेरा वा, तो अंतरपक्षिण एड ॥

गुरुणां यथालादिकसमीपमुपगतानां योग्यं जत्रं पानं च गु-  
होऽपि सधाटको मागणं पृष्टतो गन्वा गन्वा तत्रनयति । अथ या-  
वत् कालेन यथालादिकसमीपमुपगतं गुरुणां व्रजति तावत्, अ-  
स्तुणामेन वा नपश्चरन्ति, स्वधिग वा वादिकवयः प्रास्तास्ते  
आचार्यास्ततोऽन्तरपक्षिकायामेको यथाशक्तिः को धारणासं-  
पन्नः समायाति, तत्र गुरुणांऽपि गन्वा तस्य वाचनान् दत्त्वा  
संधाटकनाऽऽजीत भक्त्यान् समुद्दिश्य संधासमये मूलक्रे-  
ममायाति ।

अथाऽन्तरपक्षिमपि गन्तुमसमर्थां गुरवः, ततः किमित्याह-

अंतरपक्षिव्रजे वा, विदयेतर वाहि वमजगामस ।

अन्नाए वसहं, अपरीतोमाम्मि वाए ॥

अन्तरपक्षिकाप्रतिवृत्तप्रजासंधोरनरान्ने गन्वा यथाशक्तिं वा-  
चयति, तत्र गन्तुमशक्तो प्रतिवृत्तप्रजासंधो गन्तुं न श-  
क्नोति ततो ( विदयेतरं ति ) द्वितीयं प्रतिवृत्तमूलक्रेमयारपान-  
राजलक्षणं यदन्तरं तत्र गन्वा वाचनान् प्रयच्छति, तथापि गमना-  
शक्तौ वृत्तप्रजासंधय मूलक्रेमस्य बहिर्विजितं प्रदेशे गन्वा वाच-  
यति, यदि तथापि गन्तुं न प्रमथिष्युः ततो मूलक्रेम पवान्यस्यां  
वसती, तथापि गन्तुमशक्तौ तस्यामेव मूलचसती अपरिभांये  
अवकाशे वाचयति ।

तत्र चयं सामाचारी-

तस्म जई किडकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेड् ।

जा पड्डं ताव गुरुणो, करेडं न करेड उ परेणं ॥

तस्य यथालादिकस्य यतयो गच्छन्वासिनः साधवः कृतिकर्म  
कुर्वन्ति स पुनर्यथालादिकसत्त्वां गच्छन्वासिनां कृतिकर्म न  
करोति, यावच्च पठति अर्थतोयमधीने गुणेरपि तावदेव क-  
रोति, परतस्तु न करोति, तथाकल्पत्वात् ।

अर्धामांसेव मासकल्पविधिमाह-

एको मामवियारो, इवेतऽडाडोदियाणं कुग्गामा ।

मासो विभज्जमाणो, पणगणं उ निडिओ होइ ॥

यदि मूलक्रेमस्य बहिरेको प्रायः सविचारः सविस्मरो वतने,  
आह च कृणिकृत्- सविचारो चि विस्तुतः ततस्तस्मिन्

प्राये षट् वीथीः परिकल्प्य यथालादिका एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च  
पञ्च दिवसात् भिक्षाप्रदानं तस्यामेव च वाथ्यां वसतिर्माप नृ-  
हन्ति । एव प्रतिवीथ्यां पणगणं रात्रिदिवपक्षकेन मासां  
विभज्यमानः सन् वाङ्महारात्रपञ्चकैर्निहितः सप्रभो भवति ।  
अथ नास्ति विस्तीर्णो प्रायस्ततो ( इवेतऽडाडोदियाणं उगमा  
इति ) मूलक्रेमप्राप्तयो ये लघुतरा वद प्राप्ता भवन्ति, तेषु प्रत्येक  
पञ्च पञ्च दिवसात्, पर्येतान् यथाशक्तिकानां तथैव वस्तिरहा-  
रात्रपञ्चकैर्मासः परिपूर्णा नवतीति । १०० १ उ० ।

अहालहुस्मय-यथालुपुस्वक-न०। यथेति यथोचितानि लघु-  
स्वकानि अमहास्वरूपाणि, महानि हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा वा-  
च्यन्त्यादिति यथालुपुस्वकानि । अथवा लघूनि महानि बरि-  
ष्ठानीति च बुद्ध्याः । अमहास्वरूपेण, भ० । 'इवाणं अहालहुस्म-  
गादं रयणाहं इता अरिथं' भ० १ श० २ उ० । अनेकान्तलुपुके  
वीणाग्रहाणप्राह, २४० ७ उ० । स्तोत्रं, २४० ।

यथालुपुस्वकादिव्यवहारप्रणाल्यामाह-

गुरुओ गुरुस्ततरागो, अहागुरुस्तो य होड ववहारा ।

लहुमां लहुस्ततरागो, अहालहुस्तो य होड ववहारा ॥

एणमिं पच्छिचं, वुच्चापि अहागुपुच्चाए ।

व्यवहारविधिः । तद्यथा-गुरुको गुरुस्तरको यथागुरुस्वक-  
श्च । तत्र यो गुरुकः स त्रिबिधः । तद्यथा-लघुगुः लघुस्तरको  
यथालुपुस्वकश्च । एतेषां व्यवहाराणां, यथालुपुगुं यथाकपरि-  
पाठ्या, प्रायश्चित्तं यज्यामि । किमुक्तं नवति ? एतेषु व्यवहारेषु  
समुपास्वनेषु यथापरिपाठ्या प्रायश्चित्तपरिमाणं अनिधात्ये ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

गुरुमां य होड मासो, गुरुस्ततरागो चठमामो ।

अहगुरुओ ढम्मासो, गुग्गायपक्खम्मि पदिन्वत्ती ॥

गुरुको नाम व्यवहारो मासां मासपरिणामः, गुरुके व्यवहारो  
समापिते मास एतः प्रायश्चित्तं इत्युक्तं इति ज्ञेयः । एवं गुरु-  
तरको भवति चतुर्मासपरिमाणः । यथागुरुकः परमासः, पर-  
मासपरिमाणः । एषा गुरुकपेके गुरुकव्यवहारं त्रिविधं यथा-  
क्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपात्तः ।

सम्प्रति लघुपुस्वकव्यवहारविषयं प्रायश्चित्तपरिमाणमाह-

तोसा य पणवीमा, पत्तरसे पणवीसा य ।

दस पेच य दिवमाणं, लहुमगपक्खम्मि पदिन्वत्ती ॥

लघुको व्यवहारविशेषतः त्रिशुदिवसपरिमाणः । एवं लघुतरकः  
पञ्चविंशतिदिनमानः । एषः लघुकव्यवहारं त्रिविधं यथाक्रमं  
प्रायश्चित्तपरिपात्तः । यथालघुको व्यवहारः पञ्चदशपञ्चविं-  
शतिदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः । एवं लघुस्तरको दशदिवस-  
मानः । यथालघुस्वकः पञ्च दिवसानि पञ्चदिवसप्रायश्चित्तानि  
परिमाणः । एषा लघुस्वकव्यवहारवत् प्रायश्चित्तपरिमाणप्र-  
तिपात्तः । २४० २ उ० ।

सम्प्रति भाष्यकम् यथाशुच्यकप्रहणं, तुनीयसुत्र-  
गतमभ्यतरप्रहणं च व्याख्यानयति-

दुविहो य अहाडलुहो, जहमओ मडिअमो य उवहीओ ।

अअपरगट्टणण उ, पेप्पं ति विहो उ उवहीओ ॥

यथाप्रसूत्येक उपधाद्विधो भवति—अथयो मध्यमश्च । अथ्वतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपाधः परिरुह्यते । तदेवं कृता त्रिविधमप्यथाख्या भाष्यकृता । अथ० ६ उ० ।

अहावासा—यथावकाश—अथ० । यो यस्यावकाशः यद्यस्योप-  
त्तिस्थानद—अथवा भूयम्बुकात्तऽऽकाशीयजसंयोगः, तदनति-  
क्रमे, सूत्र० । "नेति च यो अहावासेण अहावासोऽपि इथोप" ।  
यथावकाशेनेति । यो यस्यावकाशो मानुहदरकुत्यादिक-  
स्तत्रापि किल वामा स्थियः, दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्याभया-  
श्रितः परह इति । अत्र चाविध्वस्ता यानिरविध्वस्तं बीज-  
मिति स्वतारां नङ्गाः । तत्राप्याद्य एव भङ्गक उत्पत्तयकाशां,  
न शेषेषु त्रिष्विति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

अहावच—यथापर्य—पुं० । अहावच इति तथा ये, ते यथापर्याः ।  
पुत्रस्थानियेषु, भ० ३ श० ६ उ० । कल्प० ।

अहावचचापिष्ठाप—यथापर्यानिष्ठात—त्रि० । यथाऽपत्यमेव-  
मभिज्ञाता भवन्ता यथापर्यानिष्ठाताः । अथवा—यथापर्याश्च  
तेऽनिष्ठाताश्चेति कर्मधारयः । पुत्रस्थानियेषुभिज्ञातेषु, भ० ३  
श्रु० ६ उ० ।

अहाविह—यथाविधे—अथ० । शास्त्रीयन्यायानतिक्रमे, हा० ७ हा० ।

अहासंयव—यथासंयव—न० । निष्कम्पं पदादौ, नि० चू० २ उ० ।

अहासंयवड—यथासंस्तुत—न० । शयनयोग्ये, आचा० २ प्र० २  
अ० ३ उ० ।

यथामंस्कृत—न० । यत् तुणादि यद्योपमोगाई भवति तथैव ल-  
ज्यते तस्मिन्, अथा० ३ हा० ४ उ० । आचा० ।

अहासंविभाग—यथा (आधा) संविभाग—पुं० । यथा सिद्धस्य  
स्वार्थं निर्वाचनस्थेयर्थः, अहासादः समितिसङ्गतत्वेन पञ्चाक-  
मदीदं यपरिदारेण विभजन साधये दानद्वारेण विनागरकरण  
यथासंविभागः । अनिधिसंविभागश्चेत्, उपा० १ श्रु० १ अ० ।  
"अहासंविभागो णाम जाद अहाकम्मं देति तो सायुमहे नज-  
ति इट्टिद्विद्वि सज्जमहाणेहि उत्तारंति, तेण आहाकम्मण सो  
अहासंविभागो जयति । जे अहापरस्ताणं अणुपाणवत्थओ-  
सहसंजपपिदकलणंमजासपर्याणवार्त्तणं सविभागो मो अ-  
हासंविभागो भवति । फासु एसण्ण संविभागो सि भण्णियं  
हाः " । आ० चू० ६ अ० । आधासंविभाग इत्यनुवर्तितव्यः ।  
अस्यानिवाराः—" तथाऽणत्तरे च णं अहासंविभागस्स एव  
अहारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा ! तं जहा—सचित्त-  
निकम्बेयणया ? सचित्तपटणया १ कात्ताडकमदांणं ३ परीव-  
देशं मच्चुत्तया ४ " । उपा० १ श्रु० । ( "अहसंविभाग" शब्द-  
ऽस्मिन्नैव भागे ३४ पृष्ठे उक्तोऽस्य विस्तरः )

अहासिच—यथासत्य—न० । याथातथ्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ०  
२ उ० ।

अहासत्ति—यथाशक्ति—अथ० । स्वशक्त्याचिन्त्ये, हा० २२ हा० ।  
शक्त्यनुकूपे, पं० श्रु० ४ श्रु० । शक्त्यनुकारे, पं० श्रु० ३ अ० ।

अहासुत्त—यथासुत्र—अथ० । सामान्यतः सूत्रानतिक्रमे, दशा०  
७ अ० । अथा० । उपा० । हा० । सूत्रानुसारेणादातिसत्यताके,  
अथ० ए उ० । सूत्राधिक्ये, कल्प० ६ उ० ॥

अहासुह—यथासुह—अथ० । सुखानतिक्रमे, हा० १ अ० ।

अहासुहम्—यथासुहम्—त्रि० । सारं, भ० ३ श० १ उ० । "अहा-  
सायरे भुमाले परिस्मादे" । कल्प० २ क० ।

अहाह—अहाह—अथ० । शब्दे, सभाधने, आश्चर्ये, क्लेशे, प्र-  
कथे च । वाच० । प्रा० ।

अहि—अहि—पुं० । उरःपरिसर्पभेदे, उक्त० ३६ अ० । सर्पे, उक्त०  
३४ अ० । हा० । सूत्र० ।

अस्य भेदाः—

से किं ते अहि ? । अहिं दुविहा पण्णाया । तं जहा-  
दन्वीकरा य, भउलियां य ॥

अथ के ते अहयः ? । गुरुराह—अहयो द्विविधाः प्रकृताः । त-  
द्यथा—दूर्ध्वोकराश्च मुकुलिनश्च । तत्र दूर्ध्वो व दूर्ध्वो कृता, तत्क-  
रणशीला दूर्ध्वोकराः, मुकुल फणाविरटोयमा शरीरावयव-  
विशेषाकृतिः, सा विद्यते येषां ते मुकुलिनः, फणाकरणशार्त्तव-  
कृता इत्यर्थः । अथाऽपिचशब्देः स्वगतानिकभेदसूचको । प्रहा० १  
पद । आचा० । ( दूर्ध्वोकरमुकुलिनोदा स्वस्वस्थाने दृष्टव्याः )

अहिअ—अहित—त्रि० । हिताऽकारिणं, स० ३० सप्त० ।

अहिअणियहि—अहितनिवृत्ति—स्त्री० । प्राणानिपातात्करणे,  
पं० व० १ हा० ।

अ ( आ ) हिआः—अभिजाति—स्त्री० पुं० । " अद्यधमं० " ।  
हा० १ । १२७ । इति अस्य हः "कगञ्ज०" । हा० ११७१ इत्यादि-  
ना तजयोर्लुक् । " अतः समुदाहोर्वा वा " । हा० १ । ४४ । इति  
अकारस्य दीर्घः । सत्कुलांतपत्तो, प्रा० १ पाद । पुं० १ पाद ।  
अहिआहिअसंपत्ति—अधिकाधिकसंप्राप्ति—स्त्री० । वृद्धौ, पं०  
व० ४ चार ।

अहिउल—दृह—धा०—अस्मीकरणे, सक० "दृहेरहिउलालुद्धौ"  
। ८ । ४ । २०० । इति दृहधातोर्दिउल्लादेशः । अहिउल्लह, उहह,  
दहत । प्रा० ४ पाद ।

अहिंसण—अहिंसक—त्रि० । अथथके, प्रअ० १ संव० हा० ।

अहिंसण—अहिंसन—न० । अव्यापाने, ध० १ अधि० ।

अहिंसा—अहिंसा—स्त्री० । हिंसाऽहिंसा । नि० चू० २ उ० ।  
प्राणविधेयग्राह्यजनव्यापाराभावे, हा० २१ हा० । प्राणघातव-  
जने, पं० व० १ हा० ।

( १ ) अहिंसास्वरूपनिर्वचनम् ।

( २ ) अहिंसाप्रलक्षणम् ।

( ३ ) अहिंसास्वसंवरणस्वाशेषा वक्तव्यता ।

( ४ ) धैर्यमुपलब्धा संविना च तत्रिकपणम् ।

( ५ ) अहिंसापालनेघटस्य यद् विधेयं तत्रिकपणम् ।

( ६ ) प्रथमत्रयस्य पञ्च भावताः ।

( ७ ) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः ।

( ८ ) धैर्यकहिंसाविचारः ।

( ९ ) किमर्थं सन्वान् न हिंसादिति प्रतिपादनम् ।

( १० ) अहिंसाप्रतिद्वेषनिकपणम् ।

( ११ ) भगवन्तरेऽहिंसा न तादृशी ।

( १२ ) सर्वे प्राणादुका अहिंसां मोक्षाङ्गभूनां प्रतिपाद्यन्ते, न  
प्राधान्येन ।

- ( १३ ) अहिंसाविषेचनम् ।
- ( १४ ) एकात्मनित्यान्त्यात्मनि हिंसा इ. एतद इति निरूपणम् ।
- ( १५ ) आत्मनः परिष्कारमित्ये हिंसाया अविरोधनिरूपणम् ।
- ( १६ ) स्वगोदयो हि यदि स्वकृतकर्मोनापादिता एव स्फुरति तदा कर्मोन्मुपगमो निरर्थक इति हिंसाऽपि अलंभवा जनानामिति विचारः ।
- ( १७ ) आत्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाङ्गिभ्यामिभक्त्यस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनम् ।
- ( १८ ) आत्मनोऽसर्वगतत्वं गुणवर्णनम् ।

( १ ) अस्य निषेधा-

हिंसाप एदिवक्तो, होइ अहिंसा चउन्विहा सा उ ।

दन्वं जावे य तद्दा, अहिंम उजीवाड्वाउ चि । ४५॥ दश० नि० ।

तत्र प्रत्यक्षयोगानुप्राणव्यपरोपणं हिंसा । अस्या हिंसायाः किम्, प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः, अग्रमक्षतया गुणयोःगपूर्वं कं प्राणाऽव्यपरोपणमित्यर्थः । किम्, अव्यतिरेकः । तत्र चतुर्विधा चतुष्पकारा अहिंसा । ( दृष्ये भावे य स्ति ) दृश्यतो भावतश्चेत्येका भङ्गाः तथा-दृश्यतो नो जायते । भावतो न दृश्यतः । तथा-न दृश्यतो न भावत इति । तथाहाव्यक्तमुष्मिभतो भङ्गत्रयोपन्यासः, अनुक्तसमुच्चयात्थं कत्वादस्यति । त्वञ्ज- "तथा समुच्चयनिर्देशावधारणसाहचर्यप्रस्येषु " इत्यादि । तथाचायं भङ्गकमावायः प्रत्यतो भावतश्चेति- " जहा केह पुरिस्वे मियवदपरिणामपरिणए मियं पासिसा आयस्त्राश्चिद्विकोदंरुजीवे सरं णिसिरिञ्जा, से य मिए तंए संरंए विक्ं मप; इया एत्ता दव्यञ्जो हिंसा, भावञ्चो वि । या पुनर्दृश्यतो न भावतः, सा जल्मीयोविस्मितस्य साधोः कारणे गच्छत इति । उक्तं च-

" उष्माश्रियमि म पाप, इरियासमिस्स सखमद्वाए ।  
 बावेजेज कुलिगी, मरिज्ज तं योगमासज्जा ॥ १ ॥  
 न य तस्स तं निमित्तो, यथो सुमुमां वि देसिञ्जो समप ।

अहो नो अपमसो, सा उ पमाञ्जा ति निदिट्ठा" ॥२॥ इत्यादि । या पुनर्भावातो, न द्रव्यतः संशयः- "जहा के वि पुरिस्वे मंयंमंदप्य- गालव्यदेसे संतिवे ईस्विल्लिअकायं रज्जुं पासिसा एस अहिंस्ति तव्वहपरिणामए णिकइियासिपत्ते दुअं दुअं मिदिज्जा । एसा भावञ्चो हिंसा, न दव्यञ्जो । चरमभङ्गस्तु शून्यः । इत्येवम्भूताया हिंसायाः प्रतिपक्षोऽहिंसाति । एकाधिकानिधिसंयाऽऽह- ( अहिंसज्जावाइवाञ्जो स्ति ) न हिंसा अहिंसा, न जीवांत- निपातः अजीवातिपातः । तथा च तद्गतः स्वकर्मोतिपातो अव- संयंवाऽजीवञ्च कर्मोति भावनीयमितान् । उपलक्षणत्वाच्च प्राणा- निपातविरत्याइह इति गायथाः । दश० १ अ० । अस्यथावर- ज्ञावज्ञायाम, स्या० । प्रमादयोगात्सस्वव्यपरोपणविरितिरूपे प्रथमं व्रतं, ध० ।

( २ ) प्रथममहिंसातलक्षणमाह-

प्रमादयोगाद्यत्सर्वे-जीवास्वव्यपरोपणम् ।  
 सर्वथा यावज्जीवं च, प्रांचे तत् प्रथम व्रतम् ॥ ४ ॥

प्रमादो ज्ञानसंशयविपर्ययरागद्वेषस्तुमिन्द्रशयोंगुच्छाणधान- धर्मोनादभेदादृष्येचित्तोयोंगात् तत्संशयान् सर्वेषां सूक्ष्माभे- दभूमिभ्रान्तौ, जीवानां प्राणिनां, येऽसवः प्राणाः पञ्चेन्द्रियबलप्र- योक्त्यासायुर्लक्षणा दृशः, तेषां यथासंभवेनाऽव्यपरोपणमविना- शनमा तद्देशतोऽपि स्यादित्यत आह-सर्वेति । सर्वप्रकारेण वि-

विधाविषेधेन भङ्गेन । तच्चैतन्मपि स्यादित्यत आह-यावज्जीवं- प्राणधारणं यावत् । तत्किमित्याह-प्रथमं व्रतम्-अहिंसाव्रतं, प्रांचे जिनैरति शयः । प्रथमस्य चास्य शशाधारत्वात् सुवकम- प्रामाण्याच्चावसेयम् । द्वितीयो हेतुश्च द्वितीयमतादिवर्षाप भाव्य इत्युक्तं प्रथमं व्रतम् । ध० ३ अधि० । " तथियं पदमं ठाणं, महावीरेण देसियं । अहिंसा निऊणा विट्ठा, सव्वभूयसु संय- म्" ॥१॥ दश० १ अ० । ( आद्यदृशाविषयानुगणस्य, व्र- ततनुदीनां च व्याख्या ' अट्टारसट्टाए ' शब्देऽस्मिन्नेव प्राये ३४९ पृष्ठे, स्वस्वस्थाने च दृष्टव्या )

( ३ ) अहिंसास्यसंवरद्वारत्वेयाऽंशेया वक्तव्यता-

तस्य पदमं अहिंसा, तसयावरसवञ्चयुखेमकरी ।  
 तंसि सभावणाए, उ किंचि वोञ्चं गुणुपे ॥

( तस्य स्ति ) तत्र नेपु पञ्चतु मध्ये प्रथमं सम्बरद्वारमहिंसा ( तस्यथावरसवञ्चयुखेमकरि स्ति ) अस्यस्थावराणां सर्वेषां भू- तानां क्रमकणशीला । तस्या आहसायाः सभावनायास्तु भाव- नापञ्चकोपेताया एव ( किाव स्ति ) किञ्चानास्यं, वक्ष्ये गुणो- देसं गुणलेशामिति । प्रश्न० ।

अथ प्रथमसम्बरनिरूपणायामह-

तस्य पदमं अहिंसा जा सा सदेवमनुयासुरस्स लोगस्स जवाति दीवो, ताणं, सरणगीतां, पट्टा, निव्वाणं, निव्वुड, समाही, मंती, किञ्ची, कंती, रट्य विरइय सुयंम तिची, दया, विमुची, स्वंती, सम्मत्ताराहणा, महंती, बोही, बुद्धी, धित्ती, समिद्धी, रिद्धी, विद्धी, उित्ती, पुद्धी, नंटी, जहा, विसुक्की, लच्छी, विमिद्धिदिट्ठा, कट्ठायां, मंगत्तं, पमोत्तं, विचूति, सिक्कावासो, रक्त्वा, अणायसो, केवकीणं ठायं, मिव सपियां, सीझ मंजयां स्ति य, सीलपणे, संवरो य, गुणी, ववसाञ्जो, उस्ततो य, नञ्जो, अापतणं, जयण- पणमाञ्जो, अमासो, विसासो, अजञ्जो, सव्वस्म वि अमायाञ्जो, चोक्खपविचो, सुत्ती, पूया, विमलपभासा य, निम्मलतर ति । एवमादीणि नियमुत्तानिम्पयाऽं पञ्ज- वनामाणं हूति अहिंसाए जगवतीए ।

( तद्येत्यादि ) तत्र नेपु पञ्चतु सम्बरद्वारेषु मध्ये प्रथममायं स- म्बरद्वारमहिंसा । किंभूता ? या सा संवेवमनुजासुरस्य लोकस्य अवाति ( दीवस्ति ) दीपो वा । यथाप्रायजज्ञाधिप्रथमज्ञाना- नां स्वैरभ्यापदकदम्बकदधानानां महार्मिमालामध्यमज्जमान- गात्राणां प्राण भवाति ह्यैः प्राणिनाः । एवमयमहिंसा संसा- रसागरप्रव्यगतानां व्यसनशतश्रवापदप्रप्रीतिनां संयोगवि- योमावीचिविधुराणां प्राण भवान्, तस्याः संसारसागरसागर- हेतुत्वाच्च, इति अहिंसा चीप उक्ता । यथा वा-दीया-यकारनि- राकृतहकप्रसराणां हेतुयादेवाथेहीनापादान्मूढमनसां नि- मिरनिकरनिराकरणेन प्रवृत्त्यादिकारण जवाति; एवमहिंसा ज्ञा- नावरणादिकर्मतामन्त्रसंकेतेन विद्युत्प्रकिप्रभापटलप्रयत्नेन प्रवृत्त्यादिकारणत्वादीप उक्ता । तथा-प्राणं, स्वपरैवमापदः सं- रक्षणात् । तथा-शरणम् । तथैव-सम्पदः, सम्पदाकत्वात् । सम्प- ते श्रेयोऽर्थेभिराश्रीयते इति गतिः । प्रतिष्ठन्ने आसने सर्वे गुणाः सुखानि वा यस्यां सा प्रतिष्ठ । तथा-निर्वाणं मोक्षः, तदनुत्वा-

शिवोपायः । तथा-निर्मुक्तिः स्वास्वयम्, समाधिः समता, शक्तिः, शक्तिहेतुत्वात् । शक्तिः कोहविरतिः, कौटिः, च्यातिहेतुत्वात् । कान्तिः, कर्मनीयताकारणत्वात् । इतिश्च रतिहेतुत्वात् । विरतिश्च निर्मुक्तिः पापात् । अत्र श्रुतज्ञानमङ्गं कार्यं यस्याः सा मुक्तिश्च । आह च- "पठनं मायं तपो द्या " इत्यादि । शक्तिहेतुत्वात् तृतिः । ततः कर्मधारयः । तथा-दया वेदिरक्तः । तथा-विमुक्तये प्राप्तिं सकलबन्धनद्वयो यथा सा विमुक्तिः । तथा-शान्तिः कोधनिग्रहः, तजजल्पत्वादाहिंसाऽपि शान्तिरुक्ता । सम्प्रकथं सम्प्रत्योपकरणमारोप्यते यथा सा सम्प्रकथारोपना । (मदंति षि) मदती सर्वधर्मानुष्ठानानां वृद्धी । आह च- " एकं चिय एकवयं, निहिदं जियचरेहिं सउवेहि । पाणाश्वायविरमण-सव्याससत्तस रक्खजा " ॥ १ ॥ आदिः सवङ्गधर्मेप्राप्तिः, अहिंसासकृपाश्च तस्या बोधिसा-बोधिरुक्ता । अथवाऽहिंसा सातुकरुणा, सा च बोधिकारण-मित्तं बोधिरेवाव्यते । बोधिकारणत्वं चातुकरुणायाः- "अणुकं-पा कामनिन्द-आगतवं द्वाणयियविभंमं । सज्जेताविष्यंताणे, सव्वससुव्वहंहुसक्कां " ॥ १ ॥ इति वचनादिति । तथा-शुद्धिः, साफल्यकारणत्वात् शुक्तिः । यथाह- "वाहचारकलकुसहा, प-रियपूरिताः अयंशिया चैव । सव्वकलणं पवरं जे धम्मकहा न जाणुंति " ॥ १ ॥ धर्मआहिंसेव । धुतिश्चिन्नदग्धि, तत्परिपाल-नीधत्वाद्दस्या धुतिरेवाच्यते । समुद्धितुत्वं समुक्तिरेवो-च्यते । एवं श्रुतिचुच्री । तथा-साद्यर्थयतिनमुक्तिस्थि-रनुत्वात् स्थितिः । तथा-पुष्टिः, पुष्टयेपच्यकारणत्वात् । आह च- "पुष्टिः पुष्टयेपचयनम् " । नन्दयति समुद्धि नयतीति नन्दा । मन्दं कल्याणीकरोति देहिनामिति भद्रा । विद्युद्धिः पापक्षयेण जावनिर्मलता । तथा-केवलज्ञानाद्विज्ञाननिमित्तत्वात्पुष्टिः । विशुद्धिः प्रधानव्यभिचयनिवर्धनः, तद्व्य-दशेनस्युपायान्यात् । आह च- "किं ती ए पटियाए, पयकोदी ए पलासपुयाए । ज्योसियं न नायं, परस्स पोडा न कायज्जा " ॥ १ । कल्याणं, कल्याणप्रापकत्वात् । मङ्गलं, दुर्निरोपशान्ति-हेतुत्वात् । प्रमेदः, प्रमोदात्पादकत्वात् । विभूतिः, सर्व-विद्युतिनिबन्धनत्वात् । रक्षा, जीवरक्षणस्याभावात्वात् । सि-कायासः, मोक्षावासनिबन्धनत्वात् । अनाभव, कर्मबन्ध-निरोधपायत्वात् । केवलज्ञानं स्थानं, केवलिनामहिंसायां ध्ययन्वितत्वात् । (सियसमातिस्सिलसंजमो षि य) शिवहेतुत्वे-न शिवसमितिः सम्प्रकृपप्रवृत्तिः, तद्व्यपन्नहिंसा शिवसमि-तिः शक्तिं समाधानं, तद्व्यापवाञ्छीक्षम् । संयमोऽहिंसात् उप-रमः । इति रूपप्रदर्शनः । चः समुत्थेः । स्तिसधरां षि । शी-ल्लदं चारित्र्यस्थानम् । सम्बरञ्च प्रतीतः । शुसिरशुभानां मनःप्रभुतीनां निरोधः । विशुद्धऽवस्थायां निश्चयो व्यव-सायः । उच्छ्वयः स्वभावेत्तत्त्वम् । यज्ञो ज्ञातयो देव-पूजा । आगतनं दुष्प्राणान्नाशयः । यजनमभयस्य दानं, यतनं वा प्राणिरक्षयं प्रति यतनः । अग्रप्रायः प्रमादवर्जनम् । आहवास आहवासनं प्राणिनामेव । विश्वासा विश्वस्यः । (अममो षि) अमयं सर्वव्यापीति प्राणिगणस्य । अ-भावात् अमारीः । चाक्रुपवित्रा, एककार्यगृह्ययोपादानात् कतिशोपायविधा । शुचिर्भोवशीलकथा । आह च- "सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूतदया शौचं, ज-लशौचं च पञ्चमम् " ॥ १ ॥ इति । (पूय षि) पायिञ्च,

पूजा वा भावतो देवताया अर्चनम् । विभ्रमप्रभासा, त-न्निबन्धनत्वात् । ( निम्सलतर षि ) निम्बं जीवं करोति वा सा तथा, अतिशयन वा निर्महा निर्मलतर । इति नाम्नां समाप्ती । एषप्रमाद्व्येवंप्रकाराणि निजकगुणमितितानि, यथा-धीनीत्यर्थः । अत एवाह-पर्यायनामानि तच्छब्दान्भित्तिभा-मानि भवन्त्याहिंसायाः । भगवत्या इति पुत्रावचनम् । एसा भगवती अहिंसा, जा मा जियाणं पिब सरणं, प-रवीणं पिब गयणं, तिसियाणं पिब सल्लिजं, सुदिहाणं पिब असरणं, समुहमज्जे व पोतवदणं, चउपपायं च आसमपयं, दुदुद्धियाणं च अ्रोसदिलवं, अदवीमज्जे च सत्यगमणं, एतो विसिद्धतरिका अहिंसा जा सा पुदवी-जल-भ्रगाणि-मारुप-नणुफ्फती-वीज-हरिय-जलवर-थलचर-त्तइ-र-त-स-थावर-सव्वचयुस्येकवणं । एसा सा भगवत्याहिंसा या सा प्रीतानामिभ शरणमित्यथा-श्यामिका, देहिनामितिगम्यम् । । पक्कणोणं पिब गवयं षि ) प-क्षिणामिभ गगनं, हिता, देहिनामिति गम्यम् । एयमन्यात्याप-रितं पक्षिणं श्याम्ययानि । किं भूतादीनां शरकृष्टिसमैव सा । १. न-स्याह- ( एसां षि ) एतेभ्योऽनन्तरोदितेभ्यः शरणादिभ्यो विशिष्टतरिका प्रधानतरिका अहिंसा, हितयेनेति गम्यने । शरणा-दिनां हितमेककान्तकमनात्पन्निकं भवति; अहिंसातस्तु तद्वीप-रीतं मोक्षावाप्तिरिति । तथा- 'वासा इत्यादि, यास्वी, पुष्टिव्याही-नि च पञ्च प्रतीगानि, वीजहरिनामि च वनस्पतिविशेषा आ-हाराद्येभ्यं प्रधानतया शेषवनस्पतिभेदेनाकाः । जलस्यार्दीनि च प्रतीगानि, ब्रह्मस्थावराणि सर्वभूतानि, तेषां क्रमकरा वा सा तथा, एषा एषेव, भगवनां अहिंसा, नाम्ना । यथा लौकिकैः क-ल्पिता- "कुलानि तारयन्त मत्त, यत्र शीघ्रं भवेत् " । स्वस्था सर्वयनेन, भूमिष्ठमुत्तकं कुट " ॥ १ ॥ इह गोविषय या दया सा किल तन्मतेनाऽहिंसाऽस्यां च श्रुत्यपुत्रकपूतरकादीनां हिं-साऽस्तीत्येवंकृपा न सगमहिंसेति । ( ५ ) अय वैरियमुत्पन्ना चैवित्वा च तानाह- एसा जगवती अहिंसा जा सा अपरिमियणत्वंदंसरण-परेहिं सील्लगुणविगुपतवसंजमनापकोहिं तिरथकरेहिं सव्वजगवच्छेदेहिं तिलोगपदेहिं तिलोचदेहिं सुधुदिंदा अहिंसाणेहिं विष्णाया उज्जुमतीं हिं वि दिद्धा विपुलतीं हिं विदिता पुव्वपरेहिं अशिया विउव्वं हिं पतिष्सा आजिखि-बोहिंयनाणीं हिं सुयनाणीं हिं मणुपज्जवणाणीं हिं केवल-णाणीं हिं आमोसहिपचेहिं खेवोमहिपचेहिं जण्णोसहिपचे-हिं विण्योसहिपचेहिं सव्वोसहिपचेहिं वज्जुकीएहिं को-डडुकीं हिं पयाणुसारीं हिं संभसोमोहिं सुयपरेहिं मण-हसुपेहिं वयवत्तपेहिं कायवल्लपेहिं नागवत्तपेहिं दंसण-वत्तपेहिं चरित्तवत्तपेहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं साण्ण-यासवेहिं अस्सोणयहाणसिपेहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं च-उत्थभचिपेहिं उट्टनचिपेहिं अट्टमभचिपेहिं दसमभचि-पेहिं एवं दुवांससचउदत्तसोत्तसअक्रमासमासदोमा-सनिमासचउत्तमासचंभामत्तमासजाचिपेहिं उर्विसत्तचर-

एहिं एवं निक्वित्चत्तरएहिं अंतत्तरएहिं पंतत्तरएहिं लूह-  
त्तरएहिं सधुदाणिचत्तरएहिं अस्मगिलाइएहिं मीणत्तरएहिं  
संसडकप्पिएहिं तज्जायसंसडकप्पिएहिं उवनिहिएहिं मुक्के-  
सणिएहिं मंखादतिएहिं दिड्डसापिएहिं अदिड्डलानिएहिं  
पुड्डलानिएहिं आरंभत्तएहिं पुरमहिंएहिं एकासणिए-  
हिं मित्रिणिएहिं मिमपिक्कनातिएहिं परमिपिक्कनातिएहिं  
अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरमाहारेहिं तु-  
च्छाहारेहिं लूहाहारेहिं अंतजंवीहिं पंतजीवीहिं लूहजीवी-  
हिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पमंतजीवीहिं विविभ-  
जीवीहिं अलीरमधुसणिएहिं अज्जमसांसिएहिं ठाणाइ-  
एहिं पमिमहाइएहिं ठाणुकुएएहिं विरामणिएहिं पोस-  
जिएहिं कंदायएहिं जगकसांतिएहिं एगपासाएहिं आया-  
त्तरएहिं अथात्तरएहिं अण्हिड्डमएहिं अक्कडुत्तरएहिं धृतकेस-  
मंतुलोभनखेहिं मध्वगायपक्किम्मविपमुक्कोहिं सणणुचि-  
आसुयपरविदित्तक्यायकुदीहिं धीरमात्तमुक्कियो य ज ते  
आसांविमत्तगतेयक्कपा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमतीया  
णिच्छं सज्जायज्जआणं अणुअंधयम्मज्जआणा पंचमद्वन्व-  
यत्तरित्तुत्ता समिया समित्तु समित्तपावा उव्वहजगव-  
त्तला णिच्छमपयत्ता एयहिं य अस्सेहिं य जा सा अ-  
णुपाहिया जगवती ॥

( पदामागमः स्वस्वस्थाने प्रष्टव्यः ) नवरं ( एतेहिं य ति ) ये  
ते एवोरुगुणा एतेभ्यश्चात्तुक्कलकालेगुणवक्रियांस्तस्मात्तुपा-  
सिता भगवन्तं अहिंसा, प्रथमं सम्भरत्तला, अहिंसा इत्यर्थः ।

( १६ ) अथाहिंसापालनोद्यत्स्य यद्विषयं तदुच्यते-

इमं च पुद्वो-दग-अगणि-मारुय-त्तसाण-त्तस-धावर-  
सवन्नयसंजयद्वयाए सुद्धं उळं गवेमियवं अकयम-  
कारियमणाहुयमएहिं अकयकं नवकोमीहिं एरिसुक्कं  
दवहिं य दोसेहिं विप्पमुक्कं उगमपउपायणेसणासुक्कववगय-  
त्तयत्तयत्तत्तदं च फामुयं च न निमिज्ज कदा एषोय-  
णफामुत्तवणीयं न तिगिण्णामंतमूसजेसज्जकज्जहेतं न  
लक्कत्तुपायमुणिएहिं सनिमित्तकइइइकपआचं न वि-  
दंमणाए न विरक्कणाए न वि सासणाए न विदंजण-  
रक्कत्तमानाणाए भिक्खं गवेसियवं, न विदंदाणाए न वि-  
माणाणाए न वि पूयणाए न वि वंदमाराणपुयणाए भि-  
क्खं गवेसियवं, न वि हौलणाए न वि नेट्टाणाए न वि ग-  
रहणाए न वि हौलणादिदणागरहणाए जिक्खं गवेसि-  
यवं, न वि भेसणाए न वि तज्जणाए न वि तालणाए न वि  
जेसणत्तज्जणत्तानाणाए भिक्खं गवेसियवं, न वि गारयेणं  
न वि कुट्टणाए न वि धंमियाए न वि गारक्कुट्ट-  
णाणियाए जिक्खं गवेसियवं, न वि पिचयाए न वि प-  
त्तयाए न वि सेवणाए न वि पिचयपत्तयासेवणाए जिक्खं

गवेसियवं, असाए अगणिए अट्टुहे अदीण अविपयो अ-  
क्कत्तुणे अविपसती अपरितंतजोगी जयणपणकरणाच-  
रियविनयगुणजोगसंपत्तये भिक्खु जिक्खेससाए णिए ए इमं  
च सम्भजगजीवरक्कवपदद्वयाए पावयण भगवया मुक्क-  
हियं अक्कोहियं पंचा भावियं आगमेसि जहं सुक्कं नेया-  
त्तयं अट्टुद्विअं अणुत्तरं सम्भदुक्कत्तवापण विट्टिससयं ॥

( इमं चेत्यादि ) अयं च बहुयमाणशेषे च अस्मां गवेष्णीय  
इति सम्बन्धः । प्रअ० सम्ब० आ० । ( सम्ब० अर्थोऽयम्बा० सम्बन्ध )  
अयं यत्तुक्कं " तीसे रुमावसाए, उ किंवि बोक्कं गुण्णुइसं " इति,  
तत्र का भावना १, अस्यां जिह्वासायामाह-

( ६ ) प्रथमव्रतस्य ( अहिंसाकथस्य ) पञ्च भावनाः-

तस्म इमा पंच भावणाओ पदमस्य वयस्स ह्नुंति, पाणा-  
इवायवेरमणं परिकखण्डयाए पदमं उण्णयणयणुणजो-  
गजुण्णयणुमंतरनिवतिपाए दिट्ठीए इरियवं कीदपयंगत-  
सधावरदवावरणं निवं पुण्णकत्तपवात्तकंदंमुददगमहिं-  
यवीयहरियपरिवज्जणय समं, एवं खु सम्भे पाणा ख ही-  
द्वियव्वा न निंदियव्वा न गरहियव्वा न हिंसियव्वा न  
दिंदियव्वा न निंदियव्वा न वहेयव्वा न मयं तुक्खं च  
किंवि लब्धा पावेत्त जे एवं इरियासमिदोणेण जाविओ  
जवाति अंतरणा असवत्तमसंकिह्णिव्वयाचरित्तजाव-  
याए अहिंसए संजए सुसाहु ? ॥

( तस्सेत्यादि ) तस्य प्रथमस्य व्रतस्य, भवन्तीति घटना,  
इमा बहुयमाणप्रत्यक्षाः पञ्च भावनाः; आभ्यन्ते वास्त्येते व्रते-  
नास्मा यकाभित्ता प्रावना इयोऽसंमित्यादयः । किमर्थं प्रवर्त्तनी-  
त्याह-( पाणा इत्यादि ) प्रथमव्रतस्य यत्प्राणतिपातविरमल-  
लक्षणस्य परिरक्षणस्यकपं, तस्य परिरक्षणार्थं ( पदमं ति )  
प्रथमभावनायास्तिर्गम्यते, स्थाने गमने च गुणयोर्गं च स्वर-  
प्रबन्धनापघातवर्जनलक्षणगुणसम्बन्धं योजयति करोति या  
स्ता । तथा-युगान्तरे युगप्रमाणजुभागेनिततया सा युगान्त-  
रनिपातिका, ततः कर्मधारयः । ततस्तथा, एतथा चणुया ( इरिय-  
वं ति ) ईरित्येवं गमनस्यम् । केनेत्याह-कीटपनह्णद्वयश्च अस्मात्  
स्थावराश्च कीटपतङ्गसस्थावराः, तेषु स्थावरां यस्तेन, नित्यं  
पुण्यकत्तव्यकप्रयात्तक-मूसक्कत्तुत्तिकावीरुहरितपरिवज्जकेन,  
सम्बन्धिनि प्रसीतं, मधरं प्रभावः । पड्डाक्कुरः, दकुत्तुक्कमिति ।  
अधेयोसमित्या प्रथमेमानस्य यत्त स्यात्तद्वाह-( एवं खु ति ) एवं  
च इयांसांमिया वरुत्तमानस्येय्येः, सर्वेप्राणाः सर्वेजीवा न ही-  
ल्यतित्था अक्कत्तत्तया ज्जम्भित्त, स्वरक्कणप्रयत्तत्तया तानवक्काधि-  
पयीकरोतीत्यर्थः । तथा-न मिन्वित्तव्याः, न गहिंत्तव्या भवन्ति, स-  
धेया पीडावर्जनेनाद्यत्तत्वेन शारव्याणामिच दर्शनाए । निव्वा च ल-  
समक्का, गहो वा परसमक्का । तथा-न हिंसित्तव्याः पादाक्कमयेन  
आरणाः, एवं च क्कत्तव्या द्विधाक्कुरत्तत्त, न जेतत्तव्याः इयोदत्तत्त,  
( न बहुयव्व ति ) न अयधर्माः परत्तापमात्त, न अयं धीतिः, कुत्तं  
वा शरीरदि किंइत्तइयमपि, अज्जया थोक्का प्रापत्तियुक्क, अ इति  
निपातो वाक्यात्तत्तत्तत्तः, पदमनेन स्यात्तनेयोसमित्तयोमेन ईकं-  
समित्तव्यापारेच, प्रावितो वर्तित्तो नवक्कत्तपदत्तामा जीव्यं कि-

विषय इत्याह—असायलेन मालिन्धमात्रहितेन, असीकृष्टेन विकृत्यमानपरिणामवशतो, निर्मलेनाहनेनाशयनेनैति वाच्यम् । चारित्र्येण साम्याधिकारिणा आत्मना वासना यस्य सोऽशयसा- किञ्चिदपि मूल्येण चारित्र्यमात्मनाकः । अथ तथा-असत्ताकिञ्चिदनि- म्लेण चारित्र्यमात्मना हेतुयुतया अहिंसकोऽवधकः, संयतो मू- बावादात्पुरुषाद् भावसाधक इति । प्रश्न० १ स्रम्ब० द्वार ।

अजिह्वेणञ्ज वा वचेञ्ज वा परिव्राजेञ्ज वा क्षेमेञ्ज वा उ- ह्वेञ्ज वा इरियासमिपे से णिमग्धे णो इरियाअसमिपे ति षडमा जावणा ॥

ईदृशं गमनमीयां, तस्यां समितो द्वावघ्रातः, पुरतो युगमाश- पूभाग्म्यस्तादृष्टिगामीत्यर्थः। जत्वसमितो भवत् । किमिति, यतः केयलां भूयात् कर्मोपादानमेतत्, गमनक्रियायामसमितो हि प्राणि- नाभिहृत्प्रायः पाद्वेन तारुवत्, तथा-वचंयदव्यञ्ज पातयत्, तथा- परितापयत्पीडासुत्यादयत्, अथप्रायश्चिदा जीविनाद् स्वपरोप- यदित्यत इयोसामितेन भवितव्यमितं प्रथमा भावना । आचा० ३ श्रु० ३ चू० ।

वितिमं च मणोण पावण पावकं अहम्मिकदरूणं नि- संसं बहुबंधपरिक्लेशबहुलं जराभरणपरिक्लेशसंसंकिष्टं न कया वि मणोणं पावणं पावमं किंचि वि जायन्वं, एवं मण समितिजोगेण जावितो जवति अंतरप्पा असवन्नममंकि- लिहिनन्वणचरिचजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु २ ॥

श्रितोयं पुनर्जावनावस्तु मनःसमितिल्लत्र मनसा पापे न भ्यातव्य- म् । पनर्दना-मनसा पापकेन पापकिमितं कला ध्येयम् । ततश्च पापकेन दुष्टेन सता मनसा यत्पापकमशुभं तन्न कदाचिन्मन- सा पापक किञ्चित्प्राप्तव्यमिति बहुधमासाधक्येन सम्बन्धः। पुनः किनुतं पापकमित्याह-अधर्मिकाणादिमदमाधर्मिकं, तन्न तद्वारणं चेति अधर्मिकदरूणं, नृशंसं शुकावर्जिनं, वधेन हन- नेन, बन्धेन संयमेन, परिक्लेशेन च परितापनेन हिंसागतेन बहुलं प्रसूतं यत्तथा । जराभरणपरिक्लेशैः फलभूतैः, वाच- नान्तरे-‘अयमरणपरिक्लेशैः’ संक्लेशमशुभं यत्तथा । न कदा- चिन्न कदापि कात्रे ( मणोण पावणं ति ) पापकैव मनसा ( पावमं ति ) प्राणानि पातादिकं पापं किञ्चिदहम्यपि भावत्यमेका- प्रनया च। तन्नीयोः । एवमेतेन प्रकारेण मनःसमितियोगेन चि- त्तसंस्पर्शनसंशयप्रापेण भावितो भासितो भवत्यन्तरात्मा जीवः । किंचिद इत्याह-असत्तासंक्लेशनिम्लेण चारित्रजा- वनाकः, असत्तासंक्लेशनिम्लेण चारित्रमात्मना वा अहिंसकः, संयतः सुसाधुरिति प्राग्वत् । प्रश्न० १ स्रम्ब० द्वार ।

अहावरा दोबा जावणा मणं परिजाणइ, से णिमग्धे जे य मणे पावए सावजे साकिरिए अएहयकरे ह्येयकरे भेय- करे अधिकरणिए पाउसिए परिताविते पाणाइइयाए जू- त्तवयातिए तहपणारं मणं णोयपधारंउजा, मणं परिजाणति, से णिमग्धे जे य माणे अप्रावते ति दोबा भावणा ॥

श्रितोयं भावनायां तु मनसा दुष्प्रवृत्तिहेतु नो भाव्यम् । त- ह्योयति-व्यमनः पापकं सावधं स्यात्वं ( अहयकरं ति ) क्लेशैरुत्पन्नकारि, तथा-नेदमभेदमकरं, अधिकरवकरं क्लेश-

हकरं, प्रकृष्टदां प्रदोषिकं, तथा-प्राणिनां परितापकारीत्यादि न विधेयमिति । आचा० १ श्रु० ३ चू० ।

तद्यं च वइए पावए पावणं अहम्मिकदरूणं निसंसं बहुबंधपरिक्लेशबहुलं जराभरणपरिक्लेशसंसंकिष्टं न कयावि वइए पावियाए आ पावमं किंचि वि भासियन्वं, एवं वइसमितिजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असवन्नमसंकि- लिहिनन्वणचरिचजावणाए अहिंसअओ संजओ सुसाहु ३ ॥

( तद्यं च ति ) तृतीयं पुनर्जावनावस्तु चयनसमितियं च बाबा पापे न भवितव्यम् । इत्यतश्चाह-(वइए पावियाए इति ) क्लेश भवितव्यम् । एतद् व्याख्यातं च प्राग्वत् । प्रश्न० १ स्रम्ब० द्वार ।

अहावरा तच्चा भावणा वई परिजाणति, से णिमग्धेओ जाव वाइपाविया सावजा साकिरियाओ जाव नूतोयवाइया तहपणारं वई णो उच्चारेजा वई परिजाणइ, से णिमग्धे जाव वई अपाविय ति तच्चा भावणा ॥

आधारा तृतीया भावना, तत्र निर्मयेन साधुना समितेन न- व्यत्यमिति । आचा० ३ श्रु० ३ चू० ।

च उत्वं आहारपमणाए सुत्वं उत्तं गवेशियन्वं, अन्नाए अकडिए असिष्टे अदीणे अकलुणे अविशानी अपरितंत- जोगी जयणपहणकरणचारिचविनयगुणजोगमपउत्ते जि- क्वत् जिकत्सणणए जुत्ते समुदाणिऊण जिकत्सचरिचं उं- तं धूणत् अणए गुरुजणस्स पायं मपणागमणातिचारय- णिकमणापदिक्कते आहोयणदायणं च दाऊण गुरुजणस्स जहोवणं नरइयारं अणपमत्तो पुणरवि अणेसाणए प- यत्तो पाकिमिचा पसंत-आसीण-सुहनिस्सो मुटुत्तमत्तं च ऊणसुहजोगनाणस्सआयागोविचयमणे धम्ममणे अवि- मणं सुटुमणे अविगमणमणे समाहितियमणे सप्पासंवेगनिज्जर- मणे पवयणवच्छन्नजाविचयमणे उठेऊण य पट्ठाज जहराइणि- यं निमंतइचा य साह्वे जावओ य विइये य गुरुजणेणं उ- पविह्ठ संपमज्जऊण ससीसं कायं तहा करपत्तं अमुच्छिइ अगिच्छे अगडिए अगारहिए अणज्जात्तवमो अणाइओ अ- लुच्छे अणत्तडिए अमुरमुरं अन्नवं अणवतुयमविद्वं विचय- परिसादि आहोयणजायणे जयमपमत्तेणं ववगयसंजोगम- णिगाइं च विगयधूमं अक्खोवज्जणवणाणुलेवणचूयसंजम- जायामायानिमित्तं संजमभारावाहणइयाए त्तेजेज्जा पाय- धारणइयाए संजएणं समियं एवमाहारासमितियोगेण जा- वितो भवति अंतरप्पा असवन्नमसंकिष्टनिम्बणं च- रिचजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु ४ ॥

( चत्तयं ति ) अतुर्थं भावनावस्तु आहारसमितिरिति । तामेका- ह-( आहारपसणाए सुत्वं उत्तं गवेशियन्वं ) ति ) व्यक्तम् । इ- दमेव प्राचीयतुमाह-अज्ञानः श्रीमत्प्रमाजितादित्तेन हायकजनाऽ नवगतः, अकमितः स्वयमेव यथाइं श्रीमत्प्रमाजितादिरिति, अशुष्टोऽप्रतिपादितः परेषु । वाक्यान्तरं- १ अन्नाए अकडि-

ए झट्टुट्टे ' हयने । 'अश्रीने' इत्यादि तु पूर्ववत् । जिष्ठाभि-  
 षेयणया युक्तः (समुवायेणज्जि) अट्टित्वा जिष्ठाब्धयो गोवर-  
 मिवोऽन्वयमप्यवृष्टीते भेष्यं वृष्टीत्वा आगतं शुक्रजनस्य  
 पाद्भ्यं समीपं गमनागमनातिचारणां प्रतिक्रमणेन ईष्यापिधि-  
 काएहकेनेत्यर्थः । प्रतिक्षान्तं येन स तथा ( आश्लेष्यत् )  
 आलोचनं यथावृष्टं । तत्रकथमाननिवेदनं तयोरेयोपदर्शनं च ( द्वा-  
 क्रण्ण (त्) कृत्वा (गुक्रज्जससत् (त्) गुक्रुदुसंक्षिप्तस्य वा वृषम-  
 स्ये ( अहोवरसं (त्) उपदेशान्तिक्रमेण, निरतिचारं च ह्येष-  
 ष्यनेन अग्रमणः, पुनरपि च अनेपणाया अपरिहातानालोचि-  
 तदोषकपायाः, प्रयत्ना यज्ञवाह, प्रतिक्रम्य कायोःसंगकरणेनेति  
 भावः । प्रशांत उपशांतान्तुमुक्तः, आसीन उपविष्टः । स एव  
 विशेषेणैतं सुखनिषणः अनाथाध्वन्योपविष्टः । नतः पद्भ्यवस्य क-  
 र्मधारयः । मुष्टुलमात्रकं च काश्रं ध्यानेन धर्मादीना, युभयोर्गेन सं-  
 यमत्वापायश्च शुक्रविनयकरसादिना, ज्ञानेन प्रथमानुप्रक्रमणेन,  
 स्वाध्यायेन वाऽऽतुगुणनरूपेण, गोपितं विषयान्नरगमने निरु-  
 क्तं मना येन स तथा । अत एव अथ भूतकारित्रके मनो यस्य  
 स तथा । अत एवाविमना आश्रयचित्तः, शुभमनाः प्रसंकिष्ट-  
 चेताः, (अविभ्रममणत्) अविप्रहमनाः असंकिष्टफलहचेताः, अ-  
 न्युत्कृष्टमना वा अविद्यमानासद्धमिनेत्यर्थः । (समारिद्यमणे (त्)  
 सम्य तुदयं रागद्वेषानाकलितं आदिहृत्युत्तमं तस्मात्प्रमि मनो येन स  
 समाहितमनाः, शमेन चोपशमेन अधिकं मनो यस्य स शमाधि-  
 कमनाः समाहितं वा स्वस्थं मनो यस्य स समाहितमनाः अथा  
 च तत्त्वश्रदानं, संयमयोगाविषयो वा निजाजिज्ञासा, स्वयंगम्य मो-  
 क्षमार्गोपनिश्रयः संसारजयं वा, निजरा च कर्मक्रमणं मनसि य-  
 स्य स अथासंयमनिजराजानाः । प्रवचनवास्तव्यभाविनमना इति  
 कथयाम् । उर्याय च प्रहृष्टहृष्टोऽतिशयप्रमुदिनो, यथागजिकं  
 यथाप्यंष्टि, निमन्य च साधून् साधर्मिकान् प्रायश्चित्तं अन्त्या  
 (विदक्ष्य (त्) ) इतानेन च हृष्टश्च स्वमिदमशानादीन्धेषमनुकृते  
 च सांत नकादीं शुक्रजेनेन शुभेणा, उपविष्ट उच्चिनासने संप्रसृत्य  
 मुखयन्त्रिकारोहणाराभ्यां सर्वाभ्यं कार्यं समस्तकं शरीरं, तथा-  
 कृतं हस्तनल च, अमूर्च्छितं आहारविषयं न मुदितमगमनम् ।  
 अष्टुः अमासत्सरेऽनाकाङ्क्षावान्, अग्रथितः रसानुगतमनुभिरसं-  
 दर्भिनः, अगार्डेनः आहारोविषयं अकृतमगर्ह इत्यर्थः । अनधुपप-  
 शो न रसेषु पकाप्रमनाः, अन्याविलोऽकृणु, अमुकथः सोऽनविर-  
 दितः, (अगुष्टिप (त्) ) नागार्थं एव अधो वष्यारूपसाधना-  
 र्थाधिकः, परमार्थकारोत्यर्थः । ( असुरसुरं (त्) ) येन नृनशब्दव-  
 र्जितः (अवचयं (त्) ) वचचोतिसाधरितम्, अनन्तमनुमुक्तम् ।  
 अज्ञितम्भितम् अनतिप्रमम् । अपरिशाटि पराशाटोवर्जनं, 'मुं-  
 जेज्ज' इति क्रियाया विशेषणनामानि । ( आश्लेष्यायेण (त्) )  
 प्रकाशमुने धयवाऽऽलोकं प्रकाशनाप्रचकारे पिपीलिकावाला-  
 दीनामुपसम्भवाद, तथा भोजने पात्र, पात्रं विना जज्ञादि सम्पत्ति-  
 तसत्वादर्शनादिति, यतो मनेवाक्षायसंयतनेन प्रत्येनानादरेण  
 ध्ययगनसंयतनादिति, यतो मनेवाक्षायसंयतनेन प्रत्येनानादरेण  
 ध्ययगनसंयतनादिति, (विषयधूमं (त्) ) द्वेषरहितम् । प्राह च "रागेण स  
 इगास, हायेण म धूममं विषयोहीति" । अकृष्य च्चु उपाजन्म-  
 अक्षीपाजने, तच्च प्रानुतोलेन च ते भूतं प्रायं यत्तथा च, तन्क-  
 ह्यमित्यर्थः । संयमयात्रा सयमपूर्वत्वाः, सैव संयमयात्रा नाथा  
 तस्मिन्ने हेतुष्व्च तत्संयमयात्राभावमित्यसम् । किमुक्तं प्रवर्ति-  
 संयममारब्धनायं तथा इयं जावेनइ-यथाऽऽकृत्योपाजने जारब-  
 हनार्थैव विधीयते न प्रयोजनान्तरे, एवं संयमनारब्धनायैव

साधु मुञ्जोत न बलरूपनिमित्तं, विषयलौक्येन वा । अतिक्रान्ते  
 हि भोजनसंयमस्यायने शरीरं धारयतु समर्थं भवतीति  
 (भुञ्जिज्ज (त्) ) श्रुज्जीत भोजनं कुर्वीत । तथा भोजने कारणात्म-  
 नराह-प्राणधारणार्थेतया उचित्तमसंस्पर्शाद्यर्थः । संवतः  
 साधुः यमिति वाक्याव्यहारे । (समियं नि) सम्यक् । निगमयत्प्राह-  
 एवमाहारस्वामिनेयेन आहितः सन् जन्मवन्दारता नशयन्नासं-  
 क्रिष्टनिर्मणकारित्रजनानाकः, अशशश्रासंक्रुष्टमावयन् हेतु-  
 भूत्या वा अर्हिसकः जायतः सुसाधुपरिति । प्रश्नो १ सन्मो ह्यार ।

अहावरा चउत्या चावण्णा आयाएजंनदिकेवणपाय-  
 मिए से णिमंगे थो अयायाणभंदणिकेवणसासमिए  
 णिमंगे केवलं । इया आयाए भंदणिकेवणपायअसमिए णि-  
 मंगे पाणाई च्चूयाई जांवाई सत्ताई अभिएणज्ज वा जाव  
 उव्वेज्ज वा आयाएभंदणिकेवणसासमिए, से णिमंगे थो  
 आयाएजंनदिकेवणपायअसमिए (त्) चउत्या चावणा ॥

तथा चतुर्थी भावना आदानमाक्रमान्तिलेपणासमितिः, तत्र  
 निम्नेन्येन साधुना समितेन भवितव्यमिति । आक्रा० १ श्लो०  
 ३ चू० ।

पंचमगं पीढफलगभेजनाभंयारगवत्यपत्तकंभद्रदंकरप-  
 हरणचोत्तपट्टगमुषोत्तिपपायपुंछुणादि एयं पि संजमस्म  
 उव्वूट्टाहृष्टयाए वातातपदंमममगंयपरिरक्त्तणट्टयाए उ-  
 वरणो रागदोसरहितं परिहरियत्वं संजपणं निचं पटिसे-  
 हणपफोदसपपज्जाएए अंटां य राओ य अपपमेथेण  
 होइ मययं निक्खियत्वं च गिणिएहयत्वं च जायणभंदोवदि  
 उवकरणं, एवं आयाणजेणणिकेवणसासमिदिं जोगेण जा-  
 वितो जवति अंतरेप्या अससदमसंकिष्टिद्विनिव्वणचरित्त-  
 भावणाए अदिंसए संजेण मुमाहु ५ ।

( पंचममं (त्) ) पञ्चमभाववाचन्तु आदानसमितिनिक्के-  
 पसमितिलक्षणम् । पतयेवाह-पीडादिद्विदशविधमुपकरणं प्र-  
 सिद्धम् । (एयं पीणां) एतन्नाप अनन्तार्दानमुपकरणम्, आदिश-  
 ष्टादिन्यमपि संयमस्यापहुंणार्थेनया संयमोपाण्याय, तथा-  
 चातातपदेशमशकशीतपरिहरणार्थतया उपकरणमुपकारकश्च  
 उपधिः, रागद्वेषरहितं क्रियाविशेषोपादिम् । (परिहरियत्वं (त्) )  
 परिभोक्तव्यं, न विभूषादिनिमित्तमिति भावना, संयतेन साधुना  
 नित्यं सदा, तथा-प्रत्युपेक्षणाप्रसक्तोदनात्प्रायं सदा वा प्रमाज्जेना  
 सा तथा तथा, तत्र प्रत्युपेक्षणाया चकुर्व्यापारेण, प्रसक्तोदनाया  
 आस्फोडेनेन, प्रमाज्जेनया च रजोहरणद्विध्यापारकपाया (अहो  
 य राओ (त्) ) अह्नि च रात्रौ च, अग्रमत्तेन भवति सततं निक्के-  
 तस्य च भोक्तव्यं, तच्चोत्तमं आदातम्यर्थः । आहृतव्यं कित्तत् १,  
 इत्याह-भाजनं पात्रं, भागुने तदेव मृदमयं, उर्गाधश्च बन्धा-  
 दि, एतत्तत्रयलक्षणमुपकरणमुपकारकारि वस्तिवति कर्म-  
 धारवः । निगमयत्प्राह-एवमादानेत्यादि पूर्ववत्, नवरं इह-  
 नान्तशैथत्याऽऽन्त्या पुनोपरपद्मनिपातः, तेन भायत्स्योपकरण-  
 स्वाद्याने च प्रहृष्टं, निक्षेपणा च मोचनं, तत्र समितिभोयमावा-  
 नक्षेपणासमितिरेति वाच्यं, आदानमभारब्धनिकेपणत्वासमिति-  
 रित्युक्तम् । प्रश्नो १ सन्मो ह्यार ।

अहावरा पंचमा भावणा आद्रोऽपपाणभाई, से णिमंगे

यो अणालोडयपाणभोषणयोर्दे केवमी वृया अणालोडय-  
पाणभोषणयोर्दे से णिमग्गे पाणासिवां ४ अजिण्णेज्ज  
वा० जाव उदयेज्ज वा तस्सा अणालोडयपाणभोषणयोर्दे से  
णिग्गेयो खो अणालोडयपाणभोड चि पंचमा जाववा ॥

तथा परा पञ्चमी भावना आहोकिंते प्रत्युपेक्षितमशनादि भो-  
कणम्, तद्वकरणे दोषसंभवत् । आत्वा० १ सु० ३ सू० ।

अथास्यन्यायं निगमयन्नाह-

एवमियं संबरस्स दारं संये संचरियं हुंति, सुष्णाणिरियं, इ-  
मेहिं पंचाहिं वि कारणाहिं मणयकापपरिरिक्खएहिं, नि-  
चं आमरएतं च एस जोगो नियच्चो धितिप्रता मतिप्रता  
अणालासो अकलुसो अचिद्धो अपरिस्साली असंकिस्सिद्धो  
सुद्धो सव्याजिमणुष्सातो, एवं पदमं संबरदारं फालियं पा-  
सियं सोहियं तिरियं किट्ठियं आराहियं आणएण अण-  
पासियं जवति, एवं नायसुष्णियाणा जगवया पचसियं परू-  
वियं पसिद्धं सिक्खं सिक्खवमासणमिणं आणवियं सुदेसिद्धं  
पत्तयं पदमं संबरदारं सम्मत्तं ति वेमि ॥

एवमिति उल्लेखेण, इदमहिंसा लक्षणं, संबरस्थानाश्रयस्थ, द्वार-  
सुपायः, सम्यक् संवृतम् आसंघितं भवति, किंचिदं सविद्या-  
सुप्रणिद्धं सुप्रणिधानवत्, सुसंक्रामयः । कैः किंचिधैरि-  
रथाह-एभिः पञ्चभिः कारैः भावनाविधेयैः अहिंसापासनइ-  
तुभिः, मनोवाक्कायपरिरिक्कित्तिरिति । तथा-जित्यं सदा आमरणो-  
त्त च मरणकाम्यमं भावत्, मरणपरितोष्यसम्भवात्, एष यो-  
गो अनन्तरादिनभाषमाणशक्यरूपो व्यापारो, नेतव्यो बोधव्य इति  
भावः । केन ?-सुतिप्रता स्वस्थचित्तम, प्रतिप्रता बुद्धिप्रता, कि-  
भूतंऽयं योगः ?-अनाश्रयः नवकर्मोत्पादानकरः, यतोऽकलु-  
षाऽपापस्वरूपः, अिक्खिय अिद्धं कर्म जलप्रवेशात्तन्निषेधना-  
चिद्धं, अचिद्धरूपत्वादेवापरिच्छायां न परिच्छवति कर्म अ-  
संप्रवेशतः, असंक्रुष्टो न विच्छसंक्षेपकरः, सुद्धो निर्दोषः,  
सर्वजिज्ञेसुहृत्तः सर्वोद्दितामनुमत्तः । एवमितियासमित्यादि-  
भावनापरिच्छेदयोगेन, प्रथमं सम्बरद्वारमहिंसा लक्षणं, (फालियं-  
ति) स्पृष्टमुच्यते काले विधिना प्रतिपन्नं, पालितं सतत स-  
इयमुपयोगेन प्रतिचरितं, (सोहियं ति) शोभितमन्येवामपि  
न दुर्चित्तानां शानादित्वात्तद्वेज्जाहा, शोभितं वा निरतिवार् कृतं,  
तीरितं तीरं पारं प्रापितं, कीर्तितमन्येवामुपदिष्टं, आराधितम-  
भिरेव प्रकारैर्निष्ठां शीतम्, आह्वया लथेहवचननानुपालितं भ-  
वति पूर्वकालसाधुभिः पालितत्वादिप्रसिद्धकालसाधुभिश्चानु-  
पछात्तान्नाश्रयमिति । केनैवं प्रकृतिप्रतिपत्त्या-एवामनुकरूपं, शा-  
तमन्या साधिविशेषरूपेण यतिना, अधिमहावीर्यं सुधैर्यं । म-  
गवत्तैरवर्थादिज्ञगयुक्तेन, प्रकाशिते सामान्यतोऽवनेय्यः कथितं,  
प्रकृतिप्रतिपत्त्याभ्युत्थितं, शसितं प्रख्यातं, सिद्धं समाणप्रतिष्ठितं,  
सिद्धानां । नाहिंसाधार्मां वरुणासनं प्रथानाहा सिक्खवरुणासनम्,  
इदंयत्तुं (आधवियं ति) अर्थः पूजा तस्य आसितः प्रासितोता  
वस्व तद्विधितम्, अर्थं वा आसितं प्रापितं यत्तद्विधितं, सु-  
दृष्टितं सुदुर्बलितं, सर्वेभ्यः अनुसुकरायां पर्वदे नाताविधनय-  
प्रमाथैरभिवृत्तं सुवेद्यं, प्रशस्तं मङ्गलमिति, प्रथमं संबरद्वारं  
समाप्तमिति । सव्वं १ द्वार ।

पंचमा भावणा एतावया च महत्त्वम् सम्मं काएण फा-  
सिए पासिए तीरिए किट्ठि अणहिये आणएण आहा-  
रिए याचि जवति, पदमे जंते महत्त्वप पायाह्वयाभा वेरमाणं ।  
इति इत्येवं पञ्चनिर्माणाभिः प्रथमं प्रतं स्फुटितं पाणिनं तीर्थं  
कीर्तितमवस्थितमहाव्याऽऽराधितं भवतीति । आत्वा० २ सू० ३ सू० ।

( ७ ) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः-

सर्वेभि जे य अतीता जे य पटुपपया जे य आगमिस्सा  
अरहता जगवतो ते सव्वे एवमाऽकवन्ति एवं नासंति  
एवं पण्येति एवं परूवेति सव्वे प्राणा सव्वे चूया सव्वे  
जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्या ण आणवेतव्या ण परि-  
पेत्तव्या ण परितोयेव्या उ उदयेव्या ॥

येऽनीता अतिक्रान्ताः, ये च प्रत्युत्पन्ना बन्धमानकामाभिनः, ये  
चोऽमानिनः, त एवं प्रकृष्यन्तीति सम्प्रथः । तथातिक्रान्ताऽनी-  
र्यकृतः कालस्यानादिविधिति यत्प्रतिक्रान्ताः, अनागता अ-  
प्यनन्ताः आणामिकालस्यानन्तत्वादिनि । बन्धमानतीर्थकृतां प्र-  
हाणक्यापकृत्याऽनवस्थितव्ये सत्यप्युत्पल्लवजन्मपदिन एव क-  
थ्यन्ते, तत्राऽसंयतः समग्रवसन्क्रान्तयं मनस्युत्तराशं पञ्च-  
स्वपि विदेहेषु प्रत्येकं चाशिशुत् क्रोधाःमकराःद्वैकस्मिन् द्वाभि-  
शात्, पञ्चस्वपि भरतेषु पञ्च, एवमेवापतेष्वपि गति, तत्र द्वाभिशात् प-  
ञ्चभिर्गुणैः पञ्चपुत्रं शतं श्रैतरेऽसतदशपञ्चपि ससत्ताविक-  
शतमिति, जन्मन्तस्तु विशांगः, सा वैव पञ्चस्वपि मदविदेहेषु  
विदेहात्तमेहानुगतनटसद्भावात् । यदुक्तं प्रत्येकं कथ्यते, ३५-  
पि पञ्चभिर्गुणैः चाशिशुभैरेतरावशोऽप्येकान्तसुखमावाव-  
भाह एवेति । अन्ये तु श्यावन्तुः-पूर्वोपरितेऽद्वैककालसावा-  
म्भाहविदेहाद्येव पञ्चस्वपि दर्शयति । तथा ते आहुः-“सत्तरस्य-  
मुक्तां, इतरे वृत्ससमयत्तसजिणमाणं । जोत्तसि पदमद्देवे, अ-  
णतरद्वे वयुक्त्ति” । क इमे अहं-तः, अहंति पूजासत्कारादि-  
कर्मिनि । तथा-द्विष्णोर्पुण्या भगवन्तः, ते सर्वे एव परमज्ञावसरे  
एवमाचक्रते, यत्पुत्रस्य वश्यते, वर्त्तमाननिवेदाशयोपलक्षणार्थ-  
त्वादिदमपि द्रष्टव्यमेवमाचक्षते, एवमावस्थापयति, एवं सामा-  
न्यतः सर्वेषामनुजायां पर्येकसमागम्या सर्वसत्त्वस्वभावानुगा-  
मिभ्या प्राचया आप्नते, एवं परकण्ये संश्रुत्यत्पन्नोद्दानेवास्ति-  
नो जीवाजांजाधवसम्बरकाऽधिनैरेतानोऽप्युपदायोऽपि ह्यापयन्ति,  
प्रहाणयन्ति । एवं सम्प्रत्येदोऽनज्ञानकारिणा (हो मोक्षमार्गो) (अप्या-  
त्तविरतिप्रमाद्वेषाद्ययोगो अन्वयेतः) स्वपरभावेन स्वसत्तां  
तस्यं सामान्यविशेषात्तमकमित्यादिना प्रकारेण प्रकृष्यन्ति, ए-  
कार्थानि चैतानिनि । किं तद्व्यवसायकृत इति वरीयति-यथा सर्वे  
प्राणाः सर्वे एव पृथिव्यप्लुतोऽवायुवहनतयः श्लिथितुप-  
ञ्चन्द्रिद्याभ्येति यत्तन्तुः सति श्वात्तुःकृतस्य कृतस्य प्राणधारणात्सा-  
धाः, तथा-सर्वाणि भवन्ति जवियन्त्यवधुविति अनुदेश-  
भूतप्रामातपार्तिनि, एवं सर्वे एव जीवन्ति जीविथन्त्याजी-  
विबुधिति जीवाः नारकतिथेनरारक्तज्ञानात्तुर्गैतिकाः, तथा-  
सर्वे एव स्वकृतसातासातोयतुल्लुःकभावाः सत्ता यत्कार्थो-  
क्तेने शब्दास्तस्यैवैप्यर्थैः प्रतिपादयन्तिनिष्कृत्येति यत्तं च  
सर्वेऽपि प्राणिनः पर्वोयथावधिदिना न हन्तव्यं इत्यदकथाऽऽ-  
दिभिः, नाहापयितव्याः प्रसन्नानिजगद्गततः, न परिहारा-  
भू-वदासदाऽऽदिदमसत्परिहृतां, न प्रतियापितव्याः शार्दार्ह-



मानसपीडोत्पादनतो, वाऽऽपुत्रावहितव्याः प्रायश्चरोपपत्तः ।  
आका० १ सु० ४ अ० १ उ० ।

( ७ ) वैदिकहिंसाविचारः—

अप्रमत्तस्य योगनिबन्धनप्रायश्चरोपपत्तस्य अहिंसात्वप्रतिपा-  
दनाय 'हिंसातो धर्मः' इति वचनं रागद्वेषमाह । योगनिबन्धनस्य  
प्रायश्चरोपपत्तस्य दुःखसंवेदनीयकालनिवर्तकत्वेन हिंसात्वोप-  
पत्तेः, प्रत एव वैदिकहिंसाया अपि तात्त्विकत्वेऽप्यायहेतुत्वमप्य-  
हिंसात्वसकनम्, नच तस्या अतोयमित्यन्व. 'चित्रया यजेत प्र-  
कृतायाम्' इति तृष्णानिमित्तभ्रवणान् । न चैवंविधस्य वाक्यस्य प्र-  
माणत्वाऽप्युपपत्तिमती, तन्मात्रानिमित्ततात्त्विकोपदेशकत्वात्, गु-  
ण्णादिदृष्टिनिमित्ततद्व्यतिश्रितोपदेशावाक्यत्वम् । न चापीठव्ये  
प्रमाणास्य तस्य निषिद्धत्वात् । न च पुरुषप्रणीतस्य हिंसावि-  
धायकस्य तस्य प्रमाणात्, ब्राह्मणो इत्यस्य इति वाक्यत्वे । न  
च वेद्विहितत्वासाहिसाया अहिंसात्वम्, प्रकृतहिंसाया अपि त-  
थोपपत्तेः । न च ब्राह्मणो न इत्यन्वः, इति तत्राक्षय्याधिनत्वाच्च प्र-  
कृतहिंसायास्तद्गतित्वम् । न च हिंसो नोवत्' इति वेदवाक्यथाय-  
तिब्राह्मिद्यजनवाक्याविहितहिंसायात् प्रकृतहिंसायाः तादृशित-  
व्योपपत्तेः । अथ ब्राह्मणो इत्यस्य इति वाक्यं न कश्चिद्वेदे भूयते । न  
उच्यतेऽप्येकशास्त्रानां तत्राऽप्युपपत्तात् । तथा च 'सहस्रवर्त्म  
सामवेदः' इत्यादिभ्युतिः । अथ यज्ञादन्वय हिंसाप्रतिषेधः, तत्र च  
तद्विधानम् । यथा आन्वय हिंसायहेतुरित्यगमात् सिद्धं तथा  
तत एव तत्र स्वर्गहेतुरित्यापि सिद्धम् । न च यद्वैदिककृत्वापायहे-  
तुत्वेन सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धं तेषुऽपि निमित्तत्वं च प्रकृतहिंसेति  
प्रतिपादितत्वात् । न यस्मिन्सत्त्वेन यत्प्रसिद्धं तत्काला—  
न्तराधिक्येन विद्योयमानमौत्सर्गिकं दोषं न निर्वर्तयति । य-  
थाऽऽपुत्रोपपत्तिः तादृशिक रोगनाशार्थतया विधिप्रदानं निमित्त-  
तः दुःखं क्रिष्टसंबन्धहेतुतया च मन्विकिधानादन्वय हिंसादिक  
शास्त्रे प्रसिद्धनिमित्तं, सप्तमान्यायि तद्विधोऽपि तन्मात्रमात्रकफ-  
सङ्घेऽपि तत्कर्मनिमित्तं तद्भवत्येव । न च हिंसातः स्वर्गादिसुख-  
प्राप्ता वस्तुनिवर्तकक्रिष्टकर्महेतुताऽसंगता, नरेद्वराऽऽऽऽधर्मानिमि-  
त्तब्राह्मणादिवचानन्तरावाप्तप्राप्तप्राप्तज्ञानजनितसुखसंप्राप्ता तद्-  
द्वेषापि तथात्वोपपत्तेः । अथ प्रामादिविद्योयमाना ब्राह्मणशक्तिवचनिव-  
र्तितान्दृष्टनिमित्तो न प्रयति, तर्हि स्वर्गादिप्राप्तिरप्यध्वरविहितहिं-  
सानिवर्तितो न भवतीति समानम् । अथाश्वमेधादाव्यलन्वय-  
मानानां गंगादीनां स्वर्गप्राप्तेर्न तादृशेति, तर्हि असंभवेऽप्यविर-  
चित्वाऽपि न एव हिंसा स्यात्, वेदनांशतो म्लेच्छादिविर-  
चितो च ब्राह्मणगवार्दिहिंसा च न हिंसा स्यात् । अथ तदागम-  
स्यामानव्याज तदुपदेशज्ञानेता हिंसा अहिंसा । ननु वेदस्य कुतः  
प्रामाण्यसिद्धिः, न युद्धवत्पुरुषप्रणीतत्वात्, परैस्तस्य तथाऽननुप-  
गमात् । नापीठव्यवहार, तस्याऽसंभवात् । तत्र प्रदीप्ताभिप्रायो  
हि न हिंसातो धर्मोवासिमुक्ता, परममकथायश्च ज्ञानवाग्नात्मकमु-  
क्तिमार्गस्य हीक्षाद्वेषेनाभिधाने द्वास्तातो मुक्तिरुपपन्नैव, अवि-  
कलकारणस्य कारयेनेवैकत्वात्, अन्यथा कारुण्ययोग्यात् । तत्र  
सर्वमभयपादानार्थं वैधर्मिभयान्दादाविति । न हि तद्भयमाभये  
उपादेयकलप्राप्तानिमित्तसत्यज्ञानादिपृथगनिमित्तदाप्राप्तु-  
प्रवणो जनेवत् ; तन्नामपरत्वं प्रदीप्तिवचसामनुपगमत्तद्व्ययम् ।  
तथाऽप्युपगमे वाऽनासत्त्वं वेदानां प्रसंगेन, तत्र पूर्वोक्तदोषान-  
निवृत्तेः ॥ सम्म० ३ कायम्, गाथा १५७ ।

“ न हिंसासर्ववृत्तानि, स्वाध्यायश्च वाचनं च ।

आत्मवत्सर्ववृत्तानि, यः पश्यति स धार्मिकः ” ॥१॥ अनु० ।

उपदेशमाह—

उरालं जगतो जोगं, विवजासं पल्लित य ।

सर्वे अकृतदुःखता य, अत्रो सर्वे अहिंसिता ॥ १॥

( उरालमिति ) स्वयम्भुवदारः, जगत औदारिकअनुप्राप्तस्य, योगं  
व्यापारं, वेदान्तव्यावशिकोयमित्यर्थः । औदारिकशारीरमया हि अ-  
न्तवः प्राक्कननद्वयव्यावशिकोयमित्यर्थः । अकृतदुःखता हि विपयोसमूहं  
बाह्यकौमारयौवनशिकमुदारां योयं परि समस्ताद्वयन्ते गच्छन्ति  
पर्यन्तम् । एतदुक्तं भवति—औदारिकशारीरिणां हि मनुष्यादेर्कौ-  
लकीमारारिकः कालाविकृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चाऽन्यथा-  
मयत् प्रत्यणेषु सम्पत्ते, न पुनयोऽहं प्राक् तादृगव्य सर्ववेति ।  
एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमि-  
ति । अयि च—सर्वे जन्तवः, आकाशाः अमिमृताः, दुःखेन शारी-  
रमानसेनाऽस्तातोवन्दे दुःखाकान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो  
जन्तवः, अतः सर्वेऽपि न यथाऽहिंसिता भवन्ति तथा विषेयम् ।  
यदि वा सर्वेऽपि जन्तवोऽऽकृतमननितम् दुःखं येषां तेषका-  
न्तदुःखाः, अश्रुदाव प्रियसुखाश्च तैः, तादृ सच्चान् न हिंसादि-  
त्यनेन वाऽन्यथाऽवदृष्टान्तो दृशितो जयस्युपदेशश्च दृष्ट इति ॥ १॥

( ६ ) किमपि सत्त्वान् न हिंसादिदृष्टाह—

एवं शु नाथिणो सारं, जश् हिंसद किंच य ।

अहिंसासमया चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १० ॥

( एवं शु इत्यादि ) शूरवधारेण । एतदेव, ज्ञानिनो विशिष्टवि-  
शेषकवतः, सार न्यायं, यत्किञ्चन प्राणिजातं स्थावरं जङ्गमं वा, न  
हिनस्ति न परितापयति । उपरुद्धणं चैतत्—नेन न श्रुया श्रुया-  
प्रादं सं गृहीयात्ताऽऽज्ञाऽऽसेवत्, न परिग्रहं परितुःशिशान्  
नक्तं श्रुजतियेवं ज्ञानिनः सारं यश् चक्रमाभवेवु वस्तु इति ।  
अयि च—अहिंसा समता अहिंसासमता, ताचैतावाऽज्ञानानोया-  
त् । यथा मम मरणं दुःखं वाऽप्रियम्, एवमन्यस्यापि प्राणिनां क-  
स्यति । एवकारोऽप्यवधारणो । इत्येवं साधुता ज्ञानवत्या, प्राणिनां  
परितापनाऽप्यवधारणार्थं वा न विषेयमेवेति ॥ १० ॥ सुख० १ सु०  
१ अ० ४ उ० ।

( १० ) तत्राहिंसाप्रसिद्धार्थमाह—

पुद्वीभ्रातण्यियावज्ज, तयुक्कलसर्वयगा ।

अंरुया पायजराज, रससंयेवशुचिनया ॥ ७ ॥

( पुद्वी ) भ्रात इत्यादि । तत्र शूषिबीकायिकाः सुधमवाद्दरपर्या-  
कताऽपयोसकनेदभिष्ठाः, तथाऽप्यकायिका अक्षिकायिकाः वायु-  
कायिकाश्चैवंभूता एव । यन्स्पतिकायिकात् संशतः संश्रुताऽह-  
रुणानि कुशवचकादीनि, वृक्षाः सूताशोकादिकाः, सह बीजैर्वैलेन-  
तृति, सत्बीजानि तु शाश्वताभयवादीनि, एते एकैकिकायाः पञ्जा-  
पि कायाः । यद्भवत्सकायनिकपण्याह-अथरजाः शकुनिवृद्धको-  
किन्नकसरीमृपादयः । तथा—पोता एव पोतजा इतिशरप्राजयः ।  
तथा—अरुपुजा ये जम्बाश्वेधिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः—तथा  
रस्ता इधिसिबीरकादेजोता रस्ताः । तथा—सर्वेऽवजाः सत्-  
स्वेदजा युक्तमनुपुजादयः । उज्जिजाः अज्जरीटकदुर्दुरादय  
इति । अज्ञातमेता हि दुःखेन रचयन्त इत्यतो जेदोनाप्यास इति ।  
एतेहिं अर्पेहिं काएहिं, सं विजं परियाणिया ।

यपसा कायवकेणं, धारंजी ए परिमाही ॥ १॥

यमिः पूर्वोक्तैः, वन्दितोपि कायैस्सत्स्वावकैः, स्वमवाद्दरपर-

यांसि काऽप्यासकमेवमिहैतान् रज्ज्वाऽपि परिग्रही स्वयदिति सं-  
 बन्धः । तदेतन्निराज न स्युनेको ह्यपरिहृया परिहृया प्रत्यावधान-  
 परिहृया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवांपरम्वेदकारिणामारम्भं परिग्र-  
 हं च परिहरेदिति ॥ ६ ॥ सूत्रं १ सु० ७० ॥

सच्चाहिं अणुचूर्णीहिं, मतिमे पकितेहिया ।  
 सत्वे अकतेतदुत्त्वा य, अतो सत्वे अहिंसया ॥ ६ ॥

सर्वो याः काश्चाननुकपाः पृथिव्यादिजीविकायसाधनत्वेना-  
 नुक्तता युक्तयः साधनाणि । यदि वा-ऽसिक्चिद्वनैकान्तिकपरि-  
 हारणं पक्षधर्मव्यसपक्षसरविषयकृत्वावृत्तिकपतया युक्तिसङ्घता  
 युक्तयस्तामितिमान् सञ्चिक्चि, पृथिव्यादिजीविकायाप्रत्यु-  
 पेक्ष्य पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य, तथा सर्वेऽपि प्राणिनो ऽका-  
 श्मनुःका दुःखादिषुः सुखान्तिव्यसङ्ग मत्वाऽतो मतिमान् सर्वान-  
 पि प्राणिनो न हिंस्यादिति । युक्तयश्च तत्रसाधिकाः सङ्क्षेपणे-  
 मा इति-साधिकाः पृथिवी, तदन्तर्गतं विह्वलवेषोपसाद्दीनां  
 समानकालीनाङ्कसङ्गावाद्दुर्घकारिणः कुतश्च । तथा-सञ्चतन-  
 म्भो, भूमिस्वननादाविकृतस्वभावसंज्ञावाद्दुर्गवत् । तथा-सार-  
 त्मकं तेजः, तद्योग्याहारवृत्त्या बुध्युपग्रहणोत्सुकवत् । तथा-सार-  
 त्मको वायुः, अणुपरिनिगिनयनरिञ्चिनगतिमत्वाद्भ्रमोवत् ।  
 तथा-सञ्चतना वनस्पतयोः, जम्भज्जामरकुसुमादीनां समुदितानां  
 सङ्गावान्, स्त्रोवत् । तथा-कृतसरोहणाहारोपादानवैह्वदसङ्गा-  
 वस्पर्शकोचसायाङ्गस्वाप्रप्रभाषाश्रयोत्सवर्षादिषुः इत्युभ्यां  
 वनस्पतेभ्यस्तन्वास्किः । श्रीन्द्रयादीनां तु पुनः कृष्णादीनां स्पष्ट-  
 मयं चैतन्यम्, तद्भूतान्शोकात्मिकाः स्वाभ्यांशकाश्च सैतन्यप्र-  
 माना मनोवाक्कायैः कृतकारिणानुमतिभिश्च नवकन भेदेन तत्पि-  
 ङ्कारिण उपमर्दाश्चार्तिव्यभिचि ॥ ६ ॥

एतदेव ( पुनः ) संमर्थयन्नाह—

एवं तु णाणियो सारं, जंमथेयि कंचण ।  
 अहिंसासमयं चैव, एतान्तं न हिंसाणिया ॥ १० ॥

( एवं तु इत्यादि ) कृश्यान् वाक्पालहारेऽवधारणे वा । एत-  
 देवानन्तराकं प्राणानिपाननिवर्तनं, ज्ञानिनो जीवस्वरूपतद्ग्रह-  
 कर्मबन्धवदेति; सारं परमाधंप्रधानम् । पुनरप्याद्द्वयव्यपनार्थमे-  
 तद्वाह-यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टदुःखं सुखीयन् न हिनास्ति, प्र-  
 भूतवदेतिनेऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं, यस्मात्प्राणिपाननि-  
 वसंमिति । ज्ञानमपि तदेव परमाधेता, यद्यदीनात् निवसंनम् ।  
 यद्योक्तं—किं तापं पदियाप, पयकोदीपं पयात्सूयाए ॥ जयि-  
 श्यतं तु पायं, परस्स पीडा न कायश्या ॥ १ ॥ तदेवमहिंसा-  
 श्रमः सत्यं श्रमः संकेतो वाऽपदेवकपः ॥ तदेवभूतमहिंसा-  
 समयमेतावन्तमेव विज्ञाय, किमप्येन बहुना परिकृतेतावतेव  
 परिज्ञानेन मुमुक्षोर्बिबकृतकार्यपरिसमाप्तेरतो न दिश्यात्क-  
 ष्चनेति ॥ १० ॥ सूत्रं १ सु० ११ अ० ॥

( ११ ) अतान्तरंऽहिंसा न तद्वर्ती—

आहुः-कथमेते प्रावातुका मिथ्यावादिनो भवन्ति । अत्रोक्तयते-  
 यतस्त्वप्यहिंसां प्रतिपादयन्ति, न च तां प्रधानमेकाङ्गभूतां सम्य-  
 गनुतिष्ठन्ति । कथम? साङ्गध्यानां तावत्कालादेव धर्मो न तेषामहिं-  
 सा प्रा श्रव्येन व्यवस्थिता, किंतु पञ्च यमा इत्यादिको विशेष इति ।  
 तथा-वाक्कथानामपि यथा कृत्वा धर्मपथा अहिंसाऽपि तत्रोका, न  
 तु सिच गरीयसी धर्मसाधनत्वेन तैराभिता । वैशेषिकाणाम-  
 हिं-प्रतिबंधनोपवाससम्राज्यचर्षुभक्तुवशासापनप्रथदायकादि-

नक्षत्रमन्त्रकाश्चिनियमा दृष्टा; तेषु धामिषेचमादिषु पर्यालोच्यमा-  
 नेषु हिंसा संघटते, येदि कानां हिंसा गरीयसी धर्मसाधनं, य-  
 होपदेशात् । तस्य च तथा विनाऽभावादिद्विधमिप्रायः । उक्तं च—  
 “ भुवः प्राणिवयो यहे ” ॥ ७६ ॥

( १२ ) तदेवं सर्वे प्रावातुका मोक्षानुभूतामहिंसां न प्राधान्येन  
 प्रतिपद्यन्त इति दर्शयितुमाह—

ते सत्वे पावातया आदिकरा धर्मायं णापापभा णा-  
 णाठंदा णाणासीसा णाणादिद्वी णाणार्ह्ये णाणारंजा  
 णाणाकृज्वसाणसंजुला एणं बहं मंदस्त्रिबंधं किच्चा सत्वे  
 एगयाउ चिद्वृति ॥ ७० ॥

( ते सत्वे इत्यादि ) प्रबधनशीलाः प्रावातुकाः सर्वेऽपि त्रिष-  
 ट्पुसरात्रिंशत्परिमाणेन ऋषि, आदिकरा यथास्वं धर्माणाम्; य-  
 ऽपि च तद्विद्वेष्यस्तेऽपि सर्वे; नानाभिन्ना प्रज्ञा ज्ञानं येषां ते नाना-  
 प्रज्ञाः । आदिकरा इत्यनेन्दुग्दु-स्वर्वाच्यवर्चितास्ते न-  
 त्वनादिप्रवादायाताः । ननु साहैतानामपि आदिश्विषेचस्यम-  
 संयवः । सत्यमस्ति । किंतु अनारिद्वैतुपरंपरेत्यनादित्वमेव, तेषां  
 च सर्वज्ञप्रणीतानामानुभवयापिबन्धानाम्भावः, तदन्त्यव्यभि-  
 क्षपरिज्ञानमत एव नानाछन्दाः; उन्वाऽभिप्रायः; जिन्नाभिप्रा-  
 या इत्यर्थः । तथादि-उत्पादव्ययप्रौढात्मकं वस्तुनि साङ्घै-  
 रेकातेनाविर्भावितरोभावाश्रयणाद्वाङ्मयनिर्गम्य पदार्थं सत्य-  
 त्वेनाभिव्य नित्ययुक्तं समाभिन्नाः । तथा-शाखाः, तदन्त्यव्यभि-  
 केषु पूर्वोत्तरभिन्नेषु पदार्थेषु सत्यं स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा-  
 प्रत्ययः सद्यस्पापरापरात्प्रासर्विणधानां भवतीत्येतत्पक्षसमाश्रय-  
 णादित्यपकं समाभिन्ना इति । तथा-नैयायिकवैशेषिकाः-केषा-  
 ङ्गिदाशापत्तमापवादीनामेकान्तेन नित्यत्वमेव, काश्चिद्रथाणां  
 च घटपटादीनामेकान्तेनानित्यत्वमेवाभिन्नाः । एवमनयाऽदिश्या-  
 ऽप्येऽपि भ्रामांसका तापसाद्योऽनुष्ठा इति । तथा-ते तीर्थिका-  
 नानाशीलं येषां ते तथा, शीलं व्रतविशेषः, स च भिन्नस्तेषामनु-  
 भवसिद्ध एव । तथा-नाना इष्टदेशं येषां ते । तथा-नाना रुचि-  
 रेषां ते नानारुचयः । तथा-नानारूपमध्यवसानमनःकरणप्रवृत्ति-  
 र्येषां ते तथा । इदमुक्तं जयति-अहिंसा परमं धर्माङ्गप । सा च  
 तेषां नानाभिप्रायस्वाविकल्पत्वेन व्यवस्थिता । तस्या एव सूत्र-  
 कारः प्राधान्यं दर्शयितुमाह— ते सर्वेऽपि प्रावातुका यथास्वपक्ष-  
 माभिन्ना एकत्र भवेद्रे संयुता महासत्त्वधर्माध्याय तिष्ठन्ति ॥ ७० ॥

( १३ ) अहिंसाप्रसिध्यर्थं विवेचनमाह—

पुरिसेयं सागणियाणं ईंगलाणं पादं बहुपदिपुभं गहाय अ-  
 ठमएणं संदासएणं गहाय ते सत्वे पावाउए आङ्गरा धर्मा-  
 यं णाणापन्नां जाव णाणाङ्कज्वसाणसंजुले एणं वयासी-  
 हंजो पावाउया । आङ्गरा धर्मायं साणापन्नां एव वयासा-  
 अङ्कज्वसाणसंजुला ! इमं ताव तुद्द सागणियाणं ईंगला-  
 णं पादं बहुपदिपुभं गहाय मुहुत्तयं पाणिया धरेद, णो  
 बहु संदासणं संसारियं कुजा, णो बहु अग्निथंजणियं  
 कुजा, णो बहु साट्ठिमियं वेयावादिने कुजा, णो बहु पर-  
 ध-  
 मियं वेयावादिने कुजा, उज्जया णियाणपरिवन्ना अणायं  
 कुम्भमाणा पाणं पसारोह, इति वुत्था से पुरिसे तेसिं पावा-  
 दयाणं ते सतागणियाणं ईंगलाणं पादं बहुपदिपुभं अ-

बभूवण सदासएणं गहाव पाणिष्ठु खिसिरिति, तए णं ते पावाडुपा आइगरा बम्माणं खाणापपा० जाव खाणा-  
 क्कवसाएणंसुजुचा पाणिं पमिसाहरंतं । तए णं से पु रि-  
 से ते सन्ने पावाडव आदिगरे धम्माणं० जाव पाणाक्क-  
 वसाखणंसुजुचा एवं वयासी-हंभो पावाडुपा! आइगरा ध-  
 म्माणं पाणापपा० जाव खाणाक्कवसाएणंसुजुचा कम्मा णं  
 तुम्भे पाणिं पमिसाहरह, पाणिं नो कइज्जा, वड्ढे किं ज-  
 विसमइ, दुक्खंति मक्कमाणा पमिसाहरह, एस तुज्जा एस प्प-  
 माणे एस समोसरणे पचेयं तुज्जा पचेयं पमाणे पचेयं स-  
 मोमरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहुणा एवमाइक्खंति०  
 जाव पक्खंति-सन्ने पाणा० जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावप-  
 प्पा परिपेतव्वा परितावेयव्वा किलापेतव्वा उदवेतव्वा  
 ते आगंतुं ज्ञेयाए ते आगंतुं ज्ञेयाए० जाव ते आगंतुं जाइ-  
 जरा मरणं जो जिम्मण संसार पुण्य भव गज्ज वास जवपवंच-  
 कळंकली भागिणो भविससंति ॥ ८१ ॥

तेषां चैवंव्यवस्थितानामेकः कश्चित्पुरुषः, तेषां संविश्वर्थं ज्व-  
 लतामङ्गारानां प्रतिपूर्णां पात्राभयोर्मयं भाजनमयोर्मयैव सद्  
 शकनं पुरीक्षा तेषां दौर्गतताद्युक्तं तत्र-यथा आः प्रावादुकाः।  
 सर्वोक्तविशेषणविशिष्टः। इदमङ्गारभृते भाजनमेकं मुहुर्त्सं प्र-  
 सक्तं सांसारिकाणामिवाऽग्निस्त्वग्मन विषयं, नापि च स्वाध-  
 मिकाऽप्यधिकाणामग्निदाहोपशमनादिनोपकारं कुरुत इति,  
 अत्रयं आपामुक्तयोः पाणिं प्रसारयन्तः तऽपि च त्रयं कुर्वन्।  
 ततोऽसौ पुरुषः तज्जाजनं पाणी समोसयति । तऽपि च दाहशु-  
 द्धया हस्तं संकोचयेयुः। ततोऽसौ तानुवाच-कमिति पाणिं  
 प्रतिहस्तं दयुमः। एवमग्निहितास्तं ऊचुः-वाहजनादिति । एत-  
 दुक्तं भवति-अवश्यमग्निदाहभयात् कश्चिदग्न्यामिसुखं पाणिं द-  
 दात्। त्वेतात्परोऽय इत्यन्तः। पाणिना दग्धेनापि किं ज्वलां भविष्य-  
 ति? दुःखमिति चेत्, यद्यद्यं ज्वलता दाहापादित्तुःकान्तरैः सुख-  
 त्विप्लवस्तद्वं सति सर्वेऽपि जन्तवः सांसारोद्वारविषयवर्तिन एव-  
 न्मूता एवेत्येवमात्मतुलयाऽग्नीपम्येन यथा मम नाजितं त्तुःख-  
 मित्येवं सर्वजन्तूनामित्येवमग्नाऽऽद्वैतं च प्राधान्येनाश्रयणीया।  
 तद्वैतप्रमाणम्। एषा युक्तिः-“आरामश्चेत् नृतामि, यः पश्यति स  
 पश्यति” । तद्वैतं समसत्तरेण, स एष धर्मविचारो यत्रा-  
 हिंसा संपूर्णा तत्रैव परमार्थतो धर्म इत्येवंव्यवस्थितं तत्र  
 यं केचना विहितपरमायोः अद्यतनाद्वाद्याश्च एवं बधवमासमा-  
 चक्षते, परेषामस्मदाह्मोपादानैयं भावन्ते, तथैवमेवं धर्म प्र-  
 काशयन्ति व्यवस्थापयन्ति, तथाऽप्येव प्राणयुस्तपकारिणा  
 प्रकाशेन परं धर्मं प्रकृपयन्ति व्याचक्षते । तद्यथा-सर्वे प्राणा  
 इत्यादि वायव्यतन्वया वृद्धादिभिः परित्रापयितव्या धर्माधेमर-  
 ध्यादिवहनार्थिनः परित्राह्ना विशिष्टकाले आकादी रोहितम-  
 त्स्या इव, तथाऽप्यद्रावयितव्या देवतायं वादिनिमित्तं वस्ताय  
 इवत्येवं यं धर्मगान्दयः प्राणिनानुपतापकारिणी भार्या जावन्ते,  
 आर्गामानि कालेऽनकरो बहुरथः स्वशरीरोच्छेदय च प्राप-  
 न्ते, तथा ते सायद्यभारिणा भविष्यन्ति, काले जातित्रारमणानि  
 बहूनि प्राप्नुवन्ति । योऽयं जन्म योनिजन्म तन्मं कश्चो बहुरथो  
 गर्भं व्युत्थान्तं जाइवस्थायां प्राप्नुवन्ति, तथा-संसारप्रपञ्चान्तं-

तास्तेजोवायुपृथक्पैर्गोबोद्धकनेन कलंकक्षीजावभातो भवति, ब-  
 हुरथो जविव्यन्ति ॥ ८१ ॥

ते बहूणं देवणां बहूणं सुदृषाणं तज्जाणां तान्नापाणं  
 अदु बंधखाणं० जाव पोलाणां माइमरणां पितामरणां  
 जाइमरणां भगिणीमरणां भज्जापुवभूतसुहृदामरणां  
 दारिहाणं दोहम्णां अप्पियसंवासाणं पियविप्यग्निगाणं  
 बहूणं दुक्खलोम्यएस्ताणं आभागिणां जविस्संति अजा-  
 दियं च णं अणवधमं दीहपदं वाउतंसंसारकंठारं तुज्जो  
 तुज्जो अणुपरिवाहिसंति, ते णो सिज्जिसंति, णो तु-  
 जिस्संति० जाव णां सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एम  
 तुज्जा एस पमाणे एस समोसरणे पचेयं तुज्जा पचेयं  
 पमाणे पचेयं समोसरणे ॥ ८२ ॥

तथा-ते बहूनां वृषडादीनां शरीराणां दुःखानामात्मानं भाजनं  
 कुर्वन्ति, तथा-ते निर्विधिका मानवधादीनां मानुषाणां दुःखानां,  
 तथाऽप्येवामाग्नियसंवासायैनाशादिनिदुःखदीमनस्थानामाजा-  
 गिनो भविष्यन्ति । किं बहूनांकोमोपसंहारव्याजनं शुकतर-  
 मधेसंबन्धं दक्षयितुमाह-(अणादियं इत्यादि) नास्मादिरस्ती-  
 त्यनादिः संसारः। तदनेनदुक्तं भवति-यत्कैश्चिदग्निहितं-यथा  
 ऽवमाराकादीकमेतस्यादितं हात । एतद्व्यास्तम् । न विद्यतेऽप्यद्व-  
 र्पयन्तो यस्य साऽप्यमनवद्वर्षऽप्यन्तं इत्यर्थः । तदनेनदुक्तं  
 विद्यते-यत्तुं केचिद्वाद्या प्रत्यक्षाऽप्येवसायजलज्जलान्वितं, दा-  
 वशादित्योऽग्नेन वात्यन्तदाहः, इत्यादिकं सर्वं भिष्यति । इदं  
 मित्यन्तत्तु फलप्राप्त्यं रूपं कालावस्थानम्, तथा-व्यापारोऽग्ना  
 गतयो यस्य स तथा, वातुगौनिक इत्यर्थः । तस्मिन्ना एव का-  
 न्तारः संसारकान्तारो निज्जैः सत्यव्यापारहितोऽरथप्रदेशः  
 कान्तार इति । तद्वेभूतं भूयो नृयः पीनः पुण्यनानुपरिवर्त्तियन्ते  
 अरहृष्टवर्तीभ्योपेन तत्रैव धमन्तः सत्यास्थानां। अत्र एवाह-यत-  
 स्ते प्राणिनां हन्तारः कुन तदिति चेत्, सावधोपदेशान् । एतद्वै-  
 कयमिति चेदत औद्दिशिकादिपरिभोगानुबन्धेयंभवमवगन्तव्य-  
 मित्यन्तस्ते कुप्रावचनिका नैव सस्यन्ति नैव ते लोकावस्थासा-  
 कम्पिष्यन्ति । तथा-न ते सर्वेपदाधार्थं केषलक्षणायापथा जो-  
 स्थ्यन्ते; अनेन ज्ञानातिशयनामगाह । तथा-ने तऽप्यकारण  
 कर्मणा मोक्षयन्ते । अनेनाप्यसिद्धेरैकैवस्थायांसिद्ध कारणमाह ।  
 तथा-परिनिर्मुक्तिः परिनिर्वाणामन्वसुखावधिः, तां ते नैव प्रा-  
 प्येयन्ते, तेषानपि सुखानतिशयाभावः प्रदर्शितो भवतीति । तथा-  
 नैने शारीरमानसानां दुःखानामप्यन्तिकमन्तं कम्पिष्यन्तीत्यने-  
 नाप्यप्यातिशयाभावः प्रदर्शितो भवति । एषा तुज्जा, तदंतदु-  
 पमानं, यथा सावधानुज्ञानपरायणाः सावधानिपयंश्च कुप्राव-  
 चनिका न सिध्यन्त्येवं स्वयव्या । अग्न्यौद्दिशिकादिपरिभोगो  
 न सिध्यन्तीति । तदंतप्रमाणं प्रत्यक्षानुमानादिकम् । तथाहि-  
 प्रत्येक्यैव जीवप्राडाकारि चौर्यादिबन्धनाच्च भुष्यन्ते । एवमन्ये-  
 ऽपीत्यनुमानादिकमप्यप्योऽप्यम् । तथा-तदंतस्समसत्तरेणाना-  
 मविचाररूपमितं प्रत्येकं च प्रतिमाधि प्रतिप्रावाडुकमंतमुत्सा-  
 दिकं प्रुध्यमिति ॥ ८२ ॥

तत्थ णं जे ते समणा माहुणा एवमाइक्खंति० जाव पक्-  
 खंति सन्ने पाणा सन्ने नृया सन्ने जीवा सन्ने सत्ता ण  
 इंतव्वा, ए अज्जभावेयव्वा, ण परिपेतव्वा, उ उदवेतव्वा,

ते षो आगंतुं ज्ञेयाए त षो आगंतुं ज्ञेयाए० जाव जाइजरा-  
 भरणजोगिष्णमणसंसारपुष्पवनवगनवासभवनपंचकलंक-  
 भीभाणितो जविस्संति, ते षो बहूणं दंढणाणं० जाव  
 षो बहूणं मुंढणाणं० जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्ताणं  
 षो भाणितो जविस्संति, अणादिपंच व णं अणवयमयं दी-  
 द्दमक्कं चाउरंतमंसारकंतारे बुज्जो बुज्जो णो अणुपरिय-  
 द्दिससंति तेसि सिज्जंति० जाव सब्बदुक्खाणं अंतं करि-  
 र्स्संति ॥ ८३ ॥

ये पुनर्विदिततत्त्वा आत्मौपम्येनात्मतुलया सर्वजीवेभ्यहिंसां  
 कुर्वोणा एवमाहकृते । तथाचा-सर्वेषां जीवा दुःखनिष्ठः सुख-  
 लिप्सवश्चते न हन्तव्या इत्यादि । तदेष पूर्वोक्तं दृग्द्वन्द्वक स-  
 प्रतिपक्षं भ्रमनीयं यावत्संसारकान्तामचिरेणैव न व्यक्तिक-  
 मित्यन्तैति ॥ ८३ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

“ अविहिंसामेव पव्येव, अणुधम्मो मुणिशा एवेदिञ्चो । ”  
 सूत्र० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(१४) यद्यकान्तेन नियेषनियेषे आत्मनि हिंसाद्यो न घटन्ते,  
 ताहिं क घटन्त इत्यत आह-

नित्यानित्ये तथा देहा-क्रियाभिभे च तत्त्वतः ।

घटन्ते चात्मानं न्याया-द्विमादीन्यविराधतः ॥ १ ॥

नित्यञ्चासावनित्यञ्चेति नियोगिन्ये, तत्र नित्यानित्ये आत्मन्य-  
 च्युपगम्यमाने हिंसादीनि, घटन्ते इति संबन्धः । न ह्यकान्तेन  
 नित्यमनित्यं वा वस्तु किमपि कस्यापि कार्यस्य करणकर्मम् । तथा-  
 हि-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, एककपवेनातिक्लान्तमृ-  
 त्पिण्डजनाभवत्वात्, मृत्पिण्डयत् । मृत्पिण्डत्यातिक्रमे चानित्यत्व-  
 प्राप्तेः । तथा-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, सर्वेष्वनुगमा-  
 भावेनाऽनतिक्रान्तमृत्पिण्डस्यैव रूपपर्यायत्वान्, पटवत् । मृत्पि-  
 ण्डस्यैव लक्षणपर्याय्यातिक्रमाभ्युपगमे वाऽनुगम्यात्वेन नित्यत्वं व-  
 स्तुनः स्यादिति । आह च-घटः कार्यं न,पिण्डजनाधानतिक्रमात्,पि-  
 ण्डयत्, घटवच्चानि । स्यात् कृत्यात्वादिदन्त्या । तदेषं नित्यानित्य-  
 मेव वस्तु कार्यकरणत्वमात्रं, ननु नित्यानित्यत्वधर्मयोर्विद-  
 क्तत्वात् । धर्मैकाधिकरणत्वम् । अत्रोच्यते-यथा हानस्य प्रान्ता-  
 द्वापत्वे परत्वाधेसंप्रत्ययान्नापेक्षया न विरुद्धे, एवं च्यते  
 नित्यत्वं, पर्यायतश्चानित्यत्वं न विक्रमः । न च द्रव्यपर्याययोः  
 परस्परं ज्ञेयं, यतो यदेव वस्तुनपक्वित्तविशिष्टकृत् पर्याय इति । तथेति वाक्या-  
 न्तराण्युक्ताः । देहाच्छरीरात् । किमिवाह-निष्ठा न्यतिरिक्तः, स  
 चासावज्जिनश्च ध्यातिरेकी भिन्नाज्जिनः, तत्र भिन्नाभिन्न एव  
 च जीवः, शरीरात्तर्ह्येवंपलव्यमानत्वात् । तथाहि-जीवस्या-  
 मूर्तत्वाद्देहस्य च मूर्तत्वान्मूर्तयोश्चात्यन्तविलक्षणत्वा-  
 ज्ञेयं । तयोर्देहस्यर्शनं च जीवस्य वेदनात्परस्परभेदेति । आह च-  
 “जीवसरीराण पि दु, भेवाज्जेओ तहोचलंजाओ । मुत्तामुत्त-  
 त्तयुत्ताओ,किंकिम्मि ष वयखाओ य” ॥१॥ सर्वथा ज्ञेयं हि शरीर-  
 त्तकर्मणो जयान्तेऽनुभवानुपपत्तः स्यात् । अभेदेव परलोकाहा-  
 निः, शरीरानो जीवनाशादिति । चअग्निऽनुकसमृद्धये । ततश्च  
 स्वसतीत्याद्यपि छद्मत्वम् । आह च-“संतस्स स्वकण्ठं, तदा  
 चिक्खे चान्नंस्स । हंदि विसिद्धत्तणओ, हंति विसिद्धा सुहा-  
 द्दंओ” ॥१॥ या विशिष्टाः प्रतिप्रणिवेषाः । तस्य इति परस्मा-  
 २२१

तः, नित्यानित्यादौ, न पुनः कल्पनया, पारमार्थिकत्वं च नित्या-  
 नित्यत्वादीनां दृशितमेव । घटनेन मुख्यत्वं, आत्मनि जीवे, न्या-  
 यात् परिणामिस्वरूपस्यात्मनोऽपरापरपर्यायसंप्रपुपसितलक्ष-  
 णया मीत्या, हिंसादीन्याभ्यस्यस्वरूपधर्मोत्सुखादीनि । अथमि-  
 त्याह-आविराधनः अविराधेन, एकान्तकृत् य हिंसादिष्वनुप-  
 गम्यमानेषु विरोधाः दक्षिणतः, तत्परादग्नेति प्राव इति ॥ १ ॥

(१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया आविराधदृशनायाह-  
 पीडाकर्तृत्वयोगेन, देहव्यापपयपेक्षया ।  
 तथा ह्यन्येति संक्षेपा-द्विसैषा सनिबन्धना ॥ २ ॥

पीडा दुःखवेदना, तस्याः कर्ता विधाता, तद्भावः पीडाकर्तृत्वं,  
 तस्य तेन वा योगः संबन्धः, तेन पीडाकर्तृत्वयोगेन । तथा-देहस्य  
 शरीरस्य, व्यापकत्वित्वात् देहव्यापकः, तस्या अंगेका निष्ठा  
 देहव्यापपयपेक्षा, तथा । तथैतं नित्यभ्रमन्तस्समुच्चयः । हर्मि मार-  
 यामि, प्राणिनमित्येवंकाम्पान्स्त्रेशाश्चित्तकालुष्यात्, हिंसा प्राणस्य-  
 परोपणा, या परिणामयादितिभ्युपगमति मध्यमः । एषा इत्यं पी-  
 सा, सनिबन्धना स्मिर्मासा । परिणामयाद् हि पीडकस्य पीडनीय  
 स्य च परिणामित्वात् पीडाकर्तृत्वमुपपद्यते । देहविनासंक्षेपौ  
 च एकान्तवादे तु पीडाकर्तृत्वादीनां पुर्वोक्त्यायमाऽपुन्यमानत्वा-  
 त् हिंसा निर्निबन्धनं । यद्येव्यत-नाशहेतुना देहाज्जिणो नाशः  
 क्रियतेऽजिञ्चो वा । यदि जिणः, तदा देहस्य नाशवत्कर्म हिंसा । अ-  
 ध्याजिणः, तदा देह एव कृता जयतीति । तदयुक्तम् । अजिञ्जनाशकर-  
 णे हि बन्तु नाशितमेव भयति । न कृते, यथा जिणोपादकत्वेन तस्या-  
 दिनमेव भवतीति, अनेन च शोकंन स्थानान्तरप्रसन्नस्त्रिषिविधो  
 वधो निर्हिंष्टः तथा च-“तपपञ्जायविजया, तुक्कपुष्पाका य संकिंसे-  
 सो । एस वडो ज्जिणमशिओ, वज्जेयव्वा पयसेण” ॥१॥ नन्वस्माद्  
 घातकाद् मरणानेन देहिना प्रायत्तान्मन्वकं फलात् स्मृतकर्मणो  
 वश्याद् हिंसा भवत्यन्यथा वा । यथाचः पनः । तदा हिंसकस्याहिं-  
 सकत्वमेव, स्वकर्मफलत्वात् हिंसायाः । पुराणात्स्मृतकत्वात् हिंसाया-  
 मिव तथा कर्मनिर्जराहेतुत्वेन हिंसकस्य वैद्यावृत्तकस्येव  
 कर्मणयाथासिन्नकृपां गुणः स्यात् । अध्यान्यथैत पक्षः, तदा नि-  
 विशेणत्वात्सर्वे हिंसनीयं स्यात् ॥ २ ॥

( १६ ) तथा स्वर्गलुभाव्याऽपि स्वहृत्कर्मनापादिता एव  
 स्फुरिति कर्माभ्युपगमेऽनर्थक इत्येवमाहेतानामपि हिंसाया  
 असंभव एवेत्याशङ्क्याह-

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनिर्वागतः ।

हिंसकस्य भवेदेवा, हृष्टाऽदुष्टाऽनुबन्धतः ॥ ३ ॥

हिंस्यते मार्यते इति हिंस्यः, तस्य यत्कर्म, तस्य विपाक उद्बो  
 हिंस्यकर्मविपाकः, तत्रापि हिंस्यकर्मविपाककृत्तरे हिंसायाः, आ-  
 स्तां हिंस्यकर्मविपाकाभावकल्पनायां, निमित्तत्वस्य निमित्त-  
 कर्तृत्वान्नस्य नित्योऽप्येवमांशं निमित्तत्वनिर्वागतः, हिं-  
 सकस्य व्यापादकस्य, भवेत् ज्ञायते । एषा हिंसा । अयमभिप्रायः-  
 यथापि प्रधानहेतुभावेन कर्मोद्भाविस्त्वस्य हिंसा भवति, तथा-  
 ऽपि हिंसकस्य तस्यो निमित्ताभावितोऽप्युपगतत्वात्तथाच-  
 जयतीत्युच्यते । न च वाक्यं हिंस्यकर्मणैव हिंसकस्य हिंसायां  
 प्रेरितत्वात्स्य न दोष इति । अत्रिमाराधः परंप्रेरितस्यापि लो-  
 के दोषवर्शनादीति । ननु यदि निमित्तभावेऽप हिंसा स्यादिति ।  
 प्यते । तथा वैधादीनामपि तत्प्रसङ्गः । सत्यम् । केवलं सा तेन न,

दुष्टादुष्टाभिसाधित्वात् । एतदेव व्यतिरेकेणाह-दुष्टा दोषवती कर्मव्यभिचयनतवाद् दुष्टानुवन्धतो दुष्टवित्तामिसंघर्षेयति । यदाह-“ जा उ पमत्ता पुरिलो, तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता । भाषाळ्ळनां निममा, तसिं सों हिससो होइ” ॥१॥ ननु दुष्ठा भिसंघेः, यदाह-“ जा जयमाणस्स जेवे, विराहणा सुखविहिसमग्गस्सा । सों होइ निज्जाफला, अग्गम्याविसोहिं दुत्तस्स” ॥१॥ परतेन च यदुक्तं वैशाद्युक्तमस्य हिंसकस्य कर्मनिजैरसहयात्वात्वाभिर्जारात्तान इति । तर्थाय परिहृतम् । यत् न हिंसाकां वैशानुत्स्यकरवचनाभिसाभिः । शेषं त्वननुपगमाभिस्तमितं । अघिकृतत्रैकार्थसंवादिना । अयं गाथा-“ नियकयकम्मुवभोगे, विसंकिंसेलो धुवं वहतस्स । तत्तां बंधो तं ऋतु, तविउर ईए विउउर (त) ” ॥

एवं परिणामिन्यात्मनि हिंसायाः संभवमाविर्भावाद् हिंसाया-स्तमा-  
 ततः सद्गुपदेशादेः, क्रिष्टकर्मविद्योगतः ।

शुभजावानु, न्येन, हन्तास्या विरातिर्भवेत् ॥ ४ ॥

यतः परिणामिन्यात्मनि हिंसा घटते ततस्तस्मात्किंसाघटनात्, अस्या विरतिर्नैवेदिति योगः । सतां ज्ञानमुकुराणं जिनादीनानुपदेशा हिंसाहिंसयोः स्वरूपकलादिप्रतिपादनं सद्गुपदेशः, सतां वा प्रावानानुपदेशः, सन् या शोभन उपदेशः, स आदिर्यस्य स तथा, तस्मात्, आदिशब्दात् ज्ञानभ्रज्जानपरिग्रहोऽभ्युत्थानादिपरिग्रहो वा । माह च-“ अम्भुट्टाणे विणए, परक्कं साट्ठसवधया या सम्मईसणुसंभं, विरयाविरई य विरई ” ॥१॥ तथा-क्रिष्टकर्मणां द्वांघिक-निक ज्ञानावरणादीनां, विद्योगः कृत्यापमनाः, तस्मात् क्रिष्टकर्मविद्योगात् । आह च-“ ससए पयड्ढाणे, अग्गिउरअयं य कांमिकोकीए । काऊण सागराण, जइ लहकं उउरअग्गयं ” ॥१॥ शुभभाषानुबन्धनं प्रज्ञानाध्यवसायाध्यवच्छेदेन, इत्येवंकारणपरम्परया हन्तेति प्रत्यधारणाद्यैः, कामलाभ्युत्थायोः वा । अस्याः परिणा-म्यात्महिंसायाः, विरतिर्नैवृत्तिसंज्ञेत् जायत, घटत इत्यर्थः ॥४॥

ततः किं जातमित्याह-

अहिंसैषा मता मुक्त्वा, स्वगमोक्तुपसाधनी ।  
 एतत्संरक्षणार्थं च, न्यायं सत्यादिप्राप्तनम् ॥ ५ ॥

अहिंसा अस्यापादनम्, एषा अनन्यलोकोपपत्तिका हिंसाविर-तिः, सता इष्टा विदुषां, मुक्त्वा निकुपचरिता । यत् च प्रासङ्गिकप्र-धानफलप्राप्त्या क्रमेण स्वगमोक्तुपसाधनी देवलोकाविर्वाणे-देतुयुता । अथेतस्या एव स्वर्गादिना भजन्तार्त्तिकं सत्यादिप्राप्तने-नेत्याशुक्त्वाह-एतत्संरक्षणार्थं मनसो दिताऽहिंसायत्नपरिष्का-रार्थम्, अशब्दः पुनरर्थोऽवधारणायो वा । न्यायं न्यायादनपत्त-म् उपपन्नमित्यर्थः । सत्यादिप्राप्तनं मृषावादादिनिवृत्तिनिर्वाहस्य-व, अहिंसासत्यसंरक्षणे कृत्स्नकल्पव्यवस्थयादिप्रवृत्तानामिति ॥

( १७ ) अथ पूर्वोक्तस्यात्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाजि-  
 ञानिज्जवस्य च सायने प्रमाणोपदेशानायाऽह-

स्मरणप्रत्यभिज्ञान-देहमत्सर्पशवेदनात् ।  
 अस्य नित्यादिऽसिद्धिश्च, तथा लोकप्रसिद्धिः ॥ ६ ॥

स्मरणं पूर्वोक्तमवधारणानुस्मृत्यः, प्रत्यभिज्ञानं सोऽप्यमित्येवंकृपः प्रत्ययमशोः, तथा-देहस्य शरीरस्य सत्संशयं वस्तुसंशयं स्पर्शानं, तस्य वेदनमनुभवेन, देहसंस्पर्शनं वा वेदनं स्पर्शानीयवस्तुपरि-

ज्ञानं देहसंस्पर्शवेदनमिति । पदत्रयस्यास्य समाहारद्वयः, तस्मा-  
 दस्यात्मनो, नित्यानित्यसिद्धिः नित्यानित्यत्वदेहाजिज्ञासिद्धिश्च-  
 तिष्ठा, अशब्दः पुनःशब्दायैः नित्यानित्यत्वादिविशेषणे आत्मन्य-  
 हिंसादिसिद्धिः, नित्यानित्यत्वादिः कियुक्तः स्वरुपादिर्वाति भावः ।  
 प्रयोगश्चात्र-नित्यानित्य आत्मा, स्वयमिदितद्वयत्वादि संस्कारण-  
 न्यथानुपपत्तः । तथाहि-न तादेवकाम्पानित्यं स्वरुपादिभावः,  
 तस्यैकरूपतयाऽनुभवस्यैव स्वरुपेणानुवृत्तंभाव, इतरथा नित-  
 यताहासेः, नित्यानित्यस्य स्वरुपसंज्ञानुभवकालानंतरकाल-  
 एव कर्तृविनष्टत्वात्कस्य स्मरणमस्तु ? ; ननु-नित्यानानुभूतमन्यः  
 स्मरति । अथानुभवकृष्णसंस्कारात्साधिषः स्मरणकृष्णः  
 ससुत्यघटते । नैवम् । यतोऽनुगमलेशोनायि चर्कितानामत्यतवि-  
 लक्षणानामसंख्येयकृष्णानामतिक्रमे जायमानस्य स्मरणकृष्णस्य  
 पूर्वकालीनानुजवक्षणसंस्कारो यदि परं भ्रज्जनगम्यो न युक्ति-  
 प्रत्ययः, प्राक्तनानुभवकृष्णस्य चिरनरनष्टत्वात्, अथानुगत-  
 कृष्णेषु च संस्कारलेशस्याप्यनुपपत्त्येः सइसवानुभवकृष्णस्य  
 विलक्षणस्मरणकृष्णोत्पादोपसर्गधरिति । परिणामपक्षे तु प्राक-  
 तनानुभवकृष्णेनाऽऽहितसंस्कारानुभवत् तत्कृष्णप्रवाहकृष्णा-  
 नाविधधमेसमुदयस्वभाववादात्मनः सकाशात् स्मरणकृष्णो-  
 त्पादो युक्तियुक्त इति । न च वाच्यमपान्तरालक्षणेष्णुभय-  
 संस्कारां नोपलभ्यत इति कथं तत्संकेति निर्वाहप्रवेन स्मरा-  
 णस्यानुपपत्तप्रसङ्गादिति । तथा-नित्यानित्य आत्मा, प्रत्यभिज्ञा-  
 नायथानुपपत्तः । तथाहि-यकामानित्यत्वेऽनुभवस्यैव तत्साकृदनु-  
 भूत्तं न प्रत्यभिज्ञानसंभवः । अनित्यत्वे तु अनित्यत्वादेव पूर्वदृष्टः  
 पूर्वदृष्टवस्तुनञ्च नष्टत्वात् पूर्ववच्छेषोपपत्त्येव प्रत्यभिज्ञानसंभ-  
 वः । नचाद्यदृष्टोऽदृष्टे प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तथा अन्तर्निर्गतिः अथ  
 क्षुण्-लूनपुनर्जातकृष्णादिष्वपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति प्राञ्च इति तस्य  
 व्यतिचारित्वेनाऽऽप्रमाणतया सर्वत्राप्रामाण्यम् । नैवम् । प्रत्यक्-  
 स्थापि कृत्स्नानिचारात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गादिति । तथा-  
 देहाजिज्ञासिद्धि आत्मा, स्पर्शवेदनाऽन्यथाऽनुपपत्तः । तथाहि-यद्यसौ  
 देहाजिज्ञासा भवेत्, तद् देहं स्पर्ष्टस्य वस्तुनां न संवेदनं स्याद्, देव-  
 दत्तस्पर्ष्टवस्तुन इव यद्देहस्य न । अथाभिज्ञो, देहमात्रत्वेन तस्य  
 परलोकाजायमत्तद्वयवापानरहानी चैन-यहादिप्रत्यभिज्ञानं ।  
 तथेति समुच्चये । लोकाप्रदिक्रितो जनप्रतीतिर्नित्यानित्यमात्मावि-  
 धिस्त्विति गम्यते । यत्सत्त्वेनं वस्तुत्वेनं परिणतमिति वदन् वस्तुत्वा-  
 विच्छिन्निमवस्थात्परापत्तिश्च प्रतिपद्यमानो जनो सख्यते । न च  
 लोकप्रतीतिविरुद्धमर्थमुपकल्पयन्प्रमाणं प्रमाणतासादाव्यती-  
 ति ॥ ६ ॥

( १८ ) आत्मनो विदुषेः पूर्वं दोष उक्तोऽथासर्वगतत्वेऽस्य  
 गुणमाह-

देहमात्रे च सत्यस्मिन्, स्यात् संकोचादिर्भिमिच्छि ।  
 धर्मादेरुर्ध्वगत्यादि, यथायै सर्वेष्वेव तु ॥ ७ ॥

देह एव शरीरमेव मात्रं परिमाणं यस्य स देहमात्रः, तस्मिन् दे-  
 हमात्रे । देहमात्रता चास्य देह एव तद्गुणोपलब्धेः । अशब्दः पुनर-  
 थः । नित्यानित्यदिधर्मसंके आत्मनि हिंसादिरुपपत्तेः, देहमात्रे  
 पुनःसति भवति । अस्मिन्नस्मिन्, स्यात्कृत्, सर्वे यथायैमिति संब-  
 न्धः । किंभूते तत्र ? संकोचादिः संकोचमादिः, आदिशब्दात् प्रसर-  
 नः, धर्मः स्वजातो यस्य स तथा, तस्मिन् ; संकोचादिधर्मकत्वं  
 चास्य सूक्ष्मभेदशरीरवशात् । किं तस्मात्प्रादि- ( धर्मादेरुर्ध्वग-  
 त्यादि ) धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्तात्प्रवत्यधर्मयः । ज्ञानेन वा-

पवर्षीः" इत्यादिकं वचनमिति गम्यते । यथार्थं निरूपयन्तः, सर्वमेव निरवशेषमेव, तुशब्दः पूरणं इति ॥ ७ ॥

उपसहरकाह-

विचार्यमेतत्सहृदया, मध्यस्थेनान्तरात्मना ।

प्रतिपक्षव्यपेक्षेति, न खल्वन्यः सतां नयः ॥ ८ ॥

विचार्ये विचारणायम, एतद्यदनन्तरमहिंसादि विचारितं, सवु-  
षुश्रांशोऽभनप्रकृया, मध्यस्थेनाऽपकृपतिनेन, अन्तरात्मना ज्ञायेन,  
मनसा वा न केवलं विचार्ये, तथा प्रतिपक्षव्यपेक्षेन तु न स्वीक-  
रन्त्यम । इतिशब्दो विचारिताद्येपारसमासी । अथ कस्मात्प्रति-  
पक्षव्यपेक्षेत्याह- न खलु वैव, अन्यत्र उक्तनयविलक्षणः, सतां स-  
पुरुषाणां, नयो न्याय इति ॥८॥ हारि० १६ अष्ट० । द्वा० वि० १० ।

अहिंसालक्षण-अहिंसालक्षण-पुं० । अहिंसा प्राणिसंरक्ष-  
णं, लक्षणं चिह्नं यस्य स अहिंसालक्षणः । सत्त्वानुकम्पानुमेय-  
संभवे, पा० । द्याचिह्ने, ष० ३ अधि० ।

अहिंसासमय-अहिंसासमय-पुं० । अहिंसाप्रधाने आगमं, सं-  
केते चोपदेशरूपे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अहिंसिय-अहितसित-त्रि० । अमारिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४४३० ।

अहिंसेत-अजिकाकृत-त्रि० । अमिदंशति, " अहिकसंत-  
हिं सुभासियाहं " । १० व० ४ द्वार ।

अधिकरण-अधिकरण-न० । नरकतिर्यग्गतित्वा, आत्मनो-  
ऽधिकरणं वा तुल्यसत्त्वे इत्यर्थः कलत्रे, नि० चू० ४ उ० ।

अधिकरण-अधिकरण-त्रि० । सुवर्णकारोपकरणं, भा० ८८० ।

अधिकृत्-अधिकृत्य-अप्य० । प्रतोत्येवयर्थे, " पठुष्व लि वा  
पप्य लि वा अदिकिच लि या पगदा" । आ० चू० १ अ० ।

अदिग-अधिक-त्रि० । विशिष्टे, पञ्चा० ३ विव० ।

अदिगुणतय-अधिकगुणतय-त्रि० । अधिकगुणवर्तिनि, शो०  
७ विव० ।

अदिगत-अधिकत्व-न० । विशिष्टेनत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

अदिगम-अधिगम-पुं० । विशिष्टपरिहाने, प्रव० १४१ द्वार ।  
भवबोधे, स्था० ७ डा० । " शासंति वा संवेदंति ति वा अदिगम-  
नो लि वा वेयलि ति " । आ० चू० १ अ० ।

अधिगम-पुं० । उपचारे, " अभिगमेणं अभिगच्छति " । श्रौ० ।  
( " अभिगम " शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७११ पृष्ठेऽस्य जेदा उक्ताः )

अदिगमण-अधिगमन-न० । पारिच्छेदने, वि० १० ।

अदिगमरुह-अधिगमरुहि-पुं० । स्त्री० । समयकवनेत्रे, तद्वति  
च । प्रव० १४५ द्वार । ( ५६८ पृष्ठे तथा ७११ पृष्ठे चास्मिन्नेव  
भागे आ० चू० अभि० प्रकरणे च्छेद्यम )

अदिगमास-अधिकमास-पुं० । अभिबर्द्धितमासे, उद्यो० १ पाठ० ।

अदिगय-अधिकृत-त्रि० । प्रस्तुते, वि० १० । पञ्चा० । भावे क्तः,  
अधिकारे, न० । वि० १० ।

अधिगत-त्रि० । परिहृते, प्रस्तु० । गीतां, भ्य० १ उ० । शीका-  
दिप्रतिपत्त्याऽङ्गीकृते प्राप्ते, पञ्चा० २ विव० ।

अदिगयगुणवृद्धि-अधिकृतगुणवृद्धि-स्त्री० । समयकवादिगुण-  
वर्द्धने, पञ्चा० २ विव० ।

अदिगयजीव-अधिकृतजीव-पुं० । प्रस्तुतसत्त्वे, यथा शीकाधि-  
कारे शीकाधीय इति । पञ्चा० २ विव० ।

अदिगयजीवाजीव-अधिगतजीवाजीव-त्रि० । अधिगतौ  
सम्यग्धिजातौ जीवाजीवौ येन स तथा । जीवाऽजीवयोः पर-  
माथेतो विद्वानवति, रा० ।

अदिगयद्रु-अधिगतार्थ-पुं० । अधिगतोऽर्थो येन स तथा, अ-  
धिगतार्थो वाऽर्थार्थधारणाह । तत्त्वज्ञ, दशा० १० अ० ।

अदिगयतिथ्यदिद्याया-अधिकृततीर्थविधातृ-पुं० । वसंतामप्र-  
वचनकर्तारि भगवति महावीरे, पञ्चा० १९ विव० ।

अदिगयतरगुण-अधिकतरगुण-पुं० । प्रकृष्टतरगुणे, पञ्चा० १८  
विव० ।

अदिगयविसिधभाव-अधिगतविशिष्टज्ञाव-पुं० । प्रस्तुतमकृ-  
ष्टज्ञाप्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

अदिगयसुंदरभाव-अधिकृतसुंदरभाव-पुं० । प्रस्तुतशोभनप-  
रिणामं, पञ्चा० १८ विव० ।

अदिग्ररुण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽधिकारोक्रियते  
दुर्गताधाम्ना येन तदधिकरणम् । बाहो वस्तुनि, स्था० २ डा०  
१ उ० । आ० १ प्रव० । पापोपनिष्ठधानं, आतु० । कुरतुष्ठानं,  
प्र० ३ सत्यं द्वार । स्वयंकृपस्वक्रियवयं विभर्ते, स्था०  
७ डा० । राटौ, तत्करवचने च । कल्प० ९ क० । कलहं, ग० ३  
अधि० । खड्गनिपत्तनादौ, ज्ञा० ५ अ० । श्रौ० । सूत्र० ।  
कथायाद्याभ्यच्युते हलशकटादौ, भ० ७ श० १ उ० । ( अधि-  
करणास्य कर्त्तव्यता ज्ञामणा च 'अधिग्ररुण' शब्देऽस्मिन्नेव  
प्रागे ५७२ पृष्ठे ५७१ पृष्ठे च उक्ता, नवर चातुर्मास्ये )

वासावासे पञ्जासवियाणि नो कपपेड निगमथाण वा नि-  
गमथाण वा परं पञ्जासवलाओ अधिग्ररणं वदत्त, जे णं  
निगमथा वा निगमथा वा परं पञ्जासवलाओ अधिग्ररणं  
वयद, से णं "अकपेणं अज्जो वयमि" ति वत्तवे सिया,  
जे णं निगमथाण वा निगमथाण वा परं पञ्जासवलाओ  
अधिग्ररणं वयद, से णं निज्जुहिण्यवे सिया ॥ ९८ ॥

( वासावासे पञ्जासवियाणमित्यादि ) अनुमासकं स्थितानां  
नो कल्पते साधुनो साध्वीनां च पूर्वुपणातः परम, अधि-  
करणं राटिः, तत्करं वचनमपि अधिकरण, तत् वक्तुं न  
कल्पते । अथ यः कोऽपि साधुर्वा साध्वी वा परं पूर्वुपणातः  
अधिकरणं क्लेशकारि वचनं वदति, स एव वक्तव्यः स्यात्-यद  
हे आर्ये ! त्वमकल्पेन अनाचारं वदसि, यतः पूर्वुपणादिनतो-  
ऽवाक्यं तदिने एव वा अधिकरणमप्यत्र तत्पूर्वुपणायां क्षामिति,  
यच्च त्वं पूर्वुपणातः परमपि अधिकरणं वदसि, सोऽयमकल्प  
इति भावः । यथेव निवारितोऽपि साधुर्वा साध्वी वा पूर्वु-  
पणातः परम, अधिकरणं वदति स निर्वृहिनव्यः।ताम्बूलिकप्र-  
दृष्टानेन सह्याद् बहिः कर्त्तव्यः । यथा-ताम्बूलिकेन विनाष्टं पत्र-  
मन्यपत्रविनाशनमथाद् बहिः क्रियते, तद्वयमन्यमन्यनाशुनाश-  
क्षापाविष्टो यिनद पद्येत्यतो बहिः कर्त्तव्य इति भावः तथा-

उप्येऽपि द्विजवृक्षान्तः । यथा-लेटावास्तव्यां रुद्रनामा द्विजो  
 वर्णाकालं कन्दारान् कर्तुं हतं लात्वा क्षेत्रं गतः । इत्थं बाहय-  
 तस्तस्य गलीं बलीवर्दे उपविष्टः । तोषेय ताव्यमानोऽपि या-  
 कनोसिष्ठिते तदा कुन्देन तेन कन्दारव्यमूलवदेरेखादन्मनो  
 मूलव्यारुस्थांगनमुक्तः आसरोधान्मनूः । पश्चात्स पञ्चाक्षर्यं वि-  
 दधानो महास्थाने गत्वा स्वहृत्सात्सं कथयन्तुपशान्तो न वेति  
 भैः पृष्टो, नाद्यापि ममोपशान्तिरिति वदन् द्विजैरप्राकृत्यक्षकैः ।  
 पथमनुपशान्तकोपतया धार्यिकपूर्वाणं अकृतकामणः साध्या-  
 दिरपि उपशान्तोपस्थितस्वैव मूलं दातव्यम् ॥ १८ ॥

बासानासं पञ्जोसवियाणं० इह खलु निगमंयाण वा नि-  
 गंयीण वा अञ्जेव फक्खेव कन्तुप विग्गहे समुपज्जि-  
 त्या, सेहे राधियेयं स्वाभिज्जा, राधियेण वि सेहं स्वाभिज्जा,  
 स्वमियव्वं स्वभावियव्वं उवसामियव्वं उवसामियव्वं मुमइसं-  
 पुच्छणावहुत्तणं होयव्वं, जो उवममइ तस्म अत्थि  
 आराहणा, जो न उवसमइ तस्म नात्थि आराहणा; त-  
 म्हा अपणा चेव उवसमियव्वं । से किमाहु भंतं !, उव-  
 समसारं खु सामंजे ॥ १९ ॥

चतुर्मासकं स्थितनामिह लखु निश्चयेन साधुसाध्विनां च  
 (अञ्जेव ति) अथैव पर्युपानदिन पथ च 'कक्खमं' उ-  
 ष्मैःशुद्धरूपः कटुको अकारमकारादरूपो विग्रहः कसदः स-  
 मुपपद्यते, तदा (सेहं ति) शैलैः लघुः रात्मिकं ज्येष्ठं काम-  
 र्थयति । यद्यपि ज्येष्ठः सायराधस्तथापि लघुना ज्येष्ठं क्षम-  
 गीयः, इवधदादात् । अथापरिणतमर्थमेवाह्युच्येष्टं न क्षमयति  
 तदा कि कलव्यमित्याह- (राधियेण वि सेहं स्वाभिज्ज ति)  
 ज्येष्ठोऽपि शैलं क्षमयति । ततः क्रतव्यं स्वयमेवं क्षमयितव्यः  
 परः, उपाश्रितव्यं स्वयमुपशामयितव्यः परः (सुमइ ति) शो-  
 भनः ततः सुमनः रागद्वेषरहितना, तत्पूर्वं वा संपृच्छना स्वार्थ-  
 विषया समाधिः प्रश्नः वा तद्वहुलं प्रवितव्यं; येन सहाधि-  
 कणमुपक्षमासीत्तन सद् निमलमनसा आलापदि कार्यमि-  
 ति भावः । अथ द्वयोरभ्ये यद्येकः क्षमयति नापरस्तदा का ग-  
 तिरित्याह-(जो उधसमइ ह्यादि) य उपशास्यति, अस्ति तस्या-  
 ऽऽराधना, यो नोपशास्यति नास्ति तस्याऽऽराधना । तस्मान्  
 आत्मना उपशासितव्यम् । (से किमाहु ति) तत्कृतं इति प्रश्न-  
 गुरुवाह-(उवसमव्यादि) उपसमसारमुपशामप्रधानम्, खु नि-  
 श्चये, आमण्यं भ्रमणत्वम् । कथं० ए ॥ १० ॥

साधिकरणस्य प्रतिक्रिया-

साधिकरणं जिक्खुं गिलायमाणं नो कण्ठं तस्म गणा-  
 ब्धत्तेवसं निज्जूहितेण अगिलाए करिण्णं वेयावदि-  
 यं जाव रोगायकातो विण्णमुक्के ततो पच्छा महालहुस्सगे  
 नामं ववहारे पट्टविण्णे सिया इति ।  
 अथास्व सुखस्य कः सखं० ? इति संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-  
 अजिजयमाणो सम गी, परिग्गहो वा भं वारितो कल्लो ।  
 उवमामियव्वो उ ततो, अइ कुञ्जा दुविहजेयं तु ॥  
 अमनं साधुमभिवन्तं गृहस्थो यदि, वा (से) तस्य गृह-  
 स्थस्य, परिग्रहः परिजनः वारितः सन् कलहं कुर्वान्, ततः स  
 कलहं उपशामयितव्यम् । एतत्प्रदर्शनार्थमधिकृतसुखारम्भः अस्व

व्याख्या प्राप्तवत् । अथ सोऽनुपशान्तः सन् कुर्वाद्भिनेदं द्विभ-  
 कारं, संयमभेदं जीवितभेदं ज्ञेयधेयः ।

तत आह-

संयमजीवियधेदे, संरस्सण साहुणो य कायव्वं ।  
 पदिक्खनिराकरणं, तस्स ससत्तीएँ कायव्वं ॥

संयमभेदे जीवितभेदे वा तेन क्रियमाणे संरक्षणं साधोः क-  
 र्तव्यम् । तथा-तस्य साधोऽर्थः प्रतिपक्षः, तस्य निराकरणं स्व-  
 यक्त्या कर्तव्यम् ॥

कथं कर्तव्यमित्यत आह-

अणुसासणभेसणया, जा इह्दी जस्स तं न हावेज्जा ।  
 किं वा सति सत्तीए, हांइ सपक्खे उवेक्खाए ? ॥

तस्य प्रथमतः कोमलयचमैरनुशासनं कर्तव्यम् । तत्राप्यतिष्ठति  
 प्रीणमुत्पादनोपमं । तथाऽप्यतिष्ठति यस्य वा लार्थः स तं  
 न हावयेव, प्रयुजीतेत्यर्थः । एतदेव विपक्षे फलाभावापवर्तने  
 रुद्रयति-किं वा सत्यां शक्तौ जयति स्वपक्षे स्वपक्षस्य उपेक्षा ?,  
 भैव किञ्चिदिति ज्ञावः । केवलं स्वशक्तियैफल्यमुपेक्षानिमित्तं, प्रा-  
 यश्चिसापक्षिञ्च भवति । तस्मादवश्यं स्वशक्तिः परिरक्षारणायै-  
 ति । इयं ३ उ० । श्या० । "अधिकरणं प्रायः कश्चिकिच कलहं  
 ऊक्तं रुमरं वा करेणा गच्छुवर्गो" महा० ७ अ० । "अधि-  
 करणं पबट्टइ, ताहे न करेइ" आश० ६ अ० । आश्रये, यो ३  
 विव० । साध्यानि आध्यां, स च देशकालाद्यैः यथा चक्रम-  
 स्तकादौ स्वप्रस्तावेषु च निष्पद्यते घट इति; एवं पटादावपि भा-  
 व्यम् । आ० सू० १ अ० । आ० म० । स चतुर्भेदः । तद्यथा-व्या-  
 पक औपदेशिकः, सामीप्यकां, विषयिकञ्च । यथा चक्रम-  
 तिशेषु तैलम्, औपदेशिको यथा-कटं आस्ते, सामीप्यकां यथा-  
 नङ्गायां घोषः, विषयिको यथा-रूपे चक्षुः । आ० म० द्वि० नि०  
 सू० । वि० ० । स्वपरिणामे च सामायिकमव्यवच्छेदं धरतीस्व-  
 धिकरणम् । अधिकरणपरिणामाऽन्ये सामायिककर्तारं सा-  
 ध्यादौ, विशेषं ।

अधिकरणकर ( क )-अधिकरणकर-त्रि० अधिकरणं कल-  
 हस्मन्करंति नच्छीलक्षेत्र्याधिकरणकरः । कलहकरं, "अधि-  
 करणकडस्स भिक्खुणो" सूत्रं १ सु० ३ अ० ३ उ० । भाषा० ।  
 अधिकरणज्जाए-अधिकराध्या-न० । अधिकरणं यापाप्य-  
 सिहनुत्थानं, तस्य ध्यानमधिकरणध्यानम्; धापीध्यानतत्पर-  
 स्य नन्विमर्गकारस्येव । बुध्यानि, आतु० ।

अधिकरणसास-अधिकरणशाल-न० । साधपरिकर्मपृष्ठे, अ०  
 १६ श० १ उ० ।

अधिकरणसिद्धन्त-अधिकरणसिद्धान्त-पुं० । यत्सिद्धाव-  
 न्यस्वार्थस्यानुपकरणं सिद्धिः, तस्मिन् सिद्धान्तभेदे, सूत्रं १ सु०  
 १३ अ० । "स चासौ अधिकरणो, जहियं सिद्धे सेसं अणु-  
 लमवि सिग्गं, जह तिक्खं सिद्धे अन्नत्तामुत्तसंसिद्धी " यस्मिन्  
 सिद्धे शेषमनुकमपि सिध्यति, यथाऽऽत्मनो नित्यत्वे  
 सिद्धे, शरीरादन्वयत्वसत्सिद्धिरुत्सैवसंसिद्धिः । योऽधिकर-  
 णसिद्धान्तः । सूत्रं ।

अधिकरणि-अधिकराणि-स्त्री० । अधिकृत्ये कुरुनार्थं लोहा-  
 दि यस्यां साऽधिकराणिः । लोहकारसुवर्णकारापुराणकरे,  
 म० १६ श० १ उ० । श्या० ।

अहिमरगिखोदि-अधिकरणखोदि-आं० अधिकरणनिव-  
 शनकाष्ठे, यत्र काष्ठेऽधिकरणा निवेश्यते । अ० १६ श० १ उ० ।  
 अहिमरगिष्या-अधिकरगिष्की-की० अधिकरणविषये व्या-  
 पारे, प्रश्न० । सा च द्विविधा-निवर्तनाधिकरणक्रिया, संवोजनानि-  
 करणक्रिया च । तत्राद्या च द्वारदीनां तन्मुखादीनां निवर्तनसङ्गता ।  
 इति याया तु-तेषामेव सिद्धान्तं संवोजनसङ्गणति । युग्मती  
 कर्त्ताभिरधिक्रियते प्राणी तावत्, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । प्रति० ।  
 आश्र० । "अहिमरगिष्या णं भेते । किरिया कानि विहा पशुत्वा ? ।  
 गोयमा । बुविहा पशुत्वा । तं जहा-संजोपपादिमरगिष्या य,  
 निव्यस्येहाहिमरगिष्या य " । प्रहा० ३२ पद ।

अहिमा ( या न-अधिकार-पुं० ) प्रयोजने, प्रस्तावे च । विशेष० ।  
 आ० म० । दश० । नि० क० । व्यापारे, आचा० १ श्रु० २ अ० १  
 उ० । संघा० । अधिक्रियन्ते समाधिष्यन्ते इत्यधिकाराः । प्रस्ताव-  
 विशेषेषु, प्रथ० १ द्वार ।

अहिमारि- ( ण् ) अधिकारिन्-त्रि० । तोद्योयं, प्रथ० २ द्वार ।  
 आलम्बनापरपर्यायं योग्यं, संघा० । पञ्च० । दश० ।

अहिच्छत्ता-अहिच्छत्रा-खी० । जङ्गलदेशप्रतिबन्धे पुरीभेदे,  
 "अहिच्छत्ता जंगलो चव " अदिच्छत्रा नगरी, जङ्गलो देशः,  
 प्रायैशेषाणि । प्रथ० १४८ द्वार । सूत्र० । "वेपाय नयरी च नर-  
 पुरिच्छ्रमं विसि भाए अदिच्छत्ता नाम नयरी होत्या " शा०  
 १६ अ० । तत्कल्पश्च-

" निष्पन्नभाणुं तिजय, पयडं नामिजुं पयसि जयान्चदं ।  
 अदिच्छत्ताए कल्पं, जहातुडं किंपि जर्षमि " ॥ १ ॥

" इहव जेवुदीवे दीवे प्राहरे चामे मत्कमखेडे कुकजं-  
 गलजणवए संस्वावेदे नाम नयरी रिंकिस्समिक्का दुत्था ।  
 तथ जयधे पाससामी उरमथावहारणे विहरंते काठ-  
 सग्ग विञ्चो पुव्वनिवज्जरंण कमउत्तुएण अविच्छि-  
 क्कथाराए वावाहं विरंसेतो अणुदरो विउत्थिञ्चो । तेण सयल  
 मदींमहेल्ले पगअवीवूए आकंठममं भगवेनं आहिष्सा  
 आभोएऊण पंखमिगसाहजुयं कमउत्तुणि आणाविअ कण्ठ  
 काःदी अंतरमज्जेतसपमभवययारं सुमरण धरंनंपण  
 नागरायण अग्गमहिस्सीह सह आगंतुए मणिरयणविचइ-  
 सहस्ससंक्कणामइल्लसं सामिष्सा उवरं करेऊण  
 इहे कुंडीकयडोयसं संगपइअ सो उवसग्गो निवारिआं ।  
 तथो परं तंसे नयरी अहिष्पत्त नि नाम संजाये । तथ  
 पायारपहं जहा जहा पुरेआं विञ्चो उरमकवं धरखिणो कुडि-  
 ल्लमईए सप्यइ तदा तहा इहंनिसेसो कामं । अउज षि तहव  
 प यारे रयणा दासह । तिरिपाससामिणो वेर्यं संघेण कारियं,  
 वेअग्गो पुव्वदिंस अइमहुरपसकांद्दगाणि कमउजलइरी-  
 जिवज्जमुष्साणि सच कुंदाण विटंति । तज्जाले सुविहिअपदा-  
 उवाओ मदिष्सा पिरवत्थाओ धवति । तेसि कुंदाण महियए पा-  
 उवाओ आउसिक्कि भणिति, प्राणलत्तिउत्तिअ महासिज्-  
 रसक्विआ य इर्यं दीसइ । तथ निच्छुरायणस्स अण्णे  
 अग्निदाणाइरग्गामिणोपकामा निष्कणीहुआ । तेसि पुरीए  
 अंतो वही पत्तयं कुवायं घीहियाणं च सयायं लक्कलं अयइ  
 अहुदोवणां । जसनाययणयां पाससामिभेइए रुदवयं कुण-  
 नासं अजापे कमठो अरपवररुहियशुट्टिगाजिअविज्जुमाइ  
 इरिसेइ । सुल्लंखंअओ नाइए । सल्लंखंसेसिमा पाससा-  
 मिणो धरणइपउमावहंसेवअस्स वेअपायारसमीयं सि-

रिनेमिमुसिसिद्दिया सिक्कुअकलिमा अयधुविहरथा सिहइ-  
 वाइणा अंधा देवी चिइडं । ससिकरिममलसल्लसपडि-  
 पुष्पा उरुपमिहाणा धावी । तथ मज्जेण कए तयं महि-  
 आलेषे अ कुट्टिां कुहुरांगोयसमं हयइ । धंभनीरक्वस्स  
 य पिअरवधाए महिआए शुक्कपसा कंषणं उपयजइ । अं-  
 भकुंनरुयकटाए मंडुक्कंतीए दससुधेण पगसुल्लेण खी-  
 रणं समं पीएण पक्कामदानपक्को निरागो कितरस्सरो अ हो-  
 इ । तथ य पाएण उवयणसु सस्वमहोरहाणं वेदया उव-  
 सज्जेत, ताणं ताणि अ कजाणि साहेत । तहा जयतां-नाग-  
 दमणी-सहदेवो-अपराजजा-सक्कणा-रिचवी-नउती-स-  
 उलो-सपक्को-सुवधासिला-मोहली-सामली-रिचमणा-नि-  
 ज्जिपी-मारसह-सल्ला-यिसद्वापनेहो महोसहो एरथ  
 घट्टंति । सोइआणं अ अण्णमाणि हरिइरोइरथमग्नच-  
 डिआनवणुवंसकुंरंदिणि तिथायां । हा एसा नयरी अ-  
 हातवसिस्स सुगिदीयनामभेयस्स कणहरिसिणो जम्मभू-  
 मि सि, तप्ययकयपरागकानिकएण पविस्सोकयाए य चउव-  
 स्स पाससामिस्स संभरणं प्राहिवाइसप्यविमहरिकार-  
 ण चोरजअजअणरायउट्टुगहमारि उअप्रअसांणीपमुइसुहो-  
 वत्तान हवति भाविआणं नि " ।

" इअ एस अहिष्पत्ता-कपो उवचसिओ समासेणं ।  
 सिरिजिणुपहस्सीदि, पउमावहं धरणकउरगिआं " ॥ १ ॥  
 इति अहिच्छत्राकल्पः समाप्तः । तं० ७ कल्प० आचा० ।

अहिजाय-अजिजात-त्रि० । कुलांभे, "अहिजायं महकखमं" अ-  
 भिजातं कुलांभे महती क्रमा यत्र तथा पूज्यं क्रमे सम्यत्वं यस्-  
 सथा । ततः कर्मचारयः अथ वा-अभिजातानां मध्ये महत् पूज्यं  
 क्रमं समर्थं च यत्सकथा । अ० ए श्रु० ३३ उ० ।

अहिजाण-अर्थ० । यान-त्रि० । प्रकृति-प्रत्यय-लोपा-ऽऽगम-ध-  
 धिका-काल-कारकादिवेदिनि, दश० ५ अ० ।

अहिज्जमाण-अर्थ० । यमान-त्रि० । पठति, इय० ४ उ० । सूत्र० ।  
 अहिज्जितं-अर्थ० । तुष्टु-अर्थ० । पठितुमित्यर्थः, दश० ४ अ० ।

अहिजिज्ञा-अर्थ० । तथ-अर्थ० । अथयनं कृतेत्यर्थः, उरु० १ अ० ।  
 पठित्वेत्यर्थः, उरु० १ अ० ।

अहिजिज्यता-अभिधियता-खी० । मिध्या लोभः, सा संजा-  
 त यत्र स जिष्यतः न जिष्यतेऽजिष्यतः । तद्भावस्तथा ।  
 अलांभे, अ० ६ श्रु० ३ उ० ।

अहिट्टाण-अभिष्टान-ण० । सप्रियथावेदिने एषोपवेशने, नि०  
 क् ५ उ० । भाव सुदुर-आश्रयणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।  
 "अहिट्टाणं काउण जित्तं आनं ह्ति० । पठित्वं, स्वामित्वं च ।  
 आचा० २ धु० ४ अ० १ उ० ।

अहिट्टिजमाण-अभिष्टुं । यमान-त्रि० । समाकल्पमाणं, इया० ४  
 उ० १ उ० ।

अहिट्टाए-अभिष्टातुम्-अण्य० । निवद्वादिना परिभोक्तुमि-  
 र्यते, वृ० ३ उ० ।

अहिट्टिय-अभिष्टित-त्रि० । अथ्यासिने, ज्ञा० १४ अ० । "सं-  
 खो जुअमदिट्टिन्ति" । आ० म० । आचिटे, आ० ५ उ० २ उ० ।  
 वरयनां गते, " राजाट्टिय " राजाभिष्टतः राजाधीनाः ।  
 ज्ञा० १४ अ० ।



आह्विय उल्लमयमयाह्वियमुह—आग्नि कुलमृगमृगाधिपमुल्ल—  
णि० । ह्यजगत्सुहरिणसिंहप्रभृतिके, प्रमुक्तप्रह्लादहृदयमहि-  
ष्याद्विपरिग्रहः । पञ्चा० २ वि०० ।

आह्विंदांशु—अग्निनन्दन्—पुं० । अस्यामवसारिपयां जाते भर-  
तक्षेत्राय चतुर्थे तार्थिके, ख० २ अक्षि० ।

“ अथवित्तुषु प्रसिद्धस्य, सिद्धस्यैवतयायेते ।  
अभिनन्दन्देवस्य, कल्पं जल्पामि श्रेयतः ” ॥ १ ॥

इह कुले इष्याकुलेशमुक्तमणेः श्रीलंबवराजमुनोः सिद्धा-  
युक्तिकिरस्तीराजसूतोः सिद्धायुक्तिकिरस्तीराजहंसस्य क-  
पिलाभ्रनस्य चामोकरव्येः स्वजन्मपारिवर्तिभ्रीकोशाशापुरस्य  
सार्द्धेभूःशतत्रिनयोद्धयकायस्य चतुर्थेनोयैश्वरस्य श्रीमद्-  
भिनन्दन्देवस्य मेद्वे मालवदेशात्सर्वसिंहसलपुरमत्यासन्नायां  
महाद्वयानतायां मेद्वेपद्वयामासीत् । तस्मिन्निषिद्धिन्वप्याकर्म्म-  
वनायामजातानिर्वेदा मेदाः प्रातवसन्ति स्म । अन्यथा तुपुत्रंनेच्छ-  
सैव्येन तत्रोपेय भद्रं तजिज्जायतनव, नवसकपीकृत्त च । प्रमदोऽह  
तया दुरधिष्ठायकानीकाक्षिकासतुर्बलितानामकसनीयतया प्रनि-  
दतप्रणुनजनविषयमाप तक्षैत्यालङ्कारनृनो भगवतोऽभिनन्दन्देव-  
स्य विम्ब कविन्मसखरडानोत्पादः । तानि च शकलानि संजात-  
मन्ःसंवेदेदेः संमीत्य एकत्र प्रदेहो धारितानि । पद्यं वेदीयसि  
गन्धवन्दनेदसि हरहर्निमगुणप्रभाभिरामाद् धारादुपेय्य निर्यं  
वाणिगकः क्यकलाच्छ्लोकैः वहाजामिष्वस्त्यत्र क्यकप्रियकरुपं  
वाणिज्यमकार्पायत् । स च परमाहंत । ततः प्रत्यहं शुभभाग्यं दे-  
वमपुजत् । मन्थकृतया देवपूजायां न जातु बुभुजे । ततः  
पह्लोपल्लीमुपेयित्यानेकदाऽनेकदाणकर्मभित्तैराभिदधे च अश्राकः ।  
किमर्थं देवमहरेयाहाराकुपुत्रे अस्यामेव प्रत्यम । वाणिग-  
तमोऽयपुरणकल्पवद्ययां वदभ्यां किं न नृक्षे । ततश्च जगितं  
वाणिजा भो राजस्याः । यावद्दमहन्ते देवाधिदेवं । त्रितुवनकृतसेवं  
न पद्यामि न पुजयामि चेत्तावन्न वदभ्यां प्रगल्भे । किरातेजगद्-  
यद्यं देवं प्राति तय निश्चयस्तदा तुच्यं दशोयामस्त्वदनिमतं दे-  
वतम् । वाणिजा भोवे-तथाऽस्तु । ततस्तेस्त्वानि नवापि वा सत्तापि वा  
अरडानि यथावयमभ्यासं संयोय्य दक्षिणं भगवतोऽभिनन्दन्स्य  
विम्बं, तद्वसुसुचितरम्यमाणपापाणशणितं विज्ञोष्य प्रमुदितमुदि-  
तवासांनिशरणेनेन वाणिगस्य अश्रुमुनस्य नमस्कृतोस्तर-  
स्कृतदुरनदुरितो जगवान्, पूजितकश्च पुष्पादिभिर्भोःयव-दना च  
चिन्तितः । ततः स तत्रैव भोजनमकरात् । मुफतराभिग्रह इत्यंकारं  
प्रादिनं विनपूजार्नीगामनुनिष्ठानि र्थानि नमस्त्वं वाण्यं अस्मरे-  
पुष्टपद्विचकारिन्कवद्वैवेनोहैस्तेस्सात्किमपि द्रव्यं धनायिज्जि-  
स्तद्विम्बशकभानि युनकीकृत्य कविदपि संगोपितानि, वृत्ते या-  
वत्पूजावसरे नो प्रतिमामनाशोःक्य नासौ बुभुजे, नतस्तेन विषम-  
मनसा विहितं भयानकमुष्वात्सल्यमम् । अथ स मेदेरपुष्पं कर्मयं  
नाऽश्रासि । न यथातथ्यमेवाकययत् । इतः किरातमतिरवशि-य-  
यस्यस्यं मुदं ददांसि नदाः तुच्यं दशोयामस्ते देवय । वाणिजा बसा-  
णे-विनरिष्यभ्यशययामितातस्तेस्तेस्त्वकस्रमपि शकलानां नवक-  
स्तकं वा प्राग्वत् संयोय्य प्रकटीकृतम् । इदं च तेन संयोय्यमानं  
तद् विम्बं सुतरां निषादंस्वरपीयादकलुषितद्वयः समजनि  
स आकचुरीणस्तद्वपु सांनिष्यकतयाऽभिसहममहादेव-याधादिदं  
विम्यमखण्डं न विलोक्येन त तावदं दनमभ्रामि । नत्येत्थमनुवि-  
समुपस्तस्त्वंद्विभ्याधिष्ठायकीः रथोऽभि नजगद्दे-पयस्य विम्ब-  
स्य नवसखरडस्यभ्यक्षन्दननेवेन पूरण्यायाः । तत इदमखरडतम-

प्यतीति प्रबुद्धेन प्रातर्जातप्रमेवेन तथैव चक्रे । समगदि  
भगवानलखडवपुः, सन्धयश्च मिश्रिताभ्रनस्येयमानि कश्चप्रा-  
भे । भगवतं विशुद्धभ्रन्या संपुत्र्य मुक्तवान् । पणयाजीवः  
पीषरां सुवसुधवद्वेदी च मुनगदि मेदेच्यः । तदनन्तरं तेन  
वृणिजा मणिजातमिव प्राप्य प्रहृष्टेन शून्यस्त्रके पिप्लतरो-  
स्तक्षे वदिकाकण्यं विषाय सा प्रतिमा मपिदता । ततः प्रभृति  
आथकसंघात्सुतुर्वयंलाकाभ्युत्तिगतामृगस्य यातोत्सवं सुव-  
यितुं प्रवृत्ताः । तत्र अजयकीर्त्तिभानुकीर्त्तिभ्रम्याचजकुलास्त्रत्र  
मउपत्यात्वायांक्षैत्यचिन्तां कुर्वते स्म । अथ प्राग्वाटयशावतेसे-  
नथाइडामजेन सायुहाहाकेन निरपत्येन पुश्रायिना विरचितमु-  
प्याचितकम्—यदि मम तजुषो जातिता तदाऽत्र सैव्य कारयि-  
ध्यामीति । क्रमेणाधिष्ठायकविद्वासांश्रयतः पुषस्तस्योद्वेष-  
तद कामदेवाच्यः । ततश्चैत्यमुक्तेशराशरमर्वाकस्यापुद्गल-  
लाकः । कामसाधुनावडस्य दुरितेरं परिणायिनः कामदेवः  
पित्राऽपि महाप्राभादाह्वय मलयसिंहादयो देवाक्षिकाः स्था-  
यिनाः । महणियाभिभ्यां मेद्वेः स्वाकुलीं नमचतुर्दशेन कृत्तयाद्-  
किलादमस्य भगवतोऽङ्कशावीरिनः सेवक इति । भगवद्विलेप-  
नच-दमगलनाश्च तस्याङ्कालः पुनर्नवीचभूव । तमतिशयमाशिशा-  
यिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालयश्वरः स्फुरज्ज्जकप्राम्भा-  
रमास्तरातःकरणः स्वामिनं स्वयमपुजयत् । द्वपूजायै चतुर्वि-  
धातिहलकृत्यां भूमिमदस मउपनिष्यः । हादशह्रश्वाशां चावर्नो  
देवाक्षेकस्यः प्रददाध्वनिपतिः । अथापि । द्रमरमल्लयापिप्रजाव-  
हेजवो भगवान्निनन्दन्देवस्तत्र तथैव पूजयमानोऽस्ति ।

“ अभिनन्दन्देवस्य, कल्प ए यथाशुभय ।  
अल्पीयान् रथायंश्चक्रे श्रीजनप्रजस्रामिनः ” ॥ १ ॥  
इति सकलनूतलयनिवागिसलोकभिनन्दन्स्य श्रीअभिनन्दन्-  
देवस्य कल्पः । ती० ३१ कल्पः ।

आह्विणव—अग्निन—णि० । नूनविशिष्टवर्णाविशुणोपते, रा० ।

आह्विणससह—अग्निनवभाक्—पुं० । द्युपुण्यभाक्, पि० ।

आह्विणयोह—आग्निनिबोध—पुं० । अयोनिमुक्तो नियतः प्र-  
तिस्वरूपको बोधविशोऽभिनिबोधः । मतिज्ञान, अग्निनिबु-  
ध्यतेऽस्मादस्मिन् वेति अग्निनिबोधः । मत्वावणज्योयपशमे, प्रह्ला० २६ वि० ।

आह्विष—अग्निह—त्रि० । संयोगोऽजस्य ह्युक्त मस्य णवद्वित्रे,  
“हो णवोऽग्निहवी” । ८। १ । ५६ । इति नकारादुक्तस्वर्यतः कः  
आह्विणु । प्रा० १ पाद् । ‘हो अः’ । ८। २ । ७३ । इति प्रस्व  
लुक्, अदिज्ञो । प्रा० २ पाद् । प्राक्, वाच० ।

अहितत्—अग्निजन्म—त्रि० । अयन्तपीकिते, उक्त० २ अ० ।

अहिता—अधीत्य—अय० । पठित्वेत्यर्थे, “ अद्वुगमेयं बहवे अ-  
हिता, सांगंसि जाणति अणगतताः । सुभ्र० १ सु० १२ अ० ।  
आहिदृष्ट—आहिदृष्ट—ण० । संपदशनं, पञ्च० १० वि०० ।

आहिदृष्टा—आहिदृष्टादि—त्रि० । संपदशनप्रभृती, “आहिदृष्टाह  
क्षेयव लक्ष्यतीद तद सेसं ” । पञ्चा० १० वि०० ।

अह्विपरणा—अभिवारणा—स्त्री० । प्रस्विक्तो यद्वाहिरवतिष्ठते  
वाताग्रमनमगं तस्मिन्, आवा० १ अ० १ अ० ७ अ० ।

अह्विच्युत्तु—अह्र—धा० । “मदो वन-गेरह-हर-पत्न-निष्काराः”

धिपञ्चुआः" । ८ । ४ । २०६ । इति अहिरधिपञ्चुअ आदेशः । अधिपञ्चुअ-एवञ्चि । प्रा० ४ पाद ।

अधिपञ्चु-अभिपञ्चु-पुं० । "स्यधयकञ्जां अञ्" । ८ । ४ । २६३ । इति किककां अञ् । प्रा० ४ पाद । "अभिपञ्चो जञ्चो वा" ८ । २ । २५ । इति अभास्ये अञ् । अञ्चञ् । पञ्जे- 'अधिपञ्चु' । प्रा० २ पाद ।

अधिपञ्च-अधिपञ्च-पुं० । सूत्रादिदेहे, जी० ३ प्रति० । सर्पकञ्जे- चरे, विपा० १ सु० १ अ० ।

अधिपञ्च-अभिपञ्च-पुं० । अभिमुक्ताः परं मारयन्ति ये तेऽभि- माराः । प्रअ० ३ सव० द्वार । इदरेचौरेषु अञ्चहरेषु, नि० सू० १ उ० ।

अधिपञ्च-अभादि-पुं० । अरःपरिसर्पदौ, उच० ३६ अ० ।

अधिपञ्च-अधिपञ्च-पुं० । अभिपञ्चितमासे, प्राय० १ अ० ।

अधिपञ्च-अधिपञ्च-पि० । अधिपञ्चयविशिष्टे, "आकटो सोहह अधिपञ्चिरे वृडामणि जहा" उच० २२ अ० । अञ्-रपदादिभिरनिमात्रमधिके, अनु० । हेनोर्ह्यन्तस्य चाधिक्यं सन्ति, अधिकं यथा-अनियः शब्दः, कृत्कत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्याम्, घटपटवदित्यादि । एकस्मिन् साधे एकएव हेनोर्ह्यन्तश्च वक्तव्यः । अत्र च प्रत्येकं त्रयाजिधानाधिक्यमिति भावः । अनु० । वि० १ । सू० । अधिकं यत्पञ्चानामवयवानामन्तरेण समधिकम् । सू० १ उ० । आ० अ० द्वि० । "अधिपञ्चिस्तोत्रे" अधिकरूपेण सञ्जीकः शोभनोयः स तथा तमः कल्प० ३ क० । अधिकमपि द्विधा-रूपेण भावे च । तत्र द्रव्याधिकं तथैव हेऽविरतिके द्वेषान्त औषधैः पीहकेन च ( एवं तावन्नरपदादिभिरधिकं सूधे शब्दा मासलघुप्रायाञ्छलादयः "हृणकचर" शब्दे च-चयन्ते ) सम्प्रति भावाधिक एवोदाहरणमाह-

"पारल्लेऽसंग कृपाले, उज्जणी श्रेहलिहय सयमेव । अधिय सवत्सामसा-ऽहिएण सयमेव वायणया ॥ मुनिर्याण अण्डिहया, आणा सयमेज्जुं निवे पाणं । गामग मुयस्स जम्मं, गधःवाउट्टणा कंइ ॥ चंदमुचपुसो वा, विदुसारस्स ननुअ । असंगसिारणां पुत्तां, अथां जायइ कायणि" ॥ सू० १ उ० । वि० १ ।

अधिपञ्च-पि० । अणय्ये, अ० ७ श० ६ उ० । स्थानं । अपाये, स्थानं ५ उ० । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । परिणामासुच-रत्वे, इत्था० ६ अ० ।

अधिपञ्च-अधिकदिन-न० । दिनवृत्तौ, स्थानं ६ उ० ।

अधिपञ्च-अधिपञ्च-पि० । पुरुषप्रमाणाधिके, "कुम्भिमहंताहिपञ्चिसीया, समुसिता सोहियपुयुषुया" । सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० ।

अधिपञ्च-अधिपञ्च-पि० । अहितं प्रहानं शोधे वक्ष्य संऽहितप्रहानः । अहितशोधे, सूत्र० १ सु० १ अ० २ उ० ।

अधिपञ्च-अधिपञ्च-पि० । अतिशोभिने, कल्प० ३ स० ।

अधिपञ्च-अधिपञ्च-पि० । अतिबहुकादिषु तथाविधे भोजने, पि० ।

साम्प्रतमहितहितस्यकमाह-

दहितेह्य समाजोगा, अहिभो खीरदहिकजियाणं च ।

परयं पुण रोगहरं, न य हेऊ होइ रोगस्त ॥ ६१० ॥

इतिश्लेषः । तथा-कीरदहिकाजिकानां च यः समायोगः सोऽहितं, विरुद्ध इत्यर्थः । तथा बाकम्-"शाकसूतकफप्रिय-एयाकफियलबलैः सह । करीरदधिमस्यैश्च, प्रायः स्त्रीरं विरुध्यते" ॥ १ ॥ इत्यादि । अविच्छेदकस्यमलनं पुनः पथ्यं, तत्र रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरम् । न च भाविशं रोगस्य हेतुः करणम् । उक्तञ्च-"अदितानसंपर्कां-स्त्वयंरोगांज्जवा यतः । तस्मात्तदहितं त्वायं, त्वायं पथ्यनिवेपणम्" ॥ १ ॥ पि० ।

अधियास-अध्यास-पुं० । परीरवहादीनां सम्प्रकृतिनिष्ठापाय, आचा० १ सु० ६ अ० ६ उ० । सूत्र० । बलेन पात्रेन, सूत्र० १ सु० ७ अ० ।

"ज्ञानं न क्रमया शुद्धचित्तमुक्तं त्यक्तं न सन्तोषतः, सांढा दुःसहतापीशीतपथनाः क्रूरशत्रु तप्तं तपः । ध्यानं वित्तमदनिर्गुणं नियमितं त्रुहिनं तत्त्वं परं, यद्यत्कर्म कृतं सुकार्याभिरहं । नैसैः फलैर्विज्ञितः" ॥ १ ॥ सूत्र० १ सु० २ अ० १ उ० । आचा० । उच० । स्थानं । अधि-पञ्चकालयनया ( ज्ञानं १ अ० ) सांष्टवार्तिकेण सहने, स्थानं ४ उ० ३ उ० ।

अधियासपाया-अहिताऽऽसना-त्ती० । अहितमनुकूलं टो-लपायाणाद्यासने यस्य स तथा, तज्जवस्तथा । अननुकूलानेन, स्थानं ६ उ० ।

अध्यशन्ता-त्ती० । अध्यशनमेवाध्यशन्ता । दीर्घत्वं तु प्राकृ-तत्वात् । अजांशे भोजने, "अजांशे भुज्यते यत्तु, तदध्यशनमु-च्यते" इतिचचनात् । स्थानं ६ उ० ।

अधियासित्त-अध्यासयित्तु-अभ्य० । अधिसोदुभिर्यत्, आचा० १ सु० ८ अ० ४ उ० ।

अधियासिता-अधिसङ्घ-अभ्य० । सोद्वैयर्थे, सूत्र० १ सु० ३ अ० ४ उ० ।

अधियासिय-अध्यासित-पि० । भावे कः । कृतेऽधिसहने, "द-वियाण पासअधियासियं" । आचा० १ सु० ६ अ० ३ उ० ।

अधियासेतु-अध्यासङ्घ-अभ्य० । अधिकमालम्बा । अत्यर्थे सोद्वै-त्यर्थे, आचा० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अधियासेमाण-अध्यासयत्-पि० । सत्यकृतिनिष्ठापणे, आचा० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अहिरस्यमोषिय-अहिरस्यमौषिकि-पुं० । हिरस्यं रजतं, सुवर्णं च हेम, ते विद्येते यस्य स हिरस्यमौषिकः । तथा न । प्रअ० ३ संव० द्वार । हिरस्यं रजतं सौवर्णिकं सुवर्णमयं कनककलशाद्, न विद्येते हिरस्यसौवर्णिके यत्राऽसौ अहिरस्यसौवर्णिकः उप-लक्षणात् । सर्वपरिग्रहंरहितं, पा० । रजतसुवर्णमयकलशा-दिरहितं, च० ३ अधि० ।

अहिराय-अधिराय-पुं० । नैसिपृथिवीपतौ, सू० ३ उ० ।

अह्निरियया-अप्तीकता-खी० । निष्कलतायाय, उच्य० ३४ अ० । सि० ।

अह्निरिपण-अप्तीमनस्-त्रि० । सजाकारिणि शीतोष्णादौ परीचदे, आका० १ कु० ६ अ० २ उ० ।

अह्निरिम्-पूरि-आ० । पूरणे ॥ पूरण्यात्मोन्मोक्षमुमागुमाहिरि-रेमाः ॥ ७ । ४ । १६६ । आहरेमाह पूर, पूरयते । प्रा० ४ पा० ।

अह्निलोचं ( स्व )-कारुण्य-आ० । अमिताये, " काङ्क्षेराहाहिल-हाहिलसङ्ख्यम् ॥ १ । ४ । १६१ । इत्यादिसूत्रेण काङ्क्षेरेहिल-याहिलसङ्ख्यदेशः । अहिलसङ्ख्य, अहिलसङ्ख्य । प्रा० ४ पा० ।

अह्निसाय-अह्निसान-न० । मुकषन्धनविशेषे, हा० १७ अ० मु-कषसमने, अ० ३ वक्र० । आ० । कविक्, हा० ४ अ० ।

अह्निसाविस्वी-अभिज्ञापस्त्री-खी० । अमिलव्यत इत्यजिहाप-; स्व पच खी । खीतिज्ञाभिधाने शब्दे, यथा-शालामाहाखि-द्विरिति । सूत्र० २ कु० ४ अ० १ उ० ।

अह्निसोयण-अभिज्ञोक्त-न० । अभिलोचयते अबलोचयते यत्र तदाभिलोचनम् । उद्यतस्थाने, प्रश्न ४ संब० द्वार ।

अह्निस-अधिपति-पुं० । नायक, स्या० ५ जा० १ उ० । रक्षक, अ० १ वक्ष० । नरेन्द्रे, प्रश्न० ४ आश० द्वार ।

अह्निस-अधिपति-पुं० । राजादिनायकविषये कु-म्भके, अ० १४ श० ७ उ० ।

अहि-वर्धन-अधिपति-त्रि० । आगच्छति, श्लोच० ।

अह्निसामण-अधिवासान-न० । शुक्तिविशेषापावनेन विम्बप्रति-हायोभ्यताकरणे, पञ्जा० ८ विष० ।

अह्निसकण-अभिषेक-न० । विषकृतकालस्थ संवर्द्धने प-रतः करणे, सू० १ उ० । अ० ।

अह्निसरिय-अभिषृत्-त्रि० । प्रविष्टे, आ० म० द्वि० ।

अह्निसहण-अभिषटन-न० । तितिक्रमे, स्या० ६ जा० ।

अह्नीकरण-अधीकरण-न० । अधीनवृत्तमान पुरुषः, स्व तं क-रोतीत्यधीकरणम् । कलह, नि० चू० १ उ० ।

अह्नी-अधीन-त्रि० । स्वायत्ते, प्रश्न० ४ संब० चार ।

अह्नी-त्रि० । अन्वये, "अह्नीणपत्रिपुष्पप्रविद्यसरतीरा" अ-ह्नीणम्पुनानि स्वकपतः प्रतिपुणानि लङ्कणतः पञ्जापीन्द्र-याणि यस्मिन् तत् तथाविधे शरीरं यग्नाः सा तथा । औ० । हा० । विधा० । अ० । अह्नीनमङ्गापाङ्कप्रमाणतः परिपुष्पपञ्ज-मिन्द्रं, प्रतिपुष्पयपञ्जम्भयं वा शरीरं यच्च साऽह्नीनपरिपुष्प-पञ्जम्भयशरीरोऽह्नीनप्रतिपुष्पयपञ्जमिन्द्रयशरीरा वा । स्या० ६ हा० । कल्प० ।

अह्नीणस्तर-अह्नीनाक्षर-न० । एकनव्यहरेणाह्नीने, म० २ आध० । सूत्र० । गुण, अत्रु० । ग० विशेष० । संधा० । ( 'हिन-कञ्जर' शब्दे कथा बह्व्यन )

अह्नीणदेह-अह्नी नरेह-त्रि० । परिपुष्पदेहावयवे, व्य० ३ उ० ।

अह्नीय-अधीत-त्रि० । आगमने, "उच्यारोऽपि वा अह्नीतं ति वा आगमियं ति वा पण्डुं" नि० चू० १ उ० । स्या० ।

अह्नीयसुत्र-अधीतसुत्र-त्रि० । गृहीतव्ये, "सम्यं अह्नीयसु-त्रां ततः विमलवरबोहजोगामो" पं० व० १ द्वार ।

अह्नीरग-अह्नीरक-न० । विद्यमानस्थेव न विद्यते हरिक्रास्त-मुलकया मध्ये यच्च तदह्नीरकम् । तनुहीने, प्रश्न० ४ द्वार ।

अहुणोपोय-अधुनाधौत-त्रि० । अचिरधीते, अपरिणते च । वश० ४ अ० ।

अहुणोव्वासिप-अधुनोद्वासित-त्रि० । अचिरोद्वासिते, आच० । साम्यतोद्वासिते, व्य० ४ उ० ।

अहुणोवलित-अधुनोपक्षिप्त-त्रि० । साम्यतोपक्षिप्ते, इश० ४ अ० ।

अहुणोववसग-अधुनोपपन्नक-त्रि० । अचिरोपपन्ने, स्या० । अधुनोपपन्नो देवो देवलोचं-

निदिं गणोहिं अहुणोववने देवे देवलोगेमु इच्छेजा मा-ण्यं लोगं हन्वमागच्छित्तए, यो चैव एं संचाएइ इव्व-मागच्छित्तए । तं जहा-अहुणोववने देवे देवलोगेमु दिव्वेसु कामनेगेसु मुच्छिए गिच्छे गट्टिए अज्जोववने से एं मा-ण्यस्सए कामजागे णो आदाइ, णो परियाणाइ, एो अह्नी वंधइ, एो एियाणां पणइ, एो ठिइप्पकप्पे पकरइ, अहुणो-ववने देवे देवलोगेमु दिव्वेसु कामनेगेसु मुच्छिए गिच्छे गट्टिए अज्जोववने, तस्स एं माण्यस्सए पेम वोच्छिजे वि-च्छिजे दिव्वे संकेते जवइ इ अहुणोववने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामनेगेसु मुच्छिए० जाव अज्जोववने, तस्स ए-मेवं भवइ इयएहिं गच्छं म्हुत्तं गच्छं, तेणं कासेणयप्पा-उया माण्यस्सा कालभम्भुणा संजुवा जवइ । इषेएहिं तिहिं ठाणोहिं अहुणोववने देवे देवलोगेसु इच्छेजा माण्यस्सं लोगं हन्वमागच्छित्तए, नो चैव एं संचाएइ इव्वमागच्छि-त्तए, अहुणोववने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामनेगेसु अमुच्छिए अगिच्छे अगट्टिए अणुज्जोववने तस्स ए-मेवं जवइ, अत्थि एं मम माण्यस्सए भवे आपरिणइ वा उवज्जाएइ वा पचवेइ वा खेरेइ वा गणांइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसि पनावेणं मए इया एयाक्खा दिव्वा देवहं । दिव्वा देवसुइ दिव्वे देवाणुभावे ह्मके पत्ते अ-ज्जिमसाणए तं गच्छामि एं तं जगवं वेदांमि एणंसांमि सक्कोरंमि सम्माणोमि कट्ठाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवा-सेमि ॥ १ ॥ अहुणोववने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु काम-भोगेसु अमुच्छिए० जाव अणुज्जोववने तस्स एं एवं भव-इ, एस ए माण्यस्सए जवे णाणंइ वा तवस्सइ वा अइ-दुकरदुकरकारो तं गच्छामि एं जगवं वेदांमि एणंसांमि० जाव पज्जुवासांमि ॥ २ ॥ अहुणोववने देवे देवलोगेसु० जाव अणुज्जोववने तस्स एमेवं जवइ, अत्थि एं मम मा-ण्यस्सए जवे मायाइ वा० जाव मुएहाइ वा तं गच्छामि एं तेसिमेतियं पाउज्जवांमि, पासंतु ता मे इयं एयाक्खं दिव्वं

देवर्हि दिव्यं देवजुष्टं दिव्यं देवाणुभावं इच्छं वत् अजिस-  
मणायंयं ; इषेर्हि तिर्हि ठाणेर्हि अहुणोववन्ने देवे देव-  
होगेसु इच्छेज्जा माणुसं होगं हव्वमागच्छित्तए संचारिच-  
ए हव्वमागच्छित्तए ॥ ३ ॥

अहुणोववन्तो देवः, कल्याण- ( देवलानेतु ति ) इह च बहु-  
वचनमेकवचकदाऽनेकवृत्तादात्मभावाद्देवायै इष्टव्यम्, वच-  
नव्यवस्थाद्विचलोकानेकवचनपदश्लेषार्थे वा; देवशोकयु मध्ये क-  
श्चिद्वचनोक्त इति, इच्छेदुर्भिलत्तए पूवसङ्गतिक्वदेशवार्थं मा-  
नुषाणामयं मातुपन्नम् । ( इच्छं ति ) शीघ्रम् ( संचाएपु )  
शुक्राणि । दिवि देवशोकं भवा दिव्यान्नेतु कामी च शब्दकृत्-  
सङ्गती भांगान्न गन्धरसस्पर्शाः कामभोगाः तेषु । अथवा-का-  
म्यन्त इति कामा मनोहाराः, ते च इति लुप्यन्त इति भोगाः  
शब्दादर्थः, ते च कामभोगान्नेतु, मूर्च्छित इव मूर्च्छितानां मूढः, त-  
स्त्वहपस्यामित्यवार्थेदेवाद्युक्तमन्वाव यच्छः, तदाकाङ्क्षानन्-  
स इत्यर्थः । अथैत इव अर्थतस्तद्व्यपेक्षं इह इच्छन्तः संदर्शित  
इत्यर्थः । अहुणोववन्न अघिक्येनासकंऽप्यन्तत्तमना इत्यर्थः । नो  
आच्छित्तए-न तेष्वद्रव्यान् भवति, नो परिजातानि-वत्तेऽपि च व-  
स्तु नूना इत्यर्थे न मन्वते । तथा तेष्विति गम्यते । नो शर्ये भन्नाति-  
पेरिर्द्रं प्रयोजनमिति न निश्चयं करोति । तथा-तेषु नो निदानं  
प्रकरोति-वत्ते मे अहुणोववन्नव्यवमिति । तथा-तेष्वेव नो स्थितिप्र-  
कल्पमस्त्वानं विकल्पनव-एतत्पदं हि तिष्ठयामाति, एतं वा मम तिष्ठ  
न्नु विचारोभवन्नियमव्येकं स्थित्या वा मयादया विधिप्रकल्प-  
ए आचार आसंकेत्यर्थः ते प्रकरोति कर्तुंभारभवे, प्रशब्दस्या-  
दिकर्मार्थेवादिता । एवं दिव्यविषयप्रहासिदित्येककारणमा । तथा  
एतत्साङ्ख्योपपत्तो देवा दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छित्तदिवि-  
शेषवयो मन्वति, अतस्तस्व मातुष्यकं अतुष्यकं विषयं, प्रम स्वर्गं,  
येन मनुष्यशोके आगम्यते तद्गुणान्नेतु, दिवि भवं दिव्यं स्वर्ग-  
मावस्तुविषयं सक्तातं तत्र देवे प्रविष्टं भवतीति दिव्यंभ्रमसंका-  
रित्तरिति द्वितीयम् ॥२॥ तथाऽसौ देवो यतो दिव्यकामभोगेषु मूर्-  
च्छित्तनादिविशेषणं भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् ( तस्स पं ति )  
तस्व देवस्य ( एवं ति ) एवंप्रकारं चित्तं जवति, यथा ( इय-  
र्हि ति ) इदानीं गच्छामि ( मुहुर्त्तं ति ) मुहुर्त्तं गच्छामि, कृत्य-  
समाप्तवाचित्यर्थः । ( तेण कालेणं ति ) येन तस्वत्वं समाप्यते स्व च  
हृत्कल्पव्यवहारागमनशक्तं भवति, तेन कालेन, येनैति शो-  
यः । तस्मिन्ना काले गतं, ' णं ' शब्दो वाक्याद्भङ्गरे । अल्या-  
येन स्वजायदेव मनुष्यमात्रादया यदशोधमाजिगामिपति  
तेन कालभ्रमेण मरणेन संयुक्तो भवति । कस्यासौ दर्शनार्थमा-  
यजति असमाप्तकस्येता नाम त्नीयमिति ( इच्छंयाऽं ) नि-  
गमनम् ॥३॥ देवः कामेषु काश्चिद्मूर्च्छित्तनादिविशेषणो भवति ।  
तस्य च मन इति गम्यते । एवंयूतं भवति आचार्यमतिबंधक-  
प्रभाजकारादरनुयोगाचार्यो वा । इह एवंप्रकारार्थो, वाश-  
ब्दो विकल्पार्थः । प्रयोगस्वैवयम-मनुष्यजनेऽयं ममाचार्योऽस्ती-  
ति वाः अपाध्यायः सभद्रता, सांऽस्तीति वा । एवं सर्वत्र, नवरं  
प्रवर्त्तयति साधुनाचार्योपदिष्टेषु धैर्यावृत्त्यादिविधिति प्रवर्त्तौ ।  
उक्तं च- " तवसंयमयोगेत्तु, जो जोगो तथं तं पश्येह । अहुणोव-  
वन्न च नियन्ते, गणन्तिष्ठो, पवसोभो " ॥ १ ॥ प्रवर्त्तव्यापा-  
रिनात् साधुत्वं संयमयोगेषु सीदतेः स्थितिकदोतीति स्वधितः ।  
उक्तं- " थिरकरणा पुण धरो, पवसि वावारिपत्तु अण्यसु ।  
जो जय सीयह जह, संतबलानं थिरं कुणह " ॥ १ ॥ य-  
२३१

णोऽस्यास्तीति गणी गणाचार्यः गणधरो जिनश्चोपदेशोः ।  
आर्यिकाप्रतिज्ञागर्को वा साधुविशेषः । उक्तं- " पिषध-  
मे वृधधमे, संविभो लज्जामो व तयेसी । संगबुधमहाकुसरो,  
सुखार्थोवृत्त गणाहर्षे " ॥ १ ॥ गणस्यावच्छेदां विज्ञानोऽसां-  
ऽस्यास्तीति । यो हि गणः संयुष्टिवा गच्छोपष्टम्भयैवो-  
पधिमागंणाक्षिभिमत्तं विहरति स गणावच्छेदिकः । आह च-  
" आहावणापहाचण-अतोवहिरप्रमाणसु अयिसाहं । सुस-  
त्थात्तज्जभयिक, गणकथो परिभो होह " ॥ २ ॥ ( इम ति )  
इयं प्रत्यक्षास्तना, एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरे कपाल-  
रभाक सा एतइया, दिव्या स्वर्गसम्भवा प्रधाना वा देवा-  
नां सुराणास्तुः श्रीविमानरन्नादिसंपदेवधिः, एवं सर्वत्र, नवरं  
पुतिर्दीप्तिः शरीराभरणादिसम्भवा, युतियो युक्तिरपरिबा-  
रादिसंयोगलक्षणानुभावाऽचिन्त्या वैक्यकरणादिका शक्ति-  
लेख्ये उपार्जितो जन्मान्तरे प्राप्त इदानीमुपगतः, आजसम्भवा-  
गतो भोगार्थो गतः । तदिति तस्मात्तत्र भगवतः पुत्रमया-  
नात् यन्ने स्तुतिभिर्मेमस्यामि प्रधानं सत्कराभ्यव्याप्यकर-  
णेन वत्तदिना वा समामयाच्चिन्तितप्रतिपत्या कल्याणं मङ्गलं  
दैवत चैवामिति बुद्ध्या पुणुपासं संय इत्येकम् । ( एस पं नि )  
एषोऽवध्यादप्रत्यक्षीकृतः मानुष्येक भवे, वसमान इतिशेषः ।  
मनुष्य इत्यर्थः । इदानीं वा कृत्वा तपस्वीति वा कृत्वा, किमि-  
ति दुष्कारणां सिद्धिमुहाकार्यारसंकरणादीनां मध्ये दुष्करम-  
नुरक्त्योपलुक्तप्रार्थनापरतदधीमन्दिर्व्यासकाम्यप्रवृत्त्यानु-  
पासनादिक करानांति अतिदुष्करकारकः, स्थूलभद्रवत्,  
तस्मात् । ( गच्छामि ति ) पूर्वमेकवचनानिदेशोऽपि पुण्य-  
विवक्षया बहुवचनमिति । तान् दुष्करकारकान् जगधतो  
वन्दे इति द्वितीयम् । तथा- " मायाह वा पिशाह वा अत्राह वा  
प्रहृष्टीह वा पुलाह वा धृयाह वा " इति । शयच्छब्दाक्षेपः  
स्तुवा पुञ्जनाय । तदिति तस्मात्तेषामतिक्रमोपे प्राडुनेवायि  
प्रकटीज्जवाति । ( ता मे ति ) तावत् मे ममेति तृतीयम् ॥ स्यात्  
३ ठा ३ ० ।

चउर्हि ठाणेर्हि अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि इ-  
च्छेज्जा माणुसं लोमं हव्वमागच्छित्तए नो चेव एं संचा-  
एइ हव्वमागच्छित्तए ॥१॥ अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलो-  
गंसि समुच्चयं वेणमं वेवमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोमं इ-  
व्वमागच्छित्तए, णो चेव एं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥२॥  
अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि णिरयपत्तोहिं शुज्जो  
शुज्जो अहिर्हिज्जायाणे इच्छेज्जा माणुसं लोमं हव्वमाग-  
च्छित्तए, नो चेव एं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥३॥ अहु-  
णोववन्ने णेरइए णिरयवेणयिणज्जंसि कम्ममि अक्खलीणंसि  
अभेइयांसि अणिणिसंसि इच्छेज्जा, नो चेव एं संचाएइ,  
एवं निरइया ओअंसि कम्मंसि अक्खलीणंसि जाव णो चेव  
एं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥४॥ इषेर्हि चउर्हि ठा-  
णेर्हि अहुणोववन्ने णेरइए जाव नो चेव एं संचाएइ  
हव्वमागच्छित्तए ॥५॥

अहुना जीवत्सधर्म्यन्तारकजीवानाभिय तदाह- ( खउही-  
त्यादं ) सुगमं, कवल ( उणेर्हि ति ) कारणैः । ( अहुणोवव-  
न्ने चि ) अहुणोववन्नाऽचिरोपपत्तौ निर्गताऽयः सुभसंवादिच

निरयो नरकाः, तत्र भयो वैरयिकः । तस्य वाऽऽन्योत्पत्तिस्थानतां दर्शयितुमाह-निरयसोके तस्मादिच्छेदमाप्नुवानामयं मानुषस्तं लोकं कृपावशोप ( हृद्वं ) शोभमान्गणुं ( नो केष सि ) नैव, 'णं' वा-कपालहारे । (संचारए) सम्यक् शक्नोति भ्रगन्तुं (समुद्भूयं ति) समुद्भूता प्रतिप्रवल्गल्योत्पन्ना । पाठान्तरेण-संमुखं नृतामिहं-सोपन्नाम् । पाठान्तरेण-अमहानो महानो भयनं महद्भूतं तेन सह या सा । समहद्भूता, तं समहद्भूतां वा ध्वनंत्-ऽऽकथयं वेद्ययामोऽनुभवन् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणभेदेय वाऽऽकथय, तीव्रवेद्यमाभिमुत्तां हि न शक्य आगन्तुमिति । तथा-निरयपालैरेवंवादिभिः भूयोभूयः पुनःपुनरधिष्णियमानः समाकथ्यमाणे भ्रगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणभेदेव वाऽऽमनाभा-शकिकारणं, तैरल्पताकान्तस्वागन्तुमशक्तवादिनि । तथा-निरये येषां अनुभूयते यद् निरययोमं वा यद्भूतान्येषु अन्यन्तानु-जनामकर्मोद्भिः, प्रसालवधनीयं वा, तत्र कर्मणि आक्षेप स्थिरया अवेदिनेऽनुभूतानुभागतयाऽनित्येण जीवमदेश्श्रेयोऽपत्ति-शब्दते इच्छेदमाप्नुयं लोकमागन्तुं, न च शक्नोति अश्वयषेद्यक-र्मिगमन्यजितस्वादिश्वयमनाशक एव कारणमिति । तथा- (एवमिति) "अह्नृणोववन्नग" इत्याद्यभिप्रायसंभूतनाथः । निरयायुष्कं कर्मणं अह्नृणो, यावत्कारणात् 'अवेद' इत्यादि ह-इयमिति निगमयशाह-( इत्यर्थेदि ति ) । इति पदप्रकारैरेतेः प्र-त्यक्षैरनन्तराकत्वादिति । अनन्तरं नारकस्वकपमुक्त्यांति चास्य-भोपहनकपरिप्रददुःखपयन्त इति ॥ स्थानो ४ ग ० ३ उ ॥

अधुनोपपन्नो देवो देवलोककेपु-

चउर्हि गणोर्णि अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं भोगं हृद्वमागच्छत्त एणं चेव संचारए हृद्वमा-गच्छित्त ए । तं जहा-अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु दिव्येसु कामनोगेसु मुच्छिप गिच्छे गटिप अज्जोववन्नग से एं मा-णुस्सए कामभोगे एणं अदाइ, एणं परियाणाइ, एणं अह्दं बंधइ, एणं णियाएणं पणरेइ, एणं तिइपणणं पणरेइ ॥१॥ अह्नृ-णोववन्नग देवे देवलोएसु दिव्येसु कामभोगेसु मुच्छिप ० ४ तस्स णं माणुस्सए पेये वांचिच्छेसे दिव्ये संकंते जवइ ॥२॥ अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु दिव्येसु कामभोगेसु मुच्छिप ० ४ तस्स एणं एवं भवइ इयणिइ गच्छे मुहुत्तणं गच्छंतेणं कालेणमपाठअ मणुस्सा कालभम्मूला संजुत्ता भवं-ति ॥३॥ अह्नृणोववन्नग देवे देवलोएसु दिव्येसु कामभोगे-सु मुच्छिप ० ४ तस्स एणं माणुस्सए गंधे पदिकुत्ते पदि-क्षोमे यावि जवइ, उह्दं पि यं माणुस्सएणं गंधं चत्तारि पंच ज्ञोयणसयाइ हृद्वमागच्छइ ॥४॥ इधेएहि चउर्हि ठा-खोर्हि अह्नृणोववन्नग देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं भोगं हृद्वमागच्छित्त ए, णो चेव एणं संचारए हृद्वमागच्छित्त ए । त्रिध्यानके तुनीयोहेच्छके प्रायो व्याख्यातमंवेदं तथापि किञ्चि-दुच्यते-( चउर्हि गणोर्णि नो संचार सि ) संख्यः । तथा-देव

लोकेषु, देवभयं इत्यर्थः । ( इध्वं ) इति (संचारए) शक्नोति । कामनोगेषु मन्वेकृपाद्वादिषु मुच्छित्त इव मुच्छितो ब्रूहस्तस्य-रूपस्यानित्यत्वादेर्विभोवाकृतायात् पृथः, तदाकाशावाव अतुल इत्यर्थः । प्राद्यत इव प्राद्यिनः, तद्विषयवहंरज्जुभिः संश्रितं इत्यर्थः । अणुपपन्नोऽस्मत्तन्मना इत्यर्थः । नाह्नृयते-न तेषां-वरबाद् भवति । न परिजानाति एतेऽपि वस्तुनृता इत्येवं न म-यते-तथा तथैति गम्यते । कर्णं प्रतिशब्दाति-एतैरेदिप्रयो-जनमिति निश्चयं करोति । तथा-नो तेषु निदानं प्रकरोति-एते मे नृयासुरित्येवमिति । तथा-नो तेषु स्थितिप्रकल्पमवस्थाशब्द-कल्पन-एतेष्वहं तिष्ठामि, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरा भयानि-र-स्येवरूप स्थिरया वा मयाद्या प्रकृष्टः कल्प आचारः स्थिति-प्रकल्पः, तं प्रकरोति कर्तुमारजते, प्रशब्दस्यादिकर्मार्थैवाहिति । एवं दिव्यविषयमसक्तिरं कारणं, तथा-यतोऽसावयुगोपसो देवः कामेषु मुच्छित्तादिविशेषणोऽस्तस्मात्प्रानुष्कामित्वादि दिव्यमस्तस्मात्किंतिर्नैतिसम । तथाऽलो देवो यतो भोगेषु मुच्छि-तादिविशेषणो भवति तस्मात्प्रतिशब्दात् । ( तस्स यामित्यन्व-ति ) देवकर्मोपस्यतया मनुष्यकार्योनायसत्वं नृतायम् । तथा-दि-व्यभोगसुच्छित्तादिविशेषणत्वात्स्य मनुष्याणामयं मनुष्यः, स एव मानुष्यको गन्धः प्रतिशुलो दिव्यगन्धधरिपरीतस्त्विति प्रति-शोभश्चापि इन्द्रियमनंतरनाशादकथादिकार्यो वैतावत्पन्तमन्व-ज्जताप्रतिपादनयोक्त्यायिति । यावदिति परिमाणार्थः । ( चत्तारि पंचेति ) विकल्पद्वैतार्थे कदाचिद्वैतार्थे दिव्यकामसुषमादौ च-त्वार्येव, अन्यद् वा पञ्चापि मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिसंख्यां बहुतेनौ-दारिकशरीराणां तदवयवतन्मज्ञानं च बहुतेनौ-दारिकसंश्र-प्राचुर्यादिति । आगच्छति मनुष्यलोकादाजगमिषुं देवं प्रतीति । इह्दु मनुष्यलोकाद्याशुभस्वकपवमंवाक्यं । न च देवाऽप्यं वा नश्रयो योजनेयः परन् आगतं गन्धं जानातीति । प्राद्यवा भन एव चचनात् यदिन्द्रियविषयमाणुसुक तदीदारिककाररिन्द्रि-यापेक्षयैव संजायन्ते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षादिप्र-माणेषु दूरस्थिता देवा घटाशब्दशुशुपुः, यदि परं प्रति शब्द-हारेणान्यथा वेति नरअवाहुभवं चतुर्थमनागमनकारणमिति । शयं निगमन्म् । श्लो ४ ग ० ३ उ ॥

चउर्हि गणोर्णि अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा मा-णुसं भोगं हृद्वमागच्छत्त ए संचारए हृद्वमागच्छित्त ए । तं जहा-अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु कामभोगेसु अमुच्छि-प ० जाव अणज्जोववन्नग से एणं एवं जवइ-अन्थि सल्ल मम माणुस्सए भवे अयारिणइ वा उवज्जाएइ वा पाविचोइ वा धरेइ वा मणीइ वा मणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेत्ति पजावेणं मए इमा एयाकवा दिक्का देवह्दु दिव्वा देव-जुई लक्का पत्ता अज्जिममछागया तं गच्छामि णं, ते भ-गवंते संदामि ० जाव पज्जुवामामि । अह्नृणोववन्नग देवे देव-लोएसु ० जाव अणज्जोववन्नग से तस्स एणमेवं जवइ, एस णं माणुस्सए जवे एयाणंइ वा तवस्सीइ वा अह्नृणकरकार ए तं गच्छामि एं ते जगवंते वदामि ० जाव पज्जुवामामि ॥२॥ अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु ० जाव अणज्जोववन्नग से तस्स

पथेवं जवड, अत्थि एं मम माणुस्सए जवे मायाइ वा० जाव सुएहाइ वा तं गच्छामि एं, वेसिमतिथं पाउञ्जवामि, पांमेतु ता मे इमपेयाकुरं दिव्वं देवहिं दिव्वं देवजुइं सक्कं पत्तं अमिसमसागयं ॥३॥ अहुषोवचमो देवे देवलोपसु० जाव अणउक्कोवचमो तस्स पामेवं भवड, अत्थि एं मम माणुस्सए जवे मिषेइ वा सुह्रीइ वा सहाएइ वा संगइइ वा तेसिं च एं अग्गे अणमसस्स संगारं पदिमुए जवड, जो मे पुब्बिं चयइ से संबोहियवेइ ष्वेएहिं० जाव संचाएइ इ- चवमागच्छिच्चए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्राग्भव, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामयोगेष्वनुच्छिन्नादिविशेषाणां यो देवस्तस्यैव (एवमिति) एवं जूतं मनो जवति-यदुत अस्मिन्मैत्रिकं तद्वित्वाह-आचार्ये इति चऽऽचार्ये एत- द्वाऽस्ति; इति रूपप्रदर्शने; वा विकल्पे। एवमुत्तरत्रापि। किञ्चिदिति- शब्दां न दृश्यते, तत्र सूत्रं सुगममेवेति। इह आचार्यः प्रतिबोधप्रजा- जकादिरनुयोगाचार्यो वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, प्रवर्षयात्स सा- भूनाचार्योपदिष्टेषु वैवाङ्मत्यादिष्विति प्रवर्षी, प्रवर्षित्त्यापारित्या- न्नाहं संसमायंगुप्तोद्भूतः। स्मरिं करोतीति स्मरिं, गणुं। अस्या- स्तोनि गी०, गणाचार्यो गणुषरो वा जिनशिष्यविशेष आर्थिका- प्रतिज्ञारको वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्याद्यच्छेदोऽ- स्थास्तीति गणावच्छेदकः। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपपद्यमान्यैवै- प्यध्यामर्णमादिनिमित्तं विहरति ( इमं षि ) इयं प्रत्यक्षासन्ना एतद्वय रूप यस्या न कालान्तरादायपि रूपान्तरजाक सा, तथा दिव्या स्वर्गसंभवा प्रधाना वा देवार्थिर्द्विमानरनादिका धुनिः। शरीरादिसम्भवा युतिर्वा युक्तिरिष्टारवारादिसंयोग- शश्रवणा अथवा उपाजिता जन्मात्तरे प्रासदानीमुपगतता, अभि- समन्वागतता ज्ञापयार्वर्यां गता ( तं ) तस्मानान्न जगवतः पु- उयान्न वन्दे स्तुतिभिर्मन्त्र्यानि प्रणामेन सारकरांमि, आदरकरणे- न वक्ष्यामीना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कथयामि मङ्गलं देवतं चैत्वमिति वुक्त्वा पुर्युषास्यै सेवामित्येकम् । तथा-हाने भुनक्तानादिनेत्यादि द्वितीयम्। तथा-(मायाइ वा अणउइ वा भ- हणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वेति) यावत् शब्दाऽत्रापि; स्तुषा पु- ज्ञनायामि ( तं ) तस्मान्त्सपामतिके सम्यक् प्रादुर्भवापि प्रकटो- भवामि ( ता ) तावन् ( मे ) मम इति पाठान्तरमिति तृतीय- म् । तथा-मित्रं पञ्चानुं संहृदवन् सक्कं कात्तपयस्सः सुहृत्सज्जनो हितेयो सहहायः सहचरस्तदेककार्येप्रवृत्तो वा, संगतं विद्यते अ- स्यात्सौ साङ्गतिकः परिचितस्तैतरेण ( अग्गे ) अस्मामिः ( अ- ष्ठमसस्स षि ) अग्योमं ( संगारं ) सि ) सक्कतः प्रतिश्रुतोऽप्युप- गतो भवति स्मेति । ( जो मे ति ) योऽस्माकं एवं कथयते देव- लोकात्स संबोध्यतियव इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यनेव कृतसं- केतयोरकस्य पूर्बल्लहादिजीविषु भवनाप्यादिपुष्टय च्युप्य च नरतयोपपन्नस्यान्वः पूर्बल्लहादि जीविषा सौधर्मादिपुष्टय संबोधनार्थं यद्विहागच्छति तद्वत्सयमिति । इत्येतैरित्यादि नि- गमनामिति ॥ १५०० ४ उा० ३ उ० ।

अहेउ-आधु-दिग्भेदे, नि० सू० १० उ० । म० ।  
अधु-अधु०। अधार्थे, म० १ श० ६ उ० । 'अधे ये से अस्मापियर'

अध चैतन्, नमिति वाक्यालङ्कारोऽस्था० रेता० १ उ० । आचा० ।  
तेपे, मियागे च । स० ।

अहेउ-अहेतु-पुं० । यथोक्तहेतुप्रतिपत्ते, स० । अनुमानानु-  
त्थापके हेत्वाभासे, स्था० ।

पंच अहेउ पञ्चत्ता । तं जहा-अहेउं ए जाणइ० जाव  
अहेउउठमत्थमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेउ पञ्चत्ता । तं  
जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा उठमत्थमरणं  
मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेउ पञ्चत्ता । तं जहा-अहेउं जाणइ  
० जाव अहेउकेवलिमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पञ्चाऽहेतवो यः प्रत्यक्कानादितयाऽनुमानानपेक्षः स धु-  
मादिकमदंतुनाऽयं हेतुमैमानुमानोत्थापक इत्येवं जानानी-  
त्यतो हेतुभूतं तं जानकहेतुं वा साबुच्यते । एवं दर्शनबो-  
धाभिसमागमापिक्रयाऽपि तदवयवहेतुत्वमुच्यते। छुप्रस्थमाश्रय  
देशनिषेधत आइ-( अहेतुमिति ) धुमादिकं हेतुमहेतु-  
भावेन न जानाति न स्वयंथाऽवयवत्वेति, कथाऽद्वैतवायव्यकत्ती-  
त्यर्थः । नञो देशनिषेधाधेयान्, ज्ञानुच्छावध्यादिकवर्तित्वेनानु-  
मानावयवहेतुत्वादित्येकोऽवयवहेतुदेशप्रतिषेधत उक्तः । एवमहेतु  
कृत्वा धूमादिकं न पश्यतीति द्वितीयः । न बुध्यते न अरूपे  
इति तृतीयः । नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः । तथा-अहेतुमध्य-  
वसानादिहेतुतिरेपेण निरुपक्रमतया उग्रस्थमरणमनुमानावयव-  
हेतुत्वेऽप्येकवर्तित्वात्सत्यायं च स्वरूपेण एव पञ्चमां हेतुकतः ।  
तथा-पञ्चाहेतवो योऽहेतुना हेत्वजानेनावध्यादिकवर्तित्वाद्  
जानात्यसावेहेतुरेवेत्येवं पश्यतीत्यादायोऽपि । एवं च उग्रस्थमा-  
श्रित्य एवमुच्यतेनहेतुत्वमुच्यते दर्शप्रतिषेधत आइ ।  
हेतुनोपक्रमाभावेन छुप्रस्थमरणं श्रियत इति पञ्चमांहेतुः  
स्वरूपत एव उक्तः ६। तथा-पञ्चाहेतवोऽहेतुं न हेतुभावेन विक-  
ल्पितं धूमादिकं जानाति कवलितया योऽनुमानावयवहारित्वा-  
त्सोऽहेतुरेव । एवं यः पश्यतीत्यादि । तथा अहेतुं निर्देतुकमनु-  
पक्रमत्वात् केवलिरणमनुमानावयवहारित्वाद् श्रियते यास्व-  
साचहेतुः पञ्चमाः । एते पञ्चापीइ स्वरूपत उक्ताः ।७। एवं तृतीया-  
न्तसूत्रमप्यनुसर्तव्यमिति । ८। गमनिकामाश्रमेतत्, तस्य तु बहूभुता  
विदन्तीति ॥ १५०० ४ उा० १ उ० । न विद्यते हेतुरस्येति; अना-  
द्यपर्यवसिते नित्ये, सूत्रं १ श्रु० १ अ० १ उ० । म० ।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं० । हिनोति गमयत्यर्थेमिति हेतुः, त-  
त्परिच्छिन्नोऽयंोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुत्वाः ।  
यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वपि तद्विपरितोऽसावदहेतुत्वाः ।  
दृष्टिवादाद्यस्मिन्, स० ।

( दुविहो धम्मनाश्रो, अहेउवाओ य हेउवाओ य ) ।  
तत्त्य उ अहेउवाओ, जविथापविदाओ जावा ॥ १५०० ॥

अध्यात्मव्यस्वकप्रतिपादक आगमः, तद्विभागप्रतिपादने अध्य-  
क्षादेः प्रमाणांतरस्याप्रवृत्तेः । नह्ययं अर्थोऽयमभ्यव इत्यप्रागम-  
प्रमाणेन प्रमाणांतरमर्थसंज्ञः। असदाद्यप्युक्त्या न तु तद्विभाग-  
प्रतिपादकं वक्तो यथार्थमहेतुचनत्वात्, अनेकान्तात्तमकस्तुप्रतिपा-  
दकत्वबोधिस्तुमानात् तद्विजागप्रतिपत्तौ कथं न तस्यानुमानावि-  
षयता । न । एवमप्यागमाद्वैव तद्विभागप्रतिपत्तेस्तद्विपरितेकण प्र-  
माणात्तरस्य तत्रप्रतिषेधनिषाधनस्याजावात् । अहंदागमस्य च प्रा-

काव्याधेसंकाव्यनिष्कण्ठतत्पणीतत्त्वनिर्णयैऽनुसामतोऽमीनिष्का-  
 र्यविषये प्रामाण्यं विधीयते इत्यमुपपगम्यते एव । अत्रमभिरुचयेत्  
 शिवे पु प्रमाणात्तरस्यास्त्वदावेस्तत्र प्रवृत्तिर्नि विद्यत इत्येतावता  
 अहेतुवादमेव विषयागमस्योच्यते इति वचनव्यापारं केवल-  
 म्प्रकृत्यैव क्तमः । यदा तु ज्ञानदेशमचारिचरिततये बन्धा तदनु-  
 छानप्रवणस्तोत्रिकस्य बुद्धः प्रतीयते, तदाऽनुसामगम्योऽपि त-  
 र्ज्ञानगो भवति । यथा अर्थोऽभ्युत्थं वाऽयं पुरुषः, सम्प्रवृत्तान्ना-  
 द्विपरिपुण्यैवात्प्राप्त्यं, शोकप्रसिद्धं भव्याऽभ्युत्पुद्भवत् । अहेतुवा-  
 दगम्यावगने धर्मिणि भव्याभ्युत्थकूपे तद्विपरितन्निषेधकला  
 हेतुवादः, प्रवृत्ते योऽयमागमे ज्ञव्यादिरभिहितः स तथैव, य-  
 थोकहेतुसज्जावादिः । आह-

यविभ्रां सम्मर्द्दसख-शाणचारिचपानिर्वृत्तसंपन्नो ।  
 णियमा दुक्तवंतकनो, चि लक्ष्णं हेतुवायस ॥१४०॥

अर्थोऽयं सम्प्रवृद्देशनचारित्रप्रतिपत्तिं संपूर्णवान्, उच. पुरुषवत्,  
 तत्परिपुण्यैवादेव नियमासंसारदुःखान् कारिष्यति, कर्मयथा-  
 रात्यनितकविनाशमनुजविष्यति, तन्निष्कण्ठमभिप्रायादिप्रतिप-  
 क्ताभ्याससात्मीजानात्, व्याधिनिदानप्रतिकृतावरणप्रवृत्तया-  
 विधाऽऽनुरवत्, यः पुनर्न तत्प्रतिपक्ताभ्याससात्मीयवाद्यात्सो दुः-  
 खान्तकृत प्रविष्यति, तन्निदानानुछानप्रवृत्ततयाविधाऽऽनुरवद्  
 इति हेतुवायस लक्षणम् । हेतुवादः प्रायोः दृष्टिधाः तस्य द्रव्या-  
 नुयोगवत्, 'सम्प्रवृद्देशनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादेर-  
 नुमानादिरगम्यार्थस्य तत्र प्रतिपादान् । यथाऽऽनुमानानादिर-  
 म्यता तथा गन्तव्यस्तिप्रवृत्तिर्भिविक्तात्प्रतिमिति नेह प्रदृश्यते, प्र-  
 म्यविलस्रजयान् ॥ सम्म० ३ काण्ड ।

अष्टकर्म-अधःकर्मन्-न० । विशुद्धलक्ष्यमस्थानिष्यः प्रतिप-  
 स्वाऽऽप्तानामविशुद्धलक्ष्यमस्थानेषु तदर्थोऽधः कर्तव्यं तदधः-  
 कर्म । शृ० ४ उ० । अधो नरकादेयं भक्तेन तूके वाऽऽप्तम क्रियते  
 तदधःकर्म । दश० ४ अ० । अन्तविशुद्धयः संयमादिस्थान-  
 ऽधोऽधस्ततरामागमे, पि० । आधाकर्मणि, पि० । ( 'अधकर्म'  
 शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५११ पृष्ठेऽस्य व्याख्या )

अष्टेकाय-अधःकाय-पुं० । ऊर्वादेक, सूत्र० १ सु० ४ अ०  
 १ उ० ।

अष्टेगारवपरिणाम-अधो गौरवपरिणाम-पुं० । येनायुःस्वभावेन  
 औषध्याद्यो दिशि गमनशक्तिरूपपरिणामो भवति, तस्मिन्  
 गौरवपरिणामनेये, स्वा० ९ डा० ।

अष्टेवर-अधवर-पुं० । विलवांसिवात् सपादौ, आवा० १ सु०  
 ८ अ० ८ उ० ।

अष्टेतारग-अधस्तारक-पुं० । पिशाचभेदे, प्रभा० १ पद ।

अष्टेपन्नगरूढ-अधःपन्नगार्किकरूप-त्रि० । अधोऽधस्तलं, यत्  
 पन्नगस्य सर्पव्यादौ तस्यैव रूपमाकारो येषां नेऽधःपन्नगार्किक-  
 पाः । अधःपन्नगार्किकं यदनि, सरलेषु र्द्विषु च । जी० ३ प्रति०रा० ।

अष्टेमणिज्ज-यथैपणी-त्रि० । उत्कर्षणप्रकर्षणरहिते, अप-  
 रिकर्मणि, 'अहेतुसिज्जादे वर्यादे जापञ्ज' । आवा० १ सु० ८  
 अ० ४ उ० ।

अष्टेसत्त्वमा-अधःसत्त्वमा-त्री० । तमस्त्वमाद्यं पृथिव्याय, अधो-  
 ग्रहणं विना सत्त्वो उपरिदृष्टिस्त्विपमाना रत्नप्रभाऽपि स्वादित्य-  
 धोप्रहणम् । "अहेतुसत्त्वमाय पुदुर्वाय" स्वा० २ डा० ४ उ० ।  
 अहो-अहो-अध्व० । न हा-हो । शोके, विमर्शे, विषादे, दया-  
 याम्, सम्बोधने, प्रशंसायाम्, वितर्के, अस्वार्थां च । आवा० ।  
 चिस्त्वये, वा० प्र० दश० । अ० स्वा० । उच० । सूत्र० । आ-  
 ध्वये, अष्ट० १८ अष्ट० । प्रति० । आवा० । विषा० । द्वैत्ये, ब्राम-  
 ऋणे च । ग० २ अधि० । अतु० । सूत्र० ।

अष्टेकराण-अधःकराण-न० । अधोऽधस्तादात्मनः करणम् ।  
 कलहे, नि० सू० १० उ० ।

अष्टेकाय-अधःकाय-पुं० । अधस्तात्कायोऽधः कायः । पादे,  
 भाव० ३ अ० ।

अष्टेग्लिम-अष्टनिश-न० । अष्टोरात्रे, " गिरये ऐरवर्याश्च अष्टो-  
 ग्लिंसं पक्षमाणार्थं " सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० ।

अष्टोतरण-अधस्तरण-न० । अधोऽधस्ताद्वत्तरणम् । सुहनि-  
 भेद्या इव करणमधःकरणम् । कलहे, नि० सू० १० उ० ।

अष्टोदाण-अष्टोदान-न० । विस्मयनीये दाने, " अष्टोदाणं च-  
 पुष्टं " अष्टो इतिविस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं कोऽप्यो दाता ?  
 उच० २ अ० । कदप० । आ० म० । अष्टोदानस्यायमर्थः-एवं  
 दायते एवं हि दत्तं भवतीति । आवा० १ अ० ।

अष्टोदिसिञ्चय-अष्टोदिरग्रत-न० । दिव्यधोऽधोदिक, तत्संबन्धि,  
 तस्या वा ज्ञानधोदिव्यतम् । एतावती दिग्ध इरुकृपाद्यवतार-  
 वाद्गवाहनानां न परत इत्येवैकप दिव्यतभेदे, भाव० ६ अ० ।  
 अष्टोजागि ( च् )-अधोभागिन्-वि० । अधस्ताद् भागिनि,  
 सूत्र० ५ सु० ३ अ० ।

अष्टोरत्त-अष्टोरात्र-पुं० । त्रिशन्मुहूर्तान्तकं, ज्यो० २ पाहु० । जं ।  
 कर्म० । अ० । दिवसराशुययामकं, सू० प्र० १० पाहु० । सूत्र० ।  
 विशे० । अनु० । आ० म० । उच० । स्वा० । काभेदे, न० ।  
 "तिविदे अष्टोत्तं तीत, पट्टपन्ने, अशाणप" । स्वा० ३ डा०  
 ४ उ० । अष्टोरात्रे, भा० सू० १ अ० । आ० म० । ( पौक्यीकालः  
 'काल' शब्दं तृतीयभागि वक्ष्यते )

अष्टोराट्या-अष्टोरात्रिक-त्री० । त्रिभिर्दिवसेषोर्गतं प्रति-  
 मं । अष्टोरात्रस्यान्ते षष्ठमकरणात् प्रतिमाभेदे, पञ्चा० ११  
 वि० । "अष्टोराट्टियाणं नरकं कुचमं नचणं अवाणणं अवि-  
 थागमस्त वा० जाव रावहाणीए यार्हणि हांवि पांद् अष्पारित-  
 पाणिस्त इत्तुं ग्राह तप, सेल तं वेच० जाव अष्पपालिया  
 भवद् " भा० सू० ४ अ० ।

अष्टोलोय-अधोदोक्-पुं० । लोक्येने केवशिक्क्या परिच्छिद्य-  
 ते इति लोकः । अधोऽध्ववस्थितो लोकोऽधोऽलोक् । अधवा-  
 ऽधःशब्दोऽशुनपथीयः, तत्र च हेतुवाज्जावाद् बाहुद्वयेणाद्वा-  
 म एव परिणामो द्रव्याणां जायतेऽतःऽशुनपरिष्ठाभबद्द्रव्य-  
 यांगादधोऽशुनैव लोकोऽधोऽलोक् ।

अष्टवा अष्टो परिष्ठाभो, तेचापुजावेण नेष्ट उसस्यं

असुभो अहो चि भक्षिभ्यो, दन्वाञ्चं तेषऽहो लोभो ॥१॥  
इति । ( सूत्र-१०३+ ) असु० ।  
शोकभेद, असु० । अस्यां रत्नप्रभायां बहुसमभूभाये मेदमपये  
नमःप्रतरद्भवत् प्रदशो रुचकः, समस्ति, तस्य च प्रतरद्भवत्य  
मध्ये एकसाधयस्लनप्रतरादारधयोऽभिसुञ्चं नवयोजनश-  
स्तानि परिहृत्य परतः सानिरेकसतरऽञ्चायतोऽधोलोकः ।  
अनु० । नमरादिभवनं, अत्र० १ अ० । स्था० । प्रज्ञा० ।  
आ० म० । अधोलोकिकेषु ग्रामेषु, सं० ।

अहोलोचं खं चचारि विसरीरा पश्यात्, तं जहा-पुदवि-  
काहवा आउकाहवा वशस्सहकाहया उराला तसा पाश्या ।  
( सूत्र-३२६+ ) ( स्था० ४४० ३३० ) अहोलोचं खं सच पुद-  
वीभ्यो पश्यात्प्रभो, सच घषोदहीभ्यो पश्यात्प्रभो, सच घश-  
वाया पश्यात्प्रभो, सच तशुवाया पश्यात्प्रभो, सच उवासं-  
तरा पश्यात्, एएसु खं सचसु उवासंतरेसु सच तशुवाया  
पहृद्विया, एएसु खं सचसु तशुवाएसु सच घशवाया प-  
हृद्विया, एएसु सचसु घशवाएसु सच घषोदही पहृद्विया, ए-  
एसु खं सचसु घषोदहीसु पिंडसगपिडुलसंठावसंठियाभ्यो  
सच पुदवीभ्यो पश्यात्प्रभो । तं जहा-पदमा०जाव सचमा ।  
( सूत्र-४४६× ) स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

अहोवाच-अधोवात-पुं० । अधो गच्छन् यो वाणि वातः सो-  
ऽधोवातः । प्रज्ञा० १ पद । अधोनिमज्जति वायुभेदं, प्रज्ञा० १

पद । अपानत्रे वाचौ च । जीत० । आ० म० । "अहोवाते"  
( सूत्र-४४७ × ) सप्तविधवाद्वायुकायिकमधमपये वह-  
वायुकाये, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

अहोद्विपद-अधोविकट-त्रि० । अधः कुक्कादिरहिते, कुक्के  
इपुपरि तदभावे च । आचा० १ ध्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहोविहार-अहोविहार-पुं० । अहो इत्याद्यर्थे, विहरणं वि-  
हारः । आक्षयभूतो विहारः अहोविहारः । यथाहसंयमा-  
नुष्ठानं, " सनुद्विर अहोविहाराय" ( सूत्र-६४× ) आचा० १  
ध्रु० २ अ० १ उ० ।

अहोसिर-अधःशिरस्-त्रि० । अधोमुक्ते, "अहोसिरा कंदया  
जायंति" ( सूत्र-३४× ) अधोमुक्ताः कण्टकाः भवन्तीति अतुर्व-  
शस्तीर्थकारातिशयः । सं० ३४ सम० । अधोमस्तके, उच्य० २३  
अ० । "उहं जासु अहोसिरः" ( सूत्र-४+ ) अधोमुक्तो नासं ति-  
यंथा विंशतिदृष्टिः किन्तु नियतभूभागनिमित्तदृष्टिः । आ०  
१ ध्रु० १ अ० । विपा० । जं० । सू० प्र० । अ० । शी० । सं०  
प्र० । नि० ।

अहोहि-अधोऽधधि-त्रि० । परमाधधेरधोवर्त्यधधियस्य सो-  
धोऽधधिः । परमाऽधधेरधोवर्त्यधधियुक्ते, रा० । स्था० ।

अहोद्विध-यथाधधि-त्रि० । यत्प्रकारोऽधधिरस्येति यथा-  
धधिः । नियतज्ञत्रविषयाऽधधिज्ञानिनि, स्था० २ ठा० १ उ० ।



इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्सपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञरूप-

श्रीमद्भारतक-जैन श्वेताम्बराऽऽचार्य श्रीश्री १००८ श्री-

मद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'श्री अभिधानराजेन्द्रे'

हस्ताऽकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं प्रथमो भागः ।





॥ श्रीपञ्चपरमेश्वर्यो नमः ॥

॥ श्रीः ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-

कलिकास-सर्वज्ञकल्प-श्रीमद्भ-

ट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य-

श्री श्री १००८ श्रीमद्विजय-

राजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते

‘अभिधानराजेन्द्रे’

प्रथमो भागः समाप्तः ।





वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काम नं० 020-7

लेखक विजयराज-प्रसूरीखर.

शीर्षक आमियाल राजेन्द्र.

क्रम संख्या 4514